सत्यार्थप्रकाशः

महर्षि दयानन्द सरस्वती

[मूल-हस्तलेख, मुद्रण-हस्तलेख, प्रथम संस्करण (१८७५), द्वितीय संस्करण (१८८४), परोपकारिणी सभा अजमेर के ३-३६ तक के द्वितीय संस्करण, द्वितीय संस्करण (वर्तमान), मूलप्रति संस्करण (परोपकारिणी का ३९वां सं०), स्वामी वेदानन्द, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० भगवद्दत्त, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, स्वामी विद्यानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द और उदयपुर आदि संस्करणों तथा प्रमुख समीक्षकों के पाठों के तुलनात्मक पाठालोचनपूर्वक साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर पाठ-निर्धारण, ऋषि के अन्य ग्रन्थों से पाठपुष्टि और ऋषिहस्तलेख-निर्देश, सप्रमाण समीक्षा एवं भाष्य-युक्त **आज तक का सबसे शुद्ध शोध-संस्करण**]

दो भाग में

शोधकर्ता, समीक्षक, सम्पादक, भाष्यकार –

डॉ० सुरेन्द्रकुमार

(एम०ए० संस्कृत-हिन्दी, आचार्य, मनुस्मृतिभाष्यकार)

प्राचार्य (से०नि० राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सैक्टर-९, गुडगांव (हरियाणा)

कुलपति, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

प्रकाशक

आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

सत्यधर्म प्रकाशन

संस्करण

वि० संवत् २०७१, सन् 2014 ई०

ओ३म्

सत्यार्थप्रकाशः

(वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

[मूल-हस्तलेख, मुद्रण-हस्तलेख, प्रथम संस्करण (१८७५), द्वितीय संस्करण (१८८४), परोपकारिणी सभा अजमेर के ३-३६ तक के द्वितीय संस्करण, द्वितीय संस्करण (वर्तमान), मूलप्रति संस्करण (परोपकारिणी का ३९वां सं०), स्वामी वेदानन्द, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० भगवद्दत्त, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, स्वामी विद्यानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द और उदयपुर आदि संस्करणों तथा प्रमुख समीक्षकों के पाठों के तुलनात्मक पाठालोचनपूर्वक साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर पाठ-निर्धारण, ऋषि के अन्य ग्रन्थों से पाठपुष्टि और ऋषिहस्तलेख-निर्देश, सप्रमाण समीक्षा एवं भाष्य-युक्त **आज तक का सबसे शुद्ध शोध-संस्करण**]

[दश समुल्लासात्मक पूर्वार्ध-भाग]

शोधकर्त्ता, समीक्षक, सम्पादक, भाष्यकार—

डॉ० सुरेन्द्रकुमार

(एम०ए० संस्कृत-हिन्दी, आचार्य, मनुस्मृतिभाष्यकार)

प्राचार्य (से०नि०) राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सैक्टर-९, गुड़गांव (हरियाणा)

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

प्रकाशक :

आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

सत्यधर्म प्रकाशन

चलभाष : ०९८१२५-६०२३३

प्रकाशक : आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक
सत्यधर्म प्रकाशन
चलभाष : ०९८१२५-६०२३३

पुस्तक-प्राप्ति : **आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक**
द्वारा- महाविद्यालय गुरुकुल झज्झर, जिला-झज्झर-१२४१०३ (हरियाणा)

संस्करण : वि०संवत् २०७१, सन् २०१४ ई०

मूल्य : ६००.०० रुपये (दोनों भाग १२००.०० रुपये)

प्राप्ति-स्थान :
१. **हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल, झज्जर-१२४ १०३ (हरयाणा)
२. **आर्यसमाज मन्दिर, काकरिया**
रायेपुर दरवाजे से बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)
३. **कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, चोटीपुरा**
जिला ज्योतिबा फुले नगर (मुरादाबाद) उत्तरप्रदेश
४. **आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोघा,** अहमदाबाद
५. **दयानन्दमठ दीनानगर,** जिला गुरदासपुर (पंजाब)
चलभाष : ०९४१७३-३६६७३
६. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द,** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६
७. **आर्यसमाज सान्ताक्रूज,** विट्ठुल्लभाई पटेल मार्ग, मुम्बई
८. **आर्यसमाज,** बड़ा बाजार, शंभ्रूद्दीन लेन, कोलकाता
९. **आर्यसमाज,** १९ विधानसरणी, कोलकाता

टाइप-सैटिंग : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** करनाल (हरियाणा)
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

सत्यार्थप्रकाश (शोध-संस्करण) की समग्र विषय-सूची

क्रम सं०	विवरण	पृष्ठ संख्या
१.	सत्यार्थप्रकाश (१८८४) के टाइटल पृष्ठ और मुखपृष्ठ की अनुकृति	४
२.	सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपा मुंशी जी का निवेदन	५
३.	जब सत्यार्थप्रकाश-विषयक सत्य का ज्ञान मुझे हुआ (प्रकाशकीय)	६
४.	इस शोध-संस्करण की कंटकाकीर्ण और श्रमसाध्य यात्रा (सम्पादकीय)	९
५.	सत्यार्थप्रकाशस्थ संक्षिप्ताक्षर सूची एवं प्रयुक्त संस्करणों का विवरण	१९-२१
६.	सत्यार्थप्रकाश-मीमांसा (प्राक्कथन)	२२-१५९
	सत्यार्थप्रकाश (पूर्वार्ध भाग)	
७.	सत्यार्थप्रकाशस्य सूचीपत्रम्	१-३
८.	श्लोकाः (ग्रन्थकार रचित)	४
९.	भूमिका	५-१७
१०.	[ईश्वरनामों की वर्णानुक्रमणी : सम्पादक रचित]	१८
११.	सत्यार्थप्रकाश १-१० समुल्लास	१९-५१०
	सत्यार्थप्रकाश (उत्तरार्ध भाग)	
१२.	सत्यार्थप्रकाश ११-१४ समुल्लास	५११-१०४४
१३.	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः	१०४५-१०५५
	परिशिष्ट भाग	
१.	सत्यार्थप्रकाशस्थ प्रमाणों की अनुक्रमणी	१०५६
२.	सत्यार्थप्रकाशस्थ १३-१४ समुल्लासों की आयतों की अनुक्रमणी	१०७०
३.	सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित एवं उद्धृत ग्रन्थों की नाम-अनुक्रमणी	१०७३
४.	सत्यार्थप्रकाशस्थ प्रमुख शब्दों और नामों की अनुक्रमणी	१०७९
५.	सत्यार्थप्रकाश की स्मरणीय सूक्तियाँ/ उद्धरणीय वचन	१०९१

द्वितीय संस्करण (१८८४) के टाइटल और मुखपृष्ठ की अनुकृति

ओ३म्

अथ सत्यार्थप्रकाशः ॥

वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

पण्डितज्वालादत्तभीमसेनशर्म्मभ्यां संशोधितः

सर्वथा राजनियमे नियोजितः

प्रयागनगरे

मनोषिसमर्थदानस्य प्रबन्धेन वैदिकयंत्रालये मुद्रितः

सन् १८८४

द्वितीयवारम् २०००

मूल्यम् २॥)

उत्तमता यह है कि ज्ञानव्यय किसी से नहीं लिया जाता

द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपे मुंशी जी लिखित निवेदन की अनुकृति

निवेदन ॥

परमपूज्य श्रीस्वामी जी महाराज ने यह "सत्यार्थप्रकाश,, ग्रन्थ द्वितीय बार शुद्ध करके छपवाया है। प्रथमाहृत्ति में अन्त के कई प्रकरण कई कारणों से नहीं छपे थे सो भी इस में संयुक्त कर दिये हैं। इस ग्रन्थ में आदि से अन्तपर्य्यन्त मनुष्यों को वेदादिशास्त्रानुकूल श्रेष्ठ बातों के ग्रहण और अश्रेष्ठ बातों के छोड़ने का उपदेश लिखा गया है ॥

मतमतान्तरों के विषय में जो लिखा गया है वह प्रीतिपूर्वक सत्य के प्रकाश होने और संसार के सुधरने के अभिप्राय से लिखा गया है, किन्तु निन्दा की दृष्टि से नहीं। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य यही है कि अविद्याजन्य नाना मतों के फैलने से संसार में जो द्वेष बढ़ गया है इस से एक मतावलंबी दूसरे मतानुयायी को द्वेषदृष्टि से देखता है वह दूर हो के संसार में प्रेम और शान्ति स्थिर हो ॥

जिस प्रेम और प्रीति से श्रीस्वामी जी महाराज ने यह ग्रन्थ बनाया है उसी प्रीति से पाठकों को देखना चाहिये। पाठकों को उचित है कि आदि से अन्त तक इस ग्रन्थ को पढ़ कर प्रीति पूर्वक विचार करें। क्योंकि जो मनुष्य इस के एक खंड को देखेगा उस को इस ग्रन्थ का पूरा २ अभिप्राय न खुलेगा ॥

आशा है कि जिस अभिप्राय से यह ग्रन्थ बनाया गया है उस अभिप्राय पर पाठक गण दृष्टि रख कर लाभ उठावेंगे और ग्रन्थकर्त्ता के महान् परिश्रम को सुफल करेंगे ॥

इस ग्रन्थमें कई स्थलों में टिप्पणिका की आवश्यकता थी इस लिये मैंने जहां २ उचित समझा वहां २ लिखदी है।

यह ग्रन्थ प्रथमाहृत्ति में छपा था उस को बिके बहुत दिन हो गये इस कारण से शतशः लोगों की शीघ्रता छपने के विषय में आई इस कारण से यह द्वितीयाहृति अत्यन्त शीघ्रता में हुई है। छापते समय ग्रन्थ के शोधने और विरामादि चिन्हों के देने में जहां तक बना बहुत ध्यान दिया परन्तु शीघ्रता के कारण से कहीं भूल रह गई हो तो पाठकगण ठीक कर लें।

आश्विन कृष्ण पक्ष
संवत् १९३९

(मुन्शी) समर्थदान
प्रबन्धकर्त्ता वैदिकयन्त्रालय
प्रयाग

जब सत्यार्थप्रकाश के बारे में मुझे सत्य का ज्ञान हुआ

अमरग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का आज तक का सबसे शुद्ध, परिश्रमयुक्त, शोधपूर्ण और वास्तव में 'मानक संस्करण' पाठकों को सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता एवं संतुष्टि की अनुभूति हो रही है। सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में ऐसा परिश्रमसाध्य तार्किक कार्य आज तक नहीं हुआ, जिसमें २५ संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन करके समीक्षापूर्वक शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास किया हो। यह समझिए कि यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक कार्य है और अनेक कारणों से एक क्रान्तिकारी संस्करण है। इस कार्य को सम्पन्न किये जाते समय ही कुछ अदूरदर्शी और ईर्ष्या-द्वेषी लोगों ने इसमें बाधा डालने के अनेक प्रयास एवं षड्यन्त्र किये किन्तु परमात्मा की कृपा से यह पूर्ण हुआ और आज आपके हाथों में है।

इस अपूर्व परिश्रमसाध्य कार्य को कराने के पीछे एक विशेष घटना की विशेष प्रेरणा रही है। परोपकारिणी सभा, अजमेर ने जब मूलप्रति पर आधारित सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन ३७वें संस्करण के रूप में किया तो कुछ लोगों ने एक बार सारे आर्यजगत् में उसको लेकर हलचल-सी उत्पन्न कर दी। कई ओर से उसकी आलोचना में आवाज उठी। सुनी-सुनाई बातों के कारण विरोध की आवाज को हवा देने वालों में मैं भी शामिल था। इस बीच मुझे जानकारी मिली कि १ मार्च, २००५ को नवलखा महल, उदयपुर में सत्यार्थप्रकाश की स्थिति और भावी प्रकाशन योजना पर विचार करने के लिए आर्यविद्वानों की एक बैठक बुलाई गई है जिसमें आर्यजगत् के अधिकाधिक विद्वान् सम्मिलित होंगे। मैं भी मन में जिज्ञासा लिए वहां पहुंचा। बैठक में वरिष्ठ-कनिष्ठ लगभग पच्चीस-तीस विद्वान् उपस्थित थे।

स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के संरक्षकत्व, आचार्य पं० विशुद्धानन्द जी मिश्र की अध्यक्षता और डॉ० भवानीलाल जी भारतीय एवं पं० राजवीर जी शास्त्री आदि वरिष्ठ विद्वानों की उपस्थिति में बैठक आरम्भ हुई। परोपकारिणी सभा के प्रतिनिधि के रूप में डॉ० सुरेन्द्रकुमार जी आये हुए थे। बैठक आरम्भ होते ही स्पष्ट हो गया कि यह बैठक केवल परोपकारिणी सभा के संस्करण का विरोध करने के ही लक्ष्य से बुलाई गई थी। उसमें, पूर्व विद्वानों स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तथा अन्य प्रकाशकों द्वारा सत्यार्थप्रकाश में किये गये हजारों परिवर्तनों-संशोधनों पर कोई चर्चा नहीं हुई। हाँ, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी द्वारा किये गये मनमाने परिवर्तनों पर कुछ चर्चा अवश्य हुई। घुमा-फिराकर फिर परोपकारिणी सभा के संस्करण पर उस चर्चा को केन्द्रित कर दिया। मैंने देखा कि सुनियोजित रूप से सारे विद्वान् एक पक्ष में थे और डॉ० सुरेन्द्रकुमार अकेले एक पक्ष में थे। एक के बाद एक विद्वान् उन पर प्रश्नों की वर्षा करने लगा। वे सहजभाव से, धैर्यपूर्वक सबके प्रश्नों-आरोपों का उत्तर देने लगे और पूरे दिन उत्तर दिये। उनका पक्ष था कि परोपकारिणी का संस्करण सभी संस्करणों का मूल-आधार संस्करण है, जिससे सभी संस्करणों ने सहायता ली है। वह ऋषि के मुख से प्रकट हुई उनकी दुर्लभ वाणी है। सौभाग्य से अब वह प्रकाशित हो गया है। उसका विरोध न करके उससे लाभ उठाना चाहिये और सबको मिलकर एकरूप शुद्धतम संस्करण के प्रकाशन के लिए प्रयास करना चाहिये। सबके संस्करण पृथक्-पृथक् हैं, सत्यार्थप्रकाश के लिए यह दुर्भाग्य तथा अहित की बात है। मैंने यह भी अनुभव किया कि डॉ० सुरेन्द्र जी अपने कथन को युक्ति-प्रमाण के साथ सिद्ध कर रहे थे जबकि दूसरे विद्वान् खींचतान और अपनी स्वतन्त्र कल्पना करके अपने कथन को सिद्ध करने में लगे थे। बैठक के अन्त में, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी और पं० विशुद्धानन्द जी ने डॉ० सुरेन्द्रकुमार जी के सभी पक्षों से सहमत न होते हुए भी उनकी तर्कशैली, योग्यता और प्रस्तुति की प्रशंसा की। फिर कुछ लोगों ने मिलकर सत्यार्थप्रकाश का एकमात्र संस्करण प्रकाशित करने के लिए एक समिति का गठन किया। पाठक याद रखें कि यह सारा कार्यक्रम रिकार्ड (आडियो) किया गया था।

उदयपुर की दो दिन की बैठक एक ही दिन में सम्पन्न हो गई और सब लौटकर अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हो गये, किन्तु मेरे मन में तो उसी दिन से एक लगन पैदा हो गई, जिसने मुझे शान्ति से बैठने नहीं दिया। उदयपुर की बैठक में मुझे नयी जानकारियां मिली जिनसे सत्यार्थप्रकाश के विषय में मेरी पहली धारणा ही बदल गई थी। उस दिन उदयपुर से मैं चार विचार और संकल्प मन में लेकर लौटा, वे हैं—

१. अभी तक, गम्भीर अध्ययन न होने के कारण मेरी यह धारणा थी कि सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ शुद्ध-अशुद्ध लिखा मिलता है वह ऋषि दयानन्द-कृत है और उसका एक अक्षर भी नहीं बदला जाना चाहिये। तथ्यों की जानकारी मिलने पर अब मेरी वह धारणा बदल गई है। महर्षि की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए तथा सत्यार्थप्रकाश के हित के लिए उनके लिपिकरों और संशोधकों द्वारा की गई त्रुटियों को अवश्य दूर किया जाना चाहिये।

२. मैंने देखा है, और मुझे प्रामाणिक जानकारी भी प्राप्त हो गई है कि कोई सम्पादक-प्रकाशक ऐसा नहीं है जिसने अपने संस्करण में द्वितीय संस्करण (सन् १८८४) की दृष्टि से कई-कई हजार संशोधन न किये हों, और अभी भी उनमें सैकड़ों संशोधनों की जरूरत है। इस तरह सबके संस्करण अलग-अलग हो गये हैं। इससे भी ज्यादा कष्टदायक बात यह है कि एक प्रकाशक के संस्करण भी आपस में मेल नहीं खाते। हजारों परिवर्तन-संशोधन स्वयं करके भी फिर वही लोग शोर मचाते हैं कि संशोधन नहीं करना चाहिए। मुझे उनका आचरण **'हाथी के दांत दिखाने के और, खाने के और'** जैसा पाखण्डपूर्ण लगा। जब सच्चाई सामने है तो वे उसको क्यों नहीं स्वीकार करते और संशोधन का उपाय क्यों नहीं करते? ऐसे लोगों ने ही प्रथम और द्वितीय संस्करण का झूठा झगड़ा खड़ा किया हुआ है।

३. यह सच्चाई सवा-सौ वर्षों में, सभी विद्वान् सम्पादकों द्वारा अपने-अपने संस्करण में संशोधन करने के बाद सामने आ चुकी है कि सत्यार्थप्रकाश का शुद्धतम संस्करण बनाने के लिए ऋषि के लेखकों-सम्पादकों द्वारा लापरवाही से छोड़ी गई त्रुटियों को ठीक करना ही पड़ेगा, तो उनको जल्दी-से-जल्दी कर लेना चाहिए। न करने में ऋषि की और उनके ग्रन्थ की हानि है; और जो अपने पूज्य ऋषि की हानि करता है वह ऋषिभक्त नहीं है। मैंने संकल्प लिया कि यदि कोई विद्वान् शुद्धतम संस्करण का कार्य करेगा, और यदि उसको कोई नहीं प्रकाशित करायेगा, तो मैं अवश्य कराऊंगा।

४. मैंने बैठक के बाद यह भी अनुभव किया कि इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए वर्तमान में कोई सर्वाधिक उपयुक्त और योग्य विद्वान् है तो वे डॉ० सुरेन्द्रकुमार जी हैं। मनुस्मृति पर किया गया उनका प्रक्षेपानुसन्धान और भाष्य का कार्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनको किसी प्रकार इस कार्य के लिए मैं तैयार करूंगा।

साधनों के अभाव में कुछ समय तक इन विचारों को मन में लिए बैठा रहा। एक दिन मैंने निश्चय किया कि मैं अपनी भावना और संकल्प डॉ० साहब के सामने रखूंगा। जब मैंने यह विचार रखा तो उन्होंने मेरी बातों को टाल दिया। अवसर पाकर दूसरी बार फिर मैंने उनसे सत्यार्थप्रकाश के शोधपूर्ण सम्पादन के लिए निवेदन किया। फिर उन्होंने इस विवादभरे कार्य में न पड़ने की सलाह दी। डॉ० साहब शोधकार्य की आवश्यकता के पक्षधर होते हुए भी स्वयं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते थे, किन्तु मेरे मन में तो एक धुन सवार हो चुकी थी। मैं इस निर्णय पर पहुंच चुका था कि इस शोधकार्य के होने से ही सत्यार्थप्रकाश का, महर्षि का और आर्यसमाज का हित है। बार-बार अनुरोध करके अन्ततः डॉ० साहब को इस शोधकार्य के लिए तैयार करने में मैं सफल हो ही गया।

जैसे-तैसे शोधकार्य आरम्भ हो गया। मामला अनुमान से बाहर का निकला। ज्यों-ज्यों चिन्तन होने लगा जटिलता पर जटिलता और समस्या पर समस्या सामने उभरती गई। उनके निवारण में सात वर्ष लग गये। अब वह कार्य आपके हाथों में है। इस शोधपूर्ण, शुद्धतम ऐतिहासिक संस्करण की अनेक विशेषताएं हैं—

१. यह शोधकार्य मुख्यतः ऋषिप्रोक्त मूलहस्तलेख, मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (सन् १८८४) पर आधारित है, किन्तु अन्य २५ से अधिक प्रमुख संस्करणों से मिलान करके निश्चित मानदण्डों के आधार पर पाठों का निर्धारण किया गया है।
२. लिपिकरों तथा आदि-सम्पादकों से जाने-अनजाने छूटी व्याकरण और वर्तनी आदि सम्बन्धी सभी प्रकार की त्रुटियों को इसमें यथामति दूर किया गया है, जो इस ग्रन्थ पर आरोप का आधार बनती थीं।
३. ऋषि के समर्थन में अनेक टिप्पणियां देकर उनके मन्तव्यों की सप्रमाण पुष्टि भी की है। पौराणिक लिपिकरों द्वारा इस ग्रन्थ के साथ की गई प्रमादपूर्ण लीला का भी अनेक टिप्पणियों में तथ्यपूर्वक प्रदर्शन है।
४. ऐसा कार्य सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन के आरम्भिक समय में ही हो जाना चाहिए था। बाद में टुकड़ों-टुकड़ों में कुछ कार्य हुआ जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि सत्यार्थप्रकाश का प्रत्येक संस्करण एक-दूसरे से भाषा की

दृष्टि से भिन्न होता गया। किसी धर्मग्रन्थ के लिए यह प्रामाणिकता-नाशक स्थिति है। डॉ० साहब ने इस संस्करण में यह प्रयास किया है कि इसका ऐसा परिष्कृत रूप बने जिस पर भविष्य में उंगली न उठे।

ऋषिहितैषी, दूरदर्शी बुद्धिमान् जन तो इस श्रम के महत्त्व को समझेंगे, किन्तु पक्षपाती, सीमित बुद्धि और अदूरदर्शी जन इसकी गम्भीरता को न समझ आरोप-प्रत्यारोप में भी उलझ सकते हैं। **मेरा ऐसे लोगों से निवेदन है कि उन्हें डॉ० साहब द्वारा लिखित मीमांसा पहले अवश्य पढ़कर यथार्थ स्थिति को समझना चाहिए, और यह भी समझना कि महर्षि और सत्यार्थप्रकाश का हित लिपिकरों तथा आदि-सम्पादकों द्वारा छोड़ी गई त्रुटियों को सतत बनाये रखने में नहीं है, अपितु उनको शीघ्रातिशीघ्र ठीक करने में है; अतः त्रुटियां अवश्य दूर करनी चाहियें।**

महर्षि दयानन्द कृत '**सत्यार्थप्रकाश**' विश्वसाहित्य की एक अनमोल कृति है। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त जो आर्ष ग्रन्थों की परम्परा रही है, यह उसी रत्नमाला का एक रत्न है। आर्यसमाज का तो यह एक धर्मशास्त्र है जिसमें उसके कर्त्तव्यों का वर्णन, सिद्धान्तों का निर्धारण और परम्परागत आर्ष शास्त्रों का निष्कर्ष है। महर्षि ने इसकी रचना मानव समाज के कल्याण के लिए की है। यह सत्यासत्य का निर्णायक और प्रेरक आप्त ग्रन्थ है।

महर्षि का जीवन भी सत्य पर आधारित था, इसलिए वे देवपुरुष थे, ऋषि थे, योगी थे और विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे, उन्होंने सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का सत्यासत्य की दृष्टि से अध्ययन किया और भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के सम्पूर्ण सत्य के यथार्थ को सत्यार्थप्रकाश के द्वारा प्रस्तुत किया। इसलिए इसका नाम 'सत्यार्थप्रकाश' रखा।

ऐसे दिव्य ग्रन्थ का अधिक से अधिक लोगों में प्रचार होना चाहिये, इसी भावना से '**सत्यधर्म-प्रकाशन**' की ओर से यह शोधपूर्ण शुद्धतम संस्करण प्रकाशित कर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकाशन के पीछे यह भावना रही है कि यह संस्करण बढ़िया से बढ़िया साजसज्जा के साथ आकर्षक रूप में निकाला जाये। इस अतीव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करके '**सत्यधर्म-प्रकाशन**' अपना सौभाग्य समझता है। सभी मत-मतान्तरों के अनुयायी अपने धर्मग्रन्थों को पूरी श्रद्धा के साथ सुन्दरतम रूप से प्रकाशित करते हैं। हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम सत्यार्थप्रकाश को प्रत्येक दृष्टि से ऐसा गौरवमय रूप दें कि उससे हमारी श्रद्धा-भावना झलके।

वैदिक धर्म और ऋषि दयानन्द की विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए मैंने अपने जीवन में साहित्य-प्रचार की साधना को लक्ष्य बनाया। जब मैंने प्रकाशन का निश्चय किया तो मेरे पास कुछ-सौ रुपये की जमा-पूंजी थी; किन्तु संकल्प के बल पर इस कार्य को '**सत्यधर्म प्रकाशन**' के नाम से आरम्भ कर दिया। आज परमात्मा की कृपा से दो-सौ पुस्तकें इसके अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी हैं। अच्छे कागज पर, उत्तम साज-सज्जा के साथ वैदिक साहित्य का प्रकाशन-प्रचार करना, मेरा निश्चय रहा है। इस शोधपूर्ण सत्यार्थप्रकाश को दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। **इस पर लाखों रुपये व्यय आये हैं। यदि आर्य जनता का आर्थिक सहयोग इस कार्य में मिले तो प्रकाशन का कार्य और बड़े स्तर पर किया जा सकता है। साहित्य प्रकाशन प्रचार का सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। आशा है आप भी 'सत्यधर्म प्रकाशन' को सहयोग देकर ऋषि के कार्य को आगे बढ़ाने में योगदान करेंगे और ऋषि-ऋण को चुकायेंगे।** डॉ० साहब का इस कार्य के लिए मैं शतशः धन्यवाद करता हूँ।

श्री महेन्द्र सिंह आर्य (करनाल) का मैं इस कार्य को सुन्दर ढंग से सम्पन्न करने के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। उन्होंने बहुत सुन्दर कम्पोजिंग पूरी श्रद्धा के साथ की है, अपितु इसमें अतिरिक्त श्रम भी सेवाभाव से किया है।

श्री रमेश आर्य, 'आर्य पुस्तक बन्धनालय, दिल्ली' के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इसको सुन्दर साज-सज्जा देकर, सुदृढ़-आकर्षक जिल्द बनाई है। उनका मार्गदर्शन मुझे सदा मिलता रहा है। उक्त दोनों सहयोगियों का सहयोग यदि मुझे प्राप्त नहीं होता तो इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं होता। अब पाठकों का सहयोग मुझे इस रूप में चाहिए कि वे इस परिश्रम और शोधपूर्वक तैयार किये गये धर्मग्रन्थ को श्रद्धापूर्वक पढ़ें और लाभ उठायें, तभी शोधकर्त्ता सम्पादक का और मेरा परिश्रम सफल होगा।

आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

प्रकाशक

इस शोध संस्करण की कंटकाकीर्ण और श्रमसाध्य यात्रा

सात साल के सतत स्वाध्याय-चिन्तन और शोध-श्रम के फलस्वरूप '**सत्यार्थप्रकाश**' का जो आज तक का सबसे शुद्ध-परिष्कृत, शोध-संस्करण निर्मित हो सका है, वह पाठकों के हाथों में है।

पाठकों से एक निवेदन अवश्य है कि वे इस संस्करण के विषय में कुछ भी धारणा बनाने से पूर्व '**सत्यार्थप्रकाश-मीमांसा**' नामक समीक्षाभाग अवश्य और ध्यान से पढ़ लें। उसके बाद ही इस शोधकार्य का मूल्यांकन करें, और वह भी समग्रता के साथ करें, एकांगी रूप से कुछ ही बातों को लेकर नहीं। किसी के कुछ भी कह देने भर से, अथवा किसी पूर्वाग्रह के कारण कोई धारणा न बनायें, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश और ऋषि-हित में इस शोधकार्य में महान् श्रम हुआ है। गत १२८ वर्षों में सम्पादित प्रमुख पच्चीसों संस्करणों के प्रमुख पाठान्तरों को उद्धृत करना, उनके संशोधनों की परीक्षा करना, विभिन्न समीक्षाओं का मूल्यांकन और फिर पाठ-निर्धारण करना अत्यन्त श्रम एवं समय-साध्य कार्य था।

कुछ निरे भावुक, पूर्वाग्रही, सत्यार्थप्रकाश के पाठालोचनविषयक ज्ञान से रहित, अदूरदर्शी और पक्ष-विशेष के लोगों को, उनकी पूर्वनिर्मित धारणा के कारण, प्रारम्भ में यह कार्य 'अप्रिय' प्रतीत हो सकता है। मेरा निवेदन है कि वे इस शोध कार्य को महर्षि द्वारा उद्धृत इस वचन के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार कर लें और विश्वास करें कि—

''**यत्तदग्रे विषमिव परिणामे-अमृतोपमम्**'' (गीता १८.३७, सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ११)

अर्थात् 'शोध-श्रमजन्य यह कार्य प्रारम्भ में विष के समान अर्थात् अप्रिय भले ही प्रतीत हो, किन्तु परिणाम में अमृत के समान कल्याण-साधक सिद्ध होगा।' यतो हि इस शोधकार्य का उद्देश्य ही सत्यार्थप्रकाश-हित और ऋषि-हित है।

प्रश्न उठता है कि इस शोध संस्करण की आवश्यकता क्यों हुई और अन्य अनेक संस्करणों के उपलब्ध रहते इसमें कौन-सी नयी विशेषता है? उत्तर में कहा जा सकता है कि इस शोध-संस्करण का पाठ-निर्धारण मूल-हस्तलेख, मुद्रणहस्तलेख, प्रथम संस्करण (१८७५), द्वितीय संस्करण (१८८४), परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित अनेक द्वितीय संस्करण और मूलप्रति संस्करण, द्वितीय संस्करण (वर्तमान), स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती, उदयपुर आदि संस्करणों और प्रमुख समीक्षक-विद्वानों के पाठों के तुलनात्मक पाठालोचन-पूर्वक कुछ साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर और शोध-प्रविधि से करने का प्रयत्न प्रथम बार किया गया है। अति-सामान्य और पुनः-पुनः आये पाठों को छोड़कर प्रायः सभी पाठों पर टिप्पणी दी गई है जिसमें विभिन्न संस्करणों में परिवर्तित व स्वीकृत पाठों का विवरण प्रदर्शित करते हुए समीक्षापूर्वक पाठ-निर्धारण करने का विनम्र तटस्थ प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त गूढ़, ऐतिहासिक व्याख्या-सापेक्ष और शंका-सापेक्ष स्थलों को स्पष्ट एवं संपुष्ट करने के लिए भाष्य-शैली में समाधानोपयोगी सामग्री भी दी गई है।

सत्यार्थप्रकाश के अब तक के इतिहास में, इस संस्करण में पहली बार एक महत्त्वपूर्ण जानकारी पाठकों को उपलब्ध कराई जा रही है। वह यह है कि मूलप्रति और मुद्रणप्रति में जो पाठ महर्षि दयानन्द ने अपने हस्तलेख में लिखे या संशोधित-परिवर्धित किये हैं उनके नीचे पृथक्-पृथक् रेखाएं अंकित करके उनकी जानकारी दी गई है। पाठक देखते ही जान जायेंगे कि अमुक पाठ किस हस्तलिखित प्रति में ऋषि ने अपने हाथ से लिखा है। उनमें से नीचे सीधी रेखा से अंकित पाठ मूलप्रति में हैं और वक्ररेखांकित पाठ मुद्रणप्रति में हैं। टिप्पणी में भी इसकी जानकारी दी है।

इस संस्करण का एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि यह ऋषि द्वारा सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप में निरीक्षित और परम्परा से प्रामाणिक मानी जाने वाली तीन प्रतियों—मूलप्रति, मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण (१८८४) पर मुख्यतः आधारित है। ऋषिप्रोक्त मूलप्रति के शुद्ध पाठ को प्राथमिक सम्मान और महत्त्व देते हुए जिस प्रति में अर्थ वैशिष्ट्य-युक्त और ऋषि-गौरव-वर्धक जो शुद्ध पाठ प्राप्त है, उसको ग्रहण किया गया है। वर्तनी, भाषा-रचनागत अशुद्धियों को

ऋषिकालीन भाषा शैली के परिप्रेक्ष्य में, व्याकरणिक आधार पर स्वीकृत या संशोधित किया है; यतो हि महर्षि ने भूमिका में व्याकरणिक शुद्धता के आधार की प्रतिज्ञा की है और अपनी भाषा में काव्यशास्त्रीय वाक्य-गुणों के होने की अपरिहार्यता की घोषणा स्वयं की है, अत: वे भी संशोधन के मानदण्ड हैं, जो स्वयं ऋषिप्रोक्त हैं।

तीनों प्रतियों को आधार बनाने की विशेषता को भी मैं इस संस्करण की उल्लेखनीय विशेषता इस कारण कह रहा हूँ, क्योंकि आज तक कोई भी संस्करण तीनों को समग्र आधार बनाकर तैयार नहीं हुआ। किसी सम्पादक को तीनों प्रतियां उपलब्ध ही नहीं हुई, किसी को हुईं तो उसने समग्रता से मिलान नहीं किया, और किसी ने समग्रता से मिलान किया भी, तो उसने तुलनात्मक रूप से शुद्ध और अर्थवैशिष्ट्य-युक्त सभी पाठों को ग्रहण नहीं किया। प्राय: सभी सम्पादक कथनों में तीनों प्रतियों को महर्षिकृत और प्रामाणिक मानते हुए भी व्यवहार में किसी एक संस्करण का पूर्वाग्रह अपनाकर कार्य करते रहे हैं जिससे दूसरे महर्षिकृत संस्करण या प्रति की उपेक्षा हुई है। जब किसी ने एक प्रति की उपेक्षा ही कर दी, तो उसको 'ऋषिकृत और प्रामाणिक' कहने-मानने का अर्थ ही कुछ नहीं रहा। उस स्थिति में सभी प्रतियों को ऋषिकृत और प्रामाणिक कहने का कथन एक शब्दाडम्बर बनकर रह जाता है।

सत्यार्थप्रकाश का प्रवक्ता और प्रामाणिक ऋषि एक ही है, किन्तु उसके अनुयायी आर्यों ने अपने बुद्धिभेद से उसके ग्रन्थ को अनेक संस्करणों की शाखाओं में बांट लिया, वह भी अत्यन्त सामान्य विभेदों के आधार पर, और केवल एक से डेढ प्रतिशत शब्दान्तरों के कारण। मत-मतान्तरों के विभेद की सर्वदा निन्दा-आलोचना करने वाला आर्यसमाज स्वयं बिना किसी सिद्धान्तभेद के, बिना किसी विशेष मान्यता के अन्तर के, बिना किसी महत्त्वपूर्ण कारण के लॉबी-बंद हो गया है। उसके सांगठनिक विभाजन के समान उसका धर्मग्रन्थ भी अनेक शाखाओं में विभाजित हो गया है। यह उसके लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। मैंने विचार किया कि इस शाखाभेद को दूर करना आर्यसमाज, ऋषि और सत्यार्थप्रकाश के हित में आवश्यक है। इस कार्य में अदूरदर्शी, अयोग्य, पूर्वाग्रही, और राजनीति-बाज लोगों की ओर से खड़ी की जाने वाली बाधाओं का अनुमान भी मुझे भलीभांति था किन्तु मैंने उन समस्त बाधाओं का मुकाबला करने का दृढ़ संकल्प किया और **आचार्य सत्यानन्द जी नैष्ठिक** द्वारा बार-बार प्रेरणा करने पर इस कार्य को सम्पन्न करने के 'अलोकप्रिय' कंटकाकीर्ण मार्ग पर मैं बढ़ चला।

समीक्षा या समालोचना साहित्य की एक स्वीकृत विधा है। इस शोध-संस्करण में प्रसंगानुसार, उपर्युक्त संस्करणों तथा अन्य प्रमुख समीक्षक विद्वानों की समालोचना करने का प्रसंग भी उपस्थित हुआ है। वह समालोचना किसी की अवमानना की भावना से नहीं की गई है, अपितु वैकल्पिक मत-विमत प्रदर्शित करने के लिए, और यदि कोई अयुक्त निष्कर्ष है, तो पाठकों के मस्तिष्क से उसके निवारण की इच्छा से की गई है। बिना युक्तियुक्त समालोचना के न तो किसी शंका-संदेह का निवारण होता है और न उस विषय का चिन्तन अग्रसर होता है, अत: सभी सम्बन्धित से मेरी विनति है कि वे उसको सहज साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में स्वीकार करें, निजता का विषय न बनायें। तुलनात्मक समीक्षा के बिना शोध-प्रक्रिया की सम्पन्नता और प्रस्तुत कार्योद्देश्य की सम्पूर्णता नहीं हो पा रही थी, अत: सम्पादकों की समीक्षा करना आवश्यक समझा गया। बड़े विद्वानों की समीक्षा करने को कुछ लोग अविनम्रता और असभ्यता कह बैठते हैं, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि यदि उनके द्वारा प्रस्तुत कोई विचार भ्रामक है तो वह भी उनके बड़प्पन के प्रभाव से पाठकों में तुरन्त जड़ जमा लेता है और दृढ़मूल हो जाता है। उसका उन्मूलन करना जितना आवश्यक होता है उतना ही कठिन भी होता है। उसके उन्मूलन में शक्ति और समय भी अधिक लगते हैं। जब तक वह विचार समूल उखड़ता नहीं तब तक वह महाकाय वृक्ष के समान अपने वर्चस्व की छाया में किसी अन्य युक्तियुक्त विचाररूपी बिरवे को पनपने नहीं देता, इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं। जैसे कि आज आर्यसमाज में कुछ लोगों ने अपने नये-नये 'गुरु', 'श्रद्धेय' या 'नेता' निर्धारित कर लिये हैं और स्वयं को उनके अनुयायी के रूप में समर्पित कर दिया है। वे जो कह देते हैं और वे जो लिख देते हैं, उसको "**बाबावाक्यं प्रमाणम्**" मानने लगते हैं, बिना चिन्तन किये और युक्तिप्रमाण के। स्थिति तब और भी चिन्तनीय बन जाती है जब अनुयायी जन लॉबी बनाकर अपने कथित 'श्रद्धेय', 'नेता' या 'गुरु' के अयुक्तियुक्त और भ्रामक विचार का भी बचाव कुतर्क, वितण्डा-पूर्वक करने में जुट जाते हैं और तब वे **'उन बड़ों के भी बड़े गुरु'**

महर्षि दयानन्द सरस्वती को उपेक्षित कर देते हैं। वे नाम तो ऋषि दयानन्द का लेते हैं किन्तु बात अपने-अपने 'नये गुरु', 'श्रद्धेय', 'नेता' के पक्ष की करते हैं। आर्यसमाज में शिष्य-परम्परा के नाम पर यह एक नये प्रकार का पौराणिकवाद पनपने लगा है जिसने औचित्य-अनौचित्य के भेद को उपेक्षित कर दिया है।

इस शोध-संस्करण में ऋषि-हित और सत्यार्थप्रकाश-हित को ही महत्त्व दिया है, व्यक्ति-भक्ति को नहीं। इस कार्य का पथ पूर्व विद्वानों द्वारा प्रवर्तित वही पुराना है, उद्देश्य भी वही है किन्तु शोध-प्रविधि नयी और कार्यशैली समग्रता से अनुप्राणित है। **यह सत्य है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसे प्रकाण्ड पण्डित 'सत्यार्थप्रकाश' में उपलब्ध त्रुटियां नहीं कर सकते, किन्तु लिपिकरों की अयोग्यता, प्रमाद और पौराणिक विचारधारा के प्रभाव से, आदि-सम्पादकों और शोधकों की मक्कारी और निष्ठाहीनता से, मुद्रकों की लापरवाही से, वैदिक यन्त्रालय की अव्यवस्था से और असमय में ऋषि का निर्वाण होने से सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण १८८४) में हजारों त्रुटियां विद्यमान रह गईं। जिस दिन वह प्रकाशित हुआ उसी दिन से संशोधन करना उसका अपरिहार्य कार्य हो गया।** प्रथम प्रयास के रूप में शोधक पंडितों ने उसी संस्करण में १४७ अशुद्धियों का शुद्धिपत्र संलग्न किया जबकि अशुद्धियां हजारों की संख्या में थीं। शेष अशुद्धियों और मुद्रणदोषों के संशोधन का कार्य परोपकारिणी सभा के तत्त्वावधान में आरम्भ हुआ। **तब पं० लेखराम 'आर्यपथिक'** ने सर्वप्रथम, अशुद्धियों की ओर परोपकारिणी सभा का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। परोपकारिणी सभा ने पंचम आवृत्ति पं० लेखराम से ही संशोधित करके छपवाई। उसके बाद ३९वीं आवृत्ति तक द्वितीय संस्करणों में अवशिष्ट अशुद्धियों के संशोधन के लिए परोपकारिणी सभा ने ५-६ समितियाँ समय-समय पर बनाईं जिनमें स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर, पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय, आचार्य भद्रसेन, पं० महेशप्रसाद मौलवी, डॉ० भवानीलाल भारतीय, श्री धर्मसिंह कोठारी, डॉ० रामप्रकाश राज्यसभा सांसद्, श्री विरजानन्द दैवकरणि सदृश विद्वान् एवं प्रबुद्ध आर्य जन थे। परोपकारिणी सभा का **'कापी राइट'** समाप्त होने के बाद प्रमुख आर्यविद्वानों ने स्वतन्त्र-संशोधित संस्करण भी प्रकाशित किये। उनमें सभी प्रकार की संशोधित अशुद्धियों और परिवर्तनों की संख्या अनुमानित रूप से निम्नप्रकार पाई जाती है—

परोपकारिणी सभा के ३४-३६ संस्करणों में	**२५००-३०००**
परोपकारिणी के मूलप्रति संस्करण (३७-३९) में	**१५००-२०००**
पं० भगवद्दत्त संस्करण में	**१५००-२०००**
स्वामी वेदानन्द सरस्वती संस्करण में	**२५००-३०००**
श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती संस्करण में	**२५००-३०००**
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली संस्करण में	**२५००-३०००**
पं० युधिष्ठिर मीमांसक संस्करण में [बढ़ाये गये शीर्षकों सहित]	**४०००-४५००**
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती सं० में [बढ़ाये गये शीर्षकों सहित]	**४०००-४५००**
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती संस्करण में	**अनगिनत संशोधन/प्रक्षेप**
सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर संस्करण में	**२५००-३०००**
सार्वदेशिक तथा प्रतिनिधि सभाओं द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करणों में	**२५००-३०००**
अन्य संस्थाओं एवं प्रकाशकों के द्वितीय संस्करणों में	**२५००-३०००**

यह विवरण दर्शाता है कि आज द्वितीय संस्करण (१८८४) नामक कोई सत्यार्थप्रकाश यथावत् प्रकाशित नहीं हो रहा है। उक्त विद्वानों तथा आर्य सभाओं द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण इस तथ्य के प्रबलतम साक्ष्य हैं कि द्वितीय संस्करण में संशोधन-परिवर्तन करना अपरिहार्य कार्य है और उसको आज तक सभी सम्पादकों ने किया भी है। जो लोग यह कहते-लिखते हैं कि द्वितीय संस्करण (१८८४) में संशोधन नहीं करने चाहियें और उसको यथावत् प्रकाशित करना चाहिये, वे पाखण्ड कर रहे हैं और पाठकों को गुमराह कर रहे हैं,

क्योंकि सन् १८८४ के बाद एक अपवाद को छोड़कर (जबकि वह भी यथावत् नहीं है), कभी कोई उसको यथावत् प्रकाशित करने को उद्यत नहीं हुआ। आज भी कोई तैयार नहीं है। संशोधन-विरोधियों के लिए श्रेयस्कर यही है कि बिना किसी विवाद के सत्यार्थप्रकाश की संशोधन-नियति को स्वीकार कर लें और इस दिशा में शीघ्रातिशीघ्र कार्य करना-कराना स्वीकार करें तथा जिसने किया है उसके उचित कार्य को कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करलें। यही सोच सत्यार्थप्रकाश के हित में है और यही कार्य ऋषि-हित में हैं।

यदि कोई व्यक्ति मेरे संशोधन-कार्य की आलोचना करना चाहता है, तो बेशक करे, किन्तु मेरे कार्य की आलोचना करने से पूर्व उसे उपर्युक्त २५-२६ विद्वानों/संस्करणों की आलोचना करनी पड़ेगी, क्योंकि यही कार्य मुझसे पूर्व उन्होंने किया है। मैं तो उन्हीं के मार्ग पर अग्रसर हुआ हूँ, उसी लक्ष्य को लेकर ही मैं चला हूँ। उनसे अवशिष्ट संशोधन-कार्य को मैंने मंजिल की ओर बढ़ाया है। पूर्व विद्वानों के और मेरे कार्य में, बस, विशेष अन्तर यही है कि १२८ वर्षों की अवधि में संशोधन का जो कार्य आंशिक रूप में तथा टुकड़ों में और पृथक्-पृथक् समय पर हुआ है, और जिसका दुष्परिणाम यह सामने आया कि सत्यार्थप्रकाश के सभी संस्करण, यहाँ तक कि एक प्रकाशक के भी अपने संस्करण, एक-दूसरे से भिन्न हो गये, उनमें पाठों की एकरूपता नष्ट हो गई जिससे सत्यार्थप्रकाश की मानकता व प्रामाणिकता का ह्रास हुआ। मैंने सवा शताब्दी के उन सभी प्रमुख संस्करणों को समेटकर उनका एकत्र, तुलनात्मक तटस्थ पाठालोचन प्रस्तुत किया है और टिप्पणी में उस कार्य का विवरण दर्शा दिया है। इस संस्करण की यह भी विशेषता है कि इसमें संशोधन-कार्य को समग्रता के साथ एक ही बार में प्रस्तुत किया है। यदि आरम्भिक काल में और एक ही बार समग्र संशोधन हमारे पूर्वकालीन विद्वान् कर देते, तो न तो आज इसके अनेक संस्करण बनते, न इस विषयक विवाद उत्पन्न होता, न संशोधन के नाम पर इसकी आज जैसी दुर्दशा होती और न आर्यजनों में सत्यार्थप्रकाश-विषयक अराजकता एवं विरोधिता पनपती और 'द्वितीय संस्करण' के नाम से अनेक सत्यार्थप्रकाश नहीं बनते।

इस प्रचलित शाखाभेद को मिटाकर '**शुद्धतम एकरूप संस्करण**' के निर्माण के लिए मैंने जब शोधकार्य करना आरम्भ किया तो यह निश्चय किया कि अधिकाधिक विचारशील प्रबुद्ध जनों से विचार-चर्चा करके आम सहमति का वातावरण बनाऊँ। इस क्रम में अनेक जनों से सद्भावपूर्ण वातावरण में चर्चा हुई और सकारात्मक सुझाव भी मिले। आदरणीय **प्रो० राजेन्द्र जी जिज्ञासु** (अबोहर) ऐसे मुखर विद्वान् हैं जिन्होंने इस शोध-कार्य के लिए मुझे भरपूर आशीर्वाद और प्रोत्साहन दिया। उन्होंने मुझे बताया कि स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी इसी प्रकार का कार्य कराना चाहते थे। मध्य में जब कभी कार्य की गति शिथिल हुई दिखाई पड़ती थी तो दूरभाष पर ओजस्वी सुर में निकला उनका यह वाक्य—''आपका सत्यार्थप्रकाश कब छप कर आ रहा है? हम तो बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहे हैं''—मेरे कार्य में, प्रोत्साहन के साथ फिर से तीव्रता ला देता था। वेद, व्याकरण, संस्कृत-साहित्य के सर्वोपरि विद्वान् **आचार्य सत्यानन्द जी वेदवागीश** तथा अन्य कुछ हितैषी विद्वानों का परामर्श था कि 'मैं इस अलोकप्रिय कार्य में समय-श्रम न लगाऊं', किन्तु तब तक मैं इसमें काफी समय-श्रम लगा चुका था। पं० जी ने इसके छह समुल्लासों का निरीक्षण कर मेरा उत्साहवर्धक मार्गदर्शन किया और आशीर्वाद भी दिया। **डॉ० धर्मवीर जी** मन्त्री परोपकारिणी सभा, अजमेर को कई बार हुए संवादों के उपरान्त जब मेरे कार्य की गम्भीरता, सटीकता, उपयोगिता और संभावित सुपरिणाम का आभास हुआ तो उन्हींने अपने युक्तियुक्त कथनों के द्वारा यह कह-कह कर मुझे उत्साहित किया कि ऐसे कार्य से सत्यार्थप्रकाश का हित ही होगा, इसलिए किसी भी परिस्थिति से न घबराते हुए इसमें समय-श्रम लगाते चलो, यह समझो कि यह ऋषि का कार्य है। आदरणीय **डॉ० भवानीलाल जी भारतीय** को उनके गंगानगर स्थित निवास पर रहते हुए दो बार मैंने अपने शोधकार्य की जानकारी दी और उनसे लम्बा विचार-विमर्श किया। **श्री धर्मपाल आर्य,** मन्त्री आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट से दैवी संयोगवश बार-बार और लम्बे-लम्बे समय तक विचार-विमर्श हुआ। यद्यपि उनका अपना एक चिन्तन पक्ष बना हुआ है तथापि तर्क, प्रमाण, तथ्याधारित बिन्दुओं को उन्होंने तत्काल स्वीकार किया। **श्री विरजानन्द दैवकरणि** की 'मूलप्रति संस्करण' के सम्पादन में एक बंधी हुई सीमा और नीति रही है , पुनरपि उसमें अवशिष्ट त्रुटियों और संशोधनों को स्वीकार करने में उन्होंने कभी दुराग्रह-हठ प्रदर्शित नहीं किया। आदरणीय **डॉ० रामप्रकाश जी** लेखक, सुवक्ता एवं राज्यसभा-सांसद्, **डॉ० राजेन्द्र विद्यालंकार** (कुरुक्षेत्र), **डॉ० वेदपाल जी** (बड़ौत, मेरठ), **आचार्य**

सत्यजित् जी (अजमेर) आदि अनेक महानुभावों से अनेकशः विचारों का आदान-प्रदान हुआ। आचार्य प्रदीप (रेवली गुरुकुल) ने बड़े परिश्रम और गम्भीरता से पूर्वार्ध भाग की मुद्रित अशुद्धियों का शोधन किया और अनेक ग्राह्य परामर्श भी दिये। अन्तिम मुद्रण हो जाने के कारण उनके कुछ उपयोगी समीक्षात्मक परामर्शों को टिप्पणियों में ग्रहण नहीं किया जा सका। उक्त सभी विद्वानों ने स्वाभिमत विचार रखे जिनमें कई संदर्भों में कुछ विचारभेद भी रहे। मुझे विश्वास है कि मेरे इस श्रमसाध्य संस्करण को गम्भीरता से पढ़ लेने के बाद, अन्वेषित नवीन तथ्यों और सप्रमाण तर्कों के आधार पर उनके विचारभेद अवश्य बदलेंगे।

सदाशयतापूर्वक 'आम सहमति' बनाने के अभियान से एक हानि भी हुई कि मेरे शोध-कार्य की चर्चाएं कुछ राजनीतिबाज, विषयज्ञान से रहित, अदूरदर्शी, ईर्ष्या-द्वेषी, मिथ्यादम्भी और दुराग्रही लोगों के कानों तक भी पहुँच गईं। बस फिर क्या था, उनके प्राकृत स्वभाव ने जोर मारा, और उन्होंने सहमति के सद्भाव में असहमति और विरोध का पलीता लगाने के अनेक असफल प्रयास किये। शोध और सम्पादन-कार्य अभी न तो सम्पन्न हुआ था और न मेरा संस्करण प्रकाशित ही हुआ था, उससे पूर्व ही कुछ लोगों ने निन्दा-आलोचना की और विरोध में वितण्डा और प्रोपेगैण्डा करना शुरू कर दिया। एक तथाकथित लेखक ने तो फलितज्योतिषी और शेखचिल्ली का अवतार बनकर बिना पढ़े और बिना छपे ही मेरे संस्करण का एक कल्पित नाम देकर अपनी ऊलजलूल समीक्षा छपवा डाली। यह समीक्षा ईर्ष्या-द्वेष, प्रतिशोध से सड़ी बुद्धि की द्योतक मूर्खतापूर्ण घटना थी। यह ऐसा कार्य था कि जैसे किसी के बेटे का जन्म ही नहीं हुआ हो और उससे पूर्व ही यह घोषणा कर दी जाये कि वह 'राम' बनेगा या 'रावण'। उन समीक्षाओं के प्रकाशक समाचार पत्रों ने भी अपने दिमाग का दिवालियापन प्रदर्शित कर दिया, क्योंकि उन्होंने भी यह नहीं सोचा कि जो पुस्तक अभी लिखी ही नहीं गई, जो अभी छपी भी नहीं है, जो पढ़ी ही नहीं गई, उसकी समीक्षा प्रकाशित करना कितना हास्यास्पद है!!

एक मित्र विद्वान् से मेरी कई बार समर्थनप्रद, सकारात्मक विचार-चर्चा हुई। उनकी लोकभीरुता, और पश्चात् जन्मी विरोधिता के कारण यहां उनका नामोल्लेख नहीं कर रहा हूँ। समयान्तर में, पता नहीं उनके साथ कौन-सी बौद्धिक दुर्घटना घटी कि जो कभी स्नेहिल वर्ग में थे, वे ज्वलन्त आलोचक होने तक की सीमा में भी स्वयं को बांधकर नहीं रख सके, और उसको भी लांघकर वे प्रखर विरोधी तथा सक्रिय निन्दक बन गये। इतने से भी उनको शान्ति नहीं मिली, उत्तरोत्तर और अधिक अग्रणी निन्दक के रूप में प्रस्तुत होते गये। उनके नैतिक पतन की पराकाष्ठा तो तब देखने को मिली जब यह जानकारी मिली कि उन्होंने इस विषय में एक अयोग्य महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के साथ मिलकर सत्यार्थप्रकाश की आड़ लेकर हमारे विरुद्ध एक न्यायालय में मुकद्दमा भी दायर कर दिया है जिसमें वे और उनके दो-तीन कथित आर्य विद्वान् साथी, जो आर्य-मंचों पर **'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्याग'** और प्रेम, सद्भाव, उदारता का उपदेश देते फिरते हैं, मिथ्या साक्षी बने हैं। कोर्ट के कटघरे में खड़े होकर मिथ्या साक्ष्य देने के संभावित विचार ने भी इन कथित आर्य विद्वानों के तन-मन में सिहरन पैदा नहीं की। ओह! ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य के दुर्विचार आर्य विद्वानों को भी कहां तक पतित कर देते हैं!!! उन्होंने अपनी सारी नैतिकता और आदर्श भस्मीभूत कर दिये!!

मैंने यह भी सोचा था कि अधिकाधिक विचारशील विद्वानों और प्रबुद्ध आर्यों से व्यक्तिगत स्तर पर चर्चा करके सत्यार्थप्रकाश का एक टिप्पणीरहित केवल शुद्ध पाठ प्रकाशित कर दिया जाये, जैसे कुरान, बाइबल और बौद्ध ग्रन्थों के संशोधन-पाठनिर्धारण शान्त-प्रक्रिया से किये गये हैं; किन्तु चर्चा की अवधि में ही और सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन के पूर्व ही कुछ तथाकथित विद्वानों और अविद्वानों ने मेरी असत्य आलोचना आरम्भ कर दी और वितण्डा, प्रोपेगैंडा, मिथ्या आरोप आरम्भ कर दिये। अन्ततः, मुझे विवश होकर टिप्पणी और समीक्षा सहित यह सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित करने का निर्णय लेना पड़ा और अपने पक्ष की पुष्टि में अधिकाधिक प्रमाण, तर्कयुक्त समीक्षाएं, प्रमाणयुक्त टिप्पणियां और विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करनी पड़ी।

सत्यार्थप्रकाश-हित और ऋषि-हित में श्रम करने को मैं धार्मिक और अपना पावन नैतिक कर्त्तव्य मानता रहा हूँ, इसी कारण जीवनभर इस दिशा में एक मिशनरी की तरह कार्य किया है, किन्तु यह देखकर मैं अचम्भित हुआ कि इस

कार्य में कुछ कथित आर्य लोगों ने ही बाधाएं डालीं। जैसा कि मैंने कहा है, सत्यार्थप्रकाश के सैकड़ों संस्करण छप चुके हैं, आज भी छप रहे हैं, किन्तु अन्य किसी के संस्करण को रोकने-रुकवाने का अवैधानिक षड्यन्त्र और पक्षपातपूर्ण कुत्सित प्रयास आजतक नहीं हुआ, किन्तु पता नहीं क्यों, केवल मेरे इस शोध संस्करण को रोकने के लिए लाबिंग करके सुनियोजित प्रयास किया गया। तब मुझे स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती द्वारा **''सिद्धान्त की ओट में स्वार्थ-सिद्धि''** शीर्षक के अन्तर्गत लिखे ये वाक्य स्मरण हो आये—

''आर्यसमाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती है, जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिसके साथ किसी कारण से उनका द्वेष हो गया है। ....ऋषि दयानन्द क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयं ही निर्णय करते हैं, दूसरे को उसमें 'ननु न च' करने का अधिकार नहीं देते।'' (वेद और आर्यसमाज, पृ० १३२-१३३)

यह सच है कि आर्यसमाज में आज भी ऐसे लेखक हैं जो वर्षों से वेदों, वैदिक सिद्धान्तों, ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों की ऋषि की मान्यताओं की प्रकाशनों के माध्यम से खुल्लमखुल्ला धज्जियां उड़ा रहे हैं। यह भी राज़ अब खुल चुका है कि उन लेखकों को इस विरोध की प्रेरणा देने वाले, उकसाने वाले वही दो विद्वान् थे जो आज मेरा विरोध कर रहे हैं। एक संन्यासी ने सत्यार्थप्रकाश से सिख-विरोधी समीक्षाएं निकाल देने की घोषणा की हुई है। एक आर्यविद्वान् जीवनभर ऋषि के सिद्धान्तविरुद्ध छह तार का यज्ञोपवीत धारण करता रहा। सिद्धान्त की आड़ लेने वाले कुछ का अपना सारा जीवन ही सिद्धान्त विरोधी आचरण पर टिका है। तब किसी को ऋषि-सिद्धान्त की याद ही नहीं आई। एक ऋषि-विरोधी कबीरपन्थी वर्षों से पुस्तकों, समाचारपत्रों, दूरदर्शन आदि के माध्यम से ऋषि दयानन्द के विरुद्ध असभ्यतापूर्वक निराधार विषवमन कर रहा है। ऐसी ऋषि-विरोधी स्थिति में भी उन कथित आर्यविद्वानों, आर्यजनों, संन्यासियों, नेताओं के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। कथित कुछ आर्य विद्वानों ने तो उनका विरोध करने या विरोध में लेख लिखने की बात तो छोड़िये, उनके विरुद्ध आज तक एक शब्द भी नहीं बोला है। विरोध में न गोष्ठियां कीं, न निन्दाप्रस्ताव पारित किये, न सम्मेलन किये, न उन्हें सिद्धान्त टूटते नज़र आये, न कभी मंचों से उनका उत्तर देना याद आया; किन्तु सत्यार्थप्रकाश के हित में जब मैंने शोध कार्य आरम्भ किया तो उसको बिना देखे-पढ़े ही निन्दा-आलोचना करने पर उतर आये। उन्होंने बाधा डालने के लिए कोई ऐसा कुत्सित हथकंडा नहीं छोड़ा जिसको न अपनाया हो। इस प्रकरण ने कुछ कथित विद्वानों, संन्यासियों, आर्यनेताओं का पक्षपाती, पाखण्डी और षड्यन्त्रकारी चरित्र बेपर्दा कर दिया!!

उत्तरदायी आर्यजन, आर्यविद्वान् और आर्य संन्यासी भी इतनी निकृष्ट मानसिकता के तथा विद्वेषी हो सकते हैं, ऐसी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उनकी हीन स्मृतियां जीवनभर मेरे मानस-पटल पर अंकित रहेंगी और संस्मरण-लेखन का आधार बनेंगी। आर्यसमाज का आगामी इतिहास भी इस दुर्भाग्य और दुरभिसन्धि-पूर्ण काण्ड का उल्लेख अवश्य करेगा तथा नायक और खलनायक पात्रों की पहचान करके पाठकों को बतायेगा; और यह भी बतायेगा कि कौन लोग सच्चे ऋषिभक्त थे और कौन ऋषि के नाम पर पाखण्ड और राजनीति कर रहे थे, और आज भी कर रहे हैं।

कुछ स्वार्थी और अयोग्य लोगों को जब नेतागिरी की स्वार्थपूर्ति का माध्यम नहीं मिला तो उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' को हथियार बना कर अपना कुत्सित खेल खेला। कुछ स्वार्थी लोगों ने 'सत्यार्थप्रकाश' के साथ एक नया मज़ाक बार-बार दोहराया जिसका दूसरा उदाहरण किसी बुद्धिजीवी समाज में नहीं मिलेगा। वह यह कि जिन्होंने जीवन में सत्यार्थप्रकाश पूरा भी नहीं पढ़ा, और पढ़ा है तो समझा नहीं है, ऐसे लोगों का जगह-जगह जमावड़ा करके उनके हाथ उठवा कर निर्णय का यह तमाशा करते रहे कि 'सत्यार्थप्रकाश यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है', 'अमुक संस्करण छपना-चाहिए', आदि। कोई साहित्यिक विषय या उत्तर भी आम जनों के वोट से निर्णीत किया जा सकता है, यह ऋषि-विरुद्ध और बुद्धिहीन विचार उक्त लोगों की ही देन है। ऐसा किसी मत-संगठन में नहीं होता, क्योंकि शास्त्रनिर्णय करना विशेषज्ञ लोगों का विषय होता है। महर्षि दयानन्द ने तो सहस्त्रों अज्ञानियों की तुलना में एक ही विद्वान् को अधिमान देने का निर्देश दिया है, किन्तु ऐसे लोगों को अपने स्वार्थ के सामने महर्षि के निर्देशों से क्या मतलब?

क्या उक्त लोगों ने अयोग्य लोगों से नेतृत्व और वोटिंग करा-करा कर सत्यार्थप्रकाश के स्तर को नहीं गिराया है?

क्या सत्यार्थप्रकाश का यही स्तर है कि कोई भी ऐरा-गेरा उस पर निर्णय दे दे? क्या किसी अन्य 'धर्मग्रन्थ' के साथ ऐसा स्तरहीन व्यवहार होते देखा है? सत्यार्थप्रकाश का यह अस्मिताहरण वे लोग कर रहे हैं जो पाठकों के सामने चिल्ला-चिल्लाकर सत्यार्थप्रकाश की 'अस्मिता' को बचाने का पाखण्ड करते हैं।

जो लोग ऋषिप्रोक्त शुद्ध पाठों के स्थान पर, ऋषि के वेतनभोगी नौकरों अर्थात् लिपिकरों-शोधकों द्वारा बदले गये पाठों को ऋषिपाठ से अधिक महत्त्व देकर उन पर अड़ते हैं, वे लिपिकर-भक्त तो कहे जा सकते हैं, ऋषिभक्त नहीं। जो लोग संशोधनों की 'मुंहदेखी प्रशंसा' और 'मुंहदेखी आलोचना' करते हैं वे पक्षपाती और पाखण्डी हैं। वस्तुतः, वे केवल अपने श्रद्धेय, लेखक, सम्पादक या नेता के भक्त हैं, उन श्रद्धेयों के भी श्रद्धेय ऋषि दयानन्द के भक्त और सत्यार्थप्रकाश-भक्त नहीं हैं। यह कहना कि हमने या अमुक सम्पादक-विशेष ने जो संशोधन कर दिये वे तो मान्य हैं, अन्यों के मान्य नहीं हैं; अमुक समय तक जो संशोधन हो गये वे मान्य हैं, उसके बाद के नहीं; यह सत्यार्थप्रकाश के नाम पर पक्षपात और दम्भ है। ऐसे लोग कार्य-साधक नहीं, बाधक होते हैं। उन्हें इतनी तो समझ होनी ही चाहिये कि **संशोधन व्यक्ति सापेक्ष नहीं होते अपितु अशुद्धि-सापेक्ष होते हैं।**

आर्यसमाज के कुछ विद्वानों और संन्यासियों का यह कटु यथार्थ है जो सत्यार्थप्रकाश पर शोध-कार्य करते हुए मेरे अनुभव में आया है कि जो स्वयं को वेदों, व्याकरण, या दर्शनों आदि का विद्वान् मानते हैं और इस अहंभाव से भावित होकर सत्यार्थप्रकाश के विषय में भी कुछ भी कह और लिख देते हैं, उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का पारायण तो किया होगा किन्तु अध्ययन-मनन-मन्थन नहीं किया है। यदि किया होता तो सत्यार्थप्रकाश में वर्षों से विद्यमान त्रुटियां-विसंगतियां उनकी पकड़ में क्यों नहीं आई? लिपिकर-शोधक-कृत अशुद्ध वर्तनियां, अप-वाक्यरचनाएं, त्रुटित भाषा एवं उद्धरण और वेदमन्त्र उनकी पकड़ में क्यों नहीं आये? संकलनकर्ताओं द्वारा किये गये श्लोकों, गाथाओं, आयतों के अपपाठ और अशुद्ध अर्थों को वे क्यों नहीं समझ सके? ऋषि-आशय के विरुद्ध प्रमादकृत या प्रक्षेपजन्य पाठों पर उनका ध्यान क्यों नहीं गया? संकलनकर्ताओं या प्रतिलिपिकर्ताओं द्वारा विधर्मियों की मान्यताओं की प्रस्तुति में की गई भूलों को वे क्यों नहीं जान सके? गणनापरक अशुद्धियां उनकी बुद्धि में क्यों नहीं आई? जबकि स्वयं ग्रन्थकार ऋषि ने और मुंशी समर्थदान ने बार-बार उक्त त्रुटियों की आशंकाओं को प्रकट किया है। '**स्वयं को बड़े विद्वान्**' मानने वाले कुछ जन तो असलियत में ही विदूषक ही सिद्ध हुए। मैंने अपने लेखों में लिखा था—''**यह पाठ मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित है और बिगाड़ा गया है।**'' उन्होंने लोगों के सामने इस वाक्य का यह अर्थ बताया कि 'यह महर्षि दयानन्द पर आरोप है।' आंखों पर पक्षपात का काला चश्मा लगाकर उन विद्वानों ने अपनी विद्वत्ता भी खोई है और अपनी छवि भी। जिस दिन अपने हृदय पर हाथ रखकर वे ईमानदारी से सोचेंगे तो 'सत्य को जाननेहारी' उनकी आत्मा उन्हें बता देगी कि इस प्रकरण में उनके द्वारा की गई बातें पक्षपातपूर्ण और हास्यास्पद थी।

सत्यार्थप्रकाश के संशोधन का कार्य विद्वानों का कार्य है और वह भी केवल सत्यार्थप्रकाश के विशेषज्ञ-विद्वानों का। जिस व्यक्ति ने सत्यार्थप्रकाश को पूर्णतः पढ़ा ही नहीं है, और पढ़ा है तो उस पर चिन्तन-मनन-मन्थन नहीं किया है, जिसने सत्यार्थप्रकाश की पाण्डुलिपियों का अध्ययन, मिलान और अनुशीलन नहीं किया, जिसने विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विश्लेषण नहीं किया, जिसे हिन्दी भाषा का व्याकरण-सहित और युगानुसारी ज्ञान नहीं, जिसे वैदिक शास्त्रों और ऋषि के सिद्धान्तों और मत-मतान्तरों का बोध नहीं, जो खींचातानी करके वाक्यबाह्य स्वकल्पित अनर्गल समाधान प्रस्तुत करता है, जिसका कोई पूर्वाग्रह और अहं है, जो तथ्यों के ज्ञान से रहित है और केवल भावुकता में विचार प्रकट करता है, जो पक्षपाती है, जो सत्यार्थप्रकाश की आड़ में राजनीति करता है या स्वार्थ साधता है, ऐसा व्यक्ति चाहे वह विद्वान् है या अविद्वान् है, चाहे वह किसी आर्यसमाज, सभा और संस्था का कार्यकर्त्ता या अधिकारी है, व्यापारी या नौकर है, जब ऐसे व्यक्ति सत्यार्थप्रकाश पर अपने अहंकारी निर्णय थोपने का यत्न करते हैं अथवा निर्णायक सम्मति देते हैं, तो सत्यार्थप्रकाश के साथ बड़ा मज़ाक होता है। ऐसे लोग अपने निर्णय देकर सत्यार्थप्रकाश के कार्य में बाधक ही बनते हैं और वातावरण को खराब करते हैं। वे यदि यह समझ रहे हैं कि हम ऋषिभक्त हैं और हम सत्यार्थप्रकाश का हित कर रहे हैं, तो वे इस भ्रम को अपने मस्तिष्क से जितना जल्दी निकाल देंगे, उतना ही जल्दी सत्यार्थप्रकाश का

भला होगा। हाँ, जिज्ञासा या प्रश्न करने का और परामर्श देने का प्रत्येक स्वाध्यायी आर्य का अधिकार है, किन्तु जो विद्वान्, अविद्वान् और अधिकारी जन ऐसा व्यवहार करते हैं कि जैसे प्रत्येक पुस्तक उनसे पूछकर लिखी जानी चाहिए और उनसे पूछकर छपनी चाहिए, और वे जो सोचते-कहते हैं वही ठीक है तथा वही पुस्तक में लिखा जाना चाहिए, तो यह उनके मिथ्यादम्भ और असभ्यता की पराकाष्ठा है।

दुर्भाग्य से, आज आर्यसमाज में कुछ लोग अपनी अयोग्यता, समयोग्यता और अधिक योग्यता को विचारे बिना ही आलोच्य व्यक्ति की आलोचना और कलह उत्पन्न करने को 'आर्यत्व' का लक्षण मान बैठे हैं। प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक स्थिति में दूसरे की आलोचना करने की उनकी प्रवृत्ति-सी बन गई है। जब कोई सम्पादक बिना टिप्पणी दिये चुपचाप संशोधन करता है तो वे कहते फिरते हैं कि 'इसने जरूर कोई गड़बड़ की है' और उसे 'धोखेबाज', 'आस्तीन का सांप' जैसे निन्दित विशेषण देने में भी नहीं लजाते। जब कोई टिप्पणी देकर एक-एक तथ्य को पाठकों के समक्ष रखकर संशोधन करता है तो कहते फिरते हैं कि अमुक सम्पादक ने विरोधियों को 'हथियार' दे दिये, अमुक ने विरोधियों को आलोचना की सामग्री उपलब्ध करा दी, आदि। वे विचारहीन लोग यही नहीं सोच पाते कि जिन्हें वे 'हथियार' कह रहे हैं वे तो उनके संस्करणों में ही तो भरे पड़े हैं। यदि उनके मतानुसार वे 'हथियार' हैं और वे 'हथियार' आपत्तिजनक भी हैं जो उन्हें क्यों नहीं निकाल बाहर करते? उनको कब तक दबाये रख सकेंगे? वे यह भी नहीं सोचते कि वे त्रुटियाँ तो सवा सौ से अधिक वर्षों से सत्यार्थप्रकाश में छपती आ रही हैं और वे अनेक संस्करणों में पहले से ही उजागर हैं। गलती तो उन प्रकाशकों की है जो उन गलतियों को अब तक प्रकाशित करते आ रहे हैं। आपत्ति तो इस बात पर करनी चाहिये कि सवा-सौ वर्षों में सत्यार्थप्रकाश का शुद्धतम संस्करण क्यों नहीं प्रस्तुत किया जा सका? जिन लोगों ने त्रुटियों को सुझाया है उनकी कृतज्ञता को स्वीकार करना चाहिये, न कि आलोचना करनी चाहिये। यह अनुभूत सत्य है कि ईर्ष्या-द्वेषी, मिथ्यादम्भी, कलहप्रिय, और अनुदार लोगों से कृतज्ञता स्वीकार करने की आशा करना 'मृगतृष्णा' मात्र है। मिथ्यादम्भ और कलह आर्यसमाज के घुन बन चुके हैं।

सत्यार्थप्रकाश के प्रकरण में कुछ आर्य विद्वान् और पाठक एक-दूसरे पर हठी-दुराग्रही होने का आरोप लगाते आ रहे हैं। अनुभव में यह आया है कि मूलप्रति संस्करण को मानने वाले आर्यजन तो किसी भी तर्क-प्रमाणयुक्त परामर्श या संशोधन को स्वीकार करने को उद्यत दिखाई पड़ते हैं, **किन्तु द्वितीय संस्करण के पक्षधर अपनी निराधार बातों पर भी हठ और दुराग्रह पर आज भी डटे हैं,** जबकि उनकी धारणाएं तथ्यविरुद्ध हैं। वे अहं वश और निजी कारणों से उन्हें नहीं छोड़ना चाहते, यथा—१. सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण का लेखन उदयपुर के नवलखा महल में बैठकर किया था, जबकि प्रबल लिखित ऐतिहासिक साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि उसका लेखन उदयपुर में आने से बहुत पहले किया जा चुका था, यहां तक कि उसकी '**मुद्रणप्रति**' भी पहले ही तैयार कराई जा चुकी थी। उदयपुर आकर तो महर्षि ने केवल उसको प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजना आरम्भ किया था। २. द्वितीय संस्करण (१८८४) महर्षि के जीवनकाल में छप चुका था। ३. द्वितीय संस्करण और उसकी आधारप्रति मुद्रणप्रति का महर्षि ने पूर्णतः निरीक्षण-संशोधन किया था अतः वे प्रामाणिक हैं, जबकि सत्य यह है कि द्वितीय संस्करण का आधे का ही (प्रकाशित पृष्ठ ३२० तक) और मुद्रणप्रति का आधे १३वें समुल्लास (पृष्ठ ३४४ तक ही) महर्षि निरीक्षण-संशोधन कर पाये थे। ४. मुद्रण दोषों को छोड़कर द्वितीय संस्करण में कोई अशुद्धि नहीं है, जबकि स्वयं महर्षि लिपिकरकृत अनेक प्रकार की अशुद्धियों का होना स्वीकार करते हैं। ऐसा ही मुंशी समर्थदान जी मानते हैं। कुछ का भ्रान्त मन्तव्य है कि द्वितीय संस्करण में एक-एक शब्द ऋषि का है अतः उसमें एक भी शब्द का परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये। हालांकि इस मन्तव्य पर आज तक कोई सम्पादक-प्रकाशक टिक नहीं पाया है, फिर भी मिथ्या आग्रह करके भावुक आर्यों को बरगलाया जाता है। ५. कुछ का बेतुका विचारहीन मन्तव्य है कि यदि कहीं परिवर्तन-संशोधन करना भी पड़े तो मूल में बिल्कुल नहीं करना चाहिये, केवल टिप्पणी में ही उसको प्रदर्शित करना चाहिये। ६. द्वितीय संस्करण (१८८४) आधारप्रति है, जबकि प्रथम और मुख्य आधारप्रति केवल 'मूलप्रति' ही हो सकती है जो पूर्णतः ऋषिप्रोक्त और ऋषि द्वारा दो बार संशोधित है। हजारों भिन्न-भिन्न संशोधन करने के बाद जितने द्वितीय संस्करण छपे हैं, उतने ही पृथक् सत्यार्थप्रकाश बन गये हैं, किन्तु **ये लोग सबको एक नाम 'द्वितीय संस्करण' देते हैं, जबकि मूल द्वितीय संस्करण (१८८४) से उनमें दिन-रात का**

अन्तर आ चुका है। इतना पाठान्तर हो चुका है कि उतना तो मूलप्रति संस्करण और द्वितीय संस्करण में भी परस्पर नहीं है, जिनको लेकर व्यर्थ कलह मचाये हुए हैं। ७. ये लोग तर्क-प्रमाण-पूर्वक अशुद्धियां सुझाने पर भी नहीं मानते, मान भी लेते हैं तो संशोधन नहीं करते। ८. अशुद्धियों विषयक उत्तर या समाधान मांगने पर या तो उत्तर नहीं देते, या खींचातानी करके वाक्यबाह्य, अनर्गल, बेतुके और तर्क-प्रमाण रहित हठपूर्ण उत्तर देने का प्रयास करते हैं। ९. यह सिद्ध होने पर भी कि अमुक पाठ ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित है और अमुक लिपिकर-शोधककृत है, फिर भी महर्षि के शुद्धपाठ का तिरस्कार करते हैं और उनके नौकरों अर्थात् लिपिकरों-शोधकों के पाठ को अधिमान देते हैं। उसके बाद भी धृष्टतापूर्वक स्वयं को 'ऋषिभक्त' कहते हैं और ऋषिपाठ को अधिमान देने वालों को 'ऋषिद्रोही'। १०. मूलप्रति संस्करण के पक्षधर विद्वान् उचित संशोधन को बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वीकार करने को उद्यत रहते हैं जबकि द्वितीय संस्करण के नामलेवा विद्वान् अपनी प्रत्येक बात को हठ, दुराग्रह, अहं और प्रतिष्ठा का विषय बनाकर उस पर विवाद उत्पन्न करते हैं। ११. उनका आश्चर्यचकित करने वाला विरोधाभासी आचरण यह है कि जब भी मन में आता है वे स्वयं मनचाहे परिवर्तन-संशोधन कर लेते हैं, किन्तु दूसरों द्वारा परिवर्तन-संशोधन करने पर उन पर आरोप लगाते हैं। १२. उनके द्वारा स्वयं संशोधन करने के बाद निश्चित रूप से उस पाठ में भाषा-भाव का परिवर्तन हुआ है, किन्तु भाषा-भाव परिवर्तन का आरोप दूसरों पर थोपते हैं। ऐसे कुछ लोग आर्य जनता को दूसरों का नाम लेकर उन्हीं कार्यों पर भड़काते हैं जो काम वे स्वयं कर रहे होते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग ही असली हठी और दुराग्रही हैं जो पाखण्डयुक्त दोहरा चरित्र एक साथ जीते हैं और सत्यों तथा तथ्यों को स्वीकार ही नहीं करते हैं।

समस्त बाधाओं को पार करके, प्रकाशित होकर, यह शोध-संस्करण आज पाठकों के कर-कमलों में है। इसका सर्वाधिक श्रेय 'सत्यधर्म प्रकाशन' के संचालक **आचार्य सत्यानन्द जी नैष्ठिक** को जाता है। सत्यार्थप्रकाश पर इस शोधकार्य को करने के लिए उन्होंने मुझे न केवल बार-बार प्रेरित ही किया अपितु बाध्य कर दिया। यदि वे बार-बार प्रेरित नहीं करते तो 'तात्कालिक अलोकप्रिय' इस कार्य को करने के लिए मैं कभी उद्यत नहीं होता। उन्होंने इसको प्रकाशित करने का भी वचन दिया था और आज लाखों रुपये खर्च करके, अति सुन्दर साज-सज्जा में प्रकाशित करके न केवल उस वचन को पूरा किया है अपितु सच्चे श्रद्धाभाव का प्रमाण दिया है। 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रति उनकी श्रद्धा अनुकरणीय है, ऋषि के प्रति उनकी निष्ठा उल्लेखनीय है। इस कार्य के लिए मैं उनका किन शब्दों में और कितना धन्यवाद करूँ, समझ नहीं आता। बस, यही कहूँगा कि मैं उनका सर्वात्मना धन्यवाद करता हूँ। सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में उनको सदा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जायेगा।

आचार्य सत्यानन्द जी नैष्ठिक दृढ़संकल्प, निडरता और पुरुषार्थ के धनी हैं। जब वे कोई संकल्प कर लेते हैं तो फिर न किसी का भय मानते हैं, न बाधा को गिनते हैं और न उससे पीछे हटते हैं। अधेड़ उम्र में शिक्षा प्राप्त करने की लग्न लग जाने पर इन्हीं गुणों के कारण वे कृतकार्य हुए। धनाभाव होते हुए भी अपने पुरुषार्थ के बल पर प्रचारार्थ **'सत्यधर्म प्रकाशन'** का कार्य आरम्भ किया और आर्यजगत् में सर्वप्रथम उत्तम कागज और सुन्दर साज-सज्जा युक्त प्रकाशन करने के इतिहास का सूत्रपात किया। कुछ ही वर्षों में वे आर्य साहित्य-विषयक दो-सौ पुस्तकें प्रकाशित करने में सफल हो गये हैं। आर्य-साहित्य के प्रचार-प्रसार में और उसके पुनः प्रकाशन में उनका उल्लेखनीय योगदान है। यह 'सत्यार्थप्रकाश' उन सबमें एक ऐतिहासिक और अपूर्व प्रकाशन है।

अन्त में, एक पुरातन कथा को उद्धृत कर अपने कथन को पूर्ण करता हूँ। वैदिक काल की बात है कि देव और दानववंशी दो भ्राताजनों में कुछ विवाद उत्पन्न होने पर उन्होंने अमृत की आकांक्षा से क्षीरसागर का मन्थन किया। दुर्भाग्य से, उस मन्थन से अमृत के साथ विष भी प्रकट हो गया, जिसका पान पूर्व प्रतिज्ञा-अनुसार देववंशी शिव को करना पड़ा, क्योंकि उसका लक्ष्य ही 'शिव' था। 'सत्यार्थप्रकाश' रूपी क्षीरसागर के मन्थन में संशोधन-रूपी अमृत तो प्रकट हुआ, किन्तु दुर्भाग्य से, निन्दा-आलोचना, वितण्डा-प्रोपेगैंडा, मात्सर्य-वैमनस्य रूपी विष भी प्रकट हो गया। विष मेरे हिस्से में आया है और अमृत पाठकों के हिस्से में। मेरे विषजन्य दुष्प्रभाव को भी काल-रूपी औषध धीरे-धीरे क्षीण कर देगी। पाठकगण! अब आप प्रसन्न होकर अमृतपान का आनन्द लें। मेरे जीवनकाल में नहीं, तो उसके बाद एक

दिन मेरे शोध-आधारित और तर्काधारित निष्कर्षों को अवश्य स्वीकार किया जायेगा, जैसे स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती और पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि के संशोधनों को लेकर कुछ अदूरदर्शी और पूर्वाग्रही लोगों ने उनकी पहले खूब निन्दा-आलोचना की, किन्तु अब उनको कुछ ने सादर और कुछ ने चुपके-चुपके स्वीकार कर लिया है, ऐसा मुझे भी विश्वास है। इस कार्य के लिए मैंने सुविधाओं-असुविधाओं को भुलाकर, रात-दिन एक करके तपस्या करते हुए, एक मिशनरी की तरह अपने जीवन के सात वर्षों का बहुमूल्य समय-श्रम समर्पित किया है, ताकि अपने धर्मशास्त्र सत्यार्थप्रकाश का हित-सम्पादन हो सके और ग्रन्थकार ऋषि की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रह सके। पाठकों को इस शोधसंस्करण में बहुत सारी नयी सामग्री, नया चिन्तन और नव्य शोध मिलेगा जो पहली बार पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। यदि उसे तटस्थ भाव से पढ़ेंगे तो आपको अवश्य ही हार्दिक प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि का अनुभव होगा।

गुड़गांव (हरियाणा) **डॉ० सुरेन्द्रकुमार**
दिनांक १२.०१.२०१२

इस शोध-संस्करण की विशेषताएं : एक दृष्टि में—

१. **सत्यार्थप्रकाश का अब तक का यह सर्वाधिक शोधयुक्त सबसे शुद्ध संस्करण है। शोधकार्य साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर शोध-प्रविधि से और समग्रतायुक्त है। इतने बड़े स्तर पर गम्भीर शोध कार्य इससे पहले कभी नहीं हुआ है।**

२. **मूलहस्तलेख, मुद्रणहस्तलेख, द्वितीय संस्करण (१८८४) इन तीन आरम्भिक प्रतियों को आधार मानकर और अब तक प्रकाशित २५ से अधिक संस्करणों के तुलनात्मक पाठालोचन-पूर्वक इसमें पाठनिर्धारण किया गया है और उसका विवरण टिप्पणी में दर्शाया गया है।**

३. **सत्यार्थप्रकाश में प्राप्त सभी त्रुटियों से ग्रन्थकार ऋषि को मुक्त रखा गया है और यह सिद्ध किया है कि उन त्रुटियों के जिम्मेदार लिपिकर और आदिशोधक हैं। इस प्रकार यह ऋषि दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश का गौरववर्धक संस्करण है।**

४. **दोनों हस्तलेखों में संशोधन के समय ऋषि द्वारा लिखित शब्दों, वाक्यांशों, वाक्यों आदि को रेखांकित करके और टिप्पणी देकर उससे पाठकों को अवगत कराया गया है। यह प्रयास सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में पहली बार हुआ है।**

५. **ऐतिहासिक स्थलों पर परिचयात्मक विवरण, व्यक्तियों का परिचय तथा शंका-सापेक्ष स्थलों पर समाधानोपयोगी सामग्री भाष्य शैली में है।**

६. **सत्यार्थप्रकाश की संशोधन-परम्परा और इतिहास का सप्रमाण और विस्तृत विवरण है।**

७. **उत्तरार्ध भाग में सभी आयतों का मिलान करके उन पर संख्या भी दी गई है और जैन-कारिकाओं का मिलान करके टिप्पणी में सब के हिन्दी-अर्थ दिये गये हैं।**

८. **पाठकों की सुविधा के लिए अनेक अनुक्रमणिकाओं से सुशोभित है।**

सत्यार्थप्रकाशस्थ संक्षिप्ताक्षर एवं प्रयुक्त संस्करणों की अनुक्रमणी

(——) सीधी रेखा जिन पाठों के नीचे है, वे मूलप्रति हस्तलेख में ऋषि के हस्तलेख में लिखित या संशोधित हैं।

(~~~~) वक्र रेखा वाले पाठ मुद्रणप्रति हस्तलेख में ऋषि के हस्तलेख में लिखित या संशोधित हैं।

अ०	=	अध्याय
अथर्व०	=	अथर्ववेद (परोपकारिणी सभा)
अनु०	=	अनुवाक
अ०पा०	=	अध्याय, पाद
अर्थ०	=	अर्थशास्त्र
अष्टा०	=	अष्टाध्यायी
आ०/ आह्नि०	=	आह्निक
आ०	=	आयत (बाइबल, क़ुरान) (समु० १३, १४ में)
आश्व०गृ०सू०	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्व०श्रौत०	=	आश्वलायन श्रौतसूत्र
इं०	=	इंजील (बाइबल)
ई०पू०	=	ईसवी पूर्व
उणादि०	=	उणादिकोश
उद्०	=	उद्धरण
उदयपुर सं०	=	'सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर' द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश (जुलाई, सन् २०१०)।
उप०	=	उपनिषद्
उप०	=	उपदेश
उप०मं०	=	उपदेश मंजरी, ऋषिदयानन्दकृत
उ०पु०	=	उपदेश की पुस्तक (बाइबल)
ऋ०/ऋग्०	=	ऋग्वेद (परोपकारिणी सभा)
ऋग्०भाष्य	=	ऋग्वेदभाष्य
ऋ०भा०भू०	=	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐत०आर०	=	ऐतरेय आरण्यक
ऐत०उप०	=	ऐतरेय उपनिषद्
ऐत०ब्रा०	=	ऐतरेय ब्राह्मण
कं०	=	कंडिका/ कण्डिका
कठ०उप०	=	कठ उपनिषद्
कठोप०	=	कठोपनिषद्
कां०	=	कांड/ काण्ड
केनोप०	=	केनोपनिषद्
खं०	=	खंड/ खण्ड
गृहा०	=	गृहाश्रम
गो०ब्रा०/गोपथ ब्रा०	=	गोपथ ब्राह्मण
चा०नी०	=	चाणक्य नीति
छान्दोग्य उप०	=	छान्दोग्य उपनिषद्
जग	=	पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश
जस	=	स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश
टि०	=	टिप्पणी
डॉ०	=	डॉक्टर
ताण्डय	=	ताण्डय ब्राह्मण
तीनों सं०	=	द्वितीय संस्करण सन् १८८४, द्वितीय संस्करण वर्तमान, मूलप्रति संस्करण (परोपकारी)
तैत्ति०	=	तैत्तिरीय
तैत्ति०आ०	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति०उप०	=	तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्ति० ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीयोप०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति०सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
तौ०	=	तौरेत (बाइबल)
दया०	=	दयानन्द ऋषि
दोनों सं०	=	द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति, सन् १८८४) तथा द्वितीय संस्करण, २००३, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६ (सभी द्वि०सं० का प्रतीक)
दोनों हस्त०	=	मूलप्रति हस्तलेख और मुद्रणप्रति हस्तलेख।

द्विप्र०	=	द्वितीय संस्करण, सत्यार्थप्रकाश सन् १८८४ में प्रकाशित (प्रथमावृत्ति)
द्वि०सं०	=	द्वितीय संस्करण, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली, ५५वीं आवृत्ति सन् २००३
द्वि०समु०	=	द्वितीय समुल्लास
द्र०	=	द्रष्टव्य
द्र०पृ०	=	द्रष्टव्य पृष्ठ
नारदपु०	=	नारदपुराण
न्याय०	=	न्यायदर्शन
प०	=	पर्व (बाइबल)
परोप०	=	परोपकारिणी सभा अजमेर से छपे अनेक द्वितीय संस्करण
पं०	=	पंडित/ पण्डित
पद्मपु०	=	पद्मपुराण
पार०गृह्य०	=	पारस्कर गृह्यसूत्र
पु०	=	पुस्तक
पृ०	=	पृष्ठ
प्र०/प्रपा०	=	प्रपाठक
प्रकरण०	=	प्रकरणरत्नाकर (जैन)
प्रथम सं०	=	प्रथम संस्करण, सत्यार्थप्रकाश, सन् १८७५ में राजा जयकृष्णदास द्वारा प्रकाशित।
बृ०कोष्ठक	=	बृहत् कोष्ठक
बृह०उप०	=	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा०श्रौ०	=	बौधायन श्रौतसूत्र
ब्रह्म०	=	ब्रह्मानन्दवल्ली
ब्रा०	=	ब्राह्मण (ग्रन्थ)
भद	=	पण्डित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, सन् २००८ में। प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली।
भाग०/भाग०पु०	=	भागवत पुराण
मं०	=	मन्त्र
मं० (समु० १४ में)	=	मंजिल (क़ुरान)
म०	=	मण्डल
मनु०	=	मनुस्मृति
महा०	=	महाभारत (गीता प्रेस गोरखपुर)
महा०अनु०	=	महाभारत अनुशासनपर्व
महा०आश्रमवासिक०	=	महाभारत आश्रमवासिकपर्व
महा०उद्योग०	=	महाभारत उद्योगपर्व
महा०द्रोण०	=	महाभारत द्रोणपर्व
महा०भीष्म०	=	महाभारत भीष्मपर्व
महा०वन०	=	महाभारत वनपर्व
महा०शल्य०	=	महाभारत शल्यपर्व
महा०शान्ति०	=	महाभारत शान्तिपर्व
महा०सभा०	=	महाभारत सभापर्व
माण्डूक्य०	=	माण्डूक्य उपनिषद्
मुण्डक०	=	मुण्डक उपनिषद्
मुद्रणह०/मुद्रणहस्त०	=	मुद्रणहस्तलेख= मुद्रणप्रति सत्यार्थप्रकाश, लिपिकर द्वारा की गई प्रतिलिपि, प्रकाशनार्थ।
मूलप्रति सं०	=	मूलप्रति संस्करण, परोपकारिणी सभा अजमेर, ३९वां संस्करण, सन् २००५
मूलह०/मूलहस्त०	=	मूलहस्तलेख सत्यार्थप्रकाश, महर्षि दयानन्द द्वारा बोलकर लिखाई गई मूलपति।
यजु०/ यजु:	=	यजुर्वेद (परोपकारिणी सभा)
यजु० भाष्य	=	यजुर्वेद भाष्य
युमी	=	पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, सन् १९७५, रामलाल कपूर ट्रस्ट।
यो०प्र०	=	योहन प्रकाशित वाक्य (बाइबल)
योहन सु०	=	योहन सुसमाचार (बाइबल)
रामा०	=	रामायण वाल्मीकीय (गीता प्रेस गोरखपुर)
रामा०अयोध्या०	=	रामायण अयोध्याकाण्ड
रामा०अरण्य०	=	रामायण अरण्यकाण्ड
रामा०उत्तर०	=	रामायण उत्तरकाण्ड
रामा०बाल०	=	रामायण बालकाण्ड
रामा०युद्ध०	=	रामायण युद्धकाण्ड
रामा०सुन्दर०	=	रामायण सुन्दरकाण्ड
लघुक्षेत्रस०	=	लघुक्षेत्रसमास प्रकरण (जैन)
लघु ग्र०सं०	=	लघु ग्रन्थसंग्रह, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६।
लै०व्य०पु०	=	लैव्यव्यवस्था की पुस्तक (बाइबल)

व०	=	वर्ग	शार्ङ्गधर०	=	शार्ङ्गधर संहिता
वा०भा०	=	वात्स्यायन भाष्य (न्यायदर्शन)	शोधसं०	=	शोध संस्करण (यह संस्करण जो पाठकों के हाथों में है)
वायु०	=	वायुपुराण			
विष्णुपु०	=	विष्णुपुराण	सं०	=	संस्करण
विस	=	स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, सन् रामलाल कपूर ट्रस्ट।	संस्कार०/सं०वि०	=	संस्कारविधि
			समु०	=	समुल्लास
			स०प्र०	=	सत्यार्थप्रकाश
वेदान्त०	=	वेदान्तदर्शन	साम०	=	सामवेद (परोपकारिणी सभा)
वेस	=	वेदानन्द सरस्वती स्वामी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश,	सामब्रा०	=	सामब्राह्मण
			सि०	=	सिपारा (क़ुरान)
वै०/ वैशे०	=	वैशेषिकदर्शन	सू०	=	सूत्र
व्या०म०	=	व्याकरण महाभाष्य, पतंजलिमुनि रचित।	सू० (समु० १४ में)	=	सूरत, सूरा (क़ुरान)
			हरिवंशपु०	=	हरिवंशपुराण
शत०ब्रा०	=	शतपथ ब्राह्मण	हस्त०	=	हस्तलेख (सत्यार्थप्रकाश की पांडुलिपि)
शांखा०श्रौत०	=	शांखायन श्रौतसूत्र			

यह ग्रन्थ मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए रचा है

''यद्यपि मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेहारा है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़, असत्य पर झुक जाता है, परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है, और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि का तात्पर्य है; किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें [यही मेरा तात्पर्य है]; क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्यजाति की उन्नति का कारण नहीं है।''

—महर्षि दयानन्द सरस्वती (भूमिका, पृष्ठ ९)

सत्यार्थप्रकाश-मीमांसा (प्राक्कथन)

'सत्यार्थप्रकाश-मीमांसा' की विषयसूची

प्रथम अध्याय—लिपिकरों-शोधकों द्वारा की गई त्रुटियों को महर्षि के नाम पर कब तक झेलते रहेंगे ? **(२५-३९)**

१. सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान त्रुटियों का उत्तरदायी कौन ? २५

२. संशोधन-विरोधियों की विडम्बनापूर्ण मानसिकता ३५

३. सभी मत-मतान्तरों के धर्मग्रन्थों का पाठ-निर्धारण बाद में किया गया है ३८

द्वितीय अध्याय—सत्यार्थप्रकाश की रचना एवं संशोधन-परम्परा का इतिहास **(४०-७७)**

१. सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) की रचना और उसकी पृष्ठभूमि ४०

सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) में प्रक्षेप ४०

२. **सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की रचना एवं रचना-काल** ४१-५२

मूलप्रति ४२, मूलप्रति को रफप्रति कहना उचित नहीं ४२, मुद्रणप्रति ४३, क्या मुद्रणप्रति ऋषिप्रोक्त है ? ४३, मुद्रणप्रति अल्पप्रामाणिक एवं अर्धप्रामाणिक प्रति ४३, तीसरी प्रति नहीं ४४, सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण) का लेखनकाल ४४, द्वितीय संस्करण (१८८४) ४५, सत्यार्थप्रकाश की रजिस्ट्री और स्वत्वाधिकार ४७, परोपकारिणी सभा की उदारता और उसके दुष्परिणाम ४८, तृतीय आवृत्ति में परिवर्तन ४८, चतुर्थ से छत्तीस आवृत्तियों में परिवर्तन ४८-५१, मूलप्रति संस्करण (३७, ३८, ३९वां संस्करण) ५२

—स्वतन्त्र संस्करणों एवं समीक्षकों की समीक्षा ५३-७७

गोविन्दराम हासानन्द संस्करण ५३, स्वामी वेदानन्द संस्करण ५३, श्री जगदेव सिद्धान्ती संस्करण ५५, पं० भगवद्दत्त संस्करण ५५, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्करण ५७, पं० युधिष्ठिर मीमांसक संस्करण ५७,स्वामी विद्यानन्द संस्करण ६०, स्वामी जगदीश्वरानन्द संस्करण ६१, आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री संस्करण ६२, डॉ० रामनाथ वेदालंकार की समीक्षा दृष्टि ६५, उदयपुर संस्करण ६८,

—विभिन्न संस्करणों में किये परिवर्तनों-संशोधनों की तालिका ७७

तृतीय अध्याय—सत्यार्थप्रकाश की मूलप्रति, मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण तथा अन्य प्रमुख संस्करणों का यथार्थ (७८-१२०)

१. **मूलप्रति का विश्लेषण**

मूलप्रति में अशुद्ध वेदमन्त्र तथा शास्त्रीय उद्धरण ७८,
भाषा-रचना सम्बन्धी त्रुटियां ७९, वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियां ७९,
त्रुटित मात्रा, अक्षर, शब्द आदि ८०,

२-३. **मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (१८८४) का विश्लेषण** ८१

मुद्रणप्रति का विश्लेषण ८१, द्वितीय संस्करण का विश्लेषण ८१,
ऋषि-हस्तलिखित पाठों में अशुद्ध परिवर्तन ८२,
वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियां ८३, वेदमन्त्रों के अशुद्ध पाठ ८४,
अशुद्ध शास्त्रीय उद्धरण ८६, ऋषिपाठों में अशुद्ध परिवर्तन ८७,
मुद्रणलिपिकरों-शोधकों द्वारा किये प्रक्षेप ९१,
ऋषि-अभिप्राय-विरुद्ध कथन ९६, लिपिकरों के कारण
पुनरुक्ति-दोष १००, मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ-परिवर्तित ऋषि-पाठ १०२,
मुद्रणकाल में विकृत हुए पाठ १०६,
मुद्रणसमय त्रुटित पाठ १११, त्रुटित उद्धरण ११२,
आयतखण्डों और आयतों में संख्या का अन्तर और क्रमभंग ११३,
द्वितीय संस्करण में उर्दू शब्दों और मुहावरों का अशुद्ध हिन्दी-अनुवाद ११७,

४. **प्रकाशित सभी संस्करणों में वर्तनी-सम्बन्धी अव्यवस्था** ११७

चतुर्थ अध्याय—शुद्धतम एकरूप संस्करण के लिए आधारप्रति का निर्णय और शोध-प्रविधि के मानदण्ड (१२१-१४८)

१. मूलप्रति की ग्राह्यता का विवेचन १२१

२. मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण की ग्राह्यता का विवेचन १२२

३. **इस संस्करण की शोध-प्रविधि एवं उसके मानदण्ड** १३०

व्याकरणिक त्रुटियां १३१, अप-अर्थ १३१, लिंग-प्रयोग सम्बन्धी
अव्यवस्था १३५, वचन-प्रयोग सम्बन्धी अव्यवस्था १३६,
क्रिया-प्रयोग सम्बन्धी अव्यवस्था १३८,

विरामचिह्न की अशुद्धियां १३९, अपप्रयोग एवं अपवाक्य १४०,
गणनात्मक अशुद्धियां १४२, अप-पाठपरिवर्तन १४३,
अव्यवस्थित वर्तनी १४४, अपसम्पादन १४५, स्वरांकन का अभाव १४६,
स्थानभ्रष्ट प्रयोग १४६, पाठनिष्कासन १४७, अधिक पाठ १४७,
द्वित्व वर्णप्रयोग में अराजकता १४८, भाष्य १४८

पंचम अध्याय—संभावित आपत्तियां और उनका समाधान (१४९-१५९)

सत्यार्थप्रकाश के संशोधन का अधिकार-अनधिकार १४९,
अशुद्धि का निर्णय कैसे? १५० अशुद्धियों और प्रयोगभिन्नता
में अन्तर १५०, अशुद्धियों का उत्तरदायी कौन? १५२,
संशोधन करना ऋषि की धरोहर से छेड़छाड़ है? १५२,
संशोधन मूलपाठ में हो या टिप्पणी में? १५३,
ऋषि की भाषा शैली में परिवर्तन न हो १५४, दूसरों ने संशोधन
क्यों नहीं किया? १५४, द्वितीय संस्करण 'टाइम टेस्टेड' है १५६,
परम्परागत पाठ स्वीकार्य है १५६, संशोधन से विपक्षियों को लाभ १५७,
संशोधन का अनन्त अधिकार १५७, सन्देह निवारण विशेष व्याख्या
से हो १५८, संशोधन से प्रतिष्ठा प्राप्ति का लक्ष्य १५८,
मिलकर एकमात्र संस्करण का निर्माण क्यों नहीं करते? १५९

मनुष्य किसको मानना चाहिए?

''मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं, कि चाहे वे महा-अनाथ, निर्बल और गुणरहित हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे; अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।''

—महर्षि दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ १०४५)

सत्यार्थप्रकाश-मीमांसा

प्रथम अध्याय

लिपिकरों–शोधकों द्वारा की गई त्रुटियों को महर्षि के नाम पर कब तक झेलते रहेंगे?

दूसरी बार संशोधित सत्यार्थप्रकाश की मूलप्रति, मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति, सन् १८८४) पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो हम देखते हैं कि उनमें लिपिकरों-आदिशोधकों के प्रमाद, अयोग्यता और कामचोरी के कारण अप्रत्याशित अशुद्धियाँ विद्यमान हैं, और उत्तरोत्तर इनमें वे अधिकाधिक होती गई हैं। १२८ वर्षों से छपते आ रहे सत्यार्थप्रकाश के संस्करणों के इतिहास से यह भी जानकारी मिलती है कि प्राय: प्रत्येक संस्करण में यथेष्ट सैकड़ों संशोधन सम्पादकों ने किये हैं और यह क्रम आज भी जारी है। संशोधनों ने सत्यार्थप्रकाश की यह दु:स्थिति निर्मित कर दी है कि किसी के भी संस्करण के सभी पाठ एक-दूसरे से नहीं मिलते; इससे भी अधिक विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि एक प्रकाशक के सब संस्करण भी आपस में नहीं मिलते। सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण को प्रकाशित होते सवा-सौ से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और इसके सैकड़ों संशोधित संस्करण छप चुके हैं, उसके बाद भी आर्यविद्वान् इसका पाठान्तर-रहित शुद्धतम एकरूप संस्करण उपलब्ध नहीं करा सके हैं। अशुद्धियों का ऐसा क्या जटिल स्वरूप है और इतनी संख्या कैसे है कि वे आज तक आर्यविद्वानों के वश में नहीं आ रहीं और न उनको एकमत कर पा रही हैं? प्रश्न उठता है कि आखिर उनका उत्तरदायी कौन है? और क्या ऋषि दयानन्द को उन त्रुटियों का ज्ञान था? और यदि ज्ञान था तो उनके विषय में उनका क्या मानना था? आइये, सर्वप्रथम इन बिन्दुओं पर सप्रमाण विचार करते हैं।

१. सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान त्रुटियों का उत्तरदायी कौन?

यह निर्विवाद सत्य है कि महर्षि दयानन्द वेदों तथा वैदिक शास्त्रों के मर्मज्ञ थे तथा वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे। वे संस्कृत भाषा, शास्त्र तथा सिद्धान्त-विषयक और स्व-अभिप्राय-विरुद्ध त्रुटियाँ कदापि नहीं कर सकते थे। पुनरपि सत्यार्थप्रकाश की दोनों पांडुलिपियों और द्वितीय संस्करण (१८८४) में बहुत सारी त्रुटियां मिलती हैं। वस्तुत: उनके जिम्मेदार उनके वेतनभोगी नौकर अर्थात् लिपिकर और आदि-शोधक रहे हैं, यह जानकारी हमें सत्यार्थप्रकाश की लेखन-प्रक्रिया से मिलती है। लेखन-सौकर्य के लिए और कार्याधिक्य होने के कारण महर्षि विभिन्न भाषाओं, जैसे—संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू के वेतनभोगी लेखक रखते थे, जो महर्षि के बोले हुए लेखों और पत्र-व्यवहार आदि को लिखा करते थे। सत्यार्थप्रकाश को लिखाते समय भी महर्षि उसको बोलते जाते थे और तत्कालीन नियुक्त लिपिकर उसको लिखता जाता था। ग्रन्थ के पूर्ण होने पर उसकी प्रेसप्रति भी लिपिकरों ने ही तैयार की है। बोले हुए को लिखते समय लिपिकर से अक्षर, शब्द, वाक्य आदि त्रुटित रह जाते हैं, अथवा आगे-पीछे भी लिखे जाते हैं, यह सहज बात है। सत्यार्थप्रकाश में भी लिपिकरों से इस प्रकार की त्रुटियां हुई हैं। वर्तनी और वाक्यरचना सम्बन्धी त्रुटियां लिपिकरों की अयोग्यता और प्रमाद से हुई हैं। **क्योंकि लिपि लिखने वाले लिपिकर थे अत: लिपि-सम्बन्धी त्रुटियां भी उन्हीं की हैं। महर्षि किसी भी शब्द को एक ही प्रकार से बोलते थे किन्तु लिपिकर अपनी योग्यता-अयोग्यता के अनुसार उसको शुद्ध या अशुद्ध लिखते थे। एक लिपिकर अपनी भाषात्मक योग्यता-अयोग्यता के अनुसार किसी शब्द को एक प्रकार से लिखता था तो दूसरा उसको दूसरे प्रकार से लिखता था। लिपिकरों की अनेकता से ही एक ही लेखक के एक ही ग्रन्थ में वर्तनियों की अनेकता पाई जाती है।** इतना ही नहीं अशुद्धियों में भी घोर अव्यवस्था पाई जाती है। अयोग्य लिपिकरों ने एक ही वाक्य में, एक ही अनुच्छेद में और एक ही पृष्ठ पर आये एक शब्द को एक बार शुद्ध लिखा है तो दूसरी बार अशुद्ध लिखा है।

लिखाने के बाद, उसको शुद्ध करने का दायित्व वेतनभोगी आदि-शोधकों का था। सत्यार्थप्रकाश के शोधन का दायित्व पं० ज्वालादत्त शर्मा और पं० भीमसेन शर्मा का था, किन्तु उन्होंने भी अपने दायित्व का निर्वाह निष्ठापूर्वक नहीं किया। यद्यपि लिखे हुए का निरीक्षण-संशोधन महर्षि स्वयं भी करते थे, किन्तु वे मुख्यत: सिद्धान्त और अभिप्राय पर ध्यान देते थे, भाषात्मक संशोधन के लिए वेतनभोगी लिपिकरों-शोधकों पर ही निर्भर रहते थे। आगे-उद्धृत महर्षि के पत्र व्यवहार से ज्ञात होता है कि महर्षि के लिपिकर और शोधक अयोग्य, प्रमादी, निष्ठाहीन, कामचोर, कुटिल और मक्कार थे। पौराणिक विचारधारा से प्रभावित होने के कारण वे महर्षि के समाजसुधारक क्रान्तिकारी विचारों के विरोधी थे, अत: मन-ही-मन महर्षि से विद्वेष रखते थे। यद्यपि महर्षि उनको उस समय के अनुसार अच्छा वेतन देते थे, फिर भी वे न तो ईमानदारी से काम करते थे और न महर्षि के प्रति हार्दिक सद्भाव रखते थे, और मौका लगते ही महर्षि के ग्रन्थों में उनके अभिप्राय-विरुद्ध प्रक्षेप भी कर देते थे। पाठक याद करें, महर्षि को धोखा देने और विष देने वाले भी तो उनके वेतनभोगी नौकर ही थे। उन लोगों से काम लेना उस समय महर्षि की विवशता थी; क्योंकि उस समय थे ही सब पौराणिक संस्कारी लोग। महर्षि द्वारा स्थापित पाठशाला में पढ़ने और वर्षों साथ रहने के बाद भी पं० भीमसेन महर्षि के देहान्त के कुछ वर्षों बाद कट्टर पौराणिक बन गया था। स्पष्ट है कि उसके पौराणिक संस्कार पहले से ही थे।

महर्षि को उक्त सब बातों का भलीभांति ज्ञान था और उन लोगों से संभावित अनिष्ट की आशंका का भी आभास था, अग्रिम प्रमाणों से यह सब स्पष्ट और प्रमाणित हो जायेगा। समयाभाव, कार्याधिक्य और उपयुक्त योग्य व्यक्तियों के अभाव में महर्षि के साहित्य का लेखन-मुद्रण-संशोधन आशानुरूप सही नहीं बन सका। हाँ, मुंशी समर्थदान जी, महर्षि को निष्ठावान् और तुलनात्मक रूप से योग्य व्यक्ति मिले थे। जो कुछ और जितना सही हो पाया, वह उनके प्रयत्नों और सतर्कता का फल था। महर्षि और मुंशी जी का पत्र व्यवहार उक्त सभी बातों पर बहुत स्पष्ट और प्रामाणिक प्रकाश डाल देता है। महर्षि ने अपनी पीड़ा खुलकर अपने पत्रों में व्यक्त की है।

सत्यार्थप्रकाश की मुद्रणप्रति में विद्यमान अशुद्धियों और उनकी बहुलता का भान महर्षि को था। तब महर्षि को लगा था कि मुंशी समर्थदान इस विकृति को ठीक कर सकते हैं, अत: उन्होंने मुंशी जी को यह पत्र लिखा था—

(अ) **''सत्यार्थप्रकाश में जो कोई ऐसा अनुचित शब्द हो, निकालकर, जो हमारे आशय के विरुद्ध न हो, वह शब्द उसके स्थान में धरना और हमको लिखके सूचित करना कि यह शब्द धरे हैं।** '' (१९ अगस्त १८८३ को मुंशी जी के नाम लिखा ऋषि का पत्र, 'पत्र और पत्र-व्यवहार', भाग दो, पृ० ७६४)

(आ) उत्तर में मुंशी समर्थदान ने सत्यार्थप्रकाश की मुद्रणप्रति (प्रेसप्रति) की विकृत-स्थिति के विषय में महर्षि को यह लिखा था कि मुद्रण-हस्तलेख में बड़ी गड़बड़ी है। देखिए पत्रांश—

''.....आपने भाषा बदलने की आज्ञा दी, सो मालूम हुआ.....कापी में बड़ी गड़बड़ी आती है, यह ध्यान रखके दोष निकालना चाहिये। हम यहाँ बनाते हैं तो बड़ी शंका रहती है।'' (२८ अगस्त १८८३ को महर्षि के नाम लिखा मुंशी जी का पत्र)

(इ) इसी बीच वेदभाष्य के सम्बन्ध में भी महर्षि ने मुंशी जी को पत्र लिखा था, जो अन्य ग्रन्थों पर भी चरितार्थ होता है, क्योंकि लेखक-शोधक वही व्यक्ति थे—

''जो कहीं पद छूटता है, यह भाषा बनाने वाले और शुद्ध लिखने वाले की भूल है। हम प्राय: इस बात में ध्यान नहीं देते, क्योंकि यह सहज बात है। अच्छा, जहां कहीं रह जाया करे तुम देख लिया करो..... और यहां लिखके भेज दिया करो।'' (९ सितम्बर १८८२ का पत्र, भाग दो, पृष्ठ ६१२)

(ई) सत्यार्थप्रकाश के सन्दर्भ में लिखे एक अन्य पत्र में महर्षि ने मुंशी जी को लिखा था—

''जो कहीं भाषा असम्बद्ध हो, और अभिप्राय वा अक्षर मात्रा आदि से अशुद्ध हो, उसको तुम ही शोध लिया करो।'' (१५ अक्तूबर १८८३ का पत्र, भाग दो, पृ० ६२०)

(उ) सत्यार्थप्रकाश की 'मुद्रणप्रति' में रह गई भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए मुंशी जी ने उनको शुद्ध करने की जिम्मेदारी पं० ज्वालादत्त की बताई, जिसको वह ईमानदारी से पूरी नहीं कर रहा था—

''शोधने में मेरी दृष्टि भी तो कच्ची है.....यह काम ज्वालादत्त ही का है। उन्हीं को सावधानी से देखना चाहिये। सत्यार्थप्रकाश का फारम अन्त में मैं एक बार देखता हूं, सो भी कोमा आदि चिह्नों के लिए देखता हूं। इसमें कोई भूल और भी दीख पड़ती है तो निकाल देता हूं, परन्तु प्रूफ शोधना काम ज्वालादत्त ही का है।'' (२७ अगस्त १८८३ का पत्र)

स्पष्ट है कि लिपिकरों और पं० ज्वालादत्त, पं० भीमसेन आदि शोधकों ने अपने कर्त्तव्यों का पालन ईमानदारी से नहीं किया, अपितु दुर्भावना और कामचोरी की प्रवृत्ति के कारण उलटी हानि भी की है। उनकी करतूतों को उजागर करते हुए उनके किये कार्य के प्रति महर्षि ने अपनी पीड़ा को अनेक पत्रों के माध्यम से समय-समय पर प्रकट किया था। उनके विषय में महर्षि का अनुभूत और लिखित मन्तव्य कैसा था, पाठक ध्यान से पढ़ें—

(ऊ) पं० भीमसेन शर्मा—''व्याकरण आदि शास्त्रों को पढ़ा है उतना ही पाण्डित्य है, अन्यत्र बालक है'' (पत्र व्यवहार, पृ० ५१७) ''भाषा बहुत ढीली बनाता है'' (पृ० ५८६) ''शोधे गये पुस्तकों में **भूल बहुत निकलती** है'' (पृ० ५७२)। **''भीमसेन को अत्यन्त अयोग्यता के कारण सब दिन के लिए निकाल दिया''** (पृ० ५६२)। **''भीमसेन बकवृत्ति और मार्जारलिंगी है''** (पृ० ६६९)। ''भीमसेन को न हम अपने पास वा न अन्यत्र कुछ काम देना चाहते हैं। वह काम करने में **अयोग्य और वह स्वभाव का भी बहुत बुरा आदमी है।**'' ''केवल वह दम्भी और मिथ्याचारी है।'' (पृ० ६७३) **''वह न किसी आर्यसमाज में रहने के योग्य है।''** (पृ० ६७३)।

(ए) पं० ज्वालादत्त शर्मा—''हम नहीं जानते थे कि **शोधने में तुम्हारी ऐसी कच्ची दृष्टि है।** .....आगे भी ऐसा न होने पावे।'' (पृ० ४५८)। ''पण्डित ज्वालादत्त के शोधने में **बहुत गलती रहती हैं''** (पृ० ४५८)। ''भीमसेन को तुमने जैसा बकवृत्ति समझा है वैसा ही **हम बकवृत्ति और मार्जारलिंगी समझते हैं।** वैसा ही **उससे विलक्षण दम्भी, क्रोधी, हठी और स्वार्थसाधनतत्पर ज्वालादत्त भी है।**.....मेरी समझ में भीमसेन का छोटा भाई ज्वालादत्त है। **यदि उसको निकाल दोगे तो भी कुछ बड़ी हानि न होगी।** क्योंकि वह कभी मन लगाकर काम न करेगा और **उसकी ऐसी दृष्टि कच्ची है कि शोधने में अशुद्ध अवश्य कर देगा।**'' ''अब उसने उदयपुर में जो भाषा बनाई है, सोधी गई तो कई एक के **अर्थ में पदार्थ छोड़ दिया,** कई एक पद **अव्यय के छोड़ दिये,** और कई एक पद **आगे-पीछे भी कर दिये हैं।''** (पृ० ६६९, मुंशी समर्थदान को १७ मार्च १८८३ को लिखा पत्र)। **''ज्वालादत्त** जो भाषा बनाता है, **ऐसा नहीं हो कि कहीं पोपलीला घुसेड़ डाले''** (पृ० ७२६)। ''अब के भाषा में **कई पद छोड़ दिये हैं।** कहीं अपनी **ग्रामणी भाषा** लिख देता है'' (पृ० ७६३)। ''तुम थोड़ी भाषा देख लिया करो। **यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है।**.....अब यह **भाषा भी अच्छी नहीं बनाता किन्तु घास सी काटता है''** (पृ० ७६६, मुंशी समर्थदान को २३ अगस्त १८८३ को लिखा पत्र)।

उक्त दोनों पंडितों पर महर्षि की संयुक्त टिप्पणी—''ये दोनों (पं० भीमसेन और पं० ज्वालादत्त) एक से ही हैं, **जैसा भूतनाथ वैसा प्रेतनाथ।** इनसे चतुराई के साथ काम लेना, **ये कामचोर हैं।''** (पृ० ६०९, मुंशी समर्थदान को २९ अगस्त १८८२ को लिखा पत्र)

(ऐ) पं० महादेव व कानपुरी पण्डित—''महादेव पण्डित के विषय में जो तुमने कुछ अनुमान किया, सो हमको नहीं दीखता। यह पण्डित धनार्थी है धर्मार्थी नहीं।.....जैसा कि कानपुर में एक पण्डित को रक्खा था और **पश्चात् खराब निकला।** इन लोगों का विश्वास हमारे हृदय में तभी होगा कि जब उनका वर्तमान प्रत्यक्ष वा परोक्ष में एक-सा देखा जाय।'' (पृ० ६८३, लाला कालीचरण को २५ अप्रैल १८८३ को लिखा पत्र)

(ओ) पं० दिनेश राम—इसका मूलनाम दुलाराम था, स्वामी जी ने बदलकर 'दिनेशराम' रख दिया था। इसके विषय में प्राप्त विवरण इस कारण महत्त्वपूर्ण है कि वह महर्षि के पास रहने वाले पौराणिक लेखकों की कुटिल मनोवृत्ति पर प्रकाश डालता है। दिनेशराम के विषय में पं० देवेन्द्रनाथ रचित महर्षि के जीवन चरित (पृ० ६०५) में यह विवरण मिलता है जिसे पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने भी उद्धत किया है—

''वह था बड़ा **कपटी ''विषकुम्भं पयोमुखम्''**। स्वामी जी के सामने उनकी भलाई और पीछे बुराई करता। **वह**

कहा करता था कि मैं स्वामी जी के ग्रन्थों में इस प्रकार के वाक्य मिला दूंगा कि उन्हें प्रलय तक भी उनका पता न लगेगा। स्वामी जी ने उसकी दुष्टता ताड़ ली और उसे अलग कर दिया।'' (ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृ० ४१५) यह सन् १८७९ तक महर्षि के पास कार्यरत रहा।

(औ) रामचन्द्र (लिपिकर)—पौराणिक रूढ़िवाद के विरुद्ध आवाज उठाने तथा क्रान्तिकारी समाज सुधार के कारण उस समय के प्राय: सभी पौराणिक संस्कारी कर्मचारी मन-ही-मन में ऋषि के विरोधी थे। वे वेतन तो ऋषि से प्राप्त करके खाते थे किन्तु उनके प्रति निष्ठावान् न होकर मन में विद्वेष रखते थे। इसका एक प्रमाण रामचन्द्र नामक लिपिकर भी है। मुंशी समर्थदान जी निष्ठावान् मैनेजर थे। सत्यार्थप्रकाश की मुद्रणप्रति में, सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग में, पं० ज्वालादत्त शर्मा शोधक-लेखक ने चोरी से हाशिये पर एक मांसभक्षण-विधायक अनुच्छेद प्रक्षिप्त कर दिया। मुंशी जी ने उसको निकालने की अनुमति प्राप्त करने के लिए महर्षि के पास दिनांक १३.७.१८८३ को एक पत्र लिखा। आश्चर्य देखिये कि एक मैनेजर को वह पत्र अपने ही कार्यालय के एक कर्मचारी से छिपाकर, कार्यालय का प्रेषण नम्बर लगाये बिना ही डालना पड़ा जिससे विरोधी मानसिकता वाले कर्मचारी बात का बतंगड़ न बना दें। उस पत्र में मुंशी जी ने जो उस लेखक-विषयक सत्य लिखा है उससे ज्ञात होता है कि महर्षि को कैसे-कैसे विद्वेषी और निष्ठारहित लोगों से काम लेना पड़ रहा था। इससे कर्मचारियों की मनोवृत्ति का ज्ञान हो जाता है। मुंशी जी अपनी पीड़ा को इन शब्दों में लिखते हैं—

''यह पत्र मैंने कार्यालय से पृथक् लिखा है, इसमें नम्बर नहीं डाला है, क्योंकि कार्यालय के पत्रों की नकल रामचन्द्र करते हैं और **ये हम लोगों के विचार से सर्वथा पृथक् हैं, किन्तु विरुद्ध कहिये।** इस पत्र का विषय खानगी (निजी) है कि विरोधियों को प्रकट होने से बड़ी हानि होती है।

आर्यों के आचार्य का यन्त्रालय, आर्यों ही के द्रव्य से बना, और **नौकर सब अनार्य रखे जाएँ,** वह भी एक काल की विचित्र गति का परिचय है। **आर्यों के पैसे और सम्पत्ति का दर्द अनार्यों को कहाँ तक होता है,** इसको भी विचारशील सोच सकते हैं।

आपका आज्ञाकारी—**समर्थदान मैनेजर**''

यह सच है कि महर्षि के पास रहने वाले अधिकांश कर्मचारी अर्थात् लेखक, शोधक, सेवक अनार्य थे। उन्होंने महर्षि का कोई कार्य निष्ठा से नहीं किया अपितु बिगाड़ा भी है। यहाँ तक कि विष देकर महर्षि का प्राणहरण करने वाले भी उनके कर्मचारी ही थे। अत: महर्षि के ग्रन्थों को तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर उनका आकलन करना चाहिये, भावुकता में आकर नहीं। यह भी स्पष्ट है कि महर्षि के पास कार्यरत लिपिकरों, शोधकों, सेवकों आदि की मनोवृत्ति और कार्यशैली का अनुमान लगाने के लिए 'स्थालीपुलाक न्याय' से उक्त प्रमाण पर्याप्त हैं।

(अं) छपे हुए द्वितीय संस्करण (१८८४) में विद्यमान रही अशुद्धियों को उसके मुद्रक मुंशी समर्थदान जी ने इन शब्दों में स्वीकार किया है—

''छापते समय **ग्रन्थ के शोधने** और विरामादि चिह्नों के देने में जहां तक बना बहुत ध्यान दिया, परन्तु शीघ्रता के कारण से **कहीं भूल रह गई हो** तो पाठकगण ठीक करलें।'' (द्वितीय संस्करण १८८४, 'निवेदन' पृष्ठ १, शोधसं० ५)

(अ:) ''चौदहवें समुल्लास में जो कुरान की मंज़िल, सिपारा, सूरत और आयत का ब्योरा लिखा है उसमें और तो सब ठीक है, परन्तु **आयतों की संख्या में दो-चार के आगे-पीछे का अन्तर होना संभव है,** अत एव पाठकगण क्षमा करें।'' (वही, आरम्भिक फरमे का पृष्ठ २, शोधसं० पृ० ५)

(अ-अ) उक्त पत्रों और सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि महर्षि तथा मुंशी समर्थदान सत्यार्थप्रकाश और उसकी पांडुलिपियों में विद्यमान त्रुटियों को जानते और मानते थे कि यह ''**भाषा बनाने वाले और शुद्ध लिखने वाले की भूल है।**'' अर्थात् ये भूलें लिपिकरों, मुद्रणलिपिकरों और आदि-शोधकों की हैं। पूर्वोक्त पत्रों-संदर्भों में, कुल मिलाकर महर्षि ने अपने ग्रन्थों में निम्न प्रकार की त्रुटियां होने की आशंका व्यक्त की है—

१. भाषा में असम्बद्धता होना। २. महर्षि के अभिप्राय के विरुद्ध प्रक्षेप होना।
३. अक्षर, मात्रा आदि (वर्तनी) की अशुद्धि। ४. पोपलीला घुसाना अर्थात् सिद्धान्तविरुद्ध प्रक्षेप होना।
५. अक्षर, शब्द, वाक्य, आदि पाठों का त्रुटित रहना। ६. अनुचित शब्द का प्रयोग होना।
७. पदों को आगे-पीछे लिखना अर्थात् स्थानभ्रष्ट करना। ८. शोधन या प्रूफशोधन में अशुद्धियां छोड़ना।
९. ''आदि'' शब्द से मुद्रणदोष, संख्या-दोष, विरामचिह्न आदि की अन्य त्रुटियां गृहीत की जानी चाहियें।

इनमें से गम्भीर त्रुटि, जिसकी ओर पत्र में महर्षि ने स्वयं संकेत किया है, वह है—'**महर्षि के सिद्धान्त या अभिप्राय के विरुद्ध लिखा जाना।**' या '**पोपलीला का प्रक्षेप करना।**' इससे स्पष्ट ज्ञान होता है कि महर्षि न केवल भाषागत अशुद्धियों के रहने का उल्लेख कर रहे हैं अपितु लिपिकरों द्वारा उनके सिद्धान्तविरुद्ध या अभिप्राय-विरुद्ध प्रक्षेप या त्रुटियों के किये जाने पर भी आशंका प्रकट कर रहे हैं। इसके अनेक प्रमाण मिल भी गये हैं। (द्रष्टव्य हैं प्रमाण 'सत्यार्थप्रकाश-मीमांसा' में पृष्ठ ९१-९९ पर)

(आ-आ) मुंशी जी को लिखे उक्त पत्रों के अतिरिक्त अपने ग्रन्थ के दो स्थलों पर भी महर्षि दयानन्द ने त्रुटियों की सम्भावना को स्वीकार किया है और उनको ठीक कर लेने का निर्देश दिया है। दो कथन द्रष्टव्य हैं—

''**यदि कहीं भ्रम से अन्यथा लिखा गया हो तो उसको शुद्ध कर लेवें।**'' (चतुर्दश समुल्लास, पृष्ठ १०४२)

''**इस ग्रन्थ (सत्यार्थप्रकाश) में जो कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय, उसको जानने-जनाने पर, जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायेगा।**'' (भूमिका, पृष्ठ ९ पर)

महर्षि के इस उद्धरण पर उनके बारे में स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती की टिप्पणी पठनीय है—

''**कैसे सरल शब्द हैं। अपने से भूल-चूक की सम्भावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने, छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं।**'' (वेद और आर्यसमाज, पृष्ठ १३१)

(इ-इ) पहली पीढ़ी के निष्ठावान् प्रबुद्ध आर्यजनों-नेताओं ने जब सत्यार्थप्रकाश को गम्भीरता से पढ़ा, तो उन्हें भी यह आभास भलीभांति हो गया था कि इसमें बहुत-सी अशुद्धियां विद्यमान हैं। वे लोग उन त्रुटियों को परोपकारिणी सभा के अधिकारियों के ध्यान में लाते भी थे। इसका प्रमाण यह है कि **पं० लेखराम 'आर्यपथिक'** ने परोपकारिणी सभा के अधिकारियों का ध्यान इस ओर सर्वप्रथम आकर्षित किया और संशोधित संस्करण प्रकाशित करने का परामर्श दिया। इस तथ्य की जानकारी देने वाला, वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक श्री शिवदयाल सिंह द्वारा श्री मोहनलाल बाबूलाल पांड्या, मन्त्री परोपकारिणी सभा को लिखा एक पत्र प्राप्त हुआ है जिसमें उक्त बातों का उल्लेख है। पत्र का सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—

''नम्बर २५५ वैदिक यन्त्रालय प्रयाग
१२-२-१८९०

महाशय, नमस्ते। सत्यार्थप्रकाश कुल ५९० रह गए हैं, अब सत्यार्थप्रकाश के छापने का उपाय करना चाहिये।.....सत्यार्थप्रकाश के शुद्ध छापने के लिए स्वामी जी महाराज की पुस्तकें चाहियेंगी। **पंजाब के पं० लेखराम ने जो कुछ आक्षेप किये हैं, और-और पंडित करते हैं, उनके दूर करने के लिए अब के जो सत्यार्थप्रकाश छपे, वह बहुत शुद्ध छपे।**

आपका दास—शिवदयाल सिंह मैनेज़र''

(उ-उ) हम जानते हैं कि परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की पंचम आवृत्ति का संशोधन पं० लेखराम जी ने किया था, जो व्यापक रूप में था। उन संशोधनों को परवर्ती प्रायः सभी प्रकाशकों ने अपनाया भी है। अधिकांश प्रबुद्ध आर्यजन और विद्वान् अशुद्धियों के शोधन के पक्ष में रहे हैं, जैसे—पं० लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, पं० भगवद्दत्त, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी वेदानन्द सरस्वती, श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार, पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय, आचार्य उदयवीर शास्त्री, आचार्य भद्रसेन, पं० महेशचन्द्र मौलवी 'आलिम

फाजिल', पं० रामचन्द्र देहलवी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द सरस्वती, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, डॉ० भवानीलाल भारतीय, स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, पं० विशुद्धानन्द मिश्र व उनकी सम्पादक-समिति, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, आर्य प्रतिनिधि सभाएं, आर्य संस्थाएं, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली, आदि। आरम्भिक काल में कुछ ऐसे रूढ़िवादी भी आर्यसमाज में प्रकट हो गये थे जो यह कहने लगे थे कि सत्यार्थप्रकाश आदि में एक अक्षर का परिवर्तन भी न किया जाये। उन्हीं के कारण, ऋषिग्रन्थों में संशोधन करने और संशोधन न करने का विवाद भी उस समय बीज रूप में जन्म ले गया था। तब वैदिक यन्त्रालय के अध्यक्ष के रूप में स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती ने अपना स्पष्ट अभिमत प्रकट किया था कि लिपिकरों-शोधकों के कारण सत्यार्थप्रकाश आदि में न केवल त्रुटियां उत्पन्न हुई हैं अपितु उन्होंने अवसर मिलते ही प्रक्षेप भी किये हैं। मुद्रणप्रति के दशम समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग में हाशिये (बगल के खाली स्थान) पर लिखे एक मांसभक्षण के समर्थक संदर्भ के विषय में खोज करके **स्वामी श्रद्धानन्द जी** ने बताया था कि उस सन्दर्भ का प्रक्षेप पं० ज्वालादत्त शर्मा ने किया है, क्योंकि वह लेख उसी का है। पं० ज्वालादत्त ने वह प्रक्षिप्त संदर्भ ग्रन्थकार द्वारा मुद्रणप्रति का निरीक्षण करने के बाद प्रेस में भेजते समय पीछे से मिलाया है, जिस पर मुद्रण के समय मुंशी समर्थदान जी का ध्यान चला गया था और उन्होंने उसकी जानकारी ग्रन्थकार महर्षि को दी थी (द्रष्टव्य 'मीमांसा भाग' में पृष्ठ २८ और मूलग्रन्थ में पृष्ठ ५०० पर टिप्पणी)। ऐसी स्थिति में **स्वामी श्रद्धानन्द जी** ने सत्यार्थप्रकाश के विषय में अपना यह अभिमत प्रकट किया था जो उपर्युक्त निष्कर्षों की पुष्टि करता है—

(क) ''वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिये निर्भ्रान्त है। **सत्यार्थप्रकाश मनुष्यकृत है और इसलिए उसमें भूल की सम्भावना है। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थप्रकाश में वही सब छपा है जो ऋषि दयानन्द ने लिखवाया था। जहां छापे की अशुद्धियां प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती हैं वहाँ कई स्थानों में लिखे हुए ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर (=हस्तलेख) सहित, पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करने वाले पण्डितों का हस्ताक्षेप दिखाई देता है।**'' (वेद और आर्यसमाज, पृष्ठ १३४)

(ख) ''सारांश यह कि **सत्यार्थप्रकाश के एक-एक शब्द का समर्थन अविद्यावश, स्वार्थ और झूठी लोकलज्जा में फंसकर ही किया जाता है।** इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि द्वेष, पक्षपात और लोकलज्जा के झूठे भय को भुलाकर सत्यार्थप्रकाश को वही पद (साम्प्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में अधिकार है।'' (वही पुस्तक, पृष्ठ १३३-१३४)

(ग) ''मनीषी समर्थदान का ऊपर दिया पत्र (जो मुंशी जी ने मुद्रणप्रति में, दशम समुल्लास में लिखे मांसभक्षण के समर्थन में हाशिये पर लिखे सन्दर्भ की जानकारी देने के लिए लिखा था)। पढ़कर मैंने ऋषि के पत्र व्यवहार की तिथिक्रम से पड़ताल की। **तब मांस वाला हाशिये का लेख निःसंदेह पं० ज्वालादत्त का लिखा हुआ प्रतीत हुआ।** पं० ज्वालादत्त के कई पत्र मिले जिनके साथ हाशिये (के लेख) के अक्षर मिल गये।'' (वही पुस्तक, पृष्ठ १४०)

(घ) ''ऊपर के लम्बे उद्धरण नीरस-से तो अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके बिना यह ज्ञात होना कठिन था कि **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को बिगाड़ने का पौराणिक संस्कृतज्ञों ने कितना यत्न किया। यदि ऋषि दयानन्द के छपे ग्रन्थों का हस्तलिखित मूल पत्रों से मिलान किया जाए तो न जाने उनमें कितना भेद निकलेगा। ऊपर लिखा तो एक कारण है जिससे सत्यार्थप्रकाश के एक-एक अक्षर की जिम्मेवारी आर्यपुरुष नहीं ले सकते, परन्तु छापे की अशुद्धियां, लेखक तथा संशोधक पण्डितों की अयोग्यता और कुटिलता के अतिरिक्त एक बात और भी है।**'' (वही पुस्तक, पृष्ठ १४१)

स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा स्वयं महर्षि के उपर्युक्त उद्धरणों से यह तथ्य पुष्ट हो जाता है कि सत्यार्थप्रकाश आदि में जो अत्यधिक अशुद्धियां मिलती हैं वे लिपिकरों-शोधकों की केवल अयोग्यता और प्रमाद के कारण ही नहीं हैं अपितु जान-बूझकर की गई मक्कारी, कामचोरी और शरारत के कारण भी हैं; और लिपिकरों-शोधकों ने न केवल भाषागत त्रुटियां ही की हैं अपितु ऋषि के अभिप्राय के विरुद्ध प्रक्षेप भी किये हैं।

(ङ) ऋषि-ग्रन्थों में अशुद्धियां रहने के विषय में तथा महर्षि के लेखकों की मानसिकता के सम्बन्ध में **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का मत भी उल्लेखनीय है—

''इन सब उद्धरणों से भले प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी जी महाराज के साथी पण्डित लोग कितनी **कुटिल प्रकृति** के थे।.....सहानुभूति होना तो दूर रहा, ये लोग अपनी नीच प्रकृति के कारण स्वामी जी के कार्य को भले प्रकार नहीं करते थे।.....**इन्हीं पण्डितों की अयोग्यता तथा कुटिलता के कारण स्वामी जी के स्वयं लिखे तथा इनके द्वारा लिखवाये ग्रन्थों में बहुत-सी अशुद्धियां उपलब्ध होती हैं।** स्वामी जी ने इन अशुद्धियों की ओर अनेक पत्रों में ध्यान दिलाया है।'' (ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृ० ४१६-४१७)

(ए-ए) उक्त प्रकार के अनेक कारणों से ही, ग्रन्थकार महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण १८८४) के टाइटल और मुखपृष्ठ पर दो जगह एक महत्त्वपूर्ण और दूरदर्शितायुक्त वाक्य छपवाकर भाषात्मक तथा सम्पादकीय त्रुटियों का सारा दायित्व वेतनभोगी शोधकों पर डाल दिया था और स्वयं को उससे मुक्त कर लिया था। वह महत्त्वपूर्ण वाक्य है—

''पण्डितज्वालादत्तभीमसेनशर्म्मभ्यां संशोधितः'' (द्रष्टव्य आरम्भ के पृष्ठ ४ पर)

अर्थात् 'सत्यार्थप्रकाश की भाषा का संशोधन-सम्पादन पण्डित ज्वालादत्त और पं० भीमसेन ने किया है'

यह वाक्य कई संस्करणों तक छपता रहा। यदि भाषा का उत्तरदायित्व ग्रन्थकार अपना मानते तो मुखपृष्ठ पर दो बार उक्त वाक्य प्रकाशित नहीं कराते। 'वेदभाष्य' आदि अन्य अनेक ग्रन्थों पर भी इसी आशय का वाक्य आज तक मिलता है। जो विद्वान् या पाठक महर्षि के उक्त कथनों की गम्भीरता पर ध्यान नहीं देते और उनके ग्रन्थों की लेखन प्रक्रिया को नहीं समझते, वे संदेहों और पूर्वाग्रहों में स्वयं भी भटक रहे हैं और सत्यार्थप्रकाश को भी भटकाये हुए हैं। जो भी विद्वान् या पाठक ऋषि ग्रन्थों में विद्यमान अशुद्धियों के संशोधन में बाधा उपस्थित करता है वह जानो ऋषि के दिये पूर्वोक्त निर्देशों और अभिप्राय के विरुद्ध आचरण किया करता है। ऋषि के पत्रों से उनकी यह हार्दिक इच्छा व्यक्त होती है कि वे अपने ग्रन्थों को पूर्णतः अशुद्धिरहित देखना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने यथासंभव सभी प्रयास किये थे।

एक समय **एक अभिमानी और अदूरदर्शी चिन्तनवाले आर्यविद्वान् का पर्दापण परोपकारिणी सभा, अजमेर में हुआ।** उसने अतिशय भावुकता में आकर (जिसे अज्ञानता भी कहा जा सकता है), पूर्वोक्त महत्त्वपूर्ण वाक्य को 'सत्यार्थप्रकाश' के मुखपृष्ठ से हटवा दिया, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि तब से सत्यार्थप्रकाश में अवशिष्ट सारी त्रुटियां और न्यूनताएं महर्षि के मत्थे पड़ गईं, अर्थात् शुद्ध-अशुद्ध सब कुछ महर्षि का माना जाने लगा। उक्त वाक्य के निष्कासन ने जहां अवशिष्ट त्रुटियों का दायित्व महर्षि के सिर पर डाल दिया वहीं कुछ लोगों ने आगामी संस्करणों में संशोधन न करने का दुराग्रह भी दृढ़तर कर लिया। इसका दुःखद परिणाम यह सामने आया कि आर्य विद्वानों द्वारा मिल-बैठकर एकमत से संशोधनपूर्वक सत्यार्थप्रकाश का जो एकमात्र शुद्धतम संस्करण प्रस्तुत होना चाहिए था वह आज १२८ से अधिक वर्ष बीतने पर भी प्रस्तुत नहीं हो सका। संशोधन तो अपेक्षित था और अत्यावश्यक भी था, अतः वह आर्यविद्वानों ने अपने-अपने स्तर पर अथवा आंशिक-आंशिक रूप में किया, जिसका घोर दुष्परिणाम यह हुआ कि संशोधन या पाठान्तर होते-होते सत्यार्थप्रकाश (१८८४) का प्रत्येक संस्करण एक-दूसरे से भिन्न होता गया। इस प्रकार आर्यसमाज के संगठन की तरह उसका धर्मग्रन्थ भी विभिन्नताओं की बलि चढ़ गया! सत्यार्थप्रकाश को अपना धर्मग्रन्थ कहने वाले आर्यजन आज तक अपने पूर्वाग्रहों और अहंभाव को त्यागकर अपने धर्मग्रन्थ के लिए भी एकमत नहीं हो सके हैं, इससे बढ़कर उनका तथा 'सत्यार्थप्रकाश' का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है?

इस दुःस्थिति के लिए अधिक उत्तरदायी संशोधन-विरोधी विचारपक्ष है, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश विषयक उनका अध्ययन सीमित, चिन्तन भावुकतापूर्ण एवं अदूरदर्शितायुक्त, पूर्वाग्रह रूढ़िवादी और **महर्षि के पूर्वोद्धृत कथनों के विरुद्ध है, जो सत्यार्थप्रकाश के लिए अहितकर है।** मेरे इस कथन के पीछे कुछ तर्कसंगत ठोस आधार हैं—

१. आज कोई भी प्रकाशक, चाहे वह सार्वदेशिक सभा हो, प्रान्तीय सभा हो, अन्य संस्था या न्यास हो, परोपकारिणी सभा हो, कितना भी दावा करे, किन्तु आज उपलब्ध सत्यार्थप्रकाश का एक भी संस्करण ऐसा नहीं है जो महर्षि

के जीवनकाल में अर्ध प्रकाशित द्वितीय संस्करण (१८८४) का यथावत् रूप हो। सभी के प्रकाशनों में अनेक संशोधन हैं और वे सैकड़ों की संख्या में हैं। सबसे दु:खद तथ्य यह है कि प्रत्येक संस्करण एक-दूसरे से भिन्न है, और उससे बढ़कर विडम्बना तो यह है कि एक प्रकाशक के संस्करण भी आपस में एक-दूसरे से भिन्न हैं।

यदि संशोधनविरोधी कोई पाठक आज के दिन सत्यार्थप्रकाश में **'कॉमा, विरामचिह्न तक न बदले जाने'** तक की मंसा मन में पाले हुए है और यथावत् द्वितीय संस्करण (१८८४) चाहता है, तो वह कान खोलकर सुन ले कि आज के दिन उसकी कल्पना का कोई भी सत्यार्थप्रकाश नहीं है, क्योंकि उसकी अपेक्षानुसार कोई सत्यार्थप्रकाश छप ही नहीं रहा है। यह समझ लीजिए कि जितने द्वितीय संस्करण हैं उतने नये सत्यार्थप्रकाश हैं। यदि संशोधन करना किसी के मतानुसार दोष है तो आज उसके दोषी सभी प्रकाशक, सम्पादक, सार्वदेशिक सभा, प्रान्तीय सभाएं, संस्थाएं और न्यास हैं, चाहे वे बचने के कितने ही कुतर्क दें।

सभी सम्पादकों के द्वारा अपने-अपने संस्करण में सैकड़ों संशोधन किये जाने की यह स्थिति यह सिद्ध करती है कि सभी के मत में सत्यार्थप्रकाश में संशोधन अपेक्षित एवं अपरिहार्य रहे हैं, और आज भी हैं, महर्षि के मतानुसार भी थे। इस तथ्य को कोई विचारशील नकार नहीं सकता। संशोधन की इस प्रक्रिया को क्रियात्मक रूप में स्वयं अपनाकर भी जो प्रकट रूप में संशोधनों की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता अथवा उनका विरोध करता है, वह निश्चय ही पाखण्ड कर रहा है, क्योंकि संशोधन का प्रारम्भ तो द्वितीय संस्करण (१८८४) के शुद्धिपत्र से ही आरम्भ हो गया था और आज भी जारी है। रोज कोई-न-कोई संशोधित नया संस्करण निकालने की घोषणा कर देता है, और निकल भी रहा है।

२. जब द्वितीय संस्करण (१८८४) का यथावत् रूप कोई सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित ही नहीं हो रहा है और उसमें सैकड़ों संशोधन कर लिये गये हैं, तो समझ में नहीं आता कि शेष सैकड़ों संशोधनों के करने में क्या आपत्ति है, और क्यों है? उनको किसलिए अशुद्ध रखा जा रहा है? अपितु यह कहा जाना चाहिए कि संशोधन न करने से वर्तमान और भविष्य में महर्षि दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश की हानि ही हानि है। क्या महर्षि के कथनों के विपरीत जाकर, लिपिकरों-आदिशोधकों की त्रुटियों को महर्षि के मत्थे मढ़ने का नाम श्रद्धालुता है? और उन अवशिष्ट अशुद्धियों को चिरस्थायी बनाये रखना क्या सत्यार्थप्रकाश और महर्षि के लिए गौरव की बात है? यदि ऐसी बात है तो ये लोग द्वितीय संस्करण (१८८४) को यथावत् क्यों नहीं छाप लेते?

३. संशोधनविरोधी लोग यह भी भूल रहे हैं कि सत्यार्थप्रकाश के संशोधन की एक लम्बी परम्परा रही है। वैदिक यन्त्रालय अजमेर से द्वितीय संस्करण के ३६ संस्करण प्रकाशित हुए हैं। उनमें विद्वत्-समितियों द्वारा प्राय: सभी में उत्तरोत्तर रूप से संशोधन किये जाते रहे हैं। ऐसी ही दु:स्थिति अन्य प्राय: सभी प्रकाशकों ने की है। इस प्रकार सारे संस्करण एक-दूसरे से भिन्न हो गये हैं। यह समझिये कि दर्जनों स्वतन्त्र द्वितीय संस्करणात्मक सत्यार्थप्रकाश बन गये हैं। जब सभी प्रकाशक, सम्पादक, सभाएं, न्यास अपने संस्करण में स्वल्पाधिक संशोधन के द्वारा यह स्वीकार कर चुके हैं कि सत्यार्थप्रकाश में संशोधन अपेक्षित और आवश्यक हैं तो क्यों न एक ही बार सारे संशोधन करके एक शुद्धतम एकरूप संस्करण प्रस्तुत किया गया? बार-बार सत्यार्थप्रकाश की दुर्गति क्यों की गई? और आज भी क्यों की जा रही है? यह ज्वलन्त प्रश्न सभी आर्य सम्पादकों पर बना रहेगा।

४. सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण के निरन्तर संशोधन करने का, या शुद्ध संस्करण के नाम से बार-बार नया संस्करण प्रकाशित करने का, या शुद्ध संस्करण पुन: प्रकाशित करने की नयी-नयी योजना घोषित करने का, या शुद्ध संस्करण के प्रकाशन हेतु बैठकें करने का क्रम आज भी जो आर्यजगत् में जारी है, इन कार्यक्रमों से, अर्थापत्ति से तीन बातें सिद्ध होती हैं—१. इसका मतलब है, उनके मतानुसार सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय संस्करण में अभी भी अशुद्धियां विद्यमान हैं, जो संशोध्य हैं। २. उनके मतानुसार, अब तक प्रकाशित सभी द्वितीय संस्करण अशुद्ध हैं, और महर्षि के जीवनकाल में अर्धप्रकाशित द्वितीय संस्करण (१८८४) भी अशुद्ध है, क्योंकि तभी तो उन्हें शुद्ध संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव हो रही है। ३. नया शुद्ध संस्करण

प्रकाशित करने की घोषणा करके भी जो द्वितीय संस्करण में अशुद्धियां न होने की बात कहता है, वह उसका परस्परविरोध, पाखण्ड और दुराग्रह मात्र है या फिर राजनीतिवश वह ऐसा कह रहा है। जब अशुद्धियों का अस्तित्व स्वीकार नहीं है तो उनके द्वारा शुद्ध संस्करण छापने की योजना का अर्थ ही क्या रह जाता है?

कुल मिलाकर ये सब बातें इन सत्यों को पुष्ट कर रही हैं कि सभी के मतानुसार सत्यार्थप्रकाश में लिपिकर आदि द्वारा कृत अशुद्धियां अभी भी विद्यमान हैं और उनका संशोधन करना सभी अनिवार्य भी मानते हैं।

५. संशोधन-विरोधी आर्यजनों को यह भी जान लेना चाहिए कि द्वितीय संस्करण (१८८४) को यदि यथावत् प्रकाशित कर दिया जाये तो लिपिकरों-शोधकों के प्रमाद और कामचोरी के कारण निर्मित त्रुटियों के रह जाने से वह इतना भ्रष्ट प्रकाशन होगा कि वर्तमान शिक्षित जगत् में वह स्वीकार्य और पठनीय ग्रन्थ ही नहीं कहलायेगा। इस कारण उसको आदर्श संस्करण के रूप में उद्धृत करना बेमानी है, और इसी कारण से उसमें संशोधन की महती आवश्यकता है। वह संशोधन भी सर्वांगपूर्ण होना चाहिए, आंशिक और बार-बार नहीं।

इन्हीं अविचारित धारणाओं के कारण ही हमारे प्रकाशकों ने पं० लेखराम जी, स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती, डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार आदि ने परिश्रम करके जो-जो शुद्ध और ग्राह्य रूप प्रस्तुत किया था, उसका लाभ नहीं उठाया और अब तक भाषात्मक त्रुटियुक्त सत्यार्थप्रकाश प्रस्तुत करने में अथवा अपूर्ण संशोधन करने में ऋषिभक्ति और श्रद्धालुता माने बैठे हैं।

(ए-ऐ) सत्यार्थप्रकाश की इस त्रुटिमय स्थिति का आभास मुझे अपने जीवन में पहली बार तब हुआ था जब मैं १९७०-७१ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में एम०ए० हिन्दी कक्षा में पढ़ रहा था। तब एक दिन '**आरम्भिक हिन्दी भाषा एवं गद्य को विभिन्न संगठनों का योगदान**' पाठ्यविषय पर चर्चा करते हुए हमारे एक प्रोफेसर ने यह कहकर चौंका दिया था कि ''सत्यार्थप्रकाश की भाषा व सम्पादन साहित्यिक स्तर का नहीं है।'' मैंने तब इस आक्षेप के परोक्ष उत्तर में गुरुकुल विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका '**गुरुकुल पत्रिका**' में दो अंकों में समाप्य एक बृहत् लेख लिखकर उससे संतोष कर लिया था किन्तु उस वाग्बाण की पीड़ा की कसक आज तक मेरे हृदय में बनी हुई है। इस घटना ने मेरे हृदय में उस '**अस्तरीय**' को खोजने की इच्छा का बीज-वपन कर दिया था।

बौद्धिक प्रौढ़ता आने के बाद भी कभी सत्यार्थप्रकाश को इस दृष्टि से नहीं देखा था कि 'इस में गणितीय और भाव-भाषागत त्रुटियां विद्यमान हैं, वे किस कारण से हैं, और उनका निराकरण अब तक क्यों नहीं किया गया है' आदि। एक दिन एक और सकपका देने वाली बात हुई। लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व की बात है। उस समय मैं राजकीय महाविद्यालय झज्झर (हरियाणा) में हिन्दी-प्राध्यापक था। छात्रों के शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखन पर मैं विशेष ध्यान देता था। एक दिन एक छात्र ने पढ़ने के लिए सत्यार्थप्रकाश मांगा। मैंने उसे भेंट में एक प्रति दे दी। कुछ दिन बाद वह मेरे निवास पर आया। विषयवस्तु की प्रशंसा करने के बाद कहा कि ''सर! आप हमें कहते हैं कि अमुक-अमुक मात्रा वाला शब्द अशुद्ध है, इसमें तो वैसा ही लिखा है, फिर आप उसको अशुद्ध क्यों कहते हैं? इसी प्रकार गणित-सम्बन्धी गलतियां भी हैं। सर! ऐसी गलतियां तो साधारण लेखक की पुस्तक में भी नहीं हुआ करती हैं और इसके लेखक को तो 'महर्षि' लिखा हुआ है।'' मैंने उलट-पुलट कर कुछ स्थलों पर दृष्टि डाली और यह कहकर उस सरल श्रद्धालु को सन्तुष्ट किया कि ''मुद्रण में ऐसी गलतियां हो जाती हैं।'' मुझे पता था कि मैं अनुचित उत्तर दे रहा हूं किन्तु इतनी गम्भीरता से कभी इस प्रहार को अनुभव भी तो नहीं किया था, जैसा उस छात्र के सामने कर रहा था। पुराने घाव में फिर चुभक-सी उठी किन्तु अंग्रेजी दवाई की तरह 'उपेक्षा' की गोली ने कुछ समय बाद उस चुभक को दबा दिया। फिर यह विचार आया कि सत्यार्थप्रकाश में छेड़-छाड़ करने का न तेरा अधिकार है, न ज्ञान; जिसका होगा वही करेगा। किन्तु साथ ही यह भी विचार कोंधा कि फिर 'वे बड़े विद्वान्' यह कार्य क्यों नहीं करते जिनको ज्ञान भी और अधिकार भी है? क्यों नहीं सवा-सौ से अधिक वर्षों की अवधि में उन्होंने यह कार्य किया? कुछ समय पश्चात् यह विचार फिर शान्त हो गया।

समय-समय पर अनुभव और व्यवहार में आई ऐसी कई छुटपुट घटनाओं के अतिरिक्त इस क्रम में एक और महत्त्वपूर्ण घटना आ जुड़ी जिसने शिथिल पड़ी उस इच्छा को उभार दिया और कुछ करने की इच्छा को बलवती बना

दिया। परोपकारिणी सभा, अजमेर (राजस्थान) ने महर्षि दयानन्द से आरम्भ हुई, द्वितीय संस्करण पर आधारित सत्यार्थप्रकाश को प्रकाशित करने की लगभग सवा-सौ वर्ष और ३६ संस्करण पुरानी परम्परा और नीति का परित्याग करके, ३७वें संस्करण के रूप में महर्षिप्रोक्त और संशोधित मूल-हस्तलेख (मूलप्रति) पर मुख्यत: और मुद्रणप्रति तथा द्वितीय संस्करण पर गौणत: आधारित **श्री विरजानन्द दैवकरणि** द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश का ३७वां संस्करण अनेक परिवर्तनों, परिवर्धनों, संशोधनों के साथ प्रकाशित कर दिया। उसको लेकर कुछ लोगों ने आर्यविद्वानों में एक बवण्डर-सा खड़ा कर दिया। बवण्डर का कारण जहां लोगों का इस विषयक अज्ञान था वहां यह भी था कि सौ वर्षों तक लोगों ने जिस सत्यार्थप्रकाश को देखा-पढ़ा था, उसके प्रति उनके संस्कार दृढ़मूल हो चुके थे। उस स्थिति में उन्हें 'मूलप्रति संस्करण' एक अनावश्यक और अवांछनीय प्रकाशन प्रतीत हुआ, किन्तु इसके पीछे विरोध-भाव भी था।

इस पर व्यर्थ का खूब विवाद हुआ, लेख लिखे गये, चुटीले विशेषण चुन-चुन कर आरोप-प्रत्यारोप लगाये गये, पुस्तक भी विरोध में छापी गई, गोष्ठियां रखी गईं, बैठकें आयोजित की गईं, किन्तु कोई सर्वसम्मत समाधान नहीं निकला। दोनों पक्ष अपना-अपना औचित्य सिद्ध करने तथा दूसरे को आरोपित करने में लगे रहे और आग्रहपूर्वक अपना-अपना अभीष्ट संस्करण प्रकाशित करते रहे। सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज की राजनीति का माध्यम बन गया।

परोपकारिणी सभा के ३७ वें संस्करण के प्रकाशन के विरोधस्वरूप, द्वितीय संस्करण के पक्षधर विद्वानों और प्रकाशकों के द्वारा १ मार्च २००५ को नवलखा महल, उदयपुर में वयोवृद्ध वैदिक विद्वान् पं० विशुद्धानन्द जी मिश्र की अध्यक्षता में एक बैठक का आयोजन किया गया जिसमें आर्यसमाज के वरिष्ठ-कनिष्ठ पच्चीस-तीस विद्वान् उपस्थित थे। परोपकारिणी सभा के मन्त्री डॉ० धर्मवीर जी के अनुरोध पर मैं सभा का पक्ष रखने के लिए उस बैठक में पहुंचा था। वहां मैंने देखा कि सभा के संस्करण को लेकर सभी उपस्थितों में न केवल असन्तोष था, अपितु आक्रोश था। मुझे इस स्थिति का आभास भी नहीं था। मैं सामान्य भाव से गया था। कुछ तटस्थ जनों को छोड़कर सब विपक्ष में थे, मेरे मित्र भी, मेरे कनिष्ठ भी, मेरे वरिष्ठ भी। मैं अपने पक्ष में अकेला रह गया था। चर्चा आरम्भ होने पर एक-एक के वाक्-प्रहार ३७वें संस्करण पर होने लगे। मैंने सोचा भी नहीं था कि वरिष्ठ विद्वानों के प्रश्नों की बौछार भी मुझे झेलनी पड़ेगी। आडियो रिकार्डिंग की जा रही थी, अत: प्रत्येक उत्तर सावधानी के साथ देना था। स्थिति को भांपकर मैंने आत्मबल बटोरा और उसका सामना करने के लिए सन्नद्ध हो गया। चूंकि मैंने दोनों संस्करणों के विषय में पर्याप्त अध्ययन किया था इसलिए विद्वानों के प्रश्नों, आरोपों और वाक्प्रहारों के बीच मैंने अपनी स्थिति को विचलित नहीं होने दिया। अब, 'सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर' से प्रकाशित संस्करण को देखकर मुझे उस बैठक की अपनी भूमिका पर आत्मतोष है, क्योंकि उसमें लगभग मेरे सभी सुझावों-तर्कों को ग्रहण किया हुआ है। जैसे, मेरा पक्ष था—'मूलप्रति संस्करण' का यह पाठ ठीक है कि ''**जप मन से करना चाहिए**'' (उदयपुर सं० तृतीय समु० पृ० ४१) तथा नवम समु०पृ० २४६ पर ''**निर्बुद्धिता उसको क्यों दी**'' के स्थान पर ''**बुद्धि क्यों दी**'' पाठ सही है। उदयपुर सं० में दोनों पाठ ग्रहण कर लिये हैं। मैंने कहा था कि 'मूलप्रति संस्करण' विरोध, विवाद, उपेक्षा का विषय नहीं है, अपितु उसका द्वितीय संस्करण के संशोधन में लाभ उठाना चाहिए। उदयपुर सं० ने आज उसके दो-सौ के लगभग पाठ द्वितीय संस्करण के पाठ से उपयोगी मानकर ग्रहण कर लिये हैं। ऐसी ही बहुत-सी अन्य बातें थीं, जो रिकोर्डिड हैं। यह भी सच है कि किसी संस्करण के लिए मेरे मन में कोई पूर्वाग्रह-दुराग्रह भी नहीं था। मेरी भावना यह थी कि दोनों संस्करणों का भेद मिटकर एक ही सम्पूर्ण और शुद्धतम संस्करण प्रचलित हो। मैंने इस पावन लक्ष्य हेतु सहमत होने के लिए सभी का आह्वान भी किया था। गोष्ठी के उपरान्त वहां विद्वानों की एक समिति का गठन हुआ जिसका कार्य इस दिशा में आगे बढ़कर, पूर्वाग्रहरहित हो, सत्यार्थप्रकाश का एक सर्वसम्मत, शुद्धतम, प्रामाणिक संस्करण तैयार करना था।

दु:ख के साथ कहना पड़ रहा है कि उस समिति का कार्य सही तटस्थ मार्ग पर आगे नहीं बढ़ा। वह पूर्वाग्रही और अहंभरी तुच्छ बातों में उलझकर टांय-टांय फिस्स हो गया, और इसके साथ ही सत्यार्थप्रकाश के '**एकरूप संस्करण**' का सपना भी बिखरकर चूर-चूर हो गया। अन्तत: सत्यार्थप्रकाश की दो शाखाएं प्रचलित ही रह गईं।

वर्षों तक, किसी भी विद्वद्मण्डली द्वारा सत्यार्थप्रकाश के 'एकरूप संस्करण'-विषयक तटस्थ प्रयास न किया

जाता देख 'सत्यधर्म प्रकाशन' के संचालक **आचार्य सत्यानन्द जी नैष्ठिक** के बार-बार के अनुरोध पर, मेरे मन में इस कार्य को करने का विचार बना। सत्यार्थप्रकाश-सम्बन्धी विगत विवादकाल में मुझे अनेक बार सत्यार्थप्रकाश के कई संस्करणों का अनुशीलन करने का अवसर मिला था। ज्यों-ज्यों इस विषयक अध्ययन गहन होता गया त्यों-त्यों उसमें लिपिकरों-शोधकों द्वारा छोड़े गये 'त्रुटिपूर्ण' तत्त्व उभर कर सामने आते गये। विगत वर्षों की अवधि में मैंने अनेक विद्वानों, प्रकाशकों, पाठकों के समक्ष अनेक बार सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध उन 'अस्तरीय' तत्त्वों और 'सिद्ध त्रुटियों' की चर्चा करके इस बात पर बल दिया कि उन सबको दूर करके एक शुद्धतम संस्करण तैयार किया जाये। आश्चर्य की यह बात रही कि कुछ व्यक्तियों को छोड़कर अधिकांश इस महत्त्वपूर्ण कार्य से विरत रहे। न उन्होंने इसमें रुचि ली, न मेरे द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों का समाधान किया, और न इस दिशा में कोई प्रोत्साहन दिया। कुछ तो आशंकित विरोध के भय से मौन ही साध गये। हाँ, कुछ चिन्तक व्यक्ति ऐसे मिले जिनके हृदय में विद्रूप सत्यार्थप्रकाश के प्रति पीड़ा थी और वे इसका संशोधन करना आवश्यक मानते थे।

अस्तु, सभी पक्षों का उत्साहहीन और भविष्य के लिए हानिकारक दृष्टिकोण देखकर मैंने इस योजना पर तटस्थ शैली में शोधकार्य घोषणापूर्वक आरम्भ कर दिया। कुछ लोगों के चरित्र की विडम्बना तो देखिए कि जिस सकारात्मक पक्ष पर सक्रिय होना चाहिए था, वहां तो चुप रहे और नकारात्मक पक्ष में विरोध के लिए सक्रिय हो उठे। उन्होंने मेरे कार्य में गतिरोध पैदा करने का प्रयास भी किया और दुष्प्रचार तथा दुरभिसन्धि भी की। आश्चर्य तो यह है कि विरोध-वितण्डा करने वाले व्यक्ति मेरे प्रश्नों का उत्तर न दे सके, किन्तु फिर भी विरोध करना उन्हें अवांछनीय प्रतीत नहीं हुआ। भविष्य में भी ऐसे अनर्गल विरोधी लोगों से पुनः-पुनः सामना होता रहेगा, किन्तु मेरा भी दृढ़ संकल्प है कि सत्यार्थप्रकाश के शुद्धतम संस्करण के लिए प्रत्येक परिस्थिति का सामना किया जायेगा।

मुझे इस बात का निश्चय हो चुका है कि व्यर्थ विरोध-वितण्डा करने वालों के पास न तो सत्यार्थप्रकाश सम्बन्धी आपत्तियों का उत्तर है और न उन्हें इस प्रकार के शोधकार्य के दूरगामी महत्त्व का अनुमान है, न उन्हें सत्यार्थप्रकाश की यथार्थ स्थिति का बोध है। उनके पास है केवल रूढ़िवादिता, कुंठित चिन्तन और अहंयुक्त पूर्वाग्रह! लिपिकरों-शोधकों-आदिसम्पादकों द्वारा मक्कारी, अयोग्यता और प्रमाद से की गई त्रुटियों को महर्षि दयानन्द के मत्थे डाल महर्षि को अपमानित रखने पर बल लगानेवाले वे जन यही नहीं सोचते कि वे कर क्या रहे हैं! **विगत १२८ वर्ष हमारे विद्वानों ने सत्यार्थप्रकाश के प्रत्येक संस्करण में कांट-छांट में खो दिये, किन्तु फिर भी एक शुद्ध संस्करण पाठकों को नहीं दे सके। उलटे प्रत्येक संस्करण में नये-नये पाठान्तर उत्पन्न करके प्रत्येक संस्करण को एक-दूसरे से भिन्न बनाकर उसकी हास्यास्पद और अप्रामाणिक स्थिति बना दी। हमारे श्रद्धालु पाठक भ्रान्तिवश सत्यार्थप्रकाश की उस दुर्दशा को सुदशा और दुर्गति को सुगति माने बैठे हैं।** अब स्थिति ऐसी बन गई है कि सभी सम्पादक और प्रकाशक अपने-अपने संस्करण को निजी अहं, आग्रह और प्रतिष्ठा का विषय बनाये हुए हैं। उनकी व्यक्तिगत भावनाओं की महत्ता के आगे उपेक्षित हुआ सत्यार्थप्रकाश अपनी विद्रूपता पर आंसू बहा रहा है और सब अपनी-अपनी ढपली की ताल और अपने-अपने राग में मुग्ध हैं।

२. संशोधन-विरोधियों की विडम्बनापूर्ण मानसिकता और व्यवहार

सत्यार्थप्रकाश की सर्वांगपूर्ण संशोधन-योजना का अविचारित रूप से विरोध-वितण्डा करनेवाले लोगों की कई विरोधाभासी और विचित्र मानसिकताएं देखने में आती हैं—

१. कुछ लोगों का तो शोधकार्य अथवा दूरदर्शिता से कोई सरोकार नहीं है। साधारण हिन्दी न जानने वाला और अयोग्य-से-अयोग्य व्यक्ति भी इस विषय में इस प्रकार टिप्पणी व निर्णय देता है जैसे वह इसका विशेषज्ञ हो। वह केवल स्वयं को बहुत बड़ा विद्वान्, सबसे अधिक बुद्धिमान्, सत्यार्थप्रकाश का सच्चा हितैषी मानकर स्वयम्भू उग्रवादी नेताओं की तरह अपने को प्रथम पंक्ति का ऋषिभक्त प्रदर्शित करता है और शोधकर्त्ता विद्वानों को पिछड़ी पंक्ति का। वह इस तथ्य को भुला देता है कि शोधकर्त्ता विद्वान् यदि तुमसे अधिक योग्य नहीं, तो कम-से-कम बराबर का विद्वान् और निष्ठावान् ऋषिभक्त तो है ही। ऐसे लोगों ने सत्यार्थप्रकाश को इतना

स्तरहीन ग्रन्थ मान लिया है जिस पर कोई भी ऐरा-गैरा टिप्पणी और निर्णय दे दे, जबकि सत्यार्थप्रकाश एक गम्भीर शास्त्र है जिसको समझने में विद्वानों को भी श्रम एवं चिन्तन करना पड़ता है। अनधिकारी व्यक्ति द्वारा सत्यार्थप्रकाश पर निर्णय देना उसका अवमूल्यन करना है।

मैं समझता हूं कि सत्यार्थप्रकाश पर परामर्श देने का, जिज्ञासा-शंका करने का अधिकार प्रत्येक स्वाध्यायी को है किन्तु टिप्पणी करने और निर्णय देने का अधिकार केवल उस विशेषज्ञ को है जिसने दोनों हस्तलेखों (मूलप्रति एवं मुद्रणप्रति) का मिलान और अनुशीलन किया हो, वैदिक शास्त्रों और सिद्धान्तों का ज्ञान हो, ऋषिकालीन और वर्तमान हिन्दी भाषा का तथा शैली का व्याकरण-सहित ज्ञान हो, विभिन्न संस्करणों का मिलान करके तुलनात्मक पाठालोचन किया हो, जिसका पूर्वाग्रह न हो और जो खींचातानी करके स्वकल्पित अनर्गल समाधान न थोपता हो, जिसको अन्य मत-मतान्तरों के सिद्धान्तों-ग्रन्थों का आवश्यक ज्ञान हो। यदि इतना ज्ञान नहीं है तो चाहे वह विद्वान् है अथवा अविद्वान् उसे सत्यार्थप्रकाश पर निर्णयात्मक टिप्पणी नहीं करनी चाहिये।

२. विरोध-वितण्डा करनेवालों की दूसरी विचित्र मानसिकता यह होती है कि वे संशोधन के लाभों को समझाने पर भी स्वीकार नहीं करते और सदा ऐसा व्यवहार करते हैं कि '**चित भी मेरी, पट भी मेरी।**' जब कोई विद्वान् या सम्पादक बिना टिप्पणियों के चुपचाप त्रुटियों को दूर करता है तो वे हायतोबा मचा देते हैं कि 'इन्होंने गुपचुप संशोधन कर डाला!' और आरोप लगाते हैं कि 'हाय! सत्यानाश कर डाला', 'ये तो आस्तीन के सांप हैं', आदि-आदि। जब कोई घोषणा और टिप्पणीपूर्वक संशोधन करते हैं तो कहते हैं—'इन्होंने विरोधियों के लिए सामग्री प्रस्तुत कर दी।' जबकि यह आरोप सर्वथा निराधार है, क्योंकि आजतक किसी विरोधी ने किसी आर्यविद्वान् के संशोधित संस्करण को आधार बनाकर आलोचना नहीं की। यदि आलोचना भी की है तो वह कथित अपनों ने की है। और फिर हमने तो त्रुटियों का जिम्मेदार ऋषि के नौकरों=लिपिकरों और शोधकों को सिद्ध किया है तथा ऋषि को उनके दायित्व से सदा के लिए मुक्त करने के प्रमाण दिये हैं। हमारा शोधकार्य भिन्न कोटि का है जिसमें तटस्थ मानदण्डों के आधार पर पाठनिर्धारण एवं विवेचन प्रस्तुत किया है।

दोनों विचारपक्षों में सोच का बहुत बड़ा अन्तर है। संशोधन-विरोधी भावुक और अदूरदर्शी आर्यजन त्रुटियों को दबाये रखने में सत्यार्थप्रकाश की त्रुटियों का समाधान और गौरव मानते हैं जबकि हम उन अशुद्धियों को शोध-रूपी साबुन से धोकर सदा-सदा के लिए परिमार्जित करने में समाधान और ऋषि-गौरव मानते हैं जिससे भविष्य में कभी कोई व्यक्ति इसकी ओर सप्रमाण उंगली न उठा सके। दबी पड़ी अशुद्धियां कभी भी उभर सकती हैं, किन्तु परिमार्जित रूप सदा उज्ज्वल रहेगा। इससे सत्यार्थप्रकाश तथा ऋषि का गौरव ही बढ़ेगा।

३. तीसरी विचित्रता यह है कि संशोधन-विरोधी सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान त्रुटियों का कोई औचित्य भी सिद्ध नहीं करते हैं, न उत्तर देते और न स्वयं उनको हटाने का भी कार्य करते हैं। उत्तर भी देते हैं तो वह सत्यार्थप्रकाश की भाषा से व्यक्त उत्तर नहीं होता। अपनी ओर से कल्पित बेतुका खींचतानभरा और एकांगी होता है। उनकी यह परस्परविरोधी असामान्य मनःस्थिति है। वस्तुतः वे लोग सर्वांग संशोधन की गम्भीर आवश्यकता और अपरिहार्य महत्त्व को ही नहीं समझ रहे। कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि उन्हें शुद्धता के मूल्य और अशुद्धता के भावी नुकसान का आभास ही नहीं है। यदि उन्हें यह ज्ञान होता तो इतने आवश्यक विषय को वे वितण्डा का विषय न बनाते! कुछ लोगों ने तो इस विषय को अपनी राजनीति का आधार बना लिया है।

४. कुछ लोगों की यह चिन्तनहीन धारणा बन गई है कि अब तक जो संशोधन हो चुका वह तो आपत्तिरहित है और अब जो किया जा रहा है वह आपत्तिजनक है। अथवा उनके पसन्द के किसी विद्वान्-विशेष ने अथवा उन्होंने जो स्वयं चुपचाप या प्रकट रूप में संशोधन कर दिया, वह तो स्वीकार्य हो जाना चाहिए और जो अन्य सम्पादक करें वह विरोध-योग्य है। इस सोच में कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि संशोधन का न्यायोचित आधार अशुद्धि होता है, व्यक्ति या संस्था नहीं। संशोधन अशुद्धि-सापेक्ष होते हैं, व्यक्ति-सापेक्ष नहीं।

५. उन लोगों की पांचवीं विचित्र मानसिकता यह है कि आज विधर्मियों-विरोधियों की ओर से, और कुछ कथित स्वधर्मियों की ओर से भी सत्यार्थप्रकाश पर अनेक प्रहार हो रहे हैं। वितण्डा करनेवाले बहुत-से ये जन न तो उनका उत्तर देते हैं, न विरोध करते हैं, न पीड़ित होते हैं। उनकी पाखण्डभरी पीड़ा ऐसी है जो अपनों के सामने तो जाग जाती है, किन्तु विरोधियों के सामने मूर्च्छित हो जाती है! फिर भी उनका दम्भभरा दावा है कि वही सत्यार्थप्रकाश के वास्तविक रक्षक हैं, वही सच्चे 'ऋषिभक्त' हैं।

इस प्रसंग में स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती द्वारा ऐसे लोगों के लिए लिखा गया वह कटु अनुभव याद आ रहा है जो कभी उन्होंने ऐसी ही परिस्थितियों में लिखा था—

''आर्यसमाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती है, जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिसके साथ किसी कारण से उनका द्वेष हो गया है।''.....ऋषि दयानन्द क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयं ही निर्णय करते हैं, दूसरे को उसमें 'ननु न च' करने का अधिकार नहीं देते।'' (वेद और आर्यसमाज, पृष्ठ १३२-१३३)

६. अपने धर्मग्रन्थ को अशुद्धियों से रहित और शुद्धतम बनाने के महत्त्वपूर्ण और पवित्र लक्ष्य का जो लोग अविचारित विरोध करते हैं, उनका आचरण ऐसा है जैसे किसी के शरीर में कोई रोग विद्यमान है और वैद्य या डॉक्टर उसको पहचानकर रोग को बतला देता है। तब यदि कोई रोगी डॉक्टर को यह उपालम्भ देने लगे कि 'आपने मुझे रोगी क्यों कहा', तो उससे बढ़कर नादान कौन होगा? उसको बुद्धिमानों में कौन गिनेगा? हाँ, समझदार और बुद्धिमान् व्यक्ति तो डॉक्टर का उपकार ही मानेगा और कृतज्ञता अनुभव करेगा कि अच्छा हुआ इसने समय रहते मेरे रोग को बता दिया। उससे इसकी समय पर चिकित्सा हो गई, नहीं तो आगे चलकर यह रोग असाध्य बन जाता। यही बात सत्यार्थप्रकाश के शोधकार्य पर लागू होती है। जो विचारहीन और अदूरदर्शी व्यक्ति हैं वे इस शोधकार्य पर विरोध-वितण्डा करेंगे, किन्तु ज्ञानी, समझदार और दूरदर्शी व्यक्ति तो उपकार और कृतज्ञता मानेंगे।

७. मेरा कहना यह भी है कि जो त्रुटियां उजागर हुई हैं वे संशोधकों या सम्पादकों ने अपनी ओर से तो निर्मित की नहीं हैं, न नयी बनाकर डाली हैं। वे तो सत्यार्थप्रकाश के जन्मकाल से और १२८ से भी अधिक वर्षों से उसमें विद्यमान हैं और निरन्तर छपती चली आ रही हैं, प्रकाशक उनको छाप रहे हैं। इन संस्करणों को छापा भी भिन्न-भिन्न प्रकाशकों ने है; तो आपत्ति या तो त्रुटिभरे संस्करणों पर होनी चाहिए, अथवा त्रुटियों पर, या त्रुटि करनेवाले लिपिकरों और आदि-शोधकों पर। पहले से विद्यमान त्रुटियों की पहचान करके उनको बताना, उनको ठीक करने की भावना से काम करना, कोई अपराध नहीं होता। देखा जाये तो यह प्रशंसा का कार्य है कि अपने धर्मग्रन्थ की त्रुटियों को दूर करके उसका शुद्धतम संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास करना।

८. जैसा कि मैंने कहा कि सत्यार्थप्रकाश के संशोधन की उतनी ही लम्बी विडम्बनापूर्ण परम्परा है जितना लम्बा सत्यार्थप्रकाश का निर्माण काल है। लगभग उतनी ही लम्बी संशोधन-विरोध की भी परम्परा है। किन्तु अधिक दु:ख उन विद्वानों और विरोधकर्त्ताओं पर आता है जो लिपिकरों-शोधकों द्वारा की गई त्रुटियों को महर्षि का कथन मानकर अड़ते हैं और गलत को सही सिद्ध करने के लिए अपनी ओर से अनर्गल खींचतान करते हैं। उन्होंने आग्रह से अपना एक पक्ष बना लिया है। ऐसे लोग न तो ऋषि के कथनों को मानते हैं, न पाण्डुलिपीय प्रमाणों को मानने को उद्यत होते हैं, न तर्क-प्रमाण को स्वीकार करते हैं, न दूसरे पक्ष के तथ्यों पर विचार करने पर सहमत होते हैं। ऋषि का नाम लेकर गलत बातों पर अड़ने को उन्होंने ऋषिभक्ति मान लिया है। वे इस 'खुशफहमी' में जी रहे होते हैं कि 'हम ही एकमात्र सत्यार्थप्रकाश-भक्त और ऋषि-हितैषी हैं'। वस्तुत: वे पूर्वाग्रह और मिथ्या अहंभाव से इतने ग्रस्त हैं कि वे ऋषिभक्ति और ऋषिहित के वास्तविक स्वरूप पर विचार ही नहीं कर पाते। चिन्तन-मनन के कई अवसरों पर मैंने कई आर्यविद्वानों को सिद्ध त्रुटियों पर भी दुराग्रहपूर्वक विपरीत पक्षकार बनते देखा है। ऐसे ऋषिभक्त विद्वानों से मैं अनुरोध करूंगा कि वे ऋषि के इन वाक्यों पर

गम्भीरता से मनन करें—

''मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेवाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।'' (सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृ० ९)

आर्य पाठकगण! अब हमें इस कथन को उद्धृत करना छोड़ देना चाहिए कि **''इस ग्रन्थ में जो कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय, उसको जानने-जनाने पर, जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा''** (भूमिका पृ० ९)। यह कथन महर्षि के जीवन-काल के लिए था। महर्षि अब हैं नहीं, और न ही जानने-जनाने के लिए आयेंगे। यह भी स्वीकार्य और संभव नहीं है कि महर्षि कालीन द्वितीय संस्करण (१८८४) को यथावत् छापा जाये, क्योंकि उसमें कई सहस्त्र अशुद्धियां विद्यमान हैं। अब तो यह संशोधन-कार्य उनके योग्य और सक्षम अनुयायियों को करना है। अब तो महर्षि के निम्नलिखित कथन पर ध्यान केन्द्रित करके उसका अनुपालन करने का समय आ गया है—

''यदि कहीं भ्रम से अन्यथा लिखा गया हो तो उसको शुद्ध कर लेवें।''

(सत्यार्थप्रकाश १४वें समुल्लास के अन्त में पृष्ठ १०४२)

संशोधन-विरोधी मानसिकतावाले आर्यजन इस गम्भीर बात पर भी ध्यान दें। समय सदा एक जैसा नहीं रहता; परिस्थितियां सदा अनुकूल नहीं रहती। राजनीतिक स्थितियां भी बदलती रहेंगी। यथार्थ जानकारी के अभाव में आज कुछ लोगों को यह शोधकार्य अन्यथा प्रतीत हो सकता है, किन्तु उन्हें इस भावी आशंका पर चिन्तन करना चाहिए कि भविष्य में कभी-न-कभी, कोई-न-कोई, किसी रूप में ऐसा व्यक्ति प्रकट हो सकता है जो विद्यमान त्रुटियों के आधार पर सत्यार्थप्रकाश और महर्षि की मानहानि करने को उद्यत हो सकता है। पाठक याद रखलें कि सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अब तक आठ से अधिक मुकदमे और प्रतिबन्ध आदेश हो चुके हैं। अच्छा यही है कि जितना जल्दी हो सके हम व्यर्थ के आग्रहों और अहंभाव को छोड़कर लिपिकरों-शोधकों द्वारा की गई त्रुटियों को अथवा अन्य किसी भी कारण से रह गई त्रुटियों को ऋषिहित में दूर करलें और अपने धर्मग्रन्थ का शुद्धतम स्वरूप बना लें। इसी में बुद्धिमत्ता है, इसी में दूरदर्शिता है, इसी में ऋषिभक्ति है, इसी में सत्यार्थप्रकाश का हित है। सभी मत-मतान्तरवालों ने ऐसा बुद्धिमत्तापूर्ण और दूरदर्शितापूर्ण कार्य किया है, इतिहास उसका साक्षी है।

३. सभी मत-मतान्तरों के 'धर्मग्रन्थों' का पाठ-निर्धारण बाद में किया गया है—

सभी मत-मतान्तरों के 'धर्मग्रन्थों' का वर्तमान में उपलब्ध पाठ उनके प्रोक्ता और मत-प्रवर्तकों के देहान्त के पश्चात् उनके अनुयायियों द्वारा किया गया है। ऐसा करना कोई असहज या आपत्तियुक्त कार्य नहीं रहा है। इस विषयक कुछ ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१. महात्मा बुद्ध ने अपने जीवनकाल में स्वयं कुछ नहीं लिखा, जो प्रवचन दिये उनके शिष्य उन प्रवचनों का संकलन करते रहे। उनके देहान्त के बाद उनके प्रवचनों में जो परस्पर-विरोध, पाठान्तर या सिद्धान्तभिन्नता दिखाई पड़ी उनको दूर कर पाठ-निर्धारण करने के लिए बौद्ध विद्वानों-भिक्षुओं की छह-सात संगीतियां (गोष्ठियां) हुईं। तब जाकर पाठ-निर्धारण अथवा ग्रन्थ-निर्धारण हुआ। उसमें भी पूर्णतया एक मत नहीं बन पाया और बौद्धों में विचारभिन्नता के कारण अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हो गये, जैसे—दिगम्बर, श्वेताम्बर, हीनयान, महायान, माध्यमिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक आदि। पुनरपि आज जो पाठ उपलब्ध है उनका निर्धारण महात्मा बुद्ध के देहान्त के पश्चात् बौद्ध विद्वानों द्वारा संगीतियों के आयोजनपूर्वक हुआ है।

२. ईसा मसीह ने भी अपने जीवन काल में कुछ नहीं लिखा। जो कुछ मिलता है वह उनके अनुयायियों द्वारा लिखा गया है। 'बाइबल' में ७२ पुस्तिकाओं का संकलन है। उसके दो भाग हैं—१. पुराना धर्मग्रन्थ या तौरेत, २. नया धर्मग्रन्थ या इंजील। प्रथम भाग यहूदियों द्वारा मान्य और अधिकांशतः हजरत मूसा द्वारा प्रोक्त धर्मग्रन्थ है और द्वितीय भाग ईसाइयों द्वारा मान्य धर्मग्रन्थ है। आश्चर्य तो यह है कि एक ही ग्रन्थ में दो भाग संयुक्त होने पर और एक धर्मग्रन्थ कहलाने पर भी दोनों सम्प्रदायी एक-दूसरे के ग्रन्थ भाग को नहीं मानते, और विचार-भेद के कारण इनमें परस्पर भयानक युद्ध भी होते रहे हैं।

ईसाइयों के धर्मग्रन्थ का '**बाइबल**' यह नाम भी ईसा के देहान्त के बहुत वर्षों के पश्चात् निर्धारित हुआ। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि बाइबल में कुल ७२ पुस्तकों का संकलन है जिनमें प्रथम भाग (ओल्ड टेस्टामेंट) में ४५ और द्वितीय भाग (न्यू टेस्टामेंट) में २७ पुस्तकें हैं। ये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखित हैं। इन पुस्तकों के संकलन का निश्चय भी एक शताब्दी के बाद कभी हुआ। आज भी उन पुस्तकों को ईश्वरप्रेरित स्वीकार करने में मतभेद है। '**कैथोलिक**' आदि कुछ ईसाई सम्प्रदाय सभी ७२ पुस्तकों के संकलन से युक्त 'बाइबल' को अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं, तो '**प्रोटेस्टेंट**' आदि कुछ ईसाई सम्प्रदाय इन सात पुस्तकों को अपने बाइबल में सम्मिलित नहीं करते—१. तोबियास, २ यूदिथ, ३. मकाबी, ४ प्रज्ञा, ५ सिराह, ६. दानिएल, ७. एस्तेर के कुछ अंश। इस प्रकार ईसाइयों में दो 'बाइबल' प्रचलित हैं।

बाइबल के अनुवाद एक हजार से अधिक भाषाओं में हुए है और अनुवादों में तो अवर्णनीय विविधता है। बाइबल की प्रकाशक सोसायटियां समय-समय पर आवश्यकतानुसार अनुवाद में और भाषा में संशोधन करती रहती हैं। इस प्रकार वे आपत्तिमय स्थलों को परिवर्तित या शिथिल करती हैं, तो साथ ही बाइबल को अधिकतम शुद्ध बनाने का प्रयास भी करती हैं। यह उनका बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

३. '**कुरान**' के सम्बन्ध में मुसलमानों में यह धारणा है कि वह अल्लाह की ओर से हजरत मुहम्मद साहब के हृदय में प्रकट हुआ है। हज० मुहम्मद शिक्षित नहीं थे, जब-जब उनको आयतें प्रकट होती थीं, उनके द्वारा बोली गई आयतों को उनके साथ रहने वाले शिक्षित व्यक्ति किसी भी वस्तु पर लिख लेते थे, जैसे—लकड़ी, पत्थर, अस्थि, पत्ता आदि पर। उनको संकलित करके कुरान का निर्माण हुआ। ऐतिहासिक ग्रन्थों से जानकारी मिलती है कि हज० मुहम्मद के देहान्त के बाद कुरान के कई पाठान्तर प्रचलित थे। सन् ६५१ ईस्वी में हजरत उसमान खलीफा (शासक) बने। उन्होंने चार विद्वानों की एक समिति गठित करके उसको आदेश दिया कि वे कुरान के सभी संस्करण मंगाकर उसका एक पाठ निर्धारित करें। उनमें वह प्रति भी मंगाई गई जो हजरत मुहम्मद की बेगम 'बीबी हफ़सा' के पास थी। समिति में चार विद्वान् थे—१. अब्दुल्ला बिन जबीर, २. सईद बिना इलहास, ३. अब्दुल रहमान बिन आरिस, ४. जैद बिन साबित। वर्तमान उपलब्ध पाठ उनके द्वारा निर्धारित किया हुआ है। क्योंकि हजरत उसमान शासक थे, तो उन्होंने केवल इस पाठ को अपनाने का आदेश सभी मुसलमानों को दिया तथा अन्य सभी संस्करणों को नष्ट करने का आदेश दिया। मदीना के हाकिम मर्दान ने हजरत मुहम्मद की बेगम बीबी हफ़सा से अनुरोध करके उनकी प्रति को भी नष्ट करा दिया। इस प्रकार वर्तमान में उपलब्ध कुरान का तब से एक पाठ ही प्रचलित रहा है। इस कुरान में ३० सिपारे, ११४ सूरतें और ६६६६ आयतें हैं। अब पाठ में तो अन्तर नहीं मिलता, किन्तु भाष्यों में दिन-रात का अन्तर मिलता है। कोई कुछ अर्थ करता है, कोई कुछ।

सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने आयतों के जो अर्थ दिये हैं वे मौलवियों द्वारा किये गये हैं। अरबी-फारसी के आर्यविद्वान् पं० रामचन्द्र जी देहलवी की मान्यता है कि ये अर्थ शाह रफ़ीउद्दीन साहब देहलवी के उर्दू तर्जुमे से किये हुए हैं। इनमें यदि अशुद्ध या आपत्तिजनक अर्थ हैं तो उनके जिम्मेदार वे भाष्यकार मौलवी हैं, या अनुवाद है, महर्षि नहीं।

जब उक्त मतवादियों ने भी अपने 'धर्मग्रन्थों' का संशोधन एवं पाठनिर्धारण सहमति-सद्भावनापूर्वक कलह के बिना कर लिया है, तो स्वयं को बुद्धिजीवी समझने वाले आर्यजन क्यों नहीं कर सकते? जब तक रूढ़िवादी बनकर सत्यार्थप्रकाश पर विवाद करते रहेंगे तब तक सत्यार्थप्रकाश की भी हानि है, ऋषि की भी हानि है और आर्यसमाज की भी हानि है। देर-सबेर एक दिन यह कार्य करना अवश्य पड़ेगा, केवल अपने को ही सही मानने के दम्भ का परित्याग करके, इस सत्य को जितना शीघ्र समझ लिया जायेगा और स्वीकार कर लिया जायेगा, उसी में सत्यार्थप्रकाश का, ग्रन्थकार ऋषि का और आर्यसमाज का हित है—''**नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय**''।

—०—

द्वितीय अध्याय

सत्यार्थप्रकाश की रचना एवं संशोधन-परम्परा का इतिहास

१. सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) की रचना और उसकी पृष्ठभूमि—

वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से मई, सन् १८७४ ईस्वी (ज्येष्ठ सम्वत् १९३१) में महर्षि दयानन्द काशी पहुंचे। तब वहाँ के डिप्टी कलेक्टर राजा जयकृष्णदास बहादुर सी०एस०आई० थे। राजा जी मुरादाबाद के रहने वाले थे और सामवेदीय ब्राह्मण थे। महर्षि के जन-कल्याणकारी उपदेश सुनकर उनके प्रति राजा जी की श्रद्धा भावना बन गई थी। उन्होंने महर्षि से निवेदन किया कि 'आपके उपदेशों का लाभ केवल उपदेश में आनेवाले श्रोता ही उठा पाते हैं, यदि इनको ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर दिया जाये तो अनेक जनों को लाभ होगा और वे चिरस्थायी भी हो जायेंगे। इनके लिखवाने-छपवाने का सारा व्यय मैं वहन करूंगा।'

राजा जयकृष्णदास के उपयोगी प्रस्ताव को महर्षि ने स्वीकार कर लिया और १२ जून १८७४ (संवत् १९३१, प्रथम आषाढ़ वदि १३) शुक्रवार को सत्यार्थप्रकाश लिखवाने का कार्य आरम्भ कर दिया। महर्षि बोलते थे और महाराष्ट्रीय पंडित चन्द्रशेखर नामक लेखक उसको लिखते थे।[१] महर्षि के जीवन-चरित्र के लेखकों का विचार है कि ढाई-तीन मास में सत्यार्थप्रकाश के १ से १४ समुल्लास लिखाने का कार्य पूर्ण हो गया था। उसको प्रकाशनार्थ राजा जयकृष्णदास को सौंपकर २६ अक्तूबर १८७४ को महर्षि बम्बई पहुंच गये थे।

विवरणों से ज्ञात होता है कि राजा जी ने इस सत्यार्थप्रकाश की, प्रेस में प्रकाशनार्थ भेजने के लिए और रिकार्ड में रखने के लिए, दो साफ प्रतियां लिखवाई थी। उनमें से एक प्रति राजा जयकृष्णदास के पास सुरक्षित थी जो कि परोपकारिणी सभा के मन्त्री श्री हरविलास शारदा ने सन् १९४७ (संवत् २००४) में मंगवाकर परोपकारिणी के पुस्तकालय में सुरक्षित कर ली थी। जिस प्रति से प्रथम संस्करण छपा था उसके दस समुल्लास तक की प्रति का भाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसकी फोटोप्रति **श्री विरजानन्द दैवकरणि** गुरुकुल झज्झर के पास है। प्रेसप्रति में और कहीं-कहीं दूसरी प्रति में भी ऋषि के हाथ से किये संशोधन भी हैं। यह दो भागों में लिखवाया गया है। १-१० समुल्लास तक प्रथम भाग है, जिसमें ५१४ हस्तलिखित पृष्ठ हैं। ११-१४ समुल्लास तक द्वितीय भाग है, जिसमें ४६८ पृष्ठ हैं। ४६८ से ४९५ पृष्ठों में मनुष्य-हितकारी बातें, दिनचर्या, पठन-पाठन सम्बन्धी बातें हैं। इसमें १३वां समुल्लास इस्लाम मत समीक्षा का और १४वां ईसाई मत समीक्षा का रखा गया था। कुरान मत समीक्षा-विषयक १३ वां समुल्लास पटना शहर निवासी अरबी के विद्वान् मुंशी मनोहरलाल जी की सहायता से लिखा था जिसे मुरादाबाद निवासी मुंशी इन्द्रमणि ने संशोधित भी किया था। ये जानकारियां क्रमशः सत्यार्थप्रकाश-हस्तलेख के द्वितीय भाग के पृष्ठ ३६२ पर दिये विवरण से तथा पत्र-व्यवहार से मिलती हैं।

यह सत्यार्थप्रकाश सन् १८७५ में प्रकाशित होकर बिकने लगा था। राजा जयकृष्णदास ने इसको १२वें समुल्लास तक ही छपवाया, १३-१४ समुल्लास प्रकाशित नहीं कराये। उसका सम्भावित कारण यह रहा होगा कि ईसाई मत के खण्डन से कहीं अंग्रेज सरकार उनसे रुष्ट न हो जाये और कुरान मत समीक्षा से कहीं मुसलमान उनसे रुष्ट न हो जायें। १२ समुल्लास तक प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में कुल पृष्ठ ४०७ हैं और इसके विक्रय का 'रजिस्टर्ड अधिकार' केवल राजा जयकृष्णदास के पास सुरक्षित रखा गया है। राजा जी ने रजिस्टरी कानून संख्या २०, सन् १८४७ के अनुसार इसकी रजिस्ट्री अपने नाम से करा ली थी।

सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) में प्रक्षेप—यह सत्यार्थ महर्षि की अनुपस्थिति में 'स्टार प्रेस, बनारस' में छपा था। महर्षि इसका प्रकाशित प्रूफ नहीं देख पाये थे। माना जाता है कि सम्बन्धित पंडितों और राजा जयकृष्णदास ने

---

१. प्रथम संस्करण विषयक अधिकांश तथ्य पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित 'सत्यार्थप्रकाश' की भूमिका से उद्धृत हैं।

पारम्परिक संस्कारवशात् इसमें महर्षि के विरुद्ध विचारों का प्रक्षेप कर दिया, जो कि उस समय सामाजिक मान्यता के रूप में समाज में दृढ़मूल थे और जिनको न मानना धर्मविरोध समझा जाता था। वे प्रक्षेप मृतक श्राद्ध करना, मांसपूर्वक श्राद्ध करना, मांसभक्षण करना, यज्ञ में मांस-आहुति देना, स्त्रियों और शूद्रों को यज्ञोपवीत न देना आदि के समर्थक थे। हस्तलिखित प्रतियों पर गहन दृष्टि डालने के बाद प्रक्षेप करने के तरीके का रहस्य भी खुल गया। महर्षि प्रेसप्रति का संशोधन करके प्रचार-कार्यक्रम में चले गये थे। उनके पीछे से वे सभी पृष्ठ बदलकर पुनः लिखे गये जिन पर महर्षि के अभिप्राय-विरुद्ध प्रक्षेप हुए हैं। इसका पहला प्रमाण यह है कि उन-उन पृष्ठों पर तथा बदले गये आगे-पीछे के पृष्ठों पर महर्षि के हाथ के संशोधन नहीं हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण १८७५) के लेखन से पूर्व और समकाल में छपे ग्रन्थों में महर्षि जीवित श्राद्ध करने आदि की विशुद्ध वैदिक मान्यता को स्वीकार करते थे और उसका उपदेश करते थे। अतः मिलाई गई अवैदिक मान्यताएं महर्षि-सम्मत नहीं मानी जा सकतीं। तीसरा प्रमाण यह है कि जिस प्रकार महर्षि द्वारा लिखाये और प्रकाशनार्थ दिये १३, १४ समुल्लासों को राजा जयकृष्णदास ने प्रकाशित न कराके अपना स्वतन्त्र हस्तक्षेप किया है उसी प्रकार अपनी पौराणिक मान्यताओं को बचाये रखने के लिए अपने विचारों के प्रक्षेप करने में भी उन्होंने हस्तक्षेप किया है, यह जानकारी आगे उद्धृत महर्षि के उत्तर की शब्दावली से भी मिलती है।

छपने के बाद सत्यार्थप्रकाश बिक रहा था और महर्षि निश्चिन्त होकर अपने प्रचार-अभियान में व्यस्त थे। एक दिन ठाकुर मुकुन्दसिंह रईस, गांव छलेसर, जिला-अलीगढ़ का पत्र महर्षि के पास आया, जिसको पढ़कर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसमें महर्षि को लिखा गया—**''मैं पार्वण श्राद्ध करना चाहता हूं, उसके लिए एक बकरा भी तैयार है। आप ही इस श्राद्ध को कराइये।''**

महर्षि ने उसके उत्तर में लिखा—''यह संस्करण राजा जयकृष्णदास द्वारा मुद्रित हुआ है, इसमें बहुत अशुद्धियां रह गई हैं। शाके १७९६ में मैंने जो 'पञ्चमहायज्ञविधि' प्रकाशित कराई थी, जो कि राजा जी के सत्यार्थप्रकाश से एक वर्ष पूर्व छपी थी, उसमें जबकि मृतक श्राद्ध आदि का खण्डन है, तो फिर सत्यार्थप्रकाश में उसका मण्डन कैसे हो सकता है? अतः श्राद्ध विषय में जो मृतक-श्राद्ध और मांस-विधान का वर्णन है, वह वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।'' (वैदिक सिद्धान्त ग्रन्थमाला—पं० सुखदेव, भास्कर प्रेस मेरठ से प्रकाशित, संवत् १९७४, पृष्ठ २८)

खोज करने पर पता चला कि सत्यार्थप्रकाश (प्रथम सं०) को पढ़कर ही ठाकुर को श्राद्ध करने की प्रेरणा हुई थी। तब महर्षि ने विज्ञापन आदि द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट की और सत्यार्थप्रकाश को शुद्ध करके पुनः छापने का मन बनाया। इस प्रकार महर्षि को सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) में ही अभिप्राय-विरुद्ध प्रक्षेप किये जाने का कटु अनुभव हो गया था। यह भी आभास हो गया था कि कि समाज-सुधार में कितनी बाधाएं हैं। इस तरह सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण १८७५) के प्रेरक भी राजा जयकृष्णदास बने और प्रक्षेपकर्त्ता भी वही बने। ऐसे रूढिवादी पौराणिक वातावरण में और विरोधी विचारधारा के लोगों के साथ महर्षि को काम करना पड़ रहा था। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में सब कुछ ठीक होने का दावा कोई नहीं कर सकता।

२. सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की रचना एवं रचना-काल

सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) समाप्त हो रहा था, उसमें संशोधन करना भी बहुत आवश्यक था, बहुत-सी नयी सामग्री भी उसमें परिवर्धित करनी थी, अतः महर्षि ने इसका परिष्कृत, परिवर्धित एवं संशोधित द्वितीय संस्करण तैयार करने का विचार बनाया। इसके प्रकाशित कराने की पूर्व सूचना **'वर्णोच्चारण शिक्षा'** के अन्तिम पृष्ठ पर छपी मिलती है, जो संवत् १९३६ (सन् १८७९) के अन्त में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद प्रकाशित करने की सूचना **'सन्धि विषय'** (संवत् १९३८, सन् १८८१) के अन्त में भी प्रकाशित मिलती है। प्रचार-यात्रा में रहते हुए महर्षि साहित्य-लेखन का कार्य भी साथ-साथ करते थे। लेखन में सहयोग के लिए महर्षि ने दो स्तर के वेतनभोगी नौकर रखे हुए थे, उनमें एक थे 'लिपिकर या लेखक', जो महर्षि के बोले हुए लेख और पत्रों को लिखते थे और उससे मुद्रणप्रति तैयार करते थे।

दूसरे स्तर के 'शोधक' थे, जो लिखाये हुए का शोधन करते थे। ये सभी बदलते भी रहते थे और नये आते रहते थे। अपनी प्रचार-यात्रा में रहते हुए महर्षि ने द्वितीय संस्करण लिखाया। महर्षि बोलते जाते थे और लिपिकर लिखते जाते थे। सत्यार्थप्रकाश को लिखने वाले भी और मुद्रणप्रति बनाने वाले भी कई-कई लिपिकर रहे हैं। महर्षि ने अपने मुखारविन्द से बोलकर सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की पहले एक प्रति लिखवाई, उसे '**मूलप्रति**' कहा जाता है। फिर उससे प्रकाशनार्थ '**मुद्रणप्रति**' तैयार करवाई। उससे **द्वितीय संस्करण (१८८४)** छपा। इन तीनों प्रतियों की विस्तृत जानकारी निम्न प्रकार है—

(अ) **मूलप्रति**—इसको '**मूल-हस्तलेख**', '**प्रथम प्रति**' भी कहा जाता है। महर्षि ने बोलकर प्रथम बार जो परिष्कृत-परिवर्धित द्वितीय संस्करण लिखाया, उसको 'मूलप्रति' कहा जाता है। इसमें कई लिपिकरों का लेख है। महर्षि बोलते जाते थे और लिपिकर लिखते जाते थे। इस प्रति में लीगल साइज के कुल ८०६ पृष्ठ लिखे मिलते हैं। सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण का 'मूलप्रति' सबसे महत्त्वपूर्ण, सबसे प्रामाणिक और सबसे प्रमुख आधारभूत ऐतिहासिक दस्तावेज है, **क्योंकि यह आद्योपान्त महर्षि द्वारा प्रोक्त है और फिर दो बार (एक बार नीली स्याही में और एक बार लाल स्याही में) अपने हाथों से संशोधित है। यह महर्षि की दुर्लभ ऐतिहासिक विशुद्ध वाणी है। ये विशेषताएं अन्य किसी प्रति में नहीं है।** जैसा कि दूसरे से लिखाते समय प्रायः हो जाता है, लिखते समय लिपिकरों से इसमें अक्षर, शब्द, वाक्य त्रुटित रह गये हैं और उनकी अयोग्यता तथा प्रमाद के कारण वर्तनी सम्बन्धी अनेक अशुद्धियां भी रह गई हैं। क्योंकि लिपि लिखने वाले लिपिकर थे तो लिपि या भाषासम्बन्धी सभी त्रुटियां भी उन्हीं लिपिकरों की हैं। उनसे महर्षि का कुछ लेना-देना नहीं है। इन त्रुटियों की मूलप्रति में संख्या २०००-२५०० के लगभग है।

'मूलप्रति' को 'रफ़प्रति' कहना उचित नहीं—इस मूल-हस्तलेख को बहुत-से विद्वान् '**रफ़प्रति**' कहकर पुकारते हैं। महर्षिप्रोक्त और संशोधित मूलप्रति को 'रफ़प्रति' कहने का अर्थ है महर्षि को अयोग्य सिद्ध करना। प्रसंगवश, यहां इस भ्रान्ति का निराकरण करना आवश्यक है। ध्यान दीजिए, महर्षि ने जिसको स्वप्रोक्त भाषा में लिखाया, फिर उस सम्पूर्ण प्रति का अपने हाथ से कम-से-कम दो बार निरीक्षण और संशोधन किया हुआ है, तो वह 'रफ़प्रति' कैसे रह गई ? कुछ विद्वान् कहेंगे कि क्योंकि इससे प्रेसप्रति तैयार हो गई थी, अतः वह रफ़प्रति हो गई, तो इससे कोई प्रति 'रफ़प्रति' नहीं कहाती। इसके उत्तर में मेरा कहना है कि दूसरी प्रति सुरक्षा की दृष्टि से कराई जाती है, एक अपने पास रख ली जाती है। आजकल प्रेसप्रति की फोटोस्टेट प्रति कराके रखी जाती है। यह बात ठीक है कि दूसरी प्रति में परिवर्धन-संशोधन स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं, किन्तु महत्त्व मूल का अधिक होता है, और इस विषय में है भी। अतः महर्षि द्वारा प्रोक्त, संशोधित-निरीक्षित प्रति को 'रफ़प्रति' कहना महर्षि की अवमानना है, इसे 'मूलप्रति' या 'मूल-हस्तलेख' कहना ही सम्मानद्योतक और तर्कसंगत है। मूलप्रति को 'रफ़प्रति' कहने से यह भाव प्रकट होता है कि महर्षि न तो बोलकर शुद्ध प्रति लिखवा सके और अपने हाथ से दो बार संशोधन करने के बाद भी उस प्रति को शुद्ध नहीं बना सके। जो लोग 'रफ़प्रति' कहते हैं वे महर्षि की अयोग्यता का प्रचार करते हैं और लिपिकरों-शोधकों की त्रुटियों को महर्षि पर बलात् थोपते हैं। मूलप्रति को अमान्य करने वाले और अशुद्ध कहने वाले विद्वान् और आर्यजन न तो ऋषि के प्रति श्रद्धालु हैं, न उनके भक्त और न सच्चे अनुयायी हैं और न सच्चे आर्य हैं। अन्य मत-मतान्तर वाले अपने श्रद्धेय के एक-एक वचन पर तन-मन-धन वार देते हैं और ये लोग अपने श्रद्धेय की वाणी से प्रकट हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ का तिरस्कार कर रहे हैं। ऋषिप्रोक्त मूलप्रति का तिरस्कार करके लिपिकर नौकरों द्वारा बनाई भाषा वाली मुद्रणप्रति को महत्त्व देने वाले लोग ऋषिभक्त नहीं, हाँ, उनके नौकरों के भक्त अवश्य माने जा सकते हैं।

ऋषिभक्तों के लिए महर्षिप्रोक्त और महर्षि संशोधित मूलप्रति सर्वाधिक श्रद्धास्पद और प्रमुख आधारभूत प्रति है। यही कारण है कि पं० लेखराम जी द्वारा संशोधित-सम्पादित द्वितीय संस्करण की पांचवीं आवृत्ति से लेकर उदयपुर संस्करण (२०१०) तक प्रायः सभी सम्पादकों ने उसको संशोधनों का आधार माना है और उसके पाठग्रहण किये हैं।

यह हस्तलेख परोपकारिणी सभा, अजमेर के पुस्तकालय में सुरक्षित है। मुद्रणप्रति बनाने के बाद इसको प्रमाण और सावधानी के लिए संभालकर रखा गया था। परोपकारिणी सभा ने अब इस पर वैज्ञानिक पद्धति से लैमिनेशन

कराकर वर्षों तक सुरक्षित रखने का उपाय कर लिया है।

(आ) **मुद्रणप्रति**—संशोधन करने के बाद प्रकाशनार्थ उपयोगी बन जाने के बाद, महर्षि ने प्रेस में भेजने के लिए मूलप्रति से दूसरी हस्तलिखित प्रति तैयार कराई। उसको **'मुद्रणप्रति', 'प्रेसप्रति', 'द्वितीय हस्तलेख', 'मुद्रण-हस्तलेख'** आदि कहते हैं। इसको तैयार करते समय लिपिकरों ने स्वेच्छाचारिता से नितान्त अनावश्यक, व्यर्थ पाठान्तर करके ऋषि की भाषा में अपनी भाषा का मिश्रण कर दिया है। अनेक पाठ त्रुटित छोड़े हैं, अनेक पाठ अशुद्ध और भ्रष्ट कर दिये हैं, अपनी-अपनी योग्यता-अयोग्यता के अनुसार वर्तनी सम्बन्धी कुछ त्रुटियां ठीक की हैं तो अनेक नयी कर दी हैं। **श्री मोहनचन्द जी अजमेर** की गणना के अनुसार, मूलप्रति की तुलना में लिपिकरों ने इसमें लगभग १९०० परिवर्तन-परिवर्धन किये हैं। वस्तुस्थिति यह है कि कार्याधिक्य, वेदभाष्य और प्रचार आदि में अतिव्यस्त रहने के कारण और मूलप्रति हस्तलेख से मिलान न होने के कारण, महर्षि को लिपिकरों द्वारा किये इतने अधिक परिवर्तनों का आभास ही नहीं हो पाया, अन्यथा किसी भी पाठ को बिना सूचना के परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता मुंशी समर्थदान जैसे निष्ठावान् व्यक्ति को भी न देने वाले ऋषि, निष्ठारहित पौराणिक विचारधारा के लेखकों को कभी इतना व्यापक, और वह भी अशुद्ध पाठान्तर-परिवर्तन करने का अधिकार नहीं देते। महर्षि ने प्रेस में भेजते समय इस मुद्रणप्रति का पृ० ३४४ तक निरीक्षण भी किया था किन्तु वह मुख्यत: सिद्धान्त और भावगत था, भाषात्मक अशुद्धियों के लिए वे अपने वेतनभोगी शोधकों-सम्पादकों पर ही आश्रित रहे। उनकी मक्कारी और कामचोरी के कारण भाषागत अशुद्धियां शोधी नहीं गईं जिसके कारण वे द्वितीय संस्करण (१८८४) में यथावत् छप गईं। मुद्रणप्रति में विद्यमान समग्र त्रुटियों की संख्या ३०००-३५०० के लगभग है।

(क) **क्या मुद्रणप्रति ऋषिप्रोक्त है ?**—कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मूलप्रति के समान मुद्रणप्रति को भी ग्रन्थकार ऋषि ने बोलकर लिखाया है। जो ऐसा कहते हैं उन्होंने पांडुलिपियों का अध्ययन-विश्लेषण नहीं किया है। उन्हें न तो ऋषि की लेखन प्रक्रिया का ज्ञान है और न मुद्रणप्रति की अन्तरंग स्थिति का ज्ञान है। उपर्युक्त पंक्तियों में मुद्रणप्रति की वास्तविक और विकृत स्थिति की जानकारी दी गई है। अगले अध्याय में उसके प्रमाण दिये जायेंगे। मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय अधिकांश अशुद्ध वर्तनियां अशुद्ध ही लिखी गई हैं जिनसे यह जानकारी मिलती है कि मूलप्रति को सामने रखकर उसकी प्रति की गई है। यही स्थिति वेदमन्त्रों और अन्य उद्धरणों के अशुद्ध लेखन की है। यदि ऋषि बोलकर लिखाते तो मूलप्रति के सैकड़ों अशुद्ध उद्धरणों को शुद्ध कराके लिखाते। अक्षर, मात्रा, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद और पृष्ठ को त्रुटित नहीं छोड़ने देते। ऐसे कई प्रमाण उपलब्ध हैं कि मुद्रणलिपिकर ने किसी पाठ को त्रुटित छोड़कर आगे लिखना आरम्भ कर दिया, या लिखित पंक्तियों को पुन: लिखना आरम्भ कर दिया। जब कुछ पंक्तियां आगे जाकर उसको उस भूल का ज्ञान हुआ तो उन लिखित पंक्तियों को काटकर पुन: सही पाठ लिखा गया है। महर्षि की भाषा में सैकड़ों व्यर्थ और अशुद्ध परिवर्तन मुद्रणलिपिकर ने किये हैं। कोई लेखक न तो अपनी भाषा में स्वयं व्यर्थ परिवर्तन करायेगा और न अशुद्ध पाठ बनवायेगा, न भाषा-भावगत अशुद्धियुक्त मूलप्रति के पाठ को पुन: यथावत् लिखायेगा। पुन: बोलकर लिखाने वाला लेखक समग्र प्रकार की अशुद्धियों को शुद्ध कराके लिखाया करता है, जबकि मुद्रणप्रति में ऐसा संशोधन नहीं कराया गया है।

प्रतिलिपि करने की उक्त शैली से ज्ञात होता है कि महर्षि ने इसे बोलकर नहीं लिखाया है अपितु लिपिकरों ने मूलप्रति को सामने रखकर यह मुद्रणप्रति तैयार की है। हाँ, कहीं-कहीं कुछ संशोधन अवश्य कराये होंगे।

(ख) **अल्पप्रामाणिक प्रति**—उक्त कारणों से **'मुद्रणप्रति'** सत्यार्थप्रकाश की महर्षिप्रोक्त विशुद्ध प्रति नहीं है अपितु **'मिश्रित प्रति'** है, क्योंकि इसमें लिपिकरों द्वारा स्वेच्छा से परिवर्तित-परिवर्धित भाषा और उनके द्वारा की गई त्रुटियों का महर्षि की भाषा में मिश्रण हो गया है। उसी अनुपात से यह मूलप्रति की तुलना में **'अल्प प्रामाणिक'** है। इसमें लीगल साइज के कुल ४९८ पृष्ठ हैं। इनमें से पृष्ठ १-३४४ पृष्ठों तक महर्षि के हाथ के संशोधन हैं।

(ग) **अर्धप्रामाणिक प्रति**—संशोधनों की दृष्टि से यह महर्षि के हाथ से पूर्णरूप से संशोधित नहीं है, अत: **'अर्धप्रामाणिक'** भी है। महर्षि ने २९ सितम्बर १८८३ को जोधपुर से मुद्रणप्रति के ३४४ पृष्ठ तक निरीक्षित-संशोधित

करके डाक से प्रेस में प्रकाशनार्थ भिजवाये थे। उसी दिन २९ सितम्बर को सायंकाल महर्षि को विष दे दिया गया और वे रुग्ण-शय्या पर चले गये। इस प्रकार मुद्रणप्रति का आधा तेरहवां, चौदहवां समुल्लास और स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश का निरीक्षण-संशोधन महर्षि नहीं कर सके। पश्चात् इनका निरीक्षण-संशोधन पं० ज्वालादत्त, पं० भीमसेन और मुंशी समर्थदान ने किया। इस दृष्टि से यह प्रति 'मूलप्रति' के समान 'पूर्ण प्रामाणिक' नहीं है। यदि कोई व्यक्ति इसको पूर्ण प्रामाणिक कहता है तो वह महर्षि को और उनके नौकरों को एक ही पलड़े में तोलता है। वह महर्षि की भाषा और संशोधन को लिपिकरों से विशेष नहीं मानता, और ऐसा मानना महर्षि के प्रति सच्ची श्रद्धा और आस्था का द्योतक नहीं है।

(घ) **तीसरी प्रति नहीं**—तथ्यों की जानकारी के अभाव में कुछ सम्पादकों-समीक्षकों ने यह भ्रान्त धारणा बना ली है कि सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की कोई तीसरी प्रति भी तैयार कराई थी जिसे प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजा गया था और प्रथम मुद्रणप्रति को रिकार्ड में रख लिया था। यह धारणा सही नहीं है, क्योंकि १. मुद्रणप्रति ही प्रकाशनार्थ तैयार कराई थी, अत: इसी को संशोधित करके किश्तों में प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजा जाता रहा। २. मुद्रणार्थ भेजने से पूर्व महर्षि इसी में संशोधन करते थे। पृष्ठ १-३४४ तक उनके हाथ के संशोधन हैं। ३. पत्र-व्यवहार आदि में प्रेस प्रति से सम्बन्धित जो पृष्ठसंख्या वर्णित है, वह इसी प्रति से मेल खाती है। ४. प्रकाशन के समय अंकित होने वाले चिह्न इसी प्रति के पन्नों पर मिलते हैं; जैसे कम्पोजीटर एक दिन में जहां तक कम्पोज करते थे उसके बाद स्मृति के लिए विशेष प्रकार का चिह्न बना देते थे। इसी प्रकार टाइप की काली स्याही लगे हाथों के निशान भी इसके पन्नों पर मिलते हैं। ५. प्रकाशित द्वितीय संस्करण (१८८४) में शुद्ध-अशुद्ध वर्तनियां और वाक्य इसी प्रति के अनुसार छपे मिलते हैं।

द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने के बाद 'मुद्रणप्रति' को रिकार्ड के लिए परोपकारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित रख लिया था, जो आज भी सुरक्षित है। परोपकारिणी सभा ने इस पर वैज्ञानिक पद्धति से लैमिनेशन करा लिया है।

(ङ) **सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण) का लेखनकाल**—महर्षि दयानन्द ११ अगस्त १८८२ को उदयपुर पहुंचे और महाराणा के गुलाब बाग स्थित नवलखा महल में निवास किया। उदयपुर पहुंचने से पूर्व अपने यात्राकाल में महर्षि **'मूलप्रति'** भी लिखा चुके थे और उसकी **'मुद्रणप्रति'** भी तैयार करा चुके थे। उदयपुर पहुंचने के १७ दिन बाद, दिनांक २९ अगस्त १८८२ (भाद्रपद बदि १ मंगलवार, संवत् १९३९) को मुंशी समर्थदान को लिखे पत्र के साथ, मुद्रणप्रति के आरम्भिक कुल ३७ पृष्ठ संशोधित करके प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजने शुरू किये। महर्षि के उस पत्र के अंश इस प्रकार हैं—

''आज सत्यार्थप्रकाश के शुद्ध करके, ५ पृष्ठ भूमिका के और ३२ पृष्ठ प्रथम समुल्लास से भेजे हैं, पहुँचेंगे।'' (पत्र व्यवहार पृ० ६०९, भाग दो)

संशोधित करके भेजे गये मुद्रणप्रति के पन्नों (पृष्ठों) के विषय में महर्षि के उपलब्ध पत्र-व्यवहार से निम्नलिखित जानकारी मिलती है—

—**३३ से ५७ पृष्ठ भेजे, १६ अक्तूबर १८८२** (आश्विन सुदि ४, सोमवार संवत् १९३९) को।

—**२७२ से ३१९ पृष्ठ (सम्पूर्ण द्वादश समुल्लास) भेजे, १७ सितम्बर १८८३** (आश्विन बदि १, संवत् १९४०) को।

—**३२० से ३४४ पृष्ठ, १३ समु० के केवल तौरेत और जबूर विषय तक के पृष्ठ भेजे, २९ सितम्बर १८८३** (आश्विन बदि ८, संवत् १९४०) को।

—मुद्रणप्रति के अगले पृष्ठ ३४५ से ४९८ तक के पृष्ठ, २९ सितम्बर १८८३ को ऋषि को विष दिये जाने के कारण वे संशोधित नहीं कर पाये। अत: **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का यह कथन सही नहीं है कि ''१३वें समुल्लास तक की प्रेस कापी ऋषि के निर्वाण के लगभग १ मास पूर्व प्रेस में पहुंच गई थी।'' (शताब्दी संस्करण, पृष्ठ ५१, ५२)। यह प्रेस कापी केवल तौरेत-जबूर विषय, आयत संख्या ६२—**''हां, मेरे अन्तकरण में.....''** तक ही अर्थात् आधे १३वें

समुल्लास तक ही भेजी जा सकी थी।

इसमें कोई संदेह और विवाद नहीं है कि दोनों हस्तलेख (भूमिका सहित) उदयपुर आने से पूर्व लिखे जा चुके थे। क्योंकि, भूमिका ग्रन्थ के पूर्ण होने के बाद ही लिखी जाती है। महर्षि ने भी सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में १४ समुल्लासों और स्वमन्तव्यामन्तव्य के लिखे जाने का विषय-सहित उल्लेख किया भी है, जिससे स्पष्ट है कि उदयपुर आने से पूर्व दोनों हस्तलिखित प्रतियां लिखी जा चुकी थीं। तभी वे २९ अगस्त १८८२ को भूमिका के ५, और प्रथम समुल्लास से ३२ पृष्ठ संशोधित करके भेज सके थे। इसकी पुष्टि में दूसरा बहुत बड़ा प्रमाण यह भी है कि महर्षि सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की सूचना सन् १८८१ (सम्वत् १९३८) के अन्त में छपे '**सन्धि विषय**' पुस्तक के अन्त में प्रकाशित करा चुके थे। बिना लिखे यह सूचना प्रकाशित नहीं की जा सकती। तीसरा प्रमाण यह है कि उदयपुर-निवास के १७ दिनों में मूलप्रति के ८०६ पृष्ठ और मुद्रणप्रति के ४५८ पृष्ठ, दोनों के कुल १२६४ पृष्ठ किसी भी स्थिति में नहीं लिखे जा सकते। चौथा प्रमाण भी तुलनात्मक रूप से उक्त तथ्य की पुष्टि करेगा। १८७५ में छपा सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण काशी में ढाई से तीन मास में लिखकर पूर्ण किया था, उसमें कुल हस्तलिखित पृष्ठ १००९ हैं। उस समय महर्षि लेखन का अन्य कार्य भी साथ-साथ नहीं करते थे, केवल उपदेश ही करते थे, अतः उनके पास पर्याप्त समय था। उदयपुर निवास के समय महर्षि वेदभाष्य करते थे, अन्य ग्रन्थों का लेखन भी चलता था, महाराणा जी को पढ़ाते भी थे, जनता को उपदेश भी देते थे। इतने व्यस्त रहते हुए और केवल १७ दिनों में १२६४ पृष्ठ किसी भी स्थिति में नहीं लिखे जा सकते। अतः जो लोग यह निराधार प्रचार करते हैं कि सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण उदयपुर के नवलखा महल में लिखा गया था, यह कथन इतिहास-विरुद्ध, महर्षि के लेखों के विरुद्ध और भ्रान्तिजनक है। इससे हानि यह होगी कि ऋषि का इतिहास दूषित होगा और उनके लेख मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे। उदयपुर निवास करते हुए तो पूर्वलिखित मुद्रणप्रति के पृष्ठ केवल प्रकाशनार्थ भेजने आरम्भ किये थे जो अन्तिम बार जोधपुर से भेजे गये थे।

(इ) **द्वितीय संस्करण (१८८४)**—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि उदयपुर में निवास करते समय २९ अगस्त १८८२ को महर्षि ने मुद्रणप्रति के आदि के ३७ पृष्ठ (५ भूमिका के और ३२ प्रथम समुल्लास से) प्रयाग स्थित वैदिक यन्त्रालय में भेजे। यह सत्यार्थप्रकाश को प्रकाशित कराने की प्रक्रिया का आरम्भ था।

इन पृष्ठों को पाकर मुंशी समर्थदान जी ने ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से दो काम किये—१. मुद्रणप्रति में भूमिका के अन्त में दाईं ओर अपने हस्तलेख में "**(स्वामी) दयानन्द सरस्वती**" ग्रन्थकार का यह नाम लिखा, और बाईं ओर दो पंक्तियों में "**स्थान महाराणा जी का उदयपुर**" पहली पंक्ति में तथा दूसरी पंक्ति में नीचे "**भाद्रपद..... संवत् १९३९**" लिखा। यहाँ पक्ष का स्थान खाली छोड़ा हुआ है। जब भूमिका के पृष्ठ प्रकाशित हुए तो खाली स्थान पर "**शुक्लपक्ष**" छापकर उस खाली स्थान को "**भाद्रपद शुक्लपक्ष संवत् १९३९**" इस रूप में पूर्ण किया। प्रथम आठ पेजी फर्मे के पहले पृष्ठ पर मुंशी समर्थदान जी की ओर से आरम्भिक निवेदन छपा है, उसके नीचे बाईं ओर उन्होंने "**आश्विन कृष्णपक्ष संवत् १९३९**" तिथि लिखी है। अक्तूबर ८२ के प्रथम सप्ताह तक भी छपने की सूचना नहीं मिली थी। इससे संकेत मिलता है कि उसके बाद ही शायद नवम्बर १८८२ में सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन आरम्भ हो पाया था जो ऋषि के देहान्त के एक वर्ष दो मास बाद दिसम्बर १८८४ में जाकर पूर्ण होकर विक्रयार्थ उपलब्ध हुआ। इसके प्रकाशन में बहुत अधिक विलम्ब अर्थात् दो वर्ष तीन मास लगने के कई कारण रहे। महर्षि के पत्र-व्यवहार से ज्ञात होता है कि 'वैदिक यन्त्रालय प्रयाग' में बाहरी कार्य बहुत अधिक किया जाता था जिसके कारण महर्षि के बार-बार लिखने के बाद भी सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन शुरू नहीं किया। आदि के फरमे छपकर पहली बार महर्षि को १९ दिसम्बर १८८२ को मिल पाये थे। उसके बाद रुक-रुक कर काम होता था। महर्षि ने बार-बार शीघ्र काम करने का निर्देश दिया और बाहरी काम बंद करने का आदेश दिया, किन्तु उन आदेशों-निर्देशों का पालन नहीं हुआ। अन्ततः विवश होकर ३१ मई १८८३ को महर्षि ने एक पत्र द्वारा विलम्ब के परिणामस्वरूप मुंशी समर्थदान को दण्ड देने की चेतावनी दी और बाबू विश्वेश्वरसिंह को ७ जून १८८३ के पत्र में इस विषयक रुष्टता प्रकट की तो काम की गति आगे बढ़ी। कुछ मास बाद दुर्दैव से ३० अक्तूबर १८८३ को महर्षि का देहान्त हो गया। उसके बाद काफी समय तक यन्त्रालय का

काम रुका रहा। पुनः शुरू होने के बाद दिसम्बर १८८४ में सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन का काम पूर्ण हुआ। महर्षि के जीवनकाल तक इसके ११ समुल्लास ही छप पाये थे, शेष भाग उसके बाद पंडितों और मुंशी समर्थदान जी के निरीक्षण में छपा। पंडितों (पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन शर्मा) के निरीक्षण में छपा १२वां समुल्लास सत्यार्थप्रकाश (१८८४) का अशुद्धतम मुद्रण है। १३वें समुल्लास में मुद्रणलिपिकर ने ४ आयतखण्डों का दूसरे आयतखण्डों में अपमिश्रण कर दिया और कुछ की प्रमादवश मूलप्रति से प्रतिलिपि करना भूल गया, जिसके कारण महर्षि द्वारा समीक्षित आयतों में से कई आयतखण्ड प्रकाशित नहीं हो पाये, जिससे महर्षि का श्रमपूर्ण दुर्लभ ऐतिहासिक लेखन व्यर्थ हो गया। १४वें समुल्लास में मुद्रणप्रति में लिखित होते हुए भी, मुंशी समर्थदान ने स्वकल्पित निराधार धारणा के अनुसार पुनरुक्ति और कटुभाषा के आधार पर ११ आयतखण्ड प्रकाशित ही नहीं किये। इस प्रकार उन्होंने भी महर्षि की अनुपस्थिति में महर्षि के श्रमपूर्ण और दुर्लभ ऐतिहासिक लेखन को व्यर्थ कर दिया। यदि महर्षि जीवित होते तो ऐसा कदापि नहीं करने देते। तथ्य यह है कि महर्षि ने उक्त सब आयतों की समीक्षा प्रकाशनार्थ लिखाई थी और मुद्रणप्रति में लिखी वे सभी समीक्षाएं प्रकाशनार्थ भेजी थीं, जब सम्पूर्ण मुद्रणप्रति प्रकाशनार्थ भेजी थी तो सभी आयतें भी अवश्य प्रकाशित होनी चाहियें थीं, उनको प्रकाशन से रोकने का अधिकार मुंशी समर्थदान को बिल्कुल नहीं था। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण (१८८४) में यह '**अपूर्णता-दोष**' रह गया। (विस्तृत विवरण आगे 'मीमांसा-भाग' में पृष्ठ ११३ पर द्रष्टव्य है)

इस कारण के अतिरिक्त, द्वितीय संस्करण (१८८४) के '**अल्पप्रामाणिक**' तथा '**अर्ध-प्रामाणिक**' होने और शुद्धतम एकरूप संस्करण का आधारभूत संस्करण न होने के अन्य भी कई कारण हैं। उनमें दूसरा कारण यह है कि द्वितीय संस्करण उस 'मुद्रणप्रति' के अनुसार छपा है जिसमें लिपिकरकृत अशुद्धियों की भरमार है। मुद्रणप्रति की वे अधिकांश त्रुटियां द्वितीय संस्करण में संक्रमित हो गई हैं। मुद्रकों और आदिशोधकों के कारण अनेक नयी मुद्रण सम्बन्धी और पाठान्तर सम्बन्धी त्रुटियां उत्पन्न हो गई हैं। इस कारण आद्य तीन प्रतियों में द्वितीय संस्करण (१८८४) सर्वाधिक त्रुटियुक्त बन गया है। इसमें विद्यमान समग्र त्रुटियां ४०००-४५०० के लगभग हैं। इतनी त्रुटियों से युक्त कोई पुस्तक न तो कभी प्रमुख आधारभूत हो सकती है और न पूर्ण प्रामाणिक।

तीसरा कारण सबसे महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय संस्करण (१८८४) की प्रामाणिकता में दो विशेष हेतु दिये जाते हैं कि वह महर्षि द्वारा निरीक्षित-संशोधित है और महर्षि के जीवनकाल में उनके सामने छपा है। ये दोनों हेतु अर्धसत्य हैं। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में बताया जा चुका है कि विष दिये जाने के कारण, महर्षि मुद्रणप्रति का निरीक्षण-संशोधन केवल ३४४ पृष्ठ तक अर्थात् आधे तेरहवें समुल्लास तक ही कर पाये थे, उससे आगे नहीं कर पाये। **इसी प्रकार विष दिये जाने के कारण प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण का निरीक्षण-संशोधन केवल ३२० पृष्ठ तक ही कर पाये थे। इसमें कुल ५९२ पृष्ठ हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश का आधे का ही निरीक्षण-संशोधन कर पाये थे, आधा असंशोधित ही रह गया।** महर्षि को विष दिये जाने के दिन (२९ सितम्बर १८८३) तक सत्यार्थप्रकाश के ३२० पृष्ठ ही छपे थे, शेष उनके निरीक्षण के बिना और अन्तिम तीन समुल्लास देहान्त के बाद छपे। इस प्रकार महर्षि के जीवनकाल में केवल आधा सत्यार्थप्रकाश ही छपा था। इस विवरण से यह स्पष्ट हुआ कि महर्षि द्वारा अपूर्णसंशोधित मुद्रणप्रति से अपूर्णसंशोधित सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण (१८८४) छपा है। महर्षि के निरीक्षण-संशोधन की दृष्टि से वह सत्यार्थप्रकाश '**अर्धप्रामाणिक**' है और ऐसा संस्करण कभी आगामी शुद्धतम एकरूप संस्करण का '**आधारभूत**' बनने की प्रमुख योग्यता नहीं रखता।

यह सत्यार्थप्रकाश महर्षि के देहान्त के बाद शर्माद्वय (पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन) की देखरेख में, सन् १८८४ के दिसम्बर मास में, पूर्णतः प्रकाशित हुआ। इन्होंने उसके आरम्भ में एक शुद्धाशुद्धि पत्र संयुक्त किया है। इनकी मक्कारी की पराकाष्ठा देखिये कि सैकड़ों गम्भीर अशुद्धियां विद्यमान होने के बाद भी इन्होंने उसमें केवल १४७ अशुद्धियों का ही उल्लेख किया है। यदि वे उसी समय समग्र अशुद्धियों का उल्लेख कर देते, तो परवर्ती संस्करणों में अशुद्धियां विवाद का विषय नहीं रह जातीं।

लिपिकरों-आदिशोधकों की अयोग्यता, प्रमाद, निष्ठाहीनता और मक्कारी से उत्पन्न त्रुटियों का, तथा उनको पूर्णतः

शुद्ध न करने का दुष्परिणाम यह हुआ कि आज सवा-सौ से अधिक वर्ष बीत जाने के बाद भी, तथा सौ से अधिक संस्करण प्रकाशित होने के बाद भी, और तीन दर्जन से अधिक आर्य सम्पादकों द्वारा संशोधित संस्करण प्रकाशित करने के बाद भी सत्यार्थप्रकाश का विशुद्धतम संस्करण पाठकों को उपलब्ध नहीं हो पाया है। उसके संशोधन की प्रक्रिया आज भी जारी है। परोपकारिणी सभा द्वारा उस पर कानूनी नियन्त्रण न रख पाने के कारण आज हर कोई व्यक्ति उसमें मनमाने संशोधन करके प्रकाशित कर रहा है। आज जितने प्रकाशन/ संस्करण हैं उतने स्वतन्त्र सत्यार्थप्रकाश हैं, कोई भी संस्करण परस्पर मेल नहीं रखता, यहाँ तक कि एक प्रकाशक के सब संस्करण भी समान पाठ वाले नहीं है। इससे बढ़कर दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति किसी ग्रन्थ की, विशेष रूप से धर्मग्रन्थ की और क्या हो सकती है? हम आर्यों के लिए प्रत्येक विवाद को परे रखकर यह गम्भीर चिन्तन करने का विषय है।

इस स्थिति का ज्ञान इस सच्चाई के द्वारा भी हो जाता है कि सन् १८८४ में प्रथम बार छपने के बाद द्वितीय संस्करण को, केवल एक प्रकाशक द्वारा, वह भी अल्प संशोधनों के साथ, एक बार प्रकाशित करने के बाद पुनः किसी ने यथावत् नहीं छापा। कुछ लोग नाम तो द्वितीय संस्करण (१८८४) का लेते हैं किन्तु उसकी आड़ में हजारों यथेष्ट संशोधनों से युक्त अपना संस्करण छापकर लोगों के सामने द्वितीय संस्करण होने का असत्य भाषण करते हैं।[१] वास्तविकता यह है कि वे लोग सत्यार्थप्रकाश की सत्यता और हित से आंखें मूंदे हुए हैं। आर्यसमाज में पनपी स्वार्थप्रधान लाबीगत राजनीति के कारण 'द्वितीय संस्करण' नाम उनके मिथ्या अहं, निजी प्रतिष्ठा और दुराग्रह का प्रतीक बन गया है, उनके लिए सत्यार्थप्रकाश-हित और ऋषिहित एवं प्रतिष्ठा गौण हो गये हैं।

३. सत्यार्थप्रकाश की रजिस्ट्री और स्वत्वाधिकार—

सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण (१८८४) के प्रकाशन के बाद परोपकारिणी सभा के नाम पर उसका पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन) दो बार कराया गया है। इसका सूचक निम्नांकित वाक्य उसके टाइटल तथा मुख पृष्ठ पर दो स्थानों पर मिलता है—

''**सर्वथा राजनियमे नियोजितः**'' (द्रष्टव्य शोधसं० पृ० ४)

अर्थात् राजनियम के अन्तर्गत पंजीकृत है। इस अधिकार को '**स्वत्वाधिकार**' आदि शब्दों द्वारा आज लिखते हैं। महर्षि ने २७ फेब्रुएरी सन् १८८३ को परोपकारिणी सभा की स्थापना करके उसको उदयपुर शासन में रजिस्टर्ड कराया। उसमें महर्षि ने अपने सर्वस्व अर्थात् पुस्तक, वस्त्र, धन, प्रबन्ध आदि का '**उत्तराधिकार**' परोपकारिणी सभा को प्रदान किया और उसको अपने '**स्थानापन्न**' घोषित किया। उक्त दोनों रजिस्ट्रियों के द्वारा 'परोपकारिणी सभा' को कानूनी रूप से '**कापी राइट**' का अधिकार ऋषि के सभी ग्रन्थों पर प्राप्त हो गया। उस समय के '**कापी राइट**' अधिकार के अन्तर्गत परोपकारिणी सभा को तीन अधिकार प्राप्त हो गये थे—

१. सत्यार्थप्रकाश पर पूर्ण स्वत्वाधिकार परोपकारिणी सभा का है। वही सत्यार्थप्रकाश विषयक किसी भी प्रकार का निर्णय ले सकती है, अन्य कोई नहीं। सत्यार्थप्रकाश परोपकारिणी सभा की सम्पत्ति है।

२. पचास वर्ष तक परोपकारिणी सभा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकाशक सत्यार्थप्रकाश को प्रकाशित नहीं कर सकता।

३. पचास वर्ष पश्चात् कोई प्रकाशक सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन तो कर सकता है किन्तु उसके लिए उसको परोपकारिणी सभा की पूर्वानुमति लेनी होगी और वह सभा द्वारा अनुमति-प्रदत्त संस्करण में किसी भी प्रकार का परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन नहीं कर सकता।

यह सर्वज्ञात तथ्य है कि इसी अधिकार के कारण आरम्भिक पचास वर्ष तक कोई भी अन्य प्रकाशक सत्यार्थप्रकाश को नहीं छाप सका था। इस अवधि में सभी संशोधन परोपकारिणी सभा ने करे-कराये और उन संशोधित संस्करणों का प्रकाशन स्वयं किया।

---

१. मूलप्रति, मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण (१८८४) का विस्तृत आन्तरिक विवरण अग्रिम अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय में सप्रमाण द्रष्टव्य है।

परोपकारिणी सभा की उदारता और उसके दुष्परिणाम—पचास वर्ष की **'कापी राइट'** के अधिकार की अवधि पूर्ण होने पर स्वतन्त्र प्रकाशकों ने सत्यार्थप्रकाश छापने आरम्भ कर दिये और उनमें स्वतन्त्र रूप से परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन भी कर लिये। तत्कालीन परोपकारिणी सभा के अधिकारियों ने इन दोनों कार्यों पर अधिकारों का प्रयोग यह सोचकर नहीं किया कि जितना छपेगा उतना सत्यार्थप्रकाश का प्रचार होगा। प्रचार तो हुआ किन्तु स्वतन्त्र संशोधनों के कारण सत्यार्थप्रकाश में पाठान्तर हो गये, आज भी हो रहे हैं जिससे प्रत्येक संस्करण एक-दूसरे से भिन्न हो गया। अंकुश न लगाने का यह भी दुष्परिणाम निकला कि आज हर कोई उसके प्रकाशन और संशोधन का अपना स्वयंसिद्ध अधिकार मान बैठा है और उलटा परोपकारिणी सभा पर गुर्राने लगता है, हर कोई सत्यार्थप्रकाश पर निर्णय देने का स्वयं को स्वयम्भू अधिकारी मान बैठता है और उलटा परोपकारिणी सभा को निर्देश देने लगता है। जिसको सत्यार्थप्रकाश विषयक कुछ भी अधिकार नहीं वह भी उस पर कुंडली मार कर बैठ जाता है और परोपकारिणी सभा की ओर फुफकारने लगता है। महर्षि द्वारा केवल परोपकारिणी सभा को प्रदत्त अधिकार के अतिक्रमण की पराकाष्ठा और धृष्टता तो कुछ संस्करणों में यहां तक देखने को मिलती है कि वे अपने द्वारा प्रकाशित संस्करण पर **'स्वत्वाधिकार', 'सर्वाधिकार सुरक्षित'** जैसे वाक्य भी लिखवा देते हैं। ये परोपकारिणी सभा के अति उदारता के दुष्परिणाम हैं। परोपकारिणी सभा इस उक्ति को भूल गई है—**''अति सर्वत्र वर्जयेत्।''** तभी तो लोग अपनी वैधानिक सीमा को भूलकर **'उलटा-चोर कोतवाल को डांटे'** की कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं।

४. तृतीय आवृत्ति (द्वितीय संस्करण की तृतीय आवृत्ति अर्थात् तृतीय संस्करण) में परिवर्तन—

सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण (१८८४) की तृतीय और चतुर्थ आवृत्ति (जिसे बोलचाल में संस्करण कह दिया जाता है) का संशोधन **पंडित ज्वालादत्त और पं भीमसेन** ने किया। उन्होंने कहीं-कहीं पाठों को अशुद्ध भी बना दिया। ये दोनों संस्करण इन्हीं पंडितों की देखरेख में छपे थे। केवल पांच उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

द्वितीय संस्करण का पाठ और पृष्ठ, पंक्ति	तृतीय संस्करण का पाठ (शोधसं० की पृष्ठ, पंक्ति)	टिप्पणी
१. ''व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र है'' (१९/१)	—''व्यासमुनिकृत शारीरिक सूत्र है'' (३९/७)	—अशुद्ध परिवर्तन है।
२. ''अथवा द्वैत से रहित है'' (२४/४)	—''अथवा द्वैत इससे जो रहित है'' (४९/४)	—३२वें सं० तक यही पाठ चला, ३३वें में शोधा।
३. ''(प्राण) भीतर से वायु को निकालना (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना।'' (६०/८, १९३/२३)	—''(प्राण) बाहर से वायु को भीतर लेना, (अपान) भीतर से वायु को निकालना।'' (११५/७, ३४७/७)	—अशुद्ध परिवर्तन है। सं० १५ तक यही अशुद्ध पाठ छपता रहा, १६वें में शोधा।
४. ''क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों वह ब्राह्मणी ब्राह्मण होता है'' (८५/२८)	—''क्या जिसकी माता ब्राह्मणी पिता ब्राह्मण हो वह ब्राह्मण होता है।'' (१५९/५)	—अस्पष्ट संशोधन है। सं० ३३ तक चला, फिर बदला।
५. भूल से चतुर्थ श्लोक का अर्थ लिखना रह गया है। (१७५/२६)	—यह अर्थ नया जोड़ा है—''राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी, घोड़े आदि वाहनों को, नियत लाभ और खरच, आकर= रत्नादिकों की खानें और कोष=खजाने को देखा करे।'' (पृ ३१४ पर टिप्पणी में)	—शर्माद्वय ने पाठपूर्ति कर के उचित ही किया है। शायद, भूल से ग्रन्थकार द्वारा अर्थ लिखवाना रह गया था।

५. चतुर्थ आवृत्ति (चतुर्थ संस्करण) में परिवर्तन—

१. ''यद्यपि जो बारहवें समुल्लास में चारवाक का मत है....'' (५/२६)	—''जो बारहवें समुल्लास में चारवाक का मत है'' (१२/८)	—'यद्यपि' गलत हटाया है।
२. ''चारवाक का जो मत है वह बौद्ध और जैन का मत है'' (५/३०)	—''चारवाक का जो मत है वह तथा बौद्ध और जैन का मत है'' (१२/१२)	—'तथा' का अशुद्ध परिवर्धन है।

३. ''इनका विशेष मत पर विचार बारहवें समुल्लास में देख लीजिये।'' (६/२५)	—''इनके मत पर विशेष विचार बारहवें समुल्लास में देख लीजिये।'' (१४/११)	—सही संशोधन है। सबने ग्रहण कर लिया है।
४. ''ऋग्वेद का वचन है'' (२१२/२९)	—यह वाक्य ही निकाल दिया। (३८२/२)	—निष्कासन अनुचित है।
५. ''नहीं तू परन्तु आदमी मानन्द हमारी'' (५६१/२७)	—''नहीं तू आदमी मानन्द हमारी'' (१०११/१)	—'परन्तु' हटाना अनुचित है, कुरान में है।

६. पंचम आवृत्ति (पंचम संस्करण) में परिवर्तन—

इसका संशोधन **पं० लेखराम जी** ने किया था। इन्होंने मूलप्रति के आधार पर और स्वविवेक से सैंकड़ों अशुद्ध पाठ ठीक किये। अनेक उद्धरणों के पते ढूंढकर अंकित किये। यहां केवल पांच उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. ''सत्यार्थ का प्रकाश करके मुझ वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है।'' (८/३)	—''सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है।'' (१७/१)	—उचित वाक्यरचना है और उचित संशोधन है।
२. ''गायत्री मन्त्र का उच्चारण.....परन्तु यह जन्म से करना उत्तम है।'' (४१/१८)	—''गायत्री मन्त्र का उच्चारण....परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।'' (८७/३)	—मूलप्रति के अनुसार पाठ शुद्ध किया है जो ठीक है।
३. ''सालम मिश्री डालके गर्भस्नान करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठंडा दूध है'' (९४/३)	—''सालम मिश्री डालके गर्म करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठंडा दूध है।'' (१७४/३)	—हास्यास्पद पाठ को मूल-प्रति के अनुसार शुद्ध किया।
४. ''जंबूद्वीप.....एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश का है।'' (४२२/१३)	—''जंबूद्वीप.....एक लाख योजन अर्थात् एक अरब कोश का है।'' (७९५/२)	—जैन परिमाण के अनुसार उचित संशोधन है।
५. ''दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का संसर्ग नहीं करते और श्वेताम्बर करते हैं, इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'' (४४७/२०)	—''दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का अपवर्ग नहीं कहते और श्वेताम्बर कहते हैं, इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'' (७७८/१)	—महाभ्रष्ट श्लोकार्थ का उचित संशोधन किया है। परवर्ती प्रायः सभी ने ग्रहण कर लिया है।

७. नवम आवृत्ति (नवम संस्करण) में परिवर्तन—

१. ''देवेन्द्रस्तवन सूत्र'' (६/२१)	—''देवेन्द्रस्तमन सूत्र'' (१४/७)	—अशुद्ध संशोधन है।
२. ''दूसरे मतस्थ को'' (७/४)	—''और दूसरे मतस्थ को'' (१४/१९)	—'और' अनावश्यक है।

८. ग्यारहवीं आवृत्ति (एकादश संस्करण) में परिवर्तन—

१. ''लूटमार करने से ऐश्वर्य प्राप्त होगा'' (५३२/१७)	—''लूटमार कराने से ऐश्वर्य प्राप्त होगा'' (९६३/१५)	—अपसंशोधन है।
२. ''और न अन्यायकारी होने से यह खुदा ही हो सकता है।'' (५६३/६)	—''और न न्यायकारी होने से यह खुदा ही हो सकता है।'' (१०१३/१)	—अपशोधन है। ३३सं० तक यही अपपाठ छपा है।

९. सोलहवीं आवृत्ति (सोलहवां संस्करण) में परिवर्तन—

ऐसा माना जाता है कि सोलहवें संस्करण का संशोधन **पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर** ने किया था, इसमें मूलप्रति के पाठों को पुनः ग्रहण करने से यह संकेत मिलता है। इसमें कुछ नये पाठों का संशोधन किया गया, तो कुछ अन्यों द्वारा संशोधित पाठों को पुनः मूलप्रति के समान बना दिया गया। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. ''किसी कारण से वर-कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग होना गांधर्व।'' (९२/२१)	—''किसी कारण से दोनों की इच्छापूर्वक वर-कन्या का परस्पर संयोग होना गान्धर्व।'' (१७२/३)	—मुद्रणलिपिकरकृत द्विप्र० के इस पाठ को मूलप्रति के अनुसार पुनः बदला।
२. ''पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहां	—''पश्चात् दूसरे शुद्ध कोठरी वा कमरे में	—मुद्रणलिपिकरकृत द्विप्र०

का वायु शुद्ध हो'' (९४/३०)	जहां का वायु शुद्ध हो'' (१७५/१७)	में छपे अपवाक्य को मूल-प्रति से शुद्ध किया।

३. पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन ने द्वितीय संस्करण के प्राण-अपान के ऋषिकृत अर्थ को तृतीय संस्करण में विपरीतार्थक बना दिया था। इस संस्करण में उसको फिर पूर्ववत् करके शुद्ध बना दिया। (पाठ द्रष्टव्य गत पृष्ठ ४५ पर 'तृतीय संस्करण' शीर्षक में)

४. ''क्योंकि प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था'' (२१२/२५)	—''क्योंकि सृष्टि की आदि अर्थात् प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था'' (३८१/२०)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बदले द्विप्र० के पाठ को पुनः मूलप्रति के अनुसार बनाया।
५. ''ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज'' (३७४/१६)	—''अब ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज के गुण-दोष कथन-------'' (६९७/३)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बदले और द्विप्र० में छपे शीर्षक को पुनः 'मूलप्रति' के अनुसार बदला।

१०. जन्म-शताब्दी संस्करण में परिवर्तन—

इसका सम्पादन **पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय** ने किया। संशोधनों के अतिरिक्त कुछ उद्धरणों के पते ढूंढकर लिखे। संशोधनों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. ''सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र'' (१२/१२)	—''सबका पालन करने से प्रजापति और परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र'' (२६/१६)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित द्विप्र० के इस पाठ को मूल-प्रति से पूर्ण किया।
२. '''महत्' शब्द पूर्वक 'देव' से 'महादेव' सिद्ध होता है।'' (२५/१८)	—'''महत्' शब्द पूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' शब्द सिद्ध होता है।'' (५२/११)	—मूलप्रति के अनुसार 'शब्द' पद बढ़ाया जो द्विप्र० में त्रुटित है।
३. ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' के बाद मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में यह पाठ त्रुटित है। (२७/५)	—''चतुष्टयसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्'' (५६/१४)	—द्विप्र० में त्रुटित इस पाठ को मूलप्रति से ग्रहण किया है।
४. ''प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा तो वर्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?'' (२१२/४)	—''प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा, ब्रह्म रहेगा, तो वर्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?'' (३८०/११)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित द्विप्र० के पाठ को मूलप्रति से शोधा।

११. छब्बीसवीं और सत्ताईसवीं आवृत्ति (२६ वां, २७ वां संस्करण) में परिवर्तन—

छब्बीसवें संस्करण का विशेष महत्त्व इस कारण है कि इसमें, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के अरबी विभाग के अध्यक्ष **पं० महेशप्रसाद जी मौलवी 'आलिम फाजिल'** ने चतुर्दश समुल्लास के आयत-पाठों और उनकी उद्धरण संख्या को कुरान के अनुसार शुद्ध किया, जो द्वितीय संस्करण से लेकर अब तक अशुद्ध छपती आ रही थीं। आयत-संख्याओं के अशुद्ध हो जाने का उल्लेख 'सूचना' शीर्षक से द्वितीय संस्करण (१८८४) के आरम्भ में पृष्ठ २ पर मुंशी समर्थदान जी ने किया हुआ है। पं० महेशप्रसाद जी जब सन् १९४३ में अजमेर पधारे तब तक २६वें संस्करण के १२ आयतखण्ड छप चुके थे, अत: उनमें अशुद्धियां ज्यों की त्यों रह गई, जो पुन: २७वें संस्करण में दूर की गई। आयत समीक्ष्यांश १३ (पृष्ठ ३४१) से २६वें संस्करण में चतुर्दश समुल्लास का संशोधन हुआ था।

परोपकारिणी सभा के तत्कालीन अधिकारियों तथा उसमें कार्यरत शोधक आर्य विद्वानों के प्रमाद का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि २६वें संस्करण तक आयतों की उद्धरण संख्या भी उनसे शुद्ध नहीं की जा सकी थी।

इकत्तीसवीं आवृत्ति (३१वां संस्करण) में परिवर्तन—

१. ''विद्वान् लोग इस्लाम के मजहब को प्रसन्न नहीं करते।'' (५४५/८)	—''विद्वान् लोग इस्लाम के मजहब को पसन्द नहीं करते।'' (९८६/१०)	—इस सं० में 'पसन्द' ऋषि-विरुद्ध परिवर्तन है।
२. ''गरीबों के प्राण लेना ही लाभ समझा'' (५५०/२४)	—''गरीबों के प्राण लेना ही काम समझा'' (९९५/१४)	—अशुद्ध परिवर्तन है।
३. ''परीक्षा लेवे तुमको, कौन तुममें से अच्छा है'' (५५१/२३)	—''परीक्षा लेवे तुमसे कौन तुममें से अच्छा है'' (९९७/४)	—अनावश्यक परिवर्तन है।

१२. बत्तीसवीं आवृत्ति (३२वां संस्करण) में परिवर्तन—

इस संस्करण के संशोधक **पं० भद्रसेन जी** थे। इसमें भी काफी संशोधन हैं और अनेक टिप्पणियां दी गई हैं। उनमें कुछ ऋषि-विरुद्ध भी हैं, जैसे पृष्ठ ५० पर लिखा है—''**सम्भव है पहले अष्टाध्यायी श्लोकबद्ध हो।**'' ऋषि दयानन्द गद्य-ग्रन्थों के लिए 'श्लोक' शब्द का प्रयोग प्राचीन पद्धति के अनुसार ग्रन्थ का परिमाण बनाने के लिए करते हैं। स्वरचित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' गद्यग्रन्थ का परिमाण आठ सहस्र श्लोकात्मक लिखा है (पृष्ठ १२५ पर टिप्पणी द्रष्टव्य)। टिप्पणियों पर ग्रन्थकार और सम्पादक का नाम न होने से उनके लेखक का ज्ञान पाठक को नहीं होता। गड्डमड्ड होने से सम्पादक की त्रुटिपूर्ण टिप्पणियां भी ग्रन्थकार की समझी जायेंगी। यह सम्पादन की बहुत बड़ी त्रुटि है।

१३. चौंतीसवीं आवृत्ति (३४वां), ३५वां तथा ३६वां संस्करण में परिवर्तन—

परोपकारिणी सभा ने ३४वें संस्करण में संशोधन के लिए एक समिति का गठन किया था जिसमें पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर, श्री धर्मसिंह जी कोठारी थे। इन्होंने इसमें व्यापक स्तर पर सैकड़ों परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन किये। पाठभेदों के अतिरिक्त १३, १४ समुल्लासों के नामों की अंग्रेजी वर्तनी मूलपाठ में दर्शाई गई है जो सम्पादन की दृष्टि से बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि इस शैली को किसी भी दृष्टि से ग्रन्थकार की शैली नहीं माना जा सकता। मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणप्रति में जो पाठ त्रुटित रह गये थे उनमें से पर्याप्त को इसमें ग्रहण कर लिया गया। ३५वां और ३६वां संस्करण मुख्यत: इसी पर आधारित है। इनमें संशोधन सीमित संख्या में हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. ''मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित यह पाठ द्वितीय संस्करण में भी त्रुटित है—''यद्वा यज्जनयति.....जलम्''। (१८/२६)	—''यद्वा यज्जनयति लाति सकलं जगत् तद् ब्रह्म जलम्''=अथवा जो सबका जनक और सब सुखों का देनेवाला है, इसलिये भी परमेश्वर का नाम जल है। (३८/१४)	—मूलप्रति में यह पाठ उपलब्ध है उसके अनुसार ग्रहण किया गया है। प्रथम संस्करण में भी यह व्युत्पत्ति है।
२. ''द्वैत से रहित है'' (२४/४)	—''द्वैत जो इनसे रहित है।'' (४९/४)	—अशुद्ध परिवर्तन किया है।
३. ''किसी को अभिमान न चाहिये।'' (३४/२४)	—''किसी को अभिमान करना योग्य नहीं, क्योंकि ''अभिमानः श्रियं हन्ति''—यह किसी कवि का वचन है जो अभिमान अर्थात् अहंकार है, वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है, इस वास्ते अभिमान करना न चाहिये।'' (७४/३)	—बीच का सारा पाठ मुद्रण-लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रह गया, उस कारण द्वितीय संस्करण में नहीं छपा। मूल-प्रति को देखकर उसको पूर्ण किया है और सबने इसको ग्रहण कर लिया है।
४. ''प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि	—''प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं	—मुद्रकों की लापरवाही से

	नहीं होती।'' (१९०/१)	होती॥ १॥ क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते।'' (३३९/९)	द्वितीय संस्करण में भ्रष्टपाठ छपा है। उसे शुद्ध किया गया है।
५.	''अब थोड़ा सा विशेष रामस्नेही के मत....'' पाठ त्रुटित है (३५९/६)	—''अब थोड़ा सा विशेष रामस्नेही के मत विषय में लिखते हैं।'' (६७२/४)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ द्विप्र० में नहीं है। मूल-प्रति से शोधा है। यह ऋषि के हाथ से लिखा वाक्य है।
६.	''गण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः'' (२४)	—''गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गुणयन्ति'' (४९/९)	—३६वें सं० में भ्रष्ट पाठ का सही शोधन है।

१४. परोपकारिणी का ३७, ३८, ३९वां संस्करण (मूलप्रति संस्करण)—

द्वितीय संस्करण (१८८४) प्रकाशित होने के उपरान्त ही उसमें विद्यमान अशुद्धियों, त्रुटित पाठों, अप-उद्धरणों आदि की शिकायतें परोपकारिणी सभा को प्राप्त होने लगीं और आज तक प्राप्त होती रहती हैं। इसका प्रमाण वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर श्री शिवदयालसिंह का दिनांक १२.२.१८८९ का वह पत्र भी है जिसमें उन्होंने पं० लेखराम जी द्वारा अशुद्धियां बताने का उल्लेख है। गत विवरण हमें यह जानकारी देता है कि संस्करण २ से ३६ तक परोपकारिणी सभा के प्रायः प्रत्येक संस्करण में संशोधन होते रहे हैं। स्वतन्त्र रूप से सम्पादित सभी संस्करणों में हजारों संशोधन किये गये हैं। इनका दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक सत्यार्थप्रकाश एक-दूसरे से भिन्न होता गया और एक प्रकाशक के सभी संस्करण भी एक-दूसरे से नहीं मिलते हैं। परोपकारिणी सभा को, यथा-समय अपने 'कापी राइट' अधिकार का प्रयोग न करने के कारण सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों-पाठान्तरों पर अंकुश लगाना संभव प्रतीत नहीं हुआ। उसने सन् १९९२ में सत्यार्थप्रकाश का ३७वां संस्करण उक्त अराजकता को रोकने के उद्देश्य से प्रकाशित किया। इसमें यह सम्पादन-नीति रही है कि महर्षिप्रोक्त और महर्षिलिखित 'मूलप्रति' को मुख्य आधार मानकर, मुद्रणप्रति में प्राप्त ऋषि-हस्तलेखों और द्वितीय संस्करण में प्राप्त पाठ-संशोधनों, पाठ-परिवर्तनों-परिवर्धनों को ग्रहण करके एक '**ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित**' संस्करण प्रकाशित हो। भाषात्मक अशुद्धियों का इसमें संशोधन है। प्रस्तावित नये पाठ बृहत् कोष्ठक में यत्र-तत्र हैं, जो नगण्य हैं। हिन्दी में जिनका अर्थ सत्यार्थप्रकाश में प्राप्त है किन्तु मूल संस्कृत उद्धरण नहीं है तो मूल उद्धरण दे दिया गया है। द्वितीय संस्करण से इसमें कोई मूलभूत, सैद्धान्तिक अथवा भावगत अन्तर नहीं है, सामान्य शब्दों का अन्तर है और वे द्वितीय संस्करण में प्राप्त शब्दान्तर भी महर्षि के नौकरों=लिपिकरों-शोधकों द्वारा अधिकांशतः अनावश्यक और अशुद्ध रूप से बदले गये हैं। परोपकारिणी सभा का यह विश्वास था कि ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित सत्यार्थप्रकाश ही पाठान्तर रोकने का एकमात्र समाधान है और कोई सच्चा आर्य ऐसा नहीं होगा जो इसको अस्वीकार करेगा, या इसका विरोध करेगा।

परोपकारिणी सभा का तब आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब स्वयं को आर्य कहने वाले कुछ लोगों और एक आर्य-न्यास ने ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित पाठों का सुनियोजित और प्रायोजित विरोध किया। इसके विरुद्ध लेख लिखे, विरोध में गोष्ठियां कीं, पुस्तकें छापीं, विद्वानों की लाबिंग की, यहां तक कि वितण्डा, प्रोपगैंडा और कुत्सित राजनीति भी की। आश्चर्य की बात है कि उन्होंने महर्षिलिखित पाठों की उपेक्षा-तिरस्कार करके उनके नौकरों की भाषा को अधिमान दिया। विश्वास नहीं होता कि स्वयं को महर्षि का अनुयायी कहने वाला, स्वयं को महर्षि का भक्त कहने वाला कोई व्यक्ति या संस्थान अपने श्रद्धेय महर्षि की भाषा का इतना अपमानपूर्ण विरोध भी कर सकता है। किन्तु, कटु सत्य यही है कि ऐसा हुआ है और उनका दुस्साहस देखिए फिर भी वे स्वयं को 'ऋषिभक्त' कहने में संकोच नहीं करते। **वस्तुतः यह विरोध ३७वें संस्करण का नहीं था, अपितु महर्षि दयानन्द का था, क्योंकि ३७, ३८, ३९ की भाषा तो महर्षि की अपनी है, उन्हीं के द्वारा संशोधित है, उसमें सम्पादक-प्रकाशक की भाषा नगण्य है। अतः सीधा-सीधा वह ऋषि का ही विरोध है। शब्दान्तर-मात्र से किये जाने वाले विरोध की यदि बात करें तो मूलप्रति**

संस्करण और द्वितीय संस्करण में जितना शब्दान्तर है उससे कहीं अधिक शब्दान्तर तो एक प्रकाशक के द्वितीय संस्करण से दूसरे प्रकाशक के द्वितीय संस्करण में है, किन्तु 'द्वितीय संस्करण' नाम के दुराग्रही व्यक्ति उन शब्दान्तरों का विरोध नहीं करते। उससे अधिक शब्दान्तर तो द्वितीय संस्करण (१८८४) की तुलना में उदयपुर न्यास ने अपने द्वारा प्रकाशित 'उदयपुर संस्करण' (२०१०) में भी कर लिया है, किन्तु उनकी आंखों पर कई वर्ष पुराना विरोध का चश्मा चढ़ा होने के कारण उन्हें अपना किया शब्दान्तर नहीं दीखता, बस मूलप्रति संस्करण का ही दीखता है। इस अध्याय के अन्त में प्रदर्शित अशुद्धियों की तुलनात्मक तालिका से यह भी निष्कर्ष सामने आया है कि जो लोग द्वितीय संस्करण के प्रकाशन को त्यागकर मूलप्रति संस्करण (३७-३९) प्रकाशित करने पर परोपकारिणी सभा की आलोचना करते हैं वह नितान्त निराधार और व्यर्थ है, क्योंकि दोनों संस्करणों में कोई मूलभूत और सैद्धान्तिक भेद नहीं है, केवल शब्दभेद है। मूलप्रति संस्करण में शब्दान्तर-पाठान्तर की संख्या १५००-२००० है तो द्वितीय संस्करणों में २५००-३००० है। ऊपर से मूलप्रति संस्करण की एक अनन्य विशेषता यह है कि वह ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित है। द्वितीय संस्करण में यह विशेषता नहीं है। ऐसी स्थिति में मूलप्रति संस्करण के विरोध का कोई औचित्य नहीं है।

पर्याप्त संशोधन के अनन्तर ३७वें संस्करण में लिपिकरकृत कुछ भाषागत अशुद्धियां फिर भी रह गईं, उनका संशोधन क्रमशः ३८वें और ३९वें संस्करण में किया गया है। उसके बाद भी कुछ अशुद्धियों का संशोधन अभी भी अपेक्षित है। जो अशुद्धियां मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में संशोधित की जा चुकी हैं, और वे मूलप्रति के अनुसार छपने के कारण मूलप्रति संस्करण में रह गई हैं, उनका संशोधन भी अपेक्षित है। सम्पादन नीति के कारण कुछ पाठ भी अशुद्ध हो गये हैं जिनका संशोधन जरूरी है (अशुद्धियों का विवरण 'समीक्षा भाग' में पृ० ५२ पर द्रष्टव्य है)।

निष्कर्ष—परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित २ से ३९ संस्करणों के प्रदर्शित गत विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सत्यार्थप्रकाश में लिपिकर-शोधककृत अनेक अशुद्धियां विद्यमान हैं। निरन्तर प्रत्येक संस्करण में उनका संशोधन-परिवर्तन-परिवर्धन किया जाता रहा है जिसके कारण पाठान्तर होने से सत्यार्थप्रकाश का प्रत्येक संस्करण भिन्न होता गया।

स्वतन्त्र संस्करणों एवं समीक्षकों की समीक्षा—

यहाँ तक परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करणों की जानकारी दी गई है। अब स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित संस्करणों तथा सत्यार्थप्रकाश के प्रमुख समीक्षकों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। परोपकारिणी सभा का '**कापी राइट**' अधिकार पूर्ण होने के बाद, स्वतन्त्र रूप से आर्य सम्पादकों-प्रकाशकों ने अपने-अपने संस्करण प्रकाशित किये और उनमें निरंकुशता पूर्वक इच्छित संशोधन-परिवर्तन-परिवर्धन भी किये। वह सिलसिला आज भी जारी है। उनमें से कुछ प्रमुख संस्करण अग्रलिखित हैं—

१५. गोविन्दराम हासानन्द संस्करण—परोपकारिणी के '**कापी राइट**' अधिकार के पूर्ण होते ही सबसे शीघ्र और सर्वप्रथम संस्करण 'गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, नई दिल्ली', ने प्रकाशित किया। सन् १९२३ (संवत् १९८१) में प्रकाशित इस संस्करण के सम्पादक **पं० जयदेव जी विद्यालंकार** थे। उन्होंने इसमें पाठ-संशोधन के साथ आदि में विस्तृत विषयसूची और अन्त में प्रमाणसूची भी संलग्न की थी। अगले संस्करणों में इन उपयोगी सूचियों को हटा दिया गया। पं० जी ने इस संस्करण में भाषा-सम्बन्धी अनेक संशोधन भी किये हैं।

पं० जयदेव जी ने 'आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर' से प्रकाशित तृतीय संस्करण का सम्पादन भी किया था। इसमें लम्बे अनुच्छेदों को छोटे संदर्भों में परिवर्तित किया। अब उन संस्करणों का प्रकाशन नहीं हो रहा है।

१६. स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती द्वारा सम्पादित संस्करण—परोपकारिणी सभा के '**कापी राइट**' अधिकार के पूर्ण होने पर सन् १९५६ (संवत् २०१३) में प्रकाशित अपने स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश में **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने भाषा-संशोधन, पाठनिर्धारण और टिप्पणियों पर बहुत श्रम किया है, जो स्तुत्य है; किन्तु उनके स्वच्छन्द भाषा-परिवर्तन को कुछ विद्वानों ने पसन्द नहीं किया। परिवर्तित सभी स्थलों का टिप्पणी में परिचय न देने के कारण

पाठकों को यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि कौन-सी भाषा ऋषि की है और कौन-सी स्वामी जी की! दोनों की भाषा का घालमेल हो गया। कुछ आलोचकों ने उस बिन्दु को इतना उछाला कि स्वामी जी के महान् ऐतिहासिक श्रम को उसकी आड़ में दबा-सा दिया। निन्दकों ने यह अक्षम्य अनर्थ किया है। कुछ त्रुटियुक्त संशोधनों को छोड़कर स्वामी जी का श्रम अति प्रशंसनीय है। उनकी श्रमसाध्य टिप्पणियाँ तो ऐसी धरोहर हैं जो संरक्षणीय हैं। उत्तरार्ध भाग पर किया गया उनका परिश्रम अद्वितीय है। सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में स्वामी जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश एक 'मील का पत्थर' है जो प्रत्येक परवर्ती सम्पादक, शोधक और पाठक को दिशाबोध कराता रहेगा। बाद के पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० भगवद्दत्त जी, श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, उदयपुर संस्करण आदि ने उनके संस्करण से पर्याप्त लाभ प्राप्त किया है। इस शोध-संस्करण में भी उससे यत्र-तत्र मार्गदर्शन प्राप्त किया है। मेरा मानना है कि स्वामी जी के महान् श्रम की उपेक्षा करके जिन निन्दकों ने स्वामी जी के संस्करण की केवल निन्दा-आलोचना की है उनके उस अपकार को शिक्षा जगत् में सदा घृणा की दृष्टि से देखा जायेगा और स्वामी जी के उपकार को सदा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जायेगा। स्वामी जी ने अपने संस्करण में जो परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन किये हैं उनकी समग्र संख्या २५००-३००० तक है।

स्वामी जी का समस्त संशोधन कार्य स्वचिन्तन और स्वविवेक पर आधारित है। मूलप्रति और मुद्रणप्रति की विद्यमानता का न तो उन्हें ज्ञान था और न उनको वे उपलब्ध ही हुई। अपने समय के संस्करणों को देखकर तथा उद्धरणों का मूलग्रन्थों से मिलान करके ही उन्होंने शुद्धाशुद्ध पाठ का निर्णय किया था। अवशिष्ट अशुद्धियों का संशोधन बाद के संस्करणों में **आचार्य उदयवीर जी शास्त्री** ने भी किया है। स्वामी जी के अधिकांश निर्णय उपयोगी एवं ग्राह्य हैं किन्तु कुछ निर्णयों में भूल भी हो गई हैं, जो आचार्य उदयवीर जी शास्त्री के ध्यान में भी नहीं आई, यथा—

(अ) अष्टम समुल्लास में महर्षि ने नौ नास्तिक मतों के पूर्वपक्ष की स्थापना करके उत्तरपक्ष में उनकी समीक्षा की है। उन मतों में से ग्रन्थकार ने आठ मतों के स्थापनापरक सूत्र दिये हैं, नवम मत का केवल पूर्वपक्षीय प्रश्न लिखा है, सूत्र नहीं है। स्वामी वेदानन्द जी को लगा कि इस मत का स्थापनापरक सूत्र ग्रन्थकार या लिपिकर से त्रुटित रह गया। यह सोचकर उन्होंने न्यायदर्शन का **''न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्''** (४.१.९) सूत्र उद्धृत कर दिया और इसके समर्थन में टिप्पणी भी दे दी (द्रष्टव्य शोधसं० पृष्ठ ३८६)। इस सूत्र को उद्धृत करना सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि इसमें नवम नास्तिक के मत के पूर्वपक्ष की स्थापना ही नहीं है यह तो समाधानपरक सूत्र है अर्थात् न्यायदर्शन में इससे पूर्व सूत्र में वर्णित स्थापना का उत्तर है, जबकि वहां प्रसंग नास्तिक मत की स्थापना का है।

स्वामी जी की विद्वत्ता पर विश्वास करने के कारण इस भूल का अविचारित अनुकरण पं० भगवद्दत्त, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, उदयपुर संस्करण के मुख्य सम्पादक पं० विशुद्धानन्द मिश्र ने भी कर लिया और इस सूत्र को अपने-अपने संस्करणों में स्थापनापरक सूत्र के रूप में ग्रहण कर लिया। यद्यपि पं० युधिष्ठिर मीमांसक को इस भूल का ज्ञान उनका संस्करण छपते-छपते हो गया था। तभी तो उन्होंने अपने संस्करण के परिशिष्ट में पृ० ९७१ पर इस भूल को स्वीकार किया है और इसका कारण स्वामी वेदानन्द जी के संस्करण के अनुकरण को माना है। (विस्तृत टिप्पणी द्र० पृ० ३८६ पर)

(आ) नवम समुल्लास के आरम्भ में स्वामी वेदानन्द जी ने ''अविद्या का लक्षण:—'**अनित्याशुचि....**' वह अविद्या कहाती है'' पाठ को क्रमविरुद्ध या स्थानभ्रष्ट घोषित करते हुए उसे आगे पृ० २१२ पर ''**अविद्याऽस्मितारागद्वेष....**'' सूत्र से पूर्व रखने के पक्ष में टिप्पणी दी है (पृ० २००)। यह पाठ यहीं संगत है, अत: स्वामी जी की इस टिप्पणी से सहमत नहीं हुआ जा सकता (विस्तृत टिप्पणी द्रष्टव्य है पृ० ४२६ पर)। श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती ने इनका अनुकरण करते हुए इस पाठ को बृहत् कोष्ठक में दिया है, जो अनावश्यक है।

(इ) स्वामी जी ने पृष्ठ ४९७ पर 'Crucifixion' नामक एक पुस्तक को उद्धृत कर इस किंवदन्ती पर सहमति व्यक्त की है कि क्रूस पर चढ़ाये जाने के बाद ईसा मसीह मरे नहीं थे अपितु उन्हें उनके मठ के श्वेतवस्त्रधारी साधु ले गये थे और उनकी चिकित्सा करके उनको स्वस्थ कर दिया था। यह मन्तव्य बाइबल में वर्णित तथ्यों के विरुद्ध है।

वहां स्पष्ट लिखा है—'**ईसा ने चिल्ला-चिल्लाकर बड़े कष्ट से प्राण छोड़े, उसके लिए कब्र बनाई गई, उसमें उसको दफनाया गया,**' आदि (मत्ती० पर्व २६, २८; शोधसं० पृ० ९१४, ९१५)।

(ई) बहुत-से स्थानों पर स्वामी जी ने अशुद्ध पाठों को ही ग्रहण किया है और अनेक स्थलों पर त्रुटित पाठ भी हैं, जैसे—''**विभवचलक निकलेगा**'' (शोधसं० ८८०), ''**ईसा ही अद्वितीय ईश्वर कहाता है**'' (शोधसं० ९१७), ''**तुझको अलबत्ता देख सकेगा**'' (शोधसं० ९८८), ''**उन लोगों की ओर से हुई जो उस कौम से होवें**'' (शोधसं० ९८०), ''**ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी**'' (शोधसं० १०४८) आदि।

(उ) मूलप्रति न देख पाने के कारण स्वामी वेदानन्द जी और उनके पाठानुसारी अन्य संस्करणों में अनेक अयुक्तियुक्त और दूषित पाठ विद्यमान रह गये। जैसे, मूलप्रति में पाठ है—''**भला, एक मियान में दो तलवारें कभी रह सकती हैं ?**''। मुद्रणसमय में पं० ज्वालादत्त शर्मा ने इसका हास्यास्पद हिन्दीकरण किया—''**भला, एक घर में दो तलवारें....।**'' उसने यह भी विचार नहीं किया कि क्या मूर्खतापूर्ण हिन्दी रूप बना रहा है, एक घर में तो हजारों तलवारें भी रह सकती हैं। स्वामी वेदानन्द जी ने भी अशुद्ध पाठ ग्रहण किया है। अब प्रायः सभी ने पुनः मूलप्रति का ''**मियान**'' (म्यान) प्रयोग ग्रहण कर लिया है।

(ऊ) स्वामी वेदानन्द जी महाराज से कहीं-कहीं उद्धरणपाठ-निर्णय में भी भूल हो गई है। सत्यार्थप्रकाश में दो स्थानों पर अथर्ववेद का यह वेदमन्त्र लिखा मिलता है—''**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते**''। अथर्ववेद में ''**इच्छते**'' पाठ न होकर ''**कृणुते**'' पाठ है (अथर्व० ११.५.३)। इसी पद-परिवर्तन से मन्त्रपाठ शुद्ध हो सकता था और ऋषि का भाव भी गृहीत हो जाता, किन्तु स्वामी जी ने एक उद्धरण के दो उद्धरण बनाकर पाठान्तर और प्रमाणसंख्यान्तर को व्यर्थ ही बढ़ा दिया—

''**आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते**'' (११.५.१७), ''**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**'' (११.५.३)

यह उद्धरण दो स्थानों (समु० १०, पृ० ४८२; समु० ११, पृ० ५९२) पर आता है। स्वामी जी ने दोनों स्थानों पर ऐसे ही प्रमाणान्तर किया है। यहां एक ही संशोधित प्रमाण को रखना उचित था।

(ए) उनके संस्करण में त्रुटित पाठों के अनेक उदाहरण इस शोधसंस्करण में यथाप्रसंग देखें।

(ऊ) उनके संस्करण में वर्तनी-सम्बन्धी अव्यवस्था दोष के लिए '**मीमांसा भाग**' में पृष्ठ ११७ द्रष्टव्य है।

१७. श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश—सन् १९६१ में प्रकाशित श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती का स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश अधिकांशतः स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती के मूलपाठ के अनुकरण पर सम्पादित है। इस कारण प्रायः सभी अशुद्धियां और त्रुटित पाठ भी ज्यों के त्यों हैं! सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में ५०-१०० ऐसे स्थल होंगे जहां उन्होंने अपने विवेक से नवीन स्वतन्त्र परिवर्तन किया है। टिप्पणियां भी नगण्य हैं। पाठभेदों का पृथक् निर्देश न होने से इसमें भी संशोधनों-परिवर्तनों का और ऋषि की भाषा का ऐसा घालमेल हो गया कि उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि यह संस्करण स्वामी वेदानन्द जी के अनुकरण पर सम्पादित है, अतः इसमें भी परिवर्तनों-संशोधनों की संख्या लगभग २५००-३००० है।

१८. पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश—पं० भगवद्दत्त जी ने दो बार सत्यार्थप्रकाश का सम्पादन किया, एक बार परोपकारिणी सभा में कार्यरत रहते हुए सोलहवें संस्करण का और पुनः सन् १९६२ (संवत् २०१९) में परोपकारिणी सभा का 'कापी राइट' अधिकार पूर्ण होने पर स्वतन्त्र सम्पादन किया। जिसका प्रकाशन 'गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली' ने किया। पं० जी का संस्करण नगण्य श्रमयुक्त है। कुछ स्थलों को छोड़कर उसमें कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी और उपलब्धि नहीं है। ऐसा नहीं लगता कि वह पं० भगवद्दत्त जी जैसे दिग्गज विद्वान् द्वारा सम्पादित ग्रन्थ है। वे सत्यार्थप्रकाश के लिए आवश्यक समय नहीं दे पाये। उन द्वारा लिखित भूमिका कुछ अंशों में प्रशंसनीय है। उनके द्वारा अपनी ओर से अनुच्छेद-विभाजन करके प्रत्येक अनुच्छेद के आरम्भ में बृहत्कोष्ठक में क्रमसंख्या अंकित की गई

है, वह वांछनीय नहीं थी, क्योंकि न तो वह ग्रन्थकार की शैली है, और न ग्रन्थरचना-काल की लेखन शैली है। अत्याधुनिक ग्रन्थ-शैली होने के कारण वह कभी भविष्य में जाकर ग्रन्थ के रचना-काल में संदेह उत्पन्न कर सकती है। अनुच्छेद विभाजन भी युक्तियुक्त नहीं है। सत्यार्थप्रकाश एक शास्त्रीय और साहित्यिक कोटि का ग्रन्थ है, फिर भी उस पर पं० जी की ऐतिहासिक दृष्टि प्रभावी रही है। उसके कारण उन्होंने लिपिकर-शोधककृत बहुत-सी अशुद्ध वर्तनियों और भाषा के अशुद्ध रूपों को अपरिवर्तनीय रखा है, जबकि किसी ऋषि-ग्रन्थ में अशुद्धियां ग्राह्य नहीं मानी जा सकतीं। पं० जी का ध्यान द्वितीय संस्करण (१८८४) के दो मुखपृष्ठों पर लिखे उस वाक्य की ओर तथा उन पत्रों की ओर नहीं गया जिनमें ग्रन्थकार ने भाषा का पूर्ण दायित्व लिपिकरों-शोधकों का निर्धारित किया है और स्वयं को उससे मुक्त रखा है। इसलिए सत्यार्थप्रकाश की भाषात्मक अशुद्धियां न तो ऋषिकृत हैं, और न वे ऐतिहासिक धरोहर हैं। उनको शुद्ध किया ही जाना चाहिए था। हाँ, टिप्पणी में पाठभेदों का तुलनात्मक निर्देश करके पं० जी ने एक शोध प्रक्रिया की नींव डाली है, जिसका मुख्यत: लाभ पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक को मिला। परोपकारिणी सभा में कार्य करते हुए पं० जी ने मूलप्रति और मुद्रणप्रति के पाठभेदों के कुछ नोट्स बनाये थे, उनका उपयोग उन्होंने अपने संस्करण में किया है और पं० मीमांसक जी ने भी उनके संस्करण से पाठनिर्धारण में पर्याप्त सहायता ली है। पं० जी के संस्करण में कुछ अशुद्धियां भी मिलती है जिनकी इस संस्करण में समीक्षा है, जैसे—

(अ) स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती के अनुकरण पर, पं० जी से भी **''न स्वभावसिद्धि.....''** सूत्र को अष्टम समुल्लास में नवम नास्तिक मत की स्थापना में ग्रहण करने की भूल हुई है, जिसकी कल्पना ऐसे उद्भट पंडित से नहीं की जाती है। वह स्थापनापरक सूत्र ही नहीं, वह तो समाधानपरक सूत्र है।

(आ) पं० जी ने बहुत से पाठों का संशोधन नहीं किया, उनको अशुद्ध रूप में ही ग्रहण किया हुआ है, जबकि वे मूलप्रति में शुद्ध हैं—

मूलप्रति का शुद्ध पाठ और शोधसं० की पृष्ठसंख्या	पं० जी का अशुद्ध पाठ और पृष्ठ संख्या
क. ''अब कुछ सन्देह न रहा कि ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् देहधारी है।'' (८८६/७)	— ''अब कुछ सन्देह न रहा कि ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् देहधारी नहीं है।'' (५२५/२६)
ख. ''खून बहा उन लोगों की ओर साई हुई (या सौंपी हुई) जो उस कौम से होवें'' (९८०/१७)	— ''खून बहा उन लोगों की ओर से हुई जो उस कौम से होवें'' (५८०/२५)
ग. ''बस, नियत किया उसको सात आसमान, बीच दो दिन के'' (१०२४/१२)	— ''बस नियत किया उनको साथ आसमान बीच दो दिन के'' (६११/७)
घ. ''पढ़ते हैं फ़रिश्ते और रूह तर्फ़ उसकी.....'' (१०३५/७)	—''चढ़ते हैं फ़रिश्ते और रूह तरफ़ उसकी.....'' (६१७/२६)

(इ) कहीं-कहीं पं० जी से पाठ-निर्धारण में भूल भी हुई है। दोनों संस्करणों में स्वीकृत यह प्रश्नान्तर्गत पाठ है— **''पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है।''** (शोधसं० ४१५) पं० जी ने इसको बदलकर यह अपपाठ बनाया—''पृथिवी भारहीन होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है'' (भद, पृ० २३२)। वैज्ञानिक मान्यता है कि भारी वस्तु नीचे जायेगी और भारहीन ऊपर को। पता नहीं पं० जी ने यह विज्ञानविरुद्ध पाठ क्यों बनाया!!

(ई) इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर पं० जी पाठ-निर्धारण में ऐसे विचलित हो गये कि यही नहीं पता चल रहा कि उन्होंने पाठ का संशोधन किया है या असंशोधन? देखिये उनका पाठ—**''बैल.....उपकारक होते हैं तथा वैसे [गाय] दूध में अधिक उपकारक होती है, परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे [गाय] भैंसे भी हैं''** (भद, पृ० २७६; शोधसं० ४९७-४९८)। यह वाक्य किसी भी दृष्टि से शुद्ध नहीं है।

(उ) त्रुटित पाठों के अन्य अनेक उदाहरण इस शोधसंस्करण में यथाप्रसंग द्रष्टव्य हैं।

पं० जी के समग्र संशोधन १५००-२००० के लगभग हैं। उनके द्वारा अपनी ओर से जोड़ी गई अनुच्छेद संख्या को भी यदि गिनें तो परिवर्तनों-संशोधनों की कुल संख्या ४००० के लगभग बनेगी।

१९. आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्करण—ज्यों-ज्यों सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न संस्करण प्रकाशित होने लगे और उनमें यथेष्ट परिवर्तन किये जाने लगे, तो इस बिन्दु को लेकर आर्यसमाज में दो पक्ष निर्मित हो गये—१. संशोधनवादी और २. संशोधनविरोधी। इनमें परस्पर पर्याप्त संवाद-विवाद हुआ। आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) की भावुकतापूर्ण प्रेरणा से ऋषिभक्त लाला दीपचन्द ने विचार किया कि क्यों न द्वितीय संस्करण (१८८४) यथावत् प्रकाशित कर दिया जाये, उससे सभी विवादों का अन्त हो जायेगा। सन् १८८४ के बाद पहली बार अक्तूबर सन् १९६७ में उन्होंने उसका (कुछ संशोधनों के साथ) **'फोटोप्रति संस्करण'** प्रकाशित कर दिया। भावुकता में आकर प्रकाशित संस्करण के बाद प्राप्त प्रतिक्रियाओं से उन्हें असलियत का ज्ञान हुआ कि वह तो अशुद्धतम संस्करण है, उससे विवाद घटे नहीं, बढ़े ही; समाधान हुआ ही नहीं, नये अनेक प्रश्न और उत्पन्न हो गये। लाला जी का यह प्रकाशन पहला और अन्तिम सिद्ध हुआ। इनके अतिरिक्त १८८४ के बाद आज तक वह संस्करण यथावत् किसी ने नहीं छापा है। यह द्वितीय संस्करण (१८८४) का कटु सत्य है।

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली ने उसके बाद परोपकारिणी सभा के संस्करणों के अनुसार और स्व-संशोधित सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित किये। यह ट्रस्ट लागत-मूल्य पर ऋषि-ग्रन्थों को प्रकाशित करके वितरित करने वाला सबसे बड़ा प्रकाशन है। इसने अब तक सत्यार्थप्रकाश के सौ के लगभग संस्करण प्रकाशित किये हैं। यदि यह कहा जाये कि विश्व में सभी हिन्दी-प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश एक तरफ रखें और दूसरी तरफ ट्रस्ट से प्रकाशित संख्या को रखें, तो ट्रस्ट की प्रकाशन-संख्या उससे अधिक बनेगी।

ट्रस्ट ने समय-समय पर अपने संस्करण में संशोधन-परिवर्तन किये हैं और द्वितीय संस्करण में त्रुटित काफी पाठों को मूलप्रति के आधार पर ग्रहण कर लिया है। त्रुटित पाठों की पूर्ति स्वविवेक से भी की है। यह साहित्यिक प्रचार-प्रसार का कार्य अब लाला दीपचन्द जी के पुत्र श्री धर्मपाल आर्य के मन्त्रित्व में जारी है। ट्रस्ट के प्रधान वैदिक विद्वान् आचार्य राजवीर जी शास्त्री हैं। कभी सत्यार्थप्रकाश में संशोधन के घोर विरोधी रहे शास्त्री जी की सहमति से न केवल ट्रस्ट के सत्यार्थप्रकाश में सैकड़ों परिवर्तन हुए अपितु 'उदयपुर संस्करण' (२०१०) में भी हुए हैं, जहां वे सम्पादक-समिति के सदस्य थे। कुछ वर्षों में ही शास्त्री जी की सोच में इतना सकारात्मक परिवर्तन हुआ है कि पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक के जिन संशोधनों का उन्होंने कभी कटुतम विरोध किया था, अब उनमें से अनेक को उन्होंने उदयपुर संस्करण और ट्रस्ट के संस्करणों में ग्रहण कर लिया है। शास्त्री जी के इस **'हृदय-परिवर्तन'** से अन्य संशोधन-विरोधी कोरे भावुक जनों को आवश्यक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। यह स्पष्ट हो गया कि भावुकता 'भक्ति' नहीं होती।

२०. पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्करण—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने पर्याप्त श्रम करके सत्यार्थप्रकाश का सम्पादन किया है जो **'शताब्दी संस्करण'** नाम से सन् १९७५ में प्रकाशित हुआ। इसमें टिप्पणियों में अशुद्ध पाठों, पाठभेदों, प्रस्तावित पाठों, अशुद्धियों, ज्ञानवर्धक तथ्यों की विद्वत्तापूर्ण जानकारी दी है। प्रस्तावित बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ-वैशिष्ट्य के अतिरिक्त कुछ अशुद्धियों का संशोधन उन्होंने ऋषिपाठ में भी किया है, कुछ का टिप्पणी में केवल परिचय दिया है। इस पद्धति में, पाठकों के लिए उनके इस श्रम की उपयोगिता कम हो गई, क्योंकि मूलपाठ तो अशुद्ध का अशुद्ध ही रह गया। टिप्पणी में बता देने का क्या लाभ हुआ? कोई उनके सत्यार्थप्रकाश से उद्धरण लेगा तो उसमें अशुद्ध मूलपाठ ही गृहीत होगा, टिप्पणी थोड़े ही कोई साथ लेगा? टिप्पणी तो पं० जी के संस्करण में ही धरी रह जायेगी। यह वही बात हो गई कि वैद्य ने रोग का निदान तो कर दिया किन्तु चिकित्सा की ही नहीं, तो फिर वह निदान भी किस काम का हुआ, जब रोग ज्यों-का-त्यों ही बना रह गया? दवाई तो चिकित्सा न करने से स्वत: निरर्थक हो गई। इसी कारण से पं० जी का बहुत-सा श्रम व्यर्थ हो गया। हाँ, वह विद्वानों का मार्ग अवश्य प्रशस्त करेगा। उनका अधिकांश परिवर्तन एवं संशोधन-कार्य तर्कपूर्ण है।

पं० जी का संस्करण एक दु:खद परिस्थिति के कारण पूर्ण शोधनयुक्त और पूर्ण प्रामाणिक नहीं बन सका। पं० जी ने अपने संस्करण में पाठनिर्धारण केवल उस समय तक उपलब्ध संस्करणों को आधार बनाकर अपने विवेक से किया है, मूलप्रति और मुद्रणप्रति का लाभ उनको नहीं मिल सका, इसलिए सम्पादन में अपूर्णता रह गई है। हुआ यह

कि पं० जी परोपकारिणी सभा के पुस्तकालय से नोट्स लिया करते थे। उनसे ईर्ष्या-द्वेष रखने वाले एक आर्य विद्वान् पं० विश्वश्रवा जी ने उनके विरुद्ध परोपकारिणी सभा के तत्कालीन अधिकारियों के कान भर दिये। तत्कालीन अधिकारियों ने परोपकारिणी सभा के पुस्तकालय में पं० मीमांसक जी का प्रवेश वर्जित कर दिया। इस कारण वे मूलप्रति और मुद्रणप्रति के पाठों से मिलान नहीं कर सके, और न उनका अपने संस्करण में कोई लाभ ले सके। पं० जी को ३२ वर्ष बाद परोपकारिणी सभा के पुस्तकालय में तब प्रवेश मिला जब डॉ० धर्मवीर जी परोपकारिणी सभा के मन्त्री थे। यह बात पं० जी ने स्वयं डॉ० धर्मवीर जी को बताई थी और डॉ० धर्मवीर जी ने अपने एक लेख में लिखी है।

पं० जी की सम्पादन-शैली पर कुछ प्रश्न समय-समय पर उठते रहते हैं। उन्होंने टिप्पणी में सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण) के ८५० से अधिक पाठों को अशुद्ध घोषित किया है। उनमें से किसी को तो उन्होंने मूलपाठ में शुद्ध कर दिया, और किसी को अशुद्ध ही रहने दिया और उसकी अशुद्धता की जानकारी टिप्पणी में दे दी। यह विरोधाभासी कार्यशैली क्यों रही, इसका कारण ज्ञात नहीं हो सका। दूसरी ओर विरोधाभासी शैली देखिए कि पं० जी ने अपनी ओर से लगभग २००० उपशीर्षक बृहत् कोष्ठक में ऋषिपाठ में ही जोड़ दिये। उनके घालमेल से सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश का स्वरूप ही विकृत हो गया। पं० जी द्वारा प्रयुक्त शैली ग्रन्थकार की शैली से मेल नहीं खाती। उन द्वारा किया यह परिवर्तन उपयोगी भी नहीं है और वांछनीय भी नहीं। कुछ कमियों और अशुद्ध टिप्पणियों को छोड़कर उनका श्रम उल्लेखनीय है, विशेषकर अपपाठों को दर्शाने का और शोधात्मक टिप्पणियों का। इस शोध संस्करण में भी उनके संस्करण से सहयोग व मार्गदर्शन प्राप्त किया है। उदयपुर न्यास के संस्करण में तो इनके लगभग ७०० संशोधन ग्रहण कर लिये हैं। सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में पं० जी का शोधकार्य अवश्य स्मरण किया जायेगा। **संशोधन-परिवर्तन तो सभी सम्पादकों ने किये हैं किन्तु पं० मीमांसक जी पहले सम्पादक हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थों में और सत्यार्थप्रकाश की टिप्पणियों में सत्यार्थप्रकाश में अशुद्धियां होने की घोषणा बिना लाग-लपेट के खुलकर की है।** ऋषिप्रोक्त मूलप्रति के पाठकों के समक्ष आने के बाद यह स्थिति बनी है कि पं० जी की बहुत-सी आनुमानिक टिप्पणियां अनावश्यक हो गई हैं, जैसे—'**जप जन्म से करना चाहिये**' के पक्ष की टिप्पणी (शताब्दी सं० पृ० ७३, शोधसं० पृ० ८७)।

पं० जी की संशोधन पद्धति अनेक स्थलों पर आपत्तिजनक है, तो कुछ स्थानों पर उनके संस्करण में हास्यास्पद भूलें हुई हैं। समझ में नहीं आता कि इतने सुलझे हुए प्रकांड पंडित के संस्करण में ये भूलें कैसे हुई हैं? पाठक भ्रम-निवारण की दृष्टि से कुछ उदाहरण देखें—

(अ) हिन्दी-उर्दू का साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि '**दरिंदे**' शब्द का अर्थ '**मांसभक्षी हिंसक जानवर**' होता है, किन्तु पं० जी ने अशुद्ध टिप्पणी देकर लिखा है—''**दरंदे अर्थात् दरिंदे=पक्षी**'' (पृ० ८७९)। न जाने पं० जी ने यह हास्यास्पद अर्थ कैसे लिख दिया है!

(आ) 'बाइबल' के एक व्यक्ति का नाम है—'**आरामी लाबन**'। यह इजरायल-क्षेत्र के 'अराम या आराम' देश का निवासी था जिसके कारण उसको 'अरामी/आरामी' अर्थात् '**अराम या आराम देश का निवासी**' विशेषण मिला; जैसे देहली-निवासी को 'देहलवी', हरियाणा के निवासी को 'हरियाणवी', गुजरात के निवासी को 'गुजराती' कहते हैं। पं० जी ने इसका हास्यास्पद अर्थ करते हुए यह टिप्पणी दी है—''आरामी=आराम करने वाला=सोने वाला'' (पृष्ठ ७६९)। आयत में इस अर्थ का कोई प्रसंग ही नहीं है। यह ऐतिहासिक भूल बहुत खटकने वाली है।

(इ) स्वामी वेदानन्द जी के अनुकरण पर, अष्टम समुल्लास में, नवम नास्तिक मत की स्थापना में जोड़े गये विपरीतार्थक न्यायसूत्र ''**न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्**'' की गलती को उन्होंने परिशिष्ट में स्वयं यह लिखकर स्वीकार कर लिया है—''**इस सूत्र का यहां कोई प्रसंग नहीं है। यह भूल स्वामी वेदानन्द जी के संस्करण के कारण हुई।**'' (पृष्ठ ९७१)

(उ) कुरान के हिन्दी-अनुवादों में प्रयुक्त 'वही' शब्द अरबी शब्द '**वह्इ या वह्य**' का उपभ्रंश रूप है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है—'ईश्वर की ओर से हृदय में प्राप्त आदेश या प्रेरणा।' पं० जी ने इस पर यह अशुद्ध टिप्पणी दी है—''**वही=बही=पुस्तक**'' (पृष्ठ ८८१)। इस अरबी शब्द के साथ 'पुस्तक' अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं

है। भाषावैज्ञानिकों ने 'बही' अपभ्रंश पद का मूल '**बद्धिता या बद्धा**' संस्कृत शब्द को माना है, जो स्वीकार्य भी है।

(ऊ) जैनियों के मुक्तिस्थान में वर्णित 'सिद्धशिला' के माप में ''**पोली**'' शब्द पढ़कर पं० जी ने इसे हिन्दी का शब्द समझ लिया जिसका अर्थ '**खोखली**' होता है। वस्तुतः यह शब्द गुजराती का ''**पोली/ पोहली**'' है, जिसका अर्थ ''**चौड़ी**'' है। जैनग्रन्थ '**रत्नसार**' का यह उद्धरण है और वहां गुजराती प्रयोग है। पुष्टि के लिए द्रष्टव्य है 'प्रकरणरत्नाकर' का उद्धरण—''**लंबे पर और पोलपन में ४५ लाख योजन प्रमाण है**'' (शोधसं० पृ० ८३५)। पं० जी उक्त भ्रान्ति से यह टिप्पणी लिख गये—''**८ योजन मोटी शिला ४५ लाख योजन पोली कैसे हो सकती है ?**'' (युमी संस्करण, पृष्ठ ७१२ और शोधसं० ७८५) पं० जी ने यहां गम्भीरता से विचार नहीं किया।

(ए) पं० जी ने सत्यार्थप्रकाश के मूलपाठ में आधा-दर्जन से अधिक स्थानों पर ऋषि-निर्धारित पाठक्रम को अपने मन से बदल डाला है जिनमें कई पाठक्रमों में परिवर्तन करना गलत सिद्ध है (द्रष्टव्य मीमांसक सं० पृ० ३८१, ६४३-६४४, ८२४/१५ आदि और क्रमशः शोध-संस्करण पृ० ४५१, ७४८, ९२४ आदि)।

(ऐ) पं० जी ने सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध सैकड़ों अपवर्तनियों को शुद्ध किया है और उन्हें टिप्पणी में अशुद्ध घोषित किया है। पता नहीं क्यों, पं० जी कुछ अशुद्ध वर्तनियों में अटक कर रह गये और उनके अशुद्ध रूप को स्वीकार कर लिया, जबकि यह सिद्ध तथ्य है कि भाषासम्बन्धी त्रुटियां लिपिकरों की अयोग्यता से निर्मित हुई हैं। 'तुह्मारा, तुह्मारे, तुह्मारी' इसी प्रकार की लिपिकरकृत अपवर्तनियां हैं जिनको पं० जी ने अपरिवर्तनीय बनाये रखा, जबकि उन्हीं के संस्करण में और पांडुलिपियों में इनके शुद्ध रूप 'तुम्हारा' आदि भी मिलते हैं। (युमी, पृ० ५९, ७९७ आदि)।

(ओ) इसी प्रकार हिन्दी में 'हठाना' क्रिया 'हटाना' अर्थ में स्वीकृत नहीं है, अपितु 'हठ करने' अर्थ में है। अतः यह भी शुद्ध वर्तनी के रूप में स्वीकार्य नहीं होनी चाहिये थी। पं० जी के संस्करण में पाई जाने वाली वर्तनी सम्बन्धी अव्यवस्था के उदाहरण 'मीमांसा भाग' में पृ० ११७ पर द्रष्टव्य हैं।

(औ) पं० जी ने अनेक अशुद्ध पाठों का संशोधन किया है किन्तु कुछ को अशुद्ध ही ग्रहण किया है, जैसे—''**मार डाला और बाद में उसे छिपा दिया**'' (शोधसं० ८७४), ''**विभव चलक निकलेगा**'' (शोधसं० ८८०), ''**ईसाइयों का ईश्वर देहधारी नहीं**'' (शोधसं० ८८६), ''**जब दो के पुत्र**'' (शोधसं० ९१०), ''**उन लोगों की ओर से हुई जो उस कौम से होवे**'' (शोधसं० ९८०), ''**भेज दें हम एबाब**'' (शोधसं० १०१४), ''**नियत किया उनको साथ आसमान**'' (शोधसं० १०२४) आदि। अन्य अशुद्ध पाठों की समीक्षा यथाप्रसंग द्रष्टव्य है।

(अं) पांडुलिपियों से मिलान न हो पाने के कारण पं० जी के पाठ-निर्धारण में जो त्रुटियां रह गई, उनका एक उदाहरण निम्नांकित है। इस पाठ का संशोधन पं० भगवद्दत्त जी के तथा परोपकारिणी सभा के ३४वें संस्करण में कर दिया गया था, किन्तु पं० जी के ध्यान में शुद्ध पाठ नहीं बैठा और अशुद्ध पाठग्रहण करके टिप्पणी में खींचातानी से उसका भावार्थ भी लिख दिया। यही त्रुटि द्वितीय संस्करण (१८८४), स्वामी वेदानन्द जी और सिद्धान्ती जी के संस्करण में भी है। वह त्रुटि है—

मुद्रणप्रति में सूत्रार्थों का पाठ ठीक लिखा था—''**ईश्वर की सिद्धि नहीं होती॥ १॥**'' **क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमानादि प्रमाण नहीं॥ २॥** (द्विप्र० पृ० १९०)

इस पाठ में ''**ईश्वर**'' पद से पूर्व त्रुटित का चिह्न लगाकर पहली पंक्ति के बगल में बाईं ओर महर्षि ने ''**प्रत्यक्ष से**'' यह पाठ बढ़ाकर नया लिखा। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति के बगल में ''**प्रमाण नहीं**'' के बाद त्रुटित का चिह्न लगाकर ''**घट सकते**'' यह पाठ बढ़ाकर नया लिखा है। द्वितीय संस्करण के मुद्रण के समय कम्पोजीटर ने ऊपर-नीचे लिखे शब्दों को गलती से एक वाक्य मान कर कम्पोज कर दिया—''**प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की**'' यही अशुद्ध पाठ परोपकारिणी के ३३वें संस्करण तथा अन्य सम्पादकों के संस्करणों में चलता रहा। पं० मीमांसक जी के सामने शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ थे, तथा वाक्यरचना भी अशुद्ध थी, तो भी उन्होंने अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया (युमी, पृ० २९२)। शुद्ध पाठ है—''**प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती॥ १॥ क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते॥ २॥**'' (शोधसं० पृ० ३३९) पं० जी द्वारा गृहीत अपवाक्य का कोई अर्थ नहीं

निकलता फिर भी उन्होंने टिप्पणी में खींचतान कर एक नया अर्थ दे दिया। जैसे कम्पोजीटर की भूल से छपा वाक्य प्रामाणिक बन गया ऐसे ही लिपिकरकृत अशुद्धियां भी प्रामाणिक मानी जा रही हैं।

(अ:) समु० ११ में मूलप्रति में शुद्ध पाठ है—''**खाखी लकड़े की लङ्गोली लगा धूनी तापते**''। मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने अपने मन से ''**लङ्गोली**'' को बदलकर ''**लंगोटी**'' बना दिया। सभी संस्करणों में और दोनों हस्तलेखों में एक जैसा पाठ है। पं० जी के मन में पता नहीं क्या आया कि इस शुद्ध पाठ को बदलकर इस प्रकार अशुद्ध बना दिया—''**खाखी लंगोटी लगा लकड़े की धूनी तापते**''। इतना ही नहीं, प्रचलित उपर्युक्त पाठ के विषय में यह टिप्पणी भी दे डाली—''**सभी संस्करणों में वह अपपाठ है**'' (युमी० पृष्ठ ५५७)।

प्रथम संस्करण (१८७५) में भी यह संदर्भ आता है। उससे पुष्टि होती है कि महर्षि का प्रचलित उक्त पाठ शुद्ध है। वहां इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया है—''**खाखी लोग भस्म लगा लेते, जटा बढ़ा लेते और काठ की कौपीन धारण कर लेते हैं**'' (चतुर्थ समुल्लास, पृ० १२५)

प्रसंगवश यहां यह बता देना भी लाभप्रद है कि मूलप्रति में लिखित ''**लङ्गोली**'' प्रयोग ''**लंगोटी**'' की तुलना में अधिक सटीक है। सामान्यत: दोनों को ही 'लंगोटी' कह देते हैं किन्तु 'लंगोटी' कपड़े की होती है और 'लंगोली' लकड़ी का सीपी-जैसा बना खांचा होता है जिसे रस्सी या कपड़े की सहायता से खाखी लोग धारण करते हैं।

(अ-अ) समुल्लास ३ में, 'परित्याग के योग्य ग्रन्थ' प्रकरण में, द्वितीय संस्करण (१८८४) के भ्रष्ट पाठ को ही पं० जी ने ग्रहण कर लिया—''**स्मृतियों में एक मनुस्मृति, इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोक [और] अन्य सब स्मृति।**'' प्रकरणानुसार इसका अर्थ यही निकला कि 'स्मृतियों में मनुस्मृति भी परित्याग योग्य है।' पं० जी ने टिप्पणी में इस पाठ का कुछ कामचलाऊ स्पष्टीकरण दिया है जो टिप्पणी में होने से व्यर्थ है। यहां मूलप्रति का पाठ शुद्ध एवं ग्राह्य है (शोधसं० पृ० १३४)।

पं० जी द्वारा कृत अन्य अस्वीकार्य टिप्पणियों की समीक्षा ग्रन्थ में यथास्थान द्रष्टव्य है। पं० जी ने अपने संस्करण में सत्यार्थप्रकाश की मूलभाषा में भाषागत शुद्धियां की हैं, टिप्पणियों में अशुद्ध पाठ भी दर्शाये हैं, बृहत् कोष्ठक में परिवर्धित पाठ दर्शाये हैं, अपनी ओर से २००० के लगभग नये उपशीर्षक बृहत् कोष्ठक में जोड़े हैं। यदि उनके संस्करण के सभी परिवर्तनों-परिवर्धनों-संशोधनों को परिगणित किया जाये तो वे ४०००-४५०० के लगभग बनेंगे।

२१. स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश—(सन् १९९३ में दो भागों में प्रकाशित 'सत्यार्थभास्कर' के सम्पादक और टिप्पणी संकलनकर्त्ता स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती हैं। इसका मूलपाठ पं० मीमांसक जी के संस्करण के अनुकरण पर है, यहां तक कि प्राय: सारी अशुद्धियां और त्रुटित पाठ भी मीमांसक जी के संस्करण की तरह हैं। स्वामी जी ने उस मूलपाठ में अपनी ओर से एक आपत्तिजन्य स्वच्छन्दता यह बरती है कि पं० मीमांसक जी ने अपनी ओर से प्रस्तावित जो पाठ बृहत्कोष्ठक में दिये थे, जिनसे ऋषि की भाषा और सम्पादक की भाषा का पार्थक्य ज्ञात हो जाता था, स्वामी जी ने उनका बृहत् कोष्ठक हटाकर उनको ऋषि की मूलभाषा में मिश्रित कर दिया। इस प्रकार ऋषि की भाषा के साथ सम्पादक की भाषा का घालमेल हो गया और सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण की भाषा में कई हजार पाठान्तर हो गये। जब तक यह निर्णय न हो जाये कि अमुक प्रस्तावित पाठ पूर्णत: शुद्ध एवं अवश्य ग्राह्य है तब तक सत्यार्थप्रकाश की भाषा में अपनी भाषा की घुसपैठ कराना अवांछनीय कहा जायेगा। इनके संस्करण में भी समग्र परिवर्तन-संशोधन ४०००-४५०० के लगभग हैं।

स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के भाष्य के नाम पर टिप्पणी में पर्याप्त विवरण दिया है। वह वस्तुत: विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित सामग्री का प्रच्छन्न संकलन मात्र है। सत्यार्थप्रकाश पर उपलब्ध स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि की सभी टिप्पणियां अक्षरश: संकलित हैं किन्तु उन पर किसी मूल लेखक का नाम नहीं दिया गया है। उससे पाठकों पर यह प्रथम प्रभाव पड़ता है कि यह सारा महत्त्वपूर्ण और विस्तृत विवरण स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती द्वारा लिखित है। अन्य संकलित सामग्री के साथ भी यही स्थिति बनी है। स्वामी जी ने जब सत्यार्थप्रकाश का सम्पादन कार्य आरम्भ किया तो एक निवेदन समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराया कि 'उन्हें

सत्यार्थप्रकाश-विषयक सामग्री की आवश्यकता है, जिसके पास इस विषयक पुस्तकें होंवें वे उनको प्रदान करके सहायता करें।' **प्रो० राजेन्द्र जी जिज्ञासु (अबोहर)** लिखते हैं और बताया करते हैं कि वे स्वामी जी को काफी सहयोगी सामग्री देकर आये थे किन्तु स्वामी जी ने न कहीं उनका नामोल्लेख किया और न कहीं कृतज्ञता ज्ञापित की जबकि उस सामग्री का उपयोग कर लिया। ऐसा ही व्यवहार कई अन्य के साथ हुआ है।

उनकी टिप्पणियों को पढ़कर यह ज्ञात नहीं हो पाता कि कौन-सी टिप्पणी मूलत: किसके द्वारा लिखित है। एक जैसी टिप्पणियों और पाठ्य सामग्री को दो-दो पुस्तकों में पढ़कर भविष्य के पाठक इस बात का निर्णय करने में संदेहग्रस्त रहेंगे कि किसने किसका अनुकरण किया है। यथा, स्वामी विद्यानन्द जी ने स्वामी वेदानन्द जी आदि की नकल की है अथवा स्वामी वेदानन्द जी आदि ने स्वामी विद्यानन्द जी की। इसी प्रकार मनुस्मृति के श्लोकों का जहां-जहां मेरा ऊहित नवीन अर्थ दिया है वह मेरे (डॉ० सुरेन्द्रकुमार के) भाष्य से ग्रहण किया है। उसमें भी पाठकों को इस बात के निर्णय में श्रम करना पड़ेगा कि ये मूल अर्थ डॉ० सुरेन्द्रकुमार के स्वामी विद्यानन्द जी ने लिये हैं अथवा मनुस्मृतिभाष्य में डॉ० सुरेन्द्रकुमार ने स्वामी विद्यानन्द जी कृत ग्रहण कर लिये हैं, क्योंकि उन अर्थों के साथ सम्पूर्ण भाष्य में मेरा कहीं नामोल्लेख तो क्या, नाम का संकेत भी नहीं है। भूमिका में कुछ बड़े विद्वानों के नाम अवश्य दिये हैं किन्तु उनके किस ग्रन्थ से क्या सामग्री कहां-कहां ग्रहण की है, इसका स्पष्टीकरण कहीं नहीं किया है। अन्यों की सामग्री तो उदारता से ले ली है किन्तु उनका नामोल्लेख करने में अनुदारता का व्यवहार किया है। उनके संस्करण में सामग्री-संकलन को छोड़कर मूलपाठ से सम्बन्धित कोई मौलिक कार्य स्वामी जी का नहीं है। उक्त अनैतिक बिन्दुओं को यदि छोड़ दें तो इस संस्करण की टिप्पणियों में पर्याप्त ज्ञानवर्धक सामग्री का संकलन हुआ है, जो स्वाध्याय की दृष्टि से अति-उपयोगी है।

२२. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश—मार्च, सन् १९९५ में, 'आधुनिक हिन्दी भाषा में सत्यार्थप्रकाश का रूपान्तरण' के उद्घोष के साथ **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती** ने सत्यार्थप्रकाश का एक विचित्र संस्करण निकाला जिसमें सब कुछ उथल-पुथल, परिवर्तित-विकृत था, और ऋषि की भाषा में अनगिनत परिवर्तन और प्रक्षेप कर दिये। '**सत्यार्थप्रकाश का आधुनिक हिन्दी में रूपान्तरण**' शीर्षक रखके वे स्वयं निग्रह स्थान में फंस गये, क्योंकि किसी भाषा का उसी भाषा में कभी रूपान्तरण नहीं हुआ करता। उन्होंने अति स्वेच्छाचारिता से बहुत कुछ बदला है और कष्टदायक बात यह है कि उसका कोई परिचय कहीं भी पाठकों को नहीं दिया। उन्होंने अपने आग्रह के आधार पर, तर्करहित रूप से, 'कर्मफल', 'नियोग' जैसे कई प्रसंग और श्लोक तथा उनके अर्थ निकाल दिये, अनेक श्लोकार्थों में ग्रन्थकार ने जो अध्याहार से व्यापक अर्थ किये थे, उनको बदल डाला। ऐसे-ऐसे वाक्य अपनी ओर से जोड़ दिये जो सत्यार्थप्रकाश में नहीं थे। कुछ स्थानों पर जो वाक्य उन्होंने अपनी भाषा में बदल दिये वे ग्रन्थकार महर्षि के भाव के अनुरूप भी नहीं हैं। यों कहिये कि इनके संस्करण में जो भी हटाया या जोड़ा है वह इनकी अपनी रुचि के अनुसार अधिक, ऋषि की मान्यतानुसार कम है। इस प्रकार स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के ऋषिकृत मौलिक स्वरूप को आमूल-चूल विकृत कर दिया। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी का यह सारा सम्पादन संशोधन की कोटि में नहीं अपितु प्रक्षिप्त कोटि में आता है। भविष्य में कभी जब कोई सत्यार्थप्रकाश के ऋषिकृत स्वरूप को खोजेगा और उसके हाथ में स्वामी जगदीश्वरानन्द जी का सम्पादित सत्यार्थप्रकाश पड़ गया तो वह खोजता ही रह जायेगा कि असली सत्यार्थप्रकाश की भाषा कौन-से सत्यार्थप्रकाश की है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से स्वामी जगदीश्वरानन्द-सम्पादित 'सत्यार्थप्रकाश' अर्वाचीन रचना मानी जायेगी, क्योंकि उसमें भाषा भी ऋषि-युग की नहीं है और वर्तनियां भी नवीनतम हैं। यदि स्वामी जी अपने संस्करण का नाम 'सत्यार्थप्रकाश-सार' रख देते तो इन सब भ्रान्तियों के उत्पन्न होने की आशंका नहीं रहती। उक्त कारणों से पं० विशुद्धानन्द जी मिश्र के नेतृत्व में उनके संस्करण की पर्याप्त आलोचना हुई। परोपकारिणी सभा द्वारा जारी नोटिस और विद्वानों द्वारा समझाये जाने के बाद उन्होंने अपने संस्करण की दूसरी आवृत्ति प्रकाशित नहीं की। काल की विचित्र गति देखिए कि उन्हीं स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को उन्हीं पं० विशुद्धानन्द जी मिश्र ने उदयपुर संस्करण के सम्पादनार्थ गठित अपनी सम्पादन-समिति में रख लिया। उनके निवास 'वेदमन्दिर आश्रम, इब्राहीमपुर, दिल्ली' पर एक बार भेंट में जब इन पंक्तियों के लेखक ने उनसे उक्त चर्चा करते हुए पूछा कि ''क्या वे उदयपुर संस्करण की कार्यशैली

से संतुष्ट हैं ?'', तो उन्होंने कहा—''नहीं।'' उन्होंने कहा कि मेरे बताये आवश्यक पर्याप्त संशोधनों को स्वीकार नहीं किया गया है, मैं अपना पूर्ण संशोधित संस्करण पुनः प्रकाशित करूंगा। किन्तु ३१.१.२००९ को उनका देहान्त हो गया।

स्वामी जगदीश्वरानन्द जी द्वारा स्वेच्छाचारितापूर्वक परिवर्तित किये गये ऋषिपाठों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) **मूलपाठ**—''जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं। पारसमणि पत्थर सुना जाता है.....।'' (शोधसं० ५१३)

स्वामी जगदीश्वरानन्द का प्रक्षिप्त पाठ—''जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं **कि इसी देश की संस्कृति और सभ्यता से हमारा कल्याण होगा। जो पारसमणि पत्थर सुना जाता है...।''** (जग संस्करण पृ० २०२) स्थूलाक्षरों में दिया पाठ उनकी अपनी कल्पना से परिवर्धित है।

(आ) **मूलपाठ**—''ये **सात दोष** विद्यार्थियों के होते हैं।'' (शोधसं० २०१)

स्वामी जगदीश्वरानन्द—''ये **आठ दोष** विद्यार्थियों के होते हैं।'' (जग सं० ८५)

(इ) **मूलपाठ**—''पुरुषार्थ करना आ जाये। इत्यादि ब्राह्मण वर्णस्थों के काम हैं।'' (शोधसं० २०१)

स्वामी जगदीश्वरानन्द का प्रक्षिप्त पाठ—''पुरुषार्थ करना आ जाए। **पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना** इत्यादि ब्राह्मण वर्णस्थों के काम हैं।'' (जग सं० ८५)

(ई) **पाठनिष्कासन**—चतुर्थ समुल्लास के नियोग प्रकरण से बहुत सारा ऋषिपाठ (इस संस्करण में २०८/१५ से २१९/६ तक) बीच में ५-१० पंक्तियां छोड़कर स्वेच्छाचारिता से निकाल फेंका (जग सं० ८७)। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश में न केवल पाठान्तर, अपितु मतान्तर की दुःस्थिति उत्पन्न हो गई है। ग्रन्थ में कई पृष्ठों का अभाव भी हो गया और ऋषि-मान्यता के साथ अस्वीकृति भी प्रदर्शित कर दी कि मैं ऋषि की अमुक-अमुक मान्यता को नहीं मानता।

(उ) **प्रकरण निष्कासन**—नवम समुल्लास के अन्त में कर्मफलानुसार गति-प्राप्ति सम्बन्धी मनुस्मृति के ११ श्लोकों में से प्रथम और अन्तिम को छोड़कर नौ श्लोकों को अर्थसहित बाहर का रास्ता दिखा दिया (जग सं० पृ० १८८; शोधसं० ४७०-४७३) इससे न केवल महर्षि दयानन्द की मान्यता पर अपितु महर्षि मनु की मान्यता पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया। सत्यार्थप्रकाश में कई पृष्ठों के पाठ का अभाव तो हो ही गया।

(ऊ) स्वामी जगदीश्वरानन्द जी द्वारा स्वच्छन्दतापूर्वक किये गये पाठ-परिवर्तनों के कुछ उदाहरण ये भी हैं। ये परिवर्तन वस्तुतः 'प्रक्षेप' हैं, देखिये—

	ऋषिपाठ और शोधसं० की पृष्ठ संख्या	स्वामी जगदीश्वरानन्द जी द्वारा प्रक्षिप्त पाठ व पृष्ठ संख्या
१.	''(जीवन) प्राणधारण करना'' (३४७)	— ''(जीवन) जीवन कार्य वृद्धि, क्षत, प्ररोहण आदि'' (१३९)
२.	''सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से युक्त होगा और सब ब्रह्म को.....'' (३५५)	—''सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से युक्त होकर अज्ञानी और दुःखी हो जाएगा और सब ब्रह्म....।'' (१४३)
३.	''वहां अनेक प्रमाणों के विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन माननीय नहीं हो सकता है।'' (३६९)	—''वहाँ अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन सत्य नहीं हो सकता'' (१४६)

यह स्वेच्छाचारिता सैकड़ों स्थलों पर है। यदि स्वामी जगदीश्वरानन्द के परिवर्तनों को आंकड़ों में बताना पड़े तो उनके लिए यही कहा जायेगा कि वे '**अनगिनत**' हैं।

२३. आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री की सम्पादन और समीक्षा दृष्टि—सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण १८८४) के एक-एक अक्षर को ऋषिकृत मानकर उसमें उपलब्ध किसी भी पाठ के परिवर्तन के विरुद्ध शिथिल युक्ति-प्रमाणों के आधार पर अड़ने वाले सम्पादक और समीक्षक **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) की इस प्रकरण में सर्वाधिक चर्चित और विवादास्पद भूमिका रही है। सन् १९६६ में उनकी **'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा'** नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने परोपकारिणी सभा, स्वामी वेदानन्द जी, आचार्य उदयवीर जी शास्त्री, आदि द्वारा कृत संशोधनों का येन-केन-प्रकारेण विरोध के लिए कटु विरोध

किया है। पुस्तक घोर पूर्वाग्रह से युक्त, अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण और कपोल-कल्पनाओं पर आधारित है। लेखन की शैली साहित्यिक न होकर आर्यजनों का भावनादोहन कर उनको उकसाने-भड़काने की है। कटु एवं अपशब्दों का प्रयोग जी भर कर किया है। मेरी जानकारी के अनुसार, सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में यह पहली पुस्तक है जिसने 'साहित्यिक समीक्षा' का अवमूल्यन करके उसको वैयक्तिक निन्दा-आलोचना, विरोध-वैमनस्य के स्तर पर लाकर गिराया है और आर्यसमाज में 'असाहित्यिक समीक्षा शैली' का बीजारोपण किया है। सत्यार्थप्रकाश में संशोधन करने के कारण स्वामी वेदानन्द जी को 'गुरुद्रोही' तक घोषित करने में संकोच न करने वाले शास्त्री जी को यह भी स्मरण नहीं रहा कि उन्होंने सारी पुस्तक में अपने उन्हीं गुरु स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती के प्रति असभ्य शब्दों का प्रयोग करते-हुए और निराधार निन्दा—आलोचना करके स्वयं भी 'गुरुद्रोह' किया है। सत्यार्थप्रकाश में एक भी अशुद्धि न होने का दावा करने वाले, और '**भी**' पद को पाठ में बनाये रखने के समर्थन में अपनी पुस्तक में सात पृष्ठ लिखने वाले (पृ० ९३-१००) शास्त्री जी का घोर परस्परविरोध देखिए कि अन्यत्र उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पाठों में ११ गम्भीर अशुद्धियां बताकर उनके संशोधन की प्रेरणा दी है (स०प्र०, फोटोप्रिंट संस्करण, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, १९६७, प्राक्कथन पृष्ठ १९-२२)। शास्त्री जी ने यह नहीं सोचा कि उन्हें यदि ११ अशुद्धियां सूझी हैं तो किसी दूसरे को ११००, और किसी तीसरे को २२०० भी सूझ सकती हैं। यही कारण है कि प्रत्येक सम्पादक ने द्वितीय संस्करण में २५००-३००० तक संशोधन किये हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता पर निर्भर है कि वह त्रुटिशोध में कितना प्रवीण है।

शास्त्री जी की समीक्षा शैली भी विचित्र है। सत्यार्थप्रकाश में दो जगह ''**सत्यमेव जयते**'' (शोधसं० पृ० १०, १०४६) उद्धरण आया है। उनमें एक स्थान पर '**जयते**' तो दूसरे पर '**जयति**' अपपाठ है। सम्पादकों ने मूलग्रन्थ के आधार पर दूसरे स्थल पर भी '**जयते**' शुद्ध पाठ बना दिया। शास्त्री जी इस पर विलाप तो करते हैं कि ''**जयति**'' के स्थान पर ''**जयते**'' पाठ क्यों बना दिया, किन्तु त्रुटि की समस्या का समाधान कुछ भी नहीं बताते। सत्यार्थप्रकाश के लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के उद्धरणों में अपपाठ और पाठभेद मिलते हैं, उनमें लौकिक ग्रन्थों के उद्धरणों में जो पाठान्तर द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) में मिलते हैं, उनको लोग पाठभेद के कुतर्क का सहारा लेकर अपरिवर्तनीय बनाने का असफल प्रयास करते हैं, किन्तु वेदमन्त्रों के पाठों में जो दर्जनों अपपाठ और पाठान्तर मिलते हैं क्या वे भी अपरिवर्तनीय हैं? शास्त्री जी ने इस सैद्धान्तिक बिन्दु पर एक अक्षर भी लिखने का साहस नहीं किया। हो सकता है शास्त्री जी वेद में भी पाठान्तर मान बैठे हों!! अन्यथा वे '**प्रत्येक शब्द अपरिवर्तनीय है**' की प्रतिज्ञा को कैसे निभा पायेंगे? इस प्रतिज्ञा को आजतक तो कोई सम्पादक विद्वान् निभा नहीं सका है और न भविष्य में कोई निभा सकेगा।

मूलप्रति संस्करण के माध्यम से मूलप्रति हस्तलेख के महर्षिप्रोक्त पाठ प्रकट होने के उपरान्त यह सिद्ध हो गया है कि पाठों के विषय में शास्त्री जी के विचार और निर्णय केवल पूर्वाग्रहग्रस्त, कपोलकल्पित और गलत थे जबकि संशोधक सम्पादकों के सही थे। कुछ उदाहरणों के द्वारा हम इस कथन की पुष्टि कर सकते हैं—

(अ) संन्यास की संस्कृत-परिभाषा के हिन्दी-अनुवाद को संशोधकों ने त्रुटित बताकर उसमें आवश्यक पाठवृद्धि करके पाठ को पूर्ण बनाया। शास्त्री जी ने उस परिवर्धन को ''अण्ड-बण्ड'' लिखा। अब मूलप्रति में वही पूर्ण पाठ मिल गया है, तो सिद्ध हो गया है कि संशोधक सही थे, शास्त्री जी का कथन ''अण्ड-बण्ड'' था ('संशोधनों की समीक्षा' पृ० ३६-३८; शोधसं० पृ० २४३)।

(आ) द्वितीय संस्करण में नवम समुल्लास में (शोधसं० पृ० ४४२-४४३) एक संस्कृत उद्धरण के हिन्दी अनुवाद में ''**अप्रसन्नता**'' पद त्रुटित है। स्वामी वेदानन्द जी आदि संशोधकों ने उसको मूलग्रन्थ से ग्रहण कर लिया। शास्त्री जी ने अपनी पुस्तक में तीन पृष्ठ लिखकर इसका विरोध किया (पृ० ४९-५१)। अब वही पद मूलप्रति-हस्तलेख में मिल गया है। मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर की भूल से वह पद लिखना रह गया था। वही त्रुटित पाठ द्वितीय संस्करण में छप गया। इस यथार्थ के प्रकट होने के बाद सिद्ध हो गया कि शास्त्री जी की समीक्षा कपोलकल्पित और अशुद्ध थी। उन्होंने त्रुटित पाठ पर अड़ने-भिड़ने में व्यर्थ श्रम किया और अल्पपठित लोगों को भ्रमित किया।

ऐसे अन्य अनेक उदाहरण पाठकों के इस ग्रन्थ की टिप्पणियों में पढ़ने को मिलेंगे।

शास्त्री जी इस रहस्य पर चिन्तन नहीं कर पाये कि १२, १३, १४ समुल्लास ऋषि के लेखकों द्वारा संकलित हैं, उनमें केवल समीक्षा ऋषिप्रोक्त है। इसी कारण द्वादश समुल्लास में श्लोकार्थों और जैन गाथाओं के अर्थों में अप्रत्याशित अशुद्धियां हैं। गाथा संख्या १०९ ''**तिहुअण जणं.....**'' का अर्थ अशुद्ध है। संकलनकर्त्ता की असावधानी से १०९ के स्थान पर ११९ गाथा का अर्थ लिख दिया गया। शास्त्री जी भी इस त्रुटि को स्वीकार करते हैं किन्तु चाहते हैं कि इसको शुद्ध न किया जाये। अर्थात् ऋषिग्रन्थ में किसी लेखककृत अशुद्धि को बनाये रखने को वे 'ऋषि-गौरव' की बात समझ बैठे हैं। इस अशुद्ध अर्थ का संशोधन करने वालों पर उन्होंने शब्दकोश के सारे कटु शब्द उंढेल दिये—''ऋषिग्रन्थों का बिगाड़, ऋषि पराङ्मुखता की पराकाष्ठा, आर्य संसार के गुरु का द्रोह'' आदि (पृ० ५८)। वैदिक विद्या-शिक्षा ऐसे विद्वानों का बाल भी बांका नहीं कर पाई। शास्त्री जी के अन्य कथन भी इसी प्रकार के अति विचित्र और दुराग्रह पूर्ण हैं। एकादश समुल्लास में '**बाइबल इन इंडिया**' के लेखक का नाम '**गोल्डस्टकर**' किसी कारण अशुद्ध लिखा गया है जबकि शुद्ध नाम '**जैकालियट**' है। इस ऐतिहासिक तथ्याधारित अशुद्धि को शुद्ध करने पर बेतुकी आपत्ति करते हुए शास्त्री जी कहते हैं कि 'गोल्डस्टकर' ही रहना चाहिए। इसमें उनकी अद्भुत युक्ति है—'हो सकता है 'गोल्डस्टकर' का इस पुस्तक से कोई सम्बन्ध रहा हो।' पाठकगण! बात लेखक की हो रही है और शास्त्री जी 'सम्बन्धी' ढूंढ रहे हैं! इस पुस्तक ने बहुत से भावुक श्रद्धालु लोगों को भ्रम में डालकर पूर्वाग्रहग्रस्त किया है। इसी कारण इस संस्करण में उसकी बहुत्र समीक्षा की गई है।

शास्त्री जी ने 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली' को उत्प्रेरित करके अपने सम्पादकत्व में द्वितीय संस्करण (सन् १८८४) की ५००० फोटोप्रतियां छपवा डालीं, जिसका प्राक्कथन स्वयं आचार्य जी ने लिखा है। जबकि यह सत्यार्थप्रकाश का भ्रष्टतम संस्करण है, जो अपूर्णताओं और अशुद्धियों से भरा पड़ा है। इसमें लिपिकरों-शोधकों के प्रमाद से वर्तनी, पाठत्रुटि तथा अपपाठ, मुद्रण आदि सम्बन्धी त्रुटियां ४००० से ४५०० के लगभग हैं जिनमें से १४७ का तो उसी में शुद्धाशुद्धि पत्र संलग्न है। बाद के संस्करणों में सैकड़ों अशुद्धियों का संशोधन किया जा चुका है। प्रश्न उठता है कि आदिम अशुद्ध प्रति का सम्पादन करके शास्त्री जी ने 'सत्यार्थप्रकाश' का अहित किया अथवा हित? मेरे विचार से उन्होंने कुछ समय के लिए ट्रस्ट की गाड़ी को सही ट्रैक से उतार डाला था। यह संस्करण यदि इतना ग्राह्य होता तो आज सारे प्रकाशक उसी को छाप रहे होते, किन्तु यह सत्य है कि शास्त्री जी को छोड़कर आज तक दोबारा उसको छापने का किसी ने नाम भी नहीं लिया। आश्चर्य तो यह है कि उस फोटोप्रिंट में भी कुछ संशोधन किये गये हैं। भला, क्यों? कोई तो उसके परित्याग का भयावह कारण होगा ही? भला हो प्रकाशक लाला दीपचन्द जी का कि उनको शीघ्र ही यथार्थ स्थिति का बोध हो गया और उन्होंने फिर कभी उस संस्करण को छापने का नाम नहीं लिया, अपितु २०००-२५०० अशुद्धियों का संशोधन करके सत्यार्थप्रकाश का संशोधित संस्करण छापना स्वीकार किया।

शास्त्री जी की प्रत्येक बात निराली है, वे ऋषि के मक्कार लेखकों पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन शर्मा पर बड़े कृपालु हैं। कहते हैं—''लोगों ने पं० भीमसेन तथा पं० ज्वालादत्त को अपनी ओर से छली-कपटी लिखना आरम्भ कर दिया है'' और ''उनका पाण्डित्य आज के संशोधक महाशयों से निस्संदेह ऊंचा था।'' (सत्यार्थप्रकाश, फोटोप्रिंट, प्राक्कथन, पृ० १५) शायद, शास्त्री जी ने ऋषि का पत्र-व्यवहार नहीं पढ़ा। यदि पढ़ा होता तो वे ऋषि के विरोध में जाकर उन लेखकों की अनुचित प्रशंसा नहीं करते। महर्षि ने निन्दा करते हुए स्पष्ट शब्दों में '**भीमसेन**' को बालक, अयोग्य, ढीली भाषा लिखने वाला, बहुत त्रुटि करने वाला, बकवृत्ति, मार्जारलिंगी, काम के अयोग्य, बुरे स्वभाव का, आर्यसमाज में रखने के अयोग्य आदि लिखा है। **ज्वालादत्त** को विक्षिप्त पुरुष, कामचोर, गलतियां छोड़नेवाला, दम्भी, क्रोधी, हठी, स्वार्थ साधन तत्पर, भाषा अच्छी न बनाकर घास काटनेवाला, अन्यथा भाषा बनानेवाला, लिखा है। (द्रष्टव्य 'मीमांसा भाग' पृ० २७)। ये शब्द महर्षि के हैं, आजकल के लोगों के नहीं। महर्षि स्वयं जिनकी निन्दा कर रहे हैं, शास्त्री जी महर्षि के विरुद्ध जाकर उन्हीं नौकरों की प्रशंसा कर रहे हैं। पाठक देखें कि यह कैसी ऋषिभक्ति है!! आजकल तो उदयपुर में उनको ''**सश्रद्ध नमन**'' करने वाले उनके नये मेहरबान कद्रदान भी प्रकट हो गये हैं। शास्त्री जी का विचित्र तर्क है कि 'ऋषि को ही अपने लेखकों की निन्दा करने का अधिकार है, हमको नहीं।' फिर तो यह भी मान लेना चाहिए कि अपने ग्रन्थों में जो खण्डन ऋषि ने किया है उस खण्डन का अधिकार भी उनको ही था, हमको

नहीं; अर्थात् आलोचना का भी रिजर्वेशन कर दिया शास्त्री जी ने।

इन लेखकों पर कृपालु शास्त्री जी आगे घोर-परस्पर-विरोधी यह बात लिखते हैं—''हाँ, उक्त दोनों पंडितों को प्रूफ रीडिंग का पूर्व अभ्यास नहीं था। शतशः अशुद्धियां अक्षर, मात्रा की रह गई हैं।'' (वही, पृ० १५) शास्त्री जी यदि जीवित होते तो हम उनको ध्यान दिलाते कि '**आचार्य जी! एक ओर तो आप एक भी अक्षर न बदलने की बात लिख रहे हैं, दूसरी ओर सैकड़ों अशुद्धियां भी होना स्वीकार कर रहे हैं, यह घोर परस्परविरोधी कथन क्यों कर रहे हैं?** और 'सत्यार्थप्रकाश' महर्षि का अन्तिम प्रकाशन है। उससे पूर्व दर्जनों प्रकाशन इन पंडितों के निरीक्षण में छपे हैं तो दर्जनों प्रकाशनों में भी उन लेखकों का प्रूफ रीडिंग का पूर्व अभ्यास नहीं हो पाया? फिर ऊंचा पांडित्य क्या खाक हुआ? छोड़ी गई अशुद्धियों में की गई मक्कारी को छिपाने के लिए लेखकभक्त शास्त्री जी उनका कितना बचाव कर रहे हैं! देखिए, महर्षि तो उनको मक्कार लिख रहे हैं और शास्त्री जी उनको ईमानदार सिद्ध कर रहे हैं!! ठीक है, किसी पर कृपा ही करनी हो तो ऐसे ही खुले दिल से उंडेल देनी चाहिए, थोड़ी-बहुत कृपा भी क्या कृपा है!

शास्त्री जी यदि आज जीवित होते तो देखते कि जिस सत्यार्थप्रकाश के शब्दों को उन्होंने अपरिवर्तनीय ठहराने जैसी भावुक अथवा पूर्वाग्रहपूर्ण प्रतिज्ञाएं-स्थापनाएं की थीं, वे स्थापनाएं आज चिन्दी-चिन्दी होकर बिखर रही हैं। जैसे, आज उस सत्यार्थप्रकाश में कई हजार संशोधन हो चुके हैं। तब अवश्य वे सोचते कि मुझे पूर्वाग्रहप्रेरित और कल्पनाधारित स्थापनाएं करके श्रद्धालु पाठकों को भ्रमित नहीं करना चाहिए था। तर्कहीन श्रद्धा 'अन्धश्रद्धा' के अन्तर्गत आती है और उससे बहुत हानि होती है। वैसी ही हानि शास्त्री जी की पुस्तक से हुई है। सत्यार्थप्रकाश का शुद्धतम संस्करण तैयार करने की दिशा में, शास्त्री जी को एक 'तर्कहीन बाधक व्यक्ति' के रूप में याद किया जायेगा। आर्यजगत् के सभी सुधीजन यह भी जानते हैं कि ऋषि-सिद्धान्तों की दृष्टि से शास्त्री जी की गाड़ी अन्तिम अवस्था में पटरी से कैसे उतर गई थी। कोरी भावुकता का कभी-कभी ऐसा ही परिणाम निकलता है।

२४. डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार की समीक्षा दृष्टि—आदरणीय डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार ने किसी 'सत्यार्थप्रकाश' का सम्पादन तो नहीं किया किन्तु उन्होंने १-१० समुल्लासों के चयनित कुछ (११२) पाठों पर समीक्षा लिखी है, जो '**दयानन्द सन्देश**' पत्रिका के '**सत्यार्थप्रकाश समीक्षा विशेषांक**' अक्तूबर १९९५ के रूप में छपी है। मुझे यह अंक इस शोधसंस्करण के द्वितीय प्रूफ निरीक्षण के समय उपलब्ध हो पाया, अतः इस संस्करण में उनकी प्रत्येक समीक्षा पर स्वमत प्रस्तुत नहीं कर सका, फिर भी कुछ स्थलों पर अपनी समीक्षा को प्रस्तुत किया है।

यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि डॉ० साहब को समीक्षा के लिए आवश्यक न तो पांडुलिपियां देखने को मिल पाईं और न विविध संस्करण, अतः उनकी समीक्षा एक सीमित आधार पर और संकीर्ण दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुई है। उनके द्वारा दोनों संस्करणों के पाठों के निर्धारित ग्राह्य-अग्राह्य प्रतिशत से भी सहमत नहीं हुआ जा सकता। उसके कई कारण हैं— **एक,** जब तक सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश के स्थलों की ग्राह्यता-अग्राह्यता का निर्णय न हो जाये तब तक सही प्रतिशत नहीं निकाला जा सकता। **दो,** डॉ० साहब ने पांडुलिपियों का अवलोकन नहीं किया है, उसके कारण उन्हें मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित-विकृत हुए पाठों का ज्ञान नहीं हो सका। **तीन,** डॉ० साहब का ध्यान अनेक महत्त्वपूर्ण अशुद्ध पाठों, जो मुद्रणलिपिकरों-शोधकों के कारण विकृत हुए हैं, उनकी ओर नहीं गया। **चार,** जब उन्होंने शुद्धाशुद्धि के आधार पर किसी पांडुलिपि या किसी संस्करण के पाठों की ग्राह्यता-अग्राह्यता मानी है तो उसमें अमुक संस्करण में अधिक ग्राह्य पाठ हैं और अमुक में कम हैं, यह आधार ही निरर्थक हो जाता है, क्योंकि उस कार्य में प्रतिशत का महत्त्व ही नहीं रहता। तब केवल उस संस्करण-विशेष को ही ग्रहण करने का लक्ष्य सामने रहता है। वस्तुस्थिति यह है कि अपने मूलस्वरूप में न मूलप्रति और मूलप्रति संस्करण सर्वांश में शुद्ध है और न मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण सर्वांश में शुद्ध हैं, फिर किसी एक संस्करण का पक्ष विशेषतः क्यों पोषित किया जाये?

''**ऊर्ध्वबाहुः विरोम्येषः**'' की शैली में जाने-अनजाने डॉ० साहब से एक अनर्थकारी कथन लिखा गया है, जिसको द्वितीय संस्करण के पक्षधर विद्वान् 'वेदवाक्य' के समान बार-बार उद्धृत कर महर्षि दयानन्द का खुल्लमखुल्ला उपहास और अपमान कर रहे हैं। वह आपत्तिजनक अनुच्छेद है—

''हे देव दयानन्द! तुम यदि देख पाते कि तुम्हारे सत्यार्थप्रकाश की कैसी मिट्टी पलीत हो रही है, तो तुम रो पड़ते, और यदि प्रतिकार करने में समर्थ होते तो उसी हुंकार तथा सिंहगर्जना के साथ मैदान में उतर आते जिसके साथ तुम मूर्तिपूजा के विरुद्ध लड़े थे। तुमने यह कभी नहीं कहा कि गलत शब्दों को मेरा मान कर उनकी पूजा करो। पर हो तो यही रहा है। तुमने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि तुम्हारे किये-कराये हुए सही संशोधन प्रतिलिपिकर्त्ता की मिलावट कहकर ठुकरा दिये जायेंगे और तुम्हारी प्रथम पाण्डुलिपि की रफ तथा गलत इबारत को भी रत्न मानकर संजोया जाने लगेगा।'' (दयानन्द सन्देश, पृष्ठ ९)

डॉ० साहब के इस वाक्य के क्या-क्या अनर्थ निकलते हैं, पाठक पहले उन पर जरा गम्भीरता से विचार करें। वे हैं कि 'महर्षि द्वारा अपने मुख से बोलकर लिखाई गई और दो बार अपने हाथ से शुद्ध की गई 'मूलप्रति' '**गलत इबारत**'=गलत लेखयुक्त है, अर्थात् उसमें महर्षि ने गलत शब्द लिखाये हैं। और जिसको डॉ० साहब '**देव**' संज्ञा से विभूषित कर रहे हैं, जिसको वे '**ऋषि**' पदवी से अलंकृत कर रहे हैं, उस ऋषि दयानन्द को न शुद्ध लिखाना आता था और न अपने लिखाये को शुद्ध करना आता था अर्थात् दो बार उनके अपने हाथों से शुद्ध करने के बाद भी ऋषि दयानन्द प्रोक्त मूलप्रति गलत लेखन से भरी '**गलत इबारत**' ही रह गई!! यह ऐतिहासिक सत्य है कि महर्षि ने अपनी प्रोक्त प्रति को पहले दो बार शोधा था, फिर उससे मुद्रणप्रति का निर्माण भी अपने सामने कराया था, तब तो दयानन्द न तो अपनी गलतियों पर रोये, और न अपनी गलतियों पर हुंकार भरी; हाँ, आज दयानन्द होते तो सबके बीच खड़े होकर अपनी गलत भाषा पर रोते, और मूर्तिपूजा के विरोध की तरह सार्वजनिक रूप से सिंहगर्जना करके घोषणा करते कि 'देखो, मैंने कितनी अशुद्धियां लिखाई हैं, और न मैं शुद्ध बोल सकता हूं, न गलत लिखे को शुद्ध कर सकता हूं, मुझसे अधिक शुद्ध बोलने-लिखने वाले तो मेरे नौकर=लिपिकर-शोधक हैं, आप लोग उनकी भाषा को प्रामाणिक मानो, मेरी भाषा को नहीं।' डॉ० साहब का यह भी कहना है कि ऋषिप्रोक्त भाषा को स्वीकार करना 'सत्यार्थप्रकाश की मिट्टी पलीद करना' है। डॉ० साहब का यह कथन भी गलत है कि 'मुद्रणप्रति में सारे परिवर्तन ऋषि ने कराये हैं।'

डॉ० साहब यह क्या लिख गये आप? क्या अपने लिखे पर कभी आपने दोबारा चिन्तन किया है? एक बार कीजिये तो सही। इतना अयोग्य तो एक साधारण लेखक भी नहीं होता जितना आपने ऋषि दयानन्द को घोषित कर दिया!! अपने मुख से बोलकर लिखाये और फिर दो बार अपने हाथ से शोधे अपने लेखन पर जिसे रोना पड़े, क्या ऋषि दयानन्द ऐसे मूर्ख कोटि के व्यक्ति थे? ऋषि कहे जाने वाले स्वामी दयानन्द पर इससे बढ़कर निम्न आरोप और क्या हो सकता है? क्या कोई अपनी गलतियों पर भी हुंकार भरा करता है? डॉ० साहब! जितना गम्भीर विलाप आपने किया है इतना गम्भीर अन्तर तो दोनों प्रतियों में कहीं है भी नहीं। पाठकों को बता दूं कि आर्य विद्वान् दोनों संस्करणों में पाये जाने वाले कुल एक-डेढ़ प्रतिशत शब्दान्तरों पर ही लड़ रहे हैं। यदि रोने का उपक्रम करना भी पड़े तो वह लिपिकरों द्वारा विकृत की गई '**मुद्रणप्रति**' पर करना पड़ेगा। इसके प्रमाण आप अगले अध्याय में पढ़ लीजिए।

द्वितीय संस्करण के पक्षधर लेखक-पाठक पं० जी द्वारा लिखित उक्त कथन की रट इस प्रकार लगा रहे हैं जैसे महर्षि के लिए यह अद्भुत प्रशंसा-वाक्य लिखा गया हो। वे इस वाक्य के अनर्थकारी आशय को अभी तक समझ ही नहीं समझ पा रहे हैं कि ऐसा कहके वे उसी श्रद्धेय को महा-अज्ञानी, महा-अयोग्य घोषित कर रहे हैं जिसके वे स्वयं को 'अनुयायी' और 'भक्त' कहते हैं। क्या कोई अपने श्रद्धेय की इस प्रकार खुल्लमखुल्ला खिल्ली उड़ाया करता है? परमात्मा ऐसे लोगों को सद्बुद्धि प्रदान करे।

दूसरा तथ्य यह है कि ऋषि दयानन्द द्वारा बोलकर लिखाई गई कोई पुस्तक '**गलत इबारत**' नहीं हो सकती। और यह वही मूलप्रति है जिसको आधार बनाकर सत्यार्थप्रकाश के सम्पादक द्वितीय संस्करण के पाठों का संशोधन सवा-सौ वर्षों से करते आ रहे हैं। सर्वप्रथम, पांचवीं आवृत्ति में पं० लेखराम जी ने किया था, फिर परोपकारिणी द्वारा गठित चार-पांच उपसमितियों ने किया, पं० भगवद्दत्त जी ने किया और नवीनतम संशोधन उदयपुर संस्करण (सन् २०१०) में पं० विशुद्धानन्द जी मिश्र ने किया। उदयपुर संस्करण में तो परम्परागत रूप से सवा-सौ वर्षों से चले आ रहे द्वितीय संस्करण (१८८४) के दो-सौ पाठों का परित्याग करके उनके स्थान पर मूलप्रति के पाठों को ग्रहण किया है। इतने

महत्त्वपूर्ण मूल आधार 'मूलप्रति' को '**गलत इबारत**' कैसे कहा जा सकता है ? आज तक किसी भी अन्य आर्य विद्वान् ने उसको '**गलत इबारत**' नहीं कहा है।

तीसरा तथ्य यह है कि मूलप्रति और उस पर आधारित मूलप्रति संस्करणों में २०००-२५०० समग्र अशुद्धियां हैं, तो उससे अधिक ३०००-३५०० अशुद्धियां मुद्रणप्रति में है, और उससे अधिक ४०००-४५०० समग्र अशुद्धियां द्वितीय संस्करण (१८८४) में विद्यमान हैं। आंकड़े बताते हैं कि तीनों आद्य प्रतियों में सर्वाधिक कम अशुद्धियां मूलप्रति और उस पर आधारित मूलप्रति संस्करण में हैं। फिर द्वितीय संस्करण (१८८४) सबसे '**गलत इबारत**' क्यों नहीं ? और मूलप्रति से अधिक '**गलत इबारत**' मुद्रणप्रति क्यों नहीं है ? क्या इन आंकड़ों को पढ़कर आप अपने पूर्वकथन में संशोधन करने का साहस करेंगे ? अशुद्धियों के उदाहरण इस 'मीमांसा भाग' और टिप्पणियों में प्रदर्शित किये हुए हैं।

चौथा यह तथ्य आपके ध्यान में लाना चाहता हूं कि द्वितीय संस्करण के प्रत्येक सम्पादक-प्रकाशक ने अपने-अपने संस्करण में २५००-४५०० परिवर्तन-संशोधन कर लिये हैं। आज लोग द्वितीय संस्करण के नाम का ढोल तो पीटते हैं, उस पर दुराग्रह भी करते हैं, उस पर आर्यों को बरगलाने के लिए राजनीति भी करते हैं, किन्तु उसको यथावत् रूप में कोई भी प्रकाशित नहीं करता। डॉ० साहब उन लोगों से पूछें तो सही कि जो लोग द्वितीय संस्करण को ऋषि के जीवनकाल में छपा कहते हैं, जो लोग उसको 'आधार प्रति' कहते हैं वे उसको यथावत् क्यों नहीं प्रकाशित करते और क्यों नहीं उसको यथावत् प्रकाशित कराने की सार्वजनिक घोषणा या प्रेरणा करते ? क्यों उसमें हजारों परिवर्तन कर चुके हैं ?

द्वितीय संस्करण के पक्षधर ईमानदारी से क्या यह दावा कर सकते हैं कि आज जो द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है वह वस्तुत: ऋषिकालीन द्वितीय संस्करण है। हजारों संशोधनों के बाद भी कोई पुस्तक अपने मूलस्वरूप की कैसे रह सकती है ? सच यह है कि सम्पादकों ने अपने मन से, अपने-अपने संस्करण में हजारों संशोधन कर लिये हैं जिसके कारण आज जितने भी द्वितीय संस्करण उपलब्ध हैं वे उतने ही भिन्न-भिन्न सत्यार्थप्रकाश हैं, न उनके पाठ परस्पर मिलते हैं और न एक सम्पादक-प्रकाशक के अपने सभी संस्करण परस्पर मिलते हैं। इस प्रकार तो आप जैसे विद्वान् यदि भाषा-संशोधन करेंगे तो निश्चय ही उस सत्यार्थप्रकाश की भाषा अद्यतन और शुद्धतम होगी, किन्तु वह द्वितीय संस्करण (१८८४) की मूल भाषा नहीं कहायेगी। शुद्धाशुद्धि का प्रतिशत यदि निकालना चाहते हैं तो 'मूलप्रति' और 'मूल द्वितीय संस्करण (१८८४)' की मूलभाषा की परस्पर तुलना करके निकालिये और उसमें भी लिपिकरकृत पाठों को अलग रखिये। हो सकता है तब डॉ० साहब "**हे देव दयानन्द!**" वाला विलाप-वाक्य लिपिकरों की भाषा से मिश्रित द्वितीय संस्करण (१८८४) पर चरितार्थ करना अधिक उपयुक्त समझें! डॉ० साहब! अभी तो अपने श्रद्धेय ऋषि की मूल भाषा पर ही विलाप कर रहे हैं!!

मैं डाक्टर साहब के संज्ञान में एक तथ्य और लाना चाहता हूँ, वह यह है कि आपके द्वारा शुद्ध सुझाये गये पर्याप्त पाठों को परोपकारिणी सभा के नये संस्करण में ग्रहण कर लिया है, जबकि किसी भी द्वितीय संस्करण ने आपके शोधित पाठों को ग्रहण नहीं किया है, उस संस्करण ने भी नहीं जिसके लिए आपने उक्त समीक्षा लिखी है। इस स्थिति में आप स्वयं निर्णय कर लें कि सत्यार्थप्रकाश की '**गलत इबारत**' को संजोकर रखने का असली जिम्मेदार कौन है।

अन्त में यही निवेदन करना उचित रहेगा कि डॉ० साहब आपकी समीक्षा एकांगी और नवीन संशोधित संस्करणों के आधार पर है। आप उस पर पुनर्विचार करें और समग्र पक्षों का अवलोकन करके समीक्षा करें। आप सदृश वरिष्ठ विद्वान् को गलत निष्कर्षों के साथ स्वयं को नहीं जोड़ना चाहिये। अपनी गलत समीक्षा का एक उदाहरण देखिए—

मूलप्रति में आगे उद्धृत पुनरुक्त पाठ नहीं है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति तैयार करते समय प्रमाद से अन्य अनेक पुनरुक्त पाठों की तरह इसको लिख दिया। जब उसे पुनरुक्ति का ध्यान आया तो उसको काटने के बजाय अन्त में अपनी ओर से एक नया वाक्य जोड़ दिया—"**कुलों के कुल नष्ट हो जायें।**" आश्चर्य है, एक साधारण पाठक को भी स्पष्ट पुनरुक्ति दोष से युक्त प्रतीत होने वाला यह वाक्य डॉ० साहब को वैशिष्ट्यपूर्ण लगा—"**महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें....महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु**

होकर कुलों के कुल नष्ट हो जायें'' (द्विप्र० १२०; शोधसं० २२०)। पाठक ध्यान दें कि यदि यह परिवर्तित पाठ मौलिक होता तो **''कुलों के कुल नष्ट हो जायें''** वाक्यखण्ड **''शीघ्र-शीघ्र मर जायें''** के बाद ही जोड़ने से उचित, संक्षिप्त, सारगर्भित पूर्ण वाक्य बन जाता। इस एक वाक्यखण्ड के लिए सारे पहले वाक्य की पुनरुक्ति करना प्रमादवाक्य है। अत: डॉ० साहब का इस विषयक मन्तव्य अयुक्तियुक्त है।

एकपक्षीय सुझाव होते हुए भी डॉ० साहब की समीक्षा का कई दृष्टियों से महत्त्व है। उनकी समीक्षा चिन्तनपूर्ण है और उन्होंने इस विचार को आगे बढ़ाया है कि कोई भी एक संस्करण/ पांडुलिपि अपने आप में पूर्ण और सर्वांग शुद्ध नहीं है, और सर्वांग शुद्ध संस्करण तो दोनों संस्करणों के शुद्ध पाठों के ग्रहण और अशुद्ध पाठों के त्याग से ही निर्मित हो सकता है। डॉ० साहब की समीक्षा में यह भी संदेश निहित है कि विद्वानों को किसी एक ही संस्करण के प्रति पूर्वाग्रह रखकर शोध-कार्य नहीं करना चाहिये अपितु जिस संस्करण में जो शुद्ध पाठ है उनको ग्रहण करके सत्यार्थप्रकाश का शुद्धतम संस्करण प्रकाशित करना चाहिये।

इस ग्रन्थ में कुछ स्थलों पर आदरणीय डॉ० साहब के समीक्षा-निष्कर्षों की समीक्षा की गई है और उन विषयक सहमति या असहमति प्रस्तुत की गई है। पाठक उनको यथास्थान टिप्पणियों में देखें और उसको केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से ग्रहण करें, वैयक्तिक दृष्टि से नहीं।

२५. उदयपुर संस्करण (२०१०) की समीक्षा—'परोपकारिणी सभा अजमेर' की ओर से, ऋषिप्रोक्त और ऋषिसंशोधित 'मूलप्रति' पर मुख्यत: आधारित ३७, ३८ संस्करण प्रकाशित होने के उपरान्त, सन् २००४ में **'कब तक मौन रहेंगे'** नामक पुस्तक प्रकाशित और वितरित करके तथा अन्य लेख लिखकर और गोष्ठियां करके 'सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर' ने महर्षि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी और स्थानापन्न परोपकारिणी सभा अजमेर के विरुद्ध आर्यसमाज में विरोध और कलह का वातावरण निर्मित करने की सुनियोजित पहल की थी। देखा जाय तो यह प्रत्यक्ष में भले ही परोपकारिणी सभा का विरोध था किन्तु परोक्ष में ऋषि दयानन्द का विरोध था, क्योंकि उदयपुर न्यास जिसका विरोध कर रहा था, और अब भी कर रहा है वह तो महर्षि के मुख से प्रकट हुई और उनके कर कमलों से दो बार संशोधित उनकी दुर्लभ ऐतिहासिक वाणी है। उसका विरोध ऋषि का विरोध ही है। स्पष्ट है कि उदयपुर मण्डली अपने झूठे अहं और स्वार्थ के कारण ऋषि-विरोध के पाप में संलग्न है।

परोपकारिणी के संस्करण की प्रतिक्रिया में, सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर ने अपनी स्थापना के २०-२५ वर्षों के कार्यकाल में जुलाई २०१० में, अपना एकमात्र पहला सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित किया जो परस्परविरोधों और विवादों का केन्द्र बन गया। उस संस्करण में प्रतिज्ञाविरुद्ध, अव्यवस्थित, दोषपूर्ण और एकांगी सम्पादन होने से उसकी समीक्षा में मैंने, परोपकारिणी सभा के ३७वें संस्करण के सम्पादक श्री विरजानन्द दैवकरणि ने तथा आधा दर्जन अन्य विद्वानों ने 'परोपकारी' पत्रिका में कई लेख लिखे, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया तो होनी ही थी। उदयपुर संस्करण से सम्बद्ध चार लेखकों ने उन लेखों के अशुद्ध, तर्क-प्रमाण रहित, परस्पर-विरुद्ध, वितण्डापूर्ण, असभ्य उत्तर दिये, उनके कारण यह साहित्यिक संवाद 'विवाद' और 'विरोध' में परिवर्तित हो गया।

उदयपुर मण्डली ने हमारे साहित्यिक लेखों का साहित्यिक उत्तर न दे सकने पर हमारे विरुद्ध अनर्गल विषवमन करना शुरू कर दिया और दर्जनों लेख हमारे विरोध में लिखे। 'न्यास' ने फिर उन लेखों को पुस्तकाकार रूप में छपवाया और फिर उस पुस्तक की खैरात सर्वत्र बांटते फिरे। वस्तुत: यह पुस्तक ऋषि-विरोध, वितण्डा, विलाप, असभ्यता, निन्दा, हठ, विषयान्तर लेखन और परस्परविरुद्ध अशुद्ध उत्तरों का जीता-जागता दस्तावेज है, जो जीवन-भर याद आ-आ कर इन लेखकों और न्यास के अधिकारियों को कचोटता रहेगा। अशुद्धियों और असभ्यता से भरी इस पुस्तक से पाठक दिग्भ्रान्त न हों और उनमें सत्यार्थप्रकाश विषयक अशुद्ध व्याख्याओं से भ्रम उत्पन्न न हो, इस कारण इस संस्करण में प्रकाशक के विशेष आग्रह पर उदयपुर संस्करण की यथास्थान समीक्षा की गई है।

जब उदयपुर संस्करण प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में आया तब मेरे संस्करण का दूसरा प्रूफ देखा जा चुका था। उपर्युक्त परिस्थितियों के दृष्टिगत और प्रकाशक के विशेष आग्रह पर आवश्यक स्थानों पर उदयपुर सं० की समीक्षा

को संयुक्त करना पड़ा, जैसे कि पहले से अन्य प्रमुख संस्करणों की समीक्षा विद्यमान थी। उदयपुर संस्करण की समीक्षा को संयुक्त करना इस कारण भी आवश्यक समझा गया क्योंकि इसको कथित रूप से दस सम्पादकों द्वारा सम्पादित संस्करण बताकर पाठकों पर यह प्रभाव छोड़ने का सुनियोजित प्रयास किया गया है कि यह अधिकतम विद्वानों द्वारा स्वीकृत संस्करण है। स्पष्ट है कि उसका पाठकों पर प्रभाव-दुष्प्रभाव भी अधिक होगा। इस कारण उसकी वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रखना आवश्यक हो गया।

(अ) व्यावहारिक प्रश्न—'उदयपुर संस्करण' के सम्पादन के सम्बन्ध में और उसकी कार्यशैली पर जो प्रश्न हमने उठाये वे निम्नप्रकार थे—

१. दिनांक १.३.२००५ को, विचार-विमर्श के उपरान्त, 'सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर' के कार्यालय में, सत्यार्थप्रकाश के सम्पादन के लिए जो विद्वानों की समिति गठित हुई थी उसका लक्ष्य था सर्वस्वीकार्य एकमात्र, शुद्धतम सर्वांगपूर्ण संस्करण तैयार करना। यही न्यास का पूर्व घोषित लक्ष्य था। न्यास ने उस लक्ष्य को छोड़कर केवल द्वितीय संस्करण को लक्ष्य में रखकर एकपक्षीय कार्य किया। इस प्रकार उदयपुर का यह संस्करण लक्ष्यभ्रष्ट है। जो कार्य न्यास को नहीं करना था, अपने पूर्वाग्रह के कारण वह किया-कराया गया है और अपने अहं को संतुष्ट करने के लिए आर्यविद्वानों में एक दुर्भाग्यपूर्ण विवाद को निर्मित किया है।

२. उदयपुर संस्करण में यह घोषणा की गई है कि यह संस्करण दस विद्वानों की सम्पादक-समिति द्वारा सम्पादित है। वे हैं—१. आचार्य विशुद्धानन्द जी मिश्र (अध्यक्ष), २. डॉ० रघुवीर जी वेदालंकार (संयोजक), ३. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती, ४. डॉ० सुदर्शनदेव जी आचार्य, ५. पं० राजवीर जी शास्त्री, ६. डॉ० भवानीलाल जी भारतीय, ७. आचार्य वेदव्रत जी शास्त्री (रोहतक), ८. श्री धर्मसिंह जी कोठारी, ९. डॉ० जयदेव जी आर्य (दिल्ली), १०. श्री वेदप्रिय जी शास्त्री (सीताबाड़ी)। सम्पादन की त्रुटियां-विसंगतियां देखकर हमारा निष्कर्ष था कि इस कार्य को एक-दो ने निपटाया है, यह दस विद्वानों का सम्पादन नहीं हो सकता। आर्य जनता के समक्ष दस विद्वानों के नाम का झूठ परोसा गया है, जनता को प्रभावित करने के लिए आडम्बर किया गया है। इसकी पुष्टि होती चली गई। एक लेख में डॉ० रघुवीर जी ने स्वीकार किया कि श्री धर्मसिंह कोठारी एक दिन भी सम्मिलित नहीं हुए। हमारी चर्चा होने पर यह जानकारी भी मिली कि डॉ० भवानीलाल जी भारतीय और आचार्य वेदव्रत जी शास्त्री भी इसमें एक बार भी सम्मिलित नहीं हुए। डॉ० सुदर्शनदेव जी और स्वामी जगदीश्वरानन्द जी अर्ध-अवधि में ही स्मृतिशेष रह गये। पं० राजवीर जी शास्त्री और आचार्य विशुद्धानन्द जी का योगदान अतिशिथिल स्वास्थ्य के कारण नहीं रहा। डॉ० जयदेव जी ने जानकारी दी कि यह कार्य केवल डॉ० रघुवीर जी और श्री वेदप्रिय जी ने निपटाया है और श्री अशोक आर्य ने उसको अपनी रुचि के अनुसार निपटवाया है। सत्य स्वयं उजागर हो गया और असत्य का पर्दाफाश हो गया। पाठक विचार करें कि उदयपुर न्यास ने आर्यजनता के साथ झूठ बोलकर कितना बड़ा धोखा किया है। इसमें कुछ तो स्वार्थ अवश्य होगा।

३. उदयपुर न्यास ने इसके लिए विद्वानों की लाबिंग भी की और कुछ विद्वान् अज्ञात कारणों से लॉबी-बंद हो भी गये। किसी साहित्यिक विषय पर लाबीबंद होना आर्य विद्वानों के लिए अशोभनीय आचरण है।

४. उदयपुर संस्करण का सम्पादन परस्परविरुद्ध, अव्यवस्थित, दोषपूर्ण, अपूर्ण और एकांगी है। ऐसा दोषयुक्त कार्य दस विद्वानों का नहीं हो सकता। इससे शुद्ध श्रमयुक्त सम्पादित संस्करण तो एक-एक विद्वान् का पहले से ही विद्यमान है। फिर दस के सम्पादन का क्या वैशिष्ट्य और लाभ है ? कहने का भाव यह है कि यह दस का सम्पादन नहीं है, और यदि है तो वह व्यर्थ है, धन का अपव्यय है। ये कैसे दस 'बड़े विद्वान्' हुए जिनसे एक-एक विद्वान् का सम्पादन अधिक योग्यतापूर्ण है।

५. उदयपुर संस्करण में अधिकांश अनुकरण पिछले सम्पादकों, जैसे स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, परोपकारिणी सभा का है, लेकिन उसको अपना मौलिक कार्य घोषित किया गया है, जबकि उदयपुर सं० का अपना मौलिक कार्य बहुत अल्प है। उन विद्वानों के प्रति आभार-प्रदर्शन न

करके यह प्रभाव पाठकों पर छोड़ा गया है जैसे यह सारा कार्य इसके सम्पादकों का मौलिक है। दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब मौलिक कार्य नहीं है तो इस अनुकरणाधारित प्रकाशन की आवश्यकता ही क्या थी? इस प्रकार मात्र एक भिन्न संस्करण की वृद्धि ही की है।

६. इस संस्करण को '**मानक संस्करण**' मिथ्या नाम दिया है, पाठकों को आकर्षित करने के लिए। इसका यह अभिप्राय निकला है कि अब तक के सब संस्करण यहां तक कि महर्षि के समक्ष कथित रूप से छपा द्वितीय संस्करण (१८८४) और जिन विद्वानों का अनुकरण उदयपुर वालों ने किया है, उनके भी सब संस्करण '**अमानक**' हैं। यह 'मानक' की एक भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। मानक (Standerd) की परिभाषा है—'जिसमें वर्तनी, भाषा, शैली, सम्पादन की शुद्धता, उत्कृष्टता और एकरूपता हो तथा प्रकाशन की दृष्टि से जिसका सुव्यवस्थित-सुन्दर प्रकाशन हो।' उदयपुर सं० में इनमें से एक भी विशेषता नहीं है। उसमें सैकड़ों तो वर्तनी-सम्बन्धी अशुद्धियां विद्यमान हैं। सम्पादन दोषपूर्ण और प्रकाशन अरुचिकर एवं अस्तरीय है।

७. जब छह-सात वर्ष पूर्व परोपकारिणी सभा का मूल-हस्तलेख पर आधारित संस्करण प्रकाशित हुआ तो उदयपुर न्यास के कार्यकारी अध्यक्ष श्री अशोक आर्य ने उसके विरोध में एक वातावरण निर्मित किया तथा उसका नेतृत्व किया था। उसका तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों का विरोध किया था, विरोध में उक्त पुस्तक लिखी थी, लेख लिखे थे, गोष्ठियां की थीं। तब श्री अशोक आर्य का विरोध इन घोषणाओं पर आधारित था—

(क) ऋषि के परम्परागत द्वितीय संस्करण में एक कॉमा, विराम तक का परिवर्तन नहीं होना चाहिए अर्थात् द्वितीय संस्करण यथावत् प्रकाशित होना चाहिए।

(ख) यदि परिवर्तन करना आवश्यक हो तो मूलपाठ में नहीं, टिप्पणी में ही किया जाना चाहिए।

(ग) ऋषि की भाषा में अपनी भाषा की घुसपैठ नहीं करनी चाहिए।

इन्होंने अब जो उदयपुर संस्करण प्रकाशित किया है उसमें कॉमा, विराम न जाने कहाँ हवा में उड़ते फिर रहे हैं। भाव से लेकर भाषा तक २००० से अधिक परिवर्तन-संशोधन हैं। न वह द्वितीय संस्करण यथावत् है, न मूलप्रति संस्करण। मूलपाठ में परिवर्तन ही नहीं, कहीं-कहीं महर्षि की भाषा को निकाल भी दिया है। महर्षि की भाषा में अपनी भाषा की घुसपैठ निरंकुशतापूर्वक कर दी है। कहीं महर्षि का शब्द हटाकर उसके स्थान पर अपना रख दिया है, कहीं महर्षि का श्लोकार्थ अशुद्ध मानकर बदल दिया है, कई स्थानों पर ऋषि द्वारा निर्धारित पाठक्रम को बदल डाला है, तीनों आदि प्रतियों/ संस्करणों में एक जैसे प्राप्त पाठों को स्वेच्छा से बदला है, कहीं ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत कर दिया है, कहीं लिपिकर की भूल से त्रुटित आयत पाठों, जिनको प्रायः सभी सम्पादकों ने ग्रहण कर लिया है, उनको तो ग्रहण नहीं किया किन्तु अपनी ओर से नयी आयतें ऋषिपाठ में जोड़ दीं। विसंगतियां दूर करने की प्रतिज्ञा की है किन्तु एक भी विसंगति को दूर नहीं किया है (प्रमाण इस शोधसं० में टिप्पणियों में देखें। यहाँ विस्तार भय से नहीं दिये जा रहे हैं)। श्री अशोक आर्य अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं/ धारणाओं को गुपचुप कूड़ेदान में फेंक चुके हैं जिनके आधार पर उन्होंने परोपकारिणी सभा और स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के संस्करणों का विरोध किया था। उन्होंने अपनी धारणाएं क्यों बदलीं, न तो इसका कारण बताया और न इन धारणाओं पर आधारित विरोध के लिए क्षमा-याचना की। अब अपनी नयी धारणाएं बनाकर उनके अनुसार सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित कर दिया और इस बात के लिए पुस्तक छापकर दूसरों का विरोध कर रहे हैं कि उनके द्वारा सत्यार्थप्रकाश में किये गये परिवर्तनों को यथावत् स्वीकार क्यों नहीं किया जा रहा। मानो श्री अशोक आर्य ने 'सत्यार्थप्रकाश न्यास' नाम की आड़ में सत्यार्थप्रकाश को अपनी 'बपौती' और खुद को उसका स्वयम्भू डिक्टेटर समझ लिया है। इसलिए वे जब चाहें, जैसे चाहें, मनमानी छेड़छाड़ सत्यार्थप्रकाश के साथ करने का अपना अधिकार मान बैठे हैं, जबकि कानूनी रूप से यह उत्तराधिकार अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा को महर्षि दयानन्द ने अपने हस्ताक्षरों से रजिस्ट्री कराके स्वयं दे रखा है।

८. उदयपुर सं० की सम्पादक समिति में ऐसे भी सम्पादक हैं जिन्होंने सारी आयु संशोधनों के कारण परोपकारिणी

सभा और पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि का कटु विरोध किया है। अब उन्होंने खुद पं० मीमांसक जी द्वारा प्रस्तावित वही संशोधन ग्रहण कर लिये और कुल २००० से अधिक संशोधन कर लिये हैं। उन्होंने अपनी धारणाएं क्यों बदलीं, कोई स्पष्टीकरण आर्यजगत् को नहीं दिया। यदि बदली है तो पं० जी आदि के विरोध के लिए खेद प्रकट करना चाहिए था, किन्तु खेद का एक शब्द भी व्यक्त नहीं किया गया। यह स्वच्छन्दता और असभ्यता नहीं है तो क्या है ? जब चाहो किसी का विरोध कर लो और जब चाहो उसी काम को खुद कर लो, यह कौन-सा शिष्ट व्यवहार हुआ ? और देखिए जिस 'उदयपुर न्यास' की पुस्तक में और सम्पादक समिति के अध्यक्ष पं० विशुद्धानन्द जी के नेतृत्व में कुछ सम्पादकों ने बैठक में स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के संस्करण का विरोध किया था, उन्हीं स्वामी जी को उदयपुर सं० के सम्पादक मण्डल में रखकर उनके संशोधनों को स्वीकार कर लिया। फिर न जाने वह विरोध कहां जाता रहा ? एक और विचित्रता देखिए, इन्हीं स्वामी जी के विरोध में पं० विशुद्धानन्द जी का लिखा लेख—'सत्यार्थप्रकाश पर आर्यसमाज के पण्डितमन्यों का आक्रमण' अन्य लेखों के साथ वितरित किया गया। फिर उसको रोक दिया और पुस्तक में नहीं छापा। शायद, यह ध्यान अशोक जी को आ गया कि अब तो वे हमारी सम्पादक-मण्डली में विराजमान हैं, उनका विरोध नहीं करना चाहिए। इसका मतलब हुआ कि विरोध और मित्रता का आधार सिद्धान्त नहीं, अपनी लॉबी है। देखिए, अपनी लॉबी में शामिल होते ही स्वामी जी विरोध के ही पात्र नहीं रहे। पाठकगण देखें कि न्यास और उसके सम्पादकों ने आर्यसमाज में कैसा अनैतिक वातावरण बना रखा है ?

९. न्यास और उसके सम्पादकों ने सत्यार्थप्रकाश की मनचाही दुर्गति कर डाली—उदयपुर संस्करण के रूप में। एक ओर द्वितीय सं० को अक्षुण्ण रखने के नाम पर उसका आदिम अपरिष्कृत रूप प्रकाशित कर दिया जिसमें न पढ़ने-पढ़ाने की सुविधा है, न पैराग्राफ्स का उचित विभाजन है, न वेदमन्त्रों पर स्वरों को ग्रहण किया है, न भाषा शैली ग्राह्य है, न मुद्रण अच्छा है, न पाठों की सम्पूर्णता है। दूसरी ओर उसमें २००० से अधिक परिवर्तन-संशोधन कर दिये हैं। जब मूल स्वरूप अक्षुण्ण रखना था तो दो हजार से अधिक परिवर्तन क्यों किये और परिवर्तन कर दिये हैं तो उसको 'अक्षुण्ण' क्योंकर कह सकते हैं ? दोनो तरह पाठकों को भ्रमित किया जा रहा है। न वह अक्षुण्ण है, न द्वितीय संस्करण, न संशोधित और न सुविधापूर्वक पठनीय संस्करण है। परस्परविरोधी आचरण का खुला प्रदर्शन है।

१०. परिवर्तनों-संशोधनों की कार्यशैली में भी पाठकों के साथ छल किया है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, उदयपुर सं० के सम्पादकों ने संशोधनों और मुद्रणदोषों को टिप्पणी में दर्शाने की घोषणा की है। तदनुसार टिप्पणी में ५०१ संशोधन और ३२४ मुद्रणदोष दर्शाये हैं। सत्य यह है कि उदयपुर सं० में २००० से अधिक परिवर्तन-संशोधन किये गये हैं। प्रतिज्ञा-घोषणा के अनुसार छोटे-बड़े प्रत्येक परिवर्तन को टिप्पणी में दर्शाना चाहिए था किन्तु ऐसा नहीं किया गया। १२०० के लगभग संशोधनों-परिवर्तनों को टिप्पणी में नहीं दर्शाया गया। पाठक विचारें कि उदयपुर सं० का इस छल में कुछ-न-कुछ निहित स्वार्थ तो अवश्य रहा होगा। शायद यह कि इतने परिवर्तनों के बाद उस संस्करण को 'द्वितीय संस्करण' कैसे सिद्ध कर सकेंगे और लोग कहीं २००० परिवर्तनों पर आक्षेप न कर दें, इसलिए कुछ को टिप्पणी में दिखा दो, शेष को चुपचाप कर डालो। इस छलनीति को कहते हैं—'सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे।' परिवर्तन, परिवर्तन है चाहे वह छोटा-बड़ा, गौण-मुख्य, कुछ भी हो। उसकी जानकारी पाठकों को न देना 'अनैतिकता' है, छल है, स्वार्थ है।

(आ) साहित्यिक बिन्दु—हमने अपने लेखों में कुल सौ प्रश्नों का उल्लेख कर उदयपुर संस्करण की कार्यशैली की अपूर्णता, प्रतिज्ञाहीनता, अशुद्धता, अयोग्यता, एकांगिता को रेखांकित किया था। उसका उत्तर चार लेखकों ने दिया है। उनके उत्तर अशुद्ध, बेतुके, युक्ति-प्रमाण-रहित और असभ्यतायुक्त हैं। १०० बिन्दुओं में से जो-जो उत्तर दिये गये हैं उनमें एक भी शुद्ध नहीं है। ये लोग अशुद्धियों को स्वीकार करने की उदारता नहीं दिखा सके। अशुद्धि बताने के बदले में उदयपुर सं० के सम्पादकों ने हमें गालियां और धमकियां दी हैं। अशुद्ध को शुद्ध सिद्ध करने में सारा बल लगाया है और व्यर्थ ही कागज काले किये हैं। उन सबका ग्रन्थ की टिप्पणियों में यथास्थान विवरण दिया गया है,

वहां पढ़कर पाठक स्वयं भी इनके शुद्ध-अशुद्ध उत्तर का निर्णय कर लें और उदयपुर सं० में शेष अशुद्धियों को भी देख लें जिनका उदयपुर सं० के सम्पादकों को या तो ज्ञान ही नहीं हुआ, या उत्तर नहीं आया। मेरे विचार से उदयपुर सं० में ऐसी शेष अशुद्धियों की संख्या अभी पर्याप्त है। यदि ये लोग आर्यत्व के आचरण के अनुसार अशुद्धियों को स्वीकार कर लेते तो यह सारा विषय सद्भावपूर्वक निपट जाता।

उदयपुर सं० के लेखकों ने जो बिन्दुओं का उत्तर दिया है, उनमें कुछ विडम्बनाएं ध्यान देने योग्य हैं, जैसे—

(१) किसी भी एक लेखक ने सभी बिन्दुओं का उत्तर नहीं दिया। यहां तक कि चारों ने मिलकर भी सब प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया अर्थात् सब प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके।

(२) चारों लेखकों में से एक ही प्रश्न का किसी ने कुछ उत्तर दिया है, किसी ने कोई और। इस प्रकार चारों लेखकों के उत्तरों में **परस्परविरोध** है; न मत एक है, न विमत एक है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह संस्करण न तो दस द्वारा सम्पादित है और न सबकी सहमति से सम्पादित है, और न सम्पादन शुद्ध है।

(३) चारों में से किसी लेखक ने किसी प्रश्न का उत्तर दिया है तो किसी ने उसका उत्तर नहीं दिया। एक लेखक उसको अशुद्धि मान रहा है तो दूसरा उसको शुद्धि कह रहा है। चारों के उत्तरों में यह अराजकता है। यह सब उनकी अविद्वत्ता और पारस्परिक असहमति को दर्शाता है।

(४) विचित्र बात देखिए कि अपने मुंह से स्वयं को 'बड़े विद्वान्' घोषित करने वाले उदयपुर संस्करण से सम्बद्ध लेखकों को कहीं मेरा प्रश्न ही समझ में नहीं आया, कहीं सत्यार्थप्रकाश की भाषा समझ में नहीं आई, कहीं श्लोकार्थ ही समझ में नहीं आया, कहीं शुद्धाशुद्धि का अन्तर ही समझ में नहीं आया, तो फिर उत्तर शुद्ध कैसे हो सकते थे? यही कारण है कि अधिक उत्तर अशुद्ध और बेतुके हैं। उनकी समीक्षा टिप्पणी में यथास्थान पढ़ने को मिलेगी। इससे पाठक यह भी अनुमान लगा लें कि ऐसे सम्पादकों द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश कैसा होगा?

(५) सम्पूर्ण उदयपुर सं० में सम्पादन कार्य में अव्यवस्था एवं विरोधाभास है। कहीं वर्तनी शुद्ध कर दी, तो कहीं अशुद्ध है; कहीं अशुद्ध वाक्यों का संशोधन कर दिया, तो कहीं अशुद्ध वाक्य ही रख लिये; कहीं उद्धरणों को संशोधित कर लिया, तो कहीं अशुद्ध रख लिये; कहीं गणितीय त्रुटियां सुधार लीं, तो कहीं उनको अशुद्ध रख लिया; कहीं संशोधन मूलपाठ में कर दिया, तो कहीं टिप्पणी में कर दिया; कहीं पाठ ग्रहण कर लिया, तो कहीं निकाल दिया आदि।

(६) उदयपुर संस्करण में, द्वितीय संस्करण (१८८४) में परम्परागत रूप से विद्यमान २०० पाठों का परित्याग करके उनके स्थान पर '**मूलप्रति**' के पाठग्रहण कर लिये। जब मैंने मूलप्रति में विद्यमान ऐसे अन्य शुद्ध पाठों को उपस्थित करके उनको ग्रहण करने का परामर्श दिया, तो उन पाठों की आलोचना की जबकि वे शब्द ऋषिप्रोक्त हैं, मेरे नहीं, और 'मूलप्रति' को 'रफप्रति' आदि कहकर उसकी निन्दा की। बौखलाहट में उदयपुर मण्डली यह भी भूल गई कि 'मूलप्रति' और उसके पाठों की निन्दा-आलोचना उसके रचयिता ऋषि दयानन्द की निन्दा-आलोचना है। उन्होंने ऋषि-विरोध खुलकर किया। ऐसा करके भी उदयपुर वाले स्वयं को 'ऋषिभक्त' कहने का साहस करते हैं।

(७) उदयपुर संस्करण के सम्पादकीय पृ० 'ङ' पर सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान विसंगतियों का समाधान करने का दावा किया है और संशोधन न करने की घोषणा की है। साक्षात् सत्य यह है कि २००० से अधिक तो संशोधन किये हैं और एक भी विसंगति का समाधान नहीं किया है। जब मैंने अपने लेख में कुछ विसंगतियों का समाधान मांगा, तो कोई उत्तर न देकर मुझ पर आरोप मढ़ दिये कि 'मैं ऋषि दयानन्द की गलतियां निकाल रहा हूं।' **वाह रे उदयपुर के सम्पादको! स्वयं सत्यार्थप्रकाश में विसंगतियां होने की घोषणा की है और २००० से अधिक संशोधन करके छपवा दिये, फिर भी आपने ऋषि की कोई गलती नहीं निकाली और मेरे प्रश्न पूछने मात्र से मुझ पर गलती निकालने का मिथ्या आरोप मढ़ दिया!!** यह धृष्टता की पराकाष्ठा का लक्षण है। क्या ऐसे सम्पादक 'बड़े विद्वान्' माने जा सकते हैं? और क्या उनका सम्पादन सही होगा? पाठक इसका निर्णय स्वयं कर लें।

(८) श्री अशोक आर्य के विषय में कुछ बातें यहां उल्लेखनीय हैं—

१. श्री अशोक आर्य का कथन है कि सम्पादन का कार्य दस विद्वानों की समिति ने किया है, उसमें प्रकाशक का

कोई हस्तक्षेप नहीं है। सभी शुद्धाशुद्धियों पर निर्णय सम्पादकों के हैं। किन्तु न्यास द्वारा प्रकाशित पुस्तक में सबसे अधिक (५०-६०) पृष्ठ के लेख लिखकर निर्णय श्री अशोक आर्य दे रहे हैं, जबकि उनका यह कार्य नहीं हैं।

२. कई ऐसे उत्तर इन्होंने दिये है जिनके विषय में सम्पादकों का कुछ और उत्तर है और इनका कुछ और। सम्पादकों ने गलती स्वीकार की है, वहाँ इन्होंने नहीं की। ऐसे स्थलों पर किसके उत्तर स्वीकार्य हैं? क्या श्री अशोक आर्य सम्पादकों से ऊपर महा-सम्पादक हैं? इससे मेरे उस संदेह की पुष्टि हो रही है कि दस सम्पादकों के नाम पर यह कार्य किसी अन्य ने निपटाया है और न्यास ने दस विद्वानों के नाम का केवल इस्तेमाल किया है, काम अपनी रुचिपूर्वक किया है।

३. श्री अशोक आर्य उत्तर देने के लिए अखाड़े में कूद पड़े किन्तु उन्हें सम्पादन की स्वीकृत कसौटियों का ही ज्ञान नहीं है। या फिर वे जान-बूझकर पाठकों को मूर्ख बना रहे हैं। सम्पादक समिति ने कहीं यह प्रतिज्ञा नहीं की है कि **'अधिकांश पूर्व सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठों को हम स्वीकार करेंगे या यह हमारे पाठ-निर्णय की कसौटी होगी।'** श्री अशोक आर्य ने अपने सारे उत्तर पूर्वसम्पादकों की पाठ-तालिका प्रदर्शित करके उनको आधार मान कर दिये हैं। स्पष्टत: उनके सारे उत्तर प्रतिज्ञाविरुद्ध हैं और पाठकों को भ्रमित करके मूर्ख बनाने वाले हैं। उन्होंने ३९ में से ३५ उत्तर तालिका के आधार पर दिये हैं, अत: प्रतिज्ञाविरुद्ध होने से वे अमान्य हैं।

यदि यह मान लिया जाये कि अब उक्त आधार को इन्होंने प्रमाण मान लिया है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर पूर्वसम्पादकों द्वारा स्वीकृत अन्य अनेक पाठों को आपने यथावत् स्वीकृत क्यों नहीं किया? यदि उनको पूर्व पाठों को ही स्वीकार करना था तो फिर एक भिन्न संस्करण क्यों प्रकाशित किया, उन्हीं के संस्करणों को स्वीकार कर लेते? अपने लेखों में श्री अशोक आर्य ने अपनी स्वीकृत कसौटी को स्वयं धूल चटा दी। अपने लेख में पूर्वसम्पादकों की तालिका प्रस्तुत करके उन्होंने यह भी प्रदर्शित कर दिया कि सबने हमारे जैसा पाठ माना है और फिर उनके नौ पाठों को गलत भी घोषित कर दिया। इन नौ पाठों में, स्वलेखों में उत्तर के लिए स्वीकृत अपनी प्रतिज्ञा क्यों तोड़ दी? श्री अशोक को उत्तर देते समय स्वयं पता नहीं कि किस आधार पर उत्तर देना चाहिए और वे क्या उत्तर दे रहे हैं? बस, उत्तर के नाम पर ५०-६० पृष्ठ काले कर दिये हैं। क्या ऐसे व्यक्ति सत्यार्थप्रकाश पर निर्णय देने के लिए योग्य हैं?

४. एक विचित्र घालमेल और देखिए। प्रकाशक से लेखक बने श्री अशोक आर्य का कोई कथन उद्धृत करने पर सम्पादक समिति के संयोजक डॉ० रघुवीर जी हमें कह रहे हैं कि **''आप बेरों में गुठलियां क्यों मिला रहे हैं?''** इसी प्रकार श्री अशोक आर्य कह रहे हैं कि **'हमारा सम्पादन से कुछ लेना-देना नहीं यह सम्पादन समिति का काम है।'** दूसरी ओर डॉ० रघुवीर जी गुठलियों अर्थात् श्री अशोक आर्य के समर्थन में लिख रहे हैं और श्री अशोक आर्य ५०-६० पृष्ठ के लेख लिखकर बेरों अर्थात् सम्पादकों का समर्थन कर रहे हैं और स्वयं ही पाठों पर निर्णय ले रहे हैं। दोनों में यह कौन-सी चाल है, पाठकों को मूर्ख बनाने के लिए?

५. श्री अशोक आर्य ने एक शातिराना कार्य और भी किया। मेरे लिखे अपूर्ण उद्धरणों को उद्धृत करके आर्यजनों को भड़काने के लिए कई-सौ आर्यसमाजों में एक पत्र प्रेषित किया जिसके साथ २०-२२ ऐसे पाठ संयुक्त किये हुए थे जिनको लेकर मुझ पर आरोप लगाया गया था कि 'तीनों संस्करणों (मूलप्रति, मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण १८८४) में एक जैसे पाये जाने वाले पाठों को मैं बदलने का परामर्श दे रहा हूं।' श्री अशोक आर्य का षड्यन्त्र देखिये कि मैं तो केवल परामर्श ही दे रहा हूं इसलिए उनकी दृष्टि में मैं 'ऋषि-विरोधी' हो गया, और उन्होंने तो उदयपुर संस्करण में ऐसे कई दर्जन पाठ, जो तीनों संस्करणों में एक जैसे हैं, उनको बदलकर, छपवाकर उस सत्यार्थप्रकाश का विक्रय भी कर दिया। वे स्वयं को फिर भी पाक-साफ ऋषिभक्त माने बैठे हैं। मैंने 'परोपकारी' पत्रिका में ऐसे २५ उदाहरण प्रस्तुत करके उनका उत्तर मांगा था, किन्तु आज तक एक भी आपत्ति का उत्तर वे नहीं दे पाये हैं। उन्होंने २०-२२ उद्धरणों को उद्धृत करने में भी छल-कपट का सहारा लिया है क्योंकि उनमें कई उद्धरण ऐसे हैं जो तीनों संस्करणों में एक जैसे हैं ही नहीं। ऐसों के लिए कहावत है कि 'भैंस अपना काला रंग-रूप नहीं देखती, किन्तु दूसरे का काला रंग देखकर बिदकती है।' परामर्श देना कोई अपराध नहीं होता, किन्तु श्री अशोक आर्य तो निश्चित रूप से 'महा-अपराधी' सिद्ध होते हैं, जो उन्होंने तीनों संस्करणों में एक जैसे पाये जाने वाले ऋषि-पाठों को मनमानेपन से बदला और फिर बदले पाठों

को छपवाकर विक्रय भी कर रहे हैं। यह सत्यार्थप्रकाश की आड़ में ओछी राजनीति है।

(इ) **निष्कर्ष तालिका**—

टिप्पणियों में यथास्थान उदयपुर सं० के चार लेखकों द्वारा दिये गये उत्तरों की समीक्षा की गई है। वहां कई कारणों से नामोल्लेख नहीं किया गया है। उनको औचित्य के आधार पर यह नाम और क्रम दिया है—

पहला लेखक—डॉ० रघुवीर जी वेदालंकार। **दूसरा लेखक**—श्री वेदप्रिय जी शास्त्री।

तीसरा लेखक—श्री अशोक जी आर्य (प्रकाशक)। **चौथा लेखक**—श्री वेदप्रकाश जी श्रोत्रिय (असम्बद्ध लेखक)।

पाठक इन्हीं विशेषणों से इन लेखकों को टिप्पणी की भाषा में जान लें।

'परोपकारी' पत्रिका के माध्यम से उदयपुर मण्डली के सामने अब तक प्रस्तुत एक-सौ साहित्यिक प्रश्नों के उत्तर में चार लेखकों में से कौन लेखक कितने प्रश्नों का उत्तर दे सका, कितनों का उत्तर नहीं दे सका, कितने अशुद्ध उत्तर दिये और कितनी अशुद्धियां किसने स्वीकार कीं, उनकी जानकारी निम्नांकित तालिका देती है—

उदयपुर सं० से सम्बद्ध लेखक का नाम	कुल सौ में से जिन प्रश्नों के उत्तर दिये	दिये प्रश्नों के उत्तरों में अशुद्ध उत्तर	अशुद्धियां स्वीकार की	कुल सौ में से जिन प्रश्नों के उत्तर ही नहीं दिये
१. डॉ० रघुवीर जी वेदालंकार	१०	१०	एक भी नहीं	९०
२. श्री वेदप्रिय जी शास्त्री	२१	१४	०७	७९
३. श्री अशोक जी आर्य	४१	२८	१३	५९
४. श्री वेदप्रकाश जी श्रोत्रिय	३६	२८	०८	६४

पाठक ध्यान दें, उपर्युक्त तालिका यह सिद्ध करती है कि कोई भी एक लेखक सभी प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सका, और चारों मिलकर भी सभी प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। चारों ने जो शुद्ध-अशुद्ध उत्तर दिये हैं, उनमें चारों का मत या विमत भी एक नहीं है, जो यह संकेत देता है कि यह दस विद्वानों द्वारा सम्पादित संस्करण नहीं है। तालिका बताती है कि आज भी हमारे अधिसंख्य प्रश्नों का उत्तर उदयपुर मण्डली नहीं दे सकी है।

(ई) **मनुस्मृति विषयक शोधकार्य पर आक्रमण**—कुछ साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर और युक्ति-प्रमाणपूर्वक मेरे द्वारा ३० वर्ष पूर्व किया गया 'मनुस्मृति के प्रक्षेपानुसंधान एवं भाष्य' का कार्य, मनु एवं मनुस्मृति की प्रतिष्ठा, महिमा एवं गौरव-वर्धक सिद्ध हुआ है। उससे 'मनुवाद' के नाम पर किया जाने वाला विरोध क्षीण हुआ है और महर्षि दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति हुई है, क्योंकि मनुस्मृति की रक्षा और प्रतिष्ठा में ऋषि दयानन्द के साहित्य की रक्षा और प्रतिष्ठा है। आर्यसमाज-हित में वह कार्य 'मील का पत्थर' सिद्ध हुआ है। सत्यार्थप्रकाश उदयपुर-संस्करण पर किये हमारे प्रश्नों से बौखलाये उदयपुर संस्करण के दो लेखकों ने एक कुत्सित हथकण्डा अपनाया। **डॉ० रघुवीर जी वेदालंकार** ने मुझे धमकी दी कि यदि मैं उदयपुर संस्करण पर लिखता रहा, तो वे मेरे 'मनुस्मृति भाष्य' पर लिखेंगे अर्थात् उसमें त्रुटियां निकालेंगे और मुझे निग्रहस्थान में डाल देंगे।'' इस धमकी के संदर्भ में पाठक कुछ बातों पर विचार करें। इसका मतलब निकला कि प्रकारान्तर से डॉ० रघुवीर जी ने यह स्वीकार कर लिया कि उनके उदयपुर संस्करण में त्रुटियां हैं। अब उन त्रुटियों को प्रकट करने से रोकने के लिए वे मुझे विषयान्तर धमकी दे रहे हैं। विषय सत्यार्थप्रकाश का है तो मनुस्मृति बीच में कहां से आ गई? एक ओर वे लिख रहे हैं कि त्रुटियां निकालकर हम लोग उनका उपकार और प्रचार कर रहे हैं किन्तु दूसरी ओर वे इस बात के लिए धमकियां दे रहे हैं। समझ नहीं आया कि उनका यह कैसा परस्परविरोधी कथन है? वे यह भी भूल गये कि सिद्धान्तविरोध और त्रुटियां तो उनकी पुस्तकों में भी हैं, तो क्या उन

पर नहीं लिखा जा सकता ? फिर भी मैं डॉ० रघुवीर जी का इस कार्य के लिए स्वागत करता हूँ। मैं उनकी तरह दोहरा आचरण भी नहीं करूँगा कि अशुद्धि बताने पर प्रशंसा भी करूं और बौखला भी जाऊँ, दूसरों के मौलिक कार्य को उनकी तरह अपना घोषित करके गड़क जाऊँ और उनका नाम भी न लूं। जो भी वे अशुद्धियां दर्शायेंगे, मैं उसके लिए उनका उपकार ही मानूंगा और उनके नामोल्लेख-पूर्वक उनका धन्यवाद भी करूंगा। सही उत्तर होने पर उनको अगले संस्करण में सुधार लूंगा। किन्तु, कृपा करके ऐसे बेतुके, परस्परविरोधी उत्तर न दें जैसे सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में दिये हैं। इस पर भी विचार करें कि धमकियां देना और अपशब्द लिखना विद्वानों को शोभा नहीं देता।

इसी प्रकार **श्री वेदप्रकाश श्रोत्रिय** ने शठतापूर्वक मुझे शास्त्रार्थ की धमकी दी। मनुस्मृति और सत्यार्थविषयक उनका पर्याप्त और प्रामाणिक ज्ञान नहीं है, और अन्य शास्त्रविषयक ज्ञान भी नहीं है, अत: उनमें शास्त्रार्थ करने की योग्यता ही नहीं। 'शास्त्रार्थ' का नाम उछालना उनकी दुकानदारी का हिस्सा है। कभी वे स्वयं को 'आई.ए.एस.' पास कहकर भी दुकानदारी चलाते थे, किन्तु जब पोलपट्टी खुल गई तो कहना बंद कर दिया। कभी शंकराचार्य की गद्दी सौंपे जाने की कहानी गढ़ते रहे हैं। अब लोग उनको जान गये हैं, तो वे कहानियां बंद हो गईं। अब शास्त्रार्थ के नाम की दुकान खोली है। उन्हें यह भी व्यावहारिक ज्ञान नहीं है कि सैद्धान्तिक और तात्कालिक विषयों में मौखिक शास्त्रार्थ हुआ करता है, शोधपरक विषयों में लिखित शास्त्रार्थ होता है। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने **''लेख और वाद''** (पृ० ७३०) से सत्य का निर्णय करने का निर्देश दिया है। लिखित शास्त्रार्थ बहुत समय से चल रहा है। उसमें उनका दिया गया एक भी उत्तर सही नहीं है। उनकी लेखन शैली ही अयोग्यता-सूचक है, क्योंकि उसमें उत्तर स्वल्प और वितण्डा, आरोप-प्रत्यारोप, दम्भोक्तियां, हीनोक्तियां और शब्दजाल ही अधिक होते हैं। उन्हें यही ज्ञान नहीं रहता कि जो उत्तर दिया जा रहा है उसमें क्या कहना है, कितना कहना है, क्या कह दिया, क्या नहीं कहा, और क्या नहीं कहना चाहिये। चलते कहीं के लिए हैं पहुंच कहीं जाते हैं। और फिर, शास्त्रार्थ मेरे 'मनुस्मृति भाष्य' और 'सत्यार्थप्रकाश' की कार्यशैली पर ही क्यों हो उनमें वर्णित सिद्धान्तों पर भी हो सकता है कि दो विवाह करना ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुकूल पाप है कि पुण्य ? एक बार गेरुवे वस्त्र धारण करके पुन: गृहस्थ बनना आर्यसमाज के सिद्धान्त के अनुसार सही है अथवा गलत ? किसी आर्यविद्वान् द्वारा छह तार का यज्ञोपवीत धारण करना ऋषि-विरोधी कार्य है अथवा नहीं ? यद्यपि श्री श्रोत्रिय में सही उत्तर देने की योग्यता भी नहीं है, फिर भी यदि श्री श्रोत्रिय संयोगवश कोई त्रुटि दर्शायेंगे तो उनको मैं सधन्यवाद स्वीकार करूंगा। आपत्ति त्रुटि प्रदर्शन से नहीं है, उनके पक्षपात, वितण्डा और शठतापूर्ण व्यवहार से है।

प्रसंगवश, पाठकों को यह भी बता दूं कि ऋषि दयानन्द के मिशन को पूरा करने के लिए, मनुस्मृति के प्रक्षेपानुसंधान का जटिल कार्य मैंने ३० वर्ष की युवावस्था में किया था। उस समय की बौद्धिक क्षमता के अनुसार त्रुटियों का रह जाना सहज है। यह परमावश्यक अभूतपूर्व एवं जटिल कार्य मैंने अकेले ही किया था। अकेले ने ही सारे निर्णय लिये थे। कोई परामर्शदाता भी मुझे नहीं मिला। फिर भी यह एक ऐतिहासिक कार्य हुआ है। कुछ दिलजलों को छोड़कर सभी इसकी उपयोगिता को खुले हृदय से स्वीकार करते हैं। इसने मनुविरोध के बढ़ते प्रभाव को रोका है। मनु और ऋषि दयानन्द की प्रतिष्ठा साझी है, उसको बढ़ाया है। मेरी मनुस्मृति के आधार पर जयपुर उच्च न्यायालय के परिसर में स्थित मनु के स्टेच्यू को उखाड़ने के विरुद्ध नियमित स्थगन आदेश प्राप्त हुआ है। वह स्टेच्यू आज भी वहां स्थित है। जब एक वर्ष तक उसके लिए श्री धर्मपाल जी आर्य (दिल्ली ट्रस्ट), डॉ० धर्मवीर जी (अजमेर) और मैंने संघर्ष किया तब ये दक्षिणा के सौदागर कहीं महर्षि दयानन्द के नाम की दुकान पर दक्षिणा का सौदा करने में लगे थे। किसी ने झांका तक नहीं। तीस वर्ष से प्रकाशित होते आ रहे 'मनुस्मृतिभाष्य' पर आज इन्हें वितण्डा-प्रोपेगैंडा सूझा है। स्पष्ट है कि यह सब प्रतिशोध, दुर्भावना, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य की शैतानी उपज है। प्रतिशोध और ईर्ष्या-द्वेष इन्हें चैन से नहीं जीने देता।

श्री वेदप्रकाश श्रोत्रिय ने अपने जीवन में आज तक किसी एक व्यक्ति से भी शास्त्रार्थ नहीं किया है और न किसी ऋषि-विरोधी और सत्यार्थप्रकाश-विरोधी का लिखित उत्तर दिया है। न जाने कितनों से शास्त्रार्थ की घोषणा करके पीछे हट चुके हैं। श्री आदित्यमुनि व श्री उपेन्द्रराव द्वारा वेदों पर लिखित आक्षेप करने पर शास्त्रार्थ की घोषणा करके ये पीछे

हट गये और उनके एक भी आरोप का उत्तर आज तक नहीं दिया। हरियाणा का कबीरपंथी रामपालदास समाचार पत्रों, पुस्तकों, टी०वी० के माध्यम से वर्षों से महर्षि दयानन्द एवं सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध विषवमन कर रहा है, ये उसके एक भी आक्षेप का उत्तर नहीं दे सके। स्वामी अग्निवेश ने सत्यार्थप्रकाश से सिखविरोधी-कथन निकालने की घोषणा की, समलैंगिकता का समर्थन किया, भारतविरोधी कश्मीरी आतंकवादियों का साथ दिया, मनुस्मृति को जलाया, श्री श्रोत्रिय ने एक शब्द न बोला, न लिखा, अपितु उनके साथ गठबन्धन है। स्मृतिशेष स्वामी मुनीश्वरानन्द जी सरस्वती ने कुछ वर्षों पूर्व कुछ ऋषि दयानन्द-विरोधी मन्तव्य प्रस्तुत किये थे। मैंने उनकी समीक्षा लिखी। ऋषि के नाम पर अपनी दुकान सजाने वाले श्री श्रोत्रिय की विकृत मानसिकता देखिए कि तब इन्होंने उन ऋषि-सिद्धान्तविरोधों के विरुद्ध लेख नहीं लिखा, अपितु उलटा मेरे विरुद्ध लिखा। किन्तु तब एक विनम्रतापूर्ण वाक्य कहने के कारण मैंने उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। 'सत्यार्थप्रकाश' विषयक उत्तर के लेख में इन्होंने शिष्टता-सभ्यता की सारी मर्यादाओं को ताक पर रख दिया है। किसी सिद्धान्तविरोध अथवा ऋषि दयानन्द के अपमान पर इनको कभी पीड़ा नहीं हुई, सत्यार्थप्रकाश और ऋषि दयानन्द के नाम की सारी पीड़ा आज इनको याद आ रही है। जब उत्तर देने नहीं आते तो कुतर्क और वितण्डा करना इनकी आदत है। मैंने एक प्रश्न में लिखा था कि 'यहां दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सामंजस्य नहीं बनता।' उसका उत्तर न देकर ये मुझसे वितण्डा करते हैं—'दृष्टान्त का क्या अर्थ है, दार्ष्टान्त का क्या अर्थ है?' यह ऐसी शैली है जैसे कोई इनके 'आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय' नाम को सुनकर उसके बारे में पूछे—'आचार्य का क्या अर्थ है? यह उपाधि नकली है या असली? किसी विश्वविद्यालय से प्राप्त की है या घर में ही बनाकर लगा ली? यदि वास्तव में आचार्य उपाधि प्राप्त की है तो किस वर्ष में और कितने अंकों से उत्तीर्ण की है? श्रोत्रिय का क्या अर्थ है? श्रोत्रिय के अर्थ से आपके आचरण का कोई सम्बन्ध है या नहीं?' आदि।

जहां तक सत्यार्थप्रकाश-विषयक इनके उत्तरों का सम्बन्ध है, इनके अधिकांश उत्तर सही नहीं है। जैसे भाषण में शब्दजाल से पाठकों को भ्रमित करते हैं, उसी प्रकार उत्तरों में मात्र अप्रासंगिक शब्दजाल है। इस संस्करण में टिप्पणियों में की गई समीक्षाओं से उदयपुर मण्डली के लेखकों की योग्यता का अनुमान पाठकों को हो जायेगा।

(उ) 'उदयपुर संस्करण' और सामाजिक पक्ष—पाठकगण! यह एक साहित्यिक मुद्दा था जो साहित्यिक संवादपूर्वक निपट सकता था, किन्तु उदयपुर मण्डली द्वारा इसको विद्रूप से विद्रूपतर कलह का रूप दिया जाता रहा। कलह, स्वार्थ, षड्यन्त्र, प्रोपेगैंडा, वितण्डा और कुत्सित चालों का सिलसिला जारी रहा। इसका एक काला चेहरा और भी है। परोपकारिणी सभा और उसके विद्वानों के विरुद्ध सजातीय लोगों और लॉबीबंद विद्वानों को जोड़कर आर्यसमाज में विरोध का बवण्डर उठाने का सुनियोजित किन्तु असफल प्रयास किया गया। इस प्रकरण को राजनीति के खेल का हथियार बनाया गया, अयोग्य लोगों के नेतृत्व में ऐरे-गैरे लोगों का जमावड़ा करके, उनसे अनधिकृत गोष्ठियों का आयोजन करके निराधार प्रस्ताव पारित करने के इतिहास का काला अध्याय पहली बार लिखा गया। एक न्यायालय में हमारे विरुद्ध मुकद्दमा दायर किया गया। अपने मंचों पर हुड़दंगियों को बुलाकर पीटने-मारने की धमकियां दिलाई गईं, झूठे पम्पलेट बांटे गये, सम्मेलनों में राक्षसी परम्परा का अनुकरण करके हुड़दंग कराके आर्यसमाज की छवि को देश-विदेश में बिगाड़ा गया। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—**''स्वार्थी दोषं न पश्यति''** सार यह है कि अपने झूठ की संतुष्टि और प्रतिष्ठा के लिए दुष्टता और नीचता का ऐसा कोई हथकण्डा नहीं छोड़ा जिसको न आजमाया हो। और यह सब अनार्य आचरण प्रदर्शित करने वाले पता है कौन थे? ये वे लोग थे जो मंचों पर सत्य, न्याय, प्रेम, दया, क्षमा, उदारता वेद और आर्यत्व का उपदेश देते फिरते हैं, कोई स्वयं को आर्यविद्वान् कहता है, कोई आर्यसंन्यासी, कोई आर्यनेता, तो कोई आर्य संस्था का अधिकारी। महान् आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वयं को ऋषिभक्त और ऋषि-अनुयायी कहने वाले लोगों द्वारा बेशर्मी का उपर्युक्त आचरण इसलिये किया गया कि वे ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन को ही रोकना चाहते हैं। ऋषि-द्वेष की चरमसीमा है यह। आर्यगण! आज ऐसे भी लोग स्वयं को आर्य कहते हैं और वे सत्यार्थप्रकाश तथा आर्यसमाज के ठेकेदार बन कर बैठ गये हैं। निष्कर्ष यह है कि सत्यार्थप्रकाश के इतिहास में 'उदयपुर न्यास' नाम वर्तमान में एक दुर्भाग्य का रूप धारण करके आर्यसमाज में प्रस्तुत हुआ जिसने आर्यसमाज के

सौहार्दपूर्ण वातावरण में विघटन, जातीयता और कलह का विष घोल दिया। भर्तृहरि ने ऐसे ही लोगों के लिए लिखा है—**''ते के न जानीमहे।''** आर्यसमाज का भावी इतिहास इस विषय का विस्तृत विवेचन करेगा।

२६. निष्कर्ष : विभिन्न संस्करणों में किये गये परिवर्तनों-संशोधनों की तालिका

इस अध्याय में, सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (१८७४) से लेकर अब तक के सभी प्रमुख संस्करणों का रचनापरक और शोधपरक परिचय दिया गया है। अब, उनमें प्राप्त अशुद्धियों और किये गये संशोधनों की जानकारी एक तालिका के माध्यम से दी जाती है—

(अ) आधारभूत में मान्य तीन प्रतियों में प्राप्त समग्र अशुद्धियां—

१.	मूलप्रति (प्रथम पांडुलिपि) में—	२०००-२५००
२.	मुद्रणप्रति (प्रेस पांडुलिपि) में—	३०००-३५००
३.	सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण १८८४) में—	४०००-४५००

(आ) सम्पादकों-प्रकाशकों द्वारा किये गये मुद्रणदोष सहित समग्र परिवर्तन, संशोधन, परिवर्धन—

१.	परोकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मूलप्रति संस्करण (३७, ३८, ३९) में	१५००-२०००
२.	परोपकारिणी सभा द्वारा क्रमशः संशोधित ३-३६ संस्करणों में	२५००-३०००
३.	उदयपुर संस्करण (सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर द्वारा प्रकाशित) में	२५००-३०००
४.	आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली के संस्करण में	२५००-३०००
५.	सार्वदेशिक सभा, प्रतिनिधि सभाओं, संस्थाओं, आर्यसमाजों द्वारा प्रकाशित सं० में	२५००-३०००
६.	पं० भगवद्दत्त संस्करण में	१५००-२०००
	यदि पं० जी द्वारा अनुच्छेदों के आरम्भ में अपनी ओर से बृहत् कोष्ठक में बढ़ाई गई संख्याओं को भी जोड़ें तो परिवर्तनों की संख्या लगभग बनेगी—	४०००
७.	स्वामी जगदीश्वरानन्द संस्करण में परिवर्तन और प्रक्षेप	**अनगिनत**
८.	पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक संस्करण में (पं० जी द्वारा अपनी ओर से मूलपाठ में बढ़ाये गये उपशीर्षकों सहित)	४०००-४५००
९.	स्वामी विद्यानन्द संस्करण में (उपशीर्षकों सहित)	४०००-४५००
१०.	स्वामी वेदानन्द जी के संस्करण में	२५००-३०००
११.	श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती संस्करण में	२५००-३०००
१२.	व्यक्तिगत रूप से प्रकाशित अन्य सभी संस्करणों में आधार रूप में स्वीकृत संस्करण में जितने संशोधन हुए हैं, लगभग उतने ही प्राप्त होते हैं	२५००-३०००

यह तालिका तीन सत्यों को सिद्ध करती है—**एक,** सभी सम्पादकों-प्रकाशकों ने सैकड़ों त्रुटियों के संशोधन-परिवर्तन किये हैं, अतः द्वितीय संस्करण (१८८४) में त्रुटियां हैं और वे अवश्य संशोधनीय हैं। **दो,** द्वितीय संस्करण (१८८४) को पुनः यथावत् किसी ने प्रकाशित नहीं किया, और न आज कोई कर रहा है, तो इसका अभिप्राय है कि वह यथावत् प्रकाशन योग्य नहीं है। लिपिकरों और आदि-शोधकों की अयोग्यता, निष्ठाहीनता और मक्कारी से उसकी यह स्थिति बनी है। **तीन,** क्योंकि कोई भी पांडुलिपि और संस्करण अपने आप में पूर्णतः शुद्ध नहीं है, अतः सत्यार्थ-प्रकाश का शुद्धतम एकरूप संस्करण तीनों के समन्वय के बिना निर्मित नहीं हो सकता। अन्तिम दो बिन्दुओं पर उदाहरण-सहित मीमांसा अग्रिम अध्यायों में की जायेगी।

—०—

तृतीय अध्याय

सत्यार्थप्रकाश की मूलप्रति (मूलहस्तलेख), मुद्रणप्रति (मुद्रणहस्तलेख), द्वितीय संस्करण (१८८४) तथा अन्य प्रमुख संस्करणों का यथार्थ

गत अध्यायों में हमने प्रमाणों सहित यह पढ़ा कि महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश आदि अपने ग्रन्थों में अनेक प्रकार की त्रुटियों का रह जाना स्वीकार करते हैं और उनका जिम्मेदार अपने नौकरों अर्थात् लिपिकरों-शोधकों की अयोग्यता, प्रमाद और कामचोरी को मानते हैं। यह भी पढ़ा कि आज तक एक भी ऐसा सम्पादक-प्रकाशक नहीं है जिसने अपने संस्करण में सैंकड़ों संशोधन न किये हों। इस अध्याय में हम उन अशुद्धियों पर उदाहरणपूर्वक दृष्टिपात करते हैं।

परोपकारिणी सभा (अजमेर) के पुस्तकालय में वर्तमान में सत्यार्थप्रकाश की दो पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। उनमें मूल-हस्तलेख को 'मूलप्रति' तथा मुद्रणहस्तलेख को 'मुद्रणप्रति'=प्रेसप्रति कहा जाता है। तीसरी कोई प्रति नहीं है, और न कभी थी। मुद्रणप्रति (हस्तलेख) के अनुसार आरम्भिक द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति, सन् १८८४) का प्रकाशन हुआ था। तीनों प्रतियों का आन्तरिक परिचय और विश्लेषण इस प्रकार है—

१. मूल-हस्तलेख (मूलप्रति) का विश्लेषण—

मूल-हस्तलेख को ऋषि दयानन्द ने बोलकर लिखाया है अर्थात् उसके प्रोक्ता ऋषि दयानन्द थे और लिपि लिखनेवाले कई लिपिकर थे, लेखक थे। पुनः उस सम्पूर्ण प्रति का निरीक्षण-संशोधन ऋषि ने अपने हाथ से कम-से-कम दो बार किया है, एक बार नीली और दूसरी बार लाल स्याही से। कहीं वेतनभोगी शोधकों ने भी संशोधन किया हुआ है। लिपिकर द्वारा लिखते समय अक्षर, शब्द, वाक्यांश या वाक्य का छूट जाना, किसी शब्द को आगे-पीछे लिख देना, श्रवणभ्रान्ति से किसी अक्षर या शब्द के स्थान पर अन्य अक्षर या शब्द लिखा जाना, अपनी अयोग्यता के कारण अशुद्ध वर्तनी लिखना, वाक्यस्थ शब्दों का उपयुक्त क्रम न रहना आदि लेखन प्रक्रिया की सहज त्रुटियां हैं, जो मूलप्रति में विद्यमान हैं। **सीधी-स्पष्ट बात यह है कि जब लिप्यंकन लिपिकरों का है तो लिपि-सम्बन्धी समस्त त्रुटियां भी उन्हीं की हैं, उनका ग्रन्थकार ऋषि से कोई सम्बन्ध नहीं है।** उदाहरण के रूप में मूलप्रति में विद्यमान त्रुटियों के कुछ प्रकारों का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) मूल-हस्तलेख में विद्यमान अशुद्ध वेदमन्त्रों तथा शास्त्रीय उद्धरणों के कुछ उदाहरण—

मूलहस्तलेख में अशुद्ध उद्धरण व उसकी पृष्ठ संख्या

१.	सत्यमेव जयति नानृतम् (४)	११.	मा गृध कस्यश्विद्धनम् (२४४)
२.	परिणामे मृतोपमम् (४)	१२.	शास्वतीभ्यः समाभ्यः (२७५)
३.	प्रातःप्रातः सौमनस्य दाता (१३१)	१३.	मन्त्रान् सम्प्राददुः (२७९)
४.	पुण्यो क्षयफलः प्रेत्य (१७७)	१४.	शून्यं तत्त्वं भावेपि नश्यति (२९४)
५.	निर्हत्य शाश्वतीः (१८९)	१५.	अतिशुचिदुःखानामात्मसु (३१९)
६.	दुःष्ययुः सर्ववर्णाश्च (१९०)	१६.	तामसीसूत्तमा गतिः (३५२)
७.	यथाशास्त्रानुशारिणा (१९१)	१७.	राजसीसूत्तमा गतिः (३५२)
८.	पैशून्यं साहसम् (१९४)	१८.	आचार्य उपनयमानोब्रह्मचारिणमिच्छते (४४५)
९.	सर्वत्रैवानुसङ्गिणः (१९५)	१९.	आचार्यादेवो भव (४४५)
१०.	तथात्वायतिसंयुक्तः (२१५)	२०.	अतिथिर्गृहानुपगच्छेत् (४४५)

लिपिकर-लिखित त्रुटिपूर्ण उद्धरणों की संख्या लगभग सौ है। ये त्रुटियां संकेत देती हैं कि लिपिकरों को वर्तनियों

का, संस्कृत भाषा का और शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। प्रायः यही अशुद्धियां प्रकाशित द्वितीय संस्करण में भी मिलती हैं। इनसे सत्यार्थप्रकाश के मानकस्तर पर दुष्प्रभाव पड़ा है। शोधकों ने भी इनको शुद्ध नहीं किया है।

(ख) मूलहस्तलेख (मूलप्रति) में भाषा-रचना सम्बन्धी त्रुटियों के कुछ उदाहरण—

	अशुद्ध पाठ	मूलप्रति की पृष्ठ संख्या	शुद्ध रूप
१.	गण्यन्ते ये ते गुणाः, वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः	(३४)	[गुण्यन्ते, गुणयन्ति शुद्ध हैं]
२.	विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं	(५५)	[.....मत में हैं]
३.	इन्द्रियां भी स्वाधीन हो जाते हैं	(६२)	[.....हो जाती हैं]
४.	छत्तीस और आठ मिलके बयालीस	(६७)	[.....चवालीस]
५.	पाप पुण्य के आचरण देखके सुख दुःख का ज्ञान होता है	(८४)	[उलटे क्रम में वर्णन है]
६.	ये दोनों यज्ञ सायं प्रातः करना होता है	(१३१)	[.....करने होते हैं]
७.	पचीस वर्ष से लेके पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके	(१६८)	[पचास वर्ष से....]
८.	अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण की है	(३१३)	[....पृथिवी धारण की है]
९.	कुछ विद्वान् हुआ व वैराग्यवान् होकर राज्य को छोड़ दिया	(४२०)	[.....उसने वैराग्यवान्.....]
१०.	वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किये	(४६८)	[.....इकट्ठा किया]
११.	वह आगे चलकर जैनियों से पूछा	(५५२)	[उसने आगे.....]
१२.	लाखह अंधा और बहिरों को आंख और कान दिये	(६५८)	[लाखह अंधों....]
१३.	ईश्वर को बहकाकर और इनका ईश्वर बहक भी जाता है	(६८५)	[मध्य में त्रुटित वाक्य है]
१४.	जिसने एक बागी को भी अब तक न पकड़ पाया	(७७१)	[जो एक बागी को....]
१५.	नहीं है महम्मद बाप किसी मर्दों का	(७७४)	[.....किसी मर्द का]

यह अशुद्ध रचना लिपिकरों की अयोग्यता और शोधकों की मक्कारी को सूचित करती है। लिपिकरों का कर्त्तव्य था इनको व्याकरणानुसार लिखते, बाद में शोधकों का कर्त्तव्य था अशुद्ध वाक्यों को शुद्ध करके सम्पादित करते। उनके द्वारा कर्त्तव्यपालन न करने से भाषा दूषित रह गई है। लिपिकरों की दूषित भाषा प्रकाशित संस्करणों तक संक्रमण कर गई। मूलप्रति में ऐसी त्रुटियों की संख्या भी कई-सौ है। ये अधिकांश त्रुटियां द्वितीय संस्करण में भी हैं।

(ग) मूलहस्तलेख (मूलप्रति) में विद्यमान वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियों के एक सौ उदाहरण—

निम्न त्रुटियां यह संकेत देती हैं कि मूलप्रति के लिपिकरों की भाषाविषयक आवश्यक योग्यता नहीं थी। उससे सत्यार्थप्रकाश की भाषा विकृत हुई है। विकृति की यह परम्परा मुद्रणप्रति से होती हुई प्रकाशित अन्य संस्करणों तक चली गई। बाद में, पाठकों में यह भ्रान्ति भी पनप गई कि ये वर्तनियां ग्रन्थकार द्वारा स्वीकृत हैं, जबकि ऐसा नहीं है। वेतनभोगी शोधकों ने इनको शुद्ध नहीं किया है, उनकी यह अयोग्यता भी है और कामचोरी की प्रवृत्ति भी। ऐसी त्रुटियां कई सौ हैं। शब्दों के सामने कोष्ठक में शुद्ध वर्तनी दी है तथा पृष्ठसंख्या मूलप्रति की है—

उन्नती (उन्नति)	३	क्रमसः (क्रमशः)	४३	वालमीकि (वाल्मीकि)	९५
पुरान (पुराण)	८	उच्चार्ण (उच्चारण)	४४, ६३	सरस्वति (सरस्वती)	१०६
धर्त्ता (धरता)	९	प्रशन्न (प्रसन्न)	४८	और्थवेद (अर्थवेद)	१०७
सुपरणो (सुपर्णो)	१३	ज्योत्सी (ज्योतिषी)	४९ (अनेक बार)	ग्रहाश्रम (गृहाश्रम)	१०७
आशान्ति (अशान्ति)	२१	विषयि (विषयी)	५२	परासर (पराशर)	१११
प्राणि (प्राणी)	२५	शकल (सकल)	६०	पुराणिक (पौराणिक)	१११
पृणाति (प्रीणाति)	३६	अर्घमर्ण (अघमर्षण)	६२	अतिथी (अतिथि)	१३६
त्रिसप्ताः (त्रिषप्ताः)	४०	धातू (धातु)	६३	वेदान्ति (वेदान्ती)	१३७
शोलहवें (सोलहवें)	४२, १०१	भक्ती (भक्ति)	७४	अवधी (अवधि)	१५८
चर्क्क (चरक)	४२	आवर्ण (आवरण)	८२	मद्री (माद्री)	१५९, ३६३

दाशि (दासी)	१५९	गर्बगंड (गवरगंड)	३९२	नाभी (नाभि)	४७०
शर्प्पव्यूह (सर्पव्यूह)	२२३	साधू (साधु)	३९९,४५०	सर्म्म (शर्म)	४७२
सुचीव्यूह (सूचीव्यूह)	२२३		(अनेक बार)	शर्म्मा (सरमा)	४७२
बन्दूख (बंदूक)	२२३	वाममार्गि (वाममार्गी)	४०४	शनकादि (सनकादि)	४७४
सहर (शहर)	२२४,४१६	जोसी (जोशी)	४०५	सद्गती (सद्गति)	४७६
कवाइत (कवायद)	२२६	सारदा (शारदा)	४०५	प्रहलाद (प्रह्लाद)	४७६
पुलूटिकल (पोलिटिकल)	२२७	महान्त (महन्त)	४०५,४९६	सायत (शायद)	४७७
सरीर (शरीर)	२४३	नकसा (नक्शा)	४०७	कुंभकरण (कुंभकर्ण)	४७७
विषयाशक्ति (विषयासक्ति)	२४३	उपाधी (उपाधि)	४०८	मर्त्ता (मरता)	४८५
कीड़ि (कीड़ी)	२५९	भर्तृरीहरी (भर्तृहरि)	४२०	संप्रदाई (सम्प्रदायी)	४९४
कंश (कंस)	२६०	वंस (वंश)	४२०	रुक्मणी (रुक्मिणी)	४९६
नर्क (नरक)	२६१	शिल्पि (शिल्पी)	४२४	चर्स (चरस)	५०३
तन्तू (तन्तु)	२८८	अस्त्रुपात (अश्रुपात)	४२७	मर्जूर (मजदूर)	५०६
रज्जू (रज्जु)	२९६	पूजारन् (पुजारन)	४४६	साहपुरा (शाहपुरा)	५१२
कवी (कवि)	३१३	वैश्या (वेश्या)	४४६	फोज (फौज)	५२६
मुमुक्षू (मुमुक्षु)	३३७	असर्फी (अशर्फी)	४५०	माधव (माध्व)	५५३
मिथिलापूरी (मिथिलापुरी)	३६३	चलक्ता (चलकता)	४५२	महमद (मुहम्मद)	५४१
पांडू (पांडु)	३६३	बुत्शिकन् (बुतशिकन)	४५५	अर्णा भैंसा (अरणा भैंसा)	५४३
आपस्तंभ (आपस्तम्ब)	३६७	दल्दल (दलदल)	४५७	सम्यक्ति (सम्यक्त्वी)	५५२
उलोपी (उलूपी)	३६४	बद्रीनारायण (बदरीनारायण)	४५८	कलयुग (कलियुग)	५५८
सर्यांति (शर्यांति)	३८०,३८१	पशुपती (पशुपति)	४५८	बौध (बौद्ध)	५६७
स्वायंभव (स्वायम्भुव)	३८१,४६३	नैमिशारण्य (नैमिषारण्य)	४५४	अफिरीका (अफ्रीका)	६९८
दाराशिको (दाराशिकोह)	३८५	हरिवंस (हरिवंश)	४६२	काफर् (काफ़िर)	७८७
वात्स्याह (बादशाह)	३८५,५२९	पूरानी (पुरानी)	४६२		

(घ) मूलहस्तलेख (मूलप्रति) में असावधानी से त्रुटित मात्रा अक्षर, शब्द आदि के कुछ उदाहरण

(उसकी पृष्ठसंख्या सहित)—

१. विशे कर ग्यारहवें	(१) [विशेषकर]	११. उपदे करें	(२२३) [उपदेश करें]
२. आर्य	(५५) [आचार्य]	१२. उत कीर्त्ति को	(२३४) [उत्तम कीर्ति को]
३. अर्था	(६७) [अर्थात्]	१३. इंलंड	(२७८) [इंगलैंड]
४. ज्योति शास्त्र	(९७) [ज्योतिष शास्त्र]	१४. उलंबस	(२७८) [कोलंबस]
५. दरिद्रा	(११२) [दरिद्रता]	१५. सकार होता है	(२९३) [साकार होता है]
६. प्रशन्ना	(१२४) [प्रसन्नता]	१६. स्वभाव गुणों से	(२९८) [स्वाभाविक गुणों से]
७. गृहाश्र से	(१५७) [गृहाश्रम से]	१७. इंलिस भाषा	(३२१) [इंगलिश भाषा]
८. उत्पाद करेगा	(१७८) [उत्पादन करेगा]	१८. मननीयों के लिए	(४३०) [माननीयों के लिए]
९. व्याख्यास्यमः	(१८५) [व्याख्यास्यामः]	१९. आचार्य की तमन से सेवा	(४४५) [....तन मन से सेवा]
१०. पक लें	(२२३) [पकड़ लें]	२०. नायण की मन्त्रपूर्वक पूजा	(५००) [नारायण की.....]

लिपिकरों द्वारा इस प्रकार हुई असावधानियों को समझकर, शुद्ध पाठ-निर्धारण करना आवश्यक है। मुद्रण-हस्तलेख तृतीय समुल्लास पृष्ठ ३० पर ''**जप मन से करना उत्तम है**'' के स्थान पर असावधानी से मुद्रणलिपिकर ने ''**जमन से करना उत्तम है**'' लिख दिया, जिसको शोधक ने अनुमान से ''**जन्म से करना उत्तम है**'' पाठ कर दिया

और द्विप्र० में वही अशुद्ध प्रकाशित हो गया (पृ० ४१)। वास्तविकता को बिना समझे द्वितीय संस्करण के पक्षधरों ने इसकी व्याख्या को लेकर बेतुका विवाद खड़ा कर दिया अब मूलप्रति में वह शुद्ध पाठ सुलभ हो गया है (पृ० ६३)। बिल्कुल वैसी ही गलती क्रमसंख्या १९ पर "**तमन**" है। ऐसी त्रुटियों की संख्या भी कई सौ है। अन्य त्रुटियों के उदाहरण विस्तारभय से नहीं दिये जा रहे हैं। उनको ग्रन्थ में टिप्पणियों में यथास्थान देखें।

यह दु:स्थिति मूलप्रति (मूलहस्तलेख) की है। लिपिकर-शोधककृत पर्याप्त त्रुटियां रह जाने के कारण इसमें संशोधन अपेक्षित हैं। त्रुटियों के रहते यह प्रति शुद्धतम संस्करण का एकमात्र आधार नहीं बन पायेगी।

२,३. मुद्रणहस्तलेख (मुद्रणप्रति, प्रेसप्रति) और द्वितीय संस्करण (१८८४) का विश्लेषण—

(क) मुद्रणप्रति का विश्लेषण—जिसके आधार पर द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति, सन् १८८४) छपा है वह मुद्रणप्रति (प्रेस कापी) कहाती है। लिपिकरों ने मूल-हस्तलेख से देख-देखकर यह प्रतिलिपि की है। इसमें लीगल साइज के कुल ४९० पृष्ठ हैं। प्रतिलिपि करते समय इसमें कहीं अक्षर, कहीं शब्द छूट गया, कहीं अर्धवाक्य, कहीं पूर्णवाक्य, कहीं पंक्ति, कहीं अनुच्छेद, तो कई स्थानों पर पूरे-पूरे पृष्ठ ही लिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिये हैं। साथ ही इन लेखकों-लिपिकरों ने अपनी योग्यता-अयोग्यता के अनुसार शब्दों की वर्तनियां कहीं-कहीं शुद्ध-अशुद्ध रूप में परिवर्तित करके लिखी हैं। मूलहस्तलेख में कोई वर्तनी शुद्ध थी तो इन्होंने उसको अशुद्ध लिख दिया और कोई वर्तनी अशुद्ध थी तो कहीं शुद्ध भी कर रखी है। ज्ञात होता है कि महर्षि ने प्रतिलिपि-कर्त्ता लेखकों को, बस, इतना निर्देश दिया होगा कि कहीं भाषा में कोई कमी हो तो उसको ठीक कर देना। उस छूट का अनुचित लाभ उठाते हुए लिपिकरों ने मुद्रणप्रति की भाषा में स्वच्छन्दतापूर्वक लगभग १९०० पाठान्तर, परिवर्तन और परिवर्धन किये हैं जिनमें काफी संख्या में अशुद्ध, व्यर्थ और अवांछनीय हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों उद्धरणों का अशुद्ध लेखन किया है, सैकड़ों नये पाठ अशुद्ध बना दिये हैं। अनेक स्थलों पर ऋषि की संक्षिप्त भाषा का व्यर्थ विस्तार भी किया है। ऐसे स्थानों पर ऋषि की और लिपिकरों की भाषाशैली में स्पष्ट अन्तर आ गया है। ऋषि की भाषाशैली संक्षिप्त, गम्भीर, सारगर्भित, यथार्थात्मक और सुगठित है जबकि लिपिकरों की भाषाशैली विस्तृत, अगम्भीर, अतिशयोक्तिपूर्ण, सारहीन, बनावटी और शिथिल है। इस प्रकार मुद्रणप्रति में लिपिकरों ने अनेक नयी-पुरानी अशुद्धियां की हैं। लिपिकरों-लेखकों ने कई स्थानों पर महर्षि के अभिप्राय के विरुद्ध और स्वाभिमत प्रक्षेप भी किये हैं, जिनके उदाहरण इसी अध्याय में आगे प्रदर्शित किये जायेंगे।

ऋषि ने पृष्ठ ३४४ तक अर्थात् १३वें आधे समुल्लास तक ही तथा किसी अन्य शोधक ने भी इसका निरीक्षण करके शोधन किया है, किन्तु इसमें भी अनेक अशुद्धियां असंशोधित रह गई हैं। जहां पाठ त्रुटित रहने से असंगति उत्पन्न हो गई थी वहां ऋषि ने तथा शोधक ने अनुमान से संगति लगाने का प्रयास किया है, किन्तु कहीं तो संगति लगाना छूट गया, कहीं मूलहस्तलेख के समान उपयुक्त संगति नहीं लग पाई, तो कहीं अनुमान से संगति लगाते समय मूलपाठ त्रुटित रह गया। प्रतीत होता है कि मुद्रणप्रति के निरीक्षण के समय महर्षि और शोधक के पास सत्यार्थप्रकाश का मूल-हस्तलेख नहीं था, नहीं तो उससे सही-सही मिलान किया मिलता और अनेक पाठत्रुटियां नहीं होती तथा संगति के लिए अनावश्यक नये पाठान्तर नहीं किये गये होते। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि लगभग वे सारी त्रुटियां मुद्रण-हस्तलेख के आधार पर प्रकाशित द्वितीय संस्करण (१८८४) में आ गई और वे आज भी विद्यमान हैं।

(ख) द्वितीय संस्करण (१८८४) और उसका विश्लेषण—सत्यार्थप्रकाश का संशोधित-परिवर्धित संस्करण जो सन् १८८४ के दिसम्बर में प्रकाशित हुआ उसको '**द्वितीय संस्करण (१८८४)**' कहा जाता है। यह अक्तूबर-नवम्बर १८८२ में छपना आरम्भ हुआ था और दिसम्बर १८८४ में प्रकाशित होकर उपलब्ध हुआ। इसके मुद्रण में विलम्ब होने के अनेक कारण रहे जिनमें वैदिक यन्त्रालय में बाहरी कार्यों की अधिकता और महर्षि दयानन्द का विषप्रदान के कारण देहान्त होना, मुख्य थे। मुद्रण के समय सत्यार्थप्रकाश में अनेक परिवर्तन-संशोधन हुए जो ३२० पृष्ठ तक ग्रन्थकार ने और आगे वेतनभोगी प्रूफनिरीक्षक-शोधक पं० ज्वालादत्त शर्मा और पं० भीमसेन शर्मा ने भी किये। प्रकाशन के समय कुछ संशोधन एवं परिवर्तन मुंशी समर्थदान ने भी किये हैं। महर्षि भाव और सिद्धान्तगत संशोधनों पर मुख्यत: ध्यान देते थे जबकि भाषा-सम्बन्धी समस्त संशोधनों का दायित्व उक्त दोनों पंडितों का निर्धारित था।

'मूलप्रति' जब प्रकाशन योग्य बन गई तो प्रेस में भेजने के लिए उससे मुद्रणप्रति=प्रेसप्रति तैयार की गई थी। उस मुद्रणप्रति से द्वितीय संस्करण मुद्रित हुआ, अतः मुद्रणप्रति में लिपिकरों द्वारा की गई जो अशुद्धियां थीं, वे अधिकांशतः द्वितीय संस्करण में आ गईं। उनके अतिरिक्त शोधकों की मक्कारी के कारण बहुत अधिक संख्या में मुद्रण दोष भी द्वितीय संस्करण में उत्पन्न हो गये। यदि हम द्वितीय संस्करण में प्राप्त समग्र अशुद्धियों का आकलन करें तो वे ४००० से अधिक निकलेंगी। इन सब अशुद्धियों के उत्तरदायी महर्षि नहीं अपितु लिपिकर और शर्माद्वय शोधक हैं। महर्षि को भाषागत अशुद्धियों का आभास था, इसीलिए उन्होंने द्वितीय संस्करण के टाइटल पृष्ठ और मुखपृष्ठ पर यह वाक्य लिखवाकर भाषागत अशुद्धियों से स्वयं को मुक्त कर लिया था—

''पण्डित ज्वालादत्तभीमसेनशर्मभ्यां संशोधितः'' (द्र० शोधसं० पृ० ४)

इसके अतिरिक्त महर्षि ने और मुंशी समर्थदान ने स्पष्टतः मुद्रणप्रति में त्रुटियां मानी हैं और उनका जिम्मेदार लेखकों को माना है। २९ सितम्बर १८८३ को जोधपुर में महर्षि को विष दे दिया गया और उसके परिणामस्वरूप ३० अक्तूबर १८८३ को उनका देहान्त हो गया। इस अवधि में और देहान्त के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश इन्हीं पंडितों के स्वतन्त्र निरीक्षण-संशोधन में छपा। इन्होंने मक्कारी की सारी सीमाएं उस समय लांघ दी जब १२वां समुल्लास छपा, क्योंकि उसका मुद्रण भ्रष्टतम है। १३-१४ समुल्लास मुंशी समर्थदान जी के निरीक्षण-संशोधन में छपे जो पर्याप्त ठीक हैं। सन् १८८४ में ग्रन्थ छपने के बाद इन पंडितों ने ग्रन्थ के आरम्भ में एक 'शुद्धाशुद्धि पत्र' संलग्न किया, उसमें भी केवल १४७ अशुद्धियां प्रदर्शित की हैं, जबकि सैकड़ों गम्भीर अशुद्धियां अप्रदर्शित रह गई। यों समझें कि शुद्धाशुद्धि पत्र भी एक खानापूर्ति ही है। मुद्रणकाल में इनके प्रमाद से अनेक पाठ त्रुटित रह गये, तो अनेक में अशुद्ध परिवर्तन किया गया है। कुछ लोग कह सकते हैं कि वह परिवर्तन महर्षि द्वारा कराया भी हो सकता है। इसके उत्तर में पहले भी कहा जा चुका है कि कोई भी लेखक अपने पाठ को शुद्ध और शुद्धतर तो करा सकता है किन्तु विकृत और विकृततर नहीं।

(ग) मुद्रणप्रति में ऋषि दयानन्द के हस्तलेख में लिखित पाठों में भी, मुद्रणलिपिकर द्वारा और मुद्रणकाल में शोधक द्वारा किये गये अनावश्यक और अशुद्ध परिवर्तनों के कुछ उदाहरण जो द्वितीय संस्करण में भी विद्यमान हैं—

मुद्रणलिपिकर ने मूलप्रति से मुद्रणप्रति=प्रेसप्रति तैयार करते समय ऋषि के हस्तलेख में लिखित पाठों में भी अनावश्यक और अशुद्ध परिवर्तन किया है। स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ऋषि स्वयं ऐसा नहीं करा सकते। वही परिवर्तित या अशुद्ध पाठ द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपे हैं। उन्हीं का अनुकरण प्रचलित अन्य द्वितीय संस्करणों में किया गया है। ऐसा करना, शोधक और मुद्रणलिपिकर को महिमामण्डित करना तथा उनकी तुलना में महर्षि का तिरस्कार करना है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

	मूलप्रति या मुद्रणप्रति जिसमें ऋषि का हस्तलेख है और उसकी पृष्ठ संख्या	मुद्रणप्रति या द्वितीय संस्करण जिसमें परिवर्तन है और उसकी पृष्ठ संख्या	टिप्पणी और शोध संस्करण की पृष्ठ संख्या
१.	''सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः'' (मुद्रणप्रति १)	—''सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः'' (द्विप्र० ३)	—व्यर्थ परिवर्तन है। (५)
२.	''जो ऐसे-ऐसे प्रकरणों में'' (मूलप्रति १५)	—''जो ऐसे-ऐसे प्रमाणों में'' (मुद्रणप्रति ७)	—अशुद्ध परिवर्तन है। (२५)
३.	''पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा होता है।'' (मूलप्रति ३८)	—''पदार्थों को ज्ञान भी उन्हीं को पूरा-पूरा हो सकता है।'' (मुद्रणप्रति १७ [१९])	—व्यर्थ परिवर्तन है। (५४)
४.	''मधुर, गम्भीर, सुस्वर, अक्षर, मात्रा..... श्रवण होवे।'' (मूलप्रति ४४)	—''मधुर गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर मात्रा.... श्रवण होवे।'' (मुद्रणप्रति १७ [२२])	—व्यर्थ परिवर्तन है। (६३)
५.	''हुई भई वृष्टि होने वाली वृष्टि का'' (मुद्रणप्रति ४० [४५])	—''हुई वृष्टि होने वाली वृष्टि का'' (द्विप्र० ६५)	—व्यर्थ परिवर्तन है। (१२२)
६.	''इसके लिये सुन्दर जंगल में ..... कोट बनाके'' (मुद्रणप्रति १०१)	—''इसलिये सुन्दर जंगल में ..... कोट बनाके'' (द्विप्र० १४९)	—''इसके लिये'' ऋषिलिखित है। उसका अशुद्ध परिवर्तन है। मुद्रण-प्रति एवं द्विप्र० में (१४९)

७.	''आप स्वकृपा से....बुद्धिमान् हमको इसी वर्तमान समय में कीजिये।'' (मूलप्रति २३६)	—''आप कृपा से.....बुद्धिमान् हमको इसी वर्तमान समय में कीजिये।'' (द्विप्र० १८४)	—ऋषिलिखित ''स्वकृपा'' पाठ को मुद्रणलिपिकर ने बिगाड़ दिया, वही द्विप्र० में है। (३३०)
८.	''वही धर्म माननीय और करणीय समझें।'' (मुद्रणप्रति १७५)	—''वही धर्म माननीय और करणीय है।'' (द्विप्र० २५७)	—द्विप्र० में ''करणीय है'' पाठ व्यर्थ बदला है। (२५७)

मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय, मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित उन पाठों के कुछ उदाहरण जिन्हें संशोधन करते समय ऋषि ने पुनः अपने हाथ से किनारे पर लिख कर पूर्ण किया है—

	मूलप्रति में प्राप्त पाठ	शोध संस्करण की पृष्ठ संख्या	मुद्रणप्रति में त्रुटित और ऋषि द्वारा लिखित पाठ और उसकी पृष्ठ संख्या
१.	''अथ ओंकारार्थः''	(२४)	४
२.	''व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः=पृथिवी में गन्धगुण स्वाभाविक है।''	(११३)	४१
३.	''नासिका से जिसका ग्रहण हो.....''	(११६)	४३
४.	''तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्''	(२६३)	१०६
५.	''प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न''	(४४२)	१६८
६.	''येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुण लक्षणम्''	(४६७)	१७८
७.	''शिवाय च शिवतराय च''	(५७१)	२१२
८.	''श्रीमते नारायणाय नमः''	(५७४)	२१४
९.	''हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्''	(६१३)	२३०
१०.	''प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशि पापं विनश्यति''	(६१३)	२३०
११.	''गले में लटका लेती है वैसे पुजारियों के गले में भी लटकते हैं।''	(६५४)	२४९
१२.	''नमो अरिहन्ताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं''	(७८२)	३२३
१३.	''आकाश के ऊपर के पानियों से''	(८५०)	३४२
१४.	''तौरेत यात्रा की पुस्तक''	(८७४)	३४३
१५.	''बिना इनके किसी को शोभा प्राप्त नहीं होती''	(७८)	२७
१६.	''और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना संभव हो, उनको सदा कारागार में रक्खे''	(२७०)	१५२
१७.	''जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है।''	(३४५)	१९२
१८.	मूलप्रति में पाठ था—''सृष्टि के पहले''। मुद्रणप्रति में ऋषि ने लिखा—''इस जगत् की उत्पत्ति से पूर्व।''	(३७३)	२०८

(घ) मुद्रणप्रति में शोधने के उपरान्त भी उपलब्ध वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियों के सौ उदाहरण—

निम्नांकित त्रुटियां संकेत देती है कि मुद्रणलिपिकर को हिन्दी भाषा की वर्तनियों का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। उसकी ये गलतियां सत्यार्थप्रकाश की भाषा की विकृति का कारण बनी हैं। मूलप्रति में जो वर्तनियां अशुद्ध हैं, वे प्रायः सभी मुद्रणप्रति में भी अशुद्ध हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि मुद्रणलिपिकर ने मूलप्रति को सामने रखकर प्रतिलिपि की है, मुद्रणप्रति को किसी ने बोलकर नहीं लिखाया है। मुद्रणप्रति में वर्तनी सम्बन्धी ऐसी कई-सौ त्रुटियां आज भी विद्यमान हैं। द्वितीय संस्करण (१८८४) में इनमें से बहुत-सी संशोधित कर दी हैं, किन्तु शोधक पंडितों के प्रमाद और अयोग्यता के कारण बहुसंख्या में नयी उत्पन्न हो गई हैं। इस शोधसंस्करण में टिप्पणियों में उनकी जानकारी दी गई है, पाठक यथास्थान देखें। नीचे पहले मुद्रणप्रति में विद्यमान अशुद्ध वर्तनियां प्रदर्शित हैं, उनके आगे कोष्ठक में उनका शुद्ध रूप है, उसके बाद मुद्रणप्रति की पृष्ठसंख्या दी गई है। यहां केवल एक सौ त्रुटियों के उदाहरण ही प्रदर्शित हैं—

लक्ष (लक्ष्य)	२, २२०	पुत्रेषणा (पुत्रैषणा)	९२	महान्त (महन्त)	२०२, २२९
उन्नती (उन्नति)	२, २४५	कमंडलू (कमंडलु)	९४	नकसा (नक्शा)	२०२
पुरान (पुराण)	४	गती (गति)	९४	उपाधी (उपाधि)	२०३
सुपरणः (सुपर्णः)	७	सक्ते (सकते)	९४	भर्तृरीहरी (भर्तृहरि)	२०८
परमाणे (प्रमाणे)	९	हे ऋषयो! (हे ऋषियो)	९५	सहर (शहर)	२१०
आत्मयोगी (आप्त, योगी)	११	गार्गि (गार्गी)	९९	शिल्पि (शिल्पी)	२१०
क्रीडते (क्रीडति)	१३	प्रवर्त्त (प्रवृत्त)	९९	चरणार्विन्द (चरणारविन्द)	२१४
प्राणि (प्राणी)	१८, ९४	प्रसंशा (प्रशंसा)	९९	अंस (अंश)	२१५
आचार्यमान् (आचार्यवान्)	२०	सिकार (शिकार)	१०५	पुजारिन् (पुजारिन)	२२१
प्रशन्न (प्रसन्न)	२३	तहशील (तहसील)	१११	असर्फी (अशर्फी)	२२४
सीतला (शीतला)	२४	शर्प्प (सर्प्प)	११६, २३५	दल्दल (दलदल)	२२८
ज्योतिसी (ज्योतिषी)	२४, २६७	पंचासत् (पंचाशत्)	११८	पशुपती (पशुपति)	२२८
शुद्धी (शुद्धि)	२९, ६७	कंश (कंस)	१३५	महात्म्य (माहात्म्य)	२२९
धातू (धातु)	३०	नर्क (नरक)	१३८	नैमिशारण्य (नैमिषारण्य)	२३०
आवर्ण (आवरण)	३९, १६५	सुसुप्ति (सुषुप्ति)	१३८, १५०	बक्ता (बकता)	२३०
वाल्मीकी (वाल्मीकि)	४७	स्वामि (स्वामी)	१३८	पूरानी (पुरानी)	२३०
चर्क्क (चरक)	४८	अनादी (अनादि)	१४७	काशि (काशी)	२३०
ग्रहाश्रम (गृहाश्रम)	५३	तन्तू (तन्तु)	१४९	हरिवंस (हरिवंश)	२३०
दारिद्र (दारिद्र्य)	५४	बिन्दू (बिन्दु)	१५२	नाभी (नाभि)	२३४
तीक्षण (तीक्ष्ण)	५४	अन्त्य में (अन्त में)	१५२	शर्म्म (शर्म)	२३५
पुराणिक (पौराणिक)	५६	उलोपी (उलूपी)	१६०	शर्म्मा (सरमा)	२३५
ज्वान (जवान)	५७, ५८	जैनि (जैनी)	१६३	दश प्रजापति (दक्ष प्रजापति)	२३५
उच्चार्ण (उच्चारण)	५९	कर्त्ता (करता)	१६४, १६५	शनकादि (सनकादि)	२३७
स्तुती (स्तुति)	६८	जैमनि (जैमिनि)	१६८	सद्गती (सद्गति)	२३८
अवनती (अवनति)	७२	पांडू (पांडु)	१८५	अजामेल (अजामिल)	२३८
वेदान्ति (वेदान्ती)	७२, १४०	मुसलमान् (मुसलमान)	१८७	कुंभकरण (कुंभकर्ण)	२३८
भोक्ता (भोगता)	७५, १३६	सर्यांति (शर्यांति)	१९२	पतंजली (पतंजलि)	२४८
मद्री (माद्री)	८५, १९०	स्वायंभव (स्वायंभुव)	१९३, २३५	रुक्मणि (रुक्मिणी)	२४८
दाशि (दासी)	८५	दाराशिको (दाराशिकोह)	१९४	त्रुटी (त्रुटि)	२५०
शाशु (सासु)	८७	क्रमी (कृमि)	१९५	चर्स (चरस)	२५३
द्राष्टान्त (दार्ष्टान्त)	८७, २३३	साधू (साधु)	१९९, २२४	अर्धांगी (अर्धांगिनी)	२६४
आरण्य (अरण्य)	८९		(अनेक बार)	महमद (मुहम्मद)	२७०
लोकेषणा (लोकैषणा)	९२	जोसी (जोशी)	२०२	सक्यक्ति (सम्यक्त्वी)	२७५
वित्तेषणा (वित्तैषणा)	९२	सारदा (शारदा)	२०२	विचारसील (विचारशील)	२९८

(ङ) संशोधन के बाद भी मुद्रणप्रति में विद्यमान वेदमन्त्रों के अशुद्ध पाठ और उनके उदाहरण—

मुद्रणप्रति में अशुद्ध मन्त्रपाठ व उसकी पृष्ठ संख्या	वेदों में प्राप्त शुद्ध मन्त्रपाठ व शोधसं० की पृष्ठ संख्या
१. ''अथो दिव्यस्स सुपरणो गरुत्मान्'' (७)	''अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्'' (२५)
२. ''एकं सद् विप्रा बहु वदन्ति'' (७)	''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'' (२५)
३. ''इन्द्रे श्वानास इन्द्रः'' (७)	''इन्द्रे स्वानास इन्दवः'' (२५)

४.	''जर्फरीतुर्फरीत्यादि'' (२९२)	''जर्भरीतुर्फरीत्यादि'' (७३७)
५.	''यो भूतः सर्वेश्वरो'' (७)	''यो भूतः सर्वस्येश्वरो'' (२५)
६.	''तस्माद् देवा अजायन्त'' (९)	''तेन देवाऽअयजन्त'' (२९)
७.	''शबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः'' (५७)	''सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः'' (१५७)
८.	''प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता'' (६९)	''प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता'' (१८२)
९.	''सायं सायं सौमनस्य दाता'' (६९)	''सायं सायं सौमनसस्य दाता'' (१८२)
१०.	''मा गृधः कस्यश्विद्धनम्'' (१२६)	''मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'' (३१७)
११.	''त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशता'' (१२६)	''त्रयस्त्रिंशता'' (३१९)
१२.	''अश्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्'' (१२९)	''अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्'' (३२८)
१३.	''अग्नेनय.....अस्मान् देववयुनानि'' (१३१)	''अग्ने नय...अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि'' (३३२)
१४.	''शास्वतीस्यः समाभ्यः'' (१४३, १४७)	''शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'' (३६२, ३७४)
१५.	''गूढ़मग्रे प्रकेत सलिलं सर्वमा'' (१४६)	''गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलम् सर्व मा'' (३७२)
१६.	''तन्माहिना जायतैकम्'' (१४६)	''तन्महिना जायतैकम्'' (३७२)
१७.	''मा वधीः पितरं मोतमातरम्'' (१८४, २२२)	''मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्'' (४८२, ५९२)
१८.	''आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते'' (१८४, २२२)	''आचार्य उपनयमानोब्रह्मचारिणं कृणुते'' (४८२, ५९२)
१९.	''नतस्य प्रतिमा अस्ति'' (२१९)	''न तस्य प्रतिमा अस्ति'' (५८४)
२०.	''अतिथिर्गृहानुपगच्छेत्'' (२२२)	''अतिथिर्गृहानागच्छेत्'' (५९२)
२१.	''ये त्रिसप्ताः परियन्ति'' (२०)	''ये त्रिषप्ताः परियन्ति'' (५६)
२२.	''आदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि'' (८३)	''अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि'' (२१५)
२३.	''इमन्देवा असपत्नं सुवध्वं'' (१०१)	''इमं देवा असपत्नं सुवध्वं'' (२५१,६३६)
२४.	''वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'' (१२४)	''प्रजापतेः प्रजा अभूम'' (३१६)
२५.	''नेनीयतेभीशुभिर्वाजिन'' (१३०)	''नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन'' (३३०)
२६.	''मनुष्या ऋषयश्च ये'' (१५८, यजुर्वेद)	''साध्या ऋषयश्च ये'' (४०१)
२७.	''ततो मनुष्या अजायन्त'' (१५८, यजुर्वेद)	(यजुर्वेद में यह मन्त्र नहीं है, ४०१)
२८.	''उत शूद्रे उतार्ये'' (१५९)	''उत शूद्र उतार्ये'' (४०३)
२९.	''उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्'' (१६१ ऋग्वेद)	(यह मन्त्र ही नहीं है ऋग्वेद में, ४१६)
३०.	''स दाधार पृथिवीमुत द्याम्'' (१६२)	''स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'' (४१७)
३१.	''अहं दां कृणुते पूर्व्य'' (१२६)	(मूलप्रति से प्रतिलिपि करते हुए पूरा मन्त्र ही त्रुटित छोड़ दिया, जबकि इसका अर्थ छपता आ रहा है, ३१७)
३२.	''दैवन्तदुसुप्तस्य'' (१३०)	''दैवं तदु सुप्तस्य'' (३२९)
३३.	''ज्योतिरेकन्तन्मे मनः'' (१३०)	''ज्योतिरेकं तन्मे मनः'' (३२९)
३४.	''बृहस्पते अतिदर्यो०'' (२४०)	''बृहस्पतेऽअतियदर्यो०'' (६३६)
३५.	''अग्नेर्नूनं प्रथमस्यामृतानाम्'' (१६९)	''अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां'' (४४४)
३६.	''यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं'' (१६३)	''यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं'' (४२४)
३७.	''ये तद्विदुस्त इमे समासते'' (१२६)	''य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'' (३१७)
३८.	''सोममिन्द्रा सुन्वन्तो'' (१२६)	''सोममिन्मा सुन्वन्तो'' (३१७)
३९.	''स्कम्भंतम्ब्रहि कतमः स्विदेवसः'' (१४३)	''स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः'' (३६२)
४०.	''तपोस्पवित्रं विततं दिवस्पते'' (२१४)	''तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे'' (५७५)

मुद्रणलिपिकर ने कितनी अयोग्यता और प्रमाद से वेदमन्त्रों को लिखा है, इसका स्पष्ट और विद्रूप चित्र उक्त उदाहरणों से हमारे सामने आ जाता है। आदि-शोधकों ने शोधन में मक्कारी भी की है और वेदों से मिलान भी नहीं

किया। इनमें से बहुत-सी अशुद्धियां मूलप्रति में भी हैं, किन्तु मुद्रणप्रति में शुद्ध करने के स्थान पर बढ़ गई हैं और द्वितीय संस्करण में और अधिक बढ़ गई हैं। वेदमन्त्रों का शुद्ध छपना सबसे मुख्य और गम्भीर विषय था। वेद मन्त्रों की जब यह दु:स्थिति है तो लौकिक प्रमाणों का क्या हाल होगा, उसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

(च) संशोधन के उपरान्त भी मुद्रणप्रति में विद्यमान, मुद्रणलिपिकर द्वारा लिखित शास्त्रीय अशुद्ध उद्धरणों के कुछ उदाहरण—

अशुद्ध पाठ व उसकी पृष्ठ संख्या	शास्त्र में प्राप्त शुद्ध पाठ व शोधसं० की पृष्ठ संख्या
१. ''सत्यमेव जयति नानृतम्'' (२)	''सत्यमेव जयते नानृतम्'' (१०)
२. ''तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमेतत्'' (७)	''तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्'' (२४)
३. ''स ब्रह्मा स विष्णुस्स रुद्रः'' (७)	''स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः'' (२४)
४. ''सपूर्वेषामपि गुरुः'' (१५, १४४)	''स एषः पूर्वेषामपिगुरुः'' (४३, ३६७)
५. ''मातृमान् पितृमानाचार्यमान्'' (२०)	''मातृमान् पितृमानाचार्यवान्'' (५८)
६. ''येन बालो न पाठितः। समामध्ये न शोभन्ते...'' (२६)	''येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये...'' (७६)
७. ''प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'' (२९)	''योगाङ्गानुष्ठानाशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'' (८४)
८. ''तिस्त्रोवस्थाःशरीरस्य'' (३४)	''चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य'' (९५)
९. ''पदार्थानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'' (४१)	''पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'' (११२)
१०. ''नित्ये स्वभावादनित्येषु'' (४२)	''नित्येष्वभावादनित्येषु'' (११४)
११. ''ब्राहमणानीतिहासान् पुराणिकल्पान्'' (४९)	''ब्राह्मणनीतिहासान् पुराणानिकल्पान्'' (१३५)
१२. ''परोक्षप्रिया इव देवाः'' (५३)	''परोक्षप्रिया हि देवाः'' (१४८)
१३. ''दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति'' (५४)	''दुहिता दुर्हिता दूरेहिता'' (१४९)
१४. ''विविधानिचशिल्पा समादेयानि'' (६७)	''विविधानि च शिल्पानि समादेयानि'' (१७९)
१५. ''तथा त्यागित्वमेव च'' (७८)	''तथाऽत्यागित्वमेव च'' (२००)
१६. ''लोकेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च पुत्रेषणायाश्च'' (९२)	''पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लौकैषणायाश्च'' (२३३)
१७. ''पुण्यो क्षयफलः प्रेत्य'' (९५)	''पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य'' (२३३)
१८. ''मात्रा निर्हत्य शाश्वतीः'' (१०२)	''मात्रा निर्हत्य शाश्वतीः'' (२५२)
१९. ''नाज्ञानामुदितोयुतैः''(१०३)	''नाज्ञानामुदितोऽयुतैः'' (२५६)
२०. ''स्वर्यात्यवसनी मृतः'' (१०४)	''स्वर्यात्यव्यसनी मृतः'' (२५९)
२१. ''दण्डे वैनैकी क्रिया'' (१०७)	''दण्डे वैनयिकी क्रिया'' (२६५)
२२. ''आरण्ये निःशलाके वा'' (११३)	''अरण्ये निःशलाके वा'' (२८१)
२३. ''भिद्यन्ते येन वा न वा'' (१०७)	''भिद्यन्ते येन मानवाः'' (२६५)
२४. ''अल्पोगृहीतव्यो राष्ट्राद्'' (११२)	''अल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्'' (२८०)
२५. ''तथात्वायति संयुक्तः'' (११३)	''तदात्वायति संयुक्तः'' (२८२)
२६. ''पादो धर्मस्य कर्त्तारम्'' (११९)	''पादोऽधर्मस्य कर्त्तारम्'' (२९८)
२७. ''अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः'' (१४३)	''अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुवेदः'' (३६३)
२८. ''ऋषयो मन्त्रदृष्टयः'' (१४५)	''ऋणीणां मन्त्रदृष्टयः'' (३६७)
२९. ''मन्त्रान् सम्प्राददुः'' (१४५)	''मन्त्रान् सम्प्रादुः'' (३६७)
३०. ''जुषमाणोनुशेते....भोगामजोन्यः'' (१४७)	''जुषमाणोऽनुशेते...भोगामजोऽन्यः'' (३७५)
३१. ''बहुःस्यां प्रजायेयेति'' (१४८)	''बहु स्यां प्रजायेयेति'' (३७६)
३२. ''अन्नेन सोम्यशुंगेनापो'' (१४८)	''सोम्यान्नेन शुंगेनापो'' (३७६)
३३. ''सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः'' (१४८)	''सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः'' (३७६)
३४. ''सत्वं ज्ञानं तमो ज्ञानं रागरजः स्मृतम्'' (१७८)	''सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्'' (४६६)

३५. ''तामसीसूत्तमा गतिः'' (१७९)	''तामसीषूत्तमा गतिः'' (४७१)
३६. ''द्यूतपानप्रशक्ताश्च'' (१७९)	''द्यूतपानप्रसक्ताश्च'' (४७१)
३७. ''राजसीसूत्तमा गतिः'' (१८०)	''राजसीषूतमा गतिः'' (४७१)
३८. ''यजमान ऋषयो देवाः'' (१८०)	''यज्वान ऋषयो देवाः'' (४७१)
३९. ''न मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्'' (१६८)	''मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्'' (४४२)
४०. ''भावं जैमनिर्विकल्पामननात्'' (१६८)	''भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्'' (४४०)
४१. ''हविषा कृष्णावर्त्तमेव भूयः'' (१८२)	''हविषा कृष्णावर्त्मेव भूयः'' (४७९)
४२. ''ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः'' (१८३)	''ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः'' (४७९)
४३. ''अयमात्मा अपहतपाप्मा'' (२०७)	''य आत्मा अपहतपाप्मा'' (४४२, ५५८)
४४. ''भेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ'' (२०७)	''भेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ'' (५६०)
४५. ''गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके'' (२०८)	''सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ'' (५६१)
४६. ''शेतुबन्धेति विख्यातम्'' (२२६)	''सेतुबन्ध इति ख्यातम्'' (६०२)
४७. ''क्वचिच्चोभय लक्षणः'' (२७८)	''क्वचिच्चोभयलक्षणा'' (७५१)
४८. ''देशनाभिन्नाः शून्यताद्वयलक्षणा'' (२७८)	''देशना ऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा'' (७५१)
४९. ''आर्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयम्'' (२९७)	''आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयम्'' (७५४)
५०. ''यादृशीशीतलादेवी तादृशो खरवाहनः'' (४३२)	''यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः'' (९८२)
५१. ''जर्फरीतुर्फरीत्यादि पंडितानां वचः (२९२)	''जर्भरीतुर्फरीत्यादिपण्डितानां वचः'' (७३७)
५२. ''अर्थानुपाद्य बहुशो'' (२९६)	''अर्थानुपार्ज्य'' (७५१)
५३. ''भोर को जब बहन घर को फिर जाता था'' (३७४)	''भोर को जब वह नगर को फिर जाता था'' (९०७)
५४. ''एली एली लामा सबक्तनी'' (३७९)	''एली एली लमा शबक्तनी'' (९१४)
५५. ''लाहि लाहि इलिल्लाः महमद रसूल'' (४८१)	''लाइलाह इल्लिल्लाः मुहम्मदर्रसूलल्लाः'' (१०३६)

यदि सूत्र, श्लोक, कारिका, आयत आदि सभी प्रकार के उद्धरणों की प्रत्येक त्रुटि को परिगणित करें तो मुद्रणप्रति में यह संख्या दो सौ से ऊपर जायेगी और द्वितीय संस्करण में तीन-सौ से ऊपर चली जायेगी। पाठक कल्पना करें कि अच्छा वेतन देने के बाद भी ऋषि को कैसे अयोग्य, मक्कार और प्रमादी लेखक-शोधक मिले थे। क्या दुर्दशा की है उन्होंने मुद्रणप्रति की!!

(छ) मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर द्वारा स्वेच्छाचारिता और प्रमाद से अशुद्ध रूप में बदले गये ऋषि के पाठ और उनके कुछ उदाहरण जो द्वितीय संस्करण (१८८४) में भी अशुद्ध रूप में विद्यमान हैं—

दोनों पांडुलिपियों के तुलनात्मक निरीक्षण से जानकारी मिलती है कि जिन वेतनभोगी मुद्रणलिपिकरों को महर्षि ने मुद्रणप्रति तैयार करने को दी थी, उन्होंने स्वेच्छाचारिता से ऋषि-पाठों में परिवर्तन किया है और उनमें अनेक पाठ भ्रष्ट कर दिये हैं। इसके अतिरिक्त अनेक पाठ प्रमादवश अशुद्ध लिखे गये हैं। स्पष्ट है कि अशुद्ध पाठ न तो महर्षि स्वयं बोलकर लिखा सकते हैं और न ऐसा करने की अनुमति दे सकते थे। जो कुछ हुआ है, वह उनके भी संज्ञान में पूर्णतः नहीं आ पाया, क्योंकि उनके पास कार्याधिक्य के कारण समयाभाव था अथवा, ऋषि ने भाषा-शोधन का दायित्व शर्माद्वय को दे रखा था। शोधकों ने भी मक्कारी की है, जो त्रुटियों को शुद्ध नहीं किया। कुछ उदाहरण इस दुर्दशापूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। वही अशुद्ध पाठ द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपे हैं—

	मूलप्रति में प्राप्त शुद्ध पाठ व शोध संस्करण की पृष्ठ संख्या	मुद्रणप्रति में विकृत किया गया पाठ व मुद्रणप्रति की पृष्ठ संख्या	द्वितीय सं० (१८८४) में पाठस्थिति और पृष्ठ संख्या
१.	''प्रसन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रखे।'' (७५)	—''सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रखे।'' (२६)	—मुद्रणलिपिकर-कृत यही अशुद्ध पाठ है (३५)

२. ''माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस-उसका पालन करें।'' (७५)	—''माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस-उसका यथेष्ट पालन करो।'' (२६)	—मुद्रणलिपिकरकृत यही भ्रष्ट परिवर्तन द्विप्र० में है (३५)
३. ''शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे।'' (२२८)	—''शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न करे।'' (९०)	—यही विपरीतार्थक, अशुद्ध पाठ द्विप्र० में है (१२५)
४. ''झल्ला अर्थात् तलाव आदि के खोदने -हारे'' (४७२)	—''झल्ला अर्थात् तलवार आदि से खोदने-हारे'' (१८०)	—मुद्रणप्रति का भ्रष्टपाठ अर्ध संशोधित है (२५४)
५. ''कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके।'' (२७४)	—''कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जना सके।'' (१११)	—यही अशुद्ध,भ्रष्ट,विपरीतार्थक पाठ-परिवर्तन है (१५४)
६. ''क्या यह बात अच्छी हो सकती है कि परमेश्वर के नाम पर पशु आदि को अत्यन्त दुःख देके प्राणहत्या करनी ? (९६६)	—''क्या यह बात अच्छी हो सकती है कि परमेश्वर के नाम पर शत्रु आदि को अत्यन्त दुःख देके प्राणहत्या करनी ? (४१८)	—यही आयतविरुद्ध और भ्रष्ट पाठ है। (५३३)
७. ''जिस प्रकार राजादि जनों के मित्र, उदासीन, और शत्रु उनको वश में करके अन्यथा करावें, वैसे काम [और उनके] मोह में न फसे।'' (२८९)	—''जिस प्रकार राजादि जनों के मित्र उदासीन और शत्रु को वश में करके अन्यथा न करावें ऐसे मोह में कभी न फसे।'' (११५)	—यही विपरीतार्थक भ्रष्ट परिवर्तन है (१६१)
८. ''जितने बलात्कार के काम....अपराध हैं, उनमें साक्षी की विशेष परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी न समझे।'' (३०२)	—''जितने बतात्कार के काम.....अपराध हैं, उनमें साक्षी की विशेष परीक्षा न करें और अत्यावश्यक भी समझें'' (१२१)	—यही परस्परविरोधी परिवर्तन है (१७०)
९. ''मेरा मन जागते हुए का दूर-दूर जाता।'' (३३०)	—''मेरा मन जगत् में दूर-दूर जाता।'' (१३०)	—यही अशुद्ध मन्त्रार्थ है (१८४)
१०. ''ब्रह्म, माया और अविद्या के योग के बिना 'ईश्वर' नहीं बनता।'' (३५४)	—ब्रह्म तथा माया और विद्या के योग के बिना ईश्वर नहीं बनता।'' (१४०)	—यही भ्रष्टतम परिवर्तन है (१९७)
११. ''वहां [वर्णित] अनेक प्रमाणों के विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन माननीय नहीं हो सकता है।'' (३६९)	—''वहां अनेकशः प्रमाणों के विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता।'' (१४५)	—यह अशुद्ध परिवर्तन है। (२०५)
१२. ''भूमि आदि सब लोकों को धारण किया है।'' (४१६)	—''भूमि आदित्य सब लोकों को धारण किया है।'' (१६१)	—यही भ्रान्तियुक्त परिवर्धन है (२२७)
१३. ''यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर आकाश में घूमता जाता है अर्थात् सूर्य के चारों ओर इस वास्ते भूमि घूमा करती है।'' (४१८)	—''यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है इस वास्ते भूमि घूमा करती है।'' (१६२)	—यही त्रुटित मन्त्रार्थ व अशुद्ध पाठ है, जो मुद्रण-लिपिकर-कृत है। (२२९)
१४. ''पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना [अस्मिता]'' (४५५)	—''पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अभिनिवेश।'' (१७३)	—यही महाभ्रष्ट पाठ है (२४४)
१५. ''मनुष्य रजोगुण-तमोगुण-युक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो, पश्चात् उसका [भी] निरोध कर'' (४७४)	—''मनुष्य रजोगुण-तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुण युक्त हो, पश्चात् उसका निरोध कर'' (१८१)	—यही भ्रष्ट पाठ है। (२५५)
१६. ''सब शाखायें विद्यमान थी वा नहीं ? यदि थी तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे और जो नहीं थी तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है ?'' (६५२)	—''सब शाखायें विद्यमान थी वा नहीं ? यदि नहीं थी तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे ओर जो कहो कि नहीं थी तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है ?'' (२४८)	—यही ऊटपटांग पाठ है (३४६)
१७. ''तुम और तुम्हारी भार्या, कन्या, पुत्रवधू तथा	—''तुम और तुम्हारी स्त्री, कन्या तथा पुत्रवधू	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बदला

पुत्रादि असमर्पित रहने से अशुद्ध रह गये वा नहीं ? जो असमर्पित वस्तु को अशुद्ध मानते हो तो अशुद्ध क्यों नहीं ?'' (६८१)	आदि असमर्पित रह जाने से अशुद्ध रह गये वा नहीं ? और तुम असमर्पित वस्तु को अशुद्ध मानते हो, पुनः उनसे उत्पन्न हुए तुम लोग अशुद्ध क्यों नहीं ?'' (२६३)	गया यही भ्रष्टतम पाठ द्विप्र० में है। (३६६) मूलप्रति में प्राप्त शुद्ध पाठ ग्राह्य है।
१८. ''वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष रहके, पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके'' (२३०)	—''वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके'' (८४[९०])	—मुद्रणलिपिकर का बिगाड़ा हुआ यही पाठ द्विप्र० में है। (१२६)
१९. ''जैसे सूर्य के अस्त होने में जार-पुरुष जारकर्म, चौर चौरीकर्म और पूर्ण विद्वान् सत्याचरण [सदाचरण] करते हैं।'' (७४५)	—''जैसे सूर्यास्त होने में जार पुरुष परस्त्री-गमन और विद्वान् सत्यभाषण आदि श्रेष्ठ कर्म करते हैं।'' (२९५)	—भ्रष्टतम परिवर्तन है। प्रसंग और आशय विरुद्ध, और त्रुटित वाक्य है। (४०३)
२०. ''यत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते''= जिस देश में कोई भी वृक्ष न हो, तो उस देश में एरण्ड का ही वृक्ष सबसे बड़ा और अच्छा गिना जाता है, वैसे महाजंगली देश में ईसा का भी होना ठीक था।'' (९०४)	—''अत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते'' इस देश में कोई भी वृक्ष न हो तो एरंड का भी कोई वृक्ष का होना ठीक था वृक्ष सबसे बड़ा और अच्छा गिना जाता है वैसे महाजंगली देश में आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है ?'' (३७२)	—द्विप्र० में यही मुद्रणलिपिकर का बिगाड़ा और अस्त-व्यस्त अशुद्ध पाठ छपा है। (४९६)
२१. ''स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करने पाओगे।'' (९०४)	—''स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने पाओगे'' (३७२)	—विपरीतार्थक भ्रष्ट पाठ है। (४९६)
२२. ''उनके सब गुनाह माफ....करेंगे।'' (९०६)	—''उनके सब गुण माफ़....करेंगे'' (३५२)	—अशुद्ध पाठ है। (४९७)
२३. ''भोर को जब वह नगर को फिर जाता था'' (९०७)	—''भोर को जब बहन घर को जाता था'' (३७४)	—भ्रष्ट पाठ है। (४९८)
२४. ''और वह पितर को और जबदी के दोनों पुत्रों को अपने संग ले गया।'' (९१०)	—''और वह पिता को और जब दो के दोनों पुत्रों को अपने संग ले गया।'' (३७६)	—भ्रष्टतम पाठ है (५००)
२५. ''ऐसी बात कोई सभ्य करेगा विना अविद्वान् और जंगली मनुष्य के ?'' (९१०)	—''ऐसी बात कोई भी सभ्य बिना करे/ बिना, अविद्वान् जंगली मनुष्य के'' (३७६)	—अशुद्ध पाठ है (५००)
२६. ''जब वे एक स्थान पर जो गलगथा था अर्थात् खोपड़ी का स्थान कहाता है, पहुंचे।'' (९१३)	—''जब वे एक स्थान पर जो गल गया था अर्थात् खोपड़ी का स्थान कहाता है, पहुंचे।'' (३७६)	—भ्रष्ट पाठ है (५०२)
२७. ''वह ईसा को मुर्दे जिलाने आदि का कामकर्त्ता मान लेवे।'' (९१९)	—''वह ईसा को मुर्दे जलाने आदि का कामकर्त्ता मान लेवो/लेवे।'' (३८३)	—भ्रष्ट पाठ है (५०६)
२८. ''यह बात केवल लोभ देके मूर्खों को फसाने के लिये.....है।'' (९७६)	—''यह बात केवल लोभ देके भूखों को फसाने के लिये.....है।'' (४२७)	—भ्रष्ट और हास्यास्पद परिवर्तन है। (५३९)
२९. ''नहीं है मुहम्मद बाप किसी मर्दों का'' (१०१७)	—''नहीं है मुहम्मद बाप किसी मुर्दों/ मुर्दे का'' (४६२)	—भ्रष्टतम पाठ है (५६६)
३०. ''मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा है तो इनसे अन्य मनुष्यों को दुःख देना भी अवश्य बुरा है। क्या अन्य सबको दुःख देना चाहिये ? जो ऐसा माने तो उसकी यह बात भी पक्षपात की है।'' (१०१९)	—''मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा है तो इनसे अन्य मनुष्यों को दुःख देना भी अवश्य बुरा है। जो ऐसा माने तो उसकी यह बात भी पक्षपात की है।'' (४६४)	—पाठ त्रुटित और अस्पष्ट बन गया है (५६७)
३१. ''हे सर्वाधार जगत्पित! ....सबका धर्त्ता, पिता''	—''हे सर्वाधार जगत्पते! ....सबका धर्त्ता,	—संस्कृत में मन्त्रार्थ का अशुद्ध

(८२)	पिता'' (२९)	परिवर्तन है (३९)
३२. ''जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है, और होगा, उसका स्वामी था, है, और रहेगा।'' (३२१)	—''जो कुछ उत्पन्न हुआ है, हुआ था, और होगा, उसका स्वामी था, है, और होगा।'' (१२७)	—पाठ में यही अशुद्ध क्रम है (१८०)
३३. ''अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने हारे'' (दांभिक पुरुष) (४७२)	—''अपने सुख के लिये अपनी प्रशंसा करने हारे'' (१८०)	—यही भ्रष्ट पाठ है (२५४)
३४. ''जब गर्भवती स्त्री से एक वर्ष पर्यन्त समागम न करने के समय में पुरुष से न रहा जाय, तो किसी विधवा से नियोग कर, उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करे।'' (२२१)	—''जब गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा स्त्री ने रहा जाय, तो किसी से नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे।'' (८७)	—यही भ्रष्ट व ऋषि के मन्तव्य-विरुद्ध पाठ है। (१२०)
३५. ''जो कोई इसको यथावत् विचारेगा वह इस ग्रन्थ को सुभूषित करेगा, और न विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा।'' (५१०)	—''जो कोई इसको यथावत् विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा।'' (१९१)	—त्रुटित एवं ऋषि के अभिप्राय के विरुद्ध भ्रष्ट पाठ बनाया है। (२७०)
३७. ''उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख बंदर के कुछ-कुछ समान मुखाकृति और आंखों की आकृतियुक्त होते हैं।'' (४९७)	—''उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान कुछ-कुछ मुखाकृति और नेत्र होते हैं।'' (१८५)	—अशुद्ध, अभिप्रायविरुद्ध पाठ बनाया है (२६१)
३८. ''जैसे एक गाय....से एक पीढ़ी में कुछ कम चार लाख मनुष्यों को सुख पहुंचता है।....एक गाय की पीढ़ी में ३९९७६० मनुष्य एक बार पालित होते हैं।'' ( )	—''जैसे एक गाय....से एक पीढ़ी में चार लाख पछहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुंचता है।....एक गाय की पीढ़ी में ४७५६०० मनुष्य एक बार पालित होते हैं।'' (१८८)	—''अशुद्ध गणना युक्त पाठ है। (२६५-२६६) वैसे सभी संस्करणों में गणनाएं अशुद्ध हैं।
३९. ''एक काल में जीव का अनुमान से होना और दृश्यमान में न होना'' (७६२)	—''एक काल में जीव का अनुमान से होना और अदृश्यपन में न होना'' (३००)	—यही भ्रष्ट पाठ है। (४११)
४०. ''प्रथम बाइबल के तौरेत का विषय लिखा जायगा। उनमें से प्रथम 'उत्पत्ति' के विषय में कुछ-कुछ विषय दिखलाया जाता है।'' (८४५)	—''प्रथम बाइबल के तौरेत का विषय लिखा जाता है।'' (३४१)	—यही मूर्खतापूर्ण, अपूर्ण, व्यर्थ परिवर्तित पाठ प्राप्त है। (४६४)
४१. ''आजकल कितना भडम्बा उसके नाम पर ईसाइयों ने बढ़ा रक्खा है।'' (९१२)	—''आजकल कितना भड़वा उसके नाम पर ईसाइयों ने बढ़ा रक्खा है।'' (३७७)	—यही अशुद्ध पाठ है (५०१)
४२. ''जब आदम साहब मिट्टी से बनाये गये'' (९५१)	—''जब आदम साहब मही से बनाये गये'' (४०६)	—यही अशुद्ध पाठ है (५२५)
४३. ''जो आप्त योगी, विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले....।'' (३३)	—''जो आत्मयोगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करने वाले....।'' (११)	—यही विकृत पाठ उपलब्ध है (१५)
४५. ''बुराइयों का आरम्भ भी परमेश्वर के नाम पर मुसलमान करते हैं।'' (९४१)	—''बुराइयों का आरम्भ भी परमेश्वर के नाम पर मुसलमान कहते हैं।'' (३९८)	—यही अशुद्ध पाठ प्राप्त है (५२०)
४६. ''ऐसे प्रकरणों में विराट्, पुरुष....आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं।'' (२९)	—''ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष....आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं।'' (९)	—ऋषिहस्तलेख को बदल कर यही अशुद्ध पाठ बनाया है। (१३)
४७. ''परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।'' (८७)	—''परन्तु यह जमन/ जन्म से करना उत्तम है।'' (३०)	—यही अशुद्ध पाठ है। (४१)
४८. ''गर्भ धारण करें। कभी भूल के भी बाल्यावस्था	—''गर्भधारण करके कभी भूल के भी	—मुद्रणलिपि कृत यही भ्रष्ट और

में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें।'' (१५८)	बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान करें।'' (५८)	विपरीतार्थक पाठ है। (८५)
४९. ''मान-अपमान आदि में हर्ष-शोक छोड़के'' (१६६)	—''मानापमान आदि हर्ष-शोक छोड़के'' (६२)	—यही अशुद्ध पाठ है। (९०)
५०. ''ओंकार का जप और अर्थविचार किया करें।'' (३३६)	—''ओ३म् इस एक परमात्मा के नाम का अर्थविचार करे, नित्यप्रति जप किया करे।'' (१३२)	—अपक्रम बना दिया। यह पाठ 'योगदर्शन' आदि के विरुद्ध है। (१८७)
५१. ''जैसे कि सर्प की निवृत्ति और रज्जु की प्रतीति होती है।'' (५४८)	—''जैसे सर्प की निवृत्ति और रज्जु की प्रवृत्ति होती है।'' (२०३)	—''यही अशुद्ध पाठ छपा है। (२८९)
५२. ''वे अन्धे उस धूर्त के साथ चले और वहां पहुंचकर देखा।'' (५७८)	—''वे अन्धे उस धूर्त के साथ चलके वहाँ पहुंचकर देखा।'' (२१६)	—यही लिपिकर द्वारा बनाई अशुद्ध वाक्यरचना है। (३०५)
५३. ''जल में घी-दूध की, बर्फ में दही आदि ....की भावना करके।''	—''जल में घृत, दुग्ध, दधि आदि की.... भावना करके'' (२१८)	—यही अशुद्ध पाठ है। (३०७)
५४. ''शत्रु के शरीर से जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सकते?'' (५८३)	—''शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सकते?'' (२१८)	—यही अशुद्ध पाठ है। (३०८)
५५. ''यह चमत्कार भी झूठा होवे। उत्तर—झूठा, झूठा, झूठा।'' (६०२)	—''यह चमत्कार भी झूठा हो जावे। उत्तर—''झूठी, झूठी, झूठी।'' (२२६)	—मुद्रणलिपिकरकृत अशुद्ध वाक्य प्राप्त है। (३१९)
५६. ''अपने देश के बने जूतों की भी कितनी प्रतिष्ठा करते हैं, उतनी अन्य देशस्थ मनुष्यों की भी नहीं करते।'' (७०१)	—''अपने देश में बने जूतों का भी कितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं।'' (२७१)	—परिवर्तन अनावश्यक भी है और अशुद्ध वाक्यरचना भी है (३७६)
५७. ''पोप जी जानो लाखों अवतार लेकर लीला फैला रहे हैं।'' (५३०)	—''जानो पोप जी लाख अवतार लेकर लीला फैलाई हो।''	—मुद्रणलिपिकृत यही अशुद्ध वाक्य है। (२७९)
५८. ''इत्यादि मिथ्या बातों का भागवत में कुछ पारावार नहीं।'' (६३२)	—''इत्यादि मिथ्या बातों का गपोड़ा भागवत में लिखा है, जिसका कुछ पारावार नहीं।'' (२३९)	—लिपिकरकृत व्यर्थ परिवर्तन-परिवर्धन है, अशुद्ध वाक्य है। (३३४)
५९. ''वे सब वेदोक्त धर्म छोड़ राम-राम पुकार रहे हैं।'' (६७१)	—''उन्होंने वेदोक्त धर्म को छोड़कर राम-राम पुकारना अच्छा माना है।'' (२५७)	—लिपिकरकृत व्यर्थ परिवर्तन व शिथिल भाषा है। (३५८)
६०. ''जब तक मान्यता बहुत रही तब तक लूटते रहे।'' (७२०)	—''जब तक मान्यता बहुत-सी रही तब तक खूब लूटा करते हैं।'' (२८१)	—लिपिकरकृत अनावश्यक व अशुद्ध परिवर्तन है। (३८९)
६१. ''दिशा, काल और आकाश आदि निराकार, हाथ और नाना प्रकार के साकार साधन आदि साधारण कारण।'' (३७९)	—''नाना प्रकार के साधन आदि साकार और आकाश साधारण कारण।'' (१४९)	—लिपिकरकृत यही विकृत, अपूर्ण पाठ छपा है। (२११)

(ज) मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में मुद्रणलिपिकरों-शोधकों द्वारा किये गये प्रक्षेपों के कुछ उदाहरण—

महर्षि के पास काम करने वाले वेतनभोगी प्राय: सभी लिपिकर-शोधक और सेवक अन्त:करण से महर्षि के विरोधी, अहितैषी और कुटिल प्रवृत्ति के थे। वे पौराणिक विचारधारा से ओतप्रोत थे और महर्षि के क्रान्तिकारी समाजसुधारक कार्यों को स्वधर्म एवं जातिविरुद्ध मानते थे, अत: वे महर्षि के वेतनभोगी नौकर होते हुए भी उनके प्रति वैमनस्य रखते थे। पं० ज्वालादत्त द्वारा मांसभक्षण-समर्थक प्रक्षेप मुद्रणप्रति में करना, दिनेशराम द्वारा प्रक्षेपों का दावा करना ('मीमांसा भाग' पृ० २७), पं० भीमसेन का ऋषि के देहान्त के बाद पौराणिक बनना और महर्षि के विरोध में

लिखना, सेवकों द्वारा महर्षि को विष दिया जाना, ये सब घटनाएं उनके नौकरों के मन में छिपी कुटिल प्रवृत्तियों की पुष्टि कर देती हैं। महर्षि को इस बात की सदा आशंका रहती थी कि ये लोग कहीं मेरे ग्रन्थों में पोपलीला अथवा सिद्धान्त विरोधी लेख न डाल दें। महर्षि ने ऐसे प्रक्षेपों की आशंका कई बार जताई है (द्रष्टव्य पृ० २६, २९)। इसी कारण वे अपने ग्रन्थों को छपने से पूर्व भी और बाद में भी देखा करते थे। इस विषयक उनका कटु अनुभव सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सन् १८७५) में हो चुका था। इतनी सावधानी रखने के पश्चात् भी लिपिकर-शोधक कई स्थलों पर पाठों में मिलावट अथवा सिद्धान्त विरोधी परिवर्तन करने में सफल हो गये। इसकी पुष्टि में कुछ उदाहरण प्रदर्शित किये जा रहे हैं—

(१) मुद्रणप्रति में मांसभक्षण-विधायक प्रथम प्रक्षेप—

मूलप्रति का पाठ—''चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें। चाहे कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की हानि नहीं होती किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर, हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करता है, वह अभक्ष्य।'' (समु० १०, मूलप्रति पृ० ३६५[३७२]; मूलप्रति सं० ३१७; द्विप्र०, उदयपुर सं० २६६; शोध संस्करण ५००)

मुद्रणप्रति में प्रक्षिप्त किया गया पाठ—''चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें, अथवा कोई मांसाहारी खावें तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती।

प्रश्न—सब मांस भक्ष्य है वा अभक्ष्य है?

उत्तर—'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः' जो ग्राम में कुक्कुट और सूवर तथा मांसाहारी सब पशु-पक्षी, तिर्यक्=जो पेट से चलते हैं, अशुद्धहारी, मत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इनसे भिन्न शुद्धाहारी जांगल सब भक्ष्य हैं, परन्तु यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है, अन्य के लिए नहीं।

प्रश्न—ग्राम के कुक्कुट आदि अभक्ष्य और वनस्थ भक्ष्य हैं, इसमें क्या युक्ति है?

उत्तर—ग्रामस्थ कुक्कुट आदि उपकारक, अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगलवासी हानिकारक शुद्धाहारी भक्ष्य हैं। किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य।'' (समु० १०, मुद्रणप्रति पृष्ठ १८३ [१८९]; शोधसं० ५००)

समीक्षा—मूलरूप से मुद्रणप्रति में लिपिकर द्वारा लिखे लेख में यह मांसभक्षण-विधायक पाठ नहीं है। ज्ञात होता है कि महर्षि द्वारा मुद्रणप्रति का निरीक्षण करने के बाद, पन्ने प्रेस में भेजते समय पीछे से हाशिये पर लिखकर यह पाठ शोधक ने मिला दिया। स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती ने खोज करके बताया है कि यह लेख प्रूफशोधक पं० ज्वालादत्त शर्मा का है, अतः यह प्रक्षेप उसी ने किया है। पन्ने प्रेस में पहुंचने के बाद मुंशी समर्थदान ने जब इस सिद्धान्तविरुद्ध पाठ को देखा तो उन्होंने एक पत्र द्वारा इसकी सूचना महर्षि को दी और इसको निकाल देने की अनुमति मांगी, क्योंकि महर्षि ने मुंशी जी को यह निर्देश दे रखा था कि वे ध्यान रखें कि कोई अभिप्रायविरुद्ध अथवा मांसविधायक पाठ छपने न पाये (वेद और आर्यसमाज : स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, पृष्ठ १३७-१४०)। इसका अर्थ यह हुआ कि महर्षि को अपने लिपिकरों-शोधकों से इस प्रकार के प्रक्षेप किये जाने की पहले से ही आशंका थी। (द्र० 'मीमांसा भाग' पृ० २६,२७)।

इसके प्रक्षिप्त होने में अनेक हेतु भी हैं—१. महर्षि ने अपने सारे ग्रन्थों में मांस-भक्षण का निषेध किया है। इस प्रकरण में, दशम समुल्लास के पूर्वापर पाठों में न केवल मांसाहार का निषेध किया है अपितु मांसाहारियों के हाथ का खाने का भी निषेध किया है। उक्त पाठ को ही देखिये, अन्तिम पंक्तियों में स्पष्टतः हिंसा से प्राप्त पदार्थों को अभक्ष्य लिखा है। इस प्रकार यह सन्दर्भ महर्षि के अभिप्राय व सिद्धान्त के विरुद्ध होने से '**परस्परविरुद्ध**' शैली का कथन है। २. पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध होने के कारण ऋषिपाठ से '**प्रसंगविरुद्ध**' भी है। ३. मूलप्रति का जो यथावत् पाठ लिपिकर ने लिखा था, शोधक ने उसमें 'किन्तु' पद से पूर्व त्रुटित का चिह्न (८) लगाकर हाशिये पर लिखकर यह पाठ मिलाया है। उससे एक वाक्य भंग हो गया है और यह वहां संगत भी नहीं होता, अतः यह अनर्गल प्रक्षेप है। अनुमान होता है कि शोधक ने यह पाठ चोरी से हड़बड़ाहट में मिलाया है, अतः वह जल्दबाजी व घबराहट में यह भी भूल गया कि यह कहां मिलाना ठीक रहेगा। यहां पूर्वापर वाक्यविरुद्ध मिला गया। ४. यदि यह महर्षि द्वारा लिखा या लिखाया होता

तो वे इस पाठ को निकालने की अनुमति नहीं देते।

ऐसे कुटिल थे महर्षि के पास काम करने वाले वेतनभोगी लिपिकर-शोधक आदि!

(२) मुद्रणप्रति में मांसभक्षण-विधायक दूसरा प्रक्षेप—

इसी उक्त स्थल पर कुछ आगे त्रुटित का चिह्न लगाकर हाशिये पर लिख पं० ज्वालादत्त ने दूसरे मांसविधायक पाठ का प्रक्षेप किया है—

मूलप्रति का पाठ—''तण्डुल, गोधूम, फूल, मूल, कन्द, दूध, घी, मिष्टादि पदार्थों का यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित्त समय पर मिताहार भोजन करना, सब भक्ष्य कहाता है।'' (समु० १०, मूलप्रति पृ० ३६५[३७२]; मूलप्रति सं० पृ० ३१७, द्विप्र०, उदयपुर सं० २६६, शोध संस्करण ५०१)

मुद्रणप्रति में प्रक्षिप्त पाठ—''तंडुलादि, गोधूम, फल-मूल, कंद, दूध, घी, मिष्टादि **का सेवन और पूर्वोक्त वनस्थ पशुओं के मांस का सेवन राजपुरुष करें** पदार्थों का यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब 'भक्ष्य' कहाता है।'' (समु० १०, मुद्रणप्रति पृष्ठ १८३ [१८९]; द्र० शोधसं० ५०१)

समीक्षा—यहां भी वाक्य को भंग करके अनर्गल रूप में पाठ मिलाया गया है जो यह संकेत देता है कि जल्दबाजी और घबराहट में यह मिलावट की गई है। अन्य समीक्षा पूर्ववत् है। यह भी पं० ज्वालादत्त द्वारा किया गया प्रक्षेप है।

(३) ''नीच, चमार'' शब्दों का मुद्रणप्रति में और द्वितीय संस्करण में प्रक्षेप—

ऋषिप्रोक्त मूलप्रति में अग्रवर्णित स्थल पर ''**नीच**'' और ''**चमार**'' शब्द नहीं हैं। मुद्रणलिपिकर ने अपनी जातीय भावना के प्रभाव से प्रतिलिपि करते समय इनकी मिलावट कर दी। ये शब्द महर्षि के नहीं हो सकते क्योंकि महर्षि गुण-कर्म के आधार पर प्रचलित वैदिक वर्णव्यवस्था को मानते हैं, अत: शूद्र, ब्राह्मण आदि संज्ञाओं का उल्लेख करते हैं। बिना आवश्यक प्रसंग के अपनी ओर से जातिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग नहीं करते। मुद्रणप्रति का प्रक्षिप्त पाठ इस प्रकार है और यही द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपा है तथा द्वितीय संस्करणों में छप रहा है, जो नहीं छपना चाहिये—

मूलप्रति का पाठ—''उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और भंगी का नहीं।'' (समु० १०, मूलप्रति पृष्ठ ३६७[३७४]; मूलप्रति सं० पृष्ठ ३१९; शोधसं० ५०३)

मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में प्रक्षिप्त पाठ—''उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और **चांडालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना।**'' (समु० १०, मुद्रणप्रति पृ० १८३[१८९]; द्विप्र०, उदयपुर सं० २६८; शोधसं० ५०३)

(४) मुद्रणप्रति एवं द्वितीय संस्करण में ''चमार'' पद का अवांछनीय प्रक्षेप—

मूलप्रति का पाठ—[पौराणिक मत का कथन—] ''अयोध्या नगरी वस्ती, कुत्ते, गधे, भंगी, जाजरू सहित तीन वार स्वर्ग में गई।'' (मूलप्रति पृ० ४५४ [४६१]; मूलप्रति संस्करण पृ० ३८८; शोधसं० ६११)

मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रक्षिप्त पाठ—''अयोध्या नगरी वस्ती, कुत्ते, गधे, भंगी, चमार, जाजरू सहित तीन बार स्वर्ग में गई।'' (समु० ११, मुद्रणप्रति पृ० २२४ [२३०]; द्विप्र०, उदयपुर संस्करण पृ० ३२३; शोधसं० ६११)

(५) मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में ऋषि-सिद्धान्त-विरुद्ध पाठ का प्रक्षेप—

मूलप्रति का पाठ—''जीव ईश्वर की एकता, जगत् मिथ्या आदि व्यवहार सच्चा ही मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।'' (समु० ११, मूलप्रति पृष्ठ ४०८ [४१५]; मूलप्रति सं० पृ० ३५०, शोध सं० ५५६)

मुद्रणप्रति एवं द्वितीय संस्करण में प्रक्षिप्त पाठ—''जीव ईश्वर की एकता, जगत् मिथ्या आदि व्यवहार **सच्चा नहीं मानते थे,** तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।'' (समु० ११, मुद्रणप्रति पृ० २००[२०६]; द्विप्र०, उदयपुर संस्करण २९३; शोधसं० ५५६)

समीक्षा—मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण के पाठ से महर्षि दयानन्द के ही त्रैतवाद का खण्डन हो रहा है और शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रबल समर्थन हो रहा है। ऋषिग्रन्थ में परस्परविरोध भी उत्पन्न हो गया है। यहां मूलप्रति

का पाठ शुद्ध और ऋषिसम्मत है।

(६) मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में महर्षि की मान्यता के विरुद्ध मूर्तिपूजा-समर्थक प्रक्षेप—

महर्षि प्रत्येक प्रकार की मूर्तिपूजा को अवैदिक मानते हैं। सभी ग्रन्थों में उनका यह स्थापित सिद्धान्त है। मुद्रणप्रति बनाते समय लिपिकर ने शब्दान्तर करके मूर्तिपूजा का विधान प्रक्षिप्त कर दिया। वही द्वितीय संस्करण में छप रहा है—

मूलप्रति का मूलपाठ—''विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा, धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना देवपूजा कहाती है, इससे विपरीत अदेव पूजा। इन मूर्तियों की पूजा कर्त्तव्य, इन मूर्तियों से इतर जड़ पाषाणादि मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।'' (स्वमन्तव्य० मूलप्रति पृ० ८०२; मूलप्रति सं० ७३२; शोधसं० १०५०)

मुद्रणप्रति, द्वितीय सं० में प्रक्षिप्त सिद्धान्त विरोधी पाठ—''विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि.....अदेव पूजा। **इनकी मूर्तियों को पूज्य** और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं।'' (स्वमन्तव्य० मुद्रणप्रति ४९४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५८८; शोधसं० १०५०)

समीक्षा—मुद्रणप्रति, द्वितीय सं० के बदले गये पाठ से यह अर्थ बन गया है कि पाठ में वर्णित व्यक्तियों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा करना तो कर्त्तव्य है और इतर की मूर्तियों की पूजा करना अकर्त्तव्य है। यह मूर्तिपूजक लिपिकर की शरारत है। यहां मूलप्रति का पाठ शुद्ध और ग्राह्य है। कई सम्पादकों ने इसको शुद्ध कर लिया है।

(७) मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में भक्ष्याभक्ष्य विषयक ऋषि-मान्यता-विरुद्ध पाठ—

मूलप्रति, मूलप्रति संस्करण के निम्नलिखित पाठ से महर्षि का यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि किसी भी स्वच्छ व्यक्ति के दृष्ट-अदृष्ट भक्ष्यपदार्थों के खान में दोष नहीं है, और जो दृष्ट भक्ष्य पदार्थ में दोष मानता है किन्तु अदृष्ट भक्ष्य पदार्थों में दोष नहीं मानता, यह उसके मतलबसिन्धु=स्वार्थ की बात है। हाँ, मद्य-मांसाहारियों और दुर्गन्धयुक्त लोगों के हाथ का भोजन नहीं करना चाहिये। मुद्रणप्रति में महर्षिप्रोक्त कुछ वाक्य हटाकर जो पाठ बनाया गया है, उसका यह अर्थ बन गया है कि महर्षि अदृष्ट भोजन के खाने में भी दोष सिद्ध कर रहे हैं। इससे महर्षि के पाठ में यह परस्पर-विरोध उत्पन्न हो गया है कि वे पूर्वपाठ में तो 'अदृष्ट भोजन में दोष न होना' लिख रहे हैं और परिवर्तित पाठ में 'दोष होना' स्वीकार कर रहे हैं। दूसरा परस्परविरोध यह उत्पन्न होगा कि परिवर्तित पाठ में सबके हाथ के अदृष्ट भोजन में दोष मान रहे हैं जबकि बाद के पाठ में केवल मद्य-मांसाहारियों के हाथ का खाने में ही दोष घोषित कर रहे हैं। यहां मूलप्रति का पाठ महर्षि के अभिप्राय के अनुकूल और पूर्वापर प्रसंग से सम्बद्ध है, मुद्रणप्रति का नहीं। मुद्रणप्रति का वही दोषपूर्ण पाठ सभी द्वितीय संस्करणों में छप रहा है, जो अवांछनीय है। वह पाठ द्रष्टव्य है—

मूलप्रति का पाठ—''जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिसान, शाक, फल मूल खाया उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया।.....जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सबके हाथ का खा लिया।

प्रश्न—रस, फल-फूल, कन्द-मूल और अदृष्ट में दोष नहीं मानते।

उत्तर—वाह जी वाह! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूड़-राख खाते? गुड़-शक्कर मीठी लगती, दूध-घी पुष्टि करता है, इसीलिये यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है? अच्छा तुम्हारे मतानुसार जो अदृष्ट में दोष नहीं तो भंगी वा मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवे तो खा लोगे वा नहीं? जो कहोगे कि नहीं, तो अदृष्ट में भी दोष है। हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य-मांसाहरियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्य-मांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है, परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता।'' (समु० १०, मूलप्रति पृ० ३६१[३६८]; मूलप्रति संस्करण पृ० ३१४; शोधसं० ४९४-४९५)

मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में परिवर्तित अभिप्रायविरुद्ध पाठ—मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में पूर्वापर पाठ मूलप्रति के समान यथावत् है किन्तु बीच के पाठ में मुद्रणलिपिकर ने परिवर्तन कर दिया, जो इस प्रकार है—

''(प्रश्न) फल, मूल, कंद और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं।

(उत्तर)—अच्छा तो भंगी या मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बना कर तुमको आके देवे तो खा लोगे वा

नहीं? जो कहोगे कि नहीं, तो अदृष्ट में भी दोष है।'' (आगे ऊपरिउद्धृत पाठ ही है) (समु० १०, मुद्रणप्रति पृ० १८१[१८७]; द्विप्र०, उदयपुर संस्करण पृ० २६४; शोधसं० ४९४-४९५)

(८) मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में मुक्ति-सम्बन्धी पाठ में अशुद्ध परिवर्तन से सिद्धान्त-हानि—

मूलप्रति का शुद्ध पाठ—''इस के (सूक्ष्म शरीर के) दो भेद हैं—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है, दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा शरीर मुक्ति में भी रहता है।'' (समु० ९, मूलप्रति ३२८[३३४]; शोधसं० ४४९)

मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण का पाठ—अन्य पाठ वही है केवल दूसरे वाक्य में अशुद्ध परिवर्तन है—''यह दूसरा और भौतिक शरीर मुक्ति में भी साथ रहता है'' (समु० ९, मुद्रणप्रति १६५ [१७१]; द्विप्र०, उदयपुर सं० २४२; मूलप्रति सं० में ''अभौतिक'' संशोधित है, पृ० २८६; शोधसं० ४४९)

टिप्पणी—मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में ''और भौतिक'' के स्थान पर ''अभौतिक'' संशोधन करने पर भी यह पाठ शुद्ध हो जाता है। यह अशुद्धि मुद्रणप्रति में गलत लिखे जाने से उत्पन्न हुई है और वही अशुद्ध पाठ द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपा है। अब प्राय: सभी ने इसका संशोधन विना कोई 'ननु न च' किये कर लिया है, जो कि उचित किया है। ऐसा ही अन्य पाठों में भी कर लेना चाहिये।

(९) द्वितीय संस्करण में मुक्ति-अवधि के लेखन में अशुद्धि से सिद्धान्त-विरोध—

मूलप्रति, मुद्रणप्रति का अर्धशुद्ध पाठ—''जब तक ३६००० **तीन लाख साठ हजार** वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द में रहना,'' (समु० ९, मूलप्रति ३२७[३३३]; मुद्रणप्रति सं० में पूर्ण संशोधित है २८५, शोधसं० ४४७)

द्वितीय संस्करण (१८८४) में पूर्णत: अशुद्ध संख्या-पाठ—''जब तक ३६०००० (तीन लाख साठ सहस्र) वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है.....।'' (समु० ९ द्वितीय सं० २४१; शोधसं० ४४७)

टिप्पणी—मुद्रणकाल में शोधकों का कर्त्तव्य था कि मूलप्रति और मुद्रणप्रति के अर्ध-अशुद्ध पाठ को पूर्ण-शुद्ध करते, किन्तु आश्चर्य देखिए कि उसको पूर्ण-अशुद्ध बना दिया। क्या ऐसे मक्कार शोधक, कुछ आधुनिक लेखकों की घोषणा के अनुसार '**सश्रद्ध नमनीय**' और '**बड़े विद्वान्**' माने जा सकते हैं?

(१०) मुद्रणलिपिकर द्वारा वेद सम्बन्धी स्थापित ऋषि-मान्यता के विरुद्ध परिवर्तन—

मूलप्रति का शुद्ध पाठ—''सब मनुष्यों के वेदादि पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—**यथेमा वाचं....।**'' (समु० ३, मूलप्रति ९२[१०२]; मूलप्रति सं० ८१; शोधसं० १३७)

मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में बनाया गया ऋषि की मान्यता के विरुद्ध पाठ—इन दोनों में मुद्रणलिपिकर द्वारा बदला गया यह पाठ मिलता है—''सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्रों के पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के .....'' (समु० ३, मुद्रणप्रति ४६ [५१]; द्विप्र०, उदयपुर सं० ७४; शोधसं० १३७)

टिप्पणी—ऋषिप्रोक्त मूलप्रति के पाठ में केवल ''**वेदादि**'' शब्द पठित है, जिसका अर्थ है वेद पढ़ने, वेदमन्त्र बोलने, वेदोपदेश सुनने आदि का अधिकार। मुद्रण-लिपिकर ने मुद्रणप्रति में अपने मन से ''**शास्त्रों**'' शब्द अतिरिक्त जोड़ दिया। उससे यह सिद्धान्तहानि हो गई कि 'वेदों में वेदों से अन्य शास्त्रों का नाम या इतिहास होने से लौकिक इतिहास भी है और वेदमन्त्र में उन शास्त्रों को पढ़ने का निर्देश है। महर्षि की सर्वत्र यह स्थापित मान्यता है कि 'वेद ईश्वरीय हैं और वे आदि-सृष्टि में ऋषियों के हृदय में प्रकट हुए, अत: उनमें परवर्ती इतिहास का उल्लेख संभव ही नहीं है और न है।' शास्त्रों की रचना भी वेदों के बाद हुई अत: वेदमन्त्र में ''**शास्त्रों**'' का उल्लेख कहना सिद्धान्त-विरुद्ध है। महर्षि ऐसा सिद्धान्त-विरुद्ध कथन नहीं कर सकते। यह मुद्रणलिपिकर द्वारा बदले गये पाठ का दुष्परिणाम है।

(११) मुद्रणप्रति में अशुद्ध परिवर्तन से पाठ की अशुद्धता और सिद्धान्तविरोध—

मूलप्रति का शुद्ध पाठ—''यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् सदृश, आत्मा=ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर

वर्तमान था।'' (समु० ८, मूलप्रति २७०[२८५]; शोधसं० ३७६)

मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में परिवर्तित अशुद्ध पाठ—''यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और **जीवात्मा ब्रह्म** और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।'' (समु० ८, मुद्रणप्रति १४१[१४८]; द्विप्र०, उदयपुर सं० २१०; मूलप्रति सं० २४४; शोधसं० ३७६)

टिप्पणी—उक्त उद्धरण से पूर्व इस प्रसंग में जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का वर्णन है और परमात्मा को 'ब्रह्म' तथा 'आत्मा' के नाम से उल्लिखित किया है। उसके अनुसार मूलप्रति का पाठ शुद्ध एवं स्पष्ट है कि प्रलय में असत् रूप जगत् आत्मा अर्थात् ब्रह्म और प्रकृति में लीन रहता है। मुद्रणप्रति में ''**आत्मा**'' पद के स्थान पर ''**जीवात्मा**'' बना दिया, जिससे अर्थ और सिद्धान्त गड़बड़ा गया। यहां जीवात्मा का कोई प्रसंग भी नहीं है, और जगत् कभी जीवात्मा में लीन नहीं हो सकता, और न जीवात्मा कभी प्रकृति में लीन होता है। ये दोनों अर्थ अशुद्ध तथा सिद्धान्तविरुद्ध प्रकट होते हैं, अतः मुद्रणप्रति में बदला गया यह पाठ एक अनर्गल कथन बन गया है।

(१२) मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषि द्वारा प्रदर्शित मान्यता के विरुद्ध परिवर्तन—

मूलप्रति का शुद्ध पाठ—''चारवाकों से अधिक मुक्ति, अनुमान और जीव को मानना, बौद्ध मानते हैं।'' (समु० १२, मूलपति ५७१; मूलप्रति सं० ४९३; शोधसं० ७५०)

मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण में परिवर्तित ऋषिविरुद्ध पाठ—''चारवाकों में अधिक मुक्ति और अनुमान तथा जीव को न मानना बौद्ध मानते हैं।'' (समु० १२, मुद्रणप्रति २७८[२९६]; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४०५; शोधसं० ७५०)

टिप्पणी—कुछ बौद्ध सम्प्रदायों की तरह महर्षि की भी मान्यता है कि बौद्ध जीव को मानते हैं। महर्षि की अन्यत्र वर्णित मान्यताओं से इसकी पुष्टि होती है—''एक जीव को चेतन मानकर, ईश्वर को न मानना, जैन-बौद्धों की मिथ्या बात है'' (शोधसं० ७६०), ''और बौद्ध....अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं'' (शोधसं० ७४१) आदि। मुद्रणलिपिकरकृत और द्वितीय सं० में किया उक्त परिवर्तन ऋषि-विरुद्ध है। यहां ऋषि चार्वाकों से अधिक जो बौद्धों की मान्यताएं हैं उनका उल्लेख कर रहे हैं। यदि ''**जीव को न मानना**'' पाठ कर दिया जाये तो यह कथन ही अनर्गल और व्यर्थ सिद्ध होगा, क्योंकि चार्वाक जीव को नहीं मानते हैं, और न बौद्ध मानते हैं तो वह '**अधिक मानना**' यह कथन ही नहीं बनता, अतः परिवर्तन ऋषि के अभिप्राय और वाक्यरचना के विपरीत और अशुद्ध है।

(झ) सत्यार्थप्रकाश में ऋषि के अभिप्राय अथवा मान्यता के विरुद्ध कथनों का समावेश/प्रक्षेप—

प्रथम अध्याय में हमने ऋषिलिखित उन पत्रों को उद्धृत किया है जिनमें ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध त्रुटियों के प्रकारों और उनके कारणों की चर्चा की है। उनमें ऋषि ने अभिप्रायविरुद्ध कथन/ प्रक्षेप होने की आशंका भी व्यक्त की है। यह भी बताया जा चुका है कि ऋषि दयानन्द वेदों, वैदिक शास्त्रों और वैदिक-लौकिक संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, अतः उनसे इन विषयक त्रुटियां नहीं हो सकती। फिर भी यदि मिलती हैं तो वे लिपिकरों-शोधकों के प्रमाद, शरारत या मक्कारी के कारण मिलती हैं। पाठक आगे प्रमाण सहित देखेंगे कि लिखते समय, लिपिकरों के कारण जाने-अनजाने मूलप्रति और मुद्रणप्रति में अनेक पाठ भ्रष्ट हुए हैं। उसी प्रकार जाने-अनजाने अभिप्रायविरुद्ध अथवा मान्यताविरुद्ध कुछ कथनों का भी सत्यार्थप्रकाश में समावेश/ प्रक्षेप हो गया है। दुःख की बात यह है कि सवा-सौ से अधिक वर्षों से हम इन ऋषि-विरुद्ध पाठों को ढो रहे हैं। यहां कुछ पाठों की तर्क-प्रमाणपूर्वक समीक्षा की जाती है—

१. इतिहासविरुद्ध कथन—सभी संस्करणों में चतुर्थ समुल्लास में यह अपपाठ मिलता है—''जैसा व्यास जी ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मर जाने पश्चात्, उन अपने भाइयों की स्त्रियों में नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की।'' (मूलप्रति १४६[१५९]; मुद्रणप्रति ७९[८५]; मूलसं० १३४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ११९; शोधसं० २१८)

मुद्रणकाल में, द्वितीय संस्करण (१८८४) में यह पाठ महाभ्रष्ट हो गया है—''**नियोग करके अम्बिका, अम्बा में धृतराष्ट्र.....की उत्पत्ति की।**'' इसको अब सभी सम्पादकों ने विना कोई बहस किये सुधार लिया है।

टिप्पणी—लिपिकर की असावधानी से यह ऋषि के अभिप्राय-विरुद्ध पाठ लिखा गया है, क्योंकि महर्षि इस ऐतिहासिक तथ्य को जानते थे कि चित्रांगद अविवाहित अवस्था में ही एक युद्ध में मारा गया था और अम्बिका तथा अम्बालिका दोनों ही विचित्रवीर्य की पत्नियां थी। '**उपदेश मंजरी**' में महर्षि ने कहा है—''**व्यास जी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा स्त्रियों से नियोग किया था**'' (उपदेश १२, पृष्ठ ८०)। इस अशुद्ध पाठ को किसी भी आर्य-सम्पादक ने १२८ वर्ष तक भी नहीं शुद्ध किया, यह दुर्भाग्य का विषय है। **इस शोधसं० में प्रथम बार इस अशुद्धि की ओर ध्यान आकृष्ट करके इसका समाधान किया है।**

२. सिद्धान्तविरुद्ध कथन—सभी संस्करणों में, अष्टम समुल्लास में यह अपपाठ मिलता है—''इससे ईश्वर **स्वतन्त्र पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता** किन्तु जैसा कर्म जीव करता है वैसे ही फल ईश्वर देता है।'' (मूलप्रति २८८[२९५]; मुद्रणप्रति १४७[१५३]; मूलप्रति सं० २५२; द्विप्र०, उदयपुर सं० २१६; शोधसं० ३८८)

टिप्पणी—यहां पूर्ववाक्य उत्तर वाक्य के ही विरुद्ध है। पुरुष तो स्वतन्त्र है ही, अतः वह स्वतन्त्रता से स्वाभीष्ट शुभ-अशुभ कर्म करता है, किन्तु उनका फल कर्मों के अनुसार ईश्वरीय व्यवस्था से प्राप्त होता है। प्रतीत होता है कि श्रवणभ्रान्ति से या प्रमाद से लिपिकर पाठ को त्रुटित छोड़ गया है। यह वाक्य इस प्रकार होना चाहिए—''**स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता।**'' तभी सिद्धान्त के अनुकूल पाठ होगा। पूर्व प्रश्न में ईश्वर की स्वतन्त्रता का ही उल्लेख है।

३. वर्णव्यवस्था के स्थापित सिद्धान्त के विरुद्ध कथन—

सभी संस्करणों में कुछ प्रक्षेपों को देखकर यह संदेह पुष्ट होता है कि कई स्थानों पर जो सिद्धान्तविरोधी उल्लेख मिलते हैं उनमें लिपिकरों ने अपनी कलम साथ-साथ भी चलाई है। एक उदाहरण लीजिए। एकादश समुल्लास के '**ब्राह्मसमाज**' प्रकरण के आरम्भ में दोनों पांडुलिपियों और दोनों संस्करणों में यह सिद्धान्तविरुद्ध सन्दर्भ मिलता है—

''**मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियां परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियां, वृक्षों में पीपल, वट, आम्र आदि; पक्षियों में हंस, काक, वकादि; जलजन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद है <u>वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद है; ईश्वरकृत है।</u> परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं किन्तु सामान्य विशेषात्मक जाति में गिनते हैं। जैसे पूर्व वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आये वैसे ही गुण, कर्म, स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है। इसमें मनुष्यकृतत्व उनके गुण, कर्म, स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम है।**'' (मूलप्रति ५१९[४५२]; मुद्रणप्रति २६०[२७०]; मूलप्रति सं० ४५४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३७५; शोधसं० ६९१)

टिप्पणी—यह महर्षि का लिखाया वाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ में महर्षि का स्थापित प्रबल सिद्धान्त यह है कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं, गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर निर्धारित होती है। उसका निर्धारण आचार्य अथवा राजसभा द्वारा किया जाता है। यदि ब्राह्मण, शूद्र आदि को ईश्वरकृत कहा जायेगा तो वे जन्म से माने जायेंगे और वर्ण अपरिवर्तनीय हो जायेंगे, अतः यहां लिपिकर ने जाने-अनजाने ''**ईश्वरकृत है**'' वाक्यांश सिद्धान्तविरुद्ध लिखा है। इसके अतिरिक्त यहां पूर्वापर वाक्यों में ही परस्परविरोध भी है। अन्तिम पंक्तियों में इनको मनुष्यकृत लिखते हुए इनका निर्धारण राजा और विद्वानों द्वारा किया जाना लिखा है, किन्तु ऊपर इनको '**ईश्वरकृत**' कह दिया। यह स्पष्ट परस्परविरोध है, सिद्धान्तविरोध है। व्याकरण की दृष्टि से भी देखिए, उक्त वाक्यखण्ड की संगति न पूर्ववाक्य से लगती है, न उत्तर वाक्य से। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि यह वाक्यांश ''**मकरादि जातिभेद**'' के बाद आना चाहिए था जिसे लिपिकर ने जानबूझकर बाद में रख दिया ताकि जाति को जन्माधारित और ईश्वरकृत घोषित किया जा सके। इसकी पुष्टि उस समय के वातावरण से भी होती है। उस समय जन्मना जातिवाद का घोर बोलबाला था। जातिवादी लिपिकर यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि जाति का उच्छेद किया जाये और वर्णों को कर्म के आधार निर्धारित किया जाये। ऐसे ही पाठ कई अन्य स्थलों पर भी मिलते हैं। यथास्थान उनकी समीक्षा की जायेगी।

४. स्थापित दार्शनिक सिद्धान्त के विरुद्ध कथन—

सभी संस्करणों में नवम समुल्लास में यह अपपाठ मिलता है—''विना पाप के दारिद्र्यादि दु:ख और विना पूर्व संचित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता उसको क्यों दी ? और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दु:ख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।'' (मूलप्रति ३३५[३४१]; मुद्रणप्रति ३३५[३४१]; मूलप्रति सं० २९२; द्विप्र०, उदयपुर सं० २४६; शोधसं० ४५९)

टिप्पणी—दर्शन शास्त्रों के विशेषज्ञ महर्षि दयानन्द ऐसा सिद्धान्तविरुद्ध वाक्य कदापि नहीं लिखा सकते। यहां उत्तरवाक्य से भी इसका विरोध है, क्योंकि उसमें लिखा है कि '**पाप का फल दु:ख और पुण्य का फल सुख होता है।**' उक्त वाक्य में पाप का फल दारिद्र्य आदि दु:ख बताया है और पुण्य के फल राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता लिखे हैं, निर्बुद्धिता पुण्य का फल नहीं है। उक्त संशोधन की पुष्टि महर्षि के अन्यत्र वर्णित मन्तव्य से भी हो जाती है—''**जब बिना उत्तम कर्मों के राज्य, प्रतिष्ठा देगा, तो भी ईश्वर अन्यायी हो जायगा** और **बिना पाप के राज्य और प्रतिष्ठा छीन लेगा, तो भी अन्यायकारी हो जायगा।**'' (शोधसं० ९७४) यहां प्रसंग पाप-पुण्य के अनुसार फल-कथन का है, कर्म-फल के वैचित्र्यप्रदर्शन का नहीं है। जो लोग कर्मफल वैचित्र्य की कल्पना करके ''**निर्बुद्धिता**'' प्रयोग को पुण्य के फल के अन्तर्गत जोड़कर इसको सही मानते हैं उनकी व्याख्या पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध और कपोलकल्पित है। उन्हें अर्थ के साथ खींचातानी न करके इसके शुद्धीकरण पर ध्यान देना चाहिये। ऐसा करना ही ऋषि-हित में है। प्रतीत होता है कि लिपिकर ने **बुद्धि/ बुद्धिता** के स्थान पर श्रवणभ्रान्ति से 'निर्बुद्धिता' पद लिखा है। प्रसन्नता का विषय है कि अनेक सम्पादकों ने इसका संशोधन कर लिया है।

५. पाठत्रुटि से अभिप्रायविरुद्ध पाठ—सभी संस्करणों में, नवम समुल्लास में यह अपपाठ है—''वे स्वयं जो जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से **जैसा कि अग्नि से लोहा वैसे चेतन हो रहे हैं।**'' (मूलप्रति ३१७[३२३]; मुद्रणप्रति १६०[१६६]; मूलप्रति सं० २७५; द्विप्र०,उदयपुर सं० २३४; शोधसं० ४३२)

टिप्पणी—लिखते समय लिपिकर के प्रमाद से ''**अग्नि से लोहा वैसे चेतन हो रहे हैं**'' वाक्य में मध्य का पाठ त्रुटित रहने से दृष्टान्त में अव्याप्ति दोष आ गया और अचेतन में चेतना का विरुद्ध कथन हो गया है। यहां पाठ त्रुटित है इसकी पुष्टि मूलप्रति/ मूलप्रति संस्करण के उत्तरपक्षीय इस पाठ से होती है (यह पाठ मुद्रणप्रति/ मूलप्रति संस्करण में त्रुटित होने से द्वितीय संस्करण (१८८४) में भी त्रुटित रह गया है)—''**जैसे लोहे में अग्नि का दाह, प्रकाश है लोहे का नहीं, वैसे चेतनता अन्त:करण में ब्रह्म की है, अपनी नहीं।**'' (पृ० २७६) इस उत्तर वाक्य के आधार पर उक्त पूर्ण-पाठ यों होना चाहिए—''**जैसे अग्नि से लोहा दाहयुक्त, प्रकाशमान है।**'' इस पाठ के परिवर्धन से सारा सिद्धान्त-विरोध समाप्त हो जाता है।

६. पाठत्रुटि से सिद्धान्तविरुद्ध वाक्यरचना—सभी संस्करणों में, तृतीय समुल्लास में यह अपपाठ है—''जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है, **जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं,** उन्हीं को 'शब्द प्रमाण' जानो।'' (मूलप्रति ७५[८५]; मुद्रणप्रति ३५[४०]; मूलप्रति सं० ६१; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५६; शोधसं० ११०)

टिप्पणी—''**जो ऐसे पुरुष**'' पाठ के बाद लिपिकर के प्रमाद से '**उपदेश**' पद त्रुटित रह जाने से वाक्य का यह अनर्थ प्रकट हो रहा है कि 'वेद पुरुष और परमेश्वर दोनों के उपदेश हैं।' महर्षि की स्पष्ट मान्यता है कि वेद ईश्वरप्रोक्त हैं (शोध सं० पृ० ३६२-३६४)। अत: यह वाक्य महर्षिप्रोक्त नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार की खींचातानी न करके स्पष्ट पाठ के रूप में इसके संशोधन की आवश्यकता है।

७. विपरीत उदाहरण—सभी संस्करणों में, तृतीय समुल्लास में '**शेषवत्**' अनुमान प्रमाण का यह विपरीत उदाहरण है—''पाप-पुण्य के आचरण देखके दु:ख-सुख का ज्ञान होता है।'' (मूलप्रति ७४[८४]; मुद्रणप्रति ३५[४०]; मूलप्रति सं० ६०; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५५; शोधसं० १०९)

टिप्पणी—यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि दर्शनों के ज्ञाता महर्षि इस उदाहरण को विपरीत लिखवायेंगे

जबकि अन्यत्र शुद्ध अर्थ है। लिपिकर ने लिखते समय अपनी प्रमादलीला से इसे उलटा लिख दिया और शोधकों की मक्कारी से वह द्वितीय संस्करण में गलत छपा है। मूलप्रति संस्करण तथा अन्य प्राय: सभी ने विना किसी तर्क-वितर्क-कुतर्क के इसको अब संशोधित कर लिया है।

८. पाठत्रुटि से वेद सम्बन्धी मान्यता के विरुद्ध पाठ—सभी संस्करणों में, अष्टम समुल्लास में यह अपपाठ मिलता है—''इसलिये जो कुछ **वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था वा इतिहास लिखे हैं,** उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।'' (मूलप्रति ३०४[३११]; मुद्रणप्रति १५४[१६०]; मूलप्रति सं० २६५; द्विप्र०, उदयपुर सं० २२६; शोधसं० ४१३)

टिप्पणी—महर्षि का मान्य सिद्धान्त है कि वेद ईश्वरप्रोक्त है और उनमें अनित्य इतिहास नहीं है। इस वाक्य से वेदों में इतिहास होने का मान्यताविरुद्ध मन्तव्य प्रकट होता है। कोई यहां यह भी कुतर्क कर सकता है कि यहां अनित्य इतिहास का ग्रहण है। यह कुतर्क इस कारण स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यह वाक्य पूर्व-वर्णित आर्यावर्त के इतिहास और ब्रह्मा आदि के वंश-प्रसंग से सम्बद्ध है, अत: उसी प्रसंग का यह निष्कर्ष वाक्य है। प्रतीत होता है कि यहां लिपिकर के प्रमाद से ''**वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था वा शास्त्रों में इतिहास लिखे हैं**'' वाक्य लिखा जाना चाहिये था जिसमें दूसरे स्थान पर '**शास्त्रों**' शब्द त्रुटित रह गया।

९. प्रमाद से अभिप्रायविरुद्ध वाक्यरचना—सभी संस्करणों में, तृतीय समुल्लास में यह अभिप्रायविरुद्ध वाक्य रचना है—''परित्याग योग्य ग्रन्थ.....स्मृतियों में एक मनुस्मृति, इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़, अन्य सब स्मृति, सब तन्त्र ग्रन्थ.....मिथ्याग्रन्थ हैं।'' (मूलप्रति ८८[८९]; मुद्रणप्रति ४४[४९]; मूलप्रति सं० ७८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ७१; शोधसं० १३४)

टिप्पणी—महर्षि ने कुछ पृष्ठ पूर्व 'मनुस्मृति' को पढ़ने का विधान किया है (शोधसं० १२७)। मनुस्मृति महर्षि के साहित्य का अति-विशेष आधारग्रन्थ भी है। इस वाक्यार्थ से 'मनुस्मृति' भी मिथ्या और त्याज्य ग्रन्थ घोषित हो रहा है। प्रतीत होता है कि प्रसंग को ध्यान किये बिना लिपिकर ने ''छोड़'' क्रिया प्रक्षिप्त श्लोकों के बाद लिख दी, जो 'मनुस्मृति' नाम के पश्चात् लिखनी चाहिये थी। तब यह वाक्य अभिप्राय के अनुकूल बन जाता—''**परित्याग योग्य ग्रन्थ.....स्मृतियों में एक मनुस्मृति को छोड़, इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोक, अन्य सब स्मृति, सब तन्त्र ग्रन्थ.....मिथ्या ग्रन्थ हैं।**'' यह संशोधन सभी को कर लेना चाहिये।

१०. लिपिकर की करतूत से अभिप्रायविरुद्ध पाठ—''इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों के दु:ख से जानने योग्य.....अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे।'' (समु० ५, शोधसं० २३५, २३७; द्विप्र०, उदयपुर सं० १३१; मूलसं० १४८; द्वि०सं० ८५)

शुद्ध पाठ—यहां स्पष्टत: लिपिकर की करतूत से यह पाठ ऋषि के अभिप्राय-विरुद्ध लिखा गया है। यह इस प्रकार होना अभीष्ट है—''**जो अयोगी, अविद्वानों के द्वारा जानने के अयोग्य है, इसी ध्यानयोग से.....अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे।**''

पुष्टि—इस संशोधन की पुष्टि 'संस्कारविधि' में ग्रन्थकार द्वारा किये गये शुद्ध अर्थ से हो जाती है। इस श्लोक का वहां यह शुद्ध अर्थ प्राप्त होता है—''**बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में, जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे।**'' (संन्यास प्रकरण) इस अर्थ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार उक्त अशुद्ध अर्थ नहीं लिखवा सकते। यह लिपिकर की करतूत है और शोधकों का प्रमाद है, और आर्यविद्वानों की असावधानी है जो सवा-सौ से अधिक वर्षों से इसको ढोते आ रहे हैं।

११. विवाह-विषयक आयु का ऋषि-मान्यता के विरुद्ध उल्लेख—सभी संस्करणों में चतुर्दश समुल्लास में यह विरुद्ध पाठ है—''**स्त्रियों से पुरुष का आयु दूना-ढाई गुणा चाहिये।**'' (मूलप्रति ७८५; मुद्रणप्रति ४५१[४७५]; मूलप्रति सं० ७१५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५७५; शोधसं० १०३०)

टिप्पणी—महर्षि अपने कथन के विरुद्ध उक्त आयु सीमा नहीं लिखा सकते, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र

स्त्री से पुरुष की आयु अधिकतम डेढ़ से दोगुना तक निर्धारित की है। दोगुनी आयु से अधिक का विवाह तो निषिद्ध है। (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु० पृ० ९७, संस्कारविधि, वेदारम्भ पृ० १४१) यह लिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से लिखी गई है अथवा अनमेल विवाह समर्थक लिपिकर की अपनी शरारत है।

१२. बौद्धों की मान्यता के विरुद्ध कथन—सभी संस्करणों में, द्वादश समुल्लासों में यह अपपाठ और पूर्वापर विरुद्ध कथन है—''**सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये चार मोक्ष मार्ग के साधन हैं।**'' (मुद्रणप्रति ३१४; मूलप्रति सं० ५३१; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४२८; शोधसं० ७९८)

टिप्पणी—जैन मतानुसार मोक्ष के चार नहीं, तीन मार्ग होते हैं, यह कथन आगे उद्धृत आर्हत दर्शन के संस्कृत-प्रमाणों में स्पष्टतया वर्णित है। अन्यत्र भी पृ० ७७६ पर द्रष्टव्य है—''**ज्ञान-दर्शन-चारित्र्याणि-अपवर्गस्य वर्तनी**'' स्पष्ट पाठ है। वस्तुतः, सम्यक्श्रद्धान और सम्यक् दर्शन एक ही मार्ग के दो नाम हैं। लिपिकर ने इसको भ्रान्ति से पृथक् दो मार्ग समझकर 'चार मार्ग' लिख दिया, जो ऋषि के पूर्वापर कथनों और अभिप्राय के विरुद्ध पाठ बन गया। खेद का विषय है कि आज तक किसी भी सम्पादक ने इस पर ध्यान नहीं दिया और सवा-सौ से अधिक वर्षों से यह ऋषि-विरुद्ध और जैन-मतविरुद्ध अपपाठ छपता आ रहा है।

१३. बौद्धमत के विरुद्ध उल्लेख—सभी संस्करणों में द्वादश समुल्लास में बौद्धमत की मान्यता के विरुद्ध यह अपपाठ मिलता है—''बौद्ध, जैन आदि प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण अनादि जीव.....मुक्ति को भी मानते हैं।'' (मूलप्रति सं० ४८९; मुद्रणप्रति २९४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४०३; शोधसं० ७४२)

टिप्पणी—पूर्वापर पाठ में लिखा हुआ है कि बौद्ध दो प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान) को ही मानते हैं (''**प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा**'' शोधसं० ७५५)। किसी लिपिकर ने गलत वाक्य लिखकर बौद्धमत और ऋषि-विरुद्ध यह पाठ बना दिया है। दुःख की बात है कि सवा-सौ वर्षों से यही अपपाठ छपता आ रहा है।

१४. अभिप्रायविरुद्ध समीक्षा—सभी संस्करणों में मद्यपान की आलोचना में यह ऋषि के आशय के विरुद्ध समीक्षा मिलती है—''**क्योंकि जब मेवे खावेंगे.....और प्यालों से मद्य पीवेंगे, न उनका सिर दूखेगा और न कोई विरुद्ध बोलेगा।**'' (समु० १४, शोधसं०....; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५७५; मूलसं० ७१४; द्वि०सं० ३९७)

टिप्पणी—जाने-अनजाने लिपिकर ने ऋषि के आशय के विरुद्ध और कुरान की आयत के समर्थन में यह समीक्षा लिखी है। यही कथन कुरान की आलोच्य मूल आयत में है, देखिये—''**साथ आबखोरों के और आफताबों के और प्यालों के शराब साफ़ से। नहीं माथा दुखाये जावेंगे उससे और न विरुद्ध बोलेंगे।**'' महर्षि इस कथन का समर्थन नहीं कर रहे हैं, वे तो इसकी आलोचना कर रहे हैं। सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग में महर्षि ने मद्यपान की स्पष्ट आलोचना की है और उसको अभक्ष्य पदार्थ माना है तथा मद्य पीने वालों का संग भी न करने का निर्देश है। सवा-सौ से अधिक वर्षों तक इस ऋषि-विरुद्ध पाठ को बनाये रखने का दोष आखिर किस पर है?

(ञ) मुद्रणलिपिकर के मनमाने पाठ-परिवर्तन से मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में उत्पन्न पुनरुक्ति दोष—

सत्यार्थप्रकाश में महर्षि लिखते हैं—''**पुनरुक्त प्रमत्त वाक्य होता है।**'' (पृ० १०००/३) उन्हें क्या पता था कि जिस वेतनभोगी लिपिकर को उन्होंने मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाने का कार्य सौंपा है वही उनकी भाषा में परिवर्तन करके अनेक पुनरुक्तियां निर्मित कर देगा। कार्याधिक्य और अत्यन्त व्यस्तता के कारण ये परिवर्तन महर्षि की दृष्टि में नहीं आये। मुद्रणलिपिकरों ने तो अपने कर्त्तव्य में खूब लापरवाही की है, वेतनभोगी शोधकों ने खूब मक्कारी की है। घोर अशुद्धियां भी उन्होंने ठीक नहीं कीं। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति बनाते समय जो अज्ञानवश और मनमाने पाठ-परिवर्तन किये हैं उनके कारण मुद्रणप्रति की भाषा में कुछ स्थानों पर पुनरुक्ति और शिथिल वाक्यरचना दोष उत्पन्न हो गये हैं। वही दोष मुद्रणप्रति के आधार पर प्रकाशित द्वितीय संस्करण (१८८४) में आ गये हैं, जो आज भी विद्यमान हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

	मूलप्रति का पुनरुक्ति रहित पाठ एवं शोध संस्करण की पृष्ठ संख्या	मुद्रणप्रति में निर्मित पुनरुक्ति दोषयुक्त पाठ एवं मुद्रणप्रति की पृष्ठ संख्या	द्वितीय सं० में पाठस्थिति और पृष्ठ संख्या
१.	''वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब, रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें।'' (२२०)	—''कोई किसी की सेवा भी न करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें..... वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट हो जायें।'' (८६)	—द्विप्र० में मुद्रणप्रति का यही व्यर्थ परिवर्तित, शिथिल शैली का और पुनरुक्तिदोष युक्त अपपाठ है। (१२०)
२.	''जहां तक बने वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों को विद्वान् और सुशिक्षित करने-कराने में धनादि को लगावें।'' (२२१)	—''जहां तक बने वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षा युक्त कर दें'' (८७)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बदला गया यही पुनरुक्तियुक्त शिथिल पाठ द्विप्र० में है। (१२१)
३.	''श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका होवे।'' (२२३)	—''श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिये अनर्थगाथा युक्त ग्रन्थ बनाते हैं। (८८)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बदला गया यही पुनरुक्तियुक्त अप-पाठ द्विप्र० में है। (१२२)
४.	''कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित सात वा आठ .....मन्त्रियों को करे।'' (२६३)	—''कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ.....मन्त्री करे।'' (१०६)	—मुद्रणलिपिकरकृत यही पुन-रुक्तियुक्त अपपाठ है (१४७)
५.	''लोकों और पदार्थों का रचन धारण वही परमात्मा करता है जो सबमें व्यापक हो रहा है।'' (४१८)	—''लोकों और पदार्थों का रचन धारण परमात्मा करता है। जो सब में व्यापक हो रहा है वही सब जगत् का कर्त्ता और धारण करने वाला है।'' (१६२)	—द्विप्र० में ''कराता है'' अपपाठ है। शेष यही अशुद्ध और पुन-रुक्ति युक्त पाठ है। (२२८)
६.	''देखो, जो कोई उत्तम ब्राह्मण वा साधु न होता तो.....आर्यों को.....वर्णाश्रम में रखना कौन कर कर सकता ?'' (५३१)	—''देखो, जो कोई उत्तम ब्राह्मण वा साधु न होता तो....आर्यों को.....वर्णाश्रम में रखना कौन कर सकता सिवाय ब्राह्मण साधुओं के।'' (१९६)	—यही पुनरुक्त अपपाठ है। (२७९)
७.	''चक्रांकितों के ही ग्रन्थों में और भक्तमाल ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया है, उसमें ''विक्रीय शूर्प विचचार योगी'' इत्यादि वचन लिखे हैं।'' (५७६)	—''चक्रांकितों ही के ग्रन्थों और 'भक्तमाल' ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया है उनमें लिखा है—''विक्रीय शूर्प्य विचचार योगी'' इत्यादि वचन चक्रांकितों के ग्रन्थों में लिखे हैं।'' (२१४)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बढ़ाया गया यही पुनरुक्तियुक्त अपपाठ है। (३०४)
८.	''स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से मनुष्य तो बनते हैं परन्तु परमेश्वर के सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु पक्षी सर्प आदि कभी उत्पन्न हो सकते हैं ?'' (६२४)	—''स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही हैं परन्तु परमेश्वर की सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु पक्षी सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते।.....मनुष्य शरीर से पशु पक्षी वृक्षादि का उत्पन्न होना क्योंकर संभव हो सकता है ?'' (२३५)	—मुद्रणलिपिकर द्वारा बढ़ाया गया यही अशुद्ध और पुन-रुक्ति दोष-युक्त पाठ है। (३३०)

९. ''देखा तो गाय को दुह बटलोई भर पोप जी की उठने की तैयारी थी।'' (६४३)	—''देखा तो पोप जी गाय दुह, बटलोई भर पोप जी की उठने की तैयारी थी।'' (२४३)	—यही अशुद्ध और पुनरुक्त पाठ है। (३४१)
१०. ''विषयी जनों और बौद्धों में क्या भेद रहा? उससे फिर मुक्ति कहां? (७५३)	—''बौद्धों और विषयी जनों में क्या भेद रहा? जो उनसे ये बौद्ध नहीं बच सके तो वहां मुक्ति भी कहां रही? जहां ऐसी बातें हैं वहां मुक्ति का क्या काम?'' (२९७)	—यही अनर्गल अनावश्यक परिवर्धित शिथिल शैली का पुनरुक्तियुक्त अप-पाठ है। (४०७)
११. ''यह बात-''गप्पी के घर गप्पी आये बोले गप्पी जी''....फिर गप्प मारने में क्या कमती, इस प्रकार की है।'' (६२९)	—''यही बात-'गप्पी के घर गप्पी आये बोलो गप्पी जी'.....फिर गप्प मारने में क्या कमती, इस प्रकार की यह बात है।'' (२३७)	—मुद्रणलिपिकरकृत त्रुटि को पुनः ठीक कर दिया है, संशोधित पाठ है। (३३३)
१२. ''(आर्जवम्) कोमलता, निरभिमान, सरल स्वभाव रखना'' (१६६)	—''(आर्जवम्) कोमलता, निरभिमान, सरल सरल स्वभाव रखना'' (६२)	—मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से दो बार ''सरल'' शब्द लिख दिया, फिर शोधक ने एक को 'सरलता' कर दिया। पुनरुक्ति दोष यथावत् रहा। (९०)
१३. ''विधिपूर्वक प्राणायाम.....तीन से न्यून कभी न करे'' (२३७)	—''विधिपूर्वक प्राणायाम.....तीन से न्यून प्राणायाम कभी न करे।'' (९४)	—पुनरुक्तदोषयुक्त मुद्रणलिपि-करकृत यही पाठ द्विप्र० में छपा है। (१३१)
१४. ''लोकों और पदार्थों का रचन धारण वही परमात्मा करता है।'' (४१८)	—''लोकों और पदार्थों का रचन धारण परमात्मा कराता (करता) है.....वही सब जगत् का कर्त्ता और धारण करने वाला है।'' (१६२)	—मुद्रणलिपिकरकृत यही पुन-रुक्तियुक्त और अशुद्ध पाठ है। (२२८)
१५. ''इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है। क्योंकि जब मृत्यु होता है....।'' (४५०)	—''इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि यह सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि जब मृत्यु होता है....।'' (१७१)	—मुद्रणलिपिकर का बिगाड़ा यही पुनरुक्ति दोष-युक्त भ्रष्ट पाठ है। (२४३)

(ट) मुद्रणलिपिकर द्वारा मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय मनमानेपन से बदल दिये गये ऋषिप्रोक्त पाठ, जिनका परिवर्तन नितान्त अनावश्यक, व्यर्थ और अवांछनीय था, उन पाठों के कुछ उदाहरण—

मुद्रणप्रति में उपलब्ध निम्नांकित पाठ मुद्रणलिपिकर ने मूलप्रति से प्रतिलिपि करते समय मनमानेपन से ऋषि के पाठ को बदलकर अपने बनाये हैं। यह परिवर्तन नितान्त अनावश्यक, व्यर्थ और अवांछनीय है। इनसे कोई अर्थवैशिष्ट्य भी नहीं बनता। ऋषि की शब्दावली जो भी है उसका अपना विशिष्ट और ऐतिहासिक महत्त्व है, लिपिकर की भाषा उसके समान महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। इन अनावश्यक परिवर्तनों से यह हानि हुई कि दोनों पांडुलिपियों में अनेक व्यर्थ पाठान्तर हो गये, जो आज विवाद का कारण बने हुए हैं। ऐसे परिवर्तनों की संख्या कई सौ है। इन परिवर्तनों के कारण ऋषि की मूलभाषा उपेक्षित हो गई जबकि लिपिकर की भाषा के पाठ अधिक मान्य होकर आज भी द्वितीय संस्करणों में छप रहे हैं—

मूलप्रति का ऋषि-पाठ और पृ० संख्या	मुद्रणप्रति में बदला पाठ और पृ० संख्या	टिप्पणी व शोधसं० पृष्ठ/पंक्ति
१-३''जब तक'', ''तब तक'', ''अब तक'' (६८३, ६८६, ६९०, ६९३, ७१७)	—''जब लों'', ''तब लों'', ''अब लों'' (२६३, २६४, २६५, २६७, २७९)	—शुद्ध साहित्यिक पाठ को मुद्रण-लिपिकर ने अपनी भाषा में बदलकर ग्राम्य पाठ बना दिया और व्यर्थ ही पाठान्तर कर दिया, इसकी न कोई

		जरूरत थी, न इसमें अर्थवैशिष्ट्य है। (६८३/१०, ६९०/२)
४. ''तेरह दिन तक'' (६४४)	—''तेरह दिन लों'' (२४४)	— वही — (६४४/१४)
५. ''लकड़े तक को'' (६८७)	—''लकड़े लों'' (२६६)	— वही — (६८७/१३)
६. ''विद्युत् के तुल्य'' (२५३)	—''विद्युत् के समान'' (१०२)	— व्यर्थ पाठान्तर किया है। कोई अर्थ वैशिष्ट्य नहीं। केवल पर्यायवाची शब्द रख दिया। (२५३/५)
७. ''विशेषतः क्षत्रियों को दृढांग....होना चाहिये'' (३१५)	—''विशेषकर क्षत्रियों को दृढांग..... होना चाहिए'' (१२५)	— वही — (३१५/९)
८. ''कन्या कन्याओं की पाठशाला में'' (९३)	—''लड़की लड़कियों की पाठशाला में'' (३२)	— वही — (९३/९)
९. ''लड़की का दूसरे के लड़के के साथ'' (२१२)	—''कन्या का दूसरे के कुमार के साथ'' (८१)	—मूर्खता देखें, पूर्वपाठ में 'कन्या' के स्थान पर 'लड़की' कर दिया और यहां 'लड़की' के स्थान पर 'कन्या' व्यर्थ पाठ परिवर्तन कर दिया। (२११/१४)
१०. ''बृहस्पति शब्द का अर्थ कर दिया'' (४०)	—''बृहस्पति शब्द का अर्थ कह दिया'' (१४)	—अशुद्ध एवं अनावश्यक पाठान्तर किया है। (४०/१७)
११. ''जाननेहारे'' (२६३)	—''जाननेवाले'' (१०६)	—इससे अधिक मूर्खतापूर्ण पाठान्तर क्या हो सकता है? (२६३/१०)
१२. ''दुधारा खड्ग'' (२९२)	—''दुधारा खड़वा'' (११६)	—इससे अधिक मूर्खतापूर्ण पाठान्तर क्या होगा? एक साहित्यिक सुन्दर शब्द को विकृत कर दिया। (२९२/७)
१३. ''डरपुकनों'' (२६४)	—''डरने वालों'' (१०७)	—एक सार्थक विशेषण का प्रभाव नष्ट कर दिया। (२६४/११)
१४. ''मुर्दों को अल्लाह जिलाता है'' (९५४)	—''मुर्दों को खुदा जिलाता है'' (४०७)	—मुद्रणलिपिकर ने परिवर्तन की झोंक में व्यर्थ पाठान्तर कर दिया। कुरान में 'अल्लाह' पाठ ही है। (९५४/१०)
१५. ''देखो वल्लभ की लीला'' (६७९)	—''देखो वल्लभ का प्रपंच'' (२६२)	—व्यर्थ पाठान्तर है। 'लीला' प्रयोग ही पूर्वापर में है। (६७९/६)
१६. ''अच्छा मत है!'' (६८४)	—''भला तुम्हारा मत है'' (२६४)	—पाठ व्यर्थ बदला है। (६८४/१)
१७. ''दोनों (शब्दों) का अर्थ एक ही है'' (३२४)	—''दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है।'' (१२८)	—इसको कहते हैं 'ठाले बैठे तिनके तोड़े'। (३२४/१४)
१८. ''अपने ही देश में'' (श्लोकार्थ, २४६)	—''अपने ही राज्य में'' (९९)	—व्यर्थ पाठान्तर है। श्लोक में ''स्वदेशे'' प्रयोग है। (२४६/१५)
१९. ''सभासदों को आज्ञा दे'' (२५०)	—''सभासदों को आज्ञा देवे'' (१००)	—निरर्थक पाठान्तर है। (२५०/५)
२०. ''स्त्रियों की ओर खूब ताकता रहता है'' (६८६)	—''स्त्रियों की ओर खूब ध्यान लगाके ताकता रहता है'' (२६५)	—'खूब ताकना' मुहावरे का अर्थ ही 'ध्यान लगाके ताकना' होता है। सहज पाठ का अशुद्ध परिवर्तन

		है। (६८६/६)
२१. ''किसी को ग्रह का स्मरण भी नहीं होता'' (६३९)	—''किसी को नवग्रह का स्मरण भी नहीं होता (२४१)	—पूर्व में 'ग्रह' का निर्वचन है, ग्रहदान, ग्रहफल की ही चर्चा है। 'नवग्रह' प्रसंगविरुद्ध और सीमितार्थक व्यर्थ पाठान्तर है। (६३९/४)
२२. ''उस सभापति के गुण कैसे हों?'' (२५२)	—''उस सभापति के गुण कैसे होने चाहियें?'' (१०१)	—व्यर्थ पाठान्तर है। कोई अर्थ वैशिष्ट्य नहीं। (२५२/१४)
२३. ''काम से उत्पन्न व्यसन'' (२६०)	—''काम से उत्पन्न व्यसन गिनाते हैं'' (१०५)	—शीर्षक को वाक्य में व्यर्थ बदला है। (२६०/२)
२४. ''क्रोध से उत्पन्न व्यसन'' (२६०)	—''क्रोध से उत्पन्न व्यसन गिनाते हैं'' (१०५)	— वही — (२६०/६)
२५. ''मित्र का लक्षण'' (२९४)	—''मित्र का लक्षण यह है'' (११७)	—शीर्षक को वाक्य में व्यर्थ बदला है। अव्यवस्था देखिए, पहला शीर्षक बदल दिया, अगला यथावत् छोड़ दिया। (२९४/१२)
२६. ''इधर-उधर घूमते फिरना'' (२६०)	—''इधर-उधर घूमते रहना'' (२६०)	—मूलप्रति में यह मुहावरा है जिसका सटीक और व्यापक अर्थ है। मुद्रण-प्रति का पाठ शिथिल व व्यर्थ पाठान्तर है। (२६०/४)
२७. ''आत्मा के बल को सदा बढ़ाते रहना चाहिये'' (३१५)	—''आत्मा के बल को सर्वदा बढ़ाते रहना चाहिये'' (१२५)	—पर्याय शब्द रखकर व्यर्थ पाठान्तर किया है। 'सदा' अधिक सटीक प्रयोग है। (३१५/७)
२८. ''राज्य की उत्तम व्यवस्था'' (३१५)	—''राज्य पालन की उत्तम व्यवस्था'' (१२५)	—मूलप्रति का प्रयोग अधिक व्यापकार्थक है। पाठान्तर सीमितार्थक और व्यर्थ है। (३१५/५)
२९. ''उसको चिड़ावे नहीं, न ठट्ठा करें'' (२९४)	—''उसको चिड़ावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे'' (११७)	—''ठट्ठा' व 'हंसी' पर्यायवाची व्यर्थ पाठान्तर है। व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध वाक्यरचना है। (२९४/२)
३०. ''तुम्हारा बहुत-सा ठट्ठा होगा'' (६९३)	—''तुम्हारा बहुत-सा ठट्ठा होगा। सब लोग हंसी करेंगे।'' (२६८)	—पुनरुक्ति दोष होने से व्यर्थ पाठान्तर है। मूलप्रति का पाठ सही और पूर्ण है। (६९३/४)
३१. ''सूधे-सच्चे मनुष्य को कोई नहीं पूछता'' (७१२)	—''सूधे-सच्चे मनुष्य को कोई नहीं देता, और न पूछता'' (२७६)	—मुहावरे में देना, पूछना आदि सभी अर्थ निहित हैं। मुद्रणप्रति में उसको समझे बिना व्यर्थ पाठान्तर किया है। (७१२/५)
३२. ''ये महात्मा बहुत दिन रहने वाले नहीं हैं'' (७१९)	—''ये महात्मा मनोगामी हैं यहां बहुत दिन रहने वाले नहीं हैं।'' (२८०)	—अनावश्यक और अशुद्ध पाठान्तर है। 'मनोगामी' उपयुक्त प्रयोग नहीं। 'मनोगामी' और 'बहुत दिन' की

परस्पर संगति नहीं है। (७१९/१२)

३३. ''संकेत से ले जाके बैठाया (७२०)	—''संकेत से ले जाके बैठाल देता है'' (२८२)	—भूतकालीन क्रिया के स्थान पर वर्तमान कालीन क्रिया का प्रयोग अशुद्ध है। लिपिकर ने अपनी बोली का प्रयोग करके व्यर्थ पाठान्तर किया है। अर्थ एक ही है। (७२०/९)
३४. ''राज्य के सब कार्य पूरे करे'' (२७६)	—''सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे'' (१११)	—एक ही भाव होने से नितान्त व्यर्थ पाठान्तर है। वाक्यरचना अशुद्ध की है। (२७६/४)
३५. ''ज्ञान बढ़ाने....के लिये वानप्रस्थ'' (२४७)	—''विज्ञान बढ़ाने.....के लिये वानप्रस्थ'' (९९)	—व्यर्थ पाठान्तर है। वानप्रस्थ के लिए पृ० २२८ पर भी 'ज्ञान' पाठ है। (२४७/१)
३६. ''मूल, फल, कन्दादि से....यज्ञों को करे'' (२२७)	—''मूल, फल, फूल कन्दादि से.....यज्ञों को करे'' (९०)	—श्लोक में 'फूल' वाचक पद नहीं है अतः पाठान्तर अग्राह्य है। (२२७/६)
३७. ''सर्वज्ञतादिगुण भी न हो सकते'' (३२५)	—''सर्वज्ञ आदि गुण भी ईश्वर में न घट सकते'' (१२८)	—प्रसंगविरुद्ध पाठान्तर है। यहां ईश्वर के गुणों के अस्तित्व का कथन है, घटित होने का नहीं। (३२५/१३)
३८. ''फिर तुमको शंका क्यों हुई ?'' (३२५)	—''पुनः तुमको शंका क्यों हुई ?''(१२८)	—एकार्थक शब्द हैं, अतः नितान्त अनावश्यक पाठान्तर है। (३२५/२)
३९. ''स्वार्थी लोग आजकल भी अविद्वानों के सामने सिद्ध बन जाते हैं।'' (९५३)	—''स्वार्थी लोग आजकल भी अविद्वानों के सामने विद्वान् बन जाते हैं।'' (४०७)	—अशुद्ध पाठान्तर है। यहां 'विद्वान्' बनने का नहीं, अवतारी, चमत्कारी और सिद्ध बनकर ठगने का वर्णन है। (९५२/१५)
४०. ''गुणों और अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है'' (७०१)	—''गुणों और अच्छे-अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है'' (२७१)	—द्विरुक्ति निरर्थक होने से पाठान्तर व्यर्थ है। (७०१/१०)
४१. ''कहने मात्र ही उच्छिष्ट होता है'' (५०२)	—''कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है'' (१८९)	—मूलप्रति में ऋषि की यही शब्दावली है। द्विप्र० में पृ० २७६ पर भी यही प्रयोग है। (५०२/१२)
४२. ''जो कुछ ढोंग, धूर्तता करता है'' (७१२)	—''जो कुछ ढोंगबाजी और धूर्तता करता है'' (२७६)	—कोई अर्थवैशिष्ट्य न होने से पाठान्तर व्यर्थ है। (७१२/६)
४३. ''धनाढ्य-दरिद्र राजा-रंक होते हैं'' (६४०)	—''धनाढ्य-दरिद्र प्रजा राजा रंक होते हैं'' (२४२)	—'प्रजा' पद की वृद्धि अप्रासंगिक और अशुद्ध है। यहां बड़े-छोटे, अमीर-गरीब होने के फल का प्रसंग है। पूर्व पृष्ठ पर प्रश्न में 'प्रजा' पद नहीं है। व्यर्थ पाठान्तर है। (६४०/५)
४४. ''चाहें वैसे इनको अपने मत में झुका	—''चाहे जैसे इनको अपने मत में झुका	—सुन्दर, शुद्ध पाठ को अशुद्ध बना

लेवेंगे'' (६८८)	लें'' (२६६)	व्यर्थ पाठान्तर कर दिया। (६८८/१५)
४५. ''उसको वैसा उतना ही दण्ड देना न्याय है'' (३२८)	—''उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये, उसी का नाम न्याय है'' (१२८)	—न्याय का अर्थ बताया है, उसको परिभाषा बना दिया और पाठ को शिथिल रूप दे दिया। पाठान्तर अनावश्यक है। (३२४/८)
४६. ''कोई एक शब्द रहता तो अच्छा होता। इसलिये दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं'' (३२४)	—''इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था, इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।'' (१२८)	—शिथिल शैली में पाठान्तर है जो नितान्त अनावश्यक है। मूलप्रति का पाठ सुन्दर, संक्षिप्त, शुद्ध है। भाव एक ही है, कोई अर्थ वैशिष्ट्य नहीं है। (३२४/१५)
४७. ''फिर तुमने वैतरणी के किनारे गाय क्यों न पहुंचाई?'' (६४३)	—''अच्छा तो तुमने वैतरणी नदी के किनारे गाय क्यों न पहुंचाई?'' (२४३)	—मूलप्रति का क्रमबद्ध सटीक पाठ है। परिवर्तन करना नितान्त अनावश्यक है। (६४३/१२)
४८. ''सबकी खुशामद करना'' (६४६)	—''सबको फुसला-फूसलू कर स्वार्थ सिद्ध करना'' (२४५)	—मूलप्रति में व्यापकार्थक साहित्यिक मुहावरा प्रयुक्त है। मुद्रणप्रति में गंवारूभाषा में किया पाठान्तर व्यर्थ है। (६४६/१२)
४९. ''किसी की खुशामद न करें'' (६४७)	—''किसी की लल्लो-पत्तो न करें।'' (२४५)	— वही — (६४७/९)
५०. ''उसने वैसा ही किया।'' (६४७)	—''उसने पुनः वैसा ही किया।'' (२६१)	—'पुनः' पद का असंगत, अशुद्ध, व्यर्थ परिवर्धन है। (६७७/१)
५१. ''अथवा घर में ही वर्त लेते हैं।'' (६८५)	—''अथवा घर के घर ही में गटपट कर लेते हैं।'' (२६५)	—मूलप्रति की भावपूर्ण शब्दावली ऋषि की है जो अन्यत्र भी प्रयुक्त है। मुद्रणप्रति में ग्राम्यभाषा में पाठान्तर व्यर्थ है। (६८५/५)

(ठ) मुद्रणकाल में द्वितीय संस्करण (१८८४) में विकृत और भ्रष्ट हुए पाठों के कुछ उदाहरण—

मूलप्रति और मुद्रणप्रति में उत्तम और शुद्ध पाठ हैं किन्तु मुद्रणकाल में उनको शिथिल, अशुद्ध या भ्रष्ट बना दिया गया है, या आदि-सम्पादकों के प्रमाद से विकृत हो गये हैं। पाठक यह जान लें कि ये अपपाठ मुद्रणलिपिकर द्वारा मुद्रणप्रति में निर्मित अपपाठों के अतिरिक्त हैं। केवल मुद्रणकाल में हुए अपपाठों की संख्या एक-सौ के लगभग है। वर्तनी दोष, त्रुटित पाठ, अनावश्यक एवं अप-परिवर्धन, अप-अनुवाद, अप-उद्धरण पाठ मुद्रणदोष आदि इनसे भिन्न हैं। यहां भ्रष्ट पाठों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो द्वितीय संस्करण में विद्यमान हैं—

	मूलप्रति व मुद्रणप्रति में प्राप्त शुद्ध पाठ एवं शोध संस्करण की पृष्ठ संख्या	द्वितीय सं० (१८८४) में प्राप्त अशुद्ध पाठ एवं उसकी पृष्ठ संख्या	टिप्पणी व शोधसंस्करण का पृष्ठ/पंक्ति
१.	''अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर .....मोक्ष का अनुष्ठान निर्विघ्नता से पूरा होता है। इसीलिये इसको देवयज्ञ कहते हैं कि यह वायु आदि पदार्थों को दिव्य कर देता है।'' (१९०)	—''अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर.....मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना इसलिये इसको अतिथियज्ञ कहते हैं।'' (१०३)	—'अग्निहोत्र' को 'अतिथियज्ञ' लिखा है। इससे भ्रष्टपाठ क्या हो सकता है? इसको अब अर्धसंशोधित कर लिया गया है। (१९०/३)
२.	''जब विवाह होवे तब स्त्री के हाथ पुरुष और	—''जब विवाह होवे तब स्त्री के साथ पुरुष	—यह भ्रष्टपाठ अभी भी कई

पुरुष के हाथ स्त्री बिक चुकी'' (१९७)	और पुरुष के साथ स्त्री बिक चुकी...।'' (१०८)	संस्करणों में है। (१९७/९)
३. ''पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना 'अस्मिता'।'' (४२८)	—''पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना 'अभिनिवेश'। (२४४)	—'अभिनिवेश' घोर भ्रष्टपाठ है। कई संस्करणों में शुद्ध कर लिया है। (४५५/२)
४. ''अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र....की उत्पत्ति की'' (२१८)	—''अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका, अम्बा में धृतराष्ट्र.....की उत्पत्ति की'' (११९)	—दो स्त्रियों में एक पुरुष उत्पत्ति कहना महाभ्रष्ट पाठ है। अब सभी ने ठीक कर लिया है। (२१८/८)
५. ''अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर सेना में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों से मिल, ...नाना प्रकार की व्यूह-शिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा'' (२९५)	—''अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर, सभा में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल,....नाना प्रकार की व्यूह शिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा''(१६५)	—पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध ''सभा में जा'' अर्थ परिवर्तन कर दिया है, जो अशुद्ध है। (२९५/८)
६. ''वह मेरा मन योग-विज्ञान युक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से अलग रहै।'' (३३१)	—''वह मेरा मन योग-विज्ञान युक्त होकर विद्यादि क्लेशों से अलग रहै।'' (१८५)	—द्वितीय संस्करण के इस भ्रष्ट-पाठ को अब सबने ठीक कर लिया है। (३३१/१०)
७. ''प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते।'' (३३९)	—''प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमान आदि प्रमाण नहीं हो सकता।'' (१९०)	—शोधक ने मुद्रणप्रति में ऊपर की पंक्ति के आरम्भ में हाशिये में ''प्रत्यक्ष से'' जोड़ा था, उससे नीचे की पंक्ति से पहले ''घट सकते'' हाशिये में बढ़ाया था। मुद्रक ने दोनों को एकत्र करके एक ऊटपटांग पाठ बना दिया। (३३९/९)
८. ''जो पृथिवी न घूमे और सूर्य पृथिवी के चारों और घूमे तो कई वर्षों के दिन और रात होवें।'' (८३४)	—''जो पृथिवी न घूमे और सूर्य पृथिवी के चारों ओर न घूमे तो कै एक वर्षों का दिन और रात होवे।'' (४५७)	—विपरीतार्थक परिवर्तन है और साहित्यिक शब्द को बोली में बदला है। (८३४/६)
९. ''ईसाइयों में पाप करने से कोई धनाढ्य न डरता होगा, न दरिद्र ही।'' (८८३)	—''ईसाइयों में पाप करने से धनाढ्य दरिद्र भी न डरता होगा और न गरीब।'' (४८६)	—महाभ्रष्ट पाठ है। (८८३/११) 'दरिद्र', 'गरीब' एक होता है।
१०. ''क्या जो शैतान का शत्रु है वह परमेश्वर का भी शत्रु है?'' (९५८)	—''क्या जो औरों का शत्रु है वह खुदा का भी शत्रु है?'' (५२९)	—पाठ को ऋषि व कुरान के अभिप्राय-विरुद्ध बदल दिया है। (९५८/७)
११. ''अल्लाह झगड़ा करने वालों को मित्र नहीं करता।'' ''जो झगड़ा करने वालों को खुदा मित्र नहीं समझता....।'' (९६८)	—''अल्लाह झगड़े को मित्र नहीं रखता।'' ''जो झगड़ा करने को खुदा मित्र नहीं समझता....।'' (५३४)	—अशुद्ध वाक्यरचना युक्त परिवर्तन किया है। (९६८/१-३)
१२. ''यदि फरिश्तों से निर्वाह करती हैं, तो यहां से बहिश्त में जाने वाले मुसलमानों को खुदा बीबियां कहां से देगा?'' (९७३)	—''जो उनके लिये पुरुष भी हैं तो यहां से बहिश्त में जाने वाले मुसलमानों को खुदा बीबियां कहा से देगा?'' (५३७)	—यह कुरान के अभिप्राय-विरुद्ध परिवर्तन है। (९७३/६)
१३. ''इन भागवत आदि पुराणों को बनाने वाले जन्मते नहीं, गर्भ में ही नष्ट हो जाते, क्योंकि...।'' (६२४)	—''इन भागवत आदि पुराणों को बनानेहारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये,	—पुनरुक्तिपूर्ण अनर्गल अशुद्ध पाठ बनाया है। (६२४/८)

	वा जन्मते समय मर क्यों न गये ? (३३०)	
१४. ''जिसको चाहता पुण्यात्मा बनाता है जिसको चाहे पापात्मा बना देता है।'' समीक्षा—''जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता वैसे मुसलमानों का खुदा भी शैतान का काम करता है....।'' (९८४)	—''जिसको चाहता है क्षमा करता है, जिसको चाहे दुःख देता है।'' समीक्षा—''जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता वैसे मुसलमानों का खुदा भी शैतान का काम करता है...।'' (५४३)	—आयत का अनुवाद तो बदल दिया किन्तु समीक्षा पुराने अनुवाद पर आधारित रह गई जिस से एक नयी आयतविरोधी अर्थ-विसंगति उत्पन्न हो गई है। (९८४/६)
१५. ''जब मुहम्मद साहब निर्बल हुए होंगे तब यह उपाय रचा होगा और जब सबल हुए होंगे, झगड़ा मचाया होगा। इसी से ये बातें झूठी हैं।'' (९८७)	—''जब मुहम्मद साहब निर्बल हुए होंगे तब यह उपाय रचा होगा और जब सबल हुए होंगे, झगड़ा मचाया होगा। इसी से ये बातें परस्पर-विरुद्ध होने से दोनों सत्य नहीं।'' (५४५)	—परस्परविरुद्ध एक बात तो सत्य होगी। पाठ में अशुद्ध, अनर्गल परिवर्तन है। (९८६/२३)
१६. ''बस, तू मुझको अलबत्ता देख सकेगा'' (९८८)	—''बस, तुझको अलबत्ता देख सकेगा'' (५४६)	—विपरीत भ्रष्टपाठ है। (९८८/१५)
१७. ''ऊंटनी की निशानी देना केवल जंगली व्यवहार है।'' (१०११)	—भला, इस बात को कोई मान सकता है कि पत्थर से ऊंटनी निकले.....ऊंटनी की निशानी देनी केवल जंगली व्यवहार है।'' (५६१)	—महाभ्रष्ट परिवर्तन है। इसका आयत में कोई प्रसंग नहीं है। मूर्खतापूर्ण, ऊटपटांग पाठ बनाया है। (१०११/४-६)
१८. ''जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं। पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है...।'' (५१४)	—''जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है।'' (२७३)	—बेतुका, अशुद्ध और हास्यास्पद पाठ-परिवर्तन है। (५१३/८)
१९. ''प्रश्न—जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्ति..... शान्त की मूर्ति देखने से वैराग्य और शान्ति की प्राप्ति क्यों न होगी ? उत्तर—नहीं हो सकती।'' (५९५)	—''प्रश्न—जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्ति... शान्त की मूर्ति देखने से वैराग्य और शान्ति की प्राप्ति क्यों न होगी ? उत्तर—नहीं नहीं सजती।'' (३१५)	—ऊटपटांग, असंगत उत्तर दिया गया है। भ्रष्ट वाक्यरचना है। (५९५/१-३)
२०. ''हनुमान् आदि के साथ लंका से, आकाश मार्ग में, (से) विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे।'' (६०२)	—''हनुमान् आदि के साथ लंका से चले, आकाशमार्ग में विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे।'' (३१८)	—पांडुलिपियों के कुछ अशुद्ध पाठ को अधिक अशुद्ध बना दिया। (६०१/१२)
२१. ''एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की लीला होती रहती है।'' (६७४)	—''एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की बैठक होती रहती है।'' (३६०)	—ग्रन्थकार के अभिप्राय और व्यंग्य को सर्वथा नष्ट कर दिया। (६७४/८)
२२. ''पापी लोग भी ईसाई होने से स्वर्ग में जा सकते हैं, यह झूठ बात है।'' (९३३)	—''पापी लोग भी ईसाई होने से स्वर्ग में जा सकते हैं, यह ठीक बात नहीं है।'' (९३३)	—अनावश्यक, शिथिल, अभिप्राय-विरुद्ध परिवर्तन है। (९३३/२०)
२३. ''ऐसा उपाधिखोर मज़हब संसार में महाशान्ति-भंग करके मनुष्यों के लिए दुःखदायी कहां से हुआ ?'' (९९१)	—''ऐसा उपाधि और शान्ति भंग करके मनुष्यों का दुःख देने के लिए कहां से आया ?'' (५४८)	—त्रुटित व अभिप्राय-विरुद्ध वाक्यरचना है। क्या आया ? नाम ही नहीं। (९९१/१०)
२४. ''इनके सदृश कठोर, भ्रान्त, निन्दक, मूर्ख, दूसरे मतवाले नहीं हैं।'' (८०६)	—''जैनियों के समान कठोर, भ्रान्त, द्वेषी, निन्दक भूला हुआ दूसरे मतवाले कोई	—अपवाक्य रचना है और शब्दों में व्यर्थ परिवर्तन किया है।

	भी न होंगे।'' (४३१)	(८०६/५)
२५. ''ब्रह्मा....उनके सदृश विदुषी उनकी स्त्री ब्रह्माणी'' (१८३)	—ब्रह्मा....उनके सदृश विदुषी स्त्री उनकी ब्राह्मणी'' (१००)	—'ब्राह्मणी' अशुद्ध पाठ परिवर्तन है। (१८३/१६)
२६. ''इत्यादि कारणों से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था। अब इसको अच्छे प्रकार भाषा के व्याकरणानुसार जानकर अभ्यास भी कर लिया है, इसलिये इस समय इसकी भाषा पूर्व से उत्तम हुई है।'' (५-७)	—''....कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है, इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।'' (३)	—मुंशी जी ने ऋषि की भाषा को काटकर अपने लेख में परिवर्तन करके विरोधियों को महर्षि के पूर्वग्रन्थों की भाषा को 'अशुद्ध' कहने का अवसर दे दिया। भाषा का उत्तम होना गौरवपूर्ण कथन है जबकि अशुद्ध होना निन्दा की बात है। (५/५; ७/१)
२७. ''जिसको कोई माने, कोई न माने, इससे वह ग्रन्थ जैनमत से बाहर नहीं हो सकता। हाँ, जिसको कोई न माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो....।'' (१४)	—''जिसको कोई न माने कोई नहीं, इससे वह ग्रन्थ जैन मत से बाहर नहीं हो सकता। हां, जिसको कोई माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो....।'' (६)	—मुद्रणप्रति में भी अपपाठ है, किन्तु द्वितीय सं० में भ्रष्ट पाठ हो गया है। (१४/१४)
२८. ''जो आदि, मध्य और अन्त में मंगल करेगा, तो उसके ग्रन्थ में आदि तथा मध्य और मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमंगल ही रहेगा।'' (५५)	—''जो आदि, मध्य और अन्त में मंगल करेगा तो उसके ग्रन्थ में आदि मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमंगल ही रहेगा।'' (२६)	—अपपरिवर्तन है। पं० भगवद्दत्त ने भी इसको अपपाठ घोषित किया है। मूलप्रति का पाठ शुद्ध है। (५५/३)
२९. हे सर्वाधार-सर्वजगत् पितः!''	—''हे सर्वाधार-जगत्पते!'' (३९)	—अपपरिवर्तन है। (८२/१६)
३०. ''आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावे, किन्तु वे आचार्यकुल में रहैं।'' (१४४)	—''आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावे, किन्तु वे आचार्यकुल में रहते हैं।'' (७६)	—पूर्वापर क्रियाप्रयोग-विरुद्ध वाक्यरचना है। (१४४/४)
३१. ''शूद्रों के शरीर पग के समान आकार वाले होते, ऐसे नहीं हैं।'' (१६३)	—''शूद्रों का शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहियें, ऐसा नहीं होता।'' (८८)	—पूर्वापर क्रियाविरुद्ध, अशुद्ध परिवर्तन है। (१६३/१३)
३२. ''पश्चात् जब दूसरे महीने में रजस्वला हो, तब शुद्ध होने पर उसी प्रकार ऋतुदान देवे।'' (१७६)	—''जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चापात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे।'' (९५)	—ऋषि के निर्देशों के विरुद्ध परिवर्तन है। अन्य ऋषि-कथनों से इस पाठ की संगति नहीं है। (१७६/५)
३३. ''क्योंकि विशेषकर, सहायक के विना, जो सुगम कर्म है, वह भी, एक के करने में कठिन हो जाता है।'' (२६३)	—''क्योंकि विशेष सहाय के बिना, जो सुगम कर्म है, वह भी, एक के करने में कठिन हो जाता है।'' (१४७)	—श्लोकोक्त आशय के विरुद्ध अर्थ बनाया गया है, अतः अपपरिवर्तन है। (१६३/१३)
३४. ''शत्रु के चारा, अन्न, जल और इन्धन को दूषित वा नष्ट कर दे।'' (२९३)	—''शत्रु के चारा, अन्न, जल और इन्धन को नष्ट दूषित कर दे।'' (१६४)	—विपरीत क्रम बना देने से पाठ दूषित हो गया। (२९३/८)
३५. ''जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप है, और तीनों अनादि हैं।'' (३७४)	—''जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों में प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।'' (२०९)	—अपपरिवर्तित पाठ है। (३७४/१२)
३६. ''परमेश्वर ने जैसे पूर्वकल्प में सूर्य, चन्द्र.... अन्तरिक्ष, आदित्य बनाये थे, वैसे ही अब	—''परमेश्वर जैसे पूर्वकल्प में सूर्य, चन्द्र... अन्तरिक्ष आदि को बनता हुआ वैसे ही	—अपपाठ-रचना है। (३९४/१४)

बनाये हैं।'' (३९४)	अब बनाये हैं।'' (२१९)	
३७. ''ईश्वर जोकि स्वयं सनातन अनादि सिद्ध है, जिसमें अनन्त सिद्धियां हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता।'' (३९४)	—''ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है, जिसमें अनन्त सिद्धियां हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता।'' (२१९)	—अप-पाठरचना है। (३९४/४)
३८. ''ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य है।'' (३४६)	—''ईश्वर और जगत् का उपादान कारण निमित्त है।'' (१९२)	—सभी ने संशोधित कर लिया है। द्वि०सं० में भ्रष्ट पाठ छपा था। (३४६/३)
३९. ''जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में न भिन्न, और स्वरूप से भिन्न होने से एक भी कभी नहीं होते।'' (३६०)	—''जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में भिन्न और स्वरूप भिन्न होने से एक कभी नहीं होते।'' (२००)	—भ्रष्ट परिवर्तन है। दोनों वाक्यों का एक भाव हो गया। (३६०/४)
४०. ''ईर्ष्या-द्वेष के अंकुर उगे थे, वे बढ़ते-बढ़ते वृक्ष हो गये।'' (५३२)	—''ईर्ष्या-द्वेष के अंकुर उगे थे, वे बढ़ते-बढ़ते वृद्ध हो गये।'' (२८०)	—अशुद्ध, प्रसंगविरुद्ध, कथ्य के विपरीत परिवर्तन है। (५३२/७)
४१. ''मूर्तिपूजा में पुण्य नहीं, तो पाप तो नहीं है'' (५८६)	—''मूर्तिपूजा में एक भी पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है'' (३१०)	—अभिप्रायविरुद्ध वाक्यरचना है। (५८६/९)
४२. ''शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध दुःख पाते हैं।'' (५८९)	—''शत्रुओं के वश में होकर अनेक विधि दुःख पाते हैं।'' (३१२)	—अप-परिवर्तन है। यहां दुःखों की अनेकता कथ्य है। (५८९/१२)
४३. ''दुष्ट कर्म का प्रलय, और दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड, और सज्जनों की रक्षा करे।'' (६१५)	—''दुष्ट कर्म और दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड, और सज्जनों की रक्षा करे।'' (३२५)	—प्रथम वाक्य की क्रिया हटाकर अशुद्ध, अपूर्ण पाठ बना दिया। (६१५/१६)
४४. ''जो ठेका लिया हो तो सूर्यादि को अपने घर में बुलाकर जल मरो।'' (६३८)	—''जो ठेका लिया हो तो सूर्यादि को अपने घर में बुलाकर जल मरे।'' (३३८)	—अप-वाक्यरचना है। (६३८/२२)
४५. ''विद्याऽविद्याबन्धमोक्ष विषये'' (४७५)	—''विद्याऽविद्याबन्धमोक्षणविषये'' (२५५)	—अपपाठ है। (४७५/१२)
४६. ''धर्मयुक्त कर्मों का आचरण-आचार'' (४७६)	—''धर्मयुक्त कामों का आचरण-आचार'' (२५६)	—अशुद्ध परिवर्तन है।
४७. ''ऐसी गड़बड़ाध्याय की बात ईश्वर की कभी नहीं हो सकती किन्तु निर्बुद्धि छोकरों की होती है।'' (१००१)	—''ऐसा बड़बड़ाध्याय ईश्वर का कभी नहीं हो सकता किन्तु निर्बुद्धि छोकरों का होता है।'' (५५५)	—अनावश्यक और प्रसंगविरुद्ध परिवर्तन है। (१००१/२१)
४८. ''वे मर भी जायेंगे अर्थात् उनका कभी न कभी अभाव भी होगा।'' (१०१०)	—''वे मर भी जायेंगे अर्थात् उनका कभी नाश कभी अभाव भी होगा।'' (५६१)	—'न' का 'नाश' अपपाठ बना दिया। (१०१०/११)
४९. ''यह कुरान की बात झूठी है।'' (१०१०)	—''यह कुरान की बात झूठी होने से बच नहीं सकती।'' (५६१)	—बच्चों जैसी भाषा बनाई है। परिवर्तन व्यर्थ है। (१०१०/२१)
५०. ''यदि सरकशी करना बुरा है तो खुदा ने..... मुहम्मद साहब ने अनेक को मारा, इससे सरकशी हुई वा नहीं?'' (१०११)	—''यदि सरकशी करना बुरी बात है तो खुदा और मुहम्मद साहब ने अपनी स्तुति से पुस्तक क्यों भर दिये? मुहम्मद साहब ने अनेकों को मारे, इससे सरकशी हुई वा नहीं?'' (५६२)	—अनर्गल, अशुद्धार्थक, अप-भाषात्मक पाठ-परिवर्तन किया है। 'सरकशी' और 'पुस्तक भरने' का दूर तक सम्बन्ध नहीं है। (१०११/१६)
५१. ''लड़कों का किन्हीं कुमारियों के साथ विवाह	—''लड़कों का किन्हीं कुमारियों के साथ	—ग्रन्थकार के आशयविरुद्ध

न लिखा, तो क्या वे भी उन्हीं उम्मीदवारों के साथ कुमारीवत् दे दिये ?'' (१०३०)	विवाह न लिखा, तो क्या वे भी उन्हीं उम्मेदवारों के साथ कुमारीवत् दे दिये जायेंगे ?'' (५७५)	एवं पूर्वापर क्रिया-विरुद्ध परिवर्तन है। (१०३०/८)

(ड) मुद्रणसमय द्वितीय संस्करण में प्रमाद से त्रुटित रहे पाठों के कुछ उदाहरण—

आदि-सम्पादकों और प्रूफ-निरीक्षकों के प्रमाद के कारण द्वितीय संस्करण (१८८४) में अनेक पाठ त्रुटित रह गये। ये पाठ उन पाठों से अतिरिक्त हैं जो मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति में त्रुटित रह जाने के कारण द्वितीय संस्करण में त्रुटित रहे हैं। द्वितीय संस्करण के त्रुटित पाठों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

	मूलप्रति/मुद्रणप्रति में प्राप्त पूर्ण पाठ एवं शोधसं० की पृष्ठ संख्या	द्वितीय संस्करण में प्राप्त अपूर्ण/त्रुटित पाठ एवं उसकी पृष्ठ संख्या	टिप्पणी व शोधसंस्करण का पृष्ठ/पंक्ति
१.	''अब थोड़ा-सा विशेष रामस्नेही मत के विषय में लिखते हैं।'' (६७२)	—द्वितीय संस्करण (१८८४) तथा कई अन्यों में यह वाक्य ही नहीं है। (३५९)	—ऋषि के हाथ का लिखा यह पाठ प्रायः सभी द्वितीय सं० में त्रुटित है। इसको ग्रहण न करना ऋषि की उपेक्षा है। (६७२/४)
२.	''तब नीचे से ऊपर विष्णु और ऊपर से नीचे ब्रह्मा चला। ब्रह्मा ने विचारा....'' (६२२)	—''तब नीचे से ऊपर विष्णु और ऊपर से नीचे ब्रह्मा ने विचारा कि....।'' (३२९)	—बीच का वाक्यांश त्रुटित रहने से पाठ भ्रष्ट हो गया। सभी ने शुद्ध किया है। (६२२/४)
३.	''प्रश्न—.....मनुष्य से पशु आदि और पशु आदि से मनुष्यादि की उत्पत्ति परमेश्वर कर सकता है।'' (६२५)	—''प्रश्न—.....मनुष्य से उत्पत्ति परमेश्वर कर सकता है।'' (३३०)	—त्रुटित होने से पाठ भ्रष्ट हो गया। सभी ने ठीक कर लिया है। (६२५/५)
४.	''जो मनुष्य जाति में विरोध बढ़ावे वही सबको दुःखदाता होता है।'' (१०३२)	—''जो जाति में विरोध बढ़ावे वही सबको दुःखदाता होता है।'' (५७९)	—''मनुष्य'' पद के त्रुटित होने से लेखक का आशय ही नष्ट हो गया। (१०३२/११)
५.	''प्रलय अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म रहेगा तो वर्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?'' (३८०)	—''प्रलय अन्त में संसार न रहेगा तो वर्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ? (२१२)	—बीच का पाठ त्रुटित रहने से पाठ असंगत बन गया ? (३८०/११)
६.	''किसी की नौकरी में से ले लेना, वा कम देना, अथवा न देना।'' (२९९)	—''किसी की नौकरी में से ले लेना वा कम देना।'' (१६७)	—अन्तिम वाक्यांश त्रुटित होने से पाठ अपूर्ण है। (२९९/१)
७.	''अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुष गमन आदि काम हैं। इनको दोनों छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहैं।'' (१९७)	—''अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुष गमन आदि काम हैं। इनको छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहैं।'' (१०९)	—'दोनों' समानताबोधक आवश्यक पद त्रुटित है। ऋषि की शैली है कि वे दोनों को भेदभावरहित निर्देश देते हैं। (१९७/१२)
८.	''प्रश्न—शास्त्रों में....क्या यह विरोध नहीं है ? उत्तर—नहीं। प्रथम तो विना सांख्य....।'' (१३६)	—''प्रश्न—शास्त्रों में....क्या यह विरोध नहीं है ? उत्तर—प्रथम तो विना सांख्य...।'' (७२)	—उत्तर में ''नहीं'' पद त्रुटित रहने से पाठ अपूर्ण है। (१३६/९)
९.	''जो सांगोपांग चार वेदों के जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा, और जो उनसे न्यून पढ़े हों उनका नाम देव अर्थात् विद्वान् है।'' (१८३)	—''जो सांगोपांग चार वेदों को जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा, और जो उनसे न्यून हों उनका नाम देव अर्थात् विद्वान् है। (९९)	—यहां आवश्यक ''पढ़े'' क्रिया पद त्रुटित है। यहां पढ़ाई की तुलना है। (१८३/१५)
१०.	''गुरुगीता आदि भी इन्हीं लोभी, कुकर्मी गुरुओं	—''गुरुगीता आदि भी इन्हीं कुकर्मी गुरुओं	—''लोभी'' प्रसंगसम्मत

ने बनाई हैं।'' (६१७)	ने बनाई हैं।'' (३२६)	महत्त्वपूर्ण पद त्रुटित है। (६१७/१३)
११. ''सर्वथा विद्याविरुद्ध होने से यह बात मानने योग्य नहीं।'' (९८९)	—''सर्वथा विरुद्ध होने से यह बात मानने योग्य नहीं।'' (५४६)	—अपूर्ण वाक्य बन गया है, ''विद्या'' पद त्रुटित होने से। (९८९/४)
१२. ''आपने तो गोकुलिये गोसांइयों की बराबरी कर ली, क्योंकि उनका माल लेना और उनको गुप्त में पवित्र करना।'' (९९५)	—''आपने तो गोकुलिये गोसांइयों की बराबरी कर ली क्योंकि उनका माल लेना और उनको पवित्र करना।'' (५५०)	—''गुप्त में'' पद त्रुटित होने से ग्रन्थकार का व्यंग्य ही नष्ट हो गया। (९९५/१२)
१३. ''इसलिये शून्य ही एक तत्त्व है, ऐसा मानता है। दूसरा योगाचार जो बाह्यशून्य मानता है।'' (७४४)	—''इसलिये शून्य ही एक तत्व है। दूसरा योगाचार जो बाह्यशून्य मानता है।'' (४०३)	—क्रिया प्रयोग त्रुटित होने से पाठ अपूर्ण बन गया है। (७४४/४)
१४. ''कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।'' (२६)	—''कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।'' (१२)	—अधिकांश संस्करणों में और ग्रहण कर लिया है।(२६/३)
१५. ''वेद और ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मंगलाचरण देखने में नहीं आता।'' (५६)	—''वेद और ऋषियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मंगलाचरण देखने में नहीं आता।'' (२६)	—पूर्वापर प्रयोगों की शैली के अनुसार 'मुनियों' ग्राह्य है। (५६/३)
१६. ''छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं।'' (१३७)	—''छः अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं।'' (१३७)	—प्रमादवश ''छः'' अनिवार्य पाठ त्रुटित है। (१३७/६)
१७. ''चौथे समुल्लास में समावर्तन, विवाह और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।'' (१४४)	—''चौथे समुल्लास में समावर्तन, और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।'' (१४४)	—प्रमादवश ''विवाह'' आवश्यक पद त्रुटित है। (१४४/१३)
१८. ''जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य..... होवे'' (२५३)	—''जो अपने से अग्नि, वायु, सूर्य.... होवे'' (१४१)	—प्रमाद से ''प्रभाव'' पद त्रुटित है। (२५३/१३)
१९. ''ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें'' (२२६)	—''ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें।'' (१२४)	—'गृहस्थ' पद त्रुटित है, जो आवश्यक है। (२२६/६)
२०. ''जितने मनुष्यों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके, उतने....रक्खे।'' (२६४)	—''जितने मनुष्यों से कार्य सिद्ध हो सके, उतने.....रक्खे'' (१४८)	—''राज्य'' पद त्रुटित है। (२६४/८)
२१. ''मूढ़ होने से सब संसार में मूढ़ता उन्होंने फैलाई है।'' (५९५)	—''सब संसार में मूढ़ता उन्होंने फैलाई है।'' (३१५)	—प्रथम वाक्यांश त्रुटित है। (५९५/८)

(ढ) मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति में त्रुटित उद्धरण और उनके कुछ उदाहरण—

मूलप्रति में शुद्ध उद्धरण एवं शोधसं० की पृष्ठ सं०/आयत संख्या	मुद्रणप्रति में त्रुटित उद्धरण एवं पृष्ठ संख्या	द्वितीय सं० का पृष्ठ/आयत संख्या जहां उद्धरण त्रुटित है
१. ''अतिथिदेवो भव'' (१०३)	—वचन त्रुटित छोड़ दिया है। (३७)	(५१)
२. ''निमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रिय'' (११५)	—''निमेषोन्मनोगतीन्द्रिय'' (४२)	(६०)
३. ''कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाच्च'' (११८)	—''कर्मत्वं च सामान्या विशेषाच्च'' (४२)	(६२)
४. ''कार्यकारणयोः सः समवायः'' (११८)	—''कार्यकारणयोः समवायः'' (४३)	(६२)
५. ''कुह्वै स्वाहा'' (१८६)	—मन्त्र त्रुटित छोड़ दिया है। (७१)	(१०१)
६. ''अहं दां गृणते....विश्वस्मिन् भरे'' (३१७)	—मन्त्र त्रुटित छोड़ दिया है। (१२६)	(१७८)

७.	''चक्षुर्वै जगदग्निर्ऋषिः'' (५७०)	—''चक्षुर्वै जमदग्निः'' (२१२)	(३००)
८.	''शिवाय च शिवतराय च'' (५७१)	—मन्त्र त्रुटित छोड़ दिया है। (२१२)	(३०१)
९.	''और यों हुआ कि जब आदमी पृथ्वी पर बढ़ने लगे।'' (८५७/१२)	—यह वाक्य त्रुटित है। बाद के सम्पादकों ने पाठ को ग्रहण कर लिया है। (३४६)	(४७०/१३)
१०.	''और अपने छोटे बेटे यअक़ूब को पहिनाया'' (८६९/३०)	— '' '' (३५३)	(४७८/३६)
११.	''और कहा कि निश्चय यह बात खुल गई। जब फ़िरऊन ने यह बात सुनी तो चाहा कि मूसा को मार डाले परन्तु मूसा फ़िरऊन के आगे से'' (८७४/३८)	— '' '' (३५५)	(४८१/३८)
१२.	''स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करने पाओगे'' (८९६/७१)	—''स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने पाओगे।'' (३६८)	(४९६/७५)
१३.	''तब दो भूतग्रस्त मनुष्य'' (८९८/७७)	—''तब भूतग्रस्त मनुष्य'' (३६९)	(४९३/६९)
१४.	''मैं पृथिवी पर मिलाप करवाने को आया हूं, मैं मिलाप करवाने को नहीं'' (९००/८२)	—''मैं आया हूं मिलाप करवाने को नहीं'' (३७०)	(४९४/७१)
१५.	''उसके संग एक लाख चवालीस सहस्त्र जन थे'' (९२८/१३०)	—''उसके संग एक लाख चवालीस सहस्त्र थे'' (३९०)	(५१३/११८)
१६.	''डाले जाते हैं बीच हर वर्ष के'' (९९५/९६)	—''डाले जाते हैं हर वर्ष के'' (४४२)	(५५०/८७)
१७.	''ऐ कौम मेरे यह है निशानी ऊंटनी'' (९९७/१००)	—''ऐ कौम यह है निशानी ऊंटनी'' (४४३)	(५५१/९१)
१८.	''चलता है ऊपर पेट अपने के'' (१००९/२४)	—''चलता है पेट अपने के'' (४५४)	(५६०/११५)
१९.	''लानत मारे जावें जहां पाये जावें पकड़े जावें कतल किये जावें'' (१०१९/१३७)	—''लानत मारे पकड़े जावें कतल किये जावें'' (४६३)	(४६७/१२८)
२०.	''पीने वालों को, और नहरें हैं शहद साफ़ किये गये की'' (१०२७/१४९)	—''पीने वालों को शहद साफ़ किये गये की'' (४७२)	(५७४/१४०)

(त) द्वितीय संस्करण में मुद्रणलिपिकरों-शोधकों के प्रमाद के कारण आयतखण्डों और आयतों की संख्या में अन्तर और उनमें क्रमभंग दोष—

१. त्रयोदश समुल्लास—त्रयोदश समुल्लास में महर्षि ने १४१ आयतखण्डों में कुल ४१६ आयतों की समीक्षा की है। द्वितीय संस्करण (१८८४) में, इस समुल्लास में कुल १३० आयतखण्ड हैं। वर्तमान द्वितीय संस्करणों में १३३ हैं। परोपकारिणी के मूलप्रति और इस शोधसंस्करण में १४२ आयतखण्ड हैं। उदयपुर संस्करण में द्वितीय संस्करण (१८८४) के तथाकथित अक्षुण्णस्वरूप के नाम पर फिर से १३० आयतखण्डों को रखा गया है।

अन्तर का कारण—मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर प्रमाद से आयतखण्ड संख्या १० को त्रुटित छोड़ ९ के बाद ११ संख्या लिख गया। आगे चलकर इस क्रमसंख्या से भ्रमित होकर वह ३६वें आयतखण्ड—**''ईश्वर का मुंह देखा''** (शोधसं० ३६) को त्रुटित छोड़कर उसके बाद ३७वां आयतखण्ड लिख गया। इस प्रकार क्रमसंख्या तो मुद्रणप्रति से मिल गई किन्तु ३६वां आयतखण्ड त्रुटित रह जाने से एक आयतखण्ड कम हो गया।

आगे चलकर मूलप्रति में पृष्ठ संख्या डालने वाले लिपिकर की भूल से ६४६, ६४७ दोनों पृष्ठ दो-दो बार लिखे हुए हैं। भूल से लिखी पृष्ठ संख्या वाले इन पृष्ठों में से मुद्रणलिपिकर पहले ६४६, ६४७ पृष्ठों की प्रतिलिपि करना छोड़ गया और दूसरे वाले ६४६, ६४७ पृष्ठों की प्रतिलिपि कर गया। उसके कारण पहले ६४६, ६४७ पृष्ठों पर लिखे आयतखण्ड ३९—**''जब परमेश्वर ने देखा कि वह देखने को एक अलंग फिरा''** (शोधसं० ३६) और आयतखण्ड ४०—**''तब परमेश्वर ने उससे कहा कि तेरे हाथ में यह क्या है''** (शोधसं० ४०) समीक्षासहित त्रुटित रह गये। मुद्रणलिपिकर की यह प्रमादजन्य भूल थी। यह भूल आज भी मुद्रणप्रति में देखी जा सकती है।

परोपकारिणी सभा द्वारा गठित संशोधन-समिति ने ३४वें द्वितीय संस्करण में इस भूल को समझा कि उक्त तीनों

आयतखण्ड (३६, ३९, ४०) मुद्रणलिपिकर की उक्त प्रमादजन्य भूल से त्रुटित रहे हैं। उन्होंने इन तीनों को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार वर्तमान द्वितीय संस्करणों की आयतखण्ड संख्या बढ़कर १३०+३=१३३ हो गई। यह त्रुटि संज्ञान में आने से पहले छपे संस्करणों, जैसे स्वामी वेदानन्द सरस्वती और जगदेवसिंह सिद्धान्ती संस्करण में यह संख्या १३० ही है, जबकि पं० भगवद्दत्त, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली आदि संस्करणों में तीनों आयतखण्डों को ग्रहण कर लिया है, अत: उनमें यह संख्या १३३ है। उदयपुर सं० का प्रमाद देखिए कि उनके सामने दोनों विकल्प थे और मुद्रणलिपिकर की भूल स्पष्ट थी और प्राय: सभी विद्वान् त्रुटित तीनों आयतखण्डों को ग्रहण कर चुके थे किन्तु फिर भी उन्होंने पुन: १३० आयतखण्डों को ग्रहण कर लिया, अर्थात् ऋषि के लेखन को महत्त्व न देकर उसकी उपेक्षा की और मुद्रणलिपिकर की मूर्खतापूर्ण भूल को महत्त्व देकर उसको ऋषि से अधिमान दिया। उदयपुर सं० का परस्परविरोध देखें कि यहां तो भूल से त्रुटित आयतखण्डों को भी ग्रहण नहीं किया और पृष्ठ संख्या ४९३ पर आयतखण्ड ६९ में एक आयत जो मूलप्रति, मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण (१८८४) इन तीनों में ही नहीं है, उसको अपनी ओर से ग्रहण करके ऋषि-पाठ में जोड़ दिया। वह आयत है—''**बहुत से सुअरों का झुण्ड उनसे कुछ दूर चरता था।**'' (इस सं० में पृष्ठ ८९८ संख्या ७७) इस प्रकार के सम्पादन को विडम्बनायुक्त और मनमाना ही कहा जा सकता है।

मूलप्रति संस्करण में १४२ आयतखण्ड संख्या क्यों ?

दोनों पांडुलिपियों में महर्षि द्वारा समीक्षित कुल आयतखण्डों की संख्या १४२ है। यही परोपकारिणी के मूलप्रति संस्करण (३६, ३८, ३९) तथा इस शोध-संस्करण में है। साथ ही एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मूलप्रति व मुद्रणप्रति में महर्षि ने इन आयतखण्डों का निरीक्षण-संशोधन स्वयं किया हुआ है और मूलप्रति में एक निर्देश भी दिया हुआ है जिसका विवरण यहां दिया जा रहा है। मूलप्रति के पृष्ठ ६६१ (६५१) पर महर्षि ने एक निर्देश लिखा हुआ है, जो इस प्रकार है—

''**पत्र फुटकर हैं, यथाक्रम से पर्व, आयत लिखी जायगी**''

इन चार पत्रों (=पन्नों) में ९ आयतें (५७-६५) हैं जो आगे-पीछे के क्रम में संकलित और समीक्षित हैं। मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर इन ९ आयतों की प्रतिलिपि करना भूल गया। बाद में आदि-शोधक ने किनारे पर यथाक्रम लिखकर निम्नलिखित चार आयतखण्डों को तो संयुक्त कर दिया—

द्वितीय संस्करण (१८८४) के आयतखण्ड ६४ में, मूलप्रति का निम्नांकित आयतखण्ड ६०—

''**क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूं कि जब लौं....**'' (शोधसं० ६९-७०)

द्वितीय सं० (१८८४) के आयतखण्ड ७० में, मूलप्रति का निम्नांकित आयतखण्ड ६२—

''**क्योंकि मैं धर्मियों को नहीं पापियों को पश्चात्ताप.....**'' (शोधसं० ७८-७९)

द्वितीय सं० (१८८४) के आयतखण्ड ७१ में मूलप्रति के निम्नांकित आयतखण्ड ६३—

''**बोलनेहारे तुम नहीं तुम्हारे पिता का आत्मा....**''

और ६४—''**मत समझो मैं पृथिवी पर मिलाप कराने आया हूं.....**'' (शोधसं० ८०-८२)

किन्तु मूलप्रति के निम्नलिखित **पांच आयतखण्डों** की प्रतिलिपि करना वह शोधक भी प्रमादवश छोड़ गया—

आयतखण्ड ५७—''**जब यीशु ने सुना योहन बन्दीगृह में डाला....**'' (शोधसं० ६६)

आयतखण्ड ५८—''**सो जैसा तुम्हारा स्वर्गवासी पिता.....**'' (शोधसं० ७२)

आयतखण्ड ५९—''**यीशु बपतिस्मा लेके तुरन्त जल से ऊपर आया....**'' (शोधसं० ६४)

आयतखण्ड ६१—''**मैं तुमसे कहता हूं यदि तुम्हारा धर्म....**'' (शोधसं० ७१)

आयतखण्ड ६५—''**यीशु लोगों से बात करता ही था कि देखो उसकी माता....**'' (शोधसं०८३)

इस प्रकार ऊपरवाली चार आयतें तो अन्य आयतखण्डों में मिश्रित कर दी, नीचे वाली केवल ये पांच आयतें

वर्तमान द्वितीय संस्करणों में त्रुटित रह गई। ये ५,+संयुक्त की गई ४,+भूलवश त्रुटित ३ मिलाकर सब संस्करणों के आयतखण्डों की कुल संख्या १४२ हो जाती है। द्वितीय संस्करण (१८८४) में केवल आठ आयतखण्ड या आयतें नहीं हैं और वर्तमान द्वितीय संस्करणों में केवल ५ आयतखण्ड या आयतें नहीं है। भूलवश त्रुटित इन सब आयतखण्डों को परोपकारिणी के मूलप्रति संस्करण (३७, ३८, ३९) में ग्रहण करके मुद्रणलिपिकरकृत भूल को सुधार लिया है और ऋषि के अमूल्य लेखों को सुरक्षित कर लिया है। इस प्रकार यह संशोधित संख्या १३०+ ३+९=१४२ कुल बनी है। यही आयतखण्ड संख्या ऋषिलेखसम्मत और शुद्ध है। सभी सम्पादकों को ऋषि-लेखों का सम्मान करते हुए मुद्रणलिपिकर की भूल से छूट गये उक्त ११ आयतखण्डों को मिलाकर १४२ आयतखण्डों को ग्रहण करना चाहिये। ऋषि के लेखों का ऐतिहासिक महत्त्व है, लिपिकर की भूल के कारण उनको व्यर्थ नहीं करना चाहिये।

२. चतुर्दश समुल्लास—चतुर्दश समुल्लास में महर्षि ने १७२ आयतखण्डों में कुल ४०९ आयतों की समीक्षा की है। द्वितीय संस्करण (१८८४) में, चतुर्दश समुल्लास में कुल आयतखण्ड संख्या १५९ है। वर्तमान द्वितीय संस्करणों में १६१ है। मूलप्रति संस्करण में १७१ है और इस शोध-संस्करण में १७२ है।

अन्तर का कारण—महर्षि द्वारा मूलप्रति और मुद्रणप्रति में समीक्षित आयतखण्डों की कुल संख्या १७१ है (इसको १७२ कहना अधिक ठीक है)। चतुर्दश समुल्लास का प्रकाशन महर्षि के देहान्त के बाद मुंशी समर्थदान जी के निरीक्षण में हुआ। महर्षि की अनुपस्थिति में मुंशी जी ने १२ आयतों को अपने मन से पुनरुक्त और कटुभाषायुक्त मानकर द्वितीय संस्करण (१८८४) में प्रकाशित नहीं किया। इस प्रकार द्वितीय संस्करण (१८८४) में कुल आयतखण्ड १५९ ही प्रकाशित हुए।

परोपकारिणी के ३३वें द्वितीय संस्करण तक १५९ आयतखण्ड छपते रहे। परोपकारिणी द्वारा गठित संशोधन समिति ने ३४वें द्वितीय संस्करण में दो परिवर्तन किये—१. आयतखण्ड ४६—''**जो लोग ब्याज खाते हैं वे कबरों से नहीं खड़े होंगे।**'' को पुनः ग्रहण कर लिया। २. आयतखण्ड १४—''**हमने मूसा को किताब और मौज़िजे दिये**'' के साथ जो ६५, ६६ आयतें—''**हमने उनको कहा कि तुम निन्दित बन्दर हो जाओ॥ यह एक भय दिया जो उनके सामने और पीछे थे उनको, और शिक्षा ईमानदारों को।**'' मूलप्रति, मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (१८८४) में क्रमविरुद्ध रूप से और भूल से संयुक्त करके लिखी गई थी, उनको अलग करके आयतखण्ड संख्या १७ बनाकर उसको उचित क्रम में रखकर एक गलती का सुधार कर दिया। इस प्रकार उक्त दो आयतखण्डों के बढ़ जाने से नये द्वितीय संस्करणों में कुल आयतखण्ड संख्या १६१ हो गई और वह प्रकाशित होने लगी।

अब रह गये महर्षि-लिखित वे ग्यारह आयतखण्ड जिनको महर्षि के देहान्त के बाद मुंशी जी ने दोनों पांडुलिपियों में होते हुए भी द्वितीय संस्करण (१८८४) में प्रकाशित होने से रोक दिया था। लोग तो अपने श्रद्धेय महापुरुषों द्वारा लिखित एक-एक पंक्ति को ढूंढकर, उसे अमूल्य धरोहर मानकर ग्रन्थमाला में प्रकाशित करते हैं किन्तु मुंशी जी ने जाने-अनजाने महर्षि के ११ आयतखण्डों के लेखन श्रम को एक झटके में व्यर्थ कर दिया। महर्षि ने उनको ऐसा कोई अधिकार नहीं दिया था। उनको सशर्त यह अधिकार था कि उचित समझकर जो परिवर्तन करें, उसे महर्षि की जानकारी में भी लायें। जब तक महर्षि की जानकारी में संशोधित पाठ नहीं लाया जाता था उसको अन्तिम निर्णय नहीं माना जाता था। इसका पोषक प्रमाण मुद्रणप्रति में, दशम समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग में, हाशिये पर जोड़ा गया मांसभक्षण समर्थक वह सिद्धान्तविरुद्ध संदर्भ है, जिसको पढ़कर मुंशी जी ने महर्षि को पत्र लिखकर उसको हटाने की पहले अनुमति मांगी थी ('मीमांसा भाग' पृ० २८)। ध्यान रहे कि यह सदंर्भ पं० ज्वालादत्त शर्मा, जो वेतनभोगी शोधक था, ने प्रक्षिप्त किया था, यह तथ्य बाद में खोज करके स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती ने उद्घाटित किया है। जब स्पष्ट सिद्धान्तविरुद्ध लेख को भी महर्षि की बिना पूर्वानुमति के मुंशी जी नहीं हटा सके तो महर्षि की अनुपस्थिति में ११ आयतखण्डों को समीक्षा-सहित हटा देने का उनका अधिकार कैसे स्वीकार किया जा सकता है? महर्षि द्वारा परिश्रम से लिखाये गये बहुत बड़े समीक्षा भाग को प्रकाशित न करना मुंशी जी की अधिकार-बाह्य चेष्टा थी। यदि महर्षि जीवित होते तो अपने लेखन-श्रम को मुंशी जी द्वारा कभी भी व्यर्थ नहीं करने देते। आश्चर्य तो उन सम्पादकों की सोच पर है

जो महर्षि-लिखित समीक्षा भाग को मुंशी जी द्वारा हटाने का समर्थन करते हैं और इस प्रकार महर्षि का महत्त्व नगण्य सिद्ध करते हैं तथा मुंशी जी और लिपिकरों-शोधकों के निर्णयों या पाठों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, महर्षि की उपेक्षा करते हैं और मुंशी जी तथा लिपिकरों-शोधकों को उनसे अधिक सम्मान्य मानते हैं। क्या यह अपने श्रद्धेय का खुला अपमान नहीं है? कोई सच्चा अनुयायी इस प्रकार की सोच कैसे रख सकता है कि अपने श्रद्धेय की बात को न माने और उनके नौकरों की बात माने?

अब महर्षि के लेखन को अधिक सम्मान्य मानकर और उसको अमूल्य ऐतिहासिक धरोहर मानकर परोपकारिणी के मूलप्रति तथा इस शोध-संस्करण में ग्रहण कर लिया गया है, जैसे द्वितीय संस्करण ३४ में समुल्लास १४ में आयत संख्या ४६ को ग्रहण किया गया है। इस कारण मूलप्रति संस्करण में कुल आयतखण्ड १७१ हैं, क्योंकि क्रमविरुद्ध रूप से संयुक्त आयतखण्ड १४ व १७ को इन्होंने पृथक् नहीं किया है, अत: यह संख्या १७१ है अन्यथा उचित क्रमानुसार उसको रखने के बाद यह संख्या १७२ बनती है। १७२ ही ग्राह्य है, इस विषयक विवेचन आगे तथा समुल्लास १३ में यथास्थान टिप्पणी में देखिए।

समुल्लास १३, १४ में उपलब्ध आयतों का क्रमभंग और उसका कारण—

१. त्रयोदश समुल्लास में, द्वितीय संस्करण (१८८४) में आयतखण्ड संख्या ४५ (शोध सं० ५७)—''**सो अब लड़कों में से हर एक बेटे को और हर एक स्त्री को जो पुरुष से संयुक्त हुई हो, प्राण से मारो....**'' अपक्रम में है। अपक्रम यह है कि पूर्वापर में '**यात्रा की पुस्तक**' से आयतें उद्धृत हैं, जबकि बीच में एक यही आयत '**गिनती की पुस्तक**' की आ गई। इसके बीच में आ जाने से '**यात्रा की पुस्तक**' की आयतों का क्रमभंग हो गया है। इसके अतिरिक्त तथ्य यह है कि '**गिनती की पुस्तक**' से उद्धृत आयतखण्ड संख्या ५४ (द्विप्र०) से आरम्भ हैं, अत: प्रसंगानुसार आयतखण्ड संख्या ४५ को भी उन्हीं के साथ अपने क्रम में होना चाहिए।

अपक्रम का कारण—मूलप्रति में '**गिनती की पुस्तक**' शीर्षक देकर उक्त आयत उद्धृत है। शीर्षक तो ठीक है किन्तु संकलनकर्त्ता उसके उद्धरण का पता पूर्वापर के पाठ के प्रभाव से '**यात्रा की पुस्तक**' का गलत लिख गया। मुद्रण-प्रति में इसको मूलप्रति के क्रमानुसार ही लिखा गया है। संशोधन के समय उद्धरण-पते में पुस्तक का नाम तो ठीक करके 'गिनती की पुस्तक' लिख दिया किन्तु उसको उचित क्रम में रखना मुद्रणलिपिकर या शोधकों को भी स्मरण नहीं रहा। उसके कारण '**गिनती की पुस्तक**' की दो आयतें अलग-अलग स्थान पर लिखी गईं, एक क्रमसंख्या ४५ पर दूसरी ५४ पर; जबकि इनको बाइबल के क्रम से एकत्र लिखा जाना चाहिये था।

(**नोट**—पहली संख्या ४४ होनी चाहिए, क्योंकि द्वितीय सं० (१८८४) में १० संख्या त्रुटित रह गई है भूल से ९ के बाद ११ आयतखण्ड है। आगे जाकर ४८ संख्या दो बार छप गई है, अत: संख्या ठीक हो गई।)

२. चतुर्दश समुल्लास के अन्तर्गत आयतखण्ड संख्या १४—''हमने मूसा को किताब और मोजिजे दिये...।'' से सूरत दो की आयत संख्याओं का निम्नलिखित क्रम है—

द्विप्र० में अशुद्ध संख्या	वांछित शुद्ध क्रम संख्या	जो संख्या मुद्रणप्रति में है	जो संख्या मूलप्रति में है
आयतखण्ड १४ में—५०, ६१	(५३, ६५, ६६)	५०, ५१	५०, ५१
आयतखण्ड १५ में—६७	(७३)	५०	५०
आयतखण्ड १६ में—७५	(८२)	६४, ६५	६४, ६५
आयतखण्ड १७ में—७७, ७८	(८४, ८५)	६६, ६७	६६, ६७
आयतखण्ड १८ में—७९	(८६)	६९	६९
आयतखण्ड १९ में—८०	(८७)	७०	७०
आयतखण्ड २० में—८२	(८९)	७२	७२
आयतखण्ड २१ में—९०	(९७, ९८)	८०	८०
आयतखण्ड २२ में—५४	(५८)	८५	८५

आयतखण्ड २३ में—५६	(६०)	८८	८८
आयतखण्ड २४ में—९७	(१०५)	१०६	१०६

सभी संस्करणों में यही अपक्रम चल रहा है। आयतखण्ड २२, २३ अपक्रम में हैं, वे उचित क्रम में आयतखण्ड १४ की आयतसंख्या ५३ के बाद आने चाहियें।

अपक्रम का कारण—चतुर्दश समुल्लास के संकलनकर्त्ता ने आयतखण्ड संख्या २२, २३ की आयतों पर मूलप्रति व मुद्रणप्रति में गलत आयत उद्धरण संख्या ८५ और ८८ लिखी हुई है। फिर उसके अनुसार ही इनको पाठ क्रम में रख दिया गया। द्वितीय संस्करण (१८८४) में मिलान के समय इनकी उद्धरण संख्या गलत पाई गई तो उसे तो ठीक कर दिया किन्तु उनको उनके उचित क्रम में रखना शोधक को स्मरण नहीं आया। इस कारण वे अपक्रम में ही छपती चली आ रही हैं। इस शोध-संस्करण में इन आयतखण्डों और आयतों को कुरान के उचित क्रम में रख दिया गया है।

(थ) द्वितीय संस्करण में मुहावरों, और उर्दू-फारसी शब्दों का अशुद्ध अनुवाद—

द्वितीय संस्करण के मुद्रणकाल में अरबी, फारसी और उर्दू के शब्दों का हिन्दी अनुवाद करने का प्रयास किया गया, किन्तु साथ ही मुहावरों का भी हिन्दी अनुवाद और वह भी गलत कर दिया। यह नहीं सोचा गया कि मुहावरे में शब्दप्रयोग निर्धारित ही रहता है; न बदलता है, न अनुवाद होता है।

महर्षि ने पं० ज्वालादत्त शर्मा और मनीषी समर्थदान को उर्दू-फारसी-अरबी के शब्दों के हिन्दीकरण का कार्य मुद्रणकाल में दिया था। उस अधिकार के अनुसार उन्होंने शब्दों का अपनी योग्यता के अनुसार हिन्दीकरण किया भी, किन्तु उनसे तथा ज्वालादत्त से उर्दू-फारसी के शब्दों का हिन्दीकरण करते हुए कई हास्यास्पद भूलें हो गईं, जो आज भी द्वितीय संस्करण में विद्यमान हैं। इनमें से बहुत-से गलत अनुवादों को नये संस्करणों में फिर से शुद्ध कर लिया है। कुछ उदाहरण देखिए—

मूलपाठ जो मूलप्रति में है	शोध संस्करण पृष्ठ संख्या	अशुद्ध अनुवाद द्वितीय सं० में	द्वितीय संस्करण की पृष्ठ संख्या	वांछित शुद्ध अनुवाद
खुशामदी	१८०	प्रशंसक	९७	चाटुकार/ मिथ्या प्रशंसक
सिपाही	२७०, २७१	भृत्य	१५२	सैनिक
कैद करे	२९३	बंदीगृह करे	१६४	कारावास दे
असल इसकी	३३०	उसकी सूचना	२७८	वास्तव में
एक मियान में	३६०	एक घर में	२०१	एक मियान में (खड्गकोष में)
हजारह	४२०	सहस्रह	२२९	सहस्रों
लाखह	४२१	लाख	२२९	लाखों
ज्ञान के सामने	४६५	ज्ञान के आगे	२५०	ज्ञान के अन्तर्गत/ ज्ञान में
दिक करना	७२०	सताना	३८९	तंग करना
हजार	६७८	सहस्रों	३६३	सहस्र
महागर्मी में	६५३	उष्णकाल	३४७	अति उष्णता/ भयंकर गर्मी में
मात कर दिया	७८३	पराजित	४४२	पीछे छोड़ दिया

(४) प्रकाशित सभी सत्यार्थप्रकाशों में वर्तनी-सम्बन्धी अव्यवस्था के कुछ उदाहरण—

क्या प्रबुद्ध जन यह कल्पना कर सकते हैं कि ऋषि स्तर के एक ही लेखक की, एक ही पुस्तक में, एक ही शब्द की, विशेषत: किसी नाम की आठ-आठ, छह-छह, चार-चार, तीन-तीन, दो-दो वर्तनियां हों? शायद नहीं; किन्तु यह कष्टदायक चमत्कार भी महर्षि के वेतनभोगी लिपिकरों तथा शोधकों ने कर दिखाया है। ऐसे कई दर्जन शब्द हैं। ये वर्तनियां अभी भी मूलहस्तलेख तथा मुद्रणहस्तलेख और द्वितीय संस्करण में देखी जा सकती हैं। ये वर्तमान सभी

संस्करणों में भी छप रही हैं। यहां कुछ उदाहरण देखिए—

(क) 'इस्त्राएल' नाम की वर्तनी में ऐसी घोर अव्यवस्था है कि मूलप्रति संस्करण[१] में इसकी आठ और द्वितीय संस्करण[२] में छह वर्तनियां मिलती हैं। **मूलप्रति संस्करण** में निम्नलिखित वर्तनियां उपलब्ध हैं—

१. इसराइल (पृ० ५९४) २. इसराईल (पृ० ६७८), ३. इसरायल (पृ० ६०२),
४. इस्त्राएल (पृ० ६२२, ६२९), ५. इस्त्राऐल (पृ० ६२९), ६. इस्त्रायेल (पृ० ५९४),
७. ईस्त्रायेल (पृ० ६१५, ६१६), ८. इसराएल (पृ० ५९०, ५९४, ५९७, ६०२)।

द्वितीय संस्करण (वर्तमान) में छह वर्तनियां निम्नलिखित हैं—

१. इसराइल (पृ० ३३४), २. इसराईल (पृ० ३७८), ३. इस्त्राएल (पृ० ३५३, ३५९),
४. इस्त्रायेल (पृ० ३३४, ३४५), ५. इसरायल (पृ० ३३९),
६. इसराएल (पृ० ३३२, ३३४, ३३६, ३३८, ३३९)।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अपने शताब्दी संस्करण में कहीं संशोधन कर दिया, तो कहीं नहीं किया। उनके संस्करण में चार वर्तनियां उपलब्ध हैं—

१. इसराईल (पृ० ८८४), २. इसरायेल (पृ० ७७१, ७७६),
३. इसराएल (पृ० ७८०, ७८६, ७८७), ४. इस्त्राएल (पृ० ८०२, ८१२, ८१३)।

उदयपुर संस्करण में यह अव्यवस्था बढ़कर सात वर्तनियों के रूप में पाई जाती है—

१. इस्त्राइल (पृ० ४९७) २. इसराएल (पृ० ४८४, ४८७, ४८८, ४८९)
३. इसराइल (४८१) ४. इसराईल (५४६)
५. इस्त्राएल (पृ० ४८०, ४८२, ५०९) ६. इस्त्राऐल (५०९) ७. इस्त्रायेल (४८२)

यही अव्यवस्था **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, श्री सिद्धान्ती जी, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** आदि तथा सभाओं-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित अन्य सभी के संस्करणों में है।

(ख) 'दौरासुपुर्द' (किसी बड़े अधिकारी के नियन्त्रण, बन्धन या आज्ञा में रहना)। इस शब्द की दोनों संस्करणों में चार-चार वर्तनियां मिलती हैं। यह भी आश्चर्य की बात है कि **'मूलप्रति'** में जहां एक तरह की वर्तनी है तो **'मुद्रण हस्तलेख'** एवं **'द्वितीय संस्करण'** में वहां अन्य वर्तनी लिख दी है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो इस शब्द की दोनों संस्करणों में सात वर्तनियां बन गई हैं—

१. दौरेसुपुर्द (द्वि०सं०पृष्ठ ४००), २. दौरे सुपुर्द (मूलसं० ७२०), ३. दौड़े सुपुर्द (मूलसं० ६२८ द्वि०सं० ३५३), ४. दौरासुपुर्द (मूलसं० ७११ द्वि०सं० ३९५), ५. दौरा सुपुर्द (मूलसं० ७१०; द्वि०सं० ३८५, ३९५), ६. दौड़ासुपुर्द (मूलसं० ६५२,६८५, द्वि०सं० ३६६), ७. दौड़ा सुपुर्द (मूलसं० ६९१; द्वि०सं० ३८२)।

उदयपुर संस्करण में इस प्रयोग की पांच वर्तनियां मिलती हैं—

१. दौरासुपुर्द (५२६), २. दौड़ा सुपुर्द (५७२), दौड़ासुपुर्द (५५१, ५५६, ५७१), ३. दौरेसुपुर्द (५७८), ४. दौड़े सुपुर्द (५०८)।

अन्य सभी सम्पादकों के संस्करणों में यही अव्यवस्था है।

१-२. इस सं० में मूलप्रति संस्करण के उदाहरणों के लिए परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा प्रकाशित मूलप्रति पर मुख्यत: आधारित ३९वां संस्करण ग्रहण किया है। द्वितीय संस्करण के उदाहरणों के लिए मुद्रणप्रति पर आधारित आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, नयी दिल्ली-६ द्वारा प्रकाशित ५५वें संस्करण को वर्तमान द्वितीय संस्करणों का प्रतिनिधि मानकर ग्रहण किया है। इन्हीं संस्करणों की पृष्ठ संख्या मूलप्रति सं०/ मूलसं०, द्वितीय संस्करण/ द्वि०सं० के रूप में उद्धृत है। स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती का तृतीय संस्करण, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का द्वितीय संस्करण (१९७५), उदयपुर का प्रथम संस्करण (जुलाई, २०१०) समीक्षार्थ ग्रहण किया है। द्वितीय संस्करण (१८८४) के लिए 'द्विप्र०' संक्षिप्त रूप का प्रयोग किया गया है।

(इ) '**बाइबल**' नाम की वर्तनी **दोनों सं०** में चार-चार प्रकार से लिखी मिलती है—

१. बायबिल (मूलसं० पृष्ठ 'क', ५६८, ५८६, ५८९, ६४०; द्वि०सं० ५ (दोबार), १८९)

२. बाइबल (मूलसं० पृ० ५९२, ५९६, ५९९, ६५१; द्वि०सं० ३२०, ३२१, ३२४, ३२९, ३४०, ३५९)

३. बाइबिल (मूलसं० पृ० 'ख'; द्वि०सं० पृ० ३५३)

४. बाईबिल (मूलसं० ४५६; द्वि०सं० २६१)

उदयपुर संस्करण में इसकी तीन वर्तनियां मिलती है—

१. बाइबल (४६४, ४६५, ४६९, ४७५, ४९०, ५०९, ५१८), २. बायबिल (७, २७६, २७७),

३. बायबल (७) (एक ही पृष्ठ ७ पर दो वर्तनियां हैं, यह सम्पादन का भी प्रमाद है)

स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती के संस्करण में यह अव्यवस्था बढ़कर पांचवी वर्तनी और प्रयुक्त है—'बाईबल' (पृ० ३५३ पर टिप्पणी में अनेक बार)। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के संस्करण में कहीं परिवर्तन कर दिया है, कहीं नहीं। वहां तीन वर्तनियां प्रयुक्त हैं—बाइबल, बाईबिल, बायबल। अन्यों के संस्करणों में भी यही अव्यवस्था है।

(ग) '**इंजील**' नामक पुस्तक के नाम में **मूलप्रति सं०** में चार और **द्वितीय सं०** में तीन वर्तनियां अव्यवस्थित रूप से मिलती हैं—

१. इञ्जील (मूलसं० ६०४, ६२३, ६२६, ६३९, ६४६; द्वि०सं० ३४०, ३५०, ३५१, ३५९, ३६२)

२. इंजील (मूलसं० ६०४, ६०७; द्वि०सं० ३४१)

३. अञ्जील (मूलसं० ७१२; द्वि०सं० ३९६)

४. इन्जील (मूलसं० ६१३)

(घ) '**मरियम**' नाम की **दोनों संस्करणों** में तीन-तीन वर्तनियां मिलती हैं—

१. मरियम (मूलसं० ६०४, ६०५, ६५३,; द्वि०सं० ३४०, ३६६)

२. मर्यम (मूलसं० ६९३, ७१७; द्वि०सं० ३८६)

३. मर्य्यम (मूलसं० ६६७; द्वि०सं० ३७३)

उदयपुर संस्करण में इस नाम की तीन वर्तनियां मिलती हैं—

१. मरियम (४९०, ५२८), २. मर्यम (५५७, ५५८), ३. मर्य्यम (५३८)

(ङ) ऐसे दो दर्जन शब्द हैं जिनकी सभी सम्पादकों के उपलब्ध संस्करणों में चार-चार, तीन-तीन अथवा दो-दो वर्तनियां हैं, जैसे—**फिरौन**—फिराओन, फिरओन, फिरऊन, फिरोन। **शाप**—शाप, श्राप, स्राप। **पड़ोसी**—पड़ोसी, परोसी, परौसी। **सास**—सास, सासु, सासू, शाशू। **ससुर**—ससुर, श्वशुर, श्वसुर। **भरम**—भरम, भ्रम, भर्म। **सूअर**—सूअर, सुअर, सूवर, सुवर। **भित्ति**—भित्ति, भित्ती, भीति, भीत्ति। **घड़ियाल**—घड़ियाल, घड़ियार, घरियाल। **कुए**—कूए, कुए, कुवे, कूवे। **परदा**—परदा, पड़दा, पर्दा; आदि।

(च) इसी प्रकार उपलब्ध सभी संस्करणों में ऐसे सौ से ऊपर शब्द हैं जिनकी दो-दो वर्तनियां उल्लिखित हैं। इनमें कुछ ऐसे हैं जिनकी दोनों वर्तनियां शुद्ध हैं जैसे—रात्रि-रात्री, युवति-युवती, मिश्र-मिस्र, योरोप-योरुप, अंगरेज-अंग्रेज, मिट्टी-मट्टी आदि। अधिकांश ऐसे हैं जिनकी प्रथम वर्तनी शुद्ध है, दूसरी अशुद्ध, जैसे—क्षणभंगुर-क्षणभंग, रज्जु-रज्जू, मलिन-मलीन, ग्रस्त-ग्रसित, जयते-जयति, चार्वाक-चारवाक, मांस-माँस, बंदीगृह-बन्धीगृह, धरता-धर्त्ता, करता-कर्त्ता, भोगता-भोक्ता, पुराण-पुरान, स्वायंभुव-स्वायंभव, ओषधि-औषधि, तालाब-तलाब, गाड़ना-गाढ़ना, करोड़-क्रोड़, कुंड-कूंड, दुल्हिन-दुल्हीन, बहिश्त-बिहिश्त, हाबिल-हाबील, पीया-पिया, उगता-ऊगता, गोसाईं-गुसाईं, स्वामीनारायण-स्वामिनारायण, शहाबुद्दीन-शाहाबुद्दीन, पुजारी-पूजारी, बटलोई-बटलोही, उलटा-उल्टा, पुलटा-पुल्टा, करड़े-कर्ड़े, छिदरा-छिदिरा, बाहर-बाहिर आदि।

(छ) लिपिकरों-शोधकों की प्रमादपूर्ण करतूतों की सीमा उक्त विवरण तक ही समाप्त नहीं होती। सीमा वहां पार

हो गई जहां एक ही वाक्य या अनुच्छेद में यदि एक शब्द दो-तीन बार आया है तो उसकी वर्तनी भी दो-तीन प्रकार से लिखी है। निम्नलिखित उद्धरण पढ़िए और लिपिकरों-शोधकों की करतूत पर फिर एक बार अपना माथा पीट कर रह जाइये—

१ ''शैतान को <u>भरमाने</u> वाला कौन है? यदि शैतान स्वयं <u>भर्मा</u> है तो शैतान के बिना <u>भरमनेहारे</u> <u>भर्मेंगे</u>।''

(मुद्रणप्रति संस्करण पृ० ३६८ [३८५], द्वितीय सं० पृ० ३५५)

२ ''मुहम्मद साहब दो <u>परदों</u> में थे और खुदा की आवाज सुनी। एक <u>पर्दा</u> ज़री का था।''

(मूलसं० पृ० ७११; द्वितीय सं० पृ० ३९६)

३ ''आज तक वे लोग मोटे कपड़े <u>पहरते</u> हैं जैसा कि स्वदेश में <u>पहिरते</u> थे।''

(मूलसं० ४५४; मुद्रण० २६१ [२७१]; द्वितीय सं० २६०)

४ त्रयोदश समुल्लास की आयत संख्या ९, १० और उनकी समीक्षाओं में कुल मिलाकर '<u>हाबिल</u>' नाम छह बार आया है। दोनों संस्करणों में लिपिकरों ने तीन बार '<u>हाबिल</u>' और तीन बार '<u>हाबील</u>' लिखा है। (मूलसं० पृ० ५७७-५७८; द्वितीय सं० पृ० ३२५)

५ ''हम <u>बुत्परस्त</u> नहीं किन्तु <u>बुतशिकन</u>... हैं।'' (मूल०स० ३८४; द्वितीय सं० २२०)

६ ''तीन <u>क्रोड़</u> रुपया ले लो मन्दिर और मूर्ति मत तोड़ो।.... सुनते हैं कि अठारह <u>करोड़</u> के रत्न निकले।''

(मूलसं० ३८४; द्वितीय सं० २२०)

७ ''कुछ <u>अर्बी</u> और कुछ संस्कृत भी पढ़ा हुआ दीखता है क्योंकि इसमें <u>अरबी</u> और संस्कृत के पद लिखे हुए दीखते हैं।''

(मूलसं० ७२६; द्वितीय सं० ४०३)

८ ''सुलतान <u>शाहबुद्दीन</u> गौरी गढ़ गजनी से चढ़ाई करके आया....सुलतान <u>शहाबुद्दीन</u> करने लगा।''

(मूलसं० ४८०; द्वितीय सं० २७४)

१० ''दोहने की <u>बटलोही</u> को ले.....गाय दुह <u>बटलोई</u> भर.....।''

समीक्षा—इस कथा में छह बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है। दोनों सं० में तीन बार ''<u>बटलोही</u>'' और तीन बार ''<u>बटलोई</u>'' वर्तनी प्रयुक्त है। (मूलसं० ४१०; द्वि०सं० २३४)

अन्त: में, पुन: याद कीजिए कि महर्षि ने न तो किसी प्रति को अपने हाथ से लिखा है, न उन्होंने यह कहा है कि अशुद्ध लिखो, अत: त्रुटियां ऋषिकृत नहीं हो सकती हैं। ग्रन्थकार ऋषि ने तो लिपिकरों के कारण भाषा में रह गई अशुद्धियों पर अपने पत्रों में आक्रोश व्यक्त किया है। किन्तु, हमारे कुछ कथित ऋषिभक्तों की लीला देखिए कि इस प्रकार की सारी अशुद्धियां ऋषिवर के मत्थे मढ़ दीं। अब उनको ऋषि की धरोहर मान रहे हैं, उन त्रुटियों का पक्ष लेकर बेतुकी खींचतान से उनकी अनर्गल व्याख्या करने में अपना समय-श्रम व्यर्थ कर रहे हैं, पाठकों को गुमराह कर रहे हैं और अपनी अज्ञानता तथा रूढ़िवादिता के कारण उनको यथावत् रखने के लिए हठ कर रहे हैं! क्या कोई अशुद्धि भी अपने श्रद्धेय के मत्थे मढ़ा करता है, और वह भी मिथ्या रूप से? वारी जाँऊ ऐसे ऋषिभक्तों की अद्‌भुत सोच और निराली ऋषिभक्ति पर!!

—०—

चतुर्थ अध्याय

शुद्धतम एकरूप संस्करण के लिए आधारप्रति का निर्णय और इस शोध संस्करण की शोधप्रविधि के मानदण्ड

१. मूलप्रति की ग्राह्यता का विवेचन

ऋषिप्रोक्त मूलप्रति (मूल-हस्तलेख) को प्रमुख आधारप्रति मानकर अब तक केवल ३७, ३८, ३९ संस्करण परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा प्रकाशित हुए हैं। उनमें मूलप्रति के अतिरिक्त मुद्रणप्रति में जो महर्षि के हाथ से लिखे परिवर्तन-परिवर्धन पाये जाते हैं, और द्वितीय संस्करण (१८८४) में जो परिवर्धन-संशोधन मिलते हैं, उनको भी ग्रहण किया गया है। उसी ऋषिप्रोक्त मूलप्रति को देख-देखकर (बोले हुए रूप में नहीं) मुद्रणलिपिकरों ने मुद्रणप्रति (=प्रेसकापी) तैयार की थी। फिर उससे द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति सन् १८८४) मुद्रित हुआ। स्वाभाविक है कि इस प्रक्रिया में सत्यार्थप्रकाश में मुद्रणकाल तक तथा आगामी संस्करणों में भी उत्तरोत्तर सैकड़ों परिवर्तन-परिवर्धन तथा संशोधन होते गये हैं। जब तक उनमें से शुद्ध एवं उपयोगी विषयवस्तु को ग्रहण नहीं किया जायेगा तब तक कोई संस्करण न तो सम्पूर्ण कहलायेगा, न त्रुटियां अथवा पाठत्रुटियां दूर होंगी और न महर्षि का प्रयोजन पूर्णतः सिद्ध होगा। मूलप्रति (मूल-हस्तलेख) में और मुद्रणप्रति में भी, निम्नलिखित विषयवस्तु का अभाव है—

(क) मूलप्रति में मुख्य भूमिका संक्षिप्त है, मुद्रणप्रति में कहीं-कहीं परिवर्धित है।

(ख) उत्तरार्ध के ११-१४ समुल्लासों की अनुभूमिकाएं मुद्रणप्रति में जोड़ी गई हैं, वे भी मुद्रणप्रति लिखे जाने के बाद।

(ग) मूलप्रति में कुछ स्थानों पर प्रमाणभाग को अलिखित छोड़ा गया है जिससे उसको प्रतिलिपि करते समय पूरा किया जा सके, जैसे—अल्लोपनिषद् का मूलपाठ।

(घ) एकादश समुल्लास में वर्णित राजवंशावली मुद्रणसमय लिखवाकर भेजी गई है, जो दोनों पांडुलिपियों में नहीं थी।

(ङ) ऋषि ने कुछ टिप्पणियां मुद्रणप्रति के शोधन के समय लिखी हैं, जो मूलप्रति में नहीं हैं। इसी प्रकार मुंशी समर्थदान जी द्वारा लिखित टिप्पणियां, जो मुद्रणसमय लिखी गई है, वे दोनों हस्तलेखों में नहीं हैं।

(च) उत्तरोत्तर मुद्रणप्रति तथा द्वितीय संस्करण (१८८४) में किये गये परिवर्धन-संशोधन मूलप्रति में नहीं हैं।

(छ) अनुच्छेद विभाजन, विरामचिह्नों का अभाव, व्यवस्थित सम्पादन का अभाव दोनों हस्तलेखों में है। अनुच्छेद विभाजन और विस्तृत विरामचिह्नों का प्रयोग मुद्रणसमय किया गया है।

(ज) लिपिकरों द्वारा लिखते समय शीघ्रता में छोड़ गये अक्षर, शब्द, वाक्य आदि।

(झ) मुद्रणप्रति में समुल्लास १३, १४ में बढ़ाई गई कुछ आयतें और उनकी समीक्षा।

(ञ) वेदमन्त्रों पर स्वरांकन दोनों हस्तलेखों में नहीं है।

(ट) त्रुटित वे प्रमाण और पाठ जो इस संस्करण में सम्पादक द्वारा बृहत्कोष्ठक में प्रस्तावित हैं।

मूलप्रति (मूल-हस्तलेख) पर मुख्यतः आधारित परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित मूलप्रति-संस्करणों (३७-३९) में उक्त अभावों की पूर्ति मुद्रणप्रति से, द्वितीय संस्करण (१८८४) से और शेष स्थानों पर अपने विवेकानुसार की गई है। सैकड़ों संशोधन होने अभी शेष हैं।

ऐसा करने से बहुत-से स्थलों पर भाषा और विषयवस्तु में वैशिष्ट्य की अभिवृद्धि हुई है किन्तु कुछ स्थलों पर एक

नयी अव्यवस्था और दोनों पांडुलिपि के पाठमिश्रण से पाठविकृति उत्पन्न हो गई। मूल-हस्तलेख में जिस पाठ का अभाव था, मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण का नवगृहीत पाठ वहां तो समायोजित हो गया, किन्तु जहां पहले से पूर्ण पाठ था वहां मूल-हस्तलेख के पाठ का त्याग कर देने और उसके स्थान पर मुद्रणप्रति का पाठ ग्रहण करने से एक नयी पाठविकृति हो गई। उसका कारण यह है कि मुद्रणप्रति में संशोधन-परिवर्धन वहां की भाषा की अपेक्षा से है न कि मूल-हस्तलेख की भाषा की अपेक्षा से। यह पाठविकृति उस 'सम्पादन नीति' का परिणाम है जिसके अन्तर्गत दोनों पांडुलिपियों में प्राप्त प्रत्येक ऋषि-हस्तलेख को ग्रहण करना अनिवार्य माना गया है जबकि जहां मूलप्रति का पाठ पूर्ण, शुद्ध और संगत है, वहां मुद्रणहस्तलेख और द्वितीय संस्करण का हस्तलेख ग्रहण करना आवश्यक नहीं था। मुद्रणप्रति में ऋषि को अनेक संशोधन-परिवर्धन इस कारण करने पड़े हैं क्योंकि वहां प्रमादी मुद्रणलिपिकरों ने मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते हुए अनेक वाक्य त्रुटित छोड़ दिये हैं या अनावश्यक और अशुद्ध रूप से मनमाने ढंग से पाठ-परिवर्तन कर दिया है जिसे महर्षि ने अपने ढंग से उनको पुनः शुद्ध और पूर्ण किया है।

कुछ सामान्य आपत्तियों के होते हुए भी परोपकारिणी सभा द्वारा **'मूलप्रति संस्करण'** का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य है। उसके प्रकाशन से मूल-हस्तलेख पाठकों के सामने प्रकट हो गया और सुरक्षित हो गया, जो भविष्य में सत्यार्थप्रकाश-सम्बन्धी शोध तथा सम्पादन में उल्लेखनीय मार्ग प्रशस्त करेगा। इसका सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इसके माध्यम से महर्षिप्रोक्त भाषा हमारे सामने आ गई जो कि प्रत्येक आर्य के लिए श्रद्धा की वस्तु है। जब हम ऋषि की वस्तुओं, जैसे—वस्त्र, आसन, खड़ाऊँ, चाकू, घड़ी, भवन, स्थान आदि को अद्‌भुत और श्रद्धास्पद ऐतिहासिक धरोहर मानकर सुरक्षित-संरक्षित रख रहे हैं, तो उसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश की महर्षिप्रोक्त शुद्ध भाषा भी श्रद्धास्पद ऐतिहासिक धरोहर है। 'महर्षि की वाणी' के रूप में उसकी प्राथमिकता से संरक्षा करना आर्यों का प्रमुख कर्त्तव्य बनता है। **मूलप्रति की यह अनन्य विशेषता है कि वह ऋषिप्रोक्त और ऋषिलिखित है। बोलकर लिखाने के बाद उसको दो बार महर्षि ने अपने हाथ से शोधा है।** अतः वह आर्यों के लिए एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और श्रद्धास्पद अभिलेख है।

मूलप्रति संस्करण के प्रकाशन से प्राप्त अनेक लाभों में से कुछ लाभ महत्त्वपूर्ण हैं। उससे उन पाठों का परिज्ञान हो जाता है जो मुद्रणलिपिकर ने मनमाने ढंग से व्यर्थ बदले हैं या जो अनुच्छेद और पृष्ठ त्रुटित रह गये हैं। इनके अतिरिक्त अनेक संदेहजनक पाठों का समाधान भी उससे मिल गया है। उसी शुद्धता के आधार पर उदयपुर संस्करण ने द्वितीय संस्करण के परम्परागत २०० पाठों का परित्याग कर उनके स्थान पर मूलप्रति के पाठों को ग्रहण किया है। मूलप्रति संस्करण से मुद्रणलिपिकरों या आदिशोधकों की स्वेच्छाचारिता का जो भाण्डाफोड़ हुआ है उसने मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण की आधारभूतता और अक्षरशः प्रामाणिकता पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर दिया है, क्योंकि उन्होंने मुद्रणप्रति बनाते समय और द्वितीय संस्करण का मुद्रण करते समय १९०० से अधिक भाषिक परिवर्तन किये हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह तथ्य भी उभरकर सामने आया है कि एकाकी मूलप्रति में सत्यार्थप्रकाश का पूर्ण एवं शुद्धतम एकरूप संस्करण बनने का पूर्ण सामर्थ्य नहीं है।

यहां मैं यह भी तर्क प्रस्तुत करना चाहूंगा कि जब मूलप्रति संस्करण को मुद्रण-हस्तलेख और द्वितीय संस्करण का पर्याप्त आश्रय व सहयोग लेना पड़ा है तो क्यों न अन्य उपयोगितानुसार भी उनका आश्रय लेकर सत्यार्थप्रकाश का एक समन्वित, शुद्धतम, सम्पूर्ण एकरूप संस्करण प्रकाशित कर दिया जाये? ऐसा करने से सत्यार्थप्रकाश का भी हित होगा और ऋषिकार्य भी सिद्ध हो जायेगा।

२. मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण की ग्राह्यता का विवेचन—

द्वितीय संस्करण के पक्षधरों का कहना है कि द्वितीय संस्करण ही प्रामाणिक, सम्पूर्ण और आधाररूप है, क्योंकि वह मुद्रणप्रति के अनुसार छपा है और मुद्रणप्रति ही महर्षि को प्रकाशनार्थ अभीष्ट थी, क्योंकि वही प्रकाशनार्थ लिखवाई गई थी और फिर भेजी गई थी। ऋषि के जीवनकाल में द्वितीय संस्करण के ११ समुल्लास छप चुके थे और १३वें के पृष्ठ ३४४ तक संशोधित करके भेज दिये गये थे, अतः वही ऋषि-सम्मत संस्करण है और वही मान्य है, किन्तु

निम्नलिखित कारणों से ये कथन सही और मान्य नहीं है।

(क) द्वितीय संस्करण के पक्षधरों की उपर्युक्त सभी बातें आंशिकरूप से तथ्यपरक होते हुए भी व्यावहारिक रूप से सही नहीं हैं। ये बातें तब तक स्वीकार्य हो सकती थीं जब तक दोनों पाण्डुलिपियां प्रकाश में नहीं आई थीं। पाण्डुलिपियों के प्रकाश में आने के बाद चिन्तन का सारा दृष्टिकोण ही बदल गया है, नये तथ्य और रहस्य प्रकट हुए हैं। महर्षि द्वारा पूर्णतः निरीक्षित और प्रमाणित मूल-हस्तलेख से मुद्रणप्रति बनाते हुए मुद्रण-लिपिकरों ने जो स्वच्छन्दता और निरंकुशता अपनाई है उसका भाण्डाफोड़ हो चुका है। पांडुलिपियों और संस्करणों के तुलनात्मक विश्लेषण से यह रहस्योद्घाटन हो चुका है कि न मूलहस्तलेख का यथावत् रूप मुद्रणप्रति है और न मुद्रणप्रति का यथावत् रूप द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति १८८४) है और न द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) का यथावत् रूप आज प्रचलित द्वितीय संस्करण हैं। मुद्रणप्रति की आश्रयता और निर्भरता पर्याप्त अंशों में निरर्थक और अग्राह्य सिद्ध हो गई है। इन और अन्य अनेक कारणों से मुद्रणप्रति हस्तलेख के प्रकाशन का आग्रह अर्थहीन और तर्कहीन हो गया है।

जैसा कि पूर्व अध्यायों में सप्रमाण बताया जा चुका है कि मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकरों ने लगभग १९०० परिवर्तन या पाठान्तर मूलप्रति की भाषा में किये हैं जिनमें सैकड़ों परिवर्तन अवांछनीय, नितान्त व्यर्थ या अनावश्यक हैं। उनसे सत्यार्थप्रकाश में अनेक पाठान्तर उत्पन्न हो गये हैं जो विवाद का विषय बने हुए हैं। उन परिवर्तनों ने ऋषि की भाषा की महत्ता को गौण बना दिया है, ऋषि के कथित अनुयायी अब नाम तो ऋषि का लेते हैं और महत्त्व उनके नौकरों=लिपिकरों-शोधकों की भाषा को देते हैं। मुद्रणप्रति ने इस प्रकार ऋषि की महत्ता को ही पीछे धकेल दिया है। (प्रमाण द्रष्टव्य है 'मीमांसा भाग' में पृष्ठ ८१-१०२ पर)

मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (१८८४) के विषय में आवश्यक ज्ञान के अभाव के कारण विद्वानों में एक भ्रान्ति है कि महर्षि ने मुद्रणप्रति का पूर्ण निरीक्षण-संशोधन किया था और द्वितीय संस्करण (१८८४) उनके जीवनकाल में अर्थात् उनके निरीक्षण में उनके सामने छपा था, अतः वे दोनों अधिक प्रामाणिक हैं। इस वास्तविकता का उल्लेख गत पृष्ठों में कई बार किया जा चुका है कि महर्षि मुद्रणप्रति का निरीक्षण केवल ३४४ पृष्ठ तक (आधे तेरहवें समुल्लास तक) ही कर पाये थे और प्रकाशित द्वितीय संस्करण के कुल ५९२ पृष्ठों में से केवल ३२० पृष्ठ तक केवल ११वें समुल्लास तक ही निरीक्षण कर पाये थे। शेष उनके द्वारा निरीक्षित-संशोधित नहीं है। इस मानदण्ड की दृष्टि से वे दोनों प्रतियां '**अर्धप्रामाणिक**' कोटि में आती हैं, अतः वे सत्यार्थप्रकाश की पूर्ण प्रामाणिक प्रमुख आधारप्रति नहीं बन सकती।

(ख) सैकड़ों पाठों को त्रुटित छोड़ना—

जैसा कि पूर्व अध्याय में सप्रमाण प्रदर्शित है, मुद्रणप्रति में पहला बड़ा दोष है कि उसमें सैकड़ों अपूर्ण और अशुद्ध पाठ हैं, जिनके कारण उसकी पूर्ण प्रामाणिकता नहीं रह गई है। मुद्रणलिपिकरों ने कई-सौ स्थानों पर पाठ (शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, पृष्ठ) त्रुटित छोड़ दिये हैं, जिनके कारण पाठ का तारतम्य नष्ट हो गया। शोधकों ने प्रमादवश उन पाठों का पुनः मूल हस्तलेख से मिलान नहीं किया और अनेक स्थलों पर अनुमान से नया पाठ बना दिया, जिसके दुष्परिणाम कई निकले—१. महर्षिप्रोक्त मूल हस्तलेख की भाषा और मुद्रणप्रति में पाठान्तर उत्पन्न हो गये। २. मुद्रणप्रति में अनुमान से बनाये गये पाठों से महर्षि की मूलभाषा के अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द और वाक्य त्रुटित रह गये। ३. आज उनमें से बहुत-से त्रुटित पाठों को द्वितीय संस्करण में ग्रहण करने-न करने को लेकर विवाद है। ४. द्वितीय संस्करण के कुछ पक्षधर लिपिकरों के प्रमाद से त्रुटित उन पाठों पर ही पूर्वाग्रहग्रस्त हो गये हैं। अपने पूर्वाग्रह से उन्होंने ऋषिप्रोक्त भाषा को ही उपेक्षित कर दिया है क्योंकि वे लिपिकर की भाषा को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। यदि मुद्रणलिपिकर कर्त्तव्यहीनता और प्रमादलीला न करते तो इन अप्रिय परिस्थितियों का निर्माण नहीं होता। इस प्रकार के उदाहरण इस संस्करण की टिप्पणियों में '**लिपिकर की प्रमादलीला से त्रुटित पाठ**' या '**त्रुटित पाठ**' शीर्षक से प्रदर्शित किये गये हैं, जो सैकड़ों की संख्या में हैं। (द्रष्टव्य 'मीमांसा भाग' पृ० ८२-८७, १११-११२ भी)

द्वितीय संस्करण के सम्पादकों की इस विषयक चिन्तन की विडम्बना यह देखी जा रही है कि त्रुटित कई-सौ पाठों में से अनेक तो उन्होंने समय-समय पर द्वितीय संस्करण में 'मूलप्रति' से ग्रहण कर लिये हैं, किन्तु शेष पाठों को ग्रहण

न करने के लिए दुराग्रह कर रहे हैं, अर्थात् मनमानेपन के आधार पर जो चाहा उसे ग्रहण कर लिया, जिसको नहीं चाहा उसको नहीं किया, या नहीं कर रहे। देखिए, बाद के द्वितीय संस्करणों में ग्रहण किये गये मूलहस्तलेख के पाठों के कुछ उदाहरण—

त्रुटित पाठ और द्वितीय सं० (१८८४) की वह पृष्ठ संख्या जिस पर यह त्रुटित है	वर्तमान द्वितीय संस्करण में ग्रहण किया गया मूलप्रति का पाठ, उसकी तथा शोध संस्करण की पृष्ठ संख्या
१. किसी को अभिमान न चाहिये (समु० २, ३४)	—''किसी को अभिमान करना योग्य नहीं, क्योंकि 'अभिमानः श्रियं हन्ति' यह विदुरनीति का वचन है। जो अभिमान अर्थात् अहंकार है वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है। इस वास्ते अभिमान न करना चाहिये।'' (२४)
२. सत्यान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न (समु० ३, ५१)	—''सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न....'' (३५)
३. ब्राह्मणी और क्षत्रिया सब विद्या वैश्या (समु० ३, ७६)	—''ब्राह्मणी को सब विद्या, क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्या विशेष, वैश्या को....'' (५१) [१४२]
४. राजधर्म में कहेंगे देशों की.... (समु० ४, १११)	—''राजधर्म में कहेंगे। जो वैश्य हों वे ब्रह्मचर्य आदि से वेदादि विद्या पढ़ विवाह करके नाना देशों की भाषा....'' (७३) [२०१]
५. यह मन्त्र त्रुटित है, जबकि इसका अर्थ है (समु० ७ १७८)	—''अहं दां गृणते.....विश्वस्मिन्भरे॥'' (११६) [३१७] (ऋग्वेद २०।४९।१)
६. ''ऊपर से नीचे ब्रह्मा ने विचारा....'' (समु० ११, ३२९)	—''ऊपर से नीचे ब्रह्मा चला। ब्रह्मा ने विचारा (२२६) [६२२]
७. ''अनर्थक क्यों नहीं ? ब्रह्मा जी'' (समु० ११, ३३२)	—''अनर्थक क्यों नहीं ? जब भागवत का मूल ही झूठा है तो उसका वृक्ष क्यों न झूठा होगा ? ब्रह्मा जी....(२२८)
८. ''ज्योतिर्लिङ्ग और जिनमें.....'' (समु० ११, ३३६)	—''ज्योतिर्लिङ्ग लिखे हैं। उसकी कथा सर्वथा असम्भव है। नाम धरा है ज्योतिर्लिङ्ग और जिनमें....(२३१)
९. सामने लिखित प्रश्नोत्तर त्रुटित हैं (समु० १२, ४१७)	—''नास्तिक—ईश्वर ने.....स्वीकार किया'' ''आस्तिक—ईश्वर ने कभी.....ईश्वर में नहीं।'' ये छह-सात पंक्तियां ग्रहण की हैं। (२८९) [७७२]
१०. तेरहवें समुल्लास में बाइबल की त्रुटित आयतें तीन हैं (४८०-४८१)	—आयतखण्ड संख्या ३६,३९ और ४० आयतें नयी ग्रहण की हैं— ३६. ईश्वर का मुंह देखा.....। ३९. तब परमेश्वर ने देखा.....। ४०. तब परमेश्वर ने उसे कहा.....। (३३३) [८७६]
११. चौदहवें समुल्लास में कुरान की आयत ''जो लोग ब्याज खाते हैं....'' (द्वितीय सं० ४६, शोधसं० ४८) त्रुटित है (५३७)	—द्वितीय सं० में पुनः गृहीत हैं। (३७२) [९७१]

(ग) मुद्रणलिपिकर के पाठपरिवर्तन से ऋषि के अभिप्रायविरुद्ध पाठों का समावेश—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय जो मनमाने ढंग से पाठ-परिवर्तन किये हैं उसके कारण मुद्रणप्रति में अनेक पाठ ऋषि के आशय के विरुद्ध निर्मित हो गये हैं। वही द्वितीय संस्करण में छपे हैं और छप रहे हैं। (द्रष्टव्य 'मीमांसा भाग' में पृष्ठ ९१,९६ पर प्रमाण)

(घ) मुद्रणलिपिकर कृत व्याकरणिक त्रुटियां और अपपाठ—मुद्रणलिपिकर की अयोग्यता और स्वच्छन्द पाठ परिवर्तन से मुद्रणप्रति के अनेक पाठ विकृत/भ्रष्ट हो गये हैं और अनेक पाठों में तथा वाक्यरचना, क्रिया, लिंग, कारक, विराम आदि की व्याकरणिक त्रुटियां उत्पन्न हो गई हैं। (प्रमाण द्रष्टव्य हैं मीमांसा भाग में पृष्ठ ८३, ८७ पर) जो लोग मुंशी जी द्वारा मुद्रण-समय में किये गये पाठ-परिवर्तनों तथा आयत-निष्कासनों को ऋषि-लेखों से अधिक महत्त्व

देते हैं ऐसे कथित ऋषिभक्तों को मुंशी जी का मुद्रणप्रति के सम्बन्ध में लिखा गया यह वाक्य भी परम प्रमाण मानना चाहिये—

''भाषा में और कापी में बहुत असम्बद्धता आती है'' (द्रष्टव्य 'मीमांसा भाग' में पृष्ठ २६ पर पत्र)

(ङ) व्यवस्थित सम्पादन का अभाव—ग्रन्थ के सम्पादन में व्यवस्था और एकरूपता मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में भी नहीं है। आदि-सम्पादकों पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन ने इसके लिए कोई प्रयास नहीं किया। लिखाने के बाद समस्त विभिन्नताओं और विरूपताओं को दूर कर एकरूपता निर्मित करना उनका ही कर्त्तव्य था, विषयसंकेतक वाक्यों में एकरूपता, पदार्थों की एकरूपता, वाक्यों का व्याकरणानुसार संशोधन करना, त्रुटित पाठों को पूर्ण करना आदि उनके कर्त्तव्य थे, जो उन्होंने नहीं किये।

(च) १३ और १४ समुल्लास में अनेक आयतों और उनकी समीक्षा का अभाव—१३, १४ समुल्लासों में उन आयतों का अभाव है जिनको मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से प्रतिलिपि करने से छोड़ दिया, ऊपर से तेरहवें समुल्लास में ९ और चौदहवें समु० में ११ आयतें कम करके शोधक पंडितों ने और मनीषी समर्थदान जी ने द्वितीय संस्करण को अपूर्ण बना दिया। महर्षि ने अपने विवेक से इन आयतों को छंटवाया, फिर श्रम से उसकी समीक्षा लिखी, निरीक्षण किया और फिर छपने के लिए प्रेस में भेजा। समर्थदान जी ने उनको अपने विवेक से काट दिया। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि मुद्रणप्रति के रूप में महर्षि द्वारा प्रकाशनार्थ प्रेषित सामग्री को मुंशी जी द्वारा निरस्त करना उचित कार्य था? आज भी वह ऋषिलिखित सामग्री द्वितीय संस्करणों में नहीं छप रही है। फिर मुद्रणप्रति का महत्त्व ही क्या रह गया जिसको छापा ही नहीं जा रहा? क्या समर्थदान जी की विद्वत्ता और विवेक ऋषि से बढ़कर हो गये? यह कार्य महर्षि के अभिप्राय के अनुकूल नहीं था। ये दोनों समुल्लास महर्षि के देहान्त के बाद छपे हैं। यदि महर्षि जीवित होते तो अपने इतने सारे श्रम को व्यर्थ करने की अनुमति मुंशी समर्थदान को कभी नहीं देते, जैसे कि टिप्पणी में नाम देने की अनुमति नहीं दी थी। मुद्रणप्रति की रट लगाने वाले आर्यजन, महर्षि द्वारा मुद्रणप्रति में प्रकाशनार्थ प्रेषित आयतों को, क्या अब प्रकाशित कर ऋषिभक्ति का प्रमाण देंगे, अथवा लिपिकर-भक्त बने रहेंगे?

महर्षि ने मुंशी समर्थदान जी को सीमित और सशर्त अधिकार केवल भाषात्मक संशोधन और टिप्पणी लेखन का दिया था, महर्षि द्वारा लिखित विषय-वस्तु को रद्द करने अथवा अनावश्यक घोषित करके निकाल देने का नहीं। अधिकार देने का अर्थ अधिकारी को गौण करके स्वच्छन्द कार्य करना नहीं होता। अत: मुंशी समर्थदान का आयतों की कटौती का कार्य इस आधार पर स्वीकार्य नहीं हो सकता। महर्षि द्वारा मुंशी समर्थदान जी को प्रदत्त अधिकार ये हैं—

१. ''जहां-जहां उचित समझो वहां-वहां नोट दे देना।'' (९ सितम्बर, १८८२ के पत्र में) ''जो तुमको विचारपूर्वक नोट देना हो सो भी देते जाना।'' (२ अक्तूबर १८८२ के पत्र में)

२. ''जो कहीं भाषा असम्बद्ध हो और अभिप्राय व अक्षर, मात्रा आदि से अशुद्ध हो उसको तुम भी शोध लिया करो।''

(पत्र-विज्ञापन, पृ० ६२०)

सीमित अधिकार—

३. ''सत्यार्थप्रकाश में जो कोई ऐसा अनुचित शब्द हो, निकालकर, जो हमारे आशय से विरुद्ध न हो, वह शब्द उसके स्थान में धरना और हमको लिखके सूचित करना कि यह शब्द धरे हैं।'' (१९ अगस्त, १८८३ के पत्र में)

४. ''सत्यार्थप्रकाश आदि किसी ग्रन्थ में जो नोट लिखो तो उसमें किसी का नाम न लिखना किन्तु टाइटल पेज के ऊपर तो तुम्हारा नाम रहना ही चाहिये, परन्तु ग्रन्थ के नोट पर न रहना चाहिये।''

इन निर्देशों से सिद्ध है कि उक्त प्रदत्त अधिकार के अतिरिक्त **'आयतों को निकालने'** आदि का अधिकार मुंशी जी को प्राप्त नहीं था और न उन्होंने यह परिवर्तन महर्षि को सूचित किया था। अत: यह कार्य अधिकारसम्मत नहीं है।

तेरहवें समुल्लास और चौदहवें समुल्लास में मुद्रण-लिपिकर ने विचारहीनता से कुछ आयतखण्डों को संयुक्त कर दिया। ऐसा करना इसलिए अनावश्यक था क्योंकि उन आयतों का वर्ण्यविषय भिन्न एवं स्वतन्त्र है। इससे यह हानि हुई कि दोनों पाण्डुलिपियों में पाठान्तर उत्पन्न हो गये। जैसे—

(अ) तेरहवें समुल्लास में मूलप्रति की ६९-७०, ७८-७९ और ८०-८२ (द्वितीय सं० में ६७, ७३, ७४) आयतखण्डों

को बिना किसी युक्तियुक्त और संगत कारण के संयुक्त कर दिया।

(आ) तेरहवें समुल्लास में मूलप्रति की ३६, ३९, ४० आयतों को मुद्रण-लिपिकर ने लापरवाही से छोड़ दिया। द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति १८८४) में तीनों नहीं छपीं। प्रचलित द्वितीय सं० ने पुनः उनको ग्रहण कर लिया। (द्वितीय सं० में खण्डसंख्या ३६, ३९, ४०)। यहां द्वितीय संस्करण के पक्षधरों ने समर्थदान जी का संशोधन या अधिकार भी अमान्य कर दिया अर्थात् जहां मन किया वहां समर्थदान जी की आड़ ले ली और जहां मन न किया वहां उनकी भी उपेक्षा कर दी।

(इ) चौदहवें समुल्लास में मुद्रण-लिपिकर ने बिना किसी सम्बद्धता के आयतखण्ड संख्या १४ और १७ को संयुक्त कर दिया। द्वितीय सं० (प्रथमावृत्ति ८४) में ये संयुक्त रूप में छपी हैं। वर्तमान द्वितीय सं० ने उनको पुन दो खण्डों में विभक्त कर दिया।

(ई) चौदहवें समुल्लास में आयतखण्ड ४७ मुद्रण-लिपिकर और द्वितीय सं० (प्रथमावृत्ति ८४) में नहीं है, वह लिपिकर ने छोड़ दी। वर्तमान द्वितीय सं० में (संख्या ४६) फिर ग्रहण कर ली है।

उक्त पाठों में मुद्रणप्रति की सर्वथा उपेक्षा हो गई है। इसी प्रकार वर्तमान द्वितीय संस्करणों में भी बार-बार आयतों के पाठ बदले हैं।

(छ) वेदमन्त्रों पर स्वरांकन का अभाव—मुद्रणप्रति और द्वितीय सं० (प्रथमावृत्ति १८८४) में वेदमन्त्रों पर स्वरविन्यास का अभाव है। वर्तमान द्वितीय संस्करणों में यह सम्पादकों द्वारा अपने विवेक से किया गया कार्य है। यद्यपि यह संशोधन उचित एवं ग्राह्य है किन्तु उससे मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण की उनसे भिन्नता का ज्ञान होता है और यह कार्य स्वतन्त्र संशोधन-परिवर्तन के अन्तर्गत परिगणित होता है। मूल उद्धरण और वैदिक स्वरविद्या की रक्षार्थ यह आवश्यक है। वेदों में स्वरांकन वेदमन्त्रों का अंग है।

(ज) भाषा में द्वित्त्व प्रयोग में अव्यवस्था—भाषा में द्वित्ववर्णों के प्रयोगों में इतनी भिन्नता है कि मूलप्रति में जहां द्वित्व व्यंजन का प्रयोग है वहां मुद्रणप्रति में नहीं है, मुद्रणप्रति में जहां द्वित्व व्यंजन का प्रयोग है तो वहां द्वितीय संस्करण में नहीं है, जहां एक में नहीं है वहां अन्यों में प्रयुक्त है। (इसके लिए 'समीक्षा भाग', पृ० १४८ पर इस विषयक प्रश्नोत्तर भी द्रष्टव्य हैं।) इससे यह ज्ञात होता है कि मुद्रणप्रति की यथावत् आश्रयता पर जो बल दिया जाता है वह व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ नहीं है।

(झ) विषयसंकेतक आरम्भिक और अन्त के वाक्यों की शैली में अव्यवस्था—

समुल्लासों के विषयसंकेतक आरम्भिक और अन्त के वाक्यों के लेखन में अव्यवस्था और अनियमितता है। सम्पादन भी प्रमादपूर्ण है। किसी समुल्लास में वे वाक्य है, किसी में नहीं है।

(ञ) शुद्ध वर्तनियों-उद्धरणों का अभाव—जिस मुद्रणप्रति को लेकर प्रामाणिकता, शुद्धता और ग्राह्यता का व्यर्थ ढिंढोरा पीटा जा रहा है उसमें, अपनी अयोग्यता और प्रमाद से मुद्रण-लिपिकरों ने सैकड़ों वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियां (अशुद्ध वर्तनी, एक ही शब्द की अनेक वर्तनियां आदि) की हैं। यदि सभी प्रकार की त्रुटियों का आकलन किया जाये तो मुद्रण-हस्तलेख और द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति १८८४) में अनुमान से क्रमशः ३०००-३५०० और ३५००-४२०० के मध्य त्रुटियां विद्यमान हैं। उनमें से द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति १८८४) में १४७ अशुद्धियों का तो शुद्धाशुद्धि पत्र संयुक्त किया हुआ है, शेष उसमें अभी विद्यमान हैं। उनमें से भी प्रचलित वर्तमान द्वितीय संस्करणों में अनेक का संशोधन कर दिया है, अनेक अभी भी विद्यमान हैं। इतनी सारी अशुद्धियों से भरपूर कोई पाण्डुलिपि अथवा ग्रन्थ शिक्षाजगत् में प्रामाणिक नहीं माना जाता। शेष सब अशुद्धियों के संशोधन की महती आवश्यकता है। उसके बिना ग्रन्थ का मानक, प्रामाणिक और शुद्ध संस्करण नहीं बनेगा। शुद्धता की दृष्टि से मुद्रणप्रति अनुपयोगी है, क्योंकि उसमें उक्त सब अशुद्धियां भरी पड़ी हैं।

प्रचलित द्वितीय संस्करणों में सम्पादकों ने समय-समय पर अनेक संशोधन स्वविवेक से और मूलहस्तलेख के आधार पर किये गये हैं, जो प्रशंसनीय हैं; किन्तु यह भी सत्य है कि उनसे मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति

१८८४) और वर्तमान द्वितीय संस्करणों की पारस्परिक निर्भरता कम हुई है। खेद का विषय यह है कि उनमें अब एक साथ सभी अशुद्धियां दूर न करने से प्रत्येक संस्करण में पारस्परिक भिन्नता आ गई है। प्रश्न उठता है कि सैकड़ों अशुद्धियां शेष क्यों हैं? क्या यह हम आर्यों की अकर्मण्यता और अदूरदर्शिता नहीं है? जो त्रुटियां दूर की गई हैं वे भी तो संशोधन-परिवर्तन हैं। संशोधन के कुछ उपलब्ध उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) वर्तमान द्वितीय संस्करणों में संशोधित कुछ अशुद्धियां—

द्वि०सं० (प्रथमावृत्ति) का पाठ और पृष्ठ	वर्तमान ५५वें द्वि०सं० का पाठ और पृष्ठ
मतान्तरों (५)	मतमतान्तरों (३)
दुरागही (७)	दुराग्रही (५)
धर्त्ता हूं (८)	धरता हूं (५)
बाधते (२१)	बाध्यते (१५)
म्लेक्षाचार (२२)	म्लेच्छाचार (१६)
आचार्यमान् (२८)	आचार्यवान् (२०)
वैदिकशास्त्र (३०)	वैद्यक शास्त्र (२१)
विषयाशक्ति (३७)	विषयासक्ति (२६)
बयालीस (४४)	चवालीस (३१)
सुक्तानि (५०)	शुक्तानि (३५)
आवर्ण (५४)	आवरण (३७)
विद्यामान् (९३)	विद्यावान् (६१)
पीड़त (१०५)	पीड़ित (६९)
दाशि (११९)	दासी (७८)
अम्बिका अम्बा में धृतराष्ट्र (११९)	अम्बिका में धृतराष्ट्र (७८)
भौतिक शरीर (२४२)	अभौतिक शरीर (१६६)
मुमुक्षू (२४४)	मुमुक्षु (१६७)
ज्ञान की वृद्ध (२५२)	ज्ञान की वृद्धि (१७३)
प्रसंशा (१३७)	प्रशंसा (९०)
शतघी (१४०)	शतघ्नी (९२)
तरवाल (१४०)	तलवार (९२)
निर्हत्य (१४०)	निर्हृत्य (९३)
निमित्त (१९२)	नित्य (१२७)
विद्या (१९७)	अविद्या (१३१)
एक सौ सत्ताईस (२०५)	एक हजार एक सौ सत्ताईस (१३७)
बनता हुआ (२१९)	बनाता था (१४८)
जीवों में (२२२)	बीजों में (१५०)
कराता है (२२८)	करता है (१५४)
साकारवाले (२३४)	आकारवाले (१५९)
कर्त्ता है (२३८)	करता है (१६३)
विनोट (२४०)	विनष्ट (१६५)
३,६०,००० (२४१)	३६,००० (१६५)
विरचिते (२५५)	विभूषिते (१७५)
जो उत्तम (२५५)	जो अत्यन्त (१७४)
अपने सुख से (२५४)	अपने मुख से (१७४)
स्वायम्भव (२७४)	स्वायम्भुव (१८७)
सर्याति (२७४)	शर्याति (१८७)
क्षत्री (२७७)	क्षत्रिय (१९०)
कर्त्ते चले (२७८)	करते चले (१९०)
मुण्ड० [उप०] (२९०)	कठ० [उप०] (१९८)
आदर्श वाले में (२९१)	आदर्श वा जल में (२००)
गुणों के भोग (२९५)	गुणों के योग (२०३)
साधू जी (३०१)	साधु जी (२०७)
मनवाञ्छित (३०५)	मनोवाञ्छित (२१०)
हर की पीढ़ी (३२२)	हर की पैड़ी (२२१)
जलामय (३२८)	जलाशय (२२६)
शर्म्मा (३३०)	सरमा (२२७)
सत्यरूपा (३३०)	शतरूपा (२२७)
किसका पूंछ (३४०)	किसकी पूंछ (२३४)

आदि-आदि।

(आ) वर्तमान द्वितीय संस्करणों में संशोधित कुछ उद्धरण-सम्बन्धी अशुद्धियां—

द्वि०सं० (प्रथमावृत्ति) में अशुद्ध रूप व पृष्ठ संख्या	५५वें द्वितीय संस्करण में प्राप्त संशोधित रूप व पृष्ठ
१. क्लप्तकेश....कुशुम्भवान् (समु० ५, १२९)	क्लृप्तकेश.....कुसुम्भवान् (८४)
२. प्राणापान.....मनो (समु० ७, १९३)	प्राणापान.....जीवनमनो....(१२८)
३. अग्नेनूनं प्रथमस्य (समु० ९, २३९)	अग्नेर्वयं प्रथमस्य (१६३)

४.	हिंस्रा व्याघ्राः (समु० ९, २५३)	सिंहा व्याघ्राः (१७३)
५.	यजमान ऋषयो (समु० ९, २५४)	यज्वान ऋषयो (१७३)
६.	ननक्तुसर्यातियया‌ति.....(समु० ११, २७४)	ननक्तुशर्यातियया‌ति.....(१८८)
७.	मद्यं मासं च (समु० ११, २८०)	मद्यं मांसं च (१९२)
८.	अस्मान्.....देव (समु० ११, १८५)	'अस्मान् विश्वानि देव'' (२२५)
९.	पुराणन्यखिलानि च (समु० ११, ३२६)	पुराणानि खिलानि च (२२५)
१०.	सेतबन्ध इति (समु० ११, ३१८, १)	सेतुबन्ध इति (२१८)

इस प्रकार के संशोधित उद्धरण कई दर्जन हैं। दर्जनों असंशोधित अभी बचे हुए हैं।

(ट) मुद्रणकालीन टिप्पणियों का अभाव—मुद्रणप्रति में उन टिप्पणियों का अभाव है, जिनको ग्रन्थकार ने और मुंशीसमर्थदान जी ने मुद्रणसमय द्वितीय संस्करण में लिखा या परिवर्धित किया है। इसी प्रकार मुंशी जी द्वारा परिवर्धित कुछ अन्य पाठ भी हैं, जैसे—भूमिका के अन्त में लिखा गया स्थान एवं तिथि का विवरण और ऋषि का नाम तथा कुछ आयतों की समीक्षा आदि।

(ठ) नवीनतम वर्तनियां—वर्तमान में प्रचलित द्वितीय संस्करण एक अन्य बिन्दु पर भी मुद्रणप्रति से भिन्न हो गये हैं। कई संस्करणों में सत्यार्थप्रकाश की प्राचीन वर्तनियों का नवीनीकरण कर डाला है, जैसे—

चाहिये—चाहिए	कीजिये—कीजिए	दीजिये—दीजिए
लिये—लिए	इसलिये—इसलिए	गये—गए, आदि।

इससे सत्यार्थप्रकाश के भाषावैज्ञानिक स्वरूप को हानि पहुंची है और उसकी भाषात्मक पुरातनता नष्ट हुई है। भविष्य में सत्यार्थप्रकाश का भाषावैज्ञानिक अध्ययन करनेवाला व्यक्ति भाषा के आधार पर या तो उसे अर्वाचीन सिद्ध करेगा अथवा उसे महर्षि-काल से भिन्न अन्य किसी व्यक्ति द्वारा लिखित सिद्ध करेगा।

(ड) राजवंशावली—मूल मुद्रणप्रति में एकादश समुल्लास में राजवंशावली का अभाव है, क्योंकि वह मुद्रणप्रति के लेखन के बाद तैयार करके मुद्रणप्रति में संयुक्त की गई थी और प्रेस में प्रकाशनार्थ भेजी गई थी।

(ढ) अनुभूमिकाएं—मूल मुद्रणप्रति में उत्तरार्ध की अनुभूमिकाएं नहीं थी। उनका लेखन बाद में कराया है और फिर यथास्थान मुद्रणप्रति में जोड़ा गया है।

(ण) अल्लोपनिषद्—इसी प्रकार 'अल्लोपनिषद्' भी मुद्रणप्रति का मूलपाठ नहीं है। उसको भी बाद में प्रकाशन के समय द्वितीय संस्करण में संयुक्त किया गया है।

(त) मुद्रणकालीन संशोधनों का अभाव—मुद्रणप्रति में भी उन संशोधनों-परिवर्धनों का अभाव है जो मुद्रणकाल में द्वितीय संस्करण में हुए हैं।

(थ) अनुच्छेद विभाजन और विरामचिह्नों का अभाव—अनुच्छेद-विभाजन और विरामचिह्नों का प्रयोग मुद्रणप्रति में नहीं है। उनको मुद्रणसमय द्वितीय संस्करण में किया गया है। द्वितीय संस्करण में भी पूर्णतः उपयुक्त अनुच्छेद विभाजन नहीं है जैसा कि बाद के संस्करणों में मिलता है। इसी प्रकार द्वितीय संस्करण में विरामचिह्नों की अशुद्धता और अव्यवस्था पर्याप्त संख्या में मिलती है।

(द) बृहत् कोष्ठक आदि में सम्पादकों द्वारा प्रस्तावित नये पाठों का अभाव—द्वितीय संस्करण का एक भी सम्पादक ऐसा नहीं है जिसने पाठसंगति हेतु और उद्धरण-संशोधन के लिए अपनी ओर से बृहत् कोष्ठक में अथवा मूलपाठ में नये पाठ परिवर्धित न किये हों। इसका अर्थ यह है कि मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण में उन आवश्यक पाठों का अभाव है, इस तथ्य को सभी स्वीकारते हैं।

(ध) मुद्रणदोषों का बाहुल्य—द्वितीय संस्करण (१८८४) में प्रूफ-शोधकों के प्रमाद से मुद्रणदोषों का अति बाहुल्य है। उनके रहते हुए सत्यार्थप्रकाश का शुद्ध साहित्यिक एवं प्रामाणिक स्तर स्वीकार्य नहीं हो सकता, अतः उनका संशोधन वांछनीय है। किसी भी शुद्धतम संस्करण के निर्माण के लिए अशुद्धि-बहुल प्रति 'आधारप्रति' नहीं बन सकती।

(न) मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण के लिए मूलप्रति की आश्रयता—अनेक परिवर्तनों-संशोधनों के लिए मूलहस्त का आश्रय लेना पड़ा है और भविष्य में भी लेना पड़ेगा। इस प्रकार मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण की परस्पर आश्रयता बहुत कुछ समाप्त हुई है और ज्यों-ज्यों संशोधन होंगे त्यों-त्यों दूरी बढ़ती जायेगी अर्थात् मुद्रणप्रति का महत्त्व कम होता जायेगा।

मुद्रण-लिपिकर ने स्वच्छन्दता से जो पाठ या भाषा में परिवर्तन किये, अथवा त्रुटित पाठ छोड़े, अशुद्धियां कीं, या मन्तव्यविरुद्ध पाठ प्रक्षिप्त किये, निश्चय ही उन्हें महर्षि व्यस्तताव‌श भलीभांति देख और जान नहीं पाये। अन्य कई प्रसंगों पर भी उनका ध्यान नहीं गया। इसके दो कारण थे—**एक,** महर्षि के पास वेदादिशास्त्रों के भाष्य का इतना कार्याधिक्य था कि वे इस कार्य को पर्याप्त समय नहीं दे पाये। समयाभाव और शीघ्रता में अशुद्धियां रह गईं। **दूसरा,** तथ्यों से ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि जब मुद्रणप्रति का ऋषि ने निरीक्षण किया तो उस समय में ऋषि के पास मूलहस्तलेख नहीं था, क्योंकि कई-सौ स्थानों पर मुद्रण-लिपिकर ने जो प्रमाद से पाठ छोड़ दिये हैं, उनकी शोधक ने और ऋषि ने अनुमान से संगति लगाई है। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कई स्थानों पर जो लम्बा पाठ त्रुटित था, उसके बीच का महत्त्वपूर्ण अंश और वाक्य त्रुटित ही रह गये हैं और मूल-हस्तलेख तथा मुद्रण-हस्तलेख में परस्पर अनेक पाठान्तर पैदा हो गये, अनेक अशुद्धियां भी उत्पन्न हो गई हैं। उन अशुद्धियों को दूर करने का मुख्य साधन 'मूलप्रति' ही है। यों समझिए कि मूलप्रति के बिना द्वितीय संस्करण की गति ही नहीं है। यदि गति होती तो सवा-सौ से अधिक वर्षों से निरन्तर आज तक उसका सहारा लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जो लोग महर्षिप्रोक्त मूलप्रति की शुद्ध, सुगठित, सारगर्भित, गम्भीर, संक्षिप्त भाषा के समक्ष मुद्रणप्रति की लिपिकरों की भाषा को वरीयता देते हैं, इसका सीधा-सा अर्थ है कि वे महर्षि की तुलना में अयोग्य लिपिकरों को अधिक सम्मान तथा महत्त्व दे रहे हैं, ऋषि को नहीं। वे लोग लिपिकरों का महिमामण्डन कर रहे हैं और ऋषि का महिमाखण्डन कर रहे हैं। भले ही ऋषि ने मुद्रणप्रति को प्रेस में प्रेषित किया हो, फिर भी, जब यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि उसमें पाठों की सैकड़ों त्रुटियां लिपिकरों की स्वच्छन्दता से हैं और वर्तनी आदि की घोर अशुद्धता है तो हमें उसको गौण ही समझना चाहिए। महर्षि की शुद्ध मूल भाषा के समक्ष लिपिकरों और शोधकों की भाषा, विशेषत: जो अनावश्यक रूप से परिवर्तित की गई है, उसका कोई मूल्य और ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है, वह सर्वथा उपेक्षणीय है, क्योंकि **'कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली ?' 'कहाँ ऋषि दयानन्द, कहां सामान्य लिपिकर ?'** इसी ऐतिहासिक धरोहर के कारण ही मूल-हस्तलेख की महर्षिप्रोक्त भाषा को इस संस्करण का प्राथमिकता से आधार बनाया गया है।

कोई यहां कुतर्क करते हैं कि अन्य ग्रन्थों में भी तो लेखकों की भाषा है, इसमें भी रहे। मैं कहता हूँ, सौभाग्य से ऋषिवर की जितनी भाषात्मक धरोहर प्राप्त है उसको तो अपना लीजिए, उसको तो संरक्षित कर लीजिए। जो अप्राप्त है, उसकी तो विवशता है। कुछ कहते हैं कि ऋषि ने उनकी भाषा, उनके संशोधन को मान्य कर लिया था। यह झूठ है। ऋषि ने तो स्थान-स्थान पर अपने पत्राचार में लिपिकरों-शोधकों की भाषा और कार्य की निन्दा-आलोचना की हुई है। जो कुछ स्वीकार किया है वह अनजाने में और विवशता में है। यदि आप ऐसा मानते हैं कि ऋषि ने भाषा को मान्य किया हुआ था तो मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति १८८४) को यथावत् प्रकाशित करके दिखाइये, हम आपकी बात को मान जायेंगे। उसमें सम्पादकों ने हजारों संशोधन-परिवर्तन क्यों कर डाले ? जब ऋषि ने उसको देखकर मान्य कर दिया था तो आपको उसमें एक भी अक्षर का परिवर्तन नहीं करना बनता।

ऋषि के अनुयायी हम आर्यजनों के व्यवहार की विडम्बना तो देखिए कि हम ऋषि की खड़ाऊं, वस्त्र, घड़ी, चाकू, भवन, स्मारक स्थल आदि भौतिक वस्तुओं को श्रद्धास्पद ऐतिहासिक धरोहर मानकर संरक्षित कर रहे हैं, दूसरी ओर ऋषि द्वारा प्रोक्त भाषारूपी अमूल्य धरोहर की उपेक्षा कर रहे हैं, और उसको गौण करने के लिए लिपिकरों-शोधकों की भाषा को महत्त्व देने हेतु तर्क-प्रमाणों का उलटा बल लगा रहे हैं!! स्वयं को ऋषिभक्त कहने वाले लोगों की यह कैसी मानसिकता है ? मेरा निवेदन है कि ऋषि का जो भी कुछ हमें ग्राह्य और उपयोगी स्वरूप में उपलब्ध है उसको हमें श्रद्धास्पद ऐतिहासिक धरोहर मानकर ग्रहण करके संरक्षित

करना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि हमारी ऋषिभक्ति गौण है और हमारा पूर्वाग्रह, हमारी अपनी प्रतिष्ठा तथा अहं उस पर प्रभावी है।

(प) शोध संस्करण में प्रतियों की भिन्नता का विवाद नहीं—मूलप्रति और मुद्रणप्रति, मूलप्रति सं० और द्वितीय सं० की भिन्नता का झगड़ा तो हमारे शोध कार्य पर लागू ही नहीं होता। हमारी शोधपद्धति के अनुसार कार्य होने पर दो संस्करणों का भेद ही नहीं रहेगा? इस कार्य की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब हम एक-दूसरे संस्करण के शुद्ध और वैशिष्ट्ययुक्त गौरववर्धक पाठ एक-दूसरे में ग्रहण करके समन्वित, शुद्ध, सम्पूर्ण और प्रामाणिक संस्करण तैयार करेंगे तो दो संस्करणों का भेद स्वत: ही मिट जायेगा। दोनों संस्करणों का मिलकर एकरूप हो जायेगा। और ऐसा हमें सत्यार्थप्रकाश की शुद्धता के लिए तथा दूरगामी हितों को ध्यान में रखकर एक-न-एक दिन करना ही पड़ेगा। यह कार्य अन्य सम्पादकों ने भी किया है किन्तु वह आंशिक रूप में ही किया है। तीनों आद्यप्रतियों का मिलान करके शुद्धतम एकरूप संस्करण निर्मित करना किसी भी दृष्टि से आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि तीनों ही आद्यप्रतियां अल्पाधिक रूप में महर्षि द्वारा निरीक्षित हैं। उनमें मूलप्रति अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह दो बार और पूर्णत: निरीक्षित है। **यह भी स्वीकार्य तर्क है कि मूलाधार 'मूलप्रति' ही हो सकती है, बाद की प्रतियां तो शाखारूप हैं, और शाखाएं कभी मूल नहीं कहाती।** प्रथमस्थानीय वस्तु प्रथमस्थानीय ही होती है, द्वितीय और तृतीय स्थानीय को प्रथमस्थानीय महत्त्व कदापि नहीं दिया जा सकता। द्वितीय संस्करण को आधारप्रति कहने वाले विद्वान् पूर्वाग्रहवश ऐसा कहते हैं।

(फ) मुद्रणप्रति पर आधारित द्वितीय संस्करण पर कुछ प्रश्न सदा मंडराते रहते हैं कि उसके सौ से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। निरन्तर उनमें संशोधन किये जाते रहे हैं, तो संशोधन का क्रम कब तक जारी रहेगा? कभी रुकेगा भी या नहीं? और सवा-सौ वर्षों की अवधि में यह क्यों नहीं रुक पाया?

यह प्रश्न भी मुंह बाये खड़ा है कि आखिर द्वितीय संस्करण अशुद्धियों का ऐसा क्या अकूत भण्डार हो गया कि वे विद्वानों के वश में ही नहीं आ रही जो वे आज तक उसका शुद्धतम रूप निर्मित नहीं कर सके?

निष्कर्ष—अन्त में, मूलप्रति के विश्लेषण के बाद प्रस्तुत वही तर्क मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (१८८४) के सन्दर्भ में देना चाहूंगा कि जब हमें निर्विवाद रूप से यह निश्चय हो गया है कि मूल-हस्तलेख (मूलप्रति) के बिना मुद्रण-प्रति और द्वितीय संस्करण में यह क्षमता नहीं है कि वह सम्पूर्ण, शुद्धतम, प्रामाणिक एकरूप संस्करण बन सके, तो क्यों न मूलप्रति के समन्वित आधार पर एक संस्करण निर्मित किया जाये। इस पद्धति से सत्यार्थप्रकाश की दो शाखाओं (दो संस्करणों) का भेद सदा-सदा के लिए मिट जायेगा। यदि इस प्रकार एकरूप संस्करण निर्मित हो जाता है तो समझो वह महर्षि के प्रति आर्यजनों की सच्ची श्रद्धांजलि होगी, और यदि हम ऐसा नहीं कर पाते हैं, तो समझो वह फिर 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रति श्रद्धांजलि होगी। व्यर्थ के हठ से सत्यार्थप्रकाश की प्रामाणिकता ही नष्ट होगी।

३. इस संस्करण की शोध-प्रविधि एवं शोध के मानदण्ड—

इस प्रकरण में संशोधन के मानदण्डों के अन्तर्गत मैंने ग्रन्थ में अभी तक विद्यमान अशुद्धियों के उदाहरण प्रदर्शित किये हैं। मैं बहुत स्थानों पर वह कह चुका हूं कि उन अशुद्धियों को मैं लिपिकर, संकलकर्त्ता, आदि-शोधकों और सम्पादक-कृत मानता हूं। उन उदाहरणों के साथ बहुत-से स्थानों पर 'समीक्षा' भी दी है जिसमें यह दर्शाया है कि इस वाक्य को किसने संशोधित किया है। **यहां ऋषि-हितैषी बुद्धिमान् पाठकों और विद्वानों के चिन्तन के लिए एक प्रश्न पहले उपस्थित कर रहा हूं जिसको अशुद्धि के प्रत्येक उदाहरण के साथ पाठक लागू कर लें। वह यह है कि जब एक स्थान पर किसी अशुद्धि या अशुद्ध वाक्यरचना को सम्पादकों ने शुद्ध कर लिया है तो अन्य अशुद्धियों को दूर क्यों नहीं किया? उसका संशोधन करना भी उनका कर्त्तव्य बनता था और यदि किसी कारणवश पहले नहीं कर सके, तो अब करलें, उन पर वितण्डा और दुराग्रह न करें। उस अशुद्धि को दूर करने से सत्यार्थप्रकाश का गौरव ही बढ़ेगा, प्रामाणिकता और मानकता बढ़ेगी।**

मेरा समग्र शोधकार्य एक नीति के अन्तर्गत और निश्चित मानदण्डों के आधार पर सम्पन्न हुआ है। वैसे तो दोनों संस्करणों के अशुद्ध या त्रुटित पाठों के स्थान पर अर्थवैशिष्ट्य युक्त तथा एक-दूसरे संस्करण का पाठ ग्रहण किये जाने

पर और हिन्दी-व्याकरण के आधार पर संशोधन करने से दो संस्करणों का भेद ही लगभग मिट गया है, फिर भी शुद्ध पाठ का प्राथमिक आधार महर्षिप्रोक्त मूल-हस्तलेख है। इसमें पाठों का निर्धारण मूल-हस्तलेख, मुद्रण हस्तलेख, मूलप्रति संस्करण, द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) तथा वर्तमान दर्जनों **द्वितीय संस्करणों** के मिलान से किया गया है। मेरे इस कार्य के ये अग्रलिखित मानदण्ड हैं—

(१) व्याकरणिक त्रुटियां (भ्रष्ट और अप-अर्थ, अपपाठ, अपप्रयोग आदि)

सत्यार्थप्रकाश में, लिपिकरों-शोधकों और संकलनकर्त्ताओं की अयोग्यता एवं प्रमादलीला के कारण बहुत स्थानों पर रचना में वर्तनी, वचन, लिंग, कारक, विराम-प्रयोग, क्रिया, वाक्य आदि की अव्यवस्था पाई जाती है जो तत्कालीन हिन्दी-व्याकरणानुसार भी त्रुटि है। ये त्रुटियां लिपिकरों द्वारा अशुद्ध लिखने के कारण हुई हैं और शोधकों के द्वारा ध्यान से न शोधने के कारण रही हैं। संकलनकर्त्ताओं के अशुद्ध संकलन, आदि-सम्पादकों के अपसम्पादन और संशोधन के अभाव के कारण भी अनेक त्रुटियां रही हैं। इस शोध-संस्करण में उनको अन्यत्र प्राप्त ऋषिकृत शुद्ध प्रयोग के आधार पर या एक-दूसरे संस्करण के सहयोग से और व्याकरण के अनुसार शुद्ध किया है, क्योंकि त्रुटियां जहां ग्रन्थ के मानक रूप को नष्ट कर उसे अप्रामाणिक बनाती हैं, वहीं महर्षि की भूमिका में प्रस्तुत इस प्रतिज्ञा को कि **'व्याकरणानुसार भाषा को शोधा गया है'** तथा **वाक्य बोधक शक्तियों योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति और तात्पर्य को अपप्रभावित करती हैं।** व्याकरण सम्बन्धी ऐसी त्रुटियों को **अप-अर्थ, भ्रष्ट या अपपाठ, 'अपप्रयोग'** आदि शीर्षकों के द्वारा टिप्पणी में परिचित कराया गया है तथा उनका संशोधन किया गया है।

जैसा कि बार-बार बताया गया है कि ये अशुद्धियां अयोग्य लिपिकरों के कारण हुई हैं। एक लिपिकर अपनी अयोग्यता के कारण कहीं कैसे ही लिख देता है, कहीं कैसे ही। **जब लिपिकर बदल जाता था तो वह अपनी योग्यता-अयोग्यता के अनुसार वर्तनी, लिंग, क्रिया, वाक्य को लिख देता था। यही कारण है कि कहीं वही वाक्य शुद्ध है तो कहीं अशुद्ध है, कहीं वह उद्धरण शुद्ध है तो कहीं अशुद्ध है, कहीं वह वर्तनी शुद्ध है तो कहीं अशुद्ध है। इस कारण ऐसे स्थानों पर शुद्ध को ही ऋषिसम्मत माना गया है।**

अशुद्ध पाठों के संशोधित पाठ मूल में अंकित किये हैं और टिप्पणी में पाठकों के ज्ञानार्थ अशुद्ध पाठ, पाठान्तर आदि भी दे दिये गये हैं ताकि पाठक विवरण-सहित उनको पढ़कर स्वयं भी निर्णय से सन्तुष्ट हो सकें। ऐसे अपपाठों के कुछ-कुछ उदाहरण पाठकों की जानकारी के लिए आगे दिये जा रहे हैं। विशेषत: द्वादश, त्रयोदश और चतुर्दश समुल्लासों में अप-अर्थ उस-उस समुल्लास के प्रमाण **संकलनकर्त्ताओं** और **अनुवादककर्त्ता-लेखकों** की भूल से हुए हैं। कार्याधिक्य और समयाभाव के कारण ग्रन्थकर्त्ता सभी संकलित पाठों और उनके अर्थों का मिलान नहीं कर सके। वे वेतनभोगी संकलनकर्त्ताओं के विश्वास पर निर्भर रहे। जैसा संकलित पाठ और अर्थ ग्रन्थकर्त्ता के सामने आया उन्होंने उसी पर आधारित समीक्षा लिखा दी। अब प्रथम बार अप-अर्थों की ओर विद्वानों एवं पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उनके संशोधन की महती आवश्यकता है। यथा—

(क) दोनों संस्करणों में भ्रष्ट या अपअर्थ के उपलब्ध कुछ उदाहरण—

१. **बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।**
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्॥ (सर्वदर्शन संग्रह, बौद्धदर्शन ३०)

दोनों सं० में महाभ्रष्ट अर्थ—**''बौद्धों का सुगत देव भगवान् पूजनीय देव और जगत् क्षणभंगुर, आर्यपुरुष और आर्या स्त्री तथा तत्त्वों की आख्या संज्ञादि प्रसिद्धि ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ हैं।''**

शुद्ध अर्थ—**बौद्धों का सुगत=बुद्ध पूजनीय देव है, उनके मत में जगत् क्षणभंगुर है। बौद्ध 'आर्यसत्य' के नाम से आख्य=प्रसिद्ध चार तत्त्वों को मानते हैं। उनके नाम और व्याख्या क्रम से सुनो— ॥**

(समु० १२, द्विप्र० ४०८; उदयपुर सं० ४०८; शोधसं० पृ० ७५४; मूलसं० ४९५; द्वि०सं० २८३)

समीक्षा—बारहवें समुल्लास के संकलकर्त्ता की मूर्खता से यह भ्रष्ट अर्थ लिखा गया है। श्लोक पाठ भी अशुद्ध है—**''आर्यसत्त्वाख्यया''।** दु:ख की बात है कि आज तक प्रकाशित सभी संस्करणों में यह अशुद्ध छप रहा है। प्रथम बार इस अशुद्धि की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

२. **दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।**
मार्गश्चेत्यस्य व्याख्या च क्रमेण श्रूयतामतः॥ (सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शन ३१)

दोनों सं० में महाभ्रष्ट अर्थ—**इस विश्व को दुःख का घर जाने, तदनन्तर समुदय अर्थात् उन्नति होती है और मार्ग, इनकी व्याख्या क्रम से सुनो—।**

शुद्ध अर्थ—**वे चार 'आर्यसत्य' हैं—संसार में सब दुःख ही दुःख है, संसार दुःखों का घर है, समुदय=आत्मा राग-द्वेष आदि भावों की उत्पत्ति का स्थान है, मार्ग=दुःख के निराकरण का उपाय व मार्ग मोक्ष है। इन चारों की व्याख्या अब क्रम से सुनो—॥**

(समु० १२, शोधसं० में पृ० ७५४; द्विप्र० ४०८; उदयपुर सं० ४०८; मूल० ४९५)

समीक्षा—संकलकर्त्ता की मूर्खता से लिखा गया यह महाभ्रष्ट अर्थ आज तक सभी संस्करणों में प्रचलित है जिसका मूल अर्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

३. जैन दर्शन से सम्बन्धित "**सर्वज्ञो दृश्यते....**" आदि नौ श्लोक मूल दर्शन में जैनियों के खण्डन अर्थात् उत्तरपक्ष में वर्णित हैं। ग्रन्थ में संकलनकर्त्ता और अर्थकर्त्ता लेखक की भूल से इन सभी श्लोकों का अर्थ जैनियों के स्थापनापक्ष अर्थात् पूर्वपक्ष में प्रदर्शित है, जो अर्थ का अनर्थ है और बिलकुल विपरीत अर्थ है।

(समु० १२, द्विप्र० ४१३; उदयपुर सं० ४१३; शोधसं० ७६५-७६८; मूलसं० ५०२-५०३; द्वि०सं० २८६-२८७)

समीक्षा—संकलनकर्त्ता की अज्ञानता से किये गये इस प्रकरण के सभी विपरीत अर्थ आज तक प्रकाशित सभी संस्करणों में प्रचलित हैं। विस्तृत विवरण के लिए ग्रन्थ में टिप्पणी देखें।

४. **सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः। श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसंगा जैनसाधवः॥ ६॥**
लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः। ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीया स्युर्जिनर्षयः॥ ७॥
भुङ्क्ते न केवली, न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः। प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥ ८॥

(सर्वदर्शनसंग्रह आर्हतदर्शन ५८, ६०, ६१)

मुद्रणप्रति, द्वितीय सं० का महाभ्रष्ट अर्थ—"**सरजोहरण=चमरी रखना, और भिक्षा मांग के खाना, शिर के बाल लुञ्चित कर देना, श्वेत वस्त्र धारण करना, क्षमायुक्त रहना, किसी का संग न करना, ऐसे लक्षणयुक्त जैनियों के श्वेताम्बर जिनको जती कहते हैं। दूसरे दिगम्बर अर्थात् वस्त्र धारण न करना, शिर के बाल उखाड़ डालना, पिच्छिका एक ऊन के सूतों का झाड़ू लगाने का साधन बगल में रखना, जो कोई भिक्षा दे तो हाथ में लेकर खा लेना ये दिगम्बर दूसरे प्रकार के साधु होते हैं और भिक्षा देने वाला गृहस्थ जब भोजन कर चुके उसके पश्चात् भोजन करें वे जिनर्षि अर्थात् तीसरे प्रकार के साधु होते हैं। दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का संसर्ग नहीं करते और श्वेताम्बर करते हैं इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इनके साधुओं का भेद है।**" (समु० १२, उदयपुर सं० ४४७; द्विप्र० ४४७; शोधसं० ७७६; मूलसं० ५१२-५१३; द्वि०सं० ३०९-३१०)

मूलह०, मूलप्रति सं० का भ्रष्ट अर्थ—"**अब जैनी के साधुओं के लक्षण—रंगे हुए वस्त्र पहरें, भिक्षान्न भोजन करें, सिर आदि के बाल लूंच डालें, एक श्वेताम्बर शुक्लवस्त्र धारण करनेहारे, क्षमायुक्त, संगदोष से रहित, दूसरे लुञ्चित केश, पिच्छिका हाथ में रखें, तीसरे दिगम्बर वस्त्र धारण न करें, पाणिपात्र हाथ ही पात्र, गृहस्थ के घर में भोजन के पश्चात् भोजन करें और ऋषि संज्ञक भी साधु होते हैं। ६-७॥ एक के घर में भोजन नहीं करते, स्त्री का संग नहीं करते, वह दिगम्बर मुक्ति को प्राप्त होता है। यही दिगम्बर और श्वेताम्बरों में भेद है अर्थात् दिगम्बर पहले के हैं और श्वेताम्बर पीछे हुए हैं॥ ८॥**"

शुद्ध अर्थ—'**धूल झाड़ने की चमरी हाथ में रखने वाले, भिक्षान्न खानेवाले, केशों को लूंच कर उखाड़ने वाले, क्षमाशील, संगरहित, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले 'श्वेताम्बर' जैन साधु होते हैं॥**

केशों को लूंचकर उखाड़ने वाले, पिच्छिका=ऊन की झाड़ू हाथ में रखनेवाले, हाथ में ही भोजन लेकर खाने वाले, भोजनदाता के घर में उसके खा लेने के बाद जाकर अपने हाथ में लेकर भिक्षान्न खानेवाले, वस्त्ररहित रहनेवाले दूसरे साधु 'दिगम्बर' होते हैं। इनको 'जैन-ऋषि' भी कहते हैं॥

'केवली' संज्ञक साधु भोजन पर आश्रित नहीं रहता। दिगम्बरों की मान्यता है कि स्त्री को मोक्ष प्राप्त नहीं होता, श्वेताम्बर मानते हैं कि स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त होता है। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में यही महान् सैद्धान्तिक मतभेद है॥

(समु० १२, द्विप्र०, उदयपुर सं० ४४७; शोधसं० ७७६; मूलसं० ५१२-५१३; द्वि०सं० ३०९-३१०)

समीक्षा—आश्चर्य देखिए कि इन श्लोकों के अशुद्ध अर्थों को **स्वामी वेदानन्द जी, पं० मीमांसक जी, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, उदयपुर सं०** आदि ने शुद्ध कर लिया है, जबकि पूर्व श्लोक (क्रमसंख्या १,२ पर अंकित) भ्रष्टार्थक ही प्रकाशित हो रहे

हैं। यह सम्पादकों के विरोधाभासी सम्पादन का प्रमाण है।

५. **''त्वमङ्गुष्ठं गृहाण, भोजनं पदार्थं वाऽहं ग्रहीष्यामि''**

दोनों सं० में अशुद्ध अर्थ—**''जैसे कोई किसी को छले वा चिड़ावे कि तू घंटा ले और मैं....।''**

शुद्ध अर्थ—**'जैसे कोई किसी को छले वा चिड़ावे कि तू अंगूठा ले और मैं.....।'**

(समु० ११, शोधसं० ५९४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३१५; मूलसं० ३७७; द्वि०सं० २१६)

समीक्षा—सभी संस्करणों में अशुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है। संस्कृत पाठ के अनुसार संशोध्य है।

६. **''मध्यमा राजसी गतिः ॥''** मनु० १२.४६ ॥

द्वितीय सं० में अशुद्ध अर्थ—**''जो अधम रजोगुणी होते हैं।''**

शुद्ध अर्थ—**''जो मध्यम रजोगुणी होते हैं।''** (समु० ९, द्विप्र० २५४; शोधसं० ४७१; द्वि०सं० १७४)

समीक्षा—सभी संस्करणों ने इस पाठ को बिना किसी 'ना-नुकर' के संशोधित कर लिया है जबकि अन्य प्रदर्शित अनेक उदाहरणों के अर्थ अशुद्ध हैं। यह सम्पादकों का विरोधाभासी आचरण है अथवा अन्य अशुद्धियां उनके ध्यान में नहीं आई हैं।

७. **समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।**
तदात्वायतिसंयुक्तः, सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ मनु० ७.१६३ ॥

द्वितीय संस्करण में भ्रष्ट अर्थ—**''(सन्धि) शत्रु से मेल अथवा विपरीतता करे। परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय। यह दो प्रकार का मेल कहाता है।''**

शुद्ध अर्थ—**'सन्धि में, सन्धि किये राजा के साथ मिलकर शत्रु राजा पर आक्रमण करना अथवा पृथक्-पृथक् आक्रमण करना चाहिये। तत्कालीन और भविष्यत्कालीन, इन दो प्रकार के लाभों को ध्यान में रखकर की हुई यह सन्धि दो प्रकार की होती है।'**

(समु० ६, द्विप्र० १६०; उदयपुर सं० १६०; शोधसं० २८२; मूलसं० १८०; द्वि०सं० १०४)

समीक्षा—मूलप्रति सं० का पाठ कुछ ठीक है। सभी द्वितीय संस्करणों का अशुद्ध है। **''तथा त्वायति''** भ्रष्टपाठ है। शुद्ध पद **'तदात्व'** है।

८. **''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि''।** केन उप० २, ५ ॥

अशुद्ध अर्थ—**''उसी ब्रह्म को तू जान।'' (दो उद्धरणों के अर्थों में अशुद्ध है)।**

शुद्ध अर्थ—**''उसी को तू ब्रह्म जान।''**

(समु० ११, द्विप्र० ३०९; उदयपुर सं० ३०९; शोधसं० ५८४; मूलसं० ३७१; द्वि०सं० २१३)

समीक्षा—प्रस्तुत प्रसंग में **''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि''** उपनिषद् वचन पांच बार आया है, उनमें से तीन बार अर्थ शुद्ध है और दो बार अर्थात् उद्धरण-संख्या २, ४ का अर्थ अशुद्ध है। दुःख का विषय यह है कि आज तक प्रकाशित सभी संस्करणों में एक ही प्रकरण में यह परस्परविरोध है और अशुद्ध अर्थ प्रकाशित होता आ रहा है।

९. श्लोक—**''ग्रामदोषान् समुत्पन्नान्.....''** और **''विंशतीशस्तु तत्सर्वम्''** का अर्थपाठ अस्त-व्यस्त और भ्रष्ट है। (मूलसं०पृ० १७५; द्वि०सं० १००-१०२ समु० ६, उदयपुर सं० १५४; द्विप्र० १५४; शोधसं० २७४)

समीक्षा—सभी संस्करणों में अशुद्ध अर्थ प्रकाशित हैं। शोधसं० पृ० २७४ पर शुद्ध अर्थ द्रष्टव्य है।

१०. **उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।**
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ (मनु० ६.७३)

अशुद्ध अर्थ—**''इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य.....।''**

शुद्ध अर्थ—**''इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों द्वारा जानने के अयोग्य.....।''**

समीक्षा—सभी संस्करणों में अशुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है। 'संस्कारविधि' में निम्नलिखित ऋषिकृत शुद्ध अर्थ उपलब्ध है—

''बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में **जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है,** उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे।''

११. अशुद्ध—**''इस शरीर की चार अवस्था हैं। एक (वृद्धि) जो १६ वें वर्ष से लेके २५वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरा (यौवन) जो ३९वें वर्ष के अन्त और २६वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी (सम्पूर्णता) जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है।''**

शुद्ध—''**इस शरीर की चार अवस्थायें हैं। एक (वृद्धि) जो १६वें वर्ष से लेकर २५वें वर्ष पर्यन्त धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी (यौवन) जो २६वें वर्ष से लेके ४०वें वर्ष पर्यन्त होती है। तीसरी (सम्पूर्णता) जो इकतालीस वर्ष से लेके ४८वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है।**'' (आगे पाठ और टिप्पणी ग्रन्थ में देखें)

(समु० ३, शोधसं० ९५; द्विप्र० एवं उदयपुर सं० ४६; मूलसं० ४९; द्वि०सं० ३२)

१२. **जच्छ पसुमहिस लरका पव्वं होमन्ति पाव नवमीए।**
पूअंति तंपि सढ्ढा हा हीला वीयरायस्स॥

(समु० १२, शोधसं० ८०७; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४३३; मूलसं० ५३८; द्वि०सं० ३००)

द्विप्र० और सभी द्वितीय संस्करणों में अशुद्धतम अर्थ—''**पूर्व सूत्र में जो मिथ्यात्वी अर्थात् जैनमार्ग भिन्न सब मिथ्यात्वी, और आप सम्यक्त्वी; अर्थात् अन्य सब पापी, जैन लोग सब पुण्यात्मा, इसलिये जो कोई मिथ्यात्वी के धर्म का स्थापन करे, वह पापी है।** ''

मूलप्रति संस्करण—**सम्पूर्ण अर्थ त्रुटित है। शायद, अर्थ मुद्रित होना ही रह गया है।**

शुद्ध अर्थ—**जिस पर्व पर लाखों पशुओं भैंसे आदि को मारकर उनका होम किया जाता है; बलि दी जाती है, वह पर्व 'दुर्गानवमी' तो 'पापनवमी' है। जो उसकी पूजा करते हैं वे शठ लोठ हैं। दुःख की बात है कि वे वीतराग जिनगुरु के अहिंसा के वचनों का तिरस्कार करते हैं।**

समीक्षा—दुःख की बात है कि आज तक सभी संस्करणों में यह अशुद्धतम अर्थ प्रचलित है। यह न श्लोकार्थ है और न उसका भावार्थ है। यह संकलनकर्त्ता लेखक की असावधानी अथवा मूर्खता से लिखा गया है।

१३. **तिहुअण जणं मरन्तं दट्ठूण निअन्ति जे न अप्पाणं।**
विरमन्ति न पावाउ धिद्धी धिट्ठत्तणं ताणं॥

(समु० १२, शोधसं० ८१३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४३७; मूलसं० ५४२; द्वि०सं० ३०३)

दोनों सं० में असम्बद्ध अर्थ—''**जो मृत्युपर्यन्त दुःख हो तो भी कृषि, व्यापार आदि कर्म जैनी लोग न करें, क्योंकि ये कर्म नरक में ले जाने वाले हैं।**''

शुद्ध अर्थ—**जो मनुष्य तीनों लोकों में मनुष्यों को मरते हुए देखकर भी अर्थात् जीवन को नश्वर जानकर भी अपने आपको संयम-नियम में नहीं रखते और अपने आपको पापों से नहीं रोकते, उन ढीठ लोगों को धिक्कार है।**

समीक्षा—कारिका और अर्थ का दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती और उनसे सहमत पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि का मानना है कि यहां ''**जे रज्ज धणाईणं...**'' कारिका होनी चाहिए। सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध यह अर्थ इसी कारिका का है। उन्होंने परम्परा से प्राप्त कारिका को हटाकर सम्बन्धित अर्थ वाली इस कारिका को अपने संस्करण में रख लिया है। उनका अनुसरण करके मूलसं० आदि ने भी कारिका बदल ली है किन्तु उदयपुर संस्करण में अशुद्ध कारिका को ग्रहण किया है। ज्ञात होता है कि संकलनकर्त्ता की असावधानी से कारिका कोई लिखी गई और अर्थ किसी अन्य कारिका का लिखा गया है। उदयपुर सं० के सम्पादकों द्वारा (द्रष्टव्य ग्रन्थ में यथास्थान पर टिप्पणी) इसका संशोधन न करना विचारहीनता का द्योतक है।

१४. आयत—''**जिसको चाहता पुण्यात्मा बनाता है, जिसको चाहे पापात्मा बना देता है।**''

(समु० १४, शोधसं० ९८४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५४३; मूलसं० ६७५; द्वि०सं० .....)

द्वितीय संस्करणों में परिवर्तित असंगत अनुवाद—''**जिसको चाहता है क्षमा करता है और जिसको चाहे दुःख देता है।**''

समीक्षा—महर्षि ने इस आयत की समीक्षा इन शब्दों में की है—''**जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता, वैसे ही मुसलमानों का खुदा भी शैतान का काम करता है।**''

विद्वान् एवं पाठक यहां ध्यान दें कि द्वितीय संस्करणों की आयत और उसकी समीक्षा में अर्थ की विसंगति उत्पन्न हो गई है, उनका परस्पर कोई तालमेल नहीं है। आयत में जो भाव है, वह समीक्षा में नहीं, और समीक्षा में जो भाव है वह आयत में नहीं। यह गड़बड़ इस कारण हुई कि मूलप्रति, मुद्रणप्रति में जो आयत का संगत अनुवाद था उसको द्वितीय संस्करण (१८८४) के मुद्रण के समय बदल दिया, शायद, मुंशी समर्थदान जी ने। आयत-अनुवाद तो बदल दिया किन्तु समीक्षा वही पुरानी रह गई जो हस्तलेखों में लिखित अनुवाद पर आधारित थी। इस प्रकार यह विसंगति उत्पन्न हो गई जो सभी द्वितीय संस्करणों में आज भी प्रकाशित हो रही है। मूलप्रति सं० में यह विसंगति नहीं है। इस विसंगति पर आज तक किसी सम्पादक ने ध्यान नहीं दिया। इसका यही समाधान है कि हस्तलेखों के अनुवाद को यथावत् रखा जाये। यदि वह गलत भी है ते वह उस समय के मौलवियों द्वारा किया होने के कारण उसका दोष उन्हीं पर आता है, ग्रन्थकार पर नहीं। यह तथ्य ग्रन्थकार ने चतुर्दश समुल्लास की अनुभूमिका में स्पष्ट किया हुआ है।

१५. आयत—''**पढ़ते हैं फरिश्ते और रूह तर्फ उसकी.....।**''

(समु० १४, शोधसं० १०३५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५७८; मूलसं० ७१९; द्वि०सं० ३९९)

द्वितीय संस्करणों में संशोधित अनुवाद—''**चढ़ते हैं फरिश्ते और रूह तर्फ़ उसकी.....।**''

समीक्षा—किसी संकलनकर्त्ता ने जब उस समय के फारसी भाष्यों से देवनागरी में अनुवाद किया तो वह ''**चढ़ते**'' के स्थान पर ''**पढ़ते**'' पढ़ गया जिससे आयत के अर्थ का अनर्थ हो गया। मूलप्रति, मुद्रणप्रति, मूलसं०, पं० भगवद्दत्त सं० में यही अशुद्ध अनुवाद प्राप्त होता है।

मुद्रणकाल में द्वितीय संस्करण में इसका संशोधन कर लिया गया है और अशुद्ध अनुवाद पर आधारित समीक्षा को भी हटा दिया है, जो ग्राह्य है। अन्यथा, कुरान के भाव के विरुद्ध हास्यास्पद विसंगति बनी रहेगी।

यहां १५ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो किसी-न-किसी संस्करण में आज भी अप-अर्थ के रूप में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अप-अर्थ अन्य भी हैं, उनको पाठक यथास्थान पढ़ें। बहुत-से अप-अर्थों का संशोधन कर लिया गया है, तो अब प्रश्न उपस्थित होता है कि शेष अप-अर्थों का संशोधन क्यों नहीं किया गया, या क्यों नहीं किया जा रहा है? इसमें या तो सम्पादकों की अनभिज्ञता है अथवा पूर्वाग्रह। दोनों ही गलत मानसिकताएं हैं। सत्यार्थप्रकाश के गौरव हेतु और ऋषिहित में इन अप अर्थों का संशोधन परमावश्यक है।

(ख) दोनों संस्करणों में लिंग-प्रयोग की उपलब्ध त्रुटियों और अव्यवस्था के कुछ उदाहरण—

१. **अशुद्ध—''इन्द्रियें भी स्वाधीन होते हैं।''** (समु० ३, शोधसं० ८६/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४०; मूलसं० ४२; द्वि०सं० २८)
शुद्ध—''इन्द्रियां.....विषयों में प्रवृत्त कराती है।'' (समु० १०, शोधसं० ४८०/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० २५९; मूलसं० ३०७; द्वि०सं० १७७)
समीक्षा—ग्रन्थ में शुद्ध प्रयोग अधिक है और उपर्युक्त अशुद्ध भी है। अधिकांश संस्करणों में अशुद्ध ही छप रहा है।

२. **अशुद्ध—''अपने अमानत की चोरी''**
शुद्ध—''चोरी अमानत अपनी की'' (समु० १४, शोधसं० ९९०/१९; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५४७; मूलसं० ६८०; द्वि०सं० ३७९)
समीक्षा—यहां एक ही अनुच्छेद में एक स्थान पर शुद्ध प्रयोग और एक पर अशुद्ध है। मूलसं० में संशोधित है, अधिकांश में अशुद्ध है।

३. **अशुद्ध—''किसका पूंछ पकड़कर तरेगा?''** (समु० ११, शोधसं० ६४१/१७; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३४०; मूलसं० ४०९; द्वि०सं० २३४)
शुद्ध—''किसकी पूंछ पकड़कर तरेगा?
समीक्षा—देखिए, ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग है—''**अजगर की पूंछ इतनी बड़ी थी**'' (समु० १४, शोधसं० ९२६/६; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५१२; मूलसं० ६३२; द्वि०सं० ३५५) ''**उसकी पूंछ पकड़ ले।**'' (शोधसं० ८७६/२; मूलसं० ५९३ आदि) मूलसं० और वर्तमान द्वितीय संस्करणों में संशोधित हैं, किन्तु मूलसं० ६३२ पर एक ही स्थान पर अब भी पुंल्लिग और स्त्रीलिंग प्रयोग मिलते है। अधिकांश सम्पादकों ने संशोधन कर लिया है।

४. **अशुद्ध—''अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुकूल.....मेवा मिलती है''** (समु० ११, द्विप्र०, उदयपुर सं० ३८८-३८९; द्वि०सं० २७०)
शुद्ध—''जगत् बनाने का सामर्थ्य'' (समु० १२, शोधसं० ६७३/२३, ७८०/२०, ८५१, १०८४ आदि, मूलसं० ५०९ आदि)
समीक्षा—यह अशुद्ध वाक्य मुद्रणलिपिकर द्वारा कृत है, क्योंकि यह अशुद्ध वाक्य मूलह०, मूलसं० में नहीं है, मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने अपनी ओर से रचकर बढ़ाया है। ऋषि के सर्वत्र पुंल्लिग प्रयोग हैं।

५. **अशुद्ध—''शत्रुता करना किसी को उचित हो सकती है?** (समु० १४, शोधसं० ९८३/३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५४२; मूलसं० ६७४; द्वि०सं० ३७६)
शुद्ध—''शत्रुता करना किसी को उचित हो सकता है?''
समीक्षा—मूलसं० तथा वर्तमान सभी द्वितीय संस्करणों में संशोधित है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक तथा उदयपुर संस्करण ने अशुद्ध पाठ को रखा है।

६. **अशुद्ध—''पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है।''** (समु० ३, शोधसं० ९१/५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४२; मूलसं० ४५; द्वि०सं० ३०)
शुद्ध— ''पुरुष की नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है।''

७. **अशुद्ध—''जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति-अवयव है वैसे ही अन्य लोकों में होगी वा विपरीत?''**
शुद्ध— ''जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि के आकृति-अवयव हैं वैसे ही अन्य लोकों में होंगे वा विपरीत?''
समीक्षा—यह वाक्य मूलप्रति सं० में अर्ध संशोधित है। (समु० ८, शोधसं० ४२३/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० २३०; मूलसं० २७०; द्वि०सं० १५६)

८. **अशुद्ध—''उसकी नाक काट डालने का दण्ड किया। जब उसकी नाक काटी गई....।''''पैना चाकू ले नाक काट थाली में फेंक दी....नाक कटा हुआ नहीं आवेगा।''**
शुद्ध— ''उसकी नाक काट डालने का दण्ड किया। जब उसकी नाक काटी गई....।''''पैना चाकू ले नाक काट थाली में डाल दी.....नाक कटी हुई नहीं आवेगी।''
समीक्षा—वर्तमान द्वितीय संस्करणों में संशोधित है।

(समु० १२, शोधसं० ६९०/११, ६९३/१-४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३७०; मूलसं० ४४७-४४९; द्वि०सं० २५६-२५७)

९. **अशुद्ध—''जो रेखा है, वह भूलोक वा इसका वाचक कैसे हो सकता हैं?''**

(समु० ११, शोधसं० ५७०/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३००; मूलसं० ३५९; द्वि०सं० २०६)

शुद्ध— ''जो रेखा है, वह भूलोक वा इसकी वाचक कैसे हो सकती है?''

१०. **अशुद्ध—''स्तुति, प्रार्थना [उपासना] क्यों करना?''** (समु० ७, शोधसं० ३२७/१७; द्विप्र०, उदयपुर सं० १८३; मूलसं० २०८; द्वि०सं० १२०)

शुद्ध— ''स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिये।'' (समु० ७, शोधसं० ३२७/१२; द्विप्र०, उदयपुर सं० १८२; मूलसं० २०८; द्वि०सं० ११९)

समीक्षा—कहीं शुद्ध प्रयोग है, कहीं अशुद्ध, किसी सम्पादक ने शुद्ध कर लिया है तो कोई अशुद्ध ही छाप रहा है। ग्रन्थ की विचित्र स्थिति है।

११. **अशुद्ध—''कोई उनको सूधा समझावे तो उल्टा माने और उल्टी समझावें उसको सूधी मानें।''**

(समु० ११, शोधसं० ५२६/११; द्विप्र०, उदयपुर सं० २७७; मूलसं० ३२९; द्वि०सं १८९)

शुद्ध— ''कोई उनको सूधा समझावें तो उलटा मानें और उलटा समझावें, उसको सूधा मानें।''

१२. **अशुद्ध—''अपनी चाल-चलन सुधारना चाहिये।''** (समु० ३, शोधसं० १०४/१५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५२; मूलसं० ५६; द्वि०सं० ३६)

शुद्ध— ''अपना चाल-चलन सुधारना चाहिये।'' (पुंल्लिग प्रयोग शोधसं० ७१५/२, उदयपुर सं० ५२)

समीक्षा—इस वाक्य का संशोधन करके द्वितीय संस्करण, उदयपुर सं० आदि में इसको पुंल्लिग बना लिया है। ग्रन्थ में अन्यत्र कई स्थानों पर शुद्ध प्रयोग है, जैसे—**''अपने चाल-चलन को करे।''** (द्विप्र०, उदयपुर सं० ४१; शोधसं० ८७/२; द्वि०सं० २९ आदि)

१३. **अशुद्ध—जितने भी संस्कृत के प्रभाव से प्रयुक्त शब्द हैं उनमें लिंग प्रयोग की दोनों सं० में अव्यवस्था है। ग्रन्थ में एक पद कहीं पुल्लिग हैं, कहीं स्त्रीलिंग। वे कुछ शब्द हैं—आयु, विधि, पुस्तक आदि। कहीं मूल हस्तलेख में ऋषि ने पुल्लिग लिखाया था तो मुद्रण-लिपिकर ने उसको अपने मन से स्त्रीलिंग बना दिया, जैसे—मूल हस्तलेख में १३ समु० की आयत संख्या ४३ की समीक्षा में ''ऐसा पुस्तक'' प्रयोग है, द्वि०सं० में उसको ''ऐसी पुस्तक'' बना दिया। ऐसा बहुत स्थलों पर है।**

शुद्ध— ऋषि की स्वीकृत शैली के अनुसार पुंल्लिग प्रयोग होना चाहिए।

१४. **अशुद्ध—''विवाहपूर्वक समागम में व्यभिचार, पाप वा लज्जा नहीं होता।''**

(समु० ४, शोधसं० २१२/१-२; द्विप्र०, उदयपुर सं० ११४; मूलसं० १२८; द्वि०सं० ७५)

शुद्ध— ''विवाहपूर्वक समागम में व्यभिचार, पाप वा लज्जा नहीं होती''

१५. **अशुद्ध—''त्रिकाल संध्या क्यों नहीं करना?''** (समु० ४, शोधसं० १८२/१६; उदयपुर सं० ९९; मूलसं० ११०; द्वि०सं ६५)

शुद्ध— ''त्रिकाल संध्या क्यों नहीं करनी चाहिये?'' (शुद्ध स्त्रीलिंग प्रयोग शोधसं० १८२/१८)

समीक्षा—अनेक स्थानों पर शुद्ध प्रयोग हैं।

(ग) दोनों संस्करणों में वचन-प्रयोग सम्बन्धी त्रुटियों के उपलब्ध कुछ उदाहरण—

१. **अशुद्ध—''सायं प्रातः दो ही वेला में होती है।''** (समु० ४, शोधसं० १८२/१७; द्विप्र०, उदयपुर सं० ९९; मूलसं० ११०; द्वि०सं० ६६)

शुद्ध— ''सायं प्रातः दो ही वेलाओं में होती हैं।''

समीक्षा—'दो' संख्या के सम्बन्ध से बहुवचन आयेगा। जैसे अन्यत्र शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—**''दो.....ग्रामों के बीच में....''** **''उन दो थानों पर एक बड़ा थाना....नियत किया है''** (समु० ६, शोधसं० २७६/३, ८; द्विप्र०, उदयपुर सं० १५५; मूलसं० १७५, द्वि०सं० १०१)

२. **अशुद्ध—''पीड़ा उसी जीवों को पहुंचती है''** (समु० १२, शोधसं० ८२४/१०; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४५०; द्वि०सं० ३१२)

शुद्ध— ''पीड़ा उसी जीव को पहुंचती है।''

समीक्षा—इस अशुद्ध वाक्य को उदयपुर सं० और द्वि०सं० आदि में शुद्ध कर लिया है।

३. **अशुद्ध—''ये सब बात झूठ क्योंकर हो सकती हैं?''** (समु० ११, शोधसं० ६४१/३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३३९; मूलसं० ४०८; द्वि०सं० २३४)

समीक्षा—आश्चर्य देखिए कि ठीक अगली ही पंक्ति में शुद्ध वाक्यरचना है—**''ये सब बातें पोपलीला के गपोड़े हैं।''** द्वि०सं० में उक्त अशुद्ध वाक्य का संशोधन कर लिया है।

४. **अशुद्ध—''अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिये।''** (समु० ३, शोधसं० ९२/५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४३; मूलसं० ४६; द्वि०सं० ३०)

शुद्ध— ''अच्छे पदार्थ खिलाने-पिलाने भी चाहियें।''

५. **अशुद्ध—''ईश्वर को न जाननेवालों जंगली लोगों ने यह पुस्तक बनाया होगा।''**

(समु० १४, शोधसं० ९९६/१४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५५१; मूलसं० ६८५; द्वि०सं० ३८२)

शुद्ध— ''ईश्वर को न जाननेवाले जंगली लोगों ने यह पुस्तक बनाया होगा।''

समीक्षा—इस अशुद्ध वाक्य को उदयपुर सं०, मूलसं०, द्वि०सं० आदि में शुद्ध कर लिया है।

६. **अशुद्ध—''एक पुरुष और करोड़ों स्त्री एक के पीछे लगी हैं।''**

(समु० ११, शोधसं० ६८४/३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३६६; मूलसं० ४४३; द्वि०सं० २५३)

शुद्ध— ''एक पुरुष और करोड़ों स्त्रियां एक के पीछे लगी हैं।''

समीक्षा—'**करोड़ों**' संख्यात्मक प्रयोग के साथ सदा बहुवचन आयेगा। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य हैं—''**करोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे**'' (शोधसं० ३६७/१), ''**करोड़ों मनुष्यों के लिये कितनी भूमि व्यर्थ जाती है**'' (शोधसं० ८६७/१७) आदि।

७. **अशुद्ध—''शैवों में पाशुपतादि बहुत-सी शाखा हुई थीं।''** (समु० ११, शोधसं० ५६३/८; द्विप्र०, उदयपुर सं० २९६; मूलसं० ३५४; द्वि०सं० २०३)

शुद्ध— ''शैवों में पाशुपतादि बहुत-सी शाखायें हुई थीं।''

समीक्षा—'आदि' प्रयोग के सम्बध से सदा बहुवचन आयेगा। अन्यत्र सैकड़ों स्थलों पर शुद्ध प्रयोग हैं, यथा—पृ० ९९/१७, १००/१८, १५०/३, १६७/१४, ४५३/६ आदि।

८. **अशुद्ध—''अब इन चारों की शाखा एक सहस्त्र से कम नहीं है।''**

(समु० ११, शोधसं० ५१२/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० २७१; मूलसं० ३२२; द्वि०सं० १८६)

शुद्ध— ''अब इन चारों की शाखाएँ एक सहस्त्र से कम नहीं हैं।''

९. **अशुद्ध—''इस शरीर की चार अवस्था हैं।''** (समु० ३, शोधसं० ९५/१८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४६; मूलसं० ४९; द्वि०सं० ३२)

शुद्ध— ''इस शरीर की चार अवस्थायें हैं।''

समीक्षा—एक से अधिक संख्या के साथ बहुवचन आयेगा। अन्यत्र शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—''**अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए....**''

१०. **अशुद्ध—''मैंने अरबी आदि बहुत-सी भाषा पढ़ीं।''** (समु० ११, शोधसं० ५२६/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० २७६; मूलसं० ३२८; द्वि०सं० १८९)

शुद्ध— ''मैंने अरबी आदि बहुत-सी भाषायें पढ़ीं।''

११. **अशुद्ध—''नाना प्रकार के रत्न, धातु से जड़ित भूमि....।''** (समु० ८, शोधसं० ३९९/१५; द्विप्र०, उदयपुर सं० २२२; मूलसं० २६०; द्वि०सं० १५०)

शुद्ध—''नाना प्रकार के रत्नों, धातुओं से जड़ित भूमि....।''

१२. **अशुद्ध—''श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे।''**

(समु० ७, शोधसं० ३४२/११; द्विप्र०, उदयपुर सं० १७१; मूलसं० २१८; द्वि०सं० १२६)

शुद्ध— ''श्रीकृष्ण धर्मात्माओं और धर्म की रक्षा करना चाहते थे।''

समीक्षा—पं० युधिष्ठिर मीमांसक आदि सम्पादकों ने इस वाक्य को शुद्ध कर लिया है। देखिए, इस वाक्य के अन्त में वाक्यरचना शुद्ध है—''**मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं**''। यहां बहुवचन का शुद्ध प्रयोग है। इसी प्रकार '**धर्मात्माओं**' बहुवचन व्याकरणसम्मत है।

१३. **अशुद्ध—''पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े''।** (समु० ११, शोधसं० ६०४/१३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३२०; मूलसं० ३८४; द्वि०सं० २२०)

शुद्ध— ''पुजारियों और पोपों पर कोड़े पड़े।''

१४. **अशुद्ध—''कुरुक्षेत्र में चौरासी सहस्त्र नदी हैं।''** (समु० १२, शोधसं० ८३८/२४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४६०; मूलसं० ५६६; द्वि०सं० ३१९)

शुद्ध— ''कुरुक्षेत्र में चौरासी सहस्त्र नदियां हैं।''

१५. **अशुद्ध—''ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करना होता है** (मूलसं० में), **करना होते हैं।''** (द्विप्र० में)

(समु० ४, शोधसं० १८२/१९ ; द्विप्र०, उदयपुर सं० ९८; मूलसं० १०९; द्वि०सं० ६५)

शुद्ध— ''ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं।''

समीक्षा—यह वाक्य वर्तमान द्वितीय सं० तथा उदयपुर सं० आदि में संशोधित कर लिया है। यहां भी '**दो**' या '**दोनों**' संख्यात्मक पदों के सम्बन्ध से बहुवचन आयेगा। ग्रन्थ में अन्यत्र अनेक शुद्ध प्रयोग हैं—''**स्त्री और पुरुष दोनों.... अत्यन्त प्रसन्न रहें**'', ''**दोनों शुद्ध जल से स्नान करें**'' (समु० ४, शोधसं० १७३/२०, २२; द्विप्र०, उदयपुर सं० ९३; मूलसं० १०३, १०४; द्वि०सं० ६२)

१६. **अशुद्ध—''जिस-जिस राग-द्वेष आदि गुणों से पृथक् मानकर.....।''**

(समु० ७, शोधसं० ३२८/१४ ; द्विप्र०, उदयपुर सं० १८३; मूलसं० २०९; द्वि०सं० १२०)

शुद्ध— ''जिस-जिस राग-द्वेष आदि गुण से पृथक् मानकर.....।''

समीक्षा—ऊपर चार पंक्ति पूर्व शुद्ध प्रयोग है—''जिस-जिस गुण से सहित।''

(घ) दोनों संस्करणों में क्रिया-प्रयोग सम्बन्धी त्रुटियों के उपलब्ध कुछ उदाहरण—

१. **अशुद्ध—''पृथिवी को तो वराह जी ने मुख में रक्खी।''** (समु० ११, शोधसं० ६२८/१४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३३३; मूलसं० ४००; द्वि०सं० २२९)
शुद्ध— ''पृथिवी को तो वराह जी ने मुख में रक्खा।''

२. **अशुद्ध—''राजा ने नगर में खोज कराया''** (समु० ११, शोधसं० ६५०/९; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३४५; मूलसं० ४१५; द्वि०सं० २३८)
शुद्ध— ''राजा ने नगर में खोज कराई।''
समीक्षा—प्रायः सभी संस्करणों में अशुद्ध क्रिया छपती आ रही है।

३. **अशुद्ध—''परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है।''** (समु० ८, शोधसं० ६२८/१४; द्विप्र०, उदयपुर सं० २०९; मूलसं० २४२; द्वि०सं० १४०)
शुद्ध— ''परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध कराया है।''

४. **अशुद्ध—''आजकल के वेदान्ती जीव-ब्रह्म की एकता करते हैं।''**
(समु० ७, शोधसं० ३५२/८; द्विप्र०, उदयपुर सं० १९६; मूलसं० २२५; द्वि०सं० १३०)
शुद्ध— ''आजकल के वेदान्ती जीव-ब्रह्म की एकता कहते हैं।''
समीक्षा—यह अयोग्यता एवं श्रवणभ्रान्ति से हुई त्रुटि है।

५. **अशुद्ध—''ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं।''**
(समु० ३, शोधसं० १०६/११; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५३; मूलसं० ५८; द्वि०सं० ३७)
शुद्ध— ''ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास [करते हैं] और धर्मपथ में चलते हैं।''

६. **अशुद्ध—''वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है।''** (समु० ७, शोधसं० ३४६/५; द्विप्र०, उदयपुर सं० १९२; मूलसं० २२१; द्वि०सं० १२७)
शुद्ध— ''वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोगता है।''
समीक्षा—यहाँ क्रिया के स्थान में विशेषण-प्रयोग की त्रुटि लिपिकर की श्रवणभ्रान्ति और अयोग्यता से हुई है। ऐसी ही अगली त्रुटि है।ऐसी त्रुटियां लिपिकर ने दर्जनों स्थलों पर की हैं कि कर्त्ता के स्थान पर क्रिया लिख दी और क्रिया के स्थान पर कर्त्ता का प्रयोग कर दिया। सम्पादकों की विचित्र माया देखिए कि कहीं उसको शुद्ध कर लिया है, तो कहीं अशुद्ध ही छोड़ दिया है। यहां क्रिया के साथ क्रिया का प्रयोग ही वांछित है, विशेषण का नहीं। ग्रन्थ में इसी प्रकरण में शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—**''पराधीन होकर पाप के फल भोगता है।''** (शोधसं० ३४५/१४)

७. **अशुद्ध—''अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धर्त्ता हूं।''** (भूमिका, शोधसं० १६/१९; द्विप्र०, उदयपुर सं० ८; मूलसं० 'ख'; द्वि०सं० ५)
शुद्ध— ''अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूं।''
समीक्षा—यह त्रुटि द्विप्र० और मूलप्रति सं० में विद्यमान है, उदयपुर सं०, वर्तमान द्वितीय सं० आदि में संशोधित कर ली है। परन्तु अभी भी बहुत से स्थलों पर ऐसी त्रुटियां और ऊपर वाली त्रुटि विद्यमान है। यह सम्पादकों की शोधन में अव्यवस्था है।

८. **अशुद्ध—''मुख पर पट्टी अवश्य बांधना चाहिये।''** (समु० १२, शोधसं० ८२१/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४४८; मूलसं० ५४९; द्वि०सं० ३१०)
शुद्ध— ''मुख पर पट्टी अवश्य बांधनी चाहिये।''

९. **अशुद्ध—''प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखते हैं।''**
(समु० १२, शोधसं० ८२५/२६; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४५२; मूलसं० ५५५; द्वि०सं० ३१३)
शुद्ध— ''प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखता है।''
समीक्षा—''प्रत्येक' पद के साथ एकवचन की क्रिया प्रयुक्त होगी।

१०. **अशुद्ध—''सब जीव स्वभाव से सुखप्राप्ति की इच्छा और दुःख का वियोग होना चाहते हैं।''**
(समु० ९, शोधसं० ४६५/२१; द्विप्र०, उदयपुर सं० २५०; मूलसं० २९७; द्वि०सं० १७१)
शुद्ध— ''सब जीव स्वभाव से सुखप्राप्ति की इच्छा [करते हैं] और दुःख का वियोग होना चाहते हैं।''

११. **अशुद्ध—''स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे।''**
(समु० ५, शोधसं० २३६/११; द्विप्र०, उदयपुर सं० १३१; मूलसं० १४७; द्वि०सं० ८५)
शुद्ध— ''स्वयं धर्मात्मा [रहते हुए] अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे।''

१२. **अशुद्ध—''मैंने इसको अयुक्त ठहराई है।''** (समु० १४, शोधसं० १०४४/९; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५८४; मूलसं० ७२७; द्वि०सं० ४०३)
शुद्ध— ''मैंने इसको अयुक्त ठहराया है।''

१३. **अशुद्ध—''मनुष्यों को फसाके परस्पर शत्रु बना दिये हैं।''**

(स्वमन्तव्य, शोधसं० १०५५/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५९१; मूलसं० ७३५; द्वि०सं० ४०८)

शुद्ध— ''मनुष्यों को फसाके परस्पर शत्रु बना दिया है।''

१४. **अशुद्ध—''सभी मनुष्यों को हिंसक इसी ने बनाये हैं।''** (समु० १३, शोधसं० ८६०/९; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५८१; मूलसं० ४८२; द्वि०सं० ३२७)

शुद्ध— ''सभी मनुष्यों को हिंसक इसी ने बनाया है।''

१५. **अशुद्ध—''पक्षपात करके हाजिरः को वहां से निकलवा दी।''**

(समु० १३, शोधसं० ८६६/८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४७६; मूलसं० ५८५; द्वि०सं० ३२९)

शुद्ध— ''पक्षपात करके हाजिरः को वहां से निकलवा दिया।''

(ङ) दोनों संस्करणों में विरामचिह्न सम्बन्धी त्रुटियों के उपलब्ध उदाहरण—

१. **पूर्णविराम का अभाव—''वो कौन मनुष्य है जो इब्राहीम के दीन से फिर जावे परन्तु जिसने अपनी जान को मूर्ख बनाया और निश्चय हमने दुनिया में उसी को पसन्द किया।''** (समु० १३, शोधसं० ९६१/५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५३१; मूलसं० ६५७; द्वि०सं० ३६८)

शुद्ध विराम—''अपनी जान को मूर्ख बनाया।'' के बाद पूर्णविराम अनिवार्य है।

समीक्षा—यहां पूर्णविराम न होने से अगला वाक्य पूर्व वाक्य के साथ जुड़ गया जिससे दोनों सं० में समीक्षा का यह अनर्थ हो गया कि **'खुदा मूर्ख को पसन्द करता है।'** मूलप्रति, मुद्रणप्रति, मूलसं० में इसकी अशुद्ध समीक्षा है; द्वितीय सं० के संशोधक मुंशी जी का ध्यान भी इस ओर नहीं गया है। विस्तृत समीक्षा चतुर्दश समु० आयतखण्ड संख्या ३० की टिप्पणी में देखिए।

२. **अप अल्पविराम—''चन्द्रखण्ड में सोमग्रह वाले मङ्गल, बुध.....राहु के;''**

(समु० ११, शोधसं० ६४९/७; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३४४; मूलसं० ४१४; द्वि०सं० २३७)

शुद्ध विराम—''चन्द्रखण्ड में सोम; ग्रहवाले मङ्गल, बुध.....राहु के;''

समीक्षा— अपविराम से यहां ''सोमग्रह वाले'' अपपाठ और अनर्थ हो गया है।

३. **अप अर्थबोधक विराम—''यमेन वायुना सत्यराजन्॥''**

शुद्धविराम— यमेन=वायुना, सत्यराजन्॥

समीक्षा—पदार्थबोधक चिह्न न होने कारण कई सम्पादकों ने **'यमेन वायुना'** को दो पद मानकर अनर्थ कर दिया है। विस्तृत समीक्षा ग्रन्थ में टिप्पणी में पढ़िए। (समु० ९, ११, शोधसं० ४६३, ६४५; द्विप्र०, उदयपुर सं० २४९, ३४२; मूलसं० २९५; द्वि०सं० १७०)

४. **अप अल्पविराम—''जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ है, होगा.....।''**

(समु० ३, शोधसं० ११४/१६; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५९; मूलसं० ६४; द्वि०सं० २११)

शुद्ध विराम—''जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा.....।''

समीक्षा—गलत विरामचिह्न से द्वितीय सं० में वर्तमान काल का वर्णन लुप्त हो गया। मूलप्रति सं० में विरामचिह्न का प्रयोग है, जो संशोधित है।

५. **अप प्रश्नचिह्न—''कितना बड़ा अपमान है?''** (समु० ११, शोधसं० ५८२/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३०७; मूलसं० ३६८; द्वि०सं० २११)

शुद्ध चिह्न— ''कितना बड़ा अपमान है!''

६. **अप प्रश्नचिह्न—''उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं?''**

(समु० ७, शोधसं० ३३७/१७; द्विप्र०, उदयपुर सं० १८९; मूलसं० २१५; द्वि०सं० १२४)

शुद्धचिह्न— ''उसको बहुत-से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं।''

७. **द्वितीय संस्करण (१८८४) में विराम के अभाव से अर्थभ्रान्ति—''आपकी कृपा से मेरा मन जगत् में दूर-दूर जाता, ...एक वह मेरा मन .....कल्याण का संकल्प करने हारा होवे।''** (समु० ७, शोधसं० ३३०/११; द्विप्र०, उदयपुर सं० १८४; मूलसं० २१०; द्वि०सं० १२१)

शुद्ध विराम—''आपकी कृपा से, जो मेरा मन जागते में दूर-दूर जाता.....एक वह मेरा मन.....कल्याण का संकल्प करनेहारा होवे।'' (मूलसं० २१०)

समीक्षा—केवल मूलसं० में विराम है और पाठ शुद्ध है। अन्य प्रायः सभी संस्करणों में विराम का अभाव होने के कारण एक वाक्य होने से यह अर्थ संदेह उत्पन्न होता है कि 'परमात्मा की कृपा से ही मन दूर-दूर जाता है।'

८. **द्वितीय संस्करण में नौ अपविराम चिह्न—''हे! परमेश्वर हे! सच्चिदानन्दस्वरूप हे! नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हे! अज निरंजन निर्विकार हे! सर्वान्तर्यामिन् हे! सर्वाधार....हे! अनादे.....हे! करुणामृतवारिधे.....हे! भगवन्''**

(समु० ३, शोधसं० ८२/१५-१८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३९; मूलसं० ४०; द्वि०सं० २७)

शुद्ध विराम—'हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दस्वरूप! हे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव!....आदि।

समीक्षा—एक ही स्थान पर प्राप्त इन नौ अप-विरामचिह्नों को सभी सम्पादकों ने बिना किसी ना-नुकर के स्वयं शुद्ध कर लिया है।

९. **द्वितीय संस्करण में अपविराम—''क्या ईश्वर पक्षपाती है? कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे?''** (समु० ३, शोधसं० १४०/८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ७४; मूलसं० ८२; द्वि०सं० ५०)

शुद्ध विराम—''क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के.....विधि करे?''

समीक्षा—प्राय: सभी ने शुद्ध कर लिया है किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

१०. **विरामचिह्नों के बिना अनर्थ—''जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं उनको बिना विचारे मार डालना''**

(समु० ६, शोधसं० ३१०/८; द्विप्र०, उदयपुर सं० १७४; मूलसं० ११८; द्वि०सं० ११३)

शुद्ध विरामचिह्न—''जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान, दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं.....।''

समीक्षा—उदयपुर संस्करण को छोड़ प्राय: सभी ने विरामचिह्न लगाकर इसको संदेहरहित वाक्य बना लिया है। बिना विरामचिह्न का एक वाक्य होने से यह अनर्थ व्यक्त होता है कि '**अधर्म में वर्तमान दूसरे लोग बिना अपराध वाले हैं और उनको मार डालना चाहिये।**'

११. **विरामरहित अनर्थ—''मूल राजसेना कोश आदि की रक्षा....किया करे।'' (श्लोक ३)**

(समु० ६, शोधसं० २६४/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० १४७; मूलसं० ३२; द्वि०सं० ९६)

शुद्ध विराम—''मूल राज, सेना, कोश आदि की रक्षा....किया करे।''

समीक्षा—मूलप्रति सं० में संशोधित है।

(च) दोनों सं० में अपप्रयोग/ अपवाक्य विषयक त्रुटियों के उपलब्ध कुछ उदाहरण—

१. **अशुद्ध—''शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा।''** (समु० २, शोधसं० ७०/२; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३२; मूलसं० ३२; द्वि०सं० २३)

शुद्ध— ''शरीर से आरोग्यवान् और राज्यमानी होगा।''

२. **अशुद्ध—''विशेष आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।''** (समु० ३, शोधसं० १३६/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ७२; मूलसं० ७९; द्वि०सं० ४८)

शुद्ध— ''विशेषत: आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।''

समीक्षा—ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग—''**इनका विशेष समाचार तेरहवें समुल्लास में देखिये**'', ''**इनका भी विशेष व्यवहार.....देखिये**'' (शोधसं० १५/३, ५)। ''**इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि प्रकरण में कहेंगे**'' (शोधसं० १३७/९)। ''**विशेषत:/ विशेषकर क्षत्रियों को दृढांग....होना चाहिये**'' (शोधसं० ३१५/९) आदि।

३. **अशुद्ध—''चक्रवर्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं।''**

(समु० ११, शोधसं० ५२१/४; द्विप्र०, उदयपुर सं० २७४; मूलसं० ३२६; द्वि०सं० १८८)

शुद्ध— ''चक्रवर्ती राजाओं के नाम स्पष्टत: मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे हैं।''

४. **अशुद्ध—''गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी अवश्य है।''**

(समु० ११, शोधसं० ७००/२; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३७५; मूलसं० ४५४; द्वि०सं० २६०)

शुद्ध— ''गुण-कर्म-स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी आवश्यक है।''

समीक्षा—ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग—''**प्रकरण का विचार करना आवश्यक था**'' (शोधसं० २४/२) ''**उसका मानना मुसलमानों को आवश्यक हुआ**'' (शोधसं० ९५७/९), ''**कुरान को मानना आवश्यक न रहा**'' (शोधसं० ९६५/९) आदि।

५. **अशुद्ध—''यह चारवाक सबसे बड़ा नास्तिक है इसकी चेष्टा का रोकना अवश्य है।''**

(भूमिका, शोधसं० १२/१०; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५; मूलसं० 'अ'; द्वि०सं० ४)

शुद्ध— ''यह चार्वाक सबसे बड़ा नास्तिक है, इसकी चेष्टा को रोकना आवश्यक है।''

६. **अशुद्ध—''उसने शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और देवी के शरीर धारण कर राम-कृष्ण आदि अवतार लिये।''**

(समु० ११, शोधसं० ५८१/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३०७; मूलसं० ३६७; द्वि०सं० २११)

शुद्ध— ''उसने शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य, राम, कृष्ण आदि और देवी के शरीर धारण कर अवतार लिये।''

७. **अशुद्ध—''जो मुक्त होते हैं.....महायोगी होके मुक्ति का साधन करें।''**

(समु० ९, शोधसं० ४७३/१६; द्विप्र०, उदयपुर सं० २५५; मूलसं० ३०२; द्वि०सं० १७४)

शुद्ध— ''जो मुक्त होना चाहते हैं.....महायोगी होके मुक्ति का साधन करें।''

समीक्षा—उदयपुर संस्करण ने शब्दान्तर करके इस वाक्य का संशोधन कर लिया है, शेष में अभी अशुद्ध है।

८. **अशुद्ध—''जिस देश में.....बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है।''**

(समु० ४, शोधसं० १५२/१२; द्विप्र०, उदयपुर सं० ८१; मूलसं० ८९; द्वि०सं० ५४)

शुद्ध— ''जिस देश में.....बाल्यावस्था में और अयोग्यों का विवाह होता है।''

९. **अशुद्ध—''जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं कर सकता।''**

(समु० २, शोधसं० / ; द्विप्र०, उदयपुर सं० २८; मूलसं० २७; द्वि०सं० २०)

शुद्ध— ''जितना माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं कर सकता।''

समीक्षा—इस अशुद्ध वाक्य से पहला ही वाक्य शुद्ध है—**''जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं''** (शोधसं० ५८/९) आदि।

१०. **अशुद्ध**—विवाह के गुण दोष वर्णन में क्रमसंख्या—**''पांचवें (गुण), छठे (गुण), सातवें (गुण), आठवें (गुण)।''**

(समु० ४, शोधसं० १४९/; द्विप्र०, उदयपुर सं० ७९; मूलसं० ८६-८७; द्वि०सं० ५३)

शुद्ध— ''पांचवां, छठा, सातवां, आठवां गुण।''

११. **अशुद्ध—''वह उनकी अर्द्धांगी है।''** (समु० १३, शोधसं० ६८४/५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३६६; मूलसं० ४४३ ; द्वि०सं० २५४)

शुद्ध— वह उनकी अर्द्धांगिनी है।''

समीक्षा—**''अर्धांगी''** प्रयोग पुंल्लिग में शुद्ध होता है। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध है—**''लोग एक अर्धांगी को.....लाये''** (शोधसं० ८१९/१२; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४९४; मूलसं० ६१०) आदि।

१२. **अशुद्ध—''प्रत्यक्ष ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है।''** (समु० १३, शोधसं० ९३०/९; द्विप्र०, उदयपुर सं० ; मूलसं० ६३६; द्वि०सं० ३५७)

शुद्ध— ''प्रत्यक्षतः ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है।''

१३. **अशुद्ध—''एक चोलीमार्ग और बीजमार्ग भी होते हैं।''**

(समु० ११, शोधसं० ६५६/१०; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३४९; मूलसं० ४२१; द्वि०सं० २४१)

शुद्ध— ''एक चोलीमार्गी और दूसरे बीजमार्गी भी होते हैं।''

१४. **अशुद्ध—''यः पृणाति प्रीयते वा सः प्रियः।''** (समु० १, शोधसं० ५२/१३; द्विप्र०, उदयपुर सं० २५; मूलसं० २३; द्वि०सं० १८)

शुद्ध— ''यः प्रीणाति प्रीयते वा सः प्रियः।''

१५. **अशुद्ध—''अनेक दैत्यों की मरी हुई सेना को जिला दी।''**(समु० १३, शोधसं० ८९७/१८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४९३; मूलसं० ५३०; द्वि०सं० ३४२)

शुद्ध— ''दैत्यों की मरी हुई अनेक सेनाओं को जिला दिया।''

१६. **अशुद्ध—''सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना।''**

(समु० ६, शोधसं० २८६/६; द्विप्र०, उदयपुर सं० १६०; मूलसं० १८१; द्वि०सं० १०४)

शुद्ध— ''सेनापतियों और सेना के दो विभाग करके विजय करना।'' समीक्षा—एक सेनापति का विभाग क्या होगा?

१७. **अशुद्ध—''जैनी बारहवें, ईसाई तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि विषय विशेषकर लिखेंगे।''**

(समु० ९, शोधसं० ४५७/१ ; द्विप्र०, उदयपुर सं० २४५; मूलसं० २९०; द्वि०सं० १६७)

शुद्ध— ''जैनियों की बारहवें, ईसाइयों की तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि विषय विशेषकर लिखेंगे।''

१८. **अशुद्ध—''शाक्त आदि ने मूर्तियों में जैनियों का....।''** (समु० ११, शोधसं० ५७८/३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३०५; मूलसं० ३६५; द्वि०सं० २०९)

शुद्ध—''वैष्णव आदि ने मूर्तियों में जैनियों का....।''

१९. **अशुद्ध—''अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन्म बुरे-बुरे दुःख रूप जन्म को पाते हैं।''**

(समु० ९, शोधसं० ४७३/१३; द्विप्र०, उदयपुर सं० २५५; मूलसं० ३०२; द्वि०सं० १७४)

शुद्ध— ''अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं।''

२०. **अशुद्ध—''तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए....।''** (समु० ३, शोधसं० ९७/२०; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४७; मूलसं० ५०; द्वि०सं० ३३)

शुद्ध— ''तपस्या अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए....।''

समीक्षा—ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—**''(ऋतं तपः).....धर्मयुक्त कर्मों का नाम तप है।''** (द्विप्र०, उदयपुर सं० ३०४; शोधसं० ५७६/८; तथा शोध सं० ५७५/९, १० आदि)

२. गणनात्मक अशुद्धियां—

सत्यार्थप्रकाश में पाई जाने वाली जोड़-गुणा आदि विषयक गणनात्मक अशुद्धियां लिपिकरों की घोर अयोग्यता की सूचक हैं। लिखाते समय यह प्रक्रिया होती है कि लिखानेवाला जब कोई संख्या-सम्बन्धी या गणना-सम्बन्धी विषयवस्तु लिखाता है तो उसका कुलयोग करने के लिए उपस्थित लिपिकर को कहता है। फिर लिपिकर कुलयोग करके जो बताता है उसको प्रोक्ता लिखा देता है। सत्यार्थप्रकाश में बहुत-सी गणनात्मक अशुद्धियां पाई जाती हैं। द्वादश समुल्लास में जो ऐसी गलतियां रही हैं वे सामग्री संकलनकर्त्ता लेखक के कारण रही हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि जैनमत सम्बन्धी सामग्री का संकलन किसी वेतनभोगी लेखक ने किया है और उस पर समीक्षा महर्षि ने लिखवाई है, इस तथ्य का संकेत इस बात से मिलता है कि मूल-हस्तलेख में बहुत-से स्थलों पर मूल उद्धरण लिखने के बाद रिक्त स्थान छोड़ा हुआ मिलता है। द्वादश समुल्लास में हुई गणनात्मक अशुद्धियों का एक कारण यह रहा है कि संकलनकर्त्ता या लिपिकर बहुत-से स्थलों पर कुलयोग के जैन-मानदण्ड को भूलकर पौराणिक मानदण्ड से गुणा कर गया। महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि **'जैन मतानुसार एक योजन में दस हजार कोश होते हैं'** (पृ० ७९४) जबकि पौराणिक मान के अनुसार एक योजन में चार कोश होते हैं। लिपिकर कहीं चार से गुणा कर गया तो कहीं दस हजार से। गणितीय त्रुटियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. **अशुद्ध—''जो लोभ से झूठी साक्षी देवे उससे १५॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने) दण्ड लेवे, जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) (तीन रुपये दो आने) दण्ड लेवे, जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे ६।) (सवा छः रुपये) दंड लेवे और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे १२॥) (साढ़े बारह रुपये) दंड लेवे॥ ३॥ जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे २५) (पच्चीस रुपये) दंड लेवे, जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६ ॥=) (छयालीस रुपये चौदह आने) दण्ड लेवे, जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ६) (छः रुपये) दण्ड लेवे और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १॥-) (एक रुपया नौ आने) दण्ड लेवे॥ ४॥''** (समु० ६; शोधसं० ३०६; द्विप्र०, उदयपुर सं० १७१; मूलसं० १९५; द्वि०सं० १११)

शुद्ध— यहां आर्थिक दण्ड की गणना में पांच अशुद्धियां हैं। मोह में साढ़े चौदह आने, भय में सात रुपये तेरह आने, मित्रता में पन्द्रह रुपये दस आने, कामना में उनतालीस रुपये एक आना, अज्ञानता में तीन रुपये दो आने दण्ड होना चाहिए।

२. **अशुद्ध—अध्ययन-अध्यापन विधि में सभी विद्याओं के अध्ययन की अवधि का कुल योग बीस वा इक्कीस वर्ष दिया है।**

(समु० ३, शोधसं० १३०; द्विप्र०, उदयपुर सं० ७०; मूलसं० ७२-७७; द्वि०सं० ४४-४७)

शुद्ध— इस प्रसंग में गान्धर्ववेद और अर्थवेद के अध्ययन की '४-४ वर्ष' अवधि का उल्लेख त्रुटित है, मूलप्रति में ज्योतिष की अवधि '२ वर्ष' त्रुटित है। यदि इन अवधियों को प्रसंगोक्त पाठ के अनुसार ग्रहण कर लें तो 'सत्यार्थप्रकाश' की गणना ३० या ३१ वर्ष आ जाती है। जो कि 'संस्कारविधि' की गणना से लगभग मिल जाती है। २० या २१ वर्ष योग तो सर्वथा गलत है।

३. **अशुद्ध—''बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस और आठ मिलाके बयालीस.....।''**

(समु० ३, शोधसं० ९३/१४; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४४; मूलसं० ४७; द्वि०सं० ३२)

शुद्ध— ''बारह-बारह और बारह मिलके छत्तीस और आठ मिलाके चवालीस....।''

४. **अशुद्ध—''अब सुनिये भूमि के परिमाण को....जीव रहते हैं'' इस अनुच्छेद में सब द्वीपों का परिमाण अशुद्ध है। जैसे—जम्बू द्वीप का एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश, लवण समुद्र का दो लाख योजन अर्थात् आठ लाख कोश, धातकी खण्ड का चार लाख योजन अर्थात् सोलह लाख कोश, कालोदधि का आठ लाख अर्थात् बत्तीस लाख कोश, आदि।**

(समु० १२, शोधसं० ७९५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४२२; मूलसं० ५२८; द्वि०सं० २९२)

शुद्ध— यहां जम्बू द्वीप का परिमाण एक अरब कोश, लवण समुद्र का दो अरब कोश, धातकी खण्ड का चार अरब, कालोदधि का आठ अरब परिमाण लिखा जाना शुद्ध है।

समीक्षा—यहां गलती यह हुई है कि लिपिकर-लेखक ने जैनियों के योजन को पौराणिक प्रमाण 'चार कोस' से गुणा कर लिया गया है। पुराण प्रमाण के अनुसार १ योजन में ४ कोश होते हैं, जबकि जैन-प्रमाण के अनुसार १ योजन में दस हजार कोश होते हैं। समु० १२ में कई गणनाएं जैन प्रमाण के अनुसार ही हैं (पृ० ७९४/५)। जैन वचनों की गणना जैन प्रमाण के अनुसार ही होनी चाहिए।

५. **अशुद्ध—जुगुलिये मनुष्य के एक बाल (केश) के एक अंगुल टुकड़े का जोड़ दो स्थानों पर वर्णित है। दोनों स्थानों पर जोड़ गलत भी है और गलत भी भिन्न-भिन्न है। शोधसं० पृष्ठ ७९१ पर २०९७१५२ है और पृष्ठ ८३७ पर २०५७१५२ है।**

शुद्ध— दोनों स्थलों पर यह शुद्ध जोड़ ४०९६×७=२८६७२×८=२२९३७६ होना चाहिए।

समीक्षा—आश्चर्य है कि सवा-सौ वर्षों से अधिक बीत जाने पर तथा सत्यार्थप्रकाश के सैकड़ों संस्करण प्रकाशित होने पर भी किसी भी सम्पादक द्वारा यह अशुद्धि ठीक नहीं की गई है। यह इस समुल्लास के संकलनकर्त्ता लेखक की भूल से हुई गणितीय अशुद्धि है।

६. **सभी द्वितीय संस्करणों में अशुद्ध गणना—''एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्त्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुंचता है.....प्रत्येक गाय के जन्म भरके दूध से २४९६० मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं.....पांच बछड़ियों के जन्मभर के दूध को मिलाकर १२४८०० मनुष्य तृप्त हो सकते हैं.....पांच बैल जन्मभर में ५००० मन अन्न न्यून से न्यून उत्पन्न कर सकते हैं उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खावे तो २५००० (अढ़ाई लाख) मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिला ३७४८०० मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिलाके एक गाय की एक पीढ़ी में ४७५६०० मनुष्य एक बार पालित होते हैं।''**

मूलप्रति सं० में कुल जोड़—मूलप्रति, मूलप्रति संस्करण में दिये गये आंकड़ों के अनुसार पालित मनुष्यों का कुल योग ३९९७६० गलत है जिसको मुद्रणलिपिकर ने और गलत बना दिया है। यह गणितीय गलत जोड़ सभी द्वितीय संस्करणों में सवा सौ से अधिक वर्षों से आज तक छपता आ रहा है, इससे बढ़कर दुःख की बात क्या हो सकती है ?

(समु० १०, शोधसं० ४९७; द्विप्र०, उदयपुर सं० २६६; मूलसं० ३१६; द्वि०सं० १८२)

इसकी समीक्षा और शुद्ध कुल योग—वस्तुतः, सभी संस्करणों में गाय-प्रकरण की संख्याओं का गुणनफल अशुद्ध है जिसकी ओर किसी सम्पादक का ध्यान आज तक नहीं गया है। उसके कारण सभी संस्करणों के अशुद्ध कुलयोग बदल जायेंगे, देखिए—

—५००० मन में कुल पाव बने=(५०००×४०=२००००० सेर × ४=)	८००००० पाव।
—८००००० पावों को तीन पाव से भाग दिया=	२६६६६६ मनुष्य तृप्त हुए।
—दूध और अन्न से क्रमशः पालित कुल मनुष्य १२४८००+२६६६६६=	३९१४६६ मनुष्य।
—मूल पीढ़ी की गाय के दूध से पालित मनुष्य इनमें जोड़े ३९१४६६ + २४९६०=	४१६४२६ कुल मनुष्य।

इस प्रकार सभी द्वितीय संस्करणों का कुलयोग गलत है और मूलप्रति संस्करण का सही होते हुए भी मध्य के गलत योग से गलत हो गया। सही कुलयोग ४१६४२६ है, जो इस शोधसंस्करण में प्रथम बार दर्शाया गया है।

७. **मुद्रणप्रति और द्वितीय संस्करण (१८८४) में मुक्ति-अवधि की अशुद्ध संख्या—''जब तक ३६०००० (तीन लाख साठ सहस्त्र) बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना.....।''**

मूलप्रति में शुद्ध प्रयोग—मूलप्रति और मूलप्रति संस्करण में यह संख्या ३६,००० शुद्ध है।

समीक्षा—मूलप्रति से मुद्रणप्रति बनाते समय अंकों में यह संख्या ३६,००० शुद्ध लिखी थी किन्तु शब्दों में ''**तीन लाख साठ सहस्त्र**'' गलत लिख दी। द्वितीय संस्करण के मक्कार सम्पादक पं० ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा ने उसको शुद्ध करने की बजाय अंकों की संख्या को भी ३,६०,००० अशुद्ध बना दिया। यह प्रसन्नता की बात है कि अब सभी सम्पादकों ने इसको शुद्ध कर लिया है।

८. **द्वितीय संस्करण में अशुद्ध शाखा-संख्या—''(प्रश्न) वेदों की कितनी शाखा हैं ? (उत्तर) एक सौ सत्ताईस।''**

(समु० ७, द्विप्र०, उदयपुर सं० २०५; द्वि०सं० १३७)

मूलप्रति, मूलप्रति संस्करण में शुद्ध पाठ—''(प्रश्न) वेदों की कितनी शाखा हैं ? (उत्तर) एक हजार एक सौ सत्ताईस।'' (मूलसं० २३८)

समीक्षा—अब सभी सम्पादकों ने इस अशुद्धि को सुधार लिया है। यह मुद्रणलिपिकर द्वारा मुद्रणप्रति बनाते समय की गई अशुद्धि है।

३. अप-परिवर्तन और उचित संशोधन—

महर्षि के पाठ को गम्भीरता से न समझ पाना, लिपिकरों की अयोग्यता, शोधकों की प्रमादलीला, भाषा-परिवर्तन में मुद्रण-लिपिकर की अति और अनावश्यक स्वच्छन्दता, जानबूझकर विकृति उत्पन्न करने की भावना आदि अनेक कारणों से मूल-हस्तलेख और विशेषरूप से मुद्रण-हस्तलेख में अनेक **'अपपरिवर्तन'** पाये जाते हैं। दोनों हस्तलेखों में शोधकों द्वारा किये गये अपपरिवर्तन भी हैं। इसके साथ-साथ बहुत-से संशोधन **'उचित'** भी किये हैं। दोनों सं० में जो शुद्ध संशोधित पाठ है उसको अर्थवैशिष्ट्य और व्याकरण के आधार पर इस संस्करण में ग्रहण किया गया है। उनको **'उचित संशोधन'** शीर्षक दिया है। टिप्पणी में अशुद्ध पाठ और गृहीत शुद्ध पाठ की तुलनात्मक जानकारी भी दी गई है तथा अशुद्ध पाठ को भी दर्शाया गया है जिससे पाठक उसको स्वयं तुलनात्मक रूप से जान सकें। ऐसे संशोधनों को बिना किसी कोष्ठक के किया गया है, क्योंकि दोनों ही संस्करणों के पाठ महर्षि द्वारा स्वीकृत हैं। मुद्रण-हस्तलेख (प्रेस कापी) के लिपिकर को पता नहीं परिवर्तन की क्या ललक थी कि अनेक स्थानों पर अनावश्यक और व्यर्थ परिवर्तन कर दिये हैं जबकि महर्षिप्रोक्त मूलहस्तलेख के शब्द अधिक सटीक और सारगर्भित हैं। महर्षि को उन अनावश्यक परिवर्तनों की जानकारी कार्याधिक्य और लिपिकरों-शोधकों पर विश्वास के कारण तथा मूल हस्तलेख से मिलान न होने

के कारण नहीं हो पाई, नहीं तो वे ऐसा व्यर्थ परिवर्तन कभी न करने देते। कुछ उदाहरणों से इन तथ्यों को समझाया गया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

(क) मुद्रण-लिपिकर (प्रेसप्रति-लिपिकर) द्वारा मूल-हस्तलेख के पाठ की प्रतिलिपि करते समय उसमें किये गये व्यर्थ, अवांछनीय या अनावश्यक परिवर्तन जो अब तक द्वितीय संस्करण में छप रहे हैं। उनके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं 'सत्यार्थप्रकाश मीमांसा' में पृष्ठ १०२ पर।

(ख) मूल हस्तलेख के शुद्ध पाठ में मुद्रण-लिपिकर (प्रेसप्रति-लिपिकर) द्वारा की गई अशुद्धियां जो अब तक द्वितीय संस्करणों में छप रही हैं। ग्रन्थ में उपलब्ध उनके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं 'सत्यार्थप्रकाश मीमांसा' भाग में पृष्ठ ७८-८० पर।

(ग) द्वितीय संस्करण (१८८४) में किये गये अप-परिवर्तनों, अशुद्ध पाठों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं 'मीमांसा भाग' में पृष्ठ १०६-११७ पर।

(४) अप और अव्यवस्थित वर्तनी—

यदि किसी पाठ या संस्करण में कोई वर्तनी अशुद्ध है और दूसरे में शुद्ध है, तो इस संस्करण में उस शुद्ध पाठ के अनुसार अशुद्ध वर्तनी को शुद्ध कर दिया गया है। यदि दोनों ही संस्करणों में वह वर्तनी अशुद्ध है, तो उसको हिन्दी-व्याकरण के अनुसार शुद्ध किया गया है, क्योंकि भूमिका में महर्षि की प्रतिज्ञा है कि इस ग्रन्थ की भाषा ''**भाषा के व्याकरणानुसार जानकर.....इसकी भाषा पूर्व से उत्तम हुई है**'' (पृष्ठ ७/२)। अत: टिप्पणी में '**अपवर्तनी**' और '**अव्यवस्थित वर्तनी**' शीर्षक देकर उनकी जानकारी पाठकों को उपलब्ध कराई गई है। साथ ही उपलब्ध मूल अपवर्तनी का उल्लेख भी टिप्पणी में किया गया है। (अपवर्तनियों के उदाहरण 'मीमांसा भाग' में पृष्ठ ११७, १२२ पर द्रष्टव्य हैं)

अयोग्य और प्रमादी लिपिकरों के कारण, ग्रन्थ में बहुत-सी वर्तनियों के साथ यह दु:स्थिति उपस्थित हुई है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में या एक ही वाक्य और एक ही अनुच्छेद में एक ही शब्द की कई वर्तनियां हैं जो ग्रन्थ को अस्तरीय, अमानक तथा अप्रामाणिक भाषा युक्त बनाती हैं। उनको टिप्पणी में '**अव्यवस्थित वर्तनी**' शीर्षक देकर मानकता, भाषात्मक व्यवस्था और एकरूपता बनाने के उद्देश्य से उनके एक ग्राह्य रूप का निर्णय किया गया है। वर्तनी के सभी अव्यवस्थित रूप भी टिप्पणी में दर्शाये गये हैं। (अव्यवस्थित और अशुद्ध वर्तनियों के उदाहरण 'मीमांसा भाग' में पृ० ११७ पर भी द्रष्टव्य है)।

(५) त्रुटित पद और पाठ—

वैसे तो लेखन-प्रक्रिया में यह सहज दोष आ ही जाता है कि लिखते समय अक्षर, शब्द, वाक्यांश, वाक्य आदि त्रुटित रह जाते हैं; किन्तु महर्षि के लेखकों ने ऐसी त्रुटियां प्रमाद और लापरवाही के कारण अधिक की हैं। लिपिकरों ने पाठ छोड़ दिया है तो शोधकों ने उस पर ध्यान नहीं दिया। ऐसे त्रुटित पाठों को एक-दूसरे संस्करण से ग्रहण करके पूर्ण किया है। क्योंकि दोनों हस्तलेखों और द्वितीय संस्करण के पाठ अधिकांशत: महर्षि द्वारा निरीक्षित माने जाते हैं, अत: उनको बिना कोष्ठक के ही दिया गया है। पाठकों को उसकी जानकारी टिप्पणी में '**त्रुटित पद या पाठ**' शीर्षक से दी है, और यह विवरण भी दिया है कि किस संस्करण में यह पाठ त्रुटित है तथा किससे ग्रहण किया है। मुद्रण-हस्तलेख (प्रेस कापी) को पढ़कर तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे लिपिकर घोर प्रमादी और मक्कार प्रवृत्ति के थे। उनके प्रमाद और दृष्टि विचलन के कारण कई सौ प्रमुख पाठ मुद्रण-हस्तलेख में विकृत हो गये हैं और उस विकृति के कारण दोनों हस्तलेखों में अनेक पाठान्तरों का उद्‌भव हुआ है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रण-हस्तलेख (प्रेस कापी) को इतना भ्रष्ट किया हुआ है कि उसका मानक तथा प्रामाणिक रूप ही नष्ट हो गया है! (इस विषयक कुछ उदाहरण 'मीमांसा भाग' में पृ० १११, ११२ पर द्रष्टव्य हैं।)

(६) प्रस्तावित पाठ—

ग्रन्थ में बहुत से स्थल ऐसे भी हैं जहां आवश्यक शीर्षक, विषय-संकेतक वाक्य, पद, क्रिया, वाक्यांश, वाक्य आदि त्रुटित हैं। यह इस कारण प्रतीत होता है कि वहां उन पदों या पाठों के ग्रहण करने से वाक्यरचना व्याकरण की

दृष्टि से पूर्ण, स्पष्टार्थक और उत्तम बनती है। पदों अथवा पाठों का त्रुटित रह जाना लेखन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। विशेषरूप से बोलकर लिखाने में इस प्रकार की पाठत्रुटियों की संभावना अधिक रहती है। कभी प्रोक्ता के कथन में कोई पद छूट जाता है तो कभी लिपिकर शीघ्रता अथवा असावधानी में पदों या पाठों को छोड़ जाता है, कभी श्रवणभ्रान्ति से कोई अन्य पद लिखा जाता है। ऐसे स्थलों पर पूर्वसम्पादकों के अनुकरण से और अपने विवेक से उपयुक्त पद और पाठ बृहत्कोष्ठक में दर्शाये हैं। यह समझें कि वह पाठ मेरी ओर से प्रस्तावित पाठ हैं। ऐसे स्थलों का परिचय टिप्पणी में **'त्रुटित आवश्यक पद/ या पाठ'** शीर्षक से दिया गया है।

इसके अतिरिक्त जहां पाठ में वैशिष्ट्य की संभावना और आवश्यक संशोधन अपेक्षित प्रतीत हुआ है ऐसे स्थलों पर पाठविषयक अपना अभिमत प्रकट किया गया है। ऐसे स्थल भी पर्याप्त हैं।

(७) अपसम्पादन—

महर्षि ने लेखन-कार्य के सम्पादन-शोधन लिए वेतन पर कई शोधक नौकर के रूप में रखे हुए थे। जैसा कि बार-बार बताया है कि वे भाषा की दृष्टि से अयोग्य, प्रमादी, निष्ठाहीन, कामचोर और कर्त्तव्यविमुख थे। लिखते और प्रतिलिपि करते समय लिपिकरों ने बहुत गलतियां की हैं। उनको शुद्ध करना, ग्रन्थ को व्यवस्थित करना, शैली की एकरूपता को बनाये रखना, त्रुटित उद्धरणों को शुद्ध करना, त्रुटित पाठों पर ध्यान देकर उनको पूर्ण करना आदि सभी लेखन-सम्बन्धी कार्यों का अन्तिम दायित्व शोधकों या उन्हीं आदि-सम्पादकों का था, किन्तु उस दायित्व को उन्होंने पूरा नहीं किया, केवल अपना वेतन कमाया। परिणामस्वरूप अपसम्पादन सम्बन्धी बहुत-सी त्रुटियां और अव्यवस्थाएं ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। उनको यथास्थान दर्शाकर ठीक किया गया है।

इसी प्रकार प्रकाशन से पूर्व एक शब्द की एक वर्तनी रखना, प्रमाणभागों को मूलग्रन्थों से मिलान करके शुद्ध एवं पूर्ण मूलपाठ रखना तथा एक ही प्रमाण के दो-तीन बार आने पर एक पाठ बनाना आदि-शोधकों अर्थात् आदिसम्पादकों का दायित्व था, किन्तु उन्होंने उस दायित्व को निष्ठा से नहीं निभाया। आगे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) अपसम्पादन के उपलब्ध कुछ उदाहरण—

१. समुल्लासों के आरम्भ में **'विषय-संकेतक'** वाक्यों में एकरूपता और व्यवस्था नहीं है। कहीं संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषाओं में हैं, कहीं दोनों भाषाओं में ही नहीं हैं, कहीं केवल संस्कृत में ही हैं, जैसे—

(क) दोनों भाषाओं में जहां हैं—समुल्लास ३, ६, १०, ११, १३, १४।

(ख) दोनों ही भाषाओं में नहीं है—प्रथम समुल्लास, सप्तम समुल्लास।

(ग) केवल संस्कृत में हैं—समुल्लास २, ४, ५, ८, ९, १२।

२. महर्षि द्वारा दिये गये तीन विशेषणों से युक्त ईश्वरीय एक नाम **'सच्चिदानन्द'** के मूल तीन पदों का निर्वचन विपरीत क्रम आनन्द, सत्, चित् के अनुसार है। इनका उपयुक्त क्रम नाम के अनुसार अभीष्ट है। (शोधसं० पृ० ४४-४५ मूलसं० पृ० १८; द्वि०सं० पृ० १५)।

३. एक ही व्यक्ति के लिखे, एक ही ग्रन्थ में, एक ही श्लोक के अव्यवस्थित रूप से दो पाठ हैं—

(क) **''स्वाध्यायेन व्रतैः होमैः''** (मूलसं० ५२; द्वि०सं० ३३)

''स्वाध्यायेन जपैः होमैः'' (मूलसं० ९५; द्वि०सं० ९७)

(ख) **''प्राणापान....सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ....।''** (मूलसं० २२१; द्वि० १२८) इस सं० में पृ० ३४७

''प्राणापान.....सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च।'' (मूलसं० ६५; द्वि० ४०) इस सं० में पृ० ११५

४. श्लोकों, मन्त्रों और सूत्रों के पद, पदार्थ के कोष्ठकों में यथावत् वर्तनी के रूप में होते हैं किन्तु ग्रन्थ में यह अव्यवस्था है कि कहीं शुद्ध पद हैं, तो कहीं अशुद्ध पद लिखित हैं, जैसे—

(क) ब्राह्मण आदि वर्णों के विधायक श्लोकों के प्रायः सभी पद कोष्ठकों में श्लोकानुसार नहीं हैं, प्रायः अशुद्ध रूप अंकित हैं। (शोधसं० पृ० १६६-१७० मूलसं० ९९-१०१; द्वि०सं० ६०-६१)।

(ख) ''**आसनं चैव यानं च**'' पदार्थ के कोष्ठकों में श्लोक के सभी पद अशुद्ध रूप में लिखित हैं। शोधसं० पृ० २८२; मूलसं० १८०; द्वि०सं० १०४)

(ग) ''**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्**'' श्लोक के पदार्थ के कोष्ठकों में आधे श्लोक-पद शुद्ध रूप हैं आधे अशुद्ध। शोधसं० पृ० २३५; मूलसं० १४८; द्वि०सं० ८६)

५. लिपिकरों, आदि-सम्पादकों, शोधकों के प्रमाद से एक स्थल पर बारह प्रश्नोत्तर उलट-पुलट हैं। प्रश्न का उत्तर शीर्षक लिखा है और उत्तर को प्रश्न लिखा है, ''**अध्यारोप करने वाला.....हमको इष्टापत्ति है**'' तक के पाठ में। मूलप्रति सं० में इसको संशोधित कर दिया है किन्तु द्वितीय संस्करणों में अभी तक अशुद्ध छप रहे हैं। शोधसं० पृ० ४३५; मूलसं० २७६; द्वि०सं० १६०)

६. आदि-सम्पादकों अर्थात् शोधकों के प्रमाद से ''**तुम तत् शब्द से क्या लेते हो ?.... तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद्.....।**'' पाठ तक 'प्रश्न', 'उत्तर' शीर्षक ही नहीं लिखे हैं। मूलप्रति सं० में इनको संशोधित कर दिया है। (इस सं० में पृ० ३५०; मूलसं० २२४; द्वि०सं० १२९)

७. अन्तिम चार प्रमाणों के उल्लेख में विषमता और अव्यवस्था है जिसको दूर करना शोधकों का कर्त्तव्य था। यथा—चार प्रमाणों के साधक सूत्र ''**न चतुष्ट्वमैतिह्य....**'' का पूर्वसूत्रों की पद्धति पर हिन्दी अर्थ नहीं है। '**ऐतिह्य**' प्रमाण का, अन्तिम चार प्रमाणों की पद्धति की तरह संस्कृत निर्वचन नहीं है। अन्तिम तीन **अर्थापत्ति, सम्भव** और **अभाव** प्रमाणों का संस्कृत निर्वचन तो है किन्तु हिन्दी-अर्थ नहीं है।

८. महर्षि की स्वीकृत प्रयोग शैली का ध्यान न रखना एक और प्रमाद है। महर्षि आयु, विधि, पुस्तक आदि संस्कृत शब्दों का मूलतः पुंल्लिंग में प्रयोग करते हैं, लिपिकरों की अव्यवस्था से ग्रन्थ में कहीं पुंल्लिग प्रयोग मिलता है, कहीं स्त्रीलिंग। इन प्रयोगों में एकरूपता बनाना शोधकों-आदिसम्पादकों का कर्त्तव्य था, किन्तु उन्होंने अपने कर्त्तव्य का ठीक से निर्वहण नहीं किया।

९. इसी प्रकार ग्रन्थ में एक शब्द की कई-कई वर्तनियां मिलती हैं। वे वर्तनियां अशुद्ध भी हैं। लिपिकरों की इस गलती को शोधन के समय दूर करके उनमें एकरूपता बनाना भी इन्हीं शोधकों अर्थात् आदि-सम्पादकों का कर्त्तव्य था, जो इन्होंने ईमानदारी से पूरा नहीं किया। (द्रष्टव्य 'मीमांसा भाग' में पृ० ११७, १२२ पर उदाहरण)

(८) अप या त्रुटित स्वरांकन—सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत वेदमन्त्रों पर स्वरांकन दोनों पांडुलिपियों में नहीं है। द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) में केवल ग्रन्थ के आरम्भिक मन्त्रों ''**शं नो मित्रः**'' और ''**नमो ब्रह्मणे**'' पर है, अन्य किसी पर नहीं। ग्रन्थ के सभी मन्त्रों पर स्वरांकन परवर्ती संशोधक सम्पादकों ने बाद के किसी संस्करण से आरम्भ किया है। यह आवश्यक एवं ग्राह्य तीन कारणों से है—१. वेदों के मूलपाठ में वेदमन्त्र स्वरांकन-सहित प्राप्त होते हैं, अतः उद्धरण में मूलस्वरूप का सुरक्षित रखना साहित्यिक दायित्व है। २. स्वरों का मन्त्रार्थ पर भी प्रभाव पड़ता है। महर्षि ने स्वरांकन को आवश्यक लिखा है (द्र०पृ० १९, टिप्पणी)। अतः वह होना चाहिए। ३. इस वैदिकविद्या को सुरक्षित रखने के लिए भी स्वरांकन होना अत्यावश्यक है। सभी संस्करणों में स्वरांकन में कुछ त्रुटियां रही है। इस संस्करण में '**अशुद्ध/ या त्रुटित स्वरांकन**' शीर्षक से उसका विवरण टिप्पणियों में दिया गया है। दोनों प्रकार के संस्करणों में स्वरांकन की अशुद्धियां हैं।

(९) स्थानभ्रष्ट या अस्थानीय प्रयोग—यह स्वाभाविक बात है कि बोलते समय कभी वक्ता द्वारा कोई शब्द आगे-पीछे बोल दिया जाता है। कभी लिपिकर भी किसी शब्द को आगे-पीछे लिख देता है। शोधकों और आदि-सम्पादकों का यह दायित्व बनता है कि प्रेस में भेजने से पूर्व उस शब्द का पाठक्रम ठीक कर दें। सत्यार्थप्रकाश में ऐसा अनेक स्थानों पर नहीं किया गया है। इस शोधसंस्करण में ऐसे स्थानों पर '**स्थानभ्रष्ट पाठ**' शीर्षक से टिप्पणी देकर उस शब्द को '**आसत्ति**' के नियमानुसार अर्थात् उचित क्रम में रख दिया है। जैसे—

१. अशुद्ध—''**वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके, देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।**'' (समु० ३, शोधसं० १२८/१५; द्विप्र०, उदयपुर सं० ६९; मूलसं० ७५; द्वि०सं० ६९)

शुद्ध— ''वही ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके, देहान्त के पश्चात् सर्वानन्द को प्राप्त होता है।''

२. **अशुद्ध—''ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों के वेदविरुद्ध तन्त्रग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियां हैं।''**

(समु० ११, शोधसं० ५८३/१; द्विप्र०, उदयपुर सं० ३०८; मूलसं० ३६९; द्वि०सं० २१२)

शुद्ध— ''ये सब वाममार्गियों के वेदविरुद्ध, कपोलकल्पित तन्त्रग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियां हैं।''

समीक्षा—उदयपुर सं० में तो ''**कपोलकल्पित वाममार्गियों की**'', के पश्चात् अल्पविराम लगाकर पाठ को स्पष्टत: दूषित कर दिया है।

३. **अशुद्ध—''ऊटपटांग वेदों की निन्दा करने लगे।''**

शुद्ध—''वेदों की ऊटपटांग निन्दा करने लगे।''

समीक्षा—शोधसंस्करण और मूलसं० में ''**ऊटपटांग**'' पाठ नहीं है। इसको मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ जोड़ा है, वह भी गलत स्थान पर। जो यह सिद्ध करता है कि सारी ऊटपटांग गलतियां लिपिकरों ने की हैं। यहां यह वेदों का विशेषण बन गया है। निन्दा का विशेषण भी अनावश्यक है, क्योंकि निन्दा स्वयं में ऊटपटांग ही होती है। (द्रष्टव्य शोधसं० ७३८; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४०२; द्वि०सं० पृ० २७९)

४. **अशुद्ध—''क्या कठोर दु:ख देने वाला दयालु खुदा सब पापियों पुण्यात्माओं के ऊपर है....''**

(समु० १४, शोधसं० ९६५/६; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५३२; मूलसं० ६६०; द्वि०सं० ३६९)

शुद्ध— ''क्या कठोर दु:ख देने वाला खुदा सब पापियों-पुण्यात्माओं के ऊपर दयालु है?''

५. **अशुद्ध—''क्या वे तकिये लगाकर निकम्मे बहिश्त में बैठे ही रहते हैं?''**

(समु० १४, शोधसं० १०२९/३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५७५; मूलसं० ७१४; द्वि०सं० ३९७)

शुद्ध— ''क्या वे तकिये लगाकर बहिश्त में निकम्मे ही बैठे रहते हैं?''

६. **अशुद्ध—''पूर्ण जवान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में आता है।''**

(समु० ४, शोधसं० १५७/११; द्विप्र०, उदयपुर सं० ८४; मूलसं० ९२; द्वि०सं० ५६)

शुद्ध— ''विद्याग्रहण कर पूर्ण जवान होके गृहाश्रम में आता है।''

समीक्षा—ध्यान दीजिए, इसी प्रकरण में कुछ पंक्तियां आगे शुद्ध क्रम है—''**नवीन-नवीन शिक्षा और....पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियां, ब्रह्मचर्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों, प्रज्ञा-शास्त्र-शिक्षा युक्त जवान पतियों को प्राप्त होके.....।**'' तथा प्रमाण भी पढ़ें—''**ब्रह्मचर्येण युवानं विन्दते पतिम्**'' (अथर्व० ११.५.१८) ज्ञान होता है कि लिखते समय लिपिकर से उक्त स्थानभ्रष्ट पाठ लिखा गया है।

७. **अशुद्ध—''राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों।''**

(समु० ६, शोधसं० ३१३/३; द्विप्र०, उदयपुर सं० १७६; मूलसं० २००; द्वि०सं० ११४)

शुद्ध— ''राजा और बड़े-बड़े समुद्रों में नौकाओं के चलाने वाले, दोनों लाभयुक्त हों।''

८. **अशुद्ध—''दयाहीन ईसाइयों का ईश्वर नहीं है?''** (समु० १३, शोधसं० ८६०/६; द्विप्र०, उदयपुर सं० ४७२; मूलसं० ५८१; द्वि०सं० ३२७)

शुद्ध— ''ईसाइयों का ईश्वर दयाहीन नहीं है?''

९. **अशुद्ध—''दौरासुपुर्द खुदा ने बिना अपराध क्यों रखा?''**

(समु० १४, शोधसं० १०२५/१६; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५७२; मूलसं० ७११; द्वि०सं० ३९५)

शुद्ध— ''खुदा ने विना अपराध दौरासुपुर्द क्यों रखा''

समीक्षा—ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—''**दौरासुपुर्द रखना केवल अन्याय है**'' (शोधसं० १०२४/१३; मूलसं० ७१०) आदि।

१०. **अशुद्ध—''नीच चपरासियों के इस काम घसीटने से भी खुदा न बचा।''**

(समु० १४, शोधसं० १०४०/१३; द्विप्र०, उदयपुर सं० ५८२; मूलसं० ७२४; द्वि०सं० ४०२)

शुद्ध— ''चपरासियों के इस नीच काम घसीटने से भी खुदा न बचा।''

(१०) पाठ निष्कासन/ पाठ अभाव—जिस संस्करण में जो पाठ नहीं है, जैसे—मूल हस्तलेख में अनुभूमिकाएं, दोनों हस्तलेखों में राजवंशावली, अल्लोपनिषद् का मूलपाठ, कुछ टिप्पणियां आदि पाठ नहीं है, उनकी टिप्पणी में जानकारी दी गई है। मुद्रणकाल में जो-जो पाठ निष्कासित किये गये हैं जैसे द्वितीय संस्करण के चौदहवें समुल्लास से अनेक आयतें मनीषी समर्थदान जी ने निकाल दी थीं, उनकी टिप्पणी में जानकारी दी गई है।

(११) अधिक पद/ पाठ—कुछ स्थल इस प्रकार के हैं जहां कोई पद या पाठ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। कहीं-

कहीं किसी पद का लिखते-लिखाते समय निरर्थक प्रयोग हो गया है। ऐसे स्थानों पर '**अधिक या अनावश्यक पद/पाठ**' शीर्षक से टिप्पणी देकर पद या पाठ की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर प्रकाश डाला गया है।

(१२) द्वित्व वर्णप्रयोग में अराजकता—

सत्यार्थप्रकाश की भाषा में परम्परा से प्राप्त द्वित्व वर्णयुक्त प्रयोगों में लिपिकरों की अयोग्यता के कारण अव्यवस्था, अनियमितता और अराजकता है। एक ही पंक्ति में अगर कोई शब्द दो बार आया है तो एक में द्वित्व वर्ण का प्रयोग है, दूसरे में नहीं। इसी प्रकार एक प्रति के लिपिकर ने द्वित्व का प्रयोग किया है तो दूसरे ने वहां नहीं किया, जहां उसने नहीं किया, वहां दूसरे ने किया है। भाषा में सभी स्थलों में यह अराजकता खुलकर है। इसी प्रकार प्रमाणभाग में मूलपाठ के विरुद्ध तथा स्वच्छन्द रूप से अराजकता है।

द्वित्व प्रयोग के विकल्प की छूट होने का मतलब लिपिकरों-संशोधकों ने 'मनमानापन करना' मान लिया है जबकि द्वित्व के भी अपने नियम और सीमाएं हैं। इस संस्करण में संस्कृत उद्धरणों के मूलपाठों में जहां द्वित्व उपलब्ध है, वहां मूल के आधार पर रखा गया है, जहां मूलपाठ में द्वित्व प्रयोग नहीं हे वहां द्वित्व नहीं रखा है।

कुछ लोग कहते हैं कि व्याकरण में विकल्प की व्यवस्था है, अत: कहीं भी द्वित्व वर्ण का प्रयोग किया जा सकता है। वे भ्रान्ति में हैं, क्योंकि द्वित्व का सम्बन्ध उच्चारण से है, जहां उच्चारण है वहां लगेगा, जहां उच्चारण नहीं है, वहां नहीं लगेगा। जहां लगायेंगे वहां वैसा उच्चारण भी होना चाहिए। यह विकल्प की व्यवस्था उन्हीं क्षेत्रों के लिए हुई है जहां के लोग संस्कृत में द्वित्व का उच्चारण करते थे, सबके लिए नहीं। आप स्वयं सोचिए, जब आप आचार्य्य, आर्य्य, धर्म्म, कर्म्म आदि शब्दों में द्वित्व वर्ण का प्रयोग करते हैं तब द्वित्व का उच्चारण करते हैं क्या? नहीं करते तो क्यों लगाया? तब आप सहज वर्तनी में आचार्य, आर्य, धर्म, कर्म भी तो लिख सकते हैं। प्राय: यह देखा जाता है कि हम प्रवाह में द्वित्व लगा तो देते हैं किन्तु उच्चारण नहीं करते, वह गलत है। दोनों स्थितियों के उच्चारण में बहुत भिन्नता है। संस्कृत और हिन्दी भाषाओं की यह वैज्ञानिकता है कि उनमें जो लिखा जाता है वही उच्चारित होता है, जो उच्चारित होता है वही लिखा जाता है। जहां उच्चारित ही नहीं होता, वहां लगाना गलत है। विकल्प में भी इसका एक नियम है। जैसे साहित्यिक हिन्दी में '**जाता, आता, खाता, पीता**' आदि पदों में एकवर्ण बोलते हैं। हरियाणवी, पंजाबी और अपभ्रंश भाषाओं में '**आत्ता, जात्ता, खात्ता, पीत्ता**' उच्चारण होता है, तो जहां होता है उनके लिए द्वित्व के विकल्प की व्यवस्था है, अनुच्चारित में नहीं; अनुच्चारित वर्ण में द्वित्त्व लगाना भाषानियम और व्याकरण के विरुद्ध है।

वेदमन्त्रों में द्वित्व का प्रयोग कहीं-कहीं मूलपाठ में है, सर्वत्र नहीं है। वह निश्चित नियम के अनुसार है। अनाड़ी लिपिकरों और कुछ प्रकाशकों ने वेदमन्त्रों में भी मनमाने ढंग से द्वित्व वर्ण का प्रयोग किया है। उन्हें यही नहीं पता कि यह वेदविरुद्ध और सिद्धान्तविरुद्ध है। जब यह सिद्धान्त है कि वेदों में प्रत्येक वर्ण की स्थिति, आनूपूर्वी आदि नियत है तो उसमें विकल्प का प्रयोग कैसे हो सकता है? यदि आपने कर दिया तो यह सिद्धान्त ही धराशायी हो गया कि 'वेदों की वर्णानुपूर्वी आदि नियत है।' इसलिए वेदमन्त्रों में वर्तनी में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। इस प्रकार इस संस्करण में वेदमन्त्रों को मूलवेदपाठ के अनुसार रखा गया है और अन्य उद्धरणों में मूलपाठ और भाषा में उच्चारण नियम के आधार पर ही द्वित्व-प्रयोग को रखा है।

(१३) आवश्यक स्थलों पर भाष्य—इनके अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश में आये ऐतिहासिक स्थलों, व्यक्तियों, और ग्रन्थकार के गूढमन्तव्यों को समझाने हेतु पाठ के समर्थन के लिए, जटिल स्थलों की व्याख्या के लिए, शंकाओं के समाधान के लिए, वर्णित बिन्दुओं से सम्बन्धित जानकारी के लिए, सूत्रों, शब्दों और श्लोकों के अर्थों की स्पष्टता के लिए भी भाष्यात्मक टिप्पणियां तर्क-प्रमाण के साथ दी गई हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि उनसे पाठकों को सत्यार्थप्रकाश को समझने और नवीन ज्ञान-अर्जन करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

—०—

पंचम अध्याय

संभावित आपत्तियां और उनका समाधान

१. केवल महर्षि को ही सत्यार्थप्रकाश में संशोधन का अधिकार था, अन्यों के द्वारा संशोधन करना अनधिकार चेष्टा है।

प्रश्न—यह तो सर्वज्ञात ही है कि अधिकांश 'मुद्रणप्रति' को महर्षि ने स्वयं देखा था और अपने हाथ से संशोधित भी किया था। उसके बाद आधे द्वितीय संस्करण के प्रूफ भी देखे थे। इतना निरीक्षण करने के बाद कोई कृति लेखक की प्रामाणिक कृति मानी जाती है। उसके बाद उसमें छेड़छाड़, परिवर्तन-संशोधन करने का अधिकार किसी को नहीं है। किसी की रचना में बिना अधिकार के परिवर्तन-संशोधन करना न सिर्फ अनधिकार चेष्टा है, अपितु अनैतिकता भी है। महर्षि ने तो भूमिका में (पृ० ९ पर) जानने-जनाने पर केवल स्वयं संशोधन की बात कही है।

उत्तर—देखिए, शुद्धता और पवित्रता का नाम नैतिकता है और अशुद्धता और अपवित्रता का नाम अनैतिकता है। ग्रन्थ में यदि अशुद्धियां और पाठत्रुटियां बनी रहती हैं तो उसका नाम अशुद्धता और अनैतिकता है, उनको शुद्ध करने का नाम है नैतिकता। महाविद्वान् से महाविद्वान् व्यक्ति की रचना में यदि किसी कारण कोई निश्चित अशुद्धि रह जाती है तो वह यही कहेगा—'इसको दूर कर दो।' कोई यह नहीं कहेगा कि इसको बनी रहने दो, विचारहीन और दुराग्रही को छोड़कर। अशुद्धियों को दूर करने के लिए तो समझदार लोग अपनी पुस्तक के तीन-तीन प्रूफ देखते-दिखाते हैं ताकि अशुद्धियां न रहें; क्योंकि अशुद्धियां अपमानकारक होती हैं, पुस्तक में और लेखक पर कलंक होती हैं। ऋषि स्तर के लेखक के ग्रन्थ में तो छोटी-सी त्रुटि भी उसकी छवि को हानि पहुंचाने वाली बन जाती है।

निश्चित अशुद्धियों को दूर करने के लिए कभी अधिकार देने-लेने की आवश्यकता नहीं हुआ करती। वह अधिकार तो स्वत:सिद्ध है, अत: उसे अनधिकार चेष्टा भी नहीं कहा जा सकता। क्या आपकी पुस्तक में रह गई किसी अशुद्धि को कोई निकाले तो यह कहोगे कि 'मत निकालो, पहले मुझसे अधिकार लो।'

यदि हम आपत्तिकर्त्ता की अनैतिकता वाली आपत्ति को स्वीकार कर भी लें, तो जानते हैं उसका दुष्परिणाम क्या निकलेगा?

प्रश्न—क्या दुष्परिणाम निकलेगा?

उत्तर—यह दुष्परिणाम निकलेगा कि जिस मुद्रण-हस्तलेख को भ्रान्ति से हम अपरिवर्तनीय और प्रामाणिक मान बैठे हैं उसमें लिपिकरों और शोधकों द्वारा मूलप्रति की तुलना में १९०० के लगभग परिवर्तन किये गये हैं और उनके प्रमाद से ३५०० के लगभग अशुद्धियां हैं। उसको आधार मानकर जो द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) छपा है उसमें भी चार हजार से अधिक मुद्रण-त्रुटियां और अशुद्धियां रह गई हैं जिनमें से १४७ का तो शुद्धाशुद्धि पत्र ही आरम्भ में संलग्न है। द्वितीय संस्करण (१८८४) के प्रकाशित होने के बाद आज तक विभिन्न संस्करणों में दो-तीन हजार तक त्रुटियां संशोधित की जा चुकी हैं और सैकड़ों शेष हैं। क्या ऐसी प्रति और उस पर आधारित संस्करण को अपरिवर्तनीय और प्रामाणिक माना जा सकता है? और क्या ऐसी स्थिति में आप कहेंगे कि उन अशुद्धियों को मत सुधारो?

आपने जो आपत्ति हम पर की है, कोई भी यही आपत्ति अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों जैसे—स्वामी वेदानन्द जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० भगवद्दत्त जी, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, परोपकारिणी सभा, उदयपुर संस्करण, तथा सार्वदेशिक सभा एवं प्रान्तीय सभा आदि द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश पर कर सकता है कि इन संस्करणों के प्रकाशकों को इतने सारे संशोधन करने का अधिकार किसने दिया था? और क्या यह अनधिकार चेष्टा एवं अनैतिकता नहीं है? किन्तु मैं तो यही कहूंगा कि उन्होंने जो उचित संशोधन कर दिया है, वही नैतिकता है, अन्यथा

अधिक अनैतिकता होती। अशुद्धियां और त्रुटियां पुस्तक और लेखक पर कलंक होती हैं, शुद्धता और त्रुटिहीनता गौरव का विषय होता है। ध्यान दें, मेरा यह कथन सुनिश्चित-सिद्ध अशुद्धियों के लिए और इस कार्य के अधिकारी व्यक्तियों के लिए है, अनधिकारियों और मनमानापन करने वालों के लिए नहीं। मैं तो इस बात पर बल देना चाहूंगा कि अधिकार की बात छोड़िए, शुद्धतम संस्करण की बात कीजिए।

अधिकार का प्रश्न—जहां यह बात है कि महर्षि ने भूमिका में स्वयं ''**जानने-जनाने**'' पर संशोधन का कथन किया है तो इसके उत्तर में निवेदन है कि महर्षि तो अब हैं नहीं, और यह महर्षि द्वारा स्वीकृत तथा लिखित तथ्य है कि ग्रन्थ में त्रुटियों की भरमार है, उनको शुद्ध किया जाना भी परमावश्यक है, तो अब इस कार्य को उनके अनुयायी, भक्त, हितैषी और सुयोग्यजन ही करेंगे। अपितु करेंगे क्या, प्रत्येक संस्करण के सम्पादकों ने हजारों अशुद्धियों का संशोधन कर भी लिया है। त्रुटियों का बने रहना ग्रन्थ पर कलंक है, उसको दूर करना ऋषिभक्तों का कर्त्तव्य है। दूसरी बात यह है कि आप उक्त ऋषि-वाक्य के साथ सत्यार्थप्रकाश के अन्त में लिखे इस ऋषि-वाक्य को अब याद रख लें—

''यदि कहीं भ्रम से, अन्यथा लिखा गया हो तो उसको शुद्ध कर लेवें।

(शोधसं० पृ० १०४२; द्वितीय सं० पृ० ४०३; मूलसं० ७२५)

इसलिए आज के बाद ''**जानने-जनाने**'' के कथन को उद्धृत न करें। ऋषि ने अपने योग्य भक्तों को संशोधन का अधिकार दिया हुआ है, क्योंकि ऋषि इस बात से दु:खी थे कि लिपिकरों-शोधकों ने अनेक अशुद्धियां छोड़ी हुई हैं।

मुंशी समर्थदान को दिये गये निर्देश जहां सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान अशुद्धियों की सच्चाई को उजागर करते हैं, वहीं तब तक ये लागू हैं जब तक अशुद्धियां विद्यमान हैं—

''जो कहीं पद छूट जाता है, यह भाषा बनाने वाले और शुद्ध लिखने वाले की भूल है।''

''जो कहीं भाषा असम्बद्ध हो और अभिप्राय व अक्षर, मात्रा आदि से अशुद्ध हो, उसको तुम शोध लिया करो।'' ('मीमांसा भाग', पृ० २६)

आश्चर्य है, क्या कोई बुद्धिमान् अशुद्धियों-त्रुटियों की संरक्षा के लिए भी बहस और हठ किया करता है? लोग तो अशुद्धियों को दूर करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया करते हैं, आर्यजनों में अशुद्धियों को बचाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया जा रहा है!!

२. अशुद्धि का निर्णय कैसे होगा?

प्रश्न—यह कैसे ज्ञात किया जायेगा कि यह अशुद्धि निश्चित या सिद्ध है और अमुक व्यक्ति उसको शुद्ध करने का अधिकारी है, अमुक नहीं?

उत्तर—महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में अपनी भाषा हिन्दी के व्याकरणानुसार और आसत्ति आदि वाक्य के नियमों के अनुसार होने की प्रतिज्ञा की है। अत: जो वर्तनी और वाक्यरचना तत्कालीन हिन्दी व्याकरणानुसार और वाक्यनियमों के अनुसार है उसको, तथा पांडुलिपि के आधार पर जो शुद्ध पाठ है उसके तथा सिद्धान्त एवं ऋषि-अभिप्राय के अनुसार शुद्धाशुद्धि का निर्णय किया जा सकता है, और इस कार्य के अधिकारी हिन्दी-व्याकरण के ज्ञाता, पांडुलिपि, सिद्धान्त तथा महर्षि की शैली को समझने में सक्षम विद्वान् अधिकारी हैं। उनमें महर्षिकालीन भाषाज्ञान की प्रवीणता तथा महर्षि की गम्भीर शैली को जानने-पहचानने की योग्यता और विवेक अवश्य होना चाहिए। मानकस्तरीय ग्रन्थ के लिए इस प्रकार के आवश्यक मानदण्ड शुद्धाशुद्धि का निर्णय करेंगे।

३. अशुद्धियां न होकर प्रयोग की विभिन्नताएं हैं विभिन्न वर्तनियां—

प्रश्न—हमारा विचार है कि जिनको आप सत्यार्थप्रकाश की त्रुटियां कह रहे हैं वे त्रुटियां नहीं है, जैसे शब्दों के तत्सम, तदभव, देशज रूप होते हैं वैसे महर्षि के प्रयोग के वे विविध रूप हैं; या यों कहिए कि विविध क्षेत्रीय रूप हैं। जैसे सन्त कबीर भ्रमणशील थे उनकी भाषा पर अनेक क्षेत्रों का प्रभाव है उसी प्रकार ऋषि दयानन्द की भाषा पर भी है, अत: उन्हें त्रुटि न मानकर भाषा के विविध रूप मानें।

उत्तर—आप यहां बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। अनेक तर्कों के आधार पर आपकी मान्यता और सन्त कबीर से ऋषि की तुलना अनुचित है। पहला तर्क यह है कि भाषा के तद्भव रूपों की प्रकृति में तथा त्रुटियों की प्रकृति में दिन-रात का अन्तर होता है। विविधरूप उस भाषा में कहीं-न-कहीं उसी रूप में व्याकरण या व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं और उनकी भी वर्तनी निर्धारित हुआ करती है, जबकि अशुद्धियां अप्रयुक्त होती हैं। तद्भव शब्द तत्सम के विकृत रूप और प्रयोज्य होते हैं जबकि त्रुटियां व्याकरण के पैमाने पर अशुद्ध होने से अप्रयोज्य होती हैं, जैसे—भित्ति (=दीवार) संस्कृत तत्सम शब्द का तद्भव रूप 'भीत' (ग्राम्य में 'भींत') मिलता है। सत्यार्थप्रकाश में इस संस्कृत शब्द की अव्यवस्थित रूप से कई वर्तनियां मिलती हैं—भित्ति, भीति, भीती, भिती आदि। बाद की तीनों वर्तनियां त्रुटियां हैं, विविध प्रयुक्त रूप नहीं; क्योंकि ये किसी भाषा-विभाषा में स्वीकृत वर्तनियां नहीं है। ये त्रुटियां लिपिकरों की भाषा-विषयक अयोग्यता के कारण हुई हैं। ऐसे ही किसी नाम या संज्ञा का कोई तद्भव रूप मान्य नहीं होता। उसकी एक ही वर्तनी निर्धारित होती है, किन्तु सत्यार्थप्रकाश में लिपिकरों की अयोग्यता के कारण यह भाषात्मक अव्यवस्था है कि एक नाम या शब्द की चार से आठ तक वर्तनियां प्रयुक्त हैं, जैसे—बाइबल, बायबिल, बाइबिल, बाईबिल; साधु, साधू; रज्जु, रज्जू आदि। इनको आप विविध तद्भव रूप कहेंगे अथवा वर्तनी की अव्यवस्था? ऐसे दर्जनों उदाहरण 'मीमांसा भाग' के गत पृ० ११७ पर देख सकते हैं।

दूसरा तर्क यह है कि जिस भाषा की रचना हो उसमें उसी भाषा के शब्द शोभावर्धक, उसकी प्रकृति के अनुकूल और स्तरीय माने जाते हैं। भिन्न-भिन्न ग्राम्य बोलियों के प्रयोग से साहित्यिक कृति की भाषिक सुन्दरता नष्ट होती है। यही कारण है कि कबीर के काव्य की भाषा विविधरूपी, अव्यवस्थित तथा अनियमित होने के कारण, आलोचकों ने उस भाषा के हास्यास्पद नाम **'खिचड़ी भाषा'**, **'मिश्रित भाषा'**, **'सधुक्कड़ी भाषा'** आदि नाम दिये हैं। क्या आप भी भाषाप्रवीण ऋषि की परिनिष्ठित भाषा को ऐसा स्वरूप देकर हास्यास्पद नाम दिलाना पसन्द करेंगे? शायद नहीं।

तीसरा तर्क यह है कि कबीर अशिक्षित व्यक्ति थे और दयानन्द एक ऋषि थे और वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे। उनकी शैली की तुलना कबीर से करना ऋषि का अपमान है। अशिक्षित होने के कारण कबीर की रचनाओं को उनके तत्तत् स्थानीय शिष्य अपनी-अपनी बोली या वर्तनी में लिखा करते थे। ऋषि की एक सुस्तरीय हिन्दी भाषा थी, उसमें कुछ शब्दों को छोड़कर उनकी भाषा का एक परिनिष्ठित रूप है। अतः ऋषि की भाषा को कबीर के समान विविधरूपीय कहकर अव्यवस्थित नहीं माना जा सकता।

यदि आपकी मान्यतानुसार ग्रन्थगत अशुद्ध वर्तनियों को तद्भव रूप मान लिया जाये तो उसका परिणाम यह सामने आयेगा कि दुनिया की किसी भाषा में कोई भी अशुद्ध शब्द नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक अशुद्धि को तद्भव घोषित कर लेंगे। इसलिए अशुद्धि और तद्भव में अन्तर समझना और करना बहुत आवश्यक है।

तद्भव का तथाकथित विचार प्रस्तुत करने के उपरान्त भी सत्यार्थप्रकाश का त्रुटियों से पीछा नहीं छुटता है। महर्षि संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। वे संस्कृत भाषा के शब्दों में कोई त्रुटि नहीं कर सकते थे। फिर भी ग्रन्थ में संस्कृत शब्दों की त्रुटियां मिलती हैं। संस्कृत में तो तद्भव भी नहीं होते। देखिए संस्कृत की त्रुटियों के कुछ उदाहरण—उच्चार्ण (उच्चारण), क्षणभंग (क्षणभंगुर), ग्रसित (ग्रस्त), सदृश्य (सदृश), पृणाति (प्रीणाति), त्वाचा (त्वचा), सारदा मठ (शारदा मठ), असावधानीता (असावधानता), ज्ञानावर्णी (ज्ञानावरणी), आवर्ण (आवरण), निवेद्य (नैवेद्य), पैशून्य (पैशुन्य), ज्योत्सी (ज्योतिषी), रज्जू (रज्जु), साधू (साधु), पतंजली (पतंजलि), वालमीकि (वाल्मीकि), आपस्तम्भ (आपस्तम्ब), क्रमसः (क्रमशः), वादरायण (बादरायण), जर्फरी (जर्भरी) पुरान (पुराण), मद्री (माद्री), नर्क (नरक), जैमनि (जैमिनि), सरस्वति (सरस्वती), सुसुप्ति (सुषुप्ति), स्वाम्भव (स्वायम्भुव), निर्भिमानता (निरभिमानता), दयालू (दयालु), वाममार्गि (वाममार्गी) आदि।

इस प्रकार हमें मानना ही होगा कि लिपिकरों की अयोग्यता तथा शोधकों की प्रमादलीला से सत्यार्थप्रकाश में त्रुटियां विद्यमान रह गई हैं और इस सत्य को महर्षि ने स्वयं भी स्वीकार किया हुआ है। महर्षि भाषा के प्रोक्ता थे, उन्होंने बोला तो ठीक था, किन्तु प्रत्येक लिपिकर ने उसको लिखा अपने भाषा-अज्ञान-ज्ञान के अनुसार है। अशुद्धियां किसी

भी विद्वान् की रचना के लिए कलंक-सदृश होती हैं, अतः अशुद्धियों का शोधन तो परमावश्यक है।

४. सत्यार्थप्रकाश में प्राप्त अशुद्धियों का उत्तरदायी कौन?

प्रश्न—आप बार-बार यह कह रहे हैं कि सत्यार्थप्रकाश में प्राप्त त्रुटियों के जिम्मेदार वेतनभोगी लिपिकर=लेखक और आदि-शोधक हैं। गत विवरण से यह तथ्य स्पष्ट भी हो रहा है। क्या कोई ऐसा प्रमाण भी है जो यह सिद्ध करता हो कि महर्षि ने भाषा-लेखन सम्बन्धी सभी त्रुटियों का उत्तरदायी लिपिकरों-शोधकों को ठहराया हो? यदि कोई ऐसा प्रमाण आप प्रस्तुत कर दें तो आपका कथन निर्विवाद और प्रामाणिक मान लेंगे।

उत्तर—हाँ, मेरी मान्यता को सिद्ध करने के लिए ऋषि के बहुत ही स्पष्ट और प्रबल प्रमाण उपलब्ध हैं। उनका उल्लेख इस मीमांसा-भाग के प्रथम अध्याय में भी कर चुका हूं। पाठक प्रथम बार सन् १८८४ में छपे द्वितीय संस्करण को उठाकर उसके मुखपृष्ठ और टाइटल पृष्ठों पर पढ़ें, उस पर ऋषि दयानन्द ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखवाया और छपवाया है—

''पंडित ज्वालादत्तभीमसेनशर्म्मभ्यां संशोधितः'' (द्रष्टव्य आरम्भिक पृष्ठ ४ पर)

अर्थात् 'यह सत्यार्थप्रकाश पंडित ज्वालादत्त और भीमसेन शर्मा द्वारा संशोधित है, अर्थात् इसकी भाषा की अशुद्धता-अपसम्पादन की सारी जिम्मेदारी इन दोनों लेखकों की है।' यह स्पष्टतम प्रमाण है।

मैं यह बता चुका हूं कि महर्षि के पास अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत-हिन्दी के कई लेखक थे। वे भाषा लिखते थे और संशोधन करते थे। इसी के लिए उनको वेतन मिलता था। भाषा संशोधन का कार्य उन्हीं का था। अब यदि उन्होंने भाषा का संशोधन नहीं किया, या अशुद्धियां छोड़ दीं, या स्तरीय सम्पादन नहीं किया तो इसका पूर्ण उत्तरदायित्व उन लेखकों का है, महर्षि दयानन्द का नहीं। मुंशी समर्थदान जी ने और महर्षि ने अपने पत्रों में अनेक बार लिपिकरों और शोधकों को त्रुटियां करने और प्रमादवश छोड़ने का उत्तरदायी घोषित किया है ('मीमांसा-भाग' में प्रथम अध्याय में प्रमाण देखें)।

५. ऋषि की धरोहर से छेड़छाड़ है संशोधन—

प्रश्न—यदि किसी के ग्रन्थ में अशुद्धियां-त्रुटियां हैं तो रहें। आप क्यों उनको बदलना चाहते हैं? अच्छा तो यही है कि जो कुछ जैसा है, वैसा ही रहे, उससे बिल्कुल छेड़छाड़ न की जाये। यह ग्रन्थ और इसकी भाषा ऋषि की एक धरोहर है। धरोहर के साथ कभी छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए।

उत्तर—जैसा कि मैं आपको बता चुका हूं कि आज कोई भी सत्यार्थप्रकाश ऐसा नहीं है जो यथावत् द्वितीय संस्करण (१८८४) की अनुकृति हो। सभी में हजारों परिवर्तन-संशोधन किये गये हैं। अतः आपका परामर्श तो लागू होना सम्भव नहीं है। हां, यथावत् सत्यार्थप्रकाश तो प्रथम बार १८८४ में छपा द्वितीय संस्करण है। वह पढ़ने योग्य नहीं, क्योंकि अत्यधिक मुद्रण दोषों और अन्य त्रुटियों के कारण वह एक भ्रष्ट संस्करण बन गया है। जिसमें चार हजार से अधिक त्रुटियां हैं। ध्यान दें, यह संस्करण उन्हीं पौराणिक पंडितों की देखरेख में छपा था, जो वेतन पर रखे हुए थे। आप इस एक बात से अनुमान लगा लीजिए कि वे पंडित कितने मक्कार और धूर्त थे।

जो लोग यह तर्क करते हैं कि 'अशुद्धियों को यथावत् रहने दीजिए', वे विचारहीन और अदूरदर्शी हैं। वे ऋषि दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश के सच्चे हितैषी भी नहीं हैं। क्षमा करें, उनको यही समझ नहीं है कि वे क्या कह रहे हैं और क्या करना चाहते हैं!!

मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि संरक्षण करके अशुद्धियों का क्या करोगे? क्या म्यूजियम में रखोगे? अथवा प्रदर्शनी लगाओगे? अथवा शिलालेख खुदवाओगे? क्या इसलिए ऐसा करोगे कि आने वाली पीढ़ियां इस रहस्य से वंचित न हो जायें कि सत्यार्थप्रकाश में अमुक-अमुक अशुद्धियां थीं, और हम उनको चिरंजीवी बनाकर दुनिया को दिखाना चाहते हैं—''देखो! ऋषि के ग्रन्थ की अशुद्धियां'' आर्यजनो! क्या अशुद्धि और बुराई भी संरक्षण की चीजें होती हैं? उनका तो जितना शीघ्र हो सके उतना शीघ्र शुद्धीकरण करके वस्तु को निर्मल बनाना चाहिए। सोचें तो सही कि आप ऋषि का मान बढ़ाना चाहते हैं कि अपमान को चिरस्थायी करना चाहते हैं?

यह सोच भी गलत और निराधार है कि त्रुटियां-अशुद्धियां ऋषि की धरोहर हैं। पहली बात तो यही है कि वे ऋषि की धरोहर नहीं हैं। वे तो लिपिकरों, शोधकों और आदि-सम्पादकों की विकृत धरोहर हैं। ऋषि के नाम पर उनकी त्रुटियों की धरोहर का संरक्षण करना हमारा लक्ष्य ही नहीं है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्ञान के क्षेत्र में अज्ञान या त्रुटियां-अशुद्धियां कभी धरोहर नहीं मानी जाती हैं, वे तो उस लेखक के लिए कलंक कहलाया करती हैं। ज्ञानयुक्त और त्रुटिहीन लेखन ही वास्तविक धरोहर होता है। **यही मानकर ईसाइयों, मुसलमानों, बौद्धों आदि ने भी समय-समय पर अपने धर्मग्रन्थों की त्रुटियों को दूर किया है। फिर आर्यजन धरोहर की भ्रान्ति में उनसे क्यों चिपके रहें? क्या ऋषि को अशुद्धियाँ प्रिय थीं जो उनको आप धरोहर कह रहे हैं? अशुद्धियां किसी ऋषि-ग्रन्थ की धरोहर कैसे हो सकती हैं?**

६. मूलपाठ में नहीं, अपितु टिप्पणी में संशोधन होना चाहिए—

प्रश्न—अशुद्धियों को मूलपाठ से हटाकर उनके स्थान पर शुद्ध पाठ रखने से अच्छा तो यह उपाय रहेगा कि मूलपाठ को अशुद्ध रूप में ही यथावत् रहने दिया जाये और अशुद्धियों का ज्ञान टिप्पणी में करा दिया जाये। इससे ग्रन्थकार का मूलपाठ भी यथावत् रह जायेगा और अशुद्धि का ज्ञान भी हो जायेगा।

उत्तर—यह प्रश्न भी पहले वाले जैसा है—'**जैसा नागनाथ वैसा सांपनाथ**', अपितु यह असंशोधित स्थिति से भी बुरा होगा, क्योंकि—

(क) अब तो किसी को अशुद्धि का ज्ञान है, किसी को नहीं। परम्परा से अब तक बहुत लोग पढ़ते आ रहे हैं किन्तु अधिकांश ने अशुद्धियों की चर्चा नहीं की। फिर सबके सामने अशुद्धि साक्षात् रहेगी और उसका दोषारोपण ग्रन्थकार पर रहेगा जबकि वे ग्रन्थकार की हैं भी नहीं। यह ऋषि जैसे महान् पंडित पर दोष और आरोप को स्थायी करने का एक अपविचार मात्र है। यह किसी महापुरुष की भक्ति नहीं, दुर्गति है।

(ख) यह तो वैसी बात हो गई कि जैसे किसी डॉक्टर ने किसी का निदान तो करके बता दिया कि 'इसको टी०बी०, कैंसर, या अन्य दु:साध्य रोग है' किन्तु उसका उपचार किया नहीं, तो वह स्थिति और भयानक हो जाती है। अशुद्धियां सिद्ध होने पर उनको ग्रन्थ से न हटाना ग्रन्थ के रोग को बढ़ाना है और उसको आरोपमय बनाना है। वह औषधरूपी ज्ञान किस काम का जो रोग-निवारण के उपयोग में न आये? वह ओषधि भी व्यर्थ है जो रोग निवारणार्थ काम न ली जाये। त्रुटियों को शुद्ध न करने का परिणाम होगा कि पाठकों में त्रुटियों का विस्तार-प्रसार करना।

(ग) मेरा तीसरा तर्क यह है कि आप अशुद्धि के चयन या परिज्ञान का कार्य क्यों तथा किसलिए कर रहे हैं, यदि आपने एक सुनिश्चित पाठ पाठकों के लिए निर्धारित ही नहीं किया तो? जब सम्पादक होकर आप स्वयं संशयरहित पाठ निर्धारित नहीं कर सके तो साधारण पाठक कैसे करेंगे? अशुद्धि घोषित होने पर सब पाठक अपनी-अपनी बुद्धि से पाठनिर्धारण करने लगेंगे तो ग्रन्थ में घोर अराजकता उत्पन्न हो जायेगी जैसी कि आज बनी हुई भी है। अत: यदि कोई सम्पादक बन रहा है तो उसका कर्त्तव्य भी बनता है कि एक शुद्ध-सुनिश्चित पाठ पाठकों के समक्ष रखे। नहीं तो सम्पादन कर्म व्यर्थ है।

(घ) यदि आपने टिप्पणी में अशुद्धि दर्शा दी और मूलपाठ में उसका संशोधन नहीं किया, तो आपका वह सारा श्रम व्यर्थ जायेगा। आपके सम्पादित ग्रन्थ से जब कोई उद्धरण ग्रहण करेगा, जब कहीं दीवार पर लिखेगा, जब कहीं पत्थर, ताम्रपत्र आदि पर उत्कीर्ण करेगा, तो वह अशुद्ध पाठ ही ग्रहण होगा। आपकी टिप्पणी तो आपके ग्रन्थ में बंद पड़ी रह जायेगी। उसको कोई साथ-साथ तो उद्धृत करेगा नहीं। तब अशुद्ध ही उद्धृत होगा तो आपका परिश्रम किसी काम का नहीं।

प्रश्न फिर वही उत्पन्न होगा कि जो अशुद्धियां उस ग्रन्थकारकृत हैं ही नहीं, क्यों तो हम उनको ग्रन्थकार के मत्थे मिथ्या रूप में मढें और क्यों उनका संरक्षण करके उसको अपमानित करें। इस प्रकार यह विचार बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है।

७. महर्षि के समय की जो भाषाशैली है उसमें परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये—

प्रश्न—आप महर्षि की भाषा के परिष्कार और संशोधन की बात कर रहे हैं। महर्षि के काल में हिन्दी का कोई स्वरूप निर्धारित नहीं था, वह अपनी अविकसित अवस्था में थी। जैसे शेक्सपीयर की इंग्लिश आज के मानदण्डों पर खरी नहीं उतर सकती, वैसे ही ऋषि की भाषा है। ऋषि की भाषा में परिवर्तन नहीं करना चाहिये।

उत्तर—महर्षि दयानन्द की भाषा स्वाभाविक रूप से परिमार्जित, विकसित और संस्कृतनिष्ठ है। इसका अच्छा उदाहरण हम **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** को ले सकते हैं। यह रहस्यात्मक स्थिति विचारणीय है कि ऋषि के पूर्ववर्ती ग्रन्थों की भाषा अधिकांशतः शुद्ध है और उन सबके बाद लिखे सत्यार्थप्रकाश की भाषा अत्यधिक अशुद्ध क्यों है? जबकि उत्तरोत्तर ग्रन्थ की भाषा शुद्ध, परिमार्जित और प्रौढ़ होनी चाहिये। हमें मानना ही पड़ेगा कि सत्यार्थप्रकाश में वह भाषा अयोग्य, कामचोर और निष्ठाहीन लिपिकरों-शोधकों के कारण गड़बड़ा गई है। हम ऋषि की तत्कालीन भाषा शैली पर कोई प्रश्न नहीं उठा रहे, भाषा पर भी कोई प्रश्न नहीं उठा रहे, केवल स्पष्ट और सिद्ध त्रुटित पाठों और व्याकरणिक त्रुटियों पर चर्चा कर रहे हैं। त्रुटियां कभी किसी ग्रन्थ की शैली या शोभा नहीं हुआ करती हैं और न कभी स्वीकार्य हुआ करती हैं।

मेरा अन्य कथन यह है कि उस समय में भी भाषा के भी कुछ नियम थे, व्यवस्था थी, व्याकरण था। ऋषि की भाषा उस पर तो खरी उतरनी ही चाहिए। **महर्षि ने भूमिका में स्वयं अपनी भाषा के व्याकरणानुसार होने की प्रतिज्ञा की है, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य वाक्यरचना के इन चार आधारभूत वाक्य-तत्त्वों का उल्लेख किया है, तो यह अपेक्षित है कि महर्षि की भाषा उनकी प्रतिज्ञा के मानदण्डों के अनुरूप हो।**

सत्यार्थप्रकाश के लेखन के समय महर्षि को भाषा का पर्याप्त ज्ञान था। किसी कारणवश जो शब्दप्रयोग या वाक्य त्रुटिपूर्ण मिलते हैं, वे अन्यत्र शुद्ध मिलते हैं, किसी कारणवश कोई वर्तनी एक स्थान पर शुद्ध मिलती है तो दूसरे स्थान पर अशुद्ध मिलती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महर्षि को तो भाषा का आवश्यक ज्ञान था किन्तु वेतनभोगी लिपिकरों ने कहीं कुछ लिखा, कहीं कुछ लिख दिया। वेतनभोगी शोधकों का कर्त्तव्य था उस विसंगति का सुधार करना, उन्होंने उसको सुधारा नहीं। इस प्रकार ग्रन्थ में जो एक अव्यवस्था आ गई है, हम उसको दूर करने की बात करते हैं।

गत अध्यायों में प्रस्तुत उदाहरणों से कुछ रोचक निष्कर्ष सामने आये हैं जो महर्षि की भाषात्मक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। जैसे—महर्षि की शैली रही है कि संस्कृत के पुंल्लिग, नपुंसक लिंग शब्दों का वे पुंल्लिग में प्रयोग करते हैं जैसे—आयु, पुस्तक, मृत्यु, आत्मा, विधि आदि, किन्तु मुद्रणप्रति में उनको अनेक स्थलों पर हिन्दी के अनुसार स्त्रीलिंग में बदल दिया है, जो सूचित करता है कि यह शैली-परिवर्तन लिपिकरों ने किया है। इसी प्रकार मुद्रणप्रति में जहां वाक्य परिवर्तन हुए हैं उनमें से अधिकांश की भाषा व्याकरणिक दृष्टि से ग्राम्य और अशुद्ध बन गई है। स्पष्ट है कि वे अशुद्धियां मुद्रणलिपिकर की अथवा शोधककृत हैं। ऐसी स्थिति में हम उन परिवर्तनों और अशुद्धियों को ऋषिकृत मानकर अपरिवर्तनीय नहीं रख सकते। ऋषि की मौलिक शैली की रक्षा की दृष्टि से तो उनका संशोधन करना आवश्यक हो जाता है, संरक्षित रखना नहीं। विशेषतः जब वह भाषा 'मूलप्रति' में शुद्ध मिलती है तो वहां तो बिना विलम्ब किये ही द्वितीय संस्करण की भाषा को शुद्ध कर लेना चाहिये, क्योंकि वह भाषा-परिवर्तन ऋषि द्वारा कराया गया नहीं है अपितु लिपिकर द्वारा किया गया है।

८. क्या आपको ही संशोधन की अधिक चिन्ता हो रही है? आज तक दूसरों को क्यों नहीं हुई?

प्रश्न—एक सौ अट्ठाईस वर्षों की अवधि में आर्यसमाज में कितने सारे लेखक, विद्वान् और समीक्षक हुए हैं, उनको अशुद्धियां प्रतीत नहीं हुईं, आप उनसे अधिक निराले सम्पादक हो गये हो जो आपको सत्यार्थप्रकाश में त्रुटियों की भरमार लग रही है? यदि अशुद्धियां वास्तव में होतीं तो स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, पं० लेखराम, पं० गुरुदत्त सदृश प्रतिभाशाली आर्य लेखकों को भी वे प्रतीत होतीं किन्तु उन्होंने तथा ऐसे ही अन्य अनेक विद्वानों ने कभी त्रुटियां होने की चर्चा नहीं की। हम उन पर विश्वास करें या आप पर?

उत्तर—देखिए, प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं हुआ करती। त्रुटियां व्याकरण, प्रमाणों तथा प्रत्येक

संशोधित संस्करण से सिद्ध हैं। कोई कहे-ना कहे, लिखे-ना लिखे, यह उसका व्यक्तिगत चिन्तन और निर्णय है। द्वितीय अध्याय में इसका विस्तृत विवरण दिया जा चुका है। त्रुटियों का अस्तित्व तो स्वयं ग्रन्थकार में भी स्वीकार किया है।

ज्ञात होता है कि आपको सत्यार्थप्रकाश के इतिहास का ज्ञान नहीं है। स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती, पं० लेखराम जी और पं० गुरुदत्त जी उर्दू, अंग्रेजी के विद्वान् थे, हो सकता है हिन्दी-संस्कृत की बहुत-सी अशुद्धियों को हटाने का साहस न हुआ हो। प्रमाण तो यह कहते हैं कि उन्होंने भी इस दिशा में सक्रिय प्रयास किया था। सत्यार्थप्रकाश में अशुद्धि बाहुल्य को देखकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने तो यहां तक लिखा कि अन्य लोगों का सत्यार्थप्रकाश के तैयार करने में हस्तक्षेप होने के कारण उसके एक-एक शब्द की जिम्मेवारी आर्यजन नहीं ले सकते (द्रष्टव्य मीमांसा भाग में पृ० २९-३०)। इससे स्पष्ट मन्तव्य और क्या होगा? पं० लेखराम ने तो परोपकारिणी सभा के समक्ष सर्वप्रथम खुलकर त्रुटियों को दूर करने के लिए आवाज उठाई थी (द्रष्टव्य पृ० २९)।

परोपकारिणी सभा, अजमेर को पहले पचास वर्षों तक सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन का वैधानिक अधिकार था। उस अवधि में कोई अन्य नहीं छाप सकता था। यदि किसी को त्रुटियां प्रतीत भी हुई होंगी तो वैध-अधिकार न होने के कारण इस दिशा में वह कुछ न कर पाया होगा। स्वयं परोपकारिणी सभा ने संशोधन-प्रक्रिया जारी रखी है। परोपकारिणी सभा की 'कापी राइट' अधिकार-सीमा पूर्ण होते ही दर्जनों स्वतन्त्र सम्पादकों ने हजारों संशोधन किये हैं।

यह सत्य है कि सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान अशुद्धियों का सच उसी दिन से उजागर हो गया था जिस दिन सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण (१८८४) अस्तित्व में आया था। उसमें चार सहस्र से अधिक अशुद्धियां रह गईं, जो ध्यान में आईं ऐसी १४७ अशुद्धियों का शुद्धाशुद्धि पत्र उसमें लगाना पड़ा। परोपकारिणी सभा, अजमेर से प्रकाशित तृतीय-चतुर्थ संस्करण का संशोधन पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन शर्मा ने किया और शुद्धि के नाम पर कुछ अशुद्धियां भी उन्होंने कर डालीं। पांचवें संस्करण का संशोधन पं० लेखराम जी ने किया था। इसमें अनेक सही संशोधन एवं परिवर्तन किये गये। पाठकों द्वारा अशुद्धियों की ओर बार-बार ध्यान दिलाने के उपरान्त, सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान अशुद्धियों के संशोधन की महती आवश्यकता को अनुभव करते हुए २७ अक्तूबर १९९६ को परोपकारिणी सभा ने एक प्रस्ताव पास करके स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी सरस्वती और पं० भगवद्दत्त जी की एक उपसमिति संशोधनार्थ बनाई। यह संशोधन कार्य मुख्यत: पं० भगवद्दत्त जी ने किया और अन्यों ने संपुष्ट किया। सोलहवें सं० का पं० भगवद्दत्त ने और जन्मशताब्दी-संस्करण का संशोधन पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने किया था। २६वें का पं० महेशप्रसाद जी मौलवी ने, तो ३२वें सं० का पं० भद्रसेन ने संशोधन किया। ३४वें के संशोधक श्री धर्मचन्द कोठारी थे। ३५वें संस्करण के संशोधन लिए पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, पं० भगवद्दत जी रिसर्च स्कॉलर तथा डॉ० भवानीलाल जी भारतीय की तीन सदस्यीय समिति बनी थी। ३७वें संस्करण के महासंशोधन के रूप में भिन्न संस्करण '**मूलप्रति संस्करण**' ही आ गया। इसके सम्पादक श्री विरजानन्द दैवकरणि हैं। इसका अब ३९वां संस्करण प्रचलित है। क्या आप इस प्रक्रिया को संशोधन के लिए अपनाई गई चिन्ता नहीं कहेंगे?

आपने देखा कि संशोधन की यह लम्बी परम्परा परोपकारिणी के संस्करण की रही है। यह इसलिए रही क्योंकि उक्त सबके मतानुसार सत्यार्थप्रकाश में त्रुटियां थीं। विडम्बना यह है कि सभी संस्करणों में संशोधन हुए और पाठान्तर होते गये। इतने वर्षों में समग्र संशोधन कभी नहीं हुआ। यदि होता तो यह विवाद कभी का समाप्त हो जाता।

फिर भी आर्यविद्वानों को संशोधन की इतनी महती आवश्यकता प्रतीत होती रही कि परोपकारिणी सभा के 'कापी राइट' अधिकार की पचास वर्ष की कानूनी अवधि पूरी होते ही तुरन्त स्वतन्त्र सम्पादन और निजी स्तरीय संशोधन का दौर शुरू हो गया। सन् १९५६ में स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती ने, फिर सन् १९६२ में पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर ने, सन् १९७५ में पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अपना संशोधित संस्करण निकाला जिसमें हजारों संशोधन, कहीं मूल में ही किये गये हैं, तो कहीं केवल टिप्पणी में ही दर्शाये गये हैं। 'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली' ने शुद्ध सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित करने की भावना से अपना संशोधित संस्करण प्रकाशित किया, जिसमें तीन हजार के लगभग संशोधन किये गये हैं। सार्वदेशिक सभा, प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं तथा अन्य प्रकाशकों ने प्राय: ट्रस्ट और परोपकारिणी सभा

के संशोधित संस्करणों को ही प्रकाशित किया है। जुलाई २०१० में 'उदयपुर संस्करण' प्रकाशित हुआ है। उसमें दो हजार से अधिक संशोधन-परिवर्तन हैं, जिनमें ८२५ टिप्पणी में घोषित रूप में हैं और शेष अघोषित रूप में हैं। इसमें सर्वाधिक आपत्तिजनक बात यह है कि इन्होंने अपनी संशोधित भाषा की घुसपैठ महर्षि की मूलभाषा में कर दी हैं। यह संस्करण 'सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर' से प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, पं० उदयवीर शास्त्री का भी इस दिशा में प्रयास रहा। न जाने क्यों, सबका कार्य सीमित और आधा-अधूरा ही रहा, समग्र संशोधन का अभाव बना ही हुआ है। यही कारण है कि बार-बार लेखकों की लेखनी इस दिशा में उठती है, और उठ रही है। यह तब तक उठेगी जब तक सम्पूर्ण, शुद्धतम एक संस्करण नहीं होगा। और वह तब होगा जब सच्चे हृदय से विद्वज्जन ऋषि हित में स्वयं को संलग्न कर देंगे। संलग्न तब होंगे जब व्यक्तिगत पूर्वाग्रह और अहं नष्ट हो जायेगा। व्यक्तिगत पूर्वाग्रह और अहं तब नष्ट होगा जब **'ऋषिप्रणिधानात्'** की साधना सिद्ध हो जायेगी।

९. द्वितीय संस्करण 'टाइम टेस्टेड' संस्करण है, उसमें संशोधन अपेक्षित नहीं है—

प्रश्न—द्वितीय संस्करण **'टाइम टेस्टेड'** संस्करण है अत: उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन की आवश्यकता नहीं है, अपितु विद्वानों को आवश्यकता ऋषि के भाषागत रहस्य को गम्भीरता से समझने की है।

उत्तर—यदि आपकी कल्पना के अनुसार यह वस्तुत: **'टाइम टेस्टेड'** संस्करण होता तो क्रमश: इसमें उत्तरोत्तर संशोधन क्यों होते? प्रत्येक द्वितीय संस्करण में परस्पर सैकड़ों पाठान्तर क्यों पाये जाते हैं? आप इस सत्य को क्यों भूल रहे हैं कि सत्यार्थप्रकाश में आज तक जितने परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन हुए हैं वे स्वयं आर्य-सम्पादकों और आर्य प्रकाशकों ने ही किये हैं। हजारों परिवर्तन-संशोधन निरन्तर होते रहने पर भी यह **'टाइम टेस्टेड'** कैसे रह गया? हजारों परिवर्तन करके स्वयं उदयपुर संस्करण ने इसके 'टाइम टेस्टेड' स्वरूप को अस्वीकार कर दिया है, फिर भी उसको 'टाइम टेस्टेड' कहना छलावा-मात्र है। आर्यविद्वान् सम्पादकों ने जो अपने-अपने संस्करणों में संशोधन किये हैं किसी ने भी उनका निषेध नहीं किया है और न उनको अनुचित ठहराया है। विधार्मियों-विरोधियों द्वारा जो अनेक पुस्तकें लिखकर सत्यार्थप्रकाश पर आक्षेप किये गये हैं, और अब भी कर रहे हैं, आपने किसी का भी उत्तर आज तक नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में इसको **'टाइम टेस्टेड'** संस्करण आपने किस आधार पर मान लिया? क्या घर में निष्क्रिय बैठकर कल्पना कर लेने से वह कल्पना यथार्थ मान ली जायेगी? अच्छा तो यह होगा कि आप उसको सचमुच में 'टाइम टेस्टेड' बनायें। 'टाइम टेस्टेड' तब बनेगा जब उसमें से समस्त अशुद्धियां दूर हो जायेंगी। 'टाइम टेस्टेड' कहकर उसकी आड़ में अशुद्धियों पर अड़ने से वह 'टाइम टेस्टेड' नहीं बनेगा।

१०. दीर्घकाल से चले आ रहे पाठ को स्वीकार कर लेना चाहिये—

प्रश्न—द्वितीय संस्करण (१८८४) का पाठ दीर्घकाल से स्वीकृत चला आ रहा है, अत: उसे स्वीकार कर लेना चाहिये।

उत्तर—यह तर्क बहुत ही शिथिल है। इस कथन पर अनेक आपत्तियां उपस्थित होती हैं—(१) द्वितीय संस्करण (१८८४) का पाठ यथावत् स्वीकृत और प्रचलित नहीं रह गया है। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में अनेक स्थलों पर दर्शाया जा चुका है कि प्रत्येक सम्पादक ने अपने संस्करण में हजारों संशोधन-परिवर्तन कर लिये हैं, अत: यह कथन आज के सत्यार्थप्रकाश पर चरितार्थ ही नहीं होता। (२) इसका यह अर्थ भी निकलता है कि तर्ककर्त्ता यह तो स्वीकार करता है कि द्वितीय संस्करण का समस्त पाठ ऋषिप्रोक्त नहीं है और संशोध्य है, किन्तु दीर्घकाल की आड़ लेकर उसे सुधारना नहीं चाहता। (३) इस संदर्भ में उसके लिए सत्य और तथ्य नहीं अपितु पूर्वाग्रह, अहं और स्वप्रतिष्ठा प्रमुख हो गये हैं। (४) वह भूल रहा है कि ऐसा करके वह ग्रन्थकार ऋषि की भाषा/ शब्दावली की उपेक्षा कर रहा है और उनके नौकरों अर्थात् लिपिकरों और शोधकों द्वारा निर्मित-परिवर्तित भाषा को ऋषि से अधिक अधिमान दे रहा है। (५) यह खोज प्रकट हो जाने पर कि अमुक भाषा उसके श्रद्धेय की है और अमुक नहीं है, तो सच्चा श्रद्धालु श्रद्धेय की भाषा को सश्रद्ध स्वीकार करता है, जो नहीं करता उसमें श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा का अभाव झलकता है। (६) यदि दीर्घकाल से प्रचलित

पाठ ही पाठ-स्वीकृति का मानदण्ड है, तो उसका उपर्युक्त कथन तभी स्वीकार्य माना जा सकता है जब वह द्वितीय संस्करण (१८८४) में एक भी शब्द का परिवर्तन न करे, लेकिन देखा जा रहा है कि सभी सम्पादक/प्रकाशक अपनी सुविधानुसार मनमानी से संशोधन और साथ ही कुतर्क भी कर रहे हैं।

११. संशोधन से विपक्षियों को लाभ होगा—

प्रश्न—आपने अथवा दूसरे विद्वानों ने जो अशुद्धि-संशोधन का कार्य किया है वह उचित नहीं है, क्योंकि इससे विपक्षी लोगों को ऋषि के विरुद्ध सामग्री मिलेगी, आरोपित करने के लिए हथियार मिलेगा। अशुद्धि-संशोधन का कार्य करके सम्पादकों-प्रकाशकों ने वह कार्य कर दिया जो सवा-सौ वर्षों में विरोधी भी न कर सके।

उत्तर—आपकी सोच विपरीत दिशा में काम कर रही है। आप **'बिल्ली को देखकर कबूतर द्वारा आंख बन्द कर लेना'** वाली कहावत को स्वयं पर चरितार्थ कर रहे हैं। ऐसे बिल्ली कभी प्रहार करने से चूकती है क्या? त्रुटियों से भरपूर पुस्तक एक ऐसे असंरक्षित 'शस्त्रागार' के समान होती है जिसमें से कभी भी, कोई भी, जब जी चाहे, मनचाहा शस्त्र निकाल कर, प्रहार कर दे। आप न तो उसके शस्त्र न उठाने की गारण्टी दे सकते हैं, न प्रहार न करने की गारण्टी दे सकते हैं। आज भी आप पर वेदों और सत्यार्थप्रकाश को लेकर शस्त्रों अर्थात् शंकाओं-आक्षेपों के प्रहार किये जा रहे हैं और आप चुप होकर उन प्रहारों को सहन कर रहे हैं। कोई सामने नहीं आ रहा है। यही स्थिति कभी आगे सत्यार्थप्रकाश को लेकर और भयावह बन सकती है, जिसकी भविष्य में पूरी आशंका है। इसलिए इसका 'आखें बंद करके बैठे रहना' या 'त्रुटियों' को चुपचाप दबाये रखना समाधान नहीं है। आप समझते हैं कि विपक्षी या विधर्मी आपके बताने पर ही अशुद्धियों को जान पायेंगे? जब आप द्वारा प्रकाशित पुस्तक में वे भरी पड़ी हैं, सामने हैं, तो क्या वे स्वयं जानने की योग्यता नहीं रखते? आपकी सोच कितनी भोलेपन की है। इसका सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण अच्छा समाधान यह है कि हम उस ग्रन्थरूपी शस्त्रागार में पहले ही एक भी अशुद्धि रूपी शस्त्र न छोड़ें। जब उसमें अशुद्धि रूपी शस्त्र ही नहीं रहेगा तो आलोचक वहां से क्या उठायेगा, और क्या प्रहार करेगा? इसलिए लिपिकर आदि द्वारा कृत अशुद्धियों को दूर कर देना ही अच्छा उपाय है, दबाये रखना नहीं।

आपको विगत इतिहास का यदि ज्ञान है तो आपको पता होना चाहिए कि विपक्षियों की ओर से आर्यसमाज और ऋषि पर सदा प्रहार हुए हैं, अनेक मुकदमे हुए हैं, ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे गये हैं, और आज भी लिखे जा रहे हैं। आर्यसमाज के आलोचकों की सूची पहले से ही बहुत लम्बी है, उसमें कम्युनिस्ट और अंग्रेजीदां आधुनिक लोग नये और जुड़ गये हैं। **आज का कानून और न्यायपद्धति भी उनकी घुसपैठ से परिपूर्ण है। कब क्या निर्णय हो जाये, कुछ नहीं कहा जा सकता। बाद में लकीर पीटते रहने से कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए अशुद्धियों को दूर करना होगा। यह दूरदर्शिता सम्बन्धी विचार है। पाठक इसको शीघ्रता में यों ही न पढ़ जायें। इन पंक्तियों को, जरा रुककर, गम्भीर चिन्तन के साथ विचारें।**

आपका यह कथन सर्वथा निराधार है कि इससे विरोधियों को अभीष्ट सामग्री मिलेगी। आज तक किसी विरोधी ने स्वामी वेदानन्दजी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक के शोधकार्य को आधार बनाया है क्या? जबकि उन्होंने स्पष्टतः भ्रष्टपाठ दर्शाये हैं। हम तो उनको लिपिकरकृत मान रहे हैं और कह रहे हैं कि ये ऋषि की त्रुटियां नहीं हैं। हाँ, स्वयं आर्यजनों ने इन संशोधन कार्यों पर खूब विरोध-वितण्डा किये हैं। ये कार्य किये खुद हैं और नाम विरोधियों का ले रहे हैं!

१२. संशोधन के अनन्त अधिकार का प्रश्न—

प्रश्न—इस संस्करण में किये गये अनेकानेक संशोधनों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आपने संशोधन का अनन्त अधिकार प्राप्त कर लिया है। आपने बहुत सारे संशोधन कर डाले, किसी के ग्रन्थ के साथ इतनी छोड़छाड़ करना कभी उचित नहीं माना जा सकता। ऐसा ही अन्य अनेक संशोधकों ने भी किया है।

उत्तर—आप जो **'अनन्त अधिकार'** शब्द का प्रयोग कर रहे हैं उसका ध्वन्यार्थ है 'मनमाना या स्वच्छन्द अधिकार'। मेरे सन्दर्भ में यह गलत और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयोग है। इससे यह भाव स्पष्ट होता है कि चाहे कोई अशुद्धि है या नहीं है, उसको अपने ढंग से संशोधित कर देना। मेरे कार्य में ऐसा व्यवहार नहीं है। जो निर्धारित मानदण्डों के

आधार पर सिद्ध त्रुटियां हैं, चाहे पांडुलिपि की, चाहे व्याकरण की, चाहे सिद्धान्त की, उनको दूर करना 'यथार्थ अधिकार' है और इस संस्करण में सिद्ध त्रुटियों को ही दूर किया गया है शेष प्रस्तावित पाठ को बृहत् कोष्ठक में रखा गया है। त्रुटियां कम ही हों यह आवश्यक नहीं, जितनी सिद्ध हुईं उनको प्रस्तुत कर दिया, भले ही वे अधिक हों, हैं तो त्रुटियां ही। उनको संरक्षित रखके क्या करना है ? त्रुटियां भी कोई संरक्षित रखने की वस्तुएं हैं क्या ? उनके संरक्षण से हानि ही हानि है, लाभ एक भी नहीं। यह छेड़छाड़ नहीं, ग्रन्थ का हितसम्पादन है। यह कैसा विचारहीन बेतुका तर्क है कि अशुद्धियों का आंशिक संशोधन तो ठीक है और सम्पूर्ण संशोधन अनुचित है ? अशुद्धियां जितनी हैं उतनी ही शुद्ध की जानी चाहियें, इसमें सान्त और अनन्त अधिकार का प्रश्न उठाना ही बेवकूफी है।

फिर भी मेरा इस विषय में विनम्र निवेदन है कि यदि कोई त्रुटि सिद्ध नहीं होती है तो उसको बताने पर, सधन्यवाद स्वीकार कर, आगामी संस्करण में उसको मौलिक रूप में रख दिया जायेगा। इस विषय में मेरा पूर्वाग्रह, अहं और प्रतिष्ठाभाव नहीं है। मैंने अकेले ने यह कार्य किया है। अकेले से भूलें हो जाना, भूलें रह जाना स्वाभाविक है। किसी भी संशोधन के प्रति मेरा दुराग्रह नहीं है, हाँ, अशुद्धि-शोधन के लिए आग्रह अवश्य है।

१३. सन्देह का निवारण पाठपरिवर्तन से नहीं, व्याख्या से करें—

प्रश्न—ऋषि-मुनियों का निर्देश है कि ऋषि-मुनि स्तर के व्यक्ति के कथन पर संदेह करके उसको त्रुटि न मानें अपितु व्याख्या से उसका अर्थ स्पष्ट करें (**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्**)। यही निर्देश 'सत्यार्थप्रकाश' जैसे ऋषिकृत ग्रन्थ पर चरितार्थ करना चाहिये।

उत्तर—यह कथन स्वीकार्य है किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि पूर्ण एवं शुद्ध वाक्य वही कहलाता है जो अपना अर्थ स्पष्ट करने में स्वयं समर्थ हो । बाह्य कल्पनाओं से और खींचातानी करके निकाला हुआ अर्थ वाक्यरचना की अक्षमता को प्रकट करता है। सामान्य पाठक के लिए वह उपयोगी नहीं होता। महर्षि ने ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं सक्षम वाक्य को उचित एवं ग्राह्य माना है।

उक्त कथन केवल उस ग्रन्थ पर चरितार्थ किया जा सकता है जिसको एकाग्रतापूर्वक लेखक ने स्वयं लिखा-शोधा हो। सत्यार्थप्रकाश पर उक्त कथन चरितार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह ग्रन्थकार द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ है और ग्रन्थकार उसके पुनर्लेखन-संशोधन-मुद्रण के लिए वेतनभोगी लेखकों-शोधकों पर निर्भर रहे हैं। यह बिल्कुल सिद्ध नहीं होता कि महर्षि ने जो बोला लिपिकरों ने अक्षरशः वही लिखा है। कहीं अशुद्ध लिखा है, कहीं पाठ त्रुटित है, कहीं आगे-पीछे शब्द लिखे हैं। उसके बाद मुद्रणलिपिकरों और शोधकों ने भाषा में हजारों परिवर्तन किये हैं, प्रतिलिपि करते समय पाठ त्रुटित छोड़ दिये हैं और पाठान्तर भी कर दिये हैं। प्रक्षिप्त और ग्रन्थकार के अभिप्राय-विरुद्ध पाठ भी मिलते हैं। **प्रोक्तकाल से लेकर मुद्रणकाल तक जहां वेतनभोगी लेखकों-शोधकों द्वारा पर्याप्त परिवर्तन-परिवर्धन हुए हैं और अनेक सामान्य लेखकों का भाषा में हस्तक्षेप हुआ है, उस ग्रन्थ पर उक्त निर्देश चरितार्थ नहीं किया जा सकता।**

१४. कहीं यह संशोधन-कार्य प्रतिष्ठा-सम्मान की लालसा से तो नहीं ?

प्रश्न—कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि विद्वज्जन अपनी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए सत्यार्थप्रकाश जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ का संशोधन और सम्पादन करते हैं। कहीं आपका भी लक्ष्य ऐसा ही तो नहीं है ?

उत्तर—आज तक किसी सत्यार्थप्रकाश-संशोधक-सम्पादक को प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और सम्मान आर्यसमाज के लोगों ने दिये हैं क्या, जो आप ऐसा प्रश्न कर रहे हैं ? इस विषयक विवरण उठाकर देख लीजिए, रूढिवादी आर्य जनों ने संशोधकों की योजनाबद्ध रूप से आलोचना और निन्दा ही की है। इसलिए आपका ऐसा सोचना ही गलत है। जितने भी संशोधक विद्वान् हुए हैं वे प्रतिष्ठित स्तर के हुए हैं। उन्होंने हित की भावना से ही कार्य किया है। गलतियां भी हो जाती हैं। किन्तु अधिकांश ने सत्यार्थप्रकाश पर जो कार्य किया है, वह अच्छा और उपादेय है। आधुनिक संस्करणों ने चुपके-चुपके उनका लाभ भी उठा लिया है, किन्तु खुलकर कृतज्ञता स्वीकार करने की उदारता उनमें नहीं है। आर्यों की स्थिति को देखकर फारसी की यह उक्ति ध्यान में आ जाती है—**'कद्रे जौहर जौहरी'**=जौहरी ही रत्न की कद्र जानता है, अन्य नहीं। विद्वानों द्वारा सत्यार्थप्रकाश पर किये गये कार्य के महत्त्व और दूरगामी सुफल को कुछ आर्यों ने नहीं

समझा। उसका दुष्परिणाम भी सामने है। स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती का तत्कालीन लोगों ने घोर विरोध किया। पं० युधिष्ठिर मीमांसक की घोर आलोचना की गई। एक विद्वदभिमानी व्यक्ति ने तो स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती तथा आचार्य उदयवीर जी शास्त्री के संशोधनों के विरुद्ध ऐसी पुस्तक लिख डाली थी जिसमें स्पष्ट दुराग्रह, आर्यों के भावनादोहन और अयुक्तिक लेखन की भरमार है। परोपकारिणी सभा के पहले संस्करणों का भी विरोध हुआ, मूलप्रति संस्करण का तो प्रायोजित और भरपूर विरोध हुआ। उसके विरुद्ध लेख लिखे गये, पुस्तकें लिखी गईं, गोष्ठियां की गईं, लॉबी बनाकर उस संस्करण पर प्रहार किये गये। इसलिए यह कल्पना तो करनी ही नहीं चाहिए कि आर्यविद्वान् प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए सत्यार्थप्रकाश पर कार्य करते हैं। ईर्ष्या-द्वेष, गुटबाजी, कलह और अहम्मन्यता से ग्रस्त आर्यजनों के पास श्रद्धा और सम्मान हैं ही कहां जो वे आपको दें!

सच्ची बात तो यह है कि योग्य सम्पादकों के मन में सत्यार्थप्रकाश-हित की भावना रही है। उनके मन में त्रुटियों को लेकर पीड़ा है। कारण यह है कि उक्त विद्वानों में एक भी व्यक्ति अविद्वान् और असमर्पित आर्य नहीं था। सबकी ऋषि के प्रति अगाध निष्ठा रही है, सबका जीवन आर्यसमाज के कार्यों में बीता है। ऐसे लोगों की निराधार निन्दा करने वाले निन्दनीय हैं, वे सम्पादक विद्वान् नहीं।

मैंने इस शोधकार्य के अपने पवित्र उद्देश्य की चर्चा गतपृष्ठों में कई बार की है। फिर भी यदि कोई दुर्भाववश विरोध करता है तो मुझे उससे तनिक भी विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। कुछ ईर्ष्या-द्वेषी, अयोग्य, मिथ्यादम्भी लोगों ने तो मेरे संस्करण की निन्दा-आलोचना छपने से पहले ही कर डाली है, अतः सम्मान मिलने की इच्छा वर्तमान आर्यसमाज में मृगतृष्णा-मात्र है।

१५. सभी आर्यविद्वान् मिलकर एकमात्र संस्करण क्यों नहीं बनाते?

प्रश्न—आपकी विगत समीक्षा तो युक्तियुक्त है। फिर भी आर्यविद्वान्, सम्पादक, प्रकाशक ऐसा क्यों नहीं करते कि मिलकर एक ही शुद्धतम संस्करण बना लें?

उत्तर—मेरा अनुमान है कि तीन कारणों से यह सर्वसम्मत कार्य नहीं हो पा रहा है।

१. आर्यविद्वानों में वैयक्तिक प्रतिष्ठा, अहं और पूर्वाग्रह बलवान् हो गये हैं, वे उनको छोड़ना नहीं चाहते। ऋषि-हित और सत्यार्थप्रकाश का हित उसके सामने गौण हो गया है। यदि ऋषि-हित और ऐक्यभाव आर्यों में प्रबल होता तो वे भी कभी का अपना शुद्धतम और अपरिवर्तनीय एकरूप धर्मग्रन्थ तैयार कर चुके होते, जैसे बौद्धों, मुसलमानों, ईसाइयों ने मिलकर-बैठकर अपने-अपने धर्मग्रन्थ के प्रामाणिक संस्करण तैयार किये थे। सबसे चिन्ताजनक स्थिति तो यह है कि आर्यविद्वान् उक्त भावों से ग्रस्त हुए लाबीबंद होकर अपनी-अपनी लॉबी के अनुसार दुराग्रह कर रहे हैं, वे वैयक्तिक धारणाओं की बलिवेदी पर सत्यार्थ-हित की बलि दे रहे हैं।

२. कुछ लोग सीमित चिन्तन, अध्ययन के अभाव में और भ्रान्तिवश 'संशोधन न करने' को श्रद्धालुता समझ बैठे हैं। उन्हें पता ही नहीं कि ये त्रुटियां ऋषि की नहीं हैं, अपितु लिपिकरों-लेखकों की हैं, ऋषि के मत्थे तो उन कथित श्रद्धालुओं ने ही मढ़ रखी हैं। उनमें दूरदर्शिता की सोच का भाव अभी नहीं आया है।

३. कुछ लोग यथार्थ को जानते-मानते-चाहते हुए भी इस कारण संशोधन नहीं करना चाहते अथवा संशोधन में भागीदार नहीं होना चाहते क्योंकि उन्हें रूढ़िवादी, पूर्वाग्रही, शुद्धाशुद्धि के ज्ञान से रहित अदूरदर्शी पाठकों और विद्वानों के विरोध का भय है। वे विवाद और आलोचना में नहीं पड़ना चाहते। इन कारणों से वे सत्य को जानते और मानते हुए भी सत्य के लिए साहस नहीं जुटा पा रहे हैं और जैसा जो कछ है उसको ढो रहे हैं।

जिस दिन आर्यजनों में अहं-त्याग, ऐक्यभाव, पूर्वाग्रह-त्याग, शुद्धाशुद्धि का विवेक, दूरदर्शी चिन्तन और निर्भयतापूर्वक सत्यार्थप्रकाश के हित-सम्पादन का संकल्प आ जायेगा उस दिन आर्यों के धर्मग्रन्थ '**सत्यार्थप्रकाश**' का 'शुद्धतम एकरूप संस्करण' ही प्रकाशित होगा। परमात्मा कृपा करे कि वह दिन शीघ्र आये और यह भी प्रार्थना है—

''धियो यो नः प्रचोदयात्''

—०—



अथ सत्यार्थप्रकाशः

महर्षि दयानन्द सरस्वती रचित

अथ सत्यार्थप्रकाशस्य सूचीपत्रम्

[अथ पूर्वार्धः]

विषयाः	पृष्ठम्
सत्यार्थप्रकाशविषयश्लोकाः	४
भूमिका	५-१७
प्रथमः समुल्लासः	
ईश्वरनामव्याख्या	१९-५५
मङ्गलाचरणसमीक्षा	५५-५७
द्वितीयः समुल्लासः	
बालशिक्षाविषयः	५८-६४
भूतप्रेतादिनिषेधः	६४-६८
जन्मपत्रसूर्यादिग्रहसमीक्षा	६८-७७
तृतीयः समुल्लासः	
अध्ययनाध्यापनविषयः	७८-८१
गुरुमन्त्रव्याख्या	८१-८३
प्राणायामशिक्षा	८४-८६
सन्ध्याग्निहोत्रोपदेशः	८६-८८
यज्ञपात्राकृतयः	
[होमफलनिर्णयश्च]	८९-९२
उपनयनसमीक्षा	९३
ब्रह्मचर्यकृत्यवर्णनम्	९३-१०६
पञ्चधापरीक्ष्याध्ययनाध्यापने	१०६-१२३
पठनपाठनविशेषविधिः	१२३-१३४
ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः	१३४-१३८
स्त्रीशूद्राध्ययनविधिः	१३८-१४४
चतुर्थः समुल्लासः	
समावर्त्तनविषयः	१४५-१४७
दूरदेशे विवाहकरणम्	१४८-१५०
विवाहे स्त्रीपुरुषपरीक्षा	१५०-१५२
अल्पवयसि विवाहनिषेधः	१५२-१५९
गुणकर्मानुसारेण वर्णव्यवस्था	१५९-१७०
विवाहलक्षणानि	१७१-१७६
स्त्रीपुरुषव्यवहारः	१७७-१८१
पञ्चमहायज्ञाः	१८१-१९०

विषयाः	पृष्ठम्
प्रातरुत्थानादि धर्मकृत्यम्	१९१-१९२
पाखण्डितिरस्कारः	१९२-१९३
पाखण्डिलक्षणानि	१९३
गृहस्थधर्माः	१९४-१९७
पण्डितलक्षणानि	१९७-२००
[विद्यार्थि-लक्षणानि]	२००-२०१
पुनर्विवाहनियोगविषयः	२०१-२२३
गृहाश्रमश्रैष्ठ्यम्	२२४-२२५
पञ्चमः समुल्लासः	
वानप्रस्थाश्रमविधिः	२२६-२२९
संन्यासाश्रमविधिः	२३०-२४८
षष्ठः समुल्लासः	
राजप्रजाधर्मविषयः	२४९-३१६
सभात्रयकथनम्	२४९-२५२
राजलक्षणानि	२५२-२५३
दण्डव्याख्या	२५३-२५५
राजकर्त्तव्यम्	२५५-२५७
अष्टादशव्यसननिषेधः	२५८-२६२
मन्त्रिदूतादिराजपुरुषलक्षणानि	२६२-२६५
मन्त्र्यादिषु कार्यनियोगः	२६५-२६६
दुर्गनिर्माणव्याख्या	२६५-२६७
युद्धकरणप्रकारः	२६८-२७२
राज्यलक्षणादिविधिः	२७२-२७६
ग्रामाधिपत्यादिवर्णनम्	२७६-२७९
करग्रहणप्रकारः	२८०-२८१
मन्त्रकरणप्रकारः	२८१-२८२
आसनादिषाड्गुण्यव्याख्या	२८२-२८८
राज्ञो मित्रोदासीनशत्रुषु वर्त्तनं	२८८-२८९
शत्रुभिर्युद्धकरणप्रकारश्च	२८९-२९५
व्यापारादिषु राजभागकथनम्	२९६-२९७
अष्टादशविवादमार्गेषु धर्मेण	२९७-३००

विषयाः	पृष्ठम्
न्यायकरणम्	
साक्षिकर्त्तव्योपदेशः	३०१-३०४
साक्ष्यनृते दण्डविधिः	३०५-३०७
चौर्यादिषु दण्डादिव्याख्या	३०८-३१६
सप्तमः समुल्लासः	
[ईश्वरविषये प्रश्नोत्तराणि]	३१७-३४४
ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना	३१७-३१८
ईश्वरज्ञानप्रकारः	३१८-३२१
ईश्वरस्यास्तित्वम्	३२१-३४१
ईश्वरावतारनिषेधः	३४२-३४४
जीवस्य स्वातन्त्र्यम्	३४५-३४६
जीवेश्वरयोर्भिन्नत्ववर्णनम्	३४६-३६०
ईश्वरस्य सगुणनिर्गुणकथनम्	३६०-३६२
वेदविषये विचारः	३६२-३७१
अष्टमः समुल्लासः	
सृष्ट्युत्पत्त्यादिविषयः	३७२-४१५
ईश्वरभिन्नायाः प्रकृते-रुपादानकारणत्वम्	३७२-३८५
सृष्टौ नास्तिकमतनिराकरणम्	३८५-४००
मनुष्याणामादिसृष्टेः	४००-४११
स्थानादिनिर्णयः	
आर्यम्लेच्छादिव्याख्या	४१२-४१३
ईश्वरस्य जगदाधारत्वम्	४१४-४२५
नवमः समुल्लासः	
विद्याऽविद्याविषयः	४२६-४२७
बन्धमोक्षविषयः	४२८-४७५
दशमः समुल्लासः	
आचारानाचारविषयः	४७६-४९६
भक्ष्याभक्ष्यविषयः	४९६-५१०

॥ इति पूर्वार्धः ॥

[अथ उत्तरार्धः]

एकादशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	५११-५१२
आर्यावर्त्तदेशीयमतमतान्तरखण्डनमण्डनविषयः	५१३-७२१
[चक्रवर्त्तिराज्ञां नामोल्लेखनम्]	५१४-५२१
मन्त्रादिसिद्धिनिराकरणम्	५२१-५३२
वाममार्गनिराकरणम्	५३२-५४२
अद्वैतवादसमीक्षा	५४२-५६३
भस्मरुद्राक्षतिलकादिसमीक्षा	५६३-५७०
वैष्णवमतसमीक्षा	५७१-५७७
मूर्तिपूजासमीक्षा	५७७-५९७
जगन्नाथतीर्थसमीक्षा	५९७-६००
रामेश्वरसमीक्षा	६०१-६०२
कालियाकन्तसोमनाथादिसमीक्षा	६०२-६०५
द्वारिकाज्वालामुखी [आदि] समीक्षा	६०५-६०७
हरद्वारबदरीनारायणादिसमीक्षा	६०८-६१३
गङ्गास्नानसमीक्षा	६१३-६१४
नामस्मरणतीर्थशब्दयोर्व्याख्या	६१४-६१५
गुरुमाहात्म्यसमीक्षा	६१६-६१७
अष्टादशपुराणसमीक्षा	६१७-६२१
शिवपुराणसमीक्षा	६२१-६२३
भागवतसमीक्षा	६२३-६३६
सूर्यादिग्रहपूजासमीक्षा	६३६-६४९
एकादश्यादिव्रतदानादिसमीक्षा	६४९-६५५
मारणमोहनोच्चाटनवाममार्गसमीक्षा	६५५-६५६
शैवमतसमीक्षा	६५७
शाक्तवैष्णवमतसमीक्षा	६५८-६६५
कबीरपन्थसमीक्षा	६६६-६६७
नानकपन्थसमीक्षा	६६७-६७१
दादूरामस्नेह्यादिपन्थसमीक्षा	६७२-६७५
गोकुलियेगोस्वामिमतसमीक्षा	६७६-६८८
स्वामिनारायणमतसमीक्षा	६८८-६९५
माध्वलिङ्गचक्राङ्कितसमीक्षा	६९६
ब्राह्मप्रार्थनासमाजादिसमीक्षा	६९७-७०६
आर्यसमाजविषयः	७०७-७०८
तन्त्रादिविषयकप्रश्नोत्तराणि	७०८-७१५
ब्रह्मचारिसंन्यासिसमीक्षा	७१५-७२१
आर्यावर्त्तीयराजवंशावली	७२१-७२८

विषयाः	पृष्ठम्
द्वादशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	७२९-७३०
नास्तिकमतसमीक्षा	७३१-८४०
चार्वाकमतसमीक्षा	७३१-७४१
बौद्धादिनास्तिकभेदाः	७४१-७४२
बौद्धसौगतमतसमीक्षा	७४२-७५७
[जैनमत-समीक्षा]	७५७-८४०
[सप्तभङ्गीस्याद्वाद-समीक्षा]	७६०-७६३
जैनबौद्धयोरैक्यम्	७६४-७६५
[तौतातिनां च मतोल्लेखनम्]	७६५-७७०
आस्तिक-नास्तिक संवादः	७७१-७७४
जगतोऽनादित्वसमीक्षा	७७४-७७६
जैनसाधुलक्षणानि	७७६-७७८
जैनमतसिद्धान्तसंग्रहः	७७८-७८१
जीवानन्तत्वसमीक्षा	७८१-७८२
जैनमतसमीक्षा	७८२-७८३
जैनमते मूर्तिपूजाप्रमाणानि	७८४-७८६
जैनमताऽसम्भवकथासमीक्षा	७८६-७९१
जैनमते कालभूमिपरिमाणम्	७९१-७९७
जैनमते जीवाऽजीवलक्षणम्	७९७
सम्यक्त्वादिलक्षणम्	७९७-७९९
जैनमतसिद्धान्तसंग्रहः	८००-८२६
जैनतीर्थङ्कर (२४) व्याख्या	८२७-८३१
जैनमते जम्बूद्वीपादिविस्तारः	८३१-८४०

विषयाः	पृष्ठम्
त्रयोदशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	८४१-८४४
कृश्चीनमतसमीक्षा	८४५-९३५
[तौरेत-समीक्षा-विषयः]	
[उत्पत्ति-पुस्तकम्]	८४५-८७६
[यात्रा-पुस्तकम्]	८७४-८८१
लैव्यव्यवस्थापुस्तकम्	८८२-८८४
गणनापुस्तकम्	८८५
समुएलाख्यस्य द्वितीयं पुस्तकम्	८८६
राज्ञां पुस्तकम्	८८७
जबूर—२ [समीक्षा-विषयः]	
कालवृत्तस्य १ पुस्तकम्	८८७
ऐयूबाख्यस्य पुस्तकम्	८८८
उपदेशस्य पुस्तकम्	८८८-८८९
इञ्जील [समीक्षा-विषयः]	
मत्ती इञ्जीलाख्यम्	८८९-९१६
मार्करचितम् इञ्जीलाख्यम्	९१६
लूतरचितम् इञ्जीलाख्यम्	९१७
योहनरचितसुसमाचारः	९१७-९१९
योहनप्रकाशितवाक्यम्	९१९-९३५
चतुर्दशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	९३६-९३८
यवनमतसमीक्षा	९३९-१०४४
स्वमन्तव्यामन्तव्यविषयः	१०४५-१०५५

॥ इति उत्तरार्धः ॥

इस ग्रन्थ को बनाने का प्रयोजन

''मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का प्रयोजन सत्य-अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना 'सत्य अर्थ का प्रकाश' समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय।''

—महर्षि दयानन्द सरस्वती (भूमिका, पृष्ठ ८)

ओ३म्

अथ सत्यार्थप्रकाशः

श्रीयुक्तदयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

दयाया आनन्दो विलसति परःस्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,
सको दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः॥ १॥

सत्यार्थस्य प्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः।
वेदादिसत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः॥ २॥

विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्त्विकीम्।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः॥ ३॥

न ततः फलमस्ति हितं विदुषो,
ह्यधिकं परमं सुलभन्नु पदम्।
लभते सुयतो भवतीह सुखी,
कपटी सुसुखी भविता न सदा॥ ४॥

धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरोऽ-
धर्मेणैव हतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः।
येनाऽसौ विधिवाक्यमानमननात् पाखण्डखण्डः कृतः,
सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितं धन्योऽस्तु तादृग्घि सः॥ ५॥[१]

---

१. ये श्लोक सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण, १८७५) की मूलप्रति में विषयसूची के पश्चात् लिखे हुये हैं। महर्षि दयानन्द के '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**', '**संस्कारविधि**', '**आर्याभिविनय**' आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार श्लोक लिखने की शैली मिलती है। ये श्लोक प्रथम और द्वितीय संस्करण में किसी कारणवश प्रकाशित नहीं हो पाये थे। ऋषिकृत श्लोकों को सुरक्षित रखने और उनकी शैलीगत परम्परा को संरक्षित रखने के लिए ये यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं।

(परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण ३९ में टिप्पणी)

॥ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमोनमः॥[१]

भूमिका

'**सत्यार्थप्रकाश**' को दूसरी वार शुद्ध कर छपवाया है[२]; क्योंकि जिस समय मैंने यह ग्रन्थ बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत-भाषण करना, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने का अभ्यास रहना और जन्मभूमि की भाषा '**गुजराती**' थी, इत्यादि कारणों से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान[३]

चिदानन्दम्, दयानन्दमृषिं नत्वाऽतिश्रद्धया। 'सत्यार्थस्य' समीक्षेयं क्रियते हितकाङ्क्षया॥
सर्वशास्त्रार्थसारो ऽसौ सत्यासत्यप्रकाशकः। वाञ्छेयं धर्मशास्त्रः स्यात् शुद्धः सर्वाङ्गशोभनः॥

१. **महर्षि के हाथ से लिखे वाक्य का मुद्रणसमय में परिवर्तन**—मुद्रण-प्रति में यह वाक्य महर्षि ने अपने हस्तलेख में लिखा है। ऊपर महर्षि के उसी हस्तलेख की अनुकृति है। द्वितीय संस्करण (सन् १८८४) में यहां मुद्रणसमय में "**ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः**" पाठ किसी शोधक ने परिवर्तित कर दिया। उन आर्य सम्पादकों को क्या कहा जाये जो आज तक महर्षि के हस्तलिखित वाक्य को तो अग्राह्य और किसी लेखक-शोधक के वाक्य को ग्राह्य मानकर उसे ही आग्रहपूर्वक प्रकाशित करते चले आ रहे हैं। उन्होंने तो स्पष्ट रूप से उस लेखक को महर्षि से बड़ा विद्वान् मान ही लिया है न? वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि द्वितीय संस्करणों में महर्षि-लिखित वाक्य ग्रहण नहीं किया है अपितु किसी शोधक द्वारा परिवर्तित वाक्य ग्रहण किया हुआ है।

२. **सत्यार्थप्रकाश की प्रेरणा और रचना का विवरण**—महर्षि दयानन्द जब ज्येष्ठ संवत् १९३१ (मई, सन् १८७४ ई०) में काशी पधारे, तब राजा जयकृष्णदास ने, जो वहां डिप्टी कलेक्टर थे, महर्षि से निवेदन किया कि 'आपके उपदेशामृत का लाभ सभी जन नहीं उठा पाते, आपके विचार अद्भुत हैं, उन्हें चिरस्थायी बनाने के लिए ग्रन्थ के रूप में निबद्ध कर दीजिये। उसके लेखन-प्रकाशन का समस्त व्यय मैं वहन करूँगा।'

(क) प्रथम संस्करण—राजा जयकृष्णदास के प्रस्ताव को स्वीकार करने के उपरान्त प्रथम आषाढ़ बदि १३, संवत् १९३१ (१२ जून, सन् १८७४) शुक्रवार के दिन काशी में सत्यार्थप्रकाश लिखाने का कार्य आरम्भ हुआ। महर्षि बोलते जाते थे और महाराष्ट्रीय पं० चन्द्रशेखर लिखते जाते थे। उसको पूर्ण करके प्रकाशनार्थ राजा जी को देकर महर्षि अपने कार्यक्रमों पर निकल गये। मुद्रित होते समय उसमें प्रकाशकों ने मृतक श्राद्ध, मांस-यज्ञ, कन्याओं का यज्ञोपवीत संस्कार न करना आदि महर्षि-विरुद्ध मन्तव्य मिला दिये। पाठकों द्वारा ध्यान आकृष्ट करने के बाद महर्षि ने संवत् १९३५ में यजुर्वेद भाष्य के श्रावण और भाद्रपद में छपे प्रथम और द्वितीय अंकों के मुखपृष्ठ के पृष्ठभाग में विज्ञापन छपवाकर मृतक श्राद्ध और यज्ञ में मांसविधान आदि वेदविरुद्ध बातों का खण्डन किया था। प्रथम संस्करण में सत्यार्थप्रकाश के चौदह समुल्लास लिखाये गये थे किन्तु राजा जयकृष्णदास ने अंग्रेजों का रोषभाजन बन जाने के भय के कारण-विशेष से बारह समुल्लास ही प्रथम संस्करण में छपवाये। चौदह समुल्लासों की हस्तलिखित प्रति राजा जयकृष्णदास के घर सुरक्षित थी, जो अब परोपकारिणी सभा, अजमेर के पास सुरक्षित है।

(ख) द्वितीय संस्करण—यात्रा काल में पूर्वलिखित और सुलेखित सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण-हस्तलेख को, संवत् १९३९ (अगस्त, सन् १८८२) में उदयपुर के नवलखा महल (गुलाब बाग) में आने के बाद, वहां निवास करते हुए महर्षि ने प्रकाशनार्थ प्रेस में भिजवाना आरम्भ किया था। महर्षि के देहान्त (दीपावली, ३० अक्तूबर १८८३) से कम से कम एक मास पूर्व ३० सितम्बर १८८३ को विष दिये जाने तक इस चौदह समुल्लास-युक्त सत्यार्थप्रकाश की तेरहवें (आधे) समुल्लास तक की मुद्रणप्रति के पृष्ठ ३४५ (३६६) तक का संशोधन ऋषि ने किया था, आगे विषजन्य रुग्णता के कारण वे नहीं कर सके। अर्थात् बाद के डेढ़ समुल्लास असंशोधित ही रह गये। इसी प्रकाशित द्वितीय संस्करण (१८८४) के पृष्ठ ३२० के बाद अर्थात् अन्त के आधे सत्यार्थप्रकाश का निरीक्षण ऋषि नहीं कर सके। महर्षि की दृष्टि से वह असंशोधित ही रहा। इसकी जानकारी मुंशी समर्थदान को लिखे पत्रों से मिलती है। महर्षि के देहान्त तक ग्यारह समुल्लास ही छप पाये। महर्षि के देहान्त के पश्चात् कई मास तक प्रेस बन्द रहा, अतः दिसम्बर १८८४ ई० में द्वितीय संस्करण (१८८४) प्रकाशित होकर पाठकों को मिल पाया।

पत्र व्यवहार से यह भी जानकारी मिलती है कि महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश की आरम्भिक सामग्री (भूमिका के ५ पृष्ठ और प्रथम समुल्लास से लेकर ३२ पृष्ठ आगे के) भाद्रपद बदि १, मंगलवार संवत् १९३९ (२९ अगस्त, १८८२) को प्रेस में भेजी थी (ऋषि

दयानन्द के पत्र-विज्ञापन, पृ० ३५८)। भूमिका के अन्त में ''**स्थान महाराणा जी का उदयपुर**'', और ''**भाद्रपद शुक्लपक्ष, संवत् १९३९**'' तिथि लिखी है। ये वाक्य मुद्रण के आरम्भिक समय मुंशी समर्थदान के हस्तलेख में लिखे गये हैं। '**(स्वामी) दयानन्द सरस्वती**' नाम भी इन्हीं के हाथ का लिखा है।

द्वितीय संस्करण का एक '**मूलहस्तलेख**' उपलब्ध है जो महर्षि ने बोलकर लिखाया था और वेतनभोगी लिपिकरों ने लिखा था। पुनः उसको ऋषि ने स्वहस्त से दो बार संशोधित भी किया। तत्पश्चात् लिपिकरों ने ही उससे देखकर '**प्रेस कापी**' (मुद्रण-प्रति) तैयार की जिसमें पुनर्लेखन करते समय भाषा-परिवर्तन, वाक्यभेद, कांट-छांट, वाक्य-विस्तार, अनुच्छेद-विस्तार आदि सैंकड़ों परिवर्तन किये हैं तथा सैकड़ों जगह जाने-अनजाने अक्षर, पद एवं वाक्य, पृष्ठ आदि त्रुटित रह गये हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों की संख्या लगभग २००० है। वे सभी लेखक घोर रूढ़िवादी एवं जातिवादी संस्कारों के थे, इस कारण कई स्थानों पर उन्होंने पाठ को अपने ढंग से बिगाड़ा है। कार्याधिक्य, समयाभाव और अतिव्यस्तता के कारण महर्षि उसको गम्भीरता से नहीं देख पाये और भाषा के लिए अधिकांशतः वे उन्हीं निष्ठाहीन लेखकों पर ही निर्भर रहे। उसमें बहुत अशुद्धियाँ रह गईं और जब-जब जो ध्यान में आईं आगामी संस्करणों में सम्पादक उनको क्रमशः सुधारते गये। यही कारण है कि द्वितीय संस्करण के प्रत्येक प्रकाशन में उत्तरोत्तर संशोधन मिलते हैं। वे संशोधन फुटकर रूप से '**मूल हस्तलेख**' के आधार पर ही होते रहे हैं। पता नहीं क्यों, किसी ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि दोनों हस्तलेखों का सम्पूर्णतः मिलान करके एक बार ही '**शुद्ध संस्करण**' प्रस्तुत कर दिया जाये। परोपकारिणी सभा, अजमेर ने ३७,३८,३९ वें संस्करण के रूप में '**मूल हस्तलेख**' को मुख्य आधार बनाकर मुद्रणप्रति व द्वितीय संस्करण में ऋषिकृत संशोधनों, परिवर्तनों, परिवर्धनों को ग्रहण करके छापा है। हमने अवशिष्ट त्रुटियों को इस संस्करण में दूर करने का यथाशक्ति प्रयास किया है। इस महान् ग्रन्थ का '**शुद्धतम संस्करण**' प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य है। **यह भी सद्भावना है कि एकरूप संस्करण बन सके और वही प्रचलित रहे।**

३. **मुद्रणसमय में मुंशी समर्थदान द्वारा अनर्थकारी परिवर्तन**—कभी-कभी कोई व्यक्ति जब ग्रन्थकार की भाषा की गम्भीरता को समझे बिना संशोधन करता है तो ऐसा ही अनर्थ होता है जैसा इस स्थान पर हुआ है। द्वितीय संस्करण (१८८४) में मुद्रणकाल में ऋषि के लिखे हस्तलेख को बदलकर यहां यह अवांछनीय वाक्य बना दिया—''**इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी, अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके, दूसरी बार छपवाया है।**'' यही आपत्तिजनक पाठ अब सभी द्वि०सं० में मिल रहा है। इस परिवर्तन से यह अनर्थ प्रकट होता है कि महर्षि अब तक अपनी भाषा के अशुद्ध होने, न बोल पाने और न लिख पाने की स्वीकारोक्ति कर रहे हैं। मूलप्रति व मुद्रणप्रति दोनों में यह ठीक पाठ है—''**भाषा का विशेष परिज्ञान न था। अब इसको भाषा के व्याकरणानुसार अच्छे प्रकार जानकर अभ्यास भी कर लिया है, इसलिये इस समय इसकी भाषा पूर्व से उत्तम हुई है।**'' पाठक ध्यान दें, ''<u>जानकर अभ्यास कर लिया है</u>'' वाक्य मूलह० में और ''<u>इसलिये इसकी भाषा पूर्व से उत्तम हुई है</u>'' मुद्रणह० में ऋषि ने अपने हाथ से लिखे हैं। मुंशी जी ने ऋषि द्वारा लिखित भाषा को भी बदल दिया और आपत्तिजनक पाठ बना दिया। ऋषि तो **अपनी भाषा के पूर्व से उत्तम होने का** कथन कर रहे हैं, अशुद्ध होने का नहीं। इस सारे अनुच्छेद को कहीं वाक्य काटकर कहीं नये वाक्य जोड़कर मुंशी समर्थदान ने अपने हस्तलेख से बदला है। उपर्युक्त आपत्तिजनक वाक्य ''**भाषा अशुद्ध बन गयी थी**'' भी मुंशी जी के हस्तलेख में है। वह बदला हुआ पाठ द्वितीय संस्करण (१८८४) में इस प्रकार है—''**जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था <u>इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।</u>**'' इस अनुच्छेद में रेखांकित शब्दावली मुंशी जी की है और उन्हीं के हस्तलेख में लिखी हुई है। यह महर्षि की भाषा नहीं है।

दोनों हस्तलेखों और ऋषि के हस्तलेख की भाषा की उपेक्षा करके मुंशी जी द्वारा आपत्तिजनक रूप में बदली गई भाषा ने विरोधियों को महर्षि पर आक्षेप करने का अवसर दे दिया। इस वाक्य को उद्धृत करके '**दयानन्द तिमिर भास्कर**' ग्रन्थ में **ज्वालाप्रसाद मिश्र** आक्षेप करता है—''[प्रथम सत्यार्थप्रकाश] वोह तो अशुद्ध हो चुका, पर अब यह तौ आपके लेखानुसार सम्पूर्ण ही शुद्ध है, क्योंकि इसके बनाने के पूर्व न तो आपको लिखना ही आता था, न शुद्ध भाषा ही बोलनी आती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस सत्यार्थ से पूर्व रचित 'वेदभाष्यभूमिका' तथा यजुर्वेदादि भाष्यों की भाषा भी अशुद्ध होगी, क्योंकि शुद्ध भाषा का ज्ञान तौ आपको इस 'सत्यार्थप्रकाश' के लिखने के समय हुआ है।'' (तृतीय सं०, पृ०३)

जो सम्पादक तर्क-वितर्क करके उक्त परिवर्तन को सही कहते हैं वे '**प्रथम संस्करण**' को ही नहीं, अपितु सभी ऋषि-ग्रन्थों की भाषा को बलात् अशुद्ध सिद्ध कर रहे हैं। प्रथम सं० की भाषा अशुद्ध है ही नहीं, किन्तु बोलचाल की है। दूसरी बात यह है कि साहित्य, शास्त्र और शास्त्रार्थ में अशुद्धि स्वीकार करने का अर्थ निग्रह स्थान में पड़ना और पराजित होना कहाता है जबकि साधारण व्यवहार में त्रुटि को स्वीकार करना उदारता गुण हो सकता है। तो क्या वे आर्यजन परिवर्तित इस वाक्य को बनाये रखने का आग्रह करके ऋषि को निग्रह-स्थिति में फंसाना चाहते हैं? ऐसे लोग ऋषि की शुद्ध भाषा की भी उपेक्षा करते हैं और मुंशी

न था। अब **इसको भाषा के व्याकरणानुसार अच्छे प्रकार जानकर अभ्यास भी कर लिया है, इसलिये[१] इस समय इसकी भाषा पूर्व से उत्तम हुई है।** कहीं-कहीं शब्द, वाक्यरचना का भेद हुआ है, वह करना उचित था;[२] क्योंकि उनका[३] भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी। परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है; प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो [-जो] प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह-वह निकाल-शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है।

यह ग्रन्थ १४ चौदह समुल्लासों[४] अर्थात् चौदह विभागों में रचित हुआ है। इसमें १० दश समुल्लास '**पूर्वार्द्ध**' और चार '**उत्तरार्द्ध**' में बने हैं, परन्तु **अन्त[५] के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे,** अब वे भी छपवा दिये हैं।

१. प्रथम समुल्लास[६] में ईश्वर के 'ओङ्कार'-आदि नामों की व्याख्या।

२. द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।

३. तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठन-पाठनव्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।

जी आदि को उनसे बड़ा प्रामाणिक विद्वान् मान लेते हैं। ऋषि की भाषा में आस्था-श्रद्धा न होने का यह एक प्रमाण है।

कोई चिन्तनरहित आग्रही व्यक्ति यहां यह कुतर्क भी कर सकता है कि इस प्रकाशित पाठ को ऋषि ने देख लिया था, अतः स्वीकार्य है। उसको यह भी सोच लेना चाहिए कि ऋषि ने तो पृ० ३२० तक प्रकाशित द्वितीय संस्करण को देख लिया था, अतः फिर तो वह भी यथावत् स्वीकार्य होना चाहिए, उसमें भी आपको एक अक्षर के परिवर्तन का अधिकार नहीं है, जबकि सत्य यह है कि सभी सम्पादकों ने उसमें हजारों परिवर्तन कर लिये हैं। जब तक ऐसे कुतर्क और दुराग्रह प्रस्तुत किये जाते रहेंगे तब तक सत्यार्थप्रकाश की स्थिति में कोई सुधार नहीं होगा।

१. **वर्तनी सम्बन्धी अनेक अशुद्ध परिवर्तन**—महर्षि के समय हिन्दी भाषा में क्रिया-प्रयोगों तथा अन्य कुछ शब्दों में '**ये**' वर्ण प्रयुक्त होता था, जैसे—किये, दिये, लीजिये, कीजिये, 'जायगा' इसलिये आदि। मूल और मुद्रण दोनों हस्तलेखों में यही वर्तनियां हैं। कुछ आधुनिक सम्पादकों-प्रकाशकों ने अपने संस्करणों में '**ये**' के स्थान पर आधुनिक भाषा का '**ए**' अक्षर कर दिया है, जैसे—किए, दिए, कीजिए, चाहिए, इसलिए, जाए, जाएगा आदि। इससे सत्यार्थप्रकाश का ऋषि-कालीन भाषिक स्वरूप व इतिहास नष्ट होकर वह परवर्ती कालखण्ड की रचना मानी जाने लगेगी। सम्पादकों ने दोनों संस्करणों में कहीं '**ए**' और कहीं '**ये**' वर्तनी देकर भाषागत अव्यवस्था उत्पन्न करके भाषा की एकरूपता और मानकता को भी नष्ट कर दिया है। इस संस्करण में यह अव्यवस्था दूर कर दी है और महर्षि कालीन वर्तनियों को एकरूपता के साथ रखने का प्रयास किया है।

२. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—दोनों हस्तलेखों में ''**वह करना उचित था**'' मूल पाठ था, द्विप्र० में व्यर्थ ही ''**सो करना उचित था**'' शिथिलपरिवर्तन कर दिया। इस पाठान्तर में कोई भाषा एवं अर्थवैशिष्ट्य नहीं है, अतः ग्राह्य नहीं है।

३. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर एवं अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**उसके**'' और द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**इसके**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग हैं। यहाँ '**शब्द**' और ''**वाक्यरचना**'' इन दो भेदों के सम्बन्ध से '**उनका**' यह बहुवचनात्मक प्रयोग चाहिए।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों और तीनों संस्करणों तथा सभी द्वि०संस्करणों में एकवचनान्त ''**समुल्लास**'' प्रयोग है। चौदह संख्या के साथ बहुवचन अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे ''**चौदह समुल्लासों**'' बहुत्र शुद्ध प्रयोग है। द्रष्टव्य पृ० ८ पर बारहवीं पंक्ति, पृ० १२ पर पांचवीं पंक्ति में शुद्ध प्रयोग। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता एवं मानकता के लिए यह संशोधन आवश्यक है।

५. **अपप्रयोग**—''**अन्त**'' के स्थान पर ''**अन्त्य**'' अपप्रयोग सभी सं० में है। ''**अन्त्य**'' का अर्थ '**अन्त के**' होता है विशेषण के साथ ''**के**'' कारक-प्रत्यय प्रयुक्त नहीं होगा। **संशोधन-पुष्टि**—सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनेक बार शुद्ध प्रयोग ''**अन्त का**'' ''**अन्त में**'' हैं (द्र०पृ० ८/१२, ५०९/१७ आदि), ''अन्त्य'' अर्थात् '**अन्तिम**' अर्थ होता है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह० में यहां ''**प्रथम समुल्लास में**'' पाठ है, उसके बाद '**२में, ३में**' आदि पाठ है, मुद्रणह० में प्रथम के बाद ''**समु०**'' यह संक्षिप्त रूप अंकित है। वही द्वि०सं० में छप रहा है। इस सं० में ''**समुल्लास**'' पूर्ण पद का प्रयोग है।

४. चतुर्थ समुल्लास में [समावर्तन][१] विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार।

५. पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का विधि[२]।

६. छठे समुल्लास में राजधर्म।

७. सप्तम समुल्लास में वेद-ईश्वर विषय।

८. अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय।

९. नवम समुल्लास में विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।

१०. दशवें समुल्लास में आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य विषय।

११. एकादश समुल्लास में आर्यावर्तीय मतमतान्तरों[३] के खण्डन-मण्डन का विषय।

१२. द्वादश समुल्लास में चार्वाक[४], बौद्ध और जैन-मत का विषय।

१३. त्रयोदश समुल्लास में ईसाई-मत[५] का विषय।

१४. चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय।

और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्यों के सनातन वेदविहित-मत की विशेष[६] व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत् मानता हूँ।[७]

मेरा इस ग्रन्थ के[८] बनाने का प्रयोजन सत्य-अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना 'सत्य अर्थ का प्रकाश' समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० तथा प्रायः सभी अन्य सं० में '**समावर्तन**' पद त्रुटित रह गया है। विषय की दृष्टि से यह प्रयोग अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रमाण द्रष्टव्य है तृतीय समु० के अन्त का अग्रिम विषय-संकेतक वाक्य तथा चतुर्थ समुल्लास का संस्कृत में विषयसंकेतक आदिवाक्य और समापन वाक्य। वहां सर्वत्र '**समावर्तन**' पद पठित है।

२. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने '**विधि**' शब्द का पुंल्लिंग में प्रयोग किया है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा अन्य सभी सं० में यहाँ ''**की विधि**'' प्रयोग है जो महर्षि की स्वीकृत शैली के विरुद्ध है। कहीं-कहीं जो स्त्रीलिंग का प्रयोग मिलता है वह लिपिकर के प्रमादवश है। इस संस्करण में भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता तथा मानकता के लिए सर्वत्र पुंल्लिग को ही ग्रहण किया है। (टिप्पणी द्र० पृ० १५२ पर)।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० व तीनों सं० में यहां ''**मतमतान्तर**'' पाठ में बहुवचन अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे भूमिका में कई बार बहुवचन में शुद्ध प्रयोग है—''**मतमतान्तरों**'' (पृ० ११, पंक्ति ६, ७, १०) आदि। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता, मानकता के लिए यह संशोधन आवश्यक है। जैसे पृ० ११/१० में संशोधन कर लिया है वैसे यहां भी करना अपेक्षित है।

४. **एक वर्तनी एवं पाठग्रहण**—सत्यार्थप्रकाश में सभी जगह ''**चारवाक**'' वर्तनी मिलती है। किन्तु पृ० ८४० पर समुल्लास-समाप्ति-संकेतक संस्कृत वाक्य में सभी सं० में ''**चार्वाक**'' शुद्ध वर्तनी है। व्याकरण और स्वयं चार्वाकदर्शन में स्वीकृत शुद्ध वर्तनी ''**चार्वाक**'' ही है, अतः व्यंग्य प्रयोग को छोड़कर शुद्ध वर्तनी ही ग्राह्य है। मूलप्रति हस्तलेख में यहां ''**चार्वाक**'' और ''**बौद्ध**'' पद नहीं हैं, मूलसं० में ग्रहण कर लिये हैं, ये अवश्य ग्राह्य हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ये पद हैं।

५. **मुद्रणकालीन अपवर्तनी**—द्विप्र० में ''**ईसाइमत**'' अपवर्तनी है, दोनों हस्त० में शुद्ध है, मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६. **मुद्रणलिपिकर-कृत अपपरिवर्तन**—मूलहस्तलेख में ''**विशेष**'' प्रयोग शुद्ध है। मुद्रण०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**विशेषतः**'' अपपरिवर्तन है। अन्त में केवल वेदविहित मत की विशेष व्याख्या है। यदि अनेक विषय वहां होते तब ''**विशेषतः**'' प्रयोग का औचित्य था, एक विषय में नहीं। ''**विशेषतः**'' पद तुलनात्मक अर्थबोधक है। द्र०पृ० १४ पंक्ति ११, पृ० १५ पंक्ति ४,६ में शुद्ध प्रयोग। सभी द्वि०संस्करणों में यह अपप्रयोग है। **पाठपुष्टि**—अन्त में इस प्रसंग में इन्हीं शब्दों का प्रयोग है—''**जिनका विशेष व्याख्यान**'' और ''**इसकी विशेष व्याख्या**'' (पृ० १३७/९, १०४७/१ आदि)।

७, ८. **ऋषिहस्तलेख**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**मेरा**'' ''**के**'' पद त्रुटित हैं। द्विप्र० में बढ़ाये हुए हैं जो ग्राह्य हैं।

किया जाय; किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत-वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त रहता है, इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं होता। इसीलिये विद्वानों [और][१] आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें।[२] पश्चात् मनुष्य[३] लोग स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके, सदा आनन्द में रहैं।[४]

यद्यपि[५] मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेहारा है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़, असत्य पर झुक जाता है,[६] परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है, और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि का तात्पर्य है;[७] किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें [यही मेरा तात्पर्य है][८]; क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्यजाति की उन्नति का कारण नहीं है।[९]

इस ग्रन्थ में[१०] जो कहीं-कहीं भूल-चूक से [कोई त्रुटि] अथवा शोधने[११] तथा छापने में भूल-चूक रह जाय, उसको जानने-जनाने पर, जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जायगा[१२]। और जो कोई

''**जिसको.... मानता हूँ**'' वाक्य मूलसं० में मुद्रणह० से गृहीत है। यह मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में लिखित है।

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में ''**विद्वान् आप्तों**'' अपप्रयोग है। यहाँ व्यापक अर्थ हेतु ''**विद्वानों और आप्तों**'' या '**आप्त विद्वानों**' शुद्ध पाठ अपेक्षित है। '**विद्वान्**', '**आप्तों**' का विशेषण नहीं बनता। पृ० ७२९ पर भी ''**विद्वान्**'' प्रयोग है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**कर देना**'' पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में निर्देशात्मक पाठ ''**कर दें**'' उपयुक्त है, क्योंकि आगे भी ''**रहैं**'' प्रयोग निर्देशात्मक है।

३. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—''**मनुष्य लोग**'' के स्थान पर '**वे**' सर्वनाम द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्तित है, जो व्यर्थ है। ''**मनुष्य लोग**'' अधिक सटीक-स्पष्ट पाठ है। ये पद ऋषि के हाथ से लिखे हुए हैं, उनमें पाठान्तर व्यर्थ है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—''**इसीलिये विद्वानों.....आनन्द में रहैं**'' तक पाठ मूलह० में नहीं है, मूलसं० में मुद्रणह०, द्विप्र० से गृहीत है। यह मुद्रणप्रति में ऋषि के हस्तलेख में लिखित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० द्वि०सं० में ''**यद्यपि**'' पद त्रुटित है। **संशोधन-पुष्टि**—मूलह० में है और अग्रिम ''**तथापि**'' प्रयोग के सम्बन्ध से आवश्यक है। शुद्ध प्रयोग पृ० ११ पंक्ति १० में द्रष्टव्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह पद त्रुटित है।

६. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर एवं मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणकाल में ''**जाननेहारा**'' के स्थान पर ''**जानने वाला**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**असत्य पर झुक जाता है**'' शुद्ध पाठ था। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**असत्य में झुक जाता है**'' अपपरिवर्तन है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में है।

७. **अपप्रयोग**—मूलह० मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**किसी की हानि पर तात्पर्य है**'' अपप्रयोग है। ''**हानि का**'' शुद्ध है।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित रह गया है। अतः यह परिवर्धन ग्राह्य है।

९. **ऋषिहस्तलेख**—मूलसं० में यह वाक्य मुद्रणह० से ग्रहण किया है। यह मुद्रणप्रति में ऋषि के हस्तलेख में है।

१०. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्वि०सं० में, मूलप्रति सं० के '**और**' के स्थान पर ''**इस ग्रन्थ में**'' संशोधित पाठ है। यह ग्राह्य है।

११. **अपवाक्य**—मूलहस्त०, मुद्रणहस्त० और मूलप्रति सं० में यहाँ '**शोधक**' अपपाठ है। कुछ सं० में '**शोधने**' उचित संशोधन है। द्विप्र० में एक ही वाक्य में दो बार ''**भूल-चूक से.....भूलचूक रह जाये**'' अपरचनात्मक वाक्य बन गया है। उपर्युक्त वाक्य सही है। अन्य सभी वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं०, द्वि०सं० आदि में यह अपपाठ है।

१२. **अपवर्तनी**—द्वि०सं० में ''**जायेगा**'' वर्तनी ग्रन्थकार की स्वीकृत वर्तनी के अनुकूल नहीं। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां तथा

पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा, उस पर ध्यान न दिया जायगा। **हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा, उसको सत्य-सत्य समझने पर, उसका मत संगृहीत होगा।**

यद्यपि[१] आज-कल[२] बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत[३] में हैं, वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र-सिद्धान्त अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल, सबमें सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें-वर्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर, अनेकविध[४] दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य[५] में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर, अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु—

''सत्यमेव जयते[६] नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः'' [मुण्डक-उप० ३।१।६]

=सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य से ही विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। इस दृढ़निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ-प्रकाश करने से नहीं हटते[७]। यह बड़ा दृढ़निश्चय है कि—

सम्पूर्ण ग्रन्थ में ''**जायगा**'' वर्तनी है जो महर्षि के लेखन-समय में प्रचलित थी। यही उपयुक्त है। ''**जायेगा**'' नवीन वर्तनी है।

१. **श्रवणभ्रान्ति से अव्यवस्थित वर्तनी**—इस भूमिका भाग में चार बार '**यद्यपि**' पद का प्रयोग हुआ है। महर्षि ने एक शुद्ध शब्द ही बोला होगा, किन्तु दोनों हस्त० में अव्यवस्थित-मति लिपिकरों ने दो बार ''**यद्यपि**'' लिखा है और दो बार तद्भव रूप में प्रयुक्त होने वाला ''**यदपि**'' लिखा है। अतः तीनों सं० में यही अव्यवस्थित प्रयोग-स्थिति है। भाषिक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए ''**यद्यपि**'' एक ही प्रयोग ग्राह्य है, क्योंकि ग्रन्थ में अन्यत्र बहुत्र ''**यद्यपि**'' प्रयोग है। यही शुद्ध हिन्दी में स्वीकृत है। युमी, विस, द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में भी यही अव्यवस्था है। वेस, भद, जग, जस में सभी का संशोधन कर दिया है, युमी, विस में एक संशोधित और एक असंशोधित है।

२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में और भूमिका में भी अधिकतर ''**आजकल**'' हिन्दी का प्रयोग मिलता है। कुछ स्थानों पर ''**आजकाल**'' वर्तनी भी है। यह गुजराती बोली का प्रयोग है। कई सम्पादकों वेस, जग, मूलसं० आदि ने संशोधन कर लिया है। भाषागत एकरूपता के लिए सर्वत्र हिन्दी का शुद्ध प्रयोग ''**आजकल**'' ही ग्राह्य है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**मतों**'' बहुवचन का प्रयोग अशुद्ध है। ''**प्रत्येक**'' के साथ एकवचन चाहिए।

४. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर ने यहां ''**अनेकविधि**'' प्रयोग लिखा है। ''**अनेकविध**'' अपेक्षित है। यह दुःख-सुख का विशेषण है। दुःख-सुख में बहुवचन होगा। द्विप्र० में संशोधित है।

५. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्विसं० में यहां ''**लक्ष**'' अपवर्तनी है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध वर्तनी पृ० ४७ पर ''**लक्ष्मी**'' नाम के निर्वचन में तथा पृ० ५८६/१९,२० में द्रष्टव्य है। मूलसं०, जग, जस, उदयपुर सं० में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह० और तीनों सं० में ''**जयति**'' प्रयोग है। उपनिषद् में ''**जयते**'' मूल पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—यही शुद्ध वर्तनी पृ० १०४६ पर प्रयुक्त है। वहां यही प्रमाण उद्धृत है। अतः भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए एक ही पाठ, और वह भी शुद्ध पाठ ही यहां ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में भी ''**जयते**'' प्रयोग है (पृ० ८३)। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस में शुद्ध पाठ है, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**हठते**'' अप-क्रियाप्रयोग है। हिन्दी में ''**हटना**'' अर्थ में '**हठ**' कोई धातु नहीं है, अतः सर्वत्र '**हटना**' प्रयोग ही शुद्ध है। द्वि०सं० और मूलसं० में कई स्थलों पर तो ''**हठते**'' के स्थान पर संशोधन करके ''**हटते**'' शुद्धरूप बना दिया है किन्तु कई स्थानों पर अशुद्ध ही है। यहां परोप० ५, मूलसं०, जग, विस, जस में ''**हटते**'' संशोधित कर दिया है। अन्यत्र संशोधन जैसे—वेस पृ० ३४, भद २७, द्वि०सं० २३, जग २५, विस २३५, जस २८ आदि। हिन्दी में '**हठते**' विपरीतार्थक क्रिया होने से विपरीत-अर्थ देती है। यहां भी इसका विपरीत अर्थ बनता है—'**सत्यार्थ प्रकाश करने से कभी नहीं हठते अर्थात् आग्रह नहीं करते और शिथिल रहते हैं।**' इसी प्रकार ''**विघ्न हठ जायें**'' (७०/१२) का अर्थ बनेगा

''यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्''[१] यह गीता का वचन है [१८।३७]।

इसका अभिप्राय यह है कि जो-जो विद्या और धर्मप्राप्ति के कर्म हैं, वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं; ऐसी बातों को चित्त में धरके मैंने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देखके, इस ग्रन्थ का सत्य-सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें।

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके, जो-जो सब मतमतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन-उनका खण्डन किया है। **इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मतमतान्तरों**[२] **की गुप्त वा प्रगट बुरी बातों का प्रकाश कर, विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सबसे सबका विचार होकर, परस्पर प्रेमी होके, एक सत्यमतस्थ होवें।**

यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ[३] **और वसता हूँ; तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों**[४] **की झूठी बातों का पक्षपात न कर, यथातथ्य**[५] **प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देश वा मत-वालों**[६] **के साथ भी वैसा ही वर्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी [वर्तता हूँ]**[७]**; तथा सब सज्जनों को भी वैसा वर्तना योग्य है।** क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकल के [मत-वाले][८] स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और [उसको][९] बन्द[१०] करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं

'विघ्न न हटें, बने रहें।' इसके विपरीत ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर '**हठ**' धातु के प्रयोग हैं जो शुद्ध अर्थ में हैं, जैसे—''**हठ से मांगते**'' (पृ० ६४६/९), ''**हठ-दुराग्रह....रहित**'' (पृ० ६४७/११)। **संशोधन-पुष्टि**—महर्षिकृत अन्य ग्रन्थों में ''**हट**'' ''**हटा**'' शुद्ध प्रयोग हैं। (संस्कार० पृ० १४९, ३०६)

१. **अप-उद्धरणपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**परिणामेमृतोपमम्**'' अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधित है। **ऋषिहस्तलेख**—''**श्रोता वा.....यथेष्ट करें**'' पाठ मूलसं० में मुद्रणह० से लिया है। यह मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में है।

२. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह० और द्विप्र० में यहां ''**जब मतान्तरों**'' अपप्रयोग है। यह मूललिपिकर से श्रवणभ्रान्ति से लिखा गया है। परोप० ३०, द्विसं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि सभी में ''**सब मतमतान्तरों**'' संशोधित है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**हुआ**'' क्रिया त्रुटित है। सभी द्वि०सं० में संशोधित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**मतमतान्तर**'' एकवचन-प्रयोग अशुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में बहुवचन संशोधित है। प्रमाणार्थ देखिए पृ० ८ पर टिप्पणी संख्या ३।

५. **अप-संशोधन**—दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में ''**यथातथ्य**'' प्रयोग है। द्वि०सं० में '**याथातथ्य**' अप-संशोधित है। हिन्दी में '**यथातथ्य**' भी प्रचलित है। **पाठपुष्टि**—पृ० ४५४ पर ''**यथातथ्य**'' प्रयोग है। शुद्ध प्रयोग पृ० ३६२ पर भी देखें।

६. **मुद्रणसमय अप-परिवर्तन**—द्विप्र० में यहां ''**मतोन्नति वालों**' अपपाठ है। अन्य सभी में संशोधित है। इसके पूर्व मुद्रणह०, द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में '**देशस्थ**' अपसंशोधन है। ''**देशस्थ....के**'' या ''**देशस्थ....वालों**'' के पाठ नहीं बनता।

७. **त्रुटित क्रिया**—तीनों सं० में कोष्ठान्तर्गत क्रिया त्रुटित है। **ऋषिहस्तलेख**—''**मनुष्योन्नति....योग्य है**'' मुद्रणप्रति में है।

८-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—यहां बृहत् कोष्ठान्तर्गत पद तीनों सं० में त्रुटित हैं। ये पद पूर्ण वाक्य हेतु आवश्यक हैं।

१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**दूसरे मत की.....बन्ध करने में**'' अपपाठ है। हिन्दी में ''**बन्ध**'' के स्थान पर ''**बन्द**'' प्रयोग वांछित है। आगे बहुश: '**बन्द**' का प्रयोग इस अर्थ में महर्षि ने किया है। हिन्दी में '**बन्ध**' शब्द 'मुक्ति' से विपरीत अर्थ में विकसित हो चुका है, जैसे—'**मुक्ति और बन्ध**'। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए '**बन्द**' पाठ ही सर्वत्र ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—''**बंद**'' (पृ० ९२२/२) ''**बंद**'' पर आधारित ''**बंदीघर**'' (स०प्र०पृ० ६४८/१९, ६९३/११) आदि प्रयोग शुद्ध हैं। मूलहस्तलेख पृ० ५१४ (इस शोध सं० में पृ० ६९३) पर तो यह शब्द ऋषि ने स्वयं अपने हाथ से लिखा है। अधिकतर सम्पादकों वेस, भद, जग आदि ने कई स्थानों पर संशोधित कर लिया है (पृ० १०१, १७६ आदि)

भी होता; परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से **बहिः** हैं।[१] क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य-शरीर पाके वैसे ही[२] कर्म करते हैं, तो वे मनुष्य-स्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं। **और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही 'मनुष्य' कहाता है। और जो स्वार्थवश होकर परहानि-मात्र करता रहता है, वह जानो[३] 'पशुओं का बड़ा भाई'** है।

आर्यावर्तीयों[४] के विषय में विशेषकर ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है। इन समुल्लासों में जो सत्यमत प्रकाशित किया है, वह वेदोक्त होने से मुझको सर्वथा मन्तव्य है, और जिन नवीन पुराण, तन्त्रादि ग्रन्थोक्त बातों का खण्डन किया है, वे त्यक्तव्य हैं।[५]

यद्यपि जो १२ वें समुल्लास में चार्वाक का मत लिखा है[६] वह इस समय क्षीणास्त-सा है, और यह चार्वाक बौद्ध-जैन से बहुत सम्बन्ध 'अनीश्वरवाद'-आदि में रखता है।[७] यह चार्वाक सबसे बड़ा नास्तिक शिरोमणि है। इसकी चेष्टा को रोकना आवश्यक[८] है; क्योंकि **जो मिथ्या बात न रोकी जाय, तो संसार में बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जायं।**

चार्वाक का जो मत है वह बौद्ध और जैन का मत है,[९] वह भी १२वें समुल्लास में संक्षेप से लिखा गया है। और बौद्धों का भी जैनियों और चार्वाक के मत के साथ मेल है,[१०] और कुछ थोड़ा-सा विरोध

---

१. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में यहां "**बहिः**" प्रयोग के स्थान पर "**बाहर**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। **पाठपुष्टि**—मूलह०, मुद्रणह० तथा सभी सं० में अन्तिम अनुच्छेद में "**बहिः**" (पृ० १६/१६) पाठ यथावत् रखा हुआ है। महर्षिप्रोक्त प्रयोग "**बहिः**" अनेक स्थलों पर अब भी ग्रन्थ में विद्यमान है। (द्र०पृ० ९४३/७, १०४५/१६ भी)।

२. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, द्वि०सं० में यहां "**वैसा ही**" अपप्रयोग है, "**वैसे ही**" बहुवचनान्त ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**जानो**" परिवर्धित पद है, जो सार्थक होने से ग्राह्य है। मूलप्रति सं० में नहीं है।

४. **व्यर्थ प्रयोग व उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**अब आर्यावर्त के**" अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है—'**अब आर्यावर्तीयों के**'। यही शुद्ध और ग्राह्य है। इस वाक्य में "**अब**" अनावश्यक प्रयोग है।

५. **अपप्रयोग एवं उचित परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**है**" क्रिया परिवर्धित है। यह मूलप्रति सं० में नहीं है। यह वाक्यपूर्ति के लिए ग्राह्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**जो कि सत्यमत**" में "**कि**" अनावश्यक प्रयोग है। इसी प्रकार "**जो नवीन**" के स्थान पर "**जिन नवीन**" पाठ अपेक्षित है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**लिखा है वह**" पाठ त्रुटित है। इसके बिना उचित एवं पूर्ण वाक्य संरचना नहीं होती। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पाठ विद्यमान है। उदयपुर सं० में परिवर्धित कर लिया है।

७. **ऋषि-हस्तलेख**—"**चार्वाक का मत.....रखता है**" पाठ मूलह० में ऋषि-हस्तलेख में है।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा सभी अन्य द्वि०सं० में यह अपवाक्य है—"**उसकी चेष्टा को रोकना अवश्य है**"। यहां पूर्वोक्त '**यह**' पद के सम्बन्ध से '**इसकी**' और '**आवश्यक**' विशेषणात्मक प्रयोग शुद्ध हैं। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० २४/२, ९५७/९, ९६५/९ आदि में ग्रन्थकार द्वारा कृत शुद्ध प्रयोग है।

९. **सम्पादकों द्वारा अपपरिवर्तन—परोप० ४, स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस वाक्य में कुछ पदों का परिवर्धन करके यह परिवर्तन किया है—"**चार्वाक का जो मत है वह तथा बौद्ध जैन का जो मत है, वह भी १२वें समुल्लास में बौद्धों तथा जैनियों का भी.....।**" यहां महर्षिप्रोक्त मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ स्पष्ट और पूर्ण है। उसको गम्भीरता से समझा नहीं गया है। क्रमशः ऋषि यह कह रहे हैं कि चार्वाक का ही मत बौद्ध और जैन का है तथा चार्वाक के मत से बौद्ध और जैन का मेल है, बौद्ध से जैन और चार्वाक का तथा जैन से चार्वाक और बौद्ध का मेल है। इनको बारहवें समुल्लास में एक साथ लिखा है, क्योंकि इनकी अधिकांश मूल बातें एक जैसी हैं। वेस द्वारा कृत इसी अप-परिवर्तन का अनुकरण जग, युमी, विस, जस, भद, '**उदयपुर सं०**' में किया गया है।

१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**बौद्धों और जैनियों का भी चार्वाक के मत के साथ मेल है**"। ग्रन्थकार का बारहवें समुल्लास में वर्णनक्रम यह है कि उन्होंने पहले चार्वाक, फिर बौद्ध और फिर जैनमत के साम्य-वैषम्य की

भी है। और जैन-मत भी बहुत-से अंशों में चार्वाक और बौद्धों के साथ मेल रखता है; और थोड़ी-सी बातों में भेद है। इसलिये जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है। वह भेद १२वें समुल्लास में लिख दिया है, यथायोग्य वहीं समझ लेना। जो इनका वैभिन्न्य है, सो भी[१] बारहवें समुल्लास में दिखलाया है। बौद्धमत और जैनमत का विषय भी लिखा है।[२]

इनमें से बौद्धों के '**दीपवंश**'-आदि प्राचीन ग्रन्थों से[३] बौद्धमत संग्रह '**सर्वदर्शनसंग्रह**' में दिखलाया है, उसमें से यहाँ लिखा है। और जैनियों[४] के निम्नलिखित सिद्धान्तों के पुस्तक हैं, उनमें से—

४ (चार) मूल सूत्र[५]—१. आवश्यक सूत्र, २. विशेष आवश्यक सूत्र, ३. दशवैकालिक सूत्र, और ४. पाक्षिक सूत्र।

११ (ग्यारह) अङ्ग—१. आचारांगसूत्र, २. सुगडांगसूत्र,[६] ३. थाणांगसूत्र, ४. समवायांगसूत्र, ५. भगवतीसूत्र, ६. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ७. उपासकदशासूत्र, ८. अन्तगड़दशासूत्र, ९. अनुत्तरोववाईसूत्र, १०. विपाकसूत्र और ११. प्रश्नव्याकरणसूत्र।

१२ (बारह) उपाङ्ग—१. उपवाईसूत्र, २. रावप्सेनीसूत्र, ३. जीवाभिगमसूत्र, ४. पन्नगणासूत्र, ५. जम्बुद्वीपपन्नतिसूत्र, ६. चन्दपन्नतिसूत्र, ७. सूरपन्नतिसूत्र, ८. निरियावलीसूत्र, ९. कप्पियासूत्र, १०. कपबड़ीसयासूत्र, ११. पुप्पियासूत्र और १२. पुप्पचूलियासूत्र।

चर्चा की है, चार्वाक की पहले हो चुकी। इस वाक्य में बौद्ध मत का कथन है, अत: यह वाक्य ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल नहीं है। इसका संशोधन आवश्यक था, अन्यथा अगला जैनमत का वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। अगले जैन-मत-सम्बन्धी वाक्य से यह संकेत मिलता है कि यह पहला केवल बौद्ध-सम्बन्धी वाक्य है और यह उसी शैली में होना चाहिए।

१. **अपपाठ और अपपरिवर्तन**—तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य मिलता है—''**जो इसका भिन्न है सो-सो**''। यह पाठ इस प्रकार उपयुक्त है—''**जो इनका वैभिन्न्य है सो**''। '**जो**' के सम्बन्ध से एक बार '**सो**' प्रयोग भी अभीष्ट है। वेस, भद, जग में ''**जो इसका भेद हैं**'' अप-परिवर्तन है। जस में यह पाठ ही उड़ा दिया है। युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

२. **ऋषिहस्तलेख व विस्तार**—मूलप्रति में ''**यद्यपि जो १२वें समुल्लास में.....विषय भी लिखा है**'' तक पाठ एक-दो पंक्तियों में है। यह मुद्रण-हस्त० में बढ़ाया गया है। ''**जो इनका.....दिखलाया है**'' मूलह० में ऋषिहस्तलेख में है।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह० और तीनों सं० में यहां ''**ग्रन्थों में बौद्धमत संग्रह**'' अपप्रयोग है। यहां '**से**' कारक प्रत्यय होना चाहिए। वेस, भद, युमी, जग, विस, उदयपुर सं० में भी अपपाठ है। जस ने पाठ विकृत करके स्वच्छन्दता से नया बनाया है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—''**इनमें से....और जैनियों**'' पाठ मूलह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर और अपपद**—दोनों हस्त० में यह पद नहीं है। द्विप्र० में सिद्धान्तग्रन्थों के शीर्षक के आगे नौ बार ''**जैसे**'' उदाहरण बोधक पद जोड़ा है, जो निरर्थक है। यहां उदाहरण नहीं है, अपितु संख्या में पूर्ण ग्रन्थ हैं।

६. **अव्यवस्थित वर्तनियां**—लिपिकरों और शोधकों के प्रमाद से, दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में जैनग्रन्थों के अनेक नामों की वर्तनियों में अराजकता मिलती है, जैसे—सुयगडांगसूत्र' (मूलह०, मूलसं०) 'सुगडांगसूत्र', (द्वि०सं०) 'सुयड़ाणांगसूत्र' (द्विप्र०)। 'थाणांग सूत्र' (मूलह० मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०) 'ठाणांगसूत्र' (मूलसं०)। 'उपवाईसूत्र' (मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०), 'उववाईयसूत्र' (मूलसं०)। 'रावप्सेनीसूत्र' (मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्विप्र०), 'रायपसेनीसूत्र' (मूलसं०)। 'जम्बूद्वीपपण्णतिसूत्र' (मूलसं०), 'जम्बुद्वीपपन्नतीसूत्र' (मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०)। 'चन्दपन्नतिसूत्र' (मूलसं०) 'चन्दपन्नतीसूत्र' (मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०); किन्तु द्विप्र० ४५६, द्वि०सं० ३१६, मूलसं० ५६१ पर 'चन्दपन्नति' वर्तनी है जो 'प्रकरण रत्नाकर' के अनुसार शुद्ध है। 'सूरियपण्णतिसूत्र' (मूलसं०) 'सूरपन्नतीसूत्र' (मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०); किन्तु द्विप्र० ४३६, द्वि०सं० ३१६, मूलसं० ५६१ पर 'सूरपन्नति' वर्तनी है। 'निरियावलीसूत्र' (मूलह०, मुद्रणह० द्विप्र० द्वि०सं०), 'निरीयावलिकासूत्र' (मूलसं०) मूलसं में 'पुप्पियासूत्र' वर्तनी है जबकि अन्य सभी में 'पुप्पियासूत्र' है। मूलह० और मूलसं० में 'पुप्पचूलियासूत्र' शुद्ध वर्तनी है जबकि अन्य सभी में 'पुप्यचूलियासूत्र' अशुद्ध है। यह अशुद्धि मुद्रणलिपिकर से हुई है जो बाद के सं० में उसी प्रकार छप रही है। 'पिंडनिरुक्तीसूत्र' 'औघनिरुक्तीसूत्र' 'निरुक्ती' मूलह० में वर्तनियां हैं। मुद्रणह० में लिपिकर ने यही वर्तनियां लिखी

५ (पाँच) कल्पसूत्र—१. उत्तराध्ययनसूत्र, २. निशीथसूत्र, ३. कल्पसूत्र, ४. व्यवहारसूत्र और ५. जीतकल्पसूत्र।

६ (छः) छेद—१. महानिशीथबृहद्वाचनासूत्र, २. महानिशीथलघुवाचनासूत्र, ३. मध्यमवाचनासूत्र, ४. पिण्डनिरुक्तिसूत्र, ५. औघनिरुक्तिसूत्र, ६. पर्यूषणासूत्र।

१० (दश) पयन्न-सूत्र—१. चतुस्सरणसूत्र, २. पञ्चखाणसूत्र, ३. तदुलवैयालिकसूत्र, ४. भक्तिपरिज्ञानसूत्र, ५. महाप्रत्याख्यानसूत्र, ६. चन्दाविजयसूत्र, ७. गणीविजयसूत्र, ८. मरणसमाधिसूत्र, ९. देवेन्द्रस्तवनसूत्र, और १०. संसारसूत्र तथा नन्दीसूत्र, अनुयोगोद्धारसूत्र भी प्रामाणिक मानते हैं।

५ पञ्चाङ्ग—१. पूर्व सब ग्रन्थों की टीका, २. निरुक्ति, ३. चरणी, ४. भाष्य; ये चार अवयव और सब '**मूल**' मिलके 'पञ्चाङ्ग' कहाते हैं।

इनमें '**ढूंढिया**' अवयवों को नहीं मानते। और इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थ हैं कि जिनको जैनी लोग मानते हैं। इनके मत पर विशेष विचार[१] बारहवें समुल्लास में देख लीजिये।

जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्त-दोष हैं। और इनका[२] यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत-वाले के हाथ में हो, वा छपा हो, तो कोई-कोई उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं। यह बात उनकी मिथ्या है; क्योंकि जिसको कोई माने, कोई न माने[३], इससे वह ग्रन्थ जैनमत से बाहर[४] नहीं हो सकता। हाँ, जिसको कोई न माने[५] और न कभी किसी जैनी ने माना हो, तब तो अग्राह्य हो सकता है; परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है कि जिसको कोई भी जैनी न मानता हो। इसलिये जो जिस ग्रन्थ को मानता होगा, उस ग्रन्थस्थ विषयक खण्डन-मण्डन भी उसी के लिये समझा जाता है; परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते-जानते हों, तो भी सभा वा संवाद में बदल जाते हैं। इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं, दूसरे मतस्थ को न देते, न सुनाते, न पढ़ाते; इसलिये कि उनमें

थीं, किन्तु शोधक का प्रमाद देखिए कि पहले नाम की वर्तनी को शुद्ध करके उसमें लघु 'इ' की मात्रा बना दी जबकि अगली दोनों अशुद्ध हैं। यही अशुद्ध स्थिति द्विप्र० की है। अब मूलसं० और द्वि०सं० में तीनों वर्तनियों को संशोधित कर दिया गया है। मूलसं० में 'पयन्नासूत्र' अशुद्ध है जबकि दोनों हस्तलेखों, द्विप्र०, द्वि०सं० में 'पयन्नसूत्र' शुद्ध है। मूलह०, मूलसं० में 'अनुयोगोद्धारसूत्र' नाम है जबकि मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको 'योगोद्धारसूत्र' लिखा गया है। ग्रन्थनामों में मूलसं० में 'सूत्र' पद को पृथक् करके लिख दिया गया है जबकि अन्य सभी में 'सूत्र' पद नाम में संयुक्तरूप से लिखित है। विद्वान् और पाठक 'सत्यार्थप्रकाश' की इस लिपिकर व सम्पादककृत भाषागत अराजक स्थिति पर गम्भीरता से विचार करके देखें कि क्या यह प्रामाणिक स्थिति है कि अप्रामाणिक? सवा-सौ वर्षों में इसकी भाषा को एकरूप व सुव्यवस्थित क्यों नहीं किया जा सका? इस प्रश्न पर आर्य विद्वानों को चिन्तन करना चाहिए।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० और उदयपुर सं० में यह अपपाठ है—''**इनका विशेष मत पर विचार**''। परोप० ४ में उक्त शोधन किया है। **ऋषिहस्तलेख**—''**जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्त दोष हैं**'' मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में ''**इनमें**'' अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**इनका**'' शुद्ध है।

३,५. **मुद्रणलिपिकरकृत और मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—मुद्रण-लिपिकर ने इन वाक्यों में अनावश्यक परिवर्तन किया—''**कोई माने, कोई नहीं**'' इससे पहले ''**जिसको**'' पद छोड़ दिया। मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह पाठ विकृत कर दिया—''**कोई न माने, कोई नहीं इससे.....कोई माने और न कभी जैनी ने माना हो**'' बाद में द्वि०सं० में इसको ग्रहण कर लिया है। मूलह०, मूलसं० में महर्षिप्रोक्त पूर्ण एवं शुद्ध पाठ है। वह ग्राह्य है।

४. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्तलेखों व तीनों सं० में यहां ''**बाहर**'' वर्तनी है। ग्रन्थ में ''**बाहिर**'' वर्तनी भी है (पृ० ८२२)। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए '**बाहर**' ग्राह्य है, यद्यपि भाषा-प्रयोग की दृष्टि से दोनों शुद्ध हैं।

ऐसी-ऐसी असम्भव बातें भरी हैं जिनका कोई भी उत्तर जैनियों में से नहीं दे सकता। **झूठ बात का छोड़ देना ही उत्तर है।**

१३वें समुल्लास में ईसाइयों का मत लिखा है। ये लोग '**बाइबल**' को अपना धर्मपुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी तेरहवें समुल्लास में देखिये।

और चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मतविषय में लिखा है। ये लोग '**कुरान**' को अपने मत का मूल पुस्तक मानते हैं। इनका भी विशेष व्यवहार १४वें समुल्लास में देखिये। और इसके आगे वैदिकमत-विषय में लिखा है।

जो कोई इस ग्रन्थ को कर्त्ता के तात्पर्य से विरुद्ध-मनसा से देखेगा,[१] उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा। क्योंकि वाक्यार्थबोध[२] में चार कारण होते हैं—**आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति** और

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में यह वाक्य सही है। मुद्रण-हस्तलेख में लिपिकर ने इसको बदलकर अपूर्ण और अशुद्ध बना दिया। तदनुसार द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में छपा है—''**जो कोई इस ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य से विरुद्ध मनसा से देखेगा**''। लिपिकर ने असावधानीवश परिवर्तन करके जो भाव इस वाक्य में प्रकट कर दिया वह ग्रन्थकार का है ही नहीं, यह पूर्वापरकथन से स्पष्ट ज्ञात होता है। ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि जिस अभिप्राय अथवा उद्देश्य से यह ग्रन्थ रचा है उस अभिप्राय के विरुद्ध ग्रन्थ को न देखें। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, इसी बात को दूसरे प्रकार से आगे तीसरी ही पंक्ति में पुनः स्पष्ट किया है—''**जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है.....उसको ग्रन्थ का अभिप्रायः...**''। व्याकरणानुसार मुद्रणलिपिकरकृत परिवर्तन इस कारण भी अशुद्ध है, क्योंकि उसमें '**कर्म**' या '**उद्देश्य**' रहा ही नहीं। इस अपूर्ण वाक्य को पढ़कर प्रश्न उठेगा—'**किसको देखेगा ?**' वह सम्पूर्ण वाक्य में कहीं नहीं रहा। और देखा ग्रन्थ जाता है, तात्पर्य नहीं। **पाठपुष्टि**—दशम समुल्लास के अन्त में भी ग्रन्थकर्त्ता ने इसी भाषा का प्रयोग किया है—''**इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्याय दृष्टि से देखेगा....**'' और ''**जो कोई इसको यथावत् विचारेगा वह इस ग्रन्थ को सुभूषित.....करेगा।**'' अतः मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर-निर्मित अशुद्ध पाठ नहीं। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर-निर्मित अपपाठ है। **मनसा**=मंशा, आशय।

२. **वाक्यार्थबोध में कारण**—वाक्य के अर्थ को समझने में कुछ सहायक तत्त्व होते हैं। वाक्य में उन गुणों के होने पर कोई वाक्य '**समर्थ वाक्य**' कहलाता है, ऐसा दार्शनिकों और काव्यशास्त्रियों का सिद्धान्त है। वे हैं—

(क) '**आकांक्षा**' के अर्थ हैं—'**इच्छा**', '**अपेक्षा**' और '**जिज्ञासा**'। वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह वक्ता के अभीष्ट पूर्ण अर्थ को प्रकट करें और पाठक की अर्थजिज्ञासा या अपेक्षा को पूर्ण कर सकें। आकांक्षा की पूर्ति के बिना वाक्य अपूर्ण और असमर्थ रहता है। काव्य में इसका उदाहरण दिया जाता है, जैसे—'**राम**'। यह वाक्य नहीं, क्योंकि इतना कहने से पाठक की जिज्ञासा पूर्ण नहीं होती। वह विचारता रह जाता है कि 'राम क्या करता है ?' 'क्या करना चाहता है ?' आदि। किन्तु जब वक्ता कहता है—'राम पुस्तक पढ़ता है' तो पूर्णवाक्य बन जाता है, जो पाठक की जिज्ञासा को पूर्ण करता है। ग्रन्थकार यहां कहना चाहते हैं कि वक्ता जो कहना चाहता है वाक्य में ऐसे पूर्ण पदों का प्रयोग होना चाहिए जो उस आकांक्षा को स्पष्ट करें और पाठक की जिज्ञासा को भी पूर्ण करें। ऐसा वाक्य '**आकांक्षा**' तत्त्व से युक्त होता है।

(ख) '**योग्यता**' का अर्थ है—'**क्षमता**'। वाक्य में प्रोक्त पदों में पारस्परिक सम्बन्ध को क्रियात्मक रूप देने की और प्रसंगानुकूल भाव का बोध कराने की क्षमता होनी चाहिए। '**वह आग से सींचता है**' इसमें शब्द तो सार्थक हैं किन्तु पारस्परिक सम्बन्ध की योग्यता नहीं है, क्योंकि आग से सींचा नहीं जाता; अतः इसको वाक्य नहीं माना जा सकता। '**वह जल से सींचता है**' सही वाक्य है। यह अर्थमूलक क्षमता का उदाहरण है। एक व्याकरणमूलक क्षमता भी होती है। उसे व्याकरणिक शुद्धता, अन्विति या एकरूपता कहा जाता है। वाक्य में कर्त्ता, कर्म, क्रिया, लिंग, विशेषण आदि की शुद्धतायुक्त क्षमता वाला पदसमूह ही वाक्य कहाता है, जैसे—'श्रीराम जाती है।' 'श्रीमती राम जाता है', 'सीता बैठा है', 'लोक-लोकान्तर को बनाये' 'सबको दास बनाये' 'वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किये' आदि वाक्य व्याकरणिक अयोग्यता के कारण वाक्य नहीं कहला सकते, अथवा कहिए कि ये अशुद्ध वाक्य हैं। अतः सही वाक्य वह होगा जिसमें '**योग्यता**' गुण हो।

(ग) '**आसत्ति**' का अर्थ है—'**समीपता**' या '**सन्निधि**'। वाक्य में प्रयुक्त पदों में समय और व्याकरणिक क्रम की दृष्टि से अन्वय या उचित निकटता होनी चाहिए। यदि '**राम गया**' वाक्य को कोई आज '**राम**' बोले और दूसरे दिन '**गया**' बोले, तो

तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर, जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, तब[१] उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है—

'**आकांक्षा**'—किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ पदों की आकांक्षा परस्पर होती है।

'**योग्यता**'—वह कहाती है कि जिससे जो हो सके; जैसे, जल से सींचना।

'**आसत्ति**'—जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसी के समीप उस पद को बोलना वा लिखना।

'**तात्पर्य**'—जिसके लिये वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना।

बहुत-से हठी-दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत-वाले लोग। क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फसके नष्ट हो जाती है। **इसलिये जैसा मैं पुराणों, जैनियों के ग्रन्थों, बाइबल और कुरान को[२] प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर, उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्यजाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है।**

इन मतों के[३] थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें। **क्योंकि एक मनुष्य-जाति में बहकाकर, विरोध-बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।**

यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे। इसलिये मैं अपने परिश्रम को सफल समझता हूँ और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता[४] हूँ। **इसको देख-दिखलाके, मेरे श्रम को सफल करें। और इसी प्रकार**

वह वाक्य नहीं होता। इसी प्रकार वाक्योक्त पदों में कर्त्ता, कर्म, विशेषण, क्रिया आदि की व्याकरणिक निकटता भी होनी चाहिए। '**है राम जाता दिल्ली प्रातःकाल प्रतिदिन**' वाक्य नहीं, क्योंकि इसमें पदों की उचित व्याकरणिक समीपता नहीं है। अतः सही वाक्य वही माना जायेगा जिसमें '**आसत्ति**' गुण हो।

(घ) '**तात्पर्य**' का अर्थ है—'**वक्ता का अभीष्ट उद्देश्य अथवा आशय।**' वक्ता ने वाक्य में जिस उद्देश्य और आशय से पदों का प्रयोग किया हो, पाठक को उनका उसी प्रसंगानुकूल और आशययुक्त अर्थ ग्रहण करना चाहिए। मन्तव्य या प्रसंगविरुद्ध और उद्देश्य या आशय-विरुद्ध अर्थ वक्ता का अभीष्ट नहीं माना जाता। इस प्रकार '**तात्पर्य**' भी अर्थग्रहण में सहायक एक तत्त्व है। ग्रन्थकार द्वारा पृ० २३ पर दिया गया '**हे भृत्य! त्वं सैन्धवम्-आनय**'='हे सेवक! तू सैन्धव ले आ' उदाहरण इसको समझने के लिए उपयोगी है। 'सैन्धव' के 'घोड़ा' और 'नमक' दो अर्थ होते हैं। भोजन के समय घोड़ा और जाने के समय नमक ले आना, वक्ता के तात्पर्य के विरुद्ध है। यह प्रकरण का उदाहरण है। समर्थ व प्रामाणिक वाक्य वही है जो स्वयं में भावबोधक हो।

१. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में ''**तब**'' पद त्रुटित है। '**जब**' के साथ '**तब**' अपेक्षित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित है।

२. **अपवर्तनी व अपपाठ**—दोनों हस्त० व दोनों द्वितीय सं० में यह अपपाठ है—''**जैसा मैं पुरान, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबल और कुरान को**''। यहां अयोग्य लिपिकरों द्वारा लिखित अशुद्ध वर्तनी मूलसं० में संशोधित कर दी है। द्विप्र०, द्वि०सं० में अभी अशुद्ध वर्तनी '**पुरान**' है। अन्य सभी सं० में संशोधित कर दी गई वर्तनी ''**पुराण**'' है। किन्तु '**पुराण**' नहीं, '**पुराणों**'; '**ग्रन्थ**' नहीं, '**ग्रन्थों**' बहुवचनान्त शुद्ध प्रयोग वांछनीय हैं।

३. **ऋषि-हस्तलेख**—''**प्रयत्न करता.....इन मतों के**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में ''**धर्त्ता**'' अपप्रयोग है। द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में

पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना[१] मुझ वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है।

सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे।[२]

॥ अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्-विद्वद्वरशिरोमणिषु॥[३]

॥ इति भूमिका॥

दयानन्दसरस्वती[६]

स्थान महाराणा जी का उदयपुर[४]
भाद्रपद, शुक्लपक्ष, सम्वत् १९३९[५]

(स्वामी) दयानन्द सरस्वती[७]

संशोधित है। "**धर्त्ता**" विशेषण है, जबकि यहां क्रिया अपेक्षित है, और क्रिया की वर्तनी '**धरता**' ही होती है। अयोग्य लिपिकरों ने अयोग्यता से यह अशुद्धि की है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध क्रिया-प्रयोग "**धरता**" के लिए द्रष्टव्य है पृ० ७३०/१९।

१. **मुद्रणकाल में अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**सत्यार्थ का प्रकाश करके मुझ वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है।**" अपपाठ है। दोनों हस्तलेखों में और मूलप्रति सं० में "**करना**" शुद्ध है। यह मुद्रण के समय हुई अशुद्धि है। प्राय: सभी सं० में इसका संशोधन कर लिया गया है। किन्तु **युमी, द्वि०सं०** ने इस अतिस्पष्ट अशुद्धि का संशोधन नहीं किया है। मुद्रणलिपिकर द्वारा मूलहस्तलेख से मुद्रणप्रति बनाते समय लगभग २००० पाठ परिवर्तित किये गये हैं और द्वितीय संस्करण (१८८४) में कई हजार मुद्रणदोष उत्पन्न हो गये हैं, उन सबका निराकरण होने पर ही सत्यार्थप्रकाश का 'शुद्धतम संस्करण' बन पायेगा।

२. **पाठग्रहण**—मूलहस्त० में भूमिका संक्षिप्त है, मुद्रणहस्त० में उसका कुछ परिवर्धन किया गया है। मुद्रणहस्त० की वही विस्तारित भूमिका मूलप्रति सं० और द्वि०सं० में प्रकाशित की गई है।

३. **मीमांसक जी का ग्राह्य विचार**—पं० मीमांसक जी के मतानुसार, दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ मिलता है। शोधकों ने भी इसके शोधन में प्रमाद किया है—"**बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु**"। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का विचार है कि यहां प्रसिद्ध और पूर्ण कथन "**बुद्धिमद्विद्वद्वरशिरोमणिषु**" पाठ होना चाहिए था, जो शीघ्रता में लिपिकर से अशुद्ध लिखा गया है। पं० जी का यह कथन उचित प्रतीत होता है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थ में पर्यायवाची पद के भेद से ठीक ऐसा ही प्रयोग आगे भी किया गया है—"**विपश्चिद्वरशिरोमणिषु**" (पृ० ५१२, एकादश समुल्लास की अनुभूमिका के अन्त में)

४-७. **मुंशी जी का लेख**—४,५,६ संख्यांक की पंक्तियों में अंकित स्थान, विवरण, तिथि तथा नाम तीनों ही हस्तलेखों में नहीं हैं। प्रकाशन के समय मुद्रणहस्तलेख में इनको मुंशी समर्थदान जी ने अपने हाथ से लिखा है। मास, पक्ष और संवत् भी उसी समय लिखा गया है। मुद्रणप्रति में '**शुक्लपक्ष**' का उल्लेख नहीं है, खाली स्थान छोड़ा हुआ है। प्रकाशित प्रति में यहां "**भाद्रपद शुक्लपक्ष, संवत् १९३९**" लिखा मिलता है। जो यह संकेत देता है कि मुद्रण प्रारम्भ करने से पूर्व ये पाठ जोड़े हैं। महर्षि ने उदयपुर निवास के समय प्रेसप्रति के भूमिका के ५ पृष्ठ और सत्यार्थप्रकाश के आरम्भिक ३२ पृष्ठ भाद्रपद कृष्णपक्ष १, मंगलवार, संवत् १९३९ (२९ अगस्त १८८२) को प्रकाशनार्थ मुंशी समर्थदान को डाक द्वारा प्रयाग स्थित यन्त्रालय में प्रेषित किये थे। भाद्रपद शुक्लपक्ष में उन्होंने मुद्रण प्रारम्भ करने का विचार किया। तभी ये मास, पक्ष आदि लिखे गये। प्राय: सभी संस्करणों में भूमिका के अन्त में ग्रन्थकार का नाम प्रकाशित अक्षरों में मिलता है। परोपकारिणी सभा के संस्करण ३७-३९ में ऋषि के हस्ताक्षरों की अनुकृति भी अंकित कर दी है ताकि सत्यार्थप्रकाश में ऋषि के हस्ताक्षर का नमूना भी सुरक्षित रहे और पाठक उसको देख सकें। वस्तुत: भूमिका के अन्त में ऋषि ने स्वयं न नाम लिखा था, न हस्ताक्षर किये थे। मुंशी जी ने इन पंक्तियों में इतिहास को सुरक्षित करके महत्त्वपूर्ण प्रशंसनीय कार्य किया है।

—०—

प्रथम समुल्लास में वर्णित ईश्वर-नामों की वर्णानुक्रमणी

क्रम	नाम	पृष्ठ
१.	अक्षर	२७
२.	अग्नि	२०, २६, २८, ३०
३.	अज	४३
४.	अत्ता	३९
५.	अदिति	३२
६.	अद्वैत	४९
७.	अनन्त	४३
८.	अनादि	४४
९.	अन्तर्यामी	५०
१०.	अन्न	३९
११.	अन्नाद	३९
१२.	अर्यमा	३४
१३.	आकाश	३९
१४.	आचार्य	४२
१५.	आत्मा	३६
१६.	आदित्य	२०, ३२
१७.	आनन्द	४५
१८.	आप्त	५२
१९.	इन्द्र	२६, २७, २८, ३३, ३४
२०.	ईश्वर	२०, ३१, ३६
२१.	उरुक्रम	३४
२२.	ओम् (ओङ्कार)	२०, २४, २५ २६(४), २८, ५६, ५७
२३.	कवि	५२
२४.	काल	५१
२५.	कालाग्नि	२७
२६.	कुबेर	३८
२७.	कूटस्थ	४६
२८.	केतु	४१
२९.	खम्	२६
३०.	गणपति	४६
३१.	गणेश	४६
३२.	गरुत्मान्	२७
३३.	गुरु	४२, ४३
३४.	चन्द्र/चन्द्रमा	२७, ४०
३५.	चित्	४४
३६.	चिति	४७
३७.	जल	३८
३८.	ज्ञान	४३
३९.	तैजस	२०, ३१
४०.	दयालु	४८
४१.	दिव्य	२७
४२.	देव	३७
४३.	देवी	४६, ४७
४४.	धर्मराज	५०
४५.	नारायण	४०
४६.	नित्य	४५
४७.	निरञ्जन	४६
४८.	निराकार	४६
४९.	निर्गुण	४९
५०.	न्यायकारी	४७
५१.	परमात्मा	३६
५२.	परमेश्वर	३६
५३.	पिता	४२
५४.	पितामह	४२
५५.	पुरुष	२६, ५१
५६.	पृथिवी	३८
५७.	प्रजापति	२६
५८.	प्रज्ञ	३२
५९.	प्रपितामह	४२
६०.	प्राज्ञ	२०, ३२
६१.	प्राण	२६, २८
६२.	प्रिय	५२
६३.	बन्धु	४२
६४.	बुद्ध	४५
६५.	बुध	४०
६६.	बृहस्पति	३४, ४०
६७.	ब्रह्म	२६(२), ३४, ४३
६८.	ब्रह्मा	२६, ४३
६९.	भगवान्	५१
७०.	भू	२७, २८
७१.	भूमि	२७
७२.	मङ्गल	४०
७३.	मनु	२६, ५१
७४.	महादेव	५२
७५.	मातरिश्वा	२७
७६.	माता	४२
७७.	मित्र	३२, ३३, ३४
७८.	मुक्त	४५
७९.	यज्ञ	४१
८०.	यम	५१
८१.	राहु	४१
८२.	रुद्र	२७, ३९, ४०
८३.	लक्ष्मी	४७
८४.	वसु	३९
८५.	वरुण	३३, ३४
८६.	वायु	२०, ३०
८७.	विराट्	२०, २२, २३, ३०
८८.	विश्व	२०, ३०
८९.	विश्वम्भर	५१
९०.	विश्वधाया	२५
९१.	विश्वेश्वर	४६
९२.	विष्णु	२७, ३४
९३.	शक्ति	४७
९४.	शङ्कर	५२
९५.	शनैश्चर	४१
९६.	शिव	२७, ५३
९७.	शुक्र	४०
९८.	शुद्ध	४५
९९.	शेष	५२
१००.	श्री	४७
१०१.	सगुण	४९, ५०
१०२.	सच्चिदानन्दस्वरूप	४५
१०३.	सत्	४४
१०४.	सत्य	४३
१०५.	सरस्वती	४७
१०६.	सर्वशक्तिमान्	४७
१०७.	सविता	३७
१०८.	सुपर्ण	२७
१०९.	सूर्य	३६
११०.	स्वयम्भू	५२
१११.	स्वराट्	२७
११२.	हिरण्यगर्भ	२०, ३१
११३.	होता	४१

विशेष—ईश्वर के सौ नाम-विषयक विस्तृत टिप्पणी पृष्ठ ५३-५४ पर द्रष्टव्य है। (सम्पादक)

॥ ओ३म् ॥

अथ सत्यार्थप्रकाशः

[अथ प्रथमसमुल्लासारम्भः][१]

[अथ-ओङ्कारादि-ईश्वरनामानि व्याख्यास्यामः][२]

[इस समुल्लास में 'ओङ्कार' आदि ईश्वर-नामों की व्याख्या करेंगे][३]

ओ३म् शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑ण॒ः शन्नो॑ भवत्वर्य॒मा।
शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः॥

नमो॒ ब्रह्मणे॒ नम॑स्ते वायो॒ त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॑ ब्रह्मा॑सि। त्वामे॒व प्र॒त्यक्षं॑ ब्रह्म॑ वदिष्यामि ऋ॒तं व॑दिष्यामि स॒त्यं व॑दिष्यामि तन्माम॑वतु॒ तद्व॒क्तार॑मवतु॒। अव॑तु॒ माम॑वतु॒ व॒क्तार॑म्। ओ३म् शान्ति॒श्शान्ति॒श्शान्ति॑ः॥ १॥[४] [तुलना—तैत्ति०आ०, प्रपा० ७। अनु० १]

१-३. **समुल्लास के विषय का उल्लेख**—बृहत् कोष्ठकों में अंकित प्रथम समुल्लास के विषय का उल्लेख आदि-सम्पादक या लिपिकर के प्रमाद से रह गया प्रतीत होता है। अधिकांश समुल्लासों में महर्षि द्वारा 'आदि-अन्त में विषय के उल्लेख' की आर्षशैली गृहीत है, देखिए—अन्य सभी समुल्लासों के आरम्भ में विषयसंकेतक संस्कृत वाक्य और ३,१०,११,१३,१४ समुल्लासों में संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषाओं के वाक्य। यहां इस विषय का उल्लेख भी महर्षि के शब्दों के अनुसार ही किया है। महर्षि ने भूमिका में इन्हीं शब्दों में इस समुल्लास के विषय का निर्देश किया है—"**प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्कार आदि नामों की व्याख्या**" (पृ० ७)। प्रथम समुल्लास की समाप्ति पर भी इसी विषय का उल्लेख "**ईश्वरनामविषये प्रथमः समुल्लासः सम्पूर्णः**" (पृ० ५७) पदों से किया है। प्रथम समुल्लास का यह विषय महर्षि द्वारा स्वयं निर्दिष्ट किया गया है, अतः ग्रन्थ की शैली की एकरूपता और मानकता की दृष्टि से परिवर्धित करना आवश्यक है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यासनाम स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने अपनी पुस्तक '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' में (पृ० १५) पर संशोधनों की समीक्षा करते हुए स्वामी वेदानन्द जी आदि के संशोधनों को अनुचित ठहराया है। अध्ययन के बाद यह देखने में आया है कि आचार्य की अधिकांश समीक्षाएं पूर्वाग्रहपूर्ण और अयुक्तियुक्त हैं। इस स्थान पर 'विषय तथा समुल्लास-संकेतक' वाक्यों को उन्होंने यह कह कर नकारा है कि यह ऋषि की शैली नहीं है। शैली विशिष्ट पद्धति को कहते हैं, सम्पादकीय त्रुटि को नहीं। संकेतवाक्य न देना सम्पादकीय भूल है। आचार्य जी ने एक-दो पुस्तकों के उदाहरण देकर भ्रमित करने का यह प्रयास किया है कि ऋषि के अन्य ग्रन्थों में भी ग्रन्थ के आरम्भ में प्रथम विषय का संकेत नहीं। जिन ग्रन्थों में प्रथम विषय का संकेत है उनके उदाहरण वे छिपा गये। देखिए ऋषि की शैली—

(क) '**संस्कारविधि**' में—"**अथेश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना मन्त्राः**" फिर "**अथ स्वस्तिवाचनम्**" आदि।

(ख) '**पंचमहायज्ञविधि**' में—"**अथ सन्ध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधिः।**"

(ग) '**वेदविरुद्धमत खण्डन**' में—"**अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं च।**"

(घ) '**गोकरुणानिधि**' में—"**अथ समीक्षा**"

अतः आचार्य जी की आलोचना तथ्यों पर आधारित नहीं है। मानकता के लिए यह आदि-सम्पादकीय त्रुटि दूर होनी चाहिये।

४. **स्वरांकन का अभाव और अशुद्धि**—दोनों हस्तलेखों में इन मन्त्रों पर स्वरांकन नहीं है। इन पर स्वरांकन द्वितीय संस्करण (१८८४) के मुद्रणकाल में किया गया है। आदि-सम्पादकों के प्रमादवश, ग्रन्थ के अन्य मन्त्रों पर भी हस्तलेखों और द्वितीय संस्करण (१८८४) में स्वरांकन नहीं था, बाद के संस्करणों में सम्पादकों ने अपनी ओर से किया है। वेद के तथा अन्य मन्त्रों पर स्वरांकन मन्त्रों का भाग है, अतः उद्धरण में भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वैदिक स्वरविद्या की रक्षार्थ स्वरांकन ग्राह्य

अर्थ—(**ओ३म्**) जो यह '**ओङ्कार**' शब्द है, यह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो '**अ**', '**उ**' और '**म्**' तीन अक्षर हैं वे मिलके एक '**ओम्**' समुदाय हुआ है। इस एक नाम[१] से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे—**अकार** से 'विराट्', 'अग्नि' और 'विश्व'-आदि। **उकार** से 'हिरण्यगर्भ', 'वायु' और 'तैजस'-आदि। **मकार** से 'ईश्वर', 'आदित्य' और 'प्राज्ञ'-आदि नामों का वाचक और ग्राहक है।[२] उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि **प्रकरणानुकूल** ये सब नाम परमेश्वर के ही[३] हैं।

है। महर्षि ने वेदभाष्य में 'स्वरांकन' को आवश्यक माना है। स्वर के बिना मन्त्रों की पूर्णता नहीं होती, अर्थ-निर्धारण तथा सही उच्चारण भी संभव नहीं है। (द्रष्टव्य, यजु०भाष्य ४.१०, ऋग्-भाग्य १.३७.१, १.३९.७ आदि में निर्देश)

उदयपुर संस्करण ने यहां स्वरांकन दिया है किन्तु अन्यत्र वेदमन्त्रों के परम्परागत स्वरों को हटाकर उचित नहीं किया। स्वरांकन को हटाना आदि-सम्पादकों के प्रमाद और अपूर्ण पाठ को अक्षुण्ण रखना है। बाद के सभी सम्पादकों ने स्वरांकन करके आदि-सम्पादकों की त्रुटि का निवारण किया था। सम्पादक विद्वानों के सवा-सौ वर्षों के परम्परागत महत्त्वपूर्ण प्रयास को कथित दश सम्पादकों ने एक झटके में लुप्त कर दिया! समझ में नहीं आया कि इससे ग्रन्थ की और वेदमन्त्रों की क्या महिमा बढ़ेगी?

१. **उचित परिवर्धन**—मूलह० में यह पद नहीं है, मुद्रणह० में बढ़ाया है। स्पष्ट-रचना की दृष्टि से ग्राह्य है।

२. '**ओम्**' **से अन्य नामों का ग्रहण**—यह गम्भीर और दुरूह शैली का रहस्यात्मक शास्त्रीय संदर्भ है। पण्डितों और विद्वान् सम्पादकों ने इसको स्पष्ट करने के लिए लेखनी नहीं उठाई है। केवल उद्धरण देकर विषय को समाप्त करने का प्रयास किया जाता रहा है। महर्षि ने यहां प्रथम पंक्ति में '**ओम्**' और '**ओङ्कार**' को पर्याय माना है। द्रष्टव्य है पृ० २५ पर और पृ० ३० पर शीर्षक में 'ओंकार' का प्रयोग।

धातु-प्रत्ययात्मक निर्वचन के साथ-साथ अक्षरात्मक निर्वचन की भी प्राचीन शास्त्रीय पद्धति रही है। 'ओम्' को तीन मूल मात्राओं में विभाजित करके उसका अर्थ या निर्वचन करना उसी परम्परा का द्योतक है। निरुक्त में इसी पद्धति से अग्नि, सत्य आदि पदों का व्याख्यान किया है। निरुक्तकार आचार्य यास्क 'अग्नि' के निर्वचन में आचार्य शाकपूणि का मत उद्धृत करते हैं कि 'अ' 'इण्'—'गति' अर्थ वाली धातु से, 'ग्' 'अञ्ज'—'चमकना' अर्थवाली धातु से या 'दह्'—'जलना' अर्थ वाली धातु से, 'नि' 'नी'—ले जाना अर्थवाली धातु से बनकर यह पद सिद्ध हुआ है (निरुक्त ७.१४)। इस प्रकार अग्नि का अर्थ हुआ—'जो गति करती है, जो चमकती है या जलाती है, जो दग्ध पदार्थ को ले जाकर उसका प्रकृति में वितरण करती है।' शाकटायन ने 'सत्य' का निर्वचन 'अस्' 'होना' धातु से 'सत्' और 'इण्-जाना' से 'य' अक्षर सिद्ध करके किया है (१.१३ निरुक्त)। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'ओम्' की तीन मात्राओं=अक्षरों से निर्वचन करने की भी पुरानी परम्परा है।

(क) ओम् की तीन मात्राएं—'ओम्' की 'अ, उ, म्' इन मात्राओं से ईश्वर के विशिष्ट नामों के ग्रहण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस कथन का आधार शास्त्रीय है। 'माण्डूक्य उपनिषद्' और 'गोपथ ब्राह्मण' आदि में इन मात्राओं का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। नव्य उपनिषदों में तो स्थान-स्थान पर 'ओम्' तथा इसकी तीन मात्राओं की महिमा का गान है। '**माण्डूक्य उपनिषद्**' तीन मात्राओं की प्रतीकात्मक सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए आलंकारिक वर्णन करती है—

''**जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमामात्राऽऽप्तेरादिमत्वात्।**''

''**स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वात्।**''

''**सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा।**'' (९, १०, ११)

(ख) अकार मात्रा—'ओम्' की प्रथम मात्रा 'अ' है। यह मात्रा 'ओम्' अर्थात् परमेश्वर की, **जागरित स्थिति,** आप्ति=सर्वव्यापकता और आदिमान् होने की स्थिति की बोधक है, 'आप्लृ-व्याप्तौ' धातु से 'अ' बनता है और 'आप्लृ-व्याप्तौ'=व्यापक अर्थ वाली धातु से 'आप्त' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'सर्वव्यापक' है, और 'अ' अक्षर 'आदिमान्' होने का प्रतीक है।अर्थात् 'अकार' से परमात्मा के उन गुणों और नामों का बोध होता है जो उसके **सृष्टि-उत्पत्ति-कर्त्तृत्व,** जगत् में उसकी **सर्वव्यापकता,** और **आदिमत्ता=सबसे पूर्व विद्यमानता** का बोध कराते हैं। यही आलंकारिक भाषा में 'जागरित' स्थान या स्थिति है। महर्षि दयानन्द ने इसके उदाहरण के रूप में तीन नाम प्रस्तुत किये हैं—**विराट्, अग्नि और विश्व।** जो जगत् को प्रकाशित=उत्पन्न करने के सामर्थ्यवाला और उसमें प्रकाशमान=सर्वव्यापक रहने वाला है, वह '**विराट्**' कहाता है। जो सबसे अग्रणी=सबसे प्रथम विद्यमान और मुख्य है तथा जो विश्व का उत्पत्तिकर्त्ता है उसका नाम '**अग्नि**' है। जो जगत् में प्रविष्ट है, व्याप्त है और जो समस्त भूतों को प्रकट करता है, उस ब्रह्म का नाम '**विश्व**' अथवा '**वैश्वानर**' है। इन तीनों नामों में उक्त '**अ**' के अर्थ के भाव हैं।

इसी प्रकार 'अकार' के अर्थवाले अन्य उन अनेक नामों का ग्रहण भी 'अ' से होगा, जैसे—सविता, ब्रह्मा, विष्णु, पुरुष, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक आदि। सामान्यत: '**अकार**' सृष्टि उत्पत्ति का प्रतीक है।

इसको दूसरी प्रक्रिया से यों समझाया जा सकता है कि जैसे वर्णमाला में 'अ' आदिम, सर्व-अक्षरकर्तृत्व-युक्त और सर्वमुख्य अक्षर है। वह समस्त स्वरों और व्यञ्जनों के विभिन्न रूपों में प्रविष्ट या व्यापक है। उसी प्रकार आदिमत्ता, सृष्टिकर्तृता और सर्वव्यापकता अर्थवाले जितने ईश्वर-नाम हैं वे सब नाम 'अ' से ग्रहण किये जा सकते हैं।

(ग) उकार मात्रा—'**ओम्**' की दूसरी मात्रा '**उ**' है। यह मध्यम स्थिति की बोधक है अर्थात् जगदुत्पत्ति और प्रलय के मध्य की स्थिति; जैसे **स्वप्नस्थान**=शयनस्थान जाग्रत और सुषुप्ति के मध्य की स्थिति है, अर्थात् जो उत्पन्न जगत् को अपने आश्रय में रखकर संचालित करता है और जिसकी उभयविध स्थिति है, उस परमात्मा को 'तैजस' कहा गया है। 'उ' के दो अर्थ हैं—उत्कर्ष और उभयत्व। 'कृष्' धातु से 'उत्कर्ष' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है खींचना अर्थात् आगे ले जाना, उन्नत करना, वृद्धि करना और धारण-संचालन करना। उभयत्व का अर्थ है 'दोनों स्थितियों वाला होना'। अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति की अवधि में जो पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश की दोनों प्रक्रियाएं करता है। उत्कर्ष का एक अर्थ 'सर्वोच्चता' भी होता है अर्थात् उत्पन्न चराचर जगत् में जो सर्वोच्च स्थानीय है। इस प्रकार जिन नामों के अर्थ 'परमात्मा द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति के बाद उसका धारण-संचालन करना', सर्वोच्च स्थिति वाला होना और 'सृष्टिकाल में पदार्थों की उत्पत्ति' तथा विनाश की उभयविध निरन्तर प्रक्रिया करना', इन स्थितियों का बोध कराते हैं, वे सब नाम 'उकार मात्रा' से गृहीत होते हैं। आलंकारिक रूप में परमात्मा की यह स्थिति 'सृष्टि की उत्पत्ति के अनन्तर सृष्टि की स्थिति के समय उसकी उत्पत्ति-संचालन-पालन-विनाश करना' रूप मध्यमस्थिति 'शयनस्थिति' है।

महर्षि ने इसके तीन उदाहरण दिये हैं—**हिरण्यगर्भ, वायु** और **तैजस।** ईश्वर का, उत्पन्न सूर्यादि लोकों का आश्रयभूत, प्रकाशक और संचालक होने के कारण '**हिरण्यगर्भ**' नाम है। उत्पन्न जगत् को धारण करके वह जीवन प्रदान करता है तथा विनाश भी करता है, अत: उभयविध स्थिति का अर्थबोधक होने से '**वायु**' नाम का ग्रहण होता है। उत्पन्न सूर्यादि लोकों का प्रकाशक-पालक होने से उसका '**तैजस**' नाम है। इसी प्रकार उक्त अर्थ एवं स्थिति वाले अन्य उन अनेक नामों का भी 'उ' से ग्रहण होगा जैसे—बृहस्पति, विश्वम्भर, लक्ष्मी, विश्वेश्वर, आकाश, गणेश, गणपति, पिता, सर्वाधार आदि। सामान्यत: 'उकार' सृष्टि-स्थिति और संचालन का प्रतीक है।

(घ) मकार मात्रा—'**ओम्**' की तीसरी अन्तिम मात्रा '**म्**' अन्तिम स्थिति की बोधक है अर्थात् ब्रह्म के प्रलयकर्तृत्व कर्म और उस स्थिति में भी विद्यमान उसके अखण्ड ज्ञान, स्वरूप, ऐश्वर्य आदि स्वरूप की बोधक है। इसी को आलंकारिक रूप में '**सुषुप्ति**' कहा गया है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति और संचालन से विरत अवस्था। उस स्थितिवाले परमात्मा को '**प्राज्ञ**' कहा है। क्योंकि प्रलय में केवल परमात्मा ही ज्ञानयुक्त रहता है। 'म्' की रचना 'मा-माने' धातु से है, जिसका अर्थ है प्रमापक अर्थात् जगत् को मापने वाला=कार्य जगत् को कारण रूप में करके अपने आश्रय में लेने वाला और प्रलय में भी स्वयं अखण्ड स्वरूप और ज्ञानवाला। दूसरा अर्थ है—अपीति=प्रलयकर्त्ता। जिन नामों से इन अर्थों का बोध होता है वे सभी नाम मकार मात्रा से ग्रहण किये जायेंगे। महर्षि दयानन्द ने इसके भी तीन ही उदाहरण दिये हैं—**ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञ।** सदा-सर्वदा और प्रलय की स्थिति में भी जिसका अनन्त ऐश्वर्य विद्यमान रहता है, अत: उसका नाम '**ईश्वर**' है। प्रलय में भी जिसका अखण्ड स्वरूप रहता है, अत: वह '**आदित्य**' है। प्रलय में भी जिसका अनन्त ज्ञान बना रहता है, अत: उसका नाम '**प्राज्ञ**' है। 'म्' से अन्य नाम गृहीत होंगे—इन्द्र, केतु, अनादि, अनन्त, शेष, भगवान्, सत्, सत्य, पवित्र, निराकार आदि। सामान्यत: अन्तिम अक्षर '**मकार**' सृष्टि की प्रलयस्थिति अर्थात् सुषुप्ति-अवस्था का प्रतीक है।

मनुस्मृति में दो ही आलंकारिक स्थितियों का वर्णन प्राप्त होता है। वहां भी प्रमापक-अर्थ वाली 'मा' धातु का ही प्रयोग है। वस्तुत: प्रमापन में प्रलय करना अर्थ के साथ प्रलयकर्त्ता परमात्मा के अस्तित्व, ज्ञान और अनन्त सामर्थ्य और कार्यजगत् को कारणरूप में लाने का भी अर्थ समाहित है, जो उसके अनन्त एवं अखण्ड स्वरूप का द्योतक है—

एवं स जाग्रत्-स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः॥ (१.५७)

अर्थात् वह परमात्मा जाग्रत् अवस्था द्वारा जगत् को जिलाता है=उत्पन्न करता है तथा स्वप्न=निद्रावस्था द्वारा प्रमापित करता है अर्थात् प्रलय में लीन करता है, उसको अपने सामर्थ्य में रखता है, और प्रलय करके उसका ज्ञान भी रखता है, किन्तु वह स्वयं अव्यय=अविनाशी है।

(ङ) कुछ टिप्पणीकारों ने 'ओम्' की एक-एक मात्रा के लिए प्रदर्शित तीन-तीन नामों के आधार पर कुल नौ नाम ही '**ओम्**' के अर्थ माने हैं। उन्होंने उनको एकार्थक और पर्यायवाची सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय प्रमाण भी उद्धृत किये हैं। जैसे यह दिखाया है कि 'विराट्, अग्नि, विश्व' एकार्थक हैं, आदि। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि ये नाम एकार्थक नहीं है। यदि महर्षि इनको एकार्थक मानते तो इनका निर्वचन पृथक्-पृथक् न करते। ये तो प्रत्येक अक्षर या मात्रा के तीन-तीन उदाहरण मात्र

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक '**विराट्**' आदि नाम[१] क्यों नहीं ? [क्योंकि][२] ब्रह्माण्ड, पृथिव्यादि भूत, मनुष्य, विद्वान्, इन्द्र आदि देवताओं[३] और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठी-आदि ओषधियों के भी ये नाम लिखे हैं।[४]

उत्तर—हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं।

प्रश्न—हम केवल '**देवों**' का ग्रहण इन नामों से करते हैं।[५]

हैं। प्रति तीन नामों के अन्त में ग्रन्थकार द्वारा '**आदि**' पद लिखने का भी यह अभिप्राय है कि ऐसे अन्य असंख्य नाम 'ओम्' के तीन वर्णों से गृहीत होते हैं। महर्षि ने स्पष्ट किया है कि ''**जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम हैं**'' (पृ० ५३/७)। एक मात्रा से केवल तीन ही नाम ग्रहण करना भ्रान्तिपूर्ण है। '**पञ्चमहायज्ञ विधि**' पुस्तक के सन्ध्या-प्रकरण में भी यह प्रसंग वर्णित हुआ है।

(च) वैदिक शास्त्रीय परम्परा में 'ओम्' त्रयी विद्या का सार—शास्त्रों में 'ओम्' नाम को त्रयी विद्या का सार भी माना है। मनुस्मृति में कहा है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयात्-निरदुहत् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ २.७६॥

अर्थात्—'ओम्' के आधार 'अकार, उकार, मकार' अक्षर तीन वेदविद्याओं के साररूप हैं। इनके ग्रहण से तीन वेदविद्याओं का ग्रहण हो जाता है। 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' भी यही मत प्रस्तुत करता है—''**एतद् (ओमिति) एवाक्षरं त्रयी विद्या।**'' (१.१८.१०)। 'निरुक्त' नामक वेदांग ग्रन्थ में आचार्य यास्क, आचार्य शाकपूणि के इसी मत को उद्धृत करते हैं—''**एतद्-ह वा एतदक्षरं यत् सर्वा त्रयीं विद्यां प्रतिपत्तिः**'' (१३.९)='ओम्' में यह समझो कि प्रतीकरूप से त्रयी विद्या का ज्ञान निहित है। इस दृष्टि से भी 'ओम्' का महत्त्व है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों और मूलप्रति सं० तथा दोनों द्वितीय सं० में कुछ स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ''**ही के, ही में, ही का**'' आदि अपप्रयोग हैं, जैसे कि यहां ''**परमेश्वर ही के**'' उपलब्ध पाठ है। विभक्ति-प्रत्यय सम्बन्धित पद के साथ जुड़ता है, व्याकरणानुसार उसके मध्य किसी अन्य पद या अव्यय का प्रयोग करना अपप्रयोग होता है। यहां ''**परमेश्वर के ही**'' पाठ शुद्ध माना जायेगा। आगे सर्वत्र ऐसे प्रयोगों को व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय के साथ रखा गया है। आगे इस विषयक टिप्पणी नहीं दी गई है।

१-३. **उचित और अनुचित पाठसंशोधन तथा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में इस प्रश्न-वाक्य का संशोधन करके इसमें ''**नाम**'' और ''**इन्द्र आदि देवता**'' ये पद बढ़ाये गये हैं। यह संशोधन आवश्यक था, क्योंकि अग्रिम पंक्तियों में उत्तर-कथन में देवों की चर्चा है। किन्तु प्रश्न में इस शब्द का उल्लेख मूलहस्त० में रह गया था। पृ० ३३ पंक्ति ५ के प्रश्न में भी '**देव**' पद गृहीत है। ऐसे ही द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में भी ''**मनुष्य, विद्वान्**'' पद त्रुटित हैं, दोनों में '**क्योंकि**' पद त्रुटित है, जो बहुत आवश्यक हैं। मूलप्रति सं० में ये सभी पद हैं। मुद्रणलिपिकर द्वारा, मुद्रणह०, द्विप्र० में प्रश्न के अन्त में ''**वा नहीं**'' अशुद्ध परिवर्तन है, क्योंकि प्रश्नकर्त्ता का यह निश्चित पक्ष है, अतः निश्चयबोधक वाक्यरचना ही ठीक है। ''**वा नहीं**'' परिवर्धन इस कारण भी ठीक नहीं क्योंकि प्रथम पंक्ति में ''**क्यों नहीं**'' प्रश्नवाचक पद आ चुके हैं। बाद के वाक्य में तो प्रश्नकर्त्ता ने प्रमाण देकर अपना पक्ष पुष्ट किया है। पुनः पुनरुक्तियुक्त ''**वा नहीं**'' अनावश्यक पद हैं। **पाठपुष्टि**—प्रथम संस्करण में भी ये पद नहीं हैं, निश्चयात्मक प्रश्न वाक्य है (पृ० २)।

४. **परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक शब्द**—महर्षि ने यह प्रश्न इस कारण उठाया है, क्योंकि व्यवहार में ये शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

(क) **ब्रह्माण्ड अर्थ में**—'विराट्', ''ततो विराडजायत'' (ऋग् १०.९०.५) इस वेदमन्त्र में विराट् का 'ब्रह्माण्ड' अर्थ है।

(ख) **पृथिव्यादि भूत अर्थ में**—अग्नि, वायु, आदित्य, तैजस आदि पंचमहाभूतों के नाम हैं और ईश्वर के भी हैं।

(ग) **मनुष्य, विद्वान् अर्थ में**—विराज्=ब्रह्मा का पुत्र; हिरण्यगर्भ=ब्रह्मा विद्वान्; प्राज्ञ=विद्वान् मनुष्य; ईश्वर=राजा या धनवान् मनुष्य। किसी भी व्यक्ति के 'ईश्वर' पद पर आधारित सभी नाम भी व्यवहार में प्रचलित हैं—ईश्वर, ईश्वरसिंह आदि।

(घ) **इन्द्रादि देवता अर्थ में**—हिरण्यगर्भ=ब्रह्मा, विष्णु; आदित्य=अदिति के पुत्र इन्द्र, वामन आदि; ईश्वर=शिव देवता।

(ङ) **वैद्यक शास्त्र में**—विश्व=सोंठ (''विश्वं च नागरं...शुंठः''—'भावप्रकाश निघण्टु' पृ० ११) अग्नि=सोना।

इसी प्रकार इन शब्दों के अन्य प्रसिद्ध अर्थ भी हैं, जैसे—अग्नि=आग, आदित्य=सूर्यमण्डल, वायु=हवा, विराट्=बड़ा, विश्व=जगत् आदि। अब प्रश्न यह है कि कौन-सा अर्थ कहां ग्रहण किया जाये ? इसका उत्तर यहां महर्षि ने दिया है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन और पाठग्रहण**—उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त मूलहस्तलेख के निश्चयात्मक कथन को मुद्रण-

उत्तर—आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है?

प्रश्न—'**देव**' सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं, इससे मैं उनका ग्रहण करता हूँ।

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध [नहीं][१] और उसके तुल्य [भी][२] कोई नहीं, तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं; क्योंकि आपके इस कहने में बहुत-से दोष भी आते हैं, जैसे—'**उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः**'=किसी ने किसी के लिये भोजन का पदार्थ रखके कहा कि 'आप भोजन कीजिये।' और वह जो उसको छोड़के अप्राप्त भोजन के लिये जहाँ-तहाँ भ्रमण करे, उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिये; क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिये श्रम करता है। इससे,[३] जैसे[४] वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं, वैसे[५] ही आपका कथन हुआ; क्योंकि आप उन '**विराट्**' आदि नामों के जो प्रसिद्ध, प्रमाणसिद्ध '**परमेश्वर**' और[६] '**ब्रह्माण्ड**'-आदि उपस्थित अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित '**देव**'-आदि के ग्रहण में श्रम करते हैं; इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं।

जो आप ऐसा कहें कि 'जहाँ जिसका **प्रकरण** है वहाँ उसी का ग्रहण करना योग्य है।' जैसे, किसी ने किसी से कहा कि '**हे भृत्य! त्वं सैन्धवमानय**'='तू सैन्धव को ले आ।' तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना आवश्यक[७] है; क्योंकि '**सैन्धव**' नाम दो पदार्थों का है, एक घोड़े और दूसरा लवण का। जो स्वस्वामी के[८] गमन का समय हो तो घोड़े, और भोजन का काल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमन-समय में लवण और भोजनसमय में घोड़े को ले आवे, तो उसका स्वामी उसपर क्रुद्ध होकर कहेगा कि 'तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमनसमय में लवण और भोजनकाल में घोड़े को[९]

लिपिकर ने प्रश्नात्मक अशुद्ध वाक्य बना दिया है—''**केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो वा नहीं?**'' इस प्रश्नात्मक भाषा पर अगला वाक्य संगत व उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। वह तभी उचित बनता है जब प्रश्नकर्त्ता निश्चयात्मक मत व्यक्त करता है कि 'हम केवल देवों का ग्रहण करते हैं,' तभी अगला वाक्य संगत होगा कि ''ग्रहण में क्या प्रमाण है?'' मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति/ द्वितीय सं० का यह अशुद्ध पाठ व्यर्थ ग्रहण किया है। **पाठपुष्टि**—प्रथम संस्करण में शुद्ध वाक्य है (पृ० २)।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पद**—इस वाक्य में, तीनों सं० में ''**नहीं**'' पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में '**भी**' नहीं है। स्पष्ट वाक्यरचना के लिए दोनों पद आवश्यक हैं। अग्रिम वाक्यान्त के ''नहीं'' पद का सम्बन्ध इससे नहीं बनता। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम संस्करण में यहां स्पष्ट पाठ है जो इसकी पुष्टि करता है—''**परमेश्वर तो कभी अप्रसिद्ध नहीं होता है, उसके तुल्य कोई नहीं है**'' (पृ०२)।

३-५. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**इसी से**'' प्रयोग और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**इसलिये**'' परिवर्तित पद उपयुक्त नहीं है। तीनों सं० ''**जैसा**'' के स्थान पर '**जैसे, वैसे**' शुद्ध प्रयोग चाहिएं। इसी अनुच्छेद में ऊपर इन पदों का शुद्ध प्रयोग है।

६. **ऋषि-हस्तलेख**—''**जो प्रसिद्ध प्रमाणसिद्ध परमेश्वर और**'' पाठ मूलह० में ऋषि-हस्तलेख में है।

७,१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में ''**अवश्य**'' अपप्रयोग है, यहां '**आवश्यक**' विशेषण पद अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, दोनों हस्त० और सभी सं० में आगे इसी पृष्ठ के संख्यांक १० पर शुद्ध प्रयोग है—''**करना आवश्यक था**''। यहां लिपिकर से लिखने में भूल हुई है। (द्र०टि०पृ० १२ पर)

८. **मुद्रणकालीन उचित पाठसंशोधन**—द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**स्वस्वामी**'' परिवर्धन उचित है। वाक्य में आगे यह प्रयोग है भी। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पद त्रुटित रह गया है। कर्त्ता के बिना सार्थक वाक्यरचना नहीं बनती कि किसके गमन का समय उद्दिष्ट है। मुद्रणह० में केवल ''**स्वामी**'' पद है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० व तीनों सं० में ''**घोड़े के**'' प्रयोग के स्थान पर '**घोड़े को**' अपेक्षित है। पूर्व वाक्य में शुद्ध है।

लाने का क्या प्रयोजन था? तू **प्रकरणवित्** नहीं है; नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिये था, उसी को लाता। जो तुझको **प्रकरण** का विचार करना आवश्यक[१०] था, वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास से चला जा।' इससे क्या सिद्ध हुआ कि **जहाँ जिसका ग्रहण करना उचित हो, वहाँ उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये।**[१] तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिये।

अथ मन्त्रार्थः

ओं खं ब्रह्म॥ १॥[२] यजुर्वेद,[३] अध्याय ४०। मन्त्र १७॥

देखिये, वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में '**ओम्**' आदि परमेश्वर के नाम हैं—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत॥ २॥ छान्दोग्य उपनिषत्, [प्रपा० १। खण्ड १। मन्त्र १]

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥ ३॥ माण्डूक्य [उपनिषद् १]।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्[४] **॥ ४॥**

कठोपनिषदि,[५] [वल्ली २। मन्त्र १५]

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ ५॥
एतमेके वदत्यग्निं[६] **मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ६॥**

मनुस्मृति, अध्याय १२। श्लोक [१२२][७]। १२३।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः॥ ७॥[८,९]

कैवल्य उपनिषद्॥ [खण्ड १। मन्त्र ८]

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां पुनरुक्त पद ''**उचित है**'' प्राप्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का ''**चाहिये**'' ग्राह्य है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ एवं स्वरांकन की अशुद्धि**—दोनों हस्तलेखों में पूरे ग्रन्थ में किसी भी मन्त्र पर स्वरांकन नहीं है। द्वितीय संस्करण (१८८४) में भी नहीं है। बाद के संस्करणों में सम्पादकों ने अपनी ओर से स्वरांकन किया है। स्वरांकन न करना आदिसम्पादकों का प्रमाद था। अगली पंक्ति का ''**वेदों में**'' पाठ मुद्रणप्रति में त्रुटित है।
ऋषिहस्तलेख—आगे की पंक्ति में ''**देखिये.... नाम हैं**'' पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३,५,७. **मुद्रणलिपिकर द्वार व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**यजुर्वेद**'' के स्थान पर ''**यजु०**'', ''**कठोपनिषदि**'' के स्थान पर ''**कठोपनिषद्**'' व्यर्थ पाठान्तर करके ग्रन्थ की भाषा को अव्यवस्थित बनाया है। मनु श्लोक की १०२ संख्या सभी में त्रुटित है। सभी सं० में व्यर्थ पाठान्तर किये गये यही पाठ छप रहे हैं।

४. **अप-उद्धरणपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**ब्रवीम्योमेतत्**'' अपपाठ है। अन्य सभी में संशोधित है।

६. **पाठान्तर**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पाठ है—''**एतमग्निं वदन्त्येके**''। मनुस्मृति में उपर्युक्त पाठ उपलब्ध है।

८. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्तलेखों, तीनों ही सं० में कैवल्योपनिषद् के इस उद्धरण का यह अपपाठ है—''**स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरः स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः**''। इसका पहला प्रमाण है कि यह श्लोक अनुष्टुप् छन्द में है, अशुद्ध पाठ से छन्दोभंग हो गया है। शुद्ध पाठ ऊपर उद्धृत है जो कैवल्योपनिषद् में प्राप्त है। आदि-सम्पादक और संशोधक का यह दायित्व था कि इस उद्धरण के मूल ग्रन्थ से मिलान करके शुद्ध बनाता; क्योंकि इसीलिए उनको वेतन पर रखा गया था। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस और कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित **उदयपुर सं०** में भी यहां अपपाठ है।

९. **कैवल्य-उपनिषद् का प्रमाण क्यों?** महर्षि दयानन्द द्वारा मान्य दस उपनिषदों में '**कैवल्य**' नहीं है। यहां इसका प्रमाण यह

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो[१] गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ८॥

ऋग्वेदे,[२] मण्डले १। सूक्त १६४। मन्त्र ४६॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः॥ ९॥[३] यजुर्वेद,[४] अ० [१३]। मन्त्र [१८]॥

मा हिꣳसीः पुरुषं जगत् [यजुर्वेद १६। ३]

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः॥ १०॥

सामवेद[५] [उ०], प्रपाठक ७। त्रिक ८। मन्त्र २॥ [मन्त्र १५८८]

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ११॥[६]

अथर्ववेदे, का० ११। प्रपा० २४। अ० २। मं० [१]॥ [११.४.१]

अर्थ—यहाँ इन प्रमाणों के लिखने में तात्पर्य वही है कि[७] ऐसे-ऐसे **प्रकरणों**[८] में **ओङ्कारादि** नामों

दिखाने के लिए है कि जो पौराणिक आदि जन ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि को अवतार रूप देव मानते हैं उनके मान्य ग्रन्थों में भी ये नाम एक परमात्मा के ही हैं; अर्थात् उन्हीं के ग्रन्थों से उनकी अवतारवादी कल्पना असत्य सिद्ध होती है।

१. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० में दोनों लिपिकरों ने यहां "**सुपरणो**" अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० आदि में संशोधित है।

२,४,५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**ऋग्वेदे**" के स्थान पर "**ऋ०**", "**यजुर्वेदे**" के स्थान पर "**यजु०**", "**सामवेद**" के स्थान पर "**सामवे०**" व्यर्थ पाठान्तर करके ग्रन्थ-पाठ में अव्यवस्था बढ़ाई है।

३. **अप-उद्धरण का कारण श्रवणभ्रान्ति**—दोनों हस्तलेखों तथा मूलप्रति सं० में इस मन्त्र के अन्त में अशुद्ध पाठ है "**पुरुषञ्जगत्**"। द्विप्र० में इस अशुद्धि का 'शुद्धिपत्र' में निर्देश है। द्वि०सं० द्वितीयावृत्ति में "**पुरुषञ्जगत्**" पद को हटाकर यजुर्वेद के मूलपाठ के अनुसार पाठ शुद्ध किया हुआ है। अन्य सभी ने इसको निकाल दिया है जबकि उसको हटाने की जरूरत नहीं थी अपितु यजुर्वेद के पाठ के अनुसार शुद्ध करने की आवश्यकता थी।

प्रश्न उठता है कि महर्षि को 'यजुर्वेद' बाल्यकाल से ही कण्ठस्थ था, फिर भी मन्त्रपाठ में अशुद्धि कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि यहां श्रवणभ्रान्ति के कारण मूलहस्तलेख के लिपिकर से यह अशुद्धि हुई है। महर्षि ने यह मन्त्र बोलने के बाद ईश्वर के '**पुरुष**' नाम का उल्लेख करने के लिए दूसरा स्वतन्त्र मन्त्रखण्ड, जो यजुर्वेद का मन्त्रांश है, बोला होगा—"**मा हिंसीः पुरुषञ्जगत्**" (१६.३)। लिपिकर ने उन दोनों मन्त्रों को एक समझ लिया और इस मन्त्र के अन्तिम तथा दूसरे मन्त्र के आदिम पद '**मा हिंसीः**' को एक ही पद समझकर एक पद रख लिया तथा मन्त्र का अगला भाग '**पुरुषञ्जगत्**' इसी मन्त्र के साथ जोड़ दिया। संशोधन के समय भी शोधकों का ध्यान इस अशुद्धि की ओर नहीं गया, अतः यह द्वि०सं० (१८८४) में भी छप गया। पाठक ध्यान दें, अन्य नामों के समान महर्षि 'पुरुष' नाम का ईश्वरपरक अर्थ दिखाना चाहते थे, क्योंकि अगले प्रमाणों में प्रकरणानुसार 'पुरुष' का 'ईश्वर' से भिन्न अर्थ दिखाया है। इस संशोधन के साथ महर्षिप्रोक्त मूलहस्तलेख का पाठ ग्राह्य है।

६. **अशुद्ध स्वरांकन**—मूलप्रति सं० में दो स्थानों पर "**सर्व**" पर स्वरांकन नहीं है। वेद के मूलपाठ में है। अतः ग्राह्य है।

७. **अनावश्यक प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, इस वाक्य में "**जो ऐसे-ऐसे**" में '**जो**' निरर्थक प्रयोग है। इसका आगे के वाक्यपदों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

८. **मुद्रण-लिपिकर की अयोग्यता से अशुद्ध परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, जग, विस, जस में यहां "**प्रमाणों**" अपप्रयोग है। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। मुद्रणहस्तलेख में लिपिकर ने अयोग्यता से यह अपपरिवर्तन किया है। उदयपुर सं० में संशोधित है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम संस्करण में यहां "**प्रकरणों**" प्रयोग है (पृ० ४)। पृ० २९/१० पर भी प्रमाणों के बाद '**प्रकरण**' पद प्रयुक्त है जिसे कि ऋषि ने अपने हाथ से लिखा है।

से परमात्मा का ग्रहण होता है, [जैसा कि पहले][१] लिख आये हैं। तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि के 'धनपति' आदि नाम होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि [परमेश्वर के नाम][२] कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं[३] स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।[४] '**ओम्**' आदि नाम सार्थक हैं, जैसे—

(ओं खं०) '**अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म**'=रक्षा करने से '**ओम्**', आकाशवत् व्यापक होने से '**खम्**', सबसे बड़ा होने से ईश्वर का नाम '**ब्रह्म**' है॥ १॥

(ओमित्येत०) '**ओम्**' जिसका नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं॥ २॥

(ओमित्येतक्षर०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम '**ओम्**'[५] को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं॥ ३॥

(सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण, जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम '**ओम्**' है॥ ४॥

(प्रशासिता०) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाश-स्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परम '**पुरुष**' जानना चाहिये॥ ५॥

[**एतमेके०**] और स्वप्रकाश [स्वरूप][६] होने से '**अग्नि**', विज्ञानस्वरूप होने से '**मनु**' और सबका पालन करने से '**प्रजापति**',[७] परमैश्वर्यवान् होने से '**इन्द्र**', सबका जीवनमूल होने से '**प्राण**' और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम '**ब्रह्म**' है॥ ६॥

(स ब्रह्मा स शिवः) सब जगत् के बनाने से '**ब्रह्मा**', मङ्गलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने

---

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य त्रुटित वा अपूर्ण है। स्पष्ट और उपयुक्त वाक्यरचना के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद परिवर्धित करने आवश्यक हैं। वाक्यान्त में '**हैं**' क्रिया आवश्यक है।

२-३. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—इस वाक्य में, द्विप्र० में "**कहीं**" पद मुद्रणसमय में त्रुटित रह गया है। दोनों हस्तलेखों और मूलप्रति सं० में है। द्वि०सं० को छोड़ सभी सं० ने इसको ग्रहण कर लिया है। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ '**परमेश्वर के नाम**' भी दोनों सं० में परिवर्धन की अपेक्षा रखता है। उससे वाक्यसंगति बन जाती है। उसके बिना संगति नहीं बनती।

४. **ईश्वर के तीन प्रकार के नाम**—वे गौणिक=गुणवाचक, कार्मिक=कर्मवाचक, स्वाभाविक=स्वभाववाचक हैं। महर्षि आगे लिखते हैं कि "**प्रत्येक गुण, कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है।**" (पृ० ५३-५४) इस प्रकार से परमात्मा के असंख्य नाम हैं अर्थात् उसके जितने अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं उतने ही नाम होते हैं (पृ० ५३/७)। आगे वर्णित नामों में **गौणिक** नाम हैं—मित्र, इन्द्र, देव, सर्वशक्तिमान्, सर्वरक्षक, दयालु, न्यायकारी आदि। **स्वाभाविक** जैसे—शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, अनादि, निर्विकार, निराकार, अक्षर, आदि। **कार्मिक** जैसे—प्रजापति, ब्रह्मा, सुपर्ण, विश्वम्भर, वायु, तैजस, अर्यमा आदि।

५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—तीनों सं० में कहीं प्लुतयुक्त वर्तनी "**ओ३म्**" है तो कहीं '**ओम्**' वर्तनी है। मन्त्रों में "**ओम्**" वर्तनी है, वही मूल पदार्थ कोष्ठक और अर्थ में भी अपेक्षित है। पूर्वपंक्तियों में भी '**ओम्**' वर्तनी द्रष्टव्य है। अतः अग्रिम पाठों में भी इसी वर्तनी को उपयुक्त समझें। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए यह संशोधन आवश्यक है।

६-७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद तथा संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ७,८ संख्यांकित आवश्यक पद त्रुटित हैं। मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से "**प्रजापति**" पद त्रुटित रह गया जिसके कारण द्वि० सं० में १५वें संस्करण तक त्रुटित रहा। बाद में परोप० शताब्दी सं० में मूलहस्त० के आधार पर इसको बढ़ाया गया है। इससे पूर्व "**स्वरूप**" पद भी अपेक्षित है जैसा कि एक पंक्ति पूर्व प्रयोग है। सभी सं० में दोनों का परिवर्धन कर लिया है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे पृ० २७/४ में भी शुद्ध प्रयोग है।

से '**शिव**',[१] दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से [वही] '**रुद्र**' [है]। '**यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति सः-अक्षरः**',[२] '**यः स्वयं राजते स स्वराट्**', '**योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्त्ता स कालाग्निः-ईश्वरः**', (**अक्षरः**)[३] जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, (**स्वराट्**) स्वयं प्रकाशस्वरूप (**सः विष्णुः**) सर्वत्र व्यापक होने से '**विष्णु**', और (**कालाग्निः**)[४] प्रलय में [जो अग्नि के समान][५] सबका काल और काल का भी काल है, इसलिये परमेश्वर का नाम '**कालाग्नि**' है [स्वयं आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द देनेवाला होने से परमेश्वर का नाम '**चन्द्रमा**' है][६] ॥ ७ ॥

(**इन्द्रं मित्रं०**) जो एक, अद्वितीय, सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। '**द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः**', '**शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः सुपर्णः**'[७], '**यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्**', '**यो मातरिश्वा=वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा**'[८]। (**दिव्यः**) जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, (**सुपर्णः**)[९] जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, (**गरुत्मान्**) जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, (**मातरिश्वा**) जो वायु के समान अनन्त बलवान् है, इसलिये परमात्मा के '**दिव्य**', '**सुपर्ण**', '**गरुत्मान्**' और '**मातरिश्वा**' ये नाम हैं। **शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे** ॥ ८ ॥

(**भूरसि**[१०] **भूमिरसि०**) '**भवन्ति भूतानि यस्यां सा [भूः, वा]**[११] **भूमिः**'=जिसमें सब भूत=प्राणी[१२] [आश्रित][१३] होते हैं, इसलिये ईश्वर का नाम ['भू', वा][१४] '**भूमि**' है। **शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे** ॥ ९ ॥

---

१. **अपपाठ व पाठग्रहण**—पूर्वोक्त शुद्ध उद्धरण के अनुसार, ऋषि के शब्दों को ही क्रमबद्ध करके यहां पाठक्रम संशोधित किया गया है। तीनों सं० में अशुद्ध उद्धरणानुसार उपलब्ध अपक्रमात्मक पाठ यह है—''**(स ब्रह्मा स विष्णु०) सब जगत् को बनाने से 'ब्रह्मा', सर्वत्र व्यापक होने से 'विष्णु', दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से 'रुद्र', मङ्गलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से शिव...।**'' '**प्राण**' और '**इन्द्र**' की व्याख्या पूर्वश्लोकार्थ में आ जाने से पुनः व्याख्या नहीं की गई है। वेस, भद, युमी, जग, जस, विस, उदयपुर सं० आदि सभी संस्करणों में अशुद्ध उद्धरण पर आधारित अपपाठ ही है।

ऋषिहस्तलेख एवं पाठग्रहण—''**सब जगत् के बनाने.....से रुद्र**'' तक पाठ मूल-हस्तलेख में नहीं है। यह मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा लिखा गया है। मूलसं० में वहीं से ग्रहण किया है। यह ग्राह्य है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में यहां ''**तदक्षरम्**'' नपुंसकलिंग पद का प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि उपनिषद् के मूलपाठ में '**अक्षरः**' पुंल्लिग प्रयोग है। सभी अन्य सं० तथा उदयपुर सं० में भी असंशोधित है।

३-४. **अपवर्तनी**—सभी सं० में कोष्ठक में श्लोक के दोनों मूल पदों का उल्लेख विसर्गरहित है, जो अशुद्ध है।

५. **लिपिकरों द्वारा त्रुटित आवश्यक अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत अनुवाद त्रुटित है। इसके बिना '**कालाग्निः**' की निरुक्ति पूर्ण नहीं होती। संस्कृत-पाठ में होने के कारण भी यह परिवर्धन आवश्यक है। युमी, विस में है।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में श्लोकोक्त ''**चन्द्रमाः**'' पद और पद का अर्थ त्रुटित रह गया है। प्रकरण-पूर्ति की दृष्टि से आगे के ईश्वर-नाम 'चन्द्र' (क्रमसंख्या ३६) से लेकर महर्षि के शब्द ही यहां दे दिये हैं, जैसे '**ब्रह्म**' आदि कई पदों का अर्थ पूर्वापर में समान मिलता है, उसी तरह।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ एवं पाठग्रहण**—दोनों हस्तलेखों तथा द्विप्र० में ''**सुपर्णः**'' पद त्रुटित है। मूलहस्त० में हिन्दी में ये कोष्ठकान्तर्गत सभी पद नहीं हैं। मुद्रणहस्त० में इनको बढ़ाया गया है। मूलप्रति सं० में इनको परिवर्धित कर लिया गया है किन्तु द्वि०सं० में अभी भी त्रुटित हैं। उदयपुर सं० में भी इनको परिवर्धित कर लिया है।

८. **ऋषिहस्तलेख व पाठग्रहण**—मूलहस्त० में, कोष्ठक में ''**मातरिश्वा**'' आदि पद नहीं हैं। मुद्रणहस्त० में ऋषि द्वारा श्लोकानुसार बढ़ाये गये हैं, तदनुसार द्विप्र० में हैं। मूलप्रति सं० में दोनों स्थानों पर ग्रहण कर लिये हैं।

९. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, तीनों सं० में कोष्ठक में श्लोकोक्त ''**दिव्यः**'', ''**सुपर्णः**'' मूल पदों को विसर्गरहित दिया गया है, जो अपवर्तनी है। कोष्ठक में श्लोकोक्त पद यथावत् होते हैं। यह लिपिकर की अयोग्यता और आदि-सम्पादकों की असावधानी को दर्शाता है। मूलहस्तलेख में ये पद नहीं हैं। मानकता की दृष्टि से इस प्रकार की अपवर्तनियों का संशोधन आवश्यक है।

(**इन्द्रो मह्ना०**) इसमें '**इन्द्र**' परमेश्वर का ही नाम है, इसलिये यह प्रमाण लिखा है ॥ १० ॥

(**प्राणाय०**) जैसे '**प्राण**' के वश [में][१] सब शरीर [और][२] इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है [इससे परमेश्वर का नाम '**प्राण**' है][३] ॥ ११ ॥

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर का ही ग्रहण होता है। क्योंकि '**ओम्**' और '**अग्नि**' आदि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि [और][४] ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है, वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है; **परन्तु 'ओम्' यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है। और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं।** इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, [आदि प्रकरण और][५] सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध,

---

१०-१४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उद्धरण में पठित '**भूरसि**' पद और इसका बृहत् कोष्ठकान्तर्गत अर्थ तथा '**आश्रित**' पद त्रुटित है। दोनों हस्तलेखों, द्विप्र०, द्विसं० में ''**प्राणि**'' अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित रूप ''**प्राणी**'' बना लिया है।

१-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में इस वाक्य में '**में**' तथा '**और**' पद त्रुटित हैं। अगले वाक्य के समान आवश्यक हैं। संख्यांक ३ का बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ भी शैली की एकरूपता व पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अत्यन्त आवश्यक ''**और**'' योजक पद त्रुटित है। इसके बिना वाक्यार्थ में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि सूत्रादि को ऋषियों के व्याख्यान कहा जा रहा है। **ऋषिहस्तलेख एवं पाठग्रहण**—''**वैसा ग्रहण....नाम है**'' पाठ मूलसं में मुद्रणह० से लिया है। यह ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **अपपाठ**—तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। इनके बिना पाठ भ्रष्ट हो जाता है। **स्तुति, प्रार्थना, उपासना** पदों को विशेषण लिखा जाना व्याकरणिक त्रुटि कहलायेगी। युमी को छोड़कर अन्य सभी सं० में अपपाठ है। उदयपुर सं० में भी असंशोधित है। **संशोधन-पुष्टि**—अग्रिम पृ० २९ पर पंक्ति १५ में ''**और**'' विभाजक का प्रयोग करके शुद्ध पाठ है—''**प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञ-आदि विशेषण हों।**''

उदयपुर सं० का व्याकरणविरुद्ध और परस्परविरुद्ध उत्तर—एक लेख के माध्यम से मैंने उदयपुर संस्करण की सम्पादक-समिति का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था कि यहां व्याकरण की दृष्टि से '**प्रकरण**' पद का परिवर्धन आवश्यक है। एक ही सम्पादक समिति के चार सदस्यों ने जो उत्तर दिये वे **परस्परविरुद्ध** हैं। **पहले लेखक** इसका उत्तर ही नहीं दे सके। **दूसरे लेखक** ने उदार-भाव से स्वीकार किया है कि यहां '**प्रकरण**' पद जुड़ना चाहिए। **तीसरे लेखक** ने तालिका देकर दर्शाया है कि पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक को छोड़कर सभी सम्पादकों ने इस पद को ग्रहण नहीं किया है, अतः इस पद की आवश्यकता नहीं। ये लेखक महोदय यही भूल गये कि उदयपुर सं० की कार्यप्रणाली के लिए पूर्व 'सम्पादकों के परम्परागत पाठों को आधार बनाने की प्रतिज्ञा' सम्पादक समिति ने कहीं नहीं की है, अतः इनका यह तर्क प्रतिज्ञा-विरुद्ध और व्यर्थ है। यदि इस 'आधार' को स्वीकार करेंगे तो यह नयी आपत्ति उपस्थित होगी कि फिर आपने इन्हीं सम्पादकों द्वारा स्वीकृत अन्य दर्जनों पाठों को अस्वीकार क्यों किया? उन्होंने इस संशोधन को '**छीछालेदर**' करना बताया है। उनका यदि यह कथन सत्य मान लिया जाये तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि इन्होंने उदयपुर सं० में जो घोषित रूप से ८२५ संशोधन किये हैं, तो वह भी स्वीकार या इन्होंने सत्यार्थप्रकाश की 'छीछालेदर' ही की है। **चौथे लेखक** का ध्यान अपने अहंकार-प्रदर्शन और मेरी निन्दा में ही इतना भटक गया कि उनके लिखे उत्तर से कोई तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता। बेतुके उत्तर से वे पृष्ठ के पृष्ठ काले कर डालते हैं। सारा लेख निन्दा और असभ्य भाषा से भरा पड़ा है। मेरे लिए ये लिखते हैं कि 'मैंने यह टिप्पणी दूसरे की उधार लेकर बात की है।' ये श्रीमान् यही भूल गये कि उदयपुर सं० तो अस्सी प्रतिशत दूसरों की उधार का है अर्थात् पूर्वसम्पादकों का अनुकरण और अन्धानुकरण है। फिर भी इस लेखक ने उदयपुर सं० समिति की अकृतज्ञता के विरोध में एक शब्द भी नहीं लिखा। मैंने तो सभी के प्रति स्पष्टतः नामोल्लेख-पूर्वक कृतज्ञता व्यक्त की है, फिर 'उधार' का आरोप बनता ही नहीं है।

इस विवरण से यह भी सिद्ध है कि जो उदयपुर सं० के सम्पादन में दश लेखकों का उत्तरों में एक मत या विमत नहीं है, इस कारण यह दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित सं० भी नहीं है। कुछ ने कार्य करके दश नामों का आडम्बर किया है।

सनातन, सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे[६] हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, और जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽअधि॒ पूरु॑षः। [यजु० ३१।५]॥

श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत। [यजु० ३१।१२]॥

तेन॑ दे॒वाऽअ॑यजन्त।[१] [यजु० ३१।९]॥

प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः॥ [यजु० ३१।५]॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः।[२] **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।** यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है। [ब्रह्म०वल्ली अनुवाक १]

ऐसे **प्रकरणों**[३] में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं, क्योंकि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय [आदि व्यवहार और][४] अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहाँ-वहाँ 'परमेश्वर' का ग्रहण नहीं होता। [क्योंकि][५] वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपर्युक्त[६] मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं, इसी से यहाँ 'विराट्' आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके, संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है[७]। किन्तु **जहाँ-जहाँ सर्वज्ञ-आदि विशेषण हों, वहीं-वहीं परमात्मा और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख [आदि व्यवहार][८] और अल्पज्ञ-आदि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये।**[९] क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता, इससे 'विराट्' आदि नामों[१०] और जन्म-आदि विशेषणों से

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में "**उपासना.....लिखे**" त्रुटित पाठ शोधक ने पूर्ण किया है।

१. **भ्रष्ट मन्त्रपाठ का उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में अशुद्ध मन्त्र दिया है—"**तस्माद् देवा अजायन्त**"। यजुर्वेद में ऐसा कोई मन्त्र नहीं है। द्विप्र० और द्वि० सं० में इसको हटाकर सही मन्त्र "**तेन देवाऽयजन्त**" दे दिया है।
कुतर्क—कुछ पाठक यह कुतर्क देकर अशुद्ध मन्त्र को रखने के पक्षधर हैं कि महर्षि दयानन्द को बहुत से ग्रन्थ याद थे, हो सकता है यह मन्त्र यजुर्वेद की किसी शाखा का हो। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले लोग अज्ञानवश महर्षि के सिद्धान्त को ही भूल रहे हैं, क्योंकि महर्षि शाखाओं को वेद ही नहीं मानते, अतः यहां शाखाओं का उद्धरण वेद के नाम से स्वीकार्य कदापि नहीं हो सकता। वे लोग यह भी ध्यान रखें कि महर्षि ने यहां अन्त में "यजु० अ० ३०" उद्धरण-संख्या दी हुई है। वैसे यह संख्या भी दोनों हस्तलेखों तथा द्वितीय संस्करण (१८८४) में अशुद्ध है। पुनः आगामी द्वि० संस्करणों में इसको शुद्ध करके "अ० ३१" कर दिया गया है। इस वेदमन्त्र का संशोधन भी अत्यावश्यक है।

२. **पाठान्तर**—तैत्तिरीयोपनिषद् में केवल "**अन्नात् पुरुषः**" पाठ मिलता है। पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की टिप्पणी है कि यह पाठ 'आनन्दाश्रम, पूना' से प्रकाशित तैत्तिरीय आरण्यक ८.२ में उपलब्ध है। प्रथम सं० में "**अन्नात् पुरुषः**" पाठ है (पृ० ४)।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा महर्षिलिखित पद का अशुद्ध परिवर्तन**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां '**प्रकरणों**' के स्थान पर पाठ बदलकर "**प्रमाणों**" किया है। मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में "**प्रकरणों**" पाठ उपयुक्त और संगत है, क्योंकि इन प्रमाणों से पूर्वलिखित वाक्य में भी '**प्रकरण**' शब्द का ही प्रयोग है। विशेष बात यह है कि मूलहस्तलेख में **इस पद को महर्षि ने अपने हाथ से लिखा है। मुद्रणलिपिकर ने उसे भी अपने मन से बदल डाला।** सभी अन्य द्वि०सं० में यह अशुद्ध पाठ है। दुःख की बात यह है कि उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों ने भी महर्षि द्वारा लिखित पाठ को भी उपेक्षित कर दिया।
संशोधन-पुष्टि—प्रथम सं० में "**प्रकरणों**" पद है (पृ० ४)। पृ० २५, पंक्ति १२ में भी '**प्रकरण**' प्रयोग है।

४-५,८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठक के पद त्रुटित हैं। इनके बिना वाक्य पूर्ण एवं स्पष्ट नहीं होता। चार पंक्ति नीचे "**और**" पद-प्रयोग से शुद्ध पाठ बनाया है "**और अल्पज्ञ आदि।**" इसी प्रकार उत्पत्ति, इच्छा आदि व्यवहार हैं, विशेषण नहीं। महर्षि ने पंक्ति १३ में स्वयं इनको 'व्यवहार' लिखा है।

६-७,१०. **ऋषिहस्तलेख, अपप्रयोग व पाठग्रहण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उपरोक्त**" अपप्रयोग है। "**उपर्युक्त मन्त्रों.....ग्रहण**

जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं।

अब जिस प्रकार '**विराट्**' आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे[१] जानो—

[१] अथ 'ओङ्कार'-अर्थः

[२] 'वि' उपसर्गपूर्वक (**राजृ दीप्तौ**) इस धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विराट्' शब्द सिद्ध होता है। '**यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्-राजयति प्रकाशयति स विराट्**'=विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के [चराचर][२] जगत् को प्रकाशित करे, इससे '**विराट्**' नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

[३] (**अञ्चु गतिपूजनयोः**) (**अग, अगि, इण् गत्यर्थक**) धातुयें हैं, इनसे 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। '**गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति, पूजनं नाम सत्कारः।**' '**योऽञ्चति, अच्यतेऽगत्यङ्गति-एति[३] वा सोऽयमग्निः**'=जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त[४] होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस[५] परमेश्वर का नाम '**अग्नि**' है।

[४] (**विश प्रवेशने**) इस धातु से 'विश्व' शब्द सिद्ध होता है। '**विशन्ति प्रविष्टानि [सन्ति][६] सर्वाणि-आकाशादीनि भूतानि यस्मिन्, यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः**'=जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**विश्व**' है।

इत्यादि नामों का ग्रहण **अकार**[७] से होता है।

होता है'' पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मूलसं० में यह मुद्रणहस्त० से लिया है। यह ऋषि के हस्तलेख में है। इसी प्रकार दोनों सं० में ''**नामों**'' बहुवचनान्त चाहिए, ''**नाम**'' एकवचनात्मक नहीं।

९. **ऋषिहस्तलेख**—''**यह तैत्तिरीयोपनिषद्.....पृथक् है**'', ''**जहाँ-जहाँ....चाहिये**'' दोनों पाठ मूलह० में ऋषि-हस्तलेख में हैं।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अशुद्धि एवं उचित संशोधन**—द्विप्र० में ''**प्रमाण**'' तथा मुद्रणह० में ''**परमाणे**'' भ्रष्ट प्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ ''**प्रमाण**'' है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में हिन्दी अनुवाद में ''**चराचर**'' पद त्रुटित रह गया है। संस्कृत निरुक्ति के अनुसार उसका होना आवश्यक है।

३. **उचित पाठसंशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**अङ्गतीति वा**'' पाठ है, यही पाठ मूलहस्त० में है। मुद्रणहस्त० में ''**अङ्गति-एति वा**'' परिवर्धन करके 'इण्' धातु का प्रयोग भी दे दिया है। द्वि० सं० का पाठ इसी के अनुसार है, जो ग्राह्य है। यह परिवर्धन आवश्यक है, क्योंकि ऊपर की पंक्ति में 'इण्' धातु से भी 'अग्नि' पद सिद्ध होना स्वीकार किया है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० ''**प्राप्ति होने.....योग्य**'' अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित ''**प्राप्त होने.....योग्य**'' ठीक है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद एवं संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में लगभग प्रत्येक ईश्वर-नाम की व्याख्या में अन्तिम वाक्य एक जैसा है—''**इससे उस परमेश्वर का अमुक नाम है।**'' संस्कृत-निर्वचन में ''**यः**'' पद होने से हिन्दी में उसका अनुवाद ''**जो**'' मिलता है। '**जो**' के सम्बन्ध से '**उस**' पद का प्रयोग वाक्य में आवश्यक है। प्रथम समुल्लास में सौ नामों के हिन्दी-अनुवाद में द्विप्र० तथा सभी द्वि०सं० में १७ बार और मूलप्रति सं० में ६२ बार यह पद त्रुटित है, जो वहां होना अभीष्ट है। इस संस्करण में सर्वत्र उसे ग्रहण करके पाठ को एकरूप कर दिया गया है। आगे इस विषयक टिप्पणी नहीं दी जायेगी।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। वाक्यपूर्त्यर्थ आवश्यक है।

७. **अव्यवस्थित पाठ**—मूलप्रति सं० में यहां ''**अकारमात्रा**'' और द्वि० सं० में ''**अकारमात्र**'' पाठ है यहां ''**अकार से**'' पाठ अधिक सार्थक है। देखिए, इस समुल्लास के प्रथम अनुच्छेद में ''**अकार से**'' (पृ० २०) पाठ है। अतः इस समुल्लास के प्रथम अनुच्छेद के आधारभूत पाठ के अनुसार यहां और अग्रिम दोनों स्थलों पर '**अकार से**', '**उकार से**', '**मकार से**' पाठ होना ही

[५] **"ज्योतिर्वै हिरण्यम्", "तेजो वै हिरण्यम्"** इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे।

[ऐत०ब्रा० ७।१२; शत०ब्रा० ६।७।१।२]

"हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः" अथवा[१] **'यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः'**=जिसमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार में रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति[२] और निवास-स्थान है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'हिरण्यगर्भ'** है। इसमें यजुर्वेद के मन्त्र का प्रमाण—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां[३] कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ [यजुः, १३।४]॥

इत्यादि स्थलों में **'हिरण्यगर्भ'** से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।

[६] **(वा गतिगन्धनयोः)** इस धातु से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। **(गन्धनं हिंसनम्) 'यो वाति चराऽचरं जगद्-धरति [जीवयति, प्रलयति वा][४] बलिनां बलिष्ठः स वायुः'**=जो चराचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करे और सब बलवानों से बलवान् है, इससे उस ईश्वर का नाम **'वायु'** है।

[७] **(तिज निशाने)** इस धातु से 'तेजः' और इससे तद्धित करने से 'तैजस' शब्द सिद्ध होता है। **[यः-तेजोमयः तेजसां सूर्यादीनां च प्रकाशकः सः तैजसः]**[५] जो आप स्वयंप्रकाश [स्वरूप][६] और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'तैजस'** है।

इत्यादि नामार्थ **'उकार'**[७] से ग्रहण होते हैं।

[८] **(ईश ऐश्वर्ये)** इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। **'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः'**=जिसका सत्य विचार, शील, ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम **'ईश्वर'** है।

उपयुक्त है। मूलप्रति सं० में पृ० ८ पर **"उकार से"** "**मकार से**" ही पाठ है। मुद्रणहस्तलेख में "अकारमात्रा" पाठ है, द्वि०सं० में इसको 'अकारमात्र' कर दिया है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम संस्करण में दोनों स्थलों पर **"अकार से"** आदि प्रयोग ही है (पृ० २०)। मानकता की दृष्टि से प्रयोगों में एकरूपता आवश्यक है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० के "हिरण्यानि....अथवा" तक इस निर्वचन को मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रण-लिपिकर ने प्रमादवश त्रुटित छोड़ दिया। इसका हिन्दी-अर्थ भी दिया हुआ है, अतः ग्राह्य है। यह पाठ मूलप्रति सं०, द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में आज भी त्रुटित चल रहा है। उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण करके अच्छा कार्य किया है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रण-लिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति में **"उत्पत्ति"** पद त्रुटित है, जो मूलह० में है। तदनुसार द्विप्र० में भी त्रुटित है। द्विसं०, उदयपुर सं० में गृहीत है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यापक होने से व्याप्य पदार्थों की उत्पत्ति=आश्रय से प्रकटता का स्रोत और निवास-स्थान भी है। 'गर्भ' के उत्पत्तिस्रोत और निवास-स्थान दोनों अर्थ होते हैं।

३,४. **त्रुटित आवश्यक निर्वचन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत महत्त्वपूर्ण पाठ त्रुटित रह गया है। हिन्दी अनुवाद में 'वायु' के चार अर्थ दिये हैं किन्तु संस्कृत की निरुक्ति में दो का ही उल्लेख है। संस्कृत में **जीवन** और **गन्धन**=हिंसन अर्थबोधक पद त्रुटित रह गये हैं। मुद्रणप्रति में मन्त्र का **"द्यामुतेमां"** त्रुटित पाठ ऋषि ने स्व हस्तलेख से पूर्ण किया है।

५-६. **त्रुटित आवश्यक निर्वचन**—सम्पूर्ण समुल्लास में महर्षि की स्थापित शैली है कि वे प्रत्येक ईश्वर-नाम का पहले संस्कृत-निवर्चन देते हैं, फिर हिन्दी-अनुवाद देते हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस नाम में उपर्युक्त बृहत् कोष्ठकान्तर्गत **संस्कृत निर्वचन नहीं है** जो किसी कारण त्रुटित रह गया है। इसी प्रकार दोनों सं० में **'स्वरूप'** पद त्रुटित है। इसके बिना अर्थ प्रकट नहीं होता। आगे पठित पदों के साथ इस पद का प्रयोग है।

७. **अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां **"उकारमात्र"** प्रयोग है। मूलप्रति में **"उकार से"** पाठ ठीक है। यही होना चाहिये (द्रष्टव्य पृ० ३० पर टिप्पणी संख्या ७)।

[९-१०] **(दो अवखण्डने, 'अवखण्डनं नाम विनाशः')** इस धातु से '**अदिति**' और इससे तद्धित करने से '**आदित्य**' शब्द सिद्ध होता है। '**न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः**'=जिसका विनाश कभी न हो [उसका नाम **अदिति**[१] है, अदिति ही आदित्य है, इससे][२] उसी[३] ईश्वर की '**आदित्य**' संज्ञा है।

[११-१२] **(ज्ञा अवबोधने)** 'प्र' पूर्वक इस धातु से '**प्रज्ञ**' और इससे तद्धित करने से '**प्राज्ञ**' शब्द सिद्ध होता है। '**यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः[४], प्रज्ञ एव प्राज्ञः**'=जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सबसे उत्तम ज्ञानी है,[५] [और] सब चराचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है,[६] [वह **प्रज्ञ** है, प्रज्ञ ही **प्राज्ञ** कहाता है][७] इससे उसी ईश्वर का नाम '**प्राज्ञ**' है।

इत्यादि नामार्थ '**मकार**'[८] से गृहीत होते हैं।

जैसे एक-एक मात्रा[९] से तीन-तीन अर्थ यहाँ व्याख्यात किये हैं, वैसे ही अन्य नामार्थ भी 'ओङ्कार' से जाने जाते हैं।

[अथ प्रथम-मन्त्रार्थः]

जो **(शन्नो मित्रः शं व०)** इस मन्त्र में 'मित्र'-आदि नाम हैं, वे भी परमेश्वर के हैं; क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ की ही किई[१०] जाती है। **श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो अपने गुण,[११] कर्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ [है],[१२] उसको परमेश्वर कहते हैं; जिसके तुल्य न कोई हुआ, न है, और न होगा।** जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ वा जीव पदार्थ के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य ही होते हैं। **इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना**

---

१. **अदितिः**—अदिति भी ईश्वर का स्वतन्त्र नाम है, जैसे—"**भूरसि भूमिरसि-अदितिरसि**" (यजु० १३.१८)।
संशोधन-पुष्टि—प्रथम सं० में इस नाम का उल्लेख है—"**अदिति नाम जिसका कभी नाश न होय**" (पृ० ६)।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में हिन्दी अनुवाद में यह बृहत् कोष्ठकान्तर्गत आवश्यक पाठ त्रुटित है।

३. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्त० में "**वही**" प्रयोग है। द्विप्र० में "**उसी**" संशोधन है।

४. **प्रज्ञः**—'**प्रज्ञः**' मूल पद है। उसका 'अण्'-प्रत्ययान्त विकसित रूप '**प्राज्ञः**' है। '**प्रज्ञः**' की व्युत्पत्ति यह भी होती है—'**प्रकृष्टा ज्ञा यस्य सः प्रज्ञः**'। इस प्रकार यह ईश्वर का स्वतन्त्र और मूल नाम है। **पुष्टि**—प्रथम सं० में इस नाम का निर्वचन है—"**प्रकृष्टश्चासौ ज्ञश्च प्रज्ञः**" "**प्रजानाति वा चराचरं जगत् स प्रज्ञः**" (पृ० ६)। इस प्रकार यह एक स्वतन्त्र ईश्वरनाम है।

५. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—"**सबसे उत्तम ज्ञानी है**" पाठ दोनों हस्तलेखों में है। द्विप्र० में त्रुटित रहा है।

६. **ऋषिहस्तलेख, पाठग्रहण**—"**चराचर.....जानता है**" पाठ मूलसं० में मुद्रणप्रति से लिया है। यह ऋषि-हस्तलेख में है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ०कोष्ठकान्तर्गत हिन्दी-अनुवाद त्रुटित है। संस्कृत के अनुसार अभीष्ट है। आगे '**उसी**' सर्वनाम भी सभी सं० में त्रुटित है। "**जो**" पद के सम्बन्ध से अपेक्षित है।

८. **अव्यवस्थित पाठ**—तीनों सं० में यहां "**मकार से**" पाठ उपयुक्त है। द्रष्टव्य पृ० ३० पर टिप्पणी संख्या ७।

९. **मात्रा**—अक्षररूप इकाई, अक्षररूप लघुअंश। पृ० २० पंक्ति २ में इन्हीं को '**अक्षर**' कहा है।

१०. **अनुचित परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में "**किई**" महर्षि की स्वीकृत शैली का पाठ है। द्वि०सं० आदि में व्यर्थ में परिवर्तित "**की**" पद है। **पाठपुष्टि**—यही प्रयोग पृ० १९०/७ में द्रष्टव्य है।

११,१२. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद व त्रुटित आवश्यक क्रिया**—"**जो अपने गुण-कर्म-स्वभाव**" में "**अपने**" पद मुद्रणकाल में त्रुटित रहा है। दोनों हस्तलेखों में है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है। यह वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वानों;[१] दैत्य-दानवादि निकृष्ट मनुष्यों,[२] और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर में ही विश्वास करके, उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की; वैसे हम सबको करना योग्य है। **इसका विशेष विचार 'उपासना' और 'मुक्ति' के विषय में किया जायगा।**

प्रश्न—'**मित्र**' आदि नामों से 'सखा' और '**इन्द्र**'-आदि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये।

उत्तर—यहां उनका ग्रहण करना योग्य नहीं; क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु, और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में 'सखा' आदि का ग्रहण नहीं हो सकता; किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र है, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा का ही ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, गौण अर्थ में 'मित्र'-आदि शब्द से 'सुहृत्'-आदि मनुष्यों का ग्रहण होता है।[३]

[१३] **(ञिमिदा स्नेहने)** इस धातु से औणादिक 'क्त्र' प्रत्यय के होने से 'मित्र' शब्द सिद्ध होता है। '**यो मेदते[४], मेद्यति=स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः**'=जो सबसे स्नेह करे[५] और सबको प्रीति करने योग्य है, वह परमेश्वर सबका सच्चा 'मित्र' है,[६] इससे उस परमेश्वर का नाम '**मित्र**' है।

[१४] **(वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्)** इन धातुओं से उणादि 'उनन्' प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। '**यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिः व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः**'=जो आप्तों, योगियों, विद्वानों, मुक्ति की इच्छा करनेवालों, मुक्तों और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्त्ता, अथवा जो शिष्टों, मुमुक्षुओं, मुक्तों और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है,[७] वह 'वरुण' संज्ञक[८] ईश्वर है। अथवा '**वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः**'= जिसलिये सबसे श्रेष्ठ है, इसलिये उस परमेश्वर का '**वरुण**' नाम है।

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में ''**विद्वान्**'' और ''**निकृष्ट मनुष्य**'' एकवचनात्मक पद हैं, '**आदि**' पद के सम्बन्ध से बहुवचनान्त चाहियें। **संशोधन-पुष्टि**—इसी वाक्य में आगे '**मनुष्यों**' शुद्ध प्रयोग है। पंक्ति ११ में भी शुद्ध है।

३. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**इसलिये परमात्मा.....ग्रहण होता है।**'' पाठ मूलहस्तलेख में नहीं है। मूलप्रति सं० में मुद्रणहस्तलेख से ग्रहण किया है। यह ऋषि द्वारा अपने हस्तलेख से परिवर्धित है।

४. **उचित संशोधन एवं अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में निर्वचन के आरम्भ में ''**मिद्यते**'' अपप्रयोग है। ''**मिद्यति**'' प्रयोग अपेक्षित है। यह मुद्रणहस्त० में नहीं है। मुद्रणकाल में द्विप्र० और फिर द्वि०सं० में शुद्ध प्रयोग को ग्रहण किया है। किन्तु द्वि०सं० में '**मेदते**' प्रयोग क्यों हटाया गया, यह समझ में नहीं आता जबकि यह भ्वादिगण की आत्मनेपदी धातु भी है और दिवादि की परस्मैपदी। भ्वादि धातु का '**मेदते**' प्रयोग शुद्ध है। हिन्दी में इसका अर्थ भी है—''**जो सबसे स्नेह करे।**'' यह दोनों हस्तलेखों में है। मूलप्रति सं० में ''**ञिमिदा-स्नेहने**'' के बाद ''**अस्माद् धातोरौणादिकः क्त्रः प्रत्ययः**'' संस्कृतवाक्य शैलीविरुद्ध है।

५. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**सबसे स्नेह करके और सबको प्रीति करने योग्य है**'' अपपाठ है। मूलहस्त० में ''**स्निह्यति**'' का अर्थ किया गया है—''**जो सबसे स्नेह करे**''। तदनुसार मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है। मुद्रणहस्त० में इसको लिपि करते समय अशुद्ध बना दिया है। उदयपुर सं० में संशोधित है। अन्य प्रायः सभी सं० में मुद्रणलिपिकर का बनाया अशुद्ध प्रयोग है।

६. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—''**वह परमेश्वर सबका सच्चा मित्र है**'' मूलह०, मूलसं० में प्राप्त यह वाक्य मुद्रण हस्त० में लिपिकर ने प्रमादवश छोड़ दिया है, अतः द्विप्र०,द्वि०सं० तथा सभी सं० में भी त्रुटित है। यह ग्राह्य है।

७. **मुद्रणलिपिकर कृत अशुद्धि, मुद्रणकालीन अपप्रयोग और सम्पादकों की भूल**—दोनों हस्त० और तीनों ही सं० में इस

[१५] (**ऋ गतिप्रापणयोः**) इस धातु से 'यत्' प्रत्यय करने से 'अर्य' शब्द सिद्ध होता है और 'अर्य' पूर्वक '**माङ् माने**' इस धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होने से '**अर्यमा**' शब्द सिद्ध होता है। '**योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा**'=जो सत्य न्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य और पाप तथा पुण्य करनेवालों के पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियम करता[१] है, इसी से उस परमेश्वर का नाम '**अर्यमा**' है।

[१६] (**इदि परमैश्वर्ये**) इस धातु से 'रन्' प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। '**य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः**'=जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इससे उस परमात्मा का नाम '**इन्द्र**' है।

[१७] 'बृहत्' शब्दपूर्वक (**पा रक्षणे**) इस धातु से 'डति' प्रत्यय, 'बृहत्' के तकार का लोप और 'सुट्' आगम होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। '**यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः**'=जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**बृहस्पति**' है।

[१८] (**विष्लृ व्याप्तौ**) इस धातु से 'नु' प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। '**वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः परमात्मा**'[२]=चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम '**विष्णु**' है।

[१९] '**उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः**'=अनन्त पराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम '**उरुक्रम**' है।

जो परमात्मा (**उरुक्रमः**) महापराक्रमयुक्त (**मित्रः**) सबका सुहृत्=अविरोधी है, वह (**शम्**) सुखकारक, वह (**वरुणः**) सर्वोत्तम (**शम्**) सुखस्वरूप, वह (**अर्यमा शम्**) सुखप्रचारक,[३] वह (**इन्द्रः शम्**) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (**बृहस्पतिः**) सबका अधिष्ठाता, विद्याप्रद और (**विष्णुः**) जो सबमें व्यापक परमेश्वर है, वह (**नः**) हमारा (**शम्**) कल्याणकारक (**भवतु**) हो।

वाक्य में वचन-प्रयोग में अव्यवस्था है। कहीं एकवचन तो कहीं बहुवचन का प्रयोग है। संस्कृत-निर्वचन के अनुसार भी अनुवाद में बहुवचन होने चाहिएं। तीनों ही सं० में इन शब्दों में एकवचन अशुद्ध है—''**आप्त, योगी, विद्वान्, मुक्ति की इच्छा करनेवाले, मुक्त, शिष्ट, मुमुक्षु, मुक्त।**'' मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में एक अतिरिक्त अशुद्धि और है, वहां '**आप्त, योगी**' के स्थान पर ''**आत्मयोगी**'' अपप्रयोग है। मुद्रणलिपिकरकृत यही अपप्रयोग वेस, भद, युमी, उदयपुर आदि सं० में है। यह अग्राह्य है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है। मूलसं० में इसका ''**आप्तयोगी**'' अशुद्ध पाठ बना दिया है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध पाठ पृ० ४७ पर है। वहां लक्ष्मी नाम के संस्कृत-निर्वचन में दोनों पृथक्-पृथक् ''**आप्तैः योगिभिश्च**'' प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

८. **उचित संशोधन**—मूलहस्त० व मूलसं० में श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर ने '**नामक**' के स्थान पर ''**नामयुक्त**'' अपप्रयोग लिख दिया है। मुद्रणहस्त० व द्वि०सं० में इस पद को हटाकर ''**संज्ञक**'' पद रखकर शुद्ध किया है, जो ग्राह्य है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मुद्रणहस्त० और तीनों संस्करणों में '**नियमकर्त्ता**' विशेषण अपप्रयोग है, '**नियम (=व्यवस्था) करता है**' क्रिया प्रयोग शुद्ध है। ध्यान दें, संस्कृत में स्पष्टतः '**करोति**' क्रिया है। उसका अर्थ '**कर्त्ता है**' नहीं, '**करता है**' बनेगा। मूलह० में शुद्ध पाठ है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

२. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—''**परमात्मा**'' पद दोनों हस्त० में है। मुद्रण-समय द्विप्र० में त्रुटित है, अतः सभी द्वि०सं० में त्रुटित है।

३. **सम्पादकों को भ्रान्ति**—''**सुखप्रचारक**'' अर्यमा का ही अर्थ है। कुछ को भ्रान्ति है कि इसका अर्थ छूट गया है। भ्रान्तिवश वेस, भद, युमी, जग, विस, जस ने यहां अपनी ओर से '**न्यायाधीश**' अर्थ जोड़ दिया है।

[अथ द्वितीयमन्त्रार्थः]

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) 'बृह बृहि वृद्धौ' इन धातुओं से '**ब्रह्म**' शब्द सिद्ध हुआ है। जो सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़ा, अनन्त-बलयुक्त परमात्मा है, उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! **(त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि)** आप ही अन्तर्यामी[१]रूप से प्रत्यक्ष '**ब्रह्म**' हो **(त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि)** मैं आप को ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके, सबको नित्य ही प्राप्त हैं **(ऋतं वदिष्यामि)** जो आपकी वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है, उसी का[२] मैं सबके लिये उपदेश और आचरण भी करूँगा **(सत्यं वदिष्यामि)** सत्य बोलूँगा, सत्य मानूँगा और सत्य ही करूँगा,[३] **(तन्मामवतु)** सो आप मेरी रक्षा कीजिये। **(तद्वक्तारमवतु)** सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिये कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर, विरुद्ध कभी न हो। क्योंकि जो **आपकी आज्ञा है वही धर्म, और जो उससे विरुद्ध है वही अधर्म है।** "**अवतु मामवतु वक्तारम्**" यह दूसरी वार पाठ अधिकार्थ के लिये है। जैसे '**कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ, गच्छ**' इसमें दो वार क्रिया के उच्चारण से 'तू शीघ्र ही ग्राम को जा', ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहाँ कि 'आप मेरी अवश्य[४] रक्षा करो[५] अर्थात् धर्म में सुनिश्चित [प्रेम][६] और अधर्म से घृणा सदा करूँ, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा।'

(ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः) इसमें तीन वार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविधताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं—

एक '**आध्यात्मिक**'=जो आत्मा [और] शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर, पीड़ादि से होता है।[७]

दूसरा '**आधिभौतिक**'=जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है।

---

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—तीनों सं० में इस पद की वर्तनी कहीं '**अन्तर्यामि**' तो कहीं '**अन्तर्यामी**' है। मानकता एवं एकरूपता के लिए ग्रन्थ में सर्वत्र '**अन्तर्यामी**' वर्तनी रखी गई है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध वर्तनी पृ० ५०/७ में द्रष्टव्य है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में यहां "**उसी को.....आचरण भी करूंगा**" अपपाठ है। "**उसी का**" प्रयोग शुद्ध है। युमी, विस, उदयपुर सं० में भी अपपाठ है। वेस, भद, जग, जस में संशोधित है।

३. **अपवाक्य**—तीनों सं० में प्रत्यय से रहित क्रिया होने से अपवाक्य है—"**सत्य बोलूं, सत्य मानूं और सत्य ही करूंगा।**" हिन्दी-व्याकरण के अनुसार, प्रत्यय क्रिया से तोड़कर नहीं लिखा जाता और न सभी क्रियाओं का साझा एक ही हुआ करता है। सभी सं० में अपपाठ है। **पाठपुष्टि**—प्रथम सं० में शुद्ध वाक्य है—"**सत्य ही कहूंगा और करूंगा**" (पृ० ९)।

४-६. **मुद्रणकाल में परिवर्धन एवं भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**अवश्य, कीजिये, प्रेम**' तीनों ही पद त्रुटित हैं। द्विप्र०, द्वि० सं० में पहले दो पद "**अवश्य**" और "**करो**" तो परिवर्धित हैं किन्तु '**प्रेम**' पद त्रुटित है। इन पदों के परिवर्धन के बिना अर्थपूर्ण वाक्य नहीं बनता, जैसे '**अवश्य**' शब्द को जोड़े बिना दो बार क्रियाप्रयोग का अर्थ नहीं प्रकट होता। यह पद प्रथम सं० में भी है (पृ०९)। '**कीजिये**' क्रिया के बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता। '**प्रेम**' पद के बिना तो वाक्य का अनर्थ ही प्रकट हो रहा है। वेस, जग और उदयपुर सं० में "**प्रेम**" गृहीत नहीं है, अन्य सब में परिवर्धित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में यहां "**होते हैं**" बहुवचनात्मक क्रिया अशुद्ध है। मूलह०, मूलप्रति सं० में "**होता है**" शुद्ध है। यहां "**एक आध्यात्मिक**" पाठ के सम्बन्ध से क्रिया प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने बिना विचार किये क्रिया बदल दी। सम्पादकों ने भी बिना विचारे उसका अंधानुकरण किया। प्राप्त पाठ भी पाठक के लिए अस्पष्ट है—"**जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग, द्वेष मूर्खता और ज्वर-पीड़ा आदि से होता है।**" इसमें उपर्युक्त परिवर्धन अभीष्ट है। **पाठपुष्टि**—अगले दोनों दुःख-विषयक पाठों में एकवचनात्मक क्रियाएं हैं।

तीसरा '**आधिदैविक**'=अर्थात् जो अतिवृष्टि, अवृष्टि,[१] अतिशीत, अति-उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है।

इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिये। क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इसलिये आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिये कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण [करके] और अधर्म को छोड़के परमानन्द को प्राप्त हों[२] और दुःखों से पृथक् रहैं।

[२०] "**सूर्य्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" [यजुः, १३।४६]

इस यजुर्वेद के वचन से जो '**जगत्**' नाम प्राणी=चेतन और जङ्गम[३] अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, '**तस्थुषः**'=अप्राणी जो स्थावर-जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सबका आत्मा और स्वप्रकाशरूप होने [और] सबको प्रकाशित करने से[४] परमेश्वर का नाम '**सूर्य**' है।

[२१-२२] **(अत सातत्यगमने)** इस धातु से '**आत्मा**' शब्द सिद्ध हुआ है। '**योऽतति व्याप्नोति स आत्मा**'=जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है। '**परश्चासौ-आत्मा च, यश्च[५] आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा**'=जो सब जीवों आदि से उत्कृष्ट और जीव, प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम '**परमात्मा**' है।

[२२] सामर्थ्यवाले का नाम '**ईश्वर**' है। '**य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः**'=जो ईश्वरों[६] अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो, उसका नाम '**परमेश्वर**' है।

---

१. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति में प्रमादी लिपिकर ने लिखते समय '**अवृष्टि**' पद को छोड़ दिया है, अतः द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में यह पद त्रुटित रह गया है। यह ग्रहण करना आवश्यक है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है।
पाठ-पुष्टि—महर्षि ने जहां-जहां इस मन्त्र का अर्थ किया है वहां-वहां इस भाव का बोधक पद अवश्य रखा है, क्योंकि अवृष्टि=अकाल एक घोर आपदा है। '**आर्याभिविनय**' में महर्षि लिखते हैं—"**दूसरा आधिभौतिक जो....अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत अत्युष्णता इत्यादि से होता है।**" (२.१) 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम संस्करण में पाठ है—"**कुछ भी वृष्टि का न होना**" (पृ० ९)। प्रायः सभी सं० में यह अपूर्ण पाठ है। उदयपुर सं० ने भी इस पद को ग्रहण न करके अपने पाठ को अपूर्ण रखा है।

२. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्तलेखों और तीनों ही सं० में इस वाक्य के पूर्वखण्ड के अन्त में '**करके**' क्रिया लिपिकर की भूल से छूट जाने से "**धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़के परमानन्द को प्राप्त हों**" यह महाभ्रष्ट वाक्य बन गया है। इससे यह अर्थ-संदेह हो रहा है कि 'धर्म का आचरण और अधर्म दोनों को छोड़ के परमानन्द को प्राप्त करें।' यहां "**करके**" क्रिया बढ़ानी अत्यन्त आवश्यक है। अन्य सभी वेस, युमी, भद, जग, विस, उदयपुर सं० आदि में भ्रष्टपाठ है। जस में संशोधित है।

३. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर की त्रुटि**—मुद्रणप्रति में "**न और जंगम**" मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ ऋषि ने पूर्ण किया है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य इस प्रकार मिलता है—"**उन सबके आत्मा और स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाश करने से**" यहां '**सबका आत्मा**' प्रयोग उचित है, '**होने**' क्रिया स्वप्रकाशरूप के बाद होनी चाहिए, अगले वाक्यार्थ की भिन्नता के बोधन के लिए '**और**' पद भी अभीष्ट है, '**सबको प्रकाशित करने से**' उपयुक्त वाक्य खण्ड है, अन्यथा "**सबके आत्मा**" प्रयोग से ईश्वर का '**अनेक आत्मारूप**' होने का अर्थ प्रकट होता है। अन्य सभी सं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम सं० में शुद्ध वाक्य है—"**उन सभों का जो आत्मा होय उसका नाम सूर्य है**" (पृ० १०)

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—कई जन परमात्मा पद की दो निरुक्तियां होने से '**च**' पद के बाद '**परमात्मा**' पद का परिवर्धन आवश्यक मानते हैं। सभी संस्करणों में यहां "**यः**" के स्थान पर '**यश्च**' प्रयोग करने से अभिप्राय सिद्ध हो जाता है।

६. **मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—द्विप्र० में यहां संस्कृत पाठ के विरुद्ध "**ईश्वरों का**" भ्रष्टपाठ है। सभी द्वि०सं० में संशोधित कर लिया

[२४] (**षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने**) इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। '**अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वा-उत्पादयति स सविता परमेश्वरः**'=जो सब [चराचर][१] जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम '**सविता**' है।

[२५] (**दिवु, क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु**) इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (**क्रीडा**) जो शुद्ध[२] जगत् को क्रीड़ा कराने, (**विजिगीषा**) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त, (**व्यवहार**) सबको[३] चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता, (**द्युति**) स्वयंप्रकाशस्वरूप, सबका प्रकाशक (**स्तुति**) प्रशंसा के योग्य, (**मोद**) आप आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द देनेहारा, (**मद**) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा, (**स्वप्न**) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा, (**कान्ति**) कामना के योग्य, और (**गति**) ज्ञानस्वरूप है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**देव**' है।

अथवा '**यो दीव्यति क्रीडति[४] स देवः**'=जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीडा करे अथवा किसी के साहाय्य के विना क्रीड़ावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता वा सब क्रीड़ाओं का आधार है; '**[यो][५] विजिगीषते स देवः**'=जो सबका जीतनेहारा, स्वयं अजेय अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके; '**[यो][६] व्यवहारयति स देवः**'=जो न्याय और अन्यायरूप व्यवहारों का जाननेहारा और उपदेष्टा है; '**यः-चराचरं जगत् द्योतयति [स देवः]**'[७]=जो सब [चराचर जगत्][८] का प्रकाशक है;[९] '**यः स्तूयते स देवः**'=जो सब मनुष्यों की प्रशंसा के योग्य हो[१०] और निन्दा के योग्य न हो; '**यो मोदयति स देवः**'=जो स्वयं आनन्दस्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता है,[११] जिसको दुःख का लेश

है। दोनों हस्त०, मूलसं० में भी शुद्ध पाठ है। जस, उदयपुर सं० में भ्रष्टपाठ है। **पाठपुष्टि**—प्रथम सं० में पाठ है—''**ईश्वर नाम सामर्थ्य वाले का है जो सब ईश्वरों में परमश्रेष्ठ होय.....**'' (पृ०१०) तथा ''**समर्थों में समर्थ**'' (पृ०१५)।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का अग्राह्य पाठ—मुद्रणकाल में किसी शोधक के दोष से द्विप्र० में ''**ईश्वरों का**'' पाठ छप गया था। अगले द्वि०सं० में उस अशुद्धि को दूर कर दिया गया। पता नहीं क्यों पं० जी का ध्यान अशुद्धि के कारण पर न जाकर अशुद्धि को शुद्ध सिद्ध करने की ओर चला गया। उन्होंने यहां ''**ईश्वरों का**'' के बाद कोष्ठक में '**ईश्वर**' पाठ की कल्पना की और उसके समर्थन में टिप्पणी में लिखा कि '**ईश्वर**' शब्द के त्रुटित हो जाने से उत्तरवर्ती सं० में '**का**' पद हटा दिया। पं० जी का ध्यान संस्कृत-निर्वचन की ओर भी नहीं गया कि उसमें सप्तमी विभक्ति है, अतः '**ईश्वरों का ईश्वर**' अर्थ बनेगा ही नहीं, '**ईश्वरों में ईश्वर**' बनेगा, जैसे आगे ''**समर्थों में समर्थ**'' है। यहां ईश्वर का 'समर्थ' अर्थ है।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत '**चराचर**' पद त्रुटित है। संस्कृत-पाठ में है, अतः ग्राह्य है।

२. ''**शुद्ध**'' **पद का अर्थ**—यह जगत् का विशेषण है। शुद्ध जगत् से अभिप्राय है—'**प्रकृति का मूल स्वाभाविक स्वरूप**', जिस उपादान से ईश्वर जगत् को कार्यरूप में परिणत करता है। सांख्यदर्शन में उसको तीन गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति कहा है—''**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**'' (१.६१)। उसे कार्यरूप में परिणत करना ही ईश्वर की क्रीड़ा है। अग्रिम पंक्तियों में महर्षि ने इस क्रीड़ा को इन शब्दों में स्पष्ट कर दिया है—''**किसी के सहाय के बिना क्रीडावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता**'' (पंक्ति ५)। महर्षि ने स्वयं शुद्ध शब्द को प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त किया है—''**द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः**=(दिव्य) जो प्रकृति-आदि दिव्य पदार्थों में व्याप्त'' (पृ० २७/७) यहां शुद्ध=मूल प्रकृति से ही उनका अभिप्राय है। 'शुद्ध' शब्द के इस अर्थ की पुष्टि पृष्ठ ४४१ पर वेदान्तसूत्र ''**द्वादशाह....**'' [४.४.१२] में प्रयुक्त शुद्ध शब्द से भी हो जाती है। वहाँ जीव के स्वाभाविक सामर्थ्य को 'शुद्ध' सामर्थ्य कहा है। अतः यहाँ भी प्रकरणानुसार शुद्ध प्रकृति अर्थ सही और संगत है।

३. **अपसंशोधन**—द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**सबको**'' पाठ चाहिये, '**सब**' अनुपयुक्त है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। अन्य सं० में भी अशुद्ध है। यों तो सब कुछ ही परमात्मा देता है किन्तु दान-भाव का वैशिष्ट्य सबको देने में निहित है।

४. **मुद्रणकालीन संशोधन**—मूललिपिकर ने ''**क्रीडते**'' अपप्रयोग लिखा है। वही मुद्रणहस्त० में है। द्विप्र० में संशोधित है।

५-१४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ५-८ संख्या वाले पद त्रुटित रह गये हैं। निर्वचन शैली की एकरूपता, पूर्ण वाक्यरचना हेतु और हिन्दी-अनुवाद में होने के कारण ये आवश्यक हैं। ९-१४ संख्या वाली सभी क्रियाएं वाक्य-पूर्ति के लिए

भी न हो; '**यो माद्यति स देवः**'=जो सदा हर्षित, शोक से रहित है[१२] और दूसरों को हर्षित करनेवाला और दुःख से पृथक् रखनेवाला है;[१३] '**यः स्वापयति स देवः**'= जो प्रलय-समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता है;[१४] '**यः कामयते काम्यते वा स देवः**'=जिसके सब सत्य काम हैं[१] और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं; '**यो गच्छति गम्यते वा स देवः**'=जो सबमें प्राप्त और जानने के योग्य है; इससे उस परमेश्वर का नाम '**देव**' है।

[२६] (**कुबि**[२] **आच्छादने**) इस धातु से 'कुबेर'[३] शब्द सिद्ध होता है। '**यः सर्वं कुम्बति**[४] **स्वव्याप्त्या-आच्छादयति स कुबेरो**[५] **जगदीश्वरः**'=जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, इससे उस परमेश्वर का नाम '**कुबेर**'[६] है।

[२७] (**पृथु विस्तारे**) इस धातु से 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। '**यः पर्थति सर्वं जगद्-विस्तृणाति तस्मात् स पृथिवी**'=जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करनेवाला है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**पृथिवी**' है।

[२८] (**जल घातने**) इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है, '**जलति घातयति दुष्टान् सङ्घातयति-अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्**'=जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा '**जल**' संज्ञक कहाता है। यद्वा '**यज्जनयति लाति सकलं जगत् [सुखं वा] तद् ब्रह्म जलम्**'=अथवा जो सबका जनक और सब सुखों का देनेवाला है, इसलिये भी परमात्मा का नाम '**जल**' है।[७,८]

आवश्यक हैं, क्योंकि सभी स्वतन्त्र वाक्य हैं। व्याकरणानुसार कोई स्वतन्त्र वाक्य क्रिया के बिना पूर्ण नहीं माना जाता। आगे कोई क्रिया भी ऐसी नहीं है जिसको इन पूर्व वाक्यों के साथ जोड़कर वाक्यपूर्ति मान ली जाये।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग एवं त्रुटित क्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**हैं**' क्रिया चाहिये। अगली पंक्ति में मुद्रणलिपिकर ने ''**प्राप्त**'' का ''**व्याप्त**'' बना दिया। वही अशुद्धि द्विप्र० आदि में है।

२-६. **पाठान्तर और संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में उदयपुर सं० में ''**कुवि**'', ''**कुवेर**'' ''**कुंवति**'' ''**कुवेर**'' आदि प्रयोग हैं। वैसे ये भी प्रयोग स्वीकृत हैं। द्वि०सं० और मूलसं० में इनमें 'ब' वर्ण कर दिया गया है। उणादिकोश में ''**कुम्ब**'' वर्ण होने से सर्वत्र यही गृहीत है। महर्षि ने भी कुबेर में वहां 'ब' वर्ण ही मान्य किया है।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणहस्तलेख में दूसरे निर्वचन का ''**यद्वा....जल है**'' पाठ मुद्रणप्रति लिखते समय लिपिकर के प्रमाद से छूटा है। यह जल के '**सुख**' अर्थ को व्यक्त करने वाली स्वतन्त्र निरुक्ति है। इसका भिन्न अर्थ और महत्त्व होने के कारण महर्षिप्रोक्त यह पाठ रखा जाना चाहिए। मुद्रणलिपिकर अगला पृष्ठ लिखना आरम्भ करते समय यही भूल गया कि मैंने अभी 'जल' नाम की निरुक्ति पूरी नहीं की है। अपूर्ण छूटे वाक्य से यह स्पष्ट ज्ञात होता है। पहला पृष्ठ ''**परमात्मा जलसंज्ञ**'' पद पर समाप्त हुआ है। उसके बाद, अगले पृष्ठ पर जब लिखना शुरू किया तो अगले निर्वचन ''**काशृ-दीप्तौ**'' से शुरू कर दिया। इस प्रकार लिपिकर पहली तीन पंक्तियों की प्रतिलिपि करना ही भूल गया। मुद्रणप्रति में असंगत वाक्य देख कर संशोधक ने छूटे हुए पाठ की वाक्यपूर्ति अनुमान से ''**परमात्मा जलसंज्ञक कहाता है**'' यह नया वाक्य लिखकर कर दी। यदि मूलह० से मिलान कर लेता तो उसे छूटे हुए पाठ का ज्ञान हो जाता। **पाठ-पुष्टि**—मुद्रणह० में त्रुटित यह दूसरा निर्वचन मूलहस्तलेख में है और प्रथम संस्करण (१८७५) में भी यथावत् है (पृ० १२)। अतः अवश्य ग्राह्य है।

८. **त्रुटित पाठ ग्राह्य**—द्विप्र०, द्वि०सं० में तो यह निर्वचन उपर्युक्त कारण से पूर्णतः त्रुटित ही है, मूलसं० में और मूलहस्त० में भी बृ०कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं। हिन्दी में जो अर्थ दिया है उसके अनुसार यह पद-परिवर्धन आवश्यक है। परोप० ३४, **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक,** विस और जस ने दूसरे निर्वचन को अपने संस्करण में ग्रहण कर लिया है जबकि वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में अभी त्रुटित ही है। जल का 'सुख' अर्थ निघण्टु-सम्मत है (''**सुखनाम**'' ३.६)। और ऋषि ने वेदभाष्य में भी यह अर्थ किया है। द्रष्टव्य, ऋग्० १.४३.४; ७.३५.६ में '**सुखाय**', '**सुखकर्त्ता**' आदि, अतः यह निर्वचन सभी द्वि०सं० में ग्राह्य है।

[२९] (**काशृ दीप्तौ**) इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है, '**यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः**'=जो सब ओर से सब[१] जगत् का प्रकाशक है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**आकाश**' है।

[३०-३२] (**अद् भक्षणे**) इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्।

अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः॥ ये तैत्तिरीयोपनिषत् के वचन हैं[२] [२।२; ३।१०]।

अत्ता चराऽचरग्रहणात्॥ यह व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र है [वेदान्तसू० १।२।९]।

जो सबको भीतर रखने=सबको ग्रहण करने योग्य चराचर जगत् का ग्रहण करनेवाला है, इससे ईश्वर के '**अन्न**', '**अन्नाद**' और '**अत्ता**' नाम हैं। और जो इसमें तीन वार पाठ है, सो आदर के लिये है। जैसे गूलर के फल में क्रिमि[३] उत्पन्न होके, उसी में रहते हैं और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।

[३३] (**वस निवासे**) इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। '**वसन्ति भूतानि यस्मिन्-अथवा यः सर्वेषु भूतेषु वसति स वसुरीश्वरः**'=जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं और जो सब [भूतों] में वास कर रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**वसु**' है।

[३४] (**रुदिर् अश्रुविमोचने**) "**रोदेर्णिलुक् च**"[४] [उणादि० २।२२]" इस सूत्र से 'रुदिर्' णिजन्त धातु से 'रक्' प्रत्यय होने से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है। '**यो रोदयति-अन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः**'=जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**रुद्र**' है।

यन्मनसा ध्यायति[५] तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते॥ यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। [तुलना–शत०ब्रा० १४।७।२।७]

जीव जिसका मन से ध्यान करता उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता[६] उसी को प्राप्त होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि **जो जीव जैसा**

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**सब**" पद त्रुटित है। यह आवश्यक भी है और संस्कृत पाठ में होने के कारण भी ग्राह्य भी है। मूलह०, मूलसं० में है।

२. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह एकवचनात्मक अपवाक्य है—"**यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है**"। ऊपर वचन दो हैं और पृथक्-पृथक् वल्ली=(=अध्याय) के हैं, अतः यहां बहुवचन अपेक्षित है। द्विप्र० द्वि०सं० में अपूर्ण वाक्य है।

३. **अपवर्तनी**—द्विप्र० और दोनों हस्त० में "**क्रमि**" अपवर्तनी है। मूलसं० तथा सभी द्वि०सं० में व्यर्थ ही वर्तनी '**कृमि**' परिवर्तित कर दी है। अन्यत्र "**क्रिमि**" भी पठित है। उदयपुर सं० में भी अनावश्यक परिवर्तन है।

४. **अप-उद्धरण और मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—दोनों सं० में यहां किञ्चित् पाठान्तर है। मूलप्रति सं० में "**रुदेर्णिलोपश्च**" यह अशुद्ध पाठ है और सूत्र के बाद "**इस णिजन्त धातु से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है**" अपपाठ है, तथा प्रत्यय का उल्लेख त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में सूत्र को अनावश्यक रूप से निकाल दिया है। '**रक्**' प्रत्यय का उल्लेख होना चाहिए। दोनों के शुद्ध पाठ मिलाने से पूर्ण और शुद्ध वाक्य बनता है। मुद्रण-लिपिकर ने प्रमादवश सूत्रपाठ मुद्रणहस्त० में छोड़ दिया है। **पाठपुष्टि**—यह सूत्र प्रथम सं० में भी पठित है (पृ० १३)।

५. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र० में "**ध्यायंति**" अपपाठ है, द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह० और मूलसं० में यहां यह पाठ है—"**उसको कहता, जिसको कहता उसी को करता, जिसको करता....**"। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में उपर्युक्त परिवर्तन है, जो मूल प्रमाण के अनुसार स्पष्ट और ग्राह्य पाठ है।

कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करनेवाले जीव ईश्वर की न्याय-व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते हैं[१] तब रोते [हैं][२]; और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है। इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**रुद्र**' है।

[३५] **आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ यह मनुस्मृति का श्लोक है[३] अ० १।१०।

जल और जीवों का नाम 'नारा'[४] है। वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम '**नारायण**' है।

[३६] **(चदि आह्लादे)** इस धातु से 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। '**यः-चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः**'=जो [स्वयं][५] आनन्दस्वरूप और सबको आनन्द देनेवाला है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**चन्द्र**' है।

[३७] **(मगि गत्यर्थक)** धातु से '**मङ्गेरलच्**' [उणादि० ५।७०] इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। '**यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः**'=जो आप मङ्गलस्वरूप और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**मङ्गल**' है।

[३८] **(बुध अवगमने)** इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। '**यो बुध्यते बोधयति[६] वा स बुधः**'=जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिये परमेश्वर का नाम '**बुध**' है।

'**बृहस्पति**' शब्द का अर्थ कर दिया [है]।[७]

[३९] **(ईशुचिर् पूतीभावे)** इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः**'=जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**शुक्र**' है।

[४०] **(चर गतिभक्षणयोः)** इस धातु से '**शनैस्**' अव्यय उपपद धरके 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" आवश्यक क्रिया त्रुटित है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यह अस्पष्ट और अपवाक्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में उपर्युक्त संशोधित पाठ है, वही ग्राह्य है। कुछ पदों के अस्थान में होने से मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य बन गया है—"**जब दुष्ट कर्म करने वाले ईश्वर की व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते, तब रोते हैं।**" विरामचिह्न-रहित वाक्य-संयोजना से एकाएक ऐसा अर्थ-संदेह हो रहा है कि 'दुष्ट कर्म करने वाले ईश्वर से' लोग फल प्राप्त करते हैं।

३,७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में उपर्युक्त वाक्य ३ के स्थान पर "**मनु०**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। मुद्रणह०, द्विप्र० में '**कह दिया**' पाठ व्यर्थ पाठान्तर है। 'बृहस्पति' का निर्वचन द्रष्टव्य है पृष्ठ ३४ और क्रमसंख्या १७ में।

४. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में '**नारा**' के स्थान पर "**नार**" अपप्रयोग है। "**नारा**" का एक अर्थ "**प्राण**" भी किया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधन करके दोनों त्रुटियों को दूर कर दिया है। यहां उसी का पाठ ग्राह्य है। श्लोक में "**प्राण**" अर्थ का द्योतक कोई पद नहीं है और न अन्यत्र कहीं "**नारा**" का प्राण अर्थ मिलता है, अतः संशोधन ठीक है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में "**स्वयं**" पद त्रुटित है। स्वरूपबोधक विशेषण के साथ आवश्यक है। **पाठपुष्टि**—अन्यत्र प्रयुक्त है—"**आप मङ्गलस्वरूप**" (मङ्गल नाम की निरुक्ति में), "**स्वयं बोधस्वरूप**" (बुध नाम की निरुक्ति में) आदि।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० और अन्य दोनों सं० में "**बोध्यते**" अपपाठ है। "**बोधयति**" पाठ ही शुद्ध और संगत है। सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० ने '**बोध्यते**' पाठ ही ग्रहण किया है।

हुआ है। '**यः शनैश्चरति स शनैश्चरः**'=जो सबमें सहज से प्राप्त और[१] धैर्यवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**शनैश्चर**' है।

[४१] (**रह त्यागे**) इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता है। '**यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति स राहुरीश्वरः**'=जो एकान्तस्वरूप है,[२] जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं है[३]। जो दुष्टों को छोड़नेहारा और [दुष्टों से][४] अन्यों को छुड़ानेहारा है,[५] इससे उस परमेश्वर का नाम '**राहु**' है।

[४२] (**कित निवासे रोगापनयने च**) इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। '**यः केतयति[६] चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः**'=जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से मुक्त रखता है,[७] इसलिये उस परमात्मा का नाम '**केतु**' है।

[४३] (**यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु**) इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है।

'**यज्ञो वै विष्णुः**' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है।

[शत०ब्रा०, १।१।२।१३, गो०ब्रा०उत्तरभाग, प्रपा० ४। कं० ६]

'**यो यजति विद्वद्भिः-इज्यते वा स यज्ञः**'=जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है, और होगा, इससे उस परमात्मा का नाम '**यज्ञ**' है; क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है।[८]

[४४] (**हु दानाऽदनयोः, आदाने चेत्येके**) इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यो जुहोति स होता**'=जो सब जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है,[९] इससे उस ईश्वर का नाम '**होता**' है।

---

१. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**और**" योजक त्रुटित है। दो विशेषताओं को पृथक् बतलाने के लिए आवश्यक है।

२. **एकान्तस्वरूप**=एकमात्र, अकेला, निरपेक्ष आदि।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है। स्वतन्त्र वाक्य होने से यहां क्रिया अभीष्ट है।

४. **अपपाठ**—वाक्य की भाषा से भाव स्पष्ट नहीं होता, अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। दुष्टों को छोड़ने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा उनको श्रेष्ठ मनुष्य नहीं मानता, और स्वयं को उनका सहायक नहीं बनाता। परमात्मा श्रेष्ठ लोगों को दुष्टों के संग और दुष्टता से बचाने की प्रेरणा और सहायता करता है।

५. **ऋषिहस्तलेख एवं पाठग्रहण**—"**जो दुष्टों को.....नाम राहु है।**" तक का पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मूलप्रति सं० में मुद्रणहस्तलेख से ग्रहण किया है। मुद्रणह० में यह ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख से परिवर्धित पाठ है।

६. **मुद्रणकाल में संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में "**यश्चिकेतति**" अपरूप है। द्विप्र०, द्वि०सं० में "**यः केतयति**" पाठ-परिवर्तन है। प्रदर्शित धातु की दृष्टि से यह ग्राह्य है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** का भी यही मन्तव्य है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अस्पष्टार्थक वाक्य है—"**मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है।**" प्रश्न उठता है, जब मुक्ति-समय में शरीर ही नहीं तो रोग कहां से आ गये? कोई इसकी संगति मानसिक रोगों से लगाकर समाधान कर सकता है किन्तु मुक्ति में पूर्णानन्द के कारण कोई मानसिक रोग, शोक, भय आदि नहीं होते। उपर्युक्त सामान्य पाठ-परिवर्तन से यह वाक्य स्पष्टार्थक हो जाता है। इसका भाव यह है कि जैसे 'दुःख से छूट जाना' मुक्ति का लाभ है, उसी प्रकार 'सभी प्रकार के रोगों से छूट जाना' मुक्ति का गुण या लाभ है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम सं० में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"**जो मुमुक्षुओं के जन्म-मरणादिक रोगों के नाश का हेतु होय**" (पृ० १४)। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अस्पष्टार्थक अपपाठ ही है।

८. **वाक्यार्थ**—"**वह सर्वत्र व्यापक है**" यह "**यज्ञो वै विष्णुः**" इस ब्राह्मणवाक्य का अर्थ है। विष्णु अर्थात् व्यापक होने से यह ईश्वर का नाम है। विष्णु का पर्याय '**यज्ञ**' है। यज्ञ भी आहुति-प्रभाव के सूक्ष्म रूप में चराचर में व्याप्त होता है। इस प्रकार यज्ञ का अर्थ 'व्यापकत्व' युक्त होने से यह परमात्मा का भी नाम है।

[४५] (**बन्ध बन्धने**) इस धातु से 'बन्धु' शब्द बना है। '**यः स्वस्मिन् चराऽचरं जगद् बध्नाति बन्धुवद्-धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्तते स बन्धुः**'=जिसने अपने में सब लोक-लोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खा है[१] और [जो धर्मात्माओं का][२] सहोदर के समान सहायक है। इसी से [लोकलोकान्तर][३] अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। जैसे, भ्राता भाइयों का साहाय्यकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण [करने][४], और सुख देने से '**बन्धु**' संज्ञक है।

[४६-४८] (**पा रक्षणे**) इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः पाति सर्वान् स पिता**'=जो सबका रक्षक है। जैसे[५] पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है, इससे उस ईश्वर का नाम '**पिता**' है। '**यः पितॄणां पिता स पितामहः**'=जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**पितामह**' है। '**यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः**'=जो पिताओं के पितरों का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर '**प्रपितामह**' कहाता है।

[४९] (**माङ् माने शब्दे च**) इससे माता शब्द बनता है।[६] '**यो मिमीते मानयति सर्वान्-जीवान् स माता**'=जैसे पूर्णकृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है, वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**माता**' है।

[५०] (**चर गतिभक्षणयोः**) आङ्पूर्वक इस धातु से 'आचार्य' शब्द सिद्ध होता है। '**य आचारं ग्राहयति, सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः**'=जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा[७] और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्यायें[८] प्राप्त कराता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**आचार्य**' है।

[५१] (**गॄ शब्दे**) इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। '**यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः**'।

---

९. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**ग्रहण करने योग्य है**'' अस्पष्टार्थक पाठ है। द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधित पाठ स्पष्टार्थक है। वही ग्रहण किया है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में यहां ''**लोकलोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खे हैं**'' हिन्दी-व्याकरणानुसार अपवाक्य है। उपर्युक्त पाठ शुद्ध है। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में है। जस में संशोधित है।

२-४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित रह गये हैं। संस्कृत-पाठ में होने से अवश्य ग्राह्य हैं। इसी प्रकार '**लोकलोकान्तर**' और '**करने**' क्रियापद भी आवश्यक हैं।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में विशेषण प्रयोग ''**जैसा**'' है। यहां उदाहरणार्थक '**जैसे**' पद शुद्ध माना जायेगा। आगे ''**वैसे**'' है, उसके सम्बन्ध से भी ''**जैसे**'' ही आयेगाा।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणहस्त० में और तदनुसारी द्विप्र०, द्वि० सं० में यह सम्पूर्ण वाक्य त्रुटित रह गया है। ग्रन्थकार की शैली के अनुसार भी आवश्यक है। मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में है। मुद्रणहस्त० में लिपिकर की प्रमादलीला से यह वाक्य छूटा है। **पाठ-पुष्टि**—प्रथम सं० में भी यह पाठ है (पृ० १५-१६)। वेस में टिप्पणी में और युमी, विस में मूल में इस वाक्य को ग्रहण कर लिया है। भद, जग और उदयपुर में त्रुटित पाठ है। यह ग्राह्य है।

७-८. **अपपाठ एवं अव्यवस्थित प्रयोग**—द्विप्र० में ''**करनेहारा**'' अपपाठ है। द्वि०सं० में संशोधित है, अन्य सभी पाठों में शुद्ध है। सभी सं० में एकवचनान्त '**सब विद्या**' अपप्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—''सब'' के साथ बहुवचन अभीष्ट है, जैसे कि इसी वाक्य में पांच पदों से पहले है। बहुवचनात्मक प्रयोग पृ० ५२/१५, १९९/६, २५६/१२, ३६२/१७, ३९८/२२ में भी द्रष्टव्य हैं।

''**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**'' यह योगशास्त्र का सूत्र है।[१] [१।२६]

=जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकलविद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता है,[२] जो कि सृष्टि के[३] आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा, और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु है; और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिये उस परब्रह्म[४] का नाम '**गुरु**' है।

[५२] (**अज गति-क्षेपणयोः, जनी प्रादुर्भावे**) इन धातुओं से 'अज' शब्द बना है। '**योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जनयति[५] कदाचित्-न जायते सोऽजः**'=जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत-परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता है, इससे उस ईश्वर का नाम '**अज**' है।

[५३] (**बृह बृहि वृद्धौ**) इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है। '**योऽखिलं जगत्-निर्माणेन बर्हति [बृंहति][६] वर्द्धयति स ब्रह्मा**'=जो सम्पूर्ण जगत् को रचके बढ़ाता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**ब्रह्मा**' है।

[५४-५७] '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है। [ब्रह्म०, अनु० १]

'**सन्तीति सन्तः, तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्। यज्जानाति चराऽचरं जगत् तत्-ज्ञानम्। न विद्यतेऽन्तोऽवधिः-मर्यादा यस्य तदनन्तम्। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म**'=जो पदार्थ हों, उनको 'सत्' कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम '**सत्य**' है। जो [चराचर जगत् का][७] जाननेवाला है, इसलिये परमेश्वर का नाम '**ज्ञान**' है। जिसका अन्त, अवधि, मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा, चौड़ा, छोटा वा बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है; इसलिये परमेश्वर का नाम '**अनन्त**' है। जो सबसे बड़ा है [इससे '**ब्रह्म**' नाम है][८]। इसलिये उस परमेश्वर के नाम **सत्य,**[९] **ज्ञान अनन्त** [और **ब्रह्म**][१०] हैं।

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर व अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**एषः**'' पद त्रुटित रह गया है। योगदर्शन में यह पद है। वेस, भद, युमी, जग, जस, उदयपुर सं० ने ग्रहण कर लिया है। मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**यह योगशास्त्र का सूत्र है**'' के स्थान पर ''**योग०**'' व्यर्थ पाठान्तर है। पाठान्तर से ग्रन्थ में अव्यवस्था बढ़ी है।

२. **त्रुटित क्रिया**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है। दोनों हस्त० में और मूलप्रति सं० में है।

३. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—दोनों सं० में '**आदि**' का यहां स्त्रीलिंग में प्रयोग है। ग्रन्थकार की मौलिक शैली इसका पुंल्लिग प्रयोग करने की है। अन्यत्र ग्रन्थ में पुंल्लिग प्रयोग भी मिलता है (पृ० ५५,३८०), अतः यहां भी पुंल्लिग प्रयोग ही ग्राह्य है। दो लिंगों का प्रयोग भाषात्मक अव्यवस्था और अमानकता उत्पन्न करता है। संशोधन आवश्यक है। विस्तृत टिप्पणी पृ० ५७ पर द्रष्टव्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणह० में इसके स्थान पर ''**परमेश्वर**'' पाठान्तर व्यर्थ किया गया है।
ऋषि-हस्तलेख—मूलह० में ''**और जिसका नाश कभी नहीं होता**'' पाठ ऋषि-हस्तलेख में है।

५. **अपप्रयोग व त्रुटित पाठ का उचित परिवर्धन**—सभी सं० में ''**जानाति**'' अशुद्ध प्रयोग है, परोप० ३४ और मूलप्रति सं० में संशोधित कर लिया है। इसका यहां कोई संदर्भ नहीं है, प्रक्षेपण अर्थात् उत्पन्न करने और स्वयं उत्पन्न न होने का सन्दर्भ है। उत्पन्न करने अर्थ में यहां जनी-प्रादुर्भावे धातु है। मूलहस्त० में अशुद्ध पाठ है। मूलहस्तलेख में '**जनी-प्रादुर्भावे**' धातु का उल्लेख नहीं है। यह मुद्रणहस्त० में ऋषि द्वारा जोड़ी गई है। मूलप्रति सं० में उसी से यह धातु-पाठ ग्रहण किया है।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**बृहि**' धातु का ''**बृंहति**'' प्रयोग त्रुटित है। युमी में गृहीत है।

७-८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद के बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित रह गये हैं। इसके अतिरिक्त मूलह० से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने, इन वाक्यों में दो ''**इसलिये**'' पद आने से बीच का यह पाठ छोड़ दिया—''**परमेश्वर का नाम अनन्त है। जो सबसे बड़ा है इसलिये**''। मध्य का पाठ त्रुटित रहने से संगति भी त्रुटित रह गई है। यही त्रुटित पाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, जग, जस में छप रहा है। मूलह० का पाठ ग्राह्य है।

[५८] **(डुदाञ् दाने)** 'आङ्' पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द और नञ्पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **'यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिः-इत्युच्यते।' 'न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिः-ईश्वरः'**=जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको 'आदि' कहते हैं। जिसका आदि कारण कोई भी नहीं है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

[५९] **(अस् भुवि)** इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **'यदस्ति, त्रिषु कालेषु न बाध्यते[१] तत्सद् ब्रह्म'**=जो सदा वर्त्तमान रहे[२] और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, इससे उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

[६०] **(चिती संज्ञाने)** इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति**

डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार की समीक्षा चिन्त्य—पं० जी के पास समीक्षा के समय पर दोनों ही हस्तलेख उपलब्ध नहीं थे, क्योंकि द्विप्र०, द्वि०सं० में 'ब्रह्म' का निर्वचन-विषयक हिन्दी-अनुवाद त्रुटित है, अतः अनुमान के आधार पर उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि यह पाठ ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं था। डॉ० साहब के इस अनुमानित तर्क से सहमत नहीं हुआ जा सकता। असहमति के अनेक कारण हैं—१. यदि ग्रन्थकार को यह पाठ अभीष्ट नहीं होता तो संस्कृत में भी इसका निर्वचन नहीं दिया होता। संस्कृत में है तो अन्य पाठ के समान उसका हिन्दी-अनुवाद भी अभीष्ट है। २. प्रथम समुल्लास में प्रसंगवशात् चार स्थलों पर 'ब्रह्म' नाम का निर्वचन किया है, अतः यहां उनका तर्क स्वीकार्य नहीं है। ३. यहां दो प्रकरण हैं—एक प्रकरणानुसार नामों का अर्थ कैसे ग्रहण किया जाये, इसका दिग्दर्शन कराना; दूसरा बाद में 'ओंकारार्थ-प्रकरण' में एक-सौ नामों की व्याख्या। दूसरे प्रकरण में एक-सौ नामों की गणना दिखाने के लिए केवल 'ब्रह्म' नाम ही नहीं, सात अन्य नामों की भी पुनः पुनः व्याख्या की गई है, वे हैं—अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, मनु, विष्णु, शिव। अतः यह कोई आधार नहीं बनता कि पूर्व-वर्णित होने से यहां उसकी व्याख्या ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं थी। वस्तुस्थिति यह है कि यह पाठ मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रह गया था। इसका भद, युमी, विस, जस में अर्ध-परिवर्धन कर लिया है किन्तु वेस, जग, द्वि०सं०, उदयपुर सं० में आज भी त्रुटित, अपूर्ण और असंगत यह पाठ है—**''इतना लंबा-चौड़ा, छोटा-बड़ा है ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिये परमेश्वर के नाम सत्, ज्ञान, अनन्त हैं।''** उपर्युक्त शैली भी सिद्ध करती है कि यह त्रुटित पाठ है, क्योंकि पूर्व-नामों के समान यहां 'अनन्त' का उपसंहार वाक्य नहीं है। अन्तिम वाक्य चारों का एकत्र उपसंहार वाक्य है जैसे अन्य कई नामों में है (द्र०पृ० ४५ पर क्रमांक ६६ नाम का अन्तिम वाक्य)।

पाठ-पुष्टि—सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में मूलह० की शैली का पूर्ण पाठ है—''जिसका नाश कभी न होय, इससे परमेश्वर का नाम 'सत्य'-स्वरूप है और ज्ञानस्वरूप होने से परमेश्वर का नाम 'ज्ञान' है। जिसका अन्त नाम सीमा कभी नहीं आती अर्थात्.....कोई भी जिसका अन्त न ले सके, इससे परमेश्वर का नाम 'अनन्त' है।'' (पृ० १६-१७)

९-१०. **अपपाठ व त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''सत्''** अपनाम है। मूल संस्कृत-प्रमाण में **'सत्य'** नाम है, उसी का यहां अर्थ बताया जा रहा है, पूर्वपंक्तियों में हिन्दी अर्थ में भी **''सत्य''** पद है, अतः **'सत्य'** नाम ही शुद्ध है। **'सत्'** का निर्वचन अग्रिम क्रमसंख्या ५९ पर है। आगे बृहत् कोष्ठक का पाठ त्रुटित रह गया है। वेस, जग, भद, युमी सं० में इस वाक्य को हटा दिया है, जो अनुचित है। उदयपुर सं० में अशुद्ध नाम **''सत्''** है। **संशोधन-पुष्टि**—सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० में यहां 'सत्य' नाम ही है (पृ० १६)।

१. **उचित संशोधन व पाठग्रहण**—दोनों हस्त० में **''न बाधते''** अशुद्ध प्रयोग है। बाद के द्वि०सं० में किसी शोधक ने इसे शुद्ध किया है क्योंकि द्वि०सं० (१८८४) में भी यह अशुद्ध पाठ छपा है। मूलप्रति सं० में द्वि० सं० के आधार पर इसको शोधित किया है। अन्य सं० में भी इसका संशोधन कर लिया है।

२. **लिपिकरों की प्रमादलीला और मुद्रणकाल में अशुद्ध परिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकर के प्रमाद से **'रहे'** क्रिया छूट जाने के कारण अशुद्ध पाठ हो गया है—**''जो सदा वर्त्तमान अर्थात् भूत, भविष्यत् वर्तमान कालों में जिसका बाध न हो''**। संस्कृतपाठ के अनुसार, महर्षि यहां दो विशेषताएं बता रहे हैं कि वह **''अस्ति''**=सदा वर्तमान है और त्रिकालातीत है। द्विप्र० संशोधक ने दो विशेषताओं को गड्ढ-मड्ढ करके एक बना दिया। दोनों हस्त० में **''अर्थात्''** पद नहीं है, **''और''** पद है। मुद्रण के समय शोधक ने संगति लगाने के लिए यह पद बढ़ाया है, जो अशुद्ध है।

संशोधन-पुष्टि—सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० में भी यह पाठ है। वहां भी दो विशेषताएं वर्णित हैं—**''जो सब दिन रहे, जिसका नाश कभी न होय''** (पृ० १६)। यहां ३६वें संस्करण के पाठ-औचित्य का समर्थक **डॉ० रामनाथ जी** का विचार स्वीकार्य नहीं है।

सर्वान् सज्जनान् योगिनः-तच्चित्परं ब्रह्म'=जो चेतनस्वरूप [है तथा][१] सब [सज्जन][२] जीवों [और योगियों][३] को चेताने और सत्यासत्य का जनानेहारा है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**चित्**' है।

[६१] (**टुनदि समृद्धौ**) 'आङ्' पूर्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। '**आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन्, यद्वा यः सर्वान्-जीवान्-आनन्दयति स आनन्दः**'=जो [स्वयं][४] आनन्दस्वरूप है, और[५] जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते हैं [और जो][६] सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे उस ईश्वर का नाम '**आनन्द**' है।

[६२] इन तीनों शब्दों का विशेषण होने से परमेश्वर का नाम '**सच्चिदानन्दस्वरूप**' कहते हैं।[७]

[६३] **नित्य**—'**यो ध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः**'[८]=जो निश्चल, अविनाशी है, सो '**नित्य**' शब्दवाच्य ईश्वर है।

[६४] (**शुन्ध शुद्धौ**) इस धातु से 'शुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। '**यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः**'=जो स्वयं पवित्र [अर्थात्][९] सब अशुद्धियों से पृथक् और सबको शुद्ध करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम '**शुद्ध**' है।

[६५] (**बुध अवगमने**) इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। '**यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः**'=जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम '**बुद्ध**' है।

[६६] (**मुच्लृ मोचने**) इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है। '**यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः**'=जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग है और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**मुक्त**' है।

'**अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः**'=इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य, शुद्ध, बुद्ध[१०] और मुक्त है।[११]

१-३. **त्रुटित अनुवाद**—सभी सं० में ''**सज्जनान् योगिनः**'' का हिन्दी अनुवाद त्रुटित है। इस संस्करण में बृहत् कोष्ठकों में है।

४-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में इस वाक्य में '**स्वयं**' ''**है और**' तथा '**और जो**' पद त्रुटित हैं।

७. **अप-पाठक्रम**—महर्षि ने यहां निष्कर्ष-वाक्य में लिखा है कि ''**इन तीनों शब्दों का विशेषण होने से परमेश्वर का नाम 'सच्चिदानन्दस्वरूप' कहते हैं।**'' इसमें क्रमशः **सत्, चित्, आनन्द** पद हैं। किन्तु ऊपर निर्वचन में लिपिकर और सम्पादक के प्रमाद से क्रम अस्त-व्यस्त है, **आनन्द, सत्, चित्** यह विपरीतक्रम है। इन निर्वचनों को महर्षिप्रोक्त क्रम से पहली बार इस संस्करण में रखा गया है। मानकता, शुद्धता की दृष्टि से क्रम-संशोधन अपेक्षित है। दोनों हस्त०, तीनों सं०, वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि में अपक्रम है। सवा-सौ वर्षों में भी इस अपक्रम को नहीं सुधारा, यह खेद का विषय है।

संशोधन-पुष्टि—इसी पृष्ठ पर अनेक नाम वाले उपसंहार-वाक्य ''**नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः**'' के निर्वचनों में उचित क्रम है। जो यहां भी ग्राह्य है।

८. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ की कहानी**—मुद्रणहस्तलेख में ''**यो**'' बीच का पद लिपिकर के प्रमाद से छूट गया। फिर मुद्रणकाल में, द्विप्र० में उसको ''**नित्यध्रुवो**'' बना दिया। फिर द्वि०सं० में परिवर्तन करके ''**यो नित्यध्रुवो....**'' अपपाठ बना दिया। '**नित्यध्रुवः**' कोई प्रयोग नहीं होता। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ शुद्ध है, जो उपर्युक्त है। मुद्रणलिपिकर रचित यही अपपाठ वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—इस वाक्य में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**अर्थात्**' पद आवश्यक है, क्योंकि आगे '**स्वयं पवित्र**' का ही अर्थ है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—प्रमादवश मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणहस्त० में ''**बुद्ध**'' पद छोड़ दिया जिसके कारण द्विप्र० में यह त्रुटित है, जबकि संस्कृत पाठ में है। अन्य सभी द्वि०सं० आदि में भी गृहीत है किन्तु उदयपुर सं० में अभी भी त्रुटित है।

११. **ईश्वर-नाम नहीं**—कुछ सम्पादकों ने इस वाक्य को ईश्वर का एक नाम माना है। यह नाम नहीं है अपितु एक वर्णनात्मक

[६७] (**डुकृञ् करणे**) इस धातु से निर् और आङ्पूर्वक 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है। '**निर्गत आकारात् स निराकारः**'=जिसका आकार कोई भी नहीं और जो न कभी शरीर धारण करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**निराकार**' है।

[६८] (**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु**)[१] इस धातु से 'अञ्जन' शब्द बना है और 'निर्' उपसर्ग के योग से 'निरञ्जन' शब्द सिद्ध होता है। '**अञ्जनं व्यक्तिर्म्रक्षणं कुकामनाभिः[२]-इन्द्रियैः प्राप्तिः-इति-अस्मात्-यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः**'=जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्रक्षाचार,[३] दुष्टकामनाओं[४] और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे उस ईश्वर का नाम '**निरञ्जन**' है।

[६९-७०] (**गण संख्याने**) इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है, इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति शब्द' सिद्ध होते हैं। '**ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा स गणेशो गणपतिर्वा**'[५]=जो प्रकृत्यादि जड़ और जीव [आदि][६] सब प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम '**गणेश**' वा '**गणपति**' है।

[७१] '**यो विश्वम्-ईष्टे स विश्वेश्वरः**'=जो संसार का अधिष्ठाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**विश्वेश्वर**' है।

[७२] '**यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः**'=जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी, किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे उस परमेश्वर का नाम '**कूटस्थ**' है।

[७३-७४] जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही '**देवी**' शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों

उपसंहार-वाक्य है जिसमें ईश्वर के स्वभाव का वर्णन है। जिसको ग्रन्थकार ने नाम माना है उसको स्पष्टतः '**नाम**' लिखा है।

१. **श्रवणभ्रान्ति से भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में धातु के अर्थ में '**म्लक्षण**' भ्रष्ट पाठ है। 'धातुपाठ' में ''**म्रक्षण**'' शुद्ध पाठ है। अशुद्ध-लेखन मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से हुआ है। उस अशुद्ध पाठ के कारण फिर अर्थ में ''**म्लेक्षाचार**'' ''**म्लेच्छाचार**'' अपपाठ लिखे गये। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में भ्रष्ट पाठ है।

२-३. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**म्लक्षणकुकाम इन्द्रियैःप्राप्ति**'' भ्रष्ट पाठ है। संशोधित पाठ ''**म्रक्षणंकुकामनाभिः**'' है जिसका कि हिन्दी में '**म्रक्षाचार**' सही अनुवाद है। द्वि० सं० प्रथमावृत्ति में ''**म्लेक्षाचार**'' भ्रष्ट प्रयोग है, बाद के द्वि० संस्करणों में शुद्ध करके '**म्लेच्छाचार**' रूप बनाया है। यह पाठ दोनों हस्तलेखों में है। यह भी अपपाठ है। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर ने श्रवणभ्रान्ति से ''**म्रक्षाचार**'' के स्थान पर ''**म्लेच्छाचार**'' प्रसिद्ध-प्रचलित शब्द लिख दिया। मूलपाठ में यह ''**म्रक्ष**'' पद है। ''**म्रक्षाचार**'' का अर्थ है—'पाखण्ड या छल-कपट युक्त आचरण।' परोप० २-३६, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में भ्रष्टपाठ है। पहला पाठ युमी, मूलसं० जस में छोड़कर अन्य सभी में अशुद्ध है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**दुष्टकामना**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, बहुवचन चाहिये। संस्कृत-पाठ में भी है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—प्रमादवश ''**स गणेशो गणपतिर्वा**'' पाठ मुद्रणप्रति तथा द्विप्र० आदि में त्रुटित है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**आदि**' पद त्रुटित रहने से अपवाक्य बन गया है। इसके बिना वाक्य स्पष्टार्थक नहीं बनता। अन्य सं० में भी यही अपपाठ है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने यहां संस्कृतपाठ के विरुद्ध पाठ की कल्पना की है—''**प्रकृत्यादि जड़ सब जीव और प्रख्यात पदार्थों का स्वामी**''। 'प्रख्यात' नामक कोई पृथक् पदार्थ वर्ग नहीं होता अपितु ''**गण्यन्ते संख्यायन्ते**'' का अर्थ प्रख्यात=प्रसिद्ध या प्रकट है। पदार्थ दो ही प्रकार के हैं—जड़ और जीव=चेतन। इनसे भिन्न प्रख्यात पदार्थ कौन से हैं ? **पाठ-पुष्टि**—प्रथम सं० में गणों=संघातों को पदार्थ माना है—''**जो सब गणों नाम संघातों**

लिङ्गों में नाम हैं, जैसे—'**ब्रह्म चितिः-ईश्वरश्चेति**'। जब ईश्वर का विशेषण होगा तब 'देव', जब '**चिति**' का होगा तब '**देवी**'। इससे ईश्वर का नाम '**देवी**'[१] है।

[७५] (**शक्लृ शक्तौ**) इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। '**यः सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः**'=जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**शक्ति**' है।

[७६] (**श्रिञ् सेवायाम्**) इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। '**यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिः-योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः**'=जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगी जन करते हैं, इससे उस परमात्मा का नाम '**श्री**' है।

[७७] (**लक्ष दर्शनाङ्कनयोः**) इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। '**यो लक्षयति पश्यति-अङ्कते चिह्नयति चराऽचरं जगद् अथवा वेदैः-आप्तैः-योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः**'= जो सब चराचर जगत् को देखता, चिह्न[२] अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र, नासिका [आदि][३]; और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल; पृथिवी-जल[४] के कृष्ण, रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण [आदि][५], चन्द्र-सूर्यादि चिह्न बनाता तथा सबको दिखाता है,[६] जो सब शोभाओं की शोभा है, और जो वेदादिशास्त्रों[७], धार्मिक विद्वानों[८] [और][९] योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है; इससे उस परमेश्वर का नाम '**लक्ष्मी**' है।

का अर्थात् सब जगतों का ईश नाम स्वामी....'' (पृ० १८)। जस ने यहां अपने मन से भाषा ही बदल डाली है।

१. **ऋषि-हस्तलेख**—''**ईश्वर का नाम देवी है**'' पाठ मूलह० में ऋषि-हस्तलेख में है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता**'' अपप्रयोग है। यहां '**चिह्न**' पद अपेक्षित है। **पाठपुष्टि**—नीचे तीसरी पंक्ति में ''**चिह्न बनाता**'' शुद्ध है। वही यहां होना चाहिए। अन्य सं० में भी अपप्रयोग है।

३,५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों ही स्थलों पर पूर्ण, स्पष्ट भाव के लिए '**आदि**' पद आवश्यक है।

४. **उदयपुर सं० में ऋषि के पाठ में अपने पाठ की मिलावट**—उदयपुर सं० में यहां ऋषि के पाठ में अपनी भाषा की मिलावट की है—''**पृथिवी अग्नि जल के**''। तीनों संस्करणों में से '**अग्नि**' पाठ न दोनों हस्त० में है, न द्विप्र० में है, न अन्य किसी सं० में। यह आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकार को केवल '**पृथिवी और जल**' के उदाहरण ही अभीष्ट हैं। यों बढ़ाने लगें तो न जाने कितने पदार्थ और बढ़ जायेंगे। मिट्टी के सफेद मिट्टी, काली मिट्टी, लाल मिट्टी (जैसे पहाड़ी मिट्टी और हल्दी घाटी की पूर्णतः लाल मिट्टी) रूप स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। पहाड़ों के भी धवलगिरि, कृष्णगिरि नाम हैं। रक्त-पर्वत तो अधिकांश हैं। इसी प्रकार पानी के रूप हैं। जिसके आधार पर सागरों के भी कृष्णसागर, रक्तसागर, श्वेतसागर (धवलसागर) नाम मिलते हैं। गंगा का श्वेत जल माना जाता है, यमुना का नीला या काला। इसी कारण यमुना का एक नाम 'श्यामा' है। 'गहरा नीला' रंग 'काला रंग' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे—नीलगिरि=कृष्णगिरि, नीलकम्=नीला थोथा, काला नमक, काला घोड़ा आदि। ऐसे ही बालू और रक्त मृत्तिका से मिश्रित नदी-जल लाल रंग का दिखाई पड़ता है। इस प्रकार ग्रन्थकार के आशय के अनुसार प्रचलित पाठ समुचित है। उदयपुर सं० के सम्पादकों का यह स्वतन्त्र पाठ परिवर्धन अनुचित और प्रतिज्ञाविरुद्ध है।

हमारे ऊपर, सत्यार्थप्रकाश के संशोधन, ऋषि के संशोधन करने और ऋषि दयानन्द को मूर्ख बनाने का मिथ्या आरोप लगाने वाले उदयपुर संस्करण से सम्बन्धित लेखक अपने गिरेबान में झांककर देखें कि क्या यहां उन्होंने ऋषि के पाठ में अपना बनाया व्यर्थ पाठ मिला कर सत्यार्थप्रकाश का और ऋषि का संशोधन नहीं किया है? क्या इस प्रकार पाठ मिला करके उन्होंने ऋषि को मूर्ख नहीं बनाया है? स्वयं जो कार्य कर रहे हैं उसी का दूसरों को दोष दे रहे हैं, इनकी कैसी आत्मा है?

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**देखता है**'' पाठ है, ''**दिखाता है**'' चाहिए। ''**देखता**'' दो पंक्ति पूर्व आ चुका है। युमी में संशोधित है किन्तु वेस, भद, उदयपुर सं० में पुनरुक्तियुक्त अपपाठ है।

७-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**वेदादिशास्त्र**' और '**विद्वान्**' एकवचन के पद हैं। दोनों में बहुवचन अपेक्षित है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संस्कृत मूलपाठ में ''**आप्त**'' और ''**योगी**'' दो पृथक् वर्ग हैं, जबकि हिन्दी-अर्थ के अनुसार ''**धार्मिकविद्वान् योगियों का**'' वाक्य में ''**धार्मिक विद्वान्**'' ''**योगियों**'' का विशेषण प्रतीत होता है।

[७८] **(सृ गतौ)** इस धातु से 'सरस्', उससे 'मतुप्' और 'ङीप्' प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। **'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती'**=जिसको विविध विज्ञान, शब्द-अर्थ-सम्बन्ध-प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम **'सरस्वती'** है।

[७९] **'सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमान्-ईश्वरः'**=जो अपने कार्य करने में किसी अन्य के साहाय्य की इच्छा लेशमात्र[१] भी नहीं करता; अपने ही सामर्थ्य से, अपने सब काम पूरे[२] करता है, इसलिये उस परमात्मा का नाम **'सर्वशक्तिमान्'** है।

[८०] **(णीञ् प्रापणे)** इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है। **''प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः''**—यह वचन न्यायसूत्रों के ऊपर 'वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य' का है। [वा० भा० १।१।१] **'पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः'**=जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो, जो पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण है, वह[३] न्याय कहाता है। **'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारी-ईश्वरः'**=जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने का ही स्वभाव है, इससे उस ईश्वर का नाम **'न्यायकारी'** है।

[८१] **(दय दान-गति-रक्षण-हिंसा-दानेषु)** इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। **'दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः'**=जो अभय का दाता, सत्यासत्य सर्वविद्याओं का जानने-[जनानेहारा],[४] सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों का हनन करनेवाला और उनको यथायोग्य दण्ड देनेवाला है,[५] इससे उस परमात्मा का नाम **'दयालु'** है।

इनको पृथक् समझने हेतु **'और'** योजक पद का परिवर्धन और बहुवचन परमावश्यक है। संस्कृत पाठ में बहुवचन भी है और **''च''** योजक भी है। वेस, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में संदेहजनक भाषा है। जग, जस में अर्ध शुद्ध है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, और द्वि० सं० में यहां **''लेशमात्र भी''** पद त्रुटित रह गये हैं। मूलह० और मूलप्रति सं० में हैं और ग्राह्य हैं। यह त्रुटि मुद्रणहस्त० में लिपिकर के प्रमाद से हुई है। अन्य सं० में भी त्रुटित है। **पाठ-पुष्टि**—प्रथम सं० में यही पाठ है—**''जो किसी का लेशमात्र सामर्थ्य का आश्रय न लेवै।''** (पृ० १९)।

२. **अपप्रयोग एवं पाठग्रहण**—तीनों सं० में यहां **''पूरा''** अपप्रयोग है, **''पूरे''** बहुवचनात्मक शुद्ध है, क्योंकि इससे पहले **''अपने सब काम''** बहुवचनात्मक पाठ है। यह पद मूलह० में नहीं है, मुद्रणहस्त में बढ़ाया गया है, मूलसं० में वहीं से ग्रहण किया है। यही अपप्रयोग वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में है।

३. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह स्थानभ्रष्ट अपवाक्य है—**''जो पक्षपातरहित आचरण धर्मरूप है वह''**। **'धर्मरूप'** विशेषण **'आचरण'** का है, अतः **'उससे'** से पूर्व चाहिए। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''जनानेहारा''** पाठ त्रुटित रह गया है। मनुष्यों को जनाने पर ही दया का गुण सिद्ध होता है, स्वयं जानने से नहीं, अतः इस पाठ का होना आवश्यक ही नहीं, सैद्धान्तिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की टिप्पणी चिन्त्य**—पं० जी ने इस पाठ को बदलकर **''सत्य-सत्य सर्वविद्याओं का जानने''** पाठ कर दिया। टिप्पणी में उन्होंने इसका कारण दिया है कि ''विद्या असत्य नहीं हो सकती, असत्य का विद्या के साथ अन्वय नहीं।'' यह सोच का अन्तर है। अध्यात्म शास्त्र या योगदर्शन में 'विद्या' का अर्थ 'अदुष्ट ज्ञान' अथवा 'मुक्तिप्रद ज्ञान' है, यही सही है। वहां यह पारिभाषिक अर्थ देता है किन्तु व्यवहार में विद्या का 'ज्ञान' अर्थ है। विद्या प्राप्त करने वाला 'यह अच्छा है' 'यह बुरा है' आदि सब ज्ञान प्राप्त करता है तभी बुराई से बचा जाता है। इसी आधार पर वेद कहता है—**''अक्षैर्मा दीव्यः''** (ऋग्० १०.३४.१३)। अक्ष अर्थात् जुए के दुष्परिणामों के ज्ञान से व्यक्ति को उससे बचाया जाता है। इसी प्रकार **''सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग''** का पालन दोनों के ज्ञान से ही संभव है। इसी ज्ञान का नाम 'विवेक' है। परमेश्वर भी सत्य-असत्य का ज्ञाता है, तभी वह 'सर्वज्ञ' कहाता है।

पाठपुष्टि—ग्रन्थकार सत्य-असत्य दोनों ज्ञानों की प्राप्ति का निर्देश अनेकत्र देते हैं—**''मनुष्य सत्यासत्य विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते।''** (पृ० ५०९/१२), परमेश्वर **''सत्यासत्य का जनानेहारा''** (४५/२) **है,** इसी कारण उसका नाम **''चित्''**

[८२] '**द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्' अर्थात् 'सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्यं ब्रह्म**'=दो का होना, दो से युक्त होना वह द्विता, वा द्वीत अथवा द्वैत, जो इससे रहित है [वह 'अद्वैत है'][१]। **सजातीय**=जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, **विजातीय**=जैसे मनुष्य से भिन्न जातिवाले वृक्ष, पाषाणादि। **स्वगत** अर्थात् जैसे शरीर में आँख, नाक, कान आदि अवयवों का भेद है। वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर, विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे उस परमात्मा का नाम '**अद्वैत**' है।

[८३] '**गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैः-गुणयन्ति[२] ते गुणाः, यो निर्गतः गुणेभ्यो स निर्गुण ईश्वरः**'=जितने सत्त्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण; अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अस्मितादि[३] क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् है। इसमें "**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**" [कठोप० १।३।१५] इत्यादि, उपनिषदों के प्रमाण हैं। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है, इससे उस परमात्मा का नाम '**निर्गुण**' है।[४]

[८४] '**यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः**'=जो सब[५] ज्ञान, सर्वसुख, पवित्रता, अनन्त-बलादि गुणों से युक्त है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**सगुण**' है। जैसे, पृथिवी गन्धादि गुणों से [सहित होने से][६] 'सगुण' और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक्

है। "**सत्यासत्यनिर्णय में.....बोध होगा**" (७२९/१६, ७३०/२ आदि)।

५. **मुद्रणलिपिकर से पाठत्रुटि और पाठान्तर**—मूलहस्त० में यहां यह पाठ है—"**दुष्टों का हनन करने वाला है।**" प्रमादवश मुद्रणलिपिकर ने इसको त्रुटित छोड़ दिया। मुद्रणहस्त० का संशोधन करते समय, त्रुटित पाठ देखकर महर्षि ने स्वहस्त से अनुमान से यह पाठ बनाया—"**और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देनेवाला है।**" वही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में प्रचलित है। यहां "**रक्षा**" का विपरीतार्थक "**हनन**" ही पाठ बनता है। संस्कृत में भी "**हिनस्ति**" पद है जिसका निकटतम अर्थ '**हनन करना**' होता है '**दण्ड देना**' उसका भावार्थ है। अतः इस सं० में महर्षि के दोनों ही वाक्यों को लेकर पाठ-निर्धारण किया गया है।

१. **त्रुटित पद एवं परिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं। संस्कृत-पाठ में होने से हिन्दी-अनुवाद में भी यह पाठ आवश्यक है। इन पदों से पूर्व मूलप्रति में '**इनसे**' बहुवचनात्मक प्रयोग अशुद्ध है। दोनों सं० में यहां अपसंशोधन है—"**वा दोनों से युक्त होना**", यहां '**दो से युक्त**' पाठ अपेक्षित है। इसी प्रकार "**द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत से रहित है**" अपसंशोधन द्विप्र०, द्वि०सं० में किया गया है, जो अवांछनीय है, क्योंकि वह संस्कृत-निर्वचनों के पूर्णभाव को व्यक्त नहीं करता, अतः अपूर्ण है। वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में यही अपपाठ है।

२. **मूललिपिकरकृत महाभ्रष्ट पाठ और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों, परोप० ३-३५, द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में यहां अत्यन्त भ्रष्ट पाठ है—"**गण्यन्ते ये ते गुणाः, वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः**" इस निर्वचन से महाभ्रष्ट अर्थ बन गया है। यह पाठ मूललिपिकर की अयोग्यता के कारण भ्रष्ट हुआ है। उसी का अन्धानुकरण मुद्रणलिपिकर ने कर लिया फिर द्विप्र०, द्वि०सं० करते रहे। अब मूलप्रति सं० तथा अन्य सभी सम्पादकों ने इसको संशोधित कर लिया है। सभी ने लिपिकरों की भूल को यहां स्वीकार कर लिया है।

३. **पुनरुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में, लिपिकरीय और आदि-सम्पादकीय प्रमाद से अविद्या पुनरुक्त पाठ है—"**'अविद्या अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं।**' वेस, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० आदि में पुनरुक्ति है। अनुमान है कि यहां योगदर्शन में पठित '**अस्मिता**' पद बोला था, लिपिकर ने श्रवणभ्रान्ति से 'अविद्या' लिखा।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**इत्यादि, उपनिषदों का प्रमाण है**"। '**इत्यादि**' प्रयोग के सम्बन्ध से यह वाक्य बहुवचन में इस प्रकार होना चाहिए—"**इत्यादि, उपनिषदों के प्रमाण हैं।**" अन्य सं० में भी अपपाठ है।
ऋषि-हस्तलेख—"**जो शब्द निर्गुण है**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**सबका ज्ञान**" अपपाठ है, '**सब**' विशेषण चाहिए। सभी सं० में अपपाठ है।

६,८,९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—सभी सं० में यहां संख्यांक ६,८ पर बृ०कोष्ठक के पद और संख्यांक ९ पर मुद्रणह०, द्विप्र०

होने से परमेश्वर 'निर्गुण' और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से 'सगुण' है, अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सगुणता[७] और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे, चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण [हैं],[८] वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव चेतन,[९] निर्गुण और अपने इच्छादि गुणों से सहित होने से सगुण है। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिये।

[८५] '**अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी**'=जो सब प्राणी और अप्राणीरूप[१] जगत् के भीतर व्यापक होके सबका नियमन[२] करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**अन्तर्यामी**' है।

[८६] '**यो धर्मे[३] राजते स धर्मराजः**'=जो धर्म में ही प्रकाशमान और अधर्म से रहित [है, तथा][४] धर्म का ही प्रकाश करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**धर्मराज**' है।

द्वि०सं० में ''**चेतन**'' पद त्रुटित हैं। पूर्व वाक्य में ''**चेतन**'' पद का प्रयोग है, अतः इस स्थान पर भी आवश्यक है। क्योंकि यहां जीव की चेतनता और निर्गुणता, दो विशेषताएं बताई गई हैं।

७. **मुद्रण-समय में उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**सगुण**'' अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित '**सगुणता**' है। **संशोधन-पुष्टि**—''**सगुण और निर्गुणता**'' शैली नहीं है अपितु लिपिकर की त्रुटि है। सप्तम समु० पृष्ठ ३६१ पर शुद्ध पाठ ''**सगुणता और निर्गुणता**'' है। यदि प्रत्यय ''**ता**'' को पृथक् कर दिया जायेगा तो वह भाववाचक संज्ञा से विशेषण बन जायेगा, जो व्याकरणिक त्रुटि है। अतः **पं० रामनाथ जी वेदालंकार** द्वारा त्रुटि को शैली मानना उचित नहीं है।

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**प्राणि**'', ''**अप्राणि**'' अपवर्तनियां हैं। मूलप्रति सं० में ''**प्राणी**'' संशोधित है। एकरूपता और मानकता के लिए ''**प्राणी**'' ''**अप्राणी**'' शुद्ध वर्तनियां ग्राह्य हैं। ग्रन्थ में बहुत्र इनका शुद्ध-अशुद्ध प्रयोग है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**सबका नियम करता है**'' अपपाठ है। **पाठ-पुष्टि**—''**सब जगत् को नियम में रखने से....**'' (प्रथम संस्करण, पृ० २१) शुद्ध पाठ है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**धर्म्ये**'' अपप्रयोग है। द्वि०सं० और मूलसं० में संशोधित है। उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

४. **लिपिकरों-शोधकों के प्रमाद से भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में प्रमादी लिपिकरों द्वारा '**है**' क्रिया और '**तथा**' योजक पद छोड़ देने से यह वाक्य संदेहजनक बन गया है—''**अधर्म से रहित धर्म का ही प्रकाश करता है।**'' धर्म तो सदा अधर्म से रहित ही होता है। योजक पद तथा क्रिया रख देने से उपर्युक्त सही पाठ बन जाता है। अतः इन पदों का परिवर्धन आवश्यक है। उदयपुर सं० के पहले लेखक ने अनर्गल रूप से इसका यह अर्थ निकाला है कि 'अच्छा धर्म, 'धर्म' कहाता है और पशुबलि आदि 'बुरा धर्म' कहाता है।' इससे बढ़कर 'धर्म' शब्द का अनर्थ कोई नहीं हो सकता। यह कथन सम्पूर्ण शास्त्रीय परम्परा और महर्षि दयानन्द के भी विरुद्ध है। 'धर्म' सदा अच्छा ही होता है और 'अधर्म' सदा बुरे को ही कहा जाता है। जैसे 'अच्छा सत्य' 'बुरा सत्य' प्रयोग नहीं बनते, ऐसे ही 'अच्छा धर्म' 'बुरा धर्म' प्रयोग नहीं बनते। महर्षि की स्पष्ट मान्यता है कि ''**धर्म और अधर्म एक होते हैं, अनेक नहीं।**'' (पृ० ७०७/९)। अनेक तो मत-मतान्तर होते हैं। महर्षि 'मत' को 'धर्म' नहीं मानते, अतः इसका स्पष्ट और उचित समाधान पाठ का संशोधन करना ही है। भद, विस, जस और युमी में ''अधर्म से रहित'' पदों के बाद अल्पविराम लगाकर संशोधन किया है, जो कामचलाऊ ठीक है। जब परिवर्तन करना ही अपेक्षित है तो उसको पूर्ण स्पष्ट करना चाहिये। वेस, जग और उदयपुर सं० में विरामचिह्न भी नहीं है, अतः उनका संदेहजनक अपपाठ है।

संशोधन-पुष्टि—स्पष्टतः इस वाक्य में दो कथन हैं—१. जो धर्म में प्रकाशमान है और अधर्म से रहित है, २. जो धर्म का प्रकाश करता है। 'राजृ-दीप्तौ' धातु से 'राज' पद बना है। इसी से 'राजा' बनता है। उस सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थकार के कथन से यह पाठ स्पष्ट हो जाता है—''**जो सब धर्मों का प्रकाश और अधर्म मात्र का नाश करे, उसका नाम राजा है।**'' (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण, पृ० १७९) यहां भी दो पृथक्-पृथक् कथन हैं। ऐसा ही पाठ यहां संगत है। विवाद का अवसर ही नहीं। (मेरे उत्तर की पुष्टि के लिए पृ० १८५ पर टिप्पणी १ भी द्रष्टव्य है)

उदयपुर सं० का अनर्गल व परस्परविरुद्ध उत्तर—एक लेख के द्वारा, उदयपुर सं० में स्वीकृत अपपाठ पर शंका करने पर उससे सम्बन्धित चार लेखकों ने उत्तर दिये हैं। आश्चर्य देखिए, एक ही संस्करण के सम्पादक होते हुए भी उनके उत्तर परस्परविरुद्ध हैं। **पहले लेखक** का आश्चर्यजनक उत्तर ऊपर उद्धृत है। **दूसरे** ने माना कि यहां ''**अधर्म से रहित**'' पदों के बाद अल्पविराम आना चाहिए। यह उत्तर दुराग्रहसहित स्वीकृति है। **तीसरे** ने लिखा कि दोनों हस्तलेखों में यही पाठ है और

[८७] (**यमु उपरमे**) इस धातु से 'यम' शब्द बना है।[१] '**यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः**'=जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**यम**' है।

[८८] (**भज सेवायाम्**) इस धातु से 'भग', और इससे मतुप् करने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है। '**भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्**'=जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने के योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**भगवान्**' है।

[८९] (**मन ज्ञाने**) इस धातु से 'मनु' शब्द बनता है। '**यो मन्यते स मनुः**'=जो मनन अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**मनु**' है।

[९०] (**पॄ पालन-पूरणयोः**) इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति[२] पूरयति वा स पुरुषः**'=जो [अपनी व्याप्ति से][३] सब [चराचर][४] जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**पुरुष**' है।

[९१] (**डुभृञ् धारण-पोषणयोः**) 'विश्व' पूर्वक इस धातु से 'विश्वम्भर' शब्द सिद्ध होता है। '**यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः**'=जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**विश्वम्भर**' है।

[९२] (**कल संख्याने**) इस धातु से 'काल' शब्द बना है। '**कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः**'=जो जगत् के सब पदार्थों[५] और जीवों की संख्या करता है, इसलिये परमेश्वर का नाम '**काल**' है।

ऋषिलिखित है, कोमा आदि का कोई महत्त्व नहीं, और सबके द्वारा स्वीकृत है। इनको अपने किये का ही ध्यान नहीं है कि उदयपुर सं० में सैकड़ों विरामचिह्नों में परिवर्तन किया है। यदि विरामचिह्न का कोई महत्त्व नहीं तो उनमें परिवर्तन क्यों किया? इसी तरह सैकड़ों ऐसे पाठ हैं जो दोनों हस्तलेखों में हैं, ऋषिलिखित भी हैं और अधिकांश पूर्व सम्पादकों द्वारा स्वीकृत भी हैं, उनको उदयपुर सं० में बदल दिया गया है। इनको यह भी स्मरण नहीं है कि इनके संस्करण में '**शोध कार्य का आधार**' यह स्वीकृत ही नहीं है कि हम 'पूर्व सम्पादकों अथवा अधिकांश सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठ को मानेंगे।' यदि इस आधार या प्रतिज्ञा को प्रस्तुत करेंगे तो फिर यह आपत्ति उपस्थित होगी कि इस संस्करण में उन दर्जनों पाठों को क्यों बदल दिया है जो अधिकांश पूर्वसम्पादकों द्वारा स्वीकृत हैं? अतः तालिका द्वारा अनेक सम्पादकों के पाठों का प्रदर्शन करना स्वयं अपना विरोध करना है तथा पाठकों को मूर्ख बनाना है। **चौथे** मिथ्याभिमानी लेखक को यही नहीं पता कि प्रश्न क्या है और उत्तर क्या दिया जा रहा है। अन्त में हमारी ही बात को स्वीकार कर लिया। एक पृष्ठ व्यर्थ काला कर डाला। गालियां देने से कोई विद्वान् नहीं बनता, आर्य भी नहीं कहलाता, धर्मात्मा तो ऐसा व्यक्ति होता ही नहीं; वितण्डा और दम्भोक्तियों से कोई लेखक भी नहीं बनता है। विचारणीय इतना ही है कि 'जो वाक्यरचना जिस स्वरूप में उदयपुर सं० में प्रस्तुत की है, उसकी शब्दावली स्वयं क्या अर्थ दे रही है।' यदि कहीं त्रुटि है तो उसको आपने असंशोधित नहीं छोड़ना चाहिए था। व्यर्थ के द्रविड़-प्राणायाम का कुछ फल नहीं निकलता। यह लेखक यहां मुझको ''नास्तिक'' घोषित कर रहा है। इसको 'नास्तिक' के लक्षण का भी ज्ञान नहीं है। देखो, उदयपुर सं० के दोषपूर्ण सम्पादन को बतलाना भी अब 'नास्तिक' होने का नया लक्षण हो गया! पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि मैं 'नास्तिक' हूं अथवा मुझको नास्तिक कहने वाला 'विवेकहीन' लेखक 'असभ्य' एवं 'नास्तिक' है। अपशब्द कहना-लिखना इनकी आदत है।

इस विवरण-विवेचन से यह सिद्ध हो रहा है कि उदयपुर सं० के सम्पादन में दश सम्पादकों का एक मत या विमत नहीं है, अतः यह दश विद्वानों का सम्पादन भी नहीं है। 'दश के सम्पादन' का आडम्बर करके पाठकों को भ्रमित किया गया है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**शब्द बना है**'' के स्थान पर ''**सिद्ध होता है**'' व्यर्थ पाठान्तर है।

२-४. **असंशोधित एवं त्रुटित पाठ**—उदयपुर सं० में यहां प्रचलित शुद्ध पाठ ''**पृणाति**'' का अशुद्ध पाठ ''**प्रीणाति**'' बना दिया है। सभी सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दोनों पाठ त्रुटित हैं। संस्कृत-पाठ में होने के कारण हिन्दी-अनुवाद में भी ग्राह्य है।

[९३] (**शिष्लृ विशेषणे**) इस धातु से 'शेष' शब्द सिद्ध होता है।[१] '**यः शिष्यते स शेषः**'=जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बचा रहता है,[२] इसलिये उस परमात्मा का नाम '**शेष**' है।

[९४] (**आप्लृ व्याप्तौ**) इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। '**यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिः-आप्यते छलादिरहितः स आप्तः**'=जो सत्योपदेशक, सकल विद्यायुक्त, सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता है और [सब][३] धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य है, तथा छल-कपटादि से रहित है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**आप्त**' है।

[९५] (**डुकृञ् करणे**) 'शम्' पूर्वक इस धातु से 'शङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः शं कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः**'=जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम '**शङ्कर**' है।

[९६] 'महत्' शब्द पूर्वक 'देव' शब्द से '**महादेव**' शब्द सिद्ध होता है। '**यो महतां देवः स महादेवः**' जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान् है,[४] और सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**महादेव**' है।

[९७] (**प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च**) इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है। '**यः प्रीणाति**[५] **प्रीयते वा स प्रियः**'=जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता और सबको कामना करने के योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम '**प्रिय**' है।

[९८] (**भू सत्तायाम्**) 'स्वयं' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। '**यः स्वयं भवति स स्वयम्भूः-ईश्वरः**'=जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम '**स्वयम्भू**' है।

[९९] (**कु शब्दे**) इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। '**यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविः-ईश्वरः**'=जो सब विद्याओं का वेत्ता और वेदों द्वारा उनका उपदेष्टा भी है,[६] इसलिये उस परमेश्वर का नाम '**कवि**' है।

---

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पदार्थ**' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, '**सब**' पद के सम्बन्ध से बहुवचनात्मक '**पदार्थों**' शुद्ध है। **संशोधनपुष्टि**—संस्कृत में बहुवचन है। शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है—''**सब प्रख्यात पदार्थों**'' (पृ० ४६/१२)।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० में यह वाक्य है किन्तु मुद्रण-हस्तलेख में प्रमादी लिपिकर ने इसको छोड़ दिया जिसके कारण द्विप्र० में नहीं छपा। परोप० संस्करण पांच में इसको परिवर्धित किया है। अब सभी सं० में गृहीत है।

२. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**बाकी रहता है**'' तथा द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**बच रहा है**'' दोनों ही अपवाक्य हैं। '**बाकी रहना**' संख्या में हुआ करता है, ईश्वर में नहीं। '**बच रहा है**' वर्तमानकालिक प्रयोग है जो आगामी प्रलय पर चरितार्थ नहीं होता। यहां ईश्वर विषयक शाश्वतिकधर्म-बोधक प्रयोग होना चाहिए—''**शेष अर्थात् बचा रहता है।**'' इस संशोधन के बिना ग्रन्थकार का भाव प्रकट नहीं होता। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सब**'' पद त्रुटित है। संस्कृत-पाठ में है अतः हिन्दी में भी ग्राह्य है।

४. **ऋषि-हस्तलेख**—''**देवों का देव.....विद्वान् है**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **लिपिकरकृत अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**पृणाति**'' अपप्रयोग है। '**प्रीञ्**' धातु का '**प्रीणाति**' रूप बनेगा। प्रथम सं० में शुद्ध है (पृ० २३)। वेस, भद, युमी, जग, विस में अशुद्ध है। जस, उदयपुर सं० में संशोधित है।

६. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां क्रमभंग दोष के कारण यह अपवाक्य है—''**जो वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है**''। कोई भी पहले वेत्ता होगा फिर उपदेष्टा बनेगा, अतः यहां संशोधित वाक्य का ग्रहण किया है।

[१००] (**शिवु कल्याणे**) इस धातु से '**शिव**' शब्द सिद्ध होता है। '**बहुलमेतन्निदर्शनम्**'=[धातुपाठे चुरादिगणे] इससे 'शिवु' धातु माना जाता है, ''**यः मङ्गलमयो जीवानां मङ्गलकारी च सः शिवः**''[१] =जो [स्वयं][२]कल्याणस्वरूप [है][३] और [सबके][४] कल्याण का करनेहारा है, इसलिये उस परमात्मा का नाम '**शिव**' है।

ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं;[५] परन्तु इनसे भिन्न भी परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम हैं। उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म

क्रमदोष का कारण यह हुआ कि मूलहस्त० में ''**जो सब विद्याओं का वेत्ता है**'' मूलपाठ था। उसका संशोधन करते समय हस्तलेख में ''**उपदेष्टा**'' पद को जोड़ने के लिए त्रुटितबोधक (∧) चिह्न ''**वेत्ता**'' से पूर्व भूल से लग गया, फिर वही मुद्रित हो गया, जिसके कारण यह वाक्य गड़बड़ा गया। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० आदि में है। जस में संशोधित है। **संशोधन-पुष्टि**—अन्यत्र पाठ में उचित क्रम द्रष्टव्य है—''**जो....व्यवहारों का जाननेहारा और उपदेष्टा है**'' (पृ० ३७/१३)।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी सं० के पाठ में '**शिव**' नाम की निरुक्ति त्रुटित है। सभी नामों में संस्कृत निर्वचन है। ऋषि की स्वीकृत शैली की एकरूपता के लिए बृहत् कोष्ठक में दी गई निरुक्ति ऋषि के ऋग्वेदभाष्य १.३१.१ से उद्धृत की गई है।

२-४. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में इस वाक्य में '**स्वयं**' '**है**' और '**सबके**' पद त्रुटित हैं। सभी अवश्य ग्राह्य हैं।

५. **परमेश्वर के सौ नाम**—ऋषि दयानन्द ने यहाँ स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—''**ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं।**'' यही कथन प्रथम सं० में है (पृ० २३)। कुछ सम्पादकों का कहना है कि यहाँ गणना में त्रुटि हुई है। कुछ का कहना है कि यहाँ '**सौ**' संख्या '**उपलक्षण मात्र**' माननी चाहिए। कुछ सम्पादक १०८ और कुछ इनसे भी अधिक नाम गिनते हैं। इस प्रकार इस विषय में अनेक मतान्तर हो गये हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या महर्षि के लिपिकरों को सौ नाम भी सही-सही गिनने नहीं आये?

यदि हम ऋषि की शैली को ध्यान से देखें तो उपर्युक्त कल्पनाएं करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। आरम्भ में अनेक मन्त्र प्रमाणरूप में प्रस्तुत करके महर्षि ने उदाहरण के रूप में यह दिखाया है कि किन प्रकरणों में आये नाम ईश्वरवाचक हैं और कौन-से नहीं। वहां आये ईश्वर के नामों की गणना सौ नामों में करने का औचित्य ही नहीं है। यह भी है कि उन प्रमाणों में एक-एक नाम कई-कई बार आया है। सम्पादकों ने उस प्रकरण के नाम भी 'सौ' संख्या के अन्तर्गत परिगणित कर लिये जिससे वे १०८ बन गये। सम्पादकों की '१०८' गणना भी शुद्ध नहीं है, क्योंकि यदि उस प्रकरण में प्रस्तुत संस्कृत के प्रमाणों के अन्तर्गत आये सभी नामों को जोड़ें तो वह संख्या ११३ हो जाती है। कारण यह है कि उन्होंने '**भू**' '**अदिति**', '**विश्वधाया**' इन तीन नामों को गणना में छोड़ दिया है, और यदि आगे आने वाले '**ओंकारार्थ-प्रकरण**' में से छोड़ दिये गये '**प्रज्ञ**' और '**चिति**' नामों को भी गिनने लगें तो यह संख्या बढ़कर ११३ हो जायेगी। अतः सम्पादकों की यह गणना-पद्धति ही उपयुक्त नहीं है।

वस्तुतः, ग्रन्थकार ने ईश्वर के सौ नामों की गणना के लिए '**अथ ओङ्कारार्थः**' शीर्षक लिखकर स्पष्टतः पृथक् विशेष प्रकरण आरम्भ किया है जिसमें ईश्वर-नामों का धातु-निरुक्ति सहित उल्लेख है। ऋषि ने उस प्रकरण-विशेष के अन्तर्गत उल्लिखित नामों को ही शत-संख्या में लिखा है, उसके अनुसार में प्रकरणान्त में उपसंहार किया है कि ''**ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं**'' (पृ० ५३)। ये सब नाम ईश्वर के प्रमुख नाम '**ओम्**' अथवा '**ओङ्कार**' को मिलाकर **एक-सौ** हैं। इस प्रकरण में सौ नामों का परिगणन इसलिए है कि ये नाम '**ओम्**' के अर्थ हैं अथवा उस मुख्य नाम के ग्रहण करने से उनका भी स्वतः ग्रहण हो जाता है।

सम्पादकों को '**ओङ्कारार्थ**' प्रकरण से पूर्व प्रदर्शित प्रमाणों में आये नामों को सौ-नामों में परिगणित करने का विचार इस कारण आया कि उनकी गणना के अनुसार 'ओङ्कारार्थ' प्रकरण में सौ नाम पूरे नहीं हुए। जब पूर्व के प्रमाणभाग के नामों को गिना तो वे १०८ या ११३ हो गये। जब ऐसे भी बात नहीं बनी तो 'सौ' संख्या को उपलक्षण-संख्या घोषित कर दिया गया।

वस्तुतः, गणना में अशुद्धि तब हुई जब सम्पादकों से तीन नाम छूट गये। '**अदिति**' और '**आदित्य**' दो नाम हैं, उन्हें भ्रमवश एक मान लिया गया। देखिए—'**भूरसि भूमिरसि-अदितिरसि**' (यजु० १३.१८) इस पूर्व उद्धृत प्रमाण में भी '**अदिति**' पृथक् नाम है। इसी प्रकार '**प्रज्ञ**' और '**प्राज्ञ**' दो नाम हैं उन्हें एक ही मान लिया। '**ओम्**' या '**ओङ्कार**' को सौ नामों से पृथक् रखा, जबकि वह तो सबसे मुख्य नाम है। इसी प्रकार '**देवी**' के प्रसंग में उल्लिखित '**चिति**' नाम भी गणना से छूट गया। इन चार नामों को मिलाकर '**ओङ्कारार्थ प्रकरण**' में वर्णित नाम 'ओंकार' सहित पूरे एक-सौ हो जाते हैं। उनकी सूची आगे दी गई है।

दूसरी गणना पद्धति—अब हम दूसरी गणना पद्धति पर विचार करते हैं। यदि हम '**प्रमाणभाग**' और '**ओङ्कारार्थ प्रकरण**' के अन्तर्गत वर्णित सभी नामों को भी ग्रहण कर लें और केवल एक मूल धातु या पद से व्युत्पन्न नामों के एक मूल

और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं;[१] क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके पढ़ने-पढ़ाने से [उनका][२] बोध हो सकता है, और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा हो सकता[३] है जो वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं।

को नाम मानें, उससे निर्मित या विकसित अन्य रूपों को छोड़ दें, तो भी सौ ही नाम बनते हैं। '**ओङ्कारार्थ प्रकरण**' के उपर्युक्त सौ नामों के अतिरिक्त प्रमाण भाग में ये तेरह नाम और हैं—**खम्, प्रजापति, अक्षर, स्वराट्, कालाग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वा, भू, भूमि, विश्वधाया, प्राण।** इस प्रकार प्रथम समुल्लास में उल्लिखित कुल नाम ११३ होते हैं। अब इनमें से लिङ्ग, समास, उपसर्ग, वचन आदि द्वारा विकसित एक मूलपद के नामों पर दृष्टि डालें तो वे रूप भी तेरह ही हैं। वे हैं—१. **भूमि** ('भू' का), २. **अदिति** ('दो' धातु या 'आदित्य' का), ३. **प्रज्ञ** ('ज्ञा' धातु या 'प्राज्ञ' का), ४. **परमात्मा** ('अत्' धातु या 'आत्मा' का), ५. **ब्रह्म** ('बृहि' धातु या 'ब्रह्मा' का), ६-७. **अन्नाद** और **अत्ता** ('अद्' धातु या 'अन्न' के), ८-९. **पितामह** और **प्रपितामह** ('पा' धातु या 'पिता' के), १०. **सच्चिदानन्द** ('सत्','चित्', 'आनन्द' का), ११. **गणपति** ('गण्' धातु या 'गणेश' का), १२. **देवी** ('दिवु' धातु या 'देव' का), १३. **परमेश्वर** ('ईश्' धातु या 'ईश्वर' का), इस प्रकार इनको एक-एक मानने पर मूल नाम सौ ही बनते हैं। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि '**चित्**' '**चिति**' एक धातु से व्युत्पन्न नहीं हैं। '**चित्**' की संरचना 'चिती-संज्ञाने' से मानी है जबकि '**चिति**' 'चिञ्-चयने' से व्युत्पन्न है।

यहां '**ओंकारार्थप्रकरण**' से ईश्वर के सौ नाम क्रमशः संख्यांक सहित दिये जाते हैं—

१. ओम् (ओंकार)	२१. आत्मा	४१. राहु	६१. आनन्द	८१. दयालु
२. विराट्	२२. परमात्मा	४२. केतु	६२. सच्चिदानन्दस्वरूप	८२. अद्वैत
३. अग्नि	२३. परमेश्वर	४३. यज्ञ	६३. नित्य	८३. निर्गुण
४. विश्व	२४. सविता	४४. होता	६४. शुद्ध	८४. सगुण
५. हिरण्यगर्भ	२५. देव	४५. बन्धु	६५. बुद्ध	८५. अन्तर्यामी
६. वायु	२६. कुबेर	४६. पिता	६६. मुक्त	८६. धर्मराज
७. तैजस	२७. पृथिवी	४७. पितामह	६७. निराकार	८७. यम
८. ईश्वर	२८. जल	४८. प्रपितामह	६८. निरञ्जन	८८. भगवान्
९. अदिति	२९. आकाश	४९. माता	६९. गणेश	८९. मनु
१०. आदित्य	३०. अन्न	५०. आचार्य	७०. गणपति	९०. पुरुष
११. प्रज्ञ	३१. अन्नाद	५१. गुरु	७१. विश्वेश्वर	९१. विश्वम्भर
१२. प्राज्ञ	३२. अत्ता	५२. अज	७२. कूटस्थ	९२. काल
१३. मित्र	३३. वसु	५३. ब्रह्मा	७३. चिति	९३. शेष
१४. वरुण	३४. रुद्र	५४. ब्रह्म	७४. देवी	९४. आप्त
१५. अर्यमा	३५. नारायण	५५. सत्य	७५. शक्ति	९५. शंकर
१६. इन्द्र	३६. चन्द्र	५६. ज्ञान	७६. श्री	९६. महादेव
१७. बृहस्पति	३७. मंगल	५७. अनन्त	७७. लक्ष्मी	९७. प्रिय
१८. विष्णु	३८. बुध	५८. अनादि	७८. सरस्वती	९८. स्वयम्भू
१९. उरुक्रम	३९. शुक्र	५९. सत्	७९. सर्वशक्तिमान्	९९. कवि
२०. सूर्य	४०. शनैश्चर	६०. चित्	८०. न्यायकारी	१००. शिव

१. **मुद्रणसमय उचित संशोधन**—द्विप्र० में इस वाक्य का संशोधन उचित किया गया है। मूलहस्त० में लिपिकर ने इसको लिखा था—''**यह मेरा लिखना समुद्र के सामने बिन्दुवत् है**''। मुद्रणलिपिकर ने यह अपवाक्य बनाया—''**यह मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् है।**'' इस अपवाक्य को मुद्रण के समय शुद्ध किया गया—''**इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं।**'' यही ग्राह्य है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य नहीं है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में यहां '**उनका**' पद त्रुटित रह गया है, जो अपेक्षित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ एवं अपपाठान्तर**—मूलह०, मूलसं० में '**पूरा होता है**' ऋषिलिखित पाठ है। मुद्रणह० द्विप्र० में ''**पूरा-पूरा**'' व्यर्थ पाठान्तर है। मनुष्य का ज्ञान कभी ''**पूरा-पूरा**'' नहीं हो सकता।

(प्रश्न) जैसे[१] अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा, न किया ?

(उत्तर) ऐसा हमको करना योग्य नहीं; क्योंकि जो आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा तो उसके ग्रन्थ में आदि तथा मध्य और मध्य तथा अन्त के[२] बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा। इसलिये—

''मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति''

यह सांख्यशास्त्र का वचन है। [अ० ५।सू० १]

इसका यह अभिप्राय है कि ईश्वर की जो वेदोक्त, न्याय, पक्षपातरहित, सत्य आज्ञा[३] है; उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना **'मङ्गलाचरण'** कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से लेके समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही मङ्गलाचरण है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिये, महाशय महर्षियों के लेख को[४]—

''यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि॥''

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है। [१।११]

हे सन्तानो! जो अनवद्य=अनिन्दनीय अर्थात् सत्य, धर्मयुक्त कर्म हैं, वे ही तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं।

इसलिये जो आधुनिक ग्रन्थों वा टीका-कारकों के[५] **'श्रीगणेशाय नमः', 'सीतारामाभ्यां नमः',**

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में **''जैसा''** अपप्रयोग है। उदाहरणार्थ **'जैसे'** पद का प्रयोग होता है। आगे **'वैसे'** प्रयोग है, उसके सम्बन्ध से भी **'जैसे'** प्रयोग आयेगा। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

२. **मुद्रणकाल में भ्रष्टपाठ**—द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां **''आदि, मध्य तथा अन्त के बीच में''** पाठ-परिवर्तन अशुद्ध है। इन तीनों का **'बीच'** क्या होगा ? दोनों हस्तलेखों तथा मूलप्रति सं० का पाठ शुद्ध और ग्राह्य है। मुद्रण के समय दो **'मध्य'** शब्दों में से **'' और मध्य''** पद छूट गये जिससे पाठ भ्रष्ट हो गया। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम संस्करण में मूलहस्त० का ही पूर्ण पाठ मिलता है—**''आदि मध्य और अन्त में जो मंगल करेगा तो आदि और मध्य के बीच में, अन्त और मध्य के बीच में अमंगल ही को लिखेगा''** (पृ० २४)। **पं० भगवद्दत्त जी** ने मूलह० के उक्त पाठ को उचित सिद्ध किया है। सम्पादकीय, पृ० 'ठ')। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** द्वारा द्विप्र० के अपूर्ण पाठ का समर्थन अयुक्तियुक्त है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'वेदोक्त'** विशेषण पद के स्थानभ्रष्ट होने से यह अपवाक्य बन गया है—**''पक्षपातरहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है''**। यहां ग्रन्थकार का अभिप्राय **'वेदोक्त आज्ञा'** से है **'वेदोक्त ईश्वर'** से नहीं। इसके अतिरिक्त विशेष्य **'आज्ञा'** पद के विशेषण **'पक्षपातरहित और सत्य'** भी स्थानभ्रष्ट हो गये हैं और इनका ईश्वर के साथ जुड़ने पर सन्देह हो रहा है जैसे ये ईश्वर के विशेषण हैं। **''वेदोक्त''** पद का आसत्ति सम्बन्ध **''आज्ञा''** पद से है, **''ईश्वर''** पद से नहीं, अतः उपर्युक्त पाठसंशोधन आवश्यक है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **ऋषि-हस्तलेख**—**''देखिये,.....लेख को''** पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि और उसकी कहानी**—मुद्रणप्रति लिखते समय लिपिकर अपनी प्रमादलीला के अनुसार **''जो आधुनिक ग्रन्थ''** ये पद लिखने के बाद **''वा टीकाकारकों के''** पद लिखना छोड़ गया। शोधक ने मुद्रणप्रति में अपूर्ण पाठ देख **'ग्रन्थ'** पद के आगे **'कार'** प्रत्यय जोड़कर **'ग्रन्थकार'** पाठ बना दिया। प्रकाशन के समय शोधक ने देखा कि वाक्य अशुद्ध है, तो उसने **'कार'** हटाकर **'में'** पाठ बना दिया। इस प्रकार वाक्य बन गया—**''जो आधुनिक ग्रन्थों में.....इत्यादि लेख देख''**। इस प्रकार मुद्रणलिपिकर की असावधानी से **'वा टीकाकारकों के'** पाठ सर्वथा छूट गया। वही त्रुटित अपूर्ण पाठ सभी द्वि०सं० में प्रचलित हो गया। मूलप्रति सं० व मूलहस्त० में शुद्ध पूर्ण पाठ है, मुद्रणहस्त० का पाठ अपूर्ण है, क्योंकि टीकाकार भी मंगलाचरण करते हैं। **''टीकाकारकों''** पाठ के बिना उनका उल्लेख छूट जाता है।

'**राधाकृष्णाभ्यां नमः**', '**श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः**', '**हनुमते नमः**', '**दुर्गायै नमः**', '**वटुकाय नमः**', '**भैरवाय नमः**', '**शिवाय नमः**', '**सरस्वत्यै नमः**', '**नारायणाय नमः**'[१] इत्यादि लेख देखने में आते हैं, उनको बुद्धिमान् लोग, वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं। क्योंकि वेद और ऋषि-मुनियों के[२] ग्रन्थों में कहीं ऐसा 'मङ्गलाचरण' देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रन्थों में '**ओम्**' तथा '**अथ**' शब्द तो देखने में आता है। देखो—

'**अथ शब्दानुशासनम्**'। **अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते**।'

यह व्याकरणमहाभाष्य [पस्पशाह्निक के आरम्भ का],

'**अथातो धर्मजिज्ञासा**'। **अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम्**। यह पूर्वमीमांसा [१।१ का],

'**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः**'।

अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः। यह वैशेषिकदर्शन [१।१ का],

'**अथ योगानुशासनम्**'। **अथेत्ययमधिकारार्थः**। यह योगशास्त्र [१।१ का],

'**अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**'=**सांसारिक-विषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः**। यह सांख्यशास्त्र [१।१ का वचन है],

'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'='**चतुष्टयसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्**।' यह वेदान्त[३] [१।१ का]।

'**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत**'। यह छान्दोग्योपनिषद्[४] [१।१।१ का],

'**ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्**'। यह माण्डूक्योपनिषद् के आरम्भ का वचन है [१];

ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में '**ओम्**' और '**अथ**' शब्द लिखे हैं। वैसे ही '**अग्नि**', '**इट्**', '**अग्नि**', '**ये त्रिषप्ताः परियन्ति**'[५] ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं; '**श्रीगणेशाय नमः**' इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेदों के आरम्भ में '**हरिः ओम्**' लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिकों और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। वेदादि शास्त्रों में '**हरि**' शब्द 'आदि'

संशोधन-पुष्टि—प्रथम सं० में यह कथन अतिस्पष्ट है—"**आजकाल के पण्डित लोक जो कि मिथ्या ग्रन्थ रचते हैं, सत्यशास्त्रों के ऊपर मिथ्या टीका रचते हैं उनके आदि में जो गणेशाय नमः.....**" (पृ० २४)। यहां दोनों का ही उल्लेख है।

१. **ऋषि-हस्तलेख**—अन्त के तीन मन्त्र मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित हैं।

२. **मुद्रणसमय में त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में यहां केवल "**ऋषियों**" पद है। '**मुनियों**' पद मुद्रण के समय छूटा है। दोनों हस्त०, मूलप्रति सं० का पाठ "**ऋषि-मुनियों**" ठीक है। द्विप्र० के अनुकरण पर छपे सभी द्वि०सं० में यह पद त्रुटित है। **पाठपुष्टि**—इस सं० में "**ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों के**" (२८/७), प्रथम सं० में—"**ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में**" (पृ० २४) पूर्ण पाठ है।

३,४. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठ एवं मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—"**वेदान्तसूत्र है**" और "**का वचन है**" पाठ-परिवर्तन लिपिकर ने अशुद्ध, व्यर्थ किया है। "**चतुष्टय.....जिज्ञास्यम्**" द्विप्र० आदि में त्रुटित है, जो ऋषिशैली के अनुसार ग्राह्य है।

५. **चारों वेदों के आदिम शब्द व ऋषिलेख**—ऋग्वेद "**अग्निमीळे०**" प्रथम मन्त्र के "**अग्नि**" शब्द से आरम्भ होता है। यजुर्वेद "**इषे त्वोर्जे०**" के "**इषे**" शब्द से (इष् का ही 'इट्' रूप है), सामवेद "**अग्न आ याहि०**" मन्त्र के "**अग्नि**" (अग्ने) शब्द से, और अथर्ववेद "**ये त्रिषप्ताः परियन्ति०**" मन्त्रपदों से आरम्भ होता है। मुद्रणप्रति में "**ये त्रिषप्ताः**" पाठ त्रुटित है। उदयपुर सं० में तीसरे स्थान पर "**अग्न**" पद परिवर्तित किया है। यह या तो मूल शब्द "**अग्नि**" अथवा "**अग्ने**" होना चाहिए, "**अग्न**" अशुद्ध है।

में कहीं नहीं है[१]। इसलिये '**ओम्**' वा '**अथ**' शब्द ही ग्रन्थ के[२] आदि में लिखना चाहिये।

यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर [-नामों][३] के विषय में लिखा,[४,५] अब इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते,[६] ईश्वरनामविषये[७,८] प्रथमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ १ ॥

---

१. **उचित पाठ-संशोधन**—मूलह० और मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—"**केवल ओङ्कार का पाठ तो ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में देखने में आता है, 'हरि' शब्द आदि में कहीं नहीं।**" मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में इसका उपर्युक्त संशोधन कर दिया है, तथ्य की दृष्टि से द्विप्र० का पाठ ग्राह्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ इन कारणों से अनुपयुक्त है—**प्रथम कारण** यह है कि यह कथन इस अनुच्छेद की प्रथम पंक्ति में उक्त हो चुका है, अतः पुनरुक्ति अनावश्यक है। **दूसरा कारण** यह है कि इस पंक्ति का सम्बन्ध ऊपर की पंक्ति से होना चाहिए जो नहीं बन रहा है। ऊपर की पंक्ति में ग्रन्थकार ने वेदों के आरम्भ में '**हरिः ओम्**' लिखने-पढ़ने को पौराणिकों और तान्त्रिकों की मिथ्या कल्पना कहा है, उसका पूरक अगला वाक्य यही संगत बनता है कि "**वेदादि शास्त्रों में 'हरि' शब्द आदि में कहीं नहीं है**"। मध्य में ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों की कोई प्रासंगिकता ही नहीं बनती। वेदों के कथन से इस वाक्य को जोड़ देने से यह भ्रान्ति भी उत्पन्न होती है जैसे वेद भी ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों के अन्तर्गत आते हैं। **तीसरा कारण** यह है कि इसमें "केवल ओंकार के पाठ" होने का उल्लेख है जबकि ऊपर महर्षि '**अथ**' और '**ओम्**' आदि पदों से आरम्भ दर्शा चुके हैं। उपसंहार वाक्य में भी दोनों पदों के लिखने का निर्देश है।

२. **भाषा शैलीगत उचित संशोधन**—मूलप्रति सं०, द्विप्र० और दोनों हस्तलेखों में यहां "**ग्रन्थ की आदि**" में स्त्रीलिंग अपपाठ है। अन्यत्र महर्षि की स्थापित शैली पुंल्लिग-प्रयोग की है, अतः '**ग्रन्थ के आदि में**' पाठ उपयुक्त है। यहां भी द्वि०सं० में संशोधित किया हुआ पुंल्लिग पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—दो पंक्ति पूर्व ही दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० आदि और मूलप्रति सं० में "**वेदों के आदि में**" पुंल्लिग पाठ है। '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में भी "**सृष्टि के आदि में**" पुंल्लिग प्रयोग है (पृ० १०)। प्रथम सं० का पाठ है—"**टीका रचते हैं उनके आदि में.....**" (पृ० २४)। इससे महर्षि की मौलिक शैली का ज्ञान होता है। अतः शैली एवं भाषात्मक एकरूपता और मानकता के लिए पुंल्लिग प्रयोग ही ग्राह्य है।

३,७. **त्रुटित आवश्यक पद**—इस ग्रन्थ की भूमिका (पृ० ७/९) में प्रथम समुल्लास के विषय का उल्लेख="**प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्कारादि नामों की व्याख्या**" इन शब्दों में है तथा समाप्तिसूचक उपर्युक्त वाक्य में "**ईश्वरनामविषये**" पाठ है। तदनुसार यहां परिवर्धन भी आवश्यक है, क्योंकि इस समुल्लास का प्रतिपाद्य विषय ईश्वर नहीं, ईश्वर के नाम हैं। ईश्वर विषय तो सप्तम समुल्लास में वर्णित है। युमी, विस, जस को छोड़कर वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित, अपूर्ण है।

४. **ऋषि-हस्तलेख**—यह वाक्य मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **प्रथम समुल्लास का उद्देश्य और महत्त्व**—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समु० का विशेष महत्त्व है। इसको ग्रन्थकार ने सभी समुल्लासों में सर्वाधिक महत्त्व देते हुए सर्वप्रथम स्थान पर रखा है। इसके अनेक उद्देश्य एवं महत्त्व इस प्रकार हैं (क) वैदिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक कार्य के आरम्भ में परमेश्वर का स्मरण करना चाहिए। श्रेष्ठकर्मों में ईश्वर का प्रथम स्मरण—विषयक महर्षि का निर्देश द्रष्टव्य है 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में पृ० ९१ पर। इस समु० के द्वारा महर्षि ने परमेश्वर का स्मरण किया है। (ख) महर्षि के समय में ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों, जैसे विष्णु, शिव, नारायण आदि के आधार पर जो 'अनेक ईश्वरवाद' फैला हुआ था तथा 'बहु देवतावाद' का जो प्रसार था, प्रथम समु० में यह समझाकर कि ये सब नाम एक ही परमसत्ता के हैं, उस अन्धधारणा को निर्मूल किया है और एकेश्वरवाद की स्थापना की है। (ग) ईश्वर के नाम पर फैले मत-मतान्तरों को मिटाकर एक ही मत प्रतिष्ठापित करने का महान् उद्देश्य रखा है। (घ) ग्रह-ज्योतिष के नाम पर जो अन्धविश्वास फैला रखा था, उसको दूर करके महर्षि ने सप्रमाण समझाया है कि मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, राहु, केतु आदि भी चेतन ईश्वर के नाम हैं। परमेश्वर के अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं, उनके अनुसार अनन्त नाम हैं, किन्तु एक उपासना पद्धति रखने के उद्देश्य से बताया कि 'ओम्' परमेश्वर का मुख्य और प्रियनाम है, उसमें सब नाम समाविष्ट हैं, अतः ईश्वर की स्तुति-उपासना '**ओम्**' के ही जप से करनी चाहिए, भिन्न-भिन्न नामों से नहीं। नहीं तो, भिन्न-भिन्न नामों की उपासना से अनेक पन्थ बन जायेंगे।

६,८. **पाठग्रहण**—दोनों हस्त० में "**विभूषिते**" के स्थान पर "**विरचिते**" पाठ है तथा "**ईश्वरनामविषये**" पाठ नहीं है। मुद्रणप्रति में "**विभूषिते**" बाद में संशोधित है तथा "**ईश्वरनामविषये**" भी मुद्रणसमय में जोड़ा है। द्विप्र० में यही पाठ है।

—०—

अथ द्वितीयसमुल्लासारम्भः[१]

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

[इस समुल्लास में बाल-शिक्षा के विषय में लिखेंगे][२]

"मातृमान् पितृमानाचार्यवान्", "आचार्यवान् पुरुषो वेद।"[३]

ये शतपथब्राह्मण [और छान्दोग्य उप०] के वचन हैं।

[शतपथ ब्राह्मण का० १४। प्रपा० ६। ब्रा० १०। कं० २; छान्दोग्य उप० ६। १४। २]

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।[४] वह कुल धन्य! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं। जितना[५] माता सन्तानों पर प्रेम [और][६] उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता[७]।

१-२. **त्रुटित पाठ और पाठग्रहण**—मूल-हस्तलेख में "**अथ द्वितीय समुल्लासारम्भः**" और दोनों ही हस्तलेखों में हिन्दी में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत अनुवाद भी अप्राप्त है। मुद्रणप्रति में समुल्लासारम्भ-विषयक शीर्षक वाक्य लिखित है।

हिन्दी में विषयसंकेतक वाक्य—सत्यार्थप्रकाश की शैली की एकरूपता और मानकता के लिए यह बृहत् कोष्ठकान्तर्गत हिन्दी-वाक्य आवश्यक है। अन्यत्र देखिए—तृतीय, दस, एकादश, त्रयोदश, चतुर्दश समुल्लासों के आरम्भ की शैली। यह आदि-सम्पादकों या लिपिकर की असावधानी और अयोग्यता का परिणाम है, जो उन्होंने पाठ में एकरूपता नहीं बनाई। पाठ में एकरूपता बनाना उनका कर्त्तव्य था। पं० ज्वालादत्त और भीमसेन ने निष्ठापूर्वक सम्पादन न करके केवल अपना मतलब सिद्ध किया है।

३. **अप-उद्धरण का समाधान एवं संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने इस उद्धरण को इस प्रकार अशुद्ध लिखा है—"....**आचार्यमान् पुरुषो वेद**"। शोधकों ने इसका निरीक्षण किया फिर भी द्वितीय संस्करण (१८८४) में यही अशुद्ध पाठ छपा है। बाद के सं० में इसको शुद्ध "**आचार्यवान्**" बनाया गया। पाठक ध्यान दें कि लिपिकर और आदि-शोधक कितने अयोग्य और लापरवाह थे। बस, वेतन कमाना उनका लक्ष्य था। ऐसे लोगों ने सत्यार्थप्रकाश में सैकड़ों अशुद्धियां की भी हैं और निरीक्षण में छोड़ी भी हैं। इस प्रकार उनसे किसी भी तरह की त्रुटि होने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

मेरा पूरा अनुमान है कि जैसे प्रथम समुल्लास के आरम्भिक प्रमाणों में लिपिकर ने प्रथम संस्करण में "**मा हिंसीः पुरुषं जगत्**" (द्र० पृ० २५ पर टिप्पणी २) स्वतन्त्र मन्त्र को पहले मन्त्र के साथ भ्रान्ति से मिलाकर दो मन्त्रों का एक अशुद्ध मन्त्र बना दिया था, उसी प्रकार इस प्रमाण में भी बोले गये दो प्रमाणों को समान पद "**आचार्यवान्**" के कारण एक वाक्य बना दिया। इस त्रुटि के होने का यही कारण प्रतीत होता है। "**आचार्यवान्**" शुद्ध पाठ है किन्तु बोलते समय मूलहस्तलेख के लिपिकर ने अयोग्यता से उसको "**आचार्यमान्**" लिख दिया। अब इसका यही समाधान संभव है कि उपलब्ध दोनों वाक्यों को यहां पाठ में अंकित कर दिया जाये। इस प्रकार करने से कोई हानि नहीं है और एक समाधान भी हो जाता है, अन्यथा अशुद्ध उद्धरण का यह आक्षेप सदा बना रहेगा। तीनों सं० में "**आचार्यमान्**" पद की अशुद्धि को तो दूर कर दिया है किन्तु उद्धरण की अशुद्धि को दूर नहीं किया। अशुद्धि, जो लिपिकीय दोष है, उसके संरक्षण में क्या गौरव की बात है? और उससे सत्यार्थप्रकाश और ऋषि का गौरव कैसे बढ़ेगा? जबकि यह भी सत्य है कि सैकड़ों अन्य अप-उद्धरणों को सभी ने शुद्ध कर लिया है।

४. **वैदिक संस्कृति में तीन गुरु**—वैदिक परम्परा में सदा ही तीन को गुरु माना जाता रहा है। इनमें प्रथम स्थान माता का है। माता को महत्त्वपूर्ण स्थान और सम्मान देने वाली जैसी वैदिक संस्कृति है वैसी अन्य कोई नहीं है। '**वाल्मीकीय रामायण**' में भी कहा है कि 'हे ककुत्स्थवंशी राम! पुरुष के तीन गुरु होते हैं—माता, पिता और आचार्य'—

"**पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा। आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव॥**" (अयोध्या० १११। २)

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**जैसे**" अप-प्रयोग है। मात्रा-बोध के लिए '**जितना**' पद आयेगा है। वाक्य में आगे '**उतना**' प्रयोग के सम्बन्ध से '**जितना**' ही प्रयोग आयेगा। **पुष्टि**—पहले ही वाक्य में '**उतना**' '**जितना**' प्रयोग हैं।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में यहां उपयुक्त वाक्यरचना और भिन्नताबोध के लिए '**और**' पद आवश्यक है।

इसीलिये '**मातृमान्**' अर्थात् '**प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी[१] माता विद्यते यस्य स मातृमान्।**' धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे![२]

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् दुर्गन्धयुक्त, रूक्ष, बुद्धिनाशक, नशीले पदार्थों को छोड़के, जिनसे शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें,[३] वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रज-

---

७. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में ''**कर सकता**'' अनुपयुक्त पाठ है। मुद्रणहस्त० और द्वि० सं० में ''**करता**'' संशोधित पाठ है, यही उपयुक्त है, क्योंकि इसके द्वारा प्रचलित सांसारिक व्यवहार का वर्णन किया जा रहा है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मूलह० के ''**विदुषी**'' पद को मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश छोड़ दिया। वेस, युमी, विस, जग में यह त्रुटित है। शेष सभी सं० ने ग्रहण कर लिया है।

२. **सुशीलता का उपदेश गर्भाधान से कैसे ?**—महर्षि ने यहां माता को निर्देश देते हुए कहा है कि ''**गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे।**'' महर्षि का यह कथन चिकित्सा विज्ञान पर आधारित है।

वैदिक संस्कृति में सोलह संस्कार विहित हैं। उनमें पहला संस्कार 'गर्भाधान' केवल सन्तानप्राप्ति के लिए नहीं अपितु सन्तान-निर्माण के लिए भी किया जाता है। सन्तानप्राप्ति तो संस्कार के बिना भी हो जाती है किन्तु निर्माण करने के लिए सुसंस्कृत विधियों, संयमित आहारों-व्यवहारों को आचरण में लाना आवश्यक है। जब गर्भाधान संकल्पपूर्वक और धार्मिक विधि से संस्कारपूर्वक किया जाता है तब माता-पिता के संस्कार सत्त्वगुण प्रधान होते हैं और जब विषयासक्ति के आवेश में किया जाता है तो रजोगुण और तमोगुण प्रधान होते हैं। फिर वैसी ही सन्तान होती है। अतः सत्त्वगुणी सन्तान के निर्माण के लिए धार्मिक विधि से संस्कारपूर्वक गर्भाधान करना आवश्यक है। बस, यहीं से सन्तान की सुशीलता का निर्माण आरम्भ हो जाता है।

गर्भाधान के समय और नौ मास की अवधि में किये गये माता-पिता के व्यवहार, आहार-विहार आदि का प्रभाव सन्तान पर भी पड़ता है। यही कारण है कि चिकित्सा-शास्त्रों में माता के गर्भकालीन व्यवहार का निर्देश किया गया है और बताया गया है कि अमुक आहार-व्यवहार से सन्तान सुशील बनती है, अमुक से बुरे स्वभाव की। '**चरक-संहिता**' कहती है—

''**तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्, साध्वाचारादात्मानमुपचरेद्, हिताभ्यामाहार-विहाराभ्याम्॥**'' (शारीरस्थान ८। २१)

अर्थात्—अच्छी सन्तान एक सम्पत्ति है। उस सम्पत्तिरूप सन्तान को प्राप्त करने की इच्छावाली माता गर्भकाल में उत्तम आचरण करे। अहितकारी रजोगुणी, तमोगुणी आदि आहार-विहारों को छोड़ दे और हितकारी का ही सेवन करे। उससे अच्छी सन्तान का निर्माण होता है।

'**सुश्रुत संहिता**' ने तो बहुत स्पष्ट उल्लेख किया है कि जैसी प्रवृत्ति, संस्कार, आहार-विहार-पूर्वक स्त्री-पुरुष गर्भाधान करते हैं, वैसी ही सन्तान होती है—

आहाराचारचेष्टाभिः यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुरुषौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥ (शारीरस्थान २.४६)

अर्थात्—जैसे आहार, आचरण, चेष्टा आदि से युक्त होकर स्त्री-पुरुष गर्भाधान करते हैं, उन्हीं संस्कारों और प्रवृत्तियों वाली उनकी सन्तान बनती है।

भारतीय प्राचीन चिकित्सा-शास्त्रों का तो यह अनुसन्धान हजारों वर्ष पुराना है। गत दिनों अमेरिका के चिकित्सा वैज्ञानिकों ने गर्भस्थिति के प्रथम दिन से लेकर बालक के जन्म तक एक माता पर अनुसन्धान किया। उसकी निर्माण-प्रक्रिया, विकास, गर्भकालीन शिशु की गतिविधियाँ तथा उस पर माता के आचरण तथा भावनात्मक प्रभाव का चलचित्र बनाकर टेलीविजन के 'डिस्कवरी' चैनल पर प्रदर्शित किया। उसका निष्कर्ष यह था कि गर्भस्थ बच्चे पर माता के आचरण तथा भावनात्मक व्यवहार की यथावत् प्रतिक्रिया होती है, गर्भ में भी बालक माता के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है, बौद्धिक प्रतिक्रिया भी करता है। इससे भारतीय शोध की पुष्टि हो जाती है। अभिमन्यु द्वारा गर्भकाल में चक्रव्यूह-भेदन के ज्ञान-अर्जन की घटना महाभारत में अतिप्रसिद्ध है। अतः सन्तान की सुशीलता और शिक्षा का आरम्भ गर्भाधान से ही आरम्भ हो जाता है, यह वैज्ञानिक तथ्य है।

३. **अपपाठ और मुद्रणकालीन आंशिक संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यहां यह अपवाक्य है—''**पश्चात् दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक नशादि पदार्थों को छोड़के जो शान्ति....सभ्यता को प्राप्त करें**''। इस वाक्य में '**दुर्गन्ध**' के स्थान पर '**दुर्गन्धयुक्त**', '**नशादि पदार्थों**' के स्थान पर '**नशीले पदार्थों**', '**जो**' के स्थान पर '**जिनसे**' पाठ शुद्ध है; क्योंकि '**दुर्गन्ध**' और '**नशा**' कोई पदार्थ नहीं होता। द्वि०सं० में '**प्राप्त करें**' क्रिया के साथ '**जिनसे**' प्रयोग होगा '**जो**' नहीं, ''**जो**'' के साथ ''**प्राप्त**

वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हों। जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पाँचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है, उनमें से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं। रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है। और रजोदर्शन के दिन से लेके १६वीं रात्रि के पश्चात् समागम न करना चाहिये। पुनः जब तक ऋतुदान का पूर्वोक्त समय न आवे तब तक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों,[१] जब तक कि दोनों के शरीर में आरोग्य और परस्पर-प्रसन्नता न हो, और किसी प्रकार का शोक हो।[२] जैसा **चरक**[३] और **सुश्रुत** में भोजन-छादन का विधान और **मनुस्मृति** में स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिये। पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त स्त्री पुरुष का सङ्ग न करे। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि[४] गुणकारक द्रव्यों का ही सेवन स्त्री करती रहै कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

जब जन्म हो, तब नाड़ीछेदन करके,[५] अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान, और स्त्री को

करायें'' संशोधन करना होगा। द्विप्र०, द्वि०सं० में सभी त्रुटियां यथावत् हैं। मुद्रणकाल में '**नशादि**' को हटाकर उसके स्थान पर ''**मादक द्रव्य मद्य**'' पाठ करके पुनरुक्तिपूर्ण त्रुटि एक नयी कर दी है। मुद्रणहस्त० में ''**नशादि मद्य**'' ''**नशादि पदार्थों**'' पाठ है, जिसमें पुनरुक्ति हो गई है। यही त्रुटियां वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में हैं।

१. **ऋषि-हस्तलेख**—''**देने का समय है.....संयुक्त न हों**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में है।

२. **भ्रष्टपाठ एवं अपविराम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य है—''**एक वर्ष तक संयुक्त न हों कि जब दोनों का शरीर का/के शरीर में आरोग्य परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो।**'' इससे अप-अर्थ व्यक्त हो रहा है कि जब शोक न हो तब संयुक्त न हों, अर्थात् शोक के समय संयुक्त हों। द्विप्र०, द्वि०सं० में, ''**संयुक्त न हों।**'' इस वाक्यांश के बाद पूर्णविराम डाल कर एक वाक्य को ही परस्पर असम्बद्ध कर अशुद्ध निरर्थक वाक्य बना दिया है। मुद्रणह० में यह अशुद्ध पूर्णविराम नहीं है। ''**जब**'' का ''**तब**'' से आश्रय-सम्बन्ध होने से इस वाक्य को तोड़कर दो वाक्यों में नहीं बांटा जा सकता। इस प्रकार द्विप्र०, उदयपुर और द्वि०सं० में अपविराम है। आश्चर्य है, सवा-सौ वर्षों से इस अशुद्ध पाठ को रखा हुआ है!!

भ्रष्टपाठ की परम्परा—वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में भी यही भ्रष्टपाठ है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने ''जब दोनों के.... शोक न हो''** वाक्य को पहले सम्बद्ध वाक्य/ प्रसंग से तोड़कर, अग्रिम असम्बद्ध/ असंगत वाक्य से जोड़कर और भ्रष्टपाठ बना दिया। वही भ्रष्ट पाठ विस में है। कथित दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में भी भ्रष्टपाठ है।

३. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—दोनों हस्त० में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने इसकी अपवर्तनी क्रमशः ''**चक्र्क**'' और ''**चर्क**'' लिखी है। द्विप्र० में संशोधित है। अन्य सभी सं० में भी संशोधित कर ली है।

४. **अपपरिवर्तन**—द्वि० सं० में ''**शान्ति और गुणकारक द्रव्यों का**'' वाक्य में ''**आदि**'' के स्थान पर ''**और**'' पद का अशुद्ध परिवर्तन कर दिया है। इस वाक्य का अभिप्राय है कि शान्ति आदि गुण करने वाले द्रव्यों का सेवन करे। ''**और**'' पद डालने से यह अपवाक्य बन गया; क्योंकि शान्ति आदि गुणों के साथ कोई क्रिया ही नहीं रही, और शान्ति आदि को गुणों से भी पृथक् कर दिया जबकि ये स्वयं गुण ही हैं। दोनों हस्त०, मूलप्रति सं०, द्विप्र० तथा सभी अन्य सं० का पाठ शुद्ध है।

५. **नाड़ी-छेदन का अपक्रम और प्रक्रिया**—यहां दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह पाठ मिलता है—''**जब जन्म हो तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान, नाड़ी छेदन करके, सुगन्धियुक्त घृतादि का होम और स्त्री के भी स्नान, भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे।**'' यहां पाठ अस्त-व्यस्त हुआ है। इस शोधसंस्करण में प्रथम वार इसका समाधान प्रस्तुत है।

संशोधन-पुष्टि—संस्कारों के विषय में महर्षि ने '**संस्कारविधि**' को प्रमाण माना है। महर्षि स्वयं लिखते हैं कि '**संस्कारविधि के अनुसार नामकरण आदि संस्कार करे**' (पृ० १७३, १७६)। वहां जातकर्म-संस्कार में नाड़ी-छेदन की प्रक्रिया और क्रम यह है—''**जब पुत्र का जन्म होवे तब दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर, कोमल वस्त्र से पोंछ, शुद्ध कर,.....एक बीता-भर नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बांधके, उस बन्धन के ऊपर से नाड़ी-छेदन करके, किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना, जो प्रसूता-घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रखा हो....।**'' (जातकर्म संस्कार, पृ० ४३) यही क्रम 'सुश्रुत-संहिता' (१०.२०) में लिखा है—''**जातस्योल्वमपनीय मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं**

भी स्नान करा, सुगन्धियुक्त घृतादि का होम [करे][१] और स्त्री के स्नान-भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे[२] कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः[३] आरोग्यवान्[४] और पुष्ट होता जाये। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों। प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे। तदनन्तर धायी[५] पिलाया करे। परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-

---

दद्यात्। ततो नाभिनाडीमष्टांगुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्='उत्पन्न बालक के उल्व=जरायु को हटाकर और मुख को लवणमिश्रित घृत से साफ करके घृत का फाहा सिर के ऊपर तालु भाग में लगाये। उसके बाद आठ अंगुल नीचे से छोड़कर धागे से बांधकर नाल को काट दे।'

व्यावहारिक या क्रियात्मक रूप में भी नाड़ी-छेदन का यही स्वीकार्य क्रम है। नाड़ी-छेदन से पूर्व बालक या प्रसूता को स्नान कराना व्यावहारिक रूप से सुविधाजनक, या यों कहिए कि चिकित्सकीय दृष्टि से उचित नहीं है, पोंछना ही सुविधाजनक है; क्योंकि बालक प्रसूता के गर्भस्थ नाल से जुड़ा होता है। नाड़ी-छेदन होने के बाद ही उसे माता से दूर ले जाया जा सकता है। चतुर्थ समु० पृ० १७५ पर भी नाड़ी-छेदन से पूर्व प्रसूता के स्नान का विधान है, जो सहज रूप में क्रियात्मक ही नहीं।

यद्यपि चरक-संहिता में स्नान और पोंछना दोनों उपायों का विकल्पात्मक क्रम दिया है (''**स्नान-उदक-ग्रहणाभ्यामुपपादयेत्**'' ८.७२) किन्तु वहां वर्णित स्नान भी केवल चरक-वर्णित प्रसवविधि से ही सम्भव है। चरक ने प्रसूता को भूमि पर चटाई आदि बिछाकर प्रसव कराने का कथन किया है। भूमि पर बिछी चटाई पर बैठी-लेटी प्रसूता के गर्भस्थ नाल से जुड़े बालक को चटाई के थोड़ा एक ओर हटाकर सामान्यतः नहलाया जा सकता है। उस स्थिति में चटाई भीगेगी। किन्तु शय्या पर प्रसव कराते समय पहले स्नान कराना सम्भव नहीं है। (''**भूमौ शयनं विदध्यात् मृदु-आस्तरणोपपन्नम्**'' शारीरस्थान ८.६२)।

सुश्रुत मृदु शय्या पर प्रसव कराने का विधान करता है (''**कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थिताम्**'' १०.१०, शारीरस्थान)। अतः उस अवस्था में स्नान सम्भव नहीं, केवल पोंछना सम्भव है। उसके पश्चात् नाड़ी-छेदन होगा और फिर बालक को स्नान कराना सम्भव है। अतः यहां संस्कारविधि के क्रम से ही पाठ संशोधित करना आवश्यक है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यासनाम स्वामी सच्चिदानन्द जी) ने अपनी पुस्तक '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' में (पृ० १३७ पर) खेत में एक किसान-स्त्री के प्रसव का विरल अपवादस्वरूप उदाहरण देकर यह समर्थन करने का असफल प्रयास किया है कि स्नान नाड़ी-छेदन से पूर्व हो सकता है। हाँ, खेत में तो यथाकथंचित् हो सकता है, किन्तु घर और अस्पताल में नहीं। यह उनका तर्क नहीं; अतः व्यावहारिक कथन न होने से अग्राह्य है। अपवाद कभी नियम नहीं हुआ करते हैं। आचार्य जी की विधि का पालन करने के लिए शहरी स्त्रियां क्या खेत में जाकर प्रसव करायेंगी? और क्या फसल काटने के औजारों दरांती आदि से गर्भनाल काटी जायेगी? तब उस नाजुक अवस्था में गर्भिणी और नवजात शिशु को संक्रमण, धनुषबाय आदि भयंकर रोग यदि होंगे, जो कि ग्रामीणों और वनवासियों में अधिकतः होते भी हैं, तब क्या होगा? शास्त्री जी आगे एक हास्यास्पद मन्तव्य लिखते हैं—''ऋषि ने समर्थों के लिए लिखा है'' (पृ० १३८)। इसका मतलब यह हुआ कि सत्यार्थप्रकाश केवल ग्रामीणों और समर्थों के लिए है, नगरवासियों और असमर्थों के लिए उसके निर्देश व्यर्थ हैं? शास्त्री जी की सोच कितनी विचित्र है!! शास्त्री जी इस ऋषिसिद्धान्त को भी भूल गये कि महर्षि ने राजा आदि सम्पन्नों के घर होने वाले प्रसव तथा सुविधाओं की प्रशंसा करते हुए उसको पुण्यों का फल बताया है और घसियारी के घर होने वाले प्रसव अर्थात् जंगल आदि में होने वाले जन्म तथा असुविधाओं को '**हीन कर्म**' और पाप का फल '**दुःख**' माना है (द्रष्टव्य, समु० ९, पृ० ४६१-४६२)।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**करे**'' क्रिया अपेक्षित है।

२. **अयोग्य लिपिकर और उचित संशोधन**—दोनों हस्त० में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने इस शब्द की अपवर्तनी ''**क्रमसः**'' लिखी है। सभी संस्करणों में संशोधित कर ली है।

३,४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० तथा अन्य सभी में ''**शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाये**'' अपप्रयोग है। शरीर के साथ '**आरोग्यवान्**' विशेषण चाहिए। **संशोधन-पुष्टि**—व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध प्रयोग पृ० ४८१/२०, ५१०/१७ में ''**आरोग्यता**'' द्रष्टव्य है।

५. **धायी की वैकल्पिक व्यवस्था**—'धायी-व्यवस्था' को पढ़ते ही तरह-तरह की शंका करने वाले पाठकों को, आयुर्वेद में वर्णित धायी-व्यवस्था को ग्रहण करने के सम्बन्ध में महर्षि द्वारा वर्णित निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिए—

(क) धायी का रखना आवश्यक नियम नहीं है। यह बालक के पालन-पोषण के लिए प्राचीन परम्परागत एक विकल्पात्मक और स्वैच्छिक व्यवस्था है। इसका निर्देश '**चरक-संहिता**' शारीरस्थान अ० ८ में और '**सुश्रुत-संहिता**' के शारीरस्थान १०। २१ में किया है। यों समझिए कि जैसे व्यवहार में जरूरतमंद व्यक्ति किसी दूसरे सबल-समर्थ की सहायता लेता है, उसी प्रकार शिशु-

पिता करावें। **जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधियां जो कि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करनेहारी हों,[१] उनको शुद्ध जल में भिजा, औटा, छानके दूध के बराबर[२] जल मिलाके बालक को पिलावें।** जन्म के[३] पश्चात् बालक और बालक की माता को दूसरे स्थान [पर][४] कि जहाँ का वायु शुद्ध हो, वहाँ रक्खें; सुगन्धित[५] तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें। और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो। **और जहाँ धायी, गाय,**

पालन में सबल-समर्थ दूसरी स्त्री का सहयोग लेना '**धायी-व्यवस्था**' है। इस व्यवस्था के मूल में सामाजिक भावना है।

(ख) दुर्बलता, रुग्णता, दुग्धाभाव अथवा किसी अन्य कारणवश माता के दूध पिलाने में असमर्थ होने पर धायी की व्यवस्था का निर्देश है। महर्षि ने इस सन्दर्भ में "**माता वा धायी**" शब्दों से विकल्पात्मक व्यवस्था का निर्देश किया है। यह निर्विवादित तथ्य है कि बालक के लिए सर्वोत्तम दूध माता का होता है और उसके बाद उत्तम दूध धायी का होता है, क्योंकि वह भी मातावत् होती है। फिर मनुष्येतर प्राणियों गाय, बकरी आदि का उपयोगी होता है। इस दृष्टि से आयुर्वेद में धायी की प्रथा अति-उपयोगी मानी गयी है। आज चिकित्सा विज्ञान भी स्त्री के दूध या माता के दूध की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। यह एक वैज्ञानिक प्रथा है।

(ग) कुछ पाठक इस पंक्ति पर ध्यान केन्द्रित करके "**तदनन्तर धायी पिलाया करे**", यह मान बैठते हैं कि यहां धायी द्वारा दूध पिलाने का अनिवार्य निर्देश है। वे पूर्वापर प्रसंग को भूल जाते हैं। यह वाक्य उस स्थिति के लिए है जब धायी रखी जाये। तब छह दिन प्रसूता पिलाये और तदनन्तर धायी पिलाये। अन्यथा यह निर्देश लागू नहीं है।

(घ) **प्राचीन परम्परा**—प्राचीन काल में देश-विदेश में धायी की प्रथा समाज में प्रचलित रही है। **श्रीराम** आदि चारों भाइयों की धाइयां थीं (वा० रामा० अयो० ७.७) इस्लाम प्रवर्तक **हज़रत मुहम्मद** का धायी ने दूध पिलाकर पालन-पोषण किया था। उसका नाम **बेगम हलीमा सादिया** था। (कुरान : मुहम्मद फारुक खां, पृ० १९) हज़० मुहम्मद साधारण परिवार के थे, फिर भी उस समय अरब में यह प्रथा थी। उदयपुर के राजवंश में '**पन्ना**' **धाय** का नाम इतिहास प्रसिद्ध है।

(ङ) जैसे, बच्चे के पालन-पोषण के लिए सेवक-सेविका रखना सम्पन्न लोगों के वश की बात है, उसी प्रकार यह परम्परा भी सम्पन्नजनों की है। इसी कारण महर्षि ने लिखा है कि "**जो कोई द्ररिद्र हों, धायी को न रख सकें तो वे गाय या बकरी के दूध.....पिलावें।**" "**और जहां धायी....न मिल सके, वहां जैसा उचित समझें वैसा करें।**" सत्यार्थप्रकाश के पृ० १७५ पर महर्षि का यह कथन भी विशेष है—"**जो दूध पीना चाहै तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता के दूध न हो तो किसी और स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलवावे।**" यहां प्रथमत: माता का ही दूध पिलाने का निर्देश है। माता का दूध न होने आदि की स्थिति में धायी रखने का निर्देश है। अत: धायी को विशेष स्थिति में ही रखना चाहिए।

(च) धायी वह होती है जो प्रसवावस्था की निर्बलता से निकल, स्वस्थ और बलवती हो चुकी हो और जिसका बालक जीवित है तथा पर्याप्त दूध होने के कारण दूसरे बालक को भी दूध पिला सके। कुछ माताओं का दूध इतना अधिक होता है कि उनका बालक नहीं पी पाता, शेष को साधनों से निकलना पड़ता है, कष्ट से बचने के लिए ऐसी धायी रखने योग्य होती है। प्रत्येक सद्य:प्रसूता धायी नहीं हो सकती। धायी के गुण और विशेषताएँ चरक और सुश्रुत के उपर्युक्त स्थलों में वर्णित हैं, वहां द्रष्टव्य हैं।

(छ) कुछ शिशुओं की माताओं का देहान्त हो जाने पर जैसे सामान्य परिवारों में भी सम्बन्धी प्रसूता स्त्रियाँ अपना दूध पिलाकर उन बच्चों को पालती हैं, ऐसे ही नियुक्त धाइयाँ पालती हैं। अत: यह सर्वत्र, सर्वदा प्रचलित सामान्य प्रथा है।

(ज) **शाश्वत सत्य**—धायी प्रथा विश्व में सर्वत्र रही है, है, रहेगी। आज भी आस्ट्रेलिया में दूध पिलाने में अक्षम माताओं के लिए '**माता-दूध बैंक**' हैं। इसी प्रकार विश्वस्तर पर एक '**ह्यूमन मिल्क फोर ह्यूमन बेबीज**' नामक नेटवर्क है, जो दूध पिलाने में अक्षम महिलाओं को सक्षम और नि:शुल्क सहयोगी महिलाओं के नाम उपलब्ध कराता है। वे बच्चों को दूध पिलाती हैं।

१. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में "**करानेहारी**" अपप्रयोग है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में '**करनेहारी**' शुद्ध है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० में "**बराबर**" (बरोबर) गुजराती का प्रयोग है जिसका अर्थ 'उचित मात्रा में' है। मुद्रणप्रति में "**समान**" अशुद्ध अनुवाद किया है। इसको भ्रान्ति से हिन्दी-प्रयोग समझ लिया। औषधियों का रस उचित मात्रा में मिलाते हैं, समान मात्रा में नहीं।

३. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**जन्मे**" के स्थान पर "**जन्म के**" परिवर्तन किया है। यह ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—द्रष्टव्य, संस्कारविधि में पृ० ८१ पर यही प्रयोग।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में '**पर**' विभक्ति पद त्रुटित है। वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**सुगन्ध**" अपप्रयोग है, यहां '**सुगन्धित**' विशेषण अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—

बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहाँ जैसा[१] उचित समझें, वैसा करें। क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव-समय निर्बल हो जाती है,[२] इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवति हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रक्खे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेंगे, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी कि जिससे सब सन्तान भी उत्तम बल-पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक होंगे।[३] स्त्री योनिसङ्कोच, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे वे भी सब उत्तम होंगे।

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हो और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावे। जब बोलने लगे, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके, वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न कि दोनों ओष्ठों को मिला कर बोलना। इसके विना शुद्धोच्चारण [अर्थात्][४] ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक नहीं बोल सकता। मधुर, गम्भीर सुस्वर;[५] अक्षर, मात्रा, पद,[६] वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न-भिन्न श्रवण होवे।[७] जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े-छोटे, मान्य पिता-माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण; उनसे वर्त्तमान[८] और उनको पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें कि जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके, सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्सङ्ग में रुचि-कर्त्ता होवे,[९] वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें।

सात-आठ पंक्ति पूर्व दो बार "**सुगन्धियुक्त**" शुद्ध पाठ है। वेस, भद, युमी, वि, जग, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

१. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां '**जैसे**' अपप्रयोग है। "**वैसा**" के साथ '**जैसा**' प्रयोग आयेगा। अन्यों में शुद्ध है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां इस वाक्य में से "**उस समय उसके दूध में भी कम बल होता है**" पाठ हटाया गया है। यह संशोधन उपयुक्त ही है। मूलह०, मूलसं० में यह वाक्य है।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलसं० में यह अपवाक्य इस प्रकार है—"**जो स्त्री वा पुरुष करेगी, उनके उत्तम सन्तान दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि ही होती रहेगी कि जिससे....दीर्घायु, धार्मिक हों**"। द्वि० सं० में केवल एक स्थान पर ही संशोधन के नाम पर '**करेगी**' के स्थान पर '**करेंगे**' पाठ किया है। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है। तीनों सं० में "**उत्तम सन्तानों**" बहुवचन अपेक्षित है। उपर्युक्त संशोधन आवश्यक है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**शुद्धोच्चारण**" महत्त्वपूर्ण पद त्रुटित है। आगे इसका अर्थ खोला है, अतः मूलप्रति सं० में '**अर्थात्**' पद आवश्यक है। मुद्रणहस्त० में "**इसके विना शुद्धोच्चारण**" वाक्यांश लिपिकर ने छोड़ दिया है। वही त्रुटित व अपपाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में है। अन्य सभी सं० में भी त्रुटित व परिवर्तित है।

५-६. **ऋषि-हस्तलेख का मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र०, द्वि०सं० में '**सुस्वर**' के स्थान पर "**सुन्दर स्वर**" पाठ कर दिया है जबकि इस अर्थ का वाचक "**मधुर**" पहले ही पठित है। '**सुस्वर**' अधिक सार्थक-सटीक व्यापकार्थक पद है। '**सुस्वर**' पद ऋषि ने अपने हस्तलेख में लिखा है मुद्रणलिपिकर ने उसे भी बदल दिया और द्वि०सं० पर आधारित उदयपुर सं० आदि ने उसे भी उपेक्षित कर मुद्रणलिपिकर के पाठ को स्वीकार कर लिया। सभी सं० में "**पद**" शब्द त्रुटित है।

७. **ऋषि-हस्तलेख**—"**मधुर, गम्भीर.....श्रवण होवे**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में है। ८. **वर्तमान**=व्यवहार।

९. **मूललिपिकर से अपवर्तनी व मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० में "**रुचि करता हो**" अपक्रिया प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इसको अपपाठ समझकर नयी अपक्रिया में परिवर्तित कर दिया—"**रुचि करें**"। वस्तुतः यह पूर्व पदों के समान विशेषण है, लिपिकर ने भ्रान्ति से इसे क्रिया में परिवर्तित कर दिया। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित अपपाठ है।

उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श विना निमित्त न करें,[१] क्योंकि इसके स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता [होती है और] हस्त में दुर्गन्ध भी होता है।[२] सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदनता आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।

जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।[३] उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ-सहित कण्ठस्थ करावें। जिससे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवे। और जो-जो विद्या-धर्म-विरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें; जिससे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों पर विश्वास न हो—

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥[४] यह मनुस्मृति का श्लोक है[५] [अ० ५। श्लोक ६५]।

---

१. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से पाठ त्रुटित**—ऐसा ज्ञात होता है कि मुद्रणलिपिकर अस्थिरमति और दृष्टि-विचलन का रोगी था। जहां-तहां, कहीं भी पाठ छोड़ जाता है। इस वाक्य में दो '**स्पर्श**' पद आये हैं, झट दूसरे '**स्पर्श**' पद पर दृष्टि फिसल गई और बीच का सारा पाठ ''**बिना निमित्त न करें, क्योंकि इसके स्पर्श**'' को छोड़ गया। उसने अपपाठ लिखा—''**उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श और मर्दन से....।**'' शोधन के समय शोधक ने देखा कि वाक्यरचना ठीक नहीं हुई, उसने संगति लगाने के लिए अनुमान से ''**का**'' को ''**के**'' बना दिया और इस वाक्य के बाद नया वाक्य संगति के लिए जोड़ा—''**इससे उसका स्पर्श न करें**''। यही त्रुटित व अपूर्ण भावयुक्त पाठ द्विप्र०, द्वि० सं० में छप रहा है। इस प्रकार महर्षिप्रोक्त यह सयुक्तिक निर्देश द्वि०सं० से लुप्त ही हो गया—''**उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श विना निमित्त न करें.....।**'' मुद्रणहस्तलेख के लिपिकर ने इस प्रकार सैकड़ों पाठ बिगाड़े हैं। निश्चित रूप से यहां मूलहस्त० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, प्रमादी मुद्रणलिपिकर का नहीं।

पाठ-पुष्टि—देखिए, यही भाषा महर्षि की है, वही आगे प्रयुक्त की है—''**विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श....सदा छोड़ देवें**'' (समु० ३, पृ० १०३/१)। मूलह० का पूर्ण पाठ प्रथम सं० में भी है—''**निमित्त से बिना उपस्थेन्द्रिय का मर्द्दन और बारम्बार स्पर्श.... करना न चाहिए**'' (पृ० २८)। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर में लिपिकर द्वारा विकृत पाठ है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित हैं। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**होती**'' गृहीत है।

३. **अन्यदेशीय भाषाओं का प्रशिक्षण**—जिज्ञासा होती है कि महर्षि ने यहां अन्यदेशीय भाषाओं का ज्ञान भी बाल्यकाल से कराने का निर्देश दिया है किन्तु तृतीय समुल्लास में प्रस्तुत पाठ्यक्रम की रूपरेखा में अन्यभाषाओं के शिक्षण का विषय उल्लिखित नहीं है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि महर्षि जिस आर्ष शिक्षा पद्धति को उपादेय मानते हैं उसके अध्ययन-अध्यापन की एक केन्द्रिय और पूर्ण रूपरेखा तृतीय समुल्लास में प्रस्तुत की है। उसके साथ अन्यदेशीय भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था सहचारी रूप में कर लेनी चाहिए। जो देवनागरी से भिन्न देशों के छात्र हैं, यदि उनकी आर्षशिक्षा का माध्यम कोई अन्य भाषा है तो उन्हें देवनागरी के शिक्षण की व्यवस्था सहचारी रूप में कर लेनी चाहिए। इस प्रकार आर्षपाठविधि के साथ अन्य भाषाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। विस्तृत टिप्पणी पृ० १३१-१३३ पर द्रष्टव्य है।

४. **क्या यह श्लोक प्रामाणिक है ?**—ग्रन्थकार ने यह श्लोक अपने सैद्धान्तिक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। प्रसंगवश, भूत-प्रेत की मिथ्या कल्पना करने वालों और मृतक-शुद्धि की पाखण्ड-प्रथा करने वालों के लिए उन्हीं के मतानुसार '**भूत**' और '**प्रेत**' शब्द का अर्थमात्र स्पष्ट करना उनका प्रयोजन है। महर्षि का सिद्धान्त '**दशरात्र-शुद्धि**' का भी नहीं है। प्रमाण के लिए '**संस्कारविधि**' में 'अन्त्येष्टि प्रकरण' द्रष्टव्य है। महर्षि के प्रत्येक कथन को उनके आधारभूत मन्तव्यों के साथ जोड़कर समझना चाहिए। इसी को वक्ता का 'तात्पर्य' नामक वाक्यगुण कहते हैं। जो लोग इसको महर्षि-स्वीकृत प्रमाणकोटि में रखते हैं उन्हें इस श्लोक के अर्थ को भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा जो कि ऋषि-सिद्धान्त के विरुद्ध है। मेरे भाष्ययुक्त '**मनुस्मृति**' में भी यह श्लोक प्रक्षिप्त कोटि के अन्तर्गत है। 'ऋषि दयानन्द के पत्र-विज्ञापन' में इस श्लोक को उद्धृत करके वहां भी केवल 'भूत-प्रेत' का अर्थ स्पष्ट किया है ''**वहां 'भूत' से 'हो चुके' हुए का, और प्रेत से निर्जीव शरीर का ग्रहण है....यह हमने प्रसंग में कह दिया।**'' (भाग १, पृ० १७४)।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में उपर्युक्त वाक्य के स्थान पर ''**मनु०**'' व्यर्थ पाठान्तर है।

अर्थ—'जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतकशरीर जिसका नाम '**प्रेत**' है, उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है।'

और जब उस शरीर का दाह हो चुका, तब उसका नाम '**भूत**' होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हो वर्त्तमान में आके न रहें,[१] भूतस्थ होने से उनका नाम '**भूत**' है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु **जिसको शङ्का, कुसङ्ग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।**

देखो, जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर, परमेश्वर की व्यवस्था से दुःख-सुख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग '**वैद्यकशास्त्र**'[२] वा '**पदार्थविद्या**' के पढ़ने-सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीर और उन्मादादि मानस रोगों का नाम[३] भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषधसेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके, उन धूर्त्त,[४] पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, शूद्र, म्लेच्छादि[५] पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल-कपट और उच्छिष्ट भोजन [करते हैं और][६] डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बाँधते-बँधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा [कर][७] और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते रहते[८] हैं।

जब '**आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे**', उन दुर्बुद्धियों, पापियों, स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि ''महाराज! इस लड़के[९], लड़की, स्त्री वा[१०] पुरुष को न जाने क्या हो गया है?''

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित अपपाठ व अपविराम**—मुद्रणहस्त० में लिपिकर ने भ्रान्ति से यह अपवाक्य बनाया—''**जितने उत्पन्न हों वर्तमान में आके न रहें।**'' वस्तुतःमूलहस्तलेख में यहाँ ''**हो**'' क्रिया '**होकर**' अर्थ में थी, जिसको भ्रान्ति से भूतकालीन बहुवचन ''**हों**'' बना देने से एकवाक्यता टूट गई और तीनों सं० में उसको दो अपूर्ण वाक्यों में बदल दिया। फिर मूलप्रति सं० और द्वि० सं० में उनके मध्य अर्धविराम लगा दिया। मूलह० का पाठ ठीक था। बिना अर्धविराम के एक वाक्य ही सही व पूर्ण है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ है, जो अग्राह्य है।

२. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० में ''**वेदिक शास्त्र**'' अपप्रयोग है, द्वि०सं० आदि सभी में संशोधित कर लिया है।

३. **अपपाठ एवं संशोधन प्रक्रिया**—मूलहस्तलेख में यहां यह अपपाठ है—''**विचार रहित होकर उन्मादादि शारीरक और मानस रोगों का नाम....।**'' मुद्रणप्रति में परिवर्तन करके शोधक ने यह अर्ध अपपाठ बनाया—''**विचाररहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीर और उन्मादकादि मानस रोगों....।**'' द्विप्र० में ''**शारीर**'' के स्थान पर ''**शारीरक**'' एक और अशुद्ध पाठ कर दिया। द्वि०सं० में ''**शारीर**'' के स्थान पर ''**शारीरिक**'' पाठान्तर कर दिया और ''**उन्मादकादि**'' के स्थान पर ''**उन्मादादि**'' शुद्ध प्रयोग बना दिया। मूलप्रति सं० में ''**शारीर**'' प्रयोग है। मुद्रणह० में यह ऋषि-हस्तलेख में हैं। '**शारीरक**' और '**उन्मादक**' एक या दोनों प्रायः सभी सं० में अपपाठ हैं।

४. **पाखण्डियों-ठगों के लिए कटु-प्रयोग**—ग्रन्थकार, पाखण्डियों और ठगों को समाज के पतन और अन्धविश्वास का मूल कारण मानते हैं, अतः उनके प्रति कटु प्रयोग करते हैं, चाहे वे किसी वर्ण या जाति के हों। पृ० ५७८ पर मूर्तिपूजा से ठगने वाले ब्राह्मणों को, पृ० ६७६ पर गोसांई ठगों को, पृ० ६९० पर नाककटों को, पृ० ७३६ पर वेदनिन्दकों को '**धूर्त्त**' कहा है।

५. **भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि**—इस विषयक टिप्पणी अगले पृ० ६६ पर एकत्र स्थान पर द्रष्टव्य है।

६-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में दोनों स्थानों पर क्रियापद त्रुटित हैं। भोजन के बाद क्रिया नहीं है। बिना क्रिया के यह वाक्य अपूर्ण और अर्थहीन है। '**दुर्दशा**' के बाद भी '**कर**' क्रिया होनी चाहिए। आगे की क्रिया से इसकी सन्देहरहित सम्बद्धता नहीं बनती।

८-१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० में ''**रहते**'' क्रिया शुद्ध है द्विप्र० में ''**फिरते**'' अपक्रिया छपी है। वही अशुद्ध क्रिया सभी द्वि०सं० में है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**लड़का**'' अपप्रयोग है। '**को**' द्वितीया विभक्ति के साथ '**लड़के**' पद चाहिये—'**लड़के...को**', '**लड़का....को**' नहीं। ''**स्त्री और पुरुष**'' के स्थान पर ''**स्त्री वा पुरुष**'' चाहिये।

तब वे[१] बोलते हैं कि ''इसके शरीर में बड़ा भूत-प्रेत, भैरव वा शीतला आदि देवी आ गई है, जब तक तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे, और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा[२] वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र, जप, पुरश्चरण से झाड़के इनको निकाल दें।''

तब वे अन्धे और उसके[३] सम्बन्धी बोलते हैं कि ''महाराज! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ, परन्तु इसको[४] अच्छा कर दीजिये।''

तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त कहते हैं—''अच्छा, लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता की भेंट, और ग्रहदान कराओ।''[५] झांझ, मृदङ्ग, ढोल, थाली लेके, उसके सामने बजाते-गाते हैं और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूदके कहता है कि ''मैं इसका प्राण ही ले लूँगा।''

तब वे अन्धे उसके[६] भी पगों में पड़ के कहते हैं—''आप जो चाहें, सो लीजिये; इसको बचाइये।''

---

१. **उचित संशोधन**—मूलसं० में यहां '**वे**' से आगे ''**अन्धे**'' पद प्रयुक्त है, जो अशुद्ध है। पूर्वापर प्रयोग से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ''**अन्धे**'' अन्धभक्तों का विशेषण है, पाखण्डियों का नहीं। मुद्रणसमय द्विप्र० में इसको हटा दिया है, जो सही है।

२. **मलीदा**=चूरमा आदि उत्तम खाद्य पदार्थ और कोमल ऊनी वस्त्र अर्थात् खाने-पीने, ओढ़ने-पहरने के उत्तम और महंगे पदार्थ।

३-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उनके**'' ''**इनको**'' अपप्रयोग हैं, एक के लिए एकवचनात्मक ''**उसके**'' ''**इसको**'' प्रयोग अपेक्षित हैं। पूर्वापर में ''**इसके**'' ''**इसका**'' एकवचन ही है।

५. **ऋषि-हस्तलेख**—''**इतनी दक्षिणा.....कराओ**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

६. **भंगी, चमार आदि जातिवाचक नाम**—गत पृष्ठ की टिप्पणी संख्या '५' और इस पृष्ठ की टिप्पणी पर एक साथ विचार किया जा रहा है। पांडुलिपीय प्रमाणों से यह जानकारी मिली है कि इस प्रसंग में जातिवाचक और निम्नार्थक प्रयोग लिपिकरों द्वारा लिखते या प्रतिलिपि करते समय अपने मन से किये प्रक्षेप हैं। ये महर्षिप्रोक्त प्रयोग नहीं हो सकते, क्योंकि—

(क) मूल-हस्तलेख पर आधारित मूलप्रति संस्करण में इस प्रसंग में गत संख्यांक और इस संख्यांक पर क्रमशः ये पाठ मिलते हैं—''**उस धूर्त पाखण्डी....भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर**'' (पृ० ६५ पर संख्यांक ५ पर) और ''**उस भंगी, चमार आदि के पगों में पड़कर कहते हैं**'' (पृ० ६६ पर संख्यांक ६ पर)।

उसके बाद, प्रतिलिपिकर ने मुद्रणहस्त० और द्वितीय संस्करण में द्वितीय वाक्य में यह पाठ बदल दिया—''**उस भंगी, चमार आदि नीच के पगों में पड़ के कहते हैं**''। मुद्रणलिपिकर ने यहां ''**नीच**'' शब्द नया अपनी ओर से जोड़ दिया।

(ख) इसी प्रकार दशम समुल्लास में मूलहस्तलेख में पाठ था—''**उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और भंगी का नहीं**'' (पृ० ३७४)। इसमें कई शब्दों का परिवर्धन करके मुद्रणहस्त० और द्वितीय संस्करण में प्रतिलिपिकर ने यह पाठ बना दिया—''**उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चांडालादि, नीच भंगी, चमार आदि का न खाना**'' (द्विप्र० २६८)। ऐसे ही कई अन्य स्थानों पर गड़बड़ की है जिसका ज्ञान पाण्डुलिपि से तो होता ही है, तार्किकता के आधार पर भी उस परिवर्धन या प्रक्षेप की जानकारी मिलती है। (ये भंगी, चमार आदि बाद की मिलावट हैं, इसके ज्ञान के लिए देखिये पृ० ५०३ की टिप्पणी ८ भी)

(ग) प्रक्षेप करने का समर्थक एक और ज्वलन्त प्रमाण लीजिए। दशम समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग के प्रश्न ''**फिर क्या उनका मांस फेंक दें**'' (पृ० ५००/८) के उत्तर में महर्षि से मिलते-जुलते लेखवाले पं० ज्वालादत्त शर्मा ने एक पूरा सन्दर्भ परिवर्धित कर जोड़ दिया था जिसमें बताया गया था कि किन पशुओं का मांस खाना चाहिए और किनका नहीं। वह मूलप्रति में नहीं था। महर्षि के निरीक्षण के बाद प्रेस में डाक भेजते समय छुपकर उस मांसभक्षण विधायक संदर्भ को जोड़ा है। उस अनुच्छेद को प्रकाशन के समय में मुंशी समर्थदान ने पत्र लिखकर (देखिए, पत्र और विज्ञापन, भाग ३, पृ० ४१३ दिनांक १३.७.१८८२ का पत्र, और मीमांसा भाग में प्रक्षेप के उदाहरण) हटवाया था। जिन्होंने द्वितीय संस्करण की प्रेस-प्रति नहीं देखी है वे आज भी उसके पृ० १८३ (१८९) पर उस अनुच्छेद को कटा हुआ देख सकते हैं।

(घ) ये परिवर्तन उन कुटिल लेखकों की करतूतें हैं जो जन्मना जातिवादी विचारधारा के थे और जिन्हें महर्षि के समाजसुधारक क्रान्तिकारी विचार सर्वथा अस्वीकार्य ही नहीं अपितु असह्य लगते थे। उनकी मानसिकता को समझने के लिए पाठकों को कुछ तथ्यों की जानकारी होना आवश्यक है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (१८७५) के प्रकाशन के समय प्रतिलिपिकर्त्ताओं ने मृतक-श्राद्ध, मांस-यज्ञ, आदि के समर्थक वचन और शूद्रों तथा कन्याओं के यज्ञोपवीत के निषेध-विधायक कथन भी प्रक्षिप्त कर दिये। वह संस्करण छपकर बिकता रहा। महर्षि ने ऐसी कल्पना भी नहीं की होगी अतः उन प्रक्षेपों का पता

ही नहीं चला। ठाकुर मुकुन्दसिंह, छलेसर (अलीगढ़) ने जब उस ओर ध्यान आकर्षित किया तो महर्षि ने एक विज्ञापन के द्वारा उन स्वमन्तव्यविरुद्ध बातों का खण्डन किया था।

जातिवादी दिनेशराम नामक लेखक के उस कथन का उल्लेख उनके ग्रन्थों के इतिहास में मिलता है जो उसने कहा था कि **'मैं स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में ऐसी मिलावट कर दूंगा, जिनका कई पीढ़ियों तक पता ही नहीं चलेगा।'** (ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास : युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० ४१५)। सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण (१८८४) से ज्ञात होता है कि उसके संशोधक ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा थे, जो घोर पौराणिक थे और ऋषि के देहान्त के बाद ऋषि के आलोचक बन गये थे। उनकी करतूतों को देखकर प्रत्येक विकृति का सन्देह किया जा सकता है। ऐसे विरोधी विचारधारा के वेतनभोगी लिपिकरों से महर्षि का पाला पड़ा था। शुद्ध-हृदय लेखक महर्षि को नहीं मिल पाये, क्योंकि उस समय जातिवादी प्रभाव सबके मन में कूट-कूट कर भरा था। महर्षि ने उन लेखकों की बहुत्र निन्दा की है। उनको रखना उस समय महर्षि की विवशता थी।

उक्त वचन तथा अन्यत्र दशम समुल्लास में भी जहां-जहां **भंगी, चमार** आदि जातिवाचक शब्दों का प्रयोग है, जहां उनमें आक्रोश और घृणा की भावना झलकती दिखाई पड़ती है, और ऐसा साफ लगता है कि वे शब्द अनावश्यक रूप से बलात् डाले गये हैं। वे शब्द स्पष्टत: जन्मना जातिवादी संस्कारों के परिणाम हैं, अत: वे प्रयोग महर्षि के नहीं हो सकते, क्योंकि—

(I) गुण-कर्म-योग्यता पर आधारित वर्णव्यवस्था ही महर्षि को मान्य है। वे सर्वत्र वर्णव्यवस्था के अनुसार ही वर्णों का उल्लेख करते हैं। यहां जातियों का उल्लेख जातिवादी संस्कारों से प्रेरित है। स्पष्ट है कि ये कथन महर्षि की मान्यता के विरुद्ध हैं, अत: उनके द्वारा प्रोक्त नहीं हो सकते। 'परिचय वर्णन या आवश्यक सन्दर्भ' के बिना महर्षि केवल आक्रोश या निम्नता दिखाने के लिए जाति का उल्लेख नहीं करते हैं, यह उनकी लेखन शैली है।

यहां **''नीच''** शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह यह संकेत देता है कि वह महर्षिप्रोक्त नहीं है, क्योंकि वे शूद्र-मात्र से उसको ''नीच''=निम्न जाति नहीं मानते। देखिए, उन्होंने अपनी कितनी स्पष्ट मान्यता प्रस्तुत की है—**''जो दुष्टकर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म, दूसरा अधिक कौन-सा होगा ?''** (पृ० २२२/१०) अत: यहां नीच तथा अन्य जातिवाचक प्रयोग महर्षि की मान्यता के अनुकूल न होने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उक्त शब्द जातिवादी लिपिकर-लेखक की मिलावट हैं।

(II) जैसे आजकल भी न्यायालयों, पुलिस थानों और सरकारी व्यवहारों में जातिविवरण के बिना परिचय पूरा नहीं माना जाता, उसी प्रकार महर्षि के समय परिचय-प्रदर्शन जातिवाचक प्रयोग के द्वारा होता था। व्यवहार में प्रचलित उस परिचय पद्धति के अतिरिक्त सभी ग्रन्थों में महर्षि की यह प्रयोग शैली है कि वे अपनी ओर से कर्मणा वर्णव्यवस्था पर आधारित 'ब्राह्मण', 'शूद्र' आदि वर्ण-नामों का प्रयोग करते हैं। केवल सत्यार्थप्रकाश के कुछ स्थलों में ही ग्रन्थकार की ओर से जातिवाचक प्रयोग मिलते हैं; जो उनकी मान्यता के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। अत: वे लिपिकरों द्वारा परिवर्धित किये गये हैं, जैसे कि ऊपर परिवर्धन के कुछ प्रमाण दिये हैं, क्योंकि वे महर्षि की स्वीकृत प्रयोगशैली और मान्यता के विरुद्ध हैं।

(III) ये जातिवाचक प्रयोग इतने दुराग्रहयुक्त और मूढ़तापूर्ण हैं कि जातिवादी लेखकों को मिलाते समय आवेश में पूर्वापर प्रसंग और शब्दों का भी ध्यान नहीं रहा। और यह बात सभी स्थलों पर चरितार्थ होती है (देखिए पृ० ५०३ पर टिप्पणियां)। ध्यान दीजिये, कर्मणा वर्णव्यवस्था के अनुसार जब यहां शूद्र और म्लेच्छ शब्दों का प्रयोग हो गया तो शूद्र आदि में भंगी, चमार स्वत: परिगणित हो गये। उनका पृथक् नाम लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसी प्रकार यदि जन्मना जातिवाद को भी मानें तो शूद्र और म्लेच्छ कहने पर दोनों का इन जातियों में अन्तर्भाव हो जाता है, पृथक् कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती। स्पष्ट है कि इनके वर्ण-नाम के साथ जाति का पृथक् नाम लेकर प्रयोग विशेष दुराग्रह के कारण किया गया है जो लिपिकरों ने महर्षि द्वारा लिखाते समय और प्रतिलिपि करते समय स्वत: किया है।

(ङ) भाषा-प्रयोग—आइए, अब इस वाक्य की भाषा-संरचना पर विचार करें। व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध वाक्य रचना यह संकेत दे रही है कि ग्रन्थकार द्वारा शुद्ध वाक्य लिखवाते समय लिपिकर द्वारा दुराग्रहवश इन जातिवाचक नामों का प्रयोग कर देने के कारण वाक्य अशुद्ध बन गया। यह अशुद्धि जातिवाचक नामों में ही है। ऊपर के प्रसंग में **''पाखण्डी कहता है''** एकवचन का प्रयोग है। बाद में भी एकवचन है। ग्रन्थकार ने उसी प्रयोग शैली के अनुसार **''उसके भी पगों में''** लिखवाया होगा, किन्तु लिपिकर ने बीच में जातिवाचक शब्द डालकर 'उसके' पद को तोड़कर वाक्य बनाया—**''उस भंगी, चमार आदि के भी पगों में।''** **'उस'** प्रयोग के साथ **'भंगी, चमार आदि'** अनेक-वाचक **'आदि'** पद नहीं हो सकता और अनेकवाचक **'आदि'** प्रयोग के साथ **'उस'** यह सर्वनाम एकवचन में नहीं होता। या तो यहां **'उन....के'** होना चाहिये था, या फिर **''भंगी, चमार आदि''** पद नहीं होने चाहियें थे। **'आदि'** पद के साथ बहुवचन ही आता है। यह अशुद्ध वाक्यरचना यह संकेत देती है कि लिपिकर ने जातिवाचक प्रयोग ग्रन्थकार के बिना बोले उस वाक्य का लेखन करते समय डाले हैं और उसको **'उस'** पद का बदलना ध्यान नहीं रहा। अत: प्रोक्ता की मूलभाषा का संकेतक पद यथावत् विद्यमान रह गया। देखिए, टिप्पणी पूर्व के वाक्यों में अनेक वर्गों का उल्लेख करने के कारण **'उन'** बहुवचनात्मक सर्वनाम का प्रयोग है, जो शुद्ध है। अगली पंक्ति में **''तब वह**

तब वह धूर्त्त बोलता है—''मैं हनुमान् हूँ, लाओ मिठाई[१], तैल, सिन्दूर, सवा-मन का रोट और लाल लंगोट। मैं देवी वा भैरव हूँ, लाओ पाँच बोतल मद्य, वीस मुर्गियां[२], पाँच बकरे, मिठाई और वस्त्र।''

जब वे कहते हैं कि ''जो चाहो सो लो'', तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है। परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उसकी भेंट पाँच जूते, दण्डे, चपेटे, वा लातें मारे[३] तो उसका हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न[४] होकर भाग जाते हैं; क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है।

और जब किसी ग्रहग्रस्त, ग्रहरूप, ज्योतिर्विदाभास के पास जाके कहते हैं—''हे महाराज! इसको क्या है?''

धूर्त बोलता है'' यह वाक्य भी यह सिद्ध करता है कि यहां उसके एकवचन का प्रयोग ही सही है। '**आदि**' प्रयोग वाला मूल वाक्य होता तो वहां '**वे धूर्त बोलते हैं**' प्रयोग होता।

(च) अतिव्यस्तता और समयाभाव के कारण महर्षि का ध्यान इन बिन्दुओं पर नहीं गया जिसके कारण ये वचन पकड़े नहीं गये। कार्याधिक्य एवं अति-व्यस्तता के कारण वे लेखकों पर ही निर्भर रहे। द्वितीय संस्करण के लिए तो वे आवश्यक समय भी नहीं दे पाये थे, उसके प्रकाशन में हजारों अशुद्धियों का रह जाना इस बात का बोधक प्रबल प्रमाण है। **द्वितीय संस्करण छपा भी उन्हीं पौराणिक लेखकों की देखरेख में था। इसी कारण उस पर कई आगामी संस्करणों तक यह वाक्य छपा मिलता था—''पंडित ज्वालादत्तभीमसेनशर्म्मभ्यां संशोधितः'' (मुख पृष्ठ पर)। जिस विद्वान् ने इस वाक्य को हटाया है उसने बहुत बड़ी अदूरदर्शितापूर्ण भूल की है, क्योंकि इस वाक्य के रहते अशुद्धियों का सारा उत्तरदायित्व वेतनभोगी लेखक भीमसेन और ज्वालादत्त का था। अब प्रकाशन, व्याकरण और वर्तनी सम्बन्धी सभी सैकड़ों अशुद्धियों की जिम्मेदारी ग्रन्थकार पर आ पड़ी है। देखिये, उस व्यक्ति ने एक वाक्य को हटाकर कितना बड़ा अनर्थ कर डाला!! अपने महर्षि को अपने ही हाथों विवादों और आलोचनाओं के कटघरे में ला खड़ा किया!!**

(छ) इन प्रयोगों का षड्यन्त्र तो लिपिकरों ने किया और अपयश महर्षि को मिल रहा है जबकि ये प्रयोग महर्षि की मान्यता, शैली, लक्ष्य, प्रतिपाद्य और मूलभावना से कहीं मेल नहीं खाते। अतः उनका पाठ में न होना ही महर्षि की मान्यता के अनुकूल है क्योंकि इनमें कई तो मूल पाण्डुलिपि में ही नहीं है।

(ज) 'नीच' का अर्थ—प्रसंगवश पाठकों को यह जानना भी जरुरी है कि आज के वातावरण में '**नीच**' शब्द आते ही मस्तिष्क में उसका निन्दात्मक अर्थ उपस्थित होता है। महर्षि की भाषा में अनेकत्र जहां कहीं 'नीच' शब्द का प्रयोग हुआ है वह संस्कृत उच्च=ऊंचा का विपरीतार्थक नीच अर्थात् नीचा शब्द है। उसका निन्दात्मक अथवा अपशब्दात्मक अर्थ नहीं है किन्तु यहां नीच का निम्नार्थक में प्रयोग है। वर्ण या जाति के साथ जहां कहीं ''नीच'' शब्द आया है वहां उसका अर्थ है 'निम्न कही जाने वाली जातियां।' यह प्रयोग महर्षि अपनी ओर से नहीं करते अपितु प्रचलन के आधार पर करते हैं। जैसे डॉ० अम्बेडकर किसी को अछूत नहीं मानते किन्तु अपने साहित्य में ''**अछूत जातियाँ**'' संज्ञा का प्रयोग करते हैं। वह प्रचलन की अपेक्षा से है।

विशेष—इस विषय पर अति-विस्तृत टिप्पणी देना इस कारण आवश्यक समझा है क्योंकि यह एक संवेदनशील प्रसंग है और इसके कुछ पदों को इस संस्करण से हटाया गया है। पूर्वपठित अंशों के संस्कार पाठकों के मस्तिष्क में दृढ़मूल हो जाते हैं, चाहे वे कितने ही निरर्थक हों। नया विचार देने पर अथवा उनको हटाने पर विद्वानों में भी वे संस्कार आड़े आ जाते हैं। तब कभी-कभी विद्वान् भी नये विचार का महत्त्व स्वीकार न कर पूर्व संस्कार पर आग्रही हो जाते हैं। इसलिए तर्कों और पांडुलिपीय प्रमाणों के द्वारा प्रस्तुत विचार को विस्तार से स्पष्ट किया है। बुद्धिमान् पाठक इस प्रसंग को गम्भीरता, आग्रहरहितता और दूरदर्शितापूर्वक विचारें। इसी में सत्यार्थप्रकाश का वर्तमानकालीन और दूरगामी हित निहित है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में, मूलप्रति के पाठ ''**लाओ मिठाई**'' के स्थान पर व्यर्थ पाठान्तर ''**लाओ पक्की मिठाई**'' है, जबकि अगली ही पंक्ति में केवल ''**मिठाई**'' पद पठित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बीस संख्या के साथ ''**वीस मुर्गियां**'' बहुवचन होगा, जैसे ''**पांच बकरे**'' है। **संशोधन-पुष्टि**—बीस संख्या के बहुवचन प्रयोग देखिए—''**वीस वर्षों**'' (पृ० १३१ पर टिप्पणी ७-८ में द्रष्टव्य)।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**उसकी भेंट पांच जूता, दण्डा, वा चपेटा लात मारे**''। यहां पांच संख्या होने से सभी पदों में बहुवचन होगा। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर आदि सभी सं० में अपवाक्य है।

४. **अयोग्य लिपिकर और अपवर्तनी का संशोधन**—दोनों हस्त० में दोनों मूर्ख लिपिकरों ने इस शब्द की अपवर्तनी ''**प्रशन्न**'' लिखी है। प्रकाशित सभी सं० में संशोधित है।

तब वह कहता है[१] कि ''इसपर सूर्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति [के लिये][२] पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाय, नहीं तो बहुत पीड़ित होगा[३] और मर जाय तो भी आश्चर्य नहीं।''

उत्तर—कहिये ज्योतिर्वित्! जैसे[४] यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं, जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें?

प्रश्न—क्या जो इस[५] संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है?

उत्तर—नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिष-शास्त्र[६] झूठा है?

उत्तर—नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखा-गणितविद्या है, वह सब सच्ची; जो फल की लीला है, वह सब झूठी है।

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है?

उत्तर—हाँ, वह '**जन्मपत्र**' नहीं, किन्तु उसका नाम '**शोकपत्र**' रखना चाहिये। क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है। परन्तु वह आनन्द[७] तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुने। जब पुरोहित '**जन्मपत्र**' बनाने को कहता है तब उसके माता-पिता पुरोहित से कहते हैं—''महाराज! आप बहुत अच्छा '**जन्मपत्र**' बनाइये।'' जो धनाढ्य हो तो बहुत-सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र, और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है।

तब उसके मा-बाप आदि सुनने को ज्योतिषी[८] जी के सामने बैठके कहते हैं—''इसका '**जन्मपत्र**' अच्छा तो है?''

ज्योतिषी कहता है—''जो है सो सुना देता हूँ, इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी अच्छे

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपपाठ है—''**तब वे कहते हैं**''। एक ज्योतिषी के लिए एकवचन होगा।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**तुम इनकी शान्ति, पाठ, पूजा, दान कराओ**''। यहां '**इनकी**' के स्थान पर एक व्यक्ति के लिए '**इसकी**' पाठ शुद्ध है। 'शान्ति' के आगे पद त्रुटित रह गये हैं ''**शान्ति....कराओ**'' प्रयोग नहीं होता, अतः शान्ति के बाद '**के लिये**' पद आवश्यक हैं। सभी सं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रथम सं० में शुद्ध प्रयोग है—''**ग्रहों की शान्ति के लिये पूजा पाठ**'' (पृ० २९,३०)। वेस, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०,मूलप्रति सं० में यहां '**होगा**' क्रिया त्रुटित है—''**बहुत पीड़ित और मर जाये**''। द्विप्र० में ''**लेकर**'' मुद्रणदोष-युक्त पाठ है। द्वि० सं० में यहां '**होकर**' संशोधन किया है। '**होगा**' अधिक सार्थक पाठ है, क्योंकि यहां दो फल प्रदर्शित किये हैं—पीड़ित होना और मर जाना। द्वि०सं० के पाठ से भाव सीमित हो गया। सभी सं० में अपपाठ है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसी**'' प्रयोग अशुद्ध है। आगे ''**वैसे**'' है, उसके सम्बन्ध से ''**जैसे**'' शुद्ध है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यहां ''**यह**'' अपप्रयोग है। '**इस**' शुद्ध है। सभी सं० में अपप्रयोग है।

६,८. **अपवर्तनी का संशोधन**—द्विप्र०, उदयपुर सं० में ''**ज्योतिश्शास्त्र**'' अपवर्तनी है। इस प्रसंग में 'ज्योतिषी' की अपवर्तनी क्रमशः मूलह० में ''**ज्योत्सी**'' और मुद्रणह० में ''**ज्योतिसी**'' लिखी है। द्विप्र० द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी में संशोधित हैं। देखिए, महर्षि को ऐसे अयोग्य लिपिकरों से काम चलाना पड़ा था। ऐसे अयोग्यों से शुद्ध लेखन संभव ही नहीं है।

७. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**वह आनन्द**'' उचित परिवर्धन है।

हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान् [होना है][१]। जिस सभा में जा बैठेगा, तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्यवान् और राज्यमान्य[२] भी होगा।''

इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं—''वाह-वाह ज्योतिषी जी! आप बहुत अच्छे हो।''

ज्योतिषी जी समझते हैं कि इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि ''ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से ८ वें वर्ष में इसका मृत्यु-योग है।''

इसको सुनके माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़के शोकसागर में डूबकर, ज्योतिषी जी से कहते हैं कि ''महाराज जी! अब हम क्या करें?''

तब ज्योतिषी जी कहते हैं—''उपाय करो।''

गृहस्थ पूछता है[३]—''क्या उपाय करें?''

ज्योतिषी जी कहते हैं[४] कि ''ऐसा-ऐसा दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ। और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे, तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जायें![५]''

अनुमान शब्द इसलिये है कि जो मर जायगा तो कहेंगे, 'हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुत-सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे।' और जो बच जाय तो कहते हैं कि 'देखो! हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है! तुम्हारे[६] लड़के को बचा दिया।'

---

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**प्रतिष्ठावान्**'' पद के बाद क्रिया त्रुटित है। यहां '**होना है**' क्रिया चाहिए। उसके बिना अपूर्ण वाक्य है। वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में यह क्रियारहित अपवाक्य है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**आरोग्य**'' ''**राज्यमानी**''अपप्रयोग हैं। उपर्युक्त शुद्ध हैं।

३. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में आदेशात्मक ''**पूछे**'' क्रिया है। यहां वर्णनात्मक क्रिया चाहिए, जैसी पूर्वापर वाक्यों में है। मूल व मुद्रण हस्त० में कोष्ठक में (**गृहस्थ**) शब्द था, '**पूछे**' शोधक ने बढ़ाया है।

४-५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में पाठान्तर करके यह वाक्य बनाया है—''**ज्योतिषी जी प्रस्ताव करने लगते हैं**''। वाक्यान्त में द्वि० सं० में ''**हट जायेंगे**'' पाठ बनाया है। अनुमानयुक्त प्रयोग के सम्बन्ध से ''**हट जायें**'' पाठ ठीक है, ''**प्रस्ताव करना**'' प्रयोग असंगत है। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में है।

६. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा 'तुह्मारा' अपवर्तनी का ग्रहण**—पं० जी ने अपने संस्करण में, द्वितीय संस्करण (१८८४) की आठ सौ से अधिक त्रुटियों का उल्लेख टिप्पणियों में किया है और अनेक को मूलपाठ में संशोधित भी किया है। आश्चर्य है कि वही विद्वान् लिपिकरकृत ''**तुह्मारे, तुह्मारा, तुह्मारी**'' अशुद्ध वर्तनियों को शुद्ध मान बैठे और ग्रन्थ में मुख्यत: उन्हीं का ग्रहण कर लिया। वस्तुत:, ये हस्तलेखों में विद्यमान अन्य सैंकड़ों अपवर्तनियों के समान लिपिकरकृत अपवर्तनियां हैं। लिपिकरों ने ऐसी अशुद्धियां मिलती-जुलती वर्तनी वाले अन्य शब्दों में भी की हैं। जैसे, शुद्ध शब्द '**कुम्हार**' होता है किन्तु लिपिकर ने मुद्रणहस्तलेख पृ० २६८, २६९ पर उसको भी '**कुह्मार**' लिखा है, ऐसे ही ''**जम्हा**'' को ''**जह्मा**'' लिखा है (पृ० ३०२)।

पाठपुष्टि—कुछ स्थानों पर ''**तुम्हारे**'' शुद्ध वर्तनी भी पाई जाती है। (मुद्रणह०पृ० १९,२४, द्विप्र० ३२, ५५० आदि)। स्वयं पं० जी के सं० में कई स्थलों पर शुद्ध वर्तनी है (पृ० ३२, ५९, ४८ आदि)। पं० जी के मस्तिष्क पर लिपिकर-कृत अशुद्धि ऐसी छाई कि द्विप्र० में जहां शुद्ध वर्तनी थी पं० जी ने उसको भी अशुद्ध बना दिया (द्र०, द्विप्र० पृ० ३२, युमी पृ० ५९)। और, ऋषिलिखित पूर्व के सभी ग्रन्थों में शुद्ध वर्तनियां हैं, फिर सत्यार्थप्रकाश में अशुद्ध वर्तनियां कैसे मान्य हो सकती हैं?

यद्यपि महर्षि के समय छपे (१८८४) द्वितीय संस्करण (आधे) में दोनों प्रकार की वर्तनियाँ मिलती हैं और अन्य सभी सं० में तो शुद्ध वर्तनियां हैं तथापि पं० जी पता नहीं किस विचारप्रवाह में पांडुलिपि के रफयुग में लौट गये। पं० जी ने अपने सं० पृ० ५१ पर यह घोषणा की है कि ''**हमारा मूल पाठ सं० दो के अनुसार है**'', किन्तु इस विषय में उन्होंने द्विप्र० में प्राप्त '**तुम्हारा**', '**तुमारा**' दो प्रकार की अन्य वर्तनियों को स्वीकार क्यों नहीं किया? पं० जी ने यहां व्याकरणिक शब्दरचना पर भी विचार नहीं किया। व्याकरण की दृष्टि से इनका मूल पद '**तुम**' है, उससे '**हारा**' प्रत्यय सम्बन्ध कारक में लगकर '**तुम+हारा=तुम्हारा**'

यहाँ यह बात होनी चाहिये कि जो उनके जप-पाठ से कुछ न हो, तो दूने-तिगुने[१] रुपये उन धूर्त्तों से ले-लेने चाहियें, और बच जाय तो भी ले-लेने चाहियें; क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि ''इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं'', वैसे गृहस्थ भी कहें कि ''**यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं**''। और तीसरे, गुरु आदि भी पुण्य-दान कराके आप ले-लेते हैं, तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था।

अब रह गई शीतला और मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं। कोई कहता है कि जो हम मन्त्र पढ़के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र-यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते। उनको[२] वही उत्तर देना चाहिये कि 'क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं, और क्या तुम मरण से बच सकोगे?' तब वे कुछ भी नहीं कह पाते। और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ानेवाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना [चाहिये],[३] जैसा कि वे जगत् का उपकार करते हैं। इस काम को कभी न छोड़ना चाहिये। और [जो][४] जितनी लीला, रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं, उनको भी महापामर समझना चाहिये; इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था में ही सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तानें किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें।

और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख-प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे—'देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको, आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है; इसके रक्षण की[५] यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी[६] लोगों का सङ्ग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्मों से[७] ब्रह्मचारी लोग पृथक्

बना है, जैसे '**हम+आरा=हमारा**' बनता है। '**तुह+मारा**' कोई शब्द नहीं है। यह '**तुम**' भी संस्कृत '**त्वम्**' का तद्भव रूप है, जिसमें '**ह**' ध्वनि नहीं है। अतः ''**तुह्मारा**'' रूप तो किसी भी दृष्टि से स्वीकार्य नहीं बनता।

पं० जी अशुद्ध वर्तनियों को गुजराती का प्रयोग मान बैठे। गुजराती में तो '**तुमारा, तुमारी, तुमारे**' वर्तनियां हैं। कुछ स्थानों पर इन गुजराती वर्तनियों का प्रयोग भी हुआ है (द्विप्र० पृ० ३१८/१, ४७३/२०, ४९४/२४)।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवर्तनी**—द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**दूने-तिगुणे**'' अव्यवस्थित वर्तनी है। यह ''**दूने-तिगुने**'' उपयुक्त है। मूलहस्त० में शुद्ध है, मुद्रणहस्त० के लिपिकर ने वर्तनी को बिगाड़ा है। मूलप्रति सं० में द्वि०सं० की अपवर्तनी गृहीत है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**उनसे**'' अपप्रयोग है। द्वि० सं० में ''**उनको**'' संशोधित है, जो शुद्ध है।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—तीनों सं० में '**चाहिये**' क्रिया त्रुटित है।

४. **त्रुटित पद**—तीनों सं० में '**जो**' पद त्रुटित है। आगे '**उनको**' प्रयोग के सम्बन्ध से '**जो**' आवश्यक है।

५. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**इसके रक्षण में यह रीति है**'' अपपाठ है। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**रक्षण की**'' शुद्ध है। उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**विषयिलोगों**'' अपवर्तनी है। मूलप्रति सं०, वेस, भद, जग, जस, उदयपुर में हिन्दी व्याकरणानुसार शुद्ध है; युमी, विस में अशुद्ध है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कर्म से**'' अपपाठ है, ''**आदि**'' पद के सम्बन्ध से ''**कर्मों से**'' बहुवचन होना

रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण-विद्या को प्राप्त करते हैं, वैसे तुम भी रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण-विद्या को प्राप्त करना[१]। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महाकुलक्षणी और उसको प्रमेह रोग भी होता है। वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि [होकर][२] उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।[३] जो तुम सुशिक्षा, विद्या के ग्रहण और वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तब[४] तक तुमको विद्या का ग्रहण [करना][५] और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये।'

इसी प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें, इसीलिये "**मातृमान् पितृमान्**" शब्दों[६] का ग्रहण उक्त वचन में किया है। अर्थात् जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे[७] वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९मे वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके **आचार्यकुल**[८] में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् [पुरुष] और पूर्ण विदुषी स्त्रियां शिक्षा और विद्यादान करनेवाले हों, वहाँ लड़कों और लड़कियों को भेज दें।[९] और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना,[१०] विद्याभ्यास के लिये

चाहिए। **संशोधन-पुष्टि**—"**वेदादि शास्त्रों**" (पृ० ९८/१, २४५/२२, २४७/२ आदि) ग्रन्थ में अधिकतर शुद्ध प्रयोग हैं।

१. **दृष्टि विचलन के रोगी मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से पाठत्रुटि**—मुद्रणलिपिकर की दृष्टि प्रमादवश फिर विचलित हो गई और उसने पाठ का फिर घोटाला कर दिया! एक वाक्य में आये दो "**पूर्ण विद्या को प्राप्त**" शब्दों को देखकर उसने यह अपूर्ण पाठ बनाया—"**पूर्ण विद्या को प्राप्त करना।**" दोनों के बीच का यह सारा पाठ वह छोड़ गया—"**करते हैं, वैसे तुम भी रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त**"। पुराने ब्रह्मचारियों का उदाहरण देने के लिए "**जैसे**" पद से जो प्रसंग महर्षि ने शुरू किया था वह "**वैसे**" पद के द्वारा पूर्ण होना था। वह पाठांश अब त्रुटित रह गया, अतः वह प्रतिपाद्य उदाहरण भी अपूर्ण रह गया। शोधक का ध्यान इस पाठत्रुटि पर इस कारण नहीं गया क्योंकि वाक्य की संगति उसको ठीक लगी। वही अशुद्ध, अपूर्ण और त्रुटित पाठ द्विप्र० और द्वि० सं० में छपता आ रहा है क्योंकि आज भी द्वि०सं० में इस अनुच्छेद में प्रयुक्त "**जैसे**" पद से "**प्राप्त होवें**" अन्तिम क्रियाओं की संगति नहीं बनती। यहां मूलहस्त० और मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। अन्य वेस, भद, युमी, विस, जग, जस आदि सभी द्वि०सं० तथा उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया से भ्रष्टपाठ**—दोनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत क्रिया त्रुटित रह गई है। इसके बिना दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह भ्रष्टपाठ है—"**वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह....पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।**" उपर्युक्त संशोधन परमावश्यक है। अन्य सभी सं० तथा उदयपुर सं० में भी यह भ्रष्टपाठ है।

३. **ऋषि-हस्तलेख**—"**जिसके शरीर में.....हो जाता है।**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तभी**" अपप्रयोग है। पूर्वोक्त '**जब**' के सम्बन्ध से '**तब**' शुद्ध है।

५. **त्रुटित क्रिया**—तीनों सं० में '**करना**' क्रिया त्रुटित रह गई है। इसके बिना उपयुक्त वाक्यरचना नहीं होती।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**शब्द**" पद एकवचनान्त है, बहुवचन अपेक्षित है।

७. **मुद्रणलिपिकर कृत अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**६ वर्ष से**" अपपाठ है। मूलह० में "**५वें वर्ष से**" अपपाठ है। मूलप्रति सं० में "**६ठे वर्ष से**" शुद्ध कर दिया है। वेस, भद, युमी में संशोधित है, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित अक्षर**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां '**आर्यकुल**' अपप्रयोग है। मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश बीच का '**चा**' अक्षर छोड़ दिया। **पाठपुष्टि**—मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में "**आचार्यकुल**" शुद्ध प्रयोग है। शिक्षा प्रसंग में शुद्ध '**आचार्यकुल**' प्रयोग पृ० ७९/४, ८१/१६, ९५/२ में भी द्रष्टव्य है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

९. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में कई संशोधन अपेक्षित हैं, जैसे—"**पूर्ण विद्वान्**" के बाद "**पुरुष**" पद त्रुटित है। "**विदुषी स्त्री**" के समान "**विद्वान् पुरुष**" प्रयोग अपेक्षित है। "**स्त्री**" एकवचन अपप्रयोग है। "**विद्यादान करनेवाली**" अपप्रयोग है। "**लड़के**" के स्थान पर शुद्ध प्रयोग "**लड़कों**" चाहिए। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर आदि सभी सं० में ये अपप्रयोग हैं।

१०. **शूद्र का घर में उपनयन न करने का कारण**—इस सन्दर्भ में महर्षि ने द्विजों को आरम्भ में अपने घर में ही बालक-बालिकाओं का प्रथम उपनयन करने का निर्देश दिया है। इसका कारण यह है कि माता-पिता द्वारा पांचवें वर्ष से सन्तान की शिक्षा आरम्भ

गुरुकुल में भेज दें। उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न[१] कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना[२] ही करते रहते हैं। इसमें '**व्याकरण महाभाष्य**' का प्रमाण है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥ [व्या० म० ८।१।८]॥

अर्थ—जो माता, पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिलाके नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। **परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें।**

जैसे अन्य शिक्षा की, वैसे[३] चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक-द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें। क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके[४] सामने एक वार चोरी, जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके[५] सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती। **जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करनेवाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करे,[६] उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिये,** अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'मैं तुमसे[७] वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूँगा, वा मिलना, अथवा

की जाती है जिसमें व्यावहारिक शिक्षा के साथ वेद-मन्त्रों और श्लोकों आदि को स्मरण कराने का विधान महर्षि ने आगामी पृष्ठों में (पृ० ७६) किया है। वेदाध्ययन और शिक्षा से पूर्व उपनयन आवश्यक होता था अतः यह विधान किया है।

शूद्र, दस्यु आदि वर्णबाह्य लोग विधिवत् शिक्षित न होने के कारण वैदिक संस्कारों की विधि के विशेषज्ञ नहीं होते, अतः न तो वे संस्कार कराने में सक्षम होते हैं और न उन्हें उनके कराने का वैधानिक अधिकार ही प्राप्त होता है। इस कारण शूद्रों के लिए निर्देश है कि वे अपने सन्तानों को आचार्यकुल में भेजकर उपनयन करायें। आज के शासन में भी यह व्यवस्था है कि जिसने जो सब विधिवत् शिक्षा प्राप्त नहीं की होती उसे उस सम्बन्धी व्यवसाय, व्यापार आदि की अनुमति नहीं मिलती; जैसे अध्यापक, सेनाधिकारी, वकील, डॉक्टर, आदि को। शूद्रादि जन अपने सन्तानों को गुरुकुल में भेजकर किसी भी इच्छित वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं। शिक्षा प्राप्त करने के बाद सन्तान उसी वर्ण की कहलायेगी जिसकी शिक्षा वह प्राप्त करेगी, पिता-माता चाहे किसी कुल के हों। वैदिक वर्णव्यवस्था का यही यथार्थ स्वरूप है। उसमें कोई वर्ण जन्म के आधार पर नहीं माना जाता।

यहां '**शूद्रादि**' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है, क्योंकि '**शूद्रादि**' प्रयोग से शूद्र के साथ दस्यु आदि वर्णबाह्य लोगों का ग्रहण भी होता है। महर्षि दयानन्द वेदादि पढ़ने का अधिकार मानव-मात्र का मानते हैं। यह तर्कसंगत भी है, क्योंकि यदि वे वेद नहीं पढ़ेंगे तो आर्य कैसे बनेंगे? इस कारण ऋषियों ने मानवमात्र को वेदादिशास्त्रों को पढ़ने का अधिकार दिया है। अन्यथा वेद का "**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**" (ऋग्० ९.६३.५) आदेश कैसे पूर्ण हो सकेगा? (द्र०पृ० १३९ की टिप्पणी)।

१-२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मुद्रणहस्त० और द्वितीय संस्करण में "**लाड़न**" और "**ताड़ना**" पदों में '**ड़**' का प्रयोग है। मूलहस्त० और मूल सं० में कुछ पदों में "**ड़**" का तो कुछ में '**ड**' का प्रयोग है, तदनुसार यह अव्यवस्था तीनों सं० में भी है। संस्कृत में 'ड' का प्रयोग होता है किन्तु हिन्दी में '**ड़**' वर्तनी भी प्रचलित है; अतः भाषात्मक एकरूपता के लिए '**ड़**' ही ग्राह्य आनी है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसी**", "**वैसी**" अपपाठ है। द्वि०सं० और मूल सं० "**जैसे**", "**वैसी**" अर्ध संशोधन है। "**जैसे**" के साथ "**वैसे**" प्रयोग शुद्ध है। श्लोकार्थ में "**विष**" "**भ्रष्ट**" पद शब्द मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित हैं।

४-५. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**जिनके**" "**उनके**" अपप्रयोग हैं। ये अपराध बहुतों के समक्ष नहीं होते अतः एकवचनात्मक प्रयोग अपेक्षित हैं। द्वि० सं० में संशोधन कर दिया है।

६-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसी प्रतिज्ञा करनी**" अपप्रयोग है, "**जैसी प्रतिज्ञा करे**" शुद्ध है। "**मैं**

अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूँगा', उसको[८] वैसे ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीति कोई भी न करेगा। इसलिये सदा[१] सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये।

किसी को अभिमान करना योग्य नहीं,[२] क्योंकि—

"अभिमानः श्रियं हन्ति" यह किसी कवि का वचन है [महाभारत, अनु० ३६।१७]॥

=जो अभिमान अर्थात् अहङ्कार है, वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है, इसलिये अभिमान करना[३] न चाहिये।

छल-कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी! '**छल**' और '**कपट**' उसको कहते हैं, जो भीतर और, [तथा] बाहर और [हो तथा][४] दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। '**कृतघ्नता**' उसको कहते हैं कि 'किसी के किये हुए उपकार को न मानना।' **क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले** और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिये उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे। उनके सामने उठकर [उनके पास] जाके प्रथम नमस्ते कहे। [उनको] उच्चासन पर बैठावे;[५] उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान पर[६] बैठे, जैसी अपनी योग्यता हो, और दूसरा कोई

तुमको" के स्थान पर "**मैं तुमसे**" पाठ उपयुक्त है जैसे अगला "**तुम मुझ से**" है। "**इसको**" के स्थान "**उसको**" शुद्ध है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ परिवर्धन**—मुद्रणहस्तलेख में, और तदनुसार द्विप्र०, द्वि० सं० में पाठ परिवर्धन करके यह अनावश्यक और अप्रासंगिक वाक्य बनाया है—"**इसलिये सदा सत्यभाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये।**" यहां "**सत्यभाषण और**" अनावश्यक परिवर्धन है, क्योंकि सत्यप्रतिज्ञायुक्त तो वही होगा जो सत्यभाषण करेगा। दोनों पदों में एक ही बात की पुनरुक्ति है। यहां प्रसंग भी सत्यप्रतिज्ञा करने का है, इस आधार पर भी '**सत्यभाषण**' पद-परिवर्धन की कोई प्रासंगिकता नहीं है। मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ उचित है, मुद्रणलिपिकर का पाठ नहीं।

२. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से फिर पाठ त्रुटित**—द्वितीय संस्करण (१८८४) में मूलह० का यह पाठ—"**करना योग्य नहीं..... अभिमान करना**" तक त्रुटित रह गया है। द्विप्र० और द्वि०सं०, और परोप० ३-३३ सं० तक त्रुटित ही छपता रहा। जब किसी सम्पादक की नींद टूटी और इस त्रुटित पाठ पर ध्यान गया तो ३४वें सं० में इसको जोड़ा गया। यह पाठ वेस व जग में त्रुटित है। युमी, विस, जस, भद, उदयपुर सं० आदि में महर्षिप्रोक्त मूलह० का यह पाठ ग्रहण कर लिया है।

यह त्रुटि मुद्रणप्रति के लिपिकर के घोर प्रमाद से हुई है। मूलहस्तलेख से प्रतिलिपि करते हुए असावधानीवश उसने त्रुटिपूर्ण यह पाठ लिखा—"**किसी को अभिमान चाहिये**"। इस भ्रष्टपाठ पर मुद्रण-समय शोधक का ध्यान गया तो उसने अनुमान से इसे सुधारा—"**किसी को अभिमान न चाहिये**"। द्वि०सं० में यही अपूर्ण पाठ और अपवाक्य ३३वें सं० तक छपता रहा। किसी सम्पादक ने मूलपाठ देखने का कष्ट नहीं किया। पाठक स्वयं देखें कि सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन के सम्बन्ध में आदि-सम्पादकों **ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा** से लेकर आज तक के आर्य सम्पादकों में कितनी अगम्भीरता रही है।

३. **अपसंशोधन**—परोप० ३-३३, द्वि०सं०, भद, युमी, उदयपुर सं० में "**अभिमानः श्रियं हन्ति**" उद्धरण को 'विदुरनीति' का वचन लिखा है। यह महाभारत के अनुशासन पर्व का वचन है। मूलह० में "**यह मनुस्मृति का वचन है**" ऐसा अशुद्ध उल्लेख है। मूलसं० में इसके स्थान पर संशोधन करके "**यह किसी कवि का वचन है**" पाठ निर्मित कर दिया है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में अर्थ की स्पष्टता के लिए यह पाठ अधिक उपयुक्त है—"**जो भीतर और, तथा बाहर और हो, तथा दूसरे को.....**"। सभी सं० में यह त्रुटित एवं अपूर्ण पाठ है।

५. **अपपाठ**—तीनों ही सं० में यह वाक्य अस्तव्यस्त, अपूर्ण एवं अस्पष्ट है—"**बड़ों को मान्य दे, उठकर जाके उच्चासन पर बैठावे, प्रथम नमस्ते कहे।**" स्पष्टार्थ और क्रम-बद्धता के लिए प्रस्तुत सं० में संशोधित-परिवर्धित पाठ ग्रहण करना आवश्यक है। सभी अन्य सं० में यह अस्त-व्यस्त पाठ है। **पाठ-पुष्टि**—प्रथम सं० में क्रमसंगत पाठ है—"**उसको पहिले ही नमस्कार करै और नीच आसन में बैठे**" (पृ० ३४)।

६. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में यहां "**स्थान में**" अपप्रयोग है। शुद्ध प्रयोग '**स्थान पर**' होगा।

न उठावे। विरोध किसी से न करे। प्रसन्न[१] होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का सङ्ग और दुष्टों का त्याग [करे][२]। **अपने माता, पिता और आचार्य की तन, मन से सेवा करे।[३]**

"यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥"

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[४] [१।११]॥

इसका यह अभिप्राय है कि माता, पिता, आचार्य अपने सन्तानों और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि 'जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन-उनका ग्रहण करो और जो-जो दुष्ट कर्म हों, उन-उनका[५] त्याग कर दिया करो।' जो-जो सत्य जानें, उन-उन का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी, दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस-उसका पालन करें।[६] जो-जो[७], माता-पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत भ्रष्टपाठ**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**प्रसन्न होकर**" के स्थान पर "**सम्पन्न होकर**" भ्रष्ट पाठ प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय लिखा है जिसकी इस प्रकरण में कोई संगति नहीं है। मूल हस्तलेख और मूलप्रति सं० का पाठ शुद्ध है। वेस, जग, युमी, विस में भ्रष्टपाठ है तथा भद, जस, उदयपुर सं० में संशोधित कर लिया है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—तीनों सं० में "**करे**" क्रिया त्रुटित रह गई है। इस क्रिया के बिना यह वाक्य पूर्ण नहीं होता।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अविचारित परिवर्तन**—यहां ग्रन्थकार द्वारा संकलित '**बालशिक्षा**' का प्रकरण है (पृ० ७७/४) और ये प्रारम्भिक अवस्था वाले बालकों के लिए निर्देश हैं। मुद्रणहस्तलेख का अयोग्य लिपिकर और द्विप्र०, द्वि०सं० का संशोधक इस महर्षिप्रोक्त पाठ-गाम्भीर्य और कथन की पृष्ठभूमि को भलीभांति नहीं समझ पाये। लिपिकर ने गुरुडमवादी पौराणिक संस्कारों के कारण इस वाक्य का अशुद्ध यह परिवर्तन कर डाला—"**आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम-उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे।**" वह लिपिकर भूल गया कि यह बालक के गृहवास या गुरुकुलवास का प्रकरण है। छोटा बालक माता-पिता और आचार्य की धन से सेवा कैसे करेगा? वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम व्यवस्था में भिक्षा मांगकर नि:शुल्क पढ़नेवाले ब्रह्मचारी के पास धन नहीं होता, उत्तम-उत्तम पदार्थ नहीं होते, उसका तपस्वी जीवन होता है, भिक्षा भी पहले गुरु को समर्पित करके पुन: भोजन किया जाता है, वह आचार्य के लिए धन और उत्तम-उत्तम पदार्थ कहां से लायेगा? वैदिक गुरुकुल में तो शिक्षण शुल्क भी नहीं देना होता, गुरुदक्षिणा भी बाद में ही देने का विधान है (पृ० १०४/२)। यही कारण है कि केवल 'समावर्तन' संस्कार के अवसर पर ही गुरु को दक्षिणा देने का विधान है (१४५/१२)। मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त कथन बहुत ही विचारित और सटीक है। मुद्रणलिपिकर का संशोधन विचारहीनता से युक्त है।

पाठ-पुष्टि—समु० ११, पृ० ५९३/१३ में भी मूलह० में महर्षिप्रोक्त वाक्य था—"**आचार्य जो विद्या देने वाला है, उसकी तन-मन से सेवा करनी।**" मुद्रणलिपिकर ने वहां भी "**तन-मन-धन से सेवा करनी**" प्रसंगविरुद्ध पाठ बनाया है। जबकि यह निर्देश "**आचार्य उपनयमानो**", "**ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**" (अथर्व० ११.५.३, १७) प्रमाण उद्धृत करके उसके प्रसंग में है। उपनीत बालक धन से सेवा नहीं कर सकता। पृ० ४८२/४ पर भी यह प्रमाण है वहां तथा पृ० १०४/७ पर भी केवल "**सेवा करना**" पाठ है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने भी इस परिवर्धित पाठ का समर्थन किया है किन्तु ग्रन्थकार द्वारा संकेतिक प्रकरण के संदर्भ में विचार करने पर इस प्रसंगविरुद्ध पाठ से सहमत नहीं हुआ जा सकता। डॉ० साहब ने पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन किये बिना यह विचार दिया है। यदि उन्हें मुद्रणलिपिकर द्वारा स्वच्छन्द रूप से बदले पाठों का आभास होता तो वे यह विचार न देते।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**यह तैत्ति०**" लिखा है। क्रियाहीन इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में शुद्ध एवं पूर्णवाक्य है। मुद्रणहस्त० के लिपिकर ने यह पाठ अपूर्ण छोड़ा है, यह व्यर्थ पाठान्तर है। इस प्रकार करने से ग्रन्थ में अव्यवस्था, अमानकता बढ़ती है।

५. **अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उनका**" पद उपयुक्त नहीं है, "**उन-उनका**" मूलप्रति का पाठ उपयुक्त है। "**जो-जो**" प्रयोग के साथ "**उन-उन का**" प्रयोग ही होना शुद्ध है। पूर्वापर वाक्यों में सर्वत्र "**उन-उनका**" प्रयोग है।

६. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रण-हस्तलेख, द्विप्र० और द्वि० सं० में, मूलहस्त० के इस वाक्य को, संशोधन के नाम पर भ्रष्ट कर दिया है—"**माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस-उसका यथेष्ट पालन करो।**" "**करो**" परिवर्तन भी अशुद्ध है। '**यथेष्ट**' का अर्थ है—'**अपनी इच्छा या मन के अनुसार, जैसी इच्छा हो उसके अनुसार।**' परिवर्तित पाठ का अर्थ

श्लोक, '**निघण्टु**', '**निरुक्त**', '**अष्टाध्यायी**' अथवा अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उनका अर्थ विद्यार्थियों को पुनः[-पुनः] विदित करावें। **जैसे 'प्रथम समुल्लास' में परमेश्वर का व्याख्यान किया है,** उसी प्रकार मानके, उसकी उपासना करें। जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन-छादन और व्यवहार करें-करावें अर्थात् **जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य, मांसादि के सेवन से अलग रहैं**[१]। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें, क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख [हो सकता है][२], और जो तैरना[३] न जाने तो डूब ही जा सकता है—

"**नाविज्ञाते जलाशये**" यह मनुस्मृति का वचन है[४] [४।१२९]॥

=अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ यह मनुस्मृति का वचन है[५] [६।४६]॥

अर्थ—नीचे दृष्टि कर, ऊँचे-नीचे स्थान को देखके चले, वस्त्र से छानके जल पीये,[६] सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।

न शोभते[७] **सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥** यह किसी कवि का वचन है [चा० नी० २।११]॥

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण शत्रु हैं[८] जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई। वे

हुआ कि ब्रह्मचारी मनमानी करे, आज्ञा-पालन करे या न करे। वस्तुतः यह पद महर्षिप्रोक्त नहीं है, इस कारण मूलहस्तलेख में नहीं है। यह मुद्रण-प्रतिलिपि करते समय लिपिकर ने अपनी ओर से जोड़ा है। महर्षि ने सर्वत्र कर्त्ता के लिए ही '**यथेष्ट**' पद का प्रयोग किया है, महर्षि की शैली देखिए—"**तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें**" (पृ० ११/४), "**यथेष्ट मेवे खावेंगे**" (पृ० १०२९/१०), "**यथेष्टाचार करें**" (पृ० ९८०/१४) "**दूध...यथेष्ट मिलता है।**" (९ समु० पृ० ४६१/२०) आदि। कोई इसके अर्थ के लिए खींचातानी करे, उससे पूर्व वह यह ध्यान करले कि यह पद "**पालन करें**" का क्रिया विशेषण है, माता-पिता की आज्ञा के लिए नहीं। ऐसे भ्रष्ट पाठ पर इतने वर्षों तक द्वितीय संस्करणों के विद्वान् सम्पादकों ने ध्यान नहीं दिया, यह सत्यार्थप्रकाश के प्रति उनके अगम्भीर चिन्तन का द्योतक है। यहां महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि में भी मुद्रणलिपिकर-कृत भ्रष्ट पाठ है, जो अग्राह्य है।

७. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में "**जैसे**" अपप्रयोग है। प्रयुक्त "**उन-उनका**" के सम्बन्ध से यहां "**जो-जो**" शुद्ध होगा।

१. **अप क्रिया-वर्तनी**—ग्रन्थ में तत्कालीन स्वीकृत वर्तनी "**रहैं**" है। यहां '**रहें**' मानकता की दृष्टि से उपयुक्त वर्तनी नहीं है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—तीनों सं० में यह बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ '**हो सकता है**' त्रुटित रह गया है। इसका परिवर्धन अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके बिना यह वाक्य ही पूर्ण नहीं होता।

३. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में "**तरना**" अपप्रयोग है, सकर्मक धातु के रूप में "**तैरना**" शुद्ध प्रयोग है। हिन्दी में '**तरना**' प्रयोग अकर्मक क्रिया के रूप में होता है जैसे—'**तर गये**' अर्थात् '**मुक्त हो गये**' आदि।

४-५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर एवं त्रुटित क्रिया**—मूलह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संख्यांक ४ के वाक्य में क्रिया "**है**" त्रुटित है। उक्त वाक्यों के स्थान पर मुद्रणह० में "**मनु०**" व्यर्थ पाठान्तर है, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**मनु**" अशुद्ध पाठ है।

६-७. **अपवर्तनी एवं अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा अन्य सभी में "**पिये**" अशुद्ध वर्तनी है। यह लिपिकरों की अयोग्यता का परिणाम है। दोनों हस्तलेखों में "**सभामध्ये न शोभन्ते**" अपपाठ है। मुद्रण-समय द्विप्र० में शोधक द्वारा उपर्युक्त पाठ शुद्ध किया गया है। मूलप्रति सं० में वहीं से यह शुद्ध पाठ ग्रहण किया गया है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**वैरी**" संस्कृत पद का महर्षिप्रोक्त "**शत्रु हैं कि**" सुन्दर-सार्थक साहित्यिक पाठ है। मुद्रणहस्त० में मुद्रणलिपिकर ने बदलकर "**वैरी हैं**" कर दिया। यही शिथिल पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में है। यह नितान्त व्यर्थ परिवर्तन क्यों किया, मुद्रणह० के लिपिकर या द्विप्र०, द्वि०सं० के संशोधक शर्माद्वय ही बता सकते हैं!

[सन्तान][१] विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं[२] जैसे कि हंसों के बीच में बगुला। **यही माता-पिता का कर्त्तव्यकर्म, परमधर्म और कीर्त्ति का काम है कि जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से[३] विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना।**

यह बालशिक्षा [के विषय] में थोड़ा-सा लिखा, इतने से ही बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।[४]

[आगे तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन-अध्यापन का प्रकार लिखा जायगा][५]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये[६]

द्वितीयः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ २॥[७]

वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में यही व्यर्थ पाठान्तर है।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में यहां '**सन्तान**' पद का परिवर्धन अर्थ की स्पष्टता के लिए परमावश्यक है। अन्यथा, इस वाक्य के "**वे**" सर्वनाम का सम्बन्ध पूर्ववाक्य के "**वे**" से जुड़कर अर्थ में सन्देह उत्पन्न करता है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**कि**" योजक अनावश्यक है। द्वि० सं० में इसे हटा दिया है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणह० में "**से**" कारक प्रत्यय त्रुटित है जिसके कारण द्विप्र० में भी त्रुटित है। इससे वाक्य का अनर्थ हो गया है। कोई माता-पिता सन्तानों को तन-मन से युक्त कैसे कर सकता है? अब सभी द्वि०सं० में इसको ग्रहण कर लिया है। मूलह०, मूलसं० में यह शुद्ध पाठ है।

४. **ऋषिहस्तलेख एवं त्रुटित आवश्यक पद**—मूलह० में यह वाक्य नहीं है। मूल सं० में मुद्रणह० से लिया है। तीनों सं० में इस वाक्य के कोष्ठान्तर्गत पद त्रुटित हैं। उनके बिना वाक्य की संगति भी टूट गई है, प्रयोग अर्थहीन हो गया है क्योंकि "**बालशिक्षा में**" यह त्रुटित पाठ है। संस्कृत के समाप्तिवाक्य में स्पष्टतः "**विषय**" पद है। इसी प्रकार प्रथम समु० के अन्त में विषयसंकेतक वाक्य में भी "**शिक्षा के विषय में**" पाठ है। "**यह बालशिक्षा.....लेंगे**" मुद्रणह० में ऋषि-हस्तलेख में है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—महर्षि की स्थापित शास्त्रीय लेखन-शैली के अनुसार यहां तीनों सं० में अग्रिम समुल्लास के विषय का संकेतक वाक्य त्रुटित रह गया है। उसको यहां कोष्ठक में दे दिया है। इस प्रकार का कार्य आदि-सम्पादकों के दायित्व के अन्तर्गत आता है, जो उन्होंने निष्ठापूर्वक नहीं निभाया।

६. **पाठान्तर और पाठ ग्रहण**—दोनों हस्तलेखों में "**सुभूषिते**" के स्थान पर '**विरचिते**' पाठ है। दोनों ही हस्त० में "**बालशिक्षाविषये**" पाठ नहीं है। मुद्रणहस्त० में शोधक ने दोनों का संशोधन किया है। वही पाठ द्विप्र०, द्वि० सं० में प्रचलित है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति और द्वितीय सं० से यह पाठ ग्रहण किया गया है, जो ग्राह्य है।

७. **लिपिकरों की अयोग्यता**—सत्यार्थप्रकाश को लिखने के लिए महर्षि को कैसे अयोग्य लिपिकर मिले थे, इस विषय पर प्रारम्भ में '**सत्यार्थप्रकाश मीमांसा**' में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। प्रसंगवश, पाठकों की जानकारी के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है। महर्षि द्वारा बोलकर द्वितीय समुल्लास पूरा लिखाने के बाद अन्त में मूलहस्तलेख के लिपिकर ने यह अशुद्ध वाक्य लिखा है—"**इति....द्वितीय समुल्लासः सम्पूर्णम्**"। मुद्रणलिपिकर ने भी प्रतिलिपि करते समय इसको ज्यों का त्यों अशुद्ध ही लिखा है जबकि वह भाषा-संशोधन के नाम पर स्थान-स्थान पर स्वच्छन्दतापूर्वक, अनावश्यक रूप से भाषा को बदलता चला है। बाद में मुद्रणहस्तलेख में शोधक ने इसको काटकर "**समुल्लासः सम्पूर्णः**" ठीक किया है।

—०—

अथ तृतीयसमुल्लासारम्भः[१]

अथाऽध्ययनाऽध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः ॥

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखेंगे।[२]

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव-रूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोना, चांदी, हीरा, माणिक, मोती, मूँगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता; क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि [का][३] भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालक-आदिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥[४]

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर-शील-स्वभावयुक्त, सत्यभाषणादि नियमपालनयुक्त, और जो अभिमान-अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता[५] के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी-जनों के दुःखों को[६] दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रत[७] हैं, वे नर और नारी धन्य हैं। विना इनके किसी को शोभा प्राप्त नहीं होती।[८]

---

१. **विषयसंकेतक वाक्य और पाठग्रहण**—मूलहस्तलेख में "**अथ तृतीयसमुल्लासारम्भः**" शीर्षक नहीं है। मूलप्रति सं० में मुद्रणह० से ग्रहण कर लिया है। पाठक यह भी ध्यान दें कि यहां विषयारम्भ-संकेतकवाक्य संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में है। यह प्रौढ आर्ष लेखनशैली है, जिसको बहुत्र लिपिकरों और आदि-सम्पादकों ने प्रमादवश छोड़ दिया है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने, मूलप्रति के उपर्युक्त पाठ के स्थान पर "**प्रकार लिखते हैं**" व्यर्थ और अशुद्ध पाठान्तर किया है।

३. **मुद्रणप्रति में अपपाठ एवं त्रुटित आवश्यक पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में '**विषयाशक्ति**' अपवर्तनी है। मुद्रणप्रति में "**सोने-चांदी**", "**धारण करने**" अपपाठ बनाये हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**का**' पद त्रुटित है।

४. **ऋषिकृत श्लोक एवं पाठ**—मूलहस्तलेख में यह श्लोक ऋषि ने अपने हस्तलेख से लिखा है। यह ऋषि की अपनी रचना है। "**जिन पुरुषों का मन.....प्राप्त नहीं होती**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

५. **अप-वर्तनी एवं त्रुटित पद**—दोनों हस्त० तथा सभी सं० में यहां '**मलीनता**' अपवर्तनी है। ग्रन्थ में बहुत्र शुद्ध '**मलिनता**' वर्तनी भी मिलती है। भाषागत एकरूपता, मानकता की दृष्टि से एक वर्तनी अपेक्षित है। द्वि०सं० में "**अन्य की मलीनता**" में "**की**" पद त्रुटित होने से अपूर्ण पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—"**मलिनता**" (पृ० ४५४/३ में) शुद्ध प्रयोग है।

६. **द्वितीय सं० में अपसंशोधन**—मुद्रणहस्त० में '**को**' शुद्ध प्रत्यय है। द्वि०सं०, मूलहस्त० तथा मूलसं० में '**के**' अशुद्ध है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह० तथा तीनों सं० में '**रत**' पद त्रुटित है। मूलह० में है।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से महर्षि के हस्तलेख में लिखा पाठ भी त्रुटित**—लिपिकर की प्रमादलीला से "**बिना इसके.....नहीं होती**" पूरा वाक्य मुद्रणप्रति, द्विप्र० तथा अब तक के द्वि०सं० में त्रुटित है। इसको मूलहस्त० में महर्षि दयानन्द ने अपने हाथ से लिखा है। इस पंक्ति में "**इसके**" पद के स्थान पर "**इनके**" बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है। यह वाक्य वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में भी त्रुटित है। आश्चर्य है, उदयपुर सं० ने महर्षि के हाथ का लिखा वाक्य भी ग्रहण नहीं किया!

इसलिये आठ वर्ष[१] के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला[२] में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्रियां[३] दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें; किन्तु जो पूर्णविद्या-युक्त, धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। **द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य [यज्ञोपवीत] संस्कार[४] करके, यथोक्त आचार्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।**

---

१. **गुरुकुल में प्रवेश की आयु आठ वर्ष ही क्यों ?**—मनुस्मृति में गुरुकुल में प्रवेश की आयु के तीन विधान दिये हैं १. शिक्षा में प्रवीणता प्राप्त करने वालों के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों की प्रवेश-आयु क्रमशः है—पांच, छह और आठ वर्ष। पृ० ९३, पंक्ति आठ में विकल्प से पांच या आठ वर्ष की प्रवेश-आयु का कथन है। २. सामान्यतः शिक्षाप्राप्त करने वालों के लिए क्रमशः प्रवेश की आयु है—सात, दस, ग्यारह वर्ष। ३. अन्तिम प्रवेश-आयु सीमा क्रमशः तीनों वर्णों के लिए है—सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष। महर्षि ने प्रथम विधान की अन्तिम आयु सीमा आठ वर्ष को औसत प्रवेश-आयु सीमा माना है। इसका दूसरा कारण है—सामान्यतः, माता पांच वर्ष तक बालकों को शिक्षा देती है, फिर आठ वर्ष तक पिता शिक्षा देता है, उसके बाद आचार्य शिक्षक होता है। अतः आठ वर्ष का होते ही बालक को गुरुकुल में अवश्य भेज देना चाहिए जिससे निरन्तर उसका शिक्षाक्रम चलता रहे। पांच से आठ वर्ष तक की आयुसीमा बालकों की शिक्षा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त सीमा है। इस आयु में बालकों में संस्कार और विद्या की ग्रहणशक्ति, रुचि एवं एकाग्रता अधिकतम होती है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

२. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और सभी सं० में यहां ''**शाला**'' अपूर्ण संज्ञा का प्रयोग है। स्पष्टता की दृष्टि से पूर्णसंज्ञा होनी उचित है। आगे की पंक्तियों में अनेक बार '**पाठशाला**' पूर्ण संज्ञा का प्रयोग है। शायद लिपिकर से छूटा है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में एकवचन '**स्त्री**' पद का प्रयोग है। पाठानुसार यहां बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है।

४. **यथायोग्य संस्कार से अभिप्राय**—यहाँ '**यथायोग्य**' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं साभिप्राय है। इसका अभिप्राय यह है कि संस्कारों और ब्रह्मचर्यादि नियमों में विधान तो पुंल्लिग में होते हैं किन्तु व्यवहार-सापेक्षता से कन्याओं-विषयक जो भेद किये जाने चाहियें, उनको करके उनके संस्कार और आश्रम सम्बन्धी विधान लागू होने चाहियें। जैसे—मुण्डन, भिक्षार्थ ग्राम में जाना, दण्डधारण, मृगचर्मवस्त्र-धारण आदि कर्मों में आचार्या को यथायोग्य परिवर्तन कर लेना अपेक्षित है। कन्याओं का मुण्डन नहीं किया जाता तथा उनको ग्रामों में भिक्षार्थ नहीं भेजा जाता था।

कन्याओं का यज्ञोपवीत—यहां ''यथायोग्य संस्कार'' से प्रकरणानुसार ''यथायोग्य यज्ञोपवीत संस्कार'' का अभिप्राय है। अन्यत्र कई स्थलों पर महर्षि ने इस आशय को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

(क) ''**कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप तप को बढ़ाते चले जायें।**'' (स०प्र०, समु० ३, पृ० १०२)

(ख) ''**स्त्रियां आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे।**'' (उप० मं० ३, पृ० १३)

(ग) ''**स्त्रियों को भी विद्या-सम्पादन का अधिकार पहले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व करते थे।**'' (उप० मं० ७, पृ० ५१)

उपनयन-संस्कार-पूर्वक ब्रह्मचर्य-विधि से वेदाध्ययन आदि करके कन्याएँ ऋषिका बनती थीं। वेदों के सूक्तों पर आज भी दो दर्जन से अधिक ऋषिकाओं के नाम मन्त्रद्रष्ट्री के रूप में अंकित मिलते हैं (द्रष्टव्य, बृहद्देवता २.८२.८४)। वेदाध्ययन आदि की यह परम्परा वेदों से लेकर पुराण-ग्रन्थों तक मिलती है। यह परम्परा महर्षि के कथन को पुष्ट और सिद्ध करती है। स्त्रियों के यज्ञोपवीत संस्कार की पुष्टि में कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं—

(घ) '**ऋग्वेद**' के निम्नलिखित मन्त्र में उपनयन-युक्त स्त्री के लिए '**उपनीता**' विशेषण का प्रयोग हुआ है—

''**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।**'' (ऋग्० १०।१०९।४)॥

अर्थात्—'यज्ञोपवीत करके शिक्षित हुई ब्राह्मण अर्थात् द्विज की स्त्री दूसरों के लिए भीमा=आदर्श प्रभावशक्ति से सम्पन्न हो जाती है। वह संसार में सर्वत्र अपने विद्याबल से दुर्दमनीय रहती है।'

(ङ) '**हारीत धर्मसूत्र**' कन्याओं के उपनयन और वेदाध्ययन का विधान करते हुए कहता है—

''**द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनम्, वेदाध्ययम्, स्वगृहे भिक्षाचर्या च। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे काले कथंचिदुपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः।**'' (अ० २१।२०-२४) अर्थात्—दो प्रकार

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और लड़कों और लड़कियों की वे पाठशालायें[१] दो कोश एक-दूसरे से दूर होनी चाहियें[२]। **जो वहाँ अध्यापिकायें[३] और अध्यापक पुरुष वा नौकर-चाकर हों,[४] वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्रियां,[५] और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहैं।[६]**

की कन्याएं होती हैं। एक वे, जो ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदादिशास्त्रों का पूर्ण अध्ययन करके ब्रह्मवादिनी और वेदाध्यापिका बनती हैं। उनका यथासमय उपनयन (=यज्ञोपवीत संस्कार) होता है। दैनिक अग्निहोत्र करना, वेदाध्ययन, अपने घरों में भिक्षा याचना, उनके कर्त्तव्य हैं। जो सद्योवधू शीघ्र विवाह की इच्छुक हैं, उनका उपनयन संस्कार करके विवाह कर देना चाहिए।

(च) '**गोभिल गृह्यसूत्र**' में निर्देश है—

''**प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन् जपेत्—'सोमोऽदद् गन्धर्वाय'-इति।**'' (प्रपा० १। ख० १। सू० १९)

अर्थात्—विवाह संस्कार के अवसर पर, वस्त्र ओढ़ी हुई, यज्ञोपवीत धारण की हुई वधू को यज्ञवेदी पर लाकर मन्त्र बोले—'**सोमोऽदद्०**'। इस स्थल की व्याख्या करते हुए कुछ दुराग्रही लोगों को छोड़ सभी ने ''**यज्ञोपवीतिनीम्**'' का अर्थ 'यज्ञोपवीत धारण की हुई' किया है। यही शब्द से प्राप्त अर्थ है।

(छ) '**यम स्मृति**' का निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण श्लोक प्राचीन अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलता है। जिन पौराणिकों को स्त्रियों के यज्ञोपवीत का विरोधी माना जाता है, उनके 'वीर मित्रोदय' (खण्ड ५, पृ० ४०२-४०५) 'निर्णयसिन्धु' (पृ० ४१४), 'संस्कार गणपति' (पृ० ६४२) आदि ग्रन्थों में इसे प्रमाण के रूप में उद्धृत कर स्वीकार किया गया है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सवित्रीवाचनं तथा॥

अर्थात्—प्राचीन कल्पग्रन्थों=यज्ञविधि के ग्रन्थों में स्त्रियों के यज्ञोपवीत संस्कार, वेदाध्ययन, गायत्री-जप आदि का अनुष्ठान करना विहित है।

(ज) स्त्रियों के यज्ञोपवीत का विरोध करनेवाले पौराणिकों द्वारा मान्य अन्य ग्रन्थों में भी स्त्रियों के वेदाध्ययन आदि के प्रमाण मिलते हैं। 'अमरकोष' के मतानुसार, उपनयन संस्कार करके वेदाध्ययन कराने वाले को 'आचार्य' तथा वृत्ति के लिए वेद का कोई भाग पढ़ाने वाले को 'उपाध्याय' कहा जाता था। यही कार्य करनेवाली स्त्रियां '**आचार्या**' और '**उपाध्याया**' '**उपाध्यायी**' कहाती थीं ''**उपाध्यायाप्युपाध्यायी स्यादाचार्यापि च स्वतः**'' (अमरकोष २। १४)। इस प्रकार कन्याओं का उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन होता था और वे दूसरों का उपनयन संस्कार कराती भी थीं।

(झ) सातवीं शताब्दी के महाकवि बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' नामक कथा-महाकाव्य में महाश्वेता का वर्णन इन शब्दों में किया है—''**ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्**'' अर्थात् जिसकी देह यज्ञोपवीत के धारण करने से पवित्र थी।

(ञ) जिन पुराणों का सहारा लेकर व्यर्थ-आग्रही पौराणिक जन स्त्रियों के उपनयन का निषेध और विरोध करते हैं, उनके मान्य उन पुराणों में भी स्त्रियों के उपनयन का विधान है। वे लोग इस प्रकरण को ध्यान से पढ़ें और पुराणविरोधी विचार को छोड़ दें—

ततः शैलवरः सोऽपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम्। कारयामास सोत्साहं वेदमन्त्रैः शिवस्य च॥

(शिवपुराण, रुद्रसंहिता, पार्वती खण्ड अ० ४७। ४१)

अर्थात्—'पार्वती के पिता शैलराज ने उत्साह एवं प्रेमपूर्वक वेदमन्त्रों के द्वारा पार्वती और शिव का यज्ञोपवीत संस्कार कराया।' इस प्रकार पुराणों में भी कहीं-कहीं वैदिक-परम्परा सुरक्षित मिलती है। इनको पढ़कर क्या पौराणिक बदलेंगे?

उसी ग्रन्थ में आगे ४२, ४३ श्लोकों में वर्णन है कि पार्वती ने स्वयं अपने हाथों अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार किया था। ये सभी प्रमाण महर्षि दयानन्द के कथन तथा स्त्रियों के यज्ञोपवीत की परम्परा की पुष्टि करते हैं।

१-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः एकवचन '**पाठशाला**' अपप्रयोग है, यहां बहुवचन होना अभीष्ट है। इसी प्रकार '**चाहिये**' के स्थान पर भी बहुवचन प्रयोग '**चाहियें**' होगा। वैसे ही दोनों सं० में एकवचन '**अध्यापिका**' पद अशुद्ध है, यहां भी बहुवचन अपेक्षित है। सभी सं० में ये संशोधन वांछित हैं।

४. **मुद्रणसमय व्यर्थ पाठान्तर**—दोनों हस्त० में ''**नौकर-चाकर**'' पाठ है। मुद्रण-समय में यहां द्विप्र० में ''**भृत्य-अनुचर**'' पाठ किया है। शायद, यह हिन्दी रूप ज्वालादत्त या मुंशी समर्थदान ने बनाया है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। अन्यत्र, पृ० ४६१/२१ आदि पर ''**नौकर-चाकर**'' ही पाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में एकवचन '**स्त्री**' पद अपप्रयोग है। पाठानुसार बहुवचन अपेक्षित है।

६. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र० में यहां यह अपपाठ है—''**पुरुष की पाठशाला में पुरुषों रहै**'' मूलह०, मुद्रणह० में यह अपपाठ है—''**पुरुष की पाठशाला में पुरुष रहै।**'' मूलसं०, द्वि०सं०, उदयपुर आदि में संशोधित उपर्युक्त पाठ है।

स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और लड़कों की[१] पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे, अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहैं, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग, इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहैं। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील स्वभाव, शरीर और आत्मा के बल से युक्त होके, आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोश दूर ग्राम वा नगर रहै। **सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों। सबको तपस्वी होना चाहिये।** उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर, केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जायें, तब उनके साथ अध्यापक रहैं, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य-प्रमाद करें।

''कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥'' यह मनुस्मृति का श्लोक है[२] [७।१५२]॥

इसका अभिप्राय यह है कि **इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रखके, पाठशाला में अवश्य भेज देवें।[३] जो न भेजे, वह दण्डनीय हो।** प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में **'आचार्यकुल'** में हो। पिता, माता वा अध्यापक अपने लड़के-लड़कियों[४] को **अर्थसहित गायत्रीमन्त्र** का उपदेश कर दें। वह मन्त्र है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

[यजुः, ३६।३]

इस मन्त्र में जो प्रथम **'ओ३म्'**[५] है, उसका अर्थ **प्रथम समुल्लास** में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों[६] के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—**'भूरिति वै प्राणः' 'यः प्राणयति**

१-२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ व अपपाठान्तर**—**''लड़कों की''** जगह **''पुरुषों की''** अप व व्यर्थ पाठान्तर किया है। संख्यांक २ वाक्य के स्थान पर **''मनु०''** व्यर्थ पाठान्तर करके भाषा में अव्यवस्था बढ़ाई है।

३. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र० में, फिर द्वि०सं० में इस एकवाक्यात्मक आदेशवाक्य को तोड़कर दो वाक्यों में परिवर्तित कर दिया है—**''घर में न रख सकें।''** और **''अवश्य भेज देवें''**। यह परिवर्तन व्यर्थ है मध्य में पूर्णविराम भी अशुद्ध है। मूलहस्त०, मुद्रणहस्त० और मूलप्रति सं० में एकवाक्यात्मक पाठ है, वही उचित पाठ है। द्विप्र० में इस वाक्य को शोधक ने प्रूफ-निरीक्षण के समय तोड़ा है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अपपाठ है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''लड़का-लड़कियों''** अप-प्रयोग है। इस अनुच्छेद में दोनों स्थानों पर द्वि०सं० के समान **''लड़कों और लड़कियों को''** या **'लड़के-लड़कियों'** समस्त पद अपेक्षित है। बहुत्र शुद्ध प्रयोग है, द्र० पृ० ७१२।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां **''ओङ्कार''** पद पठित है। द्वि० सं० में इसको शुद्ध करके **''ओ३म्''** कर दिया है। यही पाठ ग्राह्य है, क्योंकि अर्थ और पदार्थ में पर्यायवाची पद का नहीं, वास्तविक पद का उल्लेख होता है और गायत्री मन्त्र से पूर्व **''ओ३म्''** पद ही पठित है। दोनों हस्त० तथा द्विप्र० और द्वि० सं० में मन्त्र के आरम्भ में **'ओम्'** वर्तनी है। **''ओ३म्''** बाद के किसी सम्पादक ने परिवर्तित किया है।

६. **महाव्याहृतियां**—ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव बोधक तीन शब्द या नाम, जो वेदविद्या के सार-रूप अथवा प्रतीक हैं—**''अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयात्-निरदुहद् भूः-भुवः-स्वरितीति च॥''** (मनु० २.७६)='भूः, भुवः, स्वः' ये तीनों महाव्याहृतियां=महावचन त्रयीविद्या के सार हैं। (तैत्तिरीय उपनिषद् ७.६ तथा पंचमहायज्ञविधि, संध्याप्रकरण)

चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः'=जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है, उस प्राण का वाचक होके '**भूः**' परमेश्वर का नाम है। '**भुवरित्यपानः**' '**यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः**'=जो सब दुःखों से रहित [है], जिसके संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिये परमेश्वर का नाम '**भुवः**' है। '**स्वरिति व्यानः**' '**यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः**'=जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता[१] है, इसलिये परमेश्वर का नाम '**स्वः**' है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक के हैं [प्रपा० ७। अनु० ५]।

(**सवितुः**) '**यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य**'=जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्यों[२] का दाता है (**देवस्य**) '**यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः**'=जो सर्वसुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (**वरेण्यम्**) '**वर्तुमर्हम्**'=स्वीकार करने योग्य, अतिश्रेष्ठ (**भर्गः**) '**शुद्धस्वरूपम्**'= शुद्धस्वरूप और पवित्र करनेवाला, चेतन, ब्रह्मस्वरूप है (**तत्**) उसी परमात्मा के स्वरूप को हमलोग (**धीमहि**) '**धरेमहि**'[३]=धारण करें। किस प्रयोजन के लिये कि (**यः**) जगदीश्वरः[४]=जो सविता-देव परमात्मा (**नः**) '**अस्माकम्**'[५]=हमारी (**धियः**) '**बुद्धीः**'[६]= बुद्धियों को (**प्रचोदयात्**) '**प्रेरयेत्**'[७]=प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

'हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप[८]! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव! हे कृपानिधे! हे न्यायकारिन्[९]! हे अज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे सर्वाधार-सर्वजगत्पितः[१०] सकल-जगदुत्पादक! हे अनादे विश्वम्भर सर्वव्यापिन्! हे करुणामृतवारिधे![११] सवितुर्देवस्य तव यदोंभूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि=दधीमहि=धरेमहि ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह[१२]—हे[१३]

---

१. **उपयुक्त पाठ**—''**स्वः**'' पद के अर्थ में ''**धारण कर रहा है**'' के स्थान पर ''**धारण करता है**'' उपयुक्त पाठ है, क्योंकि परमात्मा का यह शाश्वतिक कर्म है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, ''**सब**'' प्रयोग के सम्बन्ध से ''**ऐश्वर्यों**'' बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है।

३-७. **उचित संशोधन और पाठग्रहण**—मूलह० और मूलप्रति सं० में मन्त्रार्थ में मन्त्र पदों के साथ संस्कृत-शब्दार्थ देने की शैली ऊपर के पदों में अपनाई गई है, किन्तु वह संस्कृत व्याख्या (**धीमहि**) '**धरेमहि**' पद पर आकर छूट गई। एकरूपता और मानकता की दृष्टि से यह शैली सम्पूर्ण मन्त्रार्थ में होनी चाहिये थी। मुद्रणहस्त० तथा द्वि०सं० में इस त्रुटि को ठीक कर दिया गया है। वही पाठ ग्राह्य है। मूलप्रति सं० में त्रुटित रहे सभी संस्कृत पद इस संस्करण में द्विप्र० के पाठ से ग्रहण किये गये हैं।

८-९. **मुद्रणकालीन और मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूल और मुद्रण हस्तलेखों, दोनों में ही ''**हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप**'' शुद्ध पाठ है किन्तु द्विप्र० और द्वि० सं० में '**अनन्त**' पद त्रुटित है, यद्यपि हिन्दी अनुवाद में सही है। वेस, जग, विस, जस, भद, युमी में गृहीत है किन्तु उदयपुर सं० में त्रुटित है। ''**हे कृपानिधे! हे न्यायकारिन्!**'' सम्बोधन मुद्रणहस्त० में लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रह गये जिसके कारण द्विप्र० और द्वि० सं० में भी त्रुटित हैं, यद्यपि हिन्दी अनुवाद में हैं। ये दोनों पाठ वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में त्रुटित हैं, युमी, विस, जस में गृहीत हैं।

१०. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—''**जगत्पित**'' दोनों हस्तलेखों में शुद्ध लिखा है किन्तु मुद्रणसमय किसी शोधक ने द्वि० सं० में ''**जगत्पते**'' अशुद्ध बना दिया जबकि हिन्दी में ''**पिता**'' अनुवाद शुद्ध है। युमी, विस, जस को छोड़कर, वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

११. **त्रुटित पाठ और पाठग्रहण**—मूलहस्त० में यह सम्बोधन नहीं है, मुद्रणहस्त०, द्विप्र० व द्वि०सं० और मूलप्रति सं० में है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में इसका हिन्दी-अनुवाद त्रुटित रह गया है।

१२. **ऋषि-हस्तलेख**—''**कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह**'' व इसका हिन्दी-अनुवाद मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में है।

१३. **मुद्रणकाल में नौ अपविराम चिह्न**—इस अनुच्छेद में ग्यारह बार ''**हे**'' पद का प्रयोग हुआ है। द्विप्र० में नौ स्थानों पर ''**हे**''

भगवन्! यः सविता देवः परमेश्वरो नः=अस्माकं[१] धियः प्रचोदयात्, स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु, नातोऽन्यद्वस्तु[२] भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे।'[३]

हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध-नित्यबुद्ध-नित्यमुक्त-स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादि क्लेशरहित, विकार-आकार रहित,[४] सबके घट-घट का जाननेवाला, सबका धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अनादि[५], विश्व का पोषण करनेहारा, [सर्वव्यापक,[६] करुणारूप, अमृत का सागर][७] सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध, चेतन स्वरूप है, उसी को हम धारण करें। [किस प्रयोजन के लिये ?][८] इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामी-स्वरूप, हमको दुष्टाचार=अधर्मयुक्त मार्ग से हटाके, श्रेष्ठाचार=सत्य मार्ग में चलावे। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें, क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

इस प्रकार '**गायत्रीमन्त्र**' का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो **स्नान, आचमन, प्राणायाम** आदि

पद के बाद भावबोधक विरामचिह्न अशुद्ध लगा हुआ है जबकि यह प्रत्येक सम्बोधनवाक्य के अन्त में होना चाहिए। तीन पाठ त्रुटित हैं। इन नौ अशुद्धियों को आगामी द्वि०सं० में ठीक कर दिया है। द्वितीय सं० (१८८४) को आदर्श संस्करण मानकर उसमें कोमा, विरामचिह्न भी न बदलने का हठ करने वाले लेखक-पाठक अब इस स्थिति पर क्या कहना चाहेंगे ? उनकी प्रतिक्रिया निश्चित रूप से संशोधन के पक्ष में होगी। अन्य सभी सं० में भी संशोधित कर लिये हैं।

१. **अपप्रयोग**—मूलहस्त० में यह पद अपठनीय है। मुद्रणहस्त० में "**भवन्नस्माकम्**" है। मूलप्रति सं० में "**भवान्**" और द्वि०सं० में "**भवन्**" प्रयोग है। सभी स्थानों पर यह अपप्रयोग है। हिन्दी पदार्थ से ज्ञात होता है कि यहां "**नः=अस्माकम्**" पाठ होना चाहिए। सभी सं० में अपपाठ है।

२-४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मूलहस्त० तथा मूलप्रति सं० में यह प्रयोग शुद्ध है। मुद्रणप्रति का लिपिकर प्रमाद से "**वस्तु**" पद को लिखते समय छोड़ कर यह लिख गया—"**नातोऽन्यभवत्तुल्यम्**"। द्विप्र० में यही अशुद्ध पाठ छपा है। द्वि० सं० में इसे अशुद्ध जानकर शोधक ने "**नातोऽन्यं भवत्तुल्यम्**" कर दिया, जबकि सभी सं० में हिन्दी में शुद्ध अनुवाद यथावत् है—"**उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान**"। स्पष्ट है कि द्विप्र० का संशोधन गलत है। त्रुटित पद के स्थान पर मूलह०, मूलसं० का पाठ ही ग्राह्य है। इस प्रकरण की सभी त्रुटियों का उल्लेख **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने भी 'दयानन्द-संदेश समीक्षा विशेषांक' (अक्तूबर १९९५) में किया है। सभी को सुधारने का सुझाव भी दिया है। आगे तीनों सं० और दोनों हस्त० में "**विकार**" पद त्रुटित है। संस्कृतपाठ "**निर्विकार**" का यह अर्थ अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० सभी में यह अपपाठ है और अनुवाद त्रुटित है।

५. **श्रवणभ्रान्ति से मूललिपिकरकृत अशुद्ध पाठ की कहानी**—दोनों हस्तलेखों और द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अनादे**" संस्कृतपाठ का हिन्दी अनुवाद '**अनादि**' त्रुटित है। मूललिपिकर ने श्रवण-भ्रान्ति से "**अनादि**" को "**अन्नादि**" लिख दिया। मुद्रणलिपिकर ने भी बिना विचारे '**अन्नादि**' लिख दिया। शोधक ने संगति लगती न देख यहां '**से**' लिख दिया। तब यह पाठ बन गया—"**अन्नादि से विश्व का पोषण करने हारा**" इस तरह '**अनादे**' का अर्थ '**अनादि**' छूट गया और '**अन्नादि**' जुड़ गया। द्विप्र०, द्वि०सं० में अब भी शुद्ध पाठ त्रुटित है। मूलप्रति सं० में ग्रहण कर लिया है, किन्तु साथ ही श्रवण-भ्रान्ति से लिखे गये पद "**अन्नादि**" को भी ग्रहण व्यर्थ ही कर लिया है। वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में यह अनुवाद त्रुटित है, युमी, विस, जस में गृहीत है।

६. **त्रुटित आवश्यक अनुवाद**—दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां "**सर्वव्यापिन्**" का '**सर्वव्यापक**' अनुवाद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में इसको बिना कोष्ठक के परिवर्धित कर लिया है। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० अनुवाद त्रुटित है।

७. **त्रुटित आवश्यक अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह बृ० कोष्ठकान्तर्गत अनुवाद त्रुटित रह गया है। संस्कृतपाठ में होने के कारण इसका होना आवश्यक है। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में अनुवाद त्रुटित है। जस में अर्धत्रुटित है।

८. **त्रुटित आवश्यक अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संस्कृतोक्त वाक्य का यह हिन्दी अनुवाद त्रुटित है। इसका परिवर्धन आवश्यक है। इस सं० में बृहत् कोष्ठक में दे दिया है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अनुवाद त्रुटित है।

क्रियायें[१] हैं, [उनको] सिखलावें।

प्रथम स्नान इसलिये है कि इससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि,[२] आरोग्य आदि होते हैं। इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है [५।१०९]॥

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म के ही अनुष्ठान करने से जीवात्मा, **ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि अर्थात्[३] दृढ़निश्चय पवित्र होता है।** इससे स्नान, संध्योपासन[४] के पूर्व अवश्य करना चाहिये।

दूसरा प्राणायाम, इसमें प्रमाण—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥[५] यह योगशास्त्र का सूत्र है [२।२८]॥

जब मनुष्य [चौथा योगाङ्ग] प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि[६] यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है [६।७१]॥

---

१. **अपप्रयोग**—यहां दोनों हस्त० और सभी सं० में "**क्रिया**" एकवचनात्मक अपपाठ है, बहुवचन अपेक्षित है।

२. **अयोग्य लिपिकर**—दोनों हस्त० के मूर्ख लिपिकरों ने इसकी अपवर्तनी "**शुद्धी**" लिखी है। अन्य सं० में संशोधित है।

३. **शोधककृत अशुद्ध परिवर्तन**—मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में "**अर्थात्**" यह शुद्ध और आवश्यक पद है। मुद्रणहस्त० में इसे काट दिया है जिसके कारण द्विप्र० और द्वि०सं० में भी त्रुटित है। शोधक ने किसी भ्रान्ति में इसको हटाया है।

४. **श्रवणभ्रान्ति से 'भोजन' भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**सन्ध्योपासन**' के स्थान पर '**भोजन**' शब्द का पाठ है—"**स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना चाहिये**" यह अप्रासंगिक एवं अशुद्ध है। प्रतीत होता है कि श्रवण-भ्रान्ति के कारण मूललिपिकर से यह अशुद्धि हुई है। पूर्व पंक्तियों में वर्णित संध्योपासन से पूर्व की जाने वाली स्नान, प्राणायाम आदि क्रियाओं की क्रमशः व्याख्या की जा रही है। उद्धृत श्लोक में प्रथम क्रिया 'स्नान' की आवश्यकता और महत्त्व बताकर इस वाक्य में निष्कर्ष दिया है। सन्ध्योपासना के प्रसंग में स्नान की चर्चा करके यही निष्कर्ष बनता है कि '**स्नान सन्ध्योपासन के पूर्व अवश्य करना चाहिये।**' संस्कारविधि में भी यही निर्देश है—"**स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें**" (गृहाश्रम प्रकरण, सन्ध्या प्रसंग)। दूसरा तर्क यह है कि यहाँ पूर्वापर में भोजन का कोई प्रसंग-प्रकरण ही नहीं है, सन्ध्योपासन से सम्बद्ध क्रियाओं का है। (देखिए, पृष्ठ ८३/१२), अतः '**भोजन**' का कथन नितान्त अप्रासंगिक है। सभी सं० में यह भ्रष्टपाठ है।

५. **अप-उद्धरण-पाठ**—योगदर्शन में इस सूत्र के आरम्भ में "**प्राणायाम**" पद नहीं है, अतः दोनों हस्त० और तीनों सं० में प्रचलित यह पाठ अशुद्ध है—"**प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**"। यह शुद्ध पाठ ऐसे है—"**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**"। उद्धरण में मूलपाठ कभी नहीं बदला करता है। यह सभी योगाङ्गों का लाभ-प्रदर्शक आधार-सूत्र है, किसी एक का नहीं। आधारभूत मूलसूत्र के बदलने का अर्थ है 'योगदर्शन' के मूलपाठ और अगले सारे प्रसंग की विकृति उत्पन्न करना। अतः त्रुटि को दूर किया जाना ही तर्कसंगत है। **संशोधन-पुष्टि—'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में योगदर्शनानुसार ठीक पाठ है (पृ०१२९)। ऊपर अर्थ में किये सामान्य पाठान्तर से संशोधित पाठ की संगति बन जाती है। भद, युमी, विस, जस में सूत्र का अपपाठ है, वेस, जग, उदयपुर सं० में संशोधित है।

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं के मल नष्ट होकर वे शुद्ध होती हैं, वैसे प्राणायाम करने से[१] मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर [वे][२] निर्मल हो जाती हैं।

प्राणायाम का विधि—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। यह योगशास्त्र का सूत्र है[३] [१।३४]॥

जैसे, अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल[४] बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंकके बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहै, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींचके, वायु को बाहर फेंक दे। तब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर[५] खींच रक्खे, जब[६] तक प्राण बाहर रहता है। इस प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट[७] हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर [भीतर कुछ देर प्राण-वायु को रोककर][८] वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और **मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।**

एक '**बाह्यविषय**' अर्थात् बाहर ही प्राण को[९] अधिक रोकना। दूसरा '**आभ्यन्तर**' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोके।[१०] तीसरा '**स्तम्भवृत्ति**' अर्थात् एकदम[११] जहाँ-का-तहाँ प्राण को

---

६. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**हि**' के स्थान पर '**च**' पाठ है। मूल उद्धरण और अर्थ के अनुसार मनुस्मृति का उपर्युक्त प्रचलित पाठ उपयुक्त है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**करके**'' अपपाठ है। उपर्युक्त पाठ ''**करने से**'' व्याकरणानुसार सही है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**वे**' पद नहीं है, वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर व शैली-विरुद्ध अपपरिवर्तन**—द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में ''**प्राणायाम की विधि**'' पाठ परिवर्तित है जो महर्षि की स्थापित पुंल्लिग शैली के विपरीत है। मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० का पाठ पुंल्लिग में है (टि० द्र० १५२ पर)। मुद्रणप्रति, द्विप्र० में संख्यांक ३ वाक्य के स्थान पर ''**योगसूत्र**'' व्यर्थ और अपूर्ण पाठान्तर है।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में ''**जल**'' पद नहीं है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में है। यह ग्राह्य है।

५. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने ''**मूलेन्द्रिय को ऊपर**'' दो बार आये एक जैसे पाठ से विचलित होकर मध्य का यह पाठ छोड़ दिया—''**खींच के वायु को बाहर फेंक दे। तब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर**''। इससे पाठ असंगत और अपूर्ण बन गया है। आज भी द्विप्र०, वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर में त्रुटित है। द्वि०सं०, मूलसं० गृहीत है।

६. **अस्त-व्यस्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में '**तब**' के स्थान पर '**जब**' और '**जब**' के स्थान पर '**तब**' अस्त-व्यस्त पाठ है। यहां संशोधित है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ ही है।

७. **अपवर्तनी**—द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**गभराहट**'' अपवर्तनी है। मूलहस्त० और मुद्रणहस्त० में भी यही अपवर्तनी है। मूलप्रति सं० में संशोधित '**घबराहट**' पाठ कर दिया है, जो ग्राह्य है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। यह प्राणायाम-विधि की स्पष्टता हेतु आवश्यक है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह० में लिपिकर के प्रमाद से ''**प्राण को**'' पद त्रुटित हैं। मूलह०, मूलसं० में हैं। पूर्णवाक्य और स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक भी हैं। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित हैं।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां ''**उतना रोक के**'' अपपाठ है। ''**उतना रोके**'' शुद्ध पाठ है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है। वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है। युमी में संशोधित है।

११. **शोधककृत अप-अनुवाद**—दोनों हस्त० में तथा मूलप्रति सं० में ''**एकदम**'' पाठ सार्थक है। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**एक ही बार**'' हिन्दी-अनुवाद उचित अर्थ नहीं देता, अतः परिवर्तन अग्राह्य है। मुद्रणहस्त० के ठीक पाठ को पं० ज्वालादत्त या मुंशी जी ने शोधन के समय हिन्दीकरण करते समय बिगाड़ दिया है। ''**एक ही बार**'' गणना में प्रयुक्त होता है जबकि यहां कहना चाहते हैं—'**एकाएक**'। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में अपपाठ है।

यथाशक्ति रोक देना। चौथा '**बाह्याभ्यन्तराक्षेपी**' अर्थात् जब प्राण भीतर से[१] बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध, उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय।[२] ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से, मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन हो जाती हैं।[३] बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र, सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है।[४] इससे मनुष्य-शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर-बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता [की प्राप्ति होने से][५] सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। **स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।** भोजन-छादन, बैठने-उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

सन्ध्योपासन, जिसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं।[६] '**आचमन**'—उतने जल को हथेली में लेके, पंजा[७] के मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाके करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे; न उससे अधिक, न न्यून हो। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है। पश्चात् '**मार्जन**' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो, तो न करे। पुनः समन्त्रक **प्राणायाम, [अघमर्षण] मनसापरिक्रमण, उपस्थान**[८] [और] पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे। पश्चात् **अघमर्षण** अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह **सन्ध्योपासन** एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है[९] [२।१०४]॥

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां दो बार "**भीतर भीतर**" अपप्रयोग है। द्वि०सं० आदि में शुद्ध है।

२. **ऋषि-हस्तलेख**—"**भीतर आने.....रोकता जाय**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

३. **अपपाठ**—मूलह० में यह अपपाठ है—"**इन्द्रियां भी स्वाधीन हो जाते हैं।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलसं०, द्वि०सं० में यह अपवाक्य है—"**इन्द्रियें भी स्वाधीन होते हैं।**" सत्यार्थप्रकाश में सर्वत्र '**इन्द्रिय**' का स्त्रीलिंग में प्रयोग है। हिन्दी में '**इन्द्रियां**' स्त्रीलिंग पद है। सभी द्वि०सं० में और उदयपुर संस्करण में यह अपपाठ है।

४. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में मूलप्रति सं० के "**कर लेती है**" पाठ के स्थान पर "**करती है**" पाठ उपयुक्त नहीं है। वाक्य में पहले "**हो जाती है**" पाठ के सम्बन्ध से संभावनार्थक क्रिया "**कर लेती है**" ही ठीक है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—तीनों सं० में यहां क्रिया त्रुटित है, सार्थकता के लिए बृहत् कोष्ठान्तर्गत पाठ बढ़ाना अति-आवश्यक है।

६. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—यह वाक्य मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है। वहीं से मूलसं० में गृहीत है।

७. **मुद्रणसमय व्यर्थ पाठान्तर**—दोनों हस्तलेखों और मूलप्रति सं० में '**पंजा के मूल**' पाठ है। द्विप्र० में मुद्रण के समय किसी शोधक ने इसके स्थान पर "**उसके**" पाठ बना दिया। वही द्वि०सं० में छप रहा है। '**पंजा**' मराठी और महाराष्ट्र के निकटस्थ बोली जाने वाली गुजराती का शब्द है जिसका अर्थ '**हथेली**' ही होता है। अतः पाठान्तर की आवश्यकता नहीं थी।

८. **त्रुटित आवश्यक पद तथा ऋषिहस्तलेख**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**अघमर्षण**' नाम त्रुटित है। सन्ध्या की क्रियाओं के अनुसार इस स्थान पर यह पद आना चाहिए। क्योंकि अगले वाक्य में सन्ध्या की '**अघमर्षण**' क्रिया का प्रयोजन भी स्पष्ट किया हुआ है। "**पुनः समन्त्रक.....उपस्थान**" पाठ मूलह० में नहीं है। यह मुद्रणह० में ऋषि के हाथ से परिवर्धित है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**श्लोक**" के स्थान पर "**वचन**" व्यर्थ पाठान्तर किया है।

जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान होके, जल के समीप स्थित होके, नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्रीमन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान [पूर्वक] और उसके अनुसार अपने चाल-चलन[१] को करे; परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।[२]

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**अपनी चालचलन**' स्त्रीलिंग प्रयोग है, पुंल्लिग प्रयोग शुद्ध है। द्विप्र० और द्वि०सं० में संशोधित है। **संशोधन-पुष्टि**—''**तुम्हारे चालचलन से**'' (पृ० ७१५/२) शुद्ध प्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकर कृत अशुद्ध पाठ-परिवर्तन**—मूलप्रति का ''**यह जप मन से करना उत्तम है**'' पाठ मुद्रणप्रति के लिपिकर्त्ता की लेखन की असावधानी से भ्रष्ट होकर ''**यह जन्म से करना उत्तम है**'' असंगत पाठ हो गया। इसकी कहानी यह है कि मुद्रणलिपिकर्त्ता ने प्रतिलिपि करते समय मूलहस्तलेख के ''**जप मन से**'' पाठ को असावधानी से '**जमन**' लिख दिया। किसी संशोधक ने यह सोचकर कि यह अशुद्ध पद है, अनुमान से मिलता-जुलता पद '**जन्म**' बना दिया। पाठकों को शंका हुई कि 'जन्म' से सन्ध्योपासन, गायत्रीमन्त्र का उच्चारण एवं अर्थज्ञान अर्थात् अर्थ का चिन्तन और तदनुसार चाल-चलन बालक कैसे कर सकता है ? तो **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** जैसे विद्वान् सम्पादकों ने उपनयन रूप जन्म की तुकबन्दी करके उसके समर्थन में बड़ी-बड़ी टिप्पणियां लिख डालीं या फिर द्विज-जन्म की कल्पना कर डाली। मूलहस्त० से मिलान हो जाता तो कल्पित उत्तर की यह हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती। मीमांसक जी ने भी बाद में मूलह० के पाठ को शुद्ध मान लिया था।

द्विप्र०, द्वि०सं० जो मुद्रणप्रति के आधार पर छपा है, उसमें अब तक यही प्रकरणविरुद्ध और अव्यावहारिक पाठ छपता आ रहा है। ग्रन्थकार महर्षि की तुलना में कुछ सम्पादकों ने मुद्रणलिपिकर की भूल से उपजा यह पाठ अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है। मूलप्रति के प्रमाण के अतिरिक्त मुद्रणप्रति का पाठ कई युक्ति-प्रमाणों के अनुसार अशुद्ध-असंगत है—

(अ) प्रकरण-विरोधी—यह वाक्य मनुस्मृति के ''**अपां समीपे....**'' श्लोकार्थ के अन्तर्गत है। मनुस्मृति और सत्यार्थप्रकाश दोनों में यह श्लोक 'उपनयन के पश्चात्' गुरुकुल में निवास करने वाले विद्यार्थी के सन्ध्योपासन-कर्त्तव्यों के निर्देश के अन्तर्गत पठित है। यहां प्रकरण यह है कि गुरुकुल में प्रविष्ट विद्यार्थी को क्या-क्या कार्य करने चाहिएं। सत्यार्थप्रकाश पृ० ८३ पर प्रसंग का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिखा है—''**इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रियायें हैं, उनको सिखलावें।**'' उसी के अनुसार स्नान, प्राणायाम, आचमन क्रियाओं का उल्लेख करके यहां सन्ध्योपासन-विधि का निर्देश किया जा रहा है। यहां जन्म का कोई प्रसंग ही नहीं है और न श्लोक में कोई ऐसा पद है जिसका अर्थ 'जन्म' बनता हो। अत: 'जन्म' प्रयोग का उल्लेख अप्रासंगिक है। जब आठ वर्ष की आयु के बालक के कर्त्तव्यों का क्रमश: स्पष्ट विधान किया जा रहा है, फिर जन्म अर्थात् बाल्यकाल अर्थ करने का कोई औचित्य ही नहीं बनता। '**यह**' सर्वनाम का सम्बन्ध ब्रह्मचारी की श्लोकोक्त दिनचर्या से है। कोई भी छोटा बालक न तो जन्म से श्लोकोक्त एकान्त जंगल में जा सकता है, न अकेला सावधान होकर जल के पास बैठ सकता है, न गायत्री का अर्थज्ञान और उसके अनुसार चाल-चलन कर सकता है। अत: श्लोकार्थ में जन्म=बाल्यकाल अर्थ लगाना बिलकुल बेतुकी बात है।

इसी प्रकार उपनयनकृत बालक के जप आदि आरम्भिक कर्त्तव्य स्पष्टत: विहित हैं तो फिर '**द्विजजन्म**' की कल्पना करना भी स्वत: निरर्थक है। स्पष्टत: '**यह**' का श्लोकोक्त गायत्री के उच्चारण रूप में निर्दिष्ट जप से व्याकरणिक सम्बन्ध है, अत: अर्थ के अन्तिम वाक्य में साररूप में निर्देश है कि यह उच्चारणादि रूप जप मन से करना उत्तम है, क्योंकि शास्त्रों में सर्वत्र मानसिक जप अर्थात् ध्यान को और मानसिक संध्या को उत्तम उपासना माना है। यदि मूलहस्तलेख पहले देख लिया जाता तो सम्पादकों को 'जन्मों' की कल्पना का द्रविड़ प्राणायाम ही नहीं करना पड़ता।

(आ) इससे पूर्व मनुस्मृति का इसी प्रसंग का एक श्लोक है—''**पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्**'' (२.१०१)। महर्षि ने इसको 'पंचमहायज्ञविधि' में सन्ध्योपासन-प्रसंग के अन्त में उद्धृत किया है। संयोग देखिए, वहां भी यही अर्थ किया है—''**परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थविचार-पूर्वक नित्य करें।**'' यहां भी सन्ध्या के अन्तर्गत मन में गायत्री का अर्थविचार करने का उल्लेख है। विचार मन से होता है, जन्म से नहीं।

(इ) मन से जप करने का विधान, महर्षि ने संध्योपासन के इसी प्रसंग में, प्राणायाम वर्णन में भी इन्हीं शब्दों में किया है—''**मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय**'' (पृ० ८५/१०)। संस्कारविधि में कितना स्पष्ट लिखा है—''**मनुष्यों को चाहिये.....गायत्री, प्रणव आदि का अर्थविचार....करें**'' (गृहाश्रम प्रकरण)। प्रणव जप के प्रसंग में योगदर्शनकार ने भी यही विधि दी है—''**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'' (१.२८) अर्थात् प्रणव का जप मन में उसके अर्थविचार पूर्वक करे। यहां '**जप**' पहले पठित है।

सन्ध्योपासन के प्रसंग में महर्षि के निर्देशों में सर्वत्र यही भाव है कि सन्ध्योपासन मन से करना चाहिए। देखिए—''**परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना हृदय में करके**'' ''**गायत्री मन्त्र का अर्थ-विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करे**'' (संस्कारविधि, सन्ध्योपासन प्रसंग, गृहाश्रम प्रकरण) आदि। इस प्रकार महर्षि के मत से यहां ''**जप मन से करना उत्तम है**''

सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही कालों[१] में करे। दो ही रात-दिन की सन्धिवेलायें हैं, अन्य नहीं।[२] **न्यून-से-न्यून[३] एक घण्टा पर्यन्त[४] ध्यान अवश्य करे।[५] जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे।**

दूसरा **देवयज्ञ**[६]—जो अग्निहोत्र और विद्वानों के संग-सेवादिक से होता है।[७] अग्निहोत्र कर्म का

कथन की ही संगति बनती है, जन्म की कोई संगति नहीं। महर्षि जप का अर्थ ही '**मन से अर्थ विचार करना**' मानते हैं—''**जपैः=विचार करने**'' (स०प्र० पृ० १६०/६) अर्थात् वेद मन्त्रों का अर्थ चिन्तन करना। विचार कभी जन्म से नहीं होता इसलिए जप भी कभी जन्म से नहीं हो सकता। इस प्रकार गायत्री के जपोच्चारण के साथ मन का सम्बन्ध है, जन्म का नहीं।

(ई) पाठ-पुष्टि—इस पाठ की पुष्टि में एक और प्रबल प्रमाण देखिए। **प्रथम संस्करण** में भी इस श्लोक का अर्थ महर्षि ने यही किया है—''**शून्य देश में बैठके गायत्री को मन से यथावत् उच्चारण करके, एक-एक पद का अर्थचिन्तन करके और प्राणायाम से प्राण, चित्त और इन्द्रियों की स्थिरता करके परमेश्वर की प्रार्थना और स्वरूप-विचार से उक्त रीति से उसमें मग्न हो जाय**'' (पृ० ४०)। यहां कितने स्पष्ट शब्दों में गायत्री का **मन से उच्चारण करना** अर्थात् जप करना लिखा है। महर्षि की यही अर्थपरम्परा है, जिसकी **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** और **पं० मीमांसक जी** ने खोज नहीं की।

(उ) 'ओम्' और गायत्री मन्त्र के जप से सन्ध्योपासना करना वैदिक मान्यता तथा परम्परा है। शास्त्री जी सदृश जो लोग गायत्री-जप को सिद्धान्तविरुद्ध कहते हैं, वे भ्रान्ति में हैं। महर्षि की मान्यता ऊपर दी जा चुकी है। मनुस्मृति में दर्जनों श्लोकों में ओम् और गायत्री के जपपूर्वक सन्ध्योपासन का विधान है। जप का अर्थ ही **मन में अर्थ ज्ञानपूर्वक जप या ध्यान** है। मनुस्मृति में 'ओम्' के अ, उ, म् तीन अक्षरों, गायत्री के तीन चरणों तथा तीन महाव्याहृतियों को त्रयी विद्या का सार और प्रतीक माना है (मनु० २.७६-७७; पंचमहायज्ञविधि सन्ध्योपासन प्रकरण), और कहा है—''**एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते**'' (२.७८)='ओम्' अक्षर, व्याहृतियुक्त गायत्री को दोनों कालों की सन्ध्याओं में जपने वाला वेद-जप के पुण्य=लाभ को प्राप्त करता है। ''**जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः**'' (४.१५५)=मनुष्य आलस्यरहित रहकर प्रतिदिन जपोपासना अर्थात् सन्ध्योपासना और अग्निहोत्र किया करे। मनुस्मृति के अनेक स्थलों के अनुसार वेदमन्त्रों का जप करना 'जपोपासन' है किन्तु जप का मुख्य अर्थ है गायत्री मन्त्र के अर्थज्ञान पूर्वक जप, ध्यान और संध्योपासन करना अथवा 'ओ३म्' का जप करना। इसी कारण सन्ध्योपासन का पर्याय ही '**जप यज्ञ**' हो गया है (''**जपोऽहुतो**'' **३.७४**)। यही मान्यता उपनिषदों और ब्राह्मणग्रन्थों में भी वर्णित है। सन्ध्योपासन के उक्त प्रसंग में इसी जप को मन से करने का उल्लेख है।

गायत्री-जाप से फल व उसकी विधि—''प्रश्न—गायत्री-जप से कोई फल है या नहीं? और है तो क्यों है?

उत्तर—गायत्री-जाप यदि वेदोक्त रीति से करे तो फल अच्छा होता है, क्योंकि इसमें गायत्री के अर्थानुसार आचरण करना लिखा है। पोपलीला के जप से अनर्थरूप फल की तो कथा ही क्या है?'' (ऋषि दया० के पत्र-विज्ञापन, भाग २, पृ० ८४२)

यहां द्विप्र०, द्वि०सं० का '**जन्म**' पद प्रकरणविरुद्ध भी और महर्षि की अर्थपरम्परा के विरुद्ध भी है। वेस, भद, युमी में अपपाठ है, उदयपुर सं० में संशोधित है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने मूलह० के पाठ को ग्राह्य एवं शुद्ध माना है (दयानन्द सन्देश, पृ० २५)। मुद्रणप्रति में ऐसे बहुत शब्द बिगाड़े हैं (द्र०पृ० १६२/१४, १७०/१० आदि)।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यासनाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने अपनी पुस्तक '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' में प्रकरण की घोर उपेक्षा करके जन्म के पक्ष में केवल तर्कहीन कल्पनाएं की हैं।

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**काल**'' और ''**सन्धिवेला**'' एकवचनात्मक अपपाठ हैं; बहुवचन अपेक्षित है।

ऋषि-हस्तलेख—''**दो ही....नहीं**'' यह वाक्य मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

३,४. **त्रुटित तथा पाठग्रहण**—इस वाक्य में मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां '**पर्यन्त**' पाठ त्रुटित है। मूलप्रति सं० और मूलहस्त० में यह पद है। मूल तथा मुद्रणहस्त० में ''**न्यून से न्यून**'' के स्थान पर ''**कम से कम**'' पाठ है। ''**न्यून से न्यून**'' द्वि०सं० के मुद्रण के समय बदला गया है। मूलप्रति सं० में इसी बदले पाठ को ग्रहण कर लिया है।

५. **ध्यान की अवधि**—ब्रह्मचारी के अध्ययन की व्यस्तता के आधार पर यहां ध्यान की अवधि न्यूनतम एक घंटा निर्धारित की है। मुमुक्षु के लिए कम-से-कम दो घंटे तक प्रतिदिन ध्यान करने का निर्देश है (पृ० ४५४)।

६. **मुद्रणप्रति में क्रमदोष और मूलसं० में पाठमिश्रण से अस्त-व्यस्त पाठ**—मूलप्रति सं० में यहां पाठ की गड़बड़ है जो मूल-हस्तलेख के पाठ में मुद्रणहस्त० का परिवर्तित पाठ ग्रहण करने से हुई है। मूलहस्त० का पाठ क्रमबद्ध था। मुद्रणहस्त० में जो परिवर्तित पाठ था उसको यहां जोड़ने से दो गड़बड़ें हो गईं—१. 'दूसरा देवयज्ञ' और 'दूसरा अग्निहोत्र कर्म, २. दोनों सन्धिवेलाओं

दोनों सन्धिवेलाओं में अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व करने का समय है।[१]

उसके लिये[२] एक किसी धातु[३] वा मिट्टी की, ऊपर १२ वा १६ अंगुल चौकोर, उतनी ही गहरी और नीचे ३ वा ४ अंगुल परिमाण से वेदी  इस प्रकार बनावे अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो, उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहै।[४] उसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े-छोटे करके उसमें रक्खे। उसके मध्य अग्नि रखके पुनः उस पर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त इंधन रख दे। एक प्रोक्षणीपात्र  ऐसा, और तीसरा प्रणीतापात्र  इस प्रकार का, और एक  इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र, और एक चमसा  ऐसा, सोने, चाँदी वा काष्ठ का बनवाके, प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रखके, घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने [के लिये],[५] और प्रोक्षणी इसलिये है कि उससे हाथ धोने को जल लेना सुगम है। पश्चात् उस घी को अच्छी प्रकार देख लेवे।[६] फिर यज्ञ के मन्त्रों से होम करे—

के कथन की दो-दो बार पुनरुक्ति हो गई। मुद्रणप्रति का पाठ ग्रहण करना यदि आवश्यक था तो उसको मूल हस्तलेख के पाठ के अनुसार संयोजित करके लेना चाहिए था, जिसमें पुनरुक्ति हट जाये और ग्राह्य का ग्रहण हो जाये। इस संस्करण में उस ''**सन्ध्या और....करने का समय है**'' तक पाठ को पुनरुक्तियां हटाकर क्रमबद्ध रूप में रखा गया है। द्विप्र० का पाठ भी यहां क्रमरहित है। दोनों ही सं० के पाठों में यह क्रमभंग दोष है कि **पहले सन्ध्या** का प्रसंग था, फिर ''**दूसरा देवयज्ञ**'' कहकर यज्ञ का प्रसंग शुरू कर दिया। **फिर सन्ध्या** का वर्णन आ गया, उसके बाद **फिर अग्निहोत्र** का प्रसंग शुरू हो गया। द्वितीय संस्करण (१८८४) का पाठ यद्यपि ग्राह्य है किन्तु उसमें यह क्रमभंग दोष पहले ही विद्यमान है जो मुद्रणलिपिकर द्वारा मुद्रणहस्त० में किये परिवर्तन से आया है।

७. **ऋषिहस्तलेख**—''**दूसरा देवयज्ञ.....होता है**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

१. **'भी' पद की अपव्याख्या**—द्विप्र० में यहां ''**अग्निहोत्र करने का भी समय है**'' वाक्य है। **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने इस '**भी**' पद को लेकर इतने लम्बे-चौड़े अर्थ निकाल दिये जिनका दूर तक भाव से कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ कहते हैं कि इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ दिन-रात में कभी करें, किन्तु इस वाक्य में कहीं कोई ऐसा पद नहीं है जिससे यह भाव निकलता हो। यदि '**भी**' पद का सम्बन्ध सूर्योदय तथा सूर्यास्त के पश्चात् से जोड़ लें तब दोनों यज्ञ-समय गौण हो गये, मुख्य अन्य समय कहलायेगा। यदि यहां 'भी' से शास्त्री जी का अर्थ निकलता है तो ऊपरपंक्ति में ''**सन्ध्योपासन भी किया करे**'' से क्या अर्थ निकालेंगे? वस्तुतः द्विप्र० में '**भी**' पद सन्ध्योपासन की अपेक्षा से है। पहले कहा है—''**सन्ध्योपासन भी किया करे**'', उसके बाद यज्ञ का जब निर्देश दिया तो बताया जा रहा है कि उपर्युक्त समय **यज्ञ का भी है** अर्थात् सन्धिवेलाओं का समय सन्ध्या का भी है और यज्ञ का भी है। दोनों अनुष्ठान उसी समय अनुष्ठित कर लेने चाहिएं, उसी सन्दर्भ में यहां अर्थ करना चाहिए। व्यर्थ की कल्पनाएं नहीं करनी चाहिएं, उससे पाठक भ्रमित होते हैं।

२. **मुद्रणकालीन उचित पाठ-परिवर्धन**—''**उसके लिये**'' पाठ दोनों हस्तलेखों में नहीं है। द्विप्र० में मुद्रण-समय में बढ़ाया है।

३. **अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में अयोग्य लिपिकरों ने ''**धातू**'' अपवर्तनी लिखी है। तदनुसार द्विप्र० में भी अशुद्ध है। मूलह० और द्वि०सं० आदि सभी में संशोधित है।

४. **त्रुटित एवं पाठग्रहण**—मूलह० में ''**अर्थात्.....चौड़ी रहै।**'' पाठ नहीं है। मूलसं० में इसका ग्रहण मुद्रणह० से किया है। **ऋषि-हस्तलेख**—''**१२ वा १६ अंगुल.....बनावे**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में संशोधित-परिवर्धित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में ''**के लिये**'' पद त्रुटित हैं। इनके बिना वाक्यपूर्ति नहीं होती, अतः आवश्यक हैं।

६. **घी को देखना**—''**घी को अच्छी प्रकार देख लेवे**'' इस वाक्य से महर्षि का यह अभिप्राय है कि यज्ञ के लिए तपाये घी में कोई अशुद्ध वस्तु न पड़ी हो, इस बात का भलीभांति निरीक्षण कर ले। इसका अभिप्राय **प्रथम संस्करण** में भी स्पष्ट किया है। वहां लिखा है—''**घृतपात्र में घृत को लेके अङ्गारों के ऊपर तपावै। फिर उतार के आंख से देखके उसमें कुछ केश वा और जीव पड़ा होय तो उनको कुशाग्र से निकाल देवै**'' (पृ० ४१)। हिन्दी में 'देखना' क्रिया अनेकार्थक है और उन अर्थों में अनेक मुहावरे प्रचलित हैं, जैसे—'देखके चलना'=ध्यान से चलना ''देखके पीना'', ''देखके खाना'' आदि।

[**ओम् अग्नये स्वाहा** आदि चार.... ''**सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यःस्वाहा**'' आदि चार और]

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ [तुलना-तैत्ति० आर० १०।२][१]

इत्यादि अग्निहोत्र के **प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर** एक-एक आहुति देवे और जो अधिक आहुतियां देनी[२] हों तो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ [यजुः, ३०।३]।

इस मन्त्र और पूर्वोक्त '**गायत्रीमन्त्र**' से आहुतियां[३] देवे।

'ओम्'[४] 'भूः' और 'प्राण' आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही वाणी से बोले, विपरीत नहीं। **जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये।**

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है?

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख; और

---

१. **अस्त-व्यस्त पाठ**—प्रतीत होता है कि यहां प्रथम संस्करण में ''**ओं अग्नये स्वाहा**'' के स्थान पर लिखित ''**ओं भूरग्नये स्वाहा**'' आदि के अनुकरण से मन्त्रपाठ अस्त-व्यस्त हुआ है। उसका अनुकरण करके ये मन्त्र मूलह० में लिखे-लिखाये गये हैं। वहां केवल इन चार मन्त्रों से चार आहुतियां देने का वर्णन है। यज्ञ के लिए उद्धृत ये मन्त्र महर्षि द्वारा अन्य सभी ग्रन्थों में प्रस्तुत यज्ञविधि के न आदि के हैं, न अन्त के हैं, न अन्य किसी क्रमबद्धता के। इन मन्त्रों के उल्लेख से '**संस्कारविधि**' आदि से एक भिन्न यज्ञ-विधि प्रस्तुत हो गई है। पाठकों को जिज्ञासा होती है कि ऐसा क्यों? इस समस्या का समाधान सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के उल्लेखों से हो जाता है। आगे पृ० ९८ पर महर्षि लिखते हैं—''**प्रत्येक मनुष्य सोलह-सोलह आहुतियां करे**''। संस्कारविधि में अग्न्याधान, समिदाधान, जलसिंचन के उपरान्त चार आघाराज्यभागाहुतियों ''**ओं अग्नये स्वाहा**'' आदि से अग्निहोत्र करने का कथन किया है—''**आघाराज्यभागाहुति चार देके नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करें.....ओं सूर्यो ज्योति.....।**'' टिप्पणी में भी इन्हीं आहुतियों की चर्चा है—''**किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़के दो-दो आहुति करे।**'' (गृहाश्रम प्रकरण के अग्निहोत्र प्रसंग में)। इस प्रकार महर्षि अग्निहोत्र की आहुतियों का आरम्भ '**ओं अग्नये स्वाहा**' मन्त्र से मानते हैं। उक्त सोलह आहुतियां भी ''**ओम् अग्नये स्वाहा**'' मन्त्र से आरम्भ हो के ही पूरी होती हैं और वे सोलह आहुतियां उभयकालीन आहुतियां हैं। वे हैं—चार आघाराज्यभागाहुतियां, चार प्रातःकालीन सूर्य-सम्बन्धी, फिर आठ आहुतियां ''ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा'' से लेकर ''ओम् अग्ने नय सुपथा राये....'' तक। इसी प्रकार सायंकालीन यज्ञ में चार आघाराज्यभागाहुतियां, चार अग्निसम्बन्धी सायंकालीन आहुतियां, आठ ''भूरग्नये'' से लेकर ''अग्ने नय सुपथा'' तक, ये कुल सोलह होती हैं। जिसके घर में आहवनीय अग्नि स्थापित रहती है, उसके यहां भी ''**ओं अग्नये स्वाहा**'' मन्त्र से आहुति आरम्भ की जाती है। इसी स्पष्टीकरण के अनुसार महर्षि द्वारा विहित '**संस्कारविधि**' और '**सत्यार्थप्रकाश**' के विधानों में सही तालमेल बैठता है। यही महर्षिप्रोक्त यज्ञीय विधि है। अतः यहां यह संशोधन आवश्यक है कि यज्ञानुष्ठान में आहुतियों का प्रथम मन्त्र ''**ओम् अग्नये स्वाहा**'' होना चाहिए।

द्वि०सं०, मूलसं०, वेस, जग, भद, युमी आदि किसी भी सं० ने यहां वर्णित यज्ञीय-विधि की भिन्नता का निवारण कर महर्षिप्रोक्त विधियों में तालमेल करने का प्रयास नहीं किया है। दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में भी यह प्रयत्न नहीं किया गया। न करने से अव्यवस्था का दोष आता है। दुःख है कि सवा-सौ वर्षों में भी यह कार्य नहीं हुआ।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं में ''**आहुति देना**'' और ''**आहुति**'' अपप्रयोग हैं, ''**अधिक**'' पद के सम्बन्ध से '**आहुतियां**' बहुवचन और '**देनी**' स्त्रीलिंग क्रिया होनी चाहिए। यही अपप्रयोग वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में हैं।

४. **अपवर्तनी**—यहां '**ओं**' के स्थान पर '**ओम्**' वर्तनी शुद्ध है, क्योंकि यह स्वतन्त्र नाम है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में अशुद्ध है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है, जग में भ्रष्ट पाठ ''**ओं भूः**'' है।

सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य [प्राप्त होता है][१] और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—चन्दनादि घिसके किसी को लगावे, वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट करना, बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम 'पदार्थविद्या' जानते, तो कभी ऐसी बात न कहते; क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता।[२] देखो, जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष की नासिका[३] से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने से ही समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके, फैलके, वायु के साथ दूर देश में जाकर, दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न—जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से वायु सुगन्धित होकर सुखकारक होगा।

उत्तर—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ-वायु को बाहर निकालकर, शुद्ध वायु का[४] प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक-शक्ति नहीं है। और अग्नि का ही सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके, बाहर निकालकर, [वहां] पवित्र वायु का[५] प्रवेश करा देता[६] है।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के[७] लाभ विदित हो जायें और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें। वेद-पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है?[८]

उत्तर—हाँ, क्योंकि **जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़ कर, रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से, प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है,**[९] **उतना ही पाप उस**[१०] **मनुष्य**

---

१. **अपपाठ**—सभी सं० में बृ०कोष्ठक का पाठ संदेह निवारणार्थ तथा स्पष्टार्थ हेतु आवश्यक है। अन्यथा पूर्वपाठ अगले वाक्यांश के साथ मिलकर सामान्य पाठक के लिए अनर्थ का संदेह उत्पन्न करता है कि 'आरोग्य के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।'

२. **सिद्धान्त की आधुनिक विज्ञान से पुष्टि**—महर्षि ने यहां जो भौतिक विज्ञान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि कोई पदार्थ पूर्णतः नष्ट नहीं होता अपितु अन्यरूप में परिवर्तित हो जाता है, इसकी पुष्टि आज का विज्ञान भी करता है। प्रसिद्ध यूरोपीय वैज्ञानिक **आइंस्टाइन** ने सिद्धान्त दिया है कि द्रव्य (Mass) और ऊर्जा (Energy) न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं, केवल रूपान्तरित होते है। द्रव्य ऊर्जा में और ऊर्जा द्रव्य में परिवर्तित होते रहते हैं। इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करने वाला उनका सूत्र है— $E=mc^2$। इस सूत्र पर आधारित विज्ञान का कथन है—"Energy can neither be created nor desteroyed. It can be transformed from one form to another form." अर्थात्—'ऊर्जा को न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न नष्ट ही। यह केवल एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रूपान्तरित की जा सकती है।' यह महर्षि-सिद्धान्त की विजय है!!

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**पुरुष के नासिका**" अपप्रयोग है। नासिका स्त्रीलिंग के साथ '**की**' स्त्रीलिंग प्रत्यय होगा। यह अपप्रयोग वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में है, जस में संशोधित है।

४-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में दोनों स्थलों पर "**वायु को**" प्रयोग है, यहां '**का**' विभक्ति अपेक्षित है। द्विप्र० में "**कर देता है**" अपपाठ है। द्वि०सं०, उदयपुर में संशोधित है। अन्य सभी द्वि०सं० अपप्रयोग हैं।

७. **अपप्रयोग**—द्विप्र० में "**होम करने को लाभ**" अपप्रयोग है। द्वि०सं० में संशोधित है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध पाठ है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में "**के विना पाप होता है**" पाठ त्रुटित है। ऋषि ने स्वहस्त से लिखा है।

९. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**प्राप्त करता है**" अपपाठ है। मूलसं० में "**प्राप्त कराता है**" पाठ शुद्ध है।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां '**उसी**' अपप्रयोग है। '**जिस**' के सम्बन्ध से '**उस**' प्रयोग ठीक है। मुद्रणह०,

को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ, उतना सुगन्ध वा उससे अधिक, वायु और जल[१] में फैलाना चाहिये। और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुखविशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादियुक्त[२] पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। परन्तु **जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इससे अच्छे पदार्थ खिलाने-पिलाने[३] भी चाहियें; परन्तु उससे होम करना अधिक उचित है,[४]** इसलिये होम का करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुतियां[५] करे? और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य सोलह-सोलह आहुतियां[६] करें[७] और छः-छः[८] माशे[९] घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिये। और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसीलिये आर्यवरशिरोमणि महाशय, ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। जो अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय।

ये दो यज्ञ अर्थात् एक '**ब्रह्मयज्ञ**'=जो पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना; दूसरा '**देवयज्ञ**'=जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों का सेवा-संग करना

द्विप्र० और द्वि०सं० में तथा अन्यों में भी संशोधित है।

१. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० ''**वायु वा जल में**'' अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० का पाठ ''**वायु और जल में**'' शुद्ध है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में ''**सुगन्धादिपदार्थ**'' अपपाठ है, ''**युक्त**'' त्रुटित है। '**सुगन्धादियुक्तपदार्थ**' पाठ शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्वि०समु० में पृ० ६०, ६१ पर द्रष्टव्य हैं। यह सभी सं० में अपप्रयोग है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिये**''। बहुवचनात्मक '**अच्छे**' विशेषण के साथ क्रियाएं भी बहुवचनान्त चाहिएं। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है।

४. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है, जो इस प्रकार है—''**परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है।**'' ''**अधिक**'' विशेषण अस्थान में होने से ग्रन्थकार के आशय के विपरीत अर्थ प्रकट कर रहा है। ''**अधिक**'' विशेषण ''**करना**'' क्रिया का नहीं है, ''**उचित**'' का विशेषण है अर्थात् खाने की तुलना में होम करना अधिक उचित है '**अधिक होम करना**' नहीं, ऊपर की पंक्तियों में यही भाव है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है।

५-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में दोनों स्थानों पर ''**आहुति**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है। बहुवचन अपेक्षित हैं।

७. **सोलह-सोलह आहुतियां**—महर्षि के निर्देश के अनुसार प्रत्येक काल में सोलह-सोलह आहुतियां अवश्य देनी चाहिएं। संस्कारविधि गृहस्थप्रकरण में निर्देश है कि 'पति-पत्नी प्रतिदिन यज्ञ करें। यदि परिस्थितिवश कोई एक उपस्थित न हो तो एक ही दोनों के नाम की आहुतियां करे अर्थात् वह न्यून-से-न्यून सोलह-सोलह अर्थात् बत्तीस आहुतियां करे। वे सोलह आहुतियां हैं—**आघाराज्यभाग** आहुतियां २, **आज्यभाग** आहुतियां २, **कालविशेष** की आहुतियां ४, ''**भूरग्नये...**'' मन्त्र से ''**अग्ने नय सुपथा...**'' मन्त्र तक ८, ये यज्ञ में प्रतिदिन दी जाने वाली सोलह आहुतियां हैं। यदि किसी विवशता के कारण दो समय का यज्ञ एक समय करना पड़े तो इन सोलह आहुतियों को दो बार दे। आजकल दोनों कालों की केवल चार-चार आहुतियां एक ही समय देने की जो प्रथा चल पड़ी है वह महर्षि दयानन्द के मतानुसार विधिहीन यज्ञ है।

८-९. **अपवर्तनी (नवीन)**—दोनों हस्तलेखों और द्वि० सं० में यहां ''**छः-छः**'' वर्तनी है। ग्रन्थ के लेखनकाल में हिन्दी में यही वर्तनी चलती थी। ''**छह-छह**'' नयी वर्तनी है। मूलप्रति सं०, भद, जस में ''**छह-छह**'' परिवर्तित नवीनतम हिन्दी-वर्तनी है। तत्कालीन पुरानी वर्तनी ही ग्राह्य है। आगे युमी, उदयपुर सं० में ''**मासे**'' अपवर्तनी है। अन्य संस्करणों में संशोधित है।

[कहाता है]। परन्तु **ब्रह्मचर्य [आश्रम][१] में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।**[२]

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति, शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके॥

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है [वचन ५]॥

ब्राह्मण तीनों वर्णों[३]**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को**[४]**; क्षत्रिय, क्षत्रिय और वैश्य को; तथा वैश्य, एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है।**[५] जो[६] कुलीन, शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे; **यह मत अनेक आचार्यों का है।**

इस विधि के पश्चात् पाँचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और कन्यायें कन्याओं[७] की पाठशाला में जावें और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है [३।१]॥

अर्थ—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त, अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह [और बारह][८] वर्ष मिलके छत्तीस और आठ [प्रवेश से पूर्व के][९] मिलके चवालीस,[१०] अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिलके छब्बीस, वा नौ वर्षों [का ब्रह्मचर्य और आठ वर्ष पूर्व के मिलके सतरह वर्षों का][११] तथा जब तक विद्या पूर्ण ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति॥ १॥

---

१. **त्रुटित पाठ**—सभी पाठों में इस वाक्य में बृहत् कोष्ठान्तर्गत पाठ '**कहाता है**', '**आश्रम**' त्रुटित हैं। यहां अवश्य अपेक्षित हैं।

२. **देवयज्ञ और अग्निहोत्र**—देवयज्ञ का अर्थ व्यापक है। उसमें सामान्य अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों का अर्थ निहित है। 'अग्निहोत्र' का 'सही' पर्याय '**होम**' है जिसको 'दैनिक अग्निहोत्र' कहते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में केवल इसी अग्निहोत्र और संध्या का ही विधान है, अन्य बड़े यज्ञों की अनिवार्यता उसके लिए नहीं है, क्योंकि उस समय उसके पास साधन नहीं होते।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० व अन्य सभी सं० में "**वर्ण**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, '**वर्णों**' बहुवचनान्त अपेक्षित है।

४,६. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० और द्वि० सं० में दोनों स्थानों पर '**को**' विभक्ति और मूलप्रति सं० में '**जो**' पद त्रुटित हैं।

५. **ऋषि-हस्तलेख**—"**ब्राह्मण वैश्य को.....सकता है**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में संशोधित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग और व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० और मूलप्रति सं० में यहां प्रयुक्त '**कन्या**' पद और द्विप्र० में यहां परिवर्तित '**लड़की**' पद एकवचनान्त प्रयोग हैं, दोनों बहुवचनान्त अपेक्षित हैं। मुद्रणलिपिकर द्वारा मुद्रणह० में और तदनुसार द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां "**लड़की लड़कियों की**" पाठान्तर नितान्त अनावश्यक है। श्लोकान्त में वाक्य के स्थान पर "**मनु**" व्यर्थ पाठान्तर करके ग्रन्थ की भाषा में अव्यवस्था बढ़ाई है।

८,९,११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकार्थ की भाषा त्रुटित होने से अपपाठयुक्त हो गई है। कोष्ठकान्तर्गत सभी पाठों का परिवर्धन अत्यावश्यक है। उनके बिना न तो गणित का जोड़ ठीक बनता है, और न अर्थ में स्पष्टता तथा पूर्णता आती है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में अपूर्ण और अप-पाठ है।

१०. **अपगणना और संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और द्विप्र० में "**छत्तीस और आठ मिलके बयालीस**" अपयोग है। द्वि०सं० और मूलसं० में "**चवालीस**" संशोधित है। अन्य सभी सं० में अपयोग का संशोधन आनाकानी किये बिना कर लिया है।

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳसवनमनुसंतनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ २॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनं चतुश्चत्वारिꣳ शदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वꣳरोदयन्ति॥ ३॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳरुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳ शदक्षरा जगती जागतं तृतीय-सवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳसर्वमाददते॥ ५॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीय-सवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६॥ यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है [३।१६।१-६]॥

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। उनमें से **कनिष्ठ**—जो यह[१] पुरुष अन्नरसमय देह, और पुरि अर्थात् देह में शयन करनेवाला जीवात्मा, यज्ञ अर्थात् अतीव शुभगुणों से सङ्गत और सत्कर्त्तव्य है। इसको आवश्यक[२] है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि- विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे। और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभगुणों के वास करानेवाले होते हैं॥ १॥

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य से रहूँगा तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्यवान्[३], बलवान् होके, शुभगुणों को वसानेवाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूँ। **२४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूँगा तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूँगा और आयु भी मेरा ७० वा ८० वर्ष तक रहेगा[४]॥ २॥**

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके, सब दुष्टों को रुलानेवाले और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं॥ ३॥

जो मैं इसी प्रथम वय में, जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूँ, तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह

---

१. **त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि० सं० में "**यह**" पद त्रुटित है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, सभी सं० में "**अवश्य**" अपप्रयोग है, '**आवश्यक**' शुद्ध है। (शुद्ध प्रयोग पृ० २४/२ में द्रष्टव्य है)

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में "**आरोग्य**" अपप्रयोग है, '**आरोग्यवान्**' विशेषण शुद्ध है।

४. **मुद्रणकालीन शैलीविरुद्ध परिवर्तन**—महर्षि '**आयु**' को पुंल्लिग में प्रयुक्त करते हैं। यहां स्त्रीलिंग में द्विप्र० में मुद्रणकाल में बदला गया है। स्त्रीलिंग में प्रयोग महर्षि की भाषा शैली के विरुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में यहां शुद्ध पुंल्लिग प्रयोग है। शैलीगत एकरूपता के लिए पुंल्लिग प्रयोग ही ग्राह्य है। सभी द्वि०संस्करणों में शोधककृत शैलीविरुद्ध प्रयोग है।

मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूँ और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूँ। जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो॥ ४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे ४८ अक्षर की जगती [होती है][१], वैसे जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं॥ ५॥

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें और वे सन्तान आप-ही-आप **अखण्डित ब्रह्मचर्य-सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार-सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ।** क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर उसका लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं॥ ६॥

चतस्त्रोऽवस्थाः[२] शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्-वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति॥

[तुलना—'सुश्रुत संहिता,' सूत्रस्थान ३५। २९]

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्॥

यह सुश्रुत के सूत्रस्थान का वचन है [३५। १३]॥[३]

इस शरीर की चार अवस्थायें हैं।[४] एक '**वृद्धि**'—जो १६वें वर्ष से लेके २५वें वर्ष पर्यन्त धातुओं की बढ़ती [होती है]।[५] दूसरी[६] '**यौवन**'—जो २६वें वर्ष से लेकर [चालीसवें वर्ष तक होती है] तीसरी '**सम्पूर्णता**'—जो [इकतालीसवें] वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है।[७] चौथी '**किञ्चित्परिहाणि**'—जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातुयें पुष्ट होके पूर्णता को

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में '**होती है**' क्रियापद त्रुटित हैं। पूर्णवाक्य के लिए इनका होना आवश्यक है।

२. **अप-उद्धरणपाठ**—मूलह०, मुद्रणह० और द्विप्र० में "**तिस्त्रोऽवस्थाः**" संस्कृत पाठ है किन्तु हिन्दी में "**चार अवस्था**" अनुवाद ही मिलता है। द्वि०सं० वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में "**चतस्त्रोऽवस्थाः**" संशोधन कर लिया है।

३. **अशुद्ध पता**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**शरीरस्थान का वचन है**" अपपाठ है। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं०, अन्य सभी सं० में "**चार अवस्था**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त चाहिये।

५. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यपूर्ति के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत क्रियापाठ अपेक्षित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दूसरा**" पुंल्लिग प्रयोग है। यहां "**दूसरी**" स्त्रीलिंग प्रयोग चाहिए, क्योंकि यह अवस्था का विशेषण है, '**यौवन**' का नहीं। वेस, जग, जस, विस में संशोधित है किन्तु भद, उदयपुर में अशुद्ध है।

७. **अप-अनुवाद**—यह अनुच्छेद दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० और द्वि०सं० में अप-पाठयुक्त है। मुद्रणहस्तलेख और मूलहस्तलेख का भ्रष्टपाठ यह प्रचलित है—"**एक (वृद्धि) जो १६वें वर्ष से लेके २५वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरा (यौवन) जो २५वें वर्ष के अन्त और २६वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। (सम्पूर्णता) जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है।**"

इस पाठ में कई गणनात्मक अशुद्धियां है। पच्चीसवें वर्ष के अन्त तक वृद्धि भी है, पच्चीसवें वर्ष के आरम्भ से लेकर सम्पूर्णता भी है। अधिक चौंकाने वाली स्थिति यह है कि यौवन अवस्था को एक भी दिन उपलब्ध नहीं हो पाया क्योंकि पच्चीसवें

के अन्त और छब्बीसवें वर्ष के आदि से युवावस्था प्रारम्भ है और पच्चीसवें वर्ष के आदि से सम्पूर्णता का भी आरम्भ है, जबकि ये दो अवस्थाएं पृथक् हैं। महान् आश्चर्य तो यह है कि लगभग एक सौ तीस वर्षों से आज तक यह अपपाठ छप रहा है!

मूलप्रति सं० में संशोधन—मूलप्रति सं० में इस पाठ को इस प्रकार परिवर्तित किया है—''**एक वृद्धि जो जन्म से लेकर १६वें वर्ष पर्यन्त, दूसरा यौवन १६ में वर्ष से लेके २५वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। तीसरी सम्पूर्णता, जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है।**'' यहां गणनाएं अशुद्ध हैं।

महर्षि के शब्दों से संशोधन की पुष्टि—प्रयास करने से, पहली बार यह समाधान प्रस्तुत है जिससे इस विषयक सभी त्रुटित पाठों का समाधान हो जाता है। इस संशोधन के लिए महर्षि दयानन्द के ही वचन मिल गये हैं—

(क) 'संस्कारविधि' में उक्त उद्धरण दो स्थानों पर आता है। 'वेदारम्भ प्रकरण' के उद्धरण से कुछ स्पष्ट समाधान मिल रहा है—''**देह की चार अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, चौथी किञ्चिपरिहाणि करनेहारी अवस्था है। इनमें १६ वर्ष से आरम्भ २५वें वर्ष में पूर्ति वाली 'वृद्धि' की अवस्था है।.....दूसरी जो युवावस्था उसका आरम्भ २५वें वर्ष से और पूर्ति ४० वें वर्ष में होती है।.....तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० वे वर्ष में होती है।.....चौथी ४०वें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो तावत् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है।**'' (पृ० १४०) 'गर्भाधान प्रकरण' (पृ० ५९) के अर्थ में अवधि विभाजन असंगत है और ''**आचुतर्विंशतेः-यौवनम्**'' पाठान्तर भी है।

(ख) 'उपदेश मंजरी' में उक्त प्रमाण की व्याख्या करते हुए महर्षि बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं (क) ''**पुरातन 'सुश्रुत' 'चरक'-आदि वैद्यक के ग्रन्थों में आयु के चार भाग कल्पित किये हैं—(१) वृद्धि, (२) यौवन, (३) सम्पूर्णता और (४) हानि।.....पुरुषों की योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिए कम-से-कम चालीस वर्ष वय=आयु होनी चाहिए। निकृष्ट पक्ष में भी लड़के की पच्चीस वर्ष की वय होनी चाहिए।.....छान्दोग्य उपनिषद् में प्रातःसवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है, वह पुरुषों की 'कुमार-अवस्था' है। चवालीस वर्ष तक मध्यसवन कहा है, वही 'यौवन-अवस्था' है। और अड़तालीस वर्ष तक सायंसवन वर्णन किया है, जो 'सम्पूर्णता' की अवस्था है। इसके पश्चात् जो समय आता है वही उत्कृष्ट समय विवाह आदि के लिए माना गया है।**'' (पृ० १६) यह संशोधनार्थ प्रबल पोषक प्रमाण है। (ग) 'सत्यार्थप्रकाश' में इस अनुच्छेद के अन्तिम वाक्य में इसी व्याख्या के अनुसार **४०वां अथवा ४८ वां वर्ष** विवाह का उत्तम समय माना है। (घ) उपर्युक्त 'सुश्रुत-वचन' से पूर्व 'मनुस्मृति' (३.१) श्लोक की व्याख्या में चवालीस वर्ष का उल्लेख है और 'छान्दोग्य-उपनिषद्' के वचनों तथा अनुवाद में ग्रन्थकार ने कनिष्ठ ब्रह्मचर्य २४ वर्ष का, मध्यम ब्रह्मचर्य ४०-४४ वर्ष का और उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष का माना है। इन सब प्रमाणों से इस संस्करण के संशोधन की पुष्टि हो जाती है और ऋषि के ग्रन्थों में पाठों का तालमेल भी हो जाता है।

(ङ) '**सुश्रुत**' के वर्तमान पाठ के अनुसार वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और परिहाणि ये मध्यवय की चार अवस्थाएं है, न कि सम्पूर्ण वय की। १७ से ७० की आयु तक मध्यवय होती है। पुनः वृद्धावस्था का आरम्भ होता है। सोलह वर्ष पूर्व तक बाल्यावस्था मानी है। सुश्रुत का वर्तमान पाठ यह है—''**तत्रोनषोडशवर्षाः बालाः।.... षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्र, आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति। सप्ततेरूर्ध्वं.....वृद्धमाचक्षते।**'' (सूत्रस्थान ३५.२९)

अर्थात् सोलह वर्ष से पूर्व तक बाल्यावस्था होती है। 'सोलह से सत्तर वर्ष पर्यन्त मध्य वय=अवस्था होती है। उसके चार विभाग हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और हानि। उनमें सोलह से बीस वर्ष तक वृद्धि अवस्था, इक्कीस से तीस तक यौवन, इकत्तीस से चालीस वर्ष तक सम्पूर्णता है जिसमें सब धातुओं, इन्द्रियों, बल, वीर्य की पूर्णता होती है। इसके पश्चात् इकतालीस-वें वर्ष से लेकर सत्तर वर्ष तक कुछ-कुछ क्षीणता होती है। सत्तर से सौ वर्ष तक वृद्धावस्था होती है।'

'**चरक**' में कुछ मतान्तर हैं। आयु के तीन विभाग करके १६ वर्ष तक बाल्यावस्था और उसके ही दूसरे भाग में 'सम्पूर्ण वृद्धि की अवस्था' तीस वर्ष तक मानी गई है—''**विवर्धमानधातुगुणम्—आत्रिंशद् वर्षमुपदिष्टम्**'' (विमानस्थान ८.१३१)। ३१ से ६० वर्ष तक '**मध्य अवस्था**' होती है। ६१ से १०० वर्ष तक '**वृद्धावस्था**' मानी है। 'चरक' कहता है कि इस समय सौ वर्ष से भी अधिक आयु के लोग मिलते हैं किन्तु सामान्य आयुमान सौ वर्ष (आवर्षशतम्) ही है। 'चरक', 'सुश्रुत' ने चार अवस्थाओं का वर्गीकरण १०० वर्ष आयुमान मानकर किया है जबकि महर्षि ने वैदिक और उससे भी प्राचीन उपनिषद्-ब्राह्मण-कालीन सौ से अधिक आयुमान मानकर चार अवस्थाओं का वर्गीकरण किया है। उत्तम ब्रह्मचर्यपालन से ग्रन्थकार ने ४०० वर्ष तक की आयु लिखी है (पृ० ९५)। संदर्भ से स्पष्ट है कि ४४, ४८ वर्ष में विवाह-विधान उसी आयुमान के अनुसार है। वर्तमान आयुमान के अनुसार विवाह के अनेक विकल्प पृ० ९७ पर वर्णित हैं।

उदयपुर सं० का हास्यास्पद एवं अनर्गल उत्तर—मेरे द्वारा इस अर्थ-विषयक शंका किये जाने पर, 'उदयपुर संस्करण' के तीन लेखकों ने, मूल प्रमाण की स्पष्ट भाषा की तथा पाठ-त्रुटि की घोर उपेक्षा करके, बड़ा ही अनर्गल उत्तर दिया है। वे कहते

प्राप्त होते हैं, तदनन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न, प्रस्वेदादि द्वारा[१] बाहर निकल जाता है। [वह ६०-७० वर्ष तक 'परिहाणि' अवस्था है। अत:][२] वही ४०वां वर्ष उत्तम समय विवाह का है, उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना है।[३]

प्रश्न—क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है?

उत्तर—नहीं। जो २५ वर्षपर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे, तो १६ सोलह वर्षपर्यन्त कन्या। जो पुरुष तीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहै, तो स्त्री १७ वर्ष; जो पुरुष छत्तीस वर्ष रहै, तो स्त्री १८ वर्ष; जो पुरुष ४० वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे, तो स्त्री २० वर्ष; जो पुरुष ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे, तो स्त्री २२ वर्ष; जो पुरुष ४८ वर्षपर्यन्त[४] ब्रह्मचर्य करे, तो स्त्री २४ चौबीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवन रक्खे; अर्थात् ४८ वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये; परन्तु **यह नियम विवाह करने वाले पुरुषों[५] और स्त्रियों का है।**

और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहैं, परन्तु यह काम पूर्णविद्या वाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभके, इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है [शिक्षावल्ली, अनुवाक ९]।

ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम हैं—**(ऋतं०)** यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें, **(सत्यं०)** सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें और पढ़ावें,[६] **(तपः०)** तपस्या[७] अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि

हैं कि '**यौवन अवस्था**' ही '**सम्पूर्ण अवस्था**' है। यह भी नहीं देखा कि संस्कृत और हिन्दी में स्पष्टत: स्वतन्त्र '**चार अवस्थाएं**' लिखी हैं। अब तो ग्रन्थकार का ही प्रमाण मिल गया है। एक लेखक ने जानकारी दी है कि उक्त समाधान आयुर्वेद के एक पण्डित ने किया है। आयुर्वेदीय ग्रन्थ '**सुश्रुत**' में स्पष्टत: चार अवस्थाओं का नामोल्लेख व अवधि-विभाजन है। अब ये लेखक और पाठक देखलें कि कौन अधिक प्रामाणिक और सही है, ऋषि दयानन्द '**सुश्रुतकार**' अथवा वह अनर्गल समाधानदाता पंडित? गम्भीर चिन्तन के बिना दिये गये उत्तरों की यही हास्यास्पद स्थिति होती है।

१-२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में क्रमश: ''**द्वार से**'' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**द्वारा**' शुद्ध है। यहां ''**स्वप्न**'' पाठ के सम्बन्ध से ''**द्वारा**'' पाठ उपयुक्त है। आगे पूर्ण पाठ हेतु बृ०कोष्ठक का पाठ-परिवर्धन अपेक्षित है।

३. **त्रुटित पद**—मुद्रणह० और तीनों संस्करणों में ''**है**'' त्रुटित है। मूलहस्त० में '**है**' क्रिया है किन्तु दूसरे शब्द के साथ भूल से वह भी काट दी गई है। यह ग्राह्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पर्यन्त**' पद त्रुटित है। अग्रिम ''**पर्यन्त**'' के सम्बन्ध से यह आवश्यक है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में '**पुरुष**' एकवचन है, बहुवचन चाहिए।

६. **भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मूलसं०, द्वि०सं० में ''**पढ़ें वा पढ़ावें**'' अपपाठ है। मुद्रणह० द्विप्र० में भ्रष्टपाठ ''**पढ़ें-पढ़ावें वा**'' बनाया है। यही भ्रष्टपाठ उदयपुर में है। वेस, भद, युमी, विस, जस में अपपाठ है। जग में संशोधित है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ९२ पर ''**वायु वा जल में**'' पाठ था। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**वायु और जल**'' संशोधन किया है, वही यहां अभीष्ट है। अन्य पूरे अनुच्छेद में ''**और**'' शुद्ध प्रयोग है, अत: यहां भी ''**वा**'' के स्थान पर ''**और**'' शुद्ध प्रयोग चाहिए।

७. **अप-अर्थ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**तपस्वी**'' अप-अर्थ है, ''**तपः**'' का '**तपस्या**' अर्थ शुद्ध है। वेस, भद, युमी, जग, विस,

शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें, (**दमः०**) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोकके पढ़ें और पढ़ाते जायें, (**शमः०**) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते-पढ़ाते जायें, (**अग्नयः०**) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते-पढ़ाते जायें, और (**अग्निहोत्रं०**) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें, (**अतिथयः०**) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, (**मानुषं०**) मनुष्यसम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए[१] पढ़ते और पढ़ाते रहें, (**प्रजा०**) अर्थात् सन्तान और राज्य का[२] पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें, (**प्रजनः०**) वीर्य[३] की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें, (**प्रजातिः०**) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है[४] [४।२०४]॥

यम पाँच प्रकार के होते हैं—

[५]**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥** यह योगदर्शन का वचन है[६] [२।३०]।

अर्थात् (**अहिंसा**) वैरत्याग, (**सत्य**) सत्य ही मानना, सत्य ही बोलना[७] और सत्य ही करना, (**अस्तेय**) अर्थात् मन-वचन-कर्म से चोरी-त्याग, (**ब्रह्मचर्य**) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, (**अपरिग्रहः**) अत्यन्त लोलुपता-स्वत्वाभिमान-रहित होना; [**यमाः**] इन पाँच **यमों** का सेवन सदा करें।

नियम[८]— शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

यह योगशास्त्र का वचन है[९] [२।३२]।

(**शौच**) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (**सन्तोष**) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना; हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (**तपः**) अर्थात्

जस, उदयपुर सं० में अशुद्ध है। **संशोधन पुष्टि**—''तपः'' का सर्वत्र 'तप' अर्थ है—द्र०पृ० २२८/७, २३७/३।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह० और मूलप्रति सं० में ''**करके**'' अपप्रयोग है जबकि मुद्रणह० और द्वि०प्र० में यह पद त्रुटित है। ''**करते हुए**'' शुद्ध पाठ है। द्वि० सं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में त्रुटित है।

२. **अपपाठ और संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**राज्य के पालन**'' अपपाठ है। द्वि०सं० और मूलसं० में संशोधित कर दिया है। वेस, जग, भद, विस, जस, युमी में संशोधित है, किन्तु उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणलिपिकर ने ''**वीर्य**'' पद को त्रुटित छोड़ दिया। द्विप्र० में भी त्रुटित है।

४,६,९. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में संख्यांक ४ वाक्य के स्थान पर ''**मनु०**'', संख्यांक ६, ९ के स्थान पर ''**योगसूत्र**'' व्यर्थ पाठान्तर करके भाषा की व्यवस्था व मानकता नष्ट की है।

५. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां सूत्र से पूर्व ''**तत्र**'' अधिक पद लिखा है। 'योगदर्शन' के मूलपाठ में नहीं है। उससे दर्शनपाठ विकृत होता है। यह लेखन-प्रवाह में बोला गया शब्द है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**सत्य ही मानना, सत्य ही बोलना**'' में ''**ही**'' पद त्रुटित हैं।

८. **असंगत-शीर्षक**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इस शीर्षक के स्थान पर ''**केवल नियमों का सेवन अर्थात्**'' असंगत पाठ है। इसकी संगति कहीं नहीं है। यह कथन तो इस सूत्र की व्याख्या में अन्त में है ही।

कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान [करना][१], (**स्वाध्याय**) पढ़ना-पढ़ाना, (**ईश्वरप्रणिधानानि**) ईश्वर की भक्तिविशेष से आत्मा को [उसके] अर्पित रखना;[२] [**नियमाः**] ये पाँच **नियम** कहाते हैं।

यमों के विना, केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का ही सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़के, केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ मनुस्मृति[३] [२।२]॥

अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता[४] किसी के लिये भी श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्त्तव्यादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें। इसलिये—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

यह मनुस्मृति का श्लोक है[५] [२।२८]।

(**स्वाध्यायेन**)[६] सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (**व्रतैः**)[७] ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि नियम पालने, (**होमैः**)[८] अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सत्य-विद्याओं का दान देने,[९] (**त्रैविद्येन**) वेदस्थ कर्म-उपासना-ज्ञान-विद्याओं[१०] के ग्रहण, (**इज्यया**) पक्षेष्ट्यादि करने, (**सुतैः**) सुसन्तानोत्पत्ति, (**महायज्ञैः**) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ और (**यज्ञैः**) अग्निष्टोमादि तथा '**शिल्पविद्या**'-विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से [**इयं तनुः ब्राह्मी क्रियते**][११] यह शरीर 'ब्राह्मी' अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप 'ब्राह्मण का शरीर' बनता है।[१२-१३] इतने साधनों के विना '**ब्राह्मणशरीर**' नहीं बन सकता।

१,२,९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में क्रमशः '**करना**' क्रिया और '**उसके**' पद त्रुटित हैं। **ऋषि-हस्तलेख**—''**ईश्वर को.....अर्पित रखना**'', ''**सत्य का ग्रहण....दान देने**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में हैं।

३,५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में संख्यांक ३ के स्थान पर ''**मनु०**'' और संख्यांक ४ के वाक्य के स्थान पर भी ''**मनु०**'' व्यर्थ पाठान्तर करकेलिपिकरों ने इसी प्रकार ग्रन्थ में पाठान्तर बढ़ाये हैं।

४. **कामातुरता और निष्कामता**—**कामातुरता**=किसी भी काम अर्थात् इच्छा की पूर्ति के लिए अधीर होना। **निष्कामता**=कामना से रहित होना अर्थात् आवश्यक कर्मों के प्रति उदासीन रहना। शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों ही मनःस्थितियां उचित नहीं हैं। **मुद्रणकालीन संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० में ''**निष्कामता**'' पद त्रुटित रह गया है। द्विप्र० आदि में रखा गया है।

६,७,८,१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में कोष्ठकान्तर्गत ''**स्वाध्याय**'', ''**व्रत**'' ''**होम**'' अप-पद हैं तथा ''**विद्या**'' पद एकवचन में है। यहां कोष्ठकों में यथावत् पद चाहियें। ''**विद्या**'' पद में बहुवचन चाहिए, जैसे कि पहली पंक्ति में है।

११. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में श्लोकपठित अन्य पदों के समान बृ० कोष्ठान्तर्गत पाठ भी एकरूपता के लिए आवश्यक है।

१२. **ब्राह्मण ऐसे बनता है**—मनुस्मृति का यह प्रमाण देकर महर्षि ने वैदिक वर्णव्यवस्था की पुष्टि की है कि वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं अपितु गुण-कर्म-योग्यता से होती थी और ब्राह्मण आदि द्विज स्वतः नहीं बनते अपितु स्वाध्याय आदि विहित कर्मों के पालन से बनते हैं। इससे स्पष्ट संकेत है कि जो श्लोकविहित कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता वह '**ब्राह्मण**' आदि द्विज नहीं कहला सकता। श्लोक में '**तनुः**' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। इसका अर्थ है कि जो इन कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते न उनका ब्राह्मण वर्ण ही होता है, न शरीर ही ब्राह्मण का होता है, क्योंकि शरीर को भी कर्मों से ब्राह्मण बनाना होता है। माता-पिता से उत्पन्न शरीर को जन्म के आधार पर ब्राह्मण, शूद्र आदि मानने वालों के विरुद्ध यह प्रबल प्रमाण है।

१३. **अपपाठ**—मूलह० में ''**बनता है**'' शुद्ध पाठ है। मूलसं० में ''**बनाना है**'' अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**शरीर**

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ मनु० [२।८८]॥

जैसे विद्वान्[१] सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे [मनुष्य] मन और आत्मा को, खोटे कामों में खैंचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे।[२] क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥ मनु० [२।९३]॥

जीवात्मा इन्द्रियों के वश में होके बड़े-बड़े दोषों को निश्चित प्राप्त होता है;[३] और जब इन्द्रियों को अपने वश में करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ मनु० [२।९७]॥

जो दुष्टाचारी=अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ १॥
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ २॥

मनु० [२।१०५-१०६]॥

वेद[४] के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्याय और

बनना है'' अपवाक्य है। अग्रिम ''**बन सकता**'' क्रिया के सम्बन्ध से ''**यह शरीर.....बनता है**'' पाठ शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० १६० पर इसी श्लोकार्थ में ''**यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है**'' पाठ है।

१. **उदयपुर सं० में ऋषि के श्लोकार्थ का परिवर्तन**—ऋषि ने उपर्युक्त अर्थ में मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**विद्वान्**'' पद को ''**सारथि**'' का भी विशेषण माना है। उदयपुर सं० ने ऋषि के पाठ को अशुद्ध मानकर इस प्रकार बदल दिया—''**वैसे विद्वान् मन और आत्मा को**''। ऋषि की शैली है कि वे कहीं-कहीं अर्थ को व्यापकता देने के लिए अध्याहार करते हैं जैसे कन्या के त्याज्य कुलों को वर के लिए भी त्याज्य लिखा है (पृ० १५०/१२), विद्यार्थियों में अपेक्षित गुणों को अध्यापकों के लिए भी माना है (पृ० २०१/१२ आदि)। विद्वान् सारथि का विशेष महत्त्व होता है जैसे श्रीकृष्ण विद्वान् और योगी अर्जुन के सारथी बने थे। दूसरों पर मिथ्या आरोप लगाने वाले उदयपुर वाले अपने गिरेबान में झांककर देखें कि तीनों सं० में प्राप्त एक जैसे पाठ को बदलकर क्या उन्होंने ऋषि को मूर्ख नहीं बनाया है? और क्या यह ऋषि की विद्वत्ता पर सीधा आक्षेप नहीं है?

२. **अपविराम**—मूलह०, मुद्रणह० और द्विप्र० में '**क्योंकि**' के बाद मूललिपिकरकृत पूर्णविराम है, जो अशुद्ध है। मूलसं० और द्वि०सं० में ''**करे**'' क्रिया के बाद है। यह संशोधन उचित है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**निश्चित**' विशेषण ''**बड़े-बड़े**'' से पूर्व आने के कारण 'जो निश्चित रूप से बड़े दोष हैं', उन '**दोषों**' का विशेषण प्रतीत होता है जबकि यह क्रिया विशेषण है। स्पष्टार्थ के लिए यह '**प्राप्त**' से पूर्व होना चाहिए। तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है।**'' सभी सं० में अपपाठ है।

४. **अपप्रयोग और संशोधन**—श्लोक में केवल '**वेद**' मूल पद है, अतः सिद्धान्तानुसार केवल वेद का स्वाध्याय ही अपरिहार्य हो सकता है, अन्य शास्त्रों का नहीं। मूलह० में ''**वेदांशों**'' शुद्ध पाठ है। मुद्रणह० में ''**वेदादिशास्त्रों**'' अपपाठ बना दिया। मूलसं० में उसी को ग्रहण कर लिया है। मुद्रणकाल में उसे ठीक करके द्विप्र० में पुनः ''**वेद के पढ़ने-पढ़ाने**'' पाठ बना दिया, यह उचित

निरोध अर्थात् अननुष्ठान [=अनुष्ठान का त्याग और निषेध] नहीं होता,[१] क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता॥ १ ॥

जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्द[२] नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये; किसी दिन न छोड़ना [चाहिये][३], **क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किये हुए पुण्यरूप होते हैं।**[४] जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है॥ २ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥ मनु० [२।१२१]॥

जो सदा नम्र, सुशील, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है, उसके[५] आयु, विद्या, कीर्ति और बल; ये चार सदा बढ़ते रहते हैं।[६] और जो ऐसा नहीं करते, उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते।[७]

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ १॥
यस्य वाङ्मनसी[८] शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ २॥ मनु० [२।१५९-१६०]॥

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करें; और उपदेष्टा सदा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोले। जो धर्म की उन्नति चाहे, वह सदा सत्य में चले और सत्य का ही उपदेश करे॥ १ ॥

ही किया। अब सभी द्वि०सं० में शुद्ध है।

१. **अप-अर्थ**—मूलप्रति सं० में "**अननुष्ठान (रुकावट) नहीं होती**" अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में "**आग्रह**" पाठ है। यहां 'रुकावट' या 'आग्रह' अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु '**त्याग या निषेध करना**' है। "**अनुष्ठान का त्याग**" ही सही अर्थ है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**बन्ध**' वर्तनी है। हिन्दी में इस अर्थ में '**बन्द**' वर्तनी प्रचलित है। यहां वेस, भद ने "**बन्द**" वर्तनी स्वीकार की है और युमी, उदयपुर ने "**बन्ध**"। इस प्रकार अव्यवस्था है। (द्र०पृ० ११ पर टिप्पणी १०)

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—तीनों सं० में '**चाहिये**' क्रिया वाक्यपूर्ति हेतु आवश्यक है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है**"। "**आदि**" पद के सम्बन्ध से यहां वाक्य में बहुवचन चाहिए। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसका**' अपप्रयोग है, '**उसके**' बहुवचनात्मक शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में '**बढ़ते हैं**' पाठ बनाया है। "**बढ़ते रहते हैं**" मूलह० और मूलप्रति सं० का पाठ अधिक सार्थक है; क्योंकि व्यक्ति जब तक सेवा करता है तो तब तक उसमें गुणों की वृद्धि होती ही रहती है। यह सेवा के फल की प्राप्ति की निरन्तरतायुक्त प्रक्रिया है।

७. **ऋषि-हस्तलेख**—"**और जो....नहीं बढ़ते**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

८. **उद्धरण में पाठान्तर**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**वाङ्मनसे**" पाठ है। वर्तमान मनुस्मृति में "**वाङ्मनसी**" पाठ भी मिलता है। दोनों पाठ शुद्ध हैं। "**वाङ्मनसे**" पाठ गोविन्दनारायण और रामचन्द्रकृत टीका में उपलब्ध है। मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट आदि छह टीकाकारों ने दूसरा पाठ स्वीकार किया है। पंचम समुल्लास (पृ० २३२) पर भी यह पाठ है—"**यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः**" (कठ-उप० ३।१३)। यह पूर्वपाणिनीय वैदिक प्रयोग है जो मनुस्मृति की प्राचीनता को सिद्ध करता है। वेस, भद, जग, युमी, जस में "**वाङ्मनसे**" पाठ यथावत् है, उदयपुर ने बदल कर "**वाङ्मनसी**" किया है।

जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं; वही सब 'वेदान्त'='सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल' को प्राप्त होता है॥ २॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ मनु० [२।१६२]॥

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है; और अपमान[१] की इच्छा अमृत के समान किया करता है।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः॥ मनु० [२।१६४]॥

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु० [२।१६८]

जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र-सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।[२]

वर्जयेन्मधुमांसञ्च[३] गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि[४] यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्॥ २॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ ३॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ ४॥ मनु० [२।१७७-१८०]॥

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का [पारस्परिक][५] संग,

---

१. **अवमान की अमृत से तुलना**—यहां श्लोकोक्त '**अवमान**' का अर्थ '**अपमान**' किया जाता है। अवमान का मूल अर्थ है—'**मानप्राप्ति की भावना का न होना**'। यही '**अपमान**' का भी है—अप=अपगत=हट गया है, मान=सम्मान भाव जहां, वह अपमान है। सम्मानप्राप्ति की भावना मनुष्य को संसार में लिप्त करती है और अवमान की भावना आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाती है। रूढ़ार्थ में प्रसिद्धि होने से '**अपमान**' का '**तिरस्कार**' या '**बे-इज्जती**' अर्थ मुख्यतः ग्रहण होता है, किन्तु 'तिरस्कार' कोई ऐसा व्यवहार नहीं है जिसको अमृत के समान माना जाये। अतः यहां '**अपमान**' के मूलार्थ को ही ग्रहण करना अभीष्ट है।

२. **पुत्र-पौत्रों में शूद्रभाव**—इस कथन का यह आशय है कि जब परिवार का प्रमुख व्यक्ति वेदादि शास्त्रों का अध्ययन छोड़ देता है तो उसके अनुकरण पर अन्य परिजन भी छोड़ते जाते हैं। द्विज-सम्बन्धी कर्त्तव्यों की ओर से वे विरत होते जाते हैं। मुखिया के कारण घर का वातावरण शूद्रों जैसा बन जाता है। इस प्रकार कुछ ही समय में उस परिवार में शूद्रभाव आ जाता है।

३-४. **अप-उद्धरण**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**मासञ्च**" "**सुक्तानि**", मूलह० में "**सुक्तानि**" अपपाठ हैं। अब शुद्ध है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकोक्त भाव को स्पष्ट करने हेतु बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ चाहिए।

सब खटाइयां[६], प्राणियों की हिंसा ॥ १ ॥ अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष[१] और नाच-गान, बाजा बजाना ॥ २ ॥ द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन-आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें ॥ ३ ॥

सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्य स्खलित कभी न करे। **जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे, तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य-व्रत का नाश कर दिया ॥ ४ ॥**

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।[२] कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।[३] स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव॥ आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।[४] यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ २ ॥

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥ ३ ॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनो युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः, एष उपदेशः[५], एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४ ॥
—यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[६] [१।११]।

आचार्य, अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य को और [और आचार्या अपनी] शिष्या[७] को[८] इस प्रकार

---

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० तथा अन्य सभी सं० में '**खटाई**' एकवचन प्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है, क्योंकि संस्कृत का पद बहुवचनान्त है। ''**सब**'' पद के सम्बन्ध से भी बहुवचन होगा। **संशोधन-पुष्टि**—द्र०पृ० ५२/५, १९९/६, २५६/१३ आदि।

१. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर उसके ७६, ७७ दो पृष्ठ पलट गया। तब उसने वाक्य लिखा—''**ईर्ष्या-द्वेष आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य को.....**''। सात पंक्ति लिखने के बाद उसे भूल का ज्ञान हुआ तो उनको काटकर फिर पाठ ठीक लिखा। उसने इस प्रकार अनेक पाठ त्रुटित छोड़कर बिगाड़े हैं।

२-५. **मुद्रणप्रति, द्विप्र० में त्रुटित उद्धरण**—क्रमशः, **द्वितीय** उद्धरण द्विप्र० में त्रुटित है और द्वि०सं० में गृहीत है। **तृतीय,** दोनों हस्त० और सभी प्रतियों में त्रुटित है, किन्तु उपनिषद् के मूलपाठ में होने से ग्राह्य है। द्वि० सं० में ग्रहण नहीं किया है। **चतुर्थ,** मुद्रणहस्त० में तथा द्विप्र० में त्रुटित है। द्वि० सं० में ग्रहण कर लिया है। मुद्रणहस्त० में लिपिकर के प्रमाद से छूटा है, क्योंकि हिन्दी अनुवाद अंकित है। पंचम, द्विप्र० में त्रुटित है, द्वि०सं० में गृहीत है। भद में दूसरा उद्धरण त्रुटित है। सभी में गृहीत है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में इसके स्थान पर ''**तैत्तिरीय०**'' व्यर्थ पाठान्तर है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस पाठ में आचार्य द्वारा शिष्य और शिष्या को उपदेश करने का कथन है ''**आचार्य....अपने शिष्य और शिष्या को इस प्रकार उपदेश करे।**''''**शिष्या**'' का उल्लेख होने के कारण ''**आचार्य**'' के अतिरिक्त ''**आचार्या**'' का पाठ परिवर्धन करना अत्यावश्यक है; क्योंकि महर्षि ने जहां कहीं भी कन्याओं की चर्चा की है वहां उनके साथ आचार्या और अध्यापिका का पृथक् उल्लेख किया है। यद्यपि महर्षि का पृथक्-पृथक् शिक्षा-व्यवस्था का निर्विवाद मन्तव्य है तथापि ''**आचार्या**'' पद पठित न होने पर '**आचार्य**' से ही शिष्य और शिष्या को उपदेश करने के कथन से, कभी किसी नये पाठक को अर्थभ्रान्ति हो सकती है अथवा कोई कुतर्क कर सकता है। कारण यह है कि ग्रन्थ में अन्यत्र प्रयुक्त ऐसे वाक्यों का अर्थ स्त्री-पुरुष-परक है, जैसे—''**शिष्य और शिष्याओं को तो तुम अपने लिये समर्पित करके शुद्ध करते हो**'' (पृ० ६८१/१४), ''**उपदेश करके**

उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण [करके][१] और आचार्य के लिये प्रिय धन देकर, विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, [प्रमाद से, उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़],[२] प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़॥ १ ॥

देव=विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर।[३] जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण [हों],[४] उनको कभी मत कर॥ २ ॥

जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् और धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिये॥ ३ ॥

जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना-ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो, तो जो वे समदर्शी[५]=पक्षपातरहित, योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करनेवाले धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्तें, वैसे तू उसमें वर्ता कर। यही आदेश=आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्तना और अपना[६] चाल-चलन सुधारना चाहिये॥ ४॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ १॥ मनु० [२।४]॥

मनुष्य[७] को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकास होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि [मनुष्य][८] जो-जो कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है॥ १ ॥

शिष्य-शिष्याओं का समर्पण कराते हैं'' (पृ० ६७८/२), **''गोसांई लोग शिष्य-शिष्याओं का तन-मन-धन अपने अर्पण करा लेते हैं''** (पृ० ६८५/९) दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा अन्य सभी सं० में भी यही प्रचलित पाठ है।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''शिष्य और शिष्याओं को''** पाठ है। यहां संस्कृत-पाठ के अनुसार एकवचन का प्रयोग ही शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे सारे प्रकरण में और एक पृष्ठ आगे इस प्रकरण का उपसंहार करते समय एकवचनात्मक पाठ है और दोनों सं० में अब भी है—**''इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे।''** (द्र० पृ० १०६/६)।

१. **अपप्रयोग और उचित संशोधन**—द्वि० सं० में **''विद्याओं को ग्रहण''** क्रियारहित अपूर्ण वाक्य है, वाक्यान्त में **''करके''** क्रिया अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलह०, मूलसं० में **''विद्याओं के ग्रहण''** में **''के''** के स्थान पर **''को''** शुद्ध है।

२. **त्रुटित आवश्यक अनुवाद**—बृहत् कोष्ठकान्तर्गत अनुवाद दोनों हस्त० और तीनों सं० में त्रुटित है। संस्कृत-पाठ में है।

३. **अपपाठ**—द्विप्र० में यहां **''क्रिया करें''** बहुवचनात्मक अपपाठ है। द्वि०सं० में संशोधित है। अन्य पाठों में शुद्ध है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'हों'** क्रिया त्रुटित रह गई है।

५,६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और द्विप्र० में **''समदर्शि''** अपवर्तनी है, द्वि०सं० और मूलसं० में संशोधित है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में **'अपनी'** स्त्रीलिंग अपप्रयोग है, **'अपना'** शुद्ध प्रयोग है। सभी द्वि०सं० में संशोधित है।

७,८. **अपपद एवं त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में वाक्यारम्भ में संख्यांक ७ पर **''मनुष्यों''** बहुवचन का प्रयोग अशुद्ध है। श्लोक-पदों तथा भाषा के अनुसार एकवचनात्मक प्रयोग शुद्ध है। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में

आचारः परमो[१] धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्त्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥ २॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥ ३॥

मनु० [१।१०८-१०९]॥

कहने, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहै॥ २॥

क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है, वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है॥ ३॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ४॥ मनु० [२।११]॥

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति,[२] पङ्क्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिये॥ ४॥ क्योंकि—

[३]वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ ५॥ मनु० [२।१२]॥

वेद=श्रुति, स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त '**मनुस्मृति**'-आदि शास्त्र; सत्पुरुषों का आचार=जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वरोक्त-प्रतिपादित कर्म, और अपने आत्मा का प्रिय[४] अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण हैं[५]; अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। **जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम 'धर्म' और उससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को 'अधर्म' कहते हैं॥ ५॥**

यहां संख्यांक ८ पर '**मनुष्य**' पद त्रुटित है। वाक्यरचना की दृष्टि से इसका प्रयोग आवश्यक है। सभी सं० में यही पाठ-स्थिति है।

१. **पाठान्तर**—"**परमः**" के स्थान पर ग्रन्थ में अन्यत्र '**प्रथमः**' पाठ मिलता है (समु० १०, पृ० ४८२)। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यहां "**प्रथमः**" है, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**परमः**" पाठ है। दशम समु० में सभी सं० में "**परमः**" पाठ है।

२. **जाति का वैदिक व्यवस्था सम्मत अर्थ**—समुदाय, वर्ण या वर्ग। जातिबाह्य करने का अभिप्राय इतना ही है कि उसका संग नहीं करना चाहिए। वैदिक शास्त्र मनुस्मृति आदि में '**जाति**' का प्रयोग '**वर्ण**' अर्थ में मिलता है—"**आचार्यस्तु यां जातिं विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या.....**" (मनु० २.१४८) अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार के द्वारा अध्यापनपूर्वक आचार्य जाति=वर्ण को उत्पन्न करता है। यह वह जाति नहीं है जो माता-पिता से जन्म से ही प्राप्त होती है। यह जाति तो गुरुकुल में मिलती है और वह भी आचार्य के द्वारा। यह 'वर्ण' ही प्राप्त हो सकता है अर्थात् ब्राह्मण आदि समुदाय। जन्मगत जाति कभी आचार्य के द्वारा नहीं प्राप्त होती, वह तो माता-पिता से प्राप्त होती है। अतः वैदिक ग्रन्थों में 'जाति' का अर्थ 'वर्ण' ग्रहण करना चाहिये।

३. **पाठान्तर**—मनुस्मृति में "**श्रुतिः**" के स्थान पर "**वेदः**" पाठ प्राप्त है। दशम समु० में '**वेदः**' पाठ है (पृ० ४७७)।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**आत्मा में प्रिय**" अपप्रयोग है। श्लोक में षष्ठी विभक्ति होने से उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—"**आत्मा की पवित्रता**" (पृ० १०७/५)।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**हैं**' क्रिया त्रुटित रह गई है। इनके बिना वाक्यरचना नहीं होती।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ ६॥ मनु० [२।१३]॥

जो पुरुष अर्थ=सुवर्ण, रत्न आदि[१] और काम=स्त्रीसेवनादि में नहीं फसे हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें; क्योंकि **धर्म-अधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता॥ ६॥**

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे।

और विशेषकर राजा, इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं, वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें, तो विद्या, धर्म, राज्य और धन आदि की बढ़ती कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन [होने से], और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से, ब्राह्मणादि सब वर्ण छल-कपट में फसके, विद्याभ्यास, धर्म को छोड़[२] पाखण्ड में ही फस जाते हैं।

और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास [करते हैं][३] और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते। और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्रों[४] का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते, इसलिये वे विद्या-व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते। और **जब सब वर्णों में विद्या-सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप, अधर्मयुक्त मिथ्या-व्यवहार को नहीं चला सकता।**

इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि ही होते हैं। इसलिये सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये।

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पाँच प्रकार से होती है—

एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के[५] अनुकूल हो, वह-वह 'सत्य' और उसके विरुद्ध 'असत्य' है।

दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम के[६] अनुकूल वह-वह 'सत्य' और जो-जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध है, वह

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणप्रति में "**सुवर्णादि रत्न**" अपपाठ लिखा है। वही द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ त्रुटित है—"**छल-कपट में फस के, विद्याभ्यास, धर्म को छोड़**" मुद्रणहस्त० में यह लिपिकर से छूट गया है। मूलह०, मूलसं० में है। सभी द्वि०सं० में त्रुटित है।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**करते हैं**' क्रिया पद त्रुटित रह गये हैं। इनके बिना वाक्य नहीं बनता।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचन '**सत्यशास्त्र**' अपपाठ है। "**वेदादि**" पद के सम्बन्ध से बहुवचन आयेगा।

५,६,८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर "**से**" विभक्ति पद है, हिन्दी व्याकरणानुसार '**के**' अपेक्षित

सब 'असत्य' है। जो कोई कहे—''विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ'', ऐसा कथन[७] सृष्टिक्रम के[८] विरुद्ध होने से असत्य है।[९]

तीसरी—'आप्त' अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों के संग[१] [और] उनके उपदेश के अनुकूल है वह-वह 'ग्राह्य', और जो-जो विरुद्ध है वह-वह 'अग्राह्य' है।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता और विद्या के अनुकूल, अर्थात् जैसे[२] अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूँगा, तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा।

और **पाँचवीं**—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।

इनमें से **प्रत्यक्ष** [आदि][३] के लक्षणादि में जो-जो नीचे सूत्र लिखेंगे, वे-वे सब 'न्यायशास्त्र' के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो। [प्रथम **प्रत्यक्ष**—][४]

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥[५]

न्याय०, अध्याय १॥ आह्निक १॥ सूत्र ४॥

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित[६] सम्बन्ध होता है, और इन्द्रियों के साथ मन[७] और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं। परन्तु जो **(अव्यपदेश्यम्)**[८] अर्थात् संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह, वह[९] ज्ञान न हो। जैसे[१०], किसी ने किसी से कहा कि 'तू जल ले

है। **संशोधन-पुष्टि**—अन्यत्र '**के**' शुद्ध प्रयोग है, द्रष्टव्य पृ० १११ पर पंक्ति १४ में ''**सृष्टिक्रम के विरुद्ध**'' ''**सृष्टिक्रम के अनुकूल**''।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां '**वह**' प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**ऐसा कथन**'' संशोधन किया है।

९. **ऋषि-हस्तलेख**—''**सृष्टिक्रम.....असत्य है**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

१. **अपपाठ**—दोनों सं० में यह अस्पष्ट पाठ है—''**निष्कटियों का संग, उपदेश के अनुकूल है**''। उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—अन्यत्र यही परीक्षाविधि इस प्रकार लिखी है—''**विद्वानों के संग से ज्ञानवृद्धि करके।**'' (पृ० ६९२/८)

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है। अग्रिम ''**वैसे**'' पद के सम्बन्ध से ''**जैसे**'' शुद्ध है। उदाहरण होने के कारण भी '**जैसे**' पद अपेक्षित है।

३-४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**आदि**' और '**प्रथम प्रत्यक्ष**' पद त्रुटित रह गये हैं।

५. **सरलसूत्रार्थ**—'(इन्द्रिय-अर्थ) आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का अपने ग्राह्य विषयों रूप, शब्द, गन्ध आदि के साथ (सन्निकर्ष—उत्पन्नम् ज्ञानम्) निकट-निर्बाध सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान है, जो कि (अव्यपदेश्यम्) केवल व्यपदेश=शब्द से कथितमात्र न हो अपितु मन-आत्मा से अनुभूत हो, (अव्यभिचारि—) अविनाशी अर्थात् अपरिवर्तनीय हो, (व्यवसायात्मकम्) जो निश्चयात्मक=सर्वथा संदेहरहित हो (प्रत्यक्षम्) उसको 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से प्राप्त ज्ञान कहते हैं।' प्रत्यक्ष प्रमाण के इन सभी भेदों के उदाहरण ऊपर मूलपाठ में वर्णित हैं।

६. **अपवर्तनी और संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**आवर्णरहित**'' अपवर्तनी है। अब सभी सं० में संशोधित है।

७. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मन**'' के बाद ''**का**'' अनावश्यक पद है। यह वाक्य को विकृत कर रहा है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां '**व्यपदेश्य**' पद प्रदर्शित है। सूत्र और अर्थ के अनुसार ''**अव्यपदेश्य**'' प्रयोग ही वांछित है। **अव्यपदेश्य**=जो केवल शब्द द्वारा बोध्य है वह ज्ञान न हो, अर्थात् जो आत्मानुभवजन्य हो, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

९. **अपविराम**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**वह-वह**'' अपप्रयोग है। यह युग्म-प्रयोग नहीं है, अपितु पहले '**वह**' पद का सम्बन्ध पूर्व परिभाषा से है, दूसरे '**वह**' पद का सम्बन्ध अगले ''**वह ज्ञान न हो**'' से है। अतः यहां दोनों के मध्य अल्पविराम होगा।

आ' वह लाके, उसके पास धरके, बोला कि ''यह जल है''। परन्तु वहाँ 'ज, ल' इन[१] दो अक्षरों की संज्ञा को,[२] न लाने, और न मंगवाने वाला देख सकता है; किन्तु जिस पदार्थ का नाम 'जल' है, वही 'प्रत्यक्ष' होता है। और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'शब्दप्रमाण' का विषय है। (**अव्यभिचारि**)' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके [उसके][३] पुरुष [होने] का निश्चय कर लिया। जब दिन में उसको देखा, तो रात्रि का पुरुष-ज्ञान नष्ट होकर, स्तम्भ-ज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम 'व्यभिचारी'[४] है। (**व्यवसायात्मकम्**)— किसी ने दूर से नदी की बालू देखके कहा कि 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, 'जल है वा और कुछ है?' 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त?' जब तक एक निश्चय न हो, तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है; किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी[५] और निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी को '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं।

दूसरा **अनुमान**—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥[६]

न्याय०, अ० १। आ० १। सू० ५॥

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी वा एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को '**अनुमान**' कहते हैं। जैसे, पुत्र को देखके पिता का,[७] पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि का,[८] जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक, '**पूर्ववत्**'—जहाँ कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो, वह 'पूर्ववत्' है।[९] जैसे बद्दलों को देखके वर्षा का,[१०] विवाह को देखके सन्तानोत्पत्ति का,[११] पढ़ते हुए

युमी, विस में शुद्ध है, उदयपुर सं० में अशुद्ध है, वेस, जग, जस, भद में भ्रान्ति से दूसरा ''**वह**'' पद ही उड़ा दिया।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है। उदाहरण के लिए '**जैसे**' प्रयोग शुद्ध होता है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**इस**' अपप्रयोग है, '**इन**' शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में संशोधित है। पूर्वापर में प्रयुक्त ''**ज, ल**'' अक्षरों का ही यहां प्रयोग संगत है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**को**' विभक्ति पद त्रुटित रह गया है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**उसके**' और '**होने**' पद अपेक्षित हैं।

४,५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में कहीं ''**अव्यभिचारी**'' तो कहीं ''**अव्यभिचारि**'' वर्तनी हैं। हिन्दी वर्तनी और भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता तथा मानकता की दृष्टि से ''**अव्यभिचारी**'' वर्तनी सर्वत्र ग्राह्य है। **संशोधनपुष्टि**—ग्रन्थ में बहुत्र यही वर्तनी प्रयुक्त है, जैसे इसी पृष्ठ पर पंक्ति ५ में सभी सं० में है।

६. **सरलसूत्रार्थ**—'(अथ) प्रत्यक्ष के बाद अब अनुमान का लक्षण किया जाता है। (तत्पूर्वकम्) प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् उस प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त ज्ञान के अनुसार (त्रिविधम्-अनुमानम्) तीन प्रकार का 'अनुमान' प्रमाण या ज्ञान हुआ करता है—(पूर्ववत्) जहां पूर्व अर्थात् कारण के ज्ञान से कार्य का अनुमान किया जाये, (शेषवत्) शेष अर्थात् जहां कार्य के ज्ञान से कारण का अनुमान किया जाये, (सामान्यतोदृष्ट) जहां समानता के अनुसार दृष्ट पदार्थ के अदृष्ट अर्थ या अदृष्ट वस्तु का अनुमान किया जाये।' 'अनुमान' अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान, के अनु=पश्चात् उसके अनुसार होने वाला ज्ञान। अनुमान प्रमाण के भेदों के उदाहरण ग्रन्थ में वर्णित हैं।

७-८,१०-११. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इन सभी स्थानों पर '**का**' कारक पद त्रुटित है। व्याकरणानुसार विभक्तिपद विभिन्न वाक्यखण्डों का एक नहीं होता और न पद से दूर होता है। सभी सं० में 'का' कारक प्रत्यय त्रुटित है।

९. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह वाक्य अस्थान में है। ''**शेषवत्**'' और ''**सामान्यतोदृष्ट**'' की लक्षण शैली के समान यह लक्षण भी ''**पूर्ववत्**'' शीर्षक के पश्चात् तथा उदाहरणों से पूर्व होना चाहिए। सभी सं० में स्थानभ्रष्ट पाठ है।

विद्यार्थियों[१] को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि। दूसरा, '**शेषवत्**'— अर्थात् जहाँ कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे, नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके 'अनादि कारण' का, सृष्टि में 'रचना-विशेष' देखके कर्त्ता ईश्वर का,[२] सुख-दुःख देखके पुण्य-पाप के आचरण का ज्ञान होता है,[३] इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा, '**सामान्यतोदृष्ट**'— जो कोई किसी का कार्य-कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो। जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता, वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना विना गमन के कभी नहीं हो सकता। '**अनुमान**' शब्द का अर्थ यही है कि '**अनु**' अर्थात् '**प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्**'=जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो; जैसे, धूम को[४] प्रत्यक्ष देखे विना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

तीसरा **उपमान**—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।।[५] न्याय०, अ० १॥ आ० १॥ सू० ६॥

जो प्रसिद्ध=प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको '**उपमान**' कहते हैं। '**उपमीयते येन तदुपमानम्**'=जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा कि ''तू देवदत्त के साथी[६] विष्णुमित्र को बुला ला।'' वह बोला कि ''मैंने उसको कभी नहीं देखा''। उसके

---

१. **अपवर्तनी और संशोधन**—मूलह० और द्विप्र० में ''**विद्यार्थीयों**'' अपवर्तनी है। मुद्रणह० में ''**विद्यार्थी**'' अपप्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से परिवर्तित अपवाक्य**—मुद्रणलिपिकर द्वारा पद त्रुटित रह जाने से मुद्रणह०, द्विप्र० में जो अनुमान से परिवर्तन हुआ है उसके कारण यह वाक्य महर्षि के व्यापक अर्थ को प्रकट नहीं करता। महर्षि इस वाक्य में दो '**शेषवत्**'-अनुमानों पर प्रकाश डाल रहे हैं—**एक, सृष्टि-उत्पत्ति के प्रवाह को देखकर अनादिकारण का, दूसरा—सृष्टि में रचनाविशेष को देखकर उसके रचयिता ईश्वर का।** द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य को एक कर देने से महर्षि का व्यापक अभिप्राय नष्ट हो गया। द्विप्र०, द्वि०सं० का वाक्य है—''**सृष्टि को देखके अनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का**''। दो तथ्य हैं—एक, सृष्टि-प्रक्रिया, जो दृश्य और अदृश्य है। दूसरी—सृष्टि की रचना की क्रिया, इस दृश्य रचना-क्रिया से ही व्यक्ति कर्त्ता 'ईश्वर' का अनुमान करता है। यह गलती इस प्रकार हुई है कि मूलहस्त० से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणहस्तलेख में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से यह वाक्य त्रुटित रूप में लिखा गया—''**सृष्टि को देखके अनादि कारण का, सृष्टि को देखके कर्त्ता ईश्वर का**''। यहां ''**रचनाविशेष**'' महत्त्वपूर्ण पद छूटा रह गया। मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है तथा ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित अपूर्ण पाठ है।

३. **सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में 'शेषवत्' के उदाहरण में यह भ्रष्ट पाठ मिलता है—''**पाप-पुण्य के आचरण देखके सुख-दुःख का ज्ञान होता है।**'' मूलप्रति, वेस, जग, जस, उदयपुर सं० में इसको संशोधित कर दिया है, युमी, भद में टिप्पणी में संशोधन है, जो व्यर्थ है। प्रतीत होता है कि लिपिकर ने लिखते समय शीघ्रता से आगे-पीछे लिख दिया, क्योंकि दर्शनों के वेत्ता ग्रन्थकार ऐसी अशुद्धि कभी नहीं कर सकते। बाद में भी न मुद्रणलिपिकर ने, न द्वि०प्र० के शोधकों और आदि-सम्पादकों ने इस पर ध्यान दिया। दुःख है कि अनेक संस्करणों तक यही सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्ट पाठ छपता रहा है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**के**' विभक्ति पद है। यहां '**को**' कारक प्रत्यय अपेक्षित है।

५. **सरलसूत्रार्थ**—'(प्रसिद्ध-साधर्म्यात्) पहले से ज्ञात साधर्म्य=सादृश्य, समरूपता के ज्ञान के आधार पर (साध्य-साधनम्) सिद्ध करने योग्य अभीष्ट ज्ञान या पदार्थ-ज्ञान को सिद्ध करना=प्राप्त करना (उपमानम्) 'उपमान' नामक प्रमाण कहाता है। उपमान अर्थात् यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कराने में जो उप=सादृश्य के आधार पर बोधक ज्ञान है।' इसके उदाहरण मूल में वर्णित हैं।

६. **अपपाठ—पं० मीमांसक जी** के मत से, यहां दोनों हस्त०, तीनों सं० भद, उदयपुर सं० में ''**देवदत्त के सदृश**'' जो पाठ प्राप्त है, वह अपपाठ है, '**देवदत्त के साथी**' पाठ उचित है। सदृशता का कथन आगे संगत बनेगा जब वह किसी को देखना शुरू करेगा। ''**सदृश**'' ऋषि ने लिखा है।

पाठ-निष्कासन अनुचित—वेस, युमी, जग, विस, जस में ''**देवदत्त के सदृश**'' पाठ को शुद्ध न करके बिलकुल निकाल ही दिया है, जो अनुचित है। इसके विना ''**जैसा यह देवदत्त है**'' इस अग्रिम पृष्ठ के वाक्य की संगति नहीं बनेगी।

स्वामी ने उससे कहा कि ''जैसा यह देवदत्त है, वैसा ही विष्णुमित्र है;'' वा ''जैसी यह गाय है, वैसा ही गवय अर्थात् रोजा[१]=नीलगाय होती है''। जब वह वहाँ गया और देवदत्त के सदृश जिसको देखा, निश्चय जान लिया[२] कि 'यही विष्णुमित्र है', उसको ले आया; अथवा किसी जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको जान लिया कि इसी का नाम 'गवय' है।

चौथा **शब्दप्रमाण—**

आप्तोपदेशः शब्दः॥ न्याय०, अ० १। आ० १। सू० ७॥

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित [होकर][३] सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थ [हैं उनका] ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है, जो ऐसे पुरुष [के उपदेश], और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश 'वेद' हैं, उन्हीं को '**शब्दप्रमाण**' जानो।[४]

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्॥

न्याय०, अ० २। आ० २। सू० १॥

[अर्थ—प्रमाण केवल चार ही नहीं हैं, क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इनको भी प्रमाण माना है। अतः प्रमाण आठ हैं।][५]

पांचवां **ऐतिह्य—**

[इतिहासो नाम वृत्तम्=][६] जो '**इति ह**' अर्थात् इस प्रकार का था, उसने इस प्रकार किया। अर्थात्

---

१. **व्यर्थ पाठान्तर**—मूलहस्त० में ''**रोजा**'' पद नीलगाय के लिए प्रयुक्त किया है जो देशज है। मुद्रणलिपिकर ने उसको हटाकर उसके स्थान पर ''**नीलगाय**'' रख दिया है। मूलह० में दोनों का उल्लेख होने से यहाँ दोनों का ग्रहण है।

२. **मुद्रणप्रति में अपपाठ और व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यह वाक्य इस प्रकार परिवर्तित है—''**देवदत्त के सदृश उसको देख, निश्चय कर लिया कि यही विष्णुमित्र है।**'' मूलह० का पाठ उत्तम है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**उसको**'' पद परिवर्धित है, किन्तु वहां ''**उसको**'' के स्थान पर ''**जिसको**'' पाठ उचित है। वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर आदि सं० में ''**जिसको**'' अपप्रयोग है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में '**होकर**' क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्य नहीं बनता।

४. **सिद्धान्तविरुद्ध संदेहमूलक अपवाक्य और अपविराम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य संदेहमूलक अपवाक्य है—''**जितने पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है, जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो।**'' यहां लिपिकर से कुछ पाठ छूट गया है। यहां यह संदेहजनक अर्थ प्रतीत हो रहा है कि पुरुष और परमेश्वर दोनों के उपदेश वेद हैं। अतः स्पष्टार्थ के लिए उपर्युक्त संशोधन आवश्यक है। इस अपवाक्य के अतिरिक्त ''**होता**'' के बाद अप-पूर्णविराम भी वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में है। मूलसं० में 'अल्पविराम' शुद्ध है, क्योंकि यह सम्पूर्ण एक ही वाक्य है। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर ''**पुरुष**'' प्रयोग के साथ '**उपदेश**' लिखना छोड़ गया। इस कारण वाक्य अप-अर्थ प्रकट कर रहा है। **संशोधन-पुष्टि**—वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, यह सिद्धान्त तो ऋषि ने अपने ग्रन्थों में पदे-पदे वर्णित किया है। जहां आप्त प्रमाण की परिभाषा दी है वहां आप्तपुरुष के उपदेश ही प्रमाण माने हैं—''**सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उसको शब्द प्रमाण में गिनते हैं।**'' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय, पृ० १४) ''**जैसे ज्ञान से मोक्ष होता है, यह आप्तों का उपदेश शब्द प्रमाण का उदाहरण है।**'' (वही, पृ० ३८) यहां पुरुष के साथ ''**उपदेश**'' पद का प्रयोग है। इन प्रमाणों से पाठ-निर्धारण का आधार स्पष्ट हो जाता है।

५. **त्रुटित आवश्यक सूत्रार्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सूत्र का अर्थ छूट गया है जो महर्षि की पूर्वापर शैली के अनुसार यहां होना चाहिए था। आवश्यक जानकर दे दिया है। लिपिकर के साथ-साथ यह त्रुटि आदि-सम्पादक की असावधानी से है।

किसी के जीवन-चरित्र का नाम '**ऐतिह्य**' है।

छठा **अर्थापत्ति**—

'**अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः**' [=''जो एक बात किसी ने कही हो उससे विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे'' वह अर्थापत्ति कहाती है][१] केनचिदुच्यते—'**सत्सु घनेषु वृष्टिः, सति कारणे कार्यं भवतीति**'। **किमत्र प्रसज्यते**—'**असत्सु घनेषु-वृष्टिः, असति**[२] **कारणे च कार्यं न भवतीति**'=जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'बद्दल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है'। इससे, विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि 'विना बद्दल वर्षा और विना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता।'

सातवाँ **सम्भव**—

'**सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः**[३]'=[जिस कार्य की सृष्टिक्रमानुकूल और युक्ति-प्रमाण से होने की संभावना हो, वह 'संभव' है, जैसे-] कोई कहे कि 'माता-पिता के सङ्ग के विना सन्तानोत्पत्ति [हुई][४], किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तैराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे और वन्ध्या[५] के पुत्र और पुत्री का विवाह किया', इत्यादि सब बातें असम्भव हैं। क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध हैं, और जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वही '**सम्भव**' है।

आठवाँ **अभाव**—

'**न भवति यस्मिन् सोऽभावः**[६]'=[जिस कार्य में होने का भाव न हो वह 'अभाव' है][७] जैसे

---

६. **ऐतिह्य का त्रुटित आवश्यक निर्वचन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ऐतिह्य का निर्वचन भी सूत्रार्थ के साथ-साथ लिपिकर और आदि-सम्पादक के प्रमाद से छूटा हुआ है। महर्षि की शैली यह है कि उन्होंने पहले सभी प्रमाणों के नामों का निर्वचन दिया है। उसी शैली के अनुरूप पाठ को पूर्ण बनाने हेतु यह निर्वचन तथा हिन्दी-अर्थ महर्षि के शब्दों में '**उपदेश मंजरी**' पुस्तक से यहां दे दिया है। (उप० मं० ८, पृ० ५३) वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह पाठ त्रुटित है। छूटा हुआ हिन्दी-अर्थ पूर्णपाठ हेतु महर्षि के शब्दों में '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' पृ० ३९-४० से दिया है। वेस, भद, जग, युमी, उदयपुर आदि सभी सं० में त्रुटित है।

२. **अपपाठ**—मूलह० में अपपाठ है—''**वृष्टिरसि कारणे**''। मुद्रणह० में भी लिपिकर ने भी अन्धानुकरण से यही लिखा, किन्तु शोधक ने शुद्ध कर दिया। द्विप्र० में फिर अशुद्ध छपा—''**असत्सु घनेषु वृष्टिः सति कारणे**''। अब द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है, किन्तु ''**असत्सु घनेषु अवृष्टिः**'' पाठ बनाकर उदयपुर सं० ने भ्रष्ट कर दिया और एक वाक्य के दो बना दिये।

३. **त्रुटित आवश्यक अर्थ**—इसका भी बृहत् कोष्ठकान्तर्गत हिन्दी अर्थ दोनों हस्त० में लिपिकरों ने छोड़ दिया है। सभी में त्रुटि है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**माता-पिता के सङ्ग के विना**'' पाठ है, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**सङ्ग**'' हटा दिया है। माता-पिता के होते हुए भी उनके संग के बिना उत्पत्ति असंभव है। पाठक ध्यान दें कि इन उदाहरणों की पृष्ठभूमि में मत-मतान्तरों के धर्मग्रन्थों में वर्णित असम्भव कथाएं हैं, जैसे—बृहस्पति द्वारा कच को, और श्रीराम द्वारा मृतक वानरसेना को जीवित करना, श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाया जाना, श्रीराम के नामयुक्त पत्थरों का समुद्र में तैरना, यमराज के दूतों के सिर पर सींग होने की कल्पना पौराणिक ग्रन्थों में वर्णित है। माता-पिता के संग के बिना (ईश्वरीय आदेश से) ईसा की उत्पत्ति, मृतकों को जिलाना 'बाइबल' में वर्णित हैं। चन्द्रमा के टुकड़े करना 'कुरान' में वर्णित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**हुई**' क्रिया त्रुटित रह गई है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में यही अप एवं त्रुटित पाठ है।

५. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**बन्ध्या**'' अपवर्तनी है। मुद्रणह०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में यह अपपाठ है—''**न भवन्ति यस्मिन् सोऽभावः।**'' देखिए, 'सम्भव' प्रमाण में एकवचन है—''**सम्भवति**''। युमी, विस, जग और मूलसं० में संशोधित है, वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

किसी ने किसी से कहा कि 'हाथी ले आ' वह[१] वहाँ हाथी का 'अभाव' देखकर, जहाँ हाथी था, वहाँ से ले आया।

ये आठ प्रमाण [हैं]।[२] इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं। इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से[३] मनुष्य सत्यासत्य का निश्चय कर सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां[४] तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्॥ वै०, अ० १। आ० १। सू० ४॥

मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर '**साधर्म्य**' अर्थात् जो तुल्य धर्म है, जैसे[५]—पृथिवी जड़ और जल भी जड़; '**वैधर्म्य**' अर्थात् [जो विपरीत धर्म है, जैसे—][६] पृथिवी कठोर और जल कोमल; इसी प्रकार से '**द्रव्य**', '**गुण**', '**कर्म**', '**सामान्य**', '**विशेष**' और '**समवाय**' इन[७] छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान से '**निःश्रेयसम्**'=मोक्ष को प्राप्त होता है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

वै०, अ० १। आ० १। सू० ५।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव '**द्रव्य**' हैं।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्॥[८] वै०, अ० १। आ० १। सू० १५॥

'**क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिँस्तत् क्रियागुणवत्**'=जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहें, उसको '**द्रव्य**' कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं। तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन गुणवाले तो हैं, किन्तु क्रिया-वाले नहीं। **(समवायि०) 'समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि, प्राग्वृत्तित्वं कारणं, समवायि च तत्कारणं च**

---

७. **त्रुटित अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में हिन्दी अर्थ त्रुटित है। शैली के अनुसार बृहत् कोष्ठान्तर्गत पाठ का होना आवश्यक है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यहां "**उसने**" अपप्रयोग है। द्वि० सं० में "**वह**" संशोधित है।

२. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**हैं**' क्रिया त्रुटित रह गई है।

३. **अपप्रयोग और संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में एकवचनात्मक अपप्रयोग है—"**इस पांच प्रकार की परीक्षा से**" मूलह०, मुद्रणह० में "**उन पांच प्रकार की परीक्षा से**" अधिक विकृत पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित कर दिया है।

४. **त्रुटित उद्धरण और संशोधन**—मूलह० में "**पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां**" पाठ त्रुटित है। ऋषि ने संशोधन समय "**पदार्थानां**" तो जोड़ दिया किन्तु अगला पद त्रुटित ही रह गया। मुद्रणह०, द्विप्र० में है जबकि हिन्दी में इसका अर्थ विद्यमान है। मूलसं० में परिवर्धन कर लिया है, वेस, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में भी परिवर्धित है; किन्तु द्वि०सं०, भद में त्रुटित पाठ ही आज तक चल रहा है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जैसा**" अपप्रयोग है। '**जैसे**' अभीष्ट है।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है, पूर्ववाक्यवत् ग्राह्य है।

७. **अपप्रयोग और संशोधन**—मूलप्रति सं० में '**इन**' पद त्रुटित है। द्विप्र० में "**ये**" अपप्रयोग है, द्वि०सं० में गृहीत है। वेस, भद, युमी में संशोधित है, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

८. **सरल सूत्रार्थ**—'(क्रिया-गुणवत्) जो क्रिया और गुण से सदा युक्त हो अर्थात् जो क्रिया और गुण का आश्रय है। बिना द्रव्य के न क्रिया होती है, न बिना द्रव्य के गुण रहता है। (समवायि-कारणम्) उत्पन्न होनेवाले कार्यों के साथ जिसका अविच्छेद्य=नित्य सम्बन्ध रहता है, (द्रव्यलक्षणम्) यह द्रव्य का लक्षण=परिभाषा है।' द्रव्य अर्थात् जो क्रिया और गुणों का आधारभूत मूल तत्त्व है।

समवायिकारणम्' '**लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्**'=जो मिलने के स्वभावयुक्त, कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, उसको '**समवायिकारण**' कहते हैं।[१] जिससे लक्ष्य जाना जाय; जैसे, आँख से रूप जाना जाता है, उसको '**लक्षण**' कहते हैं।[२]

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० १॥

जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है, वह '**पृथिवी**' कहाती है।[३]

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः॥[४] वै०। अ० २। आ० २। सू० ३॥

पृथिवी में **गन्ध** गुण स्वाभाविक है और रूप, रस और स्पर्श [क्रमशः] अग्नि, जल और वायु के योग से हैं[५]। वैसे ही जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक [गुण][६] है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० २॥

रूप, रस और स्पर्शवान्, द्रवीभूत और कोमल है, सो '**जल**' कहाता है। परन्तु जल का स्वाभाविक गुण '**रस**' [है];[७] तथा रूप और स्पर्श [क्रमशः][८] अग्नि और वायु के योग से हैं।

अप्सु शीतता॥ वै०, अ० १। आ० २। सू० ५॥

और '**जल**' में शीतलत्व गुण भी स्वाभाविक है।

तेजो रूपस्पर्शवत्॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० ३॥

जो रूप और स्पर्शवाला है, वह '**तेज**' है; परन्तु इसमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है।

स्पर्शवान् वायुः॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० ४॥

स्पर्श गुणवाला '**वायु**' है; परन्तु इसमें भी उष्णता, शीतता [क्रमशः][९] तेज और जल के योग से है।

त आकाशे न विद्यन्ते॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० ५॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं हैं; किन्तु '**शब्द**' ही **आकाश** का गुण है।

---

१. **पाठ भ्रष्ट होने की कहानी**—मूलहस्त० में यह पाठ है—''**कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, जिससे क्रिया और गुण युक्त हो, उसको द्रव्य कहते हैं।**'' यहां ''**पूर्वकालस्थ हो**'' के बाद '**समवायी कारण कहते हैं**' पाठ त्रुटित रह गया, जो संस्कृत में है। मुद्रणलिपिकर ने पुनरुक्त मानकर ''**जिससे क्रिया और गुण युक्त हो**'' पाठ हटा दिया जबकि ''**उसको द्रव्य कहते हैं**'' हटाना तथा 'समवायी कारण' नाम जोड़ना भूल गया, जिससे द्विप्र० में यह अशुद्ध पाठ छपा—''**पूर्वकालस्थ हो, उसी को द्रव्य कहते हैं।**'' जबकि यहां ''**समवायी कारण**'' नाम आना चाहिए। द्वि०सं०, मूलसं०, वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सभी में भ्रष्टपाठ है।

२. **ऋषि-हस्तलेख**—''**जिससे लक्ष्य.....कहते हैं**'' पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य के स्थान पर यह व्यर्थ पाठान्तर किया है—''**रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली पृथिवी है।**''

४,५,६. **मुद्रणलिकिर के प्रमाद से त्रुटित पाठ व पाठग्रहण**—४ संख्यांकित पाठ मूलह० में ऋषि-हस्तलेख में हैं जिन्हें मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से छोड़ दिया। ऋषि ने मुद्रणह० में अपने हाथ से फिर सारा पाठ लिखा। ५ संख्यांकित वाक्य पाठत्रुटि और भ्रान्ति के कारण ऊपर के सूत्रार्थ में रख दिया है जो मूलह० के ऋषिलेख की दृष्टि से गलत है, अप्रासंगिक भी है।

७-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित हैं। पाठ की स्पष्टता एवं पूर्णता के लिए आवश्यक हैं।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० २०॥

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह '**आकाश**' का लिङ्ग है।

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० २५।

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से 'शब्द', स्पर्श गुणवाली भूमि आदि का गुण नहीं है; किन्तु शब्द आकाश का ही गुण है।[१]

अपरस्मिन् परं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि॥ वै०, अ० २। आ० २। सू० ६॥

जिसमें [**अपरस्मिन्-परम्**][२] अपर, पर, (**युगपत्**) एक वार, (**चिरम्**) विलम्ब, (**क्षिप्रम्**) शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, [**काल०**][३] उसको '**काल**' कहते हैं।

नित्येष्वभावाद्[४]-अनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति॥[५]

वै०, अ० २। आ० २। सू० ९॥

जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसीलिये कारण में ही '**काल**' संज्ञा है।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्॥ वै०, अ० २। आ० २। सू० १०॥

'यहां से यह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे', जिसमें यह व्यवहार होता है, उसको '**दिशा**' कहते हैं।

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची॥ वै०, अ० २। आ० २। सू० १४।

जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ[६], है[७], और होगा,[८] उसको 'पूर्व' दिशा कहते हैं; और जहाँ अस्त हो, उसको 'पश्चिम'। पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर 'दक्षिण' और बाईं ओर 'उत्तर' दिशा कहाती है।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि॥ वै०, अ० २। आ० २। सू० १६॥

इससे जो पूर्व-दक्षिण के बीच दिशा है उसको '**आग्नेयी**', दक्षिण-पश्चिम के बीच को '**नैर्ऋती**',

---

१. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—"**निष्क्रमणं....आकाश का ही गुण है**" तक का सारा पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है। मूलहस्त० में नहीं है। मूलप्रति सं० में यह मुद्रणहस्त० से ग्रहण किया है।

२,३. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद स्पष्टार्थ के लिए अपेक्षित हैं।

४. **भ्रष्ट उद्धरण और संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और द्वि०प्र० में इस उद्धरण का भ्रष्ट पाठ है—"**नित्ये स्वभावाद्....।**" द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन कर दिया है। यह लिपिकरों की अयोग्यता का और शोधकों के प्रमाद का द्योतक है। उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है। अन्य सभी संस्करणों ने भी शुद्ध कर लिया है।

५. **सरल सूत्रार्थ**—'(नित्येषु-अभावात्) नित्य पदार्थों जैसे, परमात्मा, आत्मा, मूलकारण आदि में न होने से अर्थात् उनमें यह व्यवहार नहीं होता है कि परमात्मा, आत्मा या मूलकारण अब उत्पन्न हुआ, अब नहीं हुआ, (अनित्येषु भावात्) अनित्य पदार्थों, जैसे घट, पट आदि में होने से अर्थात् यह घड़ा या कपड़ा उस दिन बना, उस दिन नष्ट हुआ आदि (कारणे) पदार्थ या कार्य के कारण में ही (काल-आख्या-इति) काल की प्रसिद्धि=कथन होता है अर्थात् किसी कार्य के कारण के साथ ही काल का अस्तित्व जुड़ा है, वह पृथक् नहीं है।'

६-८. **त्रुटित एवं अप-विरामचिह्न**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में तीनों स्थलों पर उपयुक्त विराम-चिह्न न होने से इस वाक्य का भाव सूत्र के वर्णनानुसार 'त्रिकालिक अभिव्यक्ति' सम्बन्धी नहीं रहा। यहां तीनों ही पदों के बाद विरामचिह्न अभीष्ट है, तभी सूत्र का सही भाव प्रकट होगा। मूलसं०, वेस, भद, युमी, जस में संशोधित है। जग, उदयपुर सं० में "**हुआ है**" के बाद अल्पविराम अशुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—द्रष्टव्य पृ० ३२/१६, पृ० ४१/१३ में वाक्यरचना।

पश्चिम-उत्तर के बीच को '**वायवी**' और उत्तर-पूर्व के बीच को '**ऐशानी**' दिशा कहते हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥ न्याय०, अ० १। आ० १। सू० १०॥

जिसमें (**इच्छा**) राग, (**द्वेष**) वैर, (**प्रयत्न**) पुरुषार्थ, सुख, दुःख, (**ज्ञानानि**)[१] जानना गुण हों, [**आत्मनः लिङ्गम्**][२] वह जीवात्मा [है]।[३] वैशेषिक में इतना विशेष है—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः[४]

सुखदुःख-इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥ वै०, अ० ३। आ० २। सू० ४॥

(**प्राण**) भीतर से वायु को निकालना, (**अपान**) बाहर से वायु को भीतर लेना[५], (**निमेष**) आँख को नीचे ढांकना, (**उन्मेष**) आँख को ऊपर उठाना, (**जीवन**) प्राण का धारण करना, (**मनः**) मनन=विचार अर्थात् ज्ञान, (**गति**) यथेष्ट गमन करना, (**इन्द्रिय**) इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना, (**आन्तरविकाराः**)[६] क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना, [**सुखदुःख०**][७] सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब [**आत्मनः लिङ्गानि**][८] '**आत्मा**' के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं।[९]

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ न्याय०, अ० १। आ० १। सू० १६॥

जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण-ज्ञान नहीं होता, उसको '**मन**' कहते हैं।

१-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में '**ज्ञान**' के स्थान पर ''**ज्ञानानि**'' शुद्ध पद पदार्थ में अपेक्षित है। तीनों सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है। सूत्रार्थ की समाप्ति क्रिया से ही होती है। इसी प्रकार बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ भी त्रुटित है।

४,६. **अव्यवस्थित उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**अन्तर्विकार**'' अशुद्ध वर्तनी है। सूत्रपाठ में सही पद होते हुए भी लिपिकर ने अशुद्ध पद अर्थ में रख दिया है। उसकी असावधानी और प्रमाद की पराकाष्ठा ध्यान देने योग्य है!!

पाठ में अव्यवस्था—लिपिकरों के समान वर्तमान सम्पादकों के संस्करणों में भी इस विषयक अव्यवस्था है। स्वामी वेदानन्द जी के सं० में यहां ''**अन्तर्विकार**'' पाठ है जबकि समु० सात में (पृ० ३४७ पर) ''**अन्तरविकार**'' अपपाठ है। दर्शन के मूलपाठ में ''**आन्तरविकार**'' पाठ मिलता है। सभी उदयपुर आदि सं० में भी यहां दोनों स्थानों पर अशुद्ध पाठ है।

५. **शर्माद्वय द्वारा अपपरिवर्तन और प्राण-अपान का सही अर्थ**—अर्थपरिवर्तन हो जाने से आज का पाठक श्वास-प्रक्रिया में श्वास लेने को '**प्राण**' और श्वासत्याग को '**अपान**' समझता है। शास्त्रीय परम्परा वही अर्थ करती है जो महर्षि ने किया है। ब्राह्मणों में कहा है—''**अयमूर्ध्वः प्राणः सञ्चरति**''=बाहर जो श्वास जाता है उसका नाम प्राण है (शत०ब्रा० ३।८।३।१५)। ''**बहिर्हि प्राणः, अन्तर्ह्यपानः**''=बाहर जाने वाला श्वास 'प्राण' है और अन्दर आने वाला 'अपान' है (ताण्ड्य० ७।६।१४)। ''**योऽयमूर्ध्वमाक्रामत्येष वाव स प्राणः, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः**''=जो ऊपर=बाहर जाता है वह 'प्राण' है और जो अन्दर आता है वह 'अपान' है (मैत्रायणी आरण्यक २।६)। कोई-कोई प्रयोग हिन्दी में आज भी इसी अर्थ में हो रहा है, जैसे—'प्राण निकलना', 'प्राण उड़ना', 'प्राण बाहर आना', 'प्राण मुंह को आना' आदि।' इन कथनों में शास्त्रीय अर्थ परम्परा अभी सुरक्षित है। अतः महर्षिकृत अर्थ वैदिक शास्त्रीय अर्थ परम्परा के अनुसार सही हैं।

आदि-सम्पादकों द्वारा अपपरिवर्तन—तृतीय संस्करण के सम्पादक पं० ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा थे। उन्होंने तृतीय सं० में यहां तथा सप्तम समु० (पृ० ३४७) पर प्राण-अपान का ऋषिकृत पाठ बदलकर इस प्रकार अशुद्ध बना दिया—''**प्राण=जो श्वास ग्रहण किया जाये, अपान=जो छोड़ा जाये।**'' यह अशुद्ध पाठ परोपकारी के १५वें संस्करण तक छपता रहा। फिर उसको शुद्ध किया गया है। कुछ आर्यजन, जो उनको आज के आर्य पंडितों से अधिक विद्वान् मानते हैं, वे उनके अप-परिवर्तन पर विचार करें। वस्तुतः ये प्राण-अपान प्राणवायु के दो भेद हैं, जो 'अपान'=अधोवायु रूप प्राण होता है, वह इनसे भिन्न है।

७-८. **त्रुटित पद**—सूत्रार्थ में अन्य सभी पद कोष्ठक में हैं किन्तु दोनों सं० में ये तीनों बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं।

९. **पाठान्तर**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, सप्तम समु० में पृ० ३४७ पर ''**सुखदुःखे-इच्छाद्वेषौ प्रत्यत्नाश्च...**'' पाठान्तर है। शुद्धता की दृष्टि से दोनों ही शुद्ध हैं। वैशेषिकदर्शन केभाष्यकारों ने ''**इन्द्रियान्तर-विकार**'' को एक पद मानकर इसकी व्याख्या की है—'भिन्न इन्द्रिय होते हुए भी उनमें एक साथ कोई प्रतिक्रिया होना।' जैसे, आँख, घ्राण और जिह्वा पृथक् इन्द्रियां हैं किन्तु

यह द्रव्य का स्वरूप और लक्षण कहा। अब '**गुण**' को कहते हैं—

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे-इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः॥ वै०, अ० १। आ० १। सू० ६॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये २४ **गुण** कहाते हैं।[१]

(**रूप**) नेत्र से जिसका ग्रहण हो वह, (**रस**) जीभ से जिस मिष्टादि अनेक प्रकार का ग्रहण होता है वह, (**गन्ध**) नासिका से जिसका ग्रहण हो[२] वह, (**स्पर्श**) त्वचा से जिसका ग्रहण होता है वह, (**संख्या**) एक-द्वि इत्यादि जिससे पदार्थों की गणना होती है वह, (**परिमाणानि**) जिससे तोल अर्थात् हल्का वा भारी विदित होता है, (**पृथक्त्वम्**) एक दूसरे से अलग होना, (**संयोग**) एक दूसरे के साथ मिलना, (**विभाग**) एक मिले हुए के अनेक टुकड़े होना, (**परत्व**) इससे यह परे है, (**अपरत्व**) उससे यह उरे है, (**बुद्धि**) ज्ञान, (**सुख**) आनन्द, (**दुःख**) क्लेश, (**इच्छा**) राग, (**द्वेष**) विरोध, वैर, (**प्रयत्न**) अनेक प्रकार का बल-पुरुषार्थ, [और (**च**) 'च' से] (**गुरुत्व**) भारीपन, (**द्रवत्व**) पिघल जाना, (**स्नेह**) प्रीति और चिकनापन, (**संस्कार**) दूसरे के योग से वासना का होना, (**धर्म**) न्यायाचरण और कठिनत्वादि, (**अधर्म**) अन्यायाचरण और कठिनता से विरुद्ध कोमलता और शब्द। ये चौबीस गुण हैं॥ [शब्द का लक्षण यह है—]

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः॥[३]

महाभाष्य [१।१।१]॥

जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति हो और जिसका बुद्धि से ग्रहण हो[४], और जो प्रयोग से प्रकाशित हो, और आकाश जिसका देश हो, वह '**शब्द**' कहाता है।[५]

प्रिय भोजन को देखते या सूंघते ही मुंह में पानी आ जाता है। यह विचार सिद्ध करता है कि पृथक्-पृथक् इन्द्रियों में तालमेल करने वाला 'आत्मा' है, अन्यथा दो पृथक् वस्तुओं में तालमेल सम्भव नहीं है।

१. **सूत्र और अर्थ में अन्तर का कारण**—सूत्र में १७ गुणों का उल्लेख है। '**गुरुत्व**' से '**अधर्म**' तक सात गुणों का दार्शनिक परम्परा में प्रचलन होने के कारण प्रशस्तपाद भाष्य में 'च' से अध्याहार किया गया है और शब्द का उल्लेख तथा लक्षण अग्रिम सूत्र में है। प्रशस्तपादभाष्य का वचन है—"**च शब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्म-अधर्म-शब्दाः सप्त।**"

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित वाक्य**—यह वाक्य मुद्रणह० में त्रुटित छोड़ा है। ऋषि ने अपने हस्तलेख से पुनः लिखा है।

३. **क्रमभंग के कारण अस्तव्यस्त पाठ**—प्रचलित सभी संस्करणों में गुण-वर्णक तीनों सूत्रों का अर्थ तथा क्रम अस्त-व्यस्त रूप में प्राप्त होता है। पहले "**रूपरस...**" गुण-वर्णक सूत्र और उसका अर्थ है, फिर गुणलक्षण विधायक सूत्र "**द्रव्याश्रयवान्...**" अर्थसहित है, फिर शब्द का लक्षण "**श्रोत्रोपलब्धि...**" सूत्र और अर्थ है, दो सूत्रों के बाद फिर प्रथम सूत्र में वर्णित गुणों के हिन्दी में लक्षण हैं जिनमें सबसे अन्त में पठित '**शब्द**' गुण का लक्षण सबसे पहले रखा है, और पहले सूत्र में पठित गुण सबके बाद वर्णित हैं] जिनका अपने मूल सूत्र से ही सम्बन्ध टूटा हुआ है। इसको क्रमबद्ध कर दिया है।

एक अन्य कारण से भी प्रस्तुत संस्करण वाला क्रम उचित है। महर्षि ने "**रूपरसगन्ध...**" गुण विधायक सूत्र के अर्थ में '**शब्द**' को भी गिना है। इस संगति को जोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि शब्द वर्णक "**श्रोत्रोपलब्धिः**" सूत्र को उस सूत्र के साथ और तुरन्त बाद के क्रम में रखा जाये। इस प्रकरण में 'द्रव्य' और 'कर्म' के वर्णन का यही क्रम है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में मूलह० के "**जिसका बुद्धि से ग्रहण हो**" पाठ के स्थान पर "**जो बुद्धि से ग्रहणयोग्य**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। लिपिकरों के कारण ग्रन्थ में यों ही व्यर्थ पाठभेद हुए हैं।

५. **अटपटे मूलपाठ का मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में सूत्रार्थ का सारा पाठ अटपटा है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्॥

वै०, अ० १। आ० १। सू० १६॥

'गुण' उसको कहते हैं कि जो द्रव्य के आश्रय रहै, अन्य गुण को धारण न करे, संयोग और विभाग में कारण न हो, अनपेक्ष अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा न करे, उनका नाम '**गुण**' है।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि॥

वै०, अ० १। आ० १। सू० ७॥

(**उत्क्षेपणम्**) ऊपर को चेष्टा करना, (**अवक्षेपणम्**) नीचे को चेष्टा करना, (**आकुञ्चनम्**) सङ्कोच करना, (**प्रसारणम्**) फैलाना, (**गमनम्**) समभाग में गति करना अर्थात् चलना, आना-जाना, घूमना आदि होते हैं,[१] [**इति कर्माणि**][२] इनको **कर्म** कहते हैं। इनका लक्षण—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्॥

वै०, अ० १। आ० १। सू० १७॥

'**एकं द्रव्यमाश्रय आधारो यस्य तदेकद्रव्यम्, न विद्यते गुणो यस्य यस्मिंस्तदगुणम्, संयोगेषु विभागेषु चाऽपेक्षारहितं कारणं तत्कर्मलक्षणम्**' अथवा '**यत् क्रियते तत्कर्म, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्, कर्मणो लक्षणं कर्मलक्षणम्**'[३]=एक द्रव्य के आश्रित, गुणों से रहित, संयोग और विभाग होने में [जो] अपेक्षारहित कारण हो, उसको '**कर्म**' कहते हैं।[४]

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्॥[५] वै०, अ० १। आ० १। सू० १८॥

जो कार्य-द्रव्य, गुण और कर्मों का 'कारण-द्रव्य' है, वह '**सामान्य**' द्रव्य है।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम्॥[६] वै०, अ० १। आ० १। सू० २३॥

द्विप्र० के मुद्रण-समय में उसका संशोधन किया है। दोनों हस्तलेखों और मूलसं० का अटपटा पाठ यह है—"**जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति हो वह शब्द, और जिसका बुद्धि से ग्रहण हो वह शब्द, और जो प्रयोग से प्रकाशित हो वह शब्द, और आकाश जिसका देश हो वह भी शब्द कहाता है।**" अब सभी सं० में संशोधित पाठ मिलता है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलहस्त० का यह वाक्यांश त्रुटित रह गया है—"**(गमनम्) समभाग में गति करना अर्थात् चलना**"। मुद्रण-लिपिकर से यह पाठ छूटा है। शोधक ने संगति लगती न देख अनुमान से (गमन) पाठ बढ़ाया है—"**(गमन) आना जाना घूमना आदि**" इस प्रकार ऋषिप्रोक्त और पूर्ण पाठ त्रुटित रह गया। यहां मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ रखना उपयोगी है क्योंकि दर्शन में "**गमनम्**" पद से मूलह० में वर्णित कर्मों के अतिरिक्त जितनी भी चेष्टाएं रह गई हैं वे सभी अभिप्रेत हैं। वेस, भद, युमी, जग, जस, विस, उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित है।

२,३. **अप-पदविन्यास, त्रुटित पद एवं पाठग्रहण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस सूत्रार्थ में कोष्ठक के अन्तर्गत जो सूत्रपद दिये गये हैं उन सबकी वर्तनी सूत्रानुसार न होकर अशुद्ध है, जैसे—**उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, गमन**। पदार्थ में ये पद यथावत् शुद्ध होने चाहिएं। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित ही छोड़ दिया है। यह सब लिपिकरों, शोधकों और आदि-सम्पादकों के प्रमाद का परिणाम है। तीन संख्यांकित पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि ने स्वहस्त से लिखा है।

४. **ऋषि-हस्तलेख**—"**एक द्रव्य.....कर्म कहते हैं**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **सरल सूत्रार्थ**—(द्रव्य-गुण-कर्मणाम्) द्रव्य, गुण, कर्म का (द्रव्यं कारणम्) जो द्रव्य कारण है, वह (सामान्यम्) सामान्य कारण है। अणु से लेकर स्थूलतम किसी पदार्थ का वही कारण-द्रव्य होता है, सभी स्थितियों में। जैसे वस्त्र का कारण-द्रव्य धागा है, धागे का उसका सूक्ष्म अंश आदि।

६. **सरल सूत्रार्थ**—(द्रव्याणाम्) कारणरूप द्रव्यों का (कार्यं द्रव्यम्) जो कार्य-द्रव्य होता है, वह (सामान्यम्) सामान्य ही होता है। जैसे, वस्त्र के बनने में अनेक धागों का संयोग होता है, घट के बनने में अनेक मृत्तिका-अणुओं का संयोग होता है। इस प्रकार

जो द्रव्यों का 'कार्यद्रव्य' है, वह कार्यपन से सब कार्यों में 'सामान्य' है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि[१] विशेषाश्च॥ वै०, अ० १। आ० २। सू० ५॥

द्रव्यों में द्रव्यपन, गुणों में गुणपन, कर्मों में कर्मपन ये सब '**सामान्य**' और '**विशेष**' कहाते हैं। क्योंकि द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य, और गुणत्व [तथा][२] कर्मत्व से द्रव्यत्व विशेष है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्॥ वै० अ० १। आ० २। सू० ३॥

'सामान्य' और 'विशेष', बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे—मनुष्य व्यक्तियों में 'मनुष्यत्व' सामान्य और पशुत्वादि से विशेष [है]।[३] तथैव स्त्रीत्व और पुरुषत्व है।[४] इनमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। ब्राह्मण व्यक्तियों में ब्राह्मणत्व सामान्य और क्षत्रियादि से विशेष है, इसी प्रकार सर्वत्र जानो।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सः[५] समवायः॥[६] वै०, अ० ७। आ० २। सू० २६॥

इसमें यह [आश्रित है], जैसे—द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति, अवयवी में अवयव; कारण में[७] कार्य; और क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति, कार्य-कारण, अवयव-अवयवी, इनका नित्य सम्बन्ध होने से '**समवाय**' [सम्बन्ध] कहाता है। और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह संयोगी अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है।

अवयवी एक पदार्थ में उसी के अवयव रूप अनेक कारण द्रव्य होते हैं और वे समान होते हैं।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-उद्धरण**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**सामान्या**" अप-उद्धरण पाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी में संशोधित है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों पद त्रुटित हैं। वाक्यरचना की दृष्टि से ये अपेक्षित हैं।

४. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—"**तथैव स्त्रीत्व और पुरुषत्व है**" यह पाठ मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से ग्रहण किया है। ऋषि द्वारा लिखित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-उद्धरण और संशोधन**—मुद्रणहस्त० और द्विप्र० में सूत्र का "**सः**" पद त्रुटित मिलता है। द्वि०सं० आदि सभी में ग्रहण कर लिया है।

६. **सरल सूत्रार्थ**—(इह इदम्-इति) इस अर्थात् 'आधार' में यह अर्थात् 'आधेय' है, ऐसा ज्ञान या व्यवहार (यतः) जिस सम्बन्ध से कार्य-कारण में परस्पर होता है (सः समवायः) वह 'समवाय' नामक सम्बन्ध कहाता है। अर्थात् कार्य और कारण में जो नित्य सम्बन्ध रहता है, उसको 'समवाय' सम्बन्ध कहते हैं। सूत्र में 'कार्य-कारण' 'अकार्य-कारण' का भी उपलक्षण है, अर्थात् जिन युगल पदार्थों में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता वहां भी 'समवाय-सम्बन्ध' होता है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित और अस्त-व्यस्त पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलसं० में सूत्रार्थ लगभग शुद्ध और पूर्ण है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**इसमें यह.....कार्यों में**" तक का पाठ छूटा हुआ है और जितना है वह अस्त-व्यस्त है। यह लिपिकर से मुद्रणहस्त० में छूटा है अथवा भ्रान्ति से छोड़ा है। भ्रान्ति से इसलिए कह रहा हूं क्योंकि सूत्रोक्त "**इह-इदम्**" अर्थात् कारण=आश्रय और कार्य=आश्रित के मुख्य उदाहरण तो यही हैं। बाद वाले उदाहरण तो कार्य=आश्रित या आधेय और कारण=आश्रय या आधार के क्रम के हैं। उसी के अनुसार द्वि० सं० में त्रुटित चला आ रहा है। ग्रन्थकार ने '**समवाय-सम्बन्ध**' को दो प्रकार से समझाया है, पहले आधार-आधेय और दूसरा आधेय-आधार की शैली में। तदनुसार पहले "**अवयव-अवयवी**" के स्थान '**अवयवी में अवयव**' संशोधन भी अपेक्षित है। पाठक ध्यान दें कि सभी सं० में यह उदाहरण कारण-कार्य-सम्बन्ध में पहले वर्णित हो चुका है। यहां कार्य-कारण सम्बन्ध के उदाहरण दिये गये हैं। यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में सूत्रार्थ का पाठ अपूर्ण और अशुद्ध होने से अग्राह्य है।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥[१] वै०, अ० १। आ० १। सू० ९॥

जो द्रव्य और गुण का समानजातीयक कार्य[२] का आरम्भ होता है,[३] उसको '**साधर्म्य**' कहते हैं। जैसे पृथिवी में जड़त्व धर्म और घटादि कार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है, वैसे जल में भी जड़त्व और हिम[४] आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ, पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है। और[५] '**द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्**'=यह विदित हुआ कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य का आरम्भ है, उसको '**वैधर्म्य**' कहते हैं, जैसे पृथिवी में कठिनत्व, शुष्कत्व और गन्धवत्त्व धर्म जल से विरुद्ध और जल का द्रवत्व, कोमलता और रसगुणयुक्तता पृथिवी से विरुद्ध है।

कारणभावात् कार्यभावः ॥ वै०, अ० ४। आ० १। सू० ३॥

कारण के होने से ही कार्य होता है।

कारणाऽभावात् कार्याऽभावः ॥[६] वै०, अ० १। आ० २। सू० १॥

कारण के न होने से, कार्य कभी नहीं होता।

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ वै०, अ० १। आ० २। सू० २॥

कार्य के अभाव से, कारण का अभाव नहीं होता।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ वै०, अ० २। आ० १। सू० २४॥

जैसे कारण में गुण होते हैं, वैसे ही कार्य में होते हैं।

परिमाण दो प्रकार का है—

अणुमहदिति तस्मिन्विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥ वै०, अ० ७। आ० १। सू० ११॥

(**अणु**) सूक्ष्म, (**महत्**) बड़ा, ये सापेक्ष हैं। जैसे, 'त्रसरेणु' लिक्षा[७] से छोटा और 'द्व्यणुक' से

---

१. **सरल सूत्रार्थ**—'(द्रव्यगुणयोः) द्रव्यों और गुणों का (समानजातीय-आरम्भकत्वम्) अपने समान जातीय पदार्थ को उत्पन्न करना (साधर्म्यम्) '**साधर्म्य**' कहाता है।' जैसे, श्वेत धागा 'श्वेत वस्त्र' को और जल 'हिम' को उत्पन्न करता है, अन्य पदार्थ को नहीं।

२. **समानजातीयक कार्य का आरम्भ**—इसका अर्थ है—'**समानजातीय पदार्थ को उत्पन्न करना**' पृथिवी-जातीय परमाणु पृथिवी-जातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, जैसे—घट को। जल-जातीय परमाणु जल-जातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, जैसे-हिम को। इसी प्रकार गुण सजातीय गुण को उत्पन्न करता है, जैसे—तन्तुओं में वर्तमान श्वेत गुण वस्त्र के श्वेतरूप को उत्पन्न करता है; काले, पीले रूप को नहीं।

३. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में यह अस्तव्यस्त पाठ है—"**जो समान जातीयक द्रव्य और गुण का आरम्भ होता है....**"। द्विप्र० में अपक्रम को संशोधित कर उपर्युक्त पाठ रखा है। मूलसं० को छोड़ सभी सं० में संशोधित है।

४. **अपप्रयोग और संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलसं० में "**हैम**" अपप्रयोग है। द्वि०सं० में उपर्युक्त संशोधन कर दिया है किन्तु उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

५. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में यहां "**अर्थात्**" पद है। यहां '**और**' उपयुक्त पाठ है, क्योंकि दो पदों में से साधर्म्य का विवेचन हो चुका, उसके विपरीत पद 'वैधर्म्य' का रहता है। शेष का प्रारम्भ '**अर्थात्**' से नहीं '**और**' से ही उपयुक्त है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा सूत्रों का क्रम परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में इन सूत्रों का क्रम बदलकर इस सूत्र को "**कारणभावात्**", "**न तु कार्याभावात्**" इन दो सूत्रों के बाद रख दिया है। जबकि मूलह०, मूलहस्त० में इसका अन्य क्रम है। यदि क्रम ही बदलना अभीष्ट है तो उपर्युक्त क्रम अधिक उचित है।

७. **लिक्षा**—प्राचीन माप-पद्धति में आठ त्रसरेणु को मिलाने से 'एक लिक्षा' नामक माप बनता है। इससे पूर्व का माप इस प्रकार है—६० परमाणु का=एक अणु, २ अणु का=एक द्व्यणुक, ३ द्वयणुक अर्थात् ६ अणु का='एक त्रसरेणु' होता है। मनुस्मृति में यह माप

बड़ा है,[१] तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे [और] वृक्षों से बड़े हैं।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता॥ वै०, अ० १। आ० २। सू० ७॥

जो द्रव्य, गुण और कर्मों में '**सत्**' शब्द अन्वित रहता है, अर्थात् '**सत्-द्रव्यम्, सत्-गुणः, सत्-कर्म**'=सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म अर्थात् वर्त्तमान कालवाची शब्द का अन्वय सबके साथ रहता है, [वह धर्म '**सत्ता**' है]।[२]

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमेव॥[३] वै०, अ० १। आ० २। सू० ४॥

जो सबके साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है, सो सत्ता '**महासामान्य**' कहाती है।

यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है। और जो **अभाव** है, वह[४] पाँच प्रकार का होता है। पहला—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात्प्रागसत्॥[५] वै०, अ० ९। आ० १। सू० १॥

जो क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के प्राक् अर्थात् पूर्व [वह कार्यरूप पदार्थ] '**असत्**'[६]=न था; जैसे, घट, वस्त्रादि उत्पत्ति के पूर्व नहीं थे। इसका नाम '**प्रागभाव**' [है]।[७] दूसरा—

सदसत्॥ वै०, अ० ९। आ० १। सू० २॥

जो होके न रहै। जैसे, घट उत्पन्न होके नष्ट हो जाय, यह '**प्रध्वंसाभाव**' कहाता है। तीसरा—

सच्चासत्॥ वै०, अ० ९। आ० १। सू० ४॥

जो होवे और न होवे। जैसे '**अगौरश्वोऽनश्वो गौः**'=यह घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं। अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव है, और गाय में गाय, घोड़े में घोड़े का[८] भाव है। यह '**अन्योऽन्याभाव**' कहाता है। चौथा—

है—"**त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः**" (८.१३३)=माप के अनुसार आठ त्रसरेणु का 'एक लिक्षा' माप जानें। त्रसरेणु की सामान्य पहचान यह दी है—'खिड़की से सूर्य-किरणें जब घर में आती हैं तो उनमें जो सूक्ष्म रजकण उड़ते दीखते हैं, उनको 'त्रसरेणु' समझें।' (मनु० ८.१३२)

१. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—"**अणुमहदिति.....**" सूत्र मूलह० में त्रुटित रह गया था, उसे संशोधन के समय ऋषि ने लिख कर पूर्ण किया है। "**त्रसरेणु.....बड़ा है**" पाठ मुद्रणह० में ऋषिलेख में परिवर्धित है। मूलसं० में वहीं से गृहीत है।
त्रुटित आवश्यक पद—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में '**और**' पद त्रुटित है। स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है।

२. **त्रुटित आवश्यक अनुवाद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० "**सा सत्ता**" का हिन्दी-अनुवाद त्रुटित है। इसके त्रुटित होने से परिभाषा का हिन्दी अर्थ में नाम ही त्रुटित रह गया, जिससे यह प्रकट नहीं होता कि ग्रन्थकार किसकी परिभाषा करना चाहता है।

३. **सरल सूत्रार्थ**—(अनुवृत्तेः-एव) सब पदार्थों में वर्तमान होने से (भावः) 'सत्ता' (सामान्यम्-एव) 'सामान्य' संज्ञा ही कहाती है। अभिप्राय यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता-भाव समान रूप से होता है अतः 'सत्ता' सब पदार्थों में सामान्य है।

४. **ऋषि-हस्तलेख**—"**यह क्रम.....है, वह**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **सरल सूत्रार्थ**—(क्रिया-गुण-व्यपदेश-अभावात्) कारणावस्था में रहते हुए क्रिया और गुण का कथन न होने से किसी कार्य पदार्थ का (प्राक्) उत्पत्ति से पूर्व (असत्) अभाव रूप रहता है अर्थात् उत्पत्ति होने से पहले कोई कार्य अपने कारणों में कारण रूप में विद्यमान होते हुए भी कार्य रूप में असत्=अभाव रूप होता है, क्योंकि कारणावस्था में उसकी क्रियाओं व गुणों का व्यपदेश=कथन नहीं किया जा सकता।

६. **अस्पष्ट वाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपवाक्य होने से यह अस्पष्टार्थक हो गया है—"**जो क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के अभाव से प्राक् अर्थात् पूर्व (असत्) न था।**" इसमें संशोधन अपेक्षित है, जो उपर्युक्त पाठ में कर दिया है।

७. **त्रुटित पद**—तीनों सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है। वाक्यरचना हेतु आवश्यक है।

८. **अपप्रयोग और संशोधन**—द्विप्र० में "**घोड़ा का भाव**" अपप्रयोग है। दोनों हस्त० और दोनों सं० में संशोधित या शुद्ध पाठ है।

यच्चान्यदसदतस्तदसत्॥[१] वै०, अ० ९। आ० १। सू० ५॥

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है, उसको '**अत्यन्ताभाव**' कहते हैं। जैसे—'नरशृङ्ग' अर्थात् मनुष्य का सींग, 'खपुष्प'=आकाश का फूल और 'वन्ध्यापुत्र'=वन्ध्या[२] का पुत्र, इत्यादि। पाँचवाँ—

नास्ति घटो गेहे-इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः॥ वै०, अ० ९। आ० १। सूत्र १०॥

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है [यह **संसर्गाभाव** है][३]। ये पाँच '**अभाव**' कहाते हैं।

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या॥ वै०, अ० ९। आ० २। सू० १०॥

इन्द्रियों और संस्कारों के दोषों से '**अविद्या**' उत्पन्न होती है।

तद् दुष्टं ज्ञानम्॥ वै०, अ० ९। आ० २। सू० ११॥

जो दुष्ट ज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान है, उसको '**अविद्या**' कहते हैं।

अदुष्टं विद्या॥ वै०, अ० ९। आ० २। सू० १२॥

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको '**विद्या**' कहते हैं।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च॥ २॥

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्॥ ३॥ वै०, अ० ७। आ० १। सू० २-३॥

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण हैं, ये सब द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं। और जो इनके[४] कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में गन्धादि गुण हैं, वे 'नित्य' हैं।[५]

सत्-अकारणवत्-नित्यम्॥ वै०, अ० ४। आ० १। सू० १॥

जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो, वह '**नित्य**' है अर्थात्—'**सत्कारणवत्-अनित्यम्**'=जो कारण-वाले कार्यरूप द्रव्य[६]-गुण हैं, वे '**अनित्य**' कहाते हैं।

---

१. **सरल सूत्रार्थ**—'(यत्-च) और जो पूर्वोक्त तीनों अभावों प्रागभाव=बनने से पूर्व पदार्थ नहीं था, सदसत्=जो होके न रहे, सत्=जो किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ का अभाव होना, जैसे—गाय में घोड़े का अभाव होना, (अतः) इनसे (अन्यत्) भिन्न (तत्) वह एक और (असत्) अभाव='अत्यन्ताभाव' है।' अत्यन्ताभाव अर्थात् जो न कभी हुआ है, न है और न कभी होगा, जैसे—आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र, नरशृंग आदि।

२. **अपवर्तनी एवं त्रुटितपद**—द्विप्र०, द्वि०सं० और मूलप्रति सं० में ''**बन्ध्यापुत्र**'' ''**बन्ध्या**'' अपवर्तनियां मिलती हैं, मूलह०, मुद्रणह० में शुद्ध है। मूलह०, मूलसं० में ''वन्ध्यापुत्र'' पद त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है। उदयपुर सं० में भी ये अशुद्धियां हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पारिभाषिक पद '**संसर्गाभाव**' का नाम ही त्रुटित रह गया है, जिससे यह ज्ञात नहीं होता कि ग्रन्थकार किसकी परिभाषा कर रहा है। अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है। वेस, भद, उदयपुर सं० में पाठ त्रुटित है, युमी में संशोधित है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**इससे**'' पाठ है, '**इनके**' पाठ शुद्ध है।

५. **नित्यगुण**—पृथिवी आदि भूतों के जो प्रकृतिरूप नित्यकारण परमाणु हैं, उनमें जो गुण हैं वे नित्य हैं। कार्यरूप पदार्थों में अनित्य गुण हैं।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**द्रव्य**'' पद मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रह गया है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस में त्रुटित है, उदयपुर सं० में गृहीत है।

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि-विरोधि-समवायि चेति लैङ्गिकम्॥[१]

वै०, अ० ९। आ० २। सू० १॥

इसका यह कार्य वा कारण है, इत्यादि 'समवायी'[२], 'संयोगी'[३], 'एकार्थ-**समवायी**'[४] और 'विरोधी'[५] यह चार प्रकार का लैङ्गिक अर्थात् लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध से [होनेवाला][६] ज्ञान होता है। **(समवायि—)** जैसे आकाश परिमाणवाला है, **(संयोगि—)** जैसे शरीर त्वचावाला है, इत्यादि का नित्य संयोग है, **(एकार्थ-समवायि'—)** एक अर्थ में दो का रहना, जैसे कार्य 'रूप', 'स्पर्श' कार्य का लिङ्ग अर्थात् जनानेवाला है, **(विरोधि)**—जैसे हुई भई वृष्टि[७] होनेवाली वृष्टि का **विरोधी** लिङ्ग है।

'व्याप्ति'—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः॥ २९॥[८]

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः॥ ३१॥[९]

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः॥ ३२॥[१०] सांख्यशास्त्र [अ० ५। सू०] २९, ३१, ३२॥

---

१. **सरल सूत्रार्थ**—'(अस्य) इसका अर्थात् साध्य का (इदम्) यह लिंग या साधन (कार्यम्) कार्य है अर्थात् कार्य से कारण का ज्ञान कराने वाला है, जैसे—पुत्र पिता का ज्ञान कराता है। (कारणम्) यह कारण है अर्थात् कारण से कार्य का ज्ञान कराने वाला है, जैसे—बादलों की घटा होने वाली वर्षा का ज्ञान कराती है, (संयोगि—) यह संयोग सम्बन्धवाला है, जैसे—धुआं अग्नि का ज्ञान तथा चलता हुआ वाहन चालक का ज्ञान कराता है, (विरोधि—) यह विरोधी सम्बन्ध वाला है, जैसे—समाज में फैला भ्रष्टाचार सुशासन न होने का ज्ञान कराता है, (समवायि—) यह समवायी=नित्य सम्बन्ध वाला है, जैसे—स्पर्श वायु का और गन्ध पृथिवी का ज्ञान कराती है, (लैङ्गिकम्) ऐसा ज्ञान लैङ्गिक=लिङ्ग से होने वाला ज्ञान है, किसी समरूप चिह्न से होने वाला ज्ञान है।'

एकार्थसमवायी—अर्थात् एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला। जैसे—रूप आदि तन्मात्राओं का एक कार्य अर्थात् विकार **'स्पर्श'** है, और स्पर्श का कारण **'रूप'** **'रस'** आदि हैं। जहां स्पर्श होगा वहाँ **'रूप'** आदि भी होंगे। उष्ण जल या पदार्थ **'स्पर्श'** तत्त्व के साथ **'रूप'** आदि के अस्तित्व का भी बोध कराता है। इनका साहचर्य नित्य है।

२-५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—तीनों ही सं० में कुछ पदों में वर्तनी की भिन्नता और अव्यवस्था है, जैसे—**समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि और विरोधि।** जब ये नकारान्त पद संस्कृत भाषा में और विशेषतः समास में प्रयुक्त होते हैं तब अन्त में लघु इकार का प्रयोग होता है किन्तु जब हिन्दी भाषा की दृष्टि से प्रयुक्त होते हैं तो दीर्घ ईकार वाली वर्तनी स्वीकृत है। ग्रन्थ में अन्यत्र भी कहीं लघु तो कही दीर्घ ईकार वाली वर्तनियां मिलती हैं। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता की दृष्टि से इनकी वर्तनियों को उपर्युक्त दीर्घ ईकारान्त रूप में ही ग्राह्य माना गया है। सभी सं० में यह अव्यवस्था है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—इस अनुच्छेद में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद सभी पाठों में अपेक्षित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषि के हस्तलेख का भी परिवर्तन**—मूलप्रति में **''हुई भई वृष्टि''** प्रयोग है। यह हिन्दी का नहीं, तत्कालीन प्रचलित क्षेत्रीय शैली का है, जो अशुद्ध नहीं है। यह ऋषि के हस्तलेख में लिखित है, अतः ग्राह्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, उदयपुर सं० और द्वि०सं० में यह इस प्रकार परिवर्तित है—**''हुई वृष्टि''**। यह परिवर्तन अवांछनीय है।

८. **सरल सूत्रार्थ**—(नियतधर्म-साहित्यम्) नियमपूर्वक धर्मों का साहचर्य=साथ रहना (व्याप्तिः) व्याप्ति कहलाता है, (उभयोः) चाहे वह साध्य-साधन या कार्य-कारण दोनों का साहचर्य हो (वा) अथवा (एकतरस्य) दोनों में से किसी एक का हो। दोनों का साहचर्य जैसे—किसी भी निर्मित पदार्थ का और अनित्यत्व का व्याप्ति सम्बन्ध है, दोनों का अनिवार्य साहचर्य है। एक का जैसे—धूम और अग्नि का। धूम न हो तब भी अग्नि पाई जाती है यथा लोहे के तप्त गोलक में अग्नि बिना धूम के रहती है।

९. **सरल सूत्रार्थ**—(निजशक्ति-उद्भवम्) अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रकट होना ही साहचर्य है, (इति आचार्याः) ऐसा कुछ आचार्यों का मत है अर्थात् किसी वस्तु में कार्य या कारण बनने का सामर्थ्य स्वाभाविक रूप से होता है, कार्य रूप धूम में वह सहज सामर्थ्य है।

१०. **सरल सूत्रार्थ**—(आधेयशक्ति-योगः) आधेय शक्ति=प्रतिष्ठापित या सांकेतिक शक्ति ही व्याप्ति है, (इति पञ्चशिखः) ऐसा आचार्य पंचशिख का मत है अर्थात् पदार्थ में स्वाभाविक शक्ति नहीं होती, वह तो हमारे द्वारा बताई जाती है तभी व्याप्ति का ज्ञान होता है॥

जो [१]साध्य-साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाय, उन दोनों अथवा एक साधनमात्र का, निश्चित धर्म का सहचार है, उसी को '**व्याप्ति**' कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि का सहचार है॥ २९ ॥

तथा व्याप्य जो धूम उसकी निजशक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है, तब विना अग्नि के योग के भी धूम स्वयं रहता है,[२] उसी का नाम व्याप्ति है, अर्थात् अग्नि के छेदन, भेदन, सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप में प्रकट होते हैं[३] ॥ ३१ ॥

जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता, बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है,[४] अथवा आधेय जो आधार के आश्रय रहै उसकी शक्ति के योग का नाम व्याप्ति है।[५] वैसे[६] शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है॥ ३२ ॥

इत्यादि शास्त्रों के 'प्रमाण'-आदि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें। अन्यथा **विद्यार्थियों को** सत्य-बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उसकी पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो-[जो][७] सत्य ठहरे, वह-वह ग्रन्थ पढ़ावें। जो-जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें-न पढ़ावें। क्योंकि—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ॥ [न्यायभाष्य ३।१।२८]

लक्षण जैसा कि '**गन्धवती पृथिवी**' [न्याय०, वा० भा० ३।१।२८]=जो पृथिवी है, वह गन्धवाली है। ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण, इनसे सब सत्यासत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है। इसके विना कुछ भी नहीं होता।[८]

अथ पठनपाठनविधिः

अब पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—प्रथम पाणिनिमुनिकृत '**शिक्षा**' जो कि सूत्ररूप है, उसकी रीति से अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है, जैसे—'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट

---

१. **पुनरुक्त अपपाठ**—इस वाक्य में ''**दोनों**'' पद दो बार प्रयुक्त हो गया है। दोनों हस्त० और तीनों ही सं० में वाक्यारम्भ का '**दोनों**' पद हटाना आवश्यक है। दूसरा रखना उपयुक्त है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० पुनरुक्त पाठ है।

२. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**अर्थात् जब....रहता है**'' पाठ मूलहस्त० में नहीं है, मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से लिया है। यह ऋषि द्वारा अपने हस्तलेख में परिवर्धित है।

३. **अपवाक्य**—दोनों सं० में यह अपवाक्य इस प्रकार है—''**जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है**''। यहां द्वि० सं० में ''**में**'' पद अपेक्षित है तथा दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रिया में बहुवचन वांछित है, क्योंकि '**आदि**' प्रयोग के साथ बहुवचन होता है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४-५. **ऋषिहस्तलेख, पाठग्रहण एवं त्रुटित पाठ**—''**जैसे महत्तत्वादि....सम्बन्ध का।**'' पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से ग्रहण किया है। यह ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख में परिवर्धित है। मूलप्रति सं० में ''**अथवा आधेय....योग का नाम व्याप्ति है**'' मूलहस्त० का पाठ छोड़ दिया है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में सूत्रार्थ की दृष्टि से और पूर्वोक्त ''**जैसे**'' प्रयोग के सम्बन्ध से '**वैसे**' प्रयोग अभीष्ट है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जो**'' पद त्रुटित रह गया है। पूर्वापर वाक्य संरचना की दृष्टि से इसका ग्रहण आवश्यक है।

८. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**जो पृथिवी....ऐसे लक्षण**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है। ''**इसके....होता**'' मूलह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करना 'करण' कहाता है; इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता, पिता, आचार्य सिखलावें।

तदनन्तर व्याकरण अर्थात् प्रथम **अष्टाध्यायी** के सूत्रों का पाठ, जैसे—'**वृद्धिरादैच्**' [अष्टा० अ० १। पा० १। सू० १] फिर पदच्छेद जैसे—'वृद्धिः, आत्,+ऐच्[१]; पश्चात् समास '**आच्च ऐच्च आदैच्**'; फिर अर्थ—'**आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते**'=आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा है। '**तः परो यस्मात्स तपरः, तादपि परस्तपरः**'=तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो, वह तपर कहाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जो आकार से परे त् और तकार से परे 'ऐच्' दोनों 'तपर' हैं। 'तपर' का प्रयोजन यह है कि ह्रस्व और प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई। उदाहरण—

'**भागः**', यहाँ 'भज्' धातु से परे 'घञ्' प्रत्यय के 'घ्, ञ्' की इत्संज्ञा होके, लोप हो गया। पश्चात् 'भज् अ' यहां जकार के पूर्व[२] भकारस्थ अकार के स्थान में 'आ' वृद्धि हुई तो 'भाज्'। पुनः 'ज्' को ग् होकर, अकार के साथ मिलके 'भागः' ऐसा प्रयोग हुआ।[३]

'**अध्यायः**'— यहाँ अधिपूर्वक 'इङ्' धातु के ह्रस्व इकार के स्थान में 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर 'ऐ' वृद्धि और उसको 'आय्' होकर, मिलके 'अध्यायः' [हुआ]।

'**नायकः**'— यहाँ 'नीञ्' धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में 'ण्वुल्' प्रत्यय परे होने पर, 'ऐ' वृद्धि और उसको 'आय्' होकर, मिलके 'नायकः' [हुआ]।

और '**स्तावकः**'— यहाँ 'स्तु' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय होकर **धातु** के[४] ह्रस्व उकार को 'औ' वृद्धि, और उसको 'आव्' आदेश होकर अकार में मिल गया, तो 'स्तावकः' [हुआ][५]।

[**कारकः**][६] '**कृञ्**' धातु से आगे 'ण्वुल्' प्रत्यय, उसके 'ण्, ल्' की इत्संज्ञा होके लोप, 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि होकर 'कारकः' सिद्ध हुआ।

और जो-जो सूत्र आगे-पीछे के जिस प्रयोग में लगें, उनका सब कार्य बतलाता जाय और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर लिख[७] दिखला-दिखलाके, कच्चारूप धरके, जैसे—'भज+घञ्+सु' इसप्रकार धरके। प्रथम धातु के अकार का लोप, पश्चात् घकार और ञ् का लोप होकर 'भज्+अ+सु' ऐसा रहा, फिर अ को आकार वृद्धि और ज् के स्थान में ग् होने से 'भाग्+अ+सु', पुनः अकार में मिल जाने से 'भाग+सु' रहा, अब उकार की इत्संज्ञा, स् के स्थान में रुँ होकर 'भाग+रुँ' हुआ, फिर उकार की इत्संज्ञा लोप हो जाने के पश्चात् 'भागर्' ऐसा रहा, अब रेफ के स्थान में (:) विसर्जनीय होकर पुनः 'भागः' यह रूप सिद्ध हुआ।[८]

---

१. **मुद्रणप्रति व मुद्रणकाल में व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**आदैच्**' पद नहीं है। मुद्रणकाल में द्विप्र०, द्वि०सं० में अनावश्यक बढ़ाया है, क्योंकि यहां केवल पदच्छेद प्रदर्शित है, सन्धि नहीं। आगे पांचवीं पंक्ति में ''**इत्संज्ञा होके,**'' मूलह० के पाठ के स्थान पर ''**इत्संज्ञा होकर**'' व्यर्थ पाठान्तर मुद्रणप्रति में है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**के पूर्व**'' पाठ परिवर्धित है। स्पष्टार्थक और पूर्ण होने से ग्राह्य है।

३. **ऋषिहस्तलेख व पाठग्रहण**—''**तो भाज्.....प्रयोग हुआ**'' मुद्रणह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

४-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—मुद्रणह०, द्वि०सं० में ''**धातु के**'' पद और दोनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित क्रिया**—मुद्रणह० में ''**लिख**'' क्रिया हटा दी गई है। शायद, मुद्रण लिपिकर को ''**लिख**'' और ''**कच्चा रूप धरके**'' क्रियाओं में एकार्थ की भ्रान्ति हो गई, अतः '**लिख**' को हटा दिया। 'कच्चा रूप धरना' क्रिया का सम्बन्ध

जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होता है, उस-उस को पढ़-पढ़ाके, लिख-लिखवाके कार्य करता-कराता जाय। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत शीघ्र[१] दृढ़ बोध होता है।

एक वार[२] इसी प्रकार '**अष्टाध्यायी**' पढ़ाके '**धातुपाठ**' अर्थसहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्यसूत्र जैसे—'**कर्मण्यण्**' [अष्टा० ३।२।१]=कर्म उपपद लगा हो तो सब धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो, जैसे—'**कुम्भकारः**'। पश्चात् अपवाद सूत्र जैसे—'**आतोऽनुपसर्गे कः**' [अष्टा० ३।२।३]=उपसर्गभिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होवे।[३] अर्थात् जो बहुव्यापक जैसा कि कर्मोपपद लगा हो तो सब धातुओं से 'अण्' प्राप्त होता है, उससे विशेष अर्थात् अल्प विषय, उसी पूर्व सूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को 'क' प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया। जैसे 'उत्सर्ग'[४] के विषय में 'अपवाद'[५] सूत्र की प्रवृत्ति होती है, वैसे अपवाद के विषय में 'उत्सर्ग' की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे **चक्रवर्त्ती**[६] राजा के राज्य में माण्डलिक और भूमिदारों की प्रवृत्ति होती है, वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में **चक्रवर्त्ती**[७] की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों[८] के बीच में अखिल शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की विद्या प्रतिपादित कर दी है।

सिद्धि का कच्चा=असिद्ध रूप धरने से है, लिखने से नहीं। यह द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में त्रुटित है।

८. **पाठग्रहण**—इस अनुच्छेद का पाठ मूलह० और मूलप्रति सं० में संक्षिप्त, अपूर्ण और अस्पष्ट-सा है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में उसे परिवर्धित कर स्पष्ट और पूर्ण बनाया गया है। अतः यहां द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ ग्रहण किया है।

१. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**शीघ्र**' पद नहीं है। मुद्रणहस्त० सं० में किया गया यह परिवर्धन ग्राह्य है।

२. **अप-परिवर्तन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में महर्षि ''**वार**'' पद प्रयोग करते हैं। वर्तमान सं० में ''**बार**'' अपवर्तनी है।

३. **उदाहरण**—'**क**' प्रत्यय जैसे—'**गोदः**' '**कम्बलदः**' पदों में होता है।

४-५. **उत्सर्ग और अपवाद**—संस्कृत-व्याकरण शास्त्र में लागू होने वाले सामान्य नियमों को 'उत्सर्ग' कहा जाता है। विशेष नियमों को 'अपवाद' कहते हैं। 'अपवाद' 'उत्सर्ग' अर्थात् सामान्य नियम का बाधक होता है।

६-७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—यहां मूलप्रति सं० में इसकी वर्तनी संस्कृतानुसारी ''**चक्रवर्त्ति**'' है जबकि अन्यत्र ''**चक्रवर्त्ती**'' भी है। मुद्रणहस्त० तथा द्वि०सं० में इसको ''**चक्रवर्ती**'' शुद्ध किया है। भाषात्मक एकरूपता, मानकता और व्यवस्था की दृष्टि से सर्वत्र यही वर्तनी ग्राह्य है। द्रष्टव्य टि०पृ० १२५, २५१, ३१६ आदि पर।

८. **सहस्रश्लोकात्मक अष्टाध्यायी का अभिप्राय**—'अष्टाध्यायी' मूलरूप से सूत्रात्मक ग्रन्थ है। उसको '**सहस्र श्लोकों वाला**' परिमाण की दृष्टि से कहा है, रचनात्मक शैली की दृष्टि से नहीं। किसी ग्रन्थ का आनुमानिक परिमाण जानने के लिए और उसके परिमाण की सुरक्षा के लिए प्राचीन शैली यह रही है कि उसके अक्षरों की अनुमानित गणना करके, उनको ३२ से भाग देकर उसके भागफल से श्लोकों की संख्या निकाल लेते हैं। फिर उस ग्रन्थ को उतने श्लोकों के परिमाण वाला मान लेते हैं। यह श्लोक परिमाण अनुष्टुप् छन्द के द्वारा निकाला जाता है। उसमें कुल अक्षर ३२ होते हैं। इस प्रकार एक सहस्र श्लोक का परिमाण हो जाता है। अनुष्टुप् का एक चरण आठ अक्षर का होता है। उसके अनुसार बत्तीस हजार अक्षरों को आठ से भाग देने पर '**चार हजार चरण**' भागफल आता है। एक चरण को एक सूत्र मानकर अष्टाध्यायी में चार हजार सूत्र बनते हैं। यह ग्रन्थ का आनुमानिक प्रमाण जानने की एक प्राचीन विधि है।

ग्रन्थकार द्वारा इस शैली का प्रयोग—ग्रन्थकार ने परिमाण जानने की इस शैली का उल्लेख अपने गद्यग्रन्थ '**ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका**' के लिए किया है। उन्होंने लिखा है—''**सो भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के मिलके आठ हजार हुये हैं।**'' (पत्र और विज्ञापन, भाग, पृ० ७६; १.१२.१८७६ के विज्ञापन में)

उदयपुर सं० का ऋषिपरम्परा-विरुद्ध, हठपूर्ण और परस्पर-विरोधी उत्तर—महर्षि ने यहां अष्टाध्यायी को 'सहस्र-श्लोकों के बीच विद्या प्रतिपादित करने वाला' ग्रन्थ बताया है। इस पर उदयपुर सं० में भ्रम से यह टिप्पणी दी गई है—''**वर्तमान में अष्टाध्यायी में सूत्र हैं। एक श्लोक में चार चरण होते हैं। इस प्रकार अष्टाध्यायी में ४००० सूत्र हैं।**'' (अन्त में पृ० २७) मैंने अपने एक लेख में लिखा था कि अष्टाध्यायी मूलतः श्लोकों में नहीं रची गई थी। यह केवल ग्रन्थ का परिमाण जानने की

'**धातुपाठ**'[१] के पश्चात् '**उणादिगण**' [=उणादिकोश] के पढ़ाने में सर्व-सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ाके, पुनः दूसरी वार शङ्का, समाधान, वार्त्तिक, कारिका, परिभाषा की घटनापूर्वक '**अष्टाध्यायी**' की द्वितीयानुवृत्ति पढ़ावें।

तदनन्तर '**महाभाष्य**' पढ़ावें। अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहनेवाले नित्यप्रति पढ़ें-पढ़ावें, तो **डेढ़ वर्ष में** '**अष्टाध्यायी**' और **डेढ़ वर्ष में** '**महाभाष्य**' पढ़के, **तीन वर्षों**[२] **में** पूर्ण वैयाकरण होकर, वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध होकर,[३] पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र

एक प्राचीन शैली है, जैसे कि ग्रन्थकार ने स्वरचित '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' को आठ हजार श्लोकों का कहा है। मैंने प्रबलतम प्रमाण '**पातंजल महाभाष्य**' का दिया जिसमें स्पष्ट कहा है कि पाणिनि ने सूत्र-रचना की थी—''**प्राङ्मुखः उपविश्य आचार्यः सूत्राणि प्रणयति स्म**'' (१.१.१, वा ७)। उदयपुर सं० के चार लेखकों में से **पहले लेखक** का घोर दुराग्रह देखिए कि इस प्रबल प्रमाण को भी धता बताने का दुस्साहस कर दिया जो पाणिनि के व्याख्याकार पतंजलि का है। अपनी बात को रखने के लिए लेखक कुतर्क कर रहे हैं कि महर्षि के वाक्य में 'प्रमाण' पद का प्रयोग नहीं है। पूर्वाग्रह में इनकी बुद्धि इतनी कुण्ठित हो गई कि ये यह भी भूल गये कि महर्षि ने अष्टाध्यायी के साथ इसी प्रसंग में अनेक स्थलों पर ''सूत्र'' पद का प्रयोग किया है, देखिए—''**अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ**'' (पृ० १२४/३), ''**जो सूत्र आगे-पीछे के जिस प्रयोग में लगें**'' (पृ० १२४/२०), ''**अष्टाध्यायी पढ़ाके.....प्रक्रिया सूत्रों के उत्सर्ग.....**'' (पृ० १२५/४) आदि। महाभाष्य में पतंजलि ने अन्य अनेक स्थलों पर 'अष्टाध्यायी' के सूत्रात्मक होने की पुष्टि की है—''**उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः**'' (१.४.१)। काशिकाकार ने भी इसी तथ्य को स्वीकार और पुष्ट किया है—''**उभयं प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्**'' (५.१.२१, ९४)।

ये लेखक इस परम्परा को भी भूल गये कि महाभाष्य में और काशिका आदि दर्जनों वृत्तियों में सूत्रों का ही उल्लेख है। साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि पाणिनि के अन्य व्याकरणग्रन्थ जैसे—उणादिकोश, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, धातुपाठ आदि सभी ग्रन्थ सूत्र शैली में हैं और अष्टाध्यायी पर वार्तिकों की रचना भी पाणिनि की सूत्र-परम्परा में हुई है। इतने स्पष्ट आर्षप्रमाण होते हुए भी गलत बात पर हठ करना क्या आर्य विद्वान् को शोभा देता है?

चीनी यात्री युआन चुआङ् ने भी जो अष्टाध्यायी का श्लोक रूप लिखा है, वह परिमाण के आधार पर लिखा है। उसका विवरण देते हुए पाणिनि पर ख्यातिप्राप्त शोधलेखक वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

''**युआन चुआङ् ने बत्तीस अक्षरों वाले श्लोक की गिनती के नाम से अष्टाध्यायी को एक सहस्र श्लोकों के बराबर लिखा है।**'' (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २१)

कोई विद्वान् मुंह या कलम से एक बार निकली हुई बात पर जब 'बकरी की तीन टांगें हैं' वाला हठ कर लेता है तो उसको समझाना-मनाना कठिन होता है, क्योंकि पूर्वाग्रह, हठ और कुतर्क उसके हथियार बन जाते हैं और वह अहंकारवशात् सत्य तथ्य की बलि दे देता है। **दूसरे** और **तीसरे लेखक** ने इस टिप्पणी को गलत मानकर इसका कोई उत्तर नहीं दिया है। **चौथे लेखक** ने घुमा-फिराकर ही सही, यह स्वीकार किया है कि ''यह टिप्पणी व्यर्थ है। श्लोक-कथन परिमाण जानने के लिए आधार है।'' इस प्रकार पहले लेखक के अपमत से उदयपुर सं० के अन्य तीन लेखक भी सहमत नहीं हैं। इस कारण वह दश विद्वानों द्वारा सम्पादित संस्करण भी सिद्ध नहीं होता। 'सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर' का आचरण देखिए कि ऐसे ऋषि-मुनि विरुद्ध उत्तरों का वह गर्व के साथ प्रचार करके जन-धन का दुरुपयोग कर रहा है। '**सत्यार्थप्रकाश निष्कलंक है**' पुस्तक में ऐसे अशुद्ध उत्तर छापकर न्यास ने जहां ऋषि-मन्तव्य का विरोध किया है, वहां इसके लेखकों को जन्मभर के लिए उपहास का पात्र बना दिया है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित नाम**—मूलह० में ''**धातुपाठ**'' पूर्णनाम है। मुद्रणह० में ''**पाठ**'' त्रुटित रह गया। वही द्विप्र० में छपा। द्वि०सं० में संशोधित है। वेस, भद, युमी में परिवर्धित है, किन्तु उदयपुर सं० में प्रमाद से त्रुटित नाम ही है।

२,४. **अपप्रयोग**—लिपिकरों की अयोग्यता देखिए कि एक ही स्थल पर किसी पाठ में कुछ प्रयोग है, किसी में कुछ। मूलह० और मूलप्रति सं० में दोनों स्थानों पर ''**तीन वर्ष में**'' अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संख्यांक २ पर यही अपप्रयोग है जबकि संख्याक ४ पर ''**तीन वर्षों में**'' शुद्ध प्रयोग है। एक पंक्ति ही आगे ''**पचास वर्षों में**'' शुद्ध प्रयोग भी द्रष्टव्य है। यह अव्यवस्था लिपिकरों की देन है और शोधकों की लापरवाही है। यही अव्यवस्था सभी सं० में है।

३. **मुद्रण-लिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में ''**बोध होकर**'' पद छूट गये हैं। मूलहस्त० तथा मूलप्रति सं० के पाठ में हैं। मुद्रणहस्त० में ये पद लिपिकर के प्रमाद से छूट गये जिसके कारण द्विप्र० और द्वि० सं० में भी त्रुटित रह गये। इनके त्रुटित रह जाने से द्वि०सं० में पाठ-असंगति है।' ' वेस, भद, युमी में पाठ गृहीत है किन्तु उदयपुर सं० में प्रमाद से त्रुटित हैं।

सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में नहीं करना पड़ता।

और जितना बोध इनके पढ़ने से **तीन वर्षों[४] में** होता है, उतना बोध कुग्रन्थों[१]—सारस्वतचन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि[२] के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता; क्योंकि जो महाशय, महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? **महर्षि लोगों का आशय, जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने, वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे—'पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना।' और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि 'एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।'**

व्याकरण को पढ़के यास्कमुनिकृत '**निघण्टु**' और '**निरुक्त**' **छः** वा **आठ महीनों में**[३] सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत '**अमरकोश**'-आदि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें। तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत '**छन्दोग्रन्थ**' जिससे वैदिक-लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को **चार महीनों में**[४] सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। और '**वृत्तरत्नाकर**' आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें। तत्पश्चात् '**मनुस्मृति**', '**वाल्मीकि-रामायण**'[५] और **महाभारत** के उद्योगपर्वान्तर्गत '**विदुरनीति**' आदि अच्छे प्रकरण, जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता, सभ्यता प्राप्त हो,[६] उनको[७] काव्यरीति अर्थात् पदच्छेद,[८] पदार्थोक्ति,[९] अन्वय,[१०] विशेष्य,[११] विशेषण[१२] और भावार्थ[१३] को अध्यापक लोग जनावें और विद्यार्थी लोग[१४]

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां एकवचनात्मक "**कुग्रन्थ**" प्रयोग अशुद्ध है, बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है।

२. **पूर्णनाम**—इनके पूर्ण नाम हैं—सिद्धान्तकौमुदी, प्रौढमनोरमा।

३-५. **अपप्रयोग एवं अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**आठ महीने में**" "**चार महीने में**" अपप्रयोग हैं। मूलह०, मूलसं० में प्रथम अपप्रयोग है, "**चार महीनों में**" शुद्ध है। मूलह० में "**वालमीकि रामायण**", मुद्रणह० में "**वाल्मीकी रामायण**", द्विप्र० में "**वाल्मीकरामायण**" अशुद्ध वर्तनियां हैं। द्वि०सं० और मूलसं० में इनको अर्ध शुद्ध "**वाल्मीकि रामायण**" किया है। पूर्ण शुद्धता के लिए मध्य में योजक चिह्न होना चाहिए अथवा समस्त एक पद होना चाहिए। अथवा, '**वाल्मीकीय रामायण**' लिखा जाना चाहिए। वेस, जग में शुद्ध है, भद में अशुद्ध है। युमी, उदयपुर में "**वाल्मीक रामायण**" प्रयोग भी अशुद्ध है। **पाठ-पुष्टि**—शुद्ध नाम तीन बार पृ० ७२९ पर है। 'संस्कारविधि' में पृ० १५१ पर शुद्ध है।

६. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां अपपाठ हो गया है—"**उत्तम सभ्यता प्राप्ति हो**"। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त पाठ संशोधित है। दुष्ट व्यसन दूर होने से '**उत्तमता**' ही प्राप्त होती है और '**सभ्यता**' तो स्वयं ही उत्तम होती है।

७. **अपप्रयोग और संशोधन**—यहां मूलप्रति सं० में "**वैसे**" अपप्रयोग है और मूलह०, मुद्रणह० द्विप्र० और द्वि० सं० में "**वैसे को**" शिथिलपाठ है। यहां '**उनको**' पाठ उपयुक्त है।

८-१३. **शब्दों के अर्थ—पदच्छेद**=प्रत्येक पद को सन्धि-समास से रहित रूप से पृथक्-पृथक् करना, **पदार्थोक्ति**=पद का अर्थ बताना, **अन्वय**=पदों को कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि के क्रम से रखना, **विशेष्य**=वह पद जिसका वैशिष्ट्य बताया जा रहा है, या वर्णन किया जा रहा है, **विशेषण**=विशेष्य पद की विशेषता बताने वाला पद, **भावार्थ**=व्याख्येय संदर्भ का संक्षिप्त कथ्य-अभिप्राय।

१४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवर्तनी और संशोधन**—मुद्रणह० और द्विप्र० में "**विद्यार्थि लोग**" अपवर्तनी है। द्वि०सं० में संशोधन कर दिया है। मूलह० और मूलसं० में उपर्युक्त शुद्ध वर्तनी है। उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

जानते जायें। इनको **एक[१] वर्ष के** भीतर पढ़ लें।

तदनन्तर '**पूर्वमीमांसा**', '**वैशेषिक**', '**न्याय**', '**योग**', '**सांख्य**' और '**वेदान्त**' अर्थात् जहाँ तक बन सके, वहाँ तक **ऋषिकृत व्याख्यासहित** अथवा **उत्तम विद्वानों की सरल-व्याख्यायुक्त** छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें। परन्तु '**वेदान्तसूत्रों**' के पढ़ने के पूर्व **ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय[२], छान्दोग्य** और **बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़ें।**[३] छः शास्त्रों के सूत्रों को[४] भाष्यवृत्ति-सहित **दो वर्षों[५] के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें।**

तत्पश्चात्[६] **छः वर्षों के भीतर** चारों ब्राह्मण अर्थात् '**ऐतरेय**', '**शतपथ**', '**साम**' और '**गोपथ**' ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द-अर्थ-सम्बन्ध तथा क्रियासहित पढ़ना योग्य है। इसमें प्रमाण—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

यह निरुक्त में मन्त्र है [१।१८; शांखायन ब्राह्मण १४]।

जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़के अर्थ नहीं जानता वह, जैसे वृक्ष डाली, पत्ते, फल, फूल [आदि का], और पशु अन्य धान्य आदि का[७] भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार [मात्र] का उठानेवाला है।[८] और जो वेद को पढ़ता और उसका यथावत् अर्थ जानता है, वही ज्ञान से पापों को

---

१. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में "**एक**" पद त्रुटित रह गया है।

२. **अव्यवस्थित संज्ञा**—तीनों सं० एकमात्र इस स्थान पर अप्रसिद्ध संज्ञा "**ऐतरेयी, तैत्तिरेयी**" का उल्लेख है। इनका भिन्न अर्थ भी है। प्रसिद्ध नाम '**ऐतरेय**' और '**तैत्तिरीय**' ही अधिक उपयुक्त हैं। ग्रन्थ में सर्वत्र यही नाम पठित हैं।

३. **परस्परविरोध का परिहार**—इस अनुच्छेद में पहले कथन है—"**छः शास्त्रों को पढें-पढावें**"। फिर है—"**दश उपनिषदों को पढ़के छः शास्त्रों को....पढ़ लेवें।**" वस्तुतः यहां पाठ कुछ अस्त-व्यस्त हुआ है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का यह परामर्श ग्राह्य है कि यहां "**पढ़के**" के स्थान पर "**पढ़ें**" क्रिया होनी चाहिए। उससे सारे परस्परविरोध का परिहार होकर पाठ की संगति लग जाती है। ग्रन्थकार ने छह शास्त्रों के पढ़ने का निर्देश देकर विशेष विधान किया है कि '**परन्तु वेदान्त सूत्र के पढ़ने से पूर्व दश उपनिषदों को पढें।**' फिर अन्तिम स्वतन्त्र वाक्य है जिसमें छः शास्त्रों की अवधि का कथन है। "**पढ़के**" क्रिया ने उस सारे क्रम को अस्तव्यस्त कर दिया, अतः संशोधन आवश्यक है। युमी को छोड़ सभी सं० में अस्त-व्यस्त पाठ है।
संशोधन-पुष्टि—ग्रन्थकार ने यही क्रम '**संस्कारविधि**' और '**सत्यार्थप्रकाश**' (प्रथम संस्करण) में दिया है। उनसे संशोधित पाठ की पुष्टि हो जाती है—(क) "**दश उपनिषद.....वेदान्तशास्त्र, इन छः शास्त्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ लेवें**" ('संस्कारविधि', वेदारम्भ प्रकरणम्)। "**सांख्यदर्शन....इसके पीछे ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को.....इसके पीछे 'वेदान्तदर्शन' को पढ़ै।**" (सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं०, पृ० ७९)

४. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**छः शास्त्रों के भाष्यवृत्ति सहित सूत्रों को**"। 'आसत्ति'-सम्बन्ध के आधार पर यह पाठ चाहिए—"**छः शास्त्रों के सूत्रों को भाष्यवृत्ति-सहित**"। सभी में भ्रष्टपाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दो वर्ष**" अपप्रयोग है। यहां बहुवचन अभीष्ट है। **संशोधन-पुष्टि**—अगली ही पंक्ति में "**छः वर्षों**" शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० के "**तत्पश्चात्**" के स्थान पर मुद्रणप्रति में "**पश्चात्**" पाठान्तर व्यर्थ है।

७. **ऋषि-हस्तलेख**—"**और अन्य पशु धान्य आदि का**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

८. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एक-दो पदों के अस्थान में प्रयुक्त होने के कारण यह वाक्य अस्पष्टार्थक अपवाक्य हो गया है। यह मूलपाठ है—"**जैसा वृक्ष डाली, पत्ते, फल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठानेवाला है।**" यहां '**जैसा**' के स्थान पर '**जैसे**' पद शुद्ध है, "**अन्य**" पशु का विशेषण हो गया है जबकि वह धान्य आदि का विशेषण है, "**का**" विभक्ति प्रत्यय पूर्व वाक्यखण्ड के साथ नहीं है। अतः स्पष्टार्थ के लिए

छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके, देहान्त के पश्चात् '**सर्वानन्द**' को प्राप्त होता है।[१]

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं[१] वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

ऋ०, म० १०। सूक्त ७१। मं० ४॥

जो अविद्वान् हैं, वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या-वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते। किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला है, उसके लिये,[२] जैसे सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण कर, अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् के लिये अपने स्वरूप का प्रकाश करती है,[३] अविद्वानों के लिये नहीं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋ०, म० १। सूक्त १६४। मं० ३९॥

जिस व्यापक, अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी, सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, क्या वह '**ऋग्वेद**'-आदि से कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है?[४] नहीं-नहीं। किन्तु **जो वेदों को पढ़के, धर्मात्मा, योगी होकर[५] उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके, मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं।**

उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में अपपाठ है।

संशोधन-पुष्टि—''**जो मनुष्य वेदों को पढ़के उनके अर्थ को नहीं जानता है, वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु, अथवा वृक्ष के समान है जो कि अपने फल, फूल, डाली आदि को बिना गुण-बोध के उठा रहे हैं।**'' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषय, पृ० २४७, इसी मन्त्रार्थ में) इसमें भाव स्पष्ट है, वही भाव यहां अभिप्रेत है।

१. **स्थानभ्रष्ट भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में इस वाक्य का पाठ भ्रष्ट हो गया है—''**यथावत् अर्थ जानता है वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।**'' इसका यह अर्थ प्रकट हो रहा है कि देहान्त के बाद ज्ञान अर्जन से पापों को छोड़ता है, धर्माचरण करता है, फिर उसके प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है। लिपिकरों, शोधकों ने किया सो तो किया किन्तु आर्यसम्पादकों ने सवा-सौ वर्षों में क्या किया? पाठक स्वयं चिन्तन करें। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में भ्रष्टपाठ है।

संशोधन-पुष्टि—''**जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादि शास्त्रों को अर्थज्ञान-सहित पढ़ना चाहिए।**'' (द्रष्टव्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठन-पाठनविषय, पृ० २४७)

२,३. **पुनरुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और दोनों सं० में यह अपपाठ है, जैसे—''**उसके लिये विद्या**'' यहां ''**विद्या**'' मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में पुनरुक्त अधिक पद है, क्योंकि आगे सही स्थान पर पुनः पठित है। ''**धारण करती**'' के स्थान पर ''**धारण कर**'' शुद्ध है। ''**अपना शरीर**'' और ''**अपना स्वरूप**'' अपप्रयोगों के स्थान पर ''**अपने शरीर**'' और ''**अपने स्वरूप**'' उपयुक्त पाठ हैं। ये अशुद्धियां वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० यथावत् हैं।

४. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह भिन्नार्थक अपपाठ है—''**वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है?**'' ग्रन्थकार के भाव की सटीक अभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत संस्करण का पाठ अधिक उपयुक्त है।

५. **ऋषि-हस्तलेख**—''**धर्मात्मा, योगी होकर**'' पाठ मूलह० में और ''**अविद्वानों.....नहीं**'' मुद्रणह० में ऋषि ने स्वहस्तलेख से बढ़ाया है।

इसलिये जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो, वह अर्थज्ञानसहित [होना][१] चाहिये।

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के, '**आयुर्वेद**' अर्थात् जो '**चरक**', '**सुश्रुत**' आदि ऋषि-मुनि-प्रणीत वैद्यक-शास्त्र हैं, उनको[२] अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन-भेदन,[३] लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर,[४] देश, काल और वस्तु के गुण-ज्ञानपूर्वक ४ **चार वर्षों**[५] **के भीतर** पढ़ें-पढ़ावें।

तदनन्तर '**धनुर्वेद**' अर्थात् जो राज्यसम्बन्धी काम करना है, इसके दो भेद—एक, निज राजपुरुषसम्बन्धी और दूसरा, प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सब सभाओं [के अध्यक्ष और] सेना के अध्यक्ष[६] शस्त्रास्त्रविद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल 'क़वायद' कहते हैं, जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें। और जो-जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके, न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड और श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें। इस राजविद्या को **दो-दो वर्षों में** सीखकर '**गान्धर्ववेद**' कि जिसको गानविद्या कहते हैं; उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को **[चार वर्षों में]**[७] यथावत् सीखें; परन्तु मुख्य करके '**सामवेद**' का गान वादित्र-वादन-पूर्वक सीखें। और '**नारदसंहिता**' आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ें; परन्तु भड़ुवों, वेश्याओं और वैरागियों के विषयासक्तिकारक और गर्दभ-शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।[८]

---

१. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होना**' क्रियापद त्रुटित है। सही वाक्यरचना के लिए यह आवश्यक है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**उसको**'' अपप्रयोग है, '**उनको**' शुद्ध है।

३. **क्रिया**=क्रियात्मक, व्यावहारिकज्ञान (प्रैक्टिकल)। **शस्त्र**=आयुर्वेदसम्बन्धी औजार। **छेदन-भेदन**=शल्यक्रिया (ऑपरेशन), यह एक ही युग्म प्रयोग है। कुछ सं० में पृथक् रूप में अंकन अशुद्ध है। कुछ सं० में संशोधित है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**शारीर**'' अपप्रयोग है। '**शरीर**' शुद्ध है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चार वर्ष**'' अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है।

६. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—''**सब सभा, सेना के अध्यक्ष.....उनको यथावत् सीखें।**'' द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**सब**'' पद भी त्रुटित है। यह पाठ '**सब सभाओं के अध्यक्ष**' होना उपयुक्त है, व्याकरणिक दृष्टि से '**सभा**' पद की संगति '**सीखें**' क्रिया से नहीं बनती, अतः कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है। यह पाठ मूल-लिपिकर से त्रुटित रहा है और मुद्रणलिपिकर ने अन्धानुकरण किया है।

संशोधन-पुष्टि—सत्यार्थप्रकाश और मनुस्मृति में सर्वत्र सभा के अध्यक्षों और सब सभासदों तथा सेनाध्यक्षों के लिए वेद-उपवेद, राजविद्या आदि सीखने के स्पष्ट और अनिवार्य निर्देश हैं—''**मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान=राजा ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें**'' (पृ० २५६/१५)। ''**राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं जब वे.....तीनों विद्या सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या.....सीखकर सभासद् और सभापति हो सकें।**'' (पृ० २५९/८), ''**तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों की कभी भरती न करें**'' (पृ० २५८/५)।

वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में यह पाठ अशुद्ध और अपूर्ण है। वेस में ''**राजकार्य में सभा, सेना के अध्यक्ष**'', भद, युमी, उदयपुर में ''**राजकार्य सब सेना के अध्यक्ष**'' पाठ अशुद्ध एवं अपूर्ण है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में '**गान्धर्ववेद**' की अध्ययन-अवधि त्रुटित है। पूर्व शैली के अनुसार यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत ''**चार वर्षों में**'' पाठ का परिवर्धन परमावश्यक है। यह अवधि वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० आदि में अभी त्रुटित है। युमी ने टिप्पणी में इस त्रुटि का उल्लेख किया है। जस ने इसकी अवधि चार वर्ष परिवर्धित कर ली है। प्रथम सं० में इसके पढ़ने की अवधि दो वर्ष है। (पृ० ८५), संस्कारविधि में तीन वर्ष है (वेदारम्भ)।

८. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**परन्तु भड़ुवे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।**'' इस वाक्य में ''**विषयासक्तिकारक**'' विशेषण अस्थान में प्रयुक्त होने से

'**अर्थवेद**' कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसको पदार्थगुण-विज्ञान, क्रिया, कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाशपर्यन्त की विद्या को[१] और अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है, उस विद्या को[२] [**चार वर्षों में**][३] यथावत् सीख के, **दो वर्षों में**[४-५] ज्योतिषशास्त्र '**सूर्यसिद्धान्तादि**' जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, उसको[६] यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें, परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझके कभी न पढ़ें और न पढ़ावें।

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ानेवाले करें कि जिससे तीस वा इकत्तीस वर्षों[७] के भीतर **समग्र विद्या**, उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहैं। **जितनी विद्या इस रीति से तीस वा इकत्तीस वर्षों में[८] हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शत वर्षों[९] में भी नहीं हो सकती।**

वैरागियों का विशेषण बन गया है जबकि यह "**आलाप**" का विशेषण है। इसी प्रकार '**भड़ुवे**' और '**वेश्या**' पद एकवचनान्त हैं, इनमें बहुवचन होना चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**विषयाशक्ति**" अपप्रयोग है। द्वि०सं० में संशोधित है।

१-२. **पुनरुक्त पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहाँ एक ही विद्या-सम्बन्धी संदर्भ में १, २ संख्यांकों पर क्रमशः '**यथावत् सीखके**' और '**सीखके**' दो बार पाठ है, जो पुनरुक्त है। इनमें से अस्थान में प्रयुक्त प्रथम पाठ दूसरे स्थान पर ग्रहण किया है, द्वितीय "**सीख के**"अग्राह्य है। यही पुनरुक्ति वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० आदि सभी में है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और दोनों सं० में '**अर्थवेद**' के अध्ययन की अवधि त्रुटित है। पूर्ण गणना के लिए उसका परिवर्धन करना आवश्यक है। इस संस्करण में विद्याप्राप्ति की अवधि की एकरूपता के लिए पूर्व निर्धारित शैली के आधार पर '**चार वर्षों में**' पाठ परिवर्धन किया है। यह अवधि, वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर आदि सभी सं० में अभी भी त्रुटित है। जस में चार वर्ष परिवर्धित पाठ है। प्रथम संस्करण में तीन वर्ष (पृ० ८५), 'संस्कारविधि' में छह वर्ष पाठ है।

४. **त्रुटित पाठ**—मूलहस्तलेख में "**दो वर्षों में**" पाठ मूलरूप से त्रुटित था, बाद में किसी शोधक ने लिखा प्रतीत होता है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में इस पाठ को ग्रहण किया है।

५. **अपप्रयोग**—मुद्रणह० और तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में "**दो वर्ष में**" अपप्रयोग है। यहां बहुवचन अपेक्षित है।

६. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**इसको**" अपप्रयोग है "**उसको**" उपयुक्त है। सभी सं० में अशुद्ध है।

७-८. **समग्र विद्याप्राप्ति की अवधि में लिपिकर से गणना की अशुद्धि और पाठत्रुटि**—निम्नलिखित स्थलों पर सभी संस्करणों में यह अशुद्ध पाठ मिलता है—१. "**जिससे वीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या**", २. "**जितनी विद्या इस रीति से वीस वा इक्कीस वर्षों में हो सकती है**"। ये वाक्य दोनों हस्त० और तीनों सं० के पाठों से मेल नहीं खाते क्योंकि **समग्र विद्याप्राप्ति** की अवधि का कुलयोग अधिक होता है। वेस, भद, जग, उदयपुर सं० के मूलपाठ में भी इनका तालमेल नहीं है। युमी में टिप्पणी से संशोधन सुझाया है, जो शुद्ध मूलपाठ की दृष्टि से व्यर्थ है। विस, जस में संशोधन कर दिया है।

[अ]—**अशुद्धि का कारण**—इस अशुद्धि का कारण यह है कि लिखते समय यहां कुछ शास्त्रों की अध्ययन-अवधि मूलप्रति में लिपिकर के प्रमाद से छूट गई है, जिसके कारण विद्याप्राप्ति की कुल अवधि की गणना में भी दोष आ गया है। '**गान्धर्ववेद**' और '**अर्थवेद**' की शिक्षा प्राप्ति की अवधि का उल्लेख नितान्त छूट गया, जो सत्यार्थप्रकाश के अनुसार क्रमशः **चार** और **चार वर्ष** कुल आठ वर्ष और होनी चाहिए। इसी प्रकार मूलहस्तलेख में '**ज्योतिषशास्त्र**' के अध्ययन की अवधि का भी उल्लेख नहीं है, जो **दो वर्ष** होनी चाहिए। जब लेखक अर्थात् मूललिपिकर ने कुल योग किया होगा तो उपर्युक्त शास्त्रों के वर्णन में अवधि का उल्लेख न होने के कारण वह १० वर्ष की अवधि कुलयोग में जोड़ने से भी रह गई। उनके बिना कुल योग इक्कीस वर्ष (३+१+१+२+६+४+४=२१) हुआ, जबकि यह कम से कम इकत्तीस वर्ष होना चाहिए था। छूटे हुए वर्ष ४+४+२=१० को इक्कीस में जोड़ने पर इकत्तीस कुलयोग आता है। सत्यार्थप्रकाश प्रथम सं० में कुल अवधि २७-२८ वर्ष दी है (पृ० ८६), संस्कारविधि में ३४ वर्ष है।

मुद्रणप्रति करते समय, मूलहस्त० में ज्योतिषशास्त्र का छूटा हुआ काल तो मुद्रणप्रतिलिपिकर्त्ता के ध्यान में आ गया, अतः वह '**दो वर्ष**' लिख दिया गया। किन्तु '**गान्धर्ववेद**' और '**अर्थवेद**' की अध्ययन-अवधि की त्रुटि उस लेखक के भी ध्यान में नहीं आई, अतः वे दोनों अवधियां द्वि०सं० में आज तक लिखने से छूटी हुई हैं। इसी प्रकार कुलयोग का संशोधन करना भी उसके ध्यान में नहीं आया। प्रमादी आदि-शोधकों ने भी इन त्रुटियों पर ध्यान नहीं दिया। इस संस्करण में 'सत्यार्थप्रकाश' के अनुसार

'**अर्थवेद**' की अवधि तथा '**गान्धर्ववेद**' की अवधि चार-चार वर्ष प्रदर्शित कर दी है।

लेखन प्रक्रिया यह होती है कि बोलकर लिखानेवाला ग्रन्थकार लिखाते समय लेखक को ही जोड़ करके कुलयोग बताने के लिए कहा करता है। छूटी हुई अवधि को प्रोक्ता के ध्यान में न लाना, या लिखते समय प्रमाद से किसी संख्या को छोड़ देना, इत्यादि बातों का लिपिकर का दायित्व बनता है जिसको लिपिकर ने ईमानदारी से नहीं निभाया।

'**संस्कारविधि**' में यह अवधि स्थूलत: इस प्रकार दी गई है—व्याकरणशास्त्र के लिए ४ वर्ष, निघण्टु-निरुक्त, छन्द स्मृति, काव्य-अध्ययन के लिए ४ वर्ष; दर्शनों-उपनिषदों के लिए २ वर्ष; चारों वेदों के लिए ९ वर्ष; आयुर्वेद, धनुर्वेद और सामवेद के लिए ९ वर्ष; अर्थवेद के लिए ६ वर्ष। इनका कुल योग ३४ वर्ष होता है। (वेदारम्भप्रकरण)

उदयपुर का अनर्गल एवं हठपूर्ण उत्तर—एक लेख के माध्यम से, मैंने यह चाहा था कि विद्वज्जन इस प्रसंग की गणना विषयक त्रुटियों को दूर करें। स्पष्ट और सिद्ध त्रुटियों की भी उपेक्षा करके 'उदयपुर-संस्करण' समर्थक **चौथे लेखक** ने बहुत ही विचारहीन उत्तर दिया। उसका कहना है कि ब्राह्मणग्रन्थों के लिए निर्धारित समयावधि में—''छ: वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों के स्वर, शब्द-अर्थ-संबन्ध तथा क्रिया-सहित पढ़ना योग्य है। इस प्रकार जब क्रिया-सहित पढ़ लेगा तब इसमें पृथक् से समय की आवश्यकता नहीं। चारों ब्राह्मणों में साम भी है।'' इस उत्तर पर अनेक आपत्तियां उपस्थित हो जाती हैं—१. मैंने गान्धर्ववेद और अर्थवेद की अध्ययन-अवधि के त्रुटित होने का उल्लेख किया है, 'साम ब्राह्मण' का नहीं। २. यदि ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन की अवधि को ही उपवेदों के अध्ययन की अवधि मान लेंगे तो प्रश्न उठता है कि फिर '**आयुर्वेद**' और '**धनुर्वेद**' इन दो उपवेदों के अध्ययन की अवधि पृथक् से क्यों दर्शाई है? और '**गान्धर्ववेद**' तथा '**अर्थवेद**' की अवधि ही त्रुटित क्यों है? ३. महर्षि ने व्याकरण, दर्शन, ब्राह्मण, वेद, उपवेद आदि की अध्ययन-अवधि पृथक्-पृथक् वर्णित की है। ऐसे ही 'संस्कारविधि' तथा 'सत्यार्थप्रकाश' (प्रथम सं०) में पृथक्-पृथक् वर्णित है। जब वहां इनकी अवधि वर्णित है तो यहां क्यों नहीं है? ४. यदि ब्राह्मणग्रन्थों की अवधि के अन्तर्गत ही उपवेदों के अध्ययन की अवधि वर्णित करना ग्रन्थकार को अभीष्ट होता तो यहां तथा अन्य ग्रन्थों में भी यही शैली होती, किन्तु ऐसा नहीं है, अत: यह विचारहीन उत्तर मान्य नहीं हो सकता। जो अवधि अन्य ग्रन्थों में है और यहां नहीं है, तो इसका सीधा-सीधा एक ही अर्थ निकलता है कि यहां लिखते समय लिपिकर के प्रमाद से अवधि त्रुटित रही है, इसमें आग्रह का अवसर ही नहीं है। विद्वान् और पाठक यहां यह देखें कि लेखक भी दुराग्रह के कारण कैसे बेतुके उत्तर देते हैं। कुछ लिखना है, इसलिए कुछ भी लिख देते हैं, जिससे पाठकों को यह लगे कि उत्तर दिया गया है। आगे यह लेखक लिखता है—''इस प्रकार की संगति लगाना समिति का उद्देश्य नहीं था।'' जबकि **पहले लेखक** ने सम्पादकीय में स्पष्ट लिखा है कि ''संगति लगाना हमारा उद्देश्य था।'' (पृ० 'ङ')। ये दो लेखक ही परस्पर एकमत नहीं हैं। **पहले** और **दूसरे लेखक** इस जिज्ञासा का कोई उत्तर नहीं दे सके। **तीसरे लेखक** ने पूर्व सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठों की तालिका का प्रदर्शन किया है, जो प्रतिज्ञा-विरुद्ध उत्तर है। पूर्व सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठ को स्वीकार करना उदयपुर सं० के सम्पादकों का स्वीकृत 'मानदण्ड' नहीं है। जब लेखकों का अपनी त्रुटि के पक्ष में इतना दुराग्रह है तो साधारण जनों को क्या कहा जा सकता है? मंचों पर दिये गये ''सत्य के ग्रहण'' के इनके उपदेश दिखावा-मात्र हैं।

इस विवरण-विवेचन से यह भी सिद्ध हो रहा है कि इन लेखकों का, उत्तर में 'एकमत' या विमत नहीं है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उदयपुर सं० का सम्पादन दश सम्पादकों का सहमतियुक्त सम्पादन नहीं है। दश का तो आडम्बर किया गया है।

[आ] अध्ययन-अवधि के अन्तर का समाधान—महर्षि दयानन्द ने तृतीय समुल्लास में मनु के श्लोक ''**षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्**'' (३.१) के आधार पर, आठ वर्ष प्रवेश पूर्व के और ३६ वर्ष सब वेदों के पढ़ने के, इस प्रकार ४४ वर्ष तक पूर्ण अध्ययन की सीमा निर्धारित की है। प्रश्न उठता है कि फिर महर्षि ने 'पठन-पाठन-विधि' में उसको इकत्तीस वर्ष क्यों लिखा है? (और, बीस-इक्कीस वर्षों की अवधि का तो ३६ वर्षावधि से कोई मेल ही नहीं है), इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि महर्षि ने यह अवधि आधुनिक शिक्षापद्धति की अवधि के दृष्टिगत घटाकर इकत्तीस या तैंतीस वर्ष की है, ऐसा प्रतीत होता है। अथवा, मनु के अनुसार शीघ्र प्रवेश की आयु ५ वर्ष+३१=कुल ३६ वर्ष होते हैं।

[इ] सांगोपांग शिक्षापद्धति में शिक्षा प्राप्ति के विकल्प—प्रस्तुत सांगोपांग शिक्षापद्धति में महर्षि मनु तथा महर्षि दयानन्द दोनों ने ही विकल्प दिये हैं—(१) सम्पूर्ण पाठविधि का अध्ययन, (२) तीन, दो या एक वेद का सांगोपांग अध्ययन (द्रष्टव्य हैं—''**षट्त्रिंशब्दिकं चर्यम्**'' मनु० ३.१; स०प्रकाश तृ०समु० पृ० ९३ तथा ''**वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि**'' मनु० ३.२; स०प्र०, चतुर्थ समु० पृ० १४५)। अन्यभाषाओं के अध्ययन का पाठ्यक्रम इनके साथ-साथ समायोजित कर लेना चाहिए।

[ई] सांगोपांग शिक्षापद्धति में आयु के अनुसार विकल्प—आयु के आधार पर निम्न विकल्प दिये हैं—''जो बालक को ५ वर्ष की आयु तक माता, पांच से ८ तक पिता, ८ से ४८ अड़तालीस, ४४ चवालीस, ४० चालीस, ३६ छत्तीस, ३० तीस तक अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक, तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस, २२ बाईस, २०, १८ अठारह अथवा सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा हो, तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ, काम, मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं। ('संस्कारविधि', वेदारम्भ संस्कार)

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्प-शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

'**पूर्वमीमांसा**' पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, '**वैशेषिक**' पर गोतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्य,[१०]

यहां यह ध्यातव्य है कि निम्नतम आयुसीमा तक न्यूनतम एक वेद का अध्ययन अवश्य पूर्ण हो जाना चाहिए क्योंकि ऋषि दयानन्द ने न्यूनतम आयुसीमा एक वेद के अध्ययन के लिए लिखी है। देखिए—३ वर्ष व्याकरण+१ वर्ष निरुक्त व छन्द+१ वर्ष स्मृति व साहित्य+२ वर्ष दर्शन-उपनिषद्+६ वर्ष वेद व ब्राह्मण+४ वर्ष किसी वेद का एक उपवेद। ये कुल १७ वर्ष होते हैं। इनमें ८ वर्ष प्रवेशआयु के मिलाकर कुल न्यूनतम आयु २५ वर्ष होती है। यदि प्रवेश आयु ५ वर्ष हो तो यह अवधि २२ वर्ष बनती है। अन्य भाषाओं की शिक्षा इनके साथ-साथ दी जानी चाहिए।

[उ] न्यून से न्यूनतम पाठविधि—महर्षि द्वारा निर्धारित न्यून से न्यूनतम पाठविधि की रूपरेखा के लिए पृ० १४३ की टिप्पणी संख्या १ द्रष्टव्य है। वह इस प्रकार निर्धारित है—

(१) न्यूनतम पाठविधि—(अ) **पुरुषों के लिए**—''पुरुषों को व्याकरण, धर्म, और अपने व्यवहार की विद्या कम-से-कम अवश्य पढ़नी चाहिए।'' (स०प्र०,पृ० १४२/५, समु०तीन)

(२) **स्त्रियों के लिए न्यूनतम शिक्षा-विधि**—''स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य सीखनी चाहिये।'' (स०प्र०, समु० तीन, पृ० १४३/१)

[ऊ] विदेशी भाषाओं का प्रशिक्षण—विदेशी भाषाओं का प्रशिक्षण आर्ष विषयों के साथ-साथ समायोजित किया जाना चाहिए। महर्षि ने सभी भाषाओं का महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है, देखिए—

१. ''जब पांच-पांच वर्ष के लड़का-लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।'' (समु० दो, पृ० ६४/४)

२. ''जो वैश्य हों वे.....नाना देशों की भाषा.....जानना।'' (समु० चार, पृ० २०१/२०; तथा 'संस्कारविधि', गृहाश्रम)

३. ''देखो, विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं के जानने वाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाओं को बोल सकते थे।'' (उपदेश मंजरी, उप० १२, पृ० ८२)

४. ''प्रश्न—मैं अंगरेजी पढ़ूं वा संस्कृत? उत्तर—जो संस्कृत का योग्य अध्यापक न मिले तो अंगरेजी पढ़ते ही चले जाओ।'' (ऋषि के पत्र-विज्ञापन, भाग दो, पृ० ५२४-५२५), सरदार रूपसिंह को लिखा पत्र)

५. महर्षि ने अंग्रेजी सीखनी आरम्भ की थी। लखनऊ में ''एक बंगाली बाबू को अंग्रेजी पढ़ाने को नौकरी पर रखा था और पढ़ना आरम्भ किया।'' (पं० लेखराम रचित 'महर्षि का जीवन चरित', पृ० २९३)

६. ''सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए क्योंकि उनके पढ़ने से, बहुत व्यवहारों का उपकार होता है।.....जितनी देशों की भाषा जानें उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है।'' (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण, पृ० ३२७)

[ज] महर्षि द्वारा पाठशालाओं में अन्य विषयों का समायोजन—

१. ''कुल पठन-पाठन के छः घण्टों में ३ घण्टे संस्कृत, २ घण्टे अंगरेजी, और एक घण्टा उर्दू-फारसी पढ़ाई जाया करे।'' (ऋषि के पत्र-विज्ञापन,भाग दो, पृ० ५०२, फर्रुखाबाद पाठशाला के लिए सेठ निर्भयराम को भेजा पत्र, २३.५.१८८१ ईस्वी को)

२. ''केवल संस्कृत और राजभाषा अंगरेजी दो ही का पठन-पाठन होना आवश्यक है, सो आधे-आधे समय दोनों जारी रहें।'' (वही, भाग दो, पृ० ५०५, राजा दुर्गाप्रसाद को भेजा पत्र, १७.६.१८८३ ईस्वी को)

३. ''पश्चात् यदि समय हो तो अंगरेजी भी जो कि ग्रामर, और फिलासफी के ग्रन्थ हैं, पढ़ने चाहियें।'' (वही, भाग दो, पृ० ७८१ जोधपुर नरेश को लिखा पत्र, ८.३.१८८३ ईस्वी को)

इस विषयक विस्तृत जानकारी के लिए सम्पादक-रचित '**महर्षि दयानन्द वर्णित शिक्षा पद्धति**' नामक पुस्तक पठनीय है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**शतवर्षों**'' बहुवचन पाठ चाहिये, जैसे सभी में ''**इक्कीस वर्षों**'' शुद्ध है।

१०. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित एवं भ्रष्ट पाठ**—खेद है कि कई सं० में यह पाठ आज भी त्रुटित चल रहा है। मूलसं० में संशोधित किया जा चुका है। मुद्रणहस्त० में लिपिकर के प्रमाद से ''**प्रशस्तपादभाष्य गोतममुनिकृत**'' पाठ छूट गया। दो बार '**गोतममुनिकृत**' पद आने से उसका ध्यान विचलित होकर दूसरे नाम के आगेवाले पाठ पर चला गया, तो उससे पहले का यह पाठ त्रुटित रह गया। प्रमादी लिपिकर की अस्थिरमति से यह असंगत, भ्रष्ट पाठ यों बना—''**वैशेषिक पर गोतममुनिकृत**

गोतममुनिकृत '**न्यायसूत्र**' पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत '**[योग]सूत्र**' पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत '**सांख्यसूत्र**' पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत '**वेदान्तसूत्र**' पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्तिसहित पढ़ें-पढ़ावें। इत्यादि सूत्रों को '**कल्प**' अङ्ग में भी गिनना चाहिये।

जैसे '**ऋग्**', '**यजुः**', '**साम**' और '**अथर्व**' चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे '**ऐतरेय**', '**शतपथ**', '**साम**' और '**गोपथ**' चारों **ब्राह्मण**; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु-निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के **अङ्ग**, '**मीमांसा**'-आदि छः शास्त्र वेदों के **उपाङ्ग**; '**आयुर्वेद**', '**धनुर्वेद**', '**गान्धर्ववेद**' और '**अर्थवेद**' ये चार वेदों के **उपवेद** इत्यादि सब ऋषि-मुनियों[१] के किये ग्रन्थ हैं। **इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उस को छोड़ देना; क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण [है][२] अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।** वेद की विशेष व्याख्या '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिये और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे।

अब जो **परित्याग के योग्य ग्रन्थ** हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे, वह-वह जालग्रन्थ समझना चाहिये। **व्याकरण** में कातन्त्र, सारस्वतचन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि।[३] **कोशों** में अमरकोशादि। **छन्दोग्रन्थों** में वृत्तरत्नाकरादि। **शिक्षा** में '**अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा**' इत्यादि।[४] **ज्योतिष** में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि। **काव्यों** में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। **मीमांसा** में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि। **वैशेषिक** में तर्कसंग्रहादि। **न्याय** में जागदीशी आदि। **योग** में हठप्रयोगदीपिकादि। **सांख्य** में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि। **वेदान्त** में योगवासिष्ठ, पञ्चदश्यादि। **वैद्यक** में शार्ङ्गधरादि। **स्मृतियों** में एक **मनुस्मृति** को छोड़, इसके प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृतियां[५]; सब तन्त्र ग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत

न्यायसूत्र पर....।'' इस भ्रष्टपाठ पर आदि-शोधकों का ध्यान नहीं गया। पाठक विचार करें कि वेतनभोगी लिपिकर और शोधक कितने मक्कार थे। सवा-सौ वर्षों में हमारे सम्पादक आर्यविद्वानों ने भी इस स्पष्ट असंगति को दूर नहीं किया, हम उनको क्या कहें ? द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस जग, और युमी में आज भी त्रुटित व भ्रष्टपाठ है; भद व उदयपुर सं० में संशोधित कर लिया है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**ऋषि-मुनि के किये**'' अपपाठ है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है।

३. **ग्रन्थों के पूर्ण नाम**—**कौमुदी**—'सिद्धान्त कौमुदी' (लघु और बृहत्) आदि; **शेखर**—'लघुशब्देन्दु शेखर, बृहत्-शब्देन्दु शेखर, परिभाषेन्दुशेखर' आदि; **मनोरमा**—'प्रौढ़ मनोरमा' आदि।

४. **अभिप्राय**—यह संकेत उन ग्रन्थों की ओर है जो पाणिनि के नाम से आरम्भ करके लिखी गई अपाणिनीय पुस्तकें हैं।

५. **मूललिपिकर कृत भ्रष्टपाठ और उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह भ्रष्ट पाठ है—''**स्मृतियों में एक मनुस्मृति, इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ अन्य सब स्मृति**''। द्विप्र० में ''**को छोड़**'' पदों को हटा दिया। यहां अधिक अनर्थ व्यक्त हो रहा है और, वह भी बेतुके ढंग से अर्थात् प्रक्षिप्त श्लोक और एक मनुस्मृति भी त्याज्य है तथा सब स्मृतियां भी। ऐसा प्रतीत होता है कि लिखते समय लिपिकर भी नशे में था, और शोधक शोधते समय सो रहा था। आदि-सम्पादक भी चद्दर तान के सो गया था। द्वि० सं० में यह पाठ इस प्रकार संशोधित है—''**स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति**''। इस सं० की वाक्यरचना अधिक सटीक और उपयुक्त है। यहां ''**स्मृति**'' अपप्रयोग है, बहुवचन चाहिए।

पं० मीमांसक जी का भ्रष्टपाठ—पं० जी यहां पाठ को बहुत ही भ्रष्ट कर गये—''**स्मृतियों में एक मनुस्मृति, इसमें भी प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति।**'' इसका अर्थ हुआ कि मनुस्मृति और उसके प्रक्षिप्त श्लोक त्याज्य हैं। यह त्याज्य ग्रन्थों का प्रसंग है, इससे मनुस्मृति का सम्बन्ध त्याज्य ग्रन्थों से जुड़ गया है। **स्वामी वेदानन्द जी** और **पं० भगवद्दत्त जी** का पाठ शुद्ध है। उदयपुर सं० में भी अपपाठ है—''**स्मृतियों में एक मनुस्मति के प्रक्षिप्त श्लोक, अन्य सब स्मृति**''। इस संशोधन में ''**एक**''

भाषारामायण, रुक्मिणीमङ्गल-आदि और सर्व-भाषा-ग्रन्थ। ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं।[१]

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है। इससे '**विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः**'=जैसे अत्युत्तम अन्न [भी] विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या आप पुराण, इतिहास को नहीं मानते?

उत्तर—हाँ, मानते हैं; परन्तु सत्य को मानते हैं, मिथ्या को नहीं।

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है?

उत्तर—**ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति॥** यह गृह्यसूत्रादि का वचन है। [तुलना—आश्व० गृ० सू०, अ० ३। कं० ३। व० १-२; तैत्ति० आ०, प्रपा० २। अनु० ९]

जो '**ऐतरेय**', '**शतपथ**'-आदि ब्राह्मण लिख आये, उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं; '**श्रीमद्भागवत**'-**आदि** का नहीं।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते?

उत्तर—**जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि सत्यशास्त्रों का है और मिथ्या उनके घर का है। वेदादि सत्य-शास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है। जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उनके गले लिपट जाय।** इसलिये '**असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति**'=असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे छोड़ देना चाहिये जैसे विषयुक्त अन्न को।

प्रयोग व्यर्थ है, ''**सब स्मृति**'' अशुद्ध है। सबके सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित हैं (द्र०पृ० १०, ५२, २६४ पर शुद्ध प्रयोग)।

१. **नवीन ग्रन्थों के निषेध में कारण**—विद्यार्थी-अवस्था में परित्याग योग्य ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के निषेध में अनेक कारण हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

(क) वर्तमान ग्रन्थ कोश, साहित्य-ग्रन्थ आदि वेद और वैदिक साहित्य के आधुनिक अर्थ या रूढ़ार्थ और व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं, जिनके कारण वेद और वैदिक ग्रन्थों के अर्थ में भ्रान्ति तथा सन्देह उत्पन्न होते हैं। मूल यथार्थ का परिज्ञान आर्ष ग्रन्थों से ही होता है। जैसे 'अनड्वान्' का वर्तमान अर्थ 'बैल' है, जबकि वैदिक अर्थ 'ईश्वर' है। 'गो' का अर्थ 'गाय' है जबकि वेद में 'पृथिवी' आदि एक दर्जन अर्थ हैं। इस प्रकार विद्यार्थी मौलिक शब्दार्थ को नहीं जान पाता।

(ख) ऋषि-मुनियों द्वारा रचित 'रामायण' आदि मूल ग्रन्थ उपेक्षित और विस्मृत हो रहे हैं जबकि उन पर आधारित गौण ग्रन्थ महत्त्व प्राप्त कर रहे हैं। यह मूलग्रन्थ-प्रणेताओं के साथ अन्याय है और मूल-विद्याओं के लुप्त हो जाने की आशंका बन रही है।

(ग) वैदिक विचारधारा समग्ररूप से उदात्त, उन्नतिकारक, उत्तम, उदार और व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के लिए हितकारी है। नवीन ग्रन्थों में व्यक्त विचारधारा रूढ़िवादी, संकीर्ण, विघटनकारी, अहितकारी, पतनकारी है। उसका विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर दुष्प्रभाव पड़ता है तथा प्राचीन वैदिक, संस्कृति-सभ्यता, इतिहास का विकृत चित्र प्रस्तुत होता है।

(घ) नवीन ग्रन्थों में अधिकांश बातें कपोलकल्पित, असम्भव, युक्तिहीन, विलासितापूर्ण, अश्लील, साम्प्रदायिक और केवल भावना-प्रधान हैं, जिनका अपरिपक्व बाल एवं युवा मस्तिष्कों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। भाषा सारहीन, शब्दाम्बर प्रधान तथा जटिल है जिसके पढ़ने का परिणाम '**खोदा पहाड़ निकली चुहिया**' के समान है।

(ङ) विद्यार्थी-काल में बालकों के मन पर उन ग्रन्थों का दुष्प्रभाव पड़ने से वे उनसे प्रभावित न हों, इस कारण उनका निषेध है। परिपक्व अवस्था में यथार्थ और तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्जित ग्रन्थों तथा साम्प्रदायिक मत-ग्रन्थों को भी पढ़ा जा सकता है, जैसे सत्यार्थप्रकाश के 'पूर्वार्ध' के दस समुल्लासों में यथार्थ ज्ञान को उपस्थित कर पाठक संस्कारों को दृढ़ करने तथा चिन्तन-प्रतिभा को विकसित करने का लक्ष्य है। उसके पश्चात् 'उत्तरार्ध' में विभिन्न मत-मतान्तरों के मन्तव्यों का खण्डन-मण्डन है। प्रथम सत्यशिक्षा के संस्कारों को दृढ़ और ज्ञान को परिपक्व किया गया है (द्र०पृ० ५०९/१३)।

प्रश्न—तुम्हारा क्या मत है ?[१]

उत्तर—वेद, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस-उसको हम यथावत् करना [और][२] छोड़ना मानते हैं। जिसलिये वेद हमको मान्य है, इसलिये हमारा मत वेद है; ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को, विशेषतः[३] आर्यों को, ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।

प्रश्न—जैसे[४] सत्यासत्य और एक-दूसरे ग्रन्थों का परस्परविरोध है, वैसे[५] अन्य शास्त्रों में भी है। जैसे[६] कि सृष्टिविषय में छः शास्त्रों का विरोध है—'**मीमांसा**' कर्म से,[७] '**वैशेषिक**' काल से,[८] '**न्याय**' परमाणु से,[९] '**योग**' पुरुषार्थ से,[१०] '**सांख्य**' प्रकृति से[११] और '**वेदान्तशास्त्र**' ब्रह्म से[१२] सृष्टि की उत्पत्ति मानता है; क्या यह विरोध नहीं है ?

उत्तर—नहीं।[१३] प्रथम तो विना '**सांख्य**' और '**वेदान्त**' के, दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध नहीं लिखी। और इनमें विरोध भी नहीं,[१४] क्योंकि तुमको विरोध-अविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में ?

प्रश्न—एक विषय में अनेक[१५] का परस्परविरुद्ध कथन हो, उसको विरोध कहते हैं। यहाँ भी सृष्टि एक ही विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो ?

[**प्रश्न**—] एक है।

[**उत्तर**—] जो एक है, तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों है ? जैसे[१६] एक विद्या में अनेक विद्याओं[१७] के अवयवों का एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही

---

१. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—सभी पाठों में यह वाक्य शुद्ध है केवल द्विप्र० में यह अपपाठ है—''**क्या तुम्हारा मत है ?**'' यह अशुद्धि मुद्रणकाल में हुई है। द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में इसको शुद्ध कर दिया है। द्रष्टव्य पृ० ३७१/९-१० भी।

२. **मुद्रणकालीन अशुद्ध पाठान्तर व त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में विपरीत क्रियाओं के मध्य '**और**' पद का प्रयोग आवश्यक है, जैसे पूर्व वाक्य में है। मुद्रणकाल में ''**उस-उसका हम यथावत् करना**'' अशुद्ध पाठान्तर है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**विशेष आर्यों को**'' अभिप्राय-विरुद्ध प्रयोग है, यहां '**विशेषतः**' प्रयोग शुद्ध है। किसी '**विशेष आर्य**' से यहां ग्रन्थकार का अभिप्राय नहीं है। युमी में संशोधित है। वेस, भद, उदयपुर सं० में अशुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग पृ० १२/५, २६२/१५, ३१५/९, ४५७/३ में द्रष्टव्य हैं।

४-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में तीनों स्थानों पर क्रमशः ''**जैसे**'', ''**वैसे**'', ''**जैसे**'' उदाहरणार्थक प्रयोग होने चाहिएं।

७-१२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपवाक्यरचना है। पहले पांच दर्शनों के वर्णित वाक्यांश के साथ '**से**' विभक्ति प्रत्यय त्रुटित है, केवल छठे दर्शन के वाक्यांश '**ब्रह्म से**' पद में प्रयुक्त है। विभक्ति-प्रत्यय न तो पद से दूर हटकर होता है और न बिना उसके विभक्ति का प्रयोग ही होता है तथा न अनेक पूर्व के वाक्यखण्डों के साथ एक ही अन्तिम विभक्ति से अर्थ प्रकट किया जाता है, यह हिन्दी व्याकरण का नियम है। अतः यहां सभी वाक्यांशों के साथ '**से**' विभक्ति-प्रत्यय का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में विभक्ति-रहित अपूर्ण वाक्यखण्ड हैं।

१३. **मुद्रणसमय में त्रुटित पद**—द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां उत्तरपरक '**नहीं**' पद त्रुटित है। पूर्व प्रश्न की भाषा के सम्बन्ध से उत्तर में इसका होना आवश्यक है। दोनों हस्त० तथा मूलप्रति सं० में है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

१४. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**प्रथम तो विना....विरोध भी**'' पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मुद्रणह० में ऋषि ने अपने हस्तलेख से बढ़ाया है। मूलप्रति सं० में मुद्रणह० से लिया है।

१५. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में ''**अनेकों**'' अपप्रयोग है। '**अनेक**' शुद्ध है।

१६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है। आगे पठित ''**वैसे**'' पद के सम्बन्ध से '**जैसे**' शुद्ध है।

१७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अनेक विद्या के अवयवों के**'' एकवचनान्त अपपाठ है, यहां ''**अनेक**'' प्रयोग

'**सृष्टिविद्या**' के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः[१] शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्भार (=कुम्हार)[२] कारण है, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या '**मीमांसा**' में, समय की व्याख्या '**वैशेषिक**' में, उपादान कारण की व्याख्या '**न्याय**' में, पुरुषार्थ की व्याख्या '**योग**' में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या '**सांख्य**' में, और निमित्तकारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या '**वेदान्तशास्त्र**' में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे '**वैद्यकशास्त्र**' में निदान, चिकित्सा, औषधि-दान[३] और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सबका सिद्धान्त 'रोग की निवृत्ति' है। वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने कही है।[४] इसलिये इनमें कुछ भी विरोध नहीं। **इसकी विशेष व्याख्या सृष्टिप्रकरण में कहेंगे।**

जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं, उनको छोड़ देवें। जैसे[५] कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग; दुष्टव्यसन=जैसे[६] मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि; **बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से[७] पूर्व पुरुष और सोहलवें[८] वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना;** पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना; राजा, माता, पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना; अतिभोजन, अतिजागरण करना; पढ़ने-पढ़ाने, परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना; विद्या का सर्वोपरि[९] लाभ न समझना; ब्रह्मचर्य से[१०] वीर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना; ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य

के सम्बन्ध से "**अनेक विद्याओं के अवयवों का**" बहुवचनात्मक प्रयोग शुद्ध माना जायेगा। सभी सं० में अपपाठ है।

१. **मुद्रणसमय में त्रुटित पद** —द्विप्र० में मुद्रणसमय "**छः**" पद त्रुटित रह गया है। अन्य सभी पाठों में है। द्वि०सं० में ग्रहण कर लिया है। भद, युमी में परिवर्धित है; वेस, जग, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

२. **गुजराती प्रयोग**—दोनों सं० में "**कुम्भार**" गुजराती भाषा का शब्द प्रयुक्त है। ग्रन्थ में अन्यत्र मुख्यतः "**कुम्हार**" वर्तनी का प्रयोग भी हुआ है। अतः भाषागत एकरूपता, मानकता और व्यवस्था के लिए '**कुम्हार**' पद भी ग्रहण किया है।

३. **अपविराम और अपप्रयोग**—द्विप्र० में "**ओषधि, दान**" इस प्रकार एकपद के मध्य अपविराम है। एकपद होने से यहां अल्पविराम नहीं आयेगा। कुछ पाठों में संशोधित है। यहां प्रकरणानुसार '**औषधि-दान**' प्रयोग शुद्ध है। उदयपुर सं० में "**ओषधदान**" पाठ अनावश्यक बदला है, जो अशुद्ध भी है, क्योंकि '**ओषध**' नहीं '**औषध**' शुद्ध है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इसके स्थान पर "**की**" क्रिया परिवर्तित की है। अगले वाक्य के अन्त में "**विशेष व्याख्या..... कहेंगे**" क्रिया यथावत् रखी है। यदि वहां '**कहेंगे**' क्रिया स्वीकृत है तो यहां "**कही**" क्रिया भी स्वीकृत करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी। इस दृष्टि से यह पाठपरिवर्तन व्यर्थ है।

५-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर "**जैसा**" अपप्रयोग है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**पच्चीस वर्षों से पूर्व**" अपपाठ है। इस कथन का कोई अर्थ नहीं बनता। वेस, भद, उदयपुर सं० में अपपाठ है; युमी में संशोधित है।

८. **अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों और द्विप्र० में यहां "**शोलहवें**" अपवर्तनी है। द्वि०सं० और मूलसं० में संशोधित है।

९. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना**"। सर्वोपरि विशेषण अस्थान में होने से यह '**विद्या**' का विशेषण बन गया है जबकि ग्रन्थकार के अभिप्राय से '**लाभ**' का होना अभीष्ट है।
संशोधन-पुष्टि—विद्या के लाभ को सर्वोच्च मानते हुए '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जितने ब्रह्माण्ड में पदार्थ हैं, उनकी प्राप्ति से जितना सुख होता है सो सुख विद्याप्राप्ति से होने वाले सुख से हजारहवें अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता।" (वेदोत्पत्तिविषय, पृ० १२) युमी को छोड़, वेस, भद, जग, उदयपुर सं० आदि सभी में अपपाठ है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—द्वि०सं० में "**ब्रह्मचर्य से वीर्य**" पद त्रुटित रह गये हैं। मुद्रणह०, द्विप्र० में केवल "**वीर्य**" पद त्रुटित है। इनके बिना वाक्य अर्थहीन हो गया है, क्योंकि वर्णित वृद्धियां किससे होती हैं, उद्देश्य-बोधक वह कर्त्ता-पद ही नहीं रह गया है। भद में पूर्ण पाठ है। वेस, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में "**वीर्य**" पद त्रुटित है।

पाषाणादि-जड़मूर्त्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ काल खोना; माता, पिता, अतिथि, आचार्य, और[१] विद्वान् इन सत्यमूर्त्तिमानों की सेवा और सत्संग न करना[२]; वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र[३], त्रिपुण्ड्र,[४] तिलक, कंठी, माला धारण; एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना; काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होने का विश्वास; पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना; विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के विना, मिथ्या 'पुराण'-नामक '**भागवत**'-आदि की[५] कथादि से मुक्ति का मानना; लोभ से धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में प्रीति न रखना; इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना, इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फसके ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हटा[६] और अपने जाल में फसाके उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं, और सोचते हैं[७] कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जायेंगे, तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे। **इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके, अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।**

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है, जैसे यह निषेध है—[८]

---

१. **स्थानभ्रष्ट पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**और**'' पद ''**अतिथि और आचार्य**'' पदों के मध्य है, यह अन्तिम संज्ञा पद ''**विद्वान्**'' के पूर्व होना चाहिए।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषि के लिखे शब्दों का सिद्धान्तविरुद्ध परिवर्तन**—मूलप्रति सं० का यह पाठ गम्भीर और उत्तम है जिसमें माता आदिको ही सत्यमूर्ति रूप कहा है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में परिवर्तित पाठ सिद्धान्तविरुद्ध है—''**इनको सत्यमूर्त्ति मानकर सेवा सत्संग न करना**''। मूर्ति-स्थानीय मानने का कथन करने में मूर्त्ति के समान पूजा करने की भावना झलकती है। यह मुद्रणहस्त० के लिपिकर द्वारा जानबूझकर या छलपूर्वक परिवर्तित पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने एक अन्य स्थान पर भी ''**(मातादि) इन मूर्तियों को पूज्य**'' के स्थान पर ''**इनकी मूर्तियों को पूज्य**'' सिद्धान्तविरुद्ध पाठ बनाया है (द्विप्र० ५८८/२९)। उदयपुर सं० ने वहां तो शुद्ध कर लिया किन्तु यहां सिद्धान्तविरुद्ध पाठ ही है। अन्य सभी द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, जस आदि में दोनों जगह सिद्धान्तविरुद्ध पाठ हैं।

पाठ-पुष्टि—यह महर्षि की भाषा नहीं है, और मूलह० की भाषा महर्षि की है। देखिए, जो शब्द मूलह० में यहां प्रयुक्त है, वही समु० ११ में पृ० ५९३/१० पर प्रयुक्त है—''**माता मूर्तिमती पूजनीय देवता**'' ''**ये पांच मूर्त्तिमान् देव**'' (५९४/१) ''**मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा**'' आदि। दोनों में यह सूक्ष्म अन्तर है 'मूर्त्तिमान्' वह है जिसका व्यक्तित्व स्वयं ही मूर्त्तिस्वरूप है और 'सत्यमूर्त्ति' वह है जो मूर्त्ति तो है किन्तु वह सत्यमूर्त्ति है, पाषाणादि के समान असत्य मूर्त्ति नहीं। मूर्त्ति मानने पर उसका अस्तित्व पृथक् होता है। उनको मूर्ति के रूप में मानकर सेवा करने रूप मूर्तिपूजा का कथन मुद्रणलिपिकर के पाठ में है।

३. **अर्थ—ऊर्ध्वपुण्ड्र**=मस्तक पर ऊपर की ओर रेखाकार में लगाया जाने वाला वैष्णवी तिलक।

४. **त्रिपुण्ड्र**=तीन पड़ी या अर्धचन्द्राकार रेखाओं के रूप में लगाया जाने वाला शैव सम्प्रदाय का तिलक।

५. **ऋषि-हस्तलेख**—''**मिथ्या पुराण नामक भागवतादि की**'' पाठ मूलह० में ऋषि के लेख में परिवर्धित है।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में '**हठा**' अपप्रयोग है। द्वि० सं० में संशोधित '**हटा**' उचित पाठ है। हिन्दी में कोई '**हठ**' धातु हटने अर्थ में नहीं है। ग्रन्थों में बहुत्र '**हटना**' प्रयोग भी है। (द्र०पृ० १० पर टिप्पणी)।

७. **भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**चाहते हैं**'' लिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से लिखा गया भ्रष्ट पाठ है। यदि इस क्रिया में संशोधन नहीं किया जायेगा तो यह वाक्य-संगति बनेगी—''**चाहते हैं कि जो.....विद्वान् हो जायेंगे.....हमारा अपमान करेंगे।**'' क्या कोई अपमान कराना भी चाहेगा? वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में यही भ्रष्ट पाठ है।

८. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**यह निषेध है**'' मूलह० में नहीं है। इसको मुद्रणह० में ऋषि ने बढ़ाया है।

"स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः" =स्त्री और शूद्र न पढ़ें, यह श्रुति है।

[गौतम धर्मसूत्र प्रक० २। अ० ३। सू० ४; वेदान्तदर्शन शांकरभाष्य २। ३। ४]

उत्तर—सब स्त्रियों और पुरुषों[१] अर्थात् मनुष्यमात्र को [वेद] पढ़ने का अधिकार है। और तुम कुए में पड़ो।[२] और यह 'श्रुति' तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और सब मनुष्यों के वेदों के[३] पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण **'यजुर्वेद'** के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय॥ [यजुः०, अ० २६। २]॥

अर्थ—परमेश्वर कहता है कि **(यथा)** जैसे मैं **(जनेभ्यः)** सब मनुष्यों के लिए, **(इमाम्)** इस, **(कल्याणीम्)** कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी, **(वाचम्) 'ऋग्वेद'**-आदि चारों वेदों की वाणी का, **(आवदानि)** उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।

[**प्रश्न**] यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का[४] ही वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है; स्त्री और शूद्रादि का नहीं।

उत्तर—(ब्रह्मराजन्याभ्यां) इत्यादि, देखो! परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय,

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **"सब स्त्री और पुरुष"** दोनों पदों में **'सब'** के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है।

२. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में **"कुआ में पड़ो"** अपवाक्य है, **'कुए में पड़ो'** शुद्ध वाक्य बनेगा। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध प्रयोग है (पृ० ६९५/८ आदि)। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० सभी में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर कृत सिद्धान्तविरोधी भ्रष्ट परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में **'शास्त्र'** पद नहीं है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं में **'शास्त्र'** का परिवर्धन किया है, जो अनुचित और असंगत है। वेद में अन्य परवर्ती शास्त्रों का उल्लेख कैसे हो सकता है? यह विचार सिद्धान्तविरुद्ध है। सम्पूर्ण प्रसंग में **"वेद"** के ही पठन-पाठन का अनेक बार उल्लेख है। प्रश्न भी 'वेद' से सम्बन्धित है, उत्तर भी, वेद का प्रमाण भी। यह भी कि प्रश्न भी वेद-विषयक है, उसका धर्मसूत्रीय प्रमाण भी। पाठक यह भी स्मरण करें कि मूल प्रश्न के संस्कृत-प्रमाण में आगे वेद का ही निर्देश है। वह पूर्णवचन आगे इस प्रकार है—**"वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूर्णम्, उच्चारणे जिह्वाभेदः, धारणे शरीरभेदः"** अर्थात् यदि स्त्रियां और शूद्र वेद-मन्त्रों को सुन लें तो उनके कानों में सीसा और रांगा पिघलाकर डाल देना चाहिए, यदि उच्चारण करें तो जीभ काट देनी चाहिए, यदि वेदमन्त्रों से यज्ञादि अनुष्ठान या तदनुसार आचरण करें तो उनका वध कर देना चाहिए। मूलह०, मूलसं० में यहां केवल **"वेदादि"** पाठ है। मन्त्र में ग्रन्थकार ने **"ऋग्वेदादि चारों वेदों"** स्पष्ट अर्थ किया है, उससे संदेह नहीं उत्पन्न होता। इस संस्करण का पाठ अधिक स्पष्ट एवं ग्राह्य है।

भ्रष्ट-परिवर्तन का दुष्परिणाम सिद्धान्तविरोध और विद्वानों का प्रमाद—पाठक अब इस पर विचार करें कि मुद्रणलिपिकर कृत और द्वितीय संस्करणों में स्वीकृत **"वेदादि शास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद....में है"** पाठ को स्वीकार कर लिया जाये तो इसका क्या दुष्परिणाम निकलेगा? वेदों में परवर्ती शास्त्रों का इतिहास सिद्ध हो जायेगा। सृष्टि के आदिकालीन माने गये ईश्वरीय वेदों में वेदों के अतिरिक्त किसी परवर्ती शास्त्र के पढ़ने का प्रमाण कैसे मान्य हो सकता है? अतः यह मुद्रणलिपिकरकृत सिद्धान्तविरुद्ध परिवर्तन है, जो अग्राह्य है।

खेद का विषय है कि इस सिद्धान्तविरोध पर **स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** आदि विद्वानों द्वारा सम्पादित संस्करणों में भी ध्यान नहीं दिया। इन सभी संस्करणों में यह सिद्धान्तविरुद्ध अपपाठ है। कथित रूप से दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित **उदयपुर सं०** में भी सिद्धान्तविरुद्ध पाठ है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **"वैश्य के ही वेदों के पढ़ने का अधिकार"** अपपाठ है, **'का'** सही प्रयोग है। वेस, भद, युमी, विस, भद, जस, उदयपुर सं० में यही अपपाठ है।

(अर्याय) वैश्य, **(शूद्राय)** शूद्र और **(स्वाय)** अपने भृत्य वा स्त्री-आदि[१] **(अरणाय)** और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है; अर्थात् **सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके, अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर, आनन्द को प्राप्त हों।**

कहिये, अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की ? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह '**नास्तिक**' कहावेगा, क्योंकि '**नास्तिको वेदनिन्दकः**' [मनु० २।११]=वेदों का निन्दक और न माननेवाला '**नास्तिक**' कहाता है।[२]

क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है[३] कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे ? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र-इन्द्रिय क्यों रचता ? परमात्मा ने जैसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं। और जहाँ कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।

और **जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है।** देखो ! वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण[४]—

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्॥

अथर्व०, अनु० ३। प्र० २४। कां० ११। मं० १८

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे **(कन्या)** कुमारी **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य-सेवन से वेदादि-शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय, विद्वान्, **(युवानम्-पतिम्)**[५] और पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को **(विन्दते)** प्राप्त होवे। इसलिये **स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।**

प्रश्न—क्या स्त्री-लोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य, देखो श्रौतसूत्रादि में—

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**स्त्रियादि**'' अशुद्ध है, शुद्ध वर्तनी ''**स्त्र्यादि**'' होनी चाहिए। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध वर्तनी नवम समु० में पृ० ४२७/५ में द्रष्टव्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

२. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है।**'' और ''**क्योंकि नास्तिको वेदनिन्दक....कहाता है**'' पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मुद्रणहस्त० में यह ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख से परिवर्धित है।

३. **मुद्रणकालीन अपविराम और संशोधन**—द्विप्र० में यहां प्रश्नबोधक अपविराम है। यह वाक्यान्त में आना चाहिए ''**कि**'' योजक से पूर्व नहीं। द्वि०सं० में संशोधन कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी विस, में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अपविराम है।

४. **मुद्रणकालीन अपविराम और संशोधन**—द्विप्र० में यहां दोहरा पूर्णविराम चिह्न है, जो अशुद्ध है। यहां 'निर्देशक चिह्न' होना चाहिए, जैसा कि अन्य प्रमाणों से पूर्व है। द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, जस में संशोधित है, उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पदार्थ में ''**पतिम्**'' मन्त्र-पद त्रुटित रह गया है। अन्यों में भी त्रुटित है।

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्। [तुलना, शांखा० श्रौत० १।१५।१३ आदि]

अर्थ—स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े।[१] जो वेदादि-शास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके?[२]

भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि-शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह '**शतपथब्राह्मण**' में स्पष्ट लिखा है [बृह०उप० ३।६।१; ३।८।१] भला, जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति घर में देवासुर-संग्राम मचा रहै, फिर सुख कहाँ?[३] इसलिये जो स्त्रियां[४] न पढ़ें, तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें? तथा राजकार्य, न्यायाधीशत्वादि, गृहाश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना, इत्यादि काम विना विद्या के कभी अच्छे प्रकार से और ठीक नहीं हो सकते।[५]

---

१. **ऋषि-हस्तलेख**—"**स्त्री यज्ञ.....पढ़े**" पाठ मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

२. **स्त्रियों का वेदाध्ययन-अधिकार**—(क) 'मन्त्र' प्रमुखत: वेद के होते हैं। यह पद वेद का पर्याय है—"**ब्रह्म वै मन्त्रः**" [शत०ब्रा० ७।१।१।५]। स्त्रियों के वेदाध्ययन एवं धार्मिक अनुष्ठान के विधायक अनेक प्रमाण वैदिक साहित्य में मिलते हैं। सामान्य मन्त्र-वाचन की तो चर्चा ही व्यर्थ है, क्योंकि वैदिक काल में तो स्त्रियां आश्रमों में विधिवत् शिक्षा प्राप्त कर, वेदों की विदुषी बनकर '**ऋषिका**' कहलाती थीं। ऐसी २९ ऋषिकाओं का नाम आज भी वेदों के मन्त्रों और सूक्तों पर उल्लिखित मिलता है (बृहद्देवता २४।८४-८६)। जैसे—ऋग्वेद के १०।३९, ४० पर घोषा का, ८।९१ सूक्त पर अपाला का नाम है। इन ऋषिकाओं को '**ब्रह्मवादिनी**' कहा जाता था (आर्षानुक्रमणी १०।१००-१०२)। ब्रह्मवादिनी गार्गी के ऋषि याज्ञवल्क्य के साथ हुए ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी संवाद का विस्तृत विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त है (३।८।१।१२)। ब्रह्मवादिनी सुलभा के राजर्षि जनक से हुए संवाद का विवरण महाभारत में प्राप्त है (शान्ति०अ० ३२०)।

(ख) वेद-मन्त्र के वाचन का उल्लेख तो अनेक ग्रन्थों में है, जैसे—"**यत्पत्नी पुरोवाक्यामनुब्रूयात्**"=पत्नी पुरोवाक्या मन्त्रों का पाठ करे (तै०ब्रा० १।६।५।६)। "**पत्नीं वाचयति मेध्याम्-एव-एनां करोति वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्**"=वेद पत्नी को देकर वाचन कराये उससे पत्नी पवित्र होती है। (आश्व०श्रौत० १।११)। "**अर्यमणं नु देवम्, इदं नारी उपब्रूते—इमान् लाजानावपामि**"='इमान्' इस मन्त्र का पाठ नारी करती है (पार०गृह्य० १।५।१-२)। "**वेदे पत्नी वाचयति**"=वेदाध्ययन में पत्नी मन्त्रवाचन करती है (शांखा० श्रौत० १।१५।१३)

(ग) वैदिक इतिहास इस परम्परा की संपुष्टि करता है। सातवें वैवस्वत मनु जिनका मूल नाम श्रद्धादेव था, उनका इतिहास काठक ब्राह्मण में आता है। एक दिन वे पत्नी के महल में गये तो देखा कि मनु की पत्नी यज्ञानुष्ठान कर रही थी और उसमें उच्च स्वर से यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण कर रही थी। उसका स्वर दूर तक आकाश में गूंज रहा था—"**तत् पत्नीं यजुर्वदन्तीं प्रत्यपद्यत। तस्या वाग् द्यां अतिष्ठत्**" (३।३०।१)।

(घ) यज्ञ का अनुष्ठान वेदमन्त्रों से विहित है। वैदिक परम्परा में पत्नी के बिना यज्ञ करने वाले पति को 'अयज्ञिय' और उस यज्ञ को 'अपूर्ण' माना गया है—"**अयज्ञियो वैष योऽपत्नीकः**" (तैत्ति०ब्रा० ३।३।३१), "**अर्धात्मा वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी**" (शत०ब्रा० १।३।१।१२)। अतः वेदाध्ययन, यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान करना नारियों का वेद और शास्त्र-सिद्ध अधिकार है। (द्रष्टव्य है पृ० २१५ पर टिप्पणी में स्त्रियों को वेदोक्त यज्ञाधिकार का प्रमाण)।

३. **मुद्रणकालीन अपविराम और संशोधन**—द्विप्र० में यहां भावबोधक विराम चिह्न है, जो अशुद्ध है। यहां प्रश्नवाचक चिह्न अभीष्ट है। द्वि०सं० में संशोधन कर लिया है। वेस, भद, जग, विस, जस, युमी में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**स्त्री**' एकवचनान्त पाठ के स्थान पर बहुवचन प्रयोग उचित है।

५. **मुद्रणहस्त में शोधककृत स्थानभ्रष्ट भ्रष्टपाठ**—दोनों सं० में इस वाक्य का पाठ अस्त-व्यस्त होने से भ्रष्ट हो गया है। द्विप्र० और द्वि० सं० में यह इस प्रकार है—"**आधीन रहना विना विद्या के इत्यादि काम अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।**" मूलप्रति सं० में है—"**अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।**" इनमें कुछ पद अस्थान में होने से निरर्थक हैं। कहीं त्रुटित रहने से अस्पष्टार्थक हैं। दोनों हस्त० में यह शुद्ध वाक्य था। मुद्रणहस्तलेख का संशोधन करते समय शोधक द्वारा कुछ पद जोड़ने से यह वाक्य भ्रष्ट बन गया। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस में अर्ध-संशोधन है, उदयपुर सं० में भ्रष्टपाठ है।

देखो, आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ 'धनुर्वेद' अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थी; क्योंकि जो न जानती होती, तो कैकेयी[१] आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में[२] क्योंकर जा सकती,[३] और युद्ध कर सकती ? इसलिये ब्राह्मणी को सब विद्यायें, क्षत्रिया को सब विद्यायें[४] और युद्ध तथा राजविद्या विशेषत:,[५] वैश्या को व्यवहार-विद्या[६] और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये। **जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या कम-से-कम अवश्य पढ़नी**

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ककयी**" वर्तनी है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार "**कैकेयी**" शुद्ध है। अन्य भद, वेस, जग, युमी, उदयपुर आदि सभी सं० में अपवर्तनी है। विस, जस में संशोधित है।

२. **स्त्री योद्धा**—प्राचीन काल में पुरुषों के समान स्त्रियां भी अपने-अपने वर्ण की शिक्षा प्राप्त करके ऋषिका, आचार्या, योद्धा आदि बनती थीं। कैकेयी की इस घटना का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में आता है। कभी देवासुर-संग्राम में दशरथ ने देव-पक्ष की ओर से भाग लिया था। उस समय कैकेयी साथ थी और उसने युद्ध में घायल तथा बेहोश हुए दशरथ को युद्ध के मैदान से पृथक् ले जाकर उसकी प्राणरक्षा की थी—

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः। अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजसहाय्यकृत्॥
अपवाह्य त्वया देवि संग्रामात् नष्टचेतनः। तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया॥

(वाल्मीकीय रामा०, अयोध्या० ९।११, १६ तथा ११।१८-२०)

(ख) स्त्रियों के योद्धा होने के प्रमाण पाणिनि मुनि के काल तक मिलते हैं। व्याकरण में 'शक्ति' नामक अस्त्रों के चलाने में प्रवीण स्त्रियों को '**शाक्तिकी**' और लाठी चलाने में प्रवीण स्त्रियों को '**याष्टिकी**' जैसे विशेष नाम प्राप्त थे (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासदेवशरण अग्रवाल, पृ० ४१०)। वाल्मीकि के रामायणकाल में सैनिक के रूप में द्वाररक्षिका स्त्रियां होती थीं ("**स्त्रियः द्वाररक्षणतत्पराः**" अयोध्या० २०.१२)

(ग) वेदों में भी स्त्रियों को योद्धा बनने का निर्देश है। महर्षि ने अपने वेदभाष्य में वेदमन्त्र के अर्थानुसार स्त्रियों के लिए योद्धा बनने के निर्देश दिये हैं—

(अ) "स्त्रियों को चाहिए कि युद्ध में भी अपने पतियों के साथ स्थित रहें।" (यजु०भाष्य १४।३, भावार्थ)

(आ) "सभापति [=राजा] को चाहिए कि जैसे युद्धविद्या की पुरुषों को शिक्षा करें, वैसे स्त्रियों को भी शिक्षा करें। जैसे वीर पुरुष युद्ध करें, वैसे स्त्रियां भी करें।" (यजु०भाष्य १७।४५, भावार्थ)

(इ) "जैसे राजा और राजपुरुष विमानादि, रथ और घोड़ों के चलाने तथा युद्ध के व्यवहारों को जानें, वैसे उनकी स्त्रियां भी जानें।" (यजु० भाष्य २९।५०, भावार्थ)

(ई) "इनकी (देवताओं की) स्त्रियां मर्दाना जोश से अपने पतियों के साथ युद्ध में जाया करती थीं।" (उपदेश मंजरी, उप० १०, पृ० ६८)

इस विषय को विस्तार से जानने के लिए सम्पादक-रचित '**महर्षि दयानन्द वर्णित शिक्षापद्धति**' पुस्तक पढ़ें।

३. **मुद्रणकालीन अपविराम और संशोधन**—द्विप्र० में यहां अस्थान में प्रश्नवाचक चिह्न है, यह वाक्यान्त में होना चाहिए। द्वि०सं०, भद, युमी, विस, जस में संशोधित है। वेस, जग में दोनों हटा दिये, जो अनुचित है। उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

४-५. **अपप्रयोग**—इस वाक्य में दोनों हस्त० और तीनों सं० में दो स्थानों पर '**विद्या**' एकवचनान्त प्रयोग है। दोनों स्थानों पर बहुवचन होना चाहिए। "**विशेष**" भी अपप्रयोग है, यह '**विशेषतः**' शुद्ध है। इसका सम्बन्ध '**क्षत्रिया**' के साथ सटीक बनता है। यह क्षत्रिय वर्ण को अपनी विद्या प्राप्त करने के लिए बल देने के लिए है। इसके द्वारा अन्य वर्णों को भी अपनी-अपनी विद्यायें पढ़ने पर विशेष रूप से बल देना अभिप्रेत है, अर्थात् बाद के तीन वर्णों की अपनी विद्या में विशेषज्ञता होनी चाहिए।

६. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से पाठत्रुटि की कहानी**—द्विप्र० (१८८४) से लेकर ३३ वें संस्करण तक यह पाठ अपूर्ण रूप में छपता रहा है—"**इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या**"। परोप० ३४ वें सं० में इसको मूलहस्त० के अनुसार ग्रहण किया है। यह त्रुटि मुद्रणलिपिकर के प्रमाद के कारण हुई। लिपिकर ने प्रमादवश बीच का पाठ छोड़कर यह पाठ लिखा—"**ब्राह्मणी को सब विद्या, क्षत्रिया को व्यवहार विद्या**"। बीच में "**सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्या विशेष, वैश्या को**" अपनी-अपनी विद्या पर विशेष बल देने वाला यह महत्त्वपूर्ण पाठ छूट जाने के कारण जब संगति नहीं लगी तो महर्षि ने इसको संगत बनाने के लिए यह संशोधन किया—"**ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहारविद्या**"। महर्षिप्रोक्त मूलह० में और मूलप्रति सं० में यह पाठ पूर्ण और शुद्ध है, अतः वही ग्राह्य है। द्वि०सं०, भद और

चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प-विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये।[१] क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय; पति-आदि से अनुकूल वर्त्तमान[२], यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, और उनका पालन-वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना-कराना, '**वैद्यकविद्या**' से औषधवत् अन्न-पान बनाना और बनवाना[३] नहीं कर सकती; जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहैं। '**शिल्पविद्या**' के जाने विना घर का बनवाना, वस्त्र-आभूषण आदि का बनाना-बनवाना, '**गणितविद्या**' के विना सबका हिसाब समझना-समझाना, '**वेदादिशास्त्र विद्या**' के विना ईश्वर और धर्म को न जानके, अधर्म से कभी नहीं बच सकते।

इसलिये वे ही धन्य[४] और कृतकृत्य हैं कि जो ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से अपने सन्तानों के शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें।[५] जिससे वे सन्तान माता, पिता,[६] पति, सास,[७] श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्टमित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें। यही कोश अक्षय है। इसको जितना व्यय करे, उतना ही बढ़ता जाय; अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निज भाग ले लेते हैं; और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करनेवाला विशेषत:[८] राजा, और प्रजा भी है।

युमी, विस, जस में पूर्ण पाठ ग्रहण कर लिया है। वेस, जग में अपूर्ण पाठ है। उदयपुर सं० में अपूर्ण पाठ है। देखा आपने, ग्रन्थकार ऋषि की तुलना में मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला को भी कितना अधिक महत्त्व मिल रहा है कि दश आर्यविद्वानों ने ऋषिप्रोक्त और संशोधित मूलप्रति के पाठ को स्वीकार नहीं किया, अपितु मुद्रणलिपिकर की भूल से बना पाठ उनको स्वीकार्य हो गया!

१. **न्यून से न्यूनतम पाठविधि**—सांगोपांग सम्पूर्ण पठन-पाठन विधि की रूपरेखा महर्षि ने गत पृष्ठों (१२३-१३१) में प्रस्तुत कर दी। किन्तु सभी बालकों में इतना बुद्धिसामर्थ्य और पढ़ने की इच्छा नहीं होती कि वे उस पाठ्यक्रम को पढ़ सकें। महर्षि नहीं चाहते थे कि कोई बालक-बालिका अशिक्षित रहे, अत: अल्प बुद्धिसामर्थ्य और अल्प पठनेच्छा वाले बालकों और बालिकाओं के लिए यह न्यूनतम पाठविधि प्रस्तुत की है। सबको कम-से-कम इतनी शिक्षा तो अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। आश्रमाध्यक्षों अथवा आचार्यजनों को अन्यभाषाओं के प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम न्यूनतम पाठविधि के साथ समायोजित कर लेना चाहिए। अन्य विकल्पों के लिए देखिए पृ० सं०१३१-१३३ पर टिप्पणी।

२. **वर्तमान**=आचरण, चाल-चलन, व्यवहार।

३. **अपपाठ**=मूलह०, मूलसं०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**अन्न-पान बना और बनवाना नहीं कर सकती**" अपपाठ है। उपर्युक्त शुद्ध है। वेस, युमी में संशोधित है। भद, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध पाठ द्रष्टव्य है दो पंक्ति नीचे ही—"**आभूषण आदि को बनाना-बनवाना।**"

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० के "**वे ही धन्य**" के स्थान पर मुद्रणप्रति में "**वे ही धन्यवादार्ह**" अशुद्ध और व्यर्थ पाठान्तर है। **पाठ-पुष्टि**—इसी आशय में पृ० ५८, ५९ पर "**धन्य**" का प्रयोग है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कुछ पदों के अस्थान में होने से यह अपवाक्य हो गया है—"**जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें।**" वाक्यरचना संगत क्रम में नहीं है। उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

६. **अव्यवस्थित प्रयोग**—दोनों सं० में संस्कृत के मूल पद '**मातृ-पितृ**' पठित हैं। हिन्दी भाषा में माता; पिता ही कर्त्ता पद हैं। अन्यत्र असमस्त पद में सही प्रयोग हैं। भाषात्मक एकरूपता की दृष्टि से हिन्दी के पद ही ग्राह्य हैं।

७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—ग्रन्थ में '**सास**' पद की अनेक और अव्यवस्थित वर्तनियां हैं। प्रत्येक लिपिकर ने अपने ज्ञान के अनुसार वर्तनी लिखी है, जैसे **सास** (मूलप्रति सं० पृ० ५७९, ६११; द्वि०सं० पृ० ३४३)। **सासू** (मूलप्रति सं० ६३६; द्वि०सं० पृ० ३५७, ३९७)। **सासु** (मूलप्रति सं० पृ० ११७, १३६, ७१४)। **शाशु** (द्वि०सं० ७९) आदि। भाषा की व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए "**सास**" वर्तनी सर्वत्र ग्रहण की गई है। वैसे "**सासु**" भी शुद्ध है। (द्रष्टव्य टिप्पणी पृ० १०२९ पर भी)

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**विशेष**" अपप्रयोग है। ग्रन्थकार किसी राजा को '**विशेष**' बताना नहीं चाहते, अपितु उसके कर्त्तव्य को विशेष बता रहे हैं। अत: "**विशेषत:**" शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ मनु० [७।१५२]॥

राजा को योग्य है कि सब कन्याओं[१] और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक[२] ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके माता-पिता को दण्ड देना चाहिये।[३] अर्थात् **राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावे, किन्तु वे आचार्यकुल में रहैं।[४] जब तक समावर्तन का समय न आवे, तब तक विवाह न होने पावें।**

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ मनु० [४।२३३]॥

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि, इन **सब दानों से 'वेदविद्या' का दान अतिश्रेष्ठ है।**

इसलिये जिससे[५] जितना बन सके उतना प्रयत्न तन-मन-धन से विद्या की वृद्धि में किया करें।[६] जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गई। इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्तन, विवाह[७] और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जायगी।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषाविभूषिते
शिक्षाविषये[८] तृतीयः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ३॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**कन्या**' एकवचनात्मक प्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है।

२. **उक्त समय का अभिप्राय**—"**उक्त समय से उक्त समय तक**" का अभिप्राय है प्रवेश के निर्धारित समय पांचवें या नौवें वर्ष से लेकर स्नातक बनने के निर्धारित समय तक। स्नातक बनने का पुरुष का समय न्यून-से-न्यून पच्चीसवां वर्ष होता है और कन्याओं का १६वां वर्ष। अधिकतम ब्रह्मचर्य-सीमा ४८ वर्ष तक है। ऋषिकृत विधान द्रष्टव्य है पृ० १६६ पर।

३. **बालकों को शिक्षार्थ भेजना राजा का दायित्व**—सभी कन्याओं और लड़कों को निर्धारित आयु सीमा तक विद्यालय में भेजना सुनिश्चित करना, अन्ततः राजा का दायित्व है। यह वैदिक परम्परा है। आज की सरकार ने भी निर्धारित आयु में सभी बालकों को विद्यालय में भेजने का कानून बनाया हुआ है। यह परम्परा कौषीतकीय ब्राह्मण में उल्लिखित है। यदि कोई नहीं भेजता था तो वह राजा द्वारा दण्डनीय होता था। (द्रष्टव्य, पृष्ठ ८१ तथा उपदेश मंजरी, उप० ९)।

४. **मुद्रणकाल में अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त०, मूलसं० तथा द्वि०सं० में उपर्युक्त शुद्ध पाठ है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**रहते हैं**" अपपाठ बनाया है। द्वि०सं० में पुनः संशोधित कर दिया है। यहां वर्णनात्मक नहीं निर्देशात्मक शैली है।

५. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**जिससे**" पद त्रुटित रह गया है। मूलह०, मूलप्रति में है। इस पद से वाक्य अधिक उत्तम तथा पूर्ण बनता है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में त्रुटित होने से अपूर्ण वाक्य है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यह पाठ है—"**उतना प्रयत्न, और धन का विद्या की वृद्धि में व्यय किया करें।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में उपर्युक्त व्यापकार्थक संशोधन है, जो ग्राह्य है।

७. **मुद्रणकाल में त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में "**विवाह**" पद त्रुटित है। विस, जग, युमी, उदयपुर में भी त्रुटित है।
पाठपुष्टि—समु० चार के आरम्भिक वाक्य (पृ० १४५) और समाप्ति में है (पृ० २२५)। मूलह०, मुद्रणह०, द्वि०सं० में है।

८. **मूर्ख लिपिकरकृत अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में समाप्तिसूचक वाक्य "**इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतिकृत०**" अपूर्णतासूचक चिह्न लगाकर छोड़ा है। लिपिकरों की अयोग्यता देखें, यहां मूललिपिकर और मुद्रणलिपिकर ने "**सरस्वति**" में लघु इकार लिखा है। ऋषि ने उसको शुद्ध करके दीर्घ ईकार बना दिया। मुद्रणहस्तलेख में "**विभूषिते**" के स्थान पर "**विरचिते**" लिखा है और "**शिक्षाविषये**" पाठ नहीं है। ऋषि ने बाद में "**विभूषिते**" पाठ बनाया है और "**शिक्षाविषये**" पाठ भी जोड़ा है।

—०—

अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः[१]

अथ समावर्तनविवाहगृहाश्रमविधिं[२] वक्ष्यामः

[अब समावर्तन, विवाह और गृहाश्रम की शिक्षा के विषय में लिखेंगे][३]

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ १॥ मनु० [३।२]

जब यथावत् ब्रह्मचर्य आचार्यानुकूल वर्तकर, धर्म से चारों वेदों,[४] तीन, दो वा एक वेद को सांगोपांग पढ़के, जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष और[५] स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे॥ १॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्त्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा॥ २॥ मनु० [३।३]

जो स्वधर्म अर्थात् जो आचार्य और शिष्य का यथावत् धर्म[६] है उससे युक्त, पिता=जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करनेवाला [स्नातक समावर्तन के समय,][७] प्रथम, पलंग पर बैठे हुए अपने आचार्य का गोदान से सत्कार करे।[८] [वहीं विवाहसंस्कार करते समय][९] वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को कन्या का पिता भी गोदान से सत्कृत करे॥ २॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां[१०] लक्षणान्विताम्॥ ३॥ मनु० [३।४]

१,३. **त्रुटित शीर्षक और पाठग्रहण**—मूलहस्तलेख में "**अथ चतुर्थसमुल्लासारम्भः**" शीर्षक नहीं है। मुद्रणहस्त० में लिखा गया है। मूलप्रति सं० में मुद्रणह० और द्वि० सं० से ग्रहण किया है। समुल्लास के विषय-संकेतक वाक्य का हिन्दी-अनुवाद भी दोनों हस्त० और तीनों सं० में त्रुटित रह गया है जबकि अन्य कुछ समुल्लासों में है। शैली की एकरूपता, मानकता और व्यवस्था की दृष्टि से इसका परिवर्धन करना आवश्यक है। (विस्तृत टिप्पणी द्रष्टव्य है पृ० १९, ५८ पर)।

२. **लिपिकरों की शरारत और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में शरारती लिपिकरों ने यहां "**ग्रहाश्रमविधिं**" अपवर्तनी लिखी है। पुनश्च तीनों सं० में संशोधित है। शरारती इस कारण हैं, क्योंकि पहले तो यही नहीं माना जा सकता कि उन्हें यह शब्द नहीं लिखना आता था। दूसरा, एक पंक्ति बाद और सारे समुल्लास में दर्जनों बार यह शब्द शुद्ध लिखा है। ऐसी स्थिति में यहां पहले ही नहीं, अपितु दूसरे लिपिकर द्वारा भी जान-बूझकर की गई शरारत प्रतीत होती है। मुद्रणलिपिकर तो ठीक लिख ही सकता था!

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में "**चारों वेद....को**" के स्थान पर "**चारों वेदों....को**" प्रयोग शुद्ध है। "**चार**" संख्या के सम्बन्ध से यहां बहुवचन '**वेदों**' प्रयोग होगा। "**पुरुष वा स्त्री**" '**वा**' अप-अर्थ '**अथवा**' का अर्थ देता है, जो अवांछित है। यहां '**और**' स्पष्टार्थक तथा उपयुक्त है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग पृ० १३९/३ आदि पर द्रष्टव्य है।

६-९. **मुद्रणसमय त्रुटित एवं स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—द्विप्र० में यहां "**धर्म**" पद परिवर्धित है, जो ग्राह्य है। इसी प्रकार "**अपने**" विशेषण भी "**पलंग**" के साथ अशुद्ध है, यह "**आचार्य**" का विशेषण है। "**पलंग**" में नहीं, "**पलंग पर**" शुद्ध है "**आचार्य को**" नहीं, "**आचार्य का**" शुद्ध है। यह अपवाक्य इस प्रकार मिलता है—"**अपने पलंग में बैठे हुए आचार्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे**"। द्विप्र० में '**करे**" क्रिया त्रुटित है। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दोनों पाठ परिवर्धित कर देने से श्लोकार्थ ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार अधिक स्पष्ट हो जाता है। वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है। **पाठ-पुष्टि**—"**पितृस्थानी उस आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा पुष्पमाला पहना कर प्रथम गोदान देवें।**" (सं०वि०, समावर्तन)

१०. **स्त्री सवर्णा कैसे बनती है ?**—वैदिक कर्मणा वर्णव्यवस्था और मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था में '**सवर्ण**' बनने अर्थात् किसी

गुरु की आज्ञा ले, स्नान कर,[१] गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक[२] आके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे॥ ३॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ४॥ मनु० [३।५]

जो कन्या, माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है॥ ४॥[३]

वर्ण को धारण करने का उपाय यह था कि किसी भी कुल में उत्पन्न बालक-बालिका गुरुकुल में जाकर उपनयन संस्कार कराके जिस वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करते थे, स्नातक बनकर वे उसी वर्ण के कहलाते थे। जो ब्राह्मण वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करती थी वह '**ब्राह्मणी**', जो क्षत्रिय वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करती थी वह '**क्षत्रिया**', और इसी प्रकार '**वैश्या**' बनती थी (द्र०पृ० १६५-१६६)। यह बालक-बालिकाओं का '**ब्रह्मजन्म**' रूपी '**दूसरा जन्म**' कहलाता था। इसे ही '**विद्याजन्म**' भी कहते हैं (मनु० २.६८, १४६)। जो अशिक्षित रहती थी, अथवा उक्त तीन वर्णों में से किसी वर्ण का प्रशिक्षण नहीं प्राप्त करती थी वह 'शूद्रा' कहलाती थी, चाहे वह किसी भी कुल में उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार माता-पिता से प्राप्त जन्म का वैदिक समाज व्यवस्था में विशेष महत्त्व नहीं था, न उसके आधार पर कोई सवर्ण-असवर्ण बनते थे, न '**द्विज**' कहलाते थे। '**सवर्ण**' बनानेवाले इस दूसरे जन्म की उत्पत्ति या घोषणा उपनयन करके आचार्य-आचार्या करते थे—

''**आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या.....**'' (मनु० २।१४८)

अर्थात् उपनयन संस्कार करके आचार्य जिस जाति=वर्ण की शिक्षा-दीक्षा और निर्धारण करता है, वही प्रामाणिक है।

'**सवर्णा**' शब्द के अर्थ में स्त्रियों का उपनयन, शिक्षा-दीक्षा तथा धर्मानुष्ठान आदि सभी अधिकार निहित हैं। इस दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। इसी प्रकार राजा को भी '**सवर्णा**' स्त्री से विवाह का निर्देश है (मनु० ७।७७; स०प्र० पृ० २६५/१९) समु० ६ में पृ० २६७/८ में कहा है कि रानी को भी राजा के समान प्रशिक्षित '**क्षत्रिया**' होना चाहिए।

१. **स्नान करना**—'**स्नान करना**' विशेषार्थक रूढ़ प्रयोग है, मुहावरा है। संस्कार-परम्परा के अनुसार यथेष्ट विद्या-अध्ययन करने के उपरान्त जब बालक या बालिका घर लौटते थे तो उनका गुरुकुल में '**समावर्तन संस्कार**' होता था। उसके पश्चात् उन्हें वर्णविशेष का '**स्नातक**' घोषित किया जाता था तथा गृहस्थ में जाने की अनुमति होती थी। इस संस्कार में आठ घड़ों के जल से विशेष स्नान कराया जाता था। स्नान की विशेष विधि होने के कारण ही '**स्नान करना**' का विशेष रूढ़ार्थ प्रचलित हो गया—'**स्नातक बनना**'। '**स्नातक**' का भी यही अर्थ है—'**स्नान किया हुआ**'। इस अनुष्ठान में स्नान करने की मुख्यविधि होने के कारण 'स्नातक', 'स्नात', 'समावर्तन-कृत' ये पर्याय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।'

२. **अनुक्रमपूर्वक आना**—विहित प्रक्रिया के अनुसार ब्रह्मचर्य और समावर्तन विधि का पालन और अनुष्ठान करके घर लौटना।

३. **चारों वर्णों के लिए विवाह में असपिण्डता और गोत्र का विधान**—पाठक ध्यान दें, गोत्र और सपिण्डता का निर्देश भले ही द्विजों के प्रसंग में उक्त है किन्तु यह शूद्रों पर भी उसी प्रकार लागू होता है, क्योंकि विवाह के सभी नियम चारों वर्णों के लिए विहित हैं (मनु० ३.२०), और शूद्र आर्य ही होते हैं। महर्षि द्वारा उद्धृत मनुस्मृति के इस श्लोक में निर्देश है कि विवाह के लिए उपयुक्त कन्या वह है जो वर की माता की छह पीढ़ियों की न हो। सपिण्ड अर्थात् छह पीढ़ियों में शरीरांश परम्परा से उत्पन्न या कहें कि रक्त सम्बन्ध की न हो और पिता के गोत्र की न हो। महर्षि मनु सपिण्डता की समाप्ति की सीमा बताते हुए कहते हैं—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। (मनु० ५.६०)

अर्थात्—'सपिण्डता का सम्बन्ध सातवीं पीढ़ी में छूट जाता है।' अर्थात् माता की सातवीं पीढ़ी और उसके पूर्व के वंशजों में विवाह किया जा सकता है। पाठक ध्यान दें, **माता की सपिण्डता** अर्थात् छह पीढ़ियों के रक्त सम्बन्धियों को छोड़ने का यहां निर्देश है, छह पीढ़ियों के गोत्र को छोड़ने का नहीं। कुछ लोग यहां पीढ़ी और गोत्र को एक मानकर भ्रमित हो जाते हैं।

एक रज-रक्त या शरीरांश से बने सगे पिण्ड अर्थात् शरीर जिनके हैं, वे '**सपिण्ड**' कहलाते हैं। यह सपिण्डता छह पीढ़ी तक की होती है। वैदिक विधान तथा परम्परा के अनुसाार ये छह पीढ़ी के वंशज और एक गोत्र के वंशज भाई-बहन कहाते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में 'सपिण्डता' और गोत्र के अनुसार निम्नलिखित विवाह स्वीकृत है—

१. माता की छह पीढ़ी में जो कन्या न हो, माता के सपिण्ड भाइयों (=मामाओं) तथा बहनों (=मौसियों) की सन्तान न हो।

२. मातामही अर्थात् नानी और उसके सगे भाई-बहनों की सन्तान न हो।

३. प्रमातामही=नानी की माता और उसके सगे भाई-बहनों की सन्तान न हो।

४-६. इसी प्रकार उससे पूर्व तीन और पीढ़ियों की माताओं तथा उनके भाई-बहनों की सन्तानों से विवाह वर्जित है।

७. पिता के कुल में उसके गोत्र की न हो अर्थात् पिता के भाइयों (चाचा, ताऊ आदि) की और बहन अर्थात् बुआ की सन्तान न हो तथा उसके गोत्र में किसी की सन्तान न हो।

वैदिक व्यवस्था में ऐसा विवाह स्वीकार्य है। इसी प्रकार के दूरगोत्रस्थ विवाह को आज का चिकित्सा-विज्ञान उत्तम मानता है, क्योंकि उसमें जीन (गुण सूत्र) का परिवर्तन होने से वंशानुगत रोग नहीं आते। परिवार से स्वल्पायु होने और रोग की परम्परा भी मिट जाती है। उत्तरोत्तर वंश में सन्तान अधिक बुद्धिमान्, स्वस्थ, दीर्घायु और नीरोग होती जाती है।

मनुस्मृति के प्राचीन टीकाकारों मेधातिथि, कूल्लूकभट्ट आदि ने इस श्लोक में पठित 'च' पदों से यह अर्थ ग्रहण किया है कि 'कन्या और वर परस्पर माता-पिता की छह पीढ़ियों के अन्तर्गत न हों और माता तथा पिता के गोत्र के न हों।' इतनी पीढ़ियों की जानकारी रखना वर्तमान में बड़ा जटिल कार्य प्रतीत होता है किन्तु पुराने समय में कुल-पुरोहित यह कार्य करते थे, जैसे आजकल तीर्थस्थानों पर पण्डे २५-५० पीढ़ियों का वंश-विवरण बता देते हैं। जब इस कार्य में परिस्थितिवशात् जटिलता अनुभव होने लगी तो नव्य शास्त्रकारों ने तीन-चार पीढ़ी तक की सपिण्डता को विवाह में वर्ज्य मानकर पूर्व की पीढ़ियों में विवाह की छूट दे दी। उसका सरलीकृत रूप आज यह है कि वैदिक परम्परा के लोग विवाह में तीन या चार गोत्र (पिता, माता, दादी, नानी का) छोड़कर विवाह करते हैं। नानी के गोत्रत्याग की परम्परा भी अब छूट चुकी है, शेष तीन गोत्र मुख्यतः छोड़े जाते हैं।

सगोत्र-विवाह वैदिक परम्परा में चारों वर्णों में (मानव मात्र के लिए) पूर्णरूप से वर्जित है। इसका स्पष्ट निषेध वेदादिशास्त्रों, आयुर्वेदसम्बन्धी शरीरविज्ञान के सभी ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों आदि सभी शास्त्रों में है। इन ग्रन्थों में सगोत्र-विवाह को पाप तथा दण्डनीय अपराध माना है, क्योंकि **सगोत्रीय जन परस्पर भाई-बहन होते हैं।** ऋग्वेद के दो वचन द्रष्टव्य हैं—

''सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति'' (१०.१०.२)

—विवाह में समान लक्षणों अर्थात् समान बीज और शरीरांश से उत्पन्न कन्या, विषुरूपा=विवाहसम्बन्ध में अस्वीकार्य होती है। क्योंकि समान लक्षण अर्थात् सपिण्ड वा सगोत्र होने से, सभी परस्पर भाई-बहन कहाते हैं।

''पापमाहुः यः स्वसारं निगच्छात्'' (१०.१०.१२)

—जो भाई-बहन होकर विवाह करते हैं, शरीर-सम्पर्क करते हैं, वह पाप है। और पाप करने वाले दण्डनीय होते हैं

'सपिण्ड' का अर्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। 'गोत्र' का अर्थ 'अष्टाध्यायी' में पाणिनि मुनि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—**''अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्''** (४.१.१६२) अर्थात् किसी पुरुष या जननी की पुत्र-पौत्रों की वंश-परम्परा का बोधक नाम या शब्द 'गोत्र' कहाता है, जैसे वासिष्ठ, भार्गव, आंगिरस, स्वायम्भुव, मानव आदि। 'गु' धातु से औणादिक 'त्र' प्रत्यय (**''गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यः त्रः''** ४.१६७) होकर 'गोत्र' पद बनता है। इसका निर्वचन ग्रन्थकार ने दिया है—''गवते शब्द्यते, इति गोत्रम्''=जो नाम या शब्द मूल पुरुष या जननी की वंश-परम्परा का बोध कराता है वह 'गोत्र' कहाता है। एक मूल के व्यक्ति की सन्तानें होने के कारण एक गोत्र के सभी जन भाई-बहन होते हैं, चाहे उस गोत्र का विस्तार कितना ही बड़ा हो।

कुलशुद्धि और कुलपरम्परा का बोध कराने के लिए वैदिक संस्कृति में 'गोत्र' का बहुत महत्त्व रहा है। न केवल विवाह के अवसर पर, अपितु प्रत्येक उपनयन आदि संस्कार, अनुष्ठान, आयोजन तथा परिचय के अवसर पर गोत्र का उल्लेख किया जाता था। विवाह में गोत्रोच्चारण का अधिक महत्त्व इस कारण है कि वर-वधू गोत्रोच्चारण करके जनसमुदाय के सामने यह घोषणा करते हैं कि **'हम सगोत्र नहीं है, भिन्न गोत्र के हैं; अमुक हमारा कुल-वंश है।'** इस प्रकार वैदिक विवाह गुपचुप या छल-छद्म से नहीं होते थे। गोत्र वर-कन्या के समाज के सम्पूर्ण परिचय को प्रकट कर देता था।

विवाह में गोत्रत्याग की परम्परा एक वैज्ञानिक परम्परा है जिसके वैज्ञानिक महत्त्व को वर्तमान विज्ञान ने भी स्वीकृत और पुष्ट किया है। योरोप के वैज्ञानिकों ने योरोप में पशुओं पर किये गये प्रयोगों से ये निष्कर्ष निकाले हैं कि एक वंश से सन्तानोत्पत्ति होती है तो उससे उस वंश की रोगप्रतिरोधक शक्ति, आयु और बौद्धिक क्षमता कम होती जाती है। गोत्र-वंश आदि छोड़कर विवाह करने से वंशानुगत रोग भी कम होते जाते हैं और रोगप्रतिरोधक शक्ति, आयु, बौद्धिक क्षमता बढ़ती जाती है। इस परम्परा का सम्बन्ध शरीर-विज्ञान से है, अतः आयुर्वेदसम्बन्धी शरीर-विज्ञान के ग्रन्थों का मत उद्धृत करना आवश्यक है। सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थ एक स्वर से यह मानते हैं कि विवाह और सन्तानोत्पत्ति के योग्य केवल **''अतुल्यगोत्रीय''**='असमानगोत्रीय' वर-वधू ही होते हैं, समानगोत्रीय वर-वधू विवाह योग्य नहीं होते। अतः आयुर्वेदीय ग्रन्थों ने केवल उन्हीं असमानगोत्रीय विवाहों को स्वीकार किया है। **'चरक-संहिता'** में आदेश दिया है—

''अतुल्यगोत्रां.....व्रजेत् नारीमपत्यार्थी'' (चिकित्सास्थान २.१५)

अर्थात्—'सन्तानप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति असमानगोत्र वाली नारी से ही सन्तान उत्पन्न करे।' अर्थात् सगोत्र नर-नारी शरीरविज्ञान की दृष्टि से सन्तान उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त नहीं होते। इसी आधार पर **'चरक संहिता'** कहती है कि—

इसका यह प्रयोजन है कि—

परोक्षप्रिया इव[१] हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥

शतपथ० [शत० ब्रा०, १४।१।११।२; बृह० उप० ६।२।२]

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे, किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है; [और][२] जैसे, किसी परोक्ष व्यक्ति[३] की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है; वैसे ही **दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये।**

निकट [विवाह में दोष] और दूर विवाह करने में गुण ये हैं[४]—

(१) **एक**—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते; परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते; एक-दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव, बाल्यावस्था के 'विपरीत आचरण' को जानते; और जो नंगे भी एक दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) **दूसरा**—जैसे पानी में पानी मिलने[५] से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे एक गोत्र, पितृ वा मातृ-कुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

'**अतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः**' (शारीरस्थान २.१)

अर्थात्—आयुर्वेद, विवाह में केवल अतुल्यगोत्र=असमानगोत्र से उत्पन्न सन्तान को ही अपना विचारणीय विषय मानता है, क्योंकि सन्तान अतुल्यगोत्र में ही उत्पन्न होनी चाहिए। यही निर्देश गृह्यसूत्रों में मिलता है—

"**भार्यामुपगच्छेन्....असगोत्राम्**" (हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १.१९.२)

अर्थात्—असगोत्र पत्नी से ही शारीरिक सम्बन्ध और सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिए।

इस प्रकार असगोत्र-विवाह की मर्यादा ही वैदिक मर्यादा है। उसी को महर्षि ने स्वीकार किया है। वैदिक परम्परा में सगोत्र-विवाह न तो शास्त्रसम्मत है और न शरीर विज्ञान के अनुकूल माना गया है।

सगोत्र विवाह वर्जित है—"**प्रश्न**—अपने सगोत्र में विवाह-सम्बन्ध करना दूषित है या नहीं? यदि है तो क्यों है?

उत्तर—अपने सगोत्र में विवाह करने से दोष यों है कि इससे शरीर, आत्मा, प्रेम, बल आदि की उन्नति यथावत् नहीं होती। इसलिए भिन्न-भिन्न गोत्रों में ही विवाह सम्बन्ध करना उचित है।" (ऋषि दया० के पत्र-विज्ञापन, भाग २, पृ० ८४२)

१. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस उद्धरण में पठित '**इव**' पद शतपथ के मूलपाठ में कहीं है और कहीं नहीं है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' पद त्रुटित है। यह आवश्यक है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**वस्तु**' अपप्रयोग है। यहां '**व्यक्ति**' शुद्ध पाठ चाहिए, क्योंकि वस्तु से नहीं, व्यक्ति से मिला जाता है। वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है। युमी में टिप्पणी में संशोधन है।

४. **ऋषिहस्तलेख, त्रुटित आवश्यक पाठ एवं पाठग्रहण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। शुद्ध कथन के लिए इस पाठ का होना आवश्यक है। बिना इस पाठ के वाक्य अशुद्ध बनता है। यह सम्पूर्ण पंक्ति मूलहस्त० में नहीं है, मुद्रणहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मुद्रणहस्त० से लेकर मूलप्रति सं० में जोड़ी गई है। युमी में संशोधित है, वेस में टिप्पणी में संशोधित है। भद, उदयपुर सं० का अशुद्ध पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—संस्कारविधि में स्पष्ट एवं पूर्ण भाव है—"**विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिए?**" "**उत्तर—जितना दूर देश में विवाह होगा उतना ही उनको अधिक लाभ होगा।**" (विवाह प्रकरण) अग्रिम पृ० १४९/११ भी पढ़ें—"**इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट करने में नहीं।**" इस प्रकार दूर-विवाह में ही गुण हैं, निकट में नहीं। पाठक इस बिन्दु पर भी ध्यान दें कि विषयसूची में महर्षि ने इस प्रकरण का नाम ही "**दूरदेशे विवाहकरणम्**" रखा है। यही ऋषि का प्रतिपाद्य है।

५. **उचित संशोधन**—द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां '**मिलने**' ठीक क्रिया है। मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में "**मिलाने**" है।

(३) **तीसरा**—जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठी [आदि][१] ओषधियों का[२] योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न गोत्र में[३], पितृ-मातृ-कुल[४] से पृथक् वर्त्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

(४) **चौथा**—जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूर-देशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) **पाँचवां**[५]—निकट सम्बन्ध करने में, एक-दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूर-देशस्थों में नहीं। और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६) **छठा**[६]—दूर-दूर देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसीलिये—

''दुहिता दुर्हिता दूरेहिता'', भवतीति।[७] [निरुक्त ३।४]

'निरुक्त' में लिखा है कि[८] कन्या का 'दुहिता' नाम इस कारण से है कि इसका विवाह दूर [गोत्र और] देश में होने से हितकारी होता है, निकट करने[९] में नहीं।

(७) **सातवां**[१०]—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य[११] होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब-तब उसको[१२] कुछ-न-कुछ देना ही होगा।

(८) **आठवां**[१३]—कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने-अपने पितृकुल से सहाय का घमण्ड

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **'आदि'** पद त्रुटित है। इसके बिना उचित वाक्य-रचना नहीं होती।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''के''** अपप्रयोग है, **'का'** अपेक्षित है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **'में'** विभक्ति पद त्रुटित है।

४. **मुद्रणकाल में ऋषिविरुद्ध परिवर्तन**—दोनों हस्त० और मूलसं० में **''पितृ-मातृ-कुल''** पाठ ऋषिकृत है। मुद्रणकाल में किसी ने इसको **''मातृ-पितृकुल''** बना दिया। यह परिवर्तन अनावश्यक है। **पाठ-पुष्टि**—विवाह के संदर्भ में सन्तानों का कुल 'पितृकुल' ही माना जाता है। विवाह के दायित्व और गोत्र में प्रधानता पिता की ही होती है, अतः **''पितृ-मातृ-कुल''** ही प्रयोग सटीक है। देखिए, दूसरे, सातवें और आठवें कारण में तो केवल **''पितृकुल''** पद का ही उल्लेख है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** द्विप्र० के संशोधन को उचित मानते हैं। उनका कथन स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि मूलप्रति में, दूसरे कारण में **''मातृ''** से पहले **''पितृ''** पद महर्षि ने अपने हाथ से लिखा है। अतः संशोधन ऋषिकृत नहीं है और युक्तियुक्त भी नहीं है। वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में यह व्यर्थ संशोधन है।

५-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां **''पांचवें, छठे''** अपप्रयोग हैं। वेस, में संशोधित हैं; अन्य सभी सं० में अशुद्ध है।

७. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० व तीनों सं० में **''भवतीति''** अधिक पाठ निरुक्त में नहीं है। सभी सं० में अशुद्ध है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में इस वाक्य को हटाकर **''निरुक्त''** पाठान्तर व्यर्थ है।

९. **त्रुटित पाठ और मुद्रणकालीन अशुद्ध परिवर्तन**—यहां कोष्ठकान्तर्गत पाठ **'गोत्र और'** होना आवश्यक है अन्यथा अर्थ में अपूर्णता रहती है। महर्षि ने पूर्वापर पंक्तियों में स्पष्टतः गोत्र की और माता के कुल की दूरी (छह पीढ़ी) विवाह में आवश्यक मानी है। अतः देश के साथ गोत्र-कुल की दूरी से भी यहां अभिप्राय है। इस परिवर्धन के बिना निर्वचन में पूर्णार्थता नहीं आती। **संशोधन-पुष्टि**—पूर्व पृष्ठ पर पंक्ति ६ में **''दूरस्थ''** का यही अर्थ किया हुआ है—**''दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो।''** पृ० १५० पंक्ति तीन में भी यही दोनों भाव वर्णित हैं। मुद्रणकाल में **''निकट करने''** के स्थान पर **''निकट रहने''** अपपाठ बनाया है। यह वेस, युमी, उदयपुर आदि सभी सं० में अशुद्ध है।

१०,१२,१३. **अपप्रयोग**—यहां दोनों हस्त०, तीनों सं० में **''सातवें''** अपप्रयोग है, **'सातवां'** शुद्ध है। आगे **''इसको''** अपपाठ है, **''उसको''** चाहिए। वेस, भद, जग, युमी, उदयपुर सं० में अपप्रयोग हैं। भद में **''आठवें''** प्रयोग भी अशुद्ध बना दिया है।

११. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में **'दारिद्र'** अशुद्ध वर्तनी है, द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा, तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी।[१] एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी; क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण[२] और मृदु होता है। **इत्यादि कारणों से पिता के एक-गोत्र, माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।**

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ १॥ मनु० [३।६]

चाहे कितने ही गाय, अजा, [भेड़], हाथी, घोड़े, धन, धान्य,[३] राज्य, श्री आदि से समृद्ध कुल हों, तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे— ॥ १ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।[४]
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रि[५]कुष्ठिकुलानि च॥ २॥ मनु० [३।७]

जो कुल सत्क्रियाओं[६] से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख [हो, जिसके][७] शरीर पर बड़े-बड़े लोम [हों उस][८] और[९] बवासीर, क्षयी, दमा,[१०] खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठ-युक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह न होना चाहिये; **क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।** इसलिये उत्तम कुलों[११] के लड़कों[१२] और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये॥ २॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥ ३॥ मनु० [३।८]

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी-चौड़ी अधिक बलवाली, न रोगयुक्त, न लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करनेहारी और [न पीले-] भूरे नेत्रवाली[१३-१४]॥ ३॥

---

१. **अपवर्तनी**—द्वि० सं० में ग्रन्थकार द्वारा सर्वत्र प्रयुक्त "**जायगी**" वर्तनी से भिन्न "**जायेगी**" पाठ है। "**जायगी**" ही ग्राह्य है। दोनों हस्त० में यही प्राचीन वर्तनी है। "**जायेगी**" महर्षिकालीन वर्तनी नहीं है, नवीन है।

२. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में "**तीक्षण**" अपवर्तनी है। पुनश्च तीनों में संशोधित है।

३. **त्रुटित अनुवाद एवं अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकार्थ में "**अवि**" का अर्थ त्रुटित है तथा "**धन-धान्य**" 'गाय' से पूर्व अपक्रम में लिखित है। श्लोक के पद-क्रमानुसार यह पाठ "**घोड़े**" के बाद होना चाहिए। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में यह त्रुटित एवं अपपाठ है। **पाठ-पुष्टि**—प्रथम संस्करण में "**अवि नाम भेड़**" पाठ है।

४-५. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० में द्विप्र० में "**रोमशार्षसम्**" अपवर्तनी है। अन्य दोनों सं० में संशोधित है। इसी प्रकार मूललिपिकर ने "**स्वितृ**" भ्रष्ट वर्तनी लिखी है, मुद्रणह०, द्विप्र० में "**श्वितृ**" अशुद्ध है। मूलसं०, द्वि०सं० में शोधन कर दिया है। भद, युमी, उदयपुर सं० में संशोधित है; वेस, जग में अशुद्ध है। **पाठ-पुष्टि**—प्रथम संस्करण में दोनों शुद्ध हैं (पृ० १००)।

६,९,१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**सत्क्रिया**" के स्थान पर "**सत्क्रियाओं**", "**अथवा**" अपप्रयोग के स्थान पर "**और**", "**दम**" के स्थान पर '**दमा**' शुद्ध प्रयोग होना चाहिए। **पाठ-पुष्टि**—प्रथम सं० में "**दमा**" है (पृ० १००)

७,८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस श्लोकार्थ में दोनों बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ अपेक्षित हैं।

११,१२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कुल**" और "**लड़के**" अपप्रयोग हैं। बहुवचन का प्रयोग अपेक्षित है।

१३. **वर भी त्याज्य हैं**—पूर्व श्लोकों की अनुवृत्ति और ग्रन्थकार की 'समान और यथायोग्य नियम ऊहा-शैली' के आधार पर ये नियम वर पर भी चरितार्थ होंगे। ऐसे वर भी त्याज्य हैं। समु० चार में अध्ययन-अध्यापन-प्रसंग में ग्रन्थकार ने अध्यापक-अध्यापिका के लिए समान नियम ऊहित किये हैं (द्रष्टव्य पृ० १९८/४)। संविधान के नियम स्त्री-पुरुषों पर समान रूप से लागू होते हैं।

१४. **श्रवणभ्रान्ति से अप-अर्थ एवं मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—यहां मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से '**पिंगला**' शब्द का अप-अर्थ लिखा गया प्रतीत होता है। यह पाठ बोला गया होगा—"**न भूरे गात्रवाली**", श्रवणभ्रान्ति और शीघ्रता में मूल लिपिकर

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्[१] ॥ ४ ॥ मनु० [३।९]

[२]ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्तारी आदि नक्षत्र नामवाली; तुलसिया, गेंदा, गुलाबा, चंपा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली; गङ्गा, जमुना आदि नदी नामवाली; चाण्डाली आदि अन्त्य नामवाली; विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नामवाली; कोकिला, मैना, श्येनी आदि पक्षी नामवाली; नागी, भुजङ्गा आदि सर्प नामवाली; माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नामवाली और भीमा, भयङ्करी, काली, चण्डिका आदि भीषण नामवाली[३] कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये[४]; क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं[५] ॥ ४ ॥ किन्तु—

से "**न भूरे नेत्रवाली**" लिख गया। द्वि०सं० में मुद्रणलिपिकर तो असावधानी में "**न**" ही लिखना छोड़ गया, उसने लिखा "**भूरे नेत्रवाली**"। जबकि श्लोकानुसार सभी पदों के साथ "**न**" पद का प्रयोग है। वही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग और उदयपुर सं० में छप रहा है। शरीर विज्ञान में, भूरे नेत्र होना कोई शारीरिक विकृति नहीं है क्योंकि यूरोप के आधे के लगभग लोगों के और हजारों भारतीयों के भूरे नेत्र मिलते हैं जो बुद्धिमान्, स्वस्थ, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट हैं।

दोनों के पदार्थ में भी मतान्तर है—'**कपिला**' का अर्थ मनुस्मृति के भाष्यकारों मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट, रामचन्द्र और मणिराम ने 'पीले-भूरे केश वाली' अर्थ किया है। राघवानन्द ने 'कपिल रंग वा केश वाली', नन्दन ने 'कपिल केश व आंखवाली' अर्थ किया है। 'पिंगला' का मेधातिथि, कूल्लूक, राघवानन्द, मणिराम ने 'पीली-भूरी आंखों वाली' तथा सर्वज्ञनारायण व गोविन्द नारायण ने '**रक्त-गौर वर्णवाली**' अर्थ किया है। एक ही श्लोक में पठित दोनों पदों का अवश्य ही भिन्नार्थ होना चाहिये। वह अर्थ यह हो सकता है—कपिल=पीले वर्ण वाली, पिंगल=बहुत भूरे श्वेत कुष्ठ जैसे रंग वाली। ये दोनों ही शारीरिक विकार हैं, जैसे पीलिया, श्वेतकुष्ठ आदि के रोगी में होते हैं। यहां प्रसंग भी रोगों का है, अतः उसी सन्दर्भ में अर्थ ग्रहण करना चाहिए। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थकार ने प्रथम सं० में "**पिंगला**" का '**हल्दी जैसे पीले रंग वाली**' अर्थ किया है (पृ० १०१)।

१. **मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—द्विप्र० में "**न चाभीषणनामिकाम्**" भ्रष्टपाठ है। अन्य सब में शुद्ध एवं संशोधित है।

२. **अधिक अप-पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस श्लोकार्थ के आरम्भ में '**न**' पद पठित है, जो अनावश्यक है और अर्थदूषक है। अन्त में सबके लिए एक क्रिया प्रयुक्त है। वेस में संशोधित है; भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

३. **मुद्रणप्रति में ऋषिकृत संशोधन**—इस श्लोक के अर्थ में दिये नाम मुद्रणप्रति में संशोधित किये हैं। वही सही तथा सटीक हैं। अतः यहां द्विप्र० का पाठ ग्रहण किया गया है। रेखांकित पद ऋषि द्वारा लिखित हैं।

४. **विवाह में नामों का निषेध क्यों?**—इस श्लोक के विधान पर प्रश्न उपस्थित होता है कि 'वर्णित नामों के कारण विवाह क्यों न करें?' इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार के नाम शास्त्रीय विधि-अनुसार नहीं है। जो यह संकेत देते हैं कि इन नामों वाली कन्याएं या वर न तो वैदिक परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं और न वे सुशिक्षित व सुसंस्कृत परिवारों के हैं। यदि उनके परिवार सुशिक्षित और वैदिक परम्परा के होते तो विधिविरुद्ध अवैदिक अथवा अशिक्षितों के नामकरण नहीं करते। कुत्सित या गंवारू नाम, सभ्य समाज में भी वर्जित होते हैं क्योंकि ये शिष्टाचार के विरुद्ध माने जाते हैं, अतः उनके स्थान पर सांकेतिक, प्रतीकात्मक अथवा अन्य रूढ़ शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे विधिपूर्वक न किया गया विवाह मान्य या कानूनसम्मत नहीं होता, वैसे ही विधिरहित नाम वर्जित है। दूसरा कारण है, पर्वत, नदी, नक्षत्र आदि नाम रखने से कालान्तर में अविचारशीलों में अनेक भ्रान्तियां भी जन्म ले लेती हैं, जैसे—'गंगा' नाम के कारण गंगा नदी और भीष्म की माता गंगा को एकरूप मानकर नदी में ही स्त्री का आरोप कर लिया गया। 'सीता' हल की रेखा को भी कहते हैं। नामसाम्य से, सीता को हल चलाते समय पृथिवी से उत्पन्न मान लिया गया। कार्तिकेय को कृत्तिका नक्षत्र से उत्पन्न दिखाया जाता है। 'दशानन' नाम के कारण रावण के असंभव दश सिर कल्पित कर लिये। 'ऋक्षवान्' नामक मानव को रीछ का रूप दे दिया, आदि-आदि। नाम विवाह में बाधक नहीं है, केवल विधिहीन नाम के निषेध पर बल देने के लिए यह कथन है।

वैदिक परम्परा में गुरुकुल में प्रवेश के समय, वानप्रस्थ, संन्यास के समय नाम परिवर्तन कर दिया जाता है। ऐसे ही विवाह में अनेक क्षेत्रों में आज भी नाम बदला जाता है। यदि कोई कन्या गुणवती है तो उसका उपयुक्त नामकरण करके पुनः उससे विवाह किया जा सकता है। जैसे कि पंजाब के कुछ समुदायों में आज भी विवाह के अवसर पर उपयुक्त नाम-परिवर्तन किया जाता है, पुनः विवाह होता है। महर्षि मनु का कथन है—"**स्त्रियो..... समादेयानि सर्वतः**"=अपने गुण-कर्म-स्वभाव के

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥ ५॥ मनु० [३।१०]

जिसके सरल-सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध न हों;[१] जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो; हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो; [जो] सूक्ष्म लोम, केश और दाँतयुक्त हो और जिसके सब अङ्ग कोमल हों; वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये॥ ५॥[२]

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौन-सा अच्छा है?

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेके चौवीसवें[३] वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय 'उत्तम' है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो 'निकृष्ट', अठारह-वीस की स्त्री, तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का 'मध्यम', चौवीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह 'उत्तम' है। **जिस देश में इसी प्रकार विवाह का श्रेष्ठ विधि[४] और ब्रह्मचर्य, विद्याभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी [होता है][५] और जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्याग्रहण-रहित, बाल्यावस्था [में][६] और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है।** क्योंकि ब्रह्मचर्य [और][७] विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार से ही सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

प्रश्न— अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥ १॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ २॥

ये श्लोक पाराशरी [७।६, ८] और शीघ्रबोध में लिखे हैं [१।५४, ६५]।

अनुकूल उत्तम स्त्रियां सभी परिवारों और देशों से स्वीकार कर लें (मनु० २।२४० तथा स०प्र० पृ० १७९)। महाभारतकाल में विदेशों में अनेक विवाह हुए थे (द्र०पृ० ४८६ पर विवरण)।

५. **वरों के लिए भी नाम का नियम**—मनुस्मृति के पूर्वश्लोकों की अनुवृत्ति और ग्रन्थकार की 'समान और यथायोग्य नियम-ऊहा शैली' के अनुसार नामों की शर्त वरों पर भी चरितार्थ होगी। ग्रन्थकार की यह शैली चतुर्थ समु० के अध्यापक-अध्यपिका-प्रसंग में द्रष्टव्य है (पृ० १९८/४)। संविधान के नियम एक के लिए कहे हुए भी स्त्री-पुरुषों पर समान लागू होते हैं।

१. **मुद्रणकाल में अशुद्धि और संशोधन**—द्वि०प्र० में "**हों**" क्रिया त्रुटित है, दोनों हस्त०, मूलसं० आदि द्वि०सं० में है।

२. **विधान कन्याओं और बालकों के लिए भी**—संविधान में किसी एक लिंग के लिए किया गया विधान यथायोग्य रूप से दूसरे लिंग वालों पर भी लागू होता है। ऊपर कुल सम्बन्धी विधान के अर्थ में महर्षि ने लड़कों और लड़कियों दोनों का ग्रहण किया है। उसी भाव की अनुवृत्ति निम्नवर्णित श्लोकों के साथ भी आती है। लड़कियों के समान लड़कों के अंग दोष और नाम भी विवाह में वर्जित समझने चाहिएं। दर्शनों में स्वीकृत अध्याहार-पद्धति तथा संविधानशैली से ऋषिकृत यह व्याख्या स्वीकार्य है।

३. **मुद्रणकालीन अशुद्धि**—द्विप्र० में "**चौवीशवें**" अपवर्तनी है। अन्यत्र और अन्य सभी पाठों में शुद्ध व संशोधित है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा शैलीविरुद्ध परिवर्तन**—सम्पूर्ण ग्रन्थ में महर्षि '**विधि**' पद का प्रयोग पुंल्लिग में करते हैं। मूलह० और मूलप्रति सं० में पुंल्लिग शुद्ध है, किन्तु मुद्रणलिपिकर ने उसको स्वेच्छा से बदल डाला। वही द्विप्र० व द्वि०सं० में छप रहा है। यह परिवर्तन अशुद्ध है, क्योंकि वाक्यान्त में "होता है" क्रिया दोनों पुंल्लिंग प्रयोगों के लिए एक ही है। इस वाक्य में "**विधि श्रेष्ठ**" अपप्रयोग है, "**श्रेष्ठ विधि**" अभीष्ट है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अप-शैली और अपप्रयोग है।

५-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः "**होता है**" क्रिया, '**में**' कारक तथा "**ब्रह्मचर्य विद्या**" के मध्य '**और**' पद त्रुटित रह गये हैं। तीनों पदों का पाठ में होना आवश्यक है।

अर्थ—कन्या की आठवें वर्ष में[१] गौरी, **नवें** वर्ष रोहिणी, **दशवें** वर्ष कन्या और उसके आगे 'रजस्वला' संज्ञा हो जाती है॥ १ ॥

दशवें वर्ष तक विवाह न करके, रजस्वला कन्या को माता, पिता और उसका बड़ा भाई, ये तीनों [घर में स्थित][२] देखके नरक में गिरते हैं॥ २ ॥

उत्तर—ब्रह्मोवाच

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयं तु रोहिणी।
त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला॥ १ ॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ २ ॥[३]

यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है।

अर्थ—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को क्षण कहते हैं।[४] जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे क्षण में रोहिणी, तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला हो जाती है॥ १ ॥ उस रजस्वला को [घर में स्थित] देखके उसके[५] माता, पिता, भाई, मामा[६] और बहिन सब नरक को जाते हैं॥ २ ॥

प्रश्न—ये श्लोक प्रमाण नहीं।

उत्तर—क्यों प्रमाण नहीं ?[७] जो ब्रह्मा जी के श्लोक प्रमाण नहीं, तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

प्रश्न—वाह-वाह! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते ?

उत्तर—वाह जी वाह! क्या तुम ब्रह्मा जी का प्रमाण नहीं करते ? पराशर [और][८] काशीनाथ से

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में यहां "**विवाह**" असंगत अपपाठ है। द्विप्र० में इसको हटा दिया है, जो उचित है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां व पंक्ति १२ में बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है।

३. **ग्रन्थकाररचित श्लोक**—जैसा कि पृ० १५४, पंक्ति १३ में स्वयं कहा है, ग्रन्थकार ने व्यंग्यात्मक रूप में ये श्लोक ग्रन्थरचना के समय बनाकर ब्रह्मपुराण के नाम से दिये हैं, यह दिखाने के लिए कि पौराणिकों ने संस्कृत भाषा में इसी प्रकार बुद्धिहीन, कपोलकल्पित बातें लिखकर उनको पुराणों का नाम दे दिया है। पुराणों के नाम पर इतनी निरंकुशता रही है कि जिसने जो चाहा, जिसके नाम से चाहा, वही लिख दिया। अतः वे प्रामाणिक नहीं हैं। पुराण भी सैकड़ों बना रखे हैं।

४. **क्षण का प्रमाण**—"**यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यात् उत्तरदेशमुपसम्पद्येत सः कालः क्षणः**" (योगदर्शन ३.५२ पर व्यासभाष्य), "**क्षणः—प्रक्ष्णुतःकालः**" (निरुक्त २.२५) अर्थात्—'जितने समय में परमाणु स्थान बदलता है या पलटा खाता है, उसको 'क्षण' कहते हैं।' "क्षण सबसे छोटी काल-इकाई है।' काल के लघुतम व्यावहारिक अंश को '**क्षण**' माना गया है।

५-६. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह० और द्वि०सं० में "**उसकी**" अपप्रयोग है। द्विप्र० में "**उसी की**" अशुद्ध प्रयोग है। अनेक रिश्तों के साथ '**उसके**' प्रयोग अपेक्षित है। सभी सं० में संशोधित है। द्वि०प्र० में "**मा**" त्रुटित पद है; सभी सं० में संशोधित है।

७. **ऋषिलेख में अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**क्या**" पद अशुद्ध है। मुद्रणह०, मूलसं० का ऋषि-वाक्य शुद्ध है।

८-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थलों पर '**और**' पद त्रुटित है। दो व्यक्तियों की भिन्नता प्रकट करने के लिए '**और**' का प्रयोग अनिवार्य है जैसे '**प्रश्न**' शीर्षकवाली ठीक ऊपरी पंक्ति में है।

ब्रह्मा जी बड़े नहीं है? जो तुम ब्रह्मा जी के श्लोकों को नहीं मानते, तो हम भी पराशर [और][९] काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

प्रश्न—तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं, क्योंकि सहस्त्रों क्षण जन्म समय में ही बीत जाते हैं, तो विवाह कैसे हो सकता है? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर—जो हमारे श्लोक असम्भव हैं, तो तुम्हारे भी असम्भव हैं। क्योंकि **आठवें, नवें**[१] और **दशवें** वर्ष में भी विवाह करना **निष्फल** है। क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्षपर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं*। जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही 'गौरी', 'रोहिणी' नाम देना भी अयुक्त है। यदि गौरी कन्या न हो, किन्तु काली हो, तो उसका नाम 'गौरी' रखना व्यर्थ है।

और '**गौरी**' महादेव की स्त्री, '**रोहिणी**' वसुदेव की स्त्री थी। उसको तुम पौराणिक लोग मातृसमान मानते हो। जब कन्यामात्र में '**गौरी**' आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है? इसलिये तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं। क्योंकि जैसे[२] हमने '**ब्रह्मोवाच**' करके श्लोक बना लिये हैं, वैसे वे भी श्लोक पराशर आदि के नाम से अपने मतलब-सिन्धु लोगों ने[३] बना लिये हैं। इसलिये इन सबका प्रमाण छोड़के वेदों के प्रमाण से सब काम

---

* उचित समय से न्यून आयुवाले स्त्री-पुरुष को गर्भाधान के लिए[४] मुनिवर धन्वन्तरि जी सुश्रुत में निषेध करते हैं—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ १॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ २॥

[सुश्रुत, शारीरस्थान, अ० १०। श्लोक ४७, ४८]

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में, पच्चीस[५] वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ का स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता॥ १॥

अथवा उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय होवे। इस कारण से अतिबाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भ स्थापित न करे॥ २॥

ऐसे-ऐसे शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं, वे दुःखभागी होते हैं।[६] —[**दयानन्द सरस्वती**]

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आठ, नौ और दशवें वर्ष में**" पाठ है। यह "**आठवें, नवें और दशवें वर्ष में**" उपयुक्त पाठ है, जैसे नीचे चौथी ही पंक्ति में शुद्ध है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसा**" अपप्रयोग है। उदाहरणार्थ '**जैसे**' चाहिए। वाक्य में आगे '**वैसे**' है, उसके सम्बन्ध से भी '**जैसे**' ही उचित है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अपने मतलब सिन्धु लोगों ने**" त्रुटित पाठ है। यह शब्दावली महर्षि की प्रयोगशैली है (द्र०, पृ० ७८६/३, ९६९/४, १०३४/९ आदि)। मुद्रणहस्त० में लिपिकर की भूल से यह सम्पूर्ण वाक्य "**वैसे वे भी..... बना लिये हैं**" छूट गया था। ग्रन्थकार ने शोधन-समय अनुमान से यह पाठ बनाया—"**वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं।**" इस प्रकार मूलहस्त० का उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त पाठांश त्रुटित रह गया। महर्षिप्रोक्त यह पाठ आज भी वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

४,५. **अपवर्तनी**—यहां '**गर्भाधान के लिए**' प्रयोग अभीष्ट है। अन्य सभी सं० में संशोधित है। द्विप्र० में "**पचीस**" अपवर्तनी है।

६. **मुद्रणसमय परिवर्धित टिप्पणी एवं पाठग्रहण**—यह टिप्पणी दोनों हस्त० में नहीं है। इसको मुद्रणकाल में द्विप्र० में परिवर्धित

किया करो। देखो, मनुस्मृति[१] में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ मनु० [९।९०]

[शीघ्र विवाह की इच्छुक] कन्या रजस्वला हुए[२] पीछे तीन वर्षपर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे। जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए[३] पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं।[४]

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनु० [९।८९]

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे[५] रहैं, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर-विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से पूर्व, और [न] असदृशों का विवाह होना योग्य है।[६]

प्रश्न—विवाह करना माता-पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़के-लड़की[७] के आधीन रहै?

उत्तर—**लड़के-लड़की[८] के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़के-लड़की[९] की प्रसन्नता के विना न होना चाहिये; क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है[१०] और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं;** क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहै, तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है।[११] और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ मनु० [३।६०]

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी

किया है। मूलप्रति सं० में टिप्पणी-पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० से ग्रहण किया गया है।

१. **उपयुक्त पाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मनु में**" पाठ मिलता है, '**मनुस्मृति में**' उपयुक्त पूर्ण पाठ है।

२-३. **उचित संशोधन**—स्पष्ट पूर्ण अर्थ के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ अभीष्ट है। मूलप्रति सं० में दोनों स्थानों पर "**होते हुए**" अपप्रयोग हो गया है। दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में यहां "**हुए**" शुद्ध पाठ है।

४. **ऋषि हस्तलेख**—"**जब प्रतिमास.....पूर्व नहीं**", पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **द्वि०सं० में अपपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० का "**कुमारे**" प्रयोग शुद्ध था। यह '**कुंवारे**' का मूल-पर्यायरूप में है। अन्यत्र भी "**कुमारे**" प्रयोग है। दोनों हस्त० तथा दोनों अन्य सं० में शुद्ध पाठ है, द्वि०सं० में पता नहीं क्यों अशुद्ध पाठ कर दिया?

६. **ऋषि हस्तलेख**—तीनों सं० में यह शिथिल और संदेहार्थक वाक्य मिलता है—"**न पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य है।**" इसमें "**वा**" अप-अर्थ द्योतक पद के स्थान पर '**और**' होना तथा "**न**" दोनों स्वतन्त्र वाक्यखण्डों के पहले होना उपयुक्त है। "**इससे सिद्ध....योग्य है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

७-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में तीनों स्थलों पर "**लड़का-लड़की**" अपप्रयोग हैं। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग "**लड़के-लड़कियों के**" पृ० १६६/१, ७१२/२२ में द्रष्टव्य है। वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० में तीनों अपप्रयोग हैं।

१०-११. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—इन स्थलों पर '**है**' क्रिया त्रुटित है। सभी पाठों में इस क्रिया का होना आवश्यक है।

और कीर्त्ति निवास करती है, और जहाँ विरोध-कलह होता है, वहाँ दु:ख, दरिद्रता[१] और निन्दा निवास करती है। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति[२] आर्यावर्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। **जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का**

---

१. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां "**दरिद्र**" अपपद का प्रयोग है। '**दरिद्रता**' चाहिए। मूलसं० में संशोधित है। वेस, युमी, जग, उदयपुर सं० में संशोधित है, भद में अशुद्ध है। (शुद्ध "**दारिद्र्य**" प्रयोग पृ० ५४९ पर देखें)।

२. **स्वयंवर विवाह और वेदों में उसका विधान**—ग्रन्थकार ऋषि ने अग्रिम पंक्तियों में ऋग्वेद के विवाह-विधायक तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं जिनमें विवाह की अवस्था, योग्यता, विधि का संक्षिप्त वर्णन है। मनुस्मृति आदि शास्त्रों में विवाहों में '**स्वयंवर विवाह**' **(ब्राह्म विवाह)** को सर्वश्रेष्ठ माना है। स्वयंवर विवाह के निम्न मानदण्ड हैं—१. विवाह के योग्य अवस्था अर्थात् युवा-अवस्था में विवाह होना, २. यथायोग्य गुण-कर्म-स्वभाव (विद्या, शील, रूप, आयु, कुल, स्वास्थ्य, समायोजन का स्वभाव आदि होना), ३. लड़के-लड़की की प्रसन्नता की मुख्यता का होना, ४. शास्त्रविहित मर्यादित विधि से विवाह होना। इन विशेषताओं वाले सभी विवाह 'स्वयंवर विवाह' कहलाते हैं, चाहे उनका रूप न्यूनाधिक कुछ भी रहा हो। माता-पिता, भाई आदि का सहयोग और योगदान इसमें बाधक नहीं, अपितु अतिरिक्त विशेषता है। तृतीय समु० पृ० १४० पर उद्धृत यह मन्त्र स्वयंवर विवाह की विधि और विधान का निर्देश करता है—

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अथर्ववेद ११.५.१८)

अर्थात्—'ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करके सुशिक्षित और युवा हुई कन्या अपने यथायोग्य युवा पति का वरण करती है।' पाठक ध्यान दें कि 'ब्रह्मचर्य' वैदिक परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है—'गुरुकुल, आश्रम आदि में संयमपूर्वक रहकर विद्या पढ़के स्नातक बनना।' इस शब्द के अर्थ में शिक्षा, संयम और युवावस्था तीनों का अन्तर्भाव है।

स्वयंवर-विवाह का वर्णक एक अन्य मन्त्र भी उल्लेखनीय है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥ (ऋग्वेद १०.२७.१२)

अर्थ—(कियती योषा) कितनी ही स्त्रियां ऐसी होती हैं जो (वधूयोः मर्यतः) वधू के इच्छुक=विवाह के इच्छुक पुरुष के (पन्यसा) छल-कपटरहित शुद्ध व्यवहार और मधुर वाणी से तथा (वार्येण) सहयोग से (परिप्रीता) परम प्रसन्न=संतुष्ट होती हैं (यत्) उनमें जो (सुपेशाः) विवाहविधि में वस्त्र-अलंकार से सुशोभित होकर (जने स्वयं मित्रं वनुते) जनसमुदाय के बीच अपनी प्रसन्नता और विवेक से स्वयं अपने जीवनसाथी का चुनाव करती है अर्थात् स्वयंवर विवाह करती है, (सा) वह (चित्) निश्चय ही (भद्रा वधूः भवति) कल्याणयुक्त पत्नी=सुखी पत्नी बनती है।

नारदमत—स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती ने नारद-मत का उद्धरण दिया है जो स्वयंवर विवाह का विधान करता है। 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ के गार्हस्थ्य काण्ड के पृ० ४९ पर यह निर्देश है—

तत्र नारदः—"**यदा तु नैव कश्चित् स्यात्, कन्या राजानमाव्रजेत्। अनुज्ञया वरं तस्य परीक्ष्य वरयेत् स्वयम्।**
सवर्णमनुरूपञ्च कुल-रूप-वयः-श्रुतैः। सहधर्मं चरेत्तेन पुत्रांश्चोत्पादयेत्ततः॥"

अर्थात्—'जिस कन्या का विवाह करनेवाला कोई अभिभावक (माता-पिता, भाई आदि) न हो अथवा वे कन्या की प्रसन्नता के अनुसार न करते हों, तो कन्या राजा=शासन के पास जाये और उसकी अनुमति से योग्य वर की परीक्षा करके स्वयं उसका विवाह के लिए वरण करे। (जैसे आजकल कोर्ट मैरिज या मन्दिर में विवाह करते हैं)। वर सवर्ण हो, कुल, रूप, वय, शिक्षा आदि में उसके अपने अनुरूप होना चाहिए। उसके साथ विवाह करके गृहस्थ धर्म का पालन करे और सन्तानोत्पत्ति करे।'

स्वयंवर के ऐतिहासिक उदाहरण—महर्षि ने आगे लिखा है कि प्राचीनकाल में इस देश के ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा स्वयंवर विवाह करते थे। वैदिक इतिहास में स्वयंवर विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहां कन्याओं ने अपनी प्रसन्नता की प्रमुखता के आधार पर पतियों का वरण किया है, जैसे—पुरुमित्र की कन्या कमद्यु और वैदिक सूक्तद्रष्टा एवं राजर्षि विमद ऐन्द्र का स्वंम्वर (ऐतरेय ब्राह्मण ५.५.१), विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या दमयन्ती और निषध देश का राजा नल (महाभारत, वनपर्व अ० ५६-५७), किसी अज्ञात राजा की पुत्री केशिनी और प्रह्लाद-पुत्र विरोचन (महाभारत, उद्योग० ३५.१४-२१), सीता और श्रीराम (वाल्मीकि-रामायण, बाल० ६६-६८, ७३-७७), द्रौपदी-अर्जुन (महाभारत, आदि० अ० १५८-१८७), भीम राजा की पुत्री मान्यवती और राजा करंधम के पुत्र अविक्षित् (मार्कण्डेय पुराण ११९.१७), माहिष्मती के राजा नील दुर्योधन की कन्या सुदर्शना और देववंशी अग्निदेव (महाभारत, सभा० ३१.२८-३३; अनु० २.३४), आदि। परवर्ती काल में प्रचलित हुए 'अपहरण-विवाहों' में माता-पिता आदि के बाधक बनने पर कन्या की स्वेच्छा से जो अपहरण-विवाह हुए हैं वे सब 'स्वयंवर विवाह' के अन्तर्गत

परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता [है]।[१]

युवा॑ सुवासा॒: परि॑वीत॒ आगा॒त्स उ॒ श्रेया॑न्भवति॒ जाय॑मानः।
तं धीरा॑सः॒ क॒वय॒ उन्न॑यन्ति॒ स्वाध्यो॒३॑ मन॑सा देव॒यन्त॑:॥ १॥ ऋ०, म० ३। सूक्त ८। मं० ४॥

आ धे॒नवो॑ धुनयन्ता॒मशि॑श्वीः॒ सब॒र्दुघा॑:[२] शश॒या अप्र॑दुग्धाः।
नव्या॑नव्या युव॒तयो॒ भव॑न्तीर्म॒हद्दे॒वाना॑मसु॒रत्वमे॑कम्॥ २॥ ऋ०, म० ३। सूक्त० ५५। मं० १६॥

पू॒र्वीर॒हं श॒रद॑: शश्रमा॒णा दो॒षावस्तो॑रु॒षसो॑ ज॒रय॑न्तीः।
मि॒नाति॒ श्रियं॑ ज॒रिमा॒ तनू॒नाम॒प्यू॒ नु पत्नी॒र्वृष॑णो जगम्युः॥ ३॥

ऋ०, म० १। सूक्त १७९। मं० १॥

जो पुरुष (**परिवीतः**) सब ओर से[३] यज्ञोपवीत [पूर्वक] ब्रह्मचर्य-सेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त, (**सुवासाः**) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ ब्रह्मचर्ययुक्त (**युवा**) विद्याग्रहण कर पूर्ण जवान[४] होके[५] गृहाश्रम में, (**आगात्**) आता है, (**सः**) वही दूसरे=विद्याजन्म में, (**जायमानः**) प्रसिद्ध होकर, (**श्रेयान्**) अतिशय शोभायुक्त, मङ्गलकारी, (**भवति**) होता है, (**स्वाध्यः**) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त, (**मनसा**) विज्ञान से, (**देवयन्तः**) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त, (**धीरासः**) धैर्ययुक्त, (**कवयः**) विद्वान् लोग, (**तम्**) उसी पुरुष को, (**उन्नयन्ति**) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं। और जो ब्रह्मचर्यधारण, विद्या, उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री-पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में अप्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं॥ १॥

आते हैं, जैसे—रुक्मिणी-श्रीकृष्ण और सुभद्रा-अर्जुन का विवाह आदि। इनमें विवाह-विधियां अपहरण के बाद सम्पन्न हुई हैं।

कुछ लोगों की प्रवृत्ति होती है प्रत्येक स्थापित मान्यता में तिनके तोड़ने की या त्रुटि ही त्रुटि निकालने की, या स्वयं को पृथक् रूप में प्रस्तुत करने की। ऐसे लोग प्राय: कह दिया करते हैं कि श्रीराम-सीता का विवाह स्वयंवर नहीं था। उन लोगों को याद रखना चाहिए कि सारा प्राचीन इतिहास उनके विवाह को स्वयंवर मानता है, यह एक स्थापित मान्यता है। इस विवाह में जो कुल-प्रक्रिया हुई थी वह सीता की इच्छा से सम्पन्न हुई। सीता की इच्छा को जिसने पूर्ण किया उसी का उसने वरण किया। माता-पिता की ओर से आयोजित आजकल के विवाहों में सुशिक्षित और युवा कन्याएं जब यह कहती हैं कि मैं अमुक व्यक्ति से या अमुक व्यवसाय के व्यक्ति से विवाह करूँगी, मेरे लिए ऐसा-ऐसा वर ढूंढें, वह अमुक नगर या प्रदेश का हो, आदि, तो इसमें भी कन्या की इच्छा की प्रमुखता होती है। ये सब विवाह **'स्वयंवर विवाह'** के अन्तर्गत ही आते हैं। ये शर्तें नहीं होती अपितु कन्या की प्राथमिकताएं और अभिरुचियां होती हैं। रामायण युग में बलपरीक्षा करने की ऐसी ही प्राथमिकता और अभिरुचि सीता की थी, जिसकी उसके पिता ने घोषणा और व्यवस्था मात्र की थी।

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पर **'है'** क्रिया त्रुटित है। यहां इस क्रिया का होना आवश्यक है।

२. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्तलेखों के लिपिकरों ने **''शबर्दुघाः''** अपवर्तनी लिखी है। वही अशुद्ध वर्तनी द्विप्र०, जग में छपी है। बाद में द्वि०सं० और मूलसं० तथा अन्य सभी में संशोधित है।

३. **अभिप्राय**—**''सब ओर से.....युक्त''** का अभिप्राय है इनके प्रति सत्यनिष्ठा और पूर्ण विद्या-प्राप्ति से ओतप्रोत।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं०, वेस, युमी, उदयपुर में **''ज्वान''** अपवर्तनी है। **'संस्कारविधि'** पृ० १७१ पर शुद्ध है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह क्रमभष्ट अपवाक्य है—**''पूर्ण जवान होके विद्याग्रहण कर''**। जवान होके विद्याग्रहण नहीं की जाती अपितु विद्याग्रहण करते हुए पूर्ण युवा होने का कथन है। **संशोधन-पुष्टि**—जैसे—**''ब्रह्मचर्येण...युवानं विन्दते पतिम्''** (अथर्व० ११.५.१८)। **''पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके''** पृ० १४०, पंक्ति १९, २१) अत: यहाँ शोधन अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्ट पाठ है। जग में संशोधित है।

जो (**अप्रदुग्धाः**) किसी ने दुही न हों, उन (**धेनवः**) गौओं के समान, (**अशिश्वीः**) बाल्यावस्था से रहित, (**सबर्दुघाः**) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी, (**शशयाः**) कुमारावस्था का उल्लङ्घन करनेहारी, (**नव्यानव्याः**) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण, (**भवन्तीः**) वर्त्तमान, (**युवतयः**) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियाँ, (**देवानाम्**) ब्रह्मचर्य-सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के, (**एकम्**) अद्वितीय, (**महत्**) बड़े, (**असुरत्वम्**) प्रज्ञा-शास्त्रशिक्षा-युक्त, प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई, जवान पतियों को प्राप्त होके, (**आधुनयन्ताम्**) गर्भधारण करें।

कभी भूलके भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें,[१] क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। **बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश [होता है][२] उससे अधिक स्त्री का नाश होता है॥ २ ॥**

जैसे (**नु**) शीघ्र, (**शश्रमाणाः**) अत्यन्त श्रम करनेहारे (**वृषणः**) वीर्य सींचने में समर्थ पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष, (**पत्नीः**) युवावस्थास्थ, हृदय को प्रिय स्त्रियों को, (**जगम्युः**) प्राप्त होकर, पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र-पौत्रादि से संयुक्त रहते रहैं, वैसे स्त्री-पुरुष सदा वर्त्तें। जैसे (**पूर्वीः**) पूर्व वर्त्तमान (**शरदः**) शरद् ऋतुओं, और (**जरयन्तीः**) वृद्धावस्था को प्राप्त करानेवाली (**उषसः**) प्रातःकाल की वेलाओं को (**दोषाः**) रात्री, और (**वस्तोः**) दिन (**तनूनाम्**) शरीरों की (**श्रियम्**) शोभा को (**जरिमा**) अतिशय वृद्धपन [करके][३] बल और शोभा को (**मिनाति**) दूर कर देता है, वैसे (**अहम्**) मैं स्त्री वा पुरुष, (**उ**) अच्छे प्रकार, (**अपि**) निश्चय करके ब्रह्मचर्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त होके ही विवाह करूँ। इससे विरुद्ध करना, वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता॥ ३ ॥[४]

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा आर्य-लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के ही, स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती जाती थी[५]। जब से यह ब्रह्मचर्य से

---

१. **शरारती मुद्रण-लिपिकर द्वारा परिवर्तित भ्रष्टपाठ और संशोधन**—मूलहस्तलेख में यहां उपर्युक्त शुद्ध पाठ है। शरारती मुद्रणलिपिकर ने इस पाठ को हास्यास्पद तरीके से भ्रष्ट करके मुद्रणप्रति में इस प्रकार लिखा है—''**गर्भधारण करके कभी भूलके भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान करें।**'' यही भ्रष्टपाठ द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में संशोधन कर दिया है, मूलसं० में शुद्ध है। ऐसा नहीं है कि मुद्रणलिपिकर-शोधक इतने वज्रमूर्ख थे कि उन्हें इस वाक्य की संगति का ज्ञान ही नहीं था। फिर भी उसने हास्यास्पद वाक्यरचना की है। निश्चय ही यह उसकी शरारत है। चलिए, सन्तोष का विषय है कि आर्य-सम्पादकों को मुद्रणलिपिकर की इस शरारत में कोई गम्भीर रहस्य नज़र नहीं आया, अतः सभी ने इस पाठ को बिना विवाद किये संशोधित कर लिया है।

२-३. **त्रुटित पद**—दोनों सं० में बृहत् कोष्ठान्तर्गत क्रियापद आवश्यक हैं। इनके बिना पहले स्थान पर शुद्ध वाक्य नहीं बनता, दूसरे स्थान पर भ्रष्ट अर्थ प्रकट होता है कि ''**अतिशय वृद्धपन**'' को दूर कर देता है। अतः '**करके**' क्रियापद आवश्यक है।

४. **ऋषि हस्तलेख और मन्त्र का भावार्थ**—अभिप्राय है कि उचित आहार-विहार से शतवर्ष की आयु होती है और वेद-विरुद्ध अर्थात् अनुचित आहार-विहार से आयु, बल और शोभा इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे ऋतुएं, दिन और रात्रियां आयु आदि को क्षीण करके दिन-प्रतिदिन वृद्धत्व प्राप्त करा देती हैं। ''**इससे विरुद्ध.....नहीं होता**'' पाठ मूलह०में, और फिर कुछ परिवर्तनपूर्वक मुद्रणह० में ऋषि-हस्तलेख में परिवर्धित है।

५. **मुद्रणसमय त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उन्नति होती थी**'' त्रुटित पाठ है। मूलप्रति सं० का नैरन्तर्य बोधक पाठ ''**उन्नति होती जाती थी**'' उपयुक्त एवं ग्राह्य पाठ है। पाठ-पुष्टि के लिए देखिए आगे निरन्तर क्रिया-प्रयोग—''**होती चली आई है।**'' ''**जब तक**'' ''**तब तक**'' प्रयोगों के सम्बन्ध से उपर्युक्त पाठ ही बनेगा। यही पाठ दोनों हस्त० में है। द्विप्र० में मुद्रणसमय

विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के आधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि ही होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़के, सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें; सो विवाह वर्णानुक्रम से करें। और **वर्णव्यवस्था गुण-कर्म के आधीन होनी चाहिये।**

प्रश्न—क्या जिनके माता-पिता ब्राह्मणी-ब्राह्मण हों, वही ब्राह्मण होते हैं? और जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, वे कभी ब्राह्मण हो सकते हैं?[१]

उत्तर—हाँ, बहुत-से हो गये, होते हैं और होंगे भी। जैसे, **'छान्दोग्य उपनिषद्'** में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल से, **'महाभारत'** में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण से और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण[२] हो गये थे [ऐसा वर्णित है][३]। **अब भी जो उत्तम विद्या-स्वभाववाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख [=अशिक्षित][४] शूद्र के योग्य होता है, और वैसा ही आगे भी होगा।**

''**जाती**'' क्रियापद छूटा है, वही त्रुटित पाठ द्वि०सं० में छपता आ रहा है।

१. **अस्तव्यस्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य इस प्रकार अस्त-व्यस्त प्राप्त होता है—''**क्या जिसके माता-पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मणी-ब्राह्मण होते हैं? और जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों, वे कभी ब्राह्मणी-ब्राह्मण हो सकते हैं?**'' इस वाक्य में '**ब्राह्मणी-ब्राह्मण**' पद पूर्व वाक्यखण्ड में प्रयुक्त होने चाहिएं, क्योंकि जन्मना जातिवाद में बहुविवाह के कारण भिन्न वर्ण का पति और भिन्न वर्णों की कई-कई पत्नियां होती थीं। उन्हीं के अनुसार उनकी सन्तान की जाति निर्धारित होती थी। ब्राह्मण पिता-माता की सन्तान तो 'ब्राह्मण' होती ही थी। अतः जातिवादी व्यवस्था के संदर्भ में यह प्रश्न है। वेस, भद, जग में अपपाठ है, युमी और उदयपुर सं० में संशोधन कर लिया है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्धपाठ ११वें समु० में द्रष्टव्य है—''**मा-बाप ब्राह्मणी-ब्राह्मण होने से.....ब्राह्मण वा साधु नहीं हो सकते।**'' (पृ० ५२९/६)।

२. **वर्णपरिवर्तन**—(क) अज्ञातकुल के सत्यकाम जाबाल का छान्दोग्योपनिषद् में यह विवरण आता है—'पुत्र सत्यकाम के द्वारा गोत्र की जिज्ञासा करने पर माता जबाला ने कहा कि 'हे पुत्र! मुझे नहीं ज्ञात है कि तुम्हारा क्या गोत्र है। क्योंकि यौवनकाल में बहुतों के यहां सेवाकार्य करते हुए मैंने तुझे नियोगज सन्तान की कामना से पाया है किन्तु पिता का ठीक निश्चय नहीं है।.....गुरुकुल में प्रवेश के इच्छुक सत्यकाम ने यही सत्य ज्यों का त्यों आचार्य को बता दिया। आचार्य ने कहा कि यह जो सत्य बोल रहा है, अवश्य यह ब्राह्मण ही है' (४।४। २-५) सत्यकाम को गुरुकुल में प्रवेश मिल गया और वह महान् ब्रह्मवादी ऋषि बना। पाठक ध्यान दें कि उस समय समाज में नियोग की मान्य परम्परा थी, जैसे आज भी यूरोपीय समाज में अनेक रूपों में है। गरीब जबाला ने शायद विवाह न हो पाने की स्थिति में नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त की होगी। कुछ लोगों का कथन है कि सत्यकाम का जन्म मर्यादाहीन आचरण का परिणाम था। जब समाज में 'नियोग' मान्य था तो जबाला को पुत्रप्राप्ति हेतु मर्यादाहीन मार्ग पर जाने की आवश्यकता नहीं थी, अतः 'सत्यकाम नियोगज पुत्र था', इसके लिए पृष्ठ २०७ पर टिप्पणी 'ई' द्रष्टव्य है।

(ख) कान्यकुब्ज के राजा विश्वरथ ने राजसिंहासन और क्षत्रियवर्ण को छोड़कर तपस्या कर ब्राह्मणत्व ग्रहण किया। उसके बाद वे महर्षि विश्वामित्र कहलाये। वाल्मीकि रामायण (बाल० १।६३-६५) और महाभारत में इसका पूरा विवरण मिलता है (महा० अनु० ३।१-२)।

(ग) महाभारत अनु० ३।१९ में चण्डाल कुल में उत्पन्न मातंग के ऋषि बनने का उल्लेख है—''**चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान्?**'' प्रश्नात्मक इस पंक्ति में स्पष्ट कथन है कि मातंग ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। महाभारत के एक वर्तमान उत्तरात्मक पाठ में ब्राह्मणत्व प्राप्त होने का निषेध वर्णित है। प्रश्न के विरुद्ध होने के कारण ज्ञात होता है कि बाद में किसी ने महाभारत में पाठभेद करके निषेध किया है, जो परवर्ती प्रक्षेप है।

इसी प्रकार दर्जनों अन्य व्यक्तियों के वर्णपरिवर्तन का विवरण भारतीय इतिहास में मिलता है जो यह सिद्ध करता है कि वैदिक वर्णव्यवस्था कर्माधारित थी, जन्माधारित नहीं। (अधिक जानकारी के लिए देखिए सम्पादक-रचित पुस्तक—'**महर्षि मनु बनाम डॉ० अम्बेडकर**')

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ उचित अर्थ के लिए तीनों सं० में अनिवार्य है।

४. **मूर्ख**=अशिक्षित, अर्थात् जिसने तीन उच्चवर्णों में से किसी भी वर्ण का अध्ययन और उसकी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त नहीं की। **अर्थपुष्टि**—मूर्ख का 'अशिक्षित' अर्थ द्र०पृ० १४०/१२ में महर्षिकृत है।

प्रश्न—भला, जो रज-वीर्य से शरीर हुआ है, वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है?

उत्तर—रज-वीर्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता। किन्तु—

स्वाध्यायेन जपैः[१] होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ मनु० [२।२८]

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं और यहाँ भी संक्षेप से करते हैं—(**स्वाध्यायेन**) पढ़ने-पढ़ाने, (**जपैः**) विचार करने-कराने, [**होमैः**] नानाविध होम के अनुष्ठान, [**त्रैविद्येन**][२] सम्पूर्ण वेदों को शब्द-अर्थ-सम्बन्ध, स्वरोच्चारण-सहित पढ़ने-पढ़ाने, (**इज्यया**) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, (**सुतैः**) पूर्वोक्त विधिपूर्वक धर्म से सन्तानोत्पत्ति, (**महायज्ञैश्च**) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, (**यज्ञैश्च**) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म [करने से][३] और सम्पूर्ण '**शिल्पविद्या**'आदि पढ़के दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्तने से (**इयम्**) यह (**तनुः**) शरीर (**ब्राह्मी**) ब्राह्मण का (**क्रियते**) किया जाता है।[४] क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते?

[**प्रश्न**—][५] मानते हैं।

[**उत्तर**—][६] फिर क्यों रज-वीर्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो?

[**प्रश्न**—][७] मैं अकेला नहीं मानता, किन्तु बहुत लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं। क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे?

उत्तर—नहीं। परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मानके, खण्डन भी करते हैं।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को '**सनातन**' व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त को परम्परा मानते हैं। देखो, जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट, और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ अथवा दुष्ट देखने में आते

---

१. **पाठान्तर**—समु० तीन में पृ० ९९ पर उद्धृत इसी श्लोक में "**स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः**" पाठ है, जबकि यहां "**व्रतैः**" के स्थान पर "**जपैः**" पाठ है।

२. **त्रुटित पद एवं परिवर्धन**—दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में पदार्थ में '**होमैः**' और '**त्रैविद्येन**' दो पद त्रुटित रह गये हैं। मूलसं० में ग्रहण कर लिये हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में सत्कर्म के बाद '**करने से**' त्रुटित पद हैं। शुद्ध वाक्य हेतु आवश्यक हैं।

४. **ब्राह्मण का शरीर कब बनता है?**—ब्राह्मण वर्ण ही नहीं, ब्राह्मण-शरीर भी गुण-कर्मों से बनता है। श्लोकोक्त कर्मों को आचरण में लाये बिना मनु की वैदिक वर्णव्यवस्था में कोई '**ब्राह्मण**' नहीं कहला सकता। जन्मना वर्ण के विरुद्ध मनु का यह कितना प्रबल उद्घोष है! इसे ही महर्षि दयानन्द ने स्वीकार किया है। जन्म से ब्राह्मण जाति या ब्राह्मण शरीर माननेवाले जन इस श्लोक को ध्यान से पढ़ें कि माता-पिता से प्राप्त शरीर का कोई वर्ण तब तक नहीं होता जब तक वह तदनुसार गुण-कर्म-योग्यता को ग्रहण नहीं करता। ब्राह्मण जन्मता नहीं, अपितु कर्मों से बनना होता है। समु० ३, पृ० ९९ पर भी यही अर्थ—"**ब्राह्मण-शरीर बनाना होता है।**"इस दृष्टि से यहां "**तनुः**"='शरीर' प्रयोग अति महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् शरीर भी कर्मों से ब्राह्मण बनाया जाता है।

५-७. **अस्त-व्यस्त अपपाठ**—स्पष्टार्थ के लिए बृहत् कोष्ठान्तर्गत तीनों पाठ आवश्यक हैं। दोनों सं० में "**मैं अकेला**".....यहां से प्रश्न-वाक्य आरम्भ होता है, "**क्या तुम परम्परा.....**" यहां प्रश्न और उत्तर गड्ड-मड्ड हो गये हैं। उनको पृथक्-पृथक् प्रदर्शित करना आवश्यक है। वेस, जग, जस में संशोधित है। किन्तु भद, युमी, विस और उदयपुर सं० में गड्ड-मड्ड पाठ है।

हैं। इसलिये तुम लोग भ्रम में पड़े हो। देखो, मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ मनु० [४।१७८]

अर्थ—जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चलें, परन्तु **सताम्**=जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों, उनके मार्ग में चलें; और जो पिता, पितामह दुष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चलें। क्योंकि सत्पुरुषों और धर्मात्मा पुरुषाओं[१] के मार्ग में[२] चलने से दुःख कभी नहीं होता। इसको तुम मानते हो वा नहीं?

[प्रश्न—] हाँ-हाँ, मानते हैं।

[उत्तर—] और देखो, **जो परमेश्वर-प्रकाशित[३] वेदोक्त बात [है][४] वही सनातन है और जो उसके विरुद्ध है, वह सनातन कभी नहीं हो सकती।** ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिये वा नहीं?

[प्रश्न—] अवश्य चाहिये।

[उत्तर—] जो ऐसा न माने, उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आँखों को फोड़ लेवे[५]? जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भी कुकर्म ही करे? नहीं-नहीं; किन्तु **जो-जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उनका सेवन और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सबको अत्यावश्यक है।**

जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था[६] माने और गुण-कर्मों के योग से न माने, तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई [ब्राह्मणवर्णस्थ][७] अपने वर्ण को छोड़ नीच [वर्ण], अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते?[८] यहाँ यही कहोगे कि

१-२. **मुद्रणकालीन व्यर्थ परिवर्तन**—द्विप्र० और द्वि०सं० में इस वाक्य में "**उत्तम**" को "**धर्मात्मा**" का विशेषण बनाकर इसे सीमितभाववाला तथा अपपाठ बना दिया है—"**उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में**"। परिवर्तन व्यर्थ है, क्योंकि धर्मात्मा तो 'उत्तम' ही होते हैं। मूलह० व मुद्रणहस्त०, मूलसं० में भी "**सत्पुरुष, धर्मात्मा पुरुषाओं के मार्ग में**" उचित भावबोधक पाठ है, जो पाठ ग्राह्य है। मुद्रण के समय शोधक ने इसमें परिवर्तन किया है। महर्षि के भाव की गम्भीरता को शोधक ने नहीं समझा अतः एक ही भाव का द्योतक वाक्य बना दिया। इसी प्रकार '**पूर्वजों**' अर्थ में महर्षि "**पुरुषाओं**" पद का प्रयोग करते हैं। उसके स्थान पर द्वि० सं० में '**पुरुषों**' संशोधन अशुद्ध है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० में यह अपपाठ है—"**परमेश्वर का प्रकाशित वेदोक्त बात...।**" द्विप्र० और द्वि० सं० में "**परमेश्वर की प्रकाशित**" अपप्रयोग है। '**परमेश्वर-प्रकाशित**' अथवा '**परमेश्वर की ओर से प्रकाशित**' प्रयोग उपयुक्त है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**है**' क्रिया त्रुटित है। यहां क्रिया आवश्यक है।

५. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**फोड़ डाले**" अनुपयुक्त पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० का संशोधित पाठ "**फोड़ लेवे**" उपयुक्त पाठ है। स्वयं के लिए यही प्रयोग शुद्ध है।

६. **उचित संशोधन**—मुद्रणह० द्विप्र० और द्वि० सं० में "**व्यवस्था**" यह पद परिवर्धित है। पूर्ण-प्रयोग की दृष्टि से यह पाठ ग्राह्य है। मूलप्रति सं० में "**व्यवस्था**" पद त्रुटित है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत '**ब्राह्मणवर्णस्थ**' पद नहीं है। इसके बिना उपयुक्त वाक्यरचना नहीं होती, अतः परिवर्धन आवश्यक है।

८. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**उसको ब्राह्मण क्यों नहीं गिनते?**" उपयुक्त पाठ नहीं है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० का संशोधित पाठ उपर्युक्त है। वही यहां ग्रहण किया है।

उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि के उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि, और जो नीच[१] [वर्ण][२] भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच [वर्ण के][३] कर्म करे तो उसको नीच-वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।[४]

प्रश्न— ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत॥

यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है।

इसका यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के 'मुख', क्षत्रिय ''बाहू'', वैश्य ''ऊरू''[५] और शूद्र 'पगों' से उत्पन्न हुआ है। इसलिये जैसे मुख, न 'बाहु' आदि, और 'बाहु' आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं।[६]

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ पुरुष अर्थात् निराकार, व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति आती है। जब वह निराकार है, तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते, जो मुखादि अङ्गवाला हो, वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं, वह सर्वशक्तिमान्, जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य-पापों को जानके व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा[७], मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता। इसलिये इसका यह अर्थ है कि जो (**अस्य**) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सबमें मुख्य उत्तम हो, वह (**ब्राह्मणः**) ब्राह्मण; (**बाहू**)—

'बाहुर्वै बलम्, बाहुर्वै वीर्यम्' शतपथब्राह्मण [तुलना—५।३।३।१७;५।४।१।१;६।२।३।३३;१३।१।११।५]

=बल, वीर्य का नाम 'बाहु' है,[८] वह जिसमें अधिक हो सो (**राजन्यः**) क्षत्रिय, (**ऊरू**) कटि के

---

१. **नीच शब्द का अर्थ**—इस अनुच्छेद में चार बार '**नीच**' शब्द का प्रयोग हुआ है। चारों स्थानों पर उच्च वर्ण के विपरीतार्थ में प्रयोग है जिसका अर्थ है '**नीचे के वर्ण**' अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा से जो नीचेवाला वर्ण है। चौथी पंक्ति के प्रयोग में तो स्पष्टत: '**नीच-वर्ण**' ही प्रयोग है जो प्रस्तुत अर्थ की पुष्टि करता है। पृ० १६४/१६ पर वर्णों के प्रसंग में केवल '**नीच**' पद का प्रयोग न करके स्पष्टत: '**नीचे के वर्ण**' पदों का प्रयोग किया है। जो यहां प्रदर्शित अर्थ को स्पष्ट और पुष्ट करता है। महर्षि द्वारा 'सत्यार्थप्रकाश' में प्रयुक्त '**नीच**' पद व्यक्ति या वर्णवाचक संदर्भों में प्राय: संस्कृत के '**उच्च**' का '**विपरीतार्थक**' प्रयोग है जो संस्कृत की शैली के अनुसार है। इसका यहां '**निन्द्य**' अर्थ नहीं है। फिर भी सर्वत्र '**वर्ण**' शब्द जोड़ देने से, जैसा कि अन्तिम पंक्ति में है, अर्थ में संदेह मिटकर स्पष्टता आ जाती है। द्रष्टव्य पृ० ४६१ की टिप्पणी भी।

२-४. **ऋषिहस्तलेख व त्रुटित आवश्यक पद**—इस अनुच्छेद में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**वर्ण**' पदों का होना सार्थक होगा। ''**जो ब्राह्मणादि.....और जो**'' मूलह० में ''**और जो.....नीच वर्ण में**'' मुद्रणह० में ऋषिहस्तलिखित हैं।

५. **संस्कृत शैली के अनुसार द्विवचनान्त प्रयोग**—महर्षि मूलत: संस्कृत के विद्वान् थे। उन पर सर्वत्र संस्कृत की शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है। प्रस्तुत मन्त्रार्थ और प्रसंग में उन्होंने संस्कृत की शैली के अनुसार द्विवचनार्थक पदों में संस्कृत के द्विवचनान्त पदों का ही प्रयोग किया है यथा—दो बाहुओं के लिए '**बाहू**', दो जंघाओं के लिए '**ऊरू**' आदि। अत: ये पद इसी वर्तनी के रूप में ग्राह्य हैं, क्योंकि ये मन्त्र के मूल पद हैं।

६. **त्रुटित क्रिया**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**हैं**'' क्रिया त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से भ्रष्ट पद की कहानी और संशोधन**—मूलह० में शुद्ध पद ''**अजन्मा**'' है। मुद्रणलिपिकर ने लिखते समय प्रमाद से उसको ''**अन्मा**'' लिख दिया। मुद्रणसमय कम्पोजीटर ने उसको ''**आत्मा**'' पढ़ा, अत: द्विप्र० में यही अशुद्ध पद छपा। किसी शोधक का इस पर ध्यान नहीं गया, अत: भ्रष्ट पाठ बन गया—''**जो व्यापक नहीं वह....आत्मा....नहीं हो सकता।**'' खुशी है कि सभी ने बिना विवाद के इसको शुद्ध कर लिया है।

८. **ऋषिहस्तलेख का परिवर्तन**—द्वितीय सं० में यहां ''**बाहू है**'' द्विवचनान्त अपप्रयोग है। यह ऋषि द्वारा मूलह० में लिखित

अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम 'ऊरू' है। जो सब पदार्थों, सब देशों में 'ऊरु' के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे, वह (**वैश्यः**) वैश्य, और (**पद्भ्याम् शूद्रः**) जो पग के अर्थात् **नीच** अङ्ग[१] के सदृश [और] मूर्खतादि गुणवाला हो,[२] वह शूद्र है। अन्यत्र '**शतपथ ब्राह्मण**'-आदि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे—

'**यस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त।**' —इत्यादि।

[शत० ब्रा०, ६।१।१।१०; तैत्ति० सं० ७।१।१।४]

जिससे ये मुख्य हैं, इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है। अर्थात् जैसे[३] मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में ब्राह्मण उत्तम कहाते हैं।[४] जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं हैं, तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है, जैसे कि वन्ध्या[५] स्त्री के पुत्र का विवाह होना!

और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादान कारण के सदृश[६] ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसा मुख का आकार गोलमोल[७] है, वैसे ही उनके शरीर भी गोलमोल[८] होने चाहियें। क्षत्रियों के शरीर भुजाओं के सदृश, वैश्यों के ऊरुओं के तुल्य और शूद्रों के शरीर पग के समान आकारवाले होते,[९] [किन्तु][१०] ऐसे नहीं हैं। और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि 'जो-जो मुखादि से उत्पन्न हुए हैं, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा होनी चाहिये', परन्तु तुम्हारी नहीं; क्योंकि जैसे [और][११] सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा

संस्कृत उद्धरण का अनुवाद है जिसमें लघु उकारात्मक '**बाहु**' पद अपेक्षित है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध है।

१. **नीच अङ्ग**—शरीर का निम्नतम अर्थात् जो सबसे नीचे है वह अंग। यह संस्कृत '**उच्च**' या हिन्दी के '**ऊंचे**' का विपरीतार्थक है। शूद्र वर्ण सबसे निम्न स्थानीय है। जैसे पैरों का कार्य चलना-फिरना है उसी प्रकार उसका कार्य भी आदेशानुसार इधर-उधर जाना और शरीर श्रम के कार्य करना है, क्योंकि अशिक्षित व्यक्ति ही शूद्र होता है। (द्रष्टव्य है पृ० १४०/१२, १५९/१०)

२. **भ्रष्टपाठ और पाठ-परिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पग के अर्थात् नीच अंग के सदृश मूर्खतादि गुणवाला**'' भ्रष्टवाक्य है। इसकी त्रुटि ठीक करने के लिए '**सदृश**' के बाद '**और**' भिन्नताबोधक पद का जोड़ना आवश्यक है। नीच=निम्न अंग पैर में 'मूर्खता' आदि गुण नहीं होते। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में यह भ्रष्ट पाठ है। मूर्खता का अभिप्राय है 'अशिक्षा'। यहां विस, जग, युमी, उदयपुर आदि ने अपने मन से ''**नीचे अंग**'' पाठ बदल लिया है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है, '**जैसे**' अपेक्षित है।

४. **अप-संशोधन**—मुद्रणह, द्विप्र०, द्वि० सं० में वाक्यान्त में ''**ब्राह्मण कहाता**'' एकवचन-प्रयोग अशुद्ध है। बहुवचनान्त संस्कृत उद्धरण का अर्थ भी बहुवचनात्मक ही शुद्ध माना जायेगा। प्रथम पंक्ति में बहुवचनयुक्त होने से यहां भी बहुत चाहिए। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **निरर्थक एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा कि बन्ध्या**'' अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**वन्ध्या**'' के बाद ''**आदि**'' निरर्थक, अपप्रयोग है। असम्भव का उदाहरण तो केवल 'वन्ध्या' का ही होता है। सभी सं० में यह निरर्थक पद है। द्विप्र० उदयपुर सं० में ''**बन्ध्या**'' अपवर्तनी है।

६-८. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में ''**सदृश्य**'' अपवर्तनी है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० और उदयपुर सं० में दोनों स्थानों पर ''**गोलमाल**'' अपप्रयोग है। द्वि०सं० में संशोधित है। हिन्दी में इसका अर्थ ''**हेराफेरी**'' है, गोलाकार नहीं। यह लिपिकर की भ्रान्ति से लिखा गया है।

९. **मुद्रणकालीन अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में ''**शूद्रों का शरीर पग के समान....होने चाहियें**'' अपपाठ छपा है। द्वि०सं० में संशोधित कर दिया है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध है।

१०-११. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**किन्तु**' तथा '**और**' पद त्रुटित हैं।

का अभिमान करते हो ? [तो तुमसे कुछ भी उत्तर न बन पड़ेगा][१] इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है, और जो हमने अर्थ किया है, वह सच्चा है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है, जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु० [१०।६५]

जो [२]शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के सदृश गुण-कर्म-स्वभाववाला हो, तो वह '**शूद्र**' ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय। वैसे ही जो[३] ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण-कर्म-स्वभाव[४] शूद्र के सदृश हों, तो शूद्र हो जाये। वैसे ही क्षत्रिय, [वा] वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से, ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् **चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।**

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ १॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ २॥

ये आपस्तम्ब [धर्मसूत्र] के सूत्र हैं[५] [प्रश्न २। प० ५। कं० ११। सूत्र १०-११]

धर्माचरण से, निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम वर्णों को प्राप्त होता है[६] और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे॥ १॥

वैसे अधर्माचरण से, पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचेवाले वर्णों[७] को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे[८]॥ २॥

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठक का पाठ त्रुटित है। अभीष्ट कथन की पूर्ति हेतु चाहिए।

२. **त्रुटित पद**—द्विप्र० में "**जो**" पद त्रुटित है। अन्य सभी पाठों में है और ग्राह्य है।

३-४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**ही जो**' और "**हों और उसके गुण-कर्म-स्वभाव**" वाक्यांश त्रुटित हैं। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में दोनों पाठ हैं और ग्राह्य हैं।

५. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**यह आपस्तम्ब का सूत्र है**" वाक्य अशुद्ध है। यहां दो सूत्र होने के कारण बहुवचन होगा। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में संशोधित है, किन्तु मुद्रणह०, मूलह०, द्विप्र० में "**आपस्तंभ**" अपवर्तनी है।

६-८. **मुद्रणसमय में ऋषि-विरुद्ध अर्थ करना तथा त्रुटित पाठग्रहण**—आपस्तम्ब के इन दोनों सूत्रों का अर्थ महर्षि ने वैदिक वर्णव्यवस्था के दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर किया है, जैसा कि मनुस्मृति के पूर्वोक्त श्लोक में है। मुद्रणसमय द्विप्र० में और फिर सभी द्वि०सं० में कुछ संशोधन करने से इन सूत्रार्थों का महर्षि द्वारा अभीष्ट सारा भाव ही गड़बड़ा गया।

दोनों सूत्रार्थों में अपने से उत्तम "**वर्णों को प्राप्त होता है**" के स्थान पर "**अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है**" "**अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है**" एकवचन करने से सारा भाव-परिवर्तित हो गया, जबकि दोनों हस्तलेखों में "**वर्णों**" बहुवचनान्त प्रयोग है। इससे केवल यह अनर्थ बनेगा कि **व्यक्ति केवल अपने से ऊपर के वर्ण को ही ग्रहण कर सकता है और केवल अपने से नीचे के वर्ण में ही पतित हो सकता है, जैसे—शूद्र वैश्य ही, वैश्य क्षत्रिय ही और क्षत्रिय ब्राह्मण ही बन सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय ही, क्षत्रिय वैश्य ही और वैश्य शूद्र ही बन सकता है, ब्राह्मण वैश्य या शूद्र नहीं बन सकता। 'वर्णों'** बहुवचन-प्रयोग से यह भाव प्रकट होता है कि गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार ब्राह्मण किसी भी वर्ण में पतित हो सकता है और शूद्र किसी भी उत्तम वर्ण को प्राप्त कर सकता है, सीढ़ी-दर-सीढ़ी परिवर्तन की अनिवार्यता नहीं है। यही मनुस्मृति का ऊपरवर्णित वैदिक सिद्धान्त है (मनु० १०.६५; स०प्र०पृ० १७०)। यदि द्विप्र०, द्वि०सं० वाला यह अर्थ ग्रहण करेंगे कि "**अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है**" तो "**जिस-जिस के योग्य होवे**" कथन से विरोध उत्पन्न हो जाता है। देखिए, एक शब्द के वचन-परिवर्तन से किसी ने कितना अनर्थ कर दिया!! इसी प्रकार दूसरे सूत्रार्थ में "**कि जिस-जिस के योग्य होवे**" वाक्य मुद्रणकालीन शोधक ने जानबूझकर छोड़ दिया। वही त्रुटित पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में छप रहा है। यह वाक्यखण्ड वर्ण-निर्धारण के लिए है और इसके छोड़ देने से ऋषि का अर्थ विपरीत भाव में बदल जाता है।

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी [वर्ण-] व्यवस्था समझनी चाहिये।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणवर्ण में कोई क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के सदृश न रहेगा और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहेंगे[१] अर्थात् **वर्णसंकरता**[२] प्राप्त न होगी। इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय तो उसके मा-बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायगा, इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये ?[३]

अत: **यह संशोधन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में यह ऋषि के आशय के विरुद्ध, और अपूर्ण पाठ है। पुष्टि**—ऋषि का सही आशय **'संस्कारविधि'** पृ० १७५ पर द्रष्टव्य है।

१. **मुद्रणप्रति में शोधक द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रण-प्रतिलिपि में संशोधन करते समय (महर्षि ने नहीं) किसी अन्य शोधक ने इस वाक्य की क्रियाओं को बदलकर वाक्यरचना को ही असंगत कर दिया। मूलहस्त० में वाक्य शुद्ध है। अब द्विप्र०, द्वि०सं० में और मूलप्रति सं० में वाक्य है—**''ब्राह्मणकुल में.....शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय.....शुद्ध रहते हैं''**। यहां **''रहेगा''** और **''रहेंगे''** भविष्यत् क्रिया थी। यही शुद्ध थी क्योंकि आगे **''न होगी''** क्रिया है। अप-परिवर्तन से क्रियाओं में तालमेल नहीं रहा। 'वर्ण' के प्रसंग में **''ब्राह्मणकुल''** के स्थान पर **''ब्राह्मणवर्ण''** प्रयोग अभीष्ट एवं शुद्ध है।

२. **वर्णसंकरता का सही अर्थ**—महर्षि ने यहां स्पष्ट लिखा है—**''वर्ण भी शुद्ध रहते हैं।''** अर्थात् वर्णसंकरता जन्म से नहीं होती, वर्णस्थ भिन्न व्यक्तियों के विवाह से नहीं होती, अपितु **वर्णों के व्यवसायों के मिश्रण से होती है।** इस प्रयोग में स्पष्टत: **'वर्ण'** शब्द है, वर्णस्थ व्यक्ति नहीं। अत: शब्द का अर्थ भी यही बनेगा—**'वर्ण में संकरता'**, **'वर्णस्थ व्यक्तियों में विवाह या जन्म की संकरता'** नहीं। कर्मणा वर्णव्यवस्था में यही अर्थ था किन्तु जन्मना जातिवाद के वातावरण में आकर इस शब्द का अर्थ व्यक्ति के जन्मपरक रूढ़ हो गया। मान लीजिए, हमने कहा कि ब्राह्मण और शूद्र या शूद्र और ब्राह्मण के विवाह से उत्पन्न सन्तान **'वर्णसंकर'** कहलाती है तो इसका अर्थ हुआ कि हमने उस सन्तान को जन्म से ब्राह्मण या शूद्र मान लिया। उसको **'वर्णसंकर'** सन्तान कह देने का अर्थ हुआ कि वह जन्मभर उसी जाति की हो गई। यह तो जन्मना जातिवाद की व्यवस्था है। कर्मणा वर्णव्यवस्था में तो सन्तान किसी भी कुल में, किसी भी स्त्री-पुरुष से उत्पन्न होकर शिक्षा-दीक्षा से वर्ण धारण कर सकती है। (उदाहरण पृ० १५९ पर द्रष्टव्य हैं) फिर भी वर्णपरिवर्तन चाहे तो जीवन में कभी भी किसी की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके अभीष्ट वर्ण को प्राप्त कर सकती है (पृ० १६४)। अत: विवाह और **जन्म से 'वर्णसंकरता' मानना** जातिवादी धारणा है।

कर्मणा वर्णव्यवस्था के अनुसार, वर्ण के निर्धारित व्यवसायों=कर्त्तव्यों की मर्यादा भंग होना **'वर्णसंकरता'** है, और उनको भंग करने वाला **'वर्णसंकर'** है। जैसे कोई व्यक्ति ब्राह्मण होकर साथ में क्षत्रिय या वैश्य के व्यवसाय करे, क्षत्रिय होकर वैश्य के करे, या शूद्र होकर ब्राह्मण के करे, आदि। इसको आज के उदाहरण में यों समझ सकते हैं कि जैसे, कोई ब्राह्मण वर्णधारी अध्ययन-अध्यापन का व्यवसाय करता है। यदि वह साथ-साथ दुकान भी करने लगे तो यह वर्णसंकरता है। वर्णव्यवस्था का नियम यह है कि व्यक्ति अपने निर्धारित व्यवसायों की सीमा में रहे। यदि वह वर्तमान वर्ण में सन्तुष्ट नहीं है तो यथेष्ट वर्ण की योग्यता प्राप्त करके पहले वर्णपरिवर्तन करे, फिर उस वर्ण के व्यवसाय करे।

कर्मणा वर्णव्यवस्था में जन्म से वर्णसंकरता इस कारण स्वीकार्य नहीं बनती क्योंकि उसमें सवर्ण विवाह को प्राथमिकता देते हुए भी अन्तर-वर्ण विवाह मान्य है—**''स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि''** (मनु० २.२३८)। और **''स्त्रियः ..... समादेयानि सर्वतः''** (मनु० २.२४०, स०प्र० समु० ४, पृ० १७९)। निष्कर्ष यह है कि कर्मणा वर्णव्यवस्था में बालक जो वर्णधारण करता है वह गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार करता है, उसमें जन्म का कोई महत्त्व नहीं। अत: **'जन्मगत वर्णसंकरता'** का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। पाठक भविष्य में इस भ्रान्ति को दूर कर लें, यदि वे जन्माधारित वर्णसंकरता व्यक्ति में मानते हैं तो।

३. **संभव व्यवस्था**—कुछ लोग इस व्यवस्था को असंभव और अव्यावहारिक कहते हैं। **'गोद लेने'** में यही प्रक्रिया होती है। **नार्वे** देश में आज भी यह व्यवस्था है कि कोई मां-बाप यदि बच्चे का नियमानुसार उचित पालन-पोषण नहीं करते तो सरकार उसे उनसे छीन कर दूसरे परिवार या संस्था को सौंप देती है और युवा होने तक वह परिवार या संस्था उसका पालन-पोषण करती है तथा पालन-पोषण का सारा व्यय सरकार स्वयं वहन करती है। युवा होने के बाद उसे स्वतन्त्र कर दिया जाता है।

उत्तर—न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान, **विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे,** इसलिये कुछ भी अव्यवस्था नहीं होगी।

यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये। तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी। इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य-कर्म और गुण ये हैं।

[**ब्राह्मण के**—]

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥ मनु० [१।८८]

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ २॥ भगवद्गीता [१८।४२]

ब्राह्मण के पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान लेना-देना, ये छः कर्म हैं, परन्तु '**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः**' मनु० [१०।१०९]=अर्थात् प्रतिग्रह[१]=दान लेना नीच [=निम्न] कर्म है॥ १॥

(**शमः**) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी और उसको अधर्म में कभी प्रवृत्त न होने देना, (**दमः**) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना, (**तपः**) सदा ब्रह्मचारी=जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना। (**शौचम्**)[२]—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ मनु० [५।१०९]

=जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है। भीतर के[३] रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना अर्थात् सत्यासत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से 'निश्चय' पवित्र होता है।

(**क्षान्तिः**) अर्थात् निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि में[४] हर्ष-शोक छोड़के धर्म में दृढ़-निश्चय रहना,[५] (**आर्जवम्**) कोमलता, निरभिमानी सरल[६]-

---

१. **उचित संशोधन**—"**अर्थात् प्रतिग्रह**" द्विप्र० में संशोधित है और ग्राह्य है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में श्लोकोक्त पदार्थ कोष्ठक में यथावत् नहीं है, '**शम**' '**दम**' '**शौच**' ये अपवर्तनियाँ हैं।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**के**' विभक्ति-पद त्रुटित होने से अपवाक्य है। प्रायः सभी सं० में अशुद्ध है।
ऋषिहस्तलेख—मूलह० में "**प्रतिग्रहः**" "**अद्भिर्गात्राणि.....होती है**" सम्पूर्ण पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**मानापमान आदि हर्ष-शोक छोड़के**" अपवाक्य है। यहां '**में**' पद त्रुटित है। **पुष्टि**—शुद्ध पाठ द्र०पृ० १९८/२० में। वेस, जग, भद में अपपाठ है; युमी, उदयपुर सं० में संशोधित है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**धर्म में दृढ़ निश्चित रहना**" अपवाक्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पुनरुक्त अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० आदि में "**सरलता, सरल-स्वभाव रखना**" पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ है। इसको मुद्रणलिपिकर ने "**सरल-सरल**" लिख दिया जिसे शोधक ने पहले को प्रमाद से "**सरलता**" बना दिया। पहला पद "**निरभिमानी**" शुद्ध होगा, "**निरभिमान**" अशुद्ध है।

स्वभाव रखना; कुटिलतादि दोष छोड़ देना, (**ज्ञानम्**) सब वेदादि-शास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़के पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक=सत्यासत्य का निर्णय[१], जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़, चेतन को चेतन जानना और मानना, (**विज्ञानम्**) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना, (**आस्तिक्यम्**) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व-परजन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता, पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना; [**ब्रह्मकर्म स्वभावजम्**] ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मणवर्णस्थ[२] मनुष्यों में अवश्य होने चाहियें ॥ २ ॥[३]

क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥ मनु० [१।८९]
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥ [भगवद्]गीता[४] [१८।४३]

[**प्रजानां रक्षणम्**] न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के, श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का पालन, (**दानम्**) विद्या, धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना, (**इज्या**) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना[५], (**अध्ययनम्**) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना-पढ़वाना[६], और (**विषयेष्वप्रसक्तिः**) विषयों में न फस कर, जितेन्द्रिय

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद और अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**विवेक सत्य का निर्णय**" पाठ में '**असत्य**' पद त्रुटित है। आगे वाक्य में जड़-चेतन का निर्णय तथा चार पंक्ति ऊपर ही "**सत्यासत्य के विवेक**" पाठ है। नवम समु० पृ० ४४८/१४, ४५१/७ भी '**सत्यासत्य के निश्चय**' को '**विवेक**' कहा है। यह पद मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश छोड़ा है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर का अपूर्ण अपपाठ है, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध व पूर्ण है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**ब्राह्मणवर्ण मनुष्यों में**" अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० उदयपुर सं० में संशोधित है, किन्तु मुद्रणह०, द्विप्र० में "**ब्राह्मवर्णस्थ**" त्रुटित पद है।

३. **अपर्वतनी तथा त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अर्थ में श्लोकोक्त पदों की वर्तनी यथावत् न होकर अशुद्ध है। पदार्थ के कोष्ठक में यथावत् मूलपद उद्धृत हुआ करता है। दोनों सं० में '**क्षान्ति**', '**आर्जव**', '**विज्ञान**', '**आस्तिक्य**' अपपद हैं। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं। यह अपसम्पादन दोनों लिपिकरों की अयोग्यता और आदि-सम्पादक ज्वालादत्त और भीमसेन शर्मा-द्वय के प्रमाद का परिणाम है। सभी सं० में यह त्रुटि है।

४. **गीता और भगवद्गीता**—ग्रन्थकार ने '**गीता**' के लिए 'गीता' और 'भगवद्गीता' दोनों नामों का प्रयोग किया है। देखिए, भूमिका पृ० ११ पर 'गीता' नाम का प्रयोग है। प्रसिद्धि के कारण 'गीता' नाम से '**भगवद्गीता**' ही अभिप्रेत है। जब कोई अन्य 'गीता' अभिप्रेत होती है तो उसको उसके पूर्ण और विशिष्ट नाम से पुकारा जाता है, जैसे ग्रन्थ में ही 'गुरुगीता' (पृ० ६१६/११)।
मुद्रणप्रति, द्विप्र० में व्यर्थ पाठान्तर—यहां और पूर्व पृष्ठ पर ब्राह्मण के कर्त्तव्यों में गीता के श्लोकों के अन्त में दोनों स्थानों पर दोनों हस्तलेखों में 'गीता' ही लिखा हुआ है। मुद्रणहस्तलेख में दोनों स्थलों पर क्रमशः "भगवद्" और "भ०" लिखा है, जो द्विप्र० में क्रमशः "भ०गी०" तथा "भ०गीता" छपा। अब द्वि०सं० में दोनों पर "भ०गी०" छप रहा है।

५-६. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा महर्षिलिखित पाठ हटाना अनुचित**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में, क्षत्रियों के कर्त्तव्य के रूप में "**अग्निहोत्रादियज्ञ करना वा कराना....पढ़ना तथा पढ़ाना**" यह अर्थ प्रस्तुत करके महर्षि ने सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तनपूर्वक वैदिक परम्परा का निर्वाह किया है। मूलहस्तलेख में "**कराना**" और "**पढ़ाना**" पाठ नहीं थे। मुद्रणहस्तलेख में ऋषि ने "**कराना**" और "**पढ़वाना**" स्वहस्त से लिखकर जोड़े। पढ़वाने में तो कोई शंका ही नहीं, क्योंकि राजा ही पठन-पाठन की व्यवस्था करता है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**पढ़ाना**" पाठ बना दिया। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** सदृश कुछ सम्पादकों द्वारा यह कहना अस्वीकार्य-कथन है कि "**यह अपपाठ है; क्योंकि यज्ञ करना-कराना, पढ़ना-पढ़ाना केवल ब्राह्मण का कर्म है।**" इस सिद्धान्त को दो भावों में ही स्वीकृत किया जाना चाहिये कि 'कराना, पढ़ाना यहां राजा, क्षत्रिय आदि द्वारा व्यवस्था

रहके, सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना ॥ १ ॥[१]

(शौर्यम्) सैकड़ों-सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना,[२] **(तेजः)** सदा तेजस्वी, दीनतारहित, प्रगल्भ, दृढ़ रहना, **(धृतिः)** धैर्यवान् होना, **(दाक्ष्यम्)** राज्य और प्रजासम्बन्धी व्यवहार

कराने अर्थ में प्रयुक्त हैं; और यह नियमित आजीविका ब्राह्मणों की है जबकि कर्त्तव्यकर्म और अधिकार सभी द्विजों का है।' आवश्यकता पड़ने पर, आपत्काल में अथवा अभाव में इन कार्यों को अन्य द्विज भी कर सकते हैं, किन्तु वे इसे नियमित जीविका नहीं बना सकते, बस, यही दोनों में मूल अन्तर है। अनेक युक्ति-प्रमाण महर्षि के वचनों की पुष्टि करते हैं—

(क) वैदिक वर्णव्यवस्था में व्यक्ति जो प्रशिक्षण प्राप्त करता है, उसे उसको दूसरों को देने का भी अधिकार है।

(ख) मनुस्मृति में आगे स्वयं अन्य द्विजों को भी आपत्काल में पढ़ाने का अधिकार दिया है—"**अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते**" [२.२४१]। जो अध्ययन करायेगा वह उपनयन आदि संस्कार भी यज्ञपूर्वक करायेगा।

(ग) विद्याप्रेमी मनु ने तो कहा है कि उपयोगी और सत्यविद्याएं तथा शिल्पविद्याएं सबसे अर्थात् अवर व्यक्ति, अवर वर्ण, यहां तक कि शूद्रादि से भी ग्रहण कर लेनी चाहियें—"**श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि**""**विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः**" [२। २३८, २४०]। जब शूद्र से शिक्षा ली जा सकती है तो क्षत्रिय से शिक्षा लेने में कोई आपत्ति नहीं।

(घ) 'सुश्रुत संहिता' में निम्न वर्णों के उपनयन-पूर्वक अध्यापन का अधिकार सभी द्विजों को स्पष्ट शब्दों में दिया है—"**ब्राह्मणः त्रयाणामुपनयनं कर्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति**" [अ० २, सूत्रस्थान](द्र० सत्यार्थप्रकाश पृ० ९३) यद्यपि यह आजीविका ब्राह्मण की है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर संस्कार तीनों द्विज करा सकते हैं।

(ङ) इस परम्परा के ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं—(अ) शन्तनु और देवापि क्षत्रिय थे। शन्तनु का वृष्टिमहायज्ञ देवापि ने कराया था [निरुक्त २.३.११-१२] (आ) राज्य-त्याग करने के उपरान्त मुनि विश्वामित्र ने राजा सत्यव्रत का महायज्ञ कराया था। तब वसिष्ठ-पुत्रों ने उस पर यह कहकर आपत्ति प्रकट की थी—"**क्षत्रियो याजको यस्य**" [वा०रामा०, बाल० ५९.१३]। इत्यादि प्रमाणों से महर्षि का अर्थ युक्तियुक्त सिद्ध होता है। यह अर्थ महर्षि द्वारा सिद्धान्त के स्पष्टीकरण हेतु किया गया है। जहां आवश्यक होता है वहां महर्षि स्वतन्त्र अर्थ का भी अध्याहार करते हैं। सभी ग्रन्थों में यह उनकी शैली है। जैसे, धर्म के दश लक्षणों में '**अहिंसा**' को जोड़कर ग्यारह लक्षण बनाना, आदि।

(च) राजर्षियों द्वारा शिक्षा देने के प्रसिद्ध उदाहरणों से वैदिक इतिहास भरा पड़ा है। राजर्षि मनु स्वायम्भुव ने ऋषियों को धर्मशास्त्र पढ़ाया था, राजर्षि जनक ने शुकाचार्य आदि को आत्मविद्या पढ़ाई थी (स०प्र० १० समु० पृ० ४८३), राजर्षि अश्वपति ने पांच विद्वान् गृहस्थों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था (छान्दोग्य उप० अ० ५.११-१८)। ऋषि के मन्तव्य की पुष्टि के लिए इससे स्पष्ट और क्या प्रमाण हो सकते हैं?

(छ) इसकी दूसरी संगति यह भी लगती है कि स्वयं यज्ञादि न कर सकने पर '**ऋत्विज् आदि से यज्ञ कराना**', क्योंकि राजा को इन्हीं कार्यों के लिए पुरोहित-ऋत्विज् रखने का निर्देश है (मनु० ७.७८)। राज्य कार्य में व्यस्त होने के कारण राजा गृह में ऋत्विजों से ही यज्ञ, धार्मिक अनुष्ठान आदि कराता है। राजा, क्षत्रि आदि इनके कराने की व्यवस्था भी करते हैं।

पाठ-पुष्टि—अन्यत्र भी ऋषि की यही भाषा है। देखिए, एक प्रमाण—"**अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर...**" (समु० ६, पृ० ३०१)। इस प्रमाण से उपर्युक्त उल्लेख की पुष्टि और स्पष्टीकरण हो जाता है। अतः यहां **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** द्वारा यह पाठ हटाना अनुचित है। स्वामी वेदानन्द जी और मूलसं० ने "**पढ़ाना**" के स्थान पर "**पढ़वाना**" मुद्रणह० का पाठ ग्रहण किया है।

विद्वानों में अन्धानुकरण-परम्परा—मीमांसक जी ने इस पाठ को हटाया तो **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** और **स्वामी विद्यानन्द जी** आदि ने अन्धानुकरण कर उसको अपने सं० से भी हटा दिया। मूलप्रति सं० में मुद्रणहस्त० का "**पढ़वाना**" पाठ फिर से ग्रहण कर लिया है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में उसका परिवर्तन करके "**पढ़ाना**" किया हुआ है। सभी सं० में यही पाठ है। मेरे विचार से दोनों पाठों को रखने से अधिक अर्थवैशिष्ट्य आता है, विरोध कहीं नहीं है।

१. **अपवर्तनी**—पदार्थ में श्लोकोक्त पद यथावत् उद्धृत नहीं हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**दान**', '**अध्ययन**', '**विषयेष्वप्रसक्ति**' अशुद्ध पद हैं। '**प्रजानां रक्षणम्**' त्रुटित हैं। यह अपसम्पादन लिपिकरों की अयोग्यता तथा आदि-सम्पादकों के प्रमाद का परिणाम है। सभी सं० में अपपाठ हैं।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यह अपवाक्य है—"**अकेला सैकड़ों-सहस्रों से भी युद्ध करने में भय न होना।**" द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। मूलह०, मुद्रणह० में "**सैंकड़ह, हजारह**" फारसी के पद हैं। द्विप्र० में उनका हिन्दीकरण किया गया है।

और सब शास्त्रों में अति चतुर होना, (**युद्धे**) युद्ध में भी दृढ़-निःशङ्क रहके [**अपलायनम्**] उससे कभी न हटना[१], न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे। आप बचे; जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना, (**दानम्**) दानशीलता रखना, (**ईश्वरभावः**) पक्षपातरहित होके सबके साथ यथायोग्य वर्तना; विचारके देना,[२] प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भंग होने न देना; [**क्षात्रं कर्म०**] ये ग्यारह क्षत्रियवर्ण के कर्म और गुण हैं॥[३] २॥

वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ १॥ मनु० [१।९०]

(**पशूनां रक्षणम्**) गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना, (**दानम्**) विद्या, धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिये धनादि का व्यय करना, (**इज्या**) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (**अध्ययनम्**) वेदादि-शास्त्रों का पढ़ना, (**वणिक्पथम्**) सब प्रकार के व्यापार करना, (**कुसीदम्**) एक सैंकड़े में चार आना, छः, आठ, बारह, सोलह वा वीस[४] आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना,[५] (**कृषिम्**) खेती करना, [**वैश्यस्य**] ये वैश्य के गुण, कर्म हैं।[६]

---

१. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, उदयपुर सं० में "**हठना**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में "**हटना**" संशोधित है।

२. **ऋषिहस्तलेख और त्रुटित पाठ**—मूलप्रति सं० में "**विचार के देके**" तथा द्विप्र०, द्वि०सं० में '**विचारके देवे**' दोनों अपवाक्य हैं। मूलह० में यह वाक्यखण्ड नहीं है। मुद्रणप्रति में ऋषि ने जोड़ा है जो त्रुटित है—"**विचार के देके पूरी करना**"। "**देवे**" द्विप्र० में किया है। फिर द्वि०सं० और मूलसं० ने अपने-अपने ढंग से उस वाक्यखण्ड की रचना की है। इस सं० का पाठ समीचीन है। वेस, जग, भद, युमी में शुद्ध पाठ है; **उदयपुर सं० में फिर से अशुद्ध वाक्य बना दिया है।** "**आप बचे....ऐसा ही करना**" मूलह० में तथा "**विचारके.....न देना**" मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३. **अपवर्तनी तथा त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पदार्थ के कोष्ठक में श्लोकोक्त पद यथावत् उद्धृत नहीं हैं। कुछ शुद्ध तो कुछ अशुद्ध हैं। अशुद्ध पांच वर्तनियां हैं—'**शौर्य**', '**धृति**', '**दाक्ष्य**', '**दान**', '**ईश्वरभाव**'। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दोनों पद त्रुटित हैं। यह सब दोनों लिपिकरों की अयोग्यता तथा आदि-सम्पादक ज्वालादत्त और भीमसेन शर्माद्वय के प्रमाद का परिणाम है। सभी सं० में अशुद्ध पद हैं।

४. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ये वर्तनियां हैं—'**वारह, शोलह, वीस**'। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर में इसका अप-संशोधन किया है—"**बीस**"। "**बारह**", "**सोलह**" उचित संशोधन हैं।

५. **ब्याज का निर्धारण**—महर्षि मनु ने सामान्य ब्याज का निर्धारण करते हुए ८। १४० श्लोक में लिखा है—**वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वित्तविवर्धिनीम्। अशीतिभागं गृह्णीयात् मासात् वार्धुषिकः शते॥** अर्थात्—'**वसिष्ठ**'=अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ द्वारा अथवा वसिष्ठ ऋषि द्वारा विहित निर्धारित सामान्य ब्याज का नियम यह है कि धनदाता ऋणी से ८० वां भाग अर्थात् सवा रुपया सैंकड़ा मासिक तक ब्याज ले। सामान्यतः यह अधिक सीमा है। अल्प अपनी इच्छा से कितना ही ले सकता है। अधिक से अधिक दो रुपये सैंकड़ा ब्याज ले सकता है (मनु० ८.१४१)।

आचार्य चाणक्य भी सामान्य ब्याज का यही विधान देते हैं—"**सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य**" (अर्थ०३.६७.११.१)=सौ पैसे पर सवा पैसा सामान्य ब्याज प्रतिमास लेना चाहिए। वे आगे विशेष विधान करते हैं—व्यापारी से पांच पैसे, जंगल के व्यापारियों से दस पैसे और समुद्र के व्यापारियों से बीस पैसे ब्याज लेना चाहिए (वही, ३.६७.११.१)।

६. **अपवर्तनी तथा त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकों में श्लोकोक्त पद यथावत् उद्धृत नहीं है। पदार्थ में कोष्ठान्तर्गत पद यथावत् होने चाहिएं। अशुद्ध वर्तनियां इस प्रकार है—'**पशुरक्षा**' '**दान**' '**अध्ययन**' '**वणिक्पथ**' '**कुसीद**' '**कृषि**'। '**वैश्यस्य**' त्रुटित है। यह सब दोनों लिपिकरों की अयोग्यता और आदि-सम्पादकों ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा के प्रमाद का परिणाम है। सभी सं० में अशुद्ध पद हैं।

शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० [१।९१]

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़के, ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन [निर्वाह][१] करना। यही एक शूद्र का कर्म, गुण है।

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। **जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, [उसको][२] उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उत्तम चालचलन[३] और विद्या-युक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा। और नीच-वर्णों[४] को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा।**

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्णविद्यावान्[५] और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं हो सकता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों को ही होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। **शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिये है कि वह विद्यारहित=मूर्ख होने से, विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजादि[६] का काम है।**

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**निर्वाह**' पद परिवर्धन आवश्यक है, उसके बिना '**जीवन करना**' कोई प्रयोग नहीं बनता। वेस, भद, उदयपुर सं० में त्रुटित पाठ हैं; युमी में परिवर्धित है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसको**' पद त्रुटित रह गया है। वाक्यसंगति के लिए यह आवश्यक है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**उक्त चालचलन**'' अपपाठ है। मुद्रणलिपिकर ने लिखते समय प्रमाद से '**उत्तम**' का ''**उक्त**'' लिख दिया। इस प्रकार यह अपपाठ चल पड़ा। मूलप्रति सं० और मूलहस्त० में ठीक पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **नीच का अर्थ**—नीच अर्थात् नीचे के वर्ण के। स्वामी जी प्राय: संस्कृत शैली के अनुसार '**उच्च**' के विपरीतार्थक रूप में '**नीच**' शब्द का प्रयोग करते हैं जिनका हिन्दी में '**ऊंचा**' और '**नीचा**' अर्थ होता है। जैसे—''**पशु-आदि नीच शरीर**'' (पृष्ठ ४६३/१)। साहूकार और कहार के सम्बन्ध में लिखते हैं—''**अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच और ऊंच बनना दोनों न चाहते ?**'' (पृ० ४६१/१५) पृ० १६६/१८ पर 'नीच' शब्द का प्रयोग 'निम्न या छोटे स्तर का कर्म' अर्थ में करते हुए लिखा है—''**दान लेना नीच कर्म**'' यह प्रयोग संस्कृत भाषा के अनुसार है। यही प्रयोग संस्कारविधि के गृहाश्रमप्रकरण में है (पृ० १७१)। इस प्रकार महर्षि द्वारा वर्ण के संदर्भ में प्रयुक्त '**नीच**' शब्द '**निम्न स्तर या स्थिति**' का बोध कराता है, आजकल के प्रयोग के समान निन्दा या हीन अर्थ में नहीं है। यहां भी बहुत स्पष्ट अभिप्राय यह है कि नीचे के वर्ण ऊपर के वर्णों को प्राप्त करने के लिए उत्साही रहेंगे। '**नीच वर्ण**' प्रयोग '**उत्तम वर्ण**' का विलोमार्थक है।

५. **अयोग्य शोधककृत मुद्रणकालीन अपपाठ**—दोनों हस्त० में यह त्रुटित पाठ है—''**वे पूर्ण विद्या और धार्मिक होने से....**''। मुद्रणसमय किसी अयोग्य शोधक ने द्विप्र० में यह अशुद्ध पाठ बनाया—''**वे पूर्ण विद्यामान् और धार्मिक होने से.....**''। पुनश्च द्वि०सं०, मूलसं० आदि में उपर्युक्त संशोधन है।

६. **ऋषि-पाठ में अनावश्यक पाठ-मिश्रण**—द्विप्र० में यहां ''**राजादि सभ्यजनों**'' पाठ बढ़ाया है जो अनावश्यक है। महर्षि सर्वत्र यह कर्त्तव्य राजा, राजसभा और धर्मसभा का लिखते हैं। ''**इस प्रकार.....काम है**'' मूलह० में ऋषिलिखित है।

विवाहों के[१] लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ मनु० [३।२१]
[आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥
यज्ञे तु वितते सम्यग्-ऋत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यात्-आसुरो धर्म उच्यते॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयः, मैथुन्यः कामसम्भवः॥
हत्त्वा छित्त्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥][२] [मनु०३.२७-३४]

विवाह आठ प्रकार का होता है। एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पांचवाँ आसुर, छठा गान्धर्व, सातवाँ राक्षस, आठवाँ पैशाच। इन विवाहों की यह व्यवस्था है[३] कि जो वर, कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों, उनका परस्पर-प्रसन्नता से विवाह होना[४], '**ब्राह्म**' कहाता है। विस्तृत यज्ञ [का आयोजन] करके,[५] ऋत्विक् के कर्म करते हुए जामाता

---

१. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**विवाह का लक्षण**" अपपाठ है, बहुवचन में "**के**" कारक- प्रत्यय चाहिए। द्विप्र०, द्वि०सं० में अर्धशोधित है। शुद्ध प्रयोग "**विवाहों के लक्षण**" अभीष्ट है। **संशोधन-पुष्टि**—"**इन विवाहों की**" (१७१/२०), "**इन सब विवाहों में**" (१७२/७) शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

२. **विवाह-विधायक त्रुटित श्लोक**—प्रतीत होता है कि यहां महर्षि विवाह-विधायक श्लोकों को उद्धृत करना चाहते थे। और उन्होंने मूलप्रति लिखाते समय लिपिकर को 'प्रेसप्रति' में मूलश्लोक जोड़ने का निर्देश भी अवश्य दिया होगा, जिसे वह प्रति करते समय भूल गया लगता है। ऐसा अन्यत्र भी है जहां केवल उत्तर महर्षि ने लिखाया है। प्रश्न लिपिकर द्वारा बनाने के लिए छोड़ दिये हैं। द्र० समु० १२ में मूलप्रति सं० पृ० ५१४ का "**जो केवल कर्म.....नहीं हो सकती।**" पाठ। यह अनुमान इस कारण भी सही लगता है कि उन्होंने सभी श्लोकों के पदार्थक्रम से अर्थ दिये हैं। महर्षि की यह शैली है कि वे प्रमाणों को अवश्य उद्धृत करते हैं। यहां अज्ञात कारणों से एक ही श्लोक उल्लिखित होकर शेष छूट गये हैं। मूलप्रति संस्करण (पृ० १७२, १७३, ३०४, ५४४, ५४५ आदि) और इस संस्करण में अपनाई गई नीति कि जहां अर्थ है किन्तु श्लोक, सूत्र या मन्त्र छूट गया है, उसको बृ०

को अलङ्कारयुक्त कन्या का देना '**दैव**'। वर से कुछ लेके, विवाह होना '**आर्ष**'। दोनों का विवाह [गृहस्थ-][१] धर्म की वृद्धि के अर्थ होना '**प्राजापत्य**'। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना '**आसुर**'। अनियम, असमय किसी कारण से दोनों की इच्छापूर्वक वर- कन्या का परस्पर संयोग होना '**गान्धर्व**'। लड़ाई करके बलात्कार [से][२] अर्थात् छीन-झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना[३] '**राक्षस**'। शयन करती, वा नशा की हुई[४] वा पागल कन्या से बलात्कार [पूर्वक][५] संयोग करना '**पैशाच**' [विवाह है][६]।

इन सब विवाहों में ब्राह्मविवाह सर्वोत्कृष्ट; दैव [और प्राजापत्य][७] **मध्यम;** आर्ष, आसुर, और गान्धर्व **निकृष्ट,** राक्षस **अधम** और पैशाच **महाभ्रष्ट** हैं। इसलिये यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये, क्योंकि **युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है।**

परन्तु जब कन्या वा कुमार[८] के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहैं, तब उन कन्या, और उन कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको 'फोटोग्राफ' कहते हैं अथवा प्रतिकृति उतारके कन्याओं के पास कुमारों की और लड़कों के अध्यापकों के पास लड़कियों की प्रतिकृति भेज देवें। जिस-जिसका[९] रूप मिल जाये, उस-उसके इतिहास अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का पुस्तक हो, उसको[१०] अध्यापक

कोष्ठक में दे दिया है, ये श्लोक भी बृ० कोष्ठक में दिये जा रहे हैं। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** (पृ० २३८, २३९, ४०१, ४६३ आदि), **स्वामी वेदानन्द जी,** उदयपुर सं० आदि ने (पृ० १५२, १५३, २५६ आदि) यही सम्पादन नीति अपनाई है।

संशोधन-पुष्टि—मेरे इस विचार की पुष्टि '**संस्कारविधि**' की शैली से भी होती है। वहां महर्षि ने सभी श्लोक पहले प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं तत्पश्चात् उनका अर्थ किया है (द्र० विवाहप्रकरण, पृ० १६४)।

३. **पुनरुक्त पाठ और उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां "**इनमें से ब्राह्मविवाह वह है**" अनावश्यक और पुनरुक्तियुक्त पाठ है। द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधित पाठ ठीक है, वही यहां ग्रहण किया है।

४. **ब्राह्मविवाह ही स्वयंवर विवाह**—सुशिक्षित, युवा वर-वधू का परस्पर की प्रसन्नता की प्रमुखता से विवाह होना '**ब्राह्मविवाह**' है। यही '**स्वयंवर विवाह**' है। (द्र० विस्तृत टिप्पणी पृ० १५६ पर)

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**विस्तृत यज्ञ करने में**" पाठ-परिवर्तन करके लिपिकर ने पाठ को विकृत कर दिया है। मूलह०, मूलप्रति सं० का उपर्युक्त पाठ ठीक है। बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ से अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है विस्तृत यज्ञ के अनुष्ठानपूर्वक विवाह करना। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत क्रमशः दोनों पद त्रुटित हैं जो आवश्यक हैं।

३. **ग्रहण करना**—अपहरण करना अथवा बलात् विवाह करना।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**शयन वा मद्यादि नशा पी हुई**"। यहां "**शयन**" के साथ क्रिया त्रुटित है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपपाठ है। द्विप्र० और सभी सं० में "**नशा**" पद हटाना गलत है।

५-७. **त्रुटित आवश्यक पद और पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सभी बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। इनके परिवर्धन के बिना न तो उपयुक्त वाक्यरचना बनती है और न पूर्ण तथा स्पष्टार्थ होता है। संख्यांक ७ का पाठ "**और प्राजापत्य**" उदयपुर सं० में त्रुटित है जबकि अन्य सभी में गृहीत है। यह उदयपुर सं० के सम्पादकों का अति-प्रमाद है।

८. **अपप्रयोग**—इस प्रसंग में कई स्थानों पर दोनों सं० में '**वर**' और '**पुरुष**' पदों का प्रयोग हुआ है। एक-दो स्थानों पर द्वितीय सं० में "**कुमार**" संशोधन किया है। यहां सर्वत्र विवाह से पूर्वकालीन स्थिति में '**कुमार**' पद ही संगत और सटीक प्रयोग है।

९. **उचित पाठ-संशोधन**—द्विप्र० और द्वि० सं० में मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० के "**जिनके**" पद के स्थान पर "**जिस-जिसका**" संशोधित पाठ है। यही ग्राह्य है। अगले "**उस-उसके**" पदों के सम्बन्ध से "**जिस-जिसका**" ही शुद्ध है।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**उनको**" अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उसको**" संशोधित है।

लोग मंगवाके देखें। जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव[१] सदृश हों, तब जिस-जिस के साथ जिस-जिस का विवाह होना योग्य समझें, उस-उस कुमार और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और कुमार के हाथ में देवें और कहैं कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो, सो हमको विदित कर देना। जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे।

जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें, तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्रपुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत=शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी सभा में लिखके, एक-दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें।

जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाय, तब से उनके खान-पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये कि जिससे उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़के थोड़े ही दिनों में पुष्ट[२] हो जाये।

पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो, तब वेदी और मण्डप रचके, अनेक सुगन्धियुक्त[३] द्रव्यों और घृतादि का होम करें तथा अनेक विद्वान् पुरुषों[४] और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन **'संस्कार-विधिस्थ'** विवाह-विधि के अनुसार सब कर्म करके, मध्यरात्रि वा दश बजे अतिप्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह के विधि[५] को पूरा करके, एकान्तसेवन करें। पुरुष जो वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण का विधि[६] है, उसी के अनुसार दोनों करें। जहाँ तक बने, वहाँ तक ब्रह्मचर्य के वीर्य को व्यर्थ न जाने दें; क्योंकि उस वीर्य-रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो, उस समय स्त्री-पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्न रहैं, डिगें नहीं।[७] पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्यप्राप्ति के समय अपान वायु को ऊपर खेंच, योनि को ऊपर संकोच कर, वीर्य का ऊपर आकर्षण करके, गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।*[८]

---

* यह बात रहस्य की है, इसलिये इतने से ही समग्र बातें समझ लेनी चाहियें, विशेष लिखना उचित नहीं।[९] [दयानन्द सरस्वती]

---

१. **त्रुटित पद और उचित संशोधन**—मूलह० में लिपिकर से **''स्वभाव''** पद त्रुटित रहकर यह अपपाठ लिखा गया—**''गुण-कर्म-स्व सदृश हों''**। यही अशुद्ध पाठ मूलसं० में है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में **''स्वभाव''** पाठ बढ़ा दिया है।

२. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में **''बढ़के, पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाये''** वाक्य में **'पुष्ट'** अस्थान में है।

३-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''सुगन्ध्यादि द्रव्य''** और **''पुरुष''** अपपाठ हैं। आगे पृष्ठ (१७५/१३) पर तथा अन्यत्र **'सुगन्धियुक्त'** सही पाठ है। क्योंकि **'सुगन्धि'** यज्ञीय द्रव्य नहीं होता। **'द्रव्यों'** तथा **'पुरुषों'** बहुवचन अपेक्षित है।

५-६. **लिपिकरों की लीला से शैलीविरुद्ध परिवर्तन एवं**—लिपिकरों की लीला और अव्यवस्था देखिए। मूलह०, मूलसं० के मुद्रणह०, द्विप्र० में क्रमशः, संख्यांक छह पर **'विधि'** का पुंल्लिग प्रयोग है। दूसरी ही पंक्ति में संख्यांक सात पर स्त्रीलिंग का प्रयोग कर दिया। एक ही प्रसंग में दो-दो प्रयोग-शैलियां अयोग्यता और घोर प्रमाद की परिचायक हैं। द्विप्र०, द्वि० सं० में पहले दोनों स्थानों पर स्त्रीलिंग प्रयोग बना दिया। महर्षि की स्थापित शैली पुंल्लिग की है। शोधकों ने भी कितना प्रमाद किया है!

७. **गर्भाधानविधि**—टेढ़े-मेढ़े तरीकों से गर्भाधान करने से गर्भाशय और रज-अण्ड के दब जाने पर सन्तान के अंगों में विकृति आ जाती है। विकृति न आये अतः ऋषि ने आयुर्वेदोक्त स्वाभाविक विधि का संकेत किया है। मेरे निवास पर हुए विचार-विमर्श में **डॉ० ज्वलन्तकुमार जी शास्त्री (अमेठी)** ने यह विचार दिया कि **'कामसूत्र'** में जो रतिक्रिया की ऊटपटांग विधियां दी हैं,

गर्भस्थिति होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है, परन्तु इसका निश्चय महीनाभर के पश्चात् रजस्वला न होने पर, सबको हो जाता है। सोंठ, केशर, असगन्ध, सफेद इलायची और सालममिश्री डालके गर्म करके[१] प्रथम ही रक्खे हुए ठण्डे दूध को यथारुचि दोनों पीके,[२] अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें। यही विधि जब-जब गर्भाधान-क्रिया करें, तब-तब करना उचित है।[३]

जब महीना-भर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाय, तब से एक वर्ष पर्यन्त स्त्री-पुरुष का समागम कभी न होना चाहिये; क्योंकि ऐसे न होने से सन्तान उत्तम और दूसरा सन्तान भी श्रेष्ठ नहीं होता,[४] वीर्य व्यर्थ जाता, दोनों का आयु घट जाता[५] [है] और अनेक प्रकार के रोग होते हैं। परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त-व्यवहार अवश्य रखना चाहिये। पुरुष वीर्य की स्थिति, और स्त्री

उनकी उपेक्षा करने के उद्देश्य से ऋषि ने यह कथन किया है।

८. **ऋषिहस्तलेख**—''**डिगें नहीं.....स्नान करें**'' पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा स्वहस्त से लिखित है।

९. **ऋषिहस्तलेख व पाठग्रहण**—इस टिप्पणी को मुद्रणप्रति में ऋषि ने लिखा है। वहीं से मूलसं० में गृहीत है।

१. **मुद्रणप्रति में हुए महाभ्रष्ट पाठ की हास्यास्पद कहानी**—इस वाक्य का पाठ पहले द्विप्र० में, फिर अन्य द्वितीय सं० में अनेक प्रकार से भ्रष्ट होता गया है। यद्यपि द्वि०सं० (पंचम आवृत्ति) में इसको शुद्ध कर दिया गया था किन्तु बहुत-से प्रकाशकों ने आज तक सत्यार्थप्रकाश के पाठ को हास्यास्पद बनाये रखा है। मुद्रणहस्त० में लिपिकर ने मूलहस्त० से प्रतिलिपि करते हुए ''**गर्म करके**'' ठीक लिखा था। मुद्रणहस्त० के शोधक ने पता नहीं इसको क्या पढ़ा-समझा कि इन दोनों पदों के मध्य में '**त्रुटित चिह्न**' बनाकर ऊपर ''**स्थान**'' पद लिख दिया। मुद्रण के समय '**स्थान**' पद की संगति लगती न देखकर फिर किसी शोधक ने ''**स्थान**'' को '**स्नान**' और ''**गर्म**'' को ''**गर्भ**'' लिखकर ''**गर्भस्नान करके**'' महाभ्रष्ट वाक्यांश बना दिया। बाद के सम्पादकों ने, इन पदों की संगति न लगती देख तुक्के से '**गर्भस्थापन**' आदि अन्य भ्रष्टपाठ कर दिये किन्तु अर्थसंगति किसी की नहीं लगी। मूलहस्त० न देख पाने के कारण एक अच्छे-भले वाक्य का रूप उत्तरोत्तर विकृत होता गया।

संशोधन-पुष्टि—इसकी पुष्टि संस्कारविधि के पाठ से हो जाती है। देखिए—''**प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल, गर्म कर रखे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके पश्चात् पृथक्-पृथक् शयन करें।**'' (गर्भाधानसंस्कार) शुद्ध पाठग्रहण के पक्ष में संयोग से प्राप्त, इससे सबल प्रमाण अन्य नहीं हो सकता।

२. **मुद्रणकालीन व्यर्थ परिवर्तन**—दोनों हस्त० में अच्छा-भला पाठ था—''**प्रथम ही रक्खे हुए ठण्डे दूध को यथारुचि दोनों पीके**''। मुद्रणकाल में व्यर्थ ही इसको इस प्रकार बदल डाला—''**जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध है उसको....**''। इसी तरह महर्षि की भाषा में पाठभेद किये गये हैं।

३. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—''**विधि**'' पद के प्रयोग विषयक गत पृष्ठ पर टिप्पणी सं० ६ देखिए।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में शोधक ने भ्रान्ति से यह अपवाक्य बनाया है। मुद्रणहस्तलेख में '**न**' को हटाकर लिपिकर ने इस वाक्य का व्यर्थ परिवर्तन किया—''**ऐसा होने से सन्तान उत्तम और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है।**'' फिर शोधक ने ''**ऐसा न होने से**'' पाठ बना दिया किन्तु वह वाक्यान्त में दूसरा '**नहीं**' पद जोड़ना भूल गया। मूलप्रति सं० में वाक्य की संगति यह है कि ''**समागम न होना चाहिये**''। ''**ऐसा न होने से**'' अर्थात् इस निर्देश का पालन न करने से सन्तानें भी उत्तम नहीं होती, वीर्य व्यर्थ जाता, आयु घट जाती। यह महर्षिप्रोक्त वाक्य उनके अभिप्राय के अनुकूल था। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० के संशोधन से इस वाक्य का अर्थ बना—''**समागम न होना चाहिए**'' ''**ऐसा न होने से**'' अर्थात् निर्देश का पालन न करने से सन्तान उत्तम और पुनः दूसरी सन्तान भी वैसी होती है। इस प्रकार बिल्कुल विरुद्ध अर्थ बन गया। पाठभेद करने से जब संगति नहीं लगी तो फिर मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य को दो वाक्यों में तोड़ा, और अगले वाक्य से संगति बनाने के लिए नया ''**अन्यथा**'' पद जोड़ा। इस प्रकार भ्रान्तिपूर्ण थोड़ी-सी छेड़छाड़ से महर्षिप्रोक्त पाठ बिगड़ता गया। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में कोई-न-कोई अपपाठ है। महर्षिप्रोक्त मूलप्रति का पाठ शुद्ध एवं ग्राह्य है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा शैली-विरुद्ध परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**दोनों की आयु घट जाती**'' यह परिवर्तन किया है। मूलह० में ''**उमर घट जाती**'' सही प्रयोग था जिसे मूलसं० में ''**आयु घट जाता**'' ठीक संशोधित किया है। मुद्रणह० में यह ध्यान नहीं रखा कि महर्षि की प्रयोगशैली के अनुसार ''**आयु पुंल्लिग**'' है।

गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य स्वप्न में भी नष्ट न हो और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम रूप, लावण्य, पुष्टि, बल, पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेषत:[१] उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेषत:[२] आठवें महीने से आगे करनी चाहिये। गर्भवती स्त्री कभी रेचक, रूक्ष, मादकद्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे। किन्तु घी, दूध, उत्तम चावल, गेहूँ, मूंग, उर्द आदि अन्न-पान और देश-काल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे। गर्भ [काल][३] में दो संस्कार—एक चौथे महीने में '**पुंसवन**' और दूसरा आठवें महीने में '**सीमन्तोन्नयन**' विधि के अनुकूल करे।

जब सन्तान का जन्म हो, तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे। अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्यशुण्ठीपाक प्रथम ही बनवाकर रक्खे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन—बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बांध, चार अंगुल छोड़ के, ऊपर से काट डाले। उसको ऐसा बांधे कि जिससे शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल, जो कि किञ्चित् उष्ण रहा हो, उसी से स्त्री स्नान करे और बालक को भी स्नान करावे।[४] पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके उसके द्वार के भीतर सुगन्ध्यादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता '**वेदोऽसीति**' अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर सोने की शलाका से घी और सहत को लेके, सन्तान के जीभ पर '**ओ३म्**' अक्षर लिखकर, मधु और घृत को उसी शलाका से चटावे[५]। पश्चात् उसकी माता को दे देवे। **जो दूध पीना चाहे, तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता के दूध न हो, तो किसी और स्त्री की परीक्षा करके, उसका दूध पिलवावे।** पश्चात् दूसरी शुद्ध कोठरी वा कमरे में[६] कि जहाँ का वायु शुद्ध हो, उसमें सुगन्धित घी का होम प्रात: और सायं किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे। छ: दिन तक माता का दूध पीये[७] और स्त्री भी अपने शरीर की पुष्टि[८] के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे और योनिसंकोचादि भी करे।[९]

छठे दिन स्त्री बाहर निकले। और सन्तान को दूध पिलाने[१०] के लिये कोई धायी रक्खे। उसको

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमश: ''**विशेष**'' और ''**अतिविशेष**'' अपप्रयोग हैं। ये रक्षा के विशेषण नहीं हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और व अन्य सं० में '**काल**' पद त्रुटित है। इसके बिना अप-अर्थ प्रकट होता है।

४. **अस्तव्यस्त पाठक्रम**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में पाठक्रम अस्त-व्यस्त है। नाड़ी-छेदन के बाद स्नान का निर्देश होना उपयुक्त क्रम है। नाड़ी-छेदन से पूर्व स्नान संभव नहीं है। इसी आधार पर ''**जब सन्तान का जन्म हो**'' .....के बाद ''**तत्पश्चात् नाड़ी छेदन.....न जाने पावे**'' पाठ रखा गया है, जो ''**बालक को भी स्नान करावे**'' पाठ के बाद था। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर आदि सं० में अपक्रम है। **संशोधन-पुष्टि**—'**संस्कारविधि**' के प्रमाणसहित विस्तृत टिप्पणी पृ० ६० पर द्रष्टव्य है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चटवावे**'' अपपाठ है। यह पिता के हाथों करणीय कर्म है। सभी सं० में यह अप प्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—'**संस्कारविधि**' में ''**पिता.....थोड़ा-थोड़ा चटावे**'' पाठ है (पृ० ८१, जातकर्म संस्कार)।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं अपपाठ**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपपाठ है—''**दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहां का**''। '**कमरे में**' त्रुटित है। मुद्रणलिपिकर को '**कोठरी**' और '**कमरे**' के अन्तर का ही ज्ञान नहीं था, अत: 'कमरे' पाइ हटा दिया। जग, भद में संशोधित है, वेस में अर्धसंशोधित है। युमी, उदयपुर में अपपाठ है।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०,तीनों सं०, अन्य सभी सं० में ''**पिये**'' अशुद्ध वर्तनी है। शुद्ध वर्तनी पृ० ७८५/१ में देखिये।

८,१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० ओर तीनों सं० में यहां ''**शरीर के पुष्टि**'' और आगे ''**सन्तान के दूध पीने के लिये**'' अपपाठ है। यहां ''**सन्तान को दूध पिलाने के लिये**'' उपयुक्त पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में दोनों अपपाठ हैं।

९. **आयुर्वेद-शैली**—यह वर्णन आयुर्वेद शास्त्र का है, अत: उसी शैली में क्रियाओं व शब्दों का स्पष्ट प्रयोग है।

खान-पान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे और पालन भी करे। परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्ण दृष्टि रक्खे कि किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उसके पालन में न हो। स्त्री दूध बन्द[१] करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार खान-पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे। पश्चात् **'नामकरणादि संस्कार' 'संस्कारविधि'** की रीति से यथाकाल करता जाय। पश्चात् जब दूसरे महीने बाद रजस्वला हो, तब शुद्ध होने पर उसी प्रकार ऋतुदान देवे।[२]

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''बन्ध''** वर्तनी है। ग्रन्थ में बहुत्र **''बन्द''** का भी प्रयोग है। हिन्दी में इस अर्थ में **'बन्द'** स्वीकृत प्रयोग है। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए यही ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थ में **''बन्द''** (द्विप्र० ५०८), इस सं० में ९३१/४, ९६३/११ आदि शुद्ध प्रयोग हैं।

२. **मुद्रणसमय शोधक द्वारा परिवर्तित अपपाठ**—दोनों हस्तलेखों और मूलप्रति सं० में यही पाठ है जो इस संस्करण में है—**''पश्चात् जब दूसरे.....ऋतुदान देवे।''**। द्विप्र० में यह पाठ बदला गया है। यह परिवर्तन ऋषि दयानन्दकृत नहीं हो सकता, क्योंकि ऋषि अन्यत्र वर्णित अपने दर्जनों निर्देशों के विरुद्ध पाठ नहीं बदल सकते। ऋषि-निर्देशों के तालमेल का ज्ञान न रखनेवाले और ऋषि के पाठ की गम्भीरता को न समझनेवाले किसी शोधक ने मुद्रण के समय यह पाठ इस प्रकार बदला है—**''जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे।''** व्यावहारिक दृष्टि से यह पाठ सही प्रतीत होता है किन्तु ग्रन्थकार ऋषि के गणित के अनुसार महर्षिप्रोक्त पाठों से इसका तालमेल नहीं है। ऋषि का गणित यह है, और पीछे उन्होंने निर्देश दिया था—**'गर्भ स्थिति का निश्चय हो जाने पर एक वर्ष पर्यन्त स्त्री-पुरुष समागम कभी न करें'** (पृ० ६०/५, १७४/६०)। ऋषि ने समागम न करने की यहां एक अवधि निश्चित कर दी है। कुछ पंक्ति आगे ऋषि दशवें मास में बालक के जन्म का उपयुक्त समय घोषित करते हैं (१७५/२)। इस प्रकार दस मास गर्भावस्था तथा जन्मकाल में व्यतीत हो जाने के बाद एक वर्ष होने में दो मास शेष रह जाते हैं। उसी एक वर्ष के निर्देश के अनुसार यहां **''दूसरे महीने में''** पाठ है। वैसे यहां **'दो महीने बाद'** स्पष्ट पाठ होना चाहिए जिसकी पुष्टि **'संस्कारविधि'** के निम्न उद्धृत पाठ से हो जाती है। **''पश्चात्''** प्रयोग का भी यहां **'एक वर्ष बाद'** भाव है। यहां ऋषिप्रोक्त पाठ के गाम्भीर्य को प्रसंगगत निर्देशों से तालमेलपूर्वक समझने की आवश्यकता है, द्विप्र० में परिवर्तित पाठ का ऋषि के गणितीय वाक्यों से तालमेल नहीं है, क्योंकि यदि स्त्री पहले रजस्वला हो जाये तो भी उसको एक वर्ष तक समागम नहीं करना, सन्तान उत्पन्न नहीं करनी, यह ग्रन्थकार ऋषि का निर्देश है।

किसी शोधक के द्वारा किये गये द्विप्र० के उक्त पाठ-परिवर्तन के पक्ष में कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि स्त्री दूसरे महीने बाद रजस्वला हो, अत: यही पाठ ठीक है कि **''फिर जब रजस्वला हो''**। इसके उत्तर में भी कहा जा सकता है कि स्त्री एक वर्ष की अवधि से पूर्व भी रजस्वला हो सकती है। तब इस खुले निर्देश का ऋषि के अन्य निर्देशों से तालमेल नहीं बनता। यदि शोधक **''फिर जब रजस्वला हो''** संशोधन के द्वारा स्त्री-पुरुष को एक वर्ष की अवधि के पूर्व समागम अथवा सन्तानोत्पत्ति की छूट देना चाहते हों तो वह ग्रन्थकार को बिल्कुल स्वीकार नहीं है। ग्रन्थकार तो प्रत्येक स्थिति में **'एक वर्ष तक समागम न करने का'** निर्देश देते हैं। **''दूसरे महीने''** लिखने का यही अर्थ है कि यदि स्त्री पहले रजस्वला हो जाये तब भी दूसरे महीने से पूर्व समागम नहीं करना। यदि दूसरे महीने के बाद कभी रजस्वला होती है तो उस पर ऋतुकाल के बिना पहले समागम न करने का सामान्य आयुर्वेदीय निर्देश लागू होगा। यह सीमा स्त्री के स्वास्थ्य के लिए और उत्तम स्वस्थ सन्तान की प्राप्ति के लिए निर्धारित की है। पाठक इस पाठ को उसके साथ जोड़कर पढें—**''ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवति हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रखे। इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा उसके उत्तम सन्तान दीर्घायु... होंगे।''** (द्वि०समु० पृ० ६३/४) पाठक यहां **''दूसरे महीने''** पदों पर ध्यान दें। **पाठ-पुष्टि**—**'संस्कारविधि'** के पाठ को भी ध्यान से पढें—**''बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जायें तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे।''** बताइये, कहां-कहां से इस पाठ को हटायेंगे? यहां पाठकों को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नियम-निर्देश सामान्य जीवन वाले लोगों के लिए, सामान्य विधि के अनुसार वर्णित हुआ करते हैं, अपवादों के लिए नहीं।

आपत्ति—इस प्रकार द्विप्र० के पाठ पर भी यह आपत्ति आती है कि **यदि स्त्री पहले माह में रजस्वला हो जाये तथा बालक का जन्म दस मास से पूर्व हो जाये (जैसे सतमासा, अठमासा बालक) और उस स्थिति में यदि स्त्री पहले रजस्वला हो जाये तो क्या पहले भी ऋतुदान दिया जा सकता है?** यदि ऐसा मानेंगे तो ऋषि के **'एक वर्ष के समागम न करने'** के निर्देशों से विरोध उत्पन्न होगा। ऐसे निर्देश अनेक स्थलों पर हैं, देखिए—**''और जब गर्भवती स्त्री से एक वर्षपर्यन्त समागम न करने के समय में पुरुष से न रहा जाय''** (पृ० २२०/१५)। **''पुनः ऋतुदान का पूर्वोक्त समय न आवे तब तक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों।''** (पृ० ६०/५), **''पश्चात् एक वर्षपर्यन्त स्त्री पुरुष का संग न**

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा॥ मनु० [३।४५]

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥[१] मनु० [३।५०]

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, **वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है।**

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ १॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते॥ २॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥ ३॥ मनु० [३।६०-६२]

जिस कुल में भार्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहाँ कलह होता है, वहाँ दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है॥ १॥

जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती, तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता॥ २॥

[२]स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता है और उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात्[३] दुःखदायक हो जाता है॥ ३॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ १॥

करे।'' (पृ० ६०/९) इसी प्रकरण में पहले अत्यन्त स्पष्ट निर्देश देखिए—''**गर्भस्थिति का निश्चय हो जाय, तब से एक वर्ष पर्यन्त स्त्री-पुरुष का समागम कभी न होना चाहिए; क्योंकि ऐसा न होने से सन्तान उत्तम और दूसरा सन्तान भी श्रेष्ठ नहीं होता....**'' (पृ० १७४/६)। यह विरोध अधिक आपत्तिजनक है। उपर्युक्त पाठ में तो आपत्ति का परिहार सामान्य नियमों के अनुसार यों हो जाता है कि दूसरे मास रजस्वला होने पर ऋतुदान दे, और यदि स्त्री सामान्य जीवनचर्या के अनुसार रजस्वला नहीं होती है तो ऋतुदान देना स्वतः ही निषिद्ध रहेगा। फिर पुरुष पर भी ऋतुदान का वह सामान्य निर्देश लागू होगा कि '**ऋतुकाल में ही ऋतुदान करे**'।

तर्काभास—संशोधित पाठ के पक्षधरों का यहां ऐसा तर्काभास है, जैसे ऋषि के वाक्य ''**बालक का...दशमें महीने में जन्म होवे**'' (पृ० १७५/२) पर कोई यह कहे कि यहां '**दशमे**' नहीं लिखना चाहिए, क्योंकि आवश्यक नहीं कि सबका जन्म दशमे महीने में ही हो। किसी का सातवें, आठवें, नौवें में भी होता है। तो क्या इस तर्क के आधार पर इस पाठ को भी बदल दें? सर्वत्र एक सामान्य नियम होता है जिसका निर्देश किया जाता है। इस प्रकार ऋषिप्रोक्त पाठ में एक संगतियुक्त गाम्भीर्य है जिसको शोधक समझ नहीं पाया। यहां मूलहस्त० का संशोधित महर्षिप्रोक्त पाठ ही अधिक संगत और ग्राह्य है। सभी द्वितीय संस्करणों, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में अपसंशोधन है।

१. **ऋषिहस्तलेख**—मनुस्मृति के श्लोक की यह पंक्ति मुद्रणह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

२. **अनावश्यक प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जिस**'' पद पठित है जो श्लोकार्थ और वाक्यरचना की दृष्टि से अनावश्यक है। उससे अप-अर्थ भी प्रकट होता है कि जिसकी प्रसन्नता से कुल प्रसन्न होता है, उसी की ही अप्रसन्नता से अप्रसन्न होता है। ''स्त्री''-मात्र प्रयोग ही सही है।

३. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्त० में एक जैसा पाठ है। ''**अप्रसन्न अर्थात्**'' पद मुद्रणकाल में जोड़े गये हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥ २॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥ ३॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामै[१]र्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ४॥ मनु० [३।५५-५७,५९]

पिता, भाई, पति और देवर इनको सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें, जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो, वे ऐसा करें॥ १॥

जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें विद्यायुक्त सन्तान[२] होके, देवसंज्ञा धराके, आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रियायें[३] निष्फल हो जाती हैं॥ २॥

जिस घर वा कुल में स्त्रियां[४] शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्रियां[५] आनन्द, उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है॥ ३॥

इसलिये ऐश्वर्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समयों में भूषण, वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें॥ ४॥

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूजा' का अर्थ सत्कार है और दिन-रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक 'नमस्ते' एक दूसरे को करें।[६]

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ मनु० [५।१५०]

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त [रहै][७], सब पदार्थों का उत्तम संस्कार और घर की शुद्धि [रक्खे],[८] और व्यय में अत्यन्त उदार सदा न [रहै][९] अर्थात् सब चीजें

---

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणसमय द्विप्र० में "**पूतिकामैः**" अपपाठ है। द्वि०सं० तथा अन्य सब संस्करणों में संशोधित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**पुरुष**" पद का प्रयोग है। यहां "**सन्तान**" पाठ अधिक संगत तथा उपयुक्त है। "**होके देवसंज्ञा.....करते हैं**" मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्रिया**" एकवचनान्त अपप्रयोग है। "**सब**" के सम्बन्ध से बहुवचन होगा।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर "**स्त्री लोग**" अपप्रयोग है। यह हिन्दी का प्रयोग नहीं है। दोनों स्थानों पर आगे स्त्रीलिंग क्रिया का प्रयोग है उनके सम्बन्ध से भी यहां '**स्त्रियां**' प्रयोग अभीष्ट है। सभी में वही प्रयोग है।

६. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—"**और दिन-रात में.....दूसरे को करें**" पाठ मूलहस्तलेख में नहीं है। यह मुद्रणप्रति ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है।

७-९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह क्रियारहित पाठ मिलता है—"**स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त, सब पदार्थों के उत्तम संस्कार, घर की शुद्धि और व्यय में अत्यन्त उदार सदा न रहै।**" यहां प्रत्येक वाक्यखण्ड के साथ क्रमशः "**रहै**", '**रक्खे**' क्रियाएं त्रुटित होने से इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। मुद्रणलिपिकर ने "**अत्यन्त उदार रहै**" पाठ-परिवर्तन करते हुए '**सदा**' और '**न**' पद हटा दिये जिससे श्लोक की भाषा

पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे वा बनवावे जो औषधरूप होकर घर, शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवें[१]। जो-जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके, पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे। घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः[२] शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ मनु० [२।२४०]

उत्तम स्त्री[३], नाना प्रकार के रत्न, विद्या, धर्म,[४] पवित्रता, श्रेष्ठभाषण और नाना प्रकार की '**शिल्पविद्या**' अर्थात् कारीगरी, सब मनुष्य,[५] सब देशों[६] और सब मनुष्यों से ग्रहण करें।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥१॥

की दृष्टि से अर्थ अशुद्ध हो गया। वही अप-अर्थ द्विप्र० में है। मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। भद में अपपाठ है; वेस, जग, युमी, उदयपुर सं० अर्ध संशोधित है। **पाठपुष्टि**—मूलह० के "**उदार सदा न रहै**" की पुष्टि '**संस्कारविधि**' से होती है—"**जितना नित्य धन आदि लगे उसके यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहै।**"

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ-परिवर्तन और अपसंशोधन**—मूलह०, मुद्रणप्रति, द्वि०सं० में इस वाक्य में परिवर्तन करके यहां से "**बनवाने**" और "**घर**" पदों को हटा दिया है। यह इस प्रकार हुआ कि मुद्रणप्रतिलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय "**औषधरूप होकर रोग को न आने दे।**" त्रुटित पाठ लिखा। इसको त्रुटित जानकर अनुमान से महर्षि ने संशोधन के समय अपने हाथ से दो पद जोड़े—"**शरीर वा आत्मा में**"। इस प्रकार मूलहस्त० के पाठ में अंकित "**घर**" पद रह गया। वही त्रुटित पाठ द्वि० सं० में छपता आ रहा है। अब इस कामचलाऊ पाठ को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है, जबकि ऐसे चिन्तकों की सोच उचित नहीं है। यहां "**घर**" पद आवश्यक है। इसकी संगति संस्कृत के "**सुसंस्कृतोपस्करया**" और हिन्दी-अनुवाद के वाक्यों "**सब पदार्थों के उत्तम संस्कार**" और "**सब चीजें पवित्र**" से है। "**अर्थात् सब चीजें पवित्र**" वाक्यखण्ड की क्रियाएं भी "**बनावे वा बनवावे**" हैं, अन्यथा वाक्य का अर्थ ही नहीं बनेगा। इसी वाक्यखण्ड से "**घर**" पद की संगति है और "**पाक**" से "**शरीर और आत्मा के रोग**" की संगति है। इसका अर्थ बनेगा—"**घर की सब चीजें पवित्र इस प्रकार बनावे वा बनवावे जो घर में रोग को न आने देवे।**" अर्थात् घर की निर्माणशैली व अशुद्धि रोगों का कारण न बने। इस वाक्य से "**बनवावे**" क्रिया को हटाने से भी वाक्य के पाठ में भ्रान्ति हुई है। **संशोधन-पुष्टि**—इस श्लोकार्थ में "**घर**" पद विचारपूर्वक महर्षि ने रखा था। उसका भाव यह है कि घर को स्वच्छ रखना-रखाना पत्नी का दायित्व है जिससे रोगाणु प्रवेश न करें। महर्षि की यही शब्दावली अन्यत्र देखिए—"**घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना-कराना.....जिससे घर में रोग कभी न आवे....**" (समु० ३, पृ० १४३/३)। इसी प्रकार "**बनवाना**" देखिए, तृ०समु० पृ० १४३/५ पर भी यही निर्देश है—"**वैसे स्त्रियों को.....शिल्पविद्या के बिना घर का बनवाना.....**" आदि। अतः मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ-परिवर्तन ऋषि के अनुकूल उचित नहीं है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में त्रुटित पाठ है। उदयपुर में संशोधित अर्थ है।

२,४. **पाठ-संशोधन**—मनुस्मृति के सभी पाठों में यहां "**सत्यम्**" के स्थान पर "**धर्मः**" पाठ ही मिलता है। तीनों सं० में वही यहां ग्राह्य है, क्योंकि 'धर्म' शब्द अधिक विशेष और व्यापकार्थक है 'सत्य' का अन्तर्भाव 'धर्म' में स्वतः हो जाता है। सब मनुष्यों के लिए धर्माचरण का विधायक होने से यह अनेक शंकाओं-जिज्ञासों का निवारण भी करता है, और उन्हें निर्मूल भी कर देता है। यह पाठ किसी भी स्थिति में त्यक्तव्य नहीं है। शायद, किसी ने जानकर 'धर्म' शब्द को श्लोक से हटाया है।

३. **उत्तम स्त्री को ग्रहण करना**—यहां यह आपत्ति प्रतीत होती है कि जब किसी भी कुल से उत्तम स्त्री का ग्रहण किया जा सकता है तो स्त्रियों की वर्णव्यवस्था व्यर्थ है? इसका उत्तर यह है कि जहां से, जिस भी उत्तम स्त्री का ग्रहण किया जाये वह गुण-कर्म-योग्यता की दृष्टि से ग्रहणकर्त्ता के अनुरूप होनी चाहिए अथवा अनुरूप होने की योग्यता रखती हो। जैसे—शिक्षित व्यक्ति, शिक्षित पत्नी को ही ग्रहण करेगा, अशिक्षित को नहीं। वर्णव्यवस्था के मूल नियम का आधार इस अवस्था में भी लागू रहेगा।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**सब मनुष्य**" त्रुटित रहने से कर्त्ताहीन अपूर्ण वाक्य रह गया है। मूलह० में यहाँ "**सब मनुष्य**" महत्त्वपूर्ण और व्यापकार्थक प्रयोग है। इससे सबको "**विद्या**" और "**धर्म**" का अधिकार दिया जा रहा है। शायद इसको जानकर निकाला है। वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में आज भी यह पाठ त्रुटित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० "**देश**" एकवचनान्त अपप्रयोग है।

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह॥ २॥ मनु० [४।१३८-१३९]

सदा प्रिय सत्य, दूसरे का हितकारक बोले, अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा[१] न बोले, अनृत अर्थात् झूठ[२] दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ, न बोले॥ १॥

सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे। जो-जो दूसरे का हितकारक हो, और [चाहे वह][३] बुरा भी माने, तथापि कहे विना न रहै। शुष्कवैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे॥ २॥

पुरुषा बहवो राजन्[४] सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनीति [अ० ३७। श्लोक १५]

विदुर जी कहते हैं कि[५] हे 'धृतराष्ट्र! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलनेवाले खुशामदी लोग[६] बहुत हैं, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करनेवाला वचन हो, उसको कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है।' क्योंकि **सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता वा कहनेवाला नहीं[७] कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर, गुणी नहीं होता।**

कभी किसी की निन्दा न करे। जैसे—'**गुणेषु दोषारोपणमसूया**' और[८] '**दोषेषु गुणारोपणमसूया**', '**गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः**'=गुणों में दोष और दोषों में गुण लगाना '**निन्दा**', और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना '**स्तुति**' कहाती है। अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम '**निन्दा**'

---

१. **गुजराती प्रयोग**—'**काणा**', '**काणे**' ये गुजराती भाषा के प्रयोग हैं। हिन्दी में '**काना**' प्रयुक्त होता है।

२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित पाठ ''**अनृत अर्थात् झूठ**'' ठीक होने से ग्राह्य है। दोनों हस्तलेखों में ''**झूठ अर्थात् दूसरे को**'' पाठ त्रुटित व स्थानभ्रष्ट पाठ है। मुद्रणह० में ''**झूंठा**'' अधिक भ्रष्ट है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—वाक्यरचना और स्पष्टार्थ के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ दोनों सं० में आवश्यक है।

४. **पाठान्तर**—गीताप्रेस के महाभारत में इसके प्रथम चरण के स्थान पर ''**सुलभाः पुरुषाः राजन्**'' पाठ प्राप्त है। मूलतः यह श्लोक वाल्मीकि-रामायण का है। यही पाठ वाल्मीकि-रामायण अरण्य० ३७.२ तथा युद्ध० १६.२१ में प्राप्त है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**विदुर जी कहते हैं कि**'' पाठ त्रुटित रह गया है। यह लिपिकर के प्रमाद से मुद्रणहस्त० में छूट गया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

६. **मुद्रणकाल में अप-अनुवाद**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में ''**खुशामदी लोग**'' के स्थान पर ''**प्रशंसक लोग**'' अनुवाद किया है। यह अशुद्ध अनुवाद है। '**खुशामदी**' का '**प्रशंसक**' अर्थ नहीं होता। यहां मूलप्रति सं० का यही पद ठीक है अथवा ''**चाटुकार**'' उपयुक्त पर्याय होगा। वेस, भद,जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अप-अनुवाद है।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर प्रमादवश यह पाठ छोड़ गया—''**सुनता वा कहनेवाला नहीं**''। मूलह० मूलसं० में है। द्विप्र०, परोप० ३-३३, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में त्रुटित है। परोप० ३४, उदयपुर सं० में गृहीत है।

८. **श्रवणभ्रान्ति से अपपद**—दोनों हस्त०; तीनों सं० और सभी अन्य सं० में यहां ''**अर्थात्**'' पद अनावश्यक है। शायद, श्रवणभ्रान्ति से ''**और**'' के स्थान पर मूललिपिकर ने ''**अर्थात्**'' लिख दिया। हिन्दी में स्पष्टतः ''**और**'' प्रयोग है।

और सत्यभाषण का नाम '**स्तुति**'[१] है।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ १॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ २॥ मनु० [४।१९-२०]

जो बुद्धि, धन और हित की शीघ्र वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं, उनको नित्य सुनें और सुनावें। जो[२] ब्रह्मचर्याश्रम में पढ़े हों, उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें॥ १॥

क्योंकि मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्रों को यथावत् जानता है, वैसे-वैसे उसका विज्ञान बढ़ता जाता है और उसी में रुचि भी बढ़ती रहती है॥ २॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ १॥[३] [मनु० ४।२१]
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ २॥[४] मनु० [३।७०]
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ ३॥[५] मनु० [३।८१]

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य में लिख आये, वे[६] अर्थात् **एक** [**ऋषियज्ञ=ब्रह्मयज्ञ**][७]—वेदादि-शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास।

दूसरा देवयज्ञ—विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति [और अग्निहोत्र][८] करना है। ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं।[९]

---

१. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने इस शब्द की "**स्तुती**" अपवर्तनी लिखी है जबकि एक पंक्ति पूर्व "**स्तुति**" शुद्ध है। 'मक्खीमार' मुद्रणलिपिकर को क्या इतनी भी सुध नहीं थी कि इसको शुद्ध करके लिखे? अब सभी सं० में संशोधित है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**जो**' पद त्रुटित है। अग्रिम '**उनको**' प्रयोग के सम्बन्ध से आवश्यक है।

३-५. **श्लोकार्थ**—'ऋषियज्ञ=सन्ध्योपासना, देवयज्ञ=अग्निहोत्र, भूतयज्ञ=बलिवैश्वदेव, नृयज्ञ=अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ=पितरों की सेवा, इन पांच यज्ञों को यथाशक्ति कदापि न छोड़े॥ १॥ वेदों के अध्ययन-अध्यापन और परमात्म-आत्मचिन्तन को 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं, जीवित माता-पिता आदि पितरों की श्रद्धा से सेवा-शुश्रूषा को 'पितृयज्ञ', अग्निहोत्र को 'देवयज्ञ' बलिवैश्वदेव को 'भूतयज्ञ' और अतिथि-सत्कार को 'नृयज्ञ' कहते हैं॥ २॥ वेदों के स्वाध्याय=अध्ययन-अध्यापन से ऋषियों का सत्कार करे अर्थात् उनके प्रति सम्मान-कृतज्ञता व्यक्त करे, अग्निहोत्र से देवपूजा करे अर्थात् दैवी पदार्थों को शुद्ध-एवं उनका गुणवर्धन करे, पितरों=जीवित माता-पिता, दादा-दादी आदि वयोवृद्धों का श्रद्धापूर्वक दिये पदार्थों और वचनों से सत्कार करे, अतिथियों का भोजन आदि देकर सत्कार करे, मनुष्येतर प्राणियों का बलि='अपने भोजन से निकाला हुआ भाग' देकर सत्कार=अनुकम्पा करे।'

६. **अप-संशोधन**—द्वि०सं० में "**लिख आये थे**" अपप्रयोग है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है।

७-८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। इनके बिना वाक्य ही नहीं बनता, न कथ्य पूर्ण होता है, न अर्थ स्पष्ट होता है।

९. **अपपाठ तथा संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में "**ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करना होता है**" अपवाक्य है। द्विप्र० में भी

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य[१] दाता॥ १॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य[२] दाता॥ २॥

अथर्व० कां० १९। अनु० ७। मं० ३, ४॥ [१९।५५।३-४]

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत। [तुलना—षड्विंश ब्राह्मण प्रपा० ४ खं० ५]
उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्॥ ३॥ ब्राह्मण [तैत्ति० आ०, प्रपा० २। अनु० २]॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ ४॥ मनु० [२।१०३]

जो सन्ध्या-सन्ध्या-काल में होम होता है, वह हुत द्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है॥ १॥

जो अग्नि में प्रातः-प्रातः-काल में होम किया जाता है, वह हुत-द्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु की शुद्धि[३] द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्यकारक होता है॥ २॥[४]

इसलिये दिन और रात्रि के सन्धिकालों[५] में अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त के[६] समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये॥ ३॥

और जो ये दोनों काम सायं और प्रातःकाल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उसको शूद्रवत् समझें॥ ४॥

प्रश्न—त्रिकाल-सन्ध्या क्यों नहीं करनी [चाहिये] ?[७]

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती, प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेलाओं[८] में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या करना माने, वह मध्यरात्रि में भी क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे, तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण की सन्धि में सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा [करना][९] भी चाहे, तो हो ही नहीं सकता। और किसी शास्त्र का मध्याह्न-सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिये दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करने

''**करना होते हैं**'' अपपाठ है। द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित कर लिया है।

१-२. **अप-उद्धरण पाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में दोनों स्थानों में मन्त्र में ''**सौमनस्य**'' अपपाठ है। द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० में भी संशोधित कर लिये हैं।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं०, भद, युमी, विस, उदयपुर में ''**वायु के शुद्धि द्वारा**'' अपपाठ है। वेस, जग में संशोधित है।

४. **उचित संशोधन और पाठग्रहण**—मूलह० में १-२ श्लोकों का मिश्रित अर्थ है। मुद्रणह० में पृथक्-पृथक् और स्पष्ट अर्थ किया गया है। मूलप्रति सं० में वहीं से यह पाठग्रहण किया हुआ है। वही ग्राह्य है।

५-६. **अपपाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त समय में**'' अपपाठ है। यहां ''**सन्धि कालों**'' पाठ आवश्यक है, क्योंकि दो सन्धिकाल हैं। सभी सं० में ''**सन्धि कालों**'' प्रयोग अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—पूर्ण पाठ है—''**दोनों सन्धि वेलाओं में अर्थात् सूर्योदय के पश्चात्...**'' (८९/१)

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना**'' अपवाक्य है। सभी सं० में यही अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—कर्त्ता के अनुसार शुद्ध क्रिया-प्रयोग द्रष्टव्य है—''**उपासना करनी योग्य है**'' (पृ० २६/७)।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वेला**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है। ''**वेलाओं**'' बहुवचन अभीष्ट है।

९. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**करना**' क्रिया का परिवर्धन आवश्यक है।

चाहियें[१], तीसरे काल में नहीं। और जो तीन काल होते हैं, वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं, सन्धियों के भेद से नहीं।[२]

तीसरा 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें **देव**=जो विद्वान्, **ऋषि**=जो पढ़ने-पढ़ानेहारे, **पितर**= जो माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानियों[३] और परम योगियों की सेवा करनी [होती है][४]। पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक '**श्राद्ध**' और दूसरा '**तर्पण**'। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है, '**श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्**'=जिससे सत्य का ग्रहण किया जाय, उसको 'श्रद्धा' और जो-जो श्रद्धा से सेवारूप कर्म किये जायें, उनका नाम '**श्राद्ध**' है[५]। '**तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्**'=जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान मातादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें, उसका नाम '**तर्पण**' [है], परन्तु **यह कर्म जीवितों के लिये है, मृतकों के लिये नहीं।**[६]

[अथ देवतर्पणम्][७]

प्रश्न—इस कर्म में किस-किस की सेवा करनी चाहिये?

उत्तर— ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम्। ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम्। इति देवतर्पणम्।

'विद्वाꣳसो हि देवाः' यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है [३।५।६।१०]।

जो विद्वान् हैं, उन्हीं को '**देव**' कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जानने वाले हों, उनका नाम '**ब्रह्मा**', और जो उनसे न्यून पढ़े[८] हों उनका नाम '**देव**' अर्थात् विद्वान् है; उनके सदृश विदुषी उनकी स्त्री '**ब्रह्माणी**'[९] और[१०] '**देवी**', उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, जो उनकी सेवा करना है, उसका नाम '**श्राद्ध**' और '**तर्पण**' है।

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में उपर्युक्त पाठ के स्थान पर "**दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है**" पाठान्तर किया है। इससे अच्छा वाक्य मूलप्रति में है, अतः परिवर्तन व्यर्थ है।

२. **उपयुक्त सुझाव—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का यह विचार सही है कि यहां सभी सं० में '**सन्ध्योपासन**' पाठ की अपेक्षा '**सन्धियों के भेद से**' पाठ अधिक संगत है, क्योंकि ऊपर त्रिकाल की चर्चा सन्धियों के आधार पर है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में "**ज्ञानी**" एकवचनान्त अपप्रयोग है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और सभी सं० में '**होती है**' क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्य ही पूर्ण नहीं होता है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा सिद्धान्तविरुद्ध परिवर्तन**—मूलह० के उपर्युक्त शुद्ध व पूर्ण पाठ में मुद्रणलिपिकर ने "सेवा रूप कर्म" पाठ हटाकर "क्रिया कर्म" सिद्धान्तविरोधी मृतपितर सम्बन्धी पद जोड़े हैं—"**जो-जो श्रद्धारूप क्रिया कर्म किये जायं उसका नाम श्राद्ध है।**" द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में इसको अपूर्ण शुद्ध किया है—"**जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम श्राद्ध है**", "**सेवारूप**" महत्त्वपूर्ण पद छोड़ दिया। वेस, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर में अपूर्ण पाठ है।

६. **माता-पिता के वन जाने पर पितृयज्ञ का अनुष्ठान कैसे होगा?**—यहां यह जिज्ञासा प्रकट की जाती है। इसका उत्तर यह है कि माता-पिता, दादी-दादा आदि के साथ-साथ चाची-चाचा आदि बड़े सन्बन्धी, विद्वान्, आचार्य, अध्यापक, उपदेशक, ज्ञानी वयोवृद्धजन, बन्धु-बान्धव आदि भी '**पितर वर्ग**' के अन्तर्गत आते हैं। (पृष्ठ १८४-१८६ पर पितरों का विवरण द्रष्टव्य है) उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, उनको दान आदि देकर प्रसन्न करना भी पितृयज्ञ होता है। अतः माता-पिता के वानप्रस्थ बनकर वन में चले जाने पर पितृयज्ञ के अनुष्ठान में बाधा नहीं आती। पितृयज्ञ का क्षेत्र अति विस्तृत है।

७. **त्रुटित आवश्यक शीर्षक**—ऋषि और पितृ-तर्पण की शैली के अनुसार, एकरूपता की दृष्टि से यह शीर्षक अपेक्षित है।

८. **मुद्रणकालीन पाठत्रुटि**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**पढ़े**" क्रिया त्रुटित है। अन्य सभी सं० में गृहीत है।

९-१०. **मुद्रणकालीन अशुद्धि व अपपाठ**—दोनों हस्त० और दोनों सं० में यहां शुद्ध प्रयोग "**ब्रह्माणी**" है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**ब्राह्मणी**" अशुद्ध छपा है। जग में अशुद्ध है; द्वि०सं० में संशोधित है। वेस, भद में "**और**" पद त्रुटित है।

अथर्षितर्पणम्

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्।
मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम्॥
इति ऋषितर्पणम्।

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियाँ कन्याओं को विद्यादान देवें, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान उनके सेवक हों, उनका सेवन-सत्कार करना '**ऋषितर्पण**' है।

अथ पितृतर्पणम्

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्। अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्। बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्। सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्। हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्। आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्।[सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम्।][१] यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि। पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि। पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि। [प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि।][२] मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि। पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि।[प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि।][३] स्वपत्न्यै स्वधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि। सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि। सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्राँस्तर्पयामि॥ इति पितृतर्पणम्॥

[यजुः अ० १९॥ मनु० अ० ३ के आधार पर ऊहित॥]

(सोमसदः) '**ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः**'=जो परमात्मा और '**पदार्थ-विद्या**' में निपुण हों, वे 'सोमसद्'[४]। '**यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः**'=जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों, वे 'अग्निष्वात्त'[५]। '**ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः**'=जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों, वे 'बर्हिषद्'[६]। '**ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः**'=जो ऐश्वर्य के रक्षक और महौषधि रस का पान करने से रोगरहित और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक [और][७] औषधों को देके रोगनाशक हों, वे 'सोमपा'। '**ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः**'=जो मादक, हिंसाजनित[८] द्रव्यों को छोड़के, [अग्निहोत्र से अन्न-जल आदि की शुद्धि करके][९] भोजन करने-करानेहारे हों, वे 'हविर्भुज्'। '**य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं**

१-३. **त्रुटित उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० तथा द्वितीय सं० में कोष्ठकान्तर्गत उपर्युक्त तीन उद्धरण-वाक्य त्रुटित हैं। ये मूलप्रति सं० में गृहीत हैं। इन पाठों को ग्रहण करना इस कारण आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी में इनका अनुवाद है। द्वि० सं० में यह पाठ अभी भी त्रुटित चला आ रहा है जबकि मूलप्रति सं० में इसका परिवर्धन कर लिया गया है। अन्य सभी सं० में गृहीत हैं।

४-५. **त्रुटित अनुवाद**—मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में हिन्दी-अनुवाद में '**वे सोमसद्**', '**वे अग्निष्वात्त**', पद त्रुटित हैं। द्विप्र०, द्वि०सं० में ग्रहण कर लिये गये हैं। अन्य सभी सं० में भी गृहीत हैं।

६. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**वे बर्हिषद्**' पद त्रुटित हैं, द्विप्र०, द्वि०सं० में गृहीत हैं।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' पद त्रुटित है। यह परिवर्धन आवश्यक है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**हिंसाकारक**'' अपप्रयोग है, यहां ''**हिंसाजनित**'' पद सार्थक और महर्षि के अभिप्राय के अनुकूल है। अन्य सभी संस्करणों में भी अपप्रयोग है।

९ **त्रुटित अनुवाद**—इस त्रुटित अर्थ की पूर्ति के लिए द्रष्टव्य है ग्रन्थकारकृत 'पंचमहायज्ञविधि' में पितृयज्ञ विषय।

रक्षन्ति वा पिबन्ति ते'=जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक और घृत-दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों, वे 'आज्यपा'। '**शोभनः कालो विद्यते येषान्ते सुकालिनः**':=जिनका धर्म के करने का अच्छा और सुखरूप समय हो,[१] वे 'सुकालिन्'।[२] '**ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः**'=जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे हों, न्यायकारी हों, वे 'यम'[३]। '**यः पाति सः पिता**'=जो सन्तानों

---

१. **सिद्धान्तविरुद्ध और स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो।**'' धर्म तो सदा अच्छा ही होता है। उसके साथ ''**अच्छा**'' विशेषण निरर्थक और भ्रामक है। वस्तुतः यहां ''**अच्छा**'' विशेषण अस्थान में है। हिन्दी लिखते समय लिपिकर से यह आगे-पीछे लिखा गया है। पाठक ध्यान दें, संस्कृत-पाठ में यह ''**काल**'' पद से पूर्व है और उसका ही विशेषण है, अतः हिन्दी-अनुवाद में भी यह ''**समय**'' पद का विशेषण बनेगा—''**अच्छा और सुखरूप समय हो।**'' ऐसा संशोधन न करने पर समग्र शास्त्रपरम्परा और महर्षि दयानन्द से सिद्धान्तविरोध उपस्थित होता है कि 'धर्म भी अच्छा-बुरा होता है', जबकि धर्म तो सदा-सर्वदा अच्छा ही होता है। शास्त्रों व महर्षि का यह भी स्पष्ट मन्तव्य है कि ''**धर्म-अधर्म एक ही होता है, दो प्रकार का नहीं**'' (समु० ११, पृ० ७०७/९), अनेक तो मत-मतान्तर होते हैं। इस आधार पर इस सं० का संशोधन अवश्य ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है।

संशोधन-पुष्टि—मैं अपने संशोधन की पुष्टि में महर्षि का एक कथन उद्धृत कर रहा हूं जहां '**सुकालिन्**' के निर्वचन में ''**शोभन**'' या ''**सुखरूप**'' को संस्कृत और हिन्दी में काल का विशेषण लिखा और माना है—''**ईश्वरोपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते**''=**मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय (हो)....., उनको 'सुकालिन्' कहते हैं**'' (पंचमहायज्ञविधि, पितृयज्ञ विषय)। संशोधन की पुष्टि में इससे प्रबल प्रमाण कोई अन्य नहीं हो सकता। अब किसी का दुराग्रह और कुतर्क करने का अवसर नहीं रह जाता।

उदयपुर सं० का सिद्धान्तविरुद्ध एवं परस्परविरुद्ध उत्तर—एक लेख में, उदयपुर संस्करण में प्राप्त इस वाक्य के असंशोधित रूप की चर्चा के उत्तर में एक ही सम्पादक समिति के चार लेखकों ने **सिद्धान्तविरुद्ध, अनर्गल** और **परस्परविरुद्ध** उत्तर दिये हैं। **पहले लेखक** ने लिखा कि '**यह तो ऋषि पर आक्षेप है और आपका साहस दयानन्द को मूर्ख बतला रहा है।**' यदि यही बात है तो यह लेखक स्वयं याद करलें कि उन्होंने घोषित ८२५ से अधिक संशोधन करके **यह काम मुझसे पूर्व और अधिक संख्या में किया है।** उलटा चोर कोतवाल को दण्डे? आपने, महर्षि को 'संशोधन से बचाने' और 'मूर्ख बतलाने' से बचने के लिए दूसरे संस्करण को ही यथावत् क्यों नहीं प्रकाशित कर दिया? **दूसरे लेखक** ने लिखा है कि ''अच्छा'' के बाद अल्पविराम आना चाहिए। यद्यपि इस संशोधन से बात नहीं बनेगी, तथापि इन्होंने त्रुटि को समझा है। **तीसरे लेखक** ने तालिका देकर यह दिखाया है कि सभी सम्पादकों ने यही पाठ माना है। यह आधार या प्रतिज्ञा उदयपुर सं० में स्वीकृत ही नहीं है, अतः यह उचित उत्तर नहीं बनता। दूसरे स्थान पर इसने कुछ त्रुटि अनुभव की और लिखा कि विद्वत्-समिति इस पर विचार करेगी। **चौथे लेखक** ने भी इस त्रुटि को अनुभव किया किन्तु अपने अहंकार की तुष्टि के लिए अशुद्ध पाठ भी मान लिया और असभ्यतापूर्वक मुझे गाली-प्रदान करते हुए अपेक्षित शुद्ध पाठ भी मान लिया है। यह लेखक अपने लेख में मुझ पर आरोप लगा रहा है कि मुझे ''साधारण आर्यभाषा (हिन्दी) भी नहीं आती।'' किन्तु इस अज्ञानी लेखक को तो मेरी ही भाषा समझ में नहीं आई। आगे यह धृष्टतापूर्वक लिखता है कि मुझे ''लिखने की तमीज़ नहीं है''। मैं समझता हूं कि या तो इसको 'तमीज़' शब्द का अर्थ ही नहीं आता, अथवा केवल गाली देने के लिए जानबूझकर इस असभ्य शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द तब प्रयुक्त होता है जब किसी ने असभ्य प्रयोग किया हो, शुद्ध-अशुद्ध शब्द के लिए यह प्रयुक्त नहीं होता। मेरी भाषा में न तो कोई असभ्य शब्द है और न कोई अशुद्ध शब्द। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इस गालीदाता लेखक को न तो भाषा की समझ है और न सभ्यता अर्थात् तमीज़ की। अब पाठक स्वयं समझ लें कि 'बदतमीज' कौन है। पाठक इस बात पर भी गौर करें कि जिस 'विद्वत् समिति' और 'उदयपुर न्यास' ने इस लेख को बड़े गौरव और गर्व के साथ वितरित किया है, उसकी भी मानसिकता कैसी होगी? आर्य लेखकों और आर्य संस्थाओं का क्या यही स्तर रह गया? यही विद्वान् मंचों से सभ्यता के बड़े-बड़े उपदेश देते हुए मिलते हैं।

अब मैंने, महर्षि का पाठ प्रमाणरूप में ढूंढकर सामने लाकर रख दिया है। अब वे निर्णय कर लें कि उनको क्या अब महर्षि की भी निन्दा करनी है और महर्षि को भी भाषाज्ञान से हीन कहना है? क्योंकि बिना निन्दा और अपशब्दों के उदयपुर न्यास की 'विद्वत्-समिति' का कोई लेख पूरा ही नहीं होता। मूलप्रति के महर्षिप्रोक्त पाठों की भी इन्होंने खूब निन्दा की है।

इस विवरण-विवेचन से यह भी सिद्ध हो रहा है कि उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादक उत्तर में एकमत या विमत नहीं हैं, अतः यह दश विद्वानों का सम्पादन भी नहीं है। दश विद्वानों का नाम झूठ ही लिखकर न्यास ने पाठकों को मूर्ख बनाया है।

२-४. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में, हिन्दी-अनुवाद में ये पद त्रुटित हैं—'**वे सुकालिन्**', '**वे यम**', '**वह पिता**', '**वह माता**'। मुद्रणसमय में द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित हैं। अन्य सभी सं० में गृहीत हैं।

का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो, वह 'पिता'। '**पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः**'=जो पिता का पिता हो, वह 'पितामह' और जो पितामह का पिता हो, वह 'प्रपितामह'। '**या मानयति सा माता**'=जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह 'माता'।[४] '**या पितुर्माता [सा] पितामही, पितामहस्य च माता प्रपितामही**'=जो पिता की माता हो वह 'पितामही', और पितामह की माता हो वह 'प्रपितामही'। **अपनी स्त्री** तथा **भगिनी, सम्बन्धी** और **एक गोत्र** के तथा अन्य कोई **भद्र पुरुष** वा **वृद्ध** हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न-वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहै, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करना,[१] वह '**श्राद्ध**' और '**तर्पण**' कहाता है॥

चौथा [बलि-]वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़के घृत-मिष्ट-युक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि लेकर,[२] अलग धर,[३] निम्नलिखित मन्त्रों से आहुतियां[४] और भाग करे—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ मनु० [३।८४]

जो पाकशाला में भोजनार्थ अन्न सिद्ध हो, उसका दिव्य गुणों के अर्थ, उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे[५]—

[बलिवैश्वदेव]-होम के मन्त्र—ओम्- अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। धन्वन्तरये स्वाहा। कुह्वै स्वाहा।[६] अनुमत्यै स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। स्विष्टकृते स्वाहा॥ [मनु० ३।८५-८६ के आधार पर]

एक-एक मन्त्र पढ़के एक-एक आहुति देवे। पश्चात् भाग अर्थात् थाली में वा भूमि पर पत्ता आदि रखकर [उन पर][७] पूर्वादि दिशा के अनुक्रम से इन मन्त्रों से भाग रखे।

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सेवा करनी**" पाठ है, "**सेवा करना, वह श्राद्ध**" उपयुक्त पाठ है।

२. **त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**लेकर**" पद त्रुटित रह गया है। अन्य सभी पाठों में है।

३. **मुद्रणकालीन पाठ-परिवर्धन**—द्विप्र० में "**अलग धर**" पाठ मुद्रणकाल में परिवर्धित किया है। मूलसं० में वहीं से गृहीत है। दोनों हस्त० में नहीं है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**आहुति**' एकवचनान्त अपप्रयोग है। बहुवचनान्त शुद्ध है।

५. **अन्न की आहुति**—अग्नि में केवल अन्न की आहुति नहीं दी जाती है। ऊपर की पंक्ति में महर्षि ने स्पष्ट किया है "**घृत-मिष्टयुक्त अन्न**" लेकर आहुतियां दे। अतः सर्वत्र अन्नाहुति के संदर्भ में इसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। घृत और मिष्ट पदार्थ साथ मिलकर वह अन्न की आहुति रोगनाशक, पौष्टिक और कीटाणुनाशक हो जाती है। उस रूप में दुर्गन्धकारक भी नहीं होगी अपितु सुगन्धवर्धक हो जायेगी। उसी से पाकशालास्थ वायु आदि की शुद्धि होती है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मन्त्रत्रुटि और संशोधन**—यह मन्त्र मूलह० में है। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय प्रमाद से इसको छोड़ दिया, अतः द्विप्र० में नहीं छपा। पुनः द्वि०सं० में ग्रहण कर लिया है। मूलसं० में है। अन्य सभी में गृहीत है।

७. **पत्ते पर भोजन-भाग रखना**—पत्तों पर भोजन के भाग निकालकर रखना, आज हमें पिछड़ेपन की बात लगती है किन्तु यह परम्परा प्राचीन, पवित्र और निरापद है। केले तथा बड़े पत्तों पर भोजन करना प्राचीन परम्परा रही है और आज भी पूर्व तथा दक्षिण के क्षेत्रों में पर्याप्त है। सम्पन्न घरों के लोग भी रुचिपूर्वक पत्तों पर खाते हैं। अन्य भारत में उसी का रूप '**पत्तल**' प्रचलित है। आज भी विवाह-भोजों आदि में उन पर भोजन परोसा जाता है। नगरों में उनके स्थान पर कागज और प्लास्टिक आदि के पत्तल प्रचलित हो गये हैं। '**भूमि पर रखना**' मुहावरे का अर्थ द्रष्टव्य है पृ० १८७ पर टिप्पणी ८ में।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः। सानुगाय वरुणाय नमः। सानुगाय सोमाय नमः। मरुद्भ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। वनस्पतिभ्यो नमः। श्रियै नमः। भद्रकाल्यै नमः। ब्रह्मपतये नमः। वास्तुपतये नमः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः। सर्वात्मभूतये नमः॥[१] [मनु० ३।८७-९१ के आधार पर]

इन भागों को, जो कोई अतिथि[२] हो तो उसको जिमा देवे अथवा जो उस समय अतिथि उपस्थित न हो तो अग्नि में छोड़ देवे। इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल, भात, शाक, रोटी आदि लेकर छः भाग भूमि में [पत्तल, बर्तन आदि के ऊपर] धरे। इसमें प्रमाण—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां[३] च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ मनु० [३।९२]

इस प्रकार '**श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो[४] नमः**' धरकर पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे।

यहां ''नमः'' शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, पापी, चंडाल, पापरोगी, कौवे और कृमि[५] अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना,[६] यह '**मनुस्मृति**' आदि का विधि[७] है।

हवन करने का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात-अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।[८]

---

१. **पं० मीमांसक जी एवं उदयपुर सं० में मिलावट**—**पं० मीमांसक** और **उदयपुर सं०** में यहां स्वरचित १६वें मन्त्र ''**पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः**'' की अपनी ओर से मिलावट कर दी जब कि उसका ऋषि पाठ में कोई संकेत नहीं है। उदयपुर सं० में टिप्पणी भी नहीं दी है। तीनों संस्करणों (मूलप्रति, मुद्रणप्रति, द्वितीय संस्करण) तथा अन्य किसी सं० में यह मन्त्र नहीं है।

२. **अतिथि को पन्द्रह भाग देना**—बलिवैश्वदेव यज्ञ में '**अतिथि**' पद से अभिप्राय उस अचानक आये आगुन्तक से है जो भिक्षार्थी या याचक के रूप में द्वार पर आ जाता है, घर में निवास करने वाले विद्वान् अतिथि से नहीं। उन अतिथियों के लिए तो पृथक् '**अतिथि यज्ञ**' विहित है। यह भी स्थिर सिद्धान्त है कि लवणमिश्रित भोजन की आहुति अग्नि में नहीं दी जाती। उस भोजन को किसी प्राणी या आगन्तुक याचक को दे दें। पन्द्रह और छह, कुल इक्कीस भाग पृथक् निकालकर रखने का अभिप्राय है कि इतना भोजन गृहस्थ को प्रतिदिन दूसरे प्राणियों को श्रद्धा-पूर्वक देना चाहिए। इसको **बलिवैश्वदेव** यज्ञ कहते हैं।

३-५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० में इस शब्द की वर्तनी अशुद्ध और अप्रचलित ''**क्रमी/ क्रमि**'' लिखी है, जबकि ऊपर श्लोक व मन्त्र में ''**कृमि**'' है। वही वर्तनी द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं०, मूलसं० उदयपुर सं० आदि में संशोधित है।

६. **कुत्ते आदि का भोजन-भाग निकालना**—वैदिक **यज्ञीय** संस्कृति की यह महानता है कि उसमें प्राणी-मात्र की सेवा और रक्षा करने का उदार दृष्टिकोण है, मानवता का परम आदर्श है। यह वेद के उस निर्देश का क्रियात्मक रूप है जिसमें कहा गया है—''**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**'' [यजु० ३६.१८]। ऋषियों ने परमधर्म '**अहिंसा**' के संस्कारों से संस्कारित करने के लिए गृहस्थों को उनके आसपास रहनेवाले सभी प्राणियों का ध्यान रखने का दायित्व सौंपा है। यहां कुत्ता पालतू चौपायों का, पापी बहिष्कृत नीच जनों का, चाण्डाल पतित आचरण वालों का, पापरोगी, कुष्ठी आदि विवश जनों का, कौवा पक्षियों का, कृमि छोटे कीटों का प्रतिनिधि है। इसका भावार्थ यह है कि इस प्रकार के सभी प्राणियों को कुछ अवश्य देना चाहिए। दया, करुणा, उदारता आदि मानवीय भावनाओं का यह आदर्श रूप है। इसी के लिए '**बलिवैश्वदेव यज्ञ**' का विधान है।

७. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**विधि**'' पद का स्त्रीलिंग में प्रयोग शैलीविरुद्ध है। महर्षि की स्वीकृत शैली के अनुसार '**विधि**' पुंल्लिग है। ग्रन्थ में प्रायः पुंल्लिग प्रयोग है। एकरूपता और मानकता के लिए एक शैली चाहिए।

८. **उचित संशोधन**—''**इन भागों को जो कोई अतिथि.....प्रत्युपकार कर देना**'' तक पाठ इस संस्करण में मुद्रणप्रति, द्विप्र० से ग्रहण किया है। मूलह०, मूलहस्त० तथा संस्करण में यह कम स्पष्ट और संक्षिप्त पाठ है। मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस पाठ का परिवर्धन, परिष्कार और क्रम-संयोजन किया गया है जिसमें पूर्ववर्णित शैली के अनुसार मन्त्र-योजना भी है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ इस प्रकार है—''**फिर लवणान्न को भूमि में रखना—''शुनां च पतितानां च.....निर्वपेद् भुवि।''=एक कुत्ते,**

पांचवाँ अतिथिसेवा [यज्ञ][१]—'अतिथि'[२] धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारक पूर्ण विद्वान् [और] सर्वत्र घूमनेवाले संन्यासी होते हैं। उनका आसन, खान-पान, नम्रतादि से सत्कार करके, उनसे सत्संग कर, अपूर्व विद्याओं को जाने। समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथि[३] हो सकते हैं।[४] परन्तु—

पाखण्डिनो[५] **विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।**
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ मनु० [४।३०]

(पाखण्डिनः)[६] वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे **(विकर्मस्थान्)** जो वेदविरुद्ध कर्म

दूसरा पापी, तीसरा चांडाल, चौथा पापरोगी, पांचवां कौवे, छठा कृमि का भाग धरके, उन कुत्ते आदि को देवे।

और उन पन्द्रह भागों को किसी अतिथि को देवे अथवा जो उस समय अतिथि उपस्थित न हो, तो अग्नि में रख देवे। यह मनुस्मृति आदि की विधि है। इससे भोजन के घर का वायु शुद्ध और जो उसमें अदृष्ट जीवों की हत्या होती है उसका प्रत्युपकार होता है।''

इसकी समीक्षा—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस पाठ में ''**का वायु शुद्ध**'' के बाद क्रिया लुप्त है और ''**मनुस्मृति आदि की विधि**'' महर्षि की स्थापित पुंल्लिग शैली के विरुद्ध प्रयोग है। इसे इस सं० में संशोधित कर पुंल्लिग कर दिया है। ऊपर श्लोकार्थ में ''**दूसरे, पांचवें, छठे**'' अपप्रयोग हैं।

कुछ लोग ''**भूमि में धरना**'' पदों का '**मिट्टी पर रखना**' अनर्थ करते हैं। यह लाक्षणिक प्रयोग है जिसका अर्थ है—'**भूमि पर कुछ पत्तल, बर्तन आदि रखकर उनमें भोजन-भाग निकालना।**' ऊपर पन्द्रह भाग किसी अतिथि=आगन्तुक भूखे या भिखारी को देने का निर्देश है। यह प्रयोग ठीक ऐसा है, जैसे कोई कहे कि 'मैं भूमि पर सोता हूँ', इसका अभिप्राय होता है 'भूमि पर कुछ बिछाकर सोता हूँ,' मिट्टी में नहीं। संस्कृत में ''**भूमौ शय्या**'' का यही अर्थ है, धूल-मिट्टी में लेटना नहीं।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—यह प्रसंग पांच यज्ञों के परिचय का है। तदनुसार इसके शीर्षक में भी 'यज्ञ' पद का प्रयोग तीनों सं० में आवश्यक है। साथ ही उसका पुंल्लिग विशेषण '**पांचवाँ**' अभीष्ट है, क्योंकि क्रमशः यह पांचवां यज्ञवर्णित है।

२-३. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—अयोग्य मूललिपिकर ने मूलह० में ''**अतिथी**'' अपवर्तनी लिखी है। अन्यों में शुद्ध है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक विस्तारित-पाठ**—अतिथि-सेवा से सम्बन्धित इस अनुच्छेद का पाठ मूलहस्त० तथा मूलप्रति सं० में संक्षिप्त, सारगर्भित, व्यापक, व्यावहारिक और अपने आप में पूर्ण है। मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका विस्तार किया है। महर्षिप्रोक्त मूलह०, मूलप्रति सं० के पाठ के समान उसमें सहज व्यावहारिकता न होकर सीमितार्थकता, कर्मकाण्डीय रूप है और अतिशयोक्ति-पूर्ण है। उदाहरण के रूप में—इसमें वर्णित कोई ''**परमयोगी**'' अतिथि संसार में कैसे कहीं मिल पायेगा? यहां केवल पूर्ण विद्वान् और संन्यासी को ही 'अतिथि' कहना भी महर्षि के अन्य लेखों के विरुद्ध है। तुलना करें पृ० १९०, और 'संस्कारविधि' में गृहस्थप्रकरण। मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० का वह विस्तारित पाठ इस प्रकार है—

''अब पांचवीं अतिथिसेवा—अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सब के उपकारार्थ सर्वत्र घूमने वाला, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी, गृहस्थ के यहां आवे तो उसको प्रथम, पाद्य अर्घ्य और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठालकर, खान पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा शुश्रूषा करके, उनको प्रसन्न करे। पश्चात् सत्सङ्ग कर उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चाल चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे। समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं।''

मूलपाठ की पुष्टि—यह पाठ-विस्तार महर्षिरचित नहीं है, इसकी पुष्टि समु० ११, पृ० ५९३ के पाठ से भी होती है। वहां 'अतिथि' से सम्बन्धित भाषा मूलहस्त के पाठ के समान व्यावहारिक है, जो दोनों पाठों की भाषा को एक लेखक की भाषा सिद्ध करती है, तथा यहां बदली हुई भाषा को अन्यरचित सिद्ध करती है। मूलह० से मिलती-जुलती भाषा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' (पंचयज्ञविधि), 'संस्कारविधि' (गृहाश्रमप्रकरण) तथा 'पंचमहायज्ञविधि' (अतिथियज्ञ) में है। मुद्रणह० की भाषा किसी ग्रन्थ से नहीं मिलती। ''**बिठाल कर**'' प्रयोग भी लेखक की भाषा का है, ग्रन्थकार की भाषा का नहीं है।

५-६. **अव्यवस्थित-अप्रचलित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यहां दोनों स्थलों पर ''**पाषण्डी**'' वर्तनी है। संस्कृत भाषा में प्रचलित होते हुए भी यह वर्तनी 'सत्यार्थप्रकाश' में एकरूपता की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ में सर्वत्र '**पाखण्ड**' पद का प्रयोग है। मनुस्मृति के पाठों में भी इस एक स्थान को छोड़कर अन्यत्र और कुछ टीकाओं में यहां भी

का कर्त्ता=मिथ्याभाषणादियुक्त, **[वैडालवृत्तिकान्]** जैसे विडाला छिपके, स्थिर रह, ताक, कूद-झपटके, मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है,[१] वैसे जनों का नाम 'वैडालवृत्तिक', **(शठान्)** अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जाने नहीं और दूसरे का कहा माने नहीं, **(हैतुकान्)** कुतर्की, व्यर्थ बकनेवाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती[२] 'हम ब्रह्म हैं, जगत् मिथ्या है, वेदादि-शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है' इत्यादि बकवाद करनेवाले,[३] **(बकवृत्तींश्च)** जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी, दुराग्रही, वेदविरोधी हैं, ऐसों का[४] **[वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्]**[५] वाणीमात्र से भी सत्कार न करे। क्योंकि इनका सत्कार करने से वे बढ़के सब संसार को[६] अधर्मयुक्त कर देते हैं। आप तो अवनति[७] के काम करते ही हैं, परन्तु साथ में सेवकों को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं।[८]

इन पाँच महायज्ञों का फल—

ब्रह्मयज्ञ के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभगुणों[९] की वृद्धि होती है।

''**पाखण्डिनः**'' वर्तनी का प्रयोग है। 'मनुस्मृति' के दो टीकाकारों मणिराम और गोविन्दराज ने भी ''**पाखण्डिनः**'' वर्तनी ही स्वीकृत की है। भाषात्मक व्यवस्था और मानकता के लिए एक ही वर्तनी अभीष्ट है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की टिप्पणी चिन्त्य—इस शब्द पर पं० जी ने जो टिप्पणी दी है वह चिन्त्य है। वे लिखते हैं—''**लोक में प्रयुक्त पाखण्डी शब्द इसी (पाषण्डी) का अपभ्रंश है।**'' आश्चर्य है पं० जी यह कैसे लिख गये, क्योंकि '**पाखण्ड**' मूल शब्द है जो धातुपाठ में पठित 'खडि-खण्डने' धातु से व्युत्पन्न है। धातुपाठ में '**पाषण्ड**' की रचना के लिए इस अर्थ में कोई धातु उपलब्ध नहीं है। कुछ इसके लिए 'षण्ड्' धातु की कल्पना करते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वानों का यह मानना है कि यह शब्द 'ख' का क्षेत्रीय 'ष' उच्चारण होकर 'पाखण्ड' शब्द है, 'पाषण्ड' नहीं है।

पाखण्ड का अर्थ—यह 'पा+खण्डने' धातु से बना है। '**पातीति पा=त्रयी वेदविद्या' तं खण्डयति-इति पाखण्डः**=प्राणियों के लिए कल्याणकारिणी जो '**पा**' अर्थात् त्रयी वेदविद्या है, उसका खण्डन करना 'पाखण्ड' है। स्वार्थानुरूप विविध रूप धारण करने वाले सर्वलिंगी को भी पाखण्डी कहते हैं। इसका अर्थबोधक एक श्लोक प्रसिद्ध है—''**पालनाच्च त्रयीधर्मः 'पा' शब्देन निगद्यते। तं खण्डयन्ति ते तस्मात् 'पाखण्डाः' तेन हेतुना**''=संसार का पालन करने के कारण त्रयी वेदविद्या को 'पा' कहते हैं। उसको जो खण्डित करते हैं, उनको 'पाखण्डाः'=पाखण्डी कहा जाता है। महर्षि दयानन्द ने भी यही अर्थ दिया है—''**पाखण्ड अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन**'' (१९१/१४), ''**वेदनिन्दक**'' (१८८/७)।

१,३,६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० के उपर्युक्त ठीक पाठ के स्थान पर मुद्रणप्रति में यह अशुद्ध और व्यर्थ पाठान्तर किया है—''**जैसे बिड़ाला छिपके स्थिर रह कर ताकता-ताकता झपट से मूसे आदि प्राणियों को....।**'' अगली पंक्ति में ''**वकवाद करने वाले**'' के स्थान पर ''**गपोड़ी हांकने वाले**'' व्यर्थ पाठान्तर है। ''**वे बढ़के सब**'' के स्थान पर ''**वे वृद्धि को पाके सब**'' अनावश्यक पाठान्तर है। मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ में ऐसे ही पाठभेद बढ़ाये हैं।

२. **अयोग्य लिपिकर**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**वेदान्ति**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**बकवृत्तींश्च**'' के पदार्थ में यह अपपाठ है—''**जैसे बगुला मच्छी के प्राण लेकर अपने पेट भरने के लिए ध्यानवस्थित होता है, वैसे वर्तमान जटाजूट वैरागी आदि हों।**'' इस अपपाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्रहण किया है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद तथा अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में, कोष्ठक में श्लोकोक्त कोई भी पद यथावत् शुद्ध अंकित नहीं है। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दोनों पद त्रुटित हैं, तो शेष पांच पदों की यह अपवर्तनी है, यथा—'**पाखण्डी, विकर्मस्थ, शठ, हैतुक, बकवृत्ति**'। यह लिपिकरों की अयोग्यता और आदि-सम्पादक शर्माद्वय का प्रमाद है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग हैं।

७. **अयोग्य मुद्रणलिपिकर**—अयोग्य मुद्रणलिपिकर ने ''**अवनती**'' अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० में यही अशुद्ध वर्तनी छपी है।

८-९. **पाठग्रहण**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में परिवर्धित पाठ ''**आप तो अवनति.....डुबा देते हैं**'' उपयोगी एवं ग्राह्य है। जो मूलह० और

'**अग्निहोत्र**' से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर, ओषधियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध वायु का श्वास और स्पर्श[१] [प्राप्त होता है], खान-पान से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अनुष्ठान निर्विघ्नता से पूरा होता है। इसीलिये इसको 'देवयज्ञ' कहते हैं[२] कि यह वायु आदि पदार्थों को दिव्य कर देता है।[३]

'**पितृयज्ञ' का फल**—[प्रथम] जब वह माता-पिता और ज्ञानियों की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके, सुखी रहेगा। दूसरा **कृतज्ञता** अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तानों[४] और शिष्यों की किई है,[५] उसका बदला देना उचित ही है।

बलिवैश्वदेव का भी फल जो पूर्व कह आये,[६] वही है।

[अतिथियज्ञ—][७] जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने, सत्योपदेश करने से, पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य-विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देहनिवृत्ति नहीं होती, संदेहनिवृत्ति के[८] विना दृढ़निश्चय भी नहीं होता, दृढ़निश्चय[९]

मूलसं० में नहीं है। इसी प्रकार ''**आदि शुभगुणों**'' भी मुद्रणह०, द्विप्र० में परिवर्धित उपयोगी पाठ है।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—यहां मुद्रणलिपिकर ने असंगत और व्यर्थ पाठ बढ़ाया है—''**जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा सारे संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वासस्पर्श**'' 'अर्थात्' का पूर्वापर पाठ से कोई सम्बन्ध नहीं है। आगे दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत क्रियाएं त्रुटित हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**श्वासास्पर्श**'' अपप्रयोग हुआ है, भले ही कुछ सम्पादकों ने खींचतान कर अर्थ निकालने की कोशिश की है। यहां उक्त पाठ शुद्ध है।
सम्पादक विद्वानों का मतान्तर—स्वामी वेदानन्द जी का संशोधन ''**श्वास स्पर्श**'' अर्ध शुद्ध है। **पं० भगवद्दत्त जी** का ''**वायु के श्वासस्पर्श**'' अपपाठ है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** की कल्पना अटपटी है—''**श्वासा=नासिका से उसका स्पर्श=श्वास लेना।**'' उदयपुर सं० में प्रचलित अपपाठ ही ग्रहण किया है। '**श्वास और स्पर्श**' सीधा-सरल पाठ है। ये दोनों ही वायु से प्राप्त होते हैं। इतने स्पष्टपाठ में विद्वानों को मतान्तर खड़ा करने की आवश्यकता ही नहीं थी।

२. **मुद्रणप्रति में महाभ्रष्टपाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में यहां यह भ्रष्ट पाठ छपा है—''**अनुष्ठान पूरा होना इसीलिये इसको अतिथियज्ञ कहते हैं।**'' प्रमादी आदि-शोधकों ने भी शुद्ध नाम पर ध्यान नहीं दिया। ऐसे लापरवाह थे शोधक कि उन्हें '**देवयज्ञ**' को '**अतिथियज्ञ**' लिखा जाना,जैसी बड़ी भूल का भी ज्ञान नहीं हुआ। अब सभी सं० में संशोधित पाठ मिलता है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—संख्या ३ अंकित वाक्य मूलह० और मूलप्रति सं० में पूर्ण और उत्तम है, मुद्रण, द्विप्र० और द्वि० सं० में यह अपूर्ण है—''**इसीलिये इसको देवयज्ञ कहते हैं**''। आगे का महत्त्वपूर्ण वाक्यांश मुद्रणहस्त० में लिपिकर के प्रमाद से छूटा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में त्रुटित है। उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण करके बुद्धिमत्ता दिखाई है।

४-५. **अपप्रयोग और शैली विरुद्ध परिवर्तन**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में ''**सन्तान**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है। आगे ''**किई**'' के स्थान पर ''**की**'' प्रयोग है। बाद के संस्करणों में शैलीविरुद्ध परिवर्तन है। **पाठपुष्टि**—यही प्रयोग पृ० ३२ पर द्रष्टव्य है जो ग्रन्थकार की तत्कालीन प्रयोग शैली का संकेत देता है।

६. **बलिवैश्वदेव का वर्णन**—द्रष्टव्य इसी समु० में पृष्ठ १८६-१८७ तक।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—यहां ''**अतिथियज्ञ**'' शीर्षक दोनों हस्त० और तीनों सं० में त्रुटित है। ऊपर सभी यज्ञों का फल-प्रदर्शन उस यज्ञ के नामोल्लेख से प्रारम्भ किया हुआ है। शैलीगत एकरूपता और मानकता की दृष्टि से यह शीर्षक अभीष्ट है।

८. **मुद्रणकालीन उचित परिवर्तन**—दोनों हस्त० में ''**इसके**'' पाठ है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में इसके स्थान पर ''**संदेहनिवृत्ति के**'' पाठ बनाया है। अग्रिम वाक्यरचना शैली की दृष्टि से ग्राह्य है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**निश्चय**' पद से पूर्व '**दृढ़**' पद छूट गया है। पूर्व वाक्यांश में '**दृढ़ निश्चय**' का ही प्रयोग है, अत: पूर्णपाठ की दृष्टि से यह पद ग्राह्य है। **पाठ-पुष्टि**—द्र०पृ० ८४/९ में इसी शब्द का उल्लेख।

के विना सुख कहां?

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥ मनु० [४।९२]

रात्रि के[१] चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान और परमात्मा का ध्यान करे। कभी अधर्म का आचरण न करे। क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति॥ मनु० [४।१७२]

किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता। परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता, इसलिये अज्ञानी लोग अधर्माचरण से नहीं डरते। परन्तु निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है। इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु[२] विनश्यति॥ मनु० [४।१७४]

जैसे तालाब के बन्ध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे[३] अधर्मात्मा[४] मनुष्य भी धर्म की मर्यादा छोड़, मिथ्याभाषण,[५] कपट, **पाखण्ड अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन,** और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र-आभूषण, यान-स्थान, मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है; पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। **जैसे जड़-काटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।**[६] इसलिये—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥ मनु० [४।१७५]

[मनुष्य][७] **वेदोक्त सत्यधर्म अर्थात् पक्षपातरहित होकर सत्य का ग्रहण और असत्य के परित्याग**

---

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**रात्रि के**" पाठ-परिवर्धन उपयुक्त संशोधन है। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह त्रुटित है। **उठने का समय**—रात्रि के चौथे पहर में अर्थात् चार बजे प्रातः उठना चाहिए; अथवा,प्रातः ६ बजे दिन का आरम्भ माना गया है, उससे चार घड़ी पूर्व का अभिप्राय है कि साढ़े चार बजे उठ जाना चाहिए। २४ मिनट की एक घड़ी होती है।

२. **अप-उद्धरण**—मूलप्रति सं० में "**समूलं तु**" अपप्रयोग है, जबकि मूलह० में सही पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० आदि में अब शुद्ध है।

३,४. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग एवं अपकोष्ठक**—द्विप्र० आदि में "**जैसे तालाब के.....वैसे**" पाठ कोष्ठक में दिया है। दोनों हस्त० में अनावश्यक कोष्ठक में नहीं है। दोनों सं० में यह वाक्य थोड़ा भिन्न-भिन्न है। यहां दिया गया पाठ उपयुक्त है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**जब अधर्मात्मा**", "**जैसा**" अपप्रयोग हैं। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में दोनों अपप्रयोग हैं।

५. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में अयोग्य लिपिकरकृत "**मित्थ्याभाषण**" अपवर्तनी है।

६. **ऋषिहस्तलेख**—"**नष्ट हो.....हो जाता है**" मुद्रणह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

७. **त्रुटित एवं आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में कर्त्ता ही नहीं है, अतः यहां कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है। वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में यहां "**जो**" पद निरर्थक होने से अनावश्यक है।

न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि; 'आर्यवृत्त'[१] अर्थात् उत्तम पुरुषों के गुण, कर्म, स्वभाव और पवित्रता में ही सदा रमण करे। वाणी, बाहू, उदर आदि अंगों का संयम अर्थात् उनको[२] धर्म में चलाता हुआ, धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १ ॥
मातापितृभ्यां यामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥ २ ॥ मनु० [४।१७९-१८०]

(ऋत्विक्) यज्ञ का करनेहारा, **(पुरोहित)** सदा उत्तम चालचलन की शिक्षा का[३] कर्त्ता, **(आचार्यैः)** विद्या पढ़ानेहारा, **(मातुल-)** मामा, **(अतिथि-)** अर्थात् जिसकी कोई आने-जाने की निश्चित तिथि न हो, **(संश्रितैः)** अपने आश्रित, **(बाल-)** बालक, **(वृद्ध-)** बुड्ढे, **(आतुरैः)** पीड़ित, **(वैद्यैः)** आयुर्वेद का ज्ञाता, **(ज्ञाति-)** स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, (**सम्बन्धि-**) सास, श्वशुर आदि, **(बान्धवैः)** मित्र॥ १ ॥

[मातापितृभ्याम्] माता, पिता, **(यामिभिः)** बहिन **(भ्रात्रा)** भ्राता, **(पुत्रेण)** पुत्र[४] **(भार्यया)** स्त्री, **(दुहित्रा)** कन्या और **(दासवर्गेण)** सेवक लोगों से **[विवादं न समाचरेत्]** विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करे॥ २ ॥[५]

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव[६] सह तेनैव मज्जति॥ मनु० [४।१९०]

एक—**(अतपाः)** ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि तपरहित, दूसरा—**(अनधीयानः)** विना पढ़ा हुआ, तीसरा—**(प्रतिग्रहरुचिः)** अत्यन्त सुखार्थ दूसरों से दान लेनेवाला,[७] ये तीनों **[अम्भस्यश्म०]**[८] जैसे

१-२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**वृत्त**' पद त्रुटित है। श्लोकोक्त पद "**आर्यवृत्त**" है, वही यहां यथावत् चाहिए। आगे दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उनको**' पद त्रुटित है। इसके बिना वाक्य नहीं बनता।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति में यहां "**चालचलन की शिक्षाकर्त्ता**", मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० में "**चाल-चलन की शिक्षा कारक**" अपप्रयोग हैं। इस वाक्यांश का इस सं० में शुद्ध पाठ कर दिया है।

४. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत तथा पदार्थ "**पुत्र**" पद त्रुटित है। द्वि०सं०, मूलसं०, भद, युमी, उदयपुर सं० में कोष्ठकान्तर्गत पद तो है किन्तु पदार्थ त्रुटित है। वेस में संशोधित है, जग में त्रुटित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद और अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, इस श्लोक के पदार्थों में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दो पाठ त्रुटित हैं। '**आचार्य, संश्रित, आतुर, वैद्य, सम्बन्धी, बान्धव, यामि, भ्राता, पुत्र, भार्या, दुहिता, दासवर्ग**' इन बारह पदों की कोष्ठक में अपवर्तनी है। कोष्ठक में यथावत् मूल पद अपेक्षित हैं। यह सब लिपिकरों, आदि-शोधकों और आदि-सम्पादकों के प्रमाद का फल है और कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा का सूचक है। सभी सं० में ये त्रुटियां पाई जाती हैं।

६. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र०, उदयपुर सं० में "**प्लवेनैव**" अपपाठ है। अन्य पाठों में शुद्ध है।

७. **श्रवणभ्रान्ति से भ्रष्टपाठ—प्रतिग्रह-रुचि**=दान लेने में अत्यन्त रुचि रखना। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पाठ भ्रष्ट हुआ है। महर्षि मनु ने 'दान लेना' यह जीविका ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों में विहित की है (मनु० १.८८)। महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में अपने ग्रन्थों में उद्धृत भी किया है (स०प्र०पृ० १६६; संस्कारविधि, गृहा०प्रकरण पृ० १७१)। किन्तु महर्षि ने दोनों ही स्थानों पर मनु का वचन "**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः**"(१०.१०९) उद्धृत करके "**दान लेना नीच कर्म है**" अर्थ किया है। महर्षि का बहुत्र निर्देश है कि ब्राह्मणों को इस आजीविका को कम से कम अपनाना चाहिए। किन्तु प्रश्न उठता है कि धर्मार्थ दान लेना परोपकार है, वह निन्दित कैसे हो सकता है? यह ब्राह्मण का कर्त्तव्य भी विहित नहीं है। अतः

पत्थर की नौका से समुद्र में तरनेवाले के समान, अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःख-सागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं, परन्तु दाताओं को भी साथ डुबा लेते हैं॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥ मनु० [४।१९३]

जो **धर्म से प्राप्त हुए धन का,** इन तीनों को देना है; वह दान-दाता का नाश इसी जन्म और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है।

जो वे ऐसे हों, तो क्या हो[१]—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ॥ मनु० [४।१९४]

जैसे पत्थर की नौका में बैठके जल में तरनेवाला डूब जाता है, वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं।

पाखण्डियों के लक्षण—

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः॥ १॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥ २॥ मनु० [४।१९५-१९६]

(**धर्मध्वजी**) [जो][२] धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, (**सदालुब्धः**) सर्वदा लोभ से युक्त, (**छाद्मिकः**) कपटी, (**लोकदम्भकः**) [जो][३] संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, (**हिंस्रः**) प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, (**सर्वाभिसन्धकः**) [जो][४] सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे, उसको [**वैडालव्रतिकः ज्ञेयः**][५] वैडालव्रतिक अर्थात् विडाले के समान धूर्त्त [और][६] नीच समझो॥ १॥

प्रतीत होता है कि यहां यह पाठ "**प्रतिग्रहरुचिः**" का "**अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेना**" श्रुति-भ्रान्ति से लिखा गया ज्ञात होता है। यहां निजी दोषों के आधार पर निन्दा है और क्योंकि यह ब्राह्मणों का निजी व्यवसाय है, अतः अर्थ उन्हीं से सम्बन्धित होना प्रासंगिक माना जायेगा। ज्ञात होता है कि "**सुखार्थ**" का "**धर्मार्थ**" श्रुतिभ्रान्ति से लिखा गया है। महर्षि का सर्वत्र यही मन्तव्य है कि ब्राह्मणों के व्यवसायों में '**दान लेना**' सबसे निम्न कर्म है और अपने लिए अत्यन्त दान लेनेवाला ब्राह्मण वस्तुतः निन्दनीय है, क्योंकि दूसरों से दान ले-लेकर ठाठ-बाट करना ब्राह्मण का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। यह निम्न प्रवृत्ति है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकोक्त पंक्ति "**अम्भस्यश्म०**" पदार्थ में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत अंकित करनी रह गई है। पदार्थ की एकरूपता के लिए आवश्यक है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**होय**" बोली का प्रयोग हुआ है, जो लिपिकर का अपना है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

२-४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तीनों स्थानों पर '**जो**' पद अपेक्षित है क्योंकि अन्त में '**उसको**' पाठ है।

५-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत श्लोकोक्त पद त्रुटित रह गया है। अन्य सभी पदों का पाठ होने से इसका पाठ भी आवश्यक है। इसी प्रकार '**और**' योजक पद भी ग्राह्य है।

(**अधोदृष्टिः**) कीर्त्ति के लिये नीचे दृष्टि रक्खे, (**नैष्कृतिकः**) ईर्ष्यक=किसी ने उसका पैसाभर अपराध किया हो, तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहै,[१] (**स्वार्थसाधनतत्परः**) चाहे कपट, अधर्म, विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, (**शठः**) चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो, परन्तु हठ कभी न छोड़े, (**मिथ्याविनीतः**) झूठ-मूठ ऊपर से शील, सन्तोष और साधुता दिखलावे, उसको (**बकव्रत०**) बगुले के समान नीच समझो। ऐसे-ऐसे लक्षणों[२] वाले **पाखण्डी** होते हैं, उनका विश्वास वा सेवा कभी न करें॥ २॥

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वलोकान्यपीडयन्॥ १॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एको नु भुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ ३॥ [मनु० ४। २३८। २४०]
एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते॥ ४॥

[महाभारत, उद्योगपर्व, प्रजागरपर्व १, अ० ३३, श्लोक ४१]

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥ ५॥ मनु० [४। २४१]

स्त्री और पुरुष को चाहिये कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक, वल्मीक अर्थात् बांबी को बनाती है, वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर, **परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ** धीरे-धीरे धर्म का संचय करे॥ १॥

क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न[३] स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है॥ २॥

देखिये, अकेला ही जीव जन्म पाता और मरण को प्राप्त होता, अकेला[४] ही धर्म के फल सुख और अधर्म के दुःखरूप फल को भोगता है[५]॥ ३॥

यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है, और महाजन अर्थात् सब

---

१. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यह अपवाक्य है—"**उसका बदला लेने को प्राण तक तत्पर रहै।**" मूलप्रति सं० में इसको संशोधित कर दिया है। परोप० ३, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में संशोधित है। उदयपुर सं० में असंशोधित अपपाठ है। यह सम्पादकीय प्रमाद है। कम-से-कम अन्य सम्पादकों का पाठ ही देख लेते।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**लक्षण**' एकवचनान्त अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है।

३. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—द्विप्र० में यहां '**न**' पद त्रुटित है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४-५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**एक**' के स्थान पर '**अकेला**' पाठ ही उपयुक्त है जैसे शुरू में है। इसी प्रकार इस वाक्य का मूलप्रति सं० का पूर्वार्ध पाठ उपयुक्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का पूरा पाठ अशुद्ध है—"**एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का दुःख-रूप फल उसको भोगता है।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

कुटुम्ब उसको भोगता है,[१] भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का[२] भागी होता है॥ ४ ॥[३]

जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको लकड़े[४] और मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे[५], बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है॥ ५ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥ १ ॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्॥ २ ॥ मनु० [४। २४२-२४३]

उस हेतु से परलोक अर्थात् परमसुख और परजन्म के सहायार्थ[६] नित्य धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे करता जाय; क्योंकि धर्म के ही सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है॥ १ ॥

किन्तु जो पुरुष धर्म को ही प्रधान समझता [है],[७] जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य-पाप [=क्रियमाण पाप-कर्म की वृत्ति][८] दूर हो गया उसको, प्रकाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को, धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है॥ २ ॥ इसलिये—

---

१. **लिपिकरों-शोधकों की अयोग्यता से अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**भोक्ता**" अपप्रयोग है। यह लिपिकर की असावधानी और अयोग्यता के कारण है। यह विशेषण है जबकि यहाँ '**भोगता**' क्रिया होनी चाहिए। देखिए, दो पंक्ति पूर्व '**भोगता**' शुद्ध क्रियाप्रयोग है। एक ही स्थान पर एक ही शब्द की दो वर्तनियां लिपिकरों-सम्पादकों की अयोग्यता और घोर प्रमाद की सूचक हैं

२. **मुद्रणसमय उचित संशोधन**—दोनों हस्त० में यहां "**दुःख का**" अपपाठ है। तीनों सं० में मुद्रण-काल में संशोधित पाठ '**दोष का**' ग्रहण कर लिया गया है।

३. **श्लोक का अभिप्राय**—व्यवहार में '**दोष**' शब्द का अर्थ '**अपराध**' है। कानून की दृष्टि से अपराध का कर्त्ता दण्डनीय होता है, फलभागी उसके समान दोषी नहीं होते। जैसे—किसी ने चोरी की, चोरी के धन से वह परिवार में कोई सामान ले आया, परिवार वालों ने उस सामान का उपभोग या उपयोग कर लिया। ऐसी स्थिति में चोरी का अपराधी वह कर्त्ता ही माना जायेगा, सभी परिवार नहीं। यहां कानूनी व्यावहारिक अपराध के विषय का कथन है। किन्तु ईश्वरीय व्यवस्था की दृष्टि से अधर्म से प्राप्त धन के सभी भोक्ता पापी होते हैं।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**लकड़े** " पद मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। यह आवश्यक है, क्योंकि संस्कृत के श्लोक पाठ में '**लोष्ठ**'='**ढ़ेले** के साथ '**काष्ठ**'='**लक्कड़**' भी पठित है। मूलह०, मूलसं० में है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

५. **पीठ देना**—विदा होना, त्याग देना, छोड़कर चल देना।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य को इस प्रकार परिवर्तित किया गया है—"**परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायतार्थ**"। मूलप्रति का पाठ अधिक गम्भीर और अर्थपूर्ण है, क्योंकि महर्षि ने धर्म को **परमसुख**=मोक्ष और परजन्म दोनों का आधार माना है। द्विप्र० संशोधित पाठ में '**मुक्ति**' अर्थ लुप्त हो गया है। इस प्रकार धर्म का सर्वप्रधान लक्ष्य ही समाप्त हो गया। संशोधक शायद ऋषि की भाषा की गम्भीरता को नहीं समझ सका। यहां मूलप्रति सं० का ऋषिप्रोक्त पाठ उपयुक्त है।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पाप दूर हो गया**" पाठ है। साधारण पाठकों को इस भाषा से '**पापक्षमा होने**' की भ्रान्ति होती है। अतः यहां बृहत् कोष्ठक में स्पष्टीकरण आवश्यक है। यहां भाव है '**पापभाव या वृत्ति का दूर होना**'।

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः॥ १॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ ३॥ मनु० [४।२४६, २५६, १५६]

सदा दृढ़कारी, कोमलस्वभाव, जितेन्द्रिय और हिंसक, क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा, मन को जीतकर[१] और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे॥ १॥

परन्तु यह भी ध्यान में रक्खे कि जिस वाणी में सब[२] अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, वह[३] वाणी ही उनका मूल [है],[४] और वाणी से ही सब व्यवहार सिद्ध होते हैं; उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला है॥ २॥

इसलिये मिथ्याभाषणादि रूप अधर्म को छोड़, जिस धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु और धर्माचार से उत्तम प्रजा, धर्माचार से अक्षय धन को प्राप्त होता है[५] और जो धर्माचार दुष्ट-लक्षणों का नाश करता है, उस आचरण को सदा किया करे॥ ३॥ क्योंकि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ मनु० [४।१५७]

जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त [होता है। वह][६] निरन्तर दुःख का भोगनेहारा और अनेक प्रकार के रोगों से अल्पायु होकर शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।[७] इसलिये ऐसा प्रयत्न करे—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत्सेवेत यत्नतः॥ १॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ २॥ मनु० [४।१५६, १६०]

---

१. **मुद्रणप्रति में अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**मन को जीव**" अपपाठ है। द्वि०सं० तथा अन्य सभी में संशोधित कर दिया है।

२. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—द्विप्र० में "**सब**" पद त्रुटित है। अन्य सभी में गृहीत है। भद में "**अर्थ अर्थात्**" पद त्रुटित छोड़ दिये हैं। वहां यह पाठ ग्रहण किया जाना चाहिए था।

३-४. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**होते हैं, वह**" पद त्रुटित हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में हैं। चतुर्थ संख्यांकित '**है**' क्रिया भी दोनों हस्त० और तीनों सं० में त्रुटित है। अन्य सभी सं० में भी क्रिया त्रुटित है।

५. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में "**है**" क्रियापद त्रुटित है।

६-७. **त्रुटित आवश्यक पाठ व मुद्रणलिपिकरकृत अप-परिवर्तन**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**होता है, वह**" पद त्रुटित हैं। "**जो**" प्रयोग के सम्बन्ध से '**वह**' पद आवश्यक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य में परिवर्तन किया गया है जो अनावश्यक है और अशुद्ध है—"**निन्दा को प्राप्त दुःखभागी और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है।**" महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ पूर्ण व शुद्ध है, अतः वही ग्राह्य है।

जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न से त्याग और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे॥ १ ॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दु:ख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख [है]।[१] यही संक्षेप से सुख और दु:ख का लक्षण जानना चाहिये॥ २ ॥

परन्तु जो एक-दूसरे के आधीन काम है, वह-वह आधीनता से ही करना चाहिये, जैसे कि स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के आधीन व्यवहार; अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण=अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना, पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री [के][२] और [स्त्री की आज्ञानुकूलता से] बाहर के काम पुरुष के आधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फसने से एक-दूसरे को रोकना [आदि]।[३] अर्थात् यही निश्चय जानना [कि][४] जब विवाह होवे तब स्त्री के हाथ पुरुष और पुरुष के हाथ[५] स्त्री बिक चुकी अर्थात् स्त्री और पुरुष के साथ हाव-भाव, नखाग्र-शिखा-पर्यन्त[६] जो कुछ हैं वह वीर्यादि एक-दूसरे के आधीन हो जाता है। **स्त्री वा पुरुष [पारस्परिक][७] प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें।** इनमें बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुष-गमनादि काम हैं। इनको दोनों छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहैं।[८] **स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।**[९]

जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों, तो पुरुष लड़कों को पढ़ावें और सुशिक्षा करें तथा सुशिक्षिता स्त्रियां[१०]

१-४. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में चारों ही पद त्रुटित हैं। वाक्यरचना की दृष्टि से चारों आवश्यक हैं।

५. **मुद्रण-समय शोधक द्वारा भ्रष्टपाठ परिवर्तन**—द्विप्र० में यह वाक्य विकृतार्थक हो गया है। दोनों हस्तलेखों में दोनों स्थानों पर "**हाथ**" शुद्ध पद है। मुद्रण के समय किसी ने भ्रान्ति से दोनों स्थानों पर "**हाथ**" की जगह "**साथ**" कर दिया, जिसका आशय ही भ्रष्ट हो गया कि '**स्त्री के साथ पुरुष और पुरुष के साथ स्त्री, अर्थात् दोनों साथ-साथ बिक गये।**' जबकि ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि एक-दूसरे के लिए मानो 'बिक गये' अर्थात् पूर्णत: एक-दूसरे के हो गये। यह हिन्दी में एक मुहावरा है—"**एक दूसरे के हाथ बिकना**", जैसे मीरांबाई के पदों में प्रयोग आता है—"**मीरा कान्हा हाथ बिकानी।**" मूलहस्त० का महर्षिप्रोक्त पाठ सही है। यही भ्रष्टपाठ आज भी द्वि०सं० में छप रहा है। वेस, जग, भद में अशुद्ध पाठ है, युमी में टिप्पणी में संशोधन व्यर्थ है, उदयपुर सं० में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में यहां "**नखशिखाग्र पर्यन्त**" अपप्रयोग मिलता है। हिन्दी में यह "**नखाग्रशिखा-पर्यन्त**" पद है। प्रयुक्त पद का अन्यथा अर्थ है—'**नख और शिखा के अग्रभाग तक**'। ग्रन्थकार का आशय यह नहीं है। वह कहना चाहता है—'**नख के अग्रभाग से लेकर शिखा तक**' अर्थात् सम्पूर्ण शरीर। अत: प्रस्तावित शुद्ध प्रयोग ग्राह्य है। प्राय: सभी सं० में अप-प्रयोग है। युमी में संशोधित हैं।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पारस्परिक**' पद, जैसा कि पांच पंक्ति पूर्व '**परस्पर प्रियाचरण**' प्रयोग है, का परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना अभीष्ट वाक्यार्थ प्रकट नहीं होता।

८. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि० सं० में "**इनको छोड़ के अपने पति के साथ**" वाक्य में "**दोनों**" पद जो महर्षि की विशेष मान्यता का बोधक, पूर्वापर कथनों से सम्बद्ध, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद है, वह त्रुटित रह गया है, जो कि पूर्व वाक्य में वर्णित दुष्कर्मों को समानभाव से दोनों को छोड़ने का निर्देश देता है। भेदभावरहित निर्देश की ऋषि की यह विशिष्ट शैली है। यह पाठ मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में है, वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

९. **क्रमभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में "**स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष.....देवी स्त्री है**" वाक्य अपने प्रसंग से टूटकर दो पंक्ति आगे "**वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें**" वाक्य के बाद लिखित है, वहां पूर्वापर में गुरुकुलीय कर्त्तव्यों का निर्देश है। इस वाक्य के वहां रखने से वह प्रसंग भी भंग हो रहा है और यह वाक्य भी अप्रसंग में है। मूलप्रति सं० में इस क्रम को ठीक कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में क्रमभ्रष्ट पाठ है, उदयपुर सं० में संशोधित कर दिया है।

१०-११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**स्त्री**' और '**अध्यापिका**' एकवचनान्त अपप्रयोग हैं, बहुवचनान्त अपेक्षित हैं।

लड़कियों को पढ़ावें। नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। **जब तक गुरुकुल में रहैं, तब तक माता-पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।**

पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिकायें[११] कैसे होने चाहियें—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥
निषेवते[१] प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम्॥ २॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते[२] परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ ४॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ ५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥ ६॥

ये सब महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर के श्लोक हैं [अध्याय ३३। १६ से पूर्व तथा १६, १७, २२, २३, २८, २९]।

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान [हो][३]; सम्यक्-आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा-आलसी कभी न रहै; सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे; धर्म में ही नित्य निश्चित रहै; जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय-सम्बन्धी वस्तुयें आकर्षित न कर सकें,[४] वही पण्डित कहाता है॥ १॥

जो सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन [करे];[५] अधर्मयुक्त कामों का त्याग [रक्खे];[६] ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेहारा; ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो; यह[७] पण्डित का कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म है॥ २॥

---

१. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में लिपिकरकृत अपवर्तनी "**निसेवते**" है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

२. **अप-उद्धरणपाठ**—द्वि०सं० में "**ह्यपयुङ्क्ते**" मुद्रणदोष है। अन्य सभी संस्करणों में शुद्ध है।

३-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं में "**आत्मज्ञान**" के बाद '**हो**' क्रिया नहीं है, जो वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है, अन्यथा, विपरीत अर्थ व्यक्त होगा। दोनों हस्त० और सभी सं० में "**वस्तु आकर्षण न कर सकें**" अपपाठ है।

५-६. **त्रुटित आवश्यक**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः दोनों क्रियाएं त्रुटित हैं।

७,९. **उपयुक्त पाठ**—इन दोनों स्थानों पर तीनों सं० में '**यह**' और '**वह**' प्रयोग उपयुक्त हैं। श्लोकार्थ के अनुसार भी '**यह**' ठीक है। पृथक्-पृथक् गुणों के लिए प्रत्येक श्लोक में निश्चयात्मक प्रयोग "**यही**", "**वही**" उपयुक्त नहीं है।

८. **अपपाठ**—मूलसं० में "**विना योग्य समय के, विना जाने**" अपवाक्य है। दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध पाठ है।

जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके; बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे। जो कुछ जाने उसको परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिये कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य-समय जाने[८] दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वह[९] प्रथम प्रज्ञान पण्डित को होना चाहिये॥ ३॥

जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे; आपत्काल में मोह को प्राप्त न [हो][१] अर्थात् व्याकुल न हो; वह[२] बुद्धिमान् पण्डित है॥ ४॥

[३]जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तर करने में अतिनिपुण[४], विचित्र[५]-शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता; यथायोग्य तर्कवान्[६] और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के 'यथार्थ' अर्थ का शीघ्र वक्ता हो, वह पण्डित कहाता है॥ ५॥

जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो, जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वह **'पण्डित'** संज्ञा को प्राप्त होवे॥ ६॥

जहाँ ऐसे-ऐसे सज्जन[७] स्त्री-पुरुष पढ़ानेवाले होते हैं, वहाँ विद्या, धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर, प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है।

पढ़ाने में अयोग्य[८] [अध्यापक] और मूर्ख के लक्षण—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥ १॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥ २॥

ये श्लोक भी महाभारत,[९] उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर के हैं [अध्याय ३३। ३०, ३६]।

---

१. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'हो'** क्रिया नहीं है। वाक्यरचना की दृष्टि से चाहिए।

२. **उपयुक्त पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''वही''** पाठ है, उसके स्थान पर **'वह'** अधिक उपयुक्त है।

३. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में गत पृष्ठ के कुछ श्लोकार्थों २,३,४ और ५ के आरम्भ में क्रमशः ये शीर्षक हैं—**''उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म''**, **''वह कैसा हो''** ये अनावश्यक पाठ है। द्विप्र०, द्वि० सं० में इनको हटा दिया है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० के उक्त पाठ के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने **''प्रश्नोत्तरों के करने में अतिनिपुण''** व्यर्थ पाठान्तर किया है। यही द्विप्र० आदि में है।

५. **स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा अप-पाठ परिवर्तन**—स्वामी जी ने **''शास्त्रों के प्रकरणों का विचित्र वक्ता''** ऋषि के आशय के विरुद्ध पाठ बदला है। दोनों हस्त० तथा सभी सं० में उपर्युक्त पाठ है।
विचित्रशास्त्र=विलक्षण वाक्चातुर्ययुक्त, अद्भुत, मनोहर रुचिकर शास्त्र। 'व्यवहारभानु' पुस्तक में **''चित्रकथ''** का अर्थ किया है—''अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथा करने वाला।'' दोनों स्थानों पर एक ही भाव है। प्राचीन ग्रन्थों में कथाओं, ग्रन्थों, शब्दार्थ आदि के लिए उक्त अर्थों में चित्र और विचित्र विशेषणों का प्रयोग मिलता है, यथा—**''नाना चित्राः कथाः''**''**चरितं विचित्रपदमर्थवत्**'' (वा० रामा० बाल० ३.११.४.१), **''चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र''** (महा० आदि० १.३), **चित्रोक्ति**=वाक्चातुर्य पूर्ण या रुचिकर कथन, आदि। अतः ऋषिकृत अर्थ पारम्परिक और उचित है।

६. **अपप्रयोग**—यहां **''तर्क''** के स्थान पर **''तर्कवान्''** विशेषण-पद अपेक्षित है। यह त्रुटि दोनों हस्त० और सभी सं० में है।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में **''सज्जन''** महत्त्वपूर्ण पद त्रुटित है। मूलह० में है।

८. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मुद्रणह० में यह अप-शीर्षक है—**''पढ़ने में अयोग्य''**। द्विप्र० में इसको शुद्ध पाठ बना दिया—**''पढ़ाने में अयोग्य''**। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है। जग में अशुद्ध प्रयोग है, शेष सं० में संशोधित है।

९. **त्रुटित पद**—द्विप्र० में **''भारत''** अपूर्ण नाम है। दोनों हस्त०, दोनों सं० और ग्रन्थ में अन्यत्र (पृ० १९८) पूर्णनाम है।

अर्थ—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा-न सुना, [और][१] अतीव घमण्डी, दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेहारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग 'मूढ़' कहते हैं॥ १ ॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो, उच्च आसन पर बैठना चाहे, विना पूछे सभा में बहुत-सा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे, वही 'मूढ़' और सब मनुष्यों में 'नीच मनुष्य'[२] कहाता है॥ २ ॥

जहां ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक और गुरु माननीय होते हैं, वहां अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दु:ख ही बढ़ता जाता है।

अब विद्यार्थियों के लक्षण[३]—

आलस्यं मदमोहौ[४] च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव[५] च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः॥ १॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति[६] विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥ २॥

ये भी [महाभारत] विदुरप्रजागर के श्लोक हैं [अध्याय ४०।५, ६]।

(**आलस्यम्**) शरीर और बुद्धि में जड़ता, **नशा-मोह**=किसी वस्तु में फसावट, चपलता, और

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' योजक पद अत्यावश्यक है।

२. **नीच मनुष्य**=निकृष्ट कोटि या निम्न स्वभाव का मनुष्य।

३. **अपप्रयोग और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में एकवचनात्मक "**विद्यार्थियों का लक्षण**" अपप्रयोग है। अनेक लक्षण होने से बहुवचन अपेक्षित है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

४. **स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा अशुद्ध अर्थ**—विद्यार्थियों के सात दोष गिनते हुए **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** जैसे कई सम्पादक भ्रमित हो गये हैं और सामान्य दृष्टि से वे इन्हें आठ मान बैठे—"**ये आठ दोष.....हैं।**" यहां इस आपत्ति को करने से पहले सभी पाठक एक बात का गम्भीरता से विचार करें। यह उपदेश मुनि विदुर ने दिया, उद्भट काव्यप्रणेता महर्षि व्यास ने संकलित-निरीक्षित किया, महर्षि दयानन्द ने दो ग्रन्थों में एक समान पाठ उद्धृत किया, क्या तीनों ऋषि-मुनि इस दोष से अनभिज्ञ रहे? ऐसा नहीं हो सकता। यहां जरूर रचनागत वैशिष्ट्य है। और वह यह है कि वस्तुत: "**मदमोहौ**" एक ही दोष है। इसमें द्विवचन का प्रयोग इस दोष के दो आन्तरिक भेद होने के कारण किया गया है। '**मद**' मदिरा आदि के बाह्यसेवन से नशे में फंसाता है और '**मोह**' मानसिक स्तर पर संसार में फंसाने वाला भाव है। दोनों ही भाव आदमी को '**मूढ़**' या '**विमूढ़**' बना देते हैं। अत: एक ही दोष के ये दो आन्तरिक भेद हैं—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। दोनों का एक ही अर्थ है—"किसी वस्तु में फसावट।" द्विप्र० में विरामचिह्नों के अपप्रयोग के कारण तथा कुछ सम्पादकों द्वारा पाठ को सही रूप में न समझने के कारण यह अर्थभ्रान्ति हुई है। उपर्युक्त विरामचिह्नों के प्रयोग से यह पाठ समझ में सही आ जाता है। वेस, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में आज भी अपविराम चिह्न हैं, 'मद' और 'मोह' के मध्य अल्पविराम है जो अशुद्ध है।

५. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और भ्रष्ट उद्धरण-पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में बिना अवग्रह के यह भ्रष्टपाठ है—"**तथा त्यागित्वमेव च**"। इससे विपरीत अर्थ प्रकट होता है। यह त्रुटि लिपिकरों की असावधानी से हुई है। शोधक भी महाप्रमादी थे जो इतनी गम्भीर त्रुटि को शुद्ध नहीं किया। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में अब संशोधित है।

६. **अप-संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**नास्ति**" शुद्धपाठ है। यहां द्वि०सं० "**कुतः**" है। द्वि० सं० में अशुद्ध है।

इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना-सुनना, पढ़ते-पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी, अत्यागी होना, ये सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं॥ १ ॥ जो ऐसे हैं उनको विद्या कभी नहीं आती।

सुख भोगने की इच्छा करनेवाले को विद्या कहां ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहां ? इसलिये[१] विषयसुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे। ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती॥ २ ॥

और ऐसे को विद्या होती है—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम्॥ १ ॥

[महाभारत, अनुशासन पर्व अ० ७५, श्लोक ३७-३८]

जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय [हों][२] और जिनका वीर्य अधःस्खलित कभी न हो, उन्हीं का ब्रह्मचर्य सच्चा [है] और वे ही विद्वान् होते हैं॥ १ ॥

इसलिये शुभलक्षणयुक्त, अध्यापकों और विद्यार्थियों को होना चाहिये।

अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें, जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्य, जितेन्द्रिय [और][२] सुशीलतादि शुभगुणयुक्त [होकर][३] शरीर और आत्मा का पूर्ण बल[४] बढ़ाके समग्र वेदादि-शास्त्रों में विद्वान् हों। सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने [में][५] और विद्या बढ़ाने में चेष्टा किया करें और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़ानेहारों में प्रिय,[६] विचारशील, परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, पूर्ण धर्मात्मता [बढ़ाना][७] और पुरुषार्थ करना आ जाय, इत्यादि ब्राह्मण-वर्णस्थों[८] के काम हैं।

क्षत्रियों के[९] कर्म राजधर्म में कहेंगे।

जो **वैश्य** हों, वे ब्रह्मचर्यादि से **'वेदादि-विद्या'** पढ़, विवाह करके, **नाना**[१०] देशों की भाषायें,[११]

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में ''**क्योंकि**'' के स्थान पर '**इसलिये**', प्रयोग उपयुक्त है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और सभी सं० में ''**हों**'' क्रिया अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसी प्रकार विशेषणों और भाववाचक पदों के मध्य ''**और**'' योजक पद का परिवर्धन आवश्यक है, अन्यथा अप-वाक्य रचना होगी।

३-५. **मुद्रणकालीन तथा त्रुटित आवश्यक पद**—मुद्रणकाल में ''**बल**'' पद त्रुटित रह गया है। दोनों हस्त० में है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**होकर**' और '**में**' पद त्रुटित हैं।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**प्रेम**' अनुपयुक्त पाठ है, यहां ''**होकर**'' क्रिया के सम्बन्ध से '**प्रिय**' विशेषण उपयुक्त पाठ होगा। वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है। जग में ''**पढ़नेहारों में प्रेम**'' अपपाठ है।

७. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—मूलह०, मुद्रण० में उपर्युक्त शुद्ध पाठ है। मुद्रणकाल में यह अशुद्ध पाठ छपा है—''**परिपूर्ण धर्म.... आ जाय**''। यह निरर्थक पाठ है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**ब्राह्मण वर्णों/ वर्ण**'' पाठ है। यहां ''**ब्राह्मणवर्णस्थों**'' सही पाठ होगा। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० १९७/१५ में ''**ब्राह्मणवर्णस्थ**'' प्रयोग है। वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० ''**क्षत्रियों का कर्म**'' अपपाठ है, बहुवचनात्मक ''**क्षत्रियों के कर्म**'' शुद्ध प्रयोग है।

१०. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यह पूरा वाक्य ''**जो वैश्य हों.....नाना**'' तक छूटा हुआ है। यह पंक्ति मुद्रणहस्तलेख के प्रमादी लिपिकर से छूटी है। मूलह०, मूलसं० में है। अन्य सभी सं० ने भी इस पाठ को विना किसी विवाद के ग्रहण कर लिया है।

११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**भाषा**' एकवचनान्त अपप्रयोग है।

नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना; बेचना-खरीदना, द्वीप-द्वीपान्तरों में लाभार्थ जाना-आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन को बढ़ाना, **विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना,** सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना [आदि करें]। सब वस्तुओं की रक्षा ऐसे करनी, जिससे कोई नष्ट न होने पावे।

शूद्र सब सेवाओं में चतुर, '**पाकविद्या**' में निपुण [हो],[१] अतिप्रेम से द्विजों की सेवा और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे। **और द्विज-लोग इसके खान-पान, वस्त्र, स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो, सब कुछ देवें, अथवा मासिक कर देवें।**

चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुःख, हानि-लाभ में ऐकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन-मन-धन व्यय करते रहैं।

स्त्री और पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिये। क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।[२]
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च[३] नारीसन्दूषणानि षट्॥ १॥ [मनु० ९।१३]

मद्य, भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना; दुष्ट पुरुषों का संग; पति से वियोग[४]; अकेली जहां-तहां व्यर्थ, पाखण्डी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना और पराये घर में शयन[५] वा वास करना; ये छः स्त्री को दूषित करनेवाले दुर्गुण हैं; **और ये पुरुषों के भी हैं।[६]**

पति और स्त्री का वियोग दो प्रकार का होता है—[प्रथम],[७] कहीं कार्यार्थ देशान्तर में जाना; और दूसरा, मृत्यु से वियोग होना। इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे तो स्त्री को भी साथ रक्खे। इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिये।

प्रश्न—स्त्री और पुरुष के बहु-विवाह होने योग्य हैं वा नहीं?[८]

उत्तर—युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं।

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह भी होने चाहियें?[९]

उत्तर—हां, जैसे—

१,७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः दोनों पद त्रुटित हैं। शैली की एकरूपता हेतु आवश्यक हैं।

२-३. **अप-उद्धरण-पाठ**—दोनों हस्त० और तदनुसार द्विप्र० में ये दोनों अपवर्तनियां हैं। "**विरहोटनम्**" "**स्वप्नोन्यगेहवासः**"। द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी में संशोधित हैं।

४,५. **मुद्रणलिपिकरकृत व मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—"**पति से वियोग**" के स्थान पर द्विप्र० में "**पति वियोग**", मुद्रणप्रति में "**पराये घर जाके शयन**" व्यर्थ पाठान्तर हैं। पराये घर में शयन बिना जाये तो नहीं होता?

६. **ऋषि द्वारा अध्याहार**—ग्रन्थकार ने अध्याहार शैली के माध्यम से, स्त्रियों के लिए वर्णित दूषणकर्म पुरुषों के भी माने हैं। संविधान में इसी प्रकार की समानता होती है। यह ऋषि की ऊहा है।

८. **अपवाक्य**—हस्तलेख-शोधक "**स्त्री और पुरुष का बहुविवाह होना योग्य है वा नहीं?**" इस वाक्य को शुद्ध करना छोड़ गया। यह बहुवचनान्त होना चाहिए। दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक अशुद्ध है। '**बहु**' प्रयोग के सम्बन्ध से बहुवचन आयेगा। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

९. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**क्या समयान्तर में अनेक विवाह भी होना चाहिये?**"। द्वि०सं०, वेस, जग में संशोधित है किन्तु भद, युमी, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्याद्[१] गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ १॥ [मनु० ९।१७६]

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणसंस्कार-मात्र हुआ हो और संयोग न हुआ हो[२] अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री [और][३] अक्षतवीर्य पुरुष हो तो उस स्त्री वा पुरुष का अन्य पुरुष वा स्त्री से पुनर्विवाह होना चाहिये। और शूद्रवर्ण में चाहे कैसा ही हो, पुनर्विवाह हो सकता है,[४] किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री [और][५] क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये।[६]

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष हैं?

उत्तर—(पहला) स्त्री-पुरुष में प्रेम न्यून होना। क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध कर ले।

(दूसरा) जब स्त्री वा पुरुष, पति [वा] स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहेंगे, तब पूर्व-पति वा प्रथम-स्त्री के पदार्थों को उड़ा ले जाना और उनके कुटुम्बवालों का उनसे झगड़ा करना।[७]

(तीसरा) बहुत-से भद्रकुलों[८] का नाम वा चिह्न भी न रहकर, उनके[९] पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना।

(चौथा) पातिव्रत्य और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना।

---

१. **पाठान्तर**—मनुस्मृति के वर्तमान पाठों में "**सा चेदक्षतयोनिःस्यात्**" पाठ मिलता है।

२-५. **मुद्रणलिपिकर की दुर्भावना से मुद्रणह० में त्रुटित पाठ**—यहां श्लोकार्थ में क्रमशः, मूलप्रति सं० में "**न हुआ हो**", तथा दोनों सं० में दोनों स्थानों पर '**और**' योजक पद त्रुटित हैं। मुद्रणप्रति में मुद्रण-प्रतिलिपिकर ने "**और शूद्रवर्ण.....पुनर्विवाह हो सकता है**" महत्त्वपूर्ण वाक्य छोड़ दिया है। प्रतीत होता है कि पुनर्विवाह विधायक यह वाक्य जान-बूझकर छोड़ा गया है, क्योंकि यह क्रान्तिकारी कथन तत्कालीन लिपिकरों के रूढ़िवादी संस्कारों को आहत करनेवाला था। अतः अवसर मिलते ही उन्होंने इसे उड़ा दिया। उनके कुंठित मतानुसार '**विधवा-विवाह**' पाप माना जाता था चाहे किसी वर्ण या जाति का हो।

पाठ-पुष्टि—महर्षि ने यह मन्तव्य 'उपदेश मंजरी' के प्रवचन १२ पृ० ७९ पर भी यथावत् वर्णित किया है—"विधवा विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था।" अपितु वहां यह भी संकेत कर दिया है कि '**किसी भी विधवा-विवाह का विरोध करना मेरा लक्ष्य नहीं है।**' महर्षि यह भी लिखते हैं—"**क्या.....विधवा स्त्रियों....के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो?**" (स०प्र० २१२/११)। "**जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे**" (उपदेशमंजरी, पृ० ७९)। मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित यही पाठ आज भी द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में छप रहा है।

६. **ऋषि द्वारा पुंल्लिग विधान का अध्याहार**—श्लोकार्थों में ग्रन्थकार ने स्त्रीलिंग-प्रयोगों के साथ पुंल्लिग-सम्बन्धी निर्देशों का अध्याहार भी किया है। व्यवहार और संविधान में यह परम्परा है कि पुंल्लिग से यथायोग्य स्त्रीलिंग-सम्बन्धी निर्देशों का और स्त्रीलिंग से यथायोग्य पुंल्लिग-सम्बन्धी निर्देशों का वर्णन हुआ करता है। जैसे—'**चोर को दण्ड दो**' **कहने का यह भी अर्थ है कि चोर महिला हो तो उसको भी दण्ड दो। इसी प्रकार** '**स्त्री धर्मानुष्ठान करे**' निर्देश में पुरुष का अधिकार स्वतः समाहित है। यह 'प्राकृतिक या व्यावहारिक न्याय' के आधार पर ऊहा करना भाष्यकारों का कार्य है। महर्षि द्वारा यहां पुंल्लिग अर्थ का अध्याहार करना शास्त्रों की गम्भीरता को उद्घाटित करना है।

७. **अपूर्ण एवं अपपाठ**—दोनों हस्त० में इस अनुच्छेद की भाषा एक जैसी है, जो अस्पष्ट एवं अपूर्ण है—"**दूसरा, जब स्त्री वा पुरुष पति मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें तब प्रथम स्त्री के पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना और उनके कुटुम्ब वाले उनसे झगड़ा करना!**" द्विप्र० व द्वि०सं० में तथा मूलसं० में इसको अपने-अपने ढंग से संशोधित किया है। तीन त्रुटियां दोनों में समान हैं—१. "**पति स्त्री मरने के पश्चात्**" अपपाठ है, २. सभी सं० में "**प्रथम स्त्री के पूर्वपति के**" अशुद्ध पाठ है, वहीं अपक्रम में भी है। कर्त्ता "**स्त्री वा पुरुष**" के सम्बन्ध से "**पूर्वपति वा प्रथम स्त्री**" पाठ वांछित है। ३. "**उनके कुटुम्ब वाले**" वाक्यांश द्विप्र० में उपर्युक्त रूप में संशोधित है। सभी सं० में यहां अब भी अस्त-व्यस्त अपपाठ है।

८-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में "**भद्रकुल**" और "**उसके**" एकवचनात्मक पद अपप्रयोग हैं।

इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होने चाहियें।[१]

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जायगा, तब उसका कुल भी नष्ट हो जायगा।[२] और स्त्री-पुरुष व्याभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत-से दुष्ट कर्म करेंगे। इसलिये पुनर्विवाह का होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं; क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहें, तो कोई भी उपद्रव न होगा। और जो कुल की परम्परा रखने के लिये कोई स्वजाति[३] का लड़का गोद ले लेंगे, उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा। **और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।**[४]

---

१. **अपपाठ**—दोनों ही हस्त०, तीनों सं० में "**पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिये**" अपवाक्य है। बहुवचनात्मक पाठ अपेक्षित है। पूर्ववाक्य में द्विप्र० में "**पातिव्रत्य**" के स्थान पर "**पतिब्रत**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में भी अपपाठ हैं।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा दुराग्रहपूर्ण व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में पुनर्विवाह निषेध के लिए "**नहीं**" के स्थान पर "**नहीं नहीं**" व्यर्थ पाठान्तर है। यही द्विप्र० आदि में छप रहा है।

३. **पुनरुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**अपने स्वजाति का लड़का**" पुनरुक्त अपपाठ है। "**अपने**" और "**स्व**" एकार्थक हैं। लिंग प्रयोग भी अशुद्ध है। यही पुनरुक्त, अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० है।

४. **(क) नियोग प्रथा का स्वरूप**—नियोग प्रथा, वैदिक कालीन समाज में, **केवल आपत्काल के लिए** एक सहज स्वीकार्य प्रथा रही है। परिवार के सुख, पूर्णता तथा वंश के संरक्षण और उन्नति के लिए इस प्रथा का प्रचलन हुआ था। यह प्राचीन काल से लेकर पुराणकाल तक मिलती है। पांच पाण्डव, धृतराष्ट्र, विदुर आदि दर्जनों प्राचीन राजा, ऋषि-मुनि नियोगज सन्तानें थीं। पति या पत्नी की मृत्यु हो जाने पर अथवा पति या पत्नी के असाध्य रोग से ग्रस्त होने पर सन्तानार्थ यह विधि अपनाई जाती थी जो परिवार-संस्था को बचाने का उपयोगी उपाय थी। कई और विशेष कारण हैं, प्राचीन राजतन्त्रों में अनेक युद्ध होते रहते थे, उनमें हजारों-लाखों लोग मारे जाते थे। कभी महामारियों से घर-के-घर उजड़ जाते थे। उस स्थिति में गृहस्थ या स्त्री-हित का अन्य कोई उपयोगी उपाय नहीं हो सकता था। वैदिक सभ्यता में बहुविवाह वर्जित था, स्त्रियों का न विवाह होना सम्भव था, न ही उस अराजक स्थिति में सन्तानरहित एकाकी रहना सम्भव था। वैसी ही आपत्कालीन स्थितियों में इस प्रथा का मूल्यांकन करना चाहिये, सामान्य स्थिति में नहीं; क्योंकि यह सामान्य स्थिति की प्रथा ही नहीं है। इस पर भी ग्रन्थकार ने पृ० २१२/१५ में स्पष्ट लिखा है कि "**जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है।**"

कुछ लोग नियोगप्रथा को सुन-पढ़ कर नाक-भौं चढ़ाते हैं और महर्षि दयानन्द पर आपत्ति करते हैं। वे लोग पहले यह जान लें कि यह महर्षि दयानन्द द्वारा आविष्कृत प्रथा नहीं है। महर्षि दयानन्द ने वेदादि-शास्त्रों के निर्देशानुसार वैदिक प्रथा का प्रस्तुतीकरण और समर्थन मात्र किया है। इस पर उनका अत्यन्त आग्रह नहीं था। उन्होंने '**उपदेश मञ्जरी**' में स्पष्ट लिखा है कि "**विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है**" (उपदेश १२)। इसी निर्देश के अनुसार आर्यसमाज ने विधवा-विवाह के समर्थन में आन्दोलन चलाया और विधवा विवाह शुरू किये जबकि पौराणिक वर्ग इसका कठोर विरोध करता रहा है।

ऐसे लोगों को आलोचना करने से पूर्व सामाजिक मनोविज्ञान व इतिहास पर विचार करना चाहिये। जिस समाज में जो प्रथा प्रचलित होती है वह अपने समय में इतनी सहज होती है कि उसको घृणित होते हुए भी लोग सहजतया स्वीकार करते हैं, जैसे—हिन्दुओं में घृणित शिवलिंग पूजा और जैनियों तथा नागा साधुओं में पूर्णनग्न रहने की असभ्य प्रथा। उनको इनमें असहजता प्रतीत नहीं होती, जबकि चिन्तन करने पर सभ्य समाज के लिए ये प्रथाएं अत्यन्त असभ्य और घृणास्पद सिद्ध होती हैं। ऐसे ही कभी नियोगप्रथा समाजस्वीकृत, सहज और मर्यादित प्रथा थी, विवाह की तरह। आज भी है, और प्रायः सभी समाजों में है।

(ख) यूरोप और बाइबल में नियोग परम्परा—जिस यूरोपीय संस्कृति, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, खान-पान आदि का अनुकरण और गुणगान करने में आज अधिकांश जन गौरव का अनुभव करते हैं, उसमें कई प्रकार की नियोगप्रथाएं आज भी प्रचलित हैं। जैसे—वीर्यबैंकों की स्थापना करके कृत्रिम गर्भाधान द्वारा इच्छित रूप और गुणवाली सन्तानों की प्राप्ति वहां की जा रही है। किराये की माताओं से सन्तान प्राप्त करना कानूनी रूप से मान्य और समाज-स्वीकृत है। बिना विवाह के स्त्रियों से सन्तानोत्पत्ति की जा रही है। एक सन्तान किसी की है तो दूसरी किसी की। धनप्राप्ति के लोभ में '**किराये की मां**' का प्रचलन यूरोप के अनुकरण पर भारत में भी होने लगा है। वहां यौन-सम्बन्धों की बेहद स्वच्छन्दता है। यहां तक कि बेहद घृणित प्रथा 'समलैंगिक विवाह' आज सारे यूरोप में कानूनी मान्यताप्राप्त है, जो मनुष्य की पशु से भी पतित अवस्था है। किन्तु आज वहां के समाज में, तथा भारतीय समाज में भी ये प्रथाएं सहज स्वीकार्य हैं। हम उनकी आलोचना न करके उनकी संस्कृति को महान्

मानकर उनकी ओर झुके जा रहे हैं। जबकि हमारे यहाँ तो नियोग केवल आपत्काल में विहित है और उसमें भी उपकार भावना और मर्यादा विधि थी। जब उपर्युक्त यूरोपीय घटनाओं के संदर्भ में हम सोचेंगे तब आलोचकों को नियोग असहज नहीं लगेगा। अत: नियोग-वर्णन को आपत्कालीन सन्दर्भ में और सहज स्वीकृत प्रथा के रूप में लेने की आवश्यकता है।

बाइबल, जिसको कि यहूदी और ईसाई अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं, उसमें अनेक स्थलों पर नियोग का विधान आता है। वह वर्णन यह सिद्ध करता है कि प्राचीनकाल में यह प्रथा विश्वव्यापी थी और धर्म के अनुसार स्वीकृत थी। पाठक इस बात पर ध्यान दें कि बाइबल में नियोग करना अनिवार्य माना है जबकि भारत में ऐच्छिक था। कुछ प्रमाण बाइबल की भाषा में ही प्रस्तुत हैं—

(अ) सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १३ में महर्षि ने आयतखण्ड संख्या ३७ दी है जिसमें नियोग का वर्णन इस प्रकार है—''यहूदाह का पहिलौठा 'एर' परमेश्वर की दृष्टि में दुष्ट था, सो परमेश्वर ने उसे मार डाला। तब **यहूदाह** ने **ओनान** (एर के छोटे भाई) को कहा कि''**अपने भाई की पत्नी के पास जा और उसके साथ देवर का धर्म पूरा करके उससे अपने भाई के लिए वंश चला।**'' (उत्पत्ति, पर्व ३८.७-८)

(आ) सत्यार्थप्रकाश समु० १३, आयतखण्ड संख्या २४ में, सर: (सारा) जोकि यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों की मूलमाता मानी गई है तथा जिसका पति इब्राम (इब्राहिम) मूलपिता माना गया है, उनका वर्णन है। सर: को बड़ी अवस्था में किसी पैगम्बर से नियोगज पुत्र प्राप्त हुआ था जिसका नाम **इसहाक** था। देखिए बाइबल में उसका उल्लेख—

''**नियम समय में अर्थात् वसन्त ऋतु में मैं तेरे पास फिर आऊँगा और सारा के पुत्र उत्पन्न होगा।**'' (उत्पत्ति, पर्व १८.१४),''**अपने कहने के समान परमेश्वर ने सर: से भेंट किया और अपने वचन के समान परमेश्वर ने सर: के विषय में किया॥ और सर: गर्भिणी हुई।**'' (उत्पत्ति, पर्व २१.१-२)। इसपर ग्रन्थकार की समीक्षा आयतखण्ड २४ पर द्रष्टव्य है।

(इ) अब देखिए बाइबल में नियोग का अनिवार्य विधान, जिसपर कई टीकाकारों ने '**नियोग**' शीर्षक भी दिया है—''**जब कई भाई संग रहते हों, और उनमें से एक निपुत्र मर जाए, तो उसकी स्त्री का ब्याह परगोत्री से न किया जाए; उसके पति का भाई उसके पास जाकर उसे अपनी पत्नी करले...॥ जो पहिला बेटा उस स्त्री से उत्पन्न हो, वह उस मरे हुए भाई के नाम ठहरे....॥ यदि उस स्त्री के पति के भाई को उसे ब्याहना न आए, तो वह स्त्री नगर के फाटक पर वृद्ध लोगों के पास जाकर कहे कि....यह मुझसे पति के भाई का धर्म पालन करना नहीं चाहता॥ तब उस नगर के वृद्ध लोग उस पुरुष को बुलवाकर समझाएं, और यदि वह अपनी बात पर अड़ा रहे... तो उसके भाई की पत्नी उन वृद्ध लोगों के सामने उसके पास जाकर उसके पांव से जूती उतारे और उसके मुंह पर थूक दे....॥ तब इस्राएल में ऐसे पुरुष का यह नाम (निन्दाबोधक) पड़ेगा.....'जूती उतारे हुए पुरुष का घराना'।** (व्यवस्था विवरण, पर्व २५, आयत ५-१०)।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि देवर से नियोग और देवर से विवाह की परम्पराएं यहूदियों और ईसाइयों में अनिवार्य थीं, और ये बाइबल में विहित हैं। पाठक उक्त विवरण में वर्णित दो परम्पराओं के अन्तर को इस प्रकार समझें। जब कोई पुरुष किसी की पत्नी से सन्तान उत्पन्न करता है और वह सन्तान उस स्त्री और उसके पति के वंश की कहाती है तो वह 'नियोग' कहलाता है। जब उसी समागमकर्त्ता पुरुष के वंश की सन्तान कहलाती है तो वह 'पुनर्विवाह' कहा जाता है। इस प्रकार से ये विश्वव्यापी परम्पराएं थी; और हैं। ये परम्पराएं चाहे किसी भी रूप में हों, मनुष्य समाज की आवश्यकताएं सदा से रही हैं, आज भी हैं और भविष्य में रहेंगी। किन्तु नियोग के सम्बन्ध में महर्षि की आलोचना करने वाले लोग 'बाइबल' और यहूदी तथा 'ईसाई-समाज' की आलोचना बिल्कुल नहीं करते। क्या बाइबल में विहित नियोग उनको स्वीकार्य है और महर्षि-वर्णित अस्वीकार्य है ?

(ग) प्राचीनकाल में भारत में नियोग परम्परा—महर्षि ने प्राचीन नियोग-प्रथा को प्रस्तुत करने से पूर्व पृ० २०४ पर तीन विकल्प दिये हैं—**१. जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य से रहना चाहें तो यह पद्धति उपद्रवरहित है। २. कुल-परम्परा को बनाये रखने के लिए किसी अपने कुल या स्ववर्ण के बालक को गोद ले लें। ३. तीसरे विकल्प में नियोग के शास्त्रीय विधान का उल्लेख है।** इसको केवल महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत विधान नहीं कहा जा सकता अपितु आचार्य सायण ने भी ऋग्वेदभाष्य में ''**उदीर्ष्व नार्यभि**'' इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए नियोग का विधान किया है (१०.१८.८)। ''**कुह स्विद्दोषा कुह...**'' (ऋग्० १०.४०.२) पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण विधवा को देवर से नियोग करने का विधान करते हैं—''**शयुत्रा=शयने, विधवेव=यथा मृतभर्तृका नारी, देवरम्=भर्तृभ्रातरम् अभिमुखी करोति...**''=जैसे पति के मरने पर विधवा देवर=पति के भाई को अथवा द्वितीय वर से सम्भोग करती है (और नियोगज सन्तान उत्पन्न करती है)। यही दुर्गाचार्य का मत है। निष्कर्ष यह है कि पौराणिक भाष्यकार भी वेदों में नियोग का निर्देश मानते हैं। उनके '**ऋग्विधान**' में भी नियोग का विधान है (अ० ३, श्लोक ४४, ४५)। किन्तु नियोग के आलोचक कभी पौराणिक आचार्यों की आलोचना नहीं करते।

(घ) नियोग की प्रथा का उल्लेख वेदों से लेकर पुराणों तक मिलता है और इसका इतिहास रामायण, महाभारत, स्मृतियों तथा पुराणों तक में है, जो इसको तत्कालीन समाजस्वीकृत सहज प्रथा सिद्ध करता है। वसिष्ठ स्मृति अ०१८ में नियोग का विधान है। भागवत-पुराण में नियोगज सन्तानों का विवरण दिया है। वैदिक कालीन राजा **पृषदश्व** के पुत्र **रथीतर** को सन्तान न होने पर

उसने अंगिरा मुनि से नियोगज पुत्र उत्पन्न किये जो 'आंगिरस' कहलाये। राजा कल्माषपाद की पत्नी **मदयन्ती** से ऋषि वसिष्ठ ने नियोग से सन्तान उत्पन्न की थी (स्कन्ध ९, अ० ९)। बलि को सन्तान नहीं हुई, तब उनकी **पत्नी सुदेष्णा** से दीर्घतमा मुनि ने नियोगज सन्तान उत्पन्न की। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार, केसरी और अंजना दम्पती का पुत्र **हनुमान्** नियोगज पुत्र था, जो देवसमुदाय के किसी वायु वंशी (वायुदेव) का पुत्र था (युद्ध० ३०.२२,२५; उत्तर० १३.१४-४९)। इसी प्रकार बाली और सुग्रीव को भी क्रमशः इन्द्र और सूर्य का नियोगजपुत्र वर्णित किया है (वा०रामा० १.१७.१०)। महाभारत और प्रायः सभी पुराणों में इसका बार-बार उल्लेख है कि जब परशुराम और क्षत्रियों के युद्ध में अनेक क्षत्रिय मारे गये थे, तो क्षत्रियों की विधवाओं ने ब्राह्मणों से नियोग करके सन्तानें प्राप्त की थीं (महा०आदि० अ० १०४.१७७)। महाभारत-कालीन उदाहरण ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में प्रस्तुत ही किये हुए हैं (द्रष्टव्य, महाभारत, आदिपर्व १०३, १०४ आदि अध्याय)।

'**गौतम धर्मसूत्र**' कहता है कि जीवित पति के असमर्थ होने पर अथवा पति के मरने पर उसकी स्त्री देवर से नियोग करके सन्तान प्राप्त कर सकती है (१८.४-१४)। '**वसिष्ठ धर्मसूत्र**' आदेश देता है कि पति की मृत्यु के बाद पुत्रहीन स्त्री का पिता या पति का भाई गुरुजनों एवं सम्बन्धियों की अनुमति से नियोग करायें (१७.५६-६५)। '**बौधायन धर्मसूत्र**' विधवा या रुग्ण और नपुंसक पति के उत्पन्न नियोगज पुत्र का 'क्षेत्रज' के रूप में वर्णन करता है (१.६८-६९)। '**कौटिल्य अर्थशास्त्र**' में आचार्य चाणक्य ने लिखा है कि पुत्रहीन राजा की पत्नी को और ब्राह्मण की पुत्रहीन पत्नी को समान गुणवाले व्यक्ति से नियोग करके सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए (१.१७; ३.६ आदि)। '**नारद स्मृति**' में भी नियोग से दो पुत्र प्राप्त करने का निर्देश है (स्त्री-पुंस० ८०-८३)। इस प्रकार नियोग की लम्बी परम्परा व इतिहास है। ग्रन्थकार ऋषि ने उसी परम्परा को प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास में नियोगज सन्तानों के दर्जनों उदाहरण मिलते हैं। विशेष बात यह है कि सहजभाव से सम्मान और गौरव के साथ उनका नामोल्लेख किया जाता है। यहां कुछ प्रमाणों को मूलरूप में उद्धृत किया जा रहा है—

(अ) '**वाल्मीकि रामायण**' में अनेक स्थलों पर हनुमान् को '**वायुपुत्र**' कहा गया है। उसका कारण और विवरण इन श्लोकों में मिलता है—

सूर्यदत्तवरस्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः। यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता।
तस्य भार्या बभूवेष्टा अञ्जनेति परिश्रुता। जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम्॥ (उत्तर० ३५.१९-२०)

अर्थ—सूर्य के प्रकाश के पड़ने से जिसका स्वरूप स्वर्णमय लगता है, ऐसा सुमेरु नामक पर्वत है, जहां केसरी राजा राज्य करता है। उसकी प्रिय पत्नी अञ्जना है। उसमें देववंशी वायुदेव ने नियोग से हनुमान् को उत्पन्न किया है।

(आ) महर्षि व्यास ने माता **सत्यवती** के आग्रह पर निर्धारित विधि से जो नियोगज सन्तान उत्पन्न की उसका विवरण है—

ततोऽम्बिकायां प्रथमः नियुक्तः सत्यवागृषिः॥ ४॥ सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम्॥ १३॥
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत....अम्बालिकाम्... ॥ १४॥ ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत्। पाण्डुं.... ॥ २१॥
स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः। धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः॥ २८॥ (आदिपर्व० १०५.अ०)

अर्थ—माता सत्यवती ने व्यास ऋषि को पहले अम्बिका से नियोग करने के लिए नियुक्त किया। समय आने पर उसने अन्धे पुत्र **धृतराष्ट्र** को उत्पन्न किया। उसी नियोगविधि से महर्षि व्यास अम्बालिका के पास गये। समय आने पर उसने पाण्डु नामक पुत्र को जन्म दिया। इसी प्रकार दासी में, कृष्ण द्वैपायन व्यास से **विदुर** उत्पन्न हुआ। यह धृतराष्ट्र और **पाण्डु** का भाई था॥

(इ) महाभारत में पांचों पांडवों को नियोग से उत्पन्न पुत्र बताया है। राजा पाण्डु सन्तानोत्पादन की शक्ति से रहित थे। उन्होंने अपनी पत्नी कुन्ती को स्वयं आदेश दिया—

तस्मात् प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात् स्वयम्। सदृशात् श्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि॥ (आदिपर्व० ११९.३७)
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थे धर्ममच्युतम्॥ १॥ सा तं विहस्यमानापि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम्॥ ४॥
संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह। लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां द्वितम्॥ ५॥ (आदिपर्व० १२२)

अर्थ—पाण्डु ने अपनी पत्नी कुन्ती से कहा, क्योंकि मैं सन्तानोत्पादन शक्ति से रहित हूँ, इस कारण तुम्हें किसी बराबर या उत्तम स्तर के व्यक्ति से सन्तान प्राप्त करने का निर्देश देता हूं। जाओ, तुम सन्तान प्राप्त करो। कुन्ती ने सन्तानप्राप्ति के लिए धर्मदेव नामक या किसी धर्म-वंशी व्यक्ति का आह्वान किया=उससे नियोगार्थ निवेदन किया कि 'आप मुझे एक पुत्र प्रदान करें।' धर्मदेव जो योगियों के वेश में रहते थे, उनसे संयुक्त होकर कुन्ती ने सब प्राणियों के हित करने वाले **युधिष्ठिर** को प्राप्त किया।

आगे वायुदेव नामक व्यक्ति या किसी वायुवंशी से **भीम** और इन्द्रदेव नामक या किसी इन्द्रवंशी देवसमुदाय के व्यक्ति से नियोग करके कुन्ती द्वारा **अर्जुन** नामक पुत्र प्राप्त करने का उल्लेख है (आदिपर्व० १२२.१२-१४, २८-३५)। इसी प्रकार माद्री ने भी पति पाण्डु और बड़ी रानी कुन्ती की अनुमति लेकर अश्विन् वंशी दो व्यक्तियों से नियोग करके **नकुल** और **सहदेव** प्राप्त किये (आदिपर्व १३३.१६-१७)।

(ई) वैदिक साहित्य में सत्यकाम जाबाल की घटना प्रसिद्ध है। वस्तुतः वह नियोगज पुत्र ही था, अवैध नहीं। हाँ, पुत्रप्राप्ति के समय सेवाकार्य में संलग्न उसकी माता को यह ज्ञान नहीं हो पाया कि वस्तुतः वह किसके नियोग से उत्पन्न है। इस कारण उसने कहा कि मैं गोत्र नहीं बता सकती। इस मान्यता में यह युक्ति है कि जब उस समय नियोग से सन्तान प्राप्त करना वैध और सम्मानित था तो उसकी माता अवैध रूप से सन्तान क्यों उत्पन्न करती? छान्दोग्य के प्रकरण में उसकी माता ने यह नहीं कहा कि ''पुत्र हो गया'', अपितु यह कहा है कि ''**त्वाम्-अलभे**''=तुझे मैंने पुत्र की कामना करके प्राप्त किया है। और इसका उपाय उस समय नियोग ही था (छान्दोग्य उप० ४.४.२-५)

पाठक, **बाइबल** के और भारतीय सन्दर्भों में इस सहजता पर ध्यान दें कि नियोग के प्रसंग में कहीं कोई असहजता, अपराधबोध, कामुकता, लज्जा या मर्यादाहीनता का भाव नहीं है। सारा व्यवहार बहुत सामान्य है और ऐसे पुत्रों की प्राप्ति पर परिवार और समाज में खुशियां मनाने का वर्णन है। **बाइबल में तो नियोग कानूनन अनिवार्य घोषित किया हुआ है जबकि वैदिक परम्परा में स्वैच्छिक और स्त्री-पुरुष की पारस्परिक प्रसन्नता पर निर्भर है।** (द्र०पृ० २०९ की टिप्पणी ६)

(उ) भारत में अब भी नियोग-प्रथा है—ऊपर यूरोप में प्रचलित नियोग की जिन प्रथाओं का उल्लेख किया गया है, वे भारत में भी प्रचलित हैं। '**किराये की माँ**'' (सरोगेट मदर) बनने वाली स्त्रियों की संख्या लाखों में है और यह एक व्यवसाय बन गया है जिसमें स्त्रियां ८-१० लाख रुपये लेकर संभोग द्वारा किसी की सन्तान उत्पन्न करती हैं। यह नियोग का निकृष्ट व्यावसायिक रूप है। भारत में तो नियोग केवल सन्तानप्राप्ति की पवित्र और मानवीय भावना से होता था। स्थान-स्थान पर वीर्यबैंक खुल रहे हैं जहां विशेष गुणवाले युवाओं या व्यक्तियों से वीर्य खरीदकर रखा जाता है और इच्छुक स्त्री कृत्रिम गर्भाधान से अभीष्ट गुणवाली सन्तान उत्पन्न करती है। इसको कानूनी रूप देनेवाला बिल शीघ्र ही आनेवाला है जिसमें एक स्त्री को अपनी सन्तान के अतिरिक्त किराये की कई सन्तान उत्पन्न करने की कानूनी मान्यता दी जा रही है। नियोग के आलोचक क्या कभी इस नयी प्रथा का विरोध करते हैं? वे तो पशुओं से भी पतित कर्म 'समलैंगिक सम्बन्ध' के निर्णय की तथा युवा पुरुष और कन्या के बिना विवाह के साथ रहने के निर्णय का भी विरोध नहीं करते। राजस्थान में '**नाताप्रथा**' नियोग की प्रथा ही है।

(ऊ) नियोग व्यवस्था मानव समाज के लिए अपरिहार्य—यह एक नैसर्गिक और वैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक गृहस्थ स्त्री-पुरुष को सन्तान चाहिए। सन्तान न होने पर वे हर अच्छा-बुरा मार्ग, यहां तक कि संसार का सबसे घृणित और क्रूर कर्म 'दूसरों के बालकों की बलि देना' जैसा भी अपना लेते हैं। इसके लिए धर्मशास्त्रियों-समाजशास्त्रियों ने विवाह-व्यवस्था का निर्माण किया है। विवाह के बाद भी किसी एक जीवनसाथी की मृत्यु, नपुंसकता, दीर्घरोगिता, किसी कारण से सन्तान का नष्ट हो जाना आदि कारणों से सन्तान का अभाव हो जाता है। गृहस्थ उस अभाव की भी पूर्ति चाहते हैं। उसके लिए विश्व समाज में अनेक व्यवस्थाएं प्रचलित हैं—बहुविवाह, पुनर्विवाह, नियोग। इनमें से जहां कोई एक व्यवस्था स्वीकृत नहीं होगी वहां प्रकट-अप्रकट रूप से स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध अर्थात् व्यभिचार चलेगा। बहुविवाह और पुनर्विवाह की अपनी अनेक कष्टदायक समस्याएं हैं। इसलिए वैदिक संस्कृति-सभ्यता में सबसे कम समस्यामय या निरापद नियोग-व्यवस्था को स्वीकार किया हुआ है। यदि समाज में विवाहित सन्तानरहित लोगों के लिए कोई उपव्यवस्था नहीं होगी तो निश्चित रूप से उस समाज में व्यभिचार, अव्यवस्था और मर्यादाहीनता बढ़ेगी। इनके दुष्परिणाम अधिक घातक हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि नियोग मानव-समाज की अपरिहार्य प्रथा है, जो मानव समाज में सहज रही है, आज भी है और जब तक मनुष्य समाज रहेगा तब तक रहेगी; हाँ रूप बदलती रहेगी। पाठक विशेष बात यह ध्यान में लायें कि मनुष्य की चाहत केवल सन्तानप्राप्ति की ही नहीं होती, उससे एक कदम आगे बढ़कर अच्छी और गुणी सन्तानप्राप्ति की भी होती है। उसका एकमात्र उपाय 'नियोग व्यवस्था' है चाहे वह किसी भी रूप में व्यवहार में प्रचलित हो। नियोग का आधारभूत सिद्धान्त जो पहले था वही आज भी है। आज विश्व में और भारत में '**किराये की मां**' (सरोगेट मदर) और '**वीर्यबैंकों के वीर्य से सन्तानप्राप्ति**' के रूप में है, और इसका प्रचलन दिनों-दिन बढ़ रहा है। **पहले विशेष गुणवाली या विशेष प्रकार की सन्तानप्राप्ति के लिए विशेष प्रकार के समान या उत्तमकोटि के व्यक्तियों (जैसे ऋषि-मुनि, बली, क्षत्रिय आदि) से नियोग किया जाता था, आज वीर्यबैंकों में संचित वीर्य से विशेष गुण वाली सन्तान (जैसे वैज्ञानिक, डॉक्टर, खिलाड़ी, बुद्धिजीवी आदि) प्राप्त की जा रही है। सिद्धान्त और मानसिकता में कोई अन्तर नहीं है, केवल नियोग का रूप बदला है।** संयोग देखिए, आज का बुद्धिजीवी और प्रगतिवादी समाज या समाजशास्त्री इन प्रथाओं को रोकने की बात नहीं करते, अपितु इसके लिए सुविधाएं देने की और इसके लिए संरक्षक कानून बनाने की मांग सरकार से कर रहे हैं। प्राचीन समाजशास्त्री, बुद्धिजीवियों ने भी यही किया था, आज के समाजशास्त्री भी वही कर रहे हैं। फिर नियोग के विरोध, आलोचना, निन्दा का अवसर ही कहां रह गया? अपितु प्राचीन नियोग-व्यवस्था कई मामलों में उत्कृष्ट थी, वह विवाह के समान नैतिक रूप से अनुशासित एक मर्यादित विधि थी, आज के नियोगों में ऐसी कोई मर्यादित विधि नहीं है। पुरानी नियोग-व्यवस्था में सन्तानप्राप्ति पवित्र और मानवीय भावना के आधार पर की जाती थी किन्तु आज के नियोगों के सभी रूप व्यवसायिक हो गये हैं। यह स्थिति भावी मानव समाज को अमर्यादित और विकृत करने का घोर कारण बनेगी। यह व्यवसाय वेश्यावृत्ति जैसा रूप ले लेगा। नियोग

प्रश्न—पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है?

उत्तर—(पहला) जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता; किन्तु[१] विधवा स्त्री उसी विवाहित पति के घर में रहती है।

(दूसरा) उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं। और विधवा स्त्री के लड़के वीर्यदाता के न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता, और न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता [है],[२] किन्तु वे मृतपति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी के घर में रहते हैं।[३]

(तीसरा) विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर-सेवा और पालन करना आवश्यक है,[४] और नियुक्त स्त्री-पुरुष का [ऐसा][५] कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

(चौथा) विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता है और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्यसिद्धि[६] के पश्चात् छूट जाता है।

(पांचवां) विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

प्रश्न—विवाह और नियोग के नियम एक-से हैं, वा पृथक्-पृथक्?

उत्तर—कुछ थोड़ा-सा भेद है। जितने पूर्व कह आये, और दूसरा यह कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान तक उत्पन्न कर सकते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार

की अनर्गल आलोचना करने वाले लोग बतायें कि अब वे किसकी निन्दा-आलोचना करेंगे? आज की व्यावसायिक और अमर्यादित नियोग प्रथा की या प्राचीन व्यवसायरहित मानवीय भावनाप्रधान नियोग प्रथा की?

भारतीय समाज ही नहीं, अपितु पूरा विश्वसमाज सन्तान-उत्पत्ति को सहज भाव से देखता आ रहा है। उसने नियोगज किन्तु अज्ञातकुल के **सत्यकाम जाबाल** को एक उच्च ऋषि के रूप में, अवैध सन्तान **ईसा मसीह** और **कबीर** को एक सन्त के रूप में सम्मान दिया है। नियोगज सन्तानें तो समाज में सगी सन्तान के समान स्वीकृत, वैधानिक और सम्मान्य रही हैं। उनके जन्म पर परिवार-समाज में उसी प्रकार उत्सव मनाया जाता था, जिस प्रकार सगी सन्तान के जन्म पर मनाते थे।

संक्षेप में यों समझिए कि किसी भी कारण से सन्तानहीनता की आपत्कालीन स्थिति में परिवार, सम्बन्धियों और समाज की अनुमति से यह एक प्रकार का अस्थायी '**उपविवाह**' था जो केवल सन्तानप्राप्ति के लिए होता था। इससे परिवार की यथास्थिति, सन्तान की प्राप्ति, वंश की रक्षा, स्त्रियों को सन्तान का आश्रय आदि लाभ हो जाते थे। समाज में दुराचार का विस्तार, मर्यादाओं का उन्मूलन, परिवार का विखण्डन न होकर एक सीमा तक मर्यादा बनी रहती थी। प्राचीन जनों का पाश्चात्यों और आधुनिकों के समान व्यवसायी और पशु से भी पतित समलैंगिक जीवन या आचरण नहीं था। (पृ० २०९ पर टि० ६ भी पढें)

१. **अपप्रयोग**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में "**और**" के स्थान पर "**किन्तु**" पाठ व्याकरणानुसार अपेक्षित है।

२,५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रिया और "**ऐसा**" पद त्रुटित है।

३. **नियोगज गोत्र और विवाह**—इसका अभिप्राय केवल व्यवहार में नियोगज गोत्र अपनाने से है। जब नियोगज पुत्र या पुत्री का विवाह होगा तब सन्तान को शरीरविज्ञान की दृष्टि से अपना मूल गोत्र और नियोगज गोत्र और सपिण्डता तीनों के ही नियम विवाहसम्बन्ध में अपनाने होंगे, जैसे दत्तक सन्तान के सम्बन्ध में आज भी अपनाते जाते हैं। उसका कारण यह है कि विवाह में गोत्रों को छोड़ने का आधार शरीर-विज्ञान अथवा नृ-विज्ञान की दृष्टि से विहित है। उस वैज्ञानिक परम्परा का त्याग नहीं होना चाहिए जिसका कि विधान विवाह के प्रसंग में है। विवाह के सम्बन्ध में विवाह के नियमों का पालन होना आवश्यक है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० तीनों सं० में "**पालन करना अवश्य है**" अपप्रयोग है। "**आवश्यक**" शुद्ध है जो बहुत्र है।

६. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**सिद्धि**" पद त्रुटित है, दोनों हस्त० में है।

से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते। अर्थात् जैसे[१] कुमार-कुमारी का ही विवाह होता है, वैसे[२] जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है, उन्हीं का नियोग होता है, कुमार-कुमारी का नहीं। जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं, वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं, किन्तु विना ऋतुदान के समय एकत्र न हों। जो स्त्री अपने लिये नियोग करे, तो जब दूसरा गर्भ रहै, उसी दिन से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाय। और जो पुरुष अपने लिये करे तो भी दूसरा[३] गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाय। परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन सन्तानों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिये और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिये सन्तान कर सकती है और एक मृतस्त्रीक-पुरुष[४] भी दो अपने लिये और दो-दो अन्य-अन्य चार विधवाओं के लिये सन्तान[५] उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पत्ति[६] की आज्ञा वेद में है। जैसे[७]—

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा**'' ''**वैसा**'' अपप्रयोग हैं। उदाहरणार्थ '**जैसे**' '**वैसे**' पद प्रयुक्त होते हैं।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**दूसरे गर्भ रहने से**' अपप्रयोग है। '**दूसरा**' विशेषण ग्राह्य है। वेस, भद, युमी में संशोधित है, उदयपुर सं० में अशुद्ध है। अगली पंक्ति में ''**उन लड़कों**'' के स्थान पर ''**उन सन्तानों**'' पाठ ग्राह्य है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्तलेखों और दोनों द्वि०सं० में ''**मृतस्त्री पुरुष**'' अपप्रयोग है। मूलसं० में संशोधन कर दिया है। वही शुद्ध प्रयोग इस सं० में है। भद में अपप्रयोग है। वेस, युमी, उदयपुर सं० में संशोधित है।

५. **मुद्रणकाल में त्रुटित पद और उपयुक्त पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**पुत्र**'' प्रयोग है। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों में पुत्र शब्द से सन्तान अर्थ भी गृहीत है, फिर भी स्पष्टार्थ के लिए '**सन्तान**' पद उपयुक्त है; क्योंकि पहली पंक्ति में '**सन्तान**' पद पठित है अतः एकरूपता हेतु ग्राह्य है। द्विप्र० में ''**जैसे**'' पद त्रुटित हैं, दोनों हस्तलेखों में है।

६-७. **नियोग का स्वरूप और उससे दश-दश सन्तान प्राप्त करने का अभिप्राय**—ग्रन्थकार ने दर्शाया है कि वेदों में अधिकतम दश सन्तानें प्राप्त करने का विधान है, चाहे वे विवाहित स्त्री से हों अथवा नियोग की स्थिति में हो। दश सन्तानें प्राप्त करना अनिवार्यता नहीं है, स्त्री-पुरुष जितनी चाहे कम भी कर सकते हैं। नियोग से दश सन्तानें प्राप्त करने के उल्लेख को पढ़कर कुछ अल्पज्ञानी लोग कहते फिरते हैं कि यह तो पशुओं जैसा व्यवहार है। 'नियोग' शब्द आते ही ऐसे लोग उसका अर्थ 'स्वच्छन्द व्यभिचार' मान बैठते हैं। नियोग में एक समय में दश सन्तानें प्राप्त नहीं की जा सकतीं। एक, दो या तीन सन्तान के जीवित रहते नियोग नहीं किया जाता। उनकी मृत्यु के उपरान्त ही पुनः नियोग हो सकता है। वस्तुतः, ऐसे लोगों को न तो नियोग के उद्देश्य का ज्ञान है, न इसके स्वरूप का, न इसकी निर्धारित आचार संहिता का और न इसके ऐतिहासिक विवरण का। वे बिना किसी आधार के अपने मन से अनर्गल बातें बकते हैं। जरूरत इस बात की है कि वे पहले इसके स्वरूप को समझें।

जैसा कि बताया चा चुका है कि 'नियोग' एक आपत्कालीन वैदिक व्यवस्था है, जो समाज-परिवार द्वारा सहजभाव से स्वीकृत रही है। इसकी अपनी निर्धारित विधि या आचार-संहिता है। उसका पालन न करने पर नियुक्त स्त्री-पुरुष दण्डनीय होते हैं। मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि सन्तान की चाहत गृहस्थ स्त्री-पुरुष की नैसर्गिक और अनिवार्य कामना है। इसके लिए वे अच्छा-बुरा प्रत्येक मार्ग अपनाते हैं। सन्तान-हीन लोगों को हर हालत में सन्तान चाहिए, इसके लिए यदि उन्हें कोई मर्यादित व्यवस्था समाज की ओर से नहीं मिलेगी तो वे व्यभिचार के द्वारा इस इच्छा की पूर्ति करेंगे। इसलिए सामाजिक अव्यवस्था और व्यभिचार रोकने के लिए ही विवाह और नियोग जैसी व्यवस्थाएं समाजशास्त्रियों अथवा धर्मशास्त्रों ने बनाई हैं।

(क) नियोग का उद्देश्य और आचार संहिता—नियोग परिवार के संरक्षण, उन्नति तथा परिवार के सुख और पूर्णता के लिए है। सत्यार्थप्रकाश पृ० २१७/२० में ग्रन्थकार नियोग के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—''**विवाह वा नियोग सन्तानों के ही अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् काम क्रीडा के लिए नहीं।**'' पृ० २१७ पर उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों से तथा अन्य धर्मग्रन्थों से नियोग की मूल आचार-संहिता का ज्ञान भलीभांति हो जाता है। नियोग के मूल नियम ये हैं—(१) यह केवल आपत्कालीन व्यवहार है। ग्रन्थकार ने पृ० २१२/१५में स्पष्ट लिखा है कि ''**जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है।**'' (२) यह विधान केवल सन्तान के अभाव में अथवा ''**सन्तानस्य परिक्षये**''=सन्तान का पूर्ण क्षय, विनाश होने पर नियोग करने वाले स्त्री-पुरुष की सहमति से व्यवहार में लाया जाता है। सन्तान के जीवित रहते नियोग नहीं किया जाता। (३) यह स्त्री-पुरुष की स्वच्छन्दता से नहीं होता था अपितु परिवार-समाज गुरुजनों (कुल पुरोहित आदि) द्वारा विवाह के समान प्रसिद्धि और निर्धारित विधिपूर्वक अनुमति पूर्वक कराया जाता था। जिस प्रकार नियमपूर्वक किया गया विवाह वैधानिक है और अनियमपूर्वक अपराध है; उसी प्रकार नियमों के अनुसार किया गया नियोग वैधानिक है और अनियमपूर्वक किया गया अपराध

है (मनुस्मृति ९.५८, ६३, १४३, १४४; नारदस्मृति, स्त्री-पुंस० ८४-८६ आदि)। (४) प्रायः सभी स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में यह विधि दी हुई है कि नियुक्त पुरुष विधि-अनुसार, वाणी पर संयम करके नियुक्त स्त्री के पास रात्रि में ही जाये। इसकी व्याख्या यह दी हुई है कि वह केवल सन्तान उत्पन्न करने की भावना से जाये, न तो कामक्रीड़ा करे, न अश्लील वार्तालाप आदि करे (मनु० ९.६०; वसिष्ठ धर्मसूत्र १७.५६-६५; ऋग्विधान ३.४५ आदि)। **इससे ज्ञात होता है कि वैदिक संस्कृति-सभ्यता में 'नियोग' कामक्रीड़ा का माध्यम कभी नहीं रहा।**

मनुस्मृति के अतिरिक्त **'वसिष्ठ धर्मसूत्र'** के एक प्रमाण से नियोग की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। कन्या का विवाह करना अभिभावकों का दायित्व है। ऐसे ही नियोग कराना भी उन्हीं का दायित्व होता था। देखिए प्रमाण—

''ऊर्ध्वं षड्भ्यो मासेभ्यः स्नात्वा....विद्याकर्मगुरुयोनिसम्बन्धान् संनिपात्य पिता भ्राता च नियोगं कारयेत्। (१७.५६-६५)

अर्थात् 'पति की मृत्यु के छह मास पश्चात् स्नान आदि से शुद्ध होने पर स्त्री के पिता और भाई आदि गुरु, पुरोहित, सम्बन्धियों को एकत्र कर, उनकी अनुमति लेकर स्त्री का नियोग करायें।' इस प्रकार नियोग विवाह के समान सहज-सामान्य सामाजिक-पारिवारिक व्यवहार या और बहुत ही अनुशासित तथा संयमयुक्त मर्यादित विधि थी। (५) नियोग द्वारा सन्तान उत्पत्ति के बाद स्त्री-पुरुष का व्यवहार पूर्ववत् वर्जित सम्बन्धों वाला होना चाहिए अन्यथा उनको दण्डनीय अपराधी माना जायेगा (नारदस्मृति, स्त्री-पुंस० ८४-८५; मनु० ९.५८ आदि)। देखिए, नियोग को कितना मर्यादित किया हुआ था। (६) अधिकांश शास्त्रकारों का मत है कि नियोग द्वारा एक या दो सन्तानें ही प्राप्त करनी चाहिएं, जैसे—**''एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथचन''** (ऋग्विधान ३.४५), **''द्वितीयमेके प्रजननम्''** (मनु० ९.६१)=दो सन्तान करे, **''नातिद्वितीयम्''** (गौतमधर्मसूत्र १८.८)=दो से अधिक सन्तान न करे। यही दो सन्तानों का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति (१.६८-६९), नारद स्मृति (स्त्रीपुंस० ८०-८३), बौधायन धर्मसूत्र (२.२.६८-७०) तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र (१.१७) में मिलता है। उनके निधन पर पुनः अन्य सन्तानें प्राप्त की जा सकती हैं, उनके जीवित रहते नहीं। इस प्रकार अधिक से अधिक दश सन्तानें प्राप्त की जा सकती हैं।

यह सब विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने का लक्ष्य पाठकों को यह बताना है कि नियोग का वैदिक स्वरूप क्या है। यह केवल सन्तानप्राप्ति का आपत्कालीन माध्यम है और एक समय एक-दो ही सन्तानें प्राप्त की जा सकती हैं। उनके नष्ट होने पर क्रमशः अधिकाधिक दश सन्तानें प्राप्त की जा सकती हैं, ग्रन्थकार वर्णित दश सन्तान प्राप्त करने का यही भाव है।

(ख) नियोग में सन्तान-सीमा के ऐतिहासिक उदाहरण—ऋषि दयानन्द वैदिक परम्पराओं के प्रति आस्था रखते थे अतः वैदिक परम्परा होने के नाते उन्होंने नियोग-व्यवस्था को प्रस्तुत किया है। आइए, अब परम्परा के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं। उन उदाहरणों से विवेच्य विषय पर प्रकाश पड़ेगा। विगत टिप्पणी (पृ० २०६) में पाठकों ने पढ़ा था कि महर्षि व्यास ने माता सत्यवती के आग्रह पर उसकी पुत्रवधुओं, राजा विचित्रवीर्य की रानी अम्बिका से नियोग करके धृतराष्ट्र को, दूसरी रानी अम्बालिका से नियोग करके पाण्डु को, रानी अम्बिका की दासी से नियोग होने पर विदुर को उत्पन्न किया। व्यास ने पुनः उनसे नियोग नहीं किया और न उन स्त्रियों ने किसी समय अन्य पुरुष से नियोग किया। इस प्रकरण की एक महत्त्वपूर्ण बात पाठकों के सामने रखना चाहता हूँ। हस्तिनापुर के राजवंश में जब उत्तराधिकारी का अभाव हो गया तो उत्तराधिकारी पुत्र प्राप्त करने का विचार हुआ। रानी सत्यवती ने पहले अकेली अम्बिका से नियोग कराया। जब उससे अंधापुत्र धृतराष्ट्र उत्पन्न हो गया, तो उसके बाद दूसरा नियोग रानी अम्बालिका से कराया। उससे भी जब जन्मजात पाण्डुरोगी 'पाण्डु' उत्पन्न हुआ तो सत्यवती ने फिर अम्बिका को एक पुत्र उत्पन्न करने को कहा। वह नियोग के प्रति अनिच्छुक थी, उसने नियोग की रात्रि में अपने स्थान पर अपनी दासी को व्यास के पास स्थान पर भेज दिया। उससे विदुर का जन्म हुआ। ये नियेाग एक साथ नहीं हुए अपितु एक के बाद एक हुए हैं, जबकि पहले पुत्र स्वस्थ नहीं पाये गये (महाभारत, आदिपर्व० अ० १०५) यहां पाठकों को एक अन्य तथ्य बताना भी उपयोगी रहेगा कि रानी सत्यवती ने पहले गंगापुत्र भीष्म से नियोग-सम्बन्ध करने का आग्रह किया था किन्तु ब्रह्मचर्यव्रती होने के कारण भीष्म ने उसको अस्वीकार कर दिया (महाभारत, आदि०अ० १०३-१०४) स्पष्ट है कि नियोग इच्छुक स्त्री-पुरुष की सहमति से ही होता है।

वाल्मीकि-रामायण में आता है कि केसरी राजा की पत्नी अंजना ने देव समुदाय के किसी वायुवंशी (वायुदेव) व्यक्ति से नियोग करके 'हनुमान्' को उत्पन्न किया था (उत्तरकाण्ड १३.१४-४९)। उसके बाद उसने नियोग नहीं किया। पाण्डुपत्नी माद्री ने देव समुदाय के अश्विनीवंशी दो पुरुषों से नियोग करके दो पुत्र प्राप्त किये थे। इसके दो विशेष कारण थे—एक, राजा पाण्डु ने कुन्ती से यह कहकर अधिक सन्तान करने का बार-बार आग्रह किया कि क्षत्रियों का बल सन्तानें होती हैं (महा०, आदि० १२२.११) दूसरा, कुन्ती ने जिस धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था, उसमें तीन पुत्रों की प्राप्ति तक नियोग का विधान था। जब पाण्डु राजा ने तीन के बाद भी पुत्र प्राप्त करने के लिए बल दिया, तो कुन्ती ने यह कहकर निषेध कर दिया कि तीन से अधिक नियोगज सन्तान उत्पन्न करना शास्त्रविरुद्ध है (१२२.७६, ७८)। उसके बाद सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री 'स्वच्छन्दचारिणी' और 'व्यभिचारिणी' कहलाती है—**'नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत''** (१२२.७७)=पूर्वसन्तान के रहते चौथे पुत्रप्राप्ति का विधान शास्त्रों में आपत्काल में भी नहीं है। तब पाण्डु चुप हो जाते हैं और कहते हैं—**''एवमेतद् धर्मशास्त्रम्''** (१२२.७८)='हाँ,

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

ऋ०, म० १०। सूक्त ८५। मं० ४५॥

हे (**मीढ्वः, इन्द्र०**) वीर्यसेचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्य-युक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र[१] उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्रि! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवाँ पति को समझ।

वेद की इस आज्ञा[२] से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें; क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रश्न—यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर—जैसे विना विवाहितों का व्यभिचार होता है, वैसे विना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है।[३] इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे नियम से विवाह होने पर व्यभिचार नहीं कहाता, तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की लड़की का दूसरे के लड़के[४] के साथ शास्त्रोक्त

धर्मशास्त्र का तो यही मत है जो तुम कह रही हो।' कुन्ती ने तीनों पुत्र तीन पृथक् पुरुषों से प्राप्त किये थे, एक पुरुष से नहीं। इस प्रसंग से नियोग की एक निर्धारित व्यवस्था की जानकारी अवश्य मिलती है। उसमें कहीं भी स्वच्छन्दता, कामुकता अथवा पशुता नहीं है।

नियम के साथ अपवाद प्रायः मिलते हैं। पाठकों को उसका कारण बताने के लिए उस प्रसंग की चर्चा की जा रही है। दैत्य वंश में प्रह्लाद के पौत्र और विरोचन के पुत्र प्रसिद्ध राजा बलि ने ऋषि दीर्घतमस् मामतेय (जो अंधे थे) के द्वारा अपनी पत्नी सुदेष्णा से पांच पुत्र उत्पन्न कराये थे। यहां भी राजा बलि का अधिक सन्तान उत्पन्न करने का तथा दीर्घतमस् से ही पुत्र प्राप्त करने का अधिक आग्रह था (हरिवंशपु० १.३२; विष्णुपु० ४.१८; भाग० ९.२०; ब्रह्म० १.३ आदि)। यह दैत्यों की पृथक् परम्परा भी हो सकती है।

जो पौराणिक नियोग की परम्परा पर ऋषि की आलोचना करते हैं वे अपने पुराणों को देखेंगे तो उनमें नियोग की अनेक घटनाओं का उल्लेख देखेंगे। ये सब ऋषि द्वारा वर्णित परम्परा की पुष्टि करते हैं (द्र०पृ० २०५ की विस्तृत टिप्पणी भी)। जो लोग 'नियोग' शब्द आते ही उसको व्यभिचार अथवा स्वच्छन्द कामुकता समझने की भूल कर बैठते हैं, उनके लिए, यह विवरण नियोग की आचारसंहिता को समझने के लिए दिया है। पाठक इससे समझ गये होंगे कि नियोग पशुवत् व्यवहार नहीं था अपितु परिवाररक्षक, व्यभिचाररोधक, व्यवस्थित, अनुशासित समाजस्वीकृत धर्मभय व्यवहार था।

१. **पुत्र से अभिप्राय**—पुत्र से यहां यथेष्ट सन्तान पुत्र-पुत्री दोनों से है जैसा कि महर्षि ने अगले अनुच्छेद में स्पष्ट किया है। पुत्री भी पुत्र का ही स्त्रीलिङ्ग रूप है। दोनों शब्द एक ही धातु 'पूञ्-पवने' से व्युत्पन्न हैं, अतः उसका भी वही अर्थ है जो पुत्र का है। यहां पुंल्लिग का सामान्यतः प्रयोग है जैसे कि आज भी पुंल्लिग के प्रयोग-प्राधान्य से समस्त व्यवहार चलते हैं। जैसे—**'जो चोरी करेगा उसे दण्ड मिलेगा'**, यद्यपि निर्देश पुंल्लिंग में है किन्तु कानून के अन्तर्गत यहां केवल पुरुष वर्ग ही नहीं, दोनों वर्ग अभिप्रेत होते हैं।

२-३. **स्थानभ्रष्ट अपप्रयोग और ऋषिहस्तलेख**—क्रमशः दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''इस वेद की आज्ञा''** अपप्रयोग है। यह अपप्रयोग सभी सं० में है। **''उत्तर—जैसे बिना.....कहाता है''** मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में पाठान्तर व्यर्थ है। इसको मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर ने परिवर्तित किया है। द्विप्र०, द्वि०सं० में **'कन्या'** और **'कुमार'** प्रयोग **'लड़की'** और **'लड़के'** के स्थान पर किये गये हैं जबकि उसमें अब भी बहुत्र **'लड़का, लड़की'** पदों का प्रयोग विद्यमान है। उसके विपरीत उदाहरण उसकी मूर्खता का देखिए, पृ० ९३/९ में **''कन्या कन्याओं की''** पाठ था, वहां व्यर्थ ही **''लड़की लड़कियों की''** कर दिया।

विधिपूर्वक विवाह होने पर[१] समागम में व्यभिचार, पाप वा लज्जा नहीं होती,[२] वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार, पाप, वा लज्जा न माननी चाहिये।[३]

प्रश्न—है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में कोई[४] निश्चित पुरुष वा कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती, वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिये। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होते हैं, वे[५] विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं?

प्रश्न—हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर—जो नियोग की बात में पाप मानते हो तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते? पाप तो नियोग के रोकने में है। क्योंकि **ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकते; सिवाय वैराग्यवान्, पूर्णविद्वान् योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्रियों[६] और मृतस्त्रीक-पुरुषों[७] के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो?** क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं, [तब तक][८] मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होनेवालों को, किसी राजव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से, गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं। **इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे[९] विवाह वा नियोग भी न करें तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिये।** इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है, और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। **नीच पुरुषों से उत्तम स्त्रियों[१०] और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों का[११] सन्ताप**

---

१. **उचित संशोधन**—"**जैसे दूसरे की.....होने पर**" वाक्यांश द्विप्र०, द्वि०सं० से ग्रहण किया है। यह अधिक स्पष्ट है। मूलसं० का शिथिल एवं अपपाठ है—"**जैसे दूसरे की लड़की और दूसरे के लड़के के शास्त्रोक्त विधि से विवाहपूर्वक**"।

२-३. **अपपाठ**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में यहां ये व्याकरण की दृष्टि से अपवाक्य हैं। मूलप्रति सं० में—"**समागम में व्यभिचार वा पाप, लज्जा नहीं होता**" और दोनों हस्त० और तीनों सं० में—"**नियोग में व्यभिचार, पाप लज्जा न मानना चाहिये**" अपवाक्य है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में प्रथम वाक्य अर्ध-संशोधित है, किन्तु दूसरा सभी में अशुद्ध है।

४. **अपवाक्य**—मूलह०, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**किसी निश्चित पुरुष.....नहीं है**" अपप्रयोग है। यहां "**कोई निश्चित पुरुष....नहीं है**" पद शुद्ध है। सभी सं० में अशुद्ध पद है।

५. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में "**पुरुष वा स्त्री होती हैं वह....बचते हैं ?**" तथा मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**पुरुष वा स्त्री होती हैं वे.....बचते हैं**" वाक्य हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये अपवाक्य हैं। भद में अशुद्ध पाठ है, अन्य सभी में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में "**स्त्री**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है।

७. **अपप्रयोग**—"**मृतस्त्री-पुरुष**" का अर्थ होता है 'मरे हुए स्त्री और पुरुष', अत: मूलसं० में बृ०कोष्ठक में संशोधन दर्शाया है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और सभी सं० में '**तब तक**' पद त्रुटित रह गये हैं। "**जब तक**" के सम्बन्ध से ये अपेक्षित हैं।

९. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और मूलसं० में यहाँ "**वे**" प्रयोग है। द्विप्र० में इसके स्थान पर "**किन्तु**" अपप्रयोग कर दिया। द्वि०सं० में मुद्रणह० के अनुसार संशोधन की अपेक्षया "**वे**" और "**किन्तु**" दोनों ही उड़ा दिये। उससे अपूर्ण वाक्य बन गया। वही अब छप रहा है। वेस, युमी में शुद्धपाठ है, भद और उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में '**स्त्री**' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है। सभी सं० में अपपाठ है।

११. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में '**को**' के स्थान पर '**का**' पद अपेक्षित है। सभी सं० में अपप्रयोग है।

और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं, इसलिये नियोग करना चाहिये।

प्रश्न—नियोग में क्या-क्या बातें[१] होनी चाहियें?

उत्तर—जैसे प्रसिद्धि से विवाह [होता है], वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग [होना चाहिये][२]। जैसे विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी होती है।[३] अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो, तब अपने कुटुम्ब में पुरुषों-स्त्रियों के सामने [प्रकट करें कि][४] **''हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिये करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी, और जाति[५] वा राज के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एकवार गर्भाधान का कर्म करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त[६] पृथक् रहेंगे।''**

प्रश्न—नियोग अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्णस्थ के साथ भी?

उत्तर—अपने वर्ण में वा अपने से उत्तमवर्णस्थ पुरुष के साथ। अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का [होना][७] चाहिये, अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। **स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना।**

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वह दूसरा विवाह कर लेगा।[८]

उत्तर—हम लिख आये हैं [कि][९] द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक वार ही विवाह होना वेदादि-शास्त्रों में लिखा है, द्वितीय वार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय [है],[१०] और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक-पुरुष[११] का विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ कुमार[१२] पुरुष विवाह नहीं किया चाहता, वैसे ही विवाह और स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी।[१३]

---

१. **अपपाठ**—दोनों सं० में ''**क्या-क्या बात**'' एकवचनात्मक पाठ है, बहुवचन अपेक्षित है। सभी सं० में अपपाठ है।

२-४. **त्रुटित क्रियापद**—दोनों सं० में क्रमशः तीनों वाक्यों में बृहत् कोष्ठान्तर्गत क्रियापद त्रुटित रह गये हैं। इनका परिवर्धन किये बिना स्पष्ट वाक्यरचना नहीं होती और न संदेहरहित अर्थ प्रकट होता है।

५. **जाति** अर्थात् समुदाय। द्रष्टव्य पृष्ठ १०५ पर टिप्पणी।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**एक वर्ष दिन तक**'' अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**होना**'' क्रिया त्रुटित है। उपयुक्त वाक्यरचना के लिए यह पद अपेक्षित है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**करेगा**'' निश्चयवाचक क्रिया उपयुक्त नहीं है, ''**कर लेगा**'' उपयुक्त है।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**कि**' और '**है**' पद त्रुटित हैं।

११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मृतस्त्री-पुरुष**'' अपप्रयोग है, ''**मृतस्त्रीक पुरुष**'' अभीष्ट है। मूलसं० में बृ० कोष्ठक में संशोधन दर्शाया है। अन्य अधिकांश सं० में संशोधित है। (द्र०पृ० २१२ पर टिप्पणी ७ भी)

१२. **उपयुक्त पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां संख्यांकित पंक्ति से पहली पंक्ति में और आगे तीसरी पंक्ति में किये प्रयोग के समान '**कुमार पुरुष**' पाठ होना चाहिये। बिना इसके ग्रन्थकार का सही आशय स्पष्ट नहीं होता।

१३. **मुद्रणकालीन अप-परिवर्तन**—उपर्युक्त पाठ दोनों हस्तलेखों और मूलसं० में है और महर्षिप्रोक्त है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह संकुचितार्थक पाठ बनाया है—''**वैसे ही विवाहित स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ...।**'' विवाह के बाद पुरुष की दो स्थितियां होती हैं—एक, केवल विवाह हुआ हो और भले ही किसी कारण समागम चाहे न हुआ हो। दो, विवाहित पत्नी से

जब विवाह किये हुए पुरुष का[१] कोई कुमारी कन्या [ग्रहण न करेगी][२] और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी। और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे का ही सम्बन्ध होना चाहिये।

प्रश्न—जैसे विवाह में वेदादि-शास्त्रों का प्रमाण है, वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं?

उत्तर—इस विषय में बहुत प्रमाण हैं, देखो और सुनो—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ १॥

ऋ०, म० १०। सूक्त ४०। मं० २॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ २॥

ऋ०, म० १०। सूक्त १८। मं० ८॥

हे (**अश्विना**) स्त्री-पुरुषो! जैसे (**देवरं विधवेव**) देवर को विधवा और (**योषा मर्यं न**) विवाहिता स्त्री अपने पति को[३] (**सधस्थे**) समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों को[४] (**आ कृणुते**) सब प्रकार से उत्पन्न करती है, वैसे तुम दोनों स्त्री पुरुष (**कुहस्विद्दोषा**) कहां रात्रि और (**कुह वस्तः**) कहां दिन में वसे थे? (**कुहाभिपित्वम्**) कहां पदार्थों की प्राप्ति (**करतः**) की? और (**कुहोषतुः**) किस समय कहां वास करते थे? (**को वां शयुत्रा**) तुम्हारा शयनस्थान कहां है? तथा कौन वा किस देश के रहने वाले हो? इससे यह सिद्ध हुआ कि **देश-विदेश में स्त्री-पुरुष संग में ही रहैं।** और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे॥ १॥

प्रश्न—जिस विधवा का देवर अर्थात् पति का छोटा भाई न हो तो नियोग किसके साथ करे?[५]

समागम हो चुका हो। महर्षि इन दो स्थितियों का वर्णन करके कहना चाहते हैं कि दोनों ही स्थिति वाले पुरुष से कुमारी कन्या विवाह नहीं करना चाहती। द्विप्र०/ द्वि०सं० का संशोधन केवल दूसरी स्थिति का संकुचित अर्थ प्रकट कर रहा है, पहला अर्थ लुप्त हो गया। अतः मूलह० का व्यापकार्थक महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है। अन्य सभी सं० में अपूर्ण एवं सीमितार्थक पाठ है।

१-२. **अपप्रयोग एवं त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में यहां "**पुरुष को**" अपप्रयोग है, '**पुरुष का**' चाहिए, जैसे कि अग्रिम वाक्यांश में "**स्त्री का शुद्ध**" है। बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ भी आवश्यक है। उसके बिना क्रिया की पूर्ति नहीं होती।

३. **मुद्रणलिपिकर का महाप्रमाद : पूरे पृष्ठ का पाठ त्रुटित**—पाठक मुद्रणलिपिकर द्वारा सैकड़ों की संख्या में त्रुटित पाठ टिप्पणियों में देख रहे हैं, किन्तु यह महाप्रमाद का उदाहरण है। मुद्रणलिपिकर मुद्रणप्रति पृ० ७८-८३ पर प्रतिलिपि करते समय मूलप्रति के १५५-१५६ दो पृष्ठ एक साथ पलट गया जिससे पृ० ५६ का "**(सधस्थे) समान स्थान.....(तव) तेरा होगा, ऐसे**" (इस सं० में पृ० २१४/१३ से २१५/१०) तक का सारा पाठ छूट गया। शोधन के समय यह त्रुटि शोधक के ध्यान में आ गई तब नये लिपिकर से पूरा पृष्ठ नया लिखवाकर मुद्रणहस्तलेख के पृ० ७८ (८३) के साथ ७८ (८४) पृष्ठांक पर जोड़ा है।

जो लोग इस भ्रान्ति में हैं कि मुद्रणहस्तलेख भी महर्षि ने बोलकर लिखवाया है, वे इस प्रबल प्रमाण को देखकर उस भ्रान्ति को छोड़ दें। महर्षि ने मुद्रणप्रति का केवल पृ० ३४४ तक ही शोधन किया है या कहीं-कहीं निर्देश दिया है।

४. **भ्रष्टपाठ**—दोनों ही हस्त० और मूलसं० तथा द्वि०सं० में "**सन्तानोत्पत्ति को (आ कृणुते) सब प्रकार से उत्पन्न करती है**" भ्रष्टपाठ है। यहां शुद्ध करके दिया है। द्विप्र०, युमी, उदयपुर सं० में शुद्ध है, वेस, जग, भद में भ्रष्टपाठ है।

५. **मुद्रणकालीन अपूर्ण-पाठग्रहण**—मूलहस्त० का पाठ अधिक स्पष्टार्थक, पूर्ण और मन्त्रोक्त पद के प्रसंग के अनुकूल है। द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ मन्त्रानुसार और पूर्ण नहीं है। मूलप्रति सं० में भी मूलहस्त० का पाठ छोड़ मुद्रणह०; द्वि०सं० का पाठ ग्रहण कर लिया है जो उचित नहीं किया। द्विप्र०, द्वि०सं० का अस्पष्ट पाठ है—"**यदि किसी का छोटा भाई ही न हो तो विधवा नियोग**

उत्तर—देवर के साथ। परन्तु देवर शब्द का अर्थ जैसा तुम समझे हो, वैसा नहीं [है]। देखो, '**निरुक्त**' में—

''देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते॥'' निरुक्त, अ० ३। खण्ड १५॥

'देवर' उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई, अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो; जिससे नियोग करे, उसी का नाम '**देवर**'[१] है॥ १॥

हे (**नारि**) विधवे! तू (**एतं गतासुम्**) इस मरे हुए पति की आशा छोड़के (**शेषे**) बाकी पुरुषों में से (**अभिजीवलोकम्**) जीते हुए दूसरे पति को (**उपैहि**) प्राप्त हो और (**उदीर्ष्व**) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (**हस्तग्राभस्य दिधिषोः**) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिये नियोग होगा तो (**इदम्**) यह (**जनित्वम्**) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (**पत्युः**) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (**तव**) तेरा होगा; ऐसे निश्चययुक्त (**अभि सम् बभूथ**) हो, और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे॥ २॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥[२]

अथर्व०, कां० १४। [प्रपा० २९ सूक्त २।] अनु० २। मं० १८॥

हे (**अपतिघ्नि-अदेवृघ्नि**) पति और देवर को दुःख न देनेवाली स्त्रि! तू (**इह**) इस गृहाश्रम में, (**पशुभ्यः**) पशुओं के लिये, (**शिवा**) कल्याण करनेहारी, (**सुयमा**) अच्छे प्रकार धर्मनियम में चलने [वाली] (**सुवर्चाः**) रूप और सर्वशास्त्रविद्यायुक्त, (**प्रजावती**) उत्तम-पुत्र-पौत्रादि-सहित, (**वीरसूः**) शूरवीर पुत्रों को जनने, (**देवृकामा**) देवर की कामना करने (**स्योना**) और सुख देने हारी, पति वा देवर को, (**एधि**) प्राप्त होके, (**इमम्**) इस, (**गार्हपत्यम्**) गृहस्थसम्बन्धी, (**अग्निम्**) अग्निहोत्र को,

---

किसके साथ करे?'' सभी द्वि०सं० में अपूर्ण-अस्पष्ट पाठ है। यहां ऋषि 'देवर' की अर्थविषयक भ्रान्ति को दूर करना चाहते हैं, अतः प्रश्न में मन्त्रोक्त '**देवर**' प्रयोग होना आवश्यक है। यह पाठान्तर मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ त्रुटित छोड़ देने से हुआ है।

१. **देवर के अर्थ की पुष्टि**—'देवर' पद से दो अर्थ अभिप्रेत हैं—१. नियोग करने वाला व्यक्ति, २. पति का छोटा भाई। यहां नियोग के प्रसंग में 'देवर' का अर्थ '**नियोग के लिए नियुक्त व्यक्ति**' है जो पति से आयु में छोटा अथवा बड़ा भी हो सकता है। इसकी पुष्टि महाभारत से भी होती है। आयु में बड़े कृष्ण द्वैपायन व्यास ने राजा विचित्रवीर्य के निधन के पश्चात् उसकी पत्नियों से नियोग करके सन्तान उत्पन्न की थी (द्रष्टव्य पृ० २०६ पर टिप्पणी)। मनु के प्रमाण (९.५८, ५९, १५९) पृ० २१७ पर देखें।

काशिराज की पुत्री और अपनी पुत्रवधू एवं विचित्रवीर्य की पहली पत्नी अम्बिका को जब सास रानी सत्यवती नियोगार्थ व्यास के आने की सूचना देती है तब वह व्यास को 'देवर' कहती है, जबकि वे विचित्रवीर्य से बड़े थे—

''**कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वामनुप्रवेक्ष्यति**'' (आदिपर्व १०५.२)—हे कोसलराज की पुत्री अम्बिका! महर्षि व्यास आज तुम्हारे 'देवर' हैं, जो नियोग के लिए नियुक्त होने पर तुम्हारे पास आज रात आयेंगे।

आगे उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक ''**निजो विन्देत देवरः**'' में 'निज' विशेषण से पति का छोटा भाई ग्रहण किया है, क्योंकि वहां पति की विधवा पत्नी से विवाह करने का प्रसंग है। 'निज' विशेषण का प्रयोग यह भी संकेत देता है कि अन्य भी 'देवर' होता है। दोनों ही अर्थों में भाव एक ही है कि होने वाला कोई भी दूसरा पति 'देवर' कहाता है।

२. **स्त्री को यज्ञाधिकार एवं वेदाधिकार**—वेदमन्त्र में स्पष्ट शब्दों में पत्नी को आदेश दिया है कि ''**अग्निं गार्हपत्यं सपर्य**''='गृहस्थ सम्बन्धी अग्निहोत्र का अनुष्ठान किया कर।' इस प्रकार स्त्रियों को यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों का पूर्ण अधिकार है। यज्ञानुष्ठान वही स्त्री कर सकेगी जिसका उपनयन हुआ होगा और जिसने वेदमन्त्रों का अध्ययन किया होगा। इस प्रकार स्त्रियों के ये सभी अधिकार भी वेद से स्वतः सिद्ध हैं।

(**सपर्य**) सेवन किया कर।[१]

"तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥" मनु० [९।६९]

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाय, तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।[२]

प्रश्न—एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं? और विवाहित [एवं] नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है?

उत्तर— सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

ऋ०, म० १०। सूक्त ८५। मं० ४०॥

हे स्त्रि! जो (**ते**) तेरा (**प्रथमः**) पहिला विवाहित (**पतिः**) पति तुझको (**विविदे**) प्राप्त होता है, उसका नाम (**सोमः**) सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से 'सोम'; जो दूसरा नियोग होने से (**विविदे**) प्राप्त होता है,[३] वह (**गन्धर्वः**) स्त्री से [दूसरा] सम्भोग करने से 'गन्धर्व'; जो (**तृतीय उत्तरः**) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है, वह (**अग्निः**) अत्युष्णतायुक्त होने से 'अग्नि' संज्ञक; और जो (**ते**) तेरे (**तुरीयः**)[४] चौथे से लेके ग्यारहवें [पुरुष के रूप में अपने पति को मानने][५] तक नियोग में पति होते हैं[६], वे (**मनुष्यजाः**) 'मनुष्य' नाम से कहाते हैं।[७] जैसे[८] (**इमां त्वमिन्द्र०**) इस मन्त्र में [निर्देश है कि] ग्यारहवें पुरुष [के रूप में अपने पति को मानने][९] तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री [के रूप में अपनी पत्नी को मानने][१०] तक नियोग कर सकता है।

प्रश्न—'एकादश' शब्द से [अपने विवाहित पति से उत्पन्न] दश पुत्र[११] और ग्यारहवां[१२] [अपने] पति को क्यों न गिनें?

---

१. **मुद्रणकालीन अशुद्धि**—द्विप्र० में यहां "**करें**" अपक्रिया है। अन्य सभी में शुद्ध है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—"**तामनेन.....कर सकता है**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**विविदे**" का पदार्थ त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में है।

४. **अप-उद्धरण पाठ**—द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) में "**तुर्य्यः**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

५. **त्रुटित आवश्यक**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में स्पष्टता के लिए बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है अन्यथा अस्पष्ट-अपूर्ण वाक्यरचना से अर्थभ्रान्ति उत्पन्न होती है कि ग्यारह पतियों तक नियोग किया जा सकता है।

६-७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य मिलता है—"**नियोग से पति होते हैं**"। यहां '**नियोग में**' प्रयोग शुद्ध है। द्वि० सं० में "**मनुष्य नाम से कहते हैं**" में '**कहाते**' क्रिया आयेगी। दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यही शुद्ध क्रिया है। प्रथम अपपाठ वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० आदि सभी में है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**जैसा**' अपप्रयोग है, वाक्य में आगे प्रयुक्त "**वैसे**" के सम्बन्ध से '**जैसे**' प्रयोग होगा।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ अर्थ-स्पष्टता तथा संदेहरहितता के लिए आवश्यक है।

११. **ग्यारहवें पति से अभिप्राय**—इस पूर्वापर प्रकरण में वस्तुतः वही भाव है जो पृ० २११ पर उद्धृत वेदमन्त्र "**इमां त्वमिन्द्र.....पतिमेकादशं कृधि**" में तथा अग्रिम पंक्तियों "**और जो दोनों.....कामक्रीड़ा के लिये नहीं।**" में व्यक्त है। भाषा की संक्षिप्तता से इसमें संदेह प्रकट किया जाता है। इस प्रश्न और उत्तर को पढ़कर स्पष्ट होता है कि यह प्रश्न नियोग को अस्वीकार करने के लिए उठाया गया है और कहा है कि "**इमां त्वमिन्द्र.....**" मन्त्र का नियोगपरक अर्थ क्यों करते हैं? क्यों न यह माना जाये कि यहां विवाहपूर्वक उत्पन्न दशपुत्रों का निर्देश है और उसके बाद ग्यारहवां पति को माना जाये? अर्थात् दश से अधिक सन्तानें उत्पन्न न की जायें। अग्रिम उत्तर से भी इसी भाव की संगति बनती है।

१२. **भ्रष्ट प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**ग्यारहवें**" भ्रष्ट प्रयोग है, "**ग्यारहवां**" शुद्ध है, नहीं तो अनर्थ प्रकट होगा।

उत्तर—जो ऐसा अर्थ करोगे तो '**विधवेव देवरम्**' [ऋग्० १०।४०।२] '**देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते**' [निरुक्त ३।१५] '**अदेवृघ्नि**' [अथर्व० १४।२।१८] और '**गन्धर्वो विविद उत्तरः**' [ऋग्० १०।८५।४०] इत्यादि वेदप्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा; क्योंकि तुम्हारे अर्थ से [तो] दूसरा पति ही प्राप्त नहीं हो सकेगा[१] [जबकि इनमें दूसरे, तीसरे, चौथे नियुक्त पति का स्पष्ट उल्लेख है]।[२]

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ १॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥ २॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव० ॥ ३॥ मनु० [९।५९, ५८, १५९]

इत्यादि मनु जी ने लिखा है कि (**सपिण्ड**) अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई अथवा स्ववर्णस्थ[३] तथा अपने से उत्तम वर्णस्थ[४] पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिये। परन्तु **जो वह मृतस्त्रीक-पुरुष[५] और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो, तो नियोग होना उचित है। और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो, तब नियोग होवे॥ १॥**

जो आपत्काल के विना अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने पर[६], बड़े भाई की स्त्री से छोटे का और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर भी, पुनः वे नियुक्त भी आपस में समागम करें तो पतित हो जायें; अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है, इसके पश्चात् समागम न करें॥ २॥

और जो दोनों के लिये नियोग हुआ हो, तो चौथे गर्भ तक, अर्थात् पूर्वोक्त रीति से दश सन्तान तक हो सकते हैं। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें, तो कामी और निन्दित होते हैं। अर्थात् **विवाह वा नियोग सन्तानों के ही अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् कामक्रीड़ा के लिये नहीं।**

प्रश्न—नियोग मरे पीछे ही होता है वा पति के जीते भी?

उत्तर—जीते भी होता है—

"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥" ऋ०, म० १०। सूक्त १०। [मन्त्र १०]॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**सकता**' के स्थान पर '**सकेगा**' क्रिया अभीष्ट है। पूर्वोक्त "**करोगे**" क्रिया के सम्बन्ध से '**सकेगा**' क्रिया ही उचित है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—प्रसंग को स्पष्टरूप में समझने के लिए यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठक का पाठ चाहिए।

३-४. **आशय-विरुद्ध पाठ**—दोनों सं० में दोनों स्थानों पर तत्कालीन प्रयोग शैली के प्रभाव से या लिपिकर के प्रमाद से "**स्वजातीय**" और "**जातिस्थ पुरुष**" प्रयोग मिलते हैं। ऋषि के सिद्धान्तानुसार यहां "**स्ववर्णस्थ**" और "**वर्णस्थ**" पद होने चाहिएं। गत पृ० २१३/१० पर ऋषि स्पष्टतः लिख चुके हैं—"**(नियोग) अपने वर्ण में वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ**"। इस प्रकार सिद्धान्तरक्षा, एकरूपता और मानकता के लिए यह संशोधन अत्यावश्यक है। प्रतीत होता है ये लिपिकरकृत प्रयोग हैं।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मृतस्त्री पुरुष**" अपप्रयोग है, "**मृतस्त्रीक पुरुष**" अभीष्ट है। मूलसं० में बृहत् कोष्ठक में संशोधन दर्शाया है। प्रायः सभी सं० में संशोधित है। (टिप्पणी द्र०पृ० २१२ पर संख्या ७)

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**होने पर**" पाठ उपयुक्त है। "**होने में**" अपप्रयोग है। सभी में अपपाठ है।

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे 'सुभगे! =सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (**मत्**) मुझ से (**अन्यम्**) दूसरे पति की (**इच्छस्व**) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी।' तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे[१], परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहै। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप मुझसे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा छोड़के, किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये। जैसे[२] कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री[३] आदि ने किया। और जैसे व्यास जी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् उस अपने भाई [विचित्रवीर्य] की स्त्रियों से नियोग करके[४] अम्बिका में धृतराष्ट्र[५] और अम्बालिका में पाण्डु और दासी[६] में विदुर की उत्पत्ति की, इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥ १॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ २॥ मनु० [९।७६, ८१]

विवाहित स्त्री, जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिये गया हो तो छः, और धनादि कामना के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक वाट देखके,[७] पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति आवे, तब नियुक्त पति छूट जावे॥ १॥

वैसे ही पुरुष के लिये भी नियम है। जब विवाह से आठवें[८] वर्ष तक स्त्री को गर्भ[९] न रहे, वन्ध्या

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर बीच का पाठ कहीं भी छोड़ देता है। संदेह होता है कि यह दृष्टि-विचलन क्या छोटे-से वाक्य में भी हो सकता है? अथवा कोई सोची-समझी शरारत है? क्योंकि ऐसा सैंकड़ों स्थानों पर हुआ है। यहां भी दो "**सन्तानोत्पत्ति**" पदों के आने पर छोटे-से वाक्य में बीच का "**न हो सकेगी।.....सन्तानोत्पत्ति**" पाठ छोड़कर यह पाठ बनाया है—"**मुझसे सन्तानोत्पत्ति करे**"। शोधक ने अनुमान से मध्य में "**आशा मत**" पद जोड़ दिये। फिर भी यह अपपाठ रह गया—"**मुझसे सन्तानोत्पत्ति की आशा मत करे।**" वेस में स्वतन्त्र वाक्य निर्मित किया है। परोप० ५, भद, युमी में मूलह० का शुद्ध पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं०, जग और उदयपुर सं० में पहला वाक्य अशुद्ध है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पहले और इस वाक्य में दोनों स्थानों पर "**जैसा**" अपपाठ है, '**जैसे**' शुद्ध है।

३,६. **लिपिकरकृत अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में अयोग्य लिपिकरों ने क्रमशः "**मद्री**" और "**दाशि**" अपवर्तनी लिखी है। तदनुसार द्विप्र० में अशुद्ध छपी हैं। द्वि०सं० और मूलसं० आदि सभी सं० में संशोधित की हुई हैं।

४. **इतिहासविरुद्ध भ्रष्ट पाठ**—इस शोध संस्करण में प्रथम बार इस त्रुटि का समाधान प्रस्तुत है। यह त्रुटि लिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से हुई है, क्योंकि ग्रन्थकार को तो यह तथ्य ज्ञात था। यहां "**व्यास जी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य.....उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके.....**" भ्रष्ट पाठ है। अम्बिका-अम्बालिका दोनों विचित्रवीर्य की पत्नियां थी। दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० सभी में भ्रष्टपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थकारकृत '**उपदेश मंजरी**' (उप० १२) में शुद्ध पाठ है—"**व्यास जी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा स्त्रियों से नियोग किया था।**"

५. **मुद्रणकालीन महाभ्रष्ट पाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह महाभ्रष्ट पाठ छपा है—"**स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका, अम्बा में धृतराष्ट्र.....की उत्पत्ति की।**" प्रमादी आदि-शोधक ने इस पर ध्यान नहीं दिया कि दो स्त्रियों से एक पुत्र कैसे उत्पन्न हो सकता है? आर्यसम्पादकों का प्रमादपूर्ण व्यवहार देखिए कि यह पाठ १५वें संस्करण तक गौरव-गर्व के साथ चलता रहा!

७. **वाट देखना**—यह मुहावरा है जिसका अर्थ है—'मार्ग देखना' अर्थात् 'प्रतीक्षा करना'। संस्कृत में '**वाट**' का एक अर्थ '**मार्ग**' होता है। हिन्दी में इसका अपभ्रंश 'बाट देखना' प्रचलित है। उदयपुर सं० में "**बाट**" अशुद्ध पद है।

८-९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में यहां "**आठ वर्ष तक**" अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

हो तो आठवें, सन्तान होकर मर जायें तो दशवें, जब-जब हो तब-तब कन्या हो और पुत्र न होवे तो ग्यारहवें, और जो स्त्री अप्रिय बोलने वाली होवे, तो तुरन्त उसको छोड़के दूसरी स्त्री से नियोग करके, सन्तानोत्पत्ति कर लेवे। वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है कि तुरन्त उसको छोड़के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके, उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवे[१] ॥ २ ॥

इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करें।

जैसे 'औरस' अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र, पिता के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे ही 'क्षेत्रज' अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी मृतपिता के दायभागी होते हैं।

अब इस पर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को परस्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के संग में खोते हैं, वे महामूर्ख कहाते हैं; क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी, अपने खेत वा वाटिका के विना, अन्यत्र बीज नहीं बोते। जो कि साधारण बीज का और मूर्ख का यह वर्त्तमान[२] है, तो जो [शिक्षित होकर भी][३] सर्वोत्तम मनुष्यशरीररूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र वा वेश्या में बोता है,[४] वह महामूर्ख कहाता है, क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता। और

'आत्मा वै जायते पुत्रः' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है।[५]

[तुलना—शत० ब्रा०, कां० १४। प्रपा० ७। ब्रा० ५। कं० २६]

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधि जायसे।
आत्मासि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम्॥ १ ॥

यह सामवेद [के ब्राह्मण] का मन्त्र है॥[६]

[सामब्रा०, मन्त्रपर्व, प्रपा० १। खं० ५। कं० १७ का पूर्वार्द्ध और १८ का उत्तरार्द्ध]

यहां "**आठवें वर्ष तक**" पाठ ग्राह्य है। आगे मूलह०, मूलप्रति सं० में "**गर्भ भी**" यहां '**भी**' निरर्थक पद है।

१. **मुद्रणकालीन अप-अनुवाद व द्वितीय सं० में पुनरुक्तियुक्त अपपाठ**—द्वितीय सं० में यह अपवाक्य है—"**सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।**" दोनों हस्त०, द्विप्र० युमी, उदयपुर और मूलप्रति में शुद्ध पाठ है। वेस, भद में अशुद्ध पाठ है। इससे पूर्व द्विप्र० में "**तुरन्त**" के स्थान पर "**सद्यः**" अव्यावहारिक हिन्दीकरण है।

२. **वर्तमान**=व्यवहार, स्थिति।

३. **त्रुटित पाठ**—वाक्यपूर्ति की दृष्टि से यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ अपेक्षित है।

४. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**कुक्षेत्र में खोता है**" अपपाठ है। पूर्वापरप्रसंग में किसान द्वारा कुक्षेत्र में बोने की चर्चा है और वाक्य में आगे फल न मिलने का कथन है। '**फल मिलना**' प्रयोग बोने पर ही हो सकता है, खोने पर नहीं। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से यहां 'बोता' के स्थान पर 'खोता' पद लिखा गया है।
संशोधन-पुष्टि—पृ० २२०, पंक्ति ३ में भी "**वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना.....बुवाना**" शुद्ध प्रयोग है। वहां '**दुष्टक्षेत्र**' '**कुक्षेत्र**' का पर्याय ही है। मनुस्मृति में भी इस प्रसंग में "**परक्षेत्रप्रवापिणः**" (९.४९) प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है—'दूसरे के क्षेत्र में बीज बोने वाले।' वेस, जग, भद, युमी, जस, उदयपुर सं० आदि सब सं० में अपपाठ ही उपलब्ध होता है।

५. **तुलनात्मक पुष्टि**—इसी भाव के वचन वैदिक साहित्य में बहुत मिलते हैं। निरुक्त में आत्मा को पुत्र और पुत्र को आत्मा का रूप माना है—"**आत्मा वै पुत्र नामाऽसि**" (३.१.४)। मनुस्मृति में भी पुत्र-पुत्री को आत्मा रूप माना है—"**यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा**" (९.१३०) अर्थात् 'जो आत्मा है वही पुत्ररूप है और पुत्र के समान दुहिता=पुत्री भी आत्मा-रूप है।'

६. **मुद्रणकालीन व्यर्थपाठान्तर व अशुद्ध उद्धरण पता**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में लिखा है—"**यह सामवेद का मन्त्र है।**" द्विप्र० में यह व्यर्थ पाठान्तर है—"**यह सामवेद का वचन है।**" द्वि०सं० में यह इस प्रकार परिवर्तित है—"**यह ब्राह्मण ग्रन्थों**

हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से[१] और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये तू मेरा आत्मा है, मुझसे पूर्व न मरना,[२] किन्तु सौ वर्ष तक जी। जिससे ऐसे-ऐसे महात्मा महाशयों[३] का शरीर उत्पन्न होता है, उसको वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना, वा दुष्टबीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना, महापाप का काम है।

प्रश्न—विवाह क्यों करना [चाहिये] ?[४] क्योंकि इससे स्त्री और पुरुष को बन्धन में पड़के बहुत संकोच करना और दुःख भोगना पड़ता है। इसलिये जिसके साथ [जब तक][५] जिसकी प्रीति हो तब तक वे मिले रहैं, जब प्रीति छूट जाय तो छोड़ देवें।

उत्तर—यह पशु-पक्षियों का व्यवहार है, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहै, तो गृहाश्रम के अच्छे व्यवहार सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायें।[६] कोई किसी से भय वा लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें।[७] कोई किसी के पदार्थ का स्वामी वा दायभागी न हो सके और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल-पर्यन्त स्वत्व रहै, इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह अवश्य होना चाहिये।

प्रश्न—जब एक विवाह होगा, एक पुरुष की[८] एक स्त्री और एक स्त्री का एक पुरुष रहेगा, तब स्त्री गर्भवती वा स्थिररोगिणी, अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो और दोनों की युवावस्था हो; उनसे[९] न रहा जाय, तो फिर क्या करें?

उत्तर—इसका प्रत्युत्तर वहां 'नियोग-विषय' में दे चुके हैं।[१०] और जब गर्भवती स्त्री से एक वर्ष

का वचन है।'' यह अपवाक्य है। वस्तुतः, यह केवल सामवेद के ब्राह्मण का वचन है।

१-२. **पुनरुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''वीर्य से उत्पन्न''** में **'उत्पन्न'** पद अनावश्यक है। क्योंकि आगे प्रयुक्त है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''पूर्व न मरे''** अपपाठ है। मध्यम पुरुष का **'मत मरना'** प्रयोग उपयुक्त है।

३. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० में **''महर्शियों''** अपप्रयोग है। अब सभी पाठों में शुद्ध है।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः **'चाहिये'** और **'जब तक'** पद त्रुटित हैं। ये अपेक्षित हैं।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्त पाठ**—मूलह० के सही पाठ को मुद्रणप्रति में पुनरुक्तिदोषपूर्ण बना दिया है—**''सब गृहाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायें।''** यही द्विप्र० आदि में है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमादवश पुनरुक्ति और परिवर्तित अपपाठ**—प्रतिलिपि करते समय मुद्रणहस्त० में प्रमादी मुद्रणलिपिकर के कारण यह पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ छपा है—**''कोई किसी की सेवा भी न करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जायें। कोई किसी से भय वा लज्जा न करे वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करें। और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट हो जायें।''** प्रतिलिपि करते समय प्रमादी लिपिकर दो **''किसी''** पदों से भ्रान्त होकर उनके बीच का यह पाठ छोड़ गया—**''किसी से भय वा लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई''**। जब वाक्य समाप्त हो गया तो उसे इस त्रुटित पाठ का ध्यान आया, उसने फिर अपनी ओर से नया पाठ गढ़ दिया जिसमें सब पुनरुक्ति है, यह नयी अतिशयोक्ति है—**''कुलों के कुल नष्ट हो जायें।''** मूलह०, मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। दुःख की बात यह है कि यह पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ सवा सौ वर्षों से सभी सं० में छपता आ रहा है। वेस, जग, भद, युमी, वेस में अशुद्ध है। उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादक विद्वानों ने भी इस पर विचार नहीं किया और अशुद्ध पाठ रख दिया। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने इस पुनरुक्त पाठ को वैशिष्ट्यपूर्ण मानकर सही ठहराया है। यदि उनके पास दोनों हस्तलेख होते तो वे ऐसा अयुक्त कथन कदापि न करते, क्योंकि यह मुद्रण-लिपिकर के प्रमाद से विकृत हुआ है। पुनरुक्त वाक्य में नया पाठ केवल **''कुलों के कुल नष्ट हो जायें''** है। यदि यह मौलिक होता तो **''शीघ्र मर जायें''** के बाद ही प्रयुक्त होता, सारे वाक्यों की पुनरुक्ति आवश्यक नहीं थी। यहां मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध और ग्राह्य है।

८. **अपप्रयोग**—यहां तीनों सं० में **''को''** अपप्रयोग है, **'की'** शुद्ध है।

९. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में **'उनसे'** पद त्रुटित है। वाक्यसंगति के लिए आवश्यक है।

१०. **पूर्वोक्त प्रत्युत्तर**—स्थिर रोगिणी स्त्री और दीर्घ रोगी पुरुष-विषयक उत्तर इसी प्रकरण में पृ० २१७-२१८ पर देखिए—**''अन्यमिच्छस्व**

पर्यन्त समागम न करने के समय में पुरुष से न रहा जाय, तो किसी विधवा से नियोग कर, उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे,[१] परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करे।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक, अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि और बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार में किया करें। सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने-अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साह, प्रयत्न, तन-मन-धन से[२] किया करें। **अपने माता, पिता, सास,[३] श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा किया करें। मित्र, पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखें और दुष्टों से उपेक्षा रखके अर्थात् घृणा छोड़कर उनको[४] सुधारने का प्रयत्न किया करें। जहां तक बने वहां तक, प्रेम से अपने सन्तानों को[५] विद्वान् और सुशिक्षित[६] करने-कराने में धनादि को लगावें।**[७] धर्म से सब व्यवहार करके मोक्ष का साधन भी किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द होवे। ऐसे श्लोकों को न मानें—

सुभगे पतिं मत्'' मन्त्र और उस पर अग्रिम व्याख्या।

१. **महामूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित भ्रष्ट पाठ**—मूलह० में यह वाक्य शुद्ध है। मुद्रणहस्तलेख में इस वाक्य का भ्रष्ट परिवर्तन है—'**गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति करदे।**''। यहां केवल स्त्री के गर्भकाल में पुरुष के न रह सकने का प्रसंग है, ''**स्त्री से**'' पाठ परिवर्धन करना मूर्खतापूर्ण कथन है। आगे ''**विधवा से**'' पद हटा दिये जो स्पष्टार्थक थे और यह संकेत दे रहे थे कि यह प्रसंग केवल पुरुष से सम्बन्धित है। कोई उस मूर्ख मुद्रणलिपिकर से पूछता कि ''**गर्भवती स्त्री से समागम न करने के समय में**'' इस स्पष्ट वाक्य से आगे प्रयुक्त स्त्री का क्या औचित्य है, जबकि यहां स्पष्टत: समागमकर्ता पुरुष का प्रसंग है। आगे दूसरी महामूर्खता देखिए, गर्भवती स्त्री किसी से कैसे नियोग करेगी? और वह गर्भवती कैसे किसी के लिए पुत्रोत्पत्ति करेगी?

सम्पादकों द्वारा महर्षिप्रोक्त पाठ के अपसंशोधन की परम्परा—आर्य-सम्पादकों ने प्रश्न के इस मूल कथ्य को न समझकर कि यह प्रश्न 'केवल स्त्री की गर्भावस्था के समय पुरुष के लिए है', उसके साथ स्त्री-विषयक उत्तर भी जोड़ दिया और यह पाठ बढ़ाया—''**दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से.....नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति करदे!**'' यह पाठ वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० है। उत्तर में ग्रन्थकार स्वयं लिख रहे हैं कि **इसका (स्त्रीविषयक) उत्तर नियोग-विषय में दे चुके हैं** (पृ० २१८)। वहां स्थिररोगिणी स्त्री और दीर्घरोगी पुरुष का सन्दर्भ आ चुका है, अत: उसको पुन: कहने की आवश्यकता ही नहीं। यहां केवल स्त्री के गर्भकाल में पुरुष के लिए निर्देश है। विद्वानों द्वारा परिवर्धित यदि पूर्वोक्त पाठ को मान भी लिया जाये तो भी उत्तर अपूर्ण बनेगा। इसका पहला कारण यह है कि अन्त के पाठ ''**परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करे**'' की संगति स्त्री के साथ नहीं लगेगी। यह पाठ भी यह संकेत दे रहा है कि यहां केवल पुरुष को निर्देश दिया है कि 'वह किसी के लिए पुत्रोत्पत्ति कर दे।' अत: यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है। महर्षिप्रोक्त युक्तियुक्त शुद्ध पाठ की उपेक्षा करके लिपिकरों व सम्पादकों के द्वारा विकृत पाठ को ग्रहण करना दु:ख का विषय है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने यहां मूलह० के पाठ को शुद्ध एवं ग्राह्य माना है।

उदयपुर सं० का दुराग्रहपूर्ण उत्तर—यहां स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि मुद्रणलिपिकर तथा सम्पादकों द्वारा परिवर्धित पाठ असंगत एवं हास्यास्पद है। फिर भी उदयपुर सं० के दूसरे लेखक ने मेरे लेख के उत्तर में केवल दुराग्रह के कारण इस पाठ को उचित कहा है। यह भी नहीं सोचा कि स्वयं गर्भवती स्त्री उस समय दूसरे के लिए सन्तान कैसे उत्पन्न करेगी?

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० के पाठ को व्यर्थ बदला है—''**अत्युत्साहपूर्वक, प्रयत्न से....धन से**''।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**शाशु**'' अपवर्तनी है। ग्रन्थ में एकरूपता के लिए ''**सास**'' ग्राह्य है।

४-६. **परिवर्धन तथा अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उनके**'' ''**सन्तानों के**'' अपप्रयोग हैं। ''**अर्थात् द्रोह छोड़कर**'' मुद्रणलिपिकरकृत परिवर्धन है। यहां '**घृणा**' सटीक प्रयोग होगा।

७. **मुद्रणलिपिकरकृत पुनरुक्त अपपाठ**—मूलह० में ''**सुशिक्षित**'' शुद्ध प्रयोग है। मूलसं०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**सुशिक्षा**'' अशुद्ध है। मुद्रणहस्त०, द्वि०सं० में मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य का पुनरुक्तिपूर्ण अनावश्यक विस्तार किया है। ''**विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में....पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें**''। मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ सही है और ग्राह्य है।

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठः, न च शूद्रो जितेन्द्रियः।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी॥ १॥

[तुलना—भाषा पाराशरी अ० ८। श्लो० ३३॥ पराशरस्मृति अ० ८। श्लो० ३२]

अश्वालम्भं[१] गवालम्भं[२] संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥ २॥

[तुलना—पारस्कर गृह्यसू० कां० १। कं० ३ के गदाधर भाष्य में उद्धृत श्लोक से]

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ ३॥[३]

ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं। [भाषा पाराशरी अ० ४। श्लो० ३०]

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ, और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक कौन-सा[४] होगा ?[५] क्या जैसे[६] दूध देनेवाली वा न देनेवाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुंभार=(कुम्हार)[७] आदि को गधी पालनीय नहीं होती ? और यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्य जाति, गाय और गधी भिन्न जाति हैं। कथञ्चित् पशु जाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त[८] में मिल भी जावे, तो भी इसका आशय अयुक्त होने से यह श्लोक विद्वानों के द्वारा माननीय कभी नहीं हो सकता॥ १॥[९]

१-२. **अयोग्य लिपिकर और अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने "**अश्वालंबं**" "**गवालंबं**" अपवर्तनियां लिखी हैं। तदनुसार द्वि०प्र० में अशुद्ध हैं। द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी सं० में संशोधित कर दिये हैं।

३. **तीनों श्लोकों का अर्थ**—'द्विज व्यक्ति पतित भी हो तो वह श्रेष्ठ है, उसकी तुलना में शूद्र जितेन्द्रिय भी हो तो उसको श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता, जैसे कि दूध न देनेवाली गाय भी पूज्य होती है किन्तु दूध देने वाली गधी भी पूज्य नहीं होती॥ १॥ अश्वालम्भ=अश्वमेध, गवालम्भ=गोमेध, संन्यास लेना, मांसयुक्त पितृश्राद्ध और देवर से सन्तानोत्पत्ति करना, कलियुग में इन पांच कामों को छोड़ देवे॥ २॥ पति के खो जाने पर, मृत्यु हो जाने पर, संन्यासी हो जाने पर, नपुंसकता में, पतित घोषित होने पर, इन पांच आपत्कालों में स्त्री के लिए दूसरा पति करने का विधान है॥ ३॥

४. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मुद्रण हस्त०, द्विप्र० में यहां "**क्या होगा ?**" अप-परिवर्तन है। "**दूसरा**" पद होने के कारण "**कौन-सा होगा**" ही शुद्ध पाठ है। मूलसं० में सही पाठ है, जो ग्राह्य है। अन्य सभी सं० में "**क्या**" अपप्रयोग ही है।

५. **शूद्र नीच नहीं**—महर्षि ने यहां स्पष्ट उल्लेख किया है कि शूद्र नीच स्तर या नीच जाति का नहीं होता। श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच जाति का मानना उसके साथ पक्षपात, अन्याय, अधर्म है। शूद्र को जन्मना जातिवादी व्यवस्था में नीच माना जाता है वर्णव्यवस्था में नहीं। द्रष्टव्य पृ० ६६ की टिप्पणी।

६. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**जैसे**' पद वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है। आगे प्रयुक्त "**वैसे**" के सम्बन्ध से भी जरूरी है।

७. **कुंभार**=कुम्हार। 'कुंभार' गुजराती भाषा का शब्द है जो ऋषि द्वारा मूलहस्त० और मुद्रणह० में प्रयुक्त है। द्विप्र० में इसका हिन्दी रूप बना दिया है।

८. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—लिपिकरों की अयोग्यता देखिए, मूललिपिकर ने इस पद को "**दाष्ट्रान्त**" तथा मुद्रण लिपिकर ने "**द्राष्ट्रान्त**" लिखा है। अन्य सभी पाठों में संशोधित वर्तनी है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित अपपाठ**—मूलह० में उपर्युक्त शुद्ध पाठ है किन्तु मुद्रणलिपिकर ने गम्भीरता से विचार किये बिना इसको बहुवचनान्त बना दिया—"**ये श्लोक विद्वानों के माननीय नहीं हो सकते।**" यही अपपाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में है। पाठक ध्यान दें कि जिस श्लोक के विषय में यह कथन किया जा रहा है वह तो पहला और एक ही श्लोक है, अन्य तो आगे आयेंगे। अतः यह व्याकरणानुसार अपपाठ है। मूलह०, मूलसं० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध होने से ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, जग, विस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकरकृत अपवाक्य है।

जब अश्वालम्भ[१] अर्थात् घोड़े को मारके अथवा गाय को मारके होम करना ही वेदविहित नहीं है, तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाय, तो त्रेता आदि में विधि आ जाय। तो इससे ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठ युग में होना सर्वथा असंभव है। और जिस संन्यास का वेदादि में विधि है,[२] उसका निषेध करना निर्मूल है। **जब मांस का निषेध है तो सर्वदा ही निषेध है।** जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करनी वेदों में लिखी है तो यह श्लोककर्त्ता क्यों भूंषता[३] है? ॥ २ ॥

यदि (**नष्टे**) अर्थात् पति किसी देश-देशान्तर को चला गया हो, [और][४] घर में स्त्री नियोग कर लेवे, उसी समय विवाहित पति आ-जाय, तो वह किसकी स्त्री हो? कोई कहे कि विवाहित पति की। हमने माना, परन्तु ऐसी व्यवस्था '**पाराशरी**' में तो नहीं लिखी। क्या स्त्री के पांच ही आपत् समय हैं? रोगी पड़ा हो, लड़ाई हो गई हो, इत्यादि आपत्काल पाँच से भी अधिक हैं। इसलिये ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी न मानना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रश्न—क्यों जी! तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते?

उत्तर—चाहे किसी का वचन हो, परन्तु वेद के विरुद्ध होने से नहीं मानते। और यह तो पराशर का वचन भी नहीं है। क्योंकि जैसे '**ब्रह्मोवाच, वसिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, देव्युवाच**' इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिये करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे और हमारी पुष्कल जीविका होवे[५]। **कुछ[६] प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़के मनुस्मृति ही**

---

१. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने "**अश्वालंब**" अपवर्तनी लिखी है। तदनुसार द्विप्र० में भी अशुद्ध छपी है। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा शैलीविरुद्ध परिवर्तन**—महर्षि की स्थापित भाषा शैली के अनुसार '**विधि**' पद पुंल्लिग का प्रयोग है। मूलह०, मूलसं० में पुंल्लिग प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा स्त्रीलिंग प्रयोग में परिवर्तित करना उपयुक्त नहीं है। सभी द्वि०सं० में अपपाठ है (द्र० टिप्पणी पृ० १५२ पर)।

३. **भूंषता गुजराती प्रयोग**—'व्यर्थ बक-बक करने' और 'कुत्ते की भों-भों' को व्यक्त करने के लिए हिन्दी में '**भूंकता, भोंकता**' प्रयोग होते हैं। उत्तर भारत की बोलियों में '**भूंसता, भोंसता**' बोले जाते हैं। बनारस आदि की बोली में '**भूंखता, भोंखता**' बोलते हैं। महर्षि द्वारा प्रयुक्त '**भूंषता**' क्रिया संस्कृत की '**भष्**' धातु से विकृत क्रिया है। उसी के रूप वर्तनी भेद से '**भूंसता या भोंसता**' गुजराती में प्रयुक्त होते हैं।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की परस्परविरोधी टिप्पणी—यहां पं० जी ने टिप्पणी दी है कि "**स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने '**भूंसता**' अपपाठ बनाया है" (पृ० १९७)। पं० जी की अनवधानता देखिए कि जिस प्रयोग की वे अपपाठ कहकर आलोचना कर रहे हैं, उस "**भूंसता**" को ही उन्होंने स्वयं भी मूलपाठ में स्वीकार किया है! दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भूंषता**" वर्तनी है, अत: यही स्वीकार्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में यहां '**और**' पद त्रुटित रह गया है। यह आवश्यक है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्तियुक्त परिवर्तन**—मुद्रणह० में इससे पूर्व एक वाक्य परिवर्धित किया है जो पूर्ववाक्य की पुनरुक्ति मात्र होने से अनावश्यक है—"**इसलिये अनर्थगाथा युक्त ग्रन्थ बनाते हैं**"। ग्रन्थरचना कारण का कथन एक पंक्ति पूर्व हो चुका है। यही व्यर्थ पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में है। वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० में यही अपपाठ है। **डॉ० रामनाथ जी** वेदालंकार ने इसकी संगति पूर्व वाक्य से लगाने पर ही इस पाठ-परिवर्धन का औचित्य माना है, किन्तु पूर्ववाक्य में तो ग्रन्थरचना का कारण पहले है ही, अत: यह अनावश्यक है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह० में "**कुछ-कुछ**" यह पाठ परिवर्धित करके ग्रन्थकार के आशय को नष्ट कर दिया है। 'कुछ' का आशय है 'थोड़े श्लोक', जबकि 'कुछ-कुछ' का अर्थ श्लोकों के कुछ-कुछ अंश या बहुत थोड़े-से। मूलह० और मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में पाया जाता है।

वेदानुकूल है, अन्य स्मृतियाँ नहीं।[१] ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की भी व्यवस्था समझ लो।[२]

प्रश्न—गृहाश्रम सबसे छोटा, वा बड़ा है?

उत्तर—अपने-अपने कर्मों में सब बड़े हैं।[३] परन्तु[४]—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ १॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ २॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ३॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ४॥

मनु०[५] [६।९०॥ ३।७७-७९]

अर्थ—जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे गृहस्थ के ही आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं॥ १॥

[६][जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, अर्थात् सब आश्रमस्थों[७] का निर्वाह होता है।] विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता॥[८] २॥

१-२. **अन्यत्र वर्णन**—मनुस्मृति सम्बन्धी निर्देश तथा जाल ग्रन्थों का विवरण तृतीय समुल्लास में पृ० १३४ पर पठनीय है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० का वाक्य उपयुक्त है, बस, '**कर्म**' एकवचनान्त अपप्रयोग है। मुद्रणहस्त०, द्विप्र० में ''**कर्त्तव्य कर्मों**'' संशोधन किया है। ''**अपने कर्म**'' पदों से कर्त्तव्यकर्म ही वर्णित है फिर '**कर्त्तव्यकर्म**' परिवर्तन का क्या वैशिष्ट्य रहा? कई आश्रम हैं, अतः '**अपने**' पद का द्विः-प्रयोग अपेक्षित है।

४. **अपविराम और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां ''**परन्तु**'' के बाद पूर्णविराम दिया हुआ है, जो अपविराम है। द्वि०सं०, मूलसं० में इसको संशोधित करके '**निर्देशक चिह्न**' दे दिया है, जो उचित है। परन्तु के बाद कभी पूर्णविराम नहीं आता, इतना ज्ञान भी लिपिकरों को नहीं था। ऐसे ही आदि-शोधक थे। सभी संस्करणों में इसका संशोधन कर लिया है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा तेरह उद्धरणस्थ पुस्तक नाम त्रुटित**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश इस समुल्लास में अग्रलिखित तेरह स्थलों पर उद्धरण के बाद लिखित पुस्तक नाम त्रुटित छोड़ दिये हैं—१५०/५, १६६/१०, १७०/३, १७७/१, १७८/६,२०; १८१/१५, १९३/९,१६; १९४/१२,१५; २०१/९, २२/११। इस प्रकार मुद्रणलिपिकर ने पाठ की एकरूपता, मानकता और प्रामाणिकता को नष्ट किया है। ये सभी पाठ द्विप्र० में भी त्रुटित हैं।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकर की भूलवश श्लोक संख्या २ का छूटा हुआ अर्थ '**संस्कारविधि**' के गृहाश्रम प्रकरण से ग्रहण करके दिया है। युमी, मूलसं०, उदयपुर सं० में परिवर्धित है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकार्थों में ''**आश्रमों**'' अपप्रयोग है, क्योंकि यहां व्यक्तियों की संज्ञा वर्णित है, अतः ''**आश्रमस्थों**'' प्रयोग होना अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० आदि सभी सं० में अपप्रयोग है।

८. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—''**विना इस.....नहीं होता**'' यह वाक्य मूलह० में नहीं है, मुद्रणह० में ऋषि ने बढ़ाया है। वहीं से मूलसं० में ग्रहण किया है। यह प्रथम श्लोकार्थ के अन्त में भूल से लिखा गया है, द्वितीय श्लोकार्थ के अन्त में प्रसंगसम्मत है। युमी को छोड़, सभी सं० में यह स्थानभ्रष्ट है।

[१]जिससे[२] ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमस्थों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है, अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है [॥ ३ ॥]

इसलिये जो अक्षय मोक्ष[३] और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। **जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने [के][४] अयोग्य है,** उसको अच्छे प्रकार धारण करे॥ ४ ॥

इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते [हैं]?[५] जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है कि जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते[६] समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविषये[७]
चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ ४ ॥

१,२. **अपप्रयोग एवं पुनरुक्त अपपाठ**—तृतीय श्लोकार्थ के आरम्भ में द्वि० सं० में "**जिसने**" अपप्रयोग है। मूलप्रति सं० में "**जिससे**" शुद्ध है। मुद्रणह० और द्विप्र० में भी शुद्ध पाठ है। दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां "**जिससे गृहस्थ**" पाठ है। आगे '**गृहस्थ**' पद पठित होने के कारण यह पुनरुक्त होने से व्यर्थ है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित करके हटा दिया है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां से "**जो अक्षय**" पद त्रुटित रह गये हैं। संस्कृत पाठ में '**अक्षय**' पद पठित होने से हिन्दी-पाठ में भी आवश्यक है। मूलह०, मूलसं० में हैं। मुद्रणह० में "**इस वास्ते जो मोक्ष**" पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में भी "**अक्षय**" पद त्रुटित है।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**के**' और '**हैं**' पद त्रुटित हैं। वाक्यरचना की दृष्टि से इनका होना आवश्यक है।

६,७. **ऋषिहस्तलेख और पाठान्तर**—मुद्रणहस्तलेख और मूलहस्त० में "**विभूषिते**" के स्थान पर '**विरचिते**' पद है। "**विभूषिते**" ऋषि ने बनाया है। आगे, मूलहस्त० में "**समावर्तनविवाहगृहाश्रम विषये**" पाठ नहीं है। यह पाठ मुद्रणह० से ग्रहण किया गया है। मुद्रणहस्त० में भी यह पाठ नहीं था, ऋषि ने शोधन-समय जोड़ा है। संशोधित पाठ ही ग्राह्य हैं।

—०—

अथ पञ्चमसमुल्लासारम्भः[१]

अथ वानप्रस्थ-संन्यासविधिं वक्ष्यामः

[अब वानप्रस्थ और संन्यास-विधि का वर्णन करेंगे][२]

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥

शत० कां० १४॥ [तुलना—(शतपथ शाखापरक) जाबालोपनिषद् खण्ड ४]

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ[३], गृहस्थ होकर वानप्रस्थ[४] और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥ १॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥ ३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥ ५॥ मनु०[५] [६।१-५]

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा [होके] और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वन में वसे॥ १॥

१-२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन तथा त्रुटितपाठ**—दोनों हस्तलेखों में "**अथ पंचमः समुल्लासः**" शीर्षक-पाठ है। इसे मुद्रणकाल में संशोधित किया है। संशोधित पाठ द्विप्र० में उल्लिखित है। वहां से इसको मूलप्रति सं० में ग्रहण किया है।

समुल्लास के विषय-संकेतक संस्कृत वाक्य का हिन्दी अनुवाद दोनों हस्त० और तीनों सं० में त्रुटित रह गया है। कुछ समुल्लासों के आरम्भ में है। शैलीगत एकरूपता और मानकता के लिए यह परिवर्धन आवश्यक है। (द्र०पृ० ५८ पर टिप्पणी)

३. **मुद्रणकाल में त्रुटित पद**—द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां प्रथम '**गृहस्थ**' पद त्रुटित है। मूल हस्तलेख, मूलप्रति सं० और मुद्रणप्रति में है। वाक्यरचना शैली के अनुसार भी अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, विस, जस, जग, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

४. **वानप्रस्थ विधायक वेदमन्त्र**—वानप्रस्थों के लिए वेद में यह आदेश प्राप्त होता है—

"**कूचित् जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतु।**" (ऋ० १०.४.५)

अर्थ—'(**कूचित्**) जब किसी घर में (**सनयासु नव्यः जायते**) पुराने अवस्थावृद्ध गृहस्थों के घर में नयी सन्तान उत्पन्न हो जाती है अर्थात् पौत्र हो जाता है तो (**पलितः**) पके केशोंवाला गृहस्थ (**धूमकेतुः**) अग्निहोत्र सम्बन्धी सामग्री साथ लेकर (**वने तस्थौ**) वन में प्रस्थान करे=वानप्रस्थ बन जाये।' महर्षि मनु ने ऐसे मन्त्रों का आशय लेकर वानप्रस्थ का विधान किया है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित नाम**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में प्रतिलिपि करते समय "**मनु०**" त्रुटित छोड़ दिया है।

परन्तु जब गृहस्थ के[१] शिर के श्वेत केश [हो जायें][२] और त्वचा ढीली हो जाय, और लड़के का लड़का भी होवे,[३] तब वन में जाके वसे॥ २॥

ग्राम के सब आहारों,[४] वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, पुत्रों के पास स्त्री को रख, वा अपने साथ लेके वन में निवास करे[५]॥ ३॥

सांगोपांग अग्निहोत्र[६] को लेके ग्राम से निकल, दृढ़ेन्द्रिय होकर, अरण्य[७] में जाके वसे॥ ४॥

नाना प्रकार के सामा आदि अन्न,[८] सुन्दर शाक, मूल, फल,[९] कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे और उसी से अतिथिसेवा और आप भी निर्वाह करे॥ ५॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ १॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ २॥ मनु० [६।८, २६]

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त[१०], जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा और सबपर दयालु [होवे],[११] किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे[१२], इस प्रकार सदा वर्त्तमान करे॥ १॥

१-२. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**गृहस्थ शिर के केश**" पाठ है '**के**' कारक-प्रत्यय त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है। वेस, जस, भद, युमी में त्रुटित है, उदयपुर सं० में संशोधित है। दोनों सं० में '**हो जायें**' क्रिया अनिवार्य है क्योंकि वाक्य में कोई क्रिया नहीं है, और अग्रिम क्रिया का इससे सम्बन्ध नहीं है।

३. **मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ परिवर्तन**—मूलहस्त० और मूलप्रति सं० के इस महर्षिप्रोक्त पाठ को मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इस प्रकार परिवर्तित किया है—"**लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे।**" दोनों पाठ एकार्थक प्रतीत होते हैं किन्तु गम्भीरता से विचारने पर ऋषिप्रोक्त मूलप्रति सं० के पाठ में गाम्भीर्य और वैशिष्ट्य ज्ञात होता है। वह यह कि लड़के का लड़का होकर जीवित होना चाहिए। द्वि० सं० के संशोधन में "**हो गया हो**" में केवल इतना ही भाव है कि एक बार लड़के का लड़का हो गया हो, फिर वह जीवित है अथवा नहीं, उसका इस पाठ से स्पष्टीकरण नहीं मिलता। अतः मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में महर्षिप्रोक्त नहीं अपितु मुद्रणलिपिकर का पाठ गृहीत है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनान्त '**आहार**' अपप्रयोग है, बहुवचनान्त शुद्ध है।

५. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलहस्त० के '**निवसे**' के स्थान पर "**निवास करे**" संशोधन है, जो ग्राह्य है।

६. **सांगोपांग अग्निहोत्र**—प्रतिदिन अनुष्ठेय पांच महायज्ञों से सम्बन्धित सभी आवश्यक साधन और पदार्थ साथ लेकर जाना।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में "**आरण्य**" अपप्रयोग है, केवल मूलप्रति सं० में '**अरण्य**' संशोधित है।

८. **सामा अन्न**—वन में बिना बोये स्वयं उत्पन्न होने वाले '**सामक**' आदि अन्न।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलसं० में यहां "**फूल**" पद नहीं है, मुद्रणलिपिकर ने बढ़ाया है, जो अनावश्यक है, क्योंकि संस्कृत-पाठ में यह नहीं है। और यदि ग्रहण भी करना है तो "**आदि**" पद से स्वतः ग्रहण हो जायेगा। वेस, जग, भद, युमी में है, उदयपुर सं० से हटा दिया है।

१०. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित नाम और अपप्रयोग**—मुद्रणह० में लिपिकर ने प्रमाद से "**नियुक्त**" पद लिखा है। द्विप्र० में वही अशुद्ध छपा है। द्वि०सं० में संशोधित है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है। सभी सं० में संशोधित है। ऊपर की पंक्ति में उद्धरण के अन्त में लिखित "**मनु०**" नाम मुद्रणप्रति, द्विप्र० में त्रुटित है।

११. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**होवे**' क्रिया त्रुटित है। वाक्यसंरचना के लिए इस क्रिया का प्रयोग आवश्यक है। सभी सं० में क्रियाहीन अपूर्ण पाठ है।

१२. '**अनादाता**' **पद का सही अर्थ**—'अनादाता' पद को लेकर कुछ व्याख्याकारों ने भ्रान्ति फैला दी है। इस पद के आधार पर कुछ

शरीर के सुख के लिये अति-प्रयत्न न करे,[१,२] ब्रह्मचारी रहै[३] अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे। भूमि में सोवे। अपने आश्रितों[४] [और][५] स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे॥ २॥[६]

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये, शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ १॥

मुण्डक० १। खं० २। मं० ११

जो शान्त, विद्वान् लोग वन में तप, धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जंगल में वसते हैं,[७] जहाँ नाशरहित हानि-लाभ-रहित पूर्णपुरुष परमात्मा है, वहाँ वे[८] निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं॥ १॥

अभ्या दधामि समिधमग्नें व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥ १॥

यजुर्वेदे, अध्याये २०। मं० २४॥

वानप्रस्थ को उचित है कि '**मैं अग्नि में होम करके दीक्षित होकर व्रत, सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊँ**', ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ होवे। नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्सङ्ग, योगाभ्यास और सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे॥ १॥

पश्चात् जब संन्यास के ग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे,[९] फिर संन्यास ग्रहण करे॥ १॥

इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः

लोग शंका करते हैं कि '**अनादाता**' पद के आधार पर वानप्रस्थ को भिक्षा नहीं लेनी चाहिये। उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। वानप्रस्थ के लिए आगे भिक्षा का स्पष्ट विधान है। इसका भाव यह है कि वानप्रस्थ देने की भावना रखे; अनावश्यक धन और पदार्थों के लेने का लोभ न करे, संग्रह करने की प्रवृत्ति कभी न रखे। इसका अन्य भाव यह भी है कि भिक्षा आदि विहित पदार्थों के अतिरिक्त अन्य अविहित दान न ले।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से निर्मित भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मूलसं० में पाठ शुद्ध है। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय प्रमादवश विपरीत पाठ बना दिया—"**शरीर सुख के लिये अति प्रयत्न करे**"। यही द्विप्र० में छपा है। सभी में संशोधित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के बाद "**किन्तु**" पद परिवर्धित है, जो अनावश्यक है। मूलह०, मूलप्रति सं० में नहीं है। यहां योजक पद अवांछित है।

३. **त्रुटित क्रिया**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां "**रहै**" क्रिया त्रुटित है, जो आवश्यक है। मूलप्रति सं० में परिवर्धित है।

४-५. **अपप्रयोग**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' योजक पद अपेक्षित है। "**वा**" पद अभीष्ट अर्थ व्यक्त नहीं करता, अपितु अप-अर्थ प्रकट करता है। "**आश्रित**" एकवचनान्त की अपेक्षा '**आश्रितों**' अपेक्षित है।

६. "**वृक्षमूलनिकेतनः**" **का अभिप्राय**—वानप्रस्थ वृक्षों के नीचे या वन में कुटिया, निवासस्थान आदि बनाकर रहे, जैसे वनवास के समय श्रीराम ने '**पंचवटी**' नामक पांच वटवृक्षों के मध्य **पर्णकुटी** बनाकर निवास किया था। जो '**बिना कुटिया बनाये वृक्ष के नीचे रहना**' अर्थ करते हैं, वह अव्यावहारिक है। यह "**भूमौ शय्या**" के समान लाक्षणिक प्रयोग है।

७,८. **स्थानभ्रष्ट प्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के बाद नये वाक्य के आरम्भ में '**वे**' सर्वनाम पद है, जो अस्थान में है। यह आगे पठित "**वहां**" पद के बाद आना चाहिए। मूलसं० में संशोधित है।

९. **स्त्रियों के लिए वानप्रस्थ और संन्यास**—कुछ पाठक कहते हैं कि इस प्रसंग में स्त्रियों के लिए वानप्रस्थ और संन्यास का विधान नहीं है, और इस वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार स्त्रियों के वानप्रस्थ-संन्यास के पक्षधर नहीं हैं, अतः वे स्त्री

को पुत्रों के पास भेजने का निर्देश दे रहे हैं। प्रश्न होता है कि क्या महर्षि स्त्रियों के वानप्रस्थ और संन्यास के पक्षधर नहीं हैं?

इसका बहुत स्पष्ट उत्तर है कि इन प्रसंगों में स्त्रियों के लिए वानप्रस्थ और संन्यास का कहीं निषेध नहीं है, अत: महर्षि की भाषा से निषेधात्मक अर्थ नहीं निकालना चाहिए। वानप्रस्थ के प्रसंग में स्पष्टत: दो विकल्प हैं—१. यदि स्त्री वन में न जाना चाहे तो उसको पुत्रों के पास छोड़ दे। २. यदि जाना चाहे तो साथ ले जाये। यहां साथ ले जाने का अर्थ यह नहीं है कि उसको गृहस्थ के रूप में ले जाये अपितु यह है कि उसको भी वानप्रस्थ के रूप में ले जाये। जब वह साथ जायेगी तो वानप्रस्थ के रूप में रहेगी, जैसे रामायण काल में अत्रि-अनसूया आदि मुनि पति-पत्नी वानप्रस्थ बनकर आश्रमों में रहते थे, या महाभारत काल में धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी और कुन्ती भी जैसे वानप्रस्थ बनकर गई थीं (उद्धरण आगे देखिए)। अत: विकल्पात्मक कथन में स्त्रियों के वानप्रस्थ होने में तो कोई सन्देह है ही नहीं। अब रही बात संन्यासधारण की। संन्यासग्रहण के समय स्त्री को पुत्रों के पास भेजने का कारण यह है कि संन्यास आश्रम में वह पत्नी को किसी भी रूप में साथ नहीं रख सकता, क्योंकि उसे एकाकी रहना और विचरण करना होता है, देखिए—''**त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्**'' (मनु० ६.३३)=सभी संग छोड़कर एकाकी परिभ्रमण करे, ''**एक एव चरेन्नित्यम्.....असहायवान्**'' (मनु० ६.४२)=संन्यासी अकेला ही रहकर विचरण करे, किसी सहायक को साथ न रखे। तो इस दृष्टि से पत्नी को साथ न रखने का आदेश है, स्त्री के संन्यास के निषेध की भावना से नहीं। आगे कहा है—''**अनिकेत: स्यात्**'' (मनु० ६.४३)=घर या निवास बनाकर न रहे। ऐसी स्थिति में संन्यासी स्त्री को कहां रखेगा? इन स्थितियों में पत्नी को पुत्रों को सौंपने का कथन है। यहां उसकी इच्छा है कि चाहे वह पुत्रों के पास रहे या संन्यासिनी बनकर किसी आश्रम आदि में जीवन बिताये। यही कारण है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति में स्त्रियों के लिए कहीं वानप्रस्थ-संन्यास आदि का निषेध नहीं है। यहां तक कि कोई प्रक्षिप्त श्लोक भी ऐसा नहीं डाला गया है जिसमें निषेधात्मक कथन हो।

चाहे यहां पाठ कितना ही त्रुटित या अस्पष्ट रह गया हो किन्तु महर्षि की स्थापित मान्यता यही है कि यथायोग्य परिवर्तन के साथ (द्रष्टव्य—'यथायोग्य संस्कार' पृ० ७९ पर) स्त्रियों के भी सभी धार्मिक अधिकार पुरुषों के समान हैं, अत: वे स्त्रियों के वानप्रस्थ और संन्यास—धारण के विरोधी नहीं हैं। महर्षि के निम्नलिखित वचनों से उनकी मान्यता स्पष्ट हो जाती है—

(क) ''जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये।'' (स०प्र०, पृ० १६५)

(ख) यजुर्वेद भाष्य २३.४० में महर्षि ने अतिस्पष्ट शब्दों में स्त्रियों के वानप्रस्थ और संन्यास का विधान किया है। मन्त्र के भाष्य का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

''जैसे ऋतु पारी से अपने अपने चिह्नों को प्राप्त होते हैं वैसे स्त्री, पुरुष पारी से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ का धर्म, वानप्रस्थ=वन में रहकर तपस्या करना और संन्यास आश्रम को करके [=धारण करके] ब्राह्मण और ब्राह्मणी पढ़ायें, क्षत्रिय और क्षत्रिया प्रजा की रक्षा करें, वैश्य और वैश्या खेती आदि की उन्नति करें और शूद्र-शूद्रा उक्त ब्राह्मण आदि की सेवा किया करें।''

(ग) महर्षि ने आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करके विद्या, धर्मवृद्धि करने हेतु संन्यासाश्रम धारण करने के सन्दर्भ में पंचशिख और गार्गी आदि का उदाहरण कई ग्रन्थों में दिया है। (द्रष्टव्य, उपदेश मंजरी, उपदेश ४, ५)

संन्यासियों के इसी प्रसंग में आगे यह निर्देश देते हुए कि अधिकारी अर्थात् सुपात्र व्यक्ति को ही संन्यास धारण करना चाहिए, महर्षि ने स्वयं गार्गी का संन्यासिनी के रूप में उल्लेख किया है—''**जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या, धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे। जैसे पञ्चशिख आदि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं। इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों के लिए अच्छा है।**'' (पृ० २४६) इस उल्लेख से स्त्रियों को संन्यास आदि धारण का अधिकार स्पष्ट सिद्ध है।

(घ) वैदिक कालीन समाज से लेकर महाभाष्यकार पतंजलि पर्यन्त स्त्रियों के आजीवन ब्रह्मचर्य धारण रखने, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की दीक्षा लेकर वनस्थित आश्रमों में रहकर तपस्या करने और धर्म-लाभार्थ विचरण करने के प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों, रामायण, महाभारत, महाभाष्य, स्मृतियों और काव्यग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। सर्वत्र उन्हें **परिव्राजिका, भिक्षुकी, श्रमणा, प्रव्रजिता, तापसी, ब्रह्मवादिनी** आदि विशिष्ट संज्ञाओं से वर्णित किया है। पाणिनि मुनि ने जहां ''**कुमारप्रव्रजिता या कुमारी प्रव्रजिता**'' और ''**कुमारश्रमणा या कुमारीश्रमणा**'' (अष्टा० २.१.७०) कहकर कुमारियों के सीधे संन्यासग्रहण का उल्लेख किया है वहां मुनि पतंजलि ने महाभाष्य में ''**शंकरा नाम परिव्राजिका**'' (३.२.१४) कहकर **शंकरा** संन्यासिनी का परिचय दिया है। वाल्मीकि-रामायण में अत्रिपत्नी **अनसूया** (अयोध्या० ११७), तापसी **स्वयंप्रभा** (सुन्दर० ५०-५२), **श्रमणी, सिद्धा,** तापसी **शबरी** (अरण्य० ७३-७४), **सीता** का वानप्रस्थ आश्रम में निवास (उत्तर० ५०.१; ४९.१५) आदि का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत में मोक्षधर्म को धारण करके पृथिवी पर विचरण करनेवाली अखण्डब्रह्मचारिणी **सुलभा** (शान्ति अ० ३२०), साध्वी **सिद्धा** (शल्य० ५४.६-८), धृतराष्ट्र के साथ **गान्धारी** और **कुन्ती** का वानप्रस्थधारण और ''**वल्कल-अजिनधारिणी**'' होकर कठोर तप करना (आश्रमवासिक० अ० ३.१९, ३८) आदि वर्णन मिलते हैं। कालिदासरचित 'मालविकाग्निमित्रम्' में

अथ संन्यासविधिः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥ १॥ मनु० [६।३३]

इस प्रकार वनों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष रहके, पचासवें वर्ष से[१] पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके, आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़के 'परिव्राट्' अर्थात् संन्यासी हो जावे।

प्रश्न—गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे, उसको पाप होता है, वा नहीं?

उत्तर—होता है, और नहीं भी होता।

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो?

उत्तर—दो प्रकार की नहीं; क्योंकि **जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फसे वह महापापी, और जो न फसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है।**

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्॥

ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं। [तुलना—जाबालोपनिषत् खं० ४]

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन [ब्रह्मचर्य वा],[२] घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे। पहला पक्ष क्रमसंन्यास का [आरम्भ में][३] कहा। और [द्वितीय पक्ष यह है कि][४] इसमें विकल्प है अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करे। और तृतीय पक्ष यह है कि जो पूर्ण

कौशिकी नामक संन्यासिनी का उल्लेख है (१.१४)। आचार्य चाणक्य ने कई संदर्भों में '**परिव्राजिका**' स्त्रियों का उल्लेख किया है। 'राष्ट्रदूती' को '**परिव्राजिका**' का वेश धारण करके राष्ट्र के गुप्त समाचार जुटाने का निर्देश है (१.५.९)। अन्तःपुर की दूती को भी '**परिव्राजिका**' का वेश धारण करने का निर्देश है (१.७.११)। किसी पुरुष द्वारा अपनी पत्नी को बलात् '**संन्यासिनी**' बनाने पर दण्ड का विधान है (२.१७.१)। इन अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियां संन्यासिनी बनकर स्वतन्त्र विचरण करती थीं। ऐसे अनेक ऐतिहासिक प्रमाण अन्य भी उपलब्ध हैं। अतः यहां स्त्रियों के वानप्रस्थ-संन्यास के निषेध विषयक अर्थग्रहण नहीं करना चाहिए।

(घ) सबसे बड़ा प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि प्राचीन परम्परानुसार वर्तमान समय में भी अनेक स्त्रियां वानप्रस्थ और संन्यास धारण करके रहती हैं। ये आश्रम आज भी व्यवहार में हैं। **प्रश्न यह भी है कि जब कोई महिला आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर आश्रम-निवास या विचरण कर सकती है तो वह संन्यासिनी होकर उसी प्रकार क्यों नहीं रह सकती? उसकी स्थिति में तब कोई परिवर्तन नहीं आ जायेगा।** रामायण काल में सुलभा और गार्गी की यह विशेषता वर्णित है कि वे स्वतन्त्र रूप से पृथिवी पर विचरण करती थीं और गोष्ठियों में जाती थीं। आज तो विचरण करना अति सुविधाजनक है। अतः प्रत्यक्ष व्यवहार के होते हुए स्त्रियों को उनके स्वाभाविक और मानवीय अधिकारों से वंचित रखने का कोई औचित्य नहीं है। महर्षि तो मानवमात्र के मानवीय अधिकारों के पक्षधर हैं, अधिकारों के निषेध-कर्त्ता नहीं हैं।

१. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से मूर्खतापूर्ण भ्रष्टपाठ**—मूलहस्त के उपर्युक्त शुद्ध पाठ की प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर शायद भांग चढ़ाये हुए था। उसने यह भ्रष्ट पाठ लिखा—"**वनों में तीसरा भाग अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से रहकर**"। द्वितीय संस्करण (१८८४) में यह भ्रष्ट पाठ छपा—"**पच्चीसवें वर्ष से.....वानप्रस्थ होके**"। ऐसा भ्रष्टपाठ छपने का मतलब है शोधक भी चद्दर तानकर सोते रहे। पाठक इससे अनुमान लगा लें कि महर्षि को कैसे-कैसे मक्कार लिपिकर-शोधक मिले थे। अब इसका सभी ने बिना 'ननु न च' के संशोधन कर लिया है।

२-४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये तीनों पाठ त्रुटित हैं। '**ब्रह्मचर्य**' पद इसलिए आवश्यक है क्योंकि संस्कृत वाक्य में यह पद है जबकि हिन्दी अनुवाद में त्रुटित रह गया है। दूसरा कोष्ठकान्तर्गत पाठ इसलिए आवश्यक है, जिससे यह ज्ञान होता है कि क्रमानुसार जो आरम्भ में कहा है वह पहला पक्ष है। तीसरा कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है ही, क्योंकि '**पहला**' और '**तीसरा**' पद उक्त है तो '**द्वितीय**' उपशीर्षक भी अंकित होना अपेक्षित है।

विद्वान्, जितेन्द्रिय, विषय-भोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेवे। और वेदादि[१] में भी—

"[यद्देवाः] यतयः०" [ऋग्०, १०।७२।७] [तथा] **"ब्राह्मणस्य विजानतः०"** [भगवद्गीता २।४६][२] इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है, परन्तु—

---

१. **मुद्रणहस्तलेख में उद्धरण परिवर्धन के कारण संशोधन आवश्यक**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**वेदों**" के स्थान पर "**वेदादि**" पद ग्रहण करना परम आवश्यक है, क्योंकि अग्रिम एक उदाहरण वेदों का नहीं अपितु भगवद्गीता का है। उसको ग्रहण करने लिए यह प्रयोग आवश्यक है। इस विसंगति का अग्रलिखित कारण है। मूलह० में केवल "**यतयः**" एक उदाहरण था। मुद्रणप्रति का संशोधन करते समय ऋषि ने "**ब्राह्मणस्य विजानतः**" दूसरा उदाहरण बढ़ाया है। वह तो बढ़ा दिया, जो अन्य शास्त्रों का है, किन्तु शोधन समय ऊपर पंक्ति में "**वेद**" के साथ "**आदि**" शब्द परिवर्धित नहीं किया गया। टुकड़ों में लेखन होने के कारण 'आदि' पद छूटा है। इस विसंगति का समाधान प्रथम बार इस शोध संस्करण में दिया जाता है।

२. **'यतयः' आदि मन्त्रपदों से संन्यास के विधान में सम्पादकों को भ्रान्ति—स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के संस्करणों, तथा मूलप्रति संस्करण में यहां दो पदों को भ्रान्ति से तीन पद मानकर, और फिर तीन पदों को तीन स्वतन्त्र प्रतीक पद मानकर और दो वेदों से उन पदों को ढूंढकर उनके पते दे दिये हैं। "**ब्राह्मणस्य**" का पता नहीं मिला, तो उसका पाठ बदल दिया। दोनों हस्तलेखों को ठीक से न देखने और न समझने से यह भूल हुई है। देखिए—

(क) द्विप्र०, द्वि०सं० में गलत मुद्रण होने के कारण सम्पादकों को यहां तीन पृथक् पदों की भ्रान्ति हो गई है। वस्तुतः ये दो खण्ड हैं, तथा अपने मूल मन्त्र और श्लोक के आद्य प्रतीक हैं जिनमें इन पदों से संन्यास का वर्णन है। पहले मैं हस्तलेखों का प्रमाण देकर इस पाठभ्रान्ति का समाधान देता हूं। मूलह० में एक ही प्रमाण "**यतयः**" उद्धृत है। मुद्रणह० में ऋषि ने अपने हस्तलेख द्वारा "**ब्राह्मणस्य विजानतः**" प्रमाण और बढ़ाया है। हस्तलेखों में इनको तीन नहीं, दो प्रमाणों के रूप में लिखा है और दोनों को पृथक्-पृथक् दो कोष्ठकों में दर्शाया है—(**यतयः**), (**ब्राह्मणस्य विजानतः**)। मुद्रणकाल में द्विप्र० में भ्रान्ति से इन तीनों पदों को उद्धरण चिह्नों के अन्तर्गत विरामचिह्नरहित एक प्रमाण के रूप में प्रकाशित कर दिया—"**यतयः ब्राह्मणस्य विजानतः**"। उसके बाद सम्पादकों ने इसको अपनी-अपनी मति से समझा-समझाया और टिप्पणी में प्रस्तुत किया। भ्रान्ति और भूल का आरम्भ स्वामी वेदानन्द जी से हुआ। उन्होंने इसको तीन स्वतन्त्र पदों के रूप में तीन उद्धरण चिह्नों के अन्तर्गत प्रकाशित कर दिया और वे पद तीन मन्त्रों के तीन प्रतीक मान लिये। उन्हीं का अविचारित अनुकरण **पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, मूलसं०** आदि ने किया। **उदयपुर सं०** ने फिर से द्विप्र० के अनुसार विरामचिह्न-रहित एक उद्धरण बनाया है। सम्पादक यदि हस्तलेखों पर गम्भीरता से ध्यान देते तो उनसे यह अशुद्धि नहीं होती। उन्होंने अग्रलिखित "**पदों**" बहुवचनान्त पद पर भी ध्यान नहीं दिया। श्री सिद्धान्ती जी ने एक उद्धरण बनाकर और उसमें "**ब्राह्मणस्य**" के बाद अल्पविराम लगाकर पाठ को अधिक भ्रष्ट कर दिया।

(ख) विद्वान् और पाठक ध्यान दें, पृ० ६४५ पर उद्धृत (**यमेन वायुना**), (**सत्यराजन्**) पद-उद्धरणों की भी हस्तलेखों में यही कोष्ठकयुक्त लेखन शैली है। वहां भी सम्पादकों से ऐसी ही भ्रान्ति और भूल हुई है। (देखें पृ० ६४५ पर टिप्पणी)।

(ग) महर्षि ने 'संस्कारविधि' के संन्यासप्रकरण में संन्यासाश्रम का विधायक यह मन्त्र दिया है—

यद्देवा यतयः यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन॥ —ऋग्० १०.७२.७

अर्थात्—"हे (देवाः यतयः) पूर्ण विद्वान् संन्यासी लोगो! तुम जैसे इस आकाश में गुप्त, स्वयं प्रकाशस्वरूप, सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उसको चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ; वैसे जो सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उनको सदा विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है। (संस्कारविधि, पृ० १९३-१९४)"

महर्षि का आशय था इस वेदमन्त्र का आरम्भिक अंश प्रमाण के रूप में उद्धृत करना। प्रतीत होता है कि लिपिकर द्वारा शीघ्रता में मन्त्र का पूर्व पद "**यद्देवाः**" छूट गया। वह "**यद्देवा यतयः०**" होना अभीष्ट था। इसमें संन्यास का विधान है।

(घ) दूसरा श्लोक खण्ड है, जो गीता २.४६ में पाया जाता है। उसमें भी एक विशेष बात यह है कि आचार्य शंकर ने और विद्वत् परम्परा ने वहां "**ब्राह्मणस्य**" का '**संन्यासी**' अर्थ ग्रहण किया है। यही महर्षि दयानन्द कहना चाहते हैं कि श्लोक के इन पदों में संन्यास का विधान है। संभव है यह वचन किसी अन्य ग्रन्थ में भी आया हो किन्तु अभी तक नहीं मिला है।

(ङ) "**ब्राह्मणस्य विजानतः**" श्लोकखण्ड वेदों में कहीं भी न मिलने पर **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** को क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी कि यहां "**ब्राह्मणासः**" (ऋग्० ७.१०३.८) पाठभेद होना चाहिए। किन्तु उनका ध्यान इस ओर नहीं गया कि जिस संशोधन के द्वारा वे "**ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत०**" मन्त्र को यहां प्रमाणरूप में प्रस्तुत कर रहे हैं उसमें संन्यासियों का

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

कठ०, अ०१। वल्ली २। मं० २३

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको [जीवन में] शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं है, वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता। इसलिये—

यच्छेद्वाङ्मनसी[१] प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठ०, अ० १। वल्ली ३। मं० १३॥

बुद्धिमान् संन्यासी वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे, और उस ज्ञान और स्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

मुण्डक०, [१] खंड २। मं० १२॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे। क्योंकि 'अकृत' अर्थात् न किया हुआ परमात्मा, 'कृत' अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता। इसलिये अर्पण के अर्थ हाथ में कुछ लेके वेदवित् और परमेश्वर को जाननेवाले गुरु के पास उसके विज्ञान के लिये जावे, जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे; परन्तु सदा इनका संग छोड़ देवे कि—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ १॥
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ २॥

मुण्डक०, [१] खण्ड २। मं० ८-९॥

प्रसंग और वर्णन ही नहीं है। **स्वामी विद्यानन्द जी और स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने तो अन्धानुकरण कर मूलपाठ ही बदल डाला। पं० मीमांसक जी ने "**अनुपलब्धमूलम्**" लिखकर काम चला लिया।

(च) इसी प्रकार सम्पादकों ने "**विजानतः**" पद यजु:० ४०.७ से उठाया और संगति लगाने का असफल प्रयास किया। इस पद का न तो 'संन्यासी' अर्थ है और न इससे संन्यास का कोई विधान ही विहित है। इसके साथ तुक्केबाजी की गई है।

इस प्रकार चारों वेदों से कहीं-कहीं से कोई-कोई पद उठाकर कहीं भी संगति लगाना हास्यास्पद और अनर्थकारी बन जाता है; क्योंकि इस प्रकार तो संसार के प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य की संगति वेदों में पठित एक-एक पद के द्वारा लगाई जा सकती है, जैसे—"**महावीरस्य नग्नहुः**" (यजु:० १९.१४) मन्त्र से जैनी लोग तीर्थंकर महावीर का उल्लेख सिद्ध करते हैं। लौकिक इतिहासकार '**इक्ष्वाकु**' (ऋग्० १०.६०.४; अथर्व० १९.३९.९), '**राम**' (ऋग्० १०.९३.१४), '**सीता**' (ऋग्० १.१४०.४; अथर्व० ११.३.१२) आदि पदों में उनकी कथा ढूंढते हैं। यह वेदार्थ का वैदिक सिद्धान्त नहीं है। जब बड़े-बड़े विद्वान् भी इन तथ्यों को भूल जाते हैं तो साधारण पाठकों का क्या होगा? आशा है पाठक गलत निष्कर्षों का त्याग करके शुद्ध का ग्रहण करेंगे।

१. **अन्यत्र प्रयोग**—समु० तीन में (पृ० ९३) मनुस्मृति के २.१६० श्लोक में भी "**वाङ्मनसी**" प्रयोग है। यह पूर्वपाणिनीय प्रयोग है। द्र०, पृ० १०१ पर टिप्पणी।

जो अविद्या के भीतर खेल रहे और अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति[१] को जानेहारे मूढ़, जैसे '**अंधे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं**', वैसे दुःखों को प्राप्त होते हैं[२] ॥ १ ॥

जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले बालबुद्धि 'हम कृतार्थ हैं' ऐसा[३] मानते हैं, जिनको केवल कर्मकाण्डी-लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्ममरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं॥ २ ॥ इसलिये—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

मुण्डक०, ३ खण्ड २। मं० ६ ॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित, संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्ति-सुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहाँ से छूटकर संसार में आते हैं। मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता है। क्योंकि—

न वै[४] सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥

छान्दोग्य०, [उप०, प्रपा० ८। खं० १२। प्रवाक १]

जो देहधारी है, वह सुख-दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तब उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता। इसलिये—

पुत्रैषणायाश्च[५] वित्तैषणायाश्च[६] लोकैषणायाश्च[७] व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥[८]

शत० कां० १४ [शत० ब्रा०, कां० १४ प्रपा० ३। ब्रा० ४। कं० १; बृह० उप० ३।५।१] ॥

पुत्रादि के मोह से; लाभ, धन से भोग वा मान्य; लोक में प्रतिष्ठा से[९] अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

---

१. **नीच गति**—निम्न गति या निम्न स्तर का जन्म। द्रष्टव्य पृ० १२० पर टिप्पणी।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां अस्तव्यस्त, अस्पष्ट पाठ है—"**जो अविद्या के भीतर खेल रहे हैं अपने को धीर और पंडित मानते और नीच गति को जाने हारे जैसे अंधे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, इससे मूढ दुःखों को प्राप्त होते हैं।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वैसे**" अपपाठ है, '**ऐसा**' प्रयोग शुद्ध है। द्वि० सं० में संशोधित है।

४. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वै**" पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में ग्रहण कर लिया है।

५-७. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने संस्कृत के इस प्रसिद्ध वचन में तीन अशुद्धियां की हैं—"**पुत्रेषणा..**""**वित्तेषणा...**""**लोकेषणा....**"। मक्कार शोधकों ने भी उनको शुद्ध नहीं किया, अतः द्विप्र० में अशुद्ध वर्तनियां ही छपी हैं। फिर द्विप्र० के शुद्धि पत्र में इनको ठीक किया है। द्वि०सं० आदि में संशोधन कर दिया है।

८. **अप-उद्धरण पाठ**—स्मृति के आधार पर लिखाया गया यह उद्धरण दोनों हस्त०, तीनों सं० में आगे-पीछे है, जो शुद्ध रूप में इस प्रकार है—"**पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति।**" **पाठ-पुष्टि**—शुद्ध पाठ संस्कारविधि में प्राप्त है (संन्यासप्रकरण, बृह०उप० ३,५,१; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वर्णाश्रमप्रकरण)। यहां इसका मूलपाठ के अनुसार परिवर्तन अपेक्षित है और इसका हिन्दी-अनुवाद भी उपयुक्त पाठक्रम से अपेक्षित है। सभी सं० में अशुद्ध उद्धरण पाठ है। वेस में संशोधित है किन्तु हिन्दी-अनुवाद असंशोधित क्रम में छोड़ दिया है, जिससे एक अव्यवस्था ठीक हुई, तो दूसरी नयी अव्यवस्था हो गई।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्॥ १ ॥

यजुर्वेदब्राह्मणे, [न्याय दर्शन ४।१।६१ पर वात्स्यायन भाष्य]

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ २ ॥
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ३ ॥

मनु० [६।३८-३९]

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके, उसमें यज्ञोपवीत, शिखादि चिह्नों को छोड़, आहवनीयादि पांच अग्नियों[१] को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपित करके[२] ब्रह्मवित् ब्राह्मण घर से निकलकर संन्यासी हो जावे॥ १-२ ॥

जो सब भूत=प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकलके संन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वरप्रकाशित **'वेदोक्त-धर्मादि विद्याओं'** के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है॥ ३ ॥

महर्षि के ग्रन्थों में तालमेल निर्मित करना भी एक आवश्यक कार्य है। यह काम आदि-शोधकों ज्वालादत्त आदि का था।

९. **अस्तव्यस्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं०में यह अपपाठ है—''**लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रादि के मोह से**''। यहां उद्धरण के क्रम से शब्दों को करके संशोधित कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में क्रमविरुद्ध अपपाठ है।

१. **पांच अग्नियां**—पांच अग्नियों के नामों में मतान्तर मिलता है। प्रसिद्ध अग्नियां और उनका प्रयोग इस प्रकार है—१. **आहवनीय**=वह यज्ञाग्नि है जिसमें यज्ञानुष्ठानपूर्वक आहुतियां दी जाती हैं। २. **गार्हपत्य**=विवाह के उपरान्त गृहस्थ जिस अग्नि में भोजन आदि पकाता है, या जिससे अग्नि लेकर 'आहवनीय'=यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करता है और जिसे 'वैवाहिक अग्नि' भी कहा जाता है, गृहस्थ की वह अग्नि। ३. **दक्षिणाग्नि**—वानप्रस्थ आश्रम में प्रयोग में लायी जाने वाली अग्नि। अथवा गार्हपत्य के दक्षिण में प्रज्वलित वह अग्नि जिसमें से अग्नि लेकर काम्येष्टि आदि कर्मों के सम्पादनार्थ आहुतियां प्रदान की जाती हैं। ४. **आवसथ्य**—घर की अतिथिशालाओं अथवा धर्मशालाओं में अतिथियों के उपयोग के लिए रखी गई अग्नि। ५. **सभ्य**—सभा-स्थानों में या सभामण्डपों में उपयोगार्थ रखी गई अग्नि। इन अग्निओं को प्रज्वलित रखने के साथ इनसे सम्बन्धित कर्त्तव्यों के पालन का दायित्व व्यक्ति पर रहता है। संन्यासी इनका प्रयोग छोड़कर केवल आन्तरिक या व्यावहारिक आचरण ही करता है। अथर्ववेद ९।६।१३ मन्त्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—''जो अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का संग है वह संन्यासियों के लिए '**आहवनीय अग्नि**' अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है। जो संन्यासी का घर में अर्थात् स्थान में निवास है, वह उसके लिए 'गृहस्थ सम्बन्धी' अग्नि है। संन्यासी जिस जाठराग्नि में अन्नादि को पकाते हैं वह '**दक्षिणाग्नि**'= वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है। इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे।'' (संस्कारविधि, संन्यासाश्रम प्रकरण, '**योऽतिथीनां**' मन्त्र का टिप्पणी में मन्त्रार्थ)

सर्वत्यागी होने के कारण संन्यासियों को पांच अग्नियों से सम्बन्धित यज्ञ आदि करने के उत्तरदायित्वों से छूट मिल जाती है। यही संन्यासियों का 'अग्नित्याग' है। बाह्य अग्नि का प्रयोग करना निषिद्ध नहीं है। जो बाह्य अग्नि-प्रयोग को वर्जित कहते हैं, यह उनकी अज्ञानता और भ्रान्ति है। मनुस्मृति के इस श्लोक में भी अग्नियों का आत्मा में आरोपण करना अर्थात् आचरणात्मक रूपान्तरण लिखा है, त्याग करना नहीं।

जो संन्यासी आश्रम आदि बनाकर गृहस्थों के समान गृहनिवास का जीवन जीते हैं, स्वसिद्ध भोजन और ठाठ-बाट आदि करते हैं और व्यापार तक करते हैं, गृहस्थों के समान जिनका संसाररत आचरण है, उनको पांच अग्नियों से सम्बन्धित यज्ञ आदि कर्त्तव्यों से छूट लेने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उन्होंने मूल त्याज्य कारणों का त्याग ही नहीं किया अर्थात् न तो उन्होंने सर्वस्वत्याग किया है, न पंचाग्नियों का त्याग किया है, न वे परिव्राजक हैं न उनका तपोमय आचरण है अर्थात् वे केवल संन्यास वेशधारी ही हैं। अतः उनका यज्ञानुष्ठान आदि कर्त्तव्य वानप्रस्थ के समान ही बना रहता है। यदि वे यज्ञादि नहीं करते तो उनका संन्यास लेना एक पाखण्ड ही है, यज्ञादि न करने का बहाना है, संन्यास केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करने का माध्यम है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**अग्नियों को.....प्राणों में आरोपण करके।**'' सभी सं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—'**संस्कारविधि**' में शुद्ध पाठ है—''**समारोपित करके**'' (संन्यासप्रकरण, पृ० ३३१)

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है?

उत्तर—धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, ईश्वर की वेदोक्त[१] आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि-लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है, परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ २॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ३॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।[२] विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ ४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ५॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥ ६॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्। न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥ ७॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः। व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ ८॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ ९॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ १०॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः। ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥ ११॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः। तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम्॥ १२॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः। तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥[३] १३॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः। दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ १४॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ १५॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ १६॥

मनु० अ० ६। [श्लोक ४६, ४८, ४९, ५२, ६०, ६६, ६७, ७०-७३, ७५, ८०, ९१, ९२, ८१]

जब संन्यासी मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देखकर, नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले। सदा वस्त्र से छानके जल पीये,[४] **निरन्तर सत्य ही बोले, सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण करे और असत्य को छोड़ देवे॥ १॥**

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे, तो[५] संन्यासी

---

१. **स्थानभ्रष्टपाठ**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में यहां "**वेदोक्त ईश्वर की आज्ञापालन**" स्थानभ्रष्ट अपपाठ है। '**वेदोक्त**' विशेषण अस्थान में होने से अभिप्राय-विरुद्ध अर्थ प्रकट करता है। यह '**आज्ञा**' का विशेषण है, इसी से इसका आसत्ति-सम्बन्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—द्र०पृ० २३४, पंक्ति ९ में "**वेदोक्त धर्मादि विद्याओं**" तथा पृ० ९८१ पर शुद्ध प्रयोग है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**कुशुम्भवान्**" अपवर्तनी है। द्वि०सं० और मूलसं० में संशोधित है।

३. **मुद्रणलिपिकर कृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**शास्वतम्**" अपवर्तनी है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों सं० में "**पिये**" अपवर्तनी है, '**पीये**' शुद्ध है। सभी अन्य सं० में अपवर्तनी है। **संशोधन-पुष्टि**—समु० १३ में पृ० ९१८ तथा पृ० ७८५, ८९९ पर शुद्ध वर्तनी "**पीये**" द्रष्टव्य है।

५. **उचित संशोधन**—मुद्रणह० प्राप्त में "**संन्यासी को उचित है कि.....आप....कल्याणार्थ**" संशोधन ग्राह्य हैं।

को उचित है कि उस पर आप कभी क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश करे। एक[१] मुख के, दो नासिका के, दो आँखों[२] के और दो कानों[३] के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को,[४] किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले॥ २॥

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्य-मांसादि वर्जित होकर, आत्मा के ही साहाय्य से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता[५] रहै॥ ३॥

केश, नख, दाढ़ी,[६] मूंछ का[७] छेदन करवावे, सुन्दर पात्र, दण्ड, और कुसुम्भ[८] आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा [होकर][९], सब भूतों को पीड़ा न देते हुए[१०] सर्वत्र विचरे॥ ४॥

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्तकर, मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे॥ ५॥

कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी, जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी, सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर, स्वयं धर्मात्मा [रहते हुए][११] और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। **और यह अपने मन में निश्चित जाने कि [केवल][१२] दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न-धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है। सब मनुष्यादि प्राणियों की[१३] सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है**॥ ६॥

क्योंकि, यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीसके गदले[१४] जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि विना डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से[१५] जल शुद्ध नहीं होता॥ ७॥

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी पाठों में '**एक**' पद त्रुटित है। इन्द्रिय छिद्रों की गणना में 'एक' यहां भी संख्या अभीष्ट है।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां एकवचनात्मक ''**दो आंख**'' ''**दो कान**'' प्रयोग हैं। दोनों स्थानों पर '**आंखों**' व '**कानों**' सप्तमी बहुवचन होना अभीष्ट है। सभी सं० में ये अपप्रयोग हैं।

४. **सप्तद्वारों में विकीर्ण वाणी**—मुख में जिह्वा, दो नासिका द्वार, दो आंखें और दो कान ये ज्ञानेन्द्रियां हैं। इनके द्वारा व्यक्ति जो अनुभव करता है उसी को सत्य या असत्य रूप में वाणी के द्वारा प्रकट करता है। इस प्रकार वाणी का इन सात द्वारों से सम्बन्ध होने के कारण वह इन्हीं से प्रकट होती है। अभिप्राय यह है कि इन इन्द्रियों से जो अनुभव करे, वही सत्य बोले। मन में कुछ और तथा वाणी में कुछ और वाला दोहरा आचरण नहीं होना चाहिए।

५. **शोधक द्वारा अपपाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणह० में भी शुद्ध लिखा था। किसी शोधक ने (ऋषि ने नहीं) शोधन-समय भ्रान्ति से ''**विचारता रहै**'' अशुद्ध बना दिया। द्विप्र० में अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं०, सभी अन्य सं० में संशोधित है।

६. **अपवर्तनी**—द्विप्र०, द्वि० सं० '**डाडी**' और मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**डाढ़ी**' अपवर्तनी है। '**दाढ़ी**' शुद्ध है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मूंछ को छेदन**'' में ''**को**'' अपप्रयोग है। सभी अन्य सं० में अपप्रयोग है।

८. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**कुशुम्भ**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होकर**' पद त्रुटित है। वाक्यसंगति के लिए आवश्यक है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**देकर**' अपप्रयोग है। '**देते हुए**' शुद्धपाठ है। सभी अन्य सं० में अपप्रयोग है।

११-१२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दोनों पद त्रुटित हैं।

१३. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, जग, वेस में ''**प्राणियों के सत्योपदेश.....उन्नति करना**'' अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं०, भद, उदयपुर सं० में संशोधित है, युमी में ''**को**'' अपसंशोधन है।

१४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**गदरे**' के स्थान पर '**गदले**' वर्तनी अपेक्षित है। हिन्दी में दोनों भिन्नार्थक प्रयोग हैं। **गदरा**=भरे अंगोंवाला, या मोटा दाना, **गदला**=कीचड़ या मिट्टी युक्त तरल पदार्थ। सभी सं० में अशुद्ध वर्तनी है।

१५. **अनावश्यक प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**से**' के बाद '**उसका**' निरर्थक प्रयोग है। अतः अनावश्यक है।

इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओङ्कारपूर्वक सातव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम, जितनी शक्ति हो उतने करे, परन्तु तीन से न्यून[१] कभी न करे, यही संन्यासी का परमतप है॥ ८॥

क्योंकि, जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं[२] के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों[३] के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं॥ ९॥

इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोषों [को],[४] धारणाओं से पापों [को],[५] प्रत्याहार से संगदोषों [को];[६] ध्यान से अनीश्वर के गुणों को अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें॥ १०॥

जो अयोगी, अविद्वानों के द्वारा जानने के अयोग्य है, इसी ध्यानयोग से, उस अन्तर्यामी परमात्मा की व्याप्ति और परमात्मा तथा आत्मा की गति को छोटे-बड़े पदार्थों में देखे[७]॥ ११॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर कृत पुनरुक्ति एवं प्राणायाम मन्त्र**—ओंकार-सहित सप्तव्याहृतियुक्त मन्त्र है—''**ओं भूः, ओं भुवः ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्।**'' महाव्याहृति का अर्थ है—'ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव बोधक सात विशेष शब्द या वचन, जिनको साररूप माना है। मुद्रणलिपिकर ने आगे ''**प्राणायाम कभी न करे**'' पुनरुक्ति की है जबकि ''**विधिपूर्वक प्राणायाम**'' पहले पाठ में आ चुका है। वही द्विप्र० आदि सभी सं० में है। मूलह० में शुद्ध है।

२-३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में क्रमशः '**धातु**' और '**प्राण**' एकवचनान्त अप-पद हैं। द्वि०सं० में संशोधित हैं।

४-६. **अपप्रयोग एवं त्रुटित आवश्यक पद**—यहां तीनों स्थलों पर दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**दोष, पाप, संगदोष**' एकवचनान्त अपप्रयोग हैं तथा तीनों स्वतन्त्र वाक्यांशों के बाद '**को**' कारक प्रत्यय पद त्रुटित है।

७. **श्लोकविरुद्ध महाभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकर की श्रवणभ्रान्ति और अयोग्यता से श्लोकार्थ का महाभ्रष्ट और निरर्थक पाठ है। दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यह है—''**इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य, छोटे-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति को और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे।**'' द्वि० सं० में यही पाठ है, केवल ''**पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे।**'' यह संशोधन के नाम व्यर्थ परिवर्तन किया है। इसको श्लोक की भाषा के अनुसार संशोधित कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस और कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में भी यही भ्रष्ट पाठ है।

ऋषि ऐसा घोर अशुद्ध अर्थ कदापि नहीं लिखवा सकते। ज्ञात होता है कि इसको लिखते समय मूल-लिपिकर सो रहा था, प्रमाद निद्रा में उसने ''**द्वारा**'' को ''**दुःख**'' लिखा। प्रतिलिपि करते समय मुद्रण-लिपिकर नशे में था और शोधन के समय शोधक भी चद्दर तानकर सोता रहा। सवा-सौ से अधिक वर्षों तक हमारे विद्वान् सम्पादक क्या करते रहे, यह आर्य पाठक विचार लें।

संस्कारविधि के अर्थ से संशोधन-पुष्टि—'संस्कारविधि' में इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट और शुद्ध है। उससे पाठनिर्धारण एवं संशोधन में सहायता मिलेगी—''**बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यान योग से ही संन्यासी देखा करे।**'' (संन्यासप्रकरण) यही अर्थ श्लोक की भाषा से प्राप्त होता है। यही भाव उपर्युक्त पाठ में होना चाहिए।

अनर्गल और महर्षि के विरुद्ध उत्तर—मैंने एक लेख में, उदयपुर सं० के सम्पादकों का ध्यान इस भ्रष्ट पाठ की ओर आकर्षित किया था। उत्तर में उदयपुर सं० के लेखकों की ओर से श्लोकविरुद्ध, हठपूर्ण, बहुत ही अनर्गल और ऋषि-विरुद्ध समाधान मिले। यह जानते हुए भी कि यह श्लोकविरुद्ध तथा भ्रष्ट पाठ है, हठपूर्वक उसको सही सिद्ध करने की कोशिश रखी। **पहले लेखक** इसका उत्तर नहीं दे सके। **दूसरे लेखक** ने शब्दों का नया अर्थ करके भाव शुद्ध कर दिया और माना कि पाठ में जो अर्थ मिल रहा है, वह नहीं बनता। उन्होंने लिखा है—''परमात्मा की व्याप्ति है, वह अयोगी अविद्वानों के द्वारा दुर्ज्ञेय है।'' **तीसरे लेखक** ने अनावश्यक तालिका देकर यह प्रदर्शित किया कि सभी ने इस पाठ को माना है किन्तु उन्हें अनुभव हुआ कि पाठ में गड़बड़ है और विद्वत्-समिति ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, अतः उन्होंने सभी विद्वानों से इसका समाधान खोजने की अपील भी की है। यह प्रशंसनीय है। **चौथे तथाकथित** 'समझदार', मिथ्याभिमानी लेखक ने इन सबके विरुद्ध जाकर अनर्गल खींचतान करके अशुद्ध पदार्थ करते हुए महर्षि के अर्थ के विरुद्ध एक नये अर्थ की यह कल्पना की है—''इसी ध्यानयोग से अयोगी, अविद्धानों

सब भूतों से निर्वैरता से,[१] इन्द्रियों के दुष्ट विषयों के त्याग [से],[२] वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से, इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य कोई नहीं[३] ॥ १२ ॥

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह=कांक्षारहित और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में, और मरण पाके 'निरन्तर सुख' को प्राप्त होता है॥ १३ ॥

इसलिये ब्रह्मचारियों, गृहस्थों,[४] वानप्रस्थियों[५] और संन्यासियों[६] को योग्य है कि प्रयत्न से दशलक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नित्य करें— ॥ १४ ॥

पहला लक्षण[७]—**(धृतिः)** सदा धैर्य रखना। दूसरा—**(क्षमा)** जो कि निन्दा-स्तुति, मान-अपमान,

---

के दुःख से जानने योग्य बहुत प्रकार की पुण्यपाप की गति अर्थात् जिस सत्त्वादिगुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस गति को देखे।..... (अस्य) इस (अन्तरात्मनः) आत्मा के आत्मा परमात्मा की अपने आत्मा में गति देखे।'' अब इस अर्थ में विरोध और असंगतियां देखिए—१. इस लेखक ने जो अर्थ कल्पित किया है वह कथ्य ऋषि का नहीं है। २. केवल अयोगी-अविद्वानों के दुःख से गतियां नहीं जानी जातीं अपितु विद्वानों के दुःख से भी (अर्थात् प्राणीमात्र के दुःख से) गतियां जानी जाती हैं, अतः यह श्लोक का कथ्य नहीं है। देखिए, नवम समुल्लास के अन्त में उद्धृत 'मनुस्मृति' के श्लोकों में प्राणी-मात्र अर्थात् सभी की उत्तम, मध्यम, अधम गतियों का वर्णन है (पृ० ४७०) ३. केवल दुःख से तो पाप की गति जानी जाती है, पुण्य की नहीं। महर्षि के वचन हैं—''**दुःख-सुख देख के पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है**'' (तृ० समु० पृ० १०९) और ''**वह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है.....सुख-दुःख को भोगता है**'' (नवम समु० पृ० ४६७)। इस प्रकार इसका कथन ऋषि-विरुद्ध है। ४. 'सत्यार्थप्रकाश' में यहां ग्रन्थकार पदार्थों और आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति-गति को देखने का अर्थ कर रहे हैं, इस लेखक ने अप्रासंगिक रूप से 'जीव को प्राप्त होने वाली पाप-पुण्य की गतियों' तक अर्थ सीमित किया है। शब्द ये हैं—''**जो अयोगी अविद्वानों के दुःख से जानने योग्य, छोड़-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको.....देखे।**'' इस लेखक ने सटीक उत्तर न देकर निरर्थक बेसुरा राग अलापा है। इस लेखक ने उत्तर में जो भी लिखा है वह प्रसंगबाह्य और ऋषि के आशय के विपरीत है। मिथ्याग्रह में व्यक्ति ऐसे ही विचलित हुआ करता है।

इस विवरण-विवेचन से यह भी ज्ञात हो रहा है कि उदयपुर सं० के सम्पादन में सम्पादकों का एकमत या विमत नहीं है, अतः वह कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित नहीं है।

अब, 'संस्कारविधि' से इस श्लोक का ऋषिकृत शुद्ध अर्थ प्रमाण रूप में प्रस्तुत कर दिया है। ये लेखक इसको देखकर अपना संशोधन कर लें और हो सके तो अपने असभ्य, अशुद्ध लेखन के लिए प्रायश्चित्त भी कर लें। लिपिकरों द्वारा लिखे अपपाठ के पक्ष में व्यर्थ का द्रविड़ प्राणायाम करने की आवश्यकता ही नहीं है। पाठकगण! देखिए, इन विद्वानों में अपने त्रुटिपूर्ण पक्ष को भी सही सिद्ध करने के लिए कितना दुराग्रह है!! सत्य को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में ''**सब भूतों से निर्वैर**'' अपपाठ है, '**निर्वैरता से**' शुद्ध है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**दुष्टविषयों का त्याग**'' अपपाठ है। '**के त्याग से**' शुद्ध है। यहां '**से**' कारक-प्रत्यय त्रुटित है। मुद्रणलिपिकर ने ''**दुष्ट**'' पद छोड़ दिया है। सभी द्वि०सं० में यह त्रुटित है। यह आवश्यक है, क्योंकि यह ''**असंगैः**'' पद का अर्थ है, क्योंकि इन्द्रियों के रहते उनका स्वविषयों से त्याग संभव नहीं है।

संशोधन-पुष्टि—'**संस्कारविधि**' में भी इससे मिलता हुआ पाठ है। वहां '**दुष्टविषयों**' को इन्द्रियों के बन्धन-विषय कहा है—''**जो निर्वैर इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्.....।**'' (संन्यासप्रकरण)

३. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद और अयोग्य लिपिकर**—दोनों अयोग्य लिपिकरों ने यहां ''**सक्ते**'' अपवर्तनी लिखी है जबकि ग्रन्थ में सर्वत्र ''**सकते**'' है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं०,मूलसं० में इसको शुद्ध कर दिया है। आगे, मुद्रणकाल में प्रमाद से ''**अन्य कोई नहीं**'' वाक्यांश में ''**कोई**'' पद त्रुटित है। दोनों हस्त० में है।

४-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ**' एकवचनात्मक अपप्रयोग हैं। बहुवचन चाहिए।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां ''**एक**'' पद है, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**पहला लक्षण**'' उचित शोधन है।

हानि-लाभ, आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(**दमः**) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर, अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(**अस्तेयम्**) चोरीत्याग अर्थात् विना आज्ञा और[१] छल-कपट, विश्वासघात और[२] किसी व्यवहार [-विरुद्ध][३] तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना 'चोरी' और उसको छोड़ देना 'साहूकारी'[४] कहाती है। पांचवां—(**शौचम्**) राग-द्वेष, पक्षपात छोड़के भीतर की, और जल, मृत्तिका-मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छठा—(**इन्द्रियनिग्रहः**) अर्थात् अधर्माचरणों से रोककेे, इन्द्रियों को धर्म में ही सदा चलाना। सातवाँ—(**धीः**) मादकद्रव्य, बुद्धिनाशक अन्य-पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य-प्रमाद आदि को छोड़के, श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास, धर्माचरण, ब्रह्मचर्य आदि शुभकर्मों[५] से बुद्धि का बढ़ाना। आठवाँ—(**विद्या**) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त [पदार्थों का] यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना। इससे विपरीत अविद्या है। नववाँ—(**सत्यम्**) जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्तना; जैसा जो पदार्थ हो उसको वैसा ही समझना, बोलना, करना[६]। तथा दशवां—(**अक्रोधः**) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्ति-आदि गुणों को ग्रहण करना,[७] **[दशकं धर्मलक्षणम्]**[८] दशवां[९] लक्षण धर्म का है। **इस दशलक्षणयुक्त पक्षपातरहित-न्यायाचरण-धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें। और इसी वेदोक्त धर्म में ही आप चलना और दूसरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है॥[१०] १५॥**

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में दोनों स्थानों पर "**वा**" पद है, '**और**' पद चाहिए। '**वा**' से अप-अर्थ प्रकट होता है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद '**विरुद्ध**' त्रुटित है। स्पष्टार्थ के लिए चाहिए।

४. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**साहुकारी**" वर्तनी है। यद्यपि अप्रचलित होते हुए भी यह ठीक है किन्तु '**साहूकारी**' प्रचलित वर्तनी है। बहुत्र इसका प्रयोग है और भाषात्मक एकरूपता के लिए ग्राह्य है (पृ० ४६०)।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित आवश्यक पाठ**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से "**धर्माचरण, ब्रह्मचर्य आदि शुभकर्मों**" पाठ त्रुटित रह गया है। द्विप्र० आदि में भी त्रुटित है। आगे दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पदार्थों का**' पद त्रुटित हैं।

६. **अस्त-व्यस्त होने से भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और दोनों द्वितीय सं० में तथा परोप० ३-३४ सं० में '**विद्या**' और '**सत्य**' की व्याख्या सम्बन्धी वाक्यों के परस्पर गड्ढ-मड्ढ होने से पाठ भ्रष्ट हो गया है। दोनों ही हस्तलेखों में लगभग एक जैसा पाठ है। वह पाठ है—"(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वरपर्यन्त यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना, सत्य, जैसा आत्मा में वैसा इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी।"

मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**मन में वैसा वाणी में**" पाठ भी मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। द्वि०सं० में उसको पुनः ग्रहण कर लिया है। मूलप्रति सं० में और इस सं० में भी संशोधित है।

७. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त० व मूलसं० में "**गुण ग्रहण करना**" पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में "**गुणों का ग्रहण करना**" पाठ संशोधित है। यहां '**को**' प्रत्यय और बहुवचन उपयुक्त है।

८. **अपवर्तनी एवं त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकोक्त कुछ पद अपवर्तनीयुक्त हैं तो कुछ त्रुटित हैं। अपवर्तनीयुक्त सात पद जैसे—"**धृति, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध**" हैं। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित है। यह अप-लेखन लिपिकर की अयोग्यता तथा आदि-सम्पादक के अज्ञान और प्रमाद का द्योतक है। सभी अन्य सं० में अपपाठ है।

९. **पाठग्रहण**—दोनों हस्त० में, धर्म के लक्षणों की तीसरे से दशवें तक संख्या अंकित नहीं है। मुद्रणहस्त० में शोधक द्वारा शोधन के समय अंकित की कई है। पुनः द्विप्र०, द्वि०सं० में छपी है। मूलसं० में इनका पाठ मुद्रणह० से ग्रहण किया जाता है।

१०. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—सभी प्रतियों में यहां अपवाक्य है। मूलह० और मुद्रणह० में इस प्रकार है—"**विशेष काम संन्यासियों का यह है कि इसी वेदोक्तधर्म में ही आप चलना और दूसरों को समझाकर चलाना विशेष धर्म है**"। मूलसं० में यह पाठ बनाया है—"**इसी वेदोक्त धर्म में ही आप चलना संन्यासियों का और दूसरों को समझाकर चलाना विशेष धर्म**

इसी प्रकार से धीरे-धीरे सब संग-दोषों को छोड़, हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर, संन्यासी ब्रह्म में ही अवस्थित होता है॥ १६॥

संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि गृहस्थादि आश्रमस्थों को सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म-व्यवहारों से छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर, सत्यधर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्ति कराया करें॥

प्रश्न—संन्यासग्रहण करना ब्राह्मण का ही धर्म है, वा क्षत्रियादि का भी?

उत्तर—ब्राह्मण को ही अधिकार है। **क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है। विना पूर्णविद्या, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास-ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता।** इसीलिये **लोकश्रुति** है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं। यह मनु का प्रमाण भी है कि—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत॥ मनु० [६।९७]

यह मनु जी कहते हैं कि हे ऋषियो! यह चार प्रकार [का][१] अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,[२] वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहां वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला **'संन्यास-धर्म'** है। इसके आगे **'राजाओं का धर्म'** तुम मुझसे सुनो। इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यासग्रहण का अधिकार **मुख्य करके** ब्राह्मण का है, और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्याश्रम [आदि का][३] है।

प्रश्न—संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है?

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे आश्रमों में संन्यास की आवश्यकता है; क्योंकि इसके विना विद्या, धर्म कभी नहीं बढ़ सकते और दूसरे आश्रमस्थों[४] को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमस्थों[५] को दुष्कर है। संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का जैसा उपकार कर सकता है, वैसा अन्य आश्रमी[६] नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को जितना अवकाश सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का मिलता है, उतना अन्य आश्रमी[७] को नहीं मिल सकता।[८] परन्तु जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी

है।'' द्विप्र० में संशोधित उपर्युक्त पाठ है, किन्तु ''**दूसरों को**'' पद नहीं हैं, ''**समझा करना चलाना**'' भ्रष्टपाठ है।

१,३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत '**का**' और '**आदि का**' पाठ त्रुटित है। इसके परिवर्धन के बिना पूर्ण और सार्थक वाक्य नहीं बनता।

२. **त्रुटित पद और परिवर्धन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में '**गृहस्थ**' पद त्रुटित है। मूलसं० ने बृ०कोष्ठक में तथा द्वि०सं० ने बिना कोष्ठक इसको बढ़ा लिया है। अन्य सभी सं० में परिवर्धित है।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर ''**आश्रमों**'' अपप्रयोग है। ''**आश्रमस्थों**'' ही उचित है। अन्य सभी सं० में अपप्रयोग है। **पुष्टि**—विशेषण के रूप में शुद्ध प्रयोग ''**आश्रमी**'' पृ० २४३/१५ में द्रष्टव्य है।

६-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों स्थानों पर ''**आश्रम**'' अपप्रयोग है। दोनों स्थलों पर '**आश्रमी**' प्रयोग ग्राह्य हैं। अन्य सभी सं० में अपप्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० २४१/२ में ''**संन्यासाश्रमी**'', पृ० २४३/१५ में ''**आश्रमी**'' शुद्ध प्रयोग हैं।

८. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**क्योंकि संन्यासी....नहीं मिल सकता**'' तक का पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मूलप्रति सं०

होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके [उसकी][१] जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

प्रश्न—संन्यासग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा तो उससे सन्तान ही न होंगे। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है और उसको[२] सब मनुष्य [ग्रहण][३] करें तो मनुष्यों का मूलोच्छेदन[४] हो जायगा।[५]

उत्तर—अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते, अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करनेवाला हुआ। जो तुम कहो कि—

"यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः"

यह किसी कवि का वचन है। [पञ्चतन्त्र, मित्रभेद कथा ४, श्लोक २१७]

=जो यत्न करने से भी कार्य सिद्ध न हो तो इसमें [हमारा] कोई भी दोष नहीं,[६] तो हम तुमसे पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत-से[७] सन्तान होकर, आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें तो हानि कितनी बड़ी होती है? **समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है।** जब एक संन्यासी वेदोक्तधर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा।[८] सहस्रों[९] गृहस्थों[१०] के तुल्य मनुष्यों की बढ़ती करेगा। **सब मनुष्य संन्यासग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि सबकी विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। जो-जो संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होंगे, वे सब जानो संन्यासियों[११] के पुत्र-तुल्य हैं।[१२]**

में यह मुद्रणहस्त० से ग्रहण किया है। यह ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख में परिवर्धित है।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसकी**' बृ० कोष्ठक का पाठ स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**उसको**' पद त्रुटित है। इसके बिना वाक्य अपूर्ण है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी पाठों में भावपूर्त्यर्थ बृ०कोष्ठक पद चाहिए।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० में "**मूलछेदन**" तथा तीनों सं० में "**मूलच्छेदन**" है। '**मूलोच्छेदन**' उपयुक्त प्रयोग है।

५. **अपवर्तनी**—द्वि० सं० में यहां "**जायेगा**" नवीन वर्तनी है। ग्रन्थकार के समय की स्वीकृत वर्तनी '**जायगा**' है। यही कारण है कि एक-आध स्थानों की अशुद्ध वर्तनी को छोड़कर सर्वत्र "**जायगा**" वर्तनी है। दोनों हस्तलेखों में और द्विप्र० में भी यही वर्तनी है। द्वि०सं० की वर्तनी बाद के किसी संस्करण में किसी सम्पादक के प्रमाद से मुद्रण-काल में बदली गई है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में उक्त मूलह० तथा मूलप्रति सं० के वाक्य को प्रश्नवाचक रूप में परिवर्तित किया है—"**जो यत्न करने से भी कार्य सिद्ध न हो तो इसमें क्या दोष? अर्थात् कोई भी नहीं।**" यहां '**हमारा दोष नहीं है**' का विषय है, '**क्या दोष है**' के प्रश्न का नहीं। उक्त महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ ही ग्राह्य है।

७. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में '**से**' पद त्रुटित है, मूलह० और मूलप्रति में है। यह ग्राह्य है।

८. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है, जो इस प्रकार है—"**जब संन्यासी एक वेदोक्त धर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पादन करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा।**" द्वि० सं० में '**उत्पादन**' के स्थान पर '**उत्पन्न**' संशोधन है, शेष अपवाक्य है। मूलप्रति सं० में यह अपप्रयोग भी है। वस्तुतः "**एक**" विशेषण "**संन्यासी**" के पूर्व लगेगा, "**वेदोक्त धर्म के उपदेश**" के पूर्व नहीं, क्योंकि वेदोक्त धर्म का उपदेश एक नहीं हो सकता। यहां एक संन्यासी का महत्त्व वर्णित है कि एक का लाभ लाखों को होता है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

९. **अनूदित पद**—दोनों हस्त० में "**हजारह**" फारसी का पद है। तीनों सं० में अनूदित हिन्दी पद "**सहस्रों**" रखा हुआ है।

१०-११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**गृहस्थ**' '**संन्यासी**' एकवचनात्मक अपप्रयोग हैं।

१२. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**जो-जो संन्यासियों के....पुत्र तुल्य हैं**" पाठ मूलहस्त० में नहीं है। यह मूलप्रति सं० में मुद्रणहस्त० से ग्रहण किया है। यह ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख में परिवर्धित है।

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न-वस्त्र लेकर आनन्द में रहना, अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करनी[१] ? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना, कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि 'तू भी ब्रह्म है, तुझको पाप-पुण्य नहीं लगता, क्योंकि शीत-उष्ण शरीर [के],[२] क्षुधा-तृषा प्राण [के],[३] और सुख-दुःख मन के धर्म हैं; जगत् मिथ्या है और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं, इसलिये इनमें फसना बुद्धिमानों का काम नहीं; जो कुछ पाप-पुण्य होता है, वह देह और इन्द्रियों का धर्म है, आत्मा का नहीं', इत्यादि।[४] और आपने और ही[५] संन्यास का धर्म कहा। अब हम किसको सच्चा मानें ?[६]

उत्तर—क्या उनको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं ? देखो! "**वैदिकैश्चैव कर्मभिः**" मनु० [६।७५]। मनु जी ने 'वैदिक कर्म' जो कि धर्मयुक्त सत्य-कर्म हैं, वे संन्यासियों के लिए भी अवश्य करने लिखे हैं।[७] क्या भोजन-छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे ? जब ये कर्म नहीं छुटते तो उत्तम कर्म छोड़ने से क्या वे पतित नहीं होंगे ?[८] जब गृहस्थों से अन्न-वस्त्रादि लेते हैं और उनका उपकार नहीं करते तो क्या वे महापापी नहीं होंगे ?[९] जैसे आंख से देखना, कान से सुनना न हो, तो आंख और कान का होना व्यर्थ है। **वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्यशास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते, तो वे भी जगत् में व्यर्थ, भाररूप हैं।**

और जो 'अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करनी'[१०] आदि लिखते[११] और कहते हैं, वैसे उपदेश करनेवाले ही मिथ्यारूप, पापी और पाप के बढ़ानेहारे हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म किये जाते

१,१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**माथापच्ची क्यों करना**" अपप्रयोग है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**के**' विभक्ति प्रत्यय त्रुटित है।

४. **पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद के आरम्भ और अन्त में यह पाठ है—"**उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है....आत्मा का नहीं, इत्यादि उपदेश करते हैं**", इसमें "**उपदेश करते हैं**" पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ है। यह कथन "**उपदेश करना**" पहले उक्त हो चुका है। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में प्राप्त है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में "**और ही**" के स्थान पर मुद्रणलिपिकर द्वारा "**विलक्षण**" पाठपरिवर्तन किया है। यह ग्रन्थकार के भाव के अनुकूल नहीं है। यहां कथन की विशेषता प्रतिपाद्य नहीं है अपितु कथनों की भिन्नता प्रतिपाद्य है। उसके लिए महर्षिप्रोक्त "**और ही**" मूलपाठ उपयुक्त है। सभी द्वि०सं० और उदयपुर सं० में यह अपसंशोधन है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठपरिवर्धन**—मुद्रणप्रति में इस वाक्य में अनावश्यक परिवर्धन किया है। महर्षिप्रोक्त संक्षिप्त, सुन्दर शैली के वाक्य से वही भाव प्रकट हो रहा था जो परिवर्धन से प्रकट करना चाहा है। परिवर्धन में कोई वैशिष्ट्य नहीं है, संगति भी नहीं है। द्विप्र०, द्वि०सं० का वाक्य है—"**अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूठी मानें ?**"

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं, संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है।**" बहुवचनात्मक पूर्ववाक्यांश के साथ '**वे संन्यासियों को भी अवश्य करने लिखे हैं**' पाठ चाहिए। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में यही अपवाक्य उपलब्ध है।

८-९. **मुद्रण-लिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—महर्षिप्रोक्त वाक्य की अर्थ-गम्भीरता तक न पहुंच पाने के कारण मुद्रणहस्तलेख में इस वाक्य में यह परिवर्धन कर दिया—"**वे पतित और पापभागी नहीं होगे ?**" लिपिकर ने नहीं देखा कि पापभागिता का कथन पतित के अर्थ में है। पृथक् शब्द से पापभागिता का कथन करने से पुनरुक्ति दोष आ गया है। महर्षि का भाव यही है कि कर्त्तव्य कर्मों के छोड़ने से मनुष्य 'पतित'='कर्त्तव्यच्युत पापी' होता है। इस अर्थ को परिवर्तनकर्त्ता समझ नहीं पाया। यही पुनरुक्तियुक्त पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में है।

११. **उचित और अनुचित परिवर्तन**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**करना**' अपक्रिया है। मुद्रणह०, मूलसं० में "**लिखा और कहते हैं**" अपपाठ है, यह द्विप्र० में संशोधित है। मुद्रणकाल में "**पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं**" अप-परिवर्तन है।

हैं, वे सब आत्मा के ही हैं और उनका फल भोगनेवाला भी आत्मा है।

जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं, वे अविद्यानिद्रा में सोते हैं। क्योंकि 'जीव' अल्प,[१] अल्पज्ञ और 'ब्रह्म' सर्वव्यापक, सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभावयुक्त है, और जीव कभी बद्ध, कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं होती, और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्म-मरण, दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता और जीव प्राप्त होता है। इसलिये उनका वह उपदेश मिथ्या है।

प्रश्न—"**संन्यासी सर्वकर्मविनाशी**" [होते हैं],[२] और अग्नि तथा धातु का स्पर्श[३] नहीं करते। यह बात सच्ची है वा नहीं?

उत्तर—नहीं। "**सम्यङ्नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ्न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी**"=जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में [नित्य भलीभांति][४] उपविष्ट अर्थात् स्थित[५] [होना][६] और जिससे दुष्ट-कर्मों का त्याग किया जाय, [वह संन्यास और][७] वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो, वह '**संन्यासी**' कहाता है। इससे सुकर्मों का कर्त्ता[८] और दुष्ट-कर्मों का विनाश[९] करनेवाला 'संन्यासी' कहाता है।

प्रश्न—अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं, पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें, परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है, उतनी गृहस्थों को नहीं। हां, जो ब्राह्मण हैं, उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और

---

१. **अल्प**=एकदेशी, परिच्छिन्न और अल्पसामर्थ्य वाला। द्रष्टव्य पृ० ३४८ पर महर्षि का उत्तर में कथन।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होते हैं**' क्रियापद नहीं है। वाक्यसंरचना के लिए आवश्यक है।

३. **अपप्रयोग**—आगे दोनों हस्त० और तीनों सं० "**धातु को स्पर्श**" है, यहां "**धातु का स्पर्श**" उपयुक्त है।

४-७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणहस्त० में "**उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और**" पाठ छूटा हुआ है। इसका कारण मुद्रण-हस्तलेख का प्रमादी लिपिकर है। इस वाक्य में दो "**और**" पद पठित होने से उसने लापरवाही में या जान-बूझकर यह बीच का पाठ छोड़ दिया, और यह अपपाठ लिखा—"जो ब्रह्म और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाये।" यही पाठ द्विप्र० में छपा जोकि परोप० ३३ तक त्रुटित ही छपता रहा। अब द्वि०सं०, मूलप्रति सं० आदि में यह पाठ संशोधित है। कोष्ठकान्तर्गत ४,६,७ संख्यांकित पाठ भी त्रुटित हैं। ये पाठ भी संस्कृत पाठानुसार ग्राह्य हैं, उनके बिना हिन्दी निर्वचन अपूर्ण है।

पाठ-पुष्टि—'संस्कारविधि' में लिखित निर्वचन से यहां पूर्णभाव की पुष्टि हो जाती है—"**सम्यङ् न्यस्यन्ति-अधर्माचरणानि येन, वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्ते-उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी।**" (संन्यासप्रकरण)=जिस आश्रम को धारण करके अधर्म-आचरणों से बचा जाये और श्रेष्ठ कर्मों को ग्रहण करके उनमें सुदृढ़ रहा जाये वह संन्यास तथा उसको धारण करने वाला संन्यासी कहाता है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री द्वारा निराधार समीक्षा—(स्वामी सच्चिदानन्द जी) ने मुद्रण०, द्विप्र० और द्वि०सं० में प्राप्त इस त्रुटित पाठ की औचित्य-सिद्धि में अपनी पुस्तक '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' में पृ० ३६-३८ पर लम्बी समीक्षा दी है और स्वामी वेदानन्द जी आदि के संशोधन को "अण्ड-बण्ड" बताया है। दोनों हस्तलेखों के सामने आने के बाद यह सिद्ध हो गया कि संशोधकों का पाठ सही है और आचार्य जी की आलोचना "अण्ड-बण्ड" है।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, और तीनों सं० में "**इसमें सुकर्म का कर्त्ता**" अपपाठ है। '**इसमें**' के स्थान पर '**इससे**', '**सुकर्म**' के स्थान पर '**सुकर्मों**' पाठ चाहिये। आगे "**दुष्ट कर्मों**" बहुवचनान्त पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर ने अशुद्ध है।

९. **मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ पाठान्तर और लिपिकरकृत अपवर्तनी**—अयोग्य लिपिकरों ने मूलह० में "**विनास**", मुद्रणह० में "**नास**" वर्तनी लिखी है, जो द्विप्र० में "**नास**" है। द्वि०सं० और मूलसं० आदि सभी में "**विनाश**" संशोधन है। मुद्रणलिपिकर ने "**दुष्टकर्मों का विनाश**" पाठ के स्थान पर "**दुष्टकर्मों का नाश**" व्यर्थ पाठान्तर किया है।

स्त्रियाँ[१] स्त्रियों को सत्योपदेश [किया करें][२] और पढ़ाया करें। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है, उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। **जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी ही होता है।** इसलिये संन्यास का होना उचित है।

प्रश्न—'**एकरात्रिं वसेद् ग्रामे**' [तुलना—नारदपरिव्राजकोपनिषद् उपदेश ४। १४] इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र[३] एकरात्रि-मात्र रहना [चाहिये],[४] अधिक निवास न करना चाहिये।

उत्तर—यह बात थोड़े-से अंश में तो अच्छी है कि एकत्रवास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और अस्थानान्तर[५] का भी अभिमान होता है,[६] राग-द्वेष भी अधिक होता है, परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो, तो रहै। जैसे, **जनक** राजा के यहां चार-चार महीने तक **पञ्चशिखादि** और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आजकल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है, क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

प्रश्न— यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्।
चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत्॥

[तुलना—लघु पराशरस्मृति अ० १। श्लोक ५१]

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे, तो दाता को नरक प्राप्त होवे।

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी, सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धु-वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे। और जब भिक्षादि-व्यवहार हमारे आधीन रहेगा तो डरते रहेंगे। **जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में**

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**स्त्री**' एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**किया करें**' क्रिया उपयुक्त वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

३. **एकत्र का अर्थ**—एक स्थान पर रहना।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**चाहिये**" क्रिया अपेक्षित है।

५. **अस्थानान्तर का अभिमान**—एक स्थान पर रहने का अभिमान अथवा उस स्थान के अधिकारी होने का अभिमान। स्थान बदलते रहने से व्यक्ति में यह अभिमान वृत्ति उत्पन्न नहीं होती।

६. **श्रवणभ्रान्ति से मूललिपिकर कृत अपपाठ**—यहां '**अस्थानान्तर**' मूलसं० में संशोधित पाठ सार्थक एवं संगत है। एक स्थान पर निवास करने से उस स्थान के प्रति मोह और अधिकारभावना उत्पन्न होती है। एक स्थान पर रहने से ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। अत: यहां '**अस्थानान्तर**' पाठ ही उपयुक्त है। प्रतीत होता है कि मूल-हस्तलेख के लिपिकर ने श्रवणभ्रान्ति से '**स्थानान्तर**' लिख दिया। उसी का अन्धानुकरण मुद्रण-लिपिकर ने किया। यही अशुद्ध पद द्विप्र० में छपा है। उसी का अनुकरण विद्वान् सम्पादक भी अविचारित रूप से करते आ रहे हैं। सम्पादक यह तो विचार करें कि '**स्थानान्तर का अभिमान**' भी कोई अभिमान का विषय होता है क्या? और एकत्रवास के पूर्वापर-प्रसंग में इस पाठ का क्या औचित्य है? पहले ही वाक्य से इसका परस्परविरोध है। लिपिकरों-शोधकों को तो जो भ्रान्ति हुई, वह हुई, किन्तु हमारे विद्वानों को कैसा भ्रम हुआ है? आज तक यही परस्परविरुद्ध अपपाठ वेस, भद, जग, युमी में है। उदयपुर सं० ने इसको शुद्ध करके सही चिन्तन का परिचय दिया है।

पाठ-पुष्टि—'**स्थानान्तर**' के अर्थ और प्रयोग को समझने के लिए महर्षि का वाक्य पढ़ें—"**देह से निकलके जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है।**" क्या इस वाक्य के अनुसार यहां द्वि०सं० के सम्पादक अर्थसंगति और पूर्वापर पाठसंगति लगा सकते हैं? नहीं। अत: संशोधित पाठ सही और आवश्यक है।

कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्॥ मनु० [तुलना—अ० ११। श्लोक ६]

=नाना प्रकार के रत्न, सुवर्णादि धन विविक्त अर्थात् संन्यासियों को देवे।

और पूर्वोक्त[१] श्लोक भी अनर्थक है, क्योंकि संन्यासियों[२] को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावेगा, तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायगा।

प्रश्न—ये[३] पण्डित जी इसका पाठ बोलते-बोलते भूल गये। यह ऐसा है कि "**यतिहस्ते धनं दद्यात्**" अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है, वह नरक में जाता है।

उत्तर—यह भी वचन [किसी][४] अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है; क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय, तो पग पर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा। इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। **हां, यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा;** परन्तु जो विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में, सब भोग और सब देख चुका है।[५] और जो ब्रह्मचर्य से [संन्यासी][६] होता है, वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फसता है।

प्रश्न—लोग कहते हैं कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा [उसको कोई][७] जिमावे तो उसके पितर भाग जायें और नरक में गिरें।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुँचना ही असम्भव [है, तथा][८] वेद और युक्ति-विरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे? जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं, तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणियों[९] और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हां, यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे, वहां यह मृतक-श्राद्ध करना [आदि] पाखण्ड[१०] वेदादि-शास्त्रों से विरुद्ध होने से दूर भाग जायगा।[११]

१-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां क्रमशः "**वह**" पाठ के स्थान पर '**पूर्वोक्त**' और '**संन्यासियों**' बहुवचन पाठ चाहिए। बहुवचन में "**यह**" के स्थान पर "**ये**" प्रयोग अभीष्ट है। **पुष्टि**—पृ० २४४ पर दो बार बहुवचन है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**किसी**' पद वाक्यसंगति की दृष्टि से आवश्यक है।

५. **ऋषिहस्तलेख और मूललिपिकरकृत अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोगकर वा सब देख चुका है।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अपवाक्य है। "**हाँ, यह बात.....फसता है**" मूलह० में ऋषिहस्त से लिखित पाठ है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**संन्यासी**' पद स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है।

७-८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक हैं।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**पुराणी**' अपप्रयोग है, '**पुराणियों**' बहुवचनान्त चाहिए। जैसे पृ० २४४ पर है।

१०. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पाखण्ड**' शब्द अस्थान में होने से अपवाक्य बन गया है—"**मृतक श्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जायगा।**" '**पाखण्ड**' पद की सम्बन्धता श्राद्ध के साथ है, क्योंकि उसी का प्रसंग है। अतः उसके साथ जोड़कर ही उपयुक्त पाठ बनता है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

११. **ऋषिहस्तलेख व पाठग्रहण**—"**कल्पी हुई....भाग जायगा**" ऋषिलिखित पाठ मूलह० में मुद्रणह० से गृहीत है।

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा, उसका निर्वाह कठिनता से होगा और 'काम' का रोकना भी अति कठिन है, इसलिये गृहाश्रमी[१] और[२] वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाय, तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे; परन्तु जो रोक सके वह क्यों न लेवे? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्यसंरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता[३] और उसका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिये है,[४] नीरोग के लिये नहीं; **वैसे[५] जिस पुरुष वा स्त्री का विद्या, धर्म-वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे, जैसे पञ्चशिख-आदि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं। इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों के लिये उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबावेगा।** जैसे 'सम्राट्' सर्वोपरि[६] चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे ही 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा सम्बन्धियों में सत्कार पाता है, और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ १॥ यह चाणक्यनीतिशास्त्र[७] का श्लोक है [३]।

विद्वान् और राजा कभी तुल्य नहीं होते; क्योंकि राजा अपने ही देश में[८] मान पाता है और विद्वान् सर्वत्र प्रतिष्ठा पाता है॥ १॥

इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये **ब्रह्मचर्य**; सब प्रकार के उत्तम

१-२. **अपप्रयोग और त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**गृहाश्रम**' अपप्रयोग है। यहां '**गृहाश्रमी**' संज्ञा प्रयोग के साथ-साथ इसके बाद '**और**' योजक पद का परिवर्धन भी आवश्यक है। वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

३. **उचित संशोधन**—मुद्रणह० में मूलह० के "**नहीं हो सकता**" पाठ के स्थान पर "**नहीं होता**" संशोधन उचित किया है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पद परिवर्धन**—मुद्रहण०, द्विप्र० में यहां "**जैसी**" अनावश्यक और अपप्रयोग है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह० में '**वैसे**' के स्थान पर "**इसी प्रकार**" पाठ-परिवर्तन किया है। यह पाठपरिवर्तन इस कारण अनावश्यक है, क्योंकि वाक्यारम्भ में "**जैसे**" पाठ है, अत: जैसे के साथ '**वैसे**' मूल पाठ संगत है। द्विप्र०, द्वि०सं० तथा अन्य सं० में अपप्रयोग है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में '**सर्वोपरि**' विशेषण त्रुटित रह गया है। यह इस कारण त्रुटित रहा कि प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने लिखते समय बीच का पाठ छोड़कर यह अपवाक्य बनाया—"**सम्राट् संन्यासी होता है।**" बीच के इस वाक्य को छोड़ गया—"**सर्वोपरि चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे ही परिव्राट्**"। फिर जब उसको संशोधन के समय शोधक ने अनुमान से पूरा किया तो सर्वोपरि शब्द रह गया। दोनों का विशेषता-बोधक पद न होने से यह अपूर्ण वाक्य है और निरर्थक है, अत: यह पद आवश्यक है। सभी द्वि०सं० में यह पद त्रुटित है, उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

७. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में '**चाणक्य शतक**' अप-नाम है। द्वि० सं० में संशोधित है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में, मूलह० और मूलप्रति सं० के "**विद्वान् और राजा कभी तुल्य नहीं होते**" के स्थान पर "**विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं होती**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। आगे "**अपने ही देश में**" पाठ के स्थान पर "**अपने राज्य ही में**" पाठ बनाया है, जो व्यर्थ पाठान्तर है क्योंकि राजा के संदर्भ में "**देश**" प्रयोग "**राज्य**" के भाव में ही प्रयुक्त होता है। **पाठ-पुष्टि**—देखिए, श्लोक में "**देशे**" पद ही है। श्लोकपूर्व वाक्य में भी "**अपने देश में**" पाठ है। पाठक इन प्रमाणों से यह जान लें कि मुद्रणप्रति (प्रेसप्रति) बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने महर्षि की भाषा के परिवर्तन में कितनी अधिक स्वच्छन्दता अपनाई है। अत: वेस, जग, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ पाठान्तर अग्राह्य है।

व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ **गृहस्थ**; विचार, ध्यान और ज्ञान बढ़ाने[१] और तपश्चर्या करने के लिये **वानप्रस्थ**; और वेदादि-सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्टव्यवहार का[२] त्याग, सत्योपदेश और सबको नि:संदेह करने आदि के लिये **संन्यास** आश्रम है। परन्तु **जो इस संन्यास के मुख्य-धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सदा सत्योपदेश, शङ्का-समाधान, वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।**

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गोसांई, खाखी[३] आदि हैं, वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं; क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी[४] लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त[५] होकर वेद से अधिक[६] अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा[७] करते [हैं][८]। मिथ्या-प्रपञ्च में फसकर अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को अपने-अपने मत में फसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उसके बदले संसार को बहकाकर अधोगति को प्राप्त कराते[९] और अपना प्रयोजन साधते हैं;[१०] इसलिये उनको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते, किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं; इसमें कुछ संदेह नहीं।[११]

संन्यासी आप धर्म में चलें और सब संसार को चलाते रहैं, जिससे आप और सब संसार इस लोक अर्थात् इस जन्म में, परलोक अर्थात् परजन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग किया करें।[१२]

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**ज्ञान**'' के स्थान पर ''**विज्ञान**'' पाठ बदला है। इस समु० के पृ०२२८/१५ पर वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों में ''**ज्ञान**'' ही पाठ है, अत: यहां भी परिवर्तन व्यर्थ है। मूलह० में तो ''**ज्ञान**'' ही है और यहां '**विज्ञान**' कर दिया, जो अगाम्भीर्य का द्योतक है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों में यहां '**के**' पद है। यहां भी '**का**' कारक प्रत्यय होना उपयुक्त है।

३-४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**खाखी**'' और '**एक भी**' पद नहीं हैं। इनसे पाठ वैशिष्ट्यपूर्ण बना है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ये पद परिवर्धित हैं। इनका परिवर्धन उचित है।

५,७. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने ''**प्रवर्त्त**'' और ''**प्रसंशा**'' अपवर्तनी लिखी है। यही द्विप्र० में छपी हैं। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित हैं।

६,८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**अधिक**'' पद त्रुटित है; द्वि०सं०, मूलसं० में गृहीत है। सभी पाठों में इस वाक्यखण्ड के बाद कोई क्रिया नहीं है। वाक्यरचना हेतु '**हैं**' क्रिया अपेक्षित है।

९. **अपक्रिया**—दोनों हस्त० में ''**करते**'' अपक्रिया है। बाद के तीनों सं० में संशोधित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में ''**अपना प्रयोजन साधते हैं**'' के स्थान पर ''**अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है। पाठक देखें कि लिपिकरों ने ऋषि की भाषा के साथ कितनी मनमानी की है।

११. **पाठग्रहण**—यह वाक्य मूलह० में नहीं है। मुद्रणह० में परिवर्धित है। वहीं से मूलसं० में गृहीत है।

१२. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणहस्त० में, तदनुसार द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**संन्यासी आप.....किया करें**'' तक का पाठ परिवर्तित किया गया है। इस परिवर्तन से उपसंहार का प्रयोजन ही नष्ट हो गया है। उपसंहार में महर्षिप्रोक्त भाषा आदेशात्मक-निर्देशात्मक थी। समुल्लास के अन्त में उपसंहार रूप में महर्षि संन्यासियों को कर्त्तव्य का निर्देश दे रहे हैं। मुद्रणह० में उस भाषाशैली को बदलकर तथा सम्पूर्ण अनुच्छेद को परिभाषात्मक शैली का बना दिया है। संन्यासी की परिभाषा प्रकरण के मध्य में पहले उक्त हो चुकी है। उसका पुन: और विशेषत:समुल्लास के अन्त में कोई प्रसंग ही नहीं है। समुल्लास के अन्त में निर्देश-आदेश ही होते हैं। पाठक महर्षि की शैली को ध्यान से देखेंगे तो पायेंगे कि प्रत्येक वर्णाश्रम-विषयक समुल्लास के अन्त में आदेश-निर्देश-परक शैली है। अत: मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही उचित एवं ग्राह्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०,

यह संन्यास-आश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी[१]। अब इसके आगे राजधर्मों को[२] लिखेंगे।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते[३] सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये
पञ्चमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ ५ ॥[४]

वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में परिवर्तित-परिवर्धित पाठ अग्राह्य है। मुद्रणलिपिकर द्वारा वह परिवर्तित पाठ अग्रलिखित है, पाठक ऋषिपाठ और मुद्रणलिपिकर के पाठ को पढ़कर तुलना करके देखें कि दोनों के प्रभाव में कितना अन्तर है—

''जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं।''

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर और उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां '**आश्रम**' पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है। मुद्रणलिपिकर भाषा में मनमाने परिवर्तन करता है। ''**यह संन्यास-आश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी**'' के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने ''**यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी**'' बिना मतलब के पाठान्तर किया है। महर्षि की भाषा में इसी प्रकार लिपिकरों आदि के कारण पाठभेद हो गये हैं, जिन पर आज व्यर्थ के दुराग्रह हो रहे हैं।

२. **अव्यवस्थित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**राजप्रजाधर्म**' पाठ है, जो अन्यत्र पाठों से मेल नहीं खाता। अन्यत्र सर्वत्र केवल '**राजधर्म**' पद से ही विषय का निर्देश है। देखिए—षष्ठ समु० के आरम्भ में दोनों हस्त० और मूलसं० में यहां ''**राजप्रजाधर्म**'' पाठ है किन्तु दोनों द्वि० सं० में संशोधित पाठ है—''**राजधर्मान् व्याख्यास्यामः**'', जबकि मुद्रणप्रति में '**राजप्रजाधर्मान्**' पाठ है, अन्त में—''**यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया है**'', समु० समाप्तिसूचक संस्कृत वाक्य में है—''**राजधर्मविषये षष्ठः समुल्लासः**'', मुख्य विषय-सूची में—''**राजधर्मविषयः**'', भूमिका में—''**छठे समु० में राजधर्म**'', मनुस्मृति के आरम्भिक श्लोक का पहला चरण भी यही है—''**राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि**''। इसके अर्थ में भी है—''**राजधर्मों को कहेंगे**''। इस प्रकार यहां भी '**राजधर्मविषय**' पाठ ही महर्षि सम्मत है।

मूलह० और मूलप्रति सं० में छठे समु० के आरम्भिक वाक्य में ''**राजप्रजाधर्म**'' और अन्त के हिन्दी तथा संस्कृत वाक्यों में ''**राजधर्म**'' पाठ है। इस प्रकार उसमें परस्परविरोध है। सभी पाठों के दृष्टिगत सर्वत्र एक ही पाठ ''**राजधर्म**'' ग्राह्य है। यही महर्षि और मनुस्मृति के अनुकूल है।

३. **मुद्रणलिपिकर की अयोग्यता**—मूलहस्त० में शुद्ध पाठ होते हुए भी अयोग्य मुद्रणलिपिकर ने यहां ''**सरस्वति**'' अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० में इसको संशोधित कर दिया है। लिपिकरों द्वारा अयोग्यता से की हुई बहुत-सी अशुद्धियां हैं, जो अभी भी सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान रह गई हैं जिनसे सत्यार्थप्रकाश की भाषा दूषित हो रही है। उन सबके संशोधन की महती आवश्यकता है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि कुछ चिन्तनहीन लोग इन अशुद्धियों को ही ऋषि का रहस्यमय प्रसाद माने बैठे हैं। ऐसे लोग सत्यार्थप्रकाश के न तो हितैषी हैं और न दूरदर्शी हैं।

४. **पाठान्तर एवं पाठग्रहण**—मूलह० में समाप्तिसूचक वाक्य ''**इति श्रीमद्दयानन्द सरस्वती०**'' लिखकर पूर्ति करने का चिह्न '०' लगाकर छोड़ दिया है, जो इस बात का संकेतक है कि मुद्रण-लिपिकर को पूरा करना है। हिन्दी में भी लिखा है—''**यह पांचवां समुल्लास पूरा हुआ**''। किन्तु मूलप्रति सं० में यह ग्रहण नहीं किया है। मुद्रणहस्त० में ''**वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये**'' पाठ नहीं है। यह मुद्रण-काल में जोड़ा गया है। दोनों हस्त० के ''**सुभाषाविरचिते**'' पाठ के स्थान पर ''**सुभाषाविभूषिते**'' परिवर्तन है। मूलप्रति सं० में द्वि० सं० से यह पाठ ग्रहण किया है। यही ग्राह्य है।

—०—

अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः[१]

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः[२]

[अब राजा के धर्मों का वर्णन किया जायगा][३]

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः। संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥ १॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्॥ २॥

मनु० [७।१-२]॥

अब मनु जी[४] ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्णों और चारों आश्रमों के[५] व्यवहार-कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि जिस प्रकार का राजा होना चाहिये, और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, वह प्रकार सब[६] कहते हैं॥ १॥

कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, **वैसा सुशिक्षित-विद्वान् होकर** क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे॥ २॥

कैसे कर सकता है, उसका प्रकार यह है[७]—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि॥

ऋ०, म० ३। सूक्त ३८। मं० ६॥

ईश्वर उपदेश करता है कि (**राजाना**) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (**विदथे**) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में (**त्रीणि सदांसि**) तीन सभायें अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा नियत करके (**पुरूणि**) बहुत प्रकार के (**विश्वानि**) समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (**परिभूषथः**) **सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।**

तं सभा च समितिश्च सेना च॥ १॥

अथर्व०, कां० १५। अनु० २। व० ९। मं० २॥ [काण्ड १५। सूक्त ९। मन्त्र २]

---

१. **मुद्रणकालीन परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह० का "**अथ षष्ठः समुल्लासारम्भः**" पाठ मुद्रणकाल में उक्त रूप में परिवर्तित है।

२-३. **उचित संशोधन एवं त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्तलेखों और मूलप्रति सं० में "**अथ राजप्रजाधर्मान् व्याख्यास्यामः**" पाठ है, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित करके "**राजधर्मान्**" पाठ बनाया है। अन्यत्र लिखित पाठों से पूर्वपाठ का तालमेल नहीं था। शैली की एकरूपता हेतु कोष्ठान्तर्गत हिन्दी पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। टि० पृ० १९ पर।

४,६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ एवं अशुद्ध पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० में, मूलह० के शुद्ध पाठ "**मनु जी**" के स्थान पर "**मनु जी महाराज**" "**वह प्रकार सब कहते हैं**" के स्थान पर "**वह सब प्रकार कहते हैं**" पाठान्तर मुद्रणलिपिकर द्वारा मनमानेपन से अशुद्ध एवं व्यर्थ किया गया है। ग्रन्थ में लिपिकरों द्वारा इसी प्रकार अनेक पाठभेद किये गये हैं।

५. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**चारों वर्ण और चार आश्रमों**" अव्यवस्थित पाठ है। मुद्रहणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका अर्ध-संशोधन किया गया—"**चारों वर्ण और चारों आश्रमों**"। यहां '**वर्ण**' में भी बहुवचन '**वर्णों**' अपेक्षित है।

७. **उचित अर्धपाठ-संशोधन**—मूल और मुद्रण हस्तलेखों तथा मूलप्रति सं० में इस पंक्ति में केवल "**कैसे कर सकता है**" पाठ है। द्विप्र० में मुद्रणकाल में इसके बाद "**उसका प्रकार यह है**" उचित परिवर्धन कर दिया है। यही द्वि०सं० में है।

सभ्यं सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥

अथर्व०, कां० १९। अनु० ७। व० ५५। मं० ६ ॥ [कां० १९। सू० ५५। मं० ६]

(तम्) उस राजधर्म का,[१] **(सभा च)** तीनों सभायें[२] **(समितिश्च)** संग्रामादि की व्यवस्था[-पक समिति][३] और **(सेना च)** सेना, मिलकर पालन करें॥ १ ॥

सभाध्यक्ष[४] राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा दे[५] कि हे **(सभ्य)** सभा के योग्य मुख्य-सभासद्! तू **(मे)** मेरी **(सभाम्)** सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का **(पाहि)** पालन कर[६], **(ये च)** और जो **(सभ्याः)** सभा के योग्य **(सभासदः)** सभासद् हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें॥ २ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि [किसी][७] एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा जो सभापति, तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, और प्रजा राजसभा के आधीन रहै। यदि ऐसा न करोगे तो:—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति[८] तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति॥ १ ॥ शत०, ब्रा०, का० १३। [प्रपा०] २। ब्रा० ३। [कं० ७-८] ॥

जो प्रजा से स्वतन्त्र-स्वाधीन राजवर्ग रहै, तो राजपुरुष[९] (**राष्ट्रमेव विश्याहन्ति**) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें। जिसलिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके **(राष्ट्री विशं घातुकः)** प्रजा का नाशक होता है अर्थात् **(विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति)** वह राजा प्रजा को खाये जाता=अत्यन्त पीड़ित करता है,[१०] **इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। [न**

१,२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, इस वाक्य में "**राजधर्म को**" पाठ है, '**का**' उपयुक्त पाठ है। यहां तीनों सं० में ही "**तीनों सभा**" अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है। सभी सं० में अपप्रयोग है। **पुष्टि**—पृ० २५२/१० में शुद्ध प्रयोग है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में समिति का अर्थ अपूर्ण रूप में "**संग्रामादि की व्यवस्था**" मात्र है। यहां "**संग्रामादि की व्यवस्थापक समिति**" होना चाहिए। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपूर्ण पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—ऋ०भा०भू० में इसके "**शिष्टसभा**" "**शुभमर्यादा**" अर्थ हैं (पृ० ७०)

४. **श्रवणभ्रान्ति से अप-पाठ**—दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में यहां "**सभासद् और राजा**" अपपाठ है, क्योंकि इसकी अग्रिम वाक्यांश से कोई संगति नहीं है। प्रतीत होता है कि लिखते समय लिपिकर ने श्रवणभ्रान्ति से '**सभाध्यक्ष**' के स्थान पर '**सभासद्**' लिख दिया। आज्ञा '**सभाध्यक्ष**' राजा ही देता है, '**सभासद्**' नहीं। **संशोधन-पुष्टि**—इसी वाक्य में आगे इसके स्थान पर "**राजा**" लिखा है जो संशोधन की पुष्टि करता है। पृ० २८९/४ में "**सभापति राजा**" पाठ है। **संस्कारविधि** (गृहस्थप्रकरण) में भी इस मन्त्रार्थ में '**सभापति**' पाठ ही है। जो बहुत स्पष्ट पोषक प्रमाण है। अन्य सभी सं० में अपपाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**दे**' के स्थान पर '**देवे**' व्यर्थ पाठान्तर किया है।

६. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्त० और मूलप्रति सं० में "**सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था की रक्षा कर**" अपपाठ है। "**सभासद्**" व्यवस्था का पालन किया करते हैं, रक्षक राजा होता है। द्विप्र०, द्वि० सं० में इस पाठ को शुद्ध कर "**सभा की.....व्यवस्था का पालन कर**" उचित किया है। पूर्वापर में भी '**पालन**' क्रिया का ही प्रयोग है। द्विप्र० का पाठ ग्राह्य है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों ही सं० में '**किसी**' पद त्रुटित है। इसके बिना उपयुक्त वाक्य रचना नहीं होती। **संशोधन-पुष्टि**—आठवीं पंक्ति में आगे सही वाक्य प्रयुक्त हुआ है "**किसी एक को.....न करना चाहिये।**"

८. **अप-उद्धरणपाठ**—मूलप्रति सं० में इस उद्धरण में "**करोति**" पद त्रुटित है जबकि पदार्थ में है। अन्य सभी पाठों में है।

९. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में ऋषिहस्तलिखित "**राजपुरुष**" पद त्रुटित है। दोनों हस्तलेखों में है।

१०. **मुद्रणकालीन उचित पाठ-परिवर्धन**—मूलह०, मूलसं० में "**अत्यन्त पीड़ा करता है**" अपपाठ है। द्विप्र० में संशोधित है—"**अत्यन्त पीड़ित करता है।**" यही ग्राह्य है। दोनों हस्त० में यह "**अर्थात्... करता है**" पाठ नहीं है। मुद्रणकाल में परिवर्धित है।

पुष्टं पशुं मन्यते[१]] जैसे—सिंह वा मांसाहारी पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे (**राष्ट्री विशमत्ति**) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता है। श्रीमानों[२] को लूट-खूँट[३], अन्याय से दण्ड लेके[४] अपना प्रयोजन पूरा करेगा[५] ॥ १ ॥ इसलिये—

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो भव॒ेह॥ १ ॥

अथर्व०, कां० ६। अनु० १०। व० ९८। मं० १ ॥ [कां० ६। सू० ९८। मं० १]

हे मनुष्यो! जो (**इह**) इस मनुष्यों के समुदाय[६] में (**इन्द्रः**) परम-ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (**जयाति**) जीत सके (**न पराजयातै**) जो शत्रुओं से पराजित न हो (**राजसु**) राजाओं में (**अधिराजः**) सर्वोपरि विराजमान (**राजयातै**) प्रकाशमान हो (**चर्कृत्यः**) सभापति होने के अत्यन्त योग्य (**ईड्यः**) प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभाव-युक्त (**वन्द्यः**) सत्करणीय (**चोपसद्यः**) समीप जाने और शरण लेने योग्य (**नमस्यः**) सबका माननीय (**भव**) होवे, उसी को सभापति राजा करें ॥ १ ॥

इ॒मं दे॑वाऽअसप॒त्नꣳ सु॑वध्वं मह॒ते क्ष॒त्राय॑ मह॒ते ज्यैष्ठ्या॑य
मह॒ते जान॑राज्या॒येन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॑० ॥ २ ॥ यजुः०, अ० ९। मं० ४०॥

हे (**देवाः**) विद्वानो! राजा-प्रजा-जनो! तुम (**इमम्**) इस प्रकार के पुरुष को (**महते क्षत्राय**) बड़े चक्रवर्ती-[७]राज्य (**महते ज्यैष्ठ्याय**) सबसे बड़े होने (**महते जानराज्याय**) बड़े-बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने, और (**इन्द्रस्येन्द्रियाय**) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये (**असपत्नꣳसुवध्वम्**) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्णविद्या-विनययुक्त, सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके,[८] सब भूगोल को[९] शत्रुरहित करो ॥ २ ॥ और—

स्थि॒रा[१०] वः॑ स॒न्त्वायु॑धा परा॒णुदे॑ वी॒ळू उ॒त प्र॑ति॒ष्कभे॑।
यु॒ष्माक॑मस्तु॒ तवि॑षी॒ पनी॑यसी॒ मा मर्त्य॑स्य मा॒यिनः॑ ॥ ३ ॥

ऋ०, म० १। सूक्त ३९। मं० २ ॥

---

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों ही सं० में उद्धरण के बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं। सभी ग्राह्य हैं।

२-४. **अपप्रयोग**—क्रमशः सभी पाठों में ''**श्रीमान्**'' के स्थान पर ''**श्रीमानों**'' बहुवचन, मूलह०, मुद्रणह० में ''**लूट-खूंच**'' के स्थान पर ''**लूट-खूंट**'' और मूलह०, मूलसं० में ''**दण्ड देके**'' के स्थान पर ''**दण्ड लेके**'' शुद्ध पाठ अपेक्षित हैं। मूलप्रति सं० में ये तीनों अशुद्ध हैं, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० केवल प्रथम पद अशुद्ध है, शेष दोनों संशोधित हैं। सभी सं० में संशोधित ''**लेके**'' क्रिया प्रयोग है। उदयपुर सं० ने पुनः अशुद्ध प्रयोग ''**देके**'' ग्रहण कर लिया है। यह नहीं सोचा कि राजा का अन्याय से दण्ड लेके ही प्रयोजन पूरा होता है। **संशोधन-पुष्टि**—इसी समु० में पृ० ३०६ पर आठ बार '**दण्ड लेवे**' ही पाठ है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—मूलह० में ''**अर्थात् किसी को.....करेगा**'' पाठ ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मनुष्य के समुदाय**'' अपप्रयोग है, '**मनुष्यों**' पद बहुवचनान्त शुद्ध है।

७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं ''**चक्रवर्त्ति**'', तो कहीं ''**चक्रवर्त्ती**'' वर्तनी है। भाषा की व्यवस्था, मानकता, एकरूपता और हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से ''**चक्रवर्ती**'' पाठ ग्राह्य है।

८. **ऋषिहस्तलेख**—''**सर्वत्र....मानके**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषिलिखित है, वहीं से मूलसं० में ग्रहण किया है।

९. **त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**को**'' पद त्रुटित है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में पठित है और ग्राह्य है।

१०. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० के मन्त्र में ''**स्थिराः**'' मुद्रणदोष प्रतीत होता है।

ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषो! (**वः**) तुम्हारे[१] (**आयुधाः**) आग्नेयादि अस्त्र, शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुष-बाण, असि=तलवार[२] आदि शस्त्र; शत्रुओं का (**पराणुदे**) पराजय करने (**उत प्रतिष्कभे**) और [उनको] रोकने[३] के लिये (**वीळू**) प्रशंसित और (**स्थिरा**) दृढ़ (**सन्तु**) हों (**युष्माकम्**) और तुम्हारी (**तविषी**) सेना (**पनीयसी**) प्रशंसनीय (**अस्तु**) होवे कि जिससे तुम सदा विजयी होओ, परन्तु (**मा मर्त्यस्य मायिनः**) जो निन्दित=अन्यायरूप काम करता है, उसके लिये पूर्व चीजें न हों।[४] अर्थात् **जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।**

महाविद्वानों को विद्यासभा-अधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा-अधिकारी[५] और प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और उन सब में जो उत्तम पुरुष हो[६], उसको राजा='सभा का पति' रूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम [बांधे][७] और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में जो-जो निज के काम हैं,[८] उन-उन में स्वतन्त्र रहैं।

पुनः, उस सभापति के गुण कैसे हों ?[९]—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य[१०] शाश्वतीः॥ १॥

---

१. **अपवर्तनी—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के संस्करण में प्रायः "**तुह्यारे**" वर्तनी अशुद्ध है। द्र० पृ० ७०,८४९ पर टिप्पणी।

२. **मुद्रणकालीन अशुद्ध-व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० के इस पाठ के स्थान पर मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**करवाल (तरवाल)**" पाठ बदला है। सभी द्वि०सं० में यह परिवर्तन अनावश्यक और अशुद्ध है। द्वि०सं० में पुनः "**तलवार**" शुद्ध पाठ बना दिया है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० २९३/१ में "**तलवार**" प्रयोग ही है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**शत्रुओं के पराजय करने और रोकने**" पाठ है। इसके स्थान पर "**शत्रुओं का पराजय करने और उनको रोकने**" उपयुक्त और स्पष्टार्थक पाठ है। सभी सं० में अपपाठ है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उसके लिये पूर्व चीजें मत हों**" के स्थान पर "**न हों**" उपयुक्त पाठ है। "**मत**" मध्यम पुरुष में प्रयुक्त होता है। सभी सं० में अपपाठ है।

५. **उचित पाठ संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**धर्मसभा के अधिष्ठाता**" पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**धर्मसभा-अधिकारी**" पाठ किया है, "**विद्यासभा-अधिकारी**" के समान। संशोधन ग्राह्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ-परिवर्तन**—मुद्रणह० में इस वाक्य को इस प्रकार परिवर्तित किया गया है—"**उन सब में सर्वोत्तम गुण-कर्म-स्वभावयुक्त महान् पुरुष को**"। मूलह०, मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ सहज शैली का सारगर्भित और व्यावहारिक है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ विस्तारमात्र, अतिशयोक्तिपूर्ण और अव्यावहारिक है। प्रत्येक राज्य में सभासदों में उत्तम तो मिल सकता है, '**महान्**' कहां से लायेंगे ? अतः महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ ग्राह्य है।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रिया त्रुटित है। बिना इसके वाक्य पूर्ण नहीं होता।

८. **मुद्रणकाल में व्यर्थ पाठान्तर**—शोधक और लिपिकर कितने लापरवाह और स्वच्छन्द थे इसका ज्ञान इस उदाहरण से होता है। उक्त वाक्य में दो बार "**काम**" पद है। पहले को "**कर्म**" व्यर्थ बदल डाला, दूसरा यथावत् छोड़ दिया, जबकि पृ० ४७६/३ में "**कर्मों**" के स्थान पर "**कामों**" किया है। ऐसे प्रमादी लोगों को क्या कहें ?

९. **मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**गुण कैसे होने चाहियें**" पाठ व्यर्थ बदला है।

१०-११. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त०, दोनों लिपिकरों ने "**निर्हत्य**", "**कुवेरः**" अपवर्तनियां लिखी हैं। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपी हैं। महर्षि द्वारा सर्वत्र "**कुबेर**" पाठ स्वीकृत है। द्रष्टव्य, प्रथम समु० में पृ० ३८/६ और उणादिकोश १.५९ सूत्र।

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥ २॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः[११] स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ ३॥ मनु० [७।४,६-७]॥

वह सभेश राजा '**इन्द्र**'=विद्युत् के तुल्य[१] शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, [**अनिल**=] '**वायु**' के समान सबका[२] प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, '**यम**'=पक्षपातरहित-न्यायाधीश के समान वर्तनेवाला, [**अर्क**=] '**सूर्य**' के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या-अन्याय का निरोधक, '**अग्नि**' के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, '**वरुण**' अर्थात् बांधनेवाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधनेवाला, '**चन्द्र**' के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, [**वित्तेश**=] '**धनाध्यक्ष**' के समान कोशों का पूर्ण करनेवाला '**सभापति**' होवे॥ १॥

जो सूर्यवत् प्रतापी, सबके बाह्य [चक्षु आदि अंगों][३] और भीतरी[४] मन को अपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी पर करड़ी[५] दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो॥ २॥

और जो अपने प्रभाव[६] से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे, वही 'सभाध्यक्ष'='**सभेश**' होवे[७]॥ ३॥

सच्चा राजा कौन है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ २॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ ३॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा नितान्त व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**तुल्य**' के स्थान पर '**समान**' पाठ बदला है। यह नितान्त अनावश्यक पाठान्तर है। लिपिकरों ने मनमानेपन से ग्रन्थ में इसी प्रकार पाठान्तर किये हैं।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**सबके प्राणवत् प्रिय**'' अपप्रयोग है, पूर्वापर भाषानुसार ''**सबका**'' पाठ सही है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सबके बाह्य (बाहर) और भीतर मनों को**'' अपपाठ बन गया है। बाह्य मन कौन-सा होता है? इत्यादि संदेहात्मक प्रश्न उपस्थित होते हैं। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन करने से पाठ उपयुक्त बन जाता है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—दोनों सं० में ''**बाह्य**'' के सम्बन्ध से ''**भीतर**'' मनों के स्थान पर, ''**भीतरी मन**'' विशेषण पद अभीष्ट है। मूलह० में ''**बाह्य**'' प्रयोग शुद्ध था। मुद्रणलिपिकर ने उसको ''**बाहर**'' अशुद्ध बना दिया।

५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—करड़ी=कड़ी, कठोर दृष्टि। मूलप्रति में सर्वत्र '**करड़ी**' **कर्ड़ी** राजस्थानी बोली का प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० यहां '**करड़ी**' पाठ है किन्तु द्विप्र० में कुछ जगह '**कड़ी/कड़ा**' पाठ बदला है। एकरूपता के लिए सर्वत्र ग्रन्थकार कृत ''**करड़ी**'' प्रयोग ही ग्राह्य है। **पुष्टि**—'**संस्कारविधि**' में भी ''**करड़ा**'' प्रयोग है (गृहाश्रम, पृ० २५५) (द्रष्टव्य है पृ० ३११ पर टि०)।

६. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में ''**प्रभाव**'' पद प्रमादवश त्रुटित है। अब सभी सं० में गृहीत है।

७. **ऋषिहस्तलेख में व्यर्थ पाठान्तर मुद्रणलिपिकर द्वारा**—''**होवे**'' के स्थान पर ''**होने के योग्य होवे**'' व्यर्थ पाठान्तर है।

दुष्येयुः[१] सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥ ४॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥ ५॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ ६॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक्[२] त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते॥ ७॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ ८॥
सोऽसहायेन[३] मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च॥ ९॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।[४]
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥ १०॥

मनु० अ० ७। [१७-१९, २४-२८, ३०-३१]॥

जो दण्ड है, वही [राज] पुरुष, [वही][५] राजा; वही न्याय का प्रचारकर्त्ता, और सबका शासनकर्त्ता, वही चारों वर्णों और चारों आश्रमों[६] के धर्म का 'प्रतिभू' अर्थात् जामिन[७] है॥ १॥

वही प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक [है और][८] सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है, इसीलिये बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही 'धर्म' कहते हैं॥ २॥

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाय तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है॥ ३॥

विना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादायें[९] छिन्न-भिन्न हो जायें। दण्ड के यथावत् न होने

---

१. **लिपिकरकृत अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्त० में लिपिकरों ने "**दुःष्येयुः**" अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं० और मूलसं० आदि में शुद्ध कर दी है।

२-३. **मुद्रणलिपिकरकृत अशुद्ध उद्धरणपाठ**—मूलह० की शुद्ध वर्तनी को मुद्रणलिपिकर ने "**प्राणयन्**" अशुद्ध लिखा है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में शुद्ध है। इसी प्रकार "**सो सहायेन**" भी मुद्रणह०, द्विप्र० में अशुद्ध है।

४. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों अयोग्य लिपिकरों ने दोनों हस्त० में "**अनुशारिणा**" अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में शुद्ध कर ली हैं।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—यह वाक्यखण्ड तीनों सं० में अपूर्ण है, इसमें बृहत्कोष्ठक के दोनों पद जोड़ने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**चार वर्ण और चार आश्रमों**" अपप्रयोग है। उपर्युक्त संशोधित प्रयोग सही है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० २४९/७ में मुद्रणह०; द्विप्र०, द्वि०सं० में अधिकांश शुद्ध पाठ है।

७. **जामिन**—रक्षा करने का उत्तरदायी, जमानती।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है और**" पद त्रुटित हैं। उपयुक्त वाक्यरचना के लिए ये अपेक्षित हैं।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मर्यादा**" एकवचनान्त पद है, "**सब**" प्रयोग के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है।

से सब लोगों का प्रकोप हो जावे॥ ४॥

जहाँ कृष्णवर्ण और रक्तनेत्र भयङ्कर पुरुष के समान, पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है, वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है, यदि[१] [वह][२] दण्ड का चलानेवाला पक्षपातरहित **विद्वान्** हो तो॥ ५॥

जो उस दण्ड का चलानेवाला सत्यवादी; विचारके करनेहारा; बुद्धिमान्; धर्म-अर्थ और काम की सिद्धि करने में **पण्डित** राजा है; उसी को उस **'दण्ड का चलानेहारा'**[३] विद्वान् लोग कहते हैं॥ ६॥

जो राजा दण्ड को अच्छे प्रकार चलाता है; वह धर्म-अर्थ और काम की सिद्धि से बढ़ता है;[४] और जो विषयों में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र, नीचबुद्धि, न्यायाधीश-राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है॥ ७॥

जो[५] दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अविद्वान्, अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, [जब अधर्मात्मा उसको धारण करता है] तब वह दण्ड धर्म से रहित उस राजा का ही कुटुम्बसहित नाश कर देता है[६]॥ ८॥

क्योंकि जो आप्त पुरुषों के साहाय्य, विद्या-सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता॥ ९॥

और जो पवित्र-आत्मा, सत्याचार [युक्त][७] और सत्पुरुषों का सङ्गी, **'नीतिशास्त्र'** के अनुकूल यथावत् चलनेहारा[८], श्रेष्ठ पुरुषों के साहाय्य से युक्त बुद्धिमान् है, वही न्यायरूपी दण्ड को[९] चलाने में समर्थ होता है॥ १०॥ इसलिये—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १॥
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ २॥

१-२. **अप व त्रुटित आवश्यक पाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यविभाजक **''परन्तु''** पद है, **'यदि'** उपयुक्त पाठ है। इसी प्रकार बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद भी उपयुक्त वाक्यरचना के लिए अपेक्षित हैं।

३,४. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में **''सिद्धि को बढ़ाता है''** अपपाठ है। मूलह० में शुद्ध है। **चलानेहारा**=चलाने का वास्तविक अधिकारी। **अच्छे प्रकार**=न्यायपूर्वक अर्थात् न अति-उग्र तथा न अति-शिथिल दण्ड देना।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''जब''** अपप्रयोग है, **'जो'** उचित है।

६. **मुद्रणकाल में त्रुटित पाठ और अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में कुछ पाठ त्रुटित रह जाने से तथा कुछ आगे-पीछे से हो जाने से अस्पष्ट बन गया है—**''अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, तब वह दण्ड धर्म से रहित कुटुम्बसहित राजा का ही नाश कर देता है।''** उपयुक्त व पूर्ण वाक्यरचना के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अपपाठ है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में **''कुटुम्ब सहित''** पाठ त्रुटित है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'युक्त'** पद त्रुटित है इसके बिना यह पद सही अर्थवान् नहीं बनता।

८,९. **अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में **''दण्ड के चलाने में समर्थ''** अपप्रयोग है। दोनों हस्त० और मूलप्रति सं० में **''दण्ड को चलाने में समर्थ''** सही प्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—इससे ऊपर वाले श्लोकार्थ ९ में भी दोनों सं० में **''दण्ड को चलाने में समर्थ''** शुद्ध प्रयोग है। दोनों हस्त एवं सभी सं० में **''यथावत् नीतिशास्त्र के''** स्थानभ्रष्ट पाठ है।

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥ ३॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥ ४॥
एकोऽपि[१] वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः[२]॥ ५॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्त्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ ६॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥ ७॥

मनु० [१२।१००, ११०-११५]॥

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर [मुख्य सेनापति का अधिकार], राज्याधिकार,[३] दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का अधिकार, और सबके ऊपर वर्त्तमान सर्वाधीश राजा-अधिकार[४], **इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्यावाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये। अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान अर्थात्[५] राजा, ये चारों[६] सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें॥ १॥**

न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे, उस 'धर्म' अर्थात् व्यवस्था का उल्लङ्घन कोई भी न करे॥ २॥

१-२. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**एकोपि, उदितो युतैः**" अपपाठ हैं। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित हैं।

३. **राज्याधिकार**=राज्य-संचालन का कार्य। राज्य का प्रमुख शासन-अधिकारी जो राजा द्वारा नियुक्त किया जाता है। आज की शासन-व्यवस्था में इस अधिकारी को 'किसी राज्य का मुख्य सचिव' कहा जाता है। श्लोक के अन्तिम वाक्य में इसको "**मुख्य राज्याधिकारी**" कहा है।

४. **ऋषिहस्तलेख व अप-श्लोकार्थ**—मुद्रणह० में "**सबके ऊपर.....राजा-अधिकार**" ऋषिहस्तलेख में है, वहीं से मूलसं० में गृहीत है। श्लोकार्थ की भाषा अस्त-व्यस्त होने के कारण इसके पूर्वार्ध भाग का अप-अर्थ हो गया है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपपाठ इस प्रकार है—"**सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, और सबके ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में**"। अस्त-व्यस्त पाठ के कारण, चार के स्थान पर तीन अधिकार ही रह गये। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**राजाधिकार**" के स्थान पर दूसरी बार "**राज्याधिकार**" पद लिखा गया। ऋषिहस्तलेख में यहां "**राजाधिकार**" पद है। **संशोधन-पुष्टि**—संशोधित अर्थ की पुष्टि श्लोकार्थ के अन्तिमवाक्य से हो जाती है। उसमें "**अर्थात्**" कहकर पूर्वोक्त चार अधिकारियों के वर्णक अर्थ को पुनः स्पष्ट किया है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है। किसी भी सम्पादक ने इस अपपाठ पर ध्यान नहीं दिया है।

५. **अपपाठ**—सभी सं० में यहां "**प्रधान और राजा**" लिखा है। यहां '**प्रधान**' पद '**राजा**' के लिए ही विशेषण है। मूलह० में "**अर्थात्**" की श्रवणभ्रान्ति से "**और**" लिखा प्रतीत होता है। उसी का अनुकरण बाद में किया है। युमी में संशोधित है। अन्य सभी सं० में अशुद्ध पाठ है। उदयपुर सं० में "**अर्थात्**" पद लुप्त कर दिया है जो अनुचित है।

६,७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**चार**' अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है। इसी प्रकार आगे "**चारों वेद**" के स्थान पर "**चारों वेदों**" शुद्ध प्रयोग होगा। **संशोधन-पुष्टि**—तीन पंक्ति पूर्व और तीन पंक्ति आगे "**चारों**" शुद्ध प्रयोग है।

इस सभा में चारों वेदों[७] [के तीन विद्वान्[१], '**हैतुकः**'=कारण-अकारण का ज्ञाता][२], 'न्यायशास्त्र', 'निरुक्त', 'धर्मशास्त्र' आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, [और तीन आश्रमी हों][३] परन्तु वे ब्रह्मचारी[४], गृहस्थ और वानप्रस्थ हों। तब वह सभा [कहाती है][५] कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहियें॥ ३॥

और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के जाननेवाले तीन सभासद् होके [धर्म=कानूनसम्बन्धी][६] व्यवस्था करें, उस सभा की निर्णय की हुई व्यवस्था का[७] भी कोई उल्लङ्घन न करे॥ ४॥

यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा द्विजों में उत्तम संन्यासी[८] जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है, किन्तु अज्ञानियों के सहस्त्रों, लाखों और करोड़ों [मनुष्य भी][९] मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिये॥ ५॥

जो ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि-व्रत और '**वेदविद्या**' वा विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्त्तमान

---

१. **त्रुटित एवं अपपाठ से असंगति**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**चारों वेदों के तीन विद्वान्**" पाठ त्रुटित है। यह पाठ परिवर्धित करना अनिवार्य है, अन्यथा सभासदों की दश संख्या नहीं बनेगी; ग्यारह या बारह जोड़ बनेगा। **संशोधन-पुष्टि**—पूर्व श्लोक और बाद वाले श्लोक का अर्थ द्रष्टव्य है, उनमें वेदों के तीन विद्वानों का ग्रहण किया है। 'संस्कारविधि' से भी प्रस्तावित अर्थ की पुष्टि होती है। वहां यही अर्थ ग्रन्थकार ने ग्रहण किया है—"**तीन, वेदों के विद्वान्, चौथा हेतुक....**" (गृहाश्रमप्रकरण)। आगे पृ० २५९/७ में स्पष्ट पोषक पाठ है—'**चारों वेदों की तीनों विद्याओं को जानने वाले.....सभासद् वा सभापति हों।**' अर्थ की यह असंगति वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी संस्करणों में विद्यमान है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**हेतुकः**" पद का अर्थ त्रुटित है। यहां ऋषि के ही शब्द "**संस्कारविधि**" (गृहस्थ प्रकरण) के श्लोकार्थ से दे दिये हैं। युमी में परिवर्धित पाठ है, वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**त्रयश्चाश्रमिणः**" का अर्थ त्रुटित रह गया है, "**परन्तु**" प्रयोग के सम्बन्ध से यह ज्ञात होता है। वह बृहत्कोष्ठक में दे दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह अर्थ त्रुटित है।

४. **ब्रह्मचर्याश्रमी का धर्मसभा में प्रतिनिधित्व**—जैसा कि अर्थ में वर्णित भी है, धर्मसभा में ब्रह्मचर्य-आश्रम का प्रतिनिधित्व करने वाला ब्रह्मचारी विद्यार्थी नहीं होगा अपितु वह होगा जो वेदादि शास्त्रों का स्नातक होकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रतधारण पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है, यह संकेत पूर्व के "**विद्वान्**", "**वेत्ता**" पदों से प्राप्त है। वही विद्वान् और अनुभवी ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यकताओं, समस्याओं, नियमों को समझ सकता है और परामर्श दे सकता है। विद्यार्थी तो अध्ययन-काल में बालक और अनुभव रहित होता है।

५-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**कहाती है**' बृहत्कोष्ठकान्तर्गत क्रिया त्रुटित है। बिना क्रिया के वाक्य नहीं बन रहा है। इसी प्रकार श्लोकोक्तपद "**धर्मसंशयनिर्णये**" का अर्थ भी दोनों हस्त० और तीनों सं० में त्रुटित है। उसके बिना यह अर्थ स्पष्ट नहीं होता कि किसकी व्यवस्था करें। अतः कोष्ठकान्तर्गत "**धर्मसम्बन्धी**" पाठ-परिवर्धन आवश्यक है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित व अपपाठ**—मूलह० में प्राप्त "**निर्णय**" पद मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया है, जो द्विप्र० तथा सभी सं० में त्रुटित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**व्यवस्था को.....उल्लंघन न करे**" अपपाठ है, '**को**' के स्थान पर '**का**' का प्रयोग अपेक्षित है। सभी सं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० २५०/६-७ में "**व्यवस्था का पालन**" शुद्ध प्रयोग।

८. **द्विजोत्तम का अर्थ और उसके ग्रहण का आधार**—तीन द्विज वर्णों में सर्वोच्च ब्राह्मण होता है और द्विजों द्वारा धारण किये जाने वाले चारों आश्रमों में सर्वोत्तम संन्यास होता है। अतः '**द्विजोत्तम**' के '**संन्यासी**' और '**सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण**' दोनों ही अर्थ सही हैं। महर्षि मानते हैं कि आजीविकारहित, स्वतन्त्र और पक्षपातरहित होने से संन्यासी सर्वोपरि धर्मनियन्ता है—"**जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है**" (पंचम समु० पृ० २४४/३)। वह धर्म-सभा का सदस्य नहीं होता। जब कभी धर्मसभा का गठन-आयोजन न हो पाये, अथवा धर्मसभा निर्णय न कर पाये, अथवा धर्मसभा का निर्णय उचित न हो, तो पक्षपातरहित सर्वोच्च वेदवेत्ता विद्वान् अकेले संन्यासी का निर्णय भी स्वीकार्य होता है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद एवं अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**करोड़ों**" के बाद उद्देश्य या कर्त्ता-बोधक पद त्रुटित है। वह कोष्ठकान्तर्गत दे दिया है। आगे छठे श्लोकार्थ में "**सहस्त्रों मनुष्यों**" पठित है, वैसे ही "**मनुष्य**" पाठ यहां भी अपेक्षित है। आगे

हैं, उन सहस्त्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती॥ ६॥

[१]अविद्यायुक्त=मूर्ख, वेदों के न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्म को कहैं, उसको कभी न मानना चाहिये; क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं तो उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं॥ ७॥

इसलिये तीनों [सभाओं] अर्थात् **विद्यासभा, धर्मसभा** और **राजसभा** में मूर्खों की[२] कभी भरती न करें; किन्तु **सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें।** और सब लोग ऐसे हों[३]—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।[४]
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः॥ १॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ २॥
दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ ३॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥ ४॥
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ ५॥
पैशुन्यं[५] साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥ ७॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।[६]
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥ ८॥

''**क्रोड़ों**'' नहीं, ''**करोड़ों**'' वर्तनी शुद्ध होगी। द्र०, टिप्पणी पृ०२५७ पर। द्विप्र० में ''**सहस्त्रों**'' अपवर्तनी है।

१. **अनावश्यक अधिक पद**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में श्लोकार्थ से पूर्व ''**जो**'' अनावश्यक पद है। मूलप्रति सं० में हटा दिया है।

२. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करें।**'' यहां बहुवचन ''**तीनों**'' पद के साथ ''**सभाओं**'' पद अपेक्षित है। ''**मूर्खों को**'' के स्थान पर ''**मूर्खों की**'' शुद्ध प्रयोग है। संशोधित वाक्य मूलपाठ में है। वेस, जग, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है। **मूर्ख**=विद्या और ज्ञान से रहित, अशिक्षित।

३. **त्रुटित क्रिया**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**हों**'' क्रिया त्रुटित है। युमी को छोड़कर अन्य सभी सं० में त्रुटित अपवाक्य है।

४-५. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—द्विप्र० में ''**शास्वतीम्**'' अपपाठ है। दोनों हस्त० में दोनों अयोग्य लिपिकरों ने ''**पैशून्यम्**'' अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधन किया हुआ है।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-उद्धरण पाठ**—मूलहस्त० में पाठ शुद्ध है। मुद्रणलिपिकर ने उसको ''**यथाक्रम्**'' अशुद्ध बना दिया। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। अब द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥ ९॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।[१]
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद् व्यसनमात्मवान्॥ १०॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी[२] मृतः॥ ११॥

मनु० [७।४३-५३]॥

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब चारों वेदों की '**कर्म-उपासना-ज्ञान-विद्याओं**' के जाननेवालों से तीनों विद्यायें,[३] सनातन '**दण्डनीति**', '**न्यायविद्या**', '**आत्मविद्या**' अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव-स्वरूप को यथावत् जाननेरूप '**ब्रह्मविद्या**' और लोक से '**वार्ताओं का आरम्भ=कहना और पूछना**' सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें॥ १॥

सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतके[४] अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे-हटाये रहें।[५] इसलिये रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहैं। क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों [और] जो मन, प्राण और शरीर [रूप][६] प्रजा है, इसको जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापित करने में[७] समर्थ कभी नहीं हो सकता॥ २॥

दृढ़ोत्साही होकर जो काम से दश और क्रोध से आठ दुष्ट व्यसन कि जिनमें फसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे॥ ३॥

क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फसता है, वह अर्थ अर्थात् राज्य-धनादि और धर्म से रहित हो जाता है। और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है॥ ४॥

---

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों लिपिकरों ने "**अनुसङ्गिणः**" अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है।

२. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने "**अवसनी**" अपवर्तनी लिखी है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तीनों विद्या**" पाठ में बहुवचन अपेक्षित है, जैसे पूर्व पंक्ति में "**चारों वेदों**" है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**इन्द्रियों को जीतने**" अपपाठ है। युमी, विस में शुद्ध है। वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां "**अधर्म से हठे-हठाये रहें**" अपपाठ है। हिन्दी में कोई '**हठ**' धातु '**हटने**' अर्थ में नहीं है। ऋषि-ग्रन्थों में कहीं '**हठे**' प्रयोग है, तो कहीं '**हटे**'। इस प्रयोग से यह विपरीत अर्थबोध हो रहा है कि '**अधर्म से जुड़े रहें या उसके लिए हठ बनाये रखें और दूसरों से हठ करायें।**' जो भी कोई व्यक्ति इन प्रयोगों के औचित्य के लिए आग्रह करता है वह निश्चय ही अशुद्धि के लिए '**हठें-हठायें**' करता है। द्वि०सं०, मूलसं० में कहीं इस अपवर्तनी को शुद्ध कर दिया, कहीं अशुद्ध छोड़ दिया है। द्र० मूलसं० में पृ० 'अं' पर तीसरी पंक्ति में "**हटते**" और द्वि०सं० में पृ० २३/१४ पर। 'संस्कारविधि' आदि अन्य ग्रन्थों में शुद्ध "**हटे हटाने**" प्रयोग हैं (पृ० ३१८)। यही बुरा हाल अन्य सभी विद्वानों के संस्करणों का है। वेस, जग, भद में संशोधित पाठ है, युमी, उदयपुर सं० में असंशोधित है। (टिप्पणी पृ० १० पर देखिए)

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**रूप**' पद त्रुटित है। यहां रूपक-प्रयोग होने से '**रूप**' पद आवश्यक है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अपने वश में स्थापन करने को समर्थ**" अपपाठ है, "**स्थापित करने में समर्थ**" पाठ अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

काम से उत्पन्न हुए व्यसन[१]—मृगया खेलना; '**अक्षः**'=द्यूत अर्थात् जुआ, चौपड़ खेलना आदि[२]; दिन में सोना; काम-कथा वा दूसरे की निन्दा किया करना; स्त्रियों का अति सङ्ग; मादकद्रव्य=मद्य, अफीम, भाँग, गांजा, चरस[३] आदि का सेवन; गाना-बजाना-नाचना=नाच करना वा करवाना और[४] सुनना-देखना; वृथा इधर-उधर घूमते फिरना[५], ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं॥ ५॥

क्रोध से उत्पन्न व्यसन[६]—'**पैशुन्यम्**'[७] अर्थात् चुग़ली करना; [**साहसम्**=] बलात्कार=किसी की स्त्री से बलात् बुरा काम करना;[८] [**द्रोहः**=] द्रोह रखना; '**ईर्ष्या**' अर्थात् दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देख-

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इस शीर्षक में व्यर्थ पाठान्तर मिलता है—''**काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं देखो।**'' इसी प्रकार ''**मृगया खेलना**'' का ''**सिकार खेलना**'' व्यर्थ पाठान्तर है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां तक के वाक्य का अस्त-व्यस्त पाठ है। '**जुआ**' के स्थान पर ''**जुवा**'' वर्तनी है, जबकि आगे सात दुर्गुणों की गणना में ''**जुआ**'' सही वर्तनी है। श्लोक में ''**अक्षः**'' पद है जबकि पदार्थ में ''**द्यूत**'' दिखाया हुआ है। इसी प्रकार पूर्व वाक्यों में ''**मृगया करना**'' प्रयोग है जबकि आगे उसी स्थल पर ''**मृगया खेलना**'' प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस अव्यवस्था को दूर करके उपर्युक्त पाठ बनाया है, जो ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**गांजा**'' के बाद ''**चरस**'' पद बढ़ाया गया है। यह ग्राह्य है।

४. **उपयुक्त पद तथा पदार्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वा**'' के स्थान पर ''**और**'' योजक पद उपयुक्त है। ''**तौर्यत्रिकम्**'' का अभिप्राय है—'**गाने के साथ बजाना और नाचना**' इन तीनों की एकत्र क्रिया।

५. **मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसके स्थान पर ''**घूमते रहना**'' पाठ बदला है। अर्थ में वैशिष्ट्य नहीं है, अतः पाठान्तर व्यर्थ है। मूलह० में यह मुहावरा है जो सटीक और अधिक प्रभावी है।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस शीर्षक के स्थान पर पाठान्तर किया है—''**क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं**''। परिवर्तन का कोई विशेष कारण नहीं है, अतः अवांछनीय परिवर्तन है।

७. **अप-उद्धरण पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने ''**पैशून्यम्**'' अपवर्तनी लिखी है, वही द्विप्र० में छपी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य का अपपाठ है—''**बिना विचारे बलात्कार से किसी की स्त्री से बुरा काम करना**''। प्रश्न उठता है कि क्या विचारकर बलात्कार करना बुरा काम नहीं होता? इसका शुद्ध पाठ बनाना आवश्यक था, जो उपर्युक्त है। **संशोधन-पुष्टि**—(साहसम्) ''**किसी काम को बलात्कार से करना**'' (समु० ६, पृ० २९९) यहां शुद्ध है। तथा ''**जितने बलात्कार काम**'' (समु० ६, पृ० ३०२), ''**साहस=बलात्कार काम करनेवाला**'' (समु ६, पृ० ३१०) शुद्ध प्रयोग हैं। यहां 'बिना विचारे' शब्द-प्रयोग कहीं नहीं है। सब कथनों में 'बलात् किया जाना' कर्म अर्थ का आधार है।

उदयपुर सं० की ओर से अयुक्तियुक्त उत्तर—एक लेख के द्वारा इस अपपाठ की ओर ध्यान आकर्षित करने पर उदयपुर संस्करण के लेखकों ने प्रचलित अशुद्ध पाठ की शुद्धता के पक्ष में बड़ा विचित्र तर्क दिया है। **पहला लेखक** इसका उत्तर नहीं दे सका। **दूसरे लेखक** ने संशोधन के प्रस्ताव को अज्ञानवशात् ''व्यर्थ बकवास'' लिखा और तर्क दिया कि ''साहस तो वही होता है जो बिना विचारे सहसा किया जाये।'' इनको साहस प्रासंगिक अर्थ ध्यान नहीं आया। **तीसरे लेखक** ने तालिका के प्रदर्शन द्वारा यह प्रदर्शित किया कि सभी सम्पादकों ने इस पाठ को माना है। इस लेखक ने पाठ-संशोधन के सुझाव को 'शरारतपूर्ण' कहा है। इनका यह कथन 'बिना विचारे' है, क्योंकि इस संशोधन-सुझाव से 'शरारत' का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यदि संशोधन का सुझाव '**शरारत**' है तो इस लेखक ने तो उदयपुर संस्करण में २००० संशोधन करके २००० शरारतें की हैं। **चौथे लेखक** मेरे कथन का खण्डन करने चले थे, परन्तु एक पृष्ठ काला करने के बाद भी मेरा मण्डन ही हो गया। कारण कि उन्होंने 'साहस' के जो 'डाका' आदि अर्थवाले चार प्रमाण दिये हैं उनमें 'बिना विचारे' पदों का कहीं भी प्रयोग नहीं है। ये लेखक कहते हैं कि क्रोधज होने के कारण साहस में बुद्धि की विचार शक्ति नहीं रहती, अतः यह वाक्य ठीक है। यों तो काम, लोभ में भी विचार नहीं रहता, फिर तो सभी काम 'विचाररहित' हैं। ईर्ष्या-द्वेष भी क्रोधज दोष हैं किन्तु हम देखते हैं ईर्ष्या-द्वेष के जीवित पुतले होते हुए भी यह लेखक व अन्य कुछ लोग मंचों पर वेद का उपदेश देते हैं, इसका मतलब है कि उनके वे सभी उपदेश 'विचार रहित' हैं? सत्य यह है कि डाका, बलात्कार लूट आदि कार्य पूर्व विचार और योजनापूर्वक किये जाते हैं, 'बिना विचारे' नहीं। इन चारों लेखकों को 'साहस' के अर्थ का ज्ञान नहीं है। इन्हें अग्रिम प्रमाण से वह जान लेना चाहिए।

वस्तुतः यहां साहस का अर्थ है—जो कार्य सहसा अर्थात् बलात्=बलपूर्वक, जोर-जबरदस्ती करके किया जाये। 'सहस्' का अर्थ है 'बल'। मनुस्मृति में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—''**स्यात् साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्**'' (८.३३२)=पदार्थ

सुन जला करना;[१] **असूया**=दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना; '**अर्थदूषणम्**'[२] अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना; [**वाग्दण्डजम्**=][३] कठोर वचन बोलना [च][४] और [**पारुष्यम्**=][५] विना अपराध करड़ा वा अधिक दण्ड देना;[६] [**क्रोधजः०**] ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं॥ ६ ॥

जिसे[७] सब विद्वान् लोग कामजों[८] और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े॥ ७ ॥

कामज व्यसनों[९] में बड़े दुर्गुण—एक—मद्यादि मादक द्रव्यों का सेवन[१०]; दूसरा—पासों से जुआ खेलना आदि[११]; तीसरा—स्त्रियों का विशेष सङ्ग; चौथा— मृगया खेलना[१२]; ये चार महादुष्ट व्यसन हैं और कामजों में अत्यन्त दुःखदायक दोष हैं[१३]॥ ८ ॥

और क्रोधजों में[१४]—विना अपराध दण्ड देना[१५], कठोर वचन बोलना और धनादि का अन्याय में खर्च करना, ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं॥ ९ ॥

के स्वामी के सामने ही जोर-जबरदस्ती से जो कार्य डाका, बलात्कार, अपहरण, लूट-खसोट आदि किये जाते हैं, वे 'साहस' कहाते हैं। यहां 'विचार' कार्य का आधार नहीं है, अपितु 'बलात्' है, जोर-जबरदस्ती या अत्याचार है। इस कारण इस सं० में प्रस्तावित संशोधन आवश्यक है। नहीं तो इस वाक्यरचना में '**बिना विचारे**' और '**विचारपूर्वक**' का प्रश्न उठता ही रहेगा।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**उन्नति देख कर जला करना**" पाठ है। "**सुन**" पद त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० के उक्त पाठ में अर्थव्यापकता है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

२-५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पदार्थ के रूप में श्लोकोक्त पदों की वर्तनियों "**अर्थदूषणम्**" "**वाग्दण्डजम्**" "**च**" और "**पारुष्यम्**" "**क्रोधजः०**" के शुद्ध पाठ और बृहत्कोष्ठकान्तर्गत पदांकन अपेक्षित हैं। सभी सं० में अशुद्ध हैं।

६. **मुद्रण लिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—यहां "**करड़ा**" के स्थान पर द्विप्र० और द्वि०सं० में '**कड़ा**' परिवर्तन किया है ग्रन्थ में कहीं "**कड़ा**" तो कहीं '**करड़ा**' ही प्राप्त है। एकरूपता व मानकता के लिए ग्रन्थकार का "**करड़ा**" प्रयोग ग्रहण किया है। (द्र० टि०पृ० २५३, ३११ पर)। आगे "**अधिक दण्ड**" के स्थान पर "**विशेष दण्ड**" व्यर्थ व अशुद्ध परिवर्तन है। 'विशेष' का 'अधिक' अर्थ नहीं होता।

७-८. **अपप्रयोग**—श्लोकार्थ के आरम्भ में मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**जो**" अपप्रयोग है, मूलप्रति सं० में "**जिसे**" शुद्ध है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**कामज**' एकवचन में अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—"**कामज व्यसनों**" मूलह० में सुन्दर पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने "**काम के व्यसनों**" करके अच्छे-भले पाठ को बिगाड़ दिया। द्विप्र० तथा सभी द्वि०सं० में यही शिथिल पाठ है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां "**मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन**" वैशिष्ट्य रहित अनावश्यक पाठान्तर है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ पूर्ण, अति स्पष्ट और ग्राह्य है।

११. **उचित पाठसंशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकार्थ ५ में स्वीकृत अर्थव्यापकता की दृष्टि से यहां "**पासों आदि से जुआ खेलना**" के स्थान पर इस सं० का "**पासों से जुआ खेलना आदि**" पाठ अधिक सटीक है।

१२. **उचित संशोधन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**मृगया खेलना**" संशोधन किया है, जो ग्राह्य है। मूलसं० में श्लोकार्थ ५ और ८ में "**मृगया करना**" तथा श्लोकार्थ १० में "**मृगया खेलना**" अव्यवस्थित पाठ हैं। दोनों हस्त० में "**शिकार खेलना**" पाठ है।

१३. **मुद्रण-लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणहस्त० में यहां "**और कामजों में अत्यन्त दुःखदायक दोष हैं**" वाक्य त्रुटित है। यह मुद्रणप्रति के लिपिकर से त्रुटित रहा है। सभी द्वि०सं० में वही छपता चला आ रहा है। द्विप्र० में भी त्रुटित हैं। मूलह० मूलसं० में है। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित मिलता है।

१४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठ में अपपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने यहां "**और कामजों में बिना अपराध दण्ड देना....**" अपपाठ लिखा है और वही द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

१५. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**विना अपराध दण्ड देना**" सरल पाठ बनाया है जो ग्राह्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० में "**दण्ड का निपातन**" परिवर्तन योग्य पाठ है।

जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में से[१] गिने हैं, इनमें[२] से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना[३], इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जुआ अर्थात् द्यूत खेलना[४] और इससे भी **मद्यादि सेवन करना बड़ा भारी दुष्ट व्यसन है॥** १० ॥

इसमें यह निश्चय है कि **दुष्ट व्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है;** क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है, यदि वह अधिक जीयेगा[५] तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति[६] अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायगा और जो किसी व्यसन में नहीं फसा, वह मर भी जायगा तो भी सुख को प्राप्त होगा[७]। इसलिये विशेषतः[८] राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फसें और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर, धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके[९] अच्छे-अच्छे काम किया करें॥ ११ ॥

राजसभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहियें—

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्ष्यान्कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान्[१०]॥ १॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्नु[११] राज्यं महोदयम्॥ २॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ ३॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥ ४॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ५॥

---

१. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में उपर्युक्त वाक्य है "**दोषों में से गिने हैं**"। द्विप्र० में "**दोषों में गिने हैं**" यह वाक्य त्रुटित है।

२. **अप-संशोधन**—द्वि०सं० में, मूलप्रति सं० के "**इनमें से**" के स्थान पर "**इनसे**" अपूर्ण और अपपाठ है।

३-४. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में श्लोकार्थ ५ और ८ में "**मृगया करना**" पाठ है। यहां उपर्युक्त पाठ उपयुक्त है। चार संख्यांक पर मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**द्यूत करना**" अपपाठ है। पिछले पाठों के समान "**खेलना**" शुद्ध है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जियेगा**" अपवर्तनी है, "**जीयेगा**" शुद्ध है।

६. **नीच-नीच गति**=निम्न से निम्न गति अर्थात् दुखित स्थिति।

७. **अप क्रियाप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**होता है**" अप-क्रियाप्रयोग है, मुद्रणहस्त० में लिपिकर ने बिना विचारे और अधिक अपप्रयोग यह किया है—"**होता जायगा**"। द्विप्र० द्वि०सं० में यही अपपाठ है। उपर्युक्त प्रयोग ठीक है।

८,१०,११. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः, "**विशेष**", "**किन्तु**" और "**परीक्षितान्**" अपपाठ हैं, इनके स्थान पर मूलग्रन्थ के अनुसार "**विशेषतः**" और "**किन्नु**" शुद्ध हैं। वेस, जग, युमी में संशोधित हैं; भद, उदयपुर सं० में अशुद्ध हैं। **संशोधन-पुष्टि**—इसी पृष्ठ पर श्लोक दो में "**विशेषतः**" शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है, जो सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनुकरणीय है। श्लोक पांच में "**सुपरीक्षितान्**" पाठ द्रष्टव्य है। हिन्दी में अर्थ भी इसी पद का है।

९. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**और दुष्ट व्यसनों.....सदा वर्तके**" ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित पाठ है।

निवर्त्तेतास्य यावद्धिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ ६ ॥[१]
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥ ७॥
दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ ८॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥ ९॥

मनु० ७। [५४-५७, ६०-६४]॥

स्वराज्य=स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जाननेहारे[२], शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, और कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित[३], सात वा आठ उत्तम, धार्मिक, चतुर '**सचिवान्**' अर्थात् मन्त्रियों को करे[४]॥ १॥

क्योंकि विशेषकर[५], सहायक के विना, जो सुगम कर्म है वह भी, एक के करने में कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान् राज्यकर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिये **[किसी][६] एक को राजा [बनाना][७] और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य को[८] निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है॥ २॥**

इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ, सामान्य करके किसी से **(सन्धिम्)** मित्रता, किसी से **(विग्रहम्)** विरोध, **(स्थानम्)** स्थिति[९]=समय को देखके चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, **(समुदयम्)** जब अपना उदय अर्थात्

---

१. **मुद्रणलिपिकर की त्रुटि व ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणलिपिकर ने यह श्लोक-पंक्ति छोड़ दी थी, ऋषि ने इसको पूर्ण किया है।

२. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**जाननेहारे**" का "**जाननेवाले**" व्यर्थ पाठान्तर है।

३. **मुद्रणलिपिकर कृत पुनरुक्तिपूर्ण भ्रष्ट-परिवर्तन**—मुद्रणह० में पुनरुक्तिपूर्ण पाठान्तर कर पाठ को बिगाड़ दिया है—"**अच्छे प्रकार सुपरीक्षित**"। "अच्छे प्रकार" और "**सुपरीक्षित**" दोनों का एक ही अर्थ है। मूलह० मूलसं० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग देखिए पृ० २६४/६ में—"**सुपरीक्षित मन्त्री करे।**" द्विप्र० में यही भ्रष्ट पाठ है। यही द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सचिवान् अर्थात् मन्त्री करे**", अपप्रयोग है। यहां "**सात वा आठ**" तथा "**सचिवान्**" पदों के सम्बन्ध से बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है—"**मन्त्रियों को करे**"।

५. **मुद्रणकालीन अप-परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह० मूलप्रति सं० के "**विशेषकर सहाय के बिना**" उचित पाठ को द्विप्र० में किसी शोधक ने "**विशेष सहाय के बिना**" पाठ बनाकर अपपरिवर्तन किया है। यह '**असहाय**' अर्थात् '**सहायक-रहित**' का विशेषण है। अभिप्राय यह है कि विशेषकर जो सुगम कार्य एक के भी करने में कठिन होता है तो राज्य जैसा महान् कार्य एक अर्थात् बिना सहायक के कैसे किया जा सकता है? "**विशेष**" भी अपप्रयोग है। श्लोक में "**विशेषतः**" पाठ है, जिसका अर्थ 'विशेषकर' होता है। द्विप्र०, द्वि०सं० में यही अशुद्ध पाठ है। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

६-७. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**किसी**' और '**बनाना**' पद त्रुटित हैं। '**किसी**' पद के बिना उपयुक्त वाक्य नहीं बनता जबकि क्रिया के बिना अर्थवान् पूर्ण वाक्य नहीं बनता।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कार्य का निर्भर**" अपप्रयोग है। यहां "**को**" विभक्ति-प्रत्यय उचित है। वेस, भद, युमी, विस, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

९. **अपप्रयोग और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**स्थित**" अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित '**स्थिति**' है।

वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, (**गुप्तिम्**) मूल राज्य, सेना,[१] कोश आदि की रक्षा, (**लब्ध-प्रशमनानि**) जो-जो देश प्राप्त हो, उस-उसमें शान्तिस्थापन=उपद्रवरहित करना, इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे॥ ३ ॥

विचार ऐसे[२] करना कि उन सभासदों के अपने-अपने विचारों[३] और अभिप्राय को पृथक्-पृथक् सुनकर, बहुपक्षानुसार, कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो, वह करने लगना॥ ४ ॥

अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे॥ ५ ॥

जितने मनुष्यों से राज्यकार्य[४] सिद्ध हो सके, उतने आलस्यरहित, बलवान् और बड़े[५] चतुर, प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर रक्खे॥ ६ ॥

इनके आधीन शूरवीर, बलवान्, कुलोत्पन्न, पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में नियुक्त करे और भीरु=डरपुकनों[६] को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे[७]॥ ७ ॥

प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय [की][८] और भविष्यत् में होनेवाली बात को जाननेहारे, सब शास्त्रों में विशारद=चतुर '**दूत**' को[९] भी रक्खे॥ ८ ॥

---

१. **लिपिकर-शोधककृत अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० में बिना विरामचिह्न के यह पाठ है—''**मूलराज सेना**''। इसको द्विप्र० में ''**मूल राज सेना**'' छापा। द्वि० सं० में किसी शोधक ने भ्रान्ति से दो विभागों को एक बनाकर ''**मूल राजसेना**'' अपपाठ बना दिया है। प्रश्न उठता है कि 'मूल राजसेना' क्या होती है ? यह निरर्थक प्रयोग है। वस्तुतः ये दो विभाग हैं—**मूलराज्य और सेना।** मूलप्रति सं० का उपर्युक्त पाठ ग्राह्य है। मूलसं० में विरामचिह्नों का प्रयोग करके पाठ को स्पष्ट बना दिया है।

विद्वानों की अशुद्धि परम्परा—किसी पाठ पर गम्भीर विचार न करने का दुष्परिणाम यह होता है कि वह अशुद्धि निरन्तर बनी रहती है। स्वामी वेदानन्द, पं० भगवद्दत्त और पं० मीमांसक सं०, स्वामी विद्यानन्द सं०, पं० सिद्धान्ती सं०, स्वामी जगदीश्वरानन्द सं० में यह अशुद्ध पाठ विद्यमान है—''**मूल राजसेना**'' इसका कोई अर्थ नहीं है।

२. **अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**विचार से करना**'' अपपाठ है। मुद्रणह०, मूलप्रति सं० का उपर्युक्त पाठ शुद्ध है। मूलह० में ''**कैसे**'' पद है। प्रतीत होता है यह श्रवणभ्रान्ति से लिखा गया है। युमी, उदयपुर सं० में संशोधित है; वेस, भद में अशुद्ध पाठ है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य है—''**सभासदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को**''। मूलप्रति सं० में वाक्य ठीक है किन्तु '**विचार**' बहुवचनान्त चाहिए और ''**पृथक्-पृथक्**'' अस्थान में हैं। उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**राज्य**'' पद त्रुटित रह गया है। दोनों हस्त० और मूलप्रति सं० में ''**राज्यकार्य**'' उपर्युक्त पद है। वेस, जग, भद, युमी में गृहीत है; उदयपुर सं० में त्रुटित है।

५. **अपसंशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**बड़े-बड़े**'' अपप्रयोग है। '**बड़े**' एक विशेषण ही उचित है। मूलह०, में शुद्ध हैं।

६. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र० में, फिर द्वि०सं० में ''**डरपुकनों**'' विशेषण के स्थान पर ''**डरने वालों**'' शिथिल पाठ है। शोधक द्वारा या तो यह परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए था अथवा '**डरपोकों**' उचित पर्याय देना था। '**डरपुकनों**' गुजराती का प्रयोग है जो '**अति-डरपोक**' यही अर्थ देता है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में सही पाठ है।

७. **श्लोकार्थ**—पूर्वोक्त उन सचिवों में से शूरवीर, चतुर, कुलपरम्परा से कार्यरत, अर्थशुचि=धन की हेराफेरी-चोरी न करने वाले और लोभरहित सचिवों को सोने आदि की खानों और भण्डारों-खजानों के प्रबन्ध में लगाये। जो डरपोक स्वभाव के हों उनको किले और महल के अन्दर के प्रबन्ध में लगाये (शूरवीर को इस कारण अन्दर नहीं लगाया जाता कि उससे राजा और उसके परिजनों की हत्या की आशंका बनी रहती है)॥ ७॥

८. **द्विप्र० में अधिक और त्रुटित आवश्यक पद**—द्विप्र० में श्लोकारम्भ में ''**जो**'' पद अनावश्यक एवं अधिक छपा है, जो दोनों हस्त० में नहीं है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**की**' पद त्रुटित है। इसके बिना वाक्य की संगति नहीं बनती।

९. **मुद्रणकाल में ऋषिहस्तलेख में व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र०, द्वि०सं० में व्यर्थ पाठान्तर करके ''**चतुर है, उस दूत को**'' पाठ बनाया

वह ऐसा हो कि राज्यकार्य[१] में अत्यन्त उत्साह-प्रीतियुक्त, निष्कपटी=पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलनेवाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो, वही राजा का 'दूत' होने में प्रशस्त है॥ ९॥

किस-किस को क्या-क्या अधिकार देवे[२]—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ॥ १॥
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः[३]॥ २॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्॥ ३॥
धन्वदुर्ग[४] महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ ४॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते॥ ५॥
तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन[५] च॥ ६॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम्॥ ७॥
तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्॥ ८॥

है। ऋषिहस्तलेख में लिखित मूलह० का पाठ स्पष्ट है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**राजकाम**" पद है, यह शिथिल और अनुपयुक्त प्रयोग है। यहां पारिभाषिक पद "**राज्यकार्य**" उपयुक्त है, जो एक पारिभाषिक शब्द है और सटीक अर्थ देता है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां "**अधिकार देना योग्य है**" व्यर्थ पाठान्तर है।

३. **भ्रष्ट-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**वा न वा**" अशुद्ध और निरर्थक पाठ है, "**मानवाः**" मूल ग्रन्थानुसार शुद्ध है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने लिपिकरकृत इस भूल को उचित सिद्ध करने के लिए टिप्पणी में व्यर्थ श्रम किया है।

४. **भ्रष्ट-उद्धरण पाठ**—मनुस्मृति में सर्वस्वीकृत पाठ "**धन्वदुर्गम्**" है जिसका अर्थ है—'**मरुस्थल में बना दुर्ग।**' लिपिकर की भ्रान्ति से अशुद्ध पाठ संकलित होने के कारण से यहां तीनों सं० में "**धनुर्दुर्गम्**" पाठ प्रयुक्त हो गया है और इसी का अर्थ अंकित है। यहां '**धनुर्दुर्ग**' पाठ उपयुक्त नहीं है क्योंकि श्लोक में '**नृदुर्गम्**' में उसकी ही पुनरुक्ति हो जाती है जबकि ये पृथक्-पृथक् विशेषताओं वाले छह दुर्ग वर्णित हैं। आचार्य कौटिल्य भी "**धान्वन**" दुर्ग का ही उल्लेख करता है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यही भ्रष्ट पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही भ्रष्टपाठ है। किसी सम्पादक ने इस भ्रष्टपाठ पर ध्यान नहीं दिया। खेद की बात है कि सवा-सौ वर्षों से लिपिकरकृत यह भ्रष्टपाठ प्रचलित है।

५. **मुद्रणकालीन अप-उद्धरण पाठ**—द्विप्र० में "**यवयवसेन**" छन्दोभंग होने के कारण अपपाठ है। पूर्व पंक्ति में "**धनधारयेन**" अपमुद्रण है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

पुरोहितं प्रकुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः[१]।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्य्युर्वैतानिकानि च॥ ९॥

—मनु० [७।६५-६६, ६८, ७०, ७४-७८]॥

अमात्य को दण्डाधिकार, दण्ड में विनय-क्रिया[२] अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे, राजा के आधीन कोश और राज्यकार्य, तथा सभा के आधीन सब कार्य और दूत के आधीन किसी से मेल वा विरोध करने का[३] अधिकार देवे॥ १॥

दूत उसको कहते हैं कि[४] जो फूट में मेल और मिले हुए शत्रुओं[५] को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े॥ २॥

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानके वैसा प्रयत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो॥ ३॥

इसके लिये सुन्दर जङ्गल, धन-धान्ययुक्त देश में **(धन्वदुर्गम्)** मरुभूमि में निर्मित[६] **(महीदुर्गम्)**[७] मट्टी से किया हुआ[८] **(अब्दुर्गम्)** जल से घेरा हुआ **(वार्क्षम्)** अर्थात् चारों ओर वन [और] **(नृदुर्गम्)** चारों ओर सेना रहे [वैसा] **(गिरिदुर्गम्)**[९] अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में **दुर्गम्**=कोट बनाके इसके मध्य में नगर बनावे॥ ४॥

और नगर के चारों ओर **प्राकार**=प्रकोट बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी, शस्त्रयुक्त पुरुष सौ के साथ [युद्ध कर सकता है][१०] और सौ, दश हजार के साथ युद्ध कर सकते हैं, इसलिये दुर्ग का बनाना उत्तम है[११]॥ ५॥

---

१. **अशुद्ध-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**चर्त्विजम्**" अशुद्ध पाठ है, "**चर्त्विजः**" शुद्ध है।

२. **विनय क्रिया**—राजनीति में 'विनय' का अर्थ है—स्वानुशासन और राजनीतिक नियमों का पालन, प्रजा का अनुशासन। नियमों की मर्यादा में चलने का नाम 'विनयक्रिया' है। राजनीति में 'विनय' का अर्थ 'विनम्रता' ग्रहण नहीं होता है।

३,४. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, दोनों सं० में "**विरोध करना अधिकार देवे**" अपवाक्य है। मूलसं०, युमी में संशोधित है। वेस, भद, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है। **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में योजक पद '**कि**' त्रुटित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**दुष्टों**" पद अस्पष्टार्थक है। शत्रुओं से सम्बन्धित प्रसंग होने के कारण '**शत्रुओं**' पाठ प्रासंगिक है। दूत द्वारा फूट डालने का लक्ष्य शत्रु ही होता है। **संशोधन-पुष्टि**—अगले वाक्य में "**शत्रुओं**" ठीक पाठ है। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में यही असंगत प्रयोग है।

६. **अपपाठ**—दोनों सं० में यहां लिपिकर के अशुद्ध संकलन के कारण से अपपाठ "**धनुर्दुर्गम्**" उद्धृत होने के कारण उसी का अर्थ है। मनुस्मृति में "**धन्वदुर्गम्**" पाठ है। वही यहां संगत है; क्योंकि '**धनुर्दुर्ग**' और '**नृदुर्ग**' एक प्रकार के ही दुर्ग की पुनरुक्तिमात्र हो जाती है, और '**मरुदुर्गम्**' छूट जाता है। अतः यहां श्लोकपाठ और अर्थ का संशोधन होना परमावश्यक है। दोनों सं० में श्लोकार्थ में यह पाठ उपलब्ध है—"**(धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन**"। द्र०पृ० २६५ की टि०संख्या ४।
ऋषिहस्तलेख में अशुद्ध पाठान्तर—"**इसके लिये**" के स्थान पर द्विप्र० में "**इसलिये**" अशुद्ध और व्यर्थ पाठान्तर है।

७. **लिपिकरकृत अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**महिदुर्ग**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में शुद्ध है।

८. **'महीदुर्गम्' का अर्थ**—'**महीदुर्ग**' का पर्याय '**भूदुर्ग**' भी है। इसका एक अर्थ 'मही=पृथिवी के अन्दर बना दुर्ग' भी होता है। यह 'गुफा' के रूप में भी हो सकता है और तहखाने के समान भूमिगत भी हो सकता है।

९. **पदार्थ में अपवर्तनियां**—मूलहस्त० में पदार्थ कोष्ठक की छहों वर्तनियां मुद्रणहस्त० में "**वार्क्ष**" और द्विप्र० में "**महिदुर्ग**", "**अब्दुर्ग**" "**वार्क्ष**" अशुद्ध हैं। द्वि०सं०, मूलसं० में सब शुद्ध है। अन्य सभी सं० में अपपाठ हैं।

१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित रह गया है। यह अनिवार्य है।

११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ और अपपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में यह व्यर्थ परिवर्तन किया है—"**इसलिये अवश्य**

वह दुर्ग शस्त्रास्त्रों,[१] धन-धान्य, वाहनों,[२] ब्राह्मणों=जो पढ़ाने-उपदेश करनेहारे हों[३], **(शिल्पिभिः)** कारीगरों,[४] यन्त्रों, नाना प्रकार की कलाओं[५], **(यवसेन०)** चारा, घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो॥ ६ ॥

उसके मध्य में जल-वृक्ष-पुष्पादियुक्त,[६] सब प्रकार से रक्षित, सब ऋतुओं में सुखकारक, श्वेतवर्ण, जिसमें सब राजकार्यों[७] का निर्वाह हो, वैसा अपने लिये घर बनवावे[८] ॥ ७ ॥

इतना अर्थात् **ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के,** यहाँ तक राज्यकार्य करके, रूप-गुण=सौन्दर्य युक्त,[९] हृदय को प्रिय, बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न, सुन्दर लक्षणयुक्त, अपने क्षत्रियवर्ण की कन्या जोकि विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में अपने सदृश हो, **उस एक ही स्त्री से विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्या[१०] समझकर दृष्टि से भी न देखे॥** ८ ॥

पुरोहित और ऋत्विजों का स्वीकार इसलिये करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब [धर्मानुष्ठान रूप][११] राजघर के कर्म किया करें, और आप सर्वदा राज्यकार्य में तत्पर रहै अर्थात् **यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है[१२] जो रात-दिन राज्यकार्य में प्रवृत्त रहना और कोई राज्य का काम बिगड़ने न देना॥ ९ ॥**

दुर्ग का बनाना उचित है।'' यह वाक्य-रचना ही अशुद्ध है।

१,२,४,५,७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः ये एकवचनात्मक अपप्रयोग हैं—'**शस्त्रास्त्र, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, कारीगर, यन्त्र, कला, राजकार्य**', इन सबमें बहुवचन का प्रयोग अपेक्षित है, क्योंकि परिपूर्णता बहुतों से ही होती है। दोनों हस्त० में ''**शिल्पि**'' अपवर्तनी लिखी है। सभी सं० में अपप्रयोग हैं।

३. **उचित पाठ-संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां अपपाठ है—''**जो पढ़ानेहारे उपदेशक हों**''। यह अनुपयुक्त पाठ है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में शुद्ध पाठ ग्राह्य है। वही यहां गृहीत है।

६. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में ''**वृक्षपुष्पादिक सब प्रकार से रक्षित**'' अपपाठ है। आगे ''**सुखकारक**'' के स्थान पर ''**मुखकारक**'' मुद्रणदोष है। अब सभी द्वारा संशोधित है।

८. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अपने लिये घर**'' वाक्यांश ''**श्वेतवर्ण**'' पद के बाद अस्थान में है। इसके कारण राजघर की विशेषताओं का क्रम भंग हो रहा है। यह वाक्यांश ''**वैसा**'' पद के बाद विशेषणों के अन्त में आना चाहिए, तभी वाक्य में '**आसत्ति**' नामक भाषागुण आ पायेगा। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्ट पाठ है।

९. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में बिना मतलब के ''**सौन्दर्य रूप गुणयुक्त**'' पाठान्तर किया है।

१०. **अपप्रयोग**—सभी सं० में ''**अगम्य**'' पद-प्रयोग है, स्त्रीलिंग ''**अगम्या**'' शुद्ध है। मूलप्रति सं० का उपर्युक्त पाठ ग्राह्य है।

११. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सटीक अर्थप्राप्ति हेतु बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का होना आवश्यक है।

१२. **राजा का संध्योपासन राज्यकार्य कैसे ?**—इस उल्लेख का अभिप्राय इतना ही है कि राजा के लिए राज्यकार्य सर्वप्रमुख है तथा धार्मिक अनुष्ठान और राज्यरक्षा, दोनों कार्यों में जब टकराव उपस्थित हो जाये तो वहां राजा राज्यरक्षा को प्रधानता दे। उसका कारण यह है कि राज्य सबका मूल है, उसके बिगड़ने पर जहां वह पाप का भागी होगा वहां सभी धर्मानुष्ठान भी असम्भव हो जायेंगे। दूसरा कारण यह है कि उन कार्यों को नियमित रूप से अनुष्ठित करने के लिए ही **ऋत्विज्** होता है। इसका अभिप्राय यह भी है कि राजगृह में धर्मानुष्ठान अवश्य होने चाहिएं जिससे प्रजा में धर्मानुष्ठानों के प्रति शिथिलता न आये। किसी प्रकार की आपत् स्थिति के अतिरिक्त राजा के लिए भी सन्ध्योपासन-यज्ञानुष्ठान आदि नैत्यिक कर्म अनिवार्य हैं। अगले श्लोक में आदेश है—''**यजेत राजा क्रतुभिः विविधैराप्तदक्षिणैः**'' (७.७९)='राजा पर्याप्त दक्षिणावाले विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया करे।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २८१ पर उद्धृत एक अन्य श्लोक में राजा के कर्त्तव्य के रूप में **नैत्यिक संध्या-यज्ञ** का निर्देश है—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः। हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्॥ (मनु० ७.१४५)

ऋत्विज् इसलिए भी होता है कि राजा के यहां यज्ञ-महायज्ञ, इष्टियां चलती रहनी चाहिएं। क्योंकि सदा सब यज्ञों में राजा उपस्थित नहीं हो सकता, तो राज-परिवार के अन्य सदस्यों की उपस्थिति में उन अनुष्ठानों को 'ऋत्विज्' करता रहेगा। जैसे घर

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु॥ १॥
अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम्॥ २॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते॥ ३॥
समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ ४॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥ ५॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥ ६॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥ ७॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥ ८॥
यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः।
भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ ९॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥ १०॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥ ११॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम्॥ १२॥

मनु० [७।८०-८२, ८७, ८९, ९१-९७]

में कभी-कभी पति अनुपस्थित होता है तो पत्नी उसके नाम की आहुतियां अतिरिक्त देती है, ऐसे ही राजपत्नी आदि उन अनुष्ठानों में सम्मिलित होकर कर्त्तव्य का निर्वाह करेंगी।

इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं समझना चाहिए कि यज्ञकर्म ऋत्विज् करेंगे और उसका सम्पूर्ण पुण्य राजा को मिलेगा, जैसे आजकल लोग दूसरों से जप-अनुष्ठान कराते हैं और उसे अपना किया समझते हैं। यह कथन केवल अनुष्ठानों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने व प्रेरणा के लिए और नैत्यिक अनुष्ठान में त्याग न हो, इस नियम को बनाए रखने के लिए है।

प्रजा से[१] वार्षिक कर आप्तपुरुषों[२] के द्वारा ग्रहण करे और **जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब [और] सभा, वेदानुकूल होकर प्रजा के साथ पिता के समान वर्तें॥ १ ॥**

उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के विद्वान्-अध्यक्षों को सभा नियत करे। उनका यही [देखना][३] काम है कि जितने-जितने जिस-जिस काम में राजपुरुष हों, वे नियमानुसार वर्त्तकर, यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड किया करें॥ २ ॥

जो राजाओं का सदा वेदप्रचाररूप अक्षय-कोष है, इसके प्रचार के लिये, जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि-शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार राजसभा[४] यथावत् करे, और उनका भी, जिनके पढ़ाये हुए वे विद्वान् होवें। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर [राज्य की][५] अत्यन्त उन्नति होती है॥ ३ ॥

जब कभी प्रजा का पालन करनेवाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम [राजा][६] संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके, संग्राम में जाने[७] से कभी निवृत्त न हो, अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उससे[८] युद्ध करे, जिससे अपना विजय हो॥ ४ ॥

जो[९] संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग, जितना अपना सामर्थ्य हो, विना डर, पीठ न दिखा, युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे [युद्ध से][१०] विमुख कभी न हों, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है; क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके, वैसे काम करें। जैसे सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें[११] ॥ ५ ॥

युद्ध-समय में न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, न बैठे हुए, न 'मैं तेरे शरण में हूं' ऐसे [कहने वाले को][१२] को॥ ६ ॥ न सोये [हुए][१३] न मूर्च्छा

१,२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**प्रजा से**" त्रुटित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर में भी त्रुटित है। **आप्तपुरुष**=अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ, ईमानदार और धार्मिक व्यक्ति।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उपयुक्त वाक्यरचना के लिए क्रमशः '**और**', '**देखना**' पद चाहिएं। **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—इस वाक्य में, मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**विद्वान् अध्यक्षों**" में "**विद्वान्**" महत्त्वपूर्ण पद त्रुटित है। श्लोक के अनुसार यह आवश्यक है। वेस, भद, युमी, विस, द्वि०सं०, उदयपुर में भी त्रुटित है।

४. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-पाठपरिवर्तन की कहानी**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने, मूलह० के उक्त पद के स्थान पर "**राजा और सभा यथावत् करें**" अशुद्ध परिवर्तन किया है। राजसभा का अध्यक्ष राजा ही होता है, और एक-दूसरे का किया हुआ कार्य एक-दूसरे का अनुमत ही माना जाता है। यह पाठान्तर इस प्रकार हुआ कि मुद्रणह० में लिपिकर ने प्रमाद से "**राजसभा**" के स्थान पर "**राजा सभा**" लिख दिया। मुद्रणसमय में द्विप्र० में उसको किसी ने भ्रान्ति से "**राजा और सभा**" यह अपपाठ बना दिया। मुद्रणलिपिकर कृत अप-पाठ द्वि०सं० वेस, जग, भद, युमी, जस, उदयपुर सं० में छप रहा है।

५-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**राज्य की**' और '**राजा**' पद त्रुटित हैं। उपयुक्त वाक्यरचना के लिए इनका प्रयोग वांछित है। मूलप्रति सं० में "**में जाने**" पद त्रुटित हैं, द्वि०सं० में इनको परिवर्धित कर दिया गया है।

८-९. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में '**उनसे**' अपप्रयोग है, '**उससे**' शुद्ध है। मूलसं० में '**जब**' अपप्रयोग है, द्विप्र० में '**जो**' शुद्ध है।

१०. **त्रुटित पद**—दोनों सं० में '**युद्ध से**' पद स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक हैं।

११. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**जैसे सिंह.....न हो जावें**" ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है। मूलसं० में मुद्रणह० से गृहीत है।

१२-१३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन अत्यावश्यक है, क्योंकि इस वाक्य में क्रियापद

को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखनेवालों, न युद्ध न करते हुए,[१] न शत्रु के साथी [को][२] ॥७॥ न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए और न पलायन करते हुए पुरुष[३] को, सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें।

किन्तु उनको पकड़कर, जो अच्छे हों [उनको][४] बन्दीगृह में रखे और भोजन-आच्छादन यथावत् देवे। और जो घायल हुए हों, उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिड़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो, [उनसे][५] करावे। **इसपर विशेष ध्यान रक्खे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के-बालों[६] को अपने सन्तानों के सदृश पाले, और स्त्रियों को भी पाले। उनको अपनी मा[७], बहिन और कन्या के समान समझे; कभी विषयासक्ति[८] की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय और जिनसे पुनः युद्ध करने की शङ्का न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे** और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको सदा[९] कारागार में रक्खे ॥८॥

और जो डरा और पलायन अर्थात् भागा[१०] हुआ भृत्य शत्रुओं से मारा जाय; वह उसके स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर[११] दण्डनीय होवे ॥९॥

जो भागा हुआ मारा जाय, उसका सब पुण्यफल [=अच्छे कार्य से प्राप्त या अर्जित सुख-वैभव]

है ही नहीं। जबकि श्लोक में "**वादिनम्**" पद है, जिसका अर्थ नहीं किया गया है। क्रिया के बिना अपूर्ण और अर्थहीन वाक्य है। इसी प्रकार आगे दोनों ही सं० में '**हुए**' क्रिया पद वाक्यपूर्त्यर्थ आवश्यक है।

१-२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने "**न युद्ध न करते हुए**" पाठ छोड़ दिया है। यह द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, जग, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में आज तक त्रुटित है। यह "**नायुध्यमानम्**" श्लोकोक्त पद का अर्थ है। मूलसं० में भी इस वाक्यांश का आरम्भिक "**न**" त्रुटित है। आगे दोनों सं० में '**को**' कारक प्रत्यय त्रुटित हैं।

३. **उचित संशोधन**—यहां मूलसं० में "**पुरुषों**" अपप्रयोग है, '**पुरुष**' एकवचनान्त प्रयोग अभीष्ट है। द्वि०सं० में संशोधित है।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उनको**' और '**उनसे**' पद त्रुटित हैं। परिवर्धन अपेक्षित है।

६. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**लड़के वालों**" अपपाठ बना दिया। वेस में भी अशुद्ध है। अन्य सभी में संशोधित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर तथा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**सन्तानों के सदृश**" के स्थान पर "**सन्तानवत्**" पाठान्तर व्यर्थ किया है। इसका मतलब है कि मुद्रणलिपिकर इतना मूर्ख था कि उसे दोनों पाठों के समानार्थ का ज्ञान भी नहीं था। "**मा**" पद प्रमाद से त्रुटित छोड़ा है, सभी द्वि०सं०, उदयपुर आदि में भी त्रुटित है।

८. **अयोग्य लिपिकरों-शोधकों की प्रमादलीला**—मूलह० में लिपिकर ने "**विषयाशक्ति**" अपवर्तनी लिखी, जिसे शोधक ने शुद्ध कर दिया। फिर भी मुद्रण-लिपिकर ने अशुद्ध वर्तनी लिखी। उसे भी शोधक ने शुद्ध कर दिया। फिर भी द्विप्र० में अशुद्ध वर्तनी छपी। यह हाल था लिपिकरों और शोधकों का। द्वि०सं० और मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषिहस्तलेख त्रुटित**—"**जिनसे भविष्यत्.....उनको सदा**" वाक्यांश मूलह० में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित है। मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से उसको त्रुटित छोड़ दिया तो ऋषि ने मुद्रणह० में उसको फिर लिखा है।

१०. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-परिवर्तन**—मूलप्रति सं० में यहां "**भागा**" शुद्ध प्रयोग है। द्विप्र० और अन्य सभी सं० में "**भागे और डरा हुआ**" भ्रष्ट वाक्य है। यह मुद्रणलिपिकर का बिगाड़ा हुआ वाक्य है। युमी को छोड़कर, अन्य सभी वेस, भद, जग, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है।
संशोधन-पुष्टि—नीचे तीसरी पंक्ति में शुद्ध प्रयोग है—"**जो भागा हुआ मारा जाय**"।

११. **अपराध को प्राप्त होने का अभिप्राय**—'**स्वामी के अपराध को प्राप्त होना**' इस वाक्यखण्ड का अभिप्राय है '**अपने स्वामी का अपराधी होना।**' वह अपराधी घोषित होकर दण्ड का पात्र बनता है।

उसके स्वामी को प्राप्त होता है। और भागे हुए की जो प्रतिष्ठा है वह सब नष्ट हो जाय अर्थात् जो उसकी प्रतिष्ठा [=सम्मानपूर्ण पद या स्थिति] है, जिससे इस लोक और परलोक में [=मर जाने पर उसका] यश होनेवाला था, उसको उसका स्वामी वापस ले ले [=छीन ले]। वह प्रतिष्ठा उसको प्राप्त हो, जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो॥ १०॥[१]

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि लड़ाई में जिस-जिस सिपाही[२] ने जो-जो रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य अन्य[३] गाय आदि पशु और स्त्रियां[४-५] तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तैल आदि के कुप्पे[६] जीते हों, वही उस-उसका ग्रहण करे[७]॥ ११॥

---

१. **अस्तव्यस्त एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से चिन्त्यपाठ**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में इस श्लोकार्थ का पाठ अस्तव्यस्त और सैद्धान्तिक दृष्टि से चिन्त्य है। ज्ञात होता है कि लिखाने-लिखने में व्यतिक्रम होने से और कुछ श्रवणभ्रान्ति से यह सब हुआ है। मूलह०, मूलसं० में यह पाठ है—''और जो उसकी प्रतिष्ठा है, जिससे इस लोक और परलोक में सुख होनेवाला था; उसको उसका स्वामी प्राप्त होवे जो भागा हुआ मारा जाय, उसका सब पुण्यफल उसके स्वामी को प्राप्त होता है और भागे हुए की जो प्रतिष्ठा वह सब नष्ट हो जाय। और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो, जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो।''

मुद्रणह०, द्विप्र० द्वि०सं० में परिवर्तित एवं कुछ शुद्ध यह पाठ है—''और जो उसकी प्रतिष्ठा है जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था उसको उसका स्वामी ले लेता है, जो भागा हुआ मारा जाय उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्य फल सब नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो।''

इस अर्थ में 'परलोक' के सुख रूप कर्मफल को स्वामी द्वारा ले लेना', 'पुण्यफल उसके स्वामी को प्राप्त होना', 'पुण्यफल का नष्ट होना' आदि कथन चिन्त्य हैं। इनको उपयुक्त क्रम देने के लिए यहां मूल में दोनों सं० का पाठ मिलाकर संशोधनपूर्वक रखा गया है। इसमें पूर्व श्लोक के अर्थवाद रूप में यह वर्णित किया है कि उसको क्या दण्ड होना चाहिए। इसका यह अर्थ भी है—'(**च**) और (**परावृत्तहतस्य अस्य**) युद्ध के मैदान से पीठ दिखाकर भागते हुए मारे गये इस योद्धा का (**अमुत्रार्थम्-उपार्जितम्**) भावी जीवन के लिए अर्जित किया हुआ (**यत् किञ्चित् सुकृतम्**) जो कुछ सम्मान और धन-वैभव है (**तत् सर्वं भर्त्ता आदत्ते**) उस सबको स्वामी=उसका सामन्त या राजा छीन लेता है अर्थात् दण्डस्वरूप वह सब छीन लेना चाहिए।'

२,३. **मुद्रणलिपिकरकृत अप अनुवाद व त्रुटि**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**सिपाही**'' का ''**भृत्य**'' अपअनुवाद है। ''**अन्य**'' का ''**अन्न**'' लिख दिया जिसे पुनरुक्ति जान द्विप्र० में हटा दिया।

४. ''**स्त्रियः**'' **का अर्थ**—मनुस्मृति के सभी संस्कृत-टीकाकारों ने यहां ''**स्त्रियः**'' का अर्थ '**दासी स्त्रियां**'=सेविका वर्ग किया है। यह व्यावहारिक है कि पराजित राजा के सेवक-सेविका वर्ग को विजेता राजा अपने यहां काम पर रख लेता है। महर्षि ने इसका सामान्य अर्थ '**स्त्रीमात्र**' किया है, जिसका स्पष्टीकरण अगले अर्थों में है।

५. **युद्ध में जीती गई स्त्रियों से व्यवहार**—महर्षि के इस अर्थ और मनु के मूल श्लोक पर शंका की जाती है कि जीती हुई स्त्रियों पर विजेता का अधिकार कहना अत्याचार और असभ्यता की पराकाष्ठा है। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि विजेता उन पराजितों की स्त्रियों को अपने यहां रखकर उनका मनमाना उपभोग और उपयोग करें, जैसा इस्लाम में है? नहीं, यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वैदिक संस्कृति में न तो इसकी अनुमति है और न इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण मिलता है।

फिर इसका क्या अर्थ होगा? इसका यह अर्थ है कि जीती हुई वस्तु से लेकर राज्य तक विजेता के अधिकार में होगा और वह वस्तुओं का यथायोग्य उपयोग करेगा किन्तु विजित स्त्रियों एवं प्रजाओं की यथायोग्य जीवन-व्यवस्था करेगा। महर्षि दयानन्द ने इसका आदर्शमय स्पष्टीकरण आगे स्वयं किया है। वे लिखते हैं—''**जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे। और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे**'' (श्लोक १२ का अर्थ, पृष्ठ २७८)।

महर्षि ने पूर्वोक्त श्लोक संख्या आठ की व्याख्या में कितना आदर्शपूर्ण स्पष्ट आदेश दिया है—''**उनके लड़के-बालों (सन्तानों) को अपने सन्तानों के सदृश पाले और स्त्रियों को भी पाले। उनको मा, बहिन और कन्या के समान समझे; कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे।**'' (पृ० २७७)

पाठक अतीत के इतिहास की परम्परा को याद करें। श्रीकृष्ण की मृत्यु हो जाने के उपरान्त अर्जुन ''द्वारकापुरी'' जाकर द्वारका-निवासी स्त्री-पुरुषों को साथ लेकर आया था तथा उनको मथुरा और इन्द्रप्रस्थ-राज्य में बसाया था। शिवाजी ने बन्दी यवन-स्त्रियों को ससम्मान उनके घर पहुंचाया था।

६. **मुद्रणकालीन अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह० में ''**कुप्पे**'' स्पष्ट-शुद्ध वर्तनी है। भ्रान्ति से द्विप्र० में ''**कुप्पे**'' छपा है जबकि

परन्तु सेनास्थजन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें और राजा भी सेनास्थ पुरुषों, योद्धाओं को[१] उस धन में से जो कि सबने मिलकर जीता हो, सोलहवां भाग अवश्य देवे॥

और **जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जायें तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे।** जो कोई अपने राज्य की रक्षा,[२] वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लङ्घन कभी न करे॥ १२॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ १॥
[एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः॥ २॥][३]
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु[४] निःक्षिपेत्॥ ३॥
अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः॥ ४॥
नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात्परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः॥ ५॥

हिन्दी में यह कोई पद ही नहीं होता, 'कुप्य' अवश्य होता है। आश्चर्य तो यह है कि **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने द्वि०सं० में संशोधित शुद्ध पद की उपेक्षा करके अशुद्ध वर्तनी को ग्रहण किया है। हिन्दी में 'कुप्पे' पद चर्मनिर्मित तैल-घृतपात्रों के लिए सुप्रसिद्ध और प्रचलित है। यह 'कुप्य' का अपभ्रंश और बहुवचन प्रयोग है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमादवश त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय प्रमादवश दशम श्लोकार्थ में "**और उस प्रतिष्ठा को वह.....उसका ग्रहण करे**" ग्यारहवें श्लोकार्थ के अन्त तक पाठ छोड़ दिया। पुनः ध्यान में आने पर किसी लिपिकर ने लिखकर मुद्रणप्रति के '१०९ ख' पृष्ठ संख्या अंकित करके संलग्न किया है।

१. **मुद्रणकालीन अप-परिवर्तन एवं अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ये पद अस्थान में हैं—"**योद्धाओं को..... सोलहवां भाग सेनास्थ पुरुषों को**"। द्विप्र० और द्वि०सं० में "**सेनास्थ**" को "**योद्धाओं**" से पूर्व जोड़ दिया है, जो उचित है, किन्तु "**पुरुषों**" पद को हटा देना अनुचित है। ग्रन्थकार "**सेनास्थ पुरुषों**" पदों से एक गम्भीर बात कहना चाहते थे, वह यह कि सेना में एक तो प्रत्यक्ष योद्धा होते हैं, दूसरे—सारथी, हाथीवान्, अस्त्र-शस्त्र रक्षक आदि सहयोगी सैन्य जन होते हैं, उन्हें भी विजय का भाग मिलता है। यदि केवल योद्धा पद रखा जाये तो वे लोग इस भाग से वंचित रह जायेंगे, जबकि विजयप्राप्ति में उनका भी योगदान होता है। अतः दोनों पद महत्त्वपूर्ण होने से रखे जाने आवश्यक हैं। देखिए, पहली पंक्ति में '**सेनास्थ जन**' पाठ है जो इस व्यापक अर्थ की ओर स्पष्ट संकेत करता है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह पद त्रुटित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—प्रमादवश मुद्रणप्रति में यहां "**रक्षा**" महत्त्वपूर्ण पद त्रुटित छोड़ दिया है। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित है। मूलह० मूलसं० में है।

३. **त्रुटित आवश्यक उद्धरण पाठ**—दोनों हस्तलेखों और दोनों द्वि०सं० में यह श्लोक नहीं है। हिन्दी में इसका अर्थ विद्यमान देखकर **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने और मूलप्रति सं०** ने इसको बृहत्कोष्ठक में बढ़ाया गया है। यह परिवर्धन ग्राह्य है। मूलसं०, युमी, विस, उदयपुर सं० में इसको ग्रहण कर लिया है।

४. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वृद्धं दानेन निःक्षिपेत्**" अपपाठ है। मनुस्मृति में "**वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्**" पाठ है, यही पाठ प्रथम श्लोक में है, इसी का हिन्दी-अनुवाद है। यह प्रथम श्लोक का ही पूरक श्लोक है, अतः वही पूर्वोक्त

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ ६॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥ ७॥
[यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत्॥ ८॥][1]
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥ ९॥
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥ १०॥
शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥ ११॥
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥ १२॥
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्य्याद्राष्ट्रस्य[2] संग्रहम्॥ १३॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥ १४॥
ग्रामदोषान्त्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥ १५॥[3]
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥ १६॥

श्लोकचरण यथावत् ग्राह्य है। इस पाठ के "**पात्रेषु**" में जो गम्भीर शास्त्रीय भाव है वह परिवर्तित पाठ के शब्दों में नहीं। "**दानेन**" का भाव भी इसमें स्वतः निहित है। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में अप-पाठान्तर है।

१. **त्रुटित आवश्यक उद्धरण**—दोनों हस्तलेखों और द्वि०सं० में यह श्लोक नहीं है। हिन्दी में इसका अर्थ देखकर **पं० मीमांसक सं०** और **मूलप्रति सं०** में इसको बृहत् कोष्ठक में परिवर्धित किया है। यह ग्राह्य है। प्रतीत होता है कि जब मूललिपिकर प्रमाणों का संग्रह और लेखन कर रहा था तो उससे असावधानीवश बीच का यह श्लोक लिखने से छूट गया है। वेस, भद में त्रुटित है; उदयपुर सं० में परिवर्धित कर लिया है।

२. **अप-उद्धरण पाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने इसको अशुद्ध लिखा—"**दाष्ट्रस्य**"। वही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० आदि में शुद्ध कर दिया है। मूलसं० में शुद्ध है।

३. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**विंशतीशिनम्**" पाठ है। मनुस्मृति में उपर्युक्त पाठ है। वही ग्राह्य है। पूर्वापर प्रयोगों में चतुर्थी विभक्ति की प्रयोग-शैली है, अतः यहां भी चतुर्थी का प्रयोग उचित है।

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः[१]॥ १७॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ १८॥
स ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥ १९॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ २०॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥ २१॥

मनु०, ७। [९९-[१००], १०१, १०४-१०७-[१०८], ११०-११७, १२०-१२४]॥

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा और प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे; रक्षित को बढ़ावे और **बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म के प्रचार, विद्यार्थियों[२], वेदमार्गोपदेशकों[३] असमर्थों[४] तथा अनाथों के पालन में लगावे॥ १॥**

इस चार प्रकार के 'पुरुषार्थ' के प्रयोजन को जाने और आलस्य छोड़कर इसका भलीभाँति नित्य अनुष्ठान करे॥ २॥

दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से[५] प्राप्त की रक्षा [करे, और] रक्षित को वृद्धि अर्थात् ब्याज आदि से बढ़ावे और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त[६] मार्ग में नित्य व्यय करे॥ ३॥

कदापि किसी के साथ छल से न वर्ते किन्तु निष्कपट होकर सबसे वर्त्ताव रक्खे और नित्यप्रति अपनी रक्षा करके, शत्रु के किये हुए छल को जानके [उसको][७] निवृत्त करे॥ ४॥

कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके[८] और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे, जैसे कछुआ अपने अङ्गों को गुप्त रखता है, वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रक्खे॥ ५॥

जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी पकड़ने को ताकता है, वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया

---

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों अयोग्य लिपिकरों ने "**अतन्द्रतः**" अपवर्तनी लिखी है। यही द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं० और मूलसं० आदि में संशोधित है।

२-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेश**" "**असमर्थ**' एकवचनान्त हैं, बहुवचनान्त पद अपेक्षित हैं।

५. **देखना**—आय-व्यय तथा प्राप्त वस्तुओं का निरीक्षण=जांच रखने से रक्षा होती है।

६. **पूर्वोक्त**=प्रथम श्लोक में व्याख्यात योग्य व्यक्तियों के लिए व्यय करे।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसको**' पद त्रुटित है। स्पष्टार्थ के लिए अपेक्षित है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित भ्रष्टपाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने इसको विपरीतार्थक बनाकर भ्रष्ट कर दिया—"**कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जना सके।**" यही भ्रष्ट पाठ द्विप्र० में है। द्वि०सं० में इसको शुद्ध कर लिया है। अन्य सभी सं० में भी संशोधित कर लिया है।

करे, जिस प्रकार द्रव्य और बल की वृद्धि हो। शत्रु को जीतने के लिये सिंह के समान पराक्रम करे[१]। चीते के[२] समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सस्सा के समान दूर भाग जाय, और पश्चात् उनको छल से पकड़े॥ ६ ॥[३]

इस प्रकार विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् विरोधी-विद्रोही[४] हों, उनको **(साम)** अर्थात् मिला लेना, **(दाम)** कुछ देकर **(भेद)** फोड़-तोड़ करके वश में करे॥ ७ ॥

और जो इनसे वश में न हों तो अतिकठिन **'दण्ड'** से वश में करे॥ ८ ॥

जैसे धान्य का निकालनेवाला छिलकों को अलगकर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है, वैसे राजा, शत्रुओं को मारे और राज्य की रक्षा करे॥ ९ ॥[५]

जो राजा मोह से, अविचार से [अन्यायपूर्वक कर ग्रहण करके] अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने बन्धुसहित जीवने से शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है[६]॥ १० ॥

जैसे प्राणियों के प्राण, शरीरों का कर्षण करने से[७] क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजा को दुर्बल करने से राजाओं के 'प्राण' अर्थात् बल-आदि, बन्धुओं सहित नष्ट हो जाते हैं॥ ११ ॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित भ्रष्ट पाठ**—मुद्रणह० में भ्रान्ति से दो वाक्यों को मिलाकर एक वाक्य बनाके अप-परिवर्तन कर दिया है—"**द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि होकर शत्रु को जीतने के लिये सिंह के समान पराक्रम करे**"। यहां पहला वाक्य प्रथम विधिवाक्य का अर्थवाद है। उसको अगले वाक्य से मिलाने पर ग्रन्थकार का आशय भ्रष्ट हो गया है क्योंकि अग्रिम वाक्य से उसकी कोई संगति ही नहीं है। यह परिवर्तन मुद्रण-लिपिकर की भूल से हुआ है। उसने "**जिस प्रकार**" पदों से इस वाक्य का ठीक आरम्भ किया था, किन्तु बाद का वाक्यांश बदल दिया। फिर शोधक ने "**जिस प्रकार**" "**हो**" पदों की संगति उस बदले वाक्य में न देख मुद्रण-काल में द्विप्र० में उनको हटा दिया। वही अपपाठ द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में विद्यमान है। अतः मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित पाठ नहीं।

२. **अपप्रयोग**—सभी सं० में यहां "**चीता के समान**" प्रयोग है। उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है।

३. **श्लोकार्थ**—राजा बगुले के समान एकाग्र होकर अर्थलाभ सम्बन्धी विषयों का चिन्तन करे, युद्ध होने पर सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़ियों के समान शत्रुओं का विनाश कर दे, यदि शत्रुओं से घिर जाये तो खरगोश के समान फुर्ती से निकल भागे॥

४. **असंगत और अप-अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**डाकू-लुटेरे**" अर्थ है। यहां प्रसंग डाकू-लुटेरों का नहीं है अपितु विरोधियों का है अतः यह प्रसंगानुसार उचित अर्थ नहीं है, क्योंकि राजतन्त्र में डाकू-लुटेरों को कभी साम, दाम, भेद से वश में नहीं किया जाता है, उन्हें तो राजा द्वारा 'दण्ड' दिया जाता है। साम-दाम आदि उपाय राजनीतिक विरोधियों-विद्रोहियों के लिए होते हैं, अतः यहां **'विरोधी-विद्रोही'** अर्थ प्रसंगसम्मत और उपयुक्त है। सभी सं० में यही असंगत अप-अर्थ विद्यमान है।

५. **श्लोकार्थ**—जैसे लुनाई (खुदाई और शोधन) करने वाला किसान खेत के घास-फूंस को उखाड़ फेंकता है और धान्य=अन्न की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा शत्रुओं को राज्य से उखाड़ फेंके और अन्न के समान अपने राष्ट्र की रक्षा किया करे॥ ९ ॥

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित भ्रष्टपाठ**—द्वि०सं० में यहां यह भ्रष्टपाठ है—"**अपने बन्धुसहित जीवने से पूर्व ही शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है**"। मूलप्रति सं० में "**नष्ट**" पद नहीं है। उपयुक्त क्रमानुसार वाक्यरचना उपर्युक्त बनती है। प्रश्न है कि जीवने से पूर्व ही शीघ्र कैसे नष्ट होगा? 'पूर्व' नष्ट हो गया तो 'शीघ्र' क्या हुआ? और 'शीघ्र' नष्ट हो गया तो 'पूर्व' क्या हुआ? **पं० मीमांसक जी** ने इसका खींचतान करके अर्थ लगाया है "जीवने=जीवन की अवधि।" इस पर भी वही आपत्तियां 'पूर्व' और 'शीघ्र' शब्द को लेकर बनती हैं। मूलह० में यह लगभग ठीक पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने इसमें "**पूर्व ही**" व "**नष्ट**" पद नये जोड़ दिये। "**नष्ट**" तो ठीक पद है किन्तु "**पूर्व से**" पदों से भ्रान्त वाक्य बन गया। मुद्रणह० और द्विप्र० में "**जीवने**" क्रियापद है, जिसे द्वि०सं० में भाववाचक "**जीवन**" बना दिया। उसके कारण सारा वाक्य भ्रष्ट हो गया। 'जीवने=जीने से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है' जबकि दूसरे का अर्थ है—'जीवन नष्ट-भ्रष्ट होता है'। व्याकरणानुसार मूलह०, मूलसं० का पाठ सही है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में भ्रष्टपाठ है।

७. **अपप्रयोग**—मूलह० में "**कृष करने**", मूलसं० में "**कृश करने**", मुद्रणह० में "**कृषित करने**", द्विप्र० और द्वि०सं० में "**कृशित करने**" सभी अपप्रयोग हैं। श्लोक के मूलपाठ के अनुसार यहां "**कर्षण करने से**" पाठ शुद्ध है। यहां शरीर को

इसलिये[१] राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिये ऐसा यत्न करें जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्यपालन में तत्पर रहता है, उसका सुख सदा बढ़ता जाता है॥ १२॥

इसलिये दो तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक '**राज-स्थान**' रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य और कामदार रखके राज्य के सब कार्य पूरे करे[२]॥ १३॥

एक-एक ग्राम में एक-एक [अध्यक्ष][३] पुरुष को रक्खे, उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं वीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्त्र ग्रामों के ऊपर पांचवां [अध्यक्ष][४] पुरुष रक्खे॥

अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों पर एक थाना और उन दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पांच थानों पर एक तहसील[५] और दश तहसीलों[६] पर एक ज़िला नियत किया है। **यह वही अपने मनु आदि के धर्मशास्त्रों से राजनीति का प्रकार लिया है**[७]॥ १४॥

इसी प्रकार प्रबन्ध करके[८] आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्राम का पति, ग्राम[९] में नित्यप्रति जो-जो

दुबला करना अर्थ नहीं है अपितु कर या धनग्रहण के लिए सटीक उपमा है। शरीर के कर्षण का अर्थ है—'शरीर को पीड़ा या हानि पहुंचाकर उसको किसी प्रकार क्षीण करना।' इसी प्रकार राजा पीड़ा देकर अन्यायपूर्वक जब प्रजा से कर या धन खींचता है तो वह 'राष्ट्रकर्षण' कहलाता है। आजकल की भाषा में इसको 'शोषण करना' कहते हैं। उससे अन्ततः राजा ही नष्ट-भ्रष्ट होता है। अन्य सं० में भिन्न-भिन्न पाठ हैं।

१. **व्यर्थ संशोधन**—द्वि०सं० में "**इसलिये**" के बाद "**जैसे**" व्यर्थ प्रयोग है जो अग्राह्य है। अन्य किसी पाठ में नहीं है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० यहां में "**राज्य के कार्यों को पूर्ण करे**" पाठ बनाया है। अर्थ में कोई वैशिष्ट्यपूर्ण अन्तर नहीं है।

३-४. **त्रुटित पद**—दोनों स्थानों पर मूलह० और मूलप्रति सं० में और एक स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में '**अध्यक्ष**' पद त्रुटित है। पुरुष का पद बताना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना वाक्य अर्थवान् नहीं बनता और उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता।

५-६. **अयोग्य और प्रमादी लिपिकर-शोधक और उनका संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में दोनों लिपिकरों ने ये अपवर्तनियां लिखी हैं—"**एक तहशील और दश तहशीलों पर**"। मुद्रणकालीन शोधक इनका गुरु निकला। उसके निरीक्षण में द्विप्र० में एक ही वाक्य में भिन्न वर्तनी वाला यह हास्यास्पद पाठ छपा—"**एक तहसील और दश तहशीलों पर**"। साथ लगते एक शब्द की दो वर्तनियां बनाने का कमाल शोधक शर्माद्वय ही कर सकते हैं! द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित की हुई हैं।

७. **त्रुटित पाठ और संशोधन की कहानी तथा पाठग्रहण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह सारा पाठ अस्त-व्यस्त है। मूलह० में यह अस्पष्ट-अपूर्ण वाक्य है—"**वह यहीं से प्रकार लिया है।**" मुद्रणलिपिकर ने इसको इस रूप में बनाया—"**वह यहीं से अपने मनु आदि धर्मशास्त्र राजनीति से प्रकार लिया है।**" इस अपपाठ को द्विप्र० में इस प्रकार आंशिक रूप में सुधारा है—"**यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है।**" यही पाठ द्वि०सं० में है। इसी को मूलसं० ने ग्रहण किया है। इसका पूर्ण शुद्ध पाठ इस सं० में उपर्युक्त है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**करके**" के स्थान पर "**करे**" अशुद्ध परिवर्तन है।

९. **अस्त-व्यस्त, त्रुटित और भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **१५-१६ श्लोकार्थ-परक यह सम्पूर्ण पाठ अस्त-व्यस्त, त्रुटित और अपप्रयोगों से परिपूर्ण है।** लिपिकर की असावधानी और शोधक की अयोग्यता तथा प्रमादलीला के कारण इस अनुच्छेद के पाठ की अतिदुर्दशा हुई है। मूलहस्तलेख में इसका पाठ लगभग ठीक है। किसी शोधक या मुद्रण-लिपिकर ने "**वे एक-एक ग्राम के.....स्वामी को**" तक के पाठ पर काटने की रेखा अज्ञानता से लगा दी। फिर मुद्रण-लिपिकर ने उस पाठ में अपनी समझ से परिवर्तन कर दिया। इस तरह पाठ गड़बड़ाता चला गया। मूलप्रति सं० में मूलहस्तलेख का पाठ ग्रहण नहीं किया है, उसमें भी द्विप्र० वाली त्रुटियां आ गईं। अधिक भूल यह हुई कि मुद्रण-लिपिकर ने मूलहस्तलेख के "**अर्थात्**" **(वे एक-एक)** पद को प्रतिलिपि करते समय छोड़ दिया जिससे सारा पाठ अस्तव्यस्त हो गया। महर्षि की शैली का ज्ञान न लिपिकर को हुआ और न शोधकों को। वस्तुतः महर्षि ने पहले तो श्लोक पदों का अर्थ किया है और फिर "**अर्थात्**" लिखकर व्याख्या द्वारा अध्यक्षों की नियुक्ति की प्रक्रिया को विस्तारशैली से समझाया है। यहां पहले अनुच्छेद में दोनों श्लोकों का अर्थ है, दूसरे अनुच्छेद

दोष उत्पन्न हों, उनको गुप्तता से 'दश ग्रामों के पति'[१] को विदित कर दे और वह 'दश-ग्रामाधिपति' उसी प्रकार दश ग्रामों का वर्त्तमान 'वीस ग्रामों के[२] स्वामी' को नित्यप्रति जना देवे। और 'वीस ग्रामों का अधिपति'[३] वीस ग्रामों के वर्त्तमान को 'शतग्रामाधिपति' को नित्यप्रति निवेदन करे। वैसे ही 'सौ ग्रामों का पति[४]' सौ ग्रामों के वर्त्तमान को[५] आप 'सहस्राधिपति' अर्थात् 'हजार ग्रामों के स्वामी' को प्रतिदिन जनाया करे॥

अर्थात् वे एक-एक ग्राम के दश अधिपति दश ग्रामों के अधिपति को,[६] और दश-दश ग्रामों के दोनों अधिपति 'वीस ग्रामों के स्वामी' को,[७] और वीस-वीस ग्रामों के[८] पांच अधिपति 'सौ ग्रामों के अध्यक्ष' को,[९] सौ-सौ ग्रामों के दश अधिपति 'सहस्रग्रामों के अधिष्ठाता' को दिन-प्रतिदिन का वर्त्तमान जनावें।[१०] और वे सहस्र-सहस्र ग्रामों[११] के दश अधिपति 'दशसहस्र ग्रामों[१२] के अधिपति' को, और वे दश-दश हजार ग्रामों[१३] के दश अधिपति 'लक्षग्रामों की राजसभा' को प्रतिदिन का वर्त्तमान जनाया करें। और वे सब राजसभायें[१४] 'महाराजसभा' अर्थात् सार्वभौम-चक्रवर्त्ती[१५]-महाराजसभा में सब भूगोल का वर्त्तमान[१६] जनाया करें॥ १५-१६॥

में व्याख्या है। उसी के अनुसार सारे पाठ को संशोधित तथा पूर्ण कर व्यवस्थित कर दिया है। तीनों सं० में तथा वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० आदि सभी अन्य सं० में अग्रलिखित व्याकरणिक त्रुटियां पाई जाती हैं—

	प्राप्त अपपाठ	**अपेक्षित शुद्ध पाठ**
९.	''वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में''(तीनों सं० में)	'वह एक ग्राम का पति ग्राम में'
१.	''दश ग्राम के पति को'' (तीनों सं० में)	'दश ग्रामों के पति को'
२.	''वीस ग्राम के स्वामी को'' (तीनों सं० में)	'वीस ग्रामों के स्वामी को'
३.	''वीस ग्रामों के अधिपति'' (मूलप्रति सं० में)	'वीस ग्रामों का अधिपति'
४.	''सौ-सौ ग्रामों के पति'' (द्वि०सं० में)	'सौ ग्रामों का पति'
५.	''सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को'' (तीनों सं० में)	'सौ ग्रामों के वर्तमान को'
६.	(तीनों सं० में त्रुटित है)	''अर्थात् वे एक-एक ग्राम के दश अधिपति दश ग्रामों के अधिपति को'' (यह पाठ मूलहस्तलेख में है)
७.	(यह पाठ केवल द्विप्र०, द्वि०सं० में त्रुटित है)	''और दश-दश ग्रामों के दोनों अधिपति वीस ग्रामों के स्वामी को''
८.	''वीस-वीस ग्राम के पांच अधिपति'' (तीनों सं० में)	''वीस-वीस ग्रामों के पांच अधिपति''
९.	''सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को'' (द्वि०सं० में) ''सौ ग्राम के अध्यक्ष को'' (मूलप्रति सं० में)	''सौ ग्रामों के अध्यक्ष को''
१०.	(यह पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में त्रुटित है)	''सौ-सौ ग्रामों के दश अधिपति 'सहस्र ग्रामों के अधिष्ठाता' को दिन-प्रतिदिन का वर्तमान जनावें।''
११.	''वे सहस्र-सहस्र के'' (तीनों सं० में त्रुटित)	''वे सहस्र-सहस्र ग्रामों के''
१२.	''दश सहस्र के अधिपति'' (तीनों में त्रुटित)	''दश सहस्र ग्रामों के अधिपति''
१३.	''दश-दश हजार के दश'' (तीनों सं० में त्रुटित)	''दश-दश हजार ग्रामों के दश''
१४.	''वे सब राजसभा'' (तीनों सं० में त्रुटित)	''वे सब राजसभायें''
१५.	''चक्रवर्त्ति'' (तीनों सं० में त्रुटित)	''चक्रवर्त्ती'' (मूलहस्तलेख में दीर्घमात्रा है।)

मूल हस्तलेख में दो-तीन स्थानों को छोड़कर ''**गाम**'' और ''**गामों**'' बोली के पदों का प्रयोग है। मुद्रणप्रति में सर्वत्र साहित्यिक शब्दों ''**ग्राम**'' और ''**ग्रामों**'' का प्रयोग किया है, जो ग्राह्य है।

१६. वर्तमान अर्थात् प्रतिदिन के समाचार और स्थितियां-परिस्थितियां।

और दश-दश सहस्र ग्रामों पर[१] एक-एक [अर्थात्] दो सभापति वैसे [नियत][२] करे जिनमें से एक राजसभा में हो, और दूसरा 'अध्यक्ष' आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखता रहै[३] ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े नगरों में[४] विचार करनेवाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल, जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावे। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। **जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें॥ १८ ॥**

जो नित्य घूमनेवाला सभापति[५] हो, उसके आधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे, जो राजपुरुषों और प्रजापुरुषों के साथ नित्य सम्बन्ध रखते हों, और[६] वे भिन्न-भिन्न जाति [=समुदाय] के रहैं। उनसे सब राज [-पुरुषों][७] और प्रजा-पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। **जिनका[८] अपराध हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे॥ १९ ॥**

[राजा द्वारा प्रजा की रक्षा के लिये नियुक्त अधिकारी प्रायः प्रजाओं के धन का हरण करनेवाले हो जाते हैं। उन धूर्त लोगों से राजा अपनी प्रजाओं की रक्षा करे।][९]

---

१. **त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह पाठ उपलब्ध है—"**एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर**"। द्विप्र०, द्वि० सं० में "**सहस्र**" पद त्रुटित है। उपर्युक्त श्लोक की अनुवृत्ति में यहां यह पाठ भी बन सकता है—"**एक-एक सहस्र वा दश-दश सहस्र ग्रामों पर**"। एक सहस्र की अनुवृत्ति ऊपर से है और "**दश सहस्र**" ग्रन्थकार की अपनी ऊहा है, जैसी कि पिछले श्लोकार्थ में '**एक लक्ष ग्रामों**' तथा '**महाराज सभा**' की है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**नियत**' पद स्पष्टार्थक वाक्यरचना के लिए अपेक्षित है।

३. **उचित पाठ-संशोधन**—इस श्लोकार्थ की भाषा में मूलहस्तलेख में अस्त-व्यस्तता है। मुद्रण-हस्त० का पाठ त्रुटित पदों को सम्मिलित करने के बाद अपेक्षया अधिक अच्छा है। मूलप्रति सं० में न पूर्णतः मूलहस्त० का पाठ है और न मुद्रणहस्त० या द्विप्र० का। दोनों का मिश्रण है। इस सं० में द्विप्र०, द्वि०सं० के संशोधित पाठ को ग्रहण किया है।

मूलप्रति सं० के संशोधनपूर्वक स्वीकृत पाठ में भी यह अपसंशोधन है कि उसमें दोनों अध्यक्षों को 'घूमकर देखनेवाला' बताया है जबकि श्लोकार्थ के पूर्व वाक्य में एक का 'राजसभा में रहना' कर्त्तव्य वर्णित है। श्लोकोक्त पदों के अनुसार दूसरा अध्यक्ष निरीक्षण करेगा। **पाठ-पुष्टि**—इसकी पुष्टि श्लोकार्थ १९ से हो जाती है—"**जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके आधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे**"।

४. **अनावश्यक पुनरुक्त पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**एक-एक**" प्रयोग अनावश्यक, अधिक और पुनरुक्त है। वाक्यान्त में "**एक-एक**" सही प्रयोग है। वेस, भद, युमी, जग, जस, उदयपुर सं० में यह पुनरुक्त अपपाठ है।

५. **घूमने वाला सभापति**=अर्थात् श्लोकार्थ १७ में वर्णित निरीक्षणकर्त्ता दूसरा अध्यक्ष।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने दो "**और**" पदों के मध्य का यह पाठ छोड़ दिया—"**प्रजापुरुषों के साथ नित्य सम्बन्ध रखते हों और**"। द्विप्र० में अगला "**वे**" पद भी उड़ा दिया। द्वि०सं०, भद, उदयपुर सं० में यह पाठ ग्रहण कर लिया गया है। वेस, जग, युमी में त्रुटित है। पाठक इसको दृष्टिदोष कहेंगे, अथवा शरारत कहेंगे? इतने छोटे-से वाक्य में क्या दृष्टिदोष होना स्वीकार्य हो सकता है?

७. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां '**पुरुषों**' पद त्रुटित है। स्पष्टार्थक प्रयोग के लिए '**राजपुरुषों**' प्रयोग अभीष्ट है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**राज**" संशोधन है किन्तु वह बहुवचनान्त चाहिए।

८. **उचित संशोधन**—मूलसं० में "**जिसका**" अपप्रयोग है, '**जिनका**' चाहिए। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध है।

९. **त्रुटित श्लोकार्थ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में श्लोक २० का अर्थ पूर्णतः त्रुटित रह गया है। यहां उसको बृहत् कोष्ठक में दिया है। यह अर्थ वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० आदि किसी भी संस्करण के मूलपाठ में उपलब्ध नहीं है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने टिप्पणी में अर्थ दिया है जो उद्धरण की दृष्टि से व्यर्थ है।

राजा, जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान्, कुलीन हों। शठ और परपदार्थ हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी दुष्टकर्म से बचाने के लिये राज्य के नौकर करके,[१] उन्हीं रक्षा करनेवाले विद्वानों के आधीन रखके, उनसे अपनी प्रजा की रक्षा यथावत् करे[२-३] ॥ २० ॥

जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करें, उनका सर्वस्वहरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रक्खे कि पुनः जहां से लौटकर न आ सकें,[४] और इस बात को देख-सुनके दूसरे राजपुरुष भी इस दुष्ट काम से बचे रहैं। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाय तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट कर्म करने लग जायें और दण्ड दिया जाय तो बचे रहैं ॥[५]

परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभाँति हो और जिससे वे धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा एक वार मिला करे; और जब वृद्ध हों, उनको भी आधा मिला करे। परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जीयें[६] तब तक वह जीविका बनी रहै, पश्चात् नहीं। परन्तु उनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक असमर्थ हों[७] और उसकी[८] स्त्री जीती हो, तो उन सबके[९] निर्वाहार्थ राज्य की ओर से यथायोग्य धन मिला करे[१०]। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले, ऐसी नीति राजा बराबर रक्खे ॥ २१ ॥

---

१. **नवीन ऊहा**—ऋषि ने श्लोक की व्याख्या के संदर्भ में सरकारों और शासकों को एक नया विचार दिया है। वह यह कि अपराध कर चुके लोगों को, दण्ड भुगतने के बाद छूटकर फिर अपराध न करें इसलिए, और उनको भविष्य में अपराध से बचाने के लिए परीक्षित धार्मिक अधिकारियों के अधीन नौकर रखें, इस प्रकार वे भविष्य में अपराध से बचे रहेंगे। कई वर्ष पूर्व समाचार पत्रों में आया था कि मध्यप्रदेश सरकार ने राष्ट्रीय राजमार्ग पर लूट-डकैती करनेवाले अपराधियों को उनका दण्ड पूरा होने के बाद उसी मार्ग की सुरक्षा के लिए नौकरी पर रखा था। उससे लूट-डकैती की घटनाएं नगण्य हो गई थीं।

२-३. **स्थानभ्रष्ट, अस्तव्यस्त एवं पुनरुक्त पाठ**—इस अनुच्छेद में दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अस्त-व्यस्त पाठ है—''**विद्वान्, कुलीन हों उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके। उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके**''। इसमें दो बार '**आधीन**' करने का और दो बार ''**नौकर करके**'' पुनरुक्ति हुई है ''**स्वाधीन करके**'' अपपाठ है। पुनरुक्ति कथन निकालकर इसका इस संस्करण में संशोधन कर दिया है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अस्तव्यस्त पाठ है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मूलप्रति सं० में ''**वे वहां से लौटकर न आ सकें**'' पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसमें परिवर्तन करके अपपाठ बनाया है—''**जहां से पुनः लौटकर न आ सकें**''। क्योंकि पूर्वापर में बहुवचनात्मक प्रयोग है, अतः बहुवचनात्मक वाक्य ही शुद्ध है। मूलप्रति सं० का बहुवचनात्मक वाक्य शुद्ध है क्योंकि श्लोक में भी बहुवचन है।

५. **ऋषिहस्तलेख और पाठग्रहण**—मूलह० में पूर्व वाक्य का ''**लौट कर न आ सकें**'' वाक्यांश और ''**यदि.... अन्य**'' पाठ नहीं है। इसका परिवर्धन मुद्रणहस्त० में ऋषि ने किया गया है। दोनों हस्त० का पाठ मिलाकर मूलप्रति सं० में उपर्युक्त पाठ बनाया है। उसके लिए सम्पादक ने दूसरे वाक्य में ''**राजपुरुष भी**'' के स्थान पर ''**अन्य लोग**'' भी पाठ बदला है।

६. **ऋषिहस्तलेख तथा अपवर्तनी**—मुद्रणप्रति में ''**जो**'' पद को काट कर ''**जब**'' पद ऋषि ने आपने हाथ से लिखा है। उसे द्विप्र०, द्वि०सं० में व्यर्थ में पुनः बदला है। आगे दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जियें**'' अपवर्तनी है, '**जीयें**' अपेक्षित है।

७. **मुद्रणकालीन अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणकाल में द्विप्र०, और फिर द्वि०सं० में ''**जिसके बालक जब तक समर्थ हों**'' अप पाठ है। इस पाठ की संगति अग्रिम वाक्यों से नहीं बनती यदि यह वाक्य शुद्ध होता तो आगे '**तब तक**' प्रयोग होता। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अपपाठ है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उनकी**'' अपप्रयोग है। ''**जिसके**'' के सम्बन्ध से ''**उसकी**'' पाठ अपेक्षित है। **पुष्टि**—नीचे की पंक्ति में ''**उसकी**'' प्रयोग है।

९. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० में ''**उसके**'' अपप्रयोग है। द्विप्र० में ''**उन सबके**'' शुद्ध है।

१०. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**पालन के लिये**'' पुनरुक्त पाठ है, क्योंकि इसी अर्थ का

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान्॥ १॥
यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो[१] राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ २॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं ताँश्च पीडयेत्॥ ३॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥ ४॥
एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥ ५॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ ६॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥ ७॥

मनु०, अ० ७। [१२८-१२९, १३९-१४०, १४२-१४४]॥

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष और[२] प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त होवें, वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में '**कर**' स्थापन करे॥ १॥

जैसे जोंक, बछड़ा और भमरा[३] थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे॥ २॥

अतिलोभ से अपने और[४] दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है, वह अपने को[५] और उनको पीड़ा ही देता है॥ ३॥

जो महीपति कार्य को देखकर तीक्ष्ण और कोमल भी होवे, वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से अतिमाननीय होता है॥ ४॥

इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमादरहित होकर राजा अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे॥ ५॥

बोधक "**निर्वाहार्थ**" पहले पठित है; और "**यथायोग्य**" पद "**पालन**" से पहले अस्थान में है। पुनरुक्त पाठ हटा देने से स्वतः पाठ शुद्ध हो गया है। द्विप्र०, द्वि०सं० में उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है।

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**गृहीतव्यः**" अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित पाठ है।

२,४. **अपप्रयोग एवं त्रुटित पद**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में दोनों स्थानों पर "**वा**" प्रयोग है, "**और**" होना चाहिए। द्विप्र०, द्वि०सं० में दूसरे स्थान पर त्रुटित पद है।

३. **भमरा**—अर्थात् भ्रमर, भौंरा। यह **गुजराती** भाषा का प्रयोग है।

५. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**को**' विभक्ति प्रत्यय त्रुटित है। इसके बिना वाक्य नहीं बनता।

भृत्यसहित देखते हुए[१] जिस[२] राजा के राज्य से डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थों[३] और प्राणों को हरते रहते हैं, वह जानो भृत्य-अमात्यसहित मृतक है, जीता नहीं; और महादुःख को पानेवाला है॥ ६॥

इसलिये **राजाओं का 'प्रजा का पालन करना ही' परमधर्म है।** और जो **मनुस्मृति** के सप्तमाध्याय में '**कर**' लेना लिखा है, और जैसा सभा नियत करे, उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है॥ ७॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्॥ १॥
तत्र स्थितः[४] प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य[५] विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः॥ २॥
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये[६] निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः॥ ३॥
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥ ४॥

मनु०, अ० ७ [१४५-१४८]॥

जब पिछली प्रहर रात्रि रहै तब उठ, शौच [आदि से निवृत्त][७] और सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान, **अग्निहोत्र**, धार्मिक विद्वानों का सत्कार[८] और भोजन करके, सभा में[९] प्रवेश करे॥ १॥

वहाँ [बैठ] वा खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों, उनको मान्य दे। फिर उनको विदा करके,[१०]

---

१. **देखते हुए**—अर्थात् व्यवस्था और निरीक्षण के लिए नियुक्त राज्याधिकारियों, कर्मचारियों और राजा के होते हुए भी जो डकैतियां, हत्याएं नहीं रोकी जातीं।

२. **स्थानभ्रष्ट पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जिस**" पद श्लोकार्थ के आरम्भ में है, वह "**राजा**" से पूर्व चाहिए।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पदार्थ**' एकवचनान्त है, बहुवचनान्त अपेक्षित है।

४-६. **मुद्रणकालीन अप-उद्धरण पाठ और उनका संशोधन**—द्विप्र० में "**स्थिताः**" "**प्रतिननद्य**" अपपाठ हैं। मुद्रणहस्त० और द्विप्र० में "**आरण्ये**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित हैं। अन्य सं० में भी संशोधित हैं।

७. **उचित संशोधन**—मुद्रणह० में "**उठ**" के बाद '**घूम**' क्रियापद है, यह अनावश्यक है। द्विप्र० और द्वि०सं० में हटा दिया है, जो उचित है। बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ उपयुक्त भाषा और वाक्यरचना के लिए अपेक्षित है।

८. **ब्राह्मणों का सत्कार**—वैदिक वर्णव्यवस्था के अनुसार वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने वाले और प्रतिदिन यज्ञ करने-कराने वाले को ही 'ब्राह्मण' कहते हैं। क्योंकि ब्राह्मण सर्वोच्च विद्वान् ही होते हैं, अतः इसका अर्थ "**विद्वान्**" ग्रहण किया है। राजा के पास पुरोहित और ऋत्विज् ब्राह्मण विद्वान् होते हैं, इनके अतिरिक्त राजा को विभिन्न विद्याओं की शिक्षा देते रहने वाले विद्वान् भी नियुक्त किये जाते हैं (द्र०पृ० २५८ पर मनु का श्लोक—"**त्रैविद्येभ्यः.....**") राजा उनका अभिवादन किया करे। यही उनकी पूजा और सत्कार है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भोजन करके**" पदों के बाद "**भीतर सभा में**" अपप्रयोग है। "**सभा में**" सप्तमी विभक्ति के प्रयोग के बाद "**भीतर**" अनावश्यक है। मूलह० में "**अन्दर सभा में**" अपपाठ है।

१०. **उपयुक्त पाठ**—मुद्रणह० और दोनों द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**उनको छोड़कर**" पाठ मिलता है। मूलह०, मूलसं० में "**छोड़कर**" ही है। स्पष्टार्थक और उपयुक्त भाषा का उपर्युक्त वाक्य वांछनीय है। संस्कृत पदों में यही भाव है जो प्रचलित वाक्य से प्रकट नहीं होता।

मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे॥ २॥[१]

पश्चात् उनके[२] साथ घूमने को चला जाय। पर्वत के शिखर[३] अथवा एकान्त घर वा जङ्गल जिसमें एक शलाका भी न हो, वैसे एकान्त स्थान में बैठकर, विरुद्ध भावना को छोड़, मन्त्रियों[४] के साथ विचार करे॥ ३॥

जिस राजा के गूढ़ विचार को [मन्त्रियों से भिन्न] अन्य जन [उनसे घुल-] मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध, परोपकारार्थ सदा गुप्त रहै, वह धनहीन भी राजा सब पृथिवी का राज्य[५] करने में समर्थ होता है। इसलिये अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो॥ ४॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च॥ १॥
सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ २॥
समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदात्वायतिसंयुक्तः[६] सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥ ३॥
स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ ४॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥ ५॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ ६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥ ७॥
अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य[७] शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ ८॥

---

१. **श्लोकार्थ**—'वहां सभा में उपस्थित होकर, प्रार्थना लेकर आई हुई प्रजाओं को सन्तुष्ट करके विदा करे। सबको विदा करने के उपरान्त विचारणीय विषयों पर मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे'॥ २॥

२-४. **अपप्रयोग**—सभी पाठों में "**उसके**" के स्थान पर '**उनके**' प्रयोग चाहिए। दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**पर्वत की शिखर**" अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। "**मन्त्री**" बहुवचन अपेक्षित है। पूर्व श्लोक से अनुवृत्ति बहुवचन की है।

५. **अपपाठ**—द्विप्र० में "**पृथिवी के राज्य करने में**" अपपाठ है, '**के**' पद के स्थान पर '**का**' शुद्ध है। मूलसं० में "**का**" शुद्ध है।

६. **भ्रष्ट-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तथा त्वायति**" भ्रष्टपाठ है। मनुस्मृति में शुद्ध पाठ "**तदात्वायति**" है। यह "**तदात्व+आयति**" सन्धिपद है। **तदात्व**=तात्कालिक, **आयति**=भविष्यत् कालीन अर्थ है। वेस में शुद्ध पाठ है; भद, युमी, विस, जग, जस और उदयपुर सं० में भ्रष्टपाठ है।

७. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० तथा दोनों द्वि०सं० में "**पीड्यमानःसः**" अपपाठ है। शुद्ध पाठ उपर्युक्त है। मूलप्रति सं० में

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत्॥ ९॥
यदा प्रहृष्टा[१] मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्॥ १०॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥ ११॥
यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्॥ १२॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥ १३॥
यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ १४॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा॥ १५॥
यदि तत्रापि सम्पश्येद् दोषं[२] संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत्॥ १६॥

मनु० [७।१६१-१७६]॥

[राजा के षड्गुण और उनके भेद—]

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य[३] में रखने योग्य है [कि][४]—जो (**आसनम्**) स्थिरता [=शान्त होकर बैठे रहना] (**यानम्**) शत्रु से लड़ने के लिये जाना, (**सन्धिम्**) उनसे मेल कर लेना, (**विग्रहम्**) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, (**द्वैधम्**) दो प्रकार की सेना करके[५] स्वविजय कर लेना, (**संश्रयम्**)[६] और निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म [हैं]।[७] कार्य

अब संशोधित पाठ है। मूलप्रति में लिपिकर से श्रवणभ्रान्ति से हुई त्रुटि प्रतीत होती है। वेस, जग, भद, युमी में अपपाठ है; उदयपुर सं० में संशोधित है।

१-२. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० तथा द्वि०सं० में "**प्रकृष्टाः**" अपपाठ है। मनुस्मृति में शुद्ध पाठ "**प्रहृष्टाः**" है। श्लोकार्थ में इसी का अर्थ है, अतः यही ग्राह्य है। मूलप्रति सं० में संशोधित है। अन्य सभी सं० में भी संशोधित है। आगे, द्विप्र० में मुद्रणकाल में "**दोषः**" अपपाठ छपा है। अब अन्य सभी सं० में संशोधित/ शुद्ध है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, दोनों द्वि०सं० में "**लक्ष**" अपवर्तनी है। सभी सं० में शोधित है। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में योजक पद '**कि**' नहीं है, जो ग्राह्य है।

५. अर्थात् सेना को दो भागों में बांट कर आक्रमण करना।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोकोक्त छह पदों की यह अशुद्ध वर्तनी है—"**आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैध, संश्रय**"। श्लोक के पद कोष्ठकान्तर्गत यथावत् अंकित करने पर ही शुद्ध माने जाते हैं। सभी सं० में अशुद्ध हैं।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्य नहीं बन रहा है।

को विचारकर उसमें [स्वयं को][१] यथायोग्य युक्त करना चाहिये॥ १॥

राजा, जो सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो-दो प्रकार के होते है, उनको यथावत् जाने॥ २॥

(सन्धि—) तदात्व=तात्कालिक और आयति=भविष्य के लाभ की इच्छा से, किसी राजा से सन्धि करके उससे मिलकर एक साथ किसी शत्रु पर आक्रमण करना **'समानयानकर्मा'**, और शत्रु पर पृथक्-पृथक् आक्रमण करना **'असमानयानकर्मा'**, यह दो प्रकार की **'सन्धि'** जाननी चाहिये॥ ३॥[२]

---

१. **स्थानभ्रष्ट पाठ और त्रुटित आवश्यक पद**—सभी संस्करणों में **''यथायोग्य''** पद अस्थान में है यह **''युक्त करना''** का क्रिया विशेषण है अतः 'कार्य' पद के पूर्व से हटाकर **''युक्त करना''** के पूर्व रखा जाना अभीष्ट है। **पुष्टि**—जैसे, ऐसा ही भावबोधक **''यथावत् जाने''** प्रयोग सही स्थान में श्लोकार्थ 'दो' के अन्त में इसी पृष्ठ पर प्रयुक्त है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'स्वयं को'** पद त्रुटित हैं। इसके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होता कि किसको युक्त करे।

२. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित महाभ्रष्ट तथा श्लोकविरुद्ध अर्थ**—लिपिकरों तथा प्रमादी शोधकों ने अपनी लीला से किसी पाठ को कैसे-कैसे भ्रष्ट किया है, उसका एक उदाहरण इस श्लोक का अर्थ भी है। मूलहस्त० में आधा ठीक, आधा अस्पष्ट पाठ था—**''जब सन्धि अर्थात् शत्रु से मेल करना हो तब उसके तुल्य सवारी कर्म करे अथवा उससे विपरीत करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय। यह दो प्रकार का मेल कहाता है।''** अस्पष्ट ही सही, यहां **''विपरीत''** का यह भाव निकलता है कि **'तुल्य सवारी कर्म न करे'** अर्थात् सन्धि के अन्तर्गत दोनों राजा साथ नहीं जाकर शत्रुओं पर पृथक्-पृथक् आक्रमण करें। मुद्रणलिपिकर ने इस पाठ को मूर्खतापूर्वक बदलकर बिगाड़ दिया। यह भी ध्यान नहीं दिया कि यह **'सन्धि'**=मेल का लक्षण है और उससे **'विपरीतता'** का सन्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। वही भ्रष्ट अर्थ द्विप्र० में छपा और आज तक द्वि० सं० में छपता आ रहा है। इतना ही नहीं वही भ्रष्ट पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में है। पाठकगण! मुद्रणलिपिकर द्वारा बनाये उस पाठ को पढ़िए और देखिए कि भाषा कैसे बिगाड़ी है—

''(संधि) शत्रु से मेल अथवा विपरीतता करे परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का मेल कहाता है।''

अब इसका अर्थ हो गया—'शत्रु से मेल करे या विपरीतता करे अर्थात् 'मेल से विपरीत व्यवहार अर्थात् विरोध करे।' यह कथन कितना मूर्खतापूर्ण है। मूलह० में जो कुछ ठीक था उसको भी मुद्रणलिपिकर ने ठीक नहीं छोड़ा। किसी भी सम्पादक विद्वान् ने इस महाभ्रष्ट पाठ की ओर आज तक ध्यान नहीं दिया। सवा सौ से अधिक वर्ष बीत गये, अशुद्ध पाठ ही परोसा जा रहा है। अन्य अर्थ भी श्लोकपदों से असम्बद्ध है।

विशेष कथन—इनके संशोधन की महती आवश्यकता को देखते हुए और भविष्यत्कालीन लाभ का विचार करते हुए इस संस्करण में इसका संशोधित अर्थ दिया है। श्लोकार्थों को देखकर मेरा अनुमान है कि 'षाड्गुण्य' प्रसंग के इन श्लोकों का अर्थ किसी संकलनकर्त्ता लेखक ने किया है। इनमें पर्याप्त अपूर्णता, अस्पष्टता, अशुद्धता है। महर्षि जैसे संस्कृतज्ञ विद्वान् ऐसा अर्थ कभी नहीं करा सकते। ऐसी ही न्यूनताएं द्वादश समुल्लास में बौद्ध और जैन-मत विषयक श्लोकार्थों में हैं। वहां भी संकलनकर्त्ता कृत त्रुटियां हैं। अतः इनका परिशोधन, समस्त आग्रह त्यागकर, करना आवश्यक है, नहीं तो महर्षि की छवि पर इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा।

उदयपुर सं० का ऋषि-विरुद्ध उत्तर—एक लेख में, मैंने उदयपुर सं० के सम्पादकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था कि 'इस श्लोकार्थ को मूलहस्त से मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने अधिक भ्रष्ट कर दिया है, अतः इसका संशोधन परमावश्यक है।' उदयपुर सं० सम्बन्धी चारों लेखकों में से एक लेखक ने उत्तर दिया किन्तु उसका अर्थ अशुद्धतम है। उत्तर में अन्यों ने बस, या तो मेरी आलोचना की है, या मेरी निन्दा की है, या मुझे धमकी दी है। पाठकगण! यह है सत्यार्थप्रकाश का सम्पादन करनेवाले उदयपुर सं० के आर्यविद्वानों की मानसिकता!! क्या आर्यों में समीक्षा और समीक्षकों का यही स्तर है!!

पहले लेखक श्लोकार्थ-परक कोई उत्तर नहीं दे सके। केवल मुझ पर आरोप लगाया कि मेरा सुझाव 'ऋषि दयानन्द पर आक्षेप है।' बौखलाहट में ये लेखक मेरा लिखा यह वाक्य भी पढ़ना भूल गये कि **'यह मुद्रणप्रति में की गई विकृति है। इस प्रकार यह आक्षेप मुद्रणलिपिकर पर आता है, ऋषि दयानन्द पर नहीं।'** लेखक महोदय! वस्तुतः, ऋषि दयानन्द पर आक्षेप तो आप लोग कर रहे हैं, क्योंकि मूलहस्त० में यह अर्थ ऋषि दयानन्द ने लिखाया है, आप उसको अशुद्ध बता रहे हैं। इतनी भी क्या बौखलाहट हुई कि यह भी भूल गये कि हम ऋषि दयानन्द के पाठ की निन्दा-आलोचना कर रहे हैं! ये लेखक अपने द्वारा किये उन परिवर्तनों को भी भूल गये जो इन्होंने उदयपुर सं० में अनेक पाठों/ श्लोकार्थों में किये हैं। जैसे, समु० ३ में पृ० ४८

(विग्रह—) कार्यसिद्धि के लिये उचित समय वा अनुचित समय में[१] स्वयं किया [विरोध=युद्ध][२] वा मित्र [राजा] का अपराध करने वाले शत्रु के साथ [किया] 'विरोध', यह दो प्रकार का [विग्रह] जानना[३] चाहिये ॥ ४ ॥

(यान—) अकस्मात् शत्रु राजा पर कोई आपत्ति आ जाने पर[४] एकाकी वा मित्र राजा के साथ

पर (इस सं० में पृ० १०० पर) ''**इन्द्रियाणां विचरताम्**''—श्लोक के ऋषिकृत अर्थ को अशुद्ध मानकर बदला है, तो वह परिवर्तन करना किस पर आक्षेप है ? क्या वह ऋषि दयानन्द पर और 'सत्यार्थप्रकाश' पर आक्षेप नहीं माना जायेगा ? तो कृपया, कुछ लिखने से पहले अपने गिरेबान में तो झांक लीजिये। आगे धमकी दी की यदि मैंने भविष्य में आलोचना की तो वे मेरे '**मनुस्मृतिभाष्य**' में गलतियां निकालेंगे। लेखक महोदय ! इस कार्य के लिए आपका स्वागत है। यदि गलतियाँ सुझायेंगे तो उन्हें मैं सधन्यवाद अगले संस्करण में सुधार लूंगा, किन्तु ऐसे बेतुके उत्तर मत देना, जैसे सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में दिये हैं।

दूसरे लेखक ने इस श्लोक को समझा ही नहीं। अपनी कल्पना से यह नया अशुद्ध अर्थ गढ़ दिया—''एक सन्धि स्वयं कमजोर होने पर किसी के साथ की जाती है, दूसरी स्वयं को सशक्त बना शत्रु को विवश करके की जाती है।'' यदि ये लेखक किसी एक भी भाष्यकार का अर्थ पढ़ लेते तो उनसे यह भूल नहीं होती। कम-से-कम इस ग्रन्थ में ही अन्यत्र प्रयुक्त ''**सन्धि**''=मेल करना और ''**यान**''=''शत्रु से लड़ने के लिए जाना'' शब्दों के भेद पर ही ध्यान दे लेते (पृ० २८३/२०)।

तीसरे लेखक ने तालिका देकर पाठकों पर प्रभाव छोड़ने की नीति अपनाई है कि इतने सम्पादकों ने इस पाठ को ग्रहण किया है। इनको यही याद नहीं कि उदयपुर संस्करण में आपकी यह प्रतिज्ञा ही नहीं है कि 'आप अधिक सम्पादकों द्वारा गृहीत पाठ को ग्रहण करेंगे।' यदि आपने इस आधार को उत्तर देने के लिए अपना लिया तो फिर आप इस आपत्ति का उत्तर दें कि आपने उन्हीं अधिकांश सम्पादकों द्वारा स्वीकृत दर्जनों पाठों को क्यों बदल डाला ? उन्हीं को यथावत् ग्रहण क्यों नहीं किया ? और यदि उन्हीं के पाठों को ग्रहण करना था तो फिर नया संस्करण प्रकाशित करने की क्या जरूरत थी ? इन्होंने मूलहस्त के पाठ के अर्थ को भी ठीक से नहीं समझा। उसका अर्थ है—'शत्रु से जब सन्धि करनी हो या करे तब उसका युद्ध में साथ दे।'

चौथे मिथ्याभिमानी लेखक यहां अपने प्राकृत स्वभाववश मेरी निन्दा करने के सिवाय कोई उत्तर नहीं दे सके। बे-सिर-पैर का यह वाक्य लिखकर उत्तर से पीछा छुड़ा लिया कि '**इसको समझ लो, यह स्वयं समझ में आ जायेगा**', आदि। इसका अभिप्राय यह निकला कि उनको भी इसका अर्थ समझ में नहीं आया, नहीं तो ये महाशय अन्य श्लोकार्थों की तरह यहां भी अपने अस्पष्ट-अशुद्ध अर्थ का चमत्कार दिखाते और फिर उस पर अहंकार के साथ उछल-कूद भी मचाते।

मुझे आश्चर्य है, श्लोक पद सामने हैं, उसका हिन्दी अर्थ सामने है, प्रसंग सामने है, मनुस्मृति की अनेक व्याख्याएं सामने हैं, उदयपुर सं० की परिवर्तन-नीति भी सामने है, फिर भी उदयपुर सं० के लेखकों ने सत्यार्थ को स्वीकार करने की उदारता नहीं दिखाई, पूर्वाग्रह और निन्दा में उलझकर सत्यार्थ से भटक गये।

ये कैसे ऋषिभक्त हैं ?—मैंने अपने लेख में केवल यह लिखा था कि मूलहस्तलेख का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्रहण कर लेते तो भी कुछ अच्छा था, क्योंकि उसको मुद्रणलिपिकर ने अधिक भ्रष्ट बना दिया है। उदयपुर सं० के लेखकों ने मुझपर आलोचना के ओले बरसा दिये और निन्दा की झड़ी लगा दी। **ये सम्पादक बौखलाहट में यह भी याद नहीं रख सके कि लेख में मैंने अपना संशोधित अर्थ नहीं, अपितु मूलहस्त० का अर्थ ग्रहण करने को लिखा है, जो महर्षिप्रोक्त है। पाठकगण! अब आप बताइये कि ये आलोचना-निन्दा महर्षि दयानन्द की हुई या मेरी ? महर्षिप्रोक्त अर्थ की धज्जियां उड़ा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर ऋषिभक्त होने का दावा ठोक रहे हैं।** क्या इन लेखकों को क्या 'ऋषिभक्त' कहा जा सकता है ? और ऐसे महर्षिविरोधी उत्तरों को वितरित-प्रचारित-प्रकाशित करने वाले उदयपुर के 'सत्यार्थप्रकाश न्यास' को क्या ऋषिभक्त माना जा सकता है ?

१. **उचित-अनुचित समय**—उचित समय अर्थात् वह निर्धारित समय जिसमें युद्ध में कोई प्राकृतिक बाधा न आये जैसे मार्गशीर्ष, फाल्गुन, चैत्र आदि का समय (मनु० ७.१८२)। अनुचित समय अर्थात् युद्ध के लिए न निर्धारित और प्राकृतिक दृष्टि से असुविधाजनक समय जैसे वर्षा, अतिशीतकाल, अति उष्णकाल आदि (मनु० ७.१८३)।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**विरोध**' पद त्रुटित है। इसके बिना '**किया**' की संगति नहीं बनती।

३. **अपवाक्य**—इस वाक्य में दोनों हस्त० और तीनों सं० में कई त्रुटियां होने से यह अपवाक्य है—''**मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिए।**'' यहां ''**मित्र का**'' और ''**दो प्रकार का जानना**'' प्रयोग अभीष्ट हैं, क्योंकि यह लक्षणवाक्य है, विधिवाक्य नहीं। इसी प्रकार '**किया**' और '**यह**' दो पद त्रुटित हैं। सभी सं० में अपभाषा है।

४. **अप-अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में**'' अप-अर्थ है। उपयुक्त अर्थ के लिए उपर्युक्त संशोधन परमावश्यक है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अप-अर्थ है।

मिलके शत्रु की ओर [युद्धार्थ][१] जाना, यह दो प्रकार का 'गमन' [=यान] कहाता है॥५॥

[**आसन**—][२] [दैवी विपत्ति के कारण] स्वयं वा किसी [पूर्वकृत बुरे कर्म के बुरे फल के कारण जब किसी राजा का बल आदि] क्षीण हो जाय अर्थात् निर्बल हो जाय [तब उसको][३] अथवा मित्र राजा के कहने पर शत्रु राजा को एकस्थान पर घेरकर बैठे रहना,[४] यह दो प्रकार का '**आसन**' कहाता है॥६॥

[**द्वैध**—] कार्यसिद्धि के लिये सेनापतियों[५] और सेना के दो विभाग करके विजय करना, दो प्रकार का '**द्वैध**' कहाता है॥७॥

[**संश्रय**—][६] एक, किसी [शत्रु द्वारा पीड़ित किये जाने पर उस तात्कालिक पीड़ा की निवृत्ति आदि] की सिद्धि के लिये किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा[६] का शरण लेना, [दूसरा, भविष्य के लिए किसी बलवान् राजा की शरण ग्रहण करना, जिससे भविष्य में किसी] शत्रु से पीड़ित न हो। यह दो प्रकार का '**आश्रय लेना**' कहाता है[७]॥८॥

[सन्धि आदि षड्गुणों के प्रयोग का उचित समय—][८]

[**सन्धि**—] [९]जब यह जान ले कि इस समय शत्रु से सन्धि करने से[१०] थोड़ी पीड़ा [वा हानि] प्राप्त होगी, और पश्चात् [युद्ध][११] करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगा, तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे॥९॥

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**शत्रु की ओर जाना**'' अस्पष्टार्थक प्रयोग है। यहां कोष्ठकान्तर्गत '**युद्धार्थ**' पद त्रुटित है। उसको ग्रहण करना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना श्लोकोक्त अभिप्राय प्रकट नहीं होता। **संशोधन-पुष्टि**—श्लोकार्थ ११ में भी '**यायात्**' का अर्थ ''**युद्ध करने के लिये जाना**'' किया है।

२-३. **अप-अर्थ एवं त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में प्रथम श्लोकपंक्ति का यह अप-अर्थ प्राप्त होता है—''**स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाय अर्थात् निर्बल हो जाय**''। यहां ''**क्रम से क्षीण हो जाय**'' अशुद्ध पदार्थ या भावार्थ है। ''**क्रमशः**'' यह अव्यय तो अगले ''**दैवात्**=दैवी विपत्ति के कारण अथवा **पूर्वकृत**=पूर्वकृत कर्मों के फल के कारण'' इन दो कथनों के लिए प्रयुक्त है। अर्थ में आसन के दो कारण='**दैवात् और पूर्वकृत**' छूटे हुए हैं। अतः उपर्युक्त संशोधन परमावश्यक है, जो बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दिया गया है। इसके अतिरिक्त सभी श्लोकार्थों के आरम्भ में बृ० कोष्ठक के शीर्षक भी अपेक्षित हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अप-अर्थ है।

४-५. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**बैठ रहना**'' अपप्रयोग है। इसी प्रकार दोनों में ''**सेनापति**'' एकवचन अपप्रयोग है, यहां बहुवचन अपेक्षित हैं। एकवचन तो देखिए, कैसा अनर्थ प्रकट करता है—''**सेनापति के दो विभाग करके**''। बहुवचन से अनर्थ दूर हो जायेगा—'**सेनापतियों के.....दो विभाग करके।**' शीर्षक भी अपेक्षित है। सभी सं० में यह भ्रष्टपाठ है।

६. **महात्मा**=किसी प्रभावशाली समर्थ व्यक्ति का आश्रय लेना, जिसकी बात शत्रु राजा मानता हो। जैसे रामायण में वर्णित है कि यवन, शक आदि समुदायों ने शत्रु राजा के साथ मिलकर अयोध्या के राजा सगर को पराजित कर दिया। जब पुनः समर्थ होकर सगर ने अपना राज्य प्राप्त करके इनका विनाश करना चाहा तो ये लोग अपने राजा सहित अयोध्या के मन्त्री वसिष्ठ की शरण में आ गये। प्रभावशाली वसिष्ठ ने इन पर आक्रमण न करने के लिए राजा सगर को मना लिया। ये विनाश से बच गये, किन्तु इनको भारत से देशनिकाला दे दिया गया। तब बाहर जाकर इन्होंने अपने-अपने उपनिवेश और फिर देश बसाये।

७. **त्रुटित एवं अप-अर्थ**—उपलब्ध अर्थ में, '**संश्रय**' का दूसरा भेद जो भविष्य के लाभार्थ श्लोक में वर्णित है, उसका अर्थ त्रुटित है। इसी प्रकार दोनों संश्रयों का कारण-वर्णन भी त्रुटित है। शीर्षक भी त्रुटित है। यह सब कोष्ठकान्तर्गत दे दिया है। बिना पाठ-परिवर्धन के श्लोक का उपयुक्त अर्थ नहीं बनता। दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में इस पाठ-परिवर्धन की आवश्यकता है।

८. **नये प्रकरण का आरम्भ**—पूर्वोक्त श्लोक षाड्गुण्य=युद्धनीति के छह गुणों के लक्षण थे। यहां यह नया प्रकरण शुरू होता है कि उन '**सन्धि**' आदि षड्गुणों का प्रयोग कब किया जाये। स्पष्टता के लिए यह शीर्षक दिया है।

९-११. **भ्रष्ट-अर्थ**—स्पष्टार्थ के लिए कोष्ठकान्तर्गत '**सन्धि**' आदि शीर्षक पद भी सभी अर्थों से पूर्व आवश्यक हैं, बिना उसके पाठक

[**विग्रह**—] जब अपनी सब प्रजा वा सेना [को][१] अत्यन्त प्रसन्न, उन्नतिशील और [शत्रु की सेना आदि से][२] श्रेष्ठ जाने, वैसा[३] अपने को भी समझे, तब[४] शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे॥ १०॥

[**यान**—] जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टि-युक्त[५] जाने, और शत्रु का बल अपने से विपरीत=निर्बल जाने, तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिये जावे॥ ११॥

[**आसन**—] जब [राजा अपनी][६] सेना=बल, वाहनों[७] से क्षीण हो जाय तब शत्रुओं को प्रयत्न से धीरे-धीरे[८] शान्त करता हुआ अपने स्थान पर [चुप होकर] बैठा रहै॥ १२॥

[**द्वैधीभाव**—] जब राजा, शत्रु [के आक्रमण] को अत्यन्त बलवान् जाने तब द्विगुणा वा दो विभागों में सेना को[९] करके अपना [विजय] कार्य सिद्ध करे॥ १३॥

[**संश्रय**—] जब [राजा निश्चयपूर्वक यह][१०] समझ लेवे कि अब शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी, [और मेरा पराजय अवश्य होगा][११], तब[१२] किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे॥ १४॥

जो राजा, जिसकी प्रजा और जिसकी सेना का और जिसके शत्रु के बल का निग्रह करे[१३] अर्थात् नियन्त्रित करे, दुर्बल राजा उसकी सेवा सब यत्नों से गुरु के सदृश नित्य क्रिया करे॥ १५॥

[दुर्बल राजा] जिसका आश्रय लेवे, उस सेवित पुरुष के भी [आश्रय वा] कर्मों में यदि दोष देखे, तो [उसके आश्रय को छोड़कर फिर] निःशङ्क होकर युद्ध को ही अच्छे प्रकार से करे[१४]॥ १६॥

को यह ज्ञान नहीं होता कि यह '**किसका प्रयोजन**' वर्णित है, जैसे, लिपिकरों और शोधकों को भी नहीं हुआ। इस श्लोक में आगे '**युद्ध करने से**' यह अशुद्ध अर्थ है, यहां '**सन्धि करने से**' अर्थ अपेक्षित है, क्योंकि यहां सन्धि का महत्त्व वर्णित है। आगे, ''**पश्चात्**'' पद के बाद ''**करने से**'' स्थान पर ''**युद्ध करने से**'' परिवर्धन शुद्धार्थ के लिए अपेक्षित है। ये संशोधन दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपेक्षित हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही भ्रष्ट एवं अस्पष्ट अर्थ है।

१-४. **त्रुटित आवश्यक पद एवं संशोध्य पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः, '**को**' और '**शत्रु से**' पद उपयुक्त वाक्य-रचना के लिए अपेक्षित हैं। इसी प्रकार ''**वैसे**'' के स्थान पर ''**वैसा**'', ''**तभी**'' के स्थान पर '**तब**' प्रयोग अपेक्षित है, श्लोकार्थ के आरम्भ में ''**जब**'' पद के सम्बन्ध से भी यह आवश्यक है।

५. **पुनरुक्तिपूर्ण अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां से आगे ''**प्रसन्नभाव से**'' अनावश्यक पद पठित हैं क्योंकि ''**हर्ष.....युक्त**'' पद का यही अर्थ होता है जो एक पद पूर्व ही आ चुका है। सभी अन्य सं० में यह पुनरुक्त पाठ है।

६-८. **त्रुटित आवश्यक पाठ तथा स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः, स्पष्टार्थ के लिए '**राजा अपनी**' पाठ अपेक्षित है। ''**वाहन**'' के स्थान पर ''**वाहनों**'' बहुवचन शुद्ध है। ''**धीरे-धीरे**'' '**प्रयत्न**' का नहीं ''**शान्त**'' का क्रियाविशेषण है, अतः उसी स्थान पर प्रयुक्त होना अभीष्ट है, अन्यथा अनर्थ प्रकट करेगा। सभी अन्य सं० में यह भ्रष्टपाठ है।

९. **अपपाठ**—दोनों सं० में यह अप-पाठ है—''**दो प्रकार की सेना करके**''। यहां '**दो विभागों में सेना को करके**' पाठ उपयुक्त है। सेना के प्रकार तो पदातिसेना, अश्वसेना, हस्तिसेना, रथसेना ये चार होते हैं, इनमें से दो प्रकारों का अर्थबोध होगा जो ''**द्वैध**'' नामक उपाय में संगत नहीं है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में है।

१०-१२. **त्रुटित आवश्यक पाठ तथा अपूर्ण अर्थ**—दोनों सं० में उचित और पूर्ण अर्थबोध के लिए दोनों कोष्ठकान्तर्गत पाठों का परिवर्धन अपेक्षित है, क्योंकि परिवर्धन के बिना संश्रय का प्रयोजन स्पष्ट नहीं हो रहा है। ''**जब**'' पूर्वोक्त प्रयोग के सम्बन्ध से '**तब**' प्रयोग अर्थ की दृष्टि से उपयुक्त भी है। दोनों सं० में ''**तभी**'' पद है। सभी सं० में अपूर्ण-अस्पष्ट अर्थ है।

१३. **भ्रष्ट-अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अस्पष्टार्थक, अपूर्ण पाठ है—''**जो प्रजा और अपनी सेना और शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके, उसकी**''। जो राजा अपनी प्रजा एवं सेना और अपने शत्रु के बल को रोकेगा उसकी गुरुसदृश सेवा कोई दूसरा क्यों करेगा? यहां श्लोक का भाव इससे भिन्न है जो प्राप्त वाक्यरचना के द्वारा प्रकट नहीं हो रहा है, अतः उपर्युक्त

जो धार्मिक राजा हो, उससे विरोध कभी न करे किन्तु उससे सदा मेल रक्खे, और जो [राजा] प्रबल दुष्ट हो, उसी को[१] जीतने के लिये ये पूर्वोक्त प्रयोग करने उचित हैं।[२]

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥ १॥
आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥ २॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते॥ ३॥
यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥ ४॥

मनु० ७, [१७७-१८०]॥

नीति का जाननेवाला पृथिवीपति राजा, जिस प्रकार उसके मित्र, उदासीन[३] और शत्रु अधिक न हों, ऐसा सब उपायों से वर्ते॥ १॥

सब कार्यों का वर्त्तमान में कर्त्तव्य, और भविष्यत् में जो-जो करना चाहिये, और जो काम कर चुके, उन सबके गुण-दोषों को यर्थाथता से विचारे[४]॥ २॥

संशोधन परमावश्यक है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यही अप-अर्थ विद्यमान है।

१४. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**कर्मों में दोष देखे तो वहां भी अच्छे प्रकार युद्ध को ही निःशङ्क होकर करें।**" "**अच्छे प्रकार**" "**करे**" का क्रियाविशेषण है और "**निःशंक होकर**" कर्त्ता का। यहां उलट-पुलट क्रम हो गया है, अतः संशोधन अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्ट अपपाठ है।

१-२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः "**उसी के जीतने के लिये ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है**" यह व्याकरणिक दृष्टि से अपपाठ है। "**के**" पद के स्थान पर "**को**" तथा अगले एकवचनात्मक वाक्य के स्थान पर बहुवचनात्मक क्रिया चाहिए, क्योंकि "**ये**" बहुवचन है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अप-परिवर्तन**—नासमझ मुद्रणलिपिकर ने "**उदासीन**" के बाद **मध्यस्थ** पद बढ़ाया है और द्विप्र० में उसको कोष्ठक में दर्शाया है, जो अशुद्ध है। राजनीतिक शब्दावली में '**उदासीन**' एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ '**मध्यस्थ**' नहीं होता। उसका अर्थ है—"**राजा के प्रति विरक्त रहने वाले या ममतारहित जन जो केवल स्वार्थ-साधन का आचरण करते हैं**"। '**मध्यस्थ**' हानिकर नहीं होते जबकि "**उदासीन**" इसलिए हानिकारक होते हैं कि वे राज्य के प्रति सक्रिय और निष्ठावान् नहीं होते, अतः वे राज्य के हानि-लाभ, दुःख-सुख में अपेक्षित सहयोग नहीं करते। केवल अपनी हानि और लाभ ही देखकर कोई कार्य करते हैं। ऐसे लोग राज्य के हितैषियों में नहीं माने जाते। राष्ट्रभक्ति से विरत रहना अच्छे मित्र या नागरिक का लक्षण नहीं है। ऐसे नागरिक इस कारण भी हानिकारक होते हैं कि वे स्वार्थ प्रेरित होकर कभी भी विरोधी अथवा शत्रु के मित्र बन सकते हैं। ऐसे लोगों का छुपा और अनिश्चित चरित्र अधिक हानिकारक सिद्ध होता है। ('उदासीन' का लक्षण जानने के लिए द्रष्टव्य पृ० २९४ पर मनु० ७.२११ श्लोक और श्लोकार्थ)

इसी प्रकार '**उदासीन**' राजा भी होते हैं। ग्रन्थकार ने अर्थ में उभयपरक भाव ग्रहण किया है। '**उदासीन**' राजा का लक्षण मनुस्मृति ७.२११ में वर्णित है। अर्थ सहित वह श्लोक इस ग्रन्थ में पृ० २९४ पर द्रष्टव्य है। यह वह राजा होता है 'जो ऊपर-ऊपर से बातें करता है, जो ममतारहित और तटस्थ है।' वह स्वार्थवश कभी भी शत्रु बन सकता है या संकट में अकेला छोड़ सकता है। सभी द्वि०सं० में यह अशुद्ध पद विद्यमान है। मूलह०, मूलसं० में नहीं है। मुद्रणलिपिकर कृत यह अपपाठ ग्राह्य नहीं है।

४. **मुद्रणकालीन स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह० में यह पाठ उपर्युक्त रूप से शुद्ध है। मुद्रणकाल में किसी शोधक ने अशुद्ध पाठ बना दिया—"**उन सबके यथार्थता से गुण-दोषों को विचार करे।**" भद, युमी, उदयपुर सं० में इसका संशोधन कर लिया

पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे। जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करनेवाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता, वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्त्ता, और किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है, वह शत्रुओं से पराजय को प्राप्त कभी नहीं होता॥ ३॥

राजपुरुष, [और][१] विशेषत:[२] सभापति राजा सब प्रकार से[३] ऐसा प्रयत्न करें कि जिस प्रकार राजा-आदि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु, [उनको][४] वश में करके अन्यथा न करावें। ऐसे मोह में कभी न फसे। यही संक्षेप से 'नय'[५] अर्थात् राजनीति कहाती है॥ ४॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च॥ १॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥ २॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ ३॥
दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥ ४॥
यतश्च भयमाशङ्केत् ततो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ ५॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥ ६॥

है किन्तु वेस, जग, में अशुद्ध पाठ है।

१-३. **अपपाठ**—इस वाक्यांश में दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**और**' पद त्रुटित है। वाक्यरचना के लिए और "**विशेषत:**" पद को पृथक् करने के लिए अपेक्षित है। "**विशेष**" अपप्रयोग है जो भिन्न अर्थ को प्रकट करता है। उपयुक्त अर्थ के लिए "**विशेषत:**" प्रयोग शुद्ध है। (द्र०पृ० २६२/१५) "**सब प्रकार से**" यह पाठ श्लोकार्थ के आरम्भ में अस्थान में है। इसकी संगति "**ऐसा प्रयत्न करें**" के साथ है, अत: उचित स्थान पर रखना वांछनीय है। सभी सं० में यह अपपाठ है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट-परिवर्तन**—मुद्रणह० में अशुद्ध परिवर्तन करके मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने इस श्लोक के अर्थ को भ्रष्ट बना दिया है जिससे विपरीत अर्थ प्रकट हो रहा है कि राजा आदि के मित्र आदि को वश में करके उनसे कोई अन्यथा काम न करा ले। जबकि श्लोकोक्त पदों में यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'राजा और राजपुरुष ऐसी नीति बनायें कि उनका कोई मित्र, उदासीन और शत्रु उनको वश में करके कोई अन्यथा कार्य न कराले।' मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० का यह भ्रष्टपाठ है—"**जिस प्रकार राजादि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु को वश में करके अन्यथा न करावे।**" "कौन करावे" वह कर्त्ता अप- अर्थ के कारण लुप्त हो गया है। द्वि०सं० में यही अशुद्ध पाठ है। मूलह० और मूलप्रति सं० में पाठ प्राय: ठीक है, किन्तु अपूर्ण होने से अस्पष्टार्थक है। वहां '**राजा और प्रजाजन को**' पद-परिवर्धन बहुत आवश्यक है। वेस, जग, भद में भ्रष्ट पाठ है; युमी, उदयपुर सं० में संशोधित है। मुद्रणलिपिकर-निर्मित भ्रष्टपाठ ग्राह्य नहीं है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, श्लोकार्थ में "**नय**" पद के स्थान पर "**विनय**" पाठ है। '**नय**' का अर्थ '**राजनीति**' होता है और '**विनय**' का अर्थ '**राजनीतिक अनुशासन**'। **पुष्टि**—मनु० का श्लोक द्रष्टव्य है—"**तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयं..... विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्**" (७.३९)। मूल श्लोक और मूलप्रति में '**नय**' पाठ शुद्ध एवं ग्राह्य है। अन्य सं० में वेस, युमी में संशोधित है किन्तु भद, जग, और उदयपुर सं० में 'विनय' प्रयोग है।

गुल्मांश्च स्थापयेदात्मान् कृतसंज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे च[१] कुशलानभीरूनविकारिणः॥ ७॥
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥ ८॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः[२] स्थले॥ ९॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य ताँश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव[३] विजानीयादरीन् योधयतामपि॥ १०॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥ ११॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं[४] रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥ १२॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥ १३॥
आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते॥ १४॥

मनु० ७ [१८४-१९२, १९४-१९६, २०३-२०४]॥

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे तब अपने राज्य की रक्षा और यात्रा की सब सामग्री का प्रबन्ध[५] यथाविधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देनेवाले पुरुषों का गुप्त स्थापन करके, शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे॥ १॥

तीन प्रकार के मार्गों[६] अर्थात् एक स्थल (भूमि) को[७], दूसरा जल=समुद्र वा नदियों को,[८] तीसरा आकाशमार्ग[९] को शुद्ध बनाकर, भूमिमार्ग पर[१०] रथ, अश्व, हाथी से; जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों से जावे। और पैदल, रथ, हाथी-घोड़े, शस्त्र-अस्त्र और खान-पानादि सामग्री को

---

१. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में "**च**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है। मूलग्रन्थ में भी है।

२-४. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्तलेखों में अयोग्य लिपिकरों ने "**अशि**" और "**समवस्कन्धयेत्**" अपवर्तनियां लिखी हैं। द्विप्र० में भी अशुद्ध हैं। द्विप्र० में "**चेष्ठाश्चैव**" अपवर्तनी भी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**का प्रबन्ध**" पद "**रक्षा**" के बाद अस्थान में है। इनका सम्बन्ध '**रक्षा**' और '**सब सामग्री**' दोनों कथनों से है, अतः उपर्युक्त पाठ शुद्ध किया जाना अभीष्ट है।

६-१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य का अव्यवस्थित पाठ है। कहीं '**में**' विभक्ति प्रत्यय है, कहीं '**को**', कहीं एकवचन है, कहीं बहुवचन दोनों सं० में "**मार्ग अर्थात्**" एकवचन के स्थान पर बहुवचन, "**भूमि में**" के स्थान पर "**भूमि को**", "**नदियों में**" के स्थान पर '**नदियों को**', "**आकाशमार्गों**" के स्थान पर "**आकाशमार्ग**", "**भूमिमार्ग से**" के स्थान पर "**भूमिमार्ग पर**" पाठ होना चाहिए। सभी सं० में ये संशोधन अपेक्षित हैं, वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में ये त्रुटियां विद्यमान हैं।

यथावत् साथ ले, 'बल'-आदि को पूर्ण करके[१], किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके, शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे॥ २॥

जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे; क्योंकि '**भीतर शत्रु, ऊपर मित्र**' पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिये॥ ३॥

सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे और आप सीखे, तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे। जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़ना-लड़ाना[२] जानते हैं। जब शिक्षा करे तब (**दण्डव्यूहेन**) दण्डे के समान[३] सेना को चलावे, (**शकटेन**) जैसे शकट अर्थात् गाड़ी के समान, (**वराह-**) जैसे सुअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड[४] हो जाते हैं, वैसे (**मकराभ्याम्**) जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे, (**सूच्या**) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे, [**गरुडेन**][५] और जैसे नीलकण्ठ ऊपर-नीचे झपट मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे॥ ४॥

जिधर से भय विदित हो उसी ओर सेना को फैलावे। सेना के सब पतियों को चारों ओर रखके '**पद्मव्यूह**' अर्थात् चारों ओर सेनाओं को पद्म के आकार में रखके[६] मध्य में आप रहै॥ ५॥

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा देनेवाले[७] और सेना के साथ लड़ने-लड़ानेवाले वीरों को आठों दिशाओं में[८] रक्खे। जिस ओर से [शत्रु से][९] लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे[१०]। परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे। नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु का घात होना सम्भव

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**बलयुक्त पूर्ण करके**" अस्पष्ट अपपाठ है। यहां '**बलादि को पूर्ण करके**' पाठ होना चाहिए। सभी सं० में अपपाठ है।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**लड़-लड़ा**" के स्थान पर '**लड़ना-लड़ाना**' प्रयोग उपयुक्त है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे श्लोक छह के अर्थ में शुद्ध प्रयोग है। एक-आध स्थलों को छोड़कर ग्रन्थ में सर्वत्र यही स्तरीय साहित्यिक प्रयोग हुआ है। दोनों हस्त० और तीनों सं० आदि सभी में "**दण्डा के समान**" अपप्रयोग है, '**दण्डे के समान**' ग्राह्य है। सभी सं० में अपप्रयोग है। उदयपुर सं० में पहला अपप्रयोग संशोधित है।

४. **अयोग्य लिपिकर-शोधक**—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने "**झूंड**" अपवर्तनी लिखी है। यही द्विप्र० में छपी है।

५. **अपवर्तनी तथा त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठक में पठित पांच श्लोकोक्तपद यथावत् और शुद्ध नहीं हैं। उनका अपपाठ इस प्रकार है—'**दण्डव्यूह, शकट, वराह, मकर, सूचीव्यूह**'। पदार्थ के कोष्ठक में यथावत् पद उद्धृत किये जाते हैं। "**गरुडेन**" पद दोनों में त्रुटित ही है। यहां इनको पाठानुसार शुद्ध रख दिया है। सभी सं० में अशुद्ध पद है।

६. **अपपाठ**—तीनों सं० में त्रुटित या क्रमरहित पाठ हैं। द्विप्र०, द्वि०सं० में—"**सब सेना के पतियों को**" और "**पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रखके**", मूलप्रति सं० में—"**पद्म के आकार चारों ओर से सेनाओं को**"। ये पाठ इस प्रकार उपयुक्त हैं—"**सेना के सब पतियों को**" तथा "**चारों ओर सेनाओं को पद्माकार रखके**" या "**पद्म के आकार में रखके**"। सभी अन्य सं० में अपूर्ण पाठ हैं।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपप्रयोग है—"**आज्ञा का देने**"। यहां प्रस्तावित पाठ ग्राह्य है—"**आज्ञा देनेवाले**"। वेस, भद में यही अपप्रयोग है। युमी में "**आज्ञा के देने**", उदयपुर सं० में "**आज्ञा को देने**" अग्राह्य पाठ है।

८. **आठ दिशाएं**—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये चार दिशाएं हैं। चार अवान्तर दिशाएं हैं—आग्नेयी (पूर्व-दक्षिण के मध्य), नैर्ऋती (दक्षिण-पश्चिम के मध्य), वायवी (पश्चिम-उत्तर के मध्य), ऐशानी (उत्तर-पूर्व के मध्य)।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—"**जिस ओर से लड़ाई होती हो**" सभी सं० में यहां "**शत्रु से**" पद त्रुटित हैं। मूलप्रति में हैं।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मुख करावे**" पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**रक्खे**" संशोधित है।

है[१] ॥ ६ ॥

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, '**युद्धविद्या**' में सुशिक्षित,[२] धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित [हों],[३] और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको सेना के चारों ओर रक्खे[४] ॥ ७ ॥

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला दे। जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब '**सूचीव्यूह**' अथवा '**वज्रव्यूह**' जैसे[५] दुधारा खड्ग,[६] [होता है वैसे][७] दोनों ओर युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे। जो सामने शतघ्नी=तोपें[८], वा भुशुण्डी[९]= बन्दूकें[१०] छूट रही हों, तो '**सर्पव्यूह**'[११] अर्थात् सर्प के तुल्य सोते-सोते चले जायें, जब तोपों के पास पहुंचें तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रुओं की ओर फेर, उन्हीं तोपों और बन्दूकों से उनको मारें; अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा आगे दौड़ावें, जो शत्रुओं को मारें, उनके पीछे अच्छे-अच्छे सवार रहैं;[१२] एक वार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें, अथवा भगा दें ॥ ८ ॥

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथों,[१३] घोड़ों[१४] और पदातियों से; और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौकाओं से; और थोड़े जल में हाथियों पर; वृक्षों[१५] और झाड़ियों[१६] में बाणों से[१७] तथा स्थल-

---

१. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में अपपाठ है—''**शत्रु की घात होने का सम्भव होता है**'', मूलप्रति सं० में है—''**होने का सम्भव है**''। यहां पाठ अपेक्षित है—''**शत्रु की घात होना सम्भव है**''। सभी सं० में यह अपपाठ है।

२-३. **अपप्रयोग एवं त्रुटित क्रिया**—इस वाक्य में दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**युद्धविद्या से सुशिक्षित**'' अपपाठ है, '**में**' कारक प्रत्यय होना चाहिए। आगे दोनों सं० में ''**हों**'' क्रिया त्रुटित है। वाक्यरचनार्थ आवश्यक है।

४. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, यहां द्वि०सं० में यह पाठ है—''**उनको चारों ओर सेना के रखे**''। मूलप्रति सं० में है—''**उनको चारों ओर रक्खे**''। ऊपर प्रस्तावित पाठ अपेक्षित है। अन्य सभी सं० में अपपाठ है।

५-६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० में साहित्यिक प्रयोग ''**जैसा दुधारा खड्ग**'' है। मुद्रणलिपिकर ने उसके स्थान पर अपनी बोली का ''**खड़वा**'' शब्द रखकर पाठ को बिगाड़ दिया। वही द्विप्र० में छपा है। अच्छा हुआ कि द्वि०सं० में फिर से ''**खड्ग**'' पाठ ग्रहण कर लिया। मूलसं० में ''**खड्ग**'' ही है। आगे सभी पाठों में ''**जैसा**'' के स्थान पर ''**जैसे**'' अपेक्षित है। पूर्व पंक्ति में ''**फैलादे**'' के स्थान पर ''**फैला देवे**'' मुद्रणप्रति, द्विप्र० में व्यर्थ पाठान्तर किया है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी सं० में स्पष्ट और पूर्णवाक्य के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है। ''**जैसे**'' के सम्बन्ध से ''**वैसे**'' प्रयोग अभीष्ट है।

८-११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक ''**तोप**'' और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**बन्दूक**'' अपप्रयोग है। पूर्वापर बहुवचनान्त प्रयोगों के दृष्टिगत यहां भी बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित हैं। अपप्रयोगों का नमूना भी द्रष्टव्य है—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने ''**भषंडी**'' तथा ''**शर्प्यव्यूह**'' वर्तनियां लिखी हैं। द्विप्र० में सुधारने के बजाय ''**भुसंडी**'' भ्रष्ट पाठ कर दिया।

१२. **अस्तव्यस्त अपपाठ**—अपप्रयोगों और अस्तव्यस्त पदों के कारण दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपपाठ हो गया है। द्विप्र० में यह पाठ है—''**वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें, बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहैं।**'' ''**मारें**'' क्रिया वृद्धों के साथ जुड़ गई है। मूलप्रति सं० में अपपाठ है—''**वृद्ध पुरुषों को तोप के मुख के सामने घोड़े पर सवार करा दौड़ावें और बीच में अच्छे सवार रहैं।**'' इस शोध-संस्करण में दोनों पाठों की वचनसम्बन्धी तथा त्रुटित पदों की कमियां दूर कर दी हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अस्पष्ट अपपाठ है।

१३-१९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अनेक पदों में एकवचन है। श्लोक में बहुवचनात्मक पाठ होने के कारण पद बहुवचनान्त होने चाहिएं—**रथ, घोड़े, नौका, बाण, तलवार, ढाल।** ''**वृक्ष**'' और ''**झाड़ी**'' सप्तमी बहुवचनान्त अपेक्षित हैं।

बालू में तलवारों[१८] और ढालों से[१९] युद्ध करे-करावें॥ ९॥

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़नेवालों को उत्साहित और हर्षित करे। और जब युद्ध बन्द[१] हो जाय तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो, वैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को बढ़ावे। अपने से भी अधिक लड़नेवालों को[२] खान-पान, अस्त्र-शस्त्र-साहाय्य और औषधादि से प्रसन्न रक्खे। व्यूह के[३] विना लड़ाई न करे-न करावे; लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है॥ १०॥

किसी समय उचित समझे तो शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रक्खे और उसके राज्य को पीड़ित करे। शत्रु के चारा, अन्न, जल, और इन्धन को दूषित वा[४] नष्ट कर दे॥ ११॥

शत्रु के तालाब,[५] नगर के प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे। रात्रि में उनको त्रास=भय देकर जीतने का उपाय करे॥ १२॥

जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे। और जो उचित समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा करदे और उससे लिखवा लेवे कि **'तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके[६] अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा'**, ऐसे उपदेश करे। और ऐसे पुरुष उसके[७] पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाय, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको कैद करे[८] तो भी उस राजा का सत्कार यथायोग्य रक्खे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहै॥ १३॥

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है, और विशेष

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **'बन्ध'** वर्तनी है। यहां **'बन्द'** वर्तनी ग्राह्य है, जैसे अन्यत्र बहुत्र है, और यहां द्वि०सं० में श्लोकार्थ १३ में **''कैद''** के स्थान पर **'बन्दीगृह'** है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रण-प्रतिलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति में यह पाठ छूट गया है—**''बढ़ावे। अपने से भी अधिक लड़ने वालों को''**। द्विप्र०, द्वि०सं० में वही त्रुटित पाठ छपता आ रहा है। मूलप्रति सं० में पूर्ण पाठ है। वेस, भद, युमी, विस, जस में असंगत और त्रुटित अपपाठ है। उदयपुर सं० में गृहीत है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में **''व्यूह से बिना''** अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है।

४. **मुद्रणप्रति में और मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने उपर्युक्त पाठ को श्लोकविरुद्ध और एकवाक्यात्मक बनाकर इस प्रकार अशुद्ध बनाया है—**''पीड़ित कर शत्रु के चारा, अन्न....कर दे।''** यही अपपाठ वेस, जग, युमी, विस, भद, जस, उदयपुर सं० में प्राप्त है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में **''दूषित नष्ट कर दे''** पाठ है। द्विप्र० और द्वि०सं० में क्रमभ्रष्ट पाठ बनाया है—**''नष्ट दूषित कर दे''** किसी पदार्थ को जब नष्ट ही कर दिया, तो फिर दूषित किसको करेगा? सही क्रमबद्ध पाठ होगा—**''दूषित वा नष्ट कर दे।''** यही प्रयोगक्रम श्लोकपाठ में है। दूषित का ही विस्तारित अर्थ **'नष्ट'** करना है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में **''तलाब''** अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित उपर्युक्त है।

६-७. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में दोनों स्थलों पर और द्वि०सं० में एक स्थल पर अपप्रयोग **'उनके'** है, यहां **'उसके'** ग्राह्य है।

८. **मुद्रणकालीन हास्यास्पद अनुवाद**—मूलह०, मुद्रणह० में **''कैद करे''** पाठ है। हिन्दीकरण के समय शोधक पं० ज्वालादत्त ने इसका हास्यास्पद अप-अनुवाद बना दिया—**''बंदीगृह करे।''** यही अपपाठ द्विप्र० में है और सभी द्वि०सं० में छप रहा है। आर्य विद्वानों द्वारा इस अप-पाठ को अब तक स्वीकार करना भी आश्चर्य का विषय है। यह **'बंदी बनाये'** या **'बंदी करे'** पाठ होना चाहिए था। **''बन्दीगृह''** के साथ क्रिया भी बदलनी चाहिए थी, जिसपर शोधक ने ध्यान नहीं किया।

करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित को मनोवाञ्छित[१] पदार्थों का देना[२] बहुत उत्तम है। और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न ठट्ठा करे,[३] न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा कहै। किन्तु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य-प्रतिष्ठा सदा रक्खे॥ १४॥

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥ १॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते॥ २॥
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः॥ ३॥
आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः॥ ४॥ मनु० [७।२०८-२११]

मित्र का लक्षण[४]—राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसे नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल प्रेमयुक्त भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य सिद्ध करनेवाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होके बढ़ता है॥ १॥

धर्म को जानने, कृतज्ञ=किये हुए उपकार को सदा माननेवाले, प्रसन्न-स्वभाव, अनुरागी, स्थिरारम्भी[५], लघु=छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है॥ २॥

सदा इस बात को दृढ़ रक्खे कि बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, किये हुए को जाननेहारे और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु कभी न बनावे; क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा, वह दुःख पावेगा॥ ३॥

उदासीन का लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुणयुक्तता,[६] अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और

---

१. **अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**मनवांछित**" अपवर्तनी है। मूलसं० में उपर्युक्त संशोधन है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपपाठ है। मूलप्रति में है—"**पराजित के मनोवांछित पदार्थों का देना**"। द्वि०सं० में अधिक अपपाठ है—"**पराजित के मनवांछित पदार्थों का देना**"। बंदीघर में प्राप्त होनेवाले पदार्थ पराजित के नहीं होते, दाता और विजेता के होते हैं, अतः "**को**" कर्मकारक अभीष्ट है। उपर्युक्त सही पाठ ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा हास्यास्पद पाठ-परिवर्धन**—मुद्रणह० में "**न हंसी और ठट्ठा करे**" मूर्खतापूर्ण पाठान्तर किया है। दोनों शब्द एकार्थक हैं अतः "**हंसी**" पद बढ़ाना निरर्थक है। मुद्रणलिपिकर का ही व्यर्थ पाठ सभी द्वि०सं० में है। मुद्रणलिपिकर ऐसे ही मनमाने पाठ जोड़ता चलता है। समु० ११ में इसने यही भाषा जोड़ी है। मूलह० का प्रयोग था—"**तुम्हारा बड़ा ठट्ठा होगा**", मुद्रणलिपिकर ने मनमानापन से इसमें आगे नया वाक्य जोड़ दिया—"**सब लोग हंसी करेंगे**" (६९३/४)। उस मूर्ख को यही ज्ञान नहीं है कि ये दोनों शब्द एकार्थक हैं।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मित्र का लक्षण**" यह शीर्षक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका यह पाठ बनाया है—"**मित्र का लक्षण यह है**", जबकि चौथे श्लोकार्थ में शीर्षक "**उदासीन का लक्षण**" यथावत् रहने दिया। मुद्रणलिपिकर ने ऐसे व्यर्थ पाठान्तर किये हैं और पाठ को अव्यवस्थित किया है।

५. **स्थिरारम्भी**=विचारकर धैर्यपूर्वक किसी कार्य को करनेवाला अर्थात् जल्दबाजी न करने वाला।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**गुणयुक्त**" विशेषण पद है। इसकी क्रिया से संगति नहीं बनती, अतः '**गुणयुक्तता**' भाववाचक पद अपेक्षित है।

करुणा भी [हो];[१] स्थूललक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातें निरन्तर बनाया[२] करे, वह **'उदासीन'** कहाता है॥ ४॥

एवं सर्वमिदं राजा सह सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः।
व्यायम्याप्लुत्य[३] मध्याह्ने[४] भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्॥ १॥ मनु० [७।२१६]॥

पूर्वोक्त प्रातःकाल-समय उठ,[५] शौचादि, [से निवृत्त होकर व्यायामशाला में जा व्यायाम और स्नान आदि दिनचर्या करे। फिर] सन्ध्योपासन [कर और] अग्निहोत्र कर वा करा; सब मन्त्रियों से विचार कर, सभा में जा [तत्पश्चात् मध्याह्न-भोजन के लिये अन्तःपुर में प्रवेश करे। भोजनोपरान्त विश्राम करके यथासमय][६] सेना में जा,[७] सब भृत्यों[८] और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि के स्थानों[९], शस्त्रों और

---

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''हो''** क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्य अर्थवान् नहीं बनता।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''सुनाया करे''** प्रयोग है। उपर्युक्त प्रयोग—**''बनाया करे''** सटीक है। मुहावरा भी यही प्रचलित है—**''ऊपर-ऊपर की बातें बनाना''**। उपर्युक्त परिवर्तन उपयुक्त एवं ग्राह्य है।
स्थौललक्ष्य=जो प्रत्येक कार्य में अपनी ही हानि और लाभ को सामने रख कर व्यवहार करता है।

३,४. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० तथा तीनों सं० में **''व्यायाम्य''** अपपाठ है। वेस, भद, युमी, विस, जस, जग और उदयपुर सं० में अपपाठ है। आगे दोनों हस्त० और द्विप्र० में **''मध्यान्हे''** अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

५. **अन्यत्र वर्णन**—इसी समु० में पृ० २८१ पर द्रष्टव्य मनुस्मृति का श्लोक ७.१४५ और उसका अर्थ।

६. **अस्त-व्यस्त पाठ**—यह अनुच्छेद मनुस्मृति के सप्तम अध्याय के १४५, १४६, २१६-२२५ श्लोकों का संक्षिप्त सार है। उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने यहां राजा की संक्षिप्त दिनचर्या का उल्लेख किया है। किन्तु, श्लोकोक्त वर्णन की तुलना में यहां कुछ पाठ क्रमविरुद्ध हो गया है, तो कुछ त्रुटित रह गया है, जिससे यह पाठ और पाठ में वर्णित दिनचर्या भी अस्त-व्यस्त हो गई है। दोनों हस्त०और दोनों सं० में पाठान्तर भी है किन्तु मूलप्रति सं० में द्वि० सं० का ही परिवर्धित पाठ यथावत् ग्रहण कर लिया है।
त्रुटित पाठ—श्लोकोक्त व्यायाम करने का निर्देश अपने स्थान से भ्रष्ट होकर नीचे सायंकालीन दिनचर्या में वर्णित हो गया है जबकि यह प्रातःकालीन दिनचर्या में विहित है। यदि अध्याहार के आश्रय से वहां भी विधान उचित मान लिया जाये तो कोई आपत्ति नहीं किन्तु प्रातःकालीन दिनचर्या में अवश्य उल्लेखनीय है। इसी प्रकार प्रातःकालीन दिनचर्या के कई महत्त्वपूर्ण विधान छूट गये हैं। पूर्णता के लिए उनको कोष्ठक में दिया है। **संशोधन-पुष्टि**—इस श्लोक का अर्थ स०प्र० प्रथम संस्करण में भी किया है वहां सही क्रम में अर्थ मिलता है—''इस प्रकार से सर्व राज-सम्बन्धी जो कर्म, उसका विचार मन्त्रियों के साथ करके, व्यायाम नाम दण्ड-मुद्गर करके, सिंह की नाईं अथवा नट की नाईं अभ्यास करके, मध्याह्न समय के पहिले भोजन करे, भोजन करके न्यायघर में जाके सब न्यायों को यथावत् करै।'' (पृ० १९६) कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी दिनचर्या का यही क्रम है।
इससे पुष्टि हो जाती है कि प्रस्तावित पाठ यहां त्रुटित है और वह यहां होना चाहिए।
यहां प्रथम पंक्ति में **'कर और'** पदों का परिवर्धन आवश्यक है, नहीं तो अग्निहोत्र के समान संध्योपासना भी दूसरों के द्वारा अनुष्ठेय कर्म के अन्तर्गत आ जायेगी। यद्यपि ग्रन्थकार ने राजाओं के लिए राज्यपालन को ही सन्ध्योपासन कर्म कहा है (पृ० २६७/१२) किन्तु वह केवल राज्यपालन को प्राथमिकता देने के लिए है। वहां यह दिखाना लक्ष्य है कि जैसे सन्ध्योपासन में कभी छूट नहीं होती, ठीक उसी प्रकार राज्यपालन के कर्त्तव्य में छूट नहीं होती; किन्तु यह छूट अग्निहोत्र और बृहत् यज्ञों के लिए है, यतोहि उसके लिए ऋत्विज् की नियुक्ति का प्रावधान है।

७. **शोधककृत अप-संशोधन**—त्रुटित दिनचर्या के कारण शोधक को यह भ्रान्ति हुई है। मुद्रणलिपिकर ने यहां मूलह० से ठीक लिपि करते हुए **''सेना में जा''** लिखा था। शोधक ने उसको काटकर **''सभा में जा''** पाठ कर दिया। शोधक यह भूल गया कि मनुस्मृति में सभा में जाने का निर्देश मन्त्रियों से विचार-विमर्श से पूर्व दिया जा चुका है। अतः द्विप्र०, द्वि०सं० का यह संशोधन उपेक्षणीय है। मूलप्रति सं० में ठीक पाठ है।

८,९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये अपप्रयोग हैं—**''सब भृत्य''**, **''का स्थान''**। इनके स्थान पर **''सब भृत्यों''** और **''के स्थानों''** पाठ शुद्ध हैं। द्वि०सं० में तो **'के'** पद भी त्रुटित है।

अस्त्रों के[१] कोश अर्थात् आयुधालय,[२] धन के कोशों को देख, सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हो उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके, [सायंकालीन][३] भोजन के लिये 'अन्त:पुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवासस्थान में प्रवेश करे।[४] और भोजन सुपरीक्षित, बुद्धि-बल-पराक्रम-वर्द्धक, रोगविनाशक, अनेक प्रकार के अन्न, व्यञ्जन, पान आदि सुगन्धित, मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे कि जिससे सदा सुखी रहै। इस प्रकार सब राज्य के कार्यों की उन्नति किया करे॥ १॥

प्रजा से कर लेने का प्रकार—

पञ्चाशद्भाग[५] आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ मनु०, अ० ७। [१३०]

जो व्यापार करनेवाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी [एवं पशु][६] का जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में छठा, आठवां वा बारहवां भाग लिया करे॥

और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि **जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से**

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**शस्त्र और अस्त्र का कोश**" यहां बहुवचन अपेक्षित है, क्योंकि कोश तो बहुतों से ही बनता है। शस्त्र और अस्त्र भी दो प्रकार के हैं, अत: इस दृष्टि से भी बहुवचन चाहिए।

२. **श्रवणभ्रान्ति से वैद्यालय अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है। इसका समाधान प्रथम बार प्रस्तुत है। अपपाठ होने में तीन कारण हैं—**एक,** प्रस्तुत वर्णन के मूलस्रोत सम्पूर्ण मनुस्मृति में कहीं भी '**वैद्यालय**' की चर्चा नहीं है; **दूसरा,** राजा द्वारा इसके निरीक्षण का कोई सम्बन्ध नहीं है, और 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' आदि किसी भी राजनैतिक ग्रन्थ में परम्परा के रूप में किसी भी स्थान पर राजा की दिनचर्या के अन्तर्गत वैद्यालय के निरीक्षण का उल्लेख नहीं मिलता। **तीसरा,** 'वैद्यालय' प्रयोग ही अशुद्ध है, '**वैद्यालय**' कोई प्रयोग होता ही नहीं, '**चिकित्सालय**' अवश्य होता है। प्रश्न उठता है कि फिर यह पाठ कैसे आ गया? यह प्रतीत होता है कि "**अर्थात् आयुधालय**" की श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर द्वारा उसके स्थान पर "**तथा वैद्यालय**" लिखा गया। वस्तुत: "**सब भृत्यों और.....उनको निकाल**" तक अर्थ "**अहन्यहन्यवेक्षेत**" (मनु० ८.४१९; स०प्र०पृ० ३१२) का है और यहां वह श्लोक नहीं है, वह पृ० ३१२ पर उद्धृत है। उसके अर्थ में वहां भी "**शस्त्रों का समूह**" अर्थ है जो '**आयुधालय**' का ही पर्याय है।

मेरे द्वारा प्रस्तावित पाठ यहां संगत है तथा परम्परागत भी। किले में '**आयुधालय**' या '**आयुधागार**' नाम से ही शस्त्रागार होते हैं। मनु० ने ७.७५ में कहा है कि दुर्ग "**आयुधसम्पन्नम्**" होना चाहिए (पृ० २६५)। वह सम्पन्नता आयुधालय के रूप में होती है जिसका राजा निरीक्षण किया करता है। आजकल भी '**आयुधागार**' शीर्षक मिलता है। महर्षि ने लिखा है—"**अस्त्रों और शस्त्रों के कोश**", फिर इसका व्यापक पर्यायवाची बोला होगा—"**अर्थात् आयुधालय**"। इसका कारण भी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के हथियार दिये हैं (द्रष्टव्य पृ० २९० पर मनु-श्लोक ९ में—"**आयुधैः स्थले**")। अस्त्र, शस्त्र और आयुध (२.३४.१८)। इनमें केवल 'आयुध' शब्द ऐसा अर्थ रखता है जिसमें सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र अन्तर्गत हो जाते हैं। अस्त्र, शस्त्र पदों का अर्थ बहुत सीमित है। **अस्त्र**=फेंककर मारे जानेवाले हथियार को, **शस्त्र**=हाथ में पकड़कर वार करनेवाले हथियार को ही कहा जाता है। अत: सभी प्रकार के युद्ध सम्बन्धी शस्त्रों, अस्त्रों, साधनों के लिए 'आयुधालय' नाम देना आवश्यक था। देखिए, सेना के लिए उसी श्लोक में "**आयुधीयं जनम्**" (मनु० ७.२२२) प्रयोग किया है जो यहां '**आयुधालय**' होने के अनुमान को पुष्ट करता है। ऐसी श्रवणभ्रान्ति लिपिकरों को अनेक स्थानों पर हुई है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में दिनचर्या के स्पष्टक्रम को बतलाने तथा श्लोकोक्त सही अनुवाद के लिए यहां ये कोष्ठकान्तर्गत पद बढ़ाना आवश्यक है, नहीं तो दिनचर्या के क्रम में भ्रान्ति उत्पन्न होती रहेगी।

४. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**भोजन के लिए.....प्रवेश करे**" पंक्ति मूलहस्त० में नहीं है। यह ऋषि के हस्तलेख में मुद्रणप्रति में परिवर्धित है। मूलप्रति सं० में वहीं से ग्रहण की हुई है।

५. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों अयोग्य लिपिकरों ने "**पंचासद्**" वर्तनी लिखी है। द्विप्र० में भी अशुद्ध छपी है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

६. **त्रुटित पाठ**—सभी सं० और दोनों हस्तलेखों में श्लोकार्थ में "**पशु**" पद त्रुटित रह गया है, जो ग्राह्य है।

रहित होकर दुःख न पावें। क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, आरोग्यवान् [होने और][१] खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। **प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता के सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका, और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए काम में प्रीति से परतन्त्र रहैं। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले, यह राजा का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेप से कह दिया।**

जो विशेष देखना चाहे, वह चारों **वेदों**[२], **मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारत**[३] आदि शास्त्रों में देखकर निश्चय करे। और **जो प्रजा का न्याय करना है, वह व्यवहार 'मनुस्मृति' के अष्टम और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिये।** परन्तु यहां भी संक्षेप से लिखते हैं—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्॥ १॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।[४]
संभूय च[५] **समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥ २॥**
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ ३॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च॥ ४॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थितावि॥ ५॥
एषु[६] **स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।**
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम्॥ ६॥

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य, खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर**"। उपर्युक्त पाठ ग्राह्य है। धनाढ्य से सम्पन्न रहना शुद्ध पाठ नहीं है। सभी सं० में अपपाठ है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर तथा अपप्रयोग**—वाक्यारम्भ में मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में "**अब जो**" में "**अब**" पद बढ़ा कर व्यर्थ पाठान्तर किया है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**वेद**' के स्थान पर "**वेदों**" बहुवचनान्त अपेक्षित है।

३. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह० में यहां "**शुक्रनीति, महाभारत**" दो नाम बढ़ाये हैं। पृ० ३१५ पर भी इनका उल्लेख है।

४-५. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यह अपपाठ लिखा और छपा है—"**निक्षेपो स्वामिविक्रयः**" "**संभूयश्च**"। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित हैं। अन्य सभी सं० में संशोधित हैं।

६-८. **अप-उद्धरणपाठ**—क्रमशः, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में "**तेषु**" पाठ है, यह "**एषु**" शुद्ध है। द्वि०सं० संशोधित है। "**सभा वा न प्रवेष्टव्या**" के स्थान पर "**सभां वा न प्रवेष्टव्यम्**" पाठ मनुस्मृति के प्राचीन तथा नवीन संस्करणों में उपलब्ध है। यह ग्राह्य है। प्राचीन व्याख्याओं में "**वधीत्**" प्रयोग उपलब्ध है। वर्तमान संस्करणों में '**अवधीत्**' प्रयोग अधिक प्रयुक्त होने लगा है। "**वधीत्**" पूर्व पाणिनीय और वैदिक प्रयोग है। यह संकेत देता है कि मनुस्मृति पाणिनि-पूर्व की और वैदिक-कालीन रचना है।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ ७॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं[७] वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी॥ ८॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ ९॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्[८]॥ १०॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥ ११॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ १२॥
[१]पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥ १३॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ १४॥

मनु० ८, [३-८, १२-१९]॥

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग **देशाचार और शास्त्रव्यवहार हेतुओं से** निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें। और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बांधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो॥ १॥

अठारह मार्ग ये हैं—उनमें से १—**(ऋणादानम्)**[२] किसी से ऋण लेने-देने का[३] विवाद। २—**(निक्षेपः)**[४] धरावट अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना। ३—**(अस्वामिविक्रयः)**[५] दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे। ४—**(संभूय च समुत्थानम्)** मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना। ५—**(दत्तस्यानपकर्म च)** दिये हुए पदार्थ का न देना॥ २॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट उद्धरणपाठ**—मुद्रणलिपिकर ने विपरीत अर्थद्योतक भ्रष्टपाठ लिखा है—"**पादोधर्मस्य कर्त्तारं**"। यही द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

२-३. **अपप्रयोग**—द्वि०सं० में "**ऋणादानः**" और दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में "**ऋणादान**" दोनों अशुद्ध प्रयोग हैं। मूलप्रति सं० में "**लेने-देने में विवाद**" अपप्रयोग है, "**का विवाद**" शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह संशोधित है।

४,५,७,८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संख्यांकित सभी श्लोकोक्त पद विसर्गरहित अशुद्ध उद्धृत हैं। सभी में मूल-पाठ के अनुसार विसर्ग अपेक्षित हैं। सभी सं० में अपप्रयोग हैं।

६. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में "**अथवा न देना**" पाठ त्रुटित है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में है। अन्य सभी सं० में इसका ग्रहण कर लिया है।

६—(**वेतनस्यैव चादानम्**) वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले लेना वा कम देना अथवा न देना।[६] ७—(**संविदश्च व्यतिक्रमः**)[७] प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना। ८—(**क्रयविक्रयानुशयः**)[८] अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना। ९—[**विवादः स्वामिपालयोः**][१] पशु के स्वामी और पालनेवाले का झगड़ा॥ ३॥

१०—[**सीमा विवाद०**][२] सीमा का विवाद। ११—[**पारुष्ये दण्डवाचिके**][३] किसी को कठोर दण्ड देना, १२—कठोर वाणी का बोलना। १३—[**स्तेयम्**][४] चोरी और[५] डाका मारना। १४—[**साहसम्**][६] किसी काम को बलात्कार से करना। १५—[**स्त्रीसंग्रहणम्**][७] किसी की स्त्री और[८] पुरुष का व्यभिचार होना॥ ४॥

१६—[**स्त्रीपुंधर्मः**][९] स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना। १७—[**विभागः**][१०] अर्थात् दायभाग में वाद उठना। १८—[**द्यूतमाह्वयः**][११] द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जुआ खेलना। ये अठारह प्रकार के परस्परविरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं॥ ५॥

इन व्यवहारों में बहुत-सा विवाद करनेवाले पुरुषों के न्याय को सनातनधर्म का आश्रय करके[१२] किया करे, अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे॥ ६॥

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है, उसके शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलङ्क=अधर्म का जो छेदन नहीं करते,[१३] **अर्थात् धर्मी को मान और अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता,**

१-४,६,७,९-११. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस प्रकरण में सम्पादकीय अव्यवस्था अत्यधिक है। ऊपर से एक शैली चली आ रही थी कि मूलपदों को कोष्ठक में देकर सभी का अर्थ किया जा रहा था, किन्तु विवाद संख्या ९-१८ तक मूलपदों को कोष्ठक में दिये बिना अर्थ किया गया है। यह सम्पादन शैली की एकरूपता, मानकता और स्तरीयता नहीं है कि एक ही स्थान पर कहीं मूलपद देना, कहीं न देना। प्रतीत होता है कि लिखाते समय ग्रन्थकार ने लिपिकर को निर्देश दिया होगा कि 'अब केवल अर्थ लिख लो, मूलपदों को सुलेखप्रति में जोड़ लेना', बाद में वह भूल गया। प्रोक्ता ऐसे निर्देश लिपिकरों को देता है, यह लेखन की प्रक्रिया है। ऐसे उदाहरण ग्रन्थ में अन्यत्र भी मिलते हैं। इस प्रकार के लेखन को व्यवस्थित रूप देना आदिसम्पादक और शोधक शर्माद्वय का काम था, जो इस काम के लिए वेतन पाते थे। उन्होंने इस प्रकार के अनेक सम्पादकीय प्रमाद इस ग्रन्थ में किये हैं। यह भी उस प्रमाद का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

आर्य विद्वानों का सम्पादकीय प्रमाद—लिपिकरों ने लेखन में खूब प्रमाद किया, आदिशोधकों ने संशोधन में मक्कारी की जिसके परिणामस्वरूप यह सारा पाठ अव्यवस्थित है। किन्तु सवा-सौ वर्षों की अवधि में आर्य सम्पादकों ने भी इसमें सुधार नहीं किया। वही प्रमाद आर्यविद्वानों ने किया है। वह प्रमाद स्पष्टतः दीख रहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में यह अव्यवस्था है। इसी का नाम 'अमानकता' है। इन त्रुटियों के होते हुए भी कोई अपने संस्करण को 'मानक' कहे, तो इससे बढ़कर हठधर्मिता क्या होगी?

५,८. **उपयुक्त प्रयोग**—यहां सभी पाठों में मूलतः "**वा**" पद है जो हिन्दी में विकल्प अर्थ में प्रयुक्त होता है। संदेह-निवारणार्थ यहां दोनों स्थलों पर तीनों सं० में हिन्दी में प्रचलित '**और**' का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में पहले संख्यांक का "**वा**" प्रयोग हटा दिया किन्तु दूसरा हटाने से छोड़ दिया। यह संशोधन-सम्बन्धी अव्यवस्था सभी सं० में है।

१२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**बहुत-से विवाद करने वाले पुरुषों के न्याय को सनातन धर्म के आश्रय करके**"। यहां "**बहुत-से**" के स्थान पर "**बहुत-सा**" और "**सनातन धर्म के**" पद के स्थान पर "**का**" शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१३. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—पाठ को गम्भीरता से समझे बिना, मुद्रणह० में मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य में यह अप-परिवर्तन किया है—"**जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना और अधर्म का छेदन नहीं करते**"। मूलपाठ था—"**धर्म के कलंक अधर्म का छेदन नहीं करते**"। वह नहीं समझ पाया कि धर्म का कलंक अधर्म ही है, उसके मध्य अर्थबोधक चिह्न देने से वह अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है। देखिए आगे 'अर्थात्' कहकर "**धर्मी और अधर्मी**" पदों से उस कलंक को स्पष्ट किया है। लिपिकर ने दो कथन बना दिये—एक कलंक, दूसरा अधर्म। प्रश्न उठता है कि फिर धर्म

उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समझे जाते हैं॥ ७॥

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे, और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहै, अथवा सत्य-न्याय के विरुद्ध बोले, वह महापापी होता है॥ ८॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य, सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं; जानो उनमें कोई भी नहीं जीता [है][१]॥ ९॥

मरा हुआ धर्म मारनेवाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है; इसलिये धर्म का हनन कभी न करना, इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी भी हमको न मार डाले॥ १०॥

जो सब ऐश्वर्यों को देनेवाला[२] और सुखों की वर्षा करनेवाला धर्म है, जो[३] उसका लोप करता है, उसी को विद्वान् लोग 'वृषल' अर्थात् शूद्र और नीच[४] जानते हैं; इसलिये किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं॥ ११॥

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है। और सब पदार्थ वा संगी, शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं, अर्थात् सबका संग छूट जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता[५]॥ १२॥

जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता [को],[६] दूसरा साक्षी [को],[७] तीसरा सभासदों [को][८] और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है॥ १३॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा [और][९] स्तुति के योग्य की स्तुति [होती है],[१०] दण्ड

का कलंक क्या है? उसको यहां स्पष्ट क्यों नहीं किया? इसके अतिरिक्त भाषा भी अशुद्ध बना दी—**'उसका....कलंक को निकालना.....नहीं करते''**, यह भी क्या वाक्य हुआ? मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध और मुद्रणलिपिकर-निर्मित यह परिवर्तन अशुद्ध तथा अग्राह्य है। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

संशोधन-पुष्टि—'संस्कारविधि' में अधर्म को धर्म का घाव-रूप बताया है। यहां भी उसको 'कलंक'='घाव' कहा है। पाठ है—**''अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उसके घाव को यदि सभासद् न पूरे.....।''** (गृहाश्रमप्रकरण)

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **'है'** क्रिया त्रुटित है, वाक्यपूर्ति के लिए अभीष्ट है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''सब ऐश्वर्यों के देने वाला''** अपपाठ है। **''को देनेवाला''** अभीष्ट है। सभी सं० में अपपाठ है।

३. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'जो'** पद त्रुटित है। यहां वाक्यरचनार्थ आवश्यक है।

४. **शूद्र और नीच**—शूद्र और निम्नजाति का व्यक्ति। यहां शूद्र से भिन्न नीच शब्द का प्रयोग किया जो यह संकेत देता है कि महर्षि के मतानुसार शूद्र नीच कोटि या जाति के अर्थात् वर्णबाह्य व्यक्ति नहीं होते। पृ० ५९८/१२ पर भी ऐसा ही भिन्न प्रयोग है।

५. **मुद्रणलिपिकर-शोधक की असावधानी से स्थानभ्रष्ट पाठ**—मूलह० में यह पाठ ठीक स्थान पर है। मुद्रणलिपिकर ने **''परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता''** वाक्यांश को प्रतिलिपि करते समय १३वें श्लोक के आरम्भ में जोड़ दिया। शोधक ने भी शुद्ध नहीं किया। वही अशुद्ध पाठ द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं०, मूलसं०, सभी अन्य सं० में अब संशोधित है।

६-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में प्रथम तीनों स्थानों पर विभक्ति प्रत्यय **'को'** अपेक्षित है। चतुर्थ स्थान पर **'और'** प्रयोग अभीष्ट है।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'होती है'** क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्यार्थ ही नहीं बन रहा है। न कोई आगे ऐसी स्त्रीलिंग क्रिया है जिसकी इस वाक्य के साथ संगति लगती हो। अत: परिवर्धन आवश्यक है।

के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं; पाप के कर्त्ता को ही पाप प्राप्त होता है॥ १४॥

साक्षी कैसे करने चाहियें ?—

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत्॥ १॥
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः॥ २॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥ ३॥
बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे[१] द्विजोत्तमान्॥ ४॥
समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥ ५॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते॥ ६॥
स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्॥ ७॥
सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत[२] विधिनाऽनेन सान्त्वयन्॥ ८॥
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिँश्चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥ ९॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।[३]
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥ १०॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः॥ ११॥

१-२. **अप-उद्धरणपाठ**—मुद्रणह० और द्विप्र० में "**गुणद्वैधे**", मूलह० में "**प्राड्विवाको युंजीत**", मुद्रणह०, द्विप्र० में "**प्राड्विवाको नुयुंजीत**" अपपाठ हैं। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में अब ये सभी संशोधित हैं।

३. **पाठान्तर**—कई प्राचीन भाष्यकारों, जैसे मेधातिथि आदि के भाष्य में यहां "**लोकानाप्नोत्यनिन्दितान्**" पाठान्तर मिलता है। दोनों शब्दों का अर्थ और भावार्थ एक जैसा है।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥ १२॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।[१]
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं[२] पुरुषं विदुः॥ १३॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं[३] यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ १४॥

मनु० [८।६३, ६८, ७२-७५, ७८-८१, ८३-८४, ९६, ९१]

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जाननेवाले, लोभरहित, सत्यवादियों को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे। इनसे विपरीतों को कभी न करे॥ १॥

स्त्रियों की साक्षी स्त्रियां,[४] द्विजों के द्विज; शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों॥ २॥

जितने बलात्कार के[५] काम, चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन, दण्डनिपातन रूप अपराध हैं, उनमें साक्षी की विशेष परीक्षा न करे, और [परीक्षा करना] अत्यावश्यक भी न समझे,[६] क्योंकि ये सब काम गुप्त [रूप में][७] होते हैं॥ ३॥

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष के साक्ष्य[८] के अनुकूल, और दोनों के साक्षी उत्तम गुणी और तुल्य हों तो '**द्विजोत्तम**' अर्थात् **ऋषि-महर्षियों और यतियों के साक्ष्य के[९] अनुसार न्याय करे**॥ ४॥

दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है—एक साक्षात् देखने और दूसरा सुनने से। जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें, वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें। और जो साक्षी मिथ्या बोलें, वे

---

१. **पाठान्तर**—प्राचीन मनुस्मृति-भाष्यों में यहां "**नातिशङ्केत**" पाठान्तर मिलता है।

२-३. **अप-उद्धरण पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**लोकेन्यं**", "**एको हम्**" अपपाठ हैं। अब सभी सं० में संशोधित हैं।

४-५. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**स्त्री**" एकवचन है, बहुवचन उपयुक्त प्रयोग है। दोनों संस्करणों में "**बलात्कार काम**" प्रयोग है, इसके मध्य '**के**' विभक्ति प्रत्यय होना अभीष्ट है।

६-७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर को अनावश्यक रूप से पाठ बदलने की बीमारी है। कहीं कुछ भी बदल देता है, अपनी मनमानी से। मूलह०, मूलप्रति हस्त० में "**परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी न समझे**" शुद्ध पाठ है। यहां अर्थ है कि परीक्षा न करे और न परीक्षा करना अत्यावश्यक समझे। मुद्रण-लिपिकर ने इसका भ्रान्ति से अर्थ लगा लिया कि '**परीक्षा न करे और परीक्षा न करने को अत्यावश्यक समझे**'। अतः लिपिकर ने परिवर्तन कर दिया—"**परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी समझे।**" यह समझ की भ्रान्ति है। जब यह कह दिया कि "**परीक्षा न करे**" फिर इसको "**अत्यावश्यक न समझे**" कथन की पुनरुक्ति की क्या आवश्यकता है? पाठक मुद्रणलिपिकर के परिवर्तन को परस्परविरोधी भी समझ सकता है कि "**परीक्षा न करे**" और परीक्षा करना '**अत्यावश्यक भी समझे**'। इस सं० के पाठ में पाठकों को भ्रान्ति इस कारण नहीं होनी चाहिए क्योंकि आगे स्पष्ट कर दिया है कि परीक्षा करना इस कारण आवश्यक न समझे क्योंकि ये काम गुप्त रूप में होते हैं, अतः इन कामों में साक्षियों की परीक्षा करना व्यावहारिक अथवा संभव नहीं है। मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है। कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन से संदेह सदा के लिए दूर हो जाता है। इसी प्रकार आगे स्पष्टार्थ के लिए '**रूप में**' पद-परिवर्धन भी अपेक्षित है। वेस, जग, भद में भ्रष्टपाठ है; युमी, उदयपुर सं० में संशोधित है।

८-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर "**साक्षी**" अपप्रयोग है, '**साक्ष्य**' शुद्ध प्रयोग होता है। जैसे अज्ञान के कारण आज कई बोलियों में '**सवार**' को '**सवारी**' कहना प्रचलित हो गया है वैसे ही '**गवाही**' शब्द के अनुकरण पर '**साक्ष्य**' का '**साक्षी**' बोलचाल में प्रचलित हैं, किन्तु वह अशुद्ध है।

यथायोग्य दण्डनीय हों[१] ॥ ५ ॥

जो साक्षी राजसभा वा उत्तम पुरुषों की किसी[२] सभा में देखने और सुनने से विरुद्ध बोले; तो वह **'अवाङ्नरक'** अर्थात् जिह्वा के छेदन से दु:खरूप नरक को वर्त्तमान समय में प्राप्त होवे, और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाय ॥ ६ ॥

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव से ही उस व्यवहार-सम्बन्धी वचन बोले। उससे[३] भिन्न, **'सिखाये हुये'**[४] जो-जो वचन बोले, उन-उनको[५] न्यायाधीश प्रमाण न करे ॥ ७ ॥

[६]अर्थी (=वादी) और प्रत्यर्थी (=प्रतिवादी) के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों से[७] न्यायाधीश और प्राड्विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर इस प्रकार से शान्तिपूर्वक[८] पूछें— ॥ ८ ॥

हे साक्षी-लोगो! इस कार्य में, इन दोनों के पारस्परिक[९] कर्मों के विषय में जो तुम जानते हो, उसको सत्य के साथ बोलो; क्योंकि तुम्हारी इस कार्य में साक्षिता है[१०] ॥ ९ ॥

क्योंकि[११] जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है, इस जन्म और परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है;[१२] क्योंकि जो

---

१. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में **''जब सभा में पूछें तब जो''** **''और जो.....दण्डनीय हों''** पाठ ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित हैं। मूलसं० में मुद्रणह० से गृहीत हैं।

२. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—**''जो राज सभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले।''** यहां **''किसी''** प्रयोग अस्थान में है। यह **''सभा''** से पूर्व ही उपयुक्त है। दोनों ही सं० में **''सभा में साक्षी देखने''** यहां **''साक्षी''** अस्थान में है। **''जो''** के साथ श्लोकार्थ के आरम्भ में इस कर्त्तापद की संगति है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह अपपाठ है।

३-५. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इस त्रुटिपूर्ण वाक्य का यह पाठ है—**''सिखाये हुए इससे भिन्न जो-जो वचन बोले उस-उसको''**। मूलह०, मूलप्रति सं० में है—**''इससे भिन्न सिखाये हुए जो-जो वचन बोले उसको''**। यहां **'इस'** के स्थान पर **'उस'** पद का और **'सिखाये हुए'** के सम्बन्ध से बहुवचन तथा **''सिखाये हुए जो-जो''** के सम्बन्ध से **''उन-उन''** बहुवचनान्त प्रयोग वांछनीय हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है। युमी में अर्ध-शुद्ध है।

६. **अनावश्यक पद**—यहां मूलह०, मुद्रणह० द्विप्र०, द्वि०सं० में **'जब'** पद अनावश्यक है। मूलसं० में हटा दिया है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''को''** अपप्रयोग है, **'से'** शुद्ध है।

८. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में **''शान्तिपूर्वक न्यायाधीश इस प्रकार से पूछें''** यहां **''शान्तिपूर्वक''** अस्थान में है। क्रियाविशेषण है, अत: **''पूछें''** क्रिया से पूर्व होना चाहिए। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''परस्पर कर्मों''** के स्थान पर **''पारस्परिक कर्मों''** शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है।

१०. **अपप्रयोग**—द्विप्र० एवं सभी द्वि०सं० में **'साक्षी'** अपप्रयोग हैं। मूलसं० में **''साक्षिता''** शुद्ध प्रयोग है।
संशोधन पुष्टि—पृ० ३०१ पर श्लोक ९ में यह प्रयोग है।

११. **मुद्रणलिकिर कृत अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां से **''क्योंकि''** पद हटा दिया है, जो अनावश्यक-परिवर्तन है। यह पद मुद्रण-लिपिकर ने लिखते समय हटाया है।

१२. **शोधक द्वारा श्लोकविरुद्ध अप-परिवर्तन और पाठग्रहण**—मूलहस्त० में यहां लगभग यह उचित पाठ था—**''इस जन्म वा लोक में''**। मुद्रणप्रति में लिपिकर ने इसको ठीक लिखा है। किसी शोधक ने (ऋषि दयानन्द ने नहीं) **'लोक'** को काटकर ऊपर **''परजन्म''** लिख दिया। वही अपपाठ दोनों द्वि०सं० में है। यह अपसंशोधन है, क्योंकि श्लोक में **''इह''** पद है, शुभकर्मस्वरूप परजन्म का कथन पूर्व पंक्ति में हो चुका है। परजन्म का वाचक अन्य कोई पद नहीं है। और, श्लोकार्थ की अन्तिम पंक्ति में केवल इसी जन्म में प्रतिष्ठित या निन्दित होना कहा है, अत: **''परजन्म''** पद के संशोधन का न श्लोक से तालमेल है, न श्लोकार्थ की भाषा से। परजन्म में, इस जन्म में बोले गये सत्य की कीर्त्ति कैसे पायेगा? मूलहस्तलेख का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है। मूलप्रति सं० ने भी बिना विचारे मूलह० का पाठ छोड़कर इस अपपाठ को ग्रहण कर लिया है।

यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है॥ १०॥

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता है, और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है; इससे सब वर्णों के[१] साक्षियों को सत्य ही बोलना योग्य है॥ ११॥

आत्मा का साक्षी आत्मा, और आत्मा की गति आत्मा है; इसको जानके हे पुरुष! तू सब मनुष्यों के[२] उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् यही सत्यभाषण=जो कि तेरे आत्मा, मन, और वाणी में एक-सी बात है वह सत्य, और जो उससे विपरीत है, वह मिथ्याभाषण है॥[३] १२॥

जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् क्षेत्रज्ञ अर्थात् 'शरीर का जाननेहारा आत्मा' भीतर शङ्का को प्राप्त नहीं होता; उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते॥ १३॥

हे कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुष! जो तू 'मैं अकेला हूं' इस प्रकार अपने आत्मा को समझता है, सो ठीक नहीं है[४]; किन्तु जो दूसरा यह तेरे हृदय में पुण्य-पाप का देखनेवाला मुनि अन्तर्यामी परमेश्वर स्थित है, उससे[५] डरकर सदा सत्य बोला कर॥ १४॥

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री ने अपनी पुस्तक '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' में पृ० ३८-३९ पर '**च**' से परजन्म की अनुवृत्ति ली है, जो असंगत है और '**च**' पद का दुरुपयोग है। 'जन्मान्तर में उत्तम जन्म और इस जन्म में उत्तम कीर्ति' इन दोनों के योजक के रूप में स्पष्टत: '**च**' का प्रयोग है। श्लोक में कहीं परजन्म विधायक कोई और पद नहीं है, अत: शोधक का शोधन अशुद्ध है और आचार्य जी का पक्ष अग्राह्य है। मूलहस्त के महर्षिप्रोक्त पाठ को और मुद्रण-पाण्डुलिपि में हुए अप-परिवर्तन को यदि आचार्य जी देख पाते तो उन्हें अशुद्ध पाठ के मण्डन में इतना व्यर्थ श्रम करने की जरूरत नहीं पड़ती।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वर्णों में साक्षियों**'' अपपाठ है, हिन्दी में ''**वर्णों के साक्षियों**'' शुद्ध प्रयोग है।

२. **अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का**'' अपपाठ है, यहां ''**के**'' पद शुद्ध है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट-पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—''**अर्थात् यही सत्य भाषण है कि जो तेरे आत्मा, मन और वाणी में एक-सी बात है वह सत्य और जो इससे विपरीत है वह मिथ्याभाषण है।**'' द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां अप-परिवर्तन कर अशुद्धि को और बढ़ा दिया है—''**अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा मन वाणी में है वह सत्य.....**''। मूलप्रति सं० के ''**एक-सी बात**'' इन महत्त्वपूर्ण पदों को, जो कि ग्रन्थ में सर्वत्र सत्य के मानदण्ड बताये हैं, हटाकर मुद्रणलिपिकर ने सिद्धान्त-हानि उपस्थित कर दी। मन, आत्मा, वाणी में तो बहुत कुछ विरुद्ध और असत्य भी होता है। सैद्धान्तिक बात तो यह है कि '**एक जैसा**' होना चाहिए अर्थात् जैसा आत्मा में है, वैसा मन और वाणी में भी होना चाहिए। इसी प्रकार ''**यही**'' पद हटा दिया जो पूर्व वाक्य से इस वाक्य की संगति बना रहा था। वस्तुत: यहां गलती से दूसरी बार जो '**सत्य**' लिखा गया उसने वाक्यरचना को बिगाड़ दिया, अन्यथा मूलह०, मूलप्रति सं० का वाक्य ठीक था। बस, मूलप्रति के ''**इससे**'' के स्थान पर ''**उससे**'' प्रयोग चाहिए। मुद्रणह० का वही भ्रष्ट पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में है। मुद्रणलिपिकरकृत भ्रष्टपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा श्लोक पाठ के विरुद्ध अप-परिवर्तन**—मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में श्लोकपदानुसार यह उपयुक्त पाठ था—'**मैं अकेला हूं' इस प्रकार अपने आत्मा को समझता है, सो ठीक नहीं है**'' मुद्रणप्रतिलिपिकर ने इसको बदलकर सीमितार्थक बना दिया—''**ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है, सो ठीक नहीं।**'' श्लोक में यह भाव है ही नहीं, अपितु सभी पापों-अपराधों के लिए यह सामान्य-कथन है जिसमें असत्यभाषण का भी समावेश हो जाता है किन्तु मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में व्यापक अर्थ को समाप्त करके इस कथन को असत्यभाषण तक सीमित कर दिया। श्लोक में आत्मा को अकेला न समझने का कथन है, यह उस वाक्य से स्पष्ट है। अत: द्वि०सं० का मुद्रणलिपिकर निर्मित पाठ ग्राह्य नहीं है, मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह० का पाठ ठीक है। यहाँ मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यह पुनरुक्तियुक्त, अस्त-व्यस्त, व्यर्थ पाठान्तर है—''**जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर पुण्य पाप का देखने वाला मुनि स्थित है उस परमात्मा से.....**''। ''**अन्तर्यामी परमेश्वर**'' ''**हृदय में**'' पदों के बाद है, यह ''**मुनि**'' के बाद होना चाहिए।

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद्[१] बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥ १॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषाँस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥ २॥
लोभात्सहस्त्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥ ३॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद्[२] द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥ ४॥
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा[३] च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ ५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥ ६॥
अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ ८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥ ९॥

मनु० ८, [११८-१२१, १२५-१२९]॥

जो साक्षी लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से जो साक्ष्य देवें, वह सब मिथ्या समझा जावे[४]॥ १॥

इनमें से किसी स्थान में[५] साक्षी झूठ बोले[६] तो उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड किया करे-॥ २॥

१-३. **अप-उद्धरणपाठ**—द्विप्र० में दोनों स्थलों पर ''**आज्ञानात्**'' तथा मुद्रणह० और द्विप्र० में ''**चक्षुर्नाशा**'' अपपाठ है। द्वि०सं० में सभी पाठ संशोधित हैं। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध हैं। अन्य सभी सं० में संशोधित हैं।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में उपयुक्त और पूर्ण वाक्यरचना के लिए मुद्रणह०, द्विप्र० का पाठ अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठपरिवर्तन है—''**जो साक्षी देवे वह सब मिथ्या समझी जावे**''। इस वाक्य में ''**साक्षी**'' के स्थान पर ''**साक्ष्य**'' प्रयोग और पुंल्लिंग प्रयोग उचित है। यह वाक्य भी अशुद्ध है। ''**साक्ष्य मिथ्या समझा जावे**'' व्याकरणानुसार यह शुद्ध वाक्य बनेगा। 'गवाही' के अनुकरण पर 'साक्षी' गलत प्रयोग प्रचलित है।

५. **स्थान से अभिप्राय**—स्थान से यहां अभिप्राय है—**विषय, प्रसंग** अथवा **साक्ष्य** में।

६. **श्लोकविरुद्ध भ्रष्ट अर्थ**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलसं० में ''**इनसे भिन्न स्थान में साक्षी झूठ बोले.....**'' विपरीतार्थक श्लोकविरुद्ध भ्रष्ट अर्थ है। द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी में संशोधित है किन्तु कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में अशुद्ध, भ्रष्टपाठ ही है। उदयपुर सं० के सामने शुद्ध-अशुद्ध पाठ के दोनों विकल्प थे, आश्चर्य है, उन्होंने स्पष्टतः अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया है। **संशोधन-पुष्टि**—श्लोक की भाषा से संशोधित पाठ ही पुष्ट होता है।

जो लोभ से झूठा साक्ष्य[१] देवे तो उससे १५ ॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने) दण्ड लेवे। और मोह से झूठा साक्ष्य देवे उससे ३ ॥।=) ॥ (तीन रुपये साढ़े चौदह आने)[२] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्ष्य देवे उससे १५ ॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने)[३] दण्ड लेवे। जो मित्रता से झूठा साक्ष्य देवे उससे १५ ॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने)[४] दण्ड लेवे॥ ३ ॥

जो [किसी] कामना से मिथ्या साक्ष्य देवे तो उससे ३९-) (उनतालीस रुपये एक आना)[५] दण्ड लेवे और जो क्रोध से मिथ्या साक्ष्य दे तो उससे ४६ ॥।=) (छयालीस रुपये चौदह आने) दण्ड लेवे। अज्ञान से मिथ्या साक्ष्य देवे तो उससे ३=) (तीन रुपये दो आने)[६] दण्ड लेवे और बालकपन से मिथ्या साक्ष्य देवे तो १ ॥-) (एक रुपया नौ आने) दण्ड लेवे॥ ४ ॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस प्रसंग में '**गवाही**' अर्थ में '**साक्षी**' शब्द का अपप्रयोग **आठ स्थलों** पर है, शुद्ध शब्द '**साक्ष्य**' होता है। सभी अन्य सं० में भी यही अपप्रयोग है।

२-६. **गणनात्मक पांच अशुद्धियां**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में, और परोप० ३-३३ सं० में दोनों श्लोकार्थों में गणना की पांच अशुद्धियां हैं। बोलकर लिखाते समय यह प्रक्रिया होती है कि प्रोक्ता गणितीय जोड़-गुणा को लेखक को उसी समय करने के लिए निर्देश देता है। गणना करते समय लिपिकर ने बहुत ही असावधानी बरती है अथवा ये अशुद्ध श्लोकार्थ ही लिपिकर ने किये हैं, और शोधकों ने निरीक्षण-संशोधन में मक्कारी की सारी हदें पार कर दीं।

महर्षि मनु ने अपनी गणना की स्पष्ट पद्धति दी है। ८.१३८ श्लोक में उन्होंने बताया है कि "**पणानां द्वेशते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः। मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्त्रस्त्वेव चोत्तमः**" अर्थात् २५० पण का '**प्रथम- साहस या पूर्व-साहस**', ५०० पण का '**मध्यम-साहस**' और १००० पण का '**उत्तम या पर-साहस**' होता है। पुरानी मुद्रा के अनुसार गणना करने पर तीन रुपये साढ़े चौदह आने का '**प्रथम-साहस**', सात रुपये तेरह आने का '**मध्यम-साहस**' तथा पन्द्रह रुपये दश आने का '**उत्तम-साहस**' होता है। पुरानी मुद्रा में ४ पैसे का एक आना, १६ आने अर्थात् ६४ पैसे का एक रुपया होता था। इस तुलना के अनुसार उपर्युक्त पाठ की गणना शुद्ध कर दी गई है। दोनों सं० में अपगणना सम्बन्धी यहां यह पाठ मिलता है। त्रुटियां काले अक्षरों में हैं—

"जो लोभ से झूठी साक्षी देवे उससे १५ ॥=) (पन्द्रह रुपये दश आने) दण्ड लेवे, जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे **३=) (तीन रुपये दो आने)** दण्ड लेवे, जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे **६।) (सवा छः रुपये)** दंड लेवे और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे **१२॥) (साढ़े बारह रुपये)** दंड लेवे॥ ३ ॥ जो पुरुष [किसी] कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे **२५) (पच्चीस रुपये)** दंड लेवे, जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६ ॥।=)(छयालीस रुपये चौदह आने) दण्ड लेवे, जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे **६) (छः रुपये)** दण्ड लेवे और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १ ॥)(एक रुपया नौ आने) दण्ड लेवे॥ ४ ॥" वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० सबके मूलपाठ में अशुद्धयोग है। वेस, युमी ने टिप्पणी में संशोधन दिखाया है, जो व्यर्थ है। परोप० ३४ में संशोधित है।

स्वामी वेदानन्द जी की टिप्पणी चिन्त्य—यहां श्लोकार्थों में कुलयोग-विषयक गणना-सम्बन्धी अशुद्धियां देखकर स्वामी जी ने यह एक कल्पना की है—"ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के पास मनुस्मृति का ऐसा हस्तलेख था, जिसमें किसी अन्य प्रकार का पाठ था।" स्वामी जी का यह कथन इन कारणों से सही नहीं माना जा सकता—१. मनु० ८.१३८ में इन दण्डों की परिभाषाएं स्पष्ट की हुई हैं। २. उनके अनुसार कुछ शुद्ध हैं और कुछ अशुद्ध हैं। ३. ये कुलयोग महर्षि के किये हुए नहीं अपितु लिपिकर के हैं, क्योंकि इस प्रकार के कार्य लिपिकर/ लेखक ही किया करता है। ४. ग्रन्थ में अन्यत्र लिपिकरों द्वारा की हुई अन्य अनेक गणना-सम्बन्धी अशुद्धियां भी प्राप्त होती हैं। ५. यही दण्डमान याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी प्राप्त होते हैं। वह स्मृति प्रायः मनुस्मृति पर आधारित है। ६. इन श्लोकों के अशुद्ध अर्थ संकलनकर्त्ता लेखककृत हैं, महर्षि अशुद्धअर्थ नहीं कर सकते।

उदयपुर सं० की ओर से आग्रहयुक्त उत्तर—उदयपुर सं० के लेखकों की अनुदारता देखिए कि स्पष्ट गणितीय अशुद्धि होने पर भी चार में से **तीन लेखकों** ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया या नहीं दे सके। न तो अशुद्धि को स्वीकार किया और न अशुद्धि का समाधान किया। **तीसरे लेखक** ने कहा है कि कितने ही सम्पादकों ने यही पाठ ग्रहण किया है। इससे बढ़कर निरर्थक और बेतुका उत्तर कोई नहीं हो सकता कि जान-बूझकर मक्खी निगलना चाह रहे हैं। गणित की त्रुटि चाहे हजारों ने की हो, तब भी वह स्वीकार्य नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, मैं इन लेखक महोदय को ध्यान दिला दूं कि आपने अन्यत्र गणना-सम्बन्धी अशुद्धि ठीक की हैं, जैसे—पृ० ९३ पर "**षट्त्रिंशदाब्दिकम्**" श्लोकार्थ में "**बयालीस**" के स्थान पर "**चवालीस**" शुद्ध कर दिया है। फिर यह दोहरी नीति क्यों? स्पष्ट गणितीय अशुद्धि को ठीक करने में भी दुराग्रह आड़े आ गया? क्या आर्यजनों को

दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आंख, नाक, कान, धन और देह[१] ये दश स्थान हैं कि जिन पर दण्ड दिया जाता है॥ ५॥

परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे लोभ से झूठा साक्ष्य[२] देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है; परन्तु जो वह अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम और जो धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे; अर्थात् जैसा देश, जैसा काल, जैसा पुरुष हो, उसका जैसा अपराध हो, वैसा ही दण्ड करे॥ ६॥

क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा, वर्त्तमान और भविष्यत् में होनेवाली कीर्ति का नाश करनेहारा है;[३] और परजन्म में भी दुःखदायक होता है,[४] इसलिये अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे॥ ७॥

जो राजा दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता है; वह जीता हुआ बड़ी निन्दा को और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है। इसलिये जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे॥ ८॥

प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी निन्दा, दूसरा 'धिक्' अर्थात् तुझको धिक्कार है कि 'तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया?' तीसरा धनदण्ड अर्थात् उससे धन लेना और [चौथा][५] वध दण्ड अर्थात् उसको कोड़े[६] वा बेंत से मारना वा शिर काट देना [चाहिये][७]॥ ९॥

ऐसा घोर पूर्वाग्रह शोभा देता है? फिर मंचों पर 'सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग' का पाखण्ड क्यों किया करते हैं? सत्यार्थप्रकाश और ऋषि के स्पष्ट हित के लिए भी जब आप अपने त्रुटिपूर्ण पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ पा रहे हैं, और अशुद्ध उत्तरों को गर्व से प्रकाशित-प्रचारित कर रहे हैं, तो फिर 'सत्यार्थप्रकाश' के नाम से 'न्यास' की स्थापना भी एक आडम्बरी ही है।

१. **देह से अभिप्राय**—'देह' से यहां अभिप्राय है '**सम्पूर्ण शरीर**' पर एक साथ दण्ड करना, जैसे—पीटना और वधदण्ड।

२. **अपप्रयोग**—देखिए पृ० ३०५ पर ४ टिप्पणी। '**साक्षी**' नहीं '**साक्ष्य**' शुद्ध प्रयोग है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा श्लोकविरुद्ध भ्रष्टपाठ रचना**—मूलप्रति सं० में पाठ ठीक है, जो ऊपर अंकित है। मुद्रणहस्त० में प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने यहां भूल से यह पुनरुक्तियुक्त अपपाठ लिख दिया—"**भविष्यत् में होनेवाली कीर्त्ति का नाश करनेहारा है और परजन्म में होने वाली कीर्त्ति का नाश करनेहारा है और परजन्म में भी दुःखदायक होता है।**" फिर उसे पुनरुक्त और गलत पाठ को काटने का ध्यान आया तो अपने बनाये दूसरे को काटना था—"**परजन्म में होने वाली कीर्त्ति का नाश करनेहारा है**", किन्तु वह गलती से पहले वाक्य को काट गया जो कि मूलह० में था। इस अस्तव्यस्त स्थिति में यह त्रुटित, अपूर्ण और अपपाठ बन गया—"**भविष्यत् में और परजन्म में होनेवाली कीर्त्ति का नाश करनेहारा**"। अधर्म का फल दुःख होगा, यह तो ठीक है किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या पता कि अमुक व्यक्ति ने पूर्व जन्म में किसी को अधर्म से दण्ड दिया था? इस जन्म के दण्ड देने की परजन्म में अपकीर्त्ति कैसे होगी? कीर्त्ति का सम्बन्ध तत्कालीन जीवन से ही होता है। और यहां श्लोक में "**लोके**" अर्थात् केवल इसी जन्म का उल्लेख है। परत्र के लिए केवल दुःख रूप फल कहा है। श्लोक में भी यह भाव किसी पद से प्रकट नहीं होता, अतः द्विप्र०, द्वि०सं० का मुद्रणलिपिकर द्वारा भूल से निर्मित पाठ अग्राह्य है, मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, जस और उदयपुर सं० में है।

यह परिवर्तन मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय भूल से किया है, इसमें ऋषि के हाथ का कोई संशोधन नहीं है। **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** ने अनावश्यक और अयुक्तियुक्त रूप से मुद्रणह० के श्लोक-बाह्य अर्थ का समर्थन किया है। ('सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा', पृ० ४०-४१) शास्त्री जी का इस विषयक सारा लेख अप्रामाणिक है।

४. **परजन्म में दुःखदायक**—अर्थात् अधर्म करने का फल परजन्म में दुःख रूप में मिलता है।

५,७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में दोनों पद त्रुटित हैं। तीन संख्याओं के विशेषण अंकित हैं तो भाषाशैली के अनुसार '**चौथा**' यह विशेषण भी अपेक्षित है। '**चाहिये**' क्रिया के बिना श्लोकार्थ के अन्तिम वाक्य की पूर्ति नहीं होती।

६. **अपप्रयोग**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**कोड़ा वा बेंत से**" अपप्रयोग है। "**कोड़े**" प्रयोग अपेक्षित है।

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ १॥
पिताऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ २॥
कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ ३॥
अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च॥ ४॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ ५॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम्॥ ६॥
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः॥ ७॥
साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति॥ ८॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत् साहसिकान्सर्वभूतभयावहान्॥ ९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ १०॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥ ११॥
यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥ १२॥

मनु० [८।३३४-३३८, ३४४-३४७, ३५०-३५१, ३८६]

चोर जिस प्रकार जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है; उस-उस अङ्ग को सबकी शिक्षा के लिये राजा हरण अर्थात् छेदन कर दे॥ १॥

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता[1], स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर श्लोकार्थ का "**माता**" पद त्रुटित छोड़ गया। द्विप्र० में त्रुटित पाठ ही है। द्वि०सं०, भद, जग, युमी में भी त्रुटित है; वेस, उदयपुर सं० में गृहीत है। श्लोक में पठित होने के कारण भी अर्थ में आवश्यक है।

रहता, वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता; अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठकर[१] न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथायोग्य[२] दण्ड देवे॥ २॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध में राजा पर सहस्त्र पैसा दण्ड होवे; अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा पर सहस्त्र-गुणा दण्ड होना चाहिये॥ दीवान अर्थात् राजा के मन्त्री को[३] आठ-सौ-गुणा, उससे न्यून को सात-सौ-गुणा और उससे न्यून को छः-सौ-गुणा, वैसे ही उतरते-उतरते[४] एक चपरासी अर्थात् भृत्य जो कि छोटे-से-छोटा राजपुरुष हो, उसको आठ-गुणा से[५] कम दण्ड न होना चाहिये। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों[६] से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े-से ही दण्ड से वश में आ जाती है। इसलिये राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्य तक राजपुरुषों को अपराध में प्रजा से अधिक दण्ड होना चाहिये॥ ३॥

वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे, उस शूद्र को चोरी से आठ-गुणा, वैश्य को सोलह-गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा[७]॥ ४॥

ब्राह्मण को चौसठ-गुणा वा सौ-गुणा अथवा एक-सौ अट्ठाईस[८]-गुणा दण्ड होना चाहिये; अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिये॥ ५॥

[९]राज्य के अधिकारी, [तथा] धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाला राजा, बलात्कार के[१०] काम करनेवाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करें॥[११] ६॥

---

१. **उपयुक्त क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बैठ**" क्रियापद है, "**बैठकर**" उपयुक्त है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह० में "**यथायोग्य**" के स्थान पर "**यथोचित**" पाठ बनाया है जो अपपरिवर्तन है। यही द्विप्र० और द्वि०सं० में है। '**यथायोग्य**' पात्र के पद, सामर्थ्य आदि को देखकर दिया जानेवाला दण्ड होता है (द्र०, मनु० ८.१२६; स०प्र०,पृ०२८१) और '**यथोचित**' दण्ड दण्डकर्त्ता के विवेकानुसार होता है। मनुस्मृति की दण्डव्यवस्था '**यथायोग्य दण्डव्यवस्था**' है। अतः मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त '**यथायोग्य**' पद सटीक है, मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित पद अनुपयुक्त होने से अग्राह्य है। सभी सं० में मुद्रणलिपिकर निर्मित प्रयोग है, जो अनुचित है।

३. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में पाठ है—"**दीवान अर्थात् राजा के मन्त्री को**", द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको उलटकर बना दिया—"**मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को**"। अप्रसिद्ध, कठिन और विदेशी भाषा के शब्द का अर्थ किया जाता है, सरल का कठिन अर्थ नहीं। यहां 'मन्त्री' तो पद-पद पर प्रयुक्त है, '**दीवान**' अल्पप्रयुक्त था, अतः उसी का अर्थ अपेक्षित था। "**मघवा' मूल 'विडौजा' टीका**" कहावत ऐसे ही शोधकों पर चरितार्थ होती है। मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है, मुद्रणलिपिकर का नहीं। सभी सं० में मुद्रणलिपिकर निर्मित व्यर्थ पाठान्तर है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**उतरते-उतरते**" स्पष्ट पाठ है। मुद्रणह० में, फिर द्विप्र० और द्वि०सं० में उसको बदलकर "**उत्तर-उत्तर**" बना दिया जो अनावश्यक है। "**उतरते-उतरते**" नीचे की ओर जाने का क्रम होता है और "**उत्तर-उत्तर**" ऊपर की ओर जाने का। यहां निम्न-निम्न भृत्यों के क्रम से दण्ड व्यवस्था बताई जा रही है। अतः मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है, मुद्रणलिपिकर का नहीं। सभी सं० में मुद्रणलिपिकर निर्मित अपपाठ है।

५. **अपप्रयोग**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० और मूलसं० में "**आठ गुणे**" अपप्रयोग है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में '**प्रजापुरुषों**' बहुवचन चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**बत्तीस**" के स्थान पर "**वीस गुणा**" भ्रष्ट पाठ है।

८,१०,११. **अपप्रयोग**—द्वि० सं० में '**अट्ठाइस**' वर्तनी के स्थान पर '**अट्ठाईस**' चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र० में शुद्ध है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बलात्कार काम**" के मध्य '**के**' पद अपेक्षित है। आगे, "**करे**" के स्थान पर '**करें**' बहुवचन अभीष्ट है।

९. **मूलहस्तलेख में त्रुटित श्लोकार्थ और पाठग्रहण**—श्लोकार्थ छह से लेकर बारहवें तक का पाठ मूलहस्त० में नहीं है। प्रतीत

साहसिक पुरुष के[१] लक्षण—[२]दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, विना अपराध के[३] दण्ड देनेवाले से भी साहस=बलात्कार[४] के[५] काम करनेवाला अतीव पापी=दुष्ट है॥ ७॥

जो राजा साहस में वर्त्तमान पुरुष को दण्ड न देकर सहन करता है, वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है और राज्य में द्वेष उठता है॥ ८॥

न मित्रता [से][६], न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी, राजा सब प्राणियों को दुःख देनेवाले साहसिक मनुष्य को बंधन-छेदन किये विना कभी छोड़े॥ ९॥

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो; जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान [हैं, और][७] दूसरों को विना अपराध मारनेवाले हैं, उनको विना विचारे मार डालना अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिये॥ १०॥

दुष्ट पुरुषों के मारने में हन्ता को पाप नहीं होता; चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है॥ ११॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा, न साहसिक=डाकू, और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भङ्ग करनेवाला नहीं है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है॥ १२॥

भर्त्तारं लङ्घयेद्या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥ १॥
पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥ २॥

मनु० [८।३७१-३७२]॥

जो स्त्री अपनी जाति, गुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे, उसको बहुत स्त्रियों[८] और पुरुषों के सामने जीती हुई [को][९] राजा कुत्तों से कटवाकर मरवा डाले॥ १॥

उसी प्रकार [जो][१०] अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री वा वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के

होता है कि ग्रन्थकार से लिखाना छूट गया। मुद्रणह० में इसको पूर्ण किया है। मूलसं० में वहीं से ग्रहण किया है।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**पुरुष का लक्षण**" अपपाठ है। मूलसं० में शुद्ध है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**जो**" पद निरर्थक लिखा है। मूलप्रति में नहीं है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बिना अपराध से**" वाक्यांश में "**से**" अपप्रयोग है, "**के**" अपेक्षित है।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—द्वि० सं० में "**साहस**" के बाद "**अर्थात्**" पद या अर्थबोधक (=) चिह्न अभीष्ट है। आगे दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बलात्कार काम**" में '**के**' प्रत्यय त्रुटित है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां '**से**' अपेक्षित है। अगले "**से भी**" पदों से इनकी संगति नहीं है।

७. **बिना विराम या पद के भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**और**" विभाजक पद बहुत ही आवश्यक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में बिना विरामचिह्न के इस वाक्य में अनर्थ का संदेह उत्पन्न हो रहा है। द्वि०सं०, भद और युमी में विरामचिह्न लगाकर काम चलाया गया है। वेस और उदयपुर सं० में विराम चिह्न भी नहीं है, अतः उनमें कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है, जैसे—"**अधर्म में वर्तमान दूसरों को बिना अपराध मारने वाले।**" अधर्मी बिना अपराध वाला नहीं हो सकता।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**स्त्री**' एकवचन प्रयोग है, "**बहुत**" प्रयोग के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है। **संशोधन पुष्टि**—अग्रिम पृष्ठ ३११/१ में "**बहुत पुरुषों**" शुद्ध प्रयोग है।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**को**' विभक्ति-प्रत्यय और '**जो**' पद त्रुटित हैं। अगले '**उस**'

पर्यङ्क (पलंग) को अग्नि से तपा, लाल[१] कर उस पर सुलाके, जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे ॥ २ ॥

प्रश्न—जो राजा वा राणी[२] अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्याभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे ?

उत्तर—सभा। अर्थात् **उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।**

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

उत्तर—राजा भी एक पुण्यात्मा, भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह दण्ड ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? **और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा क्या कर सकता है ?** जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा, प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबाके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जायें। अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि **न्याययुक्त दण्ड का ही नाम राजा और धर्म है,** जो उसका लोप करता है,[३] उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?

प्रश्न—ऐसा करड़ा[४]-दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा और जिलानेवाला नहीं है, इसलिये ऐसा दण्ड न देना चाहिये ?

उत्तर—जो इसको करड़ा[५] दण्ड जानते हैं, वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक को[६] इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थित रहेंगे। इससे[७], सच पूछो तो यही है कि एक राई-भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा। और जो सुगम-दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बढ़कर होने लगें। जिसको तुम सुगम-दण्ड कहते हो वह करोड़ों[८] गुणा अधिक होने से करोड़ों[९] गुणा कठोर[१०] होता है; क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे

के सम्बन्ध से '**जो**' प्रयोग अपेक्षित है। वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में त्रुटित हैं; युमी में परिवर्धित हैं।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**लाल सुर्ख**" एकार्थक दो पद हैं। साहित्यिक दृष्टि से एक पर्याप्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**सुर्ख**" इसको हटा दिया है।

२. **गुजराती प्रयोग**—यह प्रयोग गुजराती का है। गुजराती में '**राणी**' बोला जाता है। हिन्दी में '**रानी**' लिखा-बोला जाता है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा वर्तनी-विकृति**—मूलह० में क्रिया की "**करता**" वर्तनी शुद्ध थी। मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने उसको "**कर्त्ता**" अशुद्ध लिखकर विशेषण बना दिया। वही द्वि०प्र० में छपा है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

४-५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलप्रति हस्त० सर्वत्र '**करड़ा**' प्रयोग मिलता है। मुद्रणह०, द्विप्र० में इसको तीनों स्थानों पर बदलकर "**कड़ा**" किया गया है किन्तु उसमें अव्यवस्था यह है कि कहीं "कड़ा" है तो कहीं "करड़ा" है। "करड़ा" बोलचाल की राजस्थानी बोली का और "कड़ा" साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग है। इस सं० में एकरूपता के लिए ऋषि का मौलिक प्रयोग "**करड़ा**" ग्रहण किया है। **पाठ-पुष्टि**—'संस्कारविधि' में भी "**करड़ा**" प्रयोग है। (गृहाश्रम, पृ० २५५)

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० के उपर्युक्त शुद्ध पाठ को मुद्रणलिपिकर ने बदलकर सीमितार्थक व अशुद्ध बना दिया—"**एक पुरुष को**" यहां प्रसंग राजा-रानी दोनों का है, केवल पुरुष का नहीं।

७. **मुद्रणह० में उचित-परिवर्धन तथा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति में यह परिवर्धन उचित है—"**छोड़कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**इससे**" पद त्रुटित है। यह पद उपर्युक्त वाक्यों को जोड़ने के लिए '**इस प्रकार, इसलिये या इस कारण**' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूलह०, मूलसं० में है।

८-९. **अव्यवस्थित और अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, सम्पूर्ण ग्रन्थ में इस शब्द की वर्तनी में बहुत अधिक अव्यवस्था है। कहीं '**क्रोड़ों**', कहीं '**क्रोडों**' कहीं '**करोड़ों**' वर्तनी है। आश्चर्य तो यह है कि न केवल एक ही अनुच्छेद में, एक ही पंक्तिमें

तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा। अर्थात् जैसे एक को मन-भर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव-भर[१], तो 'पाव-भर[२] अधिक एक मन दण्ड' होता है। तो [दोनों में से] प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध-पाव वीस-सेर दण्ड होता है। ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को एक मन और १००० (सहस्र) मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो ६। (सवा छः) मन मनुष्य-जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही करड़ा है, तथा वह [एक] मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।[३]

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥ १॥
अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोषमेव च॥ २॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन्।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ३॥[४]

मनु० [८।४०६, ४१९-४२०]॥

दो-दो वर्तनियां हैं। यह अव्यवस्था लिपिकरों की अज्ञानता और लापरवाही की द्योतक है। महर्षि ने बोला एक ही तरह है, लिपिकरों ने उसको लिखा अपनी-अपनी योग्यता-अयोग्यता से है। यह प्रमाद भाषा और ग्रन्थ को अमानक तथा अव्यवस्थित बनाता है। इसको अब शुद्ध और एकरूप करना परमावश्यक है। वेतनभोगी शोधक या तो भाषाज्ञान से हीन थे या चद्दर तानकर सोते रहे और मक्कारी से वेतन के पैसे बनाते रहे।

हिन्दी में 'करोड़' अर्थ में "**क्रोड** या **क्रोड़**" अपवर्तनी मानी जायेगी, क्योंकि 'क्रोड' का अर्थ '**गोद**' होता है। "**करोड़**" शुद्ध है। शुद्धता, एकरूपता, व्यवस्था और मानकता की दृष्टि से यही एक वर्तनी सर्वत्र ग्राह्य है।

१०. **अप-प्रयोग**—दण्ड के साथ '**कठिन**' नहीं, '**कठोर**' पद उचित है। हिन्दी में '**कठिन**' **दुष्कर, दुःसाध्य** या **मुश्किल** अर्थ में प्रचलित है। 'कठोर' का अर्थ 'कड़ा' होता है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपप्रयोग है। अन्य सभी सं० में अपप्रयोग है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**पाव-पावभर**" अपपाठ है। इससे गणना में अशुद्धि होती है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है। वही यहां ग्रहण किया है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में इस प्रसंग में सर्वत्र इस शब्द की "**पाउ**" वर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

३. **दण्ड का गणित**—

कम दण्ड का उदाहरण—एक अपराधी को कड़ा दण्ड मिला=**१ मन (अर्थात् ४० सेर/ किलो)**
दूसरे को कम दण्ड मिला =**१ पाव (२५० ग्राम)**
प्रजा समुदाय को राजा द्वारा प्रदत्त कुल दण्ड हुआ =**१मन १पाव (४० सेर/किलो, २५० ग्राम)**

कुल दण्ड का यदि दो में उसका वितरण किया जाये तो प्रत्येक के हिस्से में आया=**बीस सेर आधा पाव**

अधिक दण्ड का उदाहरण—

एक हजार अपराधी मनुष्यों को मिला अल्प दण्ड के रूप में पाव-पाव दण्ड— **१००० पाव**
एक सेर में चार पाव होते हैं, अतः सेर बनाने के लिए उसको ४ से भाग दिया— **२५० सेर (या किलोग्राम)**
एक मन में ४० सेर होते हैं, अतः मन बनाने के लिए उसको ४० से भाग दिया— **६ मन १० सेर**
समस्त प्रजा को राजा की ओर से कुल दण्ड प्रदत्त किया गया— **६ मन १० सेर (सवा मन)**

इस प्रकार एक ओर एक व्यक्ति एक मन दण्ड पाता है तो कम से कम हजार मनुष्य कठोर दण्ड के भय से अपराध करने से बचते हैं। दूसरी ओर हलका दण्ड पाने से निर्भय होकर यदि हजार मनुष्य अपराध करते हैं तो सवा छह मन दण्ड हुआ और अपराधी अधिक हो गये।

४. **क्रमविरुद्ध पाठ तथा स्थानभ्रष्ट श्लोक-पाठ का संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये तीनों श्लोक चरित्रहीन पति-

लम्बे मार्ग में, समुद्र की खाड़ियों वा नदियों[१] तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो, उतना '**कर**' स्थापन करे और महासमुद्र[२] में निश्चित '**कर-स्थापन**' नहीं हो सकता किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े समुद्रों में नौकाओं को चलानेवाले[३] दोनों लाभयुक्त हों, वैसी व्यवस्था करे।

परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज नहीं चलते थे, वे झूठे हैं। और देश-देशान्तरों,[४] द्वीप-द्वीपान्तरों में नौका से जानेवाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षा कर उनको किसी प्रकार का दुःख न होने देवे॥ १॥

पत्नी-सम्बन्धी दण्ड व्यवस्था के पूर्वोक्त श्लोकों के बाद पठित हैं। दोनों विषयों की इतनी भिन्नता है कि दोनों का एक प्रसंग या संदर्भ बनाना युक्तियुक्त नहीं है। इनका उनसे कोई मेल ही नहीं है। दूसरा कारण यह है कि बीच में '**राजा-रानी**' और '**कड़ा दण्ड**'-विषयक प्रश्न और लम्बी समीक्षा का प्रसंग आने से श्लोकार्थ का क्रम टूटकर दूर चला गया है। अतः उपयुक्त यही है कि उन श्लोकों को दण्ड कथन के पश्चात् उनके अर्थ के साथ ही रखा जाये। अर्थ के पूर्व यहीं उनका उचित स्थान है।

पाठकों को बता दें कि हस्तलेखों और द्विप्र० में '**दण्ड-सम्बन्धी और नदी कर-सम्बन्धी**' सभी पांचों श्लोक एकत्र थे, फिर उन सबका अर्थ भी बाद में एक स्थान पर था। द्वितीय संस्करण की अग्रिम किसी आवृत्ति में सम्पादक ने उस अपक्रम को ठीक करके नया क्रम यह बनाया—पहले सभी पांचों श्लोक, फिर स्त्री-पुरुष के दण्ड विषयक दो श्लोकों का अर्थ, फिर राजा-रानी के दण्डविषयक प्रश्नोत्तर, फिर कड़े दण्डविषयक प्रश्नोत्तर, फिर नदी-कर विषयक और उपसंहारात्मक तीन श्लोकों का अर्थ। सम्पादक ने यह संशोधन करके उचित ही किया है। बाद के सभी सम्पादकों स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि ने इसी संशोधित क्रम को ग्रहण किया है। मूलप्रति सं० और उदयपुर सं० ने भी इसी परिवर्तित क्रम को स्वीकार किया है। यह सबकी सकारात्मक सोच है, किन्तु शोधक नदी-कर-विषयक श्लोकार्थों को अलग करते समय उनके श्लोकों को उचित क्रम में रखना भूल गया। इस प्रकार श्लोक और श्लोकार्थ दूर होकर, दोनों अस्थान में रह गये। अतः उनको उपयुक्त स्थान पर अर्थात् श्लोकों और उनके श्लोकार्थों को साथ-साथ तथा एक प्रसंग में रखा जाना आवश्यक है। अन्यथा क्रमविरुद्ध पाठत्रुटि के साथ यह शोधन-सम्पादन की त्रुटि भी मानी जायेगी।

एक आश्चर्य—यद्यपि यह क्रम संशोधन उचित हुआ है तथापि एक आश्चर्य अवश्य हो रहा है जिसकी चर्चा करना हमारे शोध-दृष्टिकोण का पोषक सिद्ध होगा। उचित-अनुचित तर्कों के आधार पर द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) के घोर समर्थक **श्री राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यासनाम स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी)** ने इस परिवर्तन-संशोधन के विरुद्ध अपनी पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा' में एक वाक्य भी नहीं लिखा। इसके अन्य समर्थक भी इस संशोधन को स्वीकार कर चुप बैठे हैं। **द्वि०सं० (प्रथमावृत्ति) में कोमा या बिन्दु तक का भी परिवर्तन न करने की बात करनेवालों ने भी निःसंकोच इस संशोधन को चुपचाप कर भी लिया और उचित मान लिया।** मुद्रणहस्तलेख को अपरिवर्तनीय प्रामाणिक आधार मानने वाले **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** जैसे विद्वानों ने न केवल यहां अपना क्रम स्वयं बदल डाला अपितु आधा दर्जन अन्य स्थानों पर भी ऐसा ही परिवर्तन किया है। **इन सब उदाहरणों से यह निष्कर्ष सामने आता है कि ये सभी लोग यहां इस संशोधन को उचित मानते हैं, तो फिर अन्यत्र जहां संशोधन की आवश्यकता है वहां संशोधन स्वीकार्य क्यों नहीं ?** क्या इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि ये लोग केवल अपने को स्वयंभू संशोधन का अधिकारी मान बैठे हैं, और अन्य सबको अनधिकारी ? हमारे विचार से तो संशोधन, औचित्य और तर्कसापेक्ष होना चाहिए, व्यक्ति-सापेक्ष नहीं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**खाड़ियां**'' ''**नदी**'' अपप्रयोग हैं, '**खाड़ियों**' और '**नदियों**' प्रयोग अपेक्षित हैं।

२. **अयोग्य मुद्रणलिपिकर-शोधक**—मूलह० में शुद्ध वर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने ''**महासमुन्द्र**'' वर्तनी लिखी है। यही अशुद्ध वर्तनी द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं०, मूलसं० में आदि सभी में संशोधित है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है। मूलप्रति सं० में पाठ है—''**बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले**''। द्वि० सं० में पाठ है—''**बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलने वाले**''। ''**बड़े-बड़े**'' समुद्र का विशेषण है, नौका का नहीं। ''**नौकाओं के समुद्र में**'' भी अपपाठ है। दोनों पद स्थानभ्रष्ट हैं। यह वाक्य इस प्रकार उपयुक्त बनेगा—''**बड़े-बड़े समुद्रों में नौकाओं को चलानेवाले।**'' ध्यान दें, ऊपर पंक्ति में '**महासमुद्र**' पद है, उसी का यह विस्तार वाक्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**देश-देशान्तर**'' में भी बहुवचन अपेक्षित है, जैसेकि ''**द्वीप-द्वीपान्तरों**'' में है।

''नित्य-नित्य राजा, सब राजकर्मों में अपने अधिकारियों-अमात्यों की चेष्टा वा कर्म, वाहन, हस्ती, अश्व, रथ और नौकादिक, आय नाम पदार्थों का आना, व्यय नाम पदार्थों का खर्च, पदार्थों का समूह, शस्त्रों का समूह और धन का कोष, इनको यथावत् देखता रहै कि कोई पदार्थ वा कोई कर्म नष्ट वा अन्यथा न हो''। २ ॥[१]

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों को[२] यथावत् समाप्त करता-कराता हुआ, सब पापों से छूटके,[३] परमगति=मोक्ष को प्राप्त होता है॥ ३ ॥

प्रश्न—संस्कृत में पूरी[४] राजनीति है वा अधूरी ?

उत्तर—पूरी है; क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी वह-वह सब '**संस्कृत-विद्या**' से ली है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है, उनके लिये—

''**प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च[५] हेतुभिः ॥**'' मनु० [८।३]॥

जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को '**पूर्ण विद्वानों की राजसभा**' बांधा करे।

परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खे कि जहां तक बन सके, वहां तक **बाल्यावस्था में विवाह न करने**

---

१. **त्रुटित श्लोकार्थ व पाठग्रहण**—इस श्लोक का अर्थ दोनों हस्तलेखों और द्विप्र० में त्रुटित है। परोप० द्वितीय संस्करण तृतीयावृत्ति में इसको किसी सम्पादक ने परिवर्धित किया है। वहीं से मूलप्रति सं० में ग्रहण किया गया है। उसके बाद इस अर्थ को सभी ने ग्रहण कर लिया है। भद, युमी ने बृ० कोष्ठक में और द्वि०सं०, वेस, उदयपुर सं० ने बिना कोष्ठक के ग्रहण किया है। वह अर्थ है—''**राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी-घोड़े आदि वाहनों को, नियत आय और व्यय आकर=रत्नादिकों की खानों और कोष खजाने को देखा करे॥**''

इस संस्करण में ऊपर जो अर्थ दिया गया है वह महर्षिकृत है। यह सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण) से उद्धृत किया गया है जो स्पष्ट एवं पूर्ण है। इस श्लोक का भाव पृ० २९५/८ से ''**सब भृत्यों और.....उनको निकाल**'' तक वर्णित हो चुका है। यह श्लोक वहां उद्धृत नहीं है।

२. **समाप्तियों का अभिप्राय**—इसका अर्थ है—आरम्भ किये कार्यों की ठीक समय पर पूर्णता होना।

३. **सिद्धान्तविरुद्ध अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह पाठ मिलता है—''**सब पापों को छुड़ाके परमगति मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।**'' 'छुड़ाना', 'ग्रहण किये का' या 'प्राप्त का' ही होता है। यदि इसका अर्थ यह करें कि 'प्रजाजनों के पापों को छुड़ाता है', तो यह भाव श्लोकोक्त नहीं है और सिद्धान्तविरुद्ध है। यदि यह अर्थ करें कि 'अपने पापों का छुड़ाता है', तो यह भी सिद्धान्तविरुद्ध कथन है, क्योंकि प्राप्त पापों को छुड़ाया नहीं जा सकता। श्लोकोक्त भाव यह है कि शास्त्रोक्त विधि से यथावत् कर्त्तव्यपालन करने वाला राजा पापों से बचा रहता है और इस प्रकार पापों से छूटकर=दूर रहकर निष्पाप आचरण से मोक्ष को प्राप्त करता है। अतः यहां इस संस्करण में संशोधित पाठ ही होना चाहिए। अन्य सभी सं० में ''पापों को छुड़ाके'' अपपाठ ही है। **संशोधन-पुष्टि**—'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम संस्करण में यह शुद्ध पाठ है—''**यह सब पापों से छूटके परमगति जो मोक्ष है, उसको प्राप्त होता है।**'' (पृ० २११)

४. **मुद्रणलिपिकर कृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने यहां मूलह० के पाठ को बदलकर ''**पूरी-पूरी राजनीति**'' पाठ बनाया है। ''**पूरी-पूरी**'' प्रयोग तोल और आंकड़ों के संदर्भ में हुआ करता है, राजनीति में नहीं। यहां ग्रन्थकार का भाव सम्पूर्णता से है जो ''**पूरी**'' प्रयोग से ही व्यक्त होता है। 'पूरी-पूरी राजनीति' का अर्थ बनेगा ''पूर्ण-पूर्ण राजनीति''। ऐसा कोई शुद्ध प्रयोग नहीं बनता। अतः मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है, लिपिकर-निर्मित मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ अशुद्ध होने से अग्राह्य है।

संशोधन-पुष्टि—इस पाठ की पुष्टि यहां उत्तर में प्रयुक्त प्रयोग से ही हो जाती है, क्योंकि उसमें एक बार ही ''**पूरी**'' पद का प्रयोग है, अन्यथा वहां भी ''**पूरी-पूरी**'' पाठ होता। अग्रिम पृ० ३१६/१ पर ''**पूर्ण राजनीति**'' पाठ भी इस संशोधन की पुष्टि करता है। एक ही स्थान पर दो तरह के पाठ करना अमानकता का कारण है।

५. **पाठान्तर**—वर्तमान मनुस्मृति में इसके स्थान पर ''**देशदृष्टैः**'' पाठ मिलता है।

देवें। युवावस्था में भी[१] दोनों की प्रसन्नता के विना विवाह न करना, न कराना, न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत्[२] सेवन करना-कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द[३] करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहै। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या, ज्ञान बढ़ाये जायें और शरीर का बल नहीं, तो शरीर से बली एक ही पुरुष सैकड़ों ज्ञानियों और विद्वानों को जीत सकता है।[४] और जो शरीर का ही बल बढ़ाया जाय, आत्मा का नहीं, तो भी राज्य की[५] उत्तम व्यवस्था, विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही टूट-फूट, विरोध और लड़ाई-झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायें।[६] इसलिये शरीर और आत्मा के बल को सदा[७] बढ़ाते रहना चाहिये। **जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अतिविषयासक्ति है, वैसा और कोई भी नहीं [है][८]।** विशेषत:[९] क्षत्रियों को दृढ़ाङ्ग और बलयुक्त होना चाहिये। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राजधर्म नष्ट ही हो जायगा।

और इसपर भी ध्यान रक्खें[१०] कि "**यथा राजा तथा प्रजा**" [चाणक्यनीति १३.८]। =जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है।[११] इसलिये राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म, न्याय से वर्त्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया गया है। विशेष, **वेद, मनुस्मृति** के सप्तम-अष्टम और नवम अध्याय, **शुक्रनीति, विदुरप्रजागर** और **महाभारत** शान्तिपर्व के '**राजधर्म**' और '**आपद्धर्म**'

---

१. **उचित संशोधित पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**युवावस्था में भी**" पाठ नहीं है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यह परिवर्धित है—"**बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के.....**" यह ग्राह्य है।

२-३. **उचित संशोधन**—क्रमश:, मूलह०, मूलप्रति में "**यथायोग्य**" अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**यथावत्**" शुद्ध है। ब्रह्मचर्य के साथ "**यथावत्**" पद की ही सार्थकता है, "**यथायोग्य**" की नहीं। आगे दोनों सं० में "**बन्ध**" प्रयोग है, इसके स्थान पर '**बंद**' उपयुक्त है। इस विषयक विस्तृत टिप्पणी पृ० ११ पर द्रष्टव्य है।

४. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अस्त-व्यस्त और अपपाठयुक्त है। मूलह०, मूलप्रति सं० में अधिक अस्त-व्यस्त है—"**अर्थात् विद्या-ज्ञान बढ़ाते जायें और शरीर का बल नहीं तो एक शरीर से बली सैंकड़ों विद्वानों को जीत सकता है।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्यांश में यह अपपाठ है—"**शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सैंकड़ों विद्वानों को जीत सकता है।**" इस संस्करण के पाठ में इसका संशोधन कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस और उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**राज्य की व्यवस्था**" के स्थान पर "**राज्य पालन की व्यवस्था**" अनावश्यक परिवर्तन है; अपितु "**राज्य की व्यवस्था**" मूलह० का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ प्रकट करता है। अग्रिम वाक्य में "**विना व्यवस्था**" प्रयोग है, जो पाठ की पुष्टि करता है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति में यह पाठ है—"**आपस में ही फूट, विरोध और लड़ाई करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायें**"। द्वि० सं० में इसमें परिवर्धन करके बनाये पाठ में अर्थव्यापकता है, अत: वही ग्रहण किया है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**सदा**" के स्थान पर "**सर्वदा**" पर्याय पाठ है। अर्थ में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यह कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण शब्द नहीं था जिसके कारण किसी की भाषा में पाठान्तर किया जाये।

८. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है। वाक्यान्त में आवश्यक है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—यहां मूलह०, मूलप्रति में "**विशेषकर**" और मुद्रणह०, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में '**विशेषत:**' पाठ है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। यह मुद्रणलिपिकर द्वारा किया गया व्यर्थ पाठान्तर है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणलिपिकर ने "**ध्यान रक्खें**" को बदलकर "**ध्यान रखना चाहिये**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। मुद्रणलिपिकर ने इसी प्रकार व्यर्थ पाठान्तर करके ग्रन्थ की एकरूपता और मानकता को नष्ट किया है।

११. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उसकी**" पद का परिवर्धन स्पष्टार्थ के लिए उचित एवं ग्राह्य है।

आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारणकर माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्त्ती[१] राज्य करें; और यही समझें कि—

वयम्[२] "**अभूम प्रजापतेः प्रजाः**" यह यजुर्वेद का वचन है [१८।२९]।

हम 'प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजायें[३] [हैं]'[४] और परमात्मा हमारा राजा [है][५] और हम उसके किंकर=भृत्यवत् हैं। **वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य-न्याय की प्रवृत्ति करावे।**

अब आगे 'ईश्वर' और 'वेद-विषय' में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वती[६]स्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते[७] राजधर्मविषये
षष्ठः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ६॥[८,९]

---

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलप्रति सं० में "**चक्रवर्त्ति**" वर्तनी है और अन्य सभी पाठों में "**चक्रवर्त्ती**" है। इस अव्यवस्थित स्थिति में एकरूपता और मानकता के लिए "**चक्रवर्ती**" वर्तनी ग्राह्य है। ग्रन्थ में बहुत्र और हिन्दी व्याकरण में यही स्वीकृत है। सभी सं० में वर्तनी-सम्बन्धी यही अव्यवस्था पाई जाती है।

२. **सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्ट-उद्धरणपाठ**—सभी संस्करणों अर्थात् दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि में यह अशुद्ध मन्त्रपाठ मिलता है—"**वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम**"। यजुर्वेद या किसी अन्य वेद में ऐसा कोई मन्त्र नहीं है। इस सं० में उद्धृत मन्त्र पाठ शुद्ध है। "**वयम्**" भी यजुर्वेद के उक्त मन्त्र का भाग नहीं है, यह लेखक की मन्त्र से पृथक् अपनी स्वतन्त्र शैलीगत पदयोजना है, जैसे कि संस्कृत-परम्परा के लोग अभ्यासवश किसी वाक्य के आरम्भ या अन्त में '**अथ**', '**इति**', '**एवं**', '**अस्तु**' आदि पदों को अपनी ओर से बोल दिया करते हैं। आश्चर्य है कि किसी ने इसका मिलान नहीं किया और सभी संस्करणों में इसको मन्त्र का भाग दिखाया गया है। इसको संयुक्त करके लिखने से मन्त्रपाठ विकृत होता है और इस प्रकार 'नियत वर्णानुपूर्वी' का वैदिक सिद्धान्त नष्ट होता है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की टिप्पणी अस्वीकार्य—पं० जी ने वेदमन्त्र का मूलपाठ सत्यार्थप्रकाश में प्रचलित अशुद्ध ही दिया है और टिप्पणी में व्यर्थ श्रम किया है कि "**वयं पद अध्याहृत है।**" वेदमन्त्र के मूलपाठ में किसी पद का अध्याहार नहीं होता है। हाँ, अर्थ में हो सकता है। यदि मूल वेदमन्त्र में 'अध्याहार' का सिद्धान्त मान लिया तो नियतवर्णानुपूर्वी के नष्ट होने से वेदमन्त्र का स्वरूप विकृत हो जायेगा और वेदमन्त्रों के कितने ही पाठान्तर बन जायेंगे। सैंकड़ों शाखाएं इसी आधार पर बनी हैं। पं० जी की यह टिप्पणी सिद्धान्तविरुद्ध होने से अग्राह्य है, क्योंकि वेदमन्त्र में पाठान्तर या अध्याहार कहीं नहीं होता।

३-४. **अपप्रयोग एवं त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**प्रजा**' एकवचन है, मन्त्रोक्त बहुवचन के आधार पर तथा पूर्वोक्त "**हम**" सर्वनाम के सम्बन्ध से '**प्रजायें**' बहुवचन-प्रयोग वांछित है। तीनों सं० में '**हैं**' क्रिया त्रुटित है। आगे की क्रिया "**है**" से इसका सम्बन्ध नहीं बनता है।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**है**" क्रिया त्रुटित है। बिना क्रिया के यह वाक्यखण्ड अर्थवान् नहीं बनता। आगे भी संगति जोड़ने के लिए कोई क्रिया नहीं है। जो क्रिया है उसका इस वाक्यखण्ड से सम्बन्ध नहीं बनता।

६-७. **पाठान्तर एवं मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मूलहस्तलेख में "**इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामि०**" संक्षिप्त पाठ है। मुद्रणहस्त० में पूर्ण वाक्य है, किन्तु मूर्ख मुद्रणलिपिकर कृत "**सरस्वति**" अशुद्ध वर्तनी है, जिसको निरीक्षण करते समय शोधक ने सुधारा है। साथ ही "**सुभाषाविरचिते**" पाठ है, जिसको मुद्रणकाल में परिवर्तित कर उपर्युक्त पाठ बनाया है।

८. **मुद्रणलिपिकरकृत और मुद्रणकालीन छह व्यर्थ पाठान्तर**—छठे समुल्लास में पांच स्थानों पर मुद्रणलिपिकर ने और द्विप्र० में भी पुस्तकनामों में व्यर्थ पाठान्तर किया है—२८१/१६, २८८/११, २९०/१७, २९५/४, २९६/८, ३१०/१८।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पुस्तक नाम**—मुद्रणप्रति/द्विप्र० में छठे समुल्लास से दो और पुस्तक-नाम त्रुटित छोड़ रखे हैं—पृ० २५३/४, २६३/९।

—०—

अथ सप्तमसमुल्लासारम्भः

[अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः[१]]

[अब ईश्वर और वेद के विषय में लिखेंगे][२]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ १॥

ऋ०, म० १। सूक्त १६४। मं० ३९॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्[३]॥ २॥ यजुः, अ० ४०। मं० १॥

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥ ३॥

ऋ०, म० १०। सूक्त० ४८। मं० १॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥ ४॥

—ऋ०, म० १०। सूक्त ४८। मं० ५॥

[४]अहं दा गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिता[५] यज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे॥ ५॥[६]

ऋ०, म० १०। सूक्त ४९। मं० १॥

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—संस्कृत और हिन्दी के '**विषयसूचक वाक्य**' मूल और मुद्रण दोनों ही हस्तलेखों तथा दोनों द्वि०सं० में नहीं हैं। कुछ सम्पादकों ने संस्कृत का वाक्य तो जोड़ दिया, किन्तु हिन्दी का वाक्य लिखना वे भी भूल गये। अनेक समुल्लासों के आरम्भ और अन्त में विषय-संकेतक वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर है। अतः शैली की एकरूपता की दृष्टि से यह पाठ-परिवर्धन भी उपयुक्त है। कहीं इस प्रकार का पाठ होना, कहीं न होना ग्रन्थ की मानकता का लक्षण नहीं है। उदयपुर सं० में यहां कोई विषयसंकेत वाक्य नहीं है। वेस, भद, युमी, विस, जस, मूलसं० में परिवर्धित कर लिया है। (द्र०टि०पृ० १९ पर)

३. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**श्विद्धनम्**" अपवर्तनी है। लिपिकर प्रमादी थे, शोधक मक्कार थे, अतः सत्यार्थप्रकाश द्विप्र० में इसी प्रकार अशुद्धियों की भरमार है। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में भी संशोधित है।

४. **मुद्रणलिपिकर के घोर प्रमाद से मन्त्र छूटा**— यह मन्त्र मूलहस्त० में है और मुद्रणहस्त० तथा तीनों सं० में इसका हिन्दी अर्थ भी है। मुद्रणप्रति बनाते समय लिपिकर के प्रमाद से यह छूट गया जिसके कारण परोप० ३३ वें संस्करण तक यह छूटा रहा। ३४ वें संस्करण के समय किसी आर्य सम्पादक की नींद खुली तब इसको सम्मिलित किया। लिपिकरों के प्रमाद से इस प्रकार बहुत पाठ त्रुटित और भ्रष्ट हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ३३वें सं० तक हमारे आर्य विद्वान् भी लिपिकरों-आदिशोधकों की तरह चद्दर तानकर सोते रहे! जग को छोड़, वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी संस्करणों में इस मन्त्र को ग्रहण कर लिया है। चलो, '**देरआयद, दुरुस्त आयद**।' अच्छा हुआ, किसी द्वि०सं० के पक्षधर को मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमाद से छोड़े हुए इस मन्त्र में कोई रहस्य नजर नहीं आया, अन्यथा उसके महिमामण्डन का यह भी एक बिन्दु बन जाता।

५. **विद्वानों द्वारा महर्षिविरुद्ध पाठग्रहण**—महर्षि ने "**यज्वनः**" पाठ मान कर हिन्दी में अर्थ किया है। पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि ने "**अयज्वनः**" महर्षिविरुद्ध पाठ ग्रहण किया है। मूलह० में शुद्ध है।

६. **अशुद्ध एवं त्रुटित स्वरांकन**—इन मन्त्रों में तीनों सं० में अनेक स्वर अशुद्ध और त्रुटित हैं। उनको ठीक कर दिया गया है।

''**ऋचो अक्षरे०**'' इस मन्त्र का अर्थ '**ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा**' में लिख चुके हैं[१] अर्थात् जो सब दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव-विद्या-युक्त और जिसमें पृथिवी सूर्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव परमेश्वर है; उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और उसका ध्यान नहीं करते, वे '**नास्तिक**' और '**दुःखी**' होते हैं।[२] इसलिये उसी को जानकर मनुष्य सुखी होवें।[३]

प्रश्न—वेदों[४] में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो वा नहीं?

उत्तर—नहीं मानते; क्योंकि चारों वेदों में ऐसा[५] कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।

प्रश्न—वेदों[६] में जो अनेक देवता लिखे हैं, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—'**देवता**' दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं जैसे[७] कि पृथिवी; परन्तु इसको कहीं ईश्वर वा[८] उपासनीय नहीं माना है। देखो, इसी मन्त्र में कि 'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उनकी भूल है जो [इस मन्त्र में][९] देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से '**महादेव**' इसीलिये कहाता है कि वही सब जगत् का[१०]

---

१. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य, समु० तीन में पृ० १२९ पर मन्त्र और उसका अर्थ।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त इस संक्षिप्त पाठ ''**वे नास्तिक और दुःखी होते हैं**'' के स्थान पर लिपिकर ने मुद्रणहस्त० में अतिशयोक्तिपूर्ण एवं शिथिल शैली का पाठ परिवर्धित किया है जिसमें महर्षिप्रोक्त मूल वाक्य का भाव है ही नहीं। ग्रन्थकार कह रहे हैं कि ईश्वर को न मानने वाले '**नास्तिक हुआ करते हैं**' और '**वे दुखी भी होते हैं**', किन्तु वे नास्तिक ''**मन्दमति**'' कैसे हो गये? अथवा, ईश्वर को न मानने से कोई ''**मन्दमति**'' कैसे होता है? तृतीय समु० पृ० १२९ पर इस मन्त्र के अर्थ में 'अर्थज्ञान सहित वेदों को पढ़ने का निर्देश है, ब्रह्म को जानने का निर्देश है।' वेद और ब्रह्म को जानकर न माननेवाला '**मन्दमति**' कैसे हो सकता है? अतः अनर्गल परिवर्धन है। लिपिकर का वह पाठ है—''**वे नास्तिक, मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं।**'' यही अपपाठ वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में है द्विप्र०, द्वि०सं० में है। महर्षिप्रोक्त मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर-निर्मित पाठ नहीं।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा शैलीविरुद्ध परिवर्तन**—यहां वाक्यान्त में निर्देशात्मिका क्रिया ''**होवें**'' उपयुक्त है। दोनों द्वि०सं० में यहां उपलब्ध ''**होवे हैं**'' क्रिया वाक्य से नहीं जुड़ती। महर्षि की शैली भी देखिए, अग्रिम मन्त्रों के अर्थों में, अन्त में संवर्त्र निष्कर्ष रूप में निर्देशात्मक वाक्य हैं। विशेषरूप से पांचवें मन्त्र का अर्थद्रव्टव्य है—''**इसलिये.....मत जानो।**'' वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा निर्मित अपपाठ है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है।

४,६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वेद**'' पद अपप्रयोग है बहुवचनात्मक '**वेदों**' उपयुक्त है, क्योंकि पूर्वापरप्रसंग में स्पष्टतः ''**वेदों**'' प्रयोग है। दूसरे स्थान पर द्वि० सं० में संशोधन कर ''**वेदों**'' पाठ बना दिया है किन्तु शोधक पहले स्थान पर बहुवचन बनाना भूल गया। एकरूपता और मानकता के लिए एक ही प्रयोग अपेक्षित है।''

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां '**यह**' अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ऋषिहस्तलेख में ''**ऐसा**'' संशोधित है। आगे प्रयुक्त ''**जिससे**'' के सम्बन्ध से '**ऐसा**' पद ही उपयुक्त है। यही ग्राह्य है।

७. **अपप्रयोग**—सभी पाठों में यहां ''**जैसी**'' अपप्रयोग है, ''**जैसे**'' अपेक्षित है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह० में ''**ईश्वर वा उपासनीय**'' शुद्ध एवं पूर्ण पाठ है। प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने लिख दिया—''**कहीं उपासनीय**'', अर्थात् ''**ईश्वर वा**'' ये महत्त्वपूर्ण पद छोड़ दिये। मुद्रणहस्त० के शोधक ने पाठ अपूर्ण जानकर अनुमान से ऊपर ''**ईश्वर**'' पद लिख दिया। इस प्रकार ''**वा**'' महत्त्वपूर्ण पद त्रुटित रह गया। त्रुटित ही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में ''**वा**'' पद जोड़ लिया है। मूलह०, मूलसं० में है। ''**वा**'' पद यहां दो भाव व्यक्त कर रहा है। वेस, जग, युमी, विस ने संशोधित कर लिया है। भद में ऋषि की भाषाशैली के विरुद्ध ''**या**'' पाठ बनाया है। उदयपुर सं० में त्रुटित अपपाठ ही है।

९. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस मन्त्र में 'देवता' शब्द से सर्वत्र ईश्वर का ग्रहण नहीं होगा, यह बताने के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ परिवर्धन परमावश्यक है, अन्यथा इस वाक्य का अनर्थ प्रकट होगा।

१०. **अपपाठ**—सभी संस्करणों में ''**जगत् की उत्पत्ति.....कर्त्ता**'' अपपाठ है। यहां '**का**' कारक प्रत्यय अभीष्ट है, क्योंकि उसका

उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है।

जो "**त्रयस्त्रिंशता०**"[१] [यजुः १४।३१] इत्यादि वेदों[२] में प्रमाण हैं। इसकी व्याख्या '**शतपथ**' [कां० १४। प्रपा० ३। ब्रा० ७। कं० ४] में की है कि **तेंतीस देव** अर्थात् पृथिवी, [द्यौ=] जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से ये आठ '**वसु**' [कहाते हैं]।[३] प्राण, अपान, व्यान, उदान,[४] समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह '**रुद्र**' इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन करानेवाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने बारह '**आदित्य**' इसलिये हैं कि ये सबकेआयु को[५] लेते जाते हैं। बिजुली का नाम 'इन्द्र' इस

"**कर्त्ता**" विशेषण से व्याकरणिक सम्बन्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१. **अप-उद्धरण और आर्य सम्पादकों का सिद्धान्तविरोध**—उद्धरण का शुद्ध मूलपाठ "**त्रयस्त्रिंशता०**" है, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**त्रयस्त्रिंशत् त्रिशता**" अशुद्ध मन्त्र पाठ है। आदिशोधक ने इसका मूल वेद से मिलान नहीं किया। यहां दिया गया हिन्दी-अर्थ भी नहीं देखा कि उसमें ३३ देव लिखे हैं, जबकि उद्धृत पाठ का अर्थ '३३३' देव बनता है।

संशोधन-पुष्टि—आदि-शोधक ज्वालादत्तशर्मा और भीमसेन शर्मा तो मक्कार थे, किन्तु आज तक हमारे कुछ आर्यविद्वानों ने भी न हिन्दी-अर्थ देखा, और न वेद से तथा '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' वेदविषय में शुद्ध उद्धृत मन्त्र से मिलान करके ऋषिपाठ के अनुसार भी इसको सुधारा। सभी सं० में अशुद्ध मन्त्रांश छप रहा है। इस अशुद्धि को न सुधारकर आर्यसम्पादकों ने जहां वेद का विकृत पाठ स्वीकार किया है वहां देवसंख्या विषयक स्थापित वैदिक-सिद्धान्त को भी दूषित रूप में मान लिया है, क्योंकि सर्वत्र ३३ मूल देवों की मान्यता है। अथर्व० में मन्त्र देखिए—"**त्रयस्त्रिंशद् देवताः**" (१९.२७.१०)। अन्य वैदिक ग्रन्थ तो इस मान्यता से भरे पड़े हैं। ऋषि ने अपने वेदभाष्य में दर्जनों स्थलों पर ३३ देवों की मान्यता उपस्थित की है। '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' वेदविषय में महर्षि ने मान्यता दी है कि '**वेद मन्त्रों की वर्णानुपूर्वी नियत और नित्य है**' (पृ० १५,२०)। सत्यार्थप्रकाश में भी कहा है—"**शब्द, अर्थ, सम्बन्ध नित्य है**" (पृ० ३७१/१)। इस प्रकार वैदिक मान्यता और महर्षि की मान्यता से उन्हीं के ग्रन्थ में परस्परविरोध उत्पन्न हो गया है और सिद्धान्त भी नष्ट हो रहा है, और वेदमन्त्र भी विकृत हो रहा है। कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में ऐसी त्रुटि होना अधिक खेदजनक और भ्रान्तिजनक है। उद्धरण पाठान्तर में यों तुलना करने लगेंगे तो किसी भी अशुद्ध मन्त्रपाठ को शुद्ध करने की आवश्यकता ही क्या है?

अशुद्ध मन्त्रपाठ से सिद्धान्तविरोध—स्वामी वेदानन्द जी, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती ने मन्त्रपाठ को संशोधित कर लिया है। पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का मन्त्रपाठ अशुद्ध है किन्तु टिप्पणी में संशोधन व्यर्थ है। उदयपुर सं०,मूलसं० और उदयपुर सं० में अशुद्ध मन्त्रपाठ को तुलनात्मक वेदमन्त्र माना है।

उदयपुर सं० का हठपूर्ण परस्परविरोधी उत्तर—इस अप वेदमन्त्रांश पाठ के सन्दर्भ में चार में से **पहला लेखक** कोई उत्तर नहीं दे सका। **दूसरे लेखक** ने अत्यन्त हास्यास्पद उत्तर यह दिया है कि 'ये दो मन्त्रांश हैं।' एक '**त्रयस्त्रिंशत्**' अथर्व० १०.७.२३ का है और बीच का पद निकालकर दूसरा मन्त्र बनेगा—"**त्रयस्त्रिंशता**" यजु० १४.३१ का। ऐसे चमत्कारपूर्ण उत्तर की कल्पना उदयपुर सं० का सम्पादक ही कर सकता है, अन्य किसी की बुद्धि के वश की बात नहीं। ऐसे तो खाखी के मन्त्र "श्री गनेशाय नम" (पृ० ६६२) के समान चार मन्त्र-पाठ बन जायेंगे, आपने अपनी खोज को दो मन्त्रों पर ही क्यों रोक दिया? परन्तु लेखक जी! देखो, ग्रन्थकार महर्षि तो इसको एक ही मान रहे हैं—"**इसकी व्याख्या शतपथ में की है**"। अब क्या करेंगे? **तीसरे लेखक** की भाषा ऐसी है कि यही स्पष्ट नहीं हो रहा कि वे इसको शुद्ध मान रहे हैं या अशुद्ध? **चौथे लेखक** ने स्पष्ट शब्दों में इस अशुद्धि को स्वीकार किया है किन्तु अन्त में वे भी निन्दा करने में उलझ गये। जो मैंने नहीं कहा वह वाक्य मेरे नाम से उद्धृत करके असंगत बातें लिखी हैं। वे अपने अहंकारी और निन्दारुचि स्वभाव से विवश प्रतीत होते हैं।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां एकवचनान्त '**वेद**' पद का प्रयोग है। वाक्यपदों की अपेक्षा तथा पूर्वापर प्रयोगों की एकरूपता की दृष्टि से बहुवचन चाहिए। दोनों हस्त०, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में शुद्ध पाठ है।

३-४. **त्रुटित आवश्यक पद**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**कहाते हैं**' क्रियापद आवश्यक हैं। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में "**उदान**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में परिवर्धित कर लिया है।

५. **मुद्रणकाल में शैलीविरुद्ध परिवर्तन**— महर्षि की स्वीकृत शैली के अनुसार मूलप्रति सं० में '**आयु**' पद का पुंल्लिंग में प्रयोग है। द्विप्र० और द्वि०सं० में इसको स्त्रीलिंग बनाना शैली-विरुद्ध परिवर्तन होने से अग्राह्य है। यह विरोध इस प्रकार उत्पन्न हुआ—दोनों हस्त० में यहां "**उमर**" शब्द का प्रयोग था। उसके साथ स्त्रीलिंग सर्वनाम "**सबकी**" प्रयुक्त था। द्विप्र० में हिन्दी रूप

हेतु से है कि वह परम-ऐश्वर्य का हेतु है। यज्ञ को 'प्रजापति' कहने का कारण यह है कि जिससे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की '**शिल्पविद्या**' से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से 'देव' कहाते हैं।[१] इनका स्वामी और सबसे बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्यदेव 'शतपथ' के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है। जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर मानने-रूप भ्रमजाल में गिरकर झूठा क्यों बकते[२] ॥ १ ॥

हे मनुष्य![३] जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सबमें व्याप्त होकर [जो][४] उसका नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है; उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर। उस अन्याय के त्याग[५] और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से[६] आनन्द को भोग ॥ २ ॥

ईश्वर सबको उपदेश करता है कि[७] हे मनुष्यो! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान, सब जगत् का पति हूँ, मैं सनातन जगत्-कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूँ; मुझ को ही सब जीव, जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें। मैं सबको सुख देनेहारे जगत् के लिये नाना प्रकार के

''**आयु**'' तो बना दिया किन्तु उसके साथ शेष वाक्य यथावत् रह गया। सभी द्वि०सं० में शैलीविरुद्ध प्रयोग है।

१. **तैंतीस देवों में नामान्तर**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तैतीस देवों की गणना के अन्तर्गत आठ '**वसुओं**' में '**द्यौ**' के स्थान पर ''**जल**'' नाम मिलता है। यही पाठ समु० ८ में पृ० ४२२ पर है। यह नामान्तर किस कारण हुआ है, यह बात समझ में नहीं आ रही है जबकि मूल स्रोत शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और यजुर्वेद भाष्य २.२ में 'जल' का नाम परिगणित वसुओं में नहीं है। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है और स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाश में ''**जल**'' के स्थान पर मूल पाठ में पठित ''**द्यौ**'' नाम परिवर्तित भी कर दिया है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी) ने अपनी 'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा' पुस्तक में (पृ० २२०-२२३) इस संशोधन की कटु शब्दों में आलोचना करते हुए अपना समाधान-परक मत भी दिया है। उनका कथन है कि इस अर्थ में रहस्य है और '**जल**' अर्थ जन-साधारण को समझाने के लिए किया है। उनके उत्तर का यह पक्ष तो स्वीकार्य नहीं है किन्तु यह स्वीकार्य है कि महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में दोनों स्थानों पर यही अर्थ किया है, तो विवेकपूर्वक किया है। महर्षि ने '**द्यौ**' का अर्थ अन्यत्र भी परिवर्तित किया है जैसे, वेदभाष्य में अधिकतर इसका '**प्रकाश**' अर्थ किया है। एक स्थान पर ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमाण के आधार पर वेदभाष्य में '**वृष्टि**' अर्थ भी लिया है (यजु० २३.१२)। प्रकरणानुसार इसका '**अन्तरिक्ष**' अर्थ भी ग्रहण किया है। यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि महर्षि ने तत्त्वों में (वसुओं में) कोई परिवर्तन नहीं किया है जिसे मूल उद्धरण के विरुद्ध कहा जाये, उन्होने केवल अर्थग्रहण अपने विवेक के आधार पर किया है। यहां यदि '**द्यौ**' पद रखकर आगे 'जल' पदार्थ दे दिया जाता है तो अधिक स्पष्टता आ जाती है और पाठक को ज्ञान हो जाता है कि यह किस पद का अर्थ है। इस प्रकार 'जल' पाठ ग्राह्य है, **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** द्वारा परिवर्तित पाठ आवश्यक नहीं है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में भ्रमजाल में गिरकर ''**झूठा क्यों बकते**'' पाठ उचित है। उसके स्थान पर मुद्रणहस्त० में, फिर द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते**'' अपपरिवर्तन किया है। भाषा-भाव परिवर्तन करने के लिए मुद्रणलिपिकर ने ''**झूठा**'' पद ही त्रुटित छोड़ दिया। '**झूठ**' के साथ '**बकने**' की संगति सही है, '**झूठ बहकने**' की नहीं। द्वि०सं० का संशोधन इस कारण अग्राह्य है क्योंकि भ्रमजाल में गिरकर बहका नहीं जाता। ''**भ्रमजाल में गिरना**'' तथा ''**बहकना**'' दोनों एकार्थक कथन हैं। अत: मुद्रणलिपिकर का परिवर्तन अग्राह्य है।

३. **अनावश्यक पुनरुक्त पद**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां ''**तू**'' पद अनावश्यक है, क्योंकि यह आगे ''**उससे डरकर तू**'' वाक्यांश में है। द्वि०सं०, मूलसं० में हटा दिया है। भद को छोड़कर सभी सं० में संशोधित है।

४,५. **अपपाठ एवं त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमश: '**जो उसका**' पद त्रुटित है। वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है। द्विप्र० में ''**अन्याय से त्याग**'' अपपाठ है।

६-७. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से**'' तथा ''**ईश्वर सबको उपदेश करता है कि**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख में लिखकर जोड़े गये पाठ हैं। ये मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से गृहीत हैं।

भोजनों का विभाग, पालन के लिये करता हूँ॥ ३ ॥

मैं परमैश्वर्यवान्, सूर्य के समान[१] सब जगत् का प्रकाशक हूँ। [मैं] कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूँ। मैं ही जगत्-रूप धन का निर्माता हूँ। सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला[२] मुझको ही जानो। हे जीवो! ऐश्वर्यप्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझसे मांगो और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत हो॥[३] ४॥

हे मनुष्यो! मैं सत्यभाषण-रूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूं, मैं ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा [हूँ][४] और मुझको वह वेद यथावत् कहता [है],[५] उससे सबके ज्ञान को मैं बढ़ाता [हूँ][६]। मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता और इस विश्व में जो कुछ है उस सब '**कार्य**'[७] का बनाने और धारण करनेवाला हूँ। इसलिये **तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो॥** ५ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६ ॥[८]

यह यजुर्वेद का मन्त्र है [१३।४]॥

हे मनुष्यो! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान, आधार और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है, और होगा, उसका स्वामी था, है, और रहेगा।[९] वह पृथिवी से लेके सूर्यलोक-पर्यन्त सृष्टि को बनाके धारण कर रहा है। उस सुखस्वरूप परमात्मा की ही भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो॥ ६ ॥

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण कभी नहीं घट सकता।[१०]

उत्तर—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥

यह गौतम महर्षि[११] कृत न्यायदर्शन का सूत्र है [१।१।४]।

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह० में "**समान**" के स्थान पर "**सदृश**" परिवर्तन व्यर्थ है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उत्पत्ति करनेवाले**" अपपाठ है, वाक्यस्थ अन्य विशेषणों "**धन का निर्माता**" आदि एकवचनात्मक पाठों के सम्बन्ध से '**करनेवाला**' प्रयोग अपेक्षित है। अन्य सभी सं० में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० आदि में "**हो**" क्रिया के स्थान पर "**होओ**" क्रिया व्यर्थ बनाई है।

४-६. **त्रुटित आवश्यक क्रियाएं**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः "**हूँ**" और "**है**", "**हूँ**" क्रियाएं त्रुटित हैं। पृथक्-पृथक् पुरुषवाचक वाक्यखण्ड होने से क्रियाएं भी पुरुष के समान होंगी। अतः ये क्रियाएं आवश्यक हैं।

७. **कार्य**—प्रकृति के परमाणु रूप कारणों से निर्मित सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ 'कार्य' कहलाता है।

८. **त्रुटित एवं अशुद्ध स्वरांकन**—तीनों सं० में यहां स्वर की त्रुटियां हैं। उनको ठीक कर दिया गया है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में, यह क्रमविरुद्ध अपपाठ है—"**उत्पन्न हुआ है, हुआ था और होगा**", इसी प्रकार वाक्य की अन्तिम क्रिया "**रहेगा**" के स्थान पर लिपिकर ने "**होगा**" क्रिया बनाई है। यहां ईश्वर की निरन्तर सत्ता-बोधक "**रहेगा**" क्रिया उपयुक्त है। "**होगा**" क्रिया जगत् के साथ तो संगत है, परमेश्वर के साथ नहीं; क्योंकि उसका स्वामित्व निरन्तर रहता है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है किन्तु उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१०,११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मूलह०, मूलसं० में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण बोधक पाठ है—"**प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं घट**

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो।

अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों[१] और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं।[२] जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से, गुणी जो पृथिवी उसका '**आत्मायुक्त मन**' से प्रत्यक्ष[३] किया जाता है, **वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष आदि [कर्म और][४] ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।**

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता अथवा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव के इच्छा-ज्ञान-आदि, उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं।[५] उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।[६-७]

सकता।'' मुद्रणह० में और द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते**'' पाठ अनुचित है, क्योंकि पूर्व में और आगे प्रत्यक्ष की ही सिद्धि और व्याख्या है। आगे मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**महर्षि**'' पाठ उचित है।

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणह० और द्विप्र० में ''**इन्द्रियां**'' अपप्रयोग है। मूलह०, मूलप्रति सं० '**इन्द्रिय**' एकवचनान्त अपप्रयोग है। द्वि०सं० में '**इन्द्रियों**' संशोधित है। अन्य सभी सं० में भी संशोधित कर लिया है।

२. **गुण से गुणी का प्रत्यक्ष**—गुण से गुणी का प्रत्यक्ष होता है किन्तु वह स्थूल गुणी का होता है और वह इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष हुआ करता है। किन्तु सन्दर्भ स्थूल का नहीं अपितु सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा का है, उसी को यहां 'गुणी' कहा गया है। कहा है कि उसका प्रत्यक्ष इन्द्रिय या मन से नहीं होता, क्योंकि वह इन्द्रियातीत और अगोचर है। उसका प्रत्यक्ष केवल आत्मा से होता है, यहां परमात्मा का प्रसंग है अतः ''**गुणी**'' का प्रयोग केवल परमात्मा के लिए किया गया है। अन्यत्र वर्णन—द्र०पृ० ३४८/१।

३. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां से ''**ग्रहण**'' पद हटा दिया है। ऋषि ने मूलह० में यहां ''**प्रत्यक्ष**'' शब्द लिखा है। उसके बाद 'ग्रहण' प्रयोग व्यर्थ था।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**कर्म और**' पद त्रुटित हैं। ये आवश्यक होने से ग्राह्य हैं।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**झुक जाता है**'' अपपाठ है। यही अपपाठ भद, युमी, विस में है। वेस, जग में भ्रष्टपाठ ''**झुक जाती है**'' बना दिया है। मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

६,७. **परमात्मा की ओर से प्रेरणा**—महर्षि ने अगले ही अनुच्छेद में बताया है कि यह प्रेरणा भी शुद्धान्तःकरण वालों में ही होती है, और वही ग्राह्य होती है। रजोगुण और तमोगुण से ग्रस्त, अशुद्धान्तःकरण वाले लोगों का यहां ग्रहण नहीं है। महर्षि मनु ने मनुस्मृति में इसे और अधिक स्पष्ट किया है कि आत्मा की स्वाभाविक प्रसन्नता सात्त्विक गुणों की स्थिति में ही होती है—

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्। येन तुष्यति चात्मास्य तत् सत्त्वगुणलक्षणम्॥

''**सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः**'' (मनु० १२.३७, ३८)

अर्थात्—जब मनुष्य का आत्मा पूर्णतः सत्य ज्ञान से युक्त हो और किसी कार्य को करते हुए स्वयं को लज्जित अनुभव न करता हो, जिस कार्य से आत्मा को सच्ची संतुष्टि-प्रसन्नता मिलती हो, तो यह 'सत्त्वगुण' के प्राधान्य का लक्षण है॥ धर्माचरण ही सत्त्वगुण का लक्षण है, और धर्माचरण यह है—वेदादिशास्त्रों का अध्ययन करना, धर्माचरण के लिए कष्ट सहन करना, सत्यज्ञान प्राप्त करना, अन्तःकरण और शरीर की पवित्रता, धर्म का अनुष्ठान, आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी चिन्तन करना। यही सत्त्वगुण के लक्षण हैं। जिनकी आत्मा में सत्त्वगुण अर्थात् धर्म और ज्ञान का प्राधान्य है उन्हीं के हृदय में प्राप्त प्रेरणा प्रमाण है, अन्य रजोगुण और तमोगुण प्रधान अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञानजन्य प्रेरणा प्रमाण नहीं। क्योंकि रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता की स्थिति में जो विचार और आचरण होता है वह आत्मा के शुद्ध-पवित्र स्वभाव के अनुकूल नहीं होता। जैसे—मूर्तिपूजा में प्रसन्नता अनुभव करना अज्ञान का परिणाम है और बलि-प्रथा में पशुहत्या करने में प्रसन्नता मानना घोर तमोगुण का परिणाम है। **अन्यत्र वर्णन**—यही कथन पृ०४७७, ७७०पर भी द्रष्टव्य है।

और जब शुद्धात्मा-शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी, समाधिस्थ होकर, आत्मा और[१] परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है, तब उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखके कारण का, नियमों को देखके नियन्ता का, सृष्टि को देखकर स्रष्टा का[२] अनुमान होता है।

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है वा किसी देश-विशेष में रहता है?

उत्तर—व्यापक है; क्योंकि जो एकदेश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका स्रष्टा, सबका धर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। **अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का [होना][३] असम्भव है।**

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं?

---

१. **मुद्रणलिपिकर की भूल से सिद्धान्तविरुद्ध पाठ-परिवर्तन की कहानी**—पाठ-परिवर्तन से अनर्थ होने का एक उदाहरण यह भी है। मूलहस्तलेख में शुद्धात्मा योगियों को समाधि-अवस्था में परमात्मा के प्रत्यक्ष होने के विषय में महर्षिप्रोक्त एक सारगर्भित उत्तम वाक्य है—"**और जब शुद्धात्मा शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी, समाधिस्थ होकर आत्मा और परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है, तब उसको उस समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।**"

मुद्रण-लिपि करते समय प्रमादी लिपिकर "**शुद्धान्तःकरण....और परमात्मा**" तक पाठ छोड़ गया तो यह अपपाठ लिखा—"**जब शुद्धात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको दोनों...।**" शोधक ने शोधन करते समय मूलहस्तलेख से मिलान न करके, संगति जोड़ने के लिए '**शुद्धात्मा**' के स्थान पर '**जीवात्मा**' लिखकर अनुमान से यह पाठ इस प्रकार बनाया—"**और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है.....।**" इससे यह अर्थहानि हो गई कि मूल-हस्तलेख में महर्षि का यह दार्शनिक सिद्धान्त था कि '**शुद्धात्मा योगियों को समाधि-अवस्था में ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है**', और कांट-छांट होने से यह अपसिद्धान्त बन गया कि '**शुद्ध मानसिक अवस्था में बिना समाधि के किसी भी जीवात्मा को ईश्वर का विचार करते ही उसका प्रत्यक्ष हो जाता है।**' यह सिद्धान्त योगदर्शन और ऋषि के अन्यत्र कथित सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। द्रष्टव्य—"**समाधि दशा में योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है**" (पृ० ३५२/७)। यदि बिना समाधि के ही आत्मा और परमात्मा प्रत्यक्ष होते हैं तो योगी बनने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यह हुआ मुद्रणहस्तलेख और द्विप्र० तथा द्वि०सं० के पाठ का दुष्परिणाम! यही सिद्धान्तविरुद्ध पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सं० में है।

मूलप्रति सं० में दोनों हस्लेखों के पाठों का मिलान कर देने से एक नया अपमिश्रण बन गया—"**जब जीवात्मा शुद्ध होके, शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी समाधिस्थ होकर आत्मा और परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है.....**", इसमें एक के स्थान पर दो पृथक् कर्त्ता हो गये और दोनों कर्त्ताओं "**जीवात्मा शुद्ध होके**" "**शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी समाधिस्थ होकर**" अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा और योगी का एक स्तर हो गया। पहले मूलहस्त० के पाठ में "**शुद्धात्मा**" योगी का विशेषण था। नये पाठ से वह समाप्त होकर अपवाक्य भी बन गया—"**जीवात्मा....आत्मा...का विचार करने में तत्पर रहता है।**" यही दुःस्थिति उदयपुर सं० की है। उसको "**बड़े-बड़े**" विद्वानों द्वारा सम्पादित बताया गया है। उनके सामने शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठों का विकल्प था किन्तु उन्होंने मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित अपपाठ को ही ग्रहण किया है। खेद है कि उन्होंने इस अशुद्ध पाठ पर गम्भीरता से चिन्तन नहीं किया और पाठकों के सामने सिद्धान्तविरुद्ध पाठ परोस दिया। इससे पाठकों में गम्भीर भ्रान्ति फैलेगी। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ उत्तम और ग्राह्य है।

२. **मुद्रणलिपिकर और मुद्रणकालीन प्रमाद से त्रुटित पाठ**—क्रमशः, मुद्रणहस्त० और द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ त्रुटित है—"**नियमों को देखके नियन्ता का, सृष्टि को देखकर स्रष्टा का**"। यह मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से छूटा है। प्रश्न से सम्बद्ध और प्रकरणसम्मत यह प्रमुख पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में त्रुटित है। इस उपसंहार वाक्य में ईश्वर-विषयक यही दो महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक स्पष्ट उत्तर व तथ्य हैं जिनमें ईश्वर को "**नियन्ता**" और "**स्रष्टा**" के रूप में अनुमित किया है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया है। शेष वाक्य तो गौण है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि में भी यह पाठ त्रुटित है, अतः उनका पाठ अपूर्ण है। उदयपुर सं० में भी यह महत्त्वपूर्ण पाठ त्रुटित है। सम्पादक कथित दशविद्वानों ने इस पाठ की महत्ता पर ध्यान नहीं दिया। इसके बिना उदयपुर सं० का पाठ अपूर्ण है। **अन्यत्र वर्णन**—पृ० १०९/३ में यही कथन द्रष्टव्य है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**होना**" क्रिया त्रुटित है, शुद्ध वाक्य हेतु आवश्यक है। युमी, मूलसं० में गृहीत है; वेस, भद, उदयपुर सं० त्रुटित है।

उत्तर—है।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर-विरुद्ध हैं। जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि '**न्याय**' उसको कहते हैं कि जो कर्त्ता के[१] कर्मों के अनुसार न अधिक, न न्यून सुख-दुःख पहुंचाना। और '**दया**' उसको कहते हैं कि जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है; क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द[२] होकर दुःखों को प्राप्त न हों। **वही दया कहाती है कि जो 'पराये दुःखों का छुड़ाना।'** और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म किया हो, उसको वैसा, उतना ही दण्ड देना[३] '**न्याय**' है।[४] और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो 'दया' का नाश हो जाय; क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्त्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक के छोड़ने में सहस्त्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, तब[५] वह दया किस प्रकार हो सकती है? '**दया**' वही है कि उस डाकू को कैद कर पाप करने से बचाना डाकू पर दया, और [फिर] उस डाकू के [द्वारा मनुष्यों को] न मार सकने से[६] अन्य सहस्त्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

प्रश्न—फिर '**दया**' और '**न्याय**' दो शब्द क्यों हुए; क्योंकि जब दोनों का अर्थ एक ही है[७], तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है? कोई एक शब्द रहता तो अच्छा होता।[८] इसलिये दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं।[९]

उत्तर—क्या एक अर्थ के अनेक नाम और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते?

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में प्रमाद से "**कर्त्ता के**" महत्त्वपूर्ण पाठ छोड़ दिया।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, और तीनों सं० में यहां "**बन्ध**" प्रयोग है, यह '**बन्द**' होना अधिक उपयुक्त है। हिन्दी में '**बन्ध**' पद '**बन्धन**' अर्थ में रूढ़ हो चुका है, विकसित हो चुका है। अतः दोनों भिन्नार्थक हैं। (टि०द्र०पृ० ११ पर)

३. **स्थानभ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में यह पाठ इस प्रकार अस्तव्यस्त हो गया है—"**जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना, वैसा ही दण्ड देना।**" इस सं० में इसको क्रमबद्ध, व्यवस्थित पाठ बना दिया है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—उपर्युक्त मूलह० के अच्छे-भले पाठ के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने यह पाठ बदला है—"**दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है।**" महर्षि यहां शब्दार्थ को स्पष्ट कर रहे हैं जबकि मुद्रणलिपिकर ने उसको निर्देश वाक्य में बदल दिया। सभी द्वि०सं० में यही अपपाठ है।

५. **त्रुटित पद**—सभी सं० में '**तब**' पद त्रुटित है, वाक्य में पूर्वोक्त "**जब**" के सम्बन्ध से आवश्यक है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषि-विरुद्ध परिवर्तन**—मूलहस्त० में यहां "**न मार सकने से**" स्पष्ट पूर्ण पाठ है। मूलप्रति सं० में यहां "**मार सकने से**" और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**मार देने से**" पूर्ववाक्य के विरुद्ध पाठ है। यदि डाकू को मार ही दिया तो उसको कारागार में रखने का कथन व्यर्थ है और मारना दया नहीं होती। मूलह० में "**कैद कर**" पाठ है। द्विप्र० में इसका हिन्दीकरण किया गया है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणलिपिकर ने मूलप्रति के "**एक ही है**" के स्थान पर "**एक ही होता है**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। यहां महर्षि के उपर्युक्त उत्तर पर आक्षेप है कि आपके कहे अनुसार जब अर्थ "**एक ही है**" तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है। अतः यही पाठ संगत एवं सटीक है।

८,९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित हास्यास्पद और व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में मूलह० के उपर्युक्त अच्छे-भले वाक्य की मुद्रणलिपिकर ने हास्यास्पद शिथिल भाषा बना डाली—"**इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था।**" आगे यह अनावश्यक विस्तार कर दिया—"**इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।**" यही पूर्ण-अर्थ मूलप्रति के संक्षिप्त वाक्य से प्राप्त हो रहा है। अतः मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ उपयुक्त है। मुद्रणलिपिकर द्वारा

प्रश्न—होते हैं।

उत्तर—फिर[१] तुमको शङ्का क्यों हुई?

प्रश्न—संसार में सुनते हैं, इसलिये।

उत्तर—संसार में सच्चा और झूठा दोनों सुने जाते हैं,[२] उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है। देखो, ईश्वर की पूर्ण दया[३] यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ सब पदार्थ[४] जगत् में उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं, इससे बड़ी दया[५] दूसरी कौन-सी है? न्याय का फल, जगत् में सुख-दुःख की व्यवस्था, अधिकता-न्यूनता से दिखला रही है।[६] इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है, [वह **'दया'**],[७] और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथायोग्य दण्ड देना[८] **'न्याय'** कहाता है। **दोनों का एक ही प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् करना।**

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार?

उत्तर—निराकार; क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न हो सकता, जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञता-आदि गुण भी न हो सकते;[९] क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं, तथा शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषा और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। और जो साकार होता, तो उसके आकार को बनानेवाला दूसरा होना चाहिये।[१०] क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य

निर्मित व्यर्थ और शिथिलपाठ ही वेस, भद, युमी, विस, जग, जस और उदयपुर सं० में है।

१. **मुद्रणलिपिकर-कृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र० में **''फिर''** के स्थान पर **''तो पुनः''** व्यर्थ परिवर्तन है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—यहां मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर ने व्याकरण की दृष्टि से अपवाक्य बनाया है—**''तो सच्चा झूठा दोनों सुनने में आता है।''** यही अपपाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में है।

३. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलह०, मूलप्रति सं० के **''दया पूरी यह है''** के स्थान पर **''पूर्ण दया यह है''** पाठ अधिक उपयुक्त और ग्राह्य है। आगे **''सिद्ध होने के''** स्थान पर **''सिद्ध होने के अर्थ''** स्पष्ट पाठ ग्राह्य है।

४-६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणलिपिकर को पाठ बदलने की सनक थी। **''सब पदार्थ''** के स्थान पर पर्यायवाची **''सकल पदार्थ''** व्यर्थ पाठान्तर किया है। मूलह०, मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त उपर्युक्त सटीक संक्षिप्त वाक्य के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ यह वाक्य बनाया है—**''अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है।''** यहाँ **''अधिक''** अपप्रयोग है, **''अधिकता''** भाववाचक शुद्ध होगा। मूलह०, मूलसं० का **''अधिकता-न्यूनता से दिखला रही है''** पाठ सटीक, शुद्ध है। मुद्रणलिपिकर की भाषा सटीक नहीं है। वही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में है। पूर्व वाक्य में **''इससे बड़ी दया''** के स्थान पर **''इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया''** व्यर्थ पाठान्तर किया है। जब **''दूसरी''** पाठ है तो **''भिन्न''** पाठ व्यर्थ है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'वह दया'** पाठ त्रुटित है, इसके बिना वाक्यरचना नहीं होती।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणप्रति में **''यथायोग्य दण्ड''** के स्थान पर **''यथावत् दण्ड''** अशुद्ध पाठ है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ में अप-परिवर्तन**—मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर ने मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त **''सर्वज्ञतादि गुण भी न हो सकते''** पाठ के स्थान पर **''सर्वज्ञादि गुण भी न घट सकते''** अपपाठ बनाया है। यहां प्रसंग गुणी के स्वरूप के अनुसार उसमें गुणों के होने या न होने का है, घटित होने का नहीं। अर्थात् साकार होने पर ईश्वर में ''सर्वज्ञता'' आदि गुणों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। वही मुद्रणलिपिकर-निर्मित अशुद्ध पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में छप रहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में भी यही अपपाठ है। सभी सं० में **''सर्वज्ञ''** विशेषण के स्थान पर गुणवाचक **''सर्वज्ञता''** शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ में व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर को महर्षिप्रोक्त पाठों को बदलने की सनक सवार है। स्वच्छन्दता-

चाहिये। जो कोई कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया[१], तो [भी] वही सिद्ध हुआ कि शरीर के बनने के पूर्व [वह] निराकार था। इसलिये वह परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता,[२] किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म आकार से स्थूलाकार बनाता है।[३]

प्रश्न—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वा नहीं?

उत्तर—है;[४] परन्तु 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ इतना ही है[५] कि ईश्वर अपने काम अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, पालन और प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपने सब काम पूर्ण कर लेता है।[६]

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर जो चाहे सो करे।[७]

पूर्वक बार-बार और कहीं कुछ भी बदल देता है। यहां महर्षि के कथ्य को ठीक से न समझ पाने के कारण मुद्रणलिपिकर ने यह अपपाठ बनाया है—''**जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिये।**'' यही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में प्रचलित है। इसमें पहली अशुद्धि तो यह है कि सम्पूर्ण अनुच्छेद में भूतकालिक क्रियाओं का प्रयोग है, इस वाक्य में ''**साकार हो तो**'' संभावित वर्तमान का प्रयोग बना दिया। दूसरी बात यह है कि यहां अवयवों (नाक, कान आदि) के निर्माण का कथन करने का या उनको व्याख्यायित करने का प्रसंग ही नहीं है, यहाँ तो निराकार के विलोमार्थ में यह कहना प्रयोजन है कि यदि साकार होता तो उसके आकार को बनानेवाला कोई दूसरा भी होता। जब आकार ही नहीं बनता है अर्थात् शरीर ही धारण नहीं करता तो नाक, कान आदि अंगों की चर्चा का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। आगे ''**संयोग पद**'' से इसी बात को स्पष्ट किया है। एक ही पद ''**साकार**'' से समष्टि में पूर्ण भाव प्रकट हो रहा है। अत: मूलहस्त का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है। मुद्रणलिपिकर कृत असंगत पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर तथा उचित संशोधन**—मुद्रणप्रति में ''**कोई कहै**'' के स्थान पर ''**कोई यहां ऐसा कहै**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है। मूलह०, मूलप्रति सं० में अपूर्ण वाक्यरचना ''**ईश्वर ने अपना शरीर बना लिया**'' के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० का उपर्युक्त वाक्य वैशिष्ट्यपूर्ण और स्पष्टार्थक होने से ग्राह्य है।

२. **उचित पद संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**कभी शरीर धारण नहीं करता**'' पाठ है, मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**कभी**'' पद नहीं है। यह परिवर्धन ग्राह्य है। अन्यत्र उल्लेख—समु० ८ में पृ० ३८३ पर द्रष्टव्य है।

३. **ऋषिहस्तलेख में भी मुद्रणलिपिकर द्वारा असंगत पाठपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलह०, द्वि०सं० में, मूलप्रति सं० के ''**सूक्ष्म आकार से**'' के स्थान पर ''**सूक्ष्म कारणों से**'' असंगत पाठ बनाया है। यहां कारण से कार्य की उत्पत्ति सृष्टि-उत्पत्ति का विषय ही नहीं है, यहां तो स्वयं निराकार रहते हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु और जगत् को स्थूलतम तथा विशालतम आकार प्रदान करने का है। अन्य सभी सं० वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर में यही असंगत-अशुद्ध पाठ है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा असंगत पाठ परिवर्धन**—मुद्रणलिपिकर की व्यर्थ के पाठ-परिवर्तन की सनक कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि उसे पूर्वापर संगति का भी ध्यान नहीं रहता। ''**है**'' क्रिया के बाद लिपिकर ने यह वाक्य बढ़ाया है—''**परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो, वैसा नहीं।**'' यह पाठ-परिवर्धन इस कारण व्यर्थ और असंगत है क्योंकि प्रश्नकर्त्ता ने ऊपर कोई अर्थ न जाना है, न बताया है। अपना अर्थ तो प्रश्नकर्त्ता आगामी प्रश्न में बतायेगा। जब जनाया ही नहीं है, तो यहां '**जैसा तुम.....जानते हो**' कहने का कोई औचित्य ही नहीं। यही असंगत पाठ वेस, भद, जग, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने इसी असंगत पाठ को ग्राह्य माना है, किन्तु उनसे सहमत होना संभव नहीं है क्योंकि उन्होंने इसके प्रसंगविरोध पर विचार नहीं किया। मूलह० मूलसं० के उत्तर की महर्षिप्रोक्त भाषा संगत व सटीक है।

५. **अन्यत्र उल्लेख**—समु० ८ में पृ० ३८३, समु ११ में पृ० ९६० पर द्रष्टव्य है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में अपूर्ण इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में सार्थक और पूर्णार्थक संशोधन किया है। वही ग्राह्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० का शिथिल पाठ इस प्रकार है—''**ईश्वर को अपने पालन काम करने में दूसरे के सामर्थ्य का सहाय नहीं लेना पड़ता किन्तु स्वसामर्थ्य से ही सब अपना काम पूरे कर लेता है।**'' सभी संस्करणों में यहां ''**सब**'' प्रयोग के सम्बन्ध से ''**अपने सब काम**'' पाठ अभीष्ट है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा असंगत पाठपरिवर्तन**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० में ''**करे**'' क्रिया के बाद यह परिवर्धित पाठ मिलता है—

उत्तर—वह क्या और कैसा[१] चाहता है? जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं कि क्या परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् हो, चोरी-आदि[२] पाप कर और दुःखी भी हो सकता है? जैसे ये काम ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना कि 'वह सब कुछ कर सकता है' यह कभी नहीं घट सकता। इसलिये '**सर्वशक्तिमान्**' शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।

प्रश्न—परमेश्वर सादि है, वा अनादि?

उत्तर—अनादि; अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको 'अनादि' कहते हैं, इत्यादि **सब अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिये हैं,[३] देख लीजिये।**

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है?

उत्तर—सबकी भलाई और सबके लिये सुख चाहता है, परन्तु स्वतन्त्रता के साथ; किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता।

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये, वा नहीं?

उत्तर—करनी चाहिये।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति, प्रार्थना [और उपासना][४] करनेवाले के पाप छुड़ा देगा?[५]

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर स्तुति, प्रार्थना, [और उपासना][६] क्यों करनी चाहिये[७]?

उत्तर—उनके करने का फल अन्य ही है।

प्रश्न—क्या है?

उत्तर—स्तुति से ईश्वर में प्रीति [होना][८], उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव

''**क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं।**'' इस पाठ की न तो कोई प्रांसगिकता है और न कोई औचित्य। यहां मूल-प्रश्न में कथ्य ईश्वर के गुण सर्वशक्तिमत्ता विषयक है कि सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह दूसरे की अपेक्षा के बिना अपने सब काम कर सकता है। परिवर्धित कथन '**सर्वशक्तिमान्**' गुण से सम्बन्धित नहीं है, अपितु दूसरे किसी की अपेक्षा से कुछ करने—न करने से सम्बन्धित है। पाठक यह भी ध्यान दें कि ऋषि के उत्तर की भाषा भी मूल प्रश्न पर केन्द्रित है, परिवर्धित पाठ पर नहीं। यही असंगत पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में है।

१,२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में ''**क्या और कैसा**'' के स्थान पर ''**क्या चाहता**'' और ''**चोरी-आदि पाप कर**'' के स्थान पर ''**चोरी, व्यभिचारादि पापकर्म कर**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है। मूलह० का पाठ स्पष्ट है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में ''**सब अर्थ..... कर दिया है**'' अपपाठ है, बहुवचनान्त अपेक्षित है।

४,६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों स्थलों पर बृहत् कोष्ठकान्तर्गत ''**उपासना**'' पद परमावश्यक है। **संशोधन-पुष्टि**—क्योंकि इसी पृष्ठ पर पूर्व प्रश्न में इस शब्द उल्लेख है तथा आगे सप्रमाण व्याख्या है। (पृ० ३३५, ३३६)।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, सभी सं० में ''**करने वाले का पाप छुड़ा देगा**'' अपपाठ है। यहां बहुवचन अपेक्षित है।

७,८. **अपवाक्य एवं त्रुटित आवश्यक पद**—प्रश्न वाक्य की क्रिया ''**क्यों करना**'' अपपाठ के स्थान पर ''**क्यों करनी चाहिये**'' क्रिया-प्रयोग दोनों हस्त० और तीनों सं० में वांछनीय है। **संशोधन-पुष्टि**—पंक्ति के प्रश्न में तथा पृ० ३३७/१ में ''**उपासना करनी**'' स्त्रीलिंग का शुद्ध प्रयोग है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होना**' पद त्रुटित है।

को सुधारना[१]; **प्रार्थना** से निरभिमानता, उत्साह और साहाय्य का मिलना; **उपासना** से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

प्रश्न—इनको स्पष्ट करके समझाओ।

उत्तर—जैसे, **ईश्वर की स्तुति**[२]—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ[३] शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ १॥[४]

यजुः, अ० ४०। मं० ८॥

वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् [है]। जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है, यह **'सगुण-स्तुति'; अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना, वह सगुण [स्तुति है]**[५]। और[६] (**अकाय**) अर्थात् वह कभी शरीर धारण [नहीं करता][७] वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता और जो[८] नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि **जिन-जिन राग-द्वेष आदि गुणों से**[९] **पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह 'निर्गुण**[१०]**-स्तुति' कहाती है।**

इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव हैं, वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपने भी करना।[११] जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**सुधरना**'' क्रिया है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित ''**सुधारना**'' शुद्ध है। यही ग्राह्य है। यहां ईश्वर की ओर से स्वतः प्राप्त लाभों का प्रदर्शन नहीं है, अपितु उपासक द्वारा स्वयं किये जाने वाले सुधार हैं। **संशोधन-पुष्टि**—अगले पृष्ठ पर ऐसा ही पाठ है—''**अपने चरित्र नहीं सुधारता**'' (पृ० ३२९/१)।

२. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**ईश्वर की स्तुति**'' शीर्षक अस्थान में अर्थ से पूर्व नीचे मिलता है। यहां इसको उचित स्थान पर प्रसंग के आरम्भ में और मन्त्र से पूर्व रख दिया है। देखिए, आगे '**प्रार्थना**' और '**उपासना**' शीर्षक भी इसी प्रकार मन्त्रों से पूर्व और प्रसंग के आरम्भ में ही हैं। वेस, जस, युमी, विस में संशोधित है; भद, जग और उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्टपाठ है।

३. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० में ''**अश्नाविरम्**'' अपवर्तनी लिखी है। यही द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

४. **त्रुटित एवं अशुद्ध स्वरांकन**—दोनों सं० में विद्यमान स्वरांकन की त्रुटियों को ठीक कर दिया है।

५-८. **त्रुटित आवश्यक पद**—क्रमशः, दोनों सं० में पहले दोनों स्थानों पर ''**स्तुति है**'' और '**नहीं करता**' पद त्रुटित हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**और**'' योजक त्रुटित है। इनके बिना वाक्यसंरचना नहीं होती, अतः ये आवश्यक हैं। आगे ''**जो**'' पद द्वि० सं० में त्रुटित है, मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक अपपाठ है—''**जिस-जिस राग-द्वेष आदि गुणों से**''। ''**जिस-जिस**'' एकवचनात्मक पदों के साथ ''गुणों'' बहुवचन का प्रयोग अशुद्ध है। यहां ''**आदि**'' प्रयोग के सम्बन्ध से सम्पूर्ण वाक्य में बहुवचन पाठ अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१०-११. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि की कहानी**—प्रमादलीला करने वाले मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय पाठ को त्रुटित छोड़कर भ्रष्ट करवा दिया। मूलह० में प्रायः उपर्युक्त पाठ है। उसमें दो त्रुटियां है—पहले ''**कर्म-स्वभाव**'' पद त्रुटित हैं। '**अपने**' के स्थान पर ''**अपना**'' प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने ''**निर्गुण**'' पद से लेकर ''**कर्म-स्वभाव**'' पदों के बीच का उपर्युक्त पाठ छोड़ दिया। उसने यह भ्रष्टपाठ बनाया—''**वह निर्गुण कर्म-स्वभाव अपना भी करना।**'' मुद्रणह० के शोधक ने संगति लगती न देख पंक्ति के ऊपर कुछ नये शब्द जोड़कर अनुमान से यह पाठ बनाया—''**वह निर्गुण स्तुति है इससे अपने**

के गुणकीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

प्रार्थना—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ १॥ यजुः, अ० ३२। मं० १४॥
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ २॥ यजुः, अ० १९। मं० ९॥
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥
यस्मिन्नृचः साम यजूंष्यृषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ७॥

गुण कर्म स्वभाव भी करना।'' यही अपूर्ण अपपाठ द्विप्र० में छपा। फिर द्वि०सं० का संशोधक संशोधन करते हुए स्वयं विचलित हो गया, उसने अपूर्ण और कुछ शुद्ध-कुछ अशुद्ध यह पाठ बनाया—''**स्तुति है। इससे फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे अपने गुण कर्म स्वभाव अपने भी करना।**'' यह भ्रष्टपाठ द्वि०सं० में है। मूलप्रति को न देख पाने के कारण पाठान्तर का यह सिलसिला और आगे बढ़ता गया। कहावत है—''**जितने मुंह उतनी बात**'', इस सन्दर्भ में उसको बदलकर यों कहिए—'**जितने दिमाग, उतने पाठ**'। सम्पादक विद्वानों की माया देखिए—

स्वामी वेदानन्द जी—''**इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपने भी करना**''। इनका अनुकरण **पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने किया। यह पाठ अर्ध शुद्ध है।

पं० भगवद्दत्त जी—''**इसका फल यह है कि इससे अपने गुण, कर्म, स्वभाव भी [तद्वत्] करना।**'' यह अपूर्ण और अपपाठ है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक—पं० जी फिर अशुद्धि-युग में लौट गये और उन्होंने यह पाठ बनाया—''**इससे अपने गुण-कर्म-स्वभाव भी [तद्वत्] करना।**'' यह अपूर्ण, त्रुटित, अपपाठ है।

स्वामी विद्यानन्द जी ने भी पं० मीमांसक जी का अनुकरण एक कदम आगे बढ़कर इस प्रकार किया कि '**तद्वत्**' को बृ० कोष्ठक से निकालकर मूलपाठ का अंग बना लिया। उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ में प्रायः यही काम किया है।

उदयपुर सं० ने मूलह० के पूर्ण और शुद्ध पाठ की उपेक्षा करके, बिना टिप्पणी दिये, मीमांसक जी का पाठग्रहण किया है। आश्चर्य है दश सम्पादकों पर कि शुद्ध पाठ मूलह० में उपलब्ध होते हुए भी उन्होंने लिपिकर के पाठ को महत्त्व दिया।

देखा आपने ? मुद्रणलिपिकर की प्रमादमाया कितने रूप धारण करके प्रकट हुई है ! ऋषि को उस माया के प्रभाव ने उपेक्षित कर दिया। परोप० ५, मूलह०, मूलसं० का पाठ शुद्ध और पूर्ण होने से ग्राह्य है। शेष सबके अशुद्ध और अपूर्ण होने से अग्राह्य हैं।

सुषा॒रथिरश्वा॑निव॒ यन्म॑नुष्या॒न्नेनी॒यते॑ऽभीशु॒भिर्वा॒जिन॑इव।
ह॒त्प्रति॑ष्ठं॒ यद॑जि॒रं जवि॑ष्ठं॒ तन्मे॒ मन॑: शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु॥ ८॥[१]

यजुः, अ० ३४। मं० १-६॥

हे अग्ने=स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप स्वकृपा[२] से, जिस बुद्धि की उपासना विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त 'बुद्धिमान्' हमको इसी वर्त्तमान समय में कीजिये॥[३] १॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें भी प्रकाश-स्थापन कीजिये। आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, इसलिये[४] मुझमें कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम को धरिये। आप अनन्त बलयुक्त हैं, इसलिये मुझमें भी बल धारण कराइये।[५] आप अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं, मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिये। आप दुष्ट कामों[६] और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिये। आप निन्दा-स्तुति और स्व-अपराधियों को[७] सहन करनेवाले हैं, कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिये॥ २॥

हे दयानिधे! आपकी कृपा से,[८] जो मेरा मन जागते हुए का[९] दूर-दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता है;[१०] सब प्रकाशकों का प्रकाशक एक वह मेरा मन शिवसङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे, किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे॥ ३॥

---

१. **त्रुटित एवं अशुद्ध स्वरांकन**—दोनों सं० में स्वर व पाठ त्रुटि की लगभग १५ त्रुटियाँ हैं। उनको ठीक कर दिया है।

२. **मुद्रणलिपिकर कृत पाठ त्रुटि**—मूलह०, मूलसं० में उत्तम पाठ "**स्वप्रकाशस्वरूप**" "**स्वकृपा**" हैं। मुद्रणलिपिकर ने स्वच्छन्दता से दोनों पदों से ऋषिलिखित "**स्व**" पद उड़ा दिया। वही त्रुटित द्विप्र०, द्वि०सं० में छप रहा है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्तियुक्त अपपरिवर्तन**—मूलह० में अच्छा-भला पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने इसमें परिवर्तन करके इसको अस्पष्ट बना दिया—"**आप कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिये।**" देखिए, "**आप कृपा से.....आप कीजिये**" यह क्या भाषा हुई? मुद्रणलिपि द्वारा निर्मित यह अपपाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में है। यही पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस जस, उदयपुर सं० में है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में किसी ने "**आपकी**" अप-परिवर्तन और कर दिया है, किसी ने '**आप**' रखा है। मूलह०, मूलसं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

४. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलसं० में "**इसलिये**" पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है।

५-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**धारण कीजिये**" अपक्रिया है। ईश्वर बल को स्वयं धारण नहीं करता अपितु उपासक को कराता है। "**दुष्ट काम**" और "**अपराधियों का**" अपप्रयोग है। उपर्युक्त पाठ ग्राह्य है। अन्य सभी सं० में अपप्रयोग हैं।

८. **मुद्रणकाल में विराम चिह्न के अभाव से भ्रष्ट अर्थ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में प्रथम मन्त्रार्थ में "**आप कृपा से**" तथा यहां तृतीय मन्त्रार्थ में "**आपकी कृपा से**" के बाद अल्पविराम अति-आवश्यक है, अन्यथा भ्रष्ट अर्थ प्रकट होता है। पहले मन्त्र में यह अर्थ प्रकट होता है कि "**आप कृपा से उपासना करते हैं**", तृतीय मन्त्रार्थ में भ्रष्ट अर्थ प्रकट होता है कि '**आपकी कृपा से मन दूर-दूर जाता है।**' प्रायः सभी सं० में विराम-चिह्न की उपेक्षा की गई है।

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठभ्रष्ट**—मूलह०, मूलसं० में मन्त्रपदानुसार उपर्युक्त शुद्ध पाठ है—"**जागते हुए का दूर-दूर जाता है**" मुद्रणलिपिकर ने इसको भ्रष्ट बनाया—"**मेरा मन जगत् में दूर-दूर जाता है।**" वैसे यह कथन मुद्रणलिपिकर पर पूर्णतः चरितार्थ हो रहा है, क्योंकि सारे ग्रन्थ में प्रतिलिपि करते समय उसका मन पाठ को छोड़ '**जगत् में दूर-दूर**' ही भटकता रहा है। यही कारण है कि सैकड़ों पाठों को त्रुटित छोड़कर ग्रन्थ को विकृत बना दिया। यहां आदि-शोधक भी इसका बड़ा भाई निकला, क्योंकि यही भ्रष्ट पाठ द्विप्र० में छपा है। पुनः द्वि०सं० में शुद्ध किया है। मूलसं० में शुद्ध है। अब सभी अन्य सं० में भी संशोधित है।

१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है।

हे सर्वान्तर्यामी! जिससे कर्म करनेहारे धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं; जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे॥४॥

जो उत्कृष्ट ज्ञान [-युक्त][१] और दूसरे को चेतानेहारा निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है; जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुभ गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहै॥५॥

हे जगदीश्वर! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाके[२] सब प्रकार त्रिकालज्ञ[३] करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है; [जो][४] पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा-युक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से[५] अलग रहै॥६॥

हे परमविद्वन् परमेश्वर! आपकी कृपा से, जिस[६] मेरे मन में, जैसे रथ के मध्य धुरे में आरे[७] लगे रहते हैं, वैसे '**ऋग्वेद**', '**यजुर्वेद**', '**सामवेद**' [प्रतिष्ठित होते हैं],[८] और जिसमें '**अथर्ववेद**' भी प्रतिष्ठित होता है; और जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहै॥७॥

हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों[९] के समान अथवा घोड़ों के[१०] नियन्ता सारथि के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है; जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त

१,२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ज्ञान**" अपूर्ण पाठ है, यहां '**ज्ञानयुक्त**' विशेषण अभीष्ट है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित अपपाठ है। इसी प्रकार "**मिलके**" अपप्रयोग है। वेस, जग, भद में अपप्रयोग है; युमी, विस, उदयपुर सं० में संशोधित है।

३. **योगी की त्रिकालज्ञता**—महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि जीवात्माओं में प्रचलित त्रिकालकथन के अनुसार तो परमात्मा त्रिकालज्ञ नहीं होता। यहां योगी को त्रिकालज्ञ कहने से शंका उत्पन्न होती है कि वह त्रिकालज्ञ कैसे हो सकता है?

यहां व्यवहार ज्ञान की अपेक्षा से अर्थात् कारणपूर्वक कार्य के ज्ञान से अथवा ईश्वरीय नित्य व्यवहार की दृष्टि से योगी को त्रिकालज्ञ कहा है। साधना से योगी तीव्रबुद्धि और सूक्ष्मबुद्धि हो जाता है और अतीत, वर्तमान और भूत के कारणसिद्ध ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। जैसे तीव्रबुद्धि चिकित्सक वर्तमानकाल के रोगी को देखकर उसके भूतकाल के अपथ्य को और भविष्यत् काल के असाध्य रोग, मृत्यु आदि के परिणाम को जान लेता है। और जैसे शिक्षक छात्र के व्यवहार एवं ज्ञान को देखकर उसके भविष्य का अनुमान लगा लेता है।

यहां फलित ज्योतिषियों वाली कारणरहित 'त्रिकालज्ञता' का कथन नहीं है। वह संभव भी नहीं है; क्योंकि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह कल क्या करेगा, उस सम्पूर्ण व्यवहार को न वह स्वयं जानता है, न परमात्मा, न कोई अन्य।

४,६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जो**" पद अपेक्षित है क्योंकि आगे "**उस**" पद का प्रयोग है। द्वि० सं० में "**जिस**" पद त्रुटित है। दोनों हस्त०, मूलसं० में है। अग्रोक्त "**जिसमें**" "**वह**" के सम्बन्ध से यह चाहिए।

५. **मुद्रणकालीन भ्रष्ट पाठ**—मुद्रणकाल में शोधकों के महाप्रमाद से महाभ्रष्ट पाठ—"**विद्यादि क्लेशों से अलग रहै**" छपा है। अब शेष सभी सं० में शुद्ध है या संशोधित कर लिया है।

७,८. **अपपाठ एवं त्रुटितवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**धुरा में आरा**" एकवचनात्मक अपपाठ है, '**धुरे में आरे**' बहुवचन अपेक्षित है। सभी सं० में अपपाठ है। आगे बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ आवश्यक है क्योंकि "**जैसे रथ के.....**" वाक्य की क्रिया त्रुटित है।

९,१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**घोड़े**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित "**घोड़ों**" है, जो ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—वेदमन्त्र में भी बहुवचनात्मक प्रयोग है। दस संख्यांक पर एक ही वाक्य में "**घोड़ों**" शुद्ध प्रयोग भी है।

वेगवाला है, वह मेरा मन[१] सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोककेे धर्मपथ में सदा चलाया करे, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिये॥ ८॥

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽअ॒स्मान् विश्वा॑नि[२] देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हु॒राण॑मेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम॥ १॥ यजु०, अ० ४०। मं० १६॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये; और जो हममें कुटिल पापाचरणरूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिये। इसीलिये हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत-सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें।[३]

यह सगुण प्रार्थना, और[४]—

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ऽअर्भ॒कं मा न॒ऽउक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ ऽउक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तर॑ं॒ मोत मा॒तर॑ं॒ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॒ रुद्र रीरिषः॥ १॥[५]

यजु०, अ० १६। मं० १५॥

हे रुद्र=दुष्टों को पाप के दुःखरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर! आप हमारे छोटे-बड़े जन,[६] गर्भ, माता, पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा [हमारे][७] शरीरों का हनन[८] करने के लिये प्रेरित [किसी को] मत होने दीजिये, ऐसे मार्ग से हमको चलाइये कि जिससे हम आपके दण्डनीय न हों॥ १॥

असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है [१४। ३। १। ३०]॥

---

१. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि० सं० में "**वह मेरा मन**" पद त्रुटित हैं, मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में है। वेस, जग, युमी, विस में गृहीत हैं; भद, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

२. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से त्रुटित मन्त्रपद**—मूलह० में "**विश्वानि**" पद है। मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश इसे छोड़ दिया। शोधक ने भी ध्यान नहीं दिया। वही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में ग्रहण कर लिया है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**करते हैं कि आप हमको पवित्र करें**" पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित महत्त्वपूर्ण पाठ की कहानी**—मुद्रणह० में मूलहस्तलेख का "**यह सगुण प्रार्थना, और**" महत्त्वपूर्ण पाठ छूट गया है। यह उपसंहार वाक्य इतना महत्त्वपूर्ण था कि इस पर ही सारे प्रसंग की संगति, क्रमबद्धता और व्याख्या आधारित है। इसके छूटने से अगला पाठ भी गड़बड़ा गया। और समीक्षा करने में सारे सम्पादक भी गड़बड़ा गये। "**यां मेधाम्**" मन्त्र से 'प्रार्थना' का प्रकरण आरम्भ हुआ था। यहां तक '**सगुण प्रार्थना**' का प्रकरण प्रधानतः चला, अतः मूलहस्त० का यह पाठ ठीक है। कांट-छांटयुक्त हस्तलेख में यह पढ़ा जा रहा है कि मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य के स्थान पर प्रमाद से यह अपपाठ लिखा—"**यह निर्गुण और**"। शोधक ने '**यह निर्गुण**' काटकर किनारे पर लिख दिया "**सगुण-निर्गुण और**"। फिर '**सगुण-निर्गुण**' को भी किसी शोधक ने काट दिया। मुद्रणकाल में शेष बचा "**और**" पद भी बलि चढ़ गया। इस प्रकार जिस वाक्यांश का संशोधन होना था, वह जड़ से ही मिट गया। उसके कारण आगे भी पाठ गड़बड़ा गया। सगुण-निर्गुण प्रकरण की सीमा ही न रही। देखें, पृ० ३३३ की टिप्पणी संख्या ४-५ भी।

५. **त्रुटित स्वरांकन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस मन्त्र में स्वरांकन त्रुटित है। उसे शुद्ध कर दिया है।

६-७. **त्रुटित आवश्यक पद एवं मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—दोनों सं० में '**हमारे**' पद त्रुटित है। **संशोधन-पुष्टि**—'**आर्याभिविनय**' में "**हमारे तनुओं**" पाठ है (१.५०)। इससे पहले द्विप्र० में "**जन**" के स्थान पर "**जिन**" अपप्रयोग छपा है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

८. **हनन से अभिप्राय**—'**तथा**' प्रयोग से यहां दो प्रकार का '**हनन**' अभिप्रेत है। एक, जीवन में दण्डात्मक हनन अर्थात् वध, कष्ट, दण्डनीय होना आदि और दूसरा, शारीरिक ह्रास तथा व्याधिजन्य हानि। '**आर्याभिविनय**' में केवल "**हिंसन मत करो**" प्रार्थना वाक्य है। "**प्रेरित मत कीजिये**" पाठ सभी सं० में मिलता है, जो उपर्युक्त रूप में संशोध्य है।

हे परमगुरो परमात्मन्! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्रवृत्त कीजिये[१]। अविद्यान्धकार को छुड़ाके विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कराइये[२] और मृत्युरोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कराइये[३]।

इस प्रकार निर्गुण-प्रार्थना कहाती है, अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर को पृथक् मानके, उससे अपने को भी अलग करने के लिये प्रार्थना[४] की जाती है, **वह निषेधमुख होने से निर्गुण प्रार्थना [है][५]।**

१-३. **अपपाठ**—इस वचन की व्याख्या के अनुच्छेद में तीनों क्रिया-प्रयोगों में '**प्राप्त कीजिये**' प्रयोग प्राप्त है। उससे अर्थ की संगति नहीं बनती। जैसे—'**सन्मार्ग में प्राप्त कीजिये**' का अर्थ बनता है 'सन्मार्गगामी ईश्वर हमें उस मार्ग में प्राप्त करे' जबकि यहां लेखक का अभीष्ट अभिप्राय है 'हमें उस मार्ग की ओर प्रवृत्त करे (गमय)।' ''**सूर्य को प्राप्त कीजिये**'' का अर्थ बनता है कि 'भगवान् स्वयं सूर्य को प्राप्त करे।' इसी प्रकार ''**अमृत को प्राप्त कीजिये**'' का अर्थ बनता है कि 'परमात्मा स्वयं अमृत को प्राप्त करे।' अतः इनका उपर्युक्त संशोधन अत्यावश्यक है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ विद्यमान हैं। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध पाठ द्रष्टव्य है—''**प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये**'', ''**मार्ग से चलाइये**'' (पृ० ३३२/६, १४ आदि।)

४,५. **सगुण-निर्गुण प्रार्थना का विवाद, कारण और उसका मूलहस्तलेख से समाधान**—पाठ के अस्त-व्यस्त हो जाने से यह सन्दर्भ स्पष्ट नहीं हो रहा था। इसके पाठान्तर को लेकर सम्पादक विद्वानों में भी मतान्तर रहे। पहले इस विवाद का कारण और इतिहास स्पष्ट करता हूँ। दोनों द्वि०सं० में पाठ यह है—''**अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मानके परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेधमुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना।**'' (द्विप्र० और द्वि० संस्करण)। मूलप्रति सं. में थोड़ा पाठान्तर है—''**अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर को पृथक् मानके अपने को भी अलग करने के लिये प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेध-मुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना।**'' इन पाठों में पठित पारिभाषिक पदों ''**विधि-निषेध मुख, सगुण-निर्गुण**'' की इस परिभाषा से अर्थसंगति नहीं बनती॥ द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ यहां अधिक भ्रष्ट है। इस पर अगली पंक्तियों में चर्चा की जायेगी।

पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि का मत है कि '**अर्थात्**' के बाद उनके संस्करण में कोष्ठक में दिया गया [जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिये और] यह पाठ और होना चाहिए। वस्तुतः, यहां पाठ त्रुटित है, जो लिपिकर द्वारा लिखते समय छूटा प्रतीत होता है। इसके बिना ''**विधि-निषेध-मुख**'' और ''**सगुण-निर्गुण-प्रार्थना**'' पदों की संगति नहीं लगेगी। इस स्थिति में सम्पादक विद्वानों का यह मत सही है कि कोष्ठान्तर्गत पाठ को बढाये बिना यहां पाठ की संगति नहीं लगती। यह स्थिति कैसे उत्पन्न हुई? आइए, इसकी जानकारी प्राप्त करें—

वस्तुस्थिति यह है कि यह त्रुटि मुद्रणप्रति के शोधक से हुई है। मूलप्रति सं० इस विवाद का समाधान कर सकता था, किन्तु यहां आकर वह भी मुद्रणप्रतिलिपि और द्वि०सं० के पाठ-मोह के कारण सही पाठ से दूर हो गया। सारे सन्दर्भ का पाठ मूल हस्तलेख में अति-स्पष्ट है। मुद्रणप्रति में शोधन करते समय मुद्रणलिपिकर ने जो अविचारित परिवर्तन कर डाले उनके कारण संगति लगाने के लिए कांट-छांट करनी पड़ी, फिर उसके परिणामस्वरूप आगे-आगे पाठ अस्त-व्यस्त होता गया।

मुद्रणप्रति के शोधक ने पैदा किया विवाद—ऋषि ने मूल-हस्तलेख में ''**अग्ने नय सुपथा**'' मन्त्रार्थ के बाद वाक्य लिखाया था—''**यह सगुण प्रार्थना, और**''। महर्षि ने इस वाक्य से स्पष्ट किया था कि यहां तक प्रधानतः सगुण प्रार्थना है और आगे प्रधानतः निर्गुण प्रार्थना का वर्णन है। फिर ''**असतो मा सद् गमय**'' वाक्यखण्डों के अर्थ के बाद लिखाया गया था—''**इस प्रकार निर्गुण प्रार्थना कहाती है।**'' इस वाक्य के बाद ''**अर्थात्**'' लिखकर निर्गुण प्रार्थना की व्याख्या है, जो इस संस्करण के उपर्युक्त पाठ में है। इस प्रकार सगुण-निर्गुण प्रार्थना का क्रमबद्ध और प्रमाणयुक्त पाठ मूल-हस्तलेख में है।

मुद्रणलिपिकर ने यहां अपनी यह प्रमादलीला दिखाई कि उपर्युक्त वाक्य को बदलकर यह वाक्य बना डाला—''**इस प्रकार सगुण-निर्गुण प्रार्थना कहाती है।**'' जबकि यहां केवल निर्गुण प्रार्थना की व्याख्या थी, यहां सगुण का कोई सन्दर्भ ही नहीं था। किन्तु जब शोधक ने इस पाठ को पढ़ा तो दोनों की संगति लगाने के लिए ऊपर टिप्पणी में प्रदर्शित कांट-छांट की, जिसके कारण पाठ अस्त-व्यस्त हो गया। शोधक ने मूलहस्तलेख को नहीं देखा, नहीं तो यह विकृत स्थिति न बनती। इस संस्करण में मूलहस्तलेख का यथावत् पाठ दिया गया है। पाठक देखेंगे कि उससे अब सारी पाठ-अव्यवस्था दूर हो गई है। किसी को नये पाठ की कोई कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे आर्य विद्वान् सम्पादक भी यदि इस प्रसंग का हस्तलेखों से मिलान कर लेते तो उन्हें तरह-तरह की पाठ-कल्पनाएं न करनी पड़तीं और सवा-सौ से अधिक वर्षों तक आर्य पाठक भ्रामक और अस्त-

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके, उतना किया करे; अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त **प्रार्थना** करनी योग्य है।

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको[१] स्वीकार करता है, जैसे—'हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश और मुझको सबसे बड़ा [कीजिये],[२] मेरी ही प्रतिष्ठा [हो][३] और मेरे आधीन सब हो जायें' इत्यादि। क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहै कि जिसका प्रेम अधिक [हो],[४] उसकी प्रार्थना सफल हो जावे, तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—'हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, [हमारे][५] मकान में झाड़ू लगाइये, [हमारे][६] कपड़े धो दीजिये और [हमारी][७] खेती-बाड़ी भी कीजिये'। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठते हैं, वे महामूर्ख हैं; क्योंकि **जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी न पावेगा॥** जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः॥ २॥ यजुः, अ० ४०। मं० २॥

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ-वर्ष पर्यन्त और[८] जब तक जीवे, तब तक कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।

देखो, सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं, वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष

व्यस्त पाठ न पढ़ते। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में यह पाठ भ्रष्ट है।

मुद्रणप्रति में संख्यांक ४ का पाठ भी अशुद्ध है। मूलह० में शुद्ध पाठ है—"**अपने को भी अलग करने के लिए प्रार्थना**"। मुद्रणलिपिकर या शोधक द्वारा मुद्रणप्रति में कांट-छांट कर देने से यह पाठ भी भ्रष्ट हुआ है—"**जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मानके परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है।**" कुछ पाने या त्यागने के लिए प्रार्थना की जाती है, यदि प्रार्थी पहले ही पृथक् है तो प्रार्थना करना व्यर्थ है। यहां मूलह०, मूलसं० का पाठ शुद्ध और सटीक है। आज भी वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सं० में भ्रष्ट छप रहा है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री का अशुद्ध मत—इस प्रकार मूल-हस्तलेख से मिलान होने पर सभी सम्पादकों द्वारा किया गया परिवर्धन व्यर्थ हो जाता है। साथ ही, विद्वानों द्वारा सुझाये परिवर्धन पर आपत्ति करते हुए **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम-स्वामी सच्चिदानन्द योगी) ने परिवर्धन के खण्डन में तथा प्राप्त अशुद्ध पाठ के मण्डन में जो व्यर्थ श्रम अपनी पुस्तक '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' में पृ० ४१-४३ पर किया है वह निरर्थक सिद्ध हो गया है, और यह भी प्रकट हो गया कि शास्त्री जी का उत्तर ऋषि के कथन के विरुद्ध है, क्योंकि जिसको उन्होंने '**सगुण प्रार्थना**' का प्रमाण सिद्ध किया है, ऋषि उसको स्वप्रोक्त हस्तलेख में '**निर्गुण प्रार्थना**' का उदाहरण लिखा रहे हैं। महर्षिप्रोक्त मूलपाठ मिलने व ग्रहण करने के बाद अब किसी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। वही ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर-शोधक-निर्मित अव्यवस्थित पाठ नहीं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**उसका स्वीकार**" अपप्रयोग है, "**उसको**" पद व्याकरणानुसार अपेक्षित है।

२-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**कीजिये, हो, हो, हमारे, हमारे, हमारी**' पद त्रुटित हैं।

८. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—यहां श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर ने "**अर्थात्**" लिखा है। शुद्ध प्रयोग "**और**" चाहिए।

का साहाय्य दूसरा भी करता है, वैसे धर्म में पुरुषार्थी पुरुष का साहाय्य परमेश्वर भी करता है। जैसे काम करनेवाले को भृत्य रखते[१] हैं, अन्य को नहीं;[२] देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं; **इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं।** जो कोई 'गुड़ मीठा है' कहता रहै, उसको गुड़ वा उसका स्वाद प्राप्त[३] कभी नहीं होता; और जो यत्न करता है उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।

अब तीसरी उपासना—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ १ ॥

यह उपनिषद् का वचन है [मैत्रायणी उप० ४।९]॥

जिस पुरुष के, समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं,[४] आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता; क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है।

उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ[५] होना है। अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी-रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिये। अर्थात्—

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः॥[६] इत्यादि सूत्र पातञ्जल-योगशास्त्र के हैं।

[साधनपाद, सू० ३०]॥

जो उपासना का आरम्भ करना चाहै, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा प्रीति करे; सत्य बोले, मिथ्या न बोले; चोरी न करे, सत्यव्यवहार करे; जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो; और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे। ये पांच प्रकार के '**यम**' मिलके '**उपासना-योग**' का प्रथम अङ्ग है।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ योगसूत्र [साधनपाद, सू० ३२]॥

राग-द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहै। धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे। प्रसन्न होकर, आलस्य छोड़, सदा पुरुषार्थ किया करे। सदा दुःख-सुखों को सहन और धर्म का ही अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं। सदा[७] सत्यशास्त्रों को पढ़े-पढ़ावे, सत्पुरुषों

---

१. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मूलह० के "**नौकर रखते हैं**" के स्थान पर द्विप्र० में "**भृत्य करते हैं**" परिवर्तन है।

२,३,७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ-अशुद्ध पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में "**अन्य को नहीं**" के स्थान पर सीमितार्थक "**अन्य आलसी को नहीं**" और संख्यांक ३ पाठ के स्थान पर "**उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त**", और "**सदा**" के स्थान पर अशुद्ध "**सर्वदा**" पाठान्तर किया है। यहां "**सदा**" प्रयोग ही ठीक है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह एकवचनात्मक अपवाक्य है—"**जिस पुरुष का समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गया है**"। "**आदि**" पद के सम्बन्ध से बहुवचन चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है, वही ग्राह्य है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**समीप होना**" पाठ है, यहां मुद्रणह०, द्विप्र० में "**समीपस्थ**" अधिक सटीक है।

६. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तत्राहिंसासत्या.....**" मूलग्रन्थ के अनुसार अपपाठ है। यहां "**तत्र**" अधिक पद है, अतः अग्राह्य है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सं० में है।

का संग करे। और '**ओङ्कार' का जप और अर्थ-विचार किया करे।**[१] अपने आत्मा को परमेश्वर के आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पांच प्रकार के '**नियमों**' को मिलाके '**उपासनायोग**' का दूसरा अङ्ग कहाता है।

इसके आगे [के][२] छः अङ्ग '**योगशास्त्र**' वा '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**'* में देख लेवें।

जब उपासना करना चाहे, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि,[३] हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा, पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर, अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके, परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।

जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण[४] हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।

वहां सर्वज्ञतादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी '**सगुण**', और राग, द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान, अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना '**निर्गुण-उपासना**' कहाती है।

इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से जीवात्मा के सब दोष, दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और

---

* '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' के 'उपासना विषय' में इनका वर्णन है।[५]

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य को अपक्रम में परिवर्धित किया गया है—"**और 'ओ३म्' इस एक परमात्मा के नाम का अर्थविचार करे नित्यप्रति जप किया करे।**" लगभग यही बात महर्षिप्रोक्त संक्षिप्त मूलप्रति सं० के वाक्य में है। मुद्रणप्रति में उसका अपक्रम कर दिया। जप या उच्चारण का कथन पहले हुआ करता है, अर्थविचार का बाद में। भाषा में पदपूर्वक या पदाधारित अर्थ होता है, अर्थपूर्वक या अर्थाधारित पद नहीं। जप बाद में और अर्थविचार पहले कैसे हो सकता है? 'जप और अर्थविचार करे' का भाव है इनको साथ-साथ करे। **पाठ-पुष्टि**—सत्यार्थप्रकाश में इसकी पुष्टि में अनेक उदाहरण मिलते हैं। (द्र० तृतीय समु० में पृ० ८७ पर टिप्पणी भी) यही क्रम तृतीय समु० में है—"**गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे।**" (पृ० ८७) योगदर्शन का प्रसिद्ध सूत्र भी इसी की पुष्टि करता है—"**तज्जपस्तदर्थभावनम्**" **(१.२८)**=जप के साथ अर्थविचार करे।

डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार का यह निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं बनता कि मूलह० के पाठ में "यह भ्रान्ति होती है कि शायद जप पहले होगा, अर्थविचार बाद में" (दयानन्द सन्देश पृ० ४४)। व्यर्थ का यह परिवर्तन मुद्रण-लिपिकर ने किया है। वही अपपाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, जस, उदयपुर सं० में है। इसमें मूलप्रति सं० के वाक्य का अनावश्यक और अप-विस्तारमात्र है। परमात्मा का जब प्रसंग है तो फिर "**परमात्मा के नाम**" परिवर्धन व्यर्थ है। "**एक नाम का**" पाठ का ऋषि के उन कथनों से विरोध है जहां अन्य नामों के जप का कथन है (द्र० पृ० ५८०/१७)।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**के**" पद त्रुटित है, "**आगे के छः अङ्ग**" पाठ उपयुक्त है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**नाभि**" के स्थान पर "**नाभिप्रदेश**" पाठ बनाया गया है, अपितु एकाग्रता व ध्यान के संदर्भ में '**नाभि**' सीमित क्षेत्रार्थक प्रयोग ही उचित है, '**नाभिप्रदेश**' व्यापकार्थ शब्द का प्रयोग सटीक नहीं; जैसे कि आगे भी हृदय, कण्ठ आदि है। **पाठ-पुष्टि**—अन्यत्र केवल "**नाभि**" पद का ही प्रयोग है (द्रष्टव्य ऋ०भा०भू० उपासनाप्रकरण, आदि)। इसलिए पाठान्तर व्यर्थ है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह० के "**सत्य से भरपूर**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० का "**सत्य से पूर्ण**" ग्राह्य है।

५. **मुद्रणकालीन पाठ व पाठग्रहण**—इस टिप्पणी को मुद्रणकाल में द्विप्र० में अंकित किया है। मूलसं में वहीं से गृहीत है।

उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इनका[१] फल पृथक् होगा, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा [कि] वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है? और जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है; क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिये दे रक्खे हैं, उसके[२] गुण भूल जाना, ईश्वर को ही न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।[३]

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत्र, नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है?

उत्तर— **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।**
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥[४]

यह उपनिषद् का वचन है [श्वेताश्वतर ३।१९]।

परमेश्वर के हाथ नहीं परन्तु अपने शक्तिरूप हाथों से[५] सबका रचन, ग्रहण करता [है],[६] पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान् [है],[७] चक्षु के गोलक नहीं परन्तु सबको यथावत् देखता [है],[८] श्रोत्र नहीं तथापि सबकी बातें सुनता [है],[९] अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है, और उसको अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ, सबमें पूर्ण होने से '**पुरुष**' कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण के विना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है।[१०]

प्रश्न—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं।

उत्तर— न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

यह उपनिषद् का वचन है [श्वेताश्वतर उप० ६।८]।

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई

---

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्वि०सं० में मूलप्रति सं० के "**इसका**" पाठ के स्थान पर "**इनका**" संशोधन ग्राह्य है।

२. **अपप्रयोग**—सभी सं० में "**उसका**" अपपाठ है, "**उसके**" प्रयोग ग्राह्य है।

३. **ऋषिहस्तलेख और उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**मूर्खता से कम नहीं है**" शिथिल पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का "**मूर्खता है**" पाठ ग्राह्य है। ऊपर भी पहले वाक्य में "**महामूर्ख**" प्रयोग है। मुद्रणह० में "**ईश्वर को ही न मानना**" ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **पाठान्तर**—श्वेताश्वतर उपनिषद् में "**विश्वम्**", "**पुराणम्**" के स्थान पर क्रमशः "**वेद्यम्**", "**महान्तम्**" पाठ है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अपनी शक्तिरूप हाथ से**" अपपाठ है, "**अपने शक्तिरूप हाथों से**" अभीष्ट है।

६-९. **त्रुटित आवश्यक क्रियाएं**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में चारों स्थानों पर '**है**' क्रिया त्रुटित है। सभी स्वतन्त्र वाक्य हैं, अतः सबके साथ स्वतन्त्र क्रिया अपेक्षित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषिलिखित पाठ का सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्ट परिवर्तन**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने इस पाठ को भ्रष्ट किया है। मूलह० के उपर्युक्त अच्छे-भले पाठ को उसने इस प्रकार बिगाड़ा—"**वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से काम अपने सामर्थ्य से करता है।**" यह पाठ सिद्धान्तविरुद्ध है। द्विप्र० परोप० ३-३३ और परोप० में यही भ्रष्टपाठ है। द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि ने इसका अनुमान से संशोधन करके काम चलाया है। परोप० ३४, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है, उदयपुर सं० में भी संशोधन कर लिया है। यहां महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर निर्मित सिद्धान्तविरुद्ध पाठ नहीं।

उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता; इसलिये वह 'विभु' [है][१], तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।

प्रश्न—जब वह क्रिया करता होगा तब अन्त-वाली क्रिया होती है, वा अनन्त?

उत्तर—जितने देश-काल में क्रिया करनी उचित समझता है उतने ही देश-काल में क्रिया करता है, न अधिक, न न्यून; क्योंकि वह विद्वान् है।

प्रश्न—परमेश्वर अपना अन्त जानता है वा नहीं? जानता है तो अनन्त नहीं, और जो नहीं जानता तो पूर्णज्ञानी नहीं?[२]

उत्तर—जानता है, और[३] परमात्मा पूर्णज्ञानी है; क्योंकि ज्ञान उसको कहते हैं कि जिससे जैसा का वैसा पदार्थ[४] जाना जाय। जब परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, और अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना 'अज्ञान' अर्थात्[५] 'भ्रम' कहाता है। '**यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति**'=जो जैसा पदार्थ है, उसको वैसा ही जानना ज्ञान, उससे उलटा 'अज्ञान' है।[६] इसलिये—

---

१. **अव्यवस्थित प्रयोग तथा त्रुटित क्रिया**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में "**विभू**" शुद्ध (वैदिक प्रयोग) होते हुए भी अव्यवस्थित प्रयोग है। ऐसा नहीं लगता कि लिपिकर वैदिक विद्वान् था और उसने वैदिक प्रयोग लिखा है। उसने अन्य अशुद्ध शब्दों की तरह भूल से अपवर्तनी लिखी है जो घुणाक्षरन्याय से शुद्ध है। ग्रन्थ में सर्वत्र "**विभु**" वर्तनी ही प्रयुक्त है। द्वि०सं० में यहां यही वर्तनी ग्रहण की है। यही वर्तनी पृ० ३४८/१४,१५ पर द्रष्टव्य है। दोनों सं० में यहां '**है**' क्रिया वांछनीय है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमादवश त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में प्रश्न का उत्तरवाक्य—"**जानता है तो अनन्त नहीं, और जो नहीं जानता तो पूर्ण ज्ञानी नहीं**" पाठ मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। यह वाक्य उत्तर के पाठ से सुसम्बद्ध है। इसी के आधार पर "**पूर्णज्ञानी है**" उत्तर दिया गया है। अधिकांश उत्तर इसी उत्तरार्ध वाक्य पर आधारित है वेस, जग, भेद, युमी, विस तक में यह पाठ त्रुटित है। उदयपुर सं० में गृहीत है किन्तु टिप्पणी नहीं दी है।

३-६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं पुनरुक्तियुक्त व्यर्थ पाठपरिवर्तन**—मूलह० में उत्तर वाक्य के प्रारम्भ में "**जानता है और**" यह महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है, जो मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० और यहां तक कि मूलप्रति सं० में भी त्रुटित है। प्रश्नवाक्य में दो प्रश्न हैं। यह पहले प्रश्न का उत्तर है। इसके छूट जाने पर पहले प्रश्न का उत्तर अनुत्तरित ही रह गया है, अत: इसको ग्रहण करना बहुत आवश्यक है। यह वाक्यांश परोप० ३-३३, वेस, जग, भेद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि प्राय: सभी सं० में त्रुटित है, अत: उनका पाठ अपूर्ण है। यह उत्तरसम्बन्धी पाठ मूलह० में संक्षिप्त, सारगर्भित और व्यवस्थित रूप में है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणहस्त० में इसको अनावश्यक रूप से विस्तारित करके अव्यवस्थित तथा पुनरुक्ति-दोषयुक्त एवं शिथिल बना दिया है, देखिए—"(उत्तर) परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। क्योंकि ज्ञान उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों का त्यों जाना जाय। अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जानने का नाम ज्ञान है। जब परमेश्वर अनन्त है तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, उसके विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहाता है। "यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति" जिसका जैसा गुण, कर्म, स्वभाव हो उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना ही ज्ञान और विज्ञान कहाता है और उससे उलटा अज्ञान।"

इस अनावश्यक रूप से विस्तारित पाठ में 'ज्ञान किसको कहते हैं' इसके स्पष्टीकरण का कथन तीन बार किया गया है। प्रथम पंक्ति में इसका उत्तर आ गया है। द्वितीय में 'अर्थात्' कहकर फिर उसी बात की पुनरुक्ति कर दी है—"**अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जानने का नाम ज्ञान है।**" इसी की तीसरी पुनरुक्ति अन्तिम दो पंक्तियों में फिर है। यह शिथिल भाषारचना है। इस पाठ में कई अन्य दोष हैं—१. "ज्यों का त्यों" के बाद "**पदार्थ**" शब्द, "**भ्रम**" से पहले "**अज्ञान अर्थात्**" पद त्रुटित है '**ज्ञान**' का विपरीतार्थक '**अज्ञान**' होता है '**भ्रम**' नहीं मुद्रणह० में "**अज्ञान**" पद हटा देने से यह भ्रम की परिभाषा बन गई है, जो असंगत है। इनके बिना उपयुक्त वाक्य नहीं बनता। अन्तिम वाक्य में ज्ञान के साथ "**विज्ञान**" व्यर्थ परिवर्धन है क्योंकि यहां ज्ञान-अज्ञान का ही प्रसंग है 'विज्ञान' का नहीं। इस स्थिति में मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर-निर्मित पुनरुक्तियुक्त, शिथिल और त्रुटित पदयुक्त पाठ नहीं।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥

योगसूत्र [समाधिपाद, सू० २४] ॥

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष '**ईश्वर**' कहाता है।

प्रश्न—चेतन एक है, वा अनेक?[१]

उत्तर—ईश्वर चेतन एक, और जीव चेतन अनेक हैं।[२]

प्रश्न—ईश्वरासिद्धेः ॥ १ ॥ प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ २ ॥

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ३ ॥ ये सांख्यशास्त्र के सूत्र हैं॥ [१।९२; ५।१०; ५।११]

प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती॥[३] १ ॥

१-२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ये '**प्रश्न**' और '**उत्तर**' शीर्षक दोनों वाक्य त्रुटित हैं। इनमें ईश्वर की सिद्धि का कथन होने से आगे का प्रश्न इन्हीं प्रश्नोत्तर पर आधारित है। अतः ये ग्राह्य हैं।

३. **कम्पोजीटर की भूल से मुद्रणकालीन महाभ्रष्टपाठ के मक्खीमार सम्पादन की कहानी**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में कम्पोजीटर की भूल के कारण यह भ्रष्ट वाक्य मुद्रित हो गया था—"**प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।" यह विपरीतार्थक अशुद्ध वाक्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिस वाक्य की अस्तव्यस्त भाषा होती है, और कुछ भी अर्थ नहीं होता (जैसे इसका नहीं है), खींचतान करने वाले लोग उसको भी ठीक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और कुछ-न-कुछ अर्थ निकालने की कोशिश करते हैं।** मुद्रणप्रति ने इस मानसिकता को सिद्ध कर दिया है कि कम्पोजीटर के प्रमाद से छपे अप-पाठ का भी हमारे विद्वान् हास्यास्पद पक्ष करते हैं।

यह मुद्रणदोष कैसे उत्पन्न हुआ, इसकी रोचक कहानी सुनिए—तीनों सूत्रों के हिन्दी अर्थवाले इस अनुच्छेद के पहले दो सूत्रों का अर्थ मुद्रणहस्त० में पहली पंक्ति से शुरू हो कर दूसरी पंक्ति के आरम्भ में समाप्त हुआ है। वाक्य-समाप्ति पर मुद्रणहस्त० में कोई क्रिया नहीं है। महर्षि ने संशोधन करते समय पहली पंक्ति के आरम्भ में त्रुटित का चिह्न (∧) लगाकर बायें किनारे पर यह नया पाठ जोड़ दिया—"**प्रत्यक्ष से**"। इसी प्रकार दूसरे सूत्रार्थ की समाप्ति पर, दूसरी पंक्ति के आरम्भ में त्रुटित का चिह्न लगाकर बायें किनारे पर ही क्रिया जोड़ दी—"**घट सकते**"। ऊपर नीचे लिखे हुए इन अलग-अलग पंक्ति से सम्बद्ध पदों को कम्पोजीटर ने भूल से एक वाक्य समझ लिया और कम्पोज कर दिया—"**प्रत्यक्ष से घट सकते**"। यही महाभ्रष्टपाठ द्विप्र० में छपा किन्तु मक्कार शोधकों ने भी इसकी भ्रष्टता पर ध्यान नहीं दिया। ३३वें संस्करण तक यह भ्रष्ट वाक्य छपता रहा और आर्य सम्पादक तथा पाठक इसमें गम्भीर अर्थ खोजते रहे। परोप० ३४वें संस्करण के सम्पादक ने इस भूल को पकड़ा और पाठ को शुद्ध कर दिया। वर्तमान द्वि०सं० और मूलसं० में अब मूलह० का महर्षिप्रोक्त वही शुद्ध पाठ छप रहा है। वही ग्राह्य है।

आर्य विद्वानों का प्रमाद—सत्यार्थप्रकाश का दुर्भाग्य देखिए कि **पं० भगवद्दत्त जी** के संस्करण के पाठ को छोड़कर, **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती और पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** सदृश विद्वानों ने फिर उलटा गियर लगाया और अपने संस्करणों में अशुद्ध मुद्रण पर आधारित वही पुराना अशुद्ध पाठ पुनः ग्रहण कर लिया। पं० मीमांसक जी ने तो इस पर टिप्पणी देकर वाक्य का भाव भी पाठकों को समझाने का असफल प्रयास किया है—"**अर्थात् ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।" इस वाक्य का यह अर्थ ही नहीं है। लोगों की यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि किसी लेखक या ग्रन्थकार की जब कोई भाषा अस्तव्यस्त होती है तो उसमें कोई रहस्य मान बैठते हैं तथा उसकी अपभाषा को अद्भुत शैली समझ बैठते हैं।** यह अविचारित परम्परा आगे बढ़ी। **स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती** ने शुद्ध पाठ की परम्परा को छोड़ कर इसी अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती** ने संशोधन के नाम पर इस पाठ को बदलकर यह बनाया—"**प्रत्यक्ष से न घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।" श्री सिद्धान्ती जी** के सं० में भी भ्रष्टपाठ है। ऐसी हास्यास्पद स्थिति अनेक पाठों के साथ हुई है। यह स्थल हमें आत्मविश्लेषण करने की प्रेरणा देता है कि हमें विचारशील बनना चाहिए।

उदयपुर संस्करण का दोषपूर्ण सम्पादन—इसी दुर्भाग्य को अब फिर आगे बढ़ा दिया उदयपुर सं० ने। उसने अशुद्ध वाक्यरचना और अशुद्ध अर्थवाले इस पाठ को पुनः प्रकाशित कर दिया। कहा गया है कि यह 'दश बड़े विद्वानों की समिति' द्वारा सम्पादित संस्करण है और उन्होंने एक-एक अक्षर पर चिन्तन किया है। उदयपुर सं० के सम्पादकों के सामने शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ थे किन्तु उन्होंने शुद्ध पाठ की उपेक्षा की। दोनों हस्तलेख थे जिनसे पाठ-मिलान करने का दावा किया है किन्तु फिर भी

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमानादि प्रमाण नहीं घट सकते॥ २॥[१]

और व्याप्ति-सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता, पुनः प्रत्यक्ष-अनुमान के न होने से शब्द-प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते।[२] इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती॥ ३॥

उत्तर—यहाँ ईश्वर का निषेध नहीं है;[३] किन्तु ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है [यह केवल पूर्वपक्ष में कहा है],[४] और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है, और पुरुष [=जीव][५] से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम भी '**पुरुष**'[६] और शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम '**पुरुष**' है, [यह कहकर ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया है];[७] क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः॥ १॥ सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्य्यम्॥ २॥
श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य॥ ३॥ सांख्यसूत्र [५।८-९, १२]

यदि '**पुरुष**' को प्रधानशक्ति[८] का योग हो तो '**पुरुष**' में सङ्गापत्ति[९] हो जाय। अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय। इसलिये परमेश्वर जगत्

साक्षात् अशुद्ध सिद्ध इस पाठ को ग्रहण कर लिया। यह भी नहीं देखा कि "**प्रत्यक्ष से**" पद प्रथम सूत्रार्थ का आरम्भिक पद है और "**घट सकते**" क्रिया दूसरे सूत्रार्थ का अन्तिम पद है। यह कम्पोजीटर की भूल से अशुद्ध कम्पोज हुआ पाठ है, जो आज भी मुद्रणहस्त० में पढ़ा-देखा जा सकता है। पता नहीं क्यों, सम्पादक बिना विचारे मक्खी मारते चले आ रहे हैं।

इस सम्पादन पर, सत्यार्थप्रकाश में (पृ० ६६१) दी हुई 'भक्तमाल'-वर्णित हास्य-व्यंग्य कथा चरितार्थ हो रही है। एक व्यक्ति वृक्ष के नीचे सोता-सोता मर गया। उसके माथे पर ऊपर से काक ने विष्ठा (=बींट) कर दी। उस विष्ठा को विष्णु का तिलक समझकर उसको वैकुण्ठ में ले जाने के लिए विष्णु के दूत वहां आ पहुंचे। दूसरी ओर से यम के दूत आ गये। 'तिलक' की वास्तविकता को लेकर दोनों में विवाद होता रहा। अन्ततः यम के दूत हार गये और यह माना गया कि यह वास्तविक 'विष्णु-तिलक' ही है, विष्ठा नहीं। उसको असली तिलक मानकर पथिक को विष्णु के दूत वैकुण्ठ में ले गये। हमारे सम्पादक भी कम्पोजीटर की भूल-रूपी विष्ठा को तिलक-रूपी असली पाठ मानकर सवा-सौ वर्षों से भ्रम में पड़े उसी गलत पाठ-निर्धारण पर दुराग्रह कर रहे हैं। ये पांडुलिपियों के शुद्धपाठ को भी नहीं पढ़ पा रहे हैं!! 'प्रत्यक्ष से घट सकते' पाठ का साक्षात् रूप भी इनको दिखाई नहीं दे रहा है!! फिर भी दावा है कि वे "**बड़े विद्वान्**" और "**बड़े सम्पादक**" हैं।

१. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह रचनात्मक अपपाठ है—"**अनुमानादि प्रमाण नहीं हो सकता**"। द्वि०सं०, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है। "**आदि**" पद के सम्बन्ध से बहुवचन वांछित है। युमी में अर्धशुद्ध पाठ है; वेस, जग, भद, उदयपुर में अशुद्ध है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में एकवचनात्मक अपूर्ण अपपाठ है—"**शब्दप्रमाण भी नहीं घट सकता**"। द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है। अन्तिम वाक्य मूलप्रति सं० में त्रुटित रह गया है। तीनों सूत्रों के अर्थ का प्रतिपादक यह अनुच्छेद मुद्रणह० में संशोधित है। वहीं से मूलप्रति सं० में ग्रहण किया है। वहां अन्तिम वाक्य भी है।

३,४,७. **त्रुटित महत्त्वपूर्ण पाठ**—मूलह० में यहां बहुत ही महत्त्वपूर्ण पाठ है—"**यहां ईश्वर का निषेध नहीं है।**" उदयपुर सं० ने इस वाक्य को ग्रहण करके उचित किया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलह०, वेस, भद, युमी, विस, जस में यह त्रुटित है। **पाठ-पुष्टि**—'उपदेश मंजरी' में ग्रन्थकार ने इस सूत्र को उद्धृत करके यहां कपिल के मत से ईश्वर का अस्तित्व माना है—"**परन्तु सूत्रसाहचर्य से विचार करने पर ईश्वर एक ही है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ऐसा भगवान् कपिल मानते थे; क्योंकि 'पुरुष है' ऐसा उनका सिद्धान्त था।**" (उप० १, पृ० ३) स०प्र०पृ० ३४१, पंक्ति १२ में स्पष्ट माना है कि '**कपिलाचार्य अनीश्वरवादी नहीं**'। अन्यत्र लिखा है—"**सांख्यकार नास्तिक नहीं.....भागुरि जी ईश्वरासिद्धेः**" सूत्र को पूर्वपक्ष में लगाते हैं।" (जीवनचरित, लेखराम भाग १, पृ० २२२) इन उद्धरणों के अनुसार बृ०कोष्ठकों में पाठ परिवर्धन से महर्षि का आशय यथावत् स्पष्ट हो जाता है। अतः मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ सिद्धान्त स्थापक होने के कारण अवश्य ग्राह्य है।

५-६. **पुरुष से अभिप्राय**—यहां पुरुष से अभिप्राय '**जीव**' से है। दूसरे 'पुरुष' पद से '**परमात्मा**' का अस्तित्व सिद्ध किया है।

८-९. **प्रधानशक्ति**=प्रकृति। **सङ्गापत्ति**=संगदोष अर्थात् यदि परमात्मा को प्रकृति के योग से सृष्टि का उपादान कारण मान लिया जाये तो यह दोष आता है कि वह स्वयं सृष्टिकर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं हो सकता। उसको किसी संग=साथ की आवश्यकता पड़ेगी जो

का उपादान कारण नहीं, किन्तु **निमित्त कारण** है॥ १ ॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है, वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये, सो नहीं है। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु **निमित्त कारण** है॥ २ ॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान[१] को ही जगत् का उपादान कारण कहती है॥ ३ ॥ जैसे—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ॥[२]

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है [अ० ४। मं० ५]।

जो जन्मरहित, सत्त्व-रज-तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है; अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ=निर्विकार रहता है, और प्रकृति सृष्टि में सविकार और प्रलय में निर्विकार रहती है।[३]

इसलिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं; [४]तथा '**मीमांसा**' '**धर्म-धर्मी**' से ईश्वर [शब्द से] '**वैशेषिक**' और '**न्याय**' भी '**आत्मा**' शब्द

उपादान कारण को कार्यरूप में परिणत कर सके। इस प्रकार वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं रहेगा और स्थूल भी हो जायेगा।

१. **प्रधान**=प्रकृति।

२. **पाठान्तर**—उपनिषद् के मूलपाठ में "**सरूपाः**" पद है। तीनों सं० में "**स्वरूपाः**" पाठ मिलता है। अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं, अतः मूलपाठ ग्राह्य है।

३. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में "**और प्रकृति.....रहती है**" पाठ छोड़ दिया। उसके कारण द्विप्र०, सभी द्वि०सं०, उदयपुर आदि में भी यह महत्त्वपूर्ण वाक्य त्रुटित मिलता है।

४. **अस्तव्यस्त पाठ एवं सम्पादकों के द्वारा कृत भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्तलेखों, तीनों सं० में अग्रिम वाक्य में पाठभेद है। उसका कारण है हस्तलेखों में पाठ की अस्तव्यस्तता और उसके कारण सम्पादकों का अपना-अपना पाठानुमान। मूलहस्तलेख में यहां यह अपपाठ है—"**तथा मीमांसा का धर्म-धर्मी वैशेषिक और न्याय भी अनीश्वरवादी नहीं।**" मुद्रण-हस्तलेख में पंक्ति के ऊपर "**से ईश्वर**" शब्द अंकित करके ऋषि ने यह पाठ बनाया है—"**तथा मीमांसा का धर्म-धर्मी से ईश्वर वैशेषिक और न्याय भी आत्म शब्द से अनीश्वरवादी नहीं**"। द्विप्र० में यही पाठ है, केवल ईश्वर के पश्चात् पूर्णविराम दे दिया है। मूलप्रति सं० ने भी इसी पाठ को ग्रहण कर लिया है। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने "**आत्म**" के स्थान पर '**आत्मा**' पद बनाया है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस वाक्य का भिन्न अपपाठ बनाया है—"**तथा मीमांसा का 'धर्म-धर्मी' से, 'ईश्वर' से वैशेषिक, और न्याय भी 'आत्मा' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं।**" यहां सम्पादकों को अधिक विचलन मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा पंक्ति के ऊपर "**से ईश्वर**" शब्द अंकित कर देने से हुई है, जबकि मुद्रणहस्तलेख का वाक्य लगभग ठीक है।

व्याकरण की दृष्टि से इस वाक्य की संरचना अपूर्ण अवश्य है, अतः इसका संशोधन अपेक्षित है। दूसरी बात यह है कि इस अनुच्छेद में अन्तिम वाक्य में "**ईश्वर**" शब्द पठित है, अतः पूर्ववाक्य में "**ईश्वर**" पद उससे ही सम्बद्ध है, तीसरी बात यह है कि विराम चिह्नों की भिन्नता कर देने से **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का पाठ अशुद्ध हो गया है।

आइए, यह विचारें कि इसमें महर्षि क्या कहना चाहते हैं? यह बात स्पष्ट होने के बाद वाक्य अपने आप शुद्ध और संगत बन जायेगा। ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि '**मीमांसा**' '**धर्म-धर्मी**' पदों के प्रयोग से और '**वैशेषिक**' तथा '**न्याय**' '**आत्मा**' पद का प्रयोग करने के कारण अनीश्वरवादी नहीं है, अर्थात् वे दर्शनकार इन पदों से '**ईश्वर**' की सत्ता को मानते हैं। इस भावाभिव्यक्ति के लिए व्याकरणसंगत वाक्य उपर्युक्त बनेगा। उसमें त्रुटियां नहीं रहेंगी, जैसे "**का**" के स्थान पर "**के**" सम्बन्ध-प्रत्यय प्रयुक्त होगा और "**धर्म-धर्मी से ईश्वर**" पदों के बाद कोई पाठ परिवर्धित करना पड़ेगा। यदि यह वाक्यसंगति बनायेंगे "**मीमांसा का धर्म-धर्मी से..... अनीश्वरवादी नहीं**" तो कर्त्ता लुप्त रहेगा। अतः मुद्रण और मूलहस्तलेख पर आधारित इस सं. का संशोधित उपर्युक्त पाठ उपयुक्त और ग्राह्य है। यहां बृहत् कोष्ठक में '**शब्द से**' पाठ बढ़ा देने से पाठ संगत व स्पष्टार्थक हो जाता है।

से अनीश्वरवादी नहीं; क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और '**अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा**'=जो सर्वत्र व्यापक सब जीवों का आत्मा है, उसको '**मीमांसा**', '**वैशेषिक**' और '**न्याय**' '**ईश्वर**' मानते हैं।[१]

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि—

'**अज एकपात्०**'[२] ॥ '**स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम्०** ॥'[३]

ये दोनों यजुर्वेद के वचन हैं [३४।५३ और ४०।८]।

इत्यादि वचनों से [सिद्ध है कि][४] परमेश्वर न जन्म लेता और न कभी शरीरवाला होता है।[५]

प्रश्न— यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ भगवद्गीता [४।७]॥

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि जब-जब धर्म का लोप होता है तब-तब मैं शरीर-धारण करता हूँ।

उत्तर—यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्माओं[६]

पाठ तथा समीक्षा की पुष्टि—'**सत्यार्थप्रकाश**' प्रथम संस्करण के वाक्यों से इस पाठ की पुष्टि हो जाती है तथा महर्षि का आशय भी समझ में आता है। वहां लिखा है—''**मीमांसा में धर्म और धर्मी दो पदार्थ माने हैं। इससे ही ईश्वर धर्मी और ईश्वर के सर्वज्ञादिक धर्म अवश्य मान लिये हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं।**'' (पृ० २७३) यही भाव '**उपदेश मंजरी**' में है—''जैमिनि जी के मत का प्रवाह एक धर्म और धर्मी, इस विषय में विचार करते-करते पूर्ण हुआ।'' (उप० ५, पृ० २७)

जिन संस्करणों में ''**ईश्वर**'' के बाद पूर्ण विराम लगाया है तो वह वाक्य ही अपूर्ण है जैसे **स्वामी वेदानन्द जी और सिद्धान्ती** जी के सं० में है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** द्वारा पहले अल्पविराम देकर '**ईश्वर**' पद वैशेषिक से संयुक्त करने पर पाठ अधिक विकृत हो गया, क्योंकि वैशेषिक दर्शन में '**ईश्वर**' पद एक बार भी प्रयुक्त नहीं है। जैसे—''मीमांसा का धर्म-धर्मी से, ईश्वर से वैशैषिक....।'' कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठकल्पना और रचना की है। उसमें वाक्यरचना है—''मीमांसा का धर्म-धर्मी से ईश्वर सिद्ध है।'' अतः उदयपुर सं० का पाठ अग्राह्य है।

ईश्वरवादी दर्शन होने के आधार पद—मीमांसा दर्शन में ''**धर्म**'' शब्द का दर्जनों बार प्रयोग है। 'धर्म' है तो 'धर्मी' का अस्तित्व भी अवश्य होगा और वह धर्म का मूलस्रोत तथा आधार ''**ईश्वर**'' ही वर्णित है तथा मीमांसा द्वारा मान्य धर्म के स्रोत वेद हैं और वेद ईश्वरोक्त हैं, अतः 'धर्म' 'धर्मी'=से ईश्वर का मूल सम्बन्ध है। धर्म शब्द द्रष्टव्य है—१.१२; १.३.२२, २.४.१; ३.१.८; ३.४.४, २०; ३.७.५१; ४.३.८ आदि। इसी प्रकार **वैशेषिक** में ''**पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि**'' (१.१.५) सूत्र में '**आत्मा**' से '**जीवात्मा**' और '**परमात्मा**' दोनों का ग्रहण होता है। न्याय में, ''**आत्मशरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्**'' (१.१.९) से सर्वज्ञ परमेश्वर के ग्रहण के साथ-साथ '**ईश्वर**' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है—''**ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य-दर्शनात्**'' (४.१.१९)। इस प्रकार तीनों दर्शन '**ईश्वर**' को मानते हैं, अतः ये ईश्वरवादी आस्तिक दर्शन हैं।

१. **पुनरुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह पुनरुक्त अपपाठ है—''**सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और.....सर्वज्ञादिधर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है।**'' वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर में अपपाठ है।

२-३. **अन्यत्र व्याख्यात**—प्रथम मन्त्र की व्याख्या यजुर्भाष्य ३४.५३ में तथा द्वितीय मन्त्र की व्याख्या पृ० ३२८ पर द्रष्टव्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी सं० में यह अपपाठ है—''**इत्यादि वचनों से परमेश्वर जन्म नहीं लेता।**'' यहां परिवर्धन अपेक्षित है, नहीं तो अप-अर्थ का बोध होगा। वेस, जग, युमी में यहां पाठ परिवर्धित है; भद, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमादवश त्रुटित आवश्यक पाठ**—मुद्रणह० में और फिर द्विप्र० और द्वि० सं० में यह आवश्यक वाक्यांश त्रुटित रह गया है—''**न कभी शरीरवाला होता है।**'' यह उपर्युक्त द्वितीय मन्त्रांश का अर्थ है और यह मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० में है। प्रमादी मुद्रणलिपिकर से त्रुटित रहा है। वही त्रुटित पाठ अब भी सभी द्वि० सं० में छप रहा है। यह इस कारण ग्राह्य है कि उपर यजुर्वेद के दो मन्त्र उद्धृत किये हैं। उनमें से पहले का अर्थ यहां दिया है—'**वह जन्म नहीं लेता**', दूसरे का अर्थ दिया है—'**वह कभी शरीरवाला नहीं होता**'। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी सं० में यह पाठ त्रुटित है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

६. **अपप्रयोग**—सभी पाठों में यहां ''**धर्मात्मा**'' और पृ० ३४३/४ में ''**इनको**'' दोनों अपप्रयोग है, ''**धर्मात्माओं**'' और ''**उनको**'' प्रयोग अपेक्षित है। पाठक ध्यान दें, आगे ''**श्रेष्ठों**'' ''**सत्पुरुषों**'' (पृ० ३४३/१,२) बहुवचनान्त शुद्ध प्रयोग हैं।

और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि 'मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ', तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि '**परोपकाराय सतां विभूतयः**'[१]=परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है; तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

प्रश्न—जो ऐसा है तो संसार में ईश्वर के चौवीस अवतार होते हैं, उनको अवतार क्यों मानते हैं?

उत्तर—वेदार्थ के न जानने [से][२], सम्प्रदायी लोगों के बहकाने [से][३] और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फसके ऐसी-ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं।

प्रश्न—जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके?

उत्तर—प्रथम तो जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार= शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावण-आदि एक कीड़ी[४] के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस-रावण-आदि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को, एक क्षुद्र जीव को[५] मारने के लिये जन्म-मरण-युक्त कहना, महामूर्खता का काम है।[६]

और जो कोई कहै कि भक्तों के उद्धार के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर के[७] आज्ञानुकूल चलते हैं, उनका[८] उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को[९] बनाने, धारण और प्रलय करने रूप कर्मों से, पुत्रोत्पत्ति,[१०] कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो '**न भूतो न भविष्यति**'=ईश्वर के सदृश न कोई हुआ, न है, और न होगा,[११] [ऐसा उसे ज्ञात हो जायेगा]।

और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि 'गर्भ

---

१. **पूर्ण श्लोक**—मूलं भुजंगैः, शिखरं विहंगैः, शाखा प्लवंगैः, कुसुमानि भृंगैः। आश्चर्यमेतत् खलु चन्दनस्य परोपकाराय सतां विभूतयः॥ (सुभाषतरत्नभाण्डागार २३७/४६)

२-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, दोनों स्थानों पर "**से**" विभक्ति प्रत्यय त्रुटित है।

४. **'कीड़ी' प्रयोग**—यह गुजराती भाषा का प्रयोग है। अयोग्य मूललिपिकर ने "**किड़ि**" अपवर्तनी लिखी है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जीव के मारने**" अपप्रयोग है, "**जीव को मारने**" वांछित है।

६. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठ-परिवर्तन एवं अपवाक्य**—इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणहस्त० और फिर द्विप्र० व द्वि०सं० में पाठ व्यर्थ विस्तारित किया है जबकि वही पूर्ण अर्थ मूलप्रति के महर्षिप्रोक्त वाक्य से प्रकट है। मुद्रणह० का पाठ है—"**परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिए जन्म-मरण-युक्त कहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है?**" यहां '**मूर्खपन से .....उपमा**' व्याकरण के अनुसार अपप्रयोग है। 'कहनेवाला' अर्थात् कर्त्ता व्यक्तिवाचक प्रयोग है, 'मूर्खपन' भाववाचक संज्ञा है। 'कहनेवाले' को 'मूर्ख' तो कहा जा सकता है 'मूर्खपन' नहीं। यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर का नहीं। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस उदयपुर सं० में है।

७-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, सभी सं० में "**ईश्वर की**", "**उनके**" "**जगत् का बनाने**" अपप्रयोग हैं।

१०. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि**—यहां मूलह० में "**पुत्रोत्पत्ति**" पद है, जिसका संकेत इस ओर है कि ईश्वर द्वारा अवतारी पुत्र उत्पन्न करना, जैसे—ईसा आदि का 'ईश्वरपुत्र' के रूप में वर्णन मिलता है। जैसे—"**कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर ने अपना बेटा पापमोचनार्थ जगत् में भेजा।**" (उपदेश मंजरी, उप० १, पृ० २) मूलप्रति सं०, मुद्रणहस्त०, द्विप्र० व द्वि०सं० में यह त्रुटित है। **पाठ-पुष्टि**—देखिए,उत्तर की अन्तिम पंक्तियों में इसी सन्दर्भ में '**ईसा**' की चर्चा है।

११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह० में "**न कोई हुआ**" भूतकाल का पाठ छोड़ दिया है।

में आया वा मुट्ठी में धर लिया', यह सच कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है, इससे आकाश न भीतर आता, न बाहर जाता;[१] वैसे ही परमेश्वर के अनन्त और सर्वव्यापक होने से उसका आना-जाना सिद्ध नहीं होता; क्योंकि आना वा जाना[२] वहां हो सकता है, जब वहां वह न हो।[३] क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था, जो कहीं से [अन्दर] आया? और क्या बाहर नहीं था, जो भीतर से बाहर निकला?[४] इसलिये परमेश्वर का[५] जन्म-मरण[६] कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार '**ईसा**' आदि भी 'ईश्वर के अवतार नहीं थे' ऐसा समझ लेना।[७] क्योंकि राग-द्वेष, क्षुधा-तृषा, भय-शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुणयक्त होने से वे मनुष्य थे।

प्रश्न—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं; क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुनके ही[८] उनको पाप करने में उत्साह और निर्भयता हो जाय। जैसे कोई राजा अपराधियों के अपराध को क्षमा करे तो वे अधिक-अधिक अपराध करने लगें।[९] और जो अपराध नहीं करता है वह भी अपराध करने से न डरेगा।[१०] इसलिये सबकर्मों का यथावत् फल देना ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

१-४. **अस्त-व्यस्त पाठ एवं उसका संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों ही संस्करणों में इस अनुच्छेद का पाठ अस्त-व्यस्त है। कहीं क्रियाओं में अस्तव्यस्तता है, कहीं काल-भिन्नता के प्रयोग हैं, कहीं अधिक पाठ है तो कहीं पाठ त्रुटित है। क्रमशः उसका दिग्दर्शन है—**(१) अपवाक्य**—दोनों सं० में यहां यह अपक्रमात्मक-वाक्य है—"**न बाहर आता, न भीतर जाता**"। (२) **अपक्रम प्रयोग है**—"**जाना व आना**"। देखिए, पहले वाक्यांश में शुद्ध प्रयोग "**आना-जाना**" है। **(३)** द्विप्र० में "**जहां न हो**" अपूर्ण प्रयोग है। इसके पश्चात् मूलप्रति सं० में अधिक पाठ है—"**और आना वा जाना भी वहां हो सकता है, जहां परमेश्वर न हो**"। यह पुनरुक्तिमात्र है। मुद्रणह०, द्वि०सं० में इस वाक्य को निकाल दिया है। **(४) अपक्रियाप्रयोग**—मूलप्रति सं० में यहां अपक्रिया है—"**और क्या बाहर नहीं है जो भीतर से बाहर निकले?**" द्विप्र० में इस वाक्यस्थ "**क्या**" और "**बाहर**" पद त्रुटित हैं। सम्पादकों के प्रमाद से ऐसे ही सैकड़ों पाठ मुद्रणकाल में त्रुटित रहे हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—इस अनुच्छेद की प्रथम पंक्ति में "**यह सच**" के स्थान पर "**ऐसा कहना**" व्यर्थ व अशुद्ध, संख्यांक ४ के बाद "**ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकता है**" पाठविस्तार व्यर्थ व शिथिल है। संख्यांक ५ पर "**परमेश्वर का जाना-आना**" असंगत व अशुद्ध पाठ-वर्धन व पाठान्तर है। यहां जन्म-मरण का ही प्रसंग है।

६. **उचित संशोधन**—इस अनुच्छेद में १-२ पंक्ति में "**अनन्त और**", पंक्ति ५ में "**मरण**" पद का परिवर्धन द्विप्र० में उचित है।

७. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में अग्रिम वाक्यों के स्थान पर यह पाठ है—"**इसी प्रकार 'ईसा' आदि का भी ईश्वर का अवतार न होना समझ लेना चाहिये।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां पाठ संशोधन करके दो वाक्य बनाये हैं जो ऊपर ग्रहण किये हैं। वे विशिष्टार्थ-बोधक होने से ग्राह्य हैं।

८-९. **अस्त-व्यस्त पाठ और ऋषिहस्तलेख**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में पाठ अस्त-व्यस्त है। **(८) त्रुटित पाठ**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में "**क्षमा की बात सुनके ही**" पाठ नहीं है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है। यह वाक्यांश मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। **(९) अपप्रयोग**—इस वाक्य में दो स्थानों पर मूलप्रति सं० में और वाक्यान्त में "**पाप**" अपप्रयोग है। द्विप्र० में पहले स्थल पर "**अपराध**" शुद्ध प्रयोग रख दिया है किन्तु दूसरे स्थल पर "**पाप**" ही रह गया। यहां दोनों स्थानों पर "**अपराध**" शब्द ही शुद्ध प्रयोग है, क्योंकि दोनों के अर्थ में भिन्नता है। कहीं का कानून तोड़ना '**अपराध**' कहाता है और अधार्मिक कार्य '**पाप**' का फल ईश्वर के अधीन है। द्विप्र० में "**अपराधियों के**" पाठ त्रुटित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठ विस्तार एवं अपवाक्य**—मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त संक्षिप्त और सारगर्भित वाक्यों से सम्पूर्ण अर्थ सुस्पष्ट हो रहा है। इसके स्थान पर द्वि० सं० में व्यर्थ में विस्तारित शिथिल भाषात्मक पाठ बनाया गया है, जिसमें सुगठन, संक्षिप्तता, सारगर्भिता आदि भाषा-गुण नहीं हैं—"**क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध**

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। **'स्वतन्त्रः कर्त्ता'** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है [**अष्टा० १।४।५४**] =जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है।

प्रश्न—स्वतन्त्र किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों, वह स्वतन्त्र है।[१] जो स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप-पुण्य का फल कभी नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी की, और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा से अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके[२] भी अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों, तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी[३] प्रेरक परमेश्वर होवे। स्वर्ग-नरक अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारनेवाला पकड़ा जाता है, वही दण्ड पाता है; शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये **कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र[४] होता है।**

करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे।'' इस वाक्य में **''राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा''** अशुद्ध भाषा है। यह पाठ **''जैसे कोई राजा.....''** वाक्य की पुनरुक्ति और विस्तारमात्र है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित ऋषि-पाठ**—मुद्रणह० में यहां **''अर्थात् स्वाधीन है''** ऋषिलिखित वाक्यांश त्रुटित है। पाठक इस उदाहरण से अनुमान लगा लें कि मुद्रणलिपिकर ऋषि-पाठों के प्रति भी कितना प्रमाद करता था। ऋषि ने इस वाक्यांश को मूलप्रति में अपने लेख में परिवर्धित किया है। उसको मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया। ऋषि ने उसको फिर मुद्रणप्रति में लिखा है। तब वह द्विप्र० में छपा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित पाठ है।

२. **अपविराम लगाने से अप-परिवर्तन**—द्वि० सं० में यहां **''भृत्य''** के बाद अशुद्ध अल्पविराम लगाकर यह अपवाक्य बनाया है—**''जैसे भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके भी अपराधी नहीं होते।''** यहां मूलप्रति सं० का पाठ **''भृत्य स्वामी की''** स्पष्ट एवं ग्राह्य पाठ है। **स्वामी वेदानन्द जी** और **श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती** के संस्करण में अप-अल्पविराम है। भद, युमी, विस, जस में न तो अल्पविराम है, न सम्बन्ध प्रत्यय। इनमें अगले **'की'** प्रत्यय से इस वाक्यांश का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध अल्पविराम है।

३. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में **''भागी''** पद त्रुटित रह गया है। दोनों हस्त०, द्वि०सं०, मूलसं० आदि में है।

४. **पाप का फल भोगने में जीव परतन्त्र**—जीव की स्वतन्त्रता का वर्णन करते हुए यहां एक विशेष तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है कि **पाप का फल भोगने में जीव परतन्त्र अर्थात् ईश्वर की व्यवस्था के अधीन होता है।** प्रश्न उठता है कि क्या पुण्य और पाप दोनों के ही फल भोगने में परतन्त्र नहीं है ? इसका उत्तर है कि दोनों प्रकार के फल देना ईश्वर की व्यवस्था के अधीन है किन्तु व्यक्ति सुख रूप फल ग्रहण करे या न करे, यहां जीव स्वतन्त्र है किन्तु पाप का फल भोगने में उसकी अपनी स्वतन्त्रता नहीं है। इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं- जैसे, किसी ने उपकार करने का पुण्य किया। शासन उसको प्रशंसापत्र या पुरस्कार देने का निर्णय करता है। पुण्यकर्ता चाहे तो उसको अस्वीकार भी कर देता है, किन्तु यदि वही व्यक्ति अपराध करता है तो तब उसे शासन की ओर से नियमानुसार दण्ड अवश्य भोगना पड़ता है। इसी प्रकार पुण्यफल के रूप में व्यक्ति को परमात्मा ने खाद्य पदार्थ और साधन दे दिये, कर्त्ता किसी को ग्रहण करता है किसी को नहीं। कितनों को मीठे, नमकीन, खट्टे व्यंजन सुलभ हैं किन्तु वे लोग इच्छापूर्वक उनका सेवन नहीं करते। जबकि पाप या अपराध का दुःखरूप फल स्वेच्छा से कोई नहीं भोगना चाहता, फिर भी उसे भोगना पड़ता है। यह जीवात्मा के परतन्त्र होने का परिचायक है। कोई अन्य शक्ति है जो उसको दुःख भोगने के लिए विवश कर रही है। इस प्रकार जीव अपने कर्म करने में स्वतन्त्र और पाप-फल भोगने में परतन्त्र है।

प्रश्न—जो परमेश्वर जीव को न बनाता, न सामर्थ्य देता तो जीव कुछ भी[१] न कर सकता। इसलिये परमेश्वर की प्रेरणा से ही जीव कर्म करता है।

उत्तर—जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसे[२] ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य[३] है [वैसे जीव भी है][४]। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोगता है,[५] ईश्वर नहीं। जैसे, किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दुकान से लोहार ने लेके तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहां जैसे, उस लोहे को उत्पन्न करनेवाले को[६], उससे लेनेवाले को,[७] तलवार बनानेवाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा, वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव भोक्ता होता है। और जो परमेश्वर कर्म कराता होता[८] तो कोई जीव पाप नहीं करता; क्योंकि **परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता।** इसलिये जीव अपने कर्मों[९] के करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कर्मों में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कर्मों[१०] में स्वतन्त्र है।

प्रश्न—जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर—दोनों चेतनस्वरूप हैं, स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है, परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय [करना],[११] सबको नियम में रखना, जीवों को[१२] पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, **'शिल्पविद्या'**

---

१. **पद परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में यहां "**भी**" पद त्रुटित है, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है।

२. **अपप्रयोग**—सभी पाठों में उदाहरणार्थ यहां "**जैसा**" के स्थान पर "**जैसे**" प्रयोग अभीष्ट है।

३. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—मुद्रणकाल में "**नित्य**" के स्थान पर "**निमित्त**" अपप्रयोग छपा है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी सं० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ वाक्यपूर्त्यर्थ परिवर्धित करना आवश्यक है। "**जैसे**" प्रयोग के साथ "**वैसे**" प्रयोग भी अपेक्षित है। पूर्ववाक्य के साथ "**जैसे**" पद की सम्बद्धता इस कारण नहीं है कि इस वाक्य में '**नित्यता**' विशेषता का अजन्मा अनादि से भिन्न वर्णन है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**भोक्ता**" अपप्रयोग है। यहां विशेषण नहीं, क्रियाप्रयोग "**भोगता है**" अपेक्षित है। जैसे कि पहले "**करता है**" शुद्ध क्रियाप्रयोग है। लिपिकर ने अयोग्यता से क्रिया के स्थान पर विशेषण लिख दिया।

६-७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध पाठ व आवश्यक प्रत्यय**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**वह लोहे को**" अपपाठ है। दोनों सं० में दोनों स्थानों पर यहां पद और विभक्ति का प्रत्यय "**वाले को**" त्रुटित हैं। प्रत्यय पद के साथ ही संयुक्त हुआ करते हैं।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अप-पाठपरिवर्तन**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने "**जीव भोक्ता होता है**" के स्थान पर "**जीव को भुगाने वाला होता है**" और "**कर्म करता होता**" अपपाठ बनाये हैं। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में दूसरा शुद्ध कर लिया है। मूलसं० में शुद्ध है। अन्य सभी सं० में दूसरा संशोधित है किन्तु प्रथम अशुद्ध ही है।

९-१०. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**काम/ कामों**" पदों का प्रयोग है। द्वि०सं० में १० संख्यांक पर "**कर्म**" संशोधन कर दिया है, जो उचित है। तीनों स्थानों पर '**कर्म**' प्रयोग ही चाहिए। यह दर्शन का पारिभाषिक प्रयोग है। इसका स्थान '**काम**' पद नहीं ले सकता। '**कर्म**' मानसिक भी होते हैं किन्तु '**काम**' नहीं हो सकते। **पाठपुष्टि**—पूर्वापर सम्पूर्ण प्रसंग में '**कर्म**' का ही प्रयोग है। गत पृष्ठ पर "**स्वतन्त्रः कर्त्ता**" के पूर्वापर पाठ में "**कर्म**" पद का ही प्रयोग है।

११. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—तीनों सं० में यहां '**करना**' क्रियाप्रयोग अपेक्षित है।

१२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**का**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**को**" संशोधित है।

आदि अच्छे और बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं। और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्[१] ॥ न्यायसूत्र [१।१।१०]॥

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवन[२]मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुखदुःख-इच्छाद्वेष[३]-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ वैशेषिकसूत्र [३।२।४।]

दोनों सूत्रों में[४]—(**इच्छा**) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (**द्वेष**) दुःखादि की अनिच्छा, वैर, (**प्रयत्न**) पुरुषार्थ, बल, (**सुख**) आनन्द, (**दुःख**) विलाप, अप्रसन्नता, (**ज्ञानानि**) विवेक, पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु '**वैशेषिक**' में (**प्राण**) प्राण को[५] बाहर निकालना, (**अपान**) प्राण को बाहर से भीतर को लेना, (**निमेष**) आंख मीचना, (**उन्मेष**) आंख को खोलना, (**जीवन**) प्राण का धारण करना,[६] (**मन**) निश्चय, स्मरण और अहङ्कार करना, (**गति**) चलना, (**इन्द्रिय**) सब इन्द्रियों को चलाना, (**आन्तरविकाराः**)[७] भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा, हर्ष-शोकादि का होना। **ये जीवात्मा के गुण परमात्मा के [गुणों से][८] भिन्न हैं, इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी [चाहिये];[९] क्योंकि वह स्थूल नहीं है।**

जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं, और जब शरीर छोड़ चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों, और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्यादि के होने से प्रकाशादि का होना, और न होने से न होना है,[१०] वैसे ही

---

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पठित सूत्रान्त में "**इति**" पद मूलपाठ में नहीं है। यह अधिक पाठ मूलह० का लिपिकर अपनी आदत के कारण लिख गया, जैसे संस्कृत-पाठों में कहीं भी अन्त में "**इति**" बोल और लिख देते हैं। **पाठ-पुष्टि**—पृ० ११५ पर उद्धृत इसी सूत्र में '**इति**' पद नहीं है। सभी वेस, युमी आदि सं० में अपपाठ है।

२. **त्रुटित उद्धरण पद**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में सूत्र में "**जीवन**" पद त्रुटित है। द्वि०सं०, मूलसं० में ग्रहण कर लिया है। तृ०समु०पृ० ११५ पर यह उद्धरण पूर्ण है। वेस, जग को छोड़ सभी सं० में संशोधित है।

३. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस सूत्र में "**सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ**" पाठ है, जो कि दर्शन में पृथक् दो समस्त पदों के रूप में नहीं है। तृतीय समु० पृ० ११५ पर पूरे अन्तिम भाग का पाठ एक समस्त पद के रूप में स्वीकृत है। पहली बात तो यह है कि यह वैशेषिक दर्शन का सूत्र है, अतः उसका पाठ ही प्रामाणिक माना जायेगा। दूसरी बात यह है कि एक ही लेखक के, एक ही ग्रन्थ में, एक ही मूलग्रन्थ का पाठ भिन्न-भिन्न होना, उसकी प्रामाणिकता और मानकता को नष्ट करेगा। वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में यही अशुद्ध पाठ है, युमी में "**दुःखेच्छा**" संशोधित है। तृतीय समु० पृ० ११५ पर पठित पाठ शुद्धता और एकरूपता की दृष्टि से यहां भी ग्राह्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से मुद्रणह० में "**दोनों सूत्रों में**" पाठ त्रुटित छोड़ दिया जिससे आगे वाक्य की संगति नहीं बनती। द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर आदि में भी त्रुटित है।

५,१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ व अशुद्ध पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**प्राण को**" के स्थान पर "**प्राणवायु को**" तथा १० संख्यांक पर विपरीतक्रम में "**सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है**" व्यर्थ व अशुद्ध पाठान्तर है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर में अपपाठ हैं। **पाठ-पुष्टि**—पृ० ११५ पर द्रष्टव्य है प्राण-अपान का अर्थ।

६. **त्रुटित पाठ और पाठग्रहण**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**(जीवन) प्राण का धारण करना**" पाठ त्रुटित है। **संशोधन-पुष्टि**—तृ०समु० में पृ० ११५ पर यह पाठ है। द्वि०सं० और मूलसं० ने वहां से पाठ लेकर यहां दिया है। वेस में त्रुटित है, शेष सभी सं० में गृहीत है। जस में अपने ही घर का पाठ बनाकर जोड़ा है—"**जीवनकार्य-वृद्धि क्षय प्ररोहणादि।**"

७. **पदार्थ में अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पदार्थ में "**ज्ञान**" और "**अन्तर्विकार**" अप-उद्धृत पद हैं। पदार्थ में उद्धरण के पद यथावत् होते हैं। वेस, मूलसं० में "**अन्तरविकार**" अपवर्तनी है। सूत्र में मूलपाठ "**आन्तरविकार**" है। तृ० समु० (पृ० ११५) पर भी यही पाठ है। विस, जग में मूलपाठ शुद्ध है। वैशेषिक दर्शन में भी यही पाठ है। किन्तु भद, युमी, उदयपुर सं० में सूत्र का मूलपाठ भी बिना टिप्पणी के बदल दिया है और पदार्थ में "**अन्तर्विकार**" अपप्रयोग ग्रहण किया है।

८-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः "**गुणों से**", "**चाहिये**" पदों का परिवर्धन अपेक्षित है।

जीव और परमात्मा का विज्ञान गुणों[१] के द्वारा होता है।

प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता है। वह अपने ज्ञान से[२] जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा, इससे जीव स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता; क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होके न रहै, वह 'भूतकाल' और न होके होवे, वह 'भविष्यत्काल' कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत, भविष्यत् जीवों के लिये हैं। हां, **जीवों के कर्मों की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं।**[३] स्वतन्त्रता से जैसा कर्म जीव करता है,[४] वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्त्तमान [के ज्ञान][५] और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है, वैसा ही उसके[६] दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या 'कर्मज्ञान' सच्चा और 'दण्डज्ञान' मिथ्या कभी हो सकता है? इसलिये इसमें कोई भी दोष नहीं आता।

प्रश्न—जीव शरीर में [परमेश्वर से] विभु[७] है, वा परिच्छिन्न?[८]

उत्तर—परिच्छिन्न। जो विभु[९] होता तो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, मरण-जन्म, संयोग-वियोग, जाना-आना कभी नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प और सूक्ष्म[१०] है और परमेश्वर

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**गुण**" एकवचन है, बहुवचन अपेक्षित है। यहां '**गुणों के द्वारा**' उपयुक्त पाठ है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रण हस्त०, द्विप्र० व द्वि०सं० में "**वह अपने ज्ञान से**" पाठ मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है। यह इस प्रकार त्रुटित रहा कि मुद्रणलिपिकर ने असावधानी से "**वह अपने से**" लिख दिया। किसी शोधक ने संगति लगती न देख फिर इसको भी काट दिया। इस प्रकार यह त्रुटित ही छप रहा है। **पाठ-पुष्टि**—यह इसलिए आवश्यक है कि प्रश्न के अन्तिम वाक्य में भी इसका प्रयोग दण्ड के सम्बन्ध में भी है—"**अपने ज्ञान से निश्चित किया है।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित पाठ है।

३. **ऋषिहस्तलेखयुक्त**—"**हाँ, जीवों के....स्वतः नहीं**" पाठ ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख से मुद्रणप्रति में परिवर्धित है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित अपपाठ**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने उक्त वाक्य का यह त्रुटित एवं अपूर्ण वाक्य बनाया है—"**जैसा स्वतन्त्रता से जीव कर्त्ता है**"। यही अपपाठ द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**के ज्ञान**" त्रुटित है। इसके बिना सिद्धान्त में पूर्णता नहीं आती।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**उसके**" पद त्रुटित मिलता है। यह अभीष्ट है।

७,९. **अव्यवस्थितमति लिपिकरों द्वारा अपवर्तनी**—दोनों लिपिकरों की अयोग्यता और अव्यवस्थित बुद्धि देखिए, एक ही स्थान पर पहले संख्यांक पर "**विभु**" वर्तनी लिखी है और दूसरे पर "**विभू**"। यही द्विप्र० में छपे हैं। शोधकों ने भी इस मूर्खता पर ध्यान नहीं दिया। लिपिकरों ने विद्वत्तापूर्वक वर्तनियों में भेद किया है, यह सोचना अयोग्यता को महिमामण्डित करना है। बस, उनके तो जो ध्यान में आया वह लिखा दिया है। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

८. **मुद्रणप्रति में अपूर्ण परिवर्धन और परिच्छिन्न से अभिप्राय**—परिच्छिन्न का अर्थ है—परिमित, एकदेशी और सूक्ष्म। मूलहस्त० में "**भिन्न**" पद नहीं है, मुद्रणहस्त० व द्वि०सं० में है। उत्तर से यही ज्ञात होता है कि इस पद के परिवर्धन से ग्रन्थकार शरीर में जीव और परमेश्वर की स्थिति का तुलनात्मक ज्ञान कराना चाहता है। इसी दृष्टि से उसने दोनों के सम्बन्ध को उत्तर में स्पष्ट किया है। अगला प्रश्नोत्तर और प्रकरण भी जीव-ईश्वर की भिन्नता व बता रहा है।

१०. '**अल्प**' **का अन्यत्र प्रयोग**—"**अल्प**" शब्द से यह अभिप्राय है कि जीव सूक्ष्म, अल्पज्ञान, अल्पसामर्थ्य और अल्पस्वरूप वाला है। द्रष्टव्य पृ० ७७४, ७९७ पर प्रयोग। "**अल्प और सूक्ष्म**" सही है, "**अल्प अर्थात् सूक्ष्म**" नहीं।

का अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर[१], अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक-स्वरूप है। इसलिये जीव और परमेश्वर का 'व्याप्य-व्यापक' सम्बन्ध है।

प्रश्न—जिस जगह में एक वस्तु होता है, उस जगह में दूसरा वस्तु नहीं रह सकता[२]। इसलिये जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

उत्तर—यह नियम समान आकारवाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, [और][३] अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत्-अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं; वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर-जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव-ईश्वर का है, वैसे ही सेवक-सेव्य, आधार-आधेय, भृत्य[४]-स्वामी, राजा-प्रजा और पुत्र-पिता आदि भी सम्बन्ध हैं।

प्रश्न—ब्रह्म और जीव जुदे हैं वा एक?[५]

उत्तर—अलग-अलग हैं।[६]

प्रश्न—जो पृथक्-पृथक् हैं तो—**प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ १ ॥** [ऐत०आर० २।६॥ ऐत० उप० ३।५।३] **अहं ब्रह्मास्मि ॥ २ ॥** [बृह० उप०, १।४।१०; शत०ब्रा० ४।३।२।२१] **तत्त्वमसि ॥ ३ ॥** [छान्दोग्य उप० ६।८।७] और **अयमात्मा ब्रह्म ॥ ४ ॥** [माण्डूक्य० २; शत०ब्रा० १४।४।५।१४; सभी वाक्यांश द्रष्टव्य हैं—हयग्रीवोपनिषद् १ में] इन 'वेदों के महावाक्यों'[७] का अर्थ क्या है?

उत्तर—ये वेदवाक्य ही नहीं हैं; किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों के वचन हैं। और इनका नाम 'महावाक्य' कहीं सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा।

अर्थ—ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप है॥ १ ॥[८]

---

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में, मूलह०, मूलप्रति सं० के "**अति सूक्ष्म**" पाठ के स्थान पर "**अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर**" पाठ संशोधित किया है। यह विशेषार्थक होने से ग्राह्य है।

२. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों "**वस्तु**" पदों का यहां स्त्रीलिंग में प्रयोग है। पुंल्लिंग अभीष्ट है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' पद अपेक्षित है।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**भृत्य**" पद त्रुटित है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है।

५,६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित प्रश्नोत्तर**—ये दोनों महत्त्वपूर्ण और नव्य वेदान्त के मत के प्रसंग को आरम्भ करनेवाले प्रश्नोत्तर मुद्रणलिपिकर की भूल से मुद्रणहस्त० व द्विप्र० में त्रुटित हैं। नये द्वि०सं० में इनको ग्रहण कर लिया है किन्तु हमारे दो विद्वान् सम्पादकों **स्वामी वेदानन्द जी** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के सं० में ये पाठ भी त्रुटित ही हैं। ये पाठ इस कारण महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि अगला प्रसंग उत्तरवाक्य "**अलग-अलग हैं**" पर आधारित है। इनके त्रुटित रह जाने से अग्रिम प्रश्न "**जो पृथक्-पृथक् हैं तो**" की संगति ही नहीं बनती। अतः अवश्य ग्राह्य हैं।

कुछ विद्वानों में अन्धपरम्परा—मुद्रणलिपिकर की इस त्रुटि को द्वि०सं० और उदयपुर सं० में सुधार लिया गया है। **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी** और **पं० मीमांसक जी** का अविचारित अनुकरण करते हुए **स्वामी विद्यानन्द जी** ने इस पाठ को ग्रहण नहीं किया। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने "**जुदे**" के स्थान पर "**भिन्न-भिन्न**" हिन्दी बनाई है।

७. **मुद्रणकालीन अवांछित पाठान्तर**—दोनों हस्त० के उक्त पाठ के बदले द्विप्र० में "**वेदों के इन**" अवांछित पाठान्तर है।

८. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह० में प्राप्त, उपनिषद्-वाक्य का यह अर्थ मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। फिर द्विप्र० में भी त्रुटित है। ऐसा लगता है कि बार-बार पाठों को त्रुटित छोड़ने वाला मुद्रणलिपिकर जैसे भंग चढ़ाता हो। सामान्य स्थिति में कोई लिपिकर कदम-कदम पर इतने पाठ नहीं छोड़ सकता। और आश्चर्य है कि ऐसे व्यक्ति को कुछ लोग महर्षि से बढ़कर प्रामाणिक मान रहे हैं!! **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी,** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के सं० में यह अर्थ नहीं है। युमी ने टि० में अर्थ छूटने का संकेत-मात्र किया है। अन्य सभी ने इसको ग्रहण कर लिया है।

(**अहम्**) मैं (**ब्रह्म**) अर्थात् ब्रह्मस्थ (**अस्मि**) हूँ। यहां '**तात्स्थ्योपाधि**'[१] है। जैसे '**मञ्चाः क्रोशन्ति**'=मचान पुकारते हैं। मचान जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं। इसी प्रकार यहां भी जानना।

कोई कहे कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है? इसका उत्तर यह है कि **सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं, परन्तु जैसा साधर्म्ययुक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं।** और जीव को ब्रह्म का ज्ञान [होता है][२], और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है, इसलिये जीव का ब्रह्म के साथ '**तात्स्थ्य**' वा '**तत्सहचरितोपाधि**'[३] अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं। जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ होकर, परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है,[४] वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी, एक अवकाशस्थ हैं। **जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है॥ २॥**

प्रश्न—अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे—(**तत्**) ब्रह्म (**त्वं**) तू जीव (**असि**) है। हे जीव! (**त्वम्**) तू (**तत्**) वह ब्रह्म (**असि**) है।

उत्तर—तुम 'तत्' शब्द से क्या लेते हो?

[**प्रश्न**][५]—ब्रह्म।

[**उत्तर**][६]—ब्रह्म पद की अनुवृत्ति कहां से लाये?

[**प्रश्न**][७]—'**सदेव सोम्येदमग्र**[८] **आसीदेकमेवाद्वितीयं**[९] **ब्रह्म॥**' इस पूर्व वाक्य से।

[छान्दोग्य० उप० ६। २। १ का प्रश्नकर्त्ता द्वारा विकृत करके प्रस्तुत पाठ]

[**उत्तर**][१०]—तुमने इस '**छान्दोग्य उपनिषद्**' का दर्शन भी नहीं किया। जो वह देखी होती तो

---

१. **तात्स्थ्य-उपाधि**—ब्रह्म में जीवात्मा की स्थिति होने पर एकत्व की अनुभूति। उपासना काल में ब्रह्मस्थ होकर जीव का आनन्दातिरेक में स्वयं को ब्रह्ममय अनुभव करना। तत्स्थ=जीव के उस ब्रह्म में स्थित होने पर, उपाधि=ब्रह्ममय होने की आरोपित स्थिति।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत '**होता है**' पाठ वाक्यरचना एवं वाक्यपूर्ति हेतु चाहिए।

३. **तत्सहचरितोपाधि**—जीवात्मा व्याप्य और परमात्मा उसमें व्यापक होने से उनका सहचारी-भाव परस्पर है। इस सहचारी भाव के कारण जीव को भी ब्रह्म कह देने की कल्पित स्थिति को '**तत्-सहचरित-उपाधि**' कहते हैं। यह उपाधि=आरोपित स्थिति होती है। जैसे, कोई रात-दिन सिर पर पगड़ी रखता है। उसका '**पगड़ी**' के साथ अत्यन्त सहचारी भाव बन जाता है, तो जब वह आता है तो लोग कह देते हैं—'**लो, पगड़ी भी आ गई।**' ऐसे ही जीव-ब्रह्म की एकता का कथन है।

४. **मुद्रणलिपिकर की पाठत्रुटि से भ्रष्टपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से ''**होकर**'' क्रिया त्रुटित रहने से यह अनर्थकारी पाठ है—''**समाधिस्थ परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर।**'' मूलह०, मूलसं० में उपर्युक्त शुद्ध है।

एकभाव की अनुभूति—वेदों में इस स्थिति का वर्णन अनेकत्र मिलता है—''**आत्मैवाभूद् विजानतः..... एकत्वमनुपश्यतः**'' (यजु० ४०.७)=जहां सब प्राणी आत्मा के समान हो जाते हैं.....योगी योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा के एकत्व को अनुभव करता है। इसी स्थिति को सांसारिक उदाहरण से भी समझा जा सकता है। जैसे दाम्पत्यभाव में घनिष्ठ प्रेम रहने पर दम्पती स्वयं को '**एक मन दो शरीर**' अनुभव करते हैं। ऐसे ही परमात्मा से घनिष्ठताभाव होने पर उपासक एकत्व की अनुभूति करता है।

५,६,७,१०. **ऋषिहस्तलेख और आवश्यक परिवर्धन**—इस पंक्ति-सहित आगे के चार प्रश्नोत्तरों पर '**प्रश्न**', '**उत्तर**' शीर्षक का उल्लेख अधिकांश संस्करणों में नहीं है। स्पष्टता के लिए चारों शीर्षक बृहत् कोष्ठक में दिये गये हैं। युमी में गृहीत हैं। ''**अच्छा तो इसका....तुम**'' पाठ मुद्रणह० में अधिकांशतः ऋषिहस्तलेख में संशोधित है।

८-९. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में यहां ''**सौम्य**'' ''**मेताद्वितीयम्**'' अपप्रयोग हैं जबकि अगले पृष्ठ पर शुद्ध हैं।

ऐसा झूठ क्यों कहते? वहां '**ब्रह्म**' शब्द का पाठ ही नहीं है।[१] किन्तु '**छान्दोग्य**' [६।२।१] में तो—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ ऐसा पाठ है, वहां 'ब्रह्म' शब्द नहीं है।[२]

प्रश्न—तो आप 'तत्' शब्द से क्या लेते हैं?

उत्तर—स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति॥

छान्दोग्य० [उप० ६।८।७]॥

=वह परमात्मा जानने योग्य है, जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो! प्रिय पुत्र! '**तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि**'=उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है। यही अर्थ सब उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मानमन्तरो[३] यमयति स तऽआत्मान्तर्याम्यमृतः॥

यह बृहदारण्यक का वचन है [शत० ब्रा० १४।३।५।३०; माध्यन्दिन बृह० उप० ३।७।३०]

महर्षि याज्ञवल्क्य गोतमवंशी उद्दालक आरुणि से कहते हैं कि "हे गौतम=उद्दालक![४] जो परमेश्वर

---

१. **मुद्रणप्रति, द्विप्र० में विपरीतार्थक भ्रष्ट पाठ**—मूलह० के उपर्युक्त अच्छे-भले शुद्ध पाठ को मुद्रणप्रति, द्विप्र० में इस प्रकार विपरीतार्थक और भ्रष्ट कर दिया है—"**जो वह देखी होती तो वहां ब्रह्म शब्द का ही नहीं है ऐसा झूठ क्यों कहते।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर में भ्रष्ट पाठ है। सभी ने "**नहीं है**" के बाद पूर्ण विराम लगाकर पाठ को शुद्ध करने का असफल प्रयास किया है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—"**किन्तु छान्दोग्य में.....शब्द नहीं है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख में परिवर्धित है।

३. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्वि०सं० में यह अपपाठ है—"**आत्मनोन्तरो**"। द्विप्र० में और अधिक अपपाठ है—"**आत्मन्तरो**"। मूलसं० में संशोधित ग्रहण किया है। अन्य सभी सं० में "**आत्मनोऽन्तरो**" ही अपपाठ है।

४. **ऐतिहासिक तथ्यविरुद्ध अपपाठ**—यहां दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० और द्वि० सं० में मूलग्रन्थ के विपरीत यह पाठ है—"**महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयि!**" यह ऐतिहासिक तथ्यविरुद्ध पाठ है। वस्तुतः यह कथन गोतमवंशी उद्दालक आरुणि को सम्बोधित है और उनके प्रश्न के उत्तर में है। अतः यहां अग्रिम संशोधन अपेक्षित है—"**महर्षि याज्ञवल्क्य गोतमवंशी उद्दालक आरुणि से कहते हैं कि हे गौतम=उद्दालक!**" मूलसं० में शुद्ध पाठ ग्रहण कर लिया है।

इस त्रुटि का सर्वप्रथम संकेत **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने टिप्पणी में किया था। फिर **मीमांसक जी** ने टिप्पणी में किया। स्वामी जी द्वारा संशोधित पाठों का खण्डन **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम-स्वामी सच्चिदानन्द योगी) ने '**सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' नामक पुस्तक में किया है। उसके पृ० ११३-११५ पर इस संशोधन की भी हास्यास्पद और व्यर्थ समीक्षा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'समीक्षा' नहीं अपितु केवल खण्डन के लिए पूर्वाग्रहयुक्त खण्डन है। यह लिखित प्रसंग है जो मूलग्रन्थ में आज भी उपलब्ध है। अच्छा होता यदि आचार्य जी इस पूरे मूल प्रसंग को ध्यान से पढ़ लेते। आश्चर्य तो यह है कि यह प्रश्न उद्दालक ने पूछा है, उसी को याज्ञवल्क्य उत्तर दे रहे हैं, इस लिखित तथ्य को नकारने के लिए आचार्य जी ने उपनिषदुक्त वर्णन से भिन्न और कपोलकल्पित एक अपनी कहानी बनाई है, जैसी कि उपन्यास की होती है। आचार्य जी लिखते हैं—"**उद्दालक ने यह प्रश्न पूछा तब याज्ञवल्क्य को ध्यान आया कि गार्गी भी यही प्रश्न पूछ रही थी, उसे बेकार डांटा.... तब गार्गी को अभिमुख हो उत्तर देना आरम्भ किया-- याज्ञवल्क्य ने साथ में उपस्थित मैत्रेयी को सम्बोधित कर उत्तर दे दिया।**" वाह, आचार्यप्रवर! आपकी कल्पना का क्या कहना!! प्रश्न पूछा गौतम उद्दालक ने, उत्तर देना आरम्भ किया गार्गी को, और उत्तर दे डाला मैत्रयी को!!! प्रश्नकर्त्ता उद्दालक मुंह ताकता ही रह गया? आचार्य जी ऐसे कहानी गढ़ रहे हैं जैसे वहीं बैठे थे और सबकी चेष्टाओं को लिख रहे थे। यदि आचार्य जी आज जीवित होते तो उनसे प्रश्न करते कि आचार्य जी! मूल ग्रन्थ के अनुसार तो सत्य यह है कि उद्दालक और गार्गी का प्रश्न भी भिन्न-भिन्न था, एक नहीं था। और कोई भी सभ्य विद्वान् प्रश्नकर्त्ता की उपेक्षा कर किसी अन्य व्यक्ति को सम्बोधित कर कभी उत्तर नहीं देता। उपनिषद् के मूलपाठ में तो स्पष्ट लिखा है कि उत्तर सुनकर "**ततो ह-उद्दालक आरुणिरुपरराम**"=उद्दालक चुप बैठ गया। तो इससे स्पष्टतः सिद्ध होता

आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मुझमें व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर [-वत् है][१] अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर [जो][२] जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीव को देकर नियम में रखता है, वही अविनाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान'। इत्यादि वचनों का क्या कोई[३] अन्यथा अर्थ कर सकता है?॥ ३॥

''**अयमात्मा ब्रह्म**'' अर्थात् समाधिदशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि 'यह जो मुझमें व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है'। इसलिये जो आजकल के वेदान्ती[४] जीव-ब्रह्म की एकता कहते हैं,[५] वे '**वेदान्तशास्त्र**' को नहीं जानते॥ ४॥

प्रश्न—अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि[६]॥ १॥

छान्दोग्य० [उप० ६।३।२]

''तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्''॥ २॥ तैत्तिरीय० [उप०, ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६]॥

परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रचकर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूं॥ १॥

परमेश्वर[७] उस जगत् और शरीर को बनाकर, उसमें वही प्रविष्ट हुआ॥ २॥

है कि उत्तर उद्दालक को ही दिया गया था। **आपकी यह कल्पना भी नितान्त मिथ्या है कि मैत्रेयी साथ बैठी थी, क्योंकि वह तो उस गोष्ठी में उपस्थित ही नहीं थी।** जस और उदयपुर सं० को छोड़ कर भद, जग, युमी आदि सभी संस्करणों में अभी तक अशुद्ध पाठ प्रचलित है, अत: उनका पाठ प्रामाणिक और ग्राह्य नहीं है।

संशोधन की पुष्टि—इस संशोधन और समीक्षा की पुष्टि अब मैं ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत इसी प्रसंग के एक अन्य उद्धरण से कर रहा हूँ जो पहली बार परिश्रम करने के सुफल के रूप में मुझे मिला है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'याज्ञवल्क्य-गोतम उद्दालक संवाद' की ३.७.३ कंडिका ''**य: पृथिव्यां तिष्ठन्.....आत्मान्तर्याम्यमृत:**'' ऋषि ने '**भ्रान्तिनिवारण**' पुस्तक में उद्धृत की है। उसका अर्थ करते हुए ऋषि लिखते हैं—''**गोतम ऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गोतम जी! जो पृथिवी में ठहर रहा है....।**'' इससे स्पष्ट है कि यहां 'गोतम' के प्रति ही सम्बोधन सही है, किसी लिपिकर आदि से '**मैत्रयी**' लिखने की भूल हुई है। आदरणीय शास्त्री जी यदि जीवित होते तो इस प्रमाण को पढ़कर अपने कल्पित उत्तर पर खेद अवश्य प्रकट करते, जिसने अनेक पाठकों को भ्रम में डाल रखा है और पूर्वाग्रहग्रस्त बना दिया है। इसी कारण सही पक्ष को विस्तारपूर्वक रखना आवश्यक हो गया है। इसका संशोधन तो कई सम्पादकों ने कर लिया है किन्तु पोषक समाधान इस शोधसं० में प्रथम बार प्रस्तुत किया है।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी सं० में पाठ स्पष्टता के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

३. **स्थानभ्रष्ट वाक्य**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यह स्थानभ्रष्ट वाक्य है—''**क्या कोई इत्यादि वचनों का अन्यथा अर्थ कर सकता है?**'' मूलप्रति सं० में संशोधित है। युमी को छोड़कर वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में भ्रष्ट वाक्य है।

४. **अयोग्य लिपिकर द्वारा अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**वेदान्ति**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

५. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**जीव ब्रह्म की एकता करते हैं**'' यहाँ ''**कहते हैं**'' क्रिया सार्थक है, क्योंकि एकता कही जा रही है, उसका करना संभव नहीं। प्रतीत होता है कि श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर द्वारा यह लिखा गया है। सभी अन्य सं० में भी यह अपपाठ है।

६. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य .....**''। यहां एक-दो शब्दों का विपर्यय हो गया है। उपर्युक्त पाठ मूलपाठ के अनुसार संशोधित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में यह अपपाठ है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**परमेश्वर ने उस जगत् और शरीर को बनाकर उसमें वही प्रविष्ट** हुआ।'' वेस, जग, भद, युमी, विस में यही अपपाठ है। उदयपुर सं० में बिना टिप्पणी दिये संशोधित है।

इत्यादि श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे ?

उत्तर—जो तुम पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जानते तो ऐसा अनर्थ कभी न करते। क्योंकि यहां ऐसा समझो—एक 'प्रवेश' और दूसरा 'अनुप्रवेश' अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है। **परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नाम-रूपादि की विद्या को प्रकट करता है, और शरीर में जीव को प्रवेश करा, आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है।** जो तुम '**अनु**' शब्द का अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते।[१]

प्रश्न—'**सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृट्-समये मथुरायां दृश्यते**' अर्थात् जो देवदत्त मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा-समय में मथुरा में देखता हूं। यहां वह काशी देश, ऊष्णकाल; यह मथुरा देश और वर्षाकाल को छोड़ कर[२] शरीरमात्र में लक्ष्य करने से ही[३] देवदत्त लक्षित होता है, वैसे इस '**भागत्यागलक्षणा**'[४] से ईश्वर का परोक्ष देश, काल, माया, उपाधि और जीव का यह देश, काल, अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है। इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना, जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का छोड़कर चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से '**अद्वैत-सिद्धि**' होती है[५]। यहां क्या कह सकोगे ?

उत्तर—प्रथम, तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न—इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं।[६]

---

१. **परमेश्वर के अनुप्रवेश का अभिप्राय**—'**अनु**' उपसर्ग के प्रसिद्ध अर्थ '**पीछे**' या '**बाद में**' के कारण कभी-कभी पाठक को यह भ्रान्ति होती है कि जीव शरीर में पहले प्रवेश करता है और परमेश्वर बाद में प्रवेश करता है, यदि बाद में प्रवेश करता है तो पहले प्रविष्ट नहीं था, अतः वह व्यापक नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि उपसर्ग 'अनु' के अन्य अर्थ भी होते हैं। '**अतिसूक्ष्मता से प्रवेश**' का तथा '**नित्य सहसम्बन्धजन्य प्रवेश**' का भी यह अर्थ देता है। जीव सूक्ष्म है और परमेश्वर अतिसूक्ष्म है। दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। सूक्ष्म जीव में अतिसूक्ष्मता से परमेश्वर की व्यापक या प्रविष्ट स्थिति को भी '**अनुप्रविष्ट**' कहा जाता है। वह अनुप्रवेश तब तक नहीं था, जब तक वह शरीर नहीं बना था। शरीर का अस्तित्व बनते ही जीव का प्रवेश उसमें होता है, तभी उस शरीर-विशेष और जीव-विशेष में परमात्मा का अनुप्रवेश होता है। यह साथ-साथ होता है किन्तु क्रम को समझाने के लिए यह एक कथन-शैली है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ त्रुटित छोड़ दिया है—''**यह मथुरा देश और वर्षाकाल**''। संस्कृत के वाक्य में यह कथन है, अतः उसके अनुवाद की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में उक्त पाठ के स्थान पर ''**लक्ष्य करके**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है।

४. **भागत्यागलक्षणा**—यह 'लक्षणा' शब्दशक्ति का वह भेद है जिसमें वाच्यार्थ का कुछ भाग छोड़कर और कुछ भाग लेकर अभीष्ट अर्थ ग्रहण किया जाता है। इसी का दूसरा नाम '**जहद्-अजहद् लक्षणा**' है। इस शब्द का भी वही अर्थ है। ''**सोऽयं देवदत्त.....**'' इस वाक्य में 'वह' भूतकालीन और 'यह' वर्तमानकालीन शब्दवाच्य 'देवदत्त' को एक कहा है, किन्तु दोनों काल एक नहीं हो सकते, अतः अर्थसंगति नहीं बनती। इसी प्रकार काशी में देखा हुआ देवदत्त मथुरा का नहीं हो सकता। दोनों स्थान भिन्न और दूर हैं। इस वाक्य में इन असंगतियों को छोड़कर केवल देवदत्त नामक व्यक्ति का अर्थ दोनों स्थानों और कालों से ग्रहण कर लेते हैं। इस पद्धति का नाम '**भागत्यागलक्षणा**' है। इसी प्रकार ब्रह्म का वाच्यार्थ सर्वज्ञत्व है और जीव का अल्पज्ञत्व है। दो विरोधी भाव वाले पदार्थ एक नहीं हो सकते। अद्वैतवादी जन भागत्यागलक्षणा के आधार पर इन दो विरोधी अर्थों को छोड़कर दोनों के चेतनत्व गुण के आधार पर उन्हें एक मानकर 'अद्वैतवाद' को सिद्ध करते हैं।

५,६. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में संख्यांक ५ पर ''**अद्वैत सिद्ध होता है**'' व्यर्थ व अशुद्ध पाठान्तर है। सारे प्रकरण में उक्त पाठ है। दोनों हस्त० में ''**यह दोनों.....मानते हैं**'' अपपाठ है।

उत्तर—उस उपाधि को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न—हमारे मत में—

जीवेशौ च विशुद्धा चिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥ १॥
कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्य्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ २॥[१]

ये 'संक्षेपशारीरक' और 'शारीरकभाष्य' में कारिकायें[२] हैं।

[सिद्धान्तलेश संग्रह परि० १, पृष्ठ ६३ पर तथा द्वितीय श्लोक अनुभूति प्रकाश १। ६१में है।]

हम वेदान्ती छः पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाँचवां अविद्या=अज्ञान, और छठा अविद्या और चेतन का योग, इनको अनादि मानते हैं॥ परन्तु एक ब्रह्म अनादि, अनन्त और अन्य पांच अनादि, सान्त हैं, जैसा कि '**प्रागभाव**'[३] होता है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक ये पाँच रहते हैं। और इन पाँच का आदि विदित नहीं होता, इसलिये अनादि; और ज्ञान होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिये 'सान्त' अर्थात् नाशवाले कहाते हैं॥ १-२॥

उत्तर—ये तुम्हारे दोनों श्लोक अशुद्ध हैं; क्योंकि अविद्या के योग के विना जीव और माया के योग के विना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इससे '**तच्चितोर्योगः**'[४] जो छठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा; क्योंकि वह अविद्या, माया, जीव, ईश्वर में चरितार्थ हो गया और ब्रह्म, माया और अविद्या के योग के विना 'ईश्वर' नहीं बनता।[५] फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं॥ १॥

तथा आपका प्रथम **कार्योपाधि** और **कारणोपाधि** से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तब हो सकता है कि जब अनन्त, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें। जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो

---

१. **श्लोकार्थ**—सृष्टि-उत्पत्ति में जो कारण बनकर जगत् या ईश्वर की उत्पत्ति करता है, उस '**ब्रह्म**' की संज्ञा '**कारणोपाधि**'='कारण रूप अवस्थावाला' होती है। जब वह किसी शरीर के अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर पृथक् स्थिति में आ जाता है तो उसका '**जीव**' नाम होता है। जीव की सत्ता होना यह ब्रह्म का कार्य है। कार्य और कारण की स्थिति से पूर्णतः रहित होने पर उस विशुद्ध ब्रह्म की स्थिति ही '**ब्रह्म**' संज्ञक कहाती है। यह नवीन वेदान्तियों का मत है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**कारिका**' एकवचनान्त पद का अपप्रयोग है, दो के लिए बहुवचनान्त चाहिए।

३. **प्रागभाव**—किसी पदार्थ की, अस्तित्व में आने से पूर्व जो अभाव की स्थिति रहती है उसको दर्शनों में '**प्रागभाव**' कहते हैं। द्रष्टव्य, समु० ३ में पृ० १२० पर सूत्रात्मक लक्षण।

४. '**तच्चितोर्योगः**' **का अभिप्राय**—नवीन वेदान्ती लोग छह पदार्थों को अनादि मानते हैं उनमें ब्रह्म और अविद्या के योग से बननेवाला 'ब्रह्म का विशेष स्वरूप' '**तच्चितियोग**' कहा गया है।

५. **मुद्रणलिपिकर कृत भ्रष्टपाठ**—मूलह० में यह पाठ मुख्यतः शुद्ध है। मुद्रणलिपिकर ने इसको, वेदान्त सिद्धान्त का ज्ञान न होने के कारण, भ्रष्ट बना दिया—"**ब्रह्म तथा माया और विद्या के योग के विना ईश्वर नहीं बनता।**" यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० में छपा है। यहां "**अविद्या**" के स्थान पर अशुद्धार्थक "**विद्या**" का प्रयोग किया है। देखिए, आदि-शोधक भी मक्कार थे जिन्होंने इतने भ्रष्ट पाठ को नहीं देखा और छप गया। मूलसं० और द्वि०सं० में भी यह सर्वथा शुद्ध नहीं है। '**ब्रह्म**' कर्त्ता होने से आगे "**तथा**" योजक पद नहीं आना चाहिए। युमी में संशोधित है; वेस, जग, भद और उदयपुर सं० में अपपाठ है।

सकता। और जब एक देश में अज्ञान मानोगे तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता-जाता रहेगा। जहां-जहां जायगा, वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जायगा, उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा, तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि, शुद्धज्ञानयुक्त न कह सकोगे। और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा। बाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जायेंगे।

जो कहो कि 'टुकड़े हो जायें[१], तो ब्रह्म की क्या हानि है[२] ?' तो वह अखण्ड नहीं। और जो अखण्ड है, तो अज्ञानी नहीं। तथा ज्ञान का अभाव[३] वा विपरीत ज्ञान भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य-सम्बन्ध से रहेगा। यदि ऐसा है, तो समवायसम्बन्ध होने से अनित्य कभी नहीं हो सकता।[४] और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान, सुख-दुःख, क्लेशों की उपलब्धि होने से 'सब ब्रह्म' दुःखादि के अनुभव से युक्त होगा,[५] और 'सब ब्रह्म' को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे ही '**कार्योपाधि**' अर्थात् '**अन्तःकरण की उपाधि**' के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है वा परिच्छिन्न ? जो कहो व्यापक और 'उपाधि-परिच्छिन्न' है अर्थात् एकदेशी और पृथक्-पृथक् है, तो अन्तःकरण चलता-फिरता है वा नहीं ?

उत्तर—चलता-फिरता है।

प्रश्न—अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता-फिरता है, वा स्थिर रहता है ?

उत्तर—स्थिर रहता है।

प्रश्न—जब अन्तःकरण जिस-जिस देश को छोड़ता है, उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित और जिस-जिस देश को प्राप्त होता है उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा, वैसे क्षण[-क्षण][६] में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा। इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्गुर[७] होगा। और जैसे अन्य के देखे

---

१. **अपपाठ तथा ऋषिलिखित पाठग्रहण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ।**" पूर्व वाक्य के प्रयोग तथा पूर्वभाषा-प्रयोग के सम्बन्ध से व्याकरणानुसार यहां यह वाक्य होना उपयुक्त है—"**जो कहो कि टुकड़े हो जायें।**" मूलह० में "**तो ब्रह्म की क्या हानि**" वाक्यांश नहीं है। यह मुद्रणह० में ऋषि ने जोड़ा है। वहीं से मूलसं० में गृहीत है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह अपवाक्य है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रिया अपेक्षित है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, सभी सं० में भी यह अपपाठ है— "**ज्ञान के अभाव....होने से**"। यहां संशोधन अपेक्षित है।

४. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**तथा ज्ञान का अभाव.....नहीं हो सकता**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा स्वहस्तलेख में परिवर्धित पाठ है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से गृहीत है। आगे "**उत्तर, प्रश्न, उत्तर, प्रश्न**" रेखांकित चार पद मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा लिखित हैं। लिपिकरों ने इनको अशुद्ध लिखा है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० में उपर्युक्त पूर्ण पाठ है। मुद्रणप्रति में प्रमाद से मुद्रणलिपिकर ने एक पूरी पंक्ति छोड़ दी—"**युक्त होगा और सब ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे**" और दूसरी पंक्ति से लिखना शुरू कर दिया। यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में और परोप० ३-३३ में छपा है। परोप० ३४, द्वि०सं०, मूलसं०, युमी, विस, उदयपुर सं० में यह पूर्णपाठ गृहीत कर लिया है। वेस, जग में यह त्रुटित है। **पं० भगवद्दत्त जी का अशुद्ध पाठ**—भद, जस में इस त्रुटित पाठ को ग्रहण तो कर लिया किन्तु अपने घर का बीच में जोड़ दिया—"**और अज्ञानी दुःखी हो जायेगा।**" पाठक देखें कि यह कितना अटपटा और पुनरुक्त दोषयुक्त वाक्य बन गया—"**दुःखादि के अनुभव से युक्त होगा.....और.....दुःखी हो जायेगा।**"

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में दो में से एक "**क्षण**" पद त्रुटित है। गतभाषा के सम्बन्ध से यह अभीष्ट है।

७. **अपप्रयोग**—विशेषण के रूप में, दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां तथा पृ० ३५६/१० इन दोनों स्थानों पर "**क्षणभङ्ग**" अपप्रयोग है, "**क्षणभङ्गुर**" शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है तथा संख्यांक सात पर "**उसके क्षणभंगुर होने से**" वाक्य अभीष्ट है, "**वह क्षणभंगुर**" नहीं। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—समु० १२, पृ० ७५४/४ पर

का अन्य स्मरण नहीं कर सकता, वैसे कल की देखी-सुनी हुई बात वा वस्तु का ज्ञान नहीं रह सकता; क्योंकि जिस समय देखा-सुना था, वह दूसरा देश और दूसरा काल [था],[१] जिस समय स्मरण करता [है], वह दूसरा देश और [दूसरा][२] काल है।

जो कहो कि 'ब्रह्म एक है', तो [वह] सर्वज्ञ क्यों नहीं? जो कहो कि 'अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं', इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा[३], तो वह जड़ है; उसमें ज्ञान नहीं हो सकता। जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु अन्तःकरणस्थ '**चिदाभास**'[४] को ज्ञान होता है, तो भी चेतन को ही अन्तःकरण द्वारा ज्ञान होता है, जैसे नेत्रद्वारा; पुनः वह[५] अल्प, अल्पज्ञ क्यों है? इसलिये कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म, जीव और ईश्वर नहीं बना सकोगे। किन्तु '**ईश्वर**' नाम ब्रह्म का है और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम '**जीव**' है। जो तुम कहो कि जीव '**चिदाभास**' का नाम है, तो उसके क्षणभङ्गुर होने से वही 'प्रत्यभिज्ञा'[६] का भङ्ग-दोष आया और 'अनिर्मोक्षापत्ति'[७] भी आती है, क्योंकि जीव उत्पन्न होने से[८] नष्ट हो जायगा, तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा? इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म[९] कभी न हुआ, न है और न होगा॥ २॥

प्रश्न—तो '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**'॥ छान्दोग्य० [उप० ६।२।१]॥

'**अद्वैतसिद्धि**' कैसे होगी? हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय, विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जब जीव दूसरा है तो '**अद्वैतसिद्धि**' कैसे हो

श्लोक 'एक' में शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है। **पं० मीमांसक जी का परस्पर-विरोधी पाठ**—पं० जी ने अपने सं० के, पृ० ६५० पर टिप्पणी में "**क्षणभंग**" को अपपाठ और "**क्षणभंगुर**" को शुद्ध माना है। आश्चर्य है यहां अपपाठ है।

१-३. **ऋषिहस्तलेख और त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, क्रमशः "**था**", "**है**" और "**दूसरा**" पद त्रुटित हैं, इनके बिना उपयुक्त वाक्यरचना नहीं होती। "**इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा**" मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित पाठ है। "**जो कहो कि.....अल्पज्ञ क्यों है**" तक अन्य सारा पाठ मूलह० में ऋषिलिखित है।

४. **चिदाभास**—नवीन वेदान्त में अन्तःकरण में चेतन ब्रह्म के आभास अर्थात् प्रकाशमान होने से अन्तःकरण की जो चेतनात्मक स्थिति होती है, वह ब्रह्म '**जीव**' रूप कहाता है। ब्रह्म के उस आभास को '**चिदाभास**' कहते हैं।

५. **मुद्रणप्रति में विराम के बिना भ्रष्ट पाठ और अपपरिवर्तन**—मूलह० में उपर्युक्त शुद्ध पाठ है। मुद्रणप्रति में त्रुटित होने और विराम के बिना यह भ्रष्ट पाठ है—"**अन्तःकरण द्वारा ज्ञान होता है तो वह नेत्र द्वारा अल्प, अल्पज्ञ**" क्यों है? द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, युमी, जग, भद, विस में भ्रष्ट पाठ है। उदयपुर में मूलह० शुद्ध का पाठ गृहीत है, जो प्रशंस्य है।

६,७. **प्रत्यभिज्ञा और अनिर्मोक्षापत्ति**—पूर्व समय में दृष्ट और श्रुत विषय की स्मृति से होनेवाले ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। मोक्ष न प्राप्त होने की आपत्ति को=आक्षेप को 'अनिर्मोक्ष-आपत्ति' कहते हैं। निर्मोक्ष=मुक्ति को कहते हैं। भाव यह है कि अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ने से बननेवाला जीव क्षणभंगुर है क्योंकि जहां-जहां वह अन्तःकरण जायेगा वह-वह नया जीव बनता जायेगा। जिस जीव ने पहले दिन पुण्य किया था उसको पुण्य का फल मोक्ष नहीं मिलेगा, जिसने कल कुछ देखा-सुना था, उससे आज का फलभोक्ता जीव दूसरा हो गया, और दूसरे को दूसरे का फल नहीं मिल सकता है। अतः जीव को-ब्रह्म का अंश मानने पर ये दोनों आपत्तियां उपस्थित होती हैं। प्रत्यभिज्ञा का अन्यत्र उल्लेख द्रष्टव्य है, ११ समु० पृ० ५५३/९ पर।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने एक पूरी पंक्ति मुद्रणप्रति में "**वही प्रत्यभिज्ञा------ होने से**" तक त्रुटित छोड़ दी है। त्रुटित पाठ का साक्षात् सम्बन्ध अग्रिम वाक्यांश से है कि "**तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा?**" यही त्रुटित पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में छप रहा है। मूलप्रति सं० में यह है। मूलहस्त० से मिलान न होने के कारण यह त्रुटित पाठ-परम्परा चलती रही। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी सं० में यह त्रुटित है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणहस्त० में "**ब्रह्म**" पद त्रुटित है। मूलह०, मूलसं०, द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में है।

सकती है?

उत्तर—इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो? विशेष्य-विशेषण विद्या का विचार[१] करो कि उसका क्या फल है। जो कहो कि '**व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति**'[२]=विशेषण भेदकारक होता है, तो इतना और भी मानो कि '**प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति**'=विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक धर्मवाला[३] भी होता है। तो समझो[४] कि '**अद्वैत**' विशेषण ब्रह्म का है। इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि [यह] '**द्वैत वस्तु**'[५] अर्थात् जैसे अनेक जीव और तत्त्व हैं, उनसे ब्रह्म को पृथक् करता है। और विशेषण का प्रवर्त्तक और प्रकाशक धर्म यह है कि ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता और प्रकाशक है,[६] जैसे ''**अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः, अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः**''=किसी ने किसी से कहा कि 'इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है।' इससे क्या सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है, न्यून तो हैं। और पृथिवी आदि जड़ पदार्थ, पश्वादि [७]और वृक्षादि भी हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता। वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं हैं, किन्तु न्यून तो हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्नता[८] कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा '**अद्वैत**' वा '**अद्वितीय**' विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्यरूप जगत् का अभाव और निषेध नहीं हो सकता, अपितु ये सब हैं; परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इससे न अद्वैतसिद्धि [होती है] और न द्वैतसिद्धि[९] की हानि होती है। घबराहट[१०] में मत पड़ो, सोचो और समझो।

प्रश्न—ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द और जीव के अस्ति, भाति[११], प्रियरूप से एकता होती है। फिर क्यों खण्डन करते हो?

उत्तर—किञ्चित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ [और][१२] दृश्य है,

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—मूलहस्त०, मूलप्रति सं० के ''**विचार करो**'' पदों के स्थान पर मुद्रणह० में ''**ज्ञान करो**'' अप-परिवर्तन है। यहां विशेष्य-विशेषण आदि का ज्ञान करना नहीं, विचार करना है। यही अपपाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में है।

२. **त्रुटित पद**—मूलह०, मुद्रणह० व मूलप्रति सं० में ''**भवतीति**'' पाठ त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में तथा संस्कृत-वाक्य में है।

३,६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में ''**धर्मवाला**'' ''**प्रवर्तक और**'' तथा ''**प्रकाशक है**'' पाठ त्रुटित हैं। मूलह० व मूलप्रति सं० में दोनों त्रुटियां नहीं हैं, सभी द्वि०सं० में तीनों पाठ त्रुटित हैं।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**कहिये**'' अनुपयुक्त पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**समझो**'' ठीक है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्टपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में यहां ''**अद्वैत वस्तु**'' विपरीतार्थक भ्रष्ट परिवर्तन है। ''**इसमें**'' का सम्बन्ध पूर्व वाक्य के ''**अद्वैत**'' से है और ''**द्वैत**'' का ''**अर्थात् जैसे**'' पाठ से है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां ''**पश्वादि प्राणी**'' व्यर्थ पाठान्तर है। मूलह० का सही है।

८. **उपयुक्त प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**भिन्न**'' के स्थान पर ''**भिन्नता**'' भाववाचक संज्ञा उपयुक्त है।

९. **मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में त्रुटित होने से पाठ भ्रष्ट हो गया है—''**न अद्वैत सिद्धि और द्वैतसिद्धि की हानि होती है।**'' मूलह०, मुद्रणह० में शुद्ध है। **द्वैतसिद्धि**—ब्रह्म और जीव के पृथक्त्व की सिद्धि।

१०. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, मूलसं० में ''**घबड़ाहट**'' का द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**घबराहट**'' संशोधित है।

११. **आस्ति-भाति**=अस्ति=अस्तित्व, सत् रूप होना। भाति=प्रकटत्व या चेतन रूप होना।

१२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठक का '**और**' पद अभीष्ट है।

वैसे जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती। इनमें 'वैधर्म्य' भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म, जैसे—गन्ध, रूक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी के; और रस, द्रवत्व, कोमलत्वादि धर्म जल [के][१] और रूप, दाहकत्वादि धर्म अग्नि के[२] होने से एकता नहीं। जैसे मनुष्य और कीड़ी आंख से देखते, मुख से खाते, पग से चलते हैं तथापि मनुष्य की जाति, आकृति, दो पग [आदि की][३] और कीड़ी की जाति, आकृति, अनेक पग आदि की भिन्नता[४] होने से एकता नहीं होती। वैसे परमेश्वर के अनन्त ज्ञान-आनन्द-बल-क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्पस्वरूप, सभ्रान्तित्व[५] और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं; क्योंकि इनका स्वरूप भी, परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से, भिन्न है।

प्रश्न—**''अथ....उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति।''** [तैत्ति० उप०, ब्रह्म० अनु० ७]

''द्वितीयाद्वै भयं भवति॥'' यह बृहदारण्यक का वचन है [बृह० उप०, १।४।२]।

जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है; क्योंकि दूसरे से ही भय होता है।

उत्तर—इसका अर्थ यह नहीं है, किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध वा किसी एक देश-काल में

१,३. **त्रुटित आवश्यक पद**—बृ० कोष्ठक में दर्शाये **''के''** **''आदि की''** पद वाक्यरचनार्थ अभीष्ट हैं।

२. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में **''और रूप.....अग्नि के''** पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''भिन्न''** के स्थान पर **''भिन्नता''** भाववाचक प्रयोग उपयुक्त है।

५. **भ्रष्टपाठ**—श्रवणभ्रान्ति से मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में **''सब भ्रान्तित्व''** भ्रष्ट पाठ है यहां **'सभ्रान्तित्व'** शुद्ध होना चाहिए। मूलसं० में संशोधित है। ज्ञात होता है यह अपपाठ मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से हुआ है और शोधकों की असावधानी से। वेस में संशोधित है; युमी, जग, भद, उदयपुर सं० में भ्रष्टपाठ है। खेद है कि कथित दश विद्वान् निरर्थक और अशुद्ध प्रयोग को भी नहीं सुधार पाये जबकि उदयपुर सं० के सामने शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ थे। **पाठ-पुष्टि**—यहां **''सभ्रान्तित्व''** ही शुद्ध पाठ है। इसकी पुष्टि ऊपर पंक्ति में प्रयुक्त इसके विरीतार्थक प्रयोग **''निर्भ्रान्तित्व''** से भी हो जाती है।

उदयपुर सं० का अशुद्ध और हठपूर्ण उत्तर—उदयपुर सं० के लेखक बार-बार हमें यह अहसास करा रहे हैं कि उदयपुर सं० की सम्पादक समिति में बड़े-बड़े वैयाकरण विद्वान् हैं। किन्तु उन्हें यह ज्ञान नहीं हुआ **''सब भ्रान्तित्व''** कोई प्रयोग नहीं होता, और यहां व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध **''सभ्रान्तित्व''** है। **पहले लेखक** ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया है, या दे नहीं सके। **तीसरे लेखक** ने अपनी आदत के अनुसार फिर अनेक सम्पादकों के पाठों की तालिका प्रस्तुत कर दी है जो व्यर्थ है, क्योंकि यह उदयपुर सं० की प्रतिज्ञा ही नहीं है कि वह अधिकांश सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठ को स्वीकार करेगा। पूर्व सम्पादकों द्वारा छोड़ी गई अशुद्धियां आपने सैकड़ों ठीक की हैं, यहां क्यों नहीं की? क्योंकि आपको पता ही नहीं चला कि शुद्ध क्या है, अशुद्ध क्या है? स्वामी वेदानन्द जी के अनेक पाठों का अनुकरण किया, इसका भी अनुकरण करके शुद्ध कर लेते।

दूसरे और **चौथे** लेखक को यही समझ नहीं आया कि इसका क्या उत्तर देना चाहिए। अयुक्तियुक्त और बेतुका उत्तर यह दिया है कि ''परिच्छिन्नता-आदि'' प्रयोग के कारण यह **''सब''** प्रयोग है। यहां **''आदि''** के साथ **''सब''** इस 'अधिक' भावबोधक प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं है। न कोई इनका परस्पर सम्बन्ध है। एक भूल ठीक नहीं हो पाई, ऊपर से दूसरी भूल फिर कर रहे हैं, गलत उत्तर देकर। वैसे यह भी कोई उत्तर है? इन लेखकों ने अज्ञानता में अशुद्ध पाठ को शुद्ध और शुद्ध पाठ को भ्रष्टपाठ लिखा है। इन्हें चाहिए कि किसी वैयाकरण से शुद्ध-अशुद्ध प्रयोग समझ लें। **''सभ्रान्तित्व''** शुद्ध प्रयोग है, क्योंकि 'भ्रान्ति' के सहित अर्थ में 'सभ्रान्ति' विशेषण बनता है, उससे भाववाचक संज्ञा 'सभ्रान्तित्व' बनी है, जैसे ऊपर 'निर्भ्रान्तित्व' है। **चौथे मिथ्यादम्भी लेखक** ने अशुद्ध उत्तर देकर भी अतिधृष्टतापूर्वक मेरे लिए लिखा है—''मदरूपी ज्वर के वेग में बड़ाने के सदृश है।'' असभ्य लेखक महोदय! 'जानवर को अपना काला रंग नहीं दीखता, दूसरे के काले रंग को देख कर बिदकता है।' आपको अपनी अज्ञान-कालिमा से अशुद्ध प्रयोग का ज्ञान नहीं हुआ, दूसरे को अज्ञानी बता रहे हैं। ठीक ही कहा है—'मद अन्दर, तो अक्ल बाहर।' स्वयं बड़ाने वाले को दूसरों की स्पष्ट-शुद्ध, युक्तियुक्त भाषा भी बड़ाने-जैसी लगती है। यह लेखक सम्बद्ध उत्तर न देकर गालिप्रदान को अपनी विद्वत्ता मानता है, यह दुर्भाग्यपूर्ण है!

परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है। क्योंकि '**द्वितीय बुद्धि**' अर्थात् ईश्वर से मेरा और मुझसे ईश्वर का[१] कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहे कि 'तुझको मैं कुछ भी नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता', वा किसी की हानि करता और दुःख देता[२] जाय, तो उसको उनसे भय होता है। और सब प्रकार अविरोध हो तो वे 'एक' कहाते हैं। जैसे,[३] संसार में कहते हैं कि 'देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं', अर्थात् अविरुद्ध हैं। **विरोध न रहने से सुख और विरोध से दुःख प्राप्त होता है।**

प्रश्न—ब्रह्म और जीव की, क्या सदा एकता रहती है वा अनेकता? और कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं, वा नहीं?[४]

उत्तर—अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है, परन्तु साधर्म्य-अन्वयभाव[५] से एकता होती है। जैसे—आकाश से मूर्त्त-द्रव्य जड़त्व होने से और कभी पृथक् न रहने से एकता, और आकाश के विभुत्व, सूक्ष्मत्व, अरूपत्व, अनन्तत्व आदि गुणों और मूर्त्त के परिच्छिन्नत्व,[६] दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है, अर्थात् जैसे पृथिव्यादि-द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते; क्योंकि '**अन्वय**' अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्त-द्रव्य कभी नहीं ठहर सकता और '**व्यतिरेक**'[७] अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है; वैसे, ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते और स्वरूप से एक भी नहीं होते। जैसे, घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मिट्टी, लकड़ी, लोहा[८] आदि

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**ईश्वर से मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं**"। इसका संशोधन आवश्यक है। संशोधित रूप ऊपर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

२. **अपप्रयोग लिपिकरकृत**—दोनों हस्त० में "**हानि कर्त्ता और दुःख देता**" अपप्रयोग है। यही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। लिपिकरों-शोधकों को विशेषण और क्रियाप्रयोग का भी ज्ञान नहीं। द्वि०सं० व मूलसं० में संशोधित "**करता**" शुद्ध पद है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलसं० में "**जैसा**" अपप्रयोग है, '**जैसे**' अपेक्षित है, क्योंकि यह उदाहरणार्थक पद है।

४. **मुद्रणप्रति में अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह प्रश्नवाक्य अपरचनात्मक और अस्पष्टार्थक है। "**ब्रह्म और जीव की सदा एकता-अनेकता रहती है वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं वा नहीं?**" वाक्यरचना में अर्थ और कथ्य स्पष्ट नहीं हो रहे। उपर्युक्त पाठ में वाक्य को संगत और स्पष्टार्थक रूप दिया गया है। मुख्य संशोधन यह है कि यहां "**वा**" के स्थान पर "**और कभी**" पद दोनों हस्तलेखों में है, यहां '**और**' होना ही उपयुक्त है। किसी शोधक ने मुद्रणहस्तलेख में "**और**" के स्थान पर "**वा**" संशोधन करके पाठ को अशुद्ध बना दिया। इसी प्रकार दोनों हस्तलेखों में "**एकता वा अनेकता**" कुछ शुद्ध पाठ है, जो तीनों सं० में त्रुटित है। मुद्रणह० में किसी शोधक ने "**वा**" को काट दिया जिससे अपपाठ हो गया। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **साधर्म्य अन्वयभाव**—समान धर्म होने से किसी पदार्थ में प्रकट होनेवाली एकता। जैसे, आकाश जड़ है, उसमें रहनेवाले लोक-लोकान्तर, ग्रह-उपग्रह भी जड़ हैं। वे सदा आकाश में ही रहेंगे, पृथक् नहीं हो सकते, अतः '**जड़पन**' और '**साथ निवास**' ये दो धर्म दोनों पदार्थों के एक जैसे हैं। **साधर्म्य**=समान धर्मयुक्त, **अन्वय**=एकता का भाव।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में इस वाक्य में "**विभु, सूक्ष्म, अरूप, अनन्त, परिच्छिन्न**" अपप्रयोग हैं। सभी भाववाचक अभीष्ट हैं जैसे ग्रन्थकार ने "**जड़त्व**" "**दृश्यत्व**" प्रयोग किये हैं।

७. **व्यतिरेक**—असमान धर्म होने से अथवा स्वरूप से भिन्नता होने पर प्रकट होनेवाली पृथक्ता या अनेकता या भेद। जैसे, आकाश में स्थित ग्रह-उपग्रह साथ रहने पर भी एक नहीं हैं, स्वरूप से भिन्न हैं। आकाश सूक्ष्म, व्यापक है, ग्रह-उपग्रह स्थूल और व्यापक=आकाश उनमें व्याप्त है, वे आकाश में व्याप्त नहीं हैं। वि=विशेष, अतिरेक=अन्तर जहां है, वह 'व्यतिरेक' कहाता है। अन्यत्र उल्लेख-समु० ११ में पृ० ५५२/२ पर द्रष्टव्य है।

८. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में अग्रलिखित "**आदि पदार्थ**" पद त्रुटित हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित हैं।

पदार्थ आकाश में ही रहते हैं। जब घर बन गया तब भी आकाश में हैं, और जब वह नष्ट हो गया अर्थात् उसके सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गये, तब भी आकाश में हैं; अर्थात् तीनों कालों में[१] आकाश से भिन्न नहीं हो सकते, और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, न हैं, और न होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में न भिन्न[२] [रहते हैं] और स्वरूप से भिन्न होने से एक भी कभी नहीं होते।[३]

आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष[४] के समान अन्वय की ओर पड़के, व्यतिरेकभाव से छूट, विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुणता[५]-निर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य[६]-विशेषण भाव न हो।

प्रश्न—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?[७]

उत्तर—दोनों प्रकार [का] है।[८]

प्रश्न—भला, एक मियान[९] में दो तलवारें[१०] कभी रह सकती हैं ? एक पदार्थ में सगुणता[११] और निर्गुणता कैसे रह सकती हैं ?

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**तीन कालों में**" अपप्रयोग है, यहां "**तीनों कालों में**" बहुवचनात्मक प्रयोग अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, दो पंक्ति नीचे "**तीनों कालों**" शुद्ध प्रयोग है। यह भी नमूना है लिपिकरों और शोधकों की लापरवाही का कि एक ही स्थान पर दो तरह के प्रयोग लिखे हैं।

२. **मुद्रणकालीन भ्रष्ट पाठ**—द्विप्र० और द्वितीय सं० में, विपरीतार्थ-बोधक भ्रष्ट पाठ है—"**जीव..... व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में भिन्न**"। यहां "**न भिन्न**" पाठ होना उचित है। दोनों हस्तलेखों में "**न भिन्न**" यह शुद्ध पाठ है, किन्तु दोनों द्वितीय सं० के सम्पादकों ने उस पर ध्यान नहीं दिया। युमी में यहां "**न भिन्न**" के स्थान पर समस्त पद "**अभिन्न**" स्वीकार किया है किन्तु उपलब्ध पाठ के साथ 'रहते हैं' क्रिया जोड़ दें तो भाव स्पष्ट हो रहा है।

विद्वानों में भ्रष्टपाठ की परम्परा—दोनों हस्त० और मूलसं० में महर्षिकृत शुद्ध पाठ है। **स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी** और **पं० भगवद्दत्त जी** ने पता नहीं किस असावधानी में उस पाठ की उपेक्षा करके "**न भिन्न**" के स्थान पर "**भिन्न**" पाठ ग्रहण कर लिया। यही **उदयपुर सं०** ने भी किया है जबकि उदयपुर सं० के सामने तो शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ थे, विचारार्थ दोनों हस्तलेख सामने थे। फिर भी अशुद्ध पाठ ग्रहण किया। महर्षि यहां दो बातें कहना चाहते हैं—१. व्याप्य-व्यापक होने से पदार्थ परमेश्वर से न तो त्रिकाल में भिन्न रहते हैं, और २. न कभी स्वरूप से एक होते हैं या होंगे। निरन्तर वर्तमान की एक स्थिति का यहां वर्णन है। प्रतीत होता है कि मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**न**" पद मुद्रणदोष से छूटा है। फिर वही पाठ द्वि०सं० तथा बाद के सम्पादकों ने ग्रहण कर लिया। **पाठ-पुष्टि**—ऊपर पंक्ति ५ में भी ग्रन्थकार ने इस भाव का इन्हीं शब्दों में उल्लेख किया है जिसका कि यह चर्चित वाक्य उपसंहार रूप है। उस वाक्य को पढ़ कर पाठ का स्पष्ट निर्णय हो जाता है। वह वाक्य है—"**ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते, और स्वरूप से एक भी नहीं होते।**" उन्हीं दो तथ्यों का दो वाक्यखण्डों में पृथक्-पृथक् कथन है। अतः महर्षिप्रोक्त मूलह० तथा मुद्रणह० का पाठ ही ग्राह्य है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—"**परमेश्वर में व्याप्य होने से**" "**और स्वरूप..... कभी नहीं होते**" पाठ ऋषिहस्तलेख में मुद्रण में परिवर्धित है।

४. '**काणा**' **प्रयोग**—हिन्दी में आजकल '**काना**' उच्चारण प्रचलित हो गया है। स्वामी जी का प्रयोग संस्कृत मूल '**काणः**' का अपभ्रंश है और गुजराती प्रयोग है। हिन्दी में भी यही वर्तनी स्वामी जी के समय प्रचलित थी, अतः यही ग्राह्य है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**सगुण**" पद है, भाववाचक "**सगुणता**" पाठ अपेक्षित है। द्वि० सं० में चौथी पंक्ति में आगे शुद्ध पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में यह अपप्रयोग है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**विशेष्य**" पद त्रुटित रह गया है। युग्म प्रयोगों का कथन होने से यहां इसका प्रयोग परमावश्यक है। उदयपुर सं० में त्रुटित है, अन्य सभी में गृहीत है।

७-८. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से त्रुटित पाठ**—मूलह०, मूलसं० में इन प्रश्नोत्तरों का पाठ है। मुद्रणप्रति तैयार करते हुए मुद्रणलिपिकर ने प्रमादलीला के कारण इस आधार पाठ को छोड़ दिया। अतः द्विप्र० में त्रुटित ही छपा है। चौथे सं० तक यह पाठ त्रुटित छपता रहा। परोप० ५वें सं० में पं० लेखराम जी ने इसको ग्रहण किया। अब सभी द्वि०सं० में यह गृहीत है।

उत्तर—जैसे जड़ के '**रूप**'-आदि गुण हैं और चेतन के '**ज्ञान**'-आदि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में '**इच्छा**'-आदि गुण हैं और जड़ के '**रूप**'-आदि गुण नहीं हैं। इसलिये '**यद् गुणैः सह वर्त्तमानं तत्सगुणम्**' '**गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्**'=जो गुणों से सहित वह '**सगुण**' और जो गुणों से रहित वह '**निर्गुण**' कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल[१] सगुणता वा केवल निर्गुणता हो, किन्तु एक में ही सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान-बल-आदि गुणों से सहित होने से '**सगुण**' और '**रूप**'-आदि जड़ के तथा द्वेष-दुःख-आदि जीव के गुणों से पृथक् होने से '**निर्गुण**' कहाता है।

प्रश्न—संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं। अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता, तब '**निर्गुण**' और जब अवतार लेता है, तब '**सगुण**' कहाता है।

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानियों और अविद्वानों[२] की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बड़ाया करते हैं। जैसे सन्निपात-ज्वरयुक्त मनुष्य अण्ड-बण्ड बकता है, अविद्वानों के कहे वा लेख को वैसे ही व्यर्थ समझना चाहिये।

प्रश्न—परमेश्वर रागी है, वा विरक्त ?

उत्तर—दोनों नहीं है[३]; क्योंकि '**राग**' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है, सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है; इसलिये उसमें '**राग**' का सम्भव नहीं। **और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको 'विरक्त' कहते हैं।** ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ नहीं सकता, इसलिये '**विरक्त**' भी नहीं है।

---

९. **मुद्रणकालीन हास्यास्पद अनुवाद**—दोनों हस्त० में ''**एक मियान में**'' शुद्ध पाठ है। **पं० ज्वालादत्त** ने मुद्रणकाल में फारसी पद का हिन्दीकरण करने के प्रवाह में द्विप्र० में इसके स्थान पर ''**एक घर में**'' हास्यास्पद पाठ बनाया है। अब सब सम्पादकों ने उसको अस्वीकार कर मूलपाठ को पुनः ग्रहण कर लिया है। किन्तु एक कहावत है—'**मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना**' प्रत्येक मस्तिष्क में अलग-अलग सोच वाली बुद्धि है। **स्वामी वेदानन्द जी** को ''**घर**'' पाठ ही पसन्द आया! जबकि घर में तो अनेक पदार्थ और व्यक्ति रह सकते हैं। संस्कृत में इसके लिए केवल '**कोश**' या '**खड्ग कोश**' शब्द प्रचलित है।

१०-११. **अपप्रयोग**—क्रमशः दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**तलवार**'' एकवचन अपपाठ है, बहुवचन '**तलवारें**' चाहिये। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**सगुण**'' अपप्रयोग है, ''**सगुणता**'' अभीष्ट है।

१. **मुद्रणलिपिकर ने फिर दिखाई अपनी प्रमादलीला, किया पाठ भ्रष्ट**—मूलह० में पूर्ण पाठ है। प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने प्रमादलीला करके यह पाठ फिर छोड़ दिया—''**निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल**''। तब मुद्रणलिपिकर कृत यह भ्रष्ट पाठ बना—''**सब पदार्थ सगुण और निर्गुणता वा केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है।**'' किसी शोधक ने इस पर ध्यान नहीं दिया। द्विप्र० में केवल यह संशोधन किया कि ''**सब पदार्थों में सगुणता**'' पाठ बना दिया। आदि-शोधक शर्माओं ने यह भी सोचने का कष्ट नहीं किया कि इस ऊटपटांग, भ्रष्ट वाक्य का क्या कोई अर्थ भी है या नहीं ? बस, अपना उल्लू सीधा करते रहे। चौथे सं० तक आर्यविद्वान् और पाठक इस ऊटपटांग पाठ को पढ़ते रहे। परोप० पांचवें सं० में इसको पं० लेखराम जी ने सुधारा। अब द्वि०सं० में संशोधित है। मूलसं० में शुद्ध है। इस पाठ में केवल ''**निर्गुणता और केवल सगुणता**'' का क्रम ''**सगुणता-निर्गुणता**'' होना चाहिए, क्योंकि पूरे अनुच्छेद में यही क्रम है। सभी संस्करणों ने इस पाठ को ग्रहण कर लिया है।

२. **अपप्रयोग एवं परिवर्धन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अज्ञानी**'' अपप्रयोग है, बहुवचनान्त ''**अज्ञानियों**'' वांछित है। मुद्रणह० में यह पाठ परिवर्धित है—''**और अविद्वानों**'', यह ग्राह्य है। मूलसं० में गृहीत है।

३. **मुद्रणलिपिकर-कृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**दोनों में नहीं**'' अपपाठ है, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं?

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं [जैसी जीवों में होती है][१]; क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे, [उसकी होती है][२]। तो ईश्वर में इच्छा [कैसे][३] हो सके? न [उसे][४] कोई अप्राप्त पदार्थ [है], न कोई उससे उत्तम [है][५], और पूर्ण सुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी उसे नहीं [है]। इसलिये ईश्वर में '**इच्छा**' का तो सम्भव नहीं, किन्तु '**ईक्षण**' अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है, वह 'ईक्षण' है। इत्यादि संक्षिप्त विषयों से ही सज्जन लोग बहुत विस्तरण कर लेंगे।[६]

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर **वेद का विषय** लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथर्व०, कां० १०। प्रपा० २३। अनु० ४। मं० २०[कां० १०। सू० ७। मं० २०]

जिस परमात्मा से '**ऋग्वेद**', '**यजुर्वेद**', '**सामवेद**' और '**अथर्ववेद**' प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है?

इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है।

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः[७] समाभ्यः॥[८] यजुः, अ० ४०। मं० ८॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है।

प्रश्न—परमेश्वर को आप निराकार मानते हो वा साकार?

उत्तर—निराकार मानते हैं।

प्रश्न—जब निराकार है, तो '**वेदविद्या**' का उपदेश विना मुख के [और] वर्णोच्चारण के, कैसे हो सका होगा, क्योंकि वर्णों के उच्चारण में तालु-आदि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये?

उत्तर—परमेश्वर को, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से, अपनी व्याप्ति से, जीवों को[९] 'वेद विद्या' का उपदेश[१०] करने में कुछ भी मुख-आदि की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि मुख-जिह्वा से उच्चारण

१-३. **अस्तव्यस्त पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद का पाठ अस्तव्यस्त है। मूललिपिकर कुछ वाक्यांश/ शब्द छोड़ गया है। यहां पाठ की सुबोधता के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत तीनों पाठ परिवर्धित करने आवश्यक हैं।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**न उसे कोई**" में '**उसे**' पद, "**उत्तम है**" में '**है**' क्रिया त्रुटित है।

६. **ऋषिहस्तलेख एवं उचित संशोधन**—मूलह० में "**वह ईक्षण.....कर लेंगे**" ऋषि द्वारा लिखित है। मूलह०, मूलसं० में "**विषय**" एकवचन है, मुद्रणह०, द्विप्र० में संशोधित बहुवचन है, जो ग्राह्य है।

७. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में अशुद्ध पाठ "**शास्वतीभ्यः**" है। सभी सं० में संशोधन कर लिया है।

८. **अन्यत्र वर्णन**—पूर्ण मन्त्र अर्थसहित सप्तम समु० में पृ० ३२८ पर द्रष्टव्य है।

९. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**व्याप्ति से वेदविद्या**" पाठ परिवर्धित है जो स्पष्टार्थ और विशेषार्थ के कारण ग्राह्य है। किन्तु मुद्रणलिपिकर ने इसको अस्थान में "**जीवों को**" पाठ के बाद रखा है। यह पाठ उससे पूर्व ईश्वरीय वर्णन के साथ होना चाहिए। इसी प्रकार क्रिया की अपेक्षा से, आरम्भ में "**परमात्मा के**" स्थान पर "**परमात्मा को**" पाठ अभीष्ट है।

१०. **अपप्रयोग**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वेदविद्या के**" स्थान पर "**वेदविद्या का**" पाठ अपेक्षित है।

दूसरे=भिन्न मनुष्य के लिये किया जाता है,[१] अपने लिये कुछ भी[२] नहीं। विना मुख और जिह्वा के व्यापार करे[३] मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूंदके[४] देखो, सुनो कि विना मुख-जिह्वा-तालु-आदि स्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं! वैसे जीवों को अन्तर्यामी-रूप से उपदेश किया है।[५] **किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिये उच्चारण किया जाता है।** जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है, तो अपनी विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है, इसलिये ईश्वर में यह[६] दोष नहीं आता।

प्रश्न—किनके आत्मा में [और] कब वेदों का प्रकाश किया?

उत्तर—अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥[७] शत० [ब्रा० ११।४।२।३] ॥

प्रथम अर्थात् सृष्टि के आदि में[८] परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषियों के आत्माओं में एक-एक वेद का प्रकाश किया।

प्रश्न—यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥

यह उपनिषद् का वचन है [श्वेताश्वतर उप० ६।१८] ॥

इस वचन से [ज्ञात होता है कि] ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्नि आदि ऋषियों के आत्माओं में क्यों कहा?

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो, '**मनुस्मृति**' में क्या लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ मनु० [१।२३]

---

१. **मुद्रणलिपिकर-कृत व्यर्थ अपपरिवर्तन**—मूलह० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणह० में यह पाठ-परिवर्तन व्यर्थ किया है—''**मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिए किया जाता है।**'' मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ अधिक व्यापकार्थक है, ''**वर्णोच्चारण**'' प्रयोग सीमितार्थक है। वर्णोच्चरण केवल व्यक्त ध्वनियों का होता है जब कि उच्चारण-ध्वनियां व्यक्त और अव्यक्त होती हैं, जैसे शिशुओं व गूंगों की ध्वनियां और वेदमन्त्र गायन में आलाप, रोना, हंसना आदि।
पाठपुष्टि—चार पंक्ति नीचे यही शब्दावली है—''**दूसरे को समझाने के लिये**''।

२. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह० में, मूलह० के ''**अपने लिये नहीं**'' पाठ के स्थान पर द्विप्र०, द्वि०सं० का उक्त पाठ ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**क्योंकि.....व्यापार करे विना ही**'' पाठान्तर व्यर्थ है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ स्पष्ट है। **पाठ-पुष्टि**—सभी संस्करणों में दो पंक्ति नीचे ''**विना मुख-जिह्वा**'' ही पाठ है।

४. **अपसंशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**मूंद**'' पाठ है। मूलप्रति सं० का ''**मूंदके**'' पाठ ग्राह्य है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—''**कानों को अंगुलियों.....उपदेश किया है**'' मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित पाठ है। ''**इस वचन से..... लिखा है।**'' पाठ मूलह० में ऋषि ने लिखा है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलसं० के स्पष्ट-पूर्ण ''**दोष नहीं आता**'' पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० में लिपिकर ने यह व्यर्थ पाठान्तर किया है—''**दोष नहीं आ सकता।**''

७. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, और तीनों सं० में इस उद्धरण में ''**अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते**'' में ''**वा**'' ''**जायते**'' अधिक पद हैं। ये मूलग्रन्थ '**शतपथ**' में नहीं हैं, अतः अग्राह्य हैं। वेस, जग, युमी में पूर्ण संशोधन है, भद में ''**वा**'' पद अशुद्ध है। उदयपुर सं० में इस उद्धरण में दोनों अशुद्धियां विद्यमान हैं।

८. **अव्यवस्थित प्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**सृष्टि की आदि में**'' प्रयोग है। शुद्ध प्रयोग पृ० ५६/१९ में द्र० है।

=जिस परमात्मा ने 'आदि-सृष्टि' में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों ऋषियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा से '**ऋग्**', '**यजुः**', '**साम**' और '**अथर्ववेद**' का ग्रहण किया।[१]

प्रश्न—उन चारों [के आत्माओं][२] में ही वेदों का प्रकाश किया, अन्य में नहीं। इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

उत्तर—वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे। अन्य उनके सदृश नहीं थे। इसलिये '**पवित्र-विद्या**' का उन्हीं [के आत्माओं][३] में प्रकाश किया।

प्रश्न—किसी देश-भाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया?

उत्तर—जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती होता;[४] क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता, उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने में[५] होती। इसलिये संस्कृत में ही प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं। और **वेदों की भाषा अन्य सब देशभाषाओं[६] का कारण है,[७] उसी में वेदों का प्रकाश किया।** जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देशों[८] और देशवालों के लिये एक-सी और सब '**शिल्पविद्या**' का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एक-सी होनी चाहिये कि सब देशवालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता; और सब भाषाओं का कारण भी है।

---

१. **क्या ब्रह्मा चार ऋषियों से अधिक ज्ञानी थे?**—इस प्रसंग पर कुछ लोग शंका करते हैं कि वेद प्रकट करनेवाले अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा तो एक-एक वेद के ज्ञाता हुए और ब्रह्मा चतुर्वेदज्ञ हुआ। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्मा अधिक बुद्धिमान् और पवित्रात्मा था। फिर उसी को चारों वेदों का ज्ञान क्यों नहीं दे दिया? आदि-आदि।

इस साधारण शंका का साधारण शैली में उत्तर दिया जाता है। आजकल विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में प्रोफेसर, प्राध्यापक एक-एक विषय को पढ़ाते हैं जबकि विद्यार्थी चार-पांच विषय पढ़कर सम्बन्धित उपाधि प्राप्त करता है। कोई यहां भी कह सकता है कि इसका मतलब प्रोफेसर से छात्र अधिक बुद्धिमान् हुआ! ठीक ऐसी ही उक्त शंका है। जैसे प्रोफेसर एक विषय का गम्भीर, विस्तृत, अधिकारी ज्ञाता अर्थात् विशेषज्ञ होता है, वैसे ही ऋषि एक-एक वेदविद्या के अगाध विशेषज्ञ थे। और जैसे चार-पांच विषयों के अध्येता होते हुए भी छात्र प्राध्यापक जैसे विशेषज्ञ नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मा चतुर्वेदज्ञ तो थे किन्तु उन ऋषियों के समान एक-एक वेद-विद्या के अगाध विशेषज्ञ नहीं थे। यह तो आज भी होता है। लोग चारों वेदों को पढ़कर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु वे ब्रह्मा जैसे विद्वान् भी नहीं हो पाते, भले ही वे 'चतुर्वेदी' या 'ब्रह्मा' कहलाते हों। उनका ज्ञान, पल्लवग्राही-मात्र होता है। इसके अतिरिक्त चार ऋषि पहली पीढ़ी में उत्पन्न हो चुके थे, ब्रह्मा उनके बाद की पीढ़ी का था।

स्त्री को वेदज्ञान क्यों नहीं दिया?—कुछ लोगों की शंका है कि किसी स्त्री को वेदज्ञान क्यों नहीं दिया? इसके उत्तर हैं—१. परमात्मा की व्यवस्था में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है, यह भेद मनुष्यों में है। उसके लिए सब आत्माएं हैं, उनको वह कर्मानुसार फल देता है। अगले जन्म में स्त्री पुरुष बन जाती है, पुरुष स्त्री बन जाता है। २. पुरुषों में भी जो सबसे पुण्यकर्मा थे उनको वेदज्ञान दिया, यदि कोई स्त्री शरीरधारी आत्मा उस कोटि में होती तो उसको भी वेदज्ञान मिलता। स्त्रियां ऋषिकाएं तो हैं ही।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर त्रुटित, अपूर्ण और अस्पष्ट पाठ हैं। यहां कोष्ठक का पाठ ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—पूर्ण और स्पष्ट पाठ गत पृष्ठ पर दोनों संस्कृत प्रमाणों के अर्थ में द्रष्टव्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**होता**" का "**हो जाता**" व्यर्थ पाठान्तर है। नीचे वही पाठ है।

५. **अपपयोग**—सभी सं० में यहां "**में**" पद अभीष्ट है, जैसे पंक्ति १४ में "**पढ़ने-पढ़ाने में**" प्रयुक्त है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**देशभाषा**" शब्द का "**देश**" पद त्रुटित है। यह अभीष्ट है, क्योंकि पूर्वापर में यही प्रयोग है और नहीं तो पंक्ति १५ में पुनरुक्ति दोष उत्पन्न हो जायेगा।

७. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**है**" क्रिया के पश्चात् "**अतः**" असंगत है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में हटा दिया है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी संस्करणों में "**सब**" के सम्बन्ध से "**देशों**" प्रयोग चाहिए।

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं, अन्यकृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण [है] ?[१]

उत्तर—(१) जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध-गुण-कर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल वैसा[२] कथन हो, वह ईश्वरकृत [है],[३] अन्य नहीं।

(२) और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाणों,[४] आप्तों के और पवित्रात्माओं[५] के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त पुस्तक [है]।[६]

(३) जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान है, जिस पुस्तक में वैसे[७] भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त [है]।[८]

(४) जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टि, कार्य-कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है।

(५) और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध [हों और][९] शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हों, इस प्रकार के वेद ही हैं;[१०] अन्य **बाइबल,**[११] **कुरान** आदि पुस्तकें नहीं। **इसकी स्पष्ट व्याख्या बाइबल**[११] **और कुरान के प्रकरण में [क्रमशः] तेरहवें**[१२] **और चौदहवें समुल्लास में की जायगी।**

प्रश्न—वेद की ईश्वर से [प्रकट] होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते; क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे, जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाये तो विद्वान्

१,३,६,८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उक्त संख्यांकित स्थलों पर क्रियाएं त्रुटित हैं। इन सभी स्थानों पर वाक्यरचना की दृष्टि से क्रिया-प्रयोग आवश्यक हैं।

२,७. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां "**वैसे**" अपप्रयोग है, पूर्वोक्त "**जैसा**" विशेषण के सम्बन्ध से "**वैसा**" चाहिए। संख्यांक ७ पर "**वैसा**" के स्थान पर "**वैसे**" शुद्ध है।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**प्रत्यक्षादि प्रमाण**" और "**पवित्रात्मा**" एकवचन में प्रयोग हैं, "**आदि**" पद के सम्बन्ध और "**आप्तों**" पद के सम्बन्ध से यहां बहुवचन वांछित है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**अविरुद्ध**" के बाद क्रिया का प्रयोग न होने से, अगले वाक्य के क्रिया-प्रयोग से जुड़कर इसका अनर्थ प्रकट होता है कि '**जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध..... वेद हैं।**" अतः यहां "**हों और**" पदों का परिवर्धन अत्यावश्यक है। मूलसं० वेस, भद, युमी, विस आदि कुछ सम्पादकों ने अल्पविराम लगाकर काम चलाया है। वह जग, उदयपुर सं० जैसे विराम और क्रियारहित पाठ से तो ठीक है किन्तु क्रिया के बिना वाक्य सही नहीं होता।

१०. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**और जो प्रत्यक्षादि.....विरुद्ध न हों**" तक का पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा लिखित है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से गृहीत है।

११. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां दोनों स्थानों पर "**बायबिल**" वर्तनी है तथा मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**बाइबल**" है। ऐसे ही अन्य स्थानों पर अन्य वर्तनियां हैं। दोनों सं० में पूरे ग्रन्थ में अकेले '**बाइबल**' शब्द की कई-कई वर्तनियां लिपिकरों की अयोग्यता और भिन्नता के कारण पाई जाती हैं। इसी प्रकार वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सब संस्करणों में वर्तनी-विषयक अराजकता है। इस वर्तनी सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर करने के लिए ग्रन्थ में सर्वत्र '**बाइबल**' वर्तनी ग्राह्य मानी गई है। (इस विषयक विस्तृत टिप्पणी पृ० ८४१ पर और 'मीमांसा भाग' के तृतीय अध्याय में द्रष्टव्य है)

१२. **उचित संशोधन**—मुद्रणकाल में, द्विप्र० में "**कुरान के प्रकरण में तेरहवें**" उचित संशोधन किया है। स्पष्टता के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ परिवर्धित किया जा सकता है।

हो जाते हैं, और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता। इस प्रकार परमात्मा जो उन आदि-सृष्टि के[१] ऋषियों को '**वेदविद्या**' न पढ़ाता और वे अन्य को न पढ़ाते,[२] तो सब लोग अविद्वान् ही रह जाते। जैसे, किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश में[३], अविद्वानों वा पशुओं में रख देवे, तो वह जैसा संग है[४] वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं।

जब तक आर्यावर्त से[५] शिक्षा नहीं गई थी, तब तक मिश्र[६], यवन (=यूनान)[७] और यूरोप[८]-देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी। और यूरोप के कोलम्बस आदि[९] पुरुष अमेरिका में जब

१-३. **ऋषिहस्तलेख और उचित पाठ संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**उन ऋषियों को**'' पाठ है जिसका संशोधन करके मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उन आदिसृष्टि के ऋषियों को**'' यह स्पष्टार्थक पाठ बनाया है। यह ग्राह्य है। ''**और वे अन्य को न पढ़ाते**'' मुद्रणह० में ऋषि द्वारा लिखित है। आगे ''**एकान्त देश में**'' पाठ संशोधन भी ग्राह्य है।

४,५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां क्रमशः ''**पशुओं के संग में रख देवे**'' और ''**आर्यावर्तदेश से**'' व्यर्थ पाठान्तर किये हैं। मूलह० के पाठ स्पष्टार्थक हैं।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, ग्रन्थ में इस देश नाम की '**मिश्र**' और '**मिस्र**' दो प्रकार की वर्तनियां मिलती हैं। उपयुक्त कारणों से '**मिश्र**' वर्तनी सर्वत्र ग्राह्य है। विस्तृत टि० पृ० ८६१ पर द्रष्टव्य है।

७. **यवन समुदाय और उनके देश**—प्राचीन भारतीय इतिहास परम्परा के अनुसार, यवन (यूनानी) समुदाय आर्यों के वंशज हैं और कभी वे आर्य क्षत्रिय थे। महाभारत के अनुसार ''**तुर्वसोः यवनाः स्मृताः**'' (आदि० ८५.३४) अर्थात् सातवें मनु वैवस्वत के पुत्र तुर्वसु के वंशज '**यवन**' और '**तुर्क**' (तुर्वसु का अपभ्रंश) हैं। अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का त्याग करने तथा विहित प्रायश्चित्त आदि पालन न करने के कारण ये आर्यक्षत्रिय वृषल=धर्मभ्रष्ट हो गये थे, (''**किराता यवनाश्चैव**---- **वृषलत्वमनुप्राप्ताः**'' महा० अनु० ३५.१८ तथा मनु० १०.४३-४४)। वर्णव्यवस्था में इन्हें शूद्र माना जाने लगा। रामायण और महाभारत के समय तक भारतीय क्षेत्र के आसपास इनके निवास थे और यहां के देशों-प्रदेशों की सेनाओं में भी कार्यरत थे। रामायण के वर्णनों से ज्ञात होता है कि ये लोग अयोध्या की सेना में और वसिष्ठ के रक्षक सैनिकों में कार्यरत थे। (वाल्मीकि-रामायण, बालकाण्ड अ० ५४, ५५ आदि) धीरे-धीरे ये पश्चिम की ओर प्रयाण कर गये और इन्होंने '**यूनान**' '**अरब**' '**मिश्र**' आदि पश्चिमी देशों को बसाया।

प्राचीन समय में '**यवन**' वर्तमान यूनानियों को ही कहा जाता था। फिर पश्चिम की ओर से आने वाले सभी आक्रान्ताओं और लोगों को सामान्य '**यवन**' नाम से पुकारा जाने लगा। मुस्लिम मत के आरम्भ होने के बाद पश्चिम से जो आक्रान्ता भारत में आये तो उनको भी '**यवन**' कहा गया। धीरे-धीरे तब से यह शब्द व्यवहार में मुख्यतः पश्चिम के मुख्य आक्रान्ता मुसलमानों के लिए रूढ़ हो गया। इतिहास में प्राचीन अर्थ '**यवन=यूनानी**' ही है।

८. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस नाम की कहीं '**यूरोप**' तो कहीं '**यूरुप**' वर्तनी मिलती है। भाषात्मक एकरूपता, मानकता तथा व्यवस्था के लिए सर्वत्र '**यूरोप**' वर्तनी ग्राह्य है।

९. **ऐतिहासिक तथ्यविरुद्ध अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**इंगलैंड के कुलुम्बस**'' अपपाठ है। कोलम्बस इंग्लैण्ड का नहीं था। यह सभी संस्करणों में अशुद्ध छपता आ रहा है। संशोधन परमावश्यक है, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्यात्मक कथन में यथार्थता होना ही प्रामाणिकता का लक्षण है। वेस, जग, भद, विस में यही अपपाठ है। उदयपुर सं० में कथित दश विद्वानों ने स्वच्छन्द पाठ ''**इंग्लैंड के लोग तथा कुलम्बस आदि पुरुष**'' बनाकर और अधिक ऐतिहासिक तथ्यविरुद्ध और महर्षि के विरुद्ध भी बना दिया। **पहली बात** तो यह है कि ठीक ऊपर पंक्ति में महर्षि यूरोप के देशों को विद्यारहित बता रहे हैं और यहां उदयपुर सं० के सम्पादक इंगलैंड के लोगों के जाने पर विद्या की उन्नति कर रहे हैं। क्या इंगलैंड यूरोप में नहीं है? **दूसरा** ऐतिहासिक तथ्य यह है कि कोलम्बस पहले गया था (सन् १५०० में) इंगलैंड के लोग सन् १६०६ में गये थे। वाक्यक्रम से यह अर्थ प्रकट हो रहा है कि इंगलैंड के लोगों का पहले तथा कोलम्बस का जाने का समय बाद का है। ऐतिहासिक शैली में पाठक्रम सदा कालक्रमानुसार ही हुआ करते हैं, आगे-पीछे के क्रम में नहीं; अन्यथा वह लेखन अप्रामाणिक कहलाता है। **तीसरी** महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रन्थकार को यहां केवल कोलम्बस का वर्णन अभीष्ट है, इंग्लैंड के लोगों का नहीं। उदयपुर सं० में भाषा और भाव-परिवर्तनयुक्त यह प्रतिज्ञाविरुद्ध स्वच्छन्द पाठान्तर तथ्यसम्मत और महर्षि-सम्मत नहीं है।

कोलम्बस का संक्षिप्त परिचय—क्रिस्तोफर कोलम्बस का जन्म लगभग सन् १४५१ में इटली देश के 'जेनोआ' नगर में हुआ। फिर यह पुर्तगाल देश के 'लिस्बन' शहर में बस गया। कोलम्बस को समुद्र का बहुत आकर्षण था और समुद्री यात्राओं का अत्यधिक चाव था। उसने समुद्री यात्राएं करने का निश्चय तीन महत्त्वाकांक्षाओं को लक्ष्य में रखकर किया—१. नये-नये देशों का अन्वेषण करना, २. वहां से सोने के जहाज भरके लाना (क्योंकि उसने सुन रखा था कि पूर्व के देशों में इतना सोना है कि

तक नहीं गये थे, तब तक वे भी सहस्त्रों, लाखों, करोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे।[१] अब पुनः[२] शिक्षा पाने से विद्वान् हो गये हैं। वैसे ही परमात्मा से सृष्टि के आदि में विद्या-शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये [हैं]।[३]

स एषः[४] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

यह योगसूत्र है [समाधिपाद, सू० २६]॥

=जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़के ही विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है। क्योंकि **जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसे[५] परमेश्वर नहीं होता,** उसका ज्ञान नित्य है। इसलिये यह निश्चित जानना चाहिये कि विना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता।

प्रश्न—वेद संस्कृत-भाषा में प्रकाशित हुए और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत-भाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना?

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया। और धर्मात्मा, योगी-महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थप्रकाश हुआ, तब ऋषि-मुनियों ने उस[६] अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहास-पूर्वक ग्रन्थ बनाये; उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् 'ब्रह्म' जो वेद है उसका व्याख्यानग्रन्थ होने से 'ब्राह्मण' नाम हुआ। और—

"ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः", "मन्त्रान्सम्प्रादुः।"[७]

निरुक्त [अ० ७। खं० ३ तथा अ० १। खं० २०]॥

वहां मकानों की छतें सोने से मढ़ी होती हैं), ३. खोजे गये देशों के नागरिकों को कैथोलिक ईसाई धर्म में दीक्षित करके ईसाईयत का विस्तार करना। इसने अपने लक्ष्य पुर्तगाल, इंग्लैंड, स्पेन और फ्रांस के राजाओं के सामने रखे और यात्राओं का प्रबन्ध तथा उनके लिए धन उपलब्ध कराने का निवेदन किया। स्पेन के सम्मिलित शासन 'अरागान' के **फार्दिनाद** और 'कास्तिल' की **रानी इजाबेला** ने कोलम्बस के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। स्पेन की ओर से उसने चार यात्राएं कीं जिनमें अनेक द्वीपों और देशों की खोज की। सन् १५०० में उसने तीसरी यात्रा में अमेरिका की खोज की। सन् १५०६ में स्पेन में ही उसकी मृत्यु हो गई। सन् १६०६ में इंग्लैंड के १२० लोग अमेरिका की ओर आकर्षित होकर तीन जहाजों में निकले किन्तु कई महीनों की यात्रा पूरी करके १०४ ही जीवित पहुंचे। अन्य देशों के साथ तब से इंग्लैंड वालों का भी अमेरिका में गमनागमन शुरु हो गया। इग्लैंड से कोलम्बस का कोई सम्बन्ध नहीं था। जन्मस्थान, निवास और यात्रा-अभियान भिन्न-भिन्न देशों में होने के कारण उसको **'यूरोप के कोलम्बस'** कहना ही अधिक समीचीन है। **स्वामी वेदानन्द जी** ने सही पाठ निर्धारित किया है, जो ग्राह्य है।

१-२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**मूर्ख अर्थात् विद्याहीन**" पाठ संशोधित किया है। मूलह०, मूलसं० में "**मूर्ख थे**" पाठ है। यह संशोधन महत्त्वपूर्ण होने से ग्राह्य है। आगे "**अब के**" बाद "**पुनः**" संशोधन सटीक है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—क्रमशः दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है, अनुच्छेद कभी क्रिया के बिना पूर्ण नहीं होता।

४. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में मूल सूत्र का "**एषः**" पद त्रुटित है। मौलिक उद्धरण की दृष्टि से आवश्यक है। जग, भद को छोड़कर वेस, युमी, विस, उदयपुर सं० में त्रुटित पद को ग्रहण कर लिया है।

५-६. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वैसा**" अपप्रयोग है, पूर्वोक्त "**जैसे**" के सम्बन्ध से "**वैसे**" प्रयोग उचित है। आगे "**वह**" अपप्रयोग है, "**उस**" सही प्रयोग है।

७. **मुद्रणकालीन उद्धरण-अशुद्धि**—दोनों हस्तलेखों में इस उद्धरण को दो टुकड़ों में दो उद्धरणों के रूप में लिखा हुआ है। मूलह० में दोनों उद्धरणों के मध्य स्पष्ट पूर्णविराम है और मुद्रणह० में कोष्ठक-चिह्न से उनको पृथक् किया हुआ है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में उसका एक उद्धरण के रूप में अशुद्ध प्रकाशन किया है। आदि-शोधकों ने उस अशुद्धि पर ध्यान नहीं दिया। उस अशुद्धि का

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ, और जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था,[१] प्रथम ही जिसने किया, और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा-लिखाया आता है। **जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं।**[२]

प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है?

उत्तर—'**ऋक्**', '**यजुः**', '**साम**' और '**अथर्व**' मन्त्रसंहिताओं का, अन्य का नहीं।

प्रश्न—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् [कात्यायनपरिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र १।१]

इत्यादि कात्यायन-आदि-कृत '**प्रतिज्ञासूत्र**'-आदि का अर्थ क्या करोगे?

उत्तर—देखो, संहिता-पुस्तकों[३] के आरम्भ [और][४] अध्याय की समाप्ति में '**वेद**' यह शब्द सनातन से लिखा आता है[५] और '**ब्राह्मण**'-पुस्तकों[६] के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा। और '**निरुक्त**' में—

इत्यपि निगमो भवति॥ [निरुक्त ५।३,४]। **इति च ब्राह्मणम्॥** [निरुक्त ५।४]।

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि॥ यह पाणिनीय सूत्र है[७] [अष्टा० ४।२।६५]

इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि 'वेद' मन्त्रभाग और 'ब्राह्मण' व्याख्याभाग है। इसमें जो विशेष

अनुकरण करते हुए भद, द्वि०सं०, मूलसं० ने इसको एक अशुद्ध-वाक्य के रूप में छापा है। **स्वामी वेदानन्द जी** ने उद्धरण को अशुद्ध मानकर पहले उद्धरण को हटा दिया। हाँ, **पं० मीमांसक जी** ने अपने विवेक से उसको विरामचिह्न देकर पृथक् करके शुद्ध रूप में अंकित किया है। उदयपुर सं० के सामने शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ विद्यमान थे, किन्तु कथित दश विद्वानों ने अगम्भीर चिन्तन का परिचय देते हुए अशुद्ध पाठ ही रखा। उन्होंने पांडुलिपियों का आधार ग्रहण करने का दावा किया है किन्तु उनको पांडुलिपियों का ज्ञान भी नहीं हो पाया, नहीं तो उनके शुद्ध पाठ के अनुसार पाठ प्रकाशित करते।

अन्य अशुद्धियां—मुद्रणलिपिकरकृत और द्विप्र० में प्रकाशित "**सम्प्राददुः**" अशुद्धि को तो सभी ने दूर कर लिया, किन्तु "**ऋषयः**" पाठ सभी में अशुद्ध है। इसका कोई अर्थ नहीं बनता। इसके स्थान पर निरुक्त में "**ऋषीणां**" शुद्ध पाठ है और इसी का हिन्दी में अर्थ है। ऐसी अशुद्धि महर्षि नहीं कर सकते।

संशोधन-पुष्टि—यह उद्धरण वाक्य इसी प्रकार संशोधित होना चाहिए जैसे कि अग्रिम संस्कृत उद्धरण "**इत्यपि निगमो भवति इति ब्राह्मणम्**" द्विप्र० में एक वाक्य है, किन्तु उसको संशोधित करके सभी ने दो उद्धरणों में विभाजित कर प्रस्तुत किया है, केवल उदयपुर सं० के अशुद्ध लिखित पाठ को छोड़कर। यद्यपि उन्होंने भी इसके दो पते अवश्य दिये हैं।

१. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था किया**"....। कुछ पदों के अस्थान में होने से यह अपवाक्य बन गया। यहां उपर्युक्त पाठ संशोधित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में यही भ्रष्टपाठ है।

२,७. **ऋषिहस्तलेख**—"**वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं**" पाठ मुद्रणह० में तथा "**छन्दो.....सूत्र है**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित पाठ है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**संहिता पुस्तक के आरम्भ**" यह अपप्रयोग है। यहां "**पुस्तकों**" बहुवचन अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—तीन पंक्ति-पूर्व शुद्ध पाठ—"**मन्त्रसंहिताओं**" द्रष्टव्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**और**" पद त्रुटित है। यहां इसका प्रयोग आवश्यक है।

५. **मुद्रणकालीन स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपवाक्य इस प्रकार है—"**वेद यह सनातन से शब्द लिखा आता है।**" "**शब्द**" पद अस्थान में होने से अपवाक्य बन गया है। दोनों हस्त० तथा मूलप्रति सं० में पाठ ठीक है। यह अशुद्धि द्विप्र० में मुद्रण-समय हुई है। इस अपवाक्य को भद और उदयपुर सं० ने नहीं सुधारा। वेस, जग, युमी, विस में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—द्विप्र० और द्वि० सं० में "**ब्राह्मण पुस्तक**" अपप्रयोग है, यहां '**पुस्तकों**' बहुवचन अपेक्षित है। मूलहस्त० तथा मूलसं० में शुद्ध है। सभी द्वि०सं० में एकवचनात्मक अपपाठ है।

देखना चाहें तो मेरी बनाई '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिये।[१] वहां [वर्णित] अनेक प्रमाणों के विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन माननीय नहीं हो सकता है;[२] क्योंकि, जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें। क्योंकि '**ब्राह्मण**'-पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षियों और राजा-आदि के इतिहास लिखे हैं; और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है, वह ग्रन्थ भी उनके जन्मे पश्चात् होता है। वेदों में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु जिस-जिस शब्द से विशेष[३] विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है; किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं।

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखायें[४] हैं ?

---

१. **अन्यत्र उल्लेख**—द्रष्टव्य है 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का वेदसंज्ञा प्रकरण।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट और महर्षि-विरुद्ध पाठ-परिवर्तन परिवर्धन**—मूलह० के शुद्ध पाठ की उपेक्षा कर मुद्रणप्रति, द्विप्र०और द्वि०सं० में इसका जो परिवर्तन किया मिलता है, वह महर्षि की मान्यता और तथ्यों के विपरीत है और पाठ को भ्रष्ट कर दिया है, देखिए वह भ्रष्ट पाठ—''**वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता ऐसा ही सिद्ध किया गया है।**'' पाठक पहले तो यह विचारें कि '**अनेक प्रमाणों के विरुद्ध होना**' और '**कात्यायन का वचन न होना**' इनका आपस में क्या सम्बन्ध हुआ? क्या कात्यायन का वचन अनेक प्रमाणों के विरुद्ध नहीं हो सकता? कितना हास्यास्पद पाठ बनाया है! दूसरा, मुद्रण-लिपिकर या शोधक ने बिना चिन्तन किये यह पाठ बदला है, क्योंकि अगले वाक्य की संगति पूर्व वाक्यस्थ '**माननीय**' पद के अर्थ पर आधारित थी, जिसे लिपिकर ने निकाल दिया। देखिए—''**क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सके।**'' अब यह वाक्य असंगत हो गया है। प्रश्न उठता है कि क्या मानें? परिवर्तित पाठ में कोई मानने की बात कह ही नहीं रखी है। तीसरी बात यह है कि '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' (वेदसंज्ञाविचार) में स्पष्टतः इस वचन को '**कात्यायन**' का कहा है और महर्षि ने उस वचन को अमान्य किया है। देखिए महर्षि के वचन—''**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**'' **इति कात्यायनोक्तेः**--=कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है।''---- ''**एक कात्यायन को छोड़के किसी अन्य ऋषि ने उनके (ब्राह्मणग्रन्थों के) वेद होने में साक्षी नहीं दी है।**'' ''**कात्यायनेनापि ब्राह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते, एवमपि न सम्यगस्ति**''=''**और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधिलक्षण से किया हो, तो भी नहीं बन सकता।**'' लिपिकर यदि ऋषि की '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' पुस्तक खोलकर देख लेता तो विरुद्ध परिवर्तन न करता। इस विकृत पाठ ने यह जानकारी भी दे दी है कि शोधक भी मक्कार थे। उन्होंने शोधन पर न ध्यान दिया, न श्रम किया।

अब एक-दो प्रश्न आर्य-विद्वानों और पाठकों से। मूलह०, मूलप्रति सं० में तो यह पाठ ठीक है, किन्तु सभी अन्य सम्पादकों के संस्करणों में यह भ्रष्ट व विरुद्ध पाठ है। ऋषि लिख रहे हैं कि मेरी पुस्तक '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' देख लीजिए कि वहां यह कात्यायन का वचन लिखा है जो अनेक प्रमाणों के विरुद्ध है। प्रश्न उठता है—१. सवा-सौ से अधिक वर्ष हो गये, आज तक किसी भी विद्वान् या पाठक ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' को खोलकर क्यों नहीं देखा? २. इस अवधि में बड़े-बड़े प्रकाण्ड पण्डित सम्पादक हुए हैं, समीक्षक हुए हैं, संशोधन-विरोधी भी हुए हैं, और हैं; जो सत्यार्थप्रकाश के लिए बड़े-बड़े व्यर्थ विवाद, वितण्डा, दम्भ करते हैं; किसी को भी यह याद क्यों नहीं आया कि यहां यह गलत तथ्य लिखा हुआ है, जो '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में है ही नहीं? और यह भी कि यह महर्षि के कथन के विरुद्ध पाठ है। ३. इतने वर्षों से हम यह भ्रष्ट और ऋषि-विरुद्ध पाठ और ऐसे अन्य पाठ भी पाठकों को क्यों पढ़वा रहे हैं? ४. लिपिकरों और शोधक शर्माद्वय ने जो करना था, कर दिया; उसके बाद आज तक अशुद्ध पाठ परोसने का नैतिक दायित्व किसका है? अब आर्यजन ही सोचें कि इस विडम्बनापूर्ण स्थिति पर उन्हें क्या कहना है। यही ऋषि-विरुद्ध पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सं० में है। जस में अपनी ओर से यह अपपाठ आप जोड़ा गया है—''कात्यायन का वचन सत्य नहीं हो सकता।'' यहां ग्रन्थकार का आशय 'मान्य' न होने से है, सत्य न होने से नहीं उदयपुर सं० ने इसका संशोधन कर लिया है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकरकृत त्रुटित-भ्रष्ट पाठ नहीं।

३. **स्थानभ्रष्ट प्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में, वाक्यस्थ आगामी '**विशेष**' पद की तरह यहां भी '**विशेष**' पद उपयुक्त स्थान पर और विशेषण के रूप में अपेक्षित है। मुद्रणह० द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका स्थान ''**विद्या**'' पद से पूर्व होना चाहिए, ''**जिस-जिस**'' से पूर्व नहीं। विस, युमी में यह पद त्रुटित है, भद, उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्ट है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में सभी स्थानों पर पूर्वापर पाठों की तरह '**शाखा**' पद बहुवचनान्त अभीष्ट हैं।

उत्तर—एक हजार एक सौ सत्ताईस।[१]

प्रश्न—शाखायें क्या कहाती हैं?

उत्तर—व्याख्यान को '**शाखा**' कहते हैं।

प्रश्न—संसार में विद्वान् लोग वेद के अवयवभूत-विभागों[२] को शाखा मानते हैं?

उत्तर—तनिक-सा विचार करो तो ठीक, क्योंकि जितनी शाखायें[३] हैं वे '**आश्वलायन**' आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और मन्त्रसंहितायें[४] परमेश्वर के नाम से प्रख्यात हैं।[५] जैसे चारों वेदों को परमेश्वरकृत मानते हैं, वैसे '**आश्वलायन**'[६] आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं। और सब शाखाओं में मन्त्रों के[७] प्रतीक धरके व्याख्या करते हैं। जैसे, '**तैत्तिरीय शाखा**' में ''**इषे त्वोर्जे त्वा, इति**'' [यजु० १।१] इत्यादि प्रतीकें धरके व्याख्यान किया है और वेदसंहिताओं में किसी का प्रतीक नहीं धरा[८]। इसलिये परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष और '**आश्वलायन-आदि**' सब शाखायें ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं। जो इसकी विशेष व्याख्या देखना चाहे, वह '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लेवे।[९]

जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार, भ्रमजाल से छूटकर विद्या-विज्ञान-रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहैं और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।

प्रश्न—वेद नित्य हैं, वा अनित्य?

उत्तर—नित्य हैं; क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।

प्रश्न—क्या ये पुस्तक भी नित्य हैं?[१०]

उत्तर—नहीं; क्योंकि पुस्तक तो कागज[११] और स्याही के बने हैं, वे नित्य कैसे हो सकते[१२] हैं?

---

१. **मुद्रणलिपिकर के महाप्रमाद से भ्रष्ट संख्यात्मक पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**एक सौ सत्ताईस**'' अत्यन्त अशुद्ध पाठ है। आदि-शोधकों ने भी शुद्ध नहीं किया। अब सभी संस्करणों में संशोधित है। पाठक देखें कि मुद्रणलिपिकर कितना प्रमादी था।

२-४. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में एकवचनान्त '**विभाग**' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। आगे दोनों सं० में ''**शाखा**'', ''**मन्त्रसंहिता**'' एकवचनान्त अपप्रयोग हैं, बहुवचनान्त अपेक्षित हैं। कई बहुवचन-प्रयोग भी हैं।

५,६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**प्रख्यात**'' के स्थान पर ''**प्रसिद्ध**'' पर्यायवाची पाठ, और सभी सं० में ''**आश्वलायनी**'' व्यर्थ पाठान्तर है, जबकि पंक्ति १० में शुद्ध ''**आश्वलायन**'' पाठ है।

७-८. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, सभी सं० में ''**की प्रतीक**'' और ''**किसी की प्रतीक नहीं धरी**'' पुंल्लिंग प्रयोग अभीष्ट हैं।

९. **अन्यत्र उल्लेख**—इस प्रकरण को विस्तार से जानने के लिए '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में 'वेदसंज्ञा प्रकरण' द्रष्टव्य है।

१०,१२. **अप-संशोधन**—दोनों हस्त० में प्रश्न-वाक्य बहुवचन में है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में उसको ''**यह पुस्तक भी नित्य है**'' ऐसे एकवचन में परिवर्तित कर दिया। वही अप-संशोधन सभी द्वि०सं० में है और उसे मूलसं० ने भी ग्रहण कर लिया। होना यह चाहिए था कि 'उत्तर-वाक्य' ''**का बना है**'', ''**कैसे हो सकता है**'' पाठों को बहुवचन में परिवर्तित किया जाना चाहिए था। उस परिवर्तन के लिए दो तर्क हैं—१. प्रश्न-वाक्य बहुवचन में है तो उसका उत्तर वाक्य भी बहुवचन में होना चाहिए। २. पूर्वापर पाठों में वेद नामक पुस्तकों का बहुवचन में उल्लेख है।

११. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां '**कागज**' के स्थान पर '**पत्रे**' परिवर्तन किया है। यह किसी विशेष अभिप्राय से नहीं किया है, अपितु पं० ज्वालादत्त या मुंशी समर्थदान ने मुद्रणकाल में उर्दू-फारसी के शब्दों का हिन्दीकरण करने के लिए किया है। '**कागज**' का कोई अन्य हिन्दी पर्याय नहीं था तो '**पत्रे**' कर दिया, जैसे '**म्यान**' का अशुद्ध अनुवाद '**घर**'

किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं।

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे ?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के विना नहीं होता। गायत्री-आदि छन्दों,[१] षड्ज-आदि और उदात्त-अनुदात्त-आदि स्वरों[२] के ज्ञानपूर्वक गायत्री-आदि छन्दों का निर्माण करना, विना सर्वज्ञ के[३] किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार के सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सकें। हाँ, वेदों को पढ़ने के पश्चात् **'व्याकरण', 'निरुक्त'** और **'छन्द'** आदि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं। **जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हीं के[४] अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा मत क्या है,[५] तो यही उत्तर देना कि हमारा मत 'वेद' है अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उस सबको[६] मानते हैं।**

अब इसके आगे सृष्टि के विषय में लिखेंगे। यह संक्षेप से ईश्वर और वेद-विषय में व्याख्यान किया है॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते[७] सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित[८] ईश्वरवेदविषये
सप्तमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ७॥[९]

कर दिया, जिसको अब सभी सम्पादकों ने त्याग दिया है। ''पत्रे'' से शुद्ध अनवाद तो ''पत्र'' था, जैसे—भोजपत्र, ताड़पत्र आदि। मुद्रणहस्तलेख में **'कागज'** ही है। **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में वेद-प्रसंग में या तो 'कागज' का प्रयोग है, या फिर 'कागज-पत्र' का (पृ० १२, २१ आदि)। यदि **'कागज'** की हिन्दी बनाई थी तो **'स्याही'** की भी बनानी चाहिए थी। यदि ''पत्रे'' अनुवाद लिया जायेगा तो ''स्याही'' प्रयोग हटाना पड़ेगा क्योंकि प्राचीनतम पुस्तकें भोजपत्र आदि पर कुरेदी हुई भी मिलती हैं। अतः मूलह० का पाठ ही उचित है।

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''छन्द''**, **''स्वर''** एकवचनान्त हैं। **''आदि''** पद के सम्बन्ध से बहुवचनान्त अभीष्ट हैं। **पाठ-पुष्टि**—देखिए, अगले ही शब्दों में **''गायत्र्यादि छन्दों''** शुद्ध प्रयोग है।

३. **मुद्रणकालीन अप-पाठ-परिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां अपपाठ बनाया है—**''निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं।''** यहां **'निर्माण करने का'** शुद्ध पाठ होगा। मुद्रणह०, मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। वेस, भद, युमी, जग, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलसं० में **''इसी से''** अपप्रयोग है। पूर्वापर में बहुवचनात्मकभाषा होने के कारण **''इन्हीं के''** चाहिए। द्वि०सं० में संशोधित है। वेस, जग, भद, युमी, विस में संशोधित है; उदयपुर सं० अशुद्ध पाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में **''तुम्हारा क्या मत है''** व्यर्थ-अशुद्ध पाठान्तर है। द्र० पृ० १३६ भी।

६. **अपसंशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां **''उसको''** पाठ है। मूलप्रति का पाठ **''सबको''** ग्राह्य है।

७. **मूर्ख मुद्रणलिपिकरकृत भ्रष्टपाठ**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने यह भ्रष्ट पाठ लिखा है—**''इति श्रीमत्स्वामीदयानन्दसरस्वती स्वामिकृते।''** यहां दो बार **'स्वामी'** लिखा है जिनमें पहला अशुद्ध है, दूसरा शुद्ध है। **''सरस्वति''** भी अशुद्ध है।

८. **समाप्तिसूचक वाक्य एवं पाठग्रहण**—मूल हस्तलेख में यह संस्कृत वाक्य **''इति श्रीमत्स्वामी०''** इतना संकेत बनाकर छोड़ रखा है। मुद्रणहस्तलेख में इसको पूरा लिखा गया है। वहां **''विभूषिते''** के स्थान पर **''विरचिते''** पाठ है।

९. **मुद्रणलिपिकरकृत पांच व्यर्थ पाठान्तर**—इस समुल्लास में पुस्तक नामों में मुद्रणलिपिकर ने और मुद्रणकाल में द्विप्र० में पांच स्थलों पर व्यर्थ पाठान्तर किया है—३३२/१६, ३३५/२२, ३४०/१०, ३४२/९, ३६७/४।

—०—

अथाष्टमसमुल्लासारम्भः

अथ सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

[अब सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-विषयों का वर्णन करेंगे][१]

इ॒यं वि॒सृ॒ष्टिर्य॑त॒ आब॒भूव॒ यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न।
यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑॥ १॥

ऋ०, म० १०। सूक्त १२९। मं० ७॥

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं[२] स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।
तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒ना[३] जा॑य॒तैक॑म्॥ २॥

ऋ०, म० [१०]। सूक्त [१२९]। मं० [३]॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ३॥

ऋ०, म० १०। सूक्त १२१। मं० १॥

पुरु॑ष॒ऽए॒वेद॑ꣳ सर्व॑[४] यद्भू॒तं यच्च॑ भा॒व्य॑म्।
उ॒तामृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति॥ ४॥ यजुः, अ० ३१। मं० २॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति॥ ५॥ तैत्तिरीयोप० [भृगु० १]

हे (**अङ्ग**) मनुष्य! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलयकर्त्ता है, जो इस जगत् का स्वामी [है],[५] जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है; उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान॥ १॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहले अन्धकार से आवृत, रात्रि-रूप में [होने से][६] जानने के अयोग्य, तथा आकाश-रूप सब जगत् था '**तुच्छ्य**'[७] अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सामने[८] एकदेशी, आच्छादित

---

१. **त्रुटित आवश्यक शीर्षक पाठ**—शैलीगत एकरूपता और मानकता के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ बढ़ाया गया है। यह दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपेक्षित है। अनेक समुल्लासों में यह शैली है। द्रष्टव्य पृ० १९ पर इस विषयक टिप्पणी।

२-४. **अप-उद्धरण पाठ**—अयोग्य लिपिकरों के अज्ञान से दोनों हस्त० में "**मग्रे प्रकेतं**" अपप्रयोग है। तदनुसार द्विप्र० में और आज भी द्वि०सं० में अशुद्ध छपा है। यह मूलसं० में संशोधित है। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**माहिना**" अपप्रयोग है; द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। द्विप्र० में "**ए वेदथं सर्वं**" अपपाठ है। अन्य सभी संस्करणों में संशोधित है।

५-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' और '**होने से**' पद त्रुटित रह गये हैं, आवश्यक होने से इनका परिवर्धन अपेक्षित है। द्र०पृ० ३८२ पर मनुस्मृति के १.५ श्लोक में "**तमोभूतम्**" पद और उसका भाव।

७. **अपवर्तनी**—तीनों सं० में 'तुच्छ' अपवर्तनी है। '**तुच्छ्य**' शुद्ध है। यही वेदमन्त्र में है। वेस, भद, युमी, उदयपुर में अशुद्ध है।

८. **मुद्रणकाल में व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र० में यहां "**परमेश्वर के सामने**" का "**परमेश्वर के सन्मुख**" व्यर्थ पाठान्तर किया है।

था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने **महिना**[१]=सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया है॥ २॥

हे मनुष्यो! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार [है], और जो यह जगत् हुआ, है, और होगा, उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व[२] विद्यमान था। और जिसने पृथिवी से लेकर सूर्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से हम भक्ति किया करें॥ ३॥

हे मनुष्यो! जो सबमें पूर्ण पुरुष [है],[३] और जो नाशरहित कारण, और जीव का स्वामी [है],[४] जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनानेवाला है॥ ४॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीते[५] और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह 'ब्रह्म' है; उसको[६] जानने की इच्छा करो॥ ५॥

''जन्माद्यस्य यतः॥'' शारीरकसूत्र अ० १। [पा० १]। सू० २॥

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता [है],[७] वही 'ब्रह्म' जानने के योग्य है।

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वा अन्य से?

उत्तर—निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, परन्तु इसका उपादान कारण प्रकृति है।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की?

उत्तर—नहीं, वह अनादि है।

प्रश्न—अनादि किसको कहते हैं? और कितने पदार्थ अनादि हैं?

उत्तर—जिसका कोई आदि कारण वा समय न हो, उसको 'अनादि' कहते हैं।[८] ईश्वर, जीव और जगत् का कारण, ये तीन 'अनादि' हैं?[९]

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है?

---

१. **मूललिपिकर-कृत अपप्रयोग और मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां **''महिमा''** पद छपा है। यह मन्त्रोक्त **''महिना''** पद है। मुद्रणह० में यह विशेष पद त्रुटित ही छोड़ दिया है। तदनुसार द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में भी नहीं है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित ऋषिहस्तलेख**—मूलह० में ऋषि ने स्वहस्त से लिखा था—**''सृष्टि के पहले।''** उसे मुद्रणप्रति में त्रुटित छोड़ दिया। यह पाठ पुनः मुद्रणह० में **''इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व''** ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३,४,७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में चारों स्थानों पर **'है'** क्रिया त्रुटित है। वाक्यरचनार्थ अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ रचना**—मूलप्रति सं० में यहां **''जीवते''** क्रिया है, द्वि० सं० में उसको **''जीते''** बना दिया है। मूलह० में बाद का अक्षर त्रुटित रह गया, अतः केवल **''जी''** लिखा मिलता है। प्रतिलिपि करते समय अयोग्य मुद्रणलिपिकर ने बिना पाठ संगति लगाये, उसको अपनी बुद्धि से **''जीव''** बना दिया। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में उसका संशोधन करके **''जीते''** पाठ बनाया तो मूलसं० में **''जीवते''** पाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''उसके''** अपप्रयोग है, **''उसको''** अपेक्षित है।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''अनादि किसको कहते हैं?''** प्रश्न का उत्तर त्रुटित है। यहां ऋषि ने प्रश्न दिया है तो उत्तर भी आवश्यक है। पाठ पूर्त्यर्थ महर्षिकृत परिभाषा दे दी गई है, द्रष्टव्य, पृ०३२७/७ में। प्रथम समुल्लास में अनादि की परिभाषा यह दी है—**''जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको आदि कहते हैं, जिसका आदि कारण कोई भी नहीं है।''** (पृ० ४४) वेस, जग, युमी, विस, जस में यह परिवर्धित है; भद, उदयपुर सं० में नहीं है।

पाठ त्रुटित होने का कारण—हस्तलेखों को देखने से इस पाठत्रुटि का कारण ज्ञात हो जाता है। मूलहस्तलेख में महर्षि ने

उत्तर— द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो[१] अभि चाकशीति॥ १॥

ऋ०, म० १। सूक्त १६४। मं० २०॥

शाश्वतीभ्यः[२] समाभ्यः॥ २॥ यजुः अ० ४०। मं ८॥

अर्थ—(**द्वा**) जो ब्रह्म और जीव दोनों (**सुपर्णा**) चेतनता और पालनादि गुणों से कुछ[३] सदृश हैं (**सयुजा**) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त [हैं][४] (**सखाया**) परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन, अनादि हैं; और (**समानम्**) वैसा ही (**वृक्षम्**) अनादि, मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ है;[५] इन तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं। (**तयोरन्यः**) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव [है] वह इस वृक्षरूप संसार में [**पिप्पलम्**] पाप-पुण्य-रूप फलों को (**स्वाद्वत्ति**) अच्छे प्रकार भोगता[६] है। और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (**अनश्नन् अन्यः**) न भोगता[७] हुआ [**अभिचाकशीति**][८] चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति[९] भिन्न-स्वरूप है, और तीनों '**अनादि**' हैं॥ १॥[१०]

बोलते समय केवल इतना ही प्रश्न लिखवाया था—"**कितने पदार्थ अनादि हैं?**" फिर उसका सही उत्तर लिखवाया है। मूलहस्तलेख को शोधते समय, महर्षि ने अपने हाथ से यहां प्रश्न में यह नया पाठ जोड़ दिया—"**अनादि किसको कहते हैं?**" किन्तु इसका उत्तर लिखना रह गया। बस, इस कारण यह पाठ त्रुटित रह गया। कुछ सम्पादकों ने उत्तर का अभाव देखकर, अन्य स्थान से प्रश्न का उत्तर लेकर यहां रख दिया और इस प्रकार प्रश्नोत्तर पाठ पूर्ण हो गया।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने इस परिवर्धन को नकारने और यह सिद्ध करने में व्यर्थ श्रम किया है कि इस प्रश्न का उत्तर पहले कथनों में स्वतः आ गया। उत्तर देते समय उनको यह जानकारी प्राप्त नहीं थी कि जब मूलपाठ लिखा गया था तब तो यह प्रश्न ही अस्तित्व में नहीं आया था, यह तो मूलहस्त० में अष्टम समुल्लास के संशोधन के समय अस्तित्व में आया है। अतः शास्त्री जी का उत्तर केवल काल्पनिक और अयुक्तियुक्त होने से अग्राह्य है। यहां छूटे हुए उत्तर का बढ़ाना भी परम आवश्यक है, क्योंकि प्रश्न उपस्थित किया जा चुका है, उसका उत्तर भी उपस्थित होना चाहिए अन्यथा यह लेखन की अपूर्णता मानी जायेगी।

९. **ऋषिहस्तलेख**—प्रश्नोत्तरों में रेखांकित पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित हैं।

१. **मुद्रणकालीन अप-उद्धरण पाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**स्वाद्वत्ति नश्नन्नन्यो**" अपपाठ छपा है। द्वि०सं० में संशोधित है। अन्य सब पाठों में शुद्ध है।

२. **अप-उद्धरण पाठ**—मूलह० के शुद्ध पाठ को मुद्रणलिपिकर ने "**शास्वतीभ्यः**" अशुद्ध लिखा है। वही अशुद्ध द्विप्र० में है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**कुछ**" पद त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह आवश्यक भी है। यह प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर से प्रमादवश त्रुटित रहा है।

४,५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर क्रमशः '**हैं**' और '**है**' क्रियाएं अपेक्षित हैं।

६,७. **अपप्रयोग अयोग्य लिपिकरों द्वारा**—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने यहां क्रिया प्रयोग के स्थान पर विशेषण प्रयोग "**भोक्ता**" लिखा है। वही अशुद्धि द्विप्र० में छपी है और द्वि०सं० आदि में आज भी छप रही है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि अयोग्य लिपिकरों को क्रिया और विशेषण का भेद ही ज्ञात नहीं था।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस मन्त्रार्थ में "**पिप्पलम्**" और "**अभिचाकशीति**" मूलपद त्रुटित हैं, जबकि उनका अर्थ है। दोनों पद अन्य पदों के समान अपेक्षित हैं।

९. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र० में "**दोनों में प्रकृति**" अपपाठ है। अन्य सभी पाठों में संशोधित और शुद्ध है।

१०. **ऋषिहस्तलेख**—सभी सीधी रेखांकित पाठ मूलह० में और टेढ़ी रेखायुक्त पाठ मुद्रण० में ऋषि द्वारा स्वलेख से परिवर्धित हैं।

(शाश्वती०)[१] अर्थात् अनादि, सनातन, जीवरूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध कराया है॥[२] २॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।[३]
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते,[४] जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः[५]॥

यह उपनिषद् का वचन है [श्वेताश्वतर उप०। अ० ४। मं० ५]॥

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों '**अज**' अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता=कभी ये जन्म नहीं लेते;[६] अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फसता है और उसमें परमात्मा न फसता और न उसका भोग करता है।

ईश्वर और जीव का लक्षण **ईश्वर-विषय में कह आये।** अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च-तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं[७] पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि[८] पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥

यह सांख्यसूत्र है [अ० १। सू० ६१]

(**सत्त्व-**) शुद्ध, (**रजः**) मध्य, (**तमसाम्**)[९] जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तुयें[१०] मिलकर जो एक संघात है, उसका नाम 'प्रकृति' है। उससे '**महत्तत्त्व**'=बुद्धि, उससे '**अहङ्कार**', अहंकार[११] से पांच '**तन्मात्रायें**',[१२] सूक्ष्म-भूत और '**दश इन्द्रियां**' तथा ग्यारहवां '**मन**', पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि '**पांच भूत**' ये चौबीस, और पच्चीसवां '**पुरुष**' अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी; और महत्तत्व, अहङ्कार तथा पांच सूक्ष्म-भूत प्रकृति के कार्य[१३] और इन्द्रियों[१४], मन तथा स्थूल-भूतों के[१५] कारण हैं। और पुरुष न किसी की प्रकृति=उपादानकारण और न किसी का कार्य है।

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मूलह० के शुद्ध पाठ को मुद्रणलिपिकर ने अशुद्ध "**शास्वती०**" लिखा, वही द्विप्र० में है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सब विद्याओं का बोध किया है**" अपप्रयोग है, "**कराया है**" अभीष्ट है। **संशोधन-पुष्टि**—यही शुद्ध प्रयोग "**बोध कराता है**" सप्तम समु० पृ० ३२८/१० पर द्रष्टव्य है।

३. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**स्वरूपाः**" पाठ है, मूलग्रन्थ के अनुसार "**सरूपाः**" वांछनीय है।

४-५. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० में ये अपपाठ हैं—"**जुषमाणो नुशेते**" "**अजोन्यः**"। तदनुसार द्विप्र० में अशुद्ध छपे हैं। **कारिका का पदार्थ**—(लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्) रज, सत्त्व और तम-आत्मक, (सरूपाः बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्) त्रिगुणात्मक समानरूप वाली नानाविध जड़-चेतन सृष्टि का निर्माण उपादान कारण के रूप में करनेवाली (एकाम्) एक मात्र (अजाम्) कभी उत्पन्न न होने के कारण जो अजन्मा, अनादि प्रकृति है उसको (एकः अजः) एक अजन्मा, अनादि अर्थात् जीवात्मा (जुषमाणः-अनुशेते) सेवन करते हुए उसमें लीन हैं। (अन्यः अजः) दूसरा अजन्मा, अनादि अर्थात् परमेश्वर (एनां भुक्तभोगां जहाति) जीवात्मा द्वारा भोग की जाती हुई इस प्रकृति को नहीं भोगता है, त्यागभाव से इसमें रहता है॥

६. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यह अपपाठ बनाया है—"**जन्म कभी नहीं होता और कभी ये जन्म नहीं लेते।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर में यही अपपाठ है।

७-८. **अप-उद्धरण पाठ**—अयोग्य मुद्रणलिपिकर ने ये अशुद्ध पाठ लिखे हैं—"**.....मिन्दियं**" "**स्थूलाभूतानि**"। द्विप्र० में "**....मिन्द्रयं**" "**स्थूलाभूतानि**" अशुद्ध हैं। द्वि०सं० में संशोधन कर दिया है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध हैं। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

९. **अपवर्तनी**—तीनों सं० में यहां पदार्थ में "**तमः**" पद अपवर्तनी है। यहां उद्धरण का मूल पद "**तमसाम्**" अपेक्षित है।

१०,१२-१५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः "**वस्तुयें**" "**तन्मात्रा**" "**प्रकृति का कार्य**" "**इन्द्रियां**" "**भूतों का**" अपप्रयोग हैं। उपर्युक्त पाठ व्याकरणानुसार संशोधित हैं। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग हैं।

११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमादवश त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**अहंकार**" पद मुद्रणलिपिकर से त्रुटित रह गया है।

प्रश्न—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्॥ १॥" [छान्दोग्य-उप०, अ० ६। खं० २। मं० १]

"असद्वा इदमग्र आसीत्॥ २॥" [तैत्ति० उप०, ब्रह्म० वल्ली। अनु० ७]

"आत्मा-वा-इदमग्र आसीत्॥ ३॥" [बृह० उप०, अ० १। ब्रा० ४। कं० १]

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्॥ ४॥" ये उपनिषदों के वचन हैं [बृह० १।४।१०, ११]॥

हे श्वेतकेतो! यह जगत् सृष्टि के पूर्व—१. सत् २. असत् ३. आत्मा और ४. ब्रह्मरूप था। पश्चात्—

"तदैक्षत बहु[१] स्यां प्रजायेयेति॥ १॥" [छान्दोग्य-उप०, अ० ६। खं० २। मं०३]

"सोऽकामयत बहु[२] स्यां प्रजायेयेति॥ २॥"

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है [ब्रह्म० वल्ली। अनु० ६]॥

वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है॥ १-२॥

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥ ३॥"

यह उपनिषद् का वचन है [निरालम्बोपनिषद् ११]॥

जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं, किन्तु सब ब्रह्मरूप है॥ ३॥

उत्तर—क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो? क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में—

सोम्यान्नेन[३] शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिस्सोम्य[४] शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य[५] शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः[६] प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥

छान्दोग्य उपनिषद् [अ० ६। खं० ८। मं० ४]॥

'हे श्वेतकेतो! अन्नरूप पृथिवी-कार्य से 'जलरूप' मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से 'तेजोरूप' मूल और तेजोरूप कार्य से 'सद्रूप' कारण जो नित्य प्रकृति है, उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल, घर और स्थिति का स्थान है।' यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, आत्मा=ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था।[७]

१-२. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**बहुः**" विसर्गान्त प्रयोग अशुद्ध हैं, उपनिषदों के मूलपाठों के अनुसार, विसर्गरहित पाठ शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी सं० में विसर्गयुक्त अशुद्ध पाठ है।

३-५. **भ्रष्ट उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में "**अन्नेन सोम्य**" अपपाठ है। यह मूलग्रन्थ में "**सोम्यान्नेन**" है। मूलसं० में शुद्ध कर लिया है। इस उद्धरण में पठित "**सोम्यशुंगेन**" पद द्विप्र० में तीनों स्थलों पर "**सोम्पशुंगेन**" भ्रष्ट पाठ है। द्वि०सं० में संशोधित है। अब अन्य सभी पाठों में संशोधित है।

६. **त्रुटित उद्धरण पद**—सभी सं० में मूल उद्धरण का "**सर्वाः**" पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में ग्रहण कर लिया है।

७. **मुद्रणप्रति में भ्रष्ट हुए सिद्धान्तविरुद्ध पाठ की समीक्षा**—मूलहस्तलेख में "**यह सब जगत्.....न था**" वाक्य का उपर्युक्त पाठ संस्कृत पाठ के अनुसार, पूर्व प्रकरणानुकूल और ऋषि के सिद्धान्तानुकूल था। यही ठीक पाठ मुद्रण-हस्तलेख में लिपिकर ने भी लिखा था। शोधन-समय किसी शोधक ने ऊपर "**आत्मा**" के स्थान पर "**और जीवात्मा**" पद लिख दिये। तब यह पाठ इस प्रकार गड़बड़ा गया—"**यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।**" अब इसका पूर्व प्रकरण और सिद्धान्तविरुद्ध यह अप-अर्थ बना कि 'जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश था और जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति अर्थात् दोनों में लीन होकर वर्तमान था।' पहला तथ्य तो यह है कि जगत् जीवात्मा में कभी

लीन नहीं होता, यह ऋषि के सिद्धान्तविरुद्ध कथन है। दूसरा, **संस्कृतभाषा में कोई ऐसा पद नहीं है जिसका यह अर्थ बने।** तीसरा, इस वाक्य में इस अर्थ का भी संदेह होता है कि जीवात्मा ब्रह्म और प्रकृति में लीन हो जाता है। ये दोनों ही संभावित व्याख्याएं ऋषि के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं; क्योंकि जीवात्मा को ब्रह्म में लीन मानना नवीन वेदान्तियों का मन्तव्य है और प्रकृति में जीवात्मा को मानना चार्वाक का मन्तव्य है। इन दोनों ही मन्तव्यों का ऋषि ने यथा-प्रसंग खण्डन किया है। फिर भी अपपाठ है, तो इसका अर्थ यह है कि कहीं-न-कहीं पाठ में कोई गड़बड़ हुई है।

हस्तलेखों का मिलान करने से पता चलता है कि यह गड़बड़ **मुद्रणहस्तलेख** में हुई है। महर्षिप्रोक्त मूलहस्तलेख के वाक्य की बहुत ही सटीक संगति बनती है। पूर्व में वेदान्ती की ओर से 'जगत् और ब्रह्म' की एकता का प्रसंग है और साथ ही संस्कृत-प्रमाण के अनुवाद में प्रकृति की चर्चा है और साथ ही 'ब्रह्म' का प्रसंग है, जिसे 'आत्मा' पर्याय से भी उद्धृत किया है। अतः यहां प्रकरणोक्त '**आत्मा**' संज्ञा और '**ब्रह्म**' का पर्याय रूप में प्रयोग करके तथा 'सत्' का 'ब्रह्म' अर्थ के साथ-साथ व्यापक अर्थ में 'प्रकृति' अर्थ भी ग्रहण करते हुए महर्षि ने वाक्य बोला था जिसका स्पष्ट अर्थ था कि 'जगत् सृष्टि के पूर्व आत्मा अर्थात् ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।' वाक्यान्त में ''**अभाव न था**'' पाठ यह संकेत देता है कि ग्रन्थकार यहां जगत् की प्रलयकालीन अवस्था को बता रहे हैं। यही शास्त्रीय और ऋषि का सिद्धान्त है। यही ''**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**'' संस्कृत-वचन का सही अर्थ है। मूलप्रति सं० ने मूलहस्त० के युक्तियुक्त पाठ की उपेक्षा करके मुद्रणहस्त० के पाठ के मोह में पड़कर, अपना पाठ व्यर्थ ही सिद्धान्तविरुद्ध बना लिया। इस सं० में मूलहस्त० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्रहण किया है, वही ग्राह्य है। द्विप्र०, द्वि०सं० में मुद्रणहस्त० का अपपाठ ही है। वही सिद्धान्तविरुद्ध अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में पाया जाता है, अतः उनका पाठ अग्राह्य है।

उदयपुर सं० का महर्षिविरुद्ध, निन्दायुक्त और अशुद्ध उत्तर—उत्तर देने वाले चार लेखकों में से **पहले लेखक** इस आपत्ति का कोई उत्तर नहीं दे सके। **दूसरे लेखक** ने पत्रिका की लघुतम मुद्रण-अशुद्धि के बहाने मुझ पर 'पाठकों के साथ धोखा करने' जैसा पर्वत-सदृश आरोप जड़कर खुशफहमी का अनुभव कर लिया। इनका कहना है कि 'पाठ बिल्कुल शुद्ध है', ''असत् के सदृश'' के बाद विराम था जो नहीं लगाया जबकि मुद्रणह०, द्विप्र० में विराम नहीं है। इनको मैं बताना चाहता हूँ कि उदयपुर सं० में यहां विराम के लगाने से भी अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन्होंने इसका अर्थ ही स्पष्ट नहीं किया। शायद, इनको स्वयं समझ नहीं आया, अतः केवल 'शुद्ध है' कहकर पीछा छुड़ा लिया। आश्चर्य देखिए, पत्रिका में स्वयं इनके वाक्य में ''**जीवात्मा**'' पद के बाद अल्पविराम नहीं है, जबकि उदयपुर सं० में अशुद्ध रूप से है। उसकी चर्चा इन्होंने नहीं की, क्योंकि वह इनकी गलती है। **तीसरे लेखक** ने प्रतिज्ञाविरुद्ध शैली में तालिका प्रस्तुत करके दर्शाया कि सभी सम्पादकों ने इसी पाठ को ग्रहण किया है। इस लेखक महोदय ने भी मुझ पर व्यंग्य करते हुए 'सत्यार्थप्रकाश' की 'अस्मिता' बचाने का ऋषिभक्तों से आह्वान किया। अर्थात् हम तो ऋषिभक्त नहीं हैं, ये स्वयं और इनके पसन्दीदा लोग ही ऋषिभक्त 'अवतार' हैं! और विडम्बना देखिए, आठ-सौ से अधिक घोषित रूप से तथा बारह सौ के लगभग अघोषित रूप से, कुल २००० परिवर्तन करके इन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' की 'अस्मिता' नहीं लूटी क्या? दश विद्वत् समिति के और पांच-छह अन्य विद्वानों की लॉबिंग करके भी इनका काम नहीं चला, अब औरों से भी गुहार लगा रहे है!! ये है इनकी पक्षपातपूर्ण सोच और भड़काने की कुत्सित प्रवृत्ति! लेखक महोदय! ऋषिभक्ति को तो आप लोग स्वयं तिलांजलि दे रहे हैं, मूलहस्त० के ऋषिप्रोक्त और ऋषि-संशोधित शुद्ध पाठों को तिरस्कृत करके!

चौथे लेखक के संस्कार ही कुछ ऐसे हैं कि उनका अधिकतर लेखन अहंकार-प्रदर्शन और दूसरे की निन्दा में व्यय हो जाता है। जो उत्तर है वह अस्पष्ट है और वह इनकी शब्दावली से नहीं स्पष्ट होता। उनका उत्तर केवल अपनी ओर से कल्पित होता है। उनका उत्तर कई कारणों से अशुद्ध है—१. 'जगत् और जीवात्मा ब्रह्म में लीन थे' यह अर्थ इस कारण नहीं बनता कि सारा वाक्य एकवचनात्मक है। यदि दोनों पदार्थों का कथन ग्रन्थकार को अभीष्ट होता तो क्रियाओं में बहुवचन होता। २. 'जीवात्मा ब्रह्म में लय होता है' आपका यह अर्थ असंगत है क्योंकि प्रसंग 'जगत् और ब्रह्म की एकता' का है। अर्थ में भी जगत् और प्रकृति की चर्चा है। इस कारण भी आपका अर्थ नहीं बनता क्योंकि उदयपुर सं० में ''जीवात्मा'' के बाद अल्पविराम है, जिसने ब्रह्म के साथ संगति भंग करके 'ब्रह्म और प्रकृति' से संगति जोड़ दी है। ३. छान्दोग्य-उपनिषद् के संस्कृत प्रमाण और उसके अर्थ से आपके द्वारा कपोलकल्पित अर्थ व्यक्त नहीं होता। अतः उनका उत्तर किसी भी दृष्टि से ग्राह्य नहीं है।

ये कैसे ऋषिभक्त हैं?—अपनी गलती से बौखलाये उदयपुर सं० के लेखकों को इतना भी ध्यान नहीं रहा कि वे मेरी नहीं अपितु ऋषि दयानन्द की निन्दा कर रहे हैं। मैं तो यह कह रहा हूँ कि '**मुद्रणप्रति में पाठ गड़बड़ाया है, आप मूलहस्त० के शुद्ध पाठ को ग्रहण कीजिए**' और मूलहस्त० निर्विवाद रूप से महर्षिप्रोक्त है। **इस पाठ में मेरा तो एक भी शब्द नहीं है। मैं महर्षिप्रोक्त पाठ का पक्ष ले रहा हूँ और उदयपुर सं० के लेखक उस पाठ की आलोचना, निन्दा में पृष्ठ काले कर रहे हैं।** पाठकगण! आप ही बताइये कि उनकी आलोचना-निन्दा किसके लिए हुई? ऋषि की शुद्ध शब्दावली को भी जो लोग इतने दुराग्रही और असहनशील होकर तिरस्कृत कर सकते हैं, वे मेरी तो क्या मानेंगे? आप ही बतायें कि 'सत्यार्थप्रकाश की अस्मिता' को कौन लूट रहा है? ऊपर से धृष्टता देखिए कि ये स्वयं पाठपरिवर्तन कर रहे हैं किन्तु आरोप दूसरों पर लगा रहे हैं! इन ऋषि-विरुद्ध

और जो ''**सर्वं खलु०**'' यह वचन [है यह][१] '**कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुटबाँ[२] जोड़ा**' ऐसी लीला का है। क्योंकि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत॥ छान्दोग्य०[उप०, प्र० ३। खं० १४। मं० १] और ''**नेह नानास्ति किंचन॥**'' कठोपनिषद् का वचन है। [कठोप०२। ४। ११]॥

जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं, तब तक काम के [होते हैं][३] और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही **प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक [होते हैं][४] और प्रकरण से अलग करने वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं।** सुनो! इनका[५] अर्थ यह है—

'हे जीव! तू उस ब्रह्म की उपासना कर, जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय[६] होते हैं; जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है, वा ब्रह्म से सहचरित है, उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी [चाहिये]'।[७] इस चेतनमात्र, अखण्डैकरस ब्रह्मस्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है, किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं।

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं?

उत्तर—तीन। एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। '**निमित्त कारण**' उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने; आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर [रूप में] बना देवे। दूसरा—'**उपादान कारण**' उसको कहते हैं जिसके विना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी। तीसरा—'**साधारण कारण**' उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।

उत्तरों को गर्व के साथ प्रकाशित-वितरित करने वाला 'सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर' ऋषि-पाठों की निन्दा-आलोचना करके किस मुंह से स्वयं को सत्यार्थप्रकाश और ऋषि-हितैषी कह सकता है? पाठक प्रत्येक झूठ और चाल को समझने में समर्थ हैं।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उपयुक्त वाक्यरचना हेतु '**है यह**' पद-परिवर्धन आवश्यक है।

२. **कुटबाँ**=कुटुम्ब का अपभ्रंश रूप है अर्थात् कुनबा, परिवार। मूलह० में यह ''**कुटुबां**'' पढ़ा जा रहा है, जबकि मुद्रणह० में ''**कुड़वा**'' लिखा है। '**कुटबां**' या '**कुटुबां**' ही होना चाहिए।

३-४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर वाक्यपूर्ति के लिए आवश्यक क्रिया नहीं है। दोनों ही स्थानों पर बृहत् कोष्ठकान्तर्गत स्वतन्त्र क्रियाप्रयोग परमावश्यक है।

५. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, दोनों ही द्वि० सं० में ''**इसका**'' अपप्रयोग है। दो उद्धरण होने के कारण बहुवचन अपेक्षित है।

६. **अपअर्थ**—मूलसं०, मुद्रणह० और दोनों द्वितीय सं० में यहां ''**जीवन होता है**'' पाठ है। पूर्वपठित ''**स्थिति**'' पद से जीवन का ग्रहण स्वत: हो जाता है। यहां अवशिष्ट तीसरे कर्म '**प्रलय**' का प्रयोग वांछित है। मूलह० में यह पद नहीं है। 'जीवन' के स्थान पर 'प्रलय' पद होना चाहिए। इसकी पुष्टि उपनिषद् के वचन से भी होती है। उसमें ''**तज्जलान्**'' पद में तीनों अर्थ निहित हैं। इसमें पठित '**ज**' का अर्थ है 'उत्पत्तिकर्त्ता', '**ल**' का 'प्रलयकर्त्ता', '**अन्**' का 'जीवन धारण कराने वाला'। सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में इन तीन कार्यों का वर्णन सर्वत्र मिलता है। पृ० ४०१ पर ''**उत्तर-नहीं, जैसे दिन के.....**'' से आरम्भ अनुच्छेद में भी यही अशुद्धि शोधक के द्वारा हो गई थी। द्वि०सं० और मूलप्रति सं० में वहां संशोधन कर लिया है। उसी प्रकार यहां भी संशोधन अभीष्ट है। द्र० पृ० ४०१ पर टि० ४ भी। वेस के मूल में, युमी में टिप्पणी में संशोधित है। भद, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

संशोधन की पुष्टि—यहां प्रस्तावित संशोधन की पुष्टि ऋषि द्वारा अन्यत्र कृत एक अर्थ से हो जाती है—''**तज्जलान्-इति ब्रह्म,**'' '**तज्ज**' नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, '**तल्ल**' नाम उसी में सब लय होता, '**तदन्**' नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है....अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं।'' (वेदविरुद्धमत-खण्डन, लघु ग्र०सं० पृ० ३२-३३) संशोधन से ऋषि के पाठों में परस्पर एकरूपता भी बन जाती है।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**चाहिये**'' क्रिया अपेक्षित है। क्रिया के बिना वाक्य अपूर्ण है।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं।[१] एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाला '**मुख्य निमित्त कारण**' **परमात्मा**। दूसरा—परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर [रूप] बनानेवाला '**साधारण निमित्त कारण**' **जीव**।

उपादानकारण—'प्रकृति', 'परमाणु', जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं, वह जड़ होने से आपसे-आप न बन और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और दूसरे के बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है। जैसे, परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। **परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है।**

[**साधारण कारण—**] जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात् ज्ञान, दर्शन,[२] बल, दिशा, काल और आकाश आदि निराकार, हाथ और नाना प्रकार के साकार साधन[३] आदि[४] '**साधारण**[५] **कारण**' [हैं][६]।

जैसे, घड़े को बनानेवाला कुम्हार निमित्त; मिट्टी उपादान; और दण्ड, चक्र आदि सामान्य निमित्त; दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आंख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि निमित्त 'साधारण' और 'निमित्त कारण' भी होते हैं। इन तीन कारणों के विना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती [है]।[७-८]

प्रश्न—नवीन वेदान्ती[९] केवल परमेश्वर को ही जगत् का '**अभिन्न-निमित्तोपादान कारण**'[१०]

---

१. **उचित संशोधन एवं त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**दो हैं**" के स्थान पर उपर्युक्त संशोधन है। आगे '**रूप**' पद का परिवर्धन अभीष्ट है। जैसे पृ० ३८१/३ में "**अवस्थान्तरयुक्त**" पूर्ण प्रयोग है।

२. **दर्शन**=ईक्षण, (द्र० अगले पृ० ३८१/१६ पर—"**ईक्षण अर्थात् दर्शन, विचार और कामना।**"

३. **उचित संशोधन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**औजार**" पद के स्थान पर "**साधन**" मुद्रण-समय में परिवर्तन किया है। दर्शन विषय में "**साधन**" पारिभाषिक पद ही अधिक ग्राह्य है। मूलह०, मूलसं, मुद्रणह० में "**औजार**" कारीगरी-सम्बन्धी सीमितार्थकपद है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन तथा त्रुटित पाठ**—मूलह० के ठीक और व्यवस्थित पाठ को मुद्रणलिपिकर ने परिवर्तन के प्रवाह में अव्यवस्थित कर दिया। यहां अव्यवस्थित रूप से '**साकार**' पद जोड़कर यह पाठ बनाया—"**नाना प्रकार के साधन आदि साकार और आकाश आदि साधारण**"। यहां परिवर्तन के चक्कर में "**और दिशा, काल**" पद प्रमादवश छोड़ दिये। यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में है। द्वि०सं० में दोनों का संशोधन कर दिया है। मूलह०, मूलसं० का पाठ शुद्ध किन्तु अव्यवस्थित क्रम में है। सभी सं० में त्रुटित पाठ को ग्रहण कर लिया है किन्तु क्रम अव्यवस्थित है। इस शोध सं० में व्यवस्थित क्रम देकर पाठ को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है।

५. **मुद्रणकालीन अपविराम**—द्विप्र० में "**साधारण कारण**" एक शब्द के मध्य में "**साधारण**" पद के बाद पूर्णविराम है, जो विराम का भ्रष्ट रूप है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। पूर्वापर दोनों वाक्य गड्ड-मड्ड हैं।

६-७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—क्रमशः दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया और मूलप्रति सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है।

८. **सृष्टि-उत्पत्ति में साधारण कारण**—यहां साधारण कारण के उदाहरणों में मनुष्यकृत पदार्थों के उदाहरण दिये गये हैं। परमात्मा द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति करने में उसके ज्ञान, बल, क्रिया, दर्शन=ईक्षण आदि 'साधारण कारण' होते हैं। जब हम दिशा, काल, आकाश को अनादि मान लेते हैं (पृ० ३८५/१३) तो वे भी साधारण कारण के अन्तर्गत आ जाते हैं। ग्रन्थकार सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित तीन कारणों पर प्रकाश डालते हैं—"**जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है।**" यहां सृष्टि-उत्पत्ति में काल और आकाश साधारण कारण माने हैं।

९. **अयोग्य लिपिकरकृत अपवर्तनी**—दोनों हस्तलेखों में अयोग्य लिपिकरों ने "**वेदान्ति**" अपवर्तनी लिखी है। वही द्विप्र० में छपी

मानते हैं—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।" यह उपनिषद् का वचन है [मुण्डक-उप० १। ख० १। मं० ७]

जैसे मकड़ी[१] बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने में से ही तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है, वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना, आप जगदाकार बन, आप ही क्रीडा कर रहा है। सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि 'मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊं', [इस][२] सङ्कल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया। क्योंकि[३]—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि[४] तत्तथा॥

यह माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका है [माण्डूक्योपनिषत्कारिका, वैतथ्याख्य प्रकरण २।६, अलातशान्ताख्य प्रकरण ४।३१]

जो प्रथम न हो, अन्त में न रहै, वह वर्तमान में भी नहीं है। किन्तु सृष्टि के आदि में [अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व] जगत् न था, ब्रह्म था। प्रलय [अर्थात् सृष्टि के] अन्त में संसार न रहेगा,[५] और केवल

है। वही अशुद्धि आज भी द्वि०सं० में भी छप रही है। मूलसं० तथा अन्य सभी सं० ने संशोधन कर लिया है।

१०. **अभिन्न निमित्तोपादान कारण**—सृष्टि की रचना में जो स्वयं निमित्तकारण भी है और उपादान कारण भी है अर्थात् जो उपादान से अभिन्न है। जैसे, मकड़ी जाले का निर्माण करती है। मकड़ी ही जाला बनाने में निमित्त कारण है, वही उपादान कारण है, क्योंकि अपने ही अंश से जाले का निर्माण करती है। इसी प्रकार परमात्मा अपने सामर्थ्य रूप उपादान कारण से सृष्टि रचना करता है, अतः सब सृष्टि ब्रह्म का रूप है। नवीन वेदान्त में इस विचार को '**अभिन्न निमित्तोपादान कारण**' कहते हैं। यह नवीन वेदान्तियों का सिद्धान्त है।

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—ग्रन्थ में "**मकड़ी**" शब्द की वर्तनी में लिपिकरकृत बहुत अव्यवस्था है। कहीं "**मकड़ी**" तो कहीं "**मकरी**" है। अन्य सब पाठों में यहां तथा अगले पृष्ठ पर "**मकरी**" वर्तनी है। द्वि०सं० में अगले पृष्ठ पर "**मकरी**" है और यहां "**मकड़ी**" है। एकरूपता के लिए सर्वत्र "**मकड़ी**" वर्तनी ग्रहण की है। यही वर्तनी हिन्दी-व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है क्योंकि '**मकरी**' तो '**मकर**' का स्त्रीलिंग है और उसका अर्थ '**मादा मकर**' होता है जबकि "**मकड़ी**" '**मर्कटी**' और '**मर्कटक**' संस्कृत-शब्दों के अपभ्रंश हैं, अतः इनमें '**ड़**' ही प्रयुक्त होगा।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पूर्णवाक्य हेतु '**इस**' पद अपेक्षित है।

३. **अपविराम मुद्रणलिपिकरकृत**—मुद्रणप्रति में लिपिकर ने "**क्योंकि**" पद के बाद पूर्णविराम लगाया है, जो विराम का भ्रष्ट रूप है। वही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में संशोधित है। अन्य पाठों में शुद्ध है।

४. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्तलेखों में यह अपपाठ लिखा है—"**वर्तमानेपि**"। द्विप्र० में अशुद्ध पाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

५. **अप अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पाठ अस्त-व्यस्त होकर भ्रष्ट हो गया है। उपलब्ध पाठ है—"**किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, ब्रह्म था। प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा....**"। यहां "**सृष्टि की आदि**" और "**प्रलय का अन्त**" दोनों का एक ही अर्थ है, अतः उपयुक्त अर्थ नहीं बनता। कारिका के '**आदौ-अन्ते च**' पाठ के अनुसार, यहां उपुर्यक्त पाठ संशोधन जो बृहत् कोष्ठक में दिया गया है, अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा अशुद्ध अर्थबोध होगा। अग्रिम पृष्ठ पर भी ऐसे ही कुछ पाठ अस्त-व्यस्त हैं। टिप्पणी सं० १२, पृ० ३८२ पर द्रष्टव्य है तथा संशोधित भाषा की पुष्टि के लिए आगे इसी कारिका का अर्थ सम्बन्धी पाठ भी पृ० ३८१ पर द्रष्टव्य है। एकरूपता के लिए "**सृष्टि के आदि**" ऋषिसम्मत पाठ ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में भ्रष्ट पाठ है। उदयपुर सं० ने भी भ्रष्टपाठ ही ग्रहण कर लिया।

संशोधन-पुष्टि—इसी भाव को प्रकट करने के लिए आगे भी प्रकरण है। उसकी भाषा शुद्ध-स्पष्ट है, देखिए—"**यह सब जगत् सृष्टि के पहले=प्रलय में अन्धकार से आवृत था और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है।**" (पृ० ३८२/५ पर "**आसीदिदं तमोभूतम्**" के अर्थ में) पृ० ३८१, पंक्ति २० में भी यथावत् भाषारचना देखिए—"**सृष्टि के आदि अर्थात् प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी बार सृष्टि न होगी।**"

ब्रह्म रहेगा तो[१] वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?

उत्तर—जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् [का][२] उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त, विकारी हो जावे; और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में भी आते हैं—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥

वैशेषिकसूत्र [अ० २। आ० १। सू० २४] ॥

उपादानकारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं; तो ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप [और] जगत् कार्यरूप से असत्, जड़ और आनन्दरहित [है];[३] ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है; ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है; ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवें, तो पृथिव्यादि कार्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें; अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसे[४] ब्रह्म भी जड़ हो जाय और जैसे[५] परमेश्वर चेतन है, वैसे[६] पृथिव्यादि 'कार्य' भी चेतन होने चाहियें। और जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया, वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है; क्योंकि वह जड़रूप-शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्तकारण है। और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है, क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से [कोई][७] जीव-तन्तु नहीं निकाल सकता।[८] वैसे ही व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर,[९] बाहर स्थूलरूप कर, आप उसी में व्यापक रहके साक्षीभूत [और][१०] आनन्दमय हो रहा है।

और जो परमात्मा ने **'ईक्षण'** अर्थात् दर्शन, विचार और कामना की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊं, अर्थात् जब जगत् उत्पन्न होता है तभी जीवों के विचार, ज्ञान, ध्यान, उपदेश-श्रवण[११] में परमेश्वर प्रसिद्ध और बहुत स्थूल पदार्थों से सह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है तब परमेश्वर और मुक्त जीवों को छोड़के उसको कोई नहीं जानता।

और जो वह कारिका है वह भ्रममूलक है; क्योंकि सृष्टि के आदि[१२] अर्थात् प्रलय में[सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व] जगत् प्रसिद्ध नहीं था और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी वार सृष्टि

---

१. **मुद्रणसमय त्रुटित पाठ**—द्विप्र०, परोप० ३-१५, द्वि०सं० में यह वाक्य त्रुटित है—''**और केवल ब्रह्म रहेगा।**'' पूर्व वाक्य में ''**ब्रह्म था**'' के सम्बन्ध से यह वाक्य पठित है जो मूलह०, मुद्रणह० और मूलसं० में है। **भद** को छोड़कर सभी सं० में गृहीत है।

२-३. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में ''**का**'' पद त्रुटित है। अन्य सभी पाठों में है, दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है।

४-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में तीनों स्थानों पर '**वैसा, जैसा, वैसा**' अपप्रयोग हैं। यहां '**वैसे, जैसे, वैसे**' चाहिएं।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अर्थ-स्पष्टता के लिए '**कोई**' पद अपेक्षित है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ और ऋषिहस्तलेख**—मूलह० में यह पाठ है—''**और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है, क्योंकि अन्य जीव-जन्तु अपने शरीर से तन्तु नहीं निकाल सकता।**'' मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में इसको त्रुटित छोड़ दिया। ऋषि ने मुद्रणप्रति में अनुमान से जो पाठ लिखा वह उपर्युक्त है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह रचनात्मक अपपाठ है—''**ब्रह्म ने.....स्थूल जगत् को बनाकर.....हो रहा है।**'' वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है। यहां ''**ने**'' कारक प्रयोग अशुद्ध है।

१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां '**और**' विभाजक प्रयोग अपेक्षित है, क्योंकि बिना '**और**' पद के प्रयोग किये ''**साक्षीभूत**'' प्रयोग ''**आनन्दमय**'' का विशेषण प्रतीत होता है, जबकि ये दोनों ब्रह्म के स्वतन्त्र विशेषण हैं।

११. **मुद्रणकालीन अपविराम**—द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर में ''**उपदेश, श्रवण**'' इन शब्दों के बीच में अल्पविराम अशुद्ध है।

१२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि एवं भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मूलसं० के उक्त पाठ को द्विप्र० और द्वि०सं० में त्रुटित छोड़

न होती तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है। क्योंकि—

"तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑॥ १॥" यह ऋग्वेद का वचन है [म० १०। सू० १२९। मं० ३]।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ २॥ मनु० [१।५]॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहले=प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय न किसी के जानने,[१] न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त, न इन्द्रियों से जानने योग्य था, और न होगा; किन्तु वर्तमान में जाना जाता है [अर्थात्][२] प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता [है][३] और यथावत् उपलब्ध है॥[४] १-२॥

पुनः उस कारिकाकार ने वर्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा, सो सर्वथा अप्रमाण है; क्योंकि जिसको 'प्रमाता' प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा कभी नहीं हो सकता।[५]

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है?

प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—ये आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थियों[६] की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है? [वे तो] प्रलय में 'निकम्मे'[७] अर्थात् जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं। जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुना अधिक होता है और बहुत-से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य-कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्योंकर भोग सकते? जो तुमसे कोई

दिया—"**सृष्टि की आदि अर्थात्**"। यह गड़बड़ मुद्रण-लिपिकर के कारण हुई है। मुद्रण-लिपिकर प्रमाद से "**आदि**" पद को छोड़कर यह लिख गया—"**सृष्टि की अर्थात् प्रलय में**"। मुद्रणसमय प्रूफ देखते समय संगति नहीं लगी तो शोधक ने "**सृष्टि की अर्थात्**" पदों को ही हटा दिया। इन पदों को हटा देने पर एक कथन का अभाव हो गया और प्रलय का ही कथन दो बार हो कर भ्रष्टपाठ बन गया। यह पूर्वोक्त "**आदावन्ते च**" कारिका की समीक्षा है, अतः यहां आदि और अन्त का अर्थ अवश्य आना चाहिए। इस प्रकार द्विप्र०, द्वि०सं० का अपूर्ण-अशुद्ध पाठ अग्राह्य है। उपर्युक्त पाठ बृहत् कोष्ठकान्तर्गत संशोधन के साथ ग्राह्य है, क्योंकि सृष्टि की आदि का अर्थ यहां '**सृष्टि-उत्पत्ति का पूर्व काल और प्रलय का अन्तसमय**' वेदान्त में स्वीकृत है। वेस, जग और भद में इस पाठ को सुधार लिया है किन्तु युमी और उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणहस्त० में प्रमादवश लिपिकर ने "**किसी ने जानने**" अपपाठ लिखा है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं० में संशोधित है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**अर्थात्**', '**है**' पद अपेक्षित हैं।

४. **आधारभूत मन्त्र**—महर्षि मनु ने वेदमन्त्र के भाव को ही अपने श्लोक में वर्णित किया है। इसका आधारभूत मन्त्र पृष्ठ ३७२ पर द्रष्टव्य है इसी समु० के आरम्भ में—"**तम आसीत् तमसा.....।**" (ऋग्वेद १०.१२९.३)।

५. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**क्योंकि जिसको.....नहीं हो सकता**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलप्रति सं० में वहीं से गृहीत है। इसमें "**प्राप्त होता है**" के स्थान पर "**प्राप्त करता है**" पाठ अभीष्ट है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनान्त "**यह**" "**पुरुषार्थी**" अपप्रयोग है। "**दरिद्र लोगों**" और "**बातें**" बहुवचन-पाठ के सम्बन्ध से यहां भी बहुवचन अभीष्ट है। बहुवचनान्त "**पुरुषार्थियों**" शुद्ध है।

७. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—"**प्रलय में.....रहते हैं**" वाक्य सभी सं० में "**आनन्द को प्राप्त होते हैं**" पाठ के पश्चात् है। यह इस वाक्य से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि यह "**सुख-दुःख है?**" प्रश्न का उत्तर है। **निकम्मे** अर्थात् निष्क्रिय।

पूछे कि आँख के होने में क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे कि 'देखना'; तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन[है] ? विना जगत् की उत्पत्ति करने के दूसरा कुछ भी न कह सकोगे। और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं कि जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति,[१] स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने से ही सफल है। **जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।**

प्रश्न—बीज पहले है वा वृक्ष?

उत्तर—बीज; क्योंकि बीज, हेतु, निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है।

प्रश्न—जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता?

उत्तर—**सर्वशक्तिमान्** शब्द का अर्थ पूर्व लिख आये हैं।[२] परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके? जो असम्भव बात अर्थात् जैसे[३] कारण के विना कार्य को कर सकता है, तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं? जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसे[४] अग्नि ऊष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता। जैसे आप जड़ नहीं हो सकता, वैसे जड़ को चेतन भी नहीं कर सकता। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं, इसलिये परिवर्तन नहीं कर सकता।[५] इसलिये **'सर्वशक्तिमान्' का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी के सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है।**[६]

प्रश्न—ईश्वर साकार है वा निराकार? जो निराकार है तो विना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और जो साकार है तो कोई दोष नहीं आता।

उत्तर—ईश्वर निराकार है; जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है वह ईश्वर ही नहीं, क्योंकि जो परिच्छिन्न [स्वरूप],[७] परिमित शक्तियुक्त, देश-काल-वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा-तृषा, छेदन-भेदन, शीत-उष्ण,

---

१. **अपविराम**—द्विप्र० में "**जगत् की उत्पत्ति**" पाठ में "**की**" के बाद अपविराम अशुद्ध है।

२. **अन्यत्र उल्लेख**—सर्वशक्तिमान् का अर्थ द्रष्टव्य है—पृ० ४८, ३२६, ३८३, ९६० पर।

३,४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर यहां '**जैसा**' अपप्रयोग है, "**जैसे**" पद अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से "**जैसे आप जड़.....नहीं कर सकता**" पाठ त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, जग, विस, जस, उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

६. **ऋषिहस्तलेख**—"**इसलिये सर्वशक्तिमान्.....कर सकता है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमादवश त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**परिच्छिन्न**" पद त्रुटित है। साकार के लिए यह विशेषण बहुत आवश्यक है, इससे '**परिच्छिन्न स्वरूप**' अर्थ अभिप्रेत है। यह मुद्रणलिपिकर से छूटा है और सभी द्वि०सं० में यह पद त्रुटित है। हो सकता है मुद्रणलिपिकर ने भ्रान्तिवश भी हटाया हो, अगले पाठ "**देश-काल-वस्तुओं में परिच्छिन्न**" देखकर। लिपिकर दोनों कथनों के गम्भीर अर्थ का अन्तर नहीं समझ पाया। वह यह है कि साकार का अपना नित्यस्वरूप भी परिच्छिन्न होगा और मूर्ति आदि वस्तुओं में भी तदाकार परिच्छिन्न की स्थिति रहेगी और परिच्छिन्न स्थिति वाला पदार्थ विशालतम वस्तुओं का निर्माण, संचालन, प्रलय आदि नहीं कर सकता। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

ज्वर-पीड़ा-आदि सहित होवे, उसमें सिवाय जीव के,[१] ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम 'साकार' अर्थात् शरीरधारी हैं, इससे त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते और न उन सूक्ष्म पदार्थों को पकड़कर स्थूल बना सकते हैं;[२] वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता। जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक हस्त-पादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्तशक्ति, बल, पराक्रम हैं, वह उनसे सब काम करता है, जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है, तभी उनको पकड़कर जगदाकार कर देता है, और सर्वगत होने से सबका धारण और प्रलय भी कर सकता है।[३]

प्रश्न—जैसे मनुष्यादि के मा-बाप साकार हैं, उनके सन्तान भी साकार होते हैं, जो ये निराकार होते, तो इनके लड़के भी निराकार होते, वैसे परमेश्वर निराकार हो, तो उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिये?

उत्तर—यह तुम्हारा प्रश्न 'अविद्या के लड़के'[४] के समान है; क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं किन्तु निमित्तकारण है। और जो स्थूल होता है वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादानकारण है; और वे सर्वथा निराकार नहीं किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

प्रश्न—क्या कारण के विना परमेश्वर कार्य को नहीं कर सकता?

उत्तर—नहीं; क्योंकि जिसका 'अभाव' अर्थात् जो वर्तमान ही नहीं है, उसका 'भाव'=वर्तमान होना सर्वथा असम्भव है। जैसे[५] कोई गपोड़ा हाँक दे कि 'मैंने वन्ध्या के पुत्र और[६] पुत्री का विवाह देखा, वह नरशृङ्ग का धनुष [धारण किये था],[७] और वे दोनों खपुष्प की माला पहरे हुए थे, मृगतृष्णिका के जल में स्नान करते और गन्धर्वनगर में रहते थे, वहां बद्दल के विना वर्षा, पृथिवी के विना सब अन्नों की उत्पत्ति होती थी,' आदि[८]। वैसे ही कारण के विना कार्य का होना असम्भव है।

---

१. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मुद्रणकाल में द्विप्र०, द्वि० सं० में "**सिवाय**" पद के स्थान पर "**विना**" हिन्दी रूप रखा है। उससे अर्थ ही भिन्न हो गया है कि '**जीव के साथ मिलने पर ही ईश्वर के गुण घटित होंगे।**' यदि हिन्दी अनुवाद ही रखना था तो यहां '**अतिरिक्त**' पर्याय शुद्ध है। अन्य सभी पाठों में "**सिवाय**" पाठ है।

२-३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में "**और न उन.....बना सकते हैं**" तथा "**सर्वगत होने से.....सकता है**" दोनों पाठ त्रुटित हैं। द्विप्र०, वेस, जग, भद, युमी, जस, उदयपुर सं० में भी त्रुटित हैं।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इस वाक्य से "**अविद्या के**" पद हटाकर मुद्रण लिपिकर ने ग्रन्थकार की तीव्र अभिव्यक्ति को ही नष्ट कर दिया। '**लड़के के समान**' का अर्थ है '**अल्पमति के समान**' और "**अविद्या के लड़के के समान**" का अर्थ बनेगा—'**मूर्ख और अविचारशील के समान**'। यह मुहावरा है, जैसे, '**अविद्या की मूर्ति**' मुहावरा है। (समु० ११, पृ० ६६२/७) ग्रन्थकार ने ऐसे मुहावरे कई स्थानों पर प्रयुक्त किये हैं। अतः विशिष्ट भावबोधक होने से मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। सभी सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ है, अतः वह अपूर्ण है।

५-६. **अपप्रयोग एवं उचित संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसा**" अपप्रयोग है। मूलह० और मूलप्रति सं० में "**वन्ध्या के पुत्र और वन्ध्या की पुत्री**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित पाठ है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**धारण किये था**" क्रिया पद त्रुटित हैं। इनके बिना वाक्यरचना पूर्ण नहीं होती और न ही इस वाक्यपूर्ति हेतु आगे कोई क्रिया है।

८. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आदि**" पद "**उत्पत्ति**" के बाद अस्थान में है। यह "**होती थी**" के बाद सभी उदाहरणों के अन्त में उपयुक्त है क्योंकि यह उदाहरणों की विविधता का बोधक है।

जैसे, कोई कहे कि—"**मम मातापितरौ न स्तः, अहमेव जातः।**" "**मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च**"=अर्थात् 'मेरे माता-पिता न थे, वैसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूँ; मेरे मुख में जीभ नहीं है, परन्तु बोलता हूँ; बाम्बी में सर्प न था, निकल आया; मैं कहीं नहीं था, ये भी कहीं नहीं थे और हम सब जने आये हैं;' ऐसी असम्भव बात प्रमत्तगीत अर्थात् पागल लोगों की है।

प्रश्न—जो कारण के विना कार्य नहीं होता तो कारण का कारण कौन है?

उत्तर—जो केवल कारणरूप ही हैं, वे कार्य किसी के नहीं होते। और जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह दूसरा [कारण-कार्य] कहाता है; जैसे, 'पृथिवी' घट और[१] घर आदि का कारण और जल आदि का कार्य होता है, परन्तु जो आदिकारण प्रकृति है, वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्॥[२] सांख्यसूत्र [अ० १। सू० ६७]॥

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता।[३] इससे '**अकारण**' सब कार्यों का कारण होता है; क्योंकि किसी कार्य के आरम्भ-समय के पूर्व[४] तीनों कारण अवश्य होते हैं। जैसे, कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रूई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्तमान होने से वस्त्र बनता है; **वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है।** यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।

अत्र नास्तिका आहुः—

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति[५] वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य[६]॥ १॥ सांख्यसूत्र [अ० १। सू० ४४]॥
अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्[७] ॥ २॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में "**घट और**" प्रसिद्ध उदाहरण का पाठ त्रुटित है।

२. **सूत्रार्थ**—(मूले) मूल अर्थात् आदिकारण में (मूल-अभावात्) मूल अर्थात् उसके 'आदिकारण' का अभाव होने से (मूलम्) मूल=आदिकारण (अमूलम्) मूलरहित अर्थात् कारणरहित होता है। भाव यह है कि मूलकारण का कोई कारण नहीं होता।

३. **अपविराम**—मुद्रणसमय, द्विप्र० में "**नहीं होता**" के बाद प्रश्नवाचक चिह्न का प्रयोग अपविराम है।

४. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मूलह० और मुद्रणह० में "**किसी कार्य का आरम्भ समय के पूर्व**" अपपाठ है।

५. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**भावोपि नश्यति**" अपपाठ है। युमी, उदयपुर सं० में यही पाठ है।

६. **सूत्रार्थ—प्रथम नास्तिक द्वारा 'शून्यवादी' नास्तिक विचारधारा की स्थापना**—(शून्यं तत्त्वम्) शून्य ही एकमात्र तत्त्व है, क्योंकि (भावः विनश्यति) भाव=कार्य, प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ का अस्तित्व नष्ट हो जाता है, (वस्तुधर्मत्वात्-विनाशस्य) वस्तुमात्र का धर्म है 'नष्ट हो जाना'। इसी विनाश का नाम अभाव या शून्य है। हम देखते हैं कि जो वस्तु आज है, वह बनने से पहले नहीं थी, भविष्य में फिर नहीं रहेगी। उसका अभाव था और अभाव होगा, अतः अभाव=शून्य ही वास्तविक तत्त्व है। जब अभाव होता है तो आत्मा, उसका बन्ध, पुनर्जन्म आदि होंगे ही नहीं, इनका मानना व्यर्थ है। इसी प्रकार कर्मफल देनेवाले किसी ईश्वर का अस्तित्व भी मानना अनावश्यक है। यह प्रमुखतः बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किया जानेवाला नास्तिक मत है। यह मत नास्तिक-परम्परा में पहले भी विद्यमान रहा होगा जहां से बौद्धों ने ग्रहण किया है।

७. **सूत्रार्थ—द्वितीय नास्तिक द्वारा 'कारण-अभाववादी' नास्तिक विचारधारा की स्थापना**—(अभावात्) अभाव से (भाव-उत्पत्तिः) भाव= सत्=अस्तित्व वाले पदार्थ की उत्पत्ति होती है, (अनुपमृद्य) बीज या कारण को नष्ट किये बिना (प्रादुर्भावात् न) किसी पदार्थ या कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसमें उदाहरण दिया जाता है कि जैसे कोई बीज रखा रहता है, किन्तु उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जब वह मिट्टी-पानी में मिलकर अपने स्वरूप को विनष्ट कर देता है तो उससे अंकुर उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट हुआ कि बीज रूप कारण या भाव से अंकुर नहीं बना अपितु बीजाभाव=बीज के विनाश से अंकुर उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार अभाव से=असत् से भावरूप जगत् बना है। जगत् की उत्पत्ति में किसी अनित्य उपादान कारण या इसको बनाने वाले किसी ईश्वर अर्थात् निमित्त कारण को मानने की आवश्यकता नहीं है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्[१] ॥ ३ ॥
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्[२] ॥ ४ ॥
सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात्[३] ॥ ५ ॥
सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात्[४] ॥ ६ ॥
सर्वं पृथग् भावलक्षणपृथक्त्वात्[५] ॥ ७ ॥
सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः[६] ॥ ८ ॥[७]

न्यायसूत्र ॥ अ० ४ । आह्नि० १ [सू० १४, १९, २२, २५, २९, ३४, ३७] ॥

---

१. **सूत्रार्थ—तृतीय नास्तिक द्वारा 'ईश्वरीय स्वच्छन्दतावादी' नास्तिक विचारधारा की स्थापना**—(पुरुषकर्म-आफल्य-दर्शनात्) मनुष्य बहुत-से कर्म करते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि उन सबका फल उनको नहीं मिलता, इसलिए ज्ञान होता है कि (कारणम्-ईश्वरः) फल देने में असली कारण वह शक्ति है जिसको लोग 'ईश्वर' नाम से पुकारते है। वह अपनी इच्छा से ही, जिसको जैसे और जैसा चाहता है, फल देता है। अतः जगत् या जीवन की उत्पत्ति के लिए कर्मफल को मानने की आवश्यकता नहीं है, वह ईश्वर ही पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है। बिना कर्मफल के ही वह जगत् को उत्पन्न कर देगा, स्वेच्छा से जिसको जो फल देना चाहेगा वह दे देगा, जो जन्म देना चाहेगा, वह उसको दे देगा।

२. **सूत्रार्थ—चौथे नास्तिक द्वारा 'निमित्त-अभाववाद' की स्थापना**—(भाव-उत्पत्तिः) कार्य या पदार्थों की उत्पत्ति (अनिमित्ततः) बिना किसी विशेष निमित्त=कारण के यों ही हो जाती है, (कण्टक-तैक्ष्ण्य-आदि दर्शनात्) किसी वृक्ष पर तीक्ष्ण कांटे लग जाते हैं, किसी पर कोमल फूल लग जाते हैं, किसी पर मधुर फल लग जाते हैं, किसी पर कटु फल लग जाते हैं। हम देखते हैं कि यह सब बिना किसी विशेष निमित्त=कारण या व्यवस्था के हो रहा है। ऐसे ही बिना किसी निमित्तविशेष के विभिन्न शरीरों और जगत् की रचना हो जाती है, उसके लिए किसी मूलकारण या निर्माता ईश्वर आदि को मानने की आवश्यकता नहीं है।

३. **सूत्रार्थ—पांचवें नास्तिक द्वारा 'सर्व-अनित्यत्ववाद' की स्थापना**—(उत्पत्ति-विनाश-धर्मकत्वात्) प्रत्येक उत्पन्न वस्तु का विनष्ट होना धर्म=स्वभाव है। हम देखते हैं कि संसार में आज तक जो जड़-चेतन पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, उनका विनाश अवश्य हुआ है, इसलिए (सर्वम्-अनित्यम्) यह सब जड़-चेतन जगत् अनित्य है, इसलिए मिथ्या है। यह नवीन वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत मत है, वे केवल ब्रह्म को सत्य मानते हैं, जीवात्मा को ब्रह्म का अंश और जगत् को असत्य=अनित्य मानते हैं।

४. **सूत्रार्थ—छठे नास्तिक द्वारा 'सर्वनित्यत्ववाद' की स्थापना**—(पञ्चभूत-नित्यत्वात्) सृष्टिरचना के मूलतत्त्व पांच सूक्ष्ममहाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी नित्य हैं, कभी नष्ट नहीं होते, अतः इनसे बननेवाला (सर्वं नित्यम्) सब जड़-चेतन जगत् भी नित्य है। जब नित्य है तो वह कभी सम्पूर्णतः नष्ट नहीं होता, वह बनता ही रहेगा। उसके लिए किसी बनाने-बिगाड़नेवाले 'ईश्वर' आदि को मानने की आवश्यकता नहीं।

५. **सूत्रार्थ—सातवें नास्तिक द्वारा 'सर्वपृथक्त्ववाद' की स्थापना**—(भाव-लक्षण-पृथक्त्वात्) प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ का अस्तित्व, स्वरूप एवं नाम पृथक्-पृथक् है, अतः (सर्वं पृथक्) प्रत्येक पदार्थ पृथक्-पृथक् है, प्रत्येक अवयव स्वतन्त्र इकाई है, अर्थात् 'अवयवी' नामक कोई पदार्थ नहीं है।

दर्शनों का सिद्धान्त है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, विभिन्न अन्य पदार्थों से मिलकर एक पदार्थ बनता है। उन अंगभूत पदार्थों को 'अवयव' कहते हैं और उनके संघात=समन्वित पदार्थ को 'अवयवी' कहते हैं। अवयवी अवयवों के आश्रित रहता है। सातवां नास्तिक इस सिद्धान्त को नहीं मानता। वह कहता है कि अवयवी कोई पदार्थ नहीं होता, वह एक इकाई नहीं अपितु अनेक स्वतन्त्र इकाईवाले पदार्थों का समूहमात्र है। वे स्वतन्त्र पदार्थ स्वतन्त्र नामों से पुकारे जाते हैं। जैसे, 'घट=घड़ा' है वह तली, पेट, गर्दन, किनारा' आदि अनेक स्वतन्त्र इकाईयुक्त वस्तुतत्त्वों का समूहमात्र है, अवयवी एक पदार्थ नहीं।

६. **सूत्रार्थ—आठवें नास्तिक द्वारा 'सर्व-अभाववाद' की स्थापना**—(भावेषु) सदात्मक=सत्तात्मक पदार्थों में (इतर-इतर-अभावसिद्धेः) उससे दूसरे पदार्थ का अभाव है, यह सत्य प्रत्यक्षतः सिद्ध है, अतः (सर्वम्-अभावः) सब जगत् प्रधानतः अभाव रूप है।

पूर्वसूत्रों में विनाशधर्मी होने के कारण पदार्थों को शून्य=अभावयुक्त माना था तथा सूत्र ४ में अभाव को कारण मानकर अभाव से जगत् की उत्पत्ति मानी थी। यहां भाव को ही अभाव मानने या सिद्ध करने का प्रयास है। जैसे, 'गौ' एक पदार्थ है, इसमें 'अश्व' का तथा अन्य समस्त पदार्थों का अभाव है। ऐसी स्थिति में एक भाव के साथ अभाव का अनिवार्य साहचर्य है और

यहां **नास्तिक लोग** ऐसा कहते हैं कि—

[पहला नास्तिक कहता है—] 'शून्य' ही एक पदार्थ है। सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में[१] शून्य होगा; क्योंकि जो 'भाव' है अर्थात् वर्त्तमान पदार्थ है, उसका अभाव होकर शून्य हो जायगा।

उत्तर—'शून्य' आकाश=अदृश्य अवकाश और बिन्दु[२] को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ [है]।[३] इस शून्य में सब पदार्थ अदृश्य रहते हैं; जैसे, एक बिन्दु[४] से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार करने[५] से

उसकी प्रत्येक पदार्थ में सदा अधिकता तथा प्रधानता विद्यमान होने से 'अभाव' ही तत्त्व है।

७. **सम्पादकों में नवीन सूत्र के प्रक्षेप की अन्धपरम्परा**—विद्वानों में भी कभी-कभी अन्धपरम्परा प्रचलित हो जाती है। ग्रन्थकार ने नास्तिकों की ओर से प्रश्न नौ रखे हैं किन्तु यहां सूत्र आठ हैं। इस अन्तर को अनुभव करके **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** का विचार बना होगा कि नवम सूत्र छूट गया है, तो उन्होंने कोष्ठक में यह सूत्र "**न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्**" (न्याय० ४.१.३९) आठवें सूत्र के बाद यहां रख दिया। स्वामी जी के अनुकरण पर **पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** सदृश विद्वानों ने भी इस सूत्र को रख लिया। पता नहीं क्यों, इन विद्वान् सम्पादकों ने यह नहीं सोचा कि स्वामी जी ने जो आठ सूत्र उद्धृत किये हैं, वे पूर्वपक्ष के हैं, उत्तरपक्ष के नहीं; जबकि यह परिवर्धित नवम सूत्र वादीपक्ष के उत्तर का है, अर्थात् समाधानपरक है, मूलस्थापना परक का नहीं। अत: यहां इसकी कोई संगति ही नहीं है। केवल 'स्वभाव' पद देखकर इसको रख लिया है। पुनश्च, **इस भूल को अपने संस्करण के परिशिष्ट में पृ० ९७१ पर पं० मीमासंक जी ने स्वीकार कर लिया है कि उनसे यह भूल स्वामी वेदानन्द जी का अनुकरण करने के कारण हुई है।**

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यासनाम-स्वामी सच्चिदानन्द योगी) द्वारा विद्वान् सम्पादकों के इस पाठ-प्रक्षेप के औचित्य पर प्रस्तुत की गई खण्डनात्मक समीक्षा और असहमति ठीक होने से स्वीकार्य है। ('सत्यार्थ-प्रकाश के संशोधनों की समीक्षा' पृ० ११७-१२०)। अब उदयपुर संस्करण, जिसको कि दश विद्वानों द्वारा सम्पादित कहा जा रहा है, उसने भी इस अशुद्ध सूत्र का अन्धानुकरण करके उसकी महर्षि के मूलपाठ में ही घुसपैठ=मिलावट करा दी। अन्धानुकरण इस प्रकार हुआ कि न तो इस पाठ के औचित्य-अनौचित्य पर दशविद्वानों ने गम्भीर चिन्तन किया और न मीमांसक जी द्वारा स्वीकृत भूल की टिप्पणी को ही पढ़ा। इतने विद्वानों द्वारा ऐसी बड़ी भूल करना गम्भीर है, क्योंकि इस भूल का दश गुना दुष्प्रभाव पाठकों पर पड़ेगा।

उदयपुर सं० द्वारा वितण्डापूर्ण प्रश्न—यहां उदयपुर सं० के चारों लेखकों ने इस आपत्ति को संशोधनीय माना है किन्तु **चौथे लेखक** ने अपने अहंकारी स्वभाववशात् व्यर्थ उछलकूद मचाई है। मैंने अपने लेख में लिखा था कि यह 'समाधान पक्ष का सूत्र है।' उसे यही बात समझ में नहीं आई। इसके सही भाव को न समझने के कारण वह लिखता है कि 'यह समाधान पक्ष का सूत्र नहीं है...' आदि। जबकि यहां स्पष्टत: अभाववादी, प्रतिवादी का निषेध करते हुए कह रहा है कि 'पदार्थों के आपेक्षिक होने से स्व-भाव (अस्तित्व) की सिद्धि नहीं होती।' यह पूर्वसूत्र का उत्तर है जिसमें पूर्व सूत्र के पक्ष का निषेधात्मक समाधान है। इस लेखक के दिमाग में अपने ही कल्पित अर्थ घूमा करते हैं। ये कोई भी 'संस्कृत-कोश' उठाकर देखलें वहां 'समाधान' शब्द के अनेक अर्थों में ये अर्थ भी मिलेंगे—'उत्तर', 'पूर्वपक्ष का उत्तर देना' 'आक्षेप का उत्तर देना' आदि। लेखक महोदय! व्यर्थ की वितण्डा करने के बजाय यदि आप गम्भीरता से कुछ पढ़लें-समझ लें, तो हो सकता है, आपका थोथा अहंकार कम होकर उसके स्थान पर विद्या बढ़ जाये, और कहा है—"**विद्या ददाति विनयम्**", शायद आप में विनय भी आ जाये। फिर उलटा मुझ पर कटाक्ष करते हैं कि 'मैं हल्दी की एक गांठ पाकर पंसारी बन बैठा हूँ।' हल्दी की एक गांठ पाकर पंसारी तो ऐसे बनते हैं जैसे यहां आप बन रहे हैं क्योंकि आपके पास न समझ है, न विद्या है, न लेखन—योग्यता है, फिर भी आप स्वयं को 'विद्वान्' दिखाने का यत्न करते हैं।

नौवें नास्तिक मत का आधार—नौवां नास्तिक मत चार्वाक का है। चार्वाक दर्शन में यह मत एक श्लोक में तथा एक गद्यांश में इस प्रकार प्रस्तुत है—"**अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिल:। केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद् व्यवस्थिति:॥**" ='अग्नि उष्ण है, जल शीतल, वायु शीतस्पर्श वाला है। पदार्थों के इस धर्म को किसी ने नहीं बनाया है। यह सब स्वभाव से स्वयं बना है।' स्वभाव से बनने की व्याख्या अन्यत्र इस प्रकार मिलती है—"**तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्य: किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते**"='पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ये चार सूक्ष्मभूत नामक तत्त्व हैं। जब ये मिलकर देह के आकार को ग्रहण कर लेते हैं तो उसमें स्वयं चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जैसे मद्य के पदार्थों में पृथक्-पृथक् रूप में मद नहीं होता किन्तु उनका संयोग होकर स्वभाव से मद करने का गुण उत्पन्न हो जाता है।'

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मूलह० में शुद्धवर्तनी थी, अयोग्य मुद्रण-लिपिकर ने "**अन्त्य**" अशुद्ध बना दी। वही अशुद्ध द्विप्र० में है। द्वि०सं० में संशोधित है, मूलसं० में शुद्ध है।

भूमि-पर्वतादि ईश्वर की रचना से बनते हैं। और शून्य का जानने वाला शून्य नहीं होता॥ १ ॥[१]

दूसरा नास्तिक—अभाव से भाव की उत्पत्ति होती[२] है। जैसे, बीज का मर्दन किये विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता और बीज को तोड़कर देखें तो अंकुर का अभाव है। जब प्रथम अंकुर नहीं दीखता था तो अभाव से उत्पत्ति हुई।

उत्तर—जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था। जो न होता तो उत्पन्न कभी नहीं होता॥ २ ॥[३]

तीसरा नास्तिक कहता है, कि कर्मों का फल पुरुष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। कितने ही कर्म निष्फल दीखने में आते हैं; इसलिये अनुमान किया जाता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के आधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे, देता है; जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस बात से कर्मफल ईश्वराधीन है।

उत्तर—जो कर्म का फल ईश्वराधीन हो तो विना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता? इसलिये **जैसा कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है। इससे ईश्वर स्वतन्त्रता-पूर्वक पुरुष[४] को कर्म का फल नहीं दे सकता, किन्तु जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही[५] फल ईश्वर देता है॥ ३ ॥**[६]

२,४. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मुद्रणह० में दोनों स्थानों पर अशुद्ध वर्तनी "**बिन्दू**" है। द्विप्र० में पहली शुद्ध और दूसरी अशुद्ध है। आदि-शोधकों का यह बुरा हाल था कि एक स्थान की शुद्धाशुद्धि भी उन्हें नहीं दिखाई पड़ती थी। अब सभी सं० में संशोधित हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**है**' त्रुटित क्रिया अपेक्षित है। युमी, उदयपुर में गृहीत है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां '**होने से**' क्रिया-प्रयोग है। ईश्वर की रचना के सम्बन्ध से '**करने से**' क्रिया उपयुक्त है। मूलसं०, मूलप्रति सं० का "**करने से**" पाठ ग्राह्य है। यह पाठान्तर मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से हुआ है। मुद्रणलिपिकर ने '**कर**' छोड़कर अपपाठ लिखा—"**वर्तुलाकारने से**"। शोधक ने त्रुटित पाठ ऊपर '**कर**' के बजाय '**हो**' लिख दिया। इस प्रकार '**होने**' पाठान्तर मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में हो गया।

१. '**शून्यवाद के' सिद्धान्त का प्रादुर्भाव**—कुछ लोग इस सिद्धान्त को बौद्ध नास्तिकों के '**शून्यवाद**' से सम्बद्ध करते हैं। नास्तिक तो मनुस्मृति, देव-असुर युग, रामायण और निरुक्त के काल में भी थे। वस्तुत: यह एक विचार है जो प्राचीन नास्तिकों की ओर से बहुत पहले से ही परम्परागत रूप से प्रस्तुत किया जाता रहा है। बौद्धों ने तो उस प्राचीन नास्तिक परम्परा से ग्रहण करके अपने दर्शन में निजी सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। अत: यह बौद्धों द्वारा आविष्कृत सिद्धान्त नहीं है। बौद्धों ने ऐसे अन्य विचार भी परम्परा से ग्रहण किये हैं। लोग अज्ञानता के कारण उनको बौद्धों की प्रथम प्रस्तुति मान लेते हैं।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**होती**" क्रियापद त्रुटित रह गया है।

३. '**कारण अभाववाद' का आधारभूत उत्तर सूत्र**—महर्षि का '**कारणरूप अभाववाद**' का उत्तर इस न्यायदर्शन के सूत्र "**व्याघातादप्रयोग:**" (४.१.१५) पर आधारित है। उसमें 'अभाववाद' का उत्तर है कि 'यह कथन ही परस्पर-विरोधी है, क्योंकि अंकुर के रूप में उत्पन्न होनेवाला पदार्थ जो बीज का उपमर्दन करता है वह बीज-रूप कारण उसमें पहले से था तभी उसने उपमर्दन किया। यदि वह बीज नहीं होता तो फिर उपमर्दन किसका होता? यह प्रयोग ही नहीं बनता। और तभी वह उत्पन्न हुआ जब बीज का उपमर्दन हुआ। उत्पत्ति-रूप कार्य, कारण से ही हुआ है। अत: प्रश्नकर्त्ता का यह कथन तर्कहीन है।

४. **श्रवणभ्रान्ति से सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्ट पाठ**—प्रतीत होता है कि मूललिपिकर के प्रमाद से शब्द त्रुटित रहने से अथवा श्रवणभ्रान्ति से दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में यहां पाठ भ्रष्ट हुआ है। भ्रष्ट पाठ का वाक्य है—"**इससे ईश्वर स्वतन्त्र पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता।**" पुरुष स्वतन्त्र है किन्तु ईश्वर स्वतन्त्र पुरुष को ही कर्मानुसार फल प्रदान करता है, इसका कथन अगले ही वाक्य में किया है, अत: यह कथन सिद्धान्तविरुद्ध भी है, और परस्परविरुद्ध भी। इससे तीसरे नास्तिक का ही समर्थन होगा। उदयपुर सं० ने भी इस पाठ की भ्रष्टता पर विचार नहीं किया। यहां ईश्वर की स्वतन्त्रता का प्रसंग है, अत: इस सं० में किया गया संशोधन अत्यावश्यक है। युमी में यह शब्दान्तर से संशोधित है। वेस, जग, भद, उदयपुर सं० में सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्टपाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**वैसे ही**" अपप्रयोग है। "**जैसा**" प्रयोग के सम्बन्ध से "**वैसा ही**" प्रयोग ग्राह्य है।

६. '**ईश्वरीय स्वच्छन्दतावाद' का आधारभूत उत्तर-सूत्र**—'**ईश्वरीयस्वच्छन्दतावाद**' की शंका के समाधान के लिए न्यायदर्शनकार

चौथा नास्तिक कहता है, कि विना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जैसे[१] कि बबूल आदि वृक्षों के काँटे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं। इससे विदित होता है कि जब-जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तब-तब शरीरादि पदार्थ विना निमित्त के होते हैं।

उत्तर—जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है, वही उसका निमित्त है। विना बीज, कण्टकी वृक्ष के काँटे उत्पन्न क्यों नहीं होते ?[२] ॥ ४ ॥[३]

पांचवाँ नास्तिक कहता है कि सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इसलिये सब अनित्य हैं—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥[४]

यह किसी ग्रन्थ का श्लोक है [अष्टावक्रगीता ५, तुलना—शंकराचार्यकृत ब्रह्मनामावलीस्तोत्र २०] ॥

नवीन वेदान्ती[५] लोग पांचवें नास्तिक की कोटि में हैं, क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि करोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धान्त है—''ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।''

उत्तर—जो सबकी अनित्यता नित्य है, तो सब अनित्य नहीं हो सकता।[६]

प्रश्न—सबकी अनित्यता भी अनित्य है,[७] जैसे अग्नि काष्ठों को नष्टकर आप भी नष्ट हो जाता है।

ने सूत्र बनाया है—''**न पुरुष-कर्म-अभावे फलानिष्पत्तेः**'' (४.१.२०) अर्थात्-पुरुषों के द्वारा कर्म न करने पर उनको फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती, अतः ईश्वर उसी को यथावत् फल देता है जो जैसा कर्म करता है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है। यहां उदाहरणार्थ '**जैसे**' अपेक्षित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद और संशोधन**—मूलह० में यह अपपाठ है—''**विना बीज कण्टक वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकते।**'' मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अर्ध संशोधित है। मूलसं० में भी संशोधन कर लिया है। द्विप्र० में ''**होते**'' क्रिया के स्थान पर ''**हों**'' अपक्रिया है। किन्तु मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य में ''**बीज**'' शब्द त्रुटित छोड़ा है, वह उचित नहीं। यहां मूल निमित्त का कथन हो रहा है और किसी वृक्ष का और उस पर लगने वाले कांटों का निमित्त 'बीज' ही होता है। गत पृ० ३८३ पर ग्रन्थकार ने 'निमित्त' और 'बीज' को पर्यायवाची माना है।

३. '**निमित्त-अभाववाद' का आधारभूत उत्तर-सूत्र**—'**निमित्ताभाववाद**' के कथन का उत्तर देने के लिए न्यायदर्शनकार कहता है—''**अनिमित्तनिमित्तत्वात् न-अनिमित्ततः**'' (४.१.२३) अर्थात्-शंकाकर्त्ता जिसको कण्टकी वृक्ष का अनिमित्त कह रहा है उसका बीज ही उसका निमित्त है। बिना निमित्त के '**कार्य**' की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। जैसे, बिना तदनुरूप बीज के कभी कांटे उत्पन्न नहीं होते। कांटे उत्पन्न करने वाला विशेष बीज ही उसका निमित्त है, अन्यथा सभी वृक्षों पर कांटे उत्पन्न हो जाते।

४. **प्रमाण**—इससे मिलता-जुलता श्लोक, जिसमें दूसरी पंक्ति यथावत् है, शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध '**ब्रह्मनामावली स्तोत्र**' में मिलता है—**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मैव जीवो नापरः। अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः॥** (२०) (युमी० टिप्पणी)

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**वेदान्ति लोग**'' अपवर्तनी है। मूलप्रति सं० आदि सभी में संशोधित है।

६-७. **मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से भ्रष्टपाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पाठ भ्रष्ट मिलता है—''**जो सबकी नित्यता नित्य है तो सब अनित्य नहीं हो सकता।**'' यह भ्रष्टपाठ शायद मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से हो गया है। पांचवें नास्तिक की स्थापना है कि ''**सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाश वाले हैं, इसलिये सब अनित्य हैं।**'' फिर श्लोक का प्रमाण देकर सब जगत् को मिथ्या अर्थात् अनित्य कहा। इस पर महर्षि का उत्तर है कि यदि सब जगत् की अनित्यता को नित्य=सदा-सर्वदा अवश्यंभावी कहते हो अर्थात् उसको स्वाभाविक धर्म कहते हो, तो जगत् के कारणरूप उत्पादक तत्त्वों सहित जगत् के सारे पदार्थ अनित्य कभी नहीं हो सकते। इसमें युक्ति यह है कि सब पदार्थ अनित्य होंगे तो एक बार नष्ट होने के बाद जगत् फिर नहीं बन सकता। इसी तथ्य को नौवें नास्तिक के प्रश्न के उत्तर में शब्दान्तर से स्पष्ट किया है—''**जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो उत्पत्ति न होगी।**'' (पृ० ३९२ पंक्ति १२)।

इसी प्रकार अगले प्रश्न का पाठ भी भ्रष्ट है—''**सबकी नित्यता भी अनित्य है।**'' यहां ''**अनित्यता**'' पाठ होना चाहिये। क्योंकि प्रश्नकर्त्ता फिर अपने पक्ष पर हठ करता है और उत्तरदाता को कहता है कि जिनकी अनित्यता को नित्य=स्वाभाविक

उत्तर—जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्त्तमान में अनित्यत्व और परमसूक्ष्म कारण की अनित्यता कभी नहीं हो सकती।[१] जो वेदान्ती लोग[२] ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तो ब्रह्म के सत्य होने से, उसका कार्य असत्य कभी नहीं हो सकता। जो स्वप्न, रज्जु,[३] सर्पादिवत् कल्पित कहैं तो भी ठीक नहीं बन सकता; क्योंकि कल्पना गुण है, गुण से द्रव्य[४] और द्रव्य से गुण पृथक् नहीं रह सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिये, नहीं तो उसको भी अनित्य मानो; जैसे, स्वप्न विना देखे-सुने कभी नहीं आता। जो जाग्रत[५] अर्थात् वर्त्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं, उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे, सुषप्ति होने से बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्त्तमान रहता है। जो

धर्म कहते हो, उनकी अनित्यता भी अनित्य है, अग्नि के समान। जैसे अग्नि अनित्य काष्ठों को जलाकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है। महर्षि फिर आगे अपने नित्यता के पक्ष को रखते हुए कहते हैं कि परमसूक्ष्म कारण को अनित्य नहीं कहा जा सकता और सत्य कारण का कार्य असत्य=अनित्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर का सही क्रम बनता है।

स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती द्वारा प्रस्तुत और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** और **पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती** द्वारा स्वीकृत इस उचित संशोधन का खण्डन **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द योगी) ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश के संशोधनों की समीक्षा' में पृ० १२१-१२३ पर किया है। आचार्य जी द्वारा प्रस्तुत खण्डन अशुद्ध होने के कारण स्वीकार्य नहीं हो सकता। यदि आचार्य जी '**न्यायदर्शन**' के पूर्ण प्रसंग को पढ़ लेते तो उन्हें खण्डन का व्यर्थ श्रम नहीं करना पड़ता और न पाठकों तथा सम्पादकों में भ्रान्ति का विस्तार होता। **पं० भगवद्दत्त जी** के सं० में भ्रष्ट पाठ अपनाया गया है। **उदयपुर सं०** में भी भ्रष्ट पाठ को स्वीकार कर लिया गया। उदयपुर सं० के सामने विचारार्थ शुद्ध-अशुद्ध पाठ के दो विकल्प थे। उसके बावजूद भी उन्होंने इस भ्रष्टता पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया। अच्छा होता यदि ये विद्वान् कम-से-कम पहले '**न्यायदर्शन**' को देख लेते। ये प्रश्नोत्तर न्यायदर्शन के ४.१.२६-२७ सूत्रों पर आधारित हैं। उन्हें मैं नीचे प्रस्तुत कर रहा दूं।

आधारभूत सूत्र दोनों प्रश्नोत्तरों के—इन दोनों प्रश्नोत्तरों के शब्दसाम्य में विचलित होकर कुछ सम्पादकों ने अपनी-अपनी समझ से इस पाठ को प्रस्तुत किया है, जो अशुद्ध है। न्यायदर्शन के सूत्रों से ही इस पाठ का निर्विवाद निर्धारण हो जाता है। वे सूत्र हैं—''**नानित्यता-नित्यत्वात्**''''**तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्य-अनुविनाशवत्**'' (४.१.२६-२७) इनका अर्थ है—(१) 'अनित्यता के नित्य होने से सब अनित्य सिद्ध नहीं होता। जब अनित्यता सदा रहने वाला धर्म है तो वह भी नित्य ही कहलायेगा। उसके नित्य होने से सब कुछ अनित्य नहीं हुआ।' (२) इस उत्तर पर सर्वानित्यत्ववादी फिर आक्षेप करता हुआ कहता है कि 'वह अनित्यता नित्य नहीं है, वह भी अनित्य है। जैसे, अग्नि जलने योग्य पदार्थ को जलाकर फिर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, बुझ जाती है। इसी प्रकार सबकी अनित्यता सबको अनित्य बनाकर=नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अनित्यता भी अनित्य है। उसको 'नित्य' नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उक्त भाषा इन दोनों सूत्रों का अनुवाद ही है। यह दु:खद सत्य है कि पाठक सवा-सौ से अधिक वर्षों से ऐसे-ऐसे गलत पाठ पढ़ने को विवश हैं।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० के अच्छे-भले उपर्युक्त पाठ को मुद्रणलिपिकर ने असंगत बना दिया—''**परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता**'' यहां अनित्य होने का प्रसंग है, कहने का नहीं। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर, मूलसं० सभी में यही अपपाठ है। (युमी में ''**अनित्यत्व**'' के स्थान पर ''**अभाव**'' पाठ माना है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**वेदान्ति लोग**'' वर्तनी है। मूलप्रति सं० आदि सभी में संशोधित है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में ''**रज्जू**'' अपवर्तनी है। यह लघु उकारान्त ''**रज्जु**'' शुद्ध है। लिपिकरों ने ग्रन्थ में कहीं ''**रज्जु**'' तो कहीं ''**रज्जू**'' लिखा है। अव्यवस्थित वर्तनी लिपिकर की अयोग्यता को प्रदर्शित करती है। यहां वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में यह वर्तनी संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में ''**रज्जू**'' अशुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थकार ने 'उणादिकोश' में धातु-प्रत्यय और १.१५ सूत्र से ''**रज्जु**'' शब्दरचना की है। व्याकरण से सिद्ध यही शुद्धरूप ग्राह्य है।

४. **अपपाठ**—मूलह०, मूलसं० में यहां ''**गुण से द्रव्य कभी नहीं**'' और मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**गुण से द्रव्य नहीं**'' रचनात्मक अपूर्ण पाठ है। वेस में स्वतन्त्र संशोधन है, युमी, जग, भद में अपपाठ है। उदयपुर में संशोधित है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जागृत**'' अपवर्तनी है, ''**जाग्रत**'' शुद्ध रूप अपेक्षित है।

संस्कार के विना स्वप्न होवे, तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे। इसलिये वहां उनका ज्ञानमात्र है और बाहर सब पदार्थ वर्त्तमान हैं।

प्रश्न—जैसे जाग्रत[१] के पदार्थ स्वप्न में और दोनों के सुषुप्ति में अनित्य हो जाते हैं, वैसे जाग्रत[२] के पदार्थों को भी स्वप्न के तुल्य मानना चाहिये।

उत्तर—ऐसा कभी नहीं मान सकते; क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं। जैसे, किसी के पीछे की ओर बहुत-से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की बात है। इसलिये जो पूर्व कह आये कि ब्रह्म, जीव और जगत् का[३] कारण अनादि, नित्य है; वही सत्य है॥ ५ ॥[४]

छठा नास्तिक कहता है कि पांच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उत्तर—यह बात सत्य नहीं; क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति[५] और विनाश का कारण देखने में आता है, वे सब नित्य हों। तो सब स्थूल जगत्, शरीर तथा घट-पटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते देखते ही हैं,[६] इससे 'कार्य' को नित्य नहीं मान सकते॥ ६ ॥[७]

सातवां नास्तिक कहता है कि सब पृथक्-पृथक् हैं, कोई एक पदार्थ नहीं है। जिस-जिस पदार्थ को हम देखते हैं,[८] उनमें दूसरा एक पदार्थ कोई भी नहीं दीखता।

उत्तर—अवयवों में अवयवी, वर्त्तमानकाल, आकाश, परमात्मा और जाति पृथक्-पृथक् पदार्थ-समूहों में एक-एक हैं। उनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिये सब पृथक् पदार्थ नहीं, किन्तु स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं और पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है॥ ७ ॥[९]

१-२. **अपवर्तनी**—दोनों सं० में दोनों स्थानों पर "**जागृत**" अपवर्तनी है, "**जाग्रत**" चाहिए।

३. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में यहां "**का**" सम्बन्ध प्रत्यय त्रुटित है। द्वि० सं० में है।

४. **'सर्वानित्यत्ववाद' का आधारभूत उत्तर-सूत्र**—'**सर्वानित्यत्ववाद**' के निराकरणार्थ न्यायदर्शन यह सूत्र प्रस्तुत करता है—"**नित्यस्य-अप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात्**" (४.१.२८) अर्थात्—'पदार्थ नित्य हैं, इस बात का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् में हमें एक व्यवस्था दिखाई पड़ती है कि कुछ पदार्थ उत्पत्ति और विनाश के कारण अनित्य हैं और कारणभूत परमाणु आदि नित्य हैं।' यदि सब पदार्थ अनित्य हों तो उनकी पुनः-पुनः उत्पत्ति नहीं होगी किन्तु जगत् और पदार्थों की उत्पत्ति पुनः-पुनः होती है, जो कारण को नित्य सिद्ध करती है।

५-६. **अपपाठ और संशोधन**—सभी पाठों में "**पदार्थों का उत्पत्ति**" अपपाठ है। दूसरा पाठ मूलह० में शुद्ध है—"**घट-पटादि उत्पन्न और विनष्ट होते दीखते ही हैं।**" मुद्रणप्रति में ऋषि ने इस वाक्य में "**पदार्थों को**" जोड़ दिया किन्तु क्रिया न बदले जाने से यह अपपाठ बन गया—"**घट-पटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते दीखते ही हैं।**" यही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में संशोधन कर दिया है। मूलसं० में द्वि०सं० का पाठ ग्रहण किया है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

७. **'सर्व-नित्यत्ववाद' का आधारभूत उत्तर-सूत्र**—'**सर्वनित्यत्ववाद**' के पक्ष का निराकरण करने के लिए न्यायदर्शनकार ने यह सूत्र प्रस्तुत किया है—"**नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः**" (४.१.३०) अर्थात्—'पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के कारण हमें जगत् में दिखाई पड़ते हैं, इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि सब कुछ नित्य है।' जैसे, घट, शरीर आदि उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के होते हुए सबको नित्य नहीं माना जा सकता।

८. **अनावश्यक पद**—सभी पाठों में यहां "**कि**" अनावश्यक पद है। परस्पराश्रित इन वाक्यों में योजक पद निरर्थक है।

९. **सर्वपृथक्त्ववाद का आधारभूत उत्तर-सूत्र**—'**सर्वपृथक्त्ववाद**' पक्ष के निराकरण के लिए न्यायदर्शनकार ने यह सूत्र प्रस्तुत किया है—"**नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः**" (४.१.३५) अर्थात् अनेक अवयवों से किसी एक पदार्थ की उत्पत्ति या रचना देखी जाती है, इस कारण सब पदार्थ पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

आठवां नास्तिक कहता है, कि सब पदार्थों में इतरेतर-अभाव की सिद्धि होने से सब अभावरूप हैं। जैसे '**अनश्वो गौः, अगौरश्वः**'=गाय घोड़ा नहीं और घोड़ा गाय नहीं, इसलिये सबको अभावरूप मानना चाहिये।

उत्तर—सब पदार्थों में इतरेतर-अभाव का योग हो, परन्तु '**गवि गौरश्वेऽश्वो भावरूपो वर्तत एव**'=गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव ही है, अभाव कभी नहीं हो सकता। जो पदार्थ का भाव न हो तो 'इतरेतराभाव' भी किसमें कहा जावे ?॥ ८ ॥[१]

नौवां नास्तिक कहता है कि स्वभाव से सब जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे पानी, अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि[२] उत्पन्न होते हैं और बीज, पृथिवी, जल के[३] मिलने से[४] घास, वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे, समुद्र और[५] वायु के योग से तरङ्ग; और तरङ्गों से समुद्रफेन; हल्दी, चूना और नींबू का रस मिलने से[६] रोरी बनती है; वैसे सब जगत् तत्त्वों के स्वाभाविक-गुणों[७] से उत्पन्न हुआ है। इसका बनानेवाला कोई भी नहीं।[८]

उत्तर—जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे। और जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो उत्पत्ति न होगी। और जो द्रव्यों में दोनों स्वभाव युगपत् मानोगे[९] तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो 'निमित्त' के होने से उत्पत्ति और नाश मानोगे तो 'निमित्त'

---

१. '**कार्यरूप अभाववाद' का आधारभूत उत्तर-सूत्र**—यह शंका '**कार्यरूप अभाववाद**' पर आधारित है। नास्तिक का कथन है कि सब वस्तुएं सबमें वर्तमान नहीं हैं, उनकी सत्ता सर्वत्र नहीं है, '**गौ**' में 'अश्व' का अभाव है, 'अश्व' में 'गौ' का अभाव है। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थों का अभाव है। अतः सब पदार्थ मुख्यतः अभावरूप हैं। इसका निराकरण करते हुए न्यायदर्शनकार सूत्र उपस्थित करता है—"**न स्वभावसिद्धेर्भावानाम्**" (४.१.३८) अर्थात्-'सब वस्तुओं का अपना अस्तित्व है, अपना रूप है, उनका भाव सिद्ध है, अतः उनका अभाव नहीं माना जा सकता।'

२. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—मूलह० में "**क्रमि**" तथा मुद्रणह० में "**कृमी**" वर्तनी है। पुनश्च तीनों सं० में इनको शुद्ध कर दिया है। ग्रन्थ में एकरूपता और मानकता के लिए "**कृमि**" सर्वत्र स्वीकृत है।

३-४. **त्रुटित पद**—मूलह०,मूलप्रति सं० में "**के**" सम्बन्ध प्रत्यय त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**मिलने से**" में '**से**' कारक प्रत्यय त्रुटित है। अन्य में संशोधित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**और**' पद अपेक्षित है। इसके न होने पर अर्थभ्रान्ति उत्पन्न होती है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-पाठपरिवर्तन**—"**नींबू के रस मिलाने से**" इस वाक्य में "**नींबू के रस**" दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपपाठ है। इसके अतिरिक्त, मुद्रणलिपिकर ने प्रसंग को समझे बिना "**मिलाने से**" पाठ बदल दिया। यहां प्रश्न में स्वभाव से पदार्थों का स्वतः मिलन होकर जगदुत्पत्ति के पूर्व-पक्ष की स्थापना है, बनानेवाले का तो निषेध है।

पाठ-पुष्टि—उत्तर पक्ष में इस स्वतः मिलने के पक्ष का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार "**मिलाने वाले**" का उल्लेख करता है, अतः यहां यह अप-परिवर्तन है। मूलह०, मूलसं० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० का अशुद्ध है। **पं० भगवद्दत्त जी, पं० मीमांसक जी, स्वामी विद्यानन्द जी** और **उदयपुर सं०** का पाठ अशुद्ध है, शेष अन्यों का शुद्ध है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**स्वभावगुणों**" अपपाठ है, यह "**स्वाभाविक गुणों**" होना चाहिए।

८. '**स्वभावोत्पत्तिवाद' का आधार**—'**स्वभावोत्पत्तिवाद**' का यह विचार 'चार्वाकदर्शन' के नास्तिक-सिद्धान्त पर आधारित है। जैनी भी इसको मानते हैं। चार्वाक मानता है कि यह सम्पूर्ण संसार अपने स्वाभाविक गुणों से उत्पन्न होता है, इसका कर्त्ता कोई नहीं—"**केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तत् व्यवस्थितिः**" (चार्वाकदर्शन १२) अर्थात्-'यह जगत् किसने बनाया है ? किसी ने नहीं। यह पदार्थों के स्वाभाविक गुणों से मिलकर बना है।' इसी विचार को 'नवम नास्तिक' के प्रश्न के रूप में उपस्थित किया है। (द्रष्टव्य है समुल्लास १२ में पृ० ७३१-७४२ तक चार्वाक-सम्बन्धी समीक्षा)

९. **स्थानभ्रष्ट पद**—मूलह० में यह अपपाठ है—"**द्रव्यों में दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों में मानोगे**"। मुद्रणप्रति में प्रथम "**द्रव्यों**" पद को हटाकर दूसरा रख लिया जबकि वाक्यक्रम में पहला उचित था।

को[१] उत्पत्ति और विनाश होनेवाले द्रव्यों से पृथक् मानना पड़ेगा। जो स्वभाव से उत्पत्ति और विनाश होता तो एक[२] समय में ही उत्पत्ति और विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो, तो इस भूगोल के निकट में दूसरा भूगोल, चन्द्र-सूर्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते?

और जिस-जिस के योग से जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज-अन्न-जलादि के संयोग से घास-वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं, विना उनके नहीं। जैसे हल्दी, चूना और नींबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी होती है, अधिक, न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति, परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये विना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिये विशेष पदार्थ नहीं बन सकते। इसलिये स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है॥ ९॥

प्रश्न—इस जगत् का कर्ता न था, न है, और न होगा; किन्तु अनादि काल से यह जैसा का वैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होगा।[३]

उत्तर—विना कर्त्ता के कोई भी क्रिया [नहीं हो सकती][४], वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते; और जो संयोग से बनता है, वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानो तो कठिन से कठिन पाषाण, हीरा और फौलाद[५] आदि तोड़के, टुकड़े कर, गला, वा भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं[६] वा नहीं? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं॥[७]

प्रश्न—अनादि ईश्वर कोई नहीं, किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञता-आदि गुणयुक्त '**केवल-ज्ञानी**' होता है, वही जीव '**ईश्वर**', 'परमेश्वर' कहाता है।[८]

---

१. **अपपाठ**—सभी सं० में यहां "**से**" अपप्रयोग है, यहां "**निमित्त को**" वांछित है। द्वि० सं० में यहां त्रुटित पद है।

२. **मूललिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**एक**" पद त्रुटित है। वेस, जग को छोड़कर सभी सं० में गृहीत है।

३. **जैनमत**—यह प्रश्न जैनमत के अनुसार है। जैनमत में जगत् को अनादि मानते हैं और न किसी को इसका कर्त्ता और न किसी '**ईश्वर**' को मानते हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रियाप्रयोग त्रुटित हैं, वाक्य की पूर्णता के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है, अन्यथा पूर्ण वाक्य नहीं बनता।

५. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में "**फोलाद**" अपवर्तनी है, "**फ़ौलाद**" शुद्ध है। अन्य सभी सं० में फ़ारसी का मूल प्रयोग '**पोलाद**' प्रयुक्त है। किन्तु वह हिन्दी के व्याकरण में स्वीकृत नहीं है।

६. **मुद्रणकालीन अपविराम चिह्न**—द्विप्र० में अप-विरामचिह्न-युक्त वाक्य है—"**परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं ? वा नहीं**" सभी सं० में इसको संशोधित कर लिया है।

७. **पदार्थ का परमाणुओं से बनना-बिगड़ना**—ग्रन्थकार द्वारा उक्त तथ्य को हम स्थूल उदाहरण से यों समझ सकते हैं। मिट्टी से निकले स्वर्ण-कणों को गलाकर मिलाने से स्थूलाकार स्वर्ण धातु बन जाती है। लौह-कणों से लोहा बन जाता है। आयुर्वेद की पद्धति में इनकी जब भस्म बनाते हैं तो वही फिर से कणों में परिवर्तित होकर पाऊडर बन जाते हैं। ऐसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्म कण मिलते और पृथक् होते हैं।

८. **केवल ज्ञानी**—यह जैनियों का मत है। जैनमत में ईश्वर को नहीं मानते, वे अपने तीर्थंकरों को ही '**केवल-ज्ञानी**' होने पर ईश्वर मानते हैं। (द्रष्टव्य पृ० ७६५/१४, ७७७ आदि पर जैन-मत)

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो, तो साधनों से सिद्ध होनेवाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत्, शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते? इनके विना जीव साधन ही न कर सकता। जब साधन न होते, तो सिद्ध कहां से होता?

जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे, तो भी ईश्वर, जो कि स्वयं सनातन, अनादि सिद्ध है, जिसमें अनन्त सिद्धियां[१] हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता;[२] क्योंकि जीव का परम-अवधि तक ज्ञान बढ़े, तो भी परिमित ज्ञान और सामर्थ्यवाला होता है; अनन्त ज्ञान और सामर्थ्यवाला कभी नहीं हो सकता। देखो, कोई भी योगी[३] आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलनेहारा नहीं हुआ है, और न होगा। अनादि-सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का जैसा निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सका है।[४] [अतः कोई भी] **जीव, 'ईश्वर' कभी नहीं हो सकता।**[५]

प्रश्न—कल्प-कल्पान्तरों में ईश्वर सृष्टि विलक्षण-विलक्षण बनाता है, अथवा एक-सी?

उत्तर—जैसी कि अब है, वैसी पहले थी और आगे होगी, भेद नहीं करता[६]—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ १॥ ऋ०, म० १०। सूक्त १९०। मं० ३॥

(धाता) परमेश्वर ने जैसे पूर्व-कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, आदित्य बनाये थे, वैसे ही अब बनाये हैं; और आगे भी वैसे ही बनावेगा[७]॥ १॥

इसलिये परमेश्वर के काम विना भूल-चूक के होने से सदा एक-से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ है और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, उसी के काम में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादि-शास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध?

उत्तर—अविरोध है।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचन में "**सिद्धि**" अपप्रयोग है, "**अनन्त**" के सम्बन्ध से बहुवचन चाहिए।

२. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—दोनों हस्त०, मूलसं० में यह शुद्ध पाठ है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह अपपाठ छपा है—"**जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि हैं, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं।**" भद में शुद्ध है। द्वि०सं०, वेस, जग, युमी, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में "**योगी**" पद मुद्रणलिपिकर से त्रुटित रह गया है।

४. **मुद्रणलिपिकर-कृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में इसके स्थान पर "**बदल नहीं सकता**" अपपाठ है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है, क्योंकि पूर्व क्रियाओं के सम्बन्ध से "**नहीं सका है**" क्रियाप्रयोग ही उपयुक्त है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता**" ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **मूललिपिकर के प्रमाद से अस्त-व्यस्त पाठ**—मूल-हस्तलेख में मूललिपिकर की असावधानी से यह उत्तर-वाक्य प्रश्नवाक्य में मिल गया है और "**उत्तर**" शब्द इस वाक्य के अन्त में संख्यांक ६ के स्थान पर लिखा हुआ है। यही अपपाठ मुद्रणह० और द्विप्र० में है। इसको सुधारना न तो मुद्रणलिपिकर को सूझा और न मुद्रणकाल में मक्कार शोधकों को। द्वि०सं० की तृतीयावृत्ति (परोपकारी) में इसको सुधारा गया है। द्वि०सं० में संशोधित पाठ है। मूलप्रति सं० में यह पाठ अशुद्ध है।

७. **अपपाठ**—मूलहस्त० में मन्त्रार्थ का अपपाठ इस प्रकार है—"**धाता परमेश्वर जैसे पूर्वकल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदित्य बनाये थे, वैसे ही अब बनाया है, और आगे बनावेगा।**" मुद्रणह० में इसको संशोधित एवं परिवर्धित किया है। वही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० में ग्रहण किया हुआ है।

मुद्रणकालीन अपपाठ—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**परमेश्वर जैसे**" और "**अन्तरिक्ष आदि को बनता हुआ वैसे ही अब बनाये हैं**" (ये दोनों अपपाठ छपे हैं। द्वि०सं०, युमी, भद में उचित संशोधन है। वेस, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

प्रश्न—जो अविरोध है तो—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः,[१] स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है [ब्रह्म० वल्ली। अनु० १]॥

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न-सा होता है।[२] वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

यहां आकाशादि क्रम से, और '**छान्दोग्य**' में अग्न्यादि, '**ऐतरेय**' में जलादि क्रम से सृष्टि हुई मानी[३] है। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से; '**मीमांसा**' में कर्म [से][४], '**वैशेषिक**' में काल [से][५], '**न्याय**' में परमाणु [से][६], '**योग**' में पुरुषार्थ [से][७], '**सांख्य**' में प्रकृति [से][८] और '**वेदान्त**' में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है।[९] अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें?

---

१. **पाठान्तर**—उपलब्ध तैत्ति० उपनिषद् में "**अन्नात् पुरुषः**" पाठ मिलता है, "**अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः**" नहीं। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के अनुसार पाठान्तर के साथ यह संदर्भ-पाठ तैत्तिरीय आरण्यक (८.२) में मिलता है।

२. **आकाश की उत्पत्ति का स्वरूप**—महर्षि यहां कहना चाहते हैं कि आकाश, अन्य वायु, अग्नि आदि भूतों के समान उत्पन्न नहीं होता अपितु अवकाश के रूप में प्रकट होता है। व्यवहार में जैसे यह देखा जाता है कि कहीं सामान ठसाठस भरा हो, और यदि उसको हटा दिया जाये तो वहां अवकाश=खाली स्थान हो जाता है। जब उसको पुनः भर दिया जाता है तो वह अवकाश समाप्त हो जाता है। यही आकाश की उत्पत्ति और समाप्ति है। उसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में विस्तृत प्रकृतिरूप कारण द्रव्यों को सृष्टिनिर्माण के लिए एकत्र करने पर जो अवकाश बनता है, वह 'आकाश' उत्पन्न-सा माना जाता है, अर्थात् आकाश का केवल 'अस्तित्व' रूप प्रकट होता है, आकाश के स्वरूप को ग्रन्थकार ने अन्यत्र इस प्रकार समझाया है—"**अव्यक्त प्रकति की जो अव्यक्त स्थिति [होती है] उसी को आकाश कहना चाहिए।**" "**अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ।**" (उपदेश मंजरी, उपदेश ८, पृ० ५४,५५) अभिप्राय यह हुआ कि जब अव्यक्त रूप में विस्तीर्ण प्रकृति की जो स्थिति होती है वह आकाश-रूप स्थिति है। सृष्टि-निर्माण के समय परमात्मा सब के परमाणुओं को एकत्र करता है और उससे जो अवकाश बनता है तो वह आकाश की उत्पत्ति-सी अर्थात् प्रकटता है। जब पुनः विघटित होकर परमाणु फैल जाते हैं तो वह आकाश का विनाश है। यहां इतना ही आकाश का उत्पत्ति और विनाश भाव है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में "**मानी**" त्रुटित होने से अपपाठ है।

४-८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**से**' कारक प्रत्यय पदों के साथ अपेक्षित हैं।

९. **सृष्टि-उत्पत्ति क्रम में भिन्नता में अभिन्नता**—अपने-अपने प्रकरणानुसार शास्त्रों ने सृष्टि-उत्पत्ति का आरम्भ लिखा है। कहीं महाप्रलय के उपरान्त तो कहीं अवान्तर प्रलय के उपरान्त जिस तत्त्व तक प्रलय होता है, वहां से सृष्टि के आरम्भ का कथन है—

(क) छान्दोग्य उपनिषद् में 'अग्नि' के क्रम से—"**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत..... तदपोऽसृजत**" (६.२.३)=परमात्मा ने इच्छा की कि जगत् में प्राणियों की रचना करूं तो उसने तेज=अग्नि तत्त्व को उत्पन्न किया, फिर जल को उत्पन्न किया' आदि।

(ख) ऐतरेय उपनिषद् में 'जल' के क्रम से—"**सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्य-अमूर्च्छयत्**" (१.१.३)=उस परमात्मा ने जलों से ही पुरुष का उद्भव कर उसको बढ़ाया।

(ग) वेदों में 'पुरुष' संज्ञक परमात्मा से—"**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्**" (यजु० ३१.२)=वह 'पुरुष' संज्ञक परमात्मा इस त्रिकालस्थ जगत् का रचयिता है।

(घ) वेदों में 'हिरण्यगर्भ' संज्ञक परमात्मा से—"**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**" (ऋग्०

उत्तर—इसमें सब सच्चे [हैं][१], कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है; क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम [से],[२] और जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है [तब][३] अग्न्यादि क्रम से, और जब विद्युत्=अग्नि का भी प्रलय (नाश) नहीं होता तब जलादि क्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। 'पुरुष' और 'हिरण्यगर्भ' आदि सब नाम परमेश्वर के ही हैं, **[यह] प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं।**

शास्त्रों के अविरोध के विषय में भी पूर्व[४] लिख आये हैं[५], परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक

१०.१२१.१)='हिरण्यगर्भ' परमात्मा जगत् की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान था। वही भूतों=प्राणियों-अप्राणियों का उत्पादक है।

(ङ) मीमांसा दर्शन में 'कर्म' से—द्रष्टव्य १०.३.५७ और १२.४.१६ सूत्र अर्थात् कर्म किये बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता।

(च) वैशेषिक दर्शन में 'काल' से—''**नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति**'' ''**कारणे कालः**'' (२.२, ९, ५.२.२६, ७.१.२५)=नित्य तत्त्वों में प्रयोग न होने से और अनित्य पदार्थों में काल का व्यवहार अथवा काल की उपादेयता होने से 'काल' ही उनका कारण है। जैसे निश्चित ऋतु में ही निश्चित पदार्थ की उत्पत्ति होती है। बिना समय लगे कोई कार्य नहीं हो सकता, प्रत्येक कार्य में समय लगता है, आदि।

(छ) न्यायदर्शन में 'परमाणु' से—''**न प्रलयोऽणुसद्भावात्**'' (४.२.१६)=परमाणु दशा में वस्तुतत्त्व के विद्यमान रहने से=नित्य होने से परमाणु का प्रलय नहीं होता अर्थात् फिर उसी उपादान कारण से सृष्टि उत्पन्न होती है। द्र० ४.२.२५ सूत्र भी। बिना परमाणु रूप उपादान के सृष्टि नहीं बन सकती।

(ज) योगदर्शन में 'पुरुषार्थ' से—''**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्**---'' (४.३४)=पुरुष की प्रयोजन सिद्धि के लिए शून्य हुए सत्त्व, रज, तम गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना 'कैवल्य' है। जब ये गुण पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिए सक्रिय होते हैं तो उस 'पुरुषार्थ प्रवृत्ति' का नाम सृष्टि उत्पत्ति है।

(झ) सांख्यदर्शन में 'प्रकृति से'—''**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्**----'' द्रष्टव्य अर्थ इसी समुल्लास में पृष्ठ ३७५ पर। इन तत्त्वों के मेल के बिना सृष्टि नहीं बन सकती।

(ञ) वेदान्तदर्शन में 'ब्रह्म' से—''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'', ''**जन्माद्यस्य यतः**'' (१.१.१,२)=वह ब्रह्म ही है जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, प्राणियों का जन्म आदि होते हैं। वह मुख्य निमित्त कारण है और सदा 'सत्' है। बनाने वाला ब्रह्म न हो तो कुछ भी नहीं बन सकता। इन सभी शास्त्रों का एक ही प्रतिपाद्य है—'**सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करना।**' उसमें उपयोगी सभी तत्त्वों या कारणों की व्याख्या इन शास्त्रों ने की है।

१-३. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ और त्रुटित आवश्यक पद**—मूलह० का उपर्युक्त शुद्ध पाठ मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**आकाशादि क्रम अर्थात्**'' अशुद्ध है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में क्रमशः ''**है**'' ''**से**' और '**तब**' पद त्रुटित हैं। ये तीनों पद अपेक्षित हैं।

४. **शास्त्रों में अविरोध का अन्यत्र उल्लेख**—द्रष्टव्य यही विषय तृतीय समु० में पृ० १३६/५ पर।

५. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से पाठत्रुटि और अस्त-व्यस्त पाठ की कहानी**—मूलहस्त० में यह पाठ है—''**पुरुष और हिरण्यगर्भादि परमेश्वर ही के नाम हैं। शास्त्रों के अविरोध के विषय में पूर्व लिख भी आये हैं**''। परन्तु मुद्रणह० में प्रमादी मुद्रणलिपिकर मूलहस्त के लेख की पूरी एक पंक्ति असावधानी से छोड़ गया। तब उसने यह पाठ लिखा—''**पुरुष और हिरण्यगर्भादि पूर्व लिख भी आये हैं**'', फिर मुद्रणह० में संगति लगती न देख शोधक ने बीच में दो स्थानों पर दो वाक्यांश अपने अनुमान से जोड़े, मूलहस्त० से पाठ नहीं मिलाया। तब मुद्रणहस्त० में यह पाठ बना—''**पुरुष और हिरण्यगर्भादि प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं, वे सब नाम परमेश्वर के हैं, परन्तु विरोध....।**'' अनुमान से बढ़ाये गये पाठ में अस्तव्यस्त वाक्य है और यह महर्षिप्रोक्त महत्त्वपूर्ण वाक्य पूर्णतः छूट गया—''**शास्त्रों के अविरोध के विषय में पूर्व भी लिख आये हैं।**'' यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है, आज भी द्वि०सं० में छप रहा है। मूलप्रति सं० में मूलह० और मुद्रणह० के सम्पूर्ण पाठ को ग्रहण कर लिया है किन्तु यह पाठ आगे-पीछे किया है—''**पुरुष और हिरण्यगर्भादि वे सब नाम परमेश्वर ही के हैं, प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं।**'' इस संस्करण में किये सामान्य संशोधन के साथ मूलसं० का पाठक्रम अधिक ग्राह्य है। यही अस्त-व्यस्त पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि संस्करणों में है। पाठक देखें कि मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला

कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध, देखो इस प्रकार है—

मीमांसा में—ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाय।

वैशेषिक में—समय लगे विना, बने ही नहीं।

न्याय में—उपादानकारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता।

योग में—विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय, तो नहीं बन सकता।

सांख्य में—तत्त्वों का मेल न होने से, नहीं बन सकता। और—

वेदान्त में—बनानेवाला न बनावे, तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न हो न सके।

इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें, वैसे ही सृष्टिरूप एक कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।

जैसे पांच अन्धों[१] और एक मन्ददृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। फिर उनसे पूछा कि हाथी कैसा है? उनमें से एक ने कहा—खम्भे [जैसा][२], दूसरे ने कहा—सूप [जैसा][३], तीसरे ने कहा—मूसल [जैसा][४], चौथे ने कहा—झाड़ू [जैसा][५], पांचवें ने कहा—चौतरे [जैसा],[६] और छठे ने कहा—काला-काला चार खम्भों के ऊपर कुछ भैंसे-जैसा[७] आकारवाला है।

इसी प्रकार आजकल के अनार्ष, नवीन ग्रन्थों के पढ़नेवालों[८] और प्राकृत-भाषावालों[९] ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर, नवीन क्षुद्रबुद्धि-कल्पित संस्कृत और भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर, एक दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इनका कथन बुद्धिमानों के वा अन्यों[१०] के मानने योग्य नहीं। क्योंकि जो 'अन्धों के पीछे अन्धे चलें' तो दुःख क्यों न पावें? वैसे ही आजकल के अल्प-विद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करनेवाली है।

प्रश्न—जब कारण के विना कार्य नहीं होता तो कारण का कारण क्यों नहीं?

उत्तर—अरे भोले भाइयो! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते? देखो, संसार में दो ही पदार्थ होते हैं, एक कारण दूसरा कार्य। जो कारण है, वह [उस समय][११] कार्य नहीं, और जो जिस

से पाठ का क्या से क्या रूप हो गया! सत्यार्थप्रकाश की भाषा में जो अनेकानेक पाठान्तर और विकृतियां आई हैं, वे ऋषि के दूसरे ग्रन्थों में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि सत्यार्थप्रकाश के लिपिकर अयोग्य और शोधक मक्कार थे।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पांच अन्धे**" अपप्रयोग है, द्वितीया विभक्ति में "**पांच अन्धों को**" शुद्ध है।

२-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में सभी उदाहरणों के साथ "**जैसा**" पद त्रुटित है। यह संशोधन और बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ आवश्यक है। आगे "**भैंसे-जैसा**" प्रयोग अपेक्षित है। सभी सं० में त्रुटित-अपूर्ण पाठ है।

८. **अप एवं त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलह०, मूलप्रति सं० में "**पढ़ने**" पाठ है, यहां '**पढ़नेवालों**' वांछनीय है।

९. **मुद्रणप्रति में पाठत्रुटि एवं शोधक द्वारा अनुमान से पाठ शोधने का परिणाम**—मुद्रणलिपिकर ने मूलह० के ऋषिलिखित पाठ में अक्षर-त्रुटि करके पाठ लिखा—"**प्राकृतभा वालों**"। किसी शोधक ने इसको बना दिया—"**प्राकृतभाव वालों**"। यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० में है। द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० में भी संशोधित कर लिया है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**अन्यों**" बहुवचन प्रयोग चाहिए।

११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस स्थल पर सभी सं० में '**उस समय**' यह बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ चाहिए, क्योंकि उसके बिना ग्रन्थकार का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। अगला वाक्यांश जिस शैली का है उसी शैली का प्रयोग इस पूर्व वाक्यांश में अपेक्षित है।

समय कार्य है, वह कारण नहीं। जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता, तब तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता—

नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां[१] परम-सूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते॥

अनादि, नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न[२] जो परमसूक्ष्म, पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, और [उन] संयोग-विशेषों से अवस्थान्तर [होकर][३] दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से 'सृष्टि' कहाती है।

भला, जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलाने-वाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता, वह[४] **'कारण'** और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता, वह **'कार्य'** कहाता है। जो उस कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य कहता[५] है, वह देखता [हुआ][६] अन्धा, सुनता [हुआ][७] बहिरा और जानता हुआ मूढ़ है। क्या आँख की आँख, दीपक का दीपक और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है? **जो जिससे उत्पन्न होता है वह 'कारण', और जो उत्पन्न होता है वह 'कार्य' है; और जो कारण को कार्यरूप बनानेहारा है, वह 'कर्त्ता' कहाता है।**

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ भगवद्गीता [अ० २। श्लोक १७]॥

कभी **'असत्'** का भाव=वर्त्तमान और **'सत्'** का अभाव=अवर्त्तमान, नहीं होता। इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने जाना है। अन्य पक्षपाती, आग्रही, मलिनात्मा, अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं? क्योंकि **जो मनुष्य विद्वान्, सत्सङ्गी होकर पूरा विचार नहीं करता, वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य हैं वे पुरुष कि जो सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं, जानकर अन्यों को निष्कपटता से जनाते हैं!** इससे जो कोई कारण के विना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता।

जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी

१,२. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**नित्यायाः.....उत्पन्नानां**" तथा हिन्दी अनुवाद "**अनादि....प्रकृति से उत्पन्न**" ऋषि द्वारा परिवर्धित एवं लिखित है। मूलसं० में वहीं से गृहीत है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर क्रमशः **'उन'** और **'होकर'** पद त्रुटित हैं।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ है—"**उसको कारण.....कार्य कहाता है।**" यहां "**वह कारण**" पाठ शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **द्वि०सं० में अपप्रयोग**—द्वि०सं० में **'कहाता'** अपप्रयोग है, दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलसं० का "**कहता**" पाठ ग्राह्य है।

६-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, दोनों स्थानों पर **'हुआ'** क्रियापद त्रुटित है, जो आवश्यक है।
संशोधन-पुष्टि—वाक्यान्त में "**जानता हुआ**" शुद्ध प्रयोग है।

प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम '**महत्तत्त्व**', और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम '**अहङ्कार**', और अहङ्कार से भिन्न-भिन्न पांच '**सूक्ष्मभूत**'; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण '**पांच ज्ञानेन्द्रियाँ**'; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच '**कर्म-इन्द्रियां**' हैं और ग्यारहवां '**मन**' [ये] कुछ स्थूल उत्पन्न होते हैं[१]। और उन '**पञ्चतन्मात्राओं**' से अनेक स्थूल-अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से '**पांच स्थूलभूत**' जिनको हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियां, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। **परन्तु आदि-सृष्टि मैथुनी सृष्टि नहीं होती,** क्योंकि जब परमात्मा स्त्री-पुरुषों के शरीर बनाकर, उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।

देखो! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़; नाड़ियों का बन्धन; मांस का लेपन; चमड़ी का ढक्कन; प्लीहा, यकृत्, फेफड़ा पंखा-कला का स्थापन; रुधिरशोधन-प्रचालन; विद्युत् का स्थापन;[२] जीव का संयोजन; शिरोरूप मूलरचन; लोम-नखादि का स्थापन; आँख की अतीव सूक्ष्म शिराओं का तारवत् ग्रन्थन; इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन; जीव के जाग्रत,[३] स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं[४] के भोगने के लिये स्थानविशेषों का निर्माण; सब धातुओं का विभागीकरण;[५] कला-कौशल-स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन कर सकता है? इसके अतिरिक्त[६] नाना प्रकार के रत्नों-धातुओं से[७] जड़ित भूमि; विविध प्रकार के[८] वटवृक्ष आदि के बीजों में[९] अति सूक्ष्मरचना; असंख्य रक्त, हरित, श्वेत[१०], पीत, कृष्ण, चित्र,

---

१. **अपपाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में स्पष्टार्थ और व्याकरणिक दृष्टि से इस सं० में अंकित बहुवचनात्मक वाक्यरचना अभीष्ट है। इसका एक कारण यह है कि अहंकार से उत्पन्न अनेक पदार्थ हैं। दूसरा, यहां यह संदेह होता है कि मन इन्द्रियों से कुछ स्थूल उत्पन्न होता है, जबकि ऐसा नहीं है। प्रचलित वाक्य है—"**और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है।**" **संशोधन-पुष्टि**—इस प्रसंग में कारण से उत्पन्न उसके कार्य को क्रमशः स्थूल से स्थूलतर बताया जा रहा है। इसका भाव यह है कि बाद वाला कार्य-वर्ग अपने कारण-वर्ग से कुछ स्थूल होता जाता है—"प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है....उससे कुछ स्थूल.....अहंकार.....पंचतन्मात्राओं से स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत....।" इसी शैली में यहां यह कथन है कि कारणरूप अहंकार से जो पांच सूक्ष्मभूतों और ग्यारह इन्द्रियों का कार्य वर्ग उत्पन्न होता है वह अर्थात् ये सत्रह पदार्थ अहंकार से कुछ स्थूलरूप उत्पन्न होते हैं, अकेला मन ही नहीं। द्र० पंचभूतों का क्रमशः स्थूलस्वरूप पृ० ४१४ पर।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में यह पाठ त्रुटित छोड़ा है—"**रुधिर....स्थापन।**" द्विप्र०, वेस, जग, युमी, विस, उदयपुर में त्रुटित है, द्वि०सं०, भद में गृहीत है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**शिरा का**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है। यहां बहुवचनात्मक "**शिराओं का**" प्रयोग अपेक्षित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जागृत**" अपप्रयोग है, '**जाग्रत**' शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में रचनात्मक दृष्टि से यह अपवाक्य है—"**जीव के जागृत, स्वप्न, सुषप्ति अवस्था के...**"। यहां "**अवस्था**" पद में बहुवचनात्मक प्रयोगयुक्त वाक्य वांछनीय है, क्योंकि अवस्थाएं तीन हैं।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**धातु का विभाग-करण**" के स्थान पर बहुवचनात्मक "**धातुओं का विभागीकरण**" चाहिए। सभी सं० में अपपाठ है।

६. **मुद्रणकाल में अप-अनुवाद**—द्विप्र०, द्वि० सं० में "**इसके विना**" के स्थान पर "**इसके अतिरिक्त**" पाठ अपेक्षित है। मूलसं० में शुद्ध है। दोनों हस्त० में यहां "**सिवाय**" पद था जो ठीक था। हिन्दीकरण करते समय शोधक (पं० ज्वालादत्त) ने अशुद्ध अनुवाद कर दिया।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**रत्न धातु से जड़ित**' अपप्रयोग है, बहुवचनान्त "**रत्नों-धातुओं से जड़ित**" शुद्ध है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० यहां कारक प्रत्यय '**के**' त्रुटित है, जो ग्राह्य है।

९. **मुद्रणलिपिकर कृत भ्रष्टपाठ**—मूलहस्त० में शुद्ध पाठ है। लिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने "**जीवों में**" भ्रष्टपाठ बना

मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, मूल-निर्माण; मिष्ट, क्षार, कटुक, कषाय, तिक्त, अम्लादि विविध रस; सुगन्धादियुक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द, मूलादि-रचन; अनेकानेक करोड़ों भूगोल, सूर्य, चन्द्रादि लोक-निर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता।

जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। एक—जैसा वह पदार्थ है [उसका ज्ञान][१] और दूसरा—उसकी[२] रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान[३], जैसे[४] किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जंगल में पाया। देखा, तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार इस[५] नाना प्रकार [की][६] सृष्टि में विविध रचनायें,[७] [इसके][८] बनानेवाले '**परमेश्वर**' को सिद्ध करती हैं।

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की?

उत्तर—पृथिवी आदि की; क्योंकि पृथिव्यादि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।

प्रश्न—सृष्टि के आदि में एक-दो मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा अनेक?[९]

उत्तर—अनेक; क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म ईश्वर ने आदिसृष्टि में किया।[१०] क्योंकि—

दिया। यही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में शुद्ध कर दिया है। मूलह० और मूलसं० में शुद्ध है।

१०. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—दोनों अयोग्य लिपिकरों ने "**स्वेत**" अपवर्तनी लिखी है। यही अशुद्ध वर्तनी द्विप्र० में है। द्वि०सं० और मूलसं० ने संशोधन कर लिया है।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**उसका ज्ञान**' पाठ वांछनीय है, उसके बिना वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता।

२-४. **अपप्रयोग एवं अनावश्यक क्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में क्रमशः "**उसमें**" पद के स्थान पर '**उसकी**' प्रयोग चाहिए। दोनों ही हस्त० और तीनों सं० में "**ज्ञान**" पद के बाद "**है**" क्रिया निरर्थक है। आगे सभी में "**जैसा**" अपप्रयोग है।

५. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**यह**" के स्थान पर '**इस**' प्रयोग अपेक्षित है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**की**' सम्बन्ध प्रत्यय त्रुटित है, अतः ग्राह्य है।

७. **अपप्रयोग**— दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनान्त "**रचना**" के स्थान पर '**रचनायें**' प्रयोग होना चाहिए।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में यहां '**इसके**' पद त्रुटित रह गया है, यह ग्राह्य है।

९,१०. **मुद्रणहस्तलेख में अशुद्ध पाठ-परिवर्तन**—मूलहस्त० में, इस सं० में ऊपर उद्धृत पाठ है। मुद्रणहस्त० में भी प्रथम यही पाठ लिखा गया है। मुद्रणप्रति में अनुमान से इसके साथ काट-पीट की, जिसके कारण इन प्रश्नोत्तरों का अपपाठ हो गया। तब यह पाठ बनाया—"**(प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा क्या ? (उत्तर) अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है।**" अब देखिए, इस प्रश्न के दो ही पक्ष हैं एक वा अनेक, फिर "**वा क्या**" पाठ निरर्थक है। 'एक' व्यक्ति के उत्पन्न करने का प्रश्न युक्तियुक्त बनता ही नहीं, क्योंकि दो के बिना सृष्टि चल ही नहीं सकती। मूलहस्त० के महर्षिप्रोक्त प्रश्नवाक्य में दोनों ही त्रुटियां नहीं हैं। बहुत ही सटीक प्रश्न है—"**एक-दो मनुष्य उत्पन्न किये थे वा अनेक ?**" पहले पक्ष के अर्थ में '**दो**' या '**थोड़े-से**' दोनों अर्थ संगत बनते हैं।

मुद्रणहस्त० के उत्तरवाक्य में दोनों वाक्यांशों की क्रियाओं का कालसम्बन्धी तालमेल ही नहीं है। "**कर्म थे**" भूतकालीन क्रिया है, "**देता है**" शाश्वत-वर्तमान काल की क्रिया है। उत्तरवाक्य के अन्तिम अंश का, प्रश्नवाक्य की क्रिया के साथ भी कालसम्बन्धी तालमेल नहीं है। ये व्याकरणिक त्रुटियां मूलहस्त० के महर्षिप्रोक्त पाठ में नहीं हैं, अतः मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। यही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि संस्करणों में है, अतः उनका पाठ अग्राह्य है। मूलसं० ने अपना शुद्ध पाठ छोड़कर मुद्रणह० में निर्मित अपपाठ ग्रहण किया है।

"साध्या ऋषयश्च ये"॥[१]

"ततो मनुष्या अजायन्त" यह यजुर्वेद [और उसके ब्राह्मण] में लिखा है।[२]

[यजु० ३१। ९; शत० ब्रा० कां० १४। प्रपा० १। ब्रा० २। कं० ५]

इन प्रमाणों[३] से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों-सहस्त्रों[४] मनुष्य उत्पन्न हुए। और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक मा-बाप के सन्तान हैं।[५]

प्रश्न—आदि सृष्टि में मनुष्य आदि की बाल्य, युवा वा वृद्ध-अवस्था में[६] सृष्टि हुई थी, अथवा तीनों में?

उत्तर—युवावस्था में; क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता, तो उनके पालन के लिये दूसरे मनुष्य आवश्यक होते, जो वृद्धावस्था में बनाता, तो मैथुनी-सृष्टि न होती। इसलिये युवावस्था में सृष्टि की है।

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रथमारम्भ है,[७] वा नहीं?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि, [यह[८]] अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसका आदि वा अन्त

१-२. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पहला उद्धरण "**मनुष्या ऋषयश्च ये**" मिलता है। यह पाठ सम्पूर्ण यजुर्वेद में नहीं है। दूसरा उद्धरण "**ततो मनुष्या अजायन्त**" उद्धृत है। यह भी यजुर्वेद में उपलब्ध नहीं है। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** आदि विद्वानों का यह मत है कि पहला उद्धरण "**साध्या ऋषयश्च ये**" के रूप में यजु० में मिलता है जिसका अर्थ समान है। अत: संभव है कि श्रवणभ्रान्ति से "**मनुष्या:**" पाठ लिखा गया हो। दूसरा उद्धरण यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में मिलता है, अत: उन्होंने कोष्ठकान्तर्गत पाठ बढ़ाकर पाठ को संगत बनाया है—"यह बृह०उप० १.४.३ में भी मिलता है।" बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण का ही अंश है। यहां विद्वान् सम्पादकों के दोनों ही विचार ग्राह्य मानकर पाठ को संशोधित किया है। अन्य सभी सं० ने भी इनके अनुसार पाठ शुद्ध कर लिया है किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध मन्त्र पाठ है। विकल्पात्मक संशोधन उपलब्ध होने पर भी उन्होंने वेद मन्त्र को शुद्ध नहीं किया।

सिद्धान्तविरुद्ध टिप्पणी—उदयपुर सं० की यहां तुलनात्मक वेदमन्त्र पाठ माने जाने की टिप्पणी सिद्धान्तविरुद्ध है क्योंकि वेदमन्त्रों में पाठान्तर स्वीकार्य नहीं हैं। वेदमन्त्रों में नित्यवर्णानुपूर्वी का स्वीकृत सिद्धान्त है। और यदि किसी उद्धरण में तुलनात्मक पाठ को मानने लगेंगे तो फिर तो किसी भी उद्धरण के पाठ को अशुद्ध मानने की आवश्यकता नहीं। यथावत् उद्धरण-पाठ न मिलने पर केवल अभाव में ही तुलनात्मक लौकिक पाठ स्वीकृत किया जाता है।

स्वामी वेदानन्द जी ने यहां पदों को तोड़कर "**मनुष्या:**" को उपनिषद् का तथा "**ऋषय:**" को यजुर्वेद का वचन माना है। यह अवांछनीय शैली है। हस्तलेखों में तथा द्वितीय संस्करण में यह एक ही प्रमाण के रूप में लिखित है। पदों को तोड़कर पृथक्-पृथक् मन्त्र में ढूंढना अनर्थकारी सोच है, यह पृ० ४६३ पर टिप्पणी में बताया गया है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**इस प्रमाण से**" अपपाठ है। ऊपर दो प्रमाण होने के कारण यहां बहुवचनात्मक पाठ "**इन प्रमाणों से**" वांछित है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर आदि सं० में यह अपपाठ है।

४. **मुद्रणकालीन अपवर्तनी**—द्विप्र० में, मुद्रणकाल में "**हजारह**" के स्थान पर "**सहस्त्रों**" अपवर्तनी मिलती है। अन्य सभी ने इसको शुद्ध कर लिया है किन्तु उदयपुर सं० में यही अशुद्ध रूप है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—"**ऋषयश्च ये.....उत्पन्न हुए**" तक पाठ मूलह० में ऋषि हस्तलेख में परिवर्धित है। "**और सृष्टि में....सन्तान है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलप्रति सं० में वहीं से गृहीत है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध पाठ परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह अशुद्ध पाठ है—"**बाल्या, युवा वा वृद्धावस्था**"। युमी और भद में संशोधित है किन्तु वेस, जग और उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—नासमझ मुद्रणलिपिकर ने मूलह० के "**के प्रथमारम्भ**" विशिष्टार्थक प्रयोग के स्थान पर "**प्रारम्भ**" बदलकर लिख दिया। दोनों में अर्थभेद है। सभी द्वि०सं०, उदयपुर में अपपाठ है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**यह**' पद-परिवर्धन उपयुक्त वाक्यसंगति के लिए अपेक्षित है।

नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि-अन्त होता रहता है। क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण, ये तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय[१] प्रवाह से अनादि हैं। जैसे,[२] नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता, कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, उसी प्रकार[३] उसके कर्तव्य-कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म; किन्हीं को सिंह-आदि क्रूर जन्म; किन्हीं को हिरण, गाय आदि पशु [जन्म];[४] किन्हीं को वृक्ष-आदि, किन्हीं को कृमि, कीट, पतङ्ग-आदि जन्म दिये हैं। इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

उत्तर—पक्षपात नहीं आता; क्योंकि उन जीवों के पूर्व-सृष्टि में किये हुए कर्मों के अनुसार व्यवस्था करने से। जो कर्म के विना जन्म देता, तो पक्षपात आता।

प्रश्न—मनुष्यों की आदि-सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर—'**त्रिविष्टप**'[५] अर्थात् जिसको '**तिब्बत**' कहते हैं।

प्रश्न—आदि-सृष्टि में एक जाति थी, वा अनेक?

उत्तर—एक मनुष्यजाति थी। पश्चात्—

"**विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः।**" यह ऋग्वेद का वचन है[६] [१।५१।८]॥

श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान्, देव; और दुष्टों का[७] 'दस्यु' अर्थात् डाकू, मूर्ख और अनाड़ी नाम होने

---

१. **अपपाठ**—मूलह० में यहां कुछ पाठ त्रुटित रह गया था। शोधन समय शोधक ने अपपद लिखा—"**वर्तमान**"। वर्तमान अर्थ का बोधक "**स्थिति**" पद तो पहले ही वाक्य में विद्यमान है। यहां "**प्रलय**" पद अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—नीचे तीसरी पंक्ति में यही शुद्ध पाठ द्रष्टव्य है। अशुद्ध पाठ मुद्रणह०, द्विप्र० में भी है। द्वि०सं० और मूलसं० में शुद्ध कर लिया है। भद, जग, युमी में मूल में अपपाठ है। वेस, उदयपुर सं० में संशोधित है।

२,३. **अपप्रयोग**—द्वि० सं० में यहां "**वैसे**" अपप्रयोग है, "**जैसे**" उचित है पूर्वापर में दूसरे वाक्यों में इसी पद का प्रयोग है। आगे दोनों ही सं० में "**इसी प्रकार**" के स्थान पर "**उसी प्रकार**" पाठ अपेक्षित है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में यहां "**जन्म**" पद त्रुटित रह गया है, स्पष्टार्थक वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

५. **त्रिविष्टप का परिचय**—'**त्रिविष्टप**' संस्कृत का शब्द है जिसका अर्थ है 'त्रि+विष्टपम्=तीन भुवन अर्थात् लोक'। यह स्वर्ग लोक, देवलोक, त्रिदिव, त्रिदशालय, देवालय, सुरलोक, इन्द्रलोक आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्राचीन इतिहास के अनुसार हिमालयस्थ मेरुप्रदेश और उसके आस-पास के क्षेत्रों के लिए उक्त नामों का प्रयोग होता था। 'त्रिविष्टप का ही विकृत रूप आज 'तिब्बत' प्रचलित है। प्राचीन भारतीय इतिहास की स्पष्ट मान्यता है कि आदि में मनुष्य सृष्टि का उद्भव हिमालय प्रदेश पर हुआ था। फिर वहीं से लोग चारों ओर जाकर बसे। [द्रष्टव्य, इसी समु० में पृ० ४०७ पर टिप्पणी]। त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्गलोक या देवलोक में ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देववंशी जनों का निवास एवं राज्य था। इस विषयक अनेक विवरण वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलते हैं।

६. **ऋषिहस्तलेख**—"**विजानीह्या.....वचन है**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**के**' सम्बन्ध प्रत्यय के स्थान पर '**का**' प्रयोग अभीष्ट है, क्योंकि आगे एक ही '**दस्यु**' नाम वर्णित है। अन्य नाम तो 'दस्यु' के अर्थ हैं जो कोशों में प्राप्त होते हैं। इन अर्थों का प्रयोग प्रकरणानुसार हुआ करता है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी अर्थ यहां अभिप्रेत हों और घटित हों।

से 'आर्य' और 'दस्यु' दो नाम हुए। [उसके पश्चात्—][1]

"उत शूद्र-उतार्ये" अथर्ववेद का वचन है[2] [१९।६२।१]।

आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। विद्वानों का नाम 'आर्य' और द्विज, मूर्खों [=विद्यारहितों] का नाम 'शूद्र' और 'अनार्य' अर्थात् 'अनाड़ी' नाम हुआ।[3]

---

१. **आवश्यक संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन, प्रसंग को समझने के लिए अत्यावश्यक है, जैसे मनुष्य जाति की उत्पत्ति के बाद दो पंक्तिपूर्व '**पश्चात्**' पद है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां अशुद्ध पता लिखा है—"**ऋग्वेद वचन**"। द्वि०सं० में आज भी अशुद्ध पाठ है, जबकि पृ० ४११ पर इसी प्रमाण के सामने '**अथर्ववेद**' पद हटाकर "**वेद का प्रमाण**" कर दिया है। वस्तुत: यह अथर्ववेद का वचन है। मूलप्रति सं० में यह संशोधित पाठ है। सभी अन्य सं० में बिना किसी विवाद के संशोधन कर लिया है। किन्तु **पं० मीमांसक जी** ने केवल टिप्पणी में संशोधन दर्शाया है, जो मूलपाठ के शुद्धीकरण की दृष्टि से व्यर्थ है।

३. **शूद्र आर्य एवं सवर्ण हैं**—(क) यहां सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए वर्णोत्पत्ति का वर्णन किया है। पहले बताया कि सृष्टि-उत्पत्ति के समय अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए। फिर उनमें दो विभाग गुणों के आधार पर किये गये—१. मनुष्यों में जो श्रेष्ठ, शिक्षित और विद्वान् हुए उनको '**आर्य**' नाम दिया गया, २. जो दुष्ट, अपराधी, डाकू, मूर्ख रहे, उनको '**दस्यु**' गुणवाचक नाम दिया गया। यह आदि मानव-सृष्टि का वर्णन है। बाद में इन शब्दों के अन्य अर्थ भी प्रचलित हो गये। उन अर्थों से इस प्रसंग में ग्रन्थकार का कोई अभिप्राय नहीं है।

(ख) तत्पश्चात् जो आर्य-समुदाय था उसमें वेदों के आधार पर चार वर्णों की सामाजिक व्यवस्था निर्मित हुई। उसमें जो **द्विज=द्विजन्मा** अर्थात् शिक्षा-दीक्षा रूप दूसरा 'ब्रह्म जन्म' पाने वाले थे उनको शिक्षा-दीक्षा के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम दिया गया और जो आर्यों में शिक्षा-दीक्षा न प्राप्त करके अशिक्षित रहे अथवा मन्दमति होने से मूर्ख थे उनको '**शूद्र**' नाम दिया गया। इस 'वैदिक वर्णव्यवस्था' का ही नाम गुण-कर्म योग्यता पर आधारित 'आर्य वर्णव्यवस्था' है। इसके अनुसार व्यक्ति जन्म के आधार पर नहीं अपितु गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर वर्ण प्राप्त करता है। किसी भी कुल में उत्पन्न होनेवाला बालक या व्यक्ति स्वेच्छा और योग्यता से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके किसी भी वर्ण को ग्रहण कर सकता है। व्यक्ति रुचि-अनुसार इनका वरण करता है इसीलिए इनका '**वर्ण**' नाम है, क्योंकि वर्णव्यवस्था में '**वर्ण**' बालक द्वारा स्वयं '**वरण**' किये जाते हैं। आजकल की जातियों ब्राह्मण या शूद्र आदि का वैदिक सामाजिक व्यवस्था या महर्षि मनु की वर्णव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु वह विरोधी व्यवस्था है। यदि कोई व्यक्ति वर्तमान जन्मना जाति का उस काल के वर्णों से सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह बलात् अपने को वर्णों पर थोपता है अथवा वर्णनामों को बलात् अपने पर थोप रहा है। आजकल की ब्राह्मण या शूद्र जातियां जन्मना जातिवाद द्वारा निर्मित हैं, कर्मणा वर्णव्यवस्था द्वारा संचालित नहीं हैं। वैदिक वर्णव्यवस्था के अनुसार और यहां वर्णित चारों वर्ण आर्य एवं सवर्ण हैं और वे निर्धारित कर्मों के आचरण और त्याग के अनुसार उच्च-निम्न वर्ण में बदल जाते हैं।

(ग) '**आर्य**' शब्द 'ऋ-गतौ' धातु से बना है जिसके तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन, प्राप्ति। इस प्रकार जो ज्ञान या शिक्षा प्राप्त करने वाला है, उसका नाम भी '**आर्य**' है और इसके विपरीतार्थक रूप में अशिक्षित को, अविद्यायुक्त या मूर्ख को '**अनार्य**' कहा जाता है। मूर्ख के अर्थ महर्षि ने "**विद्याहीन**", "**विद्यारहित**", "**अविद्यायुक्त**" किये हैं (पृ० २५८/२, ३६७/१, १७०/१५ आदि)। महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि शूद्र जन्म से नहीं होता अपितु "**पढ़ने-पढ़ाने से जिसको कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है**" (१४०/१२) एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। प्रकरण और वक्ता के आशय को देखकर जो अर्थ किया जाता है वही सही होता है, अन्य नहीं। '**अनार्य**' के भी अनेक अर्थ हैं। "अनार्य" का अपभ्रंश '**अनारी**' या '**अनाड़ी**' आज भी चलता है। अनाड़ी का वर्तमान में प्रचलित अर्थ भी '**अविचारशील**' और '**अशिक्षित**' है। वर्णव्यवस्था में भी '**अनार्य**' शूद्र की अशिक्षित स्थिति का बोधक गुणवाचक प्रयोग है, वर्णनिर्धारक नहीं। देखिए, ग्रन्थकार ने यहां स्वयं अर्थ स्पष्ट कर दिया है—"**अनार्य अर्थात् अनाड़ी**"। व्यवहार में ऐसे ही हम किसी को भी अनाड़ी कह देते हैं, उससे उसका वर्णनिर्धारण नहीं होता। संस्कृत साहित्य में मूर्खतापूर्ण या अविचारित काम करनेवाले द्विजों के लिए भी '**अनार्य**' विशेषण मिलता है। गीता में कृष्ण विषादग्रस्त आर्य-क्षत्रिय अर्जुन को कहते हैं—"**अनार्य-जुष्टमस्वर्ग्यम्**"='श्रेष्ठता या समझदारी से रहित और दु:खद' (गीता २.२) यहां कृष्ण अर्जुन का वर्ण नहीं कह रहे, और न इस कथन से अर्जुन 'अनार्य' हो गये, यहां अर्जुन को 'अविचारशील' कह रहे हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण में राम को वनवास देने के कारण आर्य-क्षत्रिय दशरथ स्वयं के लिए कह रहे हैं—"**अनार्यमिति मामार्या:**" (अयो० १२.७८) अर्थात् श्रेष्ठजन अब मुझे 'अनार्य' कहेंगे,='बुरा' कहेंगे। क्या इस प्रयोग से दशरथ 'अनार्य' समुदाय के बन गये? इसी प्रकार आर्या-क्षत्रिया कैकेयी को कई बार '**अनार्या**' कहा गया है—"**अनार्या....कैकेयी**" (अयो० ९२.२५-२७) अर्थात् दुष्टा कैकेयी। तो क्या कैकेयी 'अनार्य वर्ण' की हो गई? इसी प्रकार यहां

प्रश्न—फिर वे यहां कैसे आये?

उत्तर—जब आर्य और दस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव, अविद्वान् जो असुर, उनमें सदा लड़ाई-बखेड़ा हुआ किया। जब बहुत उपद्रव होने लगा, तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर बसे। इसी से इस देश का नाम '**आर्यावर्त**' हुआ।

प्रश्न—आर्यावर्त की अवधि कहां तक है?

उत्तर—आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ १॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्तं[1] प्रचक्षते॥ २॥

मनु० [२।२२; १७]॥

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र॥ १॥

भी शूद्र के लिए 'अनार्य' पद वर्णबोधक नहीं अपितु अशिक्षित स्थिति का बोधक प्रयोग है। दुराग्रही लोग जानबूझकर अर्थ का अनर्थ किया करते हैं। 'अनाड़ीपन' का गुण या भाव ब्राह्मण, शूद्र, डाकू, स्त्री, दस्यु, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख किसी में भी हो सकता है। इनको 'अनाड़ी' कहने का यह अर्थ कभी नहीं होता कि ये सब एक मत या वर्ण के हो गये। इस प्रकार जो लोग 'अनार्य' शब्द के प्रयोग-मात्र से 'शूद्र' और 'दस्यु' में एकीभाव स्थापित करने की भ्रान्ति पैदा करते हैं, वे भी वास्तव में अनाड़ी (=अनार्य) हैं।

(घ) वेदों के अनुसार, आर्यों की कर्मणा वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत चार वर्णों में होने से शूद्र आर्य एवं सवर्ण हैं (द्रष्टव्य ऋग्० १०.९०.११-१२, यजु० ३१.१०, अथर्व० १९.६.५-६ आदि)। यही महर्षि मनु एवं महर्षि दयानन्द की मान्यता है।

(ङ) वैदिक वर्णव्यवस्था में अशिक्षित को ही '**शूद्र**' माना गया है, जन्म के आधार पर नहीं। महर्षि ने भी लिखा है—''**जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है।**'' (सत्यार्थप्रकाश, ३ समु० १४०/१२)। अतः यहां 'अनार्य' का वर्णवाचक अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए।

अपने सभी ग्रन्थों में महर्षि ने यही मान्यता प्रकट की है कि ऊपर के तीन वर्णों की शिक्षा-दीक्षा न प्राप्त करने वाला बालक या व्यक्ति 'शूद्र' होता है। आजकल की कथित शूद्र जातियां महर्षि के मतानुसार 'शूद्र' नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कर्मणा व्यवस्था के अनुसार भी जो शूद्र होता है, उसको भी महर्षि इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर वेदाध्ययन, धर्मानुष्ठान आदि का अधिकार देते हैं और द्विजों के द्वारा सम्माननीय मानते हैं। (विस्तृत जानकारी के लिए पढ़िए सम्पादक रचित पुस्तक—'**महर्षि मनु बनाम डॉ० अम्बेडकर**')।

१. **पाठान्तर**—उपलब्ध मनुस्मृति में '**आर्यावर्त**' के स्थान पर '**ब्रह्मावर्त**' पाठ मिलता है। महर्षि ने उसके स्थान पर '**आर्यावर्त**' पाठ स्वीकार किया है। वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति के किसी पाठ में '**आर्यावर्त**' पद नहीं है। मनुस्मृति के अनुसार इस श्लोक में '**ब्रह्मावर्त**' प्रदेश की सीमा वर्णित है जो तत्कालीन '**आर्यावर्त**' का एक प्रदेश था।

'**आर्यावर्त**' **पाठ से हानि**—जिस किसी ग्रन्थ से ग्रन्थकार ने यह '**आर्यावर्त**' पाठ ग्रहण किया है, उस ग्रन्थ का रचयिता या सम्पादक भूगोल के मर्म का ज्ञाता नहीं था। 'आर्यावर्त' लुभावना शब्द था उसको देखकर उसने '**ब्रह्मावर्त**' के स्थान पर उसको रख लिया। इससे होनेवाली हानि का अनुमान नहीं किया। 'आर्यावर्त' पाठ ग्रहण करने से तीन हानियां हुई हैं—१. मनुस्मृति के पाठ में पाठान्तर होकर मनुस्मृति का परम्परागत प्रकरण विकृत हो गया और सीमाओं के निर्धारण में मतान्तर तथा पुनरुक्ति हो गई। २. '**ब्रह्मावर्त**' का नाम मिट कर उसका इतिहास नष्ट हो गया, जो भारत में आर्यों का आरम्भिक निवास-प्रदेश और आर्य-आचार का शिक्षा केन्द्र माना गया है। ३. 'आर्यावर्त' की पूर्वी-पश्चिमी सीमाएं वर्णित नदियों के आधार पर वर्णित करने पर बहुत कम हो गईं, क्योंकि स्वायम्भुव राजा मनु से लेकर पाण्डवों तक आर्यों के चक्रवर्ती साम्राज्यों में जो प्रदेश रहे हैं, वे प्रदेश इस सीमा से बाहर छूट गये; जैसे—पश्चिम में सिन्धु से पार गान्धार, कम्बोज, मद्र, वाह्लीक आदि वैदिक प्रदेश, जो कि इस समय पाकिस्तान और अफगानिस्तान के अन्तर्गत हैं और जहां महर्षि चरक, पाणिनि जैसे वैदिक विद्वान् हुए हैं। पूर्व में ब्रह्मपुत्र के पार कामरूप, मणिपुर, ब्रह्मदेश आदि। समुद्रों को सीमा मानने पर दोनों समुद्रों का सहवर्ती क्षेत्र दूर-दूर तक गृहीत हो जाता है, जहां तक कि पूर्व और पश्चिम समुद्रों की सीमाएं हैं। इस प्रकार समुद्रों द्वारा निर्धारित सीमाओं में और नदियों द्वारा निर्धारित सीमाओं में परस्परविरोध उत्पन्न हो जाता है। अन्य व्याख्याकार इन नदियों का अस्तित्व ब्रह्मावर्त (हरियाणा-पंजाब-राजस्थान का मिलता सीमाक्षेत्र) में मानते हैं। यही कारण है कि महर्षि को सरस्वती, दृषद्वती का भिन्न अर्थ लेना पड़ा है।

तथा सरस्वती पश्चिम में 'अटक' नदी,[१] जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके [अपने से] दक्षिण के समुद्र की खाड़ी [अर्थात् पश्चिमी समुद्र][२] में मिली है।[३] और पूर्व में 'दृषद्वती' जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके, बङ्गाले के और आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर[४] [अपने से] दक्षिण

---

१. **अटक नदी**—ग्रन्थकार ने अटक नदी के 'सिन्धु' और 'सरस्वती' नाम पर्याय माने हैं (द्र०पृ० ४०१ पर टिप्पणी संख्या ३ में अर्थ)। स्थानभेद से एक ही नदी को अनेक नामों से पुकारा जाता है। वर्तमान अफगानिस्तान के 'अटक' नामक नगर (संस्कृत में 'हाटक', जो कि कुभा=काबुल नदी के निचले क्षेत्र में है) के क्षेत्र में बहने के कारण इसको '**अटक नदी**' नाम प्राप्त हुआ, सिन्धु प्रदेश (वर्तमान पाकिस्तान) में प्रवाहित होने के कारण '**सिन्धु नदी**' नाम प्रसिद्ध हुआ, यह सरस्=झीलों वाली नदी है, अपने मार्ग में बड़ी-बड़ी झीलों का निर्माण करती हुई चलती है, अत: इसको '**सरस्वती**' भी मानते हैं।

प्राचीन काल में कई सरस्वती नदियों का उल्लेख मिलता है जिनमें इस नाम की दो नदियां अधिक प्रसिद्ध हैं—प्राची सरस्वती और प्रतीची सरस्वती। वर्तमान नदियों से इनके समीकरण में मतान्तर मिलते हैं।

२,५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—प्रत्येक विषय में कुछ पारिभाषिक और रूढ़ शब्द होते हैं। भूगोल में '**दक्षिण समुद्र**' भारतीय दक्षिण समुद्र के लिए रूढ़ है, अत: इन शब्दों को पढ़कर पाठक सन्देह में पड़ जाता है। महर्षि, दोनों नदियों के मिलने का जो दक्षिण समुद्र लिख रहे हैं, वह उन नदियों के उद्भव-प्रदेश उत्तर दिशा की अपेक्षा से दक्षिण दिशा का कथन है। दोनों नदियां उत्तर दिशा अर्थात् हिमालय से प्रकट होकर दक्षिण दिशा की ओर बहती हैं। मनुस्मृति के इस श्लोक में और वर्तमान भूगोल में उन समुद्रों का निर्धारित नाम '**पूर्व समुद्र**' और '**पश्चिम समुद्र**' है। जैसा कि प्रथम श्लोकार्थ में महर्षि ने ''**पूर्व और पश्चिम में समुद्र**'' लिखा है। स्पष्टता के लिए बृ० कोष्ठक में पाठ परिवर्धन किया जाना आवश्यक है।

३. **अस्त-व्यस्त पाठ**—सभी सं० में श्लोकार्थों का पाठ थोड़ा अस्त-व्यस्त है। '**अटक**' का नाम पहले आचुका, फिर '**दृषद्वती**' का नाम और विवरण है कि जिसको ''**ब्रह्मपुत्रा कहते हैं**'' इसके बाद पुन: अटक के दक्षिण समुद्र की खाड़ी में मिलने का यह कथन है—''**जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है।**'' यह पाठ ठीक है किन्तु क्रम से ऊपर ''**अटक नदी**'' के नामोल्लेख के बाद होना चाहिए, क्योंकि यह उसी से सम्बद्ध विवरण है। युमी और मूलप्रति सं० में इसको संशोधित करके ऊपर ''**अटक नदी**'' के बाद यथास्थान रख दिया है। यद्यपि ''**जो उत्तर के पहाड़ों से.....अटक मिली है**'' पाठ संगतियुक्त है, यदि इस वाक्य में ''**ब्रह्मपुत्रा कहते हैं**'' के बाद पूर्णविराम लगा दिया जाये और अटक के बाद नदी पद परिवर्धित कर दिया जाये। किन्तु उसमें क्रमबद्धता का अभाव है। मूलप्रति सं० का पाठ क्रमबद्ध और अधिक स्पष्ट है।

विद्वानों में पाठपरिवर्तन की अन्धपरम्परा—कभी-कभी विद्वान् सम्पादक से भी पाठ-निर्धारण में भूल हो जाती है और बाद का विद्वान् बिना विचारे उसको ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** के अशुद्ध पाठ का अनुकरण **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने किया है। ''**जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है**'' यह पाठ स्वामी वेदानन्द जी के चिन्तन में अटक गया। उन्होंने इसको अपपाठ मानकर ''**अटक**'' के स्थान पर '**आकर**' पाठ बना दिया। उसी का अविचारित अनुकरण करके पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने भी यह पाठ मूल पाठ में ग्रहण कर लिया। दोनों मान्य विद्वानों ने एक शुद्ध पाठ को और अधिक अशुद्ध बना दिया। देखिए, 'ब्रह्मपुत्रा' नदी का विवरण देने के बाद ग्रन्थकार ने इस वाक्य का आरम्भ करके बताया है कि 'उत्तर के पहाड़ों से निकलकर दक्षिण समुद्र की खाड़ी में '**अटक**' नदी मिली है।' क्योंकि अटक नदी के मार्ग का विवरण नाम के साथ पहले देना रह गया था, अत: उस अभाव की पूर्ति के लिए बाद में दिया गया है। बोलकर लिखाने में प्राय: शब्द और वाक्य आगे-पीछे हो जाते हैं। दोनों विद्वानों ने इस तथ्य को न समझकर ''**अटक**'' के स्थान पर ''**आकर**'' बना दिया। उससे पाठ में दो त्रुटियां उत्पन्न हो गईं—१. 'अटक' नदी के परिचय या विवरण का अर्थ में अभाव हो गया अर्थात् एक नदी 'दृषद्वती' का मार्ग-विवरण तो वर्णित हो गया किन्तु दूसरी नदी 'अटक' का रह गया। यह अपूर्णता-दोष उत्पन्न हो गया। २. 'ब्रह्मपुत्रा' नदी के मार्ग-विवरण की पुनरुक्ति हो गई। यह वाक्य पूर्व वाक्य से सम्बद्ध हो गया ''**जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर मिली है।**'' क्योंकि 'ब्रह्मपुत्रा' नदी का यही परिचय पूर्ववाक्यों में है, अत: यह पुनरुक्तिदोष उत्पन्न हो गया। इसी का अन्धानुकरण **स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती** आदि तथा कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित **उदयपुर सं०** ने भी किया है। **पं० भगवद्दत्त जी** ने यथावत् पाठ रखते हुए टिप्पणी में ''**आकर**'' पाठ दिया है। वह भी अशुद्ध टिप्पणी है जो उक्त विद्वानों से प्रभावित होकर दी गई है जो कि किसी इतिहासज्ञ के लिए 'अवांछनीय' कही जा सकती है।

४. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**बंगाले के.....और होकर**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

के समुद्र [अर्थात् पूर्वी समुद्र][५] में मिली है, जिसको 'ब्रह्मपुत्रा' कहते हैं। **हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल[१] के भीतर जितने देश हैं, उन सबको 'आर्यावर्त' कहते हैं।** यह देश 'देवनिर्मित आर्यावर्त' इसलिये कहाता है[२] कि 'देव' नाम विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से '**आर्यावर्त**' कहाया है[३] ॥ २ ॥

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था और इसमें कौन बसते थे?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते

---

१. **आर्यावर्त की विन्ध्याचल तक सीमा का कारण**—मनुस्मृति के श्लोकों में, दक्षिण के विन्ध्यपर्वत तक आर्यावर्त की सीमा को पढ़कर कुछ पाठक भ्रमित होकर कहते हैं कि महर्षि मनु और महर्षि दयानन्द ने ही '**आर्यावर्त**' की सीमा '**विन्ध्याचल**' तक मानकर विन्ध्याचल के उस पार बसने वालों को आर्यावर्तवासी नहीं माना है। यद्यपि ग्रन्थकार ने यहां भ्रम की गुंजाइश नहीं छोड़ी है, क्योंकि स्पष्टत: ''**रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल**'' पाठ देकर विन्ध्याचल की सीमा रामेश्वर को मिलाकर मानी है, तथापि ऐसा विचार रखने वालों को ऐसे ऐतिहासिक सन्दर्भों को गम्भीरतापूर्वक और तत्कालीन परिस्थितियों में भी विचारना चाहिए।

महर्षि मनु आदिसृष्टि के व्यक्ति हैं। उस सृष्टि के आरम्भिक समय में बस्तियां कम थीं, जंगल अधिक थे। विन्ध्याचल के पार भी जंगल ही जंगल थे, मनुष्यों की अल्पता के कारण उनकी बस्तियां नहीं बनी थीं, विन्ध्याचल तक ही निवास बना था। अत: देश की सीमा भी वहीं तक थी। वाल्मीकि-रामायण के काल तक भी वहां '**दण्डकारण्य**' जैसे विशाल वन थे, बस्तियां यत्र-तत्र थीं। ध्यान दीजिए, उन जंगलों में आर्य ऋषि-मुनियों के आश्रम थे अत: वह आर्यनिवसित भूमि थी। इस वन का नाम भी राजा 'दण्डक' के नाम पर पड़ा, वह सप्तम मनु वैवस्वत का वंशज था। उसका वहां राज्य रहा, अत: '**दण्डक-अरण्य**' कहलाया। इसको हम एक उदाहरण से इस प्रकार भी समझ सकते हैं। जैसे, जब कोई गांव या नगर बसता है तो आदि में कुछ ही घर बसते हैं, समयानुसार उसका प्रसार होकर विशाल ग्राम या नगर बन जाता है। जब बसता है तब उसकी सीमा बहुत कम होती है, धीरे-धीरे बढ़ती जाती है और विस्तृत हो जाती है। ठीक इसी प्रकार आदिसृष्टि में जनसंख्या स्वल्प होने से आर्यावर्त का विस्तार भी अल्पसीमा क्षेत्र में था जो उत्तरोत्तर जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ विस्तृत होता गया।

वस्तुत: इसका महत्त्वपूर्ण समाधान यह है कि प्राचीन इतिहास में '**विन्ध्याचल पर्वत**' कन्याकुमारी तक फैली पूरी शृंखला का नाम था। जैसे '**अरावली**' और '**हिमालय**' पर्वतमाला का शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में सैकड़ों, सहस्रों मीलों तक दूर-दूर तक विस्तार है। इसी कारण महर्षि ने विन्ध्याचल की सीमा में '**रामेश्वरम्**' को ग्रहण किया है। यह अर्थ प्राचीन भौगोलिक मान्यता के अनुसार है। वाल्मीकीय रामायण का प्रबल प्रमाण देखिए ''**दक्षिणस्योदधेः तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः**'' (किष्किन्धा ६०.७) अर्थात् दक्षिण-समुद्र के अन्तिम तट तक '**विन्ध्य**' पर्वत है। यही विवरण अन्य ऐतिहासिक-भौगोलिक ग्रन्थों में मिलता है—''**दक्षिणेन लङ्का-कालाजिन-सौरिकीर्ण-तालीकटाः**'' (बृहत्संहिता अ०१४) अर्थात् दक्षिण में लंका, कालाजिन, सौरिकीर्ण, तालीकट देश भारत के अन्तर्गत हैं। समय-समय पर अर्थ और धारणा का परिवर्तन होता रहता है, अत: इन कथनों को प्राचीन अर्थों के सन्दर्भों में ही देखना चाहिए, आधुनिक संदर्भ में अर्थ लगाने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठ-परिवर्तन**—द्वि० सं० में मुद्रणलिपिकर ने यहां यह अनावश्यक पाठ-परिवर्तन किया है—''**आर्यावर्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया.....।**'' इस पाठान्तर में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। मूलहस्त के पाठ में ''**देवनिर्मित आर्यावर्त....देव नाम विद्वानों ने बसाया**'' उपयुक्त पाठ है। वही ग्राह्य है।

३. **श्लोकों का अन्यत्र प्राप्त अर्थ**—'पत्र और विज्ञापन' में छपे एक पत्र में महर्षि ने संस्कृत में जो अर्थ दिया है वह बहुत स्पष्ट है। उसमें श्लोकों का क्रम भी क्रमसंख्या के अनुसार रखा है। उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—''देवनदियों अर्थात् देव=विद्वानों के संग से युक्त 'सरस्वती' तथा 'दृषद्वती' नदियों, जिनमें से 'सिन्धु नदी' उत्तर देशों से प्रकट होकर, पश्चिमी दिशा में स्थित देशों में प्रवाहित होती हुई वहां से दक्षिण की ओर स्थित समुद्र अर्थात् भारत के पश्चिमी समुद्र में मिलती है; उसी का नाम 'सरस्वती' है। जो 'ब्रह्मपुत्रा' के नाम से प्रसिद्ध नदी है, जो कि उत्तर देशों से प्रकट होकर, पूर्व दिशा में स्थित देशों में प्रवाहित होती हुई, वहां से दक्षिण की ओर स्थित समुद्र अर्थात् पूर्वी समुद्र में गिरती है, उसी का नाम 'दृषद्वती' है। इन नदियों के मध्य स्थित देवों=विद्वानों के द्वारा बसाये हुए देश को 'आर्यावर्त' जानें। जो पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त और उत्तरस्थित हिमालय से दक्षिण की ओर तथा दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल से उत्तर की ओर उनके मध्य जो देश हैं, उसको विद्वान् लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं।' (ऋषि दयानन्द के पत्र-विज्ञापन, प्रथम भाग, पं० भगवद्दत्त, पृ० १६१-१६२; रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाणा), सन् १९८०)

आर्यावर्त की सीमा का अन्यत्र वर्णन द्रष्टव्य है—इस ग्रन्थ में '**स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश**' ३०, '**आर्योद्देश्यरत्नमाला**' ४१।

थे। क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् **तिब्बत से सूधे** इसी देश में आकर बसे थे।[१]

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग **ईरान**[२] से आये। इसी से इन लोगों का नाम 'आर्य' हुआ है।

---

१. **आर्यों का उत्पत्तिस्थान और आदिनिवास**—आदि काल में आर्य कोई जाति नहीं थी, अपितु एक सांस्कृतिक वैदिक जनसमुदाय था। आर्यों का निवास कालक्रमानुसार उत्तर में मेरु (पामीर) पर्वत प्रदेश से लेकर दक्षिण समुद्र तक और पश्चिम में ईरान, मिस्र आदि देशों से लेकर पूर्व में समुद्री द्वीप-देशों तक रहा है। शासकीय दृष्टि से कभी-कभी भिन्न होते हुए भी यह सारा क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से सदा एक भूभाग रहा है। इसी कारण इस समस्त भूभाग को '**आर्यों का देश**' कहा जाता रहा है।

आर्यों का उत्पत्तिस्थान अथवा मूलनिवास '**मेरु पर्वत**' और उसके आसपास के प्रदेश में माना गया है। मेरु पर्वत बृहत् हिमालय क्षेत्र में आता है, अतः कहीं उसका वर्णन **मेरु** के नाम से तो कहीं **हिमालय** के नाम से है। इसी क्षेत्र में त्रिविष्टप (=तिब्बत), कश्मीर आदि प्रदेश हैं। त्रिविष्टप, देवलोक, सुरलोक, त्रिदिव, त्रिदशालय, स्वर्ग, दिव आदि पर्यायवाची हैं। इन नामों से जो वर्णन प्राचीन साहित्य में हुआ है उससे अभिप्राय हिमालय और मेरु प्रदेश से है। आर्यों के आदिवंशज इसी क्षेत्र में उत्पन्न होकर आरम्भ में बहुत समय तक वहीं रहे। फिर अन्य स्थानों को उपयुक्त जान कर वहीं से अन्य क्षेत्रों में जाकर बसे। इसकी पुष्टि करने वाले प्रमाण अनेक मिलते हैं जिनमें भारतीय और भारतीयेतर प्रमाण भी हैं। इस विषय की विस्तृत चर्चा न करके पुष्टि करने वाले कुछ प्रमुख आधारभूत प्रमाण ही यहां दिये जा रहे हैं—

(अ) वंशावली और ऐतिहासिक आधार पर यह सिद्ध है कि आर्यों के प्रथम प्रमुख आदिपुरुष ब्रह्मा, और फिर मनु, इन्द्र, विष्णु, शिव आदि देववंशी जन थे, उन्हीं को देव और उन्हीं को आर्य कहते थे। उनकी उत्पत्ति, राज्य एवं निवास उसी '**देव-प्रदेश**' में था। यह वर्णन उसी प्रदेश को आर्यों का आदिस्थान सिद्ध करता है। उस प्राचीन काल में बृहत् हिमालय इतना उच्च और बर्फीला नहीं था। उसका प्राकृतिक वातावरण मनुष्यों के निवास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त था। आज के भूवैज्ञानिक भी इन दोनों महत्त्वपूर्ण तथ्यों को यथावत् स्वीकार करते हैं। कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) प्राचीन भारतीय साहित्य परम्परा के अनुसार आदि-सृष्टि की उत्पत्ति हिमालयस्थ मेरुपर्वत के क्षेत्र में या मेरुप्रदेशस्थ हिमालय क्षेत्र में हुई थी। किसी प्राचीन ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है—

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥

अर्थ—'**हिमालय**' नामक स्वच्छ पवित्र पर्वत संसार में प्रसिद्ध है। वहां पांच का आधा ढाई योजन (१० कोस=२० मील=लगभग २५ कि०मीटर) चौड़ा और पांच योजन (२० कोस=४० मील=लगभग ५० कि०मी०) आयाताकार वाला मेरु पर्वत क्षेत्र है। उसी क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रजाओं की उत्पत्ति हुई थी।' वह क्षेत्र ऐसा था जहां मनुष्यों के लिए मूलभूत सभी आवश्यक पदार्थ उपलब्ध थे।

(ख) आर्यों के आदिपुरुष ब्रह्मा का **मेरु पर्वत** के क्षेत्र में ही निवास था—

देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम्। यत्रात्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सः पितामहः॥ —महा० वन० १६३.१६॥

अर्थ—'मेरुपर्वत वाले इस प्रदेश को देखो जो स्वच्छ पवित्र, धूल-मिट्टी से रहित है। जहां पितामह ब्रह्मा अपने व्यवहार से मन को संतुष्ट-प्रसन्न करनेवाले अपने वंशज देवों के साथ निवास करते हैं।'

(ग) वर्तमान **तिब्बत (त्रिविष्टप)** में कभी देवताओं के राजा इन्द्र का शासन था। उसकी राजधानी **अमरावती** थी। हिमालय का सम्पूर्ण क्षेत्र 'देवलोक' कहाता था। एक बार शत्रु-असुरों के आक्रमण के भय से इन्द्र आदि देवों को अपना प्रदेश छोड़कर भागना भी पड़ा था। इस श्लोक में इतिहास वर्णन के साथ क्षेत्र का परिचय भी देखिए—

एवं स संक्रमस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरीं तामरावतीम्॥ (महा० वन० ४२.४२)
एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तथा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत्॥ (भाग० पु० ९.१६.१)

अर्थात्—'अर्जुन ने स्वर्गलोक=देवलोक में विचरण करते हुए इन्द्र की राजधानी '**अमरावती**' पुरी को देखा।'

'एक बार दिति के पुत्रों 'दैत्यों' (माता दिति की संतानों) के द्वारा त्रिविष्टप (=तिब्बत) का राज्य देवताओं से छीन लिये जाने के कारण भयभीत देवता लोग कहीं भागकर छिप गये। तब देवों की माता अदिति अपने पुत्रों के लिए विलाप करने लगी।'

(घ) शिव का निवास या राज्य भी **मेरु पर्वत** के दक्षिण में था। उसकी राजधानी हिमालय के **कैलाश पर्वत** पर थी—

''दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलाशवासिनम्'' (भाग०पु० ९.४.५५)

अर्थ—'हिमालय पर स्थित कैलाश पर्वत पर निवास करनेवाले शिववंशी 'शर्व'=शिव की शरण में दुर्वासा गये।' वर्तमान **'हरद्वार'** नगर शिव के पर्वतीय राज्य में जाने का पहला द्वार था, इसी कारण उसका **'हर+द्वार'** नाम प्रसिद्ध हुआ। इन साहित्यिक प्रमाणों से स्पष्ट हुआ कि आर्यों के पूर्वज देवों का आदिनिवास हिमालयस्थ प्रदेशों में था। ऐसे बहुत प्रमाण हैं।

(आ) हिमालय से उतरकर आर्य जन चारों दिशाओं में जाकर बसे। भारत-भूभाग में उनके आने का प्रमाण आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ **'चरक संहिता'** में उपलब्ध है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

''ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वा समिति कर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं.....ब्रह्मर्षिसिद्ध चारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुः भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवाम-देवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः।'' (चिकित्सास्थान ४.३)

अर्थ—'आदिकाल में, किसी समय की घटना है कि कुछ ऋषिजन हिमालय के निम्न प्रदेशों में घूमने निकले। वे वहीं गांव बसाकर रहने लगे और ग्राम्य आहार तथा ओषधियों का सेवन करने लगे। उससे वे रोगी होकर निर्बल हो गये। तब वे उस गांव को छोड़कर पुनः अपने आदिनिवास हिमालय पर लौट गये। वह हिमालय ग्राम्य रोगों से रहित, स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त, पवित्र था। वह ब्रह्मर्षि, सिद्ध, चारण आदि से सेवित, दिव्य तीर्थों और दिव्य ओषधियों से भरपूर, निवास के लिए उत्तम, **राजा इन्द्र** द्वारा सुरक्षित था। लौटने वाले वे ऋषि थे—भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि।' आगे वर्णन है कि इन ऋषियों को हिमालय पर वापिस आया देखकर राजा इन्द्र ने इनका विशेष स्वागत किया था। ये सब आर्यों के आदि-वंशकर ऋषि हैं। ब्राह्मण वर्ग में इन्हीं ऋषियों के वंशज है, जो आज भी इन्हीं के नाम के गोत्र लगाते हैं।

(इ) वर्तमान भारतीय क्षेत्र में आकर आर्यों के बसने के बाद इस क्षेत्र का राजाओं के आधार पर नामकरण हुआ किन्तु समग्र देश को **'आर्यावर्त'** फिर **'अजनाभवर्ष'** और फिर **'भारतवर्ष'** के नाम से पुकारा जाने लगा। प्रमाणों से यह जानकारी मिलती है कि **'आर्यावर्त'** और **'भारतवर्ष'** पर्यायवाची नाम हैं। घटनाक्रम और राजनीतिक इतिहास से ज्ञात होता है कि पहले **'आर्यावर्त'** नाम हुआ, फिर **'भारतवर्ष'** हुआ। 'आर्यावर्त' इस घटना का संकेत देता है कि आर्यों के बसने से इसका नाम **'आर्यावर्त'** हुआ। इस शब्द का अर्थ है 'आर्यों के निवास और विचरण करने का स्थान' कई पीढ़ियों के पश्चात् स्वायंभुव मनुवंशी ऋषभ के पुत्र 'भरत' के लोकप्रिय शासन के पश्चात् इसको **'भारतवर्ष'** कहा जाने लगा—

''अजनाभं नामैतद् वर्षं 'भारतम्' इति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।'' —भाग० ५.७.३ तथा ५.४.९॥

अर्थ—'पहले इस देश को 'अजनाभवर्ष' कहते थे। मनुवंशी ऋषभ के पुत्र **'भरत'** के नाम पर इसका **'भारतवर्ष'** नाम पड़ा।' उसके पश्चात् **'आर्यावर्त'** और **'भारतवर्ष'** नाम प्रयुक्त होने लगे। महाभारत में इसका संकेत है—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः। क्रमेण व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत्॥
स देशान् विविधान् पश्यन् चीनहूणनिषेवितान्। आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः॥

—महाभारत, शान्ति० ३२५.१४-१५॥

अर्थात्—'महर्षि व्यास अपने पुत्र एवं शिष्य शुकाचार्य सहित मेरु पर्वत पर निवास करते थे। मेरु पर्वत पर महर्षि व्यास का अपना एक आश्रम था। शुक का जन्म वहीं हुआ था। वहां से शुकाचार्य राजर्षि जनक से मिलने के लिए मिथिला के लिए चले। पहले मेरुवर्ष (इलावर्ष) और हरिवर्ष और फिर हैमवत वर्ष (किम्पुरुष वर्ष) को पार करते हुए वे भारतवर्ष में पहुंचे। महामुनि शुकाचार्य मार्ग में आये चीन, हूण आदि समुदायों द्वारा निवसित विविध देशों को देखते हुए इस आर्यावर्त में आये थे। फिर वे मिथिला में पहुंचे।' इस प्रकार महाभारत में **दोनों नामों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग है।**

(ई) आर्यों ने भारत में निवास बनाते समय न किसी से युद्ध किया, न किसी को मारा, न किसी को उजाड़ा; क्योंकि उससे पूर्व यहां किसी का निवास ही नहीं था। सारा जंगल था। इतने जंगल थे कि कोई कहीं बस जाता था, किसी को उजाड़ने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। यही कारण है कि आर्य-राजाओं के शासन से पूर्व इस देश का कोई नाम नहीं था। जिसने बसाया उसी के नाम पर उसके देश का नाम प्रसिद्ध हुआ। भारतीय प्राचीन इतिहास में प्राप्त देश-नाम रखने की परम्परा और 'देशों के नाम' इसके पोषक प्रमाण हैं, जैसे—

ब्रह्मावर्त=ब्रह्मा के नाम से बसाया गया देश।
कुरुप्रदेश=राजा कुरु द्वारा बसाया गया देश।
वत्सदेश=राजा वत्स द्वारा बसाया गया देश।
दण्डकारण्य=राजा दण्डक के राज्य का वन।
मिथिला=राजा मिथि द्वारा बसाया गया नगर। आदि।

ये कुछ उदाहरण इस सत्य को सिद्ध करते हैं कि इस भूभाग में केवल जंगल थे, बस्तियां नहीं बसी थीं। जंगलों को काटकर या

जलाकर बसने योग्य स्थान बनाये गये थे। बस्तियां होती तो जंगल में निरन्तर आग लगाना संभव नहीं था। शतपथ ब्राह्मण में मिथिला देश को बसाने के इतिहास का उल्लेख इस प्रकार दिया है—

''तर्हि विदेघो माथव आस। सरस्वत्यां स तत एव प्राङ्दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेहश्च माथवः पश्चाद् दहन्तमन्वीयतुः।'' (१.४.१.१४)

अर्थात्—यह विदेह मिथिवंशी के समय की घटना है। सरस्वती नदी के सूख जाने के बाद वे सारस्वत प्रदेश (=पंजाब-हरियाणा) से विस्थापित होकर पूर्वदिशा की ओर बढ़े। गोतम राहूगण पुरोहित को आगे करके राजा विदेह मिथिवंशी ने पूर्वी जंगलों में आग लगा दी। आग वन को जलाकर आगे बढ़ती रही और वे उसके पीछे चलते रहे, बसते रहे। इस प्रकार वनों से घिरी भूमि को साफ करके उन्होंने '**मिथिला**' देश को बसाया। राजा जनक के पूर्वज पहले सारस्वत प्रदेश (हरियाणा-पंजाब) में बसते थे।

(उ) विदेशी प्रमाण—'ईरान' देश के साहित्य के प्रमाण भी बिल्कुल उसी मान्यता को पुष्ट एवं स्थापित करते हैं जो वैदिक इतिहास में वर्णित है। यहां केवल दो प्रमाण ही दिये जा रहे हैं। पहला प्रमाण फारस=पारसियों के धर्मग्रन्थ '**जिन्दावेस्ता**' का है। 'जिन्दावेस्ता' में जो पद्यभाग है वह ऋग्वेद के मन्त्रों का पारसी भाषा में रूपान्तरण मात्र है। उससे यह जानकारी मिलती है कि वे मूलतः आर्यवंशी थे। उनकी भाषा संस्कृत थी। 'जेन्दावेस्ता' में बताया है कि उनका मूल उत्पत्तिस्थान हिमालय या मेरुप्रदेश है और वहां से फैलकर उन लोगों ने सोलह पवित्र देशों को बसाया। उनका वर्णन निम्न प्रकार मिलता है—

(क) १. ऐर्यान वएजो=इसको संस्कृत में '**आर्याणां बीजः या व्रजः**'=आर्यों का मूल या बीज स्थान कहते हैं। यह मेरु पर्वत के आसपास का प्रदेश है। फारसी में इसको 'पाइ-मीर'='पामीर' कहते हैं, जो संस्कृत शब्द 'पाद मेरु' या 'मेरुपाद' का अपभ्रंश है। दोनों भाषाओं के शब्दों का एक ही अर्थ है—मेरु पर्वत का तल-प्रदेश। इस केन्द्र स्थान में एशिया की चार पर्वत मालाएं मिलती हैं—हिमालय, हिन्दूकुश, कुनलुन और शियनशान (थियानशान)। कुछ इतिहासकार **कैस्पियन सागर** के पश्चिम में स्थित '**अजरबेजान**' क्षेत्र (ईरान) को '**ऐर्यान वेइजो**' का ही परिवर्तित रूप मानते हैं तथा उसे ईरानी आर्यों का मूल स्थान कहते हैं। परन्तु वह तो उनके द्वारा बसाया प्रथम देश है जो कभी मेरु प्रदेश के अन्तर्गत ही रहा होगा, क्योंकि वह उसके निकट का प्रदेश है। **२. सुग्ध**=शकद्वीप, पुराणों का रमणक प्रदेश, यूनानियों का सोग्दियाना। वर्तमान रूस में '**समरकन्द**' नगर का क्षेत्र या प्रदेश। **३. मोउरू**=मर्वनगर। कैस्पियन सागर के तटवर्ती रूस का तुर्कमीनिस्तान का क्षेत्र। **४. बख्धि**=ईरानियों का बलख, भारतीयों का वाह्लीक और यूनानियों का बैक्ट्रिया प्रदेश। आक्सस (संस्कृत नाम 'वक्षु') नदी के दाईं ओर ईरान में स्थित नगर। **५. निसय**=मर्व और बैक्ट्रिया का मध्यवर्ती क्षेत्र। **६. हरोयु**=हेरात नगर। सिकन्दर का 'एरियाना', जो प्रदेश सेल्यूकस नाइकेटर ने 'चन्द्रगुप्त मौर्य को भेंट-स्वरूप दिया था। यह सम्राट् अशोक के समय तक मौर्य शासन में रहा। **७. वैकेरेत**—सीहत्तान (शकस्थान)। हरिदूद के दक्षिण में। **८. उर्व**=अफगानिस्तान की काबुल घाटी का क्षेत्र। **९. ख्नेन्त**=अफगानिस्तान के कन्दहार=कन्धार का प्रदेश (प्राचीन गन्धार)। **१०. हरह्वैति**=पश्चिम सरस्वती का क्षेत्र। वर्तमान अर्गन्दाब (पूर्वी ईरान) का क्षेत्र। **११. हेतुमन्त**=संस्कृत 'सेतुमन्त' नदी का अपभ्रंश। वर्तमान हेलमण्ड (अफगानिस्तान) जहां प्रमुख नगर गजनी स्थित है। **१२. रघ**=तेहरान (ईरान) का उपनगर 'राए' का क्षेत्र। **१३. कखर्**=संस्कृत का 'चक्र'। अजरबेजान (ईरान-रूस) की कुरघाटी का क्षेत्र। **१४. वरेन**=आधुनिक बुनेर या भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा का वह भाग जो अटक के ऊपर तथा सिन्ध और पंजकोर नदी के मध्य में है। **१५. हप्तहिन्दव**= संस्कृत का सप्तसैन्धव प्रदेश। सिन्धु नदी और उसकी छह सहायक नदियों का प्रदेश। वर्तमान पाकिस्तान के पंजाब और भारतीय पंजाब का क्षेत्र। **१६. रंहा**=वैदिक 'रसा' नदी का प्रदेश या कश्मीर में सेवका नदी का क्षेत्र। '**रसा**' नदी के कारण '**रशिया**' या '**रूस**' नाम पड़ा, ऐसा ज्ञात होता है। ये सभी देश कभी प्राचीन काल में आर्यों के निवासस्थान थे।

(ख) **ईरान की भूगोल-इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में यह पढ़ाया जाता रहा है—**

''चन्द हज़ार साल पेश जमाना माज़ी रा बजुर्गो अज़ निज़ाद आर्या अज़ कोहहाय काफ़ काज़ गुजिश्तः बर सर ज़मीन की इमरोज़ मस्कने मा अस्त कदम निहादन्द। ब चूं आबो हवाय ई स ज़मीं रा मुआफिक तव अ खुद याफ्तन्द दरीं जा मस्कने गुज़ीदन्न ब आरा बजाम खेश ईरान खयादन्द।'' (जुगराफ़िया पंज क़ितअ बनाम तदरीम रहसल पंजुम इब्तदाई, सफ़ा ७८, कालम १, मतब अ दरसनहि तिहरान, सन् हिजरी १३०६, सीन अव्वल व चहारम अज़ तर्फ़ विज़ारत मुआरिफ व शरयुदः)

अर्थ—'कुछ हजार वर्ष पहले की घटना है कि हिमालय पर्वत से आर्य लोग इस 'ईरान' देश के क्षेत्र में आये और इस पवित्र भूमि पर, जिस पर कि आज हमारा निवास है, यहां की जल-वायु को अनुकूल पाकर बस गये। उसी आर्य नाम के कारण से आज इस देश का नाम '**ईरान**' है।' यह '**आर्याणाम्**' का अपभ्रंश ज्ञात होता है।

(ग) लोकतन्त्र प्रणाली लागू होने से पूर्व, ईरान में यह परम्परा रही है कि ईरान का बादशाह अपने नाम के साथ '**आर्यमिहिर**' की उपाधि लगाता रहा है। 'आर्यमिहिर' का अर्थ है—आर्यवंशी सूर्य और सूर्यवंशी आर्य। इसका अभिप्राय यह है कि ईरान के लोग स्वयं को सूर्यवंशी आर्य मानते रहे हैं। सूर्यवंश का आरम्भ सातवें मनु वैवस्वत के बड़े पुत्र इक्ष्वाकु से हुआ था। इस प्रकार ईरानी स्वयं को मनु और इक्ष्वाकु के वंशज मानते हैं।

(ऊ) ईसाइयों का धर्मग्रन्थ **बाइबल** भी इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख और पुष्टि करता है कि पश्चिमी देशों के लोग पूर्व से आकर यहां बसे हैं और उनकी कभी एक भाषा थी। भारतीय क्षेत्र और हिमालय क्षेत्र ही वह पूर्वभाग है जहां से वे लोग गये। सभी पश्चिमी भाषाओं की मूलभाषा 'संस्कृत' है, अत: संस्कृत ही वह एक भाषा हो सकती है जिसका संकेत बाइबल की 'उत्पत्ति' नामक पुस्तक में किया है—

''And the whole was of one lenguage and of one speech, and it came to pass, as they journeyed from the East.'' (Genisis, chapter XI)

अर्थ—'सारी पृथ्वी पर एक ही भाषा थी सब उसी एक भाषा को बोलते थे। सभी लोग पूर्व दिशा से चलकर यहां आकर बसे।'

(ए) जो व्यक्ति जिस मूल स्थान का निवासी होता है वह उसकी स्मृति को लम्बे समय तक अपने साथ 'रखता' है। 'भाषाविज्ञान' हमें बताता है कि आर्यों के मूल स्थान '**सुमेरु या मेरु**' की और आर्यों के आदिपुरुष मनु की स्मृति संसार के प्राय: सभी मुख्य देशों की भाषाओं में सुरक्षित पाई जाती है। जैसे—संस्कृत 'मेरु या मेरुस्' का जेन्द भाषाओं में 'मौरु', यूनानी भाषाओं में 'मेरोस्', तुर्किस्तानी भाषाओं में 'मेरुव', मिश्र में 'मेरई', असीरियाई भाषाओं में 'मोरुख' आदि अपभ्रंश नाम प्रचलित हैं।

इसी प्रकार '**आदिम**' अर्थात् ब्रह्मा का बाइबल, कुरान आदि में '**आदम**' अपभ्रंश मिलता है। वैवस्वत मनु के समय हुए जलप्लावन की कथा संसार के एक दर्जन देशों के साहित्य में सामान्य परिवर्तन के साथ मिलती है। वह बाइबल और कुरान में '**मनुः**' से विकृत हुए नाम '**नूह**' के नाम से है। भारत और संसार की अधिकांश भाषाओं में आदमी के वाचक जितने शब्द पाये जाते हैं वे या तो '**आदिम**'=ब्रह्मा अथवा '**मनु**' मूल शब्द से अपभ्रंश होकर बने हैं। जैसे भारतीय भाषाओं में संस्कृत में मनु, मनुष्य, मानुष, मनुज, मानव, मनुस् रूप हैं। उसके अन्य भारतीय भाषाओं में अग्रलिखित रूप हैं—मनुष्य (कन्नड़), मनुष्यम् (मलयालम), मानिदन् (तमिल), मनिषि (तेलगु), मनिष, मणिस (उड़िया), मानुह (असमिया), मानुष (बंगला), माणस (गुजराती, राजस्थानी, हरियाणवी), माणूस, मनुश (मराठी), मानहू (सिन्धी), मनुख (पंजाबी) मन्यू, महन्यू (कश्मीरी), माणहूं (सिन्धी) आदि।

विदेशी भाषाओं में—माइनोस (ग्रीक, लैटिन), मन्न (जर्मन), मैन (इंग्लिश), मन्ना (स्पेनिश), नूह (ईरानी, फारसी) (दि आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी, भाग १, पृ० २८४) इन सबके मूल में 'मनु' नाम है।

मूल शब्दों की यह सम्बद्धता इन सभी भाषाभाषियों की आदिकालीन सम्बद्धता और एक स्थान के पारिवारिक निवास को इंगित करती है। अर्थात् वर्णित देशों के लोग कभी एक परिवार की तरह रहते थे एक भाषा बोलते थे, एक स्थान पर रहते थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ये सभी एक वंश अर्थात् आर्यों के वंशज हैं। ये सभी रूप संस्कृत शब्दों के विकृत रूप हैं। संस्कृत आर्यों की भाषा है। वह हिमालय और मेरु प्रदेश में आदिकाल में बोली जाती थी। अत: आर्यों का और इन सब भाषाभाषियों का उत्पत्ति-सम्बन्ध वहीं से है। इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर बाइबल के उपर्युक्त उद्धरण का संकेत है।

(ऐ) यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो व्यक्ति जिस देश का मूल निवासी होता है उसके मन में अपने देश के प्रति गौरव, श्रद्धा, आत्मीयता और प्रसन्नता का भाव जुड़ा होता है, दूसरे देश या विजित देश के प्रति ऐसा भाव नहीं होता। महाभारत के एक वर्णन में भारत को अपना प्रिय देश माननेवाले राजाओं का नामोल्लेख है। वे राजा हैं—इन्द्र, मनु वैवस्वत, पृथु, इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, शिबि, ऋषभ, ऐल पुरूरवा, नृग तथा अन्य शक्तिशाली राजा। ये सब आदिकालीन और प्राचीन राजा हैं। उन श्लोकों की कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं—

अत्र ते वर्णयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च॥
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥ (महाभारत, भीष्म० ९.५-८)

मातृभूमि भारत के प्रति कितनी प्रगाढ़ प्रेमभावना है इन श्लोकों में! पाठक ध्यान दें कि आदिकाल में मेरुप्रदेश से लेकर दक्षिण समुद्र तक का समस्त भूभाग अनेक शासकों के अधीन होते हुए भी एकचक्रवर्ती राज्य के अन्तर्गत था और सांस्कृतिक दृष्टि से एक देश था, एक विचारधारा में संयुक्त भूभाग था और वह विचारधारा थी आर्यत्व की। सभी आर्यजन थे। **आर्य और द्रविड़ का विवाद अंग्रेजों के आने तक भारत के इतिहास में कभी नहीं हुआ। यह पाश्चात्त्य लेखकों की षड्यन्त्रपूर्ण देन है, जिसके बहकावे में द्रविड़ लोग आ गये हैं।** देखिए, शंकराचार्य द्रविड़ देशवासी थे। उनका सम्पूर्ण हिन्दू जगत् और सम्पूर्ण भारत में सम्मान है। उनको उत्पन्न हुए लगभग २५००-३००० वर्ष हुए हैं। तब तक भी विघटन की भावना नहीं थी। अत: यह सारा भूभाग आर्यों का देश था। आर्यों के आदिपुरुषों ने ही इस भाग पर शासन किया है। दशम समु० के पृ० ४८६-४८८ की टिप्पणियां भी देखें (विस्तार से जानकारी के लिए पढ़िए सम्पादक कृत पुस्तक '**आर्यों का आदि देश और विस्तार**')

२. '**ईरान**' **देश का नामकरण**—'**ईरान**' मूलत: आर्यों का देश है। इसकी प्राचीन सब परम्पराएं, साहित्य, इतिहास आर्य-परम्परा से जुड़े मिलते हैं। 'ईरान' नाम संस्कृत पद ''**आर्याणाम्**'' का अपभ्रंश है। (विशेष रूप से द्रष्टव्य पृ० ४०९ की टि० 'उ')

इनके पूर्व यहां जंगली लोग बसते थे कि जिनको असुर' और 'राक्षस' कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम '**देवासुर-संग्राम**' कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह बात सर्वथा झूठ है। क्योंकि—

"वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्[१] ॥"

ऋ०, म० १। सूक्त ५१। मं० ८॥

"उत शूद्र-उतार्ये॥" यह भी अथर्ववेद का प्रमाण है[२] [कां० १९। सूक्त ६२। मं० १]॥

हम लिख चुके हैं कि 'आर्य' नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम 'दस्यु' अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम 'आर्य' और शूद्र का नाम 'अनार्य' अर्थात् 'अनाड़ी' है।[३]

जब वेद यह कहता है तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित [कथन] को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते। और देवासुर-संग्राम में आर्यावर्तीय अर्जुन तथा महाराजे दशरथ आदि जो कि हिमालय पहाड़ [के क्षेत्र][४] में आर्य=विद्वानों और दस्युओं,[५] म्लेच्छों,[६] असुरों[७] का जो युद्ध हुआ था, उसमें 'देवों'[८] अर्थात् आर्यों की रक्षा और असुरों का पराजय[९] करने को सहायक हुए थे। इससे यही सिद्ध होता है कि आर्यावर्त के बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान [दिशाओं के][१०] देशों में जो मनुष्य रहते हैं उन्हीं का नाम 'असुर' सिद्ध होता है; क्योंकि वे जब-जब हिमालय-प्रदेशस्थ आर्यों पर लड़ने को चढ़ाई करते थे, तब-तब यहां के राजे-महाराजे लोग उन्हीं उत्तर आदि [दिशा के][११] देशों में आर्यों के सहायक होते थे। और जो श्री रामचन्द्र जी से दक्षिण में युद्ध हुआ है, उसका नाम '**देवासुर संग्राम**' नहीं है, किन्तु उसको '**राम-रावण**' अथवा

---

१. **मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—द्विप्र० में यह भ्रष्ट पाठ छपा है—"**रन्धयाशा सद व्रतान्....**"। इस पाठ का कोई अर्थ नहीं बनता। अब अन्य सभी सं० में संशोधित कर लिया है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में यह अपपाठ है—"**यह भी ऋग्वेद का प्रमाण है।**" उदयपुर सं० में अप-मन्त्रपाठ भी है। द्वि०सं० में अस्पष्टभाषा में संशोधित है—"**यह भी वेद का प्रमाण है।**" द्वि०सं० में पृ०४०३ पर पठित पहला मन्त्र पाठ अशुद्ध उद्धरण पता वाला है तो दूसरा अस्पष्ट है। मूलप्रति सं०, अन्य सभी सं० में संशोधित है किन्तु **पं० मीमांसक जी** ने मूल में अशुद्ध पाठ रखा है और टिप्पणी में शुद्ध दर्शाया है। ऐसा संशोधन व्यर्थ है। वेस, जग, जस में संशोधित है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—यहां "**अनार्य अर्थात् अनाड़ी**" पाठ देकर ग्रन्थकार ने अनार्य का अर्थ '**अशिक्षित**' ग्रहण किया है, वर्णनिर्धारक नहीं। यहां गुणवाचक विशेषण है। (इस विषयक विस्तृत टिप्पणी पृ० ४०३ पर द्रष्टव्य है)

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**हिमालय पहाड़ में**" पाठ है, यहां '**हिमालय पहाड़ के क्षेत्र में**' बृ०कोष्ठक का स्पष्ट पाठ अपेक्षित है।

५-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रमशः "**विद्वान्, दस्यु, म्लेच्छ, देव**" एकवचनान्त प्रयोग हैं। सभी में बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है। (इन नामों पर ऐतिहासिक टिप्पणी पृ० ४१२ पर द्रष्टव्य है)

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**असुरों के पराजय**"। पूर्वोक्य एकवचन के सन्दर्भ में तथा शुद्धता की दृष्टि से "**असुरों का पराजय**" पाठ अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१०-११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, दोनों स्थानों में क्रमशः "**ईशान देशों में**" और "**उत्तर आदि देशों में**" अपप्रयोग हैं। इन प्रयोगों से पूर्वोक्त दिशाओं के देशनाम होने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। स्पष्टार्थ के लिए उपर्युक्त बृहत्कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे पृष्ठ ४१२/९ में शुद्ध एवं पूर्ण प्रयोग प्राप्त है—"**दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्यावर्त देश से भिन्न....।**"

'**आर्य और राक्षसों का संग्राम**' कहते हैं।

किसी संस्कृत ग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग **ईरान** से आये और यहां के जंगलियों को, लड़कर, जय पाके, निकालके, इस देश के राजा हुए। पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है? और—

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ १॥ मनु० [१०।४५]॥

"म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥ २॥" मनु० [२।२३]॥

जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश हैं, वे '**दस्युदेश**' और '**म्लेच्छदेश**' कहाते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्यावर्त से भिन्न पूर्व [के] देशों से लेकर ईशान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम [के] देशों में रहने वालों का नाम 'दस्यु' और 'म्लेच्छ' तथा 'असुर' है।[१] और नैर्ऋत, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्यावर्त देश से भिन्न [देशों में][२] रहनेवाले मनुष्यों का नाम 'राक्षस' है।[३]

---

१. **दस्यु, असुर और म्लेच्छ-देश**—अपने मूल-अर्थ में और वैदिक काल में इन नामों की कोई पृथक् जातियां नहीं थीं। ये गुणवाचक नाम हैं। ये वे समुदाय हैं जो आर्यावर्त के चारों ओर निवसित थे। महाभाष्य में कहा है—"**म्लेच्छो वै योऽपशब्दः। म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्**" (नवाह्निक, प्रथम आह्निक में) अर्थात् अशुद्ध शब्दोच्चारण को '**म्लेच्छ**' कहते हैं। हम म्लेच्छ न बनें, इस कारण व्याकरण पढ़ना चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि जो अशिक्षित थे और अशुद्ध-भाषी (=विकृतभाषा-भाषी) समुदाय थे अथवा दोषपूर्ण आचरण वाले थे वे मूलतः '**म्लेच्छ**' कहलाये। निरुक्त में '**दस्यु**' का निर्वचन करते हुए कहा है—"**उपदासयति कर्माणि**" (७.२३) अर्थात् जो श्रेष्ठकर्मों से हीन हो चुका है, वह '**दस्यु**' कहाता है। '**असुर**' भी "**असुरताः**" (३.१८) अर्थात् केवल अपने प्राणपोषण में संलग्न रहनेवाले स्वार्थी जन कहलाते थे, जो सामाजिक हित में रुचि नहीं रखते थे। प्राचीन भारत का इतिहास हमें जानकारी देता है कि ये सब वे लोग थे जो वैदिक वर्णव्यवस्था में दीक्षित नहीं हुए थे, अथवा वैदिक वर्णव्यवस्था का त्याग कर देने के कारण आर्यावर्त को छोड़कर उसके बाहरी क्षेत्रों में बस गये थे, अथवा दोषपूर्ण आचरण के कारण बहिष्कृत थे। कुछ नाम संस्कृत नामों के अपभ्रंश ज्ञात होते हैं, जैसे '**सीरिया**' '**सुर्याः**' का और '**असीरिया**' स्पष्टतः '**असुर्याः**' का अपभ्रंश है। '**मिस्त्र**' '**मिश्र**' का और '**अरब**' '**अर्वन् देश**' (घोड़ों का देश) का अपभ्रंश ज्ञात होता है।

२. राक्षस देश—दक्षिण, नैर्ऋत आदि दिशाओं में बसे हुए समुदायों को '**राक्षस**' नाम इस कारण दिया है कि वे मद्य-मांसाहारी, आक्रामक, हिंसक तथा अपराधी प्रवृत्ति के जन थे जो आर्यों से बहिष्कृत थे और अवसर मिलते ही आर्य जनों पर आक्रमण तथा प्रहार कर देते थे, जैसा कि 'रावण' का इतिहास बताता है। वैदिक इतिहास के अनुसार, रावण पुलस्त्य प्रजापति के पुत्र विश्रवा ऋषि का पुत्र था—"**पौलस्त्य वंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः**" (वाल्मीकि-रामायण, बाल० २०.१६, २०.१८; किष्किन्धा० ५८.१९ आदि।) किन्तु फिर भी वह अपने आचरण के कारण 'राक्षस' कहलाया। 'निरुक्त' में राक्षस की निरुक्ति की है—"**रक्षः रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा**" (४.१८)=जिससे अपनी तथा अपने धन आदि की रक्षा करनी पड़े, और जो एकान्त पाकर प्रहार कर देता है, वह '**राक्षस**' कहाता है। 'वाल्मीकि-रामायण' आदि संस्कृत-साहित्य में राक्षसों का एक नाम "**नैर्ऋताः**" आता है। यह उनका इस दिशा में निवास होने के कारण ही पड़ा है। इस प्रकार उक्त राक्षस, दस्यु, असुर, म्लेच्छ आदि सारे नाम मूलतः गुणवाचक नाम हैं। बाद में ये सब समुदाय-विशेष के लिए रूढ़ हो गये।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—स्पष्ट और पूर्ण वाक्यरचना के लिए इस अनुच्छेद में बृ० कोष्ठक के सभी पाठ वांछित हैं।

३. **सिद्धान्तविरुद्ध वाक्य**—इस वाक्य के बाद प्रचलित तीनों सं० के पाठ में यह वाक्य मिलता है—"**अब भी देख लो, हबशी लोगों का स्वरूप भयंकर, जैसा कि राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है।**" पता नहीं, ऋषि के ग्रन्थ में यह वाक्य कैसे आ गया? क्योंकि यह कथन महर्षि के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। महर्षि केवल गुण-कर्म-योग्यता के आधार पर वर्णव्यवस्था को मानते हैं, आकृति, वर्ण, क्षेत्र अथवा जन्म के आधार पर नहीं। वैदिक वर्णव्यवस्था में जन्म, वर्ण, आकृति, क्षेत्र आदि को कभी भी वर्ण-निर्धारण का मानदण्ड नहीं बनाया गया है। इस वाक्य में वर्ण और आकृति के आधार पर हबशियों को '**राक्षस**' वर्णित किया है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हबशी समुदाय के लोग कभी आर्य नहीं थे और आगे कभी भी नहीं हो सकेंगे? क्योंकि उनकी आकृति तो वही रहेगी। क्या सुन्दर आदमी और गोरे ही आर्य हो सकते हैं? प्रतीत होता है कि लेखन में किसी ने गड़बड़ की है। ऊपर तीन दिशाओं में राक्षसों के निवास होने का कथन है। यह स्पष्ट है कि उन तीनों दिशाओं में केवल हबशी ही नहीं रहते। यदि इस वाक्य को महर्षि का मूल वाक्य स्वीकार किया जायेगा तो पाश्चात्यों के द्वारा प्रस्तुत इस

और आर्यावर्त की सूध पर नीचे रहनेवालों का नाम '**नाग**' और उस देश का नाम '**पाताल**' इसलिये कहते हैं कि वह देश आर्यावर्तीय मनुष्यों के 'पाद' अर्थात् पगों के तले है। और उनके[१] 'नागवंशी', अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी [के वंश][२] की '**उलूपी**' राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था,[३] **अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरवों-पाण्डवों[४] तक सर्व-भूगोल में आर्यों का राज्य रहा और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्यावर्त से भिन्न देशों में भी रहता रहा।** इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीची-आदि दश, इनके स्वायंभुवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्यावर्त के प्रथम राजा[५] हुए, जिन्होंने यह आर्यावर्त बसाया है।[६]

अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों का राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।

कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग-अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिये जो कुछ वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था वा [शास्त्रों में][७] इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।

विषयक वे सभी मत सही मानने होंगे जिनमें उन्होंने यह मत स्थापित किया है कि 'आर्यों में आकृति, वर्ण और क्षेत्र के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, असुर, राक्षस आदि वर्ण निर्धारित होते थे, गौरवर्ण द्विज होते थे और कृष्ण वर्ण वाले शूद्र कहलाते थे। वर्णव्यवस्था विषयक उल्लेखों से इसका तालमेल न होने और सिद्धान्तविरुद्ध कथन होने के कारण यह पाठ संदेहास्पद है। कर्मणा वर्णव्यवस्था के पक्षधर महर्षि ऐसा कथन कभी नहीं कर सकते। मेरे घर पर हुए विचार-विमर्श में **डॉ० ज्वलन्त कुमार जी शास्त्री** (अमेठी) ने भी इस पाठ को न रखने का परामर्श दिया है। वे भी इसे वर्णव्यवस्था के विरुद्ध मानते हैं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उनको**'' अपप्रयोग है। सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी पाठों में बृ०कोष्ठक का पाठ आवश्यक है। बिना इसके पूर्व से संगति नहीं बनती।

३. **उलूपी**—इस विषयक विस्तृत टिप्पणी आगे पृष्ठ ४८७ पर द्रष्टव्य है। वस्तुतः, 'उलूपी' मूलतः उस नागवंश से सम्बन्धित थी जिसका मूल शासन केन्द्र '**पाताल**' (=वर्तमान अमेरिका द्वीप) में था। अमेरिकी मूल की होने के कारण उसे **पाताल** (अमेरिका) वासी कहा है। नागवंशी कभी भारत से जाकर पाताल में बसकर शासन करने लगे थे। महाभारतोत्तर काल में भी जनमेजय के विध्वंस से डरकर वे अन्य देशों में चले गये थे।

४. **अपप्रयोग**—सभी सं० में बहुवचन ''**कौरवों-पाण्डवों**'' अभीष्ट है।

५. **प्रथम राजा**=आदिकालीन राजा। इनमें स्वायम्भुव मनु प्रथम राजा था जो ब्रह्मा का पुत्र (या पौत्र) था। द्रष्टव्य—''**स्वायम्भुव (मनु) से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा**'' (सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ५१४, ५१५, ५१७, ५२०)

६. **ऋषिहस्तलेख**—''**इसमें यह प्रमाण.....आर्यावर्त्त बसाया है**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

७. **सिद्धान्तविरुद्ध अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उचित भाव के लिए बृहत् कोष्ठक का पाठ परमावश्यक है; अन्यथा सिद्धान्तविरोध उत्पन्न होता है। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर द्वारा असावधानीवश पाठ त्रुटित रहने से यह पाठ विकृत हुआ

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ?

उत्तर—एक अर्ब[१], छानवें करोड़, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं।[२] इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई '**भूमिका**'* में लिखा है, देख लीजिये।[३]

इत्यादि प्रकार सृष्टि के बनाने और बनने में है और यह भी है कि सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु,[४,५] दो अणु का एक द्व्यणुक जो कि स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पाँच द्व्यणुक की पृथिवी।

---

* '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' के 'वेदोत्पत्ति विषय' को देखो। [**दयानन्द सरस्वती**][६]

है। महर्षि ऐसा वाक्य कभी नहीं लिखा सकते। वे सिद्धान्त के प्रति अति सतर्क हैं। वेस में टिप्पणी में इसके संशोधन का संकेत है। अन्य सभी सं० में भद, युमी, जग, उदयपुर सं० में यह भ्रामक अपपाठ है। कोई व्यक्ति खींचतान करके, या कुतर्क से इसको ठीक सिद्ध करने का प्रयास करे, उससे पूर्व वह यह ध्यान रखे कि ऊपर अनित्य इतिहास का प्रसंग है।

१. **अर्ब**=एक अरब अर्थात् सौ करोड़ की संख्या। महर्षि संस्कृत '**अर्बुद**' के तद्भवरूप '**अर्ब**' का प्रयोग अपने ग्रन्थों में करते हैं। आजकल इसे '**अरब**' लिखा जाता है।

२. **सृष्टिसंवत्**—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्ति प्रकरण में दी गई गणना के अनुसार अब जनवरी २००९ ईस्वी सन् में सृष्टिसंवत् १,९६,०८,५३,१०९ चल रहा है।

३. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**इसका स्पष्ट.....देख लीजिये**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलप्रति सं० में वहीं से गृहीत है।

४. **पंचभूतों का प्रमाण (माप)**—सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल कण को जिसके टुकड़े न हों, '**परमाणु**' कहा जाता है। पुनः उसका प्रमाण इस प्रकार है—

६०	परमाणुओं का	=	एक अणु		
१२०	परमाणुओं का	=	एक द्व्यणुक	=	वायु महाभूत के एक लघुतम कण का माप=प्रमाण है।
३६०	परमाणुओं का	=	तीन द्व्यणुक	=	अग्नि महाभूत के एक लघुतम कण का प्रमाण है।
४८०	परमाणुओं का	=	चार द्व्यणुक	=	जल महाभूत के एक लघुतम कण का प्रमाण है।
६००	परमाणुओं का	=	पांच द्व्यणुक	=	पृथिवी महाभूत के एक लघुतम कण का प्रमाण है।

अथवा ३६० परमाणुओं या तीन द्व्यणुक का एक त्रसरेणु होता है। लगभग दूना होने पर पृथिवी नामक महाभूत दृश्यमान होता है। उपर्युक्त गणना-पाठ में '**लगभग**' पद बढ़ाना आवश्यक है, नहीं तो विरोध उपस्थित हो जायेगा। क्योंकि पहली गणना में पांच द्व्यणुक का पृथिवी महाभूत कहा है। उस विरोध का परिहार 'लगभग' शब्द से ही संभव है। एक द्व्यणुक तक महाभूत अर्थात् वायु अदृश्य है। त्रसरेणु से दृश्य पदार्थ आरम्भ होते हैं। मनुस्मृति में कहा है—

जालान्तर्गते भानौ प्रथमं यद् दृश्यते रजः। प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ (मनु० ८.१३२)

अर्थात्—'खिड़की से सूर्य किरणें घर में आने पर उनमें तैरते हुए जो सूक्ष्म रजकण दिखाई पड़ते हैं, उनको 'त्रसरेणु' कहते हैं। मापकों में यह प्रथम दृश्यमान प्रमाण=मापक है।' ये सूक्ष्म त्रसरेणु आकाश में उड़कर तैरते रहते हैं जो सामान्यतः दिखाई नहीं देते। इनसे अग्नि, जल, पृथिवी क्रमशः स्थूल हैं। इतने सूक्ष्मतर प्रमाण का निर्धारण देखकर प्राचीन विज्ञान पर आश्चर्य होता है; क्योंकि 'त्रसरेणु' नामक मापक सूक्ष्म विज्ञान को छोड़कर अन्यत्र कहीं उपयोग में नहीं आ सकता। '**उपदेश मंजरी**' अष्टम उपदेश में भी यही प्रमाण द्रष्टव्य है।

५. **मुद्रणप्रति में पाठ हटाना**—मुद्रणह० में, और फिर द्विप्र० और द्वि०सं० में यह पाठ निकाला हुआ है अथवा त्रुटित है—"**इसको इंगलिश भाषा में 'एटम' कहते हैं।**" ऐसा ज्ञात होता है कि इस पाठ को मुद्रण-लिपिकर ने वर्तमान विज्ञान से संगति न बैठने के कारण हटवा दिया है। मूलह०, मूलसं० में है।

६. **मुद्रणकालीन टिप्पणी और पाठग्रहण**—यह टिप्पणी दोनों हस्त० में नहीं है, मुद्रणकाल में अंकित की गई है। मूलसं० में द्विप्र० से गृहीत है।

अथवा[१] तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसका [लगभग] दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलाकर भूगोल-आदि परमात्मा ने बनाये हैं।

प्रश्न—इसका धारण कौन करता है? कोई कहता है—'**शेष**' अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के शिर पर पृथिवी है। दूसरा कहता है कि—'**बैल** के सींग पर [है]'।[२] तीसरा कहता है कि 'किसी पर नहीं।' चौथा कहता है कि 'वायु के आधार पर [है]'।[३] पाँचवाँ कहता है कि 'सूर्य के आकर्षण से खैंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित [है]'।[४] छठा कहता है कि—'पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है',[५] इत्यादि में किस बात को सत्य मानें?

उत्तर—जो 'शेष=सर्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित [है]', कहता है,[६] उससे[७] पूछना चाहिये कि 'सर्प और बैल के मा-बाप के जन्म समय किस पर थी? तथा सर्प और बैल आदि किस पर हैं?' बैल-वाले मुसलमान तो चुप ही कर जायेंगे।[८] परन्तु सर्प वाले कहेंगे कि 'सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर और वायु आकाश में ठहरा है।' उनसे पूछना चाहिये कि 'ये सब किस पर हैं?' तो अवश्य कहेंगे कि 'परमेश्वर पर।' जब उनसे कोई पूछेगा कि 'शेष और बैल किसका बच्चा है?' तो कहेंगे कि 'शेष कश्यप-कद्रू का और बैल गाय का।' कश्यप मरीची [का],[९] मरीची मनु [का],[१०] मनु विराट् [का],[११] और विराट् ब्रह्मा का पुत्र; ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था, उसके पहले पाँच पीढ़ियां[१२] हो चुकी हैं, तब किसने धारण की थी?[१३] अर्थात् कश्यप के जन्म-समय में पृथिवी किस पर थी? तो '**तेरी चुप, मेरी भी चुप**' और लड़ने लग

---

१. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां श्रवणभ्रान्ति से "**अर्थात्**" पद का प्रयोग है। इसके स्थान पर "**अथवा**" पद-परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना पाठ में संगति नहीं बनती क्योंकि '**अर्थात्**' के पूर्वापर पाठ में संख्यात्मक विरोध है। '**अथवा**' रखने से एक भिन्न मानदण्ड होने का संकेत मिलता है, जिससे संगति जुड़ जाती है।

२-४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तीनों स्थलों पर '**है**' क्रिया त्रुटित है, वाक्यपूर्त्यर्थ अपेक्षित है।

५. **पं० भगवद्दत्त जी द्वारा अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में इस वाक्य का उपर्युक्त शुद्ध पाठ है, किन्तु पं० जी ने यहां सबसे अलग स्वच्छन्द पाठ यह बदला है—"**पृथिवी भारहीन होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है।**" आश्चर्य है कि पं० जी जैसे विद्वान् ने विज्ञानविरुद्ध पाठ क्यों बनाया? भारहीन वस्तु का स्वभाव है कि वह नीचे नहीं, ऊपर आकाश में जाती है। पं० जी ने यह भी ध्यान नहीं दिया कि उत्तर-पाठ में ग्रन्थकार ने इसी भाषा की आवृत्ति करके उत्तर दिया है—"**गुरु पदार्थ बिना घूमे आकाश में नियत स्थान पर नहीं रह सकता। पृथिवी....नीचे चली जाती है.....नीचे-नीचे चली जाती तो.....।**" पृ० ४२१, पंक्ति ४-७) यहां पृथिवी को "गुरु पदार्थ"=भारी माना है। अतः पं० जी का पाठ स्वीकार्य नहीं है।

६. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—द्विप्र० में "**कहता है**" के स्थान पर "**बतलाता है**" व्यर्थ पाठान्तर किया है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उसको पूछना**" के स्थान पर '**उससे पूछना**' प्रयोग साधु है।
संशोधन-पुष्टि—तीन पंक्ति नीचे दो बार तृतीयान्त शुद्ध प्रयोग है। सभी अन्य सं० में अपपाठ है।

८. **बैल के सींग पर पृथिवी**—जैसे सभी सम्प्रदायों में किंवदन्तियां चलती हैं, ऐसे ही मुसलमानों में पहले कहीं-कहीं यह किंवदन्ती चलती रही है कि यह पृथिवी बैल के सींगों पर टिकी है। प्रचलन के आधार पर ग्रन्थकार ने यह उल्लेख किया है। प्रसिद्ध आर्य लेखक **प्रो० राजेन्द्र जी जिज्ञासु (अबोहर)** ने बताया है कि बचपन में उन्होंने मुसलमानों में यह किंवदन्ती सुनी है। इस समय मुसलमानों में यह किंवन्दती सुनाई नहीं पड़ती है।
ऋषिहस्तलेख—"**मा-बाप के.....बैल आदि**" मुद्रण० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

९-११. **त्रुटित आवश्यक प्रत्यय**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तीनों स्थलों पर सम्बन्ध प्रत्यय '**का**' त्रुटित है। ये ग्राह्य हैं।

१२-१३. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पहले पांच पीढ़ी**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**पीढ़ि**" अपवर्तनी है। यहां "**पहले पांच पीढ़ियां**" अपेक्षित है। आगे, मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**धारण किया था**" अपप्रयोग है, यह "**धारण की थी**" होना अभीष्ट है, क्योंकि यह 'पृथिवी' कर्त्ता की अपेक्षा से क्रियाप्रयोग है कर्मकारक में नहीं,

जायेंगे। अर्थात् इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो 'बाकी' रहता है, उसको 'शेष' कहते हैं। सो किसी कवि ने '**शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्**'=पृथिवी 'शेष के आधार पर है' ऐसा कहा—दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझकर सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली। परन्तु जिसलिये परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से बाकी अर्थात् पृथक् रहता है, इसी से उसको '**शेष**' कहते हैं[१] और उसी के आधार पर पृथिवी है—

"**सत्येनोत्तभिता भूमिः।**" यह ऋग्वेद के मन्त्र का भाग है[२] [१०।८५।१]।

सत्य[३] अर्थात् जो त्रैकाल्य-अबाध्य, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि आदि सब लोकों को[४] धारण किया है।

"**अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्॥**" यह भी अथर्ववेद का वचन है[५] [अथर्व० ४।११।१]॥

["**उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति**"] [ऋग्वेद १०।३१।८]

इसी '**उक्षा**' शब्द को देखकर किसी ने '**बैल**' का ग्रहण किया होगा; क्योंकि '**उक्षा**' बैल का भी नाम है। परन्तु उस मूढ़ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहां से आवेगा? इसलिये '**उक्षा**' वर्षा द्वारा भूगोल का[६] सेचन करने से 'सूर्य' का नाम है।[७] उसने

जैसे आगामी वाक्य में "**किस पर थी?**" है। यह द्वि० सं० में संशोधित है। द्विप्र० में "**धारण कीई थी**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० वेस, युमी, भद में संशोधित पाठ हे किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया है।

१,३. **अन्यत्र वर्णित**—'**शेष**' परमात्मा का नाम है। इस शब्द का निर्वचन प्रथम समु० में संख्यांक ९३ तथा पृ० ५२ पर देखिए। इसी प्रकार '**सत्य**' ईश्वरनाम का निर्वचन संख्यांक ५५, पृ० ४४ पर द्रष्टव्य है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति में लिपिकर ने उक्त पाठ के स्थान पर व्यर्थ पाठान्तर किया है—"**यह ऋग्वेद का वचन है।**" इसमें कोई अर्थ-वैशिष्ट्य नहीं है। सभी द्वि०सं० में यही व्यर्थ पाठान्तर है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से भ्रष्ट हुए पाठ-परिवर्तन की कहानी**—मूलह० में पाठ है—"**भूमि आदि सब लोकों का**"। मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश इसमें "**आदि**" को "**आदित्य**" समझा, उसके आधार पर पाठ लिख दिया—"**भूमि आदित्य सब लोकों का**"। मुद्रणकाल में शोधक ने वाक्य में अपूर्णता अनुभव की, उसने बिना विचारे '**और**' पद जोड़कर बना दिया—"**भूमि आदित्य और सब लोकों का**"। यहां '**आदि**' लिखता तो ठीक था। अब रचनात्मक अपपाठ बन गया। यही द्वि०सं० में छप रहा है। जब "**सब लोक**" पद आ गया तो पृथक् से 'भूमि, आदित्य' के पाठ की क्या आवश्यकता है? या फिर "**आदि**" पद का ग्रहण किया जाता। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में मुद्रणलिपिकर और शोधक द्वारा परिवर्तित अपपाठ है। यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

५ **अप-उद्धरण और पाठ-संशोधन**—जैसे उपर्युक्त "**उत शूद्र-उतार्ये**" के उद्धरण स्थल को संशोधित करना अनिवार्य था उसी प्रकार यहां भी संशोधन की अनिवार्यता है। इस स्थल पर दोनों सं० में यह पाठ है—"**उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्**"। मुद्रणप्रति और द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको 'ऋग्वेद का वचन' लिखा है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में यह वचन नहीं है। पाठभेद से यह अथर्ववेद में है। किंचित् पर्याय परिवर्तन से इसी अथर्ववेद के पाठ को यहां स्वीकार करने पर पाठ आपत्ति-रहित हो सकता है। यह संशोधन युक्तिसंगत होने से ग्राह्य है। ऋग्वेद में यथावत् भाव को प्रकट करनेवाला उपर्युक्त दूसरा वचन मिलता है—"**उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति**" (१०.३१.८)=**उक्षा द्युलोक और पृथिवीलोक को धारण करता है।** अन्य सभी सं० में अपपाठ ही है।

उदयपुर सं० में सिद्धान्तविरुद्ध टिप्पणी—उदयपुर सं० ने यहां इस मन्त्र को तुलनात्मक मन्त्र माना है। सिद्धान्तानुसार वेदमन्त्रों में पाठान्तर स्वीकार्य नहीं है। उनको 'नित्यवर्णानुपूर्वी' वाला माना गया है। यदि प्रत्येक पाठान्तर को तुलनात्मक कहकर स्वीकार कर लिया जाता है तो किसी भी उद्धरण के पाठान्तर को शुद्ध करने की कतई आवश्यकता नहीं है। 'तुलनात्मक पाठ' वेदों से भिन्न प्रमाणों में स्वीकार्य हो सकता है। यहां वेदमन्त्र का संशोधन करना ही एकमात्र समाधान है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भूगोल के सेचन**" वाक्यांश में '**का**' सम्बन्ध प्रत्यय होना चाहिए। सभी सं० में अशुद्ध प्रयोग है।

७. **उक्षा का अर्थ सूर्य**—वेदों में इसी भाव को व्यक्त करनेवाले अनेक स्थल हैं। जैसे, "**मही द्यावापृथिवी....उक्षा पप्रथानेभिः...**" (ऋग्० ४.५६.१) अर्थात् उक्षा=सूर्य इस विशाल द्युलोक और पृथिवी लोक को धारण करता है।' आदि।

अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है।[१] परन्तु सूर्यादि का धारण करनेवाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

प्रश्न—इतने-इतने बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा?

उत्तर—जैसे अनन्त आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल कुछ भी अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कण के तुल्य भी नहीं हैं, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। वह बाहर-भीतर सर्वत्र व्यापक अर्थात्—

विभूः[२] प्रजासु यह यजुर्वेद का वचन है [३२।८]।

=वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सबका धारण कर रहा है। जो वह ईसाइयों,[३] मुसलमानों,[४] पुराणियों के कथनानुसार [एकदेशी होता और][५] विभु न होता तो इस सब सृष्टि का धारण कभी न कर सकता; क्योंकि विना प्राप्ति के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता।

कोई कहै कि ये सब लोक परस्पर आकर्षण से धारण किये हुए होंगे, पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है? उनको यह उत्तर देना चाहिये कि यह सृष्टि अनन्त है, वा सान्त? जो अनन्त कहैं तो आकारवाला वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकता और जो सान्त कहैं तो उनकी परभाग-सीमा[६] अर्थात् जिसके परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहां किसके आकर्षण से धारण होगा? जैसे समष्टि और व्यष्टि अर्थात् जब सब समुदाय का नाम वन रखते हैं तो 'समष्टि' कहाता है और एक-एक वृक्षादि की[७] भिन्न-भिन्न गणना करें, तो 'व्यष्टि' कहाता है; वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिनकर जगत् कहैं, तो सब जगत् का धारण और आकर्षण का कर्त्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं। इसलिये जो सब जगत् को रचता है, वही—

"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्॥"[८] यह यजुर्वेद का वचन है [१३।४]।

पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोक-लोकान्तरों[९,१०] तथा सूर्यादि प्रकाशसहित लोकों[११] और पदार्थों का

---

१. **लिपिकरकृत अपपाठ और संशोधन**—दोनों लिपिकरों, तीनों सं० ने यह अपपाठ बनाया है—"**पृथिवी को धारण की है**"। अन्य प्रायः सभी सं० में संशोधित है।

२. **अपपरिवर्तन**—प्रायः सभी संस्करणों में यहां "**विभुः**" अपपाठ है, यहां मूल यजुर्वेदपाठ के अनुसार "**विभूः**" पाठ शुद्ध है। दोनों हस्तलेखों और द्विप्र० में "**विभूः**" शुद्ध पाठ है, मूलप्रति सं० और द्वि०सं० ने अशुद्ध पाठ कर दिया। **स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी** तथा **पं० मीमांसक जी** के सं० में शुद्ध पाठ है। जग और **उदयपुर सं०** में अशुद्ध मन्त्रपाठ कर दिया है और उसका पता भी अशुद्ध है। वह मन्त्र है—"**स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।**"

३-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ईसाई-मुसलमान**" एकवचनान्त अपप्रयोग हैं, बहुवचन अपेक्षित हैं।

५. **ऋषिहस्तलेख और त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन अपेक्षित है क्योंकि ईसाई, मुसलमान अपने ईश्वर को '**एकदेशी**' वर्णित करते हैं। ईसाई चौथे आसमान पर और मुसलमान सातवें आसमान पर अपने ईश्वर का निवास मानते हैं। "**ईसाइयों.....कथनानुसार**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **अपपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**उनके परभागसीमा**"। यही अपपाठ सभी सं० में है।

७,९,११. **अपप्रयोग**—क्रमशः दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वृक्षादि को, लोकलोकान्तर, पदार्थ, लोक**" अपप्रयोग हैं, ये सब बहुवचनान्त रूप में अपेक्षित हैं। **संशोधन-पुष्टि**—द्रष्टव्य पृ० ४२३/४; पृ० ४२४/७ आदि में शुद्ध प्रयोग है।

८. **अप-उद्धरणपाठ**—"**स दाधार पृथिवीमुत द्याम्**" मुद्रणह०, द्विप्र० में अपपाठ है। उपर्युक्त शुद्ध है।

१०. **पुनरुक्तपाठ**—सभी पाठों में यहाँ "**और पदार्थों**" पाठ है। आगे भी होने से पुनरुक्ति अनावश्यक है।

रचन-धारण वही परमात्मा करता है[१] जो सबमें व्यापक हो रहा है।[२]

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर हैं?[३]

उत्तर—घूमते हैं।

प्रश्न—कितने ही लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता है और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है, सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाय?

उत्तर—ये दोनों आधे झूठे हैं। क्योंकि वेद में लिखा है कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

यजु०, अ० ३। मं० ६॥

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर आकाश में घूमता जाता है, अर्थात् सूर्य के चारों ओर इसलिये भूमि घूमा करती है।[४]

---

१. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र० में "**कराता है**" अपपाठ है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध पाठ है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमादवश पाठ-परिवर्तन से पुनरुक्ति**—प्रमादी मुद्रण-लिपिकर को पता नहीं क्या सूझा कि बिना विचारे, संशोधन की झोंक में, "**जो सबमें व्यापक हो रहा है**" के बाद यह अनावश्यक पाठ-परिवर्धन कर डाला—"**वही सब जगत् का कर्त्ता और धारण करने वाला है।**" जबकि महर्षिप्रोक्त पहले ही वाक्य में सारगर्भित रूप से ये दोनों बातें वर्णित हैं। यह पुनरुक्ति मात्र है। मुद्रणलिपिकर ने ऐसे ही अनावश्यक विस्तार अधिकांश स्थानों पर करके यह दिखाया है कि "**मैंने भाषा में सुधार किया है।**" जहां संशोधन आवश्यक था, वहां किया नहीं, कितने ही स्थल छोड़े हुए हैं, और अनावश्यक परिवर्तन करके अनेक पाठान्तर कर दिये! उन्होंने तो जो किया, सो कर दिया; अपने आर्य विद्वान् सम्पादकों की क्या कहें, जो सवा-सौ से अधिक वर्षों से लिपिकरों-शोधकों द्वारा विकृत पाठों को रहस्यपूर्ण मानकर सिर झुकाकर स्वीकार किये हुए हैं। पाठक देखें कि यह क्या वाक्य रचना है—"**पदार्थों का रचन-धारण वही परमात्मा करता है.....वही सब जगत् का कर्त्ता और धारण करनेवाला है।**" यही पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि संस्करणों में है, अतः उनका पाठ अग्राह्य है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

३. **त्रुटित क्रिया**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है, मूलह०, मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य भी है।

४. **मुद्रणलिपिकर त्रुटित व अप-पाठपरिवर्तन**—अच्छे-भले सटीक पाठ भी मुद्रणलिपिकर ने कैसे-कैसे बिगाड़े हैं, इसका उदाहरण यह परिवर्तन है—"**अर्थात्....घूमा करती है**" मूलह० के उपर्युक्त संगत पाठ को हटाकर उसके स्थान पर मुद्रणह० में यह पाठ बना दिया—"**इसलिए भूमि घूमा करती है।**" पाठ-परिवर्तन करते हुए मुद्रणलिपिकर '**पृश्निः**' का अर्थ "**आकाश में**" और "**अर्थात् सूर्य के चारों ओर**" पाठ त्रुटित ही छोड़ गया। इससे पाठ अपूर्ण हो गया। कोई पूछे कि '**भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है इसलिये भूमि घूमा करती है**' मुद्रणह० के इस वाक्य का अर्थ क्या है? द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अप-पाठ है।

महर्षिप्रोक्त पाठ के विरोध में कुतर्क—यहां दो बातें बड़ी स्पष्ट हैं—एक, यहां मूलहस्त० में महर्षिप्रोक्त पाठ है जो पाठ शुद्ध-सटीक है। उसके परिवर्तन की आवश्यकता नहीं थी। दो, यह अप-परिवर्तन मूलह० से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने किया है जिसमें परिवर्तन करते समय कुछ पाठ छूट भी गया है। फिर भी कुछ लोग मुद्रणलिपिकर के द्वारा परिवर्तित किये पाठ का समर्थन करते हैं और उसके समर्थन में हठ तथा कुतर्क तक करते हैं जबकि मूलह० के महर्षिप्रोक्त पाठ को नकारने का कोई कारण नहीं है और मुद्रणह० के पाठ को नकारने के अनेक आधार हैं।

पाठ-पुष्टि—मूलह० के पाठ के समर्थन में ऋषि के अन्य पोषक प्रमाण भी हैं। उनमें मूलह० वाला अर्थ ही गृहीत है—

(अ) पहले सत्यार्थप्रकाश के ही प्रकरणानुसार पाठ पर विचार किया जाता है। यहां पहला प्रश्न पृथिव्यादि सब लोकों के भ्रमण के विषय में है। उसके बाद दूसरा विशेष प्रश्न केवल पृथिवी-भ्रमण के विषय में है। उसके उत्तर में ग्रन्थकार ने दो मतों को 'आधा झूठा' कहा है, और पृथिवी के भ्रमण के प्रमाण स्वरूप "**आयं गौः०**" मन्त्र प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि इसमें प्रश्नानुसार केवल पृथिवी के भ्रमण का उत्तर है। अन्य लोकों-सम्बन्धी उत्तर न इस प्रश्न में पूछा गया है और न उसका उत्तर है। अन्य लोकों के भ्रमण-विषयक उत्तर आगे सूर्यभ्रमण का "**आ कृष्णेन रजसा०**" मन्त्र का प्रमाण देकर और चन्द्रभ्रमण का "**दिवि सोमो०**"

मन्त्र का प्रमाण देकर क्रमशः और पृथक्-पृथक् दिया है। सूर्य, चन्द्र का जब पृथक्-पृथक् वर्णन है तो यहां भी पृथक् वर्णन पहले पृथिवी का ही है। वर्णनक्रम यह सिद्ध करता है कि सत्यार्थप्रकाश में इस मन्त्र का केवल पृथिवी-परक ही अर्थ है। आगे पृ० ४२०, १८वीं पंक्ति में इस प्रश्न का शेष उत्तर और दिया है।

(आ) व्याकरण की दृष्टि से विचार करने से भी यहां अर्थ केवल पृथिवी-परक ही सिद्ध होता है, क्योंकि प्रश्न में भी एकवचन है और "**यह भूगोल....घूमता जाता है**" इस उत्तर में भी एकवचन है। यदि यह पूर्व प्रश्न से सम्बन्धित होता तो प्रश्न के समान उत्तर में भी बहुवचनात्मक प्रयोग होता है। इस शब्द का अर्थ ही '**भू+गोल**'=गोल पृथिवी है।

(इ) **पाठपुष्टि**—महर्षिकृत वेदभाष्य में प्राप्त अर्थ देखिए, कितना स्पष्ट है—**प्रसंग**—"अब अग्नि के निमित्त से **पृथिवी** का भ्रमण होता है, इस विषय को अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है—" **मन्त्रार्थ**—"(अयम्) यह प्रत्यक्ष (गौः) **गोलरूप पृथिवी** (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) सूर्यलोक के (पुरः) आगे-आगे, वा (मातरम्) अपनी योनिरूप जलों के साथ सहवर्त्तमान (प्रयन्) अच्छी प्रकार चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (अक्रमीत्) चारों तरफ घूमती है।"

भावार्थ—"मनुष्यों को जानना चाहिये कि जिससे यह **भूगोल=पृथिवी**, जल और अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई, अन्तरिक्ष वा अपनी कक्षा अर्थात् योनिरूप जल के सहित, आकर्षण रूपी गुणों से सबकी रक्षा करनेवाले सूर्य के चारों तरफ क्षण-क्षण घूमती है। इसी से दिन-रात्रि, शुक्ल वा कृष्णपक्ष, ऋतु वा अयन आदि काल-विभाग क्रम से संभव होते हैं।" (अ० ३, मन्त्र ६)

यहां स्पष्टतः सूर्य के चारों ओर घूमने वाली पृथिवी-विषयक अर्थ है और पृथिवी को ही 'भूगोल' कहा है। मूल वेद में इस मन्त्र का अन्य अर्थ अर्थात् लोक-लोकान्तर-परक नहीं है, यह प्रसंग, अर्थ और भावार्थ सुस्पष्ट है।

(ई) 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में ग्रन्थकार ने "गौः" के पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि अनेक अर्थ किये हैं किन्तु पाठक ध्यान दें कि वे पृथिवी या भूगोल शब्द के अर्थ नहीं है। फिर भी वहां मन्त्रार्थ पृथिवी-परक ही किया है—"अयं गौः पृथिवी गोलः.....तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलम्-असदत्, समुद्रजलं प्राप्ता सती (स्वः) सूर्यं पितरम्-अग्निमयं च पुरः पूर्वं प्रयन् सन् सूर्यस्य परितो याति" तथा पुनः व्याख्या में—"गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी।" "अद्भ्यः पृथिवी" इति तैत्तिरीयोपनिषदि।.....स्वः शब्देन-आदित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादादित्यो-अस्याः पितृवदिति निश्चीयते। यद् दूरं गता दूरं दूरं सूर्याद् गच्छतीति विज्ञेयम्।"

हिन्दी-भाषा में भी पृथिवी-परक अर्थ का अनुवाद है—"परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है। क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है....और सूर्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर घूमती है।" (पृथिव्यादिलोक-भ्रमण-विषयः, पृ० १००-१०१)

(उ) यजुर्भाष्य ३१.१ में ग्रन्थकार ने "**भूमि**" का अर्थ "**भूगोल**" किया है। इस प्रकार भी 'भूगोल....घूमता जाता है इसलिए भूमि घूमा करती है' यह वाक्यरचना हास्यास्पद है। और "भूगोल" का अर्थ यदि "भूमि" होगा तब भी इस वाक्य की संगति नहीं बनती।

अतः सत्यार्थप्रकाश के मुद्रणह०, द्विप्र० के पाठ के समर्थन में प्रस्तुत सभी कुतर्क व्यर्थ हैं। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० का मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित अशुद्ध-अस्पष्ट पाठ ग्राह्य नहीं है।

उदयपुर संस्करण का महर्षिविरुद्ध, विचारहीन और परस्परविरुद्ध उत्तर—मूलहस्त० में महर्षिप्रोक्त मन्त्रार्थ पूर्ण और सटीक है। उसमें पहले तो मन्त्र का भाव दिया है कि "**यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है।**" महर्षि इससे फिर निष्कर्ष निकालकर किये गये प्रश्न का उत्तर देते हैं कि "**अर्थात् सूर्य के चारों ओर इसलिये भूमि घूमा करती है।**" मुद्रणहस्त० में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से यह पाठ त्रुटित रह गया। उससे हानि यह हुई कि किये प्रश्न का जो वास्तविक उत्तर था कि 'सूर्य के चारों ओर भूमि घूमती है अथवा भूमि के चारों ओर सूर्य?' वह रह गया। अतः मैंने लिखा कि उदयपुर सं० में मूलह० का महर्षिप्रोक्त पूर्णपाठ ग्रहण करना चाहिए था। इसके उत्तर में उदयपुर सं० के लेखकों ने महर्षि के शुद्ध एवं पूर्ण पाठ की छीछालेदर करने में पूरा जोर लगा दिया। **पहले लेखक** इसका उत्तर नहीं दे सके। **दूसरे लेखक** को यह समझ ही नहीं आया कि मुद्रणह० के पाठ में प्रश्न का असली उत्तर ही त्रुटित है, उसको ग्रहण करना चाहिए। मुद्रणदोष से त्रुटित कुछ पदों के कारण, जिनका उत्तर से कुछ सम्बन्ध नहीं है, उन्होंने मुझे 'छली' घोषित कर दिया। पाठक यह जान लें कि 'सत्यार्थप्रकाश' उदयपुर सं० के सम्पादक और आर्य-लेखक स्वयं ही ऐसे मानस के हैं, क्योंकि उन्होंने पाठकों के साथ अनेक छल-कपट किये हैं।

तीसरे लेखक को मेरा कथ्य ही समझ नहीं आया। वे तालिका बनाकर वोट के हिसाब से प्रदर्शित करने में लगे रहे कि कितने सम्पादकों ने इस पाठ को ग्रहण किया है। इन्हें 'सत्यार्थप्रकाश' के किये गये प्रश्न और उदयपुर सं० में त्रुटित उत्तर-पाठ का ही ज्ञान नहीं हुआ। महर्षिप्रोक्त '**इसवास्ते**' '**इसलिए**' शब्दों के विरोध में उलझे रहे, जिस पर मेरी आपत्ति ही नहीं थी। **चौथे लेखक** ने 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रश्नोत्तर लिखकर और मेरी ही कही बात कहकर बात समाप्त कर दी। इन्होंने भाव तो सही निकाला किन्तु वह भाव उदयपुर सं० के पाठ से व्यक्त नहीं होता। यही बात मैं कह रहा था। उससे मेरा ही समर्थन उन्होंने कर दिया। किन्तु यह हिम्मत नहीं दिखा सके कि यह कहते कि हाँ, मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, उदयपुर सं० का नहीं।

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

यजु०, अ० ३३। मं० ४३॥

जो सविता अर्थात् सूर्य, वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणी[१]-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को दिखलाता हुआ, सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता। वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य प्रकाशक और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं, जैसे—

"दिवि सोमो अधि श्रितः॥" अथर्व०, कां० १४। [सू० १] अनु० १। मं० १॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है, वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं। परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं, क्योंकि पृथिव्यादि लोक घूमकर उनका जितना भाग सूर्य के सामने आता-जाता है उतने में दिन [होता है][२] और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है, उतने में रात [होती है][३]। अर्थात् उदय, अस्त, संध्या, मध्याह्न, मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं, वे देश-देशान्तरों में सदा वर्त्तमान रहते हैं। जैसे,[४] जब **आर्यावर्त** में सूर्योदय होता है, उसी समय '**पाताल**' अर्थात् **अमेरिका** में अस्त होता है और जब आर्यावर्त में अस्त होता है, तब पाताल-देश में उदय होता है। जब आर्यावर्त में मध्य दिन वा मध्य रात है, उसी समय **पाताल-देश** में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती, वे सब अज्ञ हैं; क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्रों[५] वर्ष के दिन और रात होते। अर्थात् सूर्य का नाम '**ब्रध्नः**' [है, वह][६] पृथिवी से

वैसे, इनका सारा लेख अहंकारपूर्ण व्यर्थ के इतने खोखले दावों से भरा पड़ा है चाहे उनसे एक ट्रक भर लो।

महर्षिविरोधी उदयपुरी लेखक—मेरे द्वारा सुझाये पाठ में **मेरा न कोई शब्द है और न संशोधन है। यह यथावत् मूलहस्त० का पाठ है जो महर्षिप्रोक्त है और उदयपुर सं० के पाठ की तुलना में शुद्ध तथा पूर्ण है।** चार में से तीन लेखकों ने उसका विरोध किया। **वस्तुतः यह मेरा विरोध नहीं हुआ, अपितु महर्षि का विरोध हुआ।** महर्षिप्रोक्त शुद्ध और पूर्ण सटीक पाठ का तिरस्कार करके और उसके विरोध में लिखने के बाद भी इनका दावा है कि हम ही असली ऋषिभक्त हैं। पाठकगण! उदयपुर सं० ने दो सौ पाठ मूलहस्त० के ग्रहण किये हैं फिर इस शुद्ध व पूर्ण पाठ को ग्रहण न करने में उनका हठ क्यों? क्या मुद्रणलिपिकर के द्वारा निर्मित अशुद्ध पाठ की तुलना में महर्षिप्रोक्त शुद्ध पाठ का तिरस्कार करके भी ये 'ऋषिभक्त' कहे जा सकते हैं? पाठक विचार करें। इनके महर्षि-विरोधी पाठ को 'उदयपुर सत्यार्थप्रकाश न्यास' बड़े गर्व से प्रकाशित और वितरित कर रहा है। फिर भी वह स्वयं के ऋषिभक्त होने का दावा कर रहा है। वस्तुतः महर्षि के विरोध में न्यास द्वारा धन का अपव्यय किया जा रहा है—अपनी 'ईगो' को संतुष्ट करने के लिए। ऋषि-हित और सत्यार्थप्रकाश=हित उपेक्षित हो गया है।

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**प्राणि**" अपवर्तनी है, '**प्राणी**' वर्तनी शुद्ध है। ग्रन्थ में बहुत्र '**प्राणी**' वर्तनी भी है। भाषात्मक व्यवस्था, मानकता और एकरूपता के लिए एक शुद्ध वर्तनी चाहिए।

२-३. **त्रुटित आवश्यक क्रियाएं**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर क्रमशः '**होता है, होती है**' क्रियाएं त्रुटित रह गई हैं। वाक्यसंरचना और व्याकरण की दृष्टि से दोनों स्थानों पर इन क्रियाओं की अनिवार्यता है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**अर्थात्**' प्रयोग है। पूर्वोक्त कथन के उदाहरण के लिए यह अग्रिम कथन है, अतः उदाहरणार्थ '**जैसे**' पद उपयुक्त है।

५. **मुद्रणकालीन हास्यास्पद और अप-अनुवाद**—दोनों हस्त० में यहां "**हजारह**" पाठ है। मुद्रणकाल में किसी शोधक (शायद,

लाखों[१] गुना बड़ा और करोड़ों कोश दूर है।[२] जैसे, राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथायोग्य रात-दिन होते हैं, सूर्य के घूमने से नहीं। और जो सूर्य को स्थिर कहते हैं, वे भी **ज्योतिर्विद्यावित्** नहीं; क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता तो एक राशि=स्थान से दूसरी 'राशि' अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता।[३] और गुरु पदार्थ विना घूमे आकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता। और जो जैनी आदि कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं, किन्तु नीचे चली जाती है और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जम्बूद्वीप में बतलाते हैं,[४] वे तो '**बारह लोटा**[५] **गहरी भांग के नशे में निमग्न**' हैं; क्योंकि जो नीचे-नीचे चलती जाती तो चारों ओर वायु के चक्र न बनने से पृथिवी छिन्न-भिन्न होती और निम्न-स्थल पृथिवी[६] में रहनेवालों को वायु का स्पर्श न होता, नीचेवालों को अधिक होता और एक-सी वायु की गति होती। और दो सूर्य-चन्द्र होते, तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट-भ्रष्ट होता। इसलिये एक भूमि के पास एक चन्द्र और अनेक चन्द्रों और अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

प्रश्न—सूर्य, चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें **मनुष्य-आदि** सृष्टि है, वा नहीं?

उत्तर—ये सब भूगोल-लोक [हैं][७] और इनमें **मनुष्य-आदि** प्रजा भी रहती हैं, क्योंकि—

पं० ज्वालादत्त) ने हिन्दी रूप बनाया तो बिना विचारे हास्यास्पद रूप "**सहस्त्रह**" द्विप्र० में बना दिया अर्थात् संस्कृत शब्द से फारसी प्रत्यय लगाकर अनूठा प्रयोग कर दिखाया। द्वि०सं०, मूलसं० में "**सहस्त्र**" अपपाठ रख दिया जबकि "**हजारह**" बहुवचन होने से यहां "**सहस्त्रों**" शुद्ध अनुवाद होगा। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है। सम्पादकों की अव्यवस्था देखिए कि यहां तो संशोधन नहीं किया किन्तु अगले ही वाक्य में "**लाखों**" पद सबने शुद्ध कर लिया।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**है, वह**' पद त्रुटित हैं, वाक्यसंगति के लिए ये आवश्यक हैं।

१. **मुद्रणकालीन अप-अनुवाद**—द्वि० सं० में यहां "**लाख**" अप-अनुवाद है। यहां '**लाखों**' शुद्ध है। मूलप्रति सं० में यह है। दोनों हस्तलेखों में यहां "**लाखह**" फारसी भाषा का पद है। हिन्दी रूप बनाने के लिए शोधक ने '**ह**' अक्षर काट दिया। उसने यह नहीं सोचा कि फारसी में "**लाखह**" बहुवचन है तो उसका हिन्दी रूप भी '**लाखों**' बनेगा।

२. **पृथिवी से सूर्य की दूरी तथा बड़ापन**—आधुनिक विज्ञान की खोज के अनुसार सूर्य पृथिवी से लगभग १५ करोड़ कि०मीटर दूर है तथा ३,३३००० गुना बड़ा है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—"**यदि....न होता और**" तक का पाठ तथा अन्य रेखांकित पाठ मूलह० और मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित हैं।

४. **दो सूर्य और दो चन्द्र**—द्रष्टव्य है जैन-मत की कारिका—"**दो ससि दो रवि पढ़मे**" समु० द्वादश पृ० ८३१ पर।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा विकृत परिवर्तन**—यह एक प्रचलित कहावत है जिसका अर्थ है—'**बारह घंटे अर्थात् सारे दिन भांग के नशे में मग्न रहना।**' यह कहावत उन लोगों के लिए है जो सारे दिन भांग का लोटा चढ़ाते रहते हैं और नशे में धुत रहकर अंट-संट बकते हैं। जिन्हें यही पता नहीं होता कि हम क्या कह रहे हैं और क्या कर रहे हैं। मुद्रण-लिपिकर ने "**बारह लोटा**" पाठ छोड़कर उक्ति को अपूर्ण बना दिया और इस उक्ति की गम्भीरता को और उक्ति की व्यंजना को ही नष्ट कर दिया। वही त्रुटित पाठ द्विप्र० में है और द्वि०सं० में छप रहा है। बारह संख्या पर आधारित अन्य उक्तियां भी हिन्दी भाषा में प्रचलित हैं, जैसे—'**बारह बाट जाना**'=पूरी तरह तितर-बितर होना, '**बारह बाट करना**'=पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट करना, आदि। स्वयं ग्रन्थकार ने अन्यत्र भी ऐसी उक्ति का प्रयोग किया है—"**बारह पत्थर के भीतर दृष्टिबन्ध होना**"=अपनी सीमा में कैद रखना (समु० ९, पृ० ४५७)। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पूर्ण उक्ति है। मुद्रणलिपिकर द्वारा बिगाड़ा पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में है। यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

६. **निम्नस्थल पृथिवी से अभिप्राय**=पृथिवी के वे भाग जहां वायु का प्रवेश सामान्यत: कम रहता है जैसे—गह्वर, गुफाएं, गहरी घाटियां, गढ़े आदि। वायु की गति कम होने पर वहां वायु का प्रवेश संभव नहीं होगा।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**हैं**' क्रिया अपेक्षित है। दूसरे वाक्यखण्ड की "**हैं**" क्रिया की इससे कोई संगति नहीं बनती है।

एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥ शत० कां० १४ [प्रपा० ३। ब्रा० ७। कं० ४]

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य **इनका 'वसु' नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजायें[१] वसती हैं, और ये ही सबको वसाते हैं। जिसलिये वास के=निवास करने के घर हैं,** इसलिये इनका नाम **'वसु'** है।[२] जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक **मनुष्य-आदि सृष्टि** से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन[३] नहीं होता, तो क्या इतने असंख्य लोकों में **मनुष्य-आदि सृष्टि** न हो, तो सफल कभी हो सकता है? इसलिये सर्वत्र **मनुष्य-आदि सृष्टि** है।[४]

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वसती हैं**" क्रिया सम्बन्ध से "**प्रजा**" के स्थान पर '**प्रजायें**' प्रयोग अभीष्ट है।

२. **आठ वसु**—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आठ वसु ये हैं—"**कतमे वसव इति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्च-अन्तरिक्षं च आदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः।**" (शत० ब्रा० १४.६.९.४)। यहां अन्तरिक्ष का अर्थ आकाश दिया है तथा द्यौ का पर्याय जल दिया है। वैदिक साहित्य में द्यौ का अर्थ जल भी है—"**आपो वै द्यौः**" (शत० ६.४.१.९), "**द्यौर्वै वृष्टिः**" (शत० ब्रा० ३.२.९.३), "**वृष्टिर्वै द्यौः**" (तैत्ति० ३.२.९.३)। इन्हीं के आधार पर यजु० वेदभाष्य २३.१२ में मन्त्रोक्त "**द्यौ**" का महर्षि ने '**वृष्टि**' अर्थ किया है। (विस्तृत टिप्पणी पृ० ३२० पर भी द्रष्टव्य है।)

३. **अपवर्तनी**—द्विप्र० में "**निःप्रयोजन**" अपवर्तनी है। द्वि०सं० में संशोधित है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है।

४. **लोक-लोकान्तरों में मनुष्यादि प्रजा**—इस सन्दर्भ पर कुछ लोग बिना विचारे अथवा पूर्वाग्रह के कारण आपत्ति करते हैं। कृपया, वे आपत्ति करने से पूर्व इन बिन्दुओं को गम्भीरता से पढ़ें—

(क) लोक-लोकान्तरों में निवास होने और निवासयोग्य वातावरण लोक-लोकान्तरों द्वारा निर्माण करने सम्बन्धी यह मान्यता मूल रूप से 'शतपथ ब्राह्मण' की है। महर्षि ने उसको उद्धृत करके उसके अनुसार यहां उत्तर दिया है। यह महर्षि की अपनी खोज या स्थापना नहीं है, यह '**शतपथ ब्राह्मण**' का कथन है। अन्य प्रमाणों के समान महर्षि ने इसको भी प्रमाण माना है।

(ख) महर्षि ने समस्त लोक-लोकान्तरों को '**वसु**' कहते हुए उनकी दो विशेषताएं बताई हैं—१. ये लोक या तो निवास के आधार हैं, अथवा २. निवास योग्य वातावरण बनाने में कारण हैं—"**प्रजा वसती है और ये ही सबको वसाते हैं।**" विज्ञान में आज भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है कि लोक-लोकान्तरों के परस्पर अनुकूल वातावरण से ही जीवन संभव बना हुआ है। अतः आवश्यक नहीं कि सब ग्रहों में प्रजा हो। जिसमें प्रजाएं नहीं हैं, वह बसाने में कारण अवश्य है। सब लोकों में दोनों में से एक विशेषता अवश्य है। अतः दोनों अर्थों की संगति लगाकर सब लोकों की व्याख्या करनी चाहिए। केवल एक '**बसने वाली**' बात कहना अपूर्ण व्याख्या और अज्ञानतापूर्ण कथन है।

(ग) यह भी ध्यान देने की बात है कि महर्षि ने '**शतपथ ब्राह्मण**' के वाक्य की व्याख्या करते हुए "**मनुष्यादि प्रजा**" और "**मनुष्यादि सृष्टि**" शब्दों का प्रयोग किया है, जिसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सब लोकों में मनुष्य ही हों। यहां '**आदि**' शब्द से संसार के मनुष्य से भिन्न अन्य कीटाणु तक के प्राणियों का ग्रहण होता है। इस बात को हम महर्षि के उपर्युक्त वाक्य से समझ सकते हैं—"**यह छोटा-सा (पृथिवी) लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है।**" इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि इसमें सर्वत्र मनुष्य ही मनुष्य हैं या केवल मनुष्यों से भरा हुआ है। "**आदि**" शब्द संकेत देता है कि कहीं मनुष्य हैं, तो कहीं केवल पशु, तो कहीं केवल कीटाणु भी हो सकते हैं। कहीं अन्य जीव हो सकते हैं। जैसे, समुद्र में केवल जलचर है, जंगलों में वन्य प्राणी हैं, आकाश में पक्षी हैं, भूमि के अन्दर कीट हैं, आकाशादि में कीटाणु हैं।

इसी प्रकार यहां अन्य ग्रहों-नक्षत्रों के साथ सूर्य के उल्लेख पर कुछ पाठकों को आपत्ति है, क्योंकि आज का विज्ञान सूर्य को गैसजनित आग का एक गोला मानता है। अभी तक आज के वैज्ञानिकों के पास सूर्य की केवल बाहरी जानकारी है, ब्रह्माण्ड के अन्य सूर्यों की तो है ही नहीं। इस जानकारी पर भी वैज्ञानिकों में मतभेद हैं। जब तक सभी सूर्यों की पूर्ण प्रामाणिक खोज या जानकारी उपलब्ध नहीं होती तब तक शतपथ के वचन को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता।

(घ) शतपथ ब्राह्मण की मान्यता के अनुसार—'**सब लोक-लोकान्तर वसु हैं**' अर्थात् **या तो उनमें प्राणी बसते हैं या वे अन्य लोकों में प्राणियों की उत्पत्ति और निवास में सहायक कारण हैं।** यह वैज्ञानिक मान्यता आज भी है। इसी के आधार

प्रश्न—जैसे इस देश में **मनुष्य-आदि सृष्टि** के[१] आकृति-अवयव हैं, वैसे ही अन्य लोकों में भी होंगे[२] वा विपरीत होंगे ?

उत्तर—कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है, जैसे इस देश में चीने, हबशी[३] और आर्यावर्त, यूरोप में अवयव और रङ्ग-रूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों

पर आज के वैज्ञानिक दूसरे लोकों में मानवसृष्टि की खोज में जुटे हैं। अन्य ग्रहों पर जाने का मुख्य प्रयोजन यही खोज करना है।

ग्रहों पर जाने के बाद वहां की प्राकृतिक परिस्थितियों के विषय में आज के विज्ञान ने अभी कोई अन्तिम निर्णय नहीं दिया है। जब तक अन्तिम निर्णय नहीं होता तब तक उनके वर्तमान कथनों को अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। कभी उन्होंने कहा था कि **मंगल ग्रह पर जल नहीं है।** नयी खोज के अनुसार **जल होना स्वीकार किया है।** इसी प्रकार जब तक अन्तिम वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं आता तब तक शतपथ ब्राह्मण के वचन को अमान्य नहीं किया जा सकता। महर्षि के आलोचक क्या इन पुनःपुनः परिवर्तनशील वैज्ञानिकों की भी आलोचना करेंगे ?

(ङ) शतपथ ब्राह्मण हजारों वर्ष पुराना ग्रन्थ है और उसमें वर्णित मान्यता और भी प्राचीन है। हजारों-लाखों वर्ष पुरानी प्राकृतिक मान्यता की तुलना वर्तमान पर्यावरणीय परिस्थितियों से करना वैज्ञानिक दृष्टि से सही नहीं है। प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। आज के वैज्ञानिकों का एक और मत लीजिए। पहली चन्द्र-यात्रा करने के बाद उन्होंने कहा था कि **चन्द्रमा पर जल आदि नहीं है।** अब नया मन्तव्य यह है कि कभी **वहां जल और समुद्र रहे हैं क्योंकि समुद्रीय और अन्य जलों के चिह्न या गढ़े वहां मिले हैं।** जल के अस्तित्व-सम्बन्धी इस नई खोज से वैदिक साहित्य में प्राप्त चन्द्रमा-सम्बन्धी विवरणों की और शतपथ के उक्तवचन की सत्यता सिद्ध हो गई है कि कभी वहां प्राणी वसते थे। क्योंकि जहां जल होता है वहां जीवन अवश्य होता है। महर्षि के आलोचक अब उत्तर दें कि वे इन वैज्ञानिकों को क्या कहेंगे जो पल-पल में पलटते हैं।

(च) आज के विज्ञान को अति-उच्च विज्ञान माना जाता है। फिर भी उसकी स्थापित मान्यताएं दिन-प्रतिदिन बदल रही हैं या गलत सिद्ध हो रही हैं। उदाहरण के रूप में, वैज्ञानिकों का अब तक मानना रहा है कि एक-सौ डिग्री तापमान में सभी जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। किन्तु गत दिनों खोज से पाया कि **न्यूजीलैण्ड आदि कई देशों के समुद्र में स्थित ज्वाला-मुखी के ताप से समुद्र का पानी तीन-चार सौ डिग्री तापमान पर खौलता रहता है। वैज्ञानिकों को उसमें जीवित रहने वाले क्षुद्र जीव मिले हैं, जो महान् आश्चर्य का विषय है।** ऐसे जीवों को वैदिक साहित्य में पहले से ही '**आग्नेय जीव**' कहा हुआ है। जिन जीवों की कल्पना आज के वैज्ञानिक नहीं कर सके, उनका विवरण वैदिक साहित्य में प्राप्त है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण कालीन खोजों के प्रमाणों को अभी तक की खोजों के अनुसार अमान्य नहीं किया जा सकता।

(छ) इस सन्दर्भ में अन्तिम कथन यह है कि लगभग प्रत्येक वैज्ञानिक की कुछ मान्यताएं आने वाले वैज्ञानिकों ने अस्वीकार या खण्डित की हैं। सभी वैज्ञानिकों में घोर मतान्तर हैं। किसी विषय में कहीं एक मान्यता नहीं है, किन्तु उससे न तो पूर्व-वैज्ञानिकों का महत्त्व कम हुआ और न वह उनकी निन्दा की बात है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई वैदिक वैज्ञानिक तथ्य वर्तमान विज्ञान से मेल नहीं खाता तो उससे न तो समग्र साहित्य का महत्त्व कम होता है, और न वह निन्दा या बवण्डर उठाने की बात है। मान्यताओं, स्थापनाओं और वैज्ञानिक सिद्धान्तों में मतान्तर रह ही जाता है और रहेगा। **स्वामी दयानन्द प्रकृति-वैज्ञानिक नहीं थे। वे वेद-शास्त्रों में पारंगत ऋषि थे। यदि उनके द्वारा उद्धृत कोई प्रकृति-सम्बन्धी प्राचीन वचन गलत भी सिद्ध होता है तो न तो उसका उत्तरदायित्व उन पर आता है और न उनके शास्त्रीय पाण्डित्य का महत्त्व कम होता है। उनका अपना विषय वेदादि-शास्त्र विषयक है। वे शास्त्रीय वचनों को प्रमाण मानकर उद्धृत करते हैं।**

जो लोग इस उद्धरणात्मक प्रसंग को प्रस्तुत करके विरोधात्मक बवण्डर उठाते हैं वे ज्ञान-विज्ञान की शोध-मर्यादा एवं परम्परा का ज्ञान नहीं रखते। क्या वे उन वैज्ञानिकों की निन्दा करते हैं जिनकी खोज या सिद्धान्त दूसरे वैज्ञानिकों द्वारा खण्डित हो चुके हैं ? क्या संसार फिर भी उनकी सम्मानपूर्ण गणना वैज्ञानिकों में नहीं करता ? जो लोग इस प्रकार की उद्धृत बातों को आधार बनाकर ऋषि का विरोध करते हैं। उनके विरोध के पीछे उनकी तुच्छ बुद्धि की सोच और ईर्ष्या-द्वेष की भावना है। वे अपनी औकात को भी भूल जाते हैं कि वे इस विषय पर समालोचना करने के पात्र भी हैं या नहीं।

१-२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० व द्वि०सं० में संशोधन के नाम पर क्रियापद को अशुद्ध कर दिया है। व्याकरणानुसार यहां "**होंगी**" नहीं "**होंगे**" क्रिया-प्रयोग शुद्ध है। इसी प्रकार "**सृष्टि की**" अपप्रयोग तीनों सं० में है, यहां '**के**' चाहिए। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सं० में ये अपप्रयोग हैं। **संशोधन-पुष्टि**—आगे पृ० ४२४ पर शुद्ध पुंल्लिंग प्रयोग है—"**उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं।**"

३. **हबशी**—अफ्रीका के '**हबश**' नामक देश के निवासी होने के कारण वहां के निवासियों को '**हबशी**' कहा जाता है।

में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, वैसी जाति की ही सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अङ्ग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं। क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋ०, म० १०। सूक्त १९० [मं० ३]॥

धाता=परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि, अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुख विशेष पदार्थ पूर्वकल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे हैं, तथा सब लोक-लोकान्तरों में भी बनाये हैं। भेद किंचित्-मात्र नहीं होता।

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में **प्रकाश** है, उन्हीं वेदों का उन लोकों में भी **प्रकाश** है, वा नहीं?

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे, एक राजा की राज्यव्यवस्था, नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की **वेदोक्त नीति** अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

प्रश्न—जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्त्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं, तो ईश्वर का अधिकार भी इन पर न होना चाहिये; क्योंकि सब स्वतन्त्र हुए?

उत्तर—जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं और राजा के आधीन प्रजा होती है, वैसे ही परमेश्वर के आधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं। जब परमेश्वर सब सृष्टि का बनानेवाला,[१] जीवों के कर्मफलों का देनेवाला,[२] सबका यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्यवाला है, तो अल्पसामर्थ्य [जीव][३] और जड़ पदार्थ उसके आधीन क्यों न हों? इसलिये **जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं।** वैसे ही वह सर्वशक्तिमान् [परमेश्वर][४] सृष्टि, पालन और संहार[५] सब विश्व का करता है।[६]

१-२. **त्रुटित आवश्यक प्रत्यय**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**वाला**" प्रत्यय मूल पदों से त्रुटित है, प्रत्यय मूलपद से संयुक्त रूप में चाहिए।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, यहां '**जीव**' पाठ त्रुटित है। इसके बिना वाक्यसंगति नहीं बनती।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद का परिवर्धन अपेक्षित है।

५. **मूललिपिकर द्वारा क्रमभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां परमेश्वर की क्रियाओं का अपक्रम में उल्लेख किया है—"**सृष्टि, संहार और पालन**"। इस सं० में दिया क्रम युक्तियुक्त और ग्रन्थ में सर्वत्र स्वीकृत है। सृष्टि के बाद पालन होता है, पालन के बाद संहार, संहार के बाद कहीं पालन नहीं होता। वेस, भद, युमी, उदयपुर सं० में क्रमभ्रष्ट पाठ है। यह बोलकर लिखाते समय मूललिपिकर के द्वारा आगे-पीछे लिखा गया है।

६. **मुद्रणलिपिकर की अयोग्यता से अपप्रयोग**—मुद्रणहस्त० में "**करता**" क्रियापद के स्थान पर विशेषण-पद "**कर्त्ता**" अपप्रयोग है। मुद्रणलिपिकर को यही ज्ञान नहीं है कि वाक्यान्त में क्रिया आती है, विशेषण नहीं। जो आर्य विद्वान् लिपिकरों की विद्वत्ता का दावा करके आधुनिक सम्पादकों को उनसे अयोग्य मानते हैं, वे इन स्थलों पर विचार करके देखें कि महर्षि का कितने अयोग्य लिपिकरों से पाला पड़ा था जिन्हें क्रियाप्रयोग और विशेषण-प्रयोग के अन्तर का ही ज्ञान नहीं था। यही अशुद्ध प्रयोग द्विप्र० में है और द्वि०सं० में छप रहा है। मूलह०, मूलसं० में यहां "**कर रहा है**" अपपाठ है क्योंकि "**संहार**" के साथ नित्य वर्तमान काल की क्रिया व्याकरणविरुद्ध है। अतः इसका संशोधन अपेक्षित है।

खेजदजनक सम्पादन—आश्चर्य है कि बाद के सम्पादक विद्वानों ने भी इस स्पष्ट और साधारण अशुद्धि पर भी ध्यान नहीं दिया। जग में शुद्ध है, वेस, भद, युमी, जस, उदयपुर, सं० में यहां "**कर्त्ता**" अपप्रयोग है, जो लिपिकर की अयोग्यता से अशुद्ध

इसके आगे विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष के विषय में लिखा जायगा। यह [सृष्टि-उत्पत्ति-स्थिति प्रलय-विषयक][१] आठवां समुल्लास पूरा हुआ।[२,३]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते[४] सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलय-
विषयेऽष्टमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ ८ ॥[५]

लिखा गया है। यह भी सभी सम्पादकों को ज्ञात है कि लिपिकर '**कर्त्ता**' को '**करता**' और '**करता**' को '**कर्त्ता**' बार-बार अशुद्ध लिखते हैं। ऐसे पचासों स्थल पूरे ग्रन्थ में हैं।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—समुल्लास के अन्त में महर्षि की स्थापित शैली के अनुसार दोनों सं० में यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन अत्यावश्यक है। त्रुटि को छोड़कर सभी समुल्लासों के अन्त में पूर्व-अपर विषय का संकेत प्राप्त होता है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा इस समुल्लास में पुस्तकनामों में चार व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय पुस्तक नामों की वर्तनी में इन स्थानों पर व्यर्थ पाठान्तर किया है—३७३/११, ३७५/१२, ३९८/१२, ४२०/९। मूलह० में इन नामों में भिन्न रूप मिलता है, जिसको बदलना नितान्त अनावश्यक एवं व्यर्थ पाठान्तर है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित तीन पुस्तक-नाम**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय, इस समुल्लास में अग्रलिखित स्थानों पर तीन पुस्तकनाम त्रुटित छोड़ दिये हैं—३८२/४, ४१२/५, ६। मूलह० में ये नाम लिखे हुए हैं। यह मुद्रणलिपिकर का प्रमाद है जिसके कारण सत्यार्थप्रकाश में अनावश्यक पाठान्तर होकर उसकी एक रूपता और मानकता को हानि पहुंची है। उन्हीं पाठान्तरों के कारण आज पाठभेदों पर विवाद उत्पन्न हो रहे हैं।

४,५. **पाठग्रहण**—मुद्रण-हस्तलेख में "**विरचिते**" पाठ है। मुद्रण-काल में "**विभूषिते**" पाठ बनाया गया है। यह समाप्तिसूचक सम्पूर्ण वाक्य मूलहस्त० में नहीं है। केवल "**इतिश्रीमद्दयानन्द सरस्वती०**" संक्षिप्त रूप है। मूलप्रति सं० में इसको मुद्रणहस्त० व द्वि० सं० से ग्रहण किया गया है।

—०—

अथ नवमसमुल्लासारम्भः

अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

[अब विद्या-अविद्या-बन्ध-मोक्ष विषयों की व्याख्या करेंगे][1]

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

यजुः, अ० ४०। मं० १४॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह '**अविद्या**' अर्थात् 'कर्म-उपासना' से मृत्यु को तरके '**विद्या**' अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। [किन्तु वह 'कर्म-उपासना'-रूप 'अविद्या' अशुद्ध कर्म, अशुद्ध उपासना और मिथ्या ज्ञानयुक्त 'अविद्या' नहीं होनी चाहिये। उस मिथ्या ज्ञानयुक्त][2] अविद्या का लक्षण[3] है[4]—

---

१. **त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में विषयसंकेतक हिन्दी-वाक्य नहीं है। शैलीगत एकरूपता और मानकता की दृष्टि से परिवर्धन आवश्यक है। अनेक समुल्लासों में हिन्दी-वाक्य भी संस्कृत वाक्य के साथ उपलब्ध है (द्र०पृ० १९ पर टि०)।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—प्रसंग को जोड़नेवाला बृ० कोष्ठक का पाठ आवश्यक है उसके बिना पाठक संदेह में पड़ जाता है कि पूर्व वाक्य में जिस अविद्या को मुक्ति में सहायक '**कर्म और उपासना**' रूप कहा जा रहा है, उसे अगले ही वाक्य में मुक्ति में बाधक 'मिथ्या ज्ञान' क्यों कहा जा रहा है? जो '**अविद्या**' मृत्यु से तारनेवाली है वह 'मिथ्या ज्ञान' कैसे हो सकती है? यह प्रश्न विचारणीय है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का इस विषयक समाधान उल्लेखनीय है—

वस्तुतः यहां '**अविद्या**' के दो अर्थों पर प्रकाश डाला है—१. नञ् तत्पुरुष समास के द्वारा '**न+विद्या=अविद्या**' अर्थात् जो विद्या=मुक्ति देने वाला यथार्थ ज्ञान तो नहीं है किन्तु उसके सदृश मुक्ति में सहायक है, और वह है—'कर्म और उपासना'। जैसे व्याकरण में उदाहरण दिया जाता है—"**अब्राह्मणम् आनय**=ब्राह्मण न हो उसको ले आओ" तो हम उसके सदृश किसी अन्य मनुष्य को ही लायेंगे, पशु आदि को नहीं। निषेध में भी सदृशता होनी चाहिए। इसी प्रकार विद्या=ज्ञान के सदृश मुक्ति में सहायक क्रियाएं हैं ज्ञानयुक्त '**कर्म**' और '**उपासना**'। अतः अविद्या का अर्थ हुआ—जो विद्या तो नहीं है, किन्तु उसके सदृश ही मुक्ति में सहायक है, वह है 'कर्मोपासना'। अतः वह विद्या से भिन्न किन्तु उसके सदृश 'अविद्या' संज्ञक है।

बहुव्रीहि समास के द्वारा '**नास्ति विद्या=विशुद्धं यथार्थज्ञानं वा यस्यां सा अविद्या**' अर्थात् जिसमें विशुद्ध भाव और यथार्थ ज्ञान नहीं है वह कर्म या ज्ञान '**अविद्या**' है। इसका भाव यह है कि वह कर्म और उपासना रूप अविद्या अशुद्ध कर्म और अशुद्ध या मिथ्या उपासना रूप नहीं होनी चाहिए, तभी वह मुक्ति में सहायक होगी, तभी उससे मृत्यु को पार किया जा सकेगा, अशुद्ध कर्म और अशुद्ध या मिथ्या उपासना के द्वारा नहीं। कर्म और उपासना को करते समय यह तथ्य सदा ध्यान में रखना चाहिए। इसी महत्त्वपूर्ण भाव को मन्त्र में '**विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानना।**' इस वाक्य से व्यक्त किया है, अर्थात् कर्म-उपासना रूप अविद्या का आचरण विद्या=यथार्थ ज्ञान और विशुद्धता के भावपूर्वक होना चाहिए। ग्रन्थकार ने यजुर्वेदभाष्य (४०.१२) में स्वयं इसी भाव को प्रस्तुत किया है—"अविद्याम्-अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या-इति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद् भिन्नम्..... अभ्यस्यन्ति।" अर्थात् परमेश्वर से भिन्न जड़ पदार्थ की उपासना अविद्या है। **संशोधन-पुष्टि**—इस उत्तर की पुष्टि के लिए पृ० ४२८ का अविद्या-विद्या विषयक पाठ देखिए।

३. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**अविद्या का लक्षण**" पाठ ऋषिलिखित है। मूलसं० में वहीं से गृहीत है।

४. **स्थानभ्रष्ट पाठ पर चिन्तन—स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने उक्त मन्त्रार्थ के साथ "**अनित्याशुचि०**" योगसूत्र की संगति न लगती देख टिप्पणी में सुझाव दिया है कि यह सूत्र अस्थान में है, क्योंकि यह वह **अविद्या** नहीं है जो ऊपर मन्त्रार्थ में वर्णित की है। स्वामी जी की यह बात सही है। बिना स्पष्टीकरण के संगति समझ में नहीं आती। स्वामी वेदानन्द जी द्वारा इस सूत्र को यहां से उठाकर आगे "**अविद्याऽस्मिता०**" (पृ० ४५५) के पूर्व रखने के संशोधन की अपेक्षा यहां कुछ पंक्तियों के परिवर्धनपूर्वक

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

यह योगसूत्र का वचन है [साधनपाद, सू० ५]

जो '**अनित्य**' संसार और देहादि में 'नित्य' अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा-सुना जाता है, [वह] सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत-बुद्धि होना, अविद्या का प्रथमभाग है। **अशुचि** अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के[१] [शरीरों में] और मिथ्याभाषण, चोरी आदि

प्रसंग को संगत बनाना अधिक ठीक है। ऊपर बृहत् कोष्ठक में कुछ पाठ बढ़ाकर इसका समाधान किया गया है। अवश्य ही यहां लिखते-लिखाते समय कुछ पाठ छूटा है, जैसे—"**अविद्या का लक्षण**" यह वाक्य भी मूलह० में नहीं है। इसको शोधन के समय मुद्रण-प्रति में ग्रन्थकार ने जोड़ा है। सिद्धान्ती जी ने इस सूत्र और सूत्रार्थ को असंगत मानकर बृ० कोष्ठक में दिया है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यास नाम-स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने इस सुझाव की आलोचना 'सत्यार्थप्रकाश के संशोधन की समीक्षा' में पृ०- १२३-१२७ पर की है। उनका यह कथन तो ठीक है कि इसका स्थानपरिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये किन्तु उन्होंने संदेह के निवारण का उपाय नहीं बताया। लम्बी-चौड़ी जो समीक्षा उन्होंने की है उसका संदेहयुक्त मूलपाठ के समाधान से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, केवल आलोचना-मात्र है।

१. **उदयपुर सं० में मनमानी से ऋषिकृत पाठ का परिवर्तन**—दोनों हस्तलेखों, द्विप्र०, द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० में उपलब्ध इस पाठ को उदयपुर सं० के सम्पादकों ने, अपनी प्रतिज्ञाओं की उपेक्षा करके, स्वच्छन्दतापूर्वक निकाल दिया है—"**स्त्री-आदि के**"। यहां "**आदि**" पद से उन सभी बालक, पुरुष आदि के शरीरों का भी ग्रहण किया गया है जिनके आकर्षण से व्यक्ति उनमें 'शुचि'-भावना करके फंसता है अथवा मोहित होता है। शास्त्र-परम्परा में उदाहरण मुख्य और गौण के क्रमानुसार मुख्य को आधार मानकर दिया जाता है। क्योंकि संसार में स्त्री का शरीर अधिक कमनीय और आकर्षक है अत: आकर्षण की प्रवृत्ति भी उस ओर अधिक होती है तथा शुचिता की भावना भी भ्रान्ति से उसी में अधिक बनती है, अत: मुख्यता के आधार पर यहां "**स्त्री**" शब्द का उल्लेख है, एकपक्षीय आधार पर नहीं। इस सूत्र के अर्थ में 'स्त्री' शब्द के प्रयोग से जो स्पष्टता-सटीकता आती है, वह केवल '**शरीर**' पद से नहीं आती। यही शास्त्रीय अर्थपरम्परा है। योगदर्शन (२.५) में इस सूत्र के व्यासभाष्य में कन्या की कमनीयता को ही उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है और निष्कर्ष दिया है कि "**एवम्-अशुचौ शुचि विपर्यासप्रत्यय इति**"=इस प्रकार अशुचि शरीर में शुचिता की मिथ्याप्रतीति की जाती है। योग-भाष्य की इसी परम्परा को यहां ऋषि ने ग्रहण किया है। एक लेखक ने यहां तर्क दिया कि 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस सूत्र के अर्थ में केवल "**शरीर**" पद का प्रयोग है। इस विषय में यह समझना चाहिए कि बाह्य प्रमाण शुद्धि-अशुद्धि का पोषक होता है, पाठ को निकालने का आधार नहीं। यदि अशुद्ध पाठ होता तो उसको आधार बनाया जा सकता था किन्तु यह तो अशुद्ध नहीं है, शास्त्रीय-परम्परा से प्रमाणित है।

उदयपुर सं० द्वारा ऋषि का मनमाना संशोधन—मैंने अपने एक लेख में उदयपुर सं० द्वारा उक्त प्रक्षेप किये जाने पर प्रश्न उठाकर उनका उत्तर मांगा था। प्रश्न पूछने मात्र पर उदयपुर के लेखकों ने मुझ पर मिथ्या आरोपों की झड़ी लगा दी कि 'आपने ऋषि दयानन्द का संशोधन किया है, आपने ऋषि दयानन्द को शुद्ध करके मूर्ख बनाया है, यह ऋषि दयानन्द की हत्या है', आदि। १०-१५ विद्वानों की लाबिंग करके भी उनका काम नहीं चला। फिर राजनीति खेली और अन्य लोगों के सामने गुहार लगाई कि 'सत्यार्थप्रकाश' की अस्मिता खतरे में हैं, आओ इसको बचाओ-----बचाओ, नहीं तो बाद में पछताना पड़ेगा। न जाने कितने प्रकार के नाटक किये। तीनों सं० में एक जैसे पाठों को क्यों बदला? इसका उत्तर कोई नहीं दिया।

इनकी प्रतिज्ञा है कि हमने द्वितीय संस्करण, मुद्रणप्रति, मूलप्रति को आधार मानकर पाठनिर्धारण किया है। यहां "**स्त्री-आदि के**" यह ऋषिकृत पाठ सब संस्करणों में है। उस ऋषिपाठ को निकाल कर उसके स्थान पर "**शरीरों के**" पाठ स्वच्छन्दतापूर्वक इन्होंने बना दिया जबकि इसमें कोई अशुद्धि नहीं थी। **पहले लेखक** ने इस आपत्ति का कोई उत्तर नहीं दिया या नहीं दे सके। दूसरे लेखक ने कारण बताने के बजाय लिखा कि "यहां जो किया गया है ठीक किया गया है....सो कर दिया।" यानि ताल ठोक कर मना कर रहे हैं जो करना था कर दिया, बोलो तुम क्या कर लोगे। अर्थात् उदयपुर सं० के लेखक निर्णय दे रहे हैं कि ऋषि का लिखा यह पाठ गलत है। **तीसरे लेखक** ने भी इस परिवर्तन को सही घोषित किया। **आश्चर्य देखिए कि पूर्व सम्पादकों की पाठ-तालिकाओं से दर्जनों कागज काले करने वाले इस लेखक ने यहां तालिका प्रदर्शित नहीं की,** क्योंकि सभी सम्पादकों ने इस ऋषि-पाठ को यथावत् स्वीकार किया है और उसको उदयपुर सं० ने मनमाने ढंग से प्रतिज्ञा-विरुद्ध निकाला है। यह ढोल की पोल पाठकों के सामने न खुल जाये, इसलिए 'तालिका प्रदर्शित नहीं की।' यह है पाठकों के साथ असली छल। **चौथे लेखक** ने इस मनमाने कार्य पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। यहां उनके सारे अहंकार, ऋषिभक्ति और सिद्धान्त निष्ठा की हवा निकल गई। "ऋषि सदा प्रामाणिक और मान्य होते हैं" उनकी यह घोषणा जाने कहां उड़ गई? पक्षपात के कारण ऋषि

अपवित्र में पवित्र-बुद्धि [करना], दूसरा; अत्यन्त विषयसेवनरूप '**दुःख**' में सुखबुद्धि [करना][१] आदि, तीसरा; '**अनात्मा**' में आत्मबुद्धि करना, अविद्या का चौथा भाग है। इस चार प्रकार के विपरीत ज्ञान[२] को '**अविद्या**'[३] कहते हैं।[४]

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र और दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना '**विद्या**' है। अर्थात् '**वेत्ति यथावत् तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या,**[५] **यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या**'=जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे, वह '**विद्या**' और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य-बुद्धि होवे, वह '**अविद्या**' कहाती है।

अर्थात् '**कर्म और उपासना**' 'अविद्या' इसलिये है कि यह बाह्य और आन्तर-क्रियाविशेष[६] का नाम है, ज्ञानविशेष का[७] नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि विना 'शुद्ध कर्म' और 'परमेश्वर की [शुद्ध] उपासना' के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं होता, अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्र-उपासना और पवित्र ज्ञान से ही मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म, पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से '**बन्ध**' होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिये **धर्मयुक्त सत्य-भाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना मुक्ति का साधन है।**

को तिरस्कृत कर दिया। दूसरों पर आरोप लगाने के लिए ऋषि के सब वचनों को आप्त वचन कहने वाले इस लेखक ने यहां 'ऋषि के संशोधन' और 'ऋषि हत्या' की मौन-स्वीकृति दे दी। यह है पक्षपात का नग्नरूप!!

पाठकगण! आप स्वयं सोचिए, उदयपुर सं० का यह पाठ-परिवर्तन क्या महर्षि का संशोधन नहीं है? क्या यहां महर्षि को मूर्ख नहीं बनाया है? क्या यह ऋषि दयानन्द की हत्या नहीं है? क्या यह 'सत्यार्थप्रकाश' की अस्मिता पर प्रहार नहीं है? इसको कहते हैं धृष्टतापूर्ण लेखन! जब यह कार्य स्वयं किया है तो दूसरों की आलोचना क्यों कर रहे हैं? और क्यों अशुद्ध पाठों पर अड़ रहे हैं? इससे भी बढ़कर विडम्बना देखिए कि महर्षि के पाठ के इस मनमाने परिवर्तन को 'सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर' बड़े गर्व के साथ प्रकाशित-प्रचारित कर रहा है। प्रतिष्ठा के अहं में वह यह भी भूल गया कि ऋषि के शुद्ध पाठ को अस्वीकार करना ऋषि का सम्मान नहीं, घोर अपमान है।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में बृहत् कोष्ठक में प्रदर्शित पाठ क्रमशः '**वह**', '**शरीरों में**' और '**करना**' '**करना**' ये पाठ त्रुटित हैं। वाक्यसंरचना और वाक्यपूर्ति हेतु इनका प्रयोग आवश्यक है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—''**अविद्याका चौथा....विपरीत ज्ञान।**'' पाठ ऋषिहस्तलेख में मुद्रणप्रति में परिवर्धित है।

३. **अविद्या की पुष्टि**—ऋषि यहां दो प्रकार की अविद्याओं का उल्लेख करके विपरीत ज्ञानयुक्त अविद्या को स्पष्ट करना चाहते हैं, इसकी पुष्टि पृ० ४५५ पर पठित योगसूत्र ''**अविद्याऽस्मिता....**'' से हो जाती है। वहां अर्थ में स्पष्ट कथन है—''**अविद्या का स्वरूप कह आये**''। ऋषि ने दोनों सूत्रों के पाठ को इस कथन से परस्पर सम्बद्ध कर दिया है, अतः इस आधार पर भी स्वामी वेदानन्द जी द्वारा इस सूत्र को वहां ले जाने का विचार ऋषिसम्मत नहीं है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मुद्रणहस्त० और द्विप्र० में यह अपवाक्य है—''**इस चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है।**'' द्वि०सं० में अपूर्ण तथा अप-संशोधन है—''**यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है।**'' मूलसं० का महर्षिप्रोक्त वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से शुद्ध है, अतः वही ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में यह रचनात्मक अपवाक्य है। यहां कर्त्तास्थानीय प्रयोग 'विपरीतज्ञान' है, तदनुसार क्रिया भी पुंल्लिंग होगी।

५. **मुद्रणप्रति में पुनरुक्त अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**यया तत्त्वस्वरूपं.....यया साऽविद्या**'' पुनरुक्त अपपाठ है। मूलह०, मूलसं०, द्वि०सं०, भद, जस में शुद्ध है, वेस, युमी, जग, उदयपुर में पुनरुक्त अशुद्ध पाठ है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अन्तर क्रिया विशेष**'' अपप्रयोग है, उपर्युक्त शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**का**'' कारक-प्रत्यय अपेक्षित है।

प्रश्न—मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती?

उत्तर—जो बद्ध है!

प्रश्न—बद्ध कौन है?

उत्तर—जो अधर्म-अज्ञान में फसा हुआ जीव है।

प्रश्न—बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है, वा निमित्त से?

उत्तर—निमित्त से; क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

प्रश्न—न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥

यह माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका[१] है [गौडपादीयकारिका, प्रकरण २। कां० ३२]॥

जीव ब्रह्म होने से वस्तुतः जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण में आता[२], न जन्म लेता, न बंधा[३] है और न साधक अर्थात् न कुछ साधना करनेहारा है, न छूटने की इच्छा करता और न इसकी कभी मुक्ति है; क्योंकि जब परमार्थ से 'बन्ध' ही नहीं हुआ तो 'मुक्ति' क्या?

उत्तर—यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं; क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प[४] होने से आवरण[५] में आता, शरीर के साथ प्रकट होनेरूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फलभोगरूप बन्धन में फसता, उसके छुड़ाने का साधन करता,[६] दुःख से छूटने की इच्छा करता और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

प्रश्न—ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं, जीव के नहीं; क्योंकि जीव तो पाप-पुण्य से रहित साक्षीमात्र है। शीत-उष्ण-आदि शरीरादि के धर्म हैं, क्षुधा-तृषा प्राण के[७] और हर्ष-शोक मन के[८] धर्म हैं;[९] आत्मा निर्लेप है।

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर व अपप्रयोग**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**यह श्लोक माण्डूक्योपनिषद् पर है**" व्यर्थ पाठान्तर है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**श्लोक**" पाठ है, यहां '**कारिका**' पाठ अपेक्षित है।

२,५. **अयोग्य लिपिकर**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में दोनों स्थानों पर "**आवर्ण**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। "**आवर्ण में आया**" पाठ में "**आया**" क्रिया के स्थान पर '**आता**' शुद्ध है, उत्तर में प्रयुक्त क्रियाओं के समान।

३. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि० सं० में यहां "**बन्ध**" अपप्रयोग है, मूलप्रति सं० में "**बंधा**" क्रियाप्रयोग शुद्ध है।

४. **अल्प**=सूक्ष्म, एकदेशी। द्रष्टव्य ग्रन्थकार का अर्थ पृ० ४३६/१३, ४४७/३ में।

६. **अयोग्य एवं घोर प्रमादी लिपिकर-शोधक**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में यहां क्रिया के स्थान पर "**कर्त्ता**" विशेषण लिखा है जबकि ठीक अगले वाक्यांश में "**करता**" शुद्ध वर्तनी है। एक ही वाक्य में, एक शब्द की दो-दो वर्तनियां लिखने वालों और उनको शुद्ध न करनेवालों को पाठक क्या संज्ञा देंगे? अन्य सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

७-८. **अपपाठ**—इस वाक्य में "**प्राण का**" "**मन का**" अपपाठ हैं, बहुवचन में '**के**' प्रयोग चाहिए। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह संशोधन अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्वि०सं० में तो यह वाक्य ही त्रुटित है।

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद के कारण यह वाक्य त्रुटित रह गया है—"**क्षुधा-तृषा प्राण के और हर्ष-शोक मन के धर्म हैं।**" यह भूल दो बार "**धर्म हैं**" पदों के आने के कारण हुई है। दृष्टि विचलन से असावधानीवश बीच का सारा पाठ छोड़ दिया। कभी-कभी लगता है कि जानकर छोड़ा है, क्योंकि इतने छोटे-छोटे वाक्यों में दृष्टि-विचलन होना, और वह भी दर्जनों बार होना, यह जंचने योग्य नहीं लगता। हाँ, भंग चढ़ाने से तो हो सकता है। वही त्रुटित अपूर्ण पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में छपता चला आ रहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि संस्करणों में मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ ही है। इस प्रकार उनका पाठ अपूर्ण है। **संशोधन-पुष्टि**—त्रुटित पाठ इस कारण भी ग्राह्य है, क्योंकि उत्तर-पाठ में इन प्रश्न-पदों '**प्राण-मन**' पर आधारित उत्तर दो वाक्यों में दिया हुआ है। मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त पूर्ण पाठ है, अतः वह ग्राह्य है।

उत्तर—देह और अन्त:करण जड़ हैं, उनको शीतोष्ण की प्राप्ति और भोग नहीं है, जैसे पत्थर को शीत और ऊष्ण का भान वा भोग नहीं हैं।[१]जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करते हैं,[२] उन्हीं को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे [ही][३] प्राण भी जड़ हैं, न उनको भूख और न पिपासा [लगती है][४], किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा-तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष और न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष-शोक, सुख-दु:ख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण=श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी-दु:खी होता है, वैसे ही अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार से [क्रमश:][५] सङ्कल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करनेवाला जीव [सुखी-दु:खी होता] है। जैसे तलवार आदि किसी शस्त्र से किसी को मारने वा रक्षा करनेवाले कर्म का कर्त्ता दण्ड और मान्य का भागी होता है, तलवार नहीं होती[६]; वैसे ही देह, इन्द्रिय, अन्त:करण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दु:ख का

लिपिकर के प्रमाद से उत्पन्न इस त्रुटि को सवा-सौ वर्ष से ऊपर हो गये, अभी भी हम झेल रहे हैं, यह आश्चर्य का विषय है!

१. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने फिर छोड़ा त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर या तो भांग चढ़ाता था, या शरारती था। एक पंक्ति पूर्व पाठ छोड़ा था, यहां फिर यह उदाहरण वाक्य छोड़ दिया—"**जैसे पत्थर को.....भोग नहीं है।**" अब, इस पाठत्रुटि से जो विसंगति और हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसको देखिए। उसके कारण मुद्रणह०, द्विप्र० आदि में यह असंगत पाठ है—"**देह और अन्त:करण जड़ हैं, उनको शीतोष्ण की प्राप्ति और भोग नहीं है, जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करते हैं।**" अगले वाक्य "**जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करते हैं**" की संगति मुद्रणह०, द्विप्र० में पूर्ववाक्य से नहीं लगती। यहां प्रश्न शेष रह गया 'उसको अर्थात् किसको?'

पं० युधिष्ठिर जी की असंगत टिप्पणी—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस पर टिप्पणी देकर यह उत्तर दिया—'**उसको स्पर्श करता है अर्थात् उस शरीर से युक्त होता है, उस शरीर को स्पर्श करता है।**' शरीर से युक्त होने का अर्थ 'स्पर्श करना' कहीं नहीं होता। इसी टिप्पणी का अन्धानुकरण **स्वामी विद्यानन्द जी और स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने किया है। यहां संगति है कि 'जब चेतन प्राणी पत्थर आदि जड़ को स्पर्श करता है।' यह विसंगति मूलहस्त० के महर्षिप्रोक्त पाठ से ही दूर हो सकती है, अत: वही ग्राह्य है। द्वि०सं०; भद, उदयपुर सं० में ग्रहण कर लिया है, किन्तु वेस, युमी, जग और विस आदि में त्रुटित है। अत: उनका पाठ अपूर्ण होने से अग्राह्य है।

२. **अपवाक्य एवं अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में इस वाक्य में "**प्राणी**" वर्तनी अपेक्षित है। मूलसं० में संशोधित है। "**आदि**" पद के सम्बन्ध से यह वाक्य बहुवचनात्मक होना अभीष्ट है, सभी सं० में एकवचनात्मक अपपाठ है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**ही**' प्रयोग अपेक्षित है, जैसे आगे "**मन**" के साथ प्रयोग है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**लगती है**" क्रिया का परिवर्धन अत्यावश्यक है, उसके बिना वाक्यरचना पूर्ण नहीं हो रही है। वाक्यान्त की अगली क्रिया का इसके साथ कोई व्याकरणिक सम्बन्ध नहीं बनता।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**क्रमश:**' पद होना आवश्यक है, उसके बिना न तो अर्थ स्पष्ट होता है और न अन्त:करणों की उनके कार्य से संगति स्पष्ट होती है।

६. **लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ के कारण अपूर्ण पाठ**—मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला और उसके कारण हुई पाठ-विकृति का यह भी एक उदाहरण है। इस वाक्य में "**करनेवाला**" पद का दो बार प्रयोग होने के कारण मुद्रणलिपिकर, मुद्रणह० में बीच का "**जीव है। जैसे तलवार आदि किसी शस्त्र से किसी को मारने वा रक्षा करनेवाला**" सारा पाठ छोड़ गया। उसके कारण यह असंगत पाठ बन गया—"**अभिमान का करने वाला दंड और मान्य का भागी होता है तलवार नहीं होती।**" इस असंगति पर शोधन करते हुए ऋषि का ध्यान गया तो उन्होंने इसकी संगति लगाने के लिए अनुमान से बगल में यह पंक्ति लिखी—"**जैसे तलवार से मारनेवाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती।**" यदि मूलहस्तलेख देख लिया जाता तो पूर्ण भावयुक्त पाठ यहां होता। संशोधित वाक्य में ये अपूर्णताएं हैं जैसे कि (१) मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प आदि करनेवाला जीवात्मा सुखी-दु:खी तो हो सकता है, दण्ड और मान्य का भागी नहीं; क्योंकि दण्ड और मान्य का भागी होना बाह्य व्यवहार है जो बाह्य चेष्टाओं पर ही आश्रित है। यह कथन मूलत: तलवार के प्रयोग से जुड़ा हुआ था। द्विप्र० और द्वि०सं० का पाठ असंगत है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने 'दयानन्द सन्देश' पृ० ५१ पर द्वि०सं० के पाठ की इस असंगति को विचारे बिना त्रुटित पाठ को

भोक्ता होता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं, किन्तु कर्त्ता है।[१] कर्मों का साक्षी तो एक परमात्मा है।[२] जो कर्म का करनेवाला जीव है वही कर्मों में लिप्त होता है; वह साक्षी और ईश्वर नहीं है।

प्रश्न—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण के टूटने-फूटने से बिम्ब की कुछ हानि नहीं होती, उसी प्रकार अन्त:करण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव तब तक है कि जब तक वह '**अन्त:करणोपाधि**' है।[३] जब अन्त:करण नष्ट हो गया, तब वह जीव मुक्त है।

उत्तर—यह बालकपन की बात है; क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकारवाले हैं[४] और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हो,[५] तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार, सर्वव्यापक होने से, उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।

प्रश्न—देखो, गम्भीर, स्वच्छ, स्थिर[६] जल में निराकार और व्यापक आकाश का आभास[७] पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्त:करण में परमात्मा का आभास[८] है। इसलिये इसको '**चिदाभास**'[९] कहते हैं।[१०]

उत्तर—यह बालबुद्धि का मिथ्या-प्रलाप है; क्योंकि आकाश दृश्य [ही] नहीं, तो उसको आंख से कोई भी नहीं देख सकता। जब आकाश से भी स्थूल वायु को आँख से [कोई] नहीं देख सकता, तो आकाश को क्योंकर देख सकेगा ?[११]

उपयुक्त मान लिया। यदि उनके सामने पांडुलिपि होती और पाठ त्रुटित होने का तथ्य उन्हें ज्ञात होता तो वे इस असंगत वाक्य को शुद्ध कभी नहीं मानते। (२) द्विप्र०, द्वि०सं० के पाठ में एक और त्रुटि रह गई है, वह यह कि पाठ त्रुटित होने से यह ज्ञात नहीं हो रहा कि जीव का किस अपराध से दण्ड का और किस श्रेष्ठ कार्य से मान्य का भागी होना कहा जा रहा है। इस प्रकार इस अन्तिम वाक्यांश का किसी पूर्वकथन से कोई तालमेल नहीं है। वही अपूर्ण और असंगत पाठ द्वि० सं० में छप रहा है। यही असंगत और अपूर्ण पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस और जस में है, उदयपुर सं० में आधा त्रुटित पाठ ग्रहण किया है, आधा त्रुटित ही है। यहां मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण और सटीक होने से ग्राह्य है।

१-२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठ-परिवर्धन**—मुद्रणलिपिकर ने अपनी ओर से यहां क्रमश: '**कर्त्ता**' के बाद ''**भोक्ता**'' और ''**परमात्मा**'' से पूर्व ''**अद्वितीय**'' विशेषण प्रसंगविरुद्ध जोड़े हैं जो व्यर्थ परिवर्धन हैं, क्योंकि न तो साक्षी जीव के साथ ''**भोक्ता**'' विशेषण प्रसंगानुकूल है और न परमात्मा को ''**अद्वितीय**'' कहने का कोई प्रसंग है। और जब ''**एक**'' कह दिया तो ''**अद्वितीय**'' कहना पुनरुक्ति होने से व्यर्थ है। यहां केवल इतना ही प्रतिपाद्य है कि '**जीव कर्मों का कर्त्ता है और परमात्मा उसका द्रष्टा=साक्षी है।**' अत: मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ ही उपयुक्त एवं ग्राह्य है, द्विप्र० का नहीं।

३. **अन्त:करणोपाधि**—वेदान्तियों के मतानुसार, दर्पण पर पड़े प्रतिबिम्ब के समान, अन्त:करण पर ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उतना ब्रह्म जीव कहाता है। जब तक वह प्रतिबिम्ब रहता है तब तक ब्रह्म की उस स्थिति का नाम 'अन्त:करणोपाधि' है।

४,७-९. **अयोग्य लिपिकर-शोधक**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ये अपप्रयोग और अपवर्तनियां है—(४) ''**साकारवाले हैं**'', (७-९) मुद्रणह० में ''**आभाष**'', ''**चिदाभाष**'' लिखा है। मूलह० में ''**चिदाभाष**'' है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में उक्त पाठ के स्थान पर ''**जो पृथक् नहीं तो**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है। मूलह० का पाठ शुद्ध एवं संगत है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां ''**स्थिर**'' आवश्यक पद मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया है।

१०. **चिदाभास**—वेदान्तियों के मतानुसार, अन्त:करण में चेतन परमात्मा का आभास या प्रतिबिम्ब पड़ने पर जो अन्त:करण में चेतनता की प्रतीति होती है, वह ब्रह्म की 'चिदाभास' की स्थिति होती है। उसी का नाम जीवात्मा है।

११. **लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ के कारण अपूर्ण पाठ**—मुद्रण-लिपिकर की प्रमादलीला या शरारत फिर देखिए, और आगे-आगे देखते जाइये। मुद्रणलिपिकर ने ''**नहीं देख सकता। जब आकाश से भी स्थूल वायु को आंख से नहीं देख सकता तो आकाश को**'' यह सारा पाठ छोड़कर यह पाठ बनाया—''**आंख से कोई भी कोई भी क्योंकर देख सकेगा ?**'' शोधक ने पुनरावृत्तियुक्त पाठ देखकर ''**आकाश को क्योंकर देख सकेगा**'' काट दिया और इससे पहले वाक्य के अन्त में अनुमान से ये क्रियापद रख दिये ''**आंख से कोई भी क्यों कर देख सकता है ?**''। इस प्रकार उदाहरण-सहित मध्य के दो वाक्य त्रुटित रह गये जिनमें उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि उससे स्थूल वायु को ही नहीं देखा जा सकता है तो उससे सूक्ष्म आकाश

प्रश्न—यह जो ऊपर को नीला और धुंधला[१] दीखता है, वह आकाश ही नीला [-धुंधला] दीखता है, वा नहीं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो वह क्या है?

उत्तर—[२]जल, पृथिवी और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उसमें जो नीलता दीखती है वह अधिक जल जो वर्षता है सो वही नीला, जो धुंधलापन[३] दीखता है वह पृथिवी से धूली [आकाश में] उड़कर वायु में घूमती है, वह दीखती है; और उसी का प्रतिबिम्ब जल वा दर्पण में दीखता है; आकाश का कभी नहीं।

प्रश्न—जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश[४] के भेद-व्यवहार में होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के ब्रह्माण्ड और अन्तःकरण-उपाधि के भेद से ईश्वर और जीव नाम होते हैं।[५] जब घटादि नष्ट हो जाते हैं, तब महदाकाश[६] ही कहाता है।

उत्तर—यह भी बात अविद्वानों की है; क्योंकि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, कोई नहीं कहता कि 'घड़े का आकाश' लाओ। इसलिये यह बात ठीक नहीं।

प्रश्न—जैसे समुद्र के बीच में मच्छी, कीड़े और आकाश के बीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही 'चिदाकाश' ब्रह्म में सब अन्तःकरण घूमते हैं। वे स्वयं तो जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से, जैसे[७] कि अग्नि से लोहा [दाहयुक्त और प्रकाशमान होता है][८] वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे

को कैसे देखा जा सकता है? यही उदाहरणरहित त्रुटित और अपूर्ण पाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस उदयपुर सं० आदि में है। अतः "**उनका**" पाठ अपूर्ण है। मूलह० का पाठ ही ग्राह्य है। बृ० कोष्ठक में उपर्युक्त दो पद अभीष्ट हैं।

१,३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**धूंधला**" अपवर्तनी है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में प्रथम संख्यांक पर आकाश का विशेषण जो "**धूंधला**" प्रयोग था उसको भाववाचक "**धुंधलापन**" परिवर्तन कर अपप्रयोग बना दिया। यहां "**धुंधला**" संज्ञावाचक ही शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपवर्तनी एवं अपसंशोधित पाठ है।

२. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ की कहानी**—मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में प्रमादवश "**जल**" का "**अल**" लिख दिया। शोधक ने उसको "**अलग**" प्रयोग समझा और 'अल' में "**ग**" जोड़ दिया, और "**जल**" "**पृथिवी**" के बाद नया लिख दिया। इस प्रकार यह अपपाठ बन गया। आकाश का नीलापन मिश्रित वर्णों का रूप है, वे अलग-अलग नहीं होते।

४,६. **आकाश के भेद और उपयुक्त पाठ**—वेदान्तियों में इन शब्दों का पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग होता है। **घटाकाश**=घड़े के अन्दर का आकाश, **मठाकाश**=मठ की सीमा के अन्दर का आकाश, **मेघाकाश**=मेघों की स्थिति के अन्दर का आकाश, **महदाकाश**=बृहद् आकाश नामक तत्त्व। ऊपर प्रयुक्त महदाकाश की एकरूपता के लिए यहां भी '**महदाकाश**' वर्तनी अपेक्षित है। तीनों सं० में 'महाकाश' प्रयोग है। सम्भव है कि यह श्रवणभ्रान्ति से लिखी भिन्न वर्तनी हो।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में "**ब्रह्म के.....ईश्वर और जीव नाम होता है**" अपपाठ है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जैसा**" अपप्रयोग है, '**जैसे**' वांछनीय है।

८. **सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्ट एवं त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में मूललिपिकर के प्रमाद से बीच का पाठ त्रुटित रह जाने से, यह पाठ सिद्धान्तविरुद्ध बन गया है—"**जैसे अग्नि से लोहा वैसे चेतन हो रहे हैं**"। अग्नि से लोहा चेतन नहीं होता अपितु दाहयुक्त और प्रकाशमान होता है। यहां कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन अत्यावश्यक है। यहां त्रुटित और सिद्धान्तविरुद्ध पाठ देखकर पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने शब्दान्तर (उष्ण होता है) से पाठ बनाया है। वेस, जग, भद, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

वे चलते-फिरते [हैं],[१] और आकाश तथा ब्रह्म स्थिर है, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई भी दोष नहीं आता।

उत्तर—यह भी तुम्हारा दृष्टान्त सत्य नहीं; क्योंकि जो सर्वव्यापी ब्रह्म सब अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञता-आदि गुण उसमें होते हैं वा नहीं? जो कहो कि आवरण[२] होने से सर्वज्ञता नहीं होती, तो कहो कि ब्रह्म आवृत[३] और खण्डित है वा अखण्डित? जो कहो[४] कि अखण्डित

संशोधन-पुष्टि—उत्तर-वाले अनुच्छेद में यह पाठ ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल शुद्ध एवं पूर्ण है। उन्हीं शब्दों को ग्रहण करके इस सं० में पाठ को पूर्ण किया गया है। देखिए ग्रन्थकार के शब्द—"**जैसे लोहे में अग्नि का ही दाह और प्रकाश है लोहे का नहीं, वैसे अन्तःकरण में चेतनता ब्रह्म की है, जीव की अपनी नहीं तो ब्रह्म ही कर्त्ता....हो जावेगा।**"

उदयपुर सं० का परस्परविरुद्ध, अनर्गल एवं निन्दायुक्त उत्तर—यहां लिपिकरों की असावधानी से पाठ त्रुटित रह गया है। मध्य का वह पाठ त्रुटित रहने से वाक्य से अनर्थ प्रकट हो रहा है—"**जैसा कि अग्नि से लोहा, वैसे चेतन हो रहे हैं।**" यहां '**लोहा**' के साथ कोई क्रिया नहीं है। इस पाठ को कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में असंशोधित छोड़ा हुआ है। मेरे द्वारा लेख में यहां शंका किये जाने पर बौखलाये लेखकों ने उत्तर कम दिया और अपनी भडांस अधिक निकाली। जबकि भडांस निकालने की कोई बात ही नहीं थी, सीधा-सीधा उत्तर दे देते। **पहले लेखक** इसका कोई उत्तर नहीं दे सके। दूसरे और चौथे लेखक ने इसका आशय बताया कि जैसे अग्नि से लोहा व्यापकत्व युक्त होता है, वैसे अन्तःकरण चेतन हो रहे हैं। सही भाव होते हुए भी यह मूल शब्दावली में नहीं है। यह उनका अपनी ओर से कल्पित अर्थ है। सटीक वाक्य वही होता है जो अपना अर्थ स्वयं प्रकट करे। त्रुटित पाठ को स्वीकार करने की उदारता इन लेखकों ने नहीं दिखाई।

तीसरे लेखक यहां तालिका देकर यह बतलाने में उत्तर देना समझ बैठे कि इतने सम्पादकों ने यही पाठ ग्रहण किया है। उदयपुर सं० की न तो यह प्रतिज्ञा है और न उसमें इस आधार पर कार्य किया गया है, क्योंकि दूसरे सम्पादकों द्वारा स्वीकृत दर्जनों पाठों को इन्होंने मनमाने तरीके से बदला है। इस लेखक को यह वाक्य ही समझ में नहीं आया। ये लिखते हैं—"पूर्वपक्षी के कथन को उत्तरपक्षी के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।" श्रीमान् लेखक महोदय! यह न तो उत्तरपक्षी का मत है और न पूर्वपक्ष के उत्तर में किसी ने प्रस्तुत किया है। पहले समझा करो, फिर लिखा करो। फिर इन पर दूसरी सनक सवार हुई और मुझ पर आरोप जड़ दिया कि "उनके सभी आरोप ऋषि के प्रति हैं।" मैं इनसे पूछता हूं कि आपने जो २००० परिवर्तन कर दिये, प्रतिज्ञाविरुद्ध होकर पाठ निकाल दिये, वे क्या कुरान के निकाले हैं? वे भी तो सत्यार्थप्रकाश के हैं, तो वे आरोप ऋषि के प्रति नहीं हैं क्या? कुछ लिखने से पहले जरा सोच तो लीजिए। फिर मेरे प्रश्न को "धोखाधड़ी" लिख डाला। चलिए, आपने २००० 'धोखाधड़ी' कर डालीं, तो आपकी बात रखने के लिए कुछ हम भी मान लेते हैं। पर हमसे बड़े 'धोखेबाज' तो आप ही ठहरे न? चलिए, एक प्रमाण यहीं का आपको और दे देते हैं, अपनी झूठ या धोखे को देखिए, इस सन्दर्भ के कालम नं० ८ में आपने लिखा है कि पं० युधिष्ठिर मीमांसक का 'संस्करण दो' जैसा पाठ है, जबकि यह झूठ है। उनका संशोधित पाठ तो यह है—"जैसा कि अग्नि से लोहा [उष्ण होता है] वैसे...।" अब बताइये धोखाधड़ी करने वाला कौन हुआ? आप ही हुए न?

चौथे लेखक, स्वभाव से मजबूर होकर अहंकार प्रदर्शन में तथा मेरी निन्दा में इतने मशगूल हो गये कि उन्हें यही ध्यान नहीं रहा कि उत्तर में क्या लिखना था और क्या लिख गये। ऐसों के लिए उक्ति है "**आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे**", पूछा आम के विषय में, बता रहे हैं कचनार के विषय में। प्रकरण '**लोहे**' का है और मुझसे '**दृष्टान्त**' की परिभाषा पूछ रहे हैं। महोदय! आपकी यह शैली ऐसी है जैसे आप स्वयं को 'आचार्य' लिखते हो तो कोई आपसे पूछे कि 'आचार्य' का क्या अर्थ है? किस यूनिवर्सिटी से किस वर्ष में आचार्य की परीक्षा पास की है? पास भी की थी या नहीं? उनका यह भी कहना है कि 'अज्ञानवश मुझे ऋषि की भाषा नहीं आ सकती।' किन्तु जहां भी मैं जाता हूं लोगों से आपके सम्बन्ध में यही सुनने को मिलता है कि 'आपका बोला-लिखा उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता।' उसका साक्षात् प्रमाण आपका दिया यह उत्तर भी है।

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है। वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

२. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**आवर्ण**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

३. **ऋषिलिखित शब्द की अपवर्तनी**—युमी, उदयपुर और जस० सं० में यहां "**आवृत्त**" अपवर्तनी है। **पं० मीमांसक जी की चिन्त्य टिप्पणी**—पता नहीं किस ध्यान में पं० जी यहां टिप्पणी में लिख गये कि "**आवृत्त**" शुद्ध है और "**आवृत**" अपपाठ है। इनके अर्थ हैं—आवृत=आवरणयुक्त, आवृत्त=लौटा या मुड़ा हुआ। यहां '**आवृत**' शुद्ध प्रयोग है। यह ऋषिलिखित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०,मूलप्रति सं० में यहां "**कहोगे**" क्रिया-प्रयोग है। मुद्रणह० द्विप्र० में "**कहो**" क्रिया शुद्ध है।

है, तो बीच में कोई भी परदा[१] नहीं हो सकता। जब परदा[२] नहीं, तो सर्वज्ञता क्यों नहीं? जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण[३] में ब्रह्म फस गया है, तो ब्रह्म 'नित्य-मुक्त' नहीं। और ब्रह्म अन्तःकरण के साथ चलता है वा नहीं? तो यही कहोगे कि नहीं। जब स्वयं नहीं चलता, तो अन्तःकरण जितना-जितना पूर्व-प्राप्त देश छोड़ता और आगे-आगे जहां-जहां सरकता जायगा[४], वहां-वहां का ब्रह्म भ्रान्त, अज्ञानी होता जायगा[५] और जितना-जितना छूटता जायगा,[६] वहां-वहां का ज्ञानी, पवित्र और मुक्त होता जायगा[७]। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ा करेंगे और बन्ध-मुक्ति भी क्षण-क्षण में हुआ करेगी। जो तुम्हारे कहे प्रमाणे वैसा होता, तो किसी जीव को पूर्व देखे-सुने का स्मरण न होता; क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा वह[८] पृथक् रहा, और दूसरे देश में दूसरे ब्रह्म का सम्बन्ध होता है। जैसे लोहे में अग्नि का ही दाह और प्रकाश है लोहे का नहीं, वैसे अन्तःकरण में चेतनता ब्रह्म की है, जीव की अपनी नहीं; तो ब्रह्म ही कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त हो जायगा; इसलिये जीव सब पृथक्-पृथक् हैं।[९] ब्रह्म जीव, वा जीव ब्रह्म, एक कभी नहीं होते,[१०] सदा पृथक्-पृथक् हैं।

१-२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर "**पड़दा**" अपवर्तनी है। (विस्तृत टिप्पणी पृ० ९५५ पर द्रष्टव्य है।)

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पुनः पाठ त्रुटित रहने से अपूर्ण पाठ**—मुद्रण-लिपिकर की प्रमादलीला इस समुल्लास में कुछ अधिक ही बढ़ गई है। यहां भी दो "**अन्तःकरण**" पद होने से दृष्टि-विचलन दोष से दूसरे पर उसका ध्यान गया अथवा शरारत से दोनों के मध्य का यह पाठ छोड़ गया—"**में ब्रह्म फस गया है, तो ब्रह्म नित्यमुक्त नहीं। और ब्रह्म अन्तःकरण**"। उसने यह पाठ लिखा—"**जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के साथ चलता है वा नहीं, तो यही कहेंगे कि नहीं।**" इस ऊटपटांग असंगत वाक्य को पढ़कर शोधक ने अनुमान से पुनः सुधारा—"....**अन्तःकरण के साथ चलता-सा है स्वरूप से नहीं।**" तो यह भी अपूर्ण रह गया और मूल रूप से ग्रन्थकार जो यह कहना चाहता था कि '**स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण में ब्रह्म फस गया तो वह नित्यमुक्त नहीं**' अंश छूट गया। पुनः संशोधन में '**स्वरूप**' पद '**फसने**' क्रिया के बजाय '**चलने**' क्रिया से जुड़ गया जिससे वाक्यरचना विरुद्ध और अस्पष्ट हो गई। विवशता में संशोधित इस पाठ में विरोध उत्पन्न हो गया है। इसमें कहा है कि "**ब्रह्म अन्तःकरण के साथ चलता-सा है, स्वरूप से नहीं**" तो यह पक्ष या प्रश्न तो नवीन वेदान्ती का है ही नहीं, न उनका यह सिद्धान्त है। अतः उनके विषय में निराधार कल्पना का दोष आता है। यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण और संगत होने से ग्राह्य है। द्वि०सं० में अपूर्ण पाठ छप रहा है। वही अपूर्ण पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में है। इस कारण उनका पाठ अपूर्ण और दोषयुक्त होने से अग्राह्य है।

४-७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—ग्रन्थकार द्वारा "**जायगा**" वर्तनी स्वीकृत है। ग्रन्थकार के समय यही वर्तनी प्रचलित थी अतः हस्तलेखों में यही है। इस वाक्य में चार बार "**जायगा**" क्रिया आई है, द्वि० सं० में तीन बार आधुनिक वर्तनी "**जायेगा**" बना दी है और एक बार "**जायगा**" है। इस प्रकार वर्तनी में अव्यवस्था दोष आ गया है। "**जायेगा**" वर्तनी इस ग्रन्थ में अग्राह्य है।

८-९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से फिर पाठ त्रुटित रहने से अपूर्ण पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर यहां भी दृष्टि विचलन से अथवा शरारत से दो-तीन पंक्तियां प्रतिलिपि करते समय छोड़ गया। इन पंक्तियों में दो बार '**पृथक्**' पद हैं। एक बार-"**वह पृथक् रहा**" वाक्यांश है। दो-तीन पंक्ति आगे—"**सब पृथक्-पृथक् हैं**" वाक्यांश है। लिपिकर पहले '**पृथक्**' पद से हटकर दूसरे पर चला गया और वह यह अपवाक्य लिख गया—"**जिस ब्रह्म ने देखा वह पृथक्-पृथक् हैं।**" रचना की दृष्टि से अशुद्ध इस वाक्य को शोधक ने देखा तो उसने अनुमान से यह अपरचनात्मक संशोधन किया—"**जिस ब्रह्म ने देखा वह ब्रह्म नहीं रहा इसलिये वह ब्रह्म जीव एक कभी नहीं होता सदा पृथक्-पृथक् हैं।**" उसे प्रकाशन-समय शुद्ध करके—"**ब्रह्म जीव, जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता**" संशोधित किया गया। इसमें भी रचनात्मक त्रुटि है, और दोनों "**पृथक्**" पदों के मध्य का दो-तीन पंक्तियों का वह सारा पाठ छूट गया जो प्रश्नोक्त **लोहे के उदाहरण** के उत्तर में लिखा गया था। इस प्रकार उत्तर पाठ अपूर्ण रह गया। ऐसा ज्ञात होता है कि शोधन-समय मूलहस्तलेख से पाठ-मिलान नहीं किया गया। नहीं तो, यह त्रुटि होती ही नहीं। शायद, मूलप्रति उस समय पास नहीं थी। यह सब प्रमादी लिपिकरों के कारण हुआ है। उक्त कारणों से यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है, क्योंकि वह पूर्ण और शुद्ध है। द्वि०सं० का विवशताजन्य पाठ ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह अपूर्ण एवं अशुद्ध है। वेस, जग, युमी, भद, विस, जस, उदयपुर सं० आदि का पाठ भी अपूर्ण एवं अशुद्ध है, अतः अग्राह्य है।

१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां रचनात्मक अपवाक्य है—"**एक कभी नहीं होता**"। ब्रह्म और जीव दो पदार्थों

प्रश्न—यह सब '**अध्यारोप**'-मात्र है; अर्थात् अन्य वस्तु में अवस्तु का स्थापन करना[१] '**अध्यारोप**' कहाता है, वैसे ही ब्रह्म-वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का 'अध्यारोप' करने से जिज्ञासु को बोध कराना होता है, वास्तव में सब ब्रह्म ही है।

उत्तर[२]—'**अध्यारोप**' का करनेवाला कौन है ?

प्रश्न[३]—जीव।

उत्तर[४]—जीव किसको कहते हैं ?

प्रश्न[५]—'अन्त:करणावच्छिन्न[६] चेतन' को।

उत्तर[७]—'अन्त:करणावच्छिन्न चेतन' दूसरा है, वा वही ब्रह्म है ?

प्रश्न[८]—वही ब्रह्म है।

उत्तर[९]—तो क्या ब्रह्म ने ही अपने में जगत् की झूठी कल्पना कर ली ?

प्रश्न[१०]—हो, ब्रह्म की इससे क्या हानि है ?

उत्तर[११]—जो मिथ्या कल्पना करता है, क्या वह झूठा नहीं होता ?

प्रश्न[१२]—नहीं; क्योंकि जो मन, वाणी से कल्पित वा कथित है, वह सब झूठा है।

उत्तर[१३]—फिर मन, वाणी से झूठी कल्पना करने और मिथ्या बोलनेवाला ब्रह्म 'कल्पक'[१४] और मिथ्यावादी हुआ वा नहीं ?

प्रश्न[१५]—हो, हमको इष्टापत्ति[१६] है।

तथा अन्तिम बहुवचनात्मक क्रिया के सम्बन्ध से बहुवचन अभीष्ट है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह पाठ मिलता है—"**अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का स्थापन करना**"। यह उपर्युक्त पाठ होना चाहिए। **संशोधन-पुष्टि**—द्रष्टव्य शुद्ध प्रयोग समु० ११ में पृष्ठ ५४६/१-४ पर। 'वेदान्त सार' में अध्यारोप की परिभाषा है—"**वस्तुनि अवस्त्वारोपः, अध्यारोपः**" (खण्ड ६)=किसी वस्तु में अवस्तु अर्थात् जो नहीं है उसका आरोप करना, अथवा मिथ्या-आरोप करना, '**अध्यारोप**' कहाता है।

२-५,७-१३,१५,१७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अस्त-व्यस्त अप-पाठपरिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**प्रश्न**' और '**उत्तर**' शीर्षक देने में लिपिकर विगत तेरह स्थलों पर विचलित हो गया और उत्तर का प्रश्न और प्रश्न का उत्तर शीर्षक लिख गया। देखिए, सभी सं० में २ संख्यांक पर दोबारा "**प्रश्न**" शीर्षक लिखा है। वस्तुत: यहां से प्रश्न उत्तरदाता अर्थात् ग्रन्थकार के हैं और 'उत्तर' वेदान्तियों के हैं अर्थात् प्रश्नपक्ष के हैं। उनको ठीक कर दिया है। इसी प्रकार अन्तिम प्रश्नपक्ष और उत्तरपक्ष घुल-मिलकर अपपाठ हो गया है जिसका संशोधन अति आवश्यक है। यहां उनको पृथक् कर दिया है।

यह भूल इस प्रकार हुई है। मूलहस्तलेख में आधे शीर्षकों तक लिपिकर ठीक लिखता रहा। फिर लिखते समय विचलित होकर वह दो बार '**उत्तर**' शीर्षक लिख गया। मुद्रणलिपिकर या शोधक ने उस दो बार '**उत्तर**' पद को देखा तो उसने सारे शीर्षकों को पलट दिया जबकि पूर्वापर प्रसंग को नहीं देखा। इस प्रकार '**उत्तर**', '**प्रश्न**' बन गये और '**प्रश्न**', '**उत्तर**' बन गये। यह पाठ वेस, जग और जस में संशोधित है, भद, युमी, विस; द्वि०सं० और उदयपुर सं० में अशुद्ध छप रहा है।

६. **अन्त:करणावच्छिन्न**=अन्त:करण विशेषण से युक्त चेतन जीव।

१४. **मूललिपिकर-कृत श्रवणभ्रान्तिजन्य अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अशुद्धार्थक अपप्रयोग "**कल्पित**" है। 'झूठी कल्पना करनेवाला' या 'मिथ्यासंकल्प कर्त्ता' तो '**कल्पक**' कहाता है। यहां मिथ्यावादी ब्रह्म का विशेषण अभीष्ट है, क्रिया का विशेषण नहीं। 'कल्पित' क्रिया का विशेषण है। प्रतीत होता है कि श्रवणभ्रान्ति से अयोग्य मूललिपिकर ने 'कल्पक' के स्थान पर 'कल्पित' लिख दिया। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में अपप्रयोग ही मिलता है।

पाठ-पुष्टि—"**कल्पित**" शुद्ध प्रयोग पृ० ४२५ पर द्रष्टव्य है—"**कल्पित यम**"।

१६. **इष्टापत्ति**—अभीष्ट कथन होना, वादी का वह कथन जो प्रतिवादी के अनुकूल हो।

उत्तर[१७]—वाह रे झूठे वेदान्तियो! तुमने सत्यस्वरूप,[१] सत्यकाम,[२] सत्यसङ्कल्प[३] परमात्मा को भी मिथ्याचारी कर दिया। क्या यह तुम्हारी दुर्गति का कारण नहीं है? किस उपनिषद्, सूत्र वा वेद में लिखा है कि परमेश्वर मिथ्यासङ्कल्प[४] और मिथ्यावादी है? क्योंकि जैसे 'किसी चोर ने कोतवाल को दण्ड दिया' अर्थात् '**उलटि चोर कोतवाल को दण्डे**' इस कहावत[५] के सदृश तुम्हारी बात हुई। यह तो बात उचित है कि कोतवाल चोर को दण्डे, परन्तु यह बात विपरीत है कि चोर कोतवाल को दण्ड देवे।[६] वैसे ही तुम 'मिथ्यासङ्कल्प' और मिथ्यावादी होकर, वही अपना दोष ब्रह्म में व्यर्थ लगाते हो। जो ब्रह्म मिथ्याज्ञानी, मिथ्यावादी, मिथ्याकारी होवे, तो सब अनन्त ब्रह्म वैसा ही हो जाय, क्योंकि वह एकरस है, सत्यस्वरूप, सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी है। ये सब दोष तुम्हारे हैं, ब्रह्म के नहीं।

जिसको तुम विद्या कहते हो वह अविद्या और तुम्हारा '**अध्यारोप**'[७] भी मिथ्या है, क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव मानना, यह अविद्या और मिथ्याज्ञान नहीं तो क्या है? जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न, अज्ञानी [नहीं होता][८] और बन्ध में कभी नहीं गिरता;[९] क्योंकि अज्ञानी, परिच्छिन्न, एकदेशी, अल्प, अल्पज्ञ जीव होता है; सर्वज्ञ, सर्वव्यापी ब्रह्म नहीं।[१०]

अब मुक्ति-बन्ध का वर्णन करते हैं—

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं?

उत्तर—'**मुञ्चन्ति**[११] **पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः**'=जिसमें छूट जाना हो, उसका नाम मुक्ति है।

१-३. **सत्यस्वरूप**=अविकारी-अखण्डस्वरूपवाला, एकरस। **सत्यकाम**=सत्य कामना वाला। **सत्यसंकल्प**=सत्यसंकल्प वाला।

४. **मिथ्यासंकल्प**=मिथ्यासंकल्प वाला। ये दोनों संस्कृत शैली के प्रयोग हैं।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**कहानी**' प्रयोग मिलता है। यह कहानी नहीं 'कहावत' है, अतः '**कहावत**' पद ही उपयुक्त है। कहानी एक भिन्न साहित्यिक विधा=प्रकार को कहते हैं। शायद, यह श्रवणभ्रान्ति से लिखा गया है।

६. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**इस कहावत.....दण्डे, परन्तु**'' तक पाठ मूलहस्त० में नहीं है। मुद्रणह० में यह ऋषि द्वारा लिखित है। मूलसं० में मुद्रणह० से गृहीत है।

७. **अध्यारोप**—अन्य वस्तु में अवस्तु का आरोप करना '**अध्यारोप**' कहाता है। जैसे, रज्जु में सर्प का आरोप करना, जीव में ब्रह्म का आरोप करना, ब्रह्म में जीव और जगत् का आरोप करना आदि। यह सब मिथ्या होता है। द्र०पृ० ४३५ पर टिप्पणी १।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न, अज्ञान और बंध में कभी नहीं गिरता।**'' यहां विशेषण और भाववाचक पद गड्ड-मड्ड हो गये हैं। यहां उपर्युक्त संशोधन अभीष्ट है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में व्याकरणिक दृष्टि से अपपाठ है।

९. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अज्ञानी**'' के बाद '**नहीं होता**' क्रिया आवश्यक है। इसके बिना न तो वाक्य पूर्ण होता है और न भाव स्पष्ट होता है।

१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य का अपपाठ इस प्रकार प्राप्त है—''**क्योंकि अज्ञान, परिच्छिन्न, एकदेशी, अल्प, अल्पज्ञ जीव में होता है, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी ब्रह्म में नहीं।**'' यह अपवाक्य इस कारण है क्योंकि यहां '**परिच्छिन्न**' और '**एकदेशी**' आदि पदों का प्रयोग विशेषण के रूप में है, जो भाववाचक संज्ञा के रूप में होना चाहिए अथवा इस संस्करण का उपर्युक्त पाठ होना चाहिए। एक '**अज्ञान**' पद का विशेषण बनाने से तीनों सं० का वाक्य शुद्ध बन जाता है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में व्याकरणिक अपपाठ है।

११. **पाठान्तर**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां उपर्युक्त पाठ है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** का कथन है कि यहां '**मुच्यन्ते**' शुद्ध पाठ होना चाहिए'' (दयानन्द सन्देश, पृ० ५२)।

प्रश्न—किससे छूट जाना?

उत्तर—जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं।

प्रश्न—किससे छूटने की इच्छा करते हैं?

उत्तर—जिससे छूटना चाहते हैं।

प्रश्न—किससे छूटना चाहते हैं?

उत्तर—दु:ख से।

प्रश्न—छूटकर किसको प्राप्त होते[१] और कहां रहते हैं?

उत्तर—सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों से होते हैं?[२]

उत्तर—परमेश्वर की आज्ञा पालना; अधर्म, अविद्या, कुसङ्ग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहना; और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करना। पूर्वोक्त प्रकार से[३] परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और 'उपासना' अर्थात् योगाभ्यास करना; विद्या पढ़ना-पढ़ाना और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करना; [इनमें भी] सबसे उत्तम साधन उपासना अर्थात् जिसका नाम योगाभ्यास है उसको करना;[४] और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्याय धर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से '**मुक्ति**' [होती है][५]; और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भङ्ग करना आदि कामों[६] से '**बन्ध**' होता है।[७]

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**हो**" अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**होता है**" अपक्रिया है। दो बातों के लिए बहुवचन पाठ "**होते हैं**" अपेक्षित है।

३. **ऋषिहस्तलेख और अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य पृ० ३२७-३३७ पर। "**पक्षपातरहित न्याय, धर्म की**" पाठ ऋषिलिखित है।

४-७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन एवं परिवर्धन**—मूलहस्त० में छह वाक्यांशों में से केवल प्रथम वाक्यांश में "**पालने**" करण कारक (तृतीया विभक्ति) का अपप्रयोग था। मुद्रणलिपिकर ने लिपि करते समय छहों स्थानों पर तृतीया विभक्ति के प्रयोग बनाकर सारे अनुच्छेद की भाषा को व्याकरणिक दृष्टि से अशुद्ध-शिथिल बना दिया, जैसे—"**साधनों को करने.....इत्यादि साधनों से**" उपसंहार वाक्यांश में "**इत्यादि**" और "**साधनों से**" पहले से ही तृतीया विभक्ति विद्यमान है। इसके सम्बन्ध से पहले सभी वाक्यांशों में प्रथमा विभक्ति ही होनी चाहिए। इस आधार पर मूलहस्त० का पाठ शुद्ध है, अत: वही ग्राह्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ अशुद्ध होने से अग्राह्य है। मूलप्रति सं० ने भी द्वि०सं० मूलह० का शुद्ध पाठ छोड़कर अशुद्ध पाठग्रहण कर लिया। इस अनुच्छेद में दोनों स्थलों पर "**पक्षपातरहित**" "**ईश्वराज्ञा भंग करना**" पाठ मुद्रणह० में शोधन करते समय ग्रन्थकार ने स्वहस्तलेख से बढ़ाये हैं।

चार संख्यांक वाक्यांश मूलह० में इस प्रकार है—"**सबसे उत्तम साधन उपासना अर्थात् जिसका नाम योगाभ्यास है, करना**"। यह संगत और स्पष्ट पाठ है। मुद्रणह० में यथावत् लिखा गया है, किन्तु शोधक ने, पुनरुक्ति समझकर "**उपासना अर्थात् जिसका नाम योगाभ्यास है**" अंश काट दिया, जिसके कारण यह अस्पष्ट पाठ बन गया—"**सबसे उत्तम साधनों को करने।**" शोधक को ध्यान नहीं आया कि इस कांट-छांट से यह पाठ अपूर्ण बन गया। प्रश्न उठता है कि सबसे उत्तम साधन कौन से हैं? कोई उल्लेख नहीं रहा। देखा जाये तो सबसे उत्तम साधन तो यही हैं जो अनुच्छेद में वर्णित हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी यह इस प्रकार अपपाठ बन गया—"**सबसे उत्तम साधनों को करने....इत्यादि साधनों से**"। इस अशुद्ध स्थिति में यही उपाय है कि इस अर्थहीन वाक्य को हटाकर मूलह० के पाठ को ग्रहण किया जाये। उसमें पुनरुक्ति का आंशिक आरोप तो आयेगा किन्तु उसका यह समाधान स्वीकार किया जा सकता है कि जैसे दो बार "**पक्षपातरहित न्याय**" प्रयोग उस पर बल देने के लिए किया है उसी प्रकार "**उपासना=योगाभ्यास**" पर विशेष बल देने के लिए यह पुन: कथन है। इसमें निहित अर्थ-वैशिष्ट्य है कि महर्षि यहां मुक्ति का सर्वोत्तम साधन योगाभ्यास को घोषित कर रहे हैं, जो प्रसंगानुकूल है।

प्रश्न—मुक्ति में जीव का लय होता है, वा विद्यमान रहता है?

उत्तर—विद्यमान रहता है।

प्रश्न—कहां रहता है?

उत्तर—ब्रह्म में।

प्रश्न—ब्रह्म कहां है? और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है, वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है?

उत्तर—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव सर्वत्र अव्याहतगति [रहता है][१] अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं [होती। वह][२] विज्ञान-आनन्द-पूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।[३]

प्रश्न—मुक्त जीव का स्थूल शरीर रहता है,[४] वा नहीं?

उत्तर—नहीं रहता।

प्रश्न—फिर वह सुख अर्थात् आनन्द का भोग कैसे करता[५] है?

उत्तर—उसके सत्य-सङ्कल्पादि स्वाभाविक-गुण-सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक [शरीर] सङ्ग नहीं रहता। जैसे—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति॥ [तुलना—शतपथ कां० १४। १। २। १७]॥ [छान्दोग्य-उप० अ० ८। खं० १२। प्रवाक ४-५]

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिये घ्राण, सङ्कल्प-विकल्प करते समय[६] मन, निश्चय करने के लिये बुद्धि, स्मरण करने के लिये चित्त और अहङ्कार करने के अर्थ[७] अहङ्काररूप अपनी शक्ति से[८] जीवात्मा

---

(५) यहां क्रिया लुप्त है, अतः बृ०कोष्ठकान्तर्गत क्रिया आवश्यक है। (६) "**करने आदि काम से**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अपपाठ है। (७) उपर्युक्त कारणों से मूलह० के पाठ को संशोधनपूर्वक इस संस्करण में ग्रहण किया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में भी अशुद्ध पाठ है।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर बृ० कोष्ठक का पाठ वाक्यरचना की दृष्टि से चाहिए।

३. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलसं० में यह मुद्रणप्रति से लिया है।

४. **मुद्रणकालीन अप-परिवर्तन**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**होता है**" अपसंशोधन किया है। वेस, जग, भद, युमी में अपपाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां "**और**" प्रयोग है। यहां '**अर्थात्**' पाठ उपयुक्त है, क्योंकि यहां 'सुख' पद 'मुक्ति के आनन्द' का वाचक ही है। शायद, श्रवणभ्रान्ति से 'और' लिखा गया है। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**कर्त्ता**" अपप्रयोग है।

६-७. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलसं० में "**करने समय**" अपप्रयोग है। मूलप्रति सं० में यहां "**करने में**" अपप्रयोग है। द्वि० सं० में दोनों संशोधित हैं।

८. **पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अपनी स्व शक्ति से**" "**अपनी**" और फिर "**स्व**" कथन पुनरुक्ति है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ४३९/२ में "**वैसे अपनी शक्ति से**" शुद्ध पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सब संस्करणों में अपपाठ है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० यहां "**संकल्पमात्र**" पाठ है, "**इच्छामात्र**" त्रुटित है।

मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्प='इच्छामात्र शरीर'[९] होता है। **जैसे शरीर के आधार में रहकर इन्द्रियों के गोलकों[१] के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।**

प्रश्न—उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है?

उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है; परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भाषण,[२] विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष[३], संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इस[४] २४ चौवीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है।[५] इससे[६] मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति [और] भोग करता है।

जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव का लय मानते हैं, वे जीव के[७] नाश को ही मुक्ति समझते हैं; वे तो महामूढ़ हैं। क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों

---

१. **अपप्रयोग**—सभी सं० में "**गोलक**" के स्थान पर बहुवचनात्मक "**गोलकों**" अभीष्ट है।

२. **श्रवणभ्रान्ति से परस्परविरोधी अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**भीषण**"=भयंकर पाठ मिलता है। वह संगत नहीं, क्योंकि मुक्ति में भय या भयंकर कुछ नहीं होता। इसी कारण मोक्ष का नाम ही आनन्द है, इसीलिए उसको मोक्षानन्द कहते हैं। इस अनुच्छेद के अन्त में भी "आनन्दप्राप्ति" का कथन है। "**भीषण**" पाठ का अनुच्छेद के उपसंहार वाक्य से विरोध है। मुक्ति के प्रकरण में कहे गये उन सभी अन्य स्थलों से भी इस पाठ का विरोध है जहां मुक्ति का फल आनन्द बताया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मुक्ति में आनन्दभोग हेतु जीव के शुद्ध गुण माने हैं, "**भय**" या "**भीषण**" शुद्ध गुण नहीं हैं।

संशोधन-पुष्टि—इस संशोधन की पुष्टि के लिए प्रमाण देखिए। महर्षि आगे लिखते हैं—"**मुक्ति तो यही है कि जहां.....न भय, न शंका, न दुःख होता है।**" (समु० ९ पृ० ४५७/२१)। महर्षि '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में लिखते हैं—"**जो परब्रह्म नाश....भय.....सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है।**" इसका समर्थन पांच पंक्ति नीचे लिखे इस कथन से होता है—"**मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप....परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।**" उपनिषदों के प्रमाणों से भी यहां 'भाषण' प्रयोग होना सिद्ध है—"**यो वेद-इदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वाग्.....**" (छान्दोग्य० ८।१२।४) "**आप्नोति स्वाराज्यम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः।**" (तैत्तिरीय० शिक्षा० ६।२) इन प्रमाणों में, मुक्ति में बोलने की इच्छा से '**वाक् शक्ति**' का उल्लेख है। गत पृष्ठ के "**जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र**" पाठ से भी अर्थापत्ति से 'भाषणशक्ति' होने का ज्ञान होता है जब कि इस प्रकरण में वाक्शक्ति का उल्लेख छूटा हुआ भी है। यहां **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** द्वारा सुझाया गया पाठ '**भाषण**' उपयुक्त है। ज्ञात होता है कि श्रवणभ्रान्ति से '**भाषण**' के स्थान पर '**भीषण**' लिखा गया है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने यहां टिप्पणी में सुझाव दिया है कि "**भीषण**" के स्थान पर "**भय**" प्रयोग ठीक है। आश्चर्य है उन्होंने मुक्ति में "**भय**" को कैसे स्वीकार कर लिया? देखिए, ऊपर उद्धृत महर्षि के कथनों में स्पष्टतः 'भय' का निषेध है। इनका अन्धानुकरण विस, जस ने किया है। भद, जग और उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

३. **द्वेष** अर्थात् अनिच्छा, विरक्ति।

४. **अपप्रयोग**—मूलह० में यह वाक्य नहीं है। शेष सभी पाठों में यहां "**इन**" अपप्रयोग है। एकवचनात्मक "**सामर्थ्य**" और अग्रिम "**इससे**" सर्वनाम के सम्बन्ध से यहां "**इस**" प्रयोग अभीष्ट है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—"**श्रवण.....चौवीस प्रकार के**" पाठ ऋषि द्वारा मुद्रणप्रति में परिवर्धित है।

६. '**इससे**' अर्थात् स्वाभाविक गुण-सामर्थ्य अथवा संकल्पशक्ति से।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने यहां "**लय मानते हैं वे जीव का**" पाठ त्रुटित छोड़ दिया। वाक्य में "**जीव**" पद के दो बार प्रयोग के कारण केवल चार पद बाद पठित दूसरे "**जीव**" के बाद का यह अपपाठ लिखा हुआ है—"**जीव का नाश ही को मुक्ति समझते हैं।**" इस वाक्य की अपरचना ही बताती है कि यहां भाषा में कुछ गड़बड़ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि सं० में अपरचना को तो सुधार दिया किन्तु पाठ त्रुटित ही छोड़ दिया। पाठक इसको दृष्टिदोष कहेंगे कि शरारत? क्या चार पद के बाद ही आये दूसरे "**जीव**" पद के कारण मध्य का पाठ दृष्टिदोष से त्रुटित रह सकता है? वही त्रुटित पाठ द्वि०सं० वेस, जग, भद, युमी में छप रहा है। उदयपुर सं० में दोनों त्रुटियां विद्यमान हैं। पाठ भी त्रुटित है और वाक्य की अपरचना भी है। मूलहस्तलेख का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण होने से ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—'जीव का लय नहीं होता' इसी अपने कथन के समर्थन में ही ग्रन्थकार ने अगला सूत्र उद्धृत किया है और उसके अर्थ में '**लय न होना**' शब्द है।

से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना। देखो, '**वेदान्त**'= शारीरक सूत्रों में—

अभावं बादरिराह[१] ह्येवम्। [वेदान्त०, अ० ४। पा० ४। सू० १०]

जो बादरि,[२] व्यास जी का पिता है, वह मुक्ति में [भौतिक सूक्ष्म शरीर, प्राणों और इन्द्रियों का अभाव मानता है और],[३] जीव और उसके साथ मन का भाव मानता है; अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नहीं मानते हैं।[४] वैसे ही—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥[५] [वेदान्त०, अ० ४। पा० ४। सू० ११]॥

और जैमिनि आचार्य मुक्तपुरुष के,[६] मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियों, प्राणों[७] आदि को भी विद्यमान मानते हैं, अभाव नहीं।[८]

१,२,१०. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अशुद्ध वर्तनी "**वादरि/ वादरायण**" है। मूलसं०, वेस, भद में शुद्ध वर्तनियां हैं किन्तु युमी और उदयपुर सं० में अशुद्ध हैं। मूलपाठ और मूल शब्द "**बादरी**" ध्यान से द्रष्टव्य है।

३. **उदयपुर सं० में सम्पादकों के द्वारा स्वभाषा का प्रक्षेप और त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० तीनों सं० में सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए कोष्ठक के पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। **उदयपुर सं०** में सूत्रार्थ के अन्त में यह स्वतन्त्र पाठ बिना किसी टिप्पणी के परिवर्धित किया है—"**और इससे भिन्न इन्द्रिय आदि पदार्थों का अभाव हो जाता है।**" यही परिवर्धन युमी में है किन्तु वहां बृ० कोष्ठक में है जबकि उदयपुर सं० ने अपने परिवर्धन की भाषा की ऋषि की भाषा में ही घुसपैठ करा दी है।

४. **सूत्रार्थ और स्वामी वेदानन्द जी की आपत्ति का समाधान**—जैसा कि अर्थ को पढ़कर स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि यहां अर्थ में अपूर्णता है, सूत्रोक्त आधारभूत '**अभाव**' को स्पष्ट नहीं किया है। इस सं० में, महर्षि द्वारा अन्य ग्रन्थों में किये अर्थों से भाव ग्रहण कर उसको बृ०कोष्ठक में देकर अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में ऋषि ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है—"**जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह 'शुद्ध मन' से परमेश्वर के साथ परमानन्द में रहता है और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है।**" (मुक्तिविषय, पृ० १४२) '**वेदान्तिध्वान्तनिवारण**' में यह अर्थ है—"**मोक्षसमय में मन को छोड़के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है। यह निश्चय बादरि आचार्य का है।**" (लघुग्रन्थसंग्रह, पृ० ४५) इन अर्थों से जहां सूत्रार्थ स्पष्ट और पूर्ण हो गया है वहां यह भी स्पष्ट हो गया कि तीनों अर्थों में महर्षि का मत सुनिश्चित है कि जीव और शुद्ध मन मुक्तदशा में रहते हैं, शरीर, इन्द्रियां आदि नहीं। ऋषिकृत ग्रन्थों में प्राप्त अन्य अर्थों से सिद्ध है कि यहां अर्थ त्रुटित हुआ है।

स्वामी वेदानन्द जी ने टिप्पणी में उक्त अर्थ से असहमति जताई है और उस अर्थ को असंगत बताते हुए अपना अर्थ किया है कि 'मन प्राणों और इन्द्रियों का अभाव रहता है तथा जीव का भाव रहता है।' मैं समझता हूं कि यहां स्वामी जी की भूल है। स्वामी जी ने महर्षि-वर्णित मन को स्थूल मन मान लिया है जबकि उपर्युक्त अर्थों से ज्ञात हो रहा है कि महर्षि "**शुद्ध मन**" अर्थात् आत्मा की संकल्पशक्ति को मान रहे हैं। और देखिए, अग्रिम पंक्तियों में भी ग्रन्थकार ने "**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते**" कारिका के अर्थ में यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है—"**शुद्धमन-युक्त पांच इन्द्रियां जीव के साथ रहती हैं।**" इस समाधान के बाद ऋषि के अर्थ पर आपत्ति का कोई अवसर नहीं रहता, क्योंकि यही सिद्धान्त उपनिषदों और दर्शनों का है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी ने उक्त दोनों बातों की आलोचना अपनी पुस्तक (पृ० ४५-४७) में की है। अधूरे सूत्रार्थ के विरोध-विषयक उनकी आलोचना अमान्य है। स्वामी वेदानन्द जी द्वारा कृत अर्थ की आलोचना मान्य है। किन्तु उन्होंने शंकराचार्य के प्रमाण के आधार पर महर्षि के मन्तव्य को जो सिद्ध किया है, उसकी अपेक्षया तर्क-प्रमाण से करते तो अच्छा होता।

५. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**जैमनि**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। आश्चर्य है कि कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में भी अपवर्तनी है, जबकि सभी अन्य संस्करणों में शुद्ध है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मुक्तपुरुष का**" अपप्रयोग है, आगे अनेक पदार्थों की गणना होने के कारण बहुवचनात्मक '**के**' प्रत्यय अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

७,११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**प्राण**" पद का बहुवचनात्मक प्रयोग अभीष्ट है।

८. **सूत्रार्थ**—महर्षि ने इस सूत्र का अन्य ग्रन्थों में निम्नलिखित अर्थ किया है—"**जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है क्योंकि उपनिषद् में.....प्रमाण है**

द्वादशाहवदुभयविधं[९] बादरायणोऽतः[१०] ॥ [वेदान्त०, अ० ४। पा० ४। सू० १२] ॥

व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों मानते हैं, अर्थात् दोष=अविद्यादि क्लेशों का अभाव और जीव, अन्तःकरण, आनन्द, प्राणों,[११] इन्द्रियों का शुद्ध भाव रहता है[१]; अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है।[२,३]

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

यह उपनिषद् का वचन[४] है [कठ० अ० २। वल्ली ६। मं० १०]

कि मुक्त जीव संकल्पमात्र से ही दिव्य शरीर रच लेता है और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है।'' (ऋ०भा०भू०, मुक्तिविषय, पृ० १४२) तथा **''जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है।''** (वेदान्तिध्वान्तनिवारण, लघुग्रन्थ संग्रह, पृ० ४५) इनसे सूत्र का यह भाव स्पष्ट हुआ कि सूक्ष्मशरीर प्राणों, इन्द्रियों आदि का भाव सामर्थ्य रूप में रहता है, स्थूल या भौतिक रूप में नहीं।

९. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में **''द्वादशावद्''** अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन कर दिया है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि और पाठ में अस्त-व्यस्तता**—मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला या शरारत से यहां दोनों सं० का पाठ अस्त-व्यस्त है। इस सूत्रार्थ में दो **''अर्थात्''** पद पठित हैं। लिपिकर ने दोनों **''अर्थात्''** पदों के मध्य का सारा पाठ यह छोड़ दिया **''दोष=अविद्यादि क्लेशों का अभाव और जीव, अन्तःकरण, आनन्द, प्राणों, इन्द्रियों का शुद्ध भाव रहता है अर्थात्''** और यह पाठ बनाया—**''अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है।''** इस पाठ में **'भाव'** का स्पष्टीकरण तो आ गया, किन्तु उसका विवरण और अर्थ में प्रयुक्त **'अभाव'** शब्द का भाव नहीं आया। यह त्रुटि देखकर ऋषि ने आगे अनुमान से पाठ बढ़ाया—**''अपवित्रता, पापाचरण, दुःख, अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।''** इस परिवर्धन से पाठ में वह पूर्णता नहीं आई जो मूल हस्तलेख के महर्षिप्रोक्त पाठ में थी। अन्तःकरण, आनन्द, प्राणों और इन्द्रियों का उल्लेख छूट गया है, जो महत्त्वपूर्ण था। यहां गुणों के होने-न होने का प्रसंग नहीं, स्थूल और सूक्ष्म शरीर के होने-न-होने का प्रसंग है।

इसके बाद मूलप्रति सं० में यहां एक और पाठ-विकृति आ गई। मूलहस्तलेख में **''जीव मुक्ति में बना रहता है''** तक पूर्ण पाठ है। इसके बाद मुद्रणप्रति में बढ़ाये पाठ को ग्रन्थकार द्वारा परिवर्धित पाठ मानकर **''अपवित्रता, पापाचरण, दुःख, अज्ञानादि का अभाव मानते हैं''** इस पंक्ति को भी पाठ में जोड़ लिया। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि पुनरुक्ति दोष उत्पन्न हो गया। जैसे—मूलहस्तलेख का पाठ—**''दोष=अविद्यादि क्लेशों का अभाव''** और आगे **''अपवित्रता, पापाचरण, दुःख, अज्ञानादि का अभाव मानते हैं''** यहां **''अविद्यादि''** और **''अज्ञानादि''** एक ही बात की दो बार उक्ति हो गई। इस सं० में दोनों सं० के त्रुटिपूर्ण पाठ को छोड़कर मूलहस्तलेख के महर्षिप्रोक्त पाठ को ग्रहण किया है, जो अपने आप में पूर्ण और उपयुक्त पाठ है। यह महत्त्वपूर्ण पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी सं० में त्रुटित है। अतः उनका पाठ अपूर्ण होने से अग्राह्य है।

२. **उभयविध से अभिप्राय**—**'द्वादशाह'**=बारह दिनों तक चलने वाला एक यज्ञ उभयविध कहाता है। वह **'अहीन'** यज्ञ भी है और **'सत्र'** भी है। सूत्रग्रन्थों में इनका लक्षण करते हुए लिखा है—**''द्वादशाहप्रभृतीनि सत्राणि''** (बौधा० श्रौ० ११.३) बारह से लेकर अधिक दिनवाले यज्ञ 'सत्र' कहाते हैं। **''द्विरात्रप्रभृतयोऽहीना द्वादशाहपर्यन्ताः''** (बौधा०श्रौ० २१.३)=दो रात्र से लेकर बारह दिन तक चलनेवाले यज्ञ 'अहीन' कहाते हैं। इस प्रकार बारह दिन का यज्ञ दोनों वर्गों में परिगणित होने से **'उभयविध'** कहा गया है। इसी प्रकार व्यास मुनि मुक्ति में जीव की स्थिति उभयविध मानते हैं, अर्थात् जीव के साथ इन्द्रियों के शुद्ध सामर्थ्य का 'भाव' और स्थूल शरीर तथा अशुद्ध गुणों का 'अभाव' मानते हैं।

३. **सूत्रार्थ**—इस सूत्र का अर्थ महर्षि ने अन्यत्र इस प्रकार किया है—**''मुक्ति में भाव और अभाव दोनों बने रहते हैं अर्थात् क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव को जाता है और परमानन्द, ज्ञान, शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है।''** (ऋ०भा०भू०, मुक्तिविषय, पृ० १४२) तथा **''मोक्ष में भी भाव और अभाव रहता है, अर्थात् स्थूल शरीर और अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्द परमात्मा के साथ सब जन्म-मरण-आदि दुःखों से छूटके सदा आनन्द से युक्त जीव रहता है।''** (वेदान्तिध्वान्तनिवारण, लघुग्रन्थ संग्रह, पृ० ४५)

४. **उचित संशोधन**—उपनिषद् में ''विचेष्टति'' पाठ है। मूलसं० में यहां **''श्लोक''** संज्ञा का प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं०

जब शुद्ध मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियां[१] जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

य आत्मा-अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको[२]विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ससर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति० ॥ [छान्दोग्य-उप०, अ० ८। खं० ७। प्रवाक १] ॥

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥

[छान्दोग्य-उप०, अ० ८। खं० १२। प्रवाक ५]

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषांꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति० ॥

[छान्दोग्य-उप०, अ० ८। खं० १२। प्रवाक ६] ॥

[३]मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याऽशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न[४] प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

छान्दोग्य [उप०, अ० ८। खं० १२। प्रवाक १] ॥

जो परमात्मा अपहतपाप्मा [है, और][५], सर्वपाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, उसकी खोज और उसी को[६] जानने की इच्छा करनी चाहिये। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है, जो परमात्मा को जानके मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है॥ सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध-दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता[७] है॥

जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्ष-सुख को भोगते हैं, और उसी[८] परमात्मा का जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करनेवाले विद्वान्

में '**श्लोक**' पद को हटाकर '**वचन**' पाठ किया है। यह ग्राह्य है क्योंकि प्रायः यही शैली ग्रन्थ में है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**ज्ञानेन्द्रिय**'' अपप्रयोग है। यहां बहुवचनान्त '**ज्ञानेन्द्रियां**' प्रयोग वांछनीय है।

२. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**ऽविजिघत्सो**'' विपरीतार्थक अपप्रयोग है, अवग्रह चिह्न अग्राह्य है। युमी में शुद्धपाठ है; वेस, भद, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में विपरीतार्थक ''**न**'' पद यहां पठित है। द्वि०सं० में अभी भी वही अशुद्ध पाठ छप रहा है। भद में भी अशुद्ध है। मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से फिर त्रुटित पाठ और ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में ''**प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न**'' पाठ प्रतिलिपि करते समय प्रमादवश छोड़ दिया है, पुनः शोधन करते समय मुद्रणप्रति में ऋषि ने इस पाठ को किनारे पर लिखा है। द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० तथा सभी सं० में ग्रहण कर लिया है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में '**है, और**' पद आवश्यक हैं।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उसी की**'' अपप्रयोग है, ''**उसी को**'' प्रयोग अपेक्षित है।

७. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह० में अशुद्ध ''**कर्त्ता**'' वर्तनी लिख दी। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। विद्वान् और पाठक अब देखें कि यह किसकी की हुई अशुद्धि है? कुछ लोग भाषात्मक त्रुटियों के साथ व्यर्थ ही ऋषि को जोड़ रहे हैं। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

८. **अपप्रयोग**—सभी सं० में यहां ''**इसी**'' अपप्रयोग है। अग्रिम ''**उसकी**'' ''**उससे**'' के सम्बन्ध से ''**उसी**'' शुद्ध है।

लोग करते हैं, उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं, वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है और **वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर सङ्कल्पमय शरीर से आकाश में, परमेश्वर में विचरते हैं;** क्योंकि जो शरीरवाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते॥

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि 'हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वैसे यह शरीर[१] मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस 'मरण और शरीर-रहित' जीवात्मा का निवासस्थान है। इसीलिये यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीरसहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता-अप्रसन्नता की निवृत्ति नहीं होती[२] और **जो शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है।**

प्रश्न—जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं, वा नहीं? क्योंकि—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति॥ उपनिषद्वचनम् [छान्दोग्य-उप०, अ० ८। खं० १५। प्र० १]॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ शारीरकसूत्र [वेदान्त०, अ० ४। पा० ४। सू० २२]॥

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ भगवद्गीता [अ० १५। श्लो० ६]॥

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि[३] मुक्ति वही है जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता।

---

१. **ऋषिहस्तलेख**—"**जैसे सिंह.....यह शरीर**" मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि और अपूर्ण पाठ**—मुद्रणलिपिकर की लापरवाही से यहां "**अप्रसन्नता**" पद लिखना रह गया। उसने यह अपपाठ लिखा—"**शरीरसहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति नहीं होती।**" इस अशुद्ध पाठ को पढ़कर शोधक ने इसको इस प्रकार सुधारा—"**प्रसन्नता की निवृत्ति होती है**"। इस संशोधन से पाठ तो अर्धशुद्ध हो गया किन्तु अपूर्ण अनुवाद युक्त और अपूर्ण अर्थवाला रह गया। यही अपूर्ण पाठ द्विप्र० में छपा और द्वि०सं० में छपता चला आ रहा है। इसमें कई अपूर्णताएं हैं—**एक**, उपर्युक्त संस्कृत-उद्धरण में "**प्रियाप्रिय**" दो पद हैं "**अप्रिय**" की व्याख्या त्रुटित रह गई। **दूसरी**—यहां सुख-दुःख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता दोनों भाव शरीर के साथ निरन्तर बने रहते हैं यह बताना लक्ष्य था। केवल '**प्रसन्नता**' विषयक कथन होने से '**अप्रसन्नता**' का कथन ही त्रुटित रह गया। पूर्वापर वाक्यों में दोनों भावों का वर्णन है। **तीसरी**—इस अनुच्छेद में दो वाक्यों में परस्पर-विरोध उत्पन्न हो गया है। पहले में सुख-दुःख से सदा ग्रस्त वर्णित किया है, दूसरे में अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की निवृत्ति न होना कहा है। मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ के कारण उत्पन्न ये सब अपूर्णताएँ द्विप्र०, द्वि०सं० में हैं। यही त्रुटियां वेस, जग, भद, युमी और विस में हैं। इस प्रकार मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण होने से ग्राह्य है। उदयपुर सं० में यह पाठ संशोधित कर लिया है।

आचार्य उदयवीर जी शास्त्री ने इस पाठ-त्रुटि की ओर पहले-पहल पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था और मूलग्रन्थ के आधार पर "**अप्रसन्नता**" पद रखने का सुझाव दिया था, जो अब मूलहस्तलेख में उपलब्ध भी हो गया है। शास्त्री जी तो तब मूलहस्तलेख भी नहीं देख पाये थे। **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी) ने अपनी '**सत्यार्थ प्रकाश के संशोधनों की समीक्षा**' पुस्तक में पृष्ठ ४९-५१ पर इसके विरुद्ध लम्बी समीक्षा लिखकर व्यर्थ का श्रम किया है। प्रमादी लिपिकरों द्वारा की गई त्रुटियों को भी न समझना और उनको भ्रान्ति से ऋषिवाक्य मानकर उनका व्यर्थ समर्थन करना, आर्यविद्वानों और पाठकों के अगम्भीर और दुराग्रहयुक्त चिन्तन का परिचायक है। अब दोनों हस्तलेख उपलब्ध होने से सिद्ध हो गया कि **आचार्य उदयवीर जी** का अनुमान सही था और आलोचक **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी** की समीक्षा गलत और केवल दुराग्रह पर आधारित थी। यह पाठ इस बात का साक्षात् प्रमाण है कि वैदिक विद्वान् भी पूर्वाग्रहयुक्त किस प्रकार किसी मिथ्या पक्ष पर हठ कर लेते हैं, किन्तु गलत तो एक-न-एक दिन गलत सिद्ध होकर ही रहता है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—"**इत्यादि वचनों से विदित होता है कि**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित पाठ है।

उत्तर—यह बात ठीक नहीं; क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुनर्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च॥ १॥
अ॒ग्नेर्व॒यं[१] प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुनर्दात् पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च॥ २॥

ऋ०, म० १। सूक्त २४। मं० १-२॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः॥ ३॥ सांख्यसूत्र [अ० १। सू० १५९]॥

(प्रश्न)—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, हमको मुक्ति का सुख भुगाकर[२] पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है?॥ १॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि, सदा-मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा इस प्रकार मुक्ति की व्यवस्था करता [है और][३] सबका स्वामी है॥ २॥

जैसे इस समय बद्ध-मुक्त[४] जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद, 'बन्ध' वा[५] मुक्ति का कभी नहीं होता तथा बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहते[६]॥ ३॥

प्रश्न— तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। [न्यायसूत्र, अ० १। आ० १। सू० २२]

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥[७]

न्यायसूत्र [अ० १। आ० १। सू० २]॥

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है, वही 'मुक्ति' कहाती है।

क्योंकि मिथ्याज्ञान=अविद्या, लोभादि दोष, विषय-दुष्टव्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख के,

---

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां "**अग्नेर्नूनं**" अपपाठ है। सभी सं० में शुद्ध कर लिया है।

२. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र० में "**भुगा करे**" अपपाठ है। अन्य सब में संशोधित है।

३,५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः, '**है और**' पद का प्रयोग आवश्यक है। आगे '**वा**' पद मूलप्रति सं० में प्रयुक्त है, जो ग्राह्य है। द्वि० सं० में नहीं है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**बन्ध**" अपप्रयोग है। यहां '**मुक्त**' का विरीतार्थक और विशेषण "**बद्ध**" अपेक्षित है। यही अपप्रयोग वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में विद्यमान है।

६. **मुक्ति का समय निश्चित**—उपनिषद् आदि में "**न च पुनरावर्तते**" आदि जो वचन मिलते हैं उनमें निर्धारित समय '**कल्पान्त**' काल के मध्य संसार में न लौटने का संकेत है, यह कथन अनन्तकाल के लिए नहीं है। पूर्ण वाक्य इस प्रकार है—"**स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते**" (छान्दोग्य उप० ८.१५.१) अर्थात् 'मनुष्य इस प्रकार आचरण करते हुए जितनी आयुसीमा तक ब्रह्मलोक में रहता है, उसको रहने का अधिकार या फल मिला है, उसके बीच में संसार में नहीं लौटता।' यहां '**यावत्**' प्रयोग एक निश्चित कालसीमा का बोध करा रहा है। इसी प्रकार एक वाक्य है—"**एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते**" (४.१५.६) अर्थात् 'देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ब्रह्मज्ञानी वर्तमान मानव आवर्त्त=सर्ग में नहीं लौटते' अर्थात् किसी अन्य सर्ग में लौटेंगे जो उनके लिए निर्धारित है। (द्र०पृ० ४४५/७ टिप्पणी भी)

७. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में इस सूत्र को ऋषि ने स्वहस्तलेख में लिखकर जोड़ा है।

[सूत्रोक्त क्रम से] उत्तर-उत्तर के छूटने पर पूर्व-पूर्व के निवृत्त होने से ही 'मोक्ष' होता है,[१] जो कि सदा बना रहता है।[२]

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि '**अत्यन्त**' शब्द '**अत्यन्ताभाव**' का ही नाम होवे। जैसे '**अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं चास्य वर्त्तते**'=अत्यन्त[३] दुःख और अत्यन्त सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत दुःख वा [बहुत] सुख[४] है। इसी प्रकार यहां भी '**अत्यन्त**' शब्द का अर्थ जानना चाहिये।

प्रश्न—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है, तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है?

उत्तर—ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले[५] परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।

यह मुण्डक-उपनिषद् का वचन है [३। खं० २। मं ६]

वे मुक्तिप्राप्त लोग ब्रह्म में आनन्द को भोगके '**महाकल्प**' के पश्चात् पुनः मुक्ति-सुख को छोड़के संसार में आते हैं।[६] इसकी संख्या यह है कि—तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक '**चतुर्युगी**', दो सहस्र चतुर्युगियों का एक '**अहोरात्र**', ऐसे तीस अहोरात्रों का एक '**महीना**', ऐसे बारह महीनों का एक '**वर्ष**', ऐसे शत-वर्षों का '**परान्तकाल**'[७] होता है। इसको '**गणित**' की रीति से यथावत् समझ

---

१. **अर्थ में अपक्रम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, श्लोकोक्त शब्दों का क्रम अर्थ करते समय बदल दिया है, अतः अर्थ की शब्दावली के साथ ''**उत्तर-उत्तर**'' पदों की संगति नहीं लगती। सूत्रोक्तक्रम में रखने से ही इनकी सही संगति लगती है। उस सूत्रोक्त सही भाव को व्यक्त करने के लिए अर्थ में '**सूत्रोक्त क्रम से**' यह पाठवर्धन करना परमावश्यक है, अन्यथा अप-अर्थ प्रकट होगा। क्योंकि सूत्रोक्त पदों का वर्णन-क्रम अर्थ में कारण से कार्य के अनुसार कर दिया है, तो इस स्थिति में अग्रिम वाक्य विपरीत अर्थ प्रकट कर रहा है—''**उत्तर-उत्तर के छूटने से, पूर्व-पूर्व के निवृत्त होने से ही मोक्ष है**'', अथवा अर्थभाषा का क्रम परिवर्तित करना अपरिहार्य है। इस संस्करण में अर्थ का पाठ ठीक कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी संस्करणों में अर्थ का अपपाठ है, अतः उनका पाठ अग्राह्य है।

२. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**क्योंकि मिथ्याज्ञान.....बना रहता है**'' और आगे ''**इसी प्रकार.....चाहिये**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से गृहीत है।

३. **पुनरुक्त पाठ एवं आवश्यक**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां संस्कृत वाक्य के हिन्दी अर्थ में ''**बहुत दुःख और बहुत सुख**'' है। यहां संस्कृतोक्त 'अत्यन्त दुःख और अत्यन्त सुख' प्रयोग अभीष्ट है क्योंकि दर्शनों में ''**अत्यन्त**'' एक पारिभाषिक शब्द है। यदि यहां ''**बहुत**'' शब्द रखेंगे तो अग्रिम वाक्य में पुनरुक्ति दोष उत्पन्न होगा क्योंकि ''**बहुत**'' अर्थ तो आगे पंक्ति में भावार्थ रूप में समझाया गया है। अन्य सभी सं० में इसी शब्द का प्रयोग है, जो संशोधन की अपेक्षा रखता है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**सुख**'' के स्थान पर ''**दुःख**'' और ''**दुःख**'' के स्थान पर ''**सुख**''अपपाठक्रम बना दिया है जो उपर्युक्त संस्कृत के तथा हिन्दी के पूर्व वाक्यक्रम के अर्थ के विपरीत भी है। यह मुद्रणलिपिकर की असावधानी से मुद्रणहस्त० में हुआ है, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठक्रम है, अन्य सभी में अपपाठ है।

५. **पाठान्तर**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उपनिषद् से यह पाठान्तर मिलता है—''**ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले**''।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—इस वाक्य की मुद्रणह० में गलत प्रतिलिपि की—''**वे मुक्तजीव मुक्ति में प्राप्त होके**''। शोधक ने आगे इसको और अटपटा बना दिया—''**आनन्द को तब तक भोग के**''। मूलह० का पाठ शुद्ध है।

७. **परान्तकाल का शास्त्रों में उल्लेख**—परान्तकाल अर्थात् मुक्ति में सुख भोगने की अवधि ३१ नील १० खरब, ४० अरब वर्षों की होती है। गणित के अनुसार ४३,२०,००० वर्षों की एक चतुर्युगी की काल-अवधि होती है। दो सहस्र चतुर्युगियों का अर्थात् ४३,२०,००० × २०००=८,६४,०००००० वर्षों का ब्रह्म का एक 'अहोरात्र' होता है। ८,६४,०००००० ×३० =२,५९,२००००००० वर्षों का एक 'महीना' और इनको १२ से गुणा करने पर ३१,१०,४००००००० वर्षों का ब्रह्मा का एक 'वर्ष' होता है। इस संख्या को १०० से गुणा करने पर ३१,१०,४०,००००००००० वर्षों की अवधि आती है। यह समय ३६००० बार सृष्टि-उत्पत्ति-प्रलय के बराबर है। इतने वर्षों तक जीव मुक्ति में रहकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

लीजिये।[१] इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

प्रश्न—सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे [जीव] पुनः जन्म-मरण में कभी न आवें, [उसका नाम ही मुक्ति है][२]

उत्तर—यह बात कभी नहीं हो सकती; क्योंकि प्रथम तो जीवों[३] का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उनका[४] फल अनन्त कैसे हो सकता है? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों[५] में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते[६]। जिनके[७] साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से लौटकर कोई भी जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का 'उच्छेद' अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।

प्रश्न—जितने जीव मुक्त होते हैं, ईश्वर उतने नये जीव उत्पन्न करके संसार में रख देता है, इसलिये निश्शेष नहीं होते।

उत्तर—जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जायें; क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है। फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट हो जायेंगे।[८] [इस प्रकार][९] मुक्ति भी अनित्य हो गई। और मुक्ति के स्थान में बहुत-सा भीड़-भड़क्का[१०] हो जायगा;[११] क्योंकि वहां आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहेगा।

और दुःख के अनुभव के विना, सुख कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे कटु न हो, तो मधुर क्या? जो मधुर न हो, तो कटु क्या कहावे? क्योंकि एक स्वाद के दूसरे[१२] रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। जैसे **कोई मनुष्य मीठा=मधुर ही खाता-पीता जाय, उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा सब प्रकार के रसों के भोगनेवाले को होता है।**

अन्य प्रमाण—बृहदारण्यक उपनिषद् में इस काल को "**परा: परावत:**" कहा है—"**तेषु ब्रह्मलोकेषु परा: परावतो वसन्ति**" (६.२.१५)=मुक्त जीव ब्रह्मलोक में '**परा परावत**' काल तक रहते हैं। महानारायणोपनिषद् में इसको '**परान्तकाल**' नाम से ही कहा है—"**परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे**" (८.१५)=परम मुक्ति से परान्तकाल के पश्चात् चले आते हैं।

१. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**इसको गणित की रीति....लीजिये।**" वाक्य मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित अंश है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से गृहीत है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह प्रश्नवाक्य अपूर्ण है। मध्य में 'जीव' पद तथा इसके अन्त में '**उसका नाम मुक्ति है**' वाक्यांश परिवर्धित करने से ही यह पूर्ण वाक्य बनता है।

३-७. **अव्यवस्थित अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में वचन-प्रयोग की अव्यवस्था है, कहीं एकवचन में प्रयोग है तो कहीं बहुवचन में। द्वि० सं० में ३-४ संख्यांकों पर एकवचन है किन्तु ५-७ संख्यांकों पर बहुवचन है। प्रश्नोक्त बहुवचन के सम्बन्ध से यहां सर्वत्र बहुवचन प्रयोग ही ग्राह्य है। सभी सं० में पाठ में यही अव्यवस्था है।

ऋषिहस्तलेख—"**इसलिये अनन्त.....सकते**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

८. **अपप्रयोग**—अभिव्यक्ति की दृष्टि से यहां "**जायेंगे**" प्रयोग अधिक उपयुक्त है। सभी पाठों में "**जायें**" अपप्रयोग है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां वाक्यसंगति के लिए '**इस प्रकार**' पदों का परिवर्धन अपेक्षित है।

१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**बहुत-सी भीड़-भड़क्का**" अपपाठ है। द्वि०सं० मूलसं० में संशाधित है। वेस, भद, युमी में संशोधित है; उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

११. **अपवर्तनी**—द्वि० सं० में यहां नयी वर्तनी "**जायेगा**" प्रयुक्त है। हस्तलेखों और ग्रन्थकार के समय स्वीकृत प्रयोग के अनुसार "**जायगा**" वर्तनी ही ग्राह्य है।

१२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से**" अपपाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

और जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाय। जो जितना भार उठा सके, उतना उसपर धरना बुद्धिमानों का काम है। जैसे एक मन-भार उठानेवाले के शिर पर दश[१] मन धरने से भार धरनेवाले की निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ, अल्प-सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना, ईश्वर के लिये ठीक नहीं।

और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है, तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं, वह चुक जायगा; क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोष हो, परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं, उसका कभी न कभी दिवाला निकल ही जाता है। इसलिये यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्ति में जाना, वहां से पुनः[२] आना ही अच्छा है। क्या थोड़े कारावास से 'जन्म-कारावास'[३] वा 'कालापानी'[४] अथवा 'फांसी' को कोई अच्छा मानता है? जब वहां से आना ही न हो, तो 'जन्म-कारावास'[५] से इतना ही अन्तर है कि वहां मजदूरी नहीं करनी पड़ती। **और ब्रह्म में लय होना [मानो][६] समुद्र में डूब मरना है।**

प्रश्न—जैसे परमेश्वर नित्यमुक्त, पूर्ण-सुखी है, वैसे ही जीव भी नित्यमुक्त और सुखी रहेगा तो कोई भी दोष न आवेगा।

उत्तर—परमेश्वर अनन्त-स्वरूप-सामर्थ्य-गुण-कर्म-स्वभाव-वाला है ,इसलिये वह कभी अविद्या और दुःख-बन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित-गुण-कर्म-स्वभाववाला रहता है, [इसलिये वह] परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।

प्रश्न—जब ऐसा है,[७] तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश हुई। इसके लिये[८] परिश्रम करना व्यर्थ है।

उत्तर—मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं; क्योंकि जब-तक ३६००० (छत्तीस सहस्र)[९] वार [सृष्टि][१०]

---

१. **ऋषिहस्तलेख**—''**भार धरने वाले की निन्दा**'' तथा रेखांकित पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

२. **परिवर्धित पद**—मूलह०, मूलप्रति में यहां ''**पुनः**'' पद त्रुटित है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में परिवर्धित है जो ग्राह्य है।

३,५. **मुद्रणकालीन अप-अनुवाद**—यहां '**जन्म**' का 'जीवन' अर्थ में प्रयोग है। इस अर्थ में यह शब्द आज भी प्रयुक्त होता है, जैसे—''**जन्मभर**''=पूरे जीवन पर्यन्त, ''**जन्म हारना**''=जीवनभर दास रहना, जीवन व्यर्थ गंवाने के लिए '**मनुष्यजन्म व्यर्थ गंवाना**' आदि। इस प्रकार इनका अर्थ है—**जन्म-कैद**=जन्मभर की कैद, **जन्म-कारावास**=जन्मभर के लिए कारागार। ''**कारागार**'' के स्थान पर ''कारावास'' उपयुक्त है। दोनों हस्त० में ''**जन्मकैद**'' शुद्ध प्रयोग है। मुद्रणकाल में पं० ज्वालादत्त या मुंशी जी में से किसी ने ''**जन्म कारागार**'' अशुद्ध अनुवाद बनाया है, 'कारागार' तो 'जेल भवन' होता है। सभी सं० में अपप्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—'कारावास', 'बंदीगृह' या 'जन्म कारावास' का शुद्ध प्रयोग ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर उपलब्ध है (द्र० पृ० २७०/५, ७७९/२२ आदि)।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**कालापानी**'' त्रुटित है और ''**कारागार दण्ड वाले प्राणी**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है। **कालापानी जेल**—अंग्रेजों के समय अण्डमान-निकोबार द्वीप में बनाई गई जेल को '**काला पानी**' की जेल कहते हैं। अंग्रेज वहां भयंकर अपराधियों तथा देशभक्त क्रान्तिकारियों को रखते थे। कालापानी अर्थात् बहुत दूर और समुद्र के काले पानी के बीच बनाई गई जेल। बोली में बहुत दूर स्थान को '**काली कोसों**' कहते हैं।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां उचित भाव की अभिव्यक्ति के लिए '**मानो**' प्रयोग अपेक्षित है।

७-८. **अपप्रयोग एवं मुद्रणकालीन अप-अनुवाद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां दोनों स्थानों पर ''**जब ऐसी**'' और ''**इसलिये**'' अपप्रयोग हैं। मूलप्रति सं० के शुद्ध प्रयोग ग्राह्य हैं। मुद्रणह० में ''**इसके वास्ते**'' प्रयोग है। उसका शुद्ध अनुवाद ''**इसके लिए**'' बनेगा। द्विप्र० में अशुद्ध अनुवाद किया है। वही अशुद्ध द्वि०सं० है। उदयपुर सं० में संशोधन है, बिना टिप्पणी के।

९. **गणानात्मक भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० में ''३६०००'' संख्या अंकों में शुद्ध है, किन्तु शब्दों में दोनों पाठों में अशुद्ध पाठ ''**तीन लाख साठ हजार**'' लिखा गया है। द्विप्र० में दोनों पाठ अशुद्ध बना दिये हैं। मूलहस्त० की अशुद्धि पर मुद्रणलिपिकर और शोधकों ने ऐसे ही ''मक्खी पर मक्खी'' मारी है। देखिए, ऐसे लोगों से ऋषि का पाला पड़ा था। द्वि०सं० ने अशुद्ध पाठ को

उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त जीवों का[११] मुक्ति के आनन्द में रहना और[१२] दुःख का न होना, क्या छोटी बात है? जब आज खाते-पीते हो, कल भूख लगनेवाली है, पुनः इसका उपाय क्यों करते हो? जब क्षुधा, तृषा, क्षुद्र धन, राज्य, प्रतिष्ठा, स्त्री, सन्तान आदि के लिये उपाय करना आवश्यक है, तो मुक्ति के लिये क्यों न करना? जैसे मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है, तथापि उसका उपाय करना अत्यावश्यक है?

प्रश्न—मुक्ति के क्या-क्या साधन हैं?

उत्तर—कुछ साधन तो प्रथम लिख[१] आये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं—**जो मुक्ति चाहे वह 'जीवन्मुक्त'[२] अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप-कर्मों का फल दुःख है उनको छोड़, सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे। जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे, वह अधर्म को छोड़, धर्म अवश्य करे; क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का 'धर्माचरण' मूल कारण है।**

[१. पहला साधन, विवेक से सत्यासत्य निर्णय और पंचकोषादि-विवेचन—][३] सत्पुरुषों के संग से '**विवेक**' अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करें, [उनको][४] पृथक्-पृथक् जानें; और 'शरीर' अर्थात् 'जीव के पंचकोषों'[५] का विवेचन करें—

बिल्कुल हटा दिया है जबकि मूलसं० ने शुद्ध कर दिया है। अन्य सभी द्वि० संस्करणों ने संशोधन कर लिया है।

१०-१२. **त्रुटित पद**—यहां ''**सृष्टि**'' तथा '**और**' पद दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपेक्षित हैं। मूलप्रति सं० में ''**जीवों का**'' पद त्रुटित हैं, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में संशोधित होने से ग्राह्य हैं।

१. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य इसी समु० में पृष्ठ ४३७/१० में।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**जीवनमुक्त**'' अपप्रयोग है। मूलसं० वेस, भद में संशोधित है किन्तु युमी और उदयपुर सं० में अशुद्ध प्रयोग है।

३-४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—स्पष्टार्थ के लिए दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन अभीष्ट है।

५. '**जीव पंचकोष**' **पाठ का यथार्थ**—मूलहस्तलेख में यहां अस्पष्ट पाठ लिखा है—''**शरीर अर्थात् जो पंचकोशों का विवेचन करें**''। यही पाठ मुद्रण-लिपिकर ने लिखा। मुद्रणप्रति को शुद्ध करते समय यही ''**जो**'' पद शोधक को भी व्यर्थ लगा और उसने इसको काटकर पंक्ति के ऊपर ''**जीव**'' पद लिख दिया। अब यह वाक्य बन गया—''**शरीर अर्थात् जीव पंचकोशों का विवेचन करें।** यहां बीच में न तो अर्धविराम है जिससे यह स्पष्ट अर्थ प्रकट हो सके कि ये दो पदार्थ हैं, और न समस्त पद है जिससे 'जीव के पंचकोश' अर्थ प्रकट हो सके। **आचार्य उदयवीर जी शास्त्री** ने यहां टिप्पणीपूर्वक दूसरा अर्थग्रहण किया है जिसका **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम-स्वामी सच्चिदानन्द जी) ने प्रतिवाद किया। **उदयवीर जी शास्त्री** ने '**के**' प्रत्यय जोड़कर अपना अर्थ स्पष्ट किया है तो **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** ने ''**जीव**'' के बाद **अल्पविराम** बढ़ाकर अपना अभीष्ट अर्थ निकाला है; लेकिन शास्त्री जी फिर भी अपने पाठ को महर्षि का पाठ कह रहे हैं, जबकि मूलपाठ में अल्पविराम है ही नहीं। परिवर्तन दोनों ने ही किया है, चाहे वह अक्षर हो या विरामचिह्न, बात एक ही है।

यहां विचारणीय बिन्दु पाठ नहीं, अर्थ है। कोई कितनी ही खींचातानी करे, यह निश्चित है कि कहीं भी '**शरीर**' शब्द की व्याख्या में '**जीव**' पद स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में नहीं आ सकता अर्थात् 'शरीर' का अर्थ 'जीव और पंचकोष' कभी नहीं बन सकता, क्योंकि 'शरीर' कहने से 'जीव' का ग्रहण कभी नहीं होता, जबकि '**जीव के पंचकोष**' प्रयोग कहने से जीव का अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। यदि किसी को '**के**' पाठ बढ़ाने पर आपत्ति हो तो '**जीव-पंचकोष**' समस्त पद के रूप में पढ़ लीजिये, अर्थ वही संगत सिद्ध होगा, क्योंकि शरीर का अर्थ '**पंचकोष**' ही है, यतो हि पंचकोषों का संघटित रूप शरीर है। जिसको जीवात्मा का आवरण या अधिष्ठान कहा है। आगे प्रसंग भी देखिये—पहले शरीर के पंचकोषों का वर्णन है, फिर शरीर की तीन अवस्थाएं हैं, उसके बाद तीन शरीरों का वर्णन है। सारा विवेचन शरीर से सम्बन्धित है। अनुच्छेद के अन्त में पंचकोषों

[**पंचकोष-**] **एक**—'**अन्नमय**'—जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। **दूसरा**—'**प्राणमय**' जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता, 'अपान' जो बाहर से भीतर आता,[१] 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, 'उदान' जिससे कंठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता और बल-पराक्रम होता है, 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। **तीसरा**—'**मनोमय**'—जिसमें मन के साथ अहङ्कार [और][२] वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पांच कर्म-इन्द्रियाँ हैं। **चौथा**—'**विज्ञानमय**' जिसमें बुद्धि, चित्त [और][३] श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञान-इन्द्रियाँ [हैं][४], जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। **पाँचवाँ**—'**आनन्दमयकोष**'= जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द, 'ब्रह्म-आनन्द'[५], और [उसका] आधाररूप=[६] कारणरूप प्रकृति [=कारणशरीर] है।[७] ये 'पांच कोष' कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

तीन अवस्थायें[८] ये हैं—एक '**जाग्रत**'[९] दूसरी '**स्वप्न**' और तीसरी '**सुषुप्ति**' अवस्था कहाती है।

तीन शरीर हैं—**एक**—'**स्थूल**' जो यह दीखता है। **दूसरा**—पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्म-भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय '**सूक्ष्मशरीर**' कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके **दो भेद** हैं—**एक** '**भौतिक**' अर्थात् जो सूक्ष्म-भूतों के अंशों से बना है। **दूसरा** '**स्वाभाविक**' जो जीव का[१०] स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा [स्वाभाविक=] 'अभौतिक[११] शरीर' मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता

के संचालक जीव का कथन है—''**इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।**'' किन्तु ''**इन सब कोषों और अवस्थाओं से जीव पृथक् है**'' (पृ० ४५०)। यदि ''जीव, पंचकोश'' पाठ उचित होता तो क्रमानुसार पहले जीव का विवेचन होना चाहिए था, किन्तु वह है ही नहीं। अत: पूर्वाग्रह को छोड़कर संगत अर्थ ''**जीव-पंचकोष**'' अर्थात् '**जीव के पंचकोष**' अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

१. **अन्यत्र वर्णन**—**प्राण-अपान** की व्याख्या समु० ३, पृ० ११५/७ तथा उसी पृष्ठ पर टिप्पणी में द्रष्टव्य है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—स्पष्टार्थ और उचित संगति के लिए दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**और**' पद चाहिए।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**हैं**' क्रिया त्रुटित है, वाक्यपूर्त्यर्थ आवश्यक है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**ब्रह्म**' पद अपेक्षित है। न्यून-अधिक आनन्द का कथन होने पर ''**आनन्द**'' प्रयोग 'ब्रह्मानन्द' का ही पर्याय हो सकता है, अत: स्पष्टार्थ के लिए यहां ''**ब्रह्म-आनन्द**'' होना चाहिए, क्योंकि वही इस कोश का मुख्य आधार है। और यहां वर्णित सभी स्थितियां आनन्द की उत्तरोत्तर स्थितियां हैं जिनका वर्णन तैत्तिरीय-उपनिषद् में उपलब्ध है (ब्रह्मवल्ली, अनु ५)।

६. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में यहां ''**साधारण**'' अपप्रयोग है। द्वि०सं० तथा दोनों हस्तलेखों में स्पष्टत: '**आधार**' प्रयोग है जो उचित भी है। यही प्रयोग यहां ग्राह्य है। यहां स्पष्टार्थ के लिए '**उसका**' पद परिवर्धन अपेक्षित है, क्योंकि तैत्तिरीय-उपनिषद् में आनन्दमय कोश का स्वरूप '**ब्रह्मगुहा**' वर्णित है ''**ब्रह्मपुच्छम्-प्रतिष्ठा**'' (ब्रह्मवल्ली, अनु० ५)

७. **आनन्दमय कोश**—आनन्दमय कोश की स्थिति को तैत्तिरीय उपनिषद् के वर्णन ब्रह्मवल्ली (अनुवाक ५) से समझा जा सकता है। वहां इसकी उत्तरोत्तर स्थितियां इस प्रकार बताई हैं—प्रिय=प्रीति, मोद=प्रसन्नता, प्रमोद=न्यून आनन्द, अधिकानन्द, आनन्द=ब्रह्म=मोक्षानन्द और इनका आश्रय 'कारणशरीर' या 'तुरीयशरीर' है। यहां 'प्रकृति' से यही अर्थ अभिप्रेत होना चाहिए क्योंकि यहां शरीर और उसके पंचकोषों का वर्णन किया जा रहा है, उन्हीं का प्रसंग है। आगे उन्हीं की व्याख्या है।

८-१०. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां क्रमश: ''**तीन अवस्था**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है। ''**जागृत**'' अपप्रयोग है। ''**जीव के**'' पाठ के स्थान पर ''**जीव का**'' एकवचन अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में सभी अपपाठ हैं।

११. **मुद्रणप्रति में शोधककृत भ्रष्ट परिवर्तन**—मूलह० में यह पद नहीं है। मुद्रणहस्त० में किसी शोधक ने त्रुटित चिह्न देकर ऊपर

है।[१] **तीसरा कारण**—जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिये एक है। [किन्हीं के मत में इसका एक अन्य भेद][२] **चौथा 'तुरीय शरीर'** कहाता है—जिसमें जीव समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न होते हैं। इसी समाधि-संस्कारजन्य 'शुद्ध शरीर' का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।

इन सब कोषों[३] और अवस्थाओं से जीव पृथक् है।[४] क्योंकि जब मृत्यु होता है, तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया।[५] यही जीव सबका प्रेरक, सबका धर्त्ता, साक्षी,[६] कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है; क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पुण्य-पाप[७]-कर्तृत्व कभी

इस पद को लिखा है। शोधक को यहां 'भौतिक' की अपेक्षा से दूसरा भेद 'अभौतिक' लिखना था, असावधानीवश "**औ भौतिक**" लिख गया। मुद्रणकाल में इसका संशोधन शोधकों द्वारा किया जाना चाहिए था, किन्तु उन्होंने इसको और भ्रष्ट करके "**और भौतिक**" बना दिया जो न तो प्रासंगिक था, न रचनात्मक दृष्टि से शुद्ध था, अपितु विरुद्ध पाठ था; क्योंकि पहले वाक्य में 'भौतिक' आ चुका है। यह एक उदाहरण है जिससे यह जानकारी मिलती है कि सत्यार्थप्रकाश में पाठ कैसे-कैसे भ्रष्ट हुए हैं। प्रसन्नता की बात यह है कि द्वि०सं०, मूलसं० तथा सभी संस्करणों में यह संशोधित कर लिया गया है।

१. **अन्यत्र वर्णन**—इसी समु० में इस शरीर को अन्यत्र "**संकल्पमय शरीर**" कहा गया है। द्रष्टव्य पृ० ४३९/१, ४४३/२।

२. **'तुरीय शरीर' का समाधान**—दोनों सं० में यहां पाठ अस्त-व्यस्त हुआ है। ऊपर कथन है—"**तीन शरीर हैं**", फिर तीन शरीरों का वर्णन है। उसके बाद अचानक **'चौथा तुरीय शरीर'** का कथन ऊपर के कथनों से मेल नहीं खाता। अवश्य, यहां लिखते समय कोई शब्द या वाक्य छूटा है। इसकी संगति लगाने के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ परिवर्धन करना आवश्यक है।

दर्शनशास्त्र में यह तुरीय अवस्था मानी गयी है, इस कारण **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** का सुझाव है कि यहां "**चौथी तुरीय अवस्था**" पाठ चाहिए और उसको अवस्था सम्बन्धी उपयुक्त पाठ के बाद रखा जाना चाहिए। इस संस्करण में प्रस्तुत समाधान के बाद इतने बड़े परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। यहां प्रस्तुत समाधान अधिक उपयुक्त है कि कोई उसको कारण शरीर का एक भेद मानते है, तो कोई उसको 'चौथा शरीर' कहते हैं जो समाधि-संस्कार जन्य 'शुद्ध शरीर' कहाता है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस प्रसंग में कहीं "**कोश**" तो कहीं "**कोष**" वर्तनी है। दोनों शुद्ध भी हैं किन्तु अव्यवस्था स्तरहीनता को प्रकट करती है। अत: एकरूपता, मानकता और व्यवस्था के लिए 'कोष' इस एक ही मूल वर्तनी को ग्रहण किया गया है। सभी सं० में इस वर्तनी की अव्यवस्था पाई जाती है।

४. **लिपिकर की प्रमादलीला से पुनरुक्तिपूर्ण भ्रष्टपाठ परिवर्तन**—पाठ-सम्बन्धी करतूतों से ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रण-लिपिकर या तो भांग चढ़ाता था अथवा अन्य कोई नशा करता था, या जान-बूझकर शरारत करता था, क्योंकि सामान्य स्थिति में व्यक्ति की दृष्टि और बुद्धि इतनी विचलित नहीं होती जितनी कि महर्षि के पल्ले पड़े इन लिपिकरों की हुई है।

मूलहस्तलेख में यहां पाठ है—"**इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि जब मृत्यु होता है**"। मुद्रणलिपिकर ने इस पाठ को इस प्रकार यह विकृत किया—"**इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि यह सबकोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि....**" ग्रन्थकार ने इस विकृत पाठ को सुधारने का यत्न किया और "**विदित**" पद नया जोड़ा। उसके जोड़ने से यह पाठ बन गया—"**इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है क्योंकि यह सबको विदित अवस्थाओं से जीव पृथक् है।**" यही द्विप्र० में छपा है। यहां पुनरुक्ति तो हुई ही, बाद वाले वाक्यांश से "**कोष**" पद उड़ गया। "विदित" के बाद द्वि०सं० के प्रकाशन-समय में "**है**" क्रिया जोड़ दी। यही पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ द्वि० सं० में है। जस को छोड़ वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी विद्वानों के सं० में यही हास्यास्पद पाठ मिलता है। किसी आर्य विद्वान् ने सवा सौ वर्षों में इस हास्यास्पद पाठ को सुधारने पर ध्यान नहीं दिया। यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है, अत: वही ग्राह्य है। **उदयपुर सं०** ने मूलह० का शुद्ध पाठ ग्रहण करके प्रशंसनीय कार्य किया है।

५. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**जब मृत्यु.....निकल गया**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलसं० में वहीं से गृहीत है, यह मूलहस्त० में नहीं है। पूर्व वाक्य का "**इसी समाधि.....रहता है**" पाठ मूलसं० में ऋषि द्वारा लिखित है।

६. **साक्षी आत्मा**—आत्मा सत्य-असत्य का स्वयं साक्षी है—"**आत्मैवह्यात्मनः साक्षी**" (मनु० ८.८४)।

७,८. **मुद्रणलिपिकर-कृत अपपरिवर्तन**—मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० में "**इनको सुख-दुःख का भोग**" शुद्ध पाठ है।

नहीं हो सकता। हां, इनके सम्बन्ध से जीव पुण्य-पापों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।

जब इन्द्रियां अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगता है,[१] तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से [अच्छे कर्मों में][२] आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है।[३] जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्तता है, वह मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।[४]

[२] **दूसरा साधन—'वैराग्य'** अर्थात् जो **विवेक** से सत्यासत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना।[५]

विवेक यह है कि जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को[६] गुण-कर्म-स्वभाव से जानकर परमेश्वर की[७] आज्ञा का पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना। सृष्टि से उपकार लेना [भी] **विवेक** कहाता है।[८]

मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**इनका सुख-दुःख का भोग**'' अपपरिवर्तित पाठ है। सभी सं० में यही अपपाठ है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में पूर्वापर में पठित ''**सुख-दुःख**'' के भोग का कारण दोनों स्थानों पर ''**पाप-पुण्य**'' इस अपक्रम में बताया गया है, यहां '**पुण्य-पाप**' होना अपेक्षित है। वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में क्रमभ्रष्ट पाठ है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० के पाठ को बदलकर मुद्रणलिपिकर ने यह पाठ बनाया है—''**अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है**''। कर्त्ता आत्मा होता है, अतः यहां ''**लगता है**'' पाठ ही शुद्ध है। **पाठ-पुष्टि**—अन्यत्र भी यह प्रसंग है वहां स्वयं आत्मा के लिए ही क्रियाओं का प्रयोग है, यथा—समु० १२ में पृ० ७७०/९ में।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पाठपूर्ति के लिए ''**अच्छे कर्मों में**'' इतना पाठ और अपेक्षित है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—इसी विषयक कथन पृ० ३२२/८ पर भी द्रष्टव्य है।

४. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में लिपिकरों ने यहां क्रियाप्रयोग के स्थान पर विशेषण प्रयोग ''**भोक्ता है**'' लिखा है। वही अशुद्ध द्विप्र०, द्वि०सं० में छपा है। मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में शुद्ध कर दिया है।

५. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**त्याग करना विवेक है**'' भ्रान्ति से पूर्ववाक्य से मिश्रित करके एकवाक्यात्मक अपपाठ बना दिया है जिसके कारण पाठ में अव्यवस्था और विवाद उत्पन्न हो गया है। मूलप्रति सं० का पाठ सही होने से ग्राह्य है। उदयपुर सं० में यहां पाठ संशोधित है। वेस, जग, भद, युमी, विस में अपपाठ है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां ''**के**'' अपप्रयोग है, ''**को**'' प्रयोग अपेक्षित है।

७. **उपयुक्त संशोधन**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**उसकी**'' सर्वनाम का प्रयोग है। सर्वनाम संज्ञा के स्थान पर प्रयुक्त होता है किन्तु इससे पूर्व कोई संज्ञा शब्द कर्त्ता के रूप में नहीं है। यहां '**परमेश्वर की आज्ञा का पालन**' प्रयोग ही उपयुक्त है।

८. **ऋषिहस्तलेख और सम्पादकों द्वारा पाठनिर्धारण में भूल की खेदजनक कहानी**—दूसरे साधन **वैराग्य**-विषयक इस अनुच्छेद के पाठ और स्थान को लेकर कई आर्य सम्पादक विचलित हुए हैं। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने, यह मानकर कि यहां '**वैराग्य**' का प्रसंग है, अतः इस अनुच्छेद में बाद में दो बार प्रयुक्त 'विवेक' पद के स्थान पर '**वैराग्य**' पाठ बदल दिया, जबकि ऐसा करना सर्वथा अवांछनीय था, क्योंकि उक्त दोनों वाक्यांश ऋषि ने अपने हाथ से लिखे हैं। **श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती** ने भी प्रथम स्थान पर इनका अनुकरण किया। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने ''**विवेक है**'' पाठ को पहले वाक्य के साथ जोड़कर तथा उसको बदलकर ''**वैराग्य है**'' कर दिया, इस तरह पाठ भ्रष्ट से और भ्रष्ट हो गया। **पं० मीमांसक जी** ने गलत ढंग से पाठक्रम भी बदल डाला। अगले विवेक की परिभाषा वाले तीन पंक्तियों के इस पाठ को यहां से उठाकर पहले साधन '**विवेक**' के वर्णन के अन्त में और इस दूसरे साधन से पूर्व, तथा तीन नये पाठों का बृ०कोष्ठक में परिवर्धन करके उनसे इस पाठ को जोड़ दिया तथा दावा भी कर दिया कि ''**इस भूल की ओर आज तक किसी सम्पादक का ध्यान नहीं गया।**''

इस पाठ को त्रुटिपूर्ण मानने की भूल दो कारणों से हुई है। **पहला**, पूर्णविराम चिह्न के अस्थान में लगने न लगने के कारण। **दूसरा,** ग्रन्थकार की शैली को न समझ पाने के कारण। पहले **स्वामी वेदानन्द जी** की यह धारणा बनी कि 'यहां पाठ में त्रुटि है और 'विवेक' के स्थान पर 'वैराग्य' प्रयोग होना चाहिए' और फिर यह अन्धपरम्परा विद्वानों में चल पड़ी।

यहां सम्पादकों के अब तक चार पक्ष बन गये हैं—१. द्वि०सं० और पं० भगवद्दत्त जी ने यथावत् पाठ रखा। २. स्वामी वेदानन्द जी ने बाद के दो ''विवेक'' पदों के स्थान पर ''वैराग्य'' कर दिया। इसका अनुकरण डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार और श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती और स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने किया। ३. मीमांसक जी ने दूसरे ''विवेक'' पद के स्थान पर ''वैराग्य'' पाठ बदला और बाद के पाठ को उठाकर पहले साधन के अन्त में जोड़ दिया। इनका अनुकरण स्वामी विद्यानन्द जी ने किया। ४. मूलप्रति सं० ने मूलह० के पाठ को मुद्रणह० के संशोधन के साथ स्वीकार किया। वही पाठ इस सं० में है। वस्तुस्थिति यह है—''**असत्याचरण का त्याग करना। विवेक यह है**---'' यह पाठ मूलहस्तलेख में है जिसमें कि ''**करना**'' क्रिया के बाद पूर्णविराम है। मुद्रण-प्रति में ठीक पाठ लिखा गया किन्तु उसमें यह त्रुटि रह गई कि पूर्णविराम त्रुटित छोड़ दिया। फिर किसी शोधक ने ''**यह**'' पद को काट दिया। बस, यहीं से पाठभ्रान्ति शुरू हो गई। शोधक ने यह समझकर '**यह**' पद को काटा कि ''**विवेक यह है**'' पदों की संगति पूर्व वाक्य के साथ है, जबकि इनकी संगति अग्रिम वाक्य के साथ है। अब यह वाक्य बन गया—''**असत्याचरण का त्याग करना विवेक है**''। फिर कुछ सम्पादकों ने ''**विवेक है**'' के बाद पूर्ण विराम लगा दिया, कुछ ने बिना विरामचिह्न के ''**विवेक है**'' की संगति पूर्व वाक्य के साथ समझ ली। फिर सम्पादकों को इस पाठ में यह गड़बड लगी कि जब दूसरा साधन '**वैराग्य**' वर्णित है, तो उपसंहार में उसको ''**विवेक है**'' कहना अपपाठ है। उन्होंने यहां वैराग्य का प्रसंग देखकर ''**वैराग्य**'' पद बदल दिया। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इसी भ्रान्ति से यहां ''**वैराग्य**'' पद बदलकर अग्रिम विवेक-विषयक पाठ को यहां से उठाकर ऊपर पहले साधन के अन्त में ले जाकर जोड़ दिया। **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** ने भी पूर्वापर संगति को न समझकर दोनों पदों की पर्यायवाचिता को सिद्ध करने में दो पृष्ठ लिख डाले।

मूलहस्तलेख में महर्षि ने इस पाठभ्रान्ति का समाधान दे दिया है, मूलप्रति सं० में ठीक पाठ है, उससे पाठ-सम्बन्धी सारा भ्रम दूर हो गया है—''**असत्याचरण का त्याग करना।**'' यहां सही स्थान पर पूर्ण विराम है। यहां तक दूसरे साधन ''**वैराग्य**'' की परिभाषा की है। आगे ''**विवेक यह है**'' यहां से 'विवेक' पद की व्याख्या है। अब प्रश्न उठता है कि यहां '**विवेक**' की व्याख्या क्यों है? तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि महर्षि ने वैराग्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—''**जो विवेक से.....जाना हो**'', तो उसी के क्रमानुसार पहले वैराग्य की परिभाषा करके फिर उस '**विवेक**' की परिभाषा की है। उस विवेक-ज्ञान पर '**वैराग्य**' को आधारित बताया है। वैराग्य, विवेक पर आधारित है, इसका कथन महर्षि ने अन्यत्र भी किया है—''**विवेक के विना न वैराग्य और वैराग्य के विना विज्ञान, विज्ञान के विना शान्ति नहीं होती।**'' (समु० ११, पृ० ५९५/४)

दूसरा कारण है महर्षि की वर्णन शैली को न समझना। पहले मैं विद्वानों और पाठकों को लेखन के यथार्थ से अवगत करा दूं। ''**विवेक**'' के स्थान पर ''**वैराग्य**'' पाठ बदलने के पक्षधर विद्वान् यह जान लें कि 'विवेक' की परिभाषा के पूर्व ''**विवेक यह है**'' और वाक्यान्त में ''**विवेक कहाता है**'' पाठ मूलह० में **महर्षि ने अपने हाथ से त्रुटित का चिह्न लगाकर पंक्ति के ऊपर लिखे हैं।** ऐसा अनुमान है कि एक बार शोधन करते समय पहला पाठ लिखा गया और दूसरी बार शोधन करते समय अन्त का पाठ लिखा गया। यही पाठ यथावत् मुद्रणहस्त० में है। वहां निरीक्षण करते हुए महर्षि ने वाक्यान्त में ''**विवेक कहाता है**'' से पूर्व एक वाक्यांश अपने हाथ से फिर जोड़ा है—''**सृष्टि से उपकार लेना**''। यदि ऋषि को यहां ''**वैराग्य**'' पाठान्तर अभीष्ट होता तो क्या इतनी बार के निरीक्षण में भी उन्हें त्रुटि का ध्यान न आता? यह प्रयोग तो आज भी हिन्दी में चलता है—''**देखो, विवेक से काम लेना**'' आदि। इस प्रकार '**काम लेना**' भी विवेक है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि विद्वान् सम्पादक इसको वैराग्य की परिभाषा क्यों मान रहे हैं? वे समझते हैं कि जो यहां 'पदार्थों को जानकर परमेश्वर की आज्ञापालन करना' आदि कहा है, वह वैराग्य के अन्तर्गत है। मैं समझता हूँ कि ऋषि ने इसको 'जानकर ऐसा निश्चय करना' रूप बौद्धिक स्तरीय विवेक के अन्तर्गत माना है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो यह शंका उठेगी कि ऋषि के स्वहस्त से लिखित ''**सृष्टि से उपकार लेना**'' वैराग्य के अन्तर्गत कैसे आयेगा? यह स्पष्टत: 'विवेक' का विषय है।

अब पाठक्रम पर विचार करते हैं। मैं समझता हूं कि सम्पादकों ने अपनी कल्पना से मुक्ति के पहले साधन को जो '**विवेक**' शीर्षक दिया है उसके कारण पाठ के क्रम में संदेह उत्पन्न हुआ है। महर्षि के शब्दों के अनुसार पहले साधन का शीर्षक बनेगा—'विवेक से सत्यासत्य आदि का निर्णय और पंचकोषादि का विवेचन'। यह साधन विवेक पर आधारित है। दूसरा साधन 'वैराग्य' भी विवेक पर आधारित है। दोनों विवेकाधारित साधनों के वर्णन के उपरान्त महर्षि बताते हैं कि उस 'विवेक' की परिभाषा क्या है। **यहां तक कहीं भी विवेक की परिभाषा नहीं कही है, तभी अन्त में विवेक की परिभाषा दी है।** यह परिभाषा दो स्थानों पर ही संगत कही जा सकती है। या तो पहले साधन के आरम्भ में ''विवेक'' पद के उल्लेख के साथ, अथवा 'वैराग्य' के वर्णन में 'विवेक' के उल्लेख के बाद। महर्षि ने उस परिभाषा का अन्त में उल्लेख करना उचित समझा है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** द्वारा रखे गये स्थल पर तो इस पाठ की कोई भी संगति नहीं बनती। यही कारण है कि अनुच्छेद को उठाकर ऊपर जोड़ने के लिए पं० जी को आदि-अन्त में अपनी ओरसे पाठ परिवर्धन के दो पैबन्द लगाकर इसको जोड़ना पड़ा। यदि सहज संगति स्वयं होती तो उन्हें ये जोड़ कल्पित न करने पड़ते। पाठकगण! देखा आपने, एक पद के हटा देने से और एक विरामचिह्न के न लगाने से या अस्थान में लगाने से भ्रान्ति का कितना बड़ा बवंडर सम्पादकों में खड़ा हो गया?

[३] तत्पश्चात् **तीसरा साधन**—'**षट्क सम्पत्ति**' अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना। **एक**—'**शम**'=जिससे अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर,[१] धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। **दूसरा**—'**दम**'=जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर,[२] जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। **तीसरा**—'**उपरति**'=जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना। **चौथा**—'**तितिक्षा**'=चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़, मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना। **पाँचवाँ**—'**श्रद्धा**'=जो वेदादि सत्य-शास्त्रों और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान्, सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। **छठा**—'**समाधान**'=चित्त की एकाग्रता। ये छः मिलकर एक साधन तीसरा कहाता है।

[४] **चौथा [साधन]**—'**मुमुक्षुत्व**' अर्थात् जैसे क्षुधा-तृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के, दूसरे में प्रीति न होना।[३] **ये चार साधन हैं।**

और **चार** '**अनुबन्ध**' अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं—

[**प्रथम, अधिकारी**—] इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का '**अधिकारी**' होता है। दूसरा, '**सम्बन्ध**'—ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादि-शास्त्र-प्रतिपादक को यथावत् समझकर अन्वित करना।[४] तीसरा, '**विषय**'[५]—सब शास्त्रों का प्रतिपादन-विषय ब्रह्म और उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम विषयी है। चौथा, '**प्रयोजन**'—सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति-सुख का होना। ये चार '**अनुबन्ध**' कहाते हैं।

तदनन्तर '**श्रवणचतुष्टय**'—एक '**श्रवण**'—जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब शान्त [हो],[६] ध्यान देकर सुनना। विशेषतः[७] '**ब्रह्मविद्या**' के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये, क्योंकि[८] यह सब विद्याओं में[९] सूक्ष्म विद्या है। [उसको] सुनकर, दूसरा '**मनन**'—एकान्त में[१०] बैठके सुने हुए का विचार करना, जिस बात में शङ्का हो [उसको][११] पुनः पूछना, और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना। तीसरा '**निदिध्यासन**'—जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह हो जाय तब समाधिस्थ होकर उस बात को ध्यान-योग से[१२] देखना-समझना कि वह जैसा

१-२. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में दोनों स्थलों पर ''**हठाकर**'' अप-क्रिया प्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—''**समाधान.....प्रीति न होना**'' मुद्रणह० में ऋषि द्वारा संशोधित पाठ है। मूलह० में ''**और चार.....होते हैं**'' यह परिवर्धित है। **विना**=उसके सिवाय किसी दूसरे पदार्थ में प्रीति न होना।

४. **अन्वित करना**=सम्बद्ध करके तदनुसार आचरण करना।

५. **उचित प्रयोग**—यहां ''**विषयी**'' के स्थान पर ''**विषय**'' शीर्षक अपेक्षित है।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**हो**' क्रिया त्रुटित है।

७-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**विशेष**'' अपप्रयोग है '**विशेषतः**' अपेक्षित है। सभी पाठों में ''**क्यों**'' पद त्रुटित होने से ''**कि**'' अपप्रयोग है। मूलप्रति सं० में ''**में से**'' अपप्रयोग है, '**में**' ठीक है। द्वि० सं० में संशोधित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां लिपिकर ने ''**एकान्त देश में**'' व्यर्थ पाठान्तर किया है।

११-१२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित ऋषिलेख व त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**उसको**' पद अपेक्षित है। मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**ध्यान-योग से**'' ऋषिहस्तलेख त्रुटित है। सभी द्वि०सं० में भी त्रुटित है।

सुना या विचारा था, वैसा है वा नहीं। चौथा '**साक्षात्कार**'—अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो, वैसा यथातथ्य[१] से जान लेना। यह[२] '**श्रवणचतुष्टय**' कहाता है।

[**अन्य साधन**—][३] सदा '**तमोगुण**' अर्थात् क्रोध, मलिनता,[४] आलस्य, प्रमाद, आदि; '**रजोगुण**' अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके '**सत्त्व**' अर्थात् शान्त प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचारशीलता[५] आदि गुणों को धारण करे।

[''मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणाम्०''] [योगदर्शन १।३३][६]

(मैत्री) सुखी जनों से मित्रता, **(करुणा)** दुःखी जनों पर दया, **(मुदिता)** पुण्यात्माओं से हर्षित होना, **(उपेक्षा)** दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना।

नित्यप्रति न्यून से न्यून दो घण्टा-पर्यन्त मुमुक्षु[७] ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।[८]

देखो, अपने[९] चेतनस्वरूप हैं; इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं; क्योंकि जब मन शान्त, चञ्चल, आनन्दित वा विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं। वैसे ही इन्द्रियों, प्राणों[१०] आदि के[११] ज्ञाता, पूर्वदृष्ट[१२] के स्मरणकर्त्ता[१३] और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता[१४], धारण-आकर्षण-कर्त्ता[१५] और सबसे पृथक् हैं। जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्र कर्त्ता, इनके प्रेरक, अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।[१६]

---

१. '**यथातथ्य**' **प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**यथातथ्य**' प्रयोग है, संस्कृत की दृष्टि से '**याथातथ्यः**' अभीष्ट है। शुद्ध प्रयोग पृ० ३६२ पर देखें। हिन्दी में 'यथातथ्य' भी प्रचलित है। पृ० १२ पर यही प्रयोग है।

२. **अपपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० के ''**यह**'' पद के स्थान पर द्वि०सं० में ''**ही**'' पाठ बनाना अनुपयुक्त होने से अग्राह्य है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—प्रकरण की स्पष्टता के लिए दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां कोष्ठकान्तर्गत पाठ उपयोगी है।

४-५. **अपप्रयोग**—ग्रन्थ में कहीं ''**मलिनता**'' तो कहीं ''**मलीनता**'' प्रयोग है, शुद्धता, मानकता और एकरूपता की दृष्टि से द्वि० सं० में यहां ''**मलिनता**'' ग्राह्य है, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। दूसरे स्थल पर दोनों हस्त० और तीनों सं० ''**विचार**'' के स्थान पर ''**विचारशीलता**'' पाठ अपेक्षित है।

६. **मूललिपिकर द्वारा त्रुटित सूत्र**—प्रतीत होता है कि मूल-लिपिकर की शीघ्रता से यहां **योगदर्शन** का सूत्र लिखना छूट गया है। पश्चात् सभी पाठों में त्रुटित रह गया। आगे सूत्र के पद कोष्ठक में देकर उनका एक-एक का अर्थ दिया हुआ है जो इस बात का बोधक है कि स्वामी जी को सूत्र देना अभीष्ट था और वह अवश्य बोला भी होगा किन्तु लिपिकर से शीघ्रता में छूट गया। बाद में उसे लिखना याद नहीं रहा। निर्धारित नीति के अनुसार मूलसूत्र दे दिया है क्योंकि अर्थ उपलब्ध है।

७. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**मुमुक्षू**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

८. **उपासना-अवधि का अन्यत्र-वर्णन**—प्रतिदिन की उपासना से सम्बन्धित ब्रह्मचर्याश्रम-विषयक निर्देश तीसरे समु० में पृ० ८८/२ पर भी द्रष्टव्य है। ब्रह्मचारी के लिए न्यून से 'एक घंटा' और मुमुक्षु के लिए 'दो घंटा' समय संध्योपासन के लिए विहित है।

९. **अपने** अर्थात् हम जीवात्मा।

१०-१३. **अपप्रयोग एवं अव्यवस्थित प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**इन्द्रिय**' '**प्राण**' एकवचनात्मक पाठ हैं, बहुवचनात्मक '**इन्द्रियों**' '**प्राणों**' अपेक्षित हैं। इस प्रकार दोनों हस्त० और तीनों सं० में कहीं ''**का**'' तो कहीं ''**के**'' प्रत्यय होने के कारण प्रयोग की अव्यवस्था है। बहुवचनात्मक शैली होने के कारण सभी स्थलों पर '**के**' विभक्ति-प्रत्यय कर दिया है। मुद्रणह० और द्विप्र० में ''**करता**'' अपप्रयोग है, द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। अधिकांश अशुद्धियां सभी सं० में विद्यमान हैं।

१४. **अनेक पदार्थों के वेत्ता**—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अतः वह अनेक ज्ञानों को अर्जित करके उनको जानता है। मन एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त करता है।

१५. **ऋषिहस्तलेख**—''**चेतनस्वरूप.....**'' ''**पूर्वदृष्ट के....आकर्षणकर्त्ता**'' तक दोनों पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में हैं।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। योगशास्त्रे पाद २। सू० ३॥

इनमें से '**अविद्या**' का स्वरूप कह आये।[१] पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना '**अस्मिता**',[२] सुख में प्रीति '**राग**', दुःख में अप्रीति '**द्वेष**', और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है [कि][३] 'मैं सदा शरीरस्थ रहूं, मरूं नहीं', इस[४] मृत्यु-दुःख से त्रास '**अभिनिवेश**' कहाता है। **इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास और विज्ञान से छुड़ाके,[५] ब्रह्म को प्राप्त होके, मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये।[६]**

प्रश्न—जैसी मुक्ति आप मानते हैं, वैसी अन्य कोई नहीं मानता। देखो, जैनी लोग मोक्षशिला और शिवपुर में जाके चुप-चाप बैठे रहना; ईसाई चौथे[७] आसमान,[८] जिसमें विवाह, लड़ाई [होना], बाजे-गाजे, वस्त्रादि-धारण से आनन्द भोगना[९]; वैसे ही मुसलमान सातवें आसमान; वाममार्गी श्रीपुर; शैव कैलाश; वैष्णव[१०] वैकुण्ठ और गोकुलिये गोसांई गोलोक आदि में जाकर उत्तम स्त्री, अन्न, पान, वस्त्र, स्थान आदि को प्राप्त होकर आनन्द में रहने को मुक्ति मानते हैं। पौराणिक लोग **सालोक्य**=ईश्वर के लोक में निवास, **सानुज्य**=छोटे भाई के सदृश ईश्वर के साथ रहना, [वा] सारूप्य=जैसी उपासनीय देव की आकृति है, वैसा बन जाना, **सामीप्य**=सेवक के समान ईश्वर के समीप रहना, **सायुज्य**=ईश्वर से संयुक्त हो जाना; ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं।[११] वेदान्ती[१२] लोग ब्रह्म में लय होने को मोक्ष समझते हैं।

---

१६. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्वि०प्र० व मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**इनका प्रेरक, अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।**" द्वि०सं० में इसका संशोधन कर दिया है।

१. **अन्यत्रवर्णित**—अविद्या का स्वरूप पृ० ४२७-४२८ पर द्रष्टव्य है।

२. **मुद्रणप्रति में भ्रष्टपाठ**—मूलह० में अर्थ में यहां कोई भी सूत्रोक्त पद का उल्लेख नहीं है। मुद्रणह० में यहां अशुद्ध पद "**अभिनिवेश**" लिखे जाने से यह भ्रष्टपाठ बन गया—"**आत्मा से भिन्न न समझना अभिनिवेश**"। यही भ्रष्ट पद द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी ने एकमत से संशोधन कर लिया है।

३,४. **त्रुटित आवश्यक पद**—मूलप्रति सं० में '**कि**' और द्वि०सं० में "**इस**" पद त्रुटित है। सही रचना के लिए दोनों चाहिएं।

५,७. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**छुड़ा देने पर**" अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**छुड़ाके**" संशोधित है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**चौथा आसमान**" अप-प्रयोग है, '**चौथे आसमान**' उपयुक्त प्रयोग है। यह वेस में संशोधित है किन्तु युमी, जग, भद, उदयपुर सं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है पृ० ४५७/१८ में।

६. **ऋषिहस्तलेख**—"**अविद्याऽस्मिता.....भोगना चाहिये**" तक पाठ मूलप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

८. **अन्यत्र वर्णन**—चौथे आसमान सम्बन्धी मान्यता के लिए समु० १३ में पृ० ८४८ पर आयत द्रष्टव्य है।

९. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**जिसमें विवाह.....आनन्द भोगना वैसे ही**" तक पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में है।

१०. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**वैष्णव**" पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है।

११. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुक्तियों में परस्परविरोध और उसकी संगति**—इस विसंगति का समाधान प्रथम वार प्रस्तुत किया गया है। इस अनुच्छेद में मुद्रणलिपिकर और शोधक की घोर त्रुटि है, क्योंकि उल्लेख पांच मुक्तियों का है किन्तु गणना में उनको '**चार**' कहा गया है। इस अनुच्छेद का पृ० ४५७ पर वर्णित चार मुक्तियों के कथन से भी परस्परविरोध है। लिपिकर और आदि-सम्पादक का यह भी कर्त्तव्य था कि वह सम्पादन करते समय इस विरोध पर ध्यान देता और दूर करता-कराता। पाठक देखें कि वेतनभोगी शोधकों और आदि-सम्पादकों ने कैसी-कैसी घोर लापरवाही की है। एक बालक भी जिस अशुद्धि को पकड़ लेता है, उसको शोधकों और आदि-सम्पादकों ने नहीं पकड़ा। इससे उनकी मक्कारी का पता चल जाता है। यह पाठ द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, मूलसं०, उदयपुर आदि सब संस्करणों में परस्परविरोधी और भ्रष्ट है। स्पष्ट से स्पष्ट अशुद्धि होते हुए भी आज तक किसी ने इसको संशोधित नहीं किया।

पृ० ४५७ पर महर्षि ने '**सारूप्य**' का उल्लेख नहीं किया है। 'वेदविरुद्धमत खण्डन' पुस्तिका में भी '**सारूप्य**' से भिन्न चार मुक्तियों का उल्लेख किया है। महर्षि '**सानुज्य**' और '**सारूप्य**' को एक मानकर वर्णित करते हैं, क्योंकि दोनों में इष्टदेव के समान रूप या स्थिति के होने की समानता है (वेदविरुद्धमतखण्डन, पृ० २०, दयानन्द लघु ग्रन्थ संग्रह)। पौराणिकों के वर्णनों में इस मुक्ति का कहीं '**सारूप्य**'=ईश्वर के छोटे भाई के सदृश स्वरूप होना, कहीं '**सानुज्य**'=ईश्वर के समान रूप होना, कहीं '**सार्ष्टि**'=ईश्वर से समानता प्राप्त कर लेना, इन पर्यायनामों से उल्लेख किया गया है (द्रष्टव्य 'नारायण शतक', श्लोक ४३ की टीका, पृ० ३८, ३९)। अतः इन तीन पर्याय-नामों से वर्णित मुक्ति एक ही है, दो या तीन नहीं।

अशुद्धि का कारण और समाधान—मूल-हस्तलेख के पाठ को देखने से ज्ञात हुआ है कि महर्षि ने चार मुक्तियों के नाम कोष्ठक में रखकर उनका अर्थ दिया है, वे हैं—**सालोक्य, सानुज्य, सामीप्य** और **सायुज्य**। '**सारूप्य**' को बिना कोष्ठक के लिखवाया है अर्थात् 'सारूप्य' को 'सानुज्य' की व्याख्या में पर्याय रूप में एक ही मुक्ति मानकर वर्णित किया है। '**उपदेश मंजरी**' में '**सानुज्य**' के स्थान पर '**सारूप्य**' का प्रयोग है जो यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार इनको पर्याय मानते हैं। यह इस समीक्षा का पोषक प्रमाण है [पृ० ९६, उपदेश १४)। अब इस संस्करण में स्पष्टता के लिए दोनों के मध्य बृहत् कोष्ठक में '**वा**' पद रख दिया है। इस प्रकार प्रथम बार इसका पांडुलिपि से प्रमाणित शुद्ध-स्पष्ट समाधान प्राप्त हुआ है।

यह गड़बड़ **मुद्रणलिपिकर** ने की है। मुद्रणलिपिकर ने जब प्रतिलिपि की, तो अपनी मूर्खता से '**सारूप्य**' को भी कोष्ठक में रख दिया और इस प्रकार कोष्ठक में **पांच मुक्तियों** के नाम हो गये। यह देखा ही नहीं कि यहां महर्षि ने '**चार मुक्तियां**' शब्द लिखवाया है और अग्रिम अनुच्छेद में भी '**चार मुक्तियों**' के नाम हैं। इतनी सीमित-बुद्धि के लिपिकरों-शोधकों से महर्षि का पाला पड़ा था। आज भी हम उनके द्वारा उत्पन्न की गई ऐसी विकृतियों और समस्याओं को झेल रहे हैं। एक महान् ऋषि के महान् ग्रन्थ को उन्होंने स्तरहीन बना दिया है। हमारे अन्दर भी कुछ आग्रही बुद्धि के लोग, यहां तक कि कुछ विद्वान् भी ऐसे हो गये हैं जो लिपिकरों-शोधकों द्वारा उत्पन्न त्रुटियों को भ्रान्ति से महर्षि का अमृत-प्रसाद मानकर उनको संरक्षित रखने का हठ करने में विद्वत्ता और गौरव समझते हैं। यही कारण है कि सवा-सौ से अधिक वर्ष बीत जाने के उपरान्त भी हम सिद्ध-स्पष्ट त्रुटियों को भी दूर नहीं कर पाये हैं!! क्या ऐसी हास्यास्पद त्रुटियों को संरक्षित करके ही हम ऋषि का नाम रोशन करेंगे? और क्या इसी प्रकार ऋषि-ऋण चुकायेंगे? कैसे अनुयायी हैं हम जो त्रुटि रूप कलंक को चन्दन-लेप मान बैठे हैं!!

उदयपुर सं० का परस्परविरुद्ध और वितण्डापूर्ण उत्तर—इस परस्परविरोधी स्थल की ओर, एक लेख के माध्यम से मैंने ध्यान खींचा। उदयपुर सं० के लेखकों को इस स्पष्ट-सिद्ध त्रुटि को स्वीकार कर सुधारने का आश्वासन देना चाहिए था किन्तु इस स्पष्ट त्रुटिमय पाठ पर भी चार लेखकों का परस्परविरोधी उत्तर मिला है और एक-दो ने इस पर भी वितण्डा किया है। **पहले लेखक** मुझे कहते हैं कि ''ध्यान से पढ़ा करें.....इन पांचों में सारूप्य नाम की कोई मुक्ति नहीं है।'' मैं कहता हूं कि लेखक महोदय! आप अपने संस्करण को ध्यान से पढ़िये आपने कोष्ठक में और बोल्ड=काले-मोटे अक्षरों में पांच मुक्तियों के नाम छाप रखे हैं। यदि अब चार मुक्तियां मान रहे हैं तो कोष्ठक और काले-मोटे अक्षरों में पांच नामों की सूची क्यों है? आपने आज तक तो कहीं टिप्पणी आदि में यह नहीं कहा कि 'सारूप्य' नाम की कोई मुक्ति नहीं है। यह तो आप आज पहली बार कह रहे हैं। और हां, आपके **तीसरे** और **चौथे** सहलेखक इस स्थल को संशोध्य मान रहे हैं। **दूसरे लेखक** ने इसका उत्तर नहीं दिया है। चौथे लेखक ने घुमा-फिराकर इस अशुद्धि को माना किन्तु अपना अहंकार-प्रदर्शन भी किया और मेरी निन्दा भी की। जब अशुद्धि को स्वीकार कर रहे हैं तो निन्दा करने का औचित्य ही नहीं था, पर ''**स्वभावो दुरतिक्रमः**'', संस्कार अपने-अपने। मैंने लिखा था कि 'यह इतनी सामान्य और सिद्ध अशुद्धि है कि इसको स्कूल का एक बालक भी पकड़ लेता है और समाधान पूछता है।' इस पर यह लेखक वितण्डा करता है—''आपको सिवाय स्कूल के कुछ दिखाई नहीं देता। वही बच्चों वाली बुद्धि।'' पाठक देखें कि यहां उनकी यह टिप्पणी कितनी बचकानी है। पहली बात तो यह है कि इस मूर्तिमान् अज्ञानी को यही ज्ञान नहीं है कि मेरा किसी स्कूल से न कभी सम्बन्ध रहा और न है। दूसरी बात यह है कि यदि बच्चों का उदाहरण देने से 'बच्चों वाली बुद्धि' कहाती है तो आप तो अपने लेखों में प्रतिपक्षी लेखकों पर कटाक्ष करने के लिए कीटों और पशुओं के उदाहरण रुचि लेकर और बहुत देते हैं, तो क्या अपकी 'पशुओं वाली बुद्धि' मानी जाये? इस लेखक को स्वयं यही ज्ञान नहीं रहता कि उसे क्या कहना चाहिए, और क्या नहीं। अनुमान लगा लें कि स्वयं को आर्यलेखक कहने वाले ये महानुभाव कितने असभ्यता से ग्रस्त हैं। मिथ्या-अहंकारी और असभ्य लोगों की रुचि दूसरों की निन्दा और कलह में अधिक रहा करती है। इसी कारण उनको भाषा, विद्या और सभ्यता नहीं आती।

इस विवरण-विवेचन से यह सिद्ध हो रहा है कि उदयपुर सं० के सम्पादन में सभी सम्पादकों का एकमत या विमत नहीं है, अतः यह संस्करण दश-विद्वानों का सम्पादन भी नहीं है। इसमें दश विद्वानों के नाम का आडम्बर रचा गया है।

१२. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**वेदान्ति**'' अपवर्तनी है। आश्चर्य यह है कि द्वि०सं० में अभी तक यही अशुद्ध वर्तनी छप रही है। मूलसं० में संशोधित है।

उत्तर—जैनियों की बारहवें, ईसाइयों की तेरहवें[१] और चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि का विषय विशेषकर लिखेंगे। जो वाममार्गी श्रीपुर में जाकर लक्ष्मी के सदृश स्त्रियाँ, [प्राप्त होना][२] मद्य-मांसादि खाना-पीना, रंग-राग भोग करना मानते हैं, वह यहाँ से कुछ विशेष नहीं। वैसे ही महादेव और विष्णु के सदृश आकृतिवाले [तथा][३] पार्वती और लक्ष्मी के सदृश स्त्रीयुक्त होकर आनन्द भोगना [आदि को मुक्ति मानते हैं। वे][४] यहां के धनाढ्य राजाओं से अधिक इतना ही लिखते हैं कि 'वहां रोग न होंगे और युवावस्था रहेगी'। यह उनकी बात मिथ्या है; क्योंकि जहां भोग वहां रोग, जहां रोग वहाँ वृद्धावस्था अवश्य होती है।

और पौराणिकों से पूछना चाहिये कि जैसी तुम्हारी चार प्रकार की मुक्ति है, वैसी तो कृमि-कीट-पतङ्ग-पश्वादिकों की भी स्वत:सिद्ध [और] प्राप्त है; क्योंकि ये जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के हैं, इन्हीं में सब जीव रहते हैं, इसलिये '**सालोक्य**' मुक्ति अनायास प्राप्त है। '**सामीप्य**'—ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिये 'सामीप्य' मुक्ति स्वत:सिद्ध है। '**सानुज्य**'—जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वत: बन्धुवत् है, इससे 'सानुज्य' मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध है। और सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं, इससे '**सायुज्य**' मुक्ति भी स्वत:सिद्ध है।

और जो अन्य साधारण 'नास्तिक लोग' मरने पर तत्त्वों में तत्त्व मिलने को[५] मुक्ति मानते हैं, वह तो कुत्ते, गधे आदि को भी प्राप्त है।

ये मुक्तियां नहीं है किन्तु एक प्रकार का बन्धन है; क्योंकि ये लोग शिवपुर, मोक्षशिला, चौथे आसमान, सातवें आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक को एकदेश में स्थान-विशेष मानते हैं। जो वे उन स्थानों से पृथक् हों, तो मुक्ति छूट जाय। इसीलिये जैसे '**बारह पत्थर के भीतर दृष्टिबन्ध**'[६] होते हैं, उसके समान बन्धन में होंगे। **मुक्ति तो यही है कि जहां इच्छा हो वहां विचरे, कहीं अटके नहीं, न भय, न शङ्का, न दु:ख होता है।** जो जन्म है वह 'उत्पत्ति' और मरना 'प्रलय' कहा है। समय पर [पुन:] जन्म लेते हैं।[७]

प्रश्न—जन्म एक है वा अनेक?

उत्तर—अनेक।

---

१. **भ्रष्ट वाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह रचनात्मक अपवाक्य है—"**जैनी बारहवें, ईसाई तेरहवें..... मुक्ति आदि का विषय विशेषकर लिखेंगे।**" प्रत्येक संख्यात्मक शब्द से पूर्व १२, १३, १४ संख्या भी अनावश्यक है, जो पठन में भ्रम उत्पन्न करती है। लिपिकर ने इनको व्यर्थ लिखा है। यह केवल आर्थिक विषयों में उपयोगी है। इस सं० में संशोधित कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी सं० में यही भ्रष्ट भाषा है।

२-४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठान्तर्गत पाठ त्रुटित हैं। इनके परिवर्धन के बिना न तो वाक्यों में संगति बन रही है और न अर्थ की स्पष्टता हो रही है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**लोग मरने से तत्त्वों में तत्त्व मिलकर मुक्ति मानते हैं**" यह अपवाक्य है। यहाँ संशोधित कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में यही अपवाक्य है। **साधारण व्यक्ति**=चार्वाक आदि।

६. **मुहावरे का अर्थ**—नगर की सीमा में नज़रबन्द होना, अर्थात् एक नगर या एक स्थान के बन्धन में रहना।

७. **समय पर जन्म लेना**—अर्थात् मुक्ति में '**परान्तकाल**' तक सुख भोगकर पुन: जन्म लेते हैं। द्रष्टव्य टिप्पणी पृ० ४४५ पर। दोनों सं० में यहां कोष्ठकान्तर्गत '**पुन:**' पद का परिवर्धन संगति के लिए अत्यावश्यक है।

प्रश्न—जो अनेक हों, तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं?

उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिये स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला, पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं, उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और जाग्रत[१] वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, तब जाग्रतादि के व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता? और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष से पूर्व तेरहवें वर्ष के पाँचवें महीने के नवमे दिन दस बजे पर पहली मिनट में तुमने क्या किया था? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, शरीर किस ओर, किस प्रकार का था? और मन में क्या विचार था? जब इसी शरीर में ऐसा है, तो पूर्व-जन्म की बातों के स्मरण में शङ्का करना[२] केवल लड़केपन की बात है।

और जो स्मरण नहीं होता है, इसी से जीव सुखी है; नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देखकर दुःखित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान[३] को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता; क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। **यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।**

प्रश्न—जब जीवों[४] को पूर्व [किये पापों][५] का ज्ञान नहीं और ईश्वर उनको[६] दण्ड देता है, तो जीवों[७] का सुधार नहीं हो सकता; क्योंकि यदि उनके पापकर्मों को जनाकर दण्ड देवे [अर्थात्][८] उनको ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था, उसी का यह फल है, तभी वे[९] जीव उन बुरे कर्मों से बच सकें।[१०]

उत्तर—तुम ज्ञान कै प्रकार का मानते हो?

प्रश्न —प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का।

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जागृत**" अपप्रयोग है। इसी प्रकार "**शंका करनी**" के स्थान पर "**शंका करना**" प्रयोग ग्राह्य है।

३. **वर्तमान**=हाल, स्थिति।

४-८. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में संख्यांक ४, ७ पर "**जीव**" के स्थान पर '**जीवों**' बहुवचन अपेक्षित है। संख्यांक ६ पर "**इसको**" के स्थान पर "**उनको**" प्रयोग अपेक्षित है। संख्यांक ५ पर "**किये पापों**" परिवर्धन अपेक्षित है। संख्यांक ८ पर '**अर्थात्**' पाठसंयोजन के लिए मूलप्रति सं० में परिवर्धित है। वह ग्राह्य है।

९. **ऋषिहस्तलेख**—"**उनको ज्ञान हो....तभी वे**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से पुनः अपपाठपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर यहां फिर अपनी लीला कर गया। मूल-हस्तलेख में महर्षिप्रोक्त यह पाठ है—"**क्योंकि जब उनके पापकर्मों को जनाकर दण्ड देवे तो पुनः जीव उन बुरे कर्मों से बच सकें**"। मुद्रण-लिपिकर ने इस पाठ को यों लिखा—"**क्योंकि जब उनके पाप कर्मों से बच सकें**"। पहले "**कर्मों**" पद के बाद का सारा पाठ छोड़कर दूसरे "**कर्मों**" पद के बाद का पाठ ग्रहण कर उक्त प्रमत्त वाक्य बना दिया। ग्रन्थकार ने निरीक्षण करते समय इस वाक्य को देखा तो अनुमान से संगति लगाकर बगल में अपने लेख से यह वाक्य बनाया—"**क्योंकि जब उनको ज्ञान हो कि हमने फलाना काम किया था उसी का यह फल है तभी वे पापकर्मों से बच सकें**"। प्रकाशन समय में '**फलाना**' के स्थान पर '**अमुक**' हिन्दी रूप कर दिया। यही वाक्य द्विप्र०, द्वि०सं० में छप रहा है। मूलप्रति सं० में यह समस्या आई कि अब क्या किया जाये? क्योंकि दोनों ऋषि वाक्य हैं तो सम्पादक ने मूलहस्तलेख के पाठ के बाद अपनी ओर से "**अर्थात्**" पद बढ़ाकर दोनों हस्तलेखों के पाठों का तालमेल कर दिया। इस प्रकार एक तीसरे पाठ का निर्माण हो गया। मूलप्रति सं० का वही पाठ ऊपर गृहीत है।

उत्तर —तो[१] तुम जन्म से लेकर समय-समय में [प्राप्त][२] राज्य, धन, बुद्धि, विद्या, [तथा] दारिद्र्य, निर्बुद्धिता, मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्व-जन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते? जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो, उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता [है][३] और अवैद्य[४] नहीं जान सकता। उसने **'वैद्यकविद्या'** पढ़ी है और दूसरे ने नहीं। परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझसे कोई कुपथ्य हो गया है, जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में सुख-दुःख आदि की विचित्र[५] घटती-बढ़ती देखके पूर्वजन्म को[६] अनुमान से क्यों नहीं जान लेते?[७] और जो पूर्वजन्म को न मानोगे, तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है; क्योंकि विना पाप के दारिद्र्यादि दुःख और विना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और बुद्धि उसको क्यों दी?[८] और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।

प्रश्न—एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है। जैसे, सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय। जैसे, माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता, उखाड़ता और किसी

---

१. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**तो**'' पद के पश्चात् ''**जब**'' निरर्थक पद है, जो अग्राह्य है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रमशः '**प्राप्त**' और ''**है**'' क्रियापद होने अपेक्षित हैं। इनके बिना संगत वाक्यरचना नहीं होती।

४. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**अविद्वान्**'' प्रयोग है। वैद्य के प्रसंगानुसार और ''**वैद्य**'' विपरीतार्थक का ''**अवैद्य**'' पद अपेक्षित है। प्रतीत होता है श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर ने ''**अविद्वान्**'' लिखा है। **संशोधन-पुष्टि**—पूर्वापर में कई बार ''**वैद्य**'' और ''**अवैद्य**'' पदों का ही प्रयोग हुआ है। आगे स्पष्ट किया है कि वैद्यक-विद्या न पढ़ने वाला ''**अवैद्य**'' होता है और वह भी कुपथ्य को जान लेता है।

५. **विचित्र कर्मगति**—ग्रन्थकार ने यहां कर्मों की ''**घटती-बढ़ती**'' को विचित्र और पृ० ४५८/१४ में दुर्ज्ञेया अर्थात् केवल ईश्वर के जानने योग्य कहा है। महर्षि व्यास भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं—''**कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति**'' (योगदर्शन २.१३ भाष्य)। यहां ''**विचित्र**'' अस्थान में है। यह ''घटती-बढ़ती'' का विशेषण होने से उसके पूर्व अपेक्षित है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**पूर्वजन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते**'' अथवा ''**पूर्व जन्म का अनुमान क्यों नहीं कर लेते**'' पाठरचना अशुद्ध है, उपर्युक्त उपयुक्त है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, चार पंक्ति पूर्व शुद्ध वाक्यरचना है—''**पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते?**''

७. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**वैसे ही जगत्.....जान लेते**'' तक पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित पाठ है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से गृहीत है।

८. **सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्टपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० तथा दोनों हस्तलेखों में यहां यह भ्रष्ट पाठ है—''**बिना पाप के दारिद्र्यादि दुःख और बिना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता उसको क्यों दी?**'' प्रतीत होता है कि श्रवणभ्रान्ति से यहां बुद्धि के स्थान पर ''**निर्बुद्धिता**'' असंगत पद लिखा गया है। क्योंकि, पूर्वजन्म को सिद्ध करने के लिए यहां दो पक्ष उपस्थित किये हैं—१. **पाप**, जिसके फल इस जन्म में दारिद्र्य आदि दुःख हैं, २. **पूर्वसञ्चित पुण्य** जिसके फल इस जन्म में राज्य, धनाढ्यता और बुद्धि हैं। तीसरा कोई पक्ष ही नहीं है जिसमें ''**निर्बुद्धिता**'' की स्थिति को मानें। और यह निश्चित है कि ''**निर्बुद्धिता**'' पुण्य का फल कदापि नहीं हो सकता, अतः पुण्य फलों के अन्तर्गत इसका परिगणन करना श्रवण-त्रुटि का परिणाम है। यदि हम यह कहें कि राज्य, धनाढ्यता आदि पुण्यफल के साथ ''**निर्बुद्धिता**'' का कर्म-वैचित्र्य प्रदर्शित किया है तो यह केवल कुतर्क ही है क्योंकि यहां वैचित्र्य प्रदर्शन का कोई प्रसंग ही नहीं है। ''**निर्बुद्धिता**'' को पुण्यफल मान लेगें तो ईश्वर पक्षपाती सिद्ध हो जायेगा जिसका कि ग्रन्थकार पहली और अगली ही पंक्ति में स्वयं निषेध कर रहे हैं।

संशोधन-पुष्टि—ठीक इसी भाव का कथन ऊपर प्रथम पंक्ति में है—''**समय-समय में [प्राप्त] राज्य, धन, बुद्धि, विद्या [तथा] दारिद्र्य, निर्बुद्धिता, मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते?**''। उससे इस पाठ को भलीभांति समझा जा सकता है जिसमें ''बुद्धि'' को सुख और ''निर्बुद्धि'' को दुःख कहा है। दुःख पुण्य का फल कभी नहीं होता। मूलसं०, जस, उदयपुर सं० में इस अशुद्धि को दूर कर लिया है किन्तु द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सं० में अभी भी यह विद्यमान है। मूलप्रति सं० में ''**निर्बुद्धिता**'' पद के स्थान पर 'बुद्धि' पद तथा उदयपुर सं० में ''बुद्धिमत्ता'' पद

की रक्षा करता, बढ़ाता है। जिसका जो वस्तु है, उसको वह चाहे जैसे रक्खे। उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं, जो उसको दण्ड दे सके, वा ईश्वर, [जो] किसी से डरे।

उत्तर—परमात्मा जिसलिये[१] न्याय चाहता [है, अतः] करता है;[२] अन्याय कभी नहीं करता। इसीलिये वह पूजनीय और बड़ा है। जो न्यायविरुद्ध करे, वह ईश्वर ही नहीं। जैसे माली युक्ति के विना, सड़क में अथवा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है, इसी प्रकार विना कारण के [अन्याय][३] करने से ईश्वर को दोष लगे। परमेश्वर के लिये न्याययुक्त काम करना आवश्यक है,[४] क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे तो जगत् के अश्रेष्ठ[५] न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में विना योग्यता के और विना उत्तम काम किये प्रतिष्ठा और दुष्ट काम किये विना दण्ड देनेवाला निन्दनीय [और][६] अप्रतिष्ठित नहीं होता? इसलिये ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसी से किसी से नहीं डरता।[७]

प्रश्न—परमात्मा ने प्रथम से ही जिसके लिये जितना देना विचारा है, उतना देता और जितना कम करना है, उतना कम करता है।[८]

उत्तर—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी और अन्यायकारी होवे।

प्रश्न—बड़ों और छोटों[९] को एक-सा ही सुख-दुःख है। बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी। जैसे, किसी साहूकार का विवाद राजघर में लाख रुपयों का हो, तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर

बदलकर इस पाठ को संशोधित कर लिया है। टिप्पणी में ऊपर उद्धृत ऋषिवाक्य के अनुसार यहां भी '**बुद्धि**' पद का प्रयोग अपेक्षित है, क्योंकि इसका प्रयोग स्वयं ऋषि ने इस प्रकरण में किया है। ऐसे भ्रष्ट, सिद्धान्तविरुद्ध वाक्यों के संशोधन पर भी जिन सम्पादकों का ध्यान सवा-सौ वर्षों तक नहीं गया, उनकी बुद्धि पर आश्चर्य ही किया जा सकता है।

१. **अग्राह्य वर्तनी**—द्वि० सं० में यहां '**लिए**' वर्तनी ऋषिकालीन नहीं है। हस्तलेखों में "**लिये**" है। वही ग्राह्य है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**न्याय चाहता कर्त्ता**" अशुद्ध वाक्य है। उपर्युक्त बृहत् कोष्ठक का संशोधन ग्राह्य है। द्वि०सं० और मूलसं० में "**करता**" संशोधन किया है। अन्य सभी सं० में वाक्य क्रियारहित है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अत्यन्त आवश्यक "**अन्याय**" पद त्रुटित है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य है—"**परमेश्वर के ऊपर न्याययुक्त काम करना अवश्य है**"। इसका उपर्युक्त पाठ ही उपयुक्त है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जगत् के श्रेष्ठ न्यायाधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे।**" भ्रष्ट पाठ है, यहां "**अश्रेष्ठ न्यायाधीश**" होना चाहिए, अन्यथा अर्थ की संगति नहीं बनती। यही भ्रष्ट पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में है। आश्चर्य है किसी भी विद्वान् सम्पादक ने इसके भ्रष्ट-अर्थ पर विचार नहीं किया!

पाठ-पुष्टि—अगले ही वाक्य में अन्याय करने वाले को निन्दनीय और अप्रतिष्ठित कहा है। वही आशय यहां है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**और**' पद अपेक्षित है, अन्यथा अवांछित भिन्नार्थ प्रकट होता है।

७. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**इसलिये ईश्वर.....नहीं डरता**" मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित पाठ है। वहीं से मूलप्रति सं० में गृहीत है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा बनाया भ्रष्टपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यह अपपाठ है—"**जितना काम करना है, उतना करता है।**" मूलसं० में शुद्ध है। यहां "**देना**" का विपरीतार्थक "**कम करना**" संगत है। "**काम करना**" प्रमत्तपाठ है। उदयपुर सं० में भी प्रमत्तपाठ है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बड़े-छोटों**" अपप्रयोग है, "**बड़ों और छोटों**" अपेक्षित है।

कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाजार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि—'देखो, पूर्वजन्म के पुण्य और पाप का प्रत्यक्ष[१] फल यही है कि एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है और दूसरे विना जूते पहरे ऊपर-नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठाकर ले जाते हैं।' परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते हैं कि जैसे-जैसे कचहरी निकट आती जाती है, वैसे-वैसे साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता और कहारों को आनन्द होता है। जब कचहरी में पहुंचते हैं तब सेठ जी इधर-उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् (=वकील) के पास जाऊं वा सरिश्तःदार[२] के पास? आज हारूंगा वा जीतूंगा, न जाने क्या होगा? और कहार लोग तमाखू पीते, और[३] प्रसन्न होकर आनन्द में सोते हैं। जो वह जीत जाये तो कुछ सुख और जो हार जाये तो सेठ जी दुःखसागर में डूब जायें[४] और वे कहार जैसे के तैसे रहते हैं।

इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल बिछौने पर सोता है[५] तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती और मजदूर कंकर, पत्थर, मिट्टी, और ऊंचे-नीचे स्थल पर सोता है, उसको झट निद्रा आती है। वैसे सर्वत्र समझ लो।

उत्तर—यह समझ अज्ञानियों की है। क्या किसी साहूकार से कहें कि 'तू कहार बन जा' और कहार से कहें कि 'तू साहूकार बन जा', तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं [चाहता][६] और कहार साहूकार बनना चाहता है।[७] जो सुख-दुःख बराबर होता तो अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच[८] और ऊँच बनना दोनों न चाहते?

देखो, एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता है और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। पहला जब जन्मता है, तब युक्ति से नाड़ी-छेदन,[९] सुन्दर-सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता है तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिये नौकर-चाकर, खिलौने, सवारी [होते हैं][१०] उत्तम स्थानों में लाड़ से

---

१. **मुद्रणप्रति में त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में महत्त्वपूर्ण "**प्रत्यक्ष**" पद त्रुटित छोड़ दिया।

२. **मुद्रणलिपिकर कृत त्रुटि**—मुद्रणह० में प्रमाद से "**रिस्तेदार**" लिखा है। **सरिश्तःदार**=विभागीय कर्मचारी होता है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**परस्पर बातें-चीतें करते हुए**" व्यर्थ पाठान्तर किया है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**सेठजी**" के सम्बन्ध से बहुवचनात्मक वाक्य चाहिए। सभी सं० में अपपाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**बिछौने में**' के स्थान पर "**बिछौने पर**" प्रयोग ठीक है। द्विप्र० में "**सोता है**" के स्थान पर "**होता है**" मुद्रणकालीन अपपाठ है। द्वि०सं०, वेस, भद, युमी में संशोधित है, जग, उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—सभी सं० में स्पष्ट वाक्यरचना के लिए बृ०कोष्ठक की क्रिया अपेक्षित है।

७. **अपपाठ**—सभी सं० में "**बनना चाहते हैं**" अपपाठ है। पूर्वोक्त "**तू**" के सम्बन्ध से एकवचन होगा।

८. **नीच-ऊंच**—महर्षि द्वारा यहां प्रयुक्त '**नीच**' और '**ऊंच**' शब्द इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि वे 'नीच' शब्द संस्कृत भाषा की शैली के अनुसार '**उच्च**' के विपरीतार्थ में करते हैं। '**नीच**' शब्द का वर्तमान वातावरण के अनुसार 'निन्दार्थक' अर्थ महर्षि की भाषा के सन्दर्भ में संगत नहीं है। यहां उच्च-निम्न स्थिति अर्थ है। (पृ० १६२ की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है)

९. **अपक्रम-पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पहले स्नान का कथन है पुनः नाड़ी-छेदन का, नाड़ी-छेदन का कथन स्नान से पूर्व आना चाहिए। इसके ज्ञान के लिए विस्तृत टिप्पणी द्वितीय समु० में पृ० ६० पर द्रष्टव्य है।

१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होते हैं**' क्रियापद त्रुटित हैं, वाक्यपूर्त्यर्थ आवश्यक हैं।

आनन्द होता है। दूसरे का जन्म जंगल में होता, स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता। जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घुरकाया[१] और घूंसा-थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है, कोई नहीं पूछता; इत्यादि। जीवों को विना पुण्य-पाप के सुख-दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है।

दूसरा, जैसे विना किये कर्मों के सुख-दुःख मिलते हैं, तो आगे स्वर्ग-नरक[२] भी न होना चाहिये; क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख-दुःख दिया है, वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में और जिसको चाहेगा नरक में भेज देगा। पुनः सब जीव अधर्मयुक्त हो जायेंगे। धर्म क्यों करें? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है, [वह][३] परमेश्वर के हाथ में है। जैसी उसकी प्रसन्नता होगी वैसा करेगा, तो [जीवों को][४] पाप-कर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जायगा। **इसलिये पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्तमान जन्म, और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् के जन्म होते हैं।**

प्रश्न—मनुष्यों[५] और अन्य पश्वादि के शरीरों[६] में जीव एक-से[७] हैं, वा भिन्न-भिन्न जाति के?

उत्तर—जीव एक-से हैं; परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं।

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का जीव मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के, पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता-आता है, वा नहीं?

उत्तर—हाँ! जाता-आता है।

प्रश्न—किस प्रकार जाता-आता है?[८]

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**घुरकाया**" पद त्रुटित है। यह मुद्रण-लिपिकर ने छोड़ा है। वही त्रुटित पाठ द्वि० सं० में छप रहा है। मूलहस्त० और मूलप्रति में है और उचित होने से ग्राह्य भी है। बालक को तुरन्त घूंसा नहीं मारा जाता, पहले उसे धमकाया जाता है। मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमाद से त्रुटित पाठ अग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में भी त्रुटित अपपाठ है।

२. **क्रमरहित अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पाठ अपक्रम में है। पूर्वापर वाक्यों में पठित '**सुख-दुःख**' का फल बताने का क्रम "**स्वर्ग-नरक**" होना अभीष्ट है। सभी सं० में अपक्रमात्मक अपपाठ है।

३-४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर '**वह**' और '**जीवों को**' पद-परिवर्धन वाक्यरचना और संगति की दृष्टि से आवश्यक हैं। इनके बिना वाक्य अपूर्ण हैं।

५-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सभी स्थलों पर '**मनुष्य**' और "**शरीर**" "**एक-सा**" बहुवचन पाठ वांछित हैं।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठ त्रुटित**—पूर्वापर पंक्तियों में "**जाता-आता है**" की कई बार आवृत्ति होने से मुद्रण-लिपिकर फिर प्रमादलीला कर गया और प्रश्न की भाषा को ही लुप्त कर गया। मूलहस्तलेख में यहां पाठ है—"**उत्तर-हां, जाता-आता है। प्रश्न-किस प्रकार जाता-आता है?**" मुद्रणलिपिकर ने यहां पाठ लिखा—"**उत्तर-हाँ, जाता-आता है। (प्रश्न) जब पाप बढ़ जाता.....**"। अर्थात् वह '**प्रश्न**' शीर्षक बीच के वाक्य को लुप्त करके '**उत्तर**' शीर्षक आगामी कथन पर '**प्रश्न**' लिख दिया। जबकि यह उत्तर उस प्रश्न का है कि "**किस प्रकार जाता-आता है**"। शोधक ने इस असंगति को देखा और '**प्रश्न**' पद को काटकर "**क्योंकि**" नया पद जोड़कर पाठ की संगति लगाई किन्तु इससे भी प्रश्न-उत्तर की संगति नहीं बन पाई क्योंकि उत्तर पूर्व-प्रश्न से भिन्न है। इस प्रकार मुद्रणलिपिकर के कारण वह आधारभूत प्रश्न ही लुप्त रह गया जिसका कारणपूर्वक उत्तर इस अनुच्छेद में दिया गया है। द्विप्र०, द्वि०सं० में यही त्रुटित पाठ छपा है वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में यह पाठ त्रुटित, अपूर्ण और असंगत है। अतः उनका पाठ अपूर्ण है। शोधक ने मूल-हस्तलेख की प्रति से मिलान नहीं किया, अनुमान से यह पाठ बनाना पड़ा। मुद्रणलिपिकरों ने इस प्रकार न जाने कितने पाठ बिगड़वाये हैं। लगता है, मानो भांग का नशा करके लिखते रहे हों, क्योंकि सहज मानसिकता वाले लेखक को चार-पांच पदों में दृष्टि-विचलन कभी नहीं होता।

उत्तर—जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य के जीव को पश्वादि नीच शरीर,[१] और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब 'देव' अर्थात् विद्वान्[२] का शरीर मिलता है। और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं। और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीरों[३] में भोग लेता है,[४] पुनः पुण्य-पाप के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता; और [अधिक][५] पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है।

जब शरीर से [जीव] निकलता है उसी का नाम 'मृत्यु ' और शरीर के साथ संयोग होने का नाम 'जन्म' है। जब शरीर छोड़ता तब '**यमालय**' अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है। क्योंकि ''**यमेन=वायुना**''[६] [ऋग्० महर्षिकृत वेदभाष्य ७।३३।१२] वेद में लिखा है कि 'यम' नाम वायु का है, '**गरुडपुराण**' का कल्पित यम नहीं। **इसका विशेष खण्डन-मण्डन ग्यारहवें समुल्लास में लिखेंगे।**[७]

१-२. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर.....मिलता है।**'' इस सं० में संशोधित है। ''**विद्वानों**'' के स्थान पर ''**विद्वान्**'' एकवचन चाहिये। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर में अपपाठ है।

३-४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—''**शरीर में भोग लेता है**'' मूलह०, मूलप्रति सं० के इस पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**शरीर भोग लिया है**'' पाठ बनाया है। पूर्वापर भाषा शैली के दृष्टिगत यह संशोधन अनुपयुक्त है। यहां '**शरीरों**' बहुवचन चाहिए। सभी सं० में अपपाठ है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां अर्थ की स्पष्टता के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**अधिक**' पद चाहिये।

६-७. **स्वामी वेदानन्द जी आदि की अशुद्ध व्याख्या और पांडुलिपि से उसका समाधान**—इस विसंगति का समाधान पांडुलिपि के आधार पर प्रथम बार प्रस्तुत किया जा रहा है। महर्षि ने यहां गरुड़पुराण में वर्णित कल्पित '**यम**' का खण्डन करके उसका वास्तविक अर्थ दर्शाया है। यही अर्थ एकादश समुल्लास में पृष्ठ ६४५ पर भी वर्णित है। यहां '**यमेन वायुना**' और ग्यारहवें समुल्लास में '**यमेन वायुना सत्यराजन्**' पद हैं। **स्वामी वेदानन्दजी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** आदि कुछ विद्वान् सम्पादकों को, द्विप्र० में विराम चिह्न का प्रयोग न होने से पृथक्-पृथक् तीन मन्त्र-पदों की भ्रान्ति हो गई, जिसके कारण उन्होंने यहां दो पद और ग्यारहवें समुल्लास में तीन स्वतन्त्र पद मानकर टुकड़ों में उन पदों के पते तीन वेदों से लेकर अंकित कर दिये, क्योंकि वे तीनों पद कहीं एक वेद में या एक मन्त्र में नहीं मिले। यदि इसी प्रकार एक-एक पद से एक-एक मन्त्र और प्रकरणरहित अर्थ खोजेंगे तो वेद में पौराणिक शैली की तरह राम, कृष्ण, महावीर आदि सब कुछ मिल जायेगा। अतः यह पद्धति बहुत अनर्थकारी है। यदि दूसरे लोग इस पद्धति से अच्छा-बुरा, नया-पुराना अर्थ निकालेंगे तो उनको कैसे रोकेंगे ? इन विद्वानों द्वारा एक-एक पद को पृथक् और स्वतन्त्र पद माना जाना इस कारण भी गलत है क्योंकि दोनों हस्तलेखों और द्विप्र० में **दोनों पद एक ही कोष्ठक अथवा उद्धरणचिह्न के अन्तर्गत लिखे गये हैं।** उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि ये एकार्थक हैं अर्थात् पृथक्-पृथक् पद नहीं हैं। इसी प्रकार ११ समु० में लिखे हुए हैं। जब एक कोष्ठक या उद्धरणचिह्न में पठित हैं तो उनको पृथक्-पृथक् मानना भूल है। यहां जग, उदयपुर सं०, विस में ठीक पाठ है।

वस्तुतः, इन दोनों स्थलों पर 'यम' के दो अर्थ बताये गये हैं—१. **वायु,** २. **न्यायकारी ईश्वर**। यदि दोनों स्थानों पर अर्थबोधक चिह्न लगाकर इन पदों को '**यमेन**'='**वायुना**', रखें तो हमारी सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। ''**यमेन०**'' (ऋग्० १।१६३।२; ७।३३।१२) वेदमन्त्रोक्त पद है और वहां '**वायुना**' वेदभाष्य में महर्षिकृत अर्थ है—''**यमेन=वायुना।**'' तृतीयान्त पद की तृतीयान्त ''**वायुना**'' पद से व्याख्या है। यही अर्थ दोनों स्थलों पर हिन्दी भाषा में किया गया है कि ''**यम नाम वायु का है**''। हिन्दी अर्थ से भी यह स्पष्ट है कि इन स्थलों पर ''**वायुना**'' पद द्वारा ''**यमेन**'' की व्याख्या है। महर्षि ने अन्यत्र भी यम का 'वायु' अर्थ किया है किन्तु वायु का 'यम' अर्थ नहीं मिलता। अतः ''**वायुना**'' स्वतन्त्र प्रतीक नहीं है। यम का यही अर्थ शत०ब्राह्मण में भी मिलता है—''**अयं वै यमो योऽयं वायुः पवते**''=यह यम ही है जो यह वायु प्रवाहित है (१४।२।२।११)।

यम का दूसरा अर्थ '**न्यायकारी परमेश्वर**' वा '**राजा**' है जो जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करता है। उसको महर्षि ने ''**सत्यराजन्**'' अर्थात् सत्य-न्यायकर्त्ता और 'धर्मराज' कहा है। यम का यह अर्थ महर्षि ने वेदभाष्य में अनेकत्र किया है, यथा—''**यमाय=नियन्त्रे न्यायाधीशाय वायवे वा**'' (यजु० ३९।१३ तथा १२।६३, ३५।१; ऋग्० ७।३३।९ आदि)। मनुस्मृति में भी यम की यथावत् यही व्याख्या है और उसका पर्यायवाची शब्द '**धर्मराट्**' ही दिया है—

पश्चात् '**धर्मराज**' अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है। **वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर, बाहर आता है।** जो स्त्री का शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री, और पुरुष का शरीर धारण करने योग्य कर्म हों, तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक-गर्भ की स्थिति, स्त्री-पुरुष का शरीर-सम्बन्ध होने पर[१] रज-वीर्य के बराबर होने से होती है।[२] इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्म-उपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता। **क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प[३] पर्यन्त जन्म-मरण-दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।**

प्रश्न—मुक्ति एक जन्म में होती है, वा अनेक जन्मों में?

उत्तर—अनेक जन्मों में। क्योंकि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे॥ १॥ मुण्डक० [उप०, २। खं० २। मं० ८]॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या=अज्ञानरूपी गांठ कट जाती [है],[४] सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा में, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, निवास करता है।[५]

प्रश्न—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है, वा पृथक् रहता है?

उत्तर—पृथक् रहता है; क्योंकि जो मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे? और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें। वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिये। **जो[६] जीव, परमेश्वर की आज्ञा का पालन, उत्तम कर्म, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है।**

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति। तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजाः तद्धि यमव्रतम्॥ (९। ३७)

"**स हि धर्मराट्**" (७। ७)='उस यम का नाम 'धर्मराज' है।'

महर्षि ने इसी परम्परा के आधार पर दोनों स्थलों पर यम को '**धर्मराज**' नाम से व्याख्यात किया है। (द्रष्टव्य समु० ११, पृ० ६४५ पर 'यम' आदि का इसी अर्थ में उल्लेख। द्रष्टव्य, इसी पृष्ठ पर टिप्पणी और विद्वानों की अन्धपरम्परा भी)

१. **अस्तव्यस्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**गर्भ की स्थिति समय स्त्री पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रज-वीर्य के बराबर होने से होता है।**" इस अस्तव्यस्त और अस्पष्टार्थक वाक्य का उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। वेस, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि सभी में अप-वाक्य रचना है।

२. **मनुस्मृति के प्रमाण से पुष्टि**—मनुस्मृति में इसी सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है—"**समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा**" (३.४९) अर्थात् समशक्ति रज-वीर्य होने पर नपुंसक पुरुष और वन्ध्या स्त्री का जन्म होता है।

३. **महाकल्प का अन्यत्र वर्णन**—महाकल्प की अवधि के ज्ञान के लिए द्रष्टव्य है पृ० ४४५ और उस पर टिप्पणी।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है। वाक्यनिर्माणार्थ यहां क्रिया अपेक्षित है।

५. **पुनरुक्तियुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पुनरुक्तियुक्त अपपाठ है—"**तभी उस परमात्मा, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है।**" यहां "**उस**" "**उसमें**" सर्वनाम पुनरुक्त होने से अपपाठ हो गया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० सभी में यह अपपाठ है। इस सं० में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां निरर्थक "**जब**" पद है। यहां "**वही**" पद के सम्बन्ध से "**जो**" पद संगत है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

तैत्तिरीय [उप०, ब्रह्म० वल्ली। अनु० १]॥

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्द-स्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके, उस '**विपश्चित्**'=अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामनाओं[१] को प्राप्त होता है अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है। यही '**मुक्ति**' कहाती है।

प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में विना शरीर [के][२] आनन्द कैसे भोग सकेगा?

उत्तर—इसका समाधान पूर्व कर आये हैं[३] और इतना अधिक सुनो—**जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार [से][४] मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है।** वह मुक्त जीव अनन्त, व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, '**सृष्टिविद्या**' को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सबमें घूमता है। वह उन[५] पदार्थों को, जो कि उसके ज्ञान के सामने हैं,[६] सबको देखता है। **जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है।** मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर, उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही **सुखविशेष 'स्वर्ग', और विषय-तृष्णा में फस कर दुःखविशेष भोग करना 'नरक' कहाता है। 'स्वः' सुख का नाम है। 'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः, अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति'।[७] जो सांसारिक सुख है, वह 'सामान्य स्वर्ग' और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वह[८] 'विशेष स्वर्ग' कहाता है।**

सब जीव स्वभाव से सुखप्राप्ति की इच्छा[९] [करते हैं][१०] और दुःख का वियोग होना चाहते हैं;

---

१. **अपप्रयोग**—सभी सं० में यहां "**कामों**" के स्थान पर "**कामनाओं**" प्रयोग अभीष्ट है। ज्ञात होता है कि मूललिपिकर द्वारा श्रवणभ्रान्ति से यह लिखा गया है, क्योंकि आगे स्पष्टतः "**कामना**" प्रयोग सही किया है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां स्पष्टार्थ के लिए '**के**' पद आवश्यक है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य, इसी समु० में पृ० ४३७-४४३ पर।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**से**' पद त्रुटित है। पूर्व वाक्यांश के समान अपेक्षित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सब**" अपप्रयोग है, यहां अगले "**जो**" पद के सम्बन्ध से "**उन**" प्रयोग उपयुक्त है।

६. **मुद्रणकालीन व्यर्थ और अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलसं०, मुद्रणह० में यहां "**ज्ञान के सामने**" उपयुक्त पाठ है। इसका अर्थ है 'ज्ञान के अन्तर्गत' या 'ज्ञान में उपस्थित'। मुद्रणकाल में "**ज्ञान के आगे**" अपपाठ बना दिया। वही अपपाठ द्वि०सं० में छप रहा है। अन्य सभी सं० में भी यही अपपाठ है।

७. **अर्थ**—'स्वः' अर्थात् सुख को जहां प्राप्त करता है, उसका नाम '**स्वर्ग**' है। इसके विपरीत दुःख का जहां भोग करता है, उसका नाम '**नरक**' है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वही**" के स्थान पर "**वह**" उपयुक्त है, जैसे ऊपर "**वह सामान्य स्वर्ग**" प्रयोग है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**सुखप्राप्त की इच्छा**" अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**करते हैं**' क्रिया त्रुटित है, इसके बिना वाक्य नहीं बनता।

परन्तु जब-तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते, तब-तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा; क्योंकि जिसका 'कारण' अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—**'छिन्ने[१] मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति'**=जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप को छोड़ने से दुःख नष्ट होता है। देखो, **'मनुस्मृति'** में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गतियां[२]—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥ १॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥ २॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥ ३॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं[३] रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥ ४॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥ ५॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजोऽप्रतिपं[४] विद्यात् सततं हारि देहिनाम्॥ ६॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥ ७॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ ८॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥ ९॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥ १०॥

---

१. **मुद्रणकालीन अप-उद्धरण पाठ**—द्विप्र० में "**क्षिन्ने**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में शुद्ध-संशोधित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक "**गति**" प्रयोग अशुद्ध है। यहां बहुवचन प्रयोग अभीष्ट है।

३-४. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**ऽप्रतिघं**" अपपाठ है, "**ऽप्रतिपं**" पाठ शुद्ध है। मुद्रणह० में "**तमो ज्ञानं**" अपपाठ लिखा है। वही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में शुद्ध कर लिया है। उदयपुर सं० में "**अप्रतिघम्**", वेस में "**तद्रो प्रतिपम्**", भद में "**अप्रतीपम्**" अपपाठ मिलता है, युमी, जग, विस, जस में संशोधित है।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥ ११॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम्॥ १२॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम्॥ १३॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम्॥ १४॥[१]
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥ १५॥

मनु०, अ० १२ [श्लो० ८-९, २५-३३, ३५-३८]॥

मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ, मध्य और निकृष्ट स्वभाव को जानकर उत्तम स्वभाव का ग्रहण; मध्य और निकृष्ट का त्याग करे।

और यह भी निश्चय जाने कि यह जीव जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है[२] उसके सुख-दुःख को, मन से किये को मन से, वाणी से किये को वाणी से और शरीर से किये को शरीर से भोगता है[३]॥ १॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारना[४] आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर[५] का जन्म, वाणी से किये पाप-कर्मों से पक्षी और मृगादि, तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ और ऋषिहस्तलेख**—''**येन तुष्यति.....लक्षणम्**'' श्लोक पंक्ति मुद्रणप्रति में लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० में परिवर्धित कर ली है। मुद्रणह० में इसको ऋषि ने स्वयं लिखकर पूर्ण किया है।

२. **अयोग्य लिपिकर और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**कर्त्ता है**'' अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अस्त-व्यस्त पाठ मिलता है—''**जो जीव मन से जिस शुभ या अशुभ कर्म को करता है उसको मन, वाणी से किये को वाणी और शरीर से किये को शरीर से अर्थात् सुख-दुःख को भोगता है।**'' इस वाक्य में ''**अर्थात्**'' पद मुद्रणकाल में द्वि०प्र० में जोड़ा गया है। इसका संशोधन कर पाठ को व्यवस्थित कर दिया है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मारने**'' अपप्रयोग है, यहां ''**मारना**'' उपयुक्त प्रयोग है। सभी में अपप्रयोग है।

५. **महर्षि के मतानुसार वृक्षों में जीव**—वेदोक्त तथा महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित और महर्षि दयानन्द द्वारा मान्य सिद्धान्त यही है कि वृक्ष-वनस्पतियों में जीव होता है। इस श्लोक में शरीर से दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों को परजन्म में वृक्षादि स्थावर जन्म मिलने का कथन है। आगे पृ० ४७१ पर अत्यन्त तमोगुणी आचरण का फल स्थावर जन्म मिलना बताया है। महर्षि मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वृक्ष-वनस्पतियां अन्तःचेतना वाले और सुख-दुःख से युक्त जीव होते हैं जिन्हें यह जन्म अत्यन्त तमोगुणी कर्मों के परिणामस्वरूप मिला है—''**तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः**'' (मनु० १। ४९)। अथर्ववेद के एक मन्त्र में इन्हें सुषुप्ति अवस्था से युक्त कहा है—''**अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः**'' (६। ४४। १)। यह भी अत्यन्त तमोगुण की स्थिति है। स्वप्न चेतन को ही आते हैं। आज के वैज्ञानिक भी वृक्षों को चेतन मानते हैं। सर जगदीशचन्द्र वसु ने अनेक प्रयोगों द्वारा इस तथ्य को सिद्ध किया था। चेतना जीवात्मा होने का ही लक्षण है।

क्या वनस्पतियों के सेवन से पाप होता है?—यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उनमें जीव है तो उन्हें सुख-दुःख की अनुभूति भी होती होगी और उनके सेवन का फल मनुष्यों को सुख-दुःख के रूप में भी प्राप्त होना चाहिए? इसका उत्तर महर्षि

चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है॥ २ ॥

जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है॥ ३ ॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब 'सत्त्व', जब अज्ञान रहे तब 'तम', और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब 'रजोगुण' जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं॥ ४ ॥

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिये कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं॥ ५ ॥

जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नतारहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगें, तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण और तमोगुण अप्रधान हैं॥ ६ ॥

जब 'मोह' अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहै, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क-रहित, जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं॥ ७ ॥

अब जो इन तीनों गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है,[१] उसको पूर्णभाव से कहते हैं॥ ८ ॥

जब सत्त्वगुण का उदय होता है,[२] तब वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की

दयानन्द ने सांख्यदर्शन के आधार पर दिया है, जिसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यों द्वारा वृक्ष-वनस्पतियों का सेवन किया जाना ईश्वरीय स्वाभाविक व्यवस्था है, और ईश्वरीय व्यवस्था में पाप नहीं होता, यह उनके भोग के अन्तर्गत है। उन्हें मनुष्य या अन्य प्राणिवत् सुख-दुःख की अनुभूति भी नहीं होती। सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती अतः उसके परिणामस्वरूप पुण्य-पाप भी नहीं होते। सुख-दुःख की अनुभूति पांच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से होती है, वृक्षों में इन इन्द्रियों का संयोग मनुष्यवत् नहीं है। जैसे बधिर को यह आभास तो होता है कि कोई उसे कुछ कह रहा है, किन्तु क्या कह रहा है यह अनुभूति नहीं होती। अतः उसे श्रवणजन्य सुख-दुःख भी नहीं होता। (द्रष्टव्य समु० १२ में पृ० ८२४ पर "**पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः**" सूत्र पर महर्षि की व्याख्या)। यह स्थिति लगभग उसी प्रकार की है जैसे संज्ञाहीन करके शल्यक्रिया किये जाने वाले व्यक्ति को यह तो अनुभव होता है कि उसकी शल्यक्रिया हो रही है किन्तु सुख-दुःख नहीं होते हैं। और जैसे किसी राजा की व्यवस्था का पालन करना 'अपराध' नहीं होता उसी प्रकार वृक्ष-वनस्पतियों का मनुष्यों द्वारा सेवन किया जाना स्वाभाविक 'ईश्वरीय व्यवस्था है।' इस कारण वृक्ष-वनस्पतियों के सेवन से जीवात्मा को पापरूप फलप्राप्ति होना भी ईश्वरीय व्यवस्था नहीं है। ईश्वरीय व्यवस्था यही है कि उनके सेवन पर ही मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों का जीवन निर्भर है। कोई अन्य विकल्प भी नहीं है।

१-२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटि**—मुद्रणलिपिकर ने फिर अपना प्रमाद दिखा कर पाठ में घपला कर दिया। श्लोक संख्या आठ और श्लोक नवम के अर्थ में पठित "**होता है**" दो क्रियाओं के बीच का पाठ लुप्त कर के उसने यह पाठ बनाया—"**उत्तम मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है तब वेदों का अभ्यास,**"। इस त्रुटि पर शोधक ने भी ध्यान नहीं दिया। सब चद्दर तानकर सोते रहे। शायद, प्रकाशन के समय किसी शोधक का इस ओर ध्यान गया, तो वह भी लिपिकर का बड़ा भाई निकला। "**उसको पूर्ण भाव से कहते हैं**" आठवें श्लोक का यह त्रुटित अर्थ तो पूर्णकर दिया किन्तु नवम का पूर्वांश "**जब सत्त्वगुण का उदय होता है**" यह फिर भी छोड़ दिया और आजतक द्वि० सं० में वह त्रुटित चला आ रहा है। द्विप्र० में यहां-मनमाने ढंग से पाठ बदलकर पाठ का तालमेल बनाया है। यहां मुद्रणह० में पाठ है—"**तब वेदों का अभ्यास**"। इससे स्पष्ट संकेत मिल रहा है कि कोई वाक्य छूट गया है जिसमें "**जब**" का प्रयोग था। द्विप्र० के सम्पादक ने उसको खोजने के बजाय "**तब**" को भी उड़ा दिया और उसके स्थान पर "**जो**" पद कल्पित करके लिख दिया। त्रुटित वाक्यांश की अनुवृत्ति आठवें श्लोक के "**फलोदय**" पद से आ रही है। उसके न रहने पर कितना अर्थ बदल गया, देखिए। यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण होने से ग्राह्य है। महर्षि दयानन्द कह रहे हैं कि जब सत्त्वगुण का उदय होता है तब आगे वर्णित कार्य होते हैं। परिवर्तित पाठ कह रहा है कि जब ये कार्य होते हैं, तब सत्त्वगुण का लक्षण दिखता है। यह अर्थ अभीष्ट प्रकरण के विरुद्ध है, क्योंकि प्रकरण यह बताने का है कि

इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म-क्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है॥ ९ ॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझमें वर्त रहा है॥ १० ॥

जब तमोगुण का उदय और [सत्त्व-रज] दोनों का अस्तभाव[१] होता है, तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता [है],[२] अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, **नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना,** अन्त:करण की भिन्न-भिन्न वृत्तियां होना,[३] और एकाग्रता का अभाव [होना], जिस किसी से याचना अर्थात् मांगना, प्रमाद अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट[४] व्यसनों में फसना होवे, तब समझना कि तमोगुण मुझमें बढ़कर वर्तता है॥ ११ ॥

यह सब[५] तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है कि जब अपना आत्मा जिस कर्म को

जब शरीर-मन में किसी गुण का उदय होता है तो उसमें क्या प्रतिक्रिया होती है। द्विप्र०, द्वि०सं० के पाठ की भाषा भी त्रुटित एवं शिथिल है—''**जो वेदों का अभ्यास....चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है**''। यह कितना अटपटा वाक्य है ? यही प्रसंगविरुद्ध, शिथिल तथा त्रुटित पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि सं० में है। उदयपुर सं० में भी पाठ का संशोधन नहीं किया गया है, त्रुटित ही है। अत: उनका पाठ अपूर्ण एवं अग्राह्य है।

१. **उचित प्रयोग**—मूलप्रति सं० में यहां ''**अस्तभाव**'' प्रयोग है, द्वि० सं० में ''**अन्तर्भाव**'' पाठ है। मूलसं० का पाठ सटीक है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रिया अपेक्षित है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**भिन्न-भिन्न अन्त:करण की वृत्ति** '' विपरीतार्थक पाठ के स्थान पर ''**अन्त:करण की भिन्न-भिन्न वृत्तियां**'' पाठ अभीष्ट है। ''**भिन्न-भिन्न**'' अन्त:करण के नहीं वृत्तियों के विशेषण हैं। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

४. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ और ऋषिहस्तलेख-विकृति की करुण कहानी**—मूलहस्त० में यहां अग्रलिखित पाठ पूर्ण एवं शुद्ध है—''**जिस किसी से याचना अर्थात् मांगना, प्रमाद अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट व्यसनों में फसना होवे**''। इसकी प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने बीच का पाठ छोड़कर यह अपपाठ लिखा—''**जिस कि व्यसनों में फसना होवे।**'' बीच का यह अग्रिम पाठ छोड़ दिया—''**सी से याचना अर्थात् मांगना, प्रमाद अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट**''। मुद्रणह० के शोधक ने असंगति देखकर बस इतना संशोधन किया कि ''**कि**'' त्रुटित पद को ''**किसी**'' बना दिया। इस प्रकार यह अपपाठ बना—''**जिस किसी व्यसनों में फसना होवे।**'' मुद्रणकाल में फिर किसी शोधक ने अनुमान से यह पाठ बनाया जो द्विप्र० में अपूर्ण पाठ है—''**और किन्हीं व्यसनों में फसना होवे**''। ज्ञात होता है कि किसी शोधक ने मूलहस्त० से मिलान करने का कष्ट नहीं किया, या उस समय मूलहस्त० उनके पास नहीं था, नहीं तो पाठ की यह दुर्दशा न होती।

अब नये सम्पादकों की कहानी—वेस में त्रुटित-अपूर्ण पाठ है। मूलसं० में पाठ शुद्ध है। द्वि०सं० और भद, जस में मूलह० के अनुसार पूर्णत: संशोधित पाठ है। पं० मीमांसक जी ने अनुमान से पाठपूर्ति करने का प्रयास किया है—''जिस किसी से याचना और प्रमाद अर्थात् किन्हीं व्यसनों में फसना होवे''। यही पाठ विस में है। उदयपुर सं० ने बस इसमें इतना परिवर्तन किया कि ''**दुष्ट व्यसनों**'' पाठ मूलह० के आधार पर और ग्रहण किया है, जबकि मूलह० में तो पूर्ण व शुद्ध पाठ है, उसको ग्रहण नहीं किया। यह उदयपुर सं० के सम्पादक कथित दशविद्वानों का खेदजनक पक्ष है कि शुद्ध-अशुद्ध, पूर्ण-अपूर्ण पाठ सामने होते हुए भी और मूलहस्त० सामने होते हुए भी, उससे मिलान न करके पाठग्रहण में प्रमाद किया है। उक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण एवं शुद्ध होने के कारण ग्राह्य है, मुद्रणहस्त० आदि किसी अन्य संस्करण का नहीं।

५. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्टपाठ की कहानी**—मूलहस्त० में यहां यह पूर्ण एवं शुद्ध पाठ है—''**तब समझना कि तमोगुण मुझमें बढ़कर वर्तता है॥ ११ ॥ यह सब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है....**''। प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने यह त्रुटित पाठ लिखा—''**तब समझना कि तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है**''। मुद्रणह० में किसी शोधक ने शोधन के समय इस पाठ को छुआ तक नहीं। फिर मुद्रणकाल में किसी शोधक ने अपनी मक्कारी-लीला दिखाई और इस वाक्य से ''**समझना कि**'' पाठ उड़ाकर द्विप्र० में यह पाठ छापा—''**तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है**''। यहां भी मूलह० से पाठ-मिलान नहीं किया गया, नहीं तो पाठ की यह दुर्गति नहीं होती।

करके, करता हुआ[१] और करने की इच्छा से लज्जा, शङ्का और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझमें प्रवृद्ध तमोगुण है॥ १२॥

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने पर[२] भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है॥ १३॥

और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहै, तब समझना कि मुझमें सत्त्वगुण प्रबल है॥ १४॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवन[३] करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है॥ १५॥

अब जिस-जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, सो-सो[४] आगे लिखते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥ १॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च कच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥ २॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा[५] व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः॥ ३॥

अथ सम्पादक-लीला—मूलसं० में पूर्ण और शुद्ध पाठ है। द्वि०सं० और भद में मूलह० के अनुसार संशोधित है। वेस, युमी, जग, विस में द्विप्र० का अपपाठ यथावत् है। इतना ही अन्तर है कि इन्होंने २२वें श्लोकार्थ के "**जानने योग्य है**" पाठ के बाद ११वें श्लोकार्थ का समापन दिखाते हुए "**११**" संख्या अशुद्ध स्थान पर रखी है। **उदयपुर सं०** ने द्विप्र० के गड्ड-मड्ड पाठ को यथावत् ग्रहण करके ११-१२ श्लोकों के अर्थों को इस प्रकार मिला दिया है कि न तो ११वें श्लोकार्थ की समाप्ति का अता-पता है और न १२वें श्लोकार्थ के आरम्भ का अता-पता है। श्लोक संख्या '**११**' भी दिवंगत है। यहां भी उदयपुर सं० के सम्पादकों ने न मूलहस्त० को देखा और न पूर्व सम्पादकों द्वारा प्रस्तुत शुद्ध-अशुद्ध और पूर्ण-अपूर्ण पाठ पर चिन्तन किया अर्थात् त्रुटित एवं अपूर्ण पाठ ही रख दिया। जस में "यह सब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है" वाक्य को पूर्णतः तिलांजलि दे डाली। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यहां मूलह० का महर्षिप्रोक्त ही ग्राह्य है, मुद्रणलिपिकर-शोधक द्वारा विकृत पाठ नहीं।

१. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**कर्त्ता हुआ**" अपपाठ है। सभी सं० में संशोधित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-पाठपरिवर्तन**—मूलह० में उपर्युक्त पाठ ठीक है। मुद्रणह० के लिपिकर ने "**दरिद्रता होने में**" अपपाठ बना दिया। मुद्रणलिपिकर का बिगाड़ा वही अपपाठ द्विप्र० में छपा है और वही द्वि०सं० में छप रहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में वही अपपाठ है।

३. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**धर्म सेवा**" अपप्रयोग है। "धर्म सेवा" का अर्थ है 'धर्म-विषयक बाह्य कार्य करना', जबकि सत्वगुण का लक्षण है 'धर्म का आचरण करना'। अतः यहां 'धर्म सेवन' प्रयोग अभीष्ट है। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से यह अपपद लिखा गया है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थकार ने ठीक ऊपर वाले श्लोकार्थ में उचित प्रयोग 'धर्माचरण' लिखा है। सभी सं० में 'धर्मसेवा' असंगत प्रयोग है।

४. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—दोनों हस्त० में "**सो-सो**" पाठ है, द्विप्र० में "**उस-उसका**" अपपाठ बनाया है। द्वि०सं० में "**उस-उसको**" किया है। यह पाठान्तर अनावश्यक है। **पाठ-पुष्टि**—ग्रन्थ में "सो-सो" प्रयोग बहुत्र है, पृ० १३/३, ५५३/६ आदि।

५. **अप-उद्धरणपाठ—दोनों हस्त० में "हिंसी"** अपपाठ लिखा है। द्विप्र० में उसको "**हिंस्रा**" बना दिया। द्वि०सं०, मूलसं० में "**सिंहाः**" शुद्ध कर दिया है। भद को छोड़कर सभी सं० में "**सिंहाः**" पाठ संशोधित कर लिया है।

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा[१] गतिः॥ ४॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च[२] जघन्या राजसी गतिः॥ ५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः॥ ६॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वाः, राजसीषूत्तमा[३] गतिः॥ ७॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।[४]
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः॥ ८॥
यज्वान[५] ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः॥ ९॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥ १०॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो[६] नराधमाः॥ ११॥

[मनु०, अ० १२। श्लो० ४०, ४२-५०, ५२]

जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्; जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य; और जो तमोगुणयुक्त होते हैं, वे नीच गति को प्राप्त होते हैं॥ १॥

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं, वे[७] स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीड़े, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग [आदि] के जन्म को प्राप्त होते हैं॥ २॥

जो मध्यम तमोगुणी हैं,[८] वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित काम करनेवाले, सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सुअर[९] के जन्म को प्राप्त होते हैं॥ ३॥

जो उत्तम तमोगुणी हैं,[१०] वे चारण=जो कवित्त, दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं,

---

१-३. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में १ और ३ संख्यांक पर "**सूत्तमा**" भ्रष्टपाठ है। तीनों सं० में दो संख्यांक का "**प्रशक्ताश्च**" अपपाठ है। तीनों अपपाठ द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४. **अप-उद्धरणपाठ**—द्वि०सं०, मूलसं० में यहां "**गुणाः**" अपपाठ है, शुद्ध पाठ "**गणाः**" होना चाहिए। दोनों हस्त०, द्विप्र० में शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस में संशोधित है। उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

५-६. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां ये अशुद्ध पाठ हैं—"**यजमानः**" "**संसारा न विद्वासः**"। द्वि०सं०, मूलसं० में इनको संशोधित कर दिया है। सभी अन्य सं० में संशोधित हैं।

७,८,१०. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में उक्त तीनों वाक्यों को श्लोकार्थों के अन्त से हटाकर ऋषि ने पहले रखा है।

९. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों सं० में इस पद की अव्यवस्थित वर्तनी है। कहीं **सूअर, सुअर,** तो कहीं **सुवर, सूवर** वर्तनी मिलती है। मानकता एवं एकरूपता हेतु ग्रन्थ में सर्वत्र '**सुअर**' वर्तनी ग्रहण की गयी है।

सुन्दर पक्षी और दांभिक पुरुष अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा करनेहारे,[१] राक्षस=जो हिंसक, पिशाच और अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं, वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है॥ ४॥

जो अत्यन्त रजोगुणी हैं,[२] वे 'झल्ला' अर्थात् कुद्दाले आदि से[३] तालाब आदि के खोदनेहारे,[४] मल्ला अर्थात् नौका आदि के चलानेवाले, नट जो बांस आदि पर कला=कूदना-चढ़ना-उतरना आदि करते हैं,[५] शस्त्रधारी भृत्य, जो द्यूत[६] और मद्यपान में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण के फल हैं॥ ५॥

जो मध्यम[७] रजोगुणी होते हैं, वे राजा, क्षत्रियवर्णस्थ राजाओं के पुरोहित, वादविवाद करनेवाले,

---

१. **मुद्रणलिपिकर की शरारत से हास्यास्पद अप-पाठपरिवर्तन**—मूलहस्तलेख में यह शुद्ध पाठ है—''**अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने हारे**''। इसका प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह० में हास्यास्पद पाठ बनाया है। मुद्रणलिपिकर ने पहले पाठ को बिगाड़ा, फिर द्विप्र० में यह पाठ छपा—''**अपने सुख के लिये अपनी प्रशंसा करने हारे**''। अब इस विषयक सम्पादकों की माया देखिए। द्वि०सं०, विस और उदयपुर सं० ने इसका संशोधन कर लिया है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने आदि व अन्त के श्लोक ग्रहण करके शेष श्लोक और अर्थ दिवंगत कर दिये। हटाने का न कोई स्पष्टीकरण दिया, न कारण बताया। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने मूल में पाठ अशुद्ध ही रखा, टिप्पणी में संशोधित पाठ दिया है। पता नहीं पं० जी ने यह अशुद्ध पाठ क्यों नहीं हटाया, जबकि सम्पूर्ण ग्रन्थ में कई सौ संशोधन मूल में किये हैं। स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी और पं० भगवद्दत्त जी ने भी अशुद्ध पाठ यथावत् रखा। अगर वे जीवित होते तो उनसे हम इसका कारण पूछते। व्याकरण में अपने मुख से प्रशंसा करना अर्थात् अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बनना तो बुरा माना जाता है, सुख के लिए प्रशंसा करना बुरा नहीं। और दंभी लोग ही अपने मुंह से अपनी डींग हांकते हैं, जैसे कुछ अल्पज्ञानी मिथ्यादम्भी वक्ता अपने मुंह से ही अपनी डींग हांकते फिरा करते हैं।

२. **परिवर्धित पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**जो अत्यन्त रजोगुणी हैं**'' वाक्य त्रुटित है। मुद्रणह० में ''**जो उत्तमगुणी हैं**'' अपपाठ है। यही द्विप्र० में छपा है। द्वि० सं० में संशोधित है, और ग्राह्य है। इस छोटे-से पाठभेद में भी विद्वानों में मतान्तर बन गये। वेस, जग, युमी, उदयपुर ने ''**अधम रजोगुणी**'' शब्द चुने हैं। भद ने और आगे बढ़कर ''**अत्यन्त अधम रजोगुणी**'' पाठ बनाया है। **पाठ-पुष्टि**—श्लोक दो के अर्थ में ग्रन्थकार ने इन्हीं संस्कृत-पदों का ''**अत्यन्त**'' अर्थ किया है। उसी शैली में यहां भी ''**अत्यन्त रजोगुणी**'' शब्द ग्रन्थकार के अनुकूल हैं।

३. **ऋषिहस्तलेख**—'**कुद्दाल**' यह संस्कृत का शब्द है। हिन्दी में इसका तद्भव '**कुदाल**' बोला-लिखा जाता है। द्विप्र० में, मुद्रणकाल में किसी शोधक ने अपनी बोली के अनुसार इसको ''**कुदार**'' बना दिया। द्वि०सं० तथा सभी सं० में वही अपवर्तनी है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में शुद्ध है। ''**कुद्दाले आदि से**'' ऋषिहस्तलेख में है।

४. **मुद्रणलिपिकर की मूर्खता से भ्रष्ट हुए पाठ की कहानी**—मुद्रण-लिपिकर की प्रमादलीला यहां निश्चय ही पाठ को विकृत करने में कारण बनी है। मुद्रणह० में उसके कारण यहां पाठ भ्रष्ट हो गया है और वही अब तक छप रहा है। मूलहस्तलेख में यहां महर्षि ने यह अर्थ लिखाया था—''**झल्ला अर्थात् तलाव आदि के खोदनेहारे**''। अर्थ यही ठीक है। इसकी पुष्टि प्रथम संस्करण के पाठ से हो जाती है। वहां भी यही अर्थ है। अब पाठ बिगड़ने की दु:खद कहानी सुनिए—मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद पूर्वक प्रतिलिपि करते हुए यह भ्रष्ट पाठ बनाया—''**झल्ला अर्थात् तलवार आदि से खोदने हारे**''। मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने लिखते हुए इतना भी नहीं सोचा कि तलवार से खोदा नहीं जाता। संगति लगती न देख, इस भ्रष्ट पाठ को शोधकर शोधक ने अनुमान से इस प्रकार बनाया—''**तलवार आदि से मारने वा कुदाले आदि से खोदने हारे।**'' इस प्रकार अनजाने में ''**तलवार आदि से मारने**'' अप-अर्थ अनभीष्ट रूप से यहां घुस गया। यही अनचाहा अशुद्ध पाठ द्विप्र० में छपा और द्वि०सं० में छपता चला आ रहा है। ''**तलवार आदि से मारने वाले**'' अर्थ यहां अनावश्यक इसलिए भी है क्योंकि इसी श्लोकार्थ में ''**शस्त्रधारी भृत्य**'' अर्थ पठित है जिसमें शस्त्रधारियों का उल्लेख आ चुका है। उदयपुर सं० ने मूलह० का पाठ ग्रहण किया है। वेस, भद, जग, युमी, विस आदि सभी सं० का अशुद्ध पाठ अग्राह्य है, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है।

५. **ऋषिहस्तलेख-युक्त पाठग्रहण**—''**जो बांस....करते हैं**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में '**द्यूत**' पद त्रुटित है। यह प्रमादी मुद्रणलिपिकर से त्रुटित रहा है। मूलहस्त और मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है।

७. **द्वि०सं० में अप-अर्थ**—द्वि० सं० में यहां ''**अधम रजोगुणी**'' अपपाठ है। यहां श्लोकार्थ के अनुसार '**मध्यम रजोगुणी**' होना

दूत, प्राड्विवाक (वकील, बैरिष्टर)[१], युद्ध-विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं॥ ६ ॥

जो उत्तम रजोगुणी हैं, वे **(गन्धर्व)** गानेवाले, **(गुह्यक)** वादित्र बजानेहारे, **(यक्ष)** धनाढ्य, विद्वानों के सेवक और अप्सरा अर्थात् उत्तम रूपवाली स्त्री का जन्म पाते हैं॥ ७ ॥

जो तपस्वी, यति=संन्यासी, वेदपाठी, विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी[२] और दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं, उनको प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो॥ ८ ॥

जो मध्यम सत्त्वगुण युक्त होकर कर्म करते हैं, वे जीव यज्ञकर्त्ता, वेदार्थवित्, विद्वान्, वेद,[३] **'विद्युत्'** आदि और **'काल-विद्या'** के ज्ञाता, रक्षक-ज्ञानी और साध्य=कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं॥ ९ ॥

जो उत्तम सत्त्वगुणयुक्त होके उत्तम कर्म करते हैं, वे[४] ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, विश्वसृज=सब **'सृष्टिक्रम-विद्या'** को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे; धार्मिक, सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म[५] और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं[६] ॥ १० ॥

जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करनेहारे, अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में 'नीच-जन'[७] बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं॥ ११ ॥

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण-युक्त वेग से जिस-जिस प्रकार का कर्म जीव करता है, उस-उसको उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है।

जो मुक्त होना चाहते हैं,[८] वे गुणातीत[९] अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में न फसकर, महायोगी होके मुक्ति का साधन करें। क्योंकि—

चाहिए। मूलह०, मूलसं०, मुद्रणह०, द्विप्र० में शुद्ध पाठ है।

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''बारिष्टर''** वर्तनी है। यहां **'बैरिष्टर'** तत्कालीन वर्तनी अपेक्षित है। आजकल **''बैरिस्टर''** लिखते हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० **''वकील''** पद भी है, जो द्विप्र० में **''बकील''** अशुद्ध छपा है।

२. **ज्योतिषी**=गणित ज्योतिष तथा ब्रह्माण्ड की विद्या को जाननेवाले। यहां फलित ज्योतिष से ग्रन्थकार का अभिप्राय नहीं है, क्योंकि वह वैदिक और ऋषिसम्मत सत्यविद्या नहीं है।

३. **अभिप्राय**—**''वेद''** का सम्बन्ध वाक्यान्त क्रिया से है, अतः यहां इसका लाक्षणिक अर्थ है—**'वेदों का अध्यापक'।**

४. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में **''जो उत्तम.....करते हैं वे''** ऋषि द्वारा संशोधित पाठ है।

५. **अव्यक्त का जन्म**—मूलस्वरूप अर्थात् गुणातीत की सिद्धि प्राप्त योगी जन। जो अपने वर्तमान जन्म में मुक्ति प्राप्त करने के योग्य होते हैं, ऐसे जन्म को पानेवाले।

६. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—**''अव्यक्त के जन्म....होते हैं''** पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा संशोधित है। वहीं से मूलसं० में गृहीत है।

७. **श्रवणभ्रान्ति से भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''नीच जन्म''** भ्रष्टपाठ है, यहां संगति की दृष्टि से **'नीचजन'** पाठ होना चाहिए। श्लोक में भी **''नराधमाः''** पद है। जिसका अर्थ 'नीच जन' होता है। यह मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से हुआ अपपाठ है। वेस, जग, भद, युमी और उदयपुर सं० में भ्रष्ट पाठ है। विस में संशोधित है। जस ने इस पद को जड़ से ही उड़ा दिया है।

८. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य है—**''जो मुक्त होते हैं वे.....मुक्ति का साधन करें''**। यहां उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है, क्योंकि जो मुक्त हो ही गये वे मुक्ति का साधन क्या करेंगे? वेस, भद में भ्रष्ट पाठ है, युमी में मूल में भ्रष्टपाठ है, टिप्पणी में संशोधन है, जो व्यर्थ है। उदयपुर में पाठान्तर से संशोधन है।

९. **गुणातीत**—सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों के प्रेरक प्रभाव से मुक्त व्यक्ति।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ योगशास्त्र [समाधिपाद, सू० २]

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ योगशास्त्र [समाधिपाद, सू० ३]

मनुष्य रजोगुण-तमोगुण-युक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध-सत्त्वगुणयुक्त हो,[१] पश्चात् उसका [भी] निरोध कर, एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में[२] चित्त को ठहराके रखे।[३] 'निरुद्ध' अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥ १ ॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर की प्रमाद-लीला से भ्रष्टपाठ**—मूर्खराज मुद्रणलिपिकर ने समु० समाप्त होते-होते फिर अपनी प्रमादलीला प्रदर्शित कर दी। मूलहस्तलेख से प्रतिलिपि करते समय उपर्युक्त शुद्ध, उपयुक्त क्रमयुक्त पाठ का यह भ्रष्टपाठ बना डाला—''**शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुण युक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर....**''। इस भ्रष्टपाठ की व्याख्या लिपिकर ही कर सकता है अन्य किसी के वश की बात नहीं। शायद, सवा सौ वर्षों से अधिक समय तक आर्य विद्वानों ने भी इस भ्रष्टपाठ को इस कारण ठीक नहीं किया कि वे इसकी रहस्यमय व्याख्या पर चिन्तन-मनन करने में लगे रहे। यही अपपाठ सभी द्वि०सं० की अब तक कथित शोभा बढ़ा रहा है!! धन्य है लिपिकर! तेरा जादू सवा-सौ वर्षों से अधिक समय तक अपने को विद्वान्, बुद्धिमान् और तर्कशील कहनेवाले आर्यसमाज पर और उसके समाज के विद्वानों पर धड़ल्ले से चलता रहा!! और शायद, अभी भी कुछ लोगों पर से तुम्हारा जादू न उतरे, क्योंकि अभी उनको तुम्हारे इस पाठ में बहुत-से रहस्य ढूंढने हैं, बचाव में बहुत से तर्क (?) जुटाने हैं, सुदीर्घ चिन्तन करना है, फिर सोचा जायेगा कि तुम्हारे कर-कमलों से निर्मित इस पाठ को हटायें या नहीं। कुछ लोग भ्रान्ति से इस अस्त-व्यस्त पाठ को ऋषि-पाठ ही मानते हैं।

मूलप्रति सं० को छोड़कर सभी वेस०, भद, युमी०, विस आदि सम्पादक विद्वानों ने इस पाठ को यथावत् रखा हुआ है। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने यह विचित्र स्पष्टीकरण टिप्पणी में दिया है कि 'शुद्ध-सत्त्वगुण कर्मों को रोकने के लिए पहले शुद्ध-सत्त्व-गुण युक्त होना पड़ता है।' फिर भी उन्होंने पाठक्रम नहीं बदला। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** ने पाठक्रम में परिवर्तन करके ''**शुद्ध-सत्त्वगुण युक्त हो**'' पदों को ''**शुद्ध-सत्त्व....मन को रोक**'' पदों से पूर्व रखने का प्रस्ताव दिया है और अन्य पाठ में भी पर्याप्त परिवर्तन किया है (सत्यार्थप्रकाश समीक्षा विशेषांक, 'दयानन्द सन्देश' पृ० ५४)। आश्चर्य है कि यहां उनकी सूक्ष्मदृष्टि स्थूल पाठ पर ही अटक कर रह गई! शुद्ध-सत्त्वगुण तथा निरोध की पुनरुक्ति इस पाठ में हो रही है। मूलह० के महर्षिप्रोक्त पाठ में समग्र भाव निहित है, और वह शुद्ध है, अतः उस पाठ को बदलने की बिल्कुल जरूरत ही नहीं है।

सम्पादकों की विचित्र मानसिकता देखिए, मुद्रणलिपिकर द्वारा बिगाड़े गये पाठ को प्रामाणिक सिद्ध करने पर जोर लगा रखा है। कोई वाक्यों को आगे-पीछे करना चाहता है, कोई मूलह० की महर्षिप्रोक्त भाषा के साथ छेड़खानी कर रहा है। यह हालत तब है जब मूलह० का पाठ क्रमबद्ध, पूर्णभावयुक्त और शुद्ध उपलब्ध है। अब देखिए, **उदयपुर सं० के सम्पादकों** ने कांट-छांट करके स्वतन्त्र भाषा-परिवर्तन कर लिया और वह भी बिना टिप्पणी के—''शुद्ध-सत्त्वगुणयुक्त हो, पश्चात् शुद्ध शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक एकाग्र....।'' यहां मूलह० का पाठ ''**उसका निरोध कर**'' हटा दिया, ''**पश्चात्**'' को उठाकर पहले ले गये, ''शुद्ध-सत्त्वगुणयुक्त हो'' वाक्यांश को भी उठाकर पहले ले गये, जबकि इसकी कतई आवश्यकता नहीं थी।

आइए, मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित पाठ की रचनात्मक समीक्षा करते हैं। यह पाठ ग्रन्थकार का नहीं हो सकता, क्योंकि—१. ऐसी अप्रौढ़, पुनरुक्तियुक्त एवं शिथिल शैली और अशुद्ध क्रम महर्षिकृत वाक्यरचना का नहीं हो सकता—''**रजोगुण तमोगुण युक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध-सत्त्वगुण युक्त कर्मों से मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुण युक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर**'' यदि यह महर्षिकृत मौलिक वाक्य होता तो कुछ इस प्रकार प्रौढ़शैली में होता—''**रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण युक्त कर्मों से मन को रोक।**'' २. इसमें परस्परविरोध भी द्रष्टव्य है—''**शुद्ध सत्त्वगुण युक्त कर्मों से मन को रोक**'' और फिर ''**शुद्ध-सत्त्वगुण युक्त हो**''। ३. इस पाठ में पुनरुक्ति दोष भी आ गया है—''**शुद्ध-सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक**'', और फिर वही कथन है—''**शुद्धसत्त्वगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक**'', और फिर वही कथन है—''**शुद्धसत्त्वगुण युक्त होने पश्चात् उसका निरोध कर...**''। अब, जबकि मूलहस्त० का पाठ प्रकट हो गया है, तो हमारा कथन सिद्ध ही हो गया है, अतः मुद्रणलिपिकृत अपपाठ संरक्षणीय नहीं है अपितु उपेक्षणीय है। मूलसं० और जस को छोड़ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० आदि सभी सं० में अपपाठ हैं।

२. **अग्रभाग**—ग्रन्थकार ने यह ''**एकाग्र**'' पद का अर्थ ''अग्रभाग में'' किया है। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा और धर्मयुक्त कर्मों में प्राथमिकतापूर्वक मन को लगाना। उनको प्रमुखता और एकाग्रता पूर्वक करते हुए उनमें चित्त को स्थिर रखना। इन अर्थों में '**अग्र**' पद का प्रयोग व्यवहार में होता है, जैसे—अग्रगण्य, अग्रणी, अग्रभागी आदि। **पुष्टि**—पृ० ४७५/१ में इसके स्थान पर

जब चित्त 'एकाग्र' और 'निरुद्ध' होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है॥ २॥

इत्यादि साधन मुक्ति के लिये करें। और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥

सांख्यसूत्र [अ० १। सू० १]॥

जो '**आध्यात्मिक**' अर्थात् शरीर-सम्बन्धी पीड़ा, 'जो **आधिभौतिक**' दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, '**आधिदैविक**' जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन-इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है, इस 'त्रिविध दुःख' को छुड़ाकर मुक्ति पाना 'अत्यन्त पुरुषार्थ' है।[१]

[यह विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष के विषय में लिखा, अब][२] इसके आगे आचार-अनाचार और भक्ष्य-अभक्ष्य का विषय लिखेंगे॥[३]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषये
नवमः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ ९॥[४]

''**एकाग्र**'' पद का प्रयोग है।

३. **अपपाठ**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चित्त का ठहरा रखना**'' पाठ है। क्योंकि सम्पूर्ण अनुच्छेद में वाक्यपूरक कोई क्रिया नहीं है अतः इसके स्थान पर ''**चित्त को ठहराके रखे**'' उपयुक्त पाठ बनेगा, अन्यथा यह क्रियाहीन अपवाक्य रहेगा। वेस, जग, युमी में अर्ध-संशोधित है; भद, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

१. **अन्यत्र वर्णन**—तीन दुःखों का वर्णन द्रष्टव्य है प्रथम समु० पृ० ३५ पर।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है। ग्रन्थ की शैली की दृष्टि से यह पाठ अपेक्षित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा छह स्थानों पर पुस्तकनामों में व्यर्थपाठान्तर**—इस समुल्लास में मूलह० से प्रतिलिपि करते हुए मुद्रणलिपिकर ने इन स्थानों पर पुस्तक-नामों में व्यर्थ पाठान्तर किये हैं—पृ० ४४३/१३, १४; ४४४/६, १६; ४७४/२, ४७५/५ ।

४. **मुद्रणकालीन अपपाठ और पाठ परिवर्धन-परिवर्तन**—मूल हस्तलेख में ''**इतिश्रीमद्दयानन्द स्वामीनिर्मिते०**'' संकेत देकर वाक्य को अपूर्ण छोड़ा हुआ है। मुद्रणप्रति और द्विप्र० में पूर्णवाक्य है किन्तु ''**विभूषिते**'' के स्थान पर ''**विरचिते**'' पाठ है। '**विभूषिते**' परिवर्तन बाद में किसी समय किया गया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलसं० में ''**निर्मिते**'' पद के स्थान पर द्वि०सं० में ''**कृते**'' कर दिया है। एकरूपता, मानकता के लिए यह ग्राह्य है। ''**विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषये**'' पाठ मुद्रणह० में नहीं है, मुद्रणकाल में जोड़ा है। द्विप्र० में ''**मोक्षणविषये**'' अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

मूल-हस्तलेख में समाप्ति पर ''**यह नवम समुल्लास पूरा हुआ**'' हिन्दी भाषा का वाक्य भी है किन्तु मूलप्रति सं० में उसको ग्रहण नहीं किया है। मुद्रण-लिपिकर ने भी उस वाक्य की प्रतिलिपि छोड़ नहीं की है।

—०—

अथ दशमसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

अब,[१] जो धर्मयुक्त कर्मों[२] का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का सङ्ग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि '**आचार**' और इनसे विपरीत '**अनाचार**' कहाता है, उसको लिखते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ १॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ २॥
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥ ३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ ४॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ ५॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥ ६॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ७॥
[श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ ८॥][३]

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्त० में "**अब**" के बाद यहां "**आचार अर्थात्**" पद हैं। उनको मुद्रणकाल में हटाया गया है। उसी के अनुसार सभी सं० में यह पाठ नहीं रखा गया है। क्योंकि यह पद वाक्यान्त में पठित है।

२. **मुद्रणकालीन भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणकाल में द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां मूलहस्त० के "**कर्म**" पारिभाषिक और व्यापकार्थक शब्द के स्थान पर "**काम**" पद बदल दिया है। यह अनावश्यक एवं अविचारपूर्ण परिवर्तन है। "**कामों का आचरण**" कितना भ्रष्ट संशोधन है? क्योंकि '**काम**' स्वयं आचरण होते हैं। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध वाक्य पृ० ४८२/२ में द्रष्टव्य है—"**कर्मों का आचरण करना है.....वही आचार है।**" यहां भी मूलतः यही वाक्य था, जिसको बदलकर भ्रष्ट बना दिया। और फिर कर्म, मन, वाणी और शरीर तीनों के होते हैं, '**काम**' केवल शारीरिक होते हैं। यही भ्रष्ट पाठ वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि संस्करणों में है। इस कारण उनका पाठ ग्राह्य नहीं, मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

३. **त्रुटित आवश्यक श्लोक**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह मूल श्लोक नहीं है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इसका परिवर्धन किया है, जो ग्राह्य है; क्योंकि आगे हिन्दी में इसका अर्थ दिया है। संकलनकर्त्ता मूललिपिकर से यह छूटा है। **संशोधन-पुष्टि**—मूलह० में श्लोकार्थ के बाद "॥८॥" संख्या भी लिखी है। मुद्रणह० में भी लिखी थी। पुनः श्लोक न देखकर

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ९॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ १०॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ ११॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ १२॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ १३॥

मनु०, अ० २। [श्लो० १-४, ६, ८, ९, [१०], ११-१३, २६, ६५]॥

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि जिसका सेवन राग-द्वेष रहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य-कर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय समझें[१]॥ १॥

इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि[२] वेदार्थ-ज्ञान और वेदोक्त-कर्म, ये[३] सब कामना से ही सिद्ध होते हैं॥ २॥

जो कोई कहै कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूं, वा हो जाऊं, तो वह कभी नहीं हो सकता; क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि-व्रत, यम-नियमरूपी धर्म आदि संकल्प से ही बनते हैं॥ ३॥

क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं, वे सब कामना से ही चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आँख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता॥ ४॥

इसलिये सम्पूर्ण वेद, '**मनुस्मृति**' तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपने आत्मा प्रसन्न रहैं अर्थात् भय, शङ्का, लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो, जब कोई मनुष्य मिथ्याभाषण, चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय, शङ्का, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है, इसलिये वह कर्म करने योग्य नहीं॥ ५॥[४]

किसी ने काट दी। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मूलह०, द्विप्र० में कुल श्लोकार्थ १३ दिखाये हैं जबकि श्लोक १२ लिखे हैं। लिपिकरों का ध्यान फिर भी छूटे हुए श्लोक पर नहीं गया। विस, जस, मूलसं०, उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण कर लिया है।

१. **ऋषिलिखित का अनुचित संशोधन व ऋषि-हस्तलेख**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**करना चाहिये**" तथा मुद्रणह० में "**करणीय समझें**" क्रिया ऋषिहस्तलेख में है। द्वि०प्र०, द्वि०सं० में इसके स्थान पर "**है**" क्रिया व्यर्थ रख दी है। मुद्रणह० में "**सत्यकर्त्तव्य जानें**", "**करणीय समझें**" "**कामना से ही सिद्ध होते हैं**" पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

२. **स्थानभ्रष्ट अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्योंकि**" पद श्लोकार्थ के आरम्भ में है। आसत्ति-सम्बन्ध के नियम के अनुसार यह "**वेदार्थ ज्ञान**" पद से पूर्व चाहिए। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अस्थान में है।

३. **द्वि०सं० में अपपाठ**—द्वि० सं० में "**वेदोक्त कर्म से**" अपपाठ है। शुद्ध पाठ है—"**वेदोक्त कर्म, ये**"। सभी सं० में ठीक है।

४. **अन्यत्र वर्णन**—यही भावाभिव्यक्ति पृ० ३२२, ७७० पर भी द्रष्टव्य है।

मनुष्य सम्पूर्ण-शास्त्र=वेद, सत्पुरुषों का[१] आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचारकर, ज्ञाननेत्र से देख करके,[२] श्रुति-प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे॥ ६॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त-धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है,[३] वह इस लोक में कीर्त्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है॥ ७॥

'**श्रुति**' वेद और '**स्मृति**' धर्मशास्त्र को कहते हैं, इनसे सब कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये॥ ८॥

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों[४] का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य[५] कर दें; क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वही '**नास्तिक**' कहाता है॥ ९॥

इसलिये वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के 'लक्षण' [हैं][६] अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है॥ १०॥

परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषयसेवा में फसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें, उनके लिये वेद ही परम प्रमाण है॥ ११॥

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करनेवाला है॥ १२॥

ब्राह्मण वर्ण का[७] सोलहवें, क्षत्रिय का[८] बाईसवें और वैश्य का[९] चौबीसवें वर्ष में केशान्त-कर्म 'क्षौर'=मुण्डन[१०] हो जाना चाहिये अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी, मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते[११] रहना चाहिये अर्थात् पुनः कभी न रखना। और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितने केश रक्खे।[१२] और जो अति उष्ण देश हो तो शिखा-सहित सब

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह पाठ है—"**मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र वेद सत्पुरुषों के आचार**"। यह वेद का विशेषण है। जिन संस्करणों में "**सम्पूर्णशास्त्र**" के बाद अर्धविराम लगाया है, उन्होंने अर्थ को भ्रष्ट कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, द्वि०सं०, मूलसं० में अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—द्रष्टव्य है पूर्व श्लोकार्थ में "**सम्पूर्ण वेद**" शुद्ध प्रयोग तथा श्लोक पांच में "**वेदोऽखिलः**" संस्कृत-पाठ।

२. **मूललिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पाठ त्रुटित है—"**ज्ञान नेत्र करके**"। संस्कृत पाठ में भी "**समवेक्ष्य**"='देख करके' पद है। ज्ञात होता है यह मूललिपिकर से त्रुटित रहा है, इसी कारण बाद के सभी पाठों में त्रुटित है। युमी, विस, जस में संशोधन कर लिया है, किन्तु **स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त** और उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

३. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**कर्त्ता है**" अपप्रयोग है। यहां विशेषण नहीं, क्रिया प्रयोग अभीष्ट था। द्वि०सं०, मूलसं० आदि प्रायः सभी सं० में संशोधन कर लिया है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आप्तग्रन्थ**" एकवचनान्त प्रयोग है, श्लोकानुसार बहुवचनान्त अपेक्षित है।

५. **जातिबाह्य**—समुदाय अथवा वर्ण से बाहर। जाति का मूल अर्थ '**वर्ण**' है (मनुस्मृति २.१४८)।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**हैं**" क्रिया अपेक्षित है।

७-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पहले तीन स्थानों पर "**के**" अपप्रयोग है, यहां '**का**' वांछित है।

१०. **ऋषिहस्तलेख में परिवर्धन**—मूलह० में ये पद नहीं हैं। मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में "**क्षौर मुण्डन**" पद परिवर्धित हैं। मूलप्रति सं० में "**क्षौर=मुण्डन**" के स्थान पर "**और मुण्डन**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में शुद्ध है। भद में शुद्ध पाठ है। वेस, युमी में "**क्षौर-मुण्डन**", उदयपुर सं० में "**और मुण्डन**" तथा जग में "**क्षौर मुण्डन**" अपपाठ है। इसका अर्थ है—केशान्त कर्म सम्बन्धी क्षौर अर्थात् मुण्डन होना चाहिए। मूलह० में "**विधि**" के स्थान पर "**अवधि**" अपपाठ है।

११,१२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० व मूलप्रति सं० में यहां "**चाहे पंचकेश रखे**" ऋषिलिखित पाठ है।

छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी-मूंछ रखने से भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है॥ १३॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ १॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥ २॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ ३॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ ४॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥ ५॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ ६॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ७॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ ८॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ ९॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न[1] बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १०॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ ११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १३॥

द्विप्र०, द्वि० सं० में इसके स्थान पर "**चाहै जितने केश रक्खे**" व्यापकार्थक संशोधन है। यह उचित एवं ग्राह्य है। यह संशोधन मुद्रणकाल में किया गया है। युमी, भद में मुद्रणह० का पाठ रखा है। इससे पूर्व द्विप्र०, उदयपुर सं० में "**मुड़वाते**" अपप्रयोग है।

१. **अप-उद्धरण पाठ**—द्विप्र० में "**न च**" अपपाठ है, अन्य सभी में शुद्ध हैं।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ १४॥

मनु०, अ० २। [श्लो० ८८, ९३, ९४, ९७, १००, ९८। ११०, १३६, १५३-१५७, १५९]॥

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त का हरण करनेवाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने का[१] प्रयत्न करे। जैसे सारथि घोड़ों को रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटाके[२] धर्ममार्ग में सदा चलाया करे॥ १॥

क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है। और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है॥ २॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है; इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिये[३]॥ ३॥

जो अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसको '**विप्रदुष्ट**' कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब जितेन्द्रिय, धार्मिकजन के[४] सिद्ध होते हैं[५]॥ ४॥

इसलिये पांच कर्मेन्द्रियों,[६] पांच ज्ञानेन्द्रियों[७] और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहारविहार-[पूर्वक][८] योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे॥ ५॥

'**जितेन्द्रिय**' उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख [अनुभव नहीं करता],[९] सुन्दर रूप देखके प्रसन्न और दुष्टरूप देखके अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित [नहीं होता और][१०] सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता॥ ६॥

कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछनेवाले को कि जो कपट से पूछता हो, उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहै। हां, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों, उनको विना पूछे भी उपदेश करे॥ ७॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**में**" प्रयोग है, इसके स्थान पर '**का**' अपेक्षित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**हठाके**" अप-प्रयोग है। हिन्दी व्याकरण में कोई ऐसा धातु-प्रयोग नहीं होता। द्वि०सं०, मूलसं०, प्रायः अन्य सभी संस्करणों में संशोधित है, किन्तु **उदयपुर सं०** और **मीमांसक जी** के संस्करण में "**हठाके**" अपप्रयोग ही है। पूरे ग्रन्थ में उन्होंने कई-सौ त्रुटियों को शुद्ध किया है, पता नहीं, पं० जी यहां क्यों अटक गये? (द्र०टि०पृ० ११ पर)

३,५. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—दोनों श्लोकों के अन्तिम निष्कर्ष-वाक्य "**मनुष्य को.....चाहिये**", "**किन्तु ये.....होते हैं**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं। मूलप्रति सं० में वहीं से गृहीत है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**को**" के स्थान पर '**के**' अभीष्ट है।

६-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कर्मेन्द्रिय**" और "**ज्ञानेन्द्रिय**" एकवचनान्त अपप्रयोग हैं, पांच-पांच संख्या के सम्बन्ध से बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित हैं।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पूर्वक**' पद त्रुटित है।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित हैं। उनके बिना वाक्य ही पूर्ण नहीं होते और न संगति लगती है।

एक धन, दूसरे बन्धु-कुटुम्ब-कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पांचवीं श्रेष्ठ विद्या, ये पांच मान्य के स्थान हैं; परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से **पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं**॥ ८ ॥

क्योंकि चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या-विज्ञान-रहित है, वह '**बालक**' और जो[१] विद्या-विज्ञान का दाता है, उस बालक को भी '**वृद्ध**' मानना चाहिये; क्योंकि सब शास्त्र [और][२] आप्त विद्वान् अज्ञानी को '**बालक**' और ज्ञानी को '**पिता**' कहते हैं॥ ९ ॥

अधिक वर्षों के बीतने से, श्वेत बालों[३] के होने [से],[४] अधिक धन से और बड़े कुटुम्ब से [कोई][५] 'वृद्ध' नहीं होता, किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है, वही 'वृद्ध' पुरुष कहाता है॥ १० ॥

ब्राह्मण ज्ञान [से],[६] क्षत्रिय बल [से],[७] वैश्य धनधान्य से और शूद्र जन्म से अर्थात् अधिक आयु से 'वृद्ध' होता है॥ ११ ॥

शिर[८] के बाल श्वेत होने से 'वृद्ध'[९] नहीं होता, किन्तु जो युवा [भी] विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग '**बड़ा**' जानते हैं॥ १२ ॥

और जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह जैसा लकड़े का हाथी, चमड़े का मृग होता है [वैसा होता है];[१०] वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है॥ १३ ॥

इसलिये विद्या पढ़, विद्वान्, धर्मात्मा होकर, निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे। **उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं॥ १४॥**

नित्य स्नान [करे], वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे; क्योंकि इनके शुद्ध होने पर[११] चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। 'शौच' उतना करना योग्य है कि जितने से मल-दुर्गन्ध दूर हो जाय।

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं०, मुद्रणह० में यहां अग्रोक्त ''**उस**'' पद के सम्बन्ध से '**जो**' पद अपेक्षित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' पद आवश्यक है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**बाल**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त अपेक्षित है। मूलपाठ में भी बहुवचन है।

४-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः, '**से**' '**कोई**' '**से**' '**से**' पद त्रुटित हैं, व्याकरणानुसार कारक प्रत्यय पद के साथ आवश्यक हैं।

८-९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-अर्थ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां ''**शरीर**'' अर्थ अशुद्ध है। श्लोकपद के अनुसार '**शिर**' होना चाहिए। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। यह मुद्रणलिपिकर द्वारा की गई त्रुटि है। आगे दोनों सं० में ''**बुड्डा**'' अप-अर्थ है इससे '**वृद्ध**' का अर्थ प्रकट नहीं होता। '**बुड्डा**' शरीर से होता है जबकि यहां '**ज्ञानवृद्ध अर्थात् ज्ञान में बड़ा**' अर्थ अभिप्रेत है। शास्त्रों में '**वृद्ध**' एक पारिभाषिक शब्द है, अतः 'वृद्ध' प्रयोग ही वांछित है।

१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपूर्ण अर्थ एवं वाक्य है, क्योंकि दृष्टान्त तो दे दिया किन्तु दार्ष्टान्त पर अर्थात् उपमेय पर चरितार्थ नहीं किया, अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत यह पाठ और चाहिए—'**वैसा होता है**'।

११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**में**' पद है, यहां ''**होने पर**'' प्रयोग अभीष्ट है।

"आचारः परमो[१] धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च॥" मनु० [१।१०८]॥

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ '**आचार**' है।

[२]**"मा नो[३] वधीः पितरं मोत मातरम्॥"[४]** [यजुः०, अ० १६। मं० १५]

[५]**"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते०[६]॥"[७]** [अथर्व०, कां० ११। सूक्त ५। मं० ३]॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव॥[८,९]

तैत्तिरीय [आरण्यक प्र० ७। अनु० ११; तै० उप० शि० व० अनु० ११]॥

माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना 'देवपूजा' कहाती है। और जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह कर्म करना और हानिकारक को[१०] छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, चोर[११], मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी-छली आदि दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग न करे। जो '**आप्त**'=सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय [विद्वद्]जन[१२] हैं, उनका सङ्ग करना '**श्रेष्ठाचार**' है।

---

१. **पाठान्तर**—सभी संस्करणों में यहां "**प्रथमः**" पाठ मिलता है। तृतीय समु०पृ० १०५ पर उद्धृत श्लोक में "**परमः**" पाठ है।

२,५. **स्वरांकन त्रुटित**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों मन्त्रपदों पर स्वर त्रुटित हैं। उनको ठीक कर दिया गया है।

३. **अप उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**नो**" पद त्रुटित है। समु०११ पृ० ५९२ पर भी यह पद त्रुटित है। द्वि०सं० मूलसं०, तथा अन्य संस्करणों में भी ग्रहण कर लिया है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने यह तथा अगला मन्त्र ही निकाल फेंका। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने इस आशय पर विचार नहीं किया कि माता-पिता, आचार्य को हानि न होने देना, उनकी सेवा ही होती है।

४. **मन्त्रार्थ**—"(नः) हमारे (पितरम्) पालन करनेहारे पिता को (मा) मत (उत) और (नः) हमारी (मातरम्) मान्य करनेहारी माता को भी (मा) मत (वधीः) मारिये।" **भावार्थ**—"योद्धा लोगों को चाहिये कि युद्ध के समय....योद्धाओं के माता-पितरों....को न मारें।" (यजुर्वेदभाष्य, ऋषि दयानन्द, १६, १५)

६. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यहां इस वेदमन्त्र के अन्त में "**इच्छते**" है। यह अथर्ववेद का मन्त्र है और वेद में "**कृणुते**" पाठ है। यही पाठान्तर समु० ११ में पृ० ५९२ पर भी है। सम्पादकों की भी दोहरी सम्पादन-नीति है, कहीं ठीक कर लेते हैं, कहीं छोड़ देते हैं। उदयपुर सं० आदि में अशुद्ध मन्त्रपाठ है।

स्वामी वेदानन्द जी के सं० और मूलप्रति संस्करण में इस प्रमाण को दो भागों में बांटकर इनको दो मन्त्रों का अंश दिखाया है। ऐसा करना अवांछनीय और अनावश्यक है, क्योंकि दोनों हस्त० और सभी सं० में इसको एक ही प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। समु० ११ में पृ० ५९२ पर भी एक ही प्रमाण के रूप में उद्धृत है। "**इच्छते**" के स्थान पर इसी मन्त्र का वेद में उपलब्ध पाठ "**कृणुते**" करने से ग्रन्थकार का आशय भी यथावत् बना रहता है तथा वेदमन्त्र का स्वरूप भी नहीं बिगड़ता; अतः दो भाग करना अनावश्यक है। ऐसे पाठान्तर तो अनेक मन्त्रों, श्लोकों और सूत्रों में हैं।

७. **मन्त्रार्थ**—"आचार्य ब्रह्मचारी को [उपनयन संस्कार में] प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके, तीन रात्रि-पर्यन्त, गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि, सत्यपुरुषों के आचार की शिक्षा कर, उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उसको धारण करके, उसको पूर्ण विद्वान् कर देता है।" (संस्कारविधि, वेदारम्भ प्रकरण)

८. **उद्धरण का अर्थ**—'माता को देवता-स्वरूप मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए। पिता को देवतास्वरूप मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए। आचार्य को देवतास्वरूप मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए। अतिथि को देवतास्वरूप मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए।'

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुस्तक का अशुद्ध नाम**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में इन तीनों उद्धरणों के बाद "**तैत्तिरीय**" उपनिषद् का नाम गलत लिखा है। ऊपर के दोनों प्रमाण वेदों के हैं, जबकि तीसरा 'तैत्तिरीय' का है। मुद्रणलिपिकर ने इस प्रकार की लापरवाही और मक्कारी से सैकड़ों पाठ अशुद्ध व विकृत किये हैं।

१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**को**" कारक प्रत्यय अपेक्षित है।

११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**चोर**" पद प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया है।

१२. **उचित संशोधन**—मुद्रणहस्त० में "**मनुष्यों**", "**धर्मात्मा**", "**परोपकारप्रिय जन**" पद उचित है।

प्रश्न—आर्यावर्त-वासियों[१] का, आर्यावर्त[२] से भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है, वा नहीं ?

उत्तर—यह बात मिथ्या है; क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी [और][३], सत्यभाषणादि आचरण करना है, वह जहां कहीं करेगा, [वहां][४] आचार [भ्रष्ट][५] और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा। और जो आर्यावर्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा, वही धर्म-[भ्रष्ट][६] और आचारभ्रष्ट कहावेगा। जो ऐसा होता तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य[७] भारतं वर्षमासदत्॥ १॥
स देशान् विविधान् पश्यन्[८] चीनहूणनिषेवितान्॥ २॥

ये महाभारत[९], शान्तिपर्व, मोक्षधर्म में व्यास-शुकसंवाद के वचन हैं [अ० ३२५। श्लोक० १४-१५]॥

अर्थात् एक समय में व्यास जी अपने पुत्र और शिष्य शुक सहित मेरु-पर्वत पर निवास करते थे।[१०] शुकाचार्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि '**आत्मविद्या**' इतनी ही है वा अधिक ? व्यास जी ने जानकर उसका उत्तर[११] न दिया, क्योंकि पूर्व इस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे के साक्ष्य के लिये अपने पुत्र शुक से कहा कि—[१२]''तू मिथिला में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा।'' पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य मेरुपर्वत[१३] से **मिथिला** की ओर चले।

१-२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में दोनों स्थानों पर मुद्रणलिपिकर ने '**देश**' पद जोड़ा है। यह व्यर्थ पाठान्तर है। आर्यावर्त कहने से अभीष्ट पूर्ण अर्थ का बोध हो जाता है। आगे ''**देशों**'' स्पष्ट पद पठित है।

३-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रमशः, '**और**''**वहां**' तथा '**भ्रष्ट**', '**भ्रष्ट**' प्रयोग अपेक्षित हैं। इनके बिना अर्थ में स्पष्टता नहीं आती। और ''**आचारभष्ट**'' तथा ''**धर्मभ्रष्ट**'' पदों में, दोनों पदों में 'भ्रष्ट' पद मिलाने से ही एक समस्त-पद बन रहा है। उनको व्याकरणानुसार तोड़ा नहीं जा सकता। '**भ्रष्ट**' कोई प्रत्यय नहीं है जिसको तोड़कर किसी के साथ जोड़ दें। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ४८८ पर दोनों पूर्ण पद प्रयुक्त हैं—''**आचारभ्रष्ट और धर्महीन होना**''।

७-८. **अप-उद्धरण**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं०, उदयपुर सं० में इन श्लोकों का अपपाठ है। यहां प्रथम श्लोक में ''**समागम्य**'' पाठ मिलता है, मूलग्रन्थ में '**व्यतिक्रम्य**' है। दूसरे श्लोक की पंक्ति का पाठ है—''**स दृष्ट्वा विविधान् देशान्**''। ग्रन्थ का मूलपाठ है—''**स देशान् विविधान् पश्यन्**''। द्वि०सं० की पांचवीं आवृत्ति में संशोधित कर दिया है। वेस, भद, जस ने भी इस पाठ का संशोधन कर लिया है, किन्तु **पं० मीमांसक जी** और उनके अनुकरणकर्त्ता **स्वामी विद्यानन्द जी** के सं० में अपपाठ ही है। अशुद्धि का कारण यह है कि शुकाचार्य का मुख्य प्रयोजन देशों को देखना नहीं था, अपितु उनको पार करके मिथिला (भारत) में आना था। यदि ''**दृष्ट्वा**'' प्रयोग रखते हैं तो 'देशों को देखना' मुख्य प्रयोजन बन जाता है। जब ''**पश्यन्**'' प्रयोग करते हैं तो प्रसंग के अनुरूप गौण प्रयोग रहता है—'**ग्रामं गच्छन् तृणानि स्पृशति**'—गांव को जाते हुए तिनकों-शाखाओं को छूता चलता है, उक्ति के समान। अतः महाभारत में प्राप्त मूलपाठ ही सटीक है। संशोधन के पक्ष में दूसरा तर्क यह है कि ग्रन्थकार ने हिन्दी के अर्थ में ''**उन देशों को देखते हुए**'' अर्थ किया है, जो ''**पश्यन्**'' का अर्थ है, ''**दृष्ट्वा**'' का नहीं।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में ''**भारत**'' व्यर्थ व अपपाठान्तर किया है।

१०-११. **इतिहासविरुद्ध अपपाठ**—यहां दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह पाठ है—''**व्यास जी अपने पुत्र शुक और शिष्य सहित पाताल अर्थात् जिसको इस समय अमेरिका कहते हैं, उसमें निवास करते थे।**'' तथा आगे—''**शुकाचार्य पाताल से मिथिला की ओर चले।**'' यहां महाभारत के मूलपाठ और इतिहास से विरुद्ध अपपाठ चल रहा है। यहां '**पाताल**' के स्थान पर '**मेरुवर्ष**' पाठ होना चाहिए। महाभारत में महर्षि व्यास से पाताल का कोई सम्बन्ध वर्णित नहीं है। पिता व्यास ने शुक को आदेश दिया था कि अहंकाररहित होकर, सुख-सुविधा का आश्रय न लेकर, पैदल ही मिथिला को जाये—''**एवमुक्तः स**

धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः, पद्भ्याम्'' (शान्तिपर्व ३२५.१२) अब उस मार्ग का वर्णन देखिये जिस मार्ग से वे चलकर मेरुवर्ष, हरिवर्ष होते हुए मिथिला आये। उन्होंने मार्ग में आये गांवों, समृद्ध नगरों, बागों पर ध्यान नहीं दिया—**स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च। बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च॥** (इसके बाद ''**मेरोर्हरेश्च....**'' श्लोक है, शान्तिपर्व ३२५.१३)

अर्थात्—'शुकाचार्य मार्ग में आये पर्वतों, नदियों, तीर्थों, सरोवरों, अनेक सर्पों, जंगली पशुओं से भरे हुए छोटे-बड़े वनों और वनमार्गों को पार करके.....मिथिला पहुंचे।' यहां मार्ग में किसी समुद्र की स्थिति का उल्लेख नहीं है। इसमें दूसरा तर्क यह है कि जाने और आने के मार्ग में, पाताल से मेरुपर्वत के मध्य स्थित किसी भी स्थान का उल्लेख नहीं है, जो यह सिद्ध करता है कि न तो यात्रा '**पाताल**'=अमेरिका से आरम्भ हुई और न लौटकर वहां समाप्त हुई (शान्तिपर्व ३२७.२५-३३)

शान्तिपर्व के '**व्यास-शुक संवाद**' प्रकरण पर आधारित इस प्रसंग के पूर्व श्लोकों में स्पष्टतः व्यास का निवास मेरुपर्वत पर वर्णित किया है—''**तत्राश्रमपदं रम्यम्**'' (शान्तिपर्व ३२७.२८)=महर्षि व्यास का सुमेरु=हिमालय पर रमणीय आश्रम था। ''**एवमध्यापयन् शिष्यान् व्यासः पुत्रं च वीर्यवान्। उवास हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः॥** (शान्तिपर्व ३२७.३३) अर्थात् 'ज्ञानसामर्थ्य से सम्पन्न पराशरपुत्र व्यास अपने पुत्र शुक तथा शिष्यों (सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा वैशम्पायन) को पढ़ाते हुए हिमालय के पर्वत शिखर पर आश्रम बनाकर निवास करते थे।' और भी प्रमाण देखिए—''**मेरुशृङ्गे किल पुरा॥**''''**तत्र दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तथा।**''''**धारयन् स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम।**''''**मेरुपृष्ठे....तर्पयामास वारिणी॥**'' (शान्तिपर्व ३२३.११, १२,१३; ३२४.१२-१३)। इसी स्थान पर शुक का जन्म हुआ था। यहां उद्धृत उपर्युक्त श्लोक में भी शुक द्वारा मेरु से ही यात्रा आरम्भ करने का कथन है और अ० ३२७.२-३ में पिता व्यास के पास हिमालय पर ही शुकाचार्य के लौट जाने का वर्णन है। (''**शैशिरं गिरिमुद्दिश्य**''''**हिमवन्तमियाद् द्रष्टुम्**'' आदि) इन इतिहाससिद्ध मूल प्रमाणों के आधार पर अपपाठ को ठीक कर '**पाताल**' (अमेरिका) के स्थान पर '**मेरुपर्वत**' शुद्ध पाठ कर दिया है जैसे कि स्वामी वेदानन्द जी, पं० मीमांसक जी, उदयपुर सं० आदि ने कोलम्बस, मैत्रयी आदि के इतिहास विरुद्ध तथ्य शुद्ध किये हैं (पृ० ३५१, ३६६)। उसी प्रकार इसका संशोधन भी अत्यावश्यक है, क्योंकि ऐतिहासिक तथ्यों और प्रमाणों को नकारा नहीं जा सकता। आज तक किसी भी सम्पादक ने इसका संशोधन नहीं किया है, सभी विद्वानों के संस्करणों में अपपाठ मिलता है।

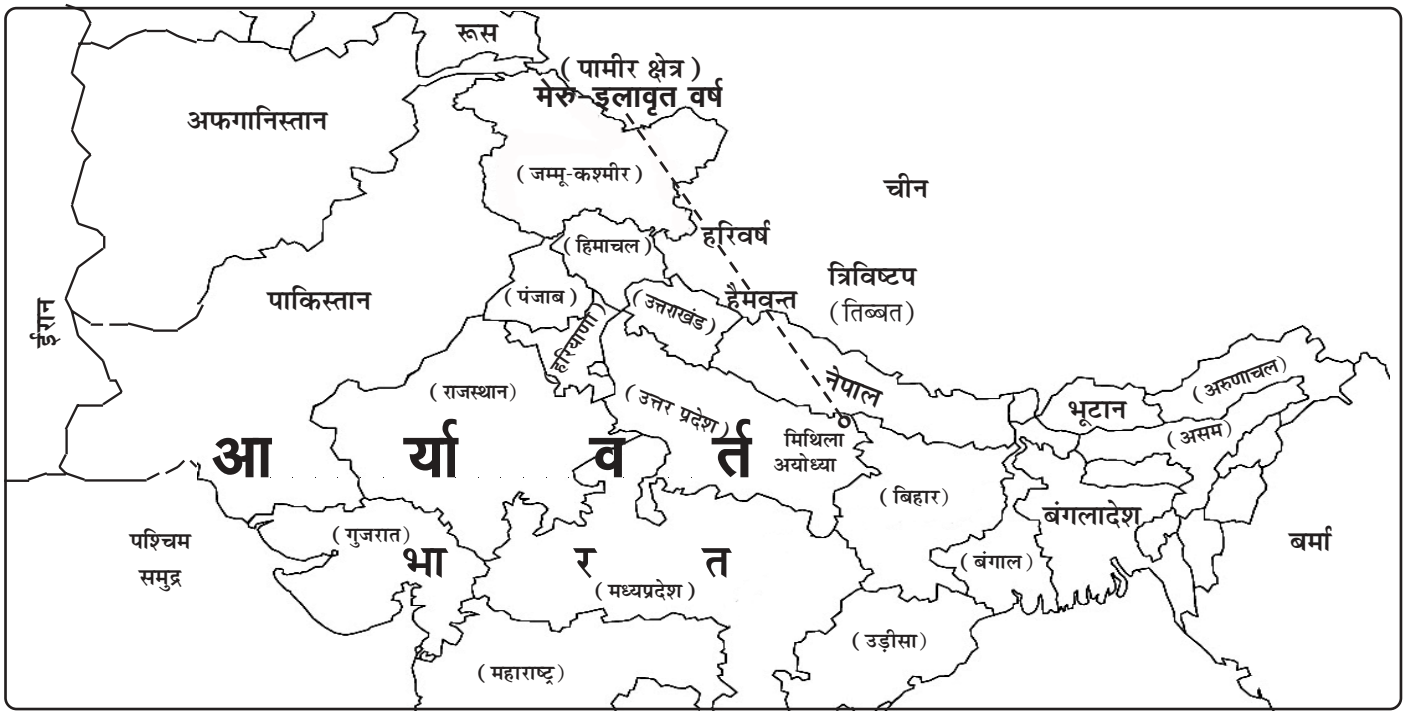
उदयपुर सं० को चुनौती और अनर्गल उत्तर—एक लेख में मेरे द्वारा यह जिज्ञासा किये जाने के बाद कि 'महर्षि व्यास का आश्रम क्या अमेरिका में था? और कहां था?', उदयपुर संस्करण के सम्पादकों ने बौखला कर ऐसा आक्रामक उत्तर दिया जैसे इनसे प्रश्न करके मैंने कोई अपराध किया हो। **पहले लेखक** ने मेरे लिए लिखा—''आप लिखते हैं कि सत्यार्थप्रकाश में महाभारत के उद्धृत प्रसंग में व्यास का निवास मेरु=हिमालय पर लिखा है। क्या आप ऐसा लिखा दिखा सकते हैं? यदि नहीं तो सत्यार्थप्रकाश पर लिखना बंद कर दीजिए।'' लेखक महोदय! यह कथन महाभारत का है, मेरा नहीं। उसके प्रमाण पूर्व पंक्तियों में मैंने दिखा दिये हैं, अब आप उनको ध्यान से पढ़ लीजिए। हाँ, आपकी तरह मैं नहीं चाहूंगा कि आप सत्यार्थप्रकाश पर लिखना बंद करें। इतना निवेदन है कि एक बार भूगोल का अध्ययन और मनन अवश्य कर लीजिए। सिद्ध तथ्यों के विरुद्ध विद्वानों द्वारा लिखना सम्मानप्रद नहीं माना जाता। **दूसरे लेखक** इसका उत्तर नहीं दे सके। **तीसरे लेखक** ने अनावश्यक रूप से तालिका का आडम्बर करके दिखाया है कि सभी सम्पादकों ने यह पाठ ग्रहण किया है। उनका उत्तर ही अवांछनीय है, क्योंकि उदयपुर सं० का यह 'शोध-आधार' ही नहीं है। उन्होंने लिखा कि ''यहूदी'' शब्द महर्षि ने अपने हाथ से लिखा है। लेखक महोदय! मूलहस्त० में महर्षि ने अपने हाथ से यह लिखा है—''**ओ३म् सच्चिदानन्दायेश्वराय नमो नमः**''। उदयपुर सं० ने शुद्ध पाठ होते हुए भी इसका तिरस्कार करके इसको बाहर का रास्ता दिखा दिया और उसकी तुलना में मुद्रणलिपिकर का पाठ ग्रहण कर लिया। वहां ऋषि के हस्तलेख का तर्क कहां चला गया? **चौथे लेखक** कोई समाधान नहीं दे सके, अपितु असम्बद्ध, ऊलजलूल और बचकानी बातें लिखकर उत्तरदाता बन गये। ये लेखक इतिहासविरुद्ध, मनघड़न्त गपोड़ा लिखते हैं—''**एक समय व्यास जी अमेरिका प्रचार के लिए गए थे।**'' ये श्रीमान् ऐसे गप्प हांक रहे है जैसे व्यास इनसे पूछकर गये थे!! देखिए महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—''**एक समय व्यास जी अपने पुत्र शुक और शिष्य सहित पाताल अर्थात् जिसको इस समय 'अमेरिका' कहते हैं उसमें निवास करते थे**'', महर्षि लिख रहे हैं ''**निवास करते थे**''और ये लेखक महर्षि के लेख के विरुद्ध कह रहे हैं ''**प्रचार के लिए गए थे।**'' बेसिर-पैर की कपोलकल्पना की इस लेखक ने तो सारी हदें पार कर दीं। लेखक महोदय! कुछ लिखने से पहले कम-से-कम ऋषि के वाक्य को और महाभारत के इस प्रसंग को पढ़ तो लेते, तब आप उपहास के पात्र नहीं बनते। उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि उदयपुर संस्करण के सम्पादकों का उत्तर-निर्धारण में एकमत या विमत नहीं है, अतः यह संस्करण भी कथित दश विद्वानों का सम्पादन नहीं है।

११-१२. मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में क्रमशः ''**उत्तर**'' के स्थान पर ''**प्रत्युत्तर**'' और ''**हे पुत्र**'' पाठान्तर व्यर्थ किया है। मूलह० का पाठ स्पष्ट एवं पूर्ण है।

प्रथम, '**मेरु** [**वर्ष**' और **हरिवर्ष**][१] अर्थात् हिमालय से ईशान, उत्तर और वायव्य दिशा में जो देश बसते हैं,[२] उनका नाम '**हरिवर्ष**' था। अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को, उस देश के मनुष्य अब भी '**रक्तमुख**' बन्दर के कुछ-कुछ समान और भूरे नेत्रवाले होते हैं।[३] जिन देशों का नाम इस समय **यूरोप** है, उन्हीं

---

१. व्यासपुत्र शुकाचार्य का मेरुवर्ष से मिथिला आने-लौटने का अनुमानित मार्ग—



आर्यावर्त (भारत) के उत्तरार्ध भाग के इस मानचित्र में कोष्ठक में आधुनिक प्रदेशों के नाम हैं और कोष्ठकरहित नाम महाभारत-वर्णित हैं।

२. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० तथा द्वि०सं० में यह अपपाठ है—"**वायव्य देश में जो देश बसते हैं**"। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर ने श्रवणभ्रान्ति से "**दिशा**" के स्थान में "**देश**" लिख दिया। भद में अपपाठ है, वेस, जग में अग्राह्य संशोधन "**वायव्य कोण में**" है। युमी, विस, जस, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा मूर्खता से अपपाठ परिवर्तन की कहानी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह पाठ अस्त-व्यस्त है। ऐसा मुद्रणलिपिकर की अज्ञानता से हुआ है। मूलहस्तलेख में बिल्कुल ठीक पाठ यह था—"**उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख बंदर के कुछ-कुछ समान मुखाकृति और आंखों की आकृतियुक्त होते हैं।**" मुद्रणप्रति में इस वाक्य में "**अर्थात्**" पद डालकर यह नया वाक्य बना दिया—"**रक्तमुख अर्थात् वानर के समान कुछ-कुछ मुखाकृति और नेत्र होते हैं।**" जबकि यहां '**अर्थात्**' की बिल्कुल आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि "**रक्तमुख बंदर के कुछ-कुछ समान**" में उपमा का पूर्ण भाव प्रकट हो रहा था कि उनका कुछ-कुछ लाल मुख होता है। फिर शोधक ने कुछ विचार कर "**कुछ-कुछ मुखाकृति और**" इतने पद काटकर ऊपर "**भूरे**" पद लिख दिया। यही पाठ द्वि० सं० में छपता रहा। फिर किसी सम्पादक ने "**नेत्र वाले**" संशोधन कर दिया। मुद्रणप्रति के पाठ का संशोधन भी ग्रन्थकार शायद इस प्रकार करना चाहते थे—"**रक्तमुख वानर के कुछ-कुछ समान और भूरे नेत्र वाले होते हैं**" किन्तु वह रह गया। अब द्वि०सं० में यह अपपाठ छप रहा है—"**रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्र वाले होते हैं।**" '**रक्तमुख**' का न तो 'वानर' अर्थ है और न '**भूरे नेत्रवाला**' फिर '**अर्थात्**' निरर्थक है। यह विशेषण था जिसका अर्थ ही लुप्त हो गया। यही अपपाठ वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में है। मूलप्रति सं० में मूलहस्तलेख का पाठ छोड़कर आधा मूलहस्तलेख का और आधार मुद्रणहस्तलेख का पाठ ग्रहण करके अपना नया पाठ बना दिया। अब यहां '**और**' पद लगाकर इस पाठ को सही रूप देना आवश्यक है। मूलहस्त० का महर्षिप्रोक्त पाठ स्पष्ट और पूर्ण होने से ग्राह्य है।

को संस्कृत में '**हरिवर्ष**' कहते थे; उन देशों को देखते हुए, और जिनको '**हूण**'[१] भी कहते हैं उन देशों को देखकर '**चीन**' में आये। चीन से हिमालय [=हैमवत] और हिमालय से मिथिलापुरी को आये।[२]

और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन '**पाताल**' में अश्वतरी अर्थात् जिसको **अग्रियान नौका** कहते हैं, उस पर बैठके '**पाताल**' में जाके **महाराजे युधिष्ठिर**[३] के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह '**गान्धार**' जिसको '**कंधार**' कहते हैं,[४] वहां की राजपुत्री से हुआ। माद्री[५] जो कि पाण्डु की स्त्री थी, **ईरान** के राजा की कन्या थी और अर्जुन का विवाह '**पाताल**' में जिसको **अमेरिका** कहते हैं, वहां

१. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलसं०, द्वि०सं० में यहां ''**यहूदी**'' नाम मिलता है जो असंगत है। मूसा के अनुयायी 'यहूदाह' कबीले के लोगों का 'यहूदी' नाम पड़ा। 'यहूद' नामक देश के निवासी होने के कारण भी इनको 'यहूदी' कहा जाता है। **महाभारतकाल तक 'यहूदी' मत का आविर्भाव ही नहीं हुआ था, अतः 'यहूदी' लोगों का निवास भी कहीं नहीं था। यहूदी मत के आविर्भाव का समय ३५०० से ३००० वर्षों के मध्य का है। यहूदी लोग मूलतः इजरायल के निवासी हैं।** मुद्रणहस्त० में संशोधन के समय यह इतिहासविरुद्ध शब्द लिखा गया है। मूलहस्त० के पाठ में यह नहीं है, अतः वही ग्राह्य है।

२. **भौगोलिक क्षेत्रों का परिचय**—इस अनुच्छेद में वर्णित क्षेत्रों का भौगोलिक परिचय संक्षेप से इस प्रकार है—

(क) मेरुवर्ष—प्राचीन विवरणों के अनुसार '**मेरु पर्वत**' या '**सुमेरु पर्वत**' चतुर्द्वीपा पृथिवी का केन्द्र माना गया है। इसके चारों ओर के सटे प्रदेश को '**मेरुवर्ष**' कहा गया है। यह देववंशी ब्रह्मा आदि ऋषियों तथा इन्द्र, विष्णु, शिव आदि का आदि-निवास स्थान रहा है। इसी पर्वत पर महर्षि व्यास का आश्रम था, यह पूर्व टिप्पणी में बताया जा चुका है। यह मेरुवर्ष और मेरुपर्वत 'बृहत् हिमालय' के अन्तर्गत आता है। जब हम समझने के लिए हिमालय को अनेक अंगों में बांटते हैं तो कहा करते हैं कि मेरु हिमालय के उत्तर में स्थित है क्योंकि हिमालय का मुख्य भाग भारत-नेपाल के साथ सटा हुआ है और भारत का अंग रहा है। भूगोलवेत्ता इस स्थान की पहचान '**तियानशान**' पर्वत और वर्तमान **पामीर** क्षेत्र से करते हैं जो रूस, चीन, अफगानिस्तान, कश्मीर की सीमाओं को जोड़नेवाला प्रदेश है और जहां पश्चिम की ओर से **हिन्दूकुश,** पूर्व की ओर से **कुनलुन,** दक्षिण की ओर से **हिमालय,** उत्तर की ओर से **तियानशान,** ये चार पर्वतमालाएं मिलती हैं। भारतीय साहित्य के अनुसार, इस क्षेत्र से चार गंगाओं (बड़ी प्राकृतिक नदियों) का उद्भव होता है। पश्चिम की ओर **वक्षु** नदी (उजबेकिस्तान की आक्सस या आमू दरिया), पूर्व की ओर **सीता** (चीन की यारकन्द या तारिम नदी), दक्षिण की ओर **अलखनंदा** (भारत की गंगा नदी) और उत्तर की ओर **भद्रसोमा** (रूस की सर या जक्सरटीज) निकलती है। फारसी में 'पामीर' को '**पाइमीर**' कहा जाता है। यह संस्कृत पद '**पादमेरु**' का अप्रभंश है। इसका अर्थ हुआ—'**मेरु का चरण प्रदेश=तलहटी का प्रदेश। इस प्रकार तियानशान**' को मुख्य मेरुपर्वत मानें और पामीर को उसका क्षेत्र, तो संगति बन जाती है।

(ख) हरिवर्ष—मेरुवर्ष से दक्षिण और हैमवत वर्ष से उत्तर में हरिवर्ष की स्थिति बताई गई है। यह हेमकूट और मेरुपर्वत के मध्य स्थित था (महाभारत, भीष्म० ६.८)।

(ग) हैमवत वर्ष—हेमकूट पर्वत के दक्षिण का वह क्षेत्र जो मुख्य हिमालय से उत्तर का भाग है, उसको हैमवत वर्ष कहा गया है। इसका विस्तार हिमालय के साथ लगते उसके उत्तरी भाग में हेमकूट पर्वत तक था। (महाभारत, भीष्म० ६.७)।

(घ) मिथिलापुरी—कभी जनक राजर्षि के कारण सुप्रसिद्ध रहा मिथिला राज्य आज बहुत अधिक नहीं जाना जाता। नेपाल की तराई में स्थित मिथिला पुरी को आज '**जनकपुर**' के नाम से जाना जाता है, जहां खण्डहर है। इस राज्य में कभी नेपाल के कुछ क्षेत्र के साथ वर्तमान बिहार के मुजफ्फरपुर-दरभंगा जिलों का क्षेत्र समाहित था।

इस प्रकार व्यासपुत्र आचार्य शुक मेरु पर्वत से चलकर हरिवर्ष और हैमवत को पार करके भारतवर्ष के मिथिला में आये थे।

३. **ऋषिहस्तलेख में व्यर्थ परिवर्तन**—मूलह० में ''**महाराजे**'' ऋषिलिखित है (पृ० ३६३, ३६४)। मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ ही ''**महाराज**'' पाठान्तर कर दिया। वही द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में छपा है।

४. **गान्धार**—यह वर्तमान कन्धार प्रदेश का प्राचीन नाम है जो विकृत होकर '**कंधार**' बन गया है। वह वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान में है जो सिन्धु नदी के दोनों ओर स्थित है। इसकी प्राचीन राजधानियां '**पुष्करावती**' और '**तक्षशिला**' रही हैं। पुष्करावती को भरत के पुत्र **पुष्कर** ने बसाया था। यह राज्य कभी भारत के सोलह महाजनपदों में एक रहा है।

५. **माद्री**—'**माद्री**' यह नाम '**मद्र देश**' की राजकुमारी होने के कारण प्रसिद्ध हुआ था। प्राचीन काल में समयानुसार कई मद्र देशों का उल्लेख मिलता है, जैसे—'**पूर्वमद्र**', '**अपर मद्र**'। प्राचीनतम साहित्य में एक '**उत्तर मद्र**' का भी उल्लेख आता है जो हिमालय के पार था (''**परेण हिमवन्तं... उत्तरमद्राः**'', ऐतरेय ब्राह्मण ३८.३)। कभी ईरान का क्षेत्र मद्र के अधीन रहा है। इस कारण ईरान को मद्र का भाग कहा जाता था। ग्रन्थकार ने उसको वर्तमान '**ईरान**' के नाम से व्यवहृत किया है। महाभारत काल

के राजा की लड़की उलूपी[१] के साथ हुआ था। जो देशदेशान्तरों,[२] द्वीपद्वीपान्तरों[३] में न जाते होते, तो ये सब बातें क्योंकर हो सकती थीं?

'**मनुस्मृति**' में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर 'कर' लेना लिखा है, वह भी आर्यावर्त से द्वीपान्तरों[४] में जाने के कारण है।[५] और जब महाराजे युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे।[६] जो दोष मानते होते तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्यावर्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य और

में **शल्य** '**मद्रदेश**' का राजा था, पाण्डुपत्नी '**माद्री**' उसी की बहन थी।

१. **उलूपी**—इस नाम की शुद्ध वर्तनी '**उलूपी**' है। दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में इसकी अशुद्ध वर्तनी '**उलोपी**' मिलती है। यह ऐरावत कुल में उत्पन्न कौरव्य नामक नागवंशी राजा की पुत्री थी (महा० आदि० २१३। १२, १३, ३६)। नागवंशियों का प्रमुख आदि-सत्ताकेन्द्र पाताल में था, जिसको वर्तमान में दक्षिण '**अमेरिका द्वीप**' कहा जाता है। उस प्रदेश के सात विभाग थे जिन्हें भारतीय प्राचीन साहित्य में 'सात पाताल' कहा गया है। वे हैं—**अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल** और **पाताल** [योगदर्शन व्यासभाष्य ३.२६]। यह पृथ्वी का निम्नतम द्वीप है। पाठक ध्यान दें, अमेरिका से लगता हुआ समुद्र आज भी '**अटलांटिक**' कहाता है जो '**अतलान्तिक**' (=अतल नामक देश से लगता समुद्र) का ही तद्भव रूप है। महर्षि ने उलूपी को इसी आधार पर अमेरिका निवासी लिखा है कि वह मूलत: उस आर्य नागवंशी राजकुल की थी जिनका आदि शासन-क्षेत्र कभी '**पाताल**' था। हम आज की भाषा में यह कह सकते हैं कि उलूपी पाताल मूल अर्थात् अमेरिकी मूल की थी।

यही भाव महर्षि ने अष्टम समु० पृ० ४१३ पर प्रस्तुत किया है—"**आर्यावर्त की सूध पर नीचे रहनेवालों का नाम 'नाग' और देश का नाम 'पाताल' इसलिये कहते हैं कि वह देश 'पाद' अर्थात् पगों के तले में है। और उनके 'नागवंशी' अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी [वंश] की उलूपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था।**"

महाभारत के आस्तीक पर्व में (आदिपर्व के अन्तर्गत) अध्याय १३ से ५८ तक नागों के इतिहास का वर्णन है। सबसे नीचेवाले पाताल में नागों का शासन था, जिनके शासक वासुकि, धृतराष्ट्र, धनंजय, शंखचूड आदि आर्य हुए हैं। मैक्सिको, पेरु आदि देशों में आज भी '**अजटेक**' नामक जाति रहती है। यह नाम महर्षि '**आस्तीक**' के नाम का अपभ्रंश है। यह वह ऋषि है जिसने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय के द्वारा नाग-राजाओं का संहार करते समय नाग-समुदाय की रक्षा की थी। उस उपकार के कारण वह जाति ही आस्तीक=अजटेक के नाम से प्रसिद्ध हो गई। आस्तीक, जरत्कारु ऋषि के पुत्र थे और इनका पालन-पोषण नागराज वासुकी के महल में हुआ था। इसी कारण आस्तीक ऋषि के नागों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध थे। नागवंशियों के अतिरिक्त अन्य पातालों में दैत्य और दानव वंशी जन भी रहते थे। उन्होंने वहां बड़े-बड़े नगर बसाये थे। मैक्सिको के जंगलों में अनेक खण्डहरों की खोज हो चुकी है। वहां आश्चर्यजनक निर्माण मिले हैं। इतिहासकारों ने उस सभ्यता का '**मय सभ्यता**' (माया सभ्यता) नाम दिया है। '**मय**' वैदिककालीन दैत्यवंशी आर्य शिल्पकार था। यह कश्यप और दिति की पुत्रपरम्परा में था।

आठवें समु० पृ० ४१३ तथा यहां वर्णित उलूपी के कथानक को इन्हीं प्राचीन सन्दर्भों से सम्बद्ध करके समझना चाहिए। उलूपी की अर्जुन से भेंट भारतीय प्रदेश में कहीं गंगातट पर हुई थी। वह विधवा थी। किसी युद्ध में इसका 'ऐरावत' नामक पति मारा गया था। उसने अर्जुन से 'गान्धर्व विवाह' किया। इस घटना से दो वैदिक सिद्धान्तों की पुष्टि होती है—**१. प्राचीन काल में विधवा-विवाह होता था। २. विवाह में जातिगत या देशगत भेदभाव नहीं था।** उलूपी से अर्जुन को जो पुत्र प्राप्त हुआ था उसका नाम '**इरावान्**' था।

२-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सभी स्थलों पर बहुवचन अपेक्षित है। अन्यत्र ऐसा समझें।

५. **अन्यत्र वर्णन**—मनुस्मृति में, व्यापार के लिए समुद्री मार्गों से आने-आने पर कर लेने का विधान किया है। "**दीर्घाध्वनि यथादेशं.....**" (८.४०६) आदि श्लोकों को षष्ठ समु० में पृ० ३१२-३१३ पर देखिए।

६. **राजसूय यज्ञ के समय दिग्विजय यात्रा**—पाण्डवों ने '**इन्द्रप्रस्थ**' (दिल्ली) नगर बसाकर जब राजसूय-यज्ञ का आयोजन किया तो उससे पूर्व चार पाण्डव चारों दिशाओं में दिग्विजय के लिए गये थे। महाभारत के वर्णन के अनुसार, उत्तर दिशा को जीतने के लिए **अर्जुन** निकला था। वह प्राग्ज्योतिषपुर (वर्तमान आसाम और चीन का मिलता क्षेत्र), कश्मीर, हेमकूट, कैलाश, मानसरोवर, हरिवर्ष, इलावृत (मेरुवर्ष) किम्पुरुष, भद्राश्व (चीन), रम्यक, हिरण्यक आदि देशों को जीतते हुए उत्तर कुरु (वर्तमान रूस का समरकन्द, ताशकन्द और ऊपरी क्षेत्र) तक पहुंचा था और वहां के राजाओं से 'कर' प्राप्त करके लौटा था।

भीमसेन ने पूर्वदिशा के देशों को जीतकर 'कर' ग्रहण किया था जिनमें पांचाल, विदेह, मिथिला, चेदि, कोसल, वंग (बंगाल) और समुद्र तटवर्ती तथा समुद्री टापुओं में स्थित देश थे।

भ्रमण के लिये सब भूगोल में जाते[१] थे। और **जो आजकल छूतछात और [उससे] धर्म नष्ट होने की शङ्का है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और[२] अज्ञान बढ़ने से है।**

जो मनुष्य देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों[३] में जाने-आने में शङ्का नहीं करते, वे देश-देशान्तरों के अनेकविध मनुष्यों के समागम [से], रीति-भाँति देखने [से], अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय, शूरवीर होने लगते [हैं][४] और अच्छे व्यवहार के ग्रहण और बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके, बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।[५]

भला, जो महाभ्रष्ट, म्लेच्छकुलोत्पन्न, वेश्या आदि के समागम से तो आचारभ्रष्ट और धर्महीन होना नहीं मानते, किन्तु वे देश-देशान्तरों के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं;[६] यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है?

हाँ, इतना कारण तो है कि **जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं** उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं, इसलिये उनका[७] सङ्ग करने से आर्यों को भी ये कुलक्षण न लग जायें, यह तो बात ठीक है, **परन्तु उनसे[८] व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष नहीं है। यदि उनके[९] मद्यपानादि दोषों को छोड़, गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं।** जब उनके स्पर्श और देखने में भी मूर्ख-जन पाप गिनते हैं, इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते; क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना आवश्यक[१०] है।

सज्जन लोगों को राग-द्वेष, अन्याय, मिथ्याभाषणादि दोषों को[११] छोड़ निर्वैरता, प्रीति, परोपकार,

---

सहदेव दक्षिण दिशा के देशों को विजित करते हुए किष्किन्धा, माहिष्मती (महेश्वर)तथा लंका तक गया था और उन देशों से 'कर' प्राप्त करके लाया था।

नकुल पश्चिम में रोहतक, महम, सिरसा, मरुभूमि (वर्तमान मारवाड़) यवन देश, शक देश, हूणदेश, पह्लव (इराक) तथा समुद्री टापुओं में स्थित देशों को जीतकर 'कर' लाया था। इन विजित देशों के प्राय: सभी राजा पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित भी हुए थे। (महाभारत, सभापर्व २५-३२ अध्याय)

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भ्रमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे**" अपवाक्य है, यहां अन्त में "**जाते थे**" क्रिया होनी चाहिए क्योंकि 'भ्रमण' और 'घूमना' एकार्थक हैं। सभी सं० में यही एकार्थक अपवाक्य है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में "**केवल मूर्खों के बहकाने और**" ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३-४. **त्रुटित आवश्यक पद एवं अपप्रयोग**—"**देश-देशान्तर**" "**द्वीप द्वीपान्तर**" में सर्वत्र बहुवचन चाहिए, जैसे वाक्यान्त में है। दोनों हस्त० और तीनों स० में क्रमश: यहां '**से**', '**से**' कारक प्रत्ययों के प्रयोग की आवश्यकता है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**हैं**' क्रिया त्रुटित है, स्वतन्त्र वाक्य में स्वतन्त्र क्रिया अपेक्षित है।

५. **ऋषिहस्तलेख एवं अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में**"। यह वाक्य उपर्युक्त प्रकार होना चाहिए। वेस, भद, युमी, विस, जग, जस, उदयपुर सं० में यही अपवाक्य है। "**बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं**" मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—"**धर्महीन नहीं होते किन्तु---दोष मानना केवल मूर्खता की बात है।**" मुद्रणह०, द्विप्र, द्वि० सं० में इस वाक्य में "**मानना**" के स्थान पर "**मानते हैं**" संशोधन किया है जो उचित एवं ग्राह्य है। पूर्व वाक्यखण्ड में भी "**नहीं होते**" के स्थान पर "**होना नहीं मानते**" ग्राह्य है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उनके संग करने से**" अपपाठ है, "**उनका संग करने से**" अपेक्षित है।

८-१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में क्रमश: ये अपप्रयोग हैं—"**इनसे**" , "**किन्तु इनके**", "**अवश्य**"। यहां '**उनसे**', '**यदि उनके**' प्रयोग शुद्ध हैं, क्योंकि ऊपर "**जो**" और "**उनके शरीर**" प्रयोग हैं। उनकी अपेक्षा से यहां भी वैसे ही प्रयोग वांछित हैं। "**अवश्य**" के स्थान पर विशेषण '**आवश्यक**' शुद्ध है।

११. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मिथ्याभाषणादि छोड़**" पाठ है। मुद्रणह०, द्वि०सं० में—"**मिथ्याभाषणादि**

सज्जनतादि का धारण करना उत्तम आचार है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों [में] जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हाँ, इतना अवश्य चाहिये कि वेदोक्त-धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीख लें, जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

क्या देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में राज्य वा व्यापार किये विना स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश में ही स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश [=हमारे देश][१] में व्यवहार वा राज्य करें तो सिवाय[२] दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।

पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे, देश-देशान्तरों में जाने की आज्ञा देवेंगे, तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में नहीं फसेंगे जिससे हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी।[३] इसीलिये भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें। **हां, इतना अवश्य चाहिये कि मद्य-मांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें।[४]**

क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध-समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना [है, वह][५] अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते-जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना और अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। **इसी मूढ़ता से ये लोग चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते, सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा बैठे।[६] इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खावें, परन्तु वैसा न होने पर जानो सब देश-भर में चौका लगाके [उसका] सर्वथा नाश कर दिया है।[७]**

दोषों को छोड़'' पाठ-परिवर्धन ग्राह्य है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह संदेहात्मक अपवाक्य प्राप्त है—''**और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें**''। यहां '**स्वदेश**' की संगति '**परदेशियों के अपने देश**' अर्थ में लगती प्रतीत होती है, जैसे कि वाक्यारम्भ में है। उस संदेह-निवृत्ति के लिए बृहत् कोष्ठक में दिया गया पाठ होना आवश्यक है। सभी सं० में यही पाठ है।

२. **मुद्रणकालीन हिन्दीकरण**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**सिवाय दारिद्र्य और दुःख के**'' इस मूलप्रति सं० के पाठ के स्थान पर ''**विना द्वारिद्र्य और दुःख के**'' पाठ बनाया है। मुद्रण-प्रति में '**सिवाय**' पद ही है। इसको हिन्दीकरण के लिए पं० ज्वालादत्त ने बदला है। विशेषरूप से यहां 'अतिरिक्त' पद अधिक सार्थक है। सभी द्वि०सं० में यह अप-अर्थ द्योतक पाठ है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ है—''**तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फसने से हमारी....**''। यहां उपर्युक्त संशोधित पाठ अभीष्ट है। पूर्व क्रियाओं के सम्बन्ध से यहां भी ''**नहीं फसेंगे**'' क्रिया अभीष्ट है।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—''**हाँ, इतना अवश्य चाहिये कि मद्य-मांस का ग्रहण न करें।**'' मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां कुछ परिवर्धन करके यह प्रभावी पाठ बनाया है—''**हाँ, इतना अवश्य चाहिये कि मद्य-मांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें**''। यही ग्राह्य है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**जो राजपुरुषों में----रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है**''। ''**जो**'' पद के सम्बन्ध से यहां ''**खाना है, वह**'' पाठ होना चाहिए।

६-७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति,द्विप्र० व द्वि० सं० में, यहां ''**चौका लगा बैठे**'' इस मुहावरे के व्यंग्यार्थ पर ध्यान न देने के कारण लिपिकर ने शिथिल और अन्यार्थक भाषा बना कर इस वाक्य का कबाड़ा कर दिया—''**विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।**'' इसी प्रकार आगे ''**सर्वथा नाश कर दिया है**'' के स्थान पर ''**सर्वथा**

हां, जहां पाक बने उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा-कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करनी [चाहिये][१]।

प्रश्न—सखरी-निखरी क्या है?

उत्तर—'**सखरी**' जो जल आदि में अन्न पकाये जाते [हैं],[२] और जो घी-दूध में पकाते हैं वह '**निखरी**' अर्थात् चोखी[३]। यह भी इन धूर्तों का चलाया[४] पाखण्ड है, क्योंकि जिसमें घी-दूध अधिक लगे, उसको खाने में [स्वाद आये और][५] उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे, इसीलिये यह प्रपंच रचा है।[६] नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ '**पक्का**', और न पका हुआ '**कच्चा**' है। जो पक्का खाना[७] और कच्चा न खाना है, यह भी सर्वत्र ठीक नहीं; क्योंकि चणे[८] आदि कच्चे भी खाये जाते हैं।[९]

प्रश्न—द्विज अपने हाथ से रसोई बनाके खावें; वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें?[१०]

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावें; क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यवर्णस्थ स्त्री-पुरुष [क्रमशः] विद्या पढ़ाने; राज्य पालने; और पशुपालन, खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहैं[११]। सुनो प्रमाण—

नष्ट कर दिया है'' दोषपूर्ण पाठ बनाया है। मूल वाक्य में ग्रन्थकार का यह भाव है कि आर्यावर्त के स्वातन्त्र्य आदि का और यहां की अच्छी परम्पराओं का नाश कर दिया। महर्षिप्रोक्त मूलहस्त० का वाक्य अधिक सटीक है।

पाठ-पुष्टि—अन्यत्र भी महर्षि की भाषाशैली वही है जो मूलहस्त० में है, देखिए—''**खाने-पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है। इन खाने-पीने की वस्तुओं ने तो वीरों को कायर कर दिया और चौका लगाकर बैठे-बैठे अपनी सारी बड़ाई पर चौका लग गया।.....क्या चौके के बखेड़े में तुम अपना धर्म स्थिर रख सकते हो, इस पर विचार करो।**'' (उपदेश-मंजरी, उप० ११, पृ० ७७-७८)

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य के अन्त में कोई क्रिया नहीं है और न पूर्वक्रिया से उसका कोई सम्बन्ध है, अतः '**चाहिये**' क्रिया परिवर्धित करके '**करनी चाहिये**' पाठ उपयुक्त है।

२-५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**हैं**' क्रिया त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**चोखी**'' और ''**चलाया**'' पद त्रुटित हैं, ये मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में हैं और ग्राह्य हैं। आगे, दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**स्वाद आये और**' पद उपयुक्त एवं पूर्ण अर्थ के बोध के लिए ग्राह्य हैं।

६,९,१०. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठ**—मुद्रणह० में ''**जावे। इसीलिये यह प्रपंच रचा है**'', ''**यह भी.....खाये जाते हैं**'', ''**शूद्र के हाथ की बनाई खावें, क्योंकि**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं। मूलसं० में वहीं से गृहीत हैं।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० के ''**पक्के का खाना**'' के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**पक्का खाना**'' पाठ बनाया है, जो उपयुक्त एवं ग्राह्य है।

८. '**चणा**' **प्रयोग**—यह ''**चणा**'' वर्तनी और प्रयोग गुजराती भाषा का है। हिन्दी में '**चना**' प्रयोग स्वीकृत है।

११. **प्रसंगविरुद्ध अपपाठ**—दोनों सं० में यहां से आगे यह प्रश्नविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध पाठ मिलता है—''**और शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के बिना न खावें।**'' यह कथन महर्षि के स्वीकृत और स्थापित सिद्धान्त तथा आगे वर्णित कथनों के प्रतिकूल लिपिकरों द्वारा समाविष्ट किया गया है। इसका वैदिक वर्णव्यवस्था से कोई तालमेल नहीं है।

जैसा कि दूसरे समुल्लास पृ० ६६-६८ की टिप्पणी में कहा गया है कि महर्षि दयानन्द के समय लोग जन्मना जातिवाद के संस्कारों और रूढ़िवादी विचारों से पूर्णतः ग्रस्त थे। महर्षि को जो लेखक मिले वे भी उन्हीं संस्कारों से ओतप्रोत थे। अन्तर-जातीय भोजन और विवाह, शूद्रों और स्त्रियों आदि के लिए वेदाध्ययन-धर्मानुष्ठान, यज्ञोपवीत आदि के अधिकार सम्बन्धी महर्षि के क्रान्तिकारी विचार उन लेखकों को न तो सहन होते थे और न स्वीकार्य लगते थे। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लेखकों ने प्रतिलिपि करते समय कन्याओं के उपनयन न करने, मृतपितरों का तर्पण करने, मांसभक्षण आदि के समर्थक कथन प्रक्षिप्त कर दिये। छपने के बाद पाठकों के माध्यम से महर्षि को जब लेखकों की इन करतूतों का पता चला तो उन्होंने विज्ञापन देकर कहा कि पाठक इन बातों को न मानें। फिर महर्षि ने संशोधित द्वितीय संस्करण निकाला।

यहाँ यह विवरण देने का प्रयोजन यह बताना है कि वैसे ही पौराणिक संस्कारी लेखकों ने इस संवेदनशील प्रसंग में भी उसी प्रकार कई स्थानों पर घालमेल किया है। इस संस्करण में भी कहीं-कहीं वे घालमेल में सफल रहे हैं—एक उद्वेगजनक प्रमाण तो इसी समुल्लास का है। आगे पढ़कर देखें, एक प्रश्न है—''**फिर क्या उनका माँस फेंक देवें ?**'' (पृ० ५००) इसके उत्तर में पं० ज्वालादत्त ने मुद्रणप्रति में पृष्ठ के खाली स्थान में एक पूरा अनुच्छेद जोड़ दिया था जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किन पशु-पक्षियों का मांस खाना चाहिए और किनका नहीं। महर्षि की दृष्टि में भी वह नहीं आया अथवा महर्षि के पाठ-निरीक्षण के बाद प्रेस में भेजते समय-चोरी-छिपे लिख दिया। (द्रष्टव्य है मुद्रणप्रतिलिपि के हस्तलेख का पृष्ठ १८३ (१८९)। प्रकाशन के समय मुंशी समर्थदान ने उसको निकाला, यदि वह छप जाता तो सोचिए क्या होता! सत्यार्थप्रकाश के लेखन में लिपिकरों-लेखकों ने जाने कैसा-कैसा अनर्थ किया है।

सम्पूर्ण 'भक्ष्याभक्ष्य' प्रसंग को पढ़ने पर इसके दो मुख्य निष्कर्ष सामने आते हैं। महर्षि के मन्तव्य हैं—

(क) शूद्र अस्पृश्य नहीं हैं और छूतछात अवैदिक है और मूर्खों का बहकावा तथा अज्ञान है। अत: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को शूद्रों के हाथ का बना भोजन करना चाहिए, द्विजवर्णों को चौका-चूल्हा आदि के भोजन के बखेड़े में नहीं पड़ना चाहिए। भोजन पकाने आदि का काम शूद्रों को सौंपकर द्विजों को अपने कर्त्तव्यों एवं व्यवसायों की उन्नति में समय लगाना चाहिए। सेवा करना, भोजन आदि पकाना शूद्रों का रोजगार है, वह उनको देना वर्णव्यवस्था के कर्त्तव्यों के अनुकूल है। इस प्रकार द्विजों को वर्णव्यवस्था के निर्देशों का पालन करना-कराना चाहिए।

(ख) केवल उनके हाथ का बना हुआ भोजन नहीं करना चाहिए जो मद्य-मासांहारी हैं, चाहे वे चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण ही क्यों न हों; और जो अस्वच्छ हैं, जिनका शरीर मद्य-मांसादि के दुर्गन्ध के और रोगकारक परमाणुओं से पूरित है और जिनकी मांस से भ्रष्ट पाकशाला है। उच्छिष्ट=झूठा भोजन सभी को खाना वर्जित है। व्यवहार और स्पर्श किसी का वर्जित नहीं है। मनुष्य मात्र में अन्य सभी के हाथ का और साथ भोजन किया जा सकता है।

उक्त वाक्य उन्हीं रूढ़-संस्कारी लेखकों ने अपनी ओर से प्रसंगविरुद्ध एवं महर्षि की मान्यता के विरुद्ध प्रक्षिप्त कर डाला है; क्योंकि यह जन्मना मान्यता पर आधारित है। महर्षि शूद्र को जन्म से नहीं मानते। ऐसा प्रतीत होता है कि समयाभाव और कार्याधिक्य से अतिव्यस्तता के कारण महर्षि का ध्यान इस पंक्ति की ओर नहीं गया। इस पक्ष की पुष्टि में अनेक युक्तियां हैं—(क) यह पंक्ति पूर्वापरप्रसंग के विरुद्ध है। पाठक ध्यान दें कि यह विषय शूद्रों की बनाई रसोई खाने-न खाने का है। प्रश्न है कि द्विज शूद्रों की बनाई रसोई खावें ? उत्तर बड़ा स्पष्ट है कि 'खावें'। फिर इस विषय के समर्थन में 'आपस्तम्ब सूत्र' का प्रमाण दिया है। बीच के वाक्य में प्रस्तुत इस मान्यता का न तो प्रश्न के साथ सम्बन्ध है और न पूर्वापर पंक्तियों के साथ; अपितु इस वाक्य ने प्रश्नोत्तर के पूर्वापर प्रसंग को भंग कर दिया है। (ख) यहाँ आपत्काल के बिना शूद्रों के घर न खाने का आदेश भी प्रकरण के विरुद्ध है। यहां आपत्काल के विवेचन का प्रश्न या प्रकरण ही नहीं है। उत्तर-वाक्यों के अन्त में ''**और**'' लगाकर यह वाक्य बलात् डाला गया है, ऐसा स्पष्टत: दिखायी दे रहा है। यह महर्षि की उदार मान्यता को निष्प्रभावी एवं गौण बनाने का प्रयास है। (ग) यह वाक्य स्पष्टत: स्पृश्यास्पृश्य की धारणा वाले लिपिकरों की उपज है, क्योंकि सम्पूर्ण अग्रिम प्रसंग में महर्षि कहीं स्पृश्यास्पृश्य की चर्चा नहीं करते, अपितु स्पर्श में दोष नहीं मानते (पृ० ४९४) (घ) अग्रिम सम्पूर्ण प्रसंग में शूद्रों की स्पृश्यता का प्रत्येक दृष्टि से समर्थन है। शूद्रों के स्पृष्ट अन्न में दोष समझनेवालों की धारणा को महर्षि ने ''**कपोलकल्पित एवं झूठी**'' कहा है। इस वाक्य में वर्णित मान्यता ने महर्षि की उस मूलभावना को परोक्ष ढंग से महत्त्वहीन कर दिया है। (ङ) लिपिकरों को जब यह अनुभव हुआ कि महर्षि तो यहां स्पृश्यापृश्य को जड़ से उखाड़ रहे हैं तो उन्होंने सोचा कि इसमें कुछ तो प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। यह सोचकर यह वाक्य पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध रूप से मिला दिया। कर्मणा वर्णव्यवस्था में यह बात व्यावहारिक दृष्टि से अर्थहीन है, क्योंकि उस व्यवस्था के अनुसार शूद्र द्विजों के घर पर भोजन-निर्माण आदि का कार्य करते हैं, वे शुद्ध-स्वच्छ होते हैं, वे अपने घर में भी अस्वच्छ और निर्धनतर नहीं होते। वे द्विजों के घर खाना बनाते हैं, वहीं उन्हीं के पात्रों में खाते हैं। देखिए, महर्षि ने ऊपर लिखा है—''**आर्यों को खिलाकर आप खावें।**'' (पृ० ४९२)। पंचमहायज्ञविधि में तो महर्षि मनु की मान्यता का समर्थन करते हुए लिखा है कि '**भृत्य आदिकों को पहले खिलाकर उसके बाद गृहस्थ स्वयं भोजन करें**' (पृ० १५५, 'दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह') अत: उक्त कथन उद्धृत मान्यताओं की भावनाओं के अनुकूल नहीं है। उक्त कथन आज के वातावरण के अतिशूद्रों की स्थिति को देखकर मिलाया गया ज्ञात होता है।' इस वाक्य को मौलिक माननेवाले सम्पादक वैदिक कालीन शूद्र को, जातिव्यवस्था के शूद्र के समान कंगाल, अस्वच्छ और दीन-हीन मान बैठते हैं, **जबकि वैदिक शूद्र आर्य कुलों के ही अशिक्षित व्यक्ति होते थे।** (च) महर्षि ने अग्रिम प्रश्न के उत्तर में वर्तमान शूद्रों के भी पात्रों और घर को सामान्य स्पृश्यरूप से ग्रहण कर उस पक्ष को स्वीकार किया है—''**क्योंकि जब शूद्र.....दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते.....जब इन पदार्थों को खाया तो जानो सबके हाथ का खा लिया।**'' (पृ० ४९४) उक्त वाक्य का इस कथन से परस्परविरोध है। (छ) महर्षि ने अगला प्रश्न उठाकर जातिवादियों के मतानुसार अदृष्ट में दोष न होना कहलाया। उत्तर में महर्षि उन पर आक्षेप करते हुए उन्हें कहते हैं कि तुमने अपना मतलब-सिन्धु बना रखा है। महर्षि

"आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः।"

यह आपस्तम्ब[१] का सूत्र है [आपस्तम्ब धर्मसूत्र, प्रश्न २। पटल २। खण्ड ३। सूत्र ४]॥

=आर्यों [=द्विजों][२] के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख [=अशिक्षित] स्त्री-पुरुष पाकादि सेवा करें, परन्तु वे शरीर, वस्त्र आदि से पवित्र रहैं। आर्यों [=द्विजों][३] के घर में जब रसोई बनावें तब मुख बांधके बनावें; क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े। आठवें दिन क्षौर, नखच्छेदन करावें। स्नान करके पाक बनाया करें। आर्यों [=द्विजों][४] को खिलाके आप खावें।[५]

प्रकारान्तर से कह रहे हैं कि जब चीनी, रस आदि खाते हो तो शूद्र के अदृष्ट भोजन में भी दोष नहीं है, केवल मद्य-मांसाहारियों के साथ खाने में दोष है। उक्त पाठ इस मान्यता के सर्वथा विपरीत है, अतः महर्षि का नहीं है। (ज) महर्षि की मान्यता देखिए—**"जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर सब आर्यों के हाथ का खाने में कुछ भी हानि नहीं।"** (पृ० ५०७/७) महर्षि शूद्रों को आर्यों के अन्तर्गत मानते हैं (पृ० ४०३/३)। उक्त पंक्ति इस मान्यता के विरुद्ध है। महर्षि के मतानुसार जब शूद्र के हाथ का बना खाने का विधान है, वह द्विजों के पात्रों में खा सकता है, वह आर्य है और उसके अदृष्ट भोजन तथा पात्रों में दोष नहीं है तो उक्त पंक्ति का कोई औचित्य नहीं। इन सब तर्कों के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि उक्त वाक्य जन्मना जातिवादी लेखकों के मस्तिष्क की उपज है, महर्षि दयानन्द का नहीं। अतः अग्राह्य है।

स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती ने उक्त वाक्य को असंगत मानकर बृ० कोष्ठक में रखकर निकालने का सुझाव दिया है। इस पर **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने आलोचना करते हुए स्वामी वेदानन्द जी पर स्वामी दयानन्द जी सरस्वती से बढ़कर अछूतोद्धारक होने का कटाक्ष किया है। (सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा, पृ० १३०-१३३)। स्वयं को ऋषि दयानन्द का अनन्य समर्थक प्रदर्शित करने वाले श्री शास्त्री जी ने तीन पृष्ठ सिद्धान्त-विरोधी, ऋषि-विरोधी और वर्णव्यवस्था-विरोधी इस बात को सिद्ध करने में अर्पित कर दिये कि 'शूद्र का भोजन अथवा निम्न जातियों का भोजन भक्ष्य नहीं होता।' इसके प्रवाह में वे यह भी भूल गये कि वे महर्षि द्वारा कुछ पंक्ति आगे वर्णित **'शूद्रों के अदृष्ट भोजन'** के समर्थित प्रसंग के विरुद्ध लिख रहे हैं। वहां महर्षि ने स्पष्ट लिखा है कि **जिन्होंने इनके बर्तनों का रस, गुड़, चीनी, कन्द, फल, मूल आदि खा लिये उन्होंने "जानो सबके हाथ का खा लिया।"** और जो लोग इन अदृष्ट भक्ष्य पदार्थों में दोष नहीं मानते वे **"मतलब सिन्धु"** की बात करते हैं। वस्तुतः ऐसे विद्वानों की मानसिकता में आजतक भी द्विजकुलों से बननेवाले आर्यशूद्रों की स्वच्छ-समृद्ध छवि नहीं बनी है अपितु जातिव्यवस्था के अतिशूद्र की छवि बसी है। तभी तो अपने पक्ष के समर्थन में शास्त्री जी यह लिखते हैं—**"यदि शूद्र के पात्रों में जली-भुनी महीनों पुरानी हाण्डी में पका भोजन खायेगा तो क्या वह अपनी सत्व वृत्ति को बचा सकता है?"** (पृ० १३२)। यही बेतुकी बात **स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती** ने 'सत्यार्थ-भास्कर' में लिख डाली। उनके इस वाक्य से ऐसा संकेत मिलता है कि जैसे आर्यों के घरों, पात्रों, वस्त्रों, अन्न, भोजन आदि को स्वच्छ करने और रखने का दायित्व निभानेवाला शूद्र, जो आर्यों के घर में खाता-पीता और रहता है, वह अपने बर्तन स्वच्छ रखना नहीं जानता, न रख सकता है और न उसके पास अच्छे बर्तन हो सकते हैं।

एक ओर ये लोग तर्क-प्रमाण देकर बताते हैं कि द्विजों के कुलों में आशिक्षित रहनेवाले ही शूद्र कहाते हैं, दूसरी ओर उन सबको घृणित मान रहे हैं। आश्चर्य है, द्विजों के कुलों से बननेवाले ये शूद्र उन्हें ढंग के बर्तन रखने लायक भी नहीं लगते! अपने घरों में उनसे सारे काम कराने के बावजूद उनसे अपने सत्त्वगुण नष्ट होने का खतरा भी इनको है। क्या अद्भुत सोच है! यह सिद्धान्त भी पता नहीं कहां से आ टपका कि शूद्र के पात्र से सत्त्व, रज, तम गुण नष्ट और निर्मित होते हैं! यह बात अलग है कि सारा जीवन न जाने कितनी बार इन विद्वानों ने कथित शूद्रों के बर्तनों में दूध, पानी, चाय, जूस, रस और अन्य तरल पदार्थ पीये होंगे, चीनी-गुड़ आदि प्रयोग किये होंगे। पर, क्योंकि पूर्वाग्रह के कारण शूद्रों का विरोध करना ही इनका लक्ष्य था, अतः अपने जीवन की वास्तविकता को भुलाकर वह कर दिया। यह भी विशेष ध्यान देने की बात है कि शास्त्री जी ने इतनी लम्बी समीक्षा में **मूल बिन्दु का, कि यह प्रसंगविरुद्ध, प्रश्नविरुद्ध तर्कहीन वाक्य यहां क्यों है, कोई भी उत्तर नहीं दिया।** समीक्षा का निचोड़ यही है कि महर्षि के लाख प्रयत्नों के बाद भी कुछ लोगों की जातिवादी मानसिकता नहीं बदली है। जब महर्षि के समर्थन में ताल ठोंकनेवाले विद्वानों का यह हाल है तो सामान्य जनों से मानसिकता-परिवर्तन की क्या आशा की जा सकती है?

१. **अयोग्य लिपिकर-शोधक**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में अशुद्ध वर्तनी **"आपस्तम्भ"** है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

२-४. **आर्य का अर्थ द्विज**—यहां प्रसंगानुसार **'आर्य'** का अर्थ **'द्विज'** होगा। क्योंकि, प्रश्न में 'द्विज' पद का उल्लेख है और उत्तर में भी तीन द्विजों का वर्णन है। उसी के समर्थन में **"आर्याधिष्ठिता---"** प्रमाण प्रस्तुत किया गया है, अतः आर्य से द्विज का ग्रहण

प्रश्न—शूद्र के छुए हुये पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं?

उत्तर—यह बात कपोलकल्पित [और] झूठी है; क्योंकि जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिसान,[१] शाक, फल, मूल खाया, उन्होंने जानो सब जगत्-भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र[२], मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते, छीलते, पीलकर रस

है। महर्षि ने गत पृष्ठ पर द्विजों का नाम आर्य लिखा है और अशिक्षित लोगों को शूद्र कहा है। प्राय: सभी कोशों में आर्य का 'द्विज' अर्थ प्रस्तुत किया गया है। इन्हें पर्यायवाची माना है। शूद्रों को द्विजों के घरों में सेवा करने का निर्देश है। यहां भी आर्य नाम से वर्णित द्विज हैं। अत: स्पष्टता के लिए आर्य का 'द्विज' अर्थ ग्राह्य है।

५. **मुख को बांधने का प्रयोजन**—भोजन-निर्माण तथा रोग-स्थान पर मुख पर पट्टी बांधना स्वास्थ्य की दृष्टि से, रोगाणुओं से बचाव की दृष्टि से और स्वच्छता की दृष्टि से अत्यन्त हितकर है। यही कारण है कि चिकित्सालयों में मुख पर पट्टी बांधना अनिवार्य होता है। विशिष्ट व्यक्तियों के भोजन-निर्माण के समय अथवा उच्चस्तरीय होटलों में पट्टी का होना और सिर ढका रहना आवश्यक होते हैं। ऐसा करने से रोगाणुओं से बचाव रहता है, उच्छिष्टता नहीं होती, केश आदि भोजन में नहीं गिरते।

१. **अयोग्य मुद्रणलिपिकर और संशोधन**—मूलह० में ठीक पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने अशुद्ध वर्तनी "**पिशान**" लिखी है। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं० में पुन: संशोधित है। मूलसं० में शुद्ध है।

२. **अपपाठ**—यहां यह पाठ मिलता है—"**जब शूद्र, चमार, भंगी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग....**" इस वाक्य में जाति वाचक नामों का प्रयोग महर्षि की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता के विरुद्ध, वर्णन शैली के विरुद्ध, मूलभावना के प्रतिकूल और प्रश्न के प्रसंग के प्रतिकूल है। जन्मना जातिवाद पर आधारित होने के कारण ये प्रयोग महर्षि के नहीं, अपितु जातिवादी लिपिकरों द्वारा लिखते समय मिलाये गये प्रतीत होते हैं। आइये, इस पर विस्तार से चर्चा करें।

(क) इस बात के पाण्डुलिपीय प्रमाण उपलब्ध हो गये हैं कि जातिवादी दुराग्रही लिपिकर्त्ताओं ने लिखते-लिखते अथवा प्रतिलिपि करते समय जातिवाचक और निन्दावाचक शब्द जोड़े हैं। मूलहस्तलेख पृ० ४३ पर यह वाक्य है—"**उस भंगी, चमार आदि के पगों में पड़के.....**"। बाद में मुद्रणप्रति तैयार करते समय मुद्रणप्रतिलिपिकर ने इसमें निम्न स्थिति बोधक "**नीच**" शब्द जोड़कर यह नया वाक्य बना दिया—"**उस भंगी, चमार आदि नीच के पगों में पड़के.....**"

(ख) मूलहस्त० में पृ० २८८ पर वाक्य था—"**ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना भंगी का नहीं।**" इसको मुद्रणहस्त० में बदलकर कर दिया—"**ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चांडालादि, नीच भंगी, चमार आदि का न खाना।**" यहां पहले लिपिकर्त्ता ने अप्रासंगिक रूप से "**भंगी**" शब्द जोड़ा फिर मुद्रणलिपिकर्त्ता ने "**चमार**" और "**नीच**" शब्द भी जोड़ दिये। पाठक देखें कि वहां एक ही वाक्य में पहले "**चांडालादि**" शब्द है, फिर "**चमार आदि**"। वर्गों की अधिकता बतलाने के लिए एक ही वाक्यांश में दो बार "**आदि**" प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से तो अशुद्ध हो ही गया है, यह भी ज्ञात हो जाता है कि बाद वाले शब्द बाद में मिलाये गये हैं, वे मूल वाक्य के अंश नहीं हैं। (पोषक प्रमाण के रूप में देखिए, पृ० ५०३ की टिप्पणी) ये पद आगे वर्णित महर्षि की मान्यता के विरुद्ध भी सिद्ध होते हैं। क्योंकि महर्षि जन्मगत आधार पर नहीं अपितु मद्य-मांसाहारी सभी जनों के घर के भोजन को अभक्ष्य मानते हैं, चाहे वे ब्राह्मण ही क्यों न हों।

पूर्व पृष्ठों से यहां दो प्रसंग चल रहे हैं—'**देशान्तरगमन में दोष है या नहीं**' और '**शूद्रों के हाथ की रसोई खायें या न खायें**'। महर्षि ने दोनों प्रसंगों में स्पष्ट किया है कि मद्यमांसाहारी-जनों, या उनके हाथ का बना भोजन न करें। मद्य-मांसाहारी मुसलमानों और ईसाइयों के स्पर्श, गुणग्रहण और व्यवहार में कोई हानि नहीं किन्तु उनके मद्य-मांसाहारी होने से उनके हाथ या घर का भोजन और उनका संग नहीं करना चाहिए, उसका कारण यह दिया है कि उससे ये पाप आर्यों को भी लग जाने की आशंका है। इसी प्रकार मद्य-मांसाहारी चाण्डालों का भी नहीं खाना चाहिए। महर्षि ने यह स्पष्ट स्थापना की है कि शूद्रवर्णस्थों के हाथ की बनी रसोई द्विजों को खानी चाहिए। अन्य किसी जन्मना जाति के वर्णन का यहां प्रश्न या प्रसंग ही नहीं है।

लिपिकरों की करतूत देखिए कि यहां '**शूद्र**' लिखने के बाद '**भंगी, चमार**' जातिगत शब्द बिना प्रश्न किये डाल दिये। प्रश्न केवल शूद्र वर्ण के बारे में है तो उत्तर भी उसी वर्ण के नामोल्लेख से होना चाहिए। प्रश्न में **भंगी, चमार** का उल्लेख नहीं है तो उत्तर में इनका उल्लेख भी प्रासंगिक नहीं है। मुसलमान, ईसाई का उल्लेख इस कारण प्रासंगिक है कि वे वर्णबाह्य मद्य-मांसभोजी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

दूसरी बात यह है कि प्रश्न के अनुसार उत्तर में '**शूद्र**' शब्द पहले पढ़ दिया है, उससे सम्बन्धित कथन और वर्णव्यवस्था से बाह्य मद्य-मांसाहारी वर्ग के मुसलमान-ईसाइयों के कथन मात्र से अभीष्ट उत्तर पूर्ण हो जाता है। '**भंगी, चमार**' का उल्लेख

निकालते हैं, तब मल-मूत्रोत्सर्ग कर, उन्हीं विना धोये हाथों से छूते, उठाते, धरते, आधा सांठा[१] चूस, रस पीके, आधा उसी में डाल देते और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं। जब चीनी बनाते हैं, तब पुराने जूते कि जिसके तले में विष्ठा, मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं।[२] दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते और आटा पीसते समय[३] भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते और पसीना भी आटे में टपकता है। शाक, फल, फूल, कन्द में भी ऐसी ही लीला होती है। **जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सबके हाथ का खा लिया।**

प्रश्न—रस, फल, फूल, कन्द, मूल और अदृष्ट में दोष [हम] नहीं मानते।[४,५]

अनावश्यक है। कर्मणा तथा जन्मना जातिव्यवस्था के अनुसार भी इन दोनों का अन्तर्भाव 'शूद्र' वर्ण में स्वतः ही हो जाता है। स्पष्ट है कि इन दोनों नामों का प्रयोग लिपिकर ने अपने दुराग्रह से जोड़ा है।

१. **सांठा**=गन्ना।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—"**उन जूतों से रगड़ते हैं।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित पाठ है—"**उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं**"। यह पाठ स्पष्ट होने से ग्राह्य है।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**आटे पीसने समय**" अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह अपपाठ है—"**आटा पीसने समय**"। यहां उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है।

४-५. **मुद्रणलिपिकर की लीला से महर्षि की सिद्धान्तहानि**—इस स्थल को देखकर ऐसा लगता है जैसे मुद्रणलिपिकर सचमुच भंगड़ था, या फिर उसने जानबूझकर शरारत की है। यहां मूलहस्त० में, प्रश्न में "**अदृष्ट में दोष नहीं**" पाठ है, यही शब्द दूसरी बार उत्तर के पाठ में हैं। मुद्रणलिपिकर ने प्रश्नगत इन शब्दों के बाद बीच का सारा पाठ छोड़कर, उत्तरवाक्य में दो पंक्ति बाद पठित "**अदृष्ट में दोष नहीं**" पदों के बाद का पाठ जोड़ दिया—"**कन्द-मूल और अदृष्ट में दोष नहीं तो भंगी वा मुसलमान अपने हाथों से**"। अर्थात् प्रश्न और उत्तर को गड्डमड्ड कर दिया। ग्रन्थकार ने जब असम्बद्ध वाक्य देखा तो उन्होंने मुद्रण-हस्तलेख में उत्तर में पठित "**तो**" पद से पहले '**उत्तर**' शब्द लिख दिया। इस प्रकार प्रश्नगत "**मानते**" से लेकर उत्तरान्तर्गत "**अदृष्ट में दोष नहीं**" तक यह सारा सैद्धान्तिक महत्त्वपूर्ण पाठ छूट गया। वेतनभोगी शोधक ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा भी इतने मक्कार निकले कि उन्होंने पाठ का मिलान नहीं किया और चद्दर तानकर सोते रहे। उनके बाद आर्य विद्वान् चद्दर तानकर सोते रहे। बीच का पाठ त्रुटित रह जाने से यहां प्रश्न और उत्तर की भाषा में बहुत ही गड़बड़-घोटाला हो गया है और महर्षि की मान्यता बिल्कुल उलट गयी है। परोप० के पांचवें संस्करण में पं० लेखराम जी ने इसे सुधारा किन्तु वैदिक यन्त्रालय से भिन्न अन्य प्रकाशनों ने इसमें सुधार नहीं किया, परिणामस्वरूप मुद्रणलिपिकर के त्रुटित पाठ से उपजी महर्षि के विरुद्ध मान्यता ही उनमें छपती आ रही है। लिपिकरों-शोधकों की लीला का दुष्परिणाम देखिए—

(क) महर्षि ने जातिवादियों पर आक्षेप करने के लिए उनकी ओर से प्रश्न में उनकी मान्यता को प्रस्तुत किया है—"**रस, फल, फूल, कन्द, मूल और अदृष्ट में दोष नहीं मानते।**" इस कांट-छांट में मुद्रणहस्त० में प्रश्न इस प्रकार बदल दिया कि जातिवादियों पर आक्षेप का अवसर ही नहीं रहा, और उलटे वह प्रश्न प्रश्नवाचक चिह्न लगाने से ग्रन्थकार से ही हो गया—"**रस, फल, फूल, कन्द, मूल और अदृष्ट में दोष नहीं ?**" जबकि महर्षि इसका उत्तर पहले ही प्रश्न के उत्तर के अन्तिम कथन में दे चुके हैं कि "**जब इन (अदृष्ट) पदार्थों को खाया तो जानो सबके हाथ का खा लिया।**"

(ख) बीच का पाठ छोड़ देने के कारण उत्तर का भाव भी विपरीतार्थ में बदल गया, जिसमें महर्षि की ओर से जातिवादियों की दोगली मानसिकता पर आक्षेप था—"**वाह जी वाह.....मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है ?**" यहाँ तक। आगे "**अच्छा, जो अदृष्ट में दोष नहीं...अदृष्ट में भी दोष है।**" यहां तक का पाठ रह गया, जिसमें जातिवादियों पर आक्षेप न होकर यह मान्यता स्थापित हो गयी कि महर्षि अदृष्ट भोजन में दोष सिद्ध कर रहे हैं। जबकि मौलिक पाठ के अनुसार महर्षि जातिवादियों पर आक्षेप कर रहे हैं कि तुम कभी तो अदृष्ट भोजन में दोष नहीं मानते और कभी भंगी वा मुसलमान के अदृष्ट भोजन का निषेध करते हो अर्थात् उस अदृष्ट भोजन में दोष मानते हो। इस प्रकार तुम्हारे मतानुसार तो सब स्थितियों में अदृष्ट-दोष होगा। प्रकारान्तर से महर्षि यह कहना चाह रहे हैं कि जैसे चीनी आदि अदृष्ट भक्ष्य में तुम दोष नहीं मानते वैसे अदृष्ट भोजन में भी नहीं है, अतः यह भी दोष मत मानो। अन्यथा, यह तुम्हारा मतलबभरा दोहरापन कहा जायेगा।

महर्षि की आक्षेपशैली होने के कारण यहां यह मान्यता स्पष्ट हुई कि '**अदृष्ट भोजन में दोष नहीं है।**' यही बात उन्होंने पूर्व प्रश्न के उत्तर के अन्तिम वाक्य में कही है। यह मान्यता प्रस्तुत करने के बाद ही वे इसका स्पष्टीकरण अगली पंक्तियों में दे रहे

उत्तर—वाह जी वाह! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल-राख खाते? गुड़-शक्कर मीठे लगते, दूध-घी पुष्टि करता है, इसीलिये यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है?

अच्छा, जो अदृष्ट में दोष नहीं [मानते], तो भङ्गी[१] वा मुसलमान[२] अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवे तो खा लोगे वा नहीं? जो कहो कि नहीं, तो [तुम्हारे मतानुसार][३] अदृष्ट में भी दोष है।

हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ का खाने में[४] आर्यों को भी मद्य-मांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है,[५] परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता। जब-तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब-तक उन्नति होना बहुत कठिन है। परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जब-तक बुरी बातें नहीं छोड़ते और अच्छी बातें नहीं करते, तब-तक बढ़ती के बदले हानि होती है।

आर्यावर्त में विदेशियों का राज्य होने के कारण,[६] आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न

हैं कि 'हाँ, मुसलमान आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ का भोजन खाने में आर्यों को भी इन दोषों के लगने का डर है, अतः उनका नहीं खाना चाहिए किन्तु सब आर्यों के हाथ का खा लेना चाहिये। कर्मणा वर्णव्यवस्था की दृष्टि से (यदि भंगी अशिक्षित है तो) वह शूद्र वर्ण में है और जन्मना जातिवाद के आधार पर भी वह शूद्र या अतिशूद्र माना गया है। अतः मद्य-मांसादि रहित स्वच्छ भंगी के हाथ का खाने में महर्षि के मतानुसार निषेध नहीं। यदि आर्यवर्णस्थ होकर भी कोई मद्य-मांसाहारी है, तो ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सबके हाथ का भोजन वर्जित है, उसमें केवल भंगी या चमार का ही ग्रहण नहीं है। यह महर्षि का सिद्धान्त है।

(ग) द्वितीय संस्करण में पाठ परिवर्तन होने से महर्षि की यह मान्यता बन गयी है कि महर्षि सभी भंगी और मुसलमान आदि के अदृष्ट भोजन में दोष मानते हैं, चाहे वे मद्य-मांसाहारी हैं या नहीं, जबकि भोजन-प्रसंग में महर्षि की यह मान्यता कहीं नहीं है। इसका अन्य मान्यताओं से विरोध उपस्थित हो गया है तथा उत्तर की अंतिम पंक्ति में उक्त इस मान्यता से भी स्पष्ट विरोध हो गया है—"**जब इन (अदृष्ट) पदार्थों को खाया तो जानो सबके हाथ का खा लिया।**" (पृ० ४९५)

अतः महर्षिप्रोक्त पाठ को मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० के अनुसार यथावत् रखा जाना चाहिए, अन्यथा महर्षि की बहुत बड़ी मान्यता-हानि होगी।

१. **भंगी प्रयोग**—पाठकों को बता दें कि यहां '**भंगी**' जातिवाचक शब्द हीनता दिखाने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह प्रसंग से 'आवश्यक सम्बन्ध' होने के कारण प्रयुक्त हुआ है तथा जातिवादियों का दृष्टिकोण दिखाने के लिए उन्हीं के मतानुसार उनकी ही भाषा में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि उन पर आक्षेप करते हुए महर्षि उनसे ही यह प्रश्न उनकी शब्दावली में ही पूछ रहे हैं। उनके व्यवहारानुसार जन्मना जातिवादी परम्परा में हिन्दुओं में भंगी सबसे अस्पृश्य माना जाता रहा है और विधर्मियों में मुसलमान। अतः उनके द्वारा दोनों में निम्नतम माने गये वर्गों का प्रतिनिधि के रूप में नाम लेकर ही उनसे भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न किया है, बताओ, इनके हाथ का अदृष्ट भोजन करोगे या नहीं? यह शब्द-प्रयोग महर्षि की अपनी मान्यता के अनुसार नहीं है, तत्कालीन प्रचलित के अनुसार है। उस समय जातिवाचक शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त होते थे, जैसे गांवों में आज भी प्रयुक्त हैं।

२. **मक्खीमार लिपिकर-शोधक**—पाठक ऋषि दयानन्द के पास काम करनेवाले लिपिकरों-शोधकों की कर्त्तव्यहीनता और उपेक्षाभाव को देखें। शायद, शीघ्रता में मूललिपिकर से यहां "**मुसलमान्**" हलन्त पद लिखा गया। मुद्रणप्रति बनाते समय मक्खीमार लिपिकर ने भी हलन्त लिखा है और द्विप्र० में शोधकों ने भी ठीक नहीं किया। द्वि०सं०, मूलसं० में ठीक किया है। ऐसा तो है नहीं कि वे इस अशुद्धि को नहीं पहचानते थे, किन्तु मक्कार थे; इसका यह प्रमाण है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस स्थल पर मान्यता की स्पष्टता के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**तुम्हारे अनुसार**' पाठ का परिवर्धन बहुत आवश्यक है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हाथ के खाने में**" अपप्रयोग है।

५. **अन्यत्र वर्णन**—यही विचार पृष्ठ ४९६/१९ पर भी वर्णित है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह संदेहात्मक अपपाठ मिलता है—"**विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण**"। इससे ऐसी अर्थप्रतीति होती है जैसे विदेशियों के किसी आर्यावर्त की चर्चा है। इसी प्रकार "**विदेशियों के....राज्य**

करना, विद्या न पढ़नी-पढ़ानी[१], बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति,[२] मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।

जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या तुम लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्त्र वर्षों के पहले हुई थीं, उनको भी भूल गये ? देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरवों, पाण्डवों[३] और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक, नीच के दुष्ट-मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।

भक्ष्याऽभक्ष्य दो प्रकार के होते हैं।[४] एक **धर्मशास्त्रोक्त**, दूसरा **वैद्यकशास्त्रोक्त**। जैसे धर्मशास्त्र में—

"अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥" मनु० [५।५]॥

='**द्विजों**'[५] अर्थात् ब्राह्मणों[६]-क्षत्रियों[७]-वैश्यों[८]; और शूद्रों को मलिन,[९] विष्ठा-मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक, फल, मूलादि न खाने चाहियें।[१०] जैसे—[११]

"वर्जयेन्मधु मांसं च॥" मनु० [२।१७७]

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते॥ [शार्ङ्गधर० अ० ४। श्लोक २१]

=अनेक प्रकार के मद्य, गांजा, भांग, अफीम आदि जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ [तथा मांस][१२] हैं, उनका सेवन कभी न करें। और जितने अन्न सड़े, बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और **मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है, उनके हाथ का न खावें।**

जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा [होती है][१३] अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी,

---

होने के कारण'' वाक्यरचना भी व्याकरणानुसार शुद्ध नहीं बनती। यहां ''**विदेशियों का आर्यावर्त में राज्य होने के कारण**'' पाठ उपयुक्त है। ''**विदेशियों का**'' पदों का आसत्ति सम्बन्ध ''**राज्य**'' के साथ है, अतः उक्त संशोधन आवश्यक है।

१. **ऋषिहस्तलेख**—''**ब्रह्मचर्य का.....पढ़नी-पढ़ानी**'' मुद्रणप्रति में ऋषि हस्तलेख में परिवर्धित पाठ है।

२. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० ''**विषयाशक्ति**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। इससे पूर्व द्विप्र० में ''**बाल्यवस्था**'' अपमुद्रण है। अन्य सभी सं० में यह संशोधित है।

३,५-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रमशः, ''**वर्ष, कौरव, पाण्डव, द्विज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य**'', पदों में एकवचन अपप्रयोग है, श्लोक के पदार्थ के अनुसार बहुवचन अपेक्षित है। '**मलीन**' के स्थान पर '**मलिन**' ग्राह्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० आदि में ''**होता है**'' अपपाठ है, मूलह० में शुद्ध है।

१०. **अपपाठ**—सभी सं० में ''**द्विजों.....को.....न खाना**'' अपपाठ है। उपर्युक्त संशोधन अभीष्ट है।

११. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसे**'' पद संस्कृत के वचन से पूर्व रखना उपयुक्त है, क्योंकि उसमें उदाहरण के रूप में मलिन पदार्थों का वर्णन है। जैसे देखिए पूर्व संस्कृत-वाक्य से पहले ''**जैसे**'' पद का उचित प्रयोग है। दोनों संस्कृत-उद्धरण भी साथ-साथ होने चाहिएं क्योंकि दोनों के अर्थ में एकवाक्यता है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१२-१३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यसंगति के लिए '**तथा मांस**', '**होती है**' पाठ अपेक्षित है।

बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में कुछ अधिक[१] चार लाख मनुष्यों को सुख पहुँचता है; वैसे पशुओं को न मारें, न मारने दें।

जैसे किसी गाय से वीस सेर और किसी से दो सेर दूध प्रतिदिन होवे, उसका मध्यभाग ग्यारह सेर दूध प्रत्येक गाय से होता है। कोई गाय अठारह और कोई छः महीने तक दूध देती है, उसका मध्यभाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्म-भर के दूध से २४९६० (चौवीस सहस्र नौ-सौ साठ) मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। उसके छः बछियाँ, छः बछड़े होते हैं। उनमें से दो मर जायें, तो भी दश रहे। उनमें से पांच बछड़ियों के जन्म-भर के दूध को मिलाकर १२४८०० (एक लाख चौवीस सहस्र आठ-सौ) मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पांच बैल, वे जन्म भर में ५००० (पाँच सहस्र) मन अन्न न्यून से न्यून उत्पन्न करते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य के भोजनार्थ ६० रुपये भर [=६० तोले]= तीन पाव अन्न[२] खाने का भाग देने से २,६६,६६६ (दो लाख, छियासठ हजार, छः सौ छियासठ)[३] मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिला ३,९१,४६६ (तीन लाख, इक्यानवे हजार, चार सौ छियासठ)[४] मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्यायें मिलाके एक गाय की एक पीढ़ी में ४,१६,४२६ (चार लाख, सोलह हजार, चार सौ छब्बीस)[५] मनुष्य एक वार पालित होते हैं और पीढ़ी-परपीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें तो असंख्य[६] मनुष्यों का पालन होता है। इससे भिन्न बैल, गाड़ी, सवारी, भार उठाने आदि

---

१. **गणनात्मक अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां अपपाठ है—"**कुछ कम चार लाख मनुष्यों को**"। मुद्रणहस्त० में इसके स्थान पर किसी शोधक द्वारा बदला गया पाठ—"**चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों**" अशुद्ध है। यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में है। सभी सं० में अपगणना है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने "**प्रत्येक मनुष्य**" और "**अढ़ाई लाख**" पदों के बीच का पाठ छोड़ कर यह अपपाठ लिखा—"**उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य ढ़ाई लाख मनुष्यों की तृप्ति होती है।**" शोधक ने असंगत-अपवाक्य देखकर अनुमान से यह पाठ बनाया—"**प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खावे तो**"। इस तरह संगति तो लग गई किन्तु मूलह० का शेष पाठ छूट गया। देखिए, सारे प्रकरण में यह शैली है कि महर्षि संख्या को पहले अंकों में लिखते हैं, फिर शब्दों में। अंक संख्या त्रुटित रहने से सभी द्वि०सं० में यहां संख्या केवल शब्दों में है। मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित यही पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस तथा जस, उदयपुर सं० आदि में है।

इसी प्रकार मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**भोजनार्थ ६० रुपये भर**" पाठ था। यह पाठ इस कारण उपयोगी है क्योंकि इसमें उस समय का तीन पाव का औसत माप बताया गया है। उस समय के ६० रुपयों का मतलब '**तीन पाव**' है। एक रुपया एक तोला भार का होता था और बीस तोले का एक '**पाव**' होता था।

३-५. **पं० ज्वालादत्तकृत गणनात्मक अशुद्धि**—दोनों हस्त० और सभी संस्करणों में यहां उपर्युक्त संख्याओं का कुलयोग अशुद्ध है—२,५०,००० और ३, ७४, ८०० तथा ४,७४,६००। यह अशुद्ध योग पं० ज्वालादत्त का किया है क्योंकि लेख उसी का है। तीनों कुलयोग इस प्रकार शुद्ध होंगे—५००० मन अन्न × ४०=२,००,००० सेर × ४=८,००,००० पाव बने। इसको तीन पाव से भाग देने पर २,६६,६६६ पालित मनुष्य संख्या हुई। पांच बछड़ियों द्वारा पालित २,२४,८००+२,६६,६६६=३,९१,४६६ कुल योग हुआ। फिर एक गाय के पालित मनुष्य मिलाकर ३,९१,४६६+२४,९६०=४,१६,४२६ कुल पालित मनुष्य होते हैं। पाठकगण! क्या कभी गणित के जोड़ में भी शंका या मतभेद होने की सम्भावना होती है? क्या कभी दो और दो पांच होते हैं? सवा-सौ से अधिक वर्ष बीतने पर भी, आजतक हमारे आर्यविद्वानों से यह जोड़ शुद्ध नहीं किया गया। अत्यन्त दुःख का विषय है कि हम साक्षात् स्पष्ट अशुद्धि का भी संशोधन न करने में गौरव मान बैठे हैं!!

'**गोकरुणानिधि' की गणना**—यहां पांच गायों और पांच बछड़ों से पालित मनुष्यों का औसत अनुमान निकाला है। 'गोकरुणानिधि' में छह गायों से पालित मनुष्यों की संख्या १,५४,४४० और छह बैलों से पालित की संख्या २,५६,००० और एक गाय से पालित २५७४० मिलाकर कुल ४,३६,१८० मनुष्य होते हैं। वहां ४,८०० सेर अन्न लिखा है।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में यहां "**असंख्यात**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। मूलह० का पाठ सही है।

कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं, परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंसे नहीं, तथा भैंसें गाय से दूध [की मात्रा] में अधिक उपकारक होती हैं परन्तु गाय के[१] दूध-घी से जितने बुद्धिवृद्धि से लाभ होते हैं उतने भैंस के दूध से नहीं। **इससे मुख्य उपकारक आर्यों ने गाय को गिना है। और जो**

---

१. **लिपिकरों की प्रमादलीला से अपपाठ की कहानी**—द्वि०सं० में यहां यह अपपाठ है—''**तथा गाय दूध में अधिक उपकारक होती है परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंस भी हैं।**'' यह पाठ मूलप्रति सं० में भिन्न प्रकार से है और मूलहस्तलेख में कुछ और है। लिपिकरों की प्रमादलीला से पाठ कैसे बिगड़ता गया और अपने मूलभाव से दूर चला गया, आइये, बताते हैं—

मूलहस्तलेख में यह पाठ है—''**तथा वैसे गाय से दूध में अधिक उपकारक होती हैं परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंसे नहीं। गाय के दूध घी से जितने.....।**'' यहां मूललिपिकर ध्वनि-समानता से श्रवणभ्रान्ति होने के कारण '**तथा भैंसें**' के स्थान पर ''**तथा वैसे**'' लिख गया। ''**तथा वैसे**'' निरर्थक पद इसका संकेत दे रहे हैं कि यहां पाठ अशुद्ध हो गया है। मुद्रणलिपिकर ने इस पाठ की प्रतिलिपि इस प्रकार बिगाड़कर की ''**तथा वैसे दूध में अधिक उपकारक होती है परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंस नहीं। गाय के दूध घी से जितने**---।'' बैल और भैंस का तुलनात्मक यह वाक्य इतना बेतुका बनाया है कि इसका कोई मेल नहीं। शोधक ने भी इसका अपूर्ण शोधन किया। अन्य कुछ संशोधन न कर ''**भैंस**'' पद के बाद ''**नहीं**'' पद को काटकर ऊपर लिख दिया—''**भी है परन्तु**''। अब यह पाठ अपूर्ण होने के साथ-साथ मूल हस्तलेख के भाव से विरुद्ध बन गया। यही पाठ द्विप्र० में छपा और दूसरे संस्करण तक छपता रहा। तीसरे सं० में '**गाय**' शब्द नया जुड़ गया और '**भैंस**' का '**भैंसे**' बन गया। चलो, उस सम्पादक को '**भैंस**' और '**भैंसे**' में अन्तर तो नजर आया!!

इस पाठ की करुण-कहानी यहीं समाप्त नहीं हुई। वर्तमान द्वि० सं० में यह अभी भी इस प्रकार छपता आ रहा है—''**तथा गाय दूध में अधिक उपकारक होती हैं परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे भैंस भी हैं। परन्तु गाय के दूध से जितने**---।'' यहां ''**गाय**'' पद मूलप्रति से अधिक जुड़ गया, ''**हैं**'' बहुवचन क्रिया हो गई, ''**बैल**'' और ''**भैंस**'' की असंगत तुलना का फिर से वर्णन हो गया ''**भैंसे**'' फिर से ''**भैंस**'' बन गये। मूलप्रति सं० में समस्या यह उपस्थित हुई कि वह मूल हस्तलेख का पाठ स्वीकार करे अथवा मुद्रणप्रति में शोधक द्वारा शोधित। सम्पादक ने दोनों का मिश्रण इस प्रकार बनाया—''**तथा भैंसें गाय से दूध [की मात्रा] में अधिक उपकारक होती हैं और जैसे बैल उपकारक होते हैं, वैसे भैंसे भी हैं। परन्तु गाय के दूध-घी से जितने**---।'' यहां सबसे पहले एक अच्छी बात यह हुई कि सम्पादक ने पहचान लिया कि ''**वैसे**'' पाठ शुद्ध नहीं है, यहां ''**भैंसें**'' शुद्ध है। किन्तु ''**परन्तु**'' के स्थान पर ''**और**'' पाठ बदल दिया, जो अब तक यहां विराजमान हुआ ग्रन्थकार के किसी अन्य अर्थ के अस्तित्व की ओर संकेत कर रहा था। और पहला वाक्य मूल हस्तलेख का ले लिया, दूसरा मुद्रण हस्तलेख का। इस प्रकार एक नया पाठ-मिश्रण तैयार हो गया।

वस्तुतः, मूलहस्तलेख में महर्षि के दूसरे वाक्य का वह भाव नहीं है जो इस सुदीर्घ कष्टयात्रा में विवशता के कारण बदल गया। ''**परन्तु**'' पद उसी पूर्व अर्थ का अवशेष था जो मूलप्रति सं० में आकर मिट गया। महर्षि '**भैंसे**' की तुलना में '**बैल**' को ही अधिक उपकारक मानते हैं यह उनके मूलपाठ में है। देखिये, महर्षिप्रोक्त मूलपाठ यह है—''**जैसे बैल उपकारक होते हैं, वैसे भैंसे नहीं।**'' अब निष्कर्ष यह है कि सारे विवाद को एक तरफ फेंककर मूलहस्तलेख का पाठ सही एवं ग्राह्य है। बस, श्रवणभ्रान्ति से लिखे गये ''**वैसे**'' के स्थान पर ''**भैंसे**'' पाठ संशोध्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि सभी संस्करणों में यह पाठ अस्तव्यस्त है। इस अस्तव्यस्त पाठ ने **पं० भगवद्दत्त जी** को तो ऐसा विचलित कर दिया जैसे वे यही भूल गये कि संशोधन कर रहे हैं या अपसंशोधन? पं० जी द्वारा परिवर्तित हास्यास्पद पाठ पढ़िए और उसका अर्थ लगाने का प्रयास कीजिए—''**बैल....उपकारक होते हैं तथा वैसे [गाय] दूध में अधिक उपकारक होती है परन्तु जैसे बैल उपकारक होते हैं वैसे [गाय] भैंसे भी हैं, परन्तु गाय के दूध-घी से जितने बुद्धि वृद्धि से लाभ होते हैं उतने भैंस के दूध से नहीं।**'' इससे मिलता-जुलता संशोधन उदयपुर सं० का है।

अपेक्षित संशोधन—सम्पादकों का अभी तक जिस अपपाठ पर ध्यान नहीं गया है, ऐसा एक और संशोधन यहां अपेक्षित है, जो प्रसंग को भंग कर रहा है। पाठ को ध्यान से पढ़िए और देखिए कि वह बोलते-लिखते समय कितना अस्त-व्यस्त हो गया है!

''**इससे भिन्न बैल, गाड़ी, सवारी, भार उठाने आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं। तथा भैंसे गाय से दूध में अधिक उपकारक होती हैं, परन्तु जैसे बैल उपकारक होतें हैं, वैसे भैसे नहीं। परन्तु गाय के दूध-घी से जितने बुद्धि वृद्धि से लाभ होते हैं, उतने भैंस के दूध से नहीं।**''

यहां प्रसंगभंग दोष देखिए, पहले वाक्य में बैलों के लाभों का वर्णन है। दूसरे वाक्य के पूर्वार्ध में भैसों-गायों का है। दूसरे वाक्य के ही उत्तरार्ध में फिर बैलों और भैंसों का। तीसरे वाक्य में फिर गाय-भैसों का वर्णन है। दोनों का प्रसंग एक दूसरे के वर्णन के द्वारा भंग हो रहा है, जबकि दूसरे वाक्य के उत्तरार्ध वाक्य की प्रथम वाक्य के अन्त में मिलकर सुन्दर संगति बन रही है और

कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा।

बकरी के दूध से २५९२० (पच्चीस सहस्र नौ-सौ वीस) आदमियों का पालन होता है। वैसे हाथी, घोड़े, ऊंट, भेड़, गधे आदि से भी बड़े उपकार होते हैं। **इन सब पशुओं को मारनेवालों को मनुष्यों की हत्या करनेवाले जानियेगा।**[१]

देखो, जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तब आर्यावर्त वा अन्य भूगोल के[२] **देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्तते थे।** क्योंकि [गाय] बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से दूध, घी, अन्न, रस पुष्कल प्राप्त होते थे।[३] **जब से इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारनेवाले, मद्यपायी**[४]**-मांसाहारी विदेशी राज्याधिकारी हुए हैं,**[५] **तब से क्रमशः**

दूसरे वाक्य के पूर्वार्ध की सटीक संगति तीसरे वाक्य के पूर्व जुड़कर बन रही है। प्रतीत होता है कि बोलते-लिखते समय यह अस्त-व्यस्त हो गया है। लेखन प्रक्रिया में ऐसा सामान्यतः हो जाता है।

एक और विश्लेषण आवश्यक है—मूलह० में "**वैसे भैंसे से नहीं**" पाठ है। इस पाठ को बदलकर लिखा—"**वैसे भैंसे भी हैं**"। यही पाठ सभी द्वि०सं० में प्रचलित है। और उसके प्रभाव में आकर मूलप्रति सं० ने भी इसको ग्रहण कर लिया है। किन्तु पाठक ऋषि के मूलपाठ के अनुसार उनकी मूलभावना पर ध्यान दें कि ऋषि इस प्रकरण में गाय वंश का सर्वाधिक महत्त्व बता रहे हैं, अतः ऋषि कहना चाहते हैं कि मादा भैंसों और नर भैंसों की तुलना में गाय और बैल दोनों ही अधिक उपकारक हैं। दो उपवाक्यों के बीच "**परन्तु**" पद का प्रयोग भी इसी अर्थ को व्यक्त कर रहा है। इसका प्रयोग विलोमभाव को प्रकट करने के लिए होता है, पुष्टि के लिए नहीं। अतः "**भैंसे नहीं**" प्रयोग अभिप्रेत है।

'**गोकरुणानिधि' से पाठ-पुष्टि**—मेरे कथन और संशोधन की पुष्टि ग्रन्थकारकृत '**गोकरुणानिधि**' पुस्तक से हो जाती है। उसका पाठ है—"**यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों से होते हैं उतने भैंस के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।**" (पृ० २४२, दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह) अतः मुद्रणह० का संशोधन और द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह महर्षि की मूलभावना के अनुकूल नहीं है।

१. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सब**" विशेषणात्मक पद "**मनुष्यों**" पद से पूर्व है, जिससे अप-अर्थ प्रकट हो रहा है कि पशुहत्यारा '**सब मनुष्यों**' के हत्यारे के बराबर है। अतः आसत्ति सम्बन्ध के आधार पर यह पद "**पशुओं**" पद से पूर्व होना चाहिए। इस "**सब**" पद का सम्बन्ध पूर्व पंक्ति में गिनाये गये पशुओं से है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**के**" कारक प्रत्यय त्रुटित है। वह ग्राह्य है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अस्त-व्यस्त पाठ मिलता है—"**क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न, रस पुष्कल प्राप्त होते थे।**" इस वाक्य में पशुओं से प्राप्त पदार्थ दूध, घी, अन्न, रस आदि पृथक्-पृथक् स्थान पर पूर्वापर रूप में पठित हैं। इसका क्रमबद्ध पाठ उपर्युक्त अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्ट अपपाठ है। जस में संशोधित है।

'**गोकरुणानिधि' का पाठ**—"**जितने दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु सात सौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य में भी नहीं मिल सकते।**" (पृ० २४४, दयानन्द लघु-ग्रन्थ संग्रह)

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**मद्यपानी**" अपप्रयोग है। मूलसं० में संशोधन करके "**मद्याहारी**" बनाया है जो 'दुग्धाहारी' प्रयोग के समान पूर्णतः शुद्ध है किन्तु यहां "**मद्यपायी**" अधिक अपेक्षित है। प्रतीत होता है कि मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से यह अपप्रयोग लिखा गया है। वेस, जग, भद, युमी में अशुद्ध पाठ है; विस, जस, उदयपुर सं० में संशोधित है।

५. **अस्त-व्यस्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य का पाठ अस्त-व्यस्त है। लिखते समय मूललिपिकर के विचलन से राज्याधिकारियों के विशेषण पूर्वापर में बिखर गये हैं। बीच के वाक्यांश ने उनको छिन्न-भिन्न पृथक् कर दिया। देखिए, यह अपपाठ प्राप्त है—"**जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारनेवाले मद्यपानी राज्याधिकारी हुए हैं।**" यहां "**विदेशी मांसाहारी**" पहले पठित है; "**मद्यपानी**" बाद में जबकि वह विदेशी का विशेषण है। इस सं० का संशोधन

आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है। क्योंकि—

"नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्।" [चाणक्यनीति, अ० १०। श्लो० १३]॥

=जब वृक्ष का मूल ही काट दिया जाय तो फल-फूल कहाँ से हों?

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जायें तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जायें कि सब गाय आदि पशुओं को मार खायें। तुम्हारा पुरुषार्थ व्यर्थ कर दें।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों, उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक देंवे?

उत्तर—[पशुओं का मांस] चाहे फेंक दें, चाहें कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें, [और मनुष्यों को दाहकर्मपूर्वक] जला देवें। अथवा [पशुओं का मांस] चाहे कोई मांसाहारी खावे[१] तो भी संसार की हानि नहीं होती,[२] किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।[३]

ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अस्तव्यस्त पाठ है।

'गोकरुणानिधि' से पाठ-पुष्टि—इस पाठ की पुष्टि के लिए यह पाठ द्रष्टव्य है—**"सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारने वाले, मांसाहारी विदेशी मनुष्य आ बसे हैं।"** (पृ० २४४, दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह) यही क्रम सत्यार्थप्रकाश में अभीष्ट है।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—यहां सभी सं० में अनर्थद्योतक पाठ उपलब्ध है—**"चाहे फैंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें। चाहे कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की हानि नहीं होती किन्तु---"।** प्रश्न में **'पशु तथा मनुष्य'** दोनों के मांस के विषय में पूछा गया है और दोनों के विषय में एक जैसा उत्तर है। उत्तर वाक्य दोनों **"पशु वा मनुष्य"** के लिए एक जैसा अनर्थ प्रकट करते हैं, जिसके कारण 'दयानन्द तिमिर भास्कर' में पं० ज्वालाप्रसाद को ऋषि पर आरोप लगाने का अवसर मिल गया। अतः अर्थ की स्पष्टता के लिए वाक्यों की स्पष्ट रचना भी आवश्यक है, विशेषतः इस संवेदनशील प्रसंग में। इस दृष्टि से उपर्युक्त पाठ-परिवर्धन अपरिहार्य है। इसी में ग्रन्थ और ऋषि का हित है।

२. **मांसभक्षण का प्रक्षेप पं० ज्वालादत्त द्वारा**—महर्षि के पास, वेतनभोगी लेखक-शोधक के रूप में काम करनेवाले सभी लोग इस घटना से अवश्य परिचित रहे होगें कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ऋषि सिद्धान्त विरोधी अन्य वचनों के साथ-साथ मांसभक्षण के समर्थक वचन प्रकाशन-समय प्रक्षिप्त कर दिये थे। जब पाठकों ने वैसे स्थल महर्षि के ध्यान में लाये तो महर्षि ने उनको अमान्य करते हुए, उनको न मानने का निर्देश पाठकों को दिया। लेखकों की धृष्टता देखिए कि इतना काण्ड होने के बाद भी मुद्रणप्रति में पृष्ठ के हाशिये में लिखकर मांसभक्षण का विधायक एक बड़ा अनुच्छेद पृ० १८३-(१८९) पर प्रक्षिप्त कर दिया। **स्वामी श्रद्धानन्द जी** के शोधानुसार यह पं० ज्वालादत्त ने मिलाया है जिसका लेख महर्षि के लेख से बहुत कुछ मिलता है। महर्षि स्वप्न में भी मांसभक्षण की छूट नहीं दे सकते थे, अतः यह उनके द्वारा लिखित वाक्य कदापि नहीं हो सकता। ध्यान दीजिए, पूरे दशम समुल्लास में मांसभक्षण की निन्दा है, मांसभक्षियों का संग न करने का, उनके हाथ का भी न खाने का कथन है। ऐसी दृढ़ विचारधारा का लेखक कभी मांसभक्षण की छूट नहीं दे सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुच्छेद प्रेस में मुद्रण-पत्रे भेजते समय चोरी से, बड़ी हड़बड़ाहट में मिलाया है, क्योंकि यह ऐसे वाक्य स्थल पर मिलाया गया है जहां न इसका प्रसंग है और न वाक्य ही पूरा होता है। वाक्य के बीच त्रुटित का चिह्न (∧) अंकित करके **"हानि नहीं होती"** पदों के बाद मिलाया है, जबकि वाक्य का उत्तरार्ध भाग अभी पूरा होना शेष है। या फिर प्रक्षेपकर्त्ता इस उत्तरार्ध मांसनिन्दक वाक्य **"किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।"** को उड़ा देना चाहता था जो उड़ा नहीं पाया। प्रेस में यह सामग्री जब गई तो मुंशी समर्थदान जी ने इसको देखकर हटाने के लिए महर्षि के पास भेजा। मुंशी जी की सावधानी से वह घोर आपत्तिजनक प्रक्षिप्त-अनुच्छेद छपने से बच गया। पं० ज्वालादत्त शर्मा द्वारा मिलाया गया वह प्रक्षिप्त अनुच्छेद निम्न प्रकार है—

"प्रश्न—सब मांस भक्ष्य वा अभक्ष्य है?

उत्तर—"अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः" जो ग्राम में कुक्कुट और सूवर तथा मांसाहारी सब पशु, पक्षी, तिर्यक् जो पेट से चलते हैं, अशुद्धाहारी, मत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इनसे भिन्न शुद्धाहारी जांगल सब भक्ष्य हैं, परन्तु

जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल आदि से पदार्थों को प्राप्त करके[१] भोग करना है, वह 'अभक्ष्य', और अहिंसा, धर्मादि कर्मों से प्राप्त करके भोजनादि करना 'भक्ष्य' है। जिन पदार्थों से स्वास्थ्य [-प्राप्ति और] रोगनाश [तथा][२] बुद्धि, बल, पराक्रम और आयु की वृद्धि[३] होवे, उन तण्डुल,[४] गोधूम, फल, फूल, मूल, कन्द, दूध, घी, मिष्टादि का सेवन [करना और][५] उन पदार्थों का यथायोग्य मेल करके पाक [बनाकर] **यथोचित समय पर[६] मिताहार भोजन करना** सब **'भक्ष्य'** कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध और विकार करनेवाले हैं, जिस-जिस के लिये जो-जो पदार्थ **'वैद्यकशास्त्र'** में वर्जित किये हैं,[७] उन-उन का त्याग और जो-जो जिस-जिसके लिये विहित हैं, उन-उन का ग्रहण करना **'भक्ष्य'** है।

प्रश्न—एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं?

उत्तर—दोष है; क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती।[८] जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ता है, वैसे दूसरे के साथ खाने से[९] भी कुछ

यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है, अन्य के लिये नहीं।

प्रश्न—ग्राम के कुक्कुट आदि अभक्ष्य और वनस्थ भक्ष्य हैं, इसमें क्या युक्ति है?

उत्तर—ग्रामस्थ कुक्कुट आदि उपकारक, अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगलवासी हानिकारक शुद्धाहारी भक्ष्य।

फिर आगे "**दूध घी मिष्टादि**" पाठ के बाद यह मिलाया है—"**का सेवन प्रजाजन और पूर्वोक्त वनस्थ पशुओं के मांस का सेवन राजपुरुष करें।**"

इस विवरण को पढ़कर तथा सैकड़ों त्रुटित पाठों को देखकर उन लोगों की आंखें खुल जानी चाहिएं जो यह कुतर्क करते हैं कि मुद्रणप्रति महर्षि ने बोलकर लिखाई है या एक-एक पंक्ति निर्देश देकर लिखाई है। सच्चाई यह है कि मुद्रणप्रति तैयार करते समय लिपिकर ने न केवल लापरवाही और असावधानी बरती है, अपितु पाठों से छेड़छाड़ और मनमानी भी की है। **स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती ने सन् १९१६ में हस्तलेख का मिलान करके यह लिखा है कि मांसभक्षण विषयक प्रक्षेप पं० ज्वालादत्त ने किया है।** (वेद और आर्यसमाज', पृ० २७, दूसरा सं०, सन् १९८२)

३. **मांस खाने से हिंसक स्वभाव होना**—मांस खाने से होने वाली हानियों का उल्लेख, **'गोकरुणानिधि'** पुस्तक में ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं—"देखो, मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं, किन्तु वे स्वार्थवश होकर, दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने में ही सदा रहते हैं। जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसकी इच्छा होती है कि इसमें मांस अधिक है, मारकर खाऊँ तो अच्छा हो। और जब मांस का न खाने वाला उसको देखता है, तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है।" ....."और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से, अवश्य हिंसक होके, हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। **इसलिये किसी भी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।**" (पृ० २४६, लघु ग्र० सं०)

१. **अपक्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं०, अन्य सभी में "**प्राप्त होकर**" भिन्नार्थ बोधक क्रिया का प्रयोग है। उपर्युक्त शुद्ध है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है, क्योंकि इस वाक्य के "**स्वास्थ्य**" और "**रोगनाश**" पदों की कहीं संगति नहीं बनती।

३,४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**पराक्रमवृद्धि और आयुवृद्धि**" व्यर्थ पाठान्तर किया है। इसी प्रकार आगे "**तण्डुल**" प्रयोग शुद्ध था, उसको "**तण्डुलादि**" करके अशुद्ध बना दिया क्योंकि आगे "आदि" पद है।

५,६. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—सभी सं० में यह स्थानभ्रष्ट पाठ है—"**उन पदार्थों का यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर....**" यहां उपर्युक्त पाठ अपेक्षित है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां **'करना और'** तथा **'बनाकर'** पदों का परिवर्धन चाहिए।

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह० "**जिस-जिसके.....किये हैं**" पाठ त्रुटित छोड़ा है।

८. **उचित-परिवर्धन**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में "**दूसरे का स्वभाव नहीं मिलता**" पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इसके स्थान पर "**दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती**" पाठ-परिवर्धन किया है। यह ग्राह्य है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा अन्य सभी सं० में भी यहां यह अपपाठ है—"**दूसरे के साथ खाने में भी....**"। यहां उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—वाक्यारम्भ में शुद्ध पाठ द्रष्टव्य है—"**कुष्ठी आदि के साथ खाने से....**"।

बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। इसलिये—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ मनु० [२।५६]॥

न किसी को अपना उच्छिष्ट=जूठा पदार्थ[१] दे और न किसी के भोजन के बीच में आप खावे। न अधिक भोजन करे और न उच्छिष्ट अर्थात्[२] भोजन किये पश्चात् मुख-हाथ धोये विना कहीं इधर-उधर जाय।

प्रश्न—'**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन के पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना, अर्थात् प्रथम गुरु को भोजन कराके पश्चात् शिष्य भोजन करे।

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है, तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, इनको भी न खाना चाहिये।

उत्तर—सहत कहने मात्र ही उच्छिष्ट होता है।[३] वह बहुत-सी ओषधियों का सार [होने से] ग्राह्य [है]।[४] बछड़ा बाहिर का दूध पीता है, भीतर के दूध को नहीं छू सकता,[५] इसलिये उच्छिष्ट नहीं; परन्तु बछड़े के पीये[६] पश्चात् जल से उसकी मा के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में [दूध] दोहना चाहिये।

और अपना उच्छिष्ट, अपने को विकारकारक नहीं होता। और देखो, स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे[७] अपने मुख, नाक, कान, आँख, उपस्थ और गुदा इन्द्रियों के मल-मूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती, किन्तु[८] किसी दूसरे के मल-मूत्र के स्पर्श में होती है। इससे

एक ही वाक्य में दो तरह का प्रयोग अनभीष्ट है।

१-२. **उचित संशोधन एवं पाठत्रुटि**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**झूंठा पदार्थ**'' अर्थबोधक पाठ बनाया है यह ग्राह्य है। आगे ''**उच्छिष्ट अर्थात्**'' पाठ त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० यह पाठ ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलसं० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**कथन-मात्र ही उच्छिष्ट होता है**'' पाठ बनाया है। यह संस्कृतनिष्ठ भले ही है किन्तु महर्षिप्रोक्त शब्द ''**कहनेमात्र**'' ही है। **पाठपुष्टि**—यही प्रयोग समु० ११ में किया है—''**यह बात कहनेमात्र है।**'' (पृ० ५२३/३)। समु० ११ में पृ० ५४५/२ में ''**कथनमात्र**'' प्रयोग है किन्तु वह लिपिकर का है, ऋषि का नहीं है, क्योंकि यह मूलह० में नहीं है, मुद्रणह० में परिवर्धित किया गया है। इस परिवर्तन से अर्थ पर कोई विशिष्टतापूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। जो लोग शब्द सौन्दर्य को ग्राह्य कहते हैं वे समझलें कि यदि शब्द सौन्दर्य को देखने लगेंगे तो आधा सत्यार्थप्रकाश बदलना पड़ सकता है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां यह अपपाठ है—''**परन्तु वह बहुत-सी औषधियों का सार ग्राह्य**''। यहां ''**परन्तु**'' निरर्थक पद है, '**औषधियों**' अप-प्रयोग है, क्रिया त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ कुछ संशोधित करके ग्राह्य है। सभी सं० में अपूर्ण पाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां यह पाठ है—''**बछड़ा अपनी मां के बाहिर का दूध पीता है, भीतर के दूध को नहीं पी सकता**''। मूलप्रति के पाठ से अर्थ अधिक स्पष्ट है। यदि परिवर्धित करना ही था तो ''**अपनी मां के स्तन के बाहिर का**'' उपयुक्त था। पीने के स्थान पर ''**छूना**'' अधिक विशिष्ट पाठ है, क्योंकि उस पाठ में शुद्धता-प्रदर्शन पर अधिक बल है। अशुद्धि का मूल 'स्पर्श' क्रिया है। अतः मूलह० का ऋषिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

६-७. **अपवर्तनी एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पद की ''**पिये**'' अपवर्तनी है, ''**पीये**'' शुद्ध है। सभी सं० में अशुद्ध है। ''**जैसी**'' प्रयोग सभी सं० में अशुद्ध है, ''**जैसे**'' अभीष्ट है।

८. **अपप्रयोग**—यहां दोनों हस्त० सं० में ''**वैसे**'' पद है, जो अनुपयुक्त है। यहां '**किन्तु**' पद उचित अर्थ देता है। यही ग्राह्य है।

सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत ही है;[१] इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् जूठा कोई भी न खावे।

प्रश्न—क्या स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें?[२]

उत्तर—नहीं; क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

प्रश्न—चाहे ब्राह्मण वा चाण्डाल हो, सबके हाथ चमड़े के हैं और जैसे[३] रुधिरादि ब्राह्मण के शरीर में होते हैं, वैसे ही चाण्डाल के [शरीर में हैं][४]; पुनः चाण्डाल के हाथ का खाने में क्या दोष है?[५]

उत्तर—दोष है; क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खान-पान से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि रहित [रक्त][६], शुद्ध वीर्य और रज होता है,[७] वैसा चाण्डाल-चाण्डाली के शरीर में नहीं। क्योंकि जैसा चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ [=संयुक्त] होता है, वैसा ब्राह्मणादि का नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डाल आदि के हाथ का नहीं।[८]

---

१. **पं० मीमांसक जी का पाठ स्वीकार्य नहीं**—यहां मूलहस्त में केवल यह पाठ है—"**इस वास्ते सृष्टिक्रम से सिद्ध होता है किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे।**" एक संख्यांक वाक्य तथा अगला वाक्य मुद्रणप्रति में परिवर्धित किया गया है—"**इससे सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत ही है।**" मुद्रणप्रति में संशोधन करते हुए किसी ने इस पाठ को बदलकर इस प्रकार बनाया—"**यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है।**" वही द्विप्र० में छपा है। पं० मीमांसक जी ने इस वाक्य की संगति उत्तर वाक्य से लगाई है। लगभग सभी संस्करणों में असंगत पाठ है। आगे "**जूठा न खावे**" वाक्य में "**कोई भी**" पद मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिये हैं। द्विप्र० आदि सभी सं० में त्रुटित पाठ है।

२. **अपपाठ एवं उचित संशोधन**—यहां मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह पाठ है—"**क्या स्त्री-पुरुष भी साथ और उच्छिष्ट न खावें?**" इसके स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० इस पाठ को अर्ध शुद्ध करके लिखा है—"**भला, स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें?**" यहां "**साथ**" पद हटा दिया किन्तु "**भला**" पद व्यर्थ ही परिवर्धित कर दिया। वैसे, यहां सटीक प्रयोग "**पति-पत्नी**" है।

३. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस पाठ में "**वैसा**" के स्थान पर '**वैसे**' उपयुक्त है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—'**शरीर में हैं**' पाठ परिवर्धन वाक्यपूर्ति के लिए आवश्यक है। यदि इस कथन को जन्मना जातिवाद के अनुसार मानें तो "**चाण्डाल के**" पदों के बाद "**पुनः भंगी के**" पद अप्रासंगिक हैं; अतः अग्राह्य हैं।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अस्तव्यस्त अपपाठ परिवर्तन**—द्वि०सं० में यहां परिवर्तित पाठ है जो अस्त-व्यस्त और असंगत है। वह है—"(प्रश्न) कहो जी! मनुष्यमात्र के हाथ की की हुई रसोई उस अन्न के खाने में क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्यन्त के शरीर हाड़, मांस, चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है वैसा ही चांडाल आदि के; पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?" (समीक्षा के लिए अग्रिम टि०सं० ८ देखें)

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां '**रक्त**' पद त्रुटित है। प्रश्न की भाषा में होने से यह पद आवश्यक है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपक्रम है—"**रज व वीर्य होता है।**" "**ब्राह्मण और ब्राह्मणी**" इस पूर्वोक्त प्रयोग के क्रम के अनुसार यहां '**वीर्य व रज**' प्रयोग अपेक्षित है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपक्रम है।

८. **लिपिकरों द्वारा अस्त-व्यस्त-विकृत पाठ और अपपरिवर्तन**—प्रश्नोत्तर का यह प्रसंग अनेक विसंगतियों से भरा है—(क) मूलहस्तलेख लिखते समय रूढ़िवादी लिपिकर ने इस उत्तर के प्रश्न के पाठ को इस प्रकार असंगत और विकृत करके लिखा है—"**जैसा रुधिरादि ब्राह्मण के शरीर में होता है वैसा ही चाण्डाल के; पुनः 'भंगी' के हाथ का खाना खाने में क्या दोष?**" यह स्पष्टतः जातिवादी संस्कारवाले व्यक्ति की भाषा है, ग्रन्थकार की नहीं। क्योंकि ग्रन्थकार कहीं भी भंगी को चांडाल का पर्याय नहीं मानते। यह कथन ग्रन्थकार की अनेक स्थलों पर दृढ़ता से स्थापित वर्णव्यवस्था-विषयक मान्यता के विरुद्ध है। वैसे, पूर्व में पूर्ण हो चुके प्रसंग को पुनः उठाना इस पाठ के प्रति संदेह भी उत्पन्न करता है।

यहां '**चाण्डाल**' के हाथ का खाने-न खाने का प्रश्न उठाया है। ग्रन्थकार कभी इतनी विसंगति नहीं कर सकता कि वह प्रश्न '**चाण्डाल**' का शुरू करे और उत्तर '**भंगी**' का पूछे। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकर अत्यन्त पूर्वाग्रही था जिसे पाठ को

हास्यास्पद ढंग से विकृत करते हुए यह भी ध्यान नहीं रहा कि जब प्रश्न '**चाण्डाल**' से सम्बन्धित है तो उसके अन्तिम भाग में '**भंगी**' के विषय में क्यों पूछ रहा है? कोई भी पाठक पढ़कर आश्चर्य करता है कि यहां '**भंगी**' शब्द कैसे आ गया?

मुद्रणलिपिकर ने इसमें परिवर्तन किया और '**भंगी**' शब्द को हटा दिया किन्तु उसके स्थान पर अनावश्यक और हास्यास्पद संशोधन कर दिया। उसने इस वाक्य को इस प्रकार बनाया है—**जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है, वैसा ही चाण्डाल आदि के; पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?**'' प्रश्न के अन्त में द्वितीय संस्करण-अनुसारी प्रतियों में यह पंक्ति यहीं मिलती है। वही विसंगति इस वाक्य में भी है। ग्रन्थकार जब प्रश्न '**चाण्डाल**' का प्रस्तुत कर रहा है तो '**चांडाल**' के विषय में ही वाक्य के अन्त में जिज्ञासा होनी चाहिए, वहां '**मनुष्यमात्र**' का प्रसंग कहां से आ गया?

इस संशोधन पर दूसरी आपत्ति यह बनती है कि यदि ग्रन्थकार को यह प्रश्न मनुष्यमात्र के विषय में अभीष्ट था तो भक्ष्याभक्ष्य के प्रारम्भ में ही वर्णित होना चाहिए था। और उसमें एक बार ही घोषणा हो जाती कि '**मनुष्यमात्र**' के हाथ का खाना चाहिए।' किन्तु ऐसा नहीं है। ग्रन्थकार इससे पूर्व वर्गानुसार मुख्यतः शूद्रों, ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक और अन्य सभी मद्य-मांसाहारियों, मुसलमानों, ईसाइयों का उल्लेख कर चुके हैं। क्या वे '**मनुष्यमात्र**' के अन्तर्गत नहीं आते? अतः यहां 'मनुष्यमात्र' का कथन करना, अनावश्यक एवं असंगत संशोधन है। यदि इस 'प्रश्नोत्तर' को मौलिक माना भी जाये तो वस्तुतः अब मुख्य रूप से, '**चांडाल**' आदि अत्यन्त निम्न स्तर के वर्णबाह्य व्यक्तियों का प्रश्न शेष था, वही यहां ग्रन्थकार को अभीष्ट हो सकता है।

यहां तीसरी आपत्ति यह है कि यह प्रसंग 'अस्पृश्य माने गये समुदायों के हाथ का खाने-न खाने' का है। यहां 'मनुष्यमात्र' कथन का कोई प्रसंग तथा औचित्य ही नहीं है। क्या 'मनुष्यमात्र' अर्थात् सभी मनुष्य अस्पृश्य हैं? वस्तुतः, यह प्रश्न तो पृ० ५०७ पर इस प्रकार पूछा गया है—''क्या अपने ही हाथ का खाना, दूसरे के हाथ का नहीं?''। उसी में यह सर्वमान्य प्रश्न समाहित हो जाता है। इस ओर मुद्रणलिपिकर का ध्यान नहीं गया। उसने पूर्वापर पाठ को देखे बिना यहां परिवर्तन कर दिया।

चौथी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि यदि '**मनुष्यमात्र**' शब्द का संशोधन ग्रन्थकार को अभीष्ट था तो उत्तर में '**मनुष्यमात्र**' का उल्लेख क्यों नहीं है? चांडाल का क्यों है? यह इस बात की पुष्टि करता है कि मूल प्रश्न केवल '**चांडाल**' से सम्बन्धित था। अतः दोनों प्रतिलिपियों में लिपिकरों द्वारा किये गये संशोधन असंगत तथा अनावश्यक हैं।

(ख) अब इस प्रश्न के उत्तर की भाषा की व्याकरणिक समीक्षा की जाती है—

लिपिकरों ने यही करतूत उत्तर की शब्दावली में दिखाई है। मूल-हस्तलेख में इस प्रश्न का उत्तर लिखा मिलता है—''**इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और भंगी का नहीं।**''

लिपिकर के दिमाग में तो 'भंगी' घुसा हुआ था। उत्तर में, प्रश्न के अनुसार पहले अस्वच्छता का वर्णन तो '**चाण्डाल**' का कर दिया किन्तु निष्कर्ष भंगी के नाम पर दिया कि '**भंगी** का नहीं खाना।' जबकि यहां प्रश्न के अनुसार संगत और सही उत्तर यह बनता है कि '**चांडाल के हाथ का नहीं खाना।**' इससे यह ज्ञात होता है कि लिपिकर जातिवादी था जो 'चाण्डाल' और 'भंगी' को पर्यायवाची मानता था। यह ऋषि का मत नहीं हो सकता, क्योंकि महर्षि कहीं भी भंगी को 'चांडाल' नहीं कहते।

प्रक्षेप—मुद्रण प्रतिलिपि या द्वितीय संस्करण वाले रूढ़िवादी लिपिकर्त्ता ने सोचा कि बहती गंगा में तू भी हाथ धो ले। उसने दो कदम आगे बढ़कर उत्तर में अपनी ओर से जातिवादी यह परिवर्धन कर दिया—''**उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चांडालादि नीच भंगी, चमार आदि का न खाना।**''

इस प्रतिलिपिकर्त्ता को यह भी ध्यान नहीं रहा कि यहां प्रश्न केवल '**चांडाल**' से सम्बन्धित है, **भंगी-चमार** का नहीं। बस, उसका लक्ष्य तो यही था कि मौका लगते ही अपनी रूढ़िवादी दुराग्रही भावनाओं को प्रक्षिप्त करना है, सो उसने कर दी। उसने यह भी नहीं सोचा कि जब वाक्य में ''**चांडालादि**'' आ गया तो उसमें ''आदि'' पद से अभीष्ट सभी वर्णबाह्य लोगों का समावेश स्वतः हो गया, फिर पृथक् से ''**भंगी चमार आदि**'' प्रयोग करना व्यर्थ है। वर्णबाह्य व्यक्तियों के लिए दो बार '**आदि**' शब्द का प्रयोग करने के कारण यह वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग भी है। 'उत्तम वर्णों के हाथ का खाना' यह सिद्धान्त भी ऋषि का नहीं है। ऋषि का सिद्धान्त तो है कि स्वच्छ शूद्र के हाथ का खा लेना चाहिये और मद्य-मांसाहारी तथा अस्वच्छ उत्तम वर्णों का भी नहीं खाना चाहिये। ऋषि-सिद्धान्त से इस पाठ का तालमेल नहीं है।

(ग) **एक पोषक प्रमाण**—महर्षि की मृत्यु के उपरान्त उनके दो विरोधी लेखकों ज्वालाप्रसाद मिश्र और भीमसेन शर्मा ने सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में '**दयानन्दतिमिर भास्कर**' नामक ग्रन्थ लिखा। उसमें यह पाठ इस प्रकार मिलता है—''**इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चांडालादि नीच के हाथ का नहीं खाना**'' (पृ० ३५५, तृतीय संस्करण)। आश्चर्य देखिये, ऋषि के आलोचक और विरोधी लेखकों की पुस्तक में सही और संगत पाठ है! यहां '**भंगी, चमार आदि**' शब्दों का प्रयोग ही नहीं है। इन विरोधियों ने जहां से यह पाठ उद्धृत किया है वह सही तथा संगत था। बाद में किसी ने यहां '**भंगी, चमार आदि**' शब्द जोड़े हैं, इस प्रमाण से मेरे कथन की पुष्टि होती है। इसमें यह भी संकेत मिलता है कि द्वितीय समुल्लास में भी जो इसी प्रकार के जातिवाचक शब्द जोड़े गये हैं वे भी लिपिकरों-शोधकों द्वारा किये प्रक्षेप हैं।

जब तुमसे कोई पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का है, तो क्या माता आदि के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा।[१] जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्धमय पदार्थ[२] भी खाया जा सकता है, तो क्या मल आदि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है ?[३]

प्रश्न—जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो, तो अपने गोबर से क्यों नहीं लगाते ?[४] और चौके में गोबर के जाने से[५] चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता ?

(घ) महर्षि दयानन्द के सभी ग्रन्थों में यह प्रयोग-शैली पाई जाती है कि वे बिना 'आवश्यक संदर्भ' के जातिवाचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। जब करते भी हैं तो तत्कालीन वातावरण के प्रयोग की अपेक्षा से करते हैं। पाठक देखेंगे कि वे वैदिक कर्मणा वर्णव्यवस्था के अनुसार '**शूद्र**' या '**अन्त्यज**' शब्द का प्रयोग करते हैं। पाठक ध्यान दें कि इस 'भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग' में भी आरम्भ में केवल '**शूद्र**' शब्द का प्रयोग करते हुए प्रश्न उपस्थित किया है। वहां भी उत्तर में जातिवाचक शब्दों का प्रयोग लिपिकरों की करतूत है। उन्होंने अन्यत्र भी कई स्थानों पर ऐसा किया है। अतिव्यस्तता और समयाभाव के कारण महर्षि का ध्यान लिपिकरों के इन प्रक्षेपों की ओर नहीं गया। (द्र० पृ० ५०३ पर 'क' टिप्पणी भी)

(ङ) इस प्रश्नोत्तर में वर्णित भाव पिछले भक्ष्याभक्ष्य-प्रसंग के संदर्भों से पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है। वहां शूद्रों से लेकर ब्राह्मणों तक, स्वधर्मी से लेकर विधर्मी तक सबकी चर्चा हो चुकी है और ग्रन्थकार ने अपना मन्तव्य भी दे दिया है। उसमें मानवमात्र का समावेश हो जाता है। इसको पुन: उठाना और इसके अन्तर्गत माता, बहिन आदि का उदाहरण चिन्त्य है। **डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार** के इस निष्कर्ष से सहमत होना उचित है—"**वैसे इस सारे प्रसंग पर प्रश्नचिह्न लग सकता है, क्योंकि दशम समुल्लास में स्वामी जी ने शूद्रों का पाचक रखने का विधान किया है।**" (दयानन्द सन्देश, समीक्षा अंक, पृ० ५८)। उपर्युक्त युक्ति-प्रमाणों से इस प्रश्नचिह्न की पुष्टि हो रही है।

१. **पाठग्रहण**—यह वाक्यांश "**तब तुमको....रहना पड़ेगा**" मूलह०, मूलसं० में नहीं है। मुद्रणह० में इसको परिवर्धित किया है। द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**दुर्गन्ध**" अपप्रयोग है, क्योंकि '**दुर्गन्ध**' खाद्य पदार्थ नहीं है। यहां "**दुर्गन्धमय पदार्थ**" प्रयोग वांछित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग है।

३. **चिन्त्य पाठ**—"**जब तुमसे कोई पूछेगा.....हो सकता है**" अनुच्छेद को **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने यहां अप्रासंगिक माना है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने इसको निकाल दिया है किन्तु उसका कारण स्पष्ट नहीं किया है। वस्तुत: यह अनुच्छेद चिन्त्य है; क्योंकि न तो यह प्रश्न से संगत है, न प्रकरण से संबद्ध है और न सयुक्तिक है। प्रकरण और प्रश्न यह है कि जातीय परम्परा में जिनको अस्पृश्य कहा गया है अथवा जो अस्वच्छ और मद्य-मांसाहारी हैं उनके हाथ का भोजन करना चाहिए अथवा नहीं।' इसका उत्तर पहले अनुच्छेद में दे दिया है। इस अनुच्छेद में वर्णित उत्तर का इस प्रश्न और प्रकरण से इस कारण सम्बन्ध नहीं बनता क्योंकि स्वस्त्री, माता, बहन आदि में स्पृश्यास्पृश्य का भेद ही नहीं है। ये सब सम्बन्धी एक समान स्वच्छ-शुद्ध हैं। अयुक्तिक उत्तर इस कारण है कि प्रकरण और प्रश्न अस्पृश्यता-अस्वच्छता पर आधारित है जबकि यह उत्तर नैतिकता पर आधारित है। स्वस्त्री से भिन्न महिलाओं से स्वस्त्रीवत् बर्ताव न करने का आधार अस्वच्छ अस्पृश्य शरीर या चर्म नहीं है अपितु धर्म और नैतिकता है। माता, बहिन आदि तो सभी वर्णस्थों की एक जैसी होती हैं, अत: वहां जातिगत छूत-छात के भेदभाव का तर्क लागू नहीं होता। इस प्रकार इस युक्ति का प्रश्न से मेल नहीं है। समझ में नहीं आता कि ऐसा पाठ ग्रन्थ में कैसे आया ?

इसी प्रकार '**हाथ से उत्तम पदार्थ और मल खाने**' की युक्ति है। इसका उत्तर यह बनना चाहिए कि 'यदि तुम यह कहते हो कि सबके हाथ एक जैसे चमड़े के हैं, तो क्या अस्वच्छ, मलयुक्त हाथों से दिया गया उत्तम पदार्थ भी तुम खालोगे क्या ?' अर्थात् वह नहीं खाया जा सकता। इसी प्रकार अस्वच्छ जीवन जीने वालों और अस्वच्छता से संलिप्त हाथ-शरीर वालों का भोजन भी स्वास्थ्य के लिए रोगकारक होने के कारण अभक्ष्य है।

४. **प्रश्न पर विचार**—इस प्रश्न पर कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि ऐसा घृणित प्रश्न उपस्थित करना अवांछनीय है। मनुष्य के मल से लेपन कोई नहीं करता। इसके उत्तर में यह कहना है कि जो लोग गाय आदि के गोबर को अपवित्र मानते हैं और उससे लेपन करने को घृणित और जंगलीपन कहते हैं, वे यह कुतर्क किया करते हैं कि गोबर (मल) सबके बराबर होते हैं। जब तुम पशु के मल से लेपन करते हो तो अपने से भी कर लो। उन परम्परा-विरोधी लोगों के कुतर्क को प्रश्न के रूप में उपस्थित करके ग्रन्थकार ने उसका उत्तर दिया है। यह ग्रन्थकार का अपना ऊहित प्रश्न नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**चौके में**" पद अस्थान में जाने से यह अपपाठ हो गया है—"**गोबर**

उत्तर—गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता जैसा कि मनुष्य के मल से। यह चिकना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता, न कपड़ा बिगड़ता, न मलिन[१] होता है। जैसा मिट्टी[२] से मैल चढ़ता है, वैसा सूखे गोबर से नहीं होता।[३] मिट्टी और गोबर से जिस स्थान का[४] लेपन करते हैं, वह देखने में अतिसुन्दर होता है। और जहां रसोई बनती है वहां भोजनादि करने से घी, मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है, उससे मक्खी, कीड़ी आदि बहुत जीव[५] आते हैं। जब उसका झाड़ू लगाके लेपन कर दिया जाय,[६] वा पक्का मकान हो तो धो दिया जाय तो वे दोष नहीं रहते[७]। जैसे[८] मियाँ जी के चौके में[९] कहीं कोयले, कहीं राख, कहीं लकड़ी और कहीं फूटी हांडी के टुकड़े, कहीं जूठे पत्तल,[१०] कहीं हाड़-गोड़ पड़े रहने से देखने में बुरा लगता और सहस्त्रों मक्खियों[११] और कीड़ियों से भरा हुआ होता है;[१२] यदि गोबर से अशुद्ध

के चौके में जाने से''। यहां इसका क्रम ठीक कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१,२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः ''**मलीन**'', ''**मट्टी**'' पाठ हैं। एकरूपता, भाषागत व्यवस्था और मानकता के लिए '**मलिन**' तथा '**मिट्टी**' पाठ ग्राह्य हैं। यहां भी अव्यवस्था की पराकाष्ठा देखिए कि यहां '**मलीन**' वर्तनी है तो द्वि० सं० में तीन पंक्ति नीचे '**मलिन**' है। मूलप्रति सं० में एक ही पंक्ति में नीचे ''**मट्टी**'' वर्तनी है जबकि यहां ''**मिट्टी**'' है। विस्तृत टि० पृ० ७७५ पर द्रष्टव्य है।

३. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—''**यह चिकना.....गोबर से नहीं होता**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित पाठ है। मूलप्रति सं० में वहीं से गृहीत है।

४,६. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**उसको....लेपन**'' अपपाठ है, ''**उसका.....लेपन**'' उपयुक्त पाठ है। मूलप्रति सं० में ''**जाये**'' अग्राह्य वर्तनी है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में ''**जीव**'' पद त्रुटित है, ''**आते हैं**'' के सम्बन्ध से चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र० में है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन एवं विस्तार**—मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त गम्भीर, सुगठित, संक्षिप्त सारगर्भित शैली में एक ही पंक्ति में जो बात कह दी गई है, मुद्रणहस्त० में उसी बात को अनावश्यक विस्तार देकर शिथिल शैली में तीन-चार पंक्तियों में कहा गया है। पाठ-परिवर्तन में कोई अर्थवैशिष्ट्य भी नहीं है, अपितु खाने के चौके की पाखाने से तुलना घृणित है। अतः मुद्रणहस्त० पर आधारित द्विप्र० और द्वि० सं० का पाठ अग्राह्य है। द्वि० सं० का विस्तारित पाठ यह है—''**उससे मक्खी, कीड़ी आदि बहुत से जीव मलिन स्थान के रहने से आते हैं। जो उसमें झाड़ू लेपनादि से शुद्धि प्रतिदिन न की जावे तो जानो पाखाने के समान वह स्थान हो जाता है। इसलिये प्रतिदिन गोबर मिट्टी झाड़ू से सर्वथा शुद्ध रखना। और जो पक्का मकान हो तो जल से धोकर शुद्ध रखना चाहिये। इससे पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है।**''

८. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**जैसा**'' अपप्रयोग है, '**जैसे**' चाहिए। आगे में ''**कोइला**'' अपवर्तनी है।

९-१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलह०, मूलसं० के ''**मियाँ जी के चौके में**'' के स्थान पर ''**मियां जी के रसोई के स्थान में**'' शिथिल-बचकाना पाठ बनाया है। ''**हांडी के टुकड़े, कहीं जूंठे पत्तल**'' के स्थान पर ''**कहीं फूटी हांडी कहीं जूंठी रकेबी**'' पाठ बना दिया है। इस परिवर्तन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ परिवर्तन किया है। एक ओर जहां उर्दू-फारसी के शब्दों का महर्षि हिन्दीकरण करवा रहे थे, श्रीमान् मुद्रण-लिपिकर जी हिन्दी का उर्दूकरण करने में शुद्धपाठ बनाना समझे बैठे थे!

रकाबी=रकेबी का अर्थ है छोटी थाली या प्लेट। सभी सं० में ''**रकेबी**'' अपवर्तनी है, ''**रकाबी**'' शुद्ध वर्तनी है। यह फ़ारसी का शब्द है।

११. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**मक्खी**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, बहुवचन '**मक्खियों**' चाहिए।

१२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ विस्तार**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां यह पाठ बनाया है—''**कहीं हाड़-गोड़ पड़े रहते हैं और मक्खियों का तो क्या कहना। वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे तो उसे वांत (उल्टी) होने का भी संभव है और उस दुर्गन्ध स्थान के समान ही वही स्थान दीखता है। भला जो कोई इनसे पूछे यदि गोबर....।**'' महर्षि ने एक पंक्ति में जो बात लिखा दी थी उसका तीन-चार पंक्तियों में लिपिकर द्वारा शिथिल-अप्रौढ़ शैली में अनावश्यक विस्तार मात्र है। ''**दुर्गन्ध-स्थान**'' लिपिकरकृत अपप्रयोग है। ''**उस दुर्गन्ध-स्थान**'' कौनसा है? यदि लिपिकर उपर्युक्त ''**पाखाने के स्थान**'' से रसोईघर की तुलना कर रहा है, तो पाठक विचार करें कि क्या यह तुलना

मानते हो तो जब चूल्हे में छाने (कंडे) रखने, उसी की आगी से तमाखू पीने, घर की भित्ति[१] पर लेपन करने आदि से मियाँ जी [आदि] का चौका भी भ्रष्ट हो जाता होगा?[२]

प्रश्न—चौके में खाना अच्छा, वा बाहर?[३]

उत्तर—जहाँ अच्छा दीखे वहां[४] भोजन करना चाहिये; परन्तु आवश्यक युद्धादि कर्मों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठे वा खड़े-खड़े भी खाना[५] अत्यन्त उचित है।

प्रश्न—क्या अपने ही हाथ का खाना, दूसरे के हाथ का नहीं?

उत्तर—जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर[६] सब आर्यों के हाथ का[७] खाने में कुछ हानि नहीं; क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, बर्तन-मांजने[८] आदि बखेड़ों

बुद्धिमत्तापूर्ण और ग्राह्य हो सकती है? लिपिकरकृत तुलना कितनी घृणित, अस्वाभाविक, असंभव और हीन है? पाठक विचार करें कि यह संशोधन है या असंशोधन?

१. **ऋषिहस्तलेख**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहाँ "**भीति**" या "**भीत्ति**" वर्तनी है। "**भीति**" का अर्थ तो 'भय' होता है। 'भित्ति' का अर्थ दीवार है। मुद्रणह० में "**घर की.....आदि से**" ऋषि द्वारा लिखित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां वाक्य के बाद "**इसमें क्या सन्देह**" यह वाक्यांश बढ़ाया है, जो अनावश्यक, व्यर्थ एवं असंगत है। जब ग्रन्थकार कटाक्ष द्वारा यह बात कह ही चुके तो इस वाक्य परिवर्धन का क्या अर्थ है? प्रश्नात्मक वाक्य के बाद यह वाक्य संगत ही नहीं बनता। यहां ग्रन्थकार के पूर्ण अभिप्राय को प्रकट करने के लिए बृ० कोष्ठक का पद अपेक्षित है।

३-४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठपरिवर्तन**—इस प्रश्नवाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति और द्वि० सं० में यह व्यर्थ परिवर्तन है—"**चौके में बैठके भोजन करना वा बाहर बैठके?**" इसी प्रकार शब्दाडम्बरयुक्त अव्यावहारिक उत्तरपाठ बनाया गया है—"**जहां पर अच्छा रमणीय सुन्दर स्थान दीखे**"। ऐसा लग रहा है जैसे पार्क में जाकर भोजन का स्थान ढूंढना हो। क्या घर में रोज रमणीय स्थान ढूंढेंगे? घर में तो भोजन का स्थान निश्चित ही होता है। यहां ग्रन्थकार का यह अभिप्राय नहीं है कि सुन्दर रमणीय स्थान ढूंढो, यहां केवल यह चाहते हैं कि चौके में अच्छा अर्थात् स्वच्छ दीखे तो वहां खा लो, चौके से बाहर कोई अच्छा स्थान घर में हो, तो वहां खा लो, स्वच्छ न हो तो उस स्थान को स्वच्छ बनाकर वहां खा लो। यह कोई महत्त्व देने की बात ही नहीं है। जिस भोजन-सम्बन्धी आडम्बर को ग्रन्थकार समाप्त कर रहे हैं, उसी को मुद्रणलिपिकर महत्त्व देकर फिर बढ़ा रहा है। **पाठ-पुष्टि**—ग्रन्थकार चौके या स्थानविशेष पर नहीं केवल स्वच्छता को महत्त्व देते हैं, देखिए—"**जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने झाड़ू लगाने, कूड़ा-कर्कट दूर करने में प्रयत्न करना चाहिये....।**" (पृ० ४५०)

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पद परिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि० सं० में, "**युद्धादिकों में.....खड़े-खड़े भी खाना अत्यन्त उचित है**" इस मूलप्रति सं० के वाक्य में "**खाना-पीना**" पाठ बढ़ा दिया है। रूढ़ परम्परा में '**पीने**' पर तो कोई विवाद ही नहीं है, केवल खाने पर है। बिना मतलब इस पद को बढ़ाया है।

६. **बराबर वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**बराबर**' वर्तनी है, शुद्ध वर्तनी '**बरोबर**' होती है। यह मराठी में और महाराष्ट्र के साथ लगते गुजरात में प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है—**ठीक, सही, उचित रीति से** आदि। यह 'बराबर' उसका तद्भव है। यह हिन्दी में प्रयुक्त '**बराबर=एक समान**' अर्थवाला प्रयोग नहीं है।

७-८. **अशुद्ध परिवर्तन**—यहां प्रश्न '**किसके हाथ का खाना है**' इस विषयक है। और विसंगति देखिये कि उत्तर दिया जा रहा है—'**आर्यों के साथ खाने**' का। मूलह० में "**हाथ**" शब्द शुद्ध है, मुद्रणह०, द्विप्र०, परोप० ३-३५, द्वि०सं०, मूलसं० में अशुद्ध है। यह अशुद्ध परिवर्तन मुद्रणप्रति में किसी शोधक द्वारा किया गया है। उसी को मूलसं० ने ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार मूलहस्तलेख में '**बर्तन-मांजने**' सभ्य भाषा का प्रयोग था, मुद्रणलिपिकर ने उसको "**बर्तन-भांडे मांजने**" ग्राम्य पाठ बना दिया। लिपिकर ने '**भांडे**' को "**भाड़ें**" लिखा है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी द्वि०सं० में छप रहा है।

संशोधन-पुष्टि—यहां अगले वाक्य में जो कारण प्रदर्शित किये गये हैं वे '**हाथ का खाने**' के साथ चरितार्थ होते हैं, '**साथ खाने**' के प्रसंग में नहीं। जैसे—ब्राह्मण वर्ण आदि द्वारा रसोई बनाना, चौका देना, बर्तन मांजना आदि का बखेड़ा होना और उससे वर्णों के गुणों में वृद्धि न हो सकना। ये हानियां 'साथ खाने' से नहीं होतीं अपितु 'अपने हाथ का खाने से' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति या वर्ण द्वारा अपना-अपना भोजन पृथक् बनाने से उत्पन्न होती हैं। अगले अनुच्छेद में पठित वाक्य "**एक ही पाकशाला से**

में पड़े रहैं, तो विद्यादि शुभगुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके।[१]

देखो, महाराजे युधिष्ठिर[२] के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा, ऋषि-महर्षि आये थे। एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे।[३] जब से ईसाई, मुसलमान आदि के मतमतान्तर चले, आपस में वैर-विरोध हुआ, उन्होंने मद्यपान,[४] गोमांसादि का खाना स्वीकार किया। उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया।

भोजन किया करते थे'' का भी यही भाव है कि सबका एकत्र और दूसरे के द्वारा भोजन बनता था। गत पृष्ठों में भी उक्त कारण देते हुए कहा है कि सभी वर्णों को शूद्र का बना भोजन करना चाहिए जिससे भोजन के बखेड़े में अन्य वर्णों का समय व्यर्थ न जाकर वह अपने वर्ण के गुणों की उन्नति में लगे (पृ० ४९०, ४९२)।

बिना प्रश्न पढ़े मिथ्या आरोप लगाया—पृ० ५०७ पर प्रश्न है—'अपने ही या दूसरे के हाथ का खाना चाहिए?' उत्तर में 'आर्यों के साथ खाने का उल्लेख है।' मैंने इस पाठ को एक लेख में असम्बद्ध बताया था। प्रशंसा की बात है कि सर्वश्री वेदप्रिय शास्त्री, अशोक आर्य, वेदप्रकाश श्रोत्रिय ने इस अशुद्धि को स्वीकार करते हुए संशोधनीय माना है। डॉ० रघुवीर जी इसका उत्तर नहीं दे पाये। किन्तु यहां श्री अशोक आर्य ने एक मिथ्या बात कही है, जो मैंने लिखी ही नहीं। वे लिखते हैं—''ऐसे स्थलों को कलंक-स्वरूप मानना डॉ० सुरेन्द्रकुमार जी की निजी राय है।'' यह टिप्पणी मिथ्या है। मैंने इस स्थल को 'कलंक' कहा ही नहीं। यह उनका अनुचित आरोप है। मैंने वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियों को 'कलंक' कहा है, जो उदयपुर सं० में विद्यमान हैं। किसी भी विद्वान् के ग्रन्थ में अशुद्ध वर्तनियां स्वीकार्य नहीं मानी जातीं। श्री अशोक मेरे लेख को पुनः ध्यान से पढ़ लें उन्हें स्वयं ज्ञात हो जायेगा कि वे झूठ लिख रहे हैं। झूठ लिखकर, शायद, श्री अशोक पाठकों को उकसाना-भड़काना चाहते हैं।

उपर्युक्त प्रमाण देकर मैंने यह स्पष्ट किया है कि उदयपुर सं० के सम्पादक-लेखक ऋषि की भाषा व प्रश्नों को ही समझ नहीं पाये अथवा अहंकारवश समझना नहीं चाहते, जिसके परिणामस्वरूप उनके उत्तर अनर्गल, बेतुके और दोषपूर्ण हैं। इससे आप उन 'बड़े विद्वानों' की योग्यता का अनुमान लगा लें। यह भी अनुमान लगा लें कि उन द्वारा सम्पादित संस्करण कैसा होगा। गाली प्रदान करने से, असभ्य लेखन से, अहंकार-प्रदर्शन से, हठ और वितण्डा से कोई विद्वान् नहीं माना जाता। इन लेखकों ने अपने लेखों में अधिकांशतः ऐसा ही लेखन किया है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह० में ''**हो**'' क्रिया पर वाक्य समाप्त है। द्विप्र० में यहां ''**हो सके**'' संभावनार्थक पाठ उचित है।

२. **मुद्रणकालीन व्यर्थ पाठान्तर**—महर्षि की यह तत्कालीन प्रयोग शैली है कि वे चक्रवर्ती या बड़े राजा के सम्मानार्थ बहुवचन में ''**महाराजे**'' प्रयोग करते हैं, जबकि '**महाराज**' एकवचन है। द्विप्र० में ''**महाराज**'' प्रयोग अनुचित परिवर्तन है। द्विप्र०, द्वि०सं० के परिवर्तनों में कहीं ''**महाराज**'' कर दिया है, कहीं ''**महाराजे**'' ही है। मूलप्रति सं० का विशेषण ग्राह्य है।

३. **महर्षियों, ब्राह्मणों, शूद्रों का एकत्र भोजन**—राजसूय यज्ञ में भाग लेने के लिए पाण्डवों ने शूद्रों को भी आमन्त्रित किया था—''**आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ। विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च।**'' (महा० सभा० २३.४१) अर्थात् समस्त राष्ट्रों से ब्राह्मणों, राजाओं, वैश्यों और मान्य शूद्रों को इस यज्ञ में आमन्त्रित करो। आमन्त्रित करने के उपरान्त यज्ञस्थल का वर्णन इन शब्दों में है—''**लोकेऽस्मिन् सर्वविप्राश्च वैश्याः शूद्राश्च सर्वशः। सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः सादिमध्यान्तजास्तथा॥---युधिष्ठिरनिवेशने॥ न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह। क्षुधितो---वापि मानुषः।**'' (सभा० ४५ अध्याय, ३८ के बाद) अर्थात्—युधिष्ठिर के यज्ञपंडाल में शूद्र, म्लेच्छ आदि सभी वर्णों के लोग उपस्थित थे। कोई भी उनमें भूखा नहीं रहता था।

राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ के वर्णन में भी ब्राह्मणों-शूद्रों के सहभोज का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उस अश्वमेध में राजाओं, ब्राह्मणों के साथ शूद्रों को भी बुलाया गया था और शूद्र ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे—

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्त्रशः। समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान्॥ ब्राह्मणाः भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते। (रामायण, बाल० १३.२०-२१; ७४.७२) अर्थात्—सब देशों से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को आदरपूर्वक हजारों की संख्या में आमन्त्रित करो॥ उस यज्ञ में नित्य ब्राह्मण तृप्त होकर भोजन करते थे, नाथवन्त=शूद्र भी तृप्त होकर भोजन करते थे॥

इन प्राचीन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि भोजन में भेद-भाव का झगड़ा बहुत नयी बात है यों समझें कि बौद्ध-काल के बाद में यह बखेड़ा शुरू हुआ है। और यह भी जन्मना जातिवाद की देन है। यह वैदिक और प्राचीन भारतीय परम्परा नहीं है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**मद्य गोमांसादि का खाना**'' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित ''**मद्यपान**'' ग्राह्य है।

देखो, क़ाबुल, कन्धार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि के देशों के राजाओं की कन्याओं[१] गान्धारी, माद्री, उलूपी[२] आदि के साथ आर्यावर्तीय राजा-लोग विवाह[३] करते थे।[४] शकुनि आदि कौरव-पाण्डवों के साथ खाते-पीते थे, कुछ विरोध नहीं करते थे। **क्योंकि उस समय सर्व-भूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी और एक दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब तो बहुत मत-वाले होने से बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य-मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या-मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर, विरोध छोड़के अविरुद्धमत के स्वीकार से सब जन[५] मिलकर सबके आनन्द को बढ़ावें।**

यह थोड़ा-सा आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य-विषय में लिखा।

इस ग्रन्थ का '**पूर्वार्द्ध**' इसी दशमे समुल्लास पर्यन्त पूरा हो गया। इन समुल्लासों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिये नहीं लिखा कि जब-तक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते, तब-तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते। इसलिये प्रथम सबको सत्य-शिक्षा का उपदेश करके अब '**उत्तरार्द्ध**' अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं, उसमें विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे। इन चारों में से **प्रथम समुल्लास** में आर्यावर्तीय मतमतान्तरों[६] के, **दूसरे में** जैनियों के, **तीसरे में** ईसाइयों और **चौथे में** मुसलमानों के मत[७] के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे। और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया जायगा। जो कोई विशेष खण्डन-मण्डन देखना चाहें, वे इन चारों समुल्लासों में देखें; परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ा-सा खण्डन-मण्डन किया है।

इन चौदह समुल्लासों को जो[८] पक्षपात छोड़ न्यायदृष्टि से देखेगा, उसके आत्मा में सत्य-अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा। और जो हठ, दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा, उसको इस ग्रन्थ का

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कन्या**'' अपप्रयोग है, बहुवचन अभीष्ट है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**मद्री**'' ''**उलोपी**'' अपवर्तनियां हैं। द्वि०सं०, मूलसं० वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि में ''**माद्री**'' संशोधित है जबकि ''**उलोपी**'' अभी संशोधन की अपेक्षा रखता है। **संशोधन-पुष्टि**—महाभारत तथा अन्य सभी आधार ग्रन्थों में ''**माद्री**'' और ''**उलूपी**'' वर्तनियां हैं।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**विवाह**'' शब्द के बाद ''**आदि व्यवहार**'' पद बढ़ाये हैं, जो निरर्थक हैं, क्योंकि यह प्रसंग और वाक्य ही विवाहपरक है, फिर उसमें ''**आदि व्यवहार**'' का क्या प्रसंग है? मुद्रणलिपिकर की स्वच्छन्द और व्यर्थ विस्तार की प्रवृत्ति है। कहीं भी कुछ भी जोड़ देता है।

४. **आर्य राजाओं का विदेशों में विवाह**—इस विषयक कथन पृष्ठ ४८६ पर भी द्रष्टव्य है।

५. **ग्राम्य प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सब जने**'' प्रयोग है। यह ग्राम्य बोली का है। हिन्दी व्याकरणानुसार '**सब जन**' प्रयोग उपयुक्त है।

६-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः '**मतमतान्तर**' एकवचनान्त प्रयोग है, यहां बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित है। भूमिका में इस शब्द के शुद्ध प्रयोग हैं। आगे ''**मुसलमानों के मतमतान्तर के**'' यह अपप्रयोग है, यहां ''**मुसलमानों के मत के**'' प्रयोग चाहिए। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग हैं। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है पृ० ११/६, ७; ६५९/२०, १०४२/३ आदि।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां '**जो**' पद त्रुटित है, ''**उसके**'' पद के सम्बन्ध से यह अपेक्षित है।

यथार्थ[१] अभिप्राय विदित होना बहुत कठिन है। इसलिये जो कोई इसको यथावत् विचारेगा[२] वह इस ग्रन्थ को सुभूषित करेगा, और न विचारेगा[३] वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा। **विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं॥**[४]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते,[५] आचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषये
दशमः समुल्लासः सम्पूर्णः[६] ॥ १० ॥

समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः ॥

---

१. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**यथार्थ**' विशेषण पद ''**अभिप्राय**'' के बाद लिखा गया है, उसके पहले चाहिए क्योंकि यह ''**अभिप्राय**'' का ही विशेषण है।

२,३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से भ्रष्ट वाक्य**—इस वाक्य में दो बार पठित ''**विचारेगा**'' क्रियापदों के बीच का पाठ मुद्रणलिपिकर ने छोड़ दिया। मुद्रणहस्त० में उसने लिखा—''**जो कोई इसको यथावत् विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा।**'' क्या इस वाक्य में मुद्रणलिपिकर की शरारत की बू नहीं आती ? इस भ्रष्टवाक्य को शोधक ने पढ़ा तो इसको अनुमान से ''**न विचारेगा**'' कर दिया। पाठ तो ठीक हो गया किन्तु मध्य का—''**वह इस ग्रन्थ को सुभूषित करेगा**'' यह महर्षि का आभार-द्योतक मूलपाठ छूटने से पाठ अपूर्ण रह गया। ऐसे छोड़े गये पाठों के कारण यह कहने के लिए आधार मिलता है कि लिपिकर शरारती था अथवा भांग चढ़ाता था। न जाने कितने पाठ उसने बिगाड़े हैं। वही अपूर्ण त्रुटित पाठ सभी द्वि०सं० में छप रहा है। यहां महर्षिप्रोक्त मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ पूर्ण एवं ग्राह्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा दो स्थानों पर पुस्तक-नाम में व्यर्थ पाठान्तर**—इस समुल्लास में मुद्रणलिपिकर ने इन स्थानों पर उद्धृत पुस्तकों के नामों में व्यर्थ पाठान्तर किये हैं—पृ० ४८२/६, ४८३/११।

५,६. **संशोधन**—दोनों हस्तलेखों में ''**विरचिते**'' पाठ है, मुद्रण-समय में द्विप्र० में ''**विभूषिते**'' बनाया गया है। मुद्रणकाल में समाप्ति-सूचक वाक्य में भी परिवर्तन किया गया है। मूलहस्त व मुद्रणप्रति में यह पाठ है—''**इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे दशमसमुल्लासे सुभाषा विरचिते पूर्वार्द्धः समाप्तः दशमसमुल्लासश्च।**'' मुद्रणकाल में द्विप्र० में बदलकर उपर्युक्त प्रचलित पाठ बनाया है। वैसे दोनों शुद्ध हैं।

अनेकगुरुकुलेषु विश्वविद्यालयेषुचाधीतविद्येन, हरियाणाप्रान्तार्गत 'रोहतक' जनपदे 'मकड़ौली कलाँ' नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना, श्रीगहरसिंहशान्तिदेवीतनयेन, अनेकशासकीयस्नातकोत्तरमहाविद्यालयानां पूर्वप्राचार्येण, हरिद्वारस्थित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य 'कुलपति' पदासीनेन, 'डाक्टर' उपाधिधारिणा सुरेन्द्रकुमारेण सम्पादितः, शोधान्वितः भाष्योपेतश्च सत्यार्थप्रकाशस्य पूर्वार्धः पूर्णतामगात्।

—०—

परिशिष्ट-१

सत्यार्थप्रकाश की प्रमाण-अनुक्रमणी

अइसय पाविय पावा ८०५
अकामस्य क्रिया १०४, ४७६
अकायम् ५८१
अगौरश्वः १२०, ३९२
अग्नयश्च स्वाध्याय ९७
अग्नये स्वाहा १८६, ५३९
अग्नि ५६ (२)
अग्निरुष्णो जलं शीतं ७३६
अग्निर्मूधा दिवः ६३६
अग्निर्यथैको भुवनं ५५०
अग्निर्वा अश्वः ५३८
अग्निवायुरविभ्यस्तु ३६३
अग्निष्वात्ताः पितरः १८४
अग्निहोत्रं च स्वाध्याय ९७
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः ७३५
अग्निहोत्रं समादाय २२६
अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा १८६
अग्ने नय सुपथा ३३२
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां ४४४
अग्नेः ऋग्वेदे जायते ३६३
अघटः पटः ७६१
अङ्गादङ्गत्सम्भवसि २१९
अज एकपात् ३४२, ५८१
अज-गतिक्षेपणयोः ४३
अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं ४६
अजामेकां लोहित ३४१, ३७५
अज्ञो भवति वै ४७९, ७१३
अञ्चु गतिपूजनयोः ३०
अणुसरणं सावउ ८१८
अणु महदिति तस्मिन् ११९
अत एव चानन्याधिपतिः ५५७
अत एव नित्यशुद्ध ४५
अतति सर्वत्र व्याप्नोति ३४२
अतपास्त्वनधीयानः १९२
अतस्तनूर्न तदामो ५७३
अतस्तभुजैकदेशः ५७५
अत-सातत्यगमने ३६
अतिथयश्च स्वाध्याय ९७
अतिथिदेवो भव १०३, ४८२, ५९३
अतिथिर्गृहानागच्छेत् ५९२
अत्ता चराचरग्रहणात् ३९
अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं ४४५
अत्र पूर्वं महादेवः ६०२
अथ ५६, ५७
अथ....उदमन्तरम् ३५८
अथ किमेतैर्वापरे ५१७
अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनु १०८
अथ तद्वचनेनैव ७६८
अथ त्रिविधदुःखात्यन्त० ५६, ४७५
अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा १०३
अथ यानि-अष्टाचत्वा० ९४
अथ यानि चतुश्चत्वारिंश० ९४
अथ योगानुशासनम् ५६
अथ शब्दानुशासनम् ५६
अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि १३४
अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ५६
अथातो धर्मजिज्ञासा ५६
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ५६
अथोदमन्तरं (अथ-उदरम्) ३५८
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा ३०५
अदुष्टं विद्या १२१
अद भक्षणे ३९
अदेवा गुरवोधर्मेषु ७८९
अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि २१, २१७
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति ८४, १६६
अद्भ्यो नमः १८७
अद्यते अत्ति च भूतानि ३९
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो १६४
अधर्मदण्डनं लोके ३०५
अधर्मेणैधते तावत् १९१
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः १९३
अध्यक्षान् विविधान् २६८
अध्यात्मरतिरासीनो २३५
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः १८१
अध्यापनमध्ययनम् १६६
अध्यारोपापवादाभ्यां ५४६
अनड्वान् दाधार ४१६
अनश्वो गौः ३९२
अनादेरागमस्यार्थो ७६८
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः ४४३
अनाहूतः प्रविशति १९९
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु ४२७
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः ३८६
अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य १०९
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ५६०
अनुबन्धं परिज्ञाय ३०५
अनुमत्यै स्वाहा १८६
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः २६३
अनेन क्रमयोगेन १०२
अनेन जीवेनस्यना ३५२
अनेन विधिना सर्वा २३५
अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः ६५७
अन्तर्यन्तुं नियन्तुं ५०
अन्तर्याम्यधिदेवादिषु ५६०
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ५६०
अन्धन्तमः प्रविशन्ति ५८४
अन्धे के पीछे अन्धे २३३
अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा ९९४
अन्नं हि गौः ५३८
अन्यक्षेत्रे कृतं पापम् ६१३
अन्यथा सर्वदोषाणां ६७९
अन्यदृष्टमन्यो न ५५३

अन्यमिच्छस्व सुभगे २१७
अन्यानपि प्रकुर्वीत २६२
अपरस्मिन्नपरं युगपत् ११४
अपां समीपे नियतो ८६
अपाणिपादो जवनो ३३७
अपि यत् सुकरं कर्म २६२
अप्रयत्नः सुखार्थेषु २२७
अप्सु शीतता ११३
अभक्ष्याणि द्विजातीनां ४९६
अभावं बादरिराह ह्येवं ४४०
अभावाद् भावोत्पत्ति ३८५
अभिमानः श्रियं हन्ति ७४
अभिवादनशीलस्य १०१
अभिषवः प्राणिगर्भ० ३७
अभूम प्रजापतेः प्रजाः ३१६
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोः १०२
अभ्यादधामि समिध २२८
अमात्ये दण्ड आयत्तो २६५
अमाययैव वर्तेत २७२
अयं नीलो घटः ७४५
अयं घटैकदेशः ७४८
अयमात्मा ब्रह्म ३४९, ३५२
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता ५३४
अरिहन्ते सुयरागो ७८१
अरिहं देवो सुगुरु ८०१
अर्चत प्रार्चत प्रिय ५९३
अर्थकामेष्वसक्तानां १०६, ४७७
अर्थसम्पादनार्थ च २८२
अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः १११
अर्थानुपार्ज्य बहुशो ७५१
अर्थो ज्ञानान्वितो ७५५
अलब्धं चैव लिप्सेत २७२
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन २७२
अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षम् १०४३
अल्ला इल्लल्ला अनादि १०४३
अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां १०४३
अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं १०४३
अल्लो यज्ञेन हुतहुत्वा १०४३
अल्लो रसूल महामद १०४३
अवखण्डनं नाम विनाशः ३२
अवतीत्योम् २६
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना २३२
अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना २३२
अविद्याऽस्मितारागद्वेषा ४५५
अव्यङ्गागीं सौम्यनाम्नीं १५२
अव्रतानाममन्त्राणां २५६
अशब्दमस्पर्शमरूप ४९
अश्रद्धया देयम् १०३
अश्रुतश्च समुन्नद्धो १९९
अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु ७३७
अश्वालम्भं गवालम्भं २२२
अष्टकर्मक्षयान् मोक्षः ७७६
अष्टवर्षा भवेद् गौरी १५२
अष्टादशपुराणानां ६१७
अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य ३०५
असतो मा सद् गमय ३३२
असत्यमिश्रितं सत्यम् १३५
असत्सु घनेषुवृष्टिः १११
असद् वा इदमग्र आसीत् ३७६
असन् घटः ७६०
असपिण्डा च या मातुः १४६
असर्वज्ञप्रणीत्तातु ७६८
असुरसंहारिणी हुं १०४३
अस्-भुवि ४४
अस्माल्लां इल्ले १०३
अस्त्रिगरेऽद्वितीयो ३५७
अस्मिन्नस्य च ५६०
अस्यां सेनायां ३५७
अस्येदं कार्यं कारणम् १२२
अहन्यहन्यवेक्षेत ३१२
अहं दां गृणते पूर्व्य ३१७
अहं ब्रह्मास्मि ३४९
अहं भुवं वसुनः ३१७
अहं भैरवस्त्वं भैरवी ५३४
अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ३९
अहमन्नादोऽहम् ३९
अहमिन्द्रो न पराजिग्ये ३१७
अहिंसयेन्द्रियासंगैः २३७
अहिंसयैव भूतानां १०१, ४८०
अहिंसासत्यास्तेय ९८, ३३५
अहिंसासूनृतास्तेय ७९९
आकारसहिता बुद्धि ७५५
आकाशमिव व्याप २६
आकृष्णेन रजसा ४२०, ६३६
आँख के अन्धे गांठ के ६५, ५२८, ५७८, ५९७, ५९८, ६१०, ७२०
आचारः परमो धर्मः १०५, ४८२
आचाराद् विच्युतो विप्रो १०५
आचाराल्लभते ह्यायुः १९६
आचार्य उपनयमानो ४८२, ५९२
आचार्यदेवो भव १०३, ४८२, ५९३
आचार्यवान् पुरुषो ५८
आचार्याय प्रियं धनम् १०३
आच्च ऐच्च १२४
आच्छाद्य-चार्चयित्वा १७१
आज्यं मेधः ५३८
आज्यपाः पितरः १८४
आतोऽनुपसर्गे कः १२५
आत्मज्ञानं समारम्भ १९८
आत्मा वा इदमग्र आसीत् ३७६
आत्मा वै जायते पुत्रः २१९
आत्मेहागच्छतु सुखं ५८३
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी ३०२
आदल्लाबूकमेककम् १०४३
आदानमप्रियकरं २९०
आदावन्ते च यन्नास्ति ३८०
आदित्यसंयोगाद् भूत ११४
आद्यन्तविपर्ययश्च ६२६
आधेनवो धुनयन्ता १५७
आधेयशक्तियोग इति १२२
आनन्दन्ति सर्वे मुक्ताः ४५
आना अंशकलाः प्रोक्ताः ७१३
आपो नारा इति प्रोक्ताः ४०
आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु ३०१
आप्तोपदेशः शब्दः ११०
आप्लृ-व्याप्तौ ५२
आयं गौः पृश्निरक्रमीद् ४१८

आयतिं सर्वकार्याणां २८८
आयत्यां गुणदोषज्ञः २८८
आरम्भरुचिताऽधैर्यञ् ४६६
आर्यता पुरुषज्ञानं २९५
आर्याधिष्ठाता वा शूद्राः ४९२
आर्यवाचो म्लेच्छवाचः ४१२
आलस्यं मदमोहौ च २००
आवृत्तानां गुरुकुलाद् २६८
आसनं चैव यानं च २८२
आसमुद्रात्तु वै पूर्वाद् ४०४
आसीदिदं तमोभूतम् ३८२
आस्रवः स्रोतसोद्वारं ७७६
आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं २६८
इअराण ठक्कुराणवि ८१०
इच्छयाऽन्योऽन्य १७१
इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख ११५, ३४७
इट् ५६
इत इदमिति ११४
इतरथाऽन्धपरम्परा ५३२
इति च ब्राह्मणम् ३६८
इति वै राज्ञो दाढ्यं ६३४
इतिहासपुराणः पञ्चमो ६१७
इतिहासपुराणाभ्यां ६१७
इत्यपि निगमो भवति ३६८
इत्यष्टादशभिः पादैः ६३४
इदानीमिव सर्वत्र ४४४
इदि-परमैश्वर्ये ३४
इनके दो नाम हैं एक जैन ७६४
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि २५
इन्द्रानिलयमार्काणां २५२
इन्द्रियदोषात्संस्कार १२१
इन्द्रियाणां जये योगं २५८
इन्द्रियाणां निरोधेन २३५
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषं १००
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्य ४७१,४७९
इन्द्रियाणां विचरतां १००, ४७९
इन्द्रियाणीहागच्छन्तु ५८३
इन्द्रियार्थसन्निकर्षो १०७, ३२१
इन्द्रो जयाति न परा २५१, ३२१
इन्द्रो मह्ना रोदसी २५
इमं देवा असपत्नं २५१, ६३६
इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् १४१
इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः २११
इयं विसृष्टिर्यत ३७२
इल्लां कबर इल्लां १०४३
इषे त्वोर्जे त्वेति ३७०
इहेदमिति यतः कार्य ११८
ईश-ऐश्वर्ये ३१
ईशावास्यमिदं सर्वं ३१७
ईशुचिर-पूतीभावे ४०
ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मा ३८६
ईश्वरासिद्धेः ३३९
उक्षा दाधार पृथिवीमुत ४१६
उच्चावचेषु भूतेषु २३५
उत त्वः पश्यन्न ददर्श १२९
उत शूद्र उत आर्ये ४०३, ४११
उत्क्षेपणमवक्षेपण ११७
उत्थाय पश्चिमे यामे २८२
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च ५८७
उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं २१४
उद्बुध्यस्वाग्ने ६३६
उद्यन्तमस्तं यान्तं १८२
उपदेशोऽपि बुद्धस्य ७६८
उपदेश्योपदेष्टृत्वात् ५३२
उपमीयते येन तदुपमानम् १०९
उपरुध्यारिमासीत २९०
उपस्थमुदरं जिह्वा ३०५
उपस्थितं परित्यज्य २३
उरुर्महान् क्रमो ३४
उलटि चोर कोतवाल ४३६
ऊँच नीच कुल ६७३
ऊनषोडशवर्जायाम् १५४ (टि०)
ऋ-गतिप्रापणयोः ३४
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च २५६
ऋचो अक्षरे परमे १२९, ३१७
ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ९७
ऋतं तपः सत्यं तपः ५७६
ऋतुकालाभिगामी स्यात् १७७
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः १९२
ऋषियज्ञं देवयज्ञं १८२
ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः ३६७
एकं द्रक्षव्याश्रय ११७
[एकं गोमियुनम्] १७१
एकः पापानि कुरुते १९४
एकः प्रजायते जन्तुः १९५
एकः शतं योधयति २६५
एकः शयीत सर्वत्र १०२
एक एव सुहृद्धर्मो २९८
एकक्षणा भवेद् गौरी १५३
एकद्रव्यमगुणं ११७
एकमेव हि शूद्रस्य १७०
एकरात्रिं वसेद् ग्रामे २४४
एकाकिनश्चात्ययिके २८२
एकादश्यामन्ने पापानि ६४९
एकोऽपि वेदविद्धर्मं २५६
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं ३०२
एगो अगुरु एगो ८१८
[एतच्चतुर्विधं विद्यात्] २७२
एतदनुशासनम् १०३
एतद्देशप्रसूतस्य ५१४
एतमेके वदन्त्यग्निम् २४
एतेन दिगन्तरालानि ११४
एतेन नित्येषु नित्यत्व १२२
एतेषु हीदं सर्वं वसु ४२२
एवं गृहाश्रमे स्थित्वा २२६
एवं विजयमानस्य २७३
एवं सर्वं विधायेदं २८०
एवं सर्वमिदं राजा २९५
एवं सर्वानिमान् राजा ३१२
एवमप्युपन्यासात् ५५७
एवमुपासितव्यम् १०३
एवमु चैतदुपास्यम् १०३
एष आदेशः १०३
एष उपदेशः १०३
एष वोऽभिहितो धर्मो २४०
एषामन्यतमे स्थाने ३०५
एषा वेदोपनिषद् १०३

एषु स्थानेषुभूयिष्ठम् २९७
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सु ३०८
ऐसो कुण जो ३७३
ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै ६५५
ओ३म्/ ओम् ५६, ५७
ओं अल्ला इल्लल्ला १०४३
ओं खं ब्रह्म २४
ओं नमः शिवाय ६५७
ओं नमो नारायणाय ५७४
ओं ब्रह्मादयो देवाः १८३
ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ९०
ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुः ८१
ओं मरीच्यादय ऋषयः १८४
ओं सत्यनाम कर्ता ६६७
ओं सानुगायेन्द्राय नमः १८७
ओं सोमसदः पितरः १८४
ओम् अग्नेय स्वाहा १८६
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं २४, ५६
ओमित्येतदक्षरमुद्गी २४, ५६
औरसः क्षेत्रजश्चैव २१७
कइया होही दिवसो ८१५
कतम एको देव इति ५९३
कन्यानां सम्प्रदानं च ८१, १४४
कब्वं/ अणेगजम्मं ७८३
कया नश्चित्र आ भुव ६३७
कर्मण्यण् १२५
कर्मणो लक्षणं ११७
कलयति संख्याति ५१
कल-संख्याने ५१
कश्चित् कञ्चित् प्रति ३५
कश्यपः कस्मात् पश्यको ६२६
कस्य नूनं कतमस्या ४४४
कहीं की ईंट कहीं का ३७८
कामंक्रोधं च १०२
कामजेषु प्रसक्तो हि २५८
काममामरणात्तिष्ठेत् १५५
कामात्मता न प्रशस्ता ९९, ४७६
कामातुराणां न भयं १०३४
कारणगुणपूर्वकः कार्य ११९
कामाद् दशगुणं पूर्वं ३०५
कारणगुणपूर्वकः कार्य ३८१
कारणभावात् कार्यभावः ११९
कारणाऽभावात् कार्याऽभावः ११९
कार्यकारणभावाद्वा ७४३
कार्य्यान्तरा प्रादुर्भावाच्च ११४
कार्योपाधिरयं जीवः ३५४
काशृ-दीप्तौ ३९
कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो ३०८
कित निवासे ४१
किं भणिमो किं करिमो ८०६
किं सोपि जणणि जाओ ८०८
कुवि-आच्छादने ३८
कुरु नइ चुलसी सहसा ८३८
कुर्वन्नेवेह कर्माणि ३३४
कुशलान्न प्रमदितव्यम् १०३
कुहस्विद् दोषा कुह वस्तो २१४
कुह्वै स्वाहा १८६
कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्डयं ७५५
कृत्वा विधानं मूले तु २८९
क्लृप्तकेशनखश्मश्रः २३५
कृमिभ्यो नमः १८७
केतुं कृणवन्नकेतवे ६३७
केशान्तः षोडशे वर्षे ४७७
कोई जीवो वा मरो ६५१
कौलात् परतरं नहि ७०८
क्रियागुणवत् समवायि ११२
क्रियागुणव्यपदेशा १२०
क्रियाश्च गुणाश्च ११२
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत् २३५
क्लीम् ६७८
क्लीं कृष्णाय गोपी ६७७, ६७८
क्लेशकर्मविपाकाशयै ३३९
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः ७५४
क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः ८८८
क्षत्रियस्य परो धर्मः २८०
क्षिप्रं विजानाति १९८
क्षीणस्य चैव क्रमशो २८२
खं ब्रह्म २४
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् ६१३
गच्छतामिह जन्तूनां ७३६
गणपतेः सकलजगत् ५७१
गणानां त्वा गणपतिं ५७१
गण-संख्याने ४६
गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं ३०
गन्धनं हिंसनम् ३१
गन्धवती पृथिवी १२३
गन्धर्वा गुह्यका यक्षाः ४७१
गन्धर्वो विविद उत्तरः २१७
गप्पी के घर गप्पी आये ६२९
गब्भनर तिपलियाऊ ८३५
गम्भीरोत्तानभेदेन ७५१
गवि गौरश्वे ३९२
गिरिपृष्ठं समारुह्य २८१
गुणेभ्यो यन्निर्गतं ३६१
गुणेषु गुणारोपणं १८०
गुणेषु दोषारोपणं १८०
गुण्यन्ते ये ते गुणाः ४९
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ३०८
गुरुणानुमतः स्नात्वा १४५
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः ६१६
गुरु लोभी चेला लालची ६१७
गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु ६४
गुरोरुच्छिष्टभोजनम् ५०२
गुल्मांश्च स्थापयेदासान् २९०
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि ५६०
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् २२६
गृ-शब्दे ४२
गोपीवल्लभेति ६७८
गोविन्दाय नमः ६६५
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् २७३
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद् २७३
घटोऽघटः ७६१
घट्यैकया क्रोशदशैक ५६६
चक्षुर्वै जमदग्निः ५७०
चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य ९५
चतुर्भिरपि चैवैतैः २३५
चदि-आह्लादे ४०

चर-गतिभक्षणयो: ४०, ४२
चले तो चौबे जी छब्बे ७०३
चारणाश्च सुपर्णाश्च ४७१
चिततन्मात्रेण तदात्मक ५५७
चिति-संज्ञाने ४४
चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे ७६३
चिय वन्दणगो ८१८
चेतनालक्षणो जीव: ७७६, ७९७
छन्दोब्राह्मणानि च तद्वि ३६८
छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं ६३९
छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति ४६६
जइ जाणिसि जिणनाहो ८१६
जइ न कुणसि तव चरणं ८००
जउ कब्बं/ मन्ताण ७८३
जगाम गोकुलं प्रति ६३०
[जंचिअ लोओमन्भइ] ८१६
जच्छ पसु महिसलरका ८०७
जन्माद्यस्य यत: ३७२
जना यैस्तरन्ति ६१४
जनी प्रादुर्भावे ४३
जं वीरजिणस्स ८१४
जम्बूद्वीवपमाणं ८३८
जम्हा जिणेहिं भणियं ८१५
जलचन्दन पुण्य ७८४, ७८६
जल-घातने ३८
जलति घातयति दुष्टान् ३८
जल पवितर सथल पवितर ६६५
जह जह तुट्टइ धम्मो ८०६
जातो न वा चिरं १५४ (टि०)
जामुत्तराउ ताउ ८३९
जिण आणाए धम्मो ८१०
जिणवर आणा भंगं ८०३
जिन जिन सुमर्‌या ७७३
जिनो देवो गुरु ७७६
जिसका विवाह उसी के ६२५
जीवाजीवौ पुण्यपापे ७७६
जीवेशौ च विशुद्धा चित् ३५४
जीवो ब्रह्माभिन्नश्चेतन ५५६
जे रज्जधाणाईणं ८१३
जैसा प्रेतनाथ वैसा ६५७
जोगो ८१८
जो देई सुद्ध धम्मं ८११
जोयण सहसपणिंदिय ८३६
जोयण सहस्स महियं ८३६
ज्ञा-अवबोधने ३२
[ज्ञातिभ्योद्रविणम्] १७१
ज्ञानं परमं गुह्यं मे ६२७
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव ७५१
ज्येष्ठो यवीयसो २१७
ज्योतिर्वै हिरण्यं ३०
झल्ला मल्ला नटाश्चैव ४७१
ञिमिदा-स्नेहने ३३
टका धर्मष्टका कर्म ७१३
डुकृञ-करणे ४६, ५२
डुभृञ्-धारणपोषणयो: ५१
णीञ्-प्रापणे ४८
त: परो यस्मात् स: १२४
त आकाशे न विद्यन्ते ११३
तइया हमाण अहमा ८१४
तच्चिचतोर्योग: ३५४
तच्चैतन्यविशिष्टदेह: ७३३
ततश्च जीवनोपायो ७३६
ततो मनुष्या अजायन्त ४०१
ततो विराडजायत २९
तत्त्वमसि ३४९
तत्र द्रव्य भेदा यथा ७८१
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं ४६६
तत्र स्थित: प्रजा: सर्वा: २८१
तत्सृष्ट्वा तदेवानु ३५२
तत्स्यादायुधसम्पन्नं २६५
तथा कार्यं समर्प्यैव ६७९
तथा चोक्तं तौतातितै: ७६५
तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: ४४४
तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां २६५
तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽव ४७३
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति ३७६
तद् दुष्टं ज्ञानम् १२१
तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् ७१०
तपत्यादित्यवच्चैष २५३
तप:श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्य २२८
तपश्च स्वाध्याय ९७
तपोष्पवित्रंवितं ५७५
तम आसीत्तमसा ३७२, ३८२
तमसो मा ज्योतिर्गमय ३३२
तमसो लक्षणं कामो ४६७
तं चेदेतस्मिन्....प्राणा ९४
तं चेदेतस्मिन्...प्राणा रुद्रा ९४
तं चेदेतस्मिन्..प्राणा वसव ९४
तं त्यजेदन्त्यजम् ५६४
तं प्रतीतं स्वधर्मेण १४५
तं राजा प्रणयन् २५४
तं सभा च समितिश्च २४९
तस्मात् काश्यप्य: इमा: ६२६
तस्मादहोरात्रस्य संयोगे १८२
तस्मादादौ सर्वकार्ये ६७९
तस्मादेता: सदा पूज्या: १७८
तस्माद्धर्मं सहायार्थं १९५
तस्माद्वा एतस्मादात्मन: २९, ३९५
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय ७१०
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं २६५
तस्याहु: सम्प्रणेतारं २५४
ताणं अन्नन्तु ७८३
ताप: पुण्ड्रं तथा नाम ५७३
तापसा यतयो विप्रा: ४७१
तामनेन विधानेन २१६
तिगुणा पुव्विल्ल जुया ८३१
तिच्छयराणं पूआ सम्मत्त ८०९
तिज-निशाने ३१
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च २८०
तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन १८३
तेजो रूपस्पर्शवत् ११३
तेजोऽसि तेजो मयि ३२९
तेजो वै हिरण्यं ३०
ते थूला पल्ले विहु ८३७
तेन देवा अयजन्त २९
ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले ४४५
तेरी चुपमेरी भी ४१६

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि २७३
तेषामर्थे नियुञ्जीत २६३
तेषामाद्यमृणादानं २९७
तेषां स्वं स्वमभिप्रायं २६२
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्त्यं २६२
त्रयस्त्रिंशता ३१९
त्रयाणामपि चैतेषां ४६६
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो ७३७
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि १९३
त्रीणि राजाना विदथे २४९
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत १५५
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां २५८
त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की २५६
त्र्यायुषं जमदग्नेः ५६९
त्वमङ्गुष्ठं गृहाण ५९४
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ५९३
दण्डव्यूहेन तन्मार्ग २८९
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः २५३
दण्डस्य पातनं चैव २५९
दण्डो हि सुमहत्तेजो २५४
दं दुर्गायै नमः ६५५
दमश्च स्वाध्याय ९७
दय-दानगति ४८
दयते ददाति.....दया ४८
दयाया आनन्दो ४
दश कामसमुत्थानि २५८
दशमेऽहनि किञ्चित् ६१७
दशावरा वा परिषद् २५५
दह्यन्ते ध्मायमानानां ८४, २३५
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यः १८७
दिवि सोमोऽधिश्रितः ४२०
दिवु, क्रीडा-विजिगीषा ४७
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः ५६०
दिलों पर ताला लगाना १०२४
दीर्घाध्वनि यथादेशं ३१२
दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष ४४४
दुःख भोगो नरकः ४६५
दुःखमायतनं चैव ७५४
दुःखं संसारिणः स्कन्धा ७५४
दुराचारो हि पुरुषो १९६
दुर्गायै नमः ५६
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च २५४
दुहिता दुर्हिता दूरे हिता १४९
दूत एव हि संधत्ते २६५
दूतं चैव प्रकुर्वीत २६३
दूरे करणं दूरम्मि ८१५
दूषितोऽपि चरेद् धर्मं २३५
दृढकारी मृदुर्दान्तः १९६
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं ७६, २३५
देवत्वं सात्विका यान्ति ४७०
देवपितृकार्याभ्याम् १०३
देवरः कस्माद् द्वितीयो २१५, २१७
देवराद्वा सपिण्डा २१७
देव्युवाच २२३
देशना लोकनाथनां ७५१
दैवाधीनं जगत्सर्वं ६३७
दो-अवखण्डने ३२
दोनो घोड़ों पर चढ़ते हैं ६५७
दोषेषु गुणारोपणं १८०
दोषेषु दोषारोपणं १८०
दो ससि दो रवि पढ़मे ८३१
दो ससि दो रवि पंती ८३३
द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु २७
द्यूतं च जनवादं च १०२
द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं ११७
द्रव्यगुणयोर्विजातीय ११९
द्रव्यगुणयोः सजातीया ११९
द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च ११८
द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं ११७
द्रव्याश्रय्यगुणवान् ११७
द्वयोरप्येतयोर्मूलं २५८
द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं ४९
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चाना २७३
द्वादशायतनपूजा श्रेय ७५१
द्वादशाहवदुभयविधं ४४१
द्वा सुपर्णा सयुजा ३७४
द्वितीयाद्वै भयं भवति ३५८
धन्वदुर्गं महीदुर्गं २६५
धन्वन्तरये स्वाहा १८६
धर्मं चर १०३
धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् १९४
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च २९४
धर्म एव हतो हन्ति २९८
धर्मचर्यया जघन्यो १६४
धर्मध्वजी सदालुब्धः १९३
धर्मप्रधान पुरुषं १९५
धर्मविशेषप्रसूताद् ११२
धर्मात्मा विजयी ४
धर्मान्न प्रमदितव्यम् १०३
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण २९८
धिक् धिक् कपालं ५६३
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं २३५
न अहं मोहं ब्रवीमि ७३४
न काष्ठे विद्यते देवो ५८१
नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यः १८७
नगरे नगरे चैकं २७४
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि ६७९
न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्ति ११०
न च पुनरावर्तते ४४३
न च हन्यात् स्थलारूढं २६८
न चागमविधिः कश्चित् ७६८
न चान्यार्थप्रधानैस्तैः ७६८
न जातु कामः कामानां ४७९
न जातु कामान्न भया १०४६
न ततः फलमस्ति ४
न तस्य कार्य्यं करणं च ३३७
न तस्य प्रतिमा अस्ति ५८४
न तिष्ठति तु यः पूर्वां १८२
न तु कार्याभावात् ११९
न तेन वृद्धो भवति ४७९
न निरोधो न चोत्पत्तिः ४२९
न भवति यस्मिन् सोऽभावः १११
न भूतो न भविष्यति ३४३
नमः शिवाय ६६५
नम इति-अन्ननाम ५७१
नमस्तीर्थ्याय च ६१४
नमस्ते रुद्र मन्यवे ५७१

न मांसभक्षणे दोष: ५३७
न मित्रकारणाद्राजा ३०८
नमुक्कारं तउ पढे ७८३
नमो अरिहन्ताणं ७८२
नमो जिनेन्द्रेभ्य: ७८४
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो १९
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो १०५५
नमो भगवते वासुदेवाय ६६५
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं १५१
नवकारेण विवोहो ८१८
न वदेद् यावनीं भाषां ५६५
न विद्यते आदि:कारणं ४४
न विद्यतेऽन्तोऽवधि: ४३
न विद्यते गुणो यस्य ११७
न विद्यते द्वैतं ४९
न विद्यते विनाशो ३२
न वेत्ति यो यस्य ७२१
न वै सशरीरस्य सत: २३३
नष्टे मृते प्रव्रजिते २२२
नष्टे मूले नैव फलं न ५००
न सुप्तं न विसन्नाहं २६८
न स्वर्गो नापवर्गो वा ७३६
न हायनैर्न पलितै: ४७९
नहि सत्यात्परो १०४६
नाततायिवधे दोषो ३०८
नाधर्मश्चरितो लोके १९१
नापृष्ट: कस्यचिद् ब्रूयात् ४७९
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति १९८
नामंपि तस्स ८०४
नामुत्र हि सहायार्थं १९४
नायुधव्यसनं प्राप्तं २६८
नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं ७१६
नारायणाय नम: ५६
नाविज्ञाते जलाशये ७६
नाविरतो दुश्चरितात् २३२
नासतो विद्यते भावो ३९८
नास्तिको वेदनिन्दक: ५८७
नास्ति घटो गेह इति १२१
नास्य छिद्रं परो विद्यात् २७२
निग्रहं प्रकृतीनां च २८३
निजशक्त्युद्भव १२२
नित्याया: सत्त्वरजस्तमसां ३९८
नित्येष्वभावादनित्येषु ११४
निन्दन्तु नीतिनिपुणा १०४६
नियतधर्मसाहित्य १२२
निर्गत आकारात् ४६
निवर्त्तेतास्य यावद्धि: २६३
निवेदिभि: समर्प्यैव ६७९
निषेवते प्रशस्तानि १९८
निष्क्रमणं प्रवेशनम् ११४
नृसिंहाय नम: ६६५
नेतरोऽनुपपत्ते: ५५९
नेह नानास्ति किञ्चन ३७८
नैत्यके नास्त्यनध्यायो १००
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं २८०
नोच्छिष्टं कस्यचिद् ५०२
नोद्वहेत्केपिलां कन्यां १५०
न्यायं कर्तुं शीलमस्य ४८
पक्षपातरहिताचरणं न्याय: ४८
पच्चरकाणं तु ८१८
पञ्चविंशे ततो वर्षे ९५
पञ्चावयवयोगात् सुख ८२४
पञ्चाशद् भाग आदेयो २९६
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दा ७५४
पठितव्यं तदपि मर्तव्यं ६६२
पंडताई पाने पड़ी ६७५
पणयाल लरकजोयण ८३५
पतितेभ्योनम: १८७
पतितोऽपि द्विज: श्रेष्ठ: २२२
परश्चासावात्मा च ३६
परीक्ष्य लोकान् कर्म २३२
परोक्षप्रिया इव हि देवा १४८
परोपकाराय सताम् ३४३
पवित्रं ते विततं ब्रह्मण ५७५
पशुओं का बड़ा भाई १२
पशुश्चेन्निहत: स्वर्गं ५४१, ७३६
पशूनां रक्षणं दानं १६९
पश्चाद् भूमिमथो पुर: २९
पश्यतीति पश्य: ६२६
पहाड़ का खोदना १२७
पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं २९८
पानं दुर्जनसंसर्ग: २०२
पानमक्षा स्त्रियश्चैव २५८
पापरोगिभ्योनम: १८७
पा-रखणे ३४, ४२
पार्वत्युवाच ५३३
पाशबद्धो भवेज्जीव: ५३५
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् १८८
पाषाणादिमूर्त्तिरचयित्वा ५८४
पिताचार्य: सुहृन्माता ३०८
पितामहस्य च माता १८५
पितामहस्य पिता १८५
पितामहाय स्वधा १८४
पितामह्यै स्वधा १८४
पितु: पिता पितामह: १८६
पितृदेवो भव १०३, ४८२, ५९३
पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: १७७, ५९३
पित्रे स्वधा नम: १८४
पीत्वा पीत्वा पुन: ५३३
पुत्रैषणायाश्च २३३
पुमांसं दाहयेत् पापं ३१०
पुराणविद्या वेद: ६१८
पुराणानि खिलानि च ६१७
पुरुष एवेदं सर्वं ३७२
पुरुषा बहवो राजन् १८०
पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य ९३
पुरोहितं प्रकुर्वीत २६६
पूजनं नाम सत्कार: ३०
पूज्यो देववत्पति: ५९३
पूर्वीरहं शरद: शश्रमाणां १५७
पृथिवी जलाभिन्ना ५५७
पृथिव्यापस्तेजोवायु ११२
पृथिव्यादिरूपरसगन्ध १२१
पृथु-विस्तारे ३८
पैशुन्यं साहसं द्रोह: २५८
पॄ-पालनपूरणयो: ५१
पोंपाबाई का न्याय १००३

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां ८५
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने ९७
प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने ९७
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने ९७
प्रजानां रक्षणं दानं १६७
प्रजापतये स्वाहा १८६
प्रजापतेः प्रजा अभूम ३१६
प्रज्ञानं ब्रह्म ३४९
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः १६६
प्रत्यक्षमनुमानं च ७५५
प्रत्यहं देशदृष्टैश्च २९७
प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च ३१४
प्रधानशक्तियोगाच्चेत् ३४०
[प्रपितामहाय स्वधा] १८४
[प्रपितामह्यै स्वधा] १८४
प्रमाणानि च कुर्वीत २९०
प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ३३९
प्रमाणैरर्थपरीक्षणंन्यायः ४८
प्रयोजनमननुदिश्य ७९१
प्रवर्त्तकं प्रकाशकं ३५७
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ १९८
प्रवृत्ते भैरवीचक्रे ५३३
प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी ५९
प्रशासितारं सर्वेषां २४
प्रश्नावतारयोश्चैव ६३४
प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य १०९
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य २९०
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां २३४
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व २३४
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च २९४
प्राणा इहागच्छन्तु ५८३
प्राणापानिमेषोन्मेष ११५, ३४७
प्राणाय नमो यस्य सर्वं २५
प्राणायामादशुद्धि ८४
प्राणायामा ब्राह्मणस्य २३५
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् २३५
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा ६१३
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो १८२
प्रासौ सत्यां निषेधः ५८४
प्रीञ्-तर्पणे ५२
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम् ५३६
प्रोषितो धर्मकार्यार्थं २१८
फलं कतकवृक्षस्य २३५
बं-बं ६५७
बकवच्चिन्तयेदर्थान् २७३
बड़-बड़-बड़ ६५७
बन्ध बन्धने ४२
बर्हिषदः पितरः १८४
बलस्य स्वामिनश्च २८२
बहुगुणविज्ञा निलओ ८०३
बहुत्वं परिगृह्णीयात् ३०१
बहुलमेतन्निदर्शनम् ५३
बाना बड़ा दयाल का ५६३
बारह पत्थर के भीतर ४५७
बारह लोटा भांग के नशे में ४२१
बाहुर्वै बलम् १६२
बाहुर्वै वीर्यम् १६२
बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं ४९६
बुद्धिवृद्धिकराण्याशु १८१
बुद्ध्या निर्वर्तते स बौद्धः ७४३
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन २६५
बुध-अवगमने ४०, ४५
बृह, बृहि-वृद्धौ ४३
बृहस्पते अति यदर्यो ६३६
बोधयन्तीति हि प्राहुः ६३४
बौद्धानां सुगतो देवो ७५४
ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य २२६
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं १४०
ब्रह्मचारिणमिच्छते ५९२
ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति ४७
ब्रह्मज्ञानी आप ६६९
ब्रह्मद्वेषी विनश्यति ५२८
ब्रह्मपतये नमः १८७
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ३७६
ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः ५२७
ब्रह्मशापं विमोचथ ५३४
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् ३७९
ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् १८३
ब्रह्मदयो देवगणास्तृप्य १८३
ब्रह्मदिदेवपत्न्यस्तृप्य १८३
ब्रह्मदिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् १८३
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो ४७१
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं २४९
ब्रह्मोवाच १५४, २२३
ब्राह्मणो न हन्तव्यः ५३१
ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानां ९३
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः ३०८
ब्राह्मणो न हन्तव्यः ५३१
ब्राह्मणस्य विजानतः २३१
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् १६२
ब्राह्मणानीतिहासान् १३५, ६१९
ब्राह्मेणा जैमिनिरुप ५५७
ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्ध्येत १९१
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः १७१
भगवती हि भूयाः ५७१
भगति हेति औतार ६७६
भगवत्या वाण्या ५७१
भगः सक्लैश्वर्यं ५१
भज-सेवायाम् ५१
भद्रकाल्यै नमः १८७
भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् १८०
भं भैरवाय नमः ६५५
भरम रोग तब ही मिट्या ६७३
भर्त्तारं लंघयेद्या स्त्री ३१०
भवन्ति भूतानियस्यां २७
भवान् कल्पविकल्पेषु ६२७
भावं जैमिनिर्विकल्प ४४०
भावोऽनुवृत्तेरेव १२०
भिद्यते हृदयग्रन्थि ४६४
भिन्द्याच्चैव तडागनि २९०
भिया देयम् १०३
भुङ्क्ते न केवली, न स्त्री ७७७
भुवरित्यपानः ८२
भुवर्वायवेऽपानाय ९०
भूत्यै न प्रमदिव्यम् १०३
भूधर्मयोःकलेः ६३४
भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ९०

भूरसि भूमिरसि २५
भूरिति वै प्राणः ८१
भूर्भवः स्वः। तत्सवितुः ८१
भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वा ९०
भेदव्यपदेशाच्च ५५९
भेदव्यपदेशाच्चान्यः ५६०
भैरव उवाच ५३३
भैरवाय नमः ५६
भैरवो भूतनाथश्च ६५६
भैरवोऽहम् ५३५
भोगे रोगभयम् ६८४
मगि-गत्यर्थक ४०
मघवन् मर्त्य वा इदं ४४२
मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् ५५
मङ्गेरलच् ४०
मञ्चाः क्रोशन्ति ३५०
मथुरा तीन लोक से ६१२
मद्यं मांसं च मीनं च ५३३
मनुष्या (साध्याः) ऋषयश्च ४०१
मन्-ज्ञाने ५१
मन्ताणमंतो परमो ७८३
मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ३६८
मन्त्रान् सम्प्रादुः ३६७
मन्येतारिं यदा राजा २८३
मम मातापितरौ न स्तः ३८५
मम मुखे जिह्वा नास्ति ३८५
मरीच्यादय ऋषयः १८४
मरीच्याद्यृषिगणाः १८५
मरीच्याद्यृषिपत्न्यः १८४
मरीच्याद्यृषिसुताः १८४
मरुद्भ्यो नमः १८७
महमा नांव प्रताप की ९७३
महान्त्यपि समृद्धानि १५०
माङ् माने ४२
मातरमपि न ५३६
माता चैव पिता तस्या १५२
माता पिता तथा भ्राता १५३
माता शत्रुः पिता ७६
मातापितृभ्यां यामिभिः १९२
मातृदेवो भव १०३, ४८२, ५९३
मातृमान् पितृमान् ५८, ७२
मातृयोनिं परित्यज्य ५३३
मात्रे स्वधा नमः १८४
मानसं मनसैवायं ४६६
मानुषं च स्वाध्याय ९७
मा नो महान्तमुत ३३२
मा नो वधीः पितरं ४८२, ५९२
मारय मारय उच्चाटय ६५६
मा हिंसी पुरुषं २५
मांसानां खादनं तद्वत् ७३७
मांसाहारिणः कुतो दया ८७७
मीठा मीठा गड़प्प और ६७९
मुच्छ-मोचने ४५
मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति ४३६
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः २२६
मूर्खाणां बलं मौनम् ६८६
मूलंजिणिन्द देवो ८११
मूले मूलाभावदमूलं ३८५
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः २५८
मृतं शरीरमुत्सृज्य १९४
मृतानामपि जन्तूनां ७३६
मृतानामिह जन्तूनां ५४१
मृत्योर्माऽमृतं गमय ३३२
मेरोर्हरेश्चर्द्धे वर्षे ४८३
[मैत्रीकरुणाभुदिता] ४५४
मैंने अरबी आदि ५२६
मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः २७३
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् २६२
म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ४१२
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः ४१२
य आचारं ग्राहयति ४२
य आज्यं ज्ञातुं प्रातुं १८४
य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनो ३५१
य आत्मा अपहतपाप्मा ४४२, ५५८
य इन्दति परमैश्वर्यवान् ३४
य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् ३१
य ईश्वरेषु समर्थेषु ३६
य एते ब्रह्मलोके ४४२
यच्चक्षुषा न पश्यति ५८४
यच्चान्यदसदतस्तदसत् १२१
यच्चास्य सुकृतं किञ्चित् २६८
यच्छेद्वाङ्मनसी २३२
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति ५८४
यज्जनयति लाति ३८
यज्जाग्रतो दूरमुदैति ३२९
यज्जानाति चराचरं ४३
यज-देवपूजासङ्गति ४१
[यज्ञेतु विततते] १७१
यज्ञो वै विष्णुः ४१
यज्वान ऋषयो देवाः ४७१
यतश्च भयमाशंकेत् २८९
यतयः [यद्देवाः यतयः] २३०
यतिहस्ते धनं दद्यात् २४५
यतीनां काञ्चनं दद्यात् २४४
यतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः ७०३
यतो वा इमानि भूतानि ३७२
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च ४६७
यत् क्रियते तत्कर्म ११७
यत्तदग्रे विषमिव ११
यत्तु दुःखसमायुक्तम् ४६६
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तं ४६६
यत्ने कृते यदि न २४१
यत्प्रज्ञानमुत चेतो ३२९
यत्प्राणेन प्राणिति ५८४
यत्र देशे द्रुमो नास्ति ९०४
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण २९८
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते १७८
यत्र श्यामो लोहिताक्षो २५४
यत्सर्वेणेच्छति ४६७
यथा काष्ठमयो हस्ती ४७९
यथा नदीनदाः सर्वे २२४
यथा प्लवेनौपलेन १९३
यथा फलेन युज्येत २८०
यथा यथा हि पुरुषः १८१
यथा राजा तथा प्रजा ३१५
यथार्थदर्शनं ज्ञानम् ३३८
यथाल्पाल्पमदन्त्याऽऽद्यं २८०

यथावस्थिततत्त्वानां ७९९
यथा वायुं समाश्रित्य २२४
यथेमां वाचं कल्याणीं १३९
यथैनं नाभिसंदध्युः २८८
यथोद्धरति निर्दाता २७३
यथोर्णनाभिः सृजते ३८०
यदस्ति त्रिषु कालेषु ४४
यदहरेव विरजेत् २३०
यदा तु स्यात्परिक्षीणो २८३
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ४४१
यदा परबलानां तु २८३
यदा प्रहृष्टा मन्येत २८३
यदा भावेन भवति २३५
यदा मन्येत भावेन २८३
यदा यदा हि धर्मस्य ३४२
यदावगच्छेदायत्यां २८३
यदि गच्छेत्परं लोकं ७३६
यदि तत्रापि संपश्येत् २८३
[यदि ते तु न तिष्ठेयुः] २७३
यदि हि स्त्री न रोचेत १७७
यद्गत्वा न निवर्तन्ते ४४३
यद् गुणैः सह वर्त्तमानं ३६१
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ ३०१
[यद्देवाः] यतयः २३०
यद्यत्परवशं कर्म १९६
यद्वाचानभ्युदितं ५८४
यः कूटेऽनेकविध ४६
यः कामयते काठयते ३८
यः चन्दति चन्दयति ४०
यः चराचरं जगत् ३७
यः केतयति चिकित्सति ४१
यः कौति शब्दयति ५२
यः पर्थति सर्वंजगद् ३८
यः पातिसर्वान् स पिता ४२, १८५
यः पितामहानां पिता ४२
यः पितृणां पिता ४२
यः प्रकृष्टतया चराचरं ३२
यः प्राणयति चराचरं जगत् ८१
यः प्रीणाति प्रीयते ५२
यः मङ्गलमयो ५३
यन्मनसा ध्यायति ३९
यन्मनसा न मनुते ५८४
यमादिभ्यो नमः १८४
यमान् सेवेत सततं ९८
यमेन=वायुना ४६३, ६४५
यया तत्त्वस्वरूपं न ४२८
यं वदन्ति तमोभूता २५६
यः शनैश्चरति ४१
यः शं कल्याणं सुखं करोति ५२
यः शिष्यते स शेषः ५२
यः शुच्यति शोचयति ४०
यः शुन्धति सर्वान् ४५
यश्चिकेतति (केतयति) ४१
यश्चेतति चेतयति ४४
यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण ४७
यः सर्वमश्नुते २७
यः स्वस्मिन् ४२
यः सर्वान् प्राणिनाः ५१
यः सर्वान् शिष्टान् ३३
यः स्वयं भवति ५२
यः स्वयं राजते २७
यः सर्वं कुम्बति ३८
यः सर्वं जगत् कर्त्तुं ४७
यः सर्वतः सर्वं ३९
यः सर्वं दुःखमपानयति ८२
यः सर्वान् प्राणिनो....यमः ५१
यः सुनोत्युत्पादयति ८२
यः स्तूयते स देवः ३७
यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति ५२
यः स्वव्याप्त्या.....पुरुषः ८२
यः स्वापयति स देवः ३८
यस्तु भीतः परावृत्तः २६८
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणः २२४
यस्मात् पूर्वं नास्ति ४४
यस्मादृचो अपातक्षन् ३६२
यस्मादेते मुख्यास्तस्मा १६३
यस्मिन् देशे द्रुमो ५२३
यस्मिन्नृचः साम ३२९
यस्य नाम महद् यशः ६१५
यस्य मन्त्रं न जानन्ति २८१
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे १०१
यस्य विद्वान् हि वदतः ३०२
यस्य स्तेनः पुरे नास्ति ३०८
यादृशी...तादृशो वाहनः ६८८, ९८२
यान्यनवद्यानि कर्माणि ५५, १०३
यान्यस्माकं सुचारितानि ७५, १०३
या पितुर्माता १८५
या मानयति सा माता १८६
यां मेधां देवगणाः ३२९
यावज्जीवं सुखं जीवेत् ७३३
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ७३६
या वेदबाह्याः स्मृतयः ५८७
यास्य प्रथमा रेखा ५७०
या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्यात् २०३
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः ११५
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं ५२४
युवा सुवासाः परिवीत १५७
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव २७४
ये के चास्मच्छ्रेयांसो १०३
ये गृह्णन्ति ६३९
ये तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनः १०३
ये त्रिषप्ताः परियन्ति ५६
ये दुष्टान् यच्छन्ति १८५
येन कर्माण्यपसो ३२९
येन येन यथाङ्गेन ३०८
येनास्मिन्कर्मणा लोके ४६७
येनास्य पितरो याता १६१
येनेदं भूतं भुवनं ३२९
ये प्रकृत्यादयो जडाः ४६
ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे १८४
ये सोममैश्वर्यम् १८४
ये सोमे जगदीश्वरे १८४
ये हविहोतुमतुमर्हम् १८४
यैरग्नेर्विद्युतो विद्या १८४
योऽखिलं जगत् ४३
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ४७३
योगगच्छति गम्यते ३८

यो गुणेभ्यो निर्गत: ४९
यो गुणै: सह वर्त्तते ४९
योऽग्निरिव काल: २७
यो गच्छति गम्यते ३८
योगाङ्गानुष्ठादशुद्धि ८४
यो गुर्वात्मा २७
योऽञ्चति अच्यते ३०
योऽजति सृष्टिं प्रति ४३
यो जुहोति स होता ४१
योऽतति व्याप्नोति ३६
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्य: २३४
यो दीव्यति क्रीडति ३७
यो दीव्यति दीव्यते ८२
यो धर्म्यान् शब्दान् ४२
यो धर्मे राजते स धर्मराज: ५०
यो ध्रुवोऽचलोऽविनाशी ४५
योऽनधीत्य द्विजो वेदम् १०२
यो बुद्धवान् सदैव ४५
यो बुध्यते बोधयति ४०
यो बृहतामाकाशादीनां ३४
यो मङ्गति मङ्गयति वा ४०
यो मन्यते स मनु: ५१
यो महतां देव: ५२
यो मातरिश्वा २७
यो माद्यति स देव: ३८
यो मिमीते मानयति ४२
यो मुञ्चति मोचयति ४५
यो मेदते मिद्यति ३३
यो मोदयति स देव: ३७
योयजतिविद्वद्भि: ४१
यो यदैषां गुणो देहे ४६६
यो रहति परित्यजति ४१
यो रोदयत्यन्याय ३९
योऽर्यान् स्वामिनो ३४
यो लक्षयति पश्यति ४७
योऽवमन्येत ते मूले १०५, ४७७
यो वाति चराचरं ३१
यो विजिगीषते ३७
यो विविधं जगत् व्यान ८२
यो विविधं नाम चराचरं ३०
यो विश्वं बिभर्ति ५१
यो विश्वमीष्टे स ४६
यो वै ब्रह्माणं विदधाति ३६३
यो व्यवहारयति ३७
यो हिरण्यानां सूर्यादीनां ३१
रंग है कालियाकन्त को ६०२
रजस्वला पुष्करं तीर्थं ५३४
[रथमास्थाय प्रययौ] ६३०
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं २६८
रथेन वायुवेगेन ६३०
रसं ह्येवायं लब्ध्वा ५६०
रह त्यागे ४१
रागादिज्ञानसन्तान ७५५
रागादीनां गणो ७५४
राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि २४९
राजान: क्षत्रियाश्चैव ४७१
राजा भवत्यनेनास्तु २९८
राजृ-दीप्तौ ३०
राज्ञश्च दद्युरुद्धारं २६८
राज्ञो हि रक्षाधिकृता: २७४
राधाकृष्णाभ्यां नम: ५६
राम उवाच २२३
राम कहे तिनकूं ६७३
राम नाम लिष ६७३
राम भजत छूट्या ६७३
राम रटत जम ६७३
राम बिना सब झूठ ६७३
राम संतां का ६७३
राष्ट्रमेव विश्याहन्ति २५०
राष्ट्रं वा अश्वमेध: ५३८
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं २७३
रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु ७९८
रुदिर-अश्रुविमोचने ३९
रुद्राक्षान् कण्ठदेशे ५६३
रूपरसगन्धस्पर्शवती ११३
रूपरसगन्धस्पर्शा: संख्या ११६
रूपरसस्पर्शवत्य आपो ११३
रूपविज्ञानवेदनासंज्ञा ७५०
रे जीव दुहाईं ८०१
रोटी खाइये शक्कर से ७१२
रोदेर्णिजुक् च ३९
लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तु १२३
लक्ष-दर्शनाकंनयो: ४७
लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् ११३, ११७
लाइलाह इल्लिल्ला: १०३६
लुञ्चिता: पिच्छिकाहस्ता ७७७
लोकैषणायाश्च (पुत्रैषणायाश्च) २३३
लोभ: स्वप्नो धृति: ४६७
लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु ३०५
लोभान्मोहाद् भयान्मैत्रात् ३०५
वटुकाय नम: ५६
वदतो व्याघात: ५४९
वनस्पतिभ्यो नम: १८७
वनेषु च विहृत्यैवं २३०
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्या २१८
वन्नेमि नारयाउ वि ८१०
वयणे वि सुगुरु जिणा ८१२
वयाइं इमे ८१८
वर-ईप्सायां ३३
वरुणो नाम वर: श्रेष्ठ: ३३
वर्जयेन्मधु मांसं च १०२, ४९६
वसिष्ठ उवाच २२३
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं ४७९
वस-निवासे ३९
वसन्ति भूतानि यस्मिन् ३९
वस्तुन्यवस्त्वारोपण ५४६
वा गतिगन्धनयो: ३१
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् ३०५
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव ३०८
वाच्यर्था नियता: सर्वे १९६
वामनाय च ५७१
वायसेभ्यो नम: १८७
वास्तुपतये नम: १८७
विक्रीय शूर्पं विचचार ५७६
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् २८०
विजानीह्यार्यान् ४०२, ४११
विति चउरिंदिय सरीरं ८३६

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म ४७९
विद्यां चाऽविद्यां च ४२६
विद्याविलासमनसो ७८
विद्वद्भिः सेवितः ४७६
विद्वत्त्वं च नृपत्वं च २४६
विद्वांसो हि देवाः १८३
विधवेव देवरम् २१७
विनाशकाले विपरीत ५२६
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं ४७९
विभूः प्रजासु ४१७
विविधानि च रत्नानि २४५
विंशतीशस्तु २७३
विशन्ति प्रविष्टानि ३०
विश-प्रवेशने ३०
विषादप्यमृतं ५३१
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां ५६०
विशेषभागीह ४
विश्वानि देव सवित ९०
विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः १८७
विश्वेभ्यो देवेभ्य स्वाहा १८६
विषसम्पृक्तान्नवत् १३५
विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ५३१
विष्लृ-व्याप्तौ ३४
विष्णोः परमात्मनः ५७१
वृञ्-वरणे ३३
वृद्धिरादैच् १२४
वृषो हि भगवान् धर्मः २९८
वेतनस्यैव चादानं २९७
वेत्ति यथावत् तत्त्वं ४२८
वेद पढ़त ब्रह्मा मरे ६६९
वेदपुराण पढ़े पढ़ ६७५
वेदमनूच्याचार्यो अन्ते १०३
वेदशास्त्रपुराणानि ५३३
वेदः स्मृतिः सदाचारः १०५
वेदानधीत्य वेदौ वा १४५
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चिता २३३
वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं ४६६
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च १००, ४७९
वेदोऽखिलो धर्ममूलं ४७९
वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये १००
वेदोऽसि १७५
वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं ३४
वेसाण वंदियाणय ८०८
वैदिकी हिंसा हिंसा न ५३७
वैश्वदेवस्य सिद्धस्य १८६
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः ४७७
वैदिकैश्चैव कर्मभिः २४२
वैष्णवमसि ५७१
व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ११३
व्यसनस्य च मृत्योश्च २५९
व्यावर्तकं विशेषणम् ३५७
शक्लृ-शक्तौ ४७
शत्रुसेविनि मित्रे च २८९
शन्नो देवीरभिष्टये ६३७
शन्नो मित्रः शं वरुणः १९, १०५५
शमश्च स्वाध्याय ९७
शमो दमस्तप शौचं १६६
शरीरकर्षणात्प्राणाः २७३
शरीरजैः कर्मदोषैः ४६६
शरीरे भव शारीरः ५६१
शारीरश्चोभयेऽपि ५६०
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ३७२
शिव उवाच २२३, ५३३
शिवस्य परमेश्वरस्य ५७१
शिवाय च शिवतराय च ५७१
शिवाय नमः ५६
शिवु-कल्याणे ५३
शिवोऽहम् ५३५
शिष्लृ-विशेषणे ५२
शुक्रमन्धसः ६३७
शुचिना सत्यसन्धेन २५४
शुनां च पतितानां च १८६
शुन्ध-शुद्धौ ४५
शूद्रो ब्राह्मणतामेति १६४
शून्यं तत्त्वं भावो ३८५
शृण्वन् श्रोत्रं भवति ४३८
शेषाधारा पृथिवी ४१६
शोचन्ति जामयो यत्र १७८
शोभनः कालोविद्यते १८५
शोभनानि पर्णानि २७
शौचसन्तोषतपः ९८, ३३५
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं १६७
श्रत्सत्यं दधाति यया १८३
श्रद्धया देयम् १०३
श्रद्धया यत् क्रियते १८३
श्रावणस्यामले पक्षे ६७९
श्रिञ्-सेवायाम् ४७
श्रिया देयम् १०३
श्रियै नमः १८७
श्रीकृष्णः शरणं मम ६७७
श्रीकृष्णः शरणं मम सहस्र० ६७७
श्रीगणेशाय नमः ५५, ५६, ६६२
श्री गुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः ५६
श्रीमते नारायणाय नमः ५७४
श्रीमते रामानुजाय नमः ५७४
श्रीमन्नारायणचरणं ५७४
श्रीमद्भागवतं नाम ६३३
श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः ६६५
श्रीरामचन्द्राय नमः ६६५
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य १९८
श्रुतिः (वेदः) स्मृतिः सदाचारः १०५
श्रुतिरपि प्रधानकार्य ३४०
[श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः] ४७६
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं ४७६
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा ४७९
श्रोतुः परीक्षितोजन्म ६३४
श्रोत्राद् वायुश्च २९
श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धि ११६
श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि ३८९
श्वपग्भ्यो नमः १८७
श्वभ्यो नमः १८७
षट्त्रिंशदाब्दिकं ९३
षडभिज्ञो दशबलो ७६४
षुञ् अभिषवे ३७
षूङ् प्राणिगर्भ ३७
संकल्पमूलः कामो ४७६
संयोगेषु विभागेषु ११७

संयोवि जण अहिउ ८०७
संविदा देयम् १०३
संशोध्य त्रिविधं मार्गं २८९
संहतान् योधयेदल्पान् २९०
स एष पूर्वेषां ४३, ३६७
सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः १८४
सच्चासत् १२०
सजातीयविजातीयस्वगत ४९
स तानानुपरिक्रामेत् २७४
सत्तामात्राच्चेत् सर्वै ३४०
सत्कारणवदनित्यम् १२९
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु १९१
सत्यनाम कबीर ६६६
सत्यनाम कर्त्ता ६६७
सत्यमेव जयते १०, १०४६
सत्यं च स्वाध्याय ९७
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ४३, ४६५
सत्यं ब्रूयात् प्रियं बूयात् १७८
सत्यं वद १०३
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी ३०१
सत्यराजन् ६४५
सत्यान्न प्रमदितव्यम् १०३
सत्यार्थप्रकाशाय ४
सत्येन पूयते साक्षी ३०१
सत्येनोत्तभिता भूमिः ४१६
सत्ये रतानां सततम् २०१
सत्वं ज्ञानं तमो ४६६
सत्त्वरजस्तमसांसाम्या ३७५
सत्सु घनेषु वृष्टिः १११
सदकारणवन्नित्यम् १२१
सदसत् १२०
स दाधार पृथिवीं द्यामुते ४१७
सदा प्रहृष्टया भाव्यम १७८
सदिति यतो द्रव्य १२०
स दृष्ट्वा (देशान्) विविधान् ४८३
सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ३७६
सदेव सोम्ये...ब्रह्म २५०
सदेव...मेवाद्वितीयम् ३५१, ३५६
स देशान् विविधान् ४८३
सन् घटः ७६०
सन्नसन् घटः ७६०
सन्त की महिमा वेद न जानी ६६९
सन्ता कै कुल ६७३
सन्तीति सन्तस्तेषु ४३
सन्तुष्टो भार्यया भर्ता १५५, १७७
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारम् २२६
सन्धिं तु द्विविधं विद्यात् २८२
सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः ५५५
स पर्यगाच्छुक्रमकाय ३२८, ३४२
सप्तकस्यास्य वर्गस्य २४९
सप्पो इक्कं मरणं ८०५
सब अन्न बारह पसेरी ६४८
सब विद्याओं और ५२५
स ब्रह्मा स शिवः २४
सभान्तः साक्षिणः प्राप्तान् ३०१
सभा वा न प्रवेष्टव्या २९८
सभ्य सभां मे पाहि २५०
समक्षदर्शनात्साक्ष्यं ३०१
समवेतुं शीलं यस्य ११२
समाधिनिर्धूतसमलस्य ३३५
समानतीर्थे वासी ६१४
समानयानकर्मा च २८२
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् २५३
समोत्तमाधमै राजा २६८
संन्यासी सर्वकर्मविनाशी २४३
सम्पद्याविर्भावः स्वेन ५५७
सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ३३९
सम्बन्धिभ्यः स्वधा १८४
सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः १११
सम्मत्तचरण सहिया ८३४
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यम् १०२
सम्यङ् नित्यमास्ते २४३
स य एषो अणिमा ३५१
सरजोहरणा भैक्षभुजो ७७६
सरस्वतीदृषद्वत्यो ४०४
सरस्वत्यै नमः ५६
स राजा पुरुषो दण्डः २५३
सरो विविधं ज्ञानं ४८
सर्वज्ञसदृशं किञ्चित् ७६८
सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो ७६४
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं ७६८
सर्वज्ञो दृश्यते तावत् ७६५
सर्वज्ञो वीतरागादि ७६५
सर्वथानवद्ययोगानाम् ७९९
सर्वमनित्यमुत्पत्ति ३८६
सर्वमभावो भावे ३८६
सर्वं खलु ३७८
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् ३७८
सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह ३७६
सर्वं तु समवेक्ष्येदं ४७६
सर्वं नित्यं पञ्च ३८६
सर्वं परवशं दुःखम् १९६
सर्वं पृथग् भावलक्षण ३८६
सर्वस्य संसारस्य दुःखा ७४८
सर्वात्मभूतये नमः १८७
सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते ४८
सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म २६, ४३
सर्वे वेदा यत्पद २४
सर्वेषामेव दानानां १४४
सर्वोपायैस्तथा कुर्यात् २८८
स वा एष एतेन दैवेन ४४२
स शाक्यसिंहः सर्वार्थः ७६५
स सन्धार्यः प्रयत्नेन २२४
सहजा देशकालोत्था ६७९
सह द्यावापृथिवीभ्यां १८६
सहस्रपरिवत्सरेति ६७८
[सहोभौचरताम्] १७१
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् ३०१
साधुर्न हन्तव्यः ५३१
साध्नोति पराणि ६६४
साध्या ऋषयश्च ४०१
सानुगाय यमाय नमः १८७
सानुगाय वरुणाय नमः १८७
सानुगाय सोमाय नमः १८७
सानुगायेन्द्राय नमः १८७
सामान्यं विशेष इति ११८
सामि अणाई अणन्ते ७७४

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति ७३
सांवत्सरिकमाप्तैश्च २६८
सायंसायं गृहपतिर्नो १८२
[णहंमि अउअहिओ] ८१६
साहसे वर्तमानं तु ३०८
साहसेषु च सर्वेषु ३०१
सीतारामाभ्यां नमः ५५, ६६५
सीमाविवादधर्मश्च २९७
[सुकालिनः पितरः] १८४
सुकृतस्य लोकेगुहां ५६१
सुखार्थिनः कुतो विद्या २००
सुद्धे मग्गे जाया ८०९
सुप्तघ्नं द्रौण्यभिभवः ६३४
[सुप्तांभत्तांप्रमत्ताम्] १७१
सुषारथिरश्वानिव ३३०
सूर्य आत्मा जगतः ३६, ५७१
सूर्यस्य चराचरात्मनो ५७१
सूर्याचन्द्रमसौ धाता ३९४, ४२४
सृ-गतौ ४८
सेतुबन्ध इति ख्यातम् ६०२
सेनापतिबलाध्यक्षौ २८९
सैन्यापत्यं च राज्यं च २५५
सोऽकामयत बहु ३७६
सोऽग्निर्भवति वायुश्च २५३
सोमः प्रथमो विविदे २१६
सोमपाः पितरः १८४
सोमसदः पितरस्तृप्य १८४
सोमाय स्वाहा १८६
सोम्यान्नेन शुङ्गेन ३७६
सोऽयं देवदत्तो य ३५३
सोऽसहायेन मूढेन २५४
सौत्रामण्यां सुरां पिबेत् ५३६
स्त्रियां तु रोचमानायां १७७
स्त्रियो रत्नान्यथो १७९
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः ३०१
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च २९७
स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् १३९
स्थाणुरयं भारहारः १२८
स्थावराः कृमिकीटाश्च ४७०
स्थिरा वः सन्त्वायुधाः २५१
स्नानं समर्पयामि ५८४
स्पर्शवान् वायुः ११३
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येद् २९०
स्याद्द्वादस्य प्रमाणे ७७६
स्यादवक्तव्यो जीवः ७६१
स्यादस्ति च अवक्तव्यो ७६१
स्यादस्ति जीवोऽयं ७६१
स्यादस्ति नास्ति ७६२
स्यादस्ति नास्तिरूपो ७६१
स्यान्नास्ति च अवक्तव्यः ७६१
स्यान्नास्ति जीवो ७६१
स्त्रीगनेसाज नमें ६६२
स्त्रीगनेसाजन्नमें ६६२
स्त्रीगनेसायन्नमें ६६२
स्वतन्त्रः कर्त्ता ३४५
स्वपत्न्यै स्वधा नमः १८४
स्वभावेनैव यद् ब्रूयूः ३०९
स्वयंकृतश्च कार्यार्थ २८२
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् ३६२
स्वरादित्याय व्यानाय ९०
स्वरिति व्यानः ८२
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं ७३६
स्वः सुखं गच्छति ४६५
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न १०३
स्वाध्यायान्मा प्रमदः १०३
स्वाध्यायेन जपैर्होमैः १६०
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः ९९
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् १८१
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् २२७
स्वामी शंकराचार्य से पहले ७६४
स्वार्थी दोषं न पश्यति ५६४
स्विष्टकृते स्वाहा १८६
[हत्त्वा छित्त्वा च] १७१
हनुमते नमः ५६
हर-हर ६५७
हरि ५६
हरिः ओम् ५६
हरिर्हरति पापानि ६१३
हविर्भुजः पितरः १८४
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च ४७०
हालां पिबति दीक्षितस्य ५३५
हा हा गुरु अकज्झं ८०५
हिमवतः प्रभवति गङ्गा ६०९
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ३१, ३७२
हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या २९४
हिरण्यानि सूर्यादीनि ३१
हीनक्रियं निष्पुरुषं मनु० १५०
हु दानाऽदनयोः ४१
हृदय का अन्धा १०१८
हे परमेश्वर! जैसी उन्नति ५२५
हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दा ८२
हे भृत्य त्वं २३
हेमाद्रेः सचिवस्यार्थे ६३३
हेयं हि कर्तृरागादि ७६३
होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र १०४३
ह्रां ह्रीं ह्रूं ६५५
ह्रिया देयम् १०३
ह्रीं श्रीं क्लीं ६५५
ह्रूं फट् स्वाहा ६५५

—०—

परिशिष्ट-२

सत्यार्थप्रकाश (समुल्लास १३-१४) में समीक्षित आयतखण्डों की अनुक्रमणी

अपने पड़ौसी पर झूठी साक्षी ८७९
अब सर्प भूमि के ८५३
अल्लाह के मार्ग में लड़ो ९६७
अल्लाह क्षमा करता है पाप १०२३
अल्लाह झगड़ा करने वालों को ९६८
अल्लाह ने क्रोध किया काफ़िरों १०३१
अल्लाह ने माफ़ किया ९८५
अल्लाह पहिली वार करता है १०१३
अल्लाह मुसलमानों के साथ है ९९०
अल्लाह वह है जिसने खड़ा किया ९९८
अल्लाह सूर्य को पूर्व से लाता है ९७०
अवश्य बहिश्त में भेजेंगे ९७९
अवश्य हम क़त्ल करेंगे ९८७
अवश्य हमने तुमको उत्पन्न किया ९८५
आओ हम अपने पिता को दाखरस ८६५
आकाश और पृथिवी टल ९०८
आना मानो अल्लाह की ९८४
आत्मा कहता है, हां कि वे ९२९
आदम को सारे नाम लिखवाये ९४९
आदि में वचन था ९१७
आनन्द का सन्देशा ईमानदारों को ९५८
आराम साथ नाम अल्लाह के ९३९
इकट्ठा किया जावेगा सूर्य १०३७
इन लोगों पर इनके मालिक की ९६४
इश्माएल के बेटों के नाम हैं ८६९
इस कारण वे ईश्वर के सिंहासन ९२३
इस तरह मुर्दों को अल्लाह जिलाता ९५४
इसी प्रकार उतारा हमने कुरान ९९९
ईश्वर का मुंह देखा ८७३
उतारना किताब का अल्लाह १०२४
उत्पन्न किया आदमी को शुक्र से १०००
उन दिनों के क्लेश के पीछे ९०७
उनमें से एक मेरे पास आया ९३२
उनमें से कोई ईमान लाया ९७०
उनसे अल्लाह ठट्ठा करता है ९४७
उसको कहता है कि हो ९७५
उस दिन की गवाही देवेंगे १००८
उस दिन बहुतेरे मुझसे ८९७
उस दिन से डरो कि जब ९५२
उस नाव की लम्बाई ८५८
उसने उससे कहा...मेरे पीछे आओ ८९३
एक बड़ा आश्चर्य स्वर्ग में ९२५
ऐ ईमान वालों संतोष करो ९७७
ऐ नबी! कि फ़ायत है तुझको ९९२
ऐ नबी, क्यों हराम करता है १०३३
ऐ नबी, झगड़ा कर काफ़िरों...से १०३४
ऐ मूसा, बात यह है १०११
ऐ लोगों, जो ईमान लाये ९९५
ऐ लोगों निश्चय तुम्हारे पास ९८३
ऐसा न हो कि काफ़िर लोग ९५९
और अटकी रहो बीच घरों १०१७
और अपने-अपने शिर पर ९१९
और अपने कहने के समान..... सर: से भेंट की ८६५
और अपने मालिक को दीनता ९८९
और अपने हाथों को न रोकें ९८०
और अब कोई शाप न होगा ९३४
और अल्लाह को अच्छा उधार दो ९८३
और अल्लाह खास करता है ९५८
और अल्लाह तुमको परोक्षज्ञ ९७७
और अल्लाह ने उत्पन्न किया १००९
और अल्लाह वह पुरुष है १०२०
और आज्ञा दी हमने १०१३
और आनन्द का संदेशा दे ९४८
और इन बसों के पीछे ८६६
और इससे पहले काफ़िरों पर ९५७
और ईश्वर ने इब्राहीम से ८६२
और ईश्वर ने उसके कुकर्मों को ९३०
और ईश्वर ने नूह को ८६०
और ईश्वर ने राखिल को ८७०
और उस मनुष्य से अधिक ९८५
और उसने अजगर को ९३१
और उसने उस नल से ९३३
और उसी रात ऐसा हुआ कि .....नातान ८८६
और उसे ईश्वर के कोप ९२९
और एक अणु के बराबर भी ९७८
और एक दिन....ईश्वर के पुत्र ८८८
और कभी देखे जब काफ़िरों ९९२
और कहा गया....ऐ पृथिवी ९९७
और कहो कि क्षमा मांगते हैं ९५३
और काटें जड़ काफ़िरें की ९९०
और काफ़िरों पर हमको सहाय दे ९७६
और कितने दिनों के पीछे काइन ८५५
और किया सूर्य, चन्द्र को ९९९
और किया हमने दोज़ख को १००२
और कुशल का बलिदान ८८०
और कोई अपवित्र वस्तु ९३३
और घुड़चढ़ों की सेनाओं ९२४
और जब आया ईसा साथ १०२७
और जब आवेगा मालिक तेरा १०३९
और जब उसने पुस्तक लिया ९२०
और जबकि आसमान फट जावे १०३८
और जब मेम्ने ने छापों में ९२१
और जिसको चाहा मारा हमने १००६
और जिस दिन कि फट जावेगा आसमान १००९
और जैसे बड़ी बयार से हिलाये ९२२
और तब वह हर एक मनुष्य को ९०२

और था अर्श अर्थात् सिंहासन ९९७
और दिया हमने समूद को ऊंटनी १००३
और दूसरा दूत आके वेदी के ९२३
और देखेगा तू पहाड़ों को १०१२
और देखो एक कोढ़ी ने ८९७
और देखो बड़ा भुईंडोल हुआ ९१५
और देखो स्वर्ग में साक्षी का तम्बू ९२९
और नियत करते हैं...बेटियां १००१
और निश्चय क्षमा करानेवाला हूं १००६
और नूह ने परमेश्वर के ८५९
और परमेश्वर ईश्वर ने आदम ८५५
और परमेश्वर ने इब्राहीम से...सर: ८६४
और परमेश्वर ने मूसा को ८८१
और पांचवे दूत ने तुर ही ९२३
और फसह मेम्ना मारो ८७७
और फिरेंगे ऊपर उनके पास लड़के १०३७
और फूंका जावेगा बीच सूर १०२१
और बयालीस मास लों युद्ध ९२८
और बाबुल के राजा नबूखुदनज़र ८८७
और बिदारी के समय ९१८
और बोला कि तू मेरा रूप ८८०
और मैंने दूसरे पराक्रमी दूत को ९२४
और मैंने दृष्टि की ९२०
और मैंने दृष्टि की...मेम्ना सियोन ९२८
और मैंने सिंहासन पर ९२०
और यदि उसके पास भेड़ ८८३
और यह कि अल्लाह कठोर दु:ख ९६५
और यह कि मस्जिदें वास्ते अल्लाह के १०३६
और यहूदाह का पहिलौठा ८७३
और याकूब अकेला रह गया ८७१
और याकूब अपने मार्ग ८७१
और याकूब विहान को ८७०
और याद करो बीच किताब के मरियम १००५
और ये बस्तियां हैं कि मारा हमने १००४
और यों हुआ परमेश्वर ने आधी रात को मिश्र ८७७
और यों हुआ—जब आदमी पृथिवी पर ८५७
और लग्गी के समान नरकट ९२५
और लड़ो उनसे यहां तक ९९१
और वह उस बैल को ८८२
और वह जो लड़का...थे मा-बाप १००४
और वह पितर को और जबदी ९१०
और वह बड़ा अजगर गिराया ९२६
और वे बड़े शब्द से पुकारते थे ९२१
और शिक्षा दी हमने उस औरत १००७
और शिक्षा प्रकट होने के पीछे ९८२
और सदैव रहने वाले ९९८
और सारी पृथिवी पर ९६०
और हनूक मतूसिलह ८५७
और स्वर्ग में ईश्वर का मन्दिर ९२५
और स्वर्ग में युद्ध हुआ ९२६
क़सम है आसमान बुर्जोंवाले की १०३९
क़सम है कुरान दृढ़ की १०२०
कह इससे अच्छी और क्या ९७२
कह कि कभी न लाभ देगा १०१६
कह, निश्चय अल्लाह ९९९
कहा, चार जानवरों में से
काफ़िरों पर गम मत खा ९८४
किन्तु जो बुराई कमायें ९५५
क्या नहीं देखा तूने यह कि अल्लाह १००७
क्या नहीं देखा तू ने यह कि भेजा १००६
क्योंकि मेम्ने का विवाह ९३०
क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूँ ८९५
क्योंकि मैं धर्मियों को नहीं ८९९
क्योंकि मैं परमेश्वर तेरा ८७८
खुदा जिसको चाहे अनन्त रिजक़ ९६८
चढ़ते हैं फरिश्ते और रूह तरफ़ १०३५
जबकि सूर्य लपेटा जावे १०३८
जबकि हिलाई जावेगी पृथिवी १०२८
जब कोई अध्यक्ष पाप ८८२
जब तेरे पास से निकलते ९८०
जब परमेश्वर ने देखा...अलंगफिरा ८७५
जब मूसा ने अपनी कौम के लिये ९५३
जब मूसा सयाना हुआ ८७४
जब यीशु ने सुना कि योहन ८९३
जब यूसुफ़ ने अपने बाप ९९८
जब वे खाते थे तब यीशु ने रोटी ९०९
जब हमने तुमसे प्रतिज्ञा कराई ९५५
जब हमने फरिश्तों से कहा—बाबा आदम ९४०
जब हमने लोगों के लिए काबे ९६०
जिसके सम्मुख से पृथिवी..... ९३२
जिसको चाहता क्षमा (पुण्यात्मा) ९८४
जिसको चाहता है पुण्यात्मा ९८४
जिसको चाहे नीति देता है ९७१
जिस समय कहा फरिश्तों ने ९७५
जो अद्वैत सत्य ईश्वर है ९१९
जो अल्लाह, रसूलों, फरिश्तों ९८२
जो कुछ आसमान और पृथिवी ९७०
जो कोई किसी मनुष्य को मारे ८७९
जो तुम उस वस्तु से सन्देह में हो ९४७
जो लोग अल्लाह के मार्ग में ९६३
जो लोग छिपाते हैं उसको ९६४
जो लोग ब्याज खाते हैं ९७१
तदवीर करता है कम की १०१५
तब आत्मा यीशु को ८९३
तब इब्राहीम ने बड़े तड़के ८६६
तब उसने...पत्नी सारै से ८६१
तब उससे बात करने से ८६३
तब उसे हेरोद के पास ९१७
तब दो भूतग्रस्त मनुष्य कब्र ८९८
तब परमेश्वर ईश्वर ने आदम को ८५२
तब परमेश्वर ने उसके कहा...छड़ी ८७५
तब परमेश्वर ने काइन से ८५६
तब परमेश्वर ने सदूम और अमूर: ८६५
तब बारह शिष्यों में से एक यहूदा ९०९
तब यीशु ने उनसे कहा..... रोटियां हैं? ९०२
तब यीशु सारे गलील देश ८९४
तब वह उनसे जो बाईं ओर ९०८
तुम जिधर मुंह करो ९५९
तुम पर मुर्दार लोहू और गोश्त ९६५

तुम पर हराम किया मुर्दार लोहू ९८३
तुम्हारा मन व्याकुल ९१८
दिखा उन लोगों का रास्ता ९४३
देख मैं शीघ्र आता हूं ९३५
देखो! लोग एक अर्धांगी को ८९९
धन्य हैं वे जो मन में दीन ८९५
नहीं तू परन्तु आदमी मानिन्द १०११
नहीं योग्य वास्ते तुम्हारे १०१८
निश्चय अल्लाह की ओर से इस्लाम ९७३
निश्चय अल्लाह बुरे लोगों को ९८२
निश्चय, अल्लाह मित्र रखता है १०३२
निश्चय, उतारा हमने बीच रात क़द्र के १०४०
निश्चय उत्पन्न किया है तुमको १०३६
निश्चय तुम्हारा मालिक ९८६
निश्चय परवरदिगार तुम्हारा ९९६
निश्चय, वे मकर करते हैं १०३९
निश्चय हम तेरे मुख को ९६२
निश्चय हमने मूसा को किताब दी ९५७
पकड़ो उसको बस घसीटो १०२७
परन्तु ईश्वर अरामी लाबान
परन्तु रसूल और जो लोग ९९४
परमेश्वर तुम्हारे लिये युद्ध ८७७
परमेश्वर मेरे स्वामी इब्राहीम ८६९
पहले दूत ने तुरही ९२३
प्रतिज्ञा की है अल्लाह ने ९९४
प्रत्येक जीव को पूरा दिया जावेगा ९७३
प्रश्न करते हैं तुझसे रजस्वला ९६८
प्रश्न करते हैं तुमको लूयें ९८९
फट जावेगा आसमान १०३४
फिर ईश्वर ने उस ममरे के ८६४
फिर निश्चय तुम दिन क़यामत १००८
फिर परमेश्वर मूसा से...बोला ८८२
फिराया जावेगा उनके ऊपर १०२१
बदला दिये जावेंगे कर्मानुसार १०३७
बस उनको चाहिये खुदा के मार्ग में लड़ें ९७९
बस, एक ही वार असाडाल ९८७
बस, कहा था वास्ते उनके पैगम्बर ख़ुदा के ने १०४०
बस, जब ठीक करूं मैं उसको १०००
बस जब तुम मिलो उन लोगों से १०२७
बस, तू मुझको अलबत्ता देख ९८८
बस नियत किये उसने सात आसमान १०२४
बस, मत अन्याय करो बीच ९९३
बस, मुष्ट मारा उसको मूसा ने १०१२
बहिश्तें हैं सदा रहने की १०२२
बोलने हारे तो तुम नहीं ९००
भोर को जब वह नगर को ९०७
मत फिरो पृथिवी पर झगड़ा करते ९८६
मत मरो परन्तु मुसलमान हो ९७६
मत समझो कि मैं....मिलाप करवाने आया हूं ९००
मालिक दिन न्याय का ९४२
मैं अभी अपने पिता से विनति ९१२
मैं तुमसे कहता हूं....धर्म ८९६
मैं तुमसे सच कहता हूं.... धनवान् को ९०५
मैं तुमसे सच-सच कहता हूं ९१९
मैं तुम्हें सच कहता.... मन न फिराओ ९०४
मैं तेरे पिता की रुचि के समान ८६९
मैंने उनकी संख्या सुनी ९२२
यदि कर्ज दो तुम अल्लाह को १०३२
यह कि मार सात असा ९८९
यह क्या बढ़ई नहीं है ९१६
यह पुस्तक कि जिसमें संदेह नहीं ९४४
यह लड़ाई इसलिये...अल्लाह ९७६
यीशु अध्यक्ष के आगे खड़ा हुआ ९१३
यीशु ख्रीष्ट का जन्म ८९१
यीशु ने अपने बारह शिष्यों को ९००
यीशु ने उनसे कहा....नई सृष्टि में ९०५
यीशु ने उससे कहा तू मुझे उत्तम ९१७
यीशु बपतिस्पा लेके ८९२
यीशु लोगों से बात...उसकी माता ९०१
ये अल्लाह की हद्दें हैं ९७८
ये आयतें हैं किताब हिक्मत वाले १०१५
ये लोग वास्ते उनके हैं बाग़ १००४
ये लोग वे हैं कि मोहर १००१
ये वे लोग है....असखिरत के ९५६
यों जो न रुकेगा, अवश्य घसीटेंगे उसको १०४०
रोज़े की रात तुम्हारे लिये ९६६
ले माल उनके से खैरात ९९५
वह कि जिसको चाहे क्षमा करेगा ९७२
वह पृथिवी अल्लाह ने लूट १०३१
वह बोलता ही था कि...यहूदा ९११
वही की हमने तरफ मूसा की १०१०
वही है जिसने उत्पन्न किया १०३१
वास्ते उसके कुंजियां हैं १०२५
विश्राम के दिन को ८७८
वे अल्लाह और ईमानदारों को फरेब ९४६
वो आसमान और भूमि का ९५९
वो कौन मनुष्य है जमे ९६९
वो मनुष्य कौन है जो इब्राहीम ९६१
शिक्षा और दया वास्ते ९९६
सदा रहेंगे बीच उसके ९९३
सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते है ९४२
सो अब लड़कों में से हर एक बेटे को ८८५
सो आप हमारी समाधिन में से ८६७
सो उस बलिदान की खाल ८८४
सो गदही ने परमेश्वर के इन ८८५
सो जैसा तुम्हारा...पिता ८९६
सो परमेश्वर मेरे इस्रायल पर मरी ८८७
हमने उनको कहा—निन्दित बन्दर हो ९५४
हमने कहा ओ आदम ९५१
हमने मूसा को किताब और मोज़िजे ९५२
हमारी दिन भर की रोटी...दे ८९६
हर एक जो मुझसे हे प्रभु ८९७
हां, मेरे अन्तःकरण ने ८८८
हाय, पृथिवी और स्वर्ग के ९२८
हे अविश्वासी हठीले लोगो ९०३

—०—

परिशिष्ट-३

सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित और उद्धृत ग्रन्थों एवं विद्याओं की नामानुक्रमणी

अथर्ववेद/ अथर्व० २५, १३४, ३३१, ३६२(२), ३६३(२), ३६८, ६२०, ६५१, १०४२(४), १०४३(३), १०४४
—उद्धरण में १४०, १८२, २१५, २४९, २५०, २५१, २६२, ४०३, ४११, ४१६, ४२०, ४८२, ५७१, ५७२(३)
अनुत्तरोववाई सूत्र १३
अनुभूतिप्रकाश, —उद्० ३५४, ५४६
अनुयोगोद्धारसूत्र १३
अमरकोश १२७, १३४, ७६४
—उद्० ७६५
अर्थवेद १३१, १३४
अल्लोपनिषद् १०६४, १०४३(३)
अष्टाध्यायी ७६, १२४, १२५, १२६(२)
—उद्० १२४, १२५(२), ३४५, ३६८, ६१४
अष्टावक्रगीता, —उद्० ३८९
आचाराङ्ग सूत्र १३
आत्मनिन्दाभावना ७८३
आदि पुराण ५६७
आदित्यपुराण ६४९
आपस्तम्ब (धर्म) सूत्र, —उद्० १६४, ४९२
आप्तनिश्चयालंकार ७६५
आयुर्वेद १३०, १३४
आर्हतप्रवचन संग्रह ७९७
आलमन्दार स्तोत्र ६५८
आवश्यक सूत्र १३, ७८१
आश्वलायन गृह्यसूत्र, —उद्० ६१९
आश्वलायन (शाखा) ३७०(३)
इतिहास तिमिरनाशक ७६४(२)
ईश (उपनिषद्) १२८
उणादिगण १२६
—उद्० ३९, ४०
उड्डीस तन्त्र ५३६
उत्तरपुराण ५६७
उत्तराध्ययन सूत्र १३
उपनिषद् टीका ५७६
उपनिषद् भाषान्तर (सिरे अकबर) ५२६
उपपुराण १३४
उपवाई सूत्र १३
ऋग्वेद/ऋक्/ऋ० २४, १२९, १३४, १३९, २५७, ३१, ३६२(२), ३६३(२), ३६४, ३६८, ६२०, ६५१
—उद्० १२४(२), १५७(३), २११, २१४(३), २१६, २१७, २३१, २४९, २५१, ३१७(४), ३७२(३), ३७४, ३८२, ३९४, ४०२, ४११, ४१६(२), ४२४, ४४४, ५२४, ४७५, ५८१, ५९३, ६४५, १०५५
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका १३४, ३३६(२), ३६९, ३७०, ४१५(२), ५२४
ऋग्वेदभाष्य, —उद्० ४६३
ऐतरेय आरण्यक, —उद्० ३४९
ऐतरेय (उपनिषद्) १२८, ३९५,
—उद्० ३४९
ऐतरेय ब्राह्मण ३०, १३४, ६१९, १०५०
औघनिरुक्ति सूत्र १४
कठ (उपनिषद्) २४, १२८
—उद्० ४९, २३२(२), ३७८, ४४१, ५५०, ५६१
कपबड़ीसया सूत्र १३
कप्पिया सूत्र १३
कल्प (वेदांग) १३४(२)
कल्पभाष्य (जैन) ७८९, ८१९, ८२०, ८२९(४), ८३०
(कल्पसूत्रभाष्य)
कल्पसूत्र १३
कातन्त्र (व्याकरण) १३४
कात्यायन परिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र ३६८(२)
कामरत्न तन्त्र, —उद्० ६५५, ६५६
कारिका (व्याकरण) १२६
कालाग्निरुद्रोपनिषद् ५६९, ५७०
काशीमाहात्म्य, —उद्० ६१३
किरातार्जुनीय १३४
कुरान १४, १६, ३६५(२), ७०२, ७०९, ९३६(४), ९४१, ९४२(३), ९४४, ९४५(४), ९४६(२), ९४८(२), ९४९, ९५२(३), ९५३, ९५४, ९५६, ९५७, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३(२), ९६५, ९६७, ९६८(२), ९६९, ९७०, ९७१(२), ९७३, ९७४(२), ९७५, ९७७, ९७८, ९७९, ९८३, ९८६, ९८८, ९९०,

९९३, ९९४, ९९६(४), ९९८, ९९९(५),
१००२(३), १००४, १००५, १००६, १००७(२),
१००९(२), १०१०(३), १०११, १०१२, १०१३,
१०१४, १०१५(२), १०१८(४), १०२०(४),
१०२२, १०२३(२), १०२४(२), १०२६,
१०२७(३), १०२८(४), १०३४(२), १०३६,
१०३९(५), १०४०, १०४१(३), १०४२(२)
कुलार्णवतन्त्र, उद्० ५३३(२), ५३४, ५३५, ६५७, ७०८
कुवलयानन्द १३४
केन (उपनिषद्) ११८
—उद्० ५८४
कैवल्य उपनिषद् २४
कौमुदी (सिद्धान्तकौमुदी) १२७, १३४
कौलावली निर्णय, —उद्० ५३३(२)
गणीविजय सूत्र १४
गणेशखण्ड (पुराण) ६२०, ६२१
गरुड़पुराण ४६३, ६४०, ६४१, ६४४(२), ६५५, ६४९
—उद्० ५८१
गांधर्ववेद १३०, १३४
गीतगोविन्द ६३२
गीता, द्र० 'भगवद्गीता' भी। ६६४, ६६५, ६७५
गुरुगीता ६१६, ६१७
—उद्० ६१६
गुरुमाहात्म्य ६१६, ६१७
गोपथ ब्राह्मण १२८, १३४, ६१९, १०४३, १०४४
—उद्० ४१
गोपालतापिनी १०४४
गोभिलगृह्यसूत्र, —उद्० ५३९
गौडपादीय कारिका, —उद्० ४२९
गौतम भाष्य (वैशेषिक) द्र० 'प्रशस्तपादभाष्य' ५३९
गौतमधर्मसूत्र, —उद्० १३९
ग्रन्थसाहब ६७१
ग्रहलाघव ६३९
चतस्सरण सूत्र १४
चन्दपन्नती सूत्र १३, ८३२
चन्दाविजय सूत्र १४
चन्द्रखण्ड ६४९
चरक (वैद्यकग्रन्थ) ६०, १३०
चरणी (जैनग्रन्थ) १४
चाणक्यनीति शास्त्र, —उद्० २४६, ३१५, ५००, ५२६
—उद्० ५६४
छः शास्त्र १२८
छान्दोग्य (उपनिषद्) २४, ५६, १२८, १५९, ३५१(२)
३९५, ५५५, ६३६
—उद्० ५८, ९४, २३३, ३४९, ३५०, ३५१(२), ३५२
३५६, ३७६, ३७६(३), ३७८, ४३८, ४४२(४)
४४३, ५५८, ६१७
जन्म साखी ६६९
जपजी पौड़ी, —उद्० ३३७
जम्बुद्वीपपन्नतीसूत्र १३
जातककल्प १४
जागदीशी १३४
जीतकल्पसूत्र १३
जीवाभिगमसूत्र १३
ज्ञाताधर्मकथा सूत्र १३
ज्ञानसंकलनीतन्त्र, —उद्० ५३३, ५३४
ज्योतिष (वेदांग) १३४
ज्योतिष शास्त्र १३१
टीका (जैनग्रन्थ) १४
तत्त्वविवेक ८१९, ८२०, ८३०
तदुलवैयालिक सूत्र १३
तन्त्र ग्रन्थ १३४
तफ़सीर हुसैनी १०२६
तर्कसंग्रह १३४
तुलसी-कृत भाषा रामायण १३४
तीर्थदर्पण, —उद्० ६१३
तैत्तिरीय आरण्यक ८२
—उद्० १९, ८२, १८२, ५७६, ६१९, १०५५
तैत्तिरीय (उपनिषद्) २९, ३९, ४३, ५५, १२८, ३९५
—उद्० ७५, ९७, १०३, ३४२, ३५८, ३७२,
३७६(२), ४६५, ४८२, ५६०, ५९३(२)
तैत्तिरीय (शाखा) ३७०
तैत्तिरीय ब्राह्मण, —उद्० ५३८
थाणांगसूत्र १३
द बाइबल इन इंडिया ५२४
दशवैकालिक सूत्र १३
दिव्यसूरिचरितकाव्य ५७६
दीपवंश १३, ७६४
दुर्गापाठ ५६५, ६२६
देवीपुराण, द्र० 'देवीभागवतपुराण' —
देवीभागवत ५६८(२), ५६९, ६२०, ६२१
देवेन्द्रस्तवनसूत्र १४

धनुर्वेद १३०, १३४, १४२
धर्मसिन्धु १३४, ६४९
धातुपाठ (पाणिनीय) १२५, १२६
—उद्० ५३
नन्दीसूत्र १४
नयचक्रसार ७८१, ७९७
नानकचन्द्रोदय ६६९
नायिका भेद १३४
नारदपुराण, —उद्० ६६५
नारदसंहिता १३०
नाराशंसी १३५
निघण्टु (वेदांग) ७६, १२७, १३४
—उद्० ५७१
निरालम्बोपनिषद्, उद्० ३७६
निरियावली सूत्र १३
निरुक्त (वेदांग) २८, ७६, १२७, १२८, १३४, १४९
२१५, २५७, ३६८, ३७१
—उद्० १२८, १४९, २१५, ३६७, ३६८(२)
निरुक्ति (जैनग्रन्थ) १४
निर्णयसिन्धु ६४९
निशीयसूत्र १३
नीतिशतक (भर्तृहरि) १०४६
नृसिंहतापिनी १०४४
न्याय(दर्शन) १२८, १३४(२), १३६, १३७, १५७,
३४१, ३४२, ३९५, ३९७
—उद्० १०७, १०८, १०९, ११०(२), ११५(२),
३२१, ३४७, ३८६, ३९५, ४४४
न्यायभाष्य, —उद्० १२३(२)
न्यायशास्त्र (दर्शन), द्र० 'न्यायदर्शन' —
न्यायसूत्र (दर्शन), द्र० 'न्यायदर्शन' —
पञ्चखाणसूत्र १४
पञ्चतन्त्र, —उद्० २४१
पञ्चदशी १३४
पद्मपुराण, —उद्० ५७४, ६१३(२), ६४९, ६७७
पन्नगण सूत्र १३
परमागमसार ७९७
पराशरस्मृति, —उद्० २४४
परिभाषा ग्रन्थ १३४
पर्युषणासूत्र १४
पाक्षिकसूत्र १३
पाणिनीय अष्टाध्यायी, द्र० 'अष्टाध्यायी' —
पाणिनीय शिक्षा १२३
पाराशरी (भाषा पाराशरी) —उद्० २२२(२), २२३
पाराशरी (स्मृति) १५२, २२२
—उद्० १५२, २२२
पिङ्गल छन्दोग्रन्थ १२७
पिण्डनिरुक्ति सूत्र १४
पुप्पचूलिया सूत्र १३
पुप्पिया सूत्र १३
पुराण (ब्राह्मणग्रन्थ)
पूर्वमीमांसा द्र० 'मीमांसादर्शन'
पुष्पांजलि, —उद्० ७१६
पोप पुराण ६१३
प्रकरणरत्नाकर ७३०, ७७१, ७७४, ७८२, ७९७, ८००(२)
—उद्० ७६१, ७६२, ७६४, ७८१, ८००, ८०१(२),
८०३(२), ८०४, ८०५(३), ८०६(२), ८०७(२),
८०८, ८०९(२), ८१०(२), ८११(२), ८१२, ८१३,
८१४(२), ८१५(३), ८१७(३), ८१८, ८३१, ८३३,
८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८(२), ८३९
प्रकरणवार्तिक ७४३
प्रतिज्ञासूत्र ३६८
प्रतिष्ठामयूख उद्० ५८३
प्रशस्तपादभाष्य (वैशेषिक पर गोतम कृत) ११३
प्रश्न (उपनिषद्) १२८
प्रश्नव्याकरण सूत्र १३
बाइबल १४, १६, ३६५(२), ७०२, ८४१(४),
८४५(२), ८४८(२), ८५०, ८५३, ८५४, ८५५,
८५६, ८५९, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८७१,
८७५(२), ८८२, ८८४(२), ८८९, ९०९, ९२३,
९३४(३), ९४५, ९४६, ९५२, ९५६, १०२२

बाइबल के अन्तर्गत प्राप्त पुस्तकें—

बाइबल (इंजीलभाग) ८११, ८९५, ९०३, ९१९,
९३४(२), ९४५(२), १०२७
बाइबल (जबूर भाग) ८८७, ८८९, ८९६, ९०२, ९८८
बाइबल (तौरेत भाग) ८४५, ८४२, ८८९, ८९३, ८९६,
९०२, ९१२, ९८८
उत्पत्ति ८४५, ८४७, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२(२),
८५४, ८५५, ८५६(२), ८५७, ८५८, ८५९(२),
८६०, ८६१, ८६२, ८६३(२), ८६४(२),
८६५(३), ८६७, ८६९(२), ८७०(३),
८७१(२), ८७३(३), ९१२
उपदेश की पुस्तक ८८८(२)

ऐयूब की पुस्तक ८८८(२)
काल का समाचार इतिहास-१ ८८७(२)
गिनती ८८५(३)
मत्ती रचित इंजील ८८९, ८९१(२), ८९३(३), ८९४, ८९५(२), ८९६(३), ८९७(३), ८९९(३), ९००(२), ९०१, ९०२(३), ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७(२), ९०८(२), ९१०(२), ९१२(२), ९१४, ९१५, ९१६
मार्क इंजील ९१६(३)
यात्रा ८७४(२), ८७५, ८७६, ८७७(२), ८७८(३), ८७९, ८८०(२), ८८१
योहन रचित समाचार ९१७(२), ९१८(२), ९१९(२)
योहन के प्रकाशित वाक्य ९१९(२), ९२०(२), ९२१(३), ९२२, ९२३(४), ९२४(३), ९२५(२), ९२६(३), ९२८(२), ९२९(४), ९३०(२), ९३१, ९३२(२), ९३३(२), ९३४(२)
राजाओं की पुस्तक ८८७(२)
लूकरचित इंजील ९१७(३)
लैव्य व्यवस्था की पुस्तक ८८१(२)
समुएल की पुस्तक ८८६(२)
बूटाबोल ७९२
बृहदारण्यक (उपनिषद्) १२८, ५५२, ५५८, ७३४ —उद्० १४१, १४८, ३४९, ३५१, ३५८, ३७६(२), ७३४
बौधायनभाष्यवृत्ति (वेदान्त) १३४
ब्रह्मनामावली स्तोत्र, —उद्० ३८९
ब्रह्मपुराण (कल्पित) —उद्० १५३
ब्रह्मपुराण, —उद्० ६१३
ब्राह्मणग्रन्थ २८, ४१, २३०, ३६८, ३६९
ब्राह्मण-पुस्तक, द्र० 'ब्राह्मणग्रन्थ' —
भक्तमाल, —उद्० ५७३, ५७४, ६५९, ६६१
भक्तिपरिज्ञान सूत्र १४
भगवती सूत्र १३
भगवद्गीता ११, ६६४, ६६५(२), ६७५ —उद्० १६६, १६७, २३१, ३४२, ३९८, ४४३
भरद्वाज संहिता, —उद्० ५७३
भागवत पुराण १३५, १३८, ६१८, ६१९, ६२३, ६२४(२), ६२६, ६२७(२), ६२९(२), ६३०(२), ६३१, ६३२(२), ६३३(४), ६३४, ६३५(२), १०५० —उद्० ६२७(२), ६३०(२)
भागवतपुराण (चतुःश्लोकी) ६२७
भागुरि भाष्य (सांख्यदर्शन) १३४
भारत ५६६
भाष्य (जैनग्रन्थ) १४
भूमिका द्र० 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' —
भोजप्रबन्ध ५६६
मध्यमवाचनासूत्र १४
मनुस्मृति/ मनु० २४, ४०, ६०, १०५, १२७, १३४, १५५, १८७, २२३, २८१, २९७(२), ३१५, ४६६, ४७७, ४८७, ५१४, ५२१, १००३ —उद्० ६५, ७६(२), ८१, ८४(२), ८६, ९३, ९८, ९९(२), १००(४), १०१(२), १०२(४), १०४, १०५(३), १०६, १४०, १४४(२), १४५(३), १४६, १५०(३), १५१, १५२, १५५(३), १६०, १६१, १६४, १६६(३), १६७, १६९, १७०, १७१(२), १७७(३), १७८(२), १७९, १८०, १८१(४), १८२, १८६, १८७, १८८, १९१(४), १९२(२), १९३(३), १९४(२), १९५, १९६(३), २०२, २०३, २१६, २१७, २१८, २२४, २२६, २२७, २४, २३५, २४०, २४२, २४५, २४९, २५३, २५४, २५६, २५९, २६३, २६६, २६८, २७४, २८०, २८१, २८३, २८८, २९०, २९४, २९५, २९६, २९८, ३०२, ३०५, ३०८, ३१०, ३१२, ३१४, ३६३, ३८२, ४०४, ४१२, ४६७, ४७१, ४७७, ४८०, ४८२, ४९६(२), ५०२ ५१४, ५३१, ५३६, ५३७(२), ५८७(२), ५९३(२), ६१७, ७१२, १०४६
मनोरमा (प्रौढ़मनोरमा आदि) १२७, १३४
मरणसमाधिसूत्र १४
महानिर्वाण तन्त्र, —उद्० ५३३(२)
महानिशीय बृहद् वाचना सूत्र १३
महानिशीय लघु वाचना सूत्र १३
महाप्रत्याख्यान सूत्र १४
महाभारत १२७, १५९, २९७, ३१५, ५२१, ५६६(२), ६१८, ६३५, ७२१, ७२९, ८९७ —उद्० ७४, १८०, १९४, १९८, १९९, २००, २०१, ४४८३, ६१७, १०४६(२)
महाभाष्य (व्याकरण) ५६, ७३, ११६, १२६(२), ६२६ —उद्० ५३१
माघ १३४
माण्डूक्य (उपनिषद्) २४, ५६, १२८ —उद्० ३४९
मार्कण्डेय पुराण ५६५(२), ६२६,

मीमांसा (दर्शन) ५६, १२८, १३३, १३४(२), १३६, १३७, ३४१, ३९५, ३९७, ६५२
मुग्धबोध (व्याकरण) १३४
मुण्डक उपनिषद् १२८
—उद्० १०, २२८, २३२(२), २३३, ३८०, ४४५, ४६५, ५६०, ७१०, १०४६
मुहूर्त्तचिन्तामणि १३४
मैत्रायणी उपनिषद्, —उद्० ३३५, ५१७
मोहनचन्द्रिका (पत्रिका) ७२१
यजुर्वेद/ यजु० २४, २५, १३४, १३९, ३१६, २५७, ३३१, ३६२(२), ३६३(२), ३६४, ३६८, ६३६, ६५१
—उद्० २५, २९(४), ३१, ३६, ८१, ९०, १३९, १६२, १६३, २२८, २५१, ३१७, ३१९, ३२१, ३२८, ३२९(२), ३३०, ३३२(२), ३३४, ३३९, ३४२, ३६२, ३७१, ३७२, ३७४, ४०१, ४१७(२), ४१८, ४२०, ४२६, ४८२, ५६९, ५७०, ५७१(६), ५८१, ५८४(२), ५९२, ६१४, ६१५, ६३६(५), ६३७(४), ६४५
यजुर्वेद ब्राह्मण ३९
—उद्० २३४, ४०१
यजुर्वेद उपनिषद्, द्र० 'ईश-उपनिषद्' —
योगदर्शन/ योग ४३, ५६, १२८, १३४(२), १३६, १३७, ३३६, ३९५, ३९७, ६१८, ६५२
—उद्० ४, ८५, ९८(२), ३३५(२), ३६७, ४२७, ४५४, ४५५, ४७३(२)
योगवसिष्ठ १३४, ५५७
योगशास्त्र द्र० 'योगदर्शन' —
योगसूत्र द्र० 'योगदर्शन' —
योगोद्धारसूत्र १४
योतीसकरण्डकपयन्ना ८३२
रघुवंश १३४, १६३
रत्नसार ७८२, ७८४, ७८५(२), ७८७(३), ७८९, ७९१, ७९२(२), ७९३(२), ७९४(४), ७९६, ८०४, ८०९, ९१९, ८२०(३), ८२७, ८३०
रामचरण की वाणी ६७३,
रामतापनी १०४४
रामदास की वाणी ६७५
रामस्तवराज् (रामसतबराज) ६६४
रामायण (वाल्मीकीय) १२७, ७२९(५)
—उद्० ६०२
रामायण (तुलसीदास) द्र० 'तुलसीरामायण' १३४
अर्थात् 'रामचरितमानस' —
रावप्पसेनी १३
रुक्मिणीमंगल १३५
रुद्रयामल तन्त्र ७०८,
—उद्० ५३४
वात्स्यायनभाष्य (न्याय) ४८, १३४
वात्स्यायनभाष्य (वेदान्त) १३४
वायुपुराण ६२१
वार्तिक (व्याकरण) १२६
वाल्मीकीय/ वाल्मीकरामायण द्र० 'रामायण' —
विदुरनीति १२७, ३१५
—उद्० १८०
विदुरप्रजागर पर्व, द्र० 'विदुरनीति' (महाभारत)
विद्यार्थी (पत्रिका) ७२१
विपाकसूत्र १३
विवेक विलास ७५४
विवेकसार ७८५, ७८६(२), ७८७(४), ७८८(७), ७८९(५), ७९०(८), ७९१(२), ८२०, ८३०(५)
—उद्० ७८४, ७८६
विशेष आवश्यक सूत्र १३
विष्णुपुराण ५६८, ६२०, ६२१
विष्णुसहस्रनाम (बेस्नुसहस्रनाम) ६६४
वृत्तरत्नाकर १३४
वृत्तिप्रभाकर ५५६
वेदान्त (दर्शनशास्त्र) ३९, ५६, १२८(२), १३४(२), १३६, १३७, ३५२, ३७३, ३९५, ३९७, ४४०, ५५७(२), ५७६, ६१८, ६५२
—उद्० १३९, ४४०(२), ४४१, ४४३, ५५९, ५६०
वेदान्तसार —उद्० ५४६
वेदान्तसूत्र द्र० 'वेदान्तदर्शन' —
वैराग्यशतक, —उद्० ६८४
वैशेषिक (दर्शन) ५६, १२८, १३३, १३४, १३६, १३७, ३४१, ३५२, ३९७, ७६०
—उद्० ११२(३), ११३(७), ११४(७), ११५, ११६, ११७(५), ११८(५), ११९(६), १२०(५), १२१(७), १२२, ३४७, ३८१
वैशेषिक सूत्र, द्र० 'वैशेषिक दर्शन' —
व्यवहार सूत्र १३
व्याकरण २८, १३४, ३७१
व्याकरणमहाभाष्य, द्र० 'महाभाष्य' —

व्यासभाष्य (पूर्वमीमांसा) १३३
व्यासभाष्य (योग०) १३४
—उद्० ५५३
व्रतार्क १३४, ६४९
शतपथ ब्राह्मण ३०, ५८, १२८, १३४, १३५, १४१, ३१९, ३२०, ३३२, ६१९
—उद्० ४१, १४८, १६२, १८३, २२६, २३३, २५०, ३३५, ३४९(२), ३५१, ३६३, ४०१, ४२२, ५३६, ५३८(२), ५७०, ५९३, ६२६
शाखा ३६९, ३७०(८)
शान्तिपर्व द्र० महाभारत —
शारीरक भाष्य ५४५
—उद्० ३५४
शारीरिक सूत्र, द्र० 'वेदान्तदर्शन' —
शारीरक सूत्र टीका ५७६
शार्ङ्गधर (वैद्यक) १३४
—उद्० ४९६
शाबरतन्त्र, —उद्० ६५५(२)
शिक्षा (वेदांग, पाणिनिकृत) १२३, १३४
शिक्षा (अन्यकृत) १३४
शिवपुराण ५६५, ५६८, ५६९, ६१७, ६१९(२), ६२०, ६२१(२),६३५, ६४९
—उद्० ५६३
शीघ्रबोध १३४
—उद्० १५२
शुक्रनीति २९७, ३१५
शेखर (व्याकरण) १३४
श्राद्धदिनकृत्य ७८३, ७८४, ८१८, ८१९, ८२०
—उद्० ७८३
श्रीमद्भागवत द्र० 'भागवत' पुराण —
श्रुति=वेद १०५, ४७६
श्लोक (माण्डूक्य उपनिषद् पर) ४२९
श्वेताश्वतर उपनिषद्, —उद्० ३३७(२), ३४१, ३६३
षड्विंशब्राह्मण, —उद्० १८२
सत्यार्थप्रकाश ५, १०५४
सन्तदास की वाणी
समवायांगसूत्र १३
सर्वदर्शनसंग्रह १३
—उद्० ५४१, ७३३(२), ७३५, ७३७, ७४३, ७४८, ७५०, ७५१(२), ७५५, ७६२, ७६३, ७६५, ७६८, ७७७, ७९७, ७९८, ७९९(२)
संक्षेपशारीरक, उद्० ३५४
संघयणी ८३२
संजीवनी (इतिहास) ५६५
संसारसूत्र १४
संस्कारविधि १७३, १७६
संस्कृती-स्तोत्र ६६८(२)
सन्तदास-वाणी ६७२
सांख्य (दर्शन) ५५, ५६, १२२, १२८, १३४(२), १३६(२), १३७, ३९५, ३९७, ८२४
सांख्यतत्त्व कौमुदी १३४
सांख्यशास्त्र, द्र० 'सांख्यदर्शन' —
सांख्यसूत्र, द्र० 'सांख्यदर्शन' —
सामवेद/ साम २५, १३०, १३५, २५७, ३३९, ३६२(२), ३६२(२), ३६३(२), ३६४, ३६८, ६१९, ६५१
सामवेद ब्राह्मण/ साम ब्राह्मण १२८, १३४
—उद्० २१९
सारस्वत चन्द्रिका १२७, १३४
सिद्धान्त रहस्य ६८०
सिद्धान्तलेश संग्रह, —उद्० ३५४
सिद्धान्त शिरोमणि ६३९
सुखमनी, —उद्० ६६९(२)
सुगडांगसूत्र १३
सुभाषिरत्नभाण्डागार, —उद्० ८८८
सुमरण को अंग ६७३
सुश्रुत (वैद्यक) ६०, १३०
—उद्० ९३, ९५
सूचीपत्र (भागवत का श्लोकबद्ध) ६३३, ६३४
सूत्र ग्रन्थ २८, ६१८
सूरपन्नतीसूत्र १३, ८३२
सूर्यपुराण ६२१
सूर्यसिद्धान्त १३१, ६३९, ८३३
स्मृति/ स्मृतियां १३४
स्वरूपोपनिषद् १०४४
हठप्रयोगदीपिका १३४
हरिवंश ६१८
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (पत्रिका) ७२१
हेमाद्रि/ हिमाद्रि ६३३(२), ६३५

विशेष—सत्यार्थप्रकाश में कुल २८० ग्रन्थों के नाम और उद्धरण मिलते हैं।

—०—

परिशिष्ट-४

सत्यार्थप्रकाश के प्रमुख शब्दों, नामों और टिप्पणीकृत विशेष स्थलों की अनुक्रमणी

अ

'अ-उ-म्'=ओम् २०
अकबर बादशाह ९४८, १०४३
अकाली ६६२, ६७०
अक्रूर, अक्रूर का गोकुल-गमन ६३०, ६३१ (टि०)
अक्षतयोनि कन्या ८८५
अक्षसेन ५१७, ५२१
अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ३६३, ३६७
अग्निहोत्र/होम (देवयज्ञ) ८८-९३, ९९, २२७, २८१, १०५१
अग्यारी (पारसियों की) ६०९ (टि०)
अघोरी ५३५, ६५६ (टि०)
अंग, उपांग, उपवेद ६५२
अंगरेज ६०५, ६९७, ६९८, ८९९
अजरी-बजरी ६५६
अजामिल ६३१
अटक नदी ४०५ (टि०), १०५१
अटाटूट ९०४ (टि०)
अठारह मुकदमे २९७-३०१
अणुव्रत ८१८
अतिथि-लक्षण ५९३
अतिथि-सेवा २२७
अतिपाण्डुकम्बला (मुक्तिशिला) ८३९
अतिरक्तकम्बला (मुक्तिशिला) ८३९
अत्यन्त पुरुषार्थ ४७५
अत्यन्ताभाव से अभिप्राय ४४५ (टि०)
अदन ८५२, ८५५, ९९४
अदिति-आदित्य ६२३
अद्वैत=अद्वितीय ३५७
अद्वैत मत ५७७
अद्वैतवाद ३५०-३६०
अद्वैतसिद्धि ३५६
अधिदेव ५६१
अधिभूत ५६१
अधिष्ठान ५४८
अध्यक्षों की नियुक्ति २६८, २६९
अध्यस्त ५४८
अध्यात्म ५६१
अध्यापक (ईसाई) ९१४
अध्यापक-अध्यापिकाएं १९८-२०१
अध्यारोप ४३५, ४३६, ५४५-५४७
अध्यास ५४६, ५४७
अनड्वान् ४१६
अनरण्य ५१७, ५२१
अनवस्था दोष ७७१
अनहत ६६७
अनादाता २२७ (टि०)
अनादि अर्थ और पदार्थ ३७३-३७५, ३८५, १०४८
अनादि छह पदार्थ ३५४
अनार्य=अनाड़ी ४११
अनिर्मोक्षापत्ति ३५६ (टि०), ७७९
अनिर्वचनीय ५४९
अनुमान प्रमाण ७३४, ७४२, ७४३, ७४८, ७५०, ७५५, ७५६, ७६८, ७७६, ७७७, ८२५
अनुप्रवेश से अभिप्राय ३५३ (टि०)
अन्तःकरणावच्छिन्न ४३५
अन्तःकरणोपाधि ४३१, ४३२, ५५२
अन्त्यज १६१, ५९८, ६७५, ६९८, ६९९, ७०६
अन्त्यज और शूद्र ६५२
अन्त्येष्टि-विधि ८६८
अन्यदेशीय भाषा ६४
अन्यमार्गी-निन्दा (जैनमत में) ८०५-८०६, ८०९
अन्योन्याश्रय दोष ७७०, ७९६
अन्वय-व्यतिरेक ३५९, ३६०, ५५२
अपमान का अर्थ ६४७ (टि०)
अपवर्ग ४४४, ७३६, ७७७
अपवाद ५४६
अपूर्वविधि ५८४
अफ्रीका ९३४

अब्राम/ अबिरहाम ८६२ (टि०)
अबिरहाम/ इब्राहीम ८६२-८६४, ८६६, ८६९, ८७६
अभाव (पांच) १२०, १२१
अभाववाद ३९२
अभाव से भाव मत ३८८
अभिमान से हानि ७४
अभिवादनशील १०१
अमरनाथ ६०७ (टि०), ६०९
अमरसिंह (अमरकोशकार) ७६५
अमलनामा १००२, १००३
अमृतसर ६०७ (टि०)
अमेरिका ३६६, ४२०, ४८६, ५०९, ५१५, ५२२
अम्बरीष ५१७, ५२१
अम्बिका ५९१
अयोध्या ५३४, ६१० (टि०), ६१२, ६८८
अरब ९४४, १०१८, १०३२, १०४०
अरबी (भाषा) ५२६, ९३६ (टि०), ९४४, १०४३,१०४४
अरिहन्त ८०२
अर्जुन ४१३, ४८६, ४८७
अर्जुन-उलूपी विवाह ४८७
अर्थ-लक्षण १०४९
अर्णक मुनि ७८८
अर्थापत्ति प्रमाण ७६९
अर्धांगी ८९४, ८९९
अलकनन्दा ६०९
अल्लाह ९३९, ९४१, ९४४-१०४४ तक (प्राय: सभी पृष्ठों पर)
अवतार-विवेचन ३४२-३४४, ५६७
चौबीस अवतार ५६७
अवमान का अर्थ १०२ (टि०)
अवस्तु ५४६, ५४७
अविनाभावनियम ७४३
अशोक (सम्राट्) ७६४
अर्हन् देव (अरिहन्) ७६८, ७६९, ८००, ८०२
अश्वतरी=अग्नियान नौका ४८६
अश्वपति ५१७, ५२१
अश्वमेध ५३८ (टि०), ५३९, ६१६
अश्वयान ५६६-५६७
अश्वालम्भ २२२
अश्विनीकुमार ६४९
अष्टभुजा ६१०
अष्टादशपुराण ६१७, ६१८
अष्टाध्यायी, सहस्रश्लोकी का अभिप्राय १२५
असत्-सत् ३९८
असम्भव बातें (जैन) ७८६
असुर ४११, ४१२, १०४९
अहिंसा-पालन १०१, ४८०, ४८१

आ

आकाश की उत्पत्ति नहीं ३९५ (टि०)
आकाश अनादि ९९६
आखिरत ९५६ (टि०), ९६१
आचार-अनाचार विषय ४७६-४९६
आचार-अनाचार फल १९६
आचार परमधर्म १०५
आचार्य ५८, ७२, ७५, १२४, १३८, ७८२, ७९६, ७९९
आचार्य का शिष्यों को उपदेश १०३-१०६
आचार्यकुल ७२, ८०, ८१, १४४
आचार्य-लक्षण १०५१
आठ प्रकार के मैथुन ८१
आत्महत्या का अर्थ ८२६
आत्मा/ जीवात्मा ३४२, ७३३, ७३४, ७३७-७४०, ७४८, ७५०, ७५३, ७५४, ७५६, ७५९-७६३, ७७१, ७७४, ७७६, ७७७, ७७९, ७८१, ७९३, ७९७
आत्मा का लक्षण ११५, ३४७
आत्मा-परमात्मा का प्रत्यक्ष ३२३
आत्मा सत्यासत्य का ज्ञाता ९०
आत्माश्रय दोष ७९६
आदम ८४५ (टि०), ८५१-८५५, ८५७-८६०, ९४९ (टि०), ९५०, ९५१, ९८५, १०००
आदिगुरु ३६७
आदिसृष्टि-उत्पत्तिस्थान ४०२
आदिसृष्टि में अनेक मनुष्य ४००, ४०१
आदिसृष्टि में एकभाषा ८६० (टि०)
आदि वर्ण-विभाजन ४०२
आदिसृष्टि में मनुष्योत्पत्ति युवावस्था में ४०
आद्यादेवी ६४९
आपद्धर्म ३१५
आप्तलक्षण ४८२, ५२७, १०५२
आबू ६१२, ७८५

आभाणक ५४०, ७३७, ७४०
आमेर ६७१
आरामी लाबान/ अरामी ८७१ (टि०)
आर्य ५१३
आर्य आर्यावर्तवासी १०५१
आर्य का अर्थ १०५१
आर्य-दस्यु ४०२, ४०३, ४११
आर्य=देवता ४२१
आर्य=द्विज ४९२ (टि०)
आर्यकुल ५२०
आर्यराजा (इन्द्रप्रस्थ वंशावली) ७२१-७२६
आर्य राज्य में पशुवध नहीं ४९९, ५००
आर्यसत्य (बौद्ध) ७५४, ७५५
आर्यसमाज की स्थापना ७०६ (टि०)
आर्यसमाज मुम्बई ७३०
आर्यसमाज से देशोन्नति ७०६
आर्यावर्त ११, १२, ९२, १४२, ३६६, ४०४, ४०६(टि०), ४०७, ४११-४१३, ४२०, ४२३, ४८३, ४८७, ४९५, ४९९, ५०९, ५१३, ५१४, ५२२, ५२४, ५२५, ५२७, ५३०, ५४२, ५४४, ५६२, ५६४, ६१२, ६२५, ६७४, ६७६, ६९८, ७०३, ७१७, ७२१, ७२२, ७२९, ९२४, १०४५; आर्यावर्त सबसे पुराना नाम ४०७
आर्यावर्त में विदेशी राज्य का कारण ४९५, ४९६
आर्यावर्त में विवाह-परम्परा १५६, १५८
आर्यों का उत्पत्तिस्थान और आदिनिवास ४०७ (टि०)
आलोयणा ७९१
आवाहन-विसर्जन ५८३, ५८४
आशीर्वाद ८९५
आश्चर्यकर्म ९१४, ९१९, ९५३
आश्रम और आश्रमों का प्रयोजन २४६, २४७
आसाम ४०५
आहवनीयादि पांच अग्नियां २३४ (टि०)

इ

इक्ष्वाकु ४१३
इच्छा-अनिच्छा ३६२
इज़हाक ८६६, ८७६
इज्या १६०
इतिहास के पर्याय ग्रन्थ-नाम १३५
इतिहासपुराण ६१७
इतिहास (ब्राह्मणग्रन्थ) ६१९
इन्द्र ५६९
इन्द्र-इन्द्राणी ७८७
इन्द्रदमन ५९७, ६००
इन्द्रद्युम्न ५१७, ५२१
इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) ७२२, ७२६
इन्द्रिय-संयम ४७९, ४८०
इन्द्रिय-संयम से लाभ १००
इबरानी ८७४
इब्राहीम ९६०, ९६१, ९६४
इश्माएल के तेरह पुत्र ८६९
इस्राएल (व्यक्ति) ८७२ (टि०), ८७७, ८७८, ८८१, ८८७, ९०५, ९०६, ९१४, ९२२
इस्राएल (देश) ८८७
इस्राएल बनी (जाति) ९८८
इस्लाम ९७३, ९८६
इंगलैंड ९९२ (टि०)
इंजील ८८९ (टि०)

ई

ईक्षण=दर्शन ३८१
ईरान ४०७, ४१२, ४८६, ५०९, ५१५
ईश्वर ३३९, ३४१, ३४२, १०४७
ईश्वर अनादि या सादि ३२७
ईश्वर इन्द्रियरहित ३३७
ईश्वर अनेक नहीं ३१८, ३३९
ईश्वर का जन्म नहीं ३४४
ईश्वर का व्यापकत्व ३२३
ईश्वर की कामना ३२७
ईश्वर निमित्त कारण ३४१
ईश्वर के सौ नाम (द्रष्टव्य सूची पृ० १८ पर)
ईश्वर त्रिकालदर्शी है या नहीं? ३४८
ईश्वर निराकार-साकार ३२६, ३६२
ईश्वर निष्क्रिय-निर्गुण ३३७
ईश्वर रागी-विरक्त ३६१
ईश्वर सगुण-निर्गुण ३६०, ३६१
ईश्वर साकार या निराकार ३८३, ३८४
ईश्वर सान्त वा अनन्त ३३८
ईश्वरसिद्धि ३४०
ईश्वरसिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण ३२१
ईश्वर हानि में सहायक नहीं ३३५

ईश्वरपुत्र/ ईश्वर का बेटा ९१०, ९११, ९१४-९१६, ९१८
ईषत्प्राग्भारा (शिला) ८३५
ईसा ३४४, ६९८, ७०४, ७०५, ७०९, ८९५, ८९६, ८९७, ८९९, ९०२, ९०५-९०७, ९५७, १०१०
ईसा मसीह ५१०, ९०५
ईसा का वध अनुचित ९१३, ९१४
ईसा के ११ शिष्य ९१५,
ईसा के १२ शिष्य ९०९ (टि०)
ईसा बढ़ई कुल का था ९०८
ईसा समाधि चढ़ा मरता तो अच्छा था ९१२
ईसाइयों का पक्षपात ९०६
ईसाइयों की पाकशाला भ्रष्ट ४९०
ईसाइयों के हाथ का भक्ष्य-अभक्ष्य ४९३, ४९५
ईसाई १५, ४१७, ५०८, ५०९, ५३१, ६९७, ७०४, ७०६, ७०९, ७१७, ८४१, ८४५, ८५८, ८६२-९५६ तक प्राय: प्रत्येक पृष्ठ पर, १०१२
ईसाईमत ८४३, ९२८
ईसाई मत-परिचय (टि०) ८८९

उ

उक्षा ४१६
उच्छिष्ट और साथ खाने में दोष ५०१, ५०३
उच्छिष्ट भोजन का अर्थ ५०२
उज्जैन नगरी ५६२
उत्तरकाशी (टि०) ६०८
उत्सूत्रभाषी ८०४
उद्दालक आरुणि ३५१
उद्दालक ऋषि ४८६
उदयपुर १७, ७२१
उदासी ६६९, ६७०
उपनयन ९३
उपनयन (कन्याओं का) ७९, (द्र० 'यज्ञोपवीत संस्कार' भी)
उपनयन घर में किसका ७२
उपमान प्रमाण ७६९, ८२५
उपक्रम-उपसंहार ५६१, ५६२
उपादान कारण ९७५
उपाधि ३५३, ३५४, ५४९ (टि०), ५५४
उपाध्याय ७८२
उपाध्याय-अर्थ १०५२
उपासना अर्थ ३३५, १०५४
सगुण-निर्गुण उपासना ३३५-३३७
उभयविध भाव ४४१ (टि०)
उलूपी ४१३, ४८७ (टि०)
ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र आदि तिलक १३८

ए

एक पाकशाला से भोजन ५०८
एक भाषा और बोली पृथिवी पर थी ८६०
एकमत का उपाय ७१५
एकादशी व्रत ६४९-६५१
एकेन्द्रिय जीव, उनकी आयु व शरीर ७९३, ८६७
एर ८७३
एलियाह ९१४
एषणाएं तीन २३३, ७१७
एसाव ८६९
ऐयूब ८८८

ओ-औ-ऋ

ओनान ८७३
ओम् से अन्य नामों का ग्रहण २०
ओंकार ७, २५
ओंकार जप ३३६
औघड़ ६६२, ६७४
औडुलोमि ५५७, ५५८, ५५९
औरस पुत्र २१९
औरंगजेब (अवरंगजेब) ५९५
ऋषभदेव ५४२, ७८७, ७८९, ७९२, ८००, ८०१, ८१८, ८२७
ऋषि मन्त्रकर्त्ता नहीं ३६८

क

कच्छ ६८८
क़द्र की रात १०४०, १०४१
कद्रू-सर्प ६२३
कन्नौज ५४१
कन्याओं का यज्ञोपवीत ७९ (टि०)
कन्हैया ६५४
कपिल मुनि १३४
कपोलकल्पित १३५, ६१८
कबीर ६६५, ६६६, ६७०
कबीरपन्थी ६६५
क़यामत ९४६, ९४९, ९५०, ९५४, ९५५, ९७३, ९८२, ९९८, १००२, १००३, १००८, १०१०, १०११, १०१३, १०२४, १०२५, १०३८, १०४०

कयामत की रात ९०६
करटिया ६८७
कर-प्राप्ति २९६, २९७
करोड़ ६०४
करोबीम ८५५
कर्म-उपासना-ज्ञान विद्या २५९
कर्मपत्र १०२४, १०३४, १०३५
कर्मफल ईश्वरेच्छा से ३८८
कर्मफल भोग मन, वाणी, शरीर से ४६६, ४६७
कर्म-लक्षण (पांच) ११७
कर्मानुसार ही जीव को फल ३८८
कर्मेन्द्रिय ७५१, ७५२
कर्मोच्छेद प्रसंग ९५९
कलकत्ता ५९७, ६००, ८३५
कलियुग ७१५
कलियुग में पांच बातों का निषेध २२२
कल्प (ब्राह्मण) ६१९
कल्प-कल्पान्तर में समान सृष्टि ३९४
कल्प-कल्पान्तर में सृष्टि यथापूर्व ४२४
कश्यप (व्यक्ति) ६२३, ६२५, ६२६, ६३०, ८९७
कश्यप (ईश्वर) ६२६
कश्यप-कद्रू ४१५
कसदी ८८७
कंजरी ५३४
कंस ३४३
क्षण की परिभाषा १५३ (टि०)
क्षणभंगुर ७५४, ७५७, ९३७ (टि०)
क्षणिकवाद ७४८, ७५७, ७६५
क्षेत्रज पुत्र २१९
काइन ८५५ (टि०), ८५६, ८५७
काठियावाड़ ६८८, ६८९
कात्यायन ३६८
कानफटे ६६२
काफ़िर ७०९, ९४२, ९४३, ९४५, ९४७, ९५७, ९५८, ९५९, ९६४, ९७०, ९७४, ९७५, ९७९, ९८३, ९८६, ९९०-९९३, ९९५, १००२, १००६, १००९, १०२२, १०२७, १०३१, १०३४
काबा ९६० (टि०), ९६०, ९६१, ९६२
काबुल ५०९
काम-लक्षण १०४९
कामाक्षा ५९७
कामाख्या ५९७ (टि०)
कारण-कार्य सम्बन्ध ११९, ३८१, ३८४, ७४६
कार्तिकेय स्वामी ६४९
कार्योपाधि-कारणोपाधि ३५४, ३५५
काल/ काल के अवयव (जैन) ७९१, ८३७-८३८
कालभैरव ५९६
कालिदास ५६३ (टि०)
कालियाकन्त ६०२
काली ५२६, ५३४, ५९७, ६१०, ६५६, ८०९
काशी ५४१, ५५३, ५९६, ६१३, ६७६-६७७, ७८५
काशीनाथ १५३, १५४
किब्ला ९५९, ९६२ (टि०)
किराती ७२१
किरानी ५११, ७०७
कुन्ती की असम्भव कथा ८९२ (टि०)
कुपात्र-सुपात्र ६४६-६४८
कुफ्र ९६७, ९८२
कुबेर ६३८
कुमारपाल ७८४
कुम्भकर्ण ६३०
कुम्भार १३७
कुम्हार ९६०
कुरान १५, १६, ३६५, ७०२
कुरान के फरिश्ते १०४१ (टि०)
कुरान पर वैदिक छाया ९४० (टि०), ९४१, १०३६
कुरान पुनरुक्त दोषों का भण्डार १०४२ (टि०)
कुरानी ५११, ७०७
कुरुक्षेत्र ६१०, ६११ (टि०)
कुरुक्षेत्र की नदियां ८३८
कुवलयाश्व ५१७, ५२१
कुंडापन्थी ६७४, ६७५
क्रूस ९१३, ९१४
कृतघ्नता ७४
कृश्चीन १६१, ८९७
कृश्चीन मत ८४५, ९३५
कृष्णद्वैपायन ६२०
कृष्णोपासकों का मन्त्र ६६५
केदारनाथ ६०८-६१० (टि०)
केवल-ज्ञानी ३९३

केवली ७६५, ७७५, ७७८, ८३४, ८३५
केशलुञ्चन ८२०, ८२६
केशान्त कर्म ४७७, ४७८
कैकेयी १४२
कैलाश ४५५
कोटपाल १०३९
कोलम्बस ३६६
कोशा वेश्या ७८८, ८३०, ८३१
कौरव-पाण्डव ४१३, ५१४, ५१७
कौरवों-पाण्डवों का फूट से नाश ४९६
कौल ६५७, ७०८

ख

खतना ८६३ (टि०)
खाखी ६०९, ६६१-६६५
खाखी संन्यासी २४७
खाखियों का मन्त्र ६६५
खिल ६१८
खुदा ९४१-१०४४ तक प्रायः सभी पृष्ठों पर
खेड़ापा ६७४

ग-घ

गज़नी गढ़ ७२६
गणपति ५७१
गाणपत ५७१
गणेश ५८१, ५९१, ६२०, ६२१, ६४९
गन्धर्व ४७१, ४७३
गया ५९६, ५९७
गर्भकालीन दिनचर्या १७४
गर्भाधान काल ५९, ६०
गलगथा ९१३
गलील (देश) ८९४, ९१५
गवरगण्ड ५३३, ९७२, ९९४, १०१४
गवालम्भ २२२
गंगा ६१३, ६१४, ७८५
गंगा-यमुना संगम ६१०
गंगोत्तरी ६०१, ६०८, ६०९
गंगोत्तरी, गोमुख ६०८ (टि०)
गाथा (ब्राह्मण) ६१९
गान्धार=कन्धार ४८६ (टि०), ५०९
गान्धारी ५०९
गाय का मांस खाना मूसा ने शुरू किया ८८१ (टि०)
गायत्री मन्त्र और अर्थ ८१-८३, ९०
गार्गी १४१, २४६
गाय से लाभ ४९६-४९९
गाय से लाभों में संख्यात्मक अशुद्धियां ४९७ (टि०)
गायहत्या मनुष्यहत्या ४९९
गिरजा ९२५
गिरनार ६१२, ७८५
गिरि ७१६
गुजरात ६७१, ६८८
गुजराती ५
गुण (२४) ११६, ११७
गुणातीत ४७३
गुप्तकाशी ६०८ (टि०)
गुमराह ९४३, ९५०, ९८०, ९८२, ९८५, ९९९, १०००, १०२२
गुरु का लक्षण १०५१
गुरुकुल ७३, १४६
गुरुकुल में प्रवेश-आयु ७९ (टि०)
गुरु नानक ६६७ (टि०)
गुरुमाहात्म्य ६१६
गुरुशिष्य-मन्त्रोपदेश ६५१
गूलर का फल ९०२, ९०७
गृहाश्रम १४५, २२६, २३०, २४६
गृहाश्रम-प्रवेश का समय १४५
गृहस्थ से सब व्यवहार २२४, २२५
गोकुल ६३०, ६३१
गोतम मुनि १३३, १३४
गोदड़िये ६६२
गोदान ६४१, ६४६
गोपी ६७८
गोमुख ६०८, ६०९
गोमेध ५३८ (टि०), ५३९
गोरखपुर ५४०
गोलोक ४५७, ६७६, ६७७, ६८३-६८५
गोवर्धन पर्वत ५४५, ६१० (टि०), ६१२
गोवर्धन-धारण ३४३
गोविन्दसिंह (गुरु) ५१७, ६६९, ६७०
गोसाँई (गोकुलिये) ६७६-६८८, ७१६, ९४९, ९९५
गोसाँई संन्यासी २४७
गौतम ७६४, ७६५, ७७४

गौड बंगाली ६५९
गौरी ६४९
ग्रन्थकार का मन्तव्य १०४५
ग्रह ६३६-६४०, ६४९
ग्रहदान ६६, ६३८
ग्रहदानोपजीवी ६३९
ग्रहों के मन्त्र ६३६, ६३७
ग्वालियर राज्य ५६५
घटाकाश आदि ब्रह्मरूप ४३३

च

चक्रवर्ती राजा ५१७, ५२०, ५२१
चक्रवर्ती राजाओं का परिचय ५१७ (टि०)
चक्रवर्ती राज्य ३१६, ५१४, ५१७
चक्रांकित ५७३-५७७, ६५८, ६७०, ६९६
चतुर्युगी परिमाण ४४५
चन्द्रग्रहण ६४०
'चमार' शब्द बढ़ाया मुद्रणलिपिकर ने ६११
चमारी ५३४
चम्पारण्य ६७७
चरणारगढ़ (उत्तरप्रदेश) ६७७
चाण्डाल ५०३, ५३४, ५६४
चाण्डाली ५३४
चान्द्रायण व्रत ९६७
चामुण्डा ६५५
चार अनुबन्ध ४५३
चार मठ शंकराचार्य के ५४५ (टि०)
चार्वाक (चारवाक) १२, १३, ५४०, ७३१, ७३३, ७३५, ७३७, ७४०-७४३, ७५०, ७६५
चार्वाक दर्शन ७३२ (टि०)
चित्-अचित् ७६३
चित्तौड़गढ़ ७२१
चित्रगुप्त ६४०, ६४१
चिदाकाश ब्रह्म ४३२
चिदाभास ३५६, ४३१ (टि०), ३५६, ५४९ (टि०), ५५१, ५५३
चीन ४८३, ४८५, ४८६, ५१५
चीने ४२३
चैतन्य ६९८
चैत्यवन्दन ८१८
चोलीमार्गी ५६५
चौका गोबर से शुद्ध होता है ५०५-५०७
चौके में खाना या बाहर ५०७
चौथा आसमान ४५५, ४५७, ८४८

छ

छल-कपट का अर्थ ७४
छह जैन-द्रव्य (टि०) ७५९
छायादान ६३८
छुच्छम वेद ६७५
छूतछात अज्ञान से ४८८

ज

जगत् का कर्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं ३९३, ३९४
जगत्-कारण=परमाणु ८५१
जगदुत्पत्ति का समय ४१४
जगदुत्पत्ति में ईश्वर का प्रयोजन ३८२
जगदुत्पत्ति में तीन कारण ३७८, ३७९, ३८४
जगदुत्पत्ति स्वभावत: ३९२
जगन्नाथ ५९७-६००
जगन्नाथपुरी मन्दिर ५९९ (टि०)
जनक राजा २४४, ६१९
जन्म एक वा अनेक? ४५७, ४५८
जन्मपत्र ६९
जन्म से अभिप्राय १०५३
जप १६०
जब्दी ९१०
जबूर ८८७, ८८९
जमातवाले ६६२
जम्बूद्वीप ४२१
जम्बूद्वीप के प्रभाग ७९६, ८३८
जम्बूद्वीप के प्रभागों में सूर्यों-चन्द्रों की संख्या ८३१-८३५
जयदेव ६३२
जयपुर ६७५
जय-विजय ६२८ (टि०)
जर्मनदेश ५२३, ५२४
जाजरूर ६११
जाट कथा ६४१-६४४
जाति का 'वर्ण' अर्थ १०५ (टि०), ७०० (टि०)
जातिभेद ईश्वरकृत या मनुष्यकृत ६९८, ६९९
जातिनियम ८१
जातिभेद (यूरोपीय) ७०२
जानश्रुति शूद्र ६३६

जाबाल ऋषि १५९
जितेन्द्रिय ४८०
जिनधर्म ७०९
जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण ८३२
जिनर्षि ७७७
ज़िबरईल ९५८
जिहाद ९८६, ९९४
जीव ७०६
जीव अल्प, अल्पज्ञ ४३६, ५५७, ५६०
जीव-ईश्वर गुण ३५८
जीव-ईश्वर भेद ३४६, ३४९
जीव-ईश्वर साधर्म्य-वैधर्म्य ३५०, १०४७
जीव कर्मकर्ता-भोक्ता ४३०
जीव का वायु के साथ गमन ६४५, ४६३
जीव के पंचकोष ४४८, ४४९
जीव-गतियां ६४०-६४४
जीव त्रिकालदर्शी नहीं ४५८
जीवन्मुक्त ४४८, ५५९
जीव-परमात्मा ३२२
जीव-ब्रह्म ऐक्य, जगत् मिथ्या ५४५, ५५४, ५५६-५५७
जीव-ब्रह्म का पार्थक्य ४३३, ४३४
जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं ४३१, ४३२
जीव-ब्रह्म की एकता-अनेकता ३४९-३६०, ४३५
जीव-ब्रह्म की नित्यता-अनित्यता ३५३-३५५
जीव-लक्षण १०४७
जीव विभु या परिच्छिन्न? ३४८
जीव स्वतन्त्र या परतन्त्र ३४५, ३४६
जीव स्वभाव ४५४
जुगलिया मनुष्य ७९१
जुलकरनैन १००४
जोगी ६६२
जोशी मठ ५४५
जैकालियट ५२४
ज़ैद १०१७, १०१८
जैन/जैनी १२-१६, ५०९, ५११, ५३२, ५४१-५४५, ५६२, ५६४, ५६७, ५७७, ५७८, ६१३, ७०४, ७०६, ७०९, ७१७, ७२९, आगे द्वादश समुल्लास के लगभग प्रत्येक पृष्ठ पर है, १००८
जैनमत १३, १४, ५४३, ५४४, ५५६, ७२६
जैन-मन्दिर ५६४, ५६५
जैन-मान (मापने का) ७९३
जैनी लोगों की मुक्ति और मुक्तिस्थान ४५५, ४५७, ८३६
जैनप्रभाकर यन्त्रालय ७३०, ७९१
जैमिनि मुनि/ऋषि ४४०, ५५७, ५५८, ५८७, ६२०, ६५२, १०४५
ज्ञान-अज्ञान ३३८, ५८३
ज्ञान आठ प्रकार का ४५८
ज्ञानेन्द्रिय ७५१, ७५२
ज्योतिर्लिंग बारह ६३५ (टि०)
ज्योतिर्विदाभास ६८
ज्योतिर्विद्याविद्यावित् ४२१
ज्योतिष १३१, १३६
ज्योतिषी (ज्योतिर्वित्) ६९, ७०, ७१, ४७१, ४७३
ज्योतिष्टोम (यज्ञ) ५४१, ७३६
ज्वालामुखी ६०६ (टि०)

ट-ढ

टका-धर्म ७१३, ७१४
डाकोर जी ६०३ (टि०)
ढण्ढण मुनि ७८९
ढूंढिया १४, ८२०

त

'तत्' का अर्थ ३५०-३५१
तत्सहचरितोपाधि ३५० (टि०)
तन्त्रग्रन्थ ५८३
तपोवन ६०८ (टि०), ६०९
तप्तकुण्ड ६०९
तात्स्थ्य ३५०
ताबीज ८९५
तिब्बत/ त्रिविष्टप ४०२, ४१२
तीन अवस्थाएं ४४९
तीन गुण ४५४
तीन गुणों के तीन प्रकार के लक्षण ४६६-४७०
तीन गुणों के अनुसार विविध जन्म ४७०-४७३
तीन शरीर ४४९
तीन सभाएं (राज्य की) २५८
तीर्थ ६१८
तीर्थ का सही अर्थ १०५०
तीर्थमाहात्म्य ६१३, ६१४
तीर्थ-लक्षण ६१४, ६१५
तीर्थंकर (जैन) ५६७, ७४८, ७४९, ७५३, ७६५, ७७१,

७७३, ७७५, ७७७, ७७८, ७८२, ७८४,
७८६, ७८७, ७८९, ७९१, ७९२, ७९९,
८११, ८२७, ८२९, ८३४, ८३९
तीर्थंकरों की असम्भव आयु और शरीर-प्रमाण ८२७
तुरीय शरीर ४५० (टि०)
तुंगनाथ ६०९ (टि०)
तुंबे का मन्त्र ६६५
तेरहपन्थी ८२०
तेंतीस देव ३१९
तेंतीस देवों में नामान्तर ३२० (टि०)
तैलंग ६७६
तौतातित ७६५, ७६८
तौबा ७०४, ९६४, ९९५ (टि०), १००६, १००९, १०३३
तौरेत ८४५-८८९
त्रिकाल सन्ध्या १८२, १८३
त्रिदण्ड (त्रिदण्डी) ७३५, ७३६, ८०७, ८१७
त्रिपुण्ड्र-धारण ५७०
त्रिपुरासुर ५९६
त्रियुगीनारायण ६०८ (टि०)
त्रिरत्न (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) ७७६, ७७७, ७८४,
७९७-७९८, ८०२
त्रिविध दुःख ३६, ४७५
त्रिविष्टप ४०२ (टि०)

द

दक्ष प्रजापति ६२३, ६४७
दण्डनीति २५९
दण्ड-विधान ३०८-३१२
दण्डवत् करना ९५०
दण्डव्यवस्था वर्णानुसार ३०८, ३०९
माता, पिता, पुरोहित, पुत्र आदि सभी अवश्य
दण्डनीय ३०८, ३०९
दनु-दानव ६२३
दन्तवक्त्र ६३०
दयालु ३२३, ३२४
दरुद-फ़ातिहा ९६४
दर्दुरांक ८१९
दश आज्ञाएं (तौरेत) ८९३, ८९५, ८९६, ९००
दशगात्र क्रिया ७३८
दशगात्र सपिण्डी ६४२ (टि०), ६४४
दशरथ १४२, ४११
दशार्ण (देश) ७८७
दस्यु ५१३, ५१५, ९८२, १०५१
दस्यु, असुर, म्लेच्छ देश ४१२ (टि०)
दाऊद ८८६, ८८७, ८९२, १०१०
दाता (उत्तम, मध्यम, ऊधम) ६४८
दान के अयोग्य व्यक्ति १९२, १९३
दादा खाचर ६८९, ६९०
दादूदयाल ६७१ (टि०), ७१०
दादूपन्थी ६७१
दाराशिकोह बादशाह ५२५ (टि०)
दांतड़ा (जयपुर) ६७५
दिगम्बर ७७७, ७७८
दिति-दैत्य ६२३
दियाबल (डेविल) ९२६, ९३१
दुर्गनिर्माण २६५, २६६
दुर्योधन ४९६
दुःख किसको नहीं पहुंचता ८२४, ८२७
दुर्गा ६४९, ६५५, ६५६, ८०९, १००८
दूकान ९३२
दूत के लक्षण २६३-२६६
दृषद्वती=ब्रह्मपुत्रा ४०४, ४०५
देव (शिल्पी) ६००
देवता ३१८, १०४९
देवनागरी (लिपि) ८४१
देवनागरी-शिक्षा ६४
देवपूजा का अर्थ ४८२, १०५०
देवप्रयाग ६०८ (टि०), ६०९
देव, मनुष्य, तिर्यक् जन्म ४७०, ४७१
देवलोक ५२८, ७८८, ७८९
देवासुर संग्राम ४११
देश-देशान्तरों में व्यापार हो ४८९
देशभाषा ९४४
देवी ५८१, ६००, ६२०, ६२६
देवी-भोपे ८९५
दैत्य ४७१, ४७३
दो इन्द्रिय जीव, उनकी आयु, शरीर-मान ७९३, ८३७
दौरासुपुर्द ९२१ (टि०)
द्रविड़ देश ५४२
द्रव्य (नौ) ११२-११५
द्रव्य (बौद्ध ४, जैन ६) ७५९, ७६०

द्रव्यलिंगी ८०४
द्वादश-आयतन/पूजा ७५१-७५५
द्वारिका ५४५, ६०३
द्विजोत्तम २५७ (टि०)
द्वीप-द्वीपान्तर ५२७

ध

धनसारी के ठग की कथा ७१८-७२०
धनाढ्य-दरिद्र की गति ९०५
धनुष-प्रमाण ८२७
धन्वन्तरि वैद्य ७८९, ८९७
धर्म-अधर्म-लक्षण ४७७, ४७८, ७११, १०४७
धर्म-अधर्म का फल १९१, १९४, १९५
धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ५१०
धर्म के चार लक्षण १०५, १०६
धर्म के दश लक्षण २३८, २३९
धर्म के मूलाधार ४७६-४७८
धर्म-धर्मी ३४१
धर्म, पुण्य, शुभचरित्र ८१६
धर्मराज ४६४, ६४१
धर्मराज (परमात्मा) ६४५
धायी-व्यवस्था एवं परम्परा ६१ (टि०), ६२, ६३
धारणा २३७
धृतराष्ट्र ४८६, ६३४
ध्यान २३७
ध्यान विधि एवं अवधि ३३६
प्रतिदिन एक घण्टा ध्यान ४५४
ध्रुवात्रुटि ६४०

न

ननक्तु ५१७, ५२१
नन्द मणिकार सेठ ८१९
नन्दीषेण ७८८
नबी १०१६, १०१९, १०३२-१०३४
नबूखुदनज़र ८८७
नबूसर अदान ८८७
नमाज़ (=नमस्) ९४४ (टि०), ९६०, १००२
नमुची (दीवान) ७९१
नरक (नास्तिक) ७३५-७३७, ७३९, ७८८, ७८९
नरक का अर्थ १०५३
नरमेध ५३८ (टि०), ५३९, ८६८
नरसिंह ६१६
नर्सी महिता ६०५
नवकार मन्त्र ७८२, ७८३, ८१८
नव तत्व ७७७
नवीन ग्रन्थों के निषेध का कारण १३५ (टि०)
नवीन वेदान्ती (और आगे भी) ५४५
नाग/ नागवंशी ४१३
नागकेत ८२९
नाड़ी छेदन की प्रक्रिया (६० (टि०), ६१
नातान ८८६
नानक (गुरु) ६६७-६७०
नानक ६९८, ७१०
नानकचन्द जती ७९१
नानकपन्थी ६७१
नाथों का मन्त्र ६६५
नामकरण १७६
नाममाहात्म्य ६१३, ६१४
नामस्मरण ५८०, ६१४-६१५, ६७५
नारद ६३४
नारायण ५७४, ५७८, ६१४, ६२१, ६२६, ६२७-६३१, ६५३, ६५४, ६५८-६६०, ६९६, ७१६, ७८७
नारायण (नारायणदर्शी मत) ६८८-६९३
नारायण जलाशय ६२१
नाराशंसी (ब्राह्मण) ६१९
नारी के पांच आपत्काल २२२
नास्तिक १०५, ३१८, ४७७, ४७८, ५८७, ६३८
नास्तिकता ४६९
नास्तिक वेदनिन्दक १४०
नास्तिक-शिरोमणि १२
नास्तिकों की मुक्ति ४५७
नास्तिकों के प्रश्न और उत्तर ३८५-३९३
नित्य-अनित्य-लक्षण १२१
निन्दा-स्तुति १८०, १८१
निमित्तकारण ७७२
नियोग २०४, २०८-२२३, ८७४, ८७५, १०५३
नियोग-उद्देश्य २०९ (टि०)
नियोग और दूसरा विवाह २०८, २१३, २१४
नियोग और देवर २१४
नियोग और व्यभिचार २११, २१२
नियोगप्रथा (प्राचीन भारत में) २०५ (टि०)
नियोगप्रथा (बाइबल में) २०४ (टि०), ८६६, ८७३, ८७४

नियोगप्रथा का आधुनिक स्वरूप २०७ (टि०)
नियोगप्रथा का शास्त्रीय स्वरूप २०४ (टि०)
नियोग में पाप नहीं २१२
नियोग में वेद-शास्त्रों के प्रमाण २१४-२१७
नियोग में सन्तान-सीमा २०९, २११
नियोग विधि २१३, २१४
निर्मले ६६९, ६७०
निर्वाण ७४९
निलोति जीव ८२४
निश्चलदास ५५५, ५५६, ५५७
निषेकादि संस्कार ४७७, ४७८
नीच शब्द का अर्थ १६२ (टि०), १६३, १७०
नीमावत ६५९
नील नदी ८७६
नुक्ते विना ९४८
नूह ८५९ (टि०), ८६०, १००२
नूह की आयु असम्भव १०१३
नृसिंह ६२९, ६३०, ६४९
नैपाल ६०९
नैमिषारण्य ६११ (टि०)
न्यायकारी ३२३, ३२४, ४५९, ४६०, १०४९
न्यायकारी अर्थ १०४९
न्याय-दया का अर्थ ३२४

प

पक्का-कच्चा भोजन ४९०
पच्चखाणव्रत ८०८
पजूसण व्रत ८०८
पठन-पाठन विधि १२३
पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न १३७, १३८
पढ़ने-पढ़ाने वालों के नियम ९७
पतञ्जलि मुनि १३४, ६५२
पतित द्विज और जितेन्द्रिय शूद्र में कौन श्रेष्ठ? २२२
पति-पत्नी का पारस्परिक व्यवहार १७७, १९७
पति-पत्नी को व्यभिचार पर दण्ड ३१०, ३११
पदार्थों की उत्पत्ति बिना निमित्त के ३८९
पनीएल/ पनूएल ८७२
परदा/ पर्दा ९४५ (टि०), ९६६
परमाणु ७६०, ७७०, ७७२, ७९६
परमाणु-अणु आदि का प्रमाण ४१४, ४१५
परमाणु, अनादि प्रकृति ७७२
परमाणु, जगत् का कारण ८५१
परमात्मा की इच्छानुसार या कर्मानुसार जन्म और फल ४६०, ४६१, ४६२
परमात्मा की ओर से आत्मा में प्रेरणा ३२२ (टि०)
परमेश्वर के सौ नाम ५३ (टि०)
परलोक=परजन्म २४७, ७१४, ७३७, ७३८, ७४२
परवरदिगार ९४२, ९९६
परस्परविरोध १३६, ६२१, ६५२, ७११, ९८२, १०१०, १०५५
परहेज़गार ९४५, ९७२
परागराज ६६५
परान्तकाल ४४५ (टि०)
पराशर मुनि १५३, १५४, २२३, ४४०, ६२०, ७१६
परिकाल-कथा ६५८-६५९
परिमाण लक्षण ११९, १२०
परीक्षाएं पांच १०५२
परीक्षा विधि (सत्य-असत्य की) ६९२
परीक्षित ६३४
परोपकार से अभिप्राय १०५२
पवित्रात्मा ८९२, ९०९, १०४१
पवित्रात्मा, पिता, पुत्र ९१७
पशुपति ६०९ (टि०), ६१०
पशुवध का वर्णन चरक में ५३९ (टि०)
पश्चात्ताप-प्रार्थना से पापनिवृत्ति नहीं ७०४, ७०५
पंच ककार ६७०
पंचदेवपूजा/पंचायतन पूजा ५९१, ५९२
पंचभूतों का परिमाण ४१४ (टि०)
पंच मकार ५३३, ६७०, ७०८
पंचमवेद (इतिहास-पुराण) ६१८
पंचशिख आचार्य १२२, २४४, २४६
पंच संस्कार ५७०
पंचाक्षरी मन्त्र ६५७
पाखण्ड का अर्थ १८९ (टि०)
पाखण्डियों के लक्षण १९३
पाठशाला ७९, ८०, ८१, ९३
पाठशाला में समान व्यवहार ८१
पाणिनि महर्षि/ मुनि १२३, १२५
पाताल ४१३, ४२०
पादरी ८८५, ८९४, ८९७, ९०७
पाताल ४८६

पापक्षमा नहीं ८९९, ९०२, ९०३, ९५३
पापक्षमा-विवेचन ३४४
पापत्याग के विना सुख ४६६
पाप-पुण्य की गतियां ४६६-४७०
पाप-पुण्य में ईश्वर की प्रेरणा ७७०
पाप-पुण्य सेनापति का ९८५
पाप-फल भोगने में जीव परतन्त्र ३४५ (टि०)
पारसमणि ५१३, ५१४
पार्थ ६३४
पार्वती ४५७, ५३३, ५७८, ६५३, ६५४, ६५७, ६६५
पार्श्वनाथ ८१९
पालिटाना ६१२
पाशुपत ५६३
पांच क्लेश ४५५
पांच व्रत ७९९
पांच परीक्षाएं १०६, १०७, ११२
पितर ६४९, ६१०
पिता, पुरोहित आदि दण्डनीय ३०८, ३०९
पितृमेध ६४
पिलातुस ९१३
पिशाच-लक्षण १०४९
पिंगल आचार्य १२७
पुजारी (देवी के) ८८४
पूजा का अर्थ सत्कार १७८
पुड़िया व्यापार ९६९
पुनर्जन्म ५३३, ५३६, ७३३, ७४२, १००४
पुनरुक्त वाक्य (प्रमत्त) १०००, १०१२, १०४२
पुनरुक्तदोष १४
पुरश्चरण ६६, ६०४, ६५५, ६७०, ८९५
पुराण ५६६, ५६८, ५७८, ६०९, ६१७-६३६, ६४०-६५१, ७३९, ८९२, ८९७, ९६३, ९२१, ९२५, ९३३, ९६३
पुराण-पर्याय ग्रन्थ १३५
पुराण (ब्राह्मण) ६१९
पुराण-मान (नापने का) ७९३
पुराणलक्षण ६१९ (टि०)
पुराण से अभिप्राय १०५०
पुराणी ४१७, ५११, ५६७, ६१७, ७०४, ७०६, १००८, १०३६
पुराणों का कर्त्ता ६१८ (टि०)
पुराणों/महाभारत की असम्भव कथाएं ८९८ (टि०)
पुरी ७१६
पुरुष ३४०, ३७५
पुरुष-अर्थ ३३७
पुरुषमेध ८६८
पुरुषार्थ का अर्थ १०५०
पुरुषार्थ की ईश्वरीय आज्ञा ३३४
पुरोहित का अर्थ १०५२
पुरोहित-नियुक्ति २६६
पुष्कर ५३४
पुष्टिमार्ग ६८३
पुंसवन १७५
पूतना ६३०, ६३१
पूर्वजन्म का स्मरण नहीं ४५८, ४५९
पूर्व समुद्र-पश्चिम समुद्र ४०४, ४०५
पूर्वापरविरुद्ध (हल्फ़दरोगी) ७०६, ९३४, ९८६, १०१२
पूर्वार्ध-उत्तरार्ध ७, ५०९, ५१०, ५११
पृथक् पदार्थवाद ३९१
पृथिवी का पौराणिक परिमाण ६४३ (टि०)
पृथिवीकाय जीव ७९२
पृथिवी/भूगोल का धारणकर्त्ता कौन ४१५-४२१
पृथिव्यादि लोक-भ्रमण ४१८
पेरिस (फ्रांस) ५२४
पैगम्बर ७०९, ८६२, ८७०, ८७५, ८८५, ९०८, ९१६, ९४२, ९४७, ९५२, ९५७, ९५८, ९६४, ९७७, ९७८, ९८०, ९८२, ९८३, ९८५, ९८९-९९१, १०००-१००२, १००४, १००९, १०१२, १०१३, १०१७, १०१८, १०२२, १०२४, १०२६, १०३२, १०३४, १०४०, १०४१
पोकल मत/ मज़हब ९०८, ९२८, ९७५
पोप ५२८-५३०, ५३२, ५३३, ५४०, ५६४, ५७८, ५८३, ६०३, ६०४, ६०६-६११, ६२०, ६२५, ६२६, ६४१-६४५, ६४९
पोप-पुराण ६१३
पोपलीला ५३०, ५३१, ५४१, ५९६, ६०२, ६०६, ६१०, ६११, ६१४, ६१६, ६३७, ६३८, ६४१, ६४२, ६४४, ८८४, ८९४, ९१८
पोपाँबाई का न्याय १००३
प्रकरण २३, २५, २८
प्रकरणवित् २४

प्रकरण से सही अर्थ ३७८
प्रकरणानुकूल २०
प्रकृति, उपादान कारण ३४१
प्रकृति का लक्षण ३७५
प्रजा का लक्षण १०४९
प्रजापति ६३०
प्रतिमा ५८४, ५८५
प्रत्यक्ष प्रमाण ३२१, ७३४, ७४२, ७४३, ७४८, ७५५, ७५६, ७६५, ७६८, ७७६, ७७७, ८२१, ८२५
प्रत्यक्ष-प्रमाण विरुद्ध ८९२
प्रत्यक्षादि प्रमाण (आठ) १०७-११२, ४५८, १०५२
प्रत्यभिज्ञा ५५३ (टि०), ७४८
प्रत्याहार २३७
प्रभु-भोजन ९१०, ९२५
प्रमत्तगीत ३८५
प्रयाग ६१० (टि०), ६११, ६५२
प्रसादी ६५४, ६८७
प्रह्लाद ६२९, ६३०, ७८७
प्राकृत-भाषा ३९७
प्राचीन (व्यक्तिविशेषण) ९११, ९१४, ९२०
प्राजापत्य-इष्टि २३४
प्राड्विवाक ४६१, ४७३
प्राणायाम तीन अवश्य करे २३७
प्रार्थना और पश्चात्ताप ९८५
प्राणायाम विधि ८४-८६
प्रार्थना का अर्थ १०५४
प्रार्थना सगुण-निर्गुण ३३२-३३५
प्रार्थनासमाज ६९६, ६९८, ७०४
प्रियव्रत ६३२
प्रेतकार्य (प्रेतकर्म) ७३६, ७४०
प्रेत-यथार्थ ६४, ६५

फ

फ़रिश्ता ९४९, ९५०, ९५१, ९५८, ९७३, ९७६, ९७९, ९८०, ९८५, ९८६, ९९०, ९९२, १००५, १००९, १०११, १०१६, १०२६, १०३४, १०३५, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, १०४१
फ़रीसी ८९६
फ़िरौन ८७४ (टि०), ८७७, ९९२, १०१०
फ़िलासफ़र १०३९
फूट राजरोग ४९६
फ़ैजी मौलवी ९४८

ब

बकरी के दूध से लाभ ४९९
बदरीनारायण ६०८, ६१०
बद्ध का लक्षण ४२९
बन्दीगृह ७७९, ९३९
बन्दीघर ६९३
बन्ध/ बन्द ११, ४२८, ९२२ (टि०)
बन्ध-मोक्ष निमित्त से ४२९
बपतिस्मा ८९३ (टि०)
बलआम ८८५
बलदेव ५९९
बहिश्त ९०९, ९४८, ९४९, ९५२, ९५५, ९७२, ९७३, ९७८, ९७९, ९८१, ९८३, ९९३, ९९४, ९९५, ९९८, १००४, १०१४, १०२२, १०२७, १०२९, १०३५, १०३७, १०३८
बहिश्त में ७२ स्त्रियां मिलना ९०६
बहुविवाह-निषेध २०२-२०४, ३१५
बहुश्रुत ८४२
बंगाले ४०५, ६५१
बगालियों का मन्त्र ६६५
बाइबल ८४१ (टि०)
बाइबल में अर्थपरिवर्तन ८६५ (टि०)
बाइबल पर वैदिक छाया ८४६ (टि०)
बाइबल में नियोग २०४ (टि०), ८६६, ८७३, ८७४
बाइबल में शाकाहार-निर्देश ८५३ (टि०)
बाघेर लोग ६०५
बादरायण ४४१, ५५७, ५५८
बादरि ४४०
बाधितन्याय २३
बाबुल ८८७
बालकों की शिक्षा ६३, ६४
बाल-विवाह निषेध १५२, १५३, १५४, १५७-१५९
बाल्यावस्था में विवाह-निषेध ३१४
बाल्यावस्था-विवाह से अभिप्राय १३७
बिच्छू ७९३, ७९४
बीज पहले या वृक्ष? ३८३
बीजमार्गी ६५६
बीबियां खेतियां हैं ९६८

बिशप ८८५, ८९७
बिस्मिल्लाह ९४१
बुतपरस्त-बुतशिकन ६०४, ९६२ (टि०), ९७९
बुद्ध ७४५, ७५१, ७५३, ७५५, ७५७, ७६४, ७६५, ७६६
बुद्ध, बौद्धमत ७४२ (टि०)
बृहस्पति (नास्तिक) ७३१, ७३२ (टि०), ७३५, ८९७
बेतएल/ बेतएल मुकद्स ८७०
बेदीन ९४३
बैजनाथ ५९७
बैतएल मुकद्दस ८७० (टि०)
बैल (पृथिवीधर्ता) ४१५, ४१६
बोपदेव ६३२, ६३३-६३५
बोपदेव और भागवत पुराण ६३२ (टि०), ६३३
बौद्ध १२, १३, ५४०, ७२९, ७३०, ७३१, ७३७, ७४०-७४२, ७४७, ७५०, ७५२-७५७, ७५९, ७६०, ७६३-७६५
बौद्धमत १३, ७२६
बौद्धों की चार शाखाएं ७४३ (टि०)
ब्रह्म ५८४, ५८५
ब्रह्म अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ३७९-३८२
ब्रह्म का सत्यस्वरूप ४३६
ब्रह्मचर्य २४६
ब्रह्मचर्य-काल ९३-९७
ब्रह्मचर्य से आयुवृद्धि ९४-९५
ब्रह्मचर्याश्रम २२६, २३१
ब्रह्मचारी-(सच्चे) ७१५, ७१६
ब्रह्मचारी रहै २२८
ब्रह्मचारी के नियम १०२
ब्रह्मपुत्रा १०५१
ब्रह्मलोक=दर्शनीय परमात्मा ४४२, ४४५, ६५०
ब्रह्म-सत्य, जगत्-मिथ्या मत ३८९-३९१
ब्रह्मा ६५, १५३, १५४, ३६३, ४१३, ४१५, ५६८, ५६९, ५८७, ६२०-६२३, ६२६, ६२७, ६३०, ६६६, ६६९, ६९७, ७०६, ७८७, ७९०, ८०१, १०४५
ब्रह्मा (देश) ४०५
ब्रह्मा और चार वेदप्रकाशक ऋषि ३६४ (टि०)
ब्राह्मण (लक्षण) ५२७
ब्राह्मण देवता ६३८
ब्राह्मणादि चार वर्ण २२६, ५१४, ५१५, ५२७, ६९९
ब्राह्मण बनने के उपाय ९९ (टि०), १६० (टि०)
ब्राह्मण-ब्राह्मणी कर्मानुसार १५९
ब्राह्मण वेदव्याख्या ग्रन्थ ३६७, ३६८, ३६९
ब्राह्ममुहूर्त में जागरण १९१
ब्राह्मण-शरीर बनाने के उपाय १६०
ब्राह्मसमाज ६९७, ६९८, ७०४
ब्राह्मसमाज-प्रार्थनासमाज ६९७ (टि०)

भ

भक्ष्य-अभक्ष्य दो प्रकार का ४९६-५०९
भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थ ५०१
भगदत्त ५१५
भगवती ५७१, ६१४
भागवत ५७१
भय, शंका, लज्जा आदि से आत्मा में प्रेरणा ३२२, ४५१
भरत ५१७, ५२१
भर्तृहरि ५६२ (टि०), १०४६
भस्म ५६९, ५७०
भस्म-धारण या लगाना ७३५, ७३६
भस्मासुर ६५७
भंगी, चमार आदि ६६ (टि०)
भंगी के हाथ का भक्ष्य-अभक्ष्य ४९५
भागत्यागलक्षणा ३५३ (टि०)
भागुरि मुनि १३४
भानमती ३७८, ९७१, ९८९
भारतवर्ष ४८३, ४८५, ७६४
भावना चार (बौद्ध) ७४७, ७४८, ७४९
भीम ४८७
भिंड (नगर) ५६५
भीत ८८७
भीष्म ६३४
भुज ६८८
भूतग्रस्त/ भूत निकालना ८९४, ८९५, ८९७, ९०४
भूरिद्युम्न ५१७, ५२१
भूतनाथ ६५६
भूमि-प्रमाण (द्वीप) ७९४, ७९५
भूत-प्रेत का यथार्थ ६५, ६६
भैरव ६६, ६८, ५३४, ५३५, ५७८, ६५५, ६५६, १००८
भैरवी ५३४

भैरवदेवी ६५५
भैरवीचक्र ५३३, ५३४, ५९९, ६५६
भोजनभेद (ईश्वरकृत, मनुष्यकृत) ७००
भोजनप्रबन्ध ५६६ (टि०)
भोज राजा ५६३-५६७

म

मक्का ९६४, ९७९
मज़दूरी १०२९
मतलबसिन्धु ८७९, ९६९, ९९५, १०१९
मतों की अच्छी-बुरी बातें १०४४
मथुरा ५३४, ५५३, ६१०, ६१२, ६३१, ७९१
मथुरा-वृन्दावन ६१० (टि०)
मध्व/ माध्व ६५९, ६९६, ७१०
मत्ती ८८९
मतूसिलह ८५७
मद्य-मांस आदि से हानि ४९६, ५००
मद्य-मांस न खायें ४८९
मद्य-मांसाहारियों के हाथ का खाने में दोष ४९५
मन का लक्षण ११५
मनु ४१३, ४१५, १०५६
मनु स्वायम्भुव ७२१
मनुष्य का लक्षण १०४५, १०५०
मनुष्यजाति ९, १६
मनुष्य, देव, पशु जन्म का कारण ४६३
मनुष्य पहले या पृथिवी आदि ४००
मनुष्यों का तीन कोश का शरीर और असम्भव आयु ८३५
मनुष्यों, पशुओं में एक-सा जीव ४६२, ४६३
मनुस्मृति आदिसृष्टि की ५१५ (टि०)
मनुस्मृति ही वेदानुकूल २२३
मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र ७१
मरीचि ४१३, ४१५, ६२३
मरियम (ईसा-माता) ५२९, ८९१ (टि०), ८९२, ९५७, १००५
मरियम (मुहम्मद की बांदी) १०३२
मरुत्त ५१७, ५२१
मरुतदेवी ८०९
मर्त्यलोक ६८४
म्लेच्छ ४११, ४१२, ५१५
म्लेच्छ=मद्य-मांसाहारी ४९६
म्लेच्छ देश ४१२
मस्जिद १००८, १०३६
मस्जिदुल हराम ९६२ (टि०)
महमूद ग़जनवी ६०३ (टि०)
महाकल्प ४६४, १००४
महादेव ३१८, ४५७, ५३५, ५६८, ५६९, ५७८, ५९६, ६०२, ६०४, ६२१-६२३, ६५७, ६५८, ६६६, ६९६, ७८७
महादेव अर्थ ७०६
महाब्राह्मण ६४२ (टि०), ६८७, ८२० (टि०)
महाभारत युद्ध (५००० वर्ष पूर्व) ४९६, ५१५, ५२०, ५२६, ५३२
महायज्ञ पांच १६०, १८१, १८२, २२७
अतिथियज्ञ १८८
अतिथि सत्कार के अयोग्य व्यक्ति १८८, १८९
देवयज्ञ १८१, १८२
पितृकर्म ६१९
पितृयज्ञ और पितर १८३-१८६
बलिवैश्वदेव यज्ञ १८६, १८७
ब्रह्मयज्ञ ९२, ९३
महायज्ञों का फल १८९, १९०
महायज्ञ अनिवार्य १००, १०१
महायोगी ४७३
महाराजे ५६३, ५६६, ७२१
महावाक्य ३५०
महावीर (जैन) ५४१, ७६४, ७७४, ७८६, ७८७, ७८९, ७९२, ८०१, ८१८, ८१९, ८२७, ८३०
महावीर और जैनधर्म ७५७ (टि०)
महाव्याहृति ८१ (टि०)
महिषासुर ६२६
मंगलाचरण ५५, ५६
माजूज १००४, १००५
माण्डलिक राज्य ३१६
मातङ्ग ऋषि १५९
माता-पिता की सेवा से आयुवृद्धि ९०२
माता-पिता के वानप्रस्थ बनने पर पितृयज्ञ कैसे? १८३ (टि०)
माद्री ४८६ (टि०), ५०९
मान-मन्दिर ५२६
माध्यमिक ७४३, ७४७, ७५५, ७५६
माध्व/ माध्वमत ६५९, ६९६, ७१०

माध्व-तिलक ६९६
माया ५५५
मारवाड़ ६७४
मांसभक्षण का प्रक्षेप ज्वालादत्त द्वारा ५०० (टि०)
मांसभक्षियों, मद्यपायियों से व्यवहार नहीं ४८८
मिथिलापुरी ४८३, ४८६ (टि०)
मिथ्यात्वी ७०९, ८०८, ८०९, ८१२, ८१८
मिथ्याप्रतिज्ञा से हानि ७४
मिथ्या साक्ष्य की गणनात्मक अशुद्धियां ३०६ (टि०)
मिश्र ३६६, ५२२, ८७७, ८८७, ९९२
मिश्र/ मिश्री ८६१ (टि०)
मिश्री (देश) ८६१, ८७४, ८७७
मीकाईल ९२६, ९५८
मुक्ति अनेक जन्मों में ४६४
मुक्ति अनेक प्रकार की ईसाइयों की, गोसाईँयों की, मुसलमानों की, पौराणिकों की चार प्रकार की, वाममार्गियों की, वैष्णवों की, शैवों की ४५५-४५७
मुक्ति और बन्ध
मुक्ति और बन्ध का स्वरूप ४३६, ४३७, १०४८
मुक्ति कर्म-उपासना-ज्ञान से ४६४
दोनों के कारण ४३७
मुक्ति की महाकल्प अवधि ४४५
मुक्ति के साधन ४४८-४५५, १०४९
मुक्तिनिवास की अवधि ४४५, ४४७, ४४८
मुक्ति में आनन्दभोग का माध्यम ४६५, ४६६
मुक्ति में जीव की स्थिति ४३८, ४४०-४४३, ४४६, ४४७, ४६४
मुक्ति में जीव के गुण-सामर्थ्य ४३८,४३९
मुक्ति योगाभ्यास से ४३७
मुक्ति से जीव की पुनरावृत्ति ४४३-४४६
मुखपट्टी विषय ८२०-८२४
मुख्य अधिकारियों के अधिकार २५५, २५६, २६५, २६६
मुनिवाहन ५६७ (टि०), ५७६
मुमुक्षुत्व ४५३
मुम्बई ८३५
मुर्दावली ६८७
मुसलमान १५, १६१, ४१७, ५०८, ५०९, ५१७, ५३१, ५९६, ६०४, ६०६, ६६९, ६७०, ७००, ७०४, ७०६, ७१७, ८६२, ८७०, ९०६, ९३६-१०४४ तक प्राय: प्रत्येक पृष्ठ पर
मुसलमान के हाथ का भक्ष्य-अभक्ष्य ४९३, ४९५
मुसलमानों की पाकशाला भ्रष्ट ४९०
मुहम्मद साहब ६९८, ९६३, ९७४, ९७५, ९७७, ९७८, ९७९, ९८२, ९८३, ९८५, ९८६, ९८७, ९९४, ९९५, १०१०, १०११, १०१७, १०१८, १०२१, १०२८, १०३०, १०३२, १०३४, १०३६, १०४३
मुहम्मद साहब/ इस्लाम परिचय ९३९ (टि०)
मृतक गाड़ना/ अन्त्येष्टि ८६७, ८६८
मृत्यु से अभिप्राय १०५३
मूर्तिपूजा ५४२, ५७८, ५८१, ५८३, ५८४, ५८६-५९५, ६०१, ६०२, ६१२, ६१३, ६१४, ६१८, ६५१-६५५, ६७१, ६९७, ७८४, ७८६, ७८७, ७८८, ८१०, ८१८, ८१९
मूर्तिपूजा के दोष ५८८-५९१
मूर्तिपूजा जैनियों से चली, बौद्धों से भी ७८४, ७८६, ८१८
मूल कारण का मूल नहीं ३८५, ३९७, ३९८
मूसा ६९८, ८७४-८७६, ८८०, ८८२, ८८५, ९५२, ९५३, ९५७, ९८९, १०१०-१०१२
मूसा-परिचय ८४५ (टि०)
मेरुपर्वत ४८३, ४८५
मेरु वर्ष ४८३, ४८५, ४८६ (टि०)
मेवाड़ (उदयपुर-चित्तौड़) ६७२, ७२१
मैत्रेयि ७३४
मोक्ष/ मुक्ति (नस्तिक) ७३५, ७३६, ७३६, ७४२, ७४९, ७५०, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७६५, ७७२, ७७३, ७७७, ७८५, ७८६
मोक्षमूलर (मैक्समूलर) ५२३ (टि०), ५२४
मोक्षशिला ४५५, ४५७
मोज़िजे ९५७
मौलवी ७०९

य

यक्ष ४७१, ४७३
यज्ञ/ महायज्ञ ९९, १६०
यज्ञ का अर्थ १०५१
यज्ञकुण्ड-यज्ञपात्र, (द्र० 'महायज्ञ' भी) ८९
यज्ञवेदी (ईसाइयों की बलिदान वेदी) ८८२
यज्ञोपवीत ७९, ५४४, ७०६
यज्ञोपवीत-त्याग (संन्यासी के लिए) २३४
यज्ञोपवीतपूर्वक ब्रह्मचर्य १५७

यतना छः ७४२, ७९०
''**यतयः**'' आदि पदों में भ्रान्ति २३१ (टि०)
यथायोग्य संस्कार से अभिप्राय ७९ (टि०)
यम (पांच)-नियम (पांच) ९८, ९९, ३३५
यम/ यमालय ४६३, ४६४
यमराज ६४०
यमलोक ६४१, ६४४, ६४५, ६६१
''**यमेन वायुना**'' अपपाठ ४६३ (टि०)
ययाति ५१७, ५२१
यरुसलम ८८७
यवन (यूनान) ३६६, ५१५, ५६४, ६९८
यवन समुदाय और उनके देश ३६६ (टि०)
यशपाल महाराजे ७२१, ७२२, ७२६
यहूदा इस्करियोती ९०९ (टि०), ९११, ९१८, ९२३
यहूदाह ८७३ (टि०)
यहूदी ८४१, ८७५, ९१३, १०३१
यहूदी-मत ८४५-८४६ (टि०)
यहोवा ८५१ (टि०)
याकूब ८६९ (टि०), ८७०-८७३, ८७६
याजक (ईसाई) ८८२, ९१४
याजक प्रधान ९११, ९१४
महायाजक ९११
याजूज १००४, १००५
याज्ञवल्क्य महर्षि ३५१, ६१९, ७३४
यादवों का फूट से सत्यानाश ४९६
यावनाचार्य (यामुनाचार्य) ५६८, ५७६
यावनी भाषा ५६५
यास्क मुनि १२७
यीशु गलीली/ यीशु नासरी ९११ (टि०)
यीशु (ख्रीष्ट) ८९१-८९४, ८९७-८९९, ९००, ९०१, ९०५, ९०९, ९११-९१८
यीशु के बारह शिष्य ९००, ९११
युद्ध में विजित स्त्रियों से व्यवहार (टि०) २७१
युधिष्ठिर महाराजे ४८६, ४८७, ५०८, ५१५, ७२१, ७२२
युधिष्ठिर के अधीन विदेशी राज्य (टि०) ५१५
युद्ध-नियम २६८
युद्ध में व्यूह-रचना २८९-२९४
यूनान ५१५, ५२२
यूरोप ३६६, ४२३, ४८५, ५०९, ५१५, ५२२, ५२३, ८७५, ९०८
यूरोपियन ५६७, ७००-७०२, ७०४, ७०६, ९३४
यूरोपीय देश ५३०
यूसुफ़ ८९१, ८९२, ९१६, ९९८
योग (जैन) ८१८
योगाचार ७४३, ७४५, ७४८, ७४९, ७५५, ७५६
योगाभ्यास ८६
योगाभ्यास से मुक्ति ४३७
योगिनी ६०४
योगी की त्रिकालज्ञता ३३१ (टि०)
योहन (ईसागुरु) ८९३ (टि०), ९२०, ९२३
योहन्ना ९१९, ९३३
यौवनाश्व ५१७, ५२१

र

रक्तबीज (राक्षस) (टि०) ६२६
रघुगण ५१५
रचना से ईश्वर-ज्ञान ३२२
रजस्वला ९६८
रणछोड़ जी ६०५
रसूल ९७७, ९७८, ९८२, ९८३, ९८९-९९१, ९९३, ९९४, १००९, १०१७, १०१९, १०३१
रसविक्रय ६८८
रहमान १००५
राक्षस ४११, ४१२, १०४९
राखिल ८७०, ८७३
राजनियम ८१
राजपूताना ७२१
राजसूययज्ञ ४८७, ५०८
राजसूय यज्ञ के समय दिग्विजय यात्रा ४८७
राजा/सभापति के गुण-धर्म २५२, २५३, २६२, २७३, २७४, २८०, २८१
राजा का लक्षण १०४९
राजधर्म ३१५
राजा का सन्ध्योपासना कर्म राज्यरक्षा २६७ (टि०)
राजा की तीन सभाएं २४९, २५०
राजा की धर्मपरिषद् २५५-२५८
राजा की सभाओं के अधिकारियों की योग्यताएं २५२
राजा के कामज, क्रोधज अवगुण २५८-२६२
राजा के मित्र के लक्षण २९४-२९५
राज्य के सन्धि आदि षड्गुण २६३, २८२-२८८
राजा द्वारा त्रयीविद्या की शिक्षा २५८, २५९

राजा पद की योग्यता २४९
राजा, रानी, न्यायाधीश को व्यभिचार पर अधिक दण्ड ३११
राजा सभाधीन हो २५०
राजा सभापति/सभाध्यक्ष हो २५०, २५१
राज्यकेन्द्र निर्माण २७३, २७४
राधा ५७८, ६६०
राम/रामचन्द्र ४११, ५१७, ५५७, ५७८, ५८१, ६०१, ६१४, ६१६, ६२९, ६५३, ६५४, ७२९
राम (दक्षिण-राजा) ६०१
राम-रावण संग्राम (आर्य-राक्षस संग्राम) ४११, ४१२
रामचरण साधु ६७२ (टि०), ६७३, ६७५
रामदयाल चौबे ५६६
रामदास ६७४, ६७५
रामदेव का पन्थ ६७४, ६७५
रामप्रसाद वाले ६५९
रामलीला ६५३, ६५४
रामस्नेही मत ६७१, ६७२, ६७४, ६७६
रामानन्दी ५६९, ६६०
रामानुज ५६८ (टि०), ५७४, ५७६, ५७७
रामावतों का मन्त्र ६६५
रामेश्वर तीर्थ ४०६, ६०१ (टि०)
रावण ३४३, ५१५, ६३०
रावण रघुगण के अधीन ५१७ (टि०)
राव साहब (लखुना) ५६५
राशि-स्थान ४२१
रासमण्डल ६५३, ६५४
रुद्राक्ष ५६९, ५७०
रुद्राक्ष, भस्म ५६३, ५६४, ६५७, ७०८
रुक्मिणी ६५३, ६५४
रुद्र ५६९, ५७१, ५७२, ६२३
रूम/ रोम ५२२, ९९२
रूह (फ़रिश्ता) १०३७, १०३८
रूहुल्कुदुस ९५७
रूंखड़-सूंखड़ ६६२
रेवालसर ६०७ (टि०)
रेलगाड़ी ८७८
रैक्यमुनि ६३६
रोज़ा/ चान्द्रायण व्रत ९६६ (टि०), १०३३
रोम/ रूम ५२२, ९९२
रोमन (भाषा) ५२९

ल

लक्ष्मणभट्ट ६७६
लक्ष्मी ४५७, ५७८, ६५३, ६५४, ६६०
लब्धि साधु ८२०
लाटभैरव ५९५, ५९६
लाबान आरामी ८७०
लालबुझक्कड़ ६२४
लाशरीक ९५८, ६७७, ९७८, ९८२, ९८३, १०३१
लिंगांकित ६९६
लिंगार्चन ७०८
लूत ८६५, ९१२, १०२१
लैङ्गिक-ज्ञान (चार प्रकार) १२२
लोक-लोकान्तरों में मनुष्यादि प्रजा ४२२ (टि०)
लंकेश ९९०

व

वदतो व्याघात ५४९
वद्ध्यश्व ५१७, ५२१
वराह ६२८
वर्ण/वर्णव्यवस्था ४०३, ४०४, ४११, ५२८
वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं, कर्म से १६०-१६६, ७००
वर्णनिर्धारण का समय १६६
वर्णानुसार दण्ड ३०८, ३०९
वर्णपरिवर्तन के उदाहरण १५९ (टि०)
वर्णपरिवर्तन १६४
वर्णव्यवस्था (सनातन) १६०, १६१
वर्णसंकरता का सही अर्थ १६५ (टि०)
वर्णाश्रम ७३६, ७३७
वर्णाश्रमी ७३९
वर्णों के अभक्ष्य पदार्थ ४९६
वर्णों के कर्म १६६-१७०
वर्णों में उत्तमता-निकृष्टता का आधार ७७२
वल्लभ/वल्लभ मत ६७८, ६७९, ६८०, ७१०
वशीकरण आदि ७१
वसिष्ठ ५५५, ५५६, ५५७, ६२०, ७१६
वही/ वह्य ९८५ (टि०), १०१०
वाक्यार्थबोध में कारण १५ (टि०), १६
वात्स्यायन मुनि १३४
वाद-प्रतिवाद/ वादी-प्रतिवादी ८४३
वानप्रस्थ का विधान २२६-२२८, २४६
वामन ५७१, ६१६, ६४९

वाममार्ग/वाममार्गी ५३३-५३७, ५३९, ५४४, ५६३, ५६४, ५७०, ५७१, ५७४, ५८३, ६१२, ६५५, ६५७, ६७०, ६७८, ७०७, ७०८, ७१७, ७४०, ७४१, ७६४, ७६५
वायु (सृष्टितत्व) ६२१
वायुकाय प्राणी ८२१, ८२३, ८२४
वाल्मीकि ५५७, ६०१, ६०२
वासुदेव ७८७, ७८९
विक्रमादित्य महाराजे ५६२, ५६३, ५६६
विडालाक्ष ५१५
विदेशी राज्य सुखदायक नहीं ४१३
विद्या-अविद्या १२९, ४२६-४३६, ५४९, ५५९
विद्याएं—
आत्मविद्या=ब्रह्मविद्या २५९, ४८३
कालविद्या ४७३
खगोल-विद्या १३१, ७७५, ७९६, ८३३, ९७१, १००५, १०३९
गणितविद्या ६९, १४३, ६३९, ७९२, ७९६
दश महाविद्यायें ५३६ (टि०), ५६३, ६५५
धर्म-विद्या १४२, १४३, २३४
नीतिशास्त्र २५५
न्यायविद्या २५९
पदार्थविद्या (फ़िलासफी) ६५, ९१, ५२१, ७७५, ८५२, ९९६, ९९८, १०५१
पाकविद्या १४२
पुराणविद्या ६१८
फलितविद्या ६३९
फ़िलासफी ८५४, १००९, १०२०, १०३४
ब्रह्मविद्या ४५३, ७१०
भूगर्भ-विद्या १३१
भूगोल-विद्या १३१, ६२८, ७५५, ७९६, ८३३, ९७१, १००५, १०३९
मातंगी (विद्या) ५३६
मेघविद्या ९९९
युद्धविद्या (धनुर्वेद-विद्या) १४२, ५१७
राजविद्या १४२
वार्ता-विद्या २५९
वेदविद्या २५७, ३६२, ३६६, ४५९
वैद्यक विद्या/ वैद्यकशास्त्र १३०, १३६, १४३, ५०१
व्यवहार-विद्या १४२
शस्त्रास्त्रविद्या १३०
शिल्पविद्या ९९, १३१, १४३, १६०, १७९, ३२०, ३४६, ३६४, ६१५
सृष्टिविद्या ४६५, ५८८, ८५३
संस्कृत-विद्या ५२३, ५२४, ५२७, ६६९
विद्याप्राप्ति कराना माता-पिता का कर्त्तव्य ७७
विद्याप्राप्ति की कुल अवधि १३१ (टि०)
विद्यार्थियों के लक्षण २००-२०१
विद्या-विरुद्ध ८५९, ८९७, ९००, ९०४, ९१५, ९५७, ९७५, ९८९, १००५, १००९, १०१५
विद्याविरोधी ७११
विद्वानों की सभा राज-नियम बनाये ३१४
विनता-पक्षी ८२३
विन्ध्याचल, विन्ध्येश्वरी ४०४, ६१० (टि०), १०५१
विरजानन्द सरस्वती १०५५
विप्रदुष्ट ४८०
विभिन्न जीव-योनियां क्यों? ४०२
विभीषण ५१७
विराट् ४१३, ४१५
विवर्तवाद ५४८
विवाद न करने योग्य व्यक्ति १९२
विवाह—
पुनर्विवाह में दोष २०३
विवाह आठ प्रकार के १७१-१७३
विवाह और नियोग २०८, २०९
विवाह का अर्थ १०५३
विवाह की आयु ९७, १५२, १५४ (टि०), १५५
विवाह क्यों? २२०
विवाह, दूरस्थ गोत्र में श्रेष्ठ १४८, १५०
विवाह, निकट-दूर के गुण-दोष १४८, १४९
विवाह में सपिण्डता और गोत्रत्याग १४६ (टि०)
विवाह में नाम-निषेध १५१
विवाह में वर्जित कुल १५०
विवाह में वर्जित रोग १५०
विवाह लड़के-लड़की के अधीन १५५, ३१५
विवाह (स्वयंवर) १५६, १५८, १५९, २१९, २२५ प्रमाण-उदाहरण १५६ (टि०)
विवेक ४४८, ४५१
विवेक-अविवेक ७६३

विवेक-वैराग्य ४५१, ५९५
विशेषण-विशेष्य २८, २९, ३६०
विश्वामित्र १५९
विष्णु ४५७, ५६८, ५६९, ५७२, ५७३, ५८१, ५९१, ५९६, ६२०-६२३, ६२५, ६५७, ६५८-६६१, ६६६, ७८७, ७८८
विष्णुलोक/ वैकुण्ठ ६१४
वीरभद्र (भैरव) ६०४
वीर्यरक्षा के लाभ ७२
वृक्षों में जीव ४६७ (टि०)
वृद्ध-लक्षण ७१२
वृन्दावन ६१०, ६११
वेणीमाधव ५९६
वेद—
वेद ईश्वरकृत ३६२, ३६३, ३६५, ६५२
वेद और अन्य लोक ४२४
वेद और गुरुग्रन्थ साहब ६६८ (टि०)
वेद और छन्द ३७१
वेद चार ३२१, ३६२, ३६४, ३६८
वेदज्ञाता तीन विद्वान् २५७
वेदत्याग से शूद्रत्व १०२
वेद नित्य ३७०
वेद में इतिहास नहीं ३६९
वेद सब विद्याओं का भण्डार ६६९
वेद स्वत:प्रमाण १३४
वेदाध्ययन अर्थसहित ही सफल १२८, १३०
वेदों में प्रकाश संस्कृत में ३६४
वेदों के शब्द-अर्थ-सम्बन्ध नित्य ३७१
वेदों में असत्य नहीं ७०३
वेदमत/वेदमार्ग ६७१, ६८३, ७११, ७१७, ८४७, ८८३, ९०८, ९२२, ९९०
वैदिक मत ९२८
वेदमार्गविरोधी ७१७
वेदविद्या का दान सर्वश्रेष्ठ १४४
वेदविरुद्ध १३४, २२३, ५११, ५३३, ५३६, ५३८, ५४३, ५८८, ६०१, ६१७, ६१९, ६५२, १०४७
वेदविरुद्ध आचरण २४४
वेदव्यास ६२०
वेद ही हमारा मत १३६, ३७१
वेदादि का न्याय तुरन्त १००३
वेदाध्ययन अनिवार्य १००, १०१
वेदाध्ययन-अधिकार सबको १३९, १४०, ६३६
वेदानुकूल ५८७, ५९२, ६५२
वेदानुकूल खण्डनीय नहीं ८९६
वेदानुकूल जीवन हो २६९
वेदान्ती ३५२-३६०, ४३६, ७०८, ७०९
वेदान्तियों की मुक्ति ४५५, ४५७
वेदी (ईसाई) ८५९
वेदोक्त धर्म के प्रचार से देश का सौभाग्य १४४
वेदोक्त नीति ४२४
वेदोक्त मत ५०९, ९८१
वेदोत्पत्ति-विवेचन ३६२-३७१
वेदों की शाखाएं ३६६-३७०, ६५१, १०४७
वेदों में ईश्वर-स्वरूप ८४९
वैकुण्ठ ४५५, ६२७, ६२८, ६५८, ६६१, ६९६, ९५५
वैतरणी नदी ६४१, ६४३, ६४४
वैदिक मत ग्रहण करो १०४४
वैदिक धर्म प्राचीनतम ५११ (टि०)
वैधर्म्य ५५७
वैद्यालय (आयुधालय) २९६ (टि०)
वैभाषिक ७४३, ७४५, ७४८, ७५५, ७५६
वैरागी संन्यासी २४७, ५७१, ६६५, ९०२, ९२३
वैष्णव ५६७, ५७१, ५७२, ५७८, ६२०, ६४९, ६५७-६५९, ६८७, ७१०, ७१७, ८१०
वैष्णव (चौरासी) ६७७
वैष्णव मत ५६७
वैश्यों के कर्म २०१, २०२
व्यतिरेक ३५९ (टि०)
व्यभिचार से बुद्धिनाश ३१५
व्यष्टि-समष्टि ४१७
व्याकरण १२४, १२६, १३६, १४२, १४३
व्याप्ति-लक्षण १२२, १२३
व्यावर्तक-प्रवर्तक ३५७
व्यास मुनि १३३, १३४, ४४०, ४४१, ४८३, ५५८, ५६६, ५६८, ५७८, ६१८, ६१९, ६२०, ६५२, ७१६, ९६३, ९७९, १०४६
व्याहृति ओंकारपूर्वक सात २३७
व्रजदेश ६७७

श

शकुनि ५०९
शक्ति ६२०, ७१६
शठकोप ५६७ (टि०)
शतरूपा रानी ६२३
शत्रुञ्जय ६१२, ७८५
शब्दप्रमाण ७६८, ७६९, ८२५
शम्मेत शिखर/ शिखर ६१२, ७८५
शरीर की चार अवस्थाएं ९५
शर्याति ५१७, ५२१
शल्य ५१५
शस्त्रास्त्र—
आग्नेयास्त्र ५२१, ५२२
तोप ५२१, ५२२
नागपाश ५२२
पाशुपतास्त्र ५२१
बन्दूक ५२१, ५२२
भुशुण्डी ५२२
मोहनास्त्र ५२२
वारुणास्त्र ५२२
शतघ्नी ५२२
श्वेतकेतु ३७६
श्वेताम्बर ७७६-७७८, ८२०
शशबिन्दु ५१७, ५२१
शहद १०२७, १०२८, १०३३
शहाबुद्दीन गोरी ७२६
शंकराचार्य ५४२, ५४३-५४५ (टि०), ५५६, ५५७, ५६२, ५६३, ५७६, ५७७, ७१७, ७६४
शाकिनी-डाकिनी ६५, ६६
शाक्त ५६५, ५७२, ६५७, ७२९
शारदा मठ ५४५
शाप/ शापित ६२२, ८५६ (टि०)
शाम्भवी मुद्रा ५३३, ५३६
शासनदेवी ८०९
शास्त्रविरुद्ध ६८३
शाहपुरा ६७१, ६७२, ६७५
शिक्षा-अर्थ १०५०
शिक्षा कराना सबका मुख्य कर्म ७८
शिक्षा सब वर्णों को दिलायें, सबका कर्त्तव्य १०६
शिखा ७०६
शिखात्याग (संन्यासी के लिए) २३४
शिव ५३३, ५३५, ५८१, ५९१, ५९२, ६१३, ६१४, ६२०-६२३, ६२५, ६५३, ६५४, ७८८
शिवाजी ५१७
शिवपुर ४५५, ४५७, ७८१, ७८५, ७८९, ८३४
शिवप्रसाद, राजा ७६४
शिशुपाल ६३०
शिशुमारचक्र ५२६
शिष्टाचार से अभिप्राय १०५२
शिष्य का लक्षण १०५१
शीतला ६६, ७१, ९८२
शुकदेव ६२०
शुकाचार्य ४८३, ६३४, ७१६
शुक्राचार्य ८९७
शुद्धता हो तो सबके हाथ का खायें ५०७
शूद्र ५९८
शूद्र आर्य एवं सवर्ण हैं ४०३ (टि०)
शूद्र का घर में उपनयन क्यों नहीं? ७२ (टि०)
शूद्र के हाथ का खाने में दोष नहीं ४९३-४९६
शूद्र के हाथ की रसोई द्विज खायें ४९०, ४९२
शूद्र-जनों को शिक्षा दें १०६
शूद्रों का हितैषी परमात्मा १४०
शूद्रों के कर्म २०१, २०२
शून्य/सर्वशून्य ७४३, ७४४, ७४७-७४९, ७५६
शून्यता ७५१, ७५२
शृंगेरी ५४५
शेष (पृथिवी-धर्ता सर्प) ४१५, ४१६
शैतान (फरिश्ता) ८५४, ८६१, ८८८, ८९३, ९०८, ९१८, ९२६-९२८, ९३१ (टि०), ९३२, ९५०, ९५१, ९६५, ९८०, ९८३, ९८५, ९८६, ९९९, १०००, १००३, १००५, १००६, १०१२, १०२२, १०२३, १०३१
शैतान/ शयतान ९४७ (टि०), ९५०
शैव ५६३, ५७०, ५७१, ५७२, ६२०, ६५७, ६६५, ७०८, ७१७, ७२९
शैव मत ५४४
शैवों की मुक्ति ४५५, ४५७
शोकपत्र ६९
शौनक ६३४
श्रवणचतुष्टय ४५३

श्राद्ध-तर्पण ५३९, ५४१, ६४१, ७३८
श्रावक ८१८
श्रीकृष्ण ५८१, ५९९, ६०५, ६१४, ६१६, ६३१, ६३३-६३५, ६५३, ६५४, ६६०, ६९६, ७२९, ७८७-७८९, ८३०, ८३१
श्रीकृष्ण गोसाँई मत में ६७७-६८५
श्रीकृष्ण अवतारी नहीं ३४२, ३४३
श्रीकृष्ण का उत्तम चरित्र ६३५
श्री (देवी) ५६८
श्रीनाथद्वारा ७२१
श्रीपुर ४५५, ४५७, ५६९
श्रीवैष्णव ६५८
श्रुति ४७७, ४७८
श्रेष्ठाचार ४८२
षट्क सम्पत्ति ४५३
षड्-यन्त्र (तान्त्रिक) ६५५ (टि०)

स

स्कन्ध (पांच) ७५०, ७५३
सगुण-निर्गुण-स्तुति-प्रार्थना-उपासना १०५४
सगुणता-निर्गुणता ३६०
सफ़ा-मुरब्बः (पहाड़ियां) ९६४
सखरी-निखरी ४९०
संजीवनी इतिहास ५६६ (टि०)
सतीर्थ्य ६१५
सत्ता-लक्षण १२०
सत्य=परमेश्वर ४१६
सत्यभाषण का आदेश १७९-१८१
सत्यभाषण-मिथ्याभाषण ७११
सत्यमूर्तिमान जन १३८
सत्ययुग ७१५
सत्यवती-सुत ६१७
सत्यार्थप्रकाश रचना ५ (टि०)
स्तुति का अर्थ १०५५
स्तुति-प्रार्थना-उपासना ३२७
स्तुति सगुण-निर्गुण ३२८, ३२९
स्त्रियों को स्ववर्ण-विद्या की शिक्षा १४२, १४३
स्त्री सवर्णा कैसे बनेगी १४५ (टि०)
स्त्रियों के लिए वानप्रस्थ और संन्यास २२८ (टि०)
स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य १४०, १४१
स्त्री-पुरुषों की वर्णव्यवस्था १६४, १६५
स्त्री-योद्धा १४२ (टि०)
स्त्री-शूद्रों को वेद पढ़ायें १३८-१४४
स्थूलभद्र स्वामी ७८७, ७८८, ८३०
सदावर्त ६५८
सदूम-अमूरः ८६५
सनक ६२७, ६२८
सनाई/ सियोन पर्वत ८४९ (टि०), ८६१
सनातन=नित्यधर्म १०४५
सन्तदास ६७२
सन्त लक्षण ६६३
सन्ध्या-अनिवार्य १००, १०१
सन्ध्या- आचमन ८६
सन्ध्या की अन्य क्रियाएं ८३-८८
सब जगत् नित्य है, मत ३९१
सभासद् और मन्त्रियों के गुण २६२-२६५
सम्यक्त्व ८०३, ८०७
सम्यक्त्वी ७०९
सम्यग् दृष्टि ७९०
समवाय-लक्षण ११८
समवाय सम्बन्ध ३५५, ७८०, ७९७
समावर्तन-विधि १४५-१४६
समावर्तन १४४, १४५, १७३
समित्पाणि ७१० (टि०)
समुद्रमार्ग में कर ३१२, ३१३
समूद १००३
सम्मान के मानदण्ड ४७९, ४८१
स्मृतियां ६३६
सरमा-कुत्ते ६२३
सरस्वती=अटक नदी ४०४, ४०५
सर्वतन्त्रसिद्धान्त १०४५
सर्वशक्तिमान् अर्थ ३२६, ३२७, ३८३
सर्वशून्य-मत ३८७, ३८८
सवर्णा पत्नी २६५, २६७
सवाई जयपुराधीश ५२६
ससुर/ श्वसुर १०२९ (टि०)
संस्कार का अर्थ १०५१
संस्कृत ५, ३९७, ५२२, ५२५, ५२६, ६६८, ६६९, ८४१, ९४४, १०४३, १०४४
संस्कृत में पूरी राजनीति ३१४
संयम ३३६

संन्यास और उसकी आवश्यकता २२८, २४०, २४१
संन्यासग्रहण का अधिकार २४०, २४६
कर्त्तव्य एवं धर्म २३०-२४८, ७१५-७१७
काषायवस्त्र आदि ही संन्यासधर्म नहीं २३६
मठधारी संन्यासी नहीं ७१६
संन्यासी और श्राद्ध २४५
प्रयोजन २४३
भाररूप संन्यासी २४२, २४३
संन्यासी की परिभाषा २४३
संन्यासी परिव्राट् है २३०, २४६
संन्यासियों को दान देय या नहीं २४४
संन्यासी के लिए यज्ञोपवीत त्याग २३४
सहजानन्द ६८८, ६८९, ६९५, ७१०
सहस्रश्लोकात्मक अष्टाध्यायी का अभिप्राय १२५ (टि०)
''सहाय=सहायक'' ४२
स्वतन्त्र का अर्थ ३४५
स्वतन्त्र-परतन्त्र १०५२
स्वत: और परत:प्रमाण ग्रन्थ १०४७
स्वदेशीय राज्य सर्वोत्तम ४१३
स्वयम्वर विवाह ७००
स्वर्ग-नरक और विशेष स्वर्ग ४६५
स्वर्ग ७३६-७३९, ७८९
स्वर्ग का अर्थ १०५३
स्वाभाविक-नैमित्तिक ज्ञान ७०५
स्वामीनारायण ६८८, ६९४, ६९५
स्वायम्भुव ४१३, ६२३
स्वायम्भुव मनु ५१७, ५२१
स्याद्वाद/ सप्तभंगी न्याय ७६०-७६३, ७७६
स्याद्वाद, सप्तभंगी ७६० (टि०)
साक्षी (व्यक्ति) ९३०, ९४७, ९५५
साक्षी और साक्ष्य ३०१-३०७
साक्षिता १०२५
सात रत्नों का स्वर्गस्थ नगर ९३३
सातवां आसमान ४५५
साधर्म्य अन्वयभाव ३५९ (टि०)
साधर्म्य-वैधर्म्य ११९, ३६०, ५५७
साधु-लक्षण ६६४
साम, दाम, दण्ड, भेद २७५
सायणाचार्य ५२४
सारै/ सारा/ सर: ८६१ (टि०), ८६५, ८६६
सालोक्य आदि चार मुक्तियां ४५५, ४५७
सावित्री-जप ८६
सास/सासु १०२९ (टि०)
साहसिक व्यक्ति और दण्ड ३०८, ३१०
सिज्दा (आदम के लिए) ९८५
सिज्दा १०००, १००७
सिद्धशिला ७८१, ७८५, ७८९, ८३४-८३६, ८३९
सियोन/ सनाई पर्वत ८४८, ८६१, ९२८, ९२९
सीता ५७८, ६०१, ६०२, ६५३, ६५४
सींथल (जोधपुर) ६७४
सीमन्तोन्नयन १७५
सुख-दु:ख का लक्षण १९६
सुगत देव ७५४, ७५५, ७६४, ७६५
सुथरेशाही ६६२, ६७०
सुद्युम्न ५१७, ५२१
सुधन्वा ५४३, ५४४
सुभद्रा ५९९
सुमेरु ६३२
सुरति ६६७
सुरा (सोमरस) ५३६, ५३७ (टि०)
सुवर्णभूमि ५१३
सुशीलता का उपदेश गर्भाधान से कैसे? ५८ (टि०)
सुषुप्ति ८२४, ८२५
सूर्य (देवता) ५७१, ५८१, ५९१, ६२०, ६२१
सूर्य (कुन्ती से नियोगकर्त्ता व्यक्ति) ८९२
सूर्य, चन्द्र आदि में मनुष्य-सृष्टि ४२१, ४२२, ४२३
सूर्यग्रहण ६४०
सूर्यभ्रमण या नहीं ४१८, ४२०, ४२१
सृष्टि उत्पत्ति का क्रम शास्त्रों में ३९५, ३९६
सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया ३९८, ३९९
सृष्टि-उत्पत्ति विषय ३७२-४००
सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक शास्त्रीय प्रमाण ३९५ (टि०)
सृष्टि का प्रथमारम्भ कब? ४०१
सृष्टि के तीन कारण ९६०
सृष्टिक्रम-विरुद्ध ६२३, ८९२, ८९७, ९०४, ९१३, ९५६, ९६७, १००८
सृष्टिरचना ज्ञानपूर्वक ३९९-४००
सृष्टि-लक्षण १०४८
सृष्टिविषय और छह शास्त्र १३६
सृष्टि-विषय में शास्त्रों का विरोध या अविरोध १३७, ३९४-३९७

सेठ सेवकलाल कृष्णदास ७३०
सैन्धव २३
सोमनाथ मन्दिर ६०३ (टि०)
सौत्रान्तिक ७४३, ७४५, ७४८, ७५५, ७५६
सौत्रामणी यज्ञ ५३६, ५३७

ह

हज ९६४
हज़रत १०३१, १०३२
हठना/हटना १० (टि०), ९०३
हनुमान् ६८, ५७८, ६०१
हनूक ८५७
हबशी ४२३
हर की पौड़ी ६०८, ६०९
हर ७९९, ८००, ८११, ८१८
हरद्वार ६०८, ६०९ (टि०)
हररामदास ६७४, ६७५
हरि ६१३, ६१४, ७९९, ८००, ८०१, ८११, ८१८
हरिजन (भक्त) ६७३
हरिपदाकृति ६५८
हरिवर्ष ४८३, ४८५, ४८६ (टि०)
हरिश्चन्द्र ५१७, ५२१
हव्वा ८५४
हाजिरः ८६६, ८६९
हाबिल ८५५, ८५६, ८५७
हारून ८८२
हिंगलाज ६०६ (टि०)
हिमालय ४०४, ६०७, ८३४, १०५१
(द्र० मेरु, सुमेरु भी)
हिमालय और विन्ध्याचल सीमा ४०६, ४११
हिरण्यकशिपु ६२८-६३०
हिरण्याक्ष ६२८, ६३०
हुंडी ९६९
हूण ४८३, ४८५, ४८६
हेमचन्द्र सूरि (जैन) ७६५, ७९०
हेमाद्रि ६३३, ६३५
हेरोद ९१७
हैमवत वर्ष ४८६ (टि०)
'हो जा' ९५९
होम ९९, १००, १०१, १६०

—०—

परिशिष्ट-५
सत्यार्थप्रकाश की कुछ स्मरणीय सूक्तियां/उद्धरणीय वचन

अग्निहोत्र

—''अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना और उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है।'' (समु० १२, पृ० ७३६)

आचार-अनाचार

—''धर्मायुक्त कर्मों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि '**आचार**', और इनसे विपरीत '**अनाचार**' कहाता है।''

(समु० १०, पृ० ४७६)

—''जो सत्यभाषण आदि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ '**आचार**' है।''

(समु० १०, पृ० ४८२)

आत्महत्या

—''आत्महत्या अर्थात् आत्मा को दुःख देना।''

(समु० १२, पृ० ८२६)

आत्मा में प्रेरणा परमात्मा की ओर से

—''जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता अथवा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव के इच्छा, ज्ञान आदि, उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है।'' (समु० ७, पृ० ३२२)

—''पाप में भय, शंका, लज्जा और पुण्य में निर्भय, उत्साह और प्रसन्नता की रहने वाली बुद्धि होती है, वह ईश्वर की ओर से है।'' (समु० १२, पृ० ७७०)

आपस की फूट

—''आपस की फूट से कौरवों-पाण्डवों और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबो मारेगा?'' (समु० १०, पृ० ४९६)

आर्यसमाज

—''जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को उन्नति देवें तो बहुत अच्छी बात है।''

(समु० ११, पृ० ७०६)

—''जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्यसमाज' के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा।''

(समु० ११, पृ० ७०६)

आर्यावर्त

—''यह आर्यावर्त देश ऐसा देश है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है।''

(समु० ११, पृ० ५१३)

—''यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावर्त देश से ही प्रचारित हुए हैं।'' (समु० ११, पृ० ५२४)

ईश्वर-उपासना

—''न्यून-से-न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे।''

(समु० ३, पृ० ८८)

—''मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।'' (समु० ३, पृ० ८५)

—''जो उपासना आरम्भ करना चाहै, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा प्रीति करे, सत्य बोले, मिथ्या न बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो, और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे।'' (समु० ७, पृ० ३३५)

ईश्वर का स्वभाव और ईश्वर ही उपासनीय

—''सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें।'' (समु० १, पृ० ३३)

—''छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्यभाषण आदि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां हैं।'' (समु० ११, पृ० ५८८)

—''जब परमेश्वर को मनुष्य भूल जाता है, तभी वह एकान्त पाकर अपराध कर लेता है कि यहां मुझको कोई नहीं देखता। जो मूर्ति को न मान परमेश्वर को व्यापक माने तो वह उसके डर से कि मुझको परमेश्वर देखता है, पाप न करे।'' (समु० ११, पृ० ५८०)

—''जब शुद्धात्मा-शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी, समाधिस्थ होकर, आत्मा और परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है, तब उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।'' (समु० ७, पृ० ३२३)

—''परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता।''

(समु० ७, पृ० ३४६)

—''परमेश्वर सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं।''

(समु० ७, पृ० ३३५)

—''सब श्रेष्ठों में जो अत्यन्त श्रेष्ठ है, उसको परमेश्वर कहते हैं, जिसके तुल्य न कोई हुआ, न है, और न होगा।''

(समु० १, पृ० ३२)

—''जिस पदार्थ का स्वरूप एकदेशी है उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी एकदेशी होते हैं, जो ऐसा है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, अनन्त गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, अनादि, अनन्त आदि लक्षणयुक्त वेदों में कहा है, उसी को मानो तभी तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नहीं।'' (समु० १३, पृ० ८४९)

—''जो अनेक स्त्रियों को रक्खे वह ईश्वर का भक्त व पैगम्बर कैसे हो सके?'' (समु० १४, पृ० १०३४)

कर्मफल

—''जो कोई अच्छा काम करेगा सुख पावेगा।''

(समु० १३, पृ० ९०५)

—''किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।''

(समु० ११, पृ० ६१४)

—''किसी का किया हुआ पाप किसी के पास नहीं जाता, किन्तु जो करता है वही भोगता है; यही ईश्वर का न्याय है।'' (समु० १३, पृ० ८१९)

—''जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है।'' (समु० १, पृ० ४०)

—''कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है। ''

(समु० ७, पृ० ३४५)

—''जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र है।''

(समु० ८, पृ० ४२८)

—''जीव जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है, उसके सुख-दुःख को, मन से किये को मन से, वाणी से किये को वाणी से और शरीर से किये को शरीर से भोगता है।'' (समु० ९, पृ० ४६७)

—''सब जीव स्वभाव से सुखप्राप्ति की इच्छा करते हैं और दुःख का वियोग होना चाहते हैं; परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा।''

(समु० ९, पृ० ४६६)

—''जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य के जीव को पश्वादि नीच शरीर, और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वान् का शरीर मिलता है; और जब पुण्य-पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है।'' (समु० ९, पृ० ४६३)

खाने-पीने में धर्म नहीं

—''देखो, वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगी के लिये है, नीरोग के लिये नहीं। विद्यावान् नीरोग और विद्यारहित अविद्यारोग ग्रस्त रहता है। उस रोग को छुड़ाने के लिये सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको अविद्या से यह रोग है कि खाने-पीने में ही धर्म रहता और जाता है।''

(समु० ११, पृ० ७०२)

—''भूखा-प्यासा रहना आदि धर्म नहीं।''

(समु० १२, पृ० ८१६)

—''दुःख पाप का फल है। इससे भूखा मरना पाप है।'' (समु० ११, पृ० ६५०)

—''जो भूख में नहीं खाते और जो विना भूख के भोजन करते हैं, वे दोनों रोग-सागर में गोते खा दुःख पाते हैं।'' (समु० ११, पृ० ६५१)

—''गर्भवती वा सद्योविवाहिता स्त्री, लड़कों वा युवा पुरुषों को तो कभी उपवास न करना चाहिये, परन्तु किसी को करना भी हो तो जिस दिन अजीर्ण हो, क्षुधा न लगे, उस दिन शर्बत वा दूध पीकर रहना चाहिये।''

(समु० ११, पृ० ६५१)

ग्रहों का फल नहीं

—''जब तक तुम्हारे (अर्थात् पोपों के) चरण राजा, रईस, सेठ, साहूकार और दरिद्रों के पास नहीं पहुंचते, तब तक किसी को ग्रह का स्मरण भी नहीं होता। जब तुम साक्षात् सूर्य-शनैश्चर आदि मूर्तिमान क्रूर रूप धर उन पर जा चढ़ते हो, तब विना ग्रहण किये उनको कभी नहीं छोड़ते। और जो कोई तुम्हारे ग्रास में न आवे, उसकी निन्दा 'नास्तिक' आदि शब्दों से करते, फिरते हो।''

(समु० ११, पृ० ६३९)

—''कर्म की गति सच्ची है, और ग्रहों की गति सुख-दुःख भोग के कारण नहीं।'' (समु० ११, पृ० ६४०)

छूतछात अज्ञान है

—''जो आजकल छूतछात और उससे धर्म नष्ट होने की शंका है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है।'' (समु० १०, पृ० ४८८)

जीव का सामर्थ्य सीमित—

—''जीव को जब शरीर प्राप्त होता है, तभी कुछ कर सकता है और ज्ञान का सामर्थ्य बढ़ा सकता है, अन्यथा नहीं।'' (समु० १२, पृ० ७७०)

''(जीव) जितना सामर्थ्य बढ़ना उचित है, उतना योग से बढ़ा सकता है।'' (समु० १२, पृ० ७८०)

—''जीव चाहे जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे, तो भी उसमें परिमित ज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता।''

(समु० १२, पृ० ७८०)

तप

—''वेदादि सत्यविद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम 'तप' है।'' (समु० ११, पृ० ५७६)

तीर्थ

—''जो जल-स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते।.....मनुष्य जिनको करके दुःखों से तरें, उनका नाम 'तीर्थ' है।'' (समु० ११, पृ० ६१४)

धर्म-अधर्म

—''धर्म तो न्याय-आचरण, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि है और असत्यभाषण, अन्याय-आचरण आदि पाप है।''

(समु० १२, पृ० १६)

—''वेदविरुद्ध को न मानना किन्तु वेदानुकूल का ही आचरण करना 'धर्म' है।'' (समु० ११, पृ० ५८७)

—''परोपकार करना 'धर्म' और परहानि करना 'अधर्म' कहाता है।'' (समु० ११, पृ० ७०२)

—''जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग-रूप आचार है, उसी का नाम 'धर्म' और उससे विपरीत जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को 'अधर्म' कहते हैं।'' (समु० ३, पृ० १०५)

—''धर्म एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं तो एक-दूसरे के विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो विरुद्ध होते हैं, तो एक के विना दूसरा धर्म नहीं हो सकता, और जो कहो अविरुद्ध हैं, तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिये धर्म और अधर्म एक-एक ही हैं, अनेक नहीं।'' (समु० ११, पृ० ७०७)

—''जैसे जड़-काटा वृक्ष नष्ट हो जाता है वैसे अधर्मी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।'' (समु० ४, पृ० १९१)

—''जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे, वह अधर्म को छोड़, धर्म अवश्य करे; क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है।'' (समु० ९, पृ० ४४८)

—''सब जीव धर्म का आचरण करके और अधर्म को छोड़के परमानन्द को प्राप्त हों, और दुःखों से पृथक् रहें।'' (समु० १, पृ० ३६)

—''दुःख अज्ञान और अधर्माचरण से होता है।'' (समु० १२, पृ० ७७४)

—''जो धार्मिक हैं वे सुख और जो पापी हैं वे दुःख सब मतों में पावेंगे।'' (समु० १४, पृ० ९४८)

—''धर्मात्मा और अधर्मात्मा सदा रहते हैं वे तो रहें, परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है, जब अधर्मी अधिक होते हैं तब दुःख।''

(समु० ११, पृ० ७१५)

—''धर्म किसी को किसी अवस्था में भी न छोड़ना चाहिये, चाहे कुछ भी हो जाय।'' (समु० १२, पृ० ८३१)

नामस्मरण

—''परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का 'नामस्मरण' है।''

(समु० ११, पृ० ६१६)

नास्तिक

—'''नास्तिक' वह होता है जो वेद और ईश्वर की आज्ञा (को न माने और) वेदविरुद्ध पोपलीला चलावे।''

(समु० ११, पृ० ६३८)

—''जो ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं उनका प्रमाण करना, जानो 'नास्तिक' होना है।'' (समु० ११, पृ० ५८७)

पति-पत्नी, परिवार

—''स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।''

(समु० ४, पृ० १९७)

—''स्त्री वा पुरुष [पारस्परिक] प्रसन्नता के बिना कोई भी व्यवहार न करें।'' (समु० ४, पृ० १९७)

—''जैसे स्त्री के साथ पुरुष प्रेम करे वैसे ही स्त्री भी पुरुष के साथ प्रेम करे।'' (समु० १३, पृ० ८५२)

—''यह बड़े अन्याय की बात है कि स्त्री घर में क़ैद के समान रहे और पुरुष खुले रहें।''

(समु० १४, पृ० १०१७)

—''वह कुल धन्य! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों।''

(समु० २, पृ० ५८)

—''मा, बाप, भाई और मित्र.....जो वे बुरा उपदेश करें तो न मानना, परन्तु उनकी सेवा सदा करनी चाहिये।''

(समु० १४, पृ० ९९३)

—''जिस-जिस उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस-उसका पालन करें।''

(समु० २, पृ० ७५)

—''माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना 'देवपूजा' कहाती है।'' (समु० १०, पृ० ४८२)

—''अपने माता, पिता, सास, श्वसुर की अत्यन्त शुश्रूषा किया करें।'' (समु० ४, पृ० २२१)

पोप और पाखण्ड

—''श्राद्ध, तर्पण, पिण्डप्रदान उन मरे हुये जीवों को तो नहीं पहुँचता किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि 'पोप' जी के घर, उदर और हाथ में पहुंचता है।''

(समु० ११, पृ० ६४१)

—''जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं, वह तो पोप जी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुंचता है।''

(समु० ११, पृ० ६४१)

—''पोप को दया से क्या काम? कोई जीवो वा मरो, पोप जी का पेट पूरा भरो।'' (समु० ११, पृ० ६५१)

प्रार्थना-पश्चात्ताप

—''यह भी तुम्हारा दोष है कि जो पश्चात्ताप और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति मानते हो। इसी बात से जगत् में बहुत-से पाप बढ़ गये हैं।'' (समु० ११, पृ० ७०४)

—''पश्चात्ताप वा प्रार्थना से पाप चाहे जितने हों, छूट जायेंगे; ऐसी बातों से धर्म की हानि और पाप-कर्मों की वृद्धि होती है।'' (समु० ११, पृ० ७०५)

—''आगामी पाप छुड़वाने के लिये किसी से प्रार्थना और स्वयं छोड़ने के लिये पुरुषार्थ, पश्चात्ताप करना उचित है; परन्तु केवल पश्चात्ताप करता रहे, छोड़े नहीं, तो भी कुछ नहीं हो सकता।'' (समु० १४, पृ० ९८५)

ब्रह्मचारी और गुरुकुलवास

—''जिस हेतु से 'ब्रह्मचारी' नाम होता है, उस 'ब्रह्म' अर्थात् वेद पढ़ने में परिश्रम कुछ भी नहीं करते। वे ब्रह्मचारी बकरी के गले के स्तन के सदृश निरर्थक हैं।''

(समु० ११, पृ० ७१६)

—''जब तक गुरुकुल में रहें तब तक माता-पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।'' (समु० ४, पृ० १९८)

भक्ष्य-अभक्ष्य—

''जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल आदि से पदार्थों को प्राप्त करके भोग करना है, वह '**अभक्ष्य**' और अहिंसा, धर्म आदि कर्मों से प्राप्त करके भोजन आदि करना '**भक्ष्य**' है।'' (समु० १०, पृ० ५०१)

—''सज्जन लोगों को मद्य के पीने का नाम भी न लेना चाहिये।'' (समु० १३, पृ० ८६५)

—''जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य, मांस आदि के सेवन से अलग रहें।''

(समु० २, पृ० ७६)

मत-मतान्तर आदि का अध्ययन

—''सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मत-विषयक पुस्तकों को देख-समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें।'' (समु० १३, पृ० ८४२)

—''हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या-पुस्तकों की खोज कर प्रकाश करेंगे तो देश को बड़ा लाभ

पहुंचेगा।'' (समु० ११, पृ० ७२२)

महापुरुष, सन्त, साधु—

'''**महापुरुष**' तो बड़े उत्तम, धर्मयुक्त पुरुषार्थ से होता है।'' (समु० ११, पृ० ६०६)

—'''**सन्त**' सज्जन, विद्वान्, धार्मिक, परोपकारी पुरुषों को कहते हैं।'' (समु० ११, पृ० ६६३)

—''जो धर्मयुक्त उत्तम काम करे, सदा परोपकार में प्रवृत्त हो, कोई दुर्गुण जिसमें न हो, विद्वान् हो, सत्योपदेश से सबका उपकार करे, उसको '**साधु**' कहते हैं।''

(समु० ११, पृ० ६६४)

मिथ्या गुरु

—''जिनमें विद्या आदि सद्गुणों का 'गुरुत्व' नहीं है, झूठ-मूठ कण्ठी-तिलक, वेदविरुद्ध मन्त्रोपदेश करने वाले हैं, वे गुरु नहीं किन्तु गडरिये हैं।''

(समु० ११, पृ० ६१७)

मुक्ति के साधन

—''धर्म-आदि आचरण ही मुक्ति के साधन हैं।''

(समु० १३, पृ० ९००)

—''जो जीव परमेश्वर की आज्ञा का पालन, उत्तम कर्म, सत्संग, योगाभ्यास, पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है।'' (समु० ९, पृ० ४६५)

—''उत्तम कर्म आदि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्प पर्यन्त जन्म-मरण-दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।'' (समु० ९, पृ० ४६४)

—''धर्मयुक्त सत्यभाषण आदि कर्म करना और मिथ्याभाषण आदि अधर्म को छोड़ देना मुक्ति का साधन है।'' (समु० ९, पृ० ४२८)

—''जो वेदों को पढ़के, धर्मात्मा, योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके, मुक्ति-रूपी परमानन्द को प्राप्त होते है।'' (समु० ३, पृ० १२९)

—''जल, स्थल और पाषाण आदि मूर्तियों से पापक्षय और मुक्ति कभी नहीं होती।'' (समु० १२, पृ० ७८६)

—''जैसे संसार में एक प्रधान, दूसरा अप्रधान होता है वैसे मुक्ति में नहीं, किन्तु सब मुक्त जीव एक-से रहते हैं।'' (समु० ११, पृ० ५५९)

—''जो पुरुष विद्वान्, ज्ञानी, धार्मिक, सत्पुरुषों का संगी, योगी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय, सुशील होता है, वही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होकर इस जन्म और परजन्म में सदा आनन्द में रहता है।''

(समु० ११, पृ० ७२१)

मूर्तिपूजा व्यर्थ

—''सब मतों की पूर्तिपूजा व्यर्थ है।''

(समु० १२, पृ० ७८८)

—''किसी जड़ पदार्थ के सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना, सब मूर्तिपूजा है।''

(समु० ११, पृ० ६७१)

—''मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिरकर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में मर जाता है।''

(समु० ११, पृ० ५८८)

—''जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़बुद्धि होता है, क्योंकि ध्येय का जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है।'' (समु० ११, पृ० ५९०)

—''वेदों में पाषाण-आदि मूर्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।''

(समु० ११, पृ० ५८३)

—''आर्यावर्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाण-आदि मूर्तिपूजकों का पराजय इन्हीं (जड़पूजा आदि) कर्मों से होता है, क्योंकि पाप का फल दुःख है। इन्हीं पाषाणादि मूर्तियों के विश्वास से बहुत-सी हानि हो गई, जो न छोड़ेंगे तो प्रतिदिन अधिक-अधिक होती जायगी।''

(समु० ११, पृ० ६५५)

राजा और राज्यव्यवस्था तथा दण्डव्यवस्था

—''राजाओं का प्रजा का पालन करना ही परमधर्म है।'' (समु० ६, पृ० २८१)

—''(राजा) प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता के सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।'' (समु० ६, पृ० २९७)

—''जो सभापति रूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब और सभा वेदानुकूल होकर प्रजा के साथ पिता के समान वर्तें।'' (समु० ६, पृ० २६९)

—''यही राजा का सन्ध्या-उपासना आदि कर्म है जो रात-दिन राज्यकार्य में प्रवृत्त रहना और राज्य का काम बिगड़ने न देना।'' (समु० ६, पृ० २६७)

—''परमात्मा की इस सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता।''

(समु० ११, पृ० ५१७)

—''मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान अर्थात् राजा, ये चारों सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें।'' (समु० ६, पृ० २५६)

—''विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभा में मूर्खों की कभी भरती न करें; किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें।'' (समु० ६, पृ० २५८)

—''जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।'' (समु० ६, पृ० २५२)

—''किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये।'' (समु० ६, पृ० २५०)

—''एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये, किन्तु राजा जो सभापति, तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।'' (समु० ६, पृ० २५०)

—''जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें।''

(समु० ६, पृ० २७८)

—''जो धन (कर) लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।'' (समु० ६, पृ० २९६)

—''जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे।'' (समु० ६, पृ० २७२)

—''राजा और राजसभा, बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म के प्रचार, विद्यार्थियों, वेदमार्गोपदेशकों, असमर्थों तथा अनाथों के पालन में लगावे।'' (समु० ६, पृ० २७४)

—''यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है।''

(समु० ६, पृ० २९७)

—''जब राजा न्यायासन पर बैठकर न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथायोग्य दण्ड देवे।''

(समु० ६, पृ० ३०९)

—''शीघ्र न्याय करना न्यायाधीश का उत्तम काम है।''

(समु० १४, पृ० १००३)

—''जो न्याय को छोड़के अन्याय को करे, तो अन्यायकारी हुआ। अन्यायकारी ही पापी कहाता है।''

(समु० १४, पृ० १००६)

—''**न्याय**' उसी को कहते हैं कि जिसने जैसा वा जितना कर्म किया उसको वैसा और उतना ही फल देना। उससे अधिक-न्यून देना '**अन्याय**' है।''

(समु० १३, पृ० ९३०)

—''विना अपराध के किसी को दण्ड देना अन्यायकारी बात है।'' (समु० १३, पृ० ८७८)

—''धर्मात्माओं को सुख और अधर्मियों को दुःख उनके कर्मों के अनुसार सदैव देना चाहिये।''

(समु० १४, पृ० ९५७)

—''जिनका अपराध हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे।''

(समु० ६, पृ० २७८)

—''दुष्टों को यथावत् दण्ड देने और श्रेष्ठों के पालन करने में दया, और इससे विपरीत करने में दया-क्षमारूप धर्म का नाश है।'' (समु० १२, पृ० ८२६)

—''एक दुष्ट पर दया और क्षमा करने से वह अधिक दुष्टता करेगा और बहुत धर्मात्माओं को दुःख पहुँचावेगा।''

(समु० १४, पृ० १०२४)

—''यदि किंचित् भी अपराध क्षमा किया जावे तो अपराध ही अपराध जगत् में छा जावे।''

(समु० १४, पृ० १०२४)

—''न्याय तो वेद और मनुस्मृति का देखो जिसमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं होता और अपने-अपने कर्मानुसार दण्ड वा प्रतिष्ठा सदा पाते रहते हैं।''

(समु० १४, पृ० १००३)

—''जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध में राजा पर सहस्र पैसा दण्ड होवे।'' (समु० ६, पृ० ३०९)

वर्णव्यवस्था कर्मानुसार और शूद्र निम्न नहीं

—''जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उसको उस-उस वर्ण का अधिकार देना।''

(समु० ४, पृ० १७०)

—''गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये।'' (समु० ४, पृ० १६६)

—''चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।''

(समु० ४, पृ० १६४)

—''जो ब्राह्मण नहीं हों उनका न 'ब्राह्मण' नाम, और न उनकी सेवा करनी योग्य है।'' (समु० ११, पृ० ५२८)

—''जो उत्तम विद्या-स्वभाव वाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख [=अशिक्षित] शूद्र के योग्य होता है।''

(समु० ४, पृ० १५९)

—''वर्णव्यवस्था गुण-कर्म के आधीन होनी चाहिये।''

(समु० ४, पृ० १५९)

—''उनके गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी राजा और विद्वानों का काम है।'' (समु० ११, पृ० ७००)

—''जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का '**ब्राह्मण**' नाम है।''

(समु० ५, पृ० २४०)

—''पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम ब्राह्मण है।''

(समु० ११, पृ० ५२७)

—''मा-बाप ब्राह्मणी-ब्राह्मण होने से और किसी साधु के शिष्य होने पर ब्राह्मण वा साधु नहीं हो सकते, किन्तु '**ब्राह्मण**' और '**साधु**' अपने उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं, जो कि परोपकारी हों।''

(समु० ११, पृ० ५२९)

—''जो-जो कपट-छल की लीला करते हैं, वे ही '**पोप**' कहाते हैं, जो उनमें भी धार्मिक विद्वान्, परोपकारी हैं, वे सच्चे '**ब्राह्मण**' और '**साधु**' हैं।''

(समु० ११, पृ० ५३१)

—''क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिए विधि करे?''

(समु० ३, पृ० १४०)

—''जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच मानें तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक कौन-सा होगा?'' (समु० ४, पृ० २२२)

वर्ण परस्पर प्रीतिपूर्वक रहें—

''चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-

दु:ख, हानि-लाभ में ऐकमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन-मन-धन व्यय करते रहें।''

(समु० ४, पृ० २०२)

विद्या, शिक्षा का महत्त्व और अनिवार्यता

—''मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। विना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता।'' (समु० ११, पृ० ७२१)

—''सुशिक्षा के विना मनुष्य पशु के समान रहता है।'' (समु० १४, पृ० १०२०)

—''जब सब वर्णों में विद्या-सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप, अधर्मयुक्त मिथ्या-व्यवहार को नहीं चला सकता।'' (समु० ३, पृ० १०६)

—''जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं, वही मनुष्य और विद्वान् होते हैं।'' (समु० ११, पृ० ७२१)

—''जैसे पढ़ने से '**पण्डित**' होता है, वैसे सुनने से '**बहुश्रुत**' होता है।'' (समु० १३, पृ० ८४२)

—''आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि 'एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।''

(समु० ३, पृ० १२७)

—''ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे, और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिसका आत्मा पक्षपात-सहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही है।''

(समु० ३, पृ० १३३)

—''सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव-रूप आभूषणों का धारण कराना, माता,पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।'' (समु० ३, पृ० ७८)

—''यही माता-पिता का कर्त्तव्य-कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है कि जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना।''

(समु० २, पृ० ७७)

—''वे माता-पिता अपने सन्तानों के पूर्ण शत्रु हैं जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई।'' (समु० २, पृ० ७६)

—''जिसको शंका, कुसंग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शंकारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दु:खदायक होते हैं।''

(समु० २, पृ० ६५)

—''बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हो।'' (समु० २, पृ० ६३)

—''वस्तुत:, जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।'' (समु० २, पृ० ५८)

—''माता, पिता, आचार्य अपने सन्तानों और शिष्यों को सदा सत्यउपदेश करें और यह भी कहें कि 'जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उन-उनका ग्रहण करो और जो-जो दुष्ट कर्म हों उन-उनका त्याग कर दिया करो।''

(समु० २, पृ० ७५)

—''जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।''

(समु० ३, पृ० १४४)

—''इसलिये वे ही धन्य और कृतकृत्य हैं कि जो ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से अपने सन्तानों के शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें।''

(समु० ३, पृ० १४३)

—''राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु वे आचार्यकुल में रहें। जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।'' (समु० ३, पृ० १४४)

विद्वानों का कर्त्तव्य

—''विद्वानों और आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्य-असत्य का स्वरूप समर्पित कर दें।'' (भूमिका, पृ० ९)

—''जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा

लेख न किया जाय तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता।.....इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य कारण है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।'' (समु० १२, पृ० ७३०)

—''जो विद्वान् होता है वह सत्य और असत्य की परीक्षा करके, सत्य को ग्रहण कर लेता है और असत्य को छोड़ देता है।'' (समु० ११, पृ० ५४३)

—''एक मनुष्य-जाति में बहकाकर, विरोध-बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना, लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।'' (भूमिका, पृ० १६)

—''विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेकविध दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।''

(भूमिका, पृ० १०)

—''धार्मिक, सब देश के उपकारकर्ता, निष्कपटता से सबको विद्या पढ़ानेवाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना चाहिये, जैसा कि वे जगत् का उपकार करते हैं।''

(समु० २, पृ० ७१)

विवाह

—''जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये।''

(समु० ४, पृ० १४८)

—''बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश होता है उससे अधिक स्त्री का नाश होता है।''

(समु० ४, पृ० १५८)

—''लड़के-लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़के-लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये।''

(समु० ४, पृ० १५५)

वेद और वेदाधिकार

—''वेदादिक को माने विना तुम अपने वचनों की सत्यता-असत्यता की परीक्षा और आर्यावर्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो?'' (समु० ११, पृ० ७०३)

—''इसलिये वेदादि विद्या का पढ़ना, सत्संग करना होता है, जिससे कोई उसको ठगाई में न फसा सके, और औरों को भी बचा सके।'' (समु० ११, पृ० ७२१)

—''यह सच है कि विना वेदों के यथार्थ अर्थबोध के मुक्ति के स्वरूप को कभी नहीं जान सकते।''

(समु० १२, पृ० ७८५)

—''जो अविद्या आदि दोषों से छूटना चाहो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय ले लो। क्यों भ्रम में पड़े-पड़े ठोकरें खाते हो?'' (समु० १२, पृ० ७७४)

—''वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है, इससे विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं, वे वेदविरुद्ध होने से झूठे हैं।''

(समु० ११, पृ० ५८८)

—''जो वेदों से विरुद्ध है उसका प्रमाण, और अनुकूल का अप्रमाण नहीं हो सकता।'' (समु० ११, पृ० ६५२)

—''परमेश्वर ने सृष्टिस्थ सब देशस्थ मनुष्यों पर न्यायदृष्टि से सब देशभाषाओं से विलक्षण संस्कृत-भाषा कि जो सब देशवालों के लिये एक-से परिश्रम से विदित होती है, उसी में वेदों का प्रकाश किया है।''

(समु० १४, पृ० ९४४)

—''जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उस को छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण है अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। 'ब्राह्मण'-आदि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।'' (समु० ३, पृ० १३४)

—''सब दानों में वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है।''

(समु० ३, पृ० १४४)

—''वेदों के पढ़ने-सुनाने का अधिकार मनुष्यमात्र को

है।'' (समु० ११, पृ० ६३६)

—''परमात्मा ने जैसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्न-आदि पदार्थ सबके लिये बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं।''

(समु० ३, पृ० १४०)

सब स्त्री-पुरुषों को वेदाधिकार—''सब स्त्रियों और पुरुषों अर्थात् मनुष्य मात्र को [वेद] पढ़ने का अधिकार है।'' (समु० ३, पृ० १३९)

—''सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये।'' (समु० ३, पृ० १०६)

—''स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।'' (समु० ३, पृ० १४०)

—''जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है।''

(समु० ३, पृ० १४०)

वेदमत

—''अच्छा तो '**वेदमार्ग**' है, जो पकड़ा जाय तो पकड़ो, नहीं सदा गोते खाते रहोगे।'' (समु० ११, पृ० ६७१)

—''यदि तुमको सत्य मत-ग्रहण की इच्छा हो तो '**वैदिक मत**' को ग्रहण करो।'' (समु० १४, पृ० १०४४)

—'''**वेद-मत**' सबका उद्धार करनेहारा है।''

(समु० १२, पृ० ७९९)

—''हमारा मत वेद है; ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को, विशेषत: आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिये।''

(समु० ३, पृ० १३६)

—''कोई किसी से पूछे कि 'तुम्हारा मत क्या है', तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद है अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उस सबको मानते हैं।''

(समु० ७, पृ० ३७१)

—''यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व '**वेद-मत**' से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था।''

(समु० ११, पृ० ५११)

—''तुमको उचित है कि '**वेद-मत**' को मानो और मिथ्या प्रपंच आदि बुराइयों को छोड़ो, जिससे इस लोक और परलोक की शुद्धि होकर आनन्द पाओ।''

(समु० ११, पृ० ६८३)

—''जो हम लोग '**वैदिक**' हैं वैसे ही तुम भी वैदिक हो जाओ तो बुतपरस्ती आदि बुराइयों से बच सको, अन्यथा नहीं।'' (समु० १४, पृ० ९६३)

—''प्रकल्पित मतों को छोड़कर '**वेदोक्त मत**' सब मनुष्यों के लिये स्वीकार करने योग्य है कि जिसमें आर्य मार्ग अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग में चलना और दस्यु अर्थात् दुष्टों के मार्ग से अलग रहना लिखा है।''

(समु० १४, पृ० ९८२)

व्यसन

—''दुष्ट व्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है।''

(समु० ६, पृ० २६२)

शिल्पी देवता

—'''देव' मानो तो उन्हीं कारीगरों को मानो कि जिन शिल्पियों ने मन्दिर बनाया।'' (पत्थर की मूर्तियां 'देव' नहीं हैं) (समु० ११, पृ० ६००)

श्रीकृष्ण

—''देखो, श्री कृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है; उनका गुण, कर्म, स्वभाव चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है; जिसमें श्री कृष्ण ने जन्म से मरणपर्यन्त कोई अधर्म का आचरण कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा।''

(समु० ११, पृ० ६३५)

—''जो यह भागवत (पुराण) न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों होती?''

(समु० ११, पृ० ६३५)

—''श्री कृष्ण का देहान्त हुए कुछ कम पांच सहस्र वर्ष बीते हैं।'' (समु० ११, पृ० ६८०)

श्रेष्ठ मनुष्य

—''श्रेष्ठ उसको कहते हैं जो अपने गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो।''

(समु० १, पृ० ३२)

—''जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही 'मनुष्य' कहाता है। और जो स्वार्थवश होकर परहानि-मात्र करता रहता है, वह जानो 'पशुओं का बड़ा भाई' हो।'' (भूमिका, पृ० १२)

—''बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते किन्तु दूसरों के दोष देखने में अति उद्युक्त रहते हैं, यह न्याय की बात नहीं। प्रथम अपने दोष देख, निकालके, पश्चात् दूसरे के दोषों में दृष्टि देके निकालें।''

(समु० १२, पृ० ७३०)

—''यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें।'' (समु० १४, पृ० ९३७)

—''जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता वा कहनेवाला नहीं कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं होता।'' (समु० ४, पृ० १८०)

—''जो कोई पक्षपातरूप यान-आरूढ़ होके देखते हैं, उनको न अपने, न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।''

(समु० १३, पृ० ८४२)

—''सज्जन पुरुष, सज्जनों के साथ प्रेम और दुष्टों को शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं।''(समु० १२, पृ० ८१७)

—''जो परमार्थी लोग हैं वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते।''

(समु० ११, पृ० ६१७)

—''जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह करना और हानिकारक को छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्म है।'' (समु० १०, पृ० ४८२)

—''परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सब सबसे प्रीति, परस्पर मेल और एक-दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों।'' (समु० १४, पृ० १०४२)

—''सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में जो-जो निज के काम हैं, उन-उन में स्वतन्त्र रहें।'' (समु० ६, पृ० २४२)

—''जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये।'' (समु० ३, पृ० ९०)

—''एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना, हमारा मुख्य कर्म है।''

(समु० १४, पृ० ९३७)

—''सबसे प्रीतिपूर्वक परोपकारार्थ वर्तना '**शुभ चरित्र**' कहलाता है।'' (समु० १२, पृ० ८१६)

—''मित्र, पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखें और दुष्टों से उपेक्षा रखके अर्थात् घृणा छोड़कर उनको सुधारने का प्रत्यत्न किया करें।''

(समु० ४, पृ० २२१)

—''किसी का ठट्ठा करना उत्तम पुरुष का काम नहीं है।'' (समु० १४, पृ० ९४७)

—''यदि कोई बात भ्रम से विरुद्ध निकल जाय, उसको मान ले, तो कुछ चिन्ता नहीं।'' (समु० १४, पृ० ९८९)

—''क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले।'' (समु० २, पृ० ७४)

—''जो जिसका गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है।'' (समु० ११, पृ० ७२१)

—''कोई मनुष्य क्षण में प्रसन्न, क्षण में अप्रसन्न होता है अर्थात् क्षण-क्षण में प्रसन्न-अप्रसन्न होवे उसकी प्रसन्नता भी भयदायक होती है।'' (समु० १३, पृ० ८८८)

विविध

—''बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार में किया करें।''
(समु० ४, पृ० २२१)

—''दुर्भिक्ष आदि आपत्काल में अन्न, जल, वस्त्र, औषध, पथ्य और स्थान के अधिकारी सब प्राणी मात्र होते हैं।'' (समु० ११, पृ० ६४८)

—''विवेक के विना न वैराग्य, और वैराग्य के विना न विज्ञान होता है, विज्ञान के विना शान्ति नहीं होती।''
(समु० ११, पृ० ५९५)

—''पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता।'' (समु० १२, पृ० ७३४)

—''जिसका शरीर है वह परिश्रम के विना दुःखी होता है और शरीरवाला रोगी हुए विना कभी नहीं बचता।''
(समु० १४, पृ० १०२०)

—''परमात्मा मुसलमानों पर कृपादृष्टि करे जिससे ये लोग उपद्रव करना छोड़के सबसे मित्रता से वर्तें।''
(समु० १४, पृ० १०३४)

सत्य-असत्य

—''यद्यपि मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जाननेहारा है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़, असत्य पर झुक जाता है।'' (भूमिका, पृ० ९)

—''मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का यथायोग्य निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है।'' (समु० १३, पृ० ८४२)

—''मनुष्य-जन्म का होना सत्य-असत्य के निर्णय करने-कराने के लिये है, न कि वाद-विवाद=विरोध करने-कराने के लिये।'' (समु० ११, पृ० ५१२)

—''प्रामाणिक वह होता है जो सर्वदा सत्य माने, सत्य बोले, सत्य करे; झूठ न माने, झूठ न बोले, झूठ न करे।'' (समु० ११, पृ० ५५४)

—''सीधा मार्ग वही होता है जिसमें सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, पक्षपात रहित न्याय-धर्म का आचरण करना आदि है, और इनसे विपरीत का त्याग करना।'' (समु० १४, पृ० १०४०)

—''सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।'' (भूमिका, पृ० ९)

—''जो मिथ्या बात न रोकी जाय, तो संसार में बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जायं।'' (भूमिका, पृ० १२)

—''जो मनुष्य झूठ-चलाना चाहता है, वह सत्य की निन्दा अवश्य ही करता है।'' (समु० १२, पृ० ५३६)

—''झूठ के संग से सत्य भी शुद्ध नहीं रहता।''
(समु० १३, पृ० ९३४)

—''विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं।'' (समु० १०, पृ० ५१०)

—''जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करनेवाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करे उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिये।''
(समु० २, पृ० ७३)

—''जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सबमें एक-से हैं, झगड़ा झूठे विषयों में होता है।''
(समु० १३, पृ० ८४३)

सत्यार्थप्रकाश का उद्देश्य

—''सत्यार्थ का प्रकाश करना मुझ वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है।'' (भूमिका, पृ० १७)

—''यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास के लिये है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ है।''
(समु० १३, पृ० ८४२)

—''इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्मविषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्यासत्य मत और

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कर्म-सम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्त्तव्य कर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्त्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा।''

(समु० १३, पृ० ८४२)

संन्यास और उसका अधिकारी तथा उसका धर्म

—''संन्यासी आप धर्म में चलें और सब संसार को चलाते रहें, जिससे आप और सब संसार इस लोक अर्थात् इस जन्म में, परलोक अर्थात् परजन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग किया करें।'' (समु० ५, पृ० २४७)

—''संन्यासियों को उचित है कि सदा सत्योपदेश, शंका-समाधान, वेद-आदि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।'' (समु० ५, पृ० २४७)

—''जो संन्यास के मुख्यधर्म सत्योपदेश आदि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं।'' (समु० ५, पृ० २४७)

—''वेदोक्त धर्म में ही आप चलना और दूसरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है।''

(समु० ५, पृ० २३९)

—''सब मनुष्य आदि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है।''

(समु० ५, पृ० २३६)

—''जब एषणा ही नहीं छूटी, पुनः संन्यास क्योंकर हो सकता है?'' (समु० ११, पृ० ७१७)

—''पक्षपातरहित वेदमार्गोपदेश से जगत् के कल्याण करने में अहर्निश प्रवृत्त रहना संन्यासियों का मुख्य काम है।'' (समु० ११, पृ० ७१७)

—''संन्यासी भी हुए, किन्तु जब अपने-अपने अधिकार के कर्मों को नहीं करते, पुनः संन्यासी आदि नाम धराना व्यर्थ है।'' (समु० ११, पृ० ७१७)

—''जैसे गृहस्थ व्यवहार और स्वार्थ में परिश्रम करते हैं, उनसे अधिक परिश्रमपूर्वक परोपकार करने में संन्यासी तत्पर रहैं, तभी आश्रम उन्नति पर रहैं।''

(समु० ११, पृ० ७१७)

—''जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्यशास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते, तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप है।'' (समु० ५, पृ० २४२)

—''सब मनुष्यों का, विशेषतः विद्वानों और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन पढ़-सुना के सत्योपदेश से उपकार पहुंचाना चाहियें।'' (समु० ११, पृ० ७१५)

—''कितने ही मठधारी गृहस्थ होकर भी संन्यास का अभिमान मात्र करते हैं, कर्म कुछ नहीं। संन्यासी का वही कर्म है जो पांचवें समुल्लास में लिख आये। उसको न करके व्यर्थ समय खोते हैं।'' (समु० ११, पृ० ७१७)

—''ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन? हम तो महात्मा हैं, ऐसे लोग भी संसार में भाररूप हैं।'' (समु० ११, पृ० ७१७)

—''यह अपने मन में निश्चित जाने कि [केवल] दण्ड, कमण्डलु और काषाय वस्त्र आदि चिह्न-धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है।'' (समु० ५, पृ० २३६)

—''जब कहीं उपदेश वा संवाद आदि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप कभी क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश करे।'' (समु० ५, पृ० २३६)

—''जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा, औरों को भी डुबावेगा।'' (समु० ५, पृ० २४६)

संसार सुख-दुःख रूप

—''सब संसार दुःखरूप नहीं हो सकता किन्तु इसमें सुख-दुःख दोनों हैं।'' (समु० १२, पृ० ७५२)

स्वदेशीय राज्य

—''कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के

आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।''

(समु० ८, पृ० ४१३)

—''जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।''

(समु० १०, पृ० ४९६)

हिंसा-द्वेष

—''जीवों को कष्ट देना ही 'हिंसा' कहाती है।''

(समु० १२, पृ० ८२०)

—''द्वेष पाप का मूल है।'' (समु० १२, पृ० ८०७)

—''यह बात तो सच्ची है कि सम्पूर्ण वेद और परमात्मा को जाननेवाले, धर्मात्मा, सब जगत् के उपकारक पुरुषों से जो कोई द्वेष करेगा, वह अवश्य नष्ट होगा।''

(समु० ११, पृ० ५२८)

स्वर्ग-नरक—

'''**स्वर्ग**' सुखभोग और '**नरक**' दु:खभोग का नाम है।'' (समु० १२, पृ० ७३९)

—''सुखविशेष '**स्वर्ग**' और विषय-तृष्णा में फसकर दु:खविशेष भोग करना '**नरक**' कहाता है।''

(समु० ९, पृ० ४६५)

—''जो कोई ऋण आदि कर बिराने पदार्थों से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं, वे निश्चय ही पापी होकर दूसरे जन्म में दु:खरूपी '**नरक**' भोगते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।'' (समु० १२, पृ० ७३९)

—०—

ओ३म्

सत्यार्थप्रकाशः

(वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितः

[मूल-हस्तलेख, मुद्रण-हस्तलेख, प्रथम संस्करण (१८७५), द्वितीय संस्करण (१८८४), परोपकारिणी सभा अजमेर के ३-३६ तक के द्वितीय संस्करण, द्वितीय संस्करण (वर्तमान), मूलप्रति संस्करण (परोपकारिणी का ३९वां सं०), स्वामी वेदानन्द, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० भगवद्दत्त, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, स्वामी विद्यानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द और उदयपुर आदि संस्करणों तथा प्रमुख समीक्षकों के पाठों के तुलनात्मक पाठालोचनपूर्वक साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर पाठ-निर्धारण, ऋषि के अन्य ग्रन्थों से पाठपुष्टि और ऋषिहस्तलेख-निर्देश, सप्रमाण समीक्षा एवं भाष्य-युक्त **आज तक का सबसे शुद्ध शोध-संस्करण**]

[११-१४ समुल्लासात्मक उत्तरार्ध-भाग]

शोधकर्त्ता, समीक्षक, सम्पादक, भाष्यकार—

डॉ० सुरेन्द्रकुमार

(एम०ए० संस्कृत-हिन्दी, आचार्य, मनुस्मृतिभाष्यकार)

प्राचार्य (से०नि०) राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सैक्टर-९, गुड़गांव (हरियाणा)

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

प्रकाशक :

आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

सत्यधर्म प्रकाशन

चलभाष : ०९८१२५-६०२३३

आ

प्रकाशक : आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक
सत्यधर्म प्रकाशन
चलभाष : ०९८१२५-६०२३३
पुस्तक-प्राप्ति : **आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक**
द्वारा- महाविद्यालय गुरुकुल झज्झर, जिला-झज्झर-१२४१०३ (हरियाणा)

© **सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन** (आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक)

संस्करण : वि०संवत् २०७१, सन् २०१४ ई०

मूल्य : ६००.०० रुपये (दोनों भाग १२००.०० रुपये)

प्राप्ति-स्थान :
१. **हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल, झज्जर-१२४ १०३ (हरयाणा)
२. **आर्यसमाज मन्दिर, काकरिया**
रायेपुर दरवाजे से बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)
३. **कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, चोटीपुरा**
जिला ज्योतिबा फुले नगर (मुरादाबाद) उत्तरप्रदेश
४. **आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोघा,** अहमदाबाद
५. **दयानन्दमठ दीनानगर,** जिला गुरदासपुर (पंजाब)
चलभाष : ०९४१७३-३६६७३
६. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द,** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६
७. **आर्यसमाज सान्ताक्रूज,** विट्ठल्लभाई पटेल मार्ग, मुम्बई
८. **आर्यसमाज,** बड़ा बाजार, शभ्रूद्दीन लेन, कोलकाता
९. **आर्यसमाज,** १९ विधानसरणी, कोलकाता

टाइप-सैटिंग : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** करनाल (हरियाणा)
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

विषय-सूची

[अथ उत्तरार्धः]

विषयाः	पृष्ठम्
एकादशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	५११-५१२
आर्यावर्त्तदेशीयमतमतान्तरखण्डनमण्डनविषयः	५१३-७२१
[चक्रवर्त्तिराज्ञां नामोल्लेखनम्]	५१४-५२१
मन्त्रादिसिद्धिनिराकरणम्	५२१-५३२
वाममार्गनिराकरणम्	५३२-५४२
अद्वैतवादसमीक्षा	५४२-५६३
भस्मरुद्राक्षतिलकादिसमीक्षा	५६३-५७०
वैष्णवमतसमीक्षा	५७१-५७७
मूर्तिपूजासमीक्षा	५७७-५९७
जगन्नाथतीर्थसमीक्षा	५९७-६००
रामेश्वरसमीक्षा	६०१-६०२
कालियाकन्तसोमनाथादिसमीक्षा	६०२-६०५
द्वारिकाज्वालामुखी [आदि] समीक्षा	६०५-६०७
हरद्वारबदरीनारायणादिसमीक्षा	६०८-६१३
गङ्गास्नानसमीक्षा	६१३-६१४
नामस्मरणतीर्थशब्दयोर्व्याख्या	६१४-६१५
गुरुमाहात्म्यसमीक्षा	६१६-६१७
अष्टादशपुराणसमीक्षा	६१७-६२१
शिवपुराणसमीक्षा	६२१-६२३
भागवतसमीक्षा	६२३-६३६
सूर्यादिग्रहपूजासमीक्षा	६३६-६४९
एकादश्यादिव्रतदानादिसमीक्षा	६४९-६५५
मारणमोहनोच्चाटनवाममार्गसमीक्षा	६५५-६५६
शैवमतसमीक्षा	६५७
शाक्तवैष्णवमतसमीक्षा	६५८-६६५
कबीरपन्थसमीक्षा	६६६-६६७
नानकपन्थसमीक्षा	६६७-६७१
दादूरामस्नेह्यादिपन्थसमीक्षा	६७२-६७५
गोकुलियेगोस्वामिमतसमीक्षा	६७६-६८८
स्वामिनारायणमतसमीक्षा	६८८-६९५
माध्वलिङ्गचक्राङ्कितसमीक्षा	६९६
ब्राह्मप्रार्थनासमाजादिसमीक्षा	६९७-७०६
आर्यसमाजविषयः	७०७-७०८
तन्त्रादिविषयकप्रश्नोत्तराणि	७०८-७१५
ब्रह्मचारिसंन्यासिसमीक्षा	७१५-७२१
आर्यावर्त्तीयराजवंशावली	७२१-७२८
द्वादशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	७२९-७३०
नास्तिकमतसमीक्षा	७३१-८४०
चार्वाकमतसमीक्षा	७३१-७४१
बौद्धादिनास्तिकभेदाः	७४१-७४२
बौद्धसौगतमतसमीक्षा	७४२-७५७
[जैनमत-समीक्षा]	७५७-८४०
[सप्तभङ्गीस्याद्वाद-समीक्षा]	७६०-७६३
जैनबौद्धयोरैक्यम्	७६४-७६५
[तौतातिनां च मतोल्लेखनम्]	७६५-७७०
आस्तिक-नास्तिक संवादः	७७१-७७४
जगतोऽनादित्वसमीक्षा	७७४-७७६
जैनसाधुलक्षणानि	७७६-७७८
जैनमतसिद्धान्तसंग्रहः	७७८-७८१
जीवानन्तत्वसमीक्षा	७८१-७८२
जैनमतसमीक्षा	७८२-७८३
जैनमते मूर्तिपूजाप्रमाणानि	७८४-७८६
जैनमताऽसम्भवकथासमीक्षा	७८६-७९१
जैनमते कालभूमिपरिमाणम्	७९१-७९७
जैनमते जीवाऽजीवलक्षणम्	७९७
सम्यक्त्वादिलक्षणम्	७९७-७९९
जैनमतसिद्धान्तसंग्रहः	८००-८२६
जैनतीर्थङ्कर (२४) व्याख्या	८२७-८३१
जैनमते जम्बूद्वीपादिविस्तारः	८३१-८४०

विषयाः	पृष्ठम्
त्रयोदशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	८४१-८४४
कृश्चीनमतसमीक्षा	८४५-९३५
[तौरेत-समीक्षा-विषयः]	
[उत्पत्ति-पुस्तकम्]	८४५-८७६
[यात्रा-पुस्तकम्]	८७४-८८१
लैव्यव्यवस्थापुस्तकम्	८८२-८८४
गणनापुस्तकम्	८८५
समुएलाख्यस्य द्वितीयं पुस्तकम्	८८६
राज्ञां पुस्तकम्	८८७
जबूर—२ [समीक्षा-विषयः]	
कालवृत्तस्य १ पुस्तकम्	८८७
ऐयूबाख्यस्य पुस्तकम्	८८८
उपदेशस्य पुस्तकम्	८८८-८८९
इञ्जील [समीक्षा-विषयः]	
मत्ती इञ्जीलाख्यम्	८८९-९१६
मार्करचितम् इञ्जीलाख्यम्	९१६
लूतरचितम् इञ्जीलाख्यम्	९१७
योहनरचितसुसमाचारः	९१७-९१९
योहनप्रकाशितवाक्यम्	९१९-९३५
चतुर्दशः समुल्लासः	
अनुभूमिका	९३६-९३८
यवनमतसमीक्षा	९३९-१०४४
स्वमन्तव्यामन्तव्यविषयः	१०४५-१०५५

॥ इति उत्तरार्धः ॥

परिशिष्ट भाग की सूची

क्रम सं०	विवरण	पृष्ठ संख्या
परिशिष्ट १.	सत्यार्थप्रकाशस्थ प्रमाणों की अनुक्रमणी	१०५६
परिशिष्ट २.	सत्यार्थप्रकाशस्थ १३-१४ समुल्लासों की आयतों की अनुक्रमणी	१०७०
परिशिष्ट ३.	सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित एवं उद्धृत ग्रन्थों की नाम-अनुक्रमणी	१०७३
परिशिष्ट ४.	सत्यार्थप्रकाश में प्रमुख शब्दों, नामों, विषयों और टिप्पणीकृत विशेष स्थलों की अनुक्रमणी	१०७९
परिशिष्ट ५.	सत्यार्थप्रकाश की कुछ स्मरणीय सूक्तियां/ उद्धरणीय वचन	११०३

सत्यार्थप्रकाशस्थ संक्षिप्ताक्षर एवं प्रयुक्त संस्करणों की अनुक्रमणी

(——) सीधी रेखा जिन पाठों के नीचे है, वे मूलप्रति हस्तलेख में ऋषि के हस्तलेख में लिखित या संशोधित हैं।

(~~~~) वक्र रेखा वाले पाठ मुद्रणप्रति हस्तलेख में ऋषि के हस्तलेख में लिखित या संशोधित हैं।

अ०	=	अध्याय
अथर्व०	=	अथर्ववेद (परोपकारिणी सभा)
अनु०	=	अनुवाक
अ०पा०	=	अध्याय, पाद
अर्थ०	=	अर्थशास्त्र
अष्टा०	=	अष्टाध्यायी
आ०/ आह्नि०	=	आह्निक
आ०	=	आयत (बाइबल, क़ुरान) (समु० १३, १४ में)
आश्व०गृ०सू०	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्व०श्रौत०	=	आश्वलायन श्रौतसूत्र
इं०	=	इंजील (बाइबल)
ई०पू०	=	ईसवी पूर्व
उणादि०	=	उणादिकोश
उद्०	=	उद्धरण
उदयपुर सं०	=	'सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर' द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश (जुलाई, सन् २०१०)।
उप०	=	उपनिषद्
उप०	=	उपदेश
उप०मं०	=	उपदेश मंजरी, ऋषिदयानन्दकृत
उ०पु०	=	उपदेश की पुस्तक (बाइबल)
ऋ०/ऋग्०	=	ऋग्वेद (परोपकारिणी सभा)
ऋग्०भाष्य	=	ऋग्वेदभाष्य
ऋ०भा०भू०	=	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐत०आर०	=	ऐतरेय आरण्यक
ऐत०उप०	=	ऐतरेय उपनिषद्
ऐत०ब्रा०	=	ऐतरेय ब्राह्मण
कं०	=	कंडिका/ कण्डिका
कठ०उप०	=	कठ उपनिषद्
कठोप०	=	कठोपनिषद्
कां०	=	कांड/ काण्ड
केनोप०	=	केनोपनिषद्
खं०	=	खंड/ खण्ड
गृहा०	=	गृहाश्रम
गो०ब्रा०/गोपथ ब्रा०	=	गोपथ ब्राह्मण
चा०नी०	=	चाणक्य नीति
छान्दोग्य उप०	=	छान्दोग्य उपनिषद्
जग	=	पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश
जस	=	स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश
टि०	=	टिप्पणी
डॉ०	=	डॉक्टर
ताण्डय	=	ताण्डय ब्राह्मण
तीनों सं०	=	द्वितीय संस्करण सन् १८८४, द्वितीय संस्करण वर्तमान, मूलप्रति संस्करण (परोपकारी)
तैत्ति०	=	तैत्तिरीय
तैत्ति०आ०	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति०उप०	=	तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्ति० ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीयोप०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति०सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
तौ०	=	तौरेत (बाइबल)
दया०	=	दयानन्द ऋषि
दोनों सं०	=	द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति, सन् १८८४) तथा द्वितीय संस्करण, २००३, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६ (सभी द्वि०सं० का प्रतीक)
दोनों हस्त०	=	मूलप्रति हस्तलेख और मुद्रणप्रति हस्तलेख।

द्विप्र०	=	द्वितीय संस्करण, सत्यार्थप्रकाश सन् १८८४ में प्रकाशित (प्रथमावृत्ति)
द्वि०सं०	=	द्वितीय संस्करण, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली, ५५वीं आवृत्ति सन् २००३
द्वि०समु०	=	द्वितीय समुल्लास
द्र०	=	द्रष्टव्य
द्र०पृ०	=	द्रष्टव्य पृष्ठ
नारदपु०	=	नारदपुराण
न्याय०	=	न्यायदर्शन
प०	=	पर्व (बाइबल)
परोप०	=	परोपकारिणी सभा अजमेर से छपे अनेक द्वितीय संस्करण
पं०	=	पंडित/ पण्डित
पद्मपु०	=	पद्मपुराण
पार०गृह्य०	=	पारस्कर गृह्यसूत्र
पु०	=	पुस्तक
पृ०	=	पृष्ठ
प्र०/प्रपा०	=	प्रपाठक
प्रकरण०	=	प्रकरणरत्नाकर (जैन)
प्रथम सं०	=	प्रथम संस्करण, सत्यार्थप्रकाश, सन् १८७५ में राजा जयकृष्णदास द्वारा प्रकाशित।
बृ०कोष्ठक	=	बृहत् कोष्ठक
बृह०उप०	=	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा०श्रौ०	=	बौधायन श्रौतसूत्र
ब्रह्म०	=	ब्रह्मानन्दवल्ली
ब्रा०	=	ब्राह्मण (ग्रन्थ)
भद	=	पण्डित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, सन् २००८ में। प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली।
भाग०/भाग०पु०	=	भागवत पुराण
मं०	=	मन्त्र
मं० (समु० १४ में)	=	मंजिल (क़ुरान)
म०	=	मण्डल
मनु०	=	मनुस्मृति
महा०	=	महाभारत (गीता प्रेस गोरखपुर)
महा०अनु०	=	महाभारत अनुशासनपर्व
महा०आश्रमवासिक०	=	महाभारत आश्रमवासिकपर्व
महा०उद्योग०	=	महाभारत उद्योगपर्व
महा०द्रोण०	=	महाभारत द्रोणपर्व
महा०भीष्म०	=	महाभारत भीष्मपर्व
महा०वन०	=	महाभारत वनपर्व
महा०शल्य०	=	महाभारत शल्यपर्व
महा०शान्ति०	=	महाभारत शान्तिपर्व
महा०सभा०	=	महाभारत सभापर्व
माण्डूक्य०	=	माण्डूक्य उपनिषद्
मुण्डक०	=	मुण्डक उपनिषद्
मुद्रणह०/मुद्रणहस्त०	=	मुद्रणहस्तलेख= मुद्रणप्रति सत्यार्थप्रकाश, लिपिकर द्वारा की गई प्रतिलिपि, प्रकाशनार्थ।
मूलप्रति सं०	=	मूलप्रति संस्करण, परोपकारिणी सभा अजमेर, ३९वां संस्करण, सन् २००५
मूलह०/मूलहस्त०	=	मूलहस्तलेख सत्यार्थप्रकाश, महर्षि दयानन्द द्वारा बोलकर लिखाई गई मूलपति।
यजु०/ यजु:	=	यजुर्वेद (परोपकारिणी सभा)
यजु० भाष्य	=	यजुर्वेद भाष्य
युमी	=	पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, सन् १९७५, रामलाल कपूर ट्रस्ट।
यो०प्र०	=	योहन प्रकाशित वाक्य (बाइबल)
योहन सु०	=	योहन सुसमाचार (बाइबल)
रामा०	=	रामायण वाल्मीकीय (गीता प्रेस गोरखपुर)
रामा०अयोध्या०	=	रामायण अयोध्याकाण्ड
रामा०अरण्य०	=	रामायण अरण्यकाण्ड
रामा०उत्तर०	=	रामायण उत्तरकाण्ड
रामा०बाल०	=	रामायण बालकाण्ड
रामा०युद्ध०	=	रामायण युद्धकाण्ड
रामा०सुन्दर०	=	रामायण सुन्दरकाण्ड
लघुक्षेत्रस०	=	लघुक्षेत्रसमास प्रकरण (जैन)
लघु ग्र०सं०	=	लघु ग्रन्थसंग्रह, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६।
लै०व्य०पु०	=	लैव्यव्यवस्था की पुस्तक (बाइबल)

व०	=	वर्ग	शार्ङ्गधर०	=	शार्ङ्गधर संहिता
वा०भा०	=	वात्स्यायन भाष्य (न्यायदर्शन)	शोधसं०	=	शोध संस्करण (यह संस्करण जो पाठकों के हाथों में है)
वायु०	=	वायुपुराण			
विष्णुपु०	=	विष्णुपुराण	सं०	=	संस्करण
विस	=	स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, सन् रामलाल कपूर ट्रस्ट।	संस्कार०/सं०वि०	=	संस्कारविधि
			समु०	=	समुल्लास
			स०प्र०	=	सत्यार्थप्रकाश
वेदान्त०	=	वेदान्तदर्शन	साम०	=	सामवेद (परोपकारिणी सभा)
वेस	=	वेदानन्द सरस्वती स्वामी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश,	सामब्रा०	=	सामब्राह्मण
			सि०	=	सिपारा (क़ुरान)
वै०/ वैशे०	=	वैशेषिकदर्शन	सू०	=	सूत्र
व्या०म०	=	व्याकरण महाभाष्य, पतंजलिमुनि रचित।	सू० (समु० १४ में)	=	सूरत, सूरा (क़ुरान)
			हरिवंशपु०	=	हरिवंशपुराण
शत०ब्रा०	=	शतपथ ब्राह्मण	हस्त०	=	हस्तलेख (सत्यार्थप्रकाश की पांडुलिपि)
शांखा०श्रौत०	=	शांखायन श्रौतसूत्र			

मेरा मन्तव्य

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन-काल में सबको एक-सा मानने योग्य है।[३] मेरा, कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।

यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यावर्त वा अन्य[४] देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन है उसका स्वीकार [नहीं करता] और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ; क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती (स०प्र०, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः, पृष्ठ १०४५)

ओ३म्



अथ सत्यार्थप्रकाशः

उत्तरार्धः

उत्तरार्द्ध :[१]

अनुभूमिका (१)[२]

यह सिद्ध बात है कि पांच सहस्त्र वर्षों के पूर्व वेद-मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था[३], क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत-युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से अविद्यान्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया, वैसा मत चलाया।

उन सब मतों में ४ (चार) मत अर्थात् जो वेदविरुद्ध[४] पुराणी, जैनी, किरानी, और कुरानी सभी

१-२. **'उत्तरार्द्ध' शीर्षक और अनुभूमिका लेखन एवं पाठग्रहण**—'अनुभूमिका' का लेखन मूल-हस्तलेख के समय नहीं हुआ था। मुद्रणहस्तलेख के लिखे जाने के बाद किसी समय लिखाकर यह उसमें संलग्न की है। मूलप्रति सं० में वहीं से ग्रहण की गई है। कोष्ठक में (१) संख्या भी सम्पादक द्वारा स्वयं दी गई है, यह मुद्रण-हस्तलेख और द्वि० सं० में नहीं है।

इसी प्रकार ''**उत्तरार्द्धः**'' पद भी दोनों हस्तलेखों में नहीं है। यह शीर्षक मुद्रणकाल में द्वितीय संस्करण (१८८४) में पहले-पहल लिखा गया है। द्वि०सं०, उदयपुर सं० में यह पद समु० के आरम्भ में लिखा है। मूलप्रति सं० में 'अनुभूमिका' से पूर्व दे दिया है। अन्य सम्पादकों में से स्वामी वेदानन्द जी ने यहीं दिया है तो पं० भगवद्दत्त जी, सिद्धान्ती जी, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी तथा पं० युधिष्ठिर जी ने दोनों ही स्थानों पर यह शीर्षक लिखा है। यह सम्पादन की अयुक्त शैली का सूचक है। इस प्रकार इस शीर्षक के लेखन में भी एक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है।

युक्तिसंगत यह है कि '**पूर्वार्द्ध**' की समाप्ति का निर्देश दशम समुल्लास के अन्त में किया है अर्थात् वह वहीं समाप्त हुआ है और उसकी समाप्ति होते ही '**उत्तरार्द्ध**' आरम्भ होता है। उस उत्तरार्द्ध का आरम्भ 'अनुभूमिका' से हुआ है अतः यहीं प्रारम्भ में इस शीर्षक का होना उपयुक्त है, क्योंकि यह उत्तरार्द्ध का ही अंग है। **संशोधन-पुष्टि**—इस संशोधन की पुष्टि के लिए प्रमाण सत्यार्थप्रकाश में ही उपलब्ध है। द्वितीय संस्करण (१८८४) के आरम्भ में एक विषयसूची दी गई है जो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की पृथक्-पृथक् है। वहाँ 'उत्तरार्द्ध' शीर्षक के अन्तर्गत अथवा उपरान्त 'अनुभूमिका' का उल्लेख है।

ऋषि-निर्देश—ऋषि ने इस अनुभूमिका से पूर्व स्वहस्तलेख में यह निर्देश लिखा है—''**सूचना। यह भूमिकापत्र ११वें समुल्लास के पूर्व में छाप के ग्यारहवें समुल्लास को छापना।**''

३. **विश्व का प्राचीन धर्म वैदिकधर्म**—महर्षि का यह कथन सत्य, इतिहाससिद्ध और प्रामाणिक है कि विश्व में सबसे प्राचीन धर्म वेदोक्त 'वैदिक धर्म' है। ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है, यह सभी वैदिक तथा वैदिकेतर विद्वान् भी स्वीकार करते हैं; अतः उस सर्व-प्राचीनतम ग्रन्थ पर आधारित वेदोक्त धर्म स्वतः प्राचीनतम सिद्ध होता है। वैदिक परम्परा के अनुसार, सभी वेद आदि सृष्टि-कालीन हैं। इसका अभिप्राय है आदि मानवसृष्टि में इनका आविर्भाव हुआ।

विश्व के अन्य मत-मतान्तरों को 'वैदिक धर्म' की दो शाखाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है—१. भारतीय मत, २. विदेशी मत। भारतीय मतों में, वैदिक धर्म का स्वरूप विकृत होकर '**पौराणिक मत**' प्रचलित हुआ जिसका मूल लगभग ३५००-३००० वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। उसकी विकृतियों के विरोध में **जैन** और **बौद्ध** मत का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका आरम्भ प्रचलित मतानुसार क्रमशः २६०० और २५५५ वर्ष पूर्व हुआ।

विदेशी शाखा में सबसे प्राचीन मत '**पारसी मत**' है जो लगभग ४००० वर्ष पूर्व का है। पारसियों का धर्मग्रन्थ '**अवेस्ता**' है जिसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का अपभ्रंश रूप भी है। पारसी से पृथक् होकर 'यहूदी' मत चला। उसका समय लगभग ३३०० वर्ष पूर्व का माना गया है जो कि इसके प्रवर्तक मूसा का जीवनकाल (१३५० ई० पू० जन्म) है। 'यहूदी' मत से पृथक् होकर फिर '**ईसाई मत**' चला। उसका निर्विवादित २००९ वर्ष का समय बीत चुका है और २०१० वां ईस्वी सन् वर्तमान में चल रहा है। ईसाई मत की प्रतिक्रिया में '**इस्लाम मत**' चला। उसे भी १३७० वर्ष हुए हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार 'वैदिक धर्म' विश्व का प्राचीनतम और आदितम धर्म है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—''**विरुद्ध**'' पद लिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया था जिसे मुद्रणहस्त० में ऋषि ने लिखा है।

मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है। अब इन चारों की शाखायें[१] एक सहस्र से कम नहीं हैं। इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सब[२]को परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये यह ग्रन्थ बनाया है।[३] जो-जो इसमें सत्य-मत का मण्डन और असत्य का खण्डन लिखा है, वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है। **इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या है, और जितना इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से बोध हुआ है, उसको सबके आगे निवेदित कर देना मैंने उत्तम समझा है, क्योंकि लुप्त[४] हुए विज्ञान का पुनर्मिलना सहज नहीं है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सबको विदित हो जायगा।** पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा। इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तररूप मत आर्यावर्त देश में चले हैं, उनके संक्षेप से गुण-दोष इस ११वें समुल्लास में दिखाये जाते हैं।

इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें; क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि वा विरोध करने में नहीं किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना अति उचित है। मनुष्य-जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने-कराने के लिये है, न कि वादविवाद=विरोध करने-कराने के लिये।

इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे, उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब-तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब-तक अन्योन्य को आनन्द न होगा। **यदि हम सब मनुष्य और विशेषकर[५] विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है।**

यह निश्चय है कि इन [मत-मतान्तर वाले][६] विद्वानों के विरोध ने ही सबको विरोध-जाल में फसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहैं तो अभी ऐक्यमत हो जायें। इसके होने की युक्ति इस ग्रन्थ की पूर्त्ति में लिखेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे।

॥ अलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वरशिरोमणिषु ॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**शाखा**' एकवचनान्त अपप्रयोग है, यहां बहुवचन चाहिए। बहुत्र शुद्ध है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणह० में ''**मतवादियों इनके चेलों और अन्य सब**'' ऋषि द्वारा लिखित है।

३. अर्थात् सत्यार्थप्रकाश का उत्तरार्ध भाग बनाया है।

४. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ है—''**विज्ञान गुप्त हुए का**'' यहां श्रवणभ्रान्ति से '**लुप्त**' के स्थान पर '**गुप्त**' लिखा गया प्रतीत होता है क्योंकि 'गुप्त' यहां सार्थक प्रयोग नहीं है, 'गुप्त'तो कभी-कभी मिल जाता है, 'लुप्त' का मिलना कठिन होता है। इसी प्रकार दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा वेस, जग, भद, युमी, विस और 'उदयपुर' सं० में भी इसका संशोधन नहीं किया गया है। पद-अपक्रम भी है। इसका संशोधन ''**लुप्त हुए विज्ञान का**'' ग्राह्य है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**विशेष विद्वज्जन**'' अप-अर्थ बोधक प्रयोग है। यहां ''**विशेषकर विद्वज्जन**'' प्रयोग ग्रन्थकार के अभीष्ट अर्थ के लिए उपयुक्त है। **संशोधन पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है पृ० ६५१पर।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सटीक और स्पष्टार्थ के लिए बृहत् कोष्ठान्तर्गत '**मत-मतान्तर वाले**' पद-परिवर्धन अपेक्षित है।

अथैकादशसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽर्यावर्तीयमतखण्डनमण्डने विधास्यामः

अब आर्य लोगों के, जो कि 'आर्यावर्त' देश में वसनेवाले हैं उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे।

यह आर्यावर्त देश ऐसा देश है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है, इसीलिये इस भूमि का नाम '**सुवर्णभूमि**' है; क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है।[१] इसीलिये सृष्टि के आदि में[२] आर्य लोग इसी देश में आकर वसे।[३] इसलिये हम सृष्टिविषय में कह आये हैं कि '**आर्य**' नाम 'उत्तम पुरुषों' का है और आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम '**दस्यु**' है।[४] जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और [इसी से][५] आशा रखते हैं।[६] '**पारसमणि**' पत्थर सुना जाता है, वह

---

१. **ऋषिहस्तलेख**—''**क्योंकि यही.....करती है**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

२. **अव्यवस्थित प्रयोगशैली**—ग्रन्थ में इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह अव्यवस्था मिलती है कि कहीं ''**की आदि में**'' (जैसे यहां) और कहीं ''**के आदि में**'' (समु० १, पृ० ५६) प्रयोग मिलते हैं। इस संस्करण में भाषात्मक एकरूपता और मानकता के लिए शुद्ध और पुँल्लिंग प्रयोग सर्वत्र ग्रहण किया है। इस विषयक टिप्पणी बार-बार नहीं दी जायेगी। **संशोधन-पुष्टि**—पुष्टि के लिए 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का प्रयोग भी द्रष्टव्य है—''**सृष्टि के आदि में**'' (पृ० १०)

३. **आर्यों का आदिनिवास**—द्रष्टव्य है पृ० ४०७ पर टिप्पणी—'**आर्यों का उत्पत्तिस्थान और आदि निवास**' शीर्षक।

४. **अन्यत्र उल्लेख**—द्र० अष्टम समु० में पृ० ४०४।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**इसी से**' बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। इसके परिवर्धन के बिना न वाक्यरचना होती है, न संगति लगती है।

६. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में अच्छे-भले पाठ को बदलकर यह भ्रष्टपाठ बना दिया है—''**आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है.....।**'' यह भी कोई वाक्य हुआ? यह मुद्रण-समय की गई त्रुटि है। दोनों हस्त०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है। वस्तुतः 'आशा रखना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'किसी भी प्राप्ति की उम्मीद रखना, इच्छा रखना।' लोकव्यवहार में जिससे कुछ आशा होती है उसकी प्रशंसा की जाती है और जिसकी प्रशंसा की जाती है उसी से कुछ आशा की जाती है। इस प्रकार इसका सम्बन्ध पूर्ववाक्य से है, उत्तर वाक्य से नहीं, क्योंकि उत्तर वाक्यों में आशा रखने की कोई एक बात भी नहीं है। ''**पारसमणि पत्थर सुना जाता है**'' ''**आर्यावर्त्त देश सच्चा पारसमणि है**'' ''**दरिद्र विदेशी इसको छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं**'' इनमें से कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसका सम्बन्ध ''आशा रखते हैं'' कथन से हो।

सम्पादक विद्वानों पर आश्चर्य—विगत सवा-सौ से अधिक वर्षों में सत्यार्थप्रकाश के एक-से-एक बढ़कर विद्वान् सम्पादक हुए हैं। यह मुद्रणकाल में हुआ अटपटा, भ्रष्टपाठ उनको संशोधनीय प्रतीत नहीं हुआ। किसी ने नहीं सोचा कि इसकी शब्दरचना शुद्ध वाक्य ही नहीं है, और इसका न कोई सिर है, न पैर। देखिए, फिर भी यह सत्यार्थप्रकाश में ''**हंसमध्ये बको यथा**'' की तरह विराजमान है! **स्वामी वेदानन्द जी, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी** आदि सबका चिन्तन यहां आकर पता नहीं कैसे कुंठित हो गया? महदाश्चर्य है!! यही भ्रष्टपाठ आज भी द्वि०सं० में छप रहा है। इस बीच 'उदयपुर' संस्करण भी प्रकाशित हो गया है। देखा तो वहां भी यह अपवाक्य अंगद की तरह पांव जमाये बैठा है। कथित दश सम्पादकों की बुद्धि में भी यह अपपाठ नहीं आया।

स्वामी जगदीश्वरानन्द जी का नया 'सत्यार्थप्रकाश'—स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने सोचा क्यों सोचने-समझने के झंझट में पड़ें। उन्होंने जो शब्द और वाक्य सत्यार्थप्रकाश में थे ही नहीं उनको अपनी ओर से जोड़कर यहां एक नया 'सत्यार्थप्रकाश' लिख डाला। देखिए, और माथा पीटिए—''**सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि इसी देश की संस्कृति और**

बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा '**पारसमणि**' है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही 'सुवर्ण' अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

सृष्टि से लेके पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का 'सार्वभौम चक्रवर्ती' अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था; अन्य देशों[१] में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पाण्डव पर्यन्त यहां के राजा और राज-शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चलते थे,[२] यह, '**मनुस्मृति**' जो सृष्टि के आदि में हुई है,[३] उसका प्रमाण है[४]—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ मनु० [२।२०]॥

'इसी आर्यावर्त देश में[५] उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य ब्राह्मण,

---

सभ्यता से हमारा कल्याण होगा। जो पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो झूठी है।'' स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के इस नये शोध-प्रेम पर एक शेर याद आ रहा है—''इब्तिदा-ए-इश्क में रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या?'' स्वामी जी ने सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में अपनी 'स्वच्छन्द ताण्डव-लीला' से न जाने कितने ऋषि-पाठों का इसी प्रकार निडर होकर संहार किया है। महर्षि की भाषा के स्थान पर अपनी नयी भाषा जगह-जगह जोड़ दी है और अनेक प्रकरण निकाल फेंके हैं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनान्त ''**देश**'' प्रयोग है, यहां ''**देशों**'' बहुवचनान्त अपेक्षित है।

२. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां ''**चले थे**'' अपपाठ-परिवर्तन किया गया है। पूर्वोक्त ''**रहते थे**'' क्रिया प्रयोग के सम्बन्ध से ''**चलते थे**'' प्रयोग उपयुक्त था। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

३. **मनुस्मृति आदिसृष्टि में रचित**—'मनुस्मृति' नामक धर्मशास्त्र अथवा 'संविधान' आदि-शास्त्र है जिसके प्रवक्ता ब्रह्मा-पुत्र मनु स्वायम्भुव थे। इसको आदिसृष्टि का शास्त्र सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण हैं किन्तु यहां विस्तारभय से केवल चार ही प्रमाण प्रदर्शित हैं— **(क)** भारतीय इतिहास और ज्ञात वंशविवरणों के अनुसार '**ब्रह्मा**' आदिपुरुष है, उनका एक नाम '**स्वयम्भू**' भी है। मनु ब्रह्मा के पुत्र (कहीं-कहीं पौत्र) थे। इस वंश-परम्परा के अनुसार मनु का नाम '**मनु स्वायम्भुव**' हुआ। इस प्रकार आदि सृष्टि में उत्पन्न होने के कारण उन द्वारा प्रोक्त मनुस्मृति भी आदि-सृष्टि की कालावधि का शास्त्र सिद्ध होता है।

(ख) वेदों के बाद रचित जितना भी वैदिक साहित्य है उस समग्र साहित्य में मनु का धर्मशास्त्रकार के रूप में और आदिकालीन राजर्षि तथा महर्षि के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे—''**मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम्**'' (तैत्ति०संहिता २.२.१०.२; ताण्ड्य ब्रा० २३.१६.७)। यह उल्लेख सिद्ध करता है कि उस समग्र साहित्य से पूर्व मनु और उनके शास्त्र का अस्तित्व था।

(ग) मनुस्मृति के श्लोक कहीं नामपूर्वक, कहीं बिना नाम से और कहीं पाठान्तरित रूप में संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराणों, धम्मपद और अर्वाचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, जो इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि 'मनुस्मृति' उन सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का ७.१५ श्लोक ''**कलिः शयानो भवति.....**'' मनु के ''**कलिः प्रसुप्तो भवति....**'' (९.३०२) का पाठान्तर मात्र है। शतपथ ब्राह्मण का कथन ''**स्वाध्यायमधीते आ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते**'' (११.५.७.४) मनु के ''**आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः**'' (२.१६७) श्लोक का गद्य रूपान्तरण मात्र है।

(घ) बहुत-से ग्रन्थों में मनु स्वायम्भुव को आदि-धर्मशास्त्रकार, आदि-यज्ञप्रवर्तक, आदि-राजा, आदि-संविधान निर्माता और आदि-समाज-व्यवस्थापक कहा है। जैसे—

अ. आचार्य यास्ककृत निरुक्त में मनु को आदिसृष्टि का धर्मप्रवक्ता कहा है—
''**मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्**'' (३.४)=मानव-सृष्टि के आरम्भ में मनु ने कहा।

आ. ''**आदिराजो मनुरिव प्रजानां परिरक्षिता**'' (वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड ६.४, पश्चिमोत्तर संस्करण)
=आदि-राजा मनु के समान प्रजारक्षक थे राजा दशरथ।

(विस्तृत जानकारी के लिए देखिए सम्पादकरचित पुस्तक '**महर्षि मनु बनाम डॉ० अम्बेडकर**')

४. **स्थानभ्रष्ट प्रमाण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह श्लोक इस अनुच्छेद से पूर्व अंकित है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने ध्यान आकर्षित किया है कि यह उपर्युक्त स्थल पर अर्थ से पूर्व होना चाहिए, पं० जी का यह सुझाव ग्राह्य है। स्वयं ग्रन्थकार ने भी लिखा है—''**यह....प्रमाण है,**'' अतः प्रमाण इसी वाक्य के बाद अपेक्षित है।

५. **उचित पदपरिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**देश में**'' पाठ परिवर्धन किया है, श्लोकोक्त पदानुसारी होने के कारण

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि अपने-अपने योग्य चरित्रों[१] की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।'[२]

और महाराजे[३] युधिष्ठिर जी के राजसूय-यज्ञ और महाभारतयुद्ध पर्यन्त यहां के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! **चीन** का भगदत्त, **अमेरिका** का बभ्रुवाहन,[४] **यूरोप** का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँखवाला '**यवन**' जिसको '**यूनान**' कह आये[५] और **ईरान** का शल्य आदि सब राजा राजसूय-यज्ञ और महाभारत-युद्ध में आज्ञानुसार आये थे।[६] जब रघुगण[७] राजा थे, तब **रावण** भी यहां के आधीन

यह परिवर्धन उचित और ग्राह्य है। मूलप्रति सं० में यह पद नहीं है।

१. **चरित्र**—अपने-अपने वर्णाश्रमानुकूल आचरण एवं व्यवहार। चरित्र में सभी प्रकार के सभ्य और धर्मानुकूल आचरण का ग्रहण होता है। आज भी इसका अपभ्रंश अंग्रेजी शब्द '**करेक्टर**' 'समग्र सभ्य आचरण' के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। 'चरित्र' शब्द का प्रयोग ग्रन्थकार ने इसी अर्थ में अन्यत्र भी किया है—''अब....मतमतान्तर के चरित्रों का वर्तमान कहते हैं'' (समु० ११, पृ० ६५१)

२. **अपपाठ-ग्रहण और मुद्रणह० में अपपाठ-परिवर्तन**—मूलह० में अंकित पाठ है—''**अपने-अपने अनुकूल, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें**'' मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० में इस के स्थान पर ''**अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें**'' संशोधन अनुपयुक्त है, अतः अग्राह्य है। पाठक देखें कि—''**अपने-अपने योग्य विद्या.....विद्याभ्यास करें**'' यह पुनरुक्तियुक्त वाक्य है। यह गड़बड़ मुद्रणह० में किसी शोधक द्वारा भूल से यहां पंक्ति के ऊपर ''**विद्या**'' शब्द लिखने से हुई है, जबकि यह शब्द आगे पहले से ही प्रयुक्त है। मूलसं० ने अपना सही पाठ छोड़कर मुद्रणह० का अशुद्ध पाठ ग्रहण कर लिया। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, 'उदयपुर' आदि सभी सं० में यह अपपाठ है। किसी ने इसके संशोधन पर ध्यान नहीं दिया। मूलह० में बहुत सुन्दर अर्थ था किन्तु पता नहीं उसको किसने काट दिया। वह था—''**अपने-अपने वर्णाश्रमानुकूल चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।**''

३. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्वि०प्र०, द्वि०सं० में ''**महाराजे**'' के स्थान पर ''**महाराजा**'' अपसंशोधन किया है। ''**महाराजे**'' आदरार्थ बहुवचन प्रयोग है जो महर्षि की स्थापित शैली है और तत्कालीन भाषा की प्रयोग शैली है। दोनों हस्त०, मूलसं० में शुद्ध है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**बब्रुवाहन**'' अपवर्तनी है, '**बभ्रुवाहन**' शुद्ध रूप है। यही ग्राह्य है। सभी अन्य सं० तथा उदयपुर सं० में भी यह अशुद्ध वर्तनी है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां बहुवचनान्त अपपाठ है। मूलप्रति सं० में है—''**यूरोप के विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंखवाले।**'' यहां पूर्वापर प्रयोगों के समान एकवचनात्मक शैली में उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। यहां ''यूनान'' के स्थान पर ''यूनानी'' विशेषण शुद्ध है। सभी द्वि०सं० और 'उदयपुर' सं० में ये अशुद्धियां विद्यमान हैं।

अपविराम से विद्वानों की ऐतिहासिक तथ्याधारित भूल और अपसंशोधन की कहानी—मूल हस्तलेख में यह पाठ था—''**यूरोप के विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँखवाले यूनान के यवन**''। इसका संशोधन मुद्रणहस्त० में किसी शोधक ने यह किया—''**यूरोप का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंखवाले यवन जिसको यूनान कह आये**''। यहां पूर्ण संशोधन न होने से कुछ पाठ असंशोधित रह गया। मूलहस्त० का पाठ बहुवचनात्मक था, इसको मुद्रणहस्त० में एकवचनात्मक बनाया, किन्तु ''वाले'' बहुवचनान्त पद असंशोधित रह गया और ''यूनान'' को संज्ञा से विशेषण बनाना रह गया। यह पाठ द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) में भाषात्मक अशुद्धियों के साथ छपा किन्तु ऐतिहासिक तथ्य विकृत नहीं हुआ।

ऐतिहासिक तथ्य की विकृति का आरम्भ द्वि०सं० में किसी इतिहास से अनभिज्ञ व्यक्ति द्वारा ''आंखवाले'' पद के बाद अल्पविराम चिह्न लगाने से हुआ। उसने एक के दो राजा बना दिये जबकि महाभारत में एक राजा के रूप में वर्णन है (द्र०पृ०.... पर टिप्पणी)। विडालाक्ष यवन=यूनानी राजा का विशेषणात्मक नाम है। आश्चर्य की बात है कि इस अशुद्ध परम्परा का अनुकरण **पं० भगवद्दत्त जी जैसे इतिहासज्ञ, स्वामी वेदानन्दजी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक जैसे विद्वानों और स्वामी विद्यानन्द जी, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी जैसे संशोधन-समर्थक सम्पादकों ने, और कथित दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर संस्करण' ने भी किया है।** इन्होंने भाषा संशोधन भी नहीं किया और ऐतिहासिक विकृति को भी ठीक नहीं किया।

६. **युधिष्ठिर के राज्याधीन रहे वर्तमान विदेशी राज्य**—महाभारतकाल में उस समय तक स्थापित और किसी शासन व्यवस्था में व्यवस्थित प्रायः सभी देश भारत के चक्रवर्ती सम्राट् कौरवों-पाण्डवों के करदाता थे। इस प्रकार वे अधीन थे। इसकी जानकारी और प्रमाण हमें तीन विवरणों से मिलते हैं—१. कौरवों-पाण्डवों द्वारा दिग्विजय के समय विजित देशों के विवरण से। २. राजसूय

और अश्वमेध यज्ञों में करदाता के रूप में उपस्थित राजाओं की सूची से। ३. महाभारत-युद्ध में भागीदारी करनेवाले राजाओं के विवरण से, क्योंकि बिना अधीनता के युद्ध में कोई राजा अपने जीवन पर खतरा मोल नहीं लेता। इसके अतिरिक्त उस समय के सभ्य देश शैक्षिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत से जुड़े थे, जैसा कि मनुस्मृति के उपर्युक्त ''**एतद्देश...**'' (पृ० ५१४) श्लोक से ज्ञात होता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि उस समय तक अन्य देश या तो आवासित ही नहीं थे अथवा उनमें शासकीय व्यवस्था नहीं थी और न ही सभ्यता का विकास हुआ था।

पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर अपनी दिग्विजय यात्राओं में पूर्वीय द्वीपदेशों से लेकर पश्चिम के पह्लव-यवन देशों (यूनानी देशों) तक तथा दक्षिण के देश श्रीलंका से लेकर उत्तर के सुदूरवर्ती 'उत्तर कुरु' (=हिमालयस्थ और हिमालय पार के देश) तक के राजाओं से करग्रहण कर उन्हें अपने अधीन किया था। पूर्व दिशा में **भीम** ने समुद्री द्वीपस्थित देशों तथा लौहित्य=ब्रह्मपुत्र नदी के देशों को विजित कर करग्रहण किया था। (महा० दिग्वि० पूर्व ३०.२६.२७)। पश्चिम में **नकुल,** हूण, म्लेच्छ, शक, मद्र, वाल्हीक, पह्लव और यवन (=यूनानी) राज्यों को जीतकर कर लाया था। (महा० दिग्वि० ३२.१३-१७)। अश्वमेध यज्ञ के समय अर्जुन पश्चिम समुद्र तट तक के सभी देशों से कर लाया था (महा० आश्व० ८३.१८)।

दक्षिण दिशा को विजित करता हुआ **सहदेव** श्रीलंका तक पहुंचा और घटोत्कच के माध्यम से वहां के राजा से कर मंगवाया (महा० दिग्वि० ३१.७३)। **अर्जुन** उत्तर दिशा को जीतता हुआ मानसरोवर, कैलाश पर्वत, मेरुदेश को पार कर 'उत्तरकुरु' (वर्तमान रूस का ताशकन्द आदि का क्षेत्र) पहुंचा था, जो उस समय उत्तर में आवासित अन्तिम देश था (महा० दिग्वि० २८.७.१२)। द्रष्टव्य पृ० ४०७ की टिप्पणी भी।

भगदत्त—यह प्राग्ज्योतिषपुर (वर्तमान आसाम व चीन) का राजा था। इसका राज्य वर्तमान चीन देश के कुछ क्षेत्रों तक तथा यवन देशों पर था। यह युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में और महाभारत युद्ध में कौरव पक्ष की ओर से चीन, यवन और किरात सैनिकों के साथ सम्मिलित हुआ था (महा० आदि० ६७.९.; सभा० १४.१४-१६, ११.१४-१६; २६.७-१६ आदि)।

बभ्रुवाहन—यह राजा चित्रवाहन की पुत्री चित्राङ्गदा से उत्पन्न अर्जुन का पुत्र था जो वर्तमान 'मणिपुर' का राजा था (महा० आदि० २१६.२४; आश्व० ७९.८७, ८८ अध्याय)। इसे अमेरिकावासी इस कारण कहा गया है कि यह नागवंशीय माता से उत्पन्न था और नागवंश का प्रमुख निवास क्षेत्र '**पाताल**' रहा है जहां नागों के पूर्वज वासुकि, धृतराष्ट्र, शंखचूड़ आदि ने राज्य किया है। यह वर्तमान **अमेरिका** का निचला भाग है जहां मेक्सिको, पेरु आदि क्षेत्र हैं। वहां के लोग स्वयं को नागवंशी मानते रहे हैं। महाभारत काल में जनमेजय से नागों की रक्षा करने वाले '**आस्तीक**' मुनि को वहां '**अजटेक**' नाम से याद किया जाता है।

यवन (यूनानी)—ये सम्राट् ययाति के पुत्र '**तुर्वसु**' के वंशज हैं। ''**तुर्वसोः यवनाः स्मृताः**'' (महा०आदि० ८५.३४)। आरम्भ में वर्तमान यूनानियों को ही 'यवन' कहा जाता था। कालान्तर में प्रत्येक पश्चिमवासी को 'यवन' कहा जाने लगा। फारसी में इनको 'यौन' अपभ्रंश नाम मिला। इन्हीं यवनों ने आगे जाकर 'यूनान' बसाया। कालान्तर में पश्चिम से आने वाले 'मुसलमानों' के लिए यह नाम रूढ़-सा हो गया। 'तुर्वसु' का अपभ्रंश '**तुर्क**' है। तुर्क समुदाय भी आर्य वंश से है जो अरब में रहता है। उन्हीं के नाम पर '**तुर्की**' देशनाम हुआ।

दशम समुल्लास में यवनों को यूनानी नाम से वर्णित किया है। इस प्रसंग में जिस यवनराज का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है, उसका महाभारत में काम्बोजराज सुदक्षिण नाम दिया है (उद्योग० १९.२१-२२)। यह यवनों और शकों की सेना लेकर महाभारत युद्ध में कौरवपक्ष की ओर से लड़ने आया था। शकों का क्षेत्र वर्तमान रूस के दक्षिणभाग में था। रूस आज भी यूरोप में है। इस कारण उसको ग्रन्थकार ने यूरोप का राजा कहा है। कहीं-कहीं इसका 'विडालाक्ष' नाम भी आता है क्योंकि यूरोपियन लोगों की आंखें विडाल के समान भूरी होती हैं।

शल्य—यह बाल्हीक और मद्र देश का राजा था। पाण्डुपत्नी माद्री उसी देश की राजकुमारी थी जो राजा शल्य की बहन थी। आज बाल्हीक को 'बलख' तथा मद्र को शाकल (संगला) माना जाता है। कभी यह राज्य वर्तमान ईरान तक फैला था (आदि० ६७.६; ११२.३-१६; सभा० ३२.१४-१६)। पाणिनि ने पूर्व और अपर मद्रों का उल्लेख किया है। ऐतरेय ब्राह्मण में मद्र राज्य को हिमालय से परे तक माना है, उसको '**उत्तर मद्र**' कहा है जो ईरान तक विस्तार की पुष्टि करता है। (ऐत०ब्रा० ३८.१४)।

चीन, यवन, शक, दरद, बर्बर, कम्बोज, तुषार, पारद, पह्लव, ऋषि आदि जन समुदाय हिमालय पार और वैदिक वक्षु नदी (रूस की वर्तमान ऑक्सस नदी) के आसपास रहते थे। ये सभी संस्कृत के नाम हैं। इनकी भाषा भी संस्कृत थी। दरदों का निवास स्थान आधुनिक दरदिस्तान (चीन में) है और तुषारों को यूहेची या यूची कहते हैं जो चीन में बसते हैं। कभी ये सब क्षत्रिय आर्य थे, निर्धारित कर्त्तव्यों के त्याग से वृषल=शूद्र कहलाये (मनु० १०.४३-४४; महा० अनु० ३५.१७-१८)। इनमें से प्रायः सभी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भेंट लेकर आये थे। महाभारत युद्ध में ये पाण्डवों के विरुद्ध कौरव पक्ष की ओर से लड़े थे। रामायण काल में भी इनमें से शक, यवन आदि कई समुदाय भारतीय राजाओं की सेना में थे। यह विवरण यह सुनिश्चित जानकारी देता है कि हिमालय पार के देश उस समय राजनीतिक दृष्टि से भारत के अंग थे और भारतीय महाराजाओं के अधीन थे।

७. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० में ''**रहगण**'' अशुद्ध मुद्रण है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध प्रयोग है।

था।[१] जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया, तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया।

स्वायंभुव [मनु][२] राजा से लेकर पाण्डवपर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गये; **क्योंकि परमात्मा की इस सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता।** और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब असंख्य[३]=बहुत-सा धन प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या-द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या, सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्य-मांस का सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं। और जब युद्धविभाग में **युद्धविद्या** का कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करनेवाला भूगोल में दूसरा न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे, जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविन्दसिंह जी ने[४] खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्व-यौवनाश्ववद्ध्र्यश्वाश्वपतिः शशविन्दुर्हरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोननक्तुशर्यांति[५]ययातिरनरण्याक्षसेनोऽथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः॥[६] मैत्रायणी उप०[७] [प्रपा० १। खं० ५]

---

१. **रावण की रघुगण की अधीनता**—श्रीलंका के राजाओं की "**रावण**" शूरताबोधक उपाधि थी, जैसे मिथिला के सभी राजाओं की '**जनक**' उपाधि थी। इतिहास में आता है कि '**रावण**' उपाधि या उपनाम से प्रसिद्ध लंका का एक राजा दुष्यन्तपुत्र भरत के समय भी हुआ है। ग्रन्थकार ने रघुगण=रघुवंशियों के समय भी जो रावण का उल्लेख किया है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि यह रामकालीन रावण ही रघु के समय भी राजा था। इसका अभिप्राय है कि रघुवंशी राजाओं के समय था, वह दशरथकालीन भी हो सकता है और इससे भिन्न पूर्ववर्ती लंका का राजा भी हो सकता है। कुछ ऐतिहासिक सन्दर्भों से हमें कई '**रावणों**' का ज्ञान होता है। रघु से लेकर राम तक एक ही रावण नहीं हो सकता।

विद्वानों की तर्कहीन कल्पना—**पं० भगवद्दत्त जी** और **पं० युधिष्ठिर मीमांसक** ने रघु से लेकर श्रीराम तक एक ही दीर्घजीवी रावण की कल्पना की है। यदि ऐसा मानेंगे तो रघु, अज, दशरथ, श्रीराम, इन चार पीढ़ियों तक रावण की आयु कम से कम दो-अढ़ाई सौ वर्ष स्थिर होगी और लगभग इतनी ही उसके भाइयों की आयु बनेगी। फिर तो शूर्पणखा की भी आयु २००-२५० वर्ष माननी होगी। क्या वह इस आयु में राम-लक्ष्मण से विवाह का प्रस्ताव रखेगी? क्या इतनी बड़ी आयु का व्यक्ति सीता को पत्नी बनाने के लिए कहेगा अथवा अन्य युवतियों से चरित्रहीनता करेगा? इसके अतिरिक्त, रामायण में रावण का वर्णन एक बलिष्ठ हृष्ट-पुष्ट युवा योद्धा के रूप में मिलता है, वृद्ध पुरुष के रूप में नहीं; जबकि दशरथ, जटायु आदि वृद्ध हैं। अतः उक्त विद्वानों की यह कल्पना बुद्धिगम्य नहीं है। ये दोनों रावण पृथक्-पृथक् राजा थे।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, और तीनों सं० में यहां "**मनु**" नाम का उल्लेख होना आवश्यक है।

३. **स्थानभ्रष्ट पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**असंख्य प्रयोजन**" प्रयुक्त है। '**असंख्य प्रयोजन से अधिक**' प्रयोग नहीं बनता। यह "**बहुत**" पद से पूर्व आना चाहिए, क्योंकि '**बहुत-सा धन**' '**असंख्य**' का ही अर्थ है। '**इस**' पद '**सृष्टि**' से पूर्व आयेगा।

४. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में "**ने**" पद के स्थान पर '**न**' मुद्रणदोष है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में "**सर्यांति**" अपवर्तनी है, "**शर्यांति**" शुद्ध है। द्वि०सं०, भद, युमी, विस, जस व 'उदयपुर' सं० में संशोधित है। इस उद्धरण का पाठ मूल से थोड़ा भिन्न है। यहां मूलपाठ के अनुसार संशोधित है। मुद्रणप्रति में यह कई स्थानों पर शुद्ध था। किसी संशोधक ने अशुद्ध पाठ बना दिया। वेस, जग में अशुद्ध है।

६. **चक्रवर्ती राजाओं का परिचय**—प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में अनेक चक्रवर्ती राजाओं का इतिहास मिलता है। यद्यपि अत्यन्त

प्राचीन होने के कारण विवरण बहुत कम मिलता है। कुछ विवरण खोजकर यहां दिया जा रहा है जो उपनिषद् के कथन और महर्षि के उद्धरण को सत्य इतिहास प्रमाणित करता है—

१. सुद्युम्न—भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध राजर्षि जो यथायोग्य न्याय करने के लिए प्रसिद्ध हुआ। 'शंखस्मृति' नामक धर्मशास्त्र के प्रणेता मुनि **शंख** और उनके भाई **लिखित** का तथा राजर्षि सुद्युम्न का एक समय था, क्योंकि लिखित मुनि के हाथ काटे जाने की घटना इसी राजा के साथ जुड़ी हुई है। शंख-लिखित मुनि भाइयों का आश्रम 'बाहुदा' नदी के तट पर था, जो अवध की 'धुमेला' नदी मानी जाती है। इससे ज्ञात है कि यह अयोध्या का सूर्यवंशी राजा था (सभा० ७.११; शान्ति० २३.२०-२७)।

२. भूरिद्युम्न—यह भी एक प्राचीन सम्राट् है जो इतिहास में 'गो-दानी' के रूप में प्रसिद्ध है (महा०सभा० ८.१९, २१; अनु० ७६.२५)। विस्तृत विवरण अप्राप्त है।

३. इन्द्रद्युम्न—यज्ञकर्त्ता राजर्षि के रूप में प्रसिद्ध है। अधिक विवरण अप्राप्त है।

४. कुवलयाश्व—इक्ष्वाकु की वंशपरम्परा में यह एक प्रतापी चक्रवर्ती राजा था। इसके पिता का नाम बृहदश्व था। गुणों में इसे पिता से अधिक कहा गया है (महा०आर० ३९३.६)। इसकी गणना प्रातः-सायं स्मरणीय सम्राटों में की गई है (अनु० १६५.४८-६०)। यह अयोध्या का सूर्यवंशी सम्राट् था। इसके जीवन की विशेष घटना है सिन्धु मरुक्षेत्र में आतंक मचाने वाले शक्तिशाली महाराक्षस **धुंधु** का वध करना। धुंधु अरूरु नामक असुर का पुत्र था। अरूरु का उल्लेख काठक संहिता में भी आया है (३१.८)। उस पराक्रम के कारण कुवलयाश्व का उपनाम **'धुंधुमार'** प्रसिद्ध हुआ। ईरान के इतिहासकार फिरदौसी ने शाहनामा में इसका फारसी नाम केर-एसप (कुवलायाश्व) लिखा है। इसके पश्चात् इसका ज्येष्ठ पुत्र **दृढाश्व** राजा बना।

५. यौवनाश्व अर्थात् मान्धाता—यह जगद्विख्यात सूर्यवंशी चक्रवर्ती सम्राट् युवनाश्व (द्वितीय) का पुत्र था। इसकी माता का नाम गौरी था। अयोध्या-सम्राट् मान्धाता को गोपथ ब्राह्मण में चक्रवर्ती से भी बढ़कर **''सार्वभौम सम्राट्''** कहा है (१.२.१०)। यह विजयाभियान के अवसर पर अनेक देशों को जीतता हुआ 'रसातल' नामक पाताल लोक तक गया था—**''मांधाता मार्गणव्यसनेन सुपुत्रपौत्रो रसातलमगात्''** (हर्षचरित उ० ३)। अंग्रेजों के लिए प्रचलित यह प्रशंसा वाक्य कि **'अंग्रेजों के राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता'** कभी मान्धाता के लिए प्रयुक्त होता था। महाभारत और पुराणों में पाठान्तर से निम्न गौरवशाली श्लोक आता है। क्या ही शौर्यपूर्ण महिमा है भारतीय सम्राट् की—

उदेति च यतः सूर्यो यत्र च प्रतितिष्ठति। सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥ (महा० द्रोण० ६२.११)

अर्थात्—'जहां से इस पृथ्वी पर सूर्य उदय होता है और जहां-जहां तक प्रकाशित रहता है या जहां अस्त होता है, वह सारा पृथिवी-क्षेत्र मान्धाता के शासन के अधीन है।'

इसके राज्य में इतनी समृद्धि थी कि **इसने प्रजाओं पर से कर हटा लिये थे** (सभा० १४.११) यह राजनीतिक इतिहास की विलक्षण घटना है। दस्युओं (=अपराधियों एवं डाकुओं) से इसकी प्रजा पूर्णतः सुरक्षित थी, इस कारण इसको **'त्रसदस्यु'**='डाकू-लुटेरे जिससे भयभीत रहते थे', कहा जाता था। यह अनेक अश्वमेधयज्ञ-कर्त्ता, दानी तथा मन्त्रद्रष्टा राजर्षि था। ऋग्वेद के १०.१३४ सूक्त का यही द्रष्टा ऋषि है। महाभारत में आता है कि यह मांसभक्षण का विरोधी था। (महा० अनु० ११५.६१)

इसकी पत्नी का नाम बिन्दुमती था जो यादववंशी शशबिन्दु की कन्या थी। इसके तीन पुत्र हुए—पुरुकुत्स, अम्बरीष, मुचुकुन्द। पुरुकुत्स अयोध्या का सम्राट् बना। मुचुकुन्द ने माहिष्मती तट पर 'माहिष्मती' (वर्तमान महेश्वर) नगरी बसाई, वहां से राज्य करने लगा। **अम्बरीष ब्राह्मण बन गया।** हारीत ब्राह्मण इसी के वंशज हारीत ऋषि की सन्तानें हैं। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार वृद्धावस्था में बलिष्ठ राक्षसराजा लवणासुर से युद्ध करते हुए मान्धाता मारा गया।

६. वद्ध्र्यश्व—यह उत्तर पांचाल के राजा मुद्गल का पुत्र था। इसकी पत्नी का नाम मेनका था जिससे दिवोदास और अहल्या दो सन्तानें थी। दिवोदास राजा भी था और ऋषि भी। अहल्या गोतम ऋषि की पत्नी बनी। वद्ध्र्यश्व की एक यज्ञकर्त्ता के रूप में प्रसिद्धि है। इसके साथ प्राप्त **'ब्रह्मिष्ठ'** विशेषण से ज्ञात होता है कि यह भी ब्रह्मवेत्ता विद्वान् राजर्षि था।

७. अश्वपति—केकय देश के राजा अश्वपति का वास्तविक नाम अज्ञात है। **'अश्वपति'** उनकी उपाधि थी। प्रतीत होता है कि यह अश्वपति रामायणकालीन भरत के नाना से भिन्न वह है जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है (छान्दोग्य उप० ५.११.४; शत०ब्रा० १०.६.६२)। यह बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करने के लिए प्रसिद्ध था। यह ब्रह्मज्ञानी राजर्षि था। इसके पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल पांच शास्त्रवेत्ता समृद्ध ब्राह्मण गये थे। राजा ने एक प्रसंग में उनके समक्ष अपने शासन की महनीय स्थिति का उल्लेख इस प्रकार किया था—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य उप० ५.११.५)

अर्थात्—'मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई अदानी नहीं है, न कोई मदिरा पीने वाला है, बिना यज्ञ करने वाला नहीं है, न अविद्वान् है, न कोई परस्त्रीगामी पुरुष है, फिर परपुरुषगामी स्त्री कैसे हो सकती है?'

८. शशबिन्दु—चन्द्रवंश शाखा में, ययाति के पुत्र यदु के वंश में उत्पन्न यादव राजा शशबिन्दु विशाल साम्राज्य का स्वामी था और इसका राज्य स्वर्ण-भण्डार से भरभूर था। इसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये और स्वर्ण का पर्याप्त दान दिया। इसका चिरकाल तक शासन करने का उल्लेख आता है।

इसकी कन्या बिन्दुमती सम्राट् मान्धाता से विवाहित थी। इसका राज्य क्रोष्टु देश (बाद में विदर्भ देश नाम से प्रसिद्ध) पर था। यह राजा चित्ररथ का पुत्र था। (ताण्ड्य ब्रा० २०.१२.५; महा०द्रोण० ६५.२२)।

९. हरिश्चन्द्र—इक्ष्वाकु के वंश में अयोध्या के सूर्यवंशी राजा हरिश्चन्द्र भारत के सुविख्यात सम्राट् हैं। महाभारत में इसे प्रातः-सायं स्मरणीय राजाओं की सूची में रखा गया है (अनु० १६५.४८-६०)। इसके पिता का नाम सत्यव्रत (त्रिशंकु) था और माता का नाम सत्यरता था जो केकय की राजकुमारी थी। इसकी अनेक पत्नियां थीं जिनमें राजा उशीनर की पुत्री सत्यवती प्रमुख थी। उसने इसे स्वयंवर में वरा था। ऐतरेय ब्राह्मण में इसको 'वेधस्' कहा है जिसका अर्थ है सूर्यवंशी (ऐत०ब्रा० ७.१३)। महाभारत में इसके द्वारा सप्तद्वीपों की विजय का उल्लेख है (सभा० १२.१५)। उसके बाद आयोजित इसके राजसूय यज्ञ में सभी राजा करदाता के रूप में उपस्थित हुए थे। यह यज्ञ अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसमें वसिष्ठ ब्रह्मा, जमदग्नि अध्वर्यु, विश्वामित्र होता, अयास्य उद्गाता थे तथा ऋषि पर्वत और नारद भी सम्मिलित हुए थे (ऐत०ब्रा० ३३.४)।

१०. अम्बरीष—इक्ष्वाकु वंश-परम्परा में यह प्रसिद्ध राजा भगीरथ के पौत्र नाभाग का पुत्र था। महाभारत के 'षोडशराजोपाख्यान' के अन्तर्गत इसे प्रातः-सायं स्मरणीय राजाओं में माना है। इसे भारत देश से बहुत प्रेम था (द्रोण० ५७-७० अ० ७ अनु० १६५.४८-६०, भीष्म० १.५-८)। आचार्य कौटल्य ने इसको ऐसे बलशाली राजा के रूप में उद्धृत किया है जिसने समस्त शत्रुवर्ग को उखाड़ कर चिरकाल तक राज्य किया। यह अपने ज्येष्ठ पुत्र सिन्धुद्वीप को राज्य देकर वानप्रस्थ बनने की इच्छा से वन में चला गया था। इसकी लोकप्रियता देखिये कि प्रजाएं वन में जाकर इसको आग्रहपूर्वक वापस ले आईं और पुनः राजा के रूप में स्थापित किया। ऐसा उदाहरण शायद ही किसी राजा का मिलता हो।

११. ननक्तु—मैत्रायणी उपनिषद् में पठित चक्रवर्ती राजाओं की सूची के अतिरिक्त अन्य विवरण अप्राप्त है। सम्भव है कि यह किसी का गौण नामान्तर हो।

१२. शर्याति—सातवें वैवस्वत मनु के पुत्रों में एक शर्याति था। मनुवंशी होने के कारण इसको '**शर्याति मानव**' कहा जाता है। मनु द्वारा अयोध्या का राज्य पुत्रों में बांटने पर इसे पश्चिम दिशा का राज्य प्राप्त हुआ। वहां इसने यज्ञ किया जिसमें च्यवन ऋषि ने इसका 'ऐन्द्रमहाभिषेक' किया (ऐत०ब्रा० ८.२१; जैमिनि० ब्रा० ३.१५९)। इसके पुत्र 'आनर्त' के नाम पर उस प्रदेश का नाम 'आनर्त' पड़ा जिसे वर्तमान सौराष्ट्र, गुजरात कहा जाता है। इसकी पत्नी का नाम स्थविष्ठा था। सुकन्या पुत्री थी, जिसका विवाह ऋषि च्यवन से हुआ। शूरवीर होने के साथ यह मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी था। ऋग्वेद के १०.९२ सूक्त का यही द्रष्टा है। महाभारत में शर्याति को भारत के चौबीस सर्वगुणसम्पन्न शास्त्रवेत्ता चक्रवर्ती सम्राटों में परिगणित किया है। (महा०आदि० १.२२३.२३०)

१३. ययाति—यह चन्द्रवंश का सुप्रसिद्ध सार्वभौम सम्राट् था। इसकी दो पत्नियां थीं—१. दैत्यगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी; २. दानववंशी महाराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा। देवयानी से यदु, तुर्वसु और शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पुरु नामक पुत्र हुए। ययाति की मूल राजधानी प्रतिष्ठान (=प्रयाग) थी किन्तु इसने बाहुबल से उत्तर पश्चिम, दक्षिण तक बहुत-से प्रदेश जीत कर विदेशों तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। इसके सभी पुत्र बलशाली एवं वंश प्रवर्तक हुए। यदु ने यादव वंश की, तुर्वसु ने यवन वंश (=तुर्क वंश) और यूनानी वंशों की, अनु ने आनव वंश की, द्रुह्यु ने द्रुह्यु और भोज वंश की और पुरु ने पौरव वंश की स्थापना हुई (महा०वन०१२९.४, उद्योग १४७.३ आदि० ९०.८)। ययाति ने सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किया था (आदि० ७६.१३)। वृद्धावस्था में पुत्रों को राज्य सौंपकर यह वानप्रस्थ हो गया था (शान्ति० २९.९१)। अपने जीवनकाल में इसने अनेक बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया और प्रभूत दान दिया। महाभारत के अनुसार, ये मांसभक्षण के विरोधी थे (अनु० ११५.५८-६१)

१४. अनरण्य (अनेना)—महाभारत में प्रातः-सायं स्मरणीय (=पठनीय) राजाओं में उल्लिखित चक्रवर्ती सम्राट् अनरण्य इक्ष्वाकुवंशीय सुप्रसिद्ध राजा ककुत्स्थ (अपरनाम पुरंजय और बाण भी) का पुत्र था (अनु० १६५.४८-६०)। इसके अयोध्या राज्य की प्रशंसा वाल्मीकि-रामायण में इन शब्दों में मिलती है—

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन् न दुर्भिक्षः सतां वरे। अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन॥ (अयोध्या० ११०.१०)

अर्थात्—'श्रेष्ठ सम्राट् अनरण्य के शासनकाल में कभी अनावृष्टि नहीं हुई, कभी अकाल नहीं पड़ा, उनके राज्य में कोई चोर-डाकू भी नहीं था।' इसको तपस्वी और महातेजस्वी राजा कहा है।

१५. अक्षसेन—मैत्रायणी उपनिषद् में इसको चक्रवर्ती राजाओं की सूची में परिगणित किया है। अन्य विवरण अप्राप्त है। सम्भव है यह किसी का नामान्तर हो।

१६. मरुत्त अविविक्षित—सातवें मनु वैवस्वत के पुत्र प्रांशु की वंश-परम्परा में वैशाली राज्य के करंधम राजा का पौत्र सम्राट् मरुत्त था। इसके पिता का नाम अविविक्षित था तथा माता का नाम भामिनी था। इसने अनेक अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि **सृष्टि से लेकर महाभारत-पर्यन्त चक्रवर्ती=सार्वभौम राजा आर्यकुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से, राजभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त**

था। महाभारत में इसके यमुना के प्लक्षावरण तीर्थ पर अनुष्ठित यज्ञ की विशेष चर्चा है जिसे अंगिरा पुत्र संवर्त ने कराया था और उसमें इन्द्र आदि देववंशी राजा भी उपस्थित हुए थे। इतिहास में इसके राज्य की समृद्धि की विशेष चर्चा है। इसके राज्य में प्रजाएं भोजन आदि से संतुष्ट थीं। महाभारत आदि में इसको पांच श्रेष्ठतम चक्रवर्ती राजाओं, सोलह अश्वमेधकर्त्ता विजेता राजाओं और प्रातः-सायं स्मरणीय राजाओं की सूची में परिगणित किया है (आदि० १.२२३-२३०; द्रोण० अ० ५५; अनु० १६५.४८-३०; सभा० १५.१५-१६ आदि)। सम्राट् मान्धाता द्वारा विजित सम्राटों में इसकी चर्चा है। प्रतीत होता है कि दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद जब यह बूढ़ा हो गया होगा तब मान्धाता ने इसे पराजित किया होगा।

१७. भरत (जिससे भारतवर्ष नाम हुआ)—प्राचीन काल में इस देश में 'भरत' नामक दो चक्रवर्ती सम्राट् हुए हैं—१. मनु स्वायम्भुव-वंशी ऋषभपुत्र भरत, २. शकुन्तला-दुष्यन्तपुत्र भरत। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसके नाम के कारण इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ, वह ऋषभपुत्र भरत था, दुष्यन्त पुत्र भरत नहीं।

ब्रह्मा के पुत्र आदि राजा मनु स्वायम्भुव के ज्येष्ठपुत्र प्रियव्रत की वंश परम्परा में सातवीं पीढ़ी में ऋषभ राजा का ज्येष्ठ पुत्र भरत हुआ। राज्य विभाजन में भरत को इस देश का प्रमुख क्षेत्र प्राप्त हुआ। यह राजा इतना प्रतापी, धर्मात्मा, प्रजापालक और लोकप्रिय हुआ कि उसके नाम पर इस देश का "**भारतवर्ष**" (=भरत या भरतवंशियों का देश) नाम प्रसिद्ध हुआ। दो प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) **हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्। तस्मात् तत् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥** (वायु० ३३.५२)

अर्थ—सुमेरु पर्वत के दक्षिण में हिमालय सहित जो देश 'हिमवर्ष' के नाम से जाना जाता था, वह पिता से भरत को प्राप्त हुआ। उस राजा भरत के कारण ही इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ।

(ख) "**येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्, येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।**" (भाग० ५.४.९)

अर्थात्—राजा भरत श्रेष्ठगुण सम्पन्न, महायोगी और ज्येष्ठ पुत्र था। उसी के नाम पर इस देश को 'भारतवर्ष' कहते हैं। भरत के पिता राजा ऋषभ को 'भारतवर्ष' अत्यन्त प्रिय था (महा० भीष्म० १.५-८)।

भरत यज्ञवेत्ता, धर्मात्मा राजर्षि था। वह प्रजापालन में तत्पर, दयालु और कर्त्तव्यनिष्ठ था। उसकी प्रजा सुखी और समृद्ध थी। प्रजा बिना दण्ड और आदेश के स्वयमेव कर्त्तव्यों का पालन करती थी। इसने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुमति को राज्य सौंपकर वानप्रस्थ बनकर 'पुलह-आश्रम' में तपस्या करते हुए अन्तिम जीवन बिताया।

दुष्यन्त पुत्र भरत—दुष्यन्त पुत्र भरत भी यशस्वी और पराक्रमी सम्राट् था। इसकी माता का नाम शकुन्तला था। कुछ लोगों को नामसाम्य के कारण यह भ्रान्ति हुई है कि इसी के कारण 'भारत' नाम हुआ। इस देश का 'भारत' नाम उससे पूर्व ही था। कुछ लोग निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करके इसको **भारतवर्ष** नाम से जोड़ते है—

शकुन्तलायां दुष्यन्तात् भरतश्चापि जज्ञिवान्। यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम्॥
भरताद् भारती कीर्तिः येनेदं भारतं कुलम्। अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः॥ (आदि० २.९६, ७५.१३१)

अर्थात्—'दुष्यन्त राजा का पुत्र भरत शकुन्तला से उत्पन्न हुआ। उसके कारण '**भारत वंश**' प्रसिद्ध हुआ। उसी के कारण उसकी प्रजा को '**भारती**' कहा जाता है तथा उसके वंशजों को '**भारत वंशी**' कहते हैं।'

इन श्लोकों में देश का नाम रखा जाना नहीं कहा गया है, अपितु भारत वंश के प्रचलित होने की चर्चा है, जैसे यदु से यादव वंश, मनु से मानव वंश, कुरु से कौरव वंश आदि प्रचलित हुए।

मैत्रायणी उपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण में 'आदि' शब्द के प्रयोग से यह संकेत है कि ऐसे चक्रवर्ती राजा अन्य भी हुए हैं। यह परिचय उक्त उद्धरण में पठित राजाओं का ही दिया है। इनके अतिरिक्त दर्जनों अन्य चक्रवर्ती राजा हुए हैं जिनका विवरण भारतीय प्राचीन इतिहास में मिलता है। उनमें मनु स्वायम्भुव, मनु वैवस्वत, इक्ष्वाकु, पुरूरवा, नल, सहस्रबाहु अर्जुन, रघु, सगर, दशरथ, श्रीराम, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

७. **श्रवणभ्रान्ति से अपनाम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मैत्र्युपनिषद्**" अपनाम है, यह "**मैत्रायणी-उपनिषद्**" होना चाहिए। प्रतीत होता है श्रवणभ्रान्ति से यह अशुद्ध नाम लिपिकर द्वारा लिखा गया है। इस तथ्याधारित अशुद्धि का संशोधन **स्वामी वेदानन्द जी** ने ही पूर्णतः किया है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने नाम का तो संशोधन कर दिया किन्तु पता अशुद्ध है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** तथा **स्वामी विद्यानन्द जी** ने टिप्पणी में नाम का संशोधन किया है किन्तु पता अशुद्ध है। टिप्पणी का संशोधन अनुपयोगी है। **सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी** और '**उदयपुर' के सं०** में दोनों अशुद्धियां विद्यमान है। सम्पादकों ने

हो रहे हैं। जैसे यहां सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्र्यश्व,[१] अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, शर्याति,[२] ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत सार्वभौम='सब भूमि में प्रसिद्ध' चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे हैं, वैसे स्वायम्भुव[३]-आदि चक्रवर्ती राजाओं के नाम '**मनुस्मृति**', '**महाभारत**'-आदि ग्रन्थों में स्पष्ट[४] लिखे हैं। इसको मिथ्या करना अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।

प्रश्न—जो आग्नेयास्त्र आदि विद्यायें[५] लिखी हैं, सो सत्य हैं वा नहीं? और तोप तथा बन्दूक उस समय में थीं, वा नहीं?

उत्तर—ये बातें सच्ची हैं, ये शस्त्र भी थे। क्योंकि '**पदार्थविद्या**' से इन सब बातों का सम्भव है।

प्रश्न—क्या ये देवताओं के मन्त्रों से सिद्ध होते थे?

उत्तर—नहीं, ये सब अस्त्र पदार्थों से सिद्ध करते थे। 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सिद्ध करते और चलाते थे, और जो मन्त्र अर्थात्[६] शब्दमय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। और जो कोई कहे कि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होता है तो वह मन्त्र के जप करनेवाले के हृदय और जीभ में मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होकर हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवे, 'मारने जाय शत्रु को और मर रहे आप'। इसलिये 'मन्त्र' नाम है विचार का, जैसे[७] राजमन्त्री अर्थात् 'राजकर्मों का विचार करने वाला' कहाता है, वैसे[८] 'मन्त्र' अर्थात् विचार से सब सृष्टि के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात् क्रिया करने से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रियाकौशल उत्पन्न होते हैं।

यह भी नहीं देखा कि प्रपाठक 'मैत्रायणी उपनिषद्' में हैं, 'मैत्री-उपनिषद्' में तो अध्याय है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर ने 'वद्ध्र्यश्व' नाम प्रमाद से छोड़ दिया है, तदनुसार द्विप्र० में भी त्रुटित है। मूल संस्कृत उद्धरण में पठित है मूलह०, मूलसं० में है। द्वि०सं० में अब ग्रहण कर लिया है किन्तु **उदयपुर सं०** में अब भी त्रुटित है।

२-३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सर्याति**" अपवर्तनी है। "**स्वायम्भवादि**" अपवर्तनी दोनों हस्त० और द्विप्र० में है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में "**स्पष्ट मनुस्मृति**" और "**विद्या**" अपप्रयोग हैं, "**स्पष्टतः**" और '**विद्यायें**' बहुवचन प्रयोग अपेक्षित हैं। पाठ-संशोधन का दूसरा उपाय यह है कि बिना कोई परिवर्तन किये "**स्पष्ट**" शब्द को उठाकर वाक्यान्त की क्रिया के साथ रख दिया जाये जैसा कि ऊपर पाठ में परिवर्तित है—"**आदि ग्रन्थों में स्पष्ट लिखे हैं।**" इसका सम्बन्ध क्रिया से ही है।

६. **महर्षि द्वारा स्व-हस्तलेख में संशोधन**—महर्षि ने मुद्रणप्रति में संशोधन करते समय उक्त वक्ररेखांकित पाठ अपने हाथ से लिखकर परिवर्धित किया है। यह मूलहस्तलेख में नहीं था अतः उस पर आधारित मूलप्रति संस्करण में इस पाठ को मुद्रणप्रति से ग्रहण करके पाठ में संयुक्त किया है। इस पृष्ठ पर विद्यमान सभी वक्ररेखांकित पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित और लिखित हैं।

मन्त्रमय शस्त्रास्त्र—प्राचीन काल में '**मन्त्रमय या मान्त्रिक**' शस्त्रास्त्रों का उल्लेख मिलता है। ज्ञान-विज्ञान की परम्परा छूट जाने से, अज्ञानतावश यह समझ लिया गया कि किसी मन्त्र-विशेष को बोलने से या किसी मन्त्र-विशेष के बोलने के बाद मन्त्रमय शस्त्रास्त्र चलते थे। इस प्रक्रिया को हम आज के उदाहरणों से इस प्रकार समझ सकते हैं कि मन्त्रमय शस्त्रास्त्रों में पूर्व से विचारित और शस्त्रास्त्रों में गुप्त रूप से पूरित एक प्रतीक शब्द, वाक्य या संख्या (कोड-वाक्य या संख्या) होती थी जिसको पहले मिलान करने के बाद ही वे शस्त्रास्त्र चल सकते थे। विनाशकारी शस्त्रास्त्रों में ही यह प्रक्रिया होती थी, उन्हीं में आज भी होती है।

७-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रमशः, "**जैसा**", "**वैसा**" अपप्रयोग हैं, '**जैसे**', '**वैसे**' अपेक्षित हैं। यहां गुणबोधक नहीं, उदाहरणद्योतक पद-प्रयोग अपेक्षित है।

जैसे, कोई एक लोहे का बाण वा गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने से वायु में धुआं फैलने और सूर्य की किरण वा वायु का स्पर्श[१] होने से अग्नि जल उठे, इसी का नाम '**आग्नेयास्त्र**' है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे, तो उसी पर '**वारुणास्त्र**' छोड़ दे; अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र छोड़कर नष्ट करना चाहा, वैसे ही अपनी सेना के[२] रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से होता है जिसका धुआं वायु का स्पर्श[३] होते ही बद्दल होके झट वर्षने लग जावे, [और][४] अग्नि को बुझा देवे। ऐसे ही '**नागपाश**'[५] अर्थात् जो शत्रु पर छोड़ने से उसके अङ्गों को जकड़के बांध लेता है। वैसे ही एक '**मोहनास्त्र**' अर्थात् जिसमें नशे की चीज डालने से, जिसके धुएँ के लगने से, सब शत्रु की सेना **निद्रास्थ** अर्थात् मूर्छित हो जाय। इसी प्रकार सब शस्त्रास्त्र होते थे। और एक तार से, वा सीसे[६] से अथवा किसी और पदार्थ से विद्युत् उत्पन्न करके शत्रुओं का नाश करते थे, उसको भी '**आग्नेयास्त्र**' तथा '**पाशुपतास्त्र**' कहते हैं।

'**तोप**' और '**बन्दूक**' नाम अन्य देश-भाषाओं[७] के हैं, ये[८] संस्कृत और आर्यावर्तीय भाषाओं[९] के नहीं।[१०] जिसको विदेशी लोग 'तोप' कहते हैं, संस्कृत और आर्यभाषा[११] में उसका नाम '**शतघ्नी**', है, और जिसको 'बन्दूक' कहते हैं, उसका नाम संस्कृत और आर्यभाषा में '**भुशुण्डी**' है। जो '**संस्कृत-विद्या**' को नहीं पढ़े और इस देश की भाषाओं को भी ठीक-ठीक नहीं जानते,[१२] वे भ्रम में पड़कर कुछ-का-कुछ लिखते और कुछ-का-कुछ बकते हैं, उसका बुद्धिमान् लोग प्रमाण नहीं कर सकते।

और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त देश से मिश्र-वालों, उनसे यूनान,[१३] उनसे रोम[१४] और उनसे यूरोपीय-देशों में,[१५] उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।[१६] अब तक जितना

१-३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**सेना की रक्षार्थ**" अपप्रयोग है। '**रक्षार्थ**' के साथ '**के**' कारक आयेगा। दोनों हस्त० और तीनों सं० में संख्यांक १ और ३ पर "**वायु के स्पर्श**" में "**का स्पर्श**" सही प्रयोग है। मूलह० में संख्यांक ३ पर यह प्रयोग ठीक है किन्तु मूलसं० में दोनों ही स्थलों पर अशुद्ध प्रयोग ग्रहण किया है। सभी अन्य द्वि०सं० और 'उदयपुर' सं० में भी ये प्रयोग अशुद्ध हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दो वाक्याशों के मध्य '**और**' योजक पद अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय अशुद्ध वर्तनी बना दी—"**नागफास**"। द्विप्र० में अशुद्ध ही छपी है। द्वि०सं० में संशोधित है। मूलसं० में शुद्ध है।

६-९. **अपवर्तनी एवं अपप्रयोग**—(६) मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**शीसे**" और मूलप्रति सं० में "**शीशे**" दोनों अपवर्तनियां हैं, "**सीसे**" सही वर्तनी है। संस्कृत में इस धातु का नाम "**सीसकम्**" है। जस में शुद्ध है, वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी अन्य सं० और 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध वर्तनी है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में (७) "**देशभाषा**", (८) "**यह**", (९) "**भाषा**" के स्थान पर बहुवचन प्रयोग अपेक्षित हैं।

१०. **तोप और बन्दूक**—'तोप' तुर्की भाषा का तथा 'बन्दूक' अरबी भाषा का शब्द है।

११. **उपयुक्त प्रयोग**—जैसा कि वाक्य के उत्तरार्ध में पूर्ण नाम "**आर्यभाषा**" प्रयुक्त है, यहां भी स्पष्टता के लिए '**आर्यभाषा**' प्रयोग ही उपयुक्त है।

१२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित वाक्य**—मुद्रणलिपिकर प्रमादवश इस वाक्य को छोड़ गया—"**और इस देश की भाषाओं को भी ठीक-ठीक नहीं जानते**"। यही त्रुटित पाठ द्वि०सं० वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अभी तक छप रहा है। इसके अपूर्ण होने से ग्रन्थकार का अभीष्ट अर्थ प्रकट नहीं होता क्योंकि संस्कृत की परम्परा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में भी विद्यमान है। उनसे संस्कृत के विषयों की पुष्टि होती है। यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण और ग्राह्य है।

१३-१५. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**यूनानी**" के स्थान पर '**यूनान**', "**रूम**" के स्थान पर "**रोम**" अभीष्ट हैं। संस्कृत में '**रोमक**' नाम आता है, '**रूम**' अरबी-फ़ारसी में प्रयुक्त होता है। ग्रन्थ में अन्यत्र '**रोम**' प्रयोग भी है। आगे "**यूरोप देश**" अपप्रयोग है, क्योंकि '**यूरोप**' कोई देश नाम नहीं है। यहां '**यूरोपीय देशों**' उपयुक्त प्रयोग है। ये अशुद्धियां अन्य

प्रचार '**संस्कृत-विद्या**' का आर्यावर्त देश में है उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मन देश में '**संस्कृत-विद्या**' का बहुत प्रचार है, और जितना संस्कृत मोक्षमूलर[१] साहब[२] पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहना मात्र[३] है; क्योंकि '**यस्मिन्देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि[४] द्रुमायते**' अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता, उस देश में एरण्ड को ही बड़ा वृक्ष मान लेते हैं। वैसे ही यूरोपीय-देशों[५] में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा-सा पढ़ा, वही उस देश के लिये अधिक है; परन्तु आर्यावर्त देश की ओर देखें, तो उनकी बहुत न्यून गणना है, क्योंकि मैंने जर्मन देश[६] के निवासी एक प्रिन्सिपल[७] के पत्र से जाना कि जर्मन देश में[८] संस्कृत-

---

सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में विद्यमान हैं।

१६. **भारत से विद्याप्रसार के विषय में योरोपीय विद्वान् का मत**—योरोपीय इतिहासलेख मैटरलिंक (Maeter Linck) ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में और ईमानदारी से ग्रन्थकारवर्णित तथ्य को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है— "It is now hardly to be contested that this source is to be found in India. Thence in all probablity the sacred teaching spread in to Egypt, Found its way to ancient Persia and Chaldia, permeated the Hebrew race and crept in Greece and the south of Europe, Finally reaching China and even America." (Secret Heart, P.-5)

अर्थात्—'अब इस पर विवाद नहीं रह गया है कि विद्याओं के प्रसार का मूलस्थान भारतवर्ष है। संभवत: यह प्रसार इस प्रकार हुआ है कि विद्याएं भारत से मिश्र, मिश्र से ईरान तथा चाल्डिया (अरब) में फैलीं। यहूदियों को प्रभावित करते हुए फिर विद्याएं यूनान तथा यूरोप के दक्षिण भाग में फैल गईं। अन्त में चीन और अमेरिका में भी पहुंच गई।'

१. **मैक्समूलर का परिचय और मोक्षमूलर नाम**—**मोक्षमूलर** का वास्तविक नाम '**मैक्समूलर**' है। इसका संस्कृत रूप '**मोक्षमूलर**' उन्होंने स्वयं बनाया है और स्वरचित 'ऋग्वेदभाष्य' के आरम्भ में यह दिया है। महर्षि ने अपने सभी ग्रन्थों में इसी संस्कृत रूप का प्रयोग किया है। यहां मैक्समूलर का संस्कृत के प्रति झुकाव दर्शनीय है।

मैक्समूलर का जन्म जर्मनी के 'देसो' (Dessau) नगर में ६ दिसम्बर १८२३ को हुआ। इनका पूरा नाम फ्रीडरिख मैक्सिमिलियन मैक्समूलर था। पिता का नाम विल्हेम मूलर था तथा वे प्रसिद्ध कवि थे। ये सन् १८४६ में इंग्लैंड चले गये जहां इनको बुन्सेन और प्रो० एच.एच. विल्सन ने ऋग्वेद के सम्पादन-कार्य में अपना सहयोगी बनाया। फिर ये वहीं बस गये। १८५० में आधुनिक भाषाओं के प्राध्यापक के रूप में ये आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए, साथ ही क्राइस्ट चर्च के मान्य सदस्य भी रहे। इन्होंने तुलनात्मक योरोपीय भाषाविज्ञान और संस्कृत भाषाविज्ञान पर पर्याप्त कार्य किया। इन्होंने विभिन्न धर्मों तथा भारतीय दर्शन पर भी कार्य किया। इनका महत्त्वपूर्ण कार्य इक्कावन भागों में ''सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट'' का सम्पादन है। इनका देहान्त २८ अक्तूबर १९०० को आक्सफोर्ड में हुआ। महर्षि दयानन्द द्वारा अंकों में सम्पादित 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' के ये नियमित ग्राहक रहे। आरम्भ में कट्टर ईसाई-विचारों के कारण इनके विचार भारत, भारतीय धर्म और वेदों के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण रहे। अन्त में 'हम भारत से क्या सीखें' (India : What can it teach us?) नामक पुस्तक में इनका चिन्तन कुछ भारत-समर्थक बन गया था। ऋषि दयानन्द का इन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वे महर्षि का जीवन भी लिखना चाहते थे किन्तु लिख नहीं पाये।

२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**साहब**' की कई वर्तनियां **साहब, साहेब, साहिब** हैं। एकरूपता, मानकता और भाषात्मक व्यवस्था के लिए सर्वत्र '**साहब**' वर्तनी स्वीकार की गई है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कहनेमात्र**'' के स्थान पर ''**कहना मात्र**'' प्रयोग वांछनीय है। यह महर्षि की शब्दावली है। अन्यत्र भी यही शब्दावली द्र०पृ० ५०३, ७९१, ८०३ पर।

४. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में ''**अपि**'' पद त्रुटित है। यही त्रुटित पाठ द्वि०सं० में छप रहा है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में पूर्ण एवं शुद्ध पाठ है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**यूरोप देश**'' के स्थान पर ''**यूरोपीय देशों**'' उपयुक्त प्रयोग है, क्योंकि '**यूरोप**' देश का नाम नहीं है।

६,८. **मुद्रणकालीन अपनाम**—द्वितीय सं० में '**जर्मनी देश**' के स्थान पर '**जर्मन देश**' नाम चाहिए। मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में शुद्ध है। यह मुद्रणकाल में बदला है। मूलह०, मुद्रणह० द्विप्र० में ''**जर्मन्**'' ''**प्रिन्सिपल्**'' हलन्त अपरूप हैं।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० में यह वाक्यांश शुद्ध है—''**जर्मन के एक प्रिंसिपल**''। मुद्रणलिपिकर ने इसको

चिट्ठी का पूर्ण अर्थ करनेवाले भी बहुत कम हैं। और मोक्षमूलर साहब का संस्कृत-साहित्य और थोड़ी-सी वेद की व्याख्या देखकर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर-उधर आर्यावर्तीय लोगों की की[१] हुई टीकायें[२] देखकर कुछ-कुछ यथा-तथा लिखा है। जैसे[३] कि—

'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥' [ऋग्० १।६।१]

इस मन्त्र का अर्थ 'घोड़ा' [-परक][४] किया है। इससे तो जो सायणाचार्य ने 'सूर्य' [-परक][५] अर्थ किया है, सो अच्छा है। परन्तु इसका ठीक अर्थ 'परमात्मा' [-परक][६] है, सो मेरी बनाई '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिये। उसमें इस मन्त्र का अर्थ 'यथार्थ' किया है।[७] इतने से जान लीजिये कि जर्मन देश और मोक्षमूलर साहब में '**संस्कृत-विद्या**' का कितना पाण्डित्य है।

यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावर्त देश से ही प्रचरित हुए हैं। देखो, एक जैकालियट साहब पेरिस अर्थात् फ्रांस देश निवासी[८] अपनी '**द बाइबल इन**

अशुद्ध बना दिया—''**जर्मन देशनिवासी के एक प्रिंसिपल्**''। द्विप्र० में मुद्रण समय उसको बोली के प्रयोग के साथ और अशुद्ध कर दिया—''**जर्मनी देशनिवासी के एक प्रिंसिपल्**''। मूलसं०, जग, द्वि०सं० में यह वाक्य अशुद्ध है। इन दोनों सं० ने पाठकों पर इतनी कृपा अवश्य कर दी कि दोनों पदों के हलन्त अपरूप हटा दिये। अन्य सभी संस्करणों ने तथा 'उदयपुर' सं० ने भी बिना टिप्पणी दिये इसका संशोधन कर लिया है। **पं० भगवद्दत्त** जी पर आश्चर्य है कि उन्होंने अशुद्ध वाक्यरचना ग्रहण की है।

१. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में '**की**' क्रिया त्रुटित रह गई है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**टीकायें**'' बहुवचनात्मक प्रयोग अपेक्षित है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जैसा**'' अपप्रयोग है, ''**जैसे**'' उदाहरणार्थक प्रयोग उपयुक्त है।

४-६. **त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठक के अन्तर्गत ''**परक**'' पाठ परिवर्धन के योग्य है। इस पाठ के बिना उचित संगति नहीं लगती। यही समीक्षा द्रष्टव्य है 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'उपासना प्रकरण' में। महर्षि ने प्रमाणों के आधार पर इस मन्त्र के परमात्मा-परक, सूर्य-परक और प्राण-परक, ये तीन अर्थ किये हैं। **स्वामी वेदानन्द जी** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने यहां यह संशोधन किया है—''इस मन्त्र [के 'ब्रध्नम्' शब्द] का अर्थ घोड़ा किया है।'' इस सं० का संशोधन अधिक उपयुक्त है क्योंकि वह सम्पूर्ण मन्त्र से सम्बद्ध हो जाता है। ग्रन्थकार भी अपने पाठ में 'मन्त्र के अर्थ' की चर्चा करते हैं, शब्द की नहीं। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में भी ऐसा ही पाठ है—''इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जान के.....घोड़े का जो अर्थ किया है।'' संस्कृत में ''**व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणम्**'' शब्दावली ध्यातव्य है। (पृ १२३)

''**इस मन्त्र का अर्थ घोड़ा किया है**'' यह अस्पष्टार्थक और शिथिल वाक्यरचना है।

इस संशोधन की **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम-स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी) ने आलोचना की है। वह असन्तोषजनक है। वे लिखते हैं—''**इस मन्त्र का वाच्यार्थ, व्याख्येय अर्थ घोड़ा है, यह स्पष्ट समझ आ रहा है।**'' (सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा पृ० १३४) 'घोड़ा' प्रतिपाद्य-विषय तो हो सकता है, मन्त्र का अर्थ नहीं हो सकता, '**घोड़ा**' अर्थ तो किसी एक शब्द का ही होगा। यहां आलोचक स्वयं आलोचना का विषय हो गया है। इसको यदि कोई इस प्रकार लिखे कि 'आलोचक स्वयं आलोचना का अर्थ हो गया है' भाव तो समझ में आ जायेगा, किन्तु यह वाक्यरचना वाक्य के नियमों पर खरी नहीं उतरती, अतः शास्त्री जी की आलोचना अनुचित है। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का संशोधन पाठ की आवश्यकता थी। संशोधन आवश्यक है।

७. **ऋषिहस्तलेख**—''**सो मेरी.....किया है**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

८. **अपनाम**—अज्ञात कारणों से दोनों हस्त० और सभी सं० में यहां पुस्तक के लेखक का ''**गोल्डस्टकर साहब पैरस अर्थात् फ्रांस देश निवासी**'' छपता आ रहा है। इस पुस्तक के लेखक का सही नाम '**लुई जाकोल्यो**' है जिसका भारत में '**जैकालियट**' उच्चारण प्रचलित है। ये पेरिस के निवासी थे। सर्वप्रथम इस अशुद्धि की ओर **पं० भगवद्दत्त जी** ने ध्यान आकर्षित किया था। वेस, जग, विस, जस, मूलप्रति सं०, 'उदयपुर सं०' में इसका संशोधन कर दिया है। युमी में टिप्पणी में संशोधन है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री का 'संशोधनों की समीक्षा' पुस्तक में बेतुका विचार है कि अशुद्ध नाम होने पर भी '**गोल्डस्टकर**' ही रहे। इसके लिए वे हास्यास्पद तर्क (?) देते हैं—''शायद इस पुस्तक से गोल्डस्टकर का कोई सम्बन्ध रहा हो।'' वाह, शास्त्री जी! बात लेखक की हो रही है, आप सम्बन्धियों की खोज कर रहे हैं! ऐसों के लिए संस्कृत की उक्ति है—

इण्डिया'[१] में लिखते हैं कि—''**सब विद्याओं[२] और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त देश है और सब विद्यायें[३] तथा मत इसी देश से फैले हैं**'', और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि ''**हे परमेश्वर! जैसी उन्नति आर्यावर्त देश की पूर्व काल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिये**'', सो उस ग्रन्थ में देख लो। तथा **दाराशिकोह बादशाह**[४] ने भी यही निश्चय किया था कि 'जैसी पूरी विद्या संस्कृत में है,

---

'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे'=आम के बारे में पूछा जा रहा है, कचनार वृक्ष के बारे में उत्तर दे रहा है। इस नाम का संशोधन सब सम्पादकों द्वारा एकमत से स्वीकार्य होने पर भी यहां शास्त्री जी का स्पष्ट पूर्वाग्रह द्रष्टव्य है! पाठकगण! ऐसे आग्रहों के रहते कैसे बनेगा एकमात्र संस्करण? यदि शास्त्री जी आज जीवित होते तो हम उनसे पूछते—शास्त्री जी! क्या करेंगे इस अशुद्धि का संरक्षण करके? क्या म्यूजियम में सजायेंगे कि सत्यार्थप्रकाश में यह अशुद्धि है, सब देखो। क्या अगली पीढ़ियों को यह बताना चाहेंगे कि पाठको! भूल न जाना, देखो, यह ऋषि की अशुद्धि है, और हम महर्षि के श्रद्धालुओं ने यह एक महान् कार्य किया है कि इस अशुद्धि को संरक्षित रखा है! शास्त्री जी यहां भूल रहे हैं कि अशुद्धियों वाला ग्रन्थ बुद्धिमान् पाठकों, विद्वानों व लेखकों के मध्य प्रमाण कोटि से बाहर हो जाता है। यदि अशुद्धियों से शास्त्री जी को इतना ही मोह था तो उन्हें यह पक्ष स्थापित करना चाहिए था कि मुद्रण-हस्तलेख ही मूलपाठ के रूप में यथावत् छपे, अथवा द्वितीय संस्करण (१८८४) यथावत् ही छपे। तब उनका दुराग्रह का चश्मा आंखों से स्वतः गिर पड़ता जब वे देखते कि उनमें सब मिलाकर कम-से-कम चार हजार त्रुटियां हैं। आश्चर्य है, शास्त्री जी ने उस द्वितीय संस्करण (१८८४) को प्रमाण माना जो महर्षि के विद्वेषी लेखक ज्वालादत्त शर्मा और भीमसेन शर्मा के दायित्वहीन सम्पादन-शोधन में छपा था। शास्त्री जी जैसे आलोचकों के समक्ष बेचारे ''सत्य के ग्रहण, असत्य के त्याग'' नियम का क्या हाल होगा? शायद, शास्त्री जी यह भ्रान्ति मन में पाल बैठे थे कि ये अशुद्धियां महर्षिकृत हैं और 'वरदान हैं' जबकि वे अधिकांशतः लिपिकर-कृत 'अभिशाप' हैं।

१. '**द बाइबल इन इंडिया**'—अंग्रेजी में अनूदित यह पुस्तक मूलतः फ्रेंच भाषा में लिखी गई है और इसका मूल नाम '**ला बाइबल डंस इंडे**' (La Bible dans Inde) है। इसकी रचना लेखक ने सन् १८६८ में की थी। लेखक भारत में फ्रांस के उपनिवेश चन्द्रनगर (बंगाल) में मुख्य न्यायाधीश थे। उनका नाम था **लुई जाकोल्यो** (Louis Jacolliot) जिसका भारत में '**जैकालियट**' उच्चारण प्रचलित हो गया है। उन्होंने भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष यूरोपीय लेखकों के सामने प्रस्तुत किया कि '**संस्कृत सब भाषाओं की जननी है और भारत सब जातियों की आदिभूमि है, मातृभूमि है।**' इसको पढ़कर लार्ड बेबिंगटन मैकाले के क्रीतलेखक मैक्समूलर आदि बहुत तिलमिलाये थे। उन्होंने योजना बनाकर जैकालियट और उसकी मान्यताओं का विरोध किया था, क्योंकि भारतीयों को अपने से श्रेष्ठ और अपना आदिपुरुष मान लेने पर अंग्रेजों का भारत पर शासन करना कठिन था। यही कारण था कि अंग्रेजों ने अपने सारे लेखक झोंककर पुस्तकों द्वारा प्रचारित कराया कि भारत जंगलियों, खानाबदोशों, गरीबों, मदारियों और चरवाहों का देश रहा है। हमारे कारण इसकी उन्नति हुई है और होगी। जैकालियट के महर्षि द्वारा उद्धृत वचन का पूर्ण हिन्दी रूपान्तरण इस प्रकार है—

''**प्राचीन भारतभूमि, मनुष्य जाति के जन्मस्थान (दोला) तेरी जय हो? पूजनीय और समर्थ धात्री, जिसको नृशंस आक्रमणों की शताब्दियों ने अभी तक विस्मृति की धूल के नीचे नहीं दबाया, तेरी जय हो! श्रद्धा, प्रेम, कविता और विज्ञान की पितृभूमि तेरी जय हो! क्या कभी ऐसा दिन भी आवेगा, जब हम अपने पाश्चात्य देशों में तेरे अतीत काल की-सी उन्नति देखेंगे।**'' (सन्तराम कृत हिन्दी भाषानुवाद, प्रथम अध्याय के आरम्भ में)

जब मैक्समूलर, मैकाले के क्रीतलेखकत्व से निकल गया था तब उसने ''INDIA : What can it teach us'' (हम भारत से क्या सीखें) पुस्तक लिखी, जिसमें प्रायः उक्त सब बातों को स्वीकार किया है। मैक्समूलर विद्वान् था, शायद, विद्वान् की आत्मा ने उसे सारा जीवनभर मिथ्या लेखन के लिए कचोटा होगा, तो उक्त पुस्तक में उसकी आत्मा का सत्य प्रकट हो गया।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**विद्या**' पद में बहुवचन अपेक्षित है।

४. **दाराशिकोह बादशाह**—दाराशिकोश, औरंगजेब बादशाह का भाई था। वह विद्याप्रेमी और भारतीय साहित्य का प्रशंसक था। उस द्वारा रचित पुस्तक का नाम है—'**सीर-ए अकबर**' अर्थात् '**महान् रहस्य**'। यह बावन उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद है। राज्यलोलुप औरंगजब ने दारा को १० सितम्बर, सन् १६५९ को दिल्ली में मरवा दिया था। वस्तुतः यह राज्यलिप्सावश की गई राजनैतिक हत्या थी, जिसको उसके भाई औरंगजेब और मुराद ने धार्मिक रंग दिया और दारा के 'धर्मद्रोही' होने का दुष्प्रचार किया। वस्तुतः दारा सम्राट् शाहजहाँ और मुमताज महल का बड़ा पुत्र था और राज्य का असली वारिस था। इसका जन्म २० मार्च, १६१५ ई० में हुआ था और १६३३ में इसको युवराज बनाया गया था। औरंगजेब और मुराद को यह सह्य नहीं था कि दारा बादशाह बने। शाहजहां के बीमार पड़ने पर इन्होंने मिलकर उस पर आक्रमण कर दिया और दारा पराजित हो गया। दारा की हत्या

वैसी किसी भाषा में नहीं।' वे ऐसा उपनिषदों के भाषान्तर में लिखते हैं कि—''**मैंने अरबी[१] आदि बहुत-सी भाषायें[२] पढ़ीं, परन्तु मेरे मन का सन्देह छूटकर आनन्द न हुआ। जब संस्कृत देखा और सुना तब निःसन्देह होकर मुझको बड़ा आनन्द हुआ है।**''

देखो, काशी के 'मान-मन्दिर' में **शिशुमारचक्र**[३] को, कि जिसकी पूरी रक्षा भी नहीं रही है, तो भी कितना उत्तम है कि जिसमें अब तक भी खगोल का बहुत-सा वृत्तान्त विदित होता है। जो '**सवाई**[४] **जयपुराधीश**' उसकी संभाल और टूटे-फूटे[५] को बनवाया करेंगे तो बहुत अच्छा होगा।

परन्तु ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत-युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व दशा में नहीं आया। क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने में क्या सन्देह?

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥ [चाणक्यनीतिदर्पण अ० १६। श्लो० ५] ॥

यह किसी कवि का वचन ठीक है कि 'जब नाश होने का समय निकट आता है तब उलटी बुद्धि होकर उलटे काम करते हैं।' कोई उनको सूधा समझावे तो उलटा मानें और उलटा समझावें उसको सूधा मानें।[६] जब बड़े-बड़े विद्वान्, राजे- महाराजे,[७] ऋषि-महर्षि लोग, महाभारत युद्ध में बहुत-से मारे गये और बहुत-से मर गये, तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आपस

के बाद औरंगजेब ने इसके बड़े पुत्र को भी मरवा दिया और छोटे पुत्र को ग्वालियर में कैद कर दिया। अपने पिता शाहजहां को कैद में डाल दिया। दारा सूफीवादी विचारधारा का था और सभी धर्मों के सन्तों के प्रति आदरभाव रखता था। वह प्रतिभाशाली कवि व लेखक था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे। वेदान्त और सूफीवाद का तुलनात्मक विवेचन किया। दारा को मरवाने के बाद औरंगजेब ने, दारा की हत्या में सहयोगी रहे अपने छोटे भाई मुरीद को भी छल-कपट से कत्ल करवा दिया। फिर उसने एकाधिकारी बनकर राज्य किया। इस प्रकार औरंगजेब अत्यन्त स्वार्थी, राज्यलिप्सु और क्रूर व्यक्ति था। हाँ, इतने पाप करके भी वह जीवनभर धार्मिक होने का पाखण्ड करता रहा।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलसं० में '**अरबी**' शुद्ध वर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने इसको अशुद्ध ''**अर्बी**'' लिखा, वही द्विप्र० और द्वि०सं० में छप रहा है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में एकवचनान्त ''**भाषा**'' अपप्रयोग है, यहां '**भाषायें**' प्रयोग अपेक्षित है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**शशिमाल चक्र**'' अपप्रयोग है, द्वि० सं० में ''**शिशुमारचक्र**'' उपयुक्त है। जयपुर के राजा मानसिंह ने जयपुर, दिल्ली, काशी और उज्जैन में ज्योतिषालय बनवाये थे जिनसे ग्रहों का और उनकी गतियों का ज्ञान किया जाता था। दिल्ली में उसका नाम '**जन्तर-मन्तर**' (अर्थात् 'यन्त्र-मन्त्र') प्रसिद्ध है। काशी में राजा के नाम पर '**मान-मन्दिर**' प्रसिद्ध है। शिशुमारचक्र का अर्थ है—'सौर-मण्डल' या नक्षत्र मण्डल। 'शिशुमार' सूर्य को कहते हैं।

४. **सवाई**—यह जयपुर के राजाओं की उपाधि है।

५. **उचित संशोधन**—मूलहस्त०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में ''**फूटे-टूटे**'' अपक्रम-प्रयोग है, द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधित है। वह ग्राह्य है।

६. **ऋषि द्वारा परिवर्धित वाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्यरचना में वर्तनी और लिंग सम्बन्धी अव्यवस्था है। मूलप्रति सं० में यह पाठ है—''**तब उल्टी बुद्धि होकर उल्टे काम करते हैं।**'' मुद्रणह० में कुछ परिवर्धन के साथ ऋषि ने यह वाक्य बनाया है—''**तब उल्टी बुद्धि होकर उल्टे काम करते हैं। कोई उनको सूधा समझावे तो उलटा मानें और उलटा समझावे उसको सूधी मानें।**'' एक ही स्थान पर दो-प्रकार की वर्तनी है—**उल्टा, उलटा।** दो प्रकार के लिंग प्रयोग हैं—**उल्टा, उल्टी, सूधा, सूधी**। इस संस्करण में पूरे वाक्य को संशोधित कर दिया है। पं० मीमांसक जी, विद्यानन्द जी सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने इसका संशोधन कर लिया है किन्तु स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी तथा 'उदयपुर' सं० के पाठ में रचनात्मक अव्यवस्था को शुद्ध नहीं किया है।

७. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति में यहां बहुवचनान्त ''**राजे-महाराजे**'' शुद्ध प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि० सं० में उसको ''**राजा-महाराजा**'' पाठ बनाकर एकवचनान्त कर दिया है। महर्षि की प्रयोग-शैली मूलह० की है।

में करने लगे, जो बलवान् हुआ वह देश को दाबकर राजा बन बैठा। वैसे ही सर्वत्र आर्यावर्त देश में खण्ड-बण्ड[१] राज्य हो गया। पुनः द्वीप-द्वीपान्तरों के राज्य की व्यवस्था कौन करे?

जब ब्राह्मण लोग विद्याहीन हुये तब क्षत्रियों, वैश्यों[२] और शूद्रों के अविद्वान् होने की तो कथा ही क्या कहनी? जो परम्परा से वेदादि शास्त्रों का अर्थसहित पढ़ने का प्रचार था, वह भी छूट गया। केवल जीविकार्थ पाठमात्र ब्राह्मण लोग पढ़ते रहे, सो पाठमात्र भी क्षत्रिय आदि को न पढ़ाया। क्योंकि जब 'अविद्वान् हुए' गुरु बन गये,[३] तब छल-कपट, अधर्म भी उनमें बढ़ता चला। ब्राह्मणों ने विचारा कि अपनी जीविका का प्रबन्ध बांधना चाहिये। सम्मति करके, यही निश्चय कर, क्षत्रिय आदि को उपदेश करने लगे कि 'हम ही तुम्हारे पूज्यदेव हैं'। विना हमारी सेवा किये तुमको स्वर्ग वा मुक्ति न मिलेगी। किन्तु जो तुम हमारी सेवा न करोगे, तो घोर नरक में पड़ोगे। **जो-जो पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम 'ब्राह्मण' [है], और वे पूजनीय [हैं, ऐसा] ऋषि-मुनियों के शास्त्रों में लिखा था,[४] उसको अपने मूर्ख, विषयी, कपटी, लम्पट, अधर्मियों पर घटा बैठे। भला, वे आप्त विद्वानों के लक्षण इन मूर्खों में कब घट सकते हैं?** परन्तु जब क्षत्रियादि[५] यजमान **'संस्कृत-विद्या'** से अत्यन्त रहित हुये, तब उनके सामने जो-जो गप्पें मारी, सो-सो बेचारों ने सब मान ली। तब इन नाममात्र ब्राह्मणों की बन पड़ी। सबको अपने वचन-जाल में बाँधकर वशीभूत कर लिया[६]; और कहने लगे कि—**ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः॥**

---

१. **खण्ड-बण्ड**—खण्डित और त्रुटित।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **'क्षत्रिय', 'वैश्य'** एकवचनान्त प्रयोग हैं, बहुवचनान्त अपेक्षित हैं।

३. **पं० मीमांसक जी द्वारा अपअर्थ की कल्पना—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस वाक्य के दो अर्थों की कल्पना टिप्पणी में की है। उनमें से पहला अपअर्थ है—**''जब क्षत्रियादि अविद्वान् हुए, तब वे अल्पशिक्षित ब्राह्मण गुरु बन गये।''** पता नहीं, इतने स्पष्ट अर्थवाले वाक्य के अपअर्थ की कल्पना पं० जी ने क्यों की? स्पष्टतः यह ब्राह्मणों के लिए कथन है। ऊपर उनको ही 'विद्याहीन हुए' कहा है। पूर्वापर वाक्यों में ब्राह्मण पद का प्रयोग है। इस वाक्य के उत्तरार्ध में उन्हीं के लिए ''तब छल-कपट, अधर्म भी उनमें बढ़ता चला'' कथन है। इसके अर्थ में 'क्षत्रियादि' कहां से आ गया? और वाक्य में 'ब्राह्मण' कर्त्ता पृथक् से है ही नहीं, उसका सन्दर्भ कहाँ से आयेगा?

४. **मुद्रणलिपिकर की पाठत्रुटि और शोधक से पाठ अस्त-व्यस्त**—दोनों हस्त०, तीनों सं० और सभी द्वि०सं० में इस वाक्य का पाठ अस्त-व्यस्त हो गया है और ग्रन्थकार के अभीष्ट अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ है, वह भी स्पष्ट नहीं हो रहा है। मूल-हस्तलेख में यहां पाठ कुछ ठीक है—**''जो-जो पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम ब्राह्मण और वे पूजनीय, ऋषि-मुनियों के शास्त्र में लिखा था---।''** मुद्रणप्रति में इस वाक्य का **'वे'** पद छोड़ दिया तब किसी शोधक ने इस वाक्य का भिन्नार्थ समझकर **''पूजनीय''** के बाद पंक्ति के ऊपर दो पद लिख दिये—**''वेद और''**। **''वे''** के स्थान पर **''वेद''** बना दिया। इस संशोधन से यह वाक्य अस्पष्टार्थक और अस्त-व्यस्त हो गया। जो भाव मूलहस्त० में ग्रन्थकार का था वह नहीं रहा। तीनों सं० में अब यहवाक्य इस प्रकार मिलता है—**''जो-जो पूर्ण विद्यावाले धार्मिकों का नाम ब्राह्मण और पूजनीय वेद और ऋषि-मुनियों के शास्त्र में लिखा था उनको---।''** तीन कारणों से इस वाक्य की अस्त-व्यस्तता पर मेरा ध्यान गया—एक, **''पूजनीय''** से पूर्व **''और''** पद निरर्थक है। दूसरा, महर्षि जड़ पदार्थ के साथ **''पूजनीय''** विशेषण नहीं लगाते। तीसरा, मूलहस्तलेख में पूजनीय से पूर्व **''वे''** सर्वनाम है, जो वाक्यार्थ की दिशा की ओर संकेत कर रहा है कि प्रचलित वाक्य ग्रन्थकार के अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं कराता। इनसे संकेत मिला कि मुद्रणप्रति का वाक्य गड़बड़ा गया है जबकि मूल हस्तलेख का वाक्य कुछ-कुछ सही है। दो स्थानों पर कुछ पद जोड़ने पर वह वाक्य कुछ और स्पष्ट बन जाता है। वही यहां ग्राह्य है, प्रचलित वाक्य अग्राह्य है।

५. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० में **''क्षात्री आदि''** अपप्रयोग है। अन्य सभी पाठों में शुद्ध है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य इस प्रकार है—**''उनके सामने जो-जो गप्प मारे सो-सो बिचारों ने सब मान लिये.....सबको वशीभूत कर लिये।''** द्विप्र० में अर्ध संशोधित है। सभी द्वि० सं० में पूर्ण पाठ को संशोधित कर दिया है, किन्तु 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध पाठ ही है।

अर्थात् जो ब्राह्मणों के मुख से वचन निकलता है, वह जानो साक्षात् भगवान् के मुख से निकला है।[१]

जब क्षत्रियादि वर्ण '**आंख के अन्धे और गांठ के पूरे**' अर्थात् भीतर विद्या की आँख फूटी हुई और जिनके पास धन पुष्कल है, ऐसे-ऐसे चेले मिले; फिर इन व्यर्थ 'ब्राह्मण' नाम-वालों को विषयानन्द का उपवन मिल गया। यह भी उन लोगों ने प्रसिद्ध किया कि जो कुछ पृथिवी में उत्तम पदार्थ हैं, वे सब ब्राह्मणों के लिये हैं, अर्थात् जो गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था थी, उसको नष्टकर, जन्म पर रखा और मृतक तथा स्त्री पर्यन्त का[२] भी दान यजमानों से लेने लगे। जैसी अपनी इच्छा हुई वैसा करते[३] चले। यहां तक कहा[४] कि '**हम भूदेव हैं**', हमारी सेवा के विना देवलोक किसी को नहीं मिल सकता। इनसे पूछना चाहिये कि तुम किस लोक में पधारोगे ?[५] तुम्हारे काम तो घोर नरक भोगने के हैं; [अत:] कृमि, कीट बनोगे। तब तो बड़े क्रोधित होकर कहते हैं—''हम शाप देंगे, तुम्हारा नाश हो जायगा, क्योंकि लिखा है—

'**ब्रह्मद्वेषी विनश्यति**'=ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाला नष्ट हो जाता है।''[६]

हाँ, यह बात तो सच्ची है कि सम्पूर्ण वेद और परमात्मा को जाननेवाले, धर्मात्मा, सब जगत् के उपकारक पुरुषों से जो कोई द्वेष करेगा, वह अवश्य नष्ट होगा। परन्तु जो ब्राह्मण नहीं हों उनका न 'ब्राह्मण' नाम और न उनकी सेवा करनी योग्य है।[७] परन्तु तुम तो 'ब्राह्मण' [ही] नहीं हो।[८]

प्रश्न—तो हम कौन हैं ?

उत्तर—तुम '**पोप**' हो।

---

१. **त्रुटित क्रिया**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है, मूलप्रति में है और वाक्यपूर्त्यर्थ आवश्यक भी है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्टपाठ**—द्वि० सं० में ''**तथा स्त्री पर्यन्त**'' पाठ त्रुटित रह गया है। मुद्रण-लिपिकर लिखते समय, प्रमादवश कुछ पदों को छोड़ गया और यह अपूर्ण पाठ लिखा—''**और पर्यन्त का भी दान**''। शोधक ने असंगत पाठ को देखकर अनुमान से ऊपर ''**मृतक**'' शब्द लिख दिया। तब यह त्रुटिपूर्ण वाक्य बनाया—''**और मृतक पर्यन्त का भी दान**''। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण, मार्मिक और विकृति सूचक ऐतिहासिक तथ्य ''**स्त्री पर्यन्त**'' त्रुटित रह गया। यही मूलपाठ है और इसी पद का ऊपर के '**विषयानन्द**' '**उत्तम पदार्थ**' पदों से मुख्य सम्बन्ध है। 'मृतक' की तो ऊपर के वाक्यों से संगति ही नहीं बनती। वही त्रुटिपूर्ण पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी द्वि०सं०तथा 'उदयपुर सं०' में छपता आ रहा है। यहां मूलप्रति सं० का पाठ पूर्ण और महत्त्वपूर्ण होने से ग्राह्य है। **पाठ-पुष्टि**—ऐसी ही एक विकृत प्रथा की महर्षि ने आगे पृ० ५४० पर चर्चा और आलोचना भी की है।

३. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**कर्त्ते**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

४. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**किया**'' क्रिया का अपप्रयोग है। यहां '**कहा**' संगत और उपयुक्त क्रिया है। यह त्रुटि लिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से हुई प्रतीत होती है।

५. **पधारोगे**—जाओगे। यह राजस्थानी भाषा का प्रयोग है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० के उक्त पाठ को मुद्रणलिपिकर ने ''**ब्रह्मद्रोही**'' ''**द्रोह करने वाला**'' बदल दिया। व्यवहार में 'द्वेष' ही संगत है, द्रोह नहीं, अत: मूलह० का पाठग्राह्य है। नीचे तीसरी पंक्ति में भी 'द्वेष' प्रयोग ही है।

७. **ऋषिहस्तलेख**—''**उनका न.....योग्य है**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

८. **मुद्रण-लिपिकर की प्रमादलीला से त्रुटित पाठ की कहानी**—मुद्रण-लिपिकर ने फिर अपनी लीला कर दी। मूलहस्तलेख में यह पाठ था—''**जो कोई द्वेष करेगा वह अवश्य नष्ट होगा। परन्तु तुम तो ब्राह्मण नहीं हो।**'' मुद्रण-लिपिकर प्रमाद से दूसरे वाक्य को छोड़कर ''**प्रश्न-तो हम कौन हैं**'' लिख गया। शोधक ने संगति लगाने के लिए ''**नष्ट होगा**'' के बाद अनुमान से ''**परन्तु जो ब्राह्मण---करनी योग्य है**'' पाठ बढ़ाया किन्तु वह अन्तिम वाक्य रह गया जिस पर आधारित अगला प्रश्न वाक्य—''**तो हम कौन हैं**'' है। इस प्रश्न वाक्य की पूर्व पाठ से संगति ही नहीं बनती जब तक ''**परन्तु तुम तो ब्राह्मण नहीं हो**'' पाठ

प्रश्न—'पोप' किसको कहते हैं?

उत्तर—असल इसकी,[१] रोमन[२] भाषा में तो 'बड़े' का[३] और 'पिता' का नाम '**पोप**' है, परन्तु अब छल-कपट से दूसरे को ठगकर अपना प्रयोजन साधनेवाले को '**पोप**' कहते हैं।

प्रश्न—हम तो ब्राह्मण और साधु हैं; क्योंकि हमारा पिता ब्राह्मण और माता ब्राह्मणी [है] तथा हम अमुक साधु के चेले हैं।

उत्तर—यह सच है, परन्तु सुनो भाई! **मा-बाप ब्राह्मणी-ब्राह्मण होने से और किसी साधु के शिष्य होने पर ब्राह्मण वा साधु नहीं हो सकते, किन्तु ब्राह्मण और साधु अपने उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं, जो कि परोपकारी हों।**

सुना है कि जैसे रोम[४] के '**पोप**' अपने चेलों को कहते थे कि तुम अपने पाप हमारे सामने कहोगे, तो हम क्षमा कर देंगे। विना हमारी सेवा और आज्ञा के कोई भी स्वर्ग में नहीं जा सकता। जो तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो हमारे पास जितने रुपये जमा करोगे उतने [रुपयों] की[५] ही सामग्री स्वर्ग में तुमको मिलेगी। जब कोई लाख रुपये[६] स्वर्ग की इच्छा करके 'पोप जी' को देता था,[७] तब वे 'पोप जी' ईसा और मरियम[८] की मूर्त्ति के सामने ऐसी हुण्डी[९] लिखकर देते थे—

नहीं ग्रहण किया जाता। यही त्रुटिपूर्ण असंगत पाठ सभी द्वि० सं० में छपता आ रहा है। उदयपुर सं० में भी यही असंगत पाठ छपा है। यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण होने से ग्राह्य है।

१. **मुद्रणप्रति में अप अनुवाद**—मूलप्रति सं० में ''**असल इसकी**'' पद हैं जिनका अर्थ है—'**वास्तव में**'। सभी द्वि० सं० में इसका हिन्दी रूपान्तरण किया गया है—''**उसकी सूचना**''। यह अप-अनुवाद मुद्रण प्रति में किया गया है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० सं० में ''**रूमन**'' वर्तनी है, '**रोमन**' अपेक्षित है। द्र० इसी समु० मं पृ० ५२२ पर टि०।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**बड़ा---का नाम 'पोप' है**'' यहां '**बड़ा**' के स्थान पर '**बड़े का**' प्रयोग उपयुक्त है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**रूम**' वर्तनी है, वर्तमान में '**रोम**' प्रचलित है।

५. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**जितने रुपये जमा करोगे उतनी सामग्री**'' पाठ है। इसके स्थान पर द्वि० सं० में ''**उतने की ही सामग्री**'' कुछ ठीक संशोधन है, जो ग्राह्य है। किन्तु '**उतने रुपयों**' अधिक शुद्ध प्रयोग है।

६. **अपप्रयोग**—मूलहस्त०, मूलप्रति सं० में ''**लाख रुपया**'' अपप्रयोग है, '**लाख रुपये**' अभीष्ट है।

७. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त उपयुक्त वाक्य है—''**जब कोई लाख रुपये---पोप जी को देता था**''। मुद्रणलिपिकर ने इसके स्थान पर यह पाठ बदला—''**ऐसा सुनकर जब कोई आंख के अंधे और गांठ के पूरे स्वर्ग में जाने की इच्छा करके पोप जी को यथेष्ट रुपया देता था**''। ''**कोई**'' एकवचन पद के साथ ''**अंधे...पूरे**'' बहुवचन हैं और इन बहुवचनों के साथ ''**देता था**'' एकवचनात्मक क्रिया है, इस प्रकार यह परिवर्तित वाक्य न तो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है और न संगति की दृष्टि से। मुद्रणलिपिकर इतना मूर्ख था कि पाठ-परिवर्तन करते समय उसको दो-चार पंक्ति पूर्वापर संगति का भी ध्यान नहीं रहता था। इस पंक्ति के परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यहां एक लाख रुपये की हुंडी का उदाहरण देकर ही हुंडी के पत्र-विवरण को समझाया जा रहा है। देखिए, आगे उदाहृत पत्र में साफ एक लाख रुपये देने की बात लिखी है और एक लाख की सामग्री गिनाई है। इस पत्र से मूल हस्तलेख के वाक्य की ही संगति लगेगी, ''**यथेष्ट रुपये देने वाले**'' इस द्वि०सं० के परिवर्तित वाक्य की नहीं। यही भ्रष्ट पाठ वेस, भद, जग, युमी, विस, जस आदि सभी द्वि०सं० में छपता आ रहा है। 'उदयपुर' सं० में अर्धसंशोधन किया है। पता नहीं क्यों, हमारे विद्वान् इस खुशफहमी में हैं कि महर्षिप्रोक्त मूलप्रति का वाक्य तो अप्रामाणिक है और मुद्रण-लिपिकर का बनाया असंगत और अशुद्ध वाक्य भी प्रामाणिक है। मुद्रणलिपिकर ने सत्यार्थप्रकाश की यह दुर्गति की है और शोधक तो केवल अपना उल्लू सीधा करते थे। इस विवेचन के बाद निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ग्राह्य है, द्वि०सं० का अग्राह्य है।

८. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० में यहां ''**मर्यम**'' वर्तनी है। द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० में यहां ''**मरियम**'' वर्तनी संशोधित की है। ग्रन्थ में अन्यत्र तीन प्रकार की वर्तनियां मिलती हैं—'मरियम, मर्यम, मर्य्यम'। एकरूपता, मानकता के लिए इस संस्करण में उपर्युक्त वर्तनी ग्रहण की है। द्रष्टव्य विस्तृत टिप्पणी पृ० ८११ पर।

''हे खुदाबन्द ईसा मसी![१] अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर लाख रुपये स्वर्ग में आने के लिये हमारे पास जमा कर दिये हैं। जब वह स्वर्ग में आवे तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में पच्चीस सहस्र रुपयों में बाग-बगीचे, मकान; पच्चीस सहस्र में सवारी, नौकर-चाकर; पच्चीस सहस्र में खाने-पीने, कपड़ों, सोने-बैठने का सब सराजाम[२] और पच्चीस सहस्र इसके इष्ट मित्रों की ज़ियाफ़त[३] आदि के वास्ते दिला देना। वैसे हुंडी सिकार देना[४]।'' —सही,[५] पोप जी की।[६]

फिर उस हुण्डी के नीचे पोप जी आप 'सही' करके हुण्डी उसको देकर कहते थे कि ''जब तू मरे तब यह हुण्डी भी कब्र में[७] अपने सिरहाने[८] गाड़ने के लिये अपने कुटुम्ब को कह रखना। जब तुझे ले जाने के लिये फरिश्ते आवेंगे[९] तब तुझको और हुण्डी को ले जायेंगे और उसमें[१०] लिखे प्रमाणे चीजें तुझे दिला लेंगे।

अब देखिये,[११] जानो, स्वर्ग के ठेकेदार पोप जी ही हैं।[१२] जब-तक यूरोपीय देशों[१३] में मूर्खता थी, तब तक वहां पोपलीला चलती थी। अब विद्या के होने से झूठी लीला बहुत करके नहीं चलती, किन्तु निर्मूल भी नहीं हुई।

वैसे ही आर्यावर्त देश में भी 'पोप' जी जानो लाखों अवतार लेकर लीला फैला रहे हैं[१४]; अर्थात् राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ाने,[१५] अच्छे पुरुषों का सत्सङ्ग न होने देने, [और][१६] रात-दिन बहकाने

---

९. **हुण्डी**—व्यापारियों द्वारा दूसरे व्यक्ति को लिखा जाने वाला वह वैधानिक पत्र जिसमें लिखने वाले के दायित्व पर रुपये लेन-देन करने का निर्देश दिया होता है, या स्वयं लिये-दिये रुपयों के बदले किसी अन्य व्यक्ति को कुछ देने-लेने का निर्देश होता है।

१-५. (१) हे **खुदाबन्द ईसामसी**=हे पैगम्बर ईसा मसीह, २. **सराजाम**=स्थान और वस्त्र-बिस्तर आदि सामान, ३. **जियाफ़त**=आतिथ्य, ४. **सिकार देना**=स्वीकार करना, ५. **सही**=हस्ताक्षर।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इस अनुच्छेद के कुछ पाठों में परिवर्तन किया है, जो अप-संशोधन है। जैसे—''**बाग-बगीचे**'' के स्थान पर ''**बाग-बगीचा**'' एकवचन अशुद्ध है। ''**सवारी**'' के स्थान पर ''**सवारी-शिकारी**'' अनावश्यक और अशुद्ध पाठ है। ''**शिकारी**'' अपप्रयोग है। आगे ''**कपड़ा**'' पद है; यह ''**कपड़ों**'' उपयुक्त है, उसके स्थान पर ''**कपड़ा-लत्ता**'' ग्राम्य प्रयोग रख दिया। ''**वैसे हुंडी सिकार देना**'' पाठ उड़ा ही दिया, जो उपसंहार वाक्य के रूप में आवश्यक था। इन सभी स्थलों पर मूलप्रति सं० के पाठ ग्राह्य हैं।

७-८. **अपवर्तनियां**— दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कबर**'' और ''**सिराने**'' अपवर्तनियों के स्थान पर ''**क़ब्र**'' और ''**सिरहाने**'' वर्तनियां वांछनीय हैं। पृ० ६२८/१३ में ''**शिराने**'' अपवर्तनी है। 'सिरहाना' संस्कृत 'शिराधान' का अपभ्रंश है।

९. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**जब फरिश्ते आवेंगे**'' वाक्य का परिवर्धन करके मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह वाक्य बनाया है—''**तुझे ले जाने के लिये फरिश्ते आवेंगे।**'' यह स्पष्टार्थक परिवर्धन ग्राह्य है।

१०-११. **त्रुटित पाठ**—द्वि० सं० में यहां ''**उसमें**'' पद त्रुटित है, मूलप्रति सं० में है और संगति के लिए ग्राह्य है। मूलप्रति सं० में यहां ''**अब देखिये**'' पाठ नहीं है, द्वि० सं० में है, जो ग्राह्य है।

१२. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलसं० में उपर्युक्त व्यंग्यपूर्ण उत्तम पाठ है। मुद्रणहस्त० में लिपिकर ने इसको बदलकर यह शिथिल वाक्य बना दिया—''**जानो स्वर्ग का ठेका पोप जी ने ले लिया हो**''। यही शिथिल पाठ द्विप्र० और सभी द्वि०सं० में छप रहा है।

१३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**यूरोप देश में**'' अपप्रयोग है, यहां '**यूरोपीय देशों**' में शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है।

१४-१५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में इस वाक्य के स्थान पर यह भूतकालीन संशोधनात्मक अपपाठ बनाया है—''**जानो पोप जी ने लाखों अवतार लेकर लीला फैलाई हो।**'' पूर्वापर में निरन्तर वर्तमान की क्रियाएं हैं जो शुद्ध हैं। इसी प्रकार आगे ''**प्रजा को विद्या न पढ़ने देना**'' उपयुक्त संशोधन नहीं है, मूलप्रति का ''**न पढ़ाने**'' पाठ उचित है, क्योंकि ब्राह्मणों ने ही राजा-प्रजा को पढ़ाना बंद कर दिया था। सभी वाक्यों में प्रेरणार्थक क्रिया है।

१६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**और**'' पद आवश्यक है। दो भिन्न भावबोधक वाक्यों के प्रयोग

के सिवाय दूसरा कुछ भी काम नहीं करते।[१] परन्तु **यह ध्यान में रखना कि जो-जो कपट-छल की लीला करते हैं, वे ही 'पोप' कहाते हैं; जो उनमें भी धार्मिक विद्वान्, परोपकारी हैं, वे सच्चे ब्राह्मण और साधु हैं।** अब उन्हीं छली-कपटी स्वार्थी लोगों[२], 'मनुष्यों को ठगकर अपने प्रयोजन सिद्ध करनेवालों' का ही ग्रहण '**पोप**' शब्द से करना और '**ब्राह्मण**' तथा '**साधु**' नाम से उत्तम पुरुषों का स्वीकार करना योग्य है।

देखो, जो कोई भी उत्तम ब्राह्मण वा साधु न होता, तो वेद-शास्त्र-आदि पुस्तकों का स्वरसहित पठन-पाठन,[३] जैन, मुसलमान और ईसाई आदि से बचाकर आर्यों को वेदादि शास्त्रों[४] में प्रीतियुक्त और वर्णाश्रम में रखना कौन कर सकता ?[५]

'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्।' मनु० [२।२३९]॥

विष से भी अमृत के ग्रहण करने के समान, पोपलीला से बहकाने से भी[६] आर्यों का जैन आदि मतों से बच रहना, विष में अमृत के समान गुण समझना चाहिये।

जब यजमान विद्याहीन हुए और आप कुछ पाठ-पूजा पढ़कर, अभिमान में आके, सब लोगों ने सम्मति करके राजा आदि से कहा कि 'ब्राह्मण और साधु अदण्ड्य हैं,' देखो— '**ब्राह्मणो न हन्तव्यः**' (महाभाष्य १.२.६४) '**साधुर्न हन्तव्यः**', ऐसे-ऐसे वचन जो कि सच्चे ब्राह्मण और सच्चे साधुओं के विषय में थे, सो पोपों ने अपने ऊपर घटा लिये। और बहुत-से[७] झूठे-झूठे वचनयुक्त ग्रन्थ बनाकर, उनमें ऋषि-मुनियों के नाम धरके, उन्हीं के नाम से सुनाते रहे। उन प्रतिष्ठित ऋषि-महर्षियों के नाम से 'अविद्वान्' लोगों को मानने लगे। पश्चात् जब अपने ऊपर से[८] दण्ड की व्यवस्था उठवा दी, तो पुनः

में इसका प्रयोग अपेक्षित है।

१. **मुद्रणप्रति में अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इस अन्तिम वाक्यांश के स्थान पर "**काम नहीं करना है**" अपपाठ बनाया है, जो अग्राह्य है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह अपपाठ है—"**अब उन्हीं पोपों अर्थात् छली, कपटी, स्वार्थी लोगों.....का ग्रहण पोप शब्द से करना।**" यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधन उचित एवं ग्राह्य है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**वेदादिशास्त्र के पुस्तक स्वर सहित का पठन-पाठन**"। इसके स्थान पर "**वेद-शास्त्र-आदि पुस्तकों का स्वरसहित पठन-पाठन**" क्रमयुक्त पाठ ग्राह्य है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वेदादिशास्त्र**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचन प्रयोग अभीष्ट है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्त पाठ परिवर्धन**—इस वाक्य के उपरान्त मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह वाक्य परिवर्धित है "**सिवाय ब्राह्मण साधुओं के**"। मुद्रणलिपिकर द्वारा बढ़ाया गया यह पाठ अनावश्यक एवं पुनरुक्ति मात्र है। यह कथन ऊपर आ चुका है "**जो कोई उत्तम ब्राह्मण वा साधु न होता तो.....।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर में अपपाठ है। **अपविराम**—"**कौन रख सकता ?.....साधुओं के!**" भद, जग, द्वि०सं० में अपविरामों का प्रयोग है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बहकाने में से भी**" अपप्रयोग है। उपर्युक्त संशोधन अभीष्ट है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी यह अपप्रयोग है।

७. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**बहुत से**" पद त्रुटित हैं। मूलह०, मूलप्रति सं० में हैं और आवश्यक हैं।

८. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से त्रुटित वाक्य**—यहां मूल हस्तलेख में उपर्युक्त उचित पाठ है। पूर्व के इन दो वाक्यों में "**से**" कारक प्रत्यय की दो बार आवृत्ति के कारण लिपिकर की दृष्टि जाने-अनजाने दूसरे "**से**" पद से आगे के पाठ पर चली गयी, जिसके कारण मुद्रणप्रति में "**अविद्वान् लोगों को मानने लगे। पश्चात् जब अपने ऊपर से**" यह पाठ छूट गया। शोधन के समय शोधक ने त्रुटित पाठ के कारण हुई असंगति को दूर करने के लिए अनुमान से "**अपने ऊपर से**" पद जोड़ दिये, तब यह पाठ बना—"**ऋषि-महर्षियों के नाम से अपने ऊपर से दंड की व्यवस्था उठवा दी।**" इस प्रकार मध्य का पाठ त्रुटित रह

यथेष्टाचार करने लगे, अर्थात् ऐसे कड़े[१] नियम चलाये कि उन पोपों की आज्ञा के विना सोना, उठना-बैठना, जाना-आना,[२] खाना-पीना आदि भी नहीं कर सकते थे। राजाओं को ऐसा निश्चय कराया कि पोपसंज्ञक कहनेमात्र के ब्राह्मण [और] साधु चाहे सो करें, उनको कभी दण्ड न देना अर्थात् उन पर मन में दण्ड देने की इच्छा [भी] न करनी चाहिये।[३]

जब ऐसी मूर्खता हुई, तब जैसी 'पोपों' की इच्छा हुई, वैसा करने-कराने लगे। अर्थात् **इस बिगाड़ के मूल महाभारत युद्ध से पूर्व एक सहस्त्र वर्ष से प्रवृत्त हुए थे।** क्योंकि उस समय में ऋषि-मुनि भी थे तथापि कुछ-कुछ आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष के अंकुर उगे थे; वे बढ़ते-बढ़ते वृक्ष[४] हो गये। जब सच्चा उपदेश न रहा तब आर्यावर्त में अविद्या फैलने से परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे[५] क्योंकि—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्[६] तत्सिद्धिः ॥ इतरथान्धपरम्परा ॥ सांख्यसूत्र हैं॥ [अ० ३। सू० ७९, ८१]

जब उत्तम-उत्तम उपदेशक होते हैं तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं, और

गया। यही त्रुटिपूर्ण पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी द्वि०सं० में छप रहा है।

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलप्रति सं० में यहां "**करड़े**" प्रयोग है। दोनों सं० में '**करड़े**'-'**कड़ें**' दो वर्तनियां मिलती हैं। यहां एकरूपता और शुद्धता की दृष्टि से "**कड़े**" वर्तनी ग्राह्य है। द्वि०सं० में कहीं-कहीं "**कड़े**" पाठ बना दिया है। दोनों हस्तलेखों में "**करड़े**" बोली का पाठ मिलता है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलह०, मूलप्रति के "**आना-जाना**" पाठ के स्थान पर "**जाना-आना**" पाठ संशोधित किया है, जो ग्राह्य है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—"**अर्थात् उन पर.....करनी चाहिये**" मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित पाठ है।

४. **शोधककृत भ्रष्टवाक्य**—द्वि० सं० में यह अपवाक्य है—"**अंकुर उगे थे, वे बढ़ते-बढ़ते वृद्ध हो गये।**" यहां "**वृद्ध**" के स्थान पर "**वृक्ष**" होना चाहिए, क्योंकि अंकुर उगकर, फिर बढ़कर वृक्ष होता है, वृद्ध नहीं। मूलप्रति सं० में शुद्ध पाठ है। मुद्रण-प्रति में भी यह पाठ शुद्ध था। किसी शोधक ने भ्रान्ति से इसको '**वृद्ध**' बना दिया तो वही द्वि० सं० की प्रथमावृत्ति में छप गया। वही अपपाठ सभी द्वि० सं० में अब भी छप रहा है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने टिप्पणी में इसका बलात् अर्थ लगाया—"**बढ़ गये,**" तब यह वाक्य बनेगा—"**बढ़ते-बढ़ते बढ़ गये।**" यह भी कोई वाक्य है? अर्थात् यह वाक्यरचना ही अशुद्ध है, इस ओर पं० जी का ध्यान नहीं गया। यही अशुद्ध पाठ वेद, जग, भद, विस और जस में है। '**उदयपुर सं०**' पर अधिक आश्चर्य है कि उसके सामने शुद्ध पाठ ग्रहण करने का विकल्प दोनों हस्तलेखों और मूलप्रति सं० में था, किन्तु फिर भी उसने अशुद्ध पाठ ग्रहण किया है!!

संशोधन-पुष्टि—इसी भाव से मिलता-जुलता पाठ समु० ११, पृ० ६२७ पर द्रष्टव्य है—"**मूल ही झूठा तो वृक्ष झूठा क्यों न होगा?**"

उदयपुर सं० का अयुक्तियुक्त आग्रहपूर्ण उत्तर—उदयपुर सं० के **दूसरे, तीसरे, चौथे** लेखक ने यहां खींचातानी से का अर्थ निकालकर दुराग्रह किया है कि "वृद्ध" पाठ ही ठीक है। सबसे युक्तियुक्त बात यह है कि '**अंकुर बढ़कर वृक्ष बनता है, वृद्ध नहीं।**' इसलिए इसके साथ '**वृद्ध**' प्रयोग सटीक नहीं है। 'वृक्ष बूढ़ा हो गया', यह प्रयोग तो यहां है ही नहीं, अत: चौथे लेखक का यह कथन व्यर्थ है। **चौथे लेखक** ने पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का उत्तर 'उधार लेकर' जो यह कहा है कि इसका अर्थ है—'बढ़ते-बढ़ते बहुत बढ़ गये' यह भी संगत नहीं है। इस कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है जब मूलहस्त० में स्पष्ट, सटीक एवं युक्तिसंगत पाठ उपलब्ध है—"**अंकुर बढ़ते-बढ़ते वृक्ष हो गये।**" यही ग्राह्य है, जो शुद्ध भी है, स्पष्ट भी है और महर्षिप्रोक्त भी है, उसको ग्रहण करने में भी आपको क्या आपत्ति है? 'वृक्ष' शब्द मुद्रणप्रति में किसने लिखा है, यह अलग प्रश्न है। उदयपुर सं० में अपने विवेक से न जाने कितने महर्षिलिखित शब्दों और पाठों को आपने परिवर्तित कर दिया है। यहां व्यर्थ आग्रह क्यों? और अर्थ में व्यर्थ तथा बेतुकी खींचातानी क्यों?

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यह पाठ है—"**अविद्या फैलकर आपस में लड़ने लगे**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का उपर्युक्त पाठ परिष्कृत है।

६. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**उपदेश्यो उपदेष्टृत्वात्**" अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन कर लिया गया है।

जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते तब अन्धपरम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष होकर[१] सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्धपरम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है।

पुनः वे 'पोप' लोग अपनी और अपने चरणों की पूजा कराने लगे और कहने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। जब ये लोग उनके[२] वश में हो गये, तब प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर गडरिये के समान झूठे गुरु और चेले फसे। विद्या, बल, बुद्धि, पराक्रम, शूरवीरतादि शुभगुण सब नष्ट होते चले गये। पश्चात् जब विषयाक्त हुए तो मांस-मद्य का सेवन गुप्त-गुप्त करने लगे।

पश्चात् उन्हीं में से[३] एक **वाममार्ग** खड़ा किया। **'शिव उवाच' 'पार्वत्युवाच' 'भैरव उवाच'** इत्यादि नाम लिखकर उन [ग्रन्थों] का **'तन्त्र'** नाम धरा। उनमें ऐसी-ऐसी विचित्र लीला की बातें[४] लिखीं कि—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च। एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे॥ १॥

[तुलना—कौलावलीनिर्णय ४। २४-२८; महानिर्वाणतन्त्र १। ५७, ५। २२ आदि]॥

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः। निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्-पृथक्॥ २॥

[कौलावलीनिर्णय ८। ४८-४९; महानिर्वाणतन्त्र ८। १७-९; कुलार्णवतन्त्र ८। ९६]॥

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ ३॥ [कुलार्णवतन्त्र ७। १००]॥

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु॥ ४॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव। एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव॥ ५॥

[ज्ञानसंकलनीतन्त्र; हठयोगप्रदीपिका उपदेश ४। ३५]॥

देखो, इन गवरगण्ड पोपों की लीला कि जो वेदविरुद्ध महा-अधर्म के काम हैं उन्हीं को श्रेष्ठ, वाममार्गियों ने माना। मद्य, मांस, मीन अर्थात् मच्छी; मुद्रा=पूरी, बड़े, रोटी आदि चर्वण[५], योनि अर्थात् पात्राधार मुद्रा और पांचवां मैथुन अर्थात् पुरुष सब 'शिव' और स्त्रियां[६] सब **'पार्वती'** के समान

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत सिद्धान्त-विरुद्ध भ्रष्टपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां **''सत्पुरुष उत्पन्न होकर''** भ्रष्ट पाठ है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। सत्पुरुष जन्म से उत्पन्न नहीं होते, आचरण से बना करते हैं। देखिए, प्रथम वाक्य में **''होते हैं''** प्रयोग है, **''उत्पन्न होते हैं''** नहीं। मुद्रणलिपिकर की यह जन्माधारित धारणा अवतारवाद से प्रेरित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''इनके''** अपप्रयोग है, **''उनके''** अपेक्षित है।

३-४. **उचित पाठ-परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के **''पश्चात् एक वाममार्ग खड़ा किया''** के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने **''पश्चात् उन्हीं में से एक.....''** पाठ बनाया है, जो ग्राह्य है। आगे **''ऐसी-ऐसी बातें''** के स्थान पर **''ऐसी-ऐसी विचित्र लीला की बातें''** पाठ परिवर्धन भी ग्राह्य है। द्विप्र०, द्वि०सं० के इन परिवर्धित पाठों में तथ्यों की स्पष्टता है, वैशिष्ट्य है।

५. **चर्वण**=चबेना, **मुद्रा**=भोजन। चावल, जौ, गेहूं का घृत मिश्रित अथवा घी में पका व्यंजन उत्तम मुद्रा, केवल भुना हुआ मध्यम और बीज रहित भुने व्यंजन 'अधम' मुद्रा हैं (महानिर्वाण तन्त्र उ० ५)।

इस भोजन सम्बन्धी 'मुद्रा' के अतिरिक्त उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है 'स्त्री योनि' जिसे 'पात्राधार मुद्रा' भी कहते हैं। ग्रन्थकार ने इसको अन्यत्र इस प्रकार स्पष्ट किया है—**''शैवों ने सम्मति करके भग-लिंग का स्थापन किया जिसको जलाधारी और लिंग कहते हैं''** (समु० ११, पृ० ५६२)। वाममार्गियों में स्त्री के बिना कोई साधना पूर्ण नहीं मानी जाती। ये अधर्मी लोग अनाचारों में ही मोक्ष मानते हैं जो धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण है। ऐसी ही दुष्टताओं से 'धर्म' का नाम बदनाम हुआ है। यदि इन अनाचारों से मुक्ति मानी जायेगी तो दुनिया में पाप-अधर्म और कुकर्म किन कर्मों को कहा जायेगा?

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां **''स्त्री''** एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त अपेक्षित है।

मानकर—

''अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु सङ्गमः ॥'' [कुलार्णवतन्त्र, उल्लास ८।९७, १०२]॥

चाहे कोई पुरुष वा स्त्री हो, इस ऊट-पटांग वचन को पढ़के, समागम करने में वे वाममार्गी दोष नहीं मानते। अर्थात् जिन अपवित्र[१] स्त्रियों को छूना [उचित] नहीं, उनको अतिपवित्र उन्होंने माना है; जैसे, शास्त्रों में रजस्वला आदि स्त्रियों के स्पर्श का निषेध है, उनको वाममार्गियों ने अतिपवित्र माना है।[२] सुनो, इनका श्लोक अंड-बंड[३]—

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता।
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता॥ इत्यादि [रुद्रयामलतन्त्र]॥

रजस्वला के साथ समागम करने से जानो पुष्कर का स्नान, चाण्डाली से समागम से[४] काशी की यात्रा, चमारी से समागम करने से मानो प्रयागस्नान, धोबी की स्त्री के साथ समागम करने से[५] मथुरायात्रा और कंजरी के साथ लीला करने से मानो अयोध्या-तीर्थ कर आये। मद्य का नाम 'तीर्थ', मांस का नाम 'शुद्धि' और 'पुष्प', मच्छी का नाम 'तृतीया' और 'जलतुम्बिका', मुद्रा का नाम 'चतुर्थी', और मैथुन का नाम 'पञ्चमी'; इसलिये ये नाम रक्खे हैं कि जिससे दूसरा न समझ सके। अपने नाम कौल, आर्द्र, वीर, शाम्भव और गण आदि रक्खे हैं और जो वाममार्ग मत में नहीं हैं, उनके 'कण्टक', 'विमुख', 'शुष्कपशु' आदि नाम धरे हैं[६]॥ १॥

और कहते हैं कि जब भैरवीचक्र [प्रवृत्त][७] हो तब उसमें ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल-पर्यन्त का नाम **'द्विज'** हो जाता है और जब भैरवीचक्र से अलग हों, तब सब अपने-अपने वर्णस्थ हो जायें॥ २॥

भैरवीचक्र में वाममार्गी लोग भूमि वा पट्टे पर एक बिन्दु, त्रिकोण, चतुष्कोण [वा][८] वर्त्तुलाकार बनाकर उसपर मद्य का घड़ा रखके उसकी पूजा करते हैं; फिर ऐसा मन्त्र पढ़ते हैं—

'ब्रह्मशापं विमोचथ'=हे मद्य! तू ब्रह्मा आदि के शाप से रहित हो।

एक गुप्त स्थान में, कि जहां सिवाय वाममार्गी के दूसरे को नहीं आने देते, वहां स्त्री और पुरुष इकट्ठे होते हैं। [पुरुष][९] एक स्त्री को नंगी कर पूजते और स्त्री लोग किसी पुरुष को नंगा कर पूजती

---

१. **उपयुक्त प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां न छूने का आधार '**अपवित्रता**' को माना है और उसका विपरीतार्थक '**अतिपवित्र**' प्रयोग किया है। यहां प्रयुक्त ''**नीच**'' पद अतिपवित्र के विपरीतार्थक रूप में अनुपयुक्त है तथा अनभीष्ट अर्थ को प्रकट करता है, अतः उसके स्थान पर '**अपवित्र**' प्रयोग उपयुक्त है—''जिन अपवित्र स्त्रियों को छूना उचित नहीं।''

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**अंड-बंड**' प्रयोग अभीष्ट है। इसका अर्थ है—अनाप-शनाप, ऊटपटांग। खंड-बंड का अर्थ है—टूटा-फूटा।

३. **ऋषिहस्तलेख**—''**आदि स्त्रियों.....अंड-बंड**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में कारक प्रत्यय के प्रयोग की अव्यवस्था है। तीन स्थानों पर ''**से**'' है और दो स्थान पर ''**में**'' है। शुद्धता और एकरूपता की दृष्टि से '**से**' ग्रहण किया है।

६. **अयोग्य लिपिकर द्वारा अपवाक्य रचना**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह अपवाक्य है—''**उनका.....शुष्कपशु आदि नाम धरे हैं।**'' इसको मुद्रणप्रति में किसी शोधक ने अशुद्ध किया है। यही अपवाक्य वेस, भद, जग, युमी, विस आदि सभी द्वि०सं० में है। 'उदयपुर' सं० में भी यही अपवाक्य है। जस में शुद्ध है।

७-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में बृहत् कोष्ठक के पद त्रुटित रह गये हैं। ये पूर्ण पाठ के लिए ग्राह्य हैं।

हैं। वहां[१] कोई किसी की स्त्री, कोई अपनी वा दूसरे की कन्या, कोई किसी की वा अपनी माता, भगिनी, पूत्रवधू आदि आती हैं। पश्चात् एक पात्र में मद्य भरके, मांस और 'बड़े' आदि एक स्थाली में धर रखते हैं। उस मद्य के प्याले को, जो कि उनका आचार्य होता है, हाथ में लेकर[२] '**भैरवोऽहम्**' '**शिवोऽहम्**'='मैं भैरव वा शिव हूँ' बोलके पी जाता है।[३] उसी जूठे पात्र से सब पीते हैं।

और जब किसी की स्त्री वा वेश्या को[४] नंगी कर अथवा किसी पुरुष को नंगा कर हाथ में तलवार देके उसका नाम देवी और पुरुष का नाम महादेव धरते हैं, और उनकी उपस्थ इन्द्रिय की पूजा करते हैं, तब उस देवी वा शिव को मद्य का प्याला पिलाकर, उसी जूठे पात्र से सब लोग एक-एक प्याला पीते हैं।[५] फिर उसी प्रकार क्रम से पी-पीके[६] उन्मत्त होकर, चाहे कोई किसी की बहिन, कन्या वा माता हो, जिसके साथ जिसकी इच्छा हो, कुकर्म करते हैं। कभी-कभी बहुत नशा चढ़ने से जूतों-लातों से[७] और 'मुष्टा-मुष्टि'=मुक्का-मुक्की,[८] 'केशा-केशि' एक-दूसरे के [केश नोच-नोचकर][९] आपस में लड़ते हैं।[१०] किसी-किसी को वहीं वमन होता है। उनमें जो पहुँचा हुआ '**अघोरी**' अर्थात् सब में सिद्ध गिना जाता है, वह वमन हुई चीज को भी खा लेता है। अर्थात् इनके सबसे बड़े सिद्ध की ये बातें हैं कि—

हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे, सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु।
विराजते कौलवचक्रवर्ती॥ [कुलार्णवतन्त्र, उल्लास ९]॥

जो 'दीक्षित' अर्थात् कलार के घर में जाके बोतल पर बोतल चढ़ावे, रण्डियों के घर में जाके उनसे कुकर्म करके सोवे इत्यादि कर्म जो[११] निर्लज्ज, निःशंक होकर करे, वही वाममार्गियों में सर्वोपरि-मुख्य, चक्रवर्ती राजा के समान माना जाता है; अर्थात् जो बड़ा कुकर्मी वही उनमें बड़ा, और जो अच्छे काम करे और बुरे कामों से डरे वही छोटा। क्योंकि—

पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदा शिवः॥

[ज्ञानसंकलनीतन्त्र, श्लो० ४३]॥

ऐसा 'तन्त्र' में कहते हैं कि जो लोकलज्जा, शास्त्रलज्जा, कुललज्जा, देशलज्जा आदि पाशों में बँधा है वह 'जीव', और जो निर्लज्ज होकर बुरे काम करे, वही 'सदा-शिव' है॥ २॥

१-२. **अपसंशोधन**—क्रमशः, यहां मूलह० में '**पुनः**' असंगत पद है, मूलप्रति का ''**वहां**'' ठीक है। आगे संख्यांक चार पर द्वि० सं० में ''**बोलता है**'' व्यर्थ परिवर्धन है क्योंकि आगे ''**बोलके**'' पाठ है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**पीता है**'' के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**पी जाता है**'' संशोधन उपयुक्त है।

४-६. **त्रुटित पद**—क्रमशः, द्वि० सं० में ''**को**'', ''**हैं**'' पद त्रुटित हैं। मूलप्रति सं० में ''**के**'' पद त्रुटित है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जूते, लात**'' अपप्रयोग हैं, ''**जूतों-लातों से**'' अपेक्षित है।

८. **द्वितीय सं० में महर्षिलिखित पद त्रुटित—मुष्टा-मुष्टि**=मुक्कों से लड़ना। यह संस्कृत में मुहावरा है। मुद्रण०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इसका अनुवाद मात्र दिया है, संस्कृत पद मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया है। ये संस्कृत पद महर्षि ने अपने हाथ से जोड़े हैं। अन्य सभी सं० में भी त्रुटित हैं।

९. **केशा-केशि**=एक-दूसरे के केश खींच-खींच कर लड़ना। द्वि० सं० में '**केशा-केशी**' अपवर्तनी है।

१०. **अन्यत्र वर्णन**—ऐसा ही वर्णन समु० ११ में पृ० ६५६ पर द्रष्टव्य है।

११. **स्थानभ्रष्ट पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**जो**'' पद ''**इत्यादि**'' से पूर्व अशुद्ध है। ''**इत्यादि कर्म**'' आसत्ति सम्बन्ध के अनुसार सभी वाक्यांशों के बाद रखना शुद्ध है। वेस, भद, युमी, जग, विस, उदयपुर सं० में स्थानभ्रष्ट है।

'**उड्डीस तन्त्र**' आदि में एक प्रयोग लिखा है कि एक घर में चारों ओर आलय हों। उनमें मद्य की[१] बोतल भरके धर देवे। इस आलय से एक बोतल पीके, दूसरे आलय पर जावे। उसमें से पीके तीसरे और तीसरे में से पीके चौथे आलय पर[२] जावे। खड़ा-खड़ा तब तक मद्य पीवे कि जब तक लकड़ी के तुल्य पृथिवी पर[३] न गिर पड़े। फिर जब नशा उतरे तब उसी प्रकार पीके गिर पड़े। और पुनः तीसरी वार इसी प्रकार पीके, गिरके उठे, तो उसका पुनर्जन्म न हो; अर्थात्[४] सच तो यह है कि ऐसे मनुष्यों का पुनः मनुष्यजन्म होना ही कठिन है, अपितु वे नीच योनि में [गिरकर] बहुकालपर्यन्त पड़े रहेंगे[५] ॥ ३ ॥

वामियों के तन्त्र-ग्रन्थों में यह नियम है कि एक माता को छोड़के किसी स्त्री को 'न छोड़ना चाहिये' अर्थात् चाहे कन्या वा भगिनी आदि क्यों न हो; सबके साथ संगम करना चाहिये। इन वाममार्गियों में **दश महाविद्यायें**[६-७] प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक **मातङ्गी** विद्यावाला कहता है कि '**मातरमपि न त्यजेत्**' अर्थात् माता को भी समागम किये विना न छोड़ना चाहिये। और स्त्री-पुरुष के समागम समय में मन्त्र जपते हैं कि हमको सिद्धि प्राप्त हो जाय। ऐसे पागल मनुष्य भी संसार में बहुत न्यून होंगे ॥ ४ ॥

जो मनुष्य झूठ चलाना चाहता है, वह सत्य की निन्दा अवश्य ही करता है। देखो, ये वाममार्गी क्या कहते हैं—'वेद, शास्त्र और पुराण ये सब सामान्य वेश्याओं के तुल्य हैं और जो यह '**शाम्भवी**' वाममार्ग की मुद्रा है, वह गुप्त-कुल[८] की स्त्री के तुल्य है' ॥ ५ ॥

इसीलिये इन लोगों ने सर्वथा वेदविरुद्ध मत खड़ा किया है। पश्चात् इन लोगों का मत बहुत चला। तब धूर्त्तता करके वेदों के नाम से भी वाममार्ग की लीला थोड़ी-थोड़ी चलाई। अर्थात्—

सौत्रामण्यां सुरां पिबेत् ॥ १ ॥ [तु० शत० ब्रा०, कां० १२।३।५।२ तथा ब० ४। कं० ५] ॥

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मद्य के बोतल**'' और ''**आलय में**'' अपप्रयोग हैं, यहीं '**की**' और '**पर**' कारक प्रयोग अपेक्षित हैं, जैसाकि ''**दूसरे आलय पर**'' ऊपर शुद्ध प्रयोग है। अन्य सभी तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**पृथिवी में न गिर पड़े**'' अपवाक्य है, '**पृथिवी पर**' प्रयोग वांछित है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध है।

४. **त्रुटित पाठ नहीं—स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने यहां टिप्पणी दी है कि '**अर्थात्**' के बाद कुछ पाठ त्रुटित है। महर्षि की यह शैली है कि वे अर्थात् कहकर कभी-कभी निष्कर्ष देते हैं। यहां भी पुनर्जन्म न होने का व्यंग्यार्थ में निष्कर्ष है। **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम स्वामी सच्चिदानन्द जी) का यह मत सही है कि ''यहां स्वामी वेदानन्दजी का विचार उचित नहीं है।''

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां यह अपवाक्य है—''**किन्तु नीच योनि में पड़कर बहुकालपर्यन्त पड़ा रहेगा।**''''**पड़कर---पड़ा रहेगा**'' यह शिथिलतम वाक्य है। यह मुद्रणलिपिकर द्वारा किया गया परिवर्तन है। मूलह०, मूलसं० में ''पड़कर'' पद नहीं है। पूर्व वाक्य के सम्बन्ध से यह वाक्य बहुवचनात्मक अभीष्ट है। सभी वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि सं० तथा 'उदयपुर' सं० में शिथिल वाक्य रचना है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**दश महाविद्या**'' अपप्रयोग है, '**दश महाविद्यायें**' प्रयोग अभीष्ट है। **संशोधन-पुष्टि**—बहुवचनात्मक शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है समु० ११ में पृ० ६५५ पर।

७. **दश महाविद्यायें**—वाममार्गियों की दश उपास्य देवियां हैं। उन्हीं से सम्बन्धित ज्ञान, पूजा-उपासना आदि विद्याओं को दश महाविद्याएं कहते हैं। वे हैं-तारा, काली, भुवनेश्वरी, षोडशी, भैरवी, छिन्नमस्ता, बगलामुखी, धूमावती, मातंगी, दुर्गादेवी। वाममार्गी इन स्त्रीतत्त्वों को अनादि प्रकृति का प्रतीक मानकर पूजते हैं।

८. **गुप्त-कुल**=वह कुल जिसमें स्त्रियों को रनिवास या पर्दे में सुरक्षित रखा जाता है।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्॥ २॥ [मनु० ५।२७]॥

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति॥ ३॥ [तुलना—मनु० ५।४४]॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ ४॥ मनु० [५।५६]

'सौत्रामणी'[१] यज्ञ में मद्य पीवे।' इसका [सत्य][२] अर्थ तो यह है कि सौत्रामणी[३] यज्ञ में '**सोमरस**' अर्थात् सोमवल्ली का रस पीये॥ १॥[४,५]

'प्रोक्षित' अर्थात् यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं।' ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं॥ २॥

उनसे पूछना चाहिये कि जो वैदिकी हिंसा हिंसा न हो तो तुझको[६] और तेरे कुटुम्ब को मारके होम कर डालें तो क्या चिन्ता है?॥ ३॥

मांसभक्षण करने, मद्य पीने, परस्त्रीगमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकरपन है;[७] क्योंकि विना प्राणियों को[८] पीड़ा दिये मांस प्राप्त ही नहीं होता, और विना अपराध के पीड़ा देना धर्म का काम नहीं। मद्यपान का तो सर्वथा निषेध ही है; क्योंकि अब तक वाममार्गियों के ग्रन्थों के सिवाय[९]

१,३. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में दोनों स्थानों पर संस्कृत-व्याकरणानुसार "**सौत्रामणी**" दीर्घ-ईकारान्त पद चाहिए। "**सौत्रामणि**" वर्तनी अशुद्ध है। मूलह०, मूलसं० में युमी, विस, उदयपुर में संशोधित है। वेस, जग, भद, जस में अपवर्तनी है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अर्थ की स्पष्टता और संगति के लिए '**सत्य**' पद का परिवर्धन आवश्यक है।

४. **सुरा अर्थात् ओषधियों का रस**—वैदिक साहित्य को पढ़ने से ज्ञात होता है कि सोमलता का रस '**सोमरस**' कहाता था, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। सभी ओषधियों, फलों आदि के—रस, जूस को और अर्क को सामान्यत: '**सुरा**' कहा जाता था। यहां तक कि जल का भी एक नाम सुरा था—"**सुरा उदक नाम**" (निघण्टु १.१२)=जल को '**सुरा**' कहते हैं। शायद यह उबाले हुए स्वच्छ जल का नाम था। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—"**अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरा**" (१२.८.१.४) उबालकर शुद्ध किया जल और ओषधियों का रस, इनको सुरा कहते हैं। यह भी स्पष्ट कहा है कि सोम और सुरा में प्रयोग मात्र का ही अन्तर था—"**पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा**" (तै० ब्राह्मण १.३.३.४)=पुंल्लिंग में जिसे सोम कहते हैं, स्त्रीलिंग में उसे सुरा कहते हैं। ऐसा संकेत मिलता है कि जहां सुरा की निन्दा है वहां मादक ओषधियों के रस या अर्क की निन्दा है, क्योंकि सुरा से जो ऊर्जा, बल प्राप्त करने का प्रयोजन है वह मादक ओषधियों के रस से नष्ट हो जाता है। वहां मादकता प्रधान हो जाती है जो बुद्धि पर दुष्प्रभाव डालती है। बलप्रद ओषधियों के रस, जूस, अर्क आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला '**सुरा**' पद धीरे-धीरे '**शराब**' के अर्थ में रूढ़ होता गया जब लोग मादक ओषधियों का रस, अर्क आदि अधिक पीने लगे। किन्तु वैदिक साहित्य में मूल अर्थ 'शराब' नहीं है।

५. **अपक्रिया वर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**पिये**" अपवर्तनी है। मूलसं० में शुद्ध है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तुझ**" पद का बिना सर्वनाम के प्रयोग है, "**तुझको**" वांछनीय है।

७. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**छोकड़पन**" प्रयोग मुद्रणलिपिकर का अपनी बोली का प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने "**छोकरपन**" को लिखते समय उसे अपनी वर्तनी में लिख दिया। हिन्दी में यह वर्तनी नहीं है। मूलहस्त०, मूलसं० में भी नहीं है।

८. **अपप्रयोग**—द्विप्र०, द्वि० सं० में "**प्राणियों के पीड़ा**" अपप्रयोग है, "**को**" प्रयोग अपेक्षित है। मुद्रणह०, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० तथा अन्य सभी सं० में अशुद्ध है।

९. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में यह अटपटा अपवाक्य है—"**वाममार्गियों के विना किसी ग्रन्थ में नहीं।**" इस संस्करण में इस वाक्य को स्पष्ट कर दिया है। मूलह० में '**सिवाय**' प्रयोग है। उसके अशुद्ध हिन्दीकरण के कारण यह गड़बड़ हुई है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यही अटपटा वाक्य है।

किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा, किन्तु सर्वत्र निषेध है। और विना विवाह के मैथुन में भी दोष है, इसको निर्दोष कहनेवाला सदोष है॥ ४॥

ऐसे-ऐसे वचन ऋषियों के ग्रन्थों में[१] भी डालके, कितने ही ऋषि-मुनियों के नाम से ग्रन्थ बनाकर '**गोमेध**', '**अश्वमेध**' नाम के यज्ञ भी कराने लगे थे। अर्थात् 'इन पशुओं को मारके होम करने से यजमान और पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है' ऐसी प्रसिद्धि की। निश्चय[२] तो यह है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में **अश्वमेध, गोमेध, नरमेध** आदि शब्द हैं, उनका ठीक-ठीक अर्थ नहीं जाना है; क्योंकि जो जानते तो ऐसा अनर्थ क्यों करते?

प्रश्न—अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्दों का अर्थ क्या है?[३]

उत्तर—इनका अर्थ यह है कि—

राष्ट्रं वा अश्वमेधः॥ शतपथब्राह्मणे [१३।१।६।३]॥ **अग्निर्वा अश्वः॥**[४] [३।६।२।५]॥

आज्यं मेधः॥ ["**मेधो वा आज्यम्**" तैत्ति०ब्रा० ३।९।१२।१]॥

अन्नꣳहि गौः॥ [शत० ब्रा० ४।३।१।२५]॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ग्रन्थ**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त अपेक्षित है।

२. **शोधक द्वारा अपपाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ था, किसी शोधक ने भूल से कटिंग करके उसको अशुद्ध बना दिया। वह अशुद्ध पाठ मुद्रणह० और द्विप्र० में इस प्रकार है—"**प्राप्ति होती है ऐसी प्रसिद्धि का निश्चय**"। मूलसं० में शुद्ध है। द्वि०सं०, 'उदयपुर' सं० में संशोधित है।

३. **अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि के अर्थ में प्रमाण**—

(क) अश्वमेध—यह राष्ट्रसम्बन्धी यज्ञ है। चक्रवर्ती बनने के सामर्थ्यवाला अथवा चक्रवर्ती बन चुका राजा ही इसका अनुष्ठान कर सकता था (गोपथ ब्रा० १.५.८; तैत्तिरीय ब्रा० ३.८.९.४)। उसके उपरान्त वह '**स्वराट्**' उपाधि धारण करता था। शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्र-रक्षा रूप कार्य को अश्वमेध कहा है—

"**राष्ट्रं वै अश्वमेधः। राष्ट्र एते व्यायच्छन्ति ये अश्वं रक्षन्ति।**" (१३.१.६.३)

अर्थात्—राष्ट्र को अश्वमेध कहते हैं। जो यज्ञीय अश्व की रक्षा करते हैं वे जानो राष्ट्र की रक्षा करते हैं। अन्यत्र "**अश्वं वै क्षत्रः**" (१३.२.२.१५) कहकर अश्व को क्षत्रिय का प्रतीक माना है। इस प्रकार यह राष्ट्रयज्ञ और क्षत्रिय यज्ञ है।

व्याकरण के अनुसार 'मेध' शब्द 'मेधृ' धातु से बना है जिसके अर्थ हैं—संगमन, संगति, समृद्धि, एकत्रीभाव आदि। 'यज्' धातु का भी संगति, देवपूजा और दान है। इस आधार पर यह 'यज्ञ' का पर्याय भी है (निघण्टु ३.१७)।

(ख) गोमेध—गोमेध का अर्थ गो जाति की स्वास्थ्यवृद्धि, समृद्धि करना, उसी का नाम '**गोयज्ञ**' है। काठकगृह्यसूत्र का स्पष्ट प्रमाण द्रष्टव्य है—"**गावो भग इति प्रसूतानां स्वास्थ्यं पुनः सगर्भं ग्रहणाद्यर्थाय वसन्ते यज्ञो गोयज्ञः**" (१७.१)=वसन्त में, प्रसूत गायों के स्वास्थ्य को पुनः समर्थ बनाने के लिए उपाय विशेष करना तथा गायों-बैलों के कल्याणार्थ अनुष्ठान करना '**गोयज्ञ**' कहलाता है। पाठक विचारें कि इससे स्पष्ट अर्थ और प्रमाण क्या हो सकता है?

(ग) नरमेध—अन्त्येष्टि के अतिरिक्त इसके प्रकरणानुसार '**नृयज्ञ**' और '**अतिथियज्ञ**' भी पर्याय हैं (विष्णुधर्म सूत्र ५.९.२५; मनुस्मृति ३.७०—"**नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्**") ऐसे ही '**पितृमेध**' का '**पितृयज्ञ**' पर्याय है। गृहस्थ रूप यज्ञ को करनेवाले को '**गृहमेधिन्**' कहा जाता है (गोपथ ब्रा० १.५.९, २.५.३; मनु० ४.३१, ६.२७) आदि।

भ्रान्त लोगों के समान यदि '**मेध**' का अर्थ '**बलि**' किया जायेगा तो अनर्थ हो जायेगा। तब तो '**गृहमेध**' का अर्थ 'गृहस्थ की बलि या' 'गृह-बलि', '**पितृमेध**' का अर्थ 'पितरों की बलि' करना होगा, जो सर्वथा अशुद्ध है। अतः 'मेध' का '**यज्ञ**' अर्थ ही यहां संगत है।

४. **स्थानभ्रष्ट उद्धरण**—यहां 'अश्वमेध' पद की व्याख्या के क्रम से पहले 'अश्व' और फिर 'मेध' विषयक उद्धरण होना अभीष्ट है। प्रचलित पाठ में सभी सं० में पहले 'मेध' और फिर 'अश्व' विषयक उद्धरण है। इस सं० में क्रम में संशोधन किया है।

संशोधन की पुष्टि—इस संशोधित क्रम की पुष्टि अन्यत्र पाठ से हो जाती है। महर्षि ने उपदेश मंजरी में यही क्रम स्वीकार किया है—"**अग्निर्वा अश्वः**", "**आज्यं मेधः**" (पृ० ४७, उपदेश ७)

घोड़े, गाय आदि पशुओं तथा मनुष्यों को मारके होम करना कहीं नहीं लिखा।[१] किन्तु यह भी बात वाममार्गियों ने चलाई [है][२] **और जहां-जहां लेख है, वह-वह भी वाममार्गियों ने प्रक्षेप किया है।** देखो, राजा द्वारा न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करना, विद्यादि का देनेहारा [होना],[३] यजमान होकर अग्नि में घी आदि का होम करना '**अश्वमेध**';[४] अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथिवी आदि को पवित्र रखना '**गोमेध**'; जब मनुष्य मर जाय, तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना '**नरमेध**' कहाता है।

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि 'यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी [होते हैं][५] तथा होम करके फिर पशु को जीवित करते थे; यह बात सच्ची है वा नहीं?

उत्तर—नहीं। जो स्वर्ग को जाते हों तो ऐसी बात कहनेवाले को मार, होमकर, स्वर्ग में पहुँचाना चाहिये; वा उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार होमकर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचाते? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते?[६]

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं तब वेदों के मन्त्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होते[७] तो कहां से पढ़ते?

उत्तर—मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उनका अर्थ ऐसा नहीं है कि 'पशु को मारके होम करना।' जैसे '**अग्नये स्वाहा**' [गो०गृ०सू० १।८।२४] इत्यादि मन्त्रों का अर्थ है—'अग्नि में हवि, पुष्ट्यादिकारक घृतादि उत्तम पदार्थों का[८] होम करने से वायु, वृष्टि, जल शुद्ध होकर जगत् को सुखकारक होते हैं', परन्तु इन सत्य अर्थों को वे मूढ़ नहीं समझते थे; क्योंकि **जो स्वार्थबुद्धि होते हैं, वे अपने स्वार्थ को पूरा[९] करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं जानते-मानते।**

जब इन पोपों का ऐसा अनाचार देखा,[१०] और दूसरा, मरे का तर्पण-श्राद्धादि करने को देखकर एक

---

१. **अपप्रयोग**—सभी सं० में "**पशु**", "**मनुष्य**" बहुवचनान्त अपेक्षित हैं। "**आदि**" पद के सम्बन्ध से बहुवचन प्रयोग शुद्ध है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित रह गई है।

३. **विद्या देनेहारा**—ग्रन्थकार ने यहां '**अश्वमेध**'=राष्ट्रसंचालन यज्ञ के अन्तर्गत विद्या प्राप्त कराने का प्रबन्ध करना राजा का कर्त्तव्य माना है। यह महर्षि की मौलिक सोच है। आज के शासन की भी यही नीति है। महर्षि ने लिखा है—"**कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्=राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना।**" (समु० ३, पृ० ८१, १४४) अतः इस राष्ट्रिय कर्त्तव्य को 'अश्वमेध यज्ञ' के अन्तर्गत रखा है।

४. **अस्पष्ट, अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रियाओं के तालमेल से रहित और अस्पष्ट यह पाठ मिलता है—"**राजा न्याय धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का देनेहारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना 'अश्वमेध'**"। इसको उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट किया है।

५-६. **त्रुटित आवश्यक क्रियाएं**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**होते हैं**" क्रिया त्रुटित रह गई है। आगे मूलह०, मूलप्रति सं० के "**जिलाते**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का "**जिला लेते**" पाठ उपयुक्त है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ है—"**जो वेद/वेदों में न होता।**" पूर्ववाक्य में प्रयुक्त बहुवचन के सम्बन्ध से "**जो वेदों में न होते**" शुद्ध पाठ होगा।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पदार्थों के होम**" अपप्रयोग है, '**पदार्थों का होम**' पाठ चाहिए। अन्य सभी सं० में भी अशुद्ध है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है—"**वे केवल स्वार्थ करने के दूसरा कुछ नहीं जानते-मानते।**" मूलह०, मूलप्रति सं० में है—"**वे अपने स्वार्थ करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं जानते।**" इस संस्करण में इस पाठ को पूर्ण कर दिया है। अन्य सभी द्वि०सं० तथा 'उदयपुर' सं० में त्रुटित अपपाठ है।

१०. '**चरक संहिता**' **के मत से पशुवध के अनाचार का आरम्भ**—'**चरक संहिता**' में एक संदर्भ आता है जिससे यज्ञ में पशुहिंसा के प्रचलन के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं—

महाभयंकर वेदादि-शास्त्रनिन्दक, 'बौद्ध वा[१] जैन' मत प्रचलित हुआ है। सुनते हैं कि इसी देश में गोरखपुर का राजा था, उससे पोपों ने यज्ञ कराया। उसकी प्रिय राणी[२] का समागम घोड़े के साथ कराने से मरने पर, वैराग्यवान् होकर अपने पुत्र को राज्य दे, साधु हो, पोपों की पोल निकालने लगा। इसी [प्रकार के कारणों से नास्तिक मत] के शाखारूप '**चार्वाक**'[३] और '**आभाणक**' मत भी हुए थे।[४] उन्होंने इस प्रकार श्लोक बनाये हैं—

''**आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्त-नाभाग-इक्ष्वाकु-रिष्ट-शर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रदर्शितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यात्—असात्यत्वाद्- अस्तोपयोगात्-स्वाद्वनुपयोगाच्च-उपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।**'' (चरकसंहिता, चिकित्सास्थान अ० १९, खण्ड ३)

अर्थ—निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुवध नहीं होता था, प्रेमप्रदर्शनार्थ केवल उनका स्पर्श, प्रदर्शन या उन पर चित्र-चित्रण किया जाता था। (जैसे आजकल दीपावली-उत्सव में गोपूजा की जाती है और गायों पर चित्रकारी की जाती है) दक्ष-यज्ञ के बाद के समय में वैवस्वत मनु के पुत्रों नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, रिष्ट, शर्याति आदि के यज्ञों में पहले-पहल पशुवध को स्वीकृत कर पशुओं का वध हुआ। उसके बाद किसी समय मनु वंशी राजा पृषध्र ने एक दीर्घसत्र (यज्ञ) किया। उसमें उसको बलि के लिए पर्याप्त पशु नहीं मिले तो उसने गोवंश वध को प्रवृत्त कर दिया। गोवंश का वध हुआ जानकर प्रजाएं व्यथित और आक्रुष्ट हो गईं। गोवंश का मांस खाने में गुरु=देर से पचनेवाला, ऊष्ण, मनुष्य शरीर के प्रतिकूल, अखाद्य, स्वादहीन और पाचकाग्नि को मन्द करनेवाला है, इस कारण से और गोवंश-वध का ज्ञान होने पर उससे प्रजाओं को पहुंचे मानसिक आघात से यज्ञ में उपस्थित जनों को अतीसार='दस्त लगना' रोग हो गया। तब से इस रोग की उत्पत्ति=खोज हुई।

इस सन्दर्भ से आचार्य चरक के मतानुसार निम्नलिखित सूचनाएं मिलती हैं—

१. आदिकाल से वैवस्वत मनु के पुत्रों के राजा बनने तक, यज्ञ में पशुवध नहीं होता था। कुछ मनु-पुत्रों द्वारा अनुष्ठित यज्ञों में इस क्रूर कृत्य का आरम्भ हुआ।

२. गोवंश का वध निन्दनीय और अस्वीकार्य था। पहला गोवंशवध पृषध्र नामक राजा ने किया। इस कारण प्रजा में विद्रोह उत्पन्न हुआ। इतिहास में आता है कि वैदिक जनों ने इस अपराध में पृषध्र को क्षत्रिय वर्ण से पतित कर शूद्र घोषित कर दिया और विद्रोह करके राज्य से ही पदच्युत कर दिया था।

३. गोवंश का मांस अखाद्य और निन्दनीय है। प्रजाओं को अतीसार (डायरिया) नामक रोग गोमांस के खाने के बाद मानसिक आघात से हुआ। तब से इस रोग की खोज हुई।

४. निष्कर्ष यह है कि यज्ञों में पशुवध शास्त्रसम्मत नहीं है। किन्हीं यज्ञों में पशुओं को सम्मान प्रदर्शनार्थ (प्रदर्शनी हेतु) बांधा जाता था और सत्कार-प्रथा पूरी कर उन्हें छोड़ दिया जाता था। उपयोगी पशुओं के प्रति प्रेमप्रदर्शन की प्रतीक यह प्रथा थी, जैसे आजकल अनेक अनुष्ठानों के अवसर पर गाय आदि का पूजन-सत्कार किया जाता है। मांसभक्षी स्वार्थी लोगों ने उनके मांसभक्षण की कुप्रथाओं को आरम्भ और प्रचलित किया है।

१. **उपयुक्त पाठ**—सभी पाठों में यहां ''**बौद्ध और जैन**'' एकवचनात्मक पाठ मिलता है, यहाँ भाषारचना के अनुसार 'वा' होना चाहिए; क्योंकि स्थूल रूप से ग्रन्थकार इनको पर्यायवाची मानते हैं। द्रष्टव्य समु० १२, पृष्ठ ७६४, ७६५।

२. **राणी**—यह गुजराती भाषा का शब्द और उच्चारण है। हिन्दी में 'रानी' उच्चारण है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सत्यार्थप्रकाश के एक स्थल (पृ० ८४०) को छोड़कर सर्वत्र '**चारवाक**' अपवर्तनी है। स्वयं '**चार्वाक दर्शन**' के मूलपाठ में उल्लिखित और स्वीकृत वर्तनी के अनुसार, व्यंग्यात्मक स्थलों को छोड़कर सर्वत्र '**चार्वाक**' शुद्ध वर्तनी ही ग्राह्य है।

४. **उपयुक्त संशोधन**—बौद्ध-जैन मतों के शाखारूप '**चार्वाक**' और '**आभाणक**' नहीं हैं अपितु उनके शाखारूप बौद्ध-जैनमत हैं (द्रष्टव्य १२ समु० में पृ० ७३१, ७३७, ७४० पर मत)। अतः यहां क्रिया संशोधन तथा बृहत्कोष्ठक में दिया गया पाठ परिवर्धित करना सभी सं० में आवश्यक है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अशुद्ध और विरुद्ध पाठ है—''**इसी की शाखारूप चारवाक और आभाणक मत भी हुआ था।**'' अग्रिम उद्धृत दोनों श्लोक ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से बौद्ध-जैन मत से पूर्ववर्ती 'चार्वाक दर्शन' के हैं।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते॥ १॥
मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्। गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥ २॥

[सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन, श्लो० ४-५]॥

जो पशु मारकर अग्नि में होम करने से वह[१] स्वर्ग को जाता है, तो यजमान अपने पिता आदि को मारके स्वर्ग में क्यों नहीं भेजता?[२]॥ १॥

जो मरे हुए मनुष्यों की तृप्ति के लिये श्राद्ध और तर्पण होता है, तो विदेश में जानेवाले मनुष्य को मार्ग का खर्च खाने-पीने के लिये बाँधना व्यर्थ है; क्योंकि जब मृतक को श्राद्ध-तर्पण से अन्न-जल पहुंचता है, तो जीते हुए परदेश में रहनेवालों वा मार्ग में चलनेहारों को, घर में बनी हुई रसोई का पत्तल परोस, लोटा भरके उसके नाम पर रखने से, क्यों नहीं पहुंचता? जो जीते हुये दूर देश अथवा दश हाथ पर दूर बैठे हुये को दिया हुआ नहीं पहुंचता तो मरे हुए के पास किसी प्रकार नहीं पहुँच सकता॥ २॥

उनके ऐसे युक्तिसिद्ध उपदेशों को [प्रजाजन][३] मानने लगे और उनका मत बढ़ने लगा। जब बहुत-से राजा-रईस[४] उनके मत में हुए, तब पोप जी भी उनकी ओर झुके; क्योंकि इनको जिधर गफ़्फा[५] अच्छा मिले, वहीं चले जायें। झट जैन बनने[६] चले। **जैनियों[७] में भी और प्रकार की पोपलीला बहुत है, सो १२ वें समुल्लास में लिखेंगे।** बहुतों ने इनका मत स्वीकार किया परन्तु कितनेक ही[८] जो पर्वत, काशी, कन्नौज, पश्चिम, दक्षिण देशवाले थे, उन्होंने जैनों का मत स्वीकार नहीं किया था। वे जैनी वेद का अर्थ न जानकर, बाहर की पोपलीला को भ्रान्ति से वेदों पर[९] मानकर, वेदों की भी निन्दा करने लगे। उनके[१०] पठन-पाठन, यज्ञोपवीतादि और ब्रह्मचर्यादि नियमों का[११] भी नाश किया। जहाँ जितने

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्त पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां पुनरुक्त "**पशु**" पद अनावश्यक है, क्योंकि इस वाक्य में पहले "**जो पशु**" पठित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में नहीं है। इसको मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ बढ़ाया है। 'उदयपुर' सं० सहित सभी सं० में यह अनावश्यक परिवर्धन है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**भेजते**" अपक्रिया है। एकवचनान्त "**भेजता**" क्रिया शुद्ध है। मूलहस्त० में संस्कृत पदानुसार शुद्ध है। मुद्रणलिपिकर ने इसको अशुद्ध लिखा है। मूलह०, मूलप्रति सं० में सही है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यसंगति के लिए इस '**प्रजाजन**' कोष्ठकान्तर्गत पद का परिवर्धन आवश्यक है, नहीं तो कर्त्ता ही लुप्त रह जाता है।

४. **मुद्रणकालीन अप-अनुवाद**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**राजा-रईस**" पाठ के स्थान पर "**राजा-भूमिये**" अनुपयुक्त अनुवाद है। द्वितीय संस्करण की मुद्रणप्रति में सही पाठ है। इसको प्रकाशन समय हिन्दीकरण के लिए बदला है। यही अप-अनुवाद सभी द्वि०सं० तथा 'उदयपुर' सं० में छप रहा है।

५. **गफ़्फा**=अधिक खाद्य पदार्थ, लाभ।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**झट जैन बनते चले**" अपपाठ है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का "**बनने चले**" पाठ सही और ग्राह्य है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैन में भी**" अपप्रयोग है, बहुवचनात्मक "**जैनियों में भी**" प्रयोग वांछित है। आगे बहुवचनान्त प्रयोग हैं।

८-११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्धियां**—क्रमशः, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**कितने कही**" अपलेखन है। मुद्रणलिपिकर द्वारा लिखित अशुद्ध पदों को सुधारा नहीं गया। मूलप्रति सं० में "**कितेनक ही**" पाठ ठीक है। आगे, तीनों सं० में "**वेद पर**" अपप्रयोग हैं, '**वेदों पर**' चाहिए, क्योंकि आगे बहुवचनात्मक प्रयोग है। बहुवचन में "**उसके**" के स्थान पर "**उनके**" (अर्थात् वेदों के) चाहिए। आगे, तीनों सं० में "**नियमों को भी**" के स्थान पर शुद्ध प्रयोग "**नियमों का भी**" अपेक्षित है। ये सब

पुस्तक वेदादि के पाये, नष्ट किये। आर्यों पर बहुत-सी राजसत्ता भी चलाई, दु:ख दिया। जब उनको भय-शंका न रही, तब अपने मत-वाले गृहस्थ और साधुओं की प्रतिष्ठा और वेदमार्गियों का अपमान [करने लगे][१] और पक्षपात से दण्ड भी देने लगे; और आप ऐशो-आराम और घमण्ड में आ फूलकर, फिरने लगे। ऋषभदेव से लेके महावीर-पर्यन्त अपने तीर्थंकरों की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ बनाकर पूजा करने लगे अर्थात् **पाषाणादि मूर्त्तिपूजा की जड़ जैनियों से चली,** परमेश्वर का मानना न्यून हुआ, पाषाणादि मूर्तिपूजा में लग गये।[२] ऐसा **तीन-सौ वर्ष पर्यन्त** आर्यावर्त में जैनों का राज रहा। प्राय: आर्य लोग उनमें मिलकर शूद्रप्राय: और वेदार्थ-ज्ञान से शून्य हो गये थे।[३] इस बात को अनुमान से कोई **अढ़ाई सहस्त्र वर्ष** व्यतीत हुए होंगे।

बाइस-सौ वर्ष हुये कि एक '**शंकराचार्य**' द्रविड़देशोत्पन्न[४] ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि 'अहह! सत्य आस्तिक वेद मत का छूटना और जैन नास्तिक मत

अशुद्धियां लिपिकरों के प्रमाद से लिपि करते समय हुई हैं।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**करने लगे**' क्रिया लिपिकर के प्रमाद से लुप्त रह गई है, वाक्यपूर्ति और संगति के लिए पाठ-परिवर्धन आवश्यक है।

२. **उपयुक्त संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मूर्तिपूजा में लगे**'' के स्थान पर '**लग गये**' क्रिया का संशोधन शुद्ध है।

३. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर के दोष से पाठत्रुटि**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर फिर पाठ को छोड़ गया। इस वाक्य में दो बार ''**प्राय:**'' पद का प्रयोग है। उसने जाने-अनजाने दूसरे ''प्राय:'' से आगे का पाठ लिख दिया जिससे बीच का पाठ छूट गया और उसने अशुद्ध वाक्य बनाया—''**प्राय: वेदार्थ ज्ञान से शून्य हो गये।**'' कौन हो गये? यह लिपिकर जी अगले जन्म में आकर बतायेंगे। वेदार्थ ज्ञान से शून्य होने का कारण ''**शूद्रप्राय: होना**'' भी छूट गया। एक छोटे-से वाक्य में दृष्टिविचलन बार-बार होना विश्वसनीय नहीं लगता। कहीं-न-कहीं निष्ठा में संदेह प्रतीत होता है। बीच का छूटा वाक्यांश है—''**आर्य लोग उनमें मिलकर शूद्रप्राय: और**''---। यही त्रुटिपूर्ण पाठ सभी द्वि० सं० में छप रहा है। मूलह०, मूलप्रति सं० में पूर्ण एवं शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि सभी सं० में यह अपूर्ण वाक्य है। 'उदयपुर' सं० में भी अपूर्ण है। सम्पादकों ने यह नहीं सोचा कि इस वाक्य में कर्त्ता नहीं है तो यह वाक्य पूर्ण कैसे बना? मूलह०, मूलसं० के पाठ का भी लाभ नहीं उठाया।

४. **द्रविड़देशोत्पन्न शंकराचार्य का स्थितिकाल**—द्वि० सं० में मूलप्रति सं० के '**द्रविण**' पद के स्थान पर ''**द्रविड़**'' प्रयोग है। संस्कृत में ''**द्रविण**'' भी पर्याय है, किन्तु प्रचलित परम्परा और समझने के सौकर्य के आधार पर ''**द्रविड़**'' पाठ ग्रहण करना अधिक उचित है। पाश्चात्य और उनके अनुयायी इतिहासकारों ने भारत के प्रत्येक प्राचीन काल-निर्णय को नवीन सिद्ध करने का कुत्सित प्रयास किया है। उसी सुनियोजित परम्परा में आदि शंकराचार्य के जन्म-समय को भी उन्होंने कम करके लगभग १५०० वर्ष पूर्व का घोषित किया है जबकि भारतीय इतिहास परम्परा और शंकराचार्य-गुरु-परम्परा के प्राप्त इतिहास के अनुसार उनके जन्म को दिसम्बर, सन् २००९, अर्थात् विक्रम संवत् २०६६ तक २५१६ वर्ष हो चुके हैं।

'शारदापीठ' से प्रकाशित '**श्री शारदापीठ वंशानुमातृका**' नामक पुस्तक में आद्य शंकराचार्य के जीवन की एक-एक घटना का समय लिखा है। उसके अनुसार युधिष्ठिर संवत् २६३१ में वैशाख शुक्ला पंचमी को शंकराचार्य का जन्म हुआ और युधि० संवत् २६६३ में कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को उनका देहान्त हुआ। इस समय युधि० संवत् ५१४७ (अप्रैल २००९ से) चल रहा है। ५१४७ से २६३१ घटाने पर २५१६ शेष आता है। यही आद्य शंकराचार्य का जन्म काल है।

कामकोटि पीठ की गुरुपरम्परा के अनुसार आद्य शंकराचार्य का जन्म कलिसंवत् २५९३ में हुआ। इस समय (अप्रैल २००९ से) ५१०९ कलिसंवत् चल रहा है। ५१०९ में से २५९३ घटाने पर भी २५१६ शेष बचता है। इस प्रकार दोनों पुष्ट प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि आद्य शंकराचार्य का जन्म २५१६ वर्ष पूर्व हुआ था। इन प्रमाणों के सामने नवीन इतिहासकारों और पाश्चात्यों का कपोलकल्पित कालनिर्धारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

शंकराचार्य का जन्म मालाबार में काल्दी नामक स्थान पर एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बत्तीस वर्ष की अल्पायु में कश्मीर के अमरनाथ नामक स्थान पर विष देने से इनकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि शंकराचार्य को अभिनिवेषित और अभिनिवेश नामक दो कपटी जैनियों ने श्रद्धालु सेवक बनकर धोखे से विष दिया था जिसके परिणामस्वरूप शरीर में फोड़े-फुंसी होकर उनकी मृत्यु हो गई। (प्रमाण के लिए इस विषयक उल्लेख द्रष्टव्य है, 'ऐतिहासिक निरीक्षण, भाग दो, शंकराचार्यप्रकरण')

का चलना, बड़ी ही हानि की बात हुई है, इसको हटाना[१] चाहिये।' शंकराचार्य ने शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैन मत के भी पुस्तक पढ़े थे; और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी। उन्होंने विचारा कि इसको किस प्रकार हटावें ?[२] निश्चय हुआ कि उपदेश और शास्त्रार्थ करने से [जैन मत से] ये लोग हटेंगे।[३] ऐसा विचार कर उज्जैन नगरी में[४] आये। वहाँ उस समय '**सुधन्वा**' राजा था, जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ जाकर वेद का उपदेश करने लगे और राजा से मिलकर कहा कि आप संस्कृत और जैनियों के भी ग्रन्थों को पढ़े हो, और[५] जैन मत को मानते हो, इसलिये मैं आपको कहता हूँ कि जैनियों के पण्डितों के साथ मेरा शास्त्रार्थ कराइये; इस प्रतिज्ञा पर कि जो हारे सो जीतनेवाले का मत स्वीकार करले और आप भी जीतनेवाले का मत स्वीकार कीजियेगा।'

यद्यपि सुधन्वा जैन मत में थे तथापि संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ने से उनकी बुद्धि में विद्या का कुछ प्रकाश था।[६] इससे उनके मन में अत्यन्त पशुता नहीं छाई थी, **क्योंकि जो विद्वान् होता है वह सत्य और असत्य की परीक्षा करके, सत्य को ग्रहण कर[७] लेता है[८] और असत्य को छोड़ देता है।** जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे कि इनमें कौन-सा सत्य और कौन-सा असत्य है ? जब शंकराचार्य की यह बात सुनी, तो[९] बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ कराके सत्यासत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे। जैनियों के पण्डितों को दूर-दूर से बुलाकर सभा कराई। उसमें शंकराचार्य का 'वेदमत' और जैनियों का 'वेदविरुद्ध मत' था, अर्थात् शंकराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन और जैनियों का खण्डन [था];[१०] जैनियों का पक्ष अपने मत का स्थापन और वेद का खण्डन था। शास्त्रार्थ कई दिनों तक हुआ। जैनियों का मत यह था कि—'सृष्टि का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं; ये जगत् और जीव अनादि हैं, इन दोनों की उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता।'[११] इससे

१-३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में तीनों स्थानों पर इनको "**हठाना, इनको हठावें, हठेंगे**" अपवर्तनियां हैं। हिन्दी व्याकरण में कोई '**हठ**' धातु '**हटने**' अर्थ में नहीं है। ग्रन्थ में लिपिकरों की लेखन भिन्नता के कारण कहीं '**हठना, हठाना**' तो कहीं '**हटना, हटाना**' वर्तनियां दोनों हस्त० और तीनों सं० में मिलती हैं। शुद्ध वर्तनी '**हट**' धातु पर आधारित है। द्वि० सं० में यहां तीनों स्थानों पर "**हटाना, हटावें, हटेंगे**" संशोधन किया हुआ है, वह ग्राह्य है। स्पष्टता के लिए बृ०कोष्ठकान्तर्गत पाठ अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० फिर से अशुद्धियुग में लौट गया और अशुद्ध क्रियापदों को ग्रहण कर लिया। विद्वत्-समिति के सम्पादक सदस्यो! यदि आपको इसी प्रकार अशुद्ध पद स्वीकार्य थे तो दो हजार से अधिक संशोधन क्यों कर डाले ? उनको भी ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेते ?

४-५. **उचित पाठपरिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**उज्जैन में**" पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उज्जैन नगरी में आये**" स्पष्टार्थक पाठ है। यह ग्राह्य है। इसी प्रकार द्वि० सं० का "**और**" पद का प्रयोग भी ग्राह्य है।

६-७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह वाक्य है—"**उनकी आंख कुछ खुली थी।**" इसके स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधित पाठ मिलता है। यह संशोधन अधिक उपयुक्त होने से ग्राह्य है। आगे मूलप्रति सं० में "**सत्य को मानता और असत्य को छोड़ देता है।**" यहां द्वि० सं० में संशोधन करके "**सत्य का ग्रहण**" पाठ बनाया है। "**छोड़ देने**" के सम्बन्ध से ग्रहण पाठ उपयुक्त है, अतः वह ग्राह्य है।

८. **त्रुटित क्रिया**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० के इस संशोधित वाक्य में रचनात्मक त्रुटि यह है कि इसमें क्रिया लुप्त है, अतः इसमें '**कर लेता है**' क्रिया पदों का परिवर्धन आवश्यक है। सभी द्वि० सं० में यह त्रुटिपूर्ण वाक्य छप रहा है।

९. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**और**" अपप्रयोग है। मूलप्रति सं० में "**तो**" प्रयोग सही और ग्राह्य है।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**था**' क्रिया अपेक्षित है।

११. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य है, जैनमत का यह सिद्धान्त समु० १२ में पृ० ७७३ पर।

विरुद्ध शंकराचार्य का मत था कि—'अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्त्ता है; यह जगत् और जीव झूठा है; क्योंकि उसी परमेश्वर ने अपनी माया से जगत् बनाया;[१] वही धारण और प्रलय करता है;[२] और यह जीव और प्रपञ्च स्वप्नवत् हैं; परमेश्वर आप ही सब रूप होकर लीला कर रहा है।'[३]

बहुत दिनों[४] तक शास्त्रार्थ होता रहा, परन्तु अन्त में युक्ति और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शंकराचार्य का मत अखण्डित रहा। तब उन जैनियों के पण्डित और सुधन्वा राजा ने वेदमत को स्वीकार कर लिया, जैनमत को छोड़ दिया। पुनः बड़ा हल्ला हुआ और सुधन्वा ने अपने मित्र[५] राजाओं को लिखकर शंकराचार्य से शास्त्रार्थ कराया; परन्तु जैनियों[६] का पराजय-समय होने से पराजित होते गये।

पश्चात् शंकराचार्य के आर्यावर्त में सर्वत्र घूमने का प्रबन्ध सुधन्वादि राजाओं ने कर दिया और उनकी रक्षा के लिये साथ में नौकर-चाकर भी रख दिये। उसी समय से सबके यज्ञोपवीत होने लगे और वेदों का पठन-पाठन भी चला। दस वर्ष के भीतर सर्वत्र आर्यावर्त में घूमकर जैनियों का खण्डन और वेदों का मण्डन किया; परन्तु शंकराचार्य के समय में 'जैन-विध्वंस' [हुआ] अर्थात् जैनियों की जितनी मूर्तियाँ टूटी हुई [भूमि में से] निकलती हैं, वे शंकराचार्य के समय में टूटी थीं,[७] और जो विना टूटी निकलती हैं वे जैनियों ने भूमि में गाड़ दी थीं कि तोड़ी न जायें। वे अब तक कहीं-कहीं[८] भूमि में से निकलती हैं।[९]

शंकराचार्य के पूर्व '**शैवमत**' भी थोड़ा-सा प्रचरित[१०] था, उसका भी खण्डन किया। '**वाममार्ग**'[११] का भी खण्डन किया। उस समय इस देश में धन बहुत था और स्वदेशभक्ति भी थी। जैनियों के मन्दिर शंकराचार्य और सुधन्वा राजा ने नहीं तुड़वाये थे, क्योंकि उनमें वेदादि की पाठशाला करने की इच्छा

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यह अपवाक्य है—"**वही उस परमेश्वर ने अपनी माया से जगत् बनाया।**" मूलसं० में संशोधन किया हुआ है। सभी द्वि०सं० और 'उदयपुर' सं० ने "**वही**" के स्थान पर '**उस**' प्रयोग किया है, अग्रिम '**वही**' पद के सम्बन्ध से 'उसी' पद उपयुक्त है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**कर्त्ता**" विशेषण का प्रयोग है। पूर्वापर क्रियाओं के सम्बन्ध से "**करता**" क्रिया का प्रयोग वांछित है। यहां लिपिकर ने "**करता**" के स्थान पर "**कर्त्ता**" अशुद्ध लिखा है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य यह सिद्धान्त समु० ८ में पृ० ३८० पर।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दिन**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पद परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**मित्र**" पद से पूर्व "**इष्ट**" पद मुद्रणलिपिकर द्वारा बढ़ाया गया है। यह अनावश्यक है। "**मित्र**" पद स्वयं पूर्ण और व्यापक भाव प्रकट कर रहा है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैन**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, आगे बहुवचनान्त क्रिया के सम्बन्ध से यहां बहुवचन '**जैनियों**' प्रयोग अभीष्ट है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह त्रुटित वाक्य मिलता है—"**जैन-विध्वंस अर्थात् जितनी मूर्तियां जैनियों की निकलती हैं--।**" इसका संशोधन उपर्युक्त शब्दों में किया गया है। द्रष्टव्य नीचे तीसरी पंक्ति में पूर्ण पाठ है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**कहीं**" पद का एक बार प्रयोग है, स्पष्ट और सटीक अर्थबोध के लिए "**कहीं-कहीं**" प्रयोग आवश्यक है।

९. **ऋषिहस्तलेख**—"**वे अब तक.....निकलती हैं**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

१०. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**प्रचरित**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है और ग्राह्य है।

११. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**वाममार्गी का खण्डन**' अपप्रयोग है, द्विप्र०, द्वि०सं० में उपर्युक्त शुद्ध है।

थी। जब वेदमत का स्थापन हो चुका, और विद्या-प्रचार करने का विचार करते ही थे, उतने में, दो जैन जो ऊपर से वेदमतस्थ और भीतर से कट्टर जैन थे,[१] अर्थात् कपटमुनि थे, शंकराचार्य उन पर अतिप्रसन्न थे; उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनकी भूख[२] मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में बहुत-से[३] फोड़े-फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया। तब सब निरुत्साहित हो गये और जो विद्या का प्रचार होनेवाला था, वह भी न होने पाया।

जो-जो उन्होंने '**शारीरक-भाष्य**' -आदि बनाये थे, उनका प्रचार शंकराचार्य के शिष्य करने लगे, अर्थात् जो जैनियों के खण्डन के लिये ''ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव-ब्रह्म की एकता'' कथन की थी, उसका उपदेश करने लगे[४]। दक्षिण में **शृङ्गेरी**, पूर्व में **भूगोवर्धन,** उत्तर में **जोशी**[५] और द्वारिका में **शारदामठ**[६] बाँधकर शंकराचार्य के शिष्य महन्त[७] बनकर और श्रीमान् होकर आनन्द करने लगे;[८] क्योंकि शंकराचार्य के पश्चात् उनके शिष्यों की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी।

अब इसमें विचार करना चाहिये कि जो ''**जीव-ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या**'' शङ्कराचार्य का निज मत था, तो वह अच्छा मत नहीं, और जो जैनियों के खण्डन के लिये उस मत का स्वीकार किया हो, तो कुछ अच्छा है। **नवीन वेदान्तियों का मत**[९] ऐसा है—

प्रश्न—जगत् स्वप्नवत् है; रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्वनगर- इन्द्रजालवत्, यह संसार 'झूठा' है, एक ब्रह्म ही सच्चा है।

सिद्धान्ती—'झूठा' तुम किसको कहते हो?

नवीन वेदान्ती—'जो वस्तु न हो और प्रतीत होवे।'

सिद्धान्ती—जो वस्तु ही नहीं, उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है?

नवीन०—'**अध्यारोप**' से।

---

१. **अपवाक्य**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**दो जैन ऊपर से कथनमात्र वेदमत.....थे**'' अपवाक्य है। मूलप्रति सं० में भी ''**ऊपर से वेदमत.....थे**'' अपप्रयोग है। यहां ''**ऊपर से वेदमतस्थ**'' पाठ होना उपयुक्त है। ''**कथनमात्र**'' पद का परिवर्धन मुद्रणह० में किया गया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपूर्ण अपपाठ है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में, मूलप्रति सं० के ''**भूख मन्द**'' के स्थान पर ''**क्षुधा मन्द**'' अनावश्यक पाठान्तर है। यह कठिन प्रयोग मुद्रणलिपिकर ने बदला है। इस प्रकार के लेखन के लिए संस्कृत में एक व्यंग्योक्ति प्रसिद्ध है जो श्रीमान् लिपिकर पर चरितार्थ होती है—''मघवा' मूल 'विडौजा' टीका।'' अर्थात् 'मघवा' का अर्थ 'इन्द्र' है, इसको समझाने के लिए किसी ने टीका में उससे कठिन और अप्रसिद्ध पर्याय दे दिया 'विडौजा'। ऐसा लेखन अव्यावहारिक कहाता है।

३. **त्रुटित पद**—मुद्रणह० में और फिर द्विप्र० तथा द्वि० सं० में ''**बहुत-से**'' पद त्रुटित रह गये हैं। मूलह०, मूलप्रति सं० में हैं।

४. **अन्यत्र वर्णन**—इस विषयक, श्लोक द्रष्टव्य है—''**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या.....**'' पृष्ठ ३८९ पर।

५-७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में ''**जोसी**'' और दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सारदामठ**'' तथा दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलसं० में ''**महान्त**'' अपवर्तनियां है। ''**जोशी**'', ''**शारदामठ**'' और ''**महन्त**'' शुद्धरूप हैं। यदि लिपिकर प्रमादी थे तो शोधक भी मक्कार थे।

८. **चार मठ**—शंकराचार्य ने जिन चार मठों की चार दिशाओं में स्थापना की थी उनकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है—१. **शारदापीठ,** गोमती द्वारका में है जो वर्तमान गुजरात प्रान्त में ऊँखा के निकट है। यह पश्चिम पीठ है। २. **भूगोवर्धन पीठ,** समुद्रतट पर जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) में है। यह पूर्वी पीठ है। ३. **शृंगेरी पीठ,** मैसूर (तमिलनाडु) में है। यह दक्षिण दिशा की पीठ है। ४. **ज्योतिर्मठपीठ,** बदरीनाथ के निकट उत्तराखण्ड प्रान्त में है। यह उत्तर की पीठ है।

९. **भीमसेन का परिवर्धन**—''**नवीन वेदान्तियों का मत**'' पाठ मूलह० में भीमसेन द्वारा लिखित है।

सिद्धान्ती—'**अध्यारोप**' किसको कहते हो?

नवीन०—'**वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः**' [तु०—सदानन्दविरचित वेदान्तसार खण्ड ६]

'**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते**'।

[विद्यारण्यविरचित अनुभूतिप्रकाश अ० १। श्लो० १८]

=पदार्थ कुछ और हो, उसमें अवस्तु[१] का आरोपण करना '**अध्यास**' वा **अध्यारोप**[२] और उसका निराकरण करना '**अपवाद**'[३] कहाता है। इन दोनों से प्रपञ्चरहित ब्रह्म में प्रपञ्चरूप जगत् [का] विस्तार करते हैं।[४]

सिद्धान्ती—तुम रज्जु[५] को वस्तु और सर्प को अवस्तु मान कर इस भ्रमजाल में पड़े हो। क्या सर्प वस्तु नहीं है? जो कहो कि रज्जु[६] में नहीं तो देशान्तर में [है];[७] और उसका संस्कारमात्र हृदय में है। फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा। वैसे ही स्थाणु में पुरुष, सीप में चांदी आदि की व्यवस्था समझ लेना; और स्वप्न में भी जिनका भान होता है, वे देशान्तर में हैं और उनके संस्कार आत्मा में भी हैं। इसलिये वह स्वप्न भी वस्तु[८] में अवस्तु के आरोपण के समान नहीं।

नवीन०—जो कभी न देखा, न सुना, जैसा कि अपना शिर कटा है और आप रोता है, जल की धारा ऊपर चली जाती है, जो कभी नहीं हुआ था, [वह स्वप्न में][९] देखा जाता है, वह सत्य क्योंकर हो सके?

सिद्धान्ती—यह भी दृष्टान्त तुम्हारे पक्ष को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि विना देखे-सुने संस्कार नहीं होता। संस्कार के विना स्मृति और स्मृति के विना साक्षात् [स्वप्न में और आत्मा में][१०] अनुभव नहीं होता। जब किसी ने सुना वा देखा कि अमुक का लड़ाई में शिर कटा और उसके भाई वा बाप आदि

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**अन्य वस्तु**" अपप्रयोग है, '**अवस्तु**' होना चाहिए। देखिए, संस्कृतभाषा के पाठ में '**अवस्तु**' पद का ही प्रयोग है। हिन्दी-उत्तर में भी "**अवस्तु**" प्रयोग है। यहां युमी, विस, जस सं० में संशोधन कर दिया है। वेस, जग, भद, 'उदयपुर' सं० में असंशोधित पाठ है।

२. **अध्यास अथवा अध्यारोप**—किसी वस्तु में कल्पित वस्तु का मिथ्या आरोप या मिथ्या ज्ञान करना, जैसे—सर्प में रज्जु का मिथ्याज्ञान अर्थात् भ्रान्ति होना।

३. **अपवाद**—वेदान्त में, मिथ्यारोपण अथवा मिथ्या विश्वास का निराकरण करना 'अपवाद' कहाता है। जैसे रज्जु में सर्प के मिथ्यारोपण का निराकरण करना। द्विप्र० में "अपवादक" अपप्रयोग है। यह मुद्रणकाल में अशुद्ध छपा है।

४. **ऋषिहस्तलेखयुक्त पाठग्रहण**—"**पदार्थ कुछ और.....विस्तार करते हैं**" तक पाठ मूलह० में नहीं था। इसको ऋषि ने बाद में मुद्रणह० में बढ़ाया है। मूलसं० में वहीं से ग्रहण किया गया है। 'उदयपुर' सं० में "**विस्तार करता है**" अपपाठ है। यह क्रिया वेदान्तियों के लिए है।

५-६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**रज्जू**" अपवर्तनी है, '**रज्जु**' वर्तनी शुद्ध है। ग्रन्थ में बहुत्र '**रज्जु**' शुद्ध वर्तनी भी है। यह अव्यवस्था लिपिकरों-शोधकों की अपनी अयोग्यता के कारण उत्पन्न हुई है। सभी द्वि० सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी यह अपवर्तनी है।

७-९. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में '**है**' क्रिया और "**वह स्वप्न में**" पाठ त्रुटित रह गया है। संगति और अर्थस्पष्टता के लिए उपर्युक्त परिवर्धन आवश्यक है। (८) द्विप्र० में "**अवस्तु**" अपप्रयोग है। शेष सभी में शुद्ध है। शुद्ध प्रयोग पृ० ५४७ पर देखिए। **ऋषि-हस्तलेख**—"**वह सत्य.....हो सके**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा लिखित है।

१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ आवश्यक है। पाठ की स्पष्टता और संगति के लिए परिवर्धन अपेक्षित है।

को प्रत्यक्ष रोते देखा।[१] और फुहारे[२] का जल ऊपर चढ़ते देखा वा सुना, उसका संस्कार उसी के आत्मा में होता है। जब यह जाग्रत[३] के पदार्थ से अलग होके देखता है तब अपने आत्मा में उन्हीं पदार्थों को, जिनको देखा वा सुना होता है, देखता है। जब अपने में ही देखता है तब जानो अपना शिर कटा, आप रोता और ऊपर जाती जल की धारा को देखता है। यह भी वस्तु में अवस्तु के आरोपण के सदृश नहीं, किन्तु जैसे नक़्शा[४] निकालनेवाला पूर्व दृष्ट, श्रुत वा किये हुओं को आत्मा में से निकालकर कागज पर लिख देता है अथवा प्रतिबिम्ब का उतारनेवाला बिम्ब को देख, आत्मा में आकृति को धर, बराबर[५] लिख देता है, [वैसे आत्मा पूर्व दृष्ट-श्रुत-कृत का अनुभव करता है]।[६]

हाँ, इतना है कि कभी-कभी स्वप्न में स्मरणयुक्त प्रतीति, जैसे[७] कि अपने अध्यापक को देखता है, और [फिर] कभी बहुत काल [बाद उस वस्तु को] देखने और सुनने पर अतीत ज्ञान का साक्षात्कार करता है;[८] तब स्मरण नहीं रहता कि जो मैंने उस समय देखा, सुना वा किया था उसी को मैं देखता, सुनता वा करता हूं। जैसा जाग्रत में स्मरण करता है, वैसा स्वप्न में नियमपूर्वक नहीं होता। देखो, जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं आता।[९] इसलिये तुम्हारा '**अध्यास**' और '**अध्यारोप**'[१०] का

---

१. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**लड़ाई में**'' पदों के स्थानभ्रष्ट होने पर सारे वाक्य का पाठ भ्रष्ट हो गया। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० का अपपाठ देखिए—''**अमुक का शिर कटा और उसके भाई वा बाप आदि को लड़ाई में प्रत्यक्ष रोते देखा।**'' मूलह० में अधिक अपपाठ है—''**फलाने का शिट कटा और उसका भाई वा बाप रोता था वा लड़ाई में प्रत्यक्ष देखा।**'' बहुत स्पष्ट अनर्गल वाक्य होते हुए भी वेस, जग, भद, युमी सं० में असंशोधित है। पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने टिप्पणी में संशोधन देकर व्यर्थ श्रम किया है, उसका कोई लाभ नहीं। विस, जस में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० ने संशोधन का कोई लाभ नहीं उठाया, कथित दस सम्पादक अशुद्धि में ही शुद्धि मान बैठे हैं। इस पाठ को ऊपर शुद्ध कर दिया है।

२. **अपवर्तनी**—हिन्दी में इस शब्द की अनेक वर्तनियां पाई जाती हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**फौहारा**'' अपवर्तनी है। यह हिन्दी पद '**फुहार**' से बना है। इस शब्द के आधार पर '**फुहारा**' सही वर्तनी है। फ़ारसी में इसकी वर्तनी '**फ़व्वारा**' शुद्ध है।

३. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यहां '**जागृत**' अपप्रयोग है। द्वि० सं० में '**जाग्रत**' संशोधित है, यही ग्राह्य है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०,द्विप्र० में ''**नकसा**'', द्वि० सं० में ''**नकशा**'' अपवर्तनी है। मूलसं० में संशोधित है। आश्चर्य है कि **पं० मीमांसक जी** ने भी ''**नकशा**'' अशुद्ध रूप दिया है। जब अशुद्ध रूप ही स्वीकार करना था तो सैकड़ों संशोधन क्यों किये? 'उदयपुर' सं० एक कदम और पीछे हटने में गौरव समझ रहा है, उसने आदिम अशुद्ध ''**नकसा**'' वर्तनी फिर ग्रहण कर ली है। कहीं संशोधन, कहीं असंशोधन, पता नहीं यह क्या नीति है?

५. **गुजराती प्रयोग**—यह मूलत: मराठी और गुजराती का '**बरोबर**' शब्द है। उसको दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकरों ने '**बराबर**' हिन्दी रूप में लिखा है। इसका अर्थ है—ठीक-ठीक, या उचित रूप से। यह हिन्दी का 'बराबर=समान' नहीं है।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में किसी कारणवश यहां उपसंहार वाक्य त्रुटित रह गया है, अत: पाठ अपूर्ण है। पूर्व पंक्तियों में उदाहरण देकर समझाना आरम्भ किया था—''**जैसे नक्शा निकालने वाला ..... अथवा प्रतिबिम्ब का उतारने वाला .....।**'' इस उदाहरण वाक्य के बाद इसका उपसंहार वाक्य नहीं आ पाया, किसी कारणवश इसी के साथ पाठ पूर्ण हो गया। इस संस्करण में बृहत् कोष्ठक में उपसंहार वाक्य को रखकर पाठ को पूर्ण कर दिया है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य की एकवचनात्मक शैली के अनुसार ही पहले वाक्य की रचना-शैली होनी चाहिए; अत: ''**देते हैं**'' प्रयोग संशोध्य हैं। यह अशुद्धि सभी द्वि० सं० तथा 'उदयपुर' सं० में है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जैसा**'' अपप्रयोग है, ''**जैसे**'' अपेक्षित है।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ है—''**कभी बहुत काल देखने और सुनने में अतीत ज्ञान को साक्षात्कार करता है।**'' द्वि० सं० में इस अपपाठ में ''**काल**'' पद भी त्रुटित रह गया है इस अस्पष्ट और अपवाक्य को बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन करके शुद्ध कर दिया है।

९. **मुद्रणलिपिकर कृत ऋषि-विरुद्ध एवं भ्रष्टपाठ की कहानी**—करतूत लिपिकरों-शोधकों की और सत्यानाश सत्यार्थप्रकाश

लक्षण झूठा है। और जो वेदान्ती लोग[१] '**विवर्तवाद**'[२] अर्थात् रज्जु में सर्पादि के भान होने का दृष्टान्त, ब्रह्म में जगत् के भान होने में देते हैं, वह भी ठीक नहीं।

नवीन०—अधिष्ठान[३] के विना **अध्यस्त**[४,५] प्रतीत नहीं होता। जैसे रज्जु[६] न हो तो सर्प का भान भी नहीं हो सकता। जैसे रज्जु[७] में सर्प तीन काल में नहीं है परन्तु अन्धकार और कुछ प्रकाश के मेल में अकस्मात् रज्जु[८] को देखने से सर्प का भ्रम होकर [मनुष्य] भय से कँपता है। जब उसको दीप आदि से देख लेता है, उसी समय भ्रम और भय निवृत्त हो जाता है। वैसे ब्रह्म में जो जगत् की मिथ्या प्रतीति हुई है, ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर[९] उस जगत् की वह निवृत्ति और ब्रह्म की प्रतीति होती है, जैसे[१०] कि सर्प की निवृत्ति और रज्जु[११] की प्रतीति होती है।[१२]

का! मुद्रणलिपिकर ने यहां आये दो स्वप्न पदों के मध्य का यह पाठ प्रतिलिपि करते समय छोड़ दिया—''**में नियमपूर्वक नहीं होता। देखो, जन्मान्ध को रूप का स्वप्न**''। इसके छूटने से यह अपपाठ लिखा गया—''**वैसा स्वप्न नहीं आता**''। यह ग्रन्थकार के पूर्वोक्त आशय के विरुद्ध भ्रष्टपाठ बन गया या बना दिया। शोधक ने जब पढ़ा तो अनुमान से उसकी संगति लगाई, तब यह पाठ बना—''**वैसा स्वप्न में नहीं होता।**'' यह भी ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध और स्वप्न विज्ञान के विरुद्ध पाठ है। यही पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में छपा और छप रहा है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है।

प्रसन्नता की बात यह है कि अन्य सभी सम्पादकों ने इस पाठ को शुद्ध रूप में ग्रहण कर लिया है। लिपिकरों-शोधकों पर दयालु और उनके प्रशंसक महानुभाव इस प्रकार के सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में विचार करके देखें कि क्या वे प्रशस्तिपत्र पाने योग्य हैं? ग्रन्थकार ने तो उनकी दर्जनों पत्रों में निन्दा की है फिर भी कुछ सम्पादकों को उन पर दया किस कारण से आ रही है?

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**आरोप**'' अपप्रयोग है, यहां उद्धरण में कथित ''**अध्यारोप**'' पारिभाषिक नाम होना चाहिए। भद और 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है, अन्य सभी ने संशोधित कर लिया है।

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**वेदान्ति लोग**'' अपवर्तनी है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में बिना टिप्पणी के संशोधित है।

२. **विवर्तवाद**=परिणामवाद। जगत् माया, मिथ्या, भ्रान्तिरूप है और जगत् परिणामी है, केवल ब्रह्म सत्य है। इसमें जगत् का भाव-मात्र होता है। जैसे कि सांप, रस्सी का विवर्त है, ऐसे यह संसार ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त अर्थात् अविद्या या भ्रान्ति से प्रतीयमान मिथ्या रूप। इस सिद्धान्त को 'विवर्तवाद' कहा है।

३-४. **अधिष्ठान-अध्यस्त**—वह आश्रयभूत वस्तु जिसमें भ्रम का आरोप हो, वह '**अधिष्ठान**' है तथा जिसका भ्रान्तियुक्त आरोप किया जा रहा है उसे '**अध्यस्त**' कहा जाता है। जैसे—**रज्जु** '**अधिष्ठान**' में '**सर्प**' '**अध्यस्त**' का भ्रान्तियुक्त आरोप होता है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**अध्यस्थ**'' अपवर्तनी है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधन कर लिया है।

६-८, ११. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**रज्जू**'' अपवर्तनी है। संस्कृत और हिन्दी में यह वर्तनी नहीं होती। ग्रन्थ में अन्यत्र अनेक स्थलों पर ''**रज्जु**'' शुद्ध वर्तनी है।

विद्वानों की अन्धपरम्परा पर आश्चर्य—स्वामी वेदानन्द जी, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० भगवद्दत्त जी सहित सभी विद्वानों ने यहां ''**रज्जू**'' अशुद्ध वर्तनी का ग्रहण किया है, जबकि अन्यत्र शुद्ध का ग्रहण है। प्रथम दोनों विद्वानों ने अपने संस्करणों में आठ-सौ से अधिक संशोधन किये हैं, फिर इसके संशोधन में क्या अड़चन थी? कहीं अशुद्धि का ग्रहण, तो कहीं अशुद्धि का संशोधन, यह क्या शोध-नीति हुई? बाद के सम्पादकों ने भी इस अन्धपरम्परा का अन्धानुकरण किया है। कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित '**उदयपुर**' सं० में भी यह अशुद्धि है।

९. **त्रुटित एवं मुद्रणलिपिकरकृत अपवाक्य**—मूलप्रति सं० में यह वाक्यांश त्रुटित है। त्रुटित वाक्यांश है—''**वह ब्रह्म के साक्षात्कार होने में उस जगत् की**''.....। इसके कारण यह वाक्य अपूर्ण, अस्पष्ट, असंगत तथा अपवाक्य बन गया है। मुद्रण लिपिकर ने इसको पुनरुक्ति दोषयुक्त अपवाक्य बना दिया है, वही द्विप्र० में छपा है। वह अपवाक्य है—''**वैसे ब्रह्म में जो जगत् की मिथ्याप्रतीति हुई है वह ब्रह्म के साक्षात्कार होने में जगत् की मिथ्याप्रतीति हुई है।**'' यह संशोध्य है। द्वि० सं० में इसका प्रायः संशोधित पाठ है, मूल हस्तलेख में भी पूर्ण है, अतः ग्राह्य है। उदयपुर सं० में अर्धसंशोधित है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जैसी**'' अपप्रयोग है, ''**जैसे**'' अपेक्षित है।

१२. **मूर्ख मुद्रणलिपिकरकृत भ्रष्ट पाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते हुए इस पाठ को इस प्रकार भ्रष्ट रूप में लिखता है—''**जैसी सर्प की निवृत्ति और रज्जू की प्रवृत्ति होती है।**'' यही भ्रष्ट पाठ द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में

सिद्धान्ती—ब्रह्म में जगत् का भान किसको हुआ?

नवीन०—जीव को।

सिद्धान्ती—जीव कहाँ से हुआ?

नवीन०—अज्ञान से।

सिद्धान्ती—अज्ञान कहां से हुआ और कहां रहता है?

नवीन०—अज्ञान अनादि है[१] और ब्रह्म में रहता है।

सिद्धान्ती—ब्रह्म में ब्रह्म का अज्ञान हुआ वा किसी अन्य का? और वह अज्ञान किसको हुआ?

नवीन०—'**चिदाभास**'[२] को।

सिद्धान्ती—'**चिदाभास**' का स्वरूप क्या है?

नवीन०—ब्रह्म। ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को आप ही भूल जाता है।

सिद्धान्ती—उसके भूलने में निमित्त क्या है?

नवीन०—अविद्या।

सिद्धान्ती—अविद्या सर्वव्यापी सर्वज्ञ का गुण है, वा अल्पज्ञ का?

नवीन०—अल्पज्ञ का।

सिद्धान्ती—तो तुम्हारे मत में विना एक अनन्त, सर्वज्ञ 'चेतन' के दूसरा कोई चेतन है वा नहीं? और अल्पज्ञ कहां से आया? हां, जो अल्पज्ञ 'चेतन' ब्रह्म से भिन्न मानो तो ठीक है। जब एक ठिकाने ब्रह्म को अपने स्वरूप का अज्ञान हो तो सर्वत्र अज्ञान फैल जाये। जैसे शरीर में फोड़े की पीड़ा सब शरीर के अवयवों को निकम्मा कर देती है, इसी प्रकार ब्रह्म भी एकदेश में अज्ञानी और क्लेशयुक्त हो तो सब ब्रह्म अज्ञानी और पीड़ा के अनुभवयुक्त हो जाय।

नवीन०—यह सब '**उपाधि**'[३] का धर्म है, ब्रह्म का नहीं।

सिद्धान्ती—'**उपाधि**' जड़ है वा चेतन? और सत्य है वा असत्य?

नवीन०—अनिर्वचनीय है, अर्थात् जिसको जड़ वा चेतन, सत्य वा असत्य नहीं कह सकते।

सिद्धान्ती—यह तुम्हारा कहना '**वदतो व्याघातः**'[४] के तुल्य है; क्योंकि [पहले] कहते हो अविद्या है, [फिर कहते हो] ''जिसको जड़-चेतन, सत्य-असत्य[५] नहीं कह सकते।'' यह ऐसी बात है कि जैसे सोने में पीतल मिला हो, उसको सर्राफ़[६] के पास परीक्षा करावे कि यह सोना है वा पीतल। तब यही

संशोधित है और मूलसं० में शुद्ध है। अन्य सभी तथा 'उदयपुर' सं० में संशोधित है।

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पूर्ववाक्य की पूरक क्रिया नहीं है। यहां '**है**' क्रिया अपेक्षित है।

२. **चिदाभास**—चेतन ब्रह्म का अन्तःकरण में आभास=प्रतिबिम्ब पड़ने की ब्रह्म की स्थिति का नाम '**चिदाभास**' है।

३. **उपाधि**—वह स्थिति या अवस्था जो किसी के संयोग से अन्य या विशेष रूप में दिखाई दे। कल्पित या आरोपित स्थिति। जैसे ब्रह्म पर अविद्या के आरोप से उत्पन्न स्थिति।

४. **वदतो व्याघात**—कही हुई एक बात के विरुद्ध दूसरी बात कहना, परस्पर-विरुद्ध कथन।

५-६. **अपवर्तनी**—यहां पूर्व की तीसरी पंक्ति में पठित ''**सत्य-असत्य**'' पाठ चाहिये। दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**सराफ़**'' अशुद्ध वर्तनी है। मूलसं० में संशोधित '**सर्राफ़**' शुद्ध है। उदयपुर आदि अन्य सभी सं० में अशुद्ध है।

कहेगा कि इसको[१] हम न सोना, न पीतल कह सकते हैं, किन्तु इसमें दोनों धातुयें[२] मिली हैं।

नवीन०—देखो, जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश-उपाधि[३] अर्थात् घड़ा, मठ[४] और मेघ के होने से [आकाश के रूप] भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, वास्तव में महदाकाश ही है। ऐसे ही माया, अविद्या, समष्टि, व्यष्टि और अन्त:करणों की उपाधियों से ब्रह्म अज्ञानियों को पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है; वास्तव में एक ही है। देखो, अग्रिम प्रमाण में क्या कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

[कठ[५] उप०, वल्ली ५। मं० ९]॥

जैसे अग्नि लम्बे, चौड़े, गोल, छोटे, बड़े सब आकृतिवाले पदार्थों में व्यापक होकर तदाकार दीखता है, किन्तु उनसे पृथक् है, वैसे सर्वव्यापक परमात्मा अन्त:करणों में व्यापक होके अन्त:करणाकार हो रहा है, परन्तु उनसे अलग है।

सिद्धान्ती—यह भी तुम्हारा कहना व्यर्थ है; क्योंकि जैसे घट, मठ, मेघ और आकाश को भिन्न मानते हो, वैसे [ही] कारण-कार्य-रूप जगत् और जीव को ब्रह्म से और ब्रह्म को इनसे भिन्न मान लो।

नवीन०—जैसे[६] अग्नि सबमें प्रविष्ट होकर देखने में तदाकार दीखता है, इसी प्रकार परमात्मा जड़ और जीव में व्यापक होकर, जड़ और जीवाकारयुक्त अज्ञानियों को दीखता है।[७] वास्तव में ब्रह्म न जड़

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां अपपाठ है—"**तब यही कहोगे कि इनको हम.....इसमें दोनों।**" मूलह०, मूलप्रति में "इसको" शुद्धपाठ है। यह मुद्रणलिपिकर का बिगाड़ा हुआ पाठ है। अन्य सभी सं० वेस, भद, जग, युमी, विस, 'उदयपुर सं०' में भी यह अपपाठ है। जस में संशोधित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलसं० और द्वि० सं० में "**धातु**" अपप्रयोग है, बहुवचनान्त "**धातुयें**" पाठ अपेक्षित है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—यह विवेचन समु० ९ में पृ० ४३२ पर भी द्रष्टव्य है।

४. **अप-अनुवाद**—सभी पाठों में यहां "**मठाकाश**" का "**घर**" अप-अनुवाद है। यहां "**मठ**" प्रयोग अभीष्ट है।

५. **अशुद्ध नाम का संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां "मुण्ड०" (मुण्डक उपनिषद्) नाम दिया है जो अशुद्ध है। यह 'कठ-उपनिषद्' का उद्धरण है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है। **मीमांसक जी** की विचित्र कार्यशैली देखिए कि टिप्पणी में यह अशुद्धि दर्शा दी किन्तु मूलपाठ में अशुद्ध नाम ही रखा है। यदि अशुद्धि ही संरक्षित रखनी थी तो ग्रन्थ में आठ-सौ से अधिक संशोधन क्यों किये? अन्य सभी सं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में अर्ध संशोधित है। जब नाम बदलना ही था तो पूरा शुद्ध करना था, किन्तु उदयपुर सं० ने '**उपनिषद्**' लिखकर छोड़ दिया जबकि अन्यत्र ग्रन्थों के नाम बदले हैं (पृ० २२४, २२५)।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**जैसा**" अपप्रयोग है, "**जैसे**" अपेक्षित है। शुद्ध प्रयोग ऊपर श्लोकार्थ में है।

७. **मुद्रणलिपिकर की मूखर्तावश भ्रष्ट पाठ**—मूल हस्तलेख और मूलप्रति सं० में यह पूर्ण और उपयुक्त पाठ है। लिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश बीच में कुछ पाठ छोड़कर यह वाक्य लिख दिया—"**इसी प्रकार जड़ और जीव में व्यापक होकर अज्ञानियों को दीखता है।**" फिर शोधक ने दीखता से पहले, पंक्ति के ऊपर लिख दिया—"**आकारयुक्त**", 'अज्ञानियों' से पहले "**आकारवाला**" "**जड़**" से पहले "**परमात्मा**"। भूल से दो बार लिखे इस शब्द से यह भ्रष्ट पाठ बन गया—"**इसी प्रकार परमात्मा जड़ और जीव में व्यापक होकर आकारवाला अज्ञानियों को आकारयुक्त दीखता है।**" यही भ्रष्ट पाठ द्वि० सं० में सवा सौ वर्षों से छपता आ रहा है। अज्ञानियों को तो निराकार परमात्मा भी आकारयुक्त दीखता है किन्तु हमारे सभी सम्पादक ज्ञानियों को यह साकार पाठ भी 'आकारयुक्त' नहीं दिखाई दिया। 'उदयपुर' सं० में यहां अपसंशोधन है। वह न तो ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल है और न पूर्वापर पाठ के अनुकूल। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि सभी संस्करणों में यही भ्रष्ट है।

स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा पाठस्थान-परिवर्तन—स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने तो बहुत ही स्वेच्छाचारिता से काम किया है। ऊपर का श्लोक "**अग्निर्यथैको०**" अर्थसहित ऊपर से हटाकर यहां रख दिया है। उन्होंने इसका कोई कारण भी नहीं दिया।

और न जीव है। जैसे सहस्र[१] जल के कुंडे[२] धरे हों, उनमें सूर्य के सहस्र प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वस्तुत: सूर्य एक है। कुंडों के नष्ट होने से, जल के चलने वा फैलने से सूर्य न नष्ट होता, न चलता और न फैलता [है];[३] इसी प्रकार अन्त:करणों में ब्रह्म का आभास जिसको '**चिदाभास**' कहते हैं, पड़ा है। जब तक अन्त:करण है, तभी तक जीव है। जब अन्त:करण ज्ञान से नष्ट होता है, तब जीव ब्रह्मस्वरूप है। इस '**चिदाभास**' को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान [जब तक रहता है और जब तक] कर्त्ता-भोक्ता, सुखी-दु:खी, पापी-पुण्यात्मा, जन्म-मरण [की स्थितियों को] अपने में आरोपित करता है,[४] तब-तक संसार के बन्धनों से नहीं छूटता।

सिद्धान्ती—यह दृष्टान्त तुम्हारा व्यर्थ है; क्योंकि सूर्य आकारवाला, जल-कुंडे भी आकारवाले हैं। सूर्य जल-कुंडों से भिन्न और सूर्य से जल-कुंडे भिन्न हैं। तभी प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि निराकार होता तो उसका प्रतिबिम्ब कभी न होता।[५] जैसे परमेश्वर निराकार [है],[६] सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने

उसका यहां कोई प्रसंग ही नहीं, ऊपर ही सही प्रसंग है। वहां नवीन वेदान्ती ने अग्नि का उदाहरण देकर अन्त:करण आदि उपाधियुक्त ब्रह्म की सिद्धि की है। ग्रन्थकार ने उसका उत्तर दिया है। नवीन वेदान्ती अग्नि का उदाहरण प्रस्तुत करके यहां पुन: अपनी स्थापना कर रहा है। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने, बस, अग्नि शब्द देखा और उपनिषद् वचन को यहाँ ला पटका। यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है, वही ग्राह्य है।

१. **मुद्रणकालीन अनावश्यक एवं अप अनुवाद**—मूलहस्तलेख में '**हजार कुंडों**' का उदाहरण है। यही मुद्रणप्रति में है। प्रकाशन समय हिन्दीकरण के लिए वाक्य में दोनों स्थानों पर "**सहस्त्रों**" पद द्विप्र० और द्वि० सं० में कर दिया। सबको पता है कि "**हजार**" का अर्थ '**सहस्र**' है, '**सहस्त्रों**' नहीं। यह अपसंशोधन है। मूलप्रति सं०में संशोधित है।

२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पद की वर्तनी कहीं '**कुंडे**' तो कहीं '**कूंडे**' वर्तनी है। प्रचलित दोनों हैं, किन्तु शद्ध वर्तनी '**कुंडे**' है। यह 'कुण्ड' का अपभ्रंश है। इस प्रकरण में यह अनेक बार प्रयुक्त हुआ है किन्तु यहां सर्वत्र "**कुंड**" वर्तनी है। ग्रन्थ में अन्यत्र अनेक स्थलों पर '**कूंडे**' वर्तनी है।

३,६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**', '**है**', क्रिया पद त्रुटित रह गये हैं। इनका परिवर्धन जरूरी है।

४. **त्रुटितपाठ, अपवर्तनी, अपविराम आदि कारणों से अपपाठ की कहानी**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में इस वाक्य का अपपाठ है। सभी संस्करणों में "**इस चिदाभास को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान**" वाक्य अपूर्ण है। इसके साथ क्रिया पद नहीं हैं जो इसके कथ्य को स्पष्ट कर सकें। वाक्यान्त की क्रिया "**आरोपित करता है**" की इसमें कोई संगति नहीं है। अत: दोनों बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ स्पष्टता, पूर्णता तथा संरचना की दृष्टि से परमावश्यक हैं। वाक्यान्त में प्रयुक्त "**तब तक**" अव्यय पद का प्रयोग यह संकेत दे रहा है कि वाक्य में "**जब तक**" पद कहीं अवश्य त्रुटित है, अत: उसकी आश्रित सम्बद्धता के कारण बृहद्कोष्ठकों के पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। इस त्रुटि के अतिरिक्त मूलहस्त में यह अपपाठ है—"**इस चिदाभास को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान करता भोक्ता सुखी दु:खी पापी पुण्यात्मा जन्मना मरना अपने में आरोप करता है।**" इस वाक्य में "**कर्त्ता**" विशेषण के स्थान पर मूललिपिकर ने "**करता**" क्रियापद लिखा है, कोई विरामचिह्न नहीं है, "**आरोप करता है**" अशुद्ध क्रिया प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने ज्यों-का-त्यों अशुद्ध पाठ प्रतिलिपि किया है। फिर किसी शोधक ने "**आरोपित करता है**" संशोधन किया है। द्विप्र० में मुद्रणहस्तलेख का यथावत् पाठ है, केवल प्रत्येक विशेषण के बाद अल्पविराम लगाया है, जो अशुद्ध है; क्योंकि ये युग्म पद हैं और युग्म पदों के मध्य अल्प-विराम नहीं, 'योजक' चिह्न आता है। द्वि० सं० में सारा पाठ द्विप्र० का ही यथावत् है। दोनों द्वि०सं० में "**अज्ञान**" पद के बाद कोई विरामचिह्न नहीं है जिससे "अज्ञान कर्त्ता" अपबोध होने का संदेह पाठकों को होता है। पाठकों की छोड़िए, **मीमांसक जी** जैसे विद्वान् भी इस संदेह के शिकार हो गये और उन्होंने दोनों को एक पद बना दिया। उन्होंने यह भी ध्यान नहीं किया कि "**अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञानकर्त्ता**" कोई सार्थक प्रयोग ही नहीं बनता, और यह भी बात है कि "कर्त्ता" पद की युग्मता "**भोक्ता**" के साथ है अज्ञान के साथ नहीं। मूलसं० ने अल्पविरामों के स्थान पर बदलकर 'योजक चिह्न' शुद्ध कर दिया है किन्तु यहां प्रारम्भिक वाक्यांश का पाठ अधिक अशुद्ध हो गया—"**अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान-कर्त्ता-भोक्ता**" ऊपर बताया जा चुका है कि अज्ञान के साथ 'कर्त्ता' की कोई संगति नहीं है, 'भोक्ता' की तो नितान्त भी नहीं। अपने ब्रह्मस्वरूप का या अज्ञान का भोक्ता भी ब्रह्म कभी होता है क्या?

से ब्रह्म से कोई पदार्थ वा पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकता;[१] अर्थात् **अन्वय-व्यतिरेकभाव**[२] से देखने से व्याप्य-व्यापक मिले हुए और [वस्तुतः] सदा पृथक् रहते हैं। जो एक हों तो अपने में व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध कभी नहीं घट सकता। सो '**बृहदारण्यक**' के अन्तर्यामी ब्राह्मण[३] में स्पष्ट लिखा है। और ब्रह्म का आभास भी नहीं पड़ सकता, क्योंकि विना आकार के आभास का होना असम्भव है।

जो **अन्तःकरणोपाधि**[४] से ब्रह्म को जीव मानते हो, सो तुम्हारी बात बालक के समान है; क्योंकि अन्तःकरण चलायमान, खण्ड-खण्ड [है] और ब्रह्म[५] अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् न मानोगे तो इसका उत्तर दीजिये कि[६] जहाँ-जहाँ अन्तःकरण चलता जायेगा, वहाँ-वहाँ के ब्रह्म को अज्ञानी[७] और जिस-जिस देश को छोड़ेगा, वहाँ-वहाँ[८] के ब्रह्म को ज्ञानी कर देवेगा वा नहीं? जैसे छाता प्रकाश के बीच में जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ के प्रकाश को आवरणयुक्त [कर देता है] और जहाँ-जहाँ से हटता[९] है वहाँ-वहाँ के प्रकाश को आवरणरहित[१०] कर देता है, वैसे

अन्य सभी सं० में यह पाठ अशुद्ध है। **मीमांसक जी** ने अशुद्ध पाठ, शायद, **पं० भगवद्दत्त जी** के सं० से ग्रहण किया है, क्योंकि उक्त अशुद्धि वहाँ भी है। यही अशुद्धि **स्वामी विद्यानन्द** जी के सं० में है। द्विप्र० की अशुद्धियां **स्वामी वेदानन्द जी** और **सिद्धान्ती जी** के सं० में हैं। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने सारा झगड़ा एक झटके में इस प्रकार निपटाया कि महर्षि की भाषा को हटा कर अपनी नयी भाषा बना डाली, जिसका आशय ही ग्रन्थकार के आशय से भिन्न हो गया। उदयपुर सं० में भी अपूर्ण, अपपाठ है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—''**यदि निराकार.....कभी न होता**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**सकते**'' बहुवचनान्त क्रिया है, यहां एकवचनान्त '**सकता**' क्रिया अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में शुद्ध है।

२. **अन्वय-व्यतिरेक भाव**—दर्शनशास्त्र में है—'**तद्भावे तद्भावः अन्वयः**'=एक पदार्थ के होने पर दूसरे पदार्थ का होना '**अन्वय**' कहाता है और '**तदभावे तदभावः व्यतिरेकः**'=एक पदार्थ के न होने पर दूसरे पदार्थ का भी न होना '**व्यतिरेक**' कहाता है।

३. **अन्तर्यामी ब्राह्मण**—इस शीर्षक वाले प्रसंग में कहा गया है कि संसार के पदार्थों के अन्दर व्याप्त होकर भी परमात्मा उनसे पृथक् है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारक, आकाश, तम, तेज, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, मूल, प्रकृति आदि में रहता हुआ भी जो उनसे पृथक् है और उनका नियमन करता है, वह 'ब्रह्म' है। वही द्रष्टा, मन्ता, विज्ञाता है। वही अमृत है। उसके अतिरिक्त सब दुःख है। इस प्रसंग का नाम '**अन्तर्यामी ब्राह्मण**' है [अ० ३। ब्रा० ७। कं० ३-२३]

४. **अन्तःकरणोपाधि**—ब्रह्म की वह स्थिति जब उसका प्रतिबिम्ब किसी अन्तःकरण पर पड़ता है तब वह ब्रह्म ''जीव'' कहाता है। उस स्थिति में ब्रह्म को 'अन्तःकरणोपाधि' कहा जाता है। यह नवीन वेदान्त की मान्यता है।

५. **त्रुटित पद मुद्रणकालीन**—द्विप्र० में ''**ब्रह्म**'' पद त्रुटित है। अन्य सभी सं० में और द्वि०सं० में परिवर्धित है।

६,१०. **ऋषिहस्तलेख**—''**यदि तुम ब्रह्म.....दीजिये कि**'', ''**युक्त और.....आवरणरहित**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषि हस्तलेख में परिवर्धित है।

७. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्त० में यह अपपाठ है—''**वहां के ब्रह्म को अज्ञानी....ज्ञानी होता जायेगा।**'' मूलप्रति सं० में ''**वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी.....कर देवेगा।**'' यहां ''**वहाँ-वहाँ के ब्रह्म को अज्ञानी**'' पाठ उपयुक्त है। मुद्रणकाल में, द्विप्र० में संशोधन किया गया है, अतः द्वि० सं० में शुद्ध पाठ है।

८. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**वहां**' पद त्रुटित रह गया है, वाक्यस्थ अन्य पदों की द्विरावृत्ति के कारण '**वहां**' की द्विरावृत्ति भी आवश्यक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित है।

९. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में ''**हठता**'' अपवर्तनी है। द्वि० सं० में ''**हटता**'' संशोधित वर्तनी है। द्र० इसी समुल्लास में पृ० ९०३ पर टिप्पणी संख्या.....।

ही अन्त:करण ब्रह्म को क्षण-क्षण में अज्ञानी, ज्ञानी, बद्ध और मुक्त करता जायगा। और अखण्ड ब्रह्म के एकदेश में आवरण का प्रभाव सर्वदेश में होने से सब ब्रह्म अज्ञानी हो जायगा, क्योंकि वह चेतन है।

और मथुरा में अन्त:करणस्थ जिस ब्रह्म ने जो चीज=वस्तु देखी उसका स्मरण उसी अन्त:करणस्थ [ब्रह्म][१] से काशी में नहीं हो सकता। क्योंकि—

'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति न्यायात्'। [योगदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र १४, व्यासभाष्य]

='और के देखे का स्मरण और को नहीं होता।' जिस **'चिदाभास'** ने मथुरा में देखा वह **'चिदाभास'** काशी में नहीं रहता, क्योंकि[२] जो मथुरास्थ अन्त:करण का प्रकाशक है, वह काशीस्थ ब्रह्म नहीं होता।

जो ब्रह्म ही जीव है, पृथक् नहीं; तो सब जीवों को[३] सर्वज्ञ होना चाहिये। यदि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब [अन्त:करण से] पृथक् है,[४] तो **प्रत्यभिज्ञा**[५] अर्थात् पूर्व दृष्ट-श्रुत का ज्ञान किसी को नहीं हो सकेगा। जो कहो कि ब्रह्म एक है इसलिये स्मरण होता है, तो एक ठिकाने अज्ञान वा दु:ख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान वा दु:ख हो जाना चाहिये। और ऐसे दृष्टान्तों से नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म को तुमने अशुद्ध, अज्ञानी और बद्ध कर दिया है, और अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर दिया [है।][६]

नवीन०—निराकार का भी आभास होता है, जैसा कि दर्पण वा जलादि में आकाश का आभास पड़ता है, वह नीला वा किसी अन्य प्रकार गम्भीर=गहरा दीखता है, वैसे ब्रह्म का भी सब अन्त:करणों में आभास पड़ता है।

सिद्धान्ती—जब आकाश में रूप ही नहीं है, तो उसको आँख से कोई भी नहीं देख सकता। जो पदार्थ दीखता ही नहीं, वह दर्पण और जलादि में कैसे दीखेगा? गहरा वा छितरा[७] साकार वस्तु दीखता है, निराकार नहीं।

नवीन०—तो फिर जो यह ऊपर नीला-सा दीखता है, उसी का आदर्श[८] वा जल में भान होता है,[९] वह क्या पदार्थ है?

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**ब्रह्म**" पद आवश्यक है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**किन्तु**" पद है। इसके स्थान पर "**क्योंकि**" पद अधिक सटीक है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सब जीव**" अपप्रयोग है, "**सब जीवों**" प्रयोग अपेक्षित है।

४. **ऋषिहस्तलेख और त्रुटित आवश्यक पाठ**—"**तो सब.....पृथक् है**" मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में विषय की स्पष्टता के लिए बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ परिवर्धन की अपेक्षा रखता है।

५. **प्रत्यभिज्ञा**—पूर्व देखे-सुने विषय की पुन: स्मृति उत्पन्न होना। उस स्मृति-विशेष को दर्शन में 'प्रत्यभिज्ञा' पारिभाषिक नाम दिया है। ग्रन्थकार यहां यह युक्ति उपस्थित कर रहे हैं कि यदि ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को अन्त:करण से पृथक् मानोगे तो उस अन्त:करण वाले चिदाभास को प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी, क्योंकि स्थानभेद से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब बदल जायेगा और पूर्व स्थान की स्मृति दूसरे स्थान पर प्रतिबिम्बित ब्रह्म में नहीं होगी।

६. **आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यान्त में '**है**' क्रिया आवश्यक है। इसके बिना वाक्य ही पूर्ण नहीं हो रहा है।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**छिदरा**" और "**छिदिरा**" अपवर्तनियां हैं, यहां '**छितरा**' शुद्ध वर्तनी अपेक्षित है। अन्य सं० के साथ 'उदयपुर' सं० में भी यह अव्यवस्था है।

८. **आदर्श**=दर्पण।

९. **भ्रष्टवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं०, वेस, भद, युमी, विस में "**वही आदर्श वा जल में भान होता है**" अपवाक्य है। जग और द्विप्र० में "**आदर्श वाले में भान होता है**" भ्रष्ट पाठ है। उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० में अर्ध संशोधित है।

सिद्धान्ती—वे[१] पृथिवी से उड़कर [ऊपर गये][२] जल, पृथिवी और अग्नि के त्रसरेणु हैं। जहाँ से वर्षा होती है, वहाँ जल न हो तो वर्षा कहाँ से होवे? इसलिये जो दूर-दूर तम्बू के समान दीखता है, वह जल का चक्र है। जैसे कुहरा दूर से घनाकार दीखता है और निकट से छितरा[३], और [जैसे] डेरे के समान भी दीखता है, वैसे आकाश में जल दीखता है।

नवीन०—क्या हमारे रज्जु, सर्प और स्वप्नादि के दृष्टान्त मिथ्या हैं?

सिद्धान्ती—नहीं, तुम्हारी समझ मिथ्या है, सो हमने पूर्व लिख दिया। भला, यह तो कहो कि प्रथम अज्ञान किसको होता है?

नवीन०—ब्रह्म को।

सिद्धान्ती—ब्रह्म अल्पज्ञ है वा सर्वज्ञ?

नवीन०—न सर्वज्ञ और न अल्पज्ञ, क्योंकि सर्वज्ञता और अल्पज्ञता उपाधिसहित[४] में होती है।

सिद्धान्ती—'**उपाधि**' से सहित कौन है?

नवीन०—ब्रह्म।

सिद्धान्ती—तो ब्रह्म ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हुआ। तो तुमने सर्वज्ञ और अल्पज्ञ का निषेध क्यों किया था? जो कहो कि '**उपाधि**' कल्पित अर्थात् मिथ्या है, तो कल्पक अर्थात् कल्पना करनेवाला कौन है?

नवीन०—जीव—ब्रह्म है; वा अन्य?

सिद्धान्ती—अन्य है; क्योंकि जो ब्रह्मस्वरूप है, और जिसने मिथ्या कल्पना की, वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जिसकी कल्पना मिथ्या है, वह सच्चा कब हो सकता है?

नवीन०—हम सत्य और असत्य को झूठ[५] मानते हैं और वाणी से बोलना भी मिथ्या है।[६]

सिद्धान्ती—जब तुम झूठ कहने और माननेवाले हो, तो झूठे[७] क्यों नहीं?

नवीन०—रहो; झूठ और सच हमारे में ही कल्पित है और हम दोनों के साक्षी—अधिष्ठान हैं।

सिद्धान्ती—जब तुम सत्य और झूठ के आधार हुए तो साहूकार और चोर के सदृश तुम्हीं हुए। इससे तुम प्रामाणिक भी नहीं रहे; क्योंकि **प्रामाणिक वह होता है जो सर्वदा सत्य माने, सत्य बोले, सत्य करे; झूठ न माने, झूठ न बोले, झूठ न करे।** जब तुम अपनी बात को आप ही झूठ करते हो तो

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यारम्भ में "**वह**" के स्थान पर "**वे**" बहुवचन अभीष्ट है और यहां बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ '**ऊपर गये**' का परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना संगति नहीं लगती।

३. **अपवर्तनी**—लिपिकर की भाषागत अयोग्यता द्रष्टव्य है। कुछ पंक्तियां पूर्व इस शब्द की वर्तनी "**छिदरा**" लिखी है, यहां "**छिदिरा**" लिख दी। एक ही पृष्ठ पर दो-दो वर्तनियां, और वे दोनों भी अशुद्ध हैं। यहाँ '**छितरा**' शुद्ध वर्तनी अपेक्षित है।

४. **उपाधिसहित**—वेदान्त में, किसी दूसरे पदार्थ के गुण आदि के संयोग या प्रभाव से जो किसी पदार्थ की विशेष अवस्था या स्थिति बनती है, उसको '**उपाधि**' कहा जाता है। द्रष्टव्य, पृ० ५४९ की टिप्पणी भी।

५,७. **झूठ, झूठे का दार्शनिक अर्थ**—दार्शनिक प्रसंग के अनुसार यहां इनका 'मिथ्या या कल्पित' अर्थ है। जैसे जगत् को झूठा=मिथ्या माननेवाले को यह कहा जाता है कि फिर तो तुम और तुम्हारा कथन भी झूठा=मिथ्या अर्थात् अवास्तविक है, अतः प्रमाणार्ह नहीं। क्योंकि जगत् के मिथ्या होने से तुम भी मिथ्या हो।

६. **ऋषिहस्तलेख**—"**वाणी से बोलना भी मिथ्या है**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

तुम अपने आप[१] मिथ्यावादी हो।

नवीन०—अनादि '**माया**' जो कि ब्रह्म के आश्रय [में रहती है][२] और ब्रह्म का ही आवरण करती है, उसको मानते हो, वा नहीं?

सिद्धान्ती—नहीं मानते; क्योंकि तुम '**माया**' का अर्थ ऐसा करते हो कि '**जो वस्तु न हो और भासे है**', तो इस बात को वह मानेगा जिसके '**हृदय की आँख फूट गई**'[३] हो] क्योंकि जो वस्तु नहीं, उसका भासमान होना सर्वथा असम्भव है; जैसे वन्ध्या के पुत्र का प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता। और यह '**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः**[४] **प्रजाः**'[५] इत्यादि छान्दोग्य [आदि] उपनिषदों [प्रपा० ६। खं० ८। प्रवाक ४] के वचनों से विरुद्ध कहते हो।[६]

नवीन०—[७]क्या तुम वसिष्ठ, शंकराचार्य आदि और निश्चलदास पर्यन्त [जो पण्डित हुए हैं उन] से अधिक पण्डित हो? उन्होंने जो लिखा है, सो विचार करके लिखा है, वे तुमसे बड़े पण्डित थे।

सिद्धान्ती—तुमको क्या दीखता है?

नवीन०—हमको तो वसिष्ठ, शंकराचार्य और निश्चलदास आदि अधिक [पण्डित] दीखते हैं।[८]

---

१. **उचित संशोधन**—मूललिपिकर ने यहां श्रवणभ्रान्ति से "**अनाप्त मिथ्यावादी**" पाठ लिख दिया। मुद्रणप्रति में शोधक ने इसका उपर्युक्त उचित और संगत संशोधन किया है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—यहां क्रिया त्रुटित है अतः बृ०कोष्ठक का पाठ आवश्यक है।

३. **हृदय की आंख फूटना**=विचारहीन होना।

४. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और सभी सं० में यहां "**सर्वाः**" पद त्रुटित है। मूल ग्रन्थ में होने से ग्राह्य है।

५. **वाक्यार्थ**—'सत्' अर्थात् पूर्व विद्यमान कारणरूप से ही ये सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं। यहां आत्मा की अजर-अमर सत्ता की ओर भी प्रसंग लगता है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद एवं अनुचित पाठ-परिवर्धन**—मूलह० में यह शुद्ध वाक्य है—"**इत्यादि उपनिषदों के वचनों से**"। मुद्रणह० में शोधक ने "**उपनिषदों**" पद से पूर्व "**छान्दोग्य**" पद जोड़ दिया, जिससे वाक्य अशुद्ध बन गया—"**इत्यादि छान्दोग्य उपनिषदों के वचनों से**" '**आदि**' पद के परिवर्धन से इस पाठ को शुद्ध बनाया गया है। सभी सं० में यह परिवर्धन आवश्यक है। मूलसं०, द्वि०सं०, 'उदयपुर' सं० में यह संशोधन है—"**इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् के वचनों से**"। यह सीमितार्थक और अशुद्ध संशोधन है, क्योंकि ऐसे भाव के साधक वचन अनेक उपनिषदों में पठित हैं।

संशोधन की पुष्टि—यहां दो प्रकार के संशोधन हैं, एक वे हैं जिनमें "**इत्यादि**" पद का सम्बन्ध उपनिषद् से जोड़कर 'उपनिषदों' को अनेक माना है। दूसरे वे हैं जिनमें "इत्यादि" पद का सम्बन्ध "वचनों" से माना है। प्रश्न उठता है कि कौन-सा संशोधन ऋषि के आशय के अनुकूल और स्वीकार्य है। मेरा उत्तर यह है कि यहाँ उपनिषदों की अनेकता का बोधक "इत्यादि" शब्द है। इसकी पुष्टि में अग्रिम युक्तियां एवं प्रमाण हैं—१. इसी प्रकरण को ग्रन्थकार ने अष्टम समुल्लास में भी वर्णित किया है वहाँ अपने इसी उत्तर के समर्थन में दो उपनिषदों के वचन उद्धृत किये हैं (पृ० ३७६)। २. वहाँ भी "**उपनिषदों**" बहुवचन का प्रयोग है (पृ० ३७६)। ३. मूलहस्तलेख में भी यहां "**उपनिषदों**" प्रयोग है। इनसे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार को उपनिषदों की अनेकता अभीष्ट है। उपनिषदों की अनेकता में "वचनों" की अनेकता तो स्वतः बन जायेगी। अतः इस सं० का पाठ ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल है।

७-८. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से अस्त-व्यस्त हुए पाठ की कहानी**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद के कारण यहां भी पाठ बिगड़ता ही चला गया। मूलहस्तलेख में यह सम्पूर्ण पाठ है—"**क्या तुम वसिष्ठ....अधिक दीखते हैं।**" मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय प्रमादवश बीच का "**लिखा है**" से "**नवीन०**" शीर्षक तक का पाठ छोड़ दिया, तब यह अपपाठ बना—"**क्या तुम वसिष्ठ शंकराचार्य आदि, और निश्चलदास पर्यन्त से अधिक पंडित हो उनने लिखा है, हमको तो वसिष्ठ, शंकराचार्य और निश्चलदास आदि अधिक दीखते हैं।**" शोधक ने निरीक्षण के समय इस असंगत पाठ को देखकर अनुमान से संगति लगाई और यह पाठ बनाया—"**.... निश्चलदास पर्यन्त जो तुम से अधिक पंडित हुए हैं उन्होंने लिखा है हम को तो----।**" अब भी संगति अधूरी रह गई। मुद्रण समय द्विप्र० में फिर संगति लगाई गई और "**उन्होंने लिखा है**" के बाद यह

सिद्धान्ती—तुम विद्वान् हो वा अविद्वान्?

नवीन०—हम भी कुछ विद्वान् हैं।

सिद्धान्ती—अच्छा, तो आओ, वसिष्ठ, शंकराचार्य और निश्चलदास आदि[१] के पक्ष का हमारे सामने स्थापन करो, हम खण्डन करते हैं। जिसका पक्ष सिद्ध हो, वही बड़ा है। जो उनकी और तुम्हारी बात अखण्डनीय होती तो तुम उनकी युक्तियाँ लेकर हमारी बात का खण्डन क्यों न कर सकते? [जब हमारी बात का खण्डन कर सको][२] तब तुम्हारी और उनकी बात माननीय होवे। **अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदि ने तो जैनमत का खण्डन करने के ही लिये यह मत स्वीकार किया हो, क्योंकि देश-काल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये बहुत-से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं।** और जो इन बातों को अर्थात् जीव-ईश्वर की एकता, जगत्-मिथ्या आदि व्यवहार को[३] सच्चा ही मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।[५]

और निश्चलदास का पाण्डित्य देखो ऐसा है—"**जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात्**", उन्होंने '**वृत्तिप्रभाकर**' [२।९] में जीव-ब्रह्म की एकता के लिये अनुमान लिखा है कि 'चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है'। यह बहुत कम-समझ पुरुष की बात के सदृश बात है; क्योंकि [किंचित्][५]

पाठ जोड़ दिया—"**उसको खण्डन करते हो? हमको तो वसिष्ठ.....।**" इतना प्रयास होने पर भी न तो मूल पाठ का भाव आया, न शुद्ध पाठ बना और न संगति लगी, क्योंकि यह कथन अभी तो निराधार है कि "**खण्डन करते हो**"। यहां तक कोई खण्डन किया ही नहीं है। "**हमको तो वसिष्ठ.....दीखते हैं।**" कथन पूर्व प्रश्न पर आधारित है। पूर्व प्रश्न के बिना इस कथन की संगति नहीं बनती। यही अस्त-व्यस्त असंगत पाठ द्वि० सं० में छपता आ रहा है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस में यही अपपाठ मिलता है। यही अपपाठ 'उदयपुर' सं० में विद्यमान है। अब यही उचित है कि यहां मूलप्रति हस्तलेख या मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्रहण कर लिया जाये। इस सं० में प्रदर्शित कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन भी आवश्यक है।

१-३. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**आदि**" पद त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है। यह पूर्व प्रश्न के अनुसार 'निश्चलदास' के बाद अभीष्ट है। वाक्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बृ०कोष्ठक का पाठ आवश्यक है। इसी प्रकार "**को**" कारक प्रत्यय द्वि० सं० में त्रुटित रह गया है, मूलप्रति में है और ग्राह्य है।

४. **सिद्धान्त-विरुद्ध भ्रष्टपाठ और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां सिद्धान्त-विरुद्ध यह भ्रष्टपाठ है—"**जीव ईश्वर की एकता, जगत् मिथ्या आदि व्यवहार को सच्चा नहीं मानते थे तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।**" इसका अर्थ हुआ कि 'जीव-ईश्वर एक हैं और जगत् मिथ्या है', यह कथन सत्य है। विडम्बना देखिए कि यह भ्रष्टपाठ ३३वें संस्करण तक छपता रहा, किसी विद्वान् को सुध नहीं आई। ३४वें में इसका संशोधन हुआ। पाठकगण! देखा आपने कि हम आर्य कितने स्वाध्यायी और सक्रिय हैं? संशोधन विरोधियों को तो चश्मा लगाकर भी यह सिद्धान्त-विरोधी पाठ दिखाई नहीं पड़ा।

'उदयपुर' सं० में सिद्धान्त-विरुद्ध पाठ और अन्य सम्पादक विद्वानों की माया—सम्पादक विद्वानों की भी विचित्र माया है! **स्वामी वेदानन्द जी** और **पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती** ने इस भ्रष्टपाठ को यथावत् रखा है। **पं० भगवद्दत्त जी** और स्वामी **विद्यानन्द जी** ने संशोधन कर लिया है। **मीमांसक जी** ने इस पाठ का संशोधन न करके केवल टिप्पणी दे दी। कहीं उनके संस्करण से कोई उद्धरण लेगा तो क्या टिप्पणी भी लेगा? फिर उन्होंने ग्रन्थ में सैकड़ों संशोधन क्यों किये यदि इस घोर भ्रष्टपाठ का संशोधन नहीं करना था तो? **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** की यह स्थिति है कि 'लहसुन भी खाया और बीमारी भी नहीं गई'। पाठक देखें कि उनके मनमाने पाठ परिवर्तन के बाद भी क्या अर्थ निकलता है—"**जीव-ईश्वर की एकता, जगत् मिथ्या, व्यवहार सच्चा नहीं, आदि मानते थे, तो उनकी बात सच्ची नहीं हो सकती।**" मूलसं० और द्वि०सं० ने इसका संशोधन कर लिया। **कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर' संस्करण में महर्षि के सिद्धान्त के विरुद्ध भ्रष्टपाठ है। द्वि०सं० में संशोधित पाठ की उपेक्षा करके यह सं० फिर से अशुद्धि के गर्त में जा धंसा।**

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**किंचित्**' पद आवश्यक है, इसके बिना वांछित संगति नहीं बनती।

'**साधर्म्य**'-मात्र से एक दूसरे के साथ एकता नहीं होती, '**वैधर्म्य**' भेदक होता है। जैसे कोई कहे कि '**पृथिवी जलाऽभिन्ना जडत्वात्**'='जड़ होने से पृथिवी जल से अभिन्न है[१]।' जैसे यह वाक्य संगत कभी नहीं हो सकता, वैसे निश्चलदास जी का भी लक्षण व्यर्थ है; क्योंकि[२] जो अल्पता,[३] अल्पज्ञता और भ्रान्तिमत्त्वादि धर्म जीव में ब्रह्म से और सर्वगत, सर्वज्ञता और निर्भ्रान्तिमत्वादि वैधर्म्य ब्रह्म में जीव से विरुद्ध हैं; इससे जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं। जैसे गन्धवत्त्व, कठिनत्व आदि भूमि के धर्म; रसवत्त्व, द्रवत्वादि जल के धर्म से विरुद्ध होने से पृथिवी और जल एक नहीं, वैसे जीव और ब्रह्म के वैधर्म्ययुक्त[४] होने से जीव और ब्रह्म एक न कभी थे, न हैं और न कभी होंगे।[५] इतने से ही निश्चलदास-आदि को समझ लीजिये कि उनमें कितना पाण्डित्य था।

और जिसने '**योगवासिष्ठ**' बनाया है, वह कोई आधुनिक वेदान्ती था; न वाल्मीकि,[६] न वसिष्ठ जी का[७] और न रामचन्द्र का बनाया वा कहा-सुना है; क्योंकि वे सब वेदानुयायी थे, वेद से विरुद्ध न बना सकते और न कह-सुन सकते थे।

प्रश्न—व्यास जी ने जो '**शारीरकसूत्र**' बनाये हैं, उनमें भी जीव ब्रह्म की एकता दीखती है;[८] देखो—

सम्पद्याऽऽविर्भावः स्वेन शब्दात्॥ १॥
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥ २॥
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः॥ ३॥
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः॥ ४॥[९]
अत एव चानन्याधिपतिः॥ ५॥ [वेदान्त०, अ० ४। पा० ५। सू० १, ५-७, ९]॥

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में —''**जड़ के होने से पृथिवी जल से अभिन्न है।**'' में '**के**' पद अनावश्यक है।

२,५. **ऋषिहस्तलेख**—''**जैसे यह.....क्योंकि**'', ''**वैसे जीव.....कभी होंगे**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित हैं।

२-४. **अपप्रयोग**—क्रमशः द्वि० सं० में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है, '**जैसे**' अपेक्षित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अल्प**'', अपप्रयोग है, ''**अल्पता**'', शुद्ध होता है। आगे ''**वैधर्म्य**'' के स्थान पर ''**वैधर्म्ययुक्त**'' प्रयोग सही है।

६. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—लिपिकरों-शोधकों की अयोग्यता पर ध्यान करें। मूलहस्त० में ''**वालमीकि**'', मुद्रणहस्त० में ''**वालमीक**'', द्विप्र० में ''**बाल्मीक**'' वर्तनी है। मूलसं०, द्विसं० में संशोधित शुद्धरूप है। दुःख की बात है कि 'उदयपुर' सं० में ''**बाल्मीकि**'' अपवर्तनी है। देख लीजिए, कितने भाषा-प्रवीण थे लिपिकर-शोधक, जिन्हें एक प्रसिद्ध कवि का नाम भी सही लिखना नहीं आया! ऐसे अयोग्य लोगों द्वारा लिखी हुई भाषा की वर्तनियों के सामने हमारे विद्वान् दण्डवत् हो रहे हैं!! कुछ प्रकाशक तो उन्हें प्रशस्तिपत्र बांट रहे हैं।

७. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य है—''**न वाल्मीकि, वसिष्ठ जी और रामचन्द्र का बनाया हुआ**''। यह पाठ इस प्रकार उपयुक्त है—'**न वाल्मीकि का, न वसिष्ठ का और न रामचन्द्र का बनाया हुआ है।**'

८. **अनावश्यक पद और अपपाठ**—दोनों हस्त० और दोनों द्वि०सं० में यह अप-प्रश्नवाक्य है—''**क्या व्यास जी ने जो शारीरक सूत्र बनाये हैं, उनमें भी जीव-ब्रह्म की एकता दीखती है; देखो...।**'' प्रश्नकर्त्ता का यह पक्ष-स्थापना-परक वाक्य है। वह पूछ नहीं रहा अपितु प्रमाण देकर अपने पक्ष को स्थापित और पुष्ट कर रहा है। इसमें ''**क्या**'' पद अनावश्यक है। मूलसं० में संशोधित है किन्तु वहां अन्त में प्रश्नचिह्न अनावश्यक है।' 'उदयपुर' सं० में ''**एकता नहीं दीखती है?**'' यह प्रश्नवाचक पाठ बनाया है, जो असंगत है।

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**वादरायण**'' अपवर्तनी है, ''**बादरायण**'' शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

अर्थ—जीव अपने 'स्वरूप' को[१] प्राप्त होकर प्रकट होता है जो कि पूर्व ब्रह्मस्वरूप था, क्योंकि 'स्व' शब्द से अपने ब्रह्मस्वरूप का ग्रहण होता है॥ १॥

'य आत्मा-अपहतपाप्मा'[२] [छांदोग्य-उप० ८।७।१]

इत्यादि 'उपन्यासों'[३] [से सिद्ध है कि][४] ऐश्वर्यप्राप्ति पर्यन्त हेतुओं से ब्रह्मस्वरूप जीव स्थित होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है॥ २॥

और औडुलोमि आचार्य [का मत है कि][५] तदात्मकस्वरूप-निरूपणादि बृहदारण्यक [३।७।३-२३; ४।५।१३] के हेतुरूप वचनों से [ज्ञात होता है कि][६] चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव मुक्ति में स्थित रहता है॥ ३॥

व्यास जी इन्हीं पूर्वोक्त उपन्यासादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप हेतुओं से जीव के ब्रह्मस्वरूप होने में अविरोध मानते हैं॥ ४॥

योगी ऐश्वर्यसहित अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होकर 'अन्य अधिपति से रहित' अर्थात् आप अपने[७] और सबके अधिपतिरूप ब्रह्मस्वरूप से मुक्ति में स्थित रहता है॥ ५॥

उत्तर—इन सूत्रों का अर्थ इस प्रकार का नहीं, किन्तु इनका यथार्थ यह है, सुनिये।[८] जब तक जीव

---

१. **पुनरुक्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पर पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ है—''**जीव अपने स्व स्वरूप को प्राप्त होकर....।**'' यहां ''**अपने**'' और ''**स्व**'' पुनरुक्तपद हैं जो एकार्थक हैं। इनमें से केवल एक पद अभीष्ट है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

२. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अयमात्मा अपहतपाप्मा**'' अपपाठ है। मूल पाठ के अनुसार ''**य आत्मा**'' पाठ वांछित है। प्रतीत होता है कि यह अपपाठ लिपिकर ने श्रवणभ्रान्ति से लिखा है। 'उदयपुर' सहित सभी सं० में अशुद्ध है।

३. **उपन्यास**=उल्लेख, कथन, उदाहरण।

४-६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर बृहत् कोष्ठक में बढ़ाया गया पाठ आवश्यक है। इसके बिना न तो वाक्यरचना हो रही है और न पाठसंगति लग रही है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**स्वयं आप अपना और सबका**'' अपप्रयोग है ''**स्वयं अपने और सबके**'' या ''**आप अपने और सबके**'' शुद्ध प्रयोग बनेगा। आश्चर्य है कि जस को छोड़ कर सभी सं० में यह अशुद्ध पाठ है। '**उदयपुर**' सं० में भी अशुद्ध पाठ है, इसका संशोधन नहीं किया है। इस अशुद्धि को तो एक विद्यार्थी भी परख और पकड़ लेता है, दश विद्वान् मिलकर भी उसको नहीं पकड़ पाये!

उदयपुर सं० के लेखकों को प्रश्न समझ में नहीं आया और उत्तर दे दिया—उदयपुर सं० की संशोधन-रहित दोषपूर्ण भाषा पर व्यंग्य शैली में मैंने यह शब्दावली लिखी थी—''**स्वयं आप अपना और सबका अधिपति रहता है।'' पाठकगण! कुछ समझे? थोड़ा-सा दिमाग पर जोर दीजिए, समझ जायेंगे। दश विद्वानों द्वारा स्वीकृत पाठ है जरा!**'' पता नहीं इसको पढ़कर उदयपुर सं० के लेखकों को क्या बौद्धिक आघात हुआ, ऐसे विचलित हुए कि उन्हें यही समझ नहीं आया कि यहां त्रुटि क्या है? और क्या उत्तर देना चाहिए। यहां मेरा केवल भाषात्मक अशुद्धि की ओर संकेत था कि उदयपुर सं० में यह अशुद्ध वाक्यरचना है। या तो ''**स्वयं अपना**'' पाठ शुद्ध है, या फिर ''**आप अपना**''। ''स्वयं आप अपना'' तो पुनरुक्त अपपाठ है। इसको पढ़कर किस लेखक का क्या बुरा हाल हुआ, सुनिए—

पहले लेखक ने इस आपत्ति का कोई उत्तर नहीं दिया। अच्छा हुआ वे उपहास का पात्र बनने से बच गये। **दूसरे लेखक** ने प्रश्न को समझे बिना इसका उत्तर दिया—''यह पाठ वेदान्ती पूर्वपक्षी का वाक्य है। कुछ भी असंगत नहीं। आपने दिमाग पर ज्यादा जोर डाल दिया लगता है।'' अब देखिए जो उत्तर देना बनता ही नहीं, वह दिया जा रहा है? **तीसरा लेखक** और अधिक विचलित हो गया। प्रतिज्ञा-विरुद्ध रूप से तालिका-प्रदर्शन करके एक पूरा पृष्ठ काला कर दिया और यह दिखाया कि सभी सं० में यही पाठ है। फिर लिखा—''ऋषि ने जिस कथन को पूर्वपक्ष के रूप में दिया है उसे ऋषि-मान्यता बताकर प्रस्तुत किया जा रहा है।'' एक स्थान पर दिये विचारहीन उत्तर से इनको सन्तोष नहीं हुआ, दूसरे लेख में फिर अपने को यह लिखकर उपहास का पात्र बनाया—''आवेश, क्रोध, ईर्ष्या, पक्षपातरहितता(?) मनुष्य के और विशेषकर विद्वानों के शत्रु हैं। अब देखो न, डॉ०

अपने=स्वकीय शुद्धस्वरूप को प्राप्त, सब मलों से रहित होकर पवित्र नहीं होता, तब तक योग से ऐश्वर्य को प्राप्त होकर अपने अन्तर्यामी ब्रह्म को प्राप्त होके आनन्द में स्थित नहीं हो सकता॥ १॥

इसी प्रकार जब पापादिरहित ऐश्वर्ययुक्त योगी होता है तभी ब्रह्म के साथ मुक्ति के आनन्द को भोग सकता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है॥ २॥

जब अविद्यादि दोषों से छूट, शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप से जीव [ब्रह्म में][१] स्थिर होता है, तभी 'तदात्मकत्व' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है [ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।][२]॥ ३॥

जब ब्रह्म के साथ ऐश्वर्य और शुद्ध विज्ञान को [प्राप्त करके][३] जीते ही जीवन्मुक्त होता है, तब अपने पूर्व निर्मल स्वरूप[४] को प्राप्त होकर आनन्दित होता है, ऐसा व्यासमुनि का मत है॥ ४॥

जब योगी का सत्यसंकल्प होता है, तब स्वयं परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्तिसुख को पाता है और वहाँ स्वाधीन स्वतन्त्र रहता है। **जैसे[५] संसार में एक प्रधान, दूसरा अप्रधान होता है वैसे[६] मुक्ति में नहीं, किन्तु सब मुक्त जीव एक-से रहते हैं**॥ ५॥ जो ऐसा न हो तो—

नेतरोऽनुपपत्तेः॥ १॥ वेदान्तसूत्र [१।१।१६]

भेदव्यपदेशाच्च॥ २॥ [१।१।१७]

सुरेन्द्र जी यहां भूल कर बैठे। यह वाक्य तो पूर्वपक्ष के रूप में दिया है।'' इस लेखक के विचलन की पराकाष्ठा देखिए, मैंने न इसको पूर्वपक्ष का कहा, न ऋषि की मान्यता बताया, न ईर्ष्या, क्रोध, आवेश की इसमें कोई बात की है, न मैंने कोई भूल की है। यों ही कुछ-का-कुछ लिख दिया है बिना आधार के। सारा का सारा अनर्गल उत्तर दिया गया है।

चौथे लेखक के अहंकार, भाषाज्ञान और विद्याभिमान की भी यहां सारी हवा निकल गई। दूसरों पर भाषा न समझने का आरोप लगाने वाले उसको स्वयं ही समझ नहीं आया कि यहां प्रश्न क्या है, क्या त्रुटि है और क्या उत्तर देना चाहिए। आधा पेज बेतुके उत्तर में व्यर्थ काला कर डाला, यह समझाने में कि 'अपना अधिपति कौन कैसे होता है', जबकि यह बात पूछी ही नहीं गई है। अपने अज्ञानवश ऊटपटांग और गलत उत्तर देने के बाद फिर मिथ्या ज्ञान के दम्भ में फूले न समाते हुए मेरे लिए ये श्रीमान् डींगे हांकते हैं—''इसी विद्याबल पर शास्त्र समझना चाहते हैं? मित्र, इरादा छोड़ दीजिए। इस मिथ्या पांडित्य में मात्र प्रदर्शन ही रह जायेगा, दर्शन समाप्त हो जावेगा। पाठकगण दिमाग पर जोर देकर क्या समझेंगे, आप समझिये समझ सकते हैं तो, नहीं तो यह जीवन कोरा ही विद्याहीनता में व्यतीत हो जायेगा।'' पाठकगण! अब इस लेखक को यह सब पढ़कर जब पता चलेगा कि तुझे न त्रुटि समझ आई; क्या उत्तर देना है, न यह समझ आया और ऊपर से ढेरसारी डींगे हांक मारी, समझदारी का सारा ठेका भी स्वयं ले लिया, तो अपनी नासमझी की शर्मनाक जानकारी पा करके अब इसको शर्म से पानी-पानी नहीं होना पड़ेगा क्या? अहंकार मनुष्य का सिर इसी प्रकार नीचा कराता है।

इस प्रकार किसी भी लेखक को भाषा की अशुद्धि का ज्ञान नहीं हुआ। सब यों ही धूल में लठ चलाते रहे। 'सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर' की भी लीला देखिए, ऐसे अज्ञानतायुक्त उत्तरों से भरे लेखों को प्रकाशित-वितरित करने में वह गर्व और गौरव का अनुभव कर रहा है। धन का अपव्यय करके 'न्यास' के नाम का दुरुपयोग किया जा रहा है। इस विवरण को पढ़कर अब 'न्यास' की क्या दशा होगी? न्यास को यह तो अनुभव हो ही जायेगा कि उसके लेखकों को न तो भाषा की ही समझ है और न भाषात्मक अशुद्धियों की पकड़ है। उत्तर के नाम पर उन्होंने पाठकों को दिखाने के लिए तुक्के मारे हैं, और न्यास ने उनको तीर मान कर प्रकाशित कर दिया।

८. **ऋषिहस्तलेख**—''**किन्तु.....सुनिये**'' पाठ मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ परिवर्धन करने आवश्यक हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**प्राप्त करके**'' पद आवश्यक हैं, इनके बिना संगति नहीं बनती।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**निर्मल पूर्व स्वरूप**'' अपप्रयोग हैं, '**पूर्व निर्मल-स्वरूप**' सही है।

५-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसा, वैसा**'' अपप्रयोग हैं, उदाहरणार्थ '**जैसे, वैसे**' प्रयोग अपेक्षित हैं।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च[१] **नेतरौ॥ ३॥** [१।२।२२]

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति॥ ४॥ [१।१।१९]

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्॥ ५॥ [१।१।२०]

भेदव्यपदेशाच्चान्यः॥ ६॥ [१।१।२१]

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥ ७॥ [१।२।११]

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः॥ ८॥ [१।२।३]

अन्तर्याम्यधिदेवादिषु[२] **तद्धर्मव्यपदेशात्॥ ९॥** [१।२।१८]

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥ १०॥ व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र [१।२।२०]॥

अर्थ—ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प, अल्पज्ञ,[३] [अल्प] सामर्थ्यवाले जीव में सृष्टिकर्तृत्व नहीं घट सकता, इससे जीव ब्रह्म नहीं॥ १॥

'**रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति**' यह उपनिषद् का वचन है। [तैत्तिरीय उप० ब्र० वल्ली अनु० ७]

जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादित किया है।[४] जो ऐसा न होता तो 'रस' अर्थात् 'आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है', प्राप्तिविषय ब्रह्म और प्राप्त होनेवाले जीव का यह निरूपण नहीं घट सकता, इसलिये जीव और ब्रह्म एक नहीं॥ २॥

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ मुण्डक उप० [२।१।२]

दिव्य=शुद्ध, मूर्त्तिमत्त्वरहित, सबमें पूर्ण, बाहर-भीतर निरन्तर व्यापक, अज=जन्म-मरण-शरीरधारणादि रहित, श्वास-प्रश्वास, शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि परमात्मा के विशेषण हैं।[५] और अक्षर=नाशरहित प्रकृति से 'परे' अर्थात् 'सूक्ष्म' जीव [और][६] उससे भी परमेश्वर परे है अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है॥ प्रकृति और जीवों से ब्रह्म के भेद प्रतिपादनरूप हेतुओं से [सिद्ध होता है कि][७] प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है॥ ३॥

इसी सर्वव्यापक ब्रह्म में जीव का योग वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादित करने से [सिद्ध है कि][८] जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है॥ ४॥

इस ब्रह्म के अन्तर्यामी[९] आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव

---

१. **त्रुटित उद्धरण**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में सूत्र में "**च**" पद त्रुटित है। मूलसं०, द्वि०सं० में परिवर्धित है।

२. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अधिदैवादिषु**" अपपाठ है। कुछ दर्शनों में भी अपपाठ मिलता है। सूत्र के महर्षिकृत हिन्दी अर्थ से यह कथन सिद्ध हो जाता है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अल्प, अल्पज्ञ सामर्थ्यवाले**" अपक्रमात्मक पाठ है। उपर्युक्त क्रम से संशोधन चाहिए। **स्वामी वेदानन्द जी** और **पं० मीमांसक जी** ने "**सामर्थ्य वाले**" से पूर्व 'अल्प' पाठ का परिवर्धन किया है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भेद प्रतिपादन किया है**" व्याकरणिक दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग है। उपर्युक्त संशोधन अपेक्षित है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अशुद्धि है।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है, वाक्यरचना की दृष्टि से वांछनीय है।

६-८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी पाठों में, पूर्ण तथा उचित वाक्यरचना के लिए बृ० कोष्ठकान्तर्गत सभी पाठ अपेक्षित हैं।

९. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं०में "**अन्तर्यामि**" अपवर्तनी है, हिन्दी में '**अन्तर्यामी**' अपेक्षित है। मूलप्रति सं०

व्यापक ब्रह्म से भिन्न है; क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद में संघटित होता है॥५॥

जैसे परमात्मा जीव से भिन्नस्वरूप है, वैसे इन्द्रियों, अन्तःकरण, वायु, पृथिवी आदि भूतों, दिशा, सूर्यादि से तथा दिव्यगुणों के योग से 'देवता'-वाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है[१]॥६॥

''**सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ**''[२-३] [कठ०, अ० १।३।१] इत्यादि उपनिषदों के वचनों से [स्पष्ट होता है कि][४] जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है॥७॥

'**शरीरे भवः शारीरः**', [=शरीर में रहने से जीवात्मा को 'शारीर' कहते हैं],[५] शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म के गुण, कर्म, स्वभाव जीव में नहीं घटते॥८॥

अधिदेव[६]=सब दिव्य मन[७], इन्द्रियादि पदार्थों, **अधिभूत**=पृथिव्यादि भूतों,[८] **अध्यात्म**= सब जीवों में[९] परमात्मा अन्तर्यामी रूप से स्थित है; क्योंकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदों में व्याख्यात हैं॥९॥

शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है॥१०॥

इत्यादि '**शारीरक-सूत्रों**' से भी स्वरूप से ब्रह्म और जीव का भेद सिद्ध है।

वैसे ही वेदान्तियों के **उपक्रम**[१०] और **उपसंहार**[११] भी नहीं घट सकते,[१२] क्योंकि '**उपक्रम**' अर्थात् आरम्भ ब्रह्म से और '**उपसंहार**' अर्थात् प्रलय भी ब्रह्म में ही करते हैं। जब दूसरा कोई वस्तु

में शुद्ध है। एकरूपता तथा भाषागत व्यवस्था के लिए भी एक ही वर्तनी चाहिए।

१. **भ्रष्ट एवं अपवाक्य—भ्रष्ट प्रयोग**—मूललिपिकर ने इस वाक्य में ''**योग**'' के स्थान पर ''**भोग**'' लिखा है। वही अशुद्धि मुद्रणह०, द्विप्र० और जग में है। मूलसं०, द्वि०सं० आदि सभी सं० में संशोधित है। दोनों सं० में यह वाक्य रचनात्मक तथा वर्तनियों की दृष्टि से अशुद्ध है—''**वैसे इन्द्रिय, अन्तःकरण, पृथिवी आदि भूत, वायु, सूर्यादि दिव्यगुणों के योग से देवतावाच्य विद्वानों से भी परमात्मा भिन्न है।**'' इसका उपर्युक्त रूप से संशोधन अपेक्षित है, वही ग्राह्य है। सभी अन्य सं० के समान 'उदयपुर' सं० में भी यह अपपाठ है।

२. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ मिलता है—''**गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके**''। वेस, भद, जग, युमी, विस आदि सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अपपाठ है।

३. **श्लोकार्थ**—'**सुकृतस्य लोके**=पुण्यकर्मों के अधिष्ठान=आश्रयस्थान इस शरीररूपी लोक में परमात्मा और आत्मा हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट हैं।' यहां दोनों का पृथक् निर्देश है।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है तथा आगे संस्कृत पाठ का हिन्दी अनुवाद नहीं है। यहां बृहत् कोष्ठक में दिया गया है।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अधिदैव**'' अपवर्तनी है। इस सं० में संशोधित है। मन आदि 'देव' हैं, 'दैव' नहीं। 'उदयपुर' सं० सहित सभी सं० में असंशोधित है।

७. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**आदि**'' पद अनावश्यक है, क्योंकि आगे ''**इन्द्रियादि**'' पद पठित है और मन इन्द्रियों में ही परिगणित होता है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०और तीनों सं० में ''**भूत**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त वांछित है।

९. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य, प्रथम समु० पृ० ५० पर।

१०-११. **उपक्रम और उपसंहार**—उपक्रम का अर्थ है—'**आरम्भ**'। नवीन वेदान्त के अनुसार, ब्रह्म जो स्वयं को सृष्टि के रूप में उत्पन्न करता है, वह '**उपक्रम**' कहाता है। जब सृष्टि की प्रलय करके चराचर को अपने में समाविष्ट कर लेता है, वह '**उपसंहार**' कहाता है। उपसंहार का व्यावहारिक अर्थ है—समाप्ति, निष्कर्ष, समेटना, मृत्यु आदि।

१२. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां एकवचनात्मक अपवाक्य है—''**वेदान्तियों का उपक्रम और उपसंहार भी नहीं घट सकता**'', दो के लिए यहां बहुवचनात्मक प्रयोग अभीष्ट है।

नहीं मानते तो उत्पत्ति और प्रलय भी ब्रह्म के धर्म हो जाते हैं। और उत्पत्ति-विनाशरहित ब्रह्म का प्रतिपादन वेदादि सत्यशास्त्रों में किया है। वह नवीन वेदान्तियों पर कोप करेगा, क्योंकि निर्विकार, अपरिणामी,[१] शुद्ध, सनातन, निर्भ्रान्त[२] आदि विशेषणयुक्त ब्रह्म में विकार, उत्पत्ति और अज्ञान आदि का सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। तथा **उपसंहार** (=प्रलय) के होने पर भी ब्रह्म, कारणात्मक जड़ और जीव बराबर बने रहते हैं। इसलिये '**उपक्रम**' और '**उपसंहार**' भी इन वेदान्तियों के ठीक नहीं है। इसी प्रकार की, इन नवीन वेदान्तियों की कल्पनायें झूठी हैं। ऐसी अन्य बहुत-सी अशुद्ध बातें हैं[३] कि जो शास्त्रों[४] और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध हैं।

इसके पश्चात् कुछ जैनियों और कुछ शंकराचार्य के अनुयायी लोगों के उपदेश के संस्कार आर्यावर्त में फैले थे और आपस में खण्डन-मण्डन भी चलता था।

शंकराचार्य के **तीन-सौ वर्ष** के पश्चात् उज्जैन नगरी में **विक्रमादित्य**[५] राजा कुछ प्रतापी हुआ, जिसने सब राजाओं के मध्य प्रवृत्त हुई लड़ाई को मिटाकर शान्ति-स्थापना[६] की।

तत्पश्चात् **भर्तृहरि**[७] राजा काव्यादि-शास्त्रों और अन्य [विषयों] में भी कुछ-कुछ विद्वान् हुआ,[८]

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**अपरिणामि**'' अपवर्तनी है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार ''**अपरिणामी**'' वर्तनी शुद्ध है। मूलप्रति सं० में संशोधित है।

२. **अपप्रयोग एवं अपसंशोधन**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**निर्भ्रान्तित्व-आदि विशेषण**'' अपप्रयोग है। मूलसं०, द्वि०सं० में ''**निर्भ्रान्तत्वादि**'' संशोधन किया है, जो अशुद्ध है। यह भी विशेषण नहीं अपितु भाववाचक संज्ञा है। '**निर्भ्रान्त आदि**' प्रयोग शुद्ध है। महदाश्चर्य तो यह है कि व्याकरणज्ञ **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० भगवद्दत्त जी, स्वामी वेदानन्द जी** आदि के सं० में, और कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित '**उदयपुर संस्करण**' में भी यह व्याकरणिक स्पष्ट अशुद्धि विद्यमान है!

३. **मुद्रणलिपिकर की करतूत से पाठपरिवर्तन**—मूलह० में पूर्ण और शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय बीच का यह पाठ छोड़ दिया—''**का ठीक नहीं है। इसी प्रकार की इन नवीन वेदान्तियों की कल्पना झूठी है। ऐसी**''। इस पाठ की त्रुटि से यह अपवाक्य बना—''**उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों की अन्य बहुत-सी अशुद्ध बातें है।**'' इस असंगत वाक्य को देखकर शोधक ने अनुमान से कुछ पद जोड़े जिनमें यह वाक्य बना—''**उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों की 'कल्पना झूठी है ऐसी' अन्य.....**।'' रचनात्मक दृष्टि से अशुद्ध यह वाक्य कामचलाऊ तो बन गया किन्तु महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ त्रुटित ही रह गया। यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में है और 'उदयपुर' सं० सहित सभी वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि द्वि०सं० में छप रहा है। इस प्रकार दोनों हस्तलेखों में पाठान्तर होने का दोषी मुद्रणलिपिकर है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**शास्त्र**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, ''**शास्त्रों**'' चाहिए।

५. **विक्रमादित्य राजा**—वैदिक इतिहासकार पं० भगवद्दत्त जी के अनुसार, '**विक्रमादित्य**' उपाधिधारी कई राजा हुए हैं। जिसके नाम से विक्रम संवत् प्रचलित है और जो इस समय सन् २००९ में २०६६ अपने अन्तिम चरण में हैं, इस विक्रम संवत् का प्रवर्तक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) है। इसकी राजधानी उज्जैन थी। इसने भी किसी प्रबल शकराजा का वध किया था। विक्रमादित्य उपाधिधारी प्रथम राजा शूद्रक विक्रमादित्य था।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**शान्ति स्थापन की**'' अपप्रयोग है, यहां '**शान्ति स्थापना की**' स्त्रीलिंग-प्रयोग अभीष्ट है। अन्य सभी सं० में अशुद्ध है, 'उदयपुर' सं० में संशोधित है।

७. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—अयोग्यशिरोमणि लिपिकरों ने दोनों हस्त० में ''**भर्तरीहरी**'' नाम लिखकर अशुद्धि का रिकार्ड बनाया है। मुद्रणकाल में शोधकों ने द्वि०प्र० में इसका संशोधन किया है—''**भर्तृहर**''। किन्तु, मूलसं० और सभी द्वि०सं० ने इसका संशोधन करके संशोधन-विरोधियों की इस महत्त्वपूर्ण धरोहर को नष्ट कर दिया!! अभी तक किसी संशोधन-विरोधी ने इस पर विलाप नहीं किया, यह भी आश्चर्य है न?

८. **भर्तृहरि**—उज्जैन का राजा भर्तृहरि प्रसिद्ध है। यह विद्वान् राजा था। इसके द्वारा रचित व्याकरण ग्रन्थ 'वाक्यपदीयम्' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शृंगार, वैराग्य और नीतिशतक, ये तीन शतक काव्यप्रेमियों में रुचिपूर्वक पढ़े जाते हैं। कहा जाता है कि यह अपनी रानी के द्वारा विश्वासघात किये जाने के बाद विरक्त हो गया था और राज्य को छोड़कर वन में रहने लगा था।

उसने वैराग्यवान् होकर राज्य को छोड़ दिया।[१]

विक्रमादित्य के **पांच-सौ वर्ष** के पश्चात् राजा **भोज**[२] हुआ। उसने थोड़ा-सा व्याकरण और काव्यालङ्कार-आदि का इतना प्रचार किया कि जिसके राज्य में **कालिदास**[३] बकरी चरानेवाला भी '**रघुवंश**' काव्य का कर्त्ता हुआ। राजा भोज के पास जो कोई अच्छा श्लोक बनाकर ले जाता था उसको बहुत-सा धन देते और प्रतिष्ठा करते थे। उसके पश्चात् राजाओं और श्रीमानों ने पढ़ना ही छोड़ दिया।

यद्यपि शंकराचार्य जी के पूर्व [हुए][४] वाममार्गियों के पश्चात् **शैव** आदि सम्प्रदायस्थ मतवादी भी हुए थे, परन्तु उनका बहुत बल नहीं हुआ था।[५] महाराजे विक्रमादित्य से लेके शैवों का बल बढ़ता आया। शैवों में पाशुपतादि बहुत-सी शाखायें[६] हुई थीं, जैसे[७] वाममार्गियों में **दश महाविद्यादि** शाखायें[८] हैं। लोगों ने शङ्कराचार्य को शिव का अवतार ठहराया। उनके अनुयायी संन्यासी भी शैवमत में प्रवृत्त हो गये और वाममार्गियों को भी मिलाते[९] रहे। **वाममार्गी,** 'देवी' जो शिव की पत्नी है उसके उपासक, और **शैव** 'महादेव' के उपासक हुए। ये दोनों रुद्राक्ष और भस्म अद्यावधि धारण करते हैं; परन्तु जितने वाममार्गी वेदविरोधी हैं, उतने[१०] शैव वेदविरोधी नहीं है। इन लोगों ने[११]—

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम्॥ १॥
रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशती द्वे,
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलगतान् द्वादशान् द्वादशैव।
बाह्वोरिन्दोः कलाभिः पृथगिति गदितमेकमेवं शिखायाम्,
वक्षस्यष्टाऽधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः॥ २॥

[तुलना—शिवपुराण, विश्वेश्वर संहिता १। अ० २५। श्लो० ३७-३८]॥

---

१. **अपवाक्य और संशोधन**—दोनों हस्त० में लिपिकरों ने यह अपवाक्य लिखा है—"**वह वैराग्यवान् होकर राज्य को छोड़ दिया।**" द्विप्र० में यही अशुद्ध पाठ छपा है। मूलसं० और द्वि०सं० में इसका संशोधन कर लिया है। अन्य सभी सं० में भी संशोधित है। मीमांसक जी ने भी यहां टिप्पणी देकर काम नहीं चलाया है अपितु मूलपाठ में ही संशोधन कर लिया है। इसके अतिरिक्त, पूर्वार्ध वाक्य में "**काव्यादि शास्त्र**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है तथा "**विषयों**" परिवर्धन अपेक्षित है।

२. **भोज**—इस नाम के कई राजा हो गये हैं। यह भी उज्जैन का विद्वान् राजा था। इसके नाम से रचित अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

३. **कालिदास**—आरम्भिक शोधों में यह माना जाता था कि कालिदास नामक एक ही कवि हुआ है। उसके बाद तीन कालिदासों की प्रामाणिक खोज हुई—१. विक्रमादित्य के नौ रत्नों में से एक, २. भवभूति के समकालीन, ३. राजा भोज के समकालीन। आज कम से कम ग्यारह कालिदासों की खोज हो चुकी है जिनके नाम से साहित्य भी प्राप्त है। महर्षि दयानन्द के समय तक कालिदास के विषय में यही अनुश्रुतियां वर्णित मिलती थीं। 'भोजप्रबन्ध' भी कई हैं। महर्षि ने अवश्य किसी '**भोजप्रबन्ध**' से यह ऐतिहासिक वृत्तान्त लिया है। "**घट्यैकया क्रोश०**" (पृ० ५६६) श्लोक भी वहीं से ग्रहण किया है। द्र०पृ० ५६६ पर टिप्पणी।

४-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**हुए**' पद का प्रयोग स्पष्ट-संदेहरहित वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है। द्वि० सं० में अग्रिम वाक्यांश में '**हुआ**' क्रिया त्रुटित है—"**बहुत बल नहीं था**"। यह क्रिया मुद्रण-दोष से छूट गई है। दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है।

६-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां इस वाक्य में एकवचनान्त "**शाखा**" अपप्रयोग है, यहां बहुवचन अपेक्षित है। यहां मूलसं० के संशोधन को छोड़कर सभी में "**जैसी**" अपप्रयोग है।

८. **अन्यत्र वर्णन एवं अपप्रयोग**—दोनों सं० में "**शाखा**" एकवचनान्त है, बहुवचन अपेक्षित है। द्रष्टव्य समु० ११, पृ० ६५२ पर।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वाममार्गियों को भी मिलते रहे**" अपप्रयोग है, '**मिलाते रहे**' उपयुक्त पाठ है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उतने**" के स्थान पर "**वैसे**" अप-परिवर्तन है। "**जितने**"

इत्यादि बहुत प्रकार के श्लोक[१२] बनाये और कहने लगे कि जिसके कपाल में भस्म और कण्ठ में रुद्राक्ष नहीं है, उसको धिक्कार है। '**तं त्यजेदन्त्यजं यथा**' [तुलना—भविष्यपुराण विश्वेश्वर संहिता १।३० अ० २३। श्लो० १३]=उसका[१] चाण्डाल के तुल्य त्याग करना चाहिये॥ १॥

जो कण्ठ में ३२, शिर में ४०, कानों में छः-छः, करों में बारह-बारह, भुजाओं में सोलह-सोलह, शिखा में एक और हृदय पर एक-सौ आठ रुद्राक्ष धारण करता है,[२] वह साक्षात् महादेव के सदृश है॥ २॥ ऐसा ही **शाक्त** भी मानते हैं।

पश्चात् उन **वाममार्गियों**[३] और **शैवों** ने सम्मति करके भग-लिङ्ग का स्थापन किया, जिसको जलाधारी और लिङ्ग कहते हैं, और उसकी पूजा करने लगे। **उन निर्लज्जों को लज्जा भी न आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं?** किसी कवि ने कहा है कि '**स्वार्थी दोषं न पश्यति**' [चाणक्यनीति ६।८]=स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि[४] करने में दुष्ट कामों को भी श्रेष्ठ मान, दोष को नहीं देखते हैं। ये[५] उसी पाषाणादि मूर्त्ति और भग-लिङ्ग की पूजा में ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानने लगे।

जब **राजा भोज** के पश्चात् जैनी लोग अपने[६] मन्दिरों में मूर्त्तिस्थापन करने और दर्शन को आने-जाने लगे। तब तो इन 'पोपों' के चेले भी जैनमन्दिर में जाने-आने लगे और उधर पश्चिम से कुछ दूसरे मतों[७] के और यवन[८] लोग भी आर्यावर्त में आने-जाने लगे। तब पोपों ने यह श्लोक बनाया—

के सम्बन्ध से "**उतने**" प्रयोग अभीष्ट है। मूलप्रति सं० में पाठ ठीक है।

११-१२. मुद्रणकालीन परिवर्तन—दोनों हस्त० में "**इन लोगों ने**" पाठ श्लोकों से पूर्व अवतरणिका के रूप में है। मुद्रणकाल में, द्विप्र० में संख्यांक १२ के स्थान पर यह पाठ रख दिया और ऊपर से हटा दिया। वही पाठ द्वि० सं० में छप रहा है। यहां अवतरणिका के रूप में इस पाठ की अधिक सटीकता है। उससे श्लोकों की संगति पूर्वपाठ से बन जाती है, अतः हस्तलेखों का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। यही मूलसं० में है।

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**उसको चाण्डाल के तुल्य त्याग करना चाहिए।**" इससे 'चाण्डाल के समान त्याग करनेवाला होना चाहिए' इस अप-अर्थ का बोध हो रहा है। यहां कर्मकारक का नहीं, सम्बन्ध कारक अभीष्ट है। "**उसका चाण्डाल के तुल्य**" पाठ अभीष्ट अर्थ देगा। अन्य सभी सं० और 'उदयपुर' सं० में यह अपवाक्य है।

२. **अपपाठ**—दोनों सं० में इस श्लोकार्थ में अनेक व्याकरणिक त्रुटियां हैं। जैसे, मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—"**जो कण्ठ में ३२, शिर में ४०, छः-छः कानों में, कर में बारह-बारह, भुजा में सोलह-सोलह, शिखा में एक और हृदय में एक-सौ आठ रुद्राक्ष धारण करता है।**" लगभग यही पाठ कुछ संशोधनसहित मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में है। यहां '**कर**' और '**भुजा**' दो-दो होने से बहुवचनान्त अपेक्षित हैं। '**हृदय में**' के स्थान पर '**हृदय पर**' सही पाठ है। द्वि० सं० में शब्दक्रम अस्त-व्यस्त कर दिया है जो अवांछनीय है। शुद्ध पाठ ऊपर दिया है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वाममार्गी**" अपप्रयोग है, '**वाममार्गियों**' उपयुक्त है।

४. **उचित संशोधन किन्तु अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में, मूलह०, मूलसं० के पाठ "**अपने कामसिद्धि**" के स्थान पर "**स्वार्थसिद्धि**" संस्कृत पदानुसारी सटीक और उचित संशोधन है, किन्तु दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**अपने**" अपप्रयोग है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां संगति के लिए '**ये**' पद आवश्यक है।

६. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में, मूलह०, मूलप्रति सं० के "**अपने-अपने**" पाठ के स्थान पर "**अपने**" पाठ संशोधन उचित है, द्विरावृत्ति अनावश्यक है।

७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पश्चिम में कुछ दूसरों के मत**" अपूर्ण और अपपाठ है, '**पश्चिम से कुछ दूसरे मतों के**' शुद्ध पाठ अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० सहित अन्य सभी सं० में भी अपपाठ है। मीमांसक जी आदि कई विद्वानों ने 'दूसरों के मत' एकवचनात्मक अर्थ ग्रहण किया है। यह इस कारण स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि "**आने-जाने लगे**" बहुवचनात्मक क्रियाओं का संगति इस अर्थ से नहीं बनती।

न वदेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि। हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

[तुलना—भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व ३। खं० ३। अध्याय २८। श्लो० ५३]

चाहे कितना ही दुःख प्राप्त हो, प्राण कण्ठगत अर्थात् मृत्यु का समय भी क्यों न आया हो, तो भी यावनी अर्थात् म्लेच्छ-भाषा मुख से न बोलनी [चाहिये]। और [किसी को] उन्मत्त हाथी मारने को क्यों न दौड़ा आता हो [और उसके] जैन के मन्दिर में जाने से प्राण बचते हों,[१] तो भी जैन-मन्दिर में प्रवेश न करे; किन्तु जैन-मन्दिर में प्रवेश कर बचने से,[२] हाथी के सामने जाकर मर जाना उससे अच्छा है।[३]

ऐसे-ऐसे उपदेश अपने चेलों को करने लगे। जब उनसे कोई प्रमाण पूछता था कि 'तुम्हारे मत में किसी माननीय ग्रन्थ का भी प्रमाण है?' तो कहते थे कि 'हाँ है।' जब वे पूछते थे कि 'दिखलाओ?' तब '**मार्कण्डेय पुराण**' आदि के वचन पढ़कर सुना देते थे,[४] जैसा कि '**दुर्गापाठ**' में देवी का वर्णन लिखा है।

राजा भोज के राज्य में व्यास जी के नाम से '**मार्कण्डेय**' और '**शिवपुराण**' किसी ने बनाकर खड़ा किया था। उसका समाचार राजा भोज को होने से उन पण्डितों को हस्तच्छेदनादि दण्ड दिया और उनसे कहा कि 'जो कोई काव्यादि ग्रन्थ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियों के नाम से नहीं।' यह बात राजा भोज के बनाये '**संजीवनी**' नामक इतिहास में लिखी है कि जो ग्वालियर राज्य के[५] 'भिंड' नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है। जिसको लखुना के राव साहब और उनके गुमाश्ते[६]

---

८. **पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी चिन्त्य**—पं० जी ने टिप्पणी में लिखा है—"**यवन अर्थात् मुसलमान**" (पृ० ४६७)। यह अर्थ न तो महर्षि के मन्तव्य के अनुकूल है और न कालक्रम के। 'यवन' का प्राचीन मूल अर्थ 'यूनानी' है। बाद में 'पश्चिम की ओर से आने वाले प्रत्येक को' यवन कहा जाने लगा। फिर नवीनतम अर्थ में यह मुसलमानों के लिए रूढ़ हो गया। महर्षि ने यवन का अर्थ 'यूनानी' माना है—"**यवन जिसको यूनान कह आये**" (समु०११, पृ० ५१५) अतः इसका अर्थ मुसलमान ग्रहण नहीं किया जा सकता। दूसरा प्रश्न कालक्रम का है। इस्लाम के आविर्भाव को ही १४०० वर्ष से कुछ कम वर्ष हुए हैं जबकि ग्रन्थकार के अनुसार राजा भोज का जीवनकाल १५०० वर्ष पूर्व था। आधुनिक इतिहास से हमें यह जानकारी मिलती है कि इस देश में आक्रान्ता के रूप में समय-समय पर यूनानी, शक, हूण, कुषाण आदि पश्चिमी लोग आते रहे किन्तु मुसलमान आक्रान्ता या लुटेरे के रूप में पहला आक्रमण ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गज़नवी की ओर से हुआ था। भारत में मुसलमानों का आवागमन अथवा निवास शहाबुद्दीन गौरी (सन् ११९२) के पश्चात् आरम्भ हुआ। इस प्रकार राजा भोज के समीपस्थ काल में 'यवन' का 'मुसलमान' अर्थ होने का औचित्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि तब इस्लाम का प्रवर्तन ही नहीं हुआ था।

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**प्राण बचता हो**" अपवाक्य है। यहां बहुवचनात्मक प्रयोग वांछित है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—"**किन्तु जैन.....बचने से**" पाठ मुद्रणह० में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

३. **उचित संशोधन**—द्वि० सं० में इस अनुच्छेद में किये गये कई संशोधन उचित एवं ग्राह्य हैं। कोष्ठक का पाठ भी स्पष्टता के लिए ग्राह्य है। मूलप्रति सं० का पाठ कुछ अस्पष्ट-सा है। वह है—"**चाहे कितना ही दुःख हो, प्राण कण्ठगत अर्थात् मृत्यु का भी समय आवे, तो भी म्लेच्छ अर्थात् यवनों की भाषा मुख से न बोलनी। और उन्मत्त हाथी मारने को दौड़ा आता हो, जैन के मन्दिर में जाने से बचता हो, तो भी जैन के मन्दिर में प्रवेश न करे।**" द्वि०सं० का ग्राह्य पाठ ऊपर अंकित है।

४. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**पढ़ सुनाते थे**" के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने "**पढ़ते और सुनाते थे**" अपपाठ बनाया है। वही द्विप्र० और द्वि०सं० में है। दोनों अग्राह्य हैं। "**पढ़कर सुना देते थे**" उपयुक्त पाठ है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वितीय संस्करण में "**ग्वालियर के राज्य**" अपपाठ है। मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

६. **गुमाश्ते**=उत्तराधिकारी, प्रतिनिधि या नियुक्त अधिकारी। दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**गुमास्ते**" अपवर्तनी है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है] किन्तु 'उदयपुर' सं० के सम्पादकों को अशुद्ध वर्तनी ही पसन्द आई!

रामदयाल चौबे जी ने अपनी आँख से देखा है।[१] उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यास जी ने चार सहस्र चार-सौ और उनके शिष्यों ने पांच सहस्र छः-सौ श्लोकयुक्त अर्थात् दस सहस्र श्लोकों के प्रमाण [का] '**भारत**' बनाया था। वह महाराजे विक्रमादित्य के समय में वीस सहस्र [श्लोक प्रमाण का हुआ][२] महाराजे भोज कहते हैं कि मेरे पिता के समय में पच्चीस, और मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त '**महाभारत**' का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो '**महाभारत**' का पुस्तक एक ऊंट का बोझ हो जायगा और ऋषि-मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रन्थ बनावेंगे तो आर्यावर्तीय लोग भ्रमजाल में पड़के वैदिकधर्मविहीन होकर भ्रष्ट हो जायेंगे। इससे विदित होता है कि **राजा भोज** को कुछ-कुछ वेदों का संस्कार था। इनके [सम्बन्ध में लिखे] '**भोजप्रबन्ध**' में[३] लिखा है कि—

घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वः सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विना मनुष्येण चलत्यजस्त्रम्॥[४]

---

१. '**संजीवनी**' **नामक इतिहास**—ग्रन्थकार ने इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख अपने अन्य दो ग्रन्थों में भी किया है। 'उपदेश मंजरी' में लिखते हैं—''**ग्वालियर में भिंडनामी नगर में मिश्र लोग रहते हैं। उनके पास 'संजीवनी' नामक एक पुस्तक है, उसमें महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है....।**'' (उपदेश १३, पृ० ८६) 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम संस्करण (सन् १८७५) में इसका विवरण और ग्रन्थ का नाम इस प्रकार मिलता है—''**उस संजीवनी ग्रन्थ में राजा भोज ने अनेक प्रकार की बातें, पुस्तकों के विषय, और देश के वर्तमान के विषय में इतिहास लिखे हैं। सो वह संजीवनी ग्रन्थ वटेश्वर के पास होलीपुरा एक गांव है, उसमें चौबे लोग रहते हैं, वे जानते हैं जिसके पास वह ग्रन्थ है, परन्तु लिखने वा देखने को वह पण्डित किसी को नहीं देता, क्योंकि उसमें सत्य बात लिखी है। उसके प्रसिद्ध होने से पण्डितों की अजीविका नष्ट हो जाती है। इस भय से वह उस ग्रन्थ को प्रसिद्ध नहीं करता।**'' (पृ० ३१६)

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रियापद त्रुटित हैं। उपयुक्त वाक्यरचना और पूर्णता के लिए बृ०कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**सम्बन्ध में लिखे**' बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है, अन्यथा पाठक को यह भ्रान्ति होती है कि '**भोज-प्रबन्ध**' राजा भोज की रचना है। सर्वप्रथम **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** और फिर **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस पाठत्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उनका शतप्रतिशत सही और मान्य प्रस्ताव होने पर भी **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** (संन्यास नाम—स्वामी सच्चिदानन्द जी योगी ने) अपनी पुस्तक ''सत्यार्थप्रकाश के संशोधन की समीक्षा'' में स्वामी जी की आलोचना की है और एक हास्यास्पद समाधान किया है। जिसका भाव यह है कि ''**इनके भोजप्रबन्ध में**'' इस पाठ से ही ''**इनके सम्बन्ध में लिखे भोजप्रबन्ध में**'' यह अर्थ प्रकट हो जायेगा। किसी अन्य लेखक द्वारा लिखित शास्त्री जी के 'जीवन चरित्र' के विषय में यदि यह वाक्य कहा जाये—'**इनके 'जीवन चरित्र' में लिखा है**', तो क्या इसका यह अर्थ बन जायेगा कि शास्त्री जी द्वारा अपने सम्बन्ध में लिखे 'जीवन चरित्र' में लिखा है! यह शास्त्री जी का दुराग्रह-मात्र है।

४. '**भोज प्रबन्ध**' **अनेक थे**—वर्तमान में उपलब्ध कवि वल्लाल रचित '**भोज प्रबन्ध**' में यह श्लोक नहीं मिलता। '**भोज प्रबन्ध**' नामक कई ग्रन्थ रहे हैं। जिसमें से ग्रन्थकार ने यह श्लोक उद्धृत किया है, वह अन्य ग्रन्थ रहा होगा। कवि वल्लाल रचित '**भोज प्रबन्ध**' के भी दो पाठ मिलते हैं—'गौड़ीय' (कलकत्ता से प्रकाशित) और 'दाक्षिणात्य' (निर्णयसागर प्रेस बंबई से प्रकाशित)। इसके अतिरिक्त मेरुतुंग, पद्मगुप्त, वत्सराज, शुभशील और राजवल्लभ नामक कवियों ने भी 'भोज प्रबन्ध' लिखे थे। इनका उल्लेख पाश्चात्य लेखक ऑफ्रेक्ट ने किया है। वल्लालकृत भोजप्रबन्ध का अनुवाद कई विदेशी भाषाओं में हो चुका है। अन्य अभी अप्रकाशित हैं। यह अन्वेषणीय है कि महर्षि द्वारा उद्धृत श्लोक किस कविकृत 'भोजप्रबन्ध' का है।

यह बात निश्चित है कि राजा भोज के समय यन्त्र-विज्ञान विकसित था क्योंकि राजा भोज द्वारा रचित '**समराङ्गणसूत्रधार**' नामक ग्रन्थ में भी एक 'यन्त्राध्याय' है, जिसमें अनेक यन्त्रों का उल्लेख एवं निर्माण प्रक्रिया है। यहां तक कि विमान बनाने का भी निर्देश और विधि है। भारत में विमान विद्या विकसित रही है, इसके अन्य भी प्रमाण हैं। रामायणकालीन 'पुष्पक विमान' प्रसिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त महर्षि भारद्वाज-रचित '**यन्त्र-सर्वस्व**' नामक एक विशाल तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ था। उसका 'विमान अध्याय' उपलब्ध हो चुका है। उसका हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक ने किया है और '**बृहद् विमानशास्त्र**'

राजा भोज के राज्य में और [उनके] पास ऐसे[१] शिल्पीलोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार का[२] एक यान कलायन्त्रयुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में[३] ग्यारह कोस[४] और एक घण्टे में साढ़े सत्ताईस कोस[५] जाता था।[६] वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था। और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि विना मनुष्य के चलाये कलायन्त्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था। **जो ये दोनों पदार्थ आज तक बने रहते तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।**

जब पोप जी अपने चेलों को जैनियों से रोकने लगे तो भी मन्दिरों में जाने से न रुक सके और जैनियों की कथा में भी लोग जाने लगे। 'जैनियों के पोप' इन 'पुराणी पोपों' के चेलों को बहकाने लगे। तब 'पुराणी पोपों' ने विचारा कि इसका कोई उपाय करना चाहिये, नहीं तो अपने चेले जैनी हो जायेंगे। पश्चात् 'पोपों' ने यही सम्मति की कि जैनियों के सदृश अपने भी अवतार, मन्दिर, मूर्त्ति और कथा के पुस्तक बनावें। इन लोगों ने जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों के सदृश चौबीस अवतार, मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनाईं और जैसे जैनियों के '**आदि [पुराण]**'[७] और '**उत्तर पुराण**' आदि हैं वैसे अठारह पुराण बनाने लगे।

राजा भोज के **डेढ़-सौ वर्ष** के पश्चात् वैष्णव-मत का आरम्भ हुआ। एक **शठकोप**[८] नामक कंजर कुल[९] में उत्पन्न हुआ था, उससे थोड़ा-सा चला। उसके पश्चात् **मुनिवाहन**[१०] भंगी-कुलोत्पन्न और

नाम से 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली' ने उसको प्रकाशित किया है। उसमें ५०-६० प्रकार के विमानों तथा विमान सम्बन्धी यन्त्रों के निर्माण की प्रक्रिया दी है। 'त्रिपुर' नामक ऐसे विमान का भी उल्लेख है जो जल, स्थल और आकाश में चल सकता था। उसमें पूर्ववर्ती ३० वैज्ञानिक ऋषियों के मतान्तर भी उद्धृत मिलते हैं।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर और त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी द्वि०सं० में यहां "**और समीप ऐसे-ऐसे शिल्पी लोग**" वाक्य में '**उनके**' त्रुटित पाठ है। यहां मूलप्रति सं० का त्रुटित पाठ है—"**और पास ऐसे शिल्पी लोग**"। दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**शिल्पि लोग**" अपवर्तनी है, यह मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है। मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर ने "**पास**" के स्थान पर "**समीप**" व्यर्थ और अशुद्ध पाठान्तर किया है। "**समीप**" प्रयोग "**पास**" (=अधिकार में) का अर्थ नहीं देता।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में यहां "**का**" कारक प्रत्यय त्रुटित है। यह ग्राह्य है।

३. **कच्ची घड़ी**—२४ मिनट का समय। पहले इस अवधि को '**एक घड़ी**' कहते थे। साठ मिनट की घड़ी (=घंटा) प्रचलित होने के बाद उसको '**कच्ची घड़ी**' कहने लगे।

४-५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० तथा सभी सं० में "**कोश**" अपवर्तनी है। 'उदयपुर' सं० में भी अपवर्तनी विद्यमान है। सभी सं० में '**कोस**' वर्तनी ग्राह्य है। "क्रोश" शब्द संस्कृत-हिन्दी में अन्य अर्थ में प्रयुक्त होता है।

६. **कोस का आधुनिक प्रमाण**—२७ कोस के ५४ मील बनते हैं और ५४ मील के लगभ ८५ किलोमीटर होते हैं। वह अश्वयान इतने किलोमीटर प्रतिघण्टे की गति से चलता था।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में स्पष्टता के लिए यहां '**पुराण**' पद का होना आवश्यक है।

८. **शठकोप**—वैष्णव मत का आदिप्रवर्तक शठकोप नामक कंजर जाति का व्यक्ति था। परांकुश, बकुलाभरण, करिनन्दन इसके अन्य नाम हैं। इसके पिता का नाम कारि और माता का नाम नाथनायिका था। यह महीसारपुर नामक स्थान पर सूप (छाज) बनाकर बेचा करता था और इस प्रकार घूम-घूम कर सूप की विक्री से अपना निर्वाह किया करता था। (द्रष्टव्य, 'दिव्यसूरिचरित' २ और ४ सर्ग, 'दिव्यसूरिप्रभा दीपिका' ४ सर्ग)

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**कंजर वर्ण**" अपपाठ है। '**कंजर**' कोई वर्ण नहीं होता। यहां '**कुल**' पद उपयुक्त है, जैसे कि अन्य दो व्यक्तियों के लिए अग्रिम वाक्य में प्रयुक्त है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अपप्रयोग है।

१०. **मुनिवाहन**—वैष्णव सम्प्रदाय का दूसरा प्रचारक-प्रवर्तक मुनिवाहन था। यह भंगी कुल में ईस्वी सन् १०० में दक्षिण भारत में उत्पन्न हुआ था। इसका दक्षिण भारतीय मूलनाम तिरुवल्लुवार था। (द्रष्टव्य, 'कल्याण' पत्रिका; गीताप्रेस गोरखपुर, अगस्त

तीसरा **यावनाचार्य** यवन-कुलोत्पन्न आचार्य हुआ। तत्पश्चात् ब्राह्मण कुलज चौथा **रामानुज**[१] हुआ। उन्होंने अपना मत फैलाया।

शैवों ने '**शिवपुराण**' आदि, शाक्तों ने '**देवीभागवत**' आदि, वैष्णवों ने '**विष्णुपुराण**' आदि बनाये। उनमें अपना नाम इसलिये नहीं धरा कि हमारे नाम से बनेंगे तो कोई प्रमाण न करेगा, इसलिये **व्यास आदि ऋषि-मुनियों के नाम धरके 'पुराण' बनाये**। नाम भी इनका वास्तव में '**नवीन**' रखना चाहिये था, परन्तु जैसे कोई दरिद्र अपने बेटे का नाम 'महाराजाधिराज' और आधुनिक पदार्थ का नाम 'सनातन' रख दे, तो क्या आश्चर्य है?[२] अब इनके आपस के जैसे झगड़े हैं, वैसे ही पुराणों में भी धरे हैं।

देखो, '**देवीभागवत**' में [लिखा है कि] 'श्री' नामा एक 'देवी' स्त्री जो श्रीपुर की स्वामिनी लिखी है, उसी ने सब जगत् को बनाया और ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को भी उसी ने रचा है। जब उस देवी की इच्छा हुई तब उसने अपना हाथ घिसा। उससे हाथ में छाला हुआ। उसमें से '**ब्रह्मा**' की उत्पत्ति हुई। उससे देवी ने कहा कि 'तू मुझसे विवाह कर।' ब्रह्मा ने कहा कि 'तू मेरी माता लगती है, मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता।' यह सुनकर माता को क्रोध चढ़ा और लड़के को भस्म कर दिया। और फिर हाथ घिसके उसी प्रकार दूसरा लड़का उत्पन्न करके उसका नाम '**विष्णु**' रक्खा। उससे भी उसी प्रकार कहा। उसने न माना तो उसको भी भस्म कर दिया। पुनः[३] उसी प्रकार तीसरे लड़के को उत्पन्न किया।[४] उसका नाम '**महादेव**' रक्खा और उससे कहा कि 'तू मुझसे विवाह कर।' महादेव बोला कि 'मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता, तू दूसरी स्त्री का[५] शरीर धारण कर।' वैसा ही देवी ने किया। तब महादेव बोला कि 'यह दो ठिकाने राख क्या पड़ी है?' देवी ने कहा कि 'ये दोनों तेरे भाई हैं, इन्होंने मेरी आज्ञा

१९२३, 'भारतवर्ष में जातिभेद'—क्षितिमोहन सेन, पृ० २०३)

१. **रामानुज**—आचार्य रामानुज का जन्म मद्रास के '**श्रीरंगम**' स्थान पर सन् १०७३ में हुआ। '**कांजीवरम्**' नामक स्थान पर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद सारे देश के धार्मिक स्थानों का भ्रमण किया तथा सभी भारतीय मतों के ग्रन्थों का अध्ययन किया। इन्होंने पांच ग्रन्थ लिखे—वेदान्तसारम्, वेदान्तसंग्रह, भगवद्गीता की टीका, वेदान्तदीपक, ब्रह्मसूत्र पर '**श्री**' नामक भाष्य। इन्होंने शंकराचार्य के द्वैतवाद में कुछ संशोधन कर जो मत स्थापित किया, दर्शन के क्षेत्र में उसको '**विशिष्टाद्वैत**' कहते हैं। इनके मतानुसार तीनों तत्त्व ईश्वर, जीव, प्रकृति भिन्न हैं किन्तु शरीर और आत्मा के समान उनका निकट सम्बन्ध है, अतः एक प्रतीत होते हैं, और जीव का विशिष्ट सम्बन्ध है, जीव और प्रकृति ईश्वर के शरीरवत् हैं।

रामानुज ने सगुण ईश्वर भक्ति पर बल दिया और कहा कि भक्ति के द्वारा सभी उच्च और निम्न जाति के लोग मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। उस काल में इस आह्वान को सुनकर निम्न जातियों के लोग वैष्णव धर्म की ओर बहुत संख्या में आकर्षित हुए। वैष्णवों में इनके सम्प्रदाय को '**श्री**' सम्प्रदाय कहते हैं। इनका देहान्त ११३७ ई० में हुआ। इन्होंने 'तिरुपति' को वैष्णव धर्म का केन्द्र बनाया। दक्षिण भारत में इनके विचार बहुत लोकप्रिय हुए।

२. **मुद्रणकालीन अपविराम**—द्विप्र० में प्रश्नवाचक चिह्न अस्थान में है—"**क्या आश्चर्य? है**"। द्वि०सं० में संशोधित है।

३-४. **त्रुटित पाठ**—"**यह सुनकर**" यह पाठ मूलप्रति सं० में त्रुटित है, द्वि० सं० में है। "**उससे भी....पुनः**" मुद्रणप्रति में मुद्रित पाठ को भीमसेन ने लिखा है। **उचित संशोधन**—क्रमशः, "**करा**" मूलप्रति में अपक्रिया है, द्वि० सं० में "**किया**" संशोधित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपप्रयोग है—"**तू दूसरा स्त्री का शरीर धारण कर।**" यहां स्त्री का स्त्रीलिंग विशेषण "**दूसरी**" अभीष्ट है।

संशोधन-पुष्टि—यहां माता-सम्बन्ध को बदलना ग्रन्थकार का आशय है। आगे समीक्षा में ग्रन्थकार ने इसी भाव पर आधारित व्यंग्य किया है कि '**माता से विवाह न किया और बहिन से कर लिया**' आदि।

न मानी, इसलिये भस्म कर दिये।' महादेव ने कहा कि 'मैं अकेला क्या करूँगा, इनको जिला दे और दो स्त्रियां[१] और उत्पन्न कर, तीनों का विवाह तीनों से होगा।' ऐसा ही देवी ने किया। फिर तीनों का तीनों के साथ विवाह हुआ। वाह रे! माता से विवाह न किया और बहिन से कर लिया! क्या इसको[२] उचित समझना चाहिये? पश्चात् 'इन्द्र'-आदि को उत्पन्न किया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र इनको पालकी को[३] उठानेवाला कहार बनाया, इत्यादि गपोड़े लम्बे-चौड़े, मनमाने लिखे हैं।

कोई उनसे पूछे कि उस देवी का शरीर और उस श्रीपुर का बनानेवाला और देवी के पिता-माता कौन थे? जो कहो कि देवी अनादि है, तो जो संयोगजन्य वस्तु है वह अनादि कभी नहीं हो सकता। जो माता-पुत्र के विवाह करने में डरे, तो भाई-बहिन के विवाह में कौन-सी अच्छी बात निकलती है? जैसे[३] इस '**देवीभागवत**' में महादेव, विष्णु और ब्रह्मादि की क्षुद्रता और देवी की बड़ाई लिखी है, इसी प्रकार '**शिवपुराण**' में देवी आदि की बहुत क्षुद्रता लिखी है, अर्थात् ये सब महादेव के दास हैं[४] और महादेव सबका ईश्वर है। जो 'रुद्राक्ष' अर्थात् एक वृक्ष के फल की गुठली[५] और राख धारण करने से मुक्ति मानते हैं, तो राख में लोटनेहारे गधे[६] आदि पशु और घुंघची[७] आदि के धारण करनेवाले भील, कंजर आदि मुक्ति को जावें। [फिर घुंघची आदि धारण करनेवाले भील, कंजर आदि की][८] और सुअर, कुत्ते, गधे[९] आदि राख में लोटनेवाले पशुओं की मुक्ति क्यों नहीं होती?[१०]

प्रश्न—'**कालाग्निरुद्रोपनिषद्**' में भस्म लगाने का विधान लिखा है। वह क्या झूठा है? और '**त्र्यायुषं जमदग्नेः०**' यजुर्वेदवचन[११] है [३।६२], इत्यादि वेदमन्त्रों से भी भस्म-धारण का विधान [है।][१२] और पुराणों में, रुद्र की आँख के अश्रुपात[१३] से जो वृक्ष हुआ उसी का नाम रुद्राक्ष है, इसीलिये उसके धारण में पुण्य लिखा है। [यह भी लिखा है कि] एक भी रुद्राक्ष धारण करे तो सब

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दो स्त्री**" अपप्रयोग है, यहां बहुवचन अभीष्ट है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**इसी को**" अपपाठ है, द्वि०सं० में "**इसको**" संशोधित है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पालकी के उठानेवाले कहार बनाया**" अपपाठ है, यहां "**को**" कारक प्रत्यय अभीष्ट है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अपपाठ है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसी**" अपप्रयोग है। यहां "**जैसे**" पद अभीष्ट है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है, यह आवश्यक है।

५,७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**गोठली**" अपवर्तनी है, "**गुठली**" शुद्ध है। आगे, "**घुंघुंची**" अपवर्तनी है, '**घुंघची**' शुद्ध है।

६,९. **अयोग्य और प्रमादी लिपिकर-शोधक**—प्रमादलीला देखिए, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० और मूलसं० में एक ही स्थान पर "**गधा**" और "**गदहा**" दो वर्तनियां लिखी हैं। मानकता और भाषात्मक एकरूपता के लिए सर्वत्र 'गधा' यह एक वर्तनी ग्रहण की गई है। शोधक भी मक्कार थे, बिना काम किये वेतन ऐंठते रहे, उन्होंने भी मानकता पर ध्यान नहीं दिया।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पाठ की उचित संगति के लिए बृहत्कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

१०. **अस्त-व्यस्त अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**और सूअर, कुत्ते, गधा आदि पशु राख में लोटनेवालों की मुक्ति क्यों नहीं होती?**" उपर्युक्त संशोधित पाठ सही है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अपवाक्य है। इसमें क्रमभंग दोष तथा व्याकरणिक अशुद्धियां हैं।

११-१२. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में "**वचन**" पद त्रुटित है। तीनों सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है, परिवर्धन आवश्यक हैं।

१३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**अस्त्रुपात**" अपवर्तनी है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में बिना टिप्पणी के संशोधित है।

पापों से छूट स्वर्ग को जाय, यमराज और नरक का डर न रहै।

उत्तर—'**कालाग्निरुद्रोपनिषद्**' किसी 'रखोड़िया' मनुष्य अर्थात् राख धारण करनेवाले ने बनाई है। क्योंकि "**यास्य प्रथमा रेखा सा [गार्हपत्याग्निश्चकारो रजो][१] भूर्लोकः**" [४] इत्यादि वचन उसमें अनर्थक हैं। जो प्रतिदिन हाथ से बनाई रेखा है, वह भूलोक वा इसकी वाचक कैसे हो सकती है?[२] और जो—"**त्र्यायुषं जमदग्नेः०**" यजुः [३।६२] इत्यादि मन्त्र हैं, वे भस्म वा त्रिपुण्ड्र धारण के वाची नहीं, किन्तु

"**चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः[३]**" शतपथ [८।१।२।३]='हे परमेश्वर! मेरे नेत्र की ज्योति **(त्र्यायुषम्)** तिगुणी अर्थात् तीन-सौ वर्ष पर्यन्त रहै, और मैं भी ऐसे धर्म के काम करूं कि जिससे दृष्टि-नाश न हो', [इस अर्थ के बोधक हैं]।[४]

भला, यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात है!! आँख के[५] अश्रुपात[६] से भी कभी वृक्ष उत्पन्न होता है? क्या परमेश्वर के सृष्टिक्रम को कोई अन्यथा कर सकता है? जैसा जिस वृक्ष का बीज परमात्मा ने रचा है, उसी से वह वृक्ष उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। इससे, जितना रुद्राक्ष, भस्म, तुलसी, कमलाक्ष, घास, चन्दन आदि को कण्ठ में धारण करना है, वह सब जंगली [और] पशुवत् मनुष्य का काम है। ऐसे वाममार्गी और शैव बहुत मिथ्याचारी, विरोधी और कर्त्तव्य कर्म के त्यागी होते हैं। उनमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष है, वह इन बातों का विश्वास न करके, अच्छे कर्म करता है।[७] जो रुद्राक्ष [और][८] भस्म-धारण से यमराज के दूत डरते हैं, तो पुलिस के सिपाही भी डरते होंगे? जब रुद्राक्ष [और][९] भस्म-धारण करनेवालों से कुत्ता, सिंह, सर्प, बिच्छू, मक्खी और मच्छर आदि भी नहीं डरते, तो न्यायाधीश के गण क्यों डरेंगे?

---

१. **त्रुटित उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठक में दिया गया उद्धरण पाठ त्रुटित है, इसके बिना '**भूर्लोकः**' प्रयोग की संगति वाक्य में नहीं बनती। "**सा भूर्लोकः**" अशुद्ध पाठ हो जाता है, अतः पूर्ण उद्धरण परमावश्यक है।

२. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है—"**इसका वाचक कैसे हो सकता है**"। मूलह०, मूलप्रति सं० में अपवाक्य है—"**इसका वाचक कैसे हो सकती हैं?**" '**रेखा**' स्त्रीलिंग पद के संदर्भ में प्रयुक्त यह वाक्य होगा—"**इसकी वाचक कैसे हो सकती है?**" सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अपवाक्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित उद्धरण**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उद्धरण का "**ऋषिः**" पद त्रुटित है। यह मुद्रण लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। पूर्णवाक्य ऋषि पद युक्त है। '**ज्योति**' पद के साथ '**ऋषि**' का अधिक सम्बन्ध है। मूलह०, मूलसं० में है अतः ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में त्रुटित है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस दीर्घवाक्य की रचना, दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपूर्ण है। पूर्णता के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ परिवर्धित करना अत्यावश्यक है।

५. **अपविराम**—द्विप्र० में पूर्णविराम अस्थान पर है—"**मूर्खता की बात है। कि आंख के**"। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६-७. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में "**अस्रुपात**" अपवर्तनी है। द्विप्र० में यही छपी है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है। आगे "**कर्म करता है**" पाठ के स्थान पर "**कर्त्ता है**" विशेषण का अपप्रयोग है जिसे न लिपिकरों ने शुद्ध लिखा, न शोधकों ने शुद्ध किया। मूलसं०, द्वि०सं० में इसका संशोधन कर लिया है, 'उदयपुर' सं० तथा अन्य सभी द्वारा संशोधित है।

८-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर अर्थस्पष्टता और पदभिन्नता के लिए "**और**" पद आवश्यक है। अन्यथा संदिग्धार्थ प्रकट होगा कि रुद्राक्ष की भस्म के धारण का कथन किया जा रहा है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है समु०११ में पृ० ५६९ पर "**रुद्राक्ष और भस्म**" तथा आगे भी। यहां केवल प्रयोग की अव्यवस्था है।

प्रश्न—वाममार्गी और शैव तो अच्छे नहीं, परन्तु **वैष्णव** तो अच्छे हैं?

उत्तर—ये भी वेदविरोधी होने से उनसे भी अधिक बुरे हैं।

प्रश्न—"**नमस्ते रुद्र मन्यवे**" [यजुः १६।१], "**शिवाय च शिवतराय च**"[१] [यजुः १६।४१], "**वैष्णवमसि**" [यजुः ५।२१], "**वामनाय च**" [यजुः १६।३०], "**गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे**" [यजुः २३।१९], "**भगवती हि भूयाः**" [अथर्व० ९।१०।२०] "**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" [यजुः० १३।४६], इत्यादि वेद-प्रमाणों से शैवादि मत सिद्ध होते हैं। पुनः क्यों खण्डन करते हो?

उत्तर—इन वचनों से शैवादि सम्प्रदाय सिद्ध नहीं होते, क्योंकि '**रुद्र**' परमेश्वर, प्राण-वायु, जीव, अग्नि आदि का नाम है।[२] क्रोधकर्त्ता रुद्र अर्थात् दुष्टों को रुलानेवाले परमात्मा को नमस्कार करना, प्राण और जाठराग्नि को अन्न देना [चाहिये][३]—"**नम इति अन्ननाम**" निघण्टु [२।७], जो [शिव=] मङ्गलकारी, सब संसार का अत्यन्त कल्याण करनेवाला है, उस परमात्मा को नमस्कार करना चाहिये। '**शिवस्य परमेश्वरस्यायं भक्तः शैवः**'। '**विष्णोः परमात्मनोऽयं भक्तो वैष्णवः**'। '**गणपतेः सकलजगत्स्वामिनोऽयं सेवको गाणपतः**'। '**भगवत्या वाण्या अयं सेवको भागवतः**'। '**सूर्यस्य चराचरात्मनोऽयं सेवकः सौरः**'।[४] ये सब रुद्र, शिव, विष्णु, गणपति, सूर्यादि परमेश्वर के और 'भगवती' सत्यभाषणयुक्त वाणी का नाम है। इसमें विना समझे ऐसा झगड़ा मचाया है, जैसे—

किसी एक वैरागी के दो चेले थे। वे गुरु के पग दाबा करते थे। एक ने दक्षिण पग और दूसरे ने बायें पग की सेवा करना बाँट लिया था।[५] एक दिन एक चेला कहीं[६] गया था और दूसरा अपने सेव्य

---

१. **मुद्रणलिपिकर की भूल से त्रुटित उद्धरण**—मुद्रणलिपिकर की भूल से "**शिवाय च शिवतराय च**" यह महत्त्वपूर्ण उद्धरण प्रतिलिपि करते समय त्रुटित रह गया है। वही त्रुटिपूर्ण पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में है। मूलहस्त० और मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है। देखिए, उत्तर-कथन में इस उद्धरण पर आधारित "**शैव**" नाम का निर्वचन किया हुआ है तथा उससे पूर्व इस मन्त्र-खण्ड का हिन्दी अर्थ है। वेस, जग, भद में त्रुटित है; युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में गृहीत है।

२. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जो**" पद अनावश्यक है। इसकी वाक्य के साथ कोई संगति नहीं है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**चाहिये**' क्रिया आवश्यक है। इसके बिना वाक्यरचना नहीं बनती। अगले वाक्य के अन्त में यही क्रिया द्रष्टव्य है।

४. **निर्वचनों के अर्थ**—'नम' अन्न को कहते हैं। शिव=कल्याणकारी परमेश्वर का जो भक्त=उपासक है उसका नाम 'शैव' है। विष्णु=व्यापक स्वरूप परमात्मा का जो भक्त=उपासक है, उसका नाम 'वैष्णव' है। गणपति=समस्त चराचर पदार्थ समूहों के स्वामी परमात्मा का जो सेवक=उपासक है, उसका नाम 'गाणपत' है। भगवती=सत्यभाषण से युक्त वाणी का अथवा वेदवाणी का जो सेवक=उपासक है, उसका नाम 'भागवत' है। सूर्य=चर-अचर जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो सेवक=उपासक है, उसका नाम 'सौर' है।

५-१३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ-परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने इस कथा के पूरे अनुच्छेद में भाषा में पर्याप्त पाठान्तर किया है। ९ स्थानों पर किये पाठान्तर में दो-तीन स्थानों पर पाठान्तर ग्राह्य हैं अन्यत्र कोई परिवर्तन की आवश्यकता दिखाई नहीं पड़ती। उदाहरण के रूप में, मूलप्रति में पाठ है कि "**चेला कहीं गया था।**" मुद्रण लिपिकर ने पाठान्तर कर दिया—"**चेला कहीं बाजार-हाट को चला गया।**" यहां न कोई भाव में वैशिष्ट्य है और न परिवर्तन की आवश्यकता है। एक कल्पित कथा है, जिसके माध्यम से एक संदेश दिया जा रहा है। कोई एतिहासिक विवरण नहीं है जिसमें तथ्य बताया जाना आवश्यक हो। परिवर्तित पाठों को तालिका के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है—

	मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ	**मुद्रणह०, द्वि० सं० में संशोधन**
५.	"सेवा करना बांट लिया था।"	५. "सेवा करनी बांट ली थी" (अशुद्ध संशोधन)
६.	"एक दिन एक चेला कहीं गया था।"	६. "एक दिन ऐसा हुआ कि एक चेला कहीं बाजार हाट को

पग की सेवा कर रहा था। इतने में गुरु ने करवट फेरी, तो उसके पग पर दूसरे गुरुभाई का सेव्य पग पड़ा। उसने ले डण्डा पग पर धर मारा। गुरु ने कहा कि 'अरे दुष्ट! तूने यह क्या किया?' चेला बोला—'मेरे पग के ऊपर यह पग क्यों चढ़ा?' इतने में दूसरा चेला[७] आया। वह भी सेवा करने लगा। देखा तो पग सूजा पड़ा है[८]। गुरु से पूछा कि[९] 'यह मेरे सेव्य पग में क्या हुआ?' गुरु ने सब वृत्तान्त सुना दिया। वह भी मूर्ख न बोला-न चाला। चुपचाप डण्डा उठाकर बड़े बल से गुरु के दूसरे पग में मारा। तो गुरु ने उच्च स्वर से पुकार मचाई।[१०] फिर दोनों चेले डण्डा लेके गुरु के पगों को पीटने लगे।[११] तब तो बड़ा कोलाहल मचा और लोग सुनकर आये।[१२] तब किसी बुद्धिमान् पुरुष ने आके छुड़ाया। पश्चात् उन दोनों मूर्खों को उपदेश किया—''देखो, ये दोनों पग तुम्हारे गुरु के हैं। दोनों की सेवा करने से उसी को सुख'[१३] और दुःख देने से उसी एक को दुःख होता है।''

जैसे एक गुरु की सेवा में चेलों ने[१४] लीला की, वैसे हीन, पामर, महामूर्ख, सम्प्रदायी लोगों ने की है।[१५] **विष्णु, रुद्रादि सब नाम परमेश्वर के हैं, जैसा कि प्रथम समुल्लास में लिख आये हैं;** उनको न जानकर शाक्त, शैव और वैष्णवादि परस्पर एक दूसरे के नाम की निन्दा करते है।[१६]

चला गया।'' (अनावश्यक विस्तार)

७. ''इतने में दूसरा चेला आया।'' (व्यापक प्रयोग)
७.''इतने में दूसरा चेला जो कि बाजार-हाट को गया था, आ पहुंचा।'' (अनावश्यक विस्तार)

८. ''देखा कि यह पग सूज गया।''
८. ''देखा तो पग सूजा पड़ा है'' (उचित संशोधन)

९. ''गुरु से पूछा कि''
९. ''बोला कि गुरु जी'' (अग्राह्य संशोधन)

१०.''गुरु पुकारता रहा।''
१०.''तो गुरु ने उच्चस्वर से पुकार मचाई'' (उचित संशोधन)

११.''दोनों चेले डण्डा लेके गुरु के पगों को पीटने लगे।''
११.''दोनों चेले डण्डा लेके पिल पड़े और गुरु के पग को पीटने लगे।'' (अशुद्ध पाठ एवं ग्राम्य प्रयोग)

१२.''बड़ी पुकार मची।''
१२. ''तब तो बड़ा कोलाहल मचा और लोग सुनकर आये। कहने लगे कि साधु! क्या हुआ?'' (दूसरा वाक्य असंगत, अपसंशोधन है। अग्रिम वाक्य से संगति नहीं।)

१३. ''सेवा करने से उसी को सुख, और दुःख देने से उसी एक को दुःख होता है।''
१३. ''उसी को सुख पहुंचता.....।'' (अनावश्यक परिवर्धन है, क्योंकि आगे दोनों के लिए ''होती है'' क्रिया विद्यमान है)

१४. पाठग्रहण एवं अपप्रयोग—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चेलों के**'' के स्थान पर ''**चेलाओं के**'' अपप्रयोग है। मूलसं० में यह वाक्यांश मुद्रणह० से ग्रहण किया है।

१५-१६. मुद्रणलिपिकर की भूल से पाठत्रुटि, सिद्धान्त-विरुद्ध तथा अनावश्यक विस्तार—मूलहस्तलेख के पाठ की प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने, शायद, सम्प्रदायी लोगों की सहानुभूति में, यह पंक्ति छोड़ दी—''**वैसे हीन, पामर, महामूर्ख, सम्प्रदायी लोगों ने**'', इसके बाद वाक्य में कुछ विशेषण बढ़ाकर वाक्य का अनावश्यक परिवर्धन किया है। मूलहस्तलेख के संक्षिप्त, सारगर्भित महर्षिप्रोक्त वाक्यों से अभीष्ट भाव पूर्णतः प्रकट हो रहा है, अतः वह परिवर्धन अनावश्यक है। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थकार के कथ्य को गंभीरता से समझे बिना मुद्रणलिपिकर पाठ-परिवर्धन करता है। यहां ग्रन्थकार का बल इस बात पर है कि ये सब एक ही परमात्मा के नाम हैं। मुद्रणलिपिकर उस परमात्मा के स्वरूप और नामों के अर्थ पर बल न देकर असंगत विशेषणों का परिवर्धन करके ईश्वरों को विभिन्नता पर नहीं, ईश्वर के स्वरूप को समझाने लगा है। यह भी ध्यान दीजिए, पहले वाक्य के वाक्यखण्डों की परस्पर कोई संगति नहीं हैं; देखिए, मुद्रणलिपिकर का परिवर्धन और उसके बाद तीन पंक्तियों का पुनरुक्तिपूर्ण अनावश्यक विस्तार, जिनमें उन्हीं पूर्वोक्त बातों को पुनः दोहराया गया है—

''**जैसे एक गुरु की सेवा में चेलाओं ने लीला की, इसी प्रकार जो एक अखण्ड, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के विष्णु,**

अब देखिये '**चक्रांकित**' वैष्णवों की अद्भुत माया—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रस्तथैव च। अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तहेतवः॥ १॥

''अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।'' इति श्रुतेः॥ [ऋ० ९।८३।१]

[भरद्वाजसंहिता, परिशिष्ट, अ० २। श्लोक० २॥ रामानुजपटलपद्धति]

(**तापः**) अर्थात् शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्नों को अग्नि में तपा,[१] भुजा के मूल में दाग देकर,[२] दूध के पात्र में बुझाते हैं। फिर कोई-कोई उस दूध को भी पी लेते हैं; अर्थात् उसमें कुछ मनुष्य[३] के शरीर के मांस का भी अंश[४] आता होगा। ऐसे कर्मों से परमेश्वर को प्राप्त होने की[५] आशा करते हैं और कहते हैं कि विना शंख, चक्रादि से शरीर तपाये जीव परमेश्वर को प्राप्त नहीं होता;[६] क्योंकि वह (**आमः**) अर्थात् कच्चा है। और जैसे राज्य के चपरास[७] आदि चिह्नों[८] के होने से राजपुरुष जान, उससे सब लोग डरते हैं, वैसे ही विष्णु के शंख [तथा] चक्रादि[९] आयुधों के चिह्नों[१०] को देखकर यम और यम के गण डरते हैं, और कहते हैं कि—

दोहा— **बाना बड़ा दयाल का, तिलक छाप अरु माल।**
यम डरपै कालू कहै, भय माने भूपाल॥ [भक्तमाल, निष्ठा ६]

अर्थात्[११] भगवान् का बाना=तिलक, छाप और माला धारण करना बड़ा है। जिससे यमराज और

रुद्रादि अनेक नाम हैं। इन नामों का अर्थ जैसा कि प्रथम समुल्लास में प्रकाश कर आये हैं उस सत्यार्थ को न जान कर शैव, शाक्त, वैष्णवादि संप्रदायी लोग परस्पर एक दूसरे के नाम की निन्दा करते हैं।''

मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पुनः पाठ-विस्तार—''मन्दमति तनिक भी अपनी बुद्धि को फैला कर नहीं विचारते हैं कि ये सब विष्णु, रुद्र, शिव आदि नाम एक अद्वितीय, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वर के अनेक गुण कर्म स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं। भला, क्या ऐसे लोगों पर ईश्वर का कोप न होता होगा?''

पाठक ध्यान दें कि महर्षि की उपर्युक्त भाषा में और मुद्रणलिपिकर की इस भाषा में कितना अन्तर है। बहुत ही सामान्य, अगम्भीर, पुनरुक्तिपूर्ण शिथिल रचना शैली है लिपिकर की। ''**बुद्धि को फैलाना**'' क्या विचित्र प्रयोग है!!

१-३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—इस प्रसंग में मुद्रणप्रति व द्वि०सं० में मुद्रणलिपिकर ने भाषा में अनेक सामान्य पाठान्तर किये हैं जिनमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है, जैसे—(१) **तपा=तपाके,** (२) **दाग देकर दूध=दाग देकर पश्चात् दूध,** (३) ''**अर्थात् उसमें कुछ मनुष्य**'' के स्थान पर ''**अब देखिए प्रत्यक्ष ही मनुष्य।**''

४. **मुद्रणलिपिकर कृत अपसंशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में, मूलह०, मूलसं० के पद ''**अंश**'' के स्थान पर ''**स्वाद**'' अनुचित संशोधन है। यहां ग्रन्थकार का अभिप्राय, दागते समय मांस के सूक्ष्म अंश के मिश्रित होने से है, स्वाद से नहीं।

५-६. **अपपाठ**—दोनों सं० में उचित अर्थ के लिए ''**प्राप्त होने**'' और ''**प्राप्त नहीं होता**'' के स्थान पर '**प्राप्त करने**' और '**प्राप्त नहीं करता**' पाठ होना अभीष्ट है।

७. **चपरास**—कार्यालय, स्वामी आदि के नामांकन वाली पीतल की पट्टी, जिसे राजपुरुष बाजू, कमर आदि पर बांधे रखते हैं। आज की भाषा में उसको 'बैज' कहते हैं।

८. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में, मूलप्रति सं० के पाठ ''**चिह्न के होने से**'' के स्थान में ''**चिह्नों के होने से**'' बहुवचन पाठ करना, उचित संशोधन है।

९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**चक्रादि आयुधों**'' के स्थान पर मुद्रण-प्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**शंख चक्रादि आयुधों**'' परिवर्धन ग्राह्य है, किन्तु मध्य में 'तथा' पद का परिवर्धन अभीष्ट है, क्योंकि 'शंख' आयुध नहीं है।

१०. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में, इस अनुच्छेद में तीन बार '**चिह्न**' शब्द का प्रयोग है। तीनों बार '**चिन्ह**' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

११. **उचित संशोधन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में, मूलप्रति सं० के पाठ ''**भगवान का बाना बड़ा है**'' के स्थान पर ''**अर्थात् भगवान् का बाना**----'' उचित संशोधन है। ''**बड़ा है**'' पाठ वाक्यान्त में हैं, उनकी पुनरुक्ति मूलप्रति सं० में व्यर्थ है।

राजा भी डरता है।

(पुण्ड्रम्) त्रिशूल के सदृश ललाट में चित्र निकालना, **(नाम)** नारायणदास, विष्णुदास आदि[१] दासशब्दान्त नाम रखना, **(माला)** कमलगट्टे आदि की माला धारण करना[२] और पांचवां **(मन्त्र)** अर्थात् **''ओं नमो नारायणाय''** [पद्म० भाग ६। उत्तर० अ० ७२। श्लोक ११७] जपना[३] ॥ १ ॥ यह इन्होंने साधारण मनुष्यों के लिये मन्त्र बना रक्खा है। तथा—[४]

श्रीमन्नारायणचरणं शरणं प्रपद्ये॥ २ ॥ श्रीमते नारायणाय नमः॥ ३ ॥[५]

श्रीमते रामानुजाय नमः ॥ ४ ॥ [भक्तमाल]

इत्यादि मन्त्र धनाढ्य और माननीयों के लिये हैं। देखिये, यह भी एक दुकान ठहरी! जैसा मुख वैसा तिलक! इन पाँच संस्कारों को **'चक्रांकित'** मुक्ति के हेतु मानते हैं। इन मन्त्रों का अर्थ—

मैं नारायण को नमस्कार करता हूं॥ १ ॥

और मैं लक्ष्मीयुक्त नारायण के चरणारविन्द के शरण को प्राप्त होता हूं॥ २ ॥

और श्रीयुत नारायण को नमस्कार करता हूं अर्थात्[६] जो शोभायुक्त नारायण है, उसको मेरा नमस्कार होवे॥ ३ ॥

[श्रीयुत रामानुज को मैं नमस्कार करता हूं॥ ४ ॥]

जैसे **'वाममार्गी'** पाँच मकार मानते हैं, वैसे **'चक्रांकित'** पाँच संस्कार मानते हैं; और अपने को

१-२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० के **''अर्थात् दास शब्दान्त नाम रखना''** और मूलप्रति सं० के **''दास शब्दान्त नाम''** पाठों में द्वि०सं० का पाठ स्पष्ट होने से ग्राह्य है। द्वि० सं० में **''(माला)''** कोष्ठकान्तर्गत पद रखना स्पष्टार्थक उपयुक्त संशोधन है।

३. **त्रुटित पाठ**—द्वि० सं० में **''(मन्त्र) जैसे 'ओं नमो नारायणाय॥ १ ॥'** बस, इतना ही अपूर्ण एवं त्रुटित पाठ है, **''जपना''** क्रिया नहीं है। मूलप्रति सं० का उपर्युक्त पूर्ण पाठ ग्राह्य है।

४. **मुद्रणकालीन अपविराम**—द्विप्र० में **''तथा''** पद के बाद अप-पूर्णविराम है—**''रक्खा है तथा।''** द्वि०सं० में संशोधित है।

५. **मुद्रणलिपिकर से पाठत्रुटि, ऋषि द्वारा संशोधन और नया मन्त्र-परिवर्धन तथा नयी भूल**—प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर **''श्रीमते नारायणाय नमः''** पाठ को छोड़ गया और उनके स्थान पर अपनी ओर से नया मन्त्र **''श्रीमते रामानुजाय नमः''** लिख दिया। शोधन के समय ऋषि ने त्रुटित मन्त्र तो किनारे पर लिखकर पाठ में जोड़ दिया किन्तु मुद्रणलिपिकर अपने द्वारा परिवर्धित तीसरे मन्त्र का अर्थ ही लिखना भूल गया। यही त्रुटित पाठ द्वि०सं० में आज भी छप रहा है। यहां मुद्रणप्रति में परिवर्धित मन्त्र ग्रहण किया गया है और उसका त्रुटित अर्थ परिवर्धित करके जोड़ा गया है। मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्धित होने से मूलप्रति सं० में इस मन्त्र का ग्रहण नहीं किया है।

सम्पादकेभ्यः नमः—जैसे लिपिकरों-शोधकों की लेखन-करतूत अबूझ है, उसी प्रकार हमारे सम्पादक विद्वानों की संशोधन नीति भी अबूझ है। उस रहस्यभरी विद्वत्ता को मेरा नमस्कार है! लिपिकरों-शोधकों ने मुद्रणहस्तलेख में **''श्रीमते रामानुजाय नमः''** नया मन्त्र जोड़ दिया किन्तु अन्य पूर्वपठित तीन मन्त्रों के समान उसका अर्थ नहीं लिखा। द्वि०सं० के प्रायः सभी सम्पादकों ने भी वही अन्धानुकरण किया और अर्थ त्रुटित छोड़ दिया। **पं० मीमांसक जी** ने मूल में बृहत् कोष्ठक में अर्थ-पाठ देकर उस भूल को सुधारा, किन्तु **'उदयपुर'** संस्करण के कथित दश सम्पादक विद्वानों को पता नहीं वह उचित संशोधन किस रहस्य के कारण ग्राह्य प्रतीत नहीं हुआ! उन्होंने पाठ को अशुद्ध, त्रुटित और अपूर्ण छोड़ देने में गौरव समझा! 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध स्थिति यह भी है कि द्वितीय मन्त्र के अर्थ के बाद ' ॥ २ ॥' संख्या नहीं है और ' ॥ ३ ॥' के स्थान पर ' ॥ २ ॥' संख्या अशुद्ध है। यहां दो मन्त्रों को एक मन्त्र बना दिया है। कार्यशैली का विरोधाभास देखिए कि यहां संख्या न बढ़ाई न शुद्ध की, जबकि उनके संस्करण में पृ० ४१९/२१ पर नयी संख्या बढ़ाई है और पृ० ४३८/८ पर अशुद्ध का संशोधन किया है।

६. **ऋषिहस्तलेख**—**''और श्रीयुत.....अर्थात्''** पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

शंख-चक्र से दाग देने के लिये जो वेदमन्त्र का प्रमाण रखा है,[१] उसका इस प्रकार का पाठ और अर्थ है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास[२] इद्वहन्तस्तत्समाशत॥ १॥
तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे[३]॥ २॥ ऋ० म० ९। सूक्त ८३। मन्त्र १, २॥

हे ब्रह्माण्ड और वेदों के पालन करनेवाले प्रभु! सर्वसामर्थ्ययुक्त! सर्वशक्तिमान्![४] आपने अपनी व्याप्ति से संसार के सब अवयवों को व्याप्त कर रक्खा है। उस आपका जो व्यापक पवित्र स्वरूप है उसको, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्सङ्गादि तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा-अन्तःकरणयुक्त है वह, प्राप्त नहीं होता[५] और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं, वे ही उस तप का[६] आचरण करते हुये, उस तेरे शुद्धस्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं॥ १॥

जो प्रकाशरूप परमेश्वर की सृष्टि में विस्तृत पवित्राचरण रूप तप करते हैं, वे ही परमात्मा को प्राप्त होने के[७] योग्य होते हैं॥ २॥

अब विचार कीजिये कि रामानुजीयादि लोग इस मन्त्र से '**चक्रांकित**' होना क्योंकर निकालते हैं?[८] वे विद्वान् थे वा अविद्वान्? जो विद्वान् होते तो ऐसा असम्भावित अर्थ इस मन्त्र का क्यों करते? क्योंकि इस मन्त्र में "**अतप्ततनूः**" शब्द है किन्तु "**अतप्तभुजैकदेशः**" शब्द नहीं।[९] जो '**अतप्ततनूः**' [है] यह नखाग्रशिखापर्यंत[१०] समुदाय का अर्थबोधक है, इसका प्रमाण[११] करके अग्नि से ही तपाना

---

१. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ मिलता है—"**जो वेद का वचन लिखा है**", इसके स्थान पर द्वि० सं० का उपर्युक्त पाठ अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण होने से ग्रहण किया है।

२-३. **मुद्रणकालीन अप-उद्धरण पाठ**—द्विप्र० में, मुद्रणकाल में यह अपपाठ छपा है—"**श्रिता सइ द्वहन्त**", "**तयोस्पवित्रम्**", "**दिवस्पते**"। अब द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी संस्करणों में इनको शुद्ध कर दिया है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**सर्वसामर्थ्ययुक्त, सर्वशक्तिमान्**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारापरिवर्धित पाठ है।

५. **पुनरुक्ति दोष से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य पुनरुक्तिपूर्ण पाठ के कारण त्रुटियुक्त है—"**आपका जो व्यापक पवित्र स्वरूप है उसको.....उस तेरे शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं होता।**" इस वाक्य में पुनरुक्त "**उस तेरे स्वरूप को**" पद अनावश्यक होने से इस संस्करण में हटा दिये हैं। यह त्रुटि सभी विद्वानों के संस्करणों में विद्यमान है। 'उदयपुर' सं० में भी यह पुनरुक्ति दोष से दूषित वाक्य है।

६. **उचित संशोधन**—मुद्रणप्रति, द्वि० सं० में, मूलह०, मूलसं० के पाठ "**उसका**" के स्थान पर "**इस तप का**" संशोधन किया है जो ग्राह्य है। किन्तु यहां "**इस**" के स्थान पर "**उस**" प्रयोग अभीष्ट है।

७. **अपप्रयोग**—यहां सभी मूलप्रति और द्वि० सं० आदि में "**में**" कारक प्रत्यय का अपप्रयोग है, '**के**' अभीष्ट है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलप्रति के उक्त वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**सिद्ध क्योंकर करते हैं**" यह अपसंशोधन है। वे सिद्ध करने से पूर्व मन्त्रार्थ से यह अशुद्ध भाव निकालते हैं, यही कथ्य है। अर्थात् यह भाव ही नहीं प्रकट होता, सिद्ध करना तो उसके बाद की बात है।

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मूलह० में पाठ पूर्ण है। प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने "**शब्द नहीं**" पद छोड़ दिये। यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में है। द्वि०सं० में परिवर्धित है। मूलसं० में शुद्ध है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**नखशिखाग्रपर्यन्त**" अपप्रयोग है। '**नखाग्रशिखापर्यन्त**' शुद्ध है। अन्य सभी द्वि०सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध प्रयोग है।

११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**इस प्रमाण करके**" अपपाठ है। मूलह०, मूलप्रति का उपर्युक्त पाठ शुद्ध है। अन्य सभी द्वि०सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध पाठ है।

[यदि] '**चक्रांकित**' लोग स्वीकार करें, तो अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंकके सब शरीर को जला लेवें? वह भी इस मन्त्र के अर्थ से विरुद्ध है; क्योंकि इस मन्त्र में सत्यभाषणादि पवित्र कर्म करना 'तप' लिया है।

''**ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः॥**'' तैत्तिरीय० [तैत्ति० आरण्यक १०।८]

इत्यादि तप कहाता है। अर्थात् (**ऋतं तपः०**) यथार्थ शुद्धभाव, [**सत्यम् तपः**] सत्य मानना-सत्य बोलना-सत्य करना, [**दमः तपः**] मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को अन्यायाचरण में जाने से रोक रखना अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से शुभ कर्मों का आचरण करना, [**स्वाध्यायः तपः**] **वेदादि सत्यविद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम 'तप' है।**[१] **धातु को तपाके चमड़ी को जलाना तप नहीं कहाता।**

देखो, '**चक्रांकित**' लोग अपने को बड़े वैष्णव मानते हैं, परन्तु अपनी परम्परा और कुकर्म की ओर ध्यान नहीं देते कि प्रथम इनका मूलपुरुष '**शठकोप**' हुआ।[२] '**चक्रांकितों**'[३] के ही ग्रन्थों में और '**भक्तमाल**' ग्रन्थ जो नाभा डूम ने बनाया है उनसमें—

विक्रीय शूर्पं विचचार योगी॥ [दिव्यसूरिचरितकाव्य सर्ग २।५२] इत्यादि वचन लिखे हैं।[४]

अर्थात्—शठकोप योगी सूप को बना, बेचकर, विचरता था अर्थात् कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था। जब उसने ब्राह्मणों से पढ़ना वा सुनना चाहा होगा, तब ब्राह्मणों ने तिरस्कार किया होगा। उसने ब्राह्मणों के विरुद्ध सम्प्रदाय, तिलक, चक्रांकित होना आदि शास्त्रविरुद्ध मनमानी बातें चलाई होंगी।[५] उसका चेला '**मुनिवाहन**' जो कि चाण्डाल कुल[६] में उत्पन्न हुआ, उसका चेला '**यावनाचार्य**' [था] जो यवनकुलोत्पन्न था, जिसको[७] नाम बदलके कोई-कोई '**यामुनाचार्य**' भी कहते हैं। उनके पश्चात् **रामानुज** ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर चक्रांकित हुआ। उसके पूर्व भाषा के कुछ ग्रन्थ[८] बनाते थे। रामानुज ने कुछ संस्कृत पढ़के, संस्कृत में श्लोकबद्ध ग्रन्थ [बनाये][९] और '**शारीरकसूत्र**' और '**उपनिषदों की टीका**' शंकराचार्य की टीका से विरुद्ध बनाई[१०] और शंकराचार्य की बहुत-सी निन्दा

---

१. **त्रुटित पदार्थ मूलपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पदार्थ में प्रथम पद ही दिया है शेष त्रुटित हैं। एकरूप सम्पादन और मानकता की दृष्टि से बृ०कोष्ठक में शेष पद भी दे दिये हैं। यह आदि-सम्पादकों की सम्पादन सम्बन्धी न्यूनता है। उन्हें इस एकरूप शैली का ध्यान रखना चाहिए था।

२. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**कि जो**'' पद अनावश्यक हैं।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**चक्रांकित**'' के स्थान पर एकवचन '**चक्रांकितों**' बहुवचन अभीष्ट है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्तिपूर्ण अपपाठ परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्विसं० तथा सभी अन्य द्वितीय सं० में ''**इत्यादि वचन चक्रांकितों के ग्रन्थों में लिखे हैं**'' पुनरुक्त होने से अपपाठ है। यह कथन, उद्धरण से पूर्व उक्त वाक्य में मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में आ चुका है—''**चक्रांकितों ही के ग्रन्थों.... उनमें लिखा है**''। यहां मूलह० मूलसं० का महर्षिप्रोक्त पाठ व्यवस्थित हे, अतः वही ग्राह्य है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति में ''**तिलक, चक्रांक आदि चलाये होंगे**'' पाठ है। यहां मुद्रणह०, द्वि० सं० का पाठ ग्राह्य है।

६-८,१०. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**वर्ण**'', मूलप्रति सं० में ''**जिसको नाम बदलाके**'', तीनों सं० में ''**कुछ भाषा के ग्रन्थ**'', मूलप्रति सं० में ''**बनाये**'' ये अपप्रयोग हैं। ऊपर पाठ में संशोधित पद ग्रहण किये हैं।

९,११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये वाक्य अपूर्ण हैं। उचित संगति के लिए दोनों स्थलों पर बृहत् कोष्ठक में दिखाया गया पाठ परिवर्धित करना आवश्यक है।

की। जैसे शंकराचार्य का मत है—'जीव ब्रह्म की एकता, जगत् प्रपञ्च, सब मिथ्या मायारूप अनित्य है', इससे विरुद्ध रामानुज का [मत है कि][११] जीव, ब्रह्म और माया तीनों नित्य हैं। यहाँ शङ्कराचार्य का मत है कि अद्वैत अर्थात् जीव-ब्रह्म एक[१] हैं, और ब्रह्म एक ही है दूसरा कोई वस्तु वास्तविक नहीं। यहां शंकराचार्य का मत 'ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और कारण वस्तु का न मानना', अच्छा नहीं।[२] रामानुज का मत इस अंश में, जो कि 'विशिष्टाद्वैत जीव और मायासहित परमेश्वर एक है', तीन का मानना और अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है। जीव को सर्वथा ईश्वर के आधीन=परतन्त्र मानना; कण्ठी, तिलक, माला, मूर्त्तिपूजादि पाखण्ड-मत चलाना आदि बुरी बातें '**चक्रांकित**' आदि में हैं। जैसे 'चक्राङ्कित' आदि वेदविरोध करते हैं,[३] वैसे शंकराचार्य के मत के नहीं।

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा कहाँ से चली?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहाँ से चलाई?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

प्रश्न—जैनी लोग कहते हैं कि शान्त, ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्त्ति देखके अपने जीव का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है।

उत्तर—जीव चेतन और मूर्त्ति जड़ [है]।[४] क्या मूर्त्ति के सदृश जीव भी जड़ हो जायगा? यह

---

१. **मुद्रणलिपिकर की भ्रान्ति से पाठ त्रुटि**—यहां मुद्रणलिपिकर को यह भ्रान्ति हुई है कि "**ब्रह्म एक ही है**" पद दो बार आ गये हैं, वह इन पदों को भ्रान्ति से छोड़ गया, जबकि यहां इनका विशेष अर्थ है। वस्तुतः, इस पंक्ति में ग्रन्थकार अद्वैत मत के दो सिद्धान्तों को स्पष्ट कर रहा है—

१. जीव-ब्रह्म एक हैं, और २. उनमें ब्रह्म एक मात्र ही वास्तविक वस्तु है, अन्य जीव आदि कोई नहीं। इस पूर्ण भाव को मूलप्रति सं० का पाठ व्यक्त करता है। यहां मूलहस्तलेख/मूलप्रति के वाक्य में '**हैं और**' पद जोड़ दें तो पाठ अधिक स्पष्ट हो जाता है तथा अन्य पदों की पुनरुक्ति की भ्रान्ति नहीं होती और तब "**ब्रह्म एक ही है**" इन पदों को छोड़ने या निकालने की आवश्यकता नहीं रहती। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित है।

२. **मुद्रणकालीन अस्त-व्यस्तपाठ**—"**जैसा शंकराचार्य का मत..... अच्छा नहीं।**" यह पाठ मुद्रण-प्रति तक ठीक लिखा गया था। प्रतीत होता है कि प्रकाशन-समय किसी प्रूफ शोधक का ध्यान इसकी ओर गया तो उसने पाठ को गम्भीरता से न समझकर इसको परिवर्तित कर अस्त-व्यस्त कर दिया। मूलह०, मुद्रणह० में दिया पाठ वास्तविक था उसको बदल कर यह बना दिया—
"जैसा शंकराचार्य का मत है कि अद्वैत अर्थात् जीव ब्रह्म एक ही है दूसरी कोई वस्तु वास्तविक नहीं, जगत् प्रपंच, सब मिथ्या मायारूप अनित्य है। इससे विरुद्ध रामानुज का जीव ब्रह्म और माया तीनों नित्य हैं। यहां शंकराचार्य का मत ब्रह्म से अतिरिक्त जीव और कारण वस्तु का न मानना, अच्छा नहीं।"

मूल पाठ के अनुसार ग्रन्थकार दो वाक्यों में बांटकर शंकराचार्य के दो सिद्धान्तों की तुलना कर रहे हैं—१. शंकराचार्य का जीव-ब्रह्म एकता और जगत् अनित्यता का सिद्धान्त दिखाकर बता रहे हैं कि रामानुज इन तीनों को नित्य मानते हैं। २. दूसरे वाक्यों में 'जीव-ब्रह्म एक होकर ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविक वस्तु है' दिखाकर आलोचना कर रहे हैं कि शंकराचार्य का यह एक ही कारणवस्तु मानना ठीक नहीं। शोधक ने इन दो भिन्न-भिन्न बातों को गड्ढ-मड्ढ करके एक बना दिया। वेस, जग, युमी, भद आदि सभी द्वितीय संस्करणों में यह अपपाठ है। यहां मूलप्रति का पाठ स्पष्ट और व्यवस्थित होने से ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—यहां मूलहस्तलेख के पाठ "**वेदविरोध करते हैं**" के स्थान पर "**वेदविरोधी हैं**" पाठ मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में बनाया है। इस अनावश्यक परिवर्तन से लेखक का अभीष्ट भाव बदल गया।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**है**" क्रिया का होना आवश्यक है।

मूर्त्तिपूजा केवल पाखण्ड मत है। **जैनियों ने चलाई है, इसलिये इनका खण्डन १२वें समुल्लास में करेंगे।**

प्रश्न—वैष्णव[१] आदि ने मूर्त्तियों में जैनियों का अनुकरण नहीं किया है, क्योंकि जैनियों की मूर्त्तियों के सदृश वैष्णवादि की मूर्त्तियाँ नहीं हैं।

उत्तर—हाँ, यह ठीक है। जो जैनियों के तुल्य बनाते तो जैनमत में मिल जाते, इसलिये जैनों की मूर्त्तियों से विरुद्ध बनाईं; क्योंकि जैनों से विरोध करना इनका और इनसे विरोध करना जैनियों का मुख्य काम था। जैसे जैनियों ने मूर्त्ति नंगी, ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं, उनसे विरुद्ध[२] वैष्णवादि ने खूब शृङ्गारित, स्त्री के सहित, रङ्ग-राग-भोग-विषयासक्ति-सहिताकार खड़ी और बैठी मूर्त्तियां बनाई हैं। जैनी लोग बहुत से शंख, घंटा, घड़ियाल नहीं बजाते।[३] ये लोग बड़ा[४] कोलाहल करते हैं। तब तो ऐसी लीला के रचने से वैष्णवादि सम्प्रदायी पोपों के चेले जैनियों के जाल से बचके इनकी लीला में आ फसे और बहुत-से व्यासादि महर्षियों के नाम से मनमानी असम्भव गाथायुक्त ग्रन्थ बनाये, उनका नाम 'पुराण' रखकर कथा भी सुनाने लगे। और फिर ऐसी-ऐसी विचित्र माया रचने लगे कि पाषाण की मूर्त्तियां बनाकर गुप्त कहीं पहाड़ वा जंगलादि में धर आये वा भूमि में गाड़ दी। पश्चात् अपने चेलों में प्रसिद्ध किया कि मुझ को रात्रि को स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा, कृष्ण, सीता, राम वा लक्ष्मी, नारायण और भैरव, हनुमान् आदि ने कहा है कि हम अमुक-अमुक ठिकाने हैं। हमको वहां से ला, मन्दिर में स्थापन कर और तू ही हमारा पुजारी होवे तो हम मनोवांछित[५] फल देवें।

जब '**आंख के अन्धे और गांठ के पूरे**' लोगों ने पोप जी की लीला सुनी तब तो सच ही मान ली और उनसे पूछा कि ऐसी वह मूर्त्ति कहां पर है? जब तो पोप जी बोले कि अमुक पहाड़ वा जंगल में है, चलो मेरे साथ दिखला दूं। तब तो वे अन्धे उस धूर्त्त के साथ चले और वहां पहुंच कर देखा।[६] साश्चर्य होकर[७] उस पोप के पगों[८] में गिर कर कहा कि आपके ऊपर इस देवता की बड़ी ही कृपा है।

---

१. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**वैष्णव**" के स्थान पर "**शाक्त**" पाठ हो गया है। यहां "**वैष्णव**" पाठ ही प्रकरणसम्मत है। उत्तर में वैष्णवों का ही उल्लेख है। **मीमांसक जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, स्वामी विद्यानन्द जी** ने इसका संशोधन किया है। **स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी** व '**उदयपुर**' सं० में भ्रष्टपाठ है।

२. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**उनसे विरुद्ध**" पद बढ़ाये हैं। यह परिवर्धन में ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इस वाक्य के स्थान पर यह पाठ है—"**घरियार आदि बाजे नहीं बजाते।**" यह व्यर्थ परिवर्धन है। ये सब '**बाजे**' नहीं है। मूलह०, मूलसं० का उपर्युक्त पाठ शुद्ध है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**बड़े**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**बड़ा**" शुद्ध है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**मनवांछित**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। आश्चर्य देखिए, इसी अनुच्छेद के अन्तिम वाक्य में शुद्ध वर्तनी लिखी-छपी है। इसी से यह संकेत मिलता है कि शोधक भी मक्कार थे। उन्होंने ईमानदारी से कर्त्तव्यपालन नहीं किया।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अपवाक्य**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह अपवाक्य है—"**वे अंधे धूर्त के साथ चलके वहां पहुंचकर देखा....**"। यह अशुद्ध वाक्य प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने अपनी भाषा में बनाया है। इसका संशोधित रूप उपर्युक्त है। यही अशुद्ध पाठ द्वि०सं० में छप रहा है। यही अशुद्ध पाठ '**उदयपुर सं०**' में है। वेस, जग, भद, युमी, विस में भी अपपाठ है।

७. **श्रवणभ्रान्तिजन्य पाठ का अग्राह्य परिवर्तन** '**उदयपुर सं०**' **में**—यहां प्रयुक्त "**आश्चर्य होकर**" वाक्यांश के स्थान पर 'उदयपुर सं०' में '**आश्चर्यचकित होकर**' संशोधन किया है। ऋषि "**साश्चर्य होकर**" प्रयोग करते हैं। द्र०पृ० ६२६ पर।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पग**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, "**पगों**" अपेक्षित है।

अब आप ले चलिये और हम मन्दिर बनवा देवेंगे। उसमें इस देवता की स्थापना कर आप ही पूजा करना और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन-पर्सन करके मनोवांछित फल पावेंगे। इसी प्रकार जब एक ने लीला रची तब तो उसको देख सब पोप लोगों ने अपनी जीविकार्थ छल-कपट से मूर्त्तियां स्थापित कीं।[१,२]

प्रश्न—परमेश्वर निराकार है, वह ध्यान में नहीं आ सकता; इसलिये मूर्त्ति का होना आवश्यक[३] है। भला, कुछ भी नहीं करें, तो जब मूर्त्ति के सामने जाते हैं तब कुछ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम तो लेते ही हैं।[४]

उत्तर—जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक[५] है, तब उसकी मूर्त्ति ही नहीं बन सकती। जो मूर्त्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे तो परमेश्वर के बनाये[६] पृथिवी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि अनेक पदार्थ, जिनमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी रचनायुक्त पृथिवी, पहाड़ आदि परमेश्वर-रचित महामूर्त्तियाँ कि जिन पहाड़ आदि से ये मनुष्यकृत मूर्त्तियाँ बनती हैं,[७] उनको देखकर परमेश्वर

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवाक्य और संशोधन**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय यह वाक्य अपनी भाषा में परिवर्तित किया है। वह इस प्रकार अशुद्ध है—"**सब पोप लोग अपनी जीविकार्थ छल-कपट से मूर्त्तियाँ स्थापन कीं।**" ऊपर इसका संशोधन कर दिया है। द्विप्र० में अशुद्ध छपा है, किन्तु द्वि०सं० में संशोधन कर लिया है। अन्य सभी सं० में "**स्थापन**" पद को छोड़कर अन्य संशोधन कर लिया है। 'उदयपुर सं०', वेस, जग, युमी, भद, विस ने अर्ध संशोधन किया है।

२. **उचित परिवर्तन एवं पाठ विस्तार**—यहां "**तब तो ऐसी लीला के रचने से वैष्णवादि**---- **स्थापित कीं**" तक पाठ में मुद्रण हस्त०/द्वि० सं० में पर्याप्त पाठान्तर और परिवर्धन है। यह परिवर्धन क्रमबद्ध रूप में परिष्कृत भाषा में है, अत: यह सारा अनुच्छेद द्वि० सं० का ग्रहण किया गया है। मूलह०, मूलप्रति सं० में उपलब्ध पाठ इस प्रकार है—'तब तो इन वैष्णवादि 'पोपों' के चेले जैनियों से बचे और बहुतों ने **व्यास** आदि के नाम से बहुतेरे ग्रन्थ बनाये। उनका नाम '**पुराण**' रखके कथा भी सुनाने लगे। और मूर्त्तियों को बना, कहीं पहाड़, जंगल में धर आये वा भूमि में गाड़ आये। और अपने चेलों से प्रसिद्धि की कि 'मुझको स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा, कृष्ण, सीता, राम वा लक्ष्मी, नारायण, भैरव, हनुमान् आदि ने कहा कि हम फलाने ठिकाने हैं। हमको वहाँ से ला, मन्दिर में स्थापन कर, तू ही पुजारी होवे तो हम मनोवाञ्छित फल देवें।' जब '**आँख के अन्धे गाँठ के पूरे**' लोगों ने सुनकर सच माना और उनसे पूछा कि ऐसी वह मूर्त्ति कहाँ है? वह उनको ले जाके दिखलाई। तब तो वे मूर्ख उस धूर्त्त के पगों में गिरे और कहा कि "तेरे पर इस देवता की बड़ी कृपा है। चलो, हम मन्दिर बनवा देंगे। और उसमें इस देवता की पूजा तू किया करना। और हम लोग इसके दर्शन करके मनोवाञ्छित फल पावेंगे। इस प्रकार जब एक ने किया, पुन: सब 'पोप'-लोगों ने अपनी-अपनी जीविकार्थ इसी प्रकार छल-कपट से मूर्त्तियाँ स्थापित कीं।" अनुच्छेद में तीन त्रुटियां हैं जो ऊपर टिप्पणियों में प्रदर्शित कर दी हैं।

३. **अपप्रयोग**—पहले वाक्य में दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अवश्य**" अपप्रयोग है, '**आवश्यक**' अपेक्षित है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां यह वाक्य बढ़ाया है—"**इसमें क्या हानि है?**" यह असंगत एवं अनावश्यक परिवर्धन है। यहां इस कथन का कोई प्रसंग ही नहीं है। हानि तो पूर्व पंक्तियों में वर्णित हो चुकी है और आगे विस्तार से वर्णन होगा (पृ० ५८८-५९१)। यहां स्मरण करने का यह प्रसंग है कि कौन स्मरणीय है कौन नहीं। आगे स्मरण की रीति बताई है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर में यह अनावश्यक पाठ है।

५. **उचित संशोधन**—द्वि०सं० में यहां "**सर्वव्यापक**" पद बढ़ाया है। यह ग्राह्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलसं० में "**परमेश्वर की बनाई**" अपप्रयोग है, जबकि मूलह०, द्वि०सं० में शुद्ध है, किन्तु '**उदयपुर सं०**' फिर से अशुद्धि की आदिम व्यवस्था में पहुंच गया। यहां "**बनाये**" क्रिया का सम्बन्ध "**अनेक पदार्थ**" पदों से है, केवल "पृथिवी" से नहीं। अत: "**पदार्थ**" पुंल्लिंग पद के सम्बन्ध से यहां पुंल्लिग क्रिया "**बनाये**" शुद्ध है।

७. **ऋषिहस्तलेख और त्रुटित पद**—"**युक्त पृथिवी.....बनती हैं**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में "**उनको**" पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र० में है और ग्राह्य है।

का स्मरण क्या नहीं हो[१] सकता? जो[२] किसी दूसरे को देख परमेश्वर का स्मरण करे, तो जब वह सामने न रहे, तब परमेश्वर को भी भूल जायें और **जब परमेश्वर को मनुष्य भूल जाता है, तभी वह एकान्त पाकर अपराध कर लेता है कि यहाँ मुझको कोई नहीं देखता। जो मूर्त्ति को न मान परमेश्वर को व्यापक माने तो वह उसके डर से कि मुझको परमेश्वर देखता है, पाप न करे।**[३] नामस्मरण मात्र से कुछ भी फल नहीं होता, जैसा कि मिश्री-मिश्री[४] कहने से मुख न मीठा और नीम-नीम कहने से कडुवा नहीं होता, किन्तु उनको जीभ से चखने[५] से मीठा[पन] वा कडुवापन जाना जाता है।[६]

प्रश्न— क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है, जो सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा माहात्म्य लिखा है?

उत्तर— नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं।[७] जिस प्रकार तुम नाम स्मरण करते हो, वह रीति झूठी है।

प्रश्न— हमारी कैसी रीति है?

उत्तर—वेदविरुद्ध।

प्रश्न—भला, अब आप हमको नामस्मरण की वेदोक्त रीति बतलाइये?

उत्तर—नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये—जैसे '**न्यायकारी**' ईश्वर का एक नाम है। इस नाम से जो इसका अर्थ है कि जैसे पक्षपातरहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है, वैसे[८] उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना। इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।[९]

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह० मूलप्रति सं० के ''**आ सकता**'' के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का ''**हो सकता**'' ग्राह्य है।

२-३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक विस्तार**—महर्षिप्रोक्त मूलह०, मूलप्रति सं० में इन २-३ संख्यांक तक दो-तीन पंक्तियों में संक्षिप्त और सारगर्भित रूप से जो विचार प्रकट किया है, उसको मुद्रणह०, द्वि० सं० में कई पंक्तियों में विस्तारित किया है, जबकि भाव उतना ही प्रकट हो रहा है। अतः यह व्याख्यारूप ९-१० पंक्तियों का परिवर्धन अनावश्यक प्रतीत होता है। मुद्रणह०, द्वि०सं० आदि में वह विस्तारित पाठ इस प्रकार है—''जो तुम कहते हो कि मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण होता है यह तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है। और जब यह मूर्त्ति सामने न होगी तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मुनष्य एकान्त पाकर चोरी-जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है। क्योंकि वह जानता है कि इस समय वहां मुझे कोई नहीं देखता। इसलिये वह अनर्थ करे बिना नहीं चूकता। इत्यादि अनेक दोष पाषाणादि मूर्त्तिपूजा करने से सिद्ध होते हैं।

अब देखिये! जो पाषाणादि मूर्त्तियों को न मान कर सर्वदा सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है वह पुरुष सर्वत्र, सर्वदा परमेश्वर को सब के बुरे भले कर्मों का द्रष्टा जान कर एक क्षणमात्र भी परमात्मा से अपने को पृथक् न जान के, कुकर्म करना तो कहां रहा किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता; क्योंकि वह जानता है कि जो मैं मन, वचन और कर्म से भी कुछ बुरा काम करूंगा तो इस अन्तर्यामी के न्याय के बिना दण्ड पाये कदापि न बचूंगा।''

४-५. **अपवर्तनी**—यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**मिशरी-मिशरी**'' अपवर्तनी है। मूलप्रति सं० में एक बार '**मिश्री**' प्रयोग है, दो बार चाहिए। आगे ''**चाखने**'' ग्राम्य बोली का प्रयोग है। हिन्दी में '**चखने**' प्रयोग स्वीकृत है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**कड़वा होता है**'' अपपाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का उपर्युक्त संशोधन शुद्ध एवं ग्राह्य है।

७, ८. **ऋषिहस्तलेख**—''**नाम....उत्तम नहीं**'' तथा ''**है कि जैसे.....करता है वैसे**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

९. **मुद्रण-प्रतिलिपि में परिवर्धित वाक्य**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा यह वाक्य बढ़ाया गया है—''**इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।**''

प्रश्न—हम भी जानते हैं कि परमेश्वर निराकार है, परन्तु उसने शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य, राम, कृष्णादि और देवी आदि के शरीर धारण करके अवतार लिये।[१] इससे उसकी मूर्त्ति बनती है। क्या यह भी बात झूठी है?

उत्तर—हाँ-हाँ झूठी; क्योंकि—

"**अज एकपात्**" [ऋ० ७।३५।१३], "**अकायम्**" [यजु: ४०।८][२]

इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म[३] और शरीरधारणरहित वेद में कहा है, तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता; क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक, अनन्त और सुख, दु:ख, दृश्यादि गुणरहित है, वह एक छोटे से वीर्य, गर्भाशय और शरीर में क्योंकर आ सकता है? आता-जाता वह है कि जो एकदेशी हो। जो अचल, अदृश्य [है], जिसके विना एक परमाणु भी खाली नहीं है, उसका अवतार कहना जानो 'वन्ध्या के पुत्र का विवाह कर, उसके पौत्र के दर्शन करने की बात कहना' है।

प्रश्न—जब परमेश्वर व्यापक है तो मूर्त्ति में भी है, पुन: चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं? देखो—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥ [तुलना– गरुडपुराण, ध० कां० प्रेतखण्ड ३८।१३॥]

परमेश्वर देव न काष्ठ, न पाषाण, न मृत्तिका के बनाये पदार्थों में है किन्तु परमेश्वर तो भाव में

---

१. **भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पाठ इस प्रकार भ्रष्ट है—"**गणेश, सूर्य और देवी आदि के शरीर धारण करके राम, कृष्णादि अवतार लिये।**" शरीर धारण किया देवी आदि का और उसमें अवतार लिया राम, कृष्ण आदि का!! ऐसा चमत्कार तो पौराणिक लेखकों ने भी नहीं कराया जैसा ऋषि के मक्कार लिपिकरों ने करा दिया!! किन्तु सवा-सौ वर्षों से अधिक समय से हमारे आर्य विद्वान् और पाठक इस पाठ को बनाये रखकर कौन-सा चमत्कार दिखाना चाहते हैं? जो लोग आज भी यह कहते हैं कि संशोधन नहीं होना चाहिए वे लोग बतायें कि इस पाठ में वे क्या रहस्य ढूंढ रहे हैं? '**उदयपुर**' सं० सहित सभी सं० में यह भ्रष्ट पाठ है और फिर भी कुछ लोग इस पाठ को बनाये रखने के लिए कुतर्क कर रहे हैं।

उदयपुर सं० का हठपूर्ण उत्तर—यहां बहुत ही स्पष्ट है कि लिखते समय लिपिकर द्वारा आगे-पीछे शब्द लिखे जाने से पाठ भ्रष्ट हुआ है जिसे उन्हीं शब्दों को आगे-पीछे कर देने मात्र से ही सुधारा जा सकता है। उदयपुर सं० के लेखकों ने इस असम्बद्ध, भ्रष्टपाठ पर भी हठ किया है। **प्रथम लेखक** ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। **दूसरे, तीसरे, चौथे** ने जो उत्तर दिया है, शायद, उसका उन्हें ही नहीं पता कि क्या कहना चाहते हैं। जो कहना चाहते हैं वह शब्दों में नहीं है। बेतुकी खींचतान से कोई तथ्य नहीं निकलता और न पाठ शुद्ध बनता है। **तीसरे लेखक** ने भी यद्यपि अपना आग्रह प्रदर्शित कर दिया तथापि उसे यह अनुभव अवश्य हुआ है कि पाठ में कुछ गड़बड़ जरूर है जो सम्पादक-समिति के ध्यान में नहीं आई अथवा उनसे नहीं सुधरी। अत: उसने यह उचित विचार भी प्रस्तुत कर दिया है—"अत: ऋषिभक्त आर्यविद्वान् सभी की जिम्मेदारी बनती है कि इसका उत्तर दें.....इस पर विद्वत् समिति ही विचार करेगी।" किन्तु इन लेखक महोदय का यह कथन अनुचित है कि "सुरेन्द्रकुमार जी ऋषि से लेकर अब तक के सभी विद्वानों को प्रश्नों के घेरे में रख रहे हैं।" लेखक महोदय! आपने ८०० से अधिक पाठों को घोषित करके, ताल ठोक कर प्रश्नों के घेरे में रखा है, क्या वे ऋषि से लेकर अब तक के नहीं हैं। आप भी उसको विचारणीय कह रहे हैं। जब स्वयं भी विचारणीय अर्थात् संशोधनीय मान रहे हैं तो उसका ठीकरा मेरे ही सिर क्यों फोड़ रहे हैं? क्या सत्य को इतने हठ और कष्टपूर्वक स्वीकार किया जाता है? आपको सत्य के ग्रहण करने में इतना कष्ट अनुभव होता है? और असत्य उत्तरों के प्रचारक आधा दर्जन से अधिक लेख वितरित करने में आपको जरा भी कष्ट नहीं हुआ?

२. **अन्यत्र उल्लेख**—द्रष्टव्य, पृष्ठ संख्या ३४२ पर दोनों प्रमाण।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्धन**—यहां मन्त्रार्थों में केवल जन्म और अवतार का ही प्रसंग वर्णित है। मुद्रणहस्त०, द्विप्र० व द्वि०सं० में मुद्रणलिपिकर द्वारा अभ्यासवशात् "**मरण**" पद का सर्वथा असंगत परिवर्धन है। सभी द्वि०सं० में अपप्रयोग है।

विद्यमान है। जहाँ भाव करें, वहीं परमेश्वर प्रसिद्ध होता है।[१]

उत्तर—जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ाके एक छोटी-सी कुटी का स्वामी मानना। देखो, यह कितना बड़ा अपमान है!! वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो। जब व्यापक मानते हो तो वाटिका में से पुष्प-पत्र तोड़, लाके, क्यों चढ़ाते [हो] ?[२] चन्दन को घिस क्यों लगाते [हो] ?[३] धूप को जला, क्यों देते हो? घण्टा, घड़ियाल, झाँज, पखावजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ?[४] तुम्हारे हाथों में है, क्यों जोड़ते हो? शिर में है, क्यों नमाते हो? अन्न-जलादि में है, क्यों नैवेद्य धरते हो? जल में है, स्नान क्यों कराते हो? क्योंकि उन सबमें व्यापक परमात्मा है। **और तुम व्यापक की पूजा करते हो वा व्याप्य की? जो व्यापक की करते हो, तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चन्दन, पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो? और जो व्याप्य की करते हो तो 'हम परमेश्वर की पूजा करते हैं', ऐसा झूठ क्यों बोलते हो? 'हम पाषाणादि के पुजारी हैं', ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते?**

[५]'भाव' सच्चा है वा झूठा? जो कहो 'सच्चा' है, तो तुम्हारे भाव के आधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जायगा; और तुम मिट्टी में सुवर्ण की,[६] पाषाण में हीरा-पन्ना की, समुद्रफेन में मोती की, जल में घी-दूध की, बर्फ़[७] में दही आदि की, धूल में मैदा-शक्कर की भावना करके उनको वैसा क्यों नहीं बना लेते हो ?[८] दुःख की भावना कोई[९] नहीं करता, फिर दुःख क्यों होता है? और सुख की भावना करते हो, वह क्यों नहीं होता ?[१०] अन्धा[११] नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता? मरने की भावना नहीं है, क्यों मर जाते हो? इसलिये तुम्हारी भावना सच्ची नहीं; क्योंकि '**भावना**' 'जैसे में वैसा भाव करने'

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित वाक्य**—मुद्रणप्रति में यह वाक्य त्रुटित छोड़ दिया था। बाद में भीमसेन ने किनारे पर लिखा है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक क्रियाएं**—मुद्रणह, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**लाके**'' क्रिया त्रुटित है, मूलह०, मूलप्रति सं० में है। अगले दोनों स्थानों पर तथा आगामी क्रमशः छह प्रश्नवाचक वाक्यों के अन्त में, दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**हो**' क्रिया नहीं है। रचना की दृष्टि से वाक्यपूर्त्यर्थ सभी आठ वाक्यों के अन्त में यह क्रिया आवश्यक है, जैसे इनसे भी अगले दो वाक्यों में प्रयुक्त है।

४. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**झांज, पखाजों को लट्ठ आदि से क्यों ठोकते ?**'' मूलप्रति के इस साधारण वाक्य का संशोधन किया हुआ है, जो ऊपर गृहीत है। द्वि० सं० के संशोधित वाक्य में भी ''**घरियाल**'' ''**झांज**'' और ''**पखाजों**'' दो अपवर्तनियां हैं। इनका शुद्ध रूप ''**घड़ियाल**'' ''**झांझ**'' और ''**पखावजों**'' है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकरों ने इनका अशुद्ध रूप लिखा है। उदयपुर सं० में भी ये अपवर्तनियां हैं। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध हैं।

५-६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्धन**—इस वाक्य से पूर्व मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**अब कहिये**'' व्यर्थ परिवर्धन है। आगे ''**रजतादि**'' व्यर्थ परिवर्धन है। समझाने के लिए सुवर्ण का उदाहरण पूर्ण हैं।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद से अपवाक्य**—मुद्रणलिपिकर की असावधानी से मुद्रणप्रति में ''**बर्फ़**'' पद छोड़ दिये जाने से मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपवाक्य बन गया है—''**जल में घृत, दुग्ध, दधि आदि**''। यही त्रुटिपूर्ण पाठ द्वि० सं० में छप रहा है। मूलप्रति सं० में यह शुद्ध वाक्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी द्वि०सं० में तथा '**उदयपुर सं०**' में अपपाठ है। विद्वानों ने यह भी नहीं सोचा कि जल में दही की भावना कैसे हो सकती है? उसका क्या साम्य है?

इसके साथ तीनों सं० में सभी पदों के साथ सम्बन्ध कारक '**की**' प्रत्यय लुप्त है। कारक प्रत्यय व्याकरणानुसार सम्बन्धित पद के साथ होता है। सबके साथ प्रयुक्त होना वांछनीय है, जैसे '**सुवर्ण की, पन्ना की, मोती की, दूध की, दही आदि की**'।

८-११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—क्रमशः इन सभी स्थानों पर मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में अनावश्यक पाठ-परिवर्तन-परिवर्धन किया है, जैसे—''**बना लेते हो=बनाते हो, कोई नहीं=कभी नहीं, भावना करते हो वह क्यों नहीं होता=भावना सदैव करते हो वह क्यों नहीं प्राप्त होता, अन्धा=अन्धा पुरुष**''। ये सभी पाठ मूलह०, मूलप्रति सं० पूर्ण हैं।

को कहते हैं,[१] जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना। और जल में अग्नि, अग्नि में जल समझना अभावना है; क्योंकि जैसे को वैसा जानना '**ज्ञान**' और अन्यथा जानना '**अज्ञान**' है। इसलिये तुम अभावना को भावना और भावना को अभावना कहते हो।

प्रश्न—अजी! जब तक वेदमन्त्रों से आवाहन नहीं करते, देवता नहीं आता, और आवाहन करने से झट आता और विसर्जन करने से चला जाता है।

उत्तर—जो मन्त्र[२] से आवाहन करने से देवता आ जाता है, तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती? और विसर्जन करने से चला जाता है, तो वह कहाँ से आता और कहाँ जाता है?

सुनो भाई![३] पूर्ण परमात्मा न आता, न जाता है। जो तुम मन्त्र से परमेश्वर को बुला लेते हो, तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते? और शत्रु के शरीर से जीवात्मा का विसर्जन[४] करके क्यों नहीं मार सकते?

सुनो भाई भोले लोगो! ये '**पोप**' जी तुमको ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्तिपूजा और परमेश्वर के आवाहन-विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

प्रश्न— प्राणा इहागच्छन्तु[५] सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा॥ आत्मेहागच्छतु[६] सुखं चिरं तिष्ठतु[७] स्वाहा॥ इन्द्रियाणीहागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा॥ [प्रतिष्ठामयूख, तन्त्रग्रन्थ]

इत्यादि वेद के मन्त्र हैं, क्यों कहते हो नहीं हैं?

उत्तर—अरे भाई! बुद्धि को थोड़ी-सी तो अपने काम में लाओ। ये सब वाममार्गियों के वेदविरुद्ध कपोलकल्पित[८] तन्त्रग्रन्थों की पोपरचित पंक्तियाँ हैं, वेदवचन नहीं।

---

१. **शोधक द्वारा अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के स्थान पर यह अपूर्ण और व्याकरणिक अपवाक्य है—"**जैसे मैं वैसी करने का नाम भावना कहते हैं।**" "जैसे में वैसी", किसमें कैसी? "वैसी करने" क्या करना? कुछ स्पष्ट नहीं। यही अटपटा, अशुद्ध और अपूर्ण वाक्य सभी द्वि०सं० में छपता आ रहा है। मुद्रणह० में यह किसी शोधक द्वारा सही पदों को काट देने पर उत्पन्न हुई त्रुटि है। अन्य सभी द्वि०सं०, मूलह०, 'उदयपुर' सं० में यह अपूर्ण और अशुद्ध वाक्य है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ परिवर्धन एवं अपपद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में वाक्य है—"**जो मन्त्र से आवाहन**"। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में इसमें एक पद व्यर्थ बढ़ाकर वाक्य बनाया है—"**जो मन्त्र को पढ़कर आवाहन**"। प्रश्न होता है कि क्या यह बिना पढ़े केवल बोलकर नहीं हो सकता? मुद्रणलिपिकर सीमित चिन्तन होने के कारण ऐसे अनावश्यक परिवर्धन करता चलता है। मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त वाक्य से व्यापक भाव प्रकट हो रहा है कि चाहे पढ़कर या कण्ठस्थ के आधार पर बोलकर अथवा मौन रूप में ऐसा करे।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**सुनो अन्धो**" पाठ है। यही मुद्रणहस्त० में है। प्रकाशन-समय उसके स्थान पर मृदु शब्दों में "**सुनो भाई**" संशोधन किया है। यही पाठ ग्राह्य है। अगले अनुच्छेद में भी यही सम्बोधन है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—"**शत्रु के जीवात्मा का विसर्जन**", मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में व्याकरण की दृष्टि से यह अग्रिम अपपाठ है—"**शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसर्जन**"। यहां ऊपर अंकित पाठ उपयुक्त है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी द्वि०सं० सहित 'उदयपुर' सं० में भी यह अपवाक्य है।

५-७. **मुद्रणकालीन भ्रष्ट उद्धरण पाठ और संशोधन**—मुद्रणकाल में इस उद्धरण के तीन पाठ भ्रष्ठ हुए हैं—"**इहा गच्छन्तु**", "**आत्मेहागच्छन्तु**", "**तिष्ठन्तु**"। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० तथा अन्य सभी सं० में भी संशोधित हैं।

८. **स्थानभ्रष्ट पद के कारण अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कपोलकल्पित**" पद "**वाममार्गियों**" से पूर्व है। यह 'आसत्ति' नियम के विपरीत अस्थान में होने से उस पद का विशेषण बनकर यह अप-अर्थ दे रहा है कि '**वाममार्गी कपोलकल्पित हैं।**' वह अपवाक्य है—"**ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों की वेदविरुद्ध.....पंक्तियां हैं।**" ऊपर संशोधित पाठ है। वस्तुतः यह तन्त्र ग्रन्थों का विशेषण है। आगे उनको "झूठा" कहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

प्रश्न—क्या तन्त्र झूठा है?

उत्तर—हां, सर्वथा झूठा है। जैसे आवाहन, प्राणप्रतिष्ठादि, पाषाण-आदि[१] मूर्त्तिविषयक एक मन्त्र भी वेदों में नहीं, वैसे '**स्नानं समर्पयामि**' इत्यादि वचन भी नहीं। अर्थात् इतना भी नहीं है कि '**पाषाणादिमूर्त्तिं रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभिरर्चयेत्**'=पाषाण की मूर्त्ति बना, मन्दिरों में स्थापन कर चन्दन-अक्षतादि से पूजे। ऐसा लेशमात्र भी नहीं।

प्रश्न—जो वेदों में विधि नहीं, तो खण्डन भी नहीं है; और जो खण्डन है तो '**प्राप्तौ सत्यां निषेधः**'=मूर्त्ति के होने से ही खण्डन संगत हो सकता है।

उत्तर—विधि तो [है ही][२] नहीं, अपितु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय मानने का भी सर्वथा निषेध किया है।[३] क्या अपूर्वविधि[४] नहीं होता? सुनो! यह है[५]—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः॥ [१॥] यजुः० अ० ४०। मं० ९॥
न तस्य प्रतिमाऽअस्ति[६]॥ [२॥] यजुः० अ० ३२। मं० ३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ३॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ६॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ७॥

केनोप० [खं० १। मं० ४-८]॥

१-२. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**आदि**" पद त्रुटित है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है और अवश्य ग्राह्य है। इस प्रकरण में आगे अनेक स्थलों पर ग्रन्थकार ने इस शब्द का प्रयोग किया है। आगे बृहत् कोष्ठक में दिये पदों '**है ही**' का परिवर्धन भी अत्यावश्यक है। '**परन्तु**' की अपेक्षा "**अपितु**" सटीक है।

३. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह महर्षिविरुद्ध, अटपटा भ्रष्टवाक्य है—"**परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानना और सर्वथा निषेध किया है।**" इस सं० में संशोधित है। युमी, विस में अटपटा संशोधन किया है, जस में ठीक संशोधन है। वेस, जग और भद में अशुद्ध रूप है, 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध है। इस वाक्य का संशोधन इस रूप में भी किया जा सकता है—'परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानना, इस प्रकार सर्वथा निषेध किया है।'

४. **अपूर्वविधि**=अप्राप्तविधि अर्थात् जो अकर्त्तव्य व्यवहार में पहले नहीं है उसका भी विधान या निषेध करना। जैसे-वेद-काल में मूर्तिपूजा नहीं थी और वेदों में मूर्तिपूजा का वर्णन भी नहीं, किन्तु फिर भी ब्रह्म के स्थान पर किसी अन्य जड़ वस्तु की पूजा का निषेध है और ब्रह्म की ही उपासना का विधान है। यह अपूर्वविधि कहाती है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—"**क्या अपूवविधि.....यह है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **लिपिकरों द्वारा सिद्धान्तविरुद्ध एवं अशुद्ध उद्धरण-पाठ और संशोधन**—काशी शास्त्रार्थ के अवसर पर पौराणिक विद्वानों द्वारा अशुद्ध मन्त्रपाठ पर दुराग्रह करने पर, महर्षि दयानन्द ने तटस्थ वेदपाठियों को बुलाकर जिस मन्त्र के पाठ का सही निर्णय कराया था और पंडितों के पाठ को अशुद्ध सिद्ध किया था, दुःख का विषय है कि उन्हीं के लिपिकरों और शोधकों की मक्कारी या शरारत से, **वही अशुद्ध मन्त्र-पाठ उन्हीं के ग्रन्थ के दोनों हस्तलेखों में लिखा हुआ है और द्वितीय संस्करण (१८८४) में छपा भी अशुद्ध ही है,** वह है—"**नतस्य प्रतिमा अस्ति**"। संशोधन विरोधी और द्वितीय सं० के पक्षधर अब क्या कहेंगे?

और भी आश्चर्य देखिए, द्विप्र० में संलग्न १४७ अशुद्धियों के 'शुद्धाशुद्धिपत्र' में भी इसका संशोधन नहीं दर्शाया गया है! प्रसन्नता की बात है कि 'उदयपुर' सं० सहित सभी सम्पादकों ने इसका संशोधन एकमत से कर लिया है, किसी ने इसमें कोई

जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति=कारण की, ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं,[१] वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दु:खसागर में डूबते हैं; और सम्भूति=जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं, वे महामूर्ख[२] उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् चिरकाल [तक] घोर दु:खरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं॥ १ ॥

जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है॥ २ ॥

जो वाणी का '**इदंता**'[३] अर्थात् 'यह जल है लीजिये', वैसा विषय नहीं, और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म जान और [उसी की][४] उपासना कर; और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं॥ ३ ॥

जो मन से '**इयत्ता**'[५] करके मनन[६] में नहीं आता, जो मन को जानता है, उसी को तू ब्रह्म जान[७] और उसी की उपासना कर; जो उससे भिन्न जीव और अन्त:करण है, उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर॥ ४ ॥

जो आँखों[८] से नहीं दीख पड़ता और जिससे सब आँखें देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर। और जो उससे भिन्न सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं, उनकी उपासना मत कर[९] ॥ ५ ॥

जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता और जिससे श्रोत्र सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की

रहस्य नहीं खोजा। यदि **आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री** आज जीवित होते तो उनसे हम दो बातें पूछते—१. क्या यह भी अशुद्धि है अथवा नहीं? २. क्या इस महाभ्रष्ट पाठ को देखकर भी आप लिपिकरों और संशोधक ज्वालादत्त और भीमसेन शर्माओं को ''छल-कपट रहित विद्वान्'' होने के प्रमाणपत्र से अलंकृत करना चाहेंगे? शास्त्री जी तो आज जीवित नहीं हैं किन्तु 'उदयपुर' सं० से सम्बद्ध अधिकांश आर्यजन जीवित हैं, तो क्या वे अब भी उनको ''सश्रद्ध नमन'' करना चाहेंगे?

१. **अनादि प्रकृति की उपासना से अभिप्राय**—यहां अनादि प्रकृति या कारण की उपासना से ग्रन्थकार का संकेत उन प्रकृतिवादियों की ओर है जो ईश्वर को न मानकर प्रकृति को ही कर्त्री-धर्त्री-प्रलयकर्त्री, भाग्यविधायिका अथवा फलदात्री मानते हैं। जो यह कहा करते हैं कि प्रकृति ने ऐसा कर दिया, कुदरत ने वैसा कर दिया, कुदरत की कृपा है, आदि।

२. **स्थानभ्रष्ट पद के कारण अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**महामूर्ख**'' पद स्थानभ्रष्ट होकर ''**अर्थात्**'' पद के बाद है, जो ''**चिरकाल**'' का विशेषण बनकर वाक्यार्थ में असंगति पैदा कर रहा है। 'आसत्ति' नियम के अनुसार, उसका उचित स्थान ''**वे**'' सर्वनाम पद के बाद है। इस वाक्य में बृहत्कोष्ठक में परिवर्धित '**तक**' पद अपेक्षित है।

३. **इदंता**='**यह पन**' अर्थात् '**यह वस्तु ऐसी है**' आदि स्थूल स्वरूप का कथन करना।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में बृ० कोष्ठक के पाठ '**उसी की**' का परिवर्धन संगति हेतु आवश्यक है।

५. **इयत्ता**='इतना माप या इतनी सीमा' जैसा निश्चित परिमाण।

६. **अपप्रयोग**—द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां ''**मन**'' अपप्रयोग है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध ''**मनन**'' है, वही ग्राह्य है। यह ''**मनुते**'' का अर्थ है।

७. **अप-अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अभीष्ट अर्थ का बोधक न होकर अप अनुवाद है—''**उसी ब्रह्म को तू जान।**'' जबकि यहां कथ्य है—''**उसी को तू ब्रह्म जान**''। यहां ब्रह्म का स्वरूप बताया जा रहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी पाठों के समान '**उदयपुर**' सं० में भी अपपाठ है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० ''**आंख**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, ''**आँखों से**'' वांछनीय है। आगे बहुवचन है।

९,१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में लिपिकर ने प्रमाद से ''**और जो.....तक कर**'', ''**उससे भिन्न.....मतकर**''

उपासना कर। उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर[१०] ॥ ६ ॥

जो प्राणों से चलायमान नहीं होता, जिससे प्राण गमन को प्राप्त होता है, उसी को तू ब्रह्म जान[१] और उसी की उपासना कर। जो यह उससे भिन्न वायु है, उसकी उपासना मत कर॥ ५ ॥

इत्यादि बहुत से निषेध हैं।

निषेध प्राप्त और अप्राप्त का भी होता है। '**प्राप्त**' का जैसे—कोई कहीं बैठा हो, उसको वहाँ से उठा देना। '**अप्राप्त**' का जैसे—'हे पुत्र! तू चोरी कभी मत करना, कुए में मत गिरना, दुष्टों का सङ्ग मत करना, विद्याहीन मत रहना', इत्यादि अप्राप्त का भी निषेध होता है। सो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त का और परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त का निषेध किया है। इसलिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा अत्यन्त निषिद्ध है।

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा[२] में पुण्य नहीं, तो पाप तो नहीं है?

उत्तर—कर्म दो ही प्रकार के होते हैं—एक[३] **विहित**=जो वेद में कर्त्तव्यता से सत्यभाषणादि प्रतिपादित हैं। दूसरा **निषिद्ध**=जो अकर्त्तव्यता से मिथ्याभाषणादि वेद में निषिद्ध हैं। जैसे विहित का अनुष्ठान करना वह धर्म, उसका न करना अधर्म है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का करना अधर्म और न करना धर्म है। जब वेद में निषिद्ध मूर्त्तिपूजादि कर्म तुम करते हो, तो पापी क्यों नहीं?

प्रश्न—देखो, वेद अनादि हैं। उस समय मूर्त्ति का क्या काम था? क्योंकि पहले तो देवता प्रत्यक्ष थे। यह रीति तो पीछे से तन्त्र और पुराणों से चली है। जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून हो गया, परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सके, तब मूर्त्ति का ध्यान करने लगे।[४] इस कारण अज्ञानियों के लिये मूर्त्तिपूजा है। क्योंकि सीढ़ी-सीढ़ी से चढ़े तो भवन पर पहुँच जाय। पहली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे तो नहीं जा सकता, इसलिये मूर्त्ति प्रथम सीढ़ी है। इसको पूजता-पूजता[५] जब ज्ञानी होगा और अन्तःकरण पवित्र होगा, तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य पर[६] मारनेवाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में[७] तीर, गोली वा गोला आदि मारता-मारता पश्चात् सूक्ष्म पर निशाना भी मार सकता है,[८] वैसे

दोनों वाक्य त्रुटित छोड़ दिये थे जिनको शोधक भीमसेन ने किनारे पर संशोधन के समय लिखा है।

१. **अप-अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वही पूर्वोक्त अपवाक्य है—"**उसी ब्रह्म को तू जान।**" यहां "**उसी को तू ब्रह्म जान**" शुद्ध अनुवाद अपेक्षित है। अन्य वेस, जग, भद, युमी, विस आदि पाठों के समान '**उदयपुर**' सं० में भी यह अपपाठ है।

२-३. **मुद्रणकालीन स्थानभ्रष्ट पद**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह अपवाक्य है—"**मूर्तिपूजा एक में पुण्य नहीं**"। उत्तर-वाक्य का '**एक**' पद स्थानभ्रष्ट होकर यहां जुड़ गया है, जबकि "**विहित**" पद से पूर्व "**एक**" पद त्रुटित है। सभी सं० में संशोधित है किन्तु '**उदयपुर**' सं० को संशोधन ग्राह्य नहीं लगा। उन्होंने स्थानभ्रष्ट पद को निकाल ही फेंका जबकि वह हस्तलेखों में है।

४. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलप्रति में पूर्णतः और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अंशतः यह अपवाक्य है—"**ध्यान में नहीं ला सकते, तब मूर्ति का ध्यान कर सकते हैं।**" द्वि० सं० "**नहीं ला सके**" इतना पाठ संशोधित है। उपर्युक्त पूर्ण शुद्ध है। यहां भूतकालीन संदर्भ के कारण भूतकालीन क्रियाएं अपेक्षित हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**पूजता-पूजता**" के स्थान पर "**पूजते-पूजते**" पाठ परिवर्तित है किन्तु अग्रिम प्रयोगों के सम्बन्ध से यह परिवर्तन अनावश्यक है। आगे भी इसी शैली में "**मारता-मारता**", "**करता-करता**" प्रयोग हैं।

६,७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तीनों स्थानों पर "**लक्ष्य में**" अपप्रयोग है, '**लक्ष्य पर**' अपेक्षित है। अग्रिम पंक्तियों में इस पर टिप्पणी देखिए।

८. **अपपाठ की कहानी**—लिपिकर ने मूलहस्त० में यह पाठ लिखा—"**जैसे निशाने के मारनेवाले प्रथम स्थूल लक्ष में तीर, गोली वा गोला मारता-मारता पश्चात् सूक्ष्म निशाना भी मार सकता है।**" यहां "**निशाने के मारनेवाले**" में रचनात्मक और

स्थूल मूर्त्ति की पूजा करता-करता[१] सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियाँ गुड़ियों का खेल तब तक करती हैं, जब तक सच्चे पति[२] को प्राप्त नहीं होतीं, इत्यादि प्रकार से मूर्त्तिपूजा करना दुष्ट काम[३] नहीं।

उत्तर—जब वेदविहित में[४] धर्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है, तो तुम्हारे कहने से भी मूर्त्तिपूजा करना, अधर्म ठहरा।[५] **जो ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं उनका[६] प्रमाण करना, जानो 'नास्तिक' होना है।** सुनो—

नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ १ ॥[७] [मनु० २।११] ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ २ ॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ३ ॥ मनु०, अ० १२ [श्लो० ९५-९६] ॥

मनु जी कहते हैं—जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्धाचरण करता है, वह **'नास्तिक'** कहाता है ॥ १ ॥[८]

जो ग्रन्थ वेदबाह्य, कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दुःखसागर में डुबानेवाले हैं, वे सब निष्फल, असत्य, अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥ २ ॥

जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं, वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥ ३ ॥

इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि[९] पर्यन्त का मत है कि वेदविरुद्ध को न मानना, किन्तु वेदानुकूल का ही आचरण करना धर्म है। क्योंकि वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है, इससे विरुद्ध[१०]

वचनात्मक अशुद्धि है, ''**लक्ष में**'' अपवर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने इसमें तीन अशुद्धियां और बढ़ा दीं—''**निसाने**'', ''**निसाना**'', ''**सूक्ष्म में**''। द्वि०प्र० में सभी अशुद्धियां यथावत् हैं, 'लक्ष्य' शुद्ध कर दिया—''**लक्ष्य के मारने वाले**''। द्वि०सं० व मूलसं० में इस अशुद्धि ने फिर चोला बदला—''**लक्ष्य के मारने वाला**''। शेष सभी अशुद्ध वर्तनियां संशोधित कर दी गई हैं।

सम्पादक विद्वानों की कहानी—अब सम्पादकों की कहानी सुन लीजिए। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी** ने द्वि०सं० के पाठ को ग्रहण किया। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस पाठ का अनुकरण तो किया किन्तु ''**निशाना**'' पर फिर ''**निसाना**'' का पुराना तीर दे मारा। **स्वामी विद्यानन्द जी** ने भी यही किया। **पं० भगवद्दत्त जी** ने शुद्ध वर्तनियां तो अपना लीं किन्तु एक कदम पीछे हटकर ''**लक्ष्य का मारनेवाला**'' पाठ ले लिया। पता नहीं इन विद्वानों का ध्यान इस बात की और क्यों नहीं गया कि लक्ष्य या निशाना का अर्थ कोई चिह्न, बिन्दु या पदार्थ होता है, अतः '**लक्ष्य के/ निशाने के**' नहीं मारा जाता, 'लक्ष्य पर/ निशाने पर' मारा जाता है, जैसे—'मृग पर निशाना साधा', 'शब्द पर निशाना लगाया' आदि। '**लक्ष्य में**' यह भी सीमितार्थक प्रयोग है और वह केवल तब प्रयुक्त होता है जब किसी घेरे में निशाना लगाया जाता है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां ''**पुनः**'' पद का परिवर्धन अनावश्यक है।

२. **सच्चा पति**—जीवन में वास्तविक पति। **३. दुष्ट काम**=दोषयुक्त, अधर्मयुक्त कार्य। यह यौगिक प्रयोग है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**में**'' कारक प्रत्यय का परिवर्धन अत्यावश्यक है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**मूर्तिपूजा अधर्म ठहरी**'' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है।

६,९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—क्रमशः, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**जो-जो ग्रन्थ.....उन-उन का प्रमाण**'', द्विकथन व्यर्थ है। ''**जैमिनि महर्षि**'', अनावश्यक पाठपरिवर्तन है। ये सब परिवर्तन मुद्रणलिपिकर ने किये हैं। मूलहस्त० में ''**जैमिनि मुनि**'' पाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—यही प्रयोग द्रष्टव्य है 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' पृ० १०४५।

जितने तन्त्र और पुराण हैं, वे वेदविरुद्ध होने से झूठे हैं, वे वेद से विरुद्ध चलते हैं। उनमें कही हुई मूर्त्तिपूजा भी अधर्मरूप है। मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है, सो भी नष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानियों की सेवा-सङ्ग से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं। क्या पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी [कोई][१] ला सकता है? नहीं-नहीं।

मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खाई है जिसमें गिरकर [मनुष्य] चकनाचूर हो जाता है। पुनः[२] उस खाई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में मर जाता है। हां, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों[३] के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियाँ हैं, जैसी कि ऊपर घर में जाने की निःश्रेणी[४] होती है। किन्तु मूर्त्तिपूजा करते-करते ज्ञानी तो कोई न हुआ, प्रत्युत सब मूर्त्तिपूजक अज्ञानी रहकर, मनुष्यजन्म व्यर्थ खोके, बहुत मर गये; और जो अब हैं वा होंगे, वे भी मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्तिरूप फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे। मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं, किन्तु धार्मिक, विद्वान् [होना] और सृष्टिविद्या [का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना लक्ष्य] है;[५] इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को भी पाता है। और मूर्त्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं, किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास, सुशिक्षा का होना, गुड़ियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति के[६] साधन हैं। सुनिये, **जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा, तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायगा।**

प्रश्न—साकार में मन स्थिर होता है और निराकार में स्थिर होना कठिन है, इसलिये मूर्त्तिपूजा रहनी चाहिये।

उत्तर—साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता; क्योंकि—

[**प्रथम दोष-**][७] उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है, और निराकार अनन्त परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं रहता किन्तु उसी के गुण-कर्म-स्वभाव का विचार करता-करता आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है। और जो साकार में स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता; क्योंकि जगत् में मनुष्य, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि साकार में फसा रहता है, परन्तु

७,८, १०. **ऋषिहस्तलेख**—संस्कृत उद्धरण और उसका अर्थ तथा "**धर्म है.....विरुद्ध**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में "**कोई**" पद त्रुटित है। संगति के लिए आवश्यक है।

२. **त्रुटित एवं आवश्यक पद**—दोनों सं० में इस वाक्य में कोष्ठकान्तर्गत '**मनुष्य**' पद कर्त्ता के रूप में आवश्यक है। आगे '**पुनः**' पद मूलप्रति में त्रुटित है, द्वि०सं० में है। यह ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**योगी**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त "**योगियों**" अपेक्षित है। द्वि०सं० में संशोधित है।

४. **निःश्रेणी**=सीढ़ियां। **ऋषिहस्तलेख**—"**निःश्रेणी होती है किन्तु**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में बृ०कोष्ठकान्तर्गत पाठ बढ़ाना स्पष्ट संगति के लिए आवश्यक है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**प्राप्ति का साधन है**" एकवचनात्मक वाक्य अपप्रयोग है, बहुवचनात्मक वाक्य चाहिए। जैसे कुछ पंक्ति पूर्व "**प्राप्ति की सीढ़ियां हैं**" बहुवचनात्मक शुद्ध पाठ है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० भी यह अपवाक्य है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**प्रथम दोष**' यह शीर्षक त्रुटित है। यह होना आवश्यक है।

किसी का मन स्थिर नहीं होता, जब तक निराकार में न लगावे; क्योंकि उसके[१] निरवयव होने से उसमें मन स्थिर हो जाता है, इसलिये मूर्त्तिपूजा करना अधर्म है।

दूसरा[२]—उसमें करोड़ों रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र हो जाते हैं और उसमें प्रमाद होता है।

तीसरा—स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई-बखेड़ा और रोग आदि[३] उत्पन्न होते हैं।

चौथा—उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थरहित होकर मनुष्यजन्म व्यर्थ गमाते हैं।[४]

पाँचवाँ—नाना प्रकार की विरुद्ध-स्वरूप-नाम-चरित्रयुक्त मूर्त्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होके, विरुद्धमत में चलकर, आपस में फूट बढ़ाके, देश का नाश करते हैं।

छठा—उसीके भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं। उनका[५] पराजय होकर राज्य, स्वातन्त्र्य और धन का सुख [आदि] उनके शत्रुओं के आधीन होते हैं।[६] आप पराधीन[७] '**भठियारे के टट्टू**' और '**कुम्हार[८] के गधे**'[९] के तुल्य शत्रुओं के वश में होकर अनेकविध[१०] दुःख पाते हैं।

---

१. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलसं० में यहां "**वह**" अपप्रयोग है, "**उसके**" अभीष्ट है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह त्रुटित है।

२. **अपप्रयोग और अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में दोष पुंल्लिग पद के लिए "**दूसरी**" स्त्रीलिंग अपविशेषण है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

३. **त्रुटित प्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**आदि**" पद त्रुटित है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है और ग्राह्य है।

४-५. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**व्यर्थ गमाता है**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, पूर्वापर प्रयोग के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में '**उसका**' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्वि० सं० में "**उनका**" संशोधित है।

६. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य मिलता है—"**शत्रुओं के स्वाधीन होते हैं/होता है।**" इस सं० में संशोधित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, '**उदयपुर**' सं० में भी यह अपपाठ है।

७. **मूर्तिपूजा से पराजय और पराधीनता**—पाठक इतिहास पर दृष्टिपात करें। इसी अन्धविश्वास के कारण सौराष्ट्र का राजा भीमसिंह महमूद गज़नवी से पराजित हुआ था और वह सोमनाथ के मन्दिर को लूटकर ले गया था (द्र०, समु० ११, पृ० ६०३)। सिन्ध का राजा दाहर भी मूर्ति पर अन्धविश्वास के कारण यवन राजा से पराजित हुआ था और उसका राज्य छिन गया था। इन्हीं घटनाओं के बाद देश पर आक्रमण शुरू हुए और देश पराधीन होता गया।

८. **अपवर्तनी तथा अव्यवस्था**—इस वर्तनी के सम्बन्ध में ग्रन्थ में अव्यवस्था पाई जाती है। लिपिकरों ने अपने ज्ञान-अज्ञान के अनुसार चार वर्तनियां लिखी हैं—'**कुम्हार, कुंभार, कुह्मार, कुंह्मार**'। प्रथम वर्तनी शुद्ध है। दूसरी गुजराती भाषा में चलती है, अतः वह भी शुद्ध है। अन्त की दोनों लिपिकरों की अयोग्यताजनित अशुद्ध वर्तनियां है। यहां "**कुह्मार**" वर्तनी दोनों हस्त० और द्विप्र० में है, जिसका द्वि०सं० और मूलसं० में संशोधन कर दिया है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधन है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का भी कहीं-कहीं विचित्र दृष्टिकोण है। यहां उन्होंने अर्ध-संशोधित वर्तनी "**कुह्मार**" को स्वीकार किया है। पता नहीं क्यों आधा संशोधन किया और पता नहीं अशुद्ध रूप क्यों ग्रहण किया? न मालूम उनको इसमें क्या रहस्य दिखाई दिया कि सैकड़ों अशुद्धियों का ग्रन्थ के मूलपाठ में संशोधन कर डाला किन्तु इसको संरक्षित कर लिया। स्पष्ट है कि यह अशुद्ध है, क्योंकि 'कुम्भकार' संस्कृत मूलपद से यह तद्भव शब्द बना है। इसमें 'कु' के बाद 'म्' है, 'ह्' नहीं। लिपिकर ने अन्य सैकड़ों अशुद्ध शब्दों की तरह इसको भी अशुद्ध लिखा है। पं०जी ने उसको आदर्श मान लिया! कभी-कभी उच्च विद्वान् भी व्यर्थ आग्रह में अटक कर रह जाते हैं।

९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में "**गदहा**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**गदहे**" संशोधित है। यहां भाषात्मक एकरूपता, मानकता के लिए "**गधे**" वर्तनी का ग्रहण किया है।

१०. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अनेकविधि दुःख पाते हैं**" अपसंशोधन है। मुद्रणह०, मूलह०, मूलसं० में उपर्युक्त शुद्धपाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस '**उदयपुर सं०**' में संशोधित है।

सातवाँ—जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें, तो जैसे वह उन पर[१] क्रोधित होकर मारता है वा गाली प्रदान करता है,[२] वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्त्तियाँ धरते हैं, उनका[३] सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे?

आठवाँ—भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर, देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते; धर्म, संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते; चोर आदि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं।

नववाँ—दुष्ट पुजारियों[४] को धन देते हैं, वे उस धन को वेश्या-परस्त्रीगमन, मद्य-मांसाहार, लड़ाई-बखेड़ों में व्यय करते हैं, जिससे दाता के सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है।

दशवाँ—माता-पिता आदि माननीयों का अपमान और पाषाणादि मूर्त्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं।

ग्यारहवाँ—उन मूर्त्तियों को कोई तोड़ डालता वा चोर ले जाता है तब 'हा-हा' करके रोते रहते हैं।

बारहवाँ—पुजारी[५] परस्त्रियों के संग और पुजारिन[६] परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित[७] होकर स्त्री-पुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं।

तेरहवाँ—स्वामी-सेवक की आज्ञा का पालन यथावत् न होने से, आपस में विरुद्ध होकर, नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

चौदहवाँ—जड़ का ध्यान करनेवाले का आत्मा भी जड़बुद्धि होता है, क्योंकि ध्येय का जड़त्व-धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है।

पन्द्रहवाँ—परमेश्वर ने पुष्पादि सुगन्ध के लिये,[८] वायु-जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिये बनाये हैं। उनको पुजारी तोड़कर[९], पूर्ण सुगन्ध के समय तक उनका[१०] सुगन्ध होता, परन्तु उनका

---

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणह,, द्विप्र०, द्वि० सं० में '**उस पर**' अपप्रयोग है, मूलह०, मूलप्रति में ''**उन पर**'' शुद्ध है।

२. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवाक्य**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह अपवाक्य है—''**मारता वा गालीप्रदान देता है।**'' मूलह०, मूलप्रति सं० में यह वाक्यांश नहीं है। ''**प्रदान करता है**'' प्रयोग शुद्ध है। इससे ज्ञात होता है कि यह अपभाषा मुद्रणलिपिकर की है। 'उदयपुर' सं० में '**गाली देता है**' पाठ बदला है। ग्रन्थकार प्रायः सभी स्थानों पर ''**गाली प्रदान**'' पदों का प्रयोग करते हैं, जैसे द्र०पृ० ८२४ आदि। वेस, जग, भद में अशुद्ध है, युमी, विस में संशोधित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनुचित पाठवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**उनका**'' पद के स्थान पर ''**उन दुष्टबुद्धिवालों का**'' व्यर्थ और अशुद्ध पाठ बढ़ाया है, जो सर्वथा अग्राह्य है। इस वाक्य में ''**दुष्टबुद्धि**'' पद का कोई औचित्य ही नहीं है। यह औचित्यहीन पाठ द्वि० सं० में छपता आ रहा है। लिपिकर की भी विचित्र माया है। कहीं कटु मानकर ''**अंधों**'' (पृ० ५८३) हटा रहा है तो कहीं ऐसा ही कटु शब्द स्वयं बढ़ा रहा है।

४-५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां कहीं '**पूजारी**', कहीं '**पुजारी**' वर्तनी है। वेस, जग, भद, मूलप्रति सं० में इस प्रकरण में सर्वत्र '**पूजारी**' है। हिन्दी व्याकरणानुसार इस शब्द की शुद्ध वर्तनी '**पुजारी**' है, यही ग्राह्य है। '**पूजारि**' प्रयोग केवल कटाक्ष या व्यंग्यार्थ में प्रयुक्त है और केवल उसी स्थान पर यह वर्तनी उल्लेख्य है जहां पर कटाक्ष है। ग्रन्थ में अन्यत्र सर्वत्र ''**पुजारी**'' शुद्ध वर्तनी का ही प्रयोग है और उचित भी है। युमी और '**उदयपुर**' सं० प्रशंसा का पात्र है कि उसने इस अव्यवस्था का अधिकांश स्थानों पर परित्याग कर दिया। कुछ स्थानों पर अभी भी अशुद्ध वर्तनी रह गई है।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**पूजारिन**'' अपवर्तनी है, मूलसं० में शुद्ध है।

७. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मूलह० में शुद्ध प्रयोग है। प्रतिलिपि करते समय लिपिकर ने प्रमाद से ''**दूषित**'' का ''**दुःखित**'' बना दिया। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में संशोधित है, मूलसं० में शुद्ध है। अन्यों ने भी शुद्ध कर लिया है।

८-९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां क्रमशः ''**सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ**'' पाठ-

नाश मध्य में ही कर देते हैं।[१] पुष्पादि[२], कीच के साथ मिल-सड़कर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिये पुष्पादि सुगन्धियुक्त पदार्थ रचे हैं? इसलिये मूर्त्तिपूजा करने में पाप होता है।[३]

सोलहवां—पत्थर पर चढ़े हुए चन्दन और अक्षत आदि सबका जल और मृत्तिका का संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर, सड़के, इतना दुर्गन्ध उससे आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का। और सहस्त्रों जीव उसमें पड़ते, उसी में मरते, और सड़ते।[४]

इत्यादि पापों का मूलकारण पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा ही है।[५] मूर्त्तिपूजा के करने में ऐसे-ऐसे अनेक दोष आते हैं, इसलिये पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को सर्वथा त्यक्तव्य है। और जिन्होंने पाषाणमयी मूर्त्ति[६] की पूजा की है, करते हैं और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।[७]

प्रश्न—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा करनी [चाहिये] वा नहीं? और जो अपने आर्यावर्त में '**पंचदेवपूजा**' शब्द प्राचीन परम्परा से चला आता है, उसका यही '**पंचायतनपूजा**' जो कि शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश और सूर्य की मूर्त्ति बनाकर पूजते हैं [अर्थ] है वा नहीं?[८]

परिवर्तन अनावश्यक एवं अग्राह्य है, मूलह०, मूलसं० के पाठ में व्यापकता है। उसमें पुष्पों के तीन लाभ बतायें हैं। मुद्रणह० में उनको दो में सीमित कर दिया है। अत: मूलप्रति सं० का पाठ उपयुक्त है। इसी प्रकार आगे "**पुजारी जी तोड़ताड़ कर न जाने**" व्यर्थ पाठ परिवर्तन है।

१०. **अपप्रयोग**—बहुवचन के प्रसंग में द्वि० सं० में "**उसका**" अपप्रयोग है, मूलप्रति सं० में "**उनका**" शुद्ध है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ एवं अनावश्यक पाठ-परिवर्तन**—मूलह० में पन्द्रहवें दोष की उक्त भाषा शुद्ध सुगठित, व्यापकार्थक, प्रौढ़ और प्रवाहपूर्ण है। मुद्रणह० में किये गये परिवर्तन की भाषा अशुद्ध, शिथिल, सीमितार्थक, अप्रौढ़ और प्रवाहहीन है। उसमें कोई अर्थवैशिष्ट्य भी नहीं है। देखिए—"**परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिये बनाये हैं। उनको पुजारी जी तोड़-ताड़कर न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायु जल की शुद्धि करता और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता; उसका नाश मध्य में ही कर देते है।**" इस भाषा में पुष्प के लाभ कम करके तीन से दो कर दिये हैं, अत: यह प्रथम वाक्य सीमितार्थक है। दूसरा वाक्य रचनात्मक दृष्टि से अशुद्ध है। उसकी "**सुगन्धि.....शुद्धि करता**" क्रिया का न तो पूर्ववाक्य से तालमेल है और न इसमें कोई कर्त्ता स्वयं है। सभी द्वि०सं० में यह अटपटा पाठ छप रहा है। यही पाठ 'उदयपुर' सं० में है।

मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ—"**पूर्ण सुगन्ध.....करते हैं**" पाठ मुद्रणप्रति में त्रुटित छोड़ दिया था। उसको शोधक पं० भीमसेन शर्मा ने किनारे पर लिखकर बाद में पूरा किया है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**उल्टा दुर्गन्ध उत्पन्न करता है**" एकवचनात्मक अपपाठ है, "**आदि**" प्रयोग के सम्बन्ध में बहुवचनात्मक प्रयोग होगा। द्वि०सं० में शुद्ध पाठ है। "**उल्टा**" सभी सं० में अपप्रयोग है, '**उलटा**' सही है।

३,५. **मुद्रणलिपिकर से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में "**इसलिये मूर्तिपूजा.....होता है**", "**इत्यादि पापों का.....मूर्तिपूजा ही है।**" दो वाक्यों का पाठ त्रुटित रह गया है। दोनों वाक्य महत्त्वपूर्ण होने से आवश्यक हैं।

४. **उचित परिवर्धन**—"**पुष्पादि कीच के साथ.....और सड़ते हैं।**" पाठ मूलह०, मूलसं० में नहीं है। इसका परिवर्धन मुद्रणह० में किया गया है, जो उचित है। अर्थवैशिष्ट्य की दृष्टि से यह ग्राह्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**पाषाणमय मूर्त्ति**" अपप्रयोग है, मूलप्रति सं० में शुद्ध है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा उचित परिवर्धन एवं पाठग्रहण**—"**इसलिये पाषाणादि.....न बचेंगे।**" पाठ मूलह० में नहीं है। इसका परिवर्धन मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह० में किया है। मूलप्रति सं० में वहीं से ग्रहण किया है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन और व्यर्थ पाठग्रहण**—प्रश्न शीर्षक इस अनुच्छेद का पाठ मूलह० में दो त्रुटियों को छोड़कर सही है। इस पाठ में "**पंचदेवपूजा शब्द प्राचीन चला आता है**" के स्थान पर "**पंचायतनपूजा**" पुनरुक्ति अवांछनीय है। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय ये दोनों अशुद्धियां तो यथावत् बनी रहने दीं, इनके अतिरिक्त एक और नयी कर दी। प्रथम

उत्तर—किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा न करनी चाहिये; किन्तु '**मूर्त्तिमान्**' जो नीचे कहेंगे, उनकी '**पूजा**' अर्थात् **सत्कार** करना चाहिये। यह '**पंचदेवपूजा**', [और] '**पंचायतनपूजा**' शब्द बहुत अच्छे अर्थवाला[१] था, परन्तु मूढ़ों ने उस सदर्थ को छोड़कर, असत्य अर्थ को पकड़ लिया,[२] जो आजकल शिवादि पाँचों की मूर्त्तियाँ बनाकर पूजते हैं। उनका खण्डन तो अभी कर चुके हैं; पर जो सच्ची 'पंचायतन' वेदोक्त और वेदानुकूल देवपूजा और मूर्त्तिपूजा यह है, सुनो—

मा नो॑ वधीः पि॒तर॑ं मोत मा॒त॒रम्॥ १॥ यजुः० [१६।१५]

आ॒चा॒र्य उप॒नय॑मानो ब्रह्मचा॒रिण॑ं कृणुते॥ २॥[३] [अथर्व० ११।५।३]

अति॑थिर्गृ॒हान॒गच्छे॑त्॥ ३॥[४] अथर्व० [१५।१२।१]

प्रश्न वाक्य का अपसंशोधन इस प्रकार किया है—''**किसी प्रकार की मूर्तिपूजा करनी-करानी नहीं**'' यहां प्रश्न है, किन्तु यह उत्तर-वाक्य बन गया, जो अवांछनीय है। ''**पंचदेवपूजा शब्द प्राचीन परम्परा से चला आता है**'' यहां उचित परिवर्धन है। उक्त अपपाठ द्वि०सं० तथा अन्य सभी सं० में है। मूलह० के अधिक शुद्ध प्रथम वाक्य-पाठ को छोड़कर, मूलप्रति सं० ने व्यर्थ ही मुद्रणहस्त० का पाठ ग्रहण किया है। यही त्रुटिपूर्ण पाठ, कुछ संशोधन के साथ 'उदयपुर' सं० में है।

१. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**अच्छा अर्थवाला**'' अपप्रयोग है, मूलह०, मूलप्रति में उपर्युक्त शुद्ध प्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में मूलह०, मूलप्रति सं० के अच्छे-भले वाक्य को इस प्रकार बिगाड़ दिया है—''**उत्तम अर्थ को छोड़ कर निकृष्ट को पकड़ लिया।**'' ''**निकृष्ट**'' पद के अर्थ का यहां कोई औचित्य ही नहीं है। ''**सदर्थ**'' में 'सत्य' और 'उत्तम' दोनों भाव समाहित हैं अतः वही सटीक प्रयोग है।

३. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में मन्त्र का यह अपपाठ है—''**मा वधीः**''। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

३. **अप उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और दोनों सं० में उक्त मन्त्र और ''**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते**'' दो मन्त्रों (अथर्व० ११.५.३, १७) का एक मन्त्र बना दिया है। वेद में ये दो पृथक् मन्त्र हैं। मूलप्रति सं० में संशोधित है। इसका संशोधन अत्यावश्यक है, अन्यथा वेदपाठ में विकृति आने की आशंका है। यही पाठविकृति द्रष्टव्य है समु० १० में पृ० ४८२ पर।

'उदयपुर' संस्करण का सिद्धान्तविरोध और सम्पादकों की माया—स्वामी वेदानन्द जी और **सिद्धान्ती जी** ने दो मन्त्रों के स्थान पर दूसरा एक नया मन्त्र ग्रहण किया है—''**आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।**'' (अथर्व० ११.५.१७) अन्य किसी भी सम्पादक भद, युमी, विस, जस ने इसका संशोधन नहीं किया। यह अप मन्त्रपाठ अंगद के पांव के समान सवा-सौ से अधिक वर्षों से अडिग-अविचल है। सम्पादकों की इस असंशोधन की प्रवृत्ति को देखकर कहना पड़ेगा कि विकृति की यह स्थिति तो प्रामाणिक मानी नहीं जा सकती। उन्हें एक कार्य अवश्य करना पड़ेगा, चाहे सत्यार्थप्रकाश में संशोधन करें अथवा वेद में। अब यह निर्णय सम्पादक महानुभाव कर लें। 'उदयपुर' सं० में भी यहां अशुद्ध पाठ है। 'उदयपुर' सं० का विचित्र सिद्धान्त देखिए कि वे टिप्पणी में तुलनात्मक मन्त्र दे रहे हैं! वाह! वेदों के भी तुलनात्मक मन्त्रपाठ होने लगे!!! जब आर्यसमाज के दश विद्वानों ने मिलकर यह सिद्धान्त निश्चित कर लिया है कि 'वेदमन्त्रों का भी तुलनात्मक पाठ स्वीकार्य है', तो अब ऋषि दयानन्द के ''नित्य शब्दाक्षरार्थसम्बन्ध'' और ''नित्यवर्णानुपूर्वी'' सिद्धान्त का, पता नहीं, क्या होगा?

४. **अप उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**गृहानुपगच्छेत्**'' अशुद्ध पाठ है। इससे मन्त्र का अर्थ ही बदल गया है। वेद का मूलपाठ—''**गृहानागच्छेत्**'' है। वेस, जग, भद में संशोधित है, युमी, विस, जस, उदयपुर में अशुद्ध है।

सम्पादकों की विचित्र लीला—द्वि०सं० अपनी अपरिवर्तन की लीक पर यहां अडिग है। मूलप्रति सं० ने भी ऊपर का मन्त्र तो संशोधित कर लिया किन्तु इसको असंशोधित रखा। **पं० मीमांसक जी** ने टिप्पणी में अशुद्ध पाठ तो माना किन्तु मूलपाठ अशुद्ध ही रखा। **स्वामी विद्यानन्द** जी ने अनुशासित अनुकरणकर्त्ता के समान मीमांसक जी की शैली अपनाई है। कुछ ने, भले ही ऊपर के मन्त्र का संशोधन नहीं किया हो किन्तु इसका खुशी-खुशी कर लिया है। चलो, कुछ लोगों ने तो यह सोचा ही कि वेदमन्त्र विकृत नहीं होना चाहिए! 'उदयपुर' सं० तो इस अशुद्ध वेदमन्त्र-पाठ की भी तुलना करके नया सम्पादन मान रहा है।

अर्चंत प्रार्चंत प्रियमेधासो अर्चंत ॥ ४ ॥[१] ऋग्वेद [८।६९।८]

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥ ५ ॥ तैत्तिरीयोपनि० [१।१]

कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ६ ॥

शतपथ० [कां० १४] प्रपाठक ५। ब्राह्मण ७। कण्डिका १० ॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव ॥ ७ ॥

तैत्तिरीयोप० [शिक्षावल्ली। अनु० ११।२]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ८ ॥[२] मनु० [३।५५]

पूज्यो देववत्पतिः ॥ ९ ॥[३] मनुस्मृति [तुलना—५।१५४]

प्रथम—'**माता**' मूर्त्तिमती पूजनीय देवता [है],[४] अर्थात् सन्तानों को, तन-मन-धन से वा सेवा करके माता को प्रसन्न रखना चाहिये और हिंसा अर्थात् ताड़ना कभी न करनी चाहिये।

दूसरा—'**पिता**' सत्कर्त्तव्य देव [है]।[५] उसकी भी माता के समान सेवा करनी चाहिये ॥ १ ॥

तीसरा—'**आचार्य**' जो विद्या का देनेवाला है, उसकी तन, मन से सेवा करनी चाहिये[६] ॥ २ ॥

चौथा '**अतिथि**'[७]—जो विद्वान् धार्मिक, निष्कपटी, सबकी उन्नति चाहनेवाला, [हो और जो] जगत् में भ्रमण करता हुआ, सत्य उपदेश से सबको सुखी करता रहे, उसकी सेवा करें ॥ ३ ॥

पाँचवाँ—स्त्री के लिये **पति** [पूजनीय] और पुरुष के लिये **स्वपत्नी** पूजनीया है[८-९] ॥ ८९ ॥

१-३,९. ऋषिहस्तलेख—१-३,९ संख्यांक वाले चारों पाठ ऋषि द्वारा मुद्रणप्रति में परिवर्धित हैं।

४-५. त्रुटित आवश्यक क्रियाएं—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**है**" क्रिया त्रुटित है। यह आवश्यक है।

६. महर्षि की सूक्ष्म दृष्टि और मुद्रणलिपिकर या शोधक की 'मोटी' बुद्धि—यह पाठ हमें जानकारी देता है कि महर्षि की पाठरचना में सूक्ष्म दृष्टि होती थी। मुद्रणलिपिकर ने यहां मूलह० के उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त पाठ को अशुद्ध रूप में बदल डाला, जो कि सभी द्वि०सं० में भी आजतक छप रहा है—"**आचार्य जो विद्या का देनेवाला है उसकी तन-मन-धन से सेवा करनी।**" यहां मुद्रणलिपिकर ने "**धन**" पद बढ़ा दिया, जो साधारण पाठकों और आचार्यों को, बहुत अच्छा भी लगेगा, किन्तु यहां यह परिवर्धन उचित नहीं है। देखिए, ऋषिपरम्परा है कि "**प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः**" (निरुक्त १३.१२) और महर्षि ने उसका ध्यान रखा है। "**आचार्य उपनयमानो.....**" वेदमन्त्र के प्रकरण में यह निर्देश उपनयनकृत ब्रह्मचारी के लिए है। गुरुकुल परम्परा में ब्रह्मचारी भिक्षान्न पर निर्वाह करता है, निःशुल्क पढ़ाया जाता है। उसके पास अपना कोई धन नहीं होता, अतः वह धन से सेवा नहीं कर सकता। यही कारण है कि उसके लिए धन से सेवा का विधान नहीं है। इसी कारण उसके लिए पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेव आदि का भी विधान नहीं है। मुद्रणलिपिकर-शोधक ने इस प्रसंग पर गम्भीर विचार ही नहीं किया। क्योंकि पौराणिक गुरुडम में धन का, अनिवार्य महत्त्व है अतः उन संस्कारों के प्रभाव से यहां 'धन' पद जोड़ दिया।

संशोधन की पुष्टि—इसकी पुष्टि द्वितीय समुल्लास के पाठ से भी होती है। वहां भी ब्रह्मचारी के लिए निर्देश है। मूलहस्त की पाठरचना में महर्षि ने प्रकरण का ध्यान रखा है जबकि मुद्रणलिपिकर-शोधक ने वहाँ भी "**धन**" पाठ बढ़ा दिया है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ है—"**अपने माता, पिता और आचार्य की तन, मन से सेवा करे।**" पाठक और विद्वान् इस प्रकरण पर पुनः ध्यान दें कि ये निर्देश उद्धृत मन्त्रोक्त 'आचार्य' द्वारा उपनीत ब्रह्मचारी के लिए हैं।

७. अन्यत्र वर्णन—अतिथि सेवा से सम्बन्धित लगभग यही निर्देश द्रष्टव्य है, समु० ४, में पृ० १८८ पर। वहां भी मुद्रणलिपिकर ने अनावश्यक और अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा बनाकर पाठ-विस्तार किया है, जबकि मूलह० के दोनों स्थलों की भाषा प्रायः मिलती-जुलती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि चतुर्थ समुल्लास में इस प्रसंग में जो पाठविस्तार किया गया है, वह महर्षिसम्मत नहीं है।

८. अपवाक्य—दोनों हस्त०, सभी सं० में यह अपवाक्य है—"**स्त्री के लिये पति और पुरुष के लिये स्वपत्नी पूजनीय है।**"

ये पाँच मूर्त्तिमान् देव हैं, जिनके संग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति, पालन, सत्यशिक्षा-विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त[१] करने की सीढ़ियाँ है। इनकी सेवा न करके जो पाषाणादि-मूर्त्तियाँ[२] पूजते हैं, वे अतीव पामर, नरकगामी हैं।[३]

प्रश्न—माता-पिता आदि की सेवा करें और मूर्त्तिपूजा भी करें, तब तो कोई दोष नहीं?

उत्तर—पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा तो सर्वथा छोड़ने और मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा करने में ही कल्याण है। बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़के अदेव पाषाणादि में शिर मारना स्वीकार किया। इसको मूढों ने इसीलिये स्वीकार किया है कि जो माता-पितादि के सामने नैवेद्य वा भेंट-पूजा धरेंगे तो वे स्वयं खा लेंगे और भेंट-पूजा ले लेंगे, हमारे मुख वा हाथ में न पड़ेगी। इससे पाषाणादि की मूर्त्ति बना, उसके आगे नैवेद्य धर, टं टं घंटा, और पूँ-पूँ शंख बजा,[४] अंगूठा दिखला '**त्वमङ्गुष्ठं गृहाण, भोजनं पदार्थं वाऽहं ग्रहीष्यामि**'=जैसे कोई किसी को छले वा चिड़ावे कि '**तू अंगूठा ले**' और अंगूठा दिखलावे,[५] उसके आगे से सब पदार्थ ले आप भोगे, वैसी ही लीला इन '**पूजारियों**' अर्थात् '**पूजा' नाम सत्कर्म के शत्रुओं की है।**[६] [ये] मूढ़ों को चटक-मटक, चलक-झलक दिखा,[७] मूर्त्तियों को बना-ठना, आप[८] ठगों के तुल्य बन-ठनके, बेचारे निर्बुद्धियों,[९] अनाथों का माल मारके मौज करते हैं। **जो कोई धार्मिक राजा होता तो इन पाषाणप्रियों को पत्थर तोड़ने, बनाने और घर रचने आदि कामों में लगाके खाने-पीने को देता, निर्वाह कराता।**

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और दोनों सं० में यह अपवाक्य है—"**परमेश्वर को प्राप्ति होने की सीढ़ियां हैं।**" यह शुद्ध होना चाहिए—"**परमेश्वर को प्राप्त करने की सीढ़ियां हैं**"। वेस, जग, भद, युमी आदि सभी सं० में अशुद्ध या अर्ध संशोधित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में "**मूर्ति**" एकवचन है, बहुवचन अभीष्ट है।

३. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र० में इस वाक्यांश के स्थान पर बेतुका परिवर्तन किया है—"**वे अतीव वेद विरोधी हैं।**" ग्रन्थकार, माता-पिता आदि की सेवा न करने वालों को "**नरकगामी**" कहना चाह रहा है। इनकी सेवा न करने से 'वेद विरोध' करने का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। यह स्वभावाधारित वर्णन है। यही अपपाठ द्वि०सं० में है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस अच्छे-भले वाक्य के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यह अपपाठ बनाया है—"**घंटानाद टं टं पूं पूं और शंख बजा, कोलाहल कर**"। क्या घंटानाद "**पूं पूं**" करके भी होता है? पाठ का कबाड़ा करना कोई मुद्रणलिपिकर से सीखे! 'उदयपुर' सं० सहित वेस, जग, भद, युमी आदि सभी सं० में यह अपपाठ है। आश्चर्य है कि 'उदयपुर' सं० के सम्पादकों ने भी इस अस्तव्यस्त पाठ के संशोधन को गम्भीरता से नहीं लिया।

५. **भ्रष्ट अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पठित संस्कृत वाक्य के अर्थ में भ्रष्ट अनुवाद "**घंटा ले और अंगूठा दिखलावे**" मिलता है। "**अंगुष्ठं गृहाण**" का "**घंटा ले**" अनुवाद शरारत-भरा है। अंगूठा दिखाकर 'अंगूठा लेने' की ही बात की जा सकती है, 'घंटा लेने' की नहीं; अतः यहां "**अंगूठा ले**" शुद्ध, संगत एवं ग्राह्य है। संस्कृत-वाक्य से पूर्व भी स्पष्टतः "**अंगूठा दिखला**" प्रयोग है। वेस, जग, भद, युमी आदि सभी सं० और '**उदयपुर**' सं० में भी अशुद्ध अनुवाद है।
संशोधन की पुष्टि—पूजा की इसी पद्धति का वर्णन ग्रन्थकार अन्यत्र भी करते हैं—"**अंगुष्ठदर्शनेन घंटानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात्**" अर्थात् अंगूठा दिखाकर घंटानाद करके अपने भोजन का मतलब सिद्ध करते हैं (शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, लघुग्रन्थ संग्रह, पृ० ५६)।

६. '**पूजारी**'—यहां महर्षि ने श्लेष अलंकार के माध्यम से पुजारियों पर कटाक्ष किया है कि वे **पूजा**=सत्कार, आदर के **अरि**=शत्रु हैं, पूजक अर्थात् आदर-सत्कार करने वाले नहीं।

७-९. **त्रुटित पद एवं उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**दिखा**" क्रियापद त्रुटित है। मुद्रणकाल में यहां से ये पद हटा दिये हैं—"**वेश्या, भड़ुवा वा**" मुद्रणह० में हैं। यहां इनकी संगति भी नहीं है। "**निर्बुद्धि**" में बहुवचन होगा।

१०. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में प्रमादी लिपिकर ने "**कामोत्पत्ति.....देखने से**" पाठ त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधक पं० भीमसेन शर्मा ने किनारे पर लिखकर इसको पूर्ण किया है।

प्रश्न—जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे वीतराग शान्त की मूर्त्ति देखने से[१०] वैराग्य और शान्ति की प्राप्ति क्यों न होगी?

उत्तर—नहीं हो सकती;[१] क्योंकि **मूर्त्ति के जड़त्व धर्म[२] आत्मा में आने से विचारशक्ति घट जाती है। विवेक के विना न वैराग्य, और वैराग्य के विना न विज्ञान होता है,[३] विज्ञान के विना शान्ति नहीं होती।** और जो कुछ होता है सो उनके संग, उपदेश और उनके इतिहासादि के देखने से होता है, क्योंकि किसी का गुण वा दोष जाने विना, उसकी मूर्त्तिमात्र देखने से प्रीति ही नहीं होती।[४] प्रीति होने का कारण गुणज्ञान है। ऐसे मूर्त्तिपूजा आदि बुरे कारणों से ही आर्यावर्त में निकम्मे '**पूजारी**', भिक्षुक, आलसी, पुरुषार्थरहित करोड़ों मनुष्य हुए हैं। स्वयं मूढ होने से सब संसार में मूढ़ता उन्हींने फैलाई है, झूठ-छल भी बहुत-सा फैलाया है।[५]

प्रश्न—देखो, काशी में '**अवरङ्गजेब**' (औरंगजेब)'[६] बादशाह को '**लाटभैरव**'[७] आदि ने बड़े चमत्कार दिखलाये थे। जब मुसलमान उनको तोड़ने गये, और उन्होंने जब उन पर तोप के गोले मारे,[८] तब बड़े-बड़े भमरों[९] ने निकलकर, सब फ़ौज को व्याकुल कर, भगा दिया।

उत्तर—यह पाषाण का चमत्कार नहीं, किन्तु वहाँ भमरों के छत्ते लग रहे होंगे। उनका स्वभाव है,[१०]

---

१. **मुद्रणकालीन अपपाठ और संशोधन**—मुद्रणकाल में यहां पाठ विकृत हो गया है—''**नहीं नहीं सजती**''। दोनों हस्त०, मूलसं० में शुद्ध है, द्वि०सं० में संशोधित कर लिया है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधित है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**वह मूर्त्ति के जड़त्व धर्म**'' यहां ''**मूर्त्ति के जड़त्व धर्म**'' इतना ही शुद्ध पाठ अपेक्षित है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध पाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर की करतूत से अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**न**'' पद त्रुटित रहने से यह क्रियाहीन अपवाक्य बन गया है—''**वैराग्य के विना विज्ञान**''। वस्तुतः यहां गड़बड़ मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ छोड़ देने से हुई है। उसने प्रमाद से यह पाठ लिखा—''**वैराग्य के विज्ञान के बिना शान्ति नहीं होती।**'' यहां चाहिए—''**वैराग्य के विना न विज्ञान होता है।**'' मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है। वेस, जग, भद, युमी, 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**जिसका गुण वा दोष न जानके उसकी मूर्तिमात्र देखने से प्रीति ही नहीं होती।**'' इस सं० में उपर्युक्त संशोधन किया है। यही अपपाठ सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में है।

५. **मुद्रणकाल में त्रुटित वाक्य एवं मुद्रणलिपिकर कृत अपवाक्य**—द्विप्र० और द्वि० सं० में मुद्रण-समय ''**वे मूढ़ होने से**'' यह वाक्य त्रुटित रह गया है। मुद्रणह० में यह है और ग्राह्य भी है। मूलप्रति सं० और मुद्रणप्रति में यह अपवाक्य है—''**वे मूढ़ होने से सब संसार में मूढ़ता उन्होंने फैलाई है।**'' यहां ''**स्वयं मूढ़ होने से**'' प्रयोग उचित है। 'उदयपुर' सं० में ''**वे मूढ होने से**'' पाठ नहीं है। अगले वाक्य में सभी द्वि०सं० में ''**फैलाया है**'' के स्थान पर ''**फैला**'' अपपाठ है।

६. '**अवरङ्गजेब' नाम परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में औरङ्गजेब का यही हिन्दी रूप है। द्विप्र० में मुद्रणसमय और फिर द्वि० सं० में इसको हटा दिया गया है। इसके स्थान पर वास्तविक नाम ही रखा है। महर्षिप्रोक्त पाठ ''**अवरंगजेब**'' ही है।

७. **लाटभैरव**—पौराणिक मतानुसार, शिव के अवतारगणों में से एक अवतार।

८-९. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलसं०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यह सारा वाक्य अपरचना के कारण अपवाक्य है—''**जब मुसलमान उसको तोड़ने गये और उन्होंने जब उन पर तोप गोला आदि मारे तब बड़े-बड़े भमरे निकल कर----भगा दिया।**'' यहां ''**उसको**'' के स्थान पर ''**उनको**'' बहुवचन होगा। मूलप्रति सं० में ठीक है। ''**भमरे निकल कर**'' के स्थान पर ''**भमरों ने निकलकर**'' उपयुक्त प्रयोग है। द्वि०सं० में ''**और उन्होंने जब उन पर तोप के गोले मारे**'' पाठ-वर्धन ग्राह्य है। अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यही अपपाठ है।

गुजराती प्रयोग—'**भमरा**' गुजराती भाषा का प्रयोग है। हिन्दी में इसका '**भ्रमर**' या '**भंवरा**' उच्चारण है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पदवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**उनका स्वभाव है**'' के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उनका स्वभाव ही क्रूर है**'' पाठ-वर्धन व्यर्थ है। भ्रमरों के क्रूर-मृदु के स्वभाव का विवेचन करना, यहां प्रसंग नहीं है अपितु यह बताना लक्ष्य है कि छेड़ने वाले पर वे एकसाथ टूट पड़ते हैं।

जब कोई उनको छेड़े, तो काटने दौड़ते हैं। और जो दूध की धारा का चमत्कार होता था, वह पुजारी की लीला थी।[१]

प्रश्न—देखो, **महादेव** म्लेच्छ को दर्शन न देने के लिये कूप में और **वेणीमाधव** एक ब्राह्मण के घर में जा छिपे। क्या यह भी चमत्कार नहीं है?[२]

उत्तर—भला, जिसके कोटपाल **कालभैरव, लाटभैरव** आदि भूत-प्रेत और गरुड़ आदि [गण हैं, उन] गणों ने मुसलमानों को लड़के क्यों न हटाया?[३] जब महादेव और विष्णु की पुराणों में कथा है कि अनेक **त्रिपुरासुर** आदि बड़े भयंकर दुष्टों को भस्म कर दिया, तो मुसलमानों को भस्म क्यों न किया? इससे यह सिद्ध होता है कि वे बेचारे पाषाण क्या लड़ते-लड़ाते? जब मुसलमान मन्दिर और मूर्त्तियों को तोड़ते-फोड़ते हुए काशी के पास आये, तब पुजारियों ने उस पाषाण के लिङ्ग को कूप में डाल [दिया][४] और वेणीमाधव को ब्राह्मण के घर में छिपा दिया। जब काशी में कालभैरव के डर के मारे यमदूत नहीं जाते, प्रलय में भी काशी का नाश होने नहीं देते, तो म्लेच्छों के दूतों को क्यों न डराया?[५] और अपने राजा के मन्दिर का क्यों नाश होने दिया? यह सब पोपलीला है।[६]

प्रश्न—**गया**[७] में श्राद्ध करने से पितरों के[८] पाप छूटकर वहाँ के श्राद्ध के पुण्यप्रभाव से पितर स्वर्ग में जाते और पितर अपना हाथ निकालकर पिण्ड लेते हैं, क्या यह भी बात झूठ है?

उत्तर—सर्वथा झूठ। जो वहां पिण्ड देने का यही[९] प्रभाव है, तो जिन पण्डों[१०] को पितरों के सुख

---

१. **त्रुटित प्रश्न**—दूध की धारा-सम्बन्धी इस उत्तर को पढ़कर यह संकेत मिलता है कि प्रश्न के रूप में इस विषयक जो जिज्ञासा ग्रन्थकार प्रस्तुत करना चाहता था, वह प्रश्न लिपिकर से त्रुटित रह गया है। बनारस में कुछ मन्दिरों में दूध भी चढ़ाया जाता है। ज्ञात होता है कि यह प्रश्न उन्हीं मन्दिरों में प्रचारित अन्धविश्वास के सम्बन्ध में था।

२. **ऋषिहस्तलेख**—''**क्या यह भी चमत्कार नहीं है**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३. **अपवाक्य एवं अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में रचनात्मक दृष्टि से यह अपवाक्य है। मूलप्रति में है—''**जिसके कोटपाल-----गणों ने---- लड़के क्यों न हठाये।**'' दोनों हस्त० व द्विप्र० में ''**हठाये**'' क्रिया है। प्रस्तुत सं० में परिवर्धित पदों ''**गण हैं, उन**' के द्वारा यह शुद्धवाक्य बनाया है। ''**हटाये**'' के स्थान पर '**हटाया**' क्रिया चाहिए। मूलसं० ने यहां ''**हठाये**'' क्रिया का संशोधन नहीं किया है जबकि द्वि०सं० में ''**हटाये**'' संशोधन किया गया है। युमी, 'उदयपुर' सं० में ''**हठाये**'' भी हठपूर्वक विराजमान है। वेस, जग, भद में संशोधित है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में यहां '**दिया**' क्रिया अपेक्षित है। तभी उपयुक्त वाक्य बनता है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**तो म्लेच्छों के दूत क्यों न डराये?**'' हिन्दी व्याकरण के अनुसार यहां ''**म्लेच्छों के दूतों को क्यों न डराया**'' वाक्य-रचना वांछित है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अपरचनात्मक वाक्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० के पाठ ''**पोपलीला है**'' के स्थान पर ''**पोपमाया है**'' पाठ मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में बदला गया है, जो व्यर्थ परिवर्धन है। यहां ''पोपलीला'' ही सटीक प्रयोग है।

७. **गया**—वर्तमान बिहार में स्थित '**गया**' नामक नगर तीर्थ स्थान है। पौराणिक यहां श्राद्ध करने में सर्वाधिक पुण्य-प्राप्ति होना मानते हैं। इन्होंने इसी प्रकार अन्य नगरों को पाखण्डों से सम्बद्ध करके अपनी जीविका का साधन बना रखा है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पितरों का पाप**'' पाठ के स्थान पर ''**पितरों के पाप**'' पाठ शुद्ध है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**वही**'' के स्थान पर '**यही**' पद अपेक्षित है। प्रश्न और उसमें पठित '**यह**' पद के सम्बन्ध से '**यही**' शुद्ध होगा।

१०. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपप्रयोग**—मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से ''**पण्डों**'' के स्थान पर ''**पिण्डों**'' लिखा है। यही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में तथा 'उदयपुर' सं० आदि सभी में संशोधित है।

के लिये लाखों रुपये देते हैं, उनका व्यय गयावाले [पण्डे] वेश्यागमनादि पापों[१] में करते हैं, वह पाप क्यों नहीं छूटता? और हाथ निकलता आजकल कहीं नहीं दीखता, विना पण्डों के हाथों के। यहाँ यह कि कभी किसी धूर्त्त ने पृथिवी में गुफा (गड्ढा) खोद उसमें एक मनुष्य बैठाकर उसके मुख पर कुश बिछा, पिण्ड दिया होगा। उस कपटी मनुष्य[२] ने उठा लिया होगा। किसी '**आँख के अन्धे गाँठ के पूरे**' को इस प्रकार ठगा हो तो आश्चर्य नहीं। वैसे ही '**वैजनाथ**'[३] को रावण लाया था, यह भी मिथ्या बात है।

प्रश्न—देखो, **कलकत्ते** की '**काली**' और '**कामाक्षा**'[४] आदि देवियों[५] को लाखों मनुष्य मानते हैं, क्या यह चमत्कार नहीं है?

उत्तर—कुछ भी नहीं। ये अन्धे लोग भेड़ के तुल्य 'एक के पीछे दूसरे' चलते हैं, कूप-खाड़े में गिरते हैं, हट[६] नहीं सकते; वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्त्तिपूजा रूप गढ़े में फसकर दुःख पाते हैं।

प्रश्न—भला, यह तो जाने दो, परन्तु '**जगन्नाथ**'[७] में प्रत्यक्ष चमत्कार है। प्रत्येक[८] कलेवर बदलने के समय चन्दन का लकड़ा समुद्र में से स्वयमेव आता है। चूल्हे पर ऊपर-ऊपर सात हंडे धरने से ऊपर-ऊपर के पहले-पहले पकते हैं। जो कोई वहाँ जगन्नाथ की प्रसादी[९] न खावे तो कुष्ठी हो जाता है और रथ आप से आप चलता है, पापी को दर्शन नहीं होता। '**इन्द्रदमन**' के राज्य में देवताओं ने मन्दिर बनाया है। कलेवर बदलने के समय[१०] एक राजा, एक पण्डा, एक बढ़ई [का] मर जाना आदि चमत्कारों[११] को तुम झूठ न कर सकोगे।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पूर्व पठित "**आदि**" पद के सम्बन्ध से "**पापों**" बहुवचन अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० में अपप्रयोग है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उस मनुष्य**" के स्थान पर "**उस कपटी मनुष्य**" पाठ बदला है, जो ग्राह्य है।

३. **बैजनाथ**—द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक, पृ० ६०१ पर। **ऋषि-हस्तलेख**—"**वैसे.....बात है**" मूलह० में है।

४. **कामाख्या**—ब्रह्मपुत्रा नदी की नीलाचल पहाड़ी पर इस देवी का मन्दिर स्थित है। यह गोहाटी (असम प्रान्त की राजधानी) से दो मील दूर है। जैसे कलकत्ता (पं० बंगाल) का काली मन्दिर पशु आदि बलि प्रथा के लिए कुख्यात रहा है, ऐसे ही कामाख्या मन्दिर भी है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आदि**" प्रयोग के सम्बन्ध से "**देवियों**" प्रयोग वांछित है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अपप्रयोग है।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—ग्रन्थ की भाषा में अव्यवस्था देखिये कि एक संस्करण में '**हठ**' प्रयोग जहां है वहां दूसरे सं० में '**हट**' है। दूसरे में जहां '**हठ**' प्रयोग है वहां पहले सं० में "**हट**" अपवर्तनी है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां "**हठ**" वर्तनी है किन्तु मूलप्रति सं० में "**हट**" संशोधित है। द्वि०सं० में पूर्व कई स्थानों पर संशोधित कर दिया है किन्तु यहां "**हठ**" ही मिलता है। यहां "**हट**" ग्राह्य है। हिन्दी में "**हट**" वर्तनी ही शुद्ध है। द्र०पृ० ९०३ पर टिप्पणी।

७. **जगन्नाथ**—उड़ीसा प्रदेश में समुद्र तट पर स्थित 'पुरी' नामक नगरी में जगन्नाथ का तीर्थ है, जिसका पूरा नाम '**जगन्नाथ पुरी**' है। देखिये, पृ० ५९९ पर टिप्पणी संख्या २ भी।

८. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और सभी सं० में यहां "**एक**" प्रयोग है। अर्थ की दृष्टि से यहां '**प्रत्येक**' अभीष्ट है क्योंकि "**एक कलेवर**" निरर्थक प्रयोग है, जबकि "**प्रत्येक कलेवर**" के समय का चमत्कार यहां वर्णित है।

९,११. **अपवर्तनी एवं अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**परसादी**" अपवर्तनी है। इसका शुद्ध प्रयोग पृ० ६५४ पर समु० ११ में द्रष्टव्य है, और यह अपवाक्य है—"**बढ़ई मर जाने आदि चमत्कारों को**"। इसका उपर्युक्त संशोधन अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० में दोनों अशुद्धियां हैं।

उत्तर—जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी, वह विरक्त होकर मथुरा में आया था। मुझसे मिला था। मैंने इन बातों का उत्तर पूछा था। उन्होंने ये सब बातें[१] झूठ बतलाईं। किन्तु विचार से निश्चय यह है कि जब कलेवर बदलने का समय आता है, तब नौका में चन्दन की लकड़ी ले समुद्र में डालते हैं। वह समुद्र की लहरियों से किनारे लग जाती है। उसको ले सुतार[२] लोग मूर्त्तियाँ बनाते हैं। जब रसोई बनती है, तब किवाड़ी[३] बंद[४] करके, विना रसोइयों के अन्य किसी को न जाने, न देखने देते हैं। भूमि पर चारों ओर छः और बीच में एक, चक्राकार चूल्हे बनाते हैं। उन हंडों के नीचे घी, मिट्टी और राख लगा, छः चूल्हों पर चावल चुड़ा (=पका), उनके तले माँज कर, उस बीच के हंडे में उसी समय चावल डाल, छः चूल्हों के मुख लोहे के तवों से बंध[५] कर, दर्शन करनेवालों को जो कि धनाढ्य हों, बुलाके दिखलाते हैं। ऊपर-ऊपर के हंडों से चावल निकाल, चुड़े हुए चावलों को दिखला, नीचे के कच्चे चावल निकाल, दिखाके, उनसे कहते हैं कि "कुछ हंडे के लिये धरो।" "**आँख के अन्धे गाँठ के पूरे**" रुपये-अशर्फी[६] धरते और कोई-कोई मासिक भी बांध देते हैं।

शूद्र और नीच लोग[७] मन्दिर में नैवेद्य लाते हैं। जब नैवेद्य हो चुकता है तब वे शूद्र और नीच लोग जूठा कर देते हैं। पश्चात् जो कोई रुपया देकर हंडा लेवे, उसके घर पहुँचाते। और गरीब गृहस्थ और साधु-सन्तों से लेके[८] शूद्र और अन्त्यज पर्यन्त एक पंक्ति में बैठ, जूठा[९] भोजन करते हैं। जब वह पंक्ति

---

१०. **ऋषिहस्तलेख**—"**बनाया है.....मर जाना**" पाठ मूलह० तथा मुद्रणप्रति में ऋषि ने परिवर्धित किया है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में "**ये सब बात**" अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**ये सब बातें**" शुद्ध है।

२. **सुतार**=बढ़ई, कारीगर जन, जो लकड़ी का काम करते हैं।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**किवाड़ी**" पद के स्थान पर द्वि० सं० में "**कपाट**" पद रखकर उचित संशोधन किया है। '**किवाड़ी**' यहां सटीक प्रयोग नहीं है।

४-५. **लिपिकरों द्वारा अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां दोनों स्थलों पर "**बन्ध**" वर्तनी है, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में पहले स्थान पर संशोधित "**बन्द**" है, जबकि दूसरे स्थान पर "**बन्ध**" है। हिन्दी में '**बन्ध**' मोक्ष के विलोम अर्थ में रूढ़ हो चुका है। अतः इस अर्थ में '**बंद**' प्रचलित है। ग्रन्थ में अनेकत्र कई शब्दरूपों में इस वर्तनी का प्रयोग मिलता है।

६. **अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्त० में "**असर्फी**" अपवर्तनी है। 'उदयपुर' सं० तथा अन्य सभी में संशोधित है।

७. **शूद्र और नीच लोग**—चांडाल आदि छोटी जातियों के वे लोग जिन्हें जन्मना जातिवादी समाज उस समय 'नीच जाति' अर्थात् 'नीची जाति' का कहा करता था, महर्षि के मतानुसार, ये शूद्रों से भिन्न हैं, अतः पृथक् गिने हैं। देखिए आगे तीसरी पंक्ति में 'नीच' के स्थान पर अन्त्यज प्रयोग स्वयं किया है—"**शूद्र और अन्त्यज पर्यन्त**" नीच प्रयोग महर्षि का अपना नहीं, अपितु तत्कालीन प्रचलन के अनुसार समझाने के लिए किया है। जैसे डॉ० भीमराव अम्बेडकर किसी को भी अस्पृश्य नहीं मानते थे फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रचलित प्रयोगों के अनुसार '**अस्पृश्य जातियां**', '**अस्पृश्य जातियों की समस्याएं**' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसे ही ग्रन्थकार के जातिवाचक शब्द प्रचलन के आधार पर समझाने के लिए प्रयुक्त हैं।

आवश्यक पद—दोनों सं० में इस पंक्ति में '**शूद्र नीच लोग**' प्रयोग है। यहां "**शूद्र**" के बाद अल्पविराम अथवा "**और**" पद का प्रयोग वांछनीय है, क्योंकि ये दो वर्ग हैं। इसकी पुष्टि के लिए देखिये तीसरी पंक्ति में ग्रन्थकार ने स्वयं "**शूद्र और अन्त्यज**" प्रयोग किया है। दूसरी बात यह भी है कि "**नीच**" पद शूद्र के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषण, विशेष्य शब्द के पूर्व आता है, पश्चात् नहीं। महर्षि ने अन्यत्र शूद्र को नीच कहने का निषेध किया है (द्र० पृ० २२२)। अतः इस पंक्ति में दोनों स्थानों पर '**और**' पद का प्रयोग अर्थस्पष्टता के लिए अत्यावश्यक है।

८. **अपप्रयोग एवं अपवर्तनी**—दोनों सं० में यहां यह अपप्रयोग है—"**साधु-सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यज पर्यन्त**"। यहां 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध है। '**साधु-सन्तों से**' प्रयोग शुद्ध है। दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**साधू**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में शुद्ध कर दी है।

९-११. **अपप्रयोग**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में उच्छिष्ट के लिए '**झूठा**' पद का प्रयोग है जबकि अन्यत्र '**जूठा**' '**जूठ**'

उठती है, तब उन्हीं पत्तलों पर दूसरों को बैठाते जाते हैं। महा-अनाचार है। और बहुत से मनुष्य वहां जाकर उनका जूठा[१०] न खाके, अपने हाथ से बना, खाकर चले आते हैं। बहुत से प्रसादी[११] नहीं खाते, उनको कुछ भी कुष्ठादि रोग नहीं होते। और उस जगन्नाथपुरी में भी बहुत-से कुष्ठी हैं, नित्यप्रति जूठ खाने से भी उनका रोग नहीं छूटता।

और यह जगन्नाथ में वाममार्गियों ने '**भैरवीचक्र**' बनाया है; क्योंकि **सुभद्रा** श्रीकृष्ण और बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान पर बैठाया है।[१] जो '**भैरवीचक्र**' न होता तो यह बात कभी न होती।[२]

और रथ के पहियों के साथ '**कला**' बनाई है। जब उसको[३] सूधी घुमाते हैं वह सूधी घूमती है, तब रथ चलता है। जब मेले के बीच में पहुंचता है तभी उसकी कील को उलटी घुमा देने से रथ खड़ा रह जाता है। पुजारी लोग पुकारते हैं—''दान दो, पुण्य करो, जिससे जगन्नाथ प्रसन्न होकर रथ चलावें, अपना धर्म रहै।'' जब तक[४] भेंट आती-जाती है तब तक ऐसे ही पुकारते जाते हैं। जब आ चुकती है, तब एक व्रजवासी अच्छे कपड़े, दुशाला[५] ओढ़कर, आगे खड़ा रहके, हाथ जोड़ स्तुति करता है कि ''हे जगन्नाथ स्वामिन्! आप कृपा करके रथ को चलाइये, हमारा धर्म रक्खो'' इत्यादि बोलके साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर रथ पर चढ़ता है। उसी समय कील को सूधी घुमा देते हैं और 'जय-जय' शब्द बोल, सहस्त्रों मनुष्य रस्सा खींचते हैं, रथ चलता है।

जब बहुत-से लोग दर्शन को जाते हैं, तब इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता और दीप जलाना पड़ता है। उन मूर्त्तियों के आगे, खींचकर लगाने के परदे,[६] दोनों ओर रहते हैं। पण्डे-

---

'**जूठन**' प्रयोग मिलते हैं (पृ० ६७४, ६७५)। '**झूंठा या झूठा**' असत्यवादी के लिए रूढ़ है, (द्र०पृ० ५४४, ५५४ आदि) अतः इस अनुच्छेद के चारों स्थलों पर '**जूठा**' प्रयोग ही उचित है। इसी से 'जूठन' प्रयोग बना है। ''**परसादी**'' अपवर्तनी है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध वर्तनी द्रष्टव्य है समु० ११ में पृ० ६५४ पर।

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**उसी को दोनों भाइयों के बीच में स्त्री और माता के स्थान बैठाई है।**'' 'उदयपुर' सं० सहित वेस, जग, भद, युमी, विस सभी सं० में अशुद्ध है।

२. **जगन्नाथपुरी का मन्दिर वाममार्गी शैली का है**—पुरी का जगन्नाथ मन्दिर वाममार्गियों का मन्दिर है। उसकी दीवारों में चारों ओर नग्न और अश्लील मुद्राओं में मूर्तियाँ स्थापित हैं। यह सब '**भैरवीचक्र**' का स्पष्ट प्रमाण है।

श्रीकृष्ण और बलदेव=बलराम के मध्य में उनकी बहन सुभद्रा की मूर्ति स्थापित करना भी भारतीय सभ्यता-संस्कृति के विरुद्ध है। सभ्यता के अनुसार वामभाग में पत्नी बैठती है तथा अन्य स्त्रियां दक्षिण में बैठती हैं। दोनों भाइयों के मध्य में, जिसके वामभाग में सुभद्रा की मूर्ति स्थित है, वह पत्नी-स्थानीय स्त्री कहायेगी। यह शिष्टाचार के विरुद्ध है। 'भैरवीचक्र' में वाममार्गी सभी मर्यादाओं को तिलांजलि दे देते हैं। द्रष्टव्य है पृष्ठ ५३४ पर ग्रन्थकार द्वारा वर्णित उनकी भ्रष्ट लीला का विवरण।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां आगे एकवचनात्मक प्रयोग हैं। उनके सम्बन्ध से यहां भी '**उसको**' प्रयोग शुद्ध माना जायेगा। सभी सं० में अशुद्ध है।

४. **मुद्रणलिपिकर के महाप्रमाद का उदाहरण**—प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर यहां तक प्रतिलिपि करने के बाद **मूलहस्तलेख के दो पन्ने पलट गया जिससे मूलह० का ४४४ (४५१) पृष्ठ पूरा अर्थात् ''भेंट आती.....जिन शिल्पियों ने'' (पृ० ६००) तक पूरा पाठ छूट गया।** उसने अग्रिम ४४५ (४५२) पृष्ठ सारा अर्थात् ''**मन्दिर बनाया.....उस लिंग वा मन्दिर**'' (पृ० ६००-६०१) तक पाठ लिख डाला। तब उसे गलती का आभास हुआ। फिर उसने दूसरे पन्ने का लेख काटकर फिर से ४४४ (४५१) पृष्ठ लिखा। यह कटिंग मुद्रणहस्त में आज भी विद्यमान है। मुद्रण-लिपिकर ने ऐसे ही सैकड़ों पाठ त्रुटित छोड़े हैं।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**दुसाला**'' अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' में भी अशुद्ध है।

६,७,९. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, अन्य स्थानों के समान यहां भी इस शब्द की वर्तनी अव्यवस्थित है।

पुजारी भीतर खड़े रहते हैं। जब बगलवाले ने परदे[७] को खींचा, झट मूर्त्ति आड़ में आ जाती है। तब सब पण्डे और पुजारी पुकारते हैं कि ''तुम भेंट धरो, तुम्हारे पाप छूट जायेंगे, तब दर्शन होगा। शीघ्र करो।'' वे बेचारे भोले मनुष्य धूर्त्तों के हाथों लुट जाते हैं।[८] और दूसरा झट परदा[१] खींच लेता है,[१] तभी दर्शन होता है। तब 'जय' शब्द बोल के, प्रसन्न होकर, धक्के खाके, तिरस्कृत हो, चले आते हैं।

इन्द्रदमन वही है कि जिसके कुल के[२] अब तक **'कलकत्ता'** में हैं। वह धनाढ्य राजा [था] और देवी का उपासक था। उसने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर बनवाया था। इसलिये कि आर्यावर्त के भोजन का बखेड़ा[३] इस रीति से छुड़ावें। परन्तु वे मूर्ख कब छोड़ते हैं? **'देव' मानो तो उन्हीं कारीगरों को मानो कि जिन शिल्पियों ने मन्दिर बनाया।**

राजा, पण्डा और बढ़ई उस समय नहीं मरते, परन्तु वे तीनों वहां प्रधान रहते हैं। छोटों को दुःख देते होंगे। उसी समय अर्थात् कलेवर बदलने के समय वे तीनों उपस्थित रहते हैं। मूर्त्ति का हृदय पोला रक्खा है। उसमें सोने के सम्पुट में एक **सालगराम**[४] रखते हैं कि जिसको प्रतिदिन धोके चरणामृत बनाते हैं, उस पर रात्रि की शयन आर्ती (आरती)[५] में उन्होंने सम्मति करके[६] विषयुक्त तेजाब[७] लपेट दिया होगा। उसको धोके उन्हीं तीनों को पिलाया होगा कि जिससे वे कभी मर गये होंगे। मरे इस प्रकार होंगे और भोजनभट्टों ने प्रसिद्ध किया होगा कि जगन्नाथ जी अपना शरीर बदलने के समय[८] तीनों भक्तों

इस शब्द का प्रयोग यहां तीन बार किया है। और लिपिकर की अयोग्यता देखिये कि एक ही वाक्य और अनुच्छेद में दो वर्तनियां प्रयुक्त हैं—''**पड़दे, पर्दे, पर्दा**''। मानकता, भाषात्मक व्यवस्था और एकरूपता के लिए ''**परदे, परदा**'' वर्तनी ग्राह्य है। दोनों हस्त० और द्विप्र० में एक तीसरी वर्तनी ''**पद्र्दे**'' भी है। द्वि०सं० में एक वाक्य में दो वर्तनियां हैं—''**पड़दे खैंचकर लगाने के पर्दे**'', यह वाक्य भी अशुद्ध है। लिपिकर-शोधक तो जैसे थे हमने देख लिये किन्तु अपने विद्वान् सम्पादकों को क्या कहें? '**उदयपुर सं०**' में **यहां तीन स्थलों पर तीन भिन्न-भिन्न वर्तनियां है।** क्या इसी का नाम मानक संस्करण हैं?

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**धूर्तों के हाथ लूटे जाते हैं**'' अपवाक्य है। सभी सं० में अपवाक्य है।

१. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में इस वाक्य का बहुवचन प्रयोग अपक्रम में बनाया है, जो अपशोधन है—''**झट पर्दा दूसरा खैंच लेते हैं।**'' पहले परदेवाले वाक्य के सम्बन्ध से यहां एकवचनात्मक वाक्य इस क्रम से अपेक्षित है—''**दूसरा झट, परदा खींच लेता है।**''

२. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**जिसके कुल में अब तक**'' अपप्रयोग है, यहां ''**कुल के**'' शुद्ध है। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध पाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—''**या था इसलिये.....बखेड़ा**'' मुद्रणप्रति में त्रुटित पाठ पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

४. **सालगराम**—नदी में पाये जानेवाले गोलाकार अनगढ़ पत्थर जिनमें पौराणिक लोग विष्णु की मूर्ति की मिथ्या कल्पना कर लेते हैं। विष्णु की मूर्ति की मिथ्या कल्पना करके उसकी पूजा मूर्ति के समान ही करते हैं। पौराणिक धारणा के अनुसार '**गंडकी**' नदी के पत्थर सालगराम के लिए ग्राह्य होते हैं।

५. **गुजराती वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों स० में यहां ''**आर्त्ती**'' वर्तनी है। यह गुजराती भाषा की वर्तनी है। गुजराती में '**आर्ती**' लिखा जाता है। यहां हिन्दी वर्तनी '**आरती**' देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि इस वर्तनी का व्यवहार हिन्दी में नहीं है और इसको सुनकर '**पीड़ा**' अर्थबोधक '**आर्ति**' का संदेह होता है।

६. **स्थानभ्रष्ट वाक्यांश के कारण पाठ अस्त-व्यस्त**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उन्होंने सम्मति करके**'' पाठ ''**उसी समय**'' और ''**अर्थात् कलेवर**'' पदों के मध्य अस्थान पर है। इस कारण इसका अपने निकटस्थ वाक्य से आसत्ति-सम्बन्ध नहीं रहा। इस अस्थान में होने के कारण यहां का पाठ भी अस्त-व्यस्त हो गया। यह वाक्यांश ''**शयन आरती में**'' इन पदों के बाद आना चाहिए। तभी उपयुक्त और संगत पाठ बनता है। जैसा कि इस संस्करण में है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी विद्वानों के सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में भी यहां अपपाठ है।

७. **अपप्रयोग**—सभी पाठों में यहां ''**विष का तेजाब**'' प्रयोग है। उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है।

को भी साथ ले गये। ऐसी झूठी बातें पराया धन ठगने के लिये बहुत-सी हुआ करती हैं।

प्रश्न—जो रामेश्वर[१] में गङ्गोत्तरी का जल चढ़ाने के समय लिङ्ग बढ़ जाता है, क्या यह भी बात झूठी है?

उत्तर—झूठी; क्योंकि उस मन्दिर में भी दिन में अन्धेरा रहता है। दीपक रात-दिन जला करता है।[२] जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजुली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब झलकता[३] है, और कुछ भी नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बेचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।[४]

प्रश्न—**रामेश्वर** को रामचन्द्र ने स्थापित किया है।[५] जो मूर्त्तिपूजा वेदविरुद्ध होती तो रामचन्द्र मूर्त्तिस्थापना क्यों करते और वाल्मीकि जी रामायण में क्यों लिखते?

उत्तर—रामचन्द्र के समय में उस लिंग वा मन्दिर का नाम-निशान[६] भी नहीं था; किन्तु यह ठीक है कि दक्षिण देशस्थ 'राम' नामक[७] राजा ने मन्दिर बनवा, लिंग का नाम 'रामेश्वर' धर दिया है। जब रामचन्द्र सीता जी को ले हनुमान् आदि के साथ लंका से विमान पर बैठ, आकाश मार्ग से[८] अयोध्या को आते थे,[९] तब सीता जी से कहा था[१०] कि—

---

८. **अपप्रयोग**—सभी सं० में यहां "**अपने शरीर बदलने के समय**" अपप्रयोग है। '**अपना शरीर**" प्रयोग अपेक्षित है।

१. **रामेश्वर तीर्थ**—तमिलनाडु प्रान्त में रामेश्वर द्वीप में स्थित रामेश्वर नामक मन्दिर एक प्रसिद्ध पौराणिक तीर्थ स्थान है। यह श्रीलंका जाने का मार्ग भी है। दक्षिण के किसी 'राम' नामक राजा ने इसको बनवाया था। इसके निर्माण से वाल्मीकि-वर्णित श्रीराम का कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. **अपपरिवर्तन और अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह० में एकवचनात्मक यह पाठ है—"**दीपक रात-दिन जला करता है।**" किसी शोधक ने मुद्रणह० में काटकर "**जला करते हैं**" अपपाठ बना दिया। उसने देखा ही नहीं कि अग्रिम वाक्य में एकवचन है। उसके सम्बन्ध से इस वाक्य में भी एकवचन शुद्ध है। 'उदयपुर' सं०, द्वि०सं० में अशुद्ध पाठ है, मूलसं० में शुद्ध है। दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**कर्त्ता/ कर्त्ते**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन कर दिया है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधित है।

३. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलसं० में "**चलकना**" प्रयोग है। द्वि०सं० में "**झलकना**" संशोधित है। '**चलकना**' का अर्थ '**चमकना**' होता है जबकि '**झलकना**' का अर्थ 'प्रतिबिम्ब पड़ना'। यहां यही अर्थ अभीष्ट है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**ऐसी लीला.....ठगते हैं**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य है—"**रामेश्वर को.....स्थापन किया है।**" '**स्थापित किया है**' शुद्ध पाठ अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है।

६. **मुद्रणकालीन अप अनुवाद**—'**नाम-निशान होना**' '**नाम-निशान न होना**' ये मुहावरे हैं जिनके शब्द और अर्थ दोनों रूढ़ होते हैं। द्विप्र० के शोधक ने हिन्दीकरण के प्रवाह में यहां हास्यास्पद पाठ बना दिया—"**नाम-चिह्न भी न था**"। यही अपपाठ द्वि०सं० में है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह पाठ ठीक है—"**नाम-निशान भी न था।**" 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है। अनुमान है कि यह अपपाठ पं० ज्वालादत्त ने बनाया है।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**राम राजा**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्वि०सं० में "**राम नामक राजा**" उचित परिवर्धन किया है। इससे अर्थबोध में स्पष्टता रहेगी।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**आकाशमार्ग में**" अपप्रयोग है, "**से**" कारक उपयुक्त है। इसी प्रकार द्वि० सं० में पूर्वप्रयुक्त "**चले**" के स्थान पर मूलप्रति सं० की "**चल**" क्रिया उपयुक्त है।

९. **अस्त-व्यस्त अपपाठ और मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० में यहां यह अस्त-व्यस्त पाठ है—"**हनुमान् आदि के साथ लंका से आकाशमार्ग में, विमान पर बैठ अयोध्या को आते थे।**" यहां एक-दो अशुद्धियां भी हैं—"**आकाशमार्ग में**" अपप्रयोग है और "**विमान पर बैठ**" पाठ क्रमानुसार उससे पहले आना चाहिए। द्विप्र० ने मुद्रणकाल में इसको और अधिक भ्रष्ट कर दिया—"**हनुमान् आदि के साथ लंका से चले**" वाक्य बना दिया। अब इसका हास्यास्पद अर्थ बना—'पहले लंका से चले, फिर विमान पर बैठे और वे भी आकाशमार्ग में बैठे'। यही भ्रष्ट पाठ द्वि०सं०, मूलसं० में छप रहा है।

''अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥'' ''सेतुबन्ध इति ख्यातम्॥''[१]

वाल्मीकि०, लंकाकाण्ड [युद्धकाण्ड, सर्ग १२३। श्लो० २०-२१]

हे सीते! तेरे वियोग से हम व्याकुल होकर घूमते थे और इसी स्थान में चातुर्मास्य[२] किया था और परमेश्वर की उपासना-ध्यान भी करते थे। वही जो सर्वत्र विभु ,व्यापक, महान् देवों का देव 'महादेव' परमात्मा है, उसकी कृपा से हमको सब सामग्री यहाँ प्राप्त हुई। और देख! यह सेतु बाँधकर[३], लंका में जाके, उस रावण को मार, तुझको ले आये। इसके सिवाय वहाँ वाल्मीकि ने अन्य कुछ भी नहीं लिखा।

प्रश्न—**'रंग है कालियाकन्त को। जिसने हुक्का पिलाया सन्त को'**॥ दक्षिण में एक **कालियाकन्त** की मूर्त्ति है। वह अब तक हुक्का पीया[४] करती है। जो मूर्त्तिपूजा झूठी होती तो यह चमत्कार भी झूठा होवे।

उत्तर—झूठा, झूठा, झूठा!![५] यह सब पोपलीला है; क्योंकि उस मूर्त्ति का मुख[६] पोला होगा। उसका छिद्र पृष्ठ में निकालके, भित्ति[७] के पार, दूसरे मकान में नल लगा होगा। जब पुजारी हुक्का भरवा, पेंचवान[८] लगा, मुख में नली जमाके, परदे[९] डाल, निकल आता होगा, तभी पीछेवाला आदमी मुख से खींचता होगा तो इधर हुक्का गड़-गड़ बोलता होगा। दूसरा छिद्र नाक और मुख के साथ लगा होगा। जब पीछे फूकें मार देता होगा तब नाक और मुख के छिद्रों से धुआँ निकलता होगा। उस समय बहुतेरे मूढ़ों को, धनादि पदार्थ को लूटकर धनरहित करते होंगे।[१०]

इस चमत्कारपूर्ण अपपाठ को वेस, जग, भद, युमी, विस ने संशोधित नहीं किया है, केवल स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने संशोधित किया है। 'उदयपुर' का सं० भी आ गया है, उसने भी इस अपपाठ में संशोधन नहीं किया है।

१०. **पुनरुक्त अपपाठ और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां श्लोक से पूर्व **''कहा है कि''** पाठ है। इसके साथ ही श्लोकार्थ से पूर्व पुनः **''कहा था कि''** लिखा गया है। सभी द्वि०सं०, मूलसं० में दूसरे पाठ को हटाकर पहले **''कहा है कि''** को रखा है। यहां पूर्वापर प्रयोगों के सम्बन्ध से **''कहा था कि''** पाठ उपयुक्त है। युमी में यही संशोधन है।

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''शेतुबन्धेति ख्यातम्''** और **''सेतुबन्ध इति विख्यातम्''** अपपाठ हैं। उपर्युक्त रामायण का मूल और सही पाठ है। कोई कुतर्क करे कि ऐसा करने से पाठान्तर होगा, तो उसका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि **''विख्यातम्''** से श्लोक का छन्दोभंग भी हो रहा है। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को छोड़, वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी के संस्करणों में अशुद्ध पाठ है। कथित दश सम्पादकों ने भी **'उदयपुर सं०'** में शुद्ध नहीं किया है।

२-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''चातुर्मास''**, **''हमने बांधकर लंका में आके''**, **''पिया''** अपप्रयोग हैं। क्रमशः ये **'चातुर्मास्य', बांधकर हम लंका में जाके, 'पीया'** शुद्ध हैं। सभी द्वि०सं० और उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ हैं।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणह० में यहां स्त्रीलिंग में **''झूठी, झूठी''** संशोधित अपपाठ है। यह प्रश्न के चमत्कार के सम्बन्ध में दिया गया उत्तर है मूर्तिपूजा के उत्तर में नहीं, अतः पुंल्लिंग-प्रयोग में होना उचित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध पाठ है किन्तु द्विप्र० और द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस आदि में तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध है।

६-७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''वह मूर्ति का मुख''** **''भित्ती''** अपप्रयोग हैं। **'उस मूर्ति का मुख'** और **'भित्ति'** शुद्ध हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी सं० के साथ **'उदयपुर'** सं० में भी अशुद्ध पाठ है।

८. **पेंचवान**=हुक्का पीने की लम्बी लचीली नली जिससे दूर बैठकर धुआं खींचते हैं। प्रायः इसका प्रचलन राज-दरबारों और साहूकारों में हुआ करता था।

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''पड़दे''** अपवर्तनी है, **'परदे'** ग्राह्य है। (द्र० विस्तृत टि० पृ० ६०० पर)

१०. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० यह अपवाक्य है—**''धनादि पदार्थों से लूटकर धनरहित करते होंगे।''** यहां 'पदार्थ लूटकर' पाठ अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी तथा 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है।

प्रश्न—देखो, **डाकोर**[१] जी की मूर्त्ति द्वारिका से भक्त[२] के साथ चली आई। एक सवा रत्ती सोने में कई मन की मूर्त्ति तुल गई। क्या यह भी चमत्कार नहीं?

उत्तर—नहीं; वह भक्त[३] मूर्त्ति को चुरा ले आया होगा।[४] और 'सवा रत्ती के बराबर मूर्त्ति का तुलना', यह किसी भंगड़ आदमी ने गप्प मारा होगा।

प्रश्न—देखो, **सोमनाथ**[५] जी पृथिवी से ऊपर रहते थे और बड़ा चमत्कार था, क्या यह भी मिथ्या बात है?

उत्तर—हाँ, मिथ्या बात है;[६] क्योंकि वह लोहे की पोली मूर्ति थी।[७] ऊपर-नीचे[८] चुम्बक-पाषाण लगा रक्खे थे। उनके आकर्षण से वह मूर्ति अधर खड़ी थी।

जब महमूद-ग़जनवी[९] आकर लड़ा[१०], तब यह चमत्कार हुआ कि उसका मन्दिर तोड़ा गया और पुजारी-भक्तों की दुर्दशा हो गई, और लाखों फ़ौज दश सहस्र फ़ौज से भाग गई। जो पोप-पुजारी पूजा,

---

१. **डाकोर**=गुजरात आदि प्रान्तों में विष्णु को '**ठाकुर**' कहते हैं। यह उसी का अपभ्रंश शब्द है। डाकोर अर्थात् विष्णु की मूर्त्ति।
डाकोर (हीराकोरक) नामक गांव द्वारका के निकट १४-१५ मील पर है। यह आनन्द के पास रतलाम लाइन पर स्टेशन है। इस गांव का भक्त रामदास भगवान् का अनन्य भक्त था। वह प्रति एकादशी भगवान् के दर्शन करने जाता था। जब बूढ़ा हो गया तो जाने में असमर्थ हो गया। भक्तमाल की गपोड़ कथा के अनुसार, नारायण भगवान् ने उसे कहा कि तू मुझे ही अपने गांव ले चल। एक दिन मौका देखकर वह मूर्ति को चुरा ले आया। पुजारियों ने खोज-बीन करके उसको पकड़ा और पीटा। भगवान् ने आकाशवाणी की कि मैं पुजारियों के साथ वापिस नहीं जाऊंगा, इसी के पास रहूंगा। तुम मूर्ति के बदले सोना लेकर चले जाओ। पुजारियों ने उसकी पत्नी की कान की सोने की बाली बदले में मांगी। जब तोलने लगे तो इतनी भारी हो गई थी कि वह पलड़ा उठा ही नहीं। पुजारी उसे छोड़कर चले गये। इस विषय में चमत्कार का यह महागपोड़ा प्रचारित कर रखा है।

२-३. **प्रमादी लिपिकर-शोधक और वर्तनी की अशुद्धि**—लिपिकर-शोधक कितने प्रमादी थे आप कल्पना करें। एक ही स्थान पर यह शब्द दो बार आया है और दोनों बार दो वर्तनियाँ लिखी हैं—"**भगत**" और "**भक्त**" अर्थात् पहली अशुद्ध, दूसरी शुद्ध। वे इसका संशोधन करना ही भूल गये! कुछ पंक्तियों के बाद "**भक्तों**" शुद्ध वर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में भी यह अशुद्धि है। यही अव्यवस्था 'उदयपुर' सं० में विद्यमान है।

४. **अपवाक्य**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वह भक्त मूर्ति को चोर ले आया होगा**" यह किसी ग्राम्य बोली का वाक्य है। हिन्दी-व्याकरण के अनुसार उपर्युक्त "**चुरा ले आया होगा**" प्रयोग उपयुक्त है।

५. **सोमनाथ का मन्दिर**—वर्तमान गुजरात प्रान्त (के प्राचीन काठियावाड़ राज्य सौराष्ट्र) में पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित प्रसिद्ध मन्दिर है। यह वीरावल रेलवे स्टेशन के पास है। महमूद गज़नवी ने इसको लूटा था। इस मन्दिर में अपार सम्पत्ति हीरे-जवाहरात और सोना-चांदी आदि के रूप में थी जिसको गज़नवी सैकड़ों ऊंटों पर लाद कर अपने देश ले गया।

६. **पं० भीमसेन द्वारा त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**हाँ, मिथ्या बात है**" वाक्य से "**बात**" पद मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में त्रुटित है, जो प्रश्नवाक्य की भाषा में पठित "**बात**" पद के सम्बन्ध से रखा जाना उचित है। 'उदयपुर' सं० आदि सभी में पं० भीमसेन की भूल के आधार पर त्रुटित है।

७. **मुद्रणलिपिकर की भूल से पाठत्रुटि**—इस उत्तर वाक्य को लिखते समय मुद्रण लिपिकर "**हाँ मिथ्या है क्योंकि वह लोहे की पोली मूर्ति थी। ऊपर**" मूलह० की एक पंक्ति के पाठ को असावधानी से छोड़ गया। किसी शोधक ने असंगति और पाठ की अपूर्णता देखकर अनुमान से "**हाँ, मिथ्या है**" यह पाठ तो बना दिया किन्तु अगला वाक्य त्रुटित ही रह गया। यहां मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण व सही है। यही त्रुटित पाठ द्वि०सं० में है और यही त्रुटित पाठ 'उदयपुर' सं० में है।

८. **उचित संशोधन**—मूलह० के "**नीचे-ऊपर**" पदों का मुद्रणह०,, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**ऊपर-नीचे**" शोधन सही है।

९. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**महमूद ग़जनी**" अपप्रयोग है। यही अपप्रयोग मूलसं० में है। सभी द्वि०सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में संशोधित है।

१०. **महमूद ग़जनवी**—वर्तमान अफगानिस्तान देश में ग़जनी नामक एक नगर और गरीब राज्य था। वहां का शासक होने के कारण इसको 'ग़जनवी' कहा गया। इतनी दूर देश से आकर और गुजरात आदि प्रान्तों में प्रवेश कर, वह 'सोमनाथ' जैसे विशाल और समृद्ध मन्दिर

पुरश्चरण, स्तुति-प्रार्थना करते थे कि 'हे महादेव! इस म्लेच्छ को तू मार डाल, हमारी रक्षा कर' और जो उनके चेले[१] राजाओं को समझाते थे कि, 'आप निश्चिन्त रहिये। महादेव जी भैरव अथवा वीरभद्र को भेज देंगे। वे सब म्लेच्छों को मार डालेंगे वा अन्धा कर देंगे। अभी हमारा देवता प्रसिद्ध होता है।[२] हनुमान्, दुर्गा और भैरव ने स्वप्न दिया है कि हम सब काम कर देंगे।' बेचारे भोले राजा और क्षत्रिय 'पोपों' के बहकाने से उनके[३] विश्वास में रहे।

कितने ही ज्योतिषी 'पोपों' ने कहा कि अभी तुम्हारी चढ़ाई का मुहूर्त्त नहीं है। एक ने आठवाँ चन्द्रमा बतलाया। दूसरे ने 'योगिनी' सामने दिखलाई, इत्यादि बहकावट में रहे।

जब म्लेच्छों की फौज ने आकर घेर लिया, तब दुर्दशा से भागे। कितने ही पोप-पुजारी और उनके चेले पकड़े गये। पुजारियों ने हाथ जोड़ यह भी कहा कि "**तीन करोड़ रुपये ले लो, मन्दिर और मूर्तियां मत तोड़ो।**" मुसलमानों ने कहा कि "हम 'बुतपरस्त' नहीं किन्तु 'बुतशिकन' [हैं][४] अर्थात् मूर्त्तिपूजक नहीं, किन्तु मूर्त्तिभंजक हैं।" जाके मन्दिर तोड़ दिया। जब ऊपर की छत तूटी, तब चुम्बक-पाषाण पृथक् होने से मूर्त्ति गिर पड़ी।[५] जब मूर्त्ति तोड़ी, सुनते हैं कि तब **अठारह करोड़ के रत्न निकले।** जब पुजारियों और पोपों पर कोड़े पड़े,[६] तब रोने लगे। उनसे कहा कि कोष बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूट-मार कर, कूट [-पीट] कर पोपों और पोपों के चेलों को

को सन् १०२४ ईसवी में लूट ले गया, यह तत्कालीन भारतीयों की कायरता और अन्धविश्वास की घटना है। यह एक उदाहरण है कि अन्धविश्वास किसी देशवासियों को बुद्धिहीन और कायर बनाकर कैसे लुटवा देता है। इस अवसर पर पचास हजार हिन्दू कत्ल किये थे। लूट का माल सैकड़ों ऊंटों आदि पर लेकर जाते हुए रास्ते में जाटों ने इसको रोकने का प्रयास किया। वह परेशान तो बहुत हुआ किन्तु विशाल सेना होने के कारण जाट इसको पराजित नहीं कर पाये। १०२६ ई० में लूट का माल गजनी में रखकर १०२७ ई० में यह फिर वापस लौटा और जाटों पर आक्रमण किया। १०३० में इसकी मृत्यु हुई।

१. **अपपाठ**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में "**अपने-चेले**" और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**वे अपने चेले राजाओं को समझाते थे**" पाठ है। इसके स्थान पर "**जो उनके चेले**" पाठ उपयुक्त है। यहां अभिप्राय है कि "**जो पोपों के चेले थे वे राजाओं को समझाते थे।**" 'उदयपुर' सं० में तथा अन्य सभी वेस, जग, भद, युमी, विस में अपपाठ है।

२. **प्रसिद्ध होता है**—प्रकट होता है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अस्पष्ट वाक्य है—"**वे बिचारे भोले राजा और क्षत्रिय पोपों के बहकाने से विश्वास में रहे।**" यहां उपर्युक्त संशोधित वाक्य उपयुक्त है। सभी सं० में अपवाक्य है।

४. **अव्यवस्थित वर्तनी**—लिपिकरों की अयोग्यता देखिये कि यहां दो शब्द एक साथ प्रयुक्त हैं प्रथम में हलन्त "**बुत्**" अशुद्ध वर्तनी है और दूसरे में "**बुत**" शुद्ध। दूसरे स्थान पर फारसी के "**बुत्शिकन**" में "**न**" हलन्त अशुद्ध किया हुआ है। अब, ऐसे लिपिकरों पर क्या टिप्पणी की जाये? क्रोध भी आता है और हंसी भी। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि अयोग्य लिपिकरों के कारण '**सत्यार्थप्रकाश**' की भाषा अव्यवस्थित हो गई। उसका दुष्परिणाम यह निकला कि हम आर्यों ने उस अव्यवस्था और विकृति को ऋषि दयानन्दकृत मान लिया है! इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश की अव्यवस्थित भाषा के लिए लिपिकर और दुराग्रही लोग दोनों ही दोषी हैं। लिपिकरों-शोधकों ने तो जो करना था कर दिया, अब हमारे सम्पादक क्या कर रहे हैं? प्राय: सभी सं० में भाषा की यही अव्यवस्था और दुरवस्था है। विद्वानों ने 'उदयपुर' सं० में "**बुत्परस्त**", "**बुत्शिकन्**" अशुद्ध वर्तनियां दी है। ये न फारसी की हैं, न हिन्दी की। और यदि अशुद्ध को स्वीकार करना था तो अन्य संशोधनों में श्रम क्यों किया?

५. **ऋषिहस्तलेख**—"**जब ऊपर की.....गिर पड़ी**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में "**तूटी**" क्रियावर्तनी है जिसे द्विप्र०, द्वि०सं० में "**टूटी**" बना दिया है। यह 'त्रुटित' का अपभ्रंश है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े**" अपपाठ है, "**पुजारियों और पोपों पर कोड़े पड़े**" बहुवचनात्मक वाक्य अपेक्षित है। अन्य सभी वेस, जग, भद, युमी, विस सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अपपाठ है।

'गुलाम, बेगारी[१]' बना, पिसना पिसवाया,[२] घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया और चने खाने को दिये।[३]

हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? क्यों परमेश्वर की भक्ति न की, जो 'म्लेच्छों के दाँत तोड़ डालते' और अपना विजय करते। देखो, जितनी मूर्तियाँ हैं, उतने शूरवीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती! पुजारियों ने इतनी भक्ति इन पाषाणों की की, परन्तु एक भी 'मूर्ति उन [म्लेच्छों] के शिर पर उड़के न लगी।'[४] जो किसी एक शूरवीर पुरुष की भी मूर्त्ति के सदृश सेवा करते, तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।

प्रश्न—द्वारिका जी के '**रणछोड़ जी**' कि जिसने 'नर्सी महिता'[५] के पास हुण्डी भेज दी और उसका ऋण चुका दिया, इत्यादि बातें[६] भी क्या झूठ हैं?

उत्तर—किसी साहूकार ने रुपये दे दिये होंगे। किसी ने झूठा नाम उड़ा दिया होगा कि श्रीकृष्ण ने भेजे [हैं][७]।

जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों की मार से,[८] मन्दिर और मूर्त्तियां अंगरेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्त्तियां[९] कहाँ गई थीं? प्रत्युत बाघेर लोगों ने कितनी वीरता[१०] की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु 'मूर्त्ति मक्खी की एक टाँग भी न तोड़ सकी।' **जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके 'धुर्रे उड़ा देता' और ये भागते फिरते।** भला, यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाय, उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें?[११]

१-२. **उचित संशोधन और अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० के पाठ ''**वे ले लिवा, लूट-मार कर पोप और पोप के चेलों को गुलाम बिगारी बना पिसना पिसवाया।**'' इस वाक्य को मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त रूप में संशोधित किया है जो उचित है, किन्तु दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**बिगारी**'' अपवर्तनी है। यही अपपाठ सभी सं० में है, 'उदयपुर' सं० में भी है। **बेगारी**=वे व्यक्ति जिनसे बिना पैसा-पारिश्रमिक दिये काम लिया जाता है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चना खाने को दिये**'' अपवाक्य है। यहां बहुवचनात्मक ''**चने खाने को दिये**'' अपेक्षित है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अपवाक्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में बृहत् कोष्ठक में दिया '**म्लेच्छों**' पद परिवर्धित करना आवश्यक है। उसके बिना ''**मूर्ति शिर पर उड़के न लगी**'' पदों की संगति पुजारियों के साथ लग जाने से अभीष्ट अर्थ प्रकट नहीं हो रहा है।

५. **रणछोड़ जी और नर्सी महिता**—यह गप्प-कथा भक्तमाल में (पृ० ६७९-६९० पर) लिखी है। '**रणछोड़ जी**' अर्थात् श्रीकृष्ण का मन्दिर द्वारिका में है। यह १८० फुट ऊंचा था जिसे सन् १४५९ में महमूद बेगड़ा ने तुड़वाकर आधे में मस्जिद बनवादी थी। इसकी यात्रा करनेवाले कुछ सन्तों को काम के लिए जूनागढ़ के सेठ नर्सी मेहता ने हुण्डी लिखकर दी थी। गप्प है कि द्वारिका में पहुंचते ही श्रीकृष्ण ने सेठ का रूप धरकर उस हुण्डी के पैसे साधुओं को दे दिये। 'पोप' अनपढ़ों को ऐसे बहकाते थे।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**इत्यादि बात**'' अपप्रयोग है, इत्यादि के साथ ''**बातें**'' बहुवचन अपेक्षित है। सभी द्वि०सं० तथा 'उदयपुर सं०' में अशुद्ध है।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां वाक्यपूर्ति के लिए '**हैं**' क्रिया आवश्यक है।

८-१०. **अपप्रयोग**—क्रमशः, दोनों सं० में यहां ''**तोपों के मारे**'' के स्थान पर ''**तोपों की मार से**'' उपयुक्त प्रयोग है। दोनों सं० में ''**मूर्त्ति**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, इस वाक्य में पूर्व प्रयुक्त ''**मूर्तियां**'' पद के सम्बन्ध से यहां भी बहुवचनान्त '**मूर्तियां**' पद अभीष्ट है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जितनी वीरता**'' के स्थान पर '**कितनी वीरता**' वांछनीय है, क्योंकि ''**जितनी**'' का आश्रित विशेषण पद आगे कोई नहीं है, अतः अधिकता अर्थ में '**कितनी**' पद उपयुक्त है।

११. **मूर्तियां व मन्दिर तोड़ने की घटना**—अंग्रेजों द्वारा मूर्तियां तोड़ने की यह घटना शहडोल (रीवा) के क्षेत्र की है। वह गांव वर्तमान ''बदिया'' गांव के पास स्थित है। बघेल (= बाघेर) लोगों ने सन् १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में इस स्थान पर अंग्रेजी सेना

प्रश्न—**ज्वालामुखी**[१] तो प्रत्यक्ष देवी है, सबको खा जाती है और प्रसाद देवे तो आधा खा जाती और आधा छोड़ देती है। मुसलमान बादशाहों ने उस पर जल की नहर छुड़वाई और लोहे के तवे जड़वाये थे, तो भी ज्वाला नहीं बुझी, न रुकी। वैसे **हिंगलाज**[२] भी आधी रात को सवारी कर पहाड़ पर दिखाई देती, पहाड़ को गर्जना कराती है। चन्द्रकूप बोलता है और योनियन्त्र से निकलने से पुनर्जन्म नहीं होता। ठूमरा[३] बाँधने से पूरा महापुरुष कहाता [है]।[४] जब तक हिंगलाज न हो आवे, तब तक आधा महापुरुष बजता है; इत्यादि सब बातें क्या मानने योग्य नहीं?

उत्तर—नहीं; क्योंकि वह ज्वालामुखी पहाड़ में से आगी निकलती है। उसमें पुजारियों-पोपों[५] की विचित्र लीला है। जैसे बघार के घी के चमचे में ज्वाला आ जाती, अलग करने से वा फूंक मारने से बुझ जाती, थोड़े-से घी को खा जाती,[६] शेष छोड़ जाती; उसी के समान वहाँ भी है। जैसे[७] चूल्हे की ज्वाला में जो डाला जाय, वह सब भस्म हो जाता है, वैसे जंगल वा घर में [आग][८] लग जाने से सबको खा जाती है। इससे वहाँ क्या विशेष है विना एक मन्दिर, कुण्ड और इधर-उधर नल रचना के? हिंगलाज में न कोई सवारी होती, और जो कुछ होता है वह सब पोप-पुजारियों की लीला से दूसरा कुछ भी नहीं। एक जल और दलदल का कुण्ड बना रक्खा है, जिसके नीचे से बुद्बुदे उठते हैं, उसको [देख][९] सफल यात्रा होना, मूढ़ मानते हैं। योनि का यन्त्र पोप जी ने धन हरने के लिये बनवा रक्खा है और ठुमरे भी उसी प्रकार पोपलीला के हैं। उनसे महापुरुष होता हो, तो एक पशु पर ठुमरों का बोझा लाद दें,[१०] तो क्या महापुरुष हो जायगा? **महापुरुष तो बड़े उत्तम, धर्मयुक्त पुरुषार्थ से होता है।**

से संघर्ष किया था। उसी वीरता का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है।

१. **ज्वालामुखी**—वर्तमान हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में ज्वालामुखी स्टेशन से बीस किलोमीटर दूर स्थित एक मन्दिर है। वहां पहाड़ से निकलने वाली गैस आग के सम्पर्क में आकर कई ज्वालाओं में निरन्तर जलती और बुझती रहती है, प्रकृति का यथार्थ समझ न आने पर अज्ञानी लोगों ने उसे भी '**देवी**' नाम दे दिया है और वहाँ मन्दिर बना दिया। पुराणों के अनुसार ज्वालामुखी देवी सात देवियों में सबसे बड़ी मानी गई है।

२. **हिंगलाज**—दुर्गा देवी की मूर्ति को सिन्ध में हिंगुलाज देवी (संस्कृत-हिंगुलाजा) कहा जाता है। यह हिंगलाज स्थान बलोचिस्तान (पाकिस्तान) में हिंगलाज नदी के तट पर है। कराची से ९० मील पश्चिमोत्तर में स्थित है। यह ५१ शक्तिपीठों में से एक है।

३. **ठूमरा**—गुजरात-महाराष्ट्र के मिलते क्षेत्र में पत्थर के 'मनकों' को, जिनकी माला बनती है, अथवा जिनको बाजू पर मनोकामना पूरी करने के अन्धविश्वास से बांधा जाता है, 'ठूमरा' कहते हैं। आज भी यह अन्धविश्वास अनेक स्थानों पर प्रचलित है। कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ रुद्राक्ष और घुंघची के समान 'एक जंगली फल' करते हैं। पहला अर्थ सही ज्ञात होता है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यपूर्ति के लिए "**है**" क्रिया आवश्यक है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**पुजारियों-पोपों**" के स्थान पर "**पुजारी लोगों**" अपपरिवर्तन है। इसी अनुच्छेद में आगे भी "**पोपों-पुजारियों**" युग्मपद का प्रयोग है। यहां '**पुजारियों-पोपों**' प्रयोग ही अपेक्षित है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं०, सभी अन्य सं० में "**थोड़ा-सा घी को खा जाती।**" अपपाठ है। इस सं० में संशोधित है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जैसी**" अपप्रयोग है, '**जैसे**' वांछनीय है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**आग**' पद त्रुटित रह गया है, जो आवश्यक है। इसके बिना वाक्य में संगति नहीं बनती। इसी प्रकार इस वाक्य के आरम्भ में '**वैसे**' प्रयोग आवश्यक है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां कोष्ठकान्तर्गत '**देख**' क्रिया त्रुटित रह गई है, इसका परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्य में "**उससे**" और "**ठुमरे**" अपप्रयोग हैं। पूर्वापर बहुवचनात्मक भाषा होने

प्रश्न—**अमृतसर**[१] का तालाब अमृतरूप है, एक रीठे का फल आधा मीठा है,[२] एक भित्ति[३] नमती और गिरती नहीं, **रेवालसर**[४] में बेड़े तैरते, **अमरनाथ**[५] में आप से आप लिंग बन जाते, हिमालय से कबूतर के जोड़े आके सबको दर्शन देकर चले जाते; क्या यह भी मानने योग्य नहीं?

उत्तर—नहीं; उस तालाब का नाममात्र **अमृतसर** है। जब कभी जंगल होगा, तब उसका जल अच्छा होगा। इससे उसका नाम अमृतसर धरा होगा। जो अमृत होता तो पुराणियों के मानने के तुल्य कोई क्यों मरता? भित्ति[६] की कुछ बनावट वैसी होगी जिससे नमती होगी और गिरती न होगी।[७] रीठे कलम के पैबन्दी[८] होंगे अथवा गपोड़ा होगा। रेवालसर में बेड़ा तैरने में कुछ कारीगरी होगी।[९] **अमरनाथ** में बर्फ के पहाड़ बनते हैं तो जल जमके छोटे लिंग का बनना कौन-सा आश्चर्य है? और कबूतर के जोड़े पालित होंगे, पहाड़ की आड़ में से पोप जी छोड़ते होंगे; दिखलाकर टका हरते होंगे।

के कारण "**उनसे**" और "**ठुमरों**" प्रयोग अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० में अपप्रयोग ही हैं।

१. **अमृतसर**—इतिहास के अनुसार पंजाब प्रान्त में स्थित यह नगर सन् १५७४ में एक गांव के रूप में बसा था। इसका आरम्भिक नाम '**गुरुचक**' था। गुरु रामदास तथा गुरु अर्जुनदेव जी ने '**अमृतसर**' सरोवर को तीर्थरूप में बनवाया। फिर इसका नाम '**रामदासपुर**' रख दिया। सन् १५८४ में उस तालाब को पक्का कराया गया। यहां का '**हरिमन्दिर**' सन् १५८८ में पहली बार बना। यही स्थान कालान्तर में '**स्वर्णमन्दिर**' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सिक्खों का प्रसिद्ध मन्दिर तथा तीर्थस्थान है। यह व्यास नदी के तट पर स्थित है। यहां हिन्दुओं के कई प्रसिद्ध मन्दिर भी हैं।

२. **श्रवणभ्रान्ति से मुरेठी अपपाठ**—यहां '**मुरेठी**' अपपाठ हो गया है। मुरेठी=मुलहठी के फल नहीं होते अपितु छोटी-छोटी फलियां होती हैं, और उसकी जड़ आदि ही मीठे होते हैं। आगे उत्तर में रीठे का उल्लेख है। उसी के फल होते हैं और कहीं-कहीं वे मीठे भी होते हैं, अत: यहाँ दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**रीठा**' पाठ ही होना चाहिए। प्रतीत होता है कि '**रीठे**' का '**मुरेठी**' श्रवणभ्रान्ति से लिखा गया पाठ है। मूलसं० और द्वि०सं० को छोड़कर प्राय: सभी सम्पादकों ने इस असंगत पाठ का संशोधन कर लिया है। अब 'उदयपुर' सं० प्रकाशित हुआ है। देखा तो उसमें वही, पुराना अपपाठ है। सम्पादक विद्वत् वर्ग ने न तो इसका संशोधन किया, न टिप्पणी देकर यह बताया कि "मुरेठी" और "रीठे" पाठ का प्रश्न-उत्तर के रूप में क्या सम्बन्ध है। पाठकों के लिए असंगति ज्यों-की-त्यों छोड़ दी। जब दश विद्वान् मिलकर भी परस्परविरोधी पाठ का कोई समाधान नहीं दे पाये तो कौन देगा?

३,६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पद की शुद्ध-अशुद्ध रूप में अव्यवस्थित वर्तनियां हैं, जैसे—**भीति** (मूल० सं० ३२०; द्वि० सं० १८४), **भित्ती** (मूल० सं० ३८३,३८५; द्वि० सं० २२१) तथा **भिति**। ग्रन्थ में सर्वत्र शुद्ध वर्तनी "**भित्ति**" ग्राह्य है। 'उदयपुर' सं० सहित सभी सं० में भी यही अव्यवस्था है।

४. **रेवालसर (रेवासर)**—हिमाचल प्रान्त के मण्डी शहर से १५ मील दूर '**रेवालसर**' नामक झील है। यहां महर्षि लोमश और पौराणिकों के कई मन्दिर हैं, उन पर देवमूर्तियां बिठा रखी हैं। पुजारी उन्हें किनारे पर लाकर लोगों को उनके दर्शन कराते और पैसा लेते हैं। वस्तुत: इस प्रकार के स्थानों पर लकड़ी, घास-फूंस के गठ्ठे बनाकर, उनको आपस में जोड़कर बेड़ा बनाते हैं। उन पर मिट्टी डालकर खेत बनाते हैं और उन पर सब्जी आदि उगाते हैं। जिन अशिक्षित लोगों को इस कला का ज्ञान नहीं वे इसको चमत्कार समझकर मूर्ख बनते हैं और ठगे जाते हैं। इस स्थान को महर्षि लोमश की तपस्यास्थली कहा जाता है।

५. **अमरनाथ**—कश्मीर में शेषनाग और पंचतरणी स्थान से कुछ आगे '**अमरनाथ**' है। यहां '**अमरगंगा**' नामक नदी-धारा है। मन्दिर पर्वत पर एक गुफा में है। यह गुफा ६० फुट लम्बी, २५-३० फुट चौड़ी, १५ फुट ऊंची है। इसके ऊपर पर्वत पर श्रीरामकुण्ड है। उसका जल इस गुफा में टपकता रहता है। शीत ऋतु में वह प्राकृतिक रूप से जमते-जमते ऊंचे आकार का हो जाता है। अन्धविश्वासी लोग उसमें लिंग की कल्पना कर उसे शिव=अमरनाथ का प्रतीक मान लेते हैं। इसके अतिरिक्त दो-तीन और हिमखण्ड भी जमते हैं जिन्हें गणेश और पार्वती कल्पित किया जाता है। गरमियों में ये पिघल जाते हैं। यहां वन्य कबूतर आते-जाते रहते हैं। पुजारियों ने उनके साथ भी चमत्कार की अनेक कथाएं जोड़ ली है। इस प्रकार की कल्पनाओं से लोगों को पुजारी बहकाते हैं और वे मूर्खता में ठगे जा रहे हैं। आजकल लाखों अन्धविश्वासी लोग वहां दर्शनार्थ जाते हैं।

७,९. **ऋषिहस्तलेख**—"**जिससे....गिरती होगी**" "**रेवालसर में.....कारीगरी होगी**" दोनों पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

८. **पैबन्दी**—कलम बांधे हुए अर्थात् कलमी।

प्रश्न—'**हरद्वार**'[१] स्वर्ग का द्वार है, '**हर की पौड़ी**'[२] में स्नान करे तो पाप छूट जाते है, '**तपोवन**'[३] में रहने से तपस्वी होता है। **देवप्रयाग**,[४] **गङ्गोत्तरी** में '**गोमुख**'[५], **उत्तरकाशी** में '**गुप्तकाशी**'[६], '**त्रियुगीनारायण**' के दर्शन होते हैं। '**केदार**'[७] और '**बदरीनारायण**'[८] की पूजा छः महीने तक मनुष्य

---

१. **हरद्वार**—वर्तमान उत्तराखण्ड में रुड़की और ऋषिकेश के मध्य स्थित यह नगर अति-प्राचीन अति-प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यह गंगातट पर बसा है। गंगा की एक धारा नगर के साथ से बहती है जहां शिवमन्दिर है। वहां स्नान करने में ही अन्धविश्वासी पापों से मुक्ति समझ बैठते हैं। यहां बारह वर्ष में एक बार 'कुम्भ का मेला' लगता है और छह वर्ष में अर्धकुम्भ।

२. **शुद्ध नाम**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलसं० में, इस प्रकरण के प्रश्न-उत्तर-पाठ में तीनों स्थलों पर ''**पैड़ी**'' के स्थान पर ''**पीढ़ी**'' अपप्रयोग है (''हर की पीढ़ी'', ''हाड़पीढ़ी'')। द्वि०सं० में इसको ''**पैड़ी**'' कर दिया है। भद, युमी, विस, जस में भी यही पाठ है। **स्वामी वेदानन्द जी** ने ''**पैढ़ी**'' अपशब्दरूप बनाया है, जिसका हिन्दी में कहीं प्रचलन नहीं है। **वस्तुतः, यह शुद्ध और ऐतिहासिक नाम ''हर की पौड़ी'' है। यह 'हरद्वार' (हर का द्वार) नाम का ही स्थानीय भाषा में शब्दानुवाद है—हर=शिव की पौड़ी=ड्योढ़ी अर्थात् द्वार। यह शिव के राज्य का प्रवेश द्वार अर्थात् स्थान था। इसी अर्थ में यहां अन्य प्रयोग देखिये—'पौड़ी गढ़वाल' अर्थात् गढ़वाल का प्रवेश द्वार। 'पैड़ी' 'पौड़ी' का अशुद्ध रूप है।**

३. **तपोवन**—उत्तराखण्ड प्रान्त में जोशीमठ से नीतीघाटी की ओर जानेवाले मार्ग पर जोशीमठ से छह मील की दूरी पर '**तपोवन**' नामक तीर्थस्थान है। यहां गर्म जल का कुण्ड है। यह प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीक स्थान है।

४. **देवप्रयाग**—ऋषिकेश से देवप्रयाग-टिहरी मार्ग पर देवप्रयाग ऋषिकेश से ४४ मील दूरी पर है। यहां भागीरथी (गंगोत्तरी से आनेवाली गंगा की धारा) और अलकनन्दा (बदरीनाथ से आनेवाली गंगा की धारा) का संगम है। अनेक मन्दिर हैं।

५. **गंगोत्तरी, गोमुख**—उत्तरकाशी से गंगोत्तरी तीन मील की दूरी पर है। डोडीताल नामक स्थान से जो कि यहां से १८ मील दूर है, निकली '**असिगंगा**' यहां भागीरथी में मिलता है। गंगोत्तरी से १८ मील ऊपर दुर्गम पहाड़ों ओर वनों में '**गोमुख**' नामक स्थान है जहां से हिमानी (=ग्लेशियर) से गंगा की मूल धारा प्रकट होती है।

६. **उत्तरकाशी, गुप्तकाशी**—यमुनोत्तरी से आगे उत्तरकाशी उत्तराखण्ड का एक प्रमुख तीर्थस्थान है। यहां दर्जनों मन्दिर है। यह तीर्थस्थान भागीरथी, असि और वरणा नदियों के मध्य में है। यहां ब्रह्मकुण्ड है। यहां जड़भरत का आश्रम और मन्दिर है।

गुप्तकाशी—रुद्रप्रयाग-केदारनाथ मार्ग पर '**गुप्तकाशी**' नामक तीर्थस्थान है। यहां एक कुण्ड है जिसमें यात्री स्नान करके गुप्तदान करते हैं। इसके पास ही प्रसिद्ध ऊखी मठ है।

त्रियुगीनारायण—रुद्रप्रयाग-केदारनाथ मार्ग पर रामपुर नामक स्थान से साढ़े चार मील की दूरी पर तथा सोमप्रयाग से पहले यह तीर्थस्थान है। यहां एक पर्वतशिखर पर नारायण का मन्दिर है। यहां एक अखण्ड धूनी जलती रहती है। आनेवाले यात्री उसी अग्नि में हवन करते हैं।

७. **केदारनाथ**—ऋषिकेश से जोशीमठ और फिर रुद्रप्रयाग जाकर वहां से अलकनन्दा पार करके गुप्तकाशी होते हुए सोमद्वार (सोमप्रयाग) से केदानाथ जाते हैं। केदारनाथ बारह ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है। यहां यात्रीगण प्राकृतिक रूप से निर्मित एक त्रिकोण पर्वत खण्ड की पूजा करते हैं। कहा जाता है कि यहां रहकर पाण्डवों ने तपस्या की थी, अतः यहां पांचों पांडवों की मूर्त्तियां भी रखी हुई हैं। केदारनाथ में गर्मी के छः मास तक ही पूजा होती है। सर्दी में यह क्षेत्र हिमाच्छादित हो जाता है, अतः यहां आवागमन बंद हो जाता है। तब यहां की प्रमुख मूर्त्ति को नीचे ऊखीमठ में (गुप्तकाशी के पास) ले जाते हैं। तब कहते हैं कि ये छह मास देवताओं की पूजा का समय है। यह स्थान समुद्र से ११७५३ फुट ऊंचा है।

८. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यहां तथा दो पंक्ति आगे ''**बद्री**'' अपवर्तनी है, यह ''**बदरी**'' उपयुक्त वर्तनी है। द्वि० सं० में संशोधित है। अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी यहां दोनों स्थानों पर अशुद्ध वर्तनियां हैं।

बदरीनारायण—ऋषिकेश से जोशीमठ जाकर वहां से १९-२० मील दूरी पर बदरीनाथ या बदरीनारायण की मूर्त्ति है। यहां अलकनन्दा बहती है किन्तु शीतप्रबलता के कारण उसमें स्नान नहीं किया जा सकता, अतः यात्री तप्तकुण्ड में स्नान करते हैं। बदरीनाथ की मूर्त्ति शालग्राम शिला से बनी चतुर्भुज मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति कई बार हटाई और स्थापित की गई। इसकी एक रोचक कथा है। वहां बहुत कम तीर्थ यात्री जाते थे। पुजारी को भोजन भी कठिनता से प्राप्त होता था। एक बार वह क्रोध में आकर इस मूर्त्ति को उठाकर तप्तकुण्ड में फेंककर चला गया। पाठक इसी से मूर्त्तिपूजा की सत्यता की पोल समझ लें। फिर संचालकों ने ढूंढकर इसको पुनः स्थापित किया। सर्दियों में अत्यधिक सर्दी होने के कारण इसे जोशीमठ में नीचे ले आते हैं। तब यह कहते हैं कि अब छह महीने देवताओं की पूजा का समय है। बदरीनाथ समुद्रतल से १०४०० फुट ऊंचा है।

और छः महीने तक देवता करते हैं। महादेव का मुख **नैपाल** में पशुपति;[१] चूतड़ **केदार** और **तुङ्गनाथ**[२] में; जानु और पग अमरनाथ में। इनके दर्शन-पर्शन और [वहां][३] स्नान करने से मुक्ति हो जाती है। वहाँ केदार और बदरी से स्वर्ग जाना चाहे तो जा सकता है, इत्यादि बातें कैसी हैं?

उत्तर—**हरद्वार** उत्तर के पहाड़ों में जाने के एक मार्ग[४] का आरम्भ है। '**हर की पौड़ी**' स्नान के लिये एक कुण्ड की सीढ़ियों को बनाया है। सच पूछो तो '**हाड़पौड़ी**' है, क्योंकि देशदेशान्तरों के मृतकों के हाड़ उसमें पड़ा करते हैं। पाप कभी कहीं नहीं छूट सकते[५] विना भोगे, अथवा नहीं कटते। '**तपोवन**' जब होगा तब होगा, अब तो '**भिक्षुकवन**' है। '**तपोवन**' में जाने, रहने से तप नहीं होता, किन्तु तप तो करने से होता है, क्योंकि वहाँ बहुत-से दुकानदार झूठ बोलनेवाले भी रहते हैं। '**हिमवतः प्रभवति गङ्गा**'=पहाड़ के ऊपर से जल गिरता है। **गोमुख** का आकार पोपलीला से बनाया होगा[६] और वही पहाड़ 'पोप' का स्वर्ग है। वहाँ **उत्तरकाशी** आदि स्थान ध्यानियों के लिये अच्छा है, परन्तु दुकानदारों के लिये वहाँ भी दुकानदारी है। **देवप्रयाग** पुराणों के गपोड़ों की लीला है, अर्थात् जहाँ अलकनन्दा[७] और गङ्गा मिली हैं इसलिये वहाँ देवता वसते हैं, ऐसे गपोड़े न मारें तो वहाँ कौन जाय और टका कौन देवे? **गुप्तकाशी** तो नहीं है, वह तो प्रसिद्ध काशी है। तीन युग की धूनी तो नहीं दिखती परन्तु पोपों की दश-वीस पीढ़ी की होगी, जैसी खाखियों की धूनी और पारसियों[८] की '**अग्यारी**'[९] सदैव जलती रहती है। **तप्तकुण्ड** भी [इस प्रकार बना है कि][१०] पहाड़ों के भीतर ऊष्मा=गर्मी होती है, उसमें तपकर

---

१. **पशुपति**—नेपाल देश की राजधानी काठमांडू में प्रसिद्ध पशुपति मन्दिर है। पुराणों में यह माना जाता है कि शिव के विराट् स्वरूप का मुख यहां पर है।

२. **तुंगनाथ**—पांच केदार तीर्थ माने जाते हैं। उनमें यह तृतीय केदार है। यह ऊखी मठ से कुछ मील दूरी पर है। यह तीर्थ तीन मील लगभग खड़ी चढ़ाई पर है। इसके साथ पातालगंगा नामक धारा बहती है। यह केदारनाथ से दक्षिण की ओर है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**वहां**' पद का परिवर्धन आवश्यक है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जाने का एक मार्ग का आरम्भ है**'' अपवाक्य है। यहां ''**जाने के एक मार्ग का आरम्भ है**'' पाठ अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अपवाक्य है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पाप कभी घट नहीं सकता**'' एकवचनात्मक अपपाठ है। पूर्वापर बहुवचनात्मक वाक्यरचना के अनुसार यहां भी बहुवचन '**सकते**' अपेक्षित है। अन्य सभी सं० और 'उदयपुर' सं० में अप-वाक्यरचना है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक एवं अप पाठपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त पाठ ''**पोपलीला से बनाया होगा**'' सटीक पाठ के स्थान पर ''**टका लेने वालों ने बनाया होगा**'' अनावश्यक पाठपरिवर्तन है। मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ अधिक व्यापक अर्थवाला है। इसमें 'टका लेने वाला' अर्थ स्वतः निहित है।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**अलखनन्दा**'' अपवर्तनी है, '**अलकनन्दा**' शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' आदि सं० में भी अशुद्ध है।

८. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पार्सियों**'' अपवर्तनी है '**पारसियों**' वर्तनी शुद्ध है। 'उदयपुर' आदि सं० में अशुद्ध है। **संशोधन की पुष्टि**—'उपदेश मंजरी' में ग्रन्थकार ने ''पारसी'' वर्तनी का प्रयोग किया है—''**पारसी लोग भी अग्यारी में अग्नि पूजा करते हैं**'' (उपदेश ५, पृ० २६)। यह संस्कृत ''**पारसिक**'' (महा०, भीष्म० ९.६६) का अपभ्रंश है।

९. **पारसियों की अग्यारी**=अग्नि। जैसे वैदिक परम्परा में 'आहिताग्नि' सदा प्रज्वलित रहती थी, उसी प्रकार पारसियों के यहां धार्मिक अग्नि एक पात्र में सदा जलती रहती है। पारसी पहले वैदिकधर्मी थे। यह यज्ञाग्नि की वैदिक परम्परा का अवशिष्ट रूप है। उनका धर्मग्रन्थ '**जेन्दावस्था**' का एक अंश ऋग्वेद के मन्त्रों का पारसी रूपान्तरण-मात्र है।
'**अग्यारी**' शब्द संस्कृत '**अग्न्यागार**' का अपभ्रंश है। यह देशज हिन्दी में भी '**अग्यारी**' और '**अगियारी**' के रूपों में प्रचलित है। इसके अर्थ हैं—अग्निगृह, यज्ञकुण्ड, धूपदान, अग्निस्थान।

१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत्कोष्ठक के अन्तर्गत दिया गया पाठ संगति के लिए परिवर्धनीय है।

जल आता है। उसके पास दूसरे कुण्ड में ऊपर का जल वा जहाँ गर्मी नहीं, वहाँ का आता है, इससे ठण्डा है। '**केदार का स्थान**'—वह भूमि बहुत अच्छी है, परन्तु वहाँ भी एक जमे हुए पत्थर पर 'पोप' वा पोप के चेलों ने मन्दिर बना रक्खा है। वहाँ महन्त, पुजारी, पण्डे '**आँख के अन्धों**[१] **गाँठ के पूरों**' से माल लेकर विषयानन्द करते हैं। वैसे ही '**बदरीनारायण**'[२] में ठग-विद्यावाले बहुत-से बैठे हैं। रावल जी वहाँ के मुख्य हैं। एक स्त्री छोड़ अनेक स्त्रियां[३] रख बैठे हैं। पशुपति एक मन्दिर और पञ्चमुखी मूर्त्ति का नाम धर रक्खा है। **जब कोई न पूछे तभी पोपलीला**[४] **बलवती होती है।** परन्तु जैसे तीर्थों[५] के लोग धूर्त और धनहरे होते हैं, वैसे पहाड़ी लोग नहीं होते। वहाँ की[६] भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।

प्रश्न—विन्ध्याचल[७] में 'विन्ध्येश्वरी', 'काली', 'अष्टभुजा' प्रत्यक्ष सत्य है। विन्ध्येश्वरी तीन समय में तीन रूप बदलती है और उसके बाड़े में मक्खी एक भी नहीं होती। **प्रयाग**[८] तीर्थराज है, वहाँ मुंड मुंडाये सिद्धि [और][९] गङ्गा-जमुना के संगम में स्नान करने से इच्छासिद्धि होती है। वैसे ही **अयोध्या**[१०] कई वार उड़कर सब वस्ती सहित स्वर्ग में चली गई। **मथुरा**[११] सब तीर्थों से अधिक है, **वृन्दावन**[१२] लीलास्थान और **गोवर्धन**[१३] व्रज-यात्रा बड़े भाग्य से होती है। सूर्यग्रहण में **कुरुक्षेत्र**[१४] में

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**अन्धे**" के स्थान पर "**अन्धों**" प्रयोग अभीष्ट है। 'उदयपुर' आदि सं० में अशुद्ध है।

२. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यहां "**बद्रीनारायण**" अपवर्तनी है, "**बदरीनारायण**" शुद्ध है। द्वि० सं० में संशोधित है। किन्तु 'उदयपुर' सं० ने फिर से अशुद्ध वर्तनी को अपना लिया है।

३. **उचित परिवर्धन एवं अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० "**स्त्री**" एकवचन अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है, क्योंकि अनेक के साथ बहुवचन ही होता है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति के इस पाठ "**पोपलीला**" सटीक प्रयोग के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**ऐसी लीला**" परिवर्तन अनावश्यक है। मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में "**तीर्थ**" एकवचनान्त के स्थान पर '**तीर्थों**' बहुवचन चाहिए।

६. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**वहां की**" पद त्रुटित हैं। द्वि० सं० में हैं और आवश्यक भी हैं।

७. **विन्ध्याचल और विन्ध्येश्वरी**—'**विन्ध्याचल**' एक पहाड़ी का नाम है जो मिर्जापुर के समीप स्थित है। यह विन्ध्य पर्वत से भिन्न है। पुराणमतानुसार, यह देवी का सिद्धपीठ है। विन्ध्याचल पर उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में देवी की प्रसिद्ध मूर्त्ति '**विन्ध्येश्वरी**' है। देवी के विषय में विभिन्न चमत्कारपूर्ण कथाएं प्रचलित हैं। इसके समीप ही काली और अष्टभुजा देवी के मन्दिर हैं।

८. **प्रयाग**—इसकी वर्तमान पहचान इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) से होती है। यह प्राचीन तीर्थराज है जो गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम पर स्थित है। इलाहाबाद स्टेशन से यह ३-४ मील की दूरी पर है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक एवं अपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने यहां उक्त सुन्दर उक्ति को अनावश्यक रूप से बदल डाला—"**शिर मुंडाये सिद्धि**"। यही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में है। क्रिया न होने के कारण बृ०कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है, क्योंकि इस वाक्यांश का अग्रिम वाक्यांश की क्रिया से सम्बन्ध है। 'उदयपुर सं०' ने "**मुंडमुंडाये सो सिद्ध**" महर्षि की भाषा को बदलकर, स्वतन्त्र वाक्य रचकर मिलाया है, जो अनावश्यक है, क्योंकि पहले ही सटीक वाक्य विद्यमान है।

१०. **अयोध्या**—यह उत्तर प्रदेश में सरयू नदी के तट पर स्थित प्रसिद्धतम तीर्थस्थान है तथा सूर्यवंशी राजाओं की ऐतिहासिक महत्त्व की आदि-राजधानी है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार सातवें मनु वैवस्वत ने इसकी स्थापना की थी। यह वर्तमान फैजाबाद के साथ लगता नगर है।

११-१२. **मथुरा-वृन्दावन**—उत्तर प्रदेश में ही व्रज प्रदेश का प्रसिद्ध तीर्थस्थान जो '**मथुरा-वृन्दावन**' के युगल नाम से जाना जाता है। मथुरा यमुना के तट पर स्थित है। यह नगर कभी कंस, और बाद में श्रीकृष्ण के राज्य की राजधानी था। वृन्दावन श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान माना जाता है। मथुरा से छह मील दूर यमुना के दूसरे तट पर गोकुल है।

१३. **गोवर्धन पर्वत**—'**गोवर्धन**' पर्वत मथुरा से १६ मील की दूरी पर है। इसके साथ श्रीकृष्ण की अनेक लीला-कथाएं जुड़ी हैं।

लाखों मनुष्यों का मेला लगता है।[१] क्या ये सब बातें अन्यथा हैं?

उत्तर—प्रत्यक्ष तो आँखों से तीनों मूर्त्तियाँ दीखती हैं कि पाषाण की मूर्त्तियाँ हैं। और तीन कालों[२] में तीन प्रकार के रूप होने का कारण पुजारी लोगों की वस्त्र-आभूषण पहराने की चतुराई है और मक्खियाँ सहस्रों-लाखों होती हैं, **मैंने अपनी आँखों से [यह सब][३] देखा है। प्रयाग** में कोई नापित श्लोक बनानेहारा [हुआ होगा][४] अथवा पोप जी को कुछ धन[५] देके मुण्डन कराने का माहात्म्य बनाया वा बनवाया होगा। प्रयाग में स्नान करके स्वर्ग को जाता, तो घर में लौटकर आता कोई भी नहीं दीखता; किन्तु घर को सब[६] आते हुये दीखते हैं। अथवा जो कोई वहाँ डूब मरता [होगा][७] और उसका जीव भी आकाश में वायु के साथ घूम कर[८] जन्म लेता होगा। तीर्थराज भी नाम पोपों ने[९] धरा है। जड़ में राजा-प्रजा-भाव कभी नहीं हो सकता। यह बड़ी असम्भव बात है कि **अयोध्या** नगरी वस्ती, कुत्ते, गधे, भंगी,[१०] जाजरूर[११] सहित तीन वार स्वर्ग में गई। स्वर्ग में तो नहीं गई, वहीं की वहीं है, परन्तु पोप जी के मुख-गपोड़ों में अयोध्या स्वर्ग को उड़ गई। यह गपोड़ा शब्दरूप उड़ता फिरता है। ऐसे ही **नैमिषारण्य**[१२] आदि की भी पोपलीला जाननी [चाहिये][१३]।

अन्धविश्वासी कृष्णभक्त इसकी परिक्रमा किया करते हैं।

१४. **कुरुक्षेत्र**—हरियाणा प्रान्त में, दिल्ली-चंडीगढ़ जी०टी० रोड पर स्थित नगर जो अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थान है। कभी यहां पर सरस्वती और दृषद्वती नदियां बहती थीं। सरस्वती तट पर अनेक आश्रम थे। यह विद्या का प्राचीन प्रसिद्ध केन्द्र था। यहां सूर्यग्रहण के अवसर पर विशालतम मेला लगता है। अब यहां अनेक 'सरोवर' हैं और 'कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय' है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**लाखों मनुष्य जाते-आते हैं**" शिथिल पाठ है, मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इसके स्थान पर उपर्युक्त संशोधन किया है जो उपयुक्त एवं ग्राह्य है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तीन काल**" के स्थान पर "**तीन कालों**" बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित है।

३-७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—क्रमशः दोनों हस्त० और तीनों सं० में संगति के लिए '**यह सब**' परिवर्धन आवश्यक है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होगा**' क्रिया अपेक्षित है, अगले स्वतन्त्र वाक्य की क्रिया का इसके साथ सम्बन्ध नहीं बनता। मूलप्रति सं० में "**धन**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है और आवश्यक है। इसी प्रकार मूलप्रति में "**सब**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है और आवश्यक है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**होगा**' क्रिया आवश्यक है। इसके बिना वाक्यरचना पूर्ण नहीं होती।

८. **जीव का वायु के साथ गमन**—जीवात्मा मृत्यु के उपरान्त यम अर्थात् वायु के साथ गमन करता है। इस विषयक मान्यता और प्रमाण तथा टिप्पणी द्रष्टव्य हैं पृ० ४६३, ६४५ पर।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—"**पोपों ने**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**टका लेने वालों ने**" परिवर्तन किया है जो अनावश्यक एवं संकीर्णार्थक है। मूलप्रति सं० का पाठ व्यापक अर्थवाला और अधिक सटीक है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा मनमाना पाठपरिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**भंगी**" शब्द के बाद मुद्रणलिपिकर ने यहां '**चमार**' शब्द बढ़ाया गया है, मूलह०, मूलप्रति सं० में नहीं है। लिपिकरों ने ऐसे ही अनेक स्थानों पर मनमाने परिवर्तन किये हैं। भंगी और 'जाजरूर' के बीच इस असम्बद्ध जातिनाम का कोई सन्दर्भ और औचित्य नहीं था। 'उदयपुर' सं० ने इस पद को व्यर्थ ग्रहण किया है।

११. **जाजरूर**—शौचालय, पाखाना आदि। **संशोधन-पुष्टि**—यहां "**जाजरू**" के स्थान पर "**जाजरूर**" शुद्ध प्रयोग होगा। द्र०समु० १२ में पृ० ८२२ पर। 'उदयपुर सं०' में अशुद्ध प्रयोग है

१२. **नैमिषारण्य**—यह उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में गोमती नदी के तट पर स्थित एक तपोवन था जहां ऋषि-मुनियों के अनेक आश्रम थे। इसे तीर्थ के रूप में महत्त्व प्राप्त है। यह लखनऊ से ७५ किलोमीटर दूर '**नीमसार**' जनपद के रूप में वर्तमान में माना जाता है। दोनों हस्त० में "**नैमिशारण्य**" अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है।

१३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—वाक्य और अनुच्छेद के अन्त में वाक्यपूर्ति द्योतक '**चाहिए**' क्रिया दोनों हस्त० और तीनों सं० में वांछित है।

'**मथुरा तीन लोक से न्यारी**'[१] तो नहीं, परन्तु उसमें तीन जन्तु बड़े लीलाधारी हैं कि जिनके मारे जल, स्थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। एक चौबे, जो कोई स्नान करने जाय, तो अपना कर लेने को खड़े रहकर बकते रहते हैं[२]—''लाओ यजमान! भांग-मर्ची पीवें और लड्डू खावें। यजमान की जै-जै मनावें''[३] दूसरे, जल में कछुवे काट ही खाते हैं, जिनके मारे स्नान करना भी घाट पर कठिन पड़ता है। तीसरे, आकाश में ऊपर लाल मुख के बन्दर पगड़ी, टोपी, गहने, जूते तक भी न छोड़ें, काट खावें, धक्के दे गिरा मार डालें। और ये तीनों पोप और पोप जी के चेलों के पूजनीय हैं। मनों चना आदि अन्न से कछुओं की, और बन्दरों की[४] चना-गुड़ आदि से, और चौबों की दक्षिणा और लड्डुओं से सेवा उनके सेवक किया करते हैं। **वृन्दावन** जब था तब था, अब तो वेश्यावनवत् लल्ला-लल्ली और गुरु-चेली आदि की लीला फैल रही है। वैसे ही दीपमालिका का मेला, '**गोवर्धन**' और व्रजयात्रा में भी पोपों की बन पड़ती है। **कुरुक्षेत्र** में भी वही जीविका की लीला समझ लो। इनमें जो कोई धार्मिक, परोपकारी पुरुष है, इस पोपलीला से पृथक् हो जाता है।

प्रश्न—यह मूर्त्तिपूजा और तीर्थ सनातन से चले आते हैं, झूठे क्योंकर हो सकते हैं?

उत्तर—तुम सनातन किसको कहते हो?

[**प्रश्न**—][५] जो सदा से चला आता है।

[**उत्तर**—][६] जो यह सदा से होता तो वेद, और ऋषि-मुनि-कृत ब्राह्मणादि पुस्तकों में इनका नाम क्यों नहीं? यह मूर्त्तिपूजा अढ़ाई-तीन सहस्र वर्ष के इधर-इधर वाममार्गियों[७] और जैनियों से चली है।[८] प्रथम आर्यावर्त में नहीं थी, और ये[९] तीर्थ भी नहीं थे। जब जैनियों ने गिरनार, पालिटाना, शिखर, शत्रुञ्जय और आबू आदि तीर्थ बनाये, उनके अनुकूल इन लोगों ने भी बना लिये। जो कोई इनके

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त कहावत-पाठ में मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में ''**न्यारी**'' के स्थान ''**निराली**'' पाठ बदला गया है। यहां कहावत का रूढ़ पाठ ''**न्यारी**'' ही है। कहावतों और मुहावरों के शब्द बदला नहीं करते हैं, शायद लिपिकर को इतना ज्ञान नहीं था। अत: पाठपरिवर्तन अनावश्यक है।

२. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में अयोग्य लिपिकरों ने क्रिया की वर्तनी अशुद्ध लिखी है—''**खड़े रहकर वक्ता रहता है**''। लिपिकरों को क्रिया और विशेषण के अन्तर का ही ज्ञान नहीं रहता। द्विप्र० में मूर्ख शोधकों ने भी अपने दिमाग का दिवालियापन दिखा दिया, देखिए, यह भ्रष्ट परिवर्तन किया है—''**खड़े रहकर वक्ता रहते हैं**''। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन किया हुआ है। 'उदयपुर' सं० ने भी इसको संशोधित कर लिया है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवाक्य एवं उचित परिवर्धन**—यहां मुद्रणप्रति में यह अपूर्ण अपवाक्य लिखा मिलता है—''**भांग मर्ची और लड्डू खावें पीवें**''। यही अपपाठ द्वि० सं० में छपता आ रहा है। मूलह०, मूलप्रति सं० का उपर्युक्त पाठ ठीक है। '**यजमान की जै-जै मनावें**'' द्वितीय सं० में परिवर्धित पाठ है, जो ग्राह्य है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य है—''**मनों चना आदि अन्न कछुए और बन्दरों को चना, गुड़ आदि और चौबों की दक्षिणा और लड्डुओं से उनके सेवक सेवा किया करते हैं।**'' इसको उपर्युक्त रूप से संशोधित कर दिया है। इस वाक्यरचना में अनेक व्याकरणिक न्यूनताएं हैं। सभी सं० और उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

५-६. **अपपाठ**—लिपिकर द्वारा लिखते समय '**प्रश्न**' पद न लिखने के कारण प्रश्न पक्ष का यह वाक्य भी उत्तर पक्ष के वाक्य में घुल-मिल गया जिससे यह अपपाठ हो गया है। यह मिश्रण दोनों हस्त० और तीनों सं० में है। इसे पृथक् करना आवश्यक है, अत: इसको '**प्रश्न**' और '**उत्तर**' शीर्षक कोष्ठक में देकर व्यवस्थित कर दिया है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**वाममार्गी**' एकवचनात्मक पद है, बहुवचनात्मक अपेक्षित है।

८. **मूर्तिपूजा का आरम्भ**—इस विषयक मत पृ० ८१८ पर भी द्रष्टव्य है।

९. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**यह**'' एकवचनान्त पद अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**ये**'' शुद्ध है।

आरम्भ की परीक्षा करना चाहें, वे पण्डों की पुरानी से पुरानी[१] बही, तांबे के पत्र, लेख आदि देखें,[२] तो निश्चय हो जायगा[३] कि ये सब तीर्थ पाँच-सौ अथवा एक-सहस्र वर्ष से इधर ही बने हैं। सहस्र वर्ष के उधर का लेख किसी के पास नहीं निकलता; इससे आधुनिक है।

प्रश्न—जो-जो तीर्थ वा नाम का माहात्म्य अर्थात् जैसे '**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे[४] विनश्यति**' [काशीमाहात्म्य, काशीखण्ड] इत्यादि बातें हैं, वे सच्ची हैं वा नहीं ?[५]

उत्तर—नहीं; क्योंकि जो पाप छूट जाते हों तो दरिद्रों को धन और राज-पाट मिल जाता; अन्धों को आँखें मिल जाती तथा कोढ़ियों के कोढ़ आदि रोग छूट जाते; किन्तु ऐसा नहीं होता।[६] इसलिये पाप वा पुण्य किसी का नहीं छूटता।

प्रश्न— गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥ १॥

[ब्रह्मपुराण अ० १७५। श्लो० ८२; पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २३। २]

हरिर्हरति[७] पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्॥ २॥[८] [पद्मपुराण उ० ख० ७२। १२]
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा निशिपापं विनश्यति।[९]
आजन्मकृतं मध्याह्ने सायाह्ने सप्तजन्मनाम्॥ ३॥

ये पोप-पुराण के श्लोक हैं। [तीर्थदर्पण पण्डाअर्पण-परिच्छेद २]

---

१. **घोर अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—पाठकगण लिपिकरों और शोधकों की प्रमादलीला और मक्कारी-माया पर जरा विचार करें। दोनों हस्त० और द्विप्र० में तीन शब्दों के वाक्यांश में यह पाठ है—"**पुरानी से पूरानी बही**"। एक ही वाक्यांश में दो वर्तनियां!! यह चमत्कार केवल ऋषि के वेतनभोगी लिपिकर-शोधक ही कर सकते हैं! द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि ने यहां संशोधन करके भावी पाठकों को "सश्रद्धनमनीय" लिपिकरों के इस चमत्कार से वंचित रख दिया।

२. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**ताम्बे के पत्र आदि लेख देखें**" अपपाठ है, मूलह०, मूलप्रति सं० का उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त पाठ सही है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में "**जाएगा**" नवीन वर्तनी है, यहां "**जायगा**" द्वि०सं० की वर्तनी उपयुक्त है। द्विप्र० और दोनों हस्तलेखों में "**जायगा**" ही है, अतः यही ग्राह्य है।

४. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**काशिक्षेत्रे**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधन किया हुआ मिलता है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधित है।

५. **उचित परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० के उपर्युक्त सही पाठ के स्थान पर मूलह०, मूलप्रति सं० में "**इत्यादि बातें सच्ची हैं वा नहीं**" अपूर्ण पाठ है। द्वि०सं० का संशोधन ग्राह्य है। वाक्यारम्भ में "**जो-जो**" पदों के सम्बन्ध से "**हैं, वे**" पद होने चाहियें।

६. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अपूर्ण, त्रुटित और अपप्रयोगयुक्त होने से अपवाक्य है—"**दरिद्रों को धन, राज, अन्धों को आंख मिलती, कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता, ऐसा नहीं होता।**" इसका उपर्युक्त संशोधन आवश्यक है। अन्य सभी वेस, जग, भद, युमी, विस सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अपूर्ण अपवाक्य है।

७. **अप-उद्धरण और मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० में "**हरि**" पद त्रुटित है। मुद्रणहस्त० में भी त्रुटित रहा, क्योंकि मुद्रणलिपिकर तो मूललिपिकर का 'बड़ा भाई' जो ठहरा! पहले ने एक पद ही छोड़ा था, इसने यह तथा अगले श्लोक की पूरी दो पंक्तियां ही छोड़ दीं। किसी शोधक ने उनको लिखा तो उसने "**हरी**" अपवर्तनी लिखी। यही द्विप्र० में छपी, क्योंकि शोधकों ने तो कसम खा रखी थी कि अशुद्धियां ठीक नहीं करनी! अब द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि ने संशोधन कर लिया है।

८,९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ और ऋषिहस्तलेख**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में उक्त दोनों पंक्तियां त्रुटित छोड़ी हैं। उनको ऋषि ने शोधन-समय लिखकर पूर्ण किया है।

जो सैकड़ों-सहस्त्रों कोश दूर से भी गंगा-गंगा कहै, तो[१] उसके सब पाप नष्ट होकर वह विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ को जाता है॥ १ ॥

'हरि' इन दो अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है,[२] वैसे ही राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि नामों का माहात्म्य है॥ २ ॥

और जो मनुष्य प्रातःकाल में 'शिव' अर्थात् लिंग वा उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किये हुये, मध्याह्न में दर्शन से जन्म-भर के, सायंकाल में दर्शन करने से सात जन्मों के पाप छूट जाते हैं[३]॥ ३ ॥ यह दर्शन[४] का माहात्म्य क्या झूठा हो जायगा[५] ?

उत्तर—मिथ्या होने में क्या शंका ? क्योंकि गंगा वा हरि,[६] राम, कृष्ण, नारायण, शिव और भगवती के नामस्मरण से पाप कभी नहीं छूटता। जो छूटे तो दुःखी कोई न रहै, और पाप करने से कोई भी न डरे, जैसे आजकल पोपलीला में पाप बढ़कर हो रहे हैं; क्योंकि मूढ़ों को विश्वास है कि हम पाप कर, नामस्मरण वा तीर्थयात्रा करेंगे तो पापों की निवृत्ति हो जायगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं, परन्तु[७] **किया हुआ पाप भोगना ही पड़ता है।**

प्रश्न—तो कोई तीर्थ,[८] नामस्मरण सत्य है वा नहीं ?

उत्तर—है। वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग; परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैरता,[९] निष्कपटता,[१०] सत्यभाषण, सत्य मानना,[११] सत्य करना; ब्रह्मचर्य; आचार्य-अतिथि-माता-पिता की सेवा; परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना; शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्तपुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ-गुण-कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से **तीर्थ** हैं। और जो जल-स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते; क्योंकि '**जना यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि**'=मनुष्य जिनको[१२] करके दुःखों से तरें, उनका नाम '**तीर्थ**' है। जल-स्थल तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम '**तीर्थ**' हो सकता है, क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।

समानतीर्थे वासी॥ १ ॥ अष्टा० ४।४।१०७

नमस्तीर्थ्यायं च॥ २ ॥ यजुः अ० १६ [मं० ४२]

---

१. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में "**तो**" पद त्रुटित है, द्वि०सं० में परिवर्धित है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य इस प्रकार है—"**हरि इस दो अक्षर के नामोच्चारण से सब पाप को हर लेता है।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह संशोधित है, वही ग्राह्य है।

३. **अपवाक्य और अपसंशोधन**—मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**प्रातःकाल में.....मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ, मध्याह्न में दर्शन से जन्म-भर का, सांयकाल में दर्शन करने से सात जन्मों के पाप छूट जाते हैं।**" इसमें कहीं एकवचनात्मक तो कहीं बहुवचनात्मक प्रयोग हैं। मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में इसको एकवचनात्मक संशोधित कर दिया है जो अशुद्ध है। पूरा वाक्य बहुवचन में होना अपेक्षित है। यही अपपाठ 'उदयपुर' सं० तथा अन्य सं० में है।

४,८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में लिपिकर ने "**करने से.....यह दर्शन**", "**तो कोई तीर्थ**" पाठ छोड़ दिये। इनमें से पहले को शोधक पं० भीमसेन ने और दूसरे को ऋषि ने लिखकर पूरा किया है।

५. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में "**जाएगा**" नवीन वर्तनी है। द्विप्र०, द्वि० सं० तथा दोनों हस्तलेखों में "**जायगा**" है, वही ग्राह्य है।

६,७,९-१२. **अपप्रयोग**—क्रमशः दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हरे**", मूलप्रति में "**पर**" के स्थान पर "**और**", दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**निर्वैर-निष्कपट**" द्वि० सं० में "**सत्य का मानना**", दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जिन करके**", क्रियापद ये सब अपप्रयोग हैं। ऊपर पाठ में शुद्ध पदों का ग्रहण किया है।

जो ब्रह्मचारी एक आचार्य से और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हों,[१] वे सब सतीर्थ्य अर्थात् समानतीर्थसेवी होते हैं॥ १ ॥

जो वेदादिशास्त्र और सत्यभाषणादि धर्म-लक्षणों में साधु हों, उनको अन्नादि पदार्थ देने[२] और उनसे विद्या लेनी, इत्यादि '**तीर्थ**' कहाते हैं॥ २ ॥

'**नामस्मरण**' इसको कहते हैं कि—

यस्य नाम महद्यशः॥ यजुः [३२।३]

परमेश्वर का नाम बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है। जैसे ब्रह्म, परमेश्वर, ईश्वर, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से हैं। जैसे ब्रह्म=सबसे बड़ा, परमेश्वर=ईश्वरों का ईश्वर, ईश्वर=सामर्थ्ययुक्त,[३] न्यायकारी=कभी अन्याय नहीं करता, दयालु=सब पर कृपादृष्टि रखता, सर्वशक्तिमान्=जो अपने सामर्थ्य से ही सब जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता,[४] सहाय किसी का नहीं लेता; ब्रह्मा=विविध जगत् के पदार्थों का बनानेहारा, विष्णु=जो सबमें व्यापक होकर रक्षा करता, महादेव=सब देवों का देव, रुद्र=प्रलय करनेहारा आदि नामों के अर्थों को अपने में धारण करे; अर्थात् बड़े कामों से बड़ा हो, समर्थों में समर्थ हो, सामर्थ्यों को बढ़ाता जाय, अधर्म कभी न करे, सब पर दया रक्खे, सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे, शिल्पविद्या से नाना प्रकार के पदार्थों को बनावे, सब संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख-दुःख समझे, सबकी रक्षा करे, विद्वानों में विद्वान् होवे, दुष्ट कर्म का प्रलय[५] [करे] और दुष्ट कर्म करनेवालों को प्रयत्न से दण्ड

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में यह अपपाठ है—''**एक आचार्य और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हों**''। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित किया हुआ है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधित है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**उसको अन्नादि पदार्थ देना**''। ''**आदि**'' पद तथा पूर्वापर प्रयोगों के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' आदि सभी सं० में अशुद्ध है।

३. **ईश्वरों का ईश्वर**=जो समर्थों में समर्थ है, जिसके तुल्य कोई भी न हो। इसी कारण यहां ईश्वर का ''सामर्थ्युक्त'' अर्थ किया है। द्रष्टव्य है चार पंक्ति नीचे ''**समर्थों में समर्थ हो**'' और प्रथम समुल्लास में '**परमेश्वर**' नाम का अर्थ भी। '**अनेक ईश्वरों का ईश्वर**' इसका अनेक ईश्वरपरक भाव नहीं है।

४. **अयोग्य मुद्रणलिपिकर-शोधक और संशोधक**—मूलह० में ''**करता**'' क्रियावर्तनी शुद्ध है किन्तु अयोग्य मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय इसको ''**कर्त्ता**'' विशेषण-वर्तनी में लिखा है। किसी भी शोधक ने इसको शुद्ध नहीं किया, अतः द्विप्र० में अशुद्ध छपा है। पुनः द्वि०सं० में संशोधन किया गया है। 'उदयपुर' सं० पुनः अशुद्धि के आदिम युग में लौट गया और ''**करता**'' क्रिया के स्थान पर अशुद्ध ''**कर्त्ता**'' विशेषण पाठ रख दिया। पूर्वापर में सर्वत्र क्रिया प्रयोग हैं।

५. **प्रलय**=विनाश, लोप, उन्मूलन। जैसे व्यवहार में 'प्रलयंकर', 'प्रलय मचाना' आदि प्रयोग होते हैं।

मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-पाठ, परिवर्तन और उदयपुर सं० का प्रतिज्ञाविरुद्ध, ऋषिपाठ का मनमाना निष्कासन—यहां द्वितीय संस्करण और मुद्रणहस्त० में ''**दुष्ट कर्म और दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड करे**'' यह मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित पाठ है। यह मूलहस्त० में पूर्ण और शुद्ध पाठ है—''**दुष्ट कर्म और....वालों का प्रलय करे**''। उदयपुर सं० ने अपनी सारी प्रतिज्ञाओं के विरुद्ध जाकर ''**दुष्ट कर्म और**'' इस ऋषि-पाठ को भी निकाल दिया। देखिए, फिर भी न तो ऋषि का संशोधन हुआ, न ऋषि को मूर्ख बनाया, न सत्यार्थप्रकाश की अस्मिता लूटी!! किन्तु दूसरों के द्वारा संशोधन करने पर यह सबकुछ हो जाता है और ये आर्यलेखक और न्यास पाठकों से गुहार लगाते हैं बचाओ! बचाओ!! यह दोगली नीति है उदयपुर सं० की।

चारों में से **पहले, दूसरे लेखक** ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया है। **चौथा** मिथ्यादम्भी लेखक इस ऋषि-पाठ-निष्कासन पर कुछ नहीं बोला। ''ऋषि सदा प्रामाणिक और मान्य होते हैं'' उसकी यह घोषणा भी यहां न जाने कहां हवा में उड़ गई? उसकी सारी ऋषिभक्ति यहां पक्षपात के कारण लुप्त हो गई।

तीसरे लेखक ने इस आपत्ति का दो स्थानों पर उत्तर दिया है और इस शुद्ध ऋषि पाठ को भी ''**अनावश्यक**'' घोषित किया

[देवे][१] और सज्जनों की रक्षा करे। इस प्रकार **परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव[२] को करते जाना ही परमेश्वर का नामस्मरण है।**

प्रश्न— गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ [गुरुगीता, गुरुमाहात्म्य प्रकरण, श्लोक १९]

इत्यादि गुरुमाहात्म्य तो सच्चा है? गुरु के पग धोके पीना, जैसी आज्ञा करे वैसा करना। गुरु लोभी हो तो वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के सदृश, मोही हो तो राम के तुल्य और कामी हो तो कृष्ण के समान गुरु को जानना। चाहे गुरु जी कैसा ही पाप करें तो भी अश्रद्धा न करनी। सन्त वा गुरु के दर्शन को जाने में पग-पग में '**अश्वमेध**' का फल होता है, यह बात ठीक है वा नहीं?

उत्तर—ठीक नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी नहीं हो सकता। यह '**गुरुमाहात्म्य**', '**गुरुगीता**' भी एक बड़ी पोपलीला है। गुरु तो माता, पिता, आचार्य और अतिथि होते हैं, उनकी सेवा करनी चाहिये। उनसे विद्या-शिक्षा लेना-देना, शिष्य और गुरु का काम है;[३] परन्तु जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो, तो उसको सर्वथा छोड़ देना [चाहिये, अथवा पहले उसको][४] शिक्षा करनी चाहिये,[५] सहज शिक्षा से न माने तो 'अर्घ्य-पाद्य' अर्थात् ताड़ना,

---

है। चलो, महर्षि के पाठ को अनावश्यक घोषित करने वाले 'ऋषिभक्त न्यास' के कुछ लेखक तो संसार में अवतीर्ण हुए! इस लेखक ने मिथ्या तालिका प्रस्तुत करके दिखाया है कि सभी सम्पादकों ने यही पाठ स्वीकार किया है जबकि पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस पाठ को स्वीकार नहीं किया है। पं० जी का पाठ है—''दुष्ट कर्म [कराने]....वालों को प्रयत्न से दण्ड[देवे]।'' पाठकों के साथ इसने यहां छल किया है। दूसरे स्थान पर इस लेखक ने पुनः महर्षि के पाठ को ''**अयुक्त**'' घोषित करते हुए यह मिथ्या कथन किया है—''**दुष्टकर्म और दुष्टकर्म करने वालों का प्रलय करे।**'' इसका अर्थ है दुष्ट कर्मों का भी नाश करे और दुष्ट कर्म करने वालों का भी नाश अर्थात् वध करे। मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तन किये जाने के कारण मुद्रणप्रति में यह पाठ असंगत बना है जिसे मूलहस्त० से संशोधित किया जा सकता है। ''प्रलय करना'' यह लेखन महर्षि की शैली है। एक प्रमाण लीजिए। ऋग्वेद २.३३.३ भाष्य में 'रुद्र' का अर्थ करते हुए भाषा है—''**रोगाणां प्रलयकृत्**'' अर्थात् रोगों का नाश करनेवाला।' ऐसा ही वाक्य सत्यार्थप्रकाश में भी आता है—''**दुष्ट कर्मों का विनाश करनेवाला संन्यासी कहाता है।**'' (समु० ५, पृ० २४३) लेखक महोदय! हस्तलेख का आधार और प्रमाण तो मैंने प्रस्तुत कर दिया। अब आगे आपको मानना है।

१. **मुद्रणह० में शोधक द्वारा अपवाक्य रचना**—मुद्रणप्रति व द्वि० सं० में संशोधन के नाम पर यह वाक्य और अधिक अपवाक्य बन गया है—''**दुष्ट कर्म और दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड और सज्जनों की रक्षा करे।**'' यहाँ मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ अधिक संगत था—''**दुष्टकर्म और दुष्टकर्म करने वालों का प्रलय करें**''। अब द्वि०सं० में वही अपवाक्य छप रहा है। मूलसं० में दोनों पाठों का मिश्रण कर उपर्युक्त बृ० कोष्ठकों की क्रियाओं से रहित वाक्य है। उपर्युक्त संशोधन पूर्ण और सटीक है।

संशोधन में सम्पादकों की अव्यवस्था—पं० मीमांसक जी ने यह संशोधन किया है—''दुष्ट कर्म [कराने] और दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड देवे।'' **स्वामी विद्यानन्द जी** ने इसी का अनुकरण किया है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द** जी ने प्रथम वाक्यांश का ही प्रलय कर दिया! **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी** और **पं० भगवद्दत्त जी** ने द्वि०सं० का अपपाठ यथावत् रखा है। 'उदयपुर' सं० में आरम्भिक ''**दुष्टकर्म और**'' यह ऋषि-पाठ स्वच्छन्द रूप से उड़ा दिया है। इस पर कोई टिप्पणी भी नहीं दी है और न कारण बताया है। यह सब सम्पादकों का झूठा झगड़ा है, मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध एवं पूर्ण है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—प्रमादी लिपिकर ने मुद्रणप्रति में ''**के अनुकूल....स्वभाव**'' पाठ त्रुटित छोड़ा है।

३. **त्रुटित एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में '**चाहिये**' क्रिया त्रुटित है। द्वि० सं० में '**शिक्षा लेनी-देनी**' अपप्रयोग है, मूलप्रति सं० में उपर्युक्त सही पाठ है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत तीनों पाठ संगति की दृष्टि से परिवर्धित करने आवश्यक हैं। बिना इसके उचित वाक्यरचना भी नहीं होती।

दण्ड, प्राणहरण तक भी करने में कुछ भी दोष नहीं। **जिनमें विद्यादि सद्गुणों का 'गुरुत्व' नहीं है,[१] झूठ-मूठ कण्ठी-तिलक [धारण],[२] वेदविरुद्ध मन्त्रोपदेश करनेवाले हैं, वे गुरु ही नहीं, किन्तु गडरिये जैसे हैं।** जैसे गडरिये अपनी भेड़-बकरियों से, [उनके][३] दूध आदि से प्रयोजन सिद्ध करते हैं, वैसे ही वे शिष्यों के=चेले-चेलियों का धन हरके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे—

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव।
भवसागर में डूबते, बैठ पत्थर की नाव॥ [तुलना-भक्तमाल १०६ की टीका, पृ० ६९]

गुरु समझें कि चेला[४]-चेली कुछ न कुछ देवेंगे ही, और चेला समझे कि चलो गुरु झूठी[५] सौगंद[६] खाने, पाप छुड़ाने आदि [के काम आवेंगे, इत्यादि][७] लालच से, दोनों कपटमुनि भवसागर के दुःख में डूबते हैं, जैसे पत्थर की नौका में बैठनेवाले समुद्र में डूब मरते हैं। ऐसे गुरुओं[८] और चेलों के मुख पर धूड़-राख पड़े। उसके पास कोई भी खड़ा न रहै, जो रहै वह दुःखसागर में पड़ेगा। जैसी[९] पोपलीला पुजारियों,[१०] पुराणियों ने चलाई है, वैसी इन गडरिये गुरुओं ने भी लीला मचाई है। यह सब काम स्वार्थी लोगों का है। **जो परमार्थी लोग हैं, वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते।** और **'गुरुमाहात्म्य'** तथा **'गुरुगीता'** आदि भी इन्हीं लोभी,[११] कुकर्मी गुरुओं ने बनाई हैं।

प्रश्न— अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः॥ १॥ [शिवपुराण रेवाखण्ड]
इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्॥ २॥ महाभारत [आदिपर्व ३।२६७]
पुराणानि खिलानि[१२] च॥ ३॥ मनु० [३।२३२]
इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः॥ ४॥ छान्दोग्य० [७।१।४]
दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत॥ ५॥ [तुलना—शतपथ ब्रा०, १३।३।१।१३]

---

५. **शिक्षा करना**—यह मराठी भाषा का प्रयोग है। संभव है महाराष्ट्र के साथ संलग्न गुजरात में भी प्रयुक्त होता हो। इसका अर्थ है—नियन्त्रित करना, फटकार लगाना, दण्ड देना आदि।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**जो विद्यादि सद्गुणों में गुरुत्व नहीं है....वे गुरु ही नहीं**"। **पं० भगवद्दत्त जी** और 'उदयपुर' सं० ने यही अशुद्ध पाठ रखा है। **स्वामी वेदानन्द जी** और **सिद्धान्ती जी** का संशोधन अर्धशुद्ध है। **मीमांसक जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, स्वामी विद्यानन्द जी** का संशोधन ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल नहीं है क्योंकि यहां गुरु के गुरुत्व-युक्त गुणों का कथन अभीष्ट है।

२-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संगति की दृष्टि से '**दोनों**' पदों का परिवर्धन आवश्यक है।

४-६. **अपप्रयोग**—इस वाक्य में तीनों संस्करणों में "**चेले**" अपप्रयोग है, आगे एकवचनात्मक "**चेला**" प्रयोग के सम्बन्ध से यहां भी "**चेला**" प्रयोग अभीष्ट है। दोनों सं० में "**झूठे**" के स्थान पर "**झूठी**" चाहिए। मूलप्रति सं० में "**सौगन्ध**" अपवर्तनी है, द्वि० सं० में "**सौगंद**" संशोधित है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पाठ की पूर्णता के लिए बृ० कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

८-१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक "**गुरु**" के स्थान पर बहुवचन, दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**जैसे**" अपप्रयोग के स्थान पर "**जैसी**" शुद्ध है और सभी पाठों में "**पुजारी**" के स्थान पर बहुवचन अपेक्षित है।

११. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में "**लोभी**" पद त्रुटित है। सभी पाठों में है और द्वि०सं० ने ग्रहण कर लिया है किन्तु 'उदयपुर' सं० में इसको त्रुटित छोड़ दिया है। पाठक ध्यान दें कि यहां "**लोभी**" अवश्य ग्राह्य पद है क्योंकि उपर्युक्त दोहे में इसी पद का प्रयोग है।

१२. **मुद्रणकालीन भ्रष्ट उद्धरण पाठ और संशोधन**—मुद्रणकाल में, द्विप्र० में यह भ्रष्ट पाठ छपा है—"**पुराणन्यखिलानि च**"। अन्य सभी पाठों में शुद्ध है।

पुराणविद्या वेदः ॥ ६ ॥ सूत्रम् [तु०—शतपथ ब्रा०, १३।३।१।१३]

अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यास जी हैं। व्यासवचन का प्रमाण अवश्य करना चाहिये॥ १ ॥

इतिहास='**महाभारत**',[१] [और] अठारह पुराणों से वेदों का अर्थ पढ़ें-पढ़ावें, क्योंकि इतिहास और पुराण वेदों के ही अर्थ और अनुकूल हैं॥ २ ॥

पितृकर्म में पुराण और खिल अर्थात् '**हरिवंश**'[२] की कथा सुनें॥ ३ ॥

इतिहास और पुराण पञ्चमवेद कहाते हैं॥ ४ ॥

'अश्वमेध' की समाप्ति में दशमे दिन थोड़ी-सी पुराण की कथा सुनें॥ ५ ॥

'पुराणविद्या' वेदार्थ के जनाने से ही 'वेद' है॥ ६ ॥[३]

इत्यादि प्रमाणों से पुराणों का प्रमाण और इनके प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का भी प्रमाण है, क्योंकि पुराणों में मूर्त्तिपूजा और तीर्थों का विधान है।

उत्तर—जो अठारह पुराणों के कर्त्ता व्यास जी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते। क्योंकि **शारीरकसूत्र, 'योगशास्त्र के भाष्य'** आदि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते। और इससे यह सिद्ध होता है कि[४] जिन सम्प्रदायी परस्परविरोधी लोगों ने '**भागवत**'-आदि नवीन कपोलकल्पित ग्रन्थ बनाये हैं,[५] उनमें

---

१. **अपविराम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इतिहास के बाद '**अल्पविराम**' का प्रयोग अशुद्ध है, यहां अर्थबोधक चिह्न चाहिए, क्योंकि श्लोकोक्त "**इतिहास**" का ही अर्थ "**महाभारत**" ग्रहण किया है। श्लोक में अन्य महाभारत के अर्थ का बोधक कोई पद नहीं है और 'इतिहास' किसी पुस्तक विशेष का नाम नहीं है। उदयपुर आदि सभी सं० में अपविराम है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति में प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने "**खिल अर्थात्**" पद छोड़ दिये है। '**हरिवंश**' श्लोकोक्त पद नहीं है, यह "**खिल**" का ही अर्थ है, अतः यह पद आवश्यक है। यह श्लोकार्थ ग्रन्थकार के मत से नहीं है अपितु पौराणिकों की दृष्टि से है। ग्रन्थकार के मत से मनुस्मृति प्राचीन शास्त्र है, उसमें परवर्ती ग्रन्थ 'हरिवंश' का उल्लेख मान्य नहीं हो सकता। वेस, भद, युमी, जग, विस, 'उदयपुर' सं० ने यह पाठ ग्रहण कर लिया है।

३. **स्थानभ्रष्ट अर्थपाठ**—मूललिपिकर पता नहीं किस ध्यान में चतुर्थ प्रमाण का अर्थ लिखना छोड़ गया! बाद में ध्यान आया होगा, तो उसने उसको उचित क्रम में न लिखकर सबके अन्त में छठे क्रम पर वह अर्थ लिख दिया। 'मक्खीमार' मुद्रणलिपिकर ने भी अपक्रम में प्रतिलिपि की और मक्कार शोधकों ने द्वि०प्र० में अपक्रम में ही उसे छपने दिया। बाद में अब द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन कर लिया गया है और वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, 'उदयपुर' सं० आदि ने इस संशोधन को ग्रहण किया है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**और इससे.....होता है कि**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **पुराणों का कर्त्ता कौन ?**—पुराणों को प्रामाणिक बनाने के लिए स्वार्थी और मत-मतान्तरवाले लोगों ने उनके कर्त्ता के रूप में महर्षि व्यास का नाम मिथ्या जोड़ दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पूर्णतः निराधार मत है। यहां तक कि कुछ पुराणों में ही यह स्पष्ट कथन है कि व्यास ने केवल एक पुराण की रचना की थी, अन्य पुराण उसके अनुकरण पर बाद में बने (ब्रह्माण्ड० १.३९-४०, १७३; २.२१.९, ३७; वायु० १.११.६०; मत्स्य० ३.३; ५३, ३-४, ९; आदि)। व्यास-रचित पुराण भी सृष्टिरचना-परक रहा होगा। पुराणों के कर्त्ता व्यास नहीं हैं, इस पक्ष में स्वयं पुराणों के प्रमाण से बढ़कर और प्रमाण क्या हो सकता है ?

दूसरा तर्क इस विषय में यह है कि व्यास का जीवनकाल महाभारत-युद्ध के पूर्व-पश्चात् की अवधि में माना जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार उनको हुए ५३०० वर्ष के लगभग हो चुके हैं जबकि पुराणों की रचना का समय २५०० वर्ष से इधर-इधर का है, क्योंकि मतवादी पुराण मतों के आविर्भाव के पश्चात् लिखे गये हैं और मतों का आविर्भाव २५०० वर्षों के इधर की कालसीमा में हुआ है। अतः व्यास के जीवन काल के साथ पुराणों के रचनाकाल का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

तीसरा तर्क यह है कि पुराणों में परस्पर घोर विरोध है अतः वे एक की रचना नहीं हो सकते। एक मत-वाले ने दूसरे मत-वालों की निन्दा की है। एक व्यक्ति, वह भी व्यास जैसा एक ऋषि एक-दूसरे की निन्दा का कार्य कभी नहीं कर सकता।

चौथा तर्क यह है कि वर्तमान पुराणों पर 'पुराण का लक्षण' घटता ही नहीं। (द्रष्टव्य अग्रिम पृ० पर टिप्पणी संख्या २) मत-

व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं है।[१] और वेदशास्त्रविरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास जी सदृश विद्वानों का काम नहीं, किन्तु यह काम विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान् लोगों का है। इतिहास और पुराण '**शिवपुराण**' आदि का नाम नहीं, किन्तु—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरिति॥

यह ब्राह्मण और सूत्रों का वचन है॥ [तैत्ति० आरण्यक २।९; आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।३।१]

'**ऐतरेय**', '**शतपथ**', '**साम**' और '**गोपथ**' ब्राह्मण ग्रन्थों के ही इतिहास, पुराण,[२] कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच नाम हैं। (**इतिहास**) जैसे जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद। (**पुराण**) जगदुत्पत्ति आदि का वर्णन, आख्यान।[३] (**कल्प**) वेद-शब्दों के सामर्थ्य का वर्णन, अर्थ निरूपण करना। (**गाथा**) किसी का दृष्टान्त-दार्ष्टान्तरूप कथा-प्रसङ्ग कहना। (**नाराशंसी**) मनुष्यों के प्रशंसनीय वा अप्रशंसनीय कर्मों का कथन करना। इन्हीं से[४] वेदार्थ का बोध होता है।

'**पितृकर्म**' अर्थात् ज्ञानियों के प्रसंग में[५] कुछ सुनना, '**अश्वमेध**' के अन्त में भी इन्हीं का सुनना लिखा है, क्योंकि जो व्यासकृत ग्रन्थ हैं, उनका सुनना-सुनाना व्यास जी के जन्म के पश्चात् ही हो सकता है, पूर्व नहीं। जब व्यास जी का जन्म भी नहीं था तब भी वेदार्थ को पढ़ते-पढ़ाते, सुनते-सुनाते थे। इसीलिये सबसे प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही यह सब घटना हो सकता है,[६] इन '**श्रीमद्भागवत**', '**शिवपुराण**'-आदि मिथ्यावाद दूषित ग्रन्थों में नहीं घट सकता।[७]

मतान्तर-वालों ने अपनी प्रशंसा और दूसरे मतों की निन्दा में स्वयं ग्रन्थ रचकर व्यास का नाम लिख रखा है। प्राचीन काल में यदि व्यास का कोई पुराण रहा होगा तो निश्चय ही वह सृष्टि-विद्या, भूगोल और इतिहास-परक होगा; नवीन पुराणों जैसा अनर्गल नहीं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**था**" अपक्रिया है। पूर्वार्ध वाक्य के अन्त में प्रयुक्त निरन्तर वर्तमानकालिक क्रिया के सम्बन्ध से यहां "**है**" क्रिया अभीष्ट है। यह भी तथ्य है कि गुणों का लेश उनमें अब भी नहीं है।

२. **पुराण का लक्षण**—महर्षि ने यहां जो '**पुराण**' अर्थ किया है उससे पुराण का मूल, प्राचीन और परम्परागत अर्थ गृहीत है। प्रायः सभी पुराणों में पुराण का यह लक्षण मिलता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

(विष्णु० ३.६.२४; ब्रह्माण्ड० प्रक्रिया० १.३८; स्कन्द प्रभास० २.८४; मत्स्य० ५३.६४ आदि)

अर्थात्—'**सर्ग**=सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन, **प्रतिसर्ग**=प्रलय का वर्णन, **वंश**=प्रमुख राजाओं-ऋषियों आदि की वंशावलियां, **मन्वन्तर**=मन्वन्तर आदि कालावधि का विवरण, **वंशानुचरित**=प्रमुख राजवंशों-ऋषिवंशों आदि की ऐतिहासिक घटनाएं, जहाँ ये पांच विषय हों वह 'पुराण' कहलाता है।' यह लक्षण इतना प्रसिद्ध और मान्य रहा है कि अमरकोशकार ने '**पञ्चलक्षणम्**' नाम पुराण का पर्याय दिया है (१.६.५)।

वर्तमान पुराणों में उनके द्वारा स्वयं घोषित लक्षण ही उनमें घटित नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में जो पुराण होते थे वे सृष्टि-वर्णक और सत्य इतिहास-वर्णक होते थे। मतमतान्तरों का वर्णन करनेवाले वर्तमान पुराणों का नाम मिथ्या रखा है। नाम भी मिथ्या है और उनकी विषयवस्तु भी मिथ्या है। इस आधार पर महर्षिकृत उक्त अर्थ प्रामाणिक है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से "**आख्यान**" पद त्रुटित रह गया है। किसी शोधक ने पंक्ति के ऊपर बाद में लिखा है। दूसरे शोधक ने फिर वर्णन पद जोड़ा है। दोनों पदों को ग्रहण करके मूलप्रति सं० में उपर्युक्त पाठ है और ग्राह्य है। 'उदयपुर' सं० के विद्वानों ने इसके महत्त्व को नहीं समझा अतः इसको त्रुटित छोड़ दिया।

४. **उपयुक्त वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**इन ही से**" के स्थान पर एकरूपता और मानकता के लिए अन्यत्र सर्वत्र प्रयुक्त "**इन्हीं से**" वर्तनी उपयुक्त है।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अनावश्यक एवं अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**ज्ञानियों के प्रसंग में**" पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**ज्ञानियों की प्रशंसा में**' संशोधन किया गया है। मूलप्रति का पाठ अधिक सटीक एवं व्यापकार्थक है, द्वि० सं० का पाठ संकुचितार्थक है, अतः संशोधन अग्राह्य है।

जो[१] व्यास जी ने वेद पढ़े, और पढ़ाकर वेदार्थ फैलाया, इसीलिये उनका नाम '**वेदव्यास**' हुआ; क्योंकि व्यास कहते हैं वार-पार की मध्य रेखा को, अर्थात् '**ऋग्वेद**' के आरम्भ से लेकर '**अथर्ववेद**' के पार पर्यन्त चारों वेद पढ़े थे और शुकदेव तथा जैमिनि आदि शिष्यों को पढ़ाये भी थे, नहीं तो उनका जन्म का नाम '**कृष्णद्वैपायन**' था। जो कोई यह कहते हैं कि ''वेदों को व्यास जी ने इकट्ठा किया''[२] यह बात झूठी है, क्योंकि व्यास जी के पिता, पितामह, प्रपितामह; **पराशर, शक्ति** और **वशिष्ठ;** और **ब्रह्मा** आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे; यह बात क्योंकर घट सके?[३]

प्रश्न—पुराणों में सब बातें झूठी हैं, वा कोई सच्ची भी है?

उत्तर—बहुत-सी बातें झूठी हैं और कोई-कोई 'घुणाक्षरन्याय'[४] से सच्ची भी है। जो सच्ची है वह वेदादि सत्यशास्त्रों की और जो झूठी हैं वे इन पोपों के पुराणरूप घर की हैं। जैसे '**शिवपुराण**' में शैवों ने शिव को परमेश्वर मानके विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश और सूर्यादि उनके दास ठहराये।[५] वैष्णवों ने '**विष्णुपुराण**' आदि में विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि विष्णु के दास।[६] '**देवीभागवत**' में देवी को परमेश्वरी [माना] और शिव, विष्णु आदि उसके किङ्कर बनाये।[७] '**गणेशखण्ड**' में गणेश को ईश्वर [माना] और शेष सब दास बनाये।[८] भला, यह बात इन सम्प्रदायी पोपों की नहीं तो किनकी

६-७. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**घटना**' पद को स्त्रीलिंग क्रिया मानकर आगे भी स्त्रीलिंग क्रिया ''**यह सब घटना हो सकती है**'' का प्रयोग है, जो अशुद्ध है। यहां ''**घटना**'' का अर्थ '**चरितार्थ होना**', '**घटित होना**' है। अर्थ की स्पष्टता के लिए ''**घट सकता है**'' ही पाठ पर्याप्त है। ''**यह सब**'' पदों के सम्बन्ध से यहां पुंल्लिंग में ही क्रिया-प्रयोग अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० के सम्पादकों ने इस पाठ की भाषा और प्रसंग को नहीं समझा अतः अशुद्ध पाठ ही दिया है।

१. **अप-संशोधन**—मुद्रणह०, द्वि० सं० में यहां '**जब**' पद का अप-परिवर्धन किया गया है। मूलप्रति में यह पद नहीं है। यहां ''**जो**'' पद अधिक सार्थक एवं उपयुक्त है।

२. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में व्याकरणिक दृष्टि से यह अपवाक्य है—''**वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किये**''। ऊपर इसका व्याकरणानुसार शोधन कर दिया गया है। इसका अभिप्राय है कि '**वेदों का संग्रह व्यास जी ने किया**'। ऐसा कुछ लोगों का मत है, जो निराधार है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में अपवाक्य है।

३. **पं० मीमांसक जी की शंका—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस कथन पर टिप्पणी में शंका व्यक्त की है कि ''**ब्रह्मा से कृष्ण द्वैपायन व्यास तक पांच पीढ़ी में अति सुदीर्घकाल कैसे व्यतीत हुआ, यह विचारणीय है।**'' कई बार पुरानी प्रयोग शैली से विद्वानों को भी अर्थ में भ्रान्ति हो जाती है। यहां व्यास, पराशर, शक्ति और वसिष्ठ ये चार पीढ़ियां तो निरन्तर पुत्र-पिता की हैं। फिर ''**और**'' से नये वाक्य की रचना है जिसका अभिप्राय है कि इन्होंने तो वेद पढ़े ही हैं, आदिकालीन ब्रह्मा ने भी वेद पढ़े थे। ग्रन्थकार वसिष्ठ के बाद बीच की अनेक पीढ़ियों को छोड़कर ''**और**'' पद से सीधे आदिकालीन ब्रह्मा का उल्लेख कर रहे हैं पिता-पुत्र की पीढ़ी का नहीं। पं० भगवद्दत्त जी के अनुसार ब्रह्मा भी अनेक हुए हैं और वसिष्ठ भी अनेक हुए हैं। यह वसिष्ठ आद्य ब्रह्मापुत्र नहीं है, उनका अनेक पीढ़ी परवर्ती वंशज है।

४. **अयोग्य लिपिकर-शोधक**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**घुनाक्षर-न्याय**'' अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है।

५-८. **अपवाक्य-रचना**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इन चारों वाक्यों की अपरचना है। हिन्दी-व्याकरणानुसार ऐसी रचना हिन्दी में नहीं होती। अज्ञात कारण से महर्षि की पूर्वापर शैली से भिन्न वाक्यरचना यहां मिलती है, जो इस प्रकार है—''**जैसे शिवपुराण में शैवों को परमेश्वर मानके विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश और सूर्यादि को उनके दास ठहराये। वैष्णवों ने विष्णुपुराण आदि में विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि को विष्णु के दास। देवीभागवत में देवी को परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि को उसके किंकर बनाये। गणेशखण्ड में गणेश को ईश्वर और शेष सब को दास बनाये।**'' वेस, जग, भद, युमी, विस आदि अन्य सं० के समान कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर' सं० ने इस सारी अप-वाक्यरचना को बिना किसी समीक्षा के स्वीकार कर लिया है, जो व्याकरणिक दृष्टि से अशुद्ध है। यही अशुद्ध पाठ सभी दूसरे सं० में है, फिर 'उदयपुर' सं० में 'मानक' क्या हुआ?

संशोधन-पुष्टि—इसके विपरीत शुद्ध वाक्यरचना पृ० ६२५ पर द्रष्टव्य है।

है ? **एक [सामान्य][१] मनुष्य के बनाये [ग्रन्थ][२] में ऐसी परस्परविरुद्ध बातें नहीं होती, तो विद्वान् के बनाये में कभी नहीं आ सकतीं**। इसमें एक बात को सच्ची मानें तो दूसरी झूठी और जो दूसरी को सच्ची मानें, तो अन्य सब झूठी होती हैं।[३]

शिवपुराण-वाले ने शिव से, **विष्णुपुराण**-वाले ने विष्णु से, **देवीपुराण**-वाले ने देवी से, **गणेशखण्ड**-वाले ने गणेश से, **सूर्यपुराण**-वाले ने सूर्य से और **वायुपुराण**-वाले ने वायु से सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय लिखके, एक-एक से एक-एक जगत् का कारण लिखा; पुनः उनकी उत्पत्ति एक-एक से लिखी। कोई पूछे कि जो जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करनेवाला है, वह उत्पन्न कभी [हो सकता है ?][४] और जो उत्पन्न होता है, वह सृष्टि का कारण कभी हो सकता है ?[५] तो सिवाय चुप रहने के कुछ भी नहीं कह सकते। और इन सबके शरीर की उत्पत्ति भी इसी से हुई होगी, फिर वे आप सृष्ट-पदार्थ और परिच्छिन्न होकर संसार की उत्पत्ति के कर्त्ता क्योंकर हो सकते हैं ? और [जगत् की][६] उत्पत्ति भी विलक्षण-विलक्षण प्रकार से मानी है जो कि सर्वथा असम्भव है। जैसे—

'**शिवपुराण**' में [लिखा है कि][७] शिव ने इच्छा की, 'मैं सृष्टि करूँ', तो एक 'नारायण-जलाशय' को उत्पन्न किया,[८] उसकी नाभि[९] से कमल, कमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसने देखा कि सब जलमय[१०] है। जल की अञ्जलि उठा, देख, जल में पटक दी। उससे एक बुद्बुदा उठा और बुद्बुदे में से एक पुरुष हुआ। उसने ब्रह्मा से कहा कि ''हे पुत्र! सृष्टि उत्पन्न कर।''

ब्रह्मा ने उससे कहा कि ''मैं तेरा पुत्र नहीं किन्तु तू मेरा पुत्र है।''

उनमें विवाद हुआ और दिव्यसहस्रवर्ष-पर्यन्त दोनों जल पर लड़ते रहे। तब महादेव ने विचार किया कि जिनको मैंने सृष्टि करने के लिये भेजा था, वे दोनों आपस में लड़ रहे हैं। तब उन दोनों के बीच में से एक तेजोमय लिंग उत्पन्न हुआ और वह शीघ्र आकाश में चला गया। उसको देखके दोनों

१,२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में विद्वान् से भिन्नता दिखाने के लिए '**सामान्य**' विशेषण आवश्यक है। स्पष्टार्थ के लिए, इसी प्रकार '**ग्रन्थ**' भी परिवर्धित करना वांछनीय है, क्योंकि मनुष्य तो विद्वान् भी है, अतः उसके विपरीतार्थक के रूप में '**सामान्य मनुष्य**' प्रयोग ही सार्थक है। अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ आवश्यक है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक बेतुका पाठ-परिवर्धन**—मुद्रणह० में यहां अनावश्यक रूप से यह पाठ परिवर्धित किया है—''**इसमें एक बात को सच्ची मानें तो दूसरी झूठी और जो दूसरी को सच्ची मानें तो तीसरी झूठी और जो तीसरी को सच्ची मानें तो अन्य सब झूठी होती हैं।**'' अभीष्ट अर्थ मूलह०, मूलप्रति सं० के पाठ से पूर्णतः प्रकट हो रहा है अतः यह परिवर्धन व्यर्थ है। जब दूसरी के बाद अन्य सब बातें झूठी कह दीं तो तीसरी उसमें स्वतः आ गई। लिपिकर इसी प्रकार अविचारित अशुद्ध भाषा परिवर्तन करता है। सभी सं० में यही अपपाठ है।

४,६,७. **आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तीनों स्थलों पर संगति और पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए बृहत् कोष्ठक में अंकित पाठ का होना आवश्यक है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा असंगत और अपवाक्य रचना**—मुद्रणह० व तीनों सं० में यहां वाक्यान्त में ''**वा नहीं**'' असंगत पद हैं। इनके बिना ही उपयुक्त वाक्य है। यहां प्रश्न नहीं है अपितु प्रश्नशैली में आक्षेप है, अतः ''**वा नहीं**'' पद अनुपयुक्त हैं। मूलह० में महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है, मूलसं० ने व्यर्थ मुद्रणप्रति का पाठ ग्रहण किया है।

८. **अपक्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**कर**'' अपक्रिया है। पूर्वापर क्रियाओं के सम्बन्ध से यहां निरन्तर क्रिया नहीं अपितु भूतकालिक क्रिया अभीष्ट है।

९-१०. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० में ये अपवर्तनियां हैं—''**नाभी**'', ''**जलामय**''। यही द्विप्र० में छपी हैं! प्रमादी शोधकों को अशुद्ध प्रतीत नहीं हुई होंगी ? द्वि०सं०, मूलसं० आदि में इनका संशोधन कर लिया है।

साश्चर्य हो गये। विचारा कि इसका आदि-अन्त लेना चाहिये। जो आदि-अन्त लेके शीघ्र आवे वह पिता और जो पीछे [आवे][१] वा थाह लेके न आवे वह पुत्र कहावे। विष्णु कूर्म का स्वरूप धरके नीचे को चला और ब्रह्मा हंस का शरीर धारण करके ऊपर को उड़ा। दोनों मनोवेग से चले। दिव्यसहस्र-वर्षपर्यन्त दोनों चलते रहे तो भी उसका अन्त न पाया। तब नीचे से ऊपर विष्णु और ऊपर से नीचे ब्रह्मा चला[२]। ब्रह्मा ने विचारा कि जो वह छेड़ा[३] ले आया होगा तो मुझको पुत्र बनना पड़ेगा। ऐसा सोच रहा था कि उसी समय एक गाय और एक केतकी का वृक्ष ऊपर से उतर आये[४]। उनसे ब्रह्मा ने पूछा कि—''कि तुम कहाँ से आये?''

उन्होंने कहा—''हम सहस्र वर्षों से इस लिंग के आधार से चले आते हैं।''

ब्रह्मा ने पूछा कि—''इस लिंग का थाह है वा नहीं?''

उन्होंने कहा कि ''नहीं''।

ब्रह्मा ने उनसे कहा कि ''तुम हमारे साथ चलो और ऐसी साक्षिता[५] दो कि 'मैं इस लिंग के शिर पर दूध की धारा वर्षाती थी' और वृक्ष कहे कि 'मैं फूल वर्षाता था', ऐसी साक्षिता[६] दो तो मैं तुमको ठिकाने पर ले चलूं।''

उन्होंने कहा कि ''हम झूठी साक्षिता[७] नहीं देंगे।''

तब ब्रह्मा कुपित होकर बोला—''जो साक्षिता[८] न दोगे तो मैं तुमको अभी भस्म कर देता हूँ।''

तब दोनों ने डरके कहा—''हम, जैसा तुम कहते हो, वैसी साक्षिता[९] देवेंगे।''

तब तीनों नीचे की ओर चले। विष्णु पहले[१०] ही आ गये थे, ब्रह्मा भी पहुँचा। विष्णु से पूछा कि ''तू थाह ले आया वा नहीं?''

तब विष्णु बोला—''मुझको इसका थाह नहीं मिला।''

ब्रह्मा ने कहा—''मैं ले आया।''

विष्णु ने कहा—''कोई साक्षी दो।''

तब गाय और वृक्ष ने साक्षिता दी—''हम दोनों लिंग के शिर पर थे।''

तब लिंग में से शब्द निकला और [वृक्ष को][११] शाप दिया—''जो तूने झूठ बोला,[१२] इसलिये तेरा

---

१. **आवश्यक क्रिया**—दोनों सं० में यहां उचित संगति तथा वाक्य पूर्णता के लिए '**आवे**' क्रिया का परिवर्धन आवश्यक है।

२. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ**—द्विप्र० में ''**ब्रह्मा चला**'' पाठ त्रुटित है। द्वि०सं० तथा 'उदयपुर' सं० ने परिवर्धित कर लिया है।

३. **छेड़ा**=थाह।

४. **अपक्रिया**—दोनों सं० में ''**आया**'' अपक्रिया है। यहां दो वस्तुओं के लिए बहुवचनान्त क्रिया '**आये**' अपेक्षित है, जैसे कि अगले वाक्य के अन्त में है। 'उदयपुर' सं० में अन्य सं० के समान अशुद्ध प्रयोग है।

५-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में छहों स्थानों पर ''**साक्षी**'' अपप्रयोग है। यहां '**साक्षिता**' या '**साक्ष्य**' शुद्ध प्रयोग हैं। '**साक्षी**' का अर्थ है—'**गवाही देने वाला**' और '**साक्षिता**' एवं '**साक्ष्य**' का अर्थ है—'**गवाही**'। आगे भी ऐसा ही संशोधन समझें। 'उदयपुर' सं० आदि सभी में सर्वत्र यही अपप्रयोग है। द्र०टि०पृ० ३०२ पर।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पद पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० के '**पहले**' पद के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**प्रथम**' पद का व्यर्थ परिवर्तन है, '**पहले**' पद ही सटीक है। यहां विशेषण नहीं, 'पूर्व' अर्थवाचक पद चाहिए।

११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्य की पूर्णता और संगति के लिए '**वृक्ष को**' पाठ चाहिए।

फूल मुझ वा अन्य देवता पर जगत् में कहीं नहीं चढ़ेगा और जो कोई चढ़ावेगा उसका सत्यानाश होगा।'' गाय को शाप दिया कि ''जिस मुख से तूने झूठ बोला,[१३] उसी से विष्ठा खाया करेगी। तेरे मुख की पूजा कोई न करेगा, किन्तु पूंछ की करेंगे।'' और ब्रह्मा को शाप दिया ''कि जिससे तू मिथ्या बोला, इससे तेरी पूजा संसार में कहीं न होगी।'' और विष्णु को वर दिया—''जिससे तू सत्य बोला, इससे तेरी पूजा सर्वत्र होगी।''[१]

पुनः दोनों ने लिंग की स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर उस लिंग में से एक जटाजूट मूर्त्ति निकल आई और कहा कि ''तुमको मैंने सृष्टि करने के लिये भेजा था, झगड़े में क्यों लगे रहे?''

ब्रह्मा और विष्णु ने कहा कि ''हम विना सामग्री सृष्टि कहाँ से करें।''

तब महादेव ने अपनी जटा में से भस्म का गोला निकाल कर दिया कि ''जाओ, इसमें से सब सृष्टि बनाओ'' इत्यादि।[२]

कोई इन पुराणों के बनानेवाले पोपों से पूछे कि जब सृष्टितत्त्व और पञ्चमहाभूत भी नहीं थे, तो ब्रह्मा, विष्णु, महादेव के शरीर, जल, कमल, लिंग, गाय और केतकी का वृक्ष और भस्म तुम्हारे बाबा के घर में से आ गिरे?

वैसे ही '**भागवत**' में [लिखा है कि] विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा के दाहिने पग के अंगूठे से स्वायंभुव [मनु[३]] हुआ और बायें अंगूठे से शतरूपा[४] राणी, ललाट से रुद्र और मरीचि आदि दश पुत्र, उनसे दक्ष प्रजापति[५] उत्पन्न हुआ, उनकी तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से हुआ, उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव, अदिति से आदित्य, विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा[६]

१२-१३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर क्रमशः ये अपवाक्य हैं—''**जिससे तू झूठ बोला**'' और ''**जिस मुख से तू झूठ बोली**''। हिन्दी व्याकरण में इस प्रकार वाक्य-रचना नहीं होती। यही अपपाठ 'उदयपुर' आदि सं० में है।

१. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में शाप और वरदान देने सम्बन्धी वाक्यों का क्रम अस्तव्यस्त है। पहले गाय को शाप है, फिर विष्णु को वरदान है, फिर ब्रह्मा को शाप है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में पहले शाप सम्बन्धी और फिर वरदान सम्बन्धी वाक्य क्रम से रखे हैं। यह संशोधन उचित होने से ग्राह्य है।

२. **शिवपुराण**—विश्वेश्वर संहिता अ० ६, ७।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां स्पष्टता के लिए '**मनु**' नाम का उल्लेख आवश्यक है। वाक्य के पूर्वांश में कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है।

४. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में ''**सत्यारूपा**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस में ''**शतरूपा**'' उचित संशोधन है। जग, 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध नाम है। यह तथ्याधारित ऐतिहासिक नाम '**शतरूपा**' है।

५. **मुद्रणलिपिकर कृत भ्रष्टपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां ''**दश प्रजापति**'' भ्रष्ट पाठ है। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**दक्ष प्रजापति**'' पाठ है, जो शुद्ध एवं ग्राह्य है।

विद्वानों द्वारा अयोग्यता का प्रदर्शन—यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि मरीचि के वंश में '**दक्ष प्रजापति**' हुए हैं, '**दश प्रजापति**' नहीं। प्राचीन इतिहास का सामान्य पाठक भी इसको जानता है। एक **पं० भगवद्दत्त जी** को छोड़कर किसी ने भी इस पर विचार नहीं किया और अशुद्धि का ही अनुसरण किया। वेस, जग, युमी, विस, जस तथा कथित दश विद्वानों द्वारा मिलकर सम्पादित 'उदयपुर' सं० जिसके 'मानक संस्करण' होने का दावा किया गया है, आदि सभी ने यहां अयोग्यता का प्रदर्शन करते हुए ''**दश प्रजापति**'' अशुद्ध पाठ ग्रहण किया है। सभी द्वि०सं० में आज भी यही ऐतिहासिक तथ्यविरुद्ध भ्रष्टपाठ छप रहा है। मुद्रणलिपिकर ने मूर्खतापूर्ण अशुद्धि करके ऋषि पर तथ्यात्मक त्रुटि होने का दोष लगवा दिया है!!

६. **महामूर्ख लिपिकर-शोधक**—मूर्ख लिपिकरों ने दोनों हस्तलेखों में ''**सरमा**'' नाम के स्थान पर ''**शर्म्मा**'' घोर-वर्तनी लिखी है। उन्होंने इतना विचार भी नहीं किया कि ''**शर्म्मा**'' पुंलिंग नाम है और यहां स्त्री की चर्चा हो रही है और यह भी कि ''शर्म्मा''

से कुत्ते, स्याल आदि और अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे, भैंसे,[१] सिंह, घास-फूस और बबूल आदि के वृक्ष काँटे सहित उत्पन्न हो गये।[२]

वाह रे 'भागवत' के बनानेवाले लालबुझक्कड़![३] तुमको ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा-शर्म न आई।[४] भला, स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से मनुष्य तो बनते हैं परन्तु परमेश्वर के[५] सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी उत्पन्न हो सकते हैं? हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ते, गधे वृक्षादि के स्थित होने का अवकाश स्त्री के गर्भाशय में कहां हो सकता है?[६] और सिंह आदि उत्पन्न होकर अपने मा-बाप को क्यों न खा गये?[७] इत्यादि झूठी बातों को वे अन्धे 'पोप' और भीतर-बाहर की आँख फूटे हुये उनके चेले सुनते-मानते हैं। ये मनुष्य हैं वा अन्य कोई?[८] इन '**भागवत**'-आदि पुराणों के

पुंल्लिंग से प्राणी कैसे उत्पन्न होंगे? प्रमादी शोधक शर्माद्वय (ज्वालादत्त और भीमसेन) ने इसका संशोधन नहीं किया अत: यही अशुद्धि द्वितीय सं० (१८८४) में छपी है। पाठक कल्पना करें कि ऋषि को ऐसे महामूर्ख और मक्कारों से काम लेना पड़ा था। संशोधन-विरोधियों को इस पाठ में कोई नया रहस्य या चमत्कार ढूंढने का अच्छा अवसर है, प्रयास करें!! द्वि०सं०, मूलसं० ने तो इस अशुद्धि का संशोधन कर लिया है और 'उदयपुर' सं० में भी बिना किसी 'ननुनच' के संशोधित है।

दोनों लिपिकरों ने इससे पहले शब्द के लेखन में भी मूर्खता दिखाई है। '**सर्प**' को ''**शर्प्प**'' लिखा है। इस प्रसंग के अन्य शब्दों, जैसे—'**दाहिने**' को ''**दहिने**'', '**अंगूठे**' को ''**अंगोठे**'', '**शाप**' को ''**स्त्राप**'', '**नाभि**' को ''**नाभी**'' लिखकर अयोग्यता का परचम लहरा दिया है!! ऋषि दयानन्द को ऐसे अयोग्य लिपिकरों से काम लेना पड़ा था!!

१. **अपवाक्य एवं अपूर्ण वाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपूर्ण और अपवाक्य है। मूलप्रति सं० में यह वाक्य इस प्रकार है—''**अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊंट, गधा, भैंसा, घास-फूस और बबूल का वृक्ष कांटे सहित उत्पन्न हो गया।**'' द्वि० सं० में एक उचित संशोधन यह है कि ''**हो गये**'' बहुवचनान्त क्रिया का प्रयोग है। दोनों ही सं० में बहुवचनात्मक ''**घोड़े**'' प्रयोग के सम्बन्ध से ''**गधा, भैंसा**'' बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित हैं। इसके अतिरिक्त इस वाक्य में '**सिंह**' का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि उत्तर में '**सिंह**' से सम्बन्धित समीक्षा की गई है। यही ऊटपटांग वाक्य 'उदयपुर' सं० आदि में विद्यमान है।

२. भागवतपुराण ३.६.८.१२ अध्याय।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-पाठान्तर तथा अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य में ''**वाह रे वाह**'' दो बार पद-परिवर्धन अनावश्यक है। दोनों हस्त०, तीनों सं०, उदयपुर में ''**लाल भुजक्कड़**'' अपवर्तनी है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन तथा अनावश्यक पाठ-परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**लज्जा-शर्म न आई**'' एकार्थक युग्म शब्द का प्रयोग है जो किसी भाव पर बल देने के लिए हुआ करता है। मुद्रणलिपिकर ने अपनी अयोग्यता से उसको ''**लज्जा और शर्म न आई**'' अपप्रयोग बना दिया जबकि दोनों एकार्थक पद हैं। लिपिकरों-शोधकों की मूर्खता की पराकाष्ठा देखिए कि मुद्रणह० और द्विप्र० में फारसी के शब्द में भी ''**शर्म्म**'' द्वित्व का प्रयोग किया है। 'उदयपुर सं०' में ''**शर्म्म**'' अपवर्तनी, मूलह० में ''**सर्म्म**'' तथा द्वि०सं० में ''**शरम**'' अपवर्तनी है। आगे ''**निपट अन्धा ही बन गया**'' व्यर्थ पाठ-परिवर्धन है। यही अपपाठ द्वि०सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में छप रहा है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपप्रयोग है—''**परमेश्वर की सृष्टिक्रम के विरुद्ध**''। उपर्युक्त शुद्ध है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपूर्ण वाक्य है। ''**कुत्ते, गधे, वृक्षादि**'' पद भी इसमें होने चाहिएं, क्योंकि प्रश्न की भाषा में हैं और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ये परिवर्धित हैं, अत: ग्राह्य भी हैं।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्ति एवं अनावश्यक पाठ विस्तार**—मुद्रणलिपिकर ने यहां कई पंक्तियां बढ़ाई हैं जिनमें से पहला वाक्य तो इस अनुच्छेद में पहले उक्त वाक्य की पुनरुक्तिमात्र है। शेष वाक्यों का भाव भी पुनरुक्तमात्र है। परिवर्धित पाठ इस प्रकार है—''**स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से मनुष्य तो बनते हैं परन्तु परमेश्वर की सृष्टिक्रम के विरुद्ध पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी उत्पन्न नहीं हो सकते.....और मनुष्य-शरीर से पशु-पक्षी, वृक्षादि का उत्पन्न होना क्योंकर सम्भव हो सकता है? शोक है इन लोगों की रची हुई इस महा असम्भव लीला पर जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रक्खा है। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि**-- ''। यह भाव ऊपर आ चुका है अत: परिवर्धन अनावश्यक है।

८. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में, मूलह०, मूलप्रति सं० के वाक्य—''**मनुष्य हैं वा अन्य हैं?**'' के स्थान पर ''**ये मनुष्य हैं वा अन्य कोई?**'' अधिक सटीक वाक्य है। यह ग्राह्य है।

बनानेवाले जन्मते नहीं, [अपितु] गर्भ में ही नष्ट हो जाते, वा जन्म कर उसी समय मर जाते [तो अच्छा होता] !! **क्योंकि इन पोपों से बचते तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता!**[१]

प्रश्न—इन बातों में विरोध नहीं आ सकता, क्योंकि '**जिसका विवाह उसी के गीत**'। जब विष्णु की स्तुति करने लगे तब विष्णु को परमेश्वर, अन्यों[२] को दास; जब शिव के गुण गाने लगे तब शिव को परमात्मा, अन्यों[३] को किङ्कर बनाया। और परमेश्वर की माया में सब बन सकता है। मनुष्य से पशु आदि और पशु आदि से मनुष्यादि की[४] उत्पत्ति परमेश्वर कर सकता है। देखो, विना कारण अपनी माया से सब सृष्टि खड़ी कर दी है। उसमें कौन-सी बात अघटित है? जो करना चाहे, सो सब कर सकता है।

उत्तर—अरे भोले लोगो। विवाह में जिसके गीत गाते हैं, उसको सबसे बड़ा और दूसरों को छोटा वा निन्दा [का पात्र][५] अथवा उसको सबका बाप तो नहीं बनाते? कहो पोप जी! तुम भाट और खुशामदी चारणों से बढ़कर गप्पी हो अथवा नहीं कि जिसके पीछे लगो, उसी को सबसे बड़ा बनाओ और जिससे विरोध करो उसको सबसे नीच ठहराओ? तुमको सत्य और धर्म से क्या प्रयोजन? किन्तु तुमको तो अपने स्वार्थ से ही काम है। माया मनुष्य में हो सकती है, जो कि छली-कपटी हैं उन्हीं को '**मायावी**' कहते हैं; परमेश्वर में छल-कपटादि दोष न होने से, उसको 'मायावी' नहीं कह सकते। जो आदिसृष्टि में कश्यप और कश्यप की स्त्रियों से पशु, पक्षी, सर्प, वृक्षादि हुए होते तो आजकल भी वैसे सन्तान क्यों नहीं होते? सृष्टिक्रम जो पहले लिख आये वही ठीक है।[६] और अनुमान है कि पोप जी यहीं से धोखा खाकर बहके[७] होंगे—

---

१. **मुद्रणकालीन अतिभ्रष्टपाठ**—मुद्रणह०,द्विप्र० और द्वि० सं० में ये दोनों वाक्य अस्त-व्यस्त होकर भ्रष्ट-वाक्य बन गये हैं। मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त पाठ यह इस प्रकार है—''**इन भागवतादि पुराणों के बनाने वाले जन्मते नहीं, गर्भ में ही नष्ट हो जाते, वा जन्म कर उसी समय मर जाते; क्योंकि इन पापों से बचते तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता।**'' मुद्रणह० में लिपिकर या शोधककृत भ्रष्ट पाठ इस प्रकार है—''**इन भागवतादि पुराणों के बनानेहारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये? वा जन्मते समय मर क्यों न गये? क्योंकि इन पापों से बचते तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता।**'' यही भ्रष्ट पाठ **द्वि०सं०, युमी, विस, जग, भद** और '**उदयपुर सं०**' में है। **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी** और **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने पहले वाक्य से ''**जन्मते ही**'' पदों को निकालकर इसको परिवर्तित किया है। यहां मुद्रणप्रति तथा द्वि०संस्करणों के पाठ में भ्रष्टता यह है कि पहले वाक्य के ''**जन्मते ही**'' का यदि 'जन्म लेते समय' अर्थ करें तो अग्रिम वाक्य व्यर्थ है। यदि 'जन्म के बाद' अर्थ लगायें तो ''**गर्भ ही में नष्ट हो गये**'' वाक्यांश की संगति नहीं बनती। इसका उचित संशोधन उपर्युक्त पाठ में कर दिया है। तीनों सं० में '**पोपों**' के स्थान पर ''**पापों**'' भ्रष्टपाठ है। यहां ऊपर पुराणकार '**पोपों**' का प्रसंग है, 'पापों' का नहीं। इस पद का संशोधन युमी और जस में है, अन्य सभी सं० में अशुद्ध है, 'उदयपुर' सं० में भी भ्रष्ट पद है।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**अन्य**' एकवचनात्मक पद है, बहुवचनात्मक चाहिए।

४. **मुद्रणकालीन त्रुटित पाठ और पुनः ग्रहण**—मुद्रणकाल में भूल से, द्विप्र० में यह पाठ त्रुटित रह गया है—''**पशु आदि और पशु आदि से मनुष्यादि की**''। द्वि०सं० में ग्रहण कर लिया है। अन्य सभी पाठों में यह विद्यमान है। '**उदयपुर' सं० ने भी ग्रहण कर लिया है।**

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत '**का पात्र**' पाठ-परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना वाक्य ही नहीं बन रहा है।

६. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य अष्टम समुल्लास। पृ० ३७२ पर।

७. **अपक्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**बके**'' क्रिया लिपिकर के श्रवणदोष से लिखी गई है। यहां '**बहके**' चाहिए। धोखे में आकर मनुष्य बकता नहीं अपितु बहकता है।

तस्मात् काश्यप्य[१] इमाः प्रजाः ॥ [तुलना—शत० ब्रा०, ७।४।१।५]

शतपथ में यह लिखा है कि यह सब सृष्टि कश्यप की बनाई हुई है।

कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति ॥ निरु० [अ० २।खं० १; तुलना—तैत्ति० आ० १।८]

सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का नाम '**कश्यप**' इसलिये है कि '**पश्यकः**' अर्थात् '**पश्यतीति पश्यः, पश्य एव पश्यकः**'=जो निर्भ्रम होकर चराचर जगत्, सब जीवों और इनके कर्मों,[२] सकल विद्याओं को यथावत् देखता है; और '**आद्यन्त-विपर्ययश्च**' इस महाभाष्य [३।१।२३] के वचन से आदि का अक्षर अन्त और अन्त का वर्ण आदि में आने से '**पश्यक**' से '**कश्यप**' बन गया है।[३] इसका अर्थ न जानके, भाँग के लोटे चढ़ा, अपना जन्म सृष्टिविरुद्ध कथन करने में नष्ट कर दिया।

जैसे '**मार्कण्डेयपुराण**' के दुर्गापाठ में, देवों के शरीरों से तेज निकलके एक देवी बनी, उसने '**महिषासुर**' को मारा; 'रक्तबीज' [राक्षस] के शरीर से एक बिन्दु[४] भूमि पर पड़ने से उसके सदृश रक्तबीजों के उत्पन्न होने से सब जगत् में रक्तबीज भर जाना, रुधिर की नदियाँ चलना आदि गपोड़े बहुत-से लिख रक्खे हैं।[५]

जब 'रक्तबीज' [राक्षसों]से सब जगत् भर गया था तो देवी का सिंह और देवी कहां ठहरे थे[६]? जो कहो कि देवी से दूर-दूर 'रक्तबीज' थे, तो सब जगत् 'रक्तबीज' से नहीं भरा था! और जो भर गया था, तो पशु, पक्षी, मनुष्यादि प्राणी और जलस्थ[७] मगरमच्छ, कच्छप, मत्स्यादि [तथा] वृक्ष आदि कहाँ रहे थे?[८] यहाँ यही निश्चित जानना कि 'दुर्गापाठ' बनानेवाले 'पोप' के घर में भागकर चले गये होंगे!![९] देखिये, क्या ही असम्भव कथा का गपोड़ा भंग की लहरी में उड़ाया, जिसका[१०] ठौर न ठिकाना!

जिसको '**श्रीमद्भागवत**' कहते हैं, उसकी लीला सुनो। ब्रह्मा जी को नारायण ने '**चतुःश्लोकी**'

---

१. **अप उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**काश्प्य**" अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जीव**" और "**कर्म**" बहुवचनान्त अभीष्ट हैं।

३. **ऋषिहस्तलेख**—"**और आद्यन्त.....बन गया है।**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **रक्तबीज**—इस नाम का एक राक्षस था जो शुंभ और निशुंभ का सेनापति था। पौराणिक गपोड़े के अनुसार इस राक्षस के शरीर का एक बिन्दु रक्त गिरने से एक नया रक्तबीज राक्षस उत्पन्न हो जाता था। इस प्रकार जितने रक्तकण गिरे उतने राक्षसों से पृथ्वी भर गई। इस कारण से उसके बाद, दुर्गा देवी ने इसका वध मारकर नहीं किया अपितु इसका सारा रक्त पीकर किया।

५. **मार्कण्डेय पुराण** १.१३; ३.४३; ८ आदि।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्धन तथा अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**ठहरे थे**' बहुवचन अभीष्ट है, "**ठहरी थी**" अप-प्रयोग है। मुद्रणह० व द्वि०सं० में इस वाक्य में "**देवी की सेना**" पद अप्रासंगिक रूप से जोड़े हैं।

७. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—मुद्रणकाल में, द्विप्र० में यहां यह अपपाठ छपा है—"**जल स्थल मगरमच्छ**"। द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में भी संशोधित है। वेस, जग में "**मगर, मच्छ**" ऐसा अपपाठ बना दिया है।

८. **उचित संशोधन**—मुद्रण०, द्विप्र०, द्वि०सं० में आरम्भ और अन्त की "**भर जाता**" और "**रहते**" अपक्रियाओं को छोड़कर इस वाक्य की रचना उपयुक्त है जो ऊपर गृहीत है। मूलह०, मूलप्रति सं० में अपूर्ण वाक्य इस प्रकार है—"**और सब जंगली पशु, समुद्र की मच्छियां, पक्षी, वृक्ष आदि कहां रहे थे।**"

९. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में, मूलह०, मूलप्रति सं० के पाठ—"**घर में स्थित होंगे**" के स्थान पर "**पोप के घर में भागकर चले गये होंगे**" पाठ संशोधित किया है, जो अधिक सटीक है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां बहुवचनात्मक "**जिनका**" अपप्रयोग है। "**एक गपोड़ा**" पदों का प्रयोग है, अतः एकवचनात्मक '**जिसका**' प्रयोग अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० में भी अपप्रयोग है।

'**भागवत**' का उपदेश किया है—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।

सरहस्यं तदङ्गञ्च[१] गृहाण गदितं मया॥ भागवत [स्कं० २।९।३०]

=हे ब्रह्मा जी! तू मेरा परमगुह्य ज्ञान, जो विज्ञान और रहस्ययुक्त और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अङ्ग है, उसी को मुझसे ग्रहण कर।

जब विज्ञानयुक्त ज्ञान कहा तो 'परम' अर्थात् ज्ञान का विशेषण रखना व्यर्थ है और 'गुह्य' विशेषण से 'रहस्य' भी पुनरुक्त है। जब मूल श्लोक अनर्थक हैं तो ग्रन्थ अनर्थक क्यों नहीं? जब **भागवत** का **मूल ही झूठा है तो उसका वृक्ष झूठा क्यों नहीं होगा?**[२] ब्रह्मा जी को वर दिया कि—

भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

भागवत० श्लोक [स्कं० २।९] [३६]

'आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में मोह को प्राप्त कभी नहीं होंगे,' ऐसा लिखके पुनः दशमस्कन्ध में मोहित होके वत्सहरण किया, [लिखा है][३]। इन दोनों में से एक बात सच्ची है तो दूसरी झूठी है। ऐसा होकर दोनों बातें झूठी हुईं।[४] जब वैकुण्ठ में राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, दुःख नहीं हैं, तो सनक-आदिकों को वैकुण्ठ के द्वार में क्रोध क्यों हुआ? जो क्रोध हुआ तो वह स्वर्ग ही नहीं। जब जय, विजय द्वारपाल थे, [तो] स्वामी की आज्ञा पालनी आवश्यक[५] थी। उन्होंने सनक-आदिकों को रोका, तो क्या [यह कोई][६] अपराध हुआ? इस पर विना अपराध शाप ही नहीं लग सकता। जब शाप लगा कि 'तुम पृथिवी पर गिर पड़ो',[७] इसके कहने से यह सिद्ध होता है कि वहां पृथिवी न होगी। आकाश, वायु, अग्नि और जल होगा। जो ऐसा है, तो द्वार, मन्दिर और जल किसके आधार पर थे? पुनः जय, विजय ने सनकादिकों की स्तुति की—"महाराज! पुनः हम वैकुण्ठ में कब आवेंगे?" उन्होंने उनसे कहा कि "जो प्रेम से नारायण की भक्ति करोगे तो सातवें जन्म और जो विरोध से भक्ति करोगे तो तीसरे

---

१. **मुद्रणकालीन अप-उद्धरण पाठ**—मुद्रणकाल में, द्विप्र० में यह अपपाठ छपा है—"**तदञ् गञ्च**"। अब सभी संस्करणों में शुद्ध एवं संशोधित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० में, द्विप्र० में मूलह०, मूलसं० का यह महत्त्वपूर्ण वाक्य त्रुटित है—"**जब भागवत का मूल ही झूठा है तो उसका वृक्ष झूठा क्यों नहीं होगा?**" द्वि०सं०, युमी, भद, विस में परिवर्धित है। आश्चर्य है कि **स्वामी वेदानन्द जी** और पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती जैसे टिप्पणीकारों और 'उदयपुर' सं० के कथित दश सम्पादकों ने इतना महत्त्वपूर्ण ऋषिवाक्य त्रुटित छोड़ दिया है। 'उदयपुर' सं० को इसके छोड़ने में पता नहीं किस 'मानकता' का आभास हुआ है?

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत '**लिखा है**' क्रिया-परिवर्धन आवश्यक है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**दोनों बात झूठी।**" 'उदयपुर' सं० भी में अपवाक्य है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अवश्य**" अपप्रयोग है, '**आवश्यक**' विशेषण चाहिए। 'उदयपुर' सं० आदि सभी संस्करणों में अशुद्ध है। पृष्ठ २४ पर शुद्ध "**आवश्यक**" पद का प्रयोग है।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—उपयुक्त संगति के लिए दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठक में अंकित '**यह कोई**' पद अपेक्षित है।

७. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा 'उदयपुर' सं० आदि सभी संस्करणों में है—"**तुम पृथिवी में गिर पड़े।**" यहां "**पृथिवी पर**" शुद्ध है। भाव की दृष्टि से यह भूतकालीन अर्थबोधक वाक्य बन गया है जबकि यहां आदेशात्मक वाक्य अभीष्ट है। जब शाप दिया जा रहा है तो वह वर्तमान अथवा भविष्य काल में चरितार्थ होगा। **पाठ संशोधन की पुष्टि**—पृ० ६५५ पर शुद्ध पाठ द्रष्टव्य है—"**तू पृथिवी पर गिर।**"

जन्म वैकुण्ठ को प्राप्त होगे।''[१] इसमें विचारना चाहिये कि जय, विजय नारायण के नौकर थे। उनकी रक्षा और सहाय करना नारायण का कर्तव्य काम था। जो किसी के[२] नौकरों को विना अपराध दुःख देवें, उनको उनका स्वामी दण्ड न देवे तो उसके नौकरों की दुर्दशा हर कोई कर डाले। नारायण को उचित था कि जय, विजय का सत्कार और सनक-आदिकों को खूब दण्ड देते, क्योंकि उन्होंने भीतर आने के लिये हठ क्यों किया? और नौकरों से लड़े क्यों? [क्यों उनको] शाप दिया?[३] उनके बदले सनक-आदिकों को पृथिवी पर[४] डाल देना नारायण का न्याय होता[५]। जब इतना अन्धेर नारायण के घर में है, तो उसके सेवक जो कि '**वैष्णव**' कहाते हैं, उनकी जितनी दुर्दशा हो, उतनी थोड़ी है।

पुनः **हिरण्याक्ष** और **हिरण्यकशिपु**[६] उत्पन्न हुए। उनमें से हिरण्याक्ष को वराह ने मारा। उसकी कथा इस प्रकार से लिखी है कि वह पृथिवी को चटाई के समान लपेट कर सिरहाने[७] धर सो गया। विष्णु ने वराह का स्वरूप धारण करके, उसके शिर के नीचे से [निकालकर] पृथिवी को मुख में धर लिया। वह उठा। दोनों की लड़ाई हुई। वराह ने **हिरण्याक्ष** को मार डाला।

इन पोपों से कोई पूछे कि पृथिवी गोल है वा चटाई के तुल्य? तो कुछ न कह सकेंगे; क्योंकि पौराणिक लोग '**भूगोलविद्या**' के शत्रु हैं। भला, जब लपेटकर सिरहाने[८] धरली तो आप किस पर सोया? और वराह जी किस पर पग धर दौड़ आये? और फिर पृथिवी को तो वराह जी ने मुख[९] में

---

१. **जय-विजय को वैकुण्ठ प्राप्ति**—भागवत स्कन्ध ७, अ० १ में विष्णु के द्वाररक्षकों जय-विजय की कल्पनापूर्ण कथा आती है। सनक आदि ऋषियों को द्वार पर रोक देने मात्र के अपराध में वे वैकुण्ठ से पतित हो गये। फिर तीसरे जन्म में उन्हें विरोध-भक्ति के कारण पुनः वैकुण्ठ प्राप्त हो गया। वैकुण्ठ से पतित होकर पहले जन्म में वे प्रभु विरोधी हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बने। विरोधी होने के कारण विष्णु ने उनका वध किया। दूसरे जन्म में वे रावण और कुम्भकर्ण बने। विष्णुरूपधारी राम ने उनका वध किया। तीसरे जन्म में वे शिशुपाल और दन्तवक्त्र बने। तब विष्णुरूपधारी श्रीकृष्ण ने उनका वध किया। वध होते ही वे राक्षस जन्म से मुक्त होकर पुनः सीधे वैकुण्ठ को चले गये। इस गपोड़े के अनुसार उन्हें विरोध-भक्ति करने के कारण शीघ्र ही अर्थात् तीसरे जन्म में ही वैकुण्ठ मिल गया। यदि वे सज्जनों के समान भक्ति करते तो सातवें जन्म में वैकुण्ठ मिलता! यह है भागवत पुराण का मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त!! पुराणों ने शाप के नाम पर कितना भय और आतंक पैदाकर रखा था, पाठक इस पर भी ध्यान दें।

भागवत पुराण के अनुसार, भगवान् में मन लगाने, उसका चिन्तन करने और एकाग्र होने का नाम भक्ति है, चाहे वह द्वेष भाव से ही क्यों न हो। इस प्रकार पांच प्रकार की भक्ति वर्णित की है **१.कामभक्ति**—जैसी गोपियों ने की थी, **२. विरोध या घृणा भक्ति**-जैसी कंस व शिशुपाल ने की थी, **३. सम्बन्ध भक्ति**—जैसी परिवार के लोगों की होती है, **४. मित्रभक्ति**—जैसी युधिष्ठिर या अर्जुन की थी, **५. सामान्य भक्ति**—जैसी नारद की थी। इसमें काम और विरोध में अधिक तीव्र भाव होता है। जितना तीव्र जो भाव होता है उतनी ही जल्दी उस भाव से मुक्ति होती है। (भागवत ७.१.२९-३०)। इस प्रकार के अनर्गल विचारों का यह दुष्परिणाम निकला कि चोर, डकैत, हत्यारे भी पाप करने से पूर्व प्रभुस्मरण को भगवान् की भक्ति और आशीर्वाद मानने लगे।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**जो अपने नौकरों को**''। इसका संशोधन ऊपर कर दिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में भी अपपाठ है।

३. **त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संगति के लिए पूर्ण वाक्य की आवश्यकता है अतः कोष्ठकान्तर्गत पाठ चाहिए।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, इस वाक्य में ''**पृथिवी में**'' के स्थान पर ''**पृथिवी पर**'' प्रयोग उपयुक्त है। द्रष्टव्य गत पृष्ठ पर टि०संख्या ७। आगे, ''**था**'' के स्थान पर '**होता**' प्रयोग उपयुक्त है।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में इस नाम की वर्तनी अशुद्ध ''**हिरण्यकश्यप**'' है, शुद्ध '**हिरण्यकशिपु**' है। यही सर्वत्र ग्राह्य है (भागवत पुराण ३.१७.१८)। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध नाम है।

७-८. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**शिराने**'' अपवर्तनी है। इसका शुद्ध रूप ''**सिरहाना**'' है। पृ० ५३० पर भी ''**सिराने**'' अपवर्तनी है। यही अशुद्ध 'उदयपुर' सं० में है। ''सिरहाना'', संस्कृत 'शिराधान' का अपभ्रंश रूप है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मुख में रक्खी**'' अपपाठ है। यही अशुद्ध वाक्य 'उदयपुर' सं० में है।

रक्खा, फिर दोनों किस पर ठड़े होकर लड़े? वहाँ और कोई ठहरने की जगह नहीं थी, अत: '**भागवत**'-आदि पुराण बनानेवाले पोप जी की छाती पर ठड़े होके[१] लड़े होंगे! और फिर उस समय पोप जी किस पर सोये होंगे?[२] यह बात जैसे—'**गप्पी के घर गप्पी आये, बोले[३] गप्पी जी**'=जब मिथ्यावादियों के घरों में दूसरे गप्पी लोग आते हैं फिर गप्प मारने में क्या कमती, इस प्रकार की[४] है।[५]

अब रहा **हिरण्यकशिपु**। उसका लड़का जो **प्रह्लाद** था वह भक्त हुआ था। उसका पिता पढ़ने को पाठशाला में भेजता था। तब वह अध्यापकों से कहता था—''मेरी पट्टी पर 'राम-राम' लिख दो।''[६] जब उसके बाप ने सुना तो उससे कहा—''तू हमारे शत्रु का भजन क्यों करता है?'' छोकरे ने न माना। तब उसके बाप ने उसको बाँधके पहाड़ से गिराया, कूप में डाला, परन्तु उसको कुछ न हुआ। तब वह[७] एक लोहे का खम्भा आग में तपाके उससे बोला—''जो तेरा इष्टदेव 'राम' सच्चा हो तो तू इसको पकड़ने से न जलेगा।'' प्रह्लाद पकड़ने को चला। मन में शंका हुई—'जलने से बचूंगा वा नहीं?' नारायण ने उस खम्भे पर छोटी-छोटी चीटियों की पंक्ति चलाई। उसको निश्चय हुआ, [उसने][८] झट खम्भे को जा पकड़ा। वह फट गया, उसमें से नृसिंह निकला। [उसने][९] उसके बाप को पकड़, पेट चीर, मार डाला और तब वह प्रह्लाद को चाटने लगा। [नृसिंह ने][१०] प्रह्लाद से कहा—''वर माँग।'' उसने अपने पिता की सद्गति होनी मांगी। नृसिंह ने वर दिया—''तेरे इक्कीस पुरुषे[११] सद्गति को गये।''[१२]

देखिये, यह भी दूसरे गपोड़े का भाई गपोड़ा। किसी '**भागवत**' बाँचने वा सुननेवाले को पकड़के ऊपर पहाड़ से गिरावे तो कोई न बचे, किन्तु चकनाचूर होकर मर जावे। प्रह्लाद को उसका पिता पढ़ने

१-४. **अनावश्यक एवं उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**ठड़े होकर**'' व्रज बोली का प्रयोग है। द्विप्र०, द्वि० सं० में हिन्दी रूप ''**खड़े होकर**'' अनावश्यक परिवर्तित है। सभी पाठों में ''**सोया होगा**'' के स्थान पर ''**सोये होंगे**'' अभीष्ट है। मूलप्रति सं० में ''**बोलो**'' प्रयोग है; द्वि० सं० में ''**बोले**'' संशोधित है। मूलप्रति सं० में ''**ही है**'' पाठ है, द्वि० सं० में ''**की है**'' संशोधित है। अन्तिम तीन संशोधन ग्राह्य हैं। बोली के प्रयोग तो ग्रन्थ में बहुत हैं।

५. **उदयपुर सं० में पुनरुक्तिपूर्ण अपपरिवर्तन और अपविराम**—कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर संस्करण' ने अच्छे-भले पूर्व संशोधित पाठ का यह अपपाठ बना दिया—''**यह बात जैसे गप्पी के घर गप्पी आये, बोले गप्पी जी'' जब मिथ्यावादियों के घर में दूसरे गप्पी लोग आते हैं, फिर गप्प मारने में क्या कमती? इस प्रकार की यह बात है!** यहां पहली अशुद्धि है कि यह सम्पूर्ण एक वाक्य है और इस वाक्य में आरम्भ में ''**यह बात**'' पद आ चुके हैं, पुन: अन्त में ''**यह बात**'' पद रख दिये जो पुनरुक्त भी हैं और निरर्थक भी। द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी सं० ने अन्त के पुनरुक्त पदों को हटा दिया था, '**उदयपुर सं०**' ने उस अशुद्धि को पुन: स्थापित कर दिया। दूसरी अशुद्धि है—''**जैसे**'' उदाहरणबोधक पद है, कहावत का अंश नहीं है, उसको अप-उद्धरण चिह्न लगाकर कहावत का अंश बना दिया। तीसरी अशुद्धि है—यह वर्णनात्मक वाक्य है, प्रश्नवाचक नहीं, अत: ''**कमती**'' पद के बाद प्रश्न चिह्न अशुद्ध है। यह प्रश्नचिह्न अन्य किसी सं० में नहीं है।

६. '**राम-राम**' **से अभिप्राय**—पौराणिक जो कथाएं सुनाते हैं, उनमें इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। दशरथपुत्र ऐतिहासिक 'राम' हिरण्यकशिपु से अनेक पीढ़ियों के बाद हुए हैं, अत: यहां 'दशरथपुत्र राम' से अभिप्राय नहीं है। यहां 'विष्णु' नामक भगवान् से अभिप्राय है। विष्णु, राम और कृष्ण, तीनों एक ही अवतार परम्परा के भगवान् माने गये हैं। इस कारण तीनों के नाम तीनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। इस परम्परा के अनुसार इस कथा में 'राम' विष्णु का बोधक है। विष्णु से ही हिरण्यकशिपु की शत्रुता थी। अन्त में विष्णु=नारायण ने ही 'नृसिंह' का अवतार लेकर उसको मारा। वैसे भी, 'राम' ईश्वर का नाम है, पौराणिक आज भी इसका इस अर्थ में प्रयोग करते हैं।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उसने**'' अपप्रयोग है, '**वह**' संशोधन अपेक्षित है।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ संगति के लिए आवश्यक है।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संगति के लिए बृहत् कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

११. **पुरुषे**=पुरखे, पूर्वज।

१२. **भागवत पुराण** ३.१७-१९ अध्याय।

के लिये भेजता था, [तो उसने][१] क्या बुरा काम किया था? और वह प्रह्लाद ऐसा मूर्ख [था कि][२] पढ़ना छोड़ वैरागी होना चाहता था। जो जलते हुए खम्भे के स्पर्श से कीड़ी और प्रह्लाद न जले,[३] इस बात को जो सच्ची माने उसको भी खम्भे के साथ लगा देना चाहिये। जो वह[४] न जले तो जानो वह भी न जला होगा। और नृसिंह भी क्यों न जला? प्रथम, तीसरे जन्म में वैकुण्ठ में आने का वर सनक-आदिक का था। क्या उसको तुम्हारा नारायण भूल गया? '**भागवत**' की रीति से ब्रह्मा, प्रजापति, कश्यप से आगे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु चौथी पीढ़ी में होते हैं। इक्कीस पीढ़ियां[५] प्रह्लाद की हुई ही नहीं, पुनः ''इक्कीस[६] पुरुषे सद्गति को गये'' कहना कितना प्रमाद है! और फिर वे ही हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, पुनः[७] रावण-कुम्भकर्ण,[८] पुनः शिशुपाल-दन्तवक्त्र[९] उत्पन्न हुए तो नृसिंह का वर कहाँ उड़ गया?[१०] ऐसी प्रमाद की बातें प्रमादी करते, सुनते और मानते हैं, विद्वान् नहीं।

पूतना और अक्रूर जी के विषय में देखो —

जगाम गोकुलं प्रति॥ [रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्] [भागवत० स्कं० १०।३८।१]

''**रथेन वायुवेगेन**''[११] [भागवत० स्कं० १०।३९।३८]

अक्रूर जी, कंस के भेजने से, वायु के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ में बैठके सूर्योदय से चले और चार मील गोकुल में सूर्यास्त समय पहुँचे! शायद, घोड़े '**भागवत**' बनानेवाले की परिक्रमा करते

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—उपयुक्त वाक्यरचना और संगति के लिए दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**तो उसने**' '**था कि**' पदों का बढ़ाना आवश्यक है।

३-५. **अपप्रयोग एवं अपवर्तनी**—दोनों सं० में ''**जला**'', ''**यह**'' ''**पीढ़ी**'' एकवचनान्त अपप्रयोग हैं, यही अपप्रयोग 'उदयपुर' सं० में हैं। तीनों का बहुवचन रूप अपेक्षित है।

६. **घोर अयोग्य लिपिकर-शोधक**—लिपिकरों-शोधकों की अयोग्यता देखिए कि दोनों हस्त० में, इस प्रसंग में तीन बार आये एक शब्द की दो वर्तनियां हैं—''**इक्कीस, एक्कीस**''। शोधकों ने शोधन की अपेक्षा अधिक अपशोधन किया है, द्विप्र० में तीन बार आये इस शब्द की अन्य दो वर्तनियां हैं—''**इक्कीश, एक्कीश**''। द्वि०सं०, मूलसं० में 'इक्कीस' यह वर्तमान वर्तनी परिवर्तित हैं। 'उदयपुर' सं० में भी परिवर्तित है।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कुम्भकरण**'' अपवर्तनी है। उपर्युक्त शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में भी अपवर्तनी है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**पुनः**' पद त्रुटित रह गया है, जो आवश्यक है।

९. **दन्तवक्त्र**—यह शिशुपाल का भाई था और करूष देश का राजा था। 'करूष' राज्य विन्ध्याचल के भूभाग में था। ऐतिहासिकों के मन्तव्य के अनुसार वर्तमान शाहाबाद जिला करूष देश था। दन्तवक्त्र का वध श्रीकृष्ण ने किया था।

१०. **नृसिंह का मिथ्या वर**—ग्रन्थकार का यहां यह तर्क है कि जब प्रह्लाद को 'नृसिंह' नामक अवतार ने इक्कीस पुरखों की सद्गति होने का वरदान दिया था तो प्रह्लाद के पूर्वज हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष, पुनः 'रावण-कुम्भकर्ण' और पुनः 'शिशुपाल-दन्तवक्त्र' के राक्षस जन्म में क्यों आये? इस प्रकार नृसिंह का वर मिथ्या सिद्ध हो गया।

११. **उद्धरणों का अपक्रम और सम्पादकों की भूल—स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, 'उदयपुर' सं०** तथा **मूलप्रति संस्करण** आदि ने यहां उद्धरण की संख्या तो दे दी किन्तु एक दूसरे का अनुकरण करते हुए यह ध्यान नहीं दिया कि ये दो उद्धरण अपक्रम में है और उनका क्रम भी ठीक करना चाहिये। उनके संस्करणों में यह हास्यास्पद स्थिति बन गई कि ३९वें अध्याय का ''**रथेन वायुवेगेन**'' उद्धरण पहले उद्धृत है और ३८वें अध्याय का ''**जगाम गोकुलं प्रति**'' बाद में है। वस्तुतः दोनों उद्धरण पृथक्-पृथक् प्रसंगों के हैं। ''**जगाम गोकुलं प्रति**'' पाठ वर्तमान भागवतपुराण में नहीं मिलता। इसके लिए ''**प्रययौ नन्दगोकुलम्**'' मिलता है। यह कथन अक्रूर के वृन्दावन से मथुरा को जाने के समय का है जबकि ''**रथेन वायुवेगेन**'' वृन्दावन से कृष्ण को लेकर मथुरा लौटने के समय का है। अतः दोनों उद्धरणों का क्रम ठीक किया जाना आवश्यक है। वर्तमान में उपलब्ध पाठ बृहत् कोष्ठक में मूल पाठ के सामने अंकित कर दिया है। 'उदयपुर' सं० के कथित दश सम्पादकों ने इस विसंगति का कोई समाधान नहीं किया।

रहे होंगे ? वा मार्ग भूलकर '**भागवत**' बनानेवाले के घर में आकर[१] घोड़े हांकनेवाले और अक्रूर जी सो गये होंगे ?[२]

पूतना का शरीर छः कोश चौड़ा और बहुत-सा लम्बा लिखा है। मथुरा और गोकुल के बीच में उसको मारकर श्रीकृष्ण ने डाल दिया। जो ऐसा होता तो मथुरा और गोकुल दोनों दबकर इन पोप जी का घर भी दब गया होता[३]।

अजामिल[४] की कथा ऊटपटाँग लिखी है। उसने नारद के कहने से अपने लड़के का नाम नारायण रक्खा था। मरते समय अपने पुत्र को पुकारा। बीच में नारायण कूद पड़े। क्या नारायण उसके अन्तःकरण के भाव को नहीं जानते थे कि वह अपने पुत्र को पुकारता है, मुझको नहीं। जो ऐसा ही नाम-माहात्म्य है तो आजकल भी नारायण अपने[५] स्मरण करनेवालों के दुःख छुड़ाने को क्यों नहीं आता ? यदि यह बात सच्ची हो, तो क़ैदी लोग 'नारायण-नारायण' करके क्यों नहीं छूट जाते ?[६]

---

१. **उचित संशोधन किन्तु स्थानभ्रष्ट पद**—मूलप्रति सं० में "**आकर**" क्रियापद नहीं है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह परिवर्धित किया है जो उचित है। किन्तु इन सं० में यह अस्थान में रखा है—"**अक्रूर जी आकर**"। अन्य सभी उदयपुर आदि सं० में भी यह पाठ अशुद्ध है। यहां "**घर में आकर**" पाठ उपयुक्त है। इस क्रिया का आसत्ति सम्बन्ध घर से है।

२. **अक्रूर का गोकुल गमनागमन**—कंस द्वारा बलराम और श्रीकृष्ण को लाने के लिए भेजे गये अक्रूर की यात्रा का वर्णन भागवत में इस प्रकार मिलता है—

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः। उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप॥ (भागवत पु० १०.३८.१,२४)

अर्थ—'अक्रूर उस रात्रि में मधुपुरी=मथुरा में विश्राम करके प्रातःकाल उठकर रथ पर सवार होकर नन्द-गोकुल=वृन्दावन को चले। जब रथ से वे गोकुल पहुंचे तो सूर्य अस्त हो चला था।' वह रथ वायु की गति की तीव्र गति से चल रहा था।

अक्रूर जब बलराम और श्रीकृष्ण को लेकर वृन्दावन से मथुरा को लौट रहे थे तो रथ की गति का वर्णन इन शब्दों में है—

"**रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्।**" (वही, १०.३९.३८)

अर्थ—वायु की गति के समान तीव्रगति से चल रहे रथ से अक्रूर यमुना नदी के किनारे पहुंचे। और फिर—

"**मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये।**" (वही, ४१.६)

अर्थ—अक्रूर बलराम और कृष्ण को लेकर फिर सूर्यास्त के समय मथुरा में पहुंचे।

मथुरा और वृन्दावन की दूरी ५-६ मील है। आश्चर्य है कि वायु की गति से चलनेवाला अक्रूर का रथ जाते और लौटते दोनों बार प्रातःकाल चलकर सूर्यास्त के समय पहुंचा!! इन वर्णनों से भागवत के गपोड़ों का अनुमान पाठक लगा लें।

पुराण का परस्पर-विरोध—भागवतपुराण का परस्परविरोध देखिए कि उसकी कल्पना के अनुसार, कंस के कारागृह में आधी रात को श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव उसको लेकर पैदल वृंदावन गये और अदल-बदल करके यशोदा की कन्या को अंधेरे-अंधेरे समय में कारागृह में ले आये। वसुदेव पैदल जाकर कुछ ही घंटों में लौट भी आए (१०.३-४ अध्याय) जबकि अक्रूर का वायु की गति वाला रथ जाते और लौटते दोनों बार प्रातःकाल चलकर एक ओर की दूरी सूर्यास्त तक पूरी कर पाया! इस प्रकार के अनर्गल वर्णनों से ज्ञात होता है कि पुराण गपोड़ों के भंडार हैं और कल्पित प्रसंगों से भरे हैं।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**इन....होगा**" अपप्रयोग है। पूर्वोक्त "**होता**" क्रियापद के सम्बन्ध से यहां '**होता**' क्रिया, "**इस**" के स्थान पर "**इन**" अपेक्षित है। क्रियापद मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में संशोधित है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अजामेल**" अपवर्तनी है, '**अजामिल**' शुद्ध है। द्रष्टव्य, भागवत पुराण ६.१.२९। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, 'उदयपुर' सं० आदि में अशुद्ध नाम है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपपाठ है—"**नारायण के स्मरण करने वालों**"। वेस, जग, भद, युमी, विस सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अपपाठ है।

६. **ऋषिहस्तलेख और कथा-वर्णन**—"**यदि यह बात.....छूट जाते**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। भागवत पुराण स्कन्ध ६, अध्याय १-३ द्रष्टव्य हैं।

ऐसे ही '**ज्योतिष शास्त्र**' से विरुद्ध[१] '**सुमेरु**' का परिमाण लिखा है। प्रियव्रत के रथ के चक्र की लीक से समुद्र हुए, पचास कोटि योजन पृथिवी है,[२] इत्यादि मिथ्या बातों का[३] '**भागवत**' में कुछ पारावार नहीं।[४]

और यह '**भागवत**' बोपदेव[५] का बनाया है,[६] जिसके भाई जयदेव ने '**गीतगोविन्द**' बनाया

---

१. **ऋषि हस्तलेख तथा अपप्रयोग**—''**ज्योतिष शास्त्र से विरुद्ध**'' यह पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। इस वाक्य के आरम्भ में, दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**ऐसा**'' अपप्रयोग है, '**ऐसे**' अभीष्ट है।

२. **अशुद्ध संशोधन लिपिकर-शोधक द्वारा**—दोनों हस्त० और तीनों सं० यहां भागवतपुराण के आधार पर पृथिवी का परिमाण ''**उनंचास कोटि योजन**'' लिखा गया है जबकि भागवत में ''**पचास कोटि योजन**'' संख्या है—''**पंचाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य**'' (५.२०, ३८)। प्रतीत होता है कि यह त्रुटि लिपिकर अथवा शोधक ने की है। सभी सम्पादकों के सं० में अशुद्ध पाठ है। हां, स्वामी वेदानन्द जी और मीमांसक जी ने टिप्पणी में शुद्ध पाठ दे दिया है। उसका कोई विशेष लाभ नहीं है। इनकी टिप्पणी तो कोई उद्धरण के साथ देने से रहा। उद्धरण तो अशुद्ध ही उद्धृत होगा, और यह अशुद्धि महर्षि की मानी जायेगी। पृ० ६४३ पर भी यह उल्लेख है।

'उदयपुर' सं० के कथित दश सम्पादकों ने इस विसंगति पर कोई समाधान नहीं किया कि सत्यार्थप्रकाश में '**उनंचास कोटि योजन**' पृथिवी का प्रमाण लिखा है जबकि भागवत पुराण में '**पचास कोटि योजन**' कहा है, फिर विसंगति कैसे दूर होगी?

३. **मिथ्या बातों के वर्णन स्थल**—सुमेरु के परिमाण का वर्णन भागवत० ५.१६.७ में, प्रियव्रत के रथचक्र से समुद्र बनने की कथा ५.१.३९ में, और पृथिवी का पचास कोटि योजन परिमाण ५.२०.३८ में वर्णित है। सुमेरु का विस्तार ३२००० योजन वर्णित किया है जिसका अर्थ है २५६००० मील चौड़ा। जबकि आधुनिक मतानुसार पृथिवी की परिधि लगभग चालीस हजार किलोमीटर है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध परिवर्तन**—इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणह० में यह पाठ बनाया है—''**इत्यादि मिथ्या बातों का गपोड़ा भागवत में लिखा है, जिसका कुछ पारावार नहीं।**'' उपर्युक्त पाठ का अर्थ निकलता है कि मिथ्या बातों का कोई पारावार नहीं, जो शुद्ध कथन है। लिपिकर के वाक्य से अर्थ निकला—''**इस गपोड़े का पारावार नहीं**''। क्या कोई एक गपोड़ा ऐसा हो सकता है जिसका पारावार न हो? यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में प्रचलित है। उसी अपपाठ को 'उदयपुर' सं० ने ग्रहण किया है। यहां महर्षिप्रोक्त मूलपाठ शुद्ध एवं ग्राह्य है। महर्षि की भाषाशैली में गाम्भीर्य और लिपिकरों की भाषाशैली में अगाम्भीर्य इसी प्रकार दृष्टिगत होता है। रचना की दृष्टि से भी यह वाक्य अशुद्ध है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस प्रसंग में सभी स्थलों पर ''**बोबदेव**'' अपवर्तनी है। '**बोपदेव**' शुद्ध रूप है। अग्रिम टिप्पणी के उद्धरण में यही शुद्ध वर्तनी है। इसके अतिरिक्त लेखक ने अपनी रचना 'हरिलीलामृत' के मूल पाठ में भी '**बोपदेव**' वर्तनी दी है, वही ग्राह्य है। सभी अन्य सं० सहित 'उदयपुर' सं० में इस नाम की वर्तनी अशुद्ध है।

६. **भागवतपुराण का रचयिता बोपदेव**—विज्ञजन परम्परागत रूप से '**भागवत-पुराण**' को बोपदेव (=बोबदेव) रचित मानते हैं। '**देवीभागवतपुराण**' की नीलकण्ठकृत टीका के उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है—''**विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति।**'' शाहजहां के समकालिक कवीन्द्राचार्य पुस्तकालय के सूचीपत्र में, जो बड़ोदा से छपा है, 'भागवतपुराण' को बोपदेवकृत ही लिखा है। (पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की टिप्पणी)। इन प्रमाणों से महर्षि के कथन की पुष्टि होती है।

उदयपुर सं० ने अपने सम्पादन को स्वयं अमान्य किया—विसंगतियों के समाधान का दावा करने वाले उदयपुर सं० के सम्पादकों ने इस असंगति का कोई समाधान नहीं किया था। मेरे लेख का उत्तर देने वाले चार लेखकों में से **पहले** और **दूसरे** ने इसका अब भी कोई उत्तर नहीं दिया। **तीसरे** ने तालिका का प्रस्तुत करके यह दिखा दिया कि सभी सम्पादकों ने यही पाठ ग्रहण किया है। इस तीसरे लेखक को तो यही स्मरण नहीं है कि '**सम्पादकों द्वारा किसी पाठ का स्वीकृत होना**' उदयपुर सं० द्वारा मान्य कोई आधार नहीं है और यदि अब मान रहे हैं तो यह बतायें कि इन्हीं सम्पादकों द्वारा स्वीकृत अन्य दर्जनों पाठों को आपने क्यों बदल दिया है? और यदि अन्य सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठ ही आपको मान्य हैं तो कथित दश विद्वानों द्वारा नया संस्करण प्रकाशित करके एक और भिन्न संस्करण बढ़ाने की क्या जरूरत थी? **चौथे लेखक** ने इस प्रश्न का कोई भी उत्तर न देकर पाठकों को मात्र यह दिखाने की कोशिश की है कि मैंने उत्तर दे दिया। वे गोलमाल उत्तर देते हैं कि ''ऋषि निश्चयात्मक ज्ञान ही कराते हैं। ऋषि सदा मान्य होते हैं।'' यह लेखक भी उक्त दावा करते हुए यही भूल गया कि यदि ऋषि के ज्ञान को सच्चे हृदय से निश्चयात्मक और मान्य मानते हो तो टिप्पणी में घोषित ८२५ और अघोषित १२०० से अधिक ऋषि के संशोधन आपने उदयपुर सं० में क्यों कर दिये? जो कथित दस सम्पादकों ने किया है उसी के विरुद्ध आप लिख रहे हैं! आप मेरे प्रश्न का उत्तर भी कुछ न दे सके और अपने किये प्रकाशन कार्य को आपने स्वयं अमान्य भी बना दिया। यदि ऋषि सदा मान्य हैं तो आपका

है।[१] देखो, उसने ये श्लोक अपने बनाये '**हेमाद्रि**'[२] में लिखे हैं कि '**श्रीमद्भागवत**' मैंने बनाया है। उस लेख के तीन पत्र हमारे पास थे। उनमें से एक पत्र खो गया है।[३] उस पत्र में श्लोकों का जो आशय था उस आशय के हमने दो श्लोक बनाके नीचे लिखे हैं— जिसको देखना हो, वह '**हेमाद्रि**' ग्रन्थ में देख लेवे। श्लोक—

हेमाद्रेः सचिवस्यार्थे सूचना क्रियतेऽधुना। स्कन्धाऽध्यायकथानां च यत्प्रमाणं समासतः॥ १॥
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्। विदुषा बोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्॥ २॥

इसी प्रकार के श्लोक नष्टपत्र में थे। अर्थात् राजा के सचिव हेमाद्रि ने बोपदेव पण्डित से कहा कि 'मुझको तुम्हारे बनाये '**श्रीमद्भागवत**' को[४] सम्पूर्ण सुनने का अवकाश नहीं है, इसलिये तुम संक्षेप से श्लोकबद्ध सूचीपत्र बनाओ, जिसको देखके मैं '**श्रीमद्भागवत**' की कथा को संक्षेप से जान लूं।' सो

दो हजार से अधिक पाठों का सारा संशोधन स्वत: अमान्य हो गया। चलिए, जाने-अनजाने आपने अपने संस्करण से सम्बन्धित सच्ची स्वीकृति तो दे दी कि आपका यह सारा कार्य आपकी सम्मति में व्यर्थ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सभी सम्पादक उदयपुर सं० के सम्पादन में एकमत नहीं है, अत: यह दस कथित विद्वानों का सम्पादन कार्य भी नहीं है। एक-दो ने कार्य निपटाया है और मान्यता पाने के लिए नाम दस का रखा है।

१. **बोपदेव का भाई जयदेव ?**—जैसे पूर्वकालीन शोधकर्त्ताओं की यह धारणा थी कि 'कालिदास' नामक एक ही कवि हुआ है, किन्तु गम्भीर शोध के बाद अब यह तथ्य सामने आया है कि कालिदास नाम के दो या तीन ही नहीं, ग्यारह कवि या साहित्यकार हो चुके हैं। उसी प्रकार पहले शोधकों का इतना ही शोध था कि जयदेव नाम के एक ही कवि हुए हैं और उपलब्ध सभी ग्रन्थ उसी की कृतियां हैं। महर्षि ने तत्कालीन प्राप्त आरम्भिक शोधों और लेखों के अनुसार बोपदेव को जयदेव का भाई लिखा है। बाद में हुए शोध से अब यह तथ्य सामने आया है कि जयदेव नाम के तीन ग्रन्थकार हुए हैं, एक-दक्षिण के थे, जिनकी रचनाएं चन्द्रालोक, प्रसन्नराघवम् आदि हैं। इनको 'पीयूषवर्ष' उपाधि प्राप्त थी। ये दक्षिण के राजाश्रय में थे। दूसरे—'**गीतगोविन्द**' काव्य के प्रणेता थे जो केंदुली (जिला-वीरभूम, बंगाल) के निवासी थे तथा बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन और उड़ीसा के राजा कामदेव के आश्रय में रहे। तीसरे, मिथिला के सोदरपुर गांव निवासी जयदेव मिश्र १४वीं शती में हुए हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' है। ये नव्यन्याय के विद्वान् थे।

बोपदेव, दक्षिण के देवगिरि (=दौलताबाद, आंध्रप्रदेश) राज्य के मन्त्री हेमाद्रि पंत के सचिव थे। इनको विदर्भ का मूल निवासी कहा जाता है। इसकी कृतियां हैं—हेमाद्रि, हरिलीलामृत, मुक्ताफल, परमहंसप्रिया, मुकुट (चारों भागवत-भाष्य या सार-सम्बन्धी ग्रन्थ), मुग्धबोध व्याकरण आदि। तीन जयदेव नामक कवियों की जानकारी मिलने के बाद अब यह तथ्य सामने आया है कि बोपदेव दक्षिणप्रदेशाश्रित जयदेव के भाई थे। दोनों का स्थितिकाल तेरहवीं शती के मध्य और अन्त का है। गीतगोविन्दकार जयदेव का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। 'उदयपुर' सं० के कथित सम्पादक दश विद्वानों ने इस विसंगति को दूर नहीं किया, जबकि भूमिका में उनका दावा विसंगतियां दूर करने का है। अन्य किसी विद्वान् सम्पादक ने भी इस ऐतिहासिक तथ्य पर अभी तक चिन्तन नहीं किया है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हिमाद्रि**" अपवर्तनी है, '**हेमाद्रि**' शुद्ध है। आगे सर्वत्र यही समझें। नाम की वर्तनी की यही अशुद्धि 'उदयपुर' आदि सभी सं० में है।

३. **नष्टपत्र के दो श्लोक**—ग्रन्थकार द्वारा ऊपर चर्चित सभी श्लोक बोपदेव-रचित 'हरिलीलामृत' और 'हेमाद्रि' में उपलब्ध हैं। आरम्भ के जिन लुप्तपत्र वाले दो श्लोकों का सार ग्रन्थकर्त्ता ने अपने श्लोकों में निबद्ध किया है वे मूलरूप में ये हैं—

श्रीमद् भागवतस्कन्धाध्यायार्थादि निरूप्यते। विदुषा बोपदेवेन मन्त्रिहेमाद्रि तुष्टये॥ १॥
आनन्दस्य हरेर्लीलां वक्ता भागवतागमः। स्कन्धैर्द्वादशभिः शाखाः प्रतन्वन् द्विजसेविताः॥ २॥

अर्थ—'मन्त्री हेमाद्रि की सन्तुष्टि के लिए विद्वान् बोपदेव श्रीमद्भागवत के स्कन्धों, अध्यायों आदि का निरूपण कर रहा है। श्रीमद्भागवत आनन्दकन्द भगवान् हरि की लीलाओं का वर्णन करता है। यह वर्णन बारह स्कन्धों-रूप शाखाओं में विस्तृत है। इसका द्विज जन सेवन करते हैं।' आगे वर्णित अन्य श्लोक वही हैं जो ऊपर उद्धृत हैं।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भागवत के**" यह अपप्रयोग है, "**भागवत को**" प्रयोग अभीष्ट है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यही अपप्रयोग है।

नीचे लिखा हुआ सूचीपत्र उस बोपदेव ने बनाया। उसमें से उस नष्टपत्र में नौ श्लोक खो गये हैं,[१] दशवें श्लोक से लिखते हैं।[२] ये नीचे लिखे श्लोक सब बोपदेव के बनाये हैं। वे श्लोक[३] हैं—

बोधयन्तीति हि प्राहुः श्रीमद्भागवतं पुनः।[४] पञ्च प्रश्नाः शौनकस्य सूतस्यात्रोत्तरं त्रिषु॥ १०॥
प्रश्नावतारयोश्चैव व्यासस्यानिर्वृतिः कृतात्। नारदस्यात्र हेतूक्तिः प्रतीत्यर्थं स्वजन्म च॥ ११॥
सुमघ्नं द्रोण्यभिभवस्तदस्त्रात्पाण्डवावनम्। भीष्मस्य स्वपदप्राप्तिः[५] कृष्णस्य द्वारकागमः॥ १२॥
श्रोतुः परीक्षितो जन्म धृतराष्ट्रस्य निर्गमः। कृष्णमर्त्यत्यागसूचा ततः पार्थमहापथः॥ १३॥
भूधर्मयोः कलेर्भीतिस्ततस्त्राणं परीक्षिता। परीक्षितो ब्रह्मशापः प्रायेण शुकसंगमः॥ १४॥[६]
इत्यष्टादशभिः पादैरध्यायार्थः क्रमात् स्मृतः। स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः॥ १५॥
इति वै राज्ञो दार्ढ्योक्तौ प्रोक्ता द्रौणिजयादयः॥ [१६]

इति प्रथमः स्कन्धः॥ १॥

---

१. **नष्ट श्लोक**—ग्रन्थकार के पास से खो गये दस श्लोकों में से दो श्लोक पूर्व पृष्ठ पर टिप्पणी में उद्धृत कर दिये हैं, शेष ३-६ श्लोक ये हैं। ये बोपदेव-रचित 'हरिलीलामृत' नामक पुस्तक में पाये जाते हैं—

स च द्वितीय दशमे दशधा दर्शिता यथा। अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पूषणमूतयः॥ ३॥
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः। सर्गादयस्तृतीयादिस्कन्धेषूक्ता दशक्रमात्॥ ४॥
श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये श्रमणे विधिः। इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं दशलक्षणम्॥ ५॥
प्रथमे ऽष्टादशाध्यायास्तत्र प्रकरणत्रयम्। त्रित्रि द्वादशभिर्लक्ष्यहीनमध्ययोत्तमत्वतः॥ ६॥
श्रोतारो शौनको व्यासः परीक्षिच्चोत्तमः क्रमात्। वक्तारोऽपि तथा सूतो नारद शुक इत्यमी॥ ७॥
वैराग्यस्य प्रकर्षेण प्रकर्षोऽत्र विवक्षितः। तल्लक्षणपरः श्रोतुं वक्तुं चार्हति संहिताम्॥ ८॥
पुराणेष्वितिहासैर्हि लक्षणादिनिरूपणम्। वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रः प्रियेव च॥ ९॥

सत्यार्थप्रकाश में जिसकी ११ श्लोकसंख्या है, 'हरिलीलामृत' में उसकी संख्या १० है। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाश में उसी के अनुसार संख्या परिवर्तन कर दिया है, जो ठीक है। यह गलती इस कारण हुई है कि उद्धृत अग्रिम श्लोकों में मुद्रणलिपिकर मूल पुस्तक से प्रतिलिपि करते समय "**भूर्धर्मयोः.....**" चौदहवां श्लोक छोड़ गया। फिर संख्या भी तदनुसार बदलनी पड़ी। देखिए इसी पृष्ठ पर टिप्पणी ६।

२. **स्वामी वेदानन्द जी द्वारा आवश्यक पाठ संशोधन**—उक्त टिप्पणी में बताये कारण के अनुसार दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य का पाठ-संशोधन करना आवश्यक था। प्रचलित पाठ यह मिलता है—"**उस नष्ट पत्र में दश श्लोक खो गये हैं, ग्यारहवें श्लोक से लिखते हैं।**" अब यहां क्योंकि नौ श्लोक ही त्रुटित बचते हैं अतः 'नौ' पाठ ही यहां होना चाहिए, तथा उद्धृत श्लोकों की संख्या १० से आरम्भ होनी चाहिए। त्रुटित श्लोक १४ क्रम संख्या वाला है। वह उसी क्रम पर जायेगा। यहां उसी के अनुसार संख्या संशोधित है। **स्वामी वेदानन्द जी** ने इस त्रुटि की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया।

३. **मूलहस्तलेख में अलिखित श्लोक व पाठग्रहण**—मूल हस्तलेख में ये सभी श्लोक और "**इत्यादि बारह स्कन्धों----देख लेवे**" तक का आगामी पृष्ठ का पाठ लिखित नहीं है। उसके लिए खाली स्थान छोड़ा हुआ है। शायद, ग्रन्थकार ने लिपिकर को निर्देश दिया होगा कि वह बाद में देखकर लिख ले, किन्तु वे लिखे नहीं गये। मुद्रणप्रति में ये श्लोक अंकित किये हुए हैं। मूलप्रति सं० में यह सब पाठ मुद्रणप्रति व द्वि० सं० से ग्रहण किया गया है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित श्लोक-पंक्ति**—पुस्तक से प्रतिलिपि करते समय दोनों लिपिकरों ने इस पंक्ति को छोड़ दिया। वह पाठ छोड़ने का अभ्यस्त है और प्रमादी है। शोधन करते समय त्रुटित पंक्ति पर ध्यान जाने पर शोधक पं० भीमसेन शर्मा ने द्वारा बगल में यह पंक्ति लिखकर पाठ को पूर्ण किया गया।

५. **अप-उद्धरण पाठ**—मुद्रणह० में लिपिकर ने अशुद्ध पाठ लिखा है—"**स्वपदं प्राप्तिः**"। यही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित श्लोक**—मूलह० में ये सभी श्लोक लिखे नहीं हैं, उनके लिए स्थान खाली छोड़ा हुआ है। पुस्तक से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर इस श्लोक को छोड़ गया है। 'हरिलीलामृत' में यह श्लोक यहां पठित है। अतः सभी संस्करणों में यहां ग्राह्य है। आश्चर्य देखिए 'मानक' सं० के नाम से प्रकाशित, कथित दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित

इत्यादि बारह स्कन्धों का सूचीपत्र इसी प्रकार बोपदेव पण्डित ने बनाकर हेमाद्रि [नामक] सचिव को दिया। जो विस्तार देखना चाहे, वह बोपदेव के बनाये '**हेमाद्रि**' ग्रन्थ में देख लेवे। इसी प्रकार अन्य पुराणों की लीला भी[१] उन्नीस-वीस-इक्कीस एक-दूसरे से बढ़कर है।

देखो, श्री कृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है; उनका गुण, कर्म, स्वभाव, चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है; जिसमें, श्री कृष्ण ने जन्म से मरणपर्यन्त कोई अधर्म का आचरण[२] कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा।[३] और '**भागवत**' में दूध, दही, मक्खन की चोरी, कुब्जा दासी से समागम, परस्त्रियों से रासमण्डल, क्रीडा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण पर[४] लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके, अन्य मत-वाले श्री कृष्ण की बहुत-सी निन्दा करते हैं। **जो यह 'भागवत' न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों होती ?**

'**शिवपुराण**' में बारह 'ज्योतिर्लिंग'[५] लिखे हैं। उनकी कथा सर्वथा असम्भव है। नाम धरा है 'ज्योतिर्लिंग' और जिनमें प्रकाश का लेश भी नहीं।[६] रात्रि को विना दीप किये लिंग भी अन्धेरे में नहीं

'उदयपुर सं०' ने इस आवश्यक व तथ्याधारित पाठ को ग्रहण नहीं किया है, अर्थात् यहां भी लिपिकर की भूल '**बाबा वाक्यं प्रमाणम्**' मान ली गई। यह श्लोक त्रुटित तो रहा है मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से, किन्तु जब श्लोक संख्या पूर्ण नहीं हुई तो नौ के स्थान पर दश श्लोक नष्टपत्र के अन्तर्गत मान लिये गये और उसी के अनुसार ११ से श्लोक संख्या आरम्भ कर दी, जबकि नष्टपत्र में त्रुटित श्लोक नौ ही थे। तदनुसार श्लोक संख्या १० से आरम्भ होनी चाहिए थी जोकि इस त्रुटित श्लोक को मिलाकर पूर्ण होनी थी। पाठक अनुमान लगायें कि वेतनभोगी लिपिकरों-शोधकों ने लेखन-सम्पादन में सत्यार्थप्रकाश की क्या बुरी गति बनाई है !!---और आर्यसमाज के कुछ रूढ़मति पाठक तथा विद्वान् मूर्ख लिपिकरों की इन प्रमत्त लीलाओं पर इस तरह न्यौछावर हैं, जैसे इनके संशोधन के कारण कोई अमूल्य रहस्य नष्ट हो जायेंगे ! ऋषि द्वारा बार-बार निन्दित मूर्ख और मक्कार लिपिकरों के प्रति इतना पक्षपात शायद ही कोई संगठन करता होगा ! और अपने धर्मग्रन्थ के शोधन में इतना प्रमाद तो कोई भी संगठन नहीं करता होगा !!

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक एवं अप पाठपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने दोनों स्थानों पर अनावश्यक पाठपरिवर्तन किया है। उसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं, कोई नया भाव नहीं। यहां ''**समझनी। परन्तु**'' दो पद बढ़ाकर दो वाक्य बना दिये गये जिसकी आवश्यकता ही नहीं थी। मूलह० का वाक्य सुन्दर और सटीक है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटितपाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ''**कोई अधर्म का आचरण**'' पाठ छोड़ गया और यह लिखा—''**मरणपर्यन्त कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा।**'' शोधक ने बीच में ''**बुरा काम**'' पाठ अनुमान से जोड़ दिया। मूलह० का सुन्दर पाठ त्रुटित रह गया। वही कामचलाऊ पाठ द्वि०सं० में छप रहा है। मूलसं० ने भी मूलह० के उपर्युक्त सुन्दर पाठ को छोड़कर द्विप्र० का ही पाठ ग्रहण किया है। 'उदयपुर' सं० ने भी यहां मूलहस्त० का पाठ ग्रहण नहीं किया।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्त अनावश्यक पाठ परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां यह वाक्य जोड़ दिया—''**इस भागवत बनाने वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं।**'' यही कथन पहले से मूलह० के अगले वाक्य में है—''**भागवत में....दोष श्रीकृष्ण में लगाये हैं।**'' यही पुनरुक्तिपूर्ण पाठ सभी द्वि०सं० तथा उदयपुर सं० में छपता आ रहा है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कृष्ण में**'' के स्थान पर ''**कृष्ण पर**'' प्रयोग अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठ त्रुटित**—इन पंक्तियों में दो बार ''**ज्योतिर्लिंग**'' आने से प्रमादी मुद्रणलिपिकर की दृष्टि जाने-अनजाने में विचलित हो गई और पहला ''**ज्योतिर्लिंग**'' लिखने के बाद अगले ज्योतिर्लिंग तक का बीच का यह पाठ छोड़ दिया—''**लिखें हैं। उसकी कथा सर्वथा असम्भव है। नाम धरा है ज्योतिर्लिंग**''। यह पाठ मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० में ठीक है। मुद्रणप्रति पर आधारित द्वि० सं० में ३३वें संस्करण तक यह पाठ नहीं छपा था फिर ३४ वीं आवृत्ति में इसको ग्रहण कर लिया है। वर्तमान द्वि० सं० में ग्रहण किया हुआ है। ऐसी थी लिपिकरों की प्रमाद लीला ! हमारे सम्पादक लिपिकरों की लीला को अभी भी नहीं समझ पाये हैं !!

६. **बारह ज्योतिर्लिंग**—गत पृ० ६२१/१९ पर पाठकों ने शिवपुराण की गपोड़-कथा पढ़ी है। उसमें ब्रह्मा और विष्णु के बीच हुए कलह के अवसर पर एक ज्योतिर्लिंग के प्रकट होने का उल्लेख है। शिवपुराण ने तो एक ही 'ज्योतिर्लिंग' प्रकट होने का उल्लेख किया है किन्तु पोपों ने रोजी-रोटी के लिए बारह स्थानों पर ज्योतिर्लिंग स्थापित किये हैं, वे हैं—१. **सोमनाथ** (सौराष्ट्र-गुजरात

दीखते, ये सब लीलायें[१] पोप जी की हैं।

प्रश्न—जब वेद पढ़ने का सामर्थ्य नहीं रहा तब स्मृतियां [बनाई], जब स्मृतियों के पढ़ने की[२] बुद्धि नहीं रही तब शास्त्र [और] जब शास्त्र पढ़ने का सामर्थ्य न रहा तब पुराण बनाये, केवल स्त्री-शूद्रों के लिये;[३] क्योंकि इनको वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं है[४]।

उत्तर—यह बात मिथ्या है; क्योंकि **सामर्थ्य पढ़ने-पढ़ाने से ही होता है और वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार सबको है।** देखो, गार्गी आदि स्त्रियाँ [वेदविदुषी थीं][५] और **'छान्दोग्य'** में [लिखा है कि][६] जानश्रुति शूद्र ने भी रैक्यमुनि के पास वेद पढ़ा था।[७] और **'यजुर्वेद'** के २६वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि **वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार मनुष्यमात्र को है।**[८] पुनः जो ऐसे-ऐसे मिथ्याग्रन्थ बना, लोगों को सत्यग्रन्थों से विमुख रख,[९] जाल में फसा, अपने प्रयोजन को साधते हैं, वे महापापी क्यों नहीं?

देखो, ग्रहों का चक्र कैसा चलाया है कि जिसने विद्याहीन मनुष्यों को ग्रस्त[१०] कर लिया है—

'आ कृष्णेन रजसा०'॥ १॥ [यजुः ३३।४३] सूर्य का मन्त्र, **'इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वम्०'॥ २॥** [यजुः ९।४०] चन्द्र, **'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः०'॥ ३॥** [यजुः ३।१२] मङ्गल, **'उद्बुध्यस्वाग्ने०'॥ ४॥** [यजुः १५।५४] बुध, **'बृहस्पतेऽअतियदर्यो०'[११]॥ ५॥** [यजुः २६।३] बृहस्पति,

---

में), २. **मल्लिकार्जुन** (कृष्णा नदी के तट पर कुर्नूल जिले में श्रीशैल पर्वत पर स्थित शिवलिंग, तमिलनाडु में) ३. **महाकाल** (उज्जैन में शिप्रा नदी तट पर मध्यप्रदेश में), ४. **ओंकारेश्वर** (नर्मदा नदी के तट पर स्थित अमरेश्वर, मध्यप्रदेश में). ५. **केदार** (केदारनाथ, उत्तराखण्ड में) ६. **भीमशंकर** (डाकिनी, सह्यादि पर्वत पर महाराष्ट्र में), ७. **विश्वनाथ** (काशी, उत्तर प्रदेश में), ८. **त्र्यम्बक** (भीमा नदी तट पर नासिक पंचवटी के पास महाराष्ट्र में), ९. **वैद्यनाथ** (जसीडीह के पास वैद्यनाथ स्टेशन झारखण्ड में या मतान्तर से परली बैजनाथ महाराष्ट्र में), १०. **नागेश्वर** (द्वारका, गुजरात में), ११. **रामेश्वर** (सेतुबन्ध, तमिलनाडु में), १२. **घुसृणेश्वर** या **घुस्मेश्वर** (हैदराबाद में दौलताबाद स्टेशन के पास वेरुल गांव के निकट आन्ध्रप्रदेश में स्थित)।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''लीलायें''** बहुवचनात्मक प्रयोग वांछित है।

२. **अपूर्णपाठ एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह क्रियारहित अपूर्णपाठ है और एकवचनात्मक अपप्रयोग है—**''तब स्मृति, जब स्मृति के पढ़ने की''**। यहां उपर्युक्त पाठ-परिवर्धन एवं संशोधन अपेक्षित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक एवं अशुद्ध पाठपरिवर्तन**—मूलप्रति के **''स्त्री-शूद्रों के लिये''** वाक्यांश के स्थान पर अशुद्ध रूप से मुद्रणलिपिकर ने पाठपरिवर्तन कर दिया—**''स्त्री और शूद्रों के लिये''**। मूल में समस्तपद था, मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि० सं० में उसको असमस्त बना दिया, क्योंकि तब इसमें **''स्त्री''** के स्थान पर **''स्त्रियों''** बहुवचन चाहिये था।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में **''है''** क्रिया त्रुटित है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है।

५-६. **त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर बृहत् कोष्ठक में दर्शाया पाठ त्रुटित है। पूर्ण वाक्यरचना तथा संगति के लिए यह परिवर्धन अत्यावश्यक है।

७. **छान्दोग्य** प्रपा० ४। खं २। प्र० २।

८. **अन्यत्र वर्णन**—मन्त्र तथा यही भाव द्रष्टव्य है पृ० १३९ पर तृतीय समुल्लास में।

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—प्रतिलिपि करते समय **''रख''** क्रियापद छोड़ दिया है। द्विप्र० में भी त्रुटित है। मूलह०, मूलसं० में है। द्वि०सं० में **''कर''** क्रियापद ग्रहण किया है। **''रख''** अधिक सटीक है।

१०. **मूलप्रति में अपवर्तनी और मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह०, मुद्रणह० व मूलप्रति सं० में **'ग्रसित'** अपवर्तनी है, **''ग्रस्त''** शुद्ध है और ग्रन्थ में बहुत्र इसका प्रयोग है। द्वि० सं० में इसके स्थान पर **''ग्रस लिया है''** पाठ अनावश्यक रूप से बदल दिया है जबकि इसका संशोधन **''ग्रस्त कर लिया है''** वांछित था।

११-१२. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में इन उद्धरणों का अपपाठ है—**''बृहस्पते अति अदर्यो''** **''बृहस्पति०''**, **''कृण्वन्तु''**। अच्छी बात यह है कि इन वेदमन्त्रों के पाठ को द्वि०सं०, मूलसं० उदयपुर सं० आदि सभी में संशोधित कर लिया

'शुक्रमन्धस॒:'॥ ६ ॥ [यजुः १९।७२] शुक्र, **'शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒०'॥ ७ ॥** [यजुः ३६।१२] शनि, **'कया॑ नश्चि॒त्रऽआ भु॑व०'॥ ८ ॥** [यजुः २७।३९] राहु, **'के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒०'[१२] ॥ ९ ॥** [यजुः २९।३७] इसको **'केतु'** की कण्डिका कहते हैं।

(आ कृष्णे०) यह सूर्य और भूमि का आकर्षण ॥ १ ॥ दूसरा—राजगुण विधायक ॥ २ ॥ तीसरा—अग्नि ॥ ३ ॥ और चौथा—यजमान ॥ ४ ॥ पाँचवाँ—विद्वान् ॥ ५ ॥ छठा—वीर्य, अन्न ॥ ६ ॥ सातवाँ—जल, प्राण और परमेश्वर ॥ ७ ॥ आठवाँ—मित्र ॥ ८ ॥ नववाँ—ज्ञानग्रहण ॥ ९ ॥ ये इनके विधायक मन्त्र हैं,[१] ग्रहों के वाचक नहीं। अर्थ न जानने से भ्रमजाल में पड़े हैं।

प्रश्न—ग्रहों का फल होता है, वा नहीं?

उत्तर—जैसा पोपलीला का [कहा हुआ[२]] है, वैसा नहीं; किन्तु जैसे सूर्य-चन्द्रमा किरणों द्वारा उष्णता-शीतता अथवा ऋतुवत्कालचक्र के सम्बन्धमात्र से अपनी प्रकृति के अनुकूल-प्रतिकूल सुख-दुःख के निमित्त होते हैं,[३] [वैसा फल होता है][४]। परन्तु जो पोपलीलावाले कहते हैं ''सुनो महाराज! सेठजी! यजमानो! तुम्हारे आज चन्द्र-सूर्यादि क्रूर ग्रह आठवें[५] घर में आये हैं। अढ़ाई वर्ष का शनैश्चर पग में आया है। तुमको बड़ा विघ्न होगा। घर-द्वार छुड़ाकर परदेश में घुमावेगा। परन्तु जो तुम ग्रहों का दान, जप, पाठ, पूजा कराओगे तो दुःख से बचोगे।'' इनसे पूछना[६] चाहिये कि ''सुनो पोप जी! तुम्हारा और ग्रहों का क्या सम्बन्ध है? ग्रह क्या वस्तु है?''

पोप जी—

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम्॥[७]

है, अतः यहां वेद मन्त्र विकृत होने से बच गये। उदयपुर सं० के सम्पादकों ने यहां वेद पर कृपा कर दी जो इन वेदमन्त्रों को तुलनात्मक मन्त्र घोषित नहीं किया, अन्यथा दूसरे स्थलों के समान घोर सिद्धान्तविरोध उपस्थित हो जाता।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध पाठ परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में यहां प्रमाद से अपपाठ परिवर्तन कर दिया है—''**नववां ज्ञानग्रहण का विधायक मन्त्र है, ग्रहों के वाचक नहीं।**'' देखिए, आधा वाक्य एकवचनात्मक है और आधा उत्तरार्ध बहुवचनात्मक है। वस्तुतः मुद्रणलिपिकर ने दो वाक्यों का एक वाक्य बना दिया, उसके कारण यह विसंगति उत्पन्न हुई है। एक वाक्य के ग्रहण करने से ठीक वाक्य बन जाता है। लिपिकरों ने इस प्रकार अनेक स्थलों पर सत्यार्थप्रकाश की भाषा को बिगाड़ा है। मूलह०, यहां मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। द्वि०सं० ने तथा 'उदयपुर' सं० ने इस त्रुटित पाठ को ग्रहण नहीं किया है, इस कारण उनमें यहां भाषात्मक त्रुटि है।

२,४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर कुछ पाठ त्रुटित रह गया है जिसके बिना पाठ की संगति नहीं बनती और न उचित वाक्यरचना होती है। अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यान्त में ''**के निमित्त होते हैं**'' बहुवचनात्मक क्रिया-पाठ है। यह वाक्य तभी शुद्ध बनेगा जब वाक्य में ''**जैसा सूर्य-चन्द्रमा की किरणों द्वारा**'' के स्थान पर ''**जैसे सूर्य-चन्द्रमा किरणों द्वारा**'' संशोधन करेंगे।

५. **स्थानभ्रष्ट और अशुद्ध पद**—तीनों सं० में ''**आठवां**'' के स्थान पर '**आठवें**' प्रयोग वांछनीय है तथा इसका स्थान ''**घर में**'' पदों से पूर्व उपयुक्त है। प्रचलित पाठ में ''**आज**'' पद के बाद ''**आठवां**'' पद अस्थान में है।

६. **अप-क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**कहना**'' क्रियाप्रयोग है, यहां '**पूछना**' क्रिया उपयुक्त है।

७. **तुलना करें— वेदाधीना सदा यज्ञाः, यज्ञाधीनास्तु देवताः। देवताब्राह्मणाधीनाः, तस्माद् विप्रास्तु देवताः॥**

गीताप्रेस, महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, पृ० ६३८० (प्रक्षिप्त श्लोक)

अर्थ—'यज्ञ सदा वेदमन्त्रों के अधीन हैं, देवता यज्ञों के तथा ब्राह्मणों के अधीन हैं, इस प्रकार देवताओं के स्वामी होने से ब्राह्मण ही देवतास्वरूप हैं।' देखिए, पोपों को जिस ग्रन्थ में जहां अवसर लगा वहीं ऐसे-ऐसे श्लोक मिला दिये हैं।

देखो, कैसा प्रमाण है! देवताओं के आधीन सब जगत्, मन्त्रों के आधीन सब देवता और वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं, इसलिये ब्राह्मण 'देवता' कहाते हैं; क्योंकि [जब] चाहें, उस देवता को मन्त्र के बल से बुला, प्रसन्न कर, काम सिद्ध[१] कराने का हमारा ही अधिकार है। जो हममें मन्त्रशक्ति न होती तो तुम्हारे जैसे नास्तिक हमको संसार में रहने ही न देते।

सत्यवादी—जो चोर, डाकू, कुकर्मी लोग हैं, वे भी तुम्हारे देवताओं के आधीन होंगे? देवता ही उनसे दुष्ट काम कराते होंगे? जो वैसा है तो तुम्हारे देवता और राक्षसों में कुछ भेद न रहेगा। जो तुम्हारे आधीन मन्त्र हैं, [और] उनसे तुम चाहो सो करा सकते हो, तो उन मन्त्रों से देवताओं को वश में कर राजाओं के कोष उठवाकर, अपने घर में भरकर, बैठके आनन्द क्यों नहीं भोगते? घर-घर में शनैश्चरादि के तैल आदि का छायादान[२] लेने को मारे-मारे क्यों फिरते हो? **और जिसको तुम कुबेर मानते हो उसको वश में करके चाहो जितना धन लिया करो, बेचारे गरीबों को क्यों लूटते हो?**

तुमको दान देने से ग्रह प्रसन्न, न देने से अप्रसन्न होते हों, तो हमको सूर्यादि ग्रहों की प्रसन्नता-अप्रसन्नता प्रत्यक्ष दिखलाओ। जिसको ८ वाँ सूर्य-चन्द्र, और दूसरे को तीसरा हो, उन दोनों को ज्येष्ठ महीने में विना जूते पहने हुये तपी हुई भूमि पर चलाओ। जिस पर प्रसन्न हैं उसके पग-शरीर न जलने,[३] और जिस पर क्रोधित हैं उसके जल जाने चाहियें। तथा पौष-माघ में दोनों को नंगे कर पौर्णमासी की रात्रिभर मैदान में रक्खें। एक को शीत लगे दूसरे को नहीं, तो जानो कि ग्रह क्रूर और सौम्य दृष्टिवाले होते हैं। और क्या ग्रह तुम्हारे सम्बन्धी हैं? और तुम्हारी डाक वा तार उनके पास आते-जाते हैं?[४] अथवा तुम उनके वा वे तुम्हारे पास आते-जाते हैं?

जो तुममें मन्त्रशक्ति हो तो तुम स्वयं राजा वा धनाढ्य क्यों नहीं बन जाओ? वा शत्रुओं को अपने वश में क्यों नहीं कर लेते हो? **नास्तिक वह होता है, जो वेद और ईश्वर की आज्ञा [को न माने और] वेदविरुद्ध पोपलीला चलावे।**[५] जब तुमको ग्रहदान न देवे जिस पर ग्रह है, वही ग्रहदान को भोगे तो क्या चिन्ता है? जो तुम कहो कि नहीं, हमको ही देने से वे प्रसन्न होते हैं, अन्य को देने से नहीं, तो क्या तुमने ग्रहों का ठेका ले लिया है? जो ठेका लिया हो तो सूर्यादि को अपने घर में बुलाके जल मरो।[६]

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**काम सिद्धि कराने का**" अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**काम सिद्ध कराने का**" संशोधित है।

२. **छायादान**—पौराणिक अन्धविश्वास के अनुसार, घी या तैल से भरे पात्र में अपनी आकृति देखकर उसमें जो दान डाला जाता है उसे 'छायादान' कहते हैं। इसको निम्न जाति के ब्राह्मण लेते हैं या यों कहें इस आड़ में वे भीख मांगते फिरते हैं। पोपों ने धन लूटने का कोई भी तरीका शेष नहीं छोड़ा है।

३. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**जलें**" अपक्रिया है, वाक्य के बाद की क्रिया "**चाहियें**" के सम्बन्ध से "**जलने**" क्रिया उपयुक्त है। मुद्रणह० द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**तुम्हारी डाक वा तार उनके पास आता-जाता है?**" यहां पूर्वापर पाठ के सम्बन्ध से बहुवचनात्मक संशोधन उपयुक्त है। अन्य सभी सं० में यह अपवाक्य है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपूर्ण और अपवाक्य है—"**नास्तिक वह होता है जो वेद, ईश्वर की आज्ञा, वेदविरुद्ध पोपलीला चलावे।**" इसमें संगति के लिए बृ० कोष्ठक में पाठ-परिवर्धन करना आवश्यक है। प्रमुख सम्पादकों द्वारा संशोधित वाक्य ऊपर अंकित है। समर्थन के लिए द्रष्टव्य है पृ० ५९१ का विवरण। 'उदयपुर सं०' में यह पाठ अटपटा अशुद्ध है।

६. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० में "**जल मरे**" अपप्रयोग है। अन्य सभी संस्करणों में "**जल मरो**" शुद्ध है।

सच तो यह है कि सूर्यादि लोक जड़ हैं। वे न किसी को दुःख और न सुख देने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु **जितने तुम ग्रहदानोपजीवी[१] हो, वे तुम सब ग्रहों की मूर्त्तियाँ हो; क्योंकि 'ग्रह' शब्द का अर्थ भी तुममें ही घटित होता है। 'ये गृह्णन्ति ते ग्रहाः'**=जो ग्रहण करते हैं, उनका नाम '**ग्रह**' है। **जब तक तुम्हारे चरण राजा, रईस, सेठ, साहूकार और दरिद्रों के पास नहीं पहुँचते, तब तक किसी को ग्रह[२] का स्मरण भी नहीं होता। जब तुम साक्षात् सूर्य-शनैश्चरादि मूर्त्तिमान् क्रूर रूप धर उन पर जा चढ़ते हो, तब विना ग्रहण किये उनको कभी नहीं छोड़ते। और जो कोई तुम्हारे ग्रास में न आवे, उसकी निन्दा 'नास्तिक' आदि शब्दों से करते फिरते[३] हो।**

पोप जी—देखो, ज्योतिष का प्रत्यक्ष फल! आकाश में रहने वाले सूर्य, चन्द्र, राहु, केतु के[४] संयोगरूप '**ग्रहण**' को पहले ही कह देते हैं। जैसा यह प्रत्यक्ष होता है, वैसा ग्रहों का फल भी प्रत्यक्ष हो जाता है। देखो, धनाढ्य-दरिद्र, राजा-रंक, सुखी-दुःखी ग्रहों से ही होते हैं।

सत्यवादी—जो यह ग्रहण रूप प्रत्यक्ष फल है सो **गणितविद्या** का है, फलित का नहीं। जो **गणितविद्या** है वह सच्ची और **फलितविद्या** स्वाभाविक सम्बन्धजन्य[५] को छोड़के झूठी है। जैसे अनुलोम-प्रतिलोम घूमनेवाले पृथिवी और चन्द्र के गणित से स्पष्ट विदित होता है कि अमुक समय, अमुक देश, अमुक अवयव में सूर्य वा चन्द्र ग्रहण होगा। जैसे—

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः।

[तुलना—सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय ग्रहण प्रकरण; ग्रहलाघव, चन्द्रग्रहण० ५.४; सूर्यसिद्धान्त चन्द्रग्रहणाधिकार ४।४]

यह **ग्रहलाघव** का वचन है[६] और इसी प्रकार '**सूर्यसिद्धान्त**'-आदि में भी है। अर्थात् जब सूर्य और

---

१. **ग्रहदानोपजीवी**=ग्रहों के नाम पर दान मांगकर जीविका चलाने वाला, ग्रहों का फल बताकर लोगों को डराकर ठगने वाला।

२. **शोधक द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां मुद्रणप्रति में "**नवग्रह**" पद बना दिया है। सम्पूर्ण प्रसंग में '**ग्रह**' मात्र की चर्चा है, अतः '**ग्रह**' पाठ ही सटीक है। यही मूलह०, मूलप्रति सं० में है। ग्रन्थकार यहां "नवग्रह" का नहीं "**ग्रहमात्र**" का ही स्मरण नहीं आता, यह कहना चाहता है। "**नव**" शब्द पं० भीमसेन के लेख में बढ़ाया हुआ है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—प्रमादी लिपिकर ने मुद्रणप्रति में "**आवे उसकी.....करते फिरते**" पाठ त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधक पं० भीमसेन शर्मा ने इसको किनारे पर लिखकर पूर्ण किया है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**केतु का संयोगरूप ग्रहण को**" अपपाठ है; यहां "**केतु के**" पाठ अभीष्ट है।

५. **स्वाभाविक सम्बन्धजन्य**—जिस प्रक्रिया में कारण-कार्य सम्बन्ध होता है उसको स्वाभाविक सम्बन्धजन्य कहते हैं। जैसे—गर्मी होगी तो उसके पश्चात् वर्षा होगी, बादल छायेंगे तो उसका फल वर्षा के रूप प्रकट होगा, पूर्वदिशा की वायु चलेगी तो वर्षा होगी, अपथ्य सेवन से रोग होंगे, पढ़ने से विद्वान् बनेंगे, आदि उदाहरण स्वाभाविक सम्बन्धजन्य फल का ज्ञान कराते हैं। ग्रहण का उदाहरण ग्रन्थकार ने दे ही दिया है। ऐसी स्वाभाविक सम्बन्धजन्य फलित विद्या सत्य है।

६. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में '**सिद्धान्तशिरोमणि**' नाम को हटाकर '**ग्रहलाघव**' नाम रख दिया है जबकि मूलहस्तलेख में 'सिद्धान्तशिरोमणि' पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यही नाम है। 'ग्रहलाघव' शुद्ध परिवर्तन है। इसका कारण यह है—

अनार्ष ग्रन्थ के उद्धरण का कारण—यह वचन 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ का नहीं है, अपितु 'ग्रहलाघव' अनार्षग्रन्थ का है। इसके उद्धृत होने कारण पं० भगवद्दत्त जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में पृ० 'ड' पर निम्न प्रकार दिया है—

महर्षि दयानन्द के सहपाठी मथुरा-निवासी पं० उदयप्रकाश के पुत्र गोसाईं नन्दकिशोर जब अमृतसर में रहते थे तब उन्होंने पं० भगवद्दत्त जी को बताया कि इस उद्धरण के अशुद्ध ग्रन्थ नाम के दोषी वे हैं। उन्होंने बताया—"मैं और मेरा भाई स्वामी दयानन्द जी को 'चाचा जी' कहा करते थे। एक बार स्वामी जी ने मुझसे पूछा—'क्या पढ़ रहे हो?' मैंने उत्तर दिया—'ज्योतिष'। स्वामी जी ने पुनः पूछा—'ज्योतिष का कौन-सा ग्रन्थ पढ़ रहे हो?' मैं अनार्ष ग्रन्थ का नाम लेने से डर गया, मैंने कह दिया—'सिद्धान्तशिरोमणि'। स्वामी जी ने फिर पूछा—'बताओ ग्रहण कैसे लगते हैं।' मुझे 'ग्रहलाघव' का उक्त वचन याद था, वह सुना दिया। स्वामी जी के कहने पर मैंने उक्त वचन लिखकर दे दिया। वह था तो 'ग्रहलाघव' का किन्तु मैंने लिख दिया 'सिद्धान्तशिरोमणि'।

भूमि के मध्य में चन्द्रमा आता है तब '**सूर्यग्रहण**' और जब सूर्य और चन्द्र के बीच में भूमि आती है तब '**चन्द्रग्रहण**' होता है। अर्थात् चन्द्र की छाया भूमि पर और भूमि की छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। सूर्य प्रकाशरूप होने से उसके सम्मुख छाया किसी की नहीं पड़ती किन्तु जैसे प्रकाशमान सूर्य वा दीप से देहादि की छाया उलटी जाती है, वैसे ही ग्रहण में समझो।

जो धनाढ्य-दरिद्र,[१] राजा-रंक होते हैं, वे अपने कर्मों से होते हैं, ग्रहों से नहीं। बहुत से ज्योतिषी लोग अपने[२] लड़के-लड़की का विवाह ग्रहों की गणितविद्या[३] के अनुसार करते हैं, पुनः उनमें विरोध वा वैधव्य अथवा मृतस्त्रीक पुरुष हो जाता है।[४] जो फल सच्चा होता तो ऐसा क्यों होता? **इसलिये कर्म की गति सच्ची है,[५] और ग्रहों की गति सुख-दुःख भोग में कारण नहीं।** भला, ग्रह आकाश में और पृथिवी भी आकाश में बहुत दूर पर हैं, इनका सम्बन्ध कर्त्ता और कर्मों के साथ साक्षात् नहीं। कर्म और कर्म के फल का कर्त्ता-भोक्ता जीव, और कर्मों के फल भोगानेहारा परमात्मा है। जो तुम ग्रहों का फल मानते[६] हो तो इसका उत्तर दो कि जिस क्षण में एक मनुष्य का जन्म होता है, जिसको तुम '**ध्रुवात्रुटि**'[७] मानकर जन्मपत्र बनाते हो, उसी समय में भूगोल पर दूसरे का जन्म होता है वा नहीं? जो कहो नहीं, तो झूठ; और जो कहो होता है, तो एक चक्रवर्त्ती के सदृश दूसरा चक्रवर्त्ती राजा भूगोल पर[८] क्यों नहीं होता? हाँ, इतना तुम कह सकते हो कि यह लीला हमारे उदर भरने की है, तो कोई मान भी लेवे।

प्रश्न—क्या '**गरुडपुराण**' भी झूठा है?

उत्तर—हाँ, असत्य है।[९]

प्रश्न—फिर मरे हुए जीव की क्या गति होती है?

उत्तर—जैसे उसके कर्म हैं।

प्रश्न—जो यमराज राजा, चित्रगुप्त मन्त्री, उसके बड़े भयङ्कर गण कज्जल के पर्वत के तुल्य

स्वामी जी ने मेरे विश्वास पर यहां इस वचन को आर्ष मानकर उद्धृत कर दिया। वस्तुतः यह गलती मुझसे हुई है।''

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपद-परिवर्धन**—मुद्रणलिपिकर ने यहां ''**प्रजा**'' पद बिना प्रसंग के बढ़ाया है। यहां प्रजा का नहीं, ग्रहों के कारण छोटे-बड़े, समृद्ध-कंगाल होने का वर्णन मूलप्रति सं० में ''**राजा-रंक**'' उचित पद है। अतः मुद्रणलिपिकर कृत परिवर्धन अग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ६३९/१० में ''**राजा-रंक**'' ही पाठ है।

२,९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—''**कर्मों से.....लोग अपने**'', ''**प्रश्न—क्या गरुड़.....असत्य है**'' दोनों पाठ मुद्रणप्रति में प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिये। शोधक पं० भीमसेन शर्मा ने बाद में किनारे पर लिखकर पूर्ण किये हैं।

३. **ग्रहों की गणित विद्या**—अर्थात् ग्रहों की गति पर आधारित 'मुहूर्त्त' 'शुभ दिन' आदि की विद्या। परिणाम में यही फलित विद्या कहलाती है, क्योंकि पौराणिक लोग जड़ ग्रहों की गति से फल-अफल को जोड़ लेते हैं। जड़-ग्रह विचारकर किसी को फल-अफल नहीं दे सकते, क्योंकि उनमें ज्ञानशक्ति नहीं है, अतः फलितविद्या मिथ्या है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० यह अपवाक्य है—''**उनमें विरोध वा विधवा अथवा मृतस्त्री-पुरुष हो जाता है।**'' वेस, भद, जग, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है, वाक्यपूर्त्यर्थ यह आवश्यक है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**मानो तो**'' पाठ है, वाक्य के प्रयोग के सम्बन्ध से ''**मानते हो तो**'' सही है।

७. **ध्रुवात्रुटि**—यह ज्योतिष का शब्द है। जिस क्षण में बालक का जन्म होता है और जिस क्षण को आधार बनाकर जन्मपत्री बनाई जाती है, उस समय को '**ध्रुवात्रुटि**' कहते हैं।

८. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**भूगोल में**'' अपप्रयोग है, द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधित है और ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—द्रष्टव्य है दोनों द्वि०सं० में, पहली पंक्ति में ''**भूगोल पर**'' शुद्ध पाठ है। यहां '**भूगोल**' पृथिवी का वाचक है।

शरीरवाले, जीव को पकड़कर ले जाते हैं, पाप-पुण्य के अनुसार नरक-स्वर्ग में डालते हैं। उसके लिये दान, पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, गोदानादि, वैतरणी नदी तरने के लिये करते हैं। ये सब बातें झूठी क्योंकर हो सकती हैं?[१]

उत्तर—ये सब बातें पोपलीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं, उनका धर्मराज, चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं, तो उस यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिये कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें। और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं? और मरनेवाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अंगुली भी नहीं जा सकती! और सड़क-गली में क्यों नहीं रुक जाते? जो कहो कि वे सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते हैं, तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बड़े-बड़े हाड़, पोप जी विना, अपने घर के कहां धरेंगे? जब जङ्गल में आगी लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिये असंख्य यम के गण आवें तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिये। और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे, तब कभी उनके शरीर ठोकरें खा जायेंगे, तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं, वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव '**गरुडपुराण**' के बाँचने-सुननेवालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे, वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी, तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे?

श्राद्ध, तर्पण, पिण्डप्रदान उन मरे हुये जीवों को तो नहीं पहुँचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के घर, उदर और हाथ में पहुँचता[२] है। जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं, वह तो पोप जी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती, पुनः किसकी पूँछ[३] पकड़कर तरेगा? और हाथ तो यहीं जला वा गाड़ दिया[४] गया, पूँछ को कैसे पकड़ेगा? यहां एक जाट का दृष्टान्त इस बात में उपयुक्त है[५]—

एक **जाट** था। उसके घर में एक गाय[६] वीस सेर दूध देनेवाली थी। उसका दूध बड़ा स्वादिष्ट होता था। कभी-कभी पोप जी के मुख में भी पड़ता था। उसका पुरोहित यही ध्यान कर रहा था कि जब जाट का बुड्ढा बाप मरने लगेगा तब इस गाय का सङ्कल्प करा लूंगा। कुछ दिनों में[७] दैवयोग से उसके बाप का मरण समय आया। जीभ बन्द हो गई और खाट से नीचे उतार भूमि पर ले लिया अर्थात् प्राण छोड़ने का समय आ पहुंचा।[८] जाट के बहुत-से[९] सम्बन्धी उपस्थित थे। उस समय पोप जी ने पुकारा[१०]—

---

१. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलसं० में यह एकवचनात्मक अपवाक्य है—"**ये सब बात झूठ क्योंकर हो सकती हैं।**" **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग अग्रिम पंक्ति में द्रष्टव्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में अंशतः शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**किसका पूंछ**" और मुद्रणह०, द्विप्र० में "**पहुंचता**" अपप्रयोग हैं। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में "**किसका पूंछ**" अशुद्ध पाठ है।

४. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलस० सं० में यहां "**जलाया वा गाड़ दिया गया**" अपप्रयोग है, यहां "**जला वा गाड़ दिया गया**" उपयुक्त है। मूलह० में शुद्ध पाठ है। 'उदयपुर' सं० आदि में अशुद्ध पाठ है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—"**एक जाट.....उपयुक्त है**" त्रुटित पाठ को शोधक पं० भीमसेन ने पूर्ण लिखा है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने अनावश्यक रूप से यहां भी यह पाठ बढ़ा दिया—"**बहुत अच्छी**"। ग्रन्थकार का कथन गाय की सुन्दरता पर आधारित नहीं है, अपितु दुग्ध-सामर्थ्य और उसके स्वाद विषयक है।

७. **उचित किन्तु अशुद्ध पाठ परिवर्धन**—मुद्रणप्रति व द्वि० सं० में यह पाठ बढ़ाया गया है—"**कुछ दिन में।**" किन्तु यहां "**कुछ दिनों में**" शुद्ध पाठ होना चाहिए। परिवर्धन ग्राह्य है।

''लो यजमान! इसके हाथ से गोदान कराओ।''

जाट दश रुपये[१] निकाल, पिता के हाथ में रखकर बोला—''पढ़ो सङ्कल्प!''

पोप जी बोले[२]—''वाह![३] क्या बाप वारम्वार मरता है? साक्षात् गाय को लाओ, वह दूध भी देती हो, बुड्ढी न हो, और सब प्रकार उत्तम हो।''[४]

जाट जी—''एक ही गाय हमारे पास है, उसके विना हमारे लड़के-बालों का निर्वाह नहीं हो सकता। उसको न दूंगा। लो, ये वीस रुपये का सङ्कल्प पढ़ दो;[५] और इन रुपयों से तुम दूसरी दुधार गाय ले लेना।''[६]

पोप जी—''वाह जी वाह!! तुम अपने बाप से भी गाय को अधिक समझते हो? अपने पिता को वैतरणी नदी में डुबाकर, दुःख देना चाहते हो? तुम अच्छे सुपुत्र हुए?''

तब तो पोप जी की ओर सब कुटुम्बी हो गये; क्योंकि उन सबको पहले से ही पोप जी ने बहका रक्खा था और उस समय भी इशारा कर दिया। सबने मिलकर हठ से उसी गाय का दान उस पोप जी को दिला दिया। उस समय जाट कुछ भी न बोला। उसका पिता मर गया। पोप जी गाय, बछड़ा और दूध दोहने की बटलोई[७] लेकर, घर में जा, गाय-बछड़े को बांध, बटलोई[८] को धर, यजमान के घर आये,और मृतक को श्मशान में ले जा, दाहकर्म किया। वहाँ भी कुछ-कुछ पोपलीला चलाई। पश्चात् दशगात्र सपिण्डी[९] कराने आदि में भी उसको मूंडा। महाब्राह्मणों[१०] ने भी लूटा, भुक्खड़ों ने भी बहुत-

---

८-९. **उचित पाठ परिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्वि०सं० में, क्रमशः इस प्रकार पाठ को स्पष्ट किया है—''**भूमि पर ले लिया अर्थात् प्राण छोड़ने का समय आ पहुंचा।**'' आगे—''**जाट के इष्टमित्र और सम्बन्धी**''।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—''**पोप जी पुकारा**''। द्वि० सं० में संशोधित है। उदयपुर सं० में अशुद्ध वाक्य है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**दश रुपया**'' अपप्रयोग है, '**दश रुपये**' अपेक्षित है। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, नीचे चौथी पंक्ति में ''**बीस रुपये**'' शुद्ध प्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**पोप जी बोला**'' अपप्रयोग है, मूलह०, मूलप्रति में शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध पद-वर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में व्यर्थ ही एक पद बढ़ाकर यह पाठ बनाया—''**वाह-वाह!**'' शोक के समय युग्म प्रयोग कभी नहीं होता।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्त पाठ-वर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में इस वाक्य के आरम्भ में ''**इस समय तो**'' और अन्त में ''**ऐसी गौ का दान करना चाहिये**'' वाक्यांश बढ़ाये हैं। दोनों परिवर्धन अनावश्यक एवं असंगत हैं। यह कथन वाक्य के आरम्भ में आ ही चुका है कि ''**साक्षात् गाय को लाओ**'', फिर पुनरुक्ति अनावश्यक है। मूलह० का पाठ ग्राह्य है।

५. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**पढ़ दो**'' क्रियापद त्रुटित रह गये हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में हैं।

६. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० तथा द्वि०सं० में इस वाक्य के स्थान पर यह वाक्य बनाया है—''**और इन रुपयों से दूसरी दुधार गाय ले लेना।**'' यह विस्तार ग्राह्य है।

७-८. **अव्यवस्थित वर्तनी**—लिपिकरों की अयोग्यता देखिए कि एक प्रसंग में तीन स्थानों पर ''**बटलोही**'' तथा तीन स्थानों पर ''**बटलोई**'' (पृष्ठ ४१६) वर्तनी लिखी है। इससे भाषागत अव्यवस्था प्रकट होती है। मानकता, एकरूपता के लिए सभी स्थानों पर एक '**बटलोई**' वर्तनी स्वीकार की है। यही अव्यवस्था वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० आदि में है।

९. **दशगात्र सपिण्डी**—यह पौराणिकों में मृतक सम्बन्धी कर्म है। मृत्यु के पश्चात् निकट सम्बन्धियों द्वारा दस दिन तक मृतक के लिए प्रति दिन एक-एक पिण्ड प्रदान करना। प्रेत=मृतक के गात्र के दस अंगों को लक्ष्य करके एक-एक पिण्ड दिया जाता है।

१०. **महाब्राह्मण**—निम्न जाति के ब्राह्मण जो मृतक-सम्बन्धी वस्त्र, दान-भोजन आदि ग्रहण करते हैं। जन्मना जातिवाद में इनको निन्द्य ब्राह्मण मानते हैं। 'महाब्राह्मण' नाम व्यंग्यात्मक रूढ़ नाम है।

सा माल पेट में भरा। जब तक सब क्रियायें हुईं, तब तक[१] जाट ने जिस-किसी के घर से दूध माँग-मूँग निर्वाह किया। चौदहवें[२] दिन प्रातःकाल पोप जी के घर गया। देखा तो[३] गाय को दुह, बटलोई भर, पोप जी की उठने की तैयारी थी, इतने में ही जाट जी पहुँचे। पोप जी ने कहा—''आइये, बैठिये!''

जाट जी—''तुम भी इधर आओ।''[४]

पोप जी—''अच्छा दूध धर आऊँ।''

जाट जी—''नहीं, दूध की बटलोई इधर लाओ।'' पोप जी जा, बटलोई सामने धर, बैठे।

जाट जी—''तुम बड़े झूठे हो।''[५]

पोप जी—''क्या झूठ किया?''[६]

जाट जी—''कहो, तुमने गाय किसलिये ली थी?''

पोप जी—''तुम्हारे बाप के वैतरणी नदी तरने के लिये।''

जाट जी—''फिर[७] तुमने वैतरणी के किनारे गाय क्यों न पहुँचाई?[८] हम तुम्हारे भरोसे पर रहे और तुम अपने घर बांध बैठे। न जाने मेरे बाप ने वैतरणी में कितने गोते खाये होंगे?''

पोप जी—''नहीं-नहीं, वहाँ इस दान के पुण्य के प्रभाव से दूसरी गाय बन गई और तुम्हारे बाप को पार उतार दिया।''[९]

जाट जी—''वैतरणी नदी यहाँ से कितनी दूर और किधर की ओर है?''

पोप जी—''अनुमान से तीस करोड़ कोश दूर है, क्योंकि पचास कोटि योजन पृथिवी है[१०] और दक्षिण-नैर्ऋत दिशा में वैतरणी नदी है।''

---

१. **त्रुटित अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह वाक्य पूर्ण और सटीक नहीं है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है—''**जब सब हो चुका तब जाट ने जिस किसी के घर से दूध मांग-मूंग निर्वाह किया।**'' अपूर्ण संशोधन-पूर्वक मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह पाठ है—''**जब सब क्रिया हो चुकी तब जाट ने.....।**'' पूर्ण संशोधन ऊपर है। 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध पाठ है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**चौदवें**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है किन्तु 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्त, व्यर्थ पद परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां व्यर्थ ही ''**पोप जी**'' पद बढ़ाया है जबकि इसी वाक्य में आगे ''**पोप जी**'' पठित है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में क्रमशः ये दोनों वाक्य विस्तारित हैं—''**उसको देख पोप जी बोला—आइये, यजमान बैठिये।**'' यह अशुद्ध वाक्यरचना है। दूसरा वाक्य है—''**तुम भी पुरोहित जी इधर आओ।**''

५,६,८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में तीनों संख्यांक पाठ मुद्रण-लिपिकर ने प्रमादवश त्रुटित छोड़ दिये। बाद में किनारे पर लिखकर शोधक पं० भीमसेन शर्मा ने इनको पूर्ण किया है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**फिर**'' सटीक पद के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**अच्छा तो**'' संशोधन उपयुक्त नहीं है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में, मूलह० के इस वाक्य का अन्तिमांश संभावना शैली में परिवर्तित किया है जो न तो पोप के कथन के अनुरूप है और न पूर्वापर प्रश्नोत्तर भाषा शैली के। वह वाक्यांश है—''**दूसरी गाय बनकर उसको उतार दिया होगा**''। पूर्वापर में निश्चयात्मक भाषा शैली है। यही अशुद्ध पाठ 'उदयपुर' सं० में है।

१०. **पृथिवी का पौराणिक परिमाण**—पुराणों में पृथिवी का परिमाण ५० करोड़ योजन माना है (मत्स्य० १२४.१२; वायु० ५०.६८.७५ आदि)। भागवतपुराण में भी ५० करोड़ योजन माना है—''**पञ्चाशत् कोटिगणितस्य भूगोलस्य**'' (५.२०.३८)। एक योजन के चार कोस ओर एक कोस के दो मील स्थूल रूप से बनते हैं। इस प्रकार ५०००००००० × ४ = २०००००००० कोस × २=४०००००००० अर्थात् चार अरब मील पृथिवी का परिमाण बनता है। आज की दृष्टि से पृथिवी का प्रामाणिक माप

जाट जी—''इतनी दूर से तुम्हारी चिट्ठी वा तार का समाचार गया हो [और] उसका उत्तर आया हो कि वहां पुण्य की गाय बन गई [और उसने] अमुक के पिता को पार उतार दिया, [तो][१] दिखलाओ?''

पोप जी—''हमारे पास '**गरुडपुराण**' के लेख के विना डाक वा तारवर्की दूसरी[२] कोई नहीं।''

जाट जी—''इस गरुडपुराण को हम सच्चा कैसे मानें?''

पोप जी—''जैसे सब मानते हैं।''

जाट जी—''यह पुस्तक तुम्हारे पुरुषाओं[३] ने तुम्हारी जीविका के लिये बनाया है; क्योंकि पिता को अपने पुत्रों के विना कोई प्रिय नहीं। जब मेरा पिता मेरे पास चिट्ठी-पत्री वा तार भेजेगा तभी मैं वैतरणी के किनारे गाय पहुँचा दूंगा और उनको पार उतार, पुनः गाय को घर में ले आ, दूध को मैं और मेरे लड़के-बाले पीया करेंगे।[४] लाओ दूध की भरी हुई बटलोई।''

गाय-बछड़ा लेकर जाट जी अपने घर को चले।[५]

पोप जी—''तुम दान देकर लेते हो, तुम्हारा सत्यानाश हो जायगा।''

जाट जी—''चुप रहो! नहीं तो तेरह दिन तक[६] दूध के विना जितना दुःख हमने पाया है, सब कसर निकाल दूंगा।''

तब पोप जी चुप रहे और जाट जी गाय-बछड़ा ले, अपने घर पहुँचे। **जब ऐसे ही जाट जी जैसे पुरुष हों तो पोपलीला संसार में न चले।**

जो ये लोग कहते हैं कि दशगात्र के पिण्डों से दश अङ्ग, सपिण्डी करने से शरीर के साथ जीव का मेल होके, अङ्गुष्ठमात्र शरीर बनके, पश्चात् यमलोक को जाता है, तो मरते[७] समय यमदूतों का आना व्यर्थ होता है। त्रयोदशाह के पश्चात् आना चाहिये। जो शरीर बन जाता हो तो अपनी स्त्री, सन्तान और मित्रों के मोह से क्यों नहीं आ जाता?

प्रश्न—स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता, जो दान किया जाता है, वही वहाँ मिलता है। इसलिये सब दान करने चाहियें।

लगभग चालीस हजार किलोमीटर है। ऐसे गपोड़ों के कारण कौन बुद्धिमान् पुराणों को प्रमाण मानेगा? (द्र० इसी समु० पृ० ६३२ पर टिप्पणी संख्या... भी)

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठक के पाठ स्पष्टार्थ के लिए अभीष्ट हैं।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां ''**दूसरा**'' पुंल्लिग प्रयोग अपप्रयोग है। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**दूसरी**'' ठीक है।

३. **पुरुषाओं**=पुरखों, पूर्वजों।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्वि०सं०, मूलसं० में ''**पिया**'' अप-क्रिया-वर्तनी है। द्विप्र० में ''**पिया रेंकगे**'' अपपाठ छपा है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**जाट जी अपने घर को चला।**'' '**चले**' बहुवचनात्मक चाहिये।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**तेरह दिन तक**'' उचित पाठ है। मुद्रण-लिपिकर ने इसे अनावश्यक रूप से बदलकर अपनी देशज भाषा का प्रयोग बना दिया—''**तेरह दिन लौं**''। यह अग्राह्य है। यही अनावश्यक पाठ द्विप्र०, द्विसं०, उदयपुर सं० में है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० व द्विप्र० में यहां ''**मर्त्ती**'' और मूलसं०, द्वि०सं० में ''**मरती समय**'' अपप्रयोग है। '**मरते समय**' अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० में भी ''**मरती समय**'' भ्रष्ट प्रयोग है।

उत्तर—उस तुम्हारे स्वर्ग से यही लोक अच्छा है, जिसमें धर्मशालायें हैं, लोग दान देते हैं, इष्ट-मित्र और जाति में खूब निमन्त्रण होते हैं, अच्छे-अच्छे वस्त्र मिलते हैं, तुम्हारे कहने प्रमाणे स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता है।[१] ऐसे निर्दय, कृपण, कंगले स्वर्ग में पोप जी जाके खराब होवें। वहां भले[२] मनुष्यों का क्या काम?

प्रश्न—जब तुम्हारे कहने से यमलोक और यम नहीं हैं, तो मरकर जीव कहाँ जाता है और इनका न्याय कौन करता है?

उत्तर—तुम्हारे 'गरुडपुराण' का कहा तो अप्रमाण है। परन्तु जो वेदोक्त है कि—

''**यमेन=वायुना॥**'' [ऋ०भाष्य ७।३३।१२], ''**सत्यराजन्॥**'' [यजु०भाष्य २०।४][३]

इत्यादि वेदवचनों से निश्चय है कि '**यम**' नाम वायु का है। शरीर छोड़ '**वायु**' के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं; और जो सत्यकर्त्ता, पक्षपातरहित परमात्मा '**धर्मराज**' है, वही सबका न्याय करता है।

---

१. **त्रुटित क्रिया**—द्वि० सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है।

२. **अप-पदवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्वि० सं० में ''**यहां भले**'' पाठ में दो बार ''**भले-भले**'' पद कर दिया है, जो अशुद्ध है।

३. **विद्वान् सम्पादकों की भूल—स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी, युधिष्ठिर जी मीमांसक**, कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित '**उदयपुर संस्करण**', **स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** सदृश विद्वानों ने बिना विचारे एक-दूसरे का अन्धानुकरण करते हुए यह भूल कर दी कि पठित तीन पदों को, तीन स्वतन्त्र पद समझकर उनको तीन मन्त्रों का प्रतीक पद मान लिया, जब कि ''**यमेन**'' मन्त्रपद का ''**वायुना**'' और **यम** का ''**सत्यराजन्**'' अर्थ है। हिन्दी भाषा से भी यही अर्थ प्रकट हो रहा है। यही त्रुटि मूलप्रति सं० में हुई है। प्राप्त दोनों हस्तलेख इस भ्रान्ति का निराकरण कर देते हैं। यहां दोनों हस्तलेखों में स्पष्ट पाठ है कि ''**यमेन वायुना**'' दोनों पद एक विराम वा कोष्ठक चिह्न के अन्तर्गत लिखे हैं, ''**सत्यराजन्**'' पृथक् लिखा है। इकट्ठा लिखने का अभिप्राय यह है कि ''**यमेन**'' का अर्थ ''**वायुना**'' है और उसी का अर्थ ''**सत्यराजन्**'' है। दोनों हस्तलेखों के लेख से स्पष्ट है कि ये तीन पृथक् पद नहीं हैं। तीन पृथक् पद होने की भ्रान्ति मुद्रणकाल में द्विप्र० से हुई है क्योंकि वहां इन पदों को बिना कोष्ठक वा विराम चिह्नों के मुद्रित किया है। **इस विषय पर एक विस्तृत टिप्पणी पृ० ४६३ पर** भी इन्हीं पदों पर द्रष्टव्य है। यदि एक-एक पद कहीं से उठाकर उसको मन्त्रांश मानने की कल्पना करने लगेंगे तो वेदों में से न जाने क्या-क्या विषय निकल आयेंगे!! प्रतीत होता है कि दो पदों के मध्य में अर्थबोधक चिह्न न होने के कारण विद्वानों को भ्रान्ति हुई है। इस संस्करण में अर्थबोधकचिह्न महर्षि के वेदभाष्यार्थ के अनुसार लगा दिये हैं। महर्षि ने वहां यही अर्थ किये हैं।

संशोधन की पुष्टि—'यम' का अर्थ 'वायु' है, इसकी पुष्टि '**उपदेश मंजरी**' के उल्लेख से भी होती है। वहां ग्रन्थकार लिखते हैं—''**मृत्यु-समय यमदूत जीव को ले जाता है, इससे यह आशय समझे कि वायु जीव का हरण करता है।**'' (उपदेश ६, पृ० ४०) यही कथन इस ग्रन्थ के पृष्ठ ४६३ पंक्ति ९ में द्रष्टव्य है।

उदयपुर सं० का निन्दायुक्त, असम्बद्ध और परस्परविरुद्ध उत्तर—मेरे एक लेख में इस अशुद्धि की ओर उदयपुर सं० के सम्पादकों का ध्यान आकर्षित किया गया था कि 'यहां तीन मन्त्रपद नहीं हैं।' उत्तर देने वाले चार लेखकों में से **पहले लेखक** का यह हाल रहा कि वे 'घर से चले थे बम्बई के लिए और पहुंच गये कलकत्ता' अर्थात् देना था इस बात का उत्तर कि मेरा कथन सही है अथवा गलत। उसका कोई भी उत्तर नहीं सूझा, तो व्यंग्यबाण लेकर बिना किसी बात के ही मुझ पर पिल पड़े। उन्होंने यह असम्बद्ध और अवांछनीय उत्तर दिया है—''डॉ० सुरेन्द्र जी, अपनी विद्वत्ता पर इतने गर्वीले हो गए कि उन्होंने स्वामी वेदानन्द जी जैसे बहुभाषाविद् विद्वान् के लिए भी लिख दिया कि 'उनसे यह भूल हो गई' 'उनको भ्रान्ति हो गई।' इसके बाद पंडित युधिष्ठिर जी मीमांसक जैसे प्रौढ़ विद्वान् वैयाकरण के लिए लिख दिया कि 'घोर निन्दा करता हूं।.....सुरेन्द्र जी! आप अपनी शेष पूरी आयु लगाकर भी उक्त दोनों विद्वानों की योग्यता को प्राप्त नहीं कर सकते।'' आदि। उदयपुर सं० के इन भूले-भटके और विस्मृति के शिकार लेखकों को बार-बार वे बातें हमें स्मरण करानी पड़ रही हैं जो इन्हें लिखने से पहले स्वयं स्मरण रखनी चाहियें थीं। लेखक महोदय! '**भूल**' तो स्वयं पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक जी ने कई स्थलों पर स्वीकार की है। 'भूल' बड़े-छोटे किसी की हो उसको 'भूल' ही कहा जायेगा। इसमें अपमान की कहीं कोई बात ही नहीं है। आप मेरे द्वारा 'भूल' शब्द लिखने से इतने विक्षुब्ध हो गये कि आप इस प्रश्न का उत्तर देना ही भूल गये और यह भी भूल गये कि जो 'उदयपुर न्यास' आपके पक्ष में लेख लिखकर आपकी प्रत्येक सही-गलत बात को उचित ठहरा रहा है और आप उसका पक्षपोषण और प्रशंसा कर रहे हैं, उसने स्वामी

प्रश्न—तुम्हारे कहने से गोदानादि किसी को न देना और न कुछ दानपुण्य करना चाहिये, ऐसा सिद्ध होता है।

उत्तर—यह तुम्हारा कहना सर्वथा व्यर्थ है; क्योंकि सुपात्रों को, परोपकारियों को परोपकारार्थ सोना, चाँदी, हीरा, मोती, माणिक, अन्न, जल, स्थान, वस्त्र, गाय आदि दान अवश्य करना उचित है, किन्तु कुपात्रों को कभी न देना चाहिये।

प्रश्न—**कुपात्र** और **सुपात्र** का लक्षण क्या है?

उत्तर—जो छली, कपटी, स्वार्थी, विषयी, काम-क्रोध-लोभ-मोह से युक्त, परहानि करनेवाले, लम्पट,[१] मिथ्यावादी, अविद्वान्, कुसङ्गी, आलसी, **जो कोई दाता हो उसके पास वारम्वार माँगना,** धरना देना, 'ना' किये पश्चात् भी[२] हठ से माँगते जाना, सन्तोष न होना, जो न दे उसकी निन्दा, शाप [देना], गालि-प्रदानादि करना,[३] अनेक वार जो सेवा करे और एक वार न करे तो उसका[४] शत्रु बन जाना, ऊपर से साधु-वेश बना लोगों को बहकाकर ठगना और अपने पास पदार्थ हो, तो भी 'मेरे पास कुछ भी नहीं है' कहना, सबकी खुशामद करना,[५] रात-दिन भीख माँगने में ही प्रवृत्त रहना, निमन्त्रण

वेदानन्द जी जैसे विद्वान् को हाली-पालियों जैसे गंदी गालियों से अपमानित करने वाले एक असभ्य लेखक को सदा सम्मानित किया है। अब भी उसके साथ गलबहियां हैं। आपको उन असभ्य गालियों से जरा भी विक्षोभ नहीं हुआ, न उनकी निन्दा की, न न्यास की उस करतूत के विरुद्ध आज तक आपने एक शब्द लिखा? जहां निन्दा की कोई बात ही नहीं है वहां आपका क्षोभ उफान खा रहा है। मैंने कहीं भी उन विद्वानों के समकक्ष होने की बात नहीं कही और न कहना चाहता हूं। आप अपने मन में हीनभावना के कारण स्वयं दुष्कल्पनाएं कर रहे हैं और उनके लिए मुझे मिथ्या दोष दे रहे हैं। आपके लेखन की अवसरवादिता देखिए कि जब कोई ऐसी बात सिर पर आ पड़ती है तो आप 'उदयपुर न्यास' से पल्ला झाड़ लेते हैं और जब जरूरत पड़ती है तो एक-दूसरे के पक्षपोषक बन जाते हैं।

दूसरे लेखक ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। **तीसरे लेखक** ने अपने पक्ष में सम्पादकों द्वारा स्वीकृत पाठ की अनावश्यक तालिका प्रस्तुत की है और अशुद्धि का अनुभव करके दुर्लभ उदारता से स्वीकार किया है कि ''विद्वज्जन विचार करें''।

चौथे लेखक की मनोवैज्ञानिक 'ईगो-प्रोब्लम' उसको असम्बद्ध बातों में भटका देती है। कुछ बेतुका उत्तर देकर क्या कहना चाहा है, शायद, उसको स्वयं ही नहीं पता। प्रश्न था कि ये तीन मन्त्र पद नहीं हैं। इसका उत्तर गोल कर दिया। अन्त में घुमाकर कान पकड़ा और उसने स्वीकार किया कि ''**यमेन वायुना**'' से सम्बन्धित डॉ० सुरेन्द्र का कथन सही है।''

इस विवरण-विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि उदयपुर सं० के सम्पादन में सम्पादकों का एकमत नहीं है, अतः यह दश विद्वानों का सम्पादन भी नहीं है।

उदयपुर सं० का परस्परविरोध—उदयपुर सं० के सम्पादकों ने पृ० २४९ (इस सं० में ४६२) पर ''**यमेन वायुना**'' को एक ही प्रमाण माना है जबकि यहां उन्होंने दोनों को अलग-अलग पद बना दिया। कहीं कुछ पाठ स्वीकार करना, कहीं कुछ, यह अशुद्ध सम्पादन के साथ परस्परविरोध और प्रमाद भी है।

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**लम्पटी**'' अशुद्ध प्रयोग है, मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**लम्पट**'' ठीक है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में ''**ना किये पर भी**'' पाठ है। द्वि०सं० में ''**ना किये पश्चात् भी**'' संशोधित पाठ ग्राह्य है।

३-४. **अपप्रयोग एवं उचित संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**गालिप्रदानादि देना**'' अपप्रयोग है। 'उदयपुर' सं० का परस्परविरोधी देखिए कि यहां उसमें भी अशुद्ध प्रयोग है जबकि पहले पृ० ५९० पर शुद्ध कर दिया है। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**उसके शत्रु बन जाना**'' अपप्रयोग है, द्वि०सं० में संशोधित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने मूलह०, मूलप्रति सं० के साहित्यिक शैली के उचित पाठ के स्थान पर ग्राम्य भाषा का असाहित्यिक संशोधन किया है—''**सबको फुसला-फुसलू कर स्वार्थ सिद्ध करना**''। यही द्विप्र०, द्वि० सं० में छप रहा है, जो सर्वथा अग्राह्य है। यह हिन्दीकरण की लालसा में साहित्यिक स्तरीय भाषा का अशुद्ध ग्राम्यीकरण है।

दिये पर खूब भांग आदि मादक द्रव्य खा-पीकर बहुत-सा पराया पदार्थ खाना,[१] मस्त होकर पागल वा प्रमादी होना, सत्य-मार्ग का विरोध और झूठ-मार्ग में अपने प्रयोजनार्थ चलना, **अपने चेलों को अपनी ही सेवा का उपदेश करना, अन्य योग्य पुरुषों की सेवा नहीं करना।** सद्विद्यादि प्रवृत्ति के विरोधी, जगत् के व्यवहार अर्थात् स्त्री, पुरुष, माता, पिता, सन्तान, राजा, प्रजा, इष्टमित्रों में अप्रीति कराना कि 'ये सब असत्य हैं, जगत् भी मिथ्या है',[२] इत्यादि दुष्ट उपदेश करना आदि '**कुपात्रों**' के लक्षण हैं।

और जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, वेदादिविद्या के पढ़ने-पढ़ाने-हारे, सुशील,[३] सत्यवादी, परोपकारप्रिय, पुरुषार्थी, उदार, विद्या-धर्म में निरन्तर उन्नति करनेहारे, धर्मात्मा, शान्त, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोकरहित, निर्भय, उत्साही, योगी, ज्ञानी, सृष्टिक्रम-वेदाज्ञा-ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभावानुकूल वर्तमान करनेहारे, न्याय की रीतियुक्त, पक्षपातरहित, सत्योपदेश और सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ानेहारों के परीक्षक,[४] किसी की खुशामद न करें,[५] प्रश्नों के ठीक-ठीक समाधानकर्त्ता,[६] अपने आत्मा के तुल्य अन्य का भी सुख-दुःख, हानि-लाभ समझनेवाले, अविद्यादि क्लेश-हठ-दुराग्रह-अभिमान-रहित, अमृत के तुल्य अपमान[७] और मान को विष के तुल्य समझनेवाले, सन्तोषी, जो कोई प्रीति से जितना देवे उतने से ही प्रसन्न, एक वार आपत्काल में मांगे भी तो न देने वा वर्जने पर भी दुःख वा बुरी चेष्टा न करना, वहाँ से झट लौट जाना[८] [और] उसकी निन्दा न करना, [९]सुखियों के साथ मित्रता, दुःखियों पर करुणा [करना][१०],

---

१. **उचित संशोधन**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पाठ है—''**मादक द्रव्य पीकर बहुत खाना**'', मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में पूर्ण एवं व्यापकार्थक संशोधन है—''**मादक द्रव्य खा-पीकर बहुत-सा पराया पदार्थ खाना**''।

२. **ऋषिहस्तलेख**—''**अप्रीति कराना कि**'' ऋषि द्वारा मुद्रणप्रति में परिवर्धित पाठ है। **असत्य जगत्**—यह नवीन वेदान्तियों का कल्पित सिद्धान्त है। द्र० समु० ८ में भी अद्वैतमत प्रकरण।

३. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० के ''**वेदादिविद्या पठन-पाठन-शील**'' के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने ''**वेदादि विद्या के पढ़ने-पढ़ानेहारे, सुशील**'' पाठ परिवर्धन किया है। द्विप्र०, द्वि०सं० का यह पाठ ग्राह्य है।

४. **अप-संशोधन**—मूलह० में यहां ''**के**'' प्रत्यय त्रुटित रह गया है। मुद्रण-प्रति व द्वि० सं० में यहां ''**पढ़ने-पढ़ाने हारे के परीक्षक**'' संशोधन है किन्तु एकवचनात्मक अपपाठ है, यहां बहुवचनात्मक ''**पढ़ानेहारों**'' अपेक्षित है, क्योंकि इस प्रसंग में बहुवचनात्मक शैली है। मूलप्रति सं० में संशोधित पाठ है। 'उदयपुर' सं० फिर से आदिम अवस्था में लौट गया है। उसने यह बनाया है—''**सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने हारे, परीक्षक**''। यहां सम्पादकों ने ''**हारे**'' के बाद अल्पविराम अपनी ओर से लगाया है। यहां पाठकों को असत्य सूचना यह दी गई है कि यह मुद्रणहस्तलेख का पाठ है जबकि मुद्रणह० में यह पाठ नहीं है। इसके अतिरिक्त दो कारणों से यह संशोधन ग्राह्य नहीं है—१. ''**सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने हारे**'' वचन पुनरुक्तिमात्र होने से अनावश्यक है, क्योंकि यही भाव तीन-चार पंक्ति पूर्व ''**वेदादिविद्या के पढ़ने-पढ़ाने हारे**'' के रूप में उक्त हो चुका है। २. ''**परीक्षक**'' अस्पष्ट-अपूर्ण कथन है और दान के सुपात्र के लिए यह कोई ''**शुभलक्षणयुक्त**'' विशेषता नहीं है जिसके आधार पर किसी को दान दिया जाये। अतः मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में उक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त साहित्यिक शैली के उचित पाठ के स्थान पर मुद्रण-लिपिकर ने ग्राम्य भाषा का प्रयोग बनाया है—''**किसी की लल्लो-पत्तो न करें**''। यही पाठ द्विप्र०, द्वि० सं० में छप रहा है। यह हिन्दीकरण की लालसा में भाषा का स्तरहीन ग्राम्यीकरण है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**ठीक-ठीक**'' प्रयोग ठीक है। मुद्रणलिपिकर ने ''**यथार्थ**'' पाठान्तर कर दिया है, जो अनावश्यक है।

७. **अपमान का अर्थ**—अपमान का अर्थ ऐसे प्रसंगों में '**मान-सम्मान प्राप्ति की भावना से रहित होना**' है, तिरस्कार या बेइज्जती अर्थ नहीं। यह '**अवमान**' का पर्यायवाची है। मान-सम्मान मनुष्य को संसारिकता में फंसाता है, अहंकार उत्पन्न करता है, अतः आध्यात्मिक शास्त्रों में मानप्राप्ति की भावना से रहित रहने को श्रेयस्कर माना है। इस भाव का वर्णक मनु० का २.१६२ श्लोक तृतीय समु० में पृ० १०२ पर द्रष्टव्य है।

८. **उचित संशोधन**—यहां मूलह० का ''**हठ जाना**'' पाठ मूलप्रति सं० में ''**हट जाना**'' संशोधित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं०

पुण्यात्माओं से आनन्द और पापियों से उपेक्षा अर्थात् राग-द्वेषरहित रहना, सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, निष्कपट, ईर्ष्या-द्वेषरहित, गम्भीराशय, सत्पुरुष, धर्म से युक्त और सर्वथा दुष्टाचार से रहित, अपने तन-मन-धन को परोपकार में लगानेवाले, पराये सुख के लिये अपने प्राणों के[१] भी समर्पितकर्त्ता, इत्यादि शुभलक्षणयुक्त '**सुपात्र**' होते हैं; **परन्तु दुर्भिक्षादि आपत्काल में अन्न, जल, वस्त्र, औषध,[२] पथ्य और स्थान के अधिकारी सब प्राणी मात्र होते हैं।**

प्रश्न—दाता कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—तीन प्रकार के—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। '**उत्तम दाता**' उसको कहते हैं जो देश, काल और पात्र को जानकर, सत्यविद्या, धर्म की उन्नतिरूप परोपकारार्थ दान देवे। '**मध्यम**' वह है जो कीर्त्ति वा स्वार्थ के लिये दान करे। '**नीच**'[३] वह है कि जो अपना वा पराया कुछ उपकार न कर सके, किन्तु वेश्यागमनादि वा भांड-भाटों आदि को देवे, देते समय तिरस्कार-अपमानादि कुचेष्टा भी करे, पात्र-कुपात्र का कुछ भी भेद न जाने, किन्तु '**सब अन्न बारह पसेरी**'[४] बेचनेवालों के तुल्य विवाद-लड़ाई, दूसरे धर्मात्मा को दुःख देकर [अपने] सुखी होने के लिये दिया करे, वह '**अधम**' दाता है। अर्थात् जो परीक्षापूर्वक विद्वान् धर्मात्माओं का सत्कार करे वह '**उत्तम**', और कुछ परीक्षा करे वा न करे परन्तु जिसमें अपनी प्रशंसा हो उसको करे वह '**मध्यम**', और जो अन्धाधुन्ध परीक्षारहित निष्फल दान दिया करे वह '**नीच**' दाता कहाता है।

प्रश्न—दान के फल यहाँ होते हैं, वा परलोक में?

उत्तर—सर्वत्र होते हैं।

प्रश्न—स्वयं होते हैं, वा कोई फल देनेवाला है?

उत्तर—फल देनेवाला ईश्वर है।[५] जैसे कोई चोर-डाकू स्वयं बन्दीघर[६] में जाना नहीं चाहता, राजा उसको अवश्य भेजता है। वह धर्मात्माओं के सुख की रक्षा करता, [कर्मफल][७] भुगाता, डाकू आदि से बचाकर उनको सुख में रखता है, वैसे ही परमात्मा सबको पाप-पुण्य के दुःख और सुखरूप फलों

का "**लौट जाना**" संशोधित पाठ अधिक ग्राह्य है।

९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**सुखी, दुःखी**" एकवचनान्त पद हैं। पूर्वापर शैली के अनुसार बहुवचनान्त अपेक्षित हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित पद हैं।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रियापद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठक की क्रिया का परिवर्धन अपेक्षित है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**प्राणों को भी समर्पितकर्त्ता**" अपप्रयोग है, "**प्राणों के भी**" वांछित है। जैसे ऊपर शुद्ध प्रयोग "**प्रश्नों के ठीक-ठीक समाधानकर्त्ता**" है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां "**ओषध/ ओषधि**" अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

३. **नीच दाता**=निम्नस्तर का दाता, अधम दाता। ग्रन्थकार ने अग्रिम पंक्तियों में यही अर्थ किया है।

४. **सब अन्न बारह पसेरी—पसेरी**, पांच सेर के बाट को कहते हैं। यह 'पांच-सेरी' का अपभ्रंश है। इस मुहावरे का अर्थ है—'योग्य-अयोग्य न देखकर सबके साथ एक जैसा बर्ताव करना।'

५. **ऋषिहस्तलेख**—"**फल देनेवाला ईश्वर है**" पाठ ऋषि द्वारा मुद्रणप्रति में परिवर्धित है।

६. **ऋषिहस्तलेख में हिन्दी-रूपान्तरण**—मूलह० में बोलते समय ग्रन्थकार ने "**जेलखाना**" लिखाया था, किन्तु उसका शोधन करते समय ऋषि ने अपने हस्तलेख में इसका हिन्दी रूप "**बन्दीघर**" लिखा है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सभी सं० में "**भुगाता**" अपूर्ण और अस्पष्ट क्रियापद है। यहां बृ०कोष्ठक का पाठ रखना अभीष्ट है।

को यथावत् भुगाता है।

प्रश्न—जो ये '**गरुडपुराण**'-आदि ग्रन्थ हैं, वे वेदार्थ वा वेद की पुष्टि करनेवाले हैं, वा नहीं?

उत्तर—नहीं, किन्तु वेद के विरोधी और उलटे चलते हैं; तथा तन्त्र भी वैसे ही हैं। जैसे कोई मनुष्य एक का मित्र, सब संसार का शत्रु हो, वैसे[१] ही पुराणों और तन्त्रों का माननेवाला पुरुष होता है; क्योंकि एक दूसरे से विरोध करानेवाले ये ग्रन्थ हैं। इनका मानना किसी मनुष्य[२] का काम नहीं, किन्तु इनको मानना पशुता है।[३] देखो, '**शिवपुराण**' में त्रयोदशी, सोमवार; '**आदित्यपुराण**' में रवि; '**चन्द्रखण्ड**' में सोम;[४] ग्रहवालों के[५] मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु;[६] वैष्णव एकादशी; वामन की द्वादशी; नृसिंह वा अनन्त की चतुर्दशी; चन्द्रमा की पूर्णमासी; दिक्पालों की दशमी; दुर्गा की नवमी; वसुओं की अष्टमी, मुनियों की सप्तमी; कार्त्तिकेय स्वामी[७] की षष्ठी; नाग की पञ्चमी; गणेश की चतुर्थी; गौरी की तृतीया; अश्विनीकुमार की द्वितीया; आद्यादेवी की प्रतिपदा और पितरों की अमावस्या; पुराणरीति से उपवास करने के दिन हैं। और सर्वत्र यही लिखा है कि जो मनुष्य इन वार और तिथियों में अन्न-पान ग्रहण करेगा वह नरकगामी होगा। अब पोप और पोप जी के चेलों को चाहिये कि किसी वार अथवा किसी तिथि में भोजन न करें; क्योंकि जो भोजन वा पान किया तो वे नरकगामी होंगे।

अब '**निर्णयसिन्धु**' '**धर्मसिन्धु**' '**व्रतार्क**' आदि ग्रन्थ जो कि प्रमादी लोगों के बनाये हैं, उन्होंने एक-एक व्रत की ऐसी दुर्दशा की है कि जैसे एकादशी को शैव दशमीविद्धा, [मानते हैं],[८] कोई द्वादशी में एकादशी व्रत करते हैं अर्थात् क्या बड़ी विचित्र पोपलीला है कि भूखे मरने में भी वाद-विवाद ही करते हैं। जिसने एकादशी का व्रत चलाया है, उसमें अपना स्वार्थपन ही है और दया कुछ भी नहीं। कहते हैं—

'' एकादश्यामन्ने पापानि वसन्ति॥''

[पद्मपुराण, ब्रह्मखण्ड अ० १५, श्लो० ११ तथा एकादशी माहात्म्य]

=जितने पाप हैं, सब एकादशी के दिन अन्न में वसते हैं। इस पोप जी से पूछना चाहिये कि किसके पाप उसमें वसते हैं? तेरे वा तेरे पिता आदि के? जो सबके सब पाप एकादशी में जा वसें तो एकादशी

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**वैसा ही पुराण और तन्त्र का माननेवाला**''। यहां बहुवचन अपेक्षित है। ''**जैसे**'' के सम्बन्ध में ''**वैसे**'' प्रयोग अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० में अपपाठ है।

२-३. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन—पशुता**=घोर अज्ञानता, महामूर्खता। प्रकाशन समय द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के ''**मनुष्य**'' के स्थान पर ''**विद्वान्**'' और ''**पशुता**'' के स्थान पर ''**अविद्वत्ता**'' पाठ बदला है, जो ग्रन्थकार के अभीष्ट भाव को प्रकट नहीं करता, अतः मूलप्रति का पाठ अधिक ग्राह्य है। ग्रन्थकार तान्त्रिकों की पशु से भी निम्न स्तर की लीलाओं का वर्णन पूर्व कर चुके हैं। ग्रन्थकार तो यह कहना चाहते हैं कि वेदविरोधी और तन्त्र ग्रन्थों को माननेवाला सही अर्थ में 'मनुष्य' ही नहीं है, 'विद्वान्' होने की तो बात ही छोड़ दीजिए।

ऋषिहस्तलेख—''**किन्तु.....पशुता है**'' परिवर्धित पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा लिखित है।

४-६. **अशुद्ध विरामचिह्न से भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चन्द्रखण्ड में सोमग्रहवाले**'' भ्रष्ट पाठ है। एक विरामचिह्न की गड़बड़ से यह पाठ भ्रष्ट हो गया है। यहां ठीक कर दिया है। अगला वाक्य शुद्ध बनेगा—''**ग्रहवालों के....**''। यहां ''**राहु-केतु के**'' पाठ वाक्यांश में ''**के**'' अशुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर सं०' में यह पाठभ्रष्ट है।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कार्तिक स्वामी**'' अपवर्तनी है। इसका अन्यथा अर्थ होता है। ''**कार्तिकेय स्वामी**'' शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठक में परिवर्धित पाठ '**मानते हैं**' आवश्यक है।

के दिन किसी को दुःख न रहना चाहिये। ऐसा तो नहीं होता किन्तु उलटा क्षुधा आदि से दुःख होता है। **दुःख पाप का फल है। इससे भूखा मरना पाप है।**[१] इसका बड़ा माहात्म्य बनाया है। जिसकी कथा बाँचके बहुत ठगे जाते हैं, उसमें एक गाथा है कि—

ब्रह्मलोक में एक वेश्या थी। उसने कुछ अपराध किया। उसको शाप हुआ—''तू पृथिवी पर गिर।''[२] उसने स्तुति की, 'मैं पुनः स्वर्ग में क्योंकर आ सकूँगी?' उस [शापदाता ने][३] कहा—''जब कभी एकादशी के व्रत का फल तुझे कोई देगा, तभी तू स्वर्ग में आ जायगी।'' वह विमान सहित किसी नगर में गिर पड़ी। वहाँ के राजा ने उससे पूछा कि ''तू कौन है?'' तब उसने सब वृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि ''जो कोई मुझको एकादशी का फल अर्पण करे, तो मैं फिर भी स्वर्ग को जा सकती हूँ।'' राजा ने नगर में खोज कराई।[४] कोई भी एकादशी का व्रत करनेवाला न मिला। किन्तु एक दिन किसी शूद्र स्त्री-पुरुष में लड़ाई हुई थी। क्रोध से स्त्री दिन-रात भूखी रही थी। दैवयोग से उस दिन एकादशी ही थी। उसने कहा कि ''मैंने एकादशी जानकर तो व्रत नहीं किया,[५] अकस्मात् उस दिन भूखी रह गई थी।'', ऐसा राजा के सिपाहियों[६] से कहा। तब तो सिपाही उसको राजा के सामने ले आये।[७] उससे राजा ने कहा कि ''तू इस विमान को छू।'' उसने छूआ,[८] तो उसी समय विमान ऊपर को उड़ गया। यह तो विना जाने एकादशी के व्रत का फल है, जो जानके करे तो उसके फल का क्या पारावार है!!![९]

वाह रे आँख के अन्धे लोगो! जो यह बात सच्ची हो तो हम एक पान की बीड़ी जो कि स्वर्ग में नहीं होती, भेजना चाहते हैं। सब एकादशीवाले अपना फल दे दो। जो एक पानबीड़ी ऊपर को चली जायगी[१०], तो पुनः लाखों-करोड़ों-पान वहाँ भेजेंगे और हम भी एकादशी किया करेंगे; और जो ऐसा न होगा तो तुम लोगों को इस भूखा मरनेरूप आपत्काल से बचावेंगे।

१,७,९. **ऋषिहस्तलेख**—''**दुःख पाप का.....पाप है**'', ''**तब तो सिपाही.....ले आये**'', ''**यह तो.....पारावार है**'' तीनों पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—''**उसको शाप हुआ-वह पृथिवी पर गिर/गिरे।**'' मध्यम पुरुष में ''**गिर**'' क्रिया आयेगी। द्वि०सं० में संशोधित है, ऊपर वही पाठ गृहीत है। 'उदयपुर' सं० ने द्वि०सं० के संशोधन को अस्वीकार कर अपपाठ ग्रहण किया है।

३,४. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**उसने कहा**'' अस्पष्ट अपपाठ है जिसकी संगति पूर्व वाक्य के ''**उसने**'' पद से जुड़ जाती है। स्पष्टता और उचित संगति के लिए यहां बृहत्कोष्ठक में अंकित '**शापदाता ने कहा**' पाठ अपेक्षित है। दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**खोज कराया**'' अपप्रयोग है, ''**खोज कराई**'' वांछित है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अस्पष्ट अपवाक्य है—''**मैंने एकादशी जानकर तो नहीं की।**'' यहां यह वाक्य अपेक्षित है—''**मैंने एकादशी जानकर तो व्रत नहीं किया।**'' वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

६. **मुद्रणकाल में अप-अनुवाद**—मूलहस्तलेख व मुद्रण-प्रति दोनों में यहां ''**सिपाहियों**'' उपयुक्त पद है। मुद्रण-समय में इसके स्थान पर हिन्दीकरण के मोह में किसी शोधक ने ''**भृत्यों**'' पद परिवर्तित कर दिया। यह परिवर्तन अशुद्ध तो है ही, हास्यास्पद भी है। '**सिपाही**' विशेष वर्ग होता है जबकि '**भृत्य**' तो सभी होते हैं। उपयुक्त अनुवाद न होने से यह परिवर्तन अग्राह्य है।

८. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, सभी सं० में यहां ''**छुआ**'' अपवर्तनी है। सकर्मक धातु के कारण ''**छूआ**'' वर्तनी चाहिए।

१०. **अव्यवस्थित अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में अपपाठ प्राप्त होता है। ऊपर ''**पान की बीड़ी**'' का उल्लेख है किन्तु तीसरी ही पंक्ति में उसको ''**पानबीड़ा**'' लिख दिया। यहां अर्थ में तो अन्तर है ही, साथ ही भाषा में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है, अतः एकरूपता, मानकता हेतु संशोधन आवश्यक है। सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी यह अव्यवस्था है।

इन चौबीस एकादशियों का नाम पृथक्-पृथक् रक्खा है। किसी का 'धनदा', किसी का 'कामदा', किसी का 'पुत्रदा' और किसी का 'निर्जला'। बहुत से दरिद्र, बहुत से कामी और बहुत से निर्वंशी लोग एकादशी करते[१] बूढ़े हो गये और मर भी गये परन्तु धन, कामना और पुत्र प्राप्त न हुआ। और ज्येष्ठ महीने के शुक्लपक्ष में कि जिस समय एक घड़ी-भर जल न पावे तो मनुष्य व्याकुल हो जाता है, व्रत करनेवालों को महादुःख प्राप्त होता है। विशेषकर बङ्गाले में सब विधवा स्त्रियों की एकादशी के दिन बड़ी दुर्दशा होती है। **इस निर्दयी कसाई[२] को लिखते समय कुछ भी मन में दया नहीं आई, नहीं तो 'निर्जला' का नाम 'सजला' और पौष महीने की एकादशी का नाम 'निर्जला' रख देता तो भी कुछ अच्छा होता। परन्तु इस पोप को दया से क्या काम? 'कोई जीवो वा मरो, पोप जी का पेट पूरा भरो।' गर्भवती वा सद्योविवाहिता स्त्री, लड़कों वा युवा पुरुषों को तो कभी उपवास न करना चाहिये, परन्तु किसी को करना भी हो तो जिस दिन अजीर्ण हो, क्षुधा न लगे, उस दिन शर्करावत् (शर्बत)[३] वा दूध पीकर रहना चाहिये[४]। जो भूख में नहीं खाते और जो विना भूख के भोजन करते हैं, वे दोनों रोगसागर में गोते खा दुःख पाते हैं।** इन प्रमादियों के कहने-लिखने का प्रमाण कोई भी न करे।

अब **गुरुशिष्यमन्त्रोपदेश** और **मतमतान्तरों[५] के चरित्रों** का वर्तमान कहते हैं—

[प्रश्न—] मूर्त्तिपूजक सम्प्रदायी लोग प्रश्न करते हैं कि वेद अनन्त हैं। '**ऋग्वेद**' की २१, '**यजुर्वेद**' की १०१, '**सामवेद**' की १००० और '**अथर्ववेद**' की ९ शाखायें हैं।[६] इनमें से थोड़ी-सी शाखायें मिलती है, शेष लुप्त[७] हो गई हैं, उन्हीं में मूर्ति-पूजा और तीर्थों का प्रमाण होगा। जो न होता तो पुराणों में कहाँ से आता? जब कार्य देखकर कारण का अनुमान होता है, तब पुराणों को देखकर मूर्त्तिपूजा में क्या शंका है?

उत्तर—जैसे शाखा जिस वृक्ष की होती है उसीके[८] सदृश हुआ करती है, विरुद्ध नहीं। चाहे शाखायें[९] छोटी-बड़ी हों परन्तु उनमें विरोध नहीं हो सकता। वैसे ही जितनी शाखायें[१०] मिलती हैं, जब इनमें पाषाणादि-मूर्त्ति और जल-स्थल-विशेष तीर्थों का प्रमाण नहीं मिलता तो उन लुप्त शाखाओं में भी नहीं था। और जो चार वेद पूर्ण मिलते हैं, उनसे विरुद्ध शाखायें[११] कभी नहीं हो सकतीं, और जो विरुद्ध हैं उनको शाखायें[१२] कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता। जब यह बात है तो 'पुराण' वेदों की

---

१. **अप-पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**करके**" अप प्रयोग है। यहां '**करते**' प्रयोग ग्राह्य है। श्रवणभ्रान्ति हुई है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**कशाई**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधन कर दिया है। 'उदयपुर' सं० ने भी बिना टिप्पणी दिये संशोधन कर दिया है।

३. **पाठान्तर**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**शर्बत**" पद के साथ "**शर्करावत्**" पद जोड़ा है। यह ग्राह्य है।

४. **उचित संशोधित**—मूलह०, मूलसं० में "**रह जाना चाहिये**" अपप्रयोग है, मुद्रणह० आदि में '**रहना चाहिये**' उपयुक्त है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मतमतान्तर**" अपप्रयोग है। बहुतों के लिए बहुवचन अपेक्षित है। ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर ग्रन्थकार ने बहुवचन का प्रयोग किया है, जैसे—पृ० ११।

६. **शाखाओं की गणना**—महाभाष्य आदि ग्रन्थों के अनुसार चारों वेदों की ११२७ शाखाएं हैं। महर्षि ने यहां शाखासहित मूल चार वेदों को मिलाकर ११३१ गणना दी है। प्रसंगानुसार, मूल और शाखा में सादृश्य दिखाने के लिए एकत्र गणना की है।

७-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**लोप**" प्रयोग है, यहां "**लुप्त**" पद अभीष्ट है देखिए, चार और सोलह पंक्ति आगे शुद्ध प्रयोग है।। इसी प्रकार "**उसके**" पद के स्थान पर "**उसी के**" उपयुक्त प्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में अपप्रयोग है।

९-१२ **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में चारों स्थानों पर "**शाखा**" एकवचन पद का प्रयोग है। सभी स्थलों पर

शाखायें नहीं किन्तु सम्प्रदायी[१] लोगों ने परस्परविरुद्ध रूप ग्रन्थ बना रक्खे हैं। वेदों को तुम परमेश्वरकृत मानते हो वा मनुष्यकृत?

[**प्रश्नकर्त्ता**—][२] परमेश्वरकृत।

[**उत्तर**—][३] जब परमेश्वरकृत मानते हो तो आश्वलायनादि ऋषि-मुनियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों को वेद क्यों मानते हो? जैसे डाली और पत्तों के देखने से पीपल, बड़ और आम्र आदि वृक्षों की पहचान होती है, वैसे ही ऋषि-मुनियों के किये चारों ब्राह्मण, अंग, उपाङ्ग और उपवेद आदि से[४] वेदार्थ पहचाना जाता है, इसीलिये इन ग्रन्थों को शाखा माना है। **जो वेदों से विरुद्ध है उसका प्रमाण और अनुकूल का अप्रमाण नहीं हो सकता।**

जो तुम अदृष्ट शाखाओं में मूर्त्ति आदि के प्रमाण की कल्पना करोगे तो जब कोई ऐसा पक्ष करेगा कि लुप्त शाखाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था उलटी अर्थात् अन्त्यज और शूद्र का नाम ब्राह्मणादि और ब्राह्मणादि का नाम शूद्र, अन्त्यजादि; अगमनीया गमनीया;[५] अकर्त्तव्य कर्त्तव्य; मिथ्याभाषणादि धर्म, सत्यभाषणादि अधर्म आदि लिखा होगा, तो तुम उसको वही उत्तर दोगे जो कि हमने दिया। अर्थात् वेद और प्रसिद्ध शाखाओं में जैसा ब्राह्मणादि का नाम ब्राह्मणादि और शूद्रादि का नाम शूद्रादि लिखा है, वैसा ही अदृष्ट शाखाओं में भी मानना चाहिये, नहीं तो वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सब अन्यथा हो जायेंगे।

भला, जैमिनि, व्यास और पतञ्जलि के समय पर्यन्त तो सब शाखायें[६] विद्यमान थी वा नहीं? यदि थी तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे,[७] और जो कहो कि नहीं थी तो फिर शाखाओं के होने का क्या प्रमाण है? देखो, जैमिनि ने '**मीमांसा**' में सब '**कर्मकाण्ड**', पतञ्जलि मुनि ने '**योगशास्त्र**' में सब '**उपासनाकाण्ड**' और व्यास मुनि ने '**शारीरक-सूत्रों**' में सब '**ज्ञानकाण्ड**' वेदानुकूल लिखा है। उनमें पाषाणादि-मूर्त्तिपूजा वा प्रयागादि तीर्थों का नाम तक भी नहीं लिखा। लिखें कहाँ से? कहीं वेदों में होता तो लिखे विना कभी नहीं छोड़ते। इसलिये लुप्त शाखाओं में भी इन मूर्त्तिपूजादि का प्रमाण

बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित है। इस प्रसंग में कहीं-कहीं शुद्ध प्रयोग भी है। ग्रन्थ में अन्यत्र भी शुद्ध पाठ है।

१. **लिपिकरकृत अपवर्तनी और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां "**सम्प्रदाई**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी सं० में संशोधित है। '**उदयपुर**' **सं०** के सम्पादकों पर आश्चर्य है कि सभी द्वारा संशोधित वर्तनी को उन्होंने ग्रहण नहीं किया और वे फिर से पाठकों को अशुद्धि के आदिम युग में ले गये, क्योंकि उन्होंने "**सम्प्रदाई**" भ्रष्ट वर्तनी को ग्रहण किया है, जबकि इसी उत्तरात्मक अनुच्छेद के प्रश्न की भाषा की प्रथम पंक्ति में शुद्ध "**सम्प्रदायी**" वर्तनी पठित है। एक ही स्थान पर अशुद्ध और शुद्ध दो वर्तनियां होना क्या 'मानक संस्करण' का लक्षण हो सकता है?

२-३. **अस्तव्यस्त पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां विपक्षी का प्रश्न और उत्तर घुलमिल गये हैं। प्रतीत होता है लिपिकर यहां शीघ्रता में प्रश्न-उत्तर शीर्षक नहीं डाल पाया। इस संस्करण में उनको पृथक् करके कोष्ठक में शीर्षक अंकित कर दिया है।

४. **ऋषिहस्तलेख तथा मुद्रणह० में अपपाठ**—"**अंग, उपांग और उपवेद आदि**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मुद्रणह०, सभी द्वि०सं० में "**वेदांग, चारों ब्राह्मण, अंग, उपांग**" अपपाठ है।

५. **भ्रष्ट प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० "**अगमनीयागमन**" श्रवणभ्रान्ति से भ्रष्ट प्रयोग है। यहां प्रसंगानुसार '**अगमनीया गमनीया**' प्रयोग होना चाहिए। यही भ्रष्ट पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, '**उदयपुर सं०**' में भी है।

६,८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**शाखा**" अपप्रयोग है, "**शाखायें**" चाहिए।

७. **मुद्रणप्रति में भ्रष्टवाक्य**—मूलप्रति सं० में पाठ ठीक है किन्तु मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, जग, भद में इस वाक्य का पाठ भ्रष्ट हो गया है—"**यदि नहीं थी तो तुम कभी निषेध न कर सकोगे और जो कहो कि नहीं थी तो....।**" मूलह० में भी अस्त-व्यस्त पाठ है। वेस, युमी, 'उदयपुर सं०' आदि में अब संशोधित पाठ है।

नहीं था।

ये सब शाखायें[८] वेद नहीं है, क्योंकि इनमें ईश्वरकृत वेदों के प्रतीक[१] धरके व्याख्या और संसारी जनों के इतिहासादि लिखे हैं, ये वेद में कभी नहीं हो सकते। वेदों में तो केवल मनुष्यों को विद्या का उपदेश किया है। किसी मनुष्य का नाममात्र भी नहीं। इसलिये मूर्त्तिपूजा का सर्वथा खण्डन है।

देखो, मूर्तिपूजा से श्री रामचन्द्र, श्री कृष्ण, नारायण और शिव आदि की बड़ी निन्दा और उपहास होता है। सब कोई जानते हैं कि वे बड़े महाराजाधिराज और उनकी स्त्री सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी, पार्वती आदि महाराणियां[२] थीं, परन्तु जब उनकी मूर्त्तियाँ मन्दिर आदि में रखके पुजारी लोग उनके नाम से भीख माँगते हैं अर्थात् उनको भिखारी बनाते हैं कि "आओ महाराज! राजाजी! सेठ-साहूकारो![३] दर्शन कीजिये, बैठिये, चरणामृत लीजिये, कुछ भेंट चढाइये। महाराज! सीता-राम,[४] रुक्मिणी-कृष्ण वा राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण और पार्वती-महादेव जी को तीन दिन से 'बालभोग, वा 'राजभोग' अर्थात् जलपान वा खानपान भी नहीं मिला है। आज इनके पास कुछ भी नहीं है। सीता आदि को नथुनी आदि, राणी जी[५] वा सेठानी जी! बनवा दीजिये। अन्न आदि भेजो तो राम, कृष्णादि को भोग लगावें। वस्त्र सब फट गये हैं। मन्दिर के कोने सब गिर पड़े हैं। ऊपर से चूता है, और दुष्ट चोर, जो कुछ था, उठा ले गये। कुछ ऊंदरों[६] ने काट-कूट डाले। देखिये! एक दिन ऊँदरों ने ऐसा अनर्थ किया कि इनकी आँख भी निकाल के भाग गये। अब हम चाँदी की आँख न बनवा सके,[७] इसलिये कौड़ी की लगा दी है।"

रामलीला और रासमण्डल भी करवाते हैं। सीता-राम, राधा-कृष्ण नाच रहे हैं, राजा और महन्त[८] आदि उनके सेवक आनन्द में बैठे हैं! मन्दिर में सीता, रामादि खड़े और पुजारी वा महन्त[९] जी आसन अथवा गद्दी-तकिया लगा बैठते हैं। महा-गर्मी[१०] में भी ताला लगा भीतर बन्द कर देते हैं और आप सुन्दर वायु में पलङ्ग बिछा सोते हैं। बहुत-से पुजारी[११] अपने नारायण को डब्बी में बन्द कर ऊपर से

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में "**वेदों की प्रतीक**" अपपाठ है, द्वि० सं० में संशोधित है।

२,५. **महाराणियां**—ये गुजराती भाषा के प्रयोग हैं। हिन्दी में 'महारानी' और 'रानी' वर्तनी स्वीकृत है।

३. **अपविराम**—द्वि०सं० में युगल पद को तोड़कर अपविराम है—"**सेठ! साहूकारो!**" मूलप्रति सं० में ठीक है—"**सेठ-साहूकारो!**"। द्विप्र० में कोई विरामचिह्न नहीं है। उदयपुर सं० में सम्बोधन चिह्न हटाकर अल्पविराम अशुद्ध चिह्न लगाया है।

४. **अपविराम**—द्विप्र० और उदयपुर सं० में "**महाराज; सीताराम;**" के बाद '**अर्धविराम**' अपचिह्न लगा है। इसके कारण यह पूर्ववाक्यांशों से सम्बद्ध सम्बोधन बन गया जबकि पूर्ववाक्य का "**महाराज**" सम्बोधन वाक्य के पूर्व विद्यमान है। यह अगले वाक्य का सम्बोधन है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। '**उदयपुर सं०**' में इन दोनों वाक्यों में सभी युग्म पदों में अल्पविराम का प्रयोग अपविराम है, यहां योजक चिह्न अपेक्षित है।

६. **ऊंदर**=चूहा। यह गुजराती भाषा का प्रयोग है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**आंख न बना सके।**" यहां "**बनवा**" प्रयोग शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—तीन पंक्ति पूर्व "**बनवा दीजिये**" शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है। 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध पाठ है।

८-९. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**महान्त**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित है। क्या लिपिकरों-शोधकों को '**महन्त**' भी शुद्ध लिखना नहीं आता था?

१०. **अप-अनुवाद**—दोनों हस्त० में उपर्युक्त पद है। द्विप्र० में "**उष्णकाल**" हिन्दी रूपान्तरण किया है जो सटीक नहीं है। यही अप अनुवाद द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में है। यहां गर्मी की स्थिति बताना अभीष्ट है, गर्मी की ऋतु नहीं।

११. **अव्यवस्थित वर्तनी**—इस शब्द की व्याकरणस्वीकृत वर्तनी '**पुजारी**' है। व्यंग्यार्थ के प्रकरण को छोड़कर यही वर्तनी होनी चाहिए। दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस सम्बन्धी अव्यवस्था यह है कि कहीं "**पुजारी**" तो कहीं "**पूजारी**" लिखा है।

कपड़े आदि बाँध गले में लटका लेते हैं, जैसे कि वानरी अपने बच्चे को गले में लटका लेती है, वैसे पुजारियों के गले में भी लटकते हैं।[१] जब कोई मूर्त्ति को तोड़ता है तब 'हाय-हाय' कर छाती पीट बकते हैं कि सीता-राम जी, राधा-कृष्ण जी और पार्वती-शिव जी को दुष्टों ने तोड़ डाला! अब दूसरी मूर्त्ति मँगवाकर जो कि अच्छे शिल्पी ने संगमरमर की बनाई हो, स्थापित कर पूजनी चाहिये,[२] नारायण को घी के विना भोग नहीं लगता, बहुत नहीं तो थोड़ा-सा अवश्य भेज देना, इत्यादि बातें इन पर ठहराते हैं। और रासमण्डल वा रामलीला के अन्त में राधा-कृष्ण[३] वा सीता-राम से भीख मंगवाते हैं; जहाँ मेला-ठेला होता है, वहाँ [किसी] छोकरे पर मुकुट धर कन्हैया बना, मार्ग में बैठाकर भीख मंगवाते हैं; इत्यादि बातों को आप लोग विचार लीजिये कि कितने बड़े शोक की बातें हैं![४] **भला, कहो तो, सीता-राम-आदि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक थे? यह उनका उपहास और निन्दा नहीं तो क्या है? इससे अपने माननीय पुरुषों की बड़ी निन्दा होती है।[५]**

भला, जिस समय ये विद्यमान थे, उस समय सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी, पार्वती को सड़क पर वा किसी मकान में खड़ी कर पुजारी कहते कि 'आओ इनका दर्शन करो और कुछ भेंट-पूजा धरो' तो सीता-राम आदि[६] इन मूर्खों के कहने से ऐसा काम कभी न करते और न करने देते। जो कोई ऐसा उपहास उनका करता,[७] तो उसको विना दण्ड दिये कभी न छोड़ते? **हाँ, जब उनसे दण्ड न पाया, तो पुजारियों को इनके कर्मों ने मूर्त्तिविरोधियों से बहुत-सी 'प्रसादी' दिला दी और अब भी मिलती है[८]**

आश्चर्य है, कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर' सं० में भी यही अव्यवस्था विद्यमान है!! विद्वद्वृन्द! फिर भी यह घोषित 'मानकता' किसका नाम है, पाठकों को बतायें तो सही? गत पृष्ठों में तो आपने अनेक स्थलों पर संशोधन कर दिया, फिर इस प्रसंग में इस पद को असंशोधित क्यों छोड़ा?

१. **ऋषिहस्तलेख व मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—"**गले में.....लटकते हैं**" पाठ मुद्रणह० में ऋषि द्वारा पूर्ण किया गया है जिसे प्रमादी लिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया था।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में यह अपवाक्य है—"**स्थापन कर पूजना चाहिये।**" द्वि०सं०, मूलसं० में यह वाक्य संशोधित है किन्तु "**स्थापन**" उदयपुर सहित सभी सं० में अपप्रयोग है। इससे पहले "**शिल्पी ने**" पाठ में द्वि०प्र० में "**ने**" त्रुटित है।

३. **अपक्रम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में नामोल्लेख में अपक्रम है। पूर्वपठित "**रासमण्डल**" और "**रामलीला**" पदों के क्रम के सम्बन्ध से यहां "**राधा-कृष्ण वा सीता-राम**" क्रम होना चाहिए। प्रचलित सं० में "**सीता-राम वा राधा-कृष्ण**" क्रम है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, सभी सं० में "**बात**" अपप्रयोग है। वाक्यारम्भ के "**बातों**" पद के सम्बन्ध से बहुवचन चाहिए।

५. **स्थानभ्रष्ट पद और 'उदयपुर' सं० में भ्रष्ट संशोधन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में "**बड़ी**" पद अस्थान में है—"**इससे बड़ी अपने माननीय पुरुषों की निन्दा होती है।**" "**बड़ी**" पद "**निंदा**" का विशेषण है, अत: आसत्ति नियम के आधार पर "**निन्दा**" के पूर्व होना चाहिए। देखिए, गत पृष्ठ पर "**बड़ी निन्दा**" शुद्ध प्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में चाहिए तो था संशोधन होना, और हो गया शीर्षासन। एक ही वाक्य में तीन अशुद्धियां हैं। "**बड़ी**" विशेषण अस्थान में है, "**पुरूषों**" मुद्रणदोष है, वाक्य के अन्त में सम्पादकों ने प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर पाठ को और भ्रष्ट कर दिया—"**इनसे बड़ी अपने माननीय पुरुषों की निन्दा होती है?**" ग्रन्थकार का तो यह आशय नहीं है। इसी प्रकार अग्रिम पंक्ति में "**रूक्मिणी**" मुद्रणदोष नया निर्मित हो गया है। वेस, जग, भद, युमी, विस के पाठ में भी अशुद्धियां है।

६. **त्रुटित पद का उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**राम**" पद त्रुटित रह गया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है और ग्राह्य है, क्योंकि आगे क्रियाएं स्त्रीलिंग में नही हैं अपितु पुंल्लिंग बहुवचन में हैं।

७. **अपवर्तनी अयोग्य लिपिकरों-शोधकों द्वारा**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**कर्त्ता**" अपवर्तनी है। सभी में संशोधित है।

८. **बहुत-सी प्रसादी दिला दी**—यह वाक्य व्यंग्य में है कि मूर्तिपूजा रूपी अन्धविश्वास ने हिन्दुओं को आजतक मूर्तिपूजा के पराजय रूपी प्रसाद में अनेक कष्ट दिलवाये हैं। सबसे पहले महमूद गज़नवी ने सोमनाथ मन्दिर (गुजरात) पर आक्रमण किया। मन्दिर और मूर्तियों को तोड़ा तथा मन्दिर की अरबों की सम्पत्ति लूटी। हजारों पंडित-पुजारियों को गुलाम बनाकर ले गया और

और जब तक इस कर्म को न छोड़ेंगे तब तक मिलेगी भी। इसमें क्या संदेह है कि जो आर्यावर्त की प्रतिदिन महाहानि, पाषाणादि-मूर्त्तिपूजकों का पराजय इन्हीं कर्मों से होता है; क्योंकि पाप का फल दुःख है। इन्हीं पाषाणादि-मूर्त्तियों के विश्वास से बहुत-सी हानि हो गई, जो न छोड़ेंगे तो प्रतिदिन अधिक-अधिक होती जायगी।

इनमें से **वाममार्गी** बड़े-भारी अपराधी हैं। जब वे चेला करते हैं तब साधारण को—

दं दुर्गायै नमः। भं भैरवाय नमः। ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे॥

इत्यादि मन्त्रों का उपदेश कर देते हैं और बंगाले में विशेष करके एकाक्षरी मन्त्रोपदेश करते हैं, जैसा—"**ह्रीं, श्रीं, क्लीं**" इत्यादि। [ऊह्य-श्रीकण्ठशिवपण्डितरचित शावरतन्त्र बं० प्रकी० प्र० ४४]

और धनाढ्यों का पूर्णाभिषेक करते हैं।[१] ऐसे ही दश महाविद्याओं के मन्त्र [हैं]—

ह्रां ह्रीं ह्रूं वगलामुख्यै फट् स्वाहा॥ [ऊह्य—शावरतन्त्र ४१]

कहीं-कहीं—**ह्रूं फट् स्वाहा॥** [ऊह्य—कामरत्न तन्त्र, बीजमन्त्र ४]

और मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण, [शान्ति][२] आदि प्रयोग करते हैं। सो मन्त्र से तो कुछ भी नहीं होता किन्तु क्रिया से सब कुछ करते हैं। जब किसी को मारने का प्रयोग करते हैं तब इधर करानेवाले से धन लेके आटे वा मिट्टी का पुतला,[३] जिसको मारना चाहते हैं, उसका बनाते हैं। उसकी छाती, नाभि, कण्ठ में छुरे प्रवेश कर देते हैं। आँख, हाथ, पग में कीलें ठोकते हैं। उसके ऊपर भैरव वा दुर्गा की मूर्त्ति बना, हाथ में त्रिशूल दे, उसके हृदय पर लगाते हैं। एक वेदी बनाकर मांस आदि का होम करने लगते हैं और उधर दूत आदि भेजके उसको विष आदि से मारने का उपाय करते हैं। जो अपने पुरश्चरण के बीच में उसको मार डाला, तो अपने को 'भैरव-देवी की सिद्धि'-वाले बतलाते हैं।[४]

उनसे मल-मूत्र उठवाया। (द्रष्टव्य, ग्रन्थकार द्वारा घटना का उल्लेख पृ० ६०३)। अन्धविश्वास के कारण यह हार हुई थी। फिर उसने दर्जनों मन्दिरों को लूटा और हम लुटते रहे। इसी प्रकार सिन्ध के राजा दाहर की भी मूर्त्ति में अन्धविश्वास के कारण हार हुई। देश लगभग सहस्राब्दी तक तो गुलाम रहा आज भी वे विधर्मी लोग हिन्दुओं पर आक्रमण-अत्याचार कर रहे हैं। यह अन्धविश्वासों का दुष्परिणाम है कि हम कायर बनकर देवी-देवताओं के भरोसे बैठे रहते हैं और विधर्मी पुरुषार्थ में विश्वास रखते हैं। ग्रन्थकार कहना चाहते हैं कि जब तक हम अन्धविश्वासों में बहके रहेंगे, हमें उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने "**और बंगाले.....करते हैं**" पाठ त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधन के समय पं० भीमसेन के हस्तलेख में किनारे पर लिखकर पूर्ण किया गया है।

२. **तान्त्रिक षट्कर्म**—तान्त्रिक लोग जादू-टोने की पद्धति से इन षट्कर्मों को करते हैं। इन्हीं को 'षड्यन्त्र' कहा जाता है। साधना के नाम पर क्या-क्या कदाचार प्रवृत्त कर रखा था, ये छह कर्म उसके साक्षात् प्रमाण हैं। ये क्रूर कर्म हैं जिनका आश्रय लेकर तान्त्रिक लोग किसी की हत्या करना जैसा घोर अपराध भी करते थे और समान्य लोगों को अपने चक्र में फसाते थे, अथवा सामान्य लोगों को डराकर अपने जाल में फसाते थे। इनका अर्थ है—१. **मारण**—किसी प्राणी को जान से मारना अथवा अंगभग आदि करके घायल कर देना। २. **मोहन**—किसी व्यक्ति को मोहित-भ्रमित करके उसकी गतिविधियों, कामों में बाधा डालना अथवा उसे निष्क्रिय बना देना। ३. **उच्चाटन**—किसी व्यक्ति को भाव-दोहन करके, भयभीत करके उसके स्थान, गांव-नगर आदि से भगा देना। ४. **विद्वेषण**—दो मित्रों अथवा प्रेमी व्यक्तियों के बीच शत्रुता, संदेह, अविश्वास उत्पन्न कर देना। ५. **वशीकरण**—किसी स्त्री-पुरुष अथवा उद्दिष्ट व्यक्ति को सम्मोहन से अथवा बहका-बरगला कर अपने वश में करना। ६. **शान्ति**—किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किये जादू-टोने, रोग आदि को शान्त वा दूर करना। सिद्ध तान्त्रिक वही कहलाता है जो इन कर्मों में सिद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसे-ऐसे अनाचार धर्म के नाम पर होते रहे हैं। कानून का शिकंजा इन पर कसने के बावजूद, आज भी कहीं-कहीं होते रहते हैं। ऐसे लोगों ने 'धर्म' को बदनाम किया है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पूतला**" वर्तनी है, "**पुतला**" अपेक्षित है। राजस्थानी में "**पूतला**" प्रयोग प्रचलित है।

'**भैरवो भूतनाथश्च**' इत्यादि का पाठ करते हैं—

मारय-मारय, उच्चाटय-उच्चाटय, विद्वेषय-विद्वेषय, छिन्धि-छिन्धि, भिन्धि-भिन्धि, वशीकुरु-वशीकुरु, खादय-खादय, भक्षय-भक्षय, त्रोटय-त्रोटय, नाशय-नाशय, मम शत्रून् वशीकुरु, मम शत्रून् वशीकुरु, ह्रूं फट् स्वाहा॥ [ऊह्य—कामरत्नतन्त्र, उच्चाटन प्रकरण, मं० ५-७]

इत्यादि मन्त्र जपते, मद्य-भांग खूब पीते, मांसादि खाते,[१] भृकुटी के बीच में सिन्दूर रेखा देते, **कभी-कभी 'काली' आदि के लिये किसी आदमी को पकड़, मार, होमकर, कुछ-कुछ उसका मांस भी खाते हैं। जो कोई भैरवीचक्र में जावे, मद्य-मांस न पीवे, न खावे तो उसको मार होम कर देते हैं।** उनमें से जो '**अघोरी**'[२] होता है, वह मृतमनुष्य का भी मांस खाता है, '**अजरी-बजरी**' करनेवाले विष्ठा-मूत्र भी खाते-पीते हैं।

एक '**चोली मार्गी**' और [दूसरे] '**बीजमार्गी**' भी होते हैं।[३] चोलीमार्गवाले एक गुप्त स्थान वा भूमि में एक स्थान बनाते हैं। वहाँ सबकी स्त्रियाँ, पुरुष, लड़का, लड़की, बहिन, माता, पुत्रवधू आदि सब इकट्ठे हो सब लोग मिल-मिलाकर मांस खाते, मद्य पीते, एक स्त्री को नङ्गी कर, उसकी[४] गुप्त इन्द्रिय की पूजा सब पुरुष करते, उसका नाम 'दुर्गादेवी' धरते हैं। एक पुरुष को नङ्गा कर उसकी[५] उपस्थ-इन्द्रिय की पूजा सब स्त्रियाँ करती हैं। जब मद्य पी-पी के उन्मत्त हो जाते हैं तब सब स्त्रियों की छाती का वस्त्र जिसको 'चोली' कहते हैं, सबके वस्त्र[६] मिलाकर, एक बड़ी मिट्टी-की नाँद में रखके, एक-एक पुरुष उसमें हाथ डालके [एक वस्त्र निकालता है][७] जिसके हाथ में जिसका वस्त्र आवे, वह माता, बहिन, कन्या और पुत्रवधू क्यों न हो, उस समय के लिये वह उसकी स्त्री हो जाती है! फिर आपस में कुकर्म करते[८], और बहुत नशा चढ़ने से जूते आदि से लड़ते हैं। जब प्रातःकाल कुछ अन्धेरे अपने-अपने घर को चले जाते हैं तब माता, माता; कन्या, कन्या; बहिन, बहिन; और पुत्रवधू, पुत्रवधू हो जाती है।[९] और '**बीजमार्गी**' स्त्री-पुरुष के समागम पर, जल में वीर्य डाल, मिलाकर पीते हैं। ये

---

४. **अपपाठ एवं संशोधन**—मूलह० में यह अपपाठ है—"**भैरवदेवी को सिद्ध बतलाते हैं**"। मुद्रणह० और द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**भैरवदेवी की सिद्धवाले बतलाते हैं।**" द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक और अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति व द्वि० सं० में यहां यह अप-वाक्य बनाया है—"**मद्य-मांसादि यथेष्ट खाते-पीते।**" यहां "**भांग**" पद है। त्रुटित यह परिवर्तन अनावश्यक भी है और अपूर्ण भी है।

२. **अघोरी**—अघोरपंथी साधु। इसको "**औघड़**" भी कहते हैं। ये मल-मूत्र, मनुष्य का मांस आदि कुछ भी खा-पी लेते हैं। इनका घोर घृणित रहन-सहन और आचरण होने के कारण '**अघोरी**' का व्यंग्यार्थ ही 'घृणित' हो गया है।

३. **त्रुटित और अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह त्रुटित एवं अपवाक्य है—"**एक चोलीमार्ग और बीजमार्गी भी होते हैं।**" ऊपर संशोधित है। युमी को छोड़कर सभी सं० में अशुद्ध वाक्य है। '**उदयपुर सं०**' में भी अशुद्ध है।

४-५. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र "**इन्द्रिय**" पद का स्त्रीलिंग में प्रयोग है (द्रष्टव्य, तृतीय समु० पृ० १०० पर, मनु० के २.९३ श्लोक का अर्थ, इत्यादि)। यहां पुंल्लिंग प्रयोग उसके विरुद्ध है। यहां दोनों स्थलों पर "**उसकी**" प्रयोग अभीष्ट है। मुद्रणह० में स्त्रीलिंग प्रयोग है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**सब वस्त्र**" अप-अर्थ बोधक प्रयोग है। उपर्युक्त संशोधन वांछनीय है।

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—यहां क्रिया लुप्त है तथा पूर्वापर वाक्यांश असम्बद्ध है अतः दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**करने**" के स्थान "**करते**" क्रियापद होना चाहिए। सभी सं० में अशुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध है।

पामर ऐसे कर्मों को मुक्ति के साधन मानते हैं। ये विद्या, विचार, सज्जनतादि रहित होते हैं।

प्रश्न—शैव मत-वाले तो अच्छे होते हैं?

उत्तर—अच्छे कहाँ से होते हैं? '**जैसा प्रेतनाथ वैसा भूतनाथ**'। जैसे वाममार्गी मन्त्रोपदेशादि से उनका धन हरते हैं, वैसे शैव भी '**ओं नमः शिवाय**' [लिंगपुराण १।८५] इत्यादि पञ्चाक्षरादि मन्त्रों का उपदेश करते, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते, मिट्टी के और पाषाणादि के लिंग बनाकर पूजते, '**हर-हर**', '**बं-बं**'[१] और बकरे के शब्द के समान '**बड़-बड़-बड़**' मुख से शब्द करते हैं। उसका कारण यह कहते हैं कि '**ताली बजाने**' और '**बं-बं**' शब्द बोलने से पार्वती प्रसन्न और महादेव अप्रसन्न होता है; क्योंकि जब भस्मासुर के आगे से महादेव भागे थे[२] तब '**बं-बं**' [शब्द बोले थे][३] और 'ठट्ठे की तालियाँ' बजी थीं। और '**गाल बजाने**' से पार्वती अप्रसन्न और महादेव प्रसन्न होते हैं; क्योंकि पार्वती के पिता दक्ष प्रजापति का शिर काट, आगी में डाल, उसके धड़ पर बकरे का शिर लगा दिया था। उसी की नकल में 'गाल बजाना' बकरे के शब्द के तुल्य मानते हैं।[४] शिवरात्रि-प्रदोष का व्रत करते हैं, इत्यादि से मुक्ति मानते हैं। इसीलिये जैसे वाममार्गी भ्रान्त हैं, वैसे शैव भी। इनमें विशेषकर **कनफटे, नाथ, गिरि,**[५] **पुरी, वन, आरण्य, पर्वत** और **सागर** तथा गृहस्थ भी शैव होते हैं। कोई-कोई '**दोनों घोड़ों पर चढ़ते** हैं' अर्थात् वाम और शैव दोनों मतों को मानते हैं और कितने ही वैष्णव भी रहते हैं। उनका—

अन्तःशाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्तीह महीतले॥ यह तन्त्र का श्लोक है।

[ऊह्य—कौलोपनिषत् तथा कुलार्णवतन्त्र एकादश उल्लास ११।३०]

भीतर शाक्त अर्थात् वाममार्गी, बाहर शैव अर्थात् रुद्राक्ष [और] भस्म धारण करते हैं, सभा में 'वैष्णव' कहते[६] हैं कि हम विष्णु के उपासक हैं। ऐसे नाना प्रकार के रूप धारण करके वाममार्गी लोग पृथिवी पर विचर रहे हैं।

प्रश्न—वैष्णव तो अच्छे हैं?

---

९. **चक्रपूजा**—तान्त्रिक ग्रन्थों में इस पूजापद्धति को '**चक्रपूजा**' नाम दिया है। इसके वर्णन के लिए द्रष्टव्य हैं—कुलावली निर्णय ८.७६; कुलार्णव तन्त्र ११.७९-८५; महानिर्वाणतन्त्र ८.२०४-२१९ आदि। इन तन्त्रग्रन्थों का कहना है कि इस पूजा में केवल विशेष चयनित स्त्री-पुरुष ही सम्मिलित होने चाहिएं और यह गुप्त स्थान पर की जानी चाहिए। पाठक विचारें कि यदि इसी का नाम पूजा है तो पाप किसका नाम होगा? अन्यत्र वर्णन—द्रष्टव्य, समु० ११ में पृ० ५३४ आदि पर।

१-२. **महाप्रमादी मुद्रणलिपिकर ने पूरा पृष्ठ छोड़ा**—मुद्रणलिपिकर कितना प्रमादी था इसका एक ज्वलन्त उदाहरण यह है। प्रतिलिपि करते समय उसने मूलहस्त का पूरा पृष्ठ ४९०(५००) अर्थात् "**और बकरे के शब्द.....विष्णु के पद का**" (पृ० ६५७-६५८) पाठ त्रुटित छोड़ दिया। शोधन-समय ऋषि का ध्यान इस पर गया तो उन्होंने हस्तलेख में यहां पाठ त्रुटित रहने की टिप्पणी लिखी। बाद में लिखकर वह पृष्ठ मुद्रणप्रति में २४४ (२५०) के जोड़ा गया। प्रमाद की पराकाष्ठा देखिए, पुनः प्रतिलिपि करते समय भी "**महादेव भागे थे**" यह पाठ फिर छोड़ दिया। ऐसे लिपिकर-शोधक मिले थे ऋषि को!!
जो लोग इस भ्रान्ति में हैं कि मुद्रणप्रति ऋषि ने बोलकर लिखाई है, वे इस उदाहरण से अपनी भ्रान्ति को दूर कर लें।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित रह जाने से वाक्य अपूर्ण है।

४. **अस्तव्यस्त वाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्य का क्रम अस्त-व्यस्त है—"**उसीकी नकल बकरे के शब्द के तुल्य गाल बजाना मानते हैं।**" ऊपर संशोधित है। पांच पंक्ति पूर्व शुद्ध क्रमयुक्त वाक्य द्रष्टव्य है।

५. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, सभी सं० में "**गिरी**" लिपिकरकृत अपवर्तनी है। "**गिरि**" मूलह० में शुद्ध है।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**कहाते**" अपक्रिया है, "**कहते**" मूलह० में शुद्ध है।

उत्तर—क्या[१] धूड़ अच्छे हैं![२] जैसे वे, वैसे ये हैं। देख लो वैष्णवों की लीला! अपने को विष्णु का दास मानते हैं। उनमें से '**श्रीवैष्णव**' जो कि 'चक्राङ्कित' होते हैं, वे अपने को सर्वोपरि मानते हैं, जो कुछ भी नहीं हैं।

प्रश्न—क्यों[३] कुछ[४] भी नहीं? सब कुछ हैं। देखो, ललाट में नारायण के चरणारविन्द के सदृश तिलक और बीच में पीली रेखा 'श्री' होती है, इसी वास्ते हम '**श्रीवैष्णव**' कहाते हैं। एक नारायण को छोड़ दूसरे किसी को नहीं मानते। महादेव के लिंग का दर्शन भी नहीं करते, क्योंकि हमारे ललाट में 'श्री' विराजमान है, वह लज्जित होती है। '**आलमन्दार**'[५] आदि स्तोत्रों के पाठ करते हैं। नारायण की मन्त्रपूर्वक पूजा करते हैं, मांस नहीं खाते, मद्य नहीं पीते, फिर अच्छे क्यों नहीं?

उत्तर—इस तिलक को '**हरिपदाकृति**',[६] इस पीली रेखा को '**श्री**' मानना व्यर्थ है; क्योंकि यह तो तुम्हारे हाथ की कारीगरी और ललाट का चित्र है, जैसे हाथी का ललाट चित्र-विचित्र करते हैं। तुम्हारे ललाट में विष्णु के पद का चिह्न कहाँ से आया? क्या कोई '**वैकुण्ठ**' में जाकर विष्णु के पग का चिह्न ललाट में करा आया है?

विवेकी—और '**श्री**' जड़ है वा चेतन?

वैष्णव—चेतन है।

विवेकी—तो यह रेखा जड़ होने से '**श्री**' नहीं है। हम पूछते हैं कि '**श्री**' बनाई हुई है वा विना बनाई? जो विना बनाई है तो यह '**श्री**' नहीं, क्योंकि इसको तो तुम नित्य अपने हाथ से बनाते हो, फिर '**श्री**' नहीं हो सकती। जो तुम्हारे ललाट में '**श्री**' हो तो कितने ही वैष्णवों का मुख बुरा अर्थात् शोभारहित क्यों दीखता है? ललाट में '**श्री**' और घर-घर भीख माँगते और '**सदावर्त**'[७] लेकर पेट भरते क्यों फिरते हो? यह बात सिरड़ी[८] और निर्लज्जों की है कि कपाल में '**श्री**' और महादरिद्रों के काम करते हैं।

इनमें एक **परिकाल** नामक वैष्णव भक्त था। वह चोरी-डाका मार, छल-कपट कर, पराया धन हर, [उस धन को][९] वैष्णवों के पास धर प्रसन्न होता था। एक समय उसको चोरी में कोई पदार्थ नहीं मिला

१-३. **अपविराम**—द्विप्र० और द्वि० सं० में यहां '**क्या**' के बाद प्रश्नवाचक चिह्न लगाना, फिर ''**अच्छे**'' के बाद प्रश्नवाचक तथा ''**क्यों**'' के बाद भावबोधक चिह्न लगाना अपविराम हैं।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणप्रति में यहां ''**सबकुछ**'' अपपाठ-परिवर्धन है। प्रश्न की भाषा में ''**कुछ भी**'' प्रयोग है, अत: यहां भी ''**कुछ भी**'' प्रयोग सही है।

५. **आलमन्दार स्तोत्र**—यह तमिल भाषा में लिखा स्तोत्र है। रामानुज से पूर्व वैष्णव तमिल सन्तों ने तमिल भाषा में स्तोत्र लिखे हैं।

६. **हरिपदाकृति**—वैष्णव इस तिलक को 'हरिपदाकृति' का चिह्न या प्रतीक का मानते हैं। इस शब्द का अर्थ है—'श्रीकृष्ण के चरण की आकृति'। यह भी कहा जाता है कि एक बार राधा ने अपने लाल चन्दन-युक्त चरण से श्रीकृष्ण के मस्तक पर प्रहार किया था, वह चिह्न निन्दा की नहीं, शोभा की बात है (वेदविरुद्धमतखण्डन, पृ० ९-१०)।

७. **सदावर्त**=अनाथों, दीन-दुखियों को भोजन खिलाना।

८. **सिरड़ी/सिड़ी**=सनकी या पागल। दोनों हस्त०, द्विप्र० और द्वि० सं० में ''**स्त्रीड़ी**'' अपवर्तनी है, मूलप्रति सं० में ठीक है। 'उदयपुर' सं० में भी अपवर्तनी है।

९. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पूर्वापर वाक्य-संयोजन के लिए बृ०कोष्ठक का पाठ अपेक्षित है।

कि जिसको लूटे। व्याकुल होकर फिरता था। नारायण ने समझा कि हमारा भक्त दुःख पाता है। सेठ जी का स्वरूप धर, अंगूठी आदि आभूषण पहन, रथ में बैठ, सामने आये। तब तो परिकाल रथ के पास गया। सेठ से कहा—''सब वस्तु शीघ्र उतार दो, नहीं तो मार डालूंगा।'' उतारते-उतारते अंगूठी उतारने में देर लगी। परिकाल ने नारायण की अंगुली काट अंगूठी ले ली। नारायण ने बड़े प्रसन्न हो चतुर्भुज शरीर बना दर्शन दिया।[१] कहा कि ''तू मेरा बड़ा प्रिय भक्त है, क्योंकि सब धन मार, लूट-चोरी कर वैष्णवों की सेवा करता है, इसलिये तू धन्य है।'' फिर उसने जाकर वैष्णवों के पास सब गहने धर दिये।

एक समय परिकाल को कोई साहूकार नौकर कर जहाज में बैठाके देशान्तर में ले गया। वहाँ से जहाज में सुपारी भरी। परिकाल ने एक सुपारी तोड़ आधा टुकड़ा कर बनिये से कहा—''यह मेरी आधी सुपारी जहाज में धर दो और लिख दो कि जहाज में आधी सुपारी परिकाल की है।'' बनिये ने कहा कि ''चाहे तुम हजार सुपारी ले लेना।'' परिकाल ने कहा—''नहीं, हम अधर्मी नहीं हैं, जो हम झूठ-मूठ लें। हमको तो आधी चाहिये।'' बनिया भोला था, उसने[२] लिख दिया। जब अपने देश में बन्दर[३] पर जहाज आया, सुपारी उतारने की तैयारी हुई, तब परिकाल ने कहा—''हमारी आधी सुपारी दे दो।'' बनिया वही आधी सुपारी देने लगा। तब परिकाल झगड़ने लगा—''मेरी तो जहाज में आधी सुपारी है, आधी बांट लूंगा।'' राजपुरुषों तक झगड़ा गया। परिकाल ने बनिये का लेख दिखलाया कि इसने आधी सुपारी देनी लिखी है। बनिया बहुत-सा कहता रहा परन्तु उसने न माना। आधी सुपारी लेकर वैष्णवों के अर्पण करदी। तब तो वैष्णव बड़े प्रसन्न हुए। अब तक उस डाकू-चोर **परिकाल** की मूर्त्ति मन्दिरों में रखते हैं। यह कथा '**भक्तमाल**' में लिखी है। बुद्धिमान् देख लें कि वैष्णव, उनके सेवक और नारायण, तीनों चोरमण्डली है वा नहीं?

यद्यपि मतमतान्तरों में कोई थोड़ा अच्छा भी होता है, तथापि[४] उस मत में रहकर सर्वथा अच्छा नहीं हो सकता।

अब जैसी[५] वैष्णवों में फूट-टूट [है, और][६] भिन्न-भिन्न तिलक-कण्ठी धारण करते हैं, [वह सुनो—][७] '**रामानन्दी**' बगल में गोपीचन्दन, बीच में लाल [रेखा][८]; '**नीमावत**' दोनों [ओर][९] पतली रेखा, बीच में काला बिन्दु; '**माध्व**'[१०] काली रेखा और '**गौड़ बङ्गाली**' कटारी के तुल्य और '**रामप्रसादवाले**' दोनों चांदला रेखा के बीच में एक सफेद गोल टीका [लगाते हैं] इत्यादि।[११] इनका

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं०में यह अपवाक्य है—''**नारायण बड़े प्रसन्न हो चतुर्भुज शरीर बना दर्शन दिया।**'' यह अच्छी बात है कि कम-से-कम यह वाक्य '**उदयपुर**' सं० में संशोधित कर लिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस में अपवाक्य है।

२. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में यहां ''**उसने**'' पद त्रुटित है। द्वि० सं० में है और ग्राह्य है।

३. **बन्दर**=समुद्रतट। यह अरबी का शब्द है। **बन्दरगाह**=वह स्थान जहाँ समुद्री जहाज रुकते हैं।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति बनाते समय ''**यद्यपि मतमतान्तरों.....तथापि**'' पाठ त्रुटित छोड़ा है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**जैसा**' अपप्रयोग है, ''**जैसी**'' स्त्रीलिंग वांछित है।

६-९,११-१२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस अनुच्छेद में अर्थ की अस्पष्टता है। उसका कारण है दोनों सं० में बहुत-से पदों का त्रुटित रह जाना या अपूर्ण वाक्यों का होना। बृहत्कोष्ठक में वे सभी पद दर्शाये गये हैं। इनका परिवर्धन आवश्यक है।

१०. **अपप्रयोग**—मूलह० में घोर अशुद्ध नाम ''**माधो**'', मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलसं० में ''**माधव**'' अपप्रयोग है। यहां इसका शुद्धरूप

कथन [भी][१२] विलक्षण-विलक्षण है—'**रामानन्दी**' लाल रेखा को लक्ष्मी का चिह्न नारायण के हृदय में है, और श्री कृष्णचन्द्र जी के हृदय में राधा जी विराजमान हैं; इत्यादि कथन करते हैं।[१३]

''**माध्व**'' है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है समु० ११ में पृ० ६९६ पर।

विद्वानों के सम्पादन पर आश्चर्य—''**माधव**'' नारायण या श्रीकृष्ण का नाम है। संसार में ''**माधव**'' नाम का कोई मत नहीं है। इसका शुद्ध नाम ''**माध्व**'' है। वैष्णवमार्गी मध्वाचार्य के जो अनुयायी हैं उनको '**माध्व**' कहते हैं। एक **स्वामी वेदानन्द जी** को छोड़कर **पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** आदि किसी का ध्यान इस अशुद्धि की ओर नहीं गया। यही कारण है कि यह अशुद्धि उक्त सभी विद्वानों के संस्करणों में माध्वों की काली तिलक रेखा के समान कालिमा बनकर विराजमान है। लिपिकरों-शोधकों ने तो मक्कारी-लीला की है, लेकिन हमारे सम्पादक भी असावधान बने रहे। कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर' सं० ने भी इस अशुद्धि की ओर ध्यान नहीं दिया।

११-१३. मुद्रणलिपिकर और सम्पादकों की भूलों की लम्बी कहानी—इस अनुच्छेद के अस्त-व्यस्त और त्रुटित पाठ के साथ-साथ कुछ भूलें लिपिकरों व सम्पादकों से हो गई हैं जिसके कारण इस अनुच्छेद का पाठ अस्पष्ट होता गया—

(क) विरामचिन्ह की भूल से अपपाठ— स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती सं०, पं० सिद्धान्ती सं०, द्वि०सं० प्रथमावृत्ति, वर्तमान में प्रचलित द्वि० संस्करण, मूलप्रति सं०, इनमें ''**इत्यादि**'' पद के बाद पूर्ण विरामचिन्ह नहीं लगाया है, अगले वाक्य में, ''**विलक्षण है**'' के बाद अपस्थान पर लगाया है। टीका लगाने का पहला प्रसंग ''**इत्यादि**'' के बाद समाप्त है। अगले पदों का सम्बन्ध उससे अगले वाक्य से है। ''**विलक्षण है**'' पदों के बाद पूर्णविराम चिह्न लगाने से पाठ घुल-मिलकर अस्पष्ट और संदेहात्मक, बन गया है। **पं० भगवद्दत्त जी** तथा **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने ठीक स्थान पर ''**इत्यादि**'' के बाद पूर्णविराम रखा है। '**उदयपुर सं०**' में ''इत्यादि'' के बाद पूर्णविराम शुद्ध लगाया है किन्तु ''**विलक्षण है**'' के बाद भी पूर्णविराम लगाकर अशुद्धि कर दी। उस वाक्यांश की संगति अगले वाक्यों से है।

(ख) पं० मीमांसक जी की त्रुटियुक्त टिप्पणी—पाठ को स्पष्ट करने के लिए मीमांसक जी ने रामानन्दियों के तिलक विषयक ''**बीच में लाल**'' इस अपूर्ण वाक्य पर टिप्पणी दी है—''**लाल अर्थात् लाल बिन्दु। द्रष्टव्य आगे 'काला बिन्दु' पद।**'' (पृ० ५५६) यहां अगले पाठ के इसके वाक्य के साथ संगति लगाकर पं० जी संदेहग्रस्त हो गये और पाठ भी अशुद्ध बन गया। पं० जी भूल गये कि इसी अनुच्छेद में तीन-चार पंक्ति आगे ही ''**रामानन्दी लाल रेखा को**'' पाठ है। जो स्पष्ट संकेत देता है कि यहां ''**लाल रेखा**'' पाठ अभिप्रेत है।

(ग) पाठ के अस्त-व्यस्त होने की विचित्र कहानी—अनुच्छेद का अन्तिम वाक्य भ्रष्ट और अस्त-व्यस्त होता गया है। मूलप्रति हस्तलेख में पाठ है—''**रामानन्दी लालरेखा को लक्ष्मी का चिन्ह नारायण के हृदय में है श्रीकृष्ण जी विराजमान हैं, इत्यादि कथन करते हैं।**'' मुद्रणप्रति में इस त्रुटित पाठ को इस प्रकार बनाया है—''**रामानन्दी लालरेखा को लक्ष्मी का चिह्न और नारायण के हृदय में श्री कृष्ण-चन्द्र जी के हृदय में राधा विराजमान है इत्यादि**----'' यहां ''**है**'' क्रिया उड़ा दी, ''**और**'' पद बढ़ा दिया तथा ''**के हृदय में राधा**'' उचित संशोधन कर दिया। यही पाठ द्वि० सं० में है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने अविचारित रूप से ''**श्रीकृष्ण चन्द्र**'' नाम के मध्य अल्पविरामचिह्न लगाकर इस पाठ को यों तोड़ दिया—''**रामानन्दी लालरेखा को लक्ष्मी का चिह्न, और नारायण के हृदय में श्री, कृष्णचन्द्र जी के हृदय में राधा विराजमान है**----।'' यही विकृत पाठ **मूलप्रति सं०** में ग्रहण कर लिया है। '**उदयपुर सं०**' में भी यह अस्तव्यस्त अपवाक्य है।

इस पाठ पर गम्भीर चिन्तन किये बिना फिर इसमें परिवर्तन और परिवर्धन का दौर शुरू हुआ। **स्वामी वेदानन्द जी** ने इसमें इस प्रकार से परिवर्तन किया—''**रामानन्दी नारायण के हृदय में लालरेखा को लक्ष्मी का चिह्न और गोसाईं श्रीकृष्णचन्द्र जी के हृदय में राधाजी विराजमान हैं इत्यादि**---।'' **पं० भगवद्दत्त जी** ने इसको इस प्रकार रखा—''**रामानन्दी लालरेखा को लक्ष्मी का चिह्न और नारायण के हृदय में गोसाईं श्री, कृष्णचन्द्र जी के हृदय में राधा जी विराजमान हैं, इत्यादि**----।'' देखिए, क्या से क्या हो गया? पता नहीं क्यों, और कहां से गोसाईं जी भी बीच में आ टपक पड़े? कहीं नाम को ही तोड़ डाला, तो किसी ने ''**गोसाईं श्री**'' की अद्भुत कल्पना कर डाली!!

यदि मुद्रणप्रति हस्तलेख में मुद्रणलिपिकर मूल हस्तलेख में पठित ''**है**'' क्रिया तथा ''**और**'' पद को न जोड़ता तो उसमें संशोधित पाठ स्पष्ट था। इस अनुच्छेद में ग्रन्थकार ने बताया है कि रामानन्दी मस्तक पर दोनों ओर गोपीचन्दन अर्थात् पीले चन्दन की रेखा बनाते हैं और बीच में लाल रेखा बनाते हैं। इस लालरेखा को लक्ष्मी का चिह्न मानते हैं, जो मध्य में इस प्रकार स्थित है जैसे नारायण के हृदय में लक्ष्मी या श्रीकृष्ण के हृदय में राधा विराजमान हो। इससे अधिक इसमें कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं थी। मूल और मुद्रणप्रति के पाठ की संगति यों बनती है, देखिए-पहला वाक्य—''**रामानन्दी लालरेखा को, लक्ष्मी का चिह्न नारायण के हृदय में है....**'' इत्यादि कथन करते हैं। दूसरा वाक्य अथवा में—**रामानन्दी लालरेखा को**---**श्रीकृष्णचन्द्र**

एक कथा '**भक्तमाल**' में लिखी है। एक मनुष्य वृक्ष के नीचे सोता था। सोता-सोता मर गया। ऊपर से काक ने विष्ठा कर दी। वह ललाट पर तिलकाकार हो गई थी। वहां यम के दूत उसको लेने आये। इतने में विष्णु के दूत भी पहुँच गये। दोनों विवाद करते थे। [यम के दूतों ने कहा][१] कि 'यह हमारे स्वामी की आज्ञा है, हम [इसको][२] यमलोक में ले जायेंगे।' विष्णु के दूतों ने कहा कि ''हमारे स्वामी की आज्ञा है वैकुण्ठ में ले जाने की। देखो! इसके ललाट में वैष्णवी तिलक है, तुम कैसे ले जाओगे?'' तब तो यम के दूत चुप होकर चले गये। विष्णु के दूत सुख से उसको वैकुण्ठ में ले गये। नारायण ने उसको वैकुण्ठ में रक्खा।

देखो, जब अकस्मात् तिलक बन जाने का ऐसा माहात्म्य है, तो जो अपनी प्रीति से हाथ से तिलक करते हैं वे नरक से छूट वैकुण्ठ में जावें तो इसमें क्या आश्चर्य है!! हम पूछते हैं कि जब छोटे-से तिलक के करने से वैकुण्ठ में जावें तो सब मुख के ऊपर लेपन करने वा काला-मुख करने वा शरीर पर लेपन करने से वैकुण्ठ से भी आगे सिधार जाते हैं, वा नहीं? इससे ये सब बातें व्यर्थ हैं।

अब इनमें बहुत से '**खाखी**'[३] लकड़े की लंगोटी लगा धूनी तापते,[४] जटा बढ़ाते, सिद्ध का वेश कर लेते हैं। बगुले के समान ध्यानावस्थित होते हैं। गांजा, भांग, चरस के दम लगाते; लाल-सुर्ख नेत्र कर रखते; सबसे चुटकी-चुटकी[५] अन्न, पिसान,[६] कौड़ी,[७] पैसे मांगते; गृहस्थों के लड़कों को बहकाकर

जी के हृदय में राधा विराजमान है, इत्यादि कथन करते हैं। इस प्रकार पाठ में दो विकल्पात्मक विलक्षण कथन दर्शाये हैं।

वस्तुत: सारी गड़बड़ मुद्रणलिपिकर द्वारा मूलहस्तलेख के पाठ से ''**है**'' क्रिया को हटा देने से तथा ''**और**'' वाक्ययोजक पद नया जोड़ देने से हुई है। इस गड़बड़ से उत्पन्न असंगति के कारण सम्पादकों को तरह-तरह के परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधन की कल्पनाएं करनी पड़ी। हमारे सम्पादक यदि मूलपाठों को भलीभांति देख-विचार लेते तो परिवर्तन की इतनी लम्बी कहानी न बनती। इस सं० में प्राय: हस्तलेखों के अनुसार पाठ को रखा है। उसी से ग्रन्थकार का सही भाव स्वत: स्पष्ट हो रहा है।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**यम के दूतों ने कहा**' और '**इसको**' पाठ-परिवर्धन अपेक्षित हैं। बिना इनके संगति नहीं बनती।

३. **खाखी नामकरण**—'**ख़ाक**' फ़ारसी में मिट्टी को कहते हैं। इसी कारण, जो मिट्टी या राख शरीर पर मले रखते हैं उनको **ख़ाकी** कहते हैं। '**खाखी**' 'खाक़ी' का अपभ्रंश पद है।

४. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा पाठ का अशुद्ध परिवर्तन**—पं० जी ने यहां मूलपाठ में परिवर्तन करके यह अशुद्ध पाठ बनाया है—''**खाखी लंगोटी लगा लकड़े की धूनी तापते।**'' प्रचलित उपर्युक्त पाठ को पं० जी ने टिप्पणी में अपपाठ घोषित किया है। पं० जी के अनुकरण पर **स्वामी विद्यानन्द जी** और **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने भी पाठ बदल लिया है। इनका यह परिवर्तन अशुद्ध है। प्रचलित पाठ ही सही है। ग्रन्थकार ने साधुओं के बीच रहकर उनके आचार-व्यवहार को स्वयं देखा है।

पाठ-पुष्टि—प्रथम संस्करण के पाठ से प्रचलित पाठ की पुष्टि हो जाती है। ग्रन्थकार ने वहां इस तथ्य को और अधिक स्पष्टता से लिखा है—''**खाखी लोग भस्म लगा लेते, जटा बढ़ा लेते और काठ की कौपीन धारण कर लेते हैं।**'' (चतुर्थ समुल्लास, पृ० १२५) उदयपुर सं० ने मूलहस्त० के आधार पर 'लंगोटी' के स्थान पर 'लंगोली' प्रयोग स्वीकार किया है। इसको मुद्रणप्रति में 'लंगोटी' किया हुआ है। यह विचारणीय है कि 'लंगोली' कोई प्रयोग होता है अथवा गलती से लिखा गया है। अभी तक यह शब्द मुझे नहीं मिला है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**चर्स**'' और ''**चुकटी-चुकटी**'' अपवर्तनियां है। मूलह० में कुछ शुद्ध ''**चुटुकी-चुटुकी**'' है। इसको मुद्रणलिपिकर ने अशुद्ध लिखा है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में दूसरी अपवर्तनी का तो संशोधन कर दिया किन्तु ''**चर्स**'' अभी अपने अशुद्ध धुएं से भाषात्मक वातावरण को अशुद्ध बना रही है।

६. **पिसान**=आटा।

७. **कौड़ी मुद्रा**—पुराने समय में, और कुछ वर्ष पहले तक समुद्री कौड़ी सबसे छोटी मुद्रा के रूप में चलती थी। उसी के कारण ये उक्तियां चलती हैं—'कौड़ी-कौड़ी चुका दूंगा', 'घर में कौड़ी नहीं', 'दो कौड़ी का आदमी' आदि।

चेले बना लेते हैं। बहुत करके मजदूर लोग इनमें होते हैं। कोई विद्या को पढ़ता हो तो उसको पढ़ने नहीं देते, कहते हैं कि—

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्?

सन्तों को विद्या पढ़ने से क्या काम? क्योंकि विद्या पढ़नेवाले भी मर जाते हैं, फिर दन्त-कटाकट क्यों करना? साधुओं को '**चार धाम**' फिर-आना, सन्तों की सेवा करनी, राम जी का भजन करना, [बस, ये ही काम करने चाहियें]।[१]

जो किसी ने मूर्खता[२]=अविद्या की मूर्ति न देखी हो तो '**खाखी जी**' का दर्शन कर आवे। उनके पास जो कोई जाता है, उनको बच्चा-बच्ची कहते हैं, चाहे वे खाखी जी के बाप-मा के समान हों। जैसे खाखी जी हैं, वैसे ही **रूँखड़-सूँखड़, गोदड़िये** और **जमातवाले, सुथरेशाही**[३] और **अकाली, कानफटे, जोगी, औघड़** आदि सब एक-से हैं।

[४]एक खाखी का चेला '**स्त्रीगनेसाजन्नमें**' घोखता-घोखता कुए[५] पर जल भरने को गया। वहाँ पण्डित बैठा था। वह उसको '**स्त्रीगनेसाजन्नमें**' घोखते देखकर बोला—''अरे साधु! अशुद्ध घोखता है, '**श्री गणेशाय नमः**' ऐसा घोख।''

उसने झट लोटा भर, गुरु जी के पास जा कहा कि ''एक बम्मन मेरे घोखने को असुद्ध कहत[६] है।'' ऐसा सुनकर झट खाखी उठा, कुए पर गया, पण्डित से कहा—''तूं मेरे चेले को बहकाता है? तूं[७] क्या पढ़ा है? देख तूं एक प्रकार का पाठ जानता है, हम तीन प्रकार का जानते हैं—'**स्त्रीगनेसाजन्नमें**' '**स्त्रीगनेसायन्नमें**' '**स्त्रीगनेसाय नमें।**''

पण्डित—''सुनो साधु जी! विद्या की बात बहुत कठिन है, विना पढ़े नहीं आती।''

खाखी—''चल बे, सब विद्वान् को हमने रगड़ मारे, जो[८] भांग में घोट[९] एक दम सब उड़ा

---

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—यह क्रियारहित अपूर्ण वाक्य है। दोनों सं० में बृहत् कोष्ठक में दिया पाठ अपेक्षित है।

२. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**मूर्ख अविद्या की मूर्त्ति**''। 'उदयपुर' आदि सं० में '**मूर्ख**' के बाद अल्पविराम लगाकर अशुद्ध-असंगत वाक्य बनाया है। ''**मूर्ख**'' पद का किसी क्रिया से सम्बन्ध नहीं है।

३. **सुथरेशाही**—सुथरेशाह नामक सन्त के अनुयायी। **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में यहां तथा पृ० ६७०/३ में अपवर्तनी है।

४. **खाखी के संवाद में अशुद्ध प्रयोग**—इस संवाद में, खाखी के वचनों में अनेक अशुद्ध प्रयोग यथावत् रूप में दिये हुए हैं। ग्रन्थकार को यह दिखाना अभीष्ट है कि वे लोग इतने अशिक्षित होते हैं कि न तो शुद्ध भाषा जानते हैं, न सभ्य व्यवहार।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में दो स्थानों पर ''**कुवे**'' अपवर्तनी है, अन्यत्र '**कुए**' स्वीकृत है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति में बोली के सही प्रयोग ''**कहत**'' को ''**कहता**'' बनाया है, जो गलत परिवर्तन है। द्विप्र०, सभी द्वि०सं० में परिवर्तित प्रयोग है। मूलह०, मूलसं० में सही प्रयोग है।

७. **पाठ-शोधन**—खाखी लोग अशिक्षित, अनाड़ी और असभ्य होते हैं। वे पालियों से भी बढ़कर असभ्य गालियाँ देते हैं। यहां उनकी बोली की गाली यथावत् मिलती है। वह बालकों, कन्याओं, महिलाओं के लिए पठनीय नहीं है, अतः उसको हटाया गया है। इसी प्रकार की गाली, समु० ११ में पृ० ६६५/३ से भी पहले द्विप्र०, द्वि०सं० से हटाई जा चुकी है। मुद्रणकालीन शोधकों पर इस बात पर आश्चर्य है कि वहां से अश्लील गाली तो हटा दी और यहां घोर अश्लील गाली रख ली। यदि किसी को गाली के हटाने पर पीड़ा हो तो वह ध्यान से सुनले कि खाखी जो-जो करते हैं या बोलते हैं, उस सब असभ्यता-अश्लीलता का चित्रण करना बहुत बीभत्स है और उस सबका वर्णन करना सभ्य समाज में आवश्यक नहीं है।

८. **त्रुटित पद**—''**जो**'' पद द्वि०सं० में त्रुटित है। यह अभीष्ट है। मूलह०, मूलसं० में है।

दिये।[१] सन्तों का घर बड़ा है, तू बाबूड़ा क्या जाने!''

पण्डित—''देखो, जो तुमने विद्या पढ़ी होती तो ऐसे **अपशब्द** क्यों बोलते? सब प्रकार का तुमको ज्ञान होता।''

खाखी—''अबे! तू हमारा 'गुरू' बनता है? तेरा उपदेश हम नहीं सुनते।''

पण्डित—''सुनो कहाँ से? बुद्धि ही नहीं है। उपदेश सुनने-समझने के लिये विद्या चाहिये।''

खाखी—''जो सब वेद-शास्त्र पढ़े, सन्तों को न माने, तो जानो कि वह कुछ भी नहीं पढ़ा।''

पण्डित—''हाँ, हम सन्तों की सेवा करते हैं परन्तु तुम्हारे-से हुड़दंगियों[२] की नहीं करते। **क्योंकि 'सन्त' सज्जन, विद्वान्, धार्मिक, परोपकारी पुरुषों को कहते हैं।**''

खाखी—''देख! हम रात-दिन नंगे रहते, धूनी तापते, गांजा-चरस के सैकड़ों दम लगाते, तीन-तीन लोटे भांग पीते, गांजे-भांग-धतूरा की पत्ती की भाजी बना खाते, संखिया और अफीम भी चट निगल जाते, नशे में ग़र्क रात-दिन बे-ग़म रहते,[३] दुनियाँ को कुछ नहीं समझते, भीख मांगकर टिक्कड़ बना खाते, रात-भर ऐसी खांसी उठती, जो पास में सोवे उसको भी निद्रा कभी न आवे, इत्यादि सिद्धियाँ और 'साधूपन' हम में है, फिर तू हमारी निन्दा क्यों करता? चेत बाबूड़े! जो हमको दिक़[४] करेगा, हम

---

९. **अप-पाठपरिवर्तन**—द्वि० सं० में यहां ''**गांजे-भांग में घोट**'' अपपाठ है। मुद्रणप्रति तथा मूलप्रति सं० में शुद्ध है, द्वि० सं० प्रथमावृत्ति में भी ठीक है। किसी सम्पादक ने बाद के सं० में बदला है। यह नहीं सोचा कि गांजे में किसी वस्तु को घोटा नहीं जाता। अत: अग्राह्य पाठ है। यहीं अपसंशोधन 'उदयपुर' सं० में पाया जाता है।

१. **उदयपुर सं० में सही पाठ का शीर्षासन**—उदयपुर सं० में इस वाक्य का स्वच्छन्द संशोधन करते हुए इस प्रकार शीर्षासन कर डाला—''**चल वे, सब विद्या को हमने रगड़, गांजे भांग में घोट, एक दम सब उड़ा दी।**'' यहां 'विद्वानों अर्थात् गुरुओं' को रगड़ने का कथन मुद्रणप्रति में महर्षि द्वारा संशोधित है किन्तु 'उदयपुर' सं० ने मूलह० के अनुसार पुन: 'विद्या' को रगड़ने का बना दिया। ऐसा पाठ दश विद्वानों को कैसे उचित प्रतीत हुआ, इस पर आश्चर्य ही किया जा सकता है। इसके कई कारण हैं—१. स्थूल पदार्थ तो रगड़े जा सकते हैं किन्तु विद्या जैसा अमूर्त पदार्थ नहीं। अत: 'विद्या' के साथ 'रगड़ने' क्रिया का व्याकरणिक अर्थात् 'योग्यता' नाम वाक्य गुणवाचक सम्बन्ध तथा व्यावहारिक कथन नहीं बनता। २. यहां पूर्वापर प्रसंग विद्वानों अर्थात् गुरुओं का है। खाखी लोग अन्यों को गुरु नहीं बनाते, उनको अपने से हेय समझते हैं, सन्तों को उनसे बड़ा समझते हैं। इन पूर्वापर वाक्यों पर पाठक ध्यान दें—''**बिना पढ़े विद्या नहीं आती**'', ''**सन्तों को न माने तो कुछ नहीं पढ़ा**'', ''**सन्तों का घर बड़ा है**'', ''**हम किसी को गुरु नहीं करते**'' आदि। इसी संदर्भ में यहां विद्वानों को 'रगड़ने' अर्थात् उनकी उपेक्षा, तिरस्कार का कथन किया है। उक्त वाक्य, पंडित के कहे कथन 'गुरु से बिना पढ़े विद्या नहीं आती' पर आक्रोश जताने के लिए है। खाखी कहना चाहता है कि हमारे यहां विद्वानों-गुरुओं की कोई पूछ नहीं। ''सन्तों का घर बड़ा है, तू बाबूड़ा क्या जाने।'' अर्थात् विद्वानों से हम बड़े हैं, हम उनसे क्यों पढ़ेंगे? आगे फिर आक्रोश प्रकट करते हुए स्पष्ट कहता है—''**अबे! तू हमारा गुरु बनता है।**'' इस प्रकार विद्वानों पर आधारित कथन ही यहां प्रासंगिक है।

महर्षिविरुद्ध पाठ—उदयपुर सं० के सम्पादकों का दावा है कि उन्होंने द्वितीय सं० और मुद्रणप्रति को मुख्य आधार माना है, किन्तु यहां दोनों पाठों की तथा महर्षि-संशोधित पाठ की उपेक्षा करके मूलह० का पाठ स्वच्छन्दरूप से ग्रहण किया है। क्या यह ऋषि दयानन्द का संशोधन नहीं है? और क्या ऐसा करके उदयपुर वालों ने ऋषि को मूर्ख नहीं बनाया है? अच्छा होता, दूसरों पर ऐसे बेतुके आरोप लगाने से पहले ये लोग अपने गिरेबान में झांककर देख लेते।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**हुर्दङ्गों**'' अपवर्तनी है, '**हुड़दंगियों**' शुद्ध है। सभी सं० में अपवर्तनी है। 'उदयपुर' सं० में भी असंशोधित है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, इस वाक्य में ''**नशा में गर्क**'' अपप्रयोग है 'उदयपुर' सं० में भी अपप्रयोग है। इसका अर्थ है—''**नशे में डूबे रहकर रात-दिन निश्चिन्त, दु:खरहित रहते हैं।**'' **बे-ग़म**=दु:खरहित।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**दिक्क**'' अपवर्तनी है, '**दिक़**' शुद्ध है। यह अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ 'परेशान' या 'दु:खी' होता है।

तुमको 'भसम' कर डालेगा।''

पण्डित—''ये सब लक्षण असाधु, मूर्ख और गवर्गण्डों के हैं, साधुओं के नहीं। सुनो! '**साध्नोति पराणि धर्मकार्याणि स साधुः**'=**जो धर्मयुक्त उत्तम काम करे, सदा परोपकार में प्रवृत्त हो, कोई दुर्गुण जिसमें न हो, विद्वान् [हो], सत्योपदेश से सबका उपकार करे, उसको 'साधु' कहते हैं।**''

खाखी—''चल बे! तू 'साधू' के कर्म क्या जाने? सन्तों का घर बड़ा है। किसी सन्त से अटकना नहीं। नहीं तो देख! एक 'चीमटा' उठाकर मारेगा, कपाल फुड़वा लेगा।''

पण्डित—''अच्छा खाखी! जाओ अपने आसन पर, हमसे बहुत गुस्से मत हो। जानते हो राज्य कैसा है? किसी को मारोगे तो पकड़े जाओगे, कारावास[१] भोगोगे, बेंत खाओगे, वा कोई तुमको भी मार बैठेगा, क्या करोगे? यह साधु का लक्षण नहीं।''

खाखी—''चल बे चेले! किस राक्षस का मुख दिखलाया।''

पण्डित—''तुमने कभी किसी महात्मा का सङ्ग नहीं किया है, नहीं तो ऐसे जड़-मूर्ख न रहते।''

खाखी—''हम आप ही महात्मा हैं। हमको किसी दूसरे की ग़रज़ नहीं।''

पण्डित—''जिनके भाग्य नष्ट होते हैं, उनकी तुम्हारी-सी बुद्धि और अभिमान होता है।''

खाखी चला गया आसन पर, और पण्डित घर को।

जब सन्ध्या-आर्ती (आरती)[२] हो गई तब उस खाखी को बुड्ढा समझ बहुत-से खाखी '**डण्डोत-डण्डोत**'[३] कहते साष्टाङ्ग करके बैठे। उस खाखी ने पूछा—''अबे रामदासिये! तू क्या पढ़ा है?''

रामदास—''महाराज! मैंने '**बेस्नुसहसरनाम**'[४] पढ़ा है।''

खाखी—''अबे गोविन्ददासिये! तू क्या पढ़ा है?''

गोविन्ददास—''मैं '**रामसतबराज**'[५] पढ़ा हूँ, अमुक खाखी जी के पास से।''

तब रामदास बोला कि ''महाराज! आप क्या पढ़े हैं?''

खाखी—''हम '**गीता**' पढ़े हैं?''

रामदास—''किसके पास?''

खाखी—''चल बे[६] छोकरे! हम किसी को 'गुरू' नहीं करते। देख, हम '**परागराज**'[७] में रहते थे।

---

१. **हिन्दी-रूपान्तरण**—दोनों हस्त० में यहां ''**कैद**'' प्रयोग है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में ''**कारावास**'' प्रयोग बनाया है। यही द्वि०सं०, मूलसं० में गृहीत है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**आर्त्ती**'' वर्तनी है, एकरूपता और मानकता के लिए '**आरती**' अपेक्षित है इसी अर्थ में ''**आर्ती**'' गुजराती प्रयोग है। द्र० पृष्ठ....पर टिप्पणी।

३. **डण्डोत**—दण्डवत् अर्थात् लेटकर प्रणाम करना।

४. **बेस्नुसहसरनाम**='विष्णुसहस्रनाम' नामक पुस्तक का अपभ्रंश उच्चारण।

५. **रामसतबराज**='रामस्तवराज' नामक पुस्तक का अपभ्रंश उच्चारण।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मूलह० में ठीक वर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने अयोग्यता और प्रमाद से इसको अशुद्ध ''**चल्बे**'' कर दिया। जबकि गत पृष्ठ पर दो स्थानों पर ठीक है। द्विप्र० में भी अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं० में भी अशुद्ध है।

७. **परागराज**—प्रयागराज नामक तीर्थ स्थान (वर्तमान इलाहाबाद से संलग्न) का अप्रभंश उच्चारण।

हमको अक्खर[१] नहीं आता था। जब किसी लम्बी धोतीवाले पण्डित को देखता था तब '**गीता के गोटके**'[२] में पूछता था कि इस कलंगीवाले[३] अक्खर का क्या नाम है? ऐसे पूछता-पूछता 'अठारा'[४] अध्याय '**गीता**' रगड़ मारी। 'गुरू' एक भी नहीं किया।''

भला, ऐसे विद्या के शत्रुओं को अविद्या घर करके ठहरे नहीं, तो कहाँ जाय? ये लोग नशा, प्रमाद, लड़ना, खाना, सोना, झांझ पीटना, घण्टा-घड़ियाल-शंख बजाना, धूनी-चिता-रखनी, नहाना-धोना, सब दिशाओं में व्यर्थ घूमते-फिरने के अन्य, कुछ भी अच्छा काम नहीं करते। चाहे कोई पत्थर को भी पिघला लेवे, परन्तु इन खाखियों के आत्माओं को बोध कराना कठिन है; क्योंकि बहुधा वे शूद्रवर्ण मजदूर,[५] किसान, कहार आदि अपनी मजदूरी[६] छोड़, खाख[७] रमा के वैरागी, खाखी आदि हो जाते हैं, उनको विद्या वा सत्सङ्ग आदि का माहात्म्य नहीं जान पड़ सकता। इनमें से नाथों का मन्त्र '**नमः शिवाय**', [लिंगपुराण १।८५] खाखियों का '**नृसिंहाय नमः**', रामावतों का '**श्रीरामचन्द्राय नमः**' अथवा '**सीतारामाभ्यां नमः**', कृष्णोपासकों का '**श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः**' ''**नमो भगवते वासुदेवाय**' [नारदपु० १।१६।३८-३९] और बंगालियों का '**गोविन्दाय नमः**' [है]। इन मन्त्रों को कान में पढ़ने-मात्र से शिष्य कर लेते हैं और ऐसी-ऐसी शिक्षा करते हैं, ''बच्चे! तूंबे का मन्त्र पढ़ ले''—

जल पवितर सथल पवितर और पवितर कुआ। शिव कहे सुन पार्वती[८] तूंबा पवितर हुआ॥

[ऊह्य—रामस्नेहधर्मप्रकाश ३९० तूंबामन्त्र, रामपटल पृ० ३]

भला, ऐसे की योग्यता साधु वा विद्वान् होने अथवा जगत् के उपकार करने की कभी हो सकती है? खाखी रात-दिन लक्कड़, छाने (जंगली कंडे)जलाया करते हैं। एक महीने में कई रुपयों[९] की लकड़ी फूँक देते हैं। जो एक महीने की लकड़ी के मूल्य से कम्बलादि वस्त्र लेलें तो शतांश धन से आनन्द में रहैं। [किन्तु][१०] उनको इतनी बुद्धि कहां से आवे? और अपना नाम उसी धूनी में तपने से ही तपस्वी धर रक्खा है। जो इस प्रकार तपस्वी हो सकें तो जङ्गली मनुष्य इनसे भी अधिक तपस्वी हो जावें। जो जटा बढ़ाने, राख लगाने, तिलक करने से तपस्वी हो जाय तो [इनको] सब कोई कर सके। ये ऊपर के त्यागस्वरूप और भीतर के महासंग्रही होते हैं।

प्रश्न—कबीरपन्थी तो अच्छे हैं?

उत्तर—नहीं।

---

१. **अक्खर**=अक्षर।
२. **गोटका**=गुटका आकार की पुस्तक।
३. **कलङ्गीवाले**=ऊपर मात्रा लगे हुए अक्षर।
४. **अठारा**=अट्ठारह संख्या का अपभ्रंश उच्चारण।
५-६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर क्रमशः '**मजूर**', '**मजूरी**' अपवर्तनी है। ये अपभ्रंश रूप ग्राम्य प्रयोग हैं। अन्यत्र ''**मज़दूर**'' शुद्ध वर्तनी प्रयुक्त है (पृ० ५७५)। अतः मानकता और एकरूपता के लिए शुद्ध ही ग्राह्य है।
७. **शुद्ध वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपभ्रंश प्रयोग ''**खाख**'' है, इसका फ़ारसी में '**ख़ाक**' मूलपद है।
८. **मुद्रणलिपिकरकृत पाठान्तर**—मूलह० में ''**हे पार्वती**'' पाठ है। मुद्रणलिपिकर लिखते समय ''**हे**'' पद को छोड़ गया। किसी शोधक ने अपने अनुमान या स्मृति के आधार पर वहां ''**सुन**'' पद लिख दिया। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**सुन**'' पाठ है। मूलसं० ने भी इसी को ग्रहण किया है।
९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कई रुपये की**'' अपप्रयोग है, '**कई रुपयों की**' चाहिए।
१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—पाठ की संगति के लिए यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**किन्तु**' पदपरिवर्धन आवश्यक है।

प्रश्न—क्यों अच्छे नहीं ? पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का खण्डन करते हैं। **कबीर साहब** फूलों से उत्पन्न हुए और अन्त में भी फूल हो गये। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव का जन्म जब नहीं था, तब भी कबीर साहब थे। बड़े सिद्ध थे। जिस बात को वेद-पुराण भी नहीं जान सकते, उसको कबीर जानते थे।[१] सच्चा रास्ता है,[२] सो कबीर ने ही दिखलाया है। इनके मन्त्र '**सत्यनाम कबीर**' आदि हैं।[३]

उत्तर—पाषाणादि को छोड़ पलंग, गद्दी-तकिये, खड़ाऊँ, ज्योति अर्थात् दीप आदि का पूजना पाषाणमूर्त्ति [पूजने][४] से न्यून नहीं। क्या कबीर साहब भुनगा[५] था वा कलियाँ था, जो फूलों से उत्पन्न हुआ और अन्त में फूल हो गया ?

यहाँ जो **यह बात सुनी जाती है,** वही सच्ची होगी कि कोई जुलाहा काशी में रहता था। उसका लड़का-बाला नहीं था।[६] एक समय थोड़ी-सी रात्रि थी। एक गली में चला जाता था तो देखा सड़क के किनारे में एक टोकरी में[७] फूलों के बीच में उसी रात का जन्मा बालक था। वह उसको उठा ले गया। अपनी स्त्री को दिया, उसने पालन किया। जब वह बड़ा हुआ तब जुलाहे का काम करता था। किसी पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिये गया। उसने उसका अपमान किया। कहा कि—''हम जुलाहे को नहीं पढ़ाते।'' इसी प्रकार कई पण्डितों के पास फिरा परन्तु किसी ने न पढ़ाया। तब ऊटपटांग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगों [=नीची कही जाने वाली जातियों के लोगों][८] को

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**जिस बात को वेद-पुराण भी नहीं जान सकता, उसको कबीर जानते हैं।**'' यहां '**सकते**' बहुवचनान्त क्रिया अभीष्ट है और पूर्ववाक्यों के सम्बन्ध से ''**हैं**'' के स्थान पर '**थे**' क्रिया अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में अपवाक्य है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**रस्ता**' अपवर्तनी है, '**रास्ता**' (फारसी) शुद्ध वर्तनी है। ग्रन्थ में अन्यत्र ''**रास्ता**'' प्रयुक्त होने से मानकता और एकरूपता की दृष्टि से भी एक वर्तनी वांछनीय है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक अपवाक्य है—''**इनका मन्त्र 'सत्यनाम कबीर' आदि है।**'' यहां ''**आदि**'' पद के प्रयोग के सम्बन्ध से '**इनके**' और ''**हैं**'' प्रयोग चाहिएं। 'उदयपुर' सं० में अपवाक्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यरचना की दृष्टि से '**पूजने**' पद अपेक्षित है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**भुनुगा**' अपवर्तनी है, '**भुनगा**' शुद्ध रूप है। 'उदयपुर' सं० में अपवर्तनी है।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अशुद्ध है। मूलह०, मूलप्रति में है—''**उसके लड़का-बाला नहीं था।**'' मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में यह अपपाठ है—''**उसके लड़के-बालक नहीं थे।**'' यह मुहावरा है और मुहावरे का शब्द परिवर्तन नहीं हुआ करता। यह प्रयोग अभीष्ट है—'**उसका लड़का-बाला नहीं था**' अर्थात् एक भी सन्तान नहीं थी।

७. **उपयुक्त प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहाँ ''**टोकनी में**'' प्रयोग है। प्रतीत होता है कि श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर द्वारा '**टोकरी**' के स्थान पर '**टोकनी**' लिख दिया गया है। टोकनी तंग मुंह का बर्तन होता है जिसमें न कोई बच्चे को रखता है और न कोई इतना बड़ा और धातु का महंगा बर्तन फेंकने के काम में प्रयुक्त करता है। अत: यहां '**टोकरी**' प्रयोग चाहिए। कबीर के जीवन-विवरणों में '**टोकरी**' प्रयोग ही मिलता है। 'उदयपुर' सं० में 'टोकनी' पद ही ग्रहण किया है। वेस, जग, भद, युमी, विस में 'टोकनी' पाठ ही है।

८. **नीच लोग**—स्वामी जी संस्कृत की शैली के अनुसार '**उच्च**' के विपरीतार्थक रूप में '**नीच**' शब्द का प्रयोग करते हैं, 'हीन' शब्दार्थ में नहीं। यहां इसका अर्थ है—'**छोटी कही जाने वाली जातियों को**'। ये प्रयोग स्वामी जी की ओर से नहीं है अपितु व्यवहार में प्रचलित तत्कालीन प्रयोग-प्रसिद्धि के आधार पर है। (अर्थ द्रष्टव्य है पृष्ठ १६२, १६३, १७० पर)

तत्कालीन जातिवादी समाज सवर्ण जातियों को उच्च '**जातियां**' और छोटी जातियों को '**नीच जातियां**=निम्न जातियां कहकर पुकारा करता था। जैसे डॉ० भीमराव अम्बेडकर जातिविरोधी थे, किसी जाति को अछूत या अस्पृश्य नहीं मानते थे। फिर भी उन्होंने '**अछूत जातियां**' आदि शीर्षकों का प्रयोग किया है। वह समाज में इस प्रयोग के प्रचलन के आधार पर है।

समझाने लगा। तंबूरा लेकर गाता था, भजन बनाता था। विशेषकर पण्डितों, शास्त्रों,[१] वेदों की निन्दा किया करता था। कुछ मूर्ख [=अशिक्षित] लोग उसके जाल में फस गये। जब मर गया, तब लोगों ने उसको सिद्ध बना लिया।

जो-जो उसने जीते-जी बनाया था, उसको उसके चेले पढ़ते रहे। कान को मूंदके जो शब्द सुना जाता है उसको '**अनहत**'[२] शब्द सिद्धान्त ठहराया। मन की वृत्ति को '**सुरति**' कहते हैं। उसको उस शब्द सुनने में लगाना, उसी को सन्त और परमेश्वर का ध्यान बतलाते हैं। वहाँ काल नहीं पहुँचता। बर्छी के तुल्य तिलक और चन्दनादि लकड़े की कण्ठी बाँधते हैं। भला, विचार कर[३] देखो कि इसमें आत्मा की उन्नति और ज्ञान क्या बढ़ सकता है? यह केवल लड़कों के खेल के तुल्य लीला है।[४]

प्रश्न—पंजाब देश में '**नानक जी**'[५] ने एक मार्ग चलाया है। क्योंकि वे भी मूर्त्ति का खण्डन करते थे, मुसलमान होने से बचाये, देखो, उन्होंने कुछ पाखण्ड नहीं चलाया। वे साधु भी नहीं हुए, किन्तु गृहस्थ बने रहे; देखो, उन्होंने यह मन्त्र उपदेश किया है, इसी से विदित होता है कि उनका आशय अच्छा था—

ओं सत्यनाम कर्त्ता पुरुष निर्भो निर्वैर अकालमूर्त अजोनि सहभं गुरु प्रसाद जप, आदि सच, जुगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच॥ [जपजी पौड़ी १]

ओम्[६] जिसका सत्य नाम है, वह कर्त्ता, पुरुष, भय और वैररहित, अकालमूर्त्ति=जो काल में और जोनि में नहीं आता, प्रकाशमान है, उसी का जप गुरु की कृपा से कर। वह परमात्मा आदि में सच था, जुगों के आदि में सच [था], वर्तमान में सच [है] और होगा भी सच।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**विशेष पण्डित शास्त्र वेदों की निन्दा**" प्रयोग हैं। यहां '**विशेषकर पण्डितों, शास्त्रों, वेदों की निन्दा**' प्रयोग अभीष्ट हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस तथा 'उदयपुर' सं० में अपप्रयोग है।

२. **अनहद शब्द**—यह '**अनाहत**' शब्द का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है—'**बिना आघात के उत्पन्न**'। कानों को दोनों अंगूठों या दो उंगलियों से बंद करने पर जो शरीर के अन्दर से ध्वनि सुनाई पड़ती है उसमें लीन होने को कबीरपन्थी '**अनाहत योग**' (अनहत या अनहद योग मानते हैं।)

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**विचार देखो**" पाठ है। यहां '**विचार कर देखो**' पाठ चाहिए। 'उदयपुर' आदि अन्य सं० में भी असंशोधित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह अपवाक्य है—"**यह मत लड़कों के खेल के तुल्य लीला है।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त पाठ संशोधित है, जो ग्राह्य है। यह कथन 'अनाहत' 'सुरति' आदि के विषय में है।

५. **गुरुनानक**—गुरुनानक का जन्म गांव तलवण्डी, लाहौर (पाकिस्तान) में १५ अप्रैल १४६९ ई० में हुआ। यह गांव लाहौर से ३० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है और सिख इसको 'ननकाना साहब' कहते हैं। इनके पिता का नाम कालू तथा माता का नाम तृप्ता था। इनके पिता की जाति खत्री और वंश बेदी था। इनके पिता साधारण व्यापार करते थे तथा गांव के पटवारी थे। नानक को सात वर्ष की अवस्था में पढ़ने भेजा किन्तु पढ़ने में मन नहीं लगने से पढ़ाई छोड़ दी। ये आत्म-परमात्म चिन्तन में अधिक लगे रहते थे। **नौ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत हुआ था।** इनकी पत्नी का नाम सुलक्खनी था। इनके दो पुत्र हुए—श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। इनका मन पारम्परिक कृषि, व्यापार आदि में नहीं लगा। ये कुछ समय तक सुल्तानपुर के गवर्नर दौलत खाँ के यहां नौकरी करते रहे। गुरु नानक ने १०-१२ वर्ष तीर्थों की यात्रा में बिताये। प्राय: सभी मुख्य तीर्थों की यात्रा इन्होंने की थी। ये मक्का, मदीना, बगदाद, बलख बुखारा, काबुल, कन्धार आदि स्थानों पर भी गये। सन् १५३९ में करतारपुर (पंजाब) में इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी रचनाएं, जो रागों के रूप में हैं, 'गुरु ग्रन्थ साहब' में 'महल्ला १' के नाम से संकलित हैं।

६. **उपयुक्त वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**ओ३म्**" वर्तनी है। उद्धरण के मूलपाठ के अनुसार '**ओम्**' यह वर्तनी अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस तथा 'उदयपुर' सं० में भी "**ओ३म्**" अपवर्तनी है।

उत्तर—नानक जी का आशय तो अच्छा था, परन्तु विद्या कुछ भी नहीं थी। हां, भाषा उस देश की, जो कि ग्रामों की है, जानते थे। वेदादि शास्त्र और संस्कृत कुछ भी नहीं जानते थे। जो जानते होते तो 'निर्भय' शब्द को 'निर्भो' न लिखते और इसका दृष्टान्त उनका बनाया '**संस्कृती स्तोत्र**' है। चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी पग अड़ाऊँ, परन्तु विना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है? हाँ, उन ग्रामीणों के सामने कि जिन्होंने संस्कृत कभी सुना भी नहीं था '**संस्कृती स्तोत्र**'[१] बना कर संस्कृत के भी पण्डित बन गये होंगे। भला, यह बात अपने मान, प्रतिष्ठा और अपनी प्रख्याति की इच्छा के विना कभी न करते। उनको अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा अवश्य थी, नहीं तो जैसी भाषा जानते थे, कहते रहते और यह भी कह देते कि मैंने संस्कृत नहीं पढ़ा।[२] जब कुछ अभिमान था तो मान-प्रतिष्ठा के लिये कुछ दम्भ भी किया होगा; इसीलिये उनके ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ वेदों की निन्दा और स्तुति भी है, क्योंकि जो ऐसा न करते तो उनसे भी कोई वेदों[३] का अर्थ पूछता। जब न आता तब प्रतिष्ठा नष्ट होती। इसलिये पहले ही अपने शिष्यों के सामने कहीं-कहीं वेदों के विरुद्ध बोलते थे[४] और कहीं-कहीं वेदों[५] के लिये अच्छा भी कहा है;[६] क्योंकि जो कहीं अच्छा न कहते तो लोग उनको नास्तिक बनाते। जैसे—

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**संस्कृती बनाकर**" अपूर्ण पाठ है। यहां "**संस्कृती स्तोत्र बनाकर**" पाठ उपयुक्त है।

२. **संस्कृती स्तोत्र में नानक जी की संस्कृत**—नानक जी द्वारा रचित संस्कृत भाषा "**बिन्दु लगन्तं संस्कृत बनन्तम्**" उक्ति के समान अशुद्ध और अप्रचलित है। उसको पढ़कर ग्रन्थकार को कष्ट हुआ, तभी उनको यह लिखना पड़ा कि जो भाषा आती थी उसी में लिखते तो अच्छा था। इस प्रकार की भाषा बनाने से अच्छा तो यह था कि स्पष्ट कह देते कि मुझे संस्कृत नहीं आती है। नानक जी द्वारा लिखित संस्कृत का नमूना देखिए—

"पढ़ पुस्तक सन्ध्यावंदम्। सिल पूजिस बगल समाधम्।
मुखझूठ विभूषणसारम्। त्रैपाल निहाल विचारम्। गलमाला तिलकललाटम्।
दोय धोती वस्त्रकपाटम्। जो जानस ब्रह्मं कर्मम्। सब फोकट निश्चयकर्मम्।
कह नानक निश्चा ध्यावै। बिन सतगुरु वाट न पावै॥" (संस्कृति, महल्ला १)

पांचवें गुरु अर्जुनदास की भी रचना ऐसी ही है—"**कतं च माता कतं च पिता कतं च वनिता विनीतसुतः। कतं च भ्रात भीत हि बान्धवं कतं च मोह कुटुम्ब ते। कतं च चपलमोहिनी रूपं नेसन्तं त्यागं करोति।**" (संस्कृति, महल्ला ५)

३, ५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, सभी सं० में यहां "**वेद**" एकवचन प्रयोग है। यहां बहुवचन वांछित है जैसे दो स्थलों पर है।

४. **गुरुग्रन्थ साहब में वेद विरोधी वचन**—सिखों के धर्मग्रन्थ में अन्यत्र भी वेद-विरोधी और ऋषि-विरोधी वचन पाये जाते हैं, जैसे—"**सनक सनन्दन अन्त न पाया, वेद पढ़े पढ़ जन्म गंवाया**" (आसा १.१० कबीर जी की वाणी)=वेद पढ़ कर सनक, सनन्दन ऋषियों ने अपना जन्म व्यर्थ कर दिया। "**वेद कितेब इफ़तिरा भाई**" (१.१, कबीर जी की वाणी)=वेद एक बहकावा या झूठ भर है। "**साध की महिमा वेद न जाने**" (सुखमनी पौड़ी ७.८)=वेद साधु-सन्तों की महिमा को क्या जाने? "**गेंडे मार होम यज्ञ कीना देवतियां दी वाणी।**" (राग मल्हार वार महला, वार २५)='गेंडे मारकर यज्ञ-हवन करते हैं और ऐसे वेद को देवताओं की वाणी बतलाते हैं।' सत्य यह है कि वेदों में कहीं भी गेंडे मारकर उनसे हवन करना नहीं लिखा। "**चारों वेद कहानी**"=चारों वेद कहानी मात्र हैं (१.१, तिलंगा कबीर जी)। "**नाभि कमल ते ब्रह्मा उपजै वेद पढ़े मुखकण्ठ संवार। ताको अन्त न जाई लखणा आवत-जावत रहे गंवार**" (गूजरी, १.२(१)=यहां वेद पढ़नेवाले ब्रह्मा आदि को 'गंवार' कहा है।

६. **गुरुग्रन्थ साहब में वेदों की प्रशंसा**—'गुरुग्रन्थ साहब' में अनेक स्थलों पर वेदों की प्रशंसा और महिमा का वर्णन है। "महल्ला १" जिन रचनाओं के साथ आता है वे गुरु नानक जी की रचनाएं हैं। गुरु नानक जी द्वारा वेदों की प्रशंसा देखिए—"**ओंकार वेद निरमए**" (महल्ला १, ओंकार शब्द १)=वेदों की रचना ईश्वर ने की है। "**सामवेद, ऋग जजुर अथर्वण.....ताकि कीमत कीत कह न सकै**" (महल्ला १, शब्द १७)=सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इन चारों वेदों का महत्त्व अनन्त है, मूल्यवान् है।" '**जपुजी**' में, वेदों को असंख्य ग्रन्थों में सबसे मुख्य माना है—"**असंख्य ग्रन्थ मुखि वेदपाठ**" (१७)। अन्य कुछ वचन भी महत्त्वपूर्ण हैं—"**ओंकार उत्पाती----चार वेद चारे खाणी**" (महल्ला ५ शब्द १७)=ईश्वर से उत्पन्न हुए चार वेद ज्ञान की

वेद पढ़त ब्रह्मा मरे चारों वेद कहानी।
सन्त की महिमा वेद न जानी। [सुखमनी, अष्टपदी ७, पद ८]
ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर॥ [सुखमनी—सु० अष्ट० ८, पद ६]

क्या वेद पढ़नेवाले मर गये? और नानक जी आदि अपने को अमर समझते थे? क्या वे नहीं मर गये? **वेद तो सब विद्याओं का भण्डार है,** परन्तु जो चारों वेदों को '**कहानी**' कहे, उसकी सब बातें कहानी हैं। जो मूर्खों [=अशिक्षितों] का नाम सन्त होता है, वे बेचारे वेदों की महिमा कभी नहीं जान सकते। जो नानक जी वेदों का ही मान करते तो उनका सम्प्रदाय न चलता, न वे गुरु बन सकते थे; क्योंकि संस्कृत-विद्या तो पढ़े ही नहीं थे, तो दूसरे को पढ़ाकर शिष्य कैसे बना सकते थे?

यह सच है कि जिस समय नानक जी पंजाब में हुए थे, उस समय पंजाब 'संस्कृत-विद्या' से सर्वथा रहित, मुसलमानों से पीड़ित था। उस समय उन्होंने कुछ लोगों को बचाया। नानक जी के सामने कुछ उनका सम्प्रदाय वा बहुत-से शिष्य नहीं हुये थे; क्योंकि अविद्वानों में यह चाल है कि मरे पीछे उनको सिद्ध बना लेते हैं, पश्चात् बहुत-सा माहात्म्य करके ईश्वर के समान मान लेते हैं।[१]

हां, नानक जी बड़े धनाढ्य, रईस भी नहीं थे, परन्तु उनके चेलों ने '**नानकचन्द्रोदय**' और '**जन्मसाखी**' आदि में बड़े सिद्ध और बड़े ऐश्वर्यवाले थे; लिखा है। नानक जी ब्रह्मा आदि से मिले, बड़ी बातचीत की, सबने उनका मान्य किया; नानक जी के विवाह में बहुत से घोड़े, रथ, हाथी, सोने-चाँदी, मोती, रत्नों से सजे हुये [थे] और अमूल्य रत्नों का पारावार न था; लिखा है। **भला, ये गपोड़े नहीं तो क्या हैं? इसमें इनके चेलों का दोष है, नानक जी का नहीं।**[२]

दूसरा—उनके पीछे उनके लड़के से '**उदासी**' चले, और रामदास आदि से '**निर्मले**'। कितने ही गद्दीवालों ने भाषा बनाकर ग्रन्थ में रक्खी है; अर्थात् इनके गुरु गोविन्दसिंह जी दशमे हुए।[३] उनके पीछे उस ग्रन्थ में किसी की भाषा नहीं मिलाई गई, किन्तु वहाँ तक के जितने छोटे-छोटे पुस्तक थे, उन सबको इकट्ठा करके जिल्द बँधवा दी। इन लोगों ने भी नानक जी के पीछे बहुत-सी भाषा बनाई। कितनों ने ही नाना प्रकार की पुराणों की मिथ्या कथा के तुल्य [पुस्तक][४] बना दिये। परन्तु 'ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर' बनके उस पर कर्म-उपासना छोड़कर इनके शिष्य झुकते आये। इसने बहुत बिगाड़ कर

चार खानें=निधियां हैं। "**वेद बखियान करत साधुजन, भागहीन समझत नहीं**" (महल्ला ५, शब्द २६)=साधुजन वेद का बखान किया करते हैं जो वेदों को नहीं समझता वह भाग्यहीन व्यक्ति होता है। "**चार दीवे चहु हाथ दीए, एका एकी बारी**" (महल्ला १, शब्द १)=चार ऋषियों के हाथों में चार वेद जो दिये हैं वे मानों चार दीपक हैं अर्थात् ज्ञान का प्रकाश करनेवाले और मार्गदर्शक हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थल भी हैं।

'गुरुग्रन्थ साहब' में उल्लिखित कबीर के वचनों में परस्पर-विरोध दोष भी हैं। पूर्वटिप्पणी में प्रदर्शित वेद- विरोधी वचन अधिकांश में कबीर के हैं। वही कबीर अन्यत्र कहते हैं—"**वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारे**" (राग प्रभाती, शब्द ३) अर्थात् वेद नामक पुस्तकों को झूठा मत कहो, झूठा तो वह है जो उनके वचनों पर विचार नहीं करता।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में "**पश्चात्.....लेते हैं**" पाठ त्रुटित है। बाद में पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—"**नानक जी का नहीं**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३,४. **अपवाक्य एवं त्रुटित पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**इनका गुरु गोविन्दसिंह जी दशमा हुआ।**" **संशोधन-पुष्टि**—यहां "**जी**" के साथ बहुवचन चाहिए, जैसे सात-आठ पंक्ति आगे शुद्ध वाक्य है—"**गोविन्दसिंह जी शूरवीर हुए।**" वेस, जग, भद, युमी, विस तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध प्रयोग है। आगे दोनों सं० में यहां "**पुस्तक**" पद का

दिया। नहीं [तो], जो **नानक जी ने कुछ भक्ति-विशेष ईश्वर की लिखी थी उसे करते आते तो अच्छा था।**

अब **उदासी** कहते हैं—''हम बड़े'', **निर्मले** कहते हैं—''हम बड़े'', **अकाली** तथा **सुथरेशाही**[१] कहते हैं कि ''सर्वोपरि हम हैं।''

इनमें गोविन्दसिंह जी शूरवीर हुये।[२] जो मुसलमानों ने उनके पुरुषाओं[३] को बहुत-सा दुःख दिया था, उनसे बदला लेना चाहते थे, परन्तु इनके पास कुछ सामग्री न थी और उधर मुसलमानों की बादशाही प्रज्वलित हो रही थी। उन्होंने एक पुरश्चरण[४] करवाया। प्रसिद्धि की कि ''मुझको देवी ने वर और खड्ग दिया है कि तुम मुसलमानों से लड़ो, तुम्हारा विजय होगा''। बहुत लोग उनके साथी हो गये और उन्होंने, जैसे वाममार्गियों[५] ने 'पञ्च मकार', चक्राङ्कितों ने 'पञ्च संस्कार' चलाये थे, वैसे '**पञ्च ककार**' [चलाये];[६] अर्थात् इनके पञ्च ककार युद्ध के उपयोगी थे—

एक '**केश**' अर्थात् जिसके रखने से लड़ाई में लकड़ी और तलवार से कुछ बचावट हो।

दूसरा '**कंगण**' जो शिर के ऊपर पगड़ी में अकाली लोग रखते हैं; और हाथ में '**कड़ा**' जिससे हाथ और शिर बच सकें।

तीसरा '**काछ**' [=कच्छा] अर्थात् जानु के ऊपर एक जांघिया कि जो दौड़ने, कूदने में अच्छा होता है। बहुत करके अखाड़मल्ल और नट भी इसको इसीलिये धारण करते हैं कि जिससे शरीर का मर्मस्थान ढका रहै[७] और अटकाव न हो।

चौथा '**कंघा**'[८] कि जिससे केश सुधरते हैं।

पाँचवाँ **काचू**[९] कि जिससे शत्रु से भेंट-भड़क्का होने से लड़ाई में काम आवे।

इसीलिये यह रीति गोविन्दसिंह जी ने अपनी बुद्धिमत्ता से उस समय के लिये की थी। अब इस समय में उनका रखना कुछ उपयोगी नहीं है। परन्तु जो युद्ध के प्रयोजन के लिये बातें कर्त्तव्य थीं,

---

परिवर्धन बृ० कोष्ठक में आवश्यक है।

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अशुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**सूतरहसाई**'' भ्रष्ट वर्तनी है जबकि पृ० ६६२ पर इसकी वर्तनी ''**सुतरेसाई**'' लिखी है। मूलप्रति सं० में दोनों स्थानों पर ''**सुतरेसाई**'' अपवर्तनी है। यहां भी वेस, जग, भद, युमी, विस, जस सभी के सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अपवर्तनी है। ये लोग '**सुथरेशाह**' के अनुयायी थे। उसी के नाम पर इनका नाम पड़ा ''**सुथरेशाही**''। यही शुद्ध है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से ४-५ पंक्ति पाठ त्रुटित**—मूलह० से मुद्रणप्रति बनाते समय प्रमादी लिपिकर ने ''**कर्म-उपासना छोड़कर** (पृ० ६६९).....**शूरवीर हुये**'' पाठ त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधक पं० भीमसेन ने किनारे पर लिखकर पूर्ण किया है।

३. **पुरुषाओं**=पुरखों, पूर्वजों।

४. **पुरश्चरण**=धार्मिक अनुष्ठान। किसी विशेष निमित्त से या कार्यसिद्धि के लिए जप-यज्ञ आदि का आयोजन करना।

५. **अयोग्य लिपिकरों द्वारा अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**वाममार्गीयों**'' अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां वाक्यपूर्त्यर्थ '**चलाये**' क्रिया का परिवर्धन आवश्यक है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति के उक्त पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**मर्मस्थान बचा रहै**'' परिवर्तन है, जो अनुपयुक्त है। मूलह० का ''**ढका रहै**'' पाठ ही ग्राह्य है।

८. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कंगा**'' अपवर्तनी है, '**कंघा**' अपेक्षित है।

९. **पंचककार**—पंचककारों में '**चाकू**' (=कटार) की गणना करने हेतु इसे सिख आदि-अन्त विपर्यय करके '**काचू**' बोलते हैं।

उनको अब धर्म के साथ मान लिया है।[१]

मूर्त्तिपूजा तो नहीं करते परन्तु उससे विशेष '**ग्रन्थ**' की पूजा करते हैं। क्या यह मूर्त्तिपूजा नहीं है? **किसी जड़ पदार्थ के सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना, सब मूर्त्तिपूजा है।** जैसे मूर्त्तिवालों ने अपनी दुकान जमाकर जीविका ठाड़ी[२] की है, वैसे इन लोगों ने भी कर ली है। जैसे पुजारी मूर्त्ति का दर्शन कराते, भेट चढ़वाते हैं, वैसे नानकपन्थी लोग ग्रन्थ की पूजा करते-कराते, भेंट भी चढ़वाते हैं, अर्थात् मूर्त्तिपूजावाले जितना वेदों का मान्य करते हैं, उतना भी ये '**ग्रन्थसाहब**'-वाले लोग नहीं करते। हां, यह कहा जा सकता है कि इन्होंने वेदों को न सुना, न देखा, क्या करें? जो सुनने और देखने में आते तो बुद्धिमान् लोग जो कि हठी-दुराग्रही नहीं हैं, सब सम्प्रदाय-वाले वेदमत में आ जाते हैं। परन्तु **इन सबने भोजन का बखेड़ा बहुत-सा हटा[३] दिया है। जैसे इसको हटाया,[४] वैसे विषयासक्ति और दुरभिमान को भी हटाकर[५] वेदमत की उन्नति करें तो बहुत अच्छी बात है।**

प्रश्न—**दादूपन्थी** का मार्ग तो अच्छा है?

उत्तर—**अच्छा तो वेदमार्ग है, जो पकड़ा जाय तो पकड़ो, नहीं तो सदा गोते खाते रहोगे।** इनके मत से दादू[६] जी का जन्म गुजरात में हुआ था। पुनः जयपुर के पास 'आमेर' में रहते थे। तेली का काम करते थे। **ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादू जी भी पुजाने लग गये।** अब वेदादि शास्त्रों की सब बातें छोड़कर 'दादूराम-दादूराम' में ही मुक्ति मानली है। **जब सत्योपदेशक नहीं होता तब ऐसे-ऐसे ही बखेड़े चला करते हैं।**

थोड़े दिन हुए कि एक '**रामस्नेही**' मत शाहपुरा[७] से चला है। वे सब वेदोक्त धर्म छोड़ 'राम-राम' पुकार रहे हैं।[८] उसी में ज्ञान, ध्यान, मुक्ति मानते हैं। परन्तु जब भूख लगती है, तब 'रामनाम' में से रोटी

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**उनको अब धर्म के साथ मान ली हैं।**'' उपर्युक्त व्याकरणिक संशोधन आवश्यक है। वेस, जग, भद, युमी, विस सभी सं० और 'उदयपुर' सं० में यह अपवाक्य है।

२. **ठाड़ी**=खड़ी है। यह व्रजभाषा का प्रयोग है। अन्यत्र देखिए पृष्ठ ६२९/१,२ में ''**ठड़े होकर**''।

३-५. **उचित संशोधन 'हठा, हठाया, हठाकर' पदों का**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ये अशुद्ध वर्तनियां हैं। ऐसी कोई ''**हठ**'' धातु हिन्दी में '**हटाने**' अर्थ में नहीं है। द्वि०सं०, मूलसं० में इनका उपर्युक्त रूप में संशोधन कर दिया है, जो उचित एवं ग्राह्य है। द्रष्टव्य, पृ०९०३ पर टिप्पणी। 'उदयपुर' सं० ''**हठाया**'' अशुद्धि के चक्र में फंसकर अशुद्धि युग में पीछे '**हठ गया**'। सम्पादक गण क्या बतायेंगे कि दो पंक्ति पूर्व प्रयुक्त '**हठी**' शब्द में क्या एक ही अर्थ निहित है? यह भी बताने का कष्ट करें कि हिन्दी के किस व्याकरण में यह धातु पठित है?

६. **दादूदयाल**—दादूदयाल का जन्म श्रावण मास सन् १५४४ में गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद नगर में हुआ। अठारह वर्ष तक गृहस्थ रहकर ये साधु बन गये। कुछ वर्ष तक इधर-उधर भ्रमण करके ३० वर्ष की अवस्था में ये सांभर आये, सांभर से आमेर (जयपुर) आये। फिर जयपुर से लगभग ४० कि० मी० दूर स्थित नारायणा (फुलेरा से अजमेर रेल लाइन पर अगला स्टेशन) में निवास करने लगे। यहीं पास की पहाड़ी पर ज्येष्ठ मास १६०३ में इनका देहान्त हुआ। इसको दादूपंथी 'दादूद्वारा' कहते हैं। ये निराकार परब्रह्म को मानते हैं, मूर्तिपूजा नहीं करते। किन्तु इनके अनुयायी अब इनके वस्त्रों, पुस्तकों और स्थान की पूजा करते हैं। इनके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। इनकी जाति के विषय में पर्याप्त मतभेद है। दादूपंथी इनको गुजराती ब्राह्मण कहते हैं, तो अन्य कोई तेली, मोची, धुनिंया, कहते हैं। इनके दो पुत्र और दो पुत्रियां थीं। इनका पुत्र गरीबदास इनकी गद्दी का उत्तराधिकारी बना था।

७. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में ''**शाहपुरे से**'' अपप्रयोग है। विभक्ति से किसी नाम में विकृति नहीं आती अतः '**शाहपुरा से**' वांछनीय है जैसा कि छह पंक्ति नीचे प्रयुक्त है। विकृतियुक्त प्रयोग बोलियों में होता है।

८-९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक एवं अशुद्ध पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति,

नहीं निकलती;[१] क्योंकि खानपान आदि तो गृहस्थों के घर ही में मिलते हैं। वे भी मूर्त्तिपूजा को धिक्कारते हैं परन्तु आप स्वयं मूर्त्ति बन रहे हैं। स्त्रियों के सङ्ग में बहुत रहते हैं, क्योंकि '**रामजी**'-'**रामकी**' के विना आनन्द ही नहीं मिल सकता।[१]

अब थोड़ा-सा विशेष '**रामस्नेही**' मत के विषय में लिखते हैं[२]—

एक '**रामचरण**'[३] नामक साधु हुआ है, जिसका मत मुख्यकरके '**शाहपुरा**' स्थान, मेवाड़ से चला है। वे 'राम-राम' करने को ही परममन्त्र और इसी को सिद्धान्त मानते हैं। उनका एक ग्रन्थ कि जिसमें '**सन्तदास जी आदि की वाणी**' है, [उसमें][४] ऐसा लिखते हैं। उनका वचन—

द्विप्र० व द्वि०सं० में यह अनावश्यक परिवर्तन किया है—''**उन्होंने सब वेदोक्त धर्म को छोड़कर 'राम-राम' पुकारना अच्छा माना है।**'' यह शिथिल वाक्य रचना है, मूलप्रति सं० का पाठ प्रभावी है। इसी प्रकार ''**राम नाम में से रोटी नहीं निकलती**'' मुहावरेदार व्यंग्यपूर्ण वाक्य को विकृत कर दिया है—''**राम नाम में से रोटी शाक नहीं निकलता।**'' यह वाक्य भी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध बनाया है। यहां ''**रोटी-शाक नहीं निकलते**'' प्रयोग शुद्ध होगा। लिपिकरों की इसी अयोग्यता से ग्रन्थ की भाषा बिगड़ी है। यही विकृत पाठ और मुहावरा वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में है।

१. **द्वि०सं० और उदयपुर सं० में अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में इस वाक्य का पाठ स्पष्ट और शुद्ध है। सभी सम्पादकों के सं० में शुद्ध पाठ का ग्रहण किया हुआ है। द्वि०सं० में पहले पाठ भ्रष्ट हुआ जो आज तक छप रहा है—''**राम जी राम जी के बिना आनन्द ही नहीं मिल सकता।**'' शायद, यह मुद्रणदोष है क्योंकि पूर्ववाक्यांश से इसकी संगति नहीं बनती।

'उदयपुर' सं० को पता नहीं क्या सूझा, इस पाठ में मनमाना परिवर्तन करके इस सटीक प्रभावी वाक्य का शिथिल और अपपाठ बना दिया—''**राम जी को 'राम की' के बिना आनन्द ही नहीं मिल सकता।**'' यह संशोधन कई कारणों से अग्राह्य है—१. इस संशोधन ने व्यापकार्थक व्यंग्य वाक्य को एकपक्षीय सीमितार्थक बना दिया। 'रामजी को रामकी के बिना आनन्द नहीं आता' केवल यह व्यंग्य यहां शेष रह गया। ग्रन्थकार का यह व्यंग्य नष्ट हो गया कि 'रामकी' को भी 'रामजी' के बिना आनन्द नहीं आता। ग्रन्थकार तो यह कहना चाहते हैं कि दोनों ही पथभ्रष्ट हैं। अग्रिम पंक्तियों में ग्रन्थकार ने जो 'रामस्नेहियों' का वर्णन किया है उसमें दोनों को समान पथभ्रष्ट दिखाया है—''**नाम तो धरा है रामस्नेही और काम करते हैं रांडस्नेही का। जहां देखो वहां रांड ही रांड सन्तों को घेर रही हैं।**'' स्पष्ट है कि ग्रन्थकार दोनों पर कटाक्ष कर रहे हैं। २. इस वाक्य के व्यापक भाव की पुष्टि अग्रिम एक वाक्य से हो जाती है। वह भी इसका शब्दान्तर मात्र है—''**एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की लीला होती रहती है।**'' (मूलह०, मूलप्रति सं०) स्पष्ट है कि संशोधन ने यहां ग्रन्थकार के इस व्यापक आशय को नष्ट किया है। ३. यह वाक्य मुहावरेदार शैली का कथन है—'रामजी-रामकी के बिना आनन्द न होना' अर्थात् स्त्री-पुरुष के संग या दोनों की जोड़ी के बिना आनन्द अनुभव न होना। ऐसे अनेक वाक्य प्रयोग अन्यत्र भी मिलते हैं—''उनकी गोप-गोपी बिना भक्ति नहीं होती'', ''कालेजों में राधा-कन्हाई बिना मन नहीं लगता'', ''नायक-नायिका बिना कोई फिल्म नहीं बनती'' आदि। 'उदयपुर' सं० ने मुहावरेदार वाक्य को वर्णनात्मक साधारण वाक्य में बदल दिया जिससे उसकी तीव्र अभिव्यक्ति शक्ति ही समाप्त हो गई। ४.सम्पादकों ने 'रामजी' 'रामकी' पदों पर लगे उद्धरण/ विशेषार्थक चिह्नों पर भी ध्यान नहीं दिया जो इन शब्दों के विशेषार्थक प्रयोग की ओर संकेत कर रहे हैं। विशेषार्थक प्रयोग साधारण शैली बदलने पर मूल भाव को प्रकट नहीं करते।

२. **मुद्रणसमय महर्षिलिखित पाठ त्रुटित**—द्विप्र० में यह वाक्य त्रुटित रह गया है—''**अब थोड़ा-सा विशेष रामस्नेही मत के विषय में लिखते हैं।**'' दोनों हस्तलेखों व सभी सं० में यह वाक्य है। द्वि०सं० में अब भी त्रुटित है। **यह वाक्य महर्षि ने मूलह० में अपने हाथ से लिखा है। 'उदयपुर' सं० ने महर्षि के हाथ का लिखा यह वाक्य भी लुप्त कर दिया है।**

३. **रामचरण साधु**—रामस्नेही मत की शाहपुरा शाखा के प्रवर्तक साधु रामचरण का जन्म संवत् १७७६ ई० जयपुर राज्य के सोष्ठा नामक गांव में हुआ। ये जाति से बनिया थे। शाहपुरा के राजा रणसिंह ने वहां इनकी गद्दी स्थापित कराई। संवत् १८५५ में शाहपुरा में इनका देहान्त हुआ। इनके २२५ शिष्य थे जिनमें से साधु रामजन गद्दी का उत्तराधिकारी बना। इनकी 'वाणी' आठ हजार छन्दों में है। इनके अनुयायी उसका ही पाठ करते हैं। 'राम-राम' जपने में जन्म सफल मानते हैं। अपने मन्दिर या आश्रम को 'रामद्वारा' कहते हैं। इनका 'रामद्वारा' शाहपुरा में है। वहां प्रतिवर्ष फाल्गुन में मेला लगता है। इनके साधु विवाह नहीं करते। अधिकांश लंगोटी बांधकर रहते हैं। ऊपर से चद्दर ओढ़ लेते हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**उसमें**' पद का परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना पूर्ण वाक्य नहीं बनता।

भरम रोग तब ही मिट्या, रट्या निरंजन राइ।

जब जम का कागज फट्या, कट्या करम तब जाइ॥ १॥ [सुमरण को अङ्ग १७]

अब बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि 'राम-राम' करने से भ्रम, जो कि अज्ञान है, वा यमराज का पापानुकूल शासन अथवा किये हुये कर्म कभी छूट सकते हैं, वा नहीं? यह केवल मनुष्यों को पापों में फसाना और मनुष्य जन्म को नष्ट कर देना है। अब इनका जो मुख्य गुरु हुआ है '**रामचरण**', उसके[१] वचन—

महमा नांव प्रताप की, सुणौ सरवण चित लाइ।
रांमचरण रसना रटौ, क्रम सकल झड़ जाइ॥ १॥
जिन जिन सुमर्‌या नांव कूं, सो सब उतर्‌या पार।
रांमचरण जो बीसर्‌या, सो ही जम के द्वार॥ २॥
रांम विना सब झूठ बतायो॥
रांम भजत छूट्या सब क्रम्मा। चंद अरु सूर देइ परकम्मा॥
रांम कहे तिन कूं भै नाहीं। तीन लोक में कीरतिं गाहीं॥
रांम रटत जम जोर न लागै॥
रांम नाम लिष[२] पथर तराई। भगति हेति औतार ही धराई॥
ऊंच नीच कुल भेद बिचारै। सो तो जनम आपणो हारै॥
सन्तां कै कुल दीसै नाहीं। रांम रांम कह रांम सम्हांहीं॥
ऐसो कुण जो कीरति गावै। हरि हरिजन कौ पार न पावै॥
रांम संतां का अन्त न आवै। आप आपकी बुद्धि सम गावै॥[३] [रामचरण की वाणी]

इनका खण्डन—प्रथम तो **रामचरण** आदि के ग्रन्थ देखने से विदित होता है कि यह ग्रामीण एक सादा-सीधा मनुष्य था। न वह कुछ पढ़ा था, नहीं तो ऐसी गपड़चौथ क्यों लिखता? यह केवल इनको भ्रम है कि 'राम-राम' कहने से कर्म छूट जायेंगे[४]। केवल ये अपना और दूसरों का जन्म खोते हैं।

'जम' का भय तो[५] बड़ा भारी है परन्तु राजसिपाही, चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू[६] और मच्छर आदि का भय कभी नहीं छूटता। चाहे रात-दिन 'राम-राम' किया करे, कुछ भी नहीं होगा। जैसे शक्कर-

---

१. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**उसका वचन**" अपप्रयोग है, अनेक वचन होने के कारण "**उसके वचन**" अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**उनका वचन**" अपपाठ है। उदयपुर सं० में शुद्ध कर लिया है।

२. **अप-संशोधन**—दोनों हस्त०, द्विप्र० व मूलप्रति में "**लिष**" राजस्थानी भाषा का और उस कवि का मौलिक एवं तत्कालीन प्रयोग है, द्वि० सं० में "**लिख**" अप-संशोधन है। यह किसी ने वर्तमान हिन्दी का रूप बनाया है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनियां**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पद्यभाग में वर्तनियों की अव्यवस्था है कहीं "**राम**" और "**रामचरण**" पर बिन्दी है, कहीं नहीं। इस संस्करण में यह अव्यवस्था दूर कर दी है। हस्तलेखों में मौलिक पाठ बिन्दी युक्त है।

४-५. **अपप्रयोग**—क्रमशः, द्वि० सं० में "**कर्म छूट जाय**", मूलप्रति में "**कर्म छूट जाँय**" अपप्रयोग हैं, "**छूट जायेंगे**" वांछित है। द्वि० सं० में "**यो**", अपप्रयोग है। मूलप्रति सं० का "**तो**" पाठ शुद्ध है।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा अन्य सभी सं० में इस शब्द की वर्तनी अव्यवस्थित रूप से कहीं "**बिच्छु**" तो कहीं "**बीछू**" मिलती है, यहां "**बीछू**" है। एक शुद्ध वर्तनी "**बिच्छू**" सर्वत्र ग्राह्य है।

शक्कर[१] कहने से मुख मीठा नहीं होता, वैसे सत्यभाषणादि कर्म[२] किये विना 'राम-राम' करने से कुछ भी नहीं होगा। और यदि 'राम-राम' करना इनका राम नहीं सुनता, तो जन्म-भर कहने से भी नहीं सुनेगा, और जो सुनता है तो दूसरी वार भी 'राम-राम' कहना व्यर्थ है। इन लोगों ने अपना पेट भरने और दूसरों का भी जन्म नष्ट करने के लिये एक पाखण्ड खड़ा किया है। सो यह बड़ा आश्चर्य है, हम सुनते और देखते हैं कि नाम तो धरा 'रामस्नेही'[३] और काम करते हैं 'रांडस्नेही'[४] का। जहाँ देखो वहाँ रांड ही रांड सन्तों को घेर रही हैं। **यदि ऐसे-ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त देश की दुर्दशा क्यों होती ?** ये लोग अपने चेलों को जूठन खिलाते हैं, स्त्रियाँ भी लम्बी पड़के दण्डवत् प्रणाम करती हैं। एकान्त में भी स्त्रियों और साधुओं की लीला होती रहती है।[५]

दूसरी इनकी शाखा '**खेड़ापा**' ग्राम★ मारवाड़ देश से चली है, उसका इतिहास—एक **रामदास** नामक जाति का ढेढ़ बड़ा चालाक था। उसकी दो स्त्रियाँ थी। वह प्रथम बहुत दिन तक औघड़ होकर कुत्तों के साथ खाता रहा। पीछे वामी कुंडापन्थी,[६] पीछे 'रामदेव का कामड़िया'* बना। अपनी दोनों स्त्रियों के साथ गाता था। ऐसे घूमता-घूमता 'सींथल'❀ में ढेढ़ों का गुरु '**हररामदास**'[७] था, उससे

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**सक्कर-सक्कर**'' अपवर्तनी है। यही अपवर्तनी वेस, जग, भद, युमी, विस और 'उदयपुर' सं० में है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ५८२ पर शुद्ध वर्तनी ''**शक्कर**'' है।

२. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**धर्म**'' और आगे दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**झूंठन**'' अपप्रयोग हैं। मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि० सं० में ''**कर्म**'' संशोधित है। अन्यत्र ''**जूठन**'' प्रयोग ग्रन्थ में प्राप्त है।

३-४. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस प्रकरण में अनेक बार प्रयुक्त शब्दों में अव्यवस्था है। कहीं ''**स्नेही**'' तो कहीं ''**सनेही**'' अपवर्तनी है। 'उदयपुर' सं० में भी यही अव्यवस्था है। इस सं० में इस अव्यवस्था को ठीक कर दिया है।

५. **मुद्रणसमय मूर्खतापूर्ण परिवर्तन**—द्वि०सं० में महर्षि-लिखित इस वाक्य का प्रभावहीन तथा अर्थहीन परिवर्तन किया है—''**स्त्रियों और साधुओं की बैठक होती रहती है।**'' मुद्रणप्रति में उपर्युक्त पाठ था। प्रतीत होता है मुद्रण समय यह परिवर्तन किसी शोधक ने किया है जो सर्वथा उपेक्षणीय है। मूलह०, मूलसं० में महर्षिलिखित उक्त मूलपाठ है, वही ग्राह्य है।

★ **खेड़ापा ग्राम**—खेड़ापा ग्राम राजस्थान के नागौर जिले में नागौर-जोधपुर सड़क=मार्ग पर स्थित है। यही '**रामस्नेही**' सम्प्रदाय का मूल केन्द्र है। —**समर्थदान**

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस प्रसंग में सभी स्थलों पर ''**कूण्डापंथी, कूण्डा**'' अपवर्तनियां है। कहीं ''**कुंडों**'' शुद्ध भी है। ये शब्द 'कुण्ड' के अपभ्रंश और रूढ़ि हैं। एकरूपता व मानकता के लिए शुद्ध वर्तनी ग्राह्य है।

* **कामड़िये**—राजपूताने में '**चमार**' लोग भगवे वस्त्र रंगकर '**रामदेव**' आदि के गीत, जिनको वे '**शब्द**' कहते हैं, चमारों और अन्य जातियों को सुनाते हैं; वे '**कामड़िये**' कहलाते हैं। —**समर्थदान**

❀ **सीथल ग्राम**—'सीथल' जोधपुर के राज्य में एक बड़ा ग्राम है। —**समर्थदान**

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में यहां '**रामदास**' अपपाठ है, द्वि० सं० में उसके स्थान पर ''**हरिरामदास**'' संशोधन किया है। यह ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित संशोधन उचित और ग्राह्य है। गांव सींथल (बीकानेर) में हरिरामदास का जन्म हुआ और दीक्षा संस्कार सन् १७४३ में हुआ था। रामदास इनका शिष्य था। रामस्नेही हरिरामदास को अपना आदिप्रवर्तक और रामदास को आदिगुरु मानते हैं। इनका देहान्त सन् १९७८ में हुआ।

उदयपुर संस्करण की यह कैसी मानकता है ?—उदयपुर संस्करण का सम्पादन करनेवाले कथित दश सम्पादकों ने उसके मानक होने का दावा किया है, किन्तु वह अमानकता के उदाहरण पर उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है। ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित यह नाम '**हरिरामदास**' है। इस अशुद्धि का अनेक संस्करण संशोधन कर चुके हैं। उस संशोधन को धता बताकर उदयपुर सं० के सम्पादक उलटे अशुद्धि के युग में जा पहुंचे। विद्वानों ने पूर्वापर प्रसंग पर भी विचार नहीं किया। देखिए, यहां कुछ पंक्ति पूर्व ग्रन्थकार द्वारा 'रामदास' का परिचय दिया गया है। अब 'उदयपुर संस्करण' में यह भ्रष्टपाठ बन गया—''**रामदास नामक जाती का ढेढ.....सीथल में ढेढों का गुरु रामदास था उससे मिला।**'' इसके अतिरिक्त कुछ पंक्तियां आगे दोनों का गुरु-शिष्य के रूप में उल्लेख हैं—''**रामदास और हररामदास के वाणी के पुस्तक.....।**'' इन पूर्वापर-पठित सन्दर्भों को पढ़कर भी दश

मिला। उसने उसको 'रामदेव' का पन्थ बताके अपना चेला बनाया। उस **रामदास**[१] ने खेड़ापा ग्राम में जगह बनाई और उसका इधर मत चला; उधर शाहपुरा में[२] **रामचरण** का।

उसका भी इतिहास ऐसा सुना है कि वह जयपुर का बनिया था। उसने 'दांतड़ा'[❁] ग्राम में एक साधु से वेश लिया और उसको गुरु किया और शाहपुरा में आके टिक्की जमाई।[३] भोले मनुष्यों में पाखण्ड की जड़ शीघ्र जम जाती है, जम गई। इन सबमें ऊपर के रामचरण के वचनों के प्रमाण से चेला करके, ऊँच-नीच का कुछ भेद नहीं [करके] ब्राह्मण से अन्त्यज पर्यन्त इनमें चेले बनते हैं। अब भी कुंडापन्थी से ही हैं, क्योंकि मिट्टी के कुंडों में ही खाते हैं और साधुओं की जूठन खाते हैं। [लोगों को][४] वेदधर्म से, माता- पिता-संसार के व्यवहार से, बहकाकर छुड़ा देते और चेला बना लेते हैं और राम नाम को महामन्त्र मानते हैं; और इसी को 'छुच्छम* वेद' भी कहते हैं। [और कहते हैं कि][५] राम-राम कहने से अनन्त जन्मों के पाप छूट जाते हैं, इसके विना मुक्ति किसी की नहीं होती।

जो श्वास और प्रश्वास के साथ 'राम-राम' करना बतावे, उसको 'सत्यगुरु' कहते हैं और सत्यगुरु को परमेश्वर से भी बड़ा मानते हैं और उसकी मूर्त्ति का ध्यान करते हैं। साधुओं के चरण धोके पीते हैं। जब गुरु से चेला दूर जावे तो गुरु के नख और दाढ़ी के बाल अपने पास रख लेते और उसका चरणामृत नित्य लेते हैं[६]। '**रामदास** और **हररामदास** की वाणी' के पुस्तकों को वेद से अधिक मानते हैं।[७] उसकी परिक्रमा और आठ दण्डवत् प्रणाम करते हैं और जो गुरु समीप हो तो गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर लेते हैं। स्त्री वा पुरुष को 'राम-राम' एक-सा ही उपदेश करते हैं। नामस्मरण से ही[८] कल्याण मानते हैं और पढ़ने में पाप समझते हैं। उनकी साखी—

पंडताइ पाने पड़ी, ओ पूरब लो पाप।
राम-राम सुमरयां विना, रइग्यौ रीतो आप॥ १॥
वेद पुराण पढ़े पढ़ 'गीता', रांमभजन बिन रइ गए रीता॥

सम्पादकों को 'अशुद्धि' प्रतीत नहीं हुई। यह कैसी विद्वत्ता और मानकता है?

१. **रामदास**—रामदास का जन्म सन् १७२६ में जोधपुर राज्य के बीकानेर ग्राम में हुआ। इनकी मेघवाल जाति थी। इनका देहान्त बहत्तर वर्ष की आयु में सन् १७९८ में हुआ। इन्होंने हरिरामदास से रामस्नेही मत की दीक्षा लेकर 'खेड़ापा' (जोधपुर) में अपनी गद्दी स्थापित की। इनके कई ग्रन्थ हैं।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सभी स्थानों पर "**शाहपुरे**" में अपप्रयोग है, "**शाहपुरा में**" वांछित है।

❁ **दांतड़ा गांव**—दांतड़ा गांव जिला जयपुर (राजस्थान) में है। —**समर्थदान**

३. **टिक्की जमाई**—डेरा जमाया, केन्द्र बनाया।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन संगति के लिए आवश्यक है।

* **छुच्छम वेद**—छुच्छम अर्थात् सूक्ष्म। —**समर्थदान**

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—पाठ की संगति के लिए सभी सं० में बृहत् कोष्ठक में दर्शाया गया पाठ परिवर्धित करना आवश्यक है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपवाक्य रचना है—"**दाढ़ी के बाल अपने पास रख लेवे उसका चरणामृत नित्य लेवे।**" यही असंगत क्रियायुक्त वाक्य उदयपुर सं० तथा अन्य सभी वेस, जग, भद, युमी, विस सं० में है। यहां पूर्वापर पाठ के सदृश आदेशात्मक नहीं वर्णानात्मक शैली अपेक्षित है, अत: उपर्युक्त संशोधन आवश्यक है।

७. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**रामदास और हररामदास के वाणी के पुस्तक को वेद से अधिक मानते हैं।**" यहां बहुवचनात्मक संशोधन अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर में अशुद्ध है।

८. **त्रुटित पद**—मूलसं० में "**ही**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है। यह ग्राह्य है।

ऐसे-ऐसे पुस्तक बनाये हैं। स्त्री को पति की सेवा में पाप और गुरु-साधु की सेवा में धर्म बतलाते हैं। वर्णाश्रम को नहीं मानते। जो ब्राह्मण रामस्नेही न हो तो उसको नीच और चाण्डाल, रामस्नेही हो तो उसको उत्तम जानते हैं। ईश्वर का अवतार नहीं मानते और रामचरण का वचन जो ऊपर लिख आये कि—''**भगति हेति औतार ही धराई**'' सन्तों के हित [राम के] अवतार को भी मानते हैं, इत्यादि पाखण्ड-प्रपञ्च इनका जितना है, सो सब आर्यावर्त देश का अहितकारक है। इतने से ही बुद्धिमान् बहुत-सा समझ लें।

प्रश्न—'**गोकुलिये गोसाँइयों**'[१] का मत तो बहुत अच्छा है। देखो, कैसा ऐश्वर्य भोगते हैं! क्या लीला के विना ऐसा यह ऐश्वर्य हो सकता है?

उत्तर—यह ऐश्वर्य गृहस्थ लोगों का है, गोसाँइयों का कुछ नहीं।

प्रश्न—वाह-वाह! यह गोसाँइयों के प्रताप से है, क्योंकि ऐसा ऐश्वर्य दूसरों को क्यों नहीं मिलता?

उत्तर—दूसरे भी इसी प्रकार का छल-प्रपञ्च रचें तो ऐश्वर्य मिलने में क्या सन्देह है? और जो इनसे अधिक धूर्त्तता करें[२] तो अधिक ऐश्वर्य भी हो सकता है।

प्रश्न—वाह, वाह! इसमें धूर्त्तता क्या है? सब गोलोक की लीला है।

उत्तर—गोलोक की लीला नहीं किन्तु गोसाँइयों की लीला है। जो गोलोक की लीला है तो गोलोक भी ऐसा ही होगा।

यह मत '**तैलंग**' देश[३] से चला है; क्योंकि एक तैलंगी **लक्ष्मणभट्ट** नामक ब्राह्मण ने विवाह कर, [फिर] किसी कारण से माता-पिता, स्त्री को छोड़, काशी में जाके, संन्यास ले लिया था[४] और झूठ बोला था कि मेरा विवाह नहीं हुआ। दैवयोग से उसके माता-पिता और स्त्री ने सुना कि काशी में संन्यासी हो गया है। उसके माता-पिता और स्त्री ने[५] काशी में पहुँचकर जिसने उसको संन्यास दिया था, उससे कहा कि ''इसको संन्यासी क्यों किया? देखो! इसकी यह स्त्री युवती है।'' और स्त्री ने कहा कि ''यदि आप मेरे पति को मेरे साथ न करें तो मुझको भी संन्यास दे दीजिये।''[६] तब तो उसको बुलाके [संन्यास-गुरु ने][७] कहा कि ''तू बड़ा मिथ्यावादी है, संन्यास छोड़, गृहाश्रम कर; क्योंकि तूने

---

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**गोसाईं**'' ''**गोसांई**'' ''**गुसांई**'' तो कहीं ''**गुसाईं**'' अव्यवस्थित वर्तनी है। बोलियों में ये सब वर्तनियां मिलती है। यहां '**गोसाँई**' वर्तनी गृहीत है। यही वर्तनी '**उपदेश मंजरी**' पृ० ६७ पर पाई जाती है। यह '**गोस्वामी**' का अपभ्रंश है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी सं० में यह अव्यवस्था है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**धूर्तता करते**'' अपक्रिया है, ''**धूर्तता करें**'' ठीक है। ऊपर ''**रचें**'' क्रिया के सम्बन्ध से ''**करें**'' क्रिया शुद्ध है।। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

३. **तैलंग देश**—यह आन्ध्र-कर्नाटक के कुछ क्षेत्रों का पुराना नाम है, जिसको 'तेलंगाना' कहा जाता था। इसी से आन्ध्र की भाषा का नाम तेलंग, तेलगु और 'तेलगू' हुआ। आन्ध्रप्रदेश से पृथक् होकर अब यह 'तेलंगाना' प्रदेश बन गया है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**लक्ष्मणभट्ट नामक ब्राह्मण विवाहकर,.....काशी में जाके, उसने संन्यास ले लिया था।**'' यहां '**ब्राह्मण ने**' प्रयोग अपेक्षित है और ''**उसने**'' अपप्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ और अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**और स्त्री काशी में पहुंचकर....उससे कहा....**''। ''**स्त्री ने**'' शुद्ध प्रयोग अभीष्ट है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में अपवाक्य है। ''**स्त्री ने सुना.....पिता और**'' पाठ पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है। मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश इसको त्रुटित छोड़ दिया था।

६. **ऋषि हस्तलेख**—''**और स्त्री ने.....दीजिये**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

झूठ बोलकर संन्यास लिया है।'' उसने[१] वैसा ही किया। संन्यास छोड़ उसके साथ हो लिया।

देखो, इस मत का मूल ही झूठ-कपट से चला।[२] जब तैलङ्ग देश में वे गये, उनको[३] जाति में किसी ने न लिया। वहाँ से निकलकर घूमने लगे। '**चरणारगढ**'[४] जो काशी के पास है, उसके पास '**चम्पारण्य**' जंगल में चले जाते थे। वहाँ कोई एक लड़के को जंगल में छोड़ चारों ओर दूर-दूर आगी जलाकर चला गया था; क्योंकि छोड़नेवाले ने यह समझा था कि जो आगी न जलाऊंगा तो अभी कोई जानवर[५] मार डालेगा। लक्ष्मणभट्ट और उसकी स्त्री ने लड़के को लेकर अपना पुत्र बना लिया। फिर काशी में जा रहे। जब वह लड़का बड़ा हुआ तब उसके मा-बाप का शरीर छूट गया। काशी में बाल्यावस्था से युवावस्था तक कुछ पढ़ता भी रहा, फिर और कहीं जाके एक विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हो गया। वहाँ से भी कुछ खटपट होने से काशी को फिर चला गया और संन्यास ले लिया। फिर, कोई वैसा ही जातिबहिष्कृत ब्राह्मण काशी में रहता था। उसकी लड़की युवती थी। उसने इससे कहा कि ''तू संन्यास छोड़ मेरी लड़की से विवाह कर ले।'' वैसा ही हुआ। जिसके बाप ने जैसी लीला की थी वैसी पुत्र क्यों न करे? उस स्त्री को लेकर वहीं चला गया कि जहाँ प्रथम विष्णुस्वामी के मन्दिर में चेला हुआ था। विवाह करने से उनको वहाँ से निकाल दिया। फिर व्रजदेश में कि जहाँ अविद्या ने घर कर रक्खा है, जाकर, अपना प्रपञ्च अनेक प्रकार की छल-युक्तियों से फैलाने लगा और मिथ्या बातों की प्रसिद्धि करने लगा कि श्रीकृष्ण मुझसे मिले और कहा है[६] कि ''जो गोलोक से 'दैवीजीव' मर्त्यलोक में आये हैं, उनको ब्रह्मसम्बन्ध आदि से पवित्र करके गोलोक में भेजो।'' इत्यादि प्रलोभन की बातें कहके थोड़े-से लोग अर्थात् ८४ चौरासी वैष्णव बनाये और निम्नलिखित मन्त्र बना लिये, उनमें भी भेद रक्खा, जैसे—

श्रीकृष्णः शरणं मम॥ १॥[७] **क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा॥ २॥**

[गोपालसहस्रनाम तथा पद्मपुराण (६) उत्तर खण्ड ७२।१२२]

ये दोनों साधारण मन्त्र हैं; परन्तु यह निम्नोक्त ब्रह्मसम्बन्ध और समर्पण का मन्त्र कहाता है—

श्रीकृष्णः शरणं मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहपराण्यात्मना सह समर्पयामि,

---

७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० उचित संगति के लिए बृहत् कोष्ठक में बढ़ाया पाठ आवश्यक है।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अप-पदवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उसने**'' के बाद ''**पुनः**'' पद-परिवर्धन असंगत है।

२. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**चला**'' क्रिया के स्थान पर ''**जमा**'' अपसंशोधन है। यहां मत के चलने का प्रसंग है, जमने का नहीं। यहां 'मूल' का अर्थ 'जड़' नहीं है, 'प्रारम्भ' है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उसको**'' अपप्रयोग है, बहुवचनात्मक प्रसंगानुसार '**उनको**' चाहिए।

४. **चरणागढ़**—यह गांव '**चुनार**' और '**चुनारगढ**' नाम से प्रसिद्ध है। यह मिर्जापुर और मुगलसराय के मध्य स्थित है। **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**चरणार्गढ़**'' अपवर्तनी है। 'उदयपुर' सं० आदि सभी सं० में भी अपवर्तनी है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**जानवर**'' सटीक पद के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० ''**जीव**'' पद रखना, मुद्रणलिपिकर द्वारा किया गया अनावश्यक संशोधन है।

६. **उचित संशोधन**—यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ स्पष्ट, पूर्ण है। मूलह०, मूलप्रति सं० में इतना ही पाठ है—''**कहने लगा कि मुझसे कृष्ण ने कहा है।**'' मुद्रणहस्त० में **ऋषिलिखित** ''**मुझसे**'' के स्थान पर ''**मुझको**'' व्यर्थ कर दिया है।

७. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—इस मन्त्र के बाद दोनों हस्त० में यह पाठ है—''**यह मन्त्र दरिद्रों के लिये बनाया, दूसरा**''

दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ॥[१]

इस मन्त्र का उपदेश करके शिष्य-शिष्याओं का समर्पण कराते हैं।[२] '**क्लीं कृष्णायेति**'—यह '**क्लीं**' तन्त्र ग्रन्थ का है। इससे विदित होता है कि यह वल्लभमत भी वाममार्गियों का भेद है। इसी से स्त्री-संग गोसाँईं लोग बहुत करते हैं।[३] '**गोपीवल्लभेति**'—क्या कृष्ण गोपियों को ही प्रिय थे, अन्यों[४] को नहीं? स्त्रियों को प्रिय वह होता है जो '**स्त्रैण**' अर्थात् स्त्रीभोग में फसा हो। क्या कृष्ण जी ऐसे थे?

अब '**सहस्त्रपरिवत्सरेति**'—सहस्त्र वर्षों की गणना व्यर्थ है; क्योंकि वल्लभ और उसके शिष्य सर्वज्ञ[५] नहीं हैं। क्या कृष्ण का वियोग सहस्त्र[६] वर्षों से हुआ, और आज लों अर्थात् जब लों वल्लभ का मत न था, न वल्लभ जन्मा था, उसके पूर्व अपने दैवी जीवों के उद्धार करने को क्यों न आया? 'ताप' और 'क्लेश' दोनों पर्यायवाची हैं। इनमें से एक का ग्रहण करना उचित था, दो का नहीं। 'अनन्त' शब्द का पाठ रखना व्यर्थ है, क्योंकि जो 'अनन्त' शब्द रक्खो तो 'सहस्त्र' का पाठ न रखना[७] चाहिये। और जो 'सहस्त्र' शब्द का पाठ रक्खो तो अनन्त शब्द का पाठ रखना सर्वथा व्यर्थ है। और जो अनन्तकाल लों 'तिरोहित' अर्थात् आच्छादित रहै, उसकी मुक्ति के लिये वल्लभ का होना व्यर्थ है, क्योंकि अनन्त का अन्त नहीं होता।

भला, देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण और उसके धर्म; स्त्री, स्थान, पुत्र, प्राप्त-धन का अर्पण कृष्ण को क्यों करना? क्योंकि कृष्ण पूर्णकाम होने से किसी के देहादि की इच्छा नहीं कर सकते। और देहादि का अर्पण करना भी नहीं हो सकता, क्योंकि देह के अर्पण से नखाग्र-शिखा-पर्यन्त[८] देह कहाता है,

---

यह पाठ है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में इसको हटाया गया है।

१. **गद्यभाग का अर्थ**—'श्रीकृष्ण ही मेरी शरण हैं। सहस्त्र वर्ष की अवधि बीत चुकी है, तब से और अनन्तकाल से कृष्ण के वियोग से उत्पन्न ताप=संताप, क्लेश=पीड़ा से मैं ग्रस्त हूं। भगवान् कृष्ण के लिए मैं अपने देह, इन्द्रियां, प्राण, अन्त:करण और उनकी सब क्रियाएं, स्त्री, घर, पुत्र, अर्जित धन, अन्य सभी सांसारिक पदार्थ अपनी आत्मा सहित समर्पित करता हूं। हे कृष्ण! मैं तेरा दास हूं।'

२. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**शिष्य-शिष्याओं को समर्पण कराते हैं।**" यहां '**को**' सम्प्रदान अर्थ में है जबकि ग्रन्थकार का आशय है कि शिष्य-शिष्याओं का गुरु के लिए सपर्पण कराते हैं। इस आधार पर यहां सम्प्रदान या सम्बन्धकारक "**का**" होना अभीष्ट है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में है।
संशोधन की पुष्टि—पृ० ६८१, ६८३ पर इसी भाव के कथन—"**अपने लिए समर्पित**", "**भार्यादि का समर्पण**"।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त वाक्य के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने अविचारित संशोधन किया है—"**स्त्री-संग गुसाईं लोग बहुधा करते हैं।**" इनके आचरण के संदर्भ में अधिकता प्रदर्शित करने के लिए "**बहुत**" पद सटीक है। ग्रन्थकार को यहां 'अनेक बार' कहना अभीष्ट नहीं है। यह लिपिकर पाठ परिवर्तन करते समय बहुधा गम्भीरता को त्याग देता है, पूर्वापर संदर्भों को भूल जाता है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अन्य**" एकवचन के स्थान पर '**अन्यों**' बहुवचन अपेक्षित है।

५. **अपप्रयोग**—आगे मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**कुछ सर्वज्ञ**" में "**कुछ**" पद निरर्थक बढ़ाया है।

६. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—द्विप्र० में "**सहस्त्रों**" अपप्रयोग है। दोनों हस्त०, द्वि०सं० में "**हजार/ सहस्त्र**" शुद्ध है।

७. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**करना**" अपक्रिया है, यहां अग्रिम क्रियाप्रयोगों के सम्बन्ध से "**रखना**" क्रिया उपयुक्त है। द्वि० सं० में उत्तरार्ध वाक्य संशोधित है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**नखशिखाग्रपर्यन्त**" अपप्रयोग है, यह "**नखाग्रशिखापर्यन्त**" अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० में अपप्रयोग है। 'उदयपुर' सं० ने "**नख, शिखाग्र पर्यन्त**" इस एक पद में 'नख' के बाद अल्पविराम लगाकर

उसमें[१] जो कुछ अच्छा-बुरा वस्तु है,[२] [जैसे][३] मल-मूत्रादि का भी अर्पण कैसे कर सकोगे ? और जो पाप-पुण्यरूप कर्म होते हैं, उनको कृष्णार्पण करने से उनका फलभागी भी कृष्ण ही होवे। अर्थात् नाम तो कृष्ण का लेते हैं और अर्पण अपने लिये[४] कराते हैं। जो कुछ शरीर में मलमूत्रादि होता है, वह भी गोसाँई जी के अर्पण क्यों नहीं होता ? 'क्या मीठा-मीठा गड़प्प और कड़ुवा कड़ुवा थू' ? और यह भी लिखा है कि गोसाँई जी के अर्पण करना, अन्य मत-वाले के नहीं। यह सब मतलब-सिन्धुपन [है] और पराये धनादि पदार्थ हरने, वेदोक्त धर्म का नाश करने की लीला रची है।[५] देखो, यह **वल्लभ** की लीला[६] है—

श्रावणस्यामले पक्षे, एकादश्यां महानिशि। साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥ १॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः। सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥ २॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः। संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन॥ ३॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन। असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्॥ ४॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः। न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तिसमर्पणम्॥ ५॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्। दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥ ६॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्। सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति॥ ७॥
तथा कार्य्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः। गङ्गात्वे गुणदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम्॥ ८॥[७]

अपने सम्पादन को दोषपूर्ण और हास्यास्पद बना दिया है।

१-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में "**उनमें**" अपप्रयोग है, एक शरीर के लिए "**उसमें**" अभीष्ट है। दोनों सं० में महर्षि की स्थापित प्रयोग शैली के विरुद्ध "**अच्छी-बुरी वस्तु**" स्त्रीलिंग प्रयोग है। यहां पुंल्लिंग प्रयोग अभीष्ट है और "**वस्तु है**" के बाद पूर्णता के लिए '**जैसे**' पद परिवर्धन अपेक्षित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**अपने से कराते हैं**" अपप्रयोग है, जो भिन्नार्थ को प्रकट कर रहा है। यहां "**अपने लिये कराते हैं**" उपयुक्त प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित है।

५. **उचित पद परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**लीला रची है**" में "**रची**" क्रियापद का परिवर्धन उचित एवं ग्राह्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**लीला**" पद के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**प्रपञ्च**" पद परिवर्तित किया है। अर्थ में कोई वैशिष्ट्य नहीं है, अतः अग्राह्य है। 'लीला' पद अधिक सटीक है।

७. **श्लोकार्थ**—'(सहस्र वर्ष पूर्व) श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पवित्र रात्रि में भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार होने पर जो कुछ मुझे उन्होंने कहा, वह अक्षरशः बताया जाता है—। १। सब मनुष्यों द्वारा गोसाँई-गुरु का ब्रह्मसम्बन्ध= शरीर और सर्वपदार्थों का अर्पण करने से उनके शरीर और आत्मा के सब दोष मिट जाते हैं। वे दोष पांच प्रकार के हैं—। २। सहज=स्वाभाविक, देशकाल से उत्पन्न, लोक और शास्त्रों में वर्णित, संगदोष से उत्पन्न, स्पर्श से उत्पन्न। ३। इससे भिन्न, दोष दूर करने का, कोई मार्ग नहीं है। अतः गुरु को समर्पित किये बिना किसी भी पदार्थ का उपभोग न करे। ४। गुरु को समर्पित करने के बाद ही प्रत्येक पदार्थ का उपभोग-उपयोग करे। अपने उपभोग करने के बाद स्वामी को पदार्थों का समर्पण करना 'समर्पण' नहीं माना जाता। ५। इसलिए प्रत्येक कार्य में सबसे पहले सब वस्तुओं का समर्पण गोसाँई जी को करे इसी प्रकार हरि के दिये पदार्थ पहले हरि को देकर पश्चात् उपयोग में लाये। ६। दूसरे मत के उपदेश का एक वाक्य भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, गोसाँई के अनुयायियों के लिए यही व्यवहार विहित है। ७। इस प्रकार सब जड़-पदार्थों का समर्पण करके उसमें ब्रह्मता=ब्रह्मसम्बन्ध की बुद्धि करे अर्थात् उसको 'ब्रह्म से हुआ सम्बन्ध' माने। गंगात्व के सिद्धान्त के आधार पर गुण-दोषों का निर्णय और वर्णन करे अर्थात् जैसे गंगा में जो नदी मिल जाती है वह भी पवित्र गंगा बन जाती है, उसी प्रकार जो गोसाँई मत से सम्बन्धित है वह गुणयुक्त है और अन्य सब दोषयुक्त है अर्थात् अपवित्र है।८।

ये श्लोक गोसाँइयों के '**सिद्धान्तरहस्य**'-आदि ग्रन्थों में लिखे हैं। यही गोसाँइयों[१] के मत का मूल तत्त्व है। भला, कोई पूछे कि **श्री कृष्ण का**[२] **देहान्त हुए कुछ कम पाँच सहस्र वर्ष बीते हैं।**[३] वे[४] वल्लभ से[५] श्रावण मास की आधी रात को कैसे मिल सके? ॥ १ ॥

'जो गोसाँई का चेला होता है और उसको सब पदार्थों का समर्पण करता है, [उससे][६] उसके शरीर और जीव के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है।' वल्लभ का यही प्रपञ्च मूर्खों को बहकाकर अपने मत में लाने का है। जो गोसाँई के चेले-चेलियों के सब दोष निवृत्त हो जायें, तो रोग-दारिद्र्यादि दुःखों[७] से पीड़ित क्यों रहैं? और वे दोष पाँच प्रकार के होते हैं॥ २ ॥

एक—सहजदोष अर्थात् जो स्वाभाविक काम-क्रोधादि से उत्पन्न होते हैं।

दूसरे—किसी देश, काल में नाना प्रकार के पाप किये जायें।

तीसरे—लोक में जिनको भक्ष्याभक्ष्य कहते और वेदोक्त जो कि मिथ्याभाषणादि हैं।

चौथे—संयोगज=जो बुरे सङ्ग अर्थात् चोरी, जारी, माता, भगिनी, कन्या, पुत्रवधू, गुरुपत्नी आदि से संयोग करना।

पाँचवें—'स्पर्शज=अस्पर्शनीयों का[८] स्पर्श करना। इन पाँच दोषों को गोसाँइयों के मतवाले कभी न मानें अर्थात् यथेष्टाचार करें'॥ ३ ॥

'अन्य कोई प्रकार दोषों की निवृत्ति के लिये नहीं है, विना गोसाँई के मत के। इसलिये विना समर्पण किये पदार्थों[९] को गोसाँइयों के चेले न भोगें।'॥ ४ ॥ इसीलिये इनके चेले अपनी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू और धनादि पदार्थों को भी समर्पित करते हैं। परन्तु 'समर्पण का नियम यह है कि जब लों गोसाँई जी की चरणसेवा में समर्पित न हो, तब लों उसका स्वामी स्वस्त्री का स्पर्श न करे।'

'इससे गोसाँइयों के चेले समर्पण करके अपने-अपने पदार्थों का भोग करें',[१०] क्योंकि स्वामी के

१-२. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में ''**गोसाँई**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, द्वि० सं० में ''**गोसाँइयों**'' संशोधित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**श्रीकृष्ण के**'' स्थान पर ''**श्रीकृष्ण का**'' प्रयोग उपयुक्त है।

३-४. **त्रुटित एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**बीते**'' के बाद ''**हैं**'' क्रिया त्रुटित है। आगे ''**वह**'' अपप्रयोग है, '**वे**' बहुवचनान्त अपेक्षित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद और कुछ सं० में पाठान्तर**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह पाठ मिलता है—''**वह वल्लभ श्रावण मास.....कैसे मिल सके।**'' सभी पाठों में ''**वल्लभ**'' पद के बाद कारक लुप्त है। मूलसं० ने यहां ''**को**'' कारक जोड़ा है। इस सं० में, पृष्ठ ६७७ पर स्वयं ऋषिलिखित '**से**' स्वीकृत है। इसका भाव यह है कि 'जो कृष्ण पांच हजार वर्ष पूर्व स्वर्गवासी हो चुके हैं वे वल्लभ से कैसे मिल सके।' **संशोधन-पुष्टि**—पुष्टि के लिए द्रष्टव्य है पृ० ६७७ पर ''**प्रसिद्धि करने लगा कि श्रीकृष्ण मुझसे मिले.....।**'' अर्थात् श्रीकृष्ण के मुझको साक्षात् दर्शन हुए। यहां श्रीकृष्ण का प्रयोजन सिद्ध होता है। **यह ऋषि के हस्तलेख में लिखा वाक्य है।**

'उदयपुर' सं० ने यहां 'से' कारक-प्रत्यय रखा है जिसका अर्थ हुआ कि श्रीकृष्ण अपने प्रयोजन से आये और वल्लभ से मिले। यहां श्रीकृष्ण का प्रयोजन प्रकट होता है। यद्यपि भाव में कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु पाठान्तर तो हो ही गया है।

६-७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उससे**' पद त्रुटित रह गया है, वाक्य की संगति के लिए आवश्यक है। इस पद से पूर्व ''**कर्त्ता**'' अपप्रयोग किया है। आगे '**दुःखों**' पद मूलप्रति सं० में अभीष्ट है, द्वि० सं० में है और ग्राह्य है।

८-९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर क्रमशः ''**को**'' और ''**पदार्थ**'' अपप्रयोग हैं, यहां '**का**' और '**पदार्थों**' प्रयोग अभीष्ट हैं। यही दोनों अपप्रयोग 'उदयपुर' सं० में विद्यमान हैं।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित उपर्युक्त वाक्य

भोग के पश्चात् समर्पण नहीं हो सकता॥५॥

'इससे प्रथम, सब कामों में सब वस्तुओं का समर्पण करें। प्रथम गोसाँई जी को भार्यादि का समर्पण करके पश्चात् ग्रहण करें, वैसे ही हरि के दिये[१] सम्पूर्ण पदार्थ समर्पण करके ग्रहण करें'॥६॥

'गोसाँई के मत से भिन्न-मार्ग के वाक्य-मात्र को भी[२] गोसाँइयों के शिष्य कभी न सुनें,[३] न ग्रहण करें, यही उनके शिष्यों का व्यवहार प्रसिद्ध है'॥७॥

'वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सबके बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। उसके पश्चात् जैसे गंगा में अन्य जल मिलकर गंगारूप हो जाते हैं, वैसे ही अपने मत के [दोषों को भी गुण और दूसरे मत के [गुणों को भी] दोष [मानकर उन] का वर्णन किया करें'[४]॥८॥

अब देखिये[५] कि गोसाइयों का मत सब मतों से अधिक अपना प्रयोजन सिद्ध करनेहारा है। भला, इन गोसाँइयों को कोई पूछे कि ब्रह्म का एक लक्षण भी तुम नहीं जानते तो शिष्यों[६] और शिष्याओं का[७] ब्रह्मसम्बन्ध कैसे करा सकोगे ?[८] जो कहो कि हम ही ब्रह्म हैं, हमारे साथ सम्बन्ध होने से ब्रह्मसम्बन्ध होता है; तो तुममें ब्रह्म का गुण-कर्म-स्वभाव एक भी नहीं है, पुनः क्या तुम केवल भोग-विलास के लिये ब्रह्म बने हो ?

भला, शिष्यों[९] और शिष्याओं को तो तुम अपने लिये समर्पित करके शुद्ध करते हो और तुम और तुम्हारी भार्या, कन्या, पुत्रवधू तथा पुत्रादि असमर्पित रहने से अशुद्ध रह गये वा नहीं ? जो असमर्पित वस्तु को अशुद्ध मानते हो तो तुम अशुद्ध क्यों नहीं ?[१०] इसलिये तुम और तुम्हारी भार्या और पुत्रादि

अधिक स्पष्ट एवं ग्राह्य है। मूलप्रति सं० का वाक्य है—''**अपना अपना भोग करें।**''

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**हरि के**'' पाठ के स्थान पर '**हरि के दिये**' पाठ अधिक उपयुक्त है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस वाक्य में ''**वाक्य को**'' के स्थान पर ''**वाक्यमात्र को भी**'' उपयुक्त पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-पाठपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के अन्तिम अंश का परिवर्तन अनावश्यक एवं रचनात्मक दृष्टि से अशुद्ध है—''**चेला-चेली कभी न सुनें।**'' यहां 'शिष्य' के अर्थ में 'शिष्या' का भी अन्तर्भाव है।

४. **अस्पष्ट एवं अपपाठ**—दोनों हस्त० व द्विप्र० में यह पाठ अस्पष्ट है। द्वितीय सं० में यही पाठ छप रहा है—''**वैसे ही अपने मत के गुण और दूसरे के मत में दोष हैं इसलिये अपने मत में गुणों का वर्णन किया करें।**'' इससे मूलप्रति सं० का पाठ कुछ स्पष्ट है—''**वैसे ही अपने मत के गुणों और दूसरे मत के दोषों का वर्णन किया करें।**'' वैसे यह पाठ भी मूल श्लोक तथा ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल नहीं है। उपर्युक्त पाठ-संशोधन वांछनीय है। अन्य सभी द्वि०सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में उक्त अशुद्ध अर्थ है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**लीजिये**'' पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**देखिये**'' पाठ ग्राह्य है।

६-७, ९. **त्रुटित एवं अपपद**—द्वि० सं० में इस वाक्य में ''**शिष्य**'' अपप्रयोग है, '**शिष्यों**' अपेक्षित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**शिष्याओं**'' पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है। देखिए, अग्रिम अनुच्छेद में यही प्रयोग है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा उचित-परिवर्तन**—''**ब्रह्मसम्बन्ध कैसे करा सकोगे**'' मुद्रणप्रति में उचित परिवर्तन है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ है—''**कर सकोगे**''।

१०. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर अधिकांशतः बिना विचारे, भंगेड़ी की तरह पाठ का परिवर्तन कर देता है उसका एक उदाहरण यह पाठ है। यहां यह वाक्य बनाया है—''**तुम्हारी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू----उनसे उत्पन्न हुए तुम लोग अशुद्ध क्यों नहीं ?**'' यहां बिना विचारे व्यर्थ में ही ''**उनसे उत्पन्न हुए तुम लोग**'' पाठ बढ़ा दिया। उस मूर्ख से कोई पूछे कि अपनी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू से पति आदि जन कैसे उत्पन्न होंगे ? जबकि मूलह०, मूलसं० का महर्षिप्रोक्त शुद्ध है।

पाठ-संशोधन में विद्वानों की असावधानी—स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० भगवद्दत्त जी, 'उदयपुर सं०' के सम्पादक कथित दस विद्वान् इस हास्यास्पद पाठ को संशोधन करने से चूक गये। सभी के सं० में यह हास्यास्पद भ्रष्टपाठ विद्यमान है। मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्तित ऐसे-ऐसे अपपाठों से सत्यार्थप्रकाश के सटीक पाठ भ्रष्ट हुए हैं। यहां मूलप्रति सं० का पाठ ही ग्राह्य है, मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० का भ्रष्टपाठ नहीं।

उदयपुर सं० का महर्षिविरुद्ध और बेतुका हठपूर्ण उत्तर—एक लेख में मैंने यह लिखा था कि यहां मूलहस्त० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है, उसको ग्रहण कर लेना चाहिए था, क्योंकि मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने उसको इस प्रकार परिवर्तित किया है कि वह महाभ्रष्ट हो गया। उसकी यह शब्दावली भ्रष्ट अर्थ दे रही है—''**तुम्हारी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू, आदि असमर्पित रह जाने से अशुद्ध रह गये वा नहीं ?.....पुनः उनसे उत्पन्न हुए तुम लोग अशुद्ध क्यों नहीं ?**'' यह शब्दावली यहां यह अनर्थ प्रकट कर रही है कि 'स्त्री, कन्या, पुत्रवधू से उत्पन्न हुए तुम लोग अशुद्ध क्यों नहीं।' जबकि अपनी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू से उत्पन्न कोई नहीं होता। शुद्ध और सार्थक वाक्य वही होता है जो अपने अभीष्ट और पूर्ण अर्थ को स्वयं प्रकट करता है। शब्दों से भिन्न अर्थ यदि कोई निकालता है तो इसका अभिप्राय है कि वहां शब्द और अर्थ में असम्बद्धता है। ऐसे तो दुनिया में न कोई अपशब्द माना जायेगा और न अशुद्ध वाक्य, क्योंकि किसी भी वाक्य से अपना अभीष्ट भाव निकाला जा सकता है। यही खींचातानी उदयपुर सं० के लेखकों ने यहां उत्तर देते समय की है। वाक्य के शब्दों में उनका बताया अर्थ है ही नहीं, अपना कपोलकल्पित अर्थ बनाया है। **पहला लेखक** लिखता है कि यहां यह आशय है कि 'माता से सब उत्पन्न होते हैं।' जबकि वाक्य के शब्दों में यह भाव है ही नहीं। **दूसरा, तीसरा, चौथा लेखक** कहता है कि यहां ''तुम'' से अभिप्राय 'गुसाईं' लोगों से है। तो फिर प्रश्न होता है कि गुसाईं कोई अपनी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू से उत्पन्न थोड़े ही होंगे ? यहां ''**अपनी**'' और ''**तुम**'' स्पष्ट पद हैं जिनके रहते अन्य कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता। मुद्रणलिपिकर की अशुद्धि को शुद्ध सिद्ध करने के लिए उदयपुर सं० के चारों लेखक जोर लगा रहे हैं। **यदि सीधे तौर पर मूलह० के महर्षिप्रोक्त लेख को स्वीकार कर लेते तो सारी समस्या अपने आप समाप्त हो जाती।** उन्होंने यहां केवल अपने हठ का प्रदर्शन किया है।

ये कैसे ऋषिभक्त लेखक हैं ?—यहां मेरा न कोई संशोधन है, न परिवर्तित पाठ है। जो कुछ है महर्षि का है। उदयपुर सं० के लेखकों ने इस पाठ को लेकर जो आलोचना, निन्दा की है वह मेरी नहीं, महर्षि की की है और महर्षि की तुलना में मूर्ख मुद्रणलिपिकर के पाठ का समर्थन करके उसको महर्षि से भी विद्वान् सिद्ध किया है। पाठकगण विचारें कि ये कैसे ऋषिभक्त लेखक हैं जो महर्षि द्वारा प्रोक्त शुद्ध पाठ का तो तिरस्कार कर रहे हैं और मुद्रणलिपिकर के अशुद्ध पाठ का समर्थन कर रहे हैं ? जब अन्य दो सौ पाठ इन्होंने मूलहस्त० के ग्रहण कर लिये हैं तो इस शुद्ध पाठ को ग्रहण करने में दुराग्रह क्यों ? क्या इसलिए कि एक बार उन्होंने जो स्वीकार कर लिया अब उस अशुद्ध को भी अहंकार वश नहीं छोड़ना है ? विडम्बना देखिए, महर्षिप्रोक्त पाठ की भरपूर निन्दा करके भी ये 'ऋषिभक्त' होने का दावा कर रहे हैं ? महर्षिप्रोक्त पाठ के विरुद्ध निन्दा-आलोचना के लेखों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित-वितरित करके 'सत्यार्थप्रकाश न्यास' गर्व और गौरव का अनुभव कर रहा है ! फिर भी वह स्वयं को ऋषिभक्त कह रहा है ! ऋषि की निन्दा-आलोचना में धन का अपव्यय करना, क्या न्यास का दुरुपयोग नहीं है ?

तो क्या ऋषि दयानन्द भी जीर्ण जुकाम के रोगी थे ?—मैंने मुद्रणलिपिकर द्वारा किये गये उक्त भ्रष्ट पाठ की समीक्षा में उसके घिनौनेपन पर यह शब्दावली लिखी थी—''**छिः ! छिः !! छिः !!! कोई अपनी स्त्री, कन्या, पुत्रवधू से स्वयं उत्पन्न होता है क्या ?**'' इस भाषा पर घृणित कटाक्ष करके **पहले** और **चौथे** लेखक ने खुशफहमी में यह मान लिया कि 'हमने विपक्षी लेखक पर बहुत बड़ा तीर चला दिया है।' **पहले लेखक** ने मेरे लिए लिखा—''आप घृणापूर्वक तीन बार छिः छिः लिखकर विद्वानों को अपना माथा पीटने की सलाह देते हैं। यह छिः छिः तो जुकाम का रोगी किया करता है जिसके मस्तिष्क में कफ भर जाता है।'' **चौथा लेखक** और अधिक असभ्यता व वैमनस्य के साथ लिखता है—''प्रतीत होता है कि डॉ० महोदय को नासागत श्लेष्मा के कारण जीर्ण प्रतिश्याय का रोग है, जिससे उनको छिः छिः करना पड़ता है।''

खुशफहमी के शिकार इन लेखकों को मैं बता दूं कि गुसाँइयों के इसी घिनौने प्रसंग पर कुछ पंक्ति आगे ही (उदयपुर सं० ३६७ पृ० पर) महर्षि ने यही शब्दावली प्रयुक्त की है—''**छिः ! छिः !! छिः !!! ऐसे गोलोक से मर्त्यलोक ही बिचारा भला है।**'' तो उदयपुर सं० के लेखको ! आपके अनुसार तो ऋषि दयानन्द को भी जीर्ण प्रतिशाय या जुकाम का रोग था। उनके मस्तिष्क में भी कफ भरा था। एक टिप्पणी यह भी दे दो, अष्टाध्यायी का मूल श्लोकात्मक रूप सिद्ध करने की तरह। यह भी आपकी नई खोज मानी जायेगी कि आपने भाषा से ऋषि के रोग को पहचान लिया। भाषा ज्ञान का अभिमान करने वाले ये लेखक यह भी भूल गये कि घृणा प्रदर्शित करने के लिए ''छिः छिः'' भावबोधक प्रयोग है, जुकाम जानने का साधन नहीं। पाठकगण ! देख लिया आपने उदयपुर सं० के सम्पादकों-लेखकों का स्वाध्याय और भाषा ज्ञान ? उन्हें यहीं नहीं पता कि इस प्रसंग में स्वयं महर्षि दयानन्द ने इस शब्दावली का प्रयोग किया है। अविचारित रूप से धूल में लठ चलाने पर कभी-कभी स्वयं को अथवा अपने पक्ष के ही व्यक्ति को वह लठ लग जाया करता है, जैसे इनका यह घृणित कटाक्ष ग्रन्थकार ऋषि पर ही जाकर लगा है। बिना सावधानी के जो आसमान पर थूकता है, वह उलटा उसके मुंह पर इसी प्रकार आकर गिरता है।

अन्य के लिये समर्पित होने चाहियें वा नहीं ?[१] जो कहो कि नहीं, तो अन्य को अपने लिये समर्पित क्यों करते हो ? **इसलिये तुमको उचित है कि वेदमत को मानो और मिथ्या प्रपञ्चादि बुराइयों को छोड़ो, जिससे इस लोक और परलोक की शुद्धि होकर आनन्द पाओ।**

ये अपने सम्प्रदाय को '**पुष्टिमार्ग**' कहते हैं अर्थात् खाना-पीना, पुष्ट होना, सब स्त्रियों से यथेष्ट भोग-विलास करना। परन्तु जब भगन्दरादि रोग हो जाते हैं तो यही मत साक्षात् नरक-मार्ग हो जाता है। **बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे-ऐसे पशुवत् क्रीड़ा करनेवालों का भी मत संसार में चल जाता है।** कहाँ तक लिखें, इनकी सब लीलायें ऐसी ही शास्त्रविरुद्ध [और] पापवर्द्धक हैं।[२]

इसी प्रकार मिथ्याजाल रचके बेचारे भोले मनुष्यों को जाल में फसाया [करते हैं][३] और अपने आपको श्री कृष्ण मानकर सबके स्वामी मानते हैं। यह कहते हैं कि ''जितने दैवी जीव गोलोक से आये हैं, उनका उद्धार करने के लिये हम लीला पुरुषोत्तम जन्मे हैं। जब तक[४] हमारा उपदेश न ले तब तक[५] गोलोक की प्राप्ति नहीं होती। वहाँ एक श्री कृष्ण पुरुष और सब स्त्रियाँ हैं।''

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनः भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य को इस प्रकार बदला-बढ़ाया है—''**इसलिये तुमको भी उचित है कि अपनी स्त्री, कन्या तथा पुत्रवधू आदि को अन्य मत-वालों के साथ समर्पित कराया करो।**'' यहां संशोधन के प्रवाह में लिपिकर '**तुम**' पद को छोड़ गया। ''**अन्य मत वालों**'' प्रयोग अप्रासंगिक रूप से जोड़ दिया जबकि अन्य किसी मत में समर्पण का नियम नहीं है। यहां ग्रन्थकार का भाव यह है कि तुम अपनी आर्या आदि को अपने मत के अन्य किसी व्यक्ति के लिए समर्पित किया करो तभी तुम और तुम्हारा परिवार शुद्ध माना जायेगा। लिपिकर ने ग्रन्थकार के भाव को बिना समझे यह संशोधन कर डाला। यहां मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ उपयुक्त है, द्वि०सं०, उदयपुर आदि का असंगत है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठविस्तार**—मुद्रणलिपिकर ने ''**जो कहो कि नहीं.....पापवर्धक हैं**'' तक पाठ के स्थान पर सभी वाक्यों को बदलकर एक नया पाठ बनाया है जो विस्तारित पाठ है। पाठक देखेंगे कि महर्षिप्रोक्त पंक्तियों में जो भावगाम्भीर्य, भाषा की सहजता, संक्षिप्तता, सुगठन है वह लिपिकर की भाषा में नहीं। लिपिकर की भाषा ऊपरी दृष्टि से आकर्षक होते हुए भी अतिशयोक्ति और पुरुक्तिपूर्ण, अगम्भीर, शिथिल, विशेषण बहुल, आलंकारिक और काल्पनिक-सी है। महर्षि जिस बात को एक वाक्यांश या वाक्य में कह देते हैं, लिपिकर उस बात को कई वाक्यों में स्पष्ट कर पाता है।

इस अनुच्छेद में लिपिकर या शोधक ने अनुप्रास शैली में '**पुष्टिमार्ग**' को **कुष्ठिमार्ग** लिखा है। सुनने में यह आलंकारिक वाक्य अच्छा लगता है जबकि यह महर्षि के वर्णन के अनुकूल नहीं है। मूलहस्तलेख में ''**खाना-पीना, पुष्ट होना, यथेष्ट विलास करना और भगंदर आदि रोग होना**'' कहकर '**पुष्टि मार्ग**' पर कटाक्ष किया है जबकि मुद्रणलिपिकर **कुष्ठ रोग** से तुलना कर रहा है। यह तुलना इसलिए ग्राह्य नहीं, क्योंकि '**पुष्टि मार्ग**' का दुष्परिणाम कुष्ठ नहीं, प्रमेह, भगन्दर आदि रोग बताये हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्ग के उपदेश का और स्वर्ग-नरक की परिभाषा का यहां कोई प्रसंग ही नहीं है। यहां केवल प्रपञ्च और बुराइयों को छोड़ वेदमत अपनाने का कथन करने का प्रयोजन है। मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि०सं० और उदयपुर सं० आदि का परिवर्तित-विस्तारित पाठ यह है—

''जो कहो कि नहीं-नहीं, तो तुम भी अन्य स्त्री पुरुष धनादि पदार्थों को समर्पित करना कराना छोड़ देओ। भला अब लों जो हुआ सो हुआ परन्तु अब तो अपनी मिथ्या प्रपञ्चादि बुराइयों को छोड़ो और सुन्दर ईश्वरोक्त वेदविहित सुपथ में आकर अपने मनुष्यरूपी जन्म को सफल कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुष्टय फल को प्राप्त होकर आनन्द भोगो।''

और देखिये! ये गोसाईं लोग अपने सम्प्रदाय को 'पुष्टि' मार्ग कहते हैं अर्थात् खाने, पीने, पुष्ट होने और अब सब स्त्रियों के संग यथेष्ट भोग विलास करने को पुष्टिमार्ग कहते हैं परन्तु इनसे पूछना चाहिये कि जब बड़े दुःखदायी भगंदरादि रोगग्रस्त होकर ऐसे झींक-झींक मरते हैं कि जिसको ये ही जानते होंगे। सच पूछो तो पुष्टिमार्ग नहीं किन्तु कुष्ठिमार्ग है। जैसे कुष्ठी के शरीर की सब धातु पिघल-पिघल कर निकल जाती हैं और विलाप करता हुआ शरीर छोड़ता है ऐसी ही लीला इनकी भी देखने में आती है। इसलिये नरकमार्ग भी इसी को कहना संघटित हो सकता है। क्योंकि दुःख का नाम नरक और सुख का नाम स्वर्ग है।''

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में वाक्यपूर्त्यर्थ बृहत् कोष्ठकान्तर्गत क्रिया चाहिए।

४-६ **मुद्रणलिपिकर द्वारा ग्राम्य और अनावश्यक परिवर्तन**—इस वाक्य के सुन्दर पाठ ''**जब तक, तब तक**'' को बदलकर

वाह जी वाह! अच्छा मत है!![६] गोसाँइयों के जितने चेले हैं, वे सब गोपियाँ बन जावेंगी। भला, जिस एक पुरुष की दो स्त्रियां हैं,[१] उसकी बड़ी दुर्दशा होती है, तो जहाँ एक पुरुष और करोड़ों स्त्रियां एक के पीछे लगी हैं, उसके दुःख का पार नहीं।[२] जो कहो कि श्री कृष्ण में बड़ा[३] सामर्थ्य है, सबको प्रसन्न करते हैं तो जो उसकी स्त्री जिसको '**स्वामिनी जी**' कहते हैं, उसमें भी श्री कृष्ण के तुल्य सामर्थ्य होगा, क्योंकि वह उनकी अर्धांगिनी[४] है। जैसे यहाँ स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुष से स्त्री की अधिक होती है, तो गोलोक में क्यों नहीं? जब ऐसा है तो अन्य स्त्रियों और '**स्वामिनी जी**' की अत्यन्त लड़ाई भी होती होगी, क्योंकि सपत्नीभाव बहुत बुरा होता है। पुनः गोलोक स्वर्ग के बदले नरकवत् हो गया होगा। अथवा जैसे बहुत स्त्रीगामी पुरुष भगन्दरादि रोगों से पीड़ित रहता है, वैसा गोलोक में भी होगा। ऐसे गोलोक से मर्त्यलोक ही अच्छा है।[५]

देखो, जैसे यहाँ गोसाँई लोग अपने को कृष्ण मानते हैं, बहुत स्त्रियों के संग से भगन्दर, प्रमेहादि रोगों से पीड़ित हैं[६] तो अब जिनके[७] स्वरूप गोसाँई पीड़ित होते हैं, तो गोलोक का स्वामी श्री कृष्ण इन रोगों से पीड़ित क्यों नहीं होगा? और जो नहीं है, तो उनके[८] स्वरूप गोसाँई पीड़ित क्यों होते हैं?

प्रश्न—मर्त्यलोक में लीलावतार धारण करने से रोग-दोष होता है, गोलोक में नहीं, क्योंकि वहाँ रोग-दोष नहीं।

उत्तर—'**भोगे रोगभयम्**' [वैराग्यशतक, श्लोक ३३]=जहाँ भोग है, वहाँ रोग अवश्य होता है। और श्री

मुद्रण-लिपिकर ने अपनी बोली का ''**जब लों--तब लों**'' ग्राम्य पाठ बना दिया। यही द्वि० सं० में है। आगे, व्यंग्यात्मक ''**भला तुम्हारा मत है।**'' अपपाठ बना दिया क्योंकि व्यंग्यार्थ में '**भला**' पद प्रयुक्त नहीं होता '**अच्छा**' होता है।

संशोधन-पुष्टि—यह विस्तार और कुष्ठिमार्ग से तुलना ग्रन्थकार का अभिमत नहीं है, इसकी पुष्टि अग्रिम पृष्ठ के कथनों से होती है। वहां दो बार इसके परिणाम भगंदर, प्रमेह आदि रोग लिखे हैं, कुष्ठ रोग नहीं। आयुर्वेद की दृष्टि से भी विलासिता का दुष्परिणाम प्रमेह आदि रोग हैं, कुष्ठरोग नहीं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**दो स्त्री हैं**'' अपप्रयोग है, '**दो स्त्रियां हैं**' बहुवचन चाहिए। यही अपप्रयोग 'उदयपुर' सं० में है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ६७४ पर शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य हैं—''**दो स्त्रियां थी**'', ''**दोनों स्त्रियों के साथ**''।

२-३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—यहां मूलह०, मूलप्रति के ''**दुःख का पार नहीं**'' पाठ के स्थान पर मुद्रणह० द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उसके दुःख का क्या पारावार है?**'' अनावश्यक, अशुद्ध पाठ बनाया है। यह असंगत प्रयोग है। इसी प्रकार आगे ''**बड़ा सामर्थ्य**'' के स्थान पर ''**बड़ा भारी सामर्थ्य**'' पाठ अनावश्यक बदला है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अर्धांगी**'' अपप्रयोग है। इसका अर्थ है—'**आधे शरीर वाला** अर्थात् लकवा आदि रोगपीड़ित। यहां '**अर्धांगिनी**' स्त्रीलिंग प्रयोग अभीष्ट है। बड़े खेद के साथ लिखना पड़ रहा है कि सभी विद्वानों के सं० और कथित दश विद्वानों के 'उदयपुर' सं० में भी यह अशुद्धि विद्यमान है।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अनावश्यक परिवर्तन**—इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने कहानी शैली में यह पाठ बनाया है—''**छि! छि!! छि!!! ऐसे गोलोक से मर्त्यलोक ही बिचारा भला है।**'' देखिए, जड़ पदार्थ '**लोक**' भी बिचारा होने लगा!! चेतन प्राणी तो अब तक होते ही थे। ''**भला**'' भी अपप्रयोग है, क्योंकि ''**अच्छा**'' श्रेष्ठतावाचक है, ''**भला**'' गुणवाचक।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पदवर्धन**—मुद्रण-लिपिकर ने इस वाक्य को इस प्रकार बढ़ाया है—''**पीड़ित होकर महादुःख भोगते हैं**'' जबकि इसी वाक्य में आगे भी तीन बार केवल 'पीड़ित होने' का ही उल्लेख है। यहां भी मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**पीड़ित हैं**'' उचित पाठ है। भोगने की कल्पना लिपिकर को पता नहीं क्यों आ गई? यही अनावश्यक पाठ द्वि०सं० में है।

७-८. **मुद्रणप्रति में अपपाठ एवं अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में वचन की दृष्टि से अव्यवस्थित वाक्य रचना है। पहले वाक्यांश में एकवचन है—''**पीड़ित होता है**''। दूसरे में बहुवचन है—''**पीड़ित क्यों होते हैं?**'' पहले वाक्यांश में भी ''**जिनका**'' पद के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है। आगे, दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर ''**जिनका**'' ''**उनका**'' अपप्रयोग हैं, '**जिनके**' ''**उनके**' चाहिएं। भाषा की यही अव्यवस्था 'उदयपुर' सं० आदि में है।

कृष्ण के करोड़ों-करोड़ों स्त्रियों से सन्तान होते हैं, वा नहीं? जो होते हैं तो लड़के-लड़के होते हैं वा लड़कियां-लड़कियां[१]? अथवा दोनों? जो लड़कियां-लड़कियां[२] होती हैं तो उनका विवाह किनके साथ होता होगा? क्योंकि वहाँ दूसरा कोई पुरुष नहीं। जो दूसरा है तो तुम्हारी प्रतिज्ञा-हानि हुई। और जो कहो लड़के ही लड़के होते हैं, तो भी यही दोष आन पड़ेगा कि उनका विवाह कहाँ और किनके साथ होता है?[३] अथवा घर में ही वर्त लेते हैं?[४] अन्य के लड़के हैं तो भी तुम्हारी प्रतिज्ञा 'गोलोक में एक ही श्री कृष्ण पुरुष है' नष्ट हो जायेगी। और जो सन्तान होते ही नहीं, तो कृष्ण अथवा उनकी स्त्रियों के शरीर में वीर्यहीनता वा वन्ध्यापन दोष होगा। यह गोलोक क्या है, जानो दिल्ली के बादशाह की बीबियों की सेना है[५]!

और गोसाँई लोग शिष्यों-शिष्याओं का[६] तन-मन-धन अपने अर्पण करा लेते हैं, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि[७] जो तन है वह विवाहित पति के समर्पण हो जाता है, और मन भी फिर दूसरे पुरुष के समर्पण नहीं हो सकता।[८] जो हो सकता है तो वह स्त्री दो पति वाली होकर व्यभिचारिणी कहावेगी। और जो नखाग्र-शिखा-पर्यन्त शरीर गोसाँई जी के अर्पण है तो उसमें उत्पन्न हुये धातु, मल, मूत्रादि भी गोसाँई जी के अर्पित हो चुके;[९] और धन का[१०] अर्पण इसलिये कराते हैं कि कमावें चेले और भोगें गोसाँई।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**लड़की-लड़की**'' अपप्रयोग है, पूर्वापर प्रयोगों ''**लड़के-लड़के**'' बहुवचन के सम्बन्ध से ''**लड़कियां-लड़कियां**'' बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित है। 'उदयपुर' सं० आदि में भी अपप्रयोग है।

२. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में दूसरी बार का ''**लड़कियां**'' पद त्रुटित रह गया है। द्वि० सं० में है अतः ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह वाक्य अपूर्ण है—''**और लड़कों का विवाह कहां होता है?**''। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का संशोधन पूर्णवाक्य होने से ग्राह्य है जो उपर्युक्त है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ-परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त वाक्य में जो तीव्र भाव और सटीक शब्द प्रयोग है उनके सामने मुद्रणलिपिकर का और द्विप्र० व द्वि०सं० का संशोधन प्रभावहीन और अग्राह्य है—''**अथवा घर के घर में ही गटपट कर लेते हैं।**'' **ऋषि-हस्तलेख**—''**तो भी.....जायेगी**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि-हस्तलेख में है।

५. **द्वितीय संस्करण में अपसंशोधन तथा त्रुटित क्रिया**—मूलह०, मूलप्रति सं० में वाक्यान्त में ''**है**'' क्रिया आवश्यक है। द्वि० सं० में यह अशुद्ध अनावश्यक परिवर्तन इस वाक्य में हैं—''**गोलोक क्या हुआ, जानो दिल्ली के बादशाहों की बीबियों की सेना हुई!**'' यहां ''**बादशाहों**'' बहुवचनान्त अपप्रयोग है क्योंकि यहां केवल एक बादशाह की अनेक बीबियों की तुलना ही गोसाँइयों के श्रीकृष्ण की अनेक स्त्रियों से है। मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है। 'उदयपुर' सं० में शुद्ध है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**शिष्यों-शिष्याओं**'' का उल्लेख ''**तन-मन-धन अपने अर्पण**'' के बाद अस्थान में है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त स्थान में संशोधन उचित है। वह ग्राह्य है।

७. **उचित पाठपरिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**सो भी ठीक नहीं क्योंकि**'' पाठ परिवर्धन उचित एवं ग्राह्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० में त्रुटित रह जाने से अपूर्णता है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनुचित परिवर्धन एवं परिवर्तन**—यहां मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में यह पाठ परिवर्तन अनावश्यक एवं अनुचित है—''**क्योंकि मन के साथ तन का भी समर्पण करना बन सकता और जो करें तो व्यभिचारी कहावेंगे।**'' यहां पुरुष के शरीर-समर्पण का भाव अभीष्ट नहीं है और स्त्री के समर्पण का भाव मूलहस्त० के पाठ से स्वयं स्पष्ट हो रहा है। वेस, जग, भद, युमी, विस आदि सभी विद्वानों के द्वि०सं० में और 'उदयपुर सं०' में यह अपवाक्य है।

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ एवं अपप्रयोग**—''**और जो नखाग्र---हो चुके**'' पाठ मुद्रणलिपिकर ने लिपि करते समय प्रमादवश छोड़ दिया है। मूलप्रति सं० में '**नखशिखाग्र शरीर**' अपप्रयोग है, उपर्युक्त पाठ में संशोधित है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप्रासंगिक परिवर्तन तथा अपप्रयोग**—मुद्रणलिपिकर ने यहां ''**तन-मन-धन के अर्पण**'' की चर्चा के संदर्भ में '**मन और धन**' के अर्पण की दार्शनिक समीक्षा की है जिसका यहां कोई प्रसंग नहीं है। यहां कथ्य केवल इतना ही है कि गोसाईं धन किस उद्देश्य से अर्पित कराते हैं। देखिए द्वि० सं० का असंगत परिवर्धित पाठ—''**अब रहा धन, उसकी भी**

जितने गोसाँई हैं, वे अब तक तैलङ्ग की जाति में नहीं हैं। जो कोई इनको लड़की देता है, वह भी जातिबाह्य होकर भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि ये जाति से पतित किये गये और विद्याहीन रात-दिन प्रमाद में रहते हैं।

और देखो, जब कोई गोसाँई जी की[१] पधरावनी[२] करता है, तब जाकर चुपचाप 'काठ की पुतली-सा' बैठा रहता है, न कुछ बोलता-न-चालता; क्योंकि बोले तो तब जो मूर्ख न हो! '**मूर्खाणां बलं मौनम्**'=मूर्खों का बल मौन में है। जो बोले तो उसकी पोल निकल जाय। परन्तु स्त्रियों की ओर खूब[३] ताकता रहता है। जिसकी ओर गोसाँई जी देखें तो जानो बड़े भाग्य की बात है। और[४] वह स्त्री, उसके पति, भाई, बन्धु, माता, पिता बड़े प्रसन्न होते हैं। सब स्त्रियाँ पग छूती हैं। जिस पर गोसाँई का मन लगे[५] उसका हाथ पग के अँगूठे से दाब देता है। वह स्त्री और उसके सम्बन्धी अपना धन्य भाग्य समझते हैं। उसके पति आदि उस स्त्री से कहते हैं कि तू गोसाँई जी की चरणसेवा में जा। और जहाँ कहीं उसके पति आदि प्रसन्न नहीं होते, वहाँ दूती और कुटनियों[६] से काम सिद्ध करते हैं। सच पूछो, तो ऐसे भड़ुवापन[७] के काम करने-करानेवाले[८] उनके मन्दिरों में और उनके पास बहुत हैं।

अब इनकी दक्षिणा की लीला [देखिए—] अर्थात् इस प्रकार माँगते हैं, ''लाओ भेंट गोसाईं जी की, बहू जी की, लाल जी की, बेटी जी की, मुखिया बाहरिया जी की, गवैया जी की, ठाकुर जी की'' इन सात दुकानों से[९] खूब माल मारते हैं। जब कोई उनका सेवक मरने लगता है तब उसकी छाती में

यही लीला समझो अर्थात् मन के विना कुछ भी अर्पण नहीं हो सकता।'' पता नहीं मुद्रणलिपिकर प्रसंगविरुद्ध कहां से कहां चला जाता है? और संशोधन किये बिना भी नहीं मानता!

मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में आगे अपप्रयोग है—''**कमावें चेला और आनन्द करें हम**'', यहां '**चेले**' प्रयोग शुद्ध होगा। 'उदयपुर' सं० में भी यह अशुद्ध है। ''**जितने गोसाँई**'' के स्थान में ''**जितने वल्लभ संप्रदायी गोसाँई**'' परिवर्धन द्वि० सं० में है। ग्रन्थकार से विरोध देखिए कि ग्रन्थकार तो यह सूचना दे रहा है कि तैलङ्ग जाति में कोई गोसाईं नहीं है, जबकि मुद्रणलिपिकर कह रहा है कि केवल ''**वल्लभ संप्रदायी गोसाईं**'' तैलङ्ग जाति में नहीं हैं। द्र०पृ० ६८२ पर टिप्पणी संख्या.....।

तैलङ्ग=तेलंगाना क्षेत्र के रहने वाले जन।

१. **अनावश्यक पाठान्तर और उचित संशोधन**—पूर्व की तीसरी पंक्ति में ''**अब तक**'' के स्थान पर ''**अब लौं**'' व्यर्थ पाठान्तर है। मूलप्रति के ''**उनकी**'' पद के स्थान पर द्वि० सं० में ''**गोसाँई**'' संशोधन है जो ग्राह्य है।

२. **पधरावनी**=घर बुलाना, किसी के घर में पधारने अर्थात् आने की क्रिया।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—यहां मुद्रणप्रति द्विप्र० व द्वि० सं० में ''**खूब ध्यान लगाके ताकता**'' पाठ बढ़ाया है, जो निरर्थक है; क्योंकि महर्षिप्रोक्त मूलपाठ ''**खूब ताकता**'' का वही भाव है। ''**खूब ताकना**'' ध्यान लगाके ही हुआ करता है। अपितु यह पाठ अधिक सटीक है। ''**खूब ध्यान लगाके ताकता**'' अतिशयोक्तिकथन और अव्यावहारिक वर्णन है।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पाठ त्रुटित है—''**तो जानो बड़े भाग्य की बात है।**'' मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह पाठ परिवर्धित है और ग्राह्य है; क्योंकि यही भाव दो पंक्ति नीचे भी हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां ''**वा कृपा हो**'' व्यर्थ पाठ-परिवर्धन है मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त ''**मन लगे**'' पदों से प्रसंगगत अभीष्ट भाव स्पष्ट हो रहा है। यह पं० भीमसेन-लिखित है।

६. **कुटनी (कुट्टिनी)**=वह दूती स्त्री जो किसी स्त्री को बहका-फुसला कर उसका किसी पर-पुरुष से संपर्क कराती है। 'कुटनी' संस्कृत 'कुट्टिनी' का तद्भव रूप है।

७,८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणलिपिकर ने मूलह० से प्रतिलिपि करते समय जाने-अनजाने ''**भड़ुवापन के**'' ये पद छोड़ दिये, अतः द्विप्र०, द्वि० सं० में भी त्रुटित रह गये हैं। इसी प्रकार आगे ''**करानेवाले**'' पद भी त्रुटित है। दोनों पद प्रसंग के अनुकूल होने से ग्राह्य हैं। बिना इनके वाक्य की पूर्ण रचना नहीं होती।

९. **अप-संशोधन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में ''**मुखिया बाहरिया जी**'' को दो व्यक्तियों के रूप में लिखा गया है—

पग छुवा, जो कुछ मिलता है,[१] गोसाँई जी ले लेते हैं। क्या यह काम महाब्राह्मण[२], करटिया[३] वा, मुर्दावली[४] के समान नहीं है? कोई-कोई विवाह में भी गोसाँई जी को बुलाते हैं और उन्हीं से लड़के-लड़की[५] का पाणिग्रहण कराते हैं।[६] कोई-कोई सेवक जब 'केशरिया स्नान' अर्थात् गोसाँई जी के शरीर पर स्त्री-लोग केशर का उबटन करके एक बड़े पात्र में पट्टा डालके गोसाँई जी को स्त्री-पुरुष मिलके स्नान कराते हैं, परन्तु विशेषकर[७] स्त्रियां स्नान कराती हैं। पुनः जब गोसाईं जी पीताम्बर पहर, खड़ाऊँ पर पग धर बाहर निकल आते हैं और धोती उसी में पटक देते हैं। उस जल का आचमन उसके सेवक करते हैं और अच्छी मसालेदार पान-बीड़ी[८] गोसाँई जी को देते हैं। वह चाबकर कुछ निगल जाते हैं, शेष एक चाँदी के कटोरे में, जिसको उनका सेवक मुख के आगे कर देता है, उसमें पीक उगल देते हैं। उसकी भी प्रसादी बंटती है, जिसको '**खास प्रसादी**' कहते हैं। अब विचारिये कि ये लोग किस प्रकार के मनुष्य हैं?

जो मूढ़पन और अनाचार होगा, तो क्या इतना ही होगा? [क्योंकि ये] बहुत-से समर्पण लेते हैं। उनमें से कितने ही वैष्णवों के हाथ का खाते हैं, अन्य का नहीं। कितने अपने ही हाथ का बनाया खाते हैं। लकड़े तक[९] को धो लेते हैं परन्तु आटा, गुड़, चीनी, घी आदि धोये विना उनका 'अस्पर्श'[१०] बिगड़ जाता है। क्या करें बेचारे! जो इनको धोवें तो पदार्थ ही हाथ से खोवें। वे कहते हैं कि हम ठाकुर जी के रंग-राग, भोग में बहुत-सा धन लगा देते हैं, परन्तु रंग-राग, भोग आप करते हैं!! और सच पूछो तो बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं अर्थात् होली के समय पिचकारियाँ भरकर स्त्रियों के अस्पर्शनीय अवयवों पर

''**मुखिया जी, बाहरिया जी**''। उसके कारण भ्रान्ति से द्वि०सं० में यहां ''**सात-आठ दुकानों से**'' यह पाठभेद भी किया है जो अप-संशोधन है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में उपर्युक्त पाठ है। 'उदयपुर' सं० में संशोधित है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने एक वाक्य को अनावश्यक रूप से दो वाक्यों में परिवर्तित कर दिया है—''**छाती में पग गोसाईं जी धरते हैं और जो कुछ मिलता है गुसाईं जी गड़क्क कर जाते हैं।**'' ''**गड़क्क**'' लिपिकर का अपना ग्राम्य प्रयोग है। यह भी अशुद्ध है। '**गड़प**' शुद्ध प्रयोग होता है।

२. **महाब्राह्मण**—'**महाब्राह्मण**' का रूढ़ और निन्द्य अर्थ है—'**निम्नस्तर का ब्राह्मण**'। जो ब्राह्मण लोग किसी की मृत्यु पर दान लेते हैं और मृत्यु-भोज खाते हैं अथवा मरे हुए के पदार्थ दान में ले लेते हैं, उन्हें कटाक्ष शैली में 'महाब्राह्मण' कहते हैं। ब्राह्मणों में यह एक पृथक् निम्न उपजाति बन गई है।

३. **करटिया**—करटिया का अर्थ है निन्दनीय जीविका से धन कमाने वाला। तीनों सं० में ''**कर्टिया**'' अपवर्तनी पाई जाती है।

४. **मुर्दावली**—जो मुर्दों के वस्त्र, सामान आदि लेते हैं, वह मुर्दावली की जीविका कहाती है।

५. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में इस वाक्य में ''**लड़का-लड़की**'' अपप्रयोग है। द्वि० सं० में शुद्ध है।

६-७. **अपवाक्य एवं अपप्रयोग**—द्वि०सं० में ''**उन्हीं से लड़के-लड़की का पाणिग्रहण करते हैं**'' अपवाक्य है। यहां ''**कराते हैं**'' शुद्ध है। यही पाठ मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलसं० में है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**विशेष स्त्रियां**'' अपप्रयोग है, ''**विशेषकर स्त्रियां**'' अपेक्षित है। सभी सं० और 'उदयपुर' सं० में यह अपप्रयोग है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में लिपिकर ने व्यर्थ पाठ परिवर्तन किया है—''**अच्छे मसाला धरके पान-बीड़ी**''। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। यह वाक्य भी अशुद्ध है क्योंकि ''**मसाले**'' प्रयोग शुद्ध होगा। मूलप्रति सं० में ''**अच्छे**'' के स्थान पर '**अच्छी**' अपेक्षित है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**लकड़े तक को**'' शुद्ध हिन्दी का साहित्यिक प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ में ''**लकड़े लों**'' अपनी ग्राम्य बोली का पाठ बदल दिया।

१०. '**अस्पर्श**'=किसी पदार्थ को बिना धोये स्पर्श न करने का नियम। इसका सही उच्चारण '**अस्पृश्य**' है। यह गोसाँइयों की भाषा में प्रयुक्त होने वाला प्रयोग दिया है।

मारते हैं।[१] और रसविक्रय[२] ब्राह्मण के लिये निषिद्ध है, सो भी करते हैं।

प्रश्न—गोसाँई जी रोटी, दाल, कढ़ी, भात, मठरी, लड्डू आदि को प्रत्यक्ष हाट में बैठके तो नहीं बेचते, किन्तु अपने नौकर-चाकरों को पत्तल बाँट देते हैं, वे लोग बेचते हैं, गोसाँई जी नहीं।

उत्तर—जो गोसाँई जी उनको मासिक रुपये दें तो वे पत्तल क्यों लेवें? गोसाँई जी अपने नौकरों के हाथ दाल-भात आदि नौकरी के बदले बेच देते हैं और वे ले जाकर बाहर हाट बाजार में बेचते हैं।[३] जो गोसाँई जी बाहर बेचते, तो नौकर जो ब्राह्मणादि हैं वे तो रसविक्रय दोष से बचते, अकेले गोसाँई जी ही रसविक्रय के पाप में फसते। प्रथम आप फसे और फिर अन्यों को फसा दिया।[४] कहीं-कहीं नाथद्वारा आदि में गोसाँई जी भी बेचते हैं। **रसविक्रय करना नीचों का काम है, उत्तमों का नहीं। ऐसे-ऐसे लोगों ने आर्यावर्त की अधोगति कर दी।**

प्रश्न—'**स्वामीनारायण**' का मत कैसा है?

उत्तर—'**यादृशी शीतला देवी, तादृशो वाहनः खरः**' जैसी धनहरणादि में गोसाँई-लीला है, वैसी ही स्वामीनारायण की भी है।

[५]देखिए, एक '**सहजानन्द**' अयोध्या के पास एक ग्राम का जन्मा हुआ था, वह ब्रह्मचारी होकर गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, भुज आदि देशों में[६] फिरता था। उसने देखा कि यह देश मूर्ख और भोला है;[७] चाहें वैसे इनको अपने मत में झुका लेवेंगे।[८] उसने दो-चार शिष्य बनाये। उन्होंने[९] आपस में सम्मति कर प्रसिद्ध किया कि सहजानन्द 'नारायण का अवतार' और बड़ा सिद्ध है और भक्तों को

---

१. **मुद्रणलिपिकर की मूर्खता से व्यर्थ पाठ परिवर्धन**—मूलप्रति के इस स्पष्ट और व्यापकार्थक पाठ के पश्चात् मुद्रणलिपिकर ने "**अस्पर्शनीय अवयव अर्थात् जो गुप्त स्थान हैं उन पर मारते हैं**" जोड़ दिया है जिसकी कतई आवश्यकता नहीं थी। मूर्ख लिपिकर को यह नहीं पता कि "**अस्पर्शनीय अवयव**" और "**गुप्त स्थान**" के अर्थों में बहुत अन्तर है। यही मूर्खतापूर्ण पाठ द्विप्र० व द्वि० सं० में छप रहा है। वेस, भद, युमी, जग, विस, जस, 'उदयपुर' सं० ने मुद्रणलिपिकर रचित इसी अविचारित पाठ को ग्रहण किया है।

२. **रसविक्रय**—प्राचीन परम्परा में, दैनिक जीवन में उपयोगी दूध, जल, फलों का रस आदि पेय-पदार्थों का बेचना वर्जित माना जाता रहा है। रूढ़ अर्थ में '**मदिरा**' का विक्रय मुख्यतः प्रचलित है। इनके विक्रय को 'रसविक्रय' कहते हैं।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति के अस्पष्ट-अपूर्ण पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधन उचित है। मूलप्रति सं० का वाक्य है—"**नौकरी के बदले बेचते और वे बाहर बेचते हैं।**"

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ परिवर्तन**—मूलप्रति सं० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में यह अनावश्यक परिवर्तन किया है—"**प्रथम तो इस पाप में आप डूबे फिर औरों को भी समेटा।**" कितना शिथिल सारहीन वाक्य है? यही शिथिल वाक्य वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में है।

५-६. **त्रुटित पाठ ग्राह्य**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां क्रमशः "**देखिये, एक**" और "**देशों**" पाठ त्रुटित हैं। मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि० सं० में परिवर्धित है तथा ग्राह्य है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पदवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में जहां कहीं "**भोला**" शब्द आता है, मुद्रणलिपिकर प्रायः उसको "**भोला-भाला**" युग्मपद कर देता है, जबकि ऐसा करना अनावश्यक है।

८. **मुद्रणलिपिकर की अयोग्यता से व्यर्थ वाक्यविस्तार**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां उपर्युक्त वाक्य है। मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में इसका आगे पुनरुक्तिपूर्ण यह व्यर्थ विस्तार किया है—"**वैसे ही ये झुक सकते हैं।**" यह भाव तो पूर्वोक्त मूलह० के महर्षिप्रोक्त वाक्य में आ ही गया है। मुद्रणलिपिकर की आदत है निरंकुश होकर व्यर्थ पाठ-विस्तार करने की।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां लिपिकर ने "**उनने**" अशुद्ध पद लिखा है। हिन्दी में '**उन्होंने**' प्रयुक्त होता है। ग्रन्थ में सर्वत्र "**उन्होंने**" ही प्रयोग है।

'चतुर्भुज-मूर्ति' धारणकर साक्षात् दर्शन भी देता है।[१]

एक वार काठियावाड़ में किसी 'काठी', अर्थात् जिसका नाम 'दादाखाचर' था, गढडे[२] का भूमिया (=जमींदार) था,[३] उसको शिष्यों ने कहा कि ''तुम 'चतुर्भुज-नारायण' का दर्शन करना चाहो तो हम सहजानन्द जी से प्रार्थना करें?'' उसने कहा—''बहुत अच्छी बात है।'' वह भोला आदमी था। एक कोठरी में सहजानन्द ने मुकुट धारणकर, शंख-चक्र अपने हाथ में ऊपर को धारण किये और एक दूसरा आदमी उसके पीछे खड़ा रहकर गदा-पद्म अपने हाथ में लेकर सहजानन्द की बगल में से आगे को हाथ निकाल [कर दोनों][४] चतुर्भुज के तुल्य बन-ठन गये। दादाखाचर से उनके चेलों ने कहा कि ''एक वार आँख उठा देखके आँख मींच लेना और झट इधर को चले आना। जो बहुत देखोगे तो नारायण कोप करेंगे।'' अर्थात् चेलों के मन में तो यह था कि कहीं हमारे कपट की परीक्षा न कर लेवे। उसको ले गये। वह सहजानन्द कलाबत्तू[५] और चलकते रेशमी कपड़े धारण[६] किये था, अंधेरी कोठरी में खड़ा था। उसके चेलों ने एक दम लालटेन से कोठरी की ओर उजाला किया। दादाखाचर ने देखा तो 'चतुर्भुज-मूर्त्ति' दिखी,[७] फिर झट दीपक को आड़ में कर दिया। वे सब नीचे गिर, नमस्कार कर

---

१. **उचित संशोधन**—यहां मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधन प्रसंगानुकूल है और ग्राह्य है। मूलप्रति का अस्पष्ट वाक्य इस प्रकार है—''**और चतुर्भुज होकर दर्शन भी देता है।**''

२. **वाक्य का सही अर्थ**—इसका भाव यह है कि काठियावाड़ अर्थात् सौराष्ट्र (वर्तमान गुजरात) प्रदेश में एक 'गढडा' नामक गांव है। उसमें रहनेवाला '**दादाखाचर**' '**काठी**' जाति का था और एक बड़ा जमींदार था, उस 'काठी' को सहजानन्द के शिष्यों ने कहा कि सहजानन्द नारायण का अवतार और चमत्कारी पुरुष है। वह सहजानन्द के चंगुल में फंस गया। यहीं से सहजानन्द ने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया था। यहीं सबसे पहले सहजानन्द ने अपना अड्डा जमाया। वह केन्द्र आज भी है। (गांव के नाम का समाधान, श्री भावेश मेरजा, भरुच, गुजरात के सहयोग से)।

३. **द्वि०सं० में अपविराम से आरम्भ अपपाठ मीमांसक सं० में भ्रामक बना, उदयपुर सं० में भ्रष्ट हुआ**—एक अशुद्ध अपविराम कभी-कभी बड़ी भ्रान्ति का कारण बन जाता है। ''**एक वार.....प्रार्थना करें**'' तक एक संयुक्त वाक्य है। द्विप्र० में ''**जमींदार था**'' के बाद अल्पविराम है, जो शुद्ध है। द्वि०सं० में किसी शोधक ने सबसे पहले यह गलती की कि अल्पविराम के स्थान पर पूर्णविराम लगा दिया जिससे दो वाक्यों में बंटने से वाक्य की संगति समाप्त हो गई और फिर सम्पादक अपना-अपना अर्थ लगाने लगे। यह पूर्णविराम की अशुद्ध परम्परा सभी विद्वानों के सं० में विद्यमान है, एक **स्वामी वेदानन्द जी** के सं० को छोड़कर। फिर **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने '**गढडे**' का तुक्के से अशुद्ध अर्थ कर दिया—''**छोटा किला या पहाड़ी भूमि**''। इस भ्रान्ति का अन्धानुकरण वाली अशुद्धि उदयपुर आदि द्वि०सं० में यथावत् है ही, ऊपर से गांव का नाम बदलकर ''**गठड़े**'' भ्रष्टनाम बना दिया। वास्तविकता यह है कि ''**किसी काठी**'' पदों का सम्बन्ध ''**उसको शिष्यों ने**'' पदबंध से है। जैसे—'किसी ब्राह्मण, उसको' 'किसी जाट, उसको.....' आदि; वैसे ही 'किसी काठी, उसको शिष्यों ने कहा', यह संगति है। यदि बीच में पूर्णविराम रखा जायेगा तो ''**किसी काठी**'' पदों की संगति अग्रिम शब्दों से कदापि नहीं लग सकती।

उदयपुर सं० का कोई उत्तर नहीं—मैंने अपने लेख में उदयपुर सं० के सम्पादकों को बताया था कि उन्होंने दादाखाचर के गांव का नाम बिगाड़कर 'गढ़डा' से 'गठड़ा' कर दिया, जो इतिहासविरुद्ध है। **चारों लेखकों** में से किसी ने इस आपत्ति का उत्तर नहीं दिया। न गलती को स्वीकार करने की उदारता दिखाई, न निषेध करने का साहस किया। पाठकगण इस उदाहरण से यह अनुमान लगा लें कि 'उदयपुर न्यास' और आर्य लेखकों की कैसी मानसिकता है। मंचों पर 'सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग का उपदेश' देने वालों को सत्य के ग्रहण में कितना कष्ट अनुभव हो रहा है? फिर साधारण जनों का क्या हाल होगा?

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में स्पष्ट पाठसंगति के लिए यहां कोष्ठकान्तर्गत पदों का परिवर्धन आवश्यक है।

५. **कलाबत्तू**—सोने-चांदी-रेशम के तार से कढ़ाई किया हुआ रेशमी वस्त्र।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में यहां वर्तमानकालीन अपपाठ है—''**धारण कर रहा था**''। भूतकाल में ''**धारण किये था**'' उपयुक्त पाठ बनेगा। द्वि०सं० में संशोधित, किन्तु 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध पाठ है।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह अपपाठ है—''**देखा तो चतुर्भुजमूर्त्ति देखी**''। मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०

दूसरी ओर चले आये और उसी समय बीच में बातें कीं ''तुम्हारा भाग्य धन्य है। अब तुम महाराज के चेले हो जाओ''। उसने कहा—''बहुत अच्छी बात।'' जब तक फिरके दूसरे स्थान में गये तबतक[१] वस्त्र बदलके सहजानन्द गद्दी पर बैठा था। तब चेलों ने कहा कि ''देखो! अब दूसरा स्वरूप धारण करके यहाँ बैठे हैं।''

वह दादाखाचर इनके जाल में फस गया। वहीं से उनके मत की जड़ जम गई। क्योंकि वह एक बड़ा भूमिया था, वहीं अपनी जड़ जमा ली। पुनः इधर-उधर घूमता रहा, सबको उपदेश करता था, बहुतों को साधु[२] भी बनाता था। कभी-कभी साधु[३] की कण्ठ की नाड़ी को मलकर मूर्छित भी कर देता था और सबसे कहता था कि हमने इनको समाधि चढ़ा दी है। ऐसी-ऐसी धूर्त्तता में काठियावाड़ के भोले[४] लोग उसके पेच में फस गये। जब वह मर गया तब उसके चेलों ने बहुत-सा पाखण्ड फैलाया।

इसमें यह दृष्टान्त उचित होगा कि[५] जैसे कोई एक चोरी करता पकड़ा गया था। न्यायाधीश ने उसको नाक काट डालने का दण्ड किया। जब उसकी नाक काटी गई तब वह धूर्त्त नाचने-गाने और हँसने लगा। लोगों ने पूछा कि ''तू क्यों हँसता है?''

उसने कहा—''कुछ कहने की बात नहीं है।''

लोगों ने पूछा—''ऐसी कौन-सी बात है?''

उसने कहा—''बड़े[६] भारी आश्चर्य की बात है, हमने ऐसी कभी नहीं देखी!''

लोगों ने कहा—''कह! क्या बात है?''

उसने कहा कि ''मेरे सामने साक्षात् 'चतुर्भुज-नारायण' खड़े हैं। मैं देखकर बड़ा प्रसन्न होकर नाचता-गाता अपने भाग्य को धन्यवाद देता हूं कि मैं नारायण का साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ।''

लोगों ने कहा—''हमको दर्शन क्यों नहीं होता?''

वह बोला—''नाक की आड़ हो रही है। जो नाक कटवा लो तो नारायण दीखे, नहीं तो नहीं।''

उनमें से किसी मूर्ख ने चाहा कि नाक जाय तो जाय परन्तु नारायण का दर्शन अवश्य करना

सं० में उपर्युक्त पाठ संशोधित है। किन्तु वहां ''**दीखी**'' अपवर्तनी है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के पाठ में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग है—''**जब तक**''। मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय व्यर्थ ही इसके स्थान पर अपनी ग्राम्य बोली का प्रयोग रख दिया—''**जब लों**'', ''**तब लों**''। ऋषि की भाषा को लिपिकरों ने इस प्रकार मनचाहे रूप में बदला है। मुद्रणलिपिकर के यही ग्राम्य प्रयोग सभी द्वि०सं० और 'उदयपुर' सं० को पसन्द आये हैं, महर्षिप्रोक्त साहित्यिक भाषा इनको ग्राह्य नहीं लगी।

२-३. **घोर अयोग्य लिपिकर-शोधक**—पाठक देखें कि लिपिकर कितने अयोग्य थे और शोधक कितने मक्कार थे कि मूर्खतापूर्ण साधारण-सी अशुद्धि पर भी ध्यान नहीं दिया। दोनों हस्त० और द्विप्र० में, दोनों स्थानों पर ''**साधू**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित है। यहां तो **मीमांसक जी भी** धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने इनका संशोधन मूल में कर लिया, अन्यथा अनेक बार प्रयुक्त ''**रज्जू**'' (पृ० ४५४) जैसी स्पष्ट और घोर अशुद्धि को भी उन्होंने असंशोधित छोड़ रखा है। जिनके मतानुसार लिपिकर-शोधक 'विद्वान् और नमन करने योग्य' हैं, क्या उन्हें इस लेखन के बदले लिपिकरों को मरणोपरान्त 'प्रशस्तिपत्र' भेंट नहीं कर देना चाहिए? यह संतोष का विषय है कि 'उदयपुर' सं० ने यहां वर्तनी का संशोधन कर लिया है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पदवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां व्यर्थ ही ''**भोले-भाले**'' युग्मपद पाठ बढ़ा दिया है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में ''**बहुत-सा.....होगा कि**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**बड़ी**'' अपप्रयोग है, यहां ''**बड़े**'' पुंल्लिग प्रयोग अभीष्ट है। क्योंकि यह

चाहिये। उसने कहा कि ''मेरी भी नाक काटो और नारायण को दिखलाओ।''

उसने उसकी[१] नाक काटकर कान में कहा कि ''तू भी ऐसा ही कर, नहीं तो मेरा और तेरा उपहास होगा।''

उसने भी समझा कि अब नाक तो आती नहीं, ऐसा ही करना ठीक है। वह भी वैसे ही नाचने, कूदने, गाने, हँसने लगा और कहने लगा कि ''मुझको भी नारायण दीखता है।''

वैसे होते-होते एक सहस्त्र मनुष्यों का झुण्ड हो गया, बड़ा कोलाहल हुआ, अपने सम्प्रदाय का नाम '**नारायणदर्शी**' रक्खा।

किसी मूर्ख राजा ने सुना, उनको बुलाया। जब राजा उनके पास गया तब वे बहुत नाचने-कूदने, हँसने लगे। तब राजा ने पूछा कि ''यह क्या बात है?''

उन्होंने कहा कि ''साक्षात् नारायण हमको दीखता है।''

राजा—हमको क्यों नहीं दीखता?

नारायणदर्शी—जब तक नाक है तब तक नहीं दीखेगा और जब नाक कटवा लोगे, नारायण प्रत्यक्ष दीखेंगे।

राजा ने विचारा 'ठीक है।' राजा ने कहा[२]—''ज्योतिषी[३] जी! मुहूर्त्त देखिये।''

ज्योतिषी जी ने उत्तर दिया[४]—''जो हुक्म[५] अन्नदाता![६] दशमी के दिन प्रात:काल आठ बजे तक नाक कटवाने और नारायण के दर्शन करने[७] का बड़ा अच्छा मुहूर्त्त है।''

वाह रे पोप जी! अपनी पोथी में नाक काटने-कटवाने का भी मुहूर्त्त लिख दिया!!

जब राजा की इच्छा हुई और उन सहस्त्र नकटों के सीधे[८] बाँध दिये, तब तो वे बड़े ही प्रसन्न होकर नाचने-कूदने गाने लगे। यह बात राजा के दीवान आदि कुछ-कुछ बुद्धिवालों को अच्छी न लगी। राजा के यहां[९] एक चार पीढ़ी का, बूड्ढा ९० वर्ष का दीवान था। उसको उसके परपोते ने, जो कि उस समय दीवान था, जाकर वह बात सुनाई।[१०] तब उस वृद्ध ने कहा कि ''वे धूर्त्त हैं। तू मुझको राजा के पास ले चल।'' वह ले गया। बैठते समय राजा ने बड़े हर्षित होके उन नाककटों की बातें सुनाईं।

''**आश्चर्य**'' का विशेषण है, बात का नहीं। 'उदयपुर' सं० अपप्रयोग है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में ''**उसका**'' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**उसकी**' संशोधित है।

२,४. **मुद्रणकाल में पाठ-परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में ये दोनों वाक्य त्रुटित हैं—''**राजा ने कहा**'' और ''**ज्योतिषी जी ने उत्तर दिया**''। ये दोनों हस्तलेखों में भी नहीं है। मुद्रण-समय इनको जोड़ा गया है। ये ग्राह्य हैं।

३,५. **अपवर्तनी** —दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**हुकम**'' अपवर्तनी है, '**हुक्म**' अपेक्षित है। उदयपुर आदि सं० में अशुद्ध है। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध है। दोनों हस्त० में लिपिकरों द्वारा लिखित ''**ज्योतिसी**'' मूर्खतापूर्ण वर्तनी है। बाद के सं० में संशोधित है।

६. **उचित परिवर्धन**—यहां मुद्रणह० में ''**अन्नदाता**'' पद जोड़ा गया है। यह ग्राह्य है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में ''**के दर्शन करने**'' त्रुटित पाठ किनारे पर लिख पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

८. **सीधा**—बिना पकाई भोजन सामग्री, जैसे—आटा, दाल, चावल, घी आदि।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**राजा के एक**'' वाक्यांश में ''**राजा के यहां एक**'' पाठ अधिक पूर्ण है।

१०. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जाकर**'' पद का प्रयोग अस्थान में होने से इस वाक्य की अपभाषा बन गई है—''**उसको जाकर उसके परपोते ने....।**'' यहां संशोधित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

दीवान ने कहा कि ''सुनिये महाराज! ऐसी शीघ्रता न करनी चाहिये। विना परीक्षा किये पश्चात्ताप होता है।''

राजा—क्या ये सहस्र पुरुष झूठ बोलते होंगे?

दीवान—झूठ बोलते हैं वा सच,[१] विना परीक्षा के सच-झूठ कैसे कह सकते हैं?

राजा—परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिये?

दीवान—विद्या, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

राजा—जो पढ़ा न हो, वह परीक्षा कैसे करे?

दीवान—विद्वानों के संग से ज्ञान की वृद्धि करके।

राजा—जो विद्वान् न मिले तो?

दीवान—पुरुषार्थी को कोई बात दुर्लभ नहीं है।

राजा—तो आप कहिये, कैसे[२] किया जाय?

दीवान—मैं बुड्ढा [हूं][३] और घर में बैठा रहता हूँ, थोड़े दिन जीवोंगा।[४] मैं प्रथम परीक्षा कर लेऊँ, तत्पश्चात् जैसा उचित समझें वैसा कीजियेगा।

राजा—बहुत अच्छी बात है। ज्योतिषी जी! दीवान के लिये मुहूर्त्त देखो।

ज्योतिषी—जो महाराज की आज्ञा। यही शुक्ल पञ्चमी १० बजे का मुहूर्त्त अच्छा है। जब पञ्चमी आई तब राजा जी के पास आ, आठ बजे बुड्ढे दीवान ने राजा से कहा कि ''सहस्र-दो सहस्र सेना लेके चलना चाहिये।''

राजा—वहाँ सेना का क्या काम?

दीवान—आपको बहुत-से राज्यव्यवहार[५] की जानकारी नहीं है। जैसा मैं कहता हूँ, वैसा कीजिये।

राजा—अच्छा, जाओ भाई! सेना को तैयार करो। साढ़े नौ बजे सवारी करके राजा सबको लेकर गया। उनको देखकर वे नाचने-गाने लगे। जाकर बैठे। उनके महन्त जिसने यह सम्प्रदाय चलाया था, जिसकी प्रथम नाक कटी थी, उसको बुलाकर कहा कि ''आज हमारे दीवान जी को नारायण का दर्शन कराओ।''

उसने कहा—''अच्छा।''

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में है—''**झूठ बोलो वा सच**'', मूलह०, मूलप्रति सं० में है—''**झूठ बोलें वा सच**''। पूर्ववाक्य की क्रिया के सम्बन्ध से यहां ''**झूठ बोलते हैं वा सच**'' यह प्रयोग होना चाहिए। 'उदयपुर' सं० में मुद्रणलिपिकर-कृत अपवाक्यरचना है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कैसा**'' अपप्रयोग है, '**कैसे**' अपेक्षित है।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्यखण्ड के बाद ''**हूँ**'' क्रिया अभीष्ट है।

४. **ऋषिलिखित पद में व्यर्थ परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० ''**जीवोंगा**'' प्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**जीऊंगा**'' वर्तमान भाषा का संशोधन है। ''**जीवोंगा**'' ऋषि ने स्वयं लिखा है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ-परिवर्तन**—मूलह० के इस पाठ के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में ''**राज्य-व्यवस्था**'' संशोधन किया है। राजा के सामने यह कथन अव्यावहारिक है। यहां मूलह० का पाठ ही उपयुक्त है। मूलसं० में सटीक पाठ को छोड़कर मुद्रणह०, द्वि०सं० का अनुपयुक्त पाठ ग्रहण किया है। इसी प्रकार ''**बहुत-से**'' पद यहां अधिक संगत हैं।

दश बजे का समय आया। तब एक मनुष्य ने थाली नाक के नीचे पकड़ रक्खी। उसने पैना चाकू[१] ले, नाक काट, थाली में फेंक दी और रुधिर गिरने लगा।[२] दीवान जी का मुख बिगड़ गया[३]। फिर[४] उस धूर्त्त ने दीवान जी के कान में मन्त्रोपदेश दिया कि ''आप भी हँसकर सबसे कहिये कि मुझको नारायण दीखता है। अब नाक कटी हुई नहीं आवेगी।[५] जो ऐसा न कहोगे तो तुम्हारा बहुत-सा ठट्ठा होगा।''[६] वह कहकर अलग हुआ।

दीवान जी ने अंगोछा हाथ में ले नाक की आड़ में लगा दिया। जब दीवान जी से राजा ने पूछा—''कहिये, नारायण दीखता है वा नहीं?

दीवान ने राजा जी के कान में कहा—''कुछ भी नहीं दीखता, वृथा इस धूर्त्त ने सहस्र[७] मनुष्यों को खराब[८] किया।''

राजा ने दीवान से कहा—''अब क्या करना चाहिये?''

दीवान ने कहा—''इनको पकड़के कठोर दण्ड[९] देना चाहिये। जब तक जीवें तब तक[१०] बन्दीघर

---

१. **मुद्रणलिपिक द्वारा उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में ''**चक्कू**'' अपवर्तनी है। द्वि० सं० में ''**चाकू**'' संशोधित है।

२. **मुणद्रलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस सहज पाठ के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने यह अतिशयोक्तिपूर्ण पाठ बनाया है—''**नाक से रुधिर की धार छूटने लगी।**'' मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति व द्वि० सं० में यह पाठ बनाया है—''**दीवान जी का मुख मलिन पड़ गया।**'' नाक कटने पर मुख बिगड़ता है, अत: मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ उपयुक्त है। अगले पृ० ६९४ पर प्रथम पंक्ति में भी ''**खराब करना**'' प्रयोग है।

४. **उचित पद-वर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**फिर**'' पद का परिवर्धन उचित एवं ग्राह्य है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस वाक्य का पाठ भ्रष्ट है—''**नाक कटा हुआ नहीं आवेगा।**'' द्वि० सं० में शुद्ध पाठ है जो ऊपर गृहीत है। मुद्रणप्रति में भी यही भ्रष्ट पाठ है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्तियुक्त हास्यास्पद परिवर्धन**—मुद्रणलिपिकर को कभी-कभी पाठ-परिवर्तन के प्रवाह में यही ध्यान नहीं रहता कि क्या परिवर्तन करना चाहिए क्या नहीं, और परिवर्तन करना भी चाहिए वा नहीं। यहां कितनी मूर्खता दिखाई है, देखिए—''**जो ऐसा न कहोगे तो तुम्हारा बड़ा ठट्ठा होगा**'' यह वाक्य मूलहस्तलेख में था। इसके बाद मुद्रणप्रति में नया वाक्य जोड़ा—''**तुम्हारा बड़ा ठट्ठा होगा। सब लोग हंसी करेंगे।**'' पाठक स्वयं विचार लें कि '**ठट्ठे**' में और '**हंसी**' में क्या अर्थभिन्नता है जो मुद्रणलिपिकर को नया वाक्य जोड़ना पड़ा। यही द्विप्र० में छपा है और द्वि० सं० में छपता आ रहा है। क्या इस अपपाठ से सभी द्वि०सं० और 'उदयपुर सं०' का 'ठट्ठा नहीं हो रहा है और हंसी भी नहीं हो रही है?।' देखिए, महर्षि के पास इतने मूर्ख लिपिकर थे!! मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध एवं पर्याप्त है।

इतना ही आश्चर्य आर्य विद्वानों और पाठकों पर है कि वे ऐसे-ऐसे हास्यास्पद पाठों को सवा सौ वर्षों से अधिक समय से, इन पर बिना चिन्तन किये, झेल रहे हैं!

७-९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**सहस्त्रों**'' अप संशोधन है। पहले (पृ० ६९१/१८ में) ''**सहस्र**'' संख्या का ही कथन हो चुका है। मूलप्रति सं० में भी ''**सहस्र**'' पाठ है, अत: यही शुद्ध है। आगे, हिन्दीकरण के चक्र में ''**खराब**'' पद के स्थान पर ''**भ्रष्ट**'' पद रखकर मुद्रणलिपिकर ने वाक्य को ही भ्रष्ट कर दिया। हिन्दी में ''**भ्रष्ट**'' का अर्थ अन्य है। यहां आकृति से खराब करना कथ्य है। आगे, ''**कठोर दण्ड**'' के स्थान पर ''**कठिन दण्ड**'' संशोधन करके यह दिखा दिया है कि लिपिकर को भाषा का आवश्यक ज्ञान नहीं था। दण्ड के साथ '**कठोर**' विशेषण आता है, '**कठिन**' नहीं। यही अशुद्ध पाठ द्वि०सं० और उदयपुर सं० आदि में छप रहा है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक ग्राम्य पदों का प्रयोग**—मूलप्रति हस्तलेख में महर्षिप्रोक्त शुद्ध हिन्दी के शब्दों ''**जब तक, तब तक**'' का प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने उसकी प्रतिलिपि करते हुए अपनी ग्राम्य बोली के प्रयोग व्यर्थ ही उनके स्थान पर बदल दिये—''**जब लों जीवें तब लों**''। यही पद द्वि०सं० में छप रहे हैं। इस प्रकार से भाषा को अपने ढंग से बदला है।

में रखना चाहिये और इस दुष्ट को कि जिसने इन सबको खराब किया है,[१] गधे पर चढ़ा, बड़ी दुर्दशा से मारना चाहिये।''

जब राजा और दीवान कान में बातें करने लगे तब उन्होंने डरके भागने की तैयारी की, परन्तु चारों ओर फौज ने घेरा दे रक्खा था, न भाग सके। राजा ने आज्ञा दी—''सबको पकड़ बेड़ियाँ डाल दो और इस दुष्ट का काला मुख कर, गधे पर चढ़ा, इसके कण्ठ में फटे जूतों का हार पहना, सर्वत्र घुमा, छोकरों से धूड़-राख इस पर डलवा, चौक-चौक में जूतों से पिटवा, कुत्तों से लुँचवा, मरवा डाला जावे। जो ऐसा न होवे तो पुनः दूसरे भी ऐसा काम करते न डरेंगे।''

जब ऐसा हुआ तब '**नाककटे का सम्प्रदाय**' बन्द हुआ। इसी प्रकार सब वेदविरोधी दूसरों का धन हरने में बड़े चतुर हैं। ऐसी ही सब सम्प्रदायों की लीला है।[२]

ये **स्वामीनारायण**[३] वाले धनहरे=दूसरों के धन हरने में बड़े चतुर हैं, छल-कपटयुक्त काम करते हैं। कितने ही मूर्खों[४] को बहकाने के लिये मरते समय कहते हैं कि ''सफेद घोड़े पर बैठ सहजानन्द जी मुझको बुलाने आये हैं, नित्य इस मन्दिर में आते हैं।''

जब मेला होता है तब मन्दिर में पुजारी रहते हैं और नीचे दुकान रखते हैं। मन्दिर में से दुकान के मध्य छिद्र रखते हैं।[५] जो किसी ने नारियल चढ़ाया, वही दुकान में फेंक दिया, अर्थात् इसी प्रकार एक नारियल दिन में सहस्त्र वार बिकता है। ऐसे ही सब पदार्थों को बेचते हैं।

जिस जाति का साधु[६] हो, उससे[७] वही काम कराते हैं;[८] जैसे नापित हो उससे नापित का, कुम्हार से कुम्हार का, शिल्पी से शिल्पी का, बनिये से बनिये का[९] काम लेते हैं। अपने चेलों पर अनेक प्रकार

---

१. **ऋषिहस्तलेख का मुद्रणकालीन अनावश्यक परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति के महर्षि के हस्तलेख में लिखित इस वाक्य के स्थान पर मुद्रण-समय में सम्पादकों ने यह अनावश्यक पाठान्तर कर दिया गया—''**इन सबको बिगाड़ा है।**'' मूलह०, मूलसं० का पाठ सटीक है।

२. **ऋषिहस्तलेख एवं मुद्रणकालीन परिवर्धन**—मूलह० में ''**दूसरों का धन हरने में चतुर हैं**'' परिवर्धन ऋषि ने स्वहस्तलेख में किया है। संशोधन के बाद यह पाठ हो गया है—''इसी प्रकार वेदविरोधी सब दूसरों का धन हरने में चतुर हैं यह सम्प्रदायों की लीला है।'' मूलसं० में यह परिवर्धित पाठ त्रुटित है। ''**यह**'' के स्थान पर ''**ऐसी ही**'' पाठ अभीष्ट है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस प्रसंग में इस पद की वर्तनी अव्यवस्थित है। इस प्रसंग में दो स्थानों पर ''**स्वामीनारायण**'' और यहां ''**स्वामिनारायण**'' भिन्न वर्तनी है। हिन्दी में '**स्वामीनारायण**' वर्तनी ग्राह्य है। यही वर्तनी वर्णित सम्प्रदाय के ग्रन्थों में स्वीकृत है। यही अव्यवस्था 'उदयपुर' आदि अन्य संस्करणों में है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**के**'' पद के स्थान पर '**को**' अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अविचारित परिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपरचनात्मक वाक्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० में कुछ ठीक पाठ है—''**मन्दिर से दुकान में छिद्र रखते हैं।**'' द्वि०सं० में अशुद्ध वाक्य है—''**मन्दिर में से दुकान में जाने का छिद्र रखते हैं।**'' जाने के लिए छिद्र नहीं रखा गया है, किन्तु नारियल फेंकने के लिए रखा गया है। मुद्रणलिपिकर कम से कम पूर्वापर पाठ को ही पढ़ लेता! उपर्युक्त पाठ में इसका संशोधन किया है। 'उदयपुर' सं० में मुद्रणह० का अपपाठ है।

६. **मूर्ख लिपिकर-शोधक**—दोनों हस्त० में ''**साधू**'' अपवर्तनी लिखी है। यही द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित कर ली है। देखा आपने, ऐसे लोगों से ऋषि का पाला पड़ा था!

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**उनसे**'' अपप्रयोग है, एकवचन के सम्बन्ध से '**उससे**' प्रयोग अभीष्ट है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमादवश त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में प्रमादवश ''**जिस जाति.....कराते हैं**'' पाठ त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधक ने नीचे लिखकर पूर्ण किया है।

९. **पुनरुक्तिपूर्ण पाठवर्धन मुद्रणलिपिकर द्वारा**—यहां मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ में ''**और शूद्रों से शूद्रादि का**'' पाठ बढ़ा दिया

के टिक्कस(=कर) बाँध रक्खे हैं।[१] लाखों-करोड़ों रुपये ठगके एकत्र कर लिये और करते जाते हैं। जो गद्दी पर बैठता है, वह गृहस्थ=विवाह करता है, आभूषणादि पहनता है। जहाँ कहीं पधरावनी होती है, वहाँ गोकुलियों के समान गोसाँई जी, बहू जी आदि के नाम से भेंट-पूजा लेते हैं। अपने को 'सत्संगी' और दूसरे मत-वालों को 'कुसंगी' कहते हैं। अपने सिवाय दूसरा कैसा ही उत्तम धार्मिक पुरुष हो, उसका मान्य और[२] सेवा नहीं करते, अन्य की सेवा में पाप गिनते हैं।

प्रसिद्धि में उनके साधु स्त्री का मुख नहीं देखते, परन्तु गुप्त क्या लीला होती होगी, इसकी प्रसिद्धि सर्वत्र न्यून हुई है। कहीं-कहीं साधुओं की परस्त्रीगमन-आदि लीला प्रसिद्ध हो गई है।

और उनमें जो बड़े-बड़े हैं, वे जब मरते हैं तब उनको गुप्त कुए में फेंक कर[३] प्रसिद्धि करते हैं कि अमुक महाराज सदेह वैकुण्ठ में गये। सहजानन्द जी आके ले गये। हमने बहुत प्रार्थना करी कि ''महाराज! इनको न ले जाइये, क्योंकि इस महात्मा का यहाँ रहना अच्छा है।[४] सहजानन्द जी ने कहा कि ''नहीं, अब इनकी वैकुण्ठ में बहुत आवश्यकता है, इसलिये ले जाते हैं।'' हमने अपनी आँख से सहजानन्द जी को और विमान को देखा तथा जो मरनेवाले थे उनको विमान में बैठा दिया, ऊपर को उड़ गये,[५] पुष्पों की वर्षा करते गये।

और जब कोई साधु बीमार पड़ता है, बचने की आशा नहीं होती, तब कहता है कि ''मैं कल रात को वैकुण्ठ में जाऊंगा।'' सुना है कि उस रात में जो उसके प्राण न छूटे, मूर्च्छित हो गया हो, तो भी कुए में फेंक देते हैं, क्योंकि जो उस रात को न फेंक दें तो झूठे पड़ें, इसलिये ऐसा काम करते होंगे। ऐसे ही जब गोकुलिया गोसाँई मरता है तब उनके चेले कहते हैं कि ''गोसाँई जी लीला विस्तार कर गये।''

जो इन गोसाँई और स्वामीनारायण वालों का उपदेश करने का मन्त्र है वह एक ही है[६]—

है। यही पाठ द्विप्र०, द्वि० सं० में है। लिपिकर ने इतना भी मस्तिष्क नहीं लगाया कि पुनरुक्तिपूर्ण पाठ बढ़ाने से पूर्व यह सोच ले कि वाक्य में पूर्वोक्त नापित, कुम्हार और शिल्पी क्या हैं? ग्रन्थकार के मतानुसार और जातिवाद के अनुसार ये शूद्रवर्ण के अन्तर्गत हैं क्योंकि ये शारीरिक श्रम-उपजीवी हैं। पता नहीं लिपिकर की अच्छे-भले पाठ का कबाड़ा करने की प्रवृत्ति क्यों रही है?

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां मूलह०, मूलसं० के उपर्युक्त पाठ के स्थान पर यह पाठपरिवर्तन किया गया है—''**अपने चेलों पर एक कर (टिक्कस)** बांध रखा है।'' पाठक विचारें कि ''**टिक्कस**'' का सरल अर्थ ''**कर**'' लिखना व्यावहारिक है या ''**कर**'' का अर्थ ''**टिक्कस**'' लिखना व्यावहारिक है?

२. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**और**'' पद नहीं है। स्पष्ट अर्थ के लिए आवश्यक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधन करके रखा है और ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन एवं अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—''**कुवे में फेंक देकर**'', मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में संशोधित है। यहां ''**कुवे**'' वर्तनी है, ''**कुए**'' अपेक्षित है। अन्यत्र '**कुए**' वर्तनी का प्रयोग है। एकरूपता और मानकता के लिए ''**कुए**'' वर्तनी ग्राह्य है। उदयपुर सं० आदि सभी में यह अव्यवस्था है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य की अपरचना है—''**इस महात्मा के यहां रहने से अच्छा है।**'' यही अपवाक्य वेस, जग, भद, युमी, विस, 'उदयपुर' सं० में है।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अनावश्यक पाठ-परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति के इस वाक्यांश में मुद्रणलिपिकर ने व्यर्थ पाठान्तर किया है—''**ऊपर को ले गये।**'' मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ पर्याप्त है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अस्पष्ट वाक्य है—''**जो....उपदेश करने का मन्त्र एक ही 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इसका अर्थ ऐसा करते हैं**'' मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित उपर्युक्त पाठ है, जो ग्राह्य है। ''**जो**'' प्रयोग के सम्बन्ध से ''**है वह**'' प्रयोग होने अभीष्ट हैं।

'**श्रीकृष्णः शरणं मम**'। इसका अर्थ ऐसा करते हैं—''श्रीकृष्ण मेरा शरण है, अर्थात् मैं श्रीकृष्ण के शरणागत हूँ,'' परन्तु इसका अर्थ 'श्रीकृष्ण मेरे शरण को प्राप्त अर्थात् मेरे शरणागत हों' ऐसा भी हो सकता है। ये सब जितने मत हैं, वे विद्याहीन होने से ऊटपटांग शास्त्रविरुद्ध वाक्यरचना करते हैं; क्योंकि उनको विद्या के नियमों की जानकारी नहीं।

प्रश्न—'**माध्वमत**' तो अच्छा है?

उत्तर—जैसे अन्य हैं,[१] वैसा यह भी है, क्योंकि ये भी '**चक्रांकित**' होते हैं। इनमें **चक्रांकितों** से इतना विशेष है कि रामानुजीय एक वार **चक्रांकित** होते हैं और माध्व वर्ष-वर्ष में फिर-फिर **चक्रांकित** होते जाते हैं। **चक्रांकित** कपाल में पीली रेखा और माध्व काली लगाते हैं। एक माध्व पण्डित से किसी एक महात्मा का संवाद हुआ था—

महात्मा—''तुमने यह काली रेखा और चाँदला[२] क्यों किया?''

शास्त्री—''इसके करने से हम वैकुण्ठ को जायेंगे और श्री कृष्ण का स्वरूप भी श्याम था, इसलिये हम काला तिलक करते हैं।''

महात्मा—''जो काली रेखा और चाँदला लगाने से[३] वैकुण्ठ में जाते हों, तो सब मुख काला कर लो, तो कहाँ जाओगे? क्या वैकुण्ठ के भी पार उतर जाओगे? और जैसा श्री कृष्ण का सब शरीर काला था, वैसा तुम भी सब शरीर काला कर लिया करो, तब श्रीकृष्ण का सादृश्य हो सकता है।''

इसलिये यह भी पूर्वों के सदृश है।

प्रश्न—'**लिंगांकित**' का मत कैसा है?

उत्तर—जैसा **चक्रांकित** का। जैसे **चक्रांकित** चक्र से दागे जाते हैं और नारायण के सिवाय[४] किसी को नहीं मानते वैसे लिंगांकित लिंगाकृति से दागे जाते हैं और सिवाय[५] महादेव के अन्य किसी को नहीं मानते।[६] इनमें विशेष यह है कि लिंगांकित पाषाण का एक लिंग सोने, चाँदी में मढ़वा गले

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां मूलह० के उक्त पाठ के स्थान पर यह अपपाठ बनाया है—''**जैसे अन्य मतावलम्बी हैं**''। यहां प्रश्न-उत्तर '**मत**' के विषय में है, मतावलम्बियों के विषय में नहीं। यही अपवाक्य 'उदयपुर' आदि सं० में है।

२. **चांदला**—टीका, तिलक।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**चांदले से**'' प्रयोग अपूर्ण है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त संशोधन है।

४-५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ एवं अप-अनुवाद**—मूलह० में दोनों स्थलों पर ''**सिवाय**'' शुद्ध प्रयोग है। मुद्रणलिपिकर ने हिन्दी का ''**विना**'' अनुवाद किया है, जो ग्रन्थकार के आशय को व्यक्त नहीं करता। इससे सटीक '**सिवाय**' है, अन्यथा '**अतिरिक्त**' प्रयोग है। मुद्रणप्रति में ''**जैसे चक्रांकित.....मानते**'' त्रुटित पाठ है जिसको शोधक ने पूर्ण किया है।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत त्रुटित एवं अस्तव्यस्त अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ यहां कुछ अस्त-व्यस्त-सा है—''**जैसा चक्रांङ्कित का। वे भी लिङ्गांकित होते हैं। विना महादेव के किसी को नहीं मानते, जैसे चक्राङ्कित नारायण के अतिरिक्त दूसरे को नहीं मानते।**'' यह पाठ कामचलाऊ माना जा सकता है किन्तु मुद्रणहस्तलेख में प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने संशोधन के नाम पर इस पाठ को और भ्रष्ट कर दिया—''**जैसा चक्रांकित का, वो भी लिंगाकित का एक मत है बिना महादेव के और किसी को नहीं मानते.....।**'' अगला वाक्यांश मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश त्रुटित छोड़ दिया। शोधन के समय शोधक पं० भीमसेन ने उसे पूरा किया है। यही पाठ द्वि० सं० प्रथमावृत्ति में छपा है। द्वि० सं० तृतीयावृत्ति में उसको संशोधित किया गया है। वह पाठ यहां गृहीत है। वेस, जग, भद, युमी, विस में संशोधित पाठ है। 'उदयपुर' सं० ने संशोधित पाठग्रहण न करके अस्तव्यस्त पुराने पाठ को ग्रहण किया है। उन्हें उसमें पता नहीं क्या रहस्य छुपा प्रतीत हुआ है?

में डाले[१] रखते हैं। जब पानी भी पीते हैं तब उसको दिखलाकर पीते हैं, उनका भी मन्त्र शैवों[२] के तुल्य रहता है।

ब्राह्मसमाज[३] और प्रार्थनासमाज के गुण-दोष कथन[४]—

प्रश्न—'**ब्राह्मसमाज**' और '**प्रार्थनासमाज**' तो अच्छा है, वा नहीं?

उत्तर—कुछ बातें अच्छी और बहुत-सी बुरी हैं।

प्रश्न—'ब्राह्मसमाज' और 'प्रार्थनासमाज' सबसे अच्छा है, क्योंकि इसके नियम बहुत अच्छे हैं।

उत्तर—नियम सर्वांश में अच्छे नहीं, क्योंकि वेदविद्याहीन लोगों की कल्पना सर्वथा सत्य क्योंकर हो सकती है? जो कुछ ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाया,[५] कुछ मूर्त्तिपूजा को हटाया,[६] अन्य जालग्रन्थों के फंद से भी कुछ बचाये,[७] इत्यादि अच्छी बातें हैं, परन्तु—

१. इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत-से ले लिये हैं। खानपान, विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं।

२. अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान पर[८] भरपेट[९] निन्दा करते हैं, व्याख्यानों में ईसाई आदि अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट[१०] करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**डाल रखते हैं**'' और ''**शैव**'' अपप्रयोग हैं, ''**डाले रखते हैं**'', ''**शैवों**'' अभीष्ट हैं।

३-४. **ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज**—बंगाल के हिन्दुओं में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से सन् १८२८ में राजा राममोहन राय ने '**आत्मीय सभा**' नाम का संगठन बनाया। बाद में उसका नाम '**ब्राह्म समाज**' रख दिया। राजा जी के बाद केशवचन्द्र सेन ने इसके नियमों में परिवर्तन करके इस संगठन को ईसाई-मत की ओर झुका दिया। इस संगठन में रवीन्द्रनाथ टैगोर, देवेन्द्रनाथ टैगोर, प्रफुल्लचन्द्र राय सदृश प्रसिद्ध व्यक्ति रहे हैं।

प्रार्थनासमाज की स्थापना डॉ० आत्माराम (बम्बई निवासी) ने धर्मप्रचार के लिए सन् १८६८ में की थी। इसके उद्देश्य और कार्य ब्राह्मसमाज से मिलते-जुलते थे। इस संगठन में सर आर.जी.भंडारकर, जे.रानाडे, रमाबाई आदि प्रसिद्ध व्यक्तित्व रहे हैं।

ऋषिहस्तलेख—यह शीर्षक मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित किया गया है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में ''**मनुष्यों को बचाये**'' अपपाठ है, ''**मनुष्यों को बचाया**'' शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—अगले वाक्यांश में ''**मूर्तिपूजा को हटाया**'' शुद्ध वाक्यरचना है।

६. **अपप्रयोग**—मूलह० में ''**हठाई**'', मुद्रणह०, द्विप्र०, उदयपुर सं० में ''**हठाया**'' अपप्रयोग है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह अपवाक्य है—''**अन्य ग्रन्थों के जालों से भी कुछ बचाये।**'' मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि० सं० में इसका उपर्युक्त संशोधन किया गया है जो उचित एवं ग्राह्य है।

८. **मुद्रणकालीन उचित पाठ-परिवर्तन**—मूलप्रति सं० और मुद्रणप्रति के ''**उसके बदले**'' पाठ के स्थान पर मुद्रण समय में, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उसके स्थान में**'' पाठ परिवर्तन किया है जो सही है।

९-१०. **मुद्रणलिपिकर के घोर प्रमाद से प्रयोग की अव्यवस्था**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में एक ही वाक्य में एक ही पद की दो वर्तनियां लिखी है—''**पेट भर**'' और ''**भरपेट**''। यह करामात मुद्रण-लिपिकर की है। मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० में ''**पेटभर**'' एक ही अशुद्ध वर्तनी दोनों स्थानों पर है। यहां '**भरपेट**' प्रयोग उचित है, क्योंकि यहां अव्ययीभाव समास है। इसका अर्थ है—'पेट भरकर'। यह मुहावरा है जिसका अर्थ है—जितनी हो सके उतनी खूब निन्दा करना। जैसे 'भरपूर' होता है। 'पेटभर' का अर्थ बनेगा—'जितना पेट है उतना', 'पूरे पेट जितना'। जैसे—'तोलाभर'=तोला जितना, 'रत्तीभर'=रत्ती जितना, आदि। प्रतिलिपि करते समय लिपिकर भिन्नता कर गया और अपने प्रमाद से ऋषि की भाषा को अव्यवस्थित बना दिया।

विद्वानों के संस्करणों में भी अव्यवस्था—लिपिकरों-शोधकों ने तो जो गुल खिलाये वे खिला दिये, किन्तु आर्य विद्वान् सम्पादकों को क्या कहें? एक भी विद्वान् ने न तो अशुद्धि का संशोधन किया है और न भाषात्मक अव्यवस्था को दूर किया है। यही दुरवस्था कथित दश सम्पादकों के 'उदयपुर सं०' की है।

भी नहीं लेते, प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि विना अंगरेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई भी विद्वान् नहीं हुआ, आर्यावर्तीय[१] लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं,[२] इनकी उन्नति कभी नहीं हुई।

३. वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य[३] के पुस्तक में साधुओं[४] की संख्या में 'ईसा' 'मूसा' 'मुहम्मद'[५] 'नानक' और 'चैतन्य' लिखे हैं,[६] किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा। इससे जाना जाता है कि ये लोग, जिनका नाम लिखा है, उन्हीं के मतानुसारी=मत-वाले हैं।

भला, जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और आर्यावर्त देश का अन्न-जल खाया-पीया[७] [है और][८] अब भी खाते-पीते हैं, अपने माता, पिता, पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजियों और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत-विद्या से रहित [होकर भी][९] अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, [यह][१०] मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है?

४. अंगरेज,[११] यवन, अन्त्यजादि से भी खाने-पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने-पीने और जातिभेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहाँ है? उलटा बिगाड़ होता है।

५. **प्रश्न**—जातिभेद ईश्वरकृत है, वा मनुष्यकृत?

उत्तर—ईश्वरकृत, और मनुष्यकृत भी जातिभेद है।

प्रश्न—कौन-से ईश्वरकृत और कौन-से मनुष्यकृत हैं?

---

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**आर्यावर्ती लोग**" अपप्रयोग है, मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध है। सारे ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर "**आर्यावर्तीय**" प्रयोग है, फिर भी 'उदयपुर' सं० ने अप-वर्तनी को ग्रहण किया है!!

२. **अपविराम**—द्विप्र० मूलसं० में, दोनों उपवाक्यों के बाद '**पूर्णविराम**' लगाना अशुद्ध है, '**अल्पविराम**' शुद्ध है, क्योंकि ये एक ही संयुक्त वाक्य के उपवाक्य है। सभी द्वि०सं० और 'उदयपुर' सं० में अपविराम चिह्न हैं।

३-५. **अपवर्तनी एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**उद्देश**" अपवर्तनी है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**साधु की संख्या में**" अपप्रयोग है, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**साधुओं की संख्या में**" संशोधित है। मूलह० में "**महमद**", मुद्रणह० में "**महमद**", द्विप्र० में "**महुम्मद**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित नाम है।

६. **अपविराम**—द्वि०सं०, मूलसं० में इस अर्धवाक्य के पश्चात् '**पूर्णविराम**' लगाया गया है जबकि यहां '**अल्पविराम**' चाहिए। वाक्य की पूर्त्ति दूसरे उपवाक्य के बाद होती है। अन्यथा, इस वाक्य में "**चैतन्य**" के बाद '**नाम**' पद परिवर्धित करना होगा क्योंकि "**चैतन्य लिखे हैं**" यह कोई वाक्य नहीं बनता। अगले वाक्य में उक्त "**नाम**" पद की संगति दोनों वाक्यों के साथ है। द्विप्र० में कोई विराम चिह्न नहीं है। सभी सं० में यहां अपविराम चिह्न है। 'उदयपुर' सं० में शुद्ध कर दिया है।

७-१०. **अपवर्तनी एवं त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तथा 'उदयपुर' सं० "**पिया**" अपवर्तनी है, '**पीया**' अभीष्ट है। उपयुक्त संगति के लिए '**है और**' पद परिवर्धन अपेक्षित है। आगे '**होकर भी**' पद भी आवश्यक है। इनके बिना वाक्य रचना नहीं होती। इसी कारण '**यह**' पद भी परिवर्धित करना आवश्यक है।

११. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में पूरे ग्रन्थ में इस शब्द की वर्तनी अव्यवस्थित है। इसकी तीन अव्यवस्थित वर्तनियां पाई जाती हैं—**१. अंग्रेज** (मूलसं० ४५३; द्वि० सं० ३४३), **२. अंगरेज** (मूलसं० ४५३; द्वि० सं० २५९, २६०), **३. अङ्गरेज** (मूलसं० ६१०)। इस एक ही प्रसंग में भी मूलप्रति सं० में दो वर्तनियां हैं—अंग्रेज, अंगरेज। यह लिपिकरों की अयोग्यता का परिणाम है। एकरूपता और भाषात्मक व्यवस्था के लिए तत्कालीन "**अंगरेज**" वर्तनी को स्वीकार किया है। यह पुर्तगाली भाषा के '**इंगलेज**' का अपभ्रंश है। आजकल यह शब्द '**अंग्रेज**' के रूप में भी लिखा जाने लगा है।

उत्तर—मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियाँ; वृक्षों में पीपल, वट, आम्र आदि; पक्षियों में हंस, काक, वकादि; जलजन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद ईश्वरकृत हैं; वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद [मनुष्यकृत] हैं,[१] परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में नहीं किन्तु सामान्य-विशेषात्मक

---

१. **ऋषि की मान्यता के विरुद्ध पाठ**—महर्षि की दृढ़तापूर्वक सुस्थापित मान्यता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था गुण-कर्म के आधार पर होती है, जन्म के आधार पर नहीं; और उसका निर्धारण आचार्य और राजा (राजसभा) द्वारा होता है (पृ० ७००/३)। यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में स्थापित सिद्धान्त के विरुद्ध यह वाक्य उपलब्ध है—''**मत्स्य, मकरादि जातिभेद हैं वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं।**'' **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का यह मत उचित है कि यहां पाठ विकृत हुआ है, क्योंकि इसी अनुच्छेद में आगे चौथी पंक्ति में इनको स्पष्टत: मनुष्यकृत लिखा है। इस विरोध के परिहार के लिए ''**ईश्वरकृत**'' पद ''**मकरादि जातिभेद**'' के बाद रखा जाना चाहिए। वही इसका संगत स्थान है। यदि वर्णों को ईश्वरकृत मान लिया जायेगा तो वे जन्म पर आधारित हो जायेंगे और जन्म पर आधारित होने से '**जन्मना जातिवाद**' बन जायेंगे, ईश्वरकृत होने से न वह गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार बदला जा सकेगा और न उसमें योग्यता आदि का महत्त्व रहेगा। प्रतीत होता है कि उक्त लेखन जन्मना जातिवादी लिपिकरों की शरारत है।

उक्त विद्वानों का यह मत सही है कि यहां निर्विवाद रूप से पाठ गड़बड़ हुआ है, क्योंकि इस पाठ का न तो ऋषि के सिद्धान्त से कोई तालमेल है, और न प्रश्न की भाषा से। प्रश्न और उत्तर में तीन बार ''**ईश्वरकृत**'' और ''**मनुष्यकृत**'' पदों का प्रयोग हुआ है। तदनुसार उत्तर में यह बताया जाना अपेक्षित था कि कौन-सी जातियां ईश्वरकृत हैं और कौन-सी मनुष्यकृत। ''**ईश्वरकृत**'' पद अस्थान में है और ''**मनुष्यकृत**'' जातियों की कहीं गणना ही नहीं है। आगे 'मनुष्यकृत' पद के बाद जातियों की गणना नहीं है अपितु उनकी व्यवस्था करने का विधान मात्र है। इससे यह संकेत मिलता है कि ''**ईश्वरकृत**'' पद ईश्वरकृत जातियों के साथ होना चाहिए था तथा ''**मनुष्यकृत**'' पद मनुष्यकृत जातियों अर्थात् वर्णों के साथ प्रयुक्त होना चाहिए था जो नहीं हुआ है। इसी प्रकार से पाठ पूर्ण, ऋषि की मान्यता के अनुकूल और प्रश्न की भाषा के अनुसार बन सकता है। इस संस्करण में पाठ को इन्हीं आधारों पर उचित क्रम में समायोजित किया है।

क्या अब वर्णव्यवस्था को जन्म से मानना पड़ेगा ?—यहां पाठ स्पष्टत: सिद्धान्तविरुद्ध, पूर्वापर-विरुद्ध और ग्रन्थकार-विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है। यदि कुछ लोग यह सोचते हैं कि पाण्डुलिपि में ऐसा ही पाठ है, इसलिए हम इसको यथावत् ग्रहण कर रहे हैं, तो उनका यह तर्क बहुत ही खोखला है, क्योंकि इस तर्क के आधार पर किसी सिद्धान्तविरुद्ध और अशुद्ध पाठ को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इस तर्क के आधार पर कोई इस पाठ को मान्यता देना चाहता है तो वह इस बात का भी उत्तर दे कि उसने पाण्डुलिपि में और ग्रन्थ में लिखित सैकड़ों वर्तनियों, वाक्यरचनाओं, पाठों, संख्याओं सिद्धान्त-विरुद्ध कथनों और प्रमाणों में संशोधन क्यों किया है ? वे भी पांडुलिपि में लिखित हैं, उनको यथावत् क्यों नहीं रखा ?

विडम्बना देखिए, जो संस्करण ऋषि दयानन्द के प्रति सर्वाधिक प्रतिबद्धता का दावा करते हैं, ऋषि दयानन्द के पाठ के नाम पर पाठ के बनाये रखने के प्रति आग्रही हैं, उन संस्करणों में भी ऋषिविरोधी, पूर्वापर-विरोधी और सिद्धान्तविरोधी अप्रामाणिक पाठ पाया जाता है !!! वे संस्करण हैं—मूलप्रति सं०, द्वितीय सं० और कथित दश विद्वानों द्वारा नवसम्पादित 'उदयपुर' संस्करण। उन्हें यह सोचना चाहिए कि सिद्धान्त-विरोध से बढ़कर ऋषि के लिए अहितकर कोई बात नहीं है।

पाठक जानना चाहते होंगे कि इन संस्करणों में स्वीकृत-प्रकाशित पाठ का क्या अर्थ है ? उसका अर्थ है कि जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हरिण आदि, पक्षिणों में हंस, कौआ आदि उपजातियां ईश्वरकृत हैं, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रियादि उपजातियां भी ईश्वरकृत हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईश्वरकृत व्यवस्था को कभी बदला नहीं जा सकता, वह जन्म से मिलेगी और मृत्युपर्यन्त रहेगी, उसमें जन्म का ही महत्त्व रहेगा, गुण-कर्म-योग्यता का नहीं। कोई यहां यह तर्क प्रस्तुत कर सकता है कि ऋषि ने आगे लिखा तो है कि 'गुण-कर्म के अनुसार उसकी व्यवस्था राजा और विद्वान् करेंगे', तो इस विषय में कथन यह है कि 'ईश्वरकृत' वाले कथन और इस कथन में यही तो परस्परविरोध आता है। जैसे ईश्वरकृत गौ को कोई घोड़ा आदि नहीं बना सकता, उसी प्रकार ब्राह्मण को कोई शूद्र आदि नहीं बना सकेगा। इसके अतिरिक्त इसकी कोई अन्य व्याख्या नहीं हो सकती।

यहां कोई व्यक्ति यह कुतर्क भी प्रस्तुत कर सकता है कि ब्राह्मण आदि वर्ण वेदोक्त हैं और वेद ईश्वरकृत हैं, अत: वेदोक्त होने से वर्ण भी 'ईश्वरकृत' हैं। इस कुर्तक को उपस्थित करने से पूर्व दोनों बातों के भेद को समझना आवश्यक है। वह यह कि वेदोक्त या ईश्वरकृत तो केवल वर्णविधान अर्थात् वर्णव्यवस्था है, ब्राह्मण आदि जातियों का गौ, अश्व आदि के समान जन्मना रचनाभेद नहीं। इस कुतर्क के आधार पर न तो इस पाठ का अन्तर्विरोध दूर हो सकता है और न सिद्धान्तविरोध, अत: इस पाठ

जाति[१] में गिनते हैं। जैसे पूर्व वर्णाश्रमव्यवस्था में लिख आये, वैसे ही गुण, कर्म, स्वभाव से वर्णव्यवस्था माननी आवश्यक[२] है। **इसमें मनुष्यकृतत्व [अर्थात्] उनके गुण, कर्म, स्वभाव से पूर्वोक्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्णों की परीक्षापूर्वक व्यवस्था करनी[३] राजा और विद्वानों का काम है।**

भोजनभेद ईश्वरकृत भी और मनुष्यकृत भी है। जैसे, सिंह मांसाहारी[४] [होते हैं] और अरणा[५] भैंसे घास आदि का आहार करते हैं, यह ईश्वरकृत; और देश-काल-वस्तु-भेद से भोजनभेद मनुष्यकृत है।

प्रश्न—देखो, यूरोपियन[६] लोग मुंडे जूते,[७] कोट-पतलून पहरते, होटल में सबके हाथ का खाते हैं, इसीलिये अपनी बढ़ती करते जाते हैं।

उत्तर—यह तुम्हारी भूल है; क्योंकि मुसलमान, अन्त्यज लोग सबके हाथ का खाते हैं, पुनः उनकी उन्नति क्यों नहीं होती ? जो यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़कों और लड़कियों[८] को विद्या-सुशिक्षा करना-कराना, स्वयम्वर विवाह होना, बुरे-बुरे आदमियों का उपदेश नहीं होना है;

का ऊपर मूल पाठ में कृत संशोधन अपरिहार्य है।

प्रश्न उठता है कि क्या अब आर्यजनों को अपना सिद्धान्त बदल लेना चाहिए ? क्योंकि आर्यसमाज के दश विद्वानों, जो स्वयं को दृढ़ ऋषिभक्त और सिद्धान्तरक्षक घोषित करते हैं, उन्होंने '**ईश्वरकृत जातिभेद**' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। उस पाठ को प्रकाशित कर अपनी मोहर लगा दी है। इस स्थिति में विद्वत् समिति तथा अन्य संस्करणों को आर्यजनता के सामने यह स्पष्ट करना चाहिए कि वे ऋषि-सिद्धान्त-विरोधी परम्परा के संवाहक, संरक्षक और पोषक क्यों बने हैं ? विडम्बना देखिए, जिन्होंने अपने पाठ का संशोधन नहीं किया है वे वही संस्करण हैं जो ऋषि के प्रति सर्वाधिक प्रतिबद्धता का दावा करते हैं।

१. **जाति शब्द वर्ण-वाचक**—महर्षि ने अग्रिम पंक्तियों में ब्राह्मण, शूद्र आदि सामान्य-विशेषात्मक जातियों के लिए 'वर्णव्यवस्था' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि 'जाति' का प्रयोग 'वर्ण' के लिए कर रहे हैं, जन्मना जाति के लिए नहीं। शास्त्रीय परम्परा में भी 'जाति' को 'वर्ण' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है, जैसे—"**आचार्यस्त्वस्य यां जातिं.....उत्पादयति सावित्र्या**" (मनु० २.१४८) अर्थात् गायत्री संस्कार के द्वारा आचार्य बालक को जाति अर्थात् वर्ण की दीक्षा देता है। "**उत्कृष्टां जातिमश्नुते**" (मनु० ९.३३५)=शूद्र उत्तम वर्ण को प्राप्त कर लेता है। आदि।
सामान्य-विशेषात्मक जाति—"**समानप्रसवात्मिका जातिः**" (न्यायदर्शन २.२.६८)=समान प्रसव अर्थात् समान योनि, समान शरीर-संरचना के होने से वह एक जाति होती है। सभी मनुष्य समान हैं, इसलिए 'मनुष्य' यह एक सामान्य जाति है। इन मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण विशेष गुण-कर्मों के अनुसार विशेष गुण-कर्मों से युक्त बनते हैं, अतः यह विशेष जातित्व है। इस कारण ब्राह्मणादि वर्ण 'सामान्य विशेषात्मक जाति' वाले कहलाते हैं। सामान्य जाति का निर्माण ईश्वरकृत है, किन्तु विशेषात्मक जाति अर्थात् वर्ण मनुष्यकृत हैं।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अवश्य**" अपप्रयोग है, "**आवश्यक**" अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**व्यवस्था परीक्षापूर्वक करनी**" वाक्यांश का क्रम द्वि० सं० में उपर्युक्त रूप से संशोधित है, वही ग्राह्य है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मांसाहारी**" प्रयोग है। यदि "**मांसाहारी**" विशेषण रखेंगे तो फिर इसके लिए क्रियापद '**होते हैं**' का परिवर्धन करना होगा, क्योंकि इसकी क्रिया लुप्त है। 'उदयपुर' सं० आदि सभी में यही विसंगति है।

५,६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अर्णा**" अपवर्तनी है, यहां '**अरणा**' (=जंगली भैंसा) शुद्ध वर्तनी अपेक्षित है। यह "**आरण्य**" शब्द का अपभ्रंश है। मुद्रणह०, द्विप्र० में 'यूरोपियन्' अशुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में भी ये अपवर्तनियां हैं।

७. **मुंडे जूते**—आगे से बिना नोक के जूते।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**लड़का-लड़की को**" अपप्रयोग है, शुद्ध प्रयोग की दृष्टि से '**लड़कों और लड़कियों को**' अपेक्षित है।

इससे[१] वे विद्वान् होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फसते। जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं। स्वजाति[२] की उन्नति के लिये तन-मन-धन व्यय करते हैं। आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं। देखो, अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय (=आफिस) और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने में ही समझ लो कि अपने देश के बने जूतों की भी कितनी प्रतिष्ठा करते हैं, उतनी अन्य-देशस्थ मनुष्यों की भी नहीं करते![३] देखो, सौ-वर्ष से कुछ ऊपर[४] यूरोपियनों[५] को आये इस देश में बीते हैं, और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहरते हैं जैसे[६] कि स्वदेश में पहरते हैं,[७] उनको नहीं छोड़ा;[८] और तुम में से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया, इसी से तुम निर्बुद्धि [ठहरते हो][९] और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं।[१०] अनुकरण करना बुद्धिमानों का काम नहीं।[११] और जो जिस काम पर रहता है, उसको यथोचित करता है। आज्ञानुवर्ती बराबर रहते हैं। अपने देशवालों को व्यापार आदि में सहाय देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे[१२] कर्मों से उनकी उन्नति

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**नहीं होता**" क्रिया पूर्वपाठ के अनुरूप नहीं है। उसके अनुसार "**नहीं होना है, इससे**" पाठ यहां उपयुक्त है। 'उदयपुर' सं० में भी अपपाठ है।

२. **पुनरुक्तियुक्त अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पुनरुक्तिपूर्ण "**अपनी स्वजाति की**" अपप्रयोग है, यहां केवल "**अपनी जाति**" या "**स्वजाति**" ही पर्याप्त है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर सं०' में यह अपप्रयोग है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में इस वाक्य का संशोधन अपवाक्य के रूप में किया है—"**अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं।**" मूलह० में केवल "**प्रतिष्ठा**" शुद्ध प्रयोग है। यहां मुद्रणह० में "**कितनी**" और "**उतनी**" स्त्रीलिंग प्रयोग शुद्ध माने जायेंगे। यही अशुद्ध पाठ 'उदयपुर' सं० व अन्य सभी द्वि०सं० में है।

४. **लिपिकरों द्वारा भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० मुद्रणह०, द्विप्र० में लिपिकरों ने "**कुछ सौ वर्ष से ऊपर**" पाठ लिखा है, जो भ्रष्ट और तथ्यविरुद्ध पाठ है क्योंकि इसमें ऐतिहासिक तथ्य का ध्यान लिपिकरों ने नहीं रखा। इसका अर्थ बनेगा कि अंगरेजों को शासक के रूप में आये "कई सौ वर्ष" हो चुके हैं। पता नहीं, फिर भी किस कारण से आज भी सभी द्वि०सं० में यह अशुद्ध पाठ छप रहा है। 'उदयपुर' सं० में भी यही पाठ है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**यूरोपियन**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६,७. **अयोग्य लिपिकरों द्वारा वर्तनी की अव्यवस्था एवं अपप्रयोग**—पाठक इस वाक्य में लिपिकरों का प्रमाद देखें। मूल हस्तलेख के लिपिकर ने इस वाक्य में दो बार आई क्रिया को पहली बार "**पहिनते**" लिखा, दूसरी बार "**पहिरते**" लिखा। मुद्रणप्रति लिपिकर ने जब प्रतिलिपि की तो पहली "**पहरते**" वर्तनी लिखी, दूसरी बार "**पहिरते**" लिखी। देखा आपने लिपिकरों-शोधकों की योग्यता और बुद्धि का दिवालियापन? यहां एकरूपता और मानकता के लिए एक वर्तनी "**पहरते**" चाहिए। ऊपर 'प्रश्न' की भाषा में "**पहरते**" वर्तनी ही है। सभी अन्य सं० तथा 'उदयपुर' सं० में यह अव्यवस्था है। इसके अतिरिक्त "**जैसा**" के स्थान में '**जैसे**' प्रयोग वांछित है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा असंगत परिवर्तन**—यहां अपने परम्परागत कपड़े पहनने की चर्चा है। उसकी प्रशंसा में ग्रन्थकार ने मूल हस्तलेख में लिखाया कि "**उनको नहीं छोड़ा।**" अर्थात् इस देश में आकर भी अपने मोटे कपड़ों को पहनना नहीं छोड़ा। मुद्रण प्रति के लिपिकर ने यहां बुद्धिहीन परिवर्तन किया—"**उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा।**" अर्थात् मोटे कपड़े पहनना लिपिकर के मतानुसार '**चाल-चलन**' के अन्तर्गत आता है!! मुद्रणलिपिकर यह भी भूल गया कि यह चर्चा 'प्रश्न' में आये "**कोट-पतलून पहरने**" के संदर्भ में है। यही हास्यास्पद पाठ द्वि०सं० में छप रहा है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ०कोष्ठकान्तर्गत क्रिया पाठ ग्राह्य है क्योंकि यहां क्रिया त्रुटित है। आगे द्विप्र० में "**ठहराते हैं**" अपप्रयोग है। यह मुद्रणकाल में किया गया है।

११. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के प्रसंगानुसारी बहुवचनात्मक वाक्य को मुद्रणलिपिकर ने एकवचन में बदलकर अशुद्ध परिवर्तन कर दिया—"**अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।**" यही पाठ सभी द्वि०सं० में छप रहा है। पूर्वोक्त वाक्य की संगति के अनुसार बहुवचनात्मक प्रयोग उपयुक्त है। 'उदयपुर' सं० में एकवचनात्मक अपपाठ है।

१२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पदवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अच्छे-अच्छे**" दो बार आवृत्ति करना निरर्थक है।

है, मुंडे जूते, कोट, पतलून, होटल में खाने आदि साधारण और बुरे कामों से नहीं बढ़े हैं।

और इनमें जातिभेद भी है। देखो, जब कोई यूरोपियन, चाहे कितने बड़े अधिकार पर और प्रतिष्ठित हो, किसी अन्य देश [वा][१] अन्य मत-वालों की लड़की [यूरोपियन से][२] वा यूरोपियन लड़की अन्य-देशवाले से विवाह कर लेती है, तो उसी सण्मय उसका निमन्त्रण, साथ बैठकर खाना और विवाह आदि अन्य लोग बंद[३] कर देते हैं। यह जातिभेद नहीं तो क्या [है] ?[४] और तुम भोलों को बहकाते हैं कि हममें जातिभेद नहीं। तुम अपनी मूर्खता से मान भी लेते हो। इसलिये **जो कुछ करना, वह सोच-विचारकर करना चाहिये, जिसमें पुनः पश्चात्ताप करना न पड़े।**

देखो, वैद्य और औषध की आवश्यकता रोगी के लिये है, नीरोग के लिये नहीं। विद्यावान् नीरोग और विद्यारहित अविद्यारोग से ग्रस्त[५] रहता है। उस रोग को छुड़ाने के लिये सत्यविद्या और सत्योपदेश है। उनको अविद्या से यह रोग है कि खाने-पीने में ही धर्म रहता और जाता है। जब किसी को खाने-पीने में अनाचार करता[६] देखते हैं तब कहते और जानते हैं कि वह धर्मभ्रष्ट हो गया, उसकी बात न सुनते[७] और न उसके पास बैठते, न उसको अपने पास बैठने देते।

अब कहिये कि तुम्हारी विद्या स्वार्थ के लिये है, अथवा परमार्थ के लिये ? परमार्थ तो तभी होता कि जब तुम्हारी विद्या से अज्ञानियों को लाभ पहुँचता। जो कहो कि वे नहीं लेते, हम क्या करें ? यह तुम्हारा दोष है, उनका नहीं; क्योंकि तुम जो अपना आचरण अच्छा रखते तो तुमसे प्रेम कर वे उपकृत होते, सो तुमने सहस्त्रों का उपकार-नाश करके अपना ही सुख किया, सो यह तुमको बड़ा अपराध लगा। क्योंकि **परोपकार करना धर्म और परहानि करना अधर्म कहाता है। इसलिये विद्वानों को यथायोग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःखसागर से तारने के लिये नौकारूप होना चाहिये।**[८] मूर्खों के सदृश कर्म सर्वथा न करने चाहियें, किन्तु जिनमें उनकी और अपनी[९] उन्नति हो, वैसे कर्म करने उचित हैं।

प्रश्न—हम कोई पुस्तक ईश्वरप्रणीत वा सर्वांश-सत्य नहीं मानते; क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि निर्भ्रान्त नहीं होती, इससे उनके बनाये ग्रन्थ सब भ्रान्त होते हैं। इसलिये हम सबसे 'सत्य' ग्रहण करते और 'असत्य' को छोड़ देते हैं। चाहे सत्य **'वेद'** में, **'बाइबल'**[१०] में, **'क़ुरान'** में और अन्य किसी ग्रन्थ

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य त्रुटित एवं अपूर्ण है। इसमें ऊपर निर्दिष्ट **'वा'** और **'यूरोपियन से'** पदों की वृद्धि आवश्यक है, अन्यथा संगति नहीं बनती।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''बंध''** अपवर्तनी है, यहां **'बंद'** अपेक्षित है। ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर **'बंद'** पद आधारित वर्तनी प्रयुक्त है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'है'** क्रिया त्रुटित है। यह आवश्यक है।

५-७. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में यहां **'ग्रसित'** अपप्रयोग है, **'ग्रस्त'** शुद्ध है। अन्यत्र शुद्ध प्रयोग है। द्वि०सं० में संशोधित है। इसी प्रकार **''कर्त्ता''** तथा **''सुननी''** अपप्रयोग हैं।

८. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—**''विद्वान् को.....नौकारूप होने चाहियें''**। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में भी शुद्ध पाठ है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणह० में यहां **''दिन प्रतिदिन की उन्नति''** परिवर्धन निरर्थक एवं अनावश्यक है।

१०. **वर्तनी की घोर अव्यवस्था**—पाठक लेखन की अव्यवस्था का तांडवरूप देखें—यहां मूलह० और मुद्रणह० में **''बायबिल''** अपवर्तनी है। द्विप्र० में **''बायइबिल''** भ्रष्ट रूप है। मूलप्रति सं० और द्वि० सं० में **''बाईबिल''** अपवर्तनी है। (द्र० टिप्पणी पृ० ८४१ पर भी)। अब यहां विद्वानों का सम्पादन देख लीजिए—**पं० भगवद्दत्त जी** ने **''बाइबिल''** वर्तनी है उदयपुर सं० में

में हो, हमको ग्राह्य है, असत्य किसी का नहीं।

उत्तर—जिस बात से तुम सत्यग्राही होना चाहते हो, उसी बात से असत्यग्राही भी ठहरते हो; क्योंकि जब सब मनुष्य भ्रान्तिरहित नहीं हो सकते तो तुम भी मनुष्य होने से भ्रान्तिसहित हो। जब भ्रान्तिसहित का वचन सर्वांश में प्रमाण नहीं होता तो तुम्हारे वचन का प्रमाण भी[१] नहीं होगा। फिर तुम्हारे वचन पर भी सर्वथा विश्वास न करना चाहिये। जब ऐसा है तो विषयुक्त अन्न के समान त्याग के योग्य है। फिर तुम्हारे व्याख्यान-पुस्तक बनाये का प्रमाण किसी को न करना चाहिये। '**चले तो थे[२] चौबे जी छब्बे जी बनने को, गाँठ के दो खोकर दूबे जी बन गये।**'

[३]तुम सर्वज्ञ [भी] नहीं, जैसे कि अन्य मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हैं। कदाचित् भ्रम से असत्य को ग्रहणकर सत्य को छोड़ भी देते होगे, इसलिये सर्वज्ञ परमात्मा[४] के वचन का सहाय हम अल्पज्ञों को अवश्य होना चाहिये। **जैसा कि वेद के व्याख्यान में लिख आये हैं, वैसा तुमको मानना चाहिये,**[५] नहीं तो "**यतो भ्रष्टः, ततो भ्रष्टः**"[६] हो जाना है।

जब सर्व सत्य वेदों से प्राप्त होता है, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, उनका ग्रहण करने में शङ्का करनी अपनी और पराई हानिमात्र कर लेनी है। इसी बात से तुमको आर्यावर्तीय लोग अपने नहीं समझते और तुम आर्यावर्त की उन्नति के कारण भी नहीं हो सके; क्योंकि तुम '**सब घर के भिक्षुक**' ठहरे हो। तुमने समझा है कि इस बात से हम लोग अपना और पराया उपकार कर सकेंगे, सो न कर सकोगे। जैसे, **किसी के दो ही माता-पिता सब संसार के लड़कों का पालन करने लगें, [तो] सबका पालन करना तो असम्भव है किन्तु उस बात से अपने लड़कों को भी नष्ट कर बैठें; वैसे ही आप लोगों की गति है।**

भला, वेदादिक को माने विना तुम अपने वचनों की सत्यता-असत्यता की परीक्षा और आर्यावर्त की उन्नति भी कभी कर सकते हो ? जिस देश को रोग हुआ है, उसकी औषधि[७] तुम्हारे पास नहीं।

"**बायबिल**"। अर्थात् चमत्कार यह है कि शब्द एक, स्थान एक, ग्रन्थ एक और ग्रन्थकार एक किन्तु वर्तनियां चार हैं!! ऐसी स्थिति में एक सामान्य पाठक माथा पकड़कर बैठने के अलावा क्या कर सकता है ?

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपसंशोधन**—मुद्रणह० में यहां "**विश्वास**" पद अपसंशोधन है, पूर्वार्ध वाक्य में "**प्रमाण**" होने का संदर्भ है। उसके सम्बन्ध से यहां '**प्रमाण**' पद अपेक्षित है। मूलप्रति सं० में यह पद त्रुटित है। "**विश्वास**" पद अग्रिम वाक्य में है। यहां भी इसको रखा जायेगा तो पुनरुक्ति हो जायेगी। वैसे इसको रखना शुद्ध भी नहीं है।

२. **त्रुटित क्रिया एवं अपवर्तनी**—कहावत की भाषा के अनुसार यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**थे**" क्रिया त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, 'उदयपुर' सं० में "**दुबे**" अपवर्तनी है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा परिवर्धित अनावश्यक पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**कुछ**" पद निरर्थक रूप से प्रयुक्त है। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह नहीं है।

४. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**परमात्मा**" पद का वर्धन उचित एवं ग्राह्य है।

५. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य समु० ७ में पृ० ३६२।

६. **अर्थ**—'**सर्वतो भ्रष्ट**' हो जाना। जहां-तहां अर्थात् सभी स्थानों से भ्रष्ट हो जाना।

७. **वर्तनी की अव्यवस्था और उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० में "**ओषधी**" वर्तनी है। मूलसं० व द्विप्र० में "**ओषधि**" है। ये चारों अपप्रयोग हैं। इनका अर्थ होता है—'वनस्पति' अथवा 'जड़ी-बूटी'। यहां ग्रन्थकार का आशय 'दवाई' से है। उसके लिए शुद्ध प्रयोग '**औषध, औषधि, औषधी**' होता है। आश्चर्य है कि सभी सम्पादकों ने अशुद्ध रूप को ग्रहण किया है।
संशोधन-पुष्टि—ग्रन्थकार ने अन्यत्र कई स्थलों पर इसी शुद्ध शब्द का प्रयोग किया है—"**वैद्य और औषध की आवश्यकता**"

और यूरोपियन लोग तुम्हारी अपेक्षा नहीं करते और आर्य लोग तुमको अन्य-मतियों[१] के सदृश समझते हैं। अब भी समझकर वेदादि के मान्य से देशोन्नति करने लगो तो भी अच्छा है।

जो तुम यह कहते हो कि सब सत्य परमेश्वर से प्रकाशित होता है, पुनः ऋषियों के आत्माओं में ईश्वर से प्रकाशित हुए सत्यार्थ-वेदों को क्यों नहीं मानते? हाँ, यही कारण है कि तुम लोग वेद नहीं पढ़े और न पढ़ने की इच्छा करते हो; क्योंकर तुमको वेदोक्त ज्ञान हो सकेगा?

६. दूसरा, जगत् के उपादान कारण के विना जगत् की उत्पत्ति, और जीव को भी उत्पन्न मानते हो; जैसे[२] ईसाई और मुसलमान आदि मानते हैं। **इसका उत्तर सृष्ट्युत्पत्ति और जीव-ईश्वर[३] की व्याख्या में देख लीजिये।** कारण के विना कार्य का होना सर्वथा असम्भव और उत्पन्न वस्तु का नाश न होना भी वैसे[४] ही असम्भव है।

७. **एक यह भी तुम्हारा दोष है[५] कि जो पश्चात्ताप और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति मानते हो। इसी बात से जगत् में बहुत-से पाप बढ़ गये हैं।** क्योंकि पुराणी लोग तीर्थादि यात्रा से; जैनी लोग भी नवकार मन्त्र, जप और तीर्थादि से; ईसाई लोग ईसा के विश्वास से; मुसलमान लोग 'तौबा'[६] करने से पाप का छूट जाना विना भोग के मानते हैं। इससे पापों से भय न होकर पाप में प्रवृत्ति बहुत हो गई है। इस बात में ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजी भी पुराणी[७] आदि के समान हैं। जो वेदों को मानते[८] तो विना भोग के पाप-पुण्य की निवृत्ति न होने से पापों से डरते और धर्म में सदा प्रवृत्त रहते। जो भोग के विना निवृत्ति मानें तो ईश्वर अन्यायकारी होता है।

८. जो तुम जीव की अनन्त उन्नति मानते हो, सो कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ससीम जीव के गुण-कर्म-स्वभाव का फल भी ससीम होना आवश्यक है।[९]

प्रश्न—परमेश्वर दयालु है, ससीम कर्मों का फल अनन्त दे देगा।

उत्तर—ऐसा करे तो परमेश्वर का न्याय नष्ट हो जाय, और सत्कर्मों की उन्नति भी कोई न करेगा,

---

(समु० ११, पृ० ७०२/८), "**वैद्य और औषधों की आवश्यकता....।**" (समु० ५, पृ० २४६) 'उदयपुर' सं० में भी यहां "**ओषधि**" अपप्रयोग है।

१. **अन्य मतियों**=अन्य मत वालों के समान।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसा**" अपप्रयोग है, '**जैसे**' अपेक्षित है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—सृष्ट्युत्पत्ति अष्टम समु० में पृ० ३७२ पर है। जीव-ईश्वर की व्याख्या सप्तम समु० में पृ०३१७, ३४५ पर है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वैसा**" अपप्रयोग है, '**वैसे**' अपेक्षित है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में "**एक यह भी तुम्हारा दोष है**" ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, मूलप्रति सं० में "**तोबः**", द्वि० सं० में "**तोबाः**" अशुद्ध वर्तनी है। यद्यपि हिन्दी में "**तौबा**" और '**तोबा**' प्रचलित है किन्तु ग्रन्थ में भाषात्मक एकरूपता और मानकता के लिए अरबी का पद "**तौबा**" ग्राह्य है, क्योंकि चतुर्दश समुल्लास की आयतों में इसी वर्तनी का प्रयोग है। अरबी में यह "**तौबः**" लिखा जाता है।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**पुरानी**" अपवर्तनी है। मूलसं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधित है।

८. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्वि० सं० में "**मानते**" क्रिया के स्थान पर "**सुनते**" अपसंशोधन है। मूलप्रति, मूलसं, और मुद्रणप्रति में ठीक पाठ है। द्वि० सं० प्रथमावृत्ति में अशुद्ध है। यह मुद्रण-समय में किया गया अशुद्ध परिवर्तन है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अवश्य**" अपप्रयोग है, यहां "**आवश्यक**" अभीष्ट है। अन्य सभी द्वितीय सं० तथा 'उदयपुर' सं० भी अपप्रयोग है।

क्योंकि थोड़े-से भी सत्कर्मों का अनन्त फल परमेश्वर दे देगा! और **पश्चात्ताप वा प्रार्थना से पाप चाहे जितने हों, छूट जायेंगे; ऐसी बातों से धर्म की हानि और पाप-कर्मों की वृद्धि होती है।**

प्रश्न—हम 'स्वाभाविक' ज्ञान को वेद से भी बड़ा मानते हैं, 'नैमित्तिक' को नहीं, क्योंकि जो स्वाभाविक ज्ञान परमेश्वरदत्त हममें न होता तो वेदों को भी कैसे पढ़-पढ़ा, समझ-समझा सकते [थे];[१] इसलिये हम लोगों का मत बहुत अच्छा है।

उत्तर—यह तुम्हारी बात निरर्थक है; क्योंकि जो किसी का दिया हुआ ज्ञान होता है, वह स्वाभाविक नहीं होता। जो स्वाभाविक है, वह 'सहज ज्ञान' होता है और न वह बढ़-घट सकता, उससे उन्नति कोई भी नहीं कर सकता; क्योंकि जंगली मनुष्यों में भी स्वाभाविक ज्ञान है, तो भी वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते, और जो नैमित्तिक ज्ञान है, वही उन्नति का कारण है। देखो, तुम-हम बाल्यावस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म कुछ भी ठीक-ठीक नहीं जानते थे। जब हम विद्वानों से पढ़े, तभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म को समझने लगे। इसलिये स्वाभाविक ज्ञान को सर्वोपरि मानना ठीक नहीं।

९. जो आप लोगों ने पूर्व और पुनर्जन्म नहीं माना है, वह ईसाई-मुसलमानों से लिया होगा। **इसका भी उत्तर पुनर्जन्म की व्याख्या[२] से समझ लेना।** परन्तु इतना समझो कि जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाहरूप से नित्य हैं। कर्म और कर्मवान् का नित्य सम्बन्ध होता है। क्या वह जीव कहीं निकम्मा बैठा रहा था वा रहेगा? और परमेश्वर भी 'निकम्मा' तुम्हारे कहने से होता है। पूर्वापर जन्म न मानने से '**कृतहानि**'[३] और '**अकृताभ्यागम**'[४] '**नैर्घृण्य**'[५] और '**वैषम्य**'[६] दोष भी ईश्वर में आते हैं—[**प्रथम**][७]—क्योंकि जन्म न हो तो पाप-पुण्य के फल-भोग की हानि हो जाये। क्योंकि जिस प्रकार दूसरे को सुख-दुःख, हानि-लाभ पहुँचाया होता है, वैसा उसका फल विना शरीर धारण किये नहीं होता। **दूसरा**—पूर्वजन्म के पाप-पुण्यों के विना दुःख-सुख की प्राप्ति इस जन्म में क्योंकर होवे? [**तीसरा**][८]—जो पूर्वजन्म के पाप-पुण्यानुसार न होवे तो परमेश्वर अन्यायकारी और [**चौथा**][९]—'विना भोग किये नाश' के समान कर्म का फल हो जावे। इसलिये यह भी बात आप लोगों की अच्छी नहीं।

१०. और एक यह कि ईश्वर के अतिरिक्त[१०] दिव्यगुणवाले पदार्थों और विद्वानों को भी 'देव' न

---

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**थे**' क्रिया त्रुटित है, यहां वाक्यान्त में क्रिया आवश्यक है।

२. **पुनर्जन्म**—इस विषयक विवेचन नवम समुल्लास में पृ० ४४३ तक द्रष्टव्य है।

३. **कृतहानि**=किये हुए कर्मों की फलप्राप्ति न होने से होने वाली हानि।
ऋषिहस्तलेख—"**पूर्वापर जन्म न मानने से**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **अकृताभ्यागम**=बिना कर्मों के किसी को जन्म, सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होना।

५. **नैर्घृण्य**=किसी के प्रति घृणा-निन्दा का भाव। न्यायानुसार फल न दे तो ईश्वर अन्यायकारी एवं '**घृणा का पात्र**' माना जायेगा।

६. **वैषम्य**=कर्मफल की अव्यस्था होना। बिना कर्मफल भोगे उसका नष्ट हो जाना अथवा किसी अन्य का कर्मफल किसी अन्य को प्राप्त होना आदि।

७-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में दोषों की गणना में केवल "**दूसरा**" पद पठित है, शेष '**प्रथम, तीसरा, चौथा**' त्रुटित हैं। उनको कोष्ठक में दर्शाया है।

१०. **अप-अनुवाद**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में यहां "**ईश्वर के विना**" पाठ है। यहां स्पष्टार्थ के लिए '**अतिरिक्त**' अनुवाद अधिक उपयुक्त है। ग्रन्थकार ने कई स्थलों पर इस पद का प्रयोग किया भी है। मूलह० में "**सिवाय**" प्रयोग लिखा गया था,

मानना, ठीक नहीं; क्योंकि परमेश्वर महादेव है, और जो देव न होते तो सब देवों का स्वामी होने से 'महादेव' क्योंकर कहाता?

११. एक, अग्निहोत्रादि परोपकारक कर्मों को कर्त्तव्य न समझना अच्छा नहीं।

१२. ऋषि-महर्षियों के किये उपकारों को न मानकर ईसा आदि के पीछे झुक पड़ना, अच्छा नहीं।

१३. और कारण विद्या [रूप] वेदों के विना अन्य कार्य विद्याओं की प्रवृत्ति मानना सर्वथा असम्भव है।

१४. और जो विद्या के[१] चिह्न '**यज्ञोपवीत**' और '**शिखा**' को छोड़ मुसलमानों-ईसाइयों के सदृश बन बैठना व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहरते हो और '**तमगों**' की इच्छा करते हो, तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था?

१५. और ब्रह्मा से लेकर पीछे-पीछे आर्यावर्त में बहुत से विद्वान् हो गये हैं; उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियनों[२] की ही स्तुति में उतर पड़ना, पक्षपात और खुशामद के विना क्या कहा जाय?

१६. और बीजाङ्कुर के समान जड़-चेतन के योग से जीवोत्पत्ति मानना, उत्पत्ति के पूर्व जीवतत्त्व का न मानना और उत्पन्न का नाश न मानना, **पूर्वापर-विरुद्ध** है।[३] जो उत्पत्ति के पूर्व चेतन और जड़ वस्तु न था तो जीव कहाँ से आये? और संयोग किनका हुआ? जो इन दोनों को सनातन मानते हो तो ठीक है, परन्तु सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना दूसरे किसी तत्त्व को न मानना, यह आपका पक्ष व्यर्थ हो जायगा।

इसलिये जो उन्नति करना चाहो तो 'आर्यसमाज'[४] के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता। यदि इस समाज को यथावत् उन्नति देवें[५] तो बहुत अच्छी बात

जो सटीक था, किन्तु किसी शोधक ने हिन्दीकरण के लिए उसको काटकर "**विना**" पाठ कर दिया।

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**विद्या का चिह्न.....को**" अपप्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में भी अपपाठ है। यहां '**के**' पद अभीष्ट है। इसी प्रकार आगे एकवचनात्मक "**यूरोपियन**" अपप्रयोग है, यहां बहुवचनात्मक "**यूरोपियनों**" चाहिए। 'उदयपुर' सं० में भी एकवचनात्मक अपप्रयोग है।

३. **पूर्वापर-विरुद्ध**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**पूर्वापर विरुद्ध**" पाठ है। मान्यताओं के पारस्परिक विरोध को व्यक्त करने '**परस्परविरोध**' के पर्याय के रूप में यह प्रयुक्त हुआ है।

४. **आर्यसमाज की स्थापना**—वेदों, वैदिक शास्त्रों, वैदिक सिद्धान्तों, मूल्यों, विचारों आदि की पुनः स्थापना, प्रचार और प्रसार के लिए, समाज में फैले अज्ञान, अन्धविश्वास, पाखण्ड को नष्ट करने के लिए, समाज में फैली कुरीतियों, रूढ़ियों, विकृतियों, पतनकारी प्रवृत्तियों को दूर कर समाज-सुधार करने आदि श्रेष्ठ उद्देश्यों के क्रियान्वयन के लिए महर्षि ने इस समाज की स्थापना की थी। प्रथम आर्यसमाज की स्थापना मुम्बई में चैत्र शुक्ल ५, संवत् १९३२ (गुजराती सं० १९२१) तदनुसार १० अप्रैल, शनिवार, सन् १८५७ के दिन, मोहल्ला गिरगांव में डॉ० माणिक जी के बगीचे में सांय ५.३० बजे हुई थी। उसके बाद अनेक नगरों में हुई। आज तक देश-विदेश में कई हजार आर्यसमाजें स्थापित हो चुकी हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**उन्नति देवे**" सारगर्भित उत्तम वाक्य के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**सहायता देवें**" पाठ बहुत ही निम्न स्तर का "**उन्नति देवें**" में अभिप्राय है '**प्रसार-विस्तार करने-कराने आदि का**', जबकि सहायता में केवल मदद करने का भाव है। यह अनावश्यक परिवर्तन मुद्रणलिपिकर ने किया है।

है; क्योंकि समाज का सौभाग्य बढ़ाना 'समुदाय' का काम है, [किसी][1] 'एक' का नहीं।

प्रश्न—आप सबका खण्डन करते ही आते हो, परन्तु अपने-अपने धर्म में सब अच्छे हैं, खण्डन किसी का न करना चाहिये; और जो करते हो तो आप इनसे विशेष क्या बतलाते हो? जो बतलाते हो तो क्या 'आप से अधिक वा तुल्य कोई पुरुष न था, और न है, ऐसा अभिमान करना आपको उचित नहीं। क्योंकि परमात्मा की सृष्टि में एक, एक[2] से अधिक, तुल्य और न्यून बहुत हैं; किसी को घमण्ड करना उचित नहीं।

उत्तर—धर्म[3] एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं, तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? **जो कहो विरुद्ध होते हैं तो एक के विना दूसरा धर्म नहीं हो सकता, और जो कहो अविरुद्ध हैं तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इसलिये धर्म और अधर्म एक [-एक] ही हैं, अनेक नहीं; यही हम विशेष कहते हैं।**[4]

जैसे, सब सम्प्रदायों के उपदेशकों को कोई राजा इकट्ठा करे तो एक सहस्र से कम नहीं होंगे, परन्तु इनका मुख्य भाग देखो तो **पुराणी,**[5] **किरानी, जैनी** और **कुरानी** चार ही हैं; क्योंकि इन चारों में सब सम्प्रदाय आ जाते हैं। कोई राजा उनकी सभा करके [अथवा][6] कोई जिज्ञासु होकर प्रथम **वाममार्गी** से पूछे—"हे महाराज! मैंने आज तक न कोई गुरु और न किसी धर्म का ग्रहण किया है। कहिये, सब धर्मों में से उत्तम धर्म किसका है,[7] जिसको मैं ग्रहण करूं?"

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**किसी**' पद का परिवर्धन रचना की दृष्टि से आवश्यक है।

२-३. **अपविराम व मुद्रणलिपिकर द्वारा असंगत पद बढ़ाना**—तीनों सं०, उदयपुर सं० में "**एक-एक**" के मध्य योजक चिह्न लगाना अपविराम है, यहां अल्पविराम चाहिए। आगे मुद्रणलिपिकर ने "**सबका**" परिवर्तन असंगत, व्यर्थ किया है।

४. **अपविराम और योजक से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में मूल लिपिकर की भूल से "**यही हम विशेष कहते हैं**" वाक्य अशुद्ध पूर्णविराम और योजक "**कि**" के कारण अग्रिम वाक्य के साथ जुड़ गया है जबकि अग्रिम वाक्य में कोई विशेष कथ्य सिद्धान्त नहीं है। इसकी संगति पूर्व वाक्यों के साथ है जिनमें यह विशेष सिद्धान्त कहा गया है कि 'धर्म-अधर्म एक होते हैं, अनेक नहीं।' अत: इस वाक्य का सम्बन्ध पूर्वपाठ के साथ ही रखना संगत है। सभी सम्पादकों के सं० में तथा 'उदयपुर' सं० में भी यह अपपाठ है। किसी ने यह ध्यान नहीं दिया कि प्रश्नोक्त "**विशेष**" पद का सम्बन्ध धर्म-अधर्म-विषयक इस कथन से है कि वे एक-एक ही होते हैं। इस प्रकार जो धर्म है वह अधर्म नहीं हो सकता और जो अधर्म है वह धर्म नहीं हो सकता। **इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण ही महर्षि का विशेष कथन है।** आगे के कथन में कोई ऐसा सिद्धान्त ही नहीं है जिसको "विशेष" विशेषण दिया जाये। इस वाक्य में धर्म-अधर्म के लिए '**एक-एक**' पाठ अपेक्षित है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पुरानी**" अपवर्तनी है, यह "**पुराणी**" शुद्ध है। प्राय: सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी अशुद्ध वर्तनी है। '**पुरानी**' अर्थात् पुराणों के मत के अनुयायी जन, पौराणिक जन।

विद्वानों की अबूझ सम्पादन-लीला—आर्य विद्वानों का सम्पादन भी विचित्र है। कहीं वे रूढ़िवादी हो जाते हैं तो कहीं शोधवादी। यहां कथित दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० सहित किसी भी सम्पादक ने "**पुरानी**" अशुद्धि का संशोधन नहीं किया जबकि कुछ पृष्ठ पहले (पृ० ७०४ पर) सबने कर दिया। अन्यत्र भी किया है (द्र०पृ०.....आदि) ये सभी विद्वान् जानते हैं कि 'पुराण' से 'पुराणी' बना है, अत: 'पुरानी' लिखना नितान्त अशुद्ध है। इस सम्पादन-कला का नाम साहित्यिकों ने रखा है '**मक्खी पर मक्खीमार सम्पादन कला।**' यह क्या सम्पादन हुआ कि कहीं शुद्ध कर दिया, कहीं नहीं किया?

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**अथवा**' पद आवश्यक है क्योंकि यहां वर्णित दो भिन्न बाते हैं। उनमें पृथकता-प्रदर्शन के लिए यह आवश्यक है। 'उदयपुर सं०' में '**वा**' परिवर्धन है जो स्वीकार्य है।

७. **अपविराम**—दोनों सं० में "**कहिये**" के बाद भावबोधक चिह्न और "**किसका है?**" के बाद प्रश्नवाचक चिह्न '**अपविरामचिह्न**' हैं। "**कहिये**" भावबोधक पद नहीं है और "**किसका है**" के बाद प्रश्न-वाक्य निरन्तर चल रहा है, अत: दोनों के बाद '**अल्पविराम**' ही उपयुक्त है। 'उदयपुर' सं० में भी प्रश्नचिह्न लगाना, अपचिह्न है।

वाममार्गी—हमारा है।

जिज्ञासु—ये नौ-सौ निन्यानवे कैसे हैं?

वाममार्गी—सब झूठे और नरकगामी हैं, क्योंकि '**कौलात्परतरं नहि**'[१] [कुलार्णव तन्त्र २।८] इस वचन के प्रमाण से[२] हमारे धर्म से परे कोई धर्म नहीं है।

जिज्ञासु—आपका धर्म क्या है?

वाममार्गी—भगवती का मानना, मद्य-मांसादि पञ्च मकारों का सेवन, '**रुद्रयामल**' आदि चौंसठ तन्त्रों का मानना इत्यादि। जो तू मुक्ति की इच्छा करता है तो हमारा चेला हो जा।

जिज्ञासु—अच्छा, मैं औरों का भी दर्शन कर और पूछ आऊँ।[३] पश्चात् जिसमें मेरी श्रद्धा और प्रीति होगी उसका चेला हो जाऊँगा।[४]

वाममार्गी—अरे! क्यों भ्रान्ति में पड़ा है। ये लोग तुझको बहकाकर अपने जाल में फसा देंगे। किसी के पास मत जा,[५] हमारे ही शरणागत हो जा, नहीं तो पछतावेगा। देख, हमारे मत में भोग और मोक्ष दोनों हैं।[६]

जिज्ञासु—अच्छा, देख तो आऊँ।

आगे चलकर **शैव** के पास जाकर पूछा।[७] उसने भी ऐसा ही उत्तर दिया। इतना विशेष कहा कि ''विना शिव, रुद्राक्ष-भस्म-धारण और लिङ्गार्चन के मुक्ति कभी नहीं होती।''

वह उसको छोड़ **नवीन वेदान्तियों** के पास गया।

जिज्ञासु—कहो महाराज! आपका धर्म क्या है?

वेदान्ती—हम धर्माधर्म कुछ भी नहीं मानते, हम साक्षात् ब्रह्म हैं, हममें धर्म-अधर्म कहाँ हैं? यह जगत् सब मिथ्या है। और जो ज्ञानी, शुद्ध-चेतन हुआ चाहे तो तू भी[८] अपने को ब्रह्म मान, जीव-भाव

---

१. **अर्थ**—कौल अर्थात् वाममार्ग से बढ़कर कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है। **अप उद्धरण**—द्विप्र० और उदयपुर सं० में इस प्रमाण का पाठ यह अशुद्ध है—''**कौलात् परतरन्नाहि**''। अन्य सभी में उपर्युक्त संशोधित है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां ''**इस वचन के प्रमाण से**'' पाठ संगति और स्पष्टता के लिए ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० व मुद्रणप्रति में अनावश्यक तथा अशुद्ध परिवर्तन किया है—''**अच्छा! परन्तु और महात्माओं का भी दर्शन कर पूंछ-पांछ आऊंगा।**'' इस वाक्य में कुछ भी शुद्ध नहीं है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के ''**पश्चात् जिसको चाहूंगा उसका चेला हो जाऊंगा**'' वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति व द्वि०सं० में यह वाक्य बनाया है—''**पश्चात् जिसमें मेरी श्रद्धा और प्रीति होगी, उसका चेला हो जाऊंगा।**'' यह पाठ अधिक सटीक व स्पष्ट है, अत: ग्राह्य है।

५. **अप-ग्राम्य पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जावे**'' किसी लिपिकर द्वारा ग्राम्य बोली का पद प्रयुक्त है। हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से '**जा**' क्रियापद अभीष्ट है। ग्रन्थ में सर्वत्र ''**जो**'' प्रयोग है। एकरूपता के लिए यही ग्राह्य है।

६. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—''**हमारा चेला हो जा, नहीं तो पछतावेगा।**'' इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में उपर्युक्त परिवर्धन है। विशेषार्थक होने से वह ग्राह्य है।

७. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में इस वाक्य के स्थान पर आवश्यक-परिवर्धन है—''**अच्छा देख तो आऊँ। आगे चलकर शैव के पास जाके पूछा**''। गत वाक्य की संगति के लिए यह परिवर्धन आवश्यक था। मूलप्रति सं० में यहां यह पाठ है—''**आगे चलकर शैव से पूछा।**''

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**तू भी**'' पद त्रुटित रह गये है। मूलह०, मूलप्रति सं० में हैं।

को छोड़, नित्यमुक्त हो जायगा।

जिज्ञासु—जो तुम ब्रह्म नित्यमुक्त हो तो ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव तुममें क्यों नहीं ? और शरीर में क्यों बंधे हो ?

वेदान्ती—तुझको शरीर दीखता है, इसी से तू भ्रान्त है; हमको कुछ नहीं दीखता सिवाय ब्रह्म के।

जिज्ञासु—तुम देखनेवाले कौन, और किसको देखते हो ?

वेदान्ती—देखनेवाला ब्रह्म, और ब्रह्म को ब्रह्म देखता है।

जिज्ञासु—क्या दो ब्रह्म हैं ?

वेदान्ती—नहीं, अपने आपको देखता है।

जिज्ञासु—क्या कोई अपने कँधे पर आप चढ़ सकता है ? तुम्हारी बात कुछ नहीं, यह पागलपन की बात है।[१]

उसने आगे चलकर **जैनियों** से पूछा।[२] उन्होंने भी वैसा ही कहा। इतना विशेष कहा कि ''जिनधर्म के विना सब धर्म खोटे हैं,[३] जगत् का कर्त्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं, जगत् अनादि काल से जैसा का वैसा बना है और बना रहेगा। आ, तू हमारा चेला हो जा, क्योंकि हम 'सम्यक्त्वी'[४] अर्थात् सब प्रकार से अच्छे हैं, उत्तम बातों को मानते हैं, जैनमार्ग से भिन्न सब मिथ्यात्वी हैं।''

आगे चलके **ईसाई** से पूछा। उसने वाममार्गी के तुल्य सब जवाब-सवाल किये। इतना विशेष बतलाया—''सब मनुष्य पापी हैं, अपने सामर्थ्य से पाप नहीं छूटता। विना ईसा पर विश्वास के पवित्र होकर मुक्ति को नहीं पा सकता। ईसा ने सबके प्रायश्चित्त के लिये अपने प्राण देकर दया प्रकाशित की है। तू हमारा ही चेला हो जा।''

जिज्ञासु सुनकर **मौलवी** साहब के पास गया। उनसे भी ऐसे ही जवाब-सवाल हुए। [मौलवी ने][५] इतना विशेष कहा—''लाशरीक ख़ुदा, उसके पैग़म्बर[६] और '**कुरान शरीफ़**' को विना माने कोई निजात नहीं पा सकता। जो इस मज़हब को नहीं मानता, वह दोज़ख़ी और काफ़िर है, वाजिबुलक़त्ल[७] है।''[८]

---

१. **अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० व उदयपुर सं० में यह अपूर्ण व अप-वाक्यांश है—''**यह पागलपने की है।**''

२. **अपपाठ और उसका संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यह अपवाक्य है—''**वह आगे चलकर जैनियों के पास जाके पूछा....।**'' द्वि०सं०, मूलसं०, 'उदयपुर सं०' में संशोधित है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा उदयपुर सं० में यह एकवचनात्मक और क्रियात्रुटित अपपाठ है—''**जिण धर्म के विना सब धर्म खोटा।**'' ''**सब**'' के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**सम्यक्ति**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशाधित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—उचित संगति के लिए यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मौलवी ने**'' पाठ बढ़ाना आवश्यक है।

६. **अपवर्तनी व उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**उसका पैगम्बर**'' अपप्रयोग है। आगे कर्मकारक होने से ''**उसके**'' पाठ अभीष्ट है। द्वि० सं० में संशोधित है। द्विप्र०, उदयपुर सं० में ''**ला शरीक**'' अपवर्तनी है।

७. **अपवर्तनी**—सभी सं० में इसकी अशुद्ध वर्तनी है। मूलह०, मुद्रणह० में भ्रष्टतम ''**वाजबुल्कतल्के**'' है, द्विप्र० में ''**वाजबुल्कत्ल**'' है। द्वि०सं० में ''**वाजिबुल्क़त्ल**'' अपवर्तनी है। इस सं० में संशोधित है। अन्य सभी सम्पादकों ने संशोधित कर लिया है, किन्तु स्वामी वेदानन्द जी के संस्करण में 'बाजि' अशुद्ध प्रयोग है। '**उदयपुर सं०**' में ''**वा जिबुल्क़त्ल**'' मुद्रणदोष उपलब्ध है।

८. **शब्दार्थ**—**लाशरीक खुदा**=जिसके बराबर कोई न हो ऐसा खुदा, एकमात्र ईश्वर, **पैगम्बर**=खुदा का दूत, **निजात**=दुःखों से छुटकारा, **दोज़खी**=नरकगामी, **काफ़िर**=नास्तिक और इस्लाम मत से भिन्न प्रत्येक व्यक्ति, **वाजिबुलक़त्ल**=वध करने योग्य।

जिज्ञासु सुनकर **वैष्णव** के पास गया। वैसे[१] ही संवाद हुआ। उसने[२] इतना विशेष कहा कि "हमारे तिलक-छापे[३] देखकर यमराज डर जाता है।" जिज्ञासु ने मन में समझा कि जब मच्छर, मक्खी, पुलिस के सिपाही, चोर, डाकू और शत्रु नहीं डरते तो यमराज के गण क्यों डरेंगे?

फिर आगे चला तो सब मत-वालों ने अपने-अपने को सच्चा कहा। कोई हमारा कबीर सच्चा, कोई नानक, कोई दादू, कोई वल्लभ, कोई सहजानन्द, कोई मध्व[४] आदि को बड़ा और अवतार बतलाते सुना। सहस्र से पूछ, उनके परस्पर-विरोध देख,[५] विशेष निश्चय किया कि इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं; क्योंकि एक-एक की झूठ में नौ-सौ निन्यानवे गवाह हो गये। जैसे झूठे दुकानदार वा वेश्या और भड़ुआ आदि अपने-अपने[६] वस्तु की बड़ाई, दूसरे की बुराई करते हैं, वैसे ही ये हैं; ऐसा जान।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ २॥ मुण्डक[७] [उप० १।२।१२-१३]

उस सत्य के विज्ञानार्थ वह 'समित्पाणि' अर्थात् हाथ जोड़, अरिक्तहस्त होकर,[८] परमात्मा को जाननेहारे ब्रह्मनिष्ठ वेदवित् गुरु[९] के पास जावे। इन पाखण्डियों के जाल में न गिरे॥ १॥

जब ऐसा जिज्ञासु विद्वान् के पास आये,[१०] उस शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, समीप-प्राप्त जिज्ञासु को यथार्थ ब्रह्मविद्या=परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का उपदेश करे और जिस-जिस साधन से वह श्रोता

---

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**वैसा**" अपप्रयोग है, '**वैसे**' वांछित है। मूलप्रति में शुद्ध है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**उसने**" आवश्यक पद है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—"**हमारे तिलक-छाप देखकर**", यहां "**तिलक-छापे**" अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि० सं० में संशोधित पाठ है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**माधव**" अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सं० में अपसंशोधन किया हुआ है। यहां मतप्रवर्तक आचार्य 'मध्व' लिखना अभीष्ट है। पता नहीं क्यों, 'उदयपुर सं०' ने घोर अपवर्तनी "**माधव**" को पुनः स्वीकार कर लिया है जबकि 'माधव' कोई मत नहीं है। क्या अशुद्ध नामों वाला संस्करण '**मानक**' कहला सकता है?

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणलिपिकर ने संशोधन के नाम पर मुद्रणह० में और फिर द्विप्र०, द्वि०सं० में पाठ को भ्रष्ट बना दिया है—"**उनके परस्पर एक दूसरे का विरोध देख**"। मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त शुद्ध पाठ है। इस वाक्य में '**उदयपुर सं०**' में "**सहस्त्रों**" अपप्रयोग है, '**सहस्र**' शुद्ध है।

६. **मुद्रणकालीन शैलीविरुद्ध प्रयोग**—ग्रन्थ में महर्षि की स्वीकृत और स्थापित प्रयोगशैली यह है कि वे '**वस्तु**' पद का पुंल्लिंग में प्रयोग करते हैं। यहां उसके विरुद्ध स्त्रीलिंग-प्रयोग अग्राह्य है। यहां '**अपने-अपने**' वस्तु प्रयोग अभीष्ट है। वस्तुतः, यहां दोनों हस्त० में "**अपनी-अपनी चीजों की**" पाठ है। मुद्रणकाल में, द्विप्र० में हिन्दी "**वस्तु**" पाठ तो बना दिया किन्तु बनानेवाले ने ग्रन्थकार की शैली का ध्यान नहीं किया कि वे वस्तु का पुंल्लिंग में प्रयोग करते हैं।

७. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—द्विप्र० और द्वि०सं० में "**मुण्डक**" के स्थान पर "**माण्डूक्य**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है। 'उदयपुर' सं० में भी संशोधित है।

८. **समित्पाणि-अरिक्तहस्त**—समित्-पाणि=समिधा हाथ में लेकर जाये अर्थात् अरिक्तहस्त=खाली हाथ न जाये। प्राचीन काल में जिज्ञासु व्यक्ति गुरु के पास तीन समिधाएं हाथ में लेकर जाते थे। उनको समर्पित करके पश्चात् जिज्ञासा करते थे।

९. **स्थानभ्रष्ट प्रयोग से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ**" पदों का पाठ अस्थान में "**परमात्मा**" से पूर्व मिलता है। इस कारण यहां प्रथम दृष्टि में संदेहात्मक अर्थ का बोध होता है—'**वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ परमात्मा को जाननेहारे**'। ये गुरु के विशेषण होने से '**आसत्ति**' सम्बन्ध के आधार पर "**गुरु**" के पूर्व अंकित होने चाहिएं।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जाय**" अपक्रिया है। यहां "**आये**" या "**आवे**" क्रिया होनी चाहिए।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमात्मा को जान सके, वैसी शिक्षा किया करे॥ २॥

जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि 'महाराज! अब इन सम्प्रदायों के बखेड़ों से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया, क्योंकि जो मैं इनमें से किसी एक का चेला होऊँगा तो नौ-सौ निन्यानवे से विरोधी होना पड़ेगा। जिसके नौ-सौ निन्यानवे शत्रु और एक मित्र है, उसको सुख कभी नहीं हो सकता। इसलिये आप मुझको उपदेश कीजिये, जिसको मैं ग्रहण करूं।

आप्तविद्वान्—ये सब मत अविद्याजन्य [और] विद्याविरोधी हैं। मूर्ख, पामर और जंगली मनुष्यों[१] को बहकाकर अपने जाल में फसाके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे बेचारे[२] अपने मनुष्यजन्म के फल से रहित होकर अपना मनुष्यजन्म व्यर्थ गमाते हैं। देख, जिस बात में ये सहस्र एकमत हों, वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें परस्परविरोध हो, वह कल्पित, झूठा अधर्म अग्राह्य है।

जिज्ञासु—इसकी परीक्षा[३] कैसे हो?

आप्त—तू जाकर इन-इन बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति हो जायगी।

तब वह उन सहस्र की[४] मण्डली के बीच में खड़ा होकर बोला कि ''सुनो सब लोगो! सत्यभाषण में धर्म है वा मिथ्या में?''

सब एकस्वर होकर बोले कि ''सत्यभाषण में धर्म और मिथ्याभाषण में अधर्म है।''

''वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्सङ्ग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म है अथवा[५] अविद्या-ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसङ्ग, आलस्य, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में?''[६]

सबने एकमत होके कहा कि ''विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म [है][७]।''

तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एकमत हो सत्यधर्म की उन्नति और

---

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां ''**मनुष्य**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

२-३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**बिचाड़े**'' अपवर्तनी है। यह लिपिकर ने अपनी बोली की वर्तनी लिखी है। द्वि०सं०, मूलसं० में ''**बिचारे**'' अपवर्तनी है। शुद्ध इस सं० में है। आगे द्विप्र० में ''**परिक्षा**'' अशुद्ध वर्तनी है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है।

४. **उचित संशोधन**—दोनों हस्त० व मूलप्रति सं० में यहां ''**हजार**'' प्रयोग है। द्विप्र० में ''**सहस्त्रों**'' अशुद्ध प्रयोग है। इस प्रसंग के पाठ तथा पूर्व प्रयोगों के सम्बन्ध से '**सहस्त्र**' पद उपयुक्त है। गत अनुच्छेद में ''**सहस्त्र**'' प्रयोग ही है। द्वि० सं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में ''**सहस्त्रों**'' अशुद्ध प्रयोग है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**और**'' पद प्रयुक्त है। विकल्पात्मक प्रश्न शैली में ''**वा**'' ''**अथवा**'' प्रयोग अभीष्ट है, ''**और**'' नहीं। सम्भवतः, श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर ने '**अथवा**' के स्थान पर '**और**' लिख दिया।

६. **नये स्वतन्त्र पाठ का अपपरिवर्तन 'उदयपुर सं०' में**—'उदयपुर सं०' में यहां वाक्यान्त में '**अधर्म**' पद अशुद्ध और अनावश्यक रूप से परिवर्धित करके मिलाया है। ऊपर प्रथम प्रश्न में प्रश्नशैली द्रष्टव्य है—''**सत्यभाषण में धर्म है वा मिथ्या में**?'' उसी प्रकार, यहां भी यह पूछा है कि 'विद्या पढ़ने आदि में धर्म है अथवा अविद्याग्रहण आदि में' अतः यहां 'अधर्म' पद की कोई संगति नहीं है। जब प्रश्नकर्त्ता पूर्वोक्त कर्मों में स्वयं धर्म कह रहा है और उत्तरार्धोक्त वाक्य में उक्त कर्मों में अधर्म मान रहा है तो उत्तर तो यहीं वर्णित हो गया, फिर उसे प्रश्न पूछने की क्या आवश्यकता है? '**अधर्म**' के बाद पूर्णविराम भी अशुद्ध है।

७. **ऋषि हस्तलेख और त्रुटित आवश्यक क्रिया**—मुद्रणप्रति में ऋषि ने ''**एकमत.....अधर्म**'' पाठ परिवर्धित किया है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**अधर्म**'' के बाद ''**है**'' क्रिया का प्रयोग आवश्यक है। पहले दोनों हस्त० में ''**बतलाया**'' क्रिया थी। ऋषि द्वारा नयी वाक्यरचना करने से वह हट जायेगी, ''**है**'' क्रिया आयेगी।

मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो?

वे सब बोले—"जो हम ऐसा करें तो हमको कौन पूछे? हमारे चेले हमारी आज्ञा में न रहें, जीविका नष्ट हो जाय, फिर जो हम आनन्द कर रहे हैं, सो सब हाथ से जाय। इसलिये हम जानते हैं तो भी अपने-अपने मत का उपदेश और आग्रह करते ही जाते हैं। क्योंकि '**रोटी खाइये शक्कर से और दुनिया ठगिये मक्कर से**' ऐसी बात है। देखो, संसार में सूधे-सच्चे मनुष्य को कोई नहीं पूछता।[१] जो कुछ ढोंग,[२] धूर्त्तता करता है, वही पदार्थ पाता है।"

जिज्ञासु—जो तुम ऐसा पाखण्ड चलाकर अन्य मनुष्यों को ठगते हो, तुमको राजा दण्ड क्यों नहीं देता?

मत-वाले—हमने राजा को भी अपना चेला बना लिया है। हमने पक्का प्रबन्ध किया है, छूटेगा नहीं।

जिज्ञासु—जब तुम छल से अन्य मनुष्यों[३] को ठग, उनकी हानि करते हो, परमेश्वर के सामने क्या उत्तर दोगे? और घोर नरक में पड़ोगे। थोड़े जीवन के लिये इतना बड़ा अपराध करना क्यों नहीं छोड़ते?

मत-वाले—[४]देखा जायगा, नरक और परमेश्वर का दण्ड जब होगा तब होगा; अब तो आनन्द करते हैं। लोग हमको प्रसन्नता से धन देते हैं, बलात्कार से नहीं लेते; फिर राजा दण्ड क्यों देवे?

जिज्ञासु—जैसे कोई छोटे बालक को फुसलाके धनादि पदार्थ हर लेता है,[५] जैसे उसको दण्ड मिलता है, वैसे तुमको क्यों नहीं मिलता? क्योंकि—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥ मनुस्मृति [२।१५३]

जो ज्ञानरहित होता है, वह 'बालक' और जो ज्ञान का देनेवाला है, वह 'पिता' और 'वृद्ध' कहाता है।[६] **जो बुद्धिमान् विद्वान् है, वह तो तुम्हारी बातों में नहीं फसता, किन्तु अज्ञानी जो बालक के सदृश हैं, उनको ठगने में तुमको राजदण्ड अवश्य होना चाहिये।**

मत-वाले—जब राजा-प्रजा सब हमारे मत में हैं, तो हमको दण्ड कौन देनेवाला है? जब ऐसी व्यवस्था होगी तब इन बातों को छोड़कर दूसरी व्यवस्था करेंगे।

जिज्ञासु—जो तुम बैठे-बैठे व्यर्थ माल मारते हो, जो विद्याभ्यास कर गृहस्थों के लड़के-लड़कियों को पढ़ाओ तो तुम्हारा और गृहस्थों का कल्याण हो जाय।

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में यह अनावश्यक परिवर्धित पाठ बनाया है—"**कोई नहीं देता और न पूछता।**" "**कोई नहीं पूछता**" मुहावरा व्यापक अर्थवाला है, मुद्रणह०, द्वि०सं० में परिवर्धित भाव उसी में अन्तर्निहित है। पाठ-परिवर्धन व्यर्थ है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**ढोंग**" के स्थान पर "**ढोंगबाजी**" अनावश्यक परिवर्तन है। दोनों का एक ही अर्थ है, अतः परिवर्तन में कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में पाठ को बदलकर अशुद्ध कर दिया है—"**अन्य मतस्थ मनुष्यों को**"। ये लोग मुख्यतः अपने मतस्थ को ठगा करते हैं। मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि०सं० में यहां यह वाक्यांश जोड़ा है—"**जब जैसा होगा तब देखा जायगा।**" लिपिकर ने यह नहीं देखा कि यही बात अगले वाक्य में है, अतः यह परिवर्धन व्यर्थ है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**ले लेता है**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**हर लेता है**" उचित है।

६. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में "**और वृद्ध कहाता है**" पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

मत-वाले—जो[१] हम बाल्यावस्था से लेकर मरण तक के सुखों को छोड़ें, बाल्यावस्था से युवावस्था तक विद्या पढ़ने में,[२] पश्चात् पढ़ाने में और उपदेश करने में जन्मभर परिश्रम करें, हमको क्या प्रयोजन? हमको ऐसे ही लाखों रुपये मिलते हैं, चैन उड़ाते हैं,[३] उसको क्यों छोड़ें?

जिज्ञासु—इसका परिणाम तो बुरा है। देखो, तुमको बड़े रोग होते हैं, शीघ्र मर जाते हो, बुद्धिमानों में निन्दित होते हो, फिर भी क्यों नहीं समझते?

मत-वाले—अरे भाई!

टका धर्मष्टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा! टकां टकटकायते॥ १॥
आना अंशकलाः प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम्।
अतस्तं सर्व इच्छन्ति रूप्यं हि गुणवत्तमम्॥ २॥

तू लड़का है, संसार की बातें नहीं जानता। देख, टका के विना धर्म, टका के विना कर्म, टका के विना परमपद नहीं होता। जिसके घर में टका नहीं है, वह 'हाय, टका-टका' करता-करता, उत्तम पदार्थों को टक-टक[४] देखता रहता है कि हाय! मेरे पास टका होता तो इस उत्तम पदार्थ को मैं भोगता॥ १॥

क्योंकि सब कोई सोलह कलायुक्त अदृश्य भगवान् का कथन-श्रवण करते हैं, सो तो नहीं दीखता, परन्तु सोलह आने और पैसे-कौड़ी[५]-रूप अंश-कलायुक्त जो रुपया[६] है, वही साक्षात् भगवान् है। इसीलिये सब कोई रुपयों की खोज में लगे हैं, क्योंकि सब काम रुपयों से सिद्ध होते हैं॥ २॥

जिज्ञासु—ठीक है, तुम्हारी भीतर की लीला बाहर आ गई। तुमने जितना यह पाखण्ड खड़ा किया है, वह सब अपने सुख के लिये किया है, परन्तु इससे जगत् का नाश होता है; क्योंकि **जैसे[७] सत्योपदेश से संसार को लाभ पहुँचता है, वैसे[८] ही असत्योपदेश से हानि होती है।** जब तुमको धन का ही प्रयोजन था तो नौकरी, व्यापार आदि करके धन क्यों नहीं कमाते?

मत-वाले—उसमें परिश्रम अधिक [होता है][९] और हानि भी होती है, परन्तु इसमें हानि कभी नहीं होती[१०] लाभ ही लाभ होता है। देखो, तुलसी-दल डालके चरणामृत देकर कंठी बांध देते हैं, इस प्रकार

---

१. **अप-पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जब**" पद के स्थान पर "**जो**" उपयुक्त एवं ग्राह्य पद है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**पढ़ने में रहैं**" परिवर्तन अनुचित एवं अग्राह्य है। इसके बिना "**परिश्रम करें**" क्रिया से संगति बन रही है, जो अधिक सटीक है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त "**चैन उड़ाते हैं**" मुहावरा बहुत उपयुक्त एवं सटीक है। मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**चैन करते हैं**" सामान्य प्रयोग अनावश्यक परिवर्तन है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में "**टका टका करता.....टक-टक**" पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **कौड़ी**=कौड़ी समुद्र और तालाबों में मिलनेवाले एक जलजन्तु का अस्थिमय खोल होता है। पुराने समय में यह सबसे छोटी '**मुद्रा**'=सिक्के के रूप में व्यवहार में थी। इसी आधार पर '**कौड़ी-कौड़ी चुका दूंगा**' '**दो कौड़ी का आदमी**' "**एक कौड़ी भी ऋण नहीं**" आदि उक्तियां प्रचलन में हैं।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**रुपैया**" अपवर्तनी है, अन्यत्र "**रुपया**" है, यही तत्कालीन साहित्यिक वर्तनी ग्राह्य है। 'उदयपुर' सं० में भी यहां वर्तनी की अव्यवस्था है। अगले वाक्य में इसी का बहुवचन "**रुपयों**" है।

७,८. **अपप्रयोग**—यहां "**जैसा**" "**वैसी**" के स्थान पर उदाहरणबोधक "**जैसे**" "**वैसे**" पद अभीष्ट हैं।

९-१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में "**होता है**" और मूलह०, मूलसं० में "**होती**" क्रियापद

चेला मूंडने से वह जन्मभर के लिए पशुवत् हो जाता है, फिर चाहें जैसे चलावें, वैसे ही चलता है।[१]

जिज्ञासु—ये लोग तुमको बहुत-सा धन किसलिये देते हैं?

मत-वाले—धर्म, स्वर्ग और मुक्ति के अर्थ।

जिज्ञासु—जब तुम ही मुक्त नहीं, न मुक्ति का स्वरूप वा साधन जानते हो, तो तुम्हारी सेवा करनेवालों को क्या मिलेगा?

मत-वाले—क्या इस लोक में मिलता है? नहीं, किन्तु परलोक में मिलता है। जितना हमको ये लोग देते वा सेवा करते हैं, वह सब[२] परलोक में[३] इन लोगों को मिल जाता है।

जिज्ञासु—इनको तो दिया हुआ मिल जाता है वा नहीं [किन्तु] तुम लेनेवालों को क्या मिलेगा, नरक वा अन्य कुछ?

मत-वाले—हम भजन करते हैं,[४] इसका सुख हमको मिलेगा।

जिज्ञासु—तुम्हारा भजन तो 'टका' के ही लिये है। वे सब टके यहीं पड़े रहेंगे, जिस मांसपिण्ड को यहाँ पालते हो, वह भस्म हो जायगा।[५] जो तुम परमेश्वर का भजन करते होते तो तुम्हारा आत्मा भी पवित्र होता।

मत-वाले—क्या हम अशुद्ध हैं?

जिज्ञासु—भीतर के बड़े मैले हो।

त्रुटित रह गये हैं। इनके बिना वाक्यरचना ही नहीं हो रही है, अतः इनका परिवर्धन अत्यावश्यक है।

१. **अस्त-व्यस्त पाठ और सम्पादकों द्वारा संशोधन की कहानी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य भ्रष्टपाठयुक्त है। मूल हस्तलेख में यह इस प्रकार है—"**देखो तुलसी चरणामृत दें, कंठी बाधे, चेला मूड़ लें, परन्तु जन्मभर का पशु हो हो जाता है, चाहें वैसे बोझा लादो।**" मूलहस्तलेख पर आधारित मूलप्रति सं० में इस पाठ को इस प्रकार बदला है—"**देखो! तुलसी चरणामृत दें, कण्ठी बांधें, चेला मूंडने से जन्मभर का पशु हो जाता है, चाहे वैसे बोझा लादो।**" इन वाक्यों में रचनात्मक अशुद्धियां हैं, क्रियाओं की वाक्यों से कोई संगति नहीं है।

मुद्रणप्रति और द्वि० सं० में लगभग मिलता-जुलता पाठ इस प्रकार है—"**देखो! तुलसीदल डाल के चरणामृत दें, कंठी बांध देते, चेला मूड़ने से जन्मभर को पशुवत् हो जाता है। फिर चाहें जैसे चलावें, चल सकता है।**" मुद्रणप्रति में "**कंठी बांध दे**" पाठान्तर है, यह पाठ कुछ संशोधित है किन्तु क्रियापदों की वाक्यों से कोई संगति नहीं है, अशुद्धिया भी हैं।

इस भ्रष्ट वाक्यरचना पर तीन विद्वान् सम्पादकों **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी** तथा **पं० भगवद्दत्त जी** ने केवल इतना ही ध्यान दिया कि "**चरणामृत दें**" के स्थान पर "**चरणामृत दे**" संशोधन कर दिया, अन्य असंगतियां-अशुद्धियां ज्यों की त्यों रह गईं। **मीमांसक जी, स्वामी विद्यानन्द जी** का असंशोधित पाठ है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** का पाठ अपूर्ण संशोधित है। 'उदयपुर' सं० में भी असंशोधित वाक्यरचना है। इस संस्करण में पाठ का संगतियुक्त संशोधन कर दिया है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा हास्यास्पद परिवर्तन**—मुद्रणप्रति व द्वि० सं० में यहां "**परलोक**" शब्द से पूर्व "**मरकर पश्चात्**" पाठ व्यर्थ बढ़ाया है। मुद्रणलिपिकर को शायद कभी '**बिना मरे ही परलोक में**' फल मिला होगा, इस कारण उसको संशोधन करना पड़ा कि "**मरकर पश्चात् परलोक में**" ही फल मिलेगा!! मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मरे पीछे**" पाठ के स्थान पर "**परलोक में**" मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० का पाठ अधिक उपयुक्त एवं ग्राह्य है। पूर्ववाक्य में '**परलोक**' पद का ही प्रयोग है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में यह व्यर्थ परिवर्तन है—"**करा करते हैं।**" प्रयोग भी ग्राम्य बोली का उसका अपना है।

५. **उचित संशोधन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में इस मूलप्रति सं० के "**वह भस्म हो जायगा**" वाक्य के स्थान पर यह उचित परिवर्धन किया है—"**वह भी भस्म होकर यहीं रह जायगा।**"

मत-वाले—तुमने कैसे जाना?

जिज्ञासु—तुम्हारे चाल-चलन और व्यवहार से।[१]

मत-वाले—महात्माओं का व्यवहार हाथी के दाँत के तुल्य होता है। जैसे हाथी के दाँत खाने के भिन्न, दिखलाने के पृथक् होते हैं, वैसे ही भीतर से हम पवित्र हैं और बाहर से लीलामात्र करते हैं।

जिज्ञासु—जो तुम भीतर से शुद्ध होते तो तुम्हारे बाहर के काम भी शुद्ध होते, इसलिये भीतर भी मैले हो।

मत-वाले—हम चाहे जैसे हों परन्तु हमारे चेले तो अच्छे हैं।

जिज्ञासु—जैसे तुम गुरु हो, वैसे तुम्हारे चेले भी होंगे।

मत-वाले—एक मत कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

जिज्ञासु—जो बाल्यावस्था में एक-सी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्याभाषणादि अधर्म का त्याग करें, तो एक मत अवश्य हो जाय। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा और अधर्मात्मा सदा रहते हैं, वे तो रहें, परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है और जब अधर्मी अधिक होते हैं तब दुःख। जब सब विद्वान् एक-सा उपदेश करें तो एक मत होने में कुछ भी विलम्ब न हो।

मत-वाले—आजकल '**कलियुग**' है, '**सत्य-युग**' की बात मत चाहो।

जिज्ञासु—'कलियुग' नाम काल का है। **काल निष्क्रिय होने से धर्माधर्म के करने में कुछ साधक-बाधक नहीं;** किन्तु तुम ही कलियुग की मूर्त्तियाँ बन रहे हो। जो मनुष्य ही 'सत्ययुग'-'कलियुग' न हों तो कोई भी संसार में धर्मात्मा-[अधर्मात्मा][२] न होता। ये सब सङ्ग के गुण-दोष हैं, स्वाभाविक नहीं।

इतना कहकर आप्त के पास गया। उनसे कहा कि 'महाराज! तुमने मेरा उद्धार किया, नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फसकर नष्ट हो जाता। **अब मैं भी इन पाखण्डियों का खण्डन और वेदोक्त सत्य-मत का मण्डन किया करूँगा।'**

आप्त—यही सब मनुष्यों का, विशेषतः विद्वानों[३] और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन पढ़ा-सुनाके सत्योपदेश से उपकार पहुँचाना चाहिये।

प्रश्न—ब्रह्मचारी, संन्यासी तो ठीक हैं?

उत्तर—ये आश्रम तो ठीक हैं, परन्तु आजकल इनमें भी बहुत-सी गड़बड़ है। कितने ही नाम 'ब्रह्मचारी' रखते, जटा बढ़ाकर झूठ-मूठ सिद्धाई करते, जप-पुरश्चरण आदि में फसे रहते, विद्या पढ़ने

---

१. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणप्रति के इस वाक्य के अन्त में "**और व्यवहार से**" पाठवर्धन सही है, आगे '**व्यवहार**' पद होने से।

२. **ऋषि हस्तलेख और त्रुटित आवश्यक पद**—मुद्रणप्रति में "**मनुष्य ही.....हों तो**" ऋषि द्वारा परिवर्धित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**अधर्मात्मा**' पद त्रुटित है। पूर्वोक्त दो युगों के नामोल्लेख के सम्बन्ध से यह पाठ अत्यावश्यक है। **संशोधन-पुष्टि**—पहले अनुच्छेद में भी "**धर्मात्मा**" "**अधर्मात्मा**" दोनों संज्ञाओं का उल्लेख है। यह पद 'उदयपुर' सं० में भी त्रुटित है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**विशेष विद्वान्**" अपप्रयोग हैं, '**विशेषतः विद्वानों**' प्रयोग अभीष्ट हैं। अन्य सभी सं० में अपप्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में "**विशेषकर**" संशोधित है। ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर शुद्ध प्रयोग हैं।

का नाम नहीं लेते कि **जिस हेतु से 'ब्रह्मचारी' नाम होता है, उस 'ब्रह्म' अर्थात् वेद पढ़ने में परिश्रम कुछ भी नहीं करते। वे ब्रह्मचारी बकरी के गले के स्तन के सदृश निरर्थक हैं।** और जो वैसे संन्यासी विद्याहीन, दण्ड-कमण्डलु[१] ले, भिक्षा करते-फिरते हैं, जो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते, छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते, विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी और संन्यासी इधर-उधर जल, स्थल, पाषाणादि मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते-फिरते, विद्या जानकर भी मौन हो रहते, एकान्त देश में यथेष्ट खा-पीकर सोते पड़े रहते, ईर्ष्या-द्वेष में फसकर निन्दा-कुचेष्टा करके निर्वाह करते, काषाय वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते, अपने को[२] सर्वोत्कृष्ट जान उत्तम काम नहीं करते, **वैसे 'संन्यासी' भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं; और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।**

प्रश्न—गिरि,[३] पुरी, आदि गोसाँई लोग तो अच्छे हैं, क्योंकि मण्डलियाँ बाँधकर इधर-उधर घूमते हैं, सैकड़ों साधुओं को आनन्द कराते हैं, सर्वत्र अद्वैत मत का उपदेश करते हैं, और कुछ पढ़ते-पढ़ाते भी हैं, इसलिये वे अच्छे होंगे।

उत्तर—ये सब दश नाम[४] पीछे से कल्पित किये हैं, सनातन नहीं। उनकी मण्डलियाँ भोजनार्थ हैं। बहुत से साधु भोजन के ही लिये मण्डलियों में रहते हैं। दम्भी भी हैं, क्योंकि एक को महन्त बना [उसी को प्रणाम करते हैं],[५] सायंकाल में एक महन्त जो कि उनमें प्रधान होता है, वह गद्दी पर बैठ जाता है। सब ब्राह्मण और साधु खड़े होकर हाथ में पुष्प ले—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तम्[६]..... ॥ [पुष्पाञ्जलि]

इत्यादि श्लोक पढ़के 'हर-हर' बोल, उनके ऊपर पुष्पवर्षा कर साष्टांग नमस्कार करते हैं। जो कोई ऐसा न करे, उसका वहाँ रहना कठिन है। यह दम्भ संसार को दिखलाने के लिये करते हैं, जिससे जगत् में प्रतिष्ठा होकर माल मिले।

कितने ही मठधारी गृहस्थ होकर भी संन्यास का अभिमान मात्र करते हैं, कर्म कुछ नहीं। संन्यासी[७] का वही कर्म है, जो पाँचवें समुल्लास में लिख आये। उसको न करके व्यर्थ समय खोते हैं। जो कोई

१-२. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**कमण्डलु**" और द्वि० सं० में "**अपने को**" पद त्रुटित हैं।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**गिरी**" अपवर्तनी है, '**गिरि**' अपेक्षित है। '**गिरी**' तो बीज को कहते हैं। जैसे 'बादाम की गिरी' आदि। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर सं०' में भी अशुद्ध वर्तनी है।

४. **संन्यासियों के दश नाम अथवा भेद हैं**—तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, भारती, पुरी, गिरि, वन, अरण्य, पर्वत और सागर।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उक्त बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है। इसके बिना न तो वाक्यपूर्ण हो रहा है और न पाठ की संगति बन रही है।

६. **पूर्ण श्लोक**—
नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
श्री शंकराचार्यमथास्य पद्म-पादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद् गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि॥

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**संन्यास**" अपप्रयोग है, यहां '**संन्यासी**' प्रयोग अभीष्ट है। 'उदयपुर' सं० आदि में अपप्रयोग है।

अच्छा उपदेश करे, उसके भी विरोधी होते हैं। बहुधा ये लोग भस्म, रुद्राक्ष धारण करते और कोई-कोई शैव तथा वैष्णव आदि[१] सम्प्रदाय का अभिमान रखते हैं। और जब कभी शास्त्रार्थ करते हैं तो अपने मत अर्थात् शंकराचार्योक्त का स्थापन और चक्रांकित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हैं। **वेदमार्ग की उन्नति और यावत्पाखण्ड मार्ग हैं तावत् के खण्डन में प्रवृत्त नहीं होते। ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन? हम तो महात्मा हैं। ऐसे लोग भी संसार में भाररूप हैं।**

जब ऐसे हैं, तभी तो वेदमार्गविरोधी वाममार्गादि सम्प्रदायी, ईसाई, मुसलमान, जैनी आदि बढ़ गये, और अब भी बढ़ते जाते हैं और इनका नाश होता जाता है तो भी इनकी आँख नहीं खुलती। खुले कहाँ से? जो कुछ उनके मन में परोपकार-बुद्धि और कर्त्तव्यकर्म करने में उत्साह होवे, किन्तु ये लोग अपनी प्रतिष्ठा खाने-पीने के सामने अन्य अधिक कुछ भी नहीं समझते और संसार की निन्दा से बहुत डरते हैं। पुनः **लोकैषणा**=अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा, **वित्तैषणा**=धन बढ़ाने में तत्पर होकर विषयभोग, **पुत्रैषणा**=पुत्रवत् शिष्यों पर मोहित होना, इन तीन एषणाओं का त्याग करना उचित है। **जब एषणा ही नहीं छूटी, पुनः संन्यास क्योंकर हो सकता है? अर्थात् पक्षपातरहित वेदमार्गोपदेश से जगत् के कल्याण करने में अहर्निश प्रवृत्त रहना संन्यासियों का मुख्य काम है। संन्यासी भी हुए[३], किन्तु जब अपने-अपने अधिकार के कर्मों को नहीं करते, पुनः संन्यासी आदि[२] नाम धराना व्यर्थ है। नहीं तो जैसे गृहस्थ व्यवहार और स्वार्थ में परिश्रम करते हैं उनसे अधिक परिश्रमपूर्वक[४] परोपकार करने में संन्यासी तत्पर रहैं, तभी सब आश्रम उन्नति पर रहैं।**

देखो, तुम्हारे सामने पाखण्ड-मत बढ़ते जाते हैं। ईसाई, मुसलमान तक हो रहे हैं।[५] तनिक भी[६] तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों को मिलाना नहीं बन सकता। बने तो तब, जब तुम करना चाहो! जब तक वर्तमान और भविष्यत् में संन्यासी उन्नतिशील नहीं होते, तब तक[७] आर्यावर्त और अन्य-देशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण वेदादि शास्त्रों का पठनपाठन,

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन**—मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त पाठ "**तथा वैष्णव**" को मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि० सं० से निकाल दिया है। मुद्रणलिपिकर को पूर्वोक्त "**भस्म, रुद्राक्ष**" शब्दों से यह भ्रान्ति हो गई प्रतीत होती है कि यहां केवल शैवों का ही प्रसंग है। वह भूल गया कि आगे शांकरमत का भी उल्लेख है। यहां "**तथा वैष्णव आदि**" पाठ अधिक संगत और व्यापक अर्थवाला है। मूलप्रति सं० का यह पाठ इस संशोधन के साथ ग्राह्य है, अन्यथा यह प्रसंग एकांगी रह जायेगा।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित वाक्य**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में लिपिकर के प्रमाद से यह पाठ—"**वैसे संन्यासी भी हुए**" त्रुटित रह गया है। इसके बिना वाक्य व भाव पूर्ण नहीं हो रहा। इसके बिना पाठ की संगति ही नहीं बनती, अतः यह ग्राह्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह पाठ है। अन्य सभी द्वितीय सं० तथा 'उदयपुर' सं० में त्रुटित है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**संन्यासादि नाम**" अपप्रयोग है। इस सं० में संशोधित है। एक **मीमांसक जी** के सं० को छोड़कर सभी के सं० में अपप्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में भी अपप्रयोग है।

४. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**और**" पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है।

५-६. **उपयुक्त पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा 'उदयपुर' सं० में "**हो जाते हैं**" पाठ है। यहां '**हो रहे हैं**' चाहिए। आगे मूलह०, द्विप्र० व द्वि० सं० का पद "**तनिक भी**" सार्थक होने से ग्राह्य है। यह मूलप्रति सं० में नहीं है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में मूलप्रति के इस वाक्य के "**जब तक.....तब तक**" पदों के स्थान पर लिपिकर ने अपनी ग्राम्य बोली के प्रयोग रख दिये हैं—"**जब लों.....तब लों**"। यह अवांछनीय परिवर्तन है। 'उदयपुर' सं० में यही ग्राम्य प्रयोग हैं। न जाने विद्वानों को इसके ग्रहण में क्या वैशिष्ट्य दिखाई पड़ा?

ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान, सत्योपदेश होते हैं, तभी देशोन्नति होती है।

चेत रक्खो! बहुत-सी पाखण्ड की बातें तुमको सचमुच दीख पड़ती हैं। जैसे कोई साधु दुकानदार पुत्र देने की सिद्धि बतलाता है तब उसके पास बहुत स्त्रियां[१] जाती हैं, सब पुत्र माँगती हैं, और बाबा जी सबको पुत्र होने का आशीर्वाद देता है। उनमें से जिस-जिस को पुत्र होता है, वह-वह समझती है कि बाबा जी के वचन से हुआ। जब उनसे कोई पूछे कि सुअरी, कुत्ती, गधी आदि पशु और मुर्गी आदि पक्षियों के[२] कच्चे-बच्चे किस बाबा जी के वर से होते हैं? तो कुछ भी उत्तर न दे सकेगा। जो कोई कहे कि मैं लड़के को जीता रख सकता हूँ, तो आप ही क्यों मर जाता है?

कितने ही धूर्त्त लोग ऐसी माया रचते हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी धोखा खा जाते हैं, जैसे धनसारी के ठग। ये लोग पाँच-सात मिलके दूर-दूर देश में जाते हैं। जो शरीर से डीलडौल[३] में अच्छा होता है, उसको सिद्ध बनाते हैं। जिस नगर वा ग्राम में धनाढ्य होते हैं, उसके समीप जंगल में उस सिद्ध को बैठाते हैं। उसके साधक नगर में जाके अजान बनके जिस किसी को पूछते हैं—तुमने ऐसे महात्मा को यहाँ कहीं देखा? वह महात्मा कौन और कैसा है?

साधक—बड़ा सिद्ध पुरुष है। मन की बातें बतला देता है। जो मुख से कहता है, वह हो जाता है। बड़ा योगीराज है। उसके दर्शन के लिये हम अपने घर-द्वार छोड़कर देखते-फिरते हैं। मैंने किसी से सुना था कि वह महात्मा इधर की ओर आये हैं।

गृहस्थ—जब वह महात्मा तुमको मिलें तो हमसे कहना, दर्शन करेंगे और मन की बातें पूछेंगे।

इसी प्रकार दिनभर नगर में फिरते और प्रत्येक को उस सिद्ध की बात कहकर रात्रि को सिद्ध-साधक इकट्ठे होकर[४] खाते-पीते, सो रहते हैं। फिर भी प्रातःकाल नगर वा ग्राम में जाके, उसी प्रकार दो-तीन दिन कहकर, फिर चारों साधक किसी एक-एक धनाढ्य से बोलते हैं कि वह महात्मा मिल गये। तुमको दर्शन करना हो तो चलो। वे जब तैयार हो जाते हैं तब साधक उनसे पूछते हैं कि तुम क्या बात पूछना चाहते हो? हमसे कहो। कोई पुत्र की इच्छा करता, कोई धन, कोई रोग-निवारण और कोई शत्रु [को][५] जीतने की। उनको वे साधक ले जाते हैं।

सिद्ध-साधकों ने जैसा सङ्केत किया होता है अर्थात् जिसको धन की इच्छा हो उसको दाहिनी ओर, जिसको पुत्र की इच्छा हो उसको सम्मुख, जिसको रोग-निवारण की इच्छा हो उसको बाईं ओर, और जिसको शत्रु [को][६] जीतने की इच्छा हो उसको पीछे से ले जाके सामनेवाले के बीच में बैठाते हैं।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**स्त्री**" अपप्रयोग है। बहुवचन चाहिए।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां यह अपपाठ है—"**सुवर आदि पशु और मुर्गी आदि पक्षियों के**"। यहां मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**डौलडाल**" अपप्रयोग है, हिन्दी में "**डीलडौल**" प्रयोग शुद्ध है।

४. **स्थानभ्रष्ट प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**इकट्ठे**" पद अस्थान में है—"**इकट्ठे सिद्ध-साधक होकर**" उपर्युक्त संशोधन चाहिए। यह क्रिया विशेषण है। अन्य सभी द्वितीय सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी स्थानभ्रष्ट पाठ है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**को**' पद आवश्यक है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**को**' कारक प्रत्यय त्रुटित है, हिन्दी में यह आवश्यक है।

जब नमस्कार करते हैं, उसी समय वह सिद्ध उनसे बोलता है[१] कि हमारे पास पुत्र नहीं रक्खा है, जो तू पुत्र की इच्छा करके हमारे पास आया है। इसी प्रकार धन की इच्छावाले से बोलता है[२] ''तू धन की इच्छा करके आया है। 'फकीरों' के पास धन कहाँ धरा है?'' रोगमुक्ति की इच्छावाले[३] से—''तू रोग छुड़ाने की इच्छा करके आया है? हम वैद्य नहीं, जा किसी वैद्य के पास।''

परन्तु जब उसका पिता रोगी हो[४] तो उसका साधक अंगूठा, जो माता रोगी हो[५] तो तर्जनी, जो भाई रोगी हो[६] तो मध्यमा, जो स्त्री रोगी है तो अनामिका, जो कन्या रोगी हो[७] तो कनिष्ठिका अंगुली को चला देता है। उसको देख वह सिद्ध कहता है कि तेरा पिता रोगी है, तेरी माता, तेरा भाई, तेरी स्त्री और तेरी कन्या रोगी है। तब तो वे चारों बड़े मोहित हो जाते हैं। साधक लोग उनसे कहते हैं, देखो! जैसा हमने कहा था, वैसे हैं कि नहीं?

गृहस्थ बोलते हैं—हाँ, जैसा तुमने कहा था, वैसे ही हैं। तुमने बड़ा उपकार किया और हमारा बड़ा भाग्य[८] था, जो ऐसे महात्मा का दर्शन हुआ।[९]

साधक लोग कहते हैं कि ये महात्मा[१०] बहुत दिन रहनेवाले नहीं हैं। जो कुछ इनसे आशीर्वाद लेना हो तो खूब सेवा करो।[११]

वे गृहस्थ प्रशंसा करते घर की ओर चलते हैं। साधक भी उनके साथ-साथ जाते हैं, क्योंकि मार्ग

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ-परिवर्धन**—मूलह० और मूलप्रति सं० के उक्त वाक्य के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि० सं० में यह पाठ अनावश्यक बढ़ाया गया है—''**वह सिद्ध अपनी सिद्धाई की झपट से उच्च स्वर से बोलता है।**''

२-३. **उचित परिवर्धन एवं त्रुटित पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**धन वाले से बोलता है**'' अपूर्ण पाठ है मुद्रणप्रति व द्वि० सं० में उपयुक्त संशोधन है जो ऊपर गृहीत है। ठीक इसी प्रकार ''**रोग वाले**'' के स्थान पर ''**रोगमुक्ति की इच्छा वाले**'' उपयुक्त संशोधन होना चाहिए था जिसको करना मुद्रणलिपिकर व द्वि०सं० के सम्पादक भूल गये, क्योंकि दोनों वाक्यों की एक शैली है। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में भी त्रुटित पाठ है।

४-७. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में इन चारों स्थलों पर ''**है**'' क्रिया का अपप्रयोग है। ''**जब**'' पद के सम्बन्ध से और सम्भावना में ''**हो**'' क्रिया उपयुक्त है। द्वि० सं० में संशोधित है, जो ग्राह्य है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**भाग्य था**'' के स्थान पर ''**भाग्योदय था**'' अपप्रयोग किया है, जो अशुद्ध होने से अग्राह्य है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है।

९. **अनावश्यक पाठ विस्तार**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में व्यर्थ पाठ विस्तार है—''**जो ऐसे महात्मा मिले। जिनके दर्शन करके हम कृतार्थ हुए।**'' यही भाव पूर्ववाक्य में उक्त हो चुका है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक और अपपरिवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां अशुद्ध और अव्यावहारिक पाठ पद परिवर्धित किया है—''**ये महात्मा मनोगामी हैं**'', यह अग्राह्य है। यह पाठ 'उदयपुर' आदि सं० में है।

११. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक एवं अप-विस्तार**—मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त ''**खूब सेवा करो**'' इस संक्षिप्त और सारगर्भित वाक्य के स्थान पर मुद्रण लिपिकर ने कहानी शैली में यह अनावश्यक विस्तार किया है—''**अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुकूल इनकी तन-मन-धन से सेवा करो, क्योंकि सेवा से मेवा मिलती है। गृहस्थ ऐसे लल्लो-पत्तो की बातें सुनकर बड़े हर्ष से**---। यह भाव पूर्व पंक्तियों में आ ही चुका है।

लिपिकर की अपभाषा—लिपिकर की भाषा सम्बन्धी अयोग्यता उसके द्वारा निर्मित वाक्य में द्रष्टव्य है। ''**अपनी अपनी सामर्थ्य**'' अशुद्ध प्रयोग है, '**अपने अपने सामर्थ्य**' चाहिए। ''**सामर्थ्य के अनुकूल**'' के स्थान पर '**सामर्थ्य के अनुसार**' प्रयोग शुद्ध है। ''**मेवा**'' पुल्लिंग है, उसका स्त्रीलिंग में प्रयोग अशुद्ध है। '**बड़े हर्ष से प्रशंसा करते हुए**' निरर्थक प्रयोग है, क्योंकि प्रशंसा तो हर्ष से किया करते हैं। इस प्रकार लिपिकर की भाषा शिथिल एवं अशुद्ध है, ऋषि की गम्भीर भाषा से उसकी कोई समानता नहीं। यही अशुद्धियों से युक्त परिवर्धन द्वि० सं० में तथा 'उदयपुर सं०' छप रहा है। पाठक विचार करें कि ऐसे अयोग्य लिपिकरों की भाषा के दोष को हम ऋषि दयानन्द के मत्थे क्यों मढें?

में कोई उनका पाखण्ड खोल न देवे। उन धनाढ्यों का जो कोई मित्र मिला, उन सबसे प्रशंसा करते हैं[१]। इसी प्रकार जो-जो साधकों के साथ जाते हैं उन-उन का वृत्तान्त सब कह देते हैं।

जब नगर में हल्ला मचता है कि अमुक ठौर पर बड़े भारी सिद्ध आये हैं, चलो उनके पास। तब बहुत मनुष्यों का मेला[२] जाकर बहुत से लोग पूछने लगते हैं कि महाराज! मेरे मन का वृत्तान्त कहिये। तब सिद्ध व्यवस्था बिगड़ जाने से[३] चुपचाप हो जाता है[४] और कहने लगता है कि हमको बहुत दिक्क मत करो।[५] उनके साधक भी सबसे कहने लगते हैं—"जो तुम बहुत दिक्क करोगे[६] तो चले जायेंगे।" उनमें से जो कोई बड़ा धनाढ्य होता है,[७] वह उसके साधक को बुला लेता है और कहता है कि 'हमारे मन की बात कहला दो तो हम मानें।' साधक ने पूछा कि 'क्या बात है?' धनाढ्य ने जो कहा, उसको उसी प्रकार संकेत से ले जाके बैठाया।[८] उसे सिद्ध ने समझके झट कह दिया।[९] जब बात सब मेला-भर ने सुन ली[१०] कि अहो! बड़े सिद्ध पुरुष हैं तो कोई मिठाई, कोई पैसा, कोई रुपया, कोई अशर्फी, कोई कपड़ा और कोई सीधा-सामग्री[११] धरने लगे।[१२] फिर जब तक मान्यता[१३] बहुत रही तब तक लूटते रहे[१४] और किसी '**आँख के अन्धे गाँठ के पूरे**' को[१५] पुत्र होने के लिये आशीर्वाद दिया और

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० की "**रहे**" क्रिया के स्थान पर द्वि० सं० में "**है**" क्रिया-संशोधन उपयुक्त है।

२. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में इस वाक्य का पूर्व संगति के लिए यह परिवर्धन आवश्यक है। मूलप्रति में केवल यह अपूर्ण वाक्य है—"**जब नगर में हल्ला होता है तब बहुत मनुष्यों का मेला जाकर**"।

३. **उचित संशोधन**—इस वाक्य में मुद्रणप्रति, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में परिवर्धित यह पाठ ग्राह्य है—"**व्यवस्था बिगड़ जाने से**"। यह सटीक परिवर्धन है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट पाठपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में अशुद्ध है—"**चुपचाप होकर मौन साध जाता है।**" कोई मूर्ख लिपिकर से पूछे कि "**चुपचाप**" और "**मौन**" में क्या अन्तर है? यह भ्रष्ट वाक्यरचना है। अन्य द्वि०सं० और 'उदयपुर सं०' में यही हास्यास्पद पाठ है। मूलह० का उपर्युक्त महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध और ग्राह्य है।

५-६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप अनुवाद**—दोनों वाक्यों में "**दिक्क करने**" के स्थान पर मुद्रणप्रति में हिन्दीकरण के लिए संख्यांक पांच पर "**सताना**" पाठ बनाया है। इसका सही अर्थ है—तंग करना, परेशान करना। लिपिकर ने अथवा शोधक ने कहीं परिवर्तन कर दिया है, कहीं नहीं किया। द्विप्र०, द्वि०सं० 'उदयपुर' सं० में दोनों स्थानों पर यही अप-अनुवाद है।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**बड़ा आदमी**" के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में "**बड़ा धनाढ्य**" पाठ बनाया है। आगे पठित "**धनाढ्य**" प्रयोग के सम्बन्ध से यह ग्राह्य है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में "**बैठाया**" के स्थान पर "**बैठाल देता है**" अनावश्यक पाठान्तर है। अगले वाक्य में भूतकालिक क्रिया है तो यहां भी भूतकालिक ठीक है। या दोनों जगह बदलता।

९. **उचित पद परिवर्धन**—मूलप्रति सं० के "**सिद्ध ने झट कह दिया**" के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में "**सिद्ध ने समझके झट कह दिया**" परिवर्धन अधिक उपयुक्त है। यह उनके योजनाबद्ध ढोंग की ओर संकेत कर रहा है।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह भ्रष्टवाक्य है—"**बात सब मेला भर ने समझ लिया**---"। मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधन उचित एवं ग्राह्य है।

११. **सीधा-सामग्री**—बिना पकाई भोजन सामग्री, जैसे आटा, दाल, चावल, घी आदि खाद्य पदार्थ।

१२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसके स्थान पर "**भेंट करता**" अप-संशोधन है।

१३. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में "**मान्ता**", द्वि० सं० में "**मानता**" अपप्रयोग है, '**मान्यता**' शुद्ध प्रयोग है। 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध पद है।

१४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में यहां यह मूर्खतापूर्ण अपवाक्य है—"**जब तक मान्यता बहुतसी रही.....यथेष्ट लूट करते हैं।**" कहीं भूतकालिक क्रिया तो कहीं वर्तमान की! यही अपपाठ 'उदयपुर' सं० में है।

१५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—"**आंख के अन्धे गांठ के पूरे से..... आशीर्वाद दिया।**" मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में एक अशुद्धि दूर की तो अन्य नयी पैदा कर दीं—"**किन्हीं-**

सहस्र रुपये लेकर कहा कि तेरी सच्ची भक्ति होगी तो पुत्र होगा।

इस प्रकार के बहुत-से ठग होते हैं, जिनकी विद्वान् ही परीक्षा कर सकता है और कोई नहीं। **इसलिये वेदादि-विद्या का पढ़ना [और] सत्संग करना होता है, जिससे कोई उसको ठगाई में न फसा सके, [और] औरों को भी बचा सके।** क्योंकि **मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। विना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता। जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं, वही मनुष्य और विद्वान् होते हैं।**[१] जिनको कुसंग है, वे दुष्ट, पापी, महामूर्ख होकर बड़े दुःख पाते हैं। इसीलिये ज्ञान को विशेष कहा है कि जो जानता है, वही मानता है—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

यह किसी कवि का श्लोक है [चाणक्य० ११।८]

जो जिसका गुण नहीं जानता, वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है, जैसे जंगली भील गजमुक्ताओं को छोड़के गुंजा का हार पहन लेता है। वैसे ही [गुणज्ञ][२] **जो पुरुष विद्वान्, ज्ञानी, धार्मिक, सत्पुरुषों का संगी, योगी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय, सुशील होता है, वही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होकर इस जन्म और परजन्म में सदा आनन्द में रहता है।**

यह आर्यावर्तनिवासी लोगों के मत-विषय में संक्षेप से लिखा। इसके आगे जो थोड़ा-सा आर्य-राजाओं का इतिहास मिला है, इसको सब सज्जनों को जनाने के लिये प्रकाशित किया जाता है।[३]

अब थोड़ा-सा आर्यावर्तदेशीय राजवंश कि जिसमें श्रीमान् महाराजे '**युधिष्ठिर**' से लेके महाराजे **यशपाल** तक हुए हैं, उसका इतिहास लिखते हैं। और श्रीमान् महाराजे '**स्वायम्भुव मनु**[४] **जी**' से लेके महाराजे[५] युधिष्ठिर तक का इतिहास '**महाभारत**' में लिखा ही है और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्तमान विदित होगा।

यद्यपि यह विषय ''**विद्यार्थी**' **सम्मिलित** '**हरिश्चन्द्रचन्द्रिका**' **और** '**मोहनचन्द्रिका**'' जो कि पाक्षिकपत्र श्रीनाथद्वारा[६] से निकलता था,[७] जो राजपूताना देश मेवाड़ राज उदयपुर-चित्तौड़गढ़ में[८]

किन्हीं आंख के अन्धे गांठ के पूरों को''.....।'' यहां ''**अन्धों**'' और भूतकालीन क्रियाएं अपेक्षित हैं।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां एकवचनात्मक अपवाक्य है—''**जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाता है, वही मनुष्य और विद्वान् होता है।**'' यहां बहुवचनात्मक वाक्य चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० में शुद्ध है।

२. **अपविराम व त्रुटित पद**—सभी संस्करणों में यहां ''**गुणज्ञ**'' पद अभीष्ट है, अन्यथा ''**जैसे**'' पद के साथ ''**वैसे**'' पद की संगति नहीं बनती। सभी सं० में इन वाक्यों में अपविराम हैं। ''**करता है**'' के बाद अल्पविराम, ''**लेता है**'' के बाद पूर्णविराम चाहिये।

३. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में ''**इसके आगे.....जाता है**'' पाठ वंशावली से संगति जोड़ने के लिए ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **अपविराम और अपवर्तनी**=द्विप्र० में ''**श्रीमान् महाराज।**'' यहां पूर्णविराम अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है। मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**स्वायम्भव मनु**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—तीनों सं० में यहां वर्तनी-सम्बन्धी अव्यवस्था है। एक ही व्यक्ति के लिए कहीं ''**महाराजे**'', तो कहीं ''**महाराज**'' पद है। महर्षि तत्कालीन प्रयोग-शैली के अनुसार महाराजाओं के लिए ''**महाराजे**'' बहुवचनान्त प्रयोग तथा सामान्य राजाओं के लिए ''**महाराज**'' प्रयोग करते हैं। ग्रन्थ में सर्वत्र यही व्यवस्था ग्राह्य है।
संशोधन-पुष्टि—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में भी समु० ११, पृ० ७२२ पर यही प्रयोग है।

सबको विदित है,[१] उससे हमने अनुवाद किया है। **यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या-पुस्तकों की खोज[२] कर प्रकाश करेंगे तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा।** उस पत्र-सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक जो कि संवत् विक्रम के १७८२ (सत्रह-सौ बयासी) का लिखा हुआ था, उससे उक्त पत्र के सम्पादक महाशय ने ग्रहण कर अपने संवत् १९३९ मार्गशीर्ष शुक्ल और कृष्ण पक्ष १९-२० किरण अर्थात् दो पाक्षिक पत्रों में छापा है। सो निम्न लिखे प्रमाणे जानिये—

आर्यावर्तदेशीय राजवंशावली[३]

इन्द्रप्रस्थ[४] में आर्य लोगों ने श्रीमन्महाराजे '**यशपाल**' पर्यन्त राज्य किया। जिनमें श्रीमन्महाराजे '**युधिष्ठिर**' से महाराजे '**यशपाल**' तक वंश अर्थात् पीढ़ी अनुमान १२४ (एक सौ चौबीस राजा), वर्ष ४१५७, मास ९, दिन १४, समय में हुए हैं। इनका ब्यौरा—

राजा	शक	वर्ष	मास	दिन
आर्यराजा	१२४	४१५७	९	१४

श्रीमन्महाराजे युधिष्ठिरादि वंश अनुमान पीढ़ी ३०, वर्ष १७७१, मास ११, दिन १०[५] इनका

---

६. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में ''**श्रीनाथद्वारे से**'' अपप्रयोग है। व्याकरणानुसार नाम में विकृति नहीं आनी चाहिए।

७. **अपविराम**—द्विप्र० में ''**निकलता था।**'' यहां अन्त में 'पूर्णविराम' लगाना अपविराम है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है। 'उदयपुर' सं० ने उस संशोधित अशुद्धि को पुनः अपने गले में डाल लिया। पूर्ववाक्य में ''**विदित होगा**'' के बाद पूर्णविराम आना चाहिए, वहां 'उदयपुर' सं० ने अशुद्धरूप से 'अल्पविराम' लगाया है।

८. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में यहां ''**में**'' पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है।

१. **पुनरुक्तियुक्त अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**यह**'' पद पाया जाता है जो 'उदयपुर' सं० में भी है। यह व्यर्थ है, क्योंकि वाक्यारम्भ में ''**यह विषय**'' पद उक्त हो चुके हैं।

२. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में '**पुस्तकों का खोज**' अपप्रयोग है, 'उदयपुर' सं० में भी अपप्रयोग है। '**पुस्तकों की खोज**' शुद्ध है।

३. **आर्यवर्तदेशीय राजवंशावली**—राजवंशावली से सम्बन्धित कुछ तथ्य पाठकों के स्मरण रखने आवश्यक हैं। **यह वंशावली महर्षि की अपनी रचना नहीं है, अतः महर्षि इसके लिए उत्तरदायी नहीं है।** जैसे की ऊपर महर्षि ने लिखा है, उक्त पत्रिकाओं से इस वंशावली को उद्धृत कर, इतिहास की सुरक्षा की भावना से इसको प्रकाशित किया है। ऐसी वंशावलियां कई स्थानों से महर्षि को भी मिल गई थीं, उनसे मिलान करके कुछ परिवर्तन के साथ यह वंशावली छापी है। यही कारण है कि उक्त पत्रिकाओं के मूलपाठ से इस वंशावली के सभी आंकड़े मेल नहीं खाते। महर्षि ने वंशावली की प्रेसकापी जब प्रकाशनार्थ मुंशी समर्थदान को भेजी तो मुंशी जी ने उक्त विसंगति को देखा कि मूल पत्रिकाओं से आंकड़ों का मेल नहीं हो रहा है, तब मुंशी जी ने उसे महर्षि के पास वापिस भेज दिया। उस पत्र के उत्तर में महर्षि ने स्पष्ट किया है—''**अन्य पुस्तकों से भी हमने इनको मिलाया है जो कि जोधपुर में एक मुंशी के पास थी और इसके साथ मोहन चन्द्रिका १९-२० किरण भेजते हैं, परन्तु वह भी अशुद्ध छपा है। इसलिये नीचे-ऊपर के जो जोड़ हैं वही शुद्ध कर लेना। आयु के वर्ष मास दिन वैसे ही रहने देना जैसे कि हैं---।**'' (दिनांक १७ सितम्बर १८८३ को मुंशी समर्थदान को दिया प्रत्युत्तर, पत्र विज्ञापन भाग २, पृ० ७८६-७८७) इस कारण ''**मोहन चन्द्रिका**'' के पाठ से भिन्नता होना स्वाभाविक था। प्रायः सभी वंशावलियों में आंकड़ों और नामों का कुछ अन्तर पाया जाता है। फिर भी ये वंशावलियाँ अत्यन्त उपयोगी हैं, क्योंकि इनमें महाभारत तक का एक क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध है। इतनी लम्बी अवधि में कुछ वर्षों का अन्तर हो जाना संभव है। अन्तर विषयक विस्तृत टिप्पणी वंशावली के अन्त में द्रष्टव्य है। आज की इतिहास परम्परा में भी इस प्रकार की विसंगतियां पाई जाती हैं।

मूलहस्तलेख में नहीं—मूलहस्तलेख लिखाने के समय यह वंशावली प्राप्त नहीं हुई थी। मुद्रणप्रति लिखाने के बाद में जब यह मिली तब इसको लिखकर मुद्रणप्रति में पृथक् से जोड़ा गया है। मूलप्रति सं० में यह मुद्रणप्रति से ग्रहण की है।

४. **इन्द्रप्रस्थ**=दिल्ली का प्राचीन नाम। इन्द्रप्रस्थ के किले के खण्डहर आज भी हैं। उसको '**पांडवों का किला**' कहा जाता है।

५. **अपयोग**—मूलप्रति सं० में यहां कुल दिन संख्या २२ है, यह १० अपेक्षित है द्वि० सं० में १० शुद्ध है।

विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	राजा युधिष्ठिर	३६	८	२५
२	राजा परिक्षित	६०	०	०
३	राजा जनमेजय	८४	७	२३
४	राजा अश्वमेध	८२	८	२२
५	द्वितीयराम	८८	२	८
६	छत्रमल	८१	११	२७
७	चित्ररथ	७५	३	१८
८	दुष्टशैल्य	७५	१०	२४
९	राजा उग्रसेन	७८	७	२१[१]
१०	राजा शूरसेन	७९	८	७[२]
११	भुवनपति	६९	५	५
१२	रणजीत	६५	१०	४
१३	ऋक्षक	६४	७	४
१४	सुखदेव	६२	०	२४
१५	नरहरिदेव	५१	१०	२
१६	सुचिरथ	४२	११	२
१७	शूरसेन (दूसरा)	५८	१०	८
१८	पर्वतसेन	५५	८	१०
१९	मेधावी	५२	१०	१०
२०	सोनचीर	५०	८	२१
२१	भीमदेव	४७	९	२०
२२	नृहरिदेव	४५	११	२३
२३	पूर्णमल	४४	८	७
२४	करदवी	४४	१०	८
२५	अलंमिक	५०	११	८
२६	उदयपाल	३८	९	०
२७	दुवनमल	४०	१०	२६
२८	दमात	३२	०	०
२९	भीमपाल	५८	५	८
३०	क्षेमक	४८	११	२१

राजा क्षेमक के प्रधान विश्रवा ने क्षेमक राजा को मारकर राज्य किया। पीढ़ी १४, वर्ष ५००, मास ३, दिन १७, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन
१	विश्रवा	१७	३	२९
२	पुरसेनी	४२	८	२१
३	वीरसेनी	५२	१०	७
४	अनङ्गशायी	४७	८	२३
५	हरिजित	३५	९	१७
६	परमसेनी	४४	२	२३
७	सुखपाताल	३०	२	२१
८	कद्रुत	४२	९	२४
९	सज्ज	३२	२	१४
१०	अमरचूड़	२७	३	१६
११	अमीपाल	२२	११	२५
१२	दशरथ	२५	४	१२
१३	वीरसाल	३१	८	११
१४	वीरसालसेन	४७	०	१४

राजा वीरसालसेन को वीरमहा प्रधान ने मारकर राज्य किया। वंश १६, वर्ष ४४५, मास ५, दिन

१-२. **लिपिकर के प्रमाद से अशुद्ध संख्या**—प्रतिलिपि करनेवाले '**मोहनचन्द्रिका पत्रिका**' के लिपिकर ने प्रमादवश दोनों राजाओं की शासन-अवधि ७८.७.२१एक ही दर्शाई है। डोगरी भाषा में लिखित एक वंशावली '**सप्तसिन्धु**' मासिक पत्र (भाषा विभाग, हरियाणा, चंडीगढ़ से प्रकाशित, फरवरी-मार्च १९७२ अंक) में प्रकाशित है। उसके अनुसार इन राजाओं का कार्यकाल क्रमशः इस प्रकार है—**राजा उग्रसेन** ७८-७-४; **राजा शूरसेन** ७९-८-७। यहां मोटे तौर पर दोनों में एक वर्ष का अन्तर है। यदि इस त्रुटि को दूर करके कुलयोग का संशोधन किया जाये तो युधिष्ठिर वंश का कुलयोग १७७१-११-१० बनेगा और आर्यराजाओं के शासन का कुलयोग ४१५७-९-१४ बनेगा।

३, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन			वर्ष	मास	दिन
१	राजा वीरमहा	३५	१०	८	९	तेजपाल	२८	११	१०
२	अजितसिंह	२७	७	१९	१०	माणिकचन्द	३७	७	२१
३	सर्वदत्त	२८	३	१०	११	कामसेनी	४२	५	१०
४	भुवनपति	१५	४	१०	१२	शत्रुमर्दन	८	११	१३
५	वीरसेन	२१	२	१३	१३	जीवनलोक	२८	९	१७
६	महीपाल	४०	८	७	१४	हरिराव	२६	१०	२९
७	शत्रुसाल	२६	४	३	१५	वीरसेन (दूसरा)	३५	२	२०
८	संघराज	१७	२	१०	१६	आदित्यकेतु	२३	११	१३

राजा आदित्यकेतु मगधदेश[१] के राजा को 'धन्धर' नामक राजा प्रयाग[२] के ने मारकर राज्य किया। वंशपीढ़ी ९, वर्ष ३७४, मास ११, दिन २६, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन			वर्ष	मास	दिन
१	राजा धन्धर	४२	७	२४	६	जीवनराज	४५	२	५
२	महर्षी	४१	२	२९	७	रुद्रसेन	४७	४	२८
३	सनरच्ची	५०	१०	१९	८	आरीलक	५२	१०	८
४	महायुद्ध	३०[३]	३	८	९	राजपाल	३६	०	०
५	दुरनाथ	२८	५	२५					

राजा राजपाल को सामन्त महानपाल ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष १४, मास ०, दिन ०, इनका विस्तार नहीं है।

राजा महानपाल के राज्य पर राजा विक्रमादित्य ने '**अवन्तिका**' (उज्जैन) से चढ़ाई करके राजा महानपाल को मारके राज्य किया। पीढ़ी १, वर्ष ९३, मास ०, दिन ०, इनका विस्तार नहीं है।

राजा विक्रमादित्य को शालिवाहन के उमराव पैठण के[४] समुद्रपाल योगी ने मारकर राज्य किया। पीढ़ी १६, वर्ष ३७२, मास ४, दिन २७, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	वर्ष	मास	दिन			वर्ष	मास	दिन
१	समुद्रपाल	५४	२	२०	४	देवपाल	२७	१	२८
२	चन्द्रपाल	३६	५	४	५	नरसिंहपाल	१८	०	२०
३	सहायपाल	११	४	११	६	सामपाल	२७	१	१७

१. **मगध देश**=दक्षिण बिहार का प्राचीन नाम। इसकी राजधानी राजगृह और पटना रही है।

२. **प्रयाग**=इलाहाबाद के समीप गंगा-यमुना के तट पर स्थित वैदिक कालीन नगर एवं वर्तमान तीर्थस्थल।

३. **अशुद्ध संख्या**—मूलप्रति सं० में यहां २० संख्या छपी है, ३० अपेक्षित है। द्वि०सं० में ३० ही है।

४. **अपक्रमप्रयोग**—तीनों सं० में यहां "**का**" के स्थान पर '**के**' कारक प्रत्यय अभीष्ट है। "**पैठण के**" पाठ "**समुद्रपाल योगी**" के बाद अपपाठ है, वह इस नाम से पूर्व आना चाहिए। **उमराव**=सरदार, सामन्त।

७	रघुपाल	२२	३	२५	१२	हरीपाल	१४	८	४
८	गोविन्दपाल	२७	१	१७	१३	सीसपाल*	११	१०	१३
९	अमृतपाल	३६	१०	१३	१४	मदनपाल	१७	१०	१९
१०	बलीपाल	१२	५	२७	१५	कर्मपाल	१६	२	२
११	महीपाल	१३	८	४	१६	विक्रमपाल	२४	११	१३

राजा विक्रमपाल ने, पश्चिम दिशा का राजा (मलुखचन्द बोहरा था), इन पर चढाई करके मैदान में लड़ाई की। इस लड़ाई में मलुखचन्द ने विक्रमपाल को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया। पीढ़ी १०, वर्ष १९१, मास १, दिन १६, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**					
१	मलुखचन्द	५४	२	१०	६	कल्याणचन्द	१०	५	४
२	विक्रमचन्द	१२	७	१२	७	भीमचन्द	१६	२	९
३	अमीनचन्द**	१०	०	५	८	लोवचन्द	२६	३	२२
४	रामचन्द	१३	११	८	९	गोविन्दचन्द	३१	७	१२
५	हरीचन्द	१४	९	२४	१०	रानी पद्मावती卐	१	०	०

रानी पद्मावती मर गई। इसके पुत्र भी कोई नहीं था। इसलिये सब मुतसद्दियों[१] ने सलाह करके हरिप्रेम वैरागी को गद्दी पर बैठा के मुतसद्दी[२] राज्य करने लगे। पीढ़ी ४, वर्ष ५०, मास ०, दिन २१, हरिप्रेम का विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**					
१	हरिप्रेम	७	५	१६	३	गोपालप्रेम	१५	७	२८
२	गोविन्दप्रेम	२०	२	८	४	महाबाहु	६	८	२९

राजा महाबाहु राज्य छोड़के वन में तपश्चर्या करने गये, यह बंगाल के राजा आधीसेन सुनके, इन्द्रप्रस्थ में आके आप राज्य करने लगे। पीढी १२, वर्ष १५१, मास ११, दिन २, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**					
१	राजा आधीसेन	१८	५	२१	५	मयूरसेन	२०	११	२७
२	विलावलसेन	१२	४	२	६	भीमसेन	५	१०	९
३	केशवसेन	१५	७	१२	७	कल्याणसेन	४	८	२१
४	माधसेन	१२	४	२	८	हरीसेन	१२	०	२५

* किसी इतिहास में भीमपाल भी लिखा है। (यह मुद्रणप्रति में भीमसेन शर्मा द्वारा लिखित टिप्पणी है—सम्पादक)

** इनका नाम कहीं मानकचन्द भी लिखा है। (यह मुद्रणप्रति में भीमसेन शर्मा द्वारा लिखित टिप्पणी है—सम्पादक)

卐 यह पद्मावती गोविन्दचन्द की रानी थी। (यह दोनों हस्त० में नहीं है, मुद्रणकाल में द्विप्र० में लिखी टिप्पणी है—सम्पादक)

१-२. **अपवर्तनी**—तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**मुत्सद्दी**" अपवर्तनी है, इसका शुद्ध रूप '**मुतसद्दी**' होता है। इसका अर्थ है—प्रबन्धक, दरबारी या प्रतिनिधि। अन्य सभी सं० तथा 'उदयपुर' सं० में अशुद्ध वर्तनी है।

९	क्षेमसेन	८	११	१५	११	लक्ष्मीसेन	२६	१०	०
१०	नारायणसेन	२	२	२९	१२	दामोदरसेन	११	५	१९

राजा दामोदरसेन ने अपने उमराव को बहुत दुःख दिया, इसलिये राजा के उमराव दीपसिंह ने सेना मिलाके राजा के साथ लड़ाई की। उस लड़ाई में राजा को मारकर दीपसिंह आप राज्य करने लगे। पीढी ६, वर्ष १०७, मास ६, दिन २२, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**					
१	दीपसिंह	१७	१	२६	४	नरसिंह	४५	०	१५
२	राजसिंह	१४	५	०	५	हरिसिंह	१३	२	२९
३	रणसिंह	९	८	११	६	जीवनसिंह	८	०	१

राजा जीवनसिंह ने कुछ कारण के लिये अपनी सब सेना उत्तर दिशा को भेज दी। यह खबर वैराट[१] के राजा पृथ्वीराज चह्वाण सुनकर जीवनसिंह के ऊपर चढाई करके आये और लड़ाई में जीवनसिंह को मारकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य किया।* पीढी ५, वर्ष ८६, मास ०, दिन २०, इनका विस्तार—

	आर्यराजा	**वर्ष**	**मास**	**दिन**					
१	पृथिवीराज	१२	२	१९	३	दुर्जनपाल	११	४	१४
२	अभयपाल	१४	५	१७	४	उदयपाल	११	७	३
					५	यशपाल	३६	४	२७

राजा यशपाल के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन ग़ोरी[२] गढ़ ग़जनी से चढाई करके आया और राजा यशपाल को प्रयाग के किले में संवत् १२४९ साल में पकड़कर क़ैद किया। पश्चात् '**इन्द्रप्रस्थ**' अर्थात् दिल्ली का राज्य आप (सुलतान शहाबुद्दीन)[३] करने लगा। पीढ़ी ५३, वर्ष, ७४५, मास १, दिन १७। इनका विस्तार बहुत इतिहास पुस्तकों में लिखा है, इसलिये यहाँ नहीं लिखा।[४]

इसके आगे [चार्वाक]-बौद्ध-जैनमत विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते[५]-आर्यावर्तीयमतखण्डनमण्डनविषये[६]
एकादशः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥ ११ ॥

---

* इसके आगे और इतिहासों में इस प्रकार है कि महाराज पृथ्वीराज के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन ग़ोरी चढ़कर आया और कई बार हारकर लौट गया। अन्त में संवत् १२४९ में आपस की फूट के कारण महाराज पृथ्वीराज को जीत, अन्धा कर अपने देश को ले गया। पश्चात् दिल्ली (इन्द्रप्रस्थ) का राज्य आप करने लगा। मुसलमानों का राज्य पीढ़ी ४५, वर्ष ६१३ रहा। (पण्डित लेखराम आर्यपथिक द्वारा पञ्चम संस्करण में लिखित टिप्पणी)

विशेष—यह टिप्पणी मूलसं० में गृहीत है, द्वि०सं० और उदयपुर सं० में नहीं है।

१. **वैराट**—'वैराट' का प्राचीन नाम 'मत्यदेश' था। यह प्रमुखतः अलवर-जयपुर का क्षेत्र रहा है। संभवतः, यहां वंशावली लेखक का इससे स्थूल अभिप्राय 'राजस्थान' से है।

२-३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—द्वि०सं० और मूलसं० में एक ही अनुच्छेद में एक ही नाम दो तरह से लिखा मिलता है—**शाहबुद्दीन, शहाबुद्दीन।** द्विप्र० में एक वर्तनी "**शहाबुद्दीन**" है। यहां एक ही वर्तनी '**शहाबुद्दीन**' अपेक्षित है। इसी प्रकार सभी सं० "**गौरी**" भी अपवर्तनी है। यह '**गोरी**' अभीष्ट है। अफगानिस्तान के '**गोर**' देश का निवासी होने के कारण इसकी उपाधि '**गोरी**'

थी। 'ग़जनी' नगर भी वर्तमान अफगानिस्तान में स्थित है।

४. **वंशावली-विषयक चिन्तन**—प्राय: सभी इतिहास-समीक्षकों और सम्पादकों का यह मानना है कि यह वंशावली अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण है। आर्य राजाओं के शासन की गणना में १७२ वर्षों का शासनकाल छूटा हुआ है। जैसे—वि० संवत् १२४९ (सन् ११९२) में गोरी ने दिल्ली पर अधिकार किया। विक्रमी संवत्, कलिसंवत् ३०४४ के बाद आरम्भ हुआ था और कलिसंवत् श्रीकृष्ण के दिवंगत होने के दिन से आरम्भ हुआ था। दिसम्बर, सन् २००८ में कलिसंवत् ५१०८ तथा वि० संवत् २०६५ चल रहा है। इस प्रकार वि० संवत् १२४९ तक कलि सं० के ४२९३ वर्ष व्यतीत होते हैं। यहां आर्यराजाओं का शासनकाल ४१५७ वर्ष लिखा है, इसमें भी युधिष्ठिर के शासन काल के ३६ वर्ष द्वापर युग के परिगणित हैं। ४१५७ में से ३६ वर्ष घटा देने के उपरान्त यह शासनकाल ४१२१ वर्ष की अवधि का रह जाता है। ४२९३ में से ४१२१ वर्ष घटा देने पर १७२ वर्षों का अन्तर आता है। इतनी शासन अवधि का हिसाब त्रुटित है।

इसी प्रकार संवत् १२४९ (सन् ११९२) के बाद सन् १८५७ में दिल्ली पर अंग्रेजों का शासन पूर्णत: हो गया था। १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। ९० वर्ष अंग्रेजों के शासन की तथा सन् २००८ तक ६१ वर्ष भारत के स्वतन्त्र शासन की अवधि मिलाकर ये १५१ वर्ष बनते हैं। सन् ११९२ से गोरी के शासन के बाद की शेष कुल ८१६ वर्षों की अवधि में से उक्त १५१ वर्ष घटा देने पर मुस्लिम शासन काल ६६५ वर्ष ही शेष रहता है जबकि यहां ७४५ वर्ष की अवधि मुस्लिम शासन की दिखाई है। इस प्रकार लगभग ८० वर्ष की त्रुटि यहां दिखाई पड़ती है। या तो इन वंशावलियों में अथवा वर्तमान इतिहास की कालगणना में कहीं-न-कहीं कुछ गड़बड़ है।

अन्तर क्यों ?—वस्तुत:, आंकड़ों की भिन्नता का केन्द्रबिन्दु शहाबुद्दीन गोरी का काल है, अन्यथा गणना प्राय: ठीक है। गोरी का आक्रमण काल वर्तमान इतिहास परम्परा ने ११९२ ईस्वी सन् मान लिया है जबकि प्राचीन वंशावलियों की इस विषय में मतभिन्नता है। डोगरी वंशावली वि० सं० ९९२ (सन् ९३५ ईस्वी) मानती है।

यदि हम गोरी का आक्रमण काल ११९२ ईस्वी मानते हैं तो सन् २००८ तक ८१६ वर्ष की अवधि बनती है। इसमें से १८०० से १९४७ तक के १४७ वर्ष अंग्रेजी साम्राज्य के और ६१ स्वतन्त्र भारत के शासन के निकाल दें तो मुस्लिम शासन का समय ६०८ वर्ष शेष रहते हैं। प्राय: सभी वंशावलियों में मुस्लिम शासन की अवधि ८०० वर्ष के लगभग दी हुई है। अत: गड़बड़ गोरी के कालनिर्धारण में प्रतीत होती है।

एक समाधान—यदि हम गोरी के शासनकाल को केन्द्रबिन्दु न मानकर आंकड़ों को प्रस्तुत करते हैं तो आंकड़ों में प्राय: तालमेल हो जाता है। जो अन्तर बचता है वह इतनी दीर्घावधि की दृष्टि से सामान्य है। देखिए—

(क) सत्यार्थप्रकाश की परिवर्धित व संशोधित वंशावली के अनुसार—

वंशावली में वर्णित आर्यराजाओं का शासनकाल कुल	—	४१७५
द्वापरयुग-कालीन युधिष्ठिर शासन के वर्ष घटाये	—	३५
कलि सम्वत् में आर्यराजाओं का कुल शासन काल	—	४१४०
मुसलमानों का कुल शासनकाल	—	७४५
वंशावली के अनुसार दोनों का कुल शासनकाल	—	४८८५
सन् १८०० से १९४७ तक अंग्रेजों का शासनकाल	—	१४७
सन् १९४७ के बाद २००८ तक स्वतन्त्र भारत का शासनकाल	—	६१
कलि सं० ५१०८ या सन् २००८ तक हुए शासन के कुल वर्ष	—	४०९३
५१०८ वर्ष पूरे होने में रहा अन्तर	—	१५
सन् २००८ तक, महाभारत युद्ध के बाद कलियुग सं० के बीते **कुल वर्ष**	—	**५१०८**

इस प्रकार वंशावली के तालमेल में केवल १५ वर्षों का अन्तर रहता है जो इतनी लम्बी अवधि की दृष्टि से नगण्य है। इस आधार पर सत्यार्थप्रकाश की वंशावली सर्वाधिक उपयुक्त है।

(ख) डोगरी वंशावली के अनुसार कालगणना—

आर्यराजाओं का कलि सम्वत् का शासनकाल	—	४०४१
मुसलमानों का वर्णित शासनकाल	—	७९३
वंशावली के अनुसार शासनकाल कुल	—	४८३४
१८०० से १९४७ तक अंग्रेजों का शासनकाल	—	१४७

१९४७ से बाद स्वतन्त्र भारत का शासनकाल	—	६१
कलि सं० ५१०८ या सन् २००८ तक शासन के कुल वर्ष	—	५०४२
५१०८ वर्ष पूरे होने में रहा अन्तर कुल वर्ष	—	६६
महाभारत युद्ध के बाद सन् २००८ तक कलियुग सं० के बीते **कुल वर्ष**	—	**५१०८**

६६ वर्षों का अन्तर भी बहुत अधिक नहीं है। इस वंशावली की विशेष बात यह है कि इसमें शहाबुद्दीन गोरी का आक्रमण काल वि०सं० ९९२ (सन् ९३५) वर्णित किया है जो वर्तमान इतिहास द्वारा गोरी के आक्रमणकाल-निर्धारण पर एक प्रश्नचिह्न लगा देता है।

इन सामान्य त्रुटियों के बावजूद भी परम्परागत पर्याप्त क्रमबद्ध ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध कराने के कारण इन वंशावलियों का अत्यधिक महत्त्व है। यों तो आज का इतिहास भी अनेक विषयों में एकमत नहीं हो पाया है। अनेक बिन्दुओं पर तो सैकड़ों नहीं, हजारों वर्षों का मतान्तर पाया गया है। अपितु यह कहना चाहिए कि इस युग में अंगरेज और भारतीय नवीन इतिहासकारों द्वारा लिखा गया इतिहास अधिकांशत: कपोलकल्पनाओं पर आधारित है, विशेषत: भारत का प्राचीन इतिहास।

५-६. पाठवर्धन—दोनों ही हस्तलेखों में "**सुभाषाविरचिते**" पाठ है, "**सुभाषाविभूषिते**" मुद्रणकाल में किया गया है। दोनों ही हस्तलेखों में "**आर्यावर्त्तीयमतखण्डनमण्डनविषये**" पाठ नहीं है, यह भी मुद्रणकाल में जोड़ा गया है।

—०—

अनुभूमिका (२)[१]

जब आर्यावर्तस्थ मनुष्यों में सत्यासत्य का यथावत् निर्णय करनेवाली[२] वेदविद्या छूटकर अविद्या फैलके मतमतान्तर खड़े हुए, यही जैन आदि के विद्याविरुद्धमत-प्रचार का निमित्त हुआ, क्योंकि '**वाल्मीकीय**' [**रामायण**][३] और '**महाभारत**'[४]-आदि में जैनियों का नाम-मात्र भी नहीं लिखा है और जैनियों के ग्रन्थों में '**वाल्मीकीय**' [**रामायण**][५] और '**महाभारत**' में कथित राम-कृष्ण-आदि की गाथायें[६] बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि यह मत इनके पीछे चला; क्योंकि जैसा अपने मत को बहुत प्राचीन जैनी लोग लिखते हैं, वैसा होता तो '**वाल्मीकीय**' [**रामायण**][७] आदि ग्रन्थों में उनकी कथा अवश्य होती, इसलिये जैनमत इन ग्रन्थों के पीछे चला है।

कोई कहे कि जैनियों के ग्रन्थों में से कथाओं को लेकर '**वाल्मीकीय**' [**रामायण**][८] आदि ग्रन्थ बने होंगे तो उनसे पूछना चाहिये कि '**वाल्मीकीय**' [रामायण][९] आदि में तुम्हारे ग्रन्थों का नामोल्लेख भी क्यों नहीं ? और तुम्हारे ग्रन्थों में क्यों है ? क्या पिता के जन्म का दर्शन पुत्र कर सकता है ? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन-बौद्ध मत, शैव-शाक्त-आदि मतों के पीछे चला है।

अब, इस १२ (बारहवें) समुल्लास में जो-जो जैनियों के मत-विषय में[१०] लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के पते-पूर्वक लिखा है। **इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिये; क्योंकि जो-जो हमने इनके मतविषय में लिखा है, वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ।** इस लेख को जब जैनी, बौद्ध वा अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्यासत्य के निर्णय में विचार

---

१. **अनुभूमिका लेखन एवं पाठग्रहण**—मूलहस्तलेख लिखाते समय महर्षि ने यह अनुभूमिका नहीं लिखाई थी, अतः यह मूलहस्तलेख में नहीं है। मुद्रणप्रति तैयार कराने के बाद किसी समय इसको लिखाया है, फिर उसमें संलग्न किया है। उसी में यह संलग्न है। मूलप्रति सं० में इसको मुद्रणप्रति/ द्वि०सं० से ही ग्रहण किया है।

२. **ऋषिकृत उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**निर्णयकारक वेदविद्या**'' अपप्रयोग है, ''**निर्णय करनेवाली**'' शुद्ध है। यह संशोधन ऋषि ने मुद्रणप्रति में किया है, क्योंकि मुद्रणप्रति में भी पहले अशुद्ध पाठ था। द्विप्र० में ''निर्णय कारनेवाली'' मुद्रणजन्य अपपाठ है। उदयपुर सं० ने पुनः ''**निर्णयकारक वेदविद्या**'' पुंल्लिंग अशुद्ध प्रयोग ग्रहण कर लिया है।

३,५,७-९. **अपपाठ**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में उल्लिखित स्थानों पर केवल ''**वाल्मीकीय**'' अपूर्ण नाम-प्रयोग है। स्पष्टता के लिए 'वाल्मीकीय रामायण' प्रयोग उपयुक्त है। साहित्य-जगत् में '**वाल्मीकीय**' से अन्य ग्रन्थ भी ग्रहण किये जाते हैं। अयोग्य लिपिकर ने तो मुद्रण-प्रति में सभी स्थलों पर ''**बाल्मीकि**'' अशुद्ध प्रयोग किया है, ''**वाल्मीकीय**'' मुद्रण-काल में किसी शोधक ने बनाया है।

४. **भारत अपूर्णनाम**—इसी प्रकार ''**भारत**'' के स्थान पर उस ग्रन्थ का प्रसिद्ध और प्रचलित नाम ''**महाभारत**'' ही उपयुक्त है, क्योंकि उपलब्ध संस्करण से भिन्न वैशम्पायनप्रोक्त ग्रन्थ ''**भारत**'' था जिसमें केवल चौबीस हजार श्लोक थे। उदयपुर सं० आदि में अपूर्ण नाम हैं।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**गाथा**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, यहां बहुवचन अपेक्षित है।

१०. **मुद्रणकालीन अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**मतविषयक**'' सही पाठ है, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**मत-विषय में**'' शिथिल एवं अनावश्यक पाठान्तर कर दिया गया है। यह मुद्रण-कालीन परिवर्तन है।

और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा। **जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाय तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा-अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है, इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से[१] वाद वा लेख करना हमारी[२] मनुष्य जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।**

और यह बौद्ध-जैन मत का विषय, विना इनके,[३] अन्यमत-वालों को अपूर्व लाभ [करनेवाला] और बोध करानेवाला[४] होगा, क्योंकि ये लोग अपने पुस्तकों को किसी अन्य मत-वाले को देखने, पढ़ने वा लिखने को भी नहीं देते। बड़े परिश्रम से, मेरे और विशेषतः[५] आर्यसमाज मुम्बई के मन्त्री **सेठ सेवकलाल कृष्णदास** के पुरुषार्थ से ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं; तथा काशीस्थ 'जैनप्रभाकर यन्त्रालय' में छपने और मुम्बई में '**प्रकरणरत्नाकर**' ग्रन्थ के छपने से भी सब लोगों को जैनियों का मत देखना सहज हुआ है।

भला, यह किन विद्वानों की बात है कि अपने मत के पुस्तक आप ही देखना और दूसरों को न दिखलाना? इसी से विदित होता है कि इन ग्रन्थों के बनानेवालों को प्रथम ही शंका थी कि '**इन ग्रन्थों में असम्भव बातें हैं, जो दूसरे मत-वाले देखेंगे तो खण्डन करेंगे और हमारे मत-वाले दूसरों के ग्रन्थ देखेंगे तो इस मत में श्रद्धा न रहेगी।**'

अस्तु, जो हो, **परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में अति-उद्युक्त रहते हैं, यह न्याय की बात नहीं; क्योंकि प्रथम अपने दोष देख, निकालके, पश्चात् दूसरे के दोषों में दृष्टि देके निकालें।**

अब इन बौद्धों[६]-जैनियों के मत का विषय सब सज्जनों के सम्मुख धरता हूँ; जैसा है, वैसा विचारें।[७]

किमधिकलेखेन बुद्धिमद्वर्येषु

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**सुहृदता**" अपप्रयोग है, द्वि०सं० में इसके स्थान पर "**मित्रता**" पाठ संशोधन किया है जो शुद्ध और ग्राह्य है। यह मुद्रण-समय किया गया संशोधन है।

२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां "**हम मनुष्य जाति का**" अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि० सं० में "**हमारी मनुष्य जाति का**" उपयुक्त संशोधन है, जो ग्राह्य है। यह मुद्रण-समय का संशोधन है, क्योंकि मुद्रण हस्तलेख में भी वही अपपाठ है।

३. **विना इनके**=अर्थात् बौद्धों और जैनियों के अतिरिक्त।

४. **अपपाठ**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में "**लाभ और बोध करने वाला**" अपपाठ है। यहां "**लाभ करनेवाला और बोध करानेवाला**" पाठ अभीष्ट है। उदयपुर सं० ने संशोधन कर लिया है।

५. **अपप्रयोग**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में "**विशेष आर्यसमाज**" अपप्रयोग है। यहां "**विशेषतः आर्यसमाज**" प्रयोग अपेक्षित है। उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है। ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर "**विशेषकर**" "**विशेषतः**" आदि शुद्ध प्रयोग हैं।

६. **अपप्रयोग**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में यहां "**बौद्ध**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त "**बौद्धों**" अपेक्षित है।

७. **ऋषिलेख एवं उचित संशोधन**—मुद्रण-प्रति में "**विचारें जैसा है वैसा**" पाठ है, मुद्रण-काल में द्विप्र० में उपर्युक्त रूप से वाक्य संशोधित है। यही द्वि०सं० में है। यही पाठ ग्राह्य है। रेखांकित पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा लिखित है।

अथ द्वादशसमुल्लासारम्भः

अथ नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाक[१]-बौद्धजैनमतखण्डनमण्डनविषयान् व्याख्यास्यामः [अब नास्तिक मत के अन्तर्गत चार्वाक, बौद्ध, जैनमतों के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे][२,३]

कोई एक '**बृहस्पति**' नामा पुरुष हुआ था, जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था।[४] देखिये, उसका[५] मत—

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पद की दो प्रकार की वर्तनियां मिलती हैं—१. **चारवाक** (प्रायः सारे ग्रन्थ में), २. **चार्वाक** (मूलप्रति सं० पृ० ५६७, द्विप्र० ४६१, द्वितीय संस्करण पृ० ३१९, उदयपुर सं० ४६१)। भाषात्मक व्यवस्था और एकरूपता के लिए एक ही वर्तनी ग्राह्य है, और वह है—'**चार्वाक**'। स्वयं चार्वाक दर्शन में और व्याकरण में यही वर्तनी स्वीकृत, प्रचलित और शुद्ध है। चार्वाक के अनुसार इसका अर्थ है—चारु=आकर्षक या रुचिकर, वाक्=वाणी। चार्वाक दर्शन का दूसरा नाम '**लोकायत**' है, जिसका अर्थ है, 'वे विचार जो लोक में सहज रूप से व्याप्त और स्वीकृत हैं।' यह शब्द पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र ''क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्'' (४.२.६०) के अन्तर्गत 'उक्तगण' में भी मिलता है।

ग्रन्थकार ने ''**चारवाक**'' वर्तनी को एक स्थान पर व्यंग्यार्थ में ग्रहण किया है, लिपिकर ने तदनुसार ही, ग्रन्थ में प्रायः सब स्थानों पर ''**चारवाक**'' वर्तनी लिखी है, और इसका अर्थ ग्रहण किया है—'जो बोलने में चालाक, बकवादी और ढीठ है।' (द्र० पृ० ७४२/२)। इसी अर्थ को व्यक्त करने की भावना से '**चारवाक**' वर्तनी का प्रयोग है, किन्तु यह वहीं उपयुक्त एवं ग्राह्य है जहां व्यंग्योक्ति का प्रसंग हो, अन्यत्र व्याकरण-स्वीकृत तथा प्रचलित वर्तनी ही ग्राह्य है। इन कारणों से '**चार्वाक**' वर्तनी का ग्रहण ही युक्तियुक्त, व्याकरणसम्मत और शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ८४० पर शुद्ध प्रयोग '**चार्वाक**' द्रष्टव्य है। 'चार्वाक दर्शन' में भी यही वर्तनी है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—ग्रन्थ की शैलीगत एकरूपता की दृष्टि से बृहत् कोष्ठकान्तर्गत हिन्दी-पाठ परिवर्धित करना आवश्यक है। द्र०पृ० ५८ पर टिप्पणी संख्या १-२।

३. **बारहवें समुल्लास की समस्याओं पर समस्याएँ**—सत्यार्थप्रकाश का बारहवां समुल्लास, किसी संकलनकर्त्ता लेखक की अयोग्यता, लिपिकरों के प्रमाद और आदिसम्पादकों की मक्कारी से अत्यधिक अशुद्ध और असम्पादित है। मूल हस्तलेख में संकलित स्थलों को देखने से ज्ञात होता है कि किसी वेतनभोगी लेखक ने जैन-बौद्ध-सिद्धान्तों के मूल प्रमाणों का संकलन करके उनका हिन्दी में स्वयं अर्थ किया है। वह संकलनकर्त्ता महा अयोग्य व्यक्ति था जिसे कामचलाऊ संस्कृत भी नहीं आती थी। यही कारण है कि जैन-बौद्ध-सम्बन्धी अधिकांश श्लोकों और अनेक कारिकाओं का अर्थ अशुद्ध ही नहीं, भ्रष्ट है। यहां तक भ्रष्ट है कि जैन-प्रसंग में उद्धृत **तौतातित-उक्त** उत्तरपक्ष के सभी श्लोकों को जैनपक्ष का बना दिया है। खण्डन के कथनों को स्थापना पक्ष में कोई मूर्खराज ही बदल सकता है। संकलनकर्त्ता को बौद्धों के विश्वप्रसिद्ध '**चार आर्यसत्यों**' का भी ज्ञान नहीं था, नहीं तो वह उन श्लोकों का महाभ्रष्ट अर्थ नहीं करता। ज्ञात होता है कि महर्षि ने केवल उनका हिन्दी अर्थ पढ़के समीक्षा लिखवाई है और वे कार्याधिक्य तथा समयाभाव के कारण इसका भलीभांति निरीक्षण भी नहीं कर सके। महर्षि, द्वादश समुल्लास में विद्यमान अशुद्धियां कदापि नहीं कर सकते थे क्योंकि वे वेद, दर्शन और संस्कृतभाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे लिपिकरों और शोधकों पर भरोसा कर बैठे। इसी से इस समुल्लास का अप्रौढ़, अमानक, अव्यवस्थित और विकृत रूप हो गया।

भ्रष्ट श्लोकार्थ, वर्तनी-वाक्यरचना आदि अशुद्धियों के अतिरिक्त गणना-सम्बन्धी अशुद्धियां भी इसमें पर्याप्त हैं। गणनाओं में परस्परविरोध भी है और अशुद्ध योग भी है। पूरे समुल्लास का या तो सम्पादन शोधक दोनों शर्माओं के द्वारा भलीभांति किया ही नहीं है, या फिर मक्कारी के साथ अपसंपादन है। विषयों में न तो क्रमबद्धता है और न एकत्रीभाव। लगभग सभी विषय कई-कई स्थानों पर बिखरे पड़े हैं। यही स्थिति मूलहस्तलेख में है और यही मुद्रणहस्तलेख में है। उन्हीं के आधार पर उनके संस्करण छपे हैं। मुद्रण-हस्तलेख में इस समुल्लास को परिष्कृत-परिवर्धित करने का प्रयास दिखाई पड़ता है, किन्तु कुछ स्थानों पर भाषा-परिवर्तन-परिवर्धन के अतिरिक्त उसमें कोई विशिष्ट सुधार नहीं किया गया। कुछ प्रसंगों को आगे-पीछे जोड़ देने में ही आदि-शोधकों ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली। यह समुल्लास वेतनभोगी आदि-शोधकों की कर्त्तव्यहीनता का ज्वलन्त प्रमाण तो है ही, ऐसा भी हो सकता है कि उनकी सोची-समझी प्रमादपूर्ण शरारत भी हो।

उन्होंने जो किया सो किया, किन्तु हम आर्यों ने सवा-सौ वर्षों तक क्या किया? बड़े दुःख का विषय है कि हमारे सम्पादकों

ने (स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती के कुछ प्रयास को छोड़कर) इसके परमावश्यक संशोधन-संपादन पर ध्यान नहीं दिया और इसका भ्रष्ट रूप रहने में ही श्रद्धालुता समझी। इस शोध संस्करण में लिपिकरकृत प्रायः सभी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया है। निष्कर्ष यह है कि इस समुल्लास के पुनः नवसम्पादन की महती आवश्यकता है। यदि आर्यविद्वानों और आर्यपाठकों ने गम्भीरता, उदारता एवं दूरदृष्टि का परिचय देते हुए द्वादश समुल्लास के संशोधन की योजना को स्वीकार नहीं किया तो भविष्य में ऐसा भी समय आ सकता है जब प्रमादी लिपिकरों और आदिसम्पादकों द्वारा की गई त्रुटियां ऋषि की मान ली जायें। तब आर्यजनों को बगलें झांकने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं सूझेगा। हाँ, कुछ महाभ्रष्ट आपत्तिजनक अशुद्धियां कुछ सम्पादकों ने अपने संस्करण में सुधारी है।

इस समुल्लास ने लिपिकरों-शोधकों की बुद्धि को तो कुंठित कर ही दिया था, अनेक सम्पादक विद्वानों की विद्वत्ताश्री का भी हरण कर लिया है। इस समुल्लास के सम्पादन में विद्वान् अनेक स्थलों पर उलझे हैं, किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये हैं। यों समझिए कि इसके विकृतातिविकृत रूप को देखकर उनकी बुद्धि विचार-सामर्थ्य को खो बैठी है। इसके प्रमाण आप टिप्पणियों में यथास्थान देखेंगे। जिस-जिस संस्करण में भूल हुई है अथवा असंशोधन है, उसका नामोल्लेख भी किया है जिससे उस संस्करण को पढ़ते समय उस विषय में सावधानी बनी रहे। सम्पादकों के नामोल्लेख को अन्यथा न लिया जाये, यह अनुरोध है।

उदयपुर सं० में असंशोधित, अव्यवस्थित और परस्परविरुद्ध पाठ—उदयपुर सं० के सम्पादक कथित 'दश विद्वान्' भी इस समुल्लास में आकर अपनी नीति, व्यवस्था, मानकता आदि सबको भूल गये। इस समुल्लास में प्राप्त भ्रष्ट अर्थों को और गणितीय त्रुटियों को उन्होंने यथावत् छोड़ दिया (एक भ्रष्ट संशोधन को छोड़कर)। उन्होंने ग्रन्थ में २००० से अधिक कुल अशुद्धियों का शुद्धीकरण किया है, किन्तु इस समुल्लास की अनेक घोर अशुद्धियों को शुद्ध नहीं किया। किसी भी विसंगति की संगति नहीं लगाई, जिसका सम्पादकीय में दावा किया गया है। यह भी समाधान नहीं किया कि महर्षि द्वारा प्रस्तुत ''जैन-गणना-मानदण्ड'' के बावजूद मानदण्ड और गणनाओं में परस्पर विरोध क्यों है? इस बात का भी कोई उत्तर नहीं है कि समुल्लास में कोई गणना जैन-प्रमाण से, तो कोई पौराणिक प्रमाण से क्यों है? समझ में नहीं आया कि यहां उनकी 'मानकता' और विद्वत्ता कहां लुप्त हो गई? 'दश विद्वानों' से यह आशा थी कि वे अपनी पाण्डित्य-बुद्धि से इस समुल्लास के सारे दोषों को मिटाकर इसको निर्मल और शुद्धतम रूप में प्रस्तुत करेंगे, किन्तु दोषों का निवारण उन्होंने नहीं किया, यह देखकर निराशा ही हुई है।

४. **बृहस्पति और चार्वाक दर्शन**—नास्तिक मत का आदिप्रवर्तक कोई बृहस्पति नामक व्यक्ति हुआ है। नास्तिक मत के प्रवर्तक बृहस्पति के विषय में जानकारी अनिश्चित है। इस विषय में दो मत मिलते हैं। एक तो यह है कि देव-असुर संग्राम में असुरों (दैत्य-दानवों) की पराजय होने के बाद असुरों के गुरु शुक्राचार्य ने अपना 'बृहस्पति' नाम रखकर देवों के धर्म का विनाश करने के लिए नास्तिक मत का प्रवर्तन किया। उसने देव-धर्म (वैदिक-धर्म) की मान्यताओं का खण्डन तथा अस्वीकार किया। इस प्रकार मूल 'नास्तिक मत' प्रवर्तित हुआ। इस मत के सिद्धान्तों के वर्णन के लिए 'बृहस्पति सूत्र' नामक ग्रन्थ था। यह पुराणोक्त मत है। दूसरा मत यह है कि वाममार्ग के अनाचार देखकर वाममार्गोत्तर कालीन किसी बृहस्पति नामक व्यक्ति ने उनकी प्रतिक्रिया में 'नास्तिक मत' चलाया अर्थात् धार्मिक कर्मकाण्ड, जो उस समय भयंकर अनाचार का और बीभत्स रूप धारण कर चुका था, उसका विरोध किया और अपने मत के लिए 'बृहस्पति सूत्र' नामक ग्रन्थ लिखा। उसकी परम्परा में उसका शिष्य चार्वाक हुआ। चार्वाक ने उसी के मत को ग्रहण कर एक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। चार्वाकदर्शन में लिखा है—''**बृहस्पति मतानुसारिणानास्तिक-शिरोमणिना चार्वाकेण**'' (सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३) इन दोनों का ही अधिक परिचय प्राप्त नहीं है। नास्तिक मत प्राचीन है क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में भी 'नास्तिक मत का उल्लेख जाबालि ऋत्विज् के माध्यम से आया है जिसका कि श्रीराम ने स्वयं खण्डन किया था (अयो० १०८.२-१८); किन्तु चार्वाकदर्शन अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। यह पौराणिक बीभत्स कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ विचार है। चार्वाकदर्शन का काल हम ३५००-३००० वर्ष पूर्व के मध्य रख सकते हैं, क्योंकि २६०० वर्ष पूर्व के लगभग (मतान्तर से ३००० से भी अधिक वर्ष पूर्व) तो क्रूर कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में जैन और बौद्ध मतों का प्रवर्तन हो चुका था। यह निश्चित है कि नास्तिक मत पर्याप्त प्राचीन है।

उपलब्ध 'महाभारत' के अध्ययन से हमें जानकारी मिलती है कि उस काल में अश्वमेध आदि यज्ञों में अश्वबलि के पक्ष-विपक्ष में दो मत स्थापित हो चुके थे। वैदिक परम्परा के ऋषि, यज्ञों में बलि का विरोध करते थे और दूसरा पक्ष समर्थन करता था। संसार में इन्द्रियलोलुप और मांसलोलुप लोग बढ़ गये थे, सत्यविद्याओं के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा नष्ट हो चुकी थी अतः अवैदिक प्रथाएं फैलकर दृढ़ होती गईं। फिर तो यज्ञ के नाम पर सभी कुकृत्य और क्रूर कृत्य होने लगे। उनकी प्रतिक्रिया में भारत में नास्तिक मतों का उदय हुआ। उन्होंने वैदिक दर्शनों के आधारभूत तत्वों ईश्वर, जीव, वेद, कर्मफल, पुनर्जन्म, मुक्ति आदि पर प्रहार किया और उनको अमान्य घोषित कर दिया, भौतिक सुख को ही वास्तविक सुख तथा वर्तमान जीवन को ही वास्तविक जीवन माना। उन सभी ने पौराणिक कर्मकाण्ड को पाखण्ड घोषित किया है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उनका**'' अपप्रयोग है, पूर्ववाक्य के एकवचनान्त प्रयोग के सम्बन्ध से '**उसका**' एकवचनान्त प्रयोग चाहिए।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ [सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन, श्लोक १][१]

कोई मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है अर्थात् सबको मरना है, इसलिये जबतक शरीर में जीव रहै, तबतक सुख से रहै।

जो कोई कहै कि 'धर्माचरण से कष्ट होता है[२], जो धर्म को छोड़ें तो पुनर्जन्म[३] में बड़ा दुःख पावेंगे[४],' उसको '**चार्वाक**' उत्तर देता है कि 'अरे भोले भाई! मरे के पश्चात् जो शरीर भस्म हो जाता है कि जिसने खाया-पीया[५] है, वह पुनः संसार में न आवेगा; इसलिये जैसे हो सके वैसे आनन्द में रहो, लोक में नीति से चलो, ऐश्वर्य को बढ़ाओ और उससे इच्छित भोग करो। यही लोक समझो, परलोक कुछ नहीं है।'[६]

'देखो, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है, इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे मादक द्रव्य खाने-पीने से मद उत्पन्न होता है।[७] इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ ही नष्ट[८] हो जाता है, फिर किसको पाप-पुण्य का फल होगा?

"तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्॥"[९]

[सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन पृष्ठ २]

---

१. **उद्धरण के उपयोग में प्रयुक्त ग्रन्थ**—महर्षि ने चार्वाक, बौद्ध, जैन विषयक मान्यताओं के लिए अपने समय के माधवाचार्यरचित '**सर्वदर्शनसंग्रह**' आदि के प्राचीन संस्करणों का प्रयोग किया था (पृ० १३, भूमिका)। इस सं० में पृष्ठ पता देने के लिए वर्तमान संस्करणों का प्रयोग किया गया है क्योंकि इस समय वह प्राचीन संस्करण उपलब्ध नहीं हो सका।

२. **द्वि०सं० में अप-परिवर्तन**—द्वितीय संस्करण में यहां यह अप-परिवर्तन किया है—"**अधर्माचरण से कष्ट होता है।**" ग्रन्थकार का यह कथ्य नहीं है। इस परिवर्तन से दोनों पूर्वापर वाक्यांशों का एक ही अर्थ हो गया। प्रश्नकर्त्ता का भाव यह है कि 'धर्म का आचरण करें तो कष्ट होता है और धर्माचरण न करें तो अगले जन्म में दुःख मिलता है। दोनों तरह कष्ट है। उसका उत्तर आगे चार्वाक देता है कि 'धर्म-अधर्म कुछ नहीं है, जो अच्छा लगे वह करो।' अन्य सभी सं० में उक्त शुद्ध पाठ है।

३-४. **द्वि०सं० में भ्रष्ट परिवर्तन एवं अपक्रिया**—द्वि०सं० में यहां "**पूर्वजन्म**" भ्रष्ट संशोधन है। अबके आचरण का पूर्वजन्म में कैसे दुःख पायेंगे? मूलप्रति सं० आदि अन्य सभी सं० में शुद्ध है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**पावेंगे**' भविष्यत् क्रिया अभीष्ट है, "**पावें**" अपक्रिया है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पिया**" अपवर्तनी है, "**पीया**" शुद्ध है। शुद्ध प्रयोग पृ० ७३८, ७८५ द्रष्टव्य है।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यपूर्त्यर्थ '**है**' क्रिया आवश्यक है। मूलह०, मुद्रणह०, उदयपुर सं० में परिवर्धित है।

७. **मूलप्रमाण**—चार्वाक दर्शन में कहा है—"**तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते**=इन्हीं चारों तत्त्वों के शरीर के रूप में परिणत हो जाने पर, जैसे मादकद्रव्यों के संयोग होने पर मद=नशा उत्पन्न होता है उसके समान शरीर में चेतनता स्वतः उत्पन्न हो जाती है (चार्वाक दर्शन पृ० ४)।"

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध परिवर्तन**—मुद्रणप्रति/ द्वि०सं० में उक्त "**शरीर के नाश के साथ आप भी नष्ट हो जाता है**" अशुद्ध पाठ बना दिया है। चार्वाक के मतानुसार, '**जीव**' कोई कर्त्ता तत्त्व नहीं है। वह केवल '**चेतना**' की स्थितिविशेष का नाम है। देखिए आगे तीसरी पंक्ति में "**वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है**" प्रयोग है। अतः "**आप भी नष्ट हो जाता है**" ठीक प्रयोग नहीं बनता। **पाठ-पुष्टि**—पृ० ७४१, पंक्ति ८ में भी सही भाषा का प्रयोग है। यह अशुद्ध संशोधन होने से अग्राह्य है, मूलह०, मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है।

९. **अर्थ**—'जड़ पदार्थों के संयोग से जैसे मदिरा में मद उत्पन्न होता है उसी प्रकार चार भूतों के संयोग से शरीर में चेतनता स्वतः उत्पन्न होती है। उसी चेतनता को 'आत्मा' कहते हैं। देह से भिन्न '**आत्मा**' नामक पदार्थ अन्य कोई नहीं होता, क्योंकि उसकी

इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। **हम एक 'प्रत्यक्ष [प्रमाण][१] को ही मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष के विना अनुमानादि होते ही नहीं।** इसलिये मुख्य 'प्रत्यक्ष प्रमाण'[२] के सामने अनुमानादि गौण होने से उनका ग्रहण नहीं करते। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का करना, पुरुषार्थ का फल है।'

उत्तर—ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं, उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे, अब माता-पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आदि सृष्टि में मनुष्यादि शरीरों की आकृति कर्त्ता परमेश्वर के विना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते,[३] क्योंकि मद चेतन को होता है, जड़ को नहीं। **पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता।** इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिये। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी प्रकटता होती है, जब शरीर को छोड़ देता है तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है, यह[४] जैसा चेतनयुक्त पूर्व था, वैसा नहीं हो सकता। यही बात '**बृहदारण्यक**' में कही है—

"न....अहं मोहं ब्रवीमि.....अयमात्मा-अनुच्छित्तिधर्मा।।[५]

[तुलना—बृह० उप०, अ० ४। ब्रा० ५। कं० १४]

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'हे मैत्रेयि! मैं मोह से बात नहीं करता किन्तु आत्मा अविनाशी है, जिसके योग से शरीर चेष्टा करता है।' जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जो देह से पृथक् आत्मा न हो तो [देह में उसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता न हो; अतः][६] जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है, वह देह से पृथक् है। जैसे, आँख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करनेवाला अपना ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।[७] जैसे अपनी आँख से सब घट-पटादि पदार्थ देखता है, वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता

सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है।'

१-२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**प्रत्यक्ष प्रमाण**' प्रयोग अभीष्ट है। '**प्रत्यक्ष**' और '**प्रत्यक्ष प्रमाण**' दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। स्पष्टार्थ के लिए 'प्रमाण' पद रखना उपयुक्त है।

३. **अपक्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उत्पत्ति और विनाश नहीं होता**" अपप्रयोग है। भिन्न वचन के दो प्रयोगों के लिए बहुवचनान्त क्रिया '**होते**' आवश्यक है, अन्यथा "**उत्पत्ति**" पद के साथ क्रिया का अभाव रहेगा और "**होता**" क्रियापद से उसका सम्बन्ध नहीं बनता।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**वह**" सर्वनाम अपप्रयोग है। वाक्यस्थ पूर्व "**यह**" प्रयोग के सम्बन्ध से यहां भी "**यह**" प्रयोग ही अपेक्षित है।

५. **अप-उद्धरण पाठ**—यह उद्धरण स्मृति के आधार पर भाव-मात्र लिखा है, यह मूलपाठ यथावत् नहीं है—"**नाहं मोहं ब्रवीमि अनुच्छित्तिधर्मायात्मेति**"। ऊपर क्रम को मूलपाठ के अनुसार संशोधित करके लिखा गया है। उपनिषद् के मूलपाठ में उपलब्ध पाठ यह है—"**न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना न तो पाठ की पूर्णता होती है और न संगति बनती है।

७. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अपने को ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं कर सकता**" अपवाक्य है, उपर्युक्त शुद्ध है। उदयपुर सं० में संशोधित कर लिया है। वेस, जग, भद, युमी, विस में अपपाठ है।

है। जो द्रष्टा है वह द्रष्टा ही रहता है, दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार [के][१] आधेय, कारण के विना कार्य, अवयवी के विना अवयव और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकते, वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम करने को ही पुरुषार्थ का फल मानो, तो वह क्षणिक सुख [है][२] और उससे दुःख भी होता है; वह भी पुरुषार्थ का ही फल होगा! जब ऐसा है तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। जो कहो दुःख के छुड़ाने और सुख के बढ़ाने में यत्न करना चाहिये, तो [उससे] मुक्ति-सुख की हानि हो जाती है; इसलिये वह पुरुषार्थ का फल नहीं।

चार्वाक—जो दुःख-संयुक्त सुख का त्याग करते हैं, वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और बुस का त्याग करता है, वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें; क्योंकि जो इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर, धूर्त-कथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिये करते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो परलोक है ही नहीं, तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥

[सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन श्लोक ३]

बृहस्पति-मत-प्रचारक चार्वाक कहता है[३] कि—'अग्निहोत्र, तीन वेद, 'त्रिदण्ड' [धारण करना][४] और भस्म का लगाना; बुद्धि और पुरुषार्थरहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।' जबकि[५] काँटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम **'नरक'**, लोकसिद्ध राजा **'परमेश्वर'**, और देह का नाश होना **'मोक्ष'** [है],[६] अन्य कुछ भी नहीं है।

उत्तर—विषयरूपी सुख-मात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषयदुःख-निवारण-मात्र में कृतकृत्यता

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां "**के**" पद त्रुटित है। आगे के समान यहां जरूरी है।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रियात्रुटित यह वाक्य है—"**फल मानो तो क्षणिक सुख और उससे दुःख भी होता है।**" यहां '**फल मानो तो वह क्षणिक सुख है**' पाठ स्पष्टार्थ के लिए उपयुक्त है।

३. **भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**चार्वाकमत-प्रचारक बृहस्पति कहता है**" अपपाठ है। बृहस्पति पूर्वकालीन है। उसके मत का प्रचारक चार्वाक हुआ है। **संशोधन-पुष्टि**—प्रस्तुत श्लोक में बृहस्पति का मत मूलतः प्रदर्शित है, चार्वाक प्रस्तुतकर्त्ता है। पृ० ७३१ पर बृहस्पति को पूर्व पुरुष माना है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० सभी में अपपाठ है। (पृष्ठ ७४० पर टि० ४ में प्रमाण भी द्रष्टव्य है)

४. **अप-अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**तीन दण्ड' धारण करना** अप-अर्थ है। यही अप-अर्थ वेस, जग, भद, युमी, विस और उदयपुर सं० में है। वर्ग विशेष के संन्यासियों को 'दण्डी' कहा जाता है। दण्डी एक मुख्यदण्ड में तीन दण्ड इकट्ठे बांधकर हाथ में रखते हैं जो शरीर, मन, वाणी तीनों को वश में रखने का प्रतीक चिह्न है—"**वाग्दण्डोऽथ मनो दण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥**" (मनु० १२.१०)=वाणी, मन, शरीर रूपी तीन दण्ड जिसने अपने विवेक के वश में कर लिये हैं, वह '**त्रिदण्डी**' अर्थात् संन्यासी कहाता है। इस आधार पर '**तीन दण्ड धारण करना**' मुहावरे का अर्थ '**संन्यासी होना**' होता है। '**त्रिदण्ड**' एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ तीन दण्ड नहीं अपितु '**तीन दण्डों से युक्त एक दण्ड**' धारण करना है। यह '**त्रिदण्ड**' का सही अर्थ है। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, आगे पृ० ७३६ पर उत्तर में "**त्रिदण्ड..... धारण**" सही पाठ है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**किन्तु**" पाठ है, '**जबकि**' अभीष्ट है। अन्य सभी सं० में अपपाठ है।

और स्वर्ग मानना मूर्खता है। **अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना [सिद्ध है, और][७] उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है।** उसको न जानकर वेद, ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है। जो 'त्रिदण्ड' और 'भस्म-धारण' का खण्डन है, सो ठीक है।

यदि कण्टकादि से उत्पन्न दुःख का ही नाम नरक हो, तो उससे अधिक महारोगादि '**नरक**' क्यों नहीं? यदि[१] राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ मानें तो ठीक है, परन्तु जो अन्यायकारी पापी राजा हो, उसको भी परमेश्वरवत् मानते हो, तो तुम्हारे जैसा मूर्ख कोई भी नहीं। शरीर का विच्छेद होना मात्र '**मोक्ष**' है, तो गधे, कुत्ते आदि और तुममें क्या भेद रहा? किन्तु आकृतिमात्र ही भिन्न रही।[२]

चार्वाक—

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद् व्यवस्थितिः॥ १॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ २॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ ३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्॥ ४॥
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
[गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता]॥ ५॥[३]
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते॥ ६॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ ७॥
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥ ८॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥ ९॥

६-७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यसमाप्ति पर '**है**' क्रिया त्रुटित है, जो आवश्यक है। अगली क्रिया अगले उपवाक्य के लिए है। इसी प्रकार बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ भी व्याकरणिक रचना और संगति के लिए आवश्यक है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**यद्यपि**" अपप्रयोग है, '**यदि**' सटीक है।

२. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में अपवाक्य है—"**आकृति ही मात्र भिन्न रही।**" वेस, युमी, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है। यह वाक्य होना चाहिए—"**आकृति-मात्र ही भिन्न रही**"। '**आकृति-मात्र**' एकपद है। (पृ० ७३६/९)

३. **त्रुटित उद्धरण पंक्ति**—यह श्लोक-पंक्ति छूट गयी है। चतुर्थ श्लोक की यह द्वितीय पंक्ति चार्वाक दर्शन में है। तदनुसार ग्रन्थ

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि[१] पण्डितानां वचः स्मृतम्॥ १०॥
अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्त्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम्॥ ११॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्॥ १२॥

[सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन, श्लोक ११, १२, १४ से २२]

चार्वाक, आभाणक,[२] बौद्ध और जैन भी जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं।

अर्थ—[अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु समशीतोष्ण है। जिस-जिसका][३] जो-जो स्वाभाविक गुण है, उस-उससे द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं, कोई जगत् का कर्त्ता नहीं॥ १॥

परन्तु इनमें से चार्वाक ही ऐसा मानता है, किन्तु **परलोक** और **जीवात्मा** को बौद्ध-जैन ही मानते हैं, चार्वाक नहीं। शेष इन तीनों का मत कोई-कोई बात छोड़के एक-सा है।[४]

न कोई स्वर्ग [है],[५] न कोई नरक, और न कोई परलोक में जानेवाला आत्मा है और न वर्णाश्रम की क्रियायें[६] फलदायक हैं॥ २॥

में हिन्दी भाषा में अर्थ भी दिया हुआ है, अतः यह अवश्य ग्राह्य है।

१. **वेदमन्त्र का अप-उद्धरण**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में उक्त वेदमन्त्र में "**जर्फरी**" अशुद्ध पाठ है। वेद में तथा चार्वाक दर्शन में "**जर्भरी**" पद है। **आश्चर्य है, वेदमन्त्र के पाठ की अशुद्धि में भी सुधार नहीं किया है!** सवा-सौ वर्षों में न जाने कितने सम्पादक हो गये हैं किन्तु वेस, जग, भद, युमी, विस, जस और उदयपुर सं० आदि सभी में अशुद्ध वेदपाठ है।

जर्भरी-तुर्फरी-इत्यादि—इन शब्दों को पण्डितों का शब्दजाल कहने वाले चार्वाकों का संकेत ऋग्वेद के निम्नोक्त मन्त्र की ओर है। शब्दों को न समझने के अपने अज्ञान को दोष न देकर चार्वाक उलटे भाषा को दोष दे रहे हैं। मन्त्रार्थ है—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जरायु-अजरं मरायु॥ (ऋ० १०.१०६.६)

अर्थ—'अश्विनौ=जीवन का पोषण और आयुहरण करने वाली दो शक्तियों के स्वामी जगदीश्वर! आप (सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू) दरांती के समान जर्भरी=भरण-पोषण करने वाले और तुर्फरीतू=हनन या विनाश करने वाले हैं। दरांती से फसल काटते हैं तो वह पोषक होती है, आक्रमण करते हैं तो हनन करने वाली होती है। (नैतोश इव) शत्रुहन्ता राजपुत्र के समान (तुर्फरी) शीघ्र विनाशक और (पर्फरीका) उनको छिन्न-भिन्न कर देने वाले हो। राजा में दो प्रकार के गुण हैं वह पालक-पोषक भी होता है और शत्रुओं-अपराधियों का हननकर्त्ता भी होता है। आप (उदन्यजा इव) समुद्र में उत्पन्न रत्नों के समान (जेमना) मन को आकर्षित करने वाले, और (मदेरू) आह्लादित करने वाले हो। (ता मे जरायु मरायु अजरम्) मेरे इस जरायु से उत्पन्न होने वाले मरणशील शरीर को अजर=रोग और व्याधि से रहित बनाओ।'

यहां 'जर्भरी' पद 'भृञ-भरणे' धातु से 'इ' प्रत्ययात्मक यङ्लुगन्त प्रयोग है। तुर्फरी—'तृफ-हिंसायाम्' धातु से '**आदि**' प्रत्यय है। पर्फरीक—'ञिफला-विशरणे'=छिन्न-भिन्न करने अर्थवाली धातु से 'ईकन्' प्रत्यय है। इस प्रकार ये शब्दजाल नहीं अपितु सार्थक प्रयोग हैं। भाषा में सुदीर्घ अन्तराल आ जाने के कारण चार्वाक को इन शब्दों का अर्थज्ञान नहीं हो पाया, तो उसने इनको शब्दजाल घोषित कर दिया। हिन्दी भाषा में इस स्थिति को कहते हैं—"नाच न जाने, आंगन टेढ़ा।"

२. **आभाणक**—यह भी नास्तिक दर्शन का ही एक भेद है। इसका अर्थ है '**सामान्य लोकस्वीकृत मत**'।

३. **त्रुटित आवश्यक अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोक की प्रथम पंक्ति का बृहत्कोष्ठकान्तर्गत अर्थ त्रुटित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में भी यह त्रुटित है। इसके बिना अगले वाक्य की संगति ही नहीं बनती।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**परन्तु.....एक-सा है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**है**' क्रिया आवश्यक है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्रिया**" एकवचनात्मक पद है, बहुवचन अभीष्ट है।

जो यज्ञ में पशु को मार [उसका][१] होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो, तो यजमान अपने पिता आदि को मार [उनका][२] यज्ञ में होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता? ॥ ३ ॥

जो मरे हुए जीवों को श्राद्ध और तर्पण तृप्तिकारक होता है, तो परदेश में जानेवाले [जन][३] मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न, वस्त्र, धन को क्यों ले जाते हैं? क्योंकि जैसे मृतक के नाम से अर्पण किया हुआ पदार्थ[४] स्वर्ग में पहुँचता है, तो परदेश में जानेवालों के लिए उनके सम्बन्धी भी घर में उनके नाम से अर्पण कर देशान्तर में पहुँचा देवें। जो यह नहीं पहुँचता, तो स्वर्ग में क्योंकर पहुँच सकता है? ॥ ४-५ ॥

जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं, तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता? ॥ ६ ॥

इसलिये जब तक जीवे, तबतक सुख से जीवे। जो घर में पदार्थ न हो, तो ऋण लेके आनन्द करे। ऋण देना नहीं पड़ेगा, क्योंकि जिस शरीर से जीव[५] ने खाया-पीया है [और जिसका खाया-पीया है][६] उन दोनों का पुनरागमन न होगा। फिर किससे कौन मांगेगा[७] और कौन देवेगा? ॥ ७ ॥

जो लोग कहते हैं कि 'मृत्युसमय जीव शरीर से[८] निकलके परलोक को जाता है', यह बात मिथ्या है; क्योंकि जो ऐसा होता, तो कुटुम्ब के मोह से बद्ध होकर पुनः घर में क्यों नहीं आ जाता? ॥ ८ ॥

इसलिये यह सब, ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का उपाय किया है। जो दशगात्रादि मृतकक्रियायें[९] करते हैं, यह सब उनकी जीविका की लीला है ॥ ९ ॥

वेद के बनानेहारे भांड, धूर्त्त और राक्षस, ये तीन हैं। '**जर्भरी**'[१०] '**तुर्फरी**' इत्यादि पण्डितों के धूर्त्ततायुक्त वचन हैं ॥ १० ॥

देखो, धूर्त्तों की रचना! 'घोड़े के लिंग को स्त्री ग्रहण करे,' उसके साथ समागम यजमान की स्त्री

१-३. **त्रुटित आवश्यक पद**—स्पष्टार्थ के लिए दोनों सं० में बृहत् कोष्ठान्तर्गत पद आवश्यक हैं।

४. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**पदार्थ**" पद त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि० सं० में है और ग्राह्य है।

५. **जीव** अर्थात् शरीर संचालक चैतन्य तत्त्व ने। चार्वाक, शरीर की उत्पत्ति के साथ तत्त्वों के संयोग से जीव का अस्तित्व, और शरीर-नाश के साथ जीव का विनाश मानता है, द्रष्टव्य पृ० ७३३ पर यह कथन "इस प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है।" इसी चैतन्यतत्त्व को 'जीव' कहा है। चार्वाकदर्शन में भी इसी चैतन्यतत्त्व को आत्मा कहा है—"**तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा....**" (पृ० ७३३)। बिना चैतन्य के शरीर कार्य नहीं कर सकता, अतः चार्वाक दर्शन में भी व्यवहार में 'चैतन्य' और 'शरीर' दो तत्त्व माने हैं। अन्तर यह है कि चार्वाक का 'चैतन्य' तत्त्व नित्य, स्वतन्त्र, अनादि नहीं है, वह शरीर के साथ उत्पन्न होता है और शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। दो तत्त्वों का अस्तित्व तो माना ही है।

पं० मीमांसक जी की टिप्पणी चिन्त्य—पं० जी लिखते हैं कि "यहां '**में जीव**' पद अनावश्यक हैं, क्योंकि चार्वाक जीव को पृथक् तत्त्व मानता ही नहीं। अत एव आगे भी '**उन दोनों का**' के स्थान में '**उसका**' पाठ होना चाहिए।" (पृ० ६३५) ऋषि के पूर्वोक्त प्रयोगों और स्वयं चार्वाक दर्शन द्वारा दो तत्त्व वर्णित किये जाने के कारण '**उन दोनों का**' पाठ ही अभीष्ट है। ऋषि भी यहां चार्वाक का यही मत दिखा रहे हैं कि उसके द्वारा स्वीकृत जीव=चैतन्य पुनः नहीं आता, शरीर के साथ नष्ट होने से दोनों अर्थात् शरीर और चैतन्य संज्ञक जीव नष्ट हो जाते हैं।

६. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन आवश्यक है।

७,९,१०. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मांगे**" अपक्रिया है, "**मांगेगा**" शुद्ध है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मृतकक्रिया**" अपप्रयोग के स्थान पर बहुवचन चाहिए। "**जर्फरी**" अशुद्ध पाठ के स्थान पर "**जर्भरी**" शुद्ध पाठ अभीष्ट है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अशुद्ध प्रयोग हैं।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में "**शरीर से**" पद त्रुटित हैं। अन्य सभी द्वि०सं० में भी त्रुटित हैं।

से कराना, कन्या से ठट्ठा [करना][१] आदि लिखना, धूर्त्तों के विना नहीं हो सकता॥ ११ ॥

और जो मांस का खाना लिखा है, वह वेदभाग राक्षस का बनाया है॥ १२ ॥

उत्तर—विना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये, जड़ पदार्थ आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर स्वयं[२] उत्पन्न नहीं हो सकते। इस वास्ते सृष्टि का कर्त्ता अवश्य होना चाहिये।[३] जो स्वभाव से ही होते हों,[४] तो द्वितीय पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आप-से-आप क्यों नहीं होते?॥ १ ॥

'स्वर्ग' सुखभोग और 'नरक' दुःखभोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता, तो सुख-दुःख का भोक्ता कौन हो सके? जैसे इस समय सुख-दुःख का भोक्ता जीव है, वैसे परजन्म में भी होता है। **क्या सत्यभाषण, दया, परोपकार आदि क्रियायें[५] भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होंगी? कभी नहीं** ॥ २ ॥

पशु मारके उसका होम करना वेदों में कहीं नहीं लिखा है।[६] और मृतकों का श्राद्ध-तर्पण करना भी कपोलकल्पित होने से वेदविरुद्ध [और] पुराण-वालों[७] का मत है, इसलिये इन बातों का 'खण्डन' अखण्डनीय है॥[८] ३, ४, ५ ॥

जो वस्तु है उसका अभाव कभी नहीं होता, तो विद्यमान जीव का भी अभाव कभी नहीं हो सकता। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है, इसलिये **जो कोई ऋणादि कर बिराने[९] पदार्थों से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं, वे निश्चय ही पापी होकर दूसरे जन्म में दुःखरूपी नरक भोगते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं॥** ६-७ ॥[१०]

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ठट्ठा आदि लिखा है**" अपूर्ण अपप्रयोग है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में है। यहां "**ठट्ठा करना**" प्रयोग अपेक्षित है। इसके बिना भाव स्पष्ट नहीं होता।
संशोधन-पुष्टि—देखिए, पृ० ७४१/२ में शुद्ध प्रयोग—"**हंसी-ठट्ठा आदि करना.....लिखना**"।

२. **स्थानभ्रष्ट प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**स्वयं आपस में**" पाठ है, "**स्वयं**" पद "**उत्पन्न**" से पूर्व होना चाहिए, तभी उचित अर्थ प्रकट होता है। यह क्रियाविशेषण है। उदयपुर सहित सभी अन्य सं० में अशुद्ध है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति बनाते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने इस वाक्य को त्रुटित छोड़ दिया है जबकि मूलह०, मूलसं० में है। द्विप्र० में भी त्रुटित है। द्वि०सं०, उदयपुर सं० में परिवर्धित कर लिया गया है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**स्वभाव से हों तो**" पाठ है। वाक्यान्त की क्रिया के सम्बन्ध से "**स्वभाव से ही होते हों तो**" संभावनार्थक पाठ बनेगा। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्रिया**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, बहुवचन '**क्रियायें**' अपेक्षित है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**वेदों में कहीं नहीं लिखा**" पाठ के स्थान पर मुद्रणलिपिकर ने यह असंगत पाठ बना दिया—"**वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा।**" लिपिकर ने यह नहीं विचारा कि मूल में केवल वेदों पर आरोप है तो उसके उत्तर में वेदों का ही उल्लेख होना प्रासंगिक है। अन्य "**सत्यशास्त्रों**" आदि का यहां प्रसंग नहीं है, अतः इस पाठ का परिवर्धन अनावश्यक है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी सं० में यही असंगत पाठ है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—लिपिकर की अनावश्यक पाठ-परिवर्धन की प्रवृत्ति स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होती है। "**पुराण मत**" व्यापक शब्द है उसमें सभी पुराण स्वतः आ गये। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**भागवतादि पुराण मत**" पद व्यर्थ एवं अविचारित परिवर्धन है, क्योंकि '**भागवत पुराण**' इन श्लोकों के बाद की रचना है, अतः उसका उल्लेख उससे प्राचीन उद्धरण के अर्थ में संभव नहीं है। यही अशुद्धि उदयपुर तथा सभी अन्य वेस, जग, भद, युमी, विस, जस सं० में है।

८. **उचित संशोधन किन्तु अपवाक्य**—मुद्रणप्रति व द्वि०सं० में "**इसलिये इस बात का खण्डन अखण्डनीय है**" वाक्य को श्लोकार्थ के अन्त में रखा है। यह परिवर्तन ग्राह्य है। किन्तु, लिपिकर ने अशुद्ध वाक्य रचना कर डाली। दो बातें होने के बाद "**इन बातों का**" यह पाठ चाहिए था। अतः स्थानपरिवर्तन द्वि० सं० का ग्राह्य है किन्तु वाक्य का संशोधन चाहिए।

९. **बिराने**=दूसरों के, पराये। यह शब्द राजस्थानी और हरियाणवी में प्रयुक्त होता है।

१०. **उचित संशोधन**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपूर्ण एवं अस्पष्ट पाठ है—"**इसलिये जो कोई ऋणादि से सुखभोग**

देह से निकलके जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है। उसको पूर्वजन्म का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता, इसलिये पुनः[१] कुटुम्ब में नहीं आता॥ ८॥

हाँ, ब्राह्मणों ने प्रेतकर्म[२] जीविका के लिये [प्रचलित] किया है; वेदोक्त नहीं [है]॥ ९॥

[३]जो चार्वाक आदि ने असल वेद देखे, सुने और पढ़े होते, तो वेद की निन्दा कभी न करते। भांड, धूर्त्त और निशाचरवत्-पुरुष टीकाकार हुए हैं,[४] उन्हीं की धूर्त्तता है, वेदों[५] की नहीं। परन्तु शोक है चार्वाक, आभाणक, बौद्ध और जैनियों पर कि इन्होंने मूल वेद भी न सुने, न देखे और न किसी विद्वान् से पढ़े; इसीलिये भ्रष्ट टीकायें और वाममार्गियों की लीलायें देखके, वेदों से विरोध करके, नष्ट-भ्रष्ट बुद्धि होकर[६] वेदों की निन्दा करने लगे हैं। **यही वाममार्गियों की दुष्ट चेष्टायें, चार्वाक, बौद्ध और जैन मत के होने का कारण हैं; क्योंकि चार्वाक आदि भी वेदों का सत्य अर्थ नहीं जान सके**[७,८]॥ १०॥

करेगा, वह दूसरे जन्म में अवश्य भोगेगा।'' इस वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति/ द्वि०सं० का उपर्युक्त परिवर्धित पाठ ग्राह्य है।

१. **अपप्रयोग**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**पुनश्च**'' अपप्रयोग है, द्विप्र०, द्वि० सं० में ''**पुनः**'' शुद्ध है।

२. **उचित परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**प्रेत का कर्म**'' अपप्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में '**प्रेतकर्म**' पारिभाषिक पद उचित संशोधन है। अथवा, इसके स्थान पर '**प्रेतसम्बन्धी कर्म**' उपयुक्त प्रयोग है।

३. **मुद्रण-लिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ-परिवर्धन**—मुद्रणलिपिकर ने यहां बिना मतलब ''**अब कहिये**'' पाठ बढ़ा दिया। इसका कोई औचित्य या प्रसंग नहीं था। यही व्यर्थ पाठ द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० आदि में छप रहा है। इसी वाक्य में आगे ''**वेद**'' के स्थान पर ''**वेदादि सत्यशास्त्र**'' पाठ अनावश्यक है, क्योंकि मूल में केवल वेद का प्रसंग है।

४. **व्यर्थ और अशुद्ध पाठ-परिवर्धन मुद्रणलिपिकर द्वारा**—मुद्रणलिपिकर को जब पाठ-विस्तार की सनक चढ़ती है तो वह बिना विचारे पाठ बढ़ाता जाता है। इस श्लोकार्थ में ऐसे पाठों की भरमार है। परिवर्धित कथन श्लोकार्थ में आ चुका अतः इस वाक्य को दोहराने की आवश्यकता ही नहीं थी। फिर ''**महीधरादि**'' का नाम अशुद्ध डाल दिया। महीधर का काल सन् १५८८ के लगभग है जबकि नास्तिक मत उससे प्राचीन है। चार्वाक ने तो अपने से पूर्व बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित मत को एक दर्शन का रूप दिया है। चार्वाक दर्शन में स्वयं कहा है—''**बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिक-शिरोमणिना चार्वाकेण...**'' (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३)='बृहस्पति के मत का अनुसरण करने वाले नास्तिक शिरोमणि चार्वाक ने....।' शंकराचार्य ने इस मत का उल्लेख 'लोकायतिक' कह कर किया है। मुद्रणलिपिकर द्वारा मुद्रणहस्त० में बढ़ाया पाठ है—''**वेद भांड, धूर्त और निशाचरवत् पुरुषों ने बनाये, ऐसा वचन कभी न निकालते। हाँ, भांड, धूर्त्त, निशाचरवत्, महीधर आदि टीकाकार हुए हैं।**'' परवर्ती होने के कारण महीधर का नाम पूर्वकालीन चार्वाक के श्लोकार्थ में युक्तिसंगत कैसे माना जा सकता है? ग्रन्थकार ऋषि और मुद्रणलिपिकर की सोच और भाषा में ऐसे ही गम्भीर अन्तर हैं। मुद्रण-लिपिकर का यहीअशुद्ध पाठ द्विप्र० और द्वि०सं० में छप रहा है। यही अशुद्ध पाठ उदयपुर आदि सं० में है। मूलह० का महर्षिप्रोक्त पाठ पूर्ण, शुद्ध और ग्राह्य है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**वेद**'' एकवचन है, बहुवचन अभीष्ट है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट वाक्यरचना**—मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त सही पाठ था। मुद्रण-लिपिकर ने यह नया भ्रष्ट बना दिया—''**ऊटपटांग वेदों की निन्दा करने लगे।**''''**ऊटपटांग**'' पद की पहले तो आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि निन्दा तो ऊटपटांग ही होती है। बढ़ाया था तो ''**निन्दा**'' से पूर्व आना चाहिए था, क्योंकि वहीं इसका आसत्ति-सम्बन्ध है। उपलब्ध वाक्यरचना तो वेदों को ऊटपटांग कहने का संदेह उत्पन्न कर रही है। यही भ्रष्ट पाठ द्विप्र० में है और द्वि० सं० में छप रहा है। यही ऊटपटांग पाठ उदयपुर सं० सहित सभी वेस, जग, भद, युमी, विस आदि अन्य पाठों में है।

७. **मुद्रण-लिपिकर द्वारा पुनरुक्तिपूर्ण परिवर्धन**—पाठक मूलह०, मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त इस वाक्य को पढ़ें। महर्षि कह रहे हैं कि वेदों की निन्दा करने और चार्वाक आदि का मत प्रवर्तित होने का कारण लोगों की भ्रष्ट टीकाएं और वाममार्गियों की दुष्टतापूर्ण चेष्टाएँ हैं, क्योंकि चार्वाक आदि ने वेद स्वयं पढ़े-जाने नहीं, जो सत्य को जान पाते। महर्षिकृत इस वाक्य और भाषा को एक तरफ फेंककर मुद्रणलिपिकर ने वाममार्गियों की टीकाओं का अपना यह राग पुनः अलापा है—''**दुष्ट वाममार्गियों की प्रमाणशून्य कपोलकल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देखकर, वेदों से विरोधी होकर अविद्यारूपी अगाध समुद्र में जा गिरे।**'' सारा वाक्य पुनरुक्तिपूर्ण है और महर्षि के कथ्य से विरुद्ध है अविद्या-सागर में गिरने का कथन करना महर्षि को अभीष्ट नहीं है। यही पाठ द्विप्र० में है और द्वि० सं० में छप रहा है। यही अनावश्यक पाठ सभी अन्य सं० तथा उदयपुर सं० आदि में है।

भला, विचार करना चाहिये कि स्त्री से अश्व के लिङ्ग[१] का ग्रहण आदि लीला, उससे समागम कराना[२] और यजमान की कन्या से हंसी-ठठ्ठा[३] आदि करना और मांस का खाना आदि लिखना टीकाकारों की धूर्तता है, वेदों[४] की नहीं। सिवाय वाममार्गी लोगों के अन्य, वेदार्थ से विपरीत, भ्रष्ट, अशुद्ध व्याख्यान कौन करता?[५] ॥ ११ । १२ ॥

यही **चार्वाक** बौद्धों के होने का कारण है; क्योंकि बौद्ध लोगों ने चार्वाकों में से बहुत-सा चार्वाकों का मत और थोड़ा-सा अपना भी गाँठ का लगाया है। इसी से बौद्धों की शाखा पृथक् चली है।[६]

अब जो चार्वाकादिकों में भेद है, सो लिखते हैं—ये चार्वाकादि बहुत-सी बातों में एक हैं परन्तु चार्वाक देह की उत्पत्ति के साथ जीवोत्पत्ति और उसके नाश के साथ ही जीव का भी नाश मानता है।[७]

---

८. **अपप्रयोग**—सभी सं० में इन पदों में बहुवचन अपेक्षित है—**वेद**=वेदों, **टीका**=टीकायें, **लीला**=लीलायें, **चेष्टा**=चेष्टायें।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के "**उपस्थ**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० का उपर्युक्त संशोधन उचित एवं ग्राह्य है क्योंकि मूलपाठ में इसी का पर्याय-प्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**समागम करना**" अपप्रयोग है। अन्यत्र सभी में संशोधित है।
संशोधन-पुष्टि—शुद्ध प्रयोग गत पृष्ठ ७३९/१ में द्रष्टव्य है—"**समागम यजमान की स्त्री से कराना।**"

३. **अव्यवस्थित प्रयोग**—यहां दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**हांसी**" बोली का प्रयोग मिलता है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार '**हंसी**' वर्तनी स्वीकृत है। ग्रन्थ में अन्यत्र '**हंसी**' का प्रयोग भी है अतः भाषात्मक एकरूपता के लिए यहां भी '**हंसी**' प्रयोग अपेक्षित है।

४. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां एकवचनान्त "**वेद**" का प्रयोग है, यह बहुवचनान्त '**वेदों**' अभीष्ट है। ऊपर सारे प्रकरण में बहुवचन का प्रयोग है।

५. **मुद्रण-लिपिकर द्वारा पाठ का अतिविस्तार**—मूलप्रति में महर्षि ने श्लोक संख्या ११-१२ का संक्षिप्त-सारगर्भित उपर्युक्त अर्थ चार पंक्तियों में लिखवाया था जिसमें सभी आवश्यक बातों का सार आ गया है। मुद्रण-लिपिकर ने उन्हीं चार पंक्तियों का विस्तार लगभग २०-२५ पंक्तियों में किया है, जो द्वि० सं० में छपता आ रहा है। पाठक इस भाषा को ध्यान से पढ़ेंगे तो पायेंगे कि भाषा अत्यन्त शिथिल, विस्तारयुक्त, अगम्भीर, पुनरुक्तिपूर्ण है। तीनों अनुच्छेदों में दो-तीन बातों की पुनः-पुनः आवृत्ति है। सबसे विशेष बात ध्यान देने की यह है कि प्रसंग तो चार्वाक-खण्डन का है और लिपिकर ने अधिकांश लेख वाममार्गियों के खण्डन में लिखा है। वह भूल ही गया कि किसका सन्दर्भ है। देखिए, द्वि० सं० का वह अतिविस्तारित पुनरुक्तियों से भरा पाठ—

"अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है जो कि बिना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। तनिक तो अपनी बुद्धि से काम लेते। क्या करें विचारे उनमें इतनी विद्या ही नहीं थी जो सत्यासत्य का विचार कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करते॥ १०॥

और जो मांस खाना है यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है इसलिये उनको राक्षस कहना उचित है परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा इसलिये मिथ्या बातों का पाप उन टीकाकारों को और जिन्होंने वेदों के जाने सुने विना मनमानी निन्दा की है; निःसन्देह उनको लगेगा। सच तो यह है कि जिन्होंने वेदों से विरोध किया करते हैं और करेंगे वे अवश्य अविद्यारूपी अन्धकार में पड़के सुख के बदले दारुण दुःख जितना पावें उतना ही न्यून है। इसलिये मनुष्यमात्र को वेदानुकूल चलना समुचित है॥ ११॥

जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोलकल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना अर्थात् यथेष्ट मद्यपान, मांस खाने और परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्क लगाया इन्हीं बातों को देखकर चारवाक बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया। जो चारवाकादि वेदों का मूलार्थ विचारते तो झूठी टीकाओं को देखकर सत्य वेदोक्त मत से क्यों हाथ धो बैठते? क्या करें विचारे 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।' जब नष्ट-भ्रष्ट होने का समय आता है तब मनुष्य की उलटी बुद्धि हो जाती है।"

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० का यह अनुच्छेद मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में त्रुटित हुआ है। कारण अज्ञात है। यह इस कारण महत्त्वपूर्ण है कि इसमें बौद्धमत के आरम्भ होने का कारण चार्वाक मत को माना है। यह मतों का उत्पत्ति क्रम भी है। इसी अनुच्छेद के प्रसंग पर अग्रिम अनुच्छेद की रचना है। अतः ग्राह्य है।

७. **अन्यत्र वर्णन**—जीव और शरीर सम्बन्धी यही कथन पृ० ७३३ पर भी द्रष्टव्य है।

पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण के विना अनुमानादि प्रमाणों को भी नहीं मानता।[१] '**चारवाक**' का अर्थ—जो बोलने में '**प्रगल्भ**', और विशेषार्थ '**वैतण्डिक**' होता है। और बौद्ध जैन दो[२] प्रमाणों, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं।[३] इतना ही चार्वाक से बौद्धों[४] और जैनियों का भेद है; परन्तु नास्तिकता, वेद और ईश्वर की निन्दा, पर-मत-द्वेष, छः यतना[५] और जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही हैं। यह चार्वाक का मत संक्षेप से दर्शा दिया है।[६]

अब[७] **बौद्धमत**[८] के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

१,२. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**बौद्ध-जैन दो और चारों प्रमाणों**" कुछ अस्पष्ट-अशुद्ध पाठ है। मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वितीय सं० में यह भ्रष्ट पाठ है—"**बौद्ध-जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण**"। बौद्ध-जैन प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दो प्रमाणों को ही मानते हैं, अतः यह परस्परविरुद्ध परिवर्तन मुद्रणलिपिकर ने किया है। देखिए पृ० ७५५, ७५६, ७७६/७७७ श्लोकों और श्लोकार्थों में इस विषयक पोषक कथन। मुद्रणलिपिकर ने ऐसी मूर्खताएं अनेक स्थलों पर की हैं। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सभी में अपपाठ है।

३. **पोषक प्रमाण**—बौद्धमत पृ० ७५५ श्लोक ७, १०। जैनमत, पृ० ७६५, ७७३, ७७६ आदि।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनात्मक "**बौद्ध**" प्रयोग है, '**बौद्धों**' अपेक्षित है।

५. **छः यतना**—छह यतनाओं का विवरण पृ० ७९० पर द्रष्टव्य है।

६. **त्रुटित पाठ**—यह पूरा अनुच्छेद मूलप्रति हस्तलेख में नहीं है। इसके स्थान पर दो संक्षिप्त पंक्तियां हैं जो काटी हुई हैं। मूलप्रति सं० में यह मुद्रणप्रति/ द्वि० सं० से ग्रहण किया गया है। उपयोगी होने से ग्राह्य है।

७. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**अब**" पद त्रुटित रह गया है, मूलह०, मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है।

८. **बौद्ध मत एवं उसके संस्थापक का परिचय**—बौद्ध मत के संस्थापक गौतम बुद्ध का बचपन का नाम सिद्धार्थ था, गौतम उनका गोत्र था। शाक्य उनका वंश था जो सूर्यवंशी क्षत्रिय शाखा में था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था, जो शाक्य गणराज्य के शासक थे। यह गणराज्य कोशलराज के अधीन था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। उनकी माता का नाम महामाया या मायादेवी था, जो कोलीय वंश की क्षत्रिय राजकुमारी थी। सिद्धार्थ का जन्म ५६३ ई० पूर्व वैशाख मास की पूर्णिमा को नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु के समीप 'लुम्बिनी' नामक ग्राम में हुआ। इस समय यह गांव भारत की सीमा से पांच किलोमीटर दूर नेपाल में स्थित है।

जन्म के एक सप्ताह के अन्तर्गत ही इनकी माता का देहान्त हो गया। बौद्ध साहित्य में कहा गया है कि सिद्धार्थ के मन में स्वाभाविक वैराग्य के संस्कार थे जिनके कारण वे राज्य-ऐश्वर्य और संसार से विरक्त रहते थे। पिता ने इनको संसार की ओर आकर्षित करने के लिए अच्छे-से-अच्छे महल बनवाये, विलासिता के सब उपाय किये। सोलह वर्ष की आयु में राजकुमारी यशोधरा से विवाह किया, जिससे 'राहुल' नामक पुत्र हुआ। फिर भी इनका मन संसार में नहीं लगा। कहा जाता है कि चार दृश्य देखकर इनकी वैराग्य भावना प्रबल हो गई—१. वृद्ध पुरुष की दयनीय दशा, २. दुःखी रोगी, ३. मृतक व्यक्ति की शवयात्रा, ४. एक संन्यासी का प्रसन्न जीवन। उनतीस वर्ष की अवस्था में वे महल और परिवार को छोड़ चुपचाप वन को निकल गये। राजसी वस्त्र उतारकर संन्यासी बन गये। तपस्या के उपरान्त उनको बोध हुआ तब वे 'बुद्ध'=ज्ञानी के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'गया' नगर के पास जिस पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने तपस्या की थी उसका नाम 'बोधि वृक्ष' और नगर का नाम 'बोध गया' प्रसिद्ध हो गया।

ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने घूम-घूम कर अपने विचारों का प्रचार किया। मध्यम मार्गी जीवन व्यतीत करने के उनके उपदेशों को सुनकर अनेक प्रजाजन और मगधराज बिंबिसार, कोशलराज प्रसेनजित् आदि राजा उनके अनुयायी बन गये। अपने मत का प्रचार करते हुए ८० वर्ष की आयु में ६४३ ई० पू० वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन कुशीनगर (गोरखपुर) नामक स्थान के समीप शालवन में महात्मा बुद्ध का देहान्त हो गया।

बौद्ध मत कालान्तर में अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया जिनमें महायान और हीनयान दो प्रमुख हैं। 'महायानी' का अर्थ है जो प्राणियों के उद्धार के लिए बुद्धत्व प्राप्त करे। 'हीनयानी' का अर्थ है जो केवल अपने लिए बुद्धत्व प्राप्त करे। दार्शनिक दृष्टि से उसकी चार शाखाएं मान्य हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। बौद्ध दर्शन कहता है कि बुद्ध के उपदेशों में कोई भिन्नता नहीं है अपितु शिष्यों के बुद्धिभेद से मान्यताभेद हुआ है।

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न, न दर्शनात्॥[१]

[प्रकरणवार्तिक १। ३३; सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शन, श्लोक १]

अर्थ—'कार्यकारणभाव' अर्थात् कार्य के दर्शन से कारण और कारण के दर्शन से कार्यादि का साक्षात्कार और प्रत्यक्ष से शेष में अनुमान होता है, इसके विना प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार पूर्ण नहीं हो सकते,[२] इत्यादि लक्षण से '**अनुमान [प्रमाण]**' को अधिक मानकर, चार्वाक से भिन्न शाखा बौद्धों की हुई। अन्य बहुत-सी बातें चार्वाकों की ली हैं।

ये **बौद्ध** चार प्रकार के होते हैं—

एक '**माध्यमिक**', दूसरा '**योगाचार**', तीसरा '**सौत्रान्तिक**' और चौथा '**वैभाषिक**'। '**बुद्ध्या निर्वर्त्तते सः बौद्धः**'=जो बुद्धि से सिद्ध हो अर्थात् जो-जो बात अपनी बुद्धि में आवे उस-उस को माने और जो न आवे उसको नहीं माने।[३]

इनमें से पहला[४] '**माध्यमिक**'[५] सर्वशून्य मानता है, अर्थात् जितने[६] पदार्थ हैं, वे सब 'शून्य' हैं,

---

बौद्ध मत में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जाता, वे बुद्ध को ही देव मानते हैं। कर्मफलप्राप्ति और पुनर्जन्म में विश्वास है किन्तु आत्मा के अस्तित्व में नहीं। यह प्रश्न अभी तक अनिर्णीत है कि बिना आत्मा को स्वीकार किये पुनर्जन्म और फल किसको मिलता है। प्रकृतिजन्य शरीर तो यहीं नष्ट हो जाता है। फलप्राप्ति के माध्यम को वे 'अनादि बुद्धि' नाम देते हैं।

बौद्ध चार '**आर्य सत्यों**' को अपने मूल सिद्धान्त मानते हैं—

१. दुःख, २. दुःख का स्थान जगत् है या हृदय में राग आदि का उदय होना ३. दुःख की उत्पत्ति का कारण, ४. दुःख निरोध का मार्ग। अर्थात् जीवन दुःखमय है, संसार के राग-द्वेष आदि और तृष्णाएं दुःख का स्थान और कारण हैं, कारणों को रोक देने या नष्ट कर देने से दुःख का निरोध हो जाता है और 'आष्टांगिक मार्ग' पर चलने से दुःख छूटकर 'निर्वाण' प्राप्त होता है। सम्यक् दृष्टि (ज्ञान), संकल्प, वचन, कर्म, आजीविका, व्यायाम, स्मृति, समाधि ये आठ सम्यक् बातें 'आष्टांगिक मार्ग' है। बौद्धदर्शन में 'सम्यक्' का अर्थ है दोनों प्रकार के अतिवाद को छोड़कर मध्यम मार्ग का आश्रय करना। अहिंसा आदि दस 'शील' हैं। सभी बौद्ध संसार के क्षणिकवाद और शून्यवाद सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं।

बौद्ध मत का उदय पौराणिक कर्मकाण्डों की जटिलता, पवित्र यज्ञों में हिंसा, ब्राह्मणवाद द्वारा जनता का शोषण, जातीय भेदभाव, धर्म की आड़ में मनमाने अन्यायपूर्ण व्यवहार, अनाचार और पाखण्ड आदि की प्रतिक्रिया में हुआ और जनता में शीघ्र फैला, क्योंकि उक्त बातों से जनता में आक्रोश था।

१. **अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में श्लोक के चतुर्थ चरण में पाठान्तर प्राप्त है—"**दर्शनान्तरदर्शनात्**"। इस पाठ से कोई सार्थक अभिप्राय नहीं निकलता। बौद्ध दर्शन में यह पाठ उपलब्ध है—"**ऽदर्शनान्न न दर्शनात्।**" यही पाठ उपयुक्त एवं ग्राह्य है। सभी अन्य सं० तथा उदयपुर सं० में वही अप-पाठ है।

२. **श्लोकार्थ**—'कार्य और कारण के सम्बन्ध से अथवा नियमयुक्त=साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध करनेवाले स्वभाव अर्थात् तादात्म्य सिद्धान्त के द्वारा अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध का निर्णय होता है। अदर्शन=व्यतिरेक अर्थात् एक के न होने पर दूसरे के न होने से और दर्शन=अन्वय अर्थात् एक के होने पर दूसरे के होने से अविनाभाव का निर्णय नहीं होता।' इस श्लोक में बौद्धों ने अविनाभाव के निर्णयार्थ अपनी दो विधियों 'तदुत्पत्ति और तादात्म्य' विधि की स्थापना की है तथा नैयायिकों की 'व्यतिरेक और अन्वय' विधियों का खण्डन किया है। व्याप्ति का अर्थ है—'एक पदार्थ का दूसरे में व्याप्त होने का भाव' अर्थात् 'साहचर्य नियम' जैसे अग्नि और धूम का साहचर्य होता है। इसी को बौद्धदर्शन में 'अविनाभाव नियम' कहा है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में यहां "**नहीं मानते**" अपप्रयोग है। पूर्व क्रिया "**माने**" के सम्बन्ध से यहां "**नहीं माने**" क्रिया का प्रयोग उपयुक्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह संशोधित है।

४. **उचित परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां "**पहला**" यह पद प्रयुक्त है। मूलह०, मूलप्रति सं० में नहीं है। यह पद आवश्यक है क्योंकि आगे क्रम को बताने के लिए "**दूसरा**", "**तीसरा**", "**चौथा**" पद प्रयुक्त है।

५. **बौद्धों की चार शाखाएं और उनके प्रवर्तक**—मान्यता के भेद के आधार पर बौद्धों की चार शाखाएं बनीं हुई हैं—(१)

अर्थात् आदि में नहीं होते, अन्त में नहीं रहते, मध्य में जो प्रतीत होता है वह भी प्रतीति-समय[७] में है, पश्चात् शून्य हो जाता है। जैसे उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था, प्रध्वंस के पश्चात् नहीं रहता और घट-ज्ञान समय में भासता और पदार्थान्तर में ज्ञान जाने से घट-ज्ञान नहीं रहता, इसलिये शून्य ही एक तत्त्व है, ऐसा मानता है।[८]

माध्यमिक—इस शाखा का प्रवर्तक नागार्जुन (द्वितीय शती ईस्वी) है। इस उपशाखा के अन्य आचार्य हैं—आर्यदेव, बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, शान्तरक्षित आदि। उसने '**माध्यमिककारिका**' नामक ग्रन्थ लिखकर मध्यमवाद को एक सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया। उसके अनुसार पूर्ण सत् और पूर्ण असत् दोनों सत्ताओं को अस्वीकार करके पदार्थों की मध्यम सत्ता मानने के कारण तथा आचरण में भोग और तपस्या का मध्यम मार्ग स्वीकार करने के कारण भी यह 'मध्यम' मार्ग कहलाया। उसके आधार पर इसका नाम '**माध्यमिक**' पड़ा है। संसार 'असत्' अर्थात् शून्य है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वप्न के समान भ्रम हैं। 'असत्' के साथ वह 'सत्' को अनिर्वचनीय रूप में मानता है। वह शून्य सत्, असत्, सदसत्, सदसत् से भिन्न इस चतुष्कोटि से विलक्षण है। वह केवल ज्ञानमात्र है अनिर्वचनीय होने से इसका दूसरा नाम '**शून्यवाद**' है, क्योंकि यह सब कुछ को शून्य स्वीकार करता है। यह महायान सम्प्रदाय की उपशाखा है।

(२) योगाचार—अपने धर्मगुरु द्वारा बताई चारों भावनाओं और बाह्य पदार्थों की शून्यता को स्वीकार करने के बाद भी ये लोग उन बातों पर ज्ञानप्राप्ति के लिए योग अर्थात् प्रश्न उपस्थित करते हैं तथा आचार=चित्तवृत्ति की प्रवीणता, गुरु द्वारा उक्त का और विहित आचार का आचरण करते हैं। इन कारणों से इनका नाम '**योगाचार**' है। इनका सिद्धान्त ग्रन्थ प्रमुखत: '**लंकावतार सूत्र**' है। दिङ्नाग, मैत्रेयनाथ, आर्य असंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्त्ति, स्थिरमति, शंकरस्वामी, धर्मपाल आदि विद्वान् इस शाखा के पोषक हुए हैं। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम '**विज्ञानवाद**' है, क्योंकि ये विज्ञान या अन्त:करण ही एकमात्र सत्य=सत् पदार्थ है, यह मानते हैं। यह सम्प्रदाय शून्यवाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ है। इनका कहना है कि यदि अन्त:करण=बुद्धि को भी शून्य या असत् मानोगे तो वह विचार भी असत् हो जायेगा, अत: बुद्धि को तो सत् मानो। अभिप्राय है कि बाह्य अर्थ या पदार्थ शून्य है किन्तु मूलत: असत् या शून्य नहीं है। यदि उसको शून्य माना जायेगा तो चित्त में उपलब्ध ज्ञान भी असत्=शून्य हो जायेगा। मन जिन बाह्य पदार्थों का ग्रहण करता है वे मन की धारणा-मात्र हैं। वे मानसिक धारणाएं बाह्य वस्तुओं के रूप में भ्रमवत् दिखाई पड़ती हैं। वस्तुत: बाह्य पदार्थ नहीं है, वे असत्=शून्य हैं। यह भी महायान की उपशाखा है।

(३) सौत्रान्तिक—महात्मा बुद्ध के आध्यात्मिक उपदेश '**सूत्रपटक**' (**सुत्तपिटक**) में संकलित हैं। इनको 'सूत्रान्त' कहते हैं सूत्रान्तों को ही अन्तिम प्रमाण मानने के कारण ये '**सौत्रान्तिक**' कहे जाते हैं। इनके अनुसार बाह्य पदार्थ और ज्ञात मानसिक पदार्थ दोनों ही 'सत्' हैं किन्तु उनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं अपितु अनुमान प्रमाण से होता है। बाह्य वस्तुओं का अनुमान अथवा अनुकृति मन में प्राप्त होती है। बाह्य पदार्थ मानसिक विचारों के प्रतिनिधि-मात्र हैं। मन विचारों या धारणाओं से उनका अनुमान करता है। ये केवल वर्तमान काल की ही सत्ता मानते हैं। इस उप शाखा के प्रसिद्ध आचार्य हैं—कुमारलात, श्रीलाभ, धर्मत्रात, बुद्धदेव, यशोमित्र आदि। यह हीनयान की उप शाखा है।

(४) वैभाषिक—इनके सिद्धान्तों का मूलग्रन्थ था आर्य कात्यायनीपुत्र द्वारा रचित '**ज्ञानप्रस्थान शास्त्र**' (ई०पू० १८३)। इस पर **विभाषा** (**अभिधर्ममहाविभाषा**) नामक विस्तृत टीका रची गई जिसमें इनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन था। ये दोनों मूल ग्रन्थ लुप्त हैं जो संस्कृत में थे। महाविभाषा का चीनी यात्री ह्युएनसांग कृत चीनी अनुवाद उपलब्ध है जो चार वर्षों (६५६-६५९ ई०) में पूर्ण हुआ और जो चार हजार पृष्ठों में है। इसको अपना सिद्धान्त ग्रन्थ स्वीकार करने के कारण ये 'वैभाषिक' कहलाये। ये लोग बाहरी पदार्थों को अनुमान-ग्राह्य मानकर प्रत्यक्षत: ग्राह्य मानते हैं। इनका मानना है कि यदि प्रत्यक्ष नहीं होगा तो उसके बिना अनुमान भी नहीं हो सकता। मन जब तक बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं करेगा तब तक उसकी मानसिक धारणा ही नहीं बनेगी। जैसे, यदि किसी ने अग्नि को नहीं देखा है तो वह धूम को देखकर उसका अनुमान नहीं कर सकता। अत: बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इस शाखा के अन्य प्रसिद्ध विद्वान् हैं—वसुबन्धु, शारिपुत्र, वसुमित्र, देवशर्मा, संघभद्र अश्वघोष आदि। यह भी हीनयान की उप शाखा है। इसका एक पुराना नाम 'सर्वास्तिवाद' है।

६. **अपप्रयोग**—द्विप्र० में मुद्रणकाल में "**कितने**" अपप्रयोग हो गया है। अन्य सभी में शुद्ध है।

७. **श्रवणभ्रान्ति से अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**प्रतीत-समय**' पाठ है। यहां '**प्रतीति-समय**' उपयुक्त पाठ है। शायद, श्रवण-भ्रान्ति या प्रमाद से लिपिकर द्वारा "**प्रतीत-समय**" लिखा गया है। उदयपुर सं० में संशोधित है।

८. **मुद्रणकालीन त्रुटित ऋषि-पाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**ऐसा मानता है**" पाठ त्रुटित है। यह मूलप्रति, मुद्रणप्रति और मूलप्रति सं० सभी में है, और ऋषि-लिखित है। आगे तीनों के मत के अन्त में यही शैली है। उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित छोड़ दिया है।

दूसरा '**योगाचार**' जो बाह्य-शून्य मानता है, अर्थात् पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते[१] हैं, बाहर नहीं। जैसे घट का ज्ञान आत्मा में है, तभी मनुष्य कहता है कि 'यह घट है', जो भीतर ज्ञान में न हो तो नहीं कह सकता, ऐसा मानता है।

तीसरा '**सौत्रान्तिक**' जो बाहर पदार्थ का[२] अनुमान मानता है, क्योंकि बाहर कोई पदार्थ सांगोपांग प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु एकदेश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान किया जाता है; इसका ऐसा मत है।

चौथा '**वैभाषिक**' है, उसका मत है कि बाहर पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, भीतर नहीं। जैसे '**अयं नीलो घटः**' इस प्रतीति में नीलयुक्त घटाकृति बाहर प्रतीत होती है; यह ऐसा मानता है।

यद्यपि इनका आचार्य बुद्ध उपदेष्टा=जनानेवाला[३] एक था, तथापि सुननेवाले पुरुषों और शिष्यों के बुद्धिभेद से चार प्रकार की शाखायें[४] हो गई हैं। जैसे '**सूर्य अस्त हो गया**' ऐसा कहने पर जार-पुरुष जारकर्म, चौर चौरीकर्म[५] और पूर्ण विद्वान् '**सदाचरण**'[६] करते हैं। समय एक [है], परन्तु अपनी-

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ''**भाषते**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित है। दो पंक्ति पूर्व शुद्ध वर्तनी ''**भासता**'' का प्रयोग है।

२. **उपयुक्त पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**अर्थ**'' पाठ है, '**पदार्थ**' अपेक्षित है वाक्य में आगे इसी पद का प्रयोग है।

३. **मुद्रण-लिपिकर के प्रमाद से भ्रष्ट पाठ**—दृष्टि-विचलन के रोगी लिपिकर को इस वाक्य में ''**बुद्ध**'' और ''**बुद्धि**'' एक जैसे पद दिखे और वह विचलित हो गया तथा ''बुद्ध'' के बाद ''बुद्धि'' तक बीच का सारा पाठ ''**उपदेष्टा=जनाने वाला एक था, तथापि सुनने वाले पुरुषों और शिष्यों के**'' छोड़ कर यह भ्रष्ट वाक्य लिखा—''**आचार्य बुद्ध बुद्धिभेद से चार प्रकार की शाखा हो गईं।**'' शोधक ने इस भ्रष्टपाठ को देखा तो संगति लगाने के लिए ''बुद्ध'' के बाद अनुमान से ये पद जोड़े—''**एक है तथापि शिष्यों के**''। इससे कामचलाऊ संगति तो कुछ बन गई किन्तु मूलहस्तलेख का वास्तविक महर्षिप्रोक्त पाठ त्रुटित रह गया जिसमें इस प्रकरण का आधारभूत शब्द ''**उपदेष्टा**'' था क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार एक उपदेष्टा बुद्ध के एक मूल उपदेश की चार शाखाएं बनीं हैं, आचार्य बुद्ध की नहीं। इसलिए ''**उपदेष्टा-श्रोता**'' पद ही आधारभूत महत्त्वपूर्ण पद हैं। यही वाक्य बौद्धदर्शन में हैं। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस आदि संस्करणों के समान उदयपुर सं० के कथित सम्पादक दश विद्वान् भी इस पाठ की गम्भीर संगति को नहीं समझे, अतः उन्होंने त्रुटित पाठ ही रखा है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**शाखा**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, '**शाखायें**' अपेक्षित है।

५. **अपपाठ और मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपूर्ण वाक्य मिलता है—''**जैसे सूर्यास्त होने में जार पुरुष जारकर्म...**''। उक्त संशोधन के बिना यह व्यंजना वाक्य नहीं बनता अपितु वर्णनात्मक वाक्य रह जाता है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**जारकर्म**'' के स्थान पर '**परस्त्रीगमन**' सीमितार्थक प्रयोग है।

६. **मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ और मुद्रणलिपिकर की मूर्खता से त्रुटित एंव महाभ्रष्ट पाठ**—क्या ''**सत्यभाषणादि**'' और ''**सत्याचरण**'' करने का भी कोई समय-विशेष होता है? चौंकिए मत, होता है; किन्तु वह केवल महर्षि को प्राप्त मूर्ख लिपिकरों और शोधकों के मतानुसार होता है। तभी तो यहां ऐसा मूर्खतापूर्ण पाठ बनाया है। मूलहस्तलेख के लिपिकर ने '**सदाचरण**' के स्थान पर श्रवणभ्रान्ति से लिखा—''**सूर्य के अस्त होने में.....सत्याचरण करते हैं।**'' मुद्रणलिपिकर ने अपने मन से ''**सदाचरण**'' के स्थान पर ''**सत्यभाषण**'' पाठ बदल कर इस पाठ को महाभ्रष्ट कर डाला—''**सूर्यास्त होने में जार पुरुष परस्त्रीगमन और विद्वान् सत्यभाषणादि श्रेष्ठ कर्म करते हैं।**'' तो हो गया न सत्यभाषण का विशेष समय? पाठ बदलने की झोंक में मुद्रणलिपिकर एक और भयंकर भूल कर गया। वह मूलप्रति में उपलब्ध पाठ ''**चौर चौरीकर्म**'' को छोड़ गया जो पाठ की पूर्णता और 'सर्वदर्शन संग्रह' के बौद्धदर्शन के उद्धरण-अनुसार भी आवश्यक है। इस प्रकार मुद्रणप्रति और सभी द्वितीय संस्करणों का पाठ अशुद्ध के साथ अपूर्ण भी बन गया। ऋषि अशुद्ध और अपूर्ण पाठ नहीं लिखा सकते। वही भ्रष्टपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस और उदयपुर संस्करण में छप रहा है।

किन्तु इतना ही आश्चर्य आर्यविद्वानों और सत्यार्थप्रकाश के सम्पादकों पर है कि वे सवा सौ वर्षों से अधिक समय से मूर्ख लिपिकरों, शोधकों द्वारा निर्मित इस सिद्धान्तविरुद्ध महाभ्रष्ट पाठ को ऋषि के नाम पर ढो रहे हैं!! मूल उद्धरण बौद्धदर्शन में उपलब्ध है फिर भी उससे मिलान नहीं किया। आदिसम्पादक तो प्रमादी थे ही, किन्तु दर्शन-व्याकरण के ज्ञाता उदयपुर सं० के

कथित 'दश विद्वानों' ने भी इस सन्दर्भ की शुद्धता को भुला दिया और हास्यास्पद पाठग्रहण कर लिया।

मूल उद्धरण—वस्तुतः, यहां '**सदाचरण**' पाठ होना चाहिए। यहां प्रसंग '**सदाचरण**' अर्थात् श्रेष्ठों की दिनचर्या वा श्रेष्ठ दिनचर्या का है और '**सर्वदर्शनसंग्रह**' के बौद्धदर्शन में भी इसी शब्द का प्रयोग है—''**यद्यपि भगवान् बुद्धः एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदात् चातुर्विध्यम्।**'' **यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जार-चोर-अनूचनादयः स्वेष्टचेष्टानुसारेण-अभिसरण-परस्वहरण-सदाचरण-आदि समयं बुध्यन्ते।**'' (सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ०, ३१)। सदाचरण से यहां अभिप्राय है—'संध्याकाल में श्रेष्ठों द्वारा की जाने वाली स्नान, संध्या-वन्दन, यज्ञ आदि श्रेष्ठ नित्यचर्या।' यहां केवल संध्याकालीन दैनिक आचरण अभीष्ट है, क्योंकि प्रसंग सूर्यास्त कालीन दिनचर्या का है, सदा-सर्वदा आचरणीय '**सत्यभाषण**' का नहीं।

उदयपुर सं० का असभ्य, अशुद्ध और हठपूर्ण उत्तर—मैंने अपने एक लेख में लिखा था कि इस स्थल को मुद्रणलिपिकर ने अपने मन से बदला है और बिगाड़कर अशुद्ध बना दिया है। इससे अच्छा पाठ तो मूलहस्त० का है वह ग्रहण कर लेना था। '**सर्वदर्शनसंग्रह**' के बौद्धदर्शन के मूल शब्द '**सदाचरण**', मूलह० के श्रवणभ्रान्तिजन्य पाठ ''**सत्याचरण**'' के स्थान पर ''**सत्यभाषण**'' पाठ अत्यन्त हास्यास्पद, एकांगी और प्रसंगविरुद्ध है। उदयपुर सं० के सम्पादक कम-से-कम ऋषि द्वारा उद्धृत '**सर्वदर्शनसंग्रह**' को ही देख लेते तो यह भूल न होती। उदयपुर वालों के लिए मूलप्रति की ऋषिप्रोक्त भाषा भी निन्दनीय बन गई!! आश्चर्य है!

इसका उदयपुर सं० के लेखकों ने जो असभ्य, अशुद्ध और हठपूर्ण उत्तर दिया है, मुझे भारी मन से यह लिखना पड़ रहा है कि उन्होंने अपनी विद्वत्ता, सभ्यता और आर्यत्व का जनाजा पाठकों के समक्ष निकाल लिया है। उन्होंने न तो 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्धदर्शन के मूलपाठ को देखा व स्वीकार किया, न मूलहस्त० के ही ऋषि-पाठ को स्वीकारा अपितु मुद्रणलिपिकर के प्रयोजन-विरुद्ध, अनर्थकारी और त्रुटित पाठ को सही सिद्ध करने के लिए हठ करने में सारा जोर लगा दिया। **पहले लेखक** ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया है। दूसरे लेखक ने इसका कोई तथ्यात्मक उत्तर न देकर, किनारा कर लिया है। **तीसरे लेखक** ने तालिका-प्रदर्शन करके अपना निर्णयात्मक 'नोट' देकर मुद्रणलिपिकर के समान स्वयं को भी उपहास का पात्र बना लिया। इन्हें सदाचरण, सत्याचरण और सत्यभाषण में कोई अर्थभेद का ही बोध नहीं हुआ। एक सामान्य व्यक्ति भी यह जानता है कि 'श्रेष्ठ आचरण' को '**सदाचरण**' कहा जाता है जबकि 'सत्यभाषण' उसका एक छोटा-सा अंग है, जो मात्र 'वाणी' का कर्म है। मनुस्मृति (२.१८) में ब्रह्मावर्त के निवासियों के परम्परागत आचरण को 'सदाचार' कहा है और उसको धर्म का स्रोत माना है। क्या उसके स्थान पर 'सत्यभाषण' प्रयोग कर सकेंगे? कदापि नहीं। 'सदाचार' के महर्षिकृत अर्थ देखिए—''**सदाचार=सत्पुरुषों का आचरण**'' (स०प्र०, पृ० ४७८), ''**सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म**'' (स०प्र०, पृ० १०५)। तो उदयपुर सं० के लेखकों के हठ को सिद्ध करने के लिए क्या अब सारे शास्त्र भी बदलने पड़ेंगे? ऊपर से यह लेखक मेरे लिए अवांछनीय रूप से यह भी लिखता है—''सुरेन्द्र जी का अत्यन्त अशोभनीय व कुतर्कपूर्ण निर्वचन है।'' ''ईर्ष्या-द्वेष की कोई सीमा है?'' आदि। पाठक विचार करें कि शब्द के सत्य और मूल अर्थ और ऋषिप्रोक्त भाषा को बताने में 'अशोभनीयता', 'ईर्ष्या, द्वेष' कहां से आ गये? यदि ''सत्यभाषण'' पाठ रखेंगे तो उसका यह अर्थ तो होगा कि 'सूर्यास्त के बाद कुछ लोग सत्यभाषण करते हैं।' अब पाठक स्वयं देख लें कि यह पाठ कितना हास्यास्पद है?

चौथे लेखक ने यहां सर्वाधिक असभ्यता का प्रदर्शन, और वह भी निर्लज्जतापूर्वक किया है। एक साहित्यिक विषय को 'पालियों की चौपाल' बना दिया है। स्वयं प्रसंग का ज्ञान नहीं है और उलटा मुझ पर 'प्रसंग न जानने' का दोष मढ़ रहा है। बिना प्रसंग के मुझे 'चोर के समान' और 'बेहूदा' बता रहा है, देखिए—''चोर की तरह कुछ वाक्यांश उठाकर.....'' ''आपकी बुद्धि की बेहूदगी पर जरूर हंसी आती है।'' पाठक बतायें कि ''बेहूदगी'' पर हंसी आती है या क्रोध? इसको इतना भी ज्ञान नहीं। जिसको 'बेहूदगी' पर भी हंसी आती हो, वह मूढ़ ही हो सकता है। इस प्रकार इस लेखक ने अपने असदाचरण से पाठकों के समक्ष स्वयं को ही 'बेहूदा' सिद्ध कर दिया। आश्चर्य देखिए, बौद्धदर्शन का मूल शब्द ''**सदाचरण**'' लिखकर भी यह लेखक उसका '**सत्यभाषण**' अनर्थ कर रहा है!! महोदय! यदि 'सदाचरण' का अर्थ नहीं आता तो मूल उद्धरण ग्रन्थ 'सर्वदर्शनसंग्रह' देख लेते! वहां स्पष्ट शब्दों में '**सदाचरण**' का अर्थ श्रेष्ठों की सन्ध्यावन्दन आदि दिनचर्या लिखा है। जिसको स्वयं भाषा का ज्ञान नहीं है वह मिथ्यादम्भ में मुझे 'साधारण आर्यभाषा न समझने वाला लिख रहा है! इसी को लोकव्यवहार में 'शठता' कहते हैं। मुद्रणलिपिकर द्वारा बदले-बिगाड़े पाठ की मेरे द्वारा समीक्षा करने पर उदयपुर मण्डली के तथाकथित विद्वानों ने मुझ पर यह मिथ्या और निराधार आरोप लगाने का पाप किया कि 'मैंने यहां ऋषि की खिल्ली उड़ाई है।' जब मैं यह कह रहा हूं कि पाठ मुद्रणलिपिकर का बनाया है तो खिल्ली उसी की उड़ेगी, ऋषि की नहीं, क्योंकि मुद्रणलिपिकर द्वारा द्वितीय संस्करण में बदला हुआ और त्रुटित पाठ ऋषि का है ही नहीं। इस पाठ का यथार्थ पाठकों के सामने प्रस्तुत होने पर उदयपुर मण्डली के लेखक क्या अब मुझ पर मिथ्या आरोप लगाने के अपने अपराध पर प्रायश्चित्त करेंगे?

अपनी बुद्धि के अनुसार चेष्टा भिन्न-भिन्न करते हैं।[१]

अब इन पूर्वोक्त चारों में [एक][२] सबको[३] क्षणिक मानता है, अर्थात् क्षण-क्षण में बुद्धि का परिणाम[४] होने से जो पूर्वक्षण में ज्ञात वस्तु था, वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता, इसलिये सबको क्षणिक मानना चाहिये, ऐसे मानता है।

दूसरा[५]—जो-जो प्रवृत्ति है सो-सो सब दुःखरूप है,[६] क्योंकि प्राप्ति में संतुष्ट कोई भी नहीं होता[७]। एक की प्राप्ति में दूसरे अप्राप्त[८] की इच्छा बनी ही रहती है। इस प्रकार मानता है।

तीसरा[९]—सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते हैं, जैसे गाय के चिह्नों से गाय और घोड़े के चिह्नों से घोड़ा ज्ञात होता है, वैसे लक्षण लक्ष्य में सदा रहते हैं, ऐसा कहता है।

चौथा[१०]—[सर्व-]शून्य को एक पदार्थ मानता है।[११]

इत्यादि बौद्धों में बहुत-से विवाद पक्ष हैं। इस प्रकार चार प्रकार की '**भावना**' मानते हैं।

उत्तर—[पहला **माध्यमिक** सर्वशून्य मानता है],[१२] जो सब शून्य हो तो शून्य का जाननेवाला शून्य नहीं होता। और जो सब शून्य होवे तो शून्य को शून्य नहीं जान सके। इसलिये ['शून्य' ही एक तत्त्व नहीं, अपितु][१३] शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय-शून्य दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।

१-२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में उक्त वाक्यारम्भ में '**है**' क्रिया और संख्यांक २ पर '**एक**' पद का प्रयोग अपेक्षित है। इसके बिना संगति नहीं बनती।

३,५,९-११. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः इन संख्यांकों पर "**माध्यमिक**", "**योगाचार**", "**सौत्रान्तिक**" और "**वैभाषिक**" नामों का उल्लेख मिलता है, जो अनावश्यक है; अतः इस संस्करण में उन नामों को हटा दिया है। वस्तुतः ये चार भावनाएं इन शाखा-विशेषों की नहीं हैं। ये सभी बौद्धों की हैं। बौद्धदर्शन में कहा है—"**ते च बौद्धाः चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति**" (पृ० ३१, सर्वदर्शनसंग्रह) इसकी पुष्टि इस ग्रन्थ में भावनाओं की समीक्षा के प्रकरण से भी होती है। वहां ग्रन्थकार ने नामों का उल्लेख नहीं किया है, बिना नाम के ही समीक्षा दी है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्धदर्शन में भी इन चारों का नामोल्लेख नहीं है। जिस उपदेश को आधार मानकर बौद्धों की चार भावनाएं बनीं, बुद्ध का वह उपदेश वाक्य यह है—"**सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, दुःखं दुःखम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्, शून्यं शून्यमिति भावनाचतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम्**" (बौद्धदर्शन पृ० ३१) अर्थात् सब कुछ क्षणिक है क्षणिक, सब कुछ दुःख है दुःख, सबका लक्षण क्षणिक होने से अपना-अपना पृथक् है। किसी भी पदार्थ का एक ही सामान्य लक्षण नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ एक और स्थिर नहीं है, सब कुछ शून्य है शून्य, ये चार भावनाएं इस प्रकार उपदिष्ट हुई हैं। ये सभी बौद्धों के लिए मान्य हैं। फिर भी कोई किसी भावना पर अधिक बल देता है कोई किसी पर। यदि भावनाओं के आधार पर चार बौद्ध सम्प्रदायों का प्रवर्तन और अस्तित्व मानेंगे तो जो सम्प्रदाय दुःख, शून्यत्व और क्षणभंगुरता को नहीं मानेगा, वह बौद्ध ही कैसे कहलायेगा?

अनावश्यक वाक्य—इस टिप्पणी में प्रस्तुत समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों हस्त० और तीनों सं० में संख्यांक ११ पर प्रचलित यह वाक्य अनावश्यक है—"**प्रथम माध्यमिक सबको शून्य मानता था, उसी का पक्ष वैभाषिक का है।**"

उपर्युक्त दोनों स्थलों की ओर **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** तथा **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने ध्यान आकृष्ट किया है और स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाशों में इन पाठों की समीक्षा की है। उदयपुर सं० आदि के सम्पादकों ने दर्शनाधारित इस विसंगति पर ध्यान नहीं दिया और प्रचलित पाठ को ही रख लिया।

४,६,७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० में "**बुद्धि का परिणाम**" पाठ उपयुक्त है, द्वि० सं० में "**बुद्धि के परिणाम**" अपपरिवर्तन है। इसी प्रकार आगे मूलप्रति सं० के "**जो-जो....सो-सो**" और "**होता**" प्रयोग अधिक उपयुक्त है। इनके स्थान पर द्वि० सं० में "**जो-सो**", "**रहता**" पाठ परिवर्तन अनावश्यक है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**अप्राप्त**' पद-प्रयोग आवश्यक है।

१२-१४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, पाठ की उपयुक्त संगति के लिए बृहत् कोष्ठक के अन्तर्गत दिये गये पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। इसी प्रकार पृष्ठ ७४७/६ में बृहत् कोष्ठक का पाठ वांछित है।

और जो '**योगाचार**' बाह्य-शून्यत्व मानता है तो पर्वत उसके भीतर होना चाहिये। जो कहे कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय में पर्वत के समान अवकाश कहाँ है? इसलिये पर्वत बाहर है और पर्वतज्ञान आत्मा में रहता है।

'**सौत्रान्तिक**' किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानता, तो वह आप स्वयं और उसका वचन भी अनुमेय होना चाहिये, प्रत्यक्ष नहीं। जो प्रत्यक्ष न हो तो '**अयं घटः**' यह प्रयोग न होना चाहिये, किन्तु '**अयं घटैकदेशः**'=यह घट का एक देश है [यह होना चाहिये]।[१४] और एक देश का नाम घट नहीं, किन्तु समुदाय का नाम घट है। 'यह घड़ा है' वह प्रत्यक्ष है, अनुमेय नहीं; क्योंकि सब अवयवों में अवयवी एक है, उसके प्रत्यक्ष होने से सब घट के अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं, अर्थात् 'सावयव घट' प्रत्यक्ष होता है।

चौथा '**वैभाषिक**' जो बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है, वह भी ठीक नहीं; क्योंकि जहाँ ज्ञाता और ज्ञान होता है, वहीं प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् आत्मा में सबका प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है, तथापि[१] तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है।

[चार भावनाओं का उत्तर—]

[१] वैसे जो क्षणिक पदार्थ और उसका ज्ञान क्षणिक हो तो '**प्रत्यभिज्ञा**' अर्थात् 'मैंने वह बात की थी' अथवा 'वह चीज देखी थी'[२] ऐसा स्मरण न होना चाहिये, परन्तु पूर्व दृष्ट-श्रुत का स्मरण होता है, इसलिये '**क्षणिकवाद**' भी ठीक नहीं।

[२] जो सब दुःख ही हो और सुख कुछ भी न हो[३] तो सुख की अपेक्षा के विना दुःख सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है। इसलिये '**सब दुःख मानना**'[४] ठीक नहीं।

[३] जो स्वलक्षण ही मानें तो नेत्र [ग्राह्यत्व][५] 'रूप' का लक्षण है और रूप लक्ष्य है। जैसे घट का रूप घट के रूप का लक्ष्य चक्षु[-ग्राह्यत्व] लक्षण से भिन्न है और गन्ध पृथिवी से अभिन्न है। इसी प्रकार भिन्न-अभिन्न लक्ष्य-लक्षण मानना चाहिये।

[४] '**शून्य**' का उत्तर जो पूर्व दिया है वही है अर्थात् शून्य का जाननेवाला शून्य से[६] भिन्न होता है।

[मूल—] सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसम्मतम्॥[७]

[सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ० ५२]

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि०सं० में क्रमशः "**तथापि**" और "**वह चीज देखी थी**" पाठ त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है।

३-४. **उचित संशोधन**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में क्रमशः ये पाठ है—"**सुख न हो तो**" "**सबको दुःख मानना**", उनके स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में उपर्युक्त पाठगत संशोधन उचित एवं ग्राह्य है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—इस अनुच्छेद में दोनों बृ० कोष्ठकों में प्रस्तावित पद **स्वामी वेदानन्द जी** का है, जो ग्राह्य है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**से**" पद त्रुटित है। द्वि०सं० में संशोधित है। **पूर्व उत्तर**—पृ० ७४७/१३।

७. **उदयपुर सं० में महर्षि के पाठ का स्थानपरिवर्तन अशुद्ध**—(क) उदयपुर सं० में इस संस्कृत-प्रमाण को यहां से उठाकर पृ० ७५० पर ९ पंक्ति के बाद "**सब संसार को दुःखरूप.....बौद्ध मानते हैं।**" इस अनुच्छेद के पूर्व रख दिया है। इस परिवर्तन के लिए टिप्पणी में दावा किया है—"इसे इसके भावार्थ के समीप यथास्थान रख दिया है।" (अन्त में पृ० ७) कथित दश

[**अर्थ**—सब संसार दुःखरूप है, यह सब तीर्थंकरों का मत है।][१]

जिनको बौद्ध तीर्थंकर मानते हैं, उन्हीं को जैन भी मानते हैं, इस दृष्टि से ये दोनों एक हैं। और पूर्वोक्त 'भावनाचतुष्टय' अर्थात् चार भावनाओं से सकल वासनाओं की निवृत्ति से शून्यरूप 'निर्वाण' अर्थात् मुक्ति मानते हैं। अपने शिष्यों को 'योग' और 'आचार' का उपदेश करते हैं [अज्ञात पदार्थ के विषय में गुरु से पूछने का नाम 'योग' और] गुरु के वचन का प्रमाण करना ['आचार' कहाता है, तथा][२] अनादि बुद्धि में वासना होने से बुद्धि ही अनेकाकार भासती है।

सम्पादकों को संस्कृत प्रमाण और हिन्दी अनुच्छेद में पठित 'दुःख' शब्द के ऐक्य से यह भ्रान्ति हो गई है कि ये एक-दूसरे के मूलवचन तथा भावार्थ हैं। उदयपुर सं० ने यह पाठ-स्थान परिवर्तन पं० मीमांसक जी का अनुकरण करके किया है।

सम्पादक यदि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्धदर्शन के मूलपाठ, अर्थान्तर तथा महर्षिकृत अग्रिम समीक्षा क्रम को ध्यान से देख लेते तो यह भूल कदापि न करते। इस प्रमाण का यही स्थान और क्रम उचित तथा ग्रन्थकार-सम्मत है, इसमें ये युक्तियां हैं—१. दोनों में अर्थ भिन्नता है। 'सर्वजगत् दुःखात्मक है' यह सब बौद्धों की 'भावना' है जबकि सम्पादकों द्वारा अर्थ के रूप में जोड़े गये अग्रिम अनुच्छेद में बौद्धों के मूलसिद्धान्त चार सत्यों का उल्लेख है, अतः यह संस्कृत वाक्य न तो उस अनुच्छेद का मूल है और न वह अनुच्छेद इसका भावार्थ है। २. संस्कृत प्रमाण अपने उचित स्थान तथा क्रम में है, क्योंकि इसके पूर्व चार भावनाओं की समीक्षा है। चारों की समीक्षा करने के उपरान्त यह नया प्रकरण आरम्भ किया है जिसमें यह बताया गया है कि 'जगत् दुःखात्मकता' की 'भावना' का प्रसंग है। बौद्ध दर्शन में यही क्रम है—''**सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वम्.....**'' (सर्वदर्शन०, पृ० ५२)..... ''**सोऽयंचित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधिः.....धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः।**'' (पृ० ७५-७६)....''**तदिदं सर्वं दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनं चेति....**'' (पृ० ७६)। स्पष्ट है कि महर्षि ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्ध प्रसंग के क्रम को ही यथावत् रखा है। अतः उसको गलत कहने वाले ही स्वयं गलत हैं। ३. इसी क्रम के अनुसार आगे उत्तर में महर्षि का समीक्षाक्रम है—उत्तर में पहले 'संसार को दुःखरूप मानने' रूप कथन की समीक्षा है, तदनन्तर बौद्धों के पांच स्कन्धों की समीक्षा है, फिर तीर्थंकरों के उपदेश रूप चार श्लोकों की है। अन्त में ग्रन्थकार फिर उसी क्रम से उपसंहार वाक्य में आलोचना करते हैं—''**पूर्व तो सब संसार को दुःखरूप भावना की फिर द्वादशायतन पूजा लगाई।**'' (पृ० ७५३, ७५४; उदयपुर सं० ४०७) इन प्रमाणों से हस्तामलकवत् स्पष्ट है कि ग्रन्थकार को संस्कृत उद्धरण तथा हिन्दी पाठ का पूर्व से स्वस्वीकृत स्थान और क्रम ही अभीष्ट है। उदयपुर सं० में स्थान परिवर्तन से ऋषिकृत समीक्षा क्रम का सारा तारतम्य बिगड़ गया है। अतः वह अवांछनीय है।

(ख) भ्रान्ति का कारण पं० मीमांसक जी—उदयपुर सं० के सम्पादकों को इस प्रमाण के स्थान परिवर्तन की प्रेरणा पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक से मिली है। मीमांसक जी ने भी न 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्धदर्शन का क्रम देखा और न अर्थ के कथ्य को देखा। अतः मीमांसक जी द्वारा परिवर्तित स्थान भी अशुद्ध एवं असंगत है। मीमांसक जी बाद वाले हिन्दी के पाठ को पहले ले आये, तो उदयपुर वाले कुछ नया करने की इच्छा से संस्कृत के उद्धरण-पाठ को बाद में हिन्दी-वाक्यों के पूर्व ले गये। दोनों द्वारा किया स्थान परिवर्तन अविचारित है, बौद्धदर्शन के मूलक्रम के विरुद्ध है, अतः अवांछनीय है।

(ग) बौद्धदर्शन से हमारे कथन की पुष्टि—'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्धदर्शन से विषयक्रम की तथा महर्षिकृत समीक्षा क्रम से उक्त वाक्यों के यथास्थान औचित्य की पुष्टि होने के बाद पाठकों को सप्रमाण यह बता रहा हूं कि हिन्दी-पाठ पूर्वोक्त संस्कृत वाक्य का अर्थ नहीं है। वह इन संस्कृतवाक्यों का अर्थ है—''**तदिदं सर्वं दुःखं दुःखायतनं दुःखसाधनंचेतिभावयित्वा तदभिरोधोपायं तत्वज्ञानं सम्पादयेत्।**'' (सर्वदर्शन०, पृ० ७६) अर्थात् 'यह सब संसार दुःखरूप है, दुःख का घर है, दुःख का साधनरूप है, यह विचार-मनन करके उससे छूटने का उपाय करे।' दुःख, समुदय=कारण या स्थान उसका निरोध=साधन और उपाय=मार्ग, ये बौद्धों के चार आर्य सत्य हैं (वही, पृ० ७६, अग्रिम पाठ)।

१. **त्रुटित आवश्यक अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पंक्ति का अर्थ त्रुटित रह गया है। मूलप्रति सं० में बृहत् कोष्ठक के अन्तर्गत परिवर्धित कर दिया गया है किन्तु द्वि० सं० में अभी तक परिवर्धित नहीं किया है। यह परिवर्धन उचित है और ग्राह्य है। यह सम्पादकीय त्रुटि है जिसका ध्यान आदि-सम्पादकों को शैली की एकरूपता की दृष्टि से रखना चाहिए था।

२. **मूललिपिकर द्वारा त्रुटित आवश्यक पाठ**—प्रचलित पाठ की असंगति और अपूर्णता से तथा 'सर्वदर्शनसंग्रह' के बौद्धदर्शन में प्राप्त पाठ से ज्ञात होता है कि लिखते समय मूल लिपिकर से यहां कुछ वाक्य त्रुटित रह गये हैं। बृहत् कोष्ठक के अन्तर्गत रखकर उस पाठ को संगत और पूर्ण बनाया है। सभी संस्करणों में यह पाठ आज भी असंगत और अपूर्ण है केवल **स्वामी वेदानन्द जी** ने इस ओर ध्यान देकर इस पाठ को संगत और पूर्ण बनाया है। अतः यह ग्राह्य है। स्वामी वेदानन्द जी यहां ''**अनादि बुद्धि....भासती है**'' वाक्य को छोड़ गये हैं। यह भी ग्राह्य है। यह सभी सं० में है।

और चित्त-चैत्तात्मक स्कन्ध[१] पांच प्रकार का मानते हैं[२]—

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकः ॥ [सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन, पृ० ७५]

उनमें से प्रथम स्कन्ध— जो इन्द्रियों से रूपादि विषयों का ग्रहण किया जाता है, वह '**रूपस्कन्ध**'। (दूसरा) आलयविज्ञान=प्रवृत्ति अर्थात् जिसमें रूपादि विषय रहते हैं उनका विज्ञान,[३] [और प्रवृत्तिविज्ञान=] प्रवृत्ति के जाननेरूप व्यवहार को[४] '**विज्ञानस्कन्ध**'।[५] (तीसरा) रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से उत्पन्न हुए सुख-दुःख आदि प्रतीतिरूप व्यवहार को '**वेदनास्कन्ध**'। (चौथा) गौ आदि संज्ञा का सम्बन्ध नामी के साथ मानने रूप [ज्ञान] को '**संज्ञास्कन्ध**'। (पाँचवाँ) वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधा-तृषादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान, धर्म और अधर्मरूप व्यवहार को '**संस्कारस्कन्ध**' मानते हैं।

सब संसार को दुःखरूप,[६] दुःख का घर और दुःख का साधनरूप भावना करके, संसार से छूटना; चार्वाकों से अधिक मुक्ति, अनुमान और जीव को मानना,[७] बौद्ध मानते हैं।

---

१. **स्कन्ध**—बौद्धदर्शन में जीवन या शरीर से सम्बन्धित पांच तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। उन तत्त्वों का नाम स्कन्ध है। इनमें कुछ चित्त अर्थात् अन्तःकरण अथवा आत्मा हैं, और कुछ चैत्त अर्थात् चित्त के विकार हैं। पांच स्कन्धों में '**विज्ञानस्कन्ध**' 'चित्त' है, शेष चारों 'चैत्त' हैं। बौद्ध मतानुसार, इन पांच स्कन्धों के पूर्ण विनाश के बाद 'निर्वाण' होता है।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठत्रुटित और अपपाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर **अग्रिम विषयनिर्देशक** इस वाक्य को मुद्रणप्रति बनाते समय छोड़ गया। शोधक ने संगति लगाने के लिए अनुमान से यह वाक्य जोड़ दिया—"**उनमें से प्रथम स्कन्ध—**"। यह असंगत वाक्य है। यही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं०, उदयपुर सं०, पं० भगवद्दत्त सं० में संशोधित कर लिया है। मूलहस्त० का पाठ न देखने के कारण **स्वामी वेदानन्द जी** और **सिद्धान्ती जी** ने "बौद्धों के मत में पांच स्कन्ध होते हैं" तथा **पं० मीमांसक जी** ने "उनमें से पांच स्कन्ध हैं" अनुमान से अपना-अपना अपूर्ण पाठ बनाया है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध एवं पूर्ण पाठ है।

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठ-त्रुटि**—लिपि करते समय पाठ को छोड़ जाने का प्रमाद करनेवाला मुद्रण-लिपिकर इस वाक्य में दो बार '**प्रवृत्ति**' शब्द का पाठ देखकर पहले का यह सारा पाठ छोड़ गया—"**प्रवृत्ति अर्थात् जिसमें रूपादि विषय हैं उनका विज्ञान**"। यह "**आलय विज्ञान**" की व्याख्या है और यह पाठ आवश्यक भी है। द्वि० सं० में यह त्रुटित अपूर्ण पाठ ही छपता आ रहा है। मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त यह पाठ है और अवश्य ग्राह्य है। उदयपुर सं० ने ग्रहण कर लिया है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**प्रवृत्ति का जानना**" अपप्रयोग है। यहां "**का**" के स्थान पर '**के**' चाहिए।

५. **विज्ञान स्कन्ध का अभिप्राय**—'**विज्ञानस्कन्ध**' वस्तुतः चित्त ही है। इसमें स्थित अनादि ज्ञान '**आलयविज्ञान**' कहाता है और ज्ञान में विषयों के विभिन्न आकारों का ग्रहण होना 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। इन दोनों ज्ञानों का प्रवाह 'विज्ञानस्कन्ध' कहाता है।

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में यह अपपाठ है—"**सब संसार में दुःखरूप.....मानते हैं।**" यहां "**संसार को**" शुद्ध प्रयोग अभीष्ट है। मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त पाठ शुद्ध है।

७. **मुद्रणलिपिकर कृत महर्षिविरुद्ध अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**जीव को मानना**" पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**जीव को न मानना**" परिवर्तन किया है, जो ग्रन्थकार के मत की दृष्टि से अनुचित एवं अग्राह्य है, क्योंकि बौद्ध आरम्भ में जीव की पृथक् सत्ता मानते रहे हैं। महर्षि ने अन्यत्र भी इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है—"**एक जीव को चेतन मानकर, ईश्वर को न मानना, जैन-बौद्धों की मिथ्या बात है**" (पृ० ७६०)। तथा—"**और बौद्ध-जैन दो प्रमाणों, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं**" (पृ० ७४२)। ऋषि ने अपने हाथ से यह वाक्य लिखा है—"**किन्तु परलोक और जीवात्मा को बौद्ध-जैन ही मानते हैं चार्वाक नहीं।**" बौद्ध दर्शन में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है—"**आत्मात्मीयस्वभावाख्यः**" (पृ० ७५४/५)। इन सबकी पुष्टि में **स्वामी वेदानन्द जी** ने बौद्धों की आत्मापरक मान्यता सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण दिया है—"**केचित्तु सौगतं मन्या अपि 'आत्मानम्' प्रचक्षते**" (शान्तरक्षितकृत 'तत्त्वसंग्रह', श्लोक ३६) अर्थात् कुछ बौद्ध '**आत्मा**' के अस्तित्व को मानते हैं। बाद के बौद्ध आत्मा के स्थान पर 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग करने लगे। यदि उक्त वाक्य में आत्मा का निषेध किया जायेगा तो ऋषि की उक्त अनेक मान्यताओं से परस्पर-विरोध उत्पन्न हो जायेगा, अतः मूलहस्तलेख का पाठ ही ग्राह्य है। वाक्यरचना भी यह बताती है कि यहां '**न**' नहीं प्रयुक्त होना चाहिए क्योंकि यहां उन बातों

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः किल॥ १॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।[१]
भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना[२] **शून्यताऽद्वयलक्षणा॥ २॥** [सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन, श्लोक २६, २७]

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धा मन्यन्ते—

अर्थानुपार्ज्य[३] **बहुशो द्वादशायतनानि वै।**
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः॥ ३॥
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥ ४॥ [सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन, श्लोक २८, २९]

अर्थ—लोकों के स्वामी बुद्ध आदि महान् गुरुओं के उपदेश, समझने वाले शिष्यों की बुद्धि के वश होकर अर्थात् उनकी बुद्धि के भेद के अनुसार और लोक प्रचलित विभिन्न मार्गों या उपायों के कारण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं॥ १॥[४]

का वर्णन किया है जिन्हें बौद्ध चार्वाकों से अधिक मानते हैं। चार्वाक जीव को नहीं मानते और बौद्ध भी नहीं मानते तो वह मान्यता अधिक कैसे हुई? यह प्रयोग ही व्यर्थ हो गया और "**चार्वाकों से अधिक.....जीव को न मानना**" यह वाक्य ही नहीं बनता। अतः मुद्रणलिपिकर द्वारा मुद्रणप्रति में किया गया परिवर्तन, **द्विप्र० तथा पं० मीमांसक जी एवं द्वि०सं० का संशोधन** ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध है। वर्तमान बौद्धधर्म विशेषज्ञ भी यह मानने लगे हैं कि बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्त्व का कहीं निषेध नहीं किया है।

मुद्रणलिपिकरकृत पाठपरिवर्तन से अव्यवस्था—(क) स्वामी वेदानन्द जी ने मूलहस्तलेख का उपर्युक्त पाठ ग्रहण किया है, जो शुद्ध है। **पं० भगवद्दत्त जी, पं० मीमांसक जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने मुद्रणहस्तलेख का पाठ ही ग्रहण किया है। **उदयपुर संस्करण** के कथित दश विद्वानों ने स्वबुद्धि से पूर्वापर लेखों पर स्वतन्त्र विचार किये बिना मूर्ख मुद्रणलिपिकर के पाठ का ही अन्धानुकरण कर लिया है। देखिए, मुद्रणलिपिकर ने कैसा माया-चक्र चलाया? उसके पीछे विद्वानों में ही धमा-चौकड़ी मच गई! आंखें बंद करके उसके पाठपरिवर्तन को मान बैठे हैं। देखिए, एक साधारण-से लिपिकर की करतूत ने कितने विद्वान् लोगों को भ्रान्त कर दिया है और अब सही बात के लिए कितनी सफाई देनी पड़ रही है। जो लोग मुद्रणप्रति के "**जीव को न मानना**" पाठ को ग्राह्य मानते हैं, उन्हें ऋषि वाक्यों से उत्पन्न परस्पर-विरोध का समाधान भी करना चाहिए।

(ख) स्वामी विद्यानन्द जी का कुठार-प्रहार—मुद्रणलिपिकर ने पाठ को दो स्थानों से बिगाड़कर बिगाड़ का केवल 'चाकू' चलाया था, स्वामी जी ने उस पर कुठार ही चला दिया। उन्होंने उक्त पूरे अनुच्छेद को मूलपाठ से ही उखाड़कर टिप्पणी में फेंक मारा, 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी'। कर लो, अब किस पर बहस करोगे?

(ग) मूर्खराज मुद्रणलिपिकर की एक और महामूर्खता—मुद्रणलिपिकर ने पूर्वोक्त मूर्खता के साथ एक और सैद्धान्तिक महामूर्खता की है। उसने मूलहस्त के पाठ को बदलकर यह अशुद्ध वाक्य बनाया है—"**चार्वाकों में अधिक मुक्ति, अनुमान और जीव को मानना बौद्ध मानते हैं।**" इस मूर्ख को यह नहीं पता कि चार्वाक न तो मुक्ति को मानते हैं, न अनुमान प्रमाण को, न जीव को। यही घोर महामूर्खतापूर्ण पाठ **द्विप्र०** में है, यही **द्वि०सं०** में छप रहा है। महदाश्चर्य कि **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने भी बिन विचारे यही अशुद्ध पाठग्रहण किया है। उदयपुर सं० में मूलहस्त० के आधार पर संशोधित है।

१-२. **अप-उद्धरण और संशोधन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में ये अशुद्ध पाठ हैं—"**उभयलक्षणः**" "**देशना भिन्नाः**"। द्वि०सं०, मूलसं० तथा अन्य सभी सं० में संशोधित हैं।

३. **अप-उद्धरण**—मूलप्रति सं० में "**अर्थानुपाद्य**" अपपाठ है। "**उपार्ज्य**" शुद्ध मूलपाठ है। द्वि०सं० में शुद्ध है।

४-६. **श्लोकों के भ्रष्ट अर्थ**—१-३ संख्यांकित श्लोकों का अर्थ भ्रष्ट है। अनुमान से यह ज्ञात होता है कि महर्षि ने अपने किसी वेतनभोगी लेखक को यह कहा होगा कि वह बौद्धों के सिद्धान्तपरक आधार वचनों को अर्थसहित संकलित करके लाये। लेखक की इतनी योग्यता नहीं थी कि वह श्लोकों का अर्थ ठीक समझ और कर सके। बारहवें समु० के संकलयिता लेखक ने तुक्केबाजी

उनके उपदेश कहीं गम्भीर हैं, कहीं सुस्पष्ट हैं; कहीं गम्भीर और सुस्पष्ट दोनों विशेषताओं से युक्त हैं। इन भेदों के कारण से वे भिन्न प्रतीत होते हैं; किन्तु मूल तत्त्व वा उपदेश सबका एकमात्र '**शून्यता**' का है, उसमें किसी के दो मत नहीं हैं॥ २॥[५]

जो '**द्वादशायतन**' पूजा है, वही मोक्ष करनेवाली है, ऐसा बौद्ध मानते हैं।

उस पूजा के लिये बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त करके 'द्वादशायतन' अर्थात् अग्रलिखित बारह प्रकार के स्थान-विशेषों की सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये, अन्य पदार्थों की पूजा करने से क्या लाभ है?॥ ३॥[६]

द्वादशायतन पूजा यह है:—पाँच ज्ञानेन्द्रियां अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नासिका; पाँच कर्मेन्द्रियां[१] अर्थात् वाक्, हस्त, पग, उपस्थ और गुदा; मन और बुद्धि इनका ही सत्कार अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना, यह बौद्धों का मत है॥ ४॥

उत्तर—जो सब संसार दु:खरूप होता तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिये, [किन्तु] संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है; इसलिये सब संसार दु:खरूप नहीं हो सकता, किन्तु इसमें सुख-

---

करके प्राय: श्लोकों के महाभ्रष्ट अर्थ कर डाले, अथवा लेखक ने सुनियोजित रूप से शरारत की है महर्षि का उपहास और अपमान कराने की। प्रतीत होता है कि लेखकों पर निर्भर रहने के कारण और अतिव्यस्तता के कारण महर्षि श्लोकार्थों को देख नहीं सके। ये अर्थ महर्षिकृत कदापि नहीं हो सकते, क्योंकि श्लोक इतनी साधारण संस्कृत में हैं कि सामान्य संस्कृतज्ञ भी इनका सही अर्थ कर सकता है, महर्षि तो वैदिक और लौकिक दोनों संस्कृत-भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित थे। उनके द्वारा अशुद्ध अर्थ किये जाने का प्रश्न ही नहीं है। अनुमान होता है कि यहाँ मूल श्लोकों को पढ़कर ही ऋषि ने समीक्षा लिखाई है।

दु:खद प्रश्न—ये महाभ्रष्ट अशुद्ध अर्थ सवा-सौ से अधिक वर्षों से छप रहे हैं और हमारे आर्यविद्वान् और आर्य पाठक उनको पढ़ रहे हैं। क्या हमारे विद्वानों को भी इनके अर्थ नहीं आते? आर्य विद्वानों द्वारा कृत संशोधनों का विरोध करनेवाले कथित ऋषिभक्तों को कोई संशोधन करना तो आपत्तिजनक लगता है किन्तु महान्आश्चर्य है कि इन भयंकर अशुद्ध अर्थों की ओर उन्होंने ध्यान आज तक नहीं दिया!! और क्यों नहीं इनको शुद्ध किया? समझ में नहीं आता कि उन्हें आज तक क्यों झेल रहे हैं? महर्षि के माथे पर किसी संकलयिता द्वारा लगाये गये इस दोष को आज तक क्यों नहीं मिटाया गया? मैं पूछता हूँ कि ऋषिभक्ति दोष को लगाये रखने में है अथवा दोष को मिटाने में? या फिर वे इनको शुद्ध सिद्ध करके दिखायें।

उदयपुर सं० के कथित दश विद्वान् भी किनारा कर गये—दश विद्वान् मिलकर किसी ग्रन्थ का सम्पादन करें और उसमें भी भ्रष्ट अर्थ हों तो उस सम्पादन से पाठकों को निराशा ही हाथ लगेगी। इन विद्वानों ने भी इन अर्थों का संशोधन नहीं किया। कथित दश विद्वान् भी समाधान से किनारा करके साफ बच निकले और इस असंगत-प्रकरण को मझधार में छोड़ गये। दोनों सं० के प्रचलित अर्थ निम्नलिखित हैं। आप इन्हें पढ़िए और भ्रष्टताजन्य कष्ट को अनुभव कीजिए—

''अर्थात् जो ज्ञानी, विरक्त, जीवनमुक्त लोकों ने नाथ बुद्ध आदि तीर्थंकरों के पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का उपदेशक है जिसको बहुत से भेद और बहुत से उपायों से कहा है उसको मानना॥ १॥ बड़े गम्भीर और प्रसिद्ध भेद से कहीं-कहीं गुप्त और प्रकटता से भिन्न-भिन्न गुरुओं के उपदेश जो कि शून्य लक्षणयुक्त पूर्व कह आये, उनको मानना॥ २॥

मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपप्रयोग—मुद्रणलिपिकर ने यहां प्रमाद से ''**शून्य**'' को ''**न्यून**'' लिखा है। वही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० आदि में संशोधित कर लिया है।]

जो द्वादशायतन पूजा है वही मोक्ष करने वाली है। उस पूजा के लिए बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त होके द्वादशायतन अर्थात् बारह प्रकार के स्थान मानकर उनकी सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये; अन्य किसी की पूजा करने से क्या प्रयोजन॥ ३॥''

१. **बौद्ध दर्शन में परस्परविरोध**—द्वादश-आयतनों के निर्णय के विषय में बौद्ध दर्शन में परस्पर-विरोध पाया जाता है। इस श्लोक में पांच कर्मेन्द्रियों को द्वादश-आयतनों में परिगणित किया है जबकि आगे पृ० ७५४ पर ''**पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या:....**'' श्लोक चार में इनके स्थान पर ज्ञानेन्द्रियों के ही पांच शब्द आदि विषयों को आयतन स्वीकार किया है। प्रमुख सिद्धान्तों में मतवैभिन्न्य का होना बौद्धदर्शन के खोखलेपन और परस्परविरोध को दर्शाता है।

दुःख दोनों हैं। और जो बौद्ध लोग ऐसा ही सिद्धान्त मानते हैं तो खान-पानादि और शरीररक्षण करने[१] में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते हैं? जो कहैं कि हम प्रवृत्त तो होते हैं परन्तु इसको दुःख ही मानते हैं, तो यह कथन ही सम्भव नहीं; क्योंकि जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दुःख जानके निवृत्त होता है। संसार में धर्मक्रिया, विद्या, सत्सङ्गादि सब व्यवहार सुखकारक हैं, इनको कोई भी विद्वान् दुःख का लिंग नहीं मान सकता, विना बौद्धों के।[२]

जो पाँच स्कन्ध कहे हैं, वे भी अपूर्ण हैं;[३] क्योंकि ऐसे जो स्कन्ध विचारने लगें तो एक-एक के अनेक भेद हो सकते हैं।

जिन तीर्थंकरों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं, और अनादि ईश्वर को नहीं मानते, तो उन्होंने उपदेश कहाँ से पाया? जो कहो कि स्वयं प्राप्त हुआ, तो कारण के विना कार्य नहीं हो सकता। इस समय भी उपदेश के विना किसी को ज्ञान नहीं हो सकता है। और जो होता है, तो तुम और अन्य को भी हो जायगा; उपदेशक बुद्ध आदि की क्या आवश्यकता है?॥ १ ॥[४]

जो शून्यरूप ही अद्वैत-उपदेश बौद्धों का है, तो विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं होता; हाँ, सूक्ष्म कारणरूप तो हो जाता है॥ २ ॥[५]

जो द्रव्यों के उपार्जन से पूर्वोक्त द्वादशायतनपूजा को मोक्ष का साधन कहा, तो दश प्राणों और ग्यारहवें जीवात्मा की पूजा क्यों नहीं करते? और जब इन्द्रियों और अन्तःकरणों [=मन और बुद्धि] की पूजा मोक्षप्रद है तो विषयीजनों और बौद्धों में क्या भेद रहा? उससे फिर मुक्ति कहाँ?[६] पूर्व, सब

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठवर्धन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० तथा द्वि० सं० में तथा उदयपुर सं० में भी इसके स्थान पर यह पाठवर्धन है—''**पथ्य तथा ओषध्यादि सेवन करके शरीररक्षण करने में।**'' मूलह०, मूलप्रति का पाठ व्यापक अर्थयुक्त है जिसका अभिप्राय है सभी प्रकार से शरीर रक्षण करना। यहां केवल रुग्णावस्था विषय में अर्थ को सीमित कर दिया है, अतः मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ व्यापक एवं ग्राह्य है।

२. **मुद्रणप्रतिलिपि में उचित पाठ-परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस पाठ के आगे मुद्रणप्रति में यह पाठ बढ़ाया है—''**इनको कोई भी विद्वान् दुःख का लिंग नहीं मान सकता, विना बौद्धों के।**'' स्पष्टता के लिए यह परिवर्धन ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपसंशोधन, सिद्धान्तविरुद्ध पाठ-परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां यह पाठ बनाकर ''**वे भी पूर्ण अपूर्ण हैं**'' महर्षि की सारी अग्रिम समीक्षा को व्यर्थ कर दिया है। महर्षि उनको पूर्ण नहीं मानते। यही अशुद्ध पाठ उदयपुर सहित अन्य सभी संस्करणों में है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा व्यर्थ पाठ परिवर्तन**—मूलप्रति सं० के इस श्लोकार्थ के उत्तरार्ध को मुद्रणलिपिकर ने बदलकर शिथिल, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अप्रौढ़ शैली का बना दिया है। यह परिवर्तन नितान्त अनावश्यक है क्योंकि इसमें ऋषिकृत मूलभाव भी जाता रहा। यही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० उदयपुर सं० आदि में छप रहा है—

''अथवा उनके कथनानुसार ऐसा ही होता तो अब उनमें बिना पढ़े-पढ़ाये, सुने-सुनाये और ज्ञानियों के सत्संग किये विना ज्ञानी क्यों नहीं हो जाते? जब नहीं होते तो ऐसा कहना सर्वथा निर्मूल और युक्तिशून्य सन्निपात रोगग्रस्त मनुष्य के बड़ाने के समान है।''

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा शैलीविरुद्ध परिवर्तन**—महर्षि '**वस्तु**' पद का प्रयोग पुंल्लिंग में करते हैं। यह उनकी स्वीकृत और स्थापित शैली है। मूलह०, मूलप्रति सं० में पुल्लिग प्रयोग ही है। मुद्रणलिपिकर ने इसका स्त्रीलिंग में महर्षि की शैली के विरुद्ध परिवर्तन किया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का वह परिवर्तित वाक्य है—''**विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं हो सकती.....हो जाती है।**'' यह वाक्य और व्यर्थ बढ़ा दिया—''**इसलिये यह भी कथन भ्रमरूपी है।**''

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्तिपूर्ण व्यर्थ विस्तार**—मूलप्रति के अन्तिम लघु और गम्भीर वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पुनरुक्तिपूर्ण व्यर्थ वाक्य बनाया है—''**जो उनसे ये बौद्ध नहीं बच सके तो वहां मुक्ति भी कहां रही? जहां ऐसी बातें है वहां मुक्ति का क्या काम?**'' यहां किसी से बचने का क्या प्रसंग है? यहां तो उनकी मान्यताओं की समीक्षा हैं।

संसार की दुःखरूप भावना की, और फिर द्वादशायतन-पूजा लगाई। इसलिये इनका मत सर्वांशतः ही सत्य नहीं॥ ३,४॥[1]

'**विवेकविलास**' ग्रन्थ में बौद्धों का मत इस प्रकार कहा है—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्यसत्याख्यया[2] तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्॥ १॥
दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥ २॥
दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ ३॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु॥ ४॥
रागादीनां गणो यस्मात् समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः॥ ५॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते॥ ६॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप्रासंगिक पाठ विस्तार**—मूलप्रति हस्तलेख की इस श्लोकार्थ से जुड़ी प्रासंगिक एक पंक्ति के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में एक पूरा असंगत-अनावश्यक अनुच्छेद बढ़ाया गया है जिसका प्रसंगगत समीक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां ग्रन्थकार का ३-४ श्लोकों की समीक्षा में कथ्य यही है कि 'जब सब दुःखरूप है तो द्वादशायतन पूजा क्यों लगाई?' ग्रन्थकार बौद्धों के इस विरोध को दर्शा रहे हैं। उसको छोड़कर लिपिकर पता नहीं कहां-से-कहां बातों में बह गया? देखिए द्वि० सं० का वह अनुच्छेद—''क्या ही इन्होंने अपनी अविद्या की उन्नति की है। जिसका सादृश्य इनके बिना दूसरों से नहीं घट सकता। निश्चय तो यही होता है कि इनको वेद, ईश्वर से विरोध करने का यह फल मिला। पूर्व तो सब संसार की दुःखरूपी भावना की। फिर बीच में द्वादशायतनपूजा लगा दी। क्या इनकी द्वादशायतनपूजा संसार के पदार्थों से बाहर की है जो मुक्ति की देने हारी हो सके? तो भला कभी आंख मीच के कोई रत्न ढूंढ़ा चाहै वा ढूंढ़े कभी प्राप्त हो सकता है? ऐसी ही इनकी लीला वेद, ईश्वर को न मानने से हुई। अब भी सुख चाहैं तो वेद ईश्वर का आश्रय लेकर अपना जन्म सफल करें।''

पाठक देखें कि सारे अनुच्छेद की भाषा शिथिल, बचकानी, अस्पष्ट और अप्रासंगिक है। सोचिए, अविद्या की उन्नति भी क्या होती है? और बौद्धों को क्या फल मिला जिसका कथन लिपिकर करना चाहता है? कौन-सा रत्न ढूंढ़ने की बात है? कौन-सी बौद्धों की लीला हो गई? सब अप्रौढ़ शैली की कहानी जैसी बातें हैं। अतः दार्शनिक प्रसंग में यह अनावश्यक विस्तार है।

२. **घोर अप-उद्धरण पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**आर्यसत्वाख्यया**'' अशुद्ध पाठ है। बौद्ध दर्शन के मूलपाठ अनुसार, ''**आर्यसत्याख्यया**'' पाठ शुद्ध है। इसमें बौद्धों के '**आर्यसत्य**' नाम से प्रसिद्ध चार मूल तत्त्वों का उल्लेख है। वेस, जग, भद, युमी, विस, **उदयपुर सं०** आदि में यहाँ भ्रष्ट पाठ है। कथित दश सम्पादक इस घोर अशुद्धि को न तो समझ सके और न संगति लगा सके।

उदयपुर सं० का कोई उत्तर नहीं—इस श्लोक के घोर-अशुद्ध अर्थ की ओर मैंने उदयपुर सं० के सम्पादकों का ध्यान आकृष्ट किया था। उदयपुर सं० के लेखकों ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। वे न तो इस घोर अशुद्धि को स्वीकारने की उदारता दिखा सके और न नकारने का साहस कर सके। पाठकगण देखें कि जहां ऐसी हठपूर्ण मानसिकता के सम्पादक हैं, उस ग्रन्थ का शुद्धतम सम्पादन कैसे होगा? मंचों से दिया जाने वाला 'सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग' का उनका उपदेश केवल दूसरों के लिए ही है। ऐसे उपदेशकों के लिए कहावत बनी है—''पर उपदेश कुशल बहुतेरे।'' यही मानसिकता दूसरे प्रश्नों के उत्तर में भी सामने आई है। कुतर्क, कटाक्ष, हठ और विरोध को उन्होंने 'ऋषिभक्ति' मान लिया है।

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा।
चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥ ७॥
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः॥ ८॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः॥ ९॥
रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसम्भवा[१] ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥ १०॥
कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्।
संघो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः॥ ११॥

[विवेकविलास ८। २६५-२७५; सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन श्लोक ३०-४०]

अर्थ—बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव है और जगत् क्षणभंगुर है। 'आर्यसत्य' नाम से प्रसिद्ध उनके चार तत्त्व हैं, वे क्रम से इस प्रकार हैं— ॥ १ ॥[२-३]

वे हैं—दुःख, दुःख का आश्रय स्थान, समुदय=दुःख की उत्पत्ति का कारण, और मार्ग=दुःख से छूटने का मार्ग। अब इन चारों तत्त्वों='आर्य-सत्यों' की व्याख्या क्रम से सुनो— ॥ २ ॥[४]

संसार में रहनेवाले प्राणियों के पांच स्कन्धों को '**दुःख**' कहते हैं। वे पांच हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप॥ ३ ॥[५]

पांच ज्ञानेन्द्रियां, उनके शब्द आदि पांच विषय, मन और धर्मायतन=धर्म का निवासस्थान अर्थात् बुद्धि, ये '**द्वादश-आयतन**' हैं॥ ४ ॥[६]

जिससे राग-द्वेष आदि भावों का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है, जो कि आत्मा के अपने स्वभाव के नाम से प्रसिद्ध है, वह '**समुदय**' है॥ ५ ॥[७,८]

---

१. **अप-उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वासनाच्छेदसम्भवा**" अपपाठ है। यहां "**वासनोच्छेदसम्भवा**" शुद्ध मूलपाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

२-७. **महाभ्रष्ट श्लोकार्थ**—जैसा कि पिछले पृष्ठ की टिप्पणी में उल्लेख किया गया है कि ये श्लोकार्थ महर्षि सदृश प्रकाण्ड विद्वान् के न तो किये हुए हैं और न अतिव्यस्तता के कारण वे इनका निरीक्षण कर सके हैं। यदि वे देख लेते तो इनकी अशुद्धि दूर हो जाती। ये किसी मूर्ख संकलनकर्त्ता लेखक के किये हुए हैं अथवा किसी लेखक की सुनियोजित शरारत है जिससे कि वह महर्षि को उपहास का पात्र बना सके। सामान्य संस्कृतज्ञ भी इतने महाभ्रष्ट अर्थ नहीं करता। यह सम्पादकों के गम्भीर चिन्तन का विषय है कि ग्रन्थ में इतनी अर्थ भ्रष्टता कैसे हुई, इसका कारण खोजें और उसका स्थायी समाधान निकालें।

उससे अधिक दुःख आर्य सम्पादकों और आर्य पाठकों पर है कि सवा-सौ से भी अधिक वर्ष हो गये कि वे अभी तक किसी लेखक के द्वारा महर्षि के माथे पर लगाये अर्थभ्रष्टता के इस दोष को झेल रहे हैं। आज तक न तो इसको हटाया है और न हटाने का प्रयास किया है। क्या सम्पादक विद्वानों को भी इनका अर्थ नहीं आता, जो इनको भ्रष्ट अर्थ घोषित नहीं किया? उदयपुर सं० के कथित दश विद्वानों ने इन मूर्खतापूर्ण अर्थों को "सश्रद्ध नमन" करके स्वीकार कर लिया है। यह कितने दुर्भाग्य की बात है। क्या 'दश विद्वान्' इन अर्थों को संगत और शुद्ध सिद्ध कर सकते हैं? यदि नहीं, तो इनको क्यों नहीं शुद्ध किया? क्यों भ्रष्ट अर्थ देकर श्रम-समय-धन का अपव्यय किया। अशुद्ध अर्थ परोसने से अच्छा तो सम्पादन न करते तो अच्छा था। और क्या इस त्रुटि को बनाये रखना ऋषिभक्ति है? यदि इसी का नाम ऋषिभक्ति है तो उस भक्ति को दूर से प्रणाम है!!

'सब संस्कार क्षणिक हैं' जो इस 'वासना' का स्थिर होना है, यह बौद्धों का 'मार्ग' है। और फिर वही 'शून्य तत्त्व'='वासना का शून्यरूप हो जाना' '**मोक्ष**' है॥ ६॥

बौद्ध लोग **प्रत्यक्ष** और **अनुमान** दो ही प्रमाण मानते हैं। चार प्रकार के इनमें भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक॥ ७॥

इनमें से '**वैभाषिक**' ज्ञान में जो अर्थ है, उसको प्रत्यक्षगम्य मानता है; क्योंकि जो ज्ञान में नहीं है, उसका सिद्ध होना वह पुरुष नहीं मानता।[१] और '**सौत्रान्तिक**' भीतर में प्रत्यक्ष मानता है, बाहर नहीं, [बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य नहीं मानता, अनुमेय मानता है][२]॥ ८॥

'**योगाचार**' आकार-सहित विज्ञानयुक्त बुद्धि को मानता है और '**माध्यमिक**' केवल अपने में पदार्थों का ज्ञानमात्र मानता है, पदार्थों को नहीं मानता॥ ९॥

और रागादि-ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश से उत्पन्न होनेवाली '**मुक्ति**' चारों प्रकार के बौद्धों की [कही गई] है॥ १०॥

मृगादि का चमड़ा और कमण्डलु [रखना], मुंड-मुंडाये [रहना], वल्कल वस्त्र धारण [करना], पूर्वाह्ण[३] अर्थात् नव बजे से पूर्व भोजन करना, अकेला न रहना, रक्त वस्त्र का धारण [करना], यह

दोनों हस्त० और तीनों सं० में समान रूप से भ्रष्ट अर्थ प्रचलित हैं। पाठकों के समक्ष वे प्रचलित अनर्गल अर्थ प्रस्तुत हैं, उनको पढ़ें और अपने दिल पर हाथ रखकर सोचें कि क्या आज तक हमने ऋषि के नाम पर अनर्थ नहीं झेला है? देखिए—

३. ''बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव और जगत् क्षणभंगुर, आर्य्य पुरुष और आर्य्या स्त्री तथा तत्त्वों की आख्या संज्ञादि प्रसिद्धि ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ हैं॥ १॥

४. इस विश्व को दुःख का घर जाने, तदनन्तर समुदय अर्थात् उन्नति होती है और मार्ग, इनकी व्याख्या क्रम से सुनो॥ २॥

संशोधन-पुष्टि—पृ० ७५० पर पंक्ति १०-११ का अनुच्छेद द्रष्टव्य है। उसमें स्पष्ट पद्धति से चार सत्यों का कथन है।

५. संसार में दुःख ही है जो पञ्चस्कन्ध पूर्व कह आये हैं उनको जानना॥ ३॥

६. पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके शब्दादि विषय पांच और मन बुद्धि अन्तःकरण धर्म का स्थान ये द्वादश हैं॥ ४॥

७. जो मनुष्यों के हृदय में रागद्वेषादि समूह की उत्पत्ति होती है वह समुदय और जो आत्मा, आत्मा के सम्बन्धी और स्वभाव है वह आख्या इन्हीं से फिर समुदाय होता है॥ ५॥''

इस संस्करण में इनका अर्थ श्लोकों की संस्कृत भाषा के अनुसार उपर्युक्त रूप से शुद्ध कर दिया गया है।

८. **प्रयोगान्तर**—बौद्ध दर्शन में 'समुदय' के स्थान पर 'समुदाय' प्रयोग भी पर्याय रूप में प्राप्त होता है। दोनों ही प्रयोग प्रचलित हैं। रागादि भावों के उदय से दुःख का कारण होने के कारण दूसरे तत्त्व को 'समुदय' कहा जाता है और दुःखों के कारणों का भाव समूह होने के कारण उसी को 'समुदाय' कह दिया जाता है। जैसे—''**दुःख-समुदाय-निरोध-मार्गः चत्वार आर्यबुद्धस्याभिमतानि तत्त्वानि।**'' (सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ० ७६)=दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग, आर्य बुद्ध द्वारा स्वीकृत ये चार तत्त्व हैं। 'समुदय' का प्रयोग पृ० ७५४ पर श्लोक संख्या ५ में द्रष्टव्य है।

१. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां अपपाठ है। मूलह० में पाठ है—''**उसका होना वह पुरुष सिद्ध नहीं मान सकता।**'' कुछ बदलकर मूलप्रति सं० में है—''**उसका होना वह सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता।**'' मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अधिक भ्रष्ट पाठ है—''**उसका होना पुरुष सिद्ध नहीं मान सकता।**'' उदयपुर सं० ने अपना नया पाठ बिना टिप्पणी के बदला है—''**उसका होना सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता।**'' यह भी अपपाठ है। सही पाठ यह है—''**उसका सिद्ध होना वह पुरुष नहीं मानता।**'' इस श्लोकार्थ की भाषा में भी सामान्य परिवर्तन अपेक्षित है।

२,४. **आवश्यक त्रुटित पाठ-परिवर्धन**—स्पष्टता तथा पूर्णता के लिए इस श्लोकार्थ में कोष्ठकान्तर्गत पाठों का परिवर्धन अपेक्षित है।

३. **पूर्वाह्णभोजन**=श्लोक में '**पूर्वाह्णभोजनम्**' पद है, जिसका सामान्य अर्थ है '**पूर्वाह्ण में एक बार भोजन करना**' चाहिए। क्योंकि पूर्वाह्ण भोजन का समय प्रातः नौ बजे तक होता है, अतः महर्षि ने यहां दिनचर्यानुसारी वही अर्थ ग्रहण किया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बारह बजे तक किसी भी समय भोजन करें। जिस कार्य का जो समय होता है उसी का ग्रहण हुआ करता है।

बौद्धों के साधुओं का [स्वीकृत आचार और] वेश है॥ ११ ॥[४]

उत्तर—जो बौद्धों का सुगत बुद्ध ही देव है, तो उसका गुरु कौन था? जो विश्व क्षणभंगुर[१] हो, तो चिरदृष्ट पदार्थ का 'यह वही है' ऐसा स्मरण न होना चाहिये। जो क्षणभंगुर[२] होता, तो वह [पूर्वदृष्ट] पदार्थ ही नहीं रहता, पुनः स्मरण किसका होवे? जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है तो इनका मोक्ष भी क्षणभंगुर[३] होगा। जो ज्ञान से युक्त अर्थ द्रव्य हो तो जड़ द्रव्य में भी ज्ञान होना चाहिये, इसलिये ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब-सा रहता है। जो भीतर ज्ञान में द्रव्य होवे तो बाहर न होना चाहिये[४] और वह चलनादि क्रिया[५] किस पर करता है? बाहर दीखता है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है? जो **आकार** से सहित बुद्धि[६] होवे तो [उसको][७] दृश्य होना चाहिये। जो केवल ज्ञान ही हृदय में आत्मस्थ होवे, बाह्यज्ञेय पदार्थों को केवल ज्ञानरूप[८] ही माना जाय, तो ज्ञेय के विना ज्ञान ही नहीं हो सकता॥ जो वासनोच्छेद[९] ही मुक्ति है, तो सुषुप्ति में भी मुक्ति माननी चाहिये। यह संक्षेप से बौद्धमत का विषय लिखा है।[१०]

यहाँ से आगे **जैनमत**[११] का वर्णन है, इसको जैन लोग मानते हैं।[१२]

१-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में तीनों स्थानों पर "**क्षणभंग**" भाववाचक संज्ञारूप अपप्रयोग है, यहां "**क्षणभंगुर**" विशेषण का प्रयोग शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—श्लोक के मूलपाठ और अर्थ में (पृ० ७५४/४, ७५५/१२) शुद्ध प्रयोग है।
सम्पादकों पर आश्चर्य—आश्चर्य देखिए, श्लोक में शुद्ध प्रयोग होते हुए भी लिपिकर समीक्षा में उसको अशुद्ध लेखन कर रहा है! उदयपुर सं० के 'दश विद्वानों' और अन्य 'विद्वानों' द्वारा लिपिकर के अशुद्ध प्रयोग को तीनों स्थानों पर "ब्रह्मा वाक्यं प्रमाणम्" मानकर बिना शुद्ध किये ग्रहण कर लिया।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर कितना प्रमादी था इसके उदाहरण पग-पग पर मिल रहे हैं और सैंकड़ों मिल चुके हैं। ऐसा लगता है जैसे भांग के नशे में रहता हो अथवा जान-बूझकर शरारत करता हो। यहां देखिए दो "**चाहिये**" पदों को बीच का यह पाठ छोड़ गया—"**इसलिये ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब-सा रहता है। जो भीतर ज्ञान में द्रव्य होवे तो बाहर न होना चाहिये।**" द्वि०सं०, उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण कर लिया है। मूलसं० में पूर्णपाठ है। **पं० भगवद्दत्त जी, स्वामी वेदानन्द जी, पं० मीमांसक जी, सिद्धान्ती जी** आदि अन्य सभी के संस्करणों में त्रुटित है।

५. **मुद्रणलिपिकृत अपप्रयोग**—असावधान मुद्रणलिपिकर ने यहां "**चलनादि क्रिया**" मूलह० के पाठ के स्थान पर "**चालनादि क्रिया**" अशुद्ध पाठ लिख दिया। द्वि०सं०, उदयपुर सं० भद, वेस, युमी, विस, जस सब में यही अशुद्ध प्रयोग है। यहां द्रव्य के चलने का कथन है, चालन का नहीं।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० में "**आकाश से सहित बुद्धि**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां संगति के लिए '**उसको**' पद प्रयोग अपेक्षित है।

८. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ**—मुद्रणहस्त० और द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**पदार्थों के केवल ज्ञान**"। द्वि०सं० में संशोधित है। मूलसं० में शुद्ध है।

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वासनाच्छेद**" अशुद्ध है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

१०. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध परिवर्तन और विस्तार**—मुद्रणलिपिकर ने इसके बाद तीन पंक्तियां बढ़ाई हैं जो अशुद्ध विस्तार है। वहीं यह लिखना नितान्त अशुद्ध है कि "**इसको जैन लोग भी मानते हैं।**" विस्तारित पाठ यह है—"ऐसा मानना विद्या से विरुद्ध होने के कारण तिरस्करणीय है। इत्यादि बातें संक्षेपतः बौद्ध मतस्थों की प्रदर्शित कर दी है। अब बुद्धिमान् विचारशील पुरुष अवलोकन करके जान जायेंगे कि इनकी कैसी विद्या और कैसा मत है। इस को जैन लोग भी मानते है।" यह केवल बौद्ध मत है। कोई पूछे तो सही कि मुद्रणलिपिकर! तुम्हारी ये कैसी विद्या है? इस ग्रन्थ का तुमने क्या हाल बना दिया है?

११. **जैन धर्म के संस्थापक**—जैन साहित्य की कोरी कल्पना के अनुसार जैन मत के आदि संस्थापक महावीर स्वामी नहीं थे अपितु स्वायम्भुव मनु के वंश में नाभि के पुत्र ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। जबकि महावीर स्वामी अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर माने गये हैं। इस प्रकार जैनी अपने मत को हजारों-लाखों वर्ष पुराना कहते हैं। सामान्यतः यही स्थापित मान्यता है कि जैन मत का आरम्भ तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और फिर महावीर स्वामी से हुआ।

महावीर स्वामी का जन्म २७ मार्च ५९८ ई० पूर्व वैशाली नगर के समीप कुण्ड ग्राम (बिहार) में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। इनके पिता वज्जि नामक राज्यसंघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गणराज्य के शासक थे। उनकी राजधानी कुण्डग्राम थी। इनकी माता लिच्छवी वंश के प्रसिद्ध राजा चेटक की बहन थी। इनका बचपन का नाम वर्धमान था। शासक पुत्र होने के कारण इनका जीवन विलासपूर्ण रहा। युवावस्था आने पर इनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी से हुआ। उससे इन्हें प्रियदर्शना नामक पुत्री हुई। जब ये तीस वर्ष के हुए तो इनके माता-पिता का देहान्त हो गया। संसार से विरक्ति होने पर बड़े भाई नन्दिवर्धन से अनुमति लेकर ये साधु बन गये।

इन्होंने ज्ञानप्राप्ति के लिए कठोर तपस्या की। कल्पसूत्र में लिखा है कि ये एक वर्ष एक मास तक एक ही वस्त्र पहने रहे। जब वे जीर्ण-शीर्ण होकर गिर गये तो वे नग्न हो गये, फिर ये नग्न ही रहने लगे। ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त '**महावीर**' नाम प्रसिद्ध हुआ। इकहत्तर वर्ष की आयु में १५ अक्तूबर ५२७ ई० पूर्व पटना के पावानगर नामक स्थान पर इनका स्वर्गवास हुआ।

जैन शब्द '**जिन**' से बना है। जिन का अर्थ है—'इन्द्रियों पर जय प्राप्त करनेवाला'। इनके सभी तीर्थंकरों को 'जिन' कहा जाता है। 'जिन' के अनुयायी '**जैन**' कहलाते हैं।

महावीर स्वामी के बाद प्रधान गणधर गौतम जैन मत के प्रमुख बने। उसके बहुत पश्चात् भद्रबाहु बने। मध्यदेश में एक बार बारह वर्षीय अकाल पड़ा। भद्रबाहु सभी शिष्यों को लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गये। आचार्य स्थूलभद्र मध्यदेश में ही रह गये। स्थूलभद्र के शिष्यों ने नग्नता को छोड़कर श्वेत वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिये। वहीं से जैनियों के **दिगम्बर** और **श्वेताम्बर** दो पन्थ आरम्भ हुए। फिर इन दोनों में भी कई-कई पन्थ चले। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में अनेक मन्तव्यों में मतभेद हैं जिनमें कुछ प्रमुख मतभेद निम्नलिखित हैं—

दिगम्बरों का मत एवं आचरण	**श्वेताम्बरों का मत एवं आचरण**
१. दिगम्बर नंगे रहते हैं।	१. श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते हैं।
२. वस्त्र मोक्षप्राप्ति में बाधक हैं	२. वस्त्र मोक्ष में बाधक नहीं है।
३. दिगम्बरों के मतानुसार स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।	३. स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त होता है।
४. महावीर स्वामी का विवाह नहीं हुआ।	४. महावीर स्वामी की यशोदा नामक विवाहित पत्नी थी जिससे 'प्रियदर्शनी' नामक पुत्री हुई।
५. उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ पुरुष थे।	५. मल्लिनाथ स्त्री थे।
६. दिगम्बर मन्दिर में मूर्ति की आंखें नहीं होतीं।	६. श्वेताम्बर मन्दिर में मूर्ति की आंखें होती हैं।
७. एक दिन में एक ही बार भिक्षा ग्रहण करते हैं।	७. अनेक गृहों से भिक्षा ग्रहण करते हैं।
८. एक ही बार हाथ में लेकर भोजन करते हैं।	८. अनेक बार और पात्रों में भोजन करते हैं।

जैन साहित्य अनेक महा-गपोड़ों से भरा हुआ है जो सर्वथा अविश्वसनीय हैं। जैन मत में सदाचरण, व्रतपालन आदि पर पर्याप्त बल दिया जाता है किन्तु सिर मूंछ-दाढ़ी के केशलोंचन=हाथों से बाल उखाड़ना (प्रति दो से चार मास में) एक क्रूरतापूर्ण, अवैज्ञानिक और चिकित्सा-शास्त्र से विरुद्ध कार्य है। दिगम्बर जैन मुनियों का रहन-सहन समाज में असामाजिक, असभ्यतायुक्त, असंस्कृत और स्वास्थ्यविज्ञान के प्रतिकूल है। जैन मुनि न दन्तधावन करते हैं, न स्नान करते हैं, पूर्णत: नग्न रहते हैं। उनके लिए कठोर तप का विधान 'हठ योग' के समान अस्वाभाविक है, भले ही धर्म की आड़ लेकर उसकी प्रशंसा की जाये। उनका पूर्णनग्न रहना और पूर्ण नग्न अवस्था में परिवारों तथा समाज के बीच आवागमन जैन-इतर सभ्य समाज को खटकता है। नग्नता को चाहे कितना ही धर्म के आवरण से ढकने का प्रयास किया जाये, सभ्य समाज में उसे असभ्यता की पराकाष्ठा ही माना जायेगा। सभ्य समाज में सभ्य बनकर रहना ही सभ्यता और सामाजिकता है। यही बात हिन्दुओं में 'नागा साधुओं' पर लागू होती है।

जैनी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते किन्तु आत्मा और पुनर्जन्म में करते हैं। कर्मफल के अनुसार अगला जन्म या कैवल्य मिलता है। ये लोग अपने तीर्थंकरों को ही केवली (=ईश्वर) मानते हैं। इनके मत के आधार जीव आदि सात दार्शनिक तत्त्व हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा (दर्शन) और सम्यक् चरित्र ये '**त्रिरत्न**' हैं। अहिंसापालन आदि पांच महाव्रत हैं। इनको ही पांच '**अणुव्रत**' कहते हैं।

जैन मत का उदय और प्रसार पौराणिक मत में व्याप्त जटिल कर्मकाण्ड के पाखण्ड, जातीय भेदभाव, ब्राह्मणवाद द्वारा शोषण, यज्ञों में हिंसा-क्रूरता, ईश्वर के नाम पर स्वार्थपूर्ति, अनाचार आदि की प्रतिक्रिया में हुआ।

१२. ऋषिहस्तलेख—**''यहां से.....मानते हैं''** पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

प्रकरणरत्नाकर १ भाग, नयचक्रसार [पृष्ठ १८७] में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—

'**बौद्ध लोग**[१] समय-समय में नवीनपन से (१) आकाश, (२) काल, (३) जीव, (४) पुद्गल, ये चार द्रव्य मानते हैं और **जैनी लोग** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल ये छः द्रव्य मानते हैं।' इनमें काल की अस्तिकायता नहीं मानते किन्तु ऐसा मानते हैं कि काल उपचार से द्रव्य है, वस्तुतः नहीं।

इनमें से[२] [प्रथम] '**धर्मास्तिकाय**'[३] जो गतिपरिणामीपन से परिणाम को प्राप्त हुआ जीव और पुद्गल, इनकी गति के समीप से स्तम्भन करने का हेतु है, वह धर्मास्तिकाय है; और वह असंख्य प्रदेश, परिमाण और लोक में व्यापक है।

दूसरा '**अधर्मास्तिकाय**'[४] यह है कि जो स्थिरता से परिणामी हुए जीव तथा पुद्गल की स्थिति के आश्रय का हेतु है।

तीसरा '**आकाशास्तिकाय**'[५] उसको कहते हैं कि जो सब द्रव्यों का आधार है, जो अवगाहन, प्रवेश, निर्गम आदि क्रिया करनेवाले जीव तथा पुद्गलों के अवगाहन का हेतु और सर्वव्यापी है।

चौथा '**पुद्गलास्तिकाय**'[६] यह है कि जो कारणरूप सूक्ष्म, नित्य, एकरस, वर्ण, गंध, स्पर्श, कार्य का लिंग, पूरने और गलने के स्वभाववाला होता है।

पाँचवाँ '**जीवास्तिकाय**'[७] यह है कि जो चेतनालक्षण, ज्ञान, दर्शन में उपयुक्त, अनन्त पर्यायों से परिणामी होनेवाला कर्त्ता, भोक्ता है।

और छठा '**काल**'[८] यह है कि जो पूर्वोक्त पंचास्तिकायों का परत्व-अपरत्व, नवीनता-प्राचीनता का

---

१ **बौद्ध लोगों का प्रसंग**—जैनियों के शास्त्रीय ग्रन्थ 'प्रकरण रत्नाकर' के 'नयचक्रसार' खण्ड में पृ० १७६ पर यह प्रकरण आया है। जैनियों ने यही बातें कहकर वहां बौद्धों की आलोचना की है—"**अने बौद्धदर्शन ने समय-समय नवा-नवापणे आकाश, काल, जीव, पुद्गल ए चार द्रव्य माने छे।**" उपर्युक्त वचन इसी गुजराती संदर्भ का अनुवाद है (स्वामी वेदानन्दजीकृत टिप्पणी)

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उनमें से**" के स्थान पर '**इनमें से**' प्रयोग अपेक्षित है।

३-८. जैनियों द्वारा स्वीकृत छह द्रव्यों का विवेचन—

(१-२) धर्म-अधर्म—जैन दर्शन के अनुसार '**धर्म**' द्रव्य सक्रिय, अमूर्त द्रव्य है और '**अधर्म**' द्रव्य निष्क्रिय और अमूर्त है। धर्म, जीव और पुद्गल (शरीर या परमाणु संघात) के गमन में सहयोगी है और गतिशील है। चलने के इच्छुक जीवों और पुद्गलों को चलने में साथ देता है। यह अखण्ड और समस्त लोकव्यापी है तथा तिलों में तैल के समान लोक में व्याप्त है।

'धर्म' द्रव्य के विपरीत 'अधर्म' द्रव्य जीवों और पुद्गलों के ठहरने में सहायक है। यह निष्क्रिय, अमूर्त और लोकव्यापी है। ठहरने के इच्छुक जीवों को ठहरने में सहायक है, प्रेरक नहीं।

इस प्रकार धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप के पर्याय न होकर गति और स्थिरता के बोधक तत्त्व माने गये हैं।

(३) आकाश—समस्त पदार्थों का अवकाशरूप आश्रयस्थान 'आकाश' द्रव्य है। यह अदृश्य, अमूर्त, निष्क्रिय और सर्वव्यापक है। जैन-दर्शन में इसके दो भेद माने हैं—१. लोकाकाश—जिस भाग में जीव आदि वर्तमान हैं। २. अलोकाकाश—जीव आदि पदार्थों से रहित शुद्ध आकाश 'अलोकाकाश' है।

(४) पुद्गल—पुद्=मिलना, गल=गलना या टूटना, इस प्रकार के परमाणु संघात को 'पुद्गल द्रव्य' कहते हैं। यह अचेतन और मूर्त द्रव्य है। जैन मैटर (Matter) और एनर्जी (Energy) को पुद्गल का पर्याय कहते हैं। संसार में जो प्रकृतिजन्य है वह 'पुद्गल' है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गल के लक्षण हैं। यह परमाणु रूप है। जब इसके साथ अन्य परमाणु मिल जाते हैं तब वह स्कंध रूप हो जाता है।

(५) जीव—जैन मत में जीव का लक्षण 'चेतना' है। जहां-जहां चेतना है वहां जीव है, जहां-जहां जीव है वहां चेतना है। जीव को ही आत्मा मानते हैं। चेतना से यह सुख-दुःख की अनुभूति करता है। यही कर्त्ता एवं फलभोक्ता है। राग-द्वेष आदि से रहित

चिह्नरूप है, प्रसिद्ध-वर्तमानरूप पर्यायों से युक्त है, वह काल कहाता है।

समीक्षक—जो बौद्धों ने चार द्रव्य प्रतिसमय में नवीन-नवीन माने हैं, वे झूठे हैं, क्योंकि आकाश, काल, जीव और परमाणु, नये-पुराने कभी नहीं हो सकते; क्योंकि ये अनादि और कारणरूप से अविनाशी हैं, पुनः नया और पुरानापन कैसे घट सकता है? और जैनियों का मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं हो सकते, किन्तु गुण हैं।[१] ये दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं; इसलिये आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था।

और जो नव द्रव्य '**वैशेषिक**' में माने हैं वे ठीक हैं, क्योंकि पृथिव्यादि पांच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन, ये नव पृथक्-पृथक् पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना, जैन-बौद्धों की मिथ्या बात है।[२]

अब जो[३] जैनी लोग **सप्तभंगी न्याय और स्याद्वाद**[४] मानते हैं, वह यह है। देखो—

प्रथम भंग—'**सन् घटः**' इसको प्रथम भङ्ग कहते हैं; क्योंकि घट अपनी वर्तमानता से युक्त अर्थात् घड़ा है, इसने अभाव का विरोध किया है।

दूसरा भंग—'**असन् घटः**'=घड़ा नहीं है, प्रथम घट के भाव से, वर्तमान में उस घड़े के असद्भाव से दूसरा भङ्ग है।

तीसरा भंग यह है कि '**सन्नसन् घटः**' अर्थात् यह घड़ा तो है परन्तु यह पट नहीं, क्योंकि उन दोनों

होकर जीव मुक्त हो जाता है। यह न अणु है, न विभु अपितु यथाशरीर परिमाण वाला है। जिस शरीर को धारण करता है उसी आकार का हो जाता है। इससे भिन्न सभी पदार्थ जड़ हैं।

(६) काल—पदार्थ अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर जो नयारूप धारण करते हैं, उस परिणमन या परिवर्तन का कारणरूप द्रव्य 'काल' है। यह अमूर्त, निष्क्रिय है। काल पदार्थों की अवस्था में परिवर्तन नहीं करता अपितु परिवर्तन स्वयं होते हैं। आकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही असंख्य 'कालाणु' हैं। यह व्यापक नहीं है। समय, पल, घंटा, मिनट आदि काल के व्यवहार हैं। एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से जो दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसे 'समय' कहते हैं।

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलप्रति के "**जीव के गुण हैं**" के स्थान पर "**गुण हैं**" पाठ-संशोधन उपयुक्त है, क्योंकि जैनों द्वारा कथित धर्माधर्म जड़ पदार्थों में भी होते हैं।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्धन**—यहां मुद्रणप्रति, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**मिथ्या पक्षपात की बात है**" पाठ बढ़ाया है, जो अनुचित है। यहां पक्षपात का कोई भाव ही नहीं है जिससे इस शब्द का प्रयोग संगत माना जाये। मुद्रणलिपिकर की आदत है कि बिना विचारे कोई भी शब्द प्रयुक्त कर देता है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**बौद्ध और**" पदों का प्रयोग अनुपयुक्त है, क्योंकि '**स्याद्वाद**' और '**सप्तभंगी न्याय**' के सिद्धान्त को केवल जैन मानते हैं, बौद्ध नहीं। अतः यहां केवल "**जैनी लोग**" प्रयोग ही संगत और युक्तियुक्त है। **पं० भगवद्दत्त जी** को छोड़कर सभी सं० में संशोधित है। उदयपुर सं० ने अशुद्ध पाठ अपनाया है।

४. **जैनियों का सप्तभंगी और स्याद्वाद**—जैनी लोग प्रत्येक वस्तु की स्थिति को अनिश्चित और परिस्थितिवश परिवर्तनीय मानते हैं। वे उसकी सिद्धि '**कथन के सात प्रकार**' अर्थात् "**सप्तभंगी न्याय**" से और "**स्यात्-वाद**" की शैली में करते हैं।

जैन मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्परविरोधी और अनेक गुण-धर्मों का संघात है। वह सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य भी है। उसका ज्ञान ऐकान्तिक दृष्टि या विचार से नहीं हो सकता। उसके लिए अनैकान्तिक दृष्टि चाहिए। वस्तु में अनेक=नाना, अन्त=धर्म होने का विचार 'अनेकान्तवाद' है। अनेकान्तात्मक वस्तु को जानने की भाषा शैली का नाम 'स्याद्वाद' है। '**स्याद्वाद**' का अर्थ है—स्यात्=किसी दृष्टिविशेष से, वाद=मान्यता प्रतिपादन करना, अर्थात् विभिन्न दृष्टियों से किसी वस्तु का कथन करना। इस प्रकार का कथन अपने कथन को प्रधान रूप से प्रस्तुत करते हुए भी दूसरे विचार का निषेध नहीं करता। 'स्याद्वाद' 'शायदवाद' नहीं है, ऐसा जैन-विद्वानों का कथन है।

से पृथक् हो गया।

[**चौथा भंग**] '**घटोऽघटः**' यह **भंग** कहाता है। जैसे '**अघटः पटः**' दूसरे पट के अभाव की अपेक्षा अपने में होने से घट 'अघट' कहाता है। युगपत् उसकी दो संज्ञायें[१] अर्थात् घट और अघट भी है।

पाँचवाँ भंग यह है कि जो घट को घट कहना योग्य अर्थात् घट को[२] पट कहना अयोग्य है, उसमें घटपन वक्तव्य है और पटपन अवक्तव्य है।

छठा[३] भंग यह है कि जो घट नहीं है, वह कहने योग्य भी नहीं और जो है, वह कहने के योग्य भी है।

और **सातवाँ भंग** यह है कि जो कहने को इष्ट है परन्तु वह नहीं है और कहने के योग्य भी घट नहीं, यह सप्तम भङ्ग कहाता है। [प्रकरणरत्नाकर, नयचक्रसार, पृ० १८६-१९३]

इसी प्रकार—

स्यादस्ति जीवोऽयं प्रथमो भङ्गः ॥ १ ॥
स्यान्नास्ति जीवो द्वितीयो भङ्गः ॥ २ ॥
स्यादस्ति नास्तिरूपो जीवस्तृतीयो भङ्गः ॥ ३ ॥
स्यादवक्तव्यो जीवश्चतुर्थो भङ्गः ॥ ४ ॥[४]
स्यादस्ति च अवक्तव्यो जीवः पञ्चमो भङ्गः ॥ ५ ॥
स्यान्नास्ति च अवक्तव्यो जीवः षष्ठो भङ्गः ॥ ६ ॥

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दो संज्ञा**" अपप्रयोग है, यहां "**दो संज्ञायें**" प्रयोग अपेक्षित है।

२. **मुद्रणलिपिकर की मक्कारीलीला से पाठ त्रुटि**—मुद्रणलिपिकर इस छोटे-से वाक्य में दो बार "**घट को**" पद प्रयोग देखकर फिर बीच का यह सारा पाठ छोड़ गया—"**घट कहना योग्य अर्थात् घट को।**" क्या इतने छोटे से वाक्य में भी दृष्टिविचलन हो सकता है? हाँ, अगर भांग चढ़ा रखी हो तो हो सकता है, वैसे नहीं। देखिए, कैसे इन लोगों ने भाषान्तर कर सत्यार्थप्रकाश को बिगाड़ा है। यही अपूर्ण और त्रुटित पाठ द्वि० सं० में छप रहा है। सभी सं० में त्रुटित है। उदयपुर सं० में भी यह त्रुटित है। **पुष्टि**—यह पाठ होना चाहिए इसकी पुष्टि दूसरे वाक्यांश में पठित "**वक्तव्य**" और "**अवक्तव्य**" मूल पदों से हो जाती है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस पद की वर्तनी अव्यवस्थित है। कहीं "**छःठा**" तो कहीं "**छठा**" वर्तनी है। मानकता और एकरूपता की दृष्टि से "**छठा**" वर्तनी सर्वत्र ग्रहण की है।

४. **सप्तभंगी का अपक्रम**—सप्तभंगी का जो क्रम दोनों हस्त० और तीनों सं० में दिया हुआ है; उसके अनुसार यहां तीसरे और चौथे का क्रम परस्पर उलट गया है। जैनग्रन्थों के मूलपाठ के क्रमानुसार तीसरे के स्थान पर चौथा भंग होना चाहिए और चौथे के स्थान पर तीसरा भंग होना चाहिए। जबकि पूर्व पंक्तियों में घट-विषयक सप्तभंगी क्रम ठीक है। प्रतीत होता है कि मूल लिपिकर लिखते समय विचलित होकर इसको उलटा-पुलटा लिख गया। शीघ्रता में ऐसा कई बार हो जाता है। महर्षि गलत नहीं लिखवा सकते क्योंकि पहले वाला 'घट-सम्बन्धी' सप्तभंगी शुद्ध है, तो यहां गलत क्यों लिखाते? इस पाठ-क्रम को जैन-दर्शन के मूल पाठ के अनुसार ठीक कर दिया है। आदि-सम्पादक यदि मूल से मिलान कर लेते तो यह त्रुटि तभी ठीक हो जाती।

सम्पादकों की जटिल लीला—मस्तिष्क की लीला तो सभी की जटिल है परन्तु सम्पादकों की और भी जटिल है। कहीं अशुद्ध को शुद्ध कर देते हैं तो कहीं अशुद्ध मानते हुए भी उसको शुद्ध नहीं करते। जैन ग्रन्थों के मूलपाठ तथा '**सर्वदर्शनसंग्रह**', जिनको कि ग्रन्थकार ने अपना स्रोत माना है, उनके अनुसार स्पष्टतः यह क्रम अस्तव्यस्त है, पर **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** को छोड़कर वेस, जग, भद, युमी, विस आदि किसी ने शुद्ध नहीं किया। उदयपुर सं० के दश सम्पादकों ने भी अशुद्ध क्रम को रख लिया। क्यों रख लिया, इस असंगति का कोई उत्तर नहीं दिया। कहीं तो प्रमाण को उठाकर कई-कई पृष्ठ आगे-पीछे कर दिया (पृ० ४०५; पृ० १७५, १७६) और यहां एक वाक्य भी ऊपर-नीचे नहीं किया गया। उदयपुर सं० के सम्पादकों का यह कैसा परस्परविरोधी सम्पादन है? ऐसा ज्ञात होता है कि यह क्रमविरोध उनके ध्यान में ही नहीं आया।

स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यो जीव इति सप्तमो भङ्गः ॥ ७ ॥

[प्रकरणरत्नाकर भाग-१; सर्वदर्शनसंग्रह आर्हतदर्शन, पृ० १४६]

अर्थ—'है जीव' ऐसा कथन होवे तो जीव के विरोधी जड़ पदार्थों का जीव में अभावरूप भंग प्रथम कहाता है॥ १ ॥

दूसरा भंग यह है कि 'नहीं है जीव जड़ में' ऐसा कथन भी होता है, इससे यह दूसरा भंग कहाता है॥ २ ॥

'जब जीव शरीर धारण करता है तब प्रसिद्ध और जब शरीर से पृथक् होता है तब अप्रसिद्ध रहता है' ऐसा कथन होवे, उसको तृतीय भंग कहते हैं॥ ३ ॥

'जीव कहने के योग्य नहीं'[१] यह चतुर्थ भंग [है] ॥ ४ ॥

'जीव है परन्तु कहने के योग्य नहीं' जो ऐसा कथन है, उसको पञ्चम भंग कहते हैं॥ ५ ॥

'जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से कहने में नहीं आता, इसलिये चाक्षुष प्रत्यक्ष[२] नहीं है' जो ऐसा व्यवहार है, उसको छठा[३] भंग कहते हैं॥ ६ ॥

'एक काल में जीव का अनुमान से होना और दृश्यपन में न होना[४] और एक-सा न रहना किन्तु क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होना, 'अस्ति-नास्ति' कथन न होवे और 'नास्ति-अस्ति' कथन भी न होवे,' यह सातवाँ भंग कहाता[५] है॥ ७ ॥

इसी प्रकार नित्यत्व सप्तभंगी, अनित्यत्व सप्तभंगी तथा सामान्य धर्म, विशेष धर्म, गुण और पर्यायों की प्रत्येक वस्तु में सप्तभङ्गी होती है। वैसे द्रव्य, गुण, स्वभाव और पर्यायों के अनन्त होने से सप्तभङ्गी भी अनन्त होती है। ऐसा जैनियों का[६] '**स्याद्वाद**' और '**सप्तभंगी न्याय**' कहाता है।

समीक्षक—यह कथन एक अन्योन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रक्रिया[७] को छोड़कर कठिन जाल-रचना केवल अज्ञानियों के फसाने के लिए है[८]। देखो, जीव

---

१. **अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में और मूलहस्तलेख में यहां यह पाठ है—"**जीव है परन्तु कहने योग्य नहीं।**" यह अशुद्ध भाषा है। इसमें और पांचवें भंग में कोई अन्तर नहीं रह गया है। इस प्रकार दोनों भंगों की समान भाषा बन गई है। यहां उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है।

संशोधन से विचलित उदयपुर सं० के सम्पादक—पं० भगवद्दत्त जी के अशुद्ध पाठ को छोड़कर अन्य वेस, जग, युमी, विस, जस में यह पाठ संशोधित है। उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादक इस असंगति को सुलझाने के बजाय इसी में उलझकर रह गये। उनके संस्करण में अशुद्ध पाठ है। उन्होंने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि दोनों 'भंगों' की एक ही भाषा है अतः एक का अर्थ अशुद्ध है। इतना भी विचार क्यों नहीं किया विद्वानों ने, यह तो वही बता सकते हैं।

२-३. **अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में क्रमशः "**चक्षु-प्रत्यक्ष**" प्रयोग है, यहां "**चाक्षुष प्रत्यक्ष**" मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है। आगे मूलप्रति सं० में '**छठा**' वर्तनी है। द्वि०सं० में "**छःठा**" वर्तनी है। एकरूपता के लिए "**छठा**" ग्राह्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में मूलहस्तलेख के इस पाठ के स्थान पर "**अदृश्यपन में न होना**" पाठ बनाया है जो अशुद्ध है। '**अदृश्यपन**' तो '**न होने**' का ही नाम है, फिर अदृश्यपन में न होना क्या होगा? अतः यहां मूलहस्तलेख का महर्षिप्रोक्त पाठ ही ठीक एवं ग्राह्य है।

५. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**कहता है**" अपपाठ मुद्रित है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

६. **अपपाठ**—यहां तीनों सं० में "**बौद्धों तथा**" पाठ अनुपयुक्त है, क्योंकि '**सप्तभंगी**' तथा '**स्याद्वाद**' केवल जैनियों के सिद्धान्त हैं, बौद्ध इनको नहीं मानते। यह नाम पृ० ७५७/१२ में निर्दिष्ट जैन-प्रसंग-संकेतक कथन के भी विरुद्ध है।

७-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**प्रकरण**" के स्थान पर "**प्रक्रिया**" प्रयोग अभीष्ट है और "**होती है**" के

का अजीव में और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्तमान होने से साधर्म्य और चेतन तथा जड़ होने से वैधर्म्य अर्थात् जीव में चेतनत्व अस्ति=है और जड़त्व नास्ति=नहीं है। इसी प्रकार जड़ में जड़त्व है और चेतनत्व नहीं है। इससे गुण-कर्म-स्वभाव के समानधर्म, और विरुद्धधर्म के विचार से इनका सब सप्तभङ्गी और स्याद्वाद सहजता से समझ में आता है। फिर इतना प्रपञ्च बढ़ाना किस काम का है?

इसमें बौद्धों[१] और जैनों का एक मत है,[२] थोड़ा-सा ही पृथक् होने से भिन्नभाव भी हो जाता है। इसके आगे **केवल जैनमत** का वर्णन है[३]—

चिदचिद् द्वे[४] परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः॥ १॥
हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्॥ २॥

[सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन श्लोक २९, ३०]

अर्थ—जैन लोग 'चित्' और 'अचित्' अर्थात् चेतन और जड़ दो ही परतत्त्व मानते हैं। उन दोनों के विवेचन[५] का नाम 'विवेक' है। जो-जो ग्रहण के योग्य है, उस-उसका ग्रहण और जो-जो त्याग करने योग्य है, उस-उसका त्याग करनेवाले को 'विवेकी' कहते हैं॥ १॥

कर्त्ता=जीवात्मा में रहनेवाले राग आदि दोष हेय=त्याज्य हैं, क्योंकि उनका कार्य=परिणाम 'अविवेक' है अर्थात् राग आदि के कारण चित्-अचित्, अच्छे-बुरे का भेद नष्ट हो जाता है। जिसका एकमात्र लक्षण 'उपयोग' (=चेतना) है उस परमज्योति (=जीव या चित्) नामक तत्त्व को ग्रहण करना चाहिये॥ २॥[६]

स्थान पर "**है**" क्रिया उपयुक्त प्रयोग है। आगे इसी प्रकार की वर्तमानकालिक क्रियाएं हैं।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**बौद्धों**" बहुवचनात्मक प्रयोग अपेक्षित है।

२. **कथित 'अनपेक्षित' वाक्य का सम्बन्ध**—यह वाक्य यहां असम्बन्धित प्रतीत होता है। इसी कारण **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** ने इसको "अनपेक्षित" कहके हटा दिया है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने भी ऐसी ही टिप्पणी दी है। मेरा स्पष्टीकरण यह है कि इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि पूर्वोक्त समस्त वर्णित सिद्धान्तों में या प्रकरण में जो कि पृ० ७४९ से बौद्ध और जैन विषयक आरम्भ किया था, दोनों का कहीं एक मत है, कहीं थोड़ा-सा भिन्नभाव है। देखिए, बौद्ध भी चार द्रव्य, चेतन-अचेतन दो तत्त्व मानते हैं। विवेक, त्याज्य राग-द्वेष, ईश्वर का अस्तित्व न होना, इन बातों को जैनों के समान बौद्ध भी मानते हैं। अगले वाक्य के "**केवल जैनमत**" प्रयोगों से भी यह संकेत मिलता है कि यहां तक का प्रकरण मिश्रित है।

३. **मूलप्रति सं० में पाठग्रहण**—मूल हस्तलेख में "**इसके आगे केवल जैनमत का वर्णन है**" (पृ० ७५७) से लेकर "**बौद्ध और जैन पर्यायवाची हैं**" तक पृ० ७६५, पंक्ति ८ तक का पाठ नहीं है। इसको मुद्रणप्रति में बढ़ाया गया है। मूलप्रति सं० में मुद्रणप्रति से ही ग्रहण किया गया है। यह किसी अन्य लेखक से संकलित कराया गया है और भिन्न काल में लिखा गया है। यही कारण है कि एक बार जैनमत-समीक्षा के आरम्भ में यह आरम्भ सूचक वाक्य आ चुका है—"**यहां से आगे जैनमत का वर्णन है।**" (पृ० ७५७) यहं फिर वैसा ही आरम्भ वाक्य किसी अन्य लेखक के लेख के कारण है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-उद्धरण पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने अशुद्ध पाठ लिखा है—"**चिद चिद्वे**"। यही द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी सं० में संशोधित कर लिया है।

५. **अपपाठ**—मुद्रणहस्त० में "**दोनों का विवेचन**" अपपाठ है। द्विप्र० में यही अशुद्ध पाठ है। अन्य सं० में संशोधित है।

६. **अशुद्ध अर्थ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में इस श्लोक का किसी संकलनकर्त्ता द्वारा किया गया अर्थ अशुद्ध है। इस सं० में उसको

अर्थात् जीव के विना दूसरे चेतनतत्त्व ईश्वर को नहीं मानते। 'कोई भी अनादि सिद्ध ईश्वर नहीं', ऐसा बौद्ध-जैन[१] लोग मानते हैं।

इसमें राजा शिवप्रसाद जी '**इतिहासतिमिरनाशक**' ग्रन्थ में लिखते हैं कि[२] ''इनके दो नाम हैं, एक जैन और दूसरा बौद्ध। ये पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु बौद्धों में वाममार्गी मद्यमांसाहारी बौद्ध हैं, उनके साथ जैनियों का विरोध है।[३] परन्तु जो महावीर और गौतम गणधर हैं, उनका नाम बौद्धों ने बुद्ध रक्खा है और जैनियों ने गणधर और जिनवर।'' इसमें जिनकी परम्परा जैनमत है, उन राजा शिवप्रसादजी ने अपने '**इतिहासतिमिरनाशक**' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड [मैडिकल हॉल, बनारस द्वारा मुद्रित प्रथम संस्करण सन् १८७३, पृष्ठ १०९] में लिखा है कि ''स्वामी शंकराचार्य से पहले जिनको हुए **कुल हजार वर्ष के लगभग** गुजरे हैं सारे भारतवर्ष में बौद्ध अथवा जैनधर्म फैला हुआ था।'' इस पर नोट है—''.....बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है, जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय तक वेदविरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा और जिसको 'अशोक' और 'सम्प्रति' महाराज ने माना, उससे जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते।.... जिन, जिससे '**जैन**' निकला और बुद्ध जिससे '**बौद्ध**' निकला, दोनों पर्याय शब्द हैं। कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों मानते हैं। वरन् '**दीपवंश**' इत्यादि पुराने बौद्ध ग्रन्थों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध को अक्सर महावीर के ही नाम से लिखा है। पस[४] उसके समय में एक ही उनका मत रहा होगा।... हमने जो जैन न लिखकर गौतम के मत वालों को बौद्ध लिखा, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि उनको दूसरे देशवालों ने बौद्ध के ही नाम से लिखा है...।'' ऐसा ही '**अमरकोश**' में भी लिखा है[५]—

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥ १॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः॥ २॥

'**जैन-दर्शन**' के मूल पाठ के अनुसार शुद्ध कर दिया है। अशुद्ध अर्थ यह छप रहा है—''जगत् का कर्त्ता और रागादि तथा ईश्वर ने जगत् किया है, इस विवेकी मत का त्याग और योग से लक्षित परमज्योतिस्वरूप जो जीव है उसका ग्रहण करना उत्तम है।'' प्रतीत होता है कि यह अर्थ किसी बौद्ध सिद्धान्त का संकलन करनेवाले अल्पसंस्कृतज्ञ लेखक का किया हुआ है।

अशुद्ध अर्थ की अन्धपरम्परा—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अशुद्ध अर्थ सभी सं० में यथावत् है। पता नहीं, वेस, जग, भद, विस, युमी, जस आदि सम्पादकों और उदयपुर संस्करण के कथित दश सम्पादकों ने इसको कैसे शुद्ध मान लिया और यथावत् अशुद्ध पाठ ही रख दिया? ऐसे अशुद्ध अर्थों को क्या कोई विद्वान् स्वीकार कर लेगा, चाहे उनको पत्थर पर खोद डालो? और क्या इससे ग्रन्थकार का गौरव बढ़ेगा? सम्पादकजन? कुछ तो अपने सम्पादन का दुष्परिणाम सोचा होता?

१. **बौद्ध-जैन**—अग्रिम प्रसंग से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार इनका नास्तिक होने के कारण एक साथ उल्लेख कर रहे हैं।

२. **ऋषिहस्तलेख**—''**ऐसा बौद्ध.....लिखते हैं कि**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३. **त्रुटित क्रिया**—मुद्रणह०, द्विप्र० द्वि०सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है। मूलह०, मूलसं० में है। उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

४. **पस**=पहले, अंततः, निष्कर्षतः, या इस प्रकार। यह फारसी भाषा का अव्यय है।

५. **इन श्लोकों का पूर्ण अर्थ**—'बुद्ध के ये १८ नाम हैं—सर्वज्ञ, सुगत, **बुद्ध,** धर्मराज, तथागत, समन्तभद्र, भगवान्, मारजित्, लोकजित्, **जिन,** षडभिज्ञ, दशबल, अद्वयवादिन्, विनायक, मुनीन्द्र, श्रीघन, शास्ता, मुनि।' अन्य नाम हैं—'शाक्यमुनि, शाक्यसिंह, सर्वार्थसिद्ध, शौद्धोदनिः, गौतम, अर्कबन्धु, मायादेवीसुत।' यहां 'बुद्ध' और 'जिन' पर्याय नाम हैं। इन्हीं से 'बौद्ध' और 'जैन' शब्द बने हैं।

स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धःशौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥ ३॥

अमरकोश, कां० १। वर्ग १। श्लोक ८ से १० तक॥

अब देखो! 'बुद्ध' 'जिन' और 'बौद्ध तथा जैन' एक के नाम हैं वा नहीं? क्या अमरसिंह भी 'बुद्ध' 'जिन' को एक लिखने की भूल [कर] गया है?

जो अविद्वान् जैन हैं, वे न तो अपना जानते और न दूसरे का, केवल हठमात्र से बड़ाया करते हैं; परन्तु जो जैनों में विद्वान् हैं, वे सब जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' पर्यायवाची हैं।

उन्हीं बौद्धों और जैनियों का नाममात्र भेद है, परन्तु जो मांसाहारी बौद्ध हैं, उनसे जैन भिन्न हैं। और चार्वाकों का मत लेके जैनमत प्रवृत्त हुआ है, और कुछ विरोध भी हैं। अर्थात् जैसे चार्वाक और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते, और चार्वाक जगत् को अनादिकाल से स्वभाव से सिद्ध तथा प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं, जैनी लोग जीव को अनादि और [जगत् को बौद्धों के] क्षणिकवाद से विरुद्ध मानते हैं। जीव कर्म का कर्त्ता, स्वयं फलभोक्ता है। फलप्रदाता और जगत् का कर्त्ता कोई नहीं। कर्मक्षय से मुक्ति [और] दया, क्षमा को धर्म मानते हैं;[१] और अपने तीर्थंकरों को ही केवली=मुक्तिप्राप्त और परमेश्वर मानते हैं, अनादि परमेश्वर कोई नहीं। सर्वज्ञ, जितराग, अर्हन्, केवली, तीर्थकृत, जिन ये छः नास्तिकों के देवताओं के नाम हैं।[२]

आदिदेव[३] का स्वरूप हेमचन्द्र सूरि ने '**आप्तनिश्चयालङ्कार**' ग्रन्थ में लिखा है—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥ १॥

[सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन श्लोक ५]

तथा चोक्तं तौतातितैः[४]—

[५]सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥ २॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठ त्रुटित**—मूलहस्तलेख में "**उन्हीं बौद्धों और जैनियों**"....."**धर्म मानते हैं।**" अनुच्छेद है किन्तु मुद्रणप्रति में इस पाठ को ग्रहण नहीं किया है। उसी के कारण प्रचलित द्वि० सं० में यह पाठ नहीं मिलता। यह तुलनात्मक वर्णन होने से ग्राह्य है। शायद, यह लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रहा है और वह भी दो पृष्ठ एक साथ पलटने से रह गया ज्ञात होता है। मूलहस्त० के छठे पृष्ठ पर इतना ही पाठ है।

२. **शोधक द्वारा पाठ परिवर्तन**—यह वाक्य मूलहस्तलेख में नहीं है। इसको किसी शोधक ने मुद्रणप्रति में लिखा है। यह ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां "**अनादि देव**" पाठ है। मुद्रणप्रति-द्वि०सं० में इसका संशोधन करके "**आदिदेव**" कर दिया है। इससे अभिप्राय 'तीर्थंकर' से है। **पुष्टि**—पृ० ७६९/७ में—"**तुम्हारा ईश्वर आदिमान् है।**"

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—मूलह०, मूलसं० में "**तथा चोक्तं तौतातितैः**" संस्कृत-पाठ है किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद नहीं है। अतः हिन्दी अर्थ में बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्विसं० में यहां केवल हिन्दी पाठ है।

५. **महाभ्रष्ट श्लोकार्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अग्रिम जैन-विषयक श्लोकों के श्लोक संकलनकर्त्ता द्वारा किये असंगत और विपरीत अर्थ हैं। '**सर्वदर्शनसंग्रह**' से उद्धृत हैं। उसके मूलपाठ के अनुसार यहां श्लोक संख्या २ से १० तक उद्धृत श्लोक

जैनमत के खण्डन के लिए हैं जो कुमारिल भट्ट के हैं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने किसी लेखक को इनका अर्थ-सहित संकलन करने का निर्देश दिया होगा। उसने इनका अर्थ मूर्खता से अथवा शरारत से महाभ्रष्ट और जैनपक्ष के मण्डन के रूप में कर दिया जबकि ये श्लोक प्रथम जैन-मत-स्थापना के श्लोक के खण्डन में हैं। शायद, ग्रन्थकार अतिव्यस्तता-वश इस अर्थ को नहीं देख पाये। ग्रन्थकार संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण अशुद्धियां नहीं कर सकते थे।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की टिप्पणी चिन्त्य—पं० मीमांसक जी ने टिप्पणी देकर (पृ० ६५६) यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है कि 'क्योंकि कुमारिल के अनुयायी भी किसी सर्वज्ञ ईश्वर को नहीं मानते, अतः तौतातितों के खण्डन में उक्त श्लोक हैं। जिसको जैनी भी नहीं मानते उसको तौतातित भी नहीं मानते, यह अभिप्राय मन में रखकर जैन प्रकरण में मीमांसकों का मत उद्धृत किया है।' मीमांसक जी जैसा विद्वान् प्रकरण और उससे सम्बद्ध-असम्बद्ध विषय को न समझता हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। फिर भी उन्होंने स्पष्ट समाधान करने के बजाय लीपापोती करने का प्रयास किया है। मूल ग्रन्थ के अनुसार ये श्लोक जैनपक्ष के खण्डन के हैं, यह कथन स्वयं **सर्वदर्शनसंग्रहकार** ने किया है। जैनमत की मान्यता की एक श्लोक में स्थापना करने के बाद तौतातितों के तर्कों से जैनमत का खण्डन किया है। उस खण्डन की भूमिका में '**सर्वदर्शनसंग्रह**' में स्पष्ट लिखा है—''**ननु न कश्चित् पुरुषविशेषः सर्वज्ञपदवेदनीयः प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्। तथा चोक्तं तौतातितैः**''='कोई पुरुषविशेष 'सर्वज्ञ' पद के द्वारा वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस सर्वज्ञ पुरुष अर्थात् अर्हत् की सर्वज्ञता को सिद्ध करनेवाले पांचों प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति) उसमें घटित नहीं होते, अर्थात् उनसे उसकी सिद्धि नहीं होती। इस तर्क के समर्थन में जैसा कि तौतातित ने कहा है।' इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी पं० जी ने उसका सही समाधान नहीं किया, अतः उनका मन्तव्य अग्राह्य है। पं० जी ने यह नहीं विचारा कि हम कब तक यों कबूतर की तरह आंखें बन्द करके बैठे रह सकते हैं? यथार्थ हमें पाठकों के समक्ष एक-न-एक दिन प्रस्तुत करना पड़ेगा ही, और उसको सुधारना भी पड़ेगा। इस कार्य को जितना शीघ्र कर लिया जाता उतना श्रेयस्कर था। पं० जी साहस करके इसका समाधान कर जाते तो हमें रूढ़िवादी अज्ञानियों से संघर्ष न करना पड़ता।

फिर वही बात दुःख के साथ कहनी पड़ रही है कि इन महाभ्रष्ट अर्थों को हमारे विद्वान् और आर्य पाठक सवा-सौ से अधिक वर्षों से स्वीकार किये हुए हैं। क्या इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि वे सम्पादक यह स्वीकार कर चुके हैं कि यह महात्रुटि महर्षि दयानन्द की है। भ्रष्टार्थ का दोष हम महर्षि के माथे पर स्वयं लगा रहे हैं जबकि यह त्रुटि किसी महामूर्ख अथवा शरारती लेखक-लिपिकर की है। क्या हम ऐसे ही ऋषिभक्त हैं कि हम ऋषि को इतना अयोग्य मान बैठे कि उन्हें संस्कृत भी नहीं आती थी? लौकिक और वैदिक संस्कृत के तो वे महापण्डित थे, वे ऐसी अशुद्धि नहीं कर सकते।

इस संस्करण में उन अर्थों को शुद्ध कर दिया है। मूलप्रति सं० में महाभ्रष्ट अर्थ इस प्रकार पाये जाते हैं—

जो सर्वज्ञ, अनादि ईश्वर होता, तो उसको हम लोग देखते नहीं हैं, इसलिये ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं और उसका एक देश वा चिह्न को भी हम लोग नहीं देखते हैं, जिससे अनुमान किया जाय॥ २॥

और सर्वज्ञ का बोध करानेवाला कोई आगम अर्थात् किसी शास्त्र का विधि भी नहीं है, इसलिये ईश्वर में शब्दप्रमाण भी नहीं। और उसमें अर्थवाद भी नहीं घटता, क्योंकि जो कोई वस्तु हो उसके गुण-दोष जानकर स्तुति वा निन्दा होवे, तो अर्थापत्ति भी ईश्वर को सिद्ध करे। इसलिये अर्थापत्ति से भी ईश्वर सिद्ध नहीं होता॥ ३॥

और न अन्यार्थप्रधान लिङ्गों से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसा कि रचना देखकर रचनावाले का अनुमान करते हैं। ईश्वर का अनुवाद भी कोई नहीं कर सकता, क्योंकि जो पूर्वकथित ईश्वर होता, तो उसका अनुवाद हो सकता॥ ४॥

और जो 'सर्वज्ञ', आदिमान् है, वह अनादि शास्त्र का वा जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता, जो कृत्रिम असत्य जगत् है, उससे अकृत्रिम सत्य ईश्वर सिद्ध क्योंकर हो सकता है॥ ५॥

जो कोई कहे कि उसी के वचनों से अन्य जीव लोग ईश्वर को जानते हैं तो 'ईश्वर के वचन से ईश्वर की सिद्धि और ईश्वर से वचन की' यह अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि सर्वज्ञोक्तवचन से वाक्य सत्य और उससे ईश्वर-अस्तित्व सिद्ध करना है, यह दोनों एक दूसरे की सिद्धि में अपेक्षा रखते हैं, उसके विना एक-दूसरे की सिद्धि नहीं होती॥ ६-७॥

जो मूलवर्जित असर्वज्ञप्रणीतवचन से सर्वज्ञ को जानते हैं, वे उसके वाक्योक्तधर्म को नहीं जानते॥ ८॥

जो हम इस समय किसी को सर्वज्ञ के तुल्य देखें तो उपमान से सर्वज्ञ को मान सकें और उपदेश भी बुद्ध अर्थात् जानकार का धर्माधर्म लक्षणस्वरूप हो सकता है। अन्यथा अर्थात् बुद्धि के विना सर्वज्ञ नहीं हो सकता जो सर्वज्ञ हमको उपदेष्टा प्रत्यक्ष न हो तो हम धर्माधर्म नहीं जान सकें, इसलिये सर्वज्ञ तीर्थंकरों का वचन मानना 'अनादि ईश्वर कोई नहीं है'॥ ९-१०॥

द्वितीय सं० में महाभ्रष्ट अर्थ—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में प्रथम सात श्लोक ग्रहण किये हैं, तीन छोड़ दिये है। उनका भ्रष्ट अर्थ इस प्रकार है—''जिसलिये हम इस समय परमेश्वर को नहीं देखते इसलिये कोई सर्वज्ञ अनादि परमेश्वर प्रत्यक्ष नहीं। जब ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो अनुमान भी नहीं घट सकता क्योंकि एक देश प्रत्यक्ष के विना अनुमान नहीं हो सकता॥ २॥

जब प्रत्यक्ष, अनुमान नहीं तो आगम अर्थात् नित्य अनादि सर्वज्ञ परमात्मा का बोधक शब्द प्रमाण भी नहीं हो सकता। जब तीनों प्रमाण नहीं हों तो अर्थवाद अर्थात् स्तुति, निन्दा, परकृति अर्थात् पराये चरित्र का वर्णन और पुराकल्प अर्थात् इतिहास का तात्पर्य भी नहीं घट सकता॥ ३॥ और अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुव्रीहि समास के तुल्य परोक्ष परमात्मा की सिद्धि का विधान भी नहीं हो सकता। पुनः ईश्वर के उपदेष्टाओं से सुने विना अनुवाद भी कैसे हो सकता है?॥ ४॥

बीच में सर्वज्ञ हुआ अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि किए हुए असत्य वचन से उसका प्रतिपादन किस प्रकार से हो सके?॥ ५॥ और जो परमेश्वर ही के वचन से परमेश्वर सिद्ध होता है तो अनादि ईश्वर से अनादि शास्त्र की सिद्धि; अनादि शास्त्र से अनादि ईश्वर की सिद्धि; अन्योऽन्याश्रय दोष आता है॥ ६॥ क्योंकि सर्वज्ञ के कथन से वह वेदवाक्य सत्य और उसी वेदवचन से ईश्वर की सिद्धि करते ही यह कैसे सिद्ध हो सकता है? उस शास्त्र और परमेश्वर की सिद्धि के लिये तीसरा कोई प्रमाण चाहिये। जो ऐसा मानोगे तो अनवस्था दोष आवेगा॥ ७॥''

सम्पादक विद्वानों और पाठकों से कटु प्रश्न—सवा-सौ वर्षों से सत्यार्थप्रकाश में यह भ्रष्ट प्रसंग विद्यमान है। आजतक किसी विद्वदभिमानी सम्पादक ने इसको न तो निकाला और न शुद्ध किया। वितण्डा और विरोध करने वाले लोगों ने व्यर्थ का खूब वितण्डा किया है किन्तु इस भ्रष्टता को मिटाने की बात किसी ने नहीं उठाई। इसके दो अर्थ हैं—एक, इस प्रकरण को न किसी विद्वान् ने पढ़ा और समझा और न किसी पाठक ने; बस पढ़ने का आडम्बर-भर किया है। २. किसी ने समझा है तो उसने इस महाभ्रष्ट प्रसंग को ठीक करने का यत्न नहीं किया। उदयपुर सं० के कथित दश विद्वान् भी कथित 'मानक' संस्करण का सम्पादन करके 'सम्पादक' बन गये किन्तु इस महा-विसंगति को छुआ भी नहीं। उनके संस्करण में यह विसंगति विद्यमान है कि खण्डनात्मक श्लोक भी जैनपक्ष के स्थापना पक्ष के रूप में व्याख्यात हैं और उनका भ्रष्ट अर्थ है। ये कैसा सम्पादन किया कि न तो अर्थ शुद्ध है, न प्रकरण शुद्ध है? कब तक कबूतर की तरह आंख बंद किये रखेंगे?

उदयपुर सं० की ओर से अशुद्ध एवं हास्यास्पद उत्तर—उदयपुर सं० के लेखकों ने हठपूर्ण रवैया अपनाकर कैसे स्वयं को हास्यास्पद बनाया है, इसका एक उदाहरण इस स्थल का दिया गया उनका उत्तर है। मैंने लिखा था कि 'किसी संकलनकर्त्ता लेखक ने इन श्लोकों को भ्रान्ति से जैनपक्ष का समझकर जैनमत-खण्डन परक अशुद्ध अर्थ कर दिया है। एक-न-एक दिन इसका संशोधन करना ही पड़ेगा, अतः इस कार्य को जितना शीघ्र किया जाये उतना अच्छा है। यही 'सत्यार्थप्रकाश' और ऋषि के हित में है, जरा दूरदर्शी होकर विचार कीजिए।'

उदयपुर सं० के चार लेखकों में से **प्रथम** और **द्वितीय** लेखक ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया है। **तीसरे लेखक** ने पाठ तालिका प्रदर्शित करके लिखा है कि 'बौद्धों की मान्यताएं बदलती रही हैं अतः २१वीं शताब्दी में सत्यार्थप्रकाश को लाने हेतु हड़बड़ी व पूर्वाग्रह से युक्त हो कार्य करना उपयुक्त नहीं।' लेखक महोदय! भाषा के सुस्पष्ट अर्थ का काल से क्या सम्बन्ध है? श्लोकों की भाषा जो अर्थ आज दे रही है वही १८८२-८३ में दे रही थी और वही २०८३-८३ में देगी। यदि आपको यहां संदेह है तो 'सत्यार्थप्रकाश' तथा 'ऋषि' की छवि की रक्षा के लिए खुलकर उसको स्वीकार कीजिए और उस अशुद्धि को दूर करने के लिए दृढ़ता से इस पक्ष को प्रस्तुत कीजिए। स्पष्ट-सिद्ध अशुद्धि पर कब तक लीपापोती करते रहेंगे? पूर्वाग्रह से आपकी क्षणिक मनस्तुष्टि तो हो सकती है किन्तु हित किसी का सिद्ध नहीं होगा। इसमें २१वीं शती का कोई लेना-देना ही नहीं है।

चौथे मिथ्या दम्भी लेखक ने, जिसने हम जैसों को 'भाषा न समझने वाला, दर्शनों को न समझने वाला, प्रसंग को न समझने वाला' आदि न जाने क्या-क्या लिखकर अपने अहंकार की तुष्टि की है और स्वयं को भाषाविद्, दर्शनविद् तथा प्रकरणविद् प्रदर्शित करके 'अपने मुंह मियां मिट्ठू' बना है, देखिए, उसे यहां भाषा ही समझ में नहीं आई। इसलिए उससे कोई उत्तर ही नहीं बना। इधर-उधर की उलटी-सीधी बातें लिखकर सामान्य पाठकों के समक्ष यह प्रदर्शन कर दिया कि 'मैंने उत्तर दिया है।' पाठकगण अब इसके भाषाज्ञान पर गौर करें। मैंने लिखा था—''जैनियों के खण्डन विषयक 'तौतातित उक्त' श्लोकों को पूर्वपक्ष अर्थात् मण्डन में रखकर कब तक कबूतर की तरह आंखें बंद किये रहेंगे?'' इसका इस चौथे लेखक ने यह हास्यास्पद उत्तर दिया—''जैनियों के खण्डन विषयक तौतातिक श्लोक हैं। तो मित्र! फिर खण्डनीय पक्ष को प्रथम पक्ष बनाना ही होगा।'' इस लेखक को 'खण्डन पक्ष' और 'खण्डनीय पक्ष' के अर्थ का अन्तर ही समझ नहीं आया!!! यह मिथ्या अहंकार की इतनी गठरियां लिये हुए फिरता है कि चाहे उनसे एक ट्रक भर लो। मिथ्या अभिमान करने वाले का ऐसे ही सिर नीचा हुआ करता है क्योंकि वह अभिमान के प्रवाह में उचित-अनुचित के भेद और लक्ष्य को ही भूल जाता है। जिस संस्करण के ऐसे-ऐसे अज्ञानी सम्पादक-मार्गदर्शक हों, उस संस्करण की शुद्धता की क्या आशा की जा सकती है, पाठकगण स्वयं अनुमान लगा लें।

ऐसे अशुद्ध, अज्ञानपूर्ण और सारहीन उत्तर वाले लेखों को प्रकाशित और वितरित करने में 'सत्यार्थप्रकाश न्यास उदयपुर' गर्व एवं गौरव अनुभव कर रहा है। वह भी इन लेखकों के समान खुशफहमी का शिकार है। जनता के धन को भ्रामक और अशुद्ध व्याख्याओं के प्रचार में विनष्ट किया जा रहा है। यह ऋषि का अपमान है और जनता के धन का दुरुपयोग है। ऋषि के हित में उसको व्यय करते तो उसका सदुपयोग होता।

न चाऽऽगमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते॥ ३॥
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवादितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः॥ ४॥
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते?॥ ५॥
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योऽन्याश्रययोस्तयोः॥ ६॥
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते॥ ७॥
[१]असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तस्तद्वाक्योक्तं न जानते॥ ८॥
सर्वज्ञसदृशं किञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्॥ ९॥
उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं[२] यदि नाभवत्॥ १०॥

[सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन श्लोक ६-१४]

अर्थ—जो रागादि दोषों को जीतनेहारा, सर्वज्ञ=सबका ज्ञाता, तीन लोकों में पूजित, यथार्थवादी=पदार्थों का यथावत् वक्ता '**अर्हन्देव**' है, वही परमेश्वर है॥ १॥

[**तौतातितों द्वारा खण्डन**]—[जैनियों की इस मान्यता का खण्डन तौतातित=कुमारिल भट्ट के अनुयायियों ने इस प्रकार किया है—]

जिस 'अर्हन् देव' को तुम सर्वज्ञ कह रहे हो, हमें तो वह '**प्रत्यक्ष प्रमाण**' से किसी भी प्रकार से सर्वज्ञ दिखलाई नहीं पड़ता, और न उसका कोई एक भाग ही दिखाई पड़ता है जो चिह्न बनकर '**अनुमान प्रमाण**' से उसको सर्वज्ञ मानने में सहायक हो। अतः तुम्हारे 'अर्हन्-देव' के पक्ष में '**प्रत्यक्ष**' और '**अनुमान**' प्रमाण नहीं घटते॥ २॥

वैदिक शास्त्रों का कोई विधान भी ऐसा उपलब्ध नहीं है जो '**शब्दप्रमाण**' बनकर तुम्हारे '**अर्हन्देव**' को नित्य और सर्वज्ञ सिद्ध करे। न कोई अर्थवाद=प्रशंसात्मक वाक्य ही प्राप्त होता है जिसमें तुम्हारे

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा श्लोक निष्कासन अनुचित**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में ८,९,१० श्लोक और श्लोकार्थ निष्कासित हैं। जिस लेखक ने इन श्लोकों का महाभ्रष्ट अर्थ किया है उसी ने इनको हटाया होगा, क्योंकि उसको इनका अर्थ तो आता नहीं था, फिर इनके महत्त्व को वह क्या समझता? इनका होना आवश्यक है, क्योंकि इनमें क्रमशः '**उपमान**' और '**अर्थापत्ति**' प्रमाणों के आधार पर प्रथम श्लोक में वर्णित जैनियों के 'अर्हन् देव' की सर्वज्ञता का खण्डन है। इनके बिना प्रसंग अपूर्ण है।

२. **अप-उद्धरण पाठ**—मूलप्रति सं० में यहां ''**सर्वज्ञं**'' अपप्रयोग है, ''**सार्वज्ञ्यं**'' शुद्ध है। सभी द्वि०सं० में यह श्लोक नहीं है।

'अर्हन्देव' की की प्रशंसा की हुई हो। अत: '**शब्दप्रमाण**' के आधार पर भी 'अर्हन्देव' 'ईश्वर' सिद्ध नहीं होता॥ ३॥

अन्य तात्पर्यवाले अर्थवाद-वाक्यों से भी तुम्हारे परमेश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती। पहले के किसी प्रामाणिक विद्वान् ने भी उसको 'सर्वज्ञ' आदि नहीं कहा जिससे उसके कहे कथनों का अनुवाद=पुन:कथन किया जा सके॥ ४॥

तुम्हारा कथित ईश्वर अनादि माने गये वेदों का वर्ण्यविषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद अनादि हैं और तुम्हारा ईश्वर आदिमान् है। अनादि में सादि विषय का वर्णन संभव नहीं है। यदि वेद को सादि ग्रन्थ मान लें तो वह कृत्रिम=मनुष्यकृत या मिथ्याग्रन्थ हो जायेगा और वह असत्य बातों का प्रतिपादक कहलायेगा, तो भी कृत्रिम और असत्य बातों के द्वारा तुम्हारे 'सर्वज्ञ' ईश्वर का प्रतिपादन कैसे हो सकता है?। इस प्रकार भी तुम्हारा '**अर्हन्देव**' 'सर्वज्ञ ईश्वर' सिद्ध नहीं होगा॥ ५॥

यदि तुम्हारे 'अर्हन्' के ही वचन-प्रमाण से उसको सर्वज्ञ मान लें, तो ऐसे लोग मूर्ख होते हैं जो विना प्रमाण के किसी की बात को स्वीकार कर लें। उन पर आश्रित वचन की सिद्धि=प्रामाणिकता हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह वचन अन्योन्याश्रय दोषयुक्त है अर्थात् वही कहने वाला है, वही स्वयं को सर्वज्ञ बता रहा है। जब सर्वज्ञ ही सिद्ध नहीं हो रहा तो उसका वचन कैसे सिद्ध होगा?॥ ६॥

यदि आप यह कहें कि वह '**अर्हन्देव**' सर्वज्ञ है और उस सर्वज्ञ के द्वारा कहा वचन स्वत: सत्य है और इसी से उस सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, तो जब मूल पक्ष '**सर्वज्ञ होना**' ही सिद्ध नहीं हुआ तो उस पर आधारित अगली अन्य दोनों बातें कैसे सिद्ध होंगी? अर्थात् न तो वह यथार्थवादी है और न परमेश्वर है॥ ७॥

किसी असर्वज्ञ=साधारण जैन व्यक्ति अथवा लेखक के कहे हुए वचन के आधार पर यदि हम '**अर्हन्देव**' का अस्तित्व स्वीकार करें अथवा उसको सर्वज्ञ मान लें तो वह मूलत: ही अप्रामाणिक है, क्योंकि वह किसी असर्वज्ञ=अप्रामाणिक का कहा वचन है। ऐसे साधारण व्यक्ति के वचन के आधार पर सर्वज्ञ '**अर्हन्**' को जानने की इच्छा जो लोग करते हैं वे अपनी ही कल्पनाओं से क्यों नहीं जान लेते, क्योंकि उन दोनों के वचन एक जैसे अप्रामाणिक हैं॥ ८॥

यहां बताये गये सर्वज्ञ '**अर्हन्देव**' के समान यदि हम संसार में किसी अन्य को सर्वज्ञ देख लें, तो '**उपमान प्रमाण**' के द्वारा भी उनको जाना जा सकता है किन्तु '**सर्वज्ञ**' अन्य कोई संसार में नहीं है, अत: '**उपमान प्रमाण**' भी जैनियों के ईश्वर पर नहीं घटता॥ ९॥

बुद्ध अर्थात् जिन का उपदेश, जो धर्म और अधर्म का ज्ञान करानेवाला है, वह किसी अन्य उपाय से अर्थात् '**अर्थापत्ति**' से भी प्रामाणिक नहीं सिद्ध हो सकता, जब तक उन्हें '**सर्वज्ञ**' नहीं मान लेते। और सर्वज्ञ हैं नहीं, अत: उनका उपदेश अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है॥ १०॥

[जैनसिद्धान्तों का] खण्डन [परक]—उत्तर—यह सब प्रपञ्च की बात है; क्योंकि जो प्रथम रागादि दोषयुक्त है, वह सदा के लिये कभी नहीं छूट सकता, क्योंकि जो नैमित्तिक दोष हैं तो फिर भी निमित्त होने से हो जायेंगे और जो स्वाभाविक हैं, तो कभी न छूटेंगे। जो देशकाल से परिच्छिन्न वस्तु

होता है, वह एकदेशी, और जो एकदेशी होता है, वह सर्वज्ञ नहीं; क्योंकि जो वस्तु अल्प है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी अल्प होते हैं, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, किन्तु जो सर्वव्यापक अनादि परमात्मा है, वही सनातन ईश्वर है॥

क्या जो वस्तु तुमको प्रत्यक्ष न हो, वह नहीं होता और जो प्रत्यक्ष है वही होता है, ऐसा नियम है? तुम प्रत्यक्ष छः प्रकार का मानते हो। एक श्रावण, दूसरा त्वाच, तीसरा चाक्षुष, चौथा रासन, पाँचवाँ घ्राण और छठा मानस। **जैसे पृथिवी के गन्धादि गुण, कठिनत्वादि स्वभाव को देख के पृथिवी प्रत्यक्ष होती है, वैसे ही परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और नियम, सृष्टि में रचना आदि गुण, कर्म और स्वभाव कार्यनियम देखकर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अनादि ईश्वर का प्रत्यक्ष करना चाहिये। और जब जीवात्मा किसी दुष्ट वा श्रेष्ठ काम का ध्यान करता है, उस समय वह तदाकार उसके अभिमुख होता है। उसी समय उसके भीतर से दूसरी प्रेरणा अर्थात् पाप में भय, शंका, लज्जा और पुण्य में निर्भय, उत्साह और प्रसन्नता की रहनेवाली बुद्धि होती है, वह ईश्वर की ओर से है।[१] वहां गुण-गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध है, इसलिये परमात्मा प्रत्यक्ष है।** जैसे किसी कृत्रिम पदार्थ को देखकर, उसमें रचनाविशेष लिंग को देखकर, अदृष्ट कर्त्ता को निश्चित जानना होता है। क्या यह ईश्वर में अनुमान का लिङ्ग नहीं [अतः ईश्वर को ही सर्वज्ञ मानना चाहिए, किसी पुरुषविशेष को नहीं]।

आगम अर्थात् आप्त के कहे का प्रमाण मानना चाहिये। तुम्हारे पुस्तकों में अनादि ईश्वर का निरूपण नहीं किया, सो भूल है। जो नित्य सर्वज्ञ न हो तो सादि ज्ञानयुक्त पुरुष का शरीर पालने के पदार्थ कहाँ से हो सकें? क्योंकि शरीर का आदि-अन्त होता है, इसका कर्त्ता जीव नहीं हो सकता। जो शरीरादि का कर्त्ता होता, तो शारीरिक क्रिया भी जानता कि इस आँख में कितनी नाड़ी आदि पदार्थों के संयोग-वियोग हैं, जैसे सांचे में किसी धातु को ढालते हैं, तादृश पात्र बन जाता है। अथवा बीज में जैसी रचना करता है, वैसा ही अंकुर, मूल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल उत्पन्न होता है, यह सामर्थ्य जीव वा जड़ का नहीं है, **क्योंकि जीव को जब शरीर प्राप्त होता है, तभी कुछ कर सकता [है] और ज्ञान का सामर्थ्य बढ़ा सकता है, अन्यथा नहीं।** तो जो अनादि ईश्वर जीव के शरीर वा बीज आदि का योग न करता, तो जगत् में कुछ भी न हो सकता। देखलो! कितना ही कोई विद्वान् वा योगी हो, जब सुषुप्ति को प्राप्त होते हैं, तब कुछ भी भान नहीं रहता।

दूसरा, जब दुःख प्राप्त होता है तब ज्ञान न्यून हो जाता है। जीव वा जड़ परमाणुओं से स्वतः कुछ भी रचनाविशेष नहीं हो सकती। और यथार्थवाद भी ईश्वर में यथावत् घटता है, क्योंकि जगत् में अनन्त विद्या के यथावत् रचित कार्यों को देखने से ईश्वर प्रशंसनीय होता है। जब अन्तर्यामी ईश्वर अपने गुण, कर्म और स्वभाव का प्रकाश जीवात्मा में करे, पुनः दूसरे के सामने परमेश्वर का अनुवाद करना भी सहज है। अन्योऽन्याश्रय दोष अनित्य पदार्थ में आता है, नित्य में नहीं; क्योंकि जो साधनसाध्य हो उसी में अनवस्था आती है, नित्य में नहीं। जैसे सूर्य और प्रदीप का प्रकाशक और प्रकाश्य सूर्य और दीप होता है, दूसरा नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर का वचन और परमेश्वर नित्य और

---

१. **अन्यत्र वर्णन**—यही कथन द्रष्टव्य है पृ० ३३२/८, ४५१/२, ४७७/२२, ७७०/९

स्वयं प्रकाश होने से अनवस्था नहीं आ सकती। वैसे उपमान से भी ईश्वर सिद्ध होता है; क्योंकि परमेश्वर के सदृश परमेश्वर है वा एकदेश अथवा एक गुण, कर्म, स्वभाव तुल्य, दूसरा आकाश, न्यायाधीश आदि होते हैं। उसकी उपमा से भी ईश्वर सिद्ध होता है। इसलिये जो तीर्थंकरों को परमेश्वर मानते हो तो उनके माता-पिता को उत्पन्न किसने किया था? जो कहो कि वे स्वभाव से हुये थे, तो अब भी स्वभाव से मनुष्य क्यों नहीं होते?॥

आस्तिक और नास्तिक का संवाद[१]

इसके आगे '**प्रकरणरत्नाकर**' दूसरे भाग से, जिसको बड़े-बड़े जैनियों ने अपनी सम्मति के साथ माना और मुम्बई में छपवाया है, जैनियों के ईश्वरखण्डन में आस्तिक-नास्तिक संवाद के प्रश्नोत्तर यहाँ लिखते हैं—

नास्तिक—ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता है, जो कुछ होता है वह कर्म से होता है।

आस्तिक—जो कर्म से होता है, तो कर्म किससे होता है? जो कहो जीव आदि से, तो उनके फल भोगना जीव की इच्छानुकूल होगा, परन्तु पाप के फल 'दुःख' को जीव अपनी इच्छा से नहीं भोगता, ईश्वर के भोगाने से भोगता है; जैसे, चोर सुख अपनी इच्छा से भोगता है और दुःख राजा की व्यवस्था से।

नास्तिक—ईश्वर अक्रिय है, क्योंकि जो कर्म करता[२] होता, तो कर्म का फल भी भोगना पड़ता[३]।

आस्तिक—ईश्वर अक्रिय नहीं, क्योंकि वह चेतन और सृष्टिकर्त्ता है, जैसे तुम्हारा कृत्रिम बनावट का ईश्वर, जैसे[४] कि तुमने तीर्थंकरों को जीव से ईश्वर बने हुये माना है, वैसे होनेवाले इस प्रकार के ईश्वर को कोई विद्वान् कदाचित् नहीं मान सकता; क्योंकि जो निमित्तों से वह ईश्वर बने तो अनित्य हो जाय। क्योंकि ईश्वर बनने से पहले जीव था, पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना, तो वह फिर भी जीव हो जायगा। क्योंकि वह अनादि काल से जीव था, अनन्त काल तक रहेगा, फिर बीच में ईश्वर बना, वह भी अन्त में पुनः जीव हो जायगा। इसलिये इस अनादि-सिद्ध ईश्वर को ही मानना योग्य है।

परमेश्वर पाप कभी नहीं करता। जैसे स्वाभाविक चेष्टा होती है, उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, इसलिये जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। जो स्वभाव से जगत् बनता है, तो जगत् के कारण का स्वभाव जड़त्व है, वह ज्ञानपूर्वक श्रेष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें यथायोग्य बनने का ज्ञान ही नहीं। जैसे, मिट्टी में घट और रूई में कपड़े बनने का स्वतःसामर्थ्य नहीं, दूसरे ज्ञानवाले के बनाने से घड़ा तथा वस्त्र बनता है।

नास्तिक—ईश्वर व्यापक नहीं है। जो व्यापक होता तो सब चेतन होता और [सबमें] बराबर

---

१. **आस्तिक-नास्तिक-संवाद**—यह विस्तृत संवाद प्रकरणरत्नाकर, भाग दो के पृष्ठ १७७-२११ में वर्णित है। महर्षि ने उसके कुछ प्रश्नोत्तरों का सार ग्रहण करके यहां दिया है। दूसरा ज्ञातव्य तथ्य यह है कि महर्षि ने इस प्रकरण में उनके 'नास्तिक' के स्थान पर 'आस्तिक' और 'आस्तिक' के स्थान पर 'नास्तिक' पद रखा है। वैदिक मतानुसार जो 'नास्तिक' है वह जैनमतानुसार 'आस्तिक' है। यहां 'नास्तिक' शीर्षक प्रश्न जैनियों के 'आस्तिक' के हैं, उत्तर महर्षि ने स्वयं दिये हैं।

२-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कर्त्ता**" अपप्रयोग है। यही उदयपुर सं० में है। वाक्यान्त की क्रिया "**भोगना**" के सम्बन्ध से यहां भी विशेषण नहीं क्रिया अभीष्ट है। द्विप्र० में "**भोगने पड़ता**" मुद्रणदोष प्रतीत होता है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसा**" के स्थान पर "**जैसे**" अपेक्षित है। आगे "**वैसे**" प्रयोग द्रष्टव्य है।

चेतनता क्यों नहीं? ब्राह्मणादि में उत्तमता, मध्यमता, निकृष्टता क्यों हुई? यदि सबमें ईश्वर एक-सा व्यापक है, तो छोटाई-बड़ाई क्यों हुई?

आस्तिक—व्याप्य और व्यापक एक नहीं, किन्तु दो होते हैं। जैसे आकाश सबमें व्यापक है और सब आकाश के सदृश नहीं होता वैसे परमेश्वर के चेतन होने से सब जड़वस्तु चेतन नहीं होता। जैसे आकाश सबमें बराबर है, पृथिवी आदि के अवयव बराबर नहीं, **वैसे परमेश्वर के बराबर कोई नहीं[१]। जैसे विद्वान्-अविद्वान्, धर्मात्मा-अधर्मात्मा बराबर नहीं होते, वैसे विद्यादि सद्गुण और सत्यभाषणादि कर्म तथा सुशीलतादि स्वभाव के अधिक-न्यून होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज बड़े-छोटे माने जाते हैं। वर्णों की व्याख्या जैसी चतुर्थ समुल्लास में लिख आये हैं, वहाँ देख लो।**

नास्तिक—ईश्वर ने जगत् का अधिपतित्व और जगत्रूप ऐश्वर्य किस कारण स्वीकार किया?

आस्तिक—ईश्वर ने कभी अधिपतित्व न छोड़ा था, न ग्रहण किया है, किन्तु अधिपतित्व और जगत्रूप ऐश्वर्य ईश्वर में ही है। जब कभी [कुछ] उससे अलग न हो सकता है, तो ग्रहण क्या करेगा? क्योंकि अप्राप्त का ग्रहण होता है। व्याप्य से व्यापक और व्यापक से व्याप्य पृथक् कभी नहीं हो सकता, इसलिये सदैव स्वामित्व और अनन्त ऐश्वर्य अनादि काल से ईश्वर में है। इसका ग्रहण और त्याग जीवों में घट सकता है, ईश्वर में नहीं।

नास्तिक—जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती है, तो माता-पिता का क्या काम? जब परमात्मा शाश्वत, अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप है, तो जगत् के प्रपञ्च और दुःखरूप में क्यों पड़ा? आनन्द को छोड़ दुःख को ग्रहण करना, ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता, फिर ईश्वर ने क्यों किया?

आस्तिक—ईश्वर की सृष्टि भिन्न और मानुषी सृष्टि भिन्न होती है, इसलिये माता-पिता की आवश्यकता है। जैसे परमात्मा अनादि प्रकृति, परमाणुरूप कारण से सृष्टि करता है, वैसे परमात्मा ने माता-पिता-रूप निमित्त कारण से उत्पत्ति का प्रबन्ध किया है। इसमें कोई दोष नहीं।

परमात्मा किसी प्रपञ्च और दुःख में नहीं गिरता, न अपने आनन्द को छोड़ता है; क्योंकि प्रपञ्च और दुःख में गिरना, जो एकदेशी हो उसका हो सकता है, सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड़ में भी स्वयं बनने का सामर्थ्य नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणु रूप कारण से सृष्टि करता[२] है वैसे माता-पिता-रूप निमित्तकारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध-नियम उसी ने किया है।

नास्तिक—ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् में अनेकरूप पदार्थों की सृष्टि, धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा?

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमाद से त्रुटित पाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणहस्त० में इस वाक्य को प्रतिलिपि करते समय छोड़ दिया। वही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा और आजतक सभी द्वि०सं० में छप रहा है। उदयपुर सं० ने परिवर्धित करके उचित कार्य किया है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**कर्त्ता**" अपप्रयोग है। यहां क्रिया अपेक्षित है। मूलसं० व उदयपुर सं० में संशोधित है।

आस्तिक—ईश्वर सदा मुक्त है। तुम्हारे तीर्थंकरों के सदृश बन्धपूर्वक मुक्ति का होना ईश्वर में नहीं। वह जगत् को बनाता, धरता,[१] पालन करता और प्रलय करता[२] हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता, क्योंकि बन्ध और मुक्त सापेक्ष हैं। जो बन्ध न हो तो मुक्ति नहीं और मुक्ति हो तो बन्ध नहीं। परमेश्वर में बन्ध-मोक्ष नहीं घट सकता, किन्तु वह सदा मुक्त है। और जो एकदेशी जीव हैं, वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं।[३] अनन्त, सर्वदेशी, सर्वव्यापक, ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में, जैसे कि तुम्हारे तीर्थंकर हैं, कभी नहीं पड़ता।[४]

नास्तिक—पी हुई भांग के नशे के समान जीव अपने-अपने कर्मों के फलों को प्राप्त होता है, इसमें ईश्वर का कुछ काम नहीं।

आस्तिक—विना राजा के डाकू, चोर आदि दुष्ट मनुष्य स्वयं फांसी नहीं चढ़ते और न कारागार में जाते हैं, किन्तु राजा उनके कर्मों का फल देता है। वैसे ईश्वर की न्याय-व्यवस्था के विना कर्मों का फल कोई भी नहीं भोगना चाहेगा, इसलिये न्यायाधीश 'ईश्वर' का होना आवश्यक है।

नास्तिक—जगत् में एक ईश्वर नहीं, किन्तु जितने मुक्त जीव हैं वे सब ईश्वररूप हैं।

आस्तिक—यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो, तो पुनः अवश्य बन्ध में पड़ेगा, जैसे कि तुम्हारे तीर्थंकर, और जो सदा मुक्त है वह कभी बन्ध में न गिरेगा। और जब बहुत से ईश्वर होंगे, तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते-भिड़ते फिरते हैं वैसे ईश्वर भी लड़ा-भिड़ा करेंगे।

नास्तिक—हे मूढ! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं, किन्तु जगत् स्वयंसिद्ध है।

आस्तिक—कर्त्ता के विना कोई कर्म और कर्म के विना कोई कार्य नहीं हो सकता, इसलिये ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। जो जगत् स्वयंसिद्ध होता तो तुम्हारे खेत के गेहूं स्वयं पिसान, रोटी बन, तुम्हारे पास आकर, मुख में घुसकर, पेट में चले जायें। [यदि ऐसा होता हो] तो विना ईश्वर के किये जगत् भी स्वयं बन जाय।

नास्तिक—ईश्वर विरक्त है वा मोही ? जो विरक्त है, तो जगत् के प्रपञ्च में क्यों पड़ा ? जो मोहित है तो जगत् बनाने का सामर्थ्य ही नहीं होगा।

आस्तिक—परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता, क्योंकि वह सर्वव्यापक, सर्वोत्तम होने से किसी से पृथक् वा किसी से राग नहीं कर सकता। ईश्वर से उत्तम वा उसको अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये किसी में मोह भी नहीं होता। वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है, ईश्वर में नहीं।

नास्तिक—जो जगत् का कर्त्ता, कर्मों के फलों का दाता ईश्वर को मानोगे, तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दुःखी हो जायगा।

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**धर्त्ता**", "**कर्त्ता**" अपप्रयोग हैं। यहां क्रियाप्रयोग अपेक्षित हैं। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध हैं।

३. **मुद्रणप्रति में अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**कर्त्ते हैं**" लिपिकरकृत अपप्रयोग हैं। अन्य सभी पाठों में संशोधित हैं।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**और जो.....नहीं पड़ता**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

आस्तिक—दुःख अज्ञान और अधर्माचरण से होता है। परमेश्वर में ये दोनों नहीं, इसलिये परमेश्वर प्रपञ्ची नहीं। प्रपंची-अप्रपंची जीव होते हैं, इत्यादि विचार से ईश्वर की सिद्धि होती है। जो कोई इसको नहीं मानता, वह मूढमति है। हां, तुम अपने अज्ञान से अपने और अपने तीर्थंकरों के समान परमेश्वर को भी समझते हो, सो तुम्हारी अविद्या की लीला है। **जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो, तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय ले लो। क्यों भ्रम में पड़े-पड़े ठोकरें खाते हो ?**

अब, जैनी लोग जीव को अनादि, अनन्त मानते हैं सो ठीक है, परन्तु जो-जो विरुद्ध है, उस-उस को दिखलाकर खण्डन किया जायेगा। छः द्रव्यों में एक **जीवद्रव्य** भी जैनी लोग मानते हैं अर्थात् जगत् में जीव और अजीव दो ही पदार्थ हैं, तीसरा नहीं। ऐसा उनके केवली आचार्य तीर्थंकर का वचन है।

उत्तर—अब विचारना चाहिये कि **जीव** अल्प[१] और अल्पज्ञ है। जगत् का कार्य और कारण जड़ हैं। जो तीसरा अनन्त शक्तियुक्त परमात्मा न हो तो जगत् के उत्पादन, धारण आदि कर्मों को कोई न कर सके।[२]

अब जैन लोग जगत् को जैसा मानते हैं, वैसा इनके सूत्रों के अनुसार दिखलाते और संक्षेपतः मूलार्थ के किये पश्चात् सत्य-झूठ की समीक्षा करके दिखलाते है—

मूल—सामि अणाई अणन्ते, चउगइ संसारघोरकान्तारे।
मोहाइ कम्मगुरुठिइ, विवागवसउ भमइ जीवो॥[३]

प्रकरणरत्नाकर, भाग दूसरा, सूत्र २॥

यह प्रकरणरत्नाकर[४] नामक ग्रन्थ के सम्यक्त्वप्रकाश प्रकरण में गौतम और महावीर का संवाद है।

इसका संक्षेप से उपयोगी यह अर्थ है कि यह संसार अनादि, अनन्त है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होता है अर्थात् किसी का बनाया जगत् नहीं। सो ही आस्तिक-नास्तिक के संवाद में [भी कहा है]—"हे मूढ! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं; न कभी बना और न कभी नाश होगा।"[५]

---

१. **अल्प जीव**=अल्पस्वरूप, अल्पसामर्थ्य और अल्पज्ञानयुक्त (द्र०, पृ० ३४८, ७९७ आदि)।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ-निष्कासन गलत**—यह प्रश्नोत्तर युग्म मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० से निकाला गया है। कारण अज्ञात है। उपर्युक्त प्रसंग की समीक्षा की दृष्टि से इसको ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि पहले यह सिद्ध करना प्रासंगिक है कि तीन तत्त्वों में से जीव और प्रकृति जगत् के कर्त्ता नहीं हो सकते। पाठ-निष्कासन कर्त्ता ने इस पाठ के महत्त्व तथा प्रसंग को नहीं समझा। देखिए, ऊपर के प्रकरण में प्रपंची-अप्रपंची जीव की चर्चा है। उसी के सम्बद्ध यह प्रश्नोत्तर है।

मूलसं० में अपक्रम—मूलसं० में बीच में जगत्-विषयक कारिका और उसका अर्थ होने से जीव-विषयक प्रश्नोत्तर क्रम टूटा हुआ है। इस संस्करण में ठीक कर दिया है।

३. **कारिका-अर्थ**—(सामि) हे स्वामी (अणाई अणन्ते) इस अनादि और अनन्त (चउगइ संसार घोर कान्तारे) चार गतियों वाले संसार रूपी घोर जंगल में (मोहाइ कम्मगुरुठिइ) मोह आदि कर्मों की स्थिति के अनुसार (विवाग वसउ जीवो भमइ) विपाक फल के वशीभूत हुआ जीव जन्म-मरण के चक्र में भटक रहा है॥ २॥

अप-उद्धरण पाठ—मुद्रणहस्त० और द्विप्र० में इस कारिका में ये अपपाठ हैं—"**च नुगइ**", "**वसनु भमइ**", "**जीवरो**"। अन्य सभी सं० में संशोधित कर लिये गये हैं।

४. **अप-नाम**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां "**रत्नसार भाग नामक**" अप नाम छपा है। मूलसं०, द्वि०सं० में संशोधित है। उदयपुर आदि सभी सं० में भी संशोधित है।

५. **द्रष्टव्य,** पृ० ७७३ पर नास्तिक का प्रश्न—"**हे मूढ़!.....स्वयंसिद्ध है।**"

जो संयोग से उत्पन्न होता है वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता। और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता। जगत् में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब संयोगज=उत्पत्ति-विनाशवाले देखे जाते हैं, पुनः जगत् उत्पन्न और विनाशवाला क्यों नहीं ? इसलिये तुम्हारे तीर्थंकरों को सम्यग्बोध नहीं था। जो उनको सम्यग्ज्ञान होता तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिखते ? जैसे तुम्हारे गुरु हैं, वैसे तुम शिष्य भी हो। **तुम्हारी बातें सुननेवाले को पदार्थविद्या का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।**

भला, जो प्रत्यक्ष संयुक्त पदार्थ दीखता है उसकी उत्पत्ति और विनाश क्योंकर नहीं मानते ? अर्थात् **इनके आचार्य वा जैनियों को भूगोल-खगोल विद्या भी नहीं आती थी और न अब यह विद्या इनमें है, नहीं तो निम्नलिखित ऐसी असंभव बातें क्योंकर मानते और कहते ?**[१]

अब, पृथिव्यादि भूत और भूगोलों को भी जैनी लोग जीवों के शरीर मानते हैं, क्योंकि काची[२] मिट्टी[३] सजीव है, क्षार मिट्टी[४] अजीव है इसलिये उसमें वनस्पति नहीं उगती[५]। वाह रे जैनी लोगो ! और धन्य हैं तुम्हारे केवली तीर्थंकर जिनको **पदार्थविद्या** में बहुत ही भ्रम था ! जो पृथिव्यादि किसी एक जीव का शरीर हो तो जैसे बड़ी-बड़ी तिमिंगल मच्छी जिधर चाहती, उधर जाती-आती है, वैसे पृथिवी आदि क्यों नहीं स्वेच्छित चाल चलते हैं ?

क्या मीठीली मिट्टी[६] में वनस्पति उगती और क्षार मिट्टी[७] में नहीं उगती[८] ? हाँ ! यह तो बात है कि मीठी मिट्टी[९] की वनस्पतियां आदि खारी मिट्टी[१०] में, खारी मिट्टी[११] के वृक्ष आदि मीठी मिट्टी[१२] में नहीं होते होंगे, किन्तु अपने-अपने ठिकाने सब होते हैं।[१३]

---

१. **उचित परिवर्धन**—यह वाक्य मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में बढ़ाया गया है। पूर्वापर पाठ की संगति जोड़ने के लिए यह उपयोगी है, अतः ग्राह्य है।

२. **काची मिट्टी**=उपजाऊ और जलीय मीठी मिट्टी।

३,४,६,७,९-१२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—यह अनुच्छेद मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में नहीं है। मुद्रणलिपिकर ने इसको हटाया है। मूलप्रति हस्तलेख-मूलप्रति सं० में यहां मिट्टी शब्द की अव्यवस्थित वर्तनी है। इस अनुच्छेद में आठ बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, सात बार "**मट्टी**" वर्तनी है और एक बार "**मिट्टी**" (सबसे प्रथम संख्यांक ३ पर) शुद्ध वर्तनी है। एक ही स्थान पर दो-दो वर्तनियां लिपिकर की अयोग्यता और भाषात्मक अव्यवस्था को सूचित करती हैं तथा अमानकता को उत्पन्न करती हैं। इस शब्द की एक वर्तनी "**मिट्टी**" ही ग्रन्थ में सर्वत्र स्वीकृत की गई है।

५,८ **अव्यवस्थित प्रयोग**—इन वाक्यों में संख्यांक ५ पर "**वनस्पति**" पद के लिए स्त्रीलिंग प्रयोग है तथा सं० ८ पर पुल्लिग प्रयोग है। भाषा की एकरूपता के लिए सं० ८ के वाक्य में भी स्त्रीलिंग प्रयोग कर दिया गया है। हिन्दी में यह स्त्रीलिंग है।

१३. **अस्थानीय पाठ**—यह अनुच्छेद यहां उचित स्थान पर रख दिया है। यह उपर्युक्त "**जो संयोग से उत्पन्न होता है....**" अनुच्छेद से पूर्व लिखित मिलता है और मूलप्रति सं० में वहीं प्रकाशित है। वहां यह अप्रासंगिक है और पूर्वापर प्रसंग जगत् अनादि-अनन्त 'सृष्टि-उत्पत्ति-कर्त्ता कौन' को भंग कर रहा है। यहपूर्व कारिका का उत्तर है। और इस अनुच्छेद में उत्पत्ति का प्रसंग नहीं है अपितु सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी असंभव कथन है। साथ ही इस कथन का प्रसंग पूर्व के असम्भव कथन से अगले प्रश्न "**जीव का आकार शरीर के सदृश...**" से जुड़ता है। अतः यही इसका उचित स्थान है।

मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ-निष्कासन—इस अनुच्छेद को मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में हटा दिया गया है। प्रतीत होता है कि यहां इसको असंगत जानकर शोधक ने हटाया गया है। हटाने वाले ने यह गम्भीर विचार नहीं किया कि इसकी संगति इसी समीक्षा के बाद है। यह जैनियों की असम्भव बातों का सटीक उदाहरण है, जो ग्रन्थकार की इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि जैनियों को पदार्थविद्या नहीं आती। मुद्रणह०, द्वि०सं० में किसी लेखक ने इसको हटाकर इसके स्थान पर 'काल की असम्भव व्याख्या' को असम्भव कथन के उदाहरण के रूप में रखा है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का उदाहरण यहां सटीक नहीं है, क्योंकि यहां सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग है। सृष्टि-परक उदाहरण ही यहां अपेक्षित है।

प्रश्न—जीव का आकार शरीर के सदृश होता है, जैसे घट में जल का आकार बनता है।

उत्तर—जो यह बात सत्य हो तो हाथी का जीव कीड़ी और कीड़ी का जीव हाथी में न समा सके। इसलिये यह बात झूठी है।[१] यह भी एक मूर्खता की बात है; क्योंकि जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है परन्तु उसकी शक्तियां शरीर में प्राण, बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं, उनसे सब शरीर का वर्तमान जानता है। अच्छे संग से अच्छा और बुरे संग से बुरा हो जाता है।[२]

जिनदत्त सूरि ने इस प्रकार कहा—

जिनो देवो गुरुः सम्यक् तत्त्वज्ञानोपदेशकः।
ज्ञानदर्शनचारित्र्याण्यपवर्गस्य वर्तनी[३]॥ १॥
स्याद्वादस्य प्रमाणे[४] द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च।
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नवतत्त्वानि सप्त वा॥ २॥
जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्त्रवः संवरोऽपि च।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याधुनोऽच्यते[५]॥ ३॥
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥ ४॥
[६]आस्त्रवः स्त्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः।
प्रवेशः कर्मणां बन्धो निर्जरस्तद्वियोजनम्॥ ५॥
अष्टकर्मक्षयान् मोक्षोऽथान्तर्भावश्च कैश्चन।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्त्रवे क्रियते पुनः॥ ६॥
सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसंगा जैनसाधवः॥ ७॥

---

१. **त्रुटित आवश्यक वाक्य**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह वाक्य त्रुटित है। यह इस कारण आवश्यक है कि इसमें प्रचलित संदर्भ को प्रसंगानुसार मिथ्या या असंभव घोषित किया है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठस्थान-परिवर्तन अनुचित**—उत्तरात्मक यह अनुच्छेद मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में यहां से हटाकर पृ० ४२६ (द्विप्र०) पर रखा है। यह स्थान-परिवर्तन नितान्त अनुचित है क्योंकि यहां तो इस कथन का प्रसंग पूर्वोक्त पृथिवीकाय आदि शरीरों से जुड़ा हुआ है किन्तु मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में जहां रखा है वहां इसका पूर्वापर में कोई प्रसंग नहीं है।

३. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**वर्तिनी**" अपप्रयोग है, "**वर्तनी**" शुद्ध व अभीष्ट है।

४. **भ्रष्ट उद्धरण पाठ**—मूलप्रति सं० में यहां भ्रष्टपाठ है "**स्याद् द्वावश्य**", "**स्याद्वादस्य**" पाठ शुद्ध है।

५. **त्रुटित श्लोक पंक्ति**—मूलह०, मूलप्रति सं० में तृतीय श्लोक की द्वितीय पंक्ति त्रुटित रह गई है। साथ ही द्वितीय पंक्ति का अन्तिम पद "**ऽधुनोऽच्यते**" गलती से प्रथम पंक्ति के साथ जुड़ गया है जिससे पंक्ति अशुद्ध हो गई और छन्द-भंग हो गया।

६. **त्रुटित श्लोक**—मूलह०, मूलप्रति सं० में संख्या ५ व ६ दो श्लोकों की पूर्व-पूर्व पंक्ति मिलकर एक श्लोक बन गया है, अर्थात् दोनों की दूसरी-दूसरी पंक्ति छूट गई है, जो संकलयिता मूललिपिकर के प्रमाद का द्योतक है। उसके कारण '**बन्ध**' और '**निर्जर**' दो तत्त्वों की व्याख्या छूट गई है। इस सं० में वे दोनों श्लोक उद्धृत कर दिये हैं। अन्य सभी संस्करणों में १-३, ५,६ श्लोक त्रुटित हैं। मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने इन महत्त्वपूर्ण श्लोकों को प्रमादवश छोड़ा है।

लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा[१] दिगम्बराः।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः॥ ८॥
भुङ्क्ते न केवली,[२] न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥ ९॥

—इति [सर्वदर्शसंग्रह, आर्हतदर्शन श्लोक ५३-५८, ६०-६१]

अर्थ—जिन देव अर्थात् तीर्थंकर, तत्त्वज्ञान का उपदेशक है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र[३] ये '**त्रिरत्न**' अपवर्ग=मोक्ष के मार्ग हैं[४]॥ १॥

स्याद्वाद के सिद्धान्त में प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। नित्य और अनित्यस्वरूप सब जगत् है, और जैनमत में नव वा सात तत्त्व हैं॥ २॥

एक जीव, दूसरा अजीव, तीसरा पुण्य, चौथा पाप, पांचवां आस्रव, छठा संवर, सातवां बन्ध, आठवां निर्जरण और नववां मुक्ति तत्त्व मानते हैं। इन नव तत्त्वों की यह व्याख्या है॥ ३॥

चेतना '**जीव**' का लक्षण है, अचेतन=जड़ '**अजीव**' कहाता है। सत्कर्मों के पुद्गल=परमाणु '**पुण्य**' और बुरे कामों के पुद्गल '**पाप**' हैं। आत्मा में पापकर्मों के प्रवेशद्वार को '**आस्रव**' और जो उसको ढक ले उसको '**संवर**' कहते हैं। आत्मा में प्रविष्ट कर्मों के संचय को '**बन्ध**' और उनको क्षीण कर देने को '**निर्जर**' कहते हैं॥ ४-५॥ सभी अष्टविध कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाना '**मोक्ष**' कहाता है। कुछ लोग '**पुण्य**' का अन्तर्भाव 'संवर' में करते हैं तथा '**पाप**' का 'आस्रव' में। इस प्रकार उनके मत से सात तत्त्व रह जाते हैं॥ ६॥[५]

अब जैन साधुओं के लक्षण—धूल झाड़ने की 'चमरी' सदा साथ रखनेवाले, भिक्षान्न का भोजन करनेवाले, सिर आदि के बाल लुंचित करनेवाले, क्षमाशील, संगदोष से रहित, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले जैनियों के '**श्वेताम्बर**' साधु होते हैं, जिन्हें '**जती**' कहते हैं।

दूसरे दिगम्बर=नग्न अर्थात् जो वस्त्र धारण न करनेवाले, सिर के बाल लुंचित करनेवाले, पिच्छिका=मोर पंखों से बना 'झाड़न' हाथ में रखनेवाले, पाणिपात्र=हाथ को ही पात्र मान उसमें भोजन रखकर खानेवाले, भिक्षा देनेवाले गृहस्थ जब भोजन कर चुकें उसके पश्चात् भिक्षा मांगकर भोजन करनेवाले, ये '**दिगम्बर**' दूसरे प्रकार के साधु होते हैं, इन्हें '**जिनर्षि**' भी कहते हैं॥ ७-८॥[६]

---

१. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**पाणिमात्राः**" अपप्रयोग है। यहां "**पाणिपात्राः**" शुद्ध पाठ होगा।

२. **भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां और द्वि० सं० में पृ० ३०९ पर उद्धृत इस श्लोक का यह पाठ भ्रष्ट है—"**भुङ्क्ते न केवलम्**", उपर्युक्त शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र० में भी भ्रष्ट पाठ है। उदयपुर सं० आदि में संशोधित है।

३. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**चरित्र**" अपप्रयोग है, जैन दर्शन के अनुसार यह "**चारित्र**" पारिभाषिक शब्द है, वही अभीष्ट है। मुद्रण०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ नहीं है।

४. **उपयुक्त अर्थ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मोक्ष के मार्ग की प्राप्ति में साधक हैं**" के स्थान पर "**मोक्ष के मार्ग हैं**" उपयुक्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ नहीं है।

५. **त्रुटित-अपूर्ण अर्थ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र, द्वि० सं० में ये श्लोक न होने से अर्थ भी नहीं है। मूलह०, मूलप्रति सं० में '**बन्ध**' '**संवर**' का अर्थ त्रुटित है। श्लोक छह का अर्थ है ही नहीं। यहां ४-७ श्लोकों का पूर्ण अर्थ दे दिया है। उदयपुर तथा अन्य मुद्रणह० पर आधारित संस्करणों में आरम्भिक तीन और पांच-छह श्लोक त्रुटित हैं। जैन सिद्धान्त-वर्णक होने से अत्यावश्यक हैं।

६. **भ्रष्ट श्लोकार्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अधिक और स्वल्प रूप में ७-८ श्लोकों का अर्थ भ्रष्ट है। मूलप्रति सं० का अर्थ

दिगम्बर साधुओं का मत है कि कैवल्य ज्ञान से युक्त '**केवली**'[१] साधु भोजन पर आश्रित नहीं रहता और स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिलता है, जबकि श्वेताम्बर इनके विपरीत मानते हैं कि स्त्रियों को भी मोक्ष मिलता है। दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ यही बड़ा मतान्तर है। दिगम्बर पहले के हैं और श्वेताम्बर पीछे हुए हैं॥ ९॥[२]

जैनी—हमारे धर्म-अधर्म भी द्रव्य हैं।

विवेकी—धर्म-अधर्म गुण हैं, द्रव्य कभी नहीं हो सकते। जो धर्माधर्म को द्रव्य मानते हो तो रूप, स्पर्श आदि को भी द्रव्य मानो।[३]

प्रश्न—जैनी लोग जगत्, जीव, जीव के कर्म और बन्ध को अनादि मानते हैं।

उत्तर—यहाँ भी जैनियों के तीर्थंकर भूल गये हैं,[४] क्योंकि संयुक्त जगत् का कार्य-कारण अनादिरूप और कार्य प्रवाहरूप से अनादि हो सकता है। जैसा तुम इस स्थूल जगत् को अनादि मानते हो, सो नहीं बन सकता, क्योंकि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व संयुक्तावस्था में नहीं होता, किन्तु वियोगावस्था में होता है। जो जीव को अनादिकाल बन्ध है, वह कभी न छूट सकेगा और जो अनादि का भी छूटना

अधिक हास्यास्पद है। मुद्रणह, द्विप्र०, द्वि०सं० में कुछ भ्रष्ट है। दोनों के अर्थ नीचे उद्धृत हैं—

मूलप्रति सं० में—रंगे हुए वस्त्र पहरें, भिक्षान्न भोजन करें, सिर आदि के बाल लूंच डालें, एक श्वेताम्बर शुक्ल वस्त्र धारण करने हारे, क्षमायुक्त संगदोष से रहित, दूसरे लुंचित केश, पिच्छिका हाथ में रखें, तीसरे दिगम्बर वस्त्र धारण करें, पाणिपात्र हाथ ही पात्र, गृहस्थ के घर में भोजन के पश्चात् भोजन करें और ऋषिसंज्ञक भी साधु होते हैं॥ ७-८॥ ये अर्थ और वाक्यरचना किसी मूर्ख लिपिकर की है। 'रंगे हुए वस्त्र पहने' जैनी शायद उसी ने अपने घर में देखे होंगे?

मुद्रणलिपिकर कृत मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वितीय सं० में—श्लोक संख्या आठ की द्वितीय पंक्ति का यह भ्रष्ट अर्थ है—"भिक्षा देने वाला गृहस्थ जब भोजन कर चुके उसके पश्चात् भोजन करें, वे जिनर्षि अर्थात् तीसरे प्रकार के साधु होते हैं।" (पृ० ३१०) यही भ्रष्ट अर्थ उदयपुर सं० में है। यहां तीसरे साधुओं का कथन ही नहीं है, दो ही प्रकार के साधु होते हैं।

१. **केवली**—"केवली अर्थात् जिनको केवल ज्ञान, सर्वज्ञता, पूर्णपवित्रता प्राप्त हुई है, वे जैन मतानुसार 'ईश्वर' कहाते हैं। वे उस लोक में जाते हैं और अपने आत्मप्रदेश से सर्वज्ञ रहते हैं।" (पृ० ८३४) यह जैनमतानुसार मन्तव्य है।

२. **महाभ्रष्ट अर्थ**—नवम श्लोक का अर्थ दोनों हस्त० और तीनों सं० में महाभ्रष्ट है और मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में तो भ्रष्टतम है। किसी लेखक ने तो यह अर्थ करके षड्यन्त्र किया ही है, किन्तु उसको पढ़कर सवा-सौ से वर्षों तक आर्य विद्वान् सम्पादकों और आर्यपाठकों ने क्या किया है? जो न स्वयं पढ़ने की योग्यता रखते हैं और न दूसरों के कार्य का महत्त्व समझते हैं, जो केवल वितण्डा और अविचारित हठ करना ही जानते हैं, उनसे मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या वे इस अर्थ को ऋषि का कार्य समझते हैं? और इसी को उनकी धरोहर समझकर सुरक्षित करना चाहते हैं? और इस प्रकार अनेक वर्षों तक ऋषि दयानन्द के माथे पर मूर्खता का दोष उसके अनुयायी खुद लगाते रहेंगे। पढ़िए उस भ्रष्ट और शरारतपूर्ण अर्थ को और अपना माथा पीटिए—

मूलप्रति सं० का अर्थ—"एक के घर में भोजन नहीं करते, स्त्री का संग नहीं करते, वह दिगम्बर मुक्ति को प्राप्त होता है। यही दिगम्बर और श्वेताम्बरों में भेद है अर्थात् दिगम्बर पहले के हैं और श्वेताम्बर पीछे हुए हैं॥ ९॥" सम्पादक और पाठक ढूंढने का यत्न करें कि यह अर्थ श्लोक के किन पदों में है। जो ढूंढ देंगे वे पुरस्कार के पात्र होंगे।

मुद्रणलिपिकृत मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वितीय सं० का भ्रष्टतम अर्थ—मुद्रणलिपिकरकृत यह महाभ्रष्ट पाठ मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में है—"दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का संसर्ग नहीं करते और श्वेताम्बर करते हैं, इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इनके साधुओं का भेद है॥ ९॥" सम्पादक और पाठक इस महाभ्रष्ट अर्थ को भी श्लोकोक्त पदों में ढूंढने का यत्न करें, यदि इस जन्म में मिल जाये तो हमें भी बता दें। उदयपुर सं० में कुछ संशोधन किया है। अन्य पाठ अपूर्ण एवं अशुद्ध है। अन्य संस्करणों की भी यही दुःस्थिति है। क्या यह घोर प्रमादपूर्ण सम्पादन क्षम्य है?

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ निष्कासन**—यह प्रश्नोत्तर मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में नहीं है। अज्ञात कारणों से इसको छोड़ दिया है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**यहाँ.....गये हैं**" वाक्य मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

मानोगे तो जितने अनादि द्रव्य तुम्हारे मत में हैं, वे सब अनित्य हो जायेंगे। और मुक्ति सब कर्मों के छूटने से तुम मानते हो, तो सब कर्मों के छूटने रूप निमित्त से मुक्ति होने से नैमित्तिक हुई। जो निमित्त से होता है वह सदा नहीं रह सकता, और कर्म, कर्त्ता का नित्य सम्बन्ध होने से कर्म भी कभी न छूटेंगे। इसलिये तुम्हारे मत में जो-जो तीर्थंकर आदि मुक्ति में गये होंगे, वे सब फिर आवेंगे। पुनः तुम्हारे मत में मुक्ति अनित्य हो गई।[१]

प्रश्न—जैसे मैल[२] लगने के कारणों से वस्त्र में मैल लगता है और धोने से छूट जाता है, पुनः मैल लग जाता है; वैसे मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेषादि के आश्रय से जीव को कर्मरूप मैल लगता है।

उत्तर—जो मिथ्यात्वादि हेतुओं से जीव मलिन[३] होता है, तो उन निमित्तों के पूर्व जीव को निर्मल मानना पड़ेगा और जो निर्मल को मैल लगा, तो अनिर्मोक्षापत्ति[४] तुम्हारे मत में आवेगी; क्योंकि मुक्ति में जीव को तुम निर्मल मानते हो और मैल लगने के कारणों से मैल का लगना मानते हो, तो मुक्त जीव 'संसारी' और संसारी जीव 'मुक्त' होता है, ऐसा अवश्य ही मानना पड़ेगा।[५]

प्रश्न—जीव अनादि काल से कर्मसहित है। कर्म छूटे पीछे नहीं लगते।

उत्तर—जो अनादि से कर्मसहित है, उसका छूटना असम्भव है और विना छूटे मुक्ति कहाँ? इसलिये जीवों के कर्म और मुक्ति को प्रवाह रूप से अनादि मानो। अनादि अनन्तता से नहीं।[६]

प्रश्न—जीव निर्मल कभी नहीं था।

उत्तर—जो कभी निर्मल नहीं था, तो कभी भी निर्मल नहीं हो सकेगा। जैसे श्वेत[७] वस्त्र पर पीछे से लगा मैल धोने से छूट जाता है, पुनः मैल लग जाता है; परन्तु उसका श्वेतपन कभी नहीं छूट सकता।[८-९]

प्रश्न—जीव पूर्वोपार्जित कर्मों[१०] से ही स्वयं शरीर धारण कर लेता है। ईश्वर का मानना व्यर्थ है।

उत्तर—जो केवल कर्म ही शरीर धारण में निमित्त हों, ईश्वर कारण न हो, तो वह जीव बुरा जन्म कि जहां बहुत दुःख हो उसको धारण कभी न करे किन्तु सदा अच्छे-अच्छे जन्म धारण किया करे। जो कहो कि कर्म प्रतिबन्धक हैं, तो भी जैसे चोर आप से आके बन्दीगृह में नहीं जाता और स्वयं फांसी

---

१. **पाठ-परिवर्तन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० में इस अनुच्छेद का पुनर्लेखन हुआ है। पर्याप्त परिवर्तन किया गया है।

२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—अग्रिम तीन प्रश्नोत्तरों में कम से कम दस बार "**मैल**" शब्द का प्रयोग हुआ है। इतनी अव्यवस्था है कि कहीं "**मैल**" वर्तनी है, कहीं '**मल**'। हिन्दी में ये दोनों पृथक्-पृथक् अर्थों में रूढ़ हैं। यहां "**मैल**" वर्तनी सर्वत्र ग्राह्य है।

३. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मलीन**" अपवर्तनी है, "**मलिन**" शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में शुद्ध है।

४. **अनिर्मोक्षापत्ति**—मोक्ष न प्राप्त होने की आपत्ति अर्थात् दोष।

५-६,८. **पाठ-परिवर्तन**—इन सभी प्रश्नोत्तर अनुच्छेदों में मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में भाषा का पर्याप्त अन्तर है। उसमें पुनर्लेखन किया गया है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**श्वेत**" के स्थान पर "**शुद्ध**" अपप्रयोग है। अनुच्छेद में "**श्वेत**" पद का ही प्रयोग है, '**श्वेतपन**' ही तर्कसिद्धि का आधार है।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्धन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां यह वाक्य बढ़ाया गया है—"**इसी प्रकार मुक्ति में भी लगेगा**"। यह अप्रासंगिक परिवर्धन है क्योंकि मुक्ति में 'मैल' नहीं होता, अतः मैल लगने का कथन ही अनर्गल है। यह परिवर्धन किसी लेखक-लिपिकर ने किया है।

१०-११. **अप प्रयोग**—दोनों सं० में "**कर्म**" और "**नशा को**" अपप्रयोग हैं, क्रमशः "**कर्मों**" और "**नशे के**" प्रयोग अपेक्षित हैं।

भी नहीं खाता किन्तु राजा देता है। इसी प्रकार जीव को शरीर धारण कराने और उसके कर्मानुसार फल देने वाले परमेश्वर को तुम भी मानो।

प्रश्न—मद=नशा[११] के समान कर्म स्वयं प्राप्त होता है फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं।

उत्तर—जो ऐसा हो तो जैसे मदपान करने वालों को मद कम चढ़ता; अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है वैसे नित्य बहुत पाप, पुण्य करने वालों को[१] न्यून और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप, पुण्य करने वालों को अधिक फल होना चाहिये और छोटे कर्म वालों को अधिक फल होवे।

प्रश्न—जिसका जैसा स्वभाव होता है उसको वैसा ही फल हुआ करता है।

उत्तर—जो स्वभाव से है तो उसका छूटना-वा मिलना नहीं हो सकता। हां! ऐसा मानना ठीक है।

प्रश्न—संयोग के विना कर्म परिणाम को प्राप्त नहीं होता। जैसे दूध और खटाई के संयोग के विना दही नहीं होता।

उत्तर—जैसे दूध और खटाई को मिलानेवाला तीसरा होता है वैसे ही जीवों के कर्मों के फल के साथ मिलानेवाला तीसरा ईश्वर होना चाहिये, क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं नियम से संयुक्त नहीं होते और जीव भी अल्पज्ञ होने से स्वयं अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकते। इससे सिद्ध हुआ कि विना ईश्वरस्थापित सृष्टिक्रम के कर्मफलव्यवस्था नहीं हो सकती।[२]

प्रश्न—जो कर्म से मुक्त होता है, वह ईश्वर कहाता है।

उत्तर—जब अनादि काल से जीव के साथ कर्म लगे हैं तो मुक्त कैसे हो सकता है? और जिसको कर्म लगता है, वह ईश्वर ही नहीं। और कर्म, कर्त्ता का **'समवाय'** अर्थात् नित्यसम्बन्ध होता है, यह कभी नहीं छूटता; इसलिये **जैसा ९वें समुल्लास में लिख आये हैं,** वैसा ही मानना ठीक है। **जीव चाहे जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे, तो भी उसमें परिमितज्ञान और समीम सामर्थ्य रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हाँ, जितना सामर्थ्य बढ़ना उचित है, उतना योग से बढ़ा सकता है।**[३]

---

१. **त्रुटित पद**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० में "**को**" पद त्रुटित है। अन्य सभी सं० में परिवर्धित है।

२. **उचित पाठ-परिवर्तन**—मूलह०, मूलहस्त० के एक अनुच्छेद का मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में चार प्रश्नोत्तरों में बांटकर पुनर्लेखन किया गया है। यह उचित किया है। कारण यह है कि मूलहस्त० में तीन स्थानों पर "**जो कहो कि**" वाक्यांश से नया प्रसंग है जबकि मूलहस्त० में ऐसा कुछ कहा नहीं गया है, अत: इन वाक्यांशों की पाठ में संगति नहीं बनती। इससे यह संकेत मिलता है कि मूल-लिपिकर को ग्रन्थकार ने यह निर्देश दिया था कि "**जो कहो कि**" पर आधारित नये प्रश्नों का निर्माण कर लेना। मुद्रणप्रति बनाते समय लेखक ने उनको बना लिया। मूलह०, मूलसं० का प्रश्नरहित अपूर्ण पाठ है जिसमें "**जो कहो कि**" वाक्यांशों की कहीं संगति नहीं लगती। वह पाठ है—"**प्रश्न**—जीव पूर्वोपार्जित कर्मों से ही स्वयं शरीरधारण कर लेता है। ईश्वर का मानना व्यर्थ है। **उत्तर**—जो केवल कर्म ही जन्मधारण करने में कारण हो, तो वह जीव बुरा जन्म, जहाँ कि दु:ख हो, उसको धारण न करे, किन्तु अच्छे-अच्छे जन्म धारण करे। जो कहो कर्म प्रतिबन्धक है, तो भी कर्मों के जड़ होने से वे निरोधक वा प्रवर्त्तक नहीं हो सकते। इसलिये कर्म का फलप्रदाता परमेश्वर को मानना तुमको उचित है। **जो कहो कि** नशे के समान कर्म स्वयं परिणाम को प्राप्त होता है, तो विना किया हुआ कर्म परिणाम को प्राप्त क्यों नहीं होता? **जो कहो कि** जिसका जैसा स्वभाव है, वह वैसा ही होता है, तो विष विना खाये क्यों नहीं किसी को मारता? क्योंकि उसका परिणामी स्वभाव है। **जो कहो कि** संयोग के विना कर्म-परिणाम को प्राप्त नहीं होता, तो जीव और कर्म को संयुक्त करनेवाला कोई तीसरा मानना पड़ेगा। जो न मानोगे, तो जड़ का संयोग स्वत: नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि विना ईश्वर के कर्मफल व्यवस्था नहीं हो सकती।[१]"

३-४. **अनुचित पाठ-परिवर्तन**—इन दोनों प्रश्नोत्तर-अनुच्छेदों के पाठ में मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में परिवर्तन है। तीन संख्यांक अनुच्छेद के पाठ "**और कर्म, कर्त्ता का....बढ़ा सकता है**" को संख्यांक चार के अनुच्छेद में जोड़कर एक बना दिया है, जो

प्रश्न—कर्म का बन्ध सादि है।

उत्तर—जो सादि है तो संयोग के आदि के पूर्व जीव निष्कर्म था। जब निष्कर्म को कर्म लग गया, तो जितने तुम्हारे निष्कर्म मुक्त जीव हैं, उनको भी कर्म लगके संसार में गिरेंगे।[४]

[१]**प्रश्न**—जैसे तुम्बी में से मिट्टी थोड़ी निकलने से वह ऊपर आती है, वैसे जीव के कर्मबन्धन कम-कम होने से जीव की ऊर्ध्वगति होकर वे सिद्धशिला[२] में जाते हैं।

उत्तर—जैनियों ने ऊपर-नीचे की बातें गमारूपन[३] की समझ रक्खी हैं, जो विद्या होती, तो ऐसी निर्मूल बातें[४] क्योंकर मानते! देखो, जिसको हम ऊपर कहते हैं, उसी को उससे परे वाले लोग नीचा कहते हैं और जिसको हम नीचा कहते हैं, उसी को उससे नीचे रहनेवाले ऊँचा कहते हैं। ऐसे ही अगल-बगल में रहनेवालों की बात है। इसलिये '**सिद्धशिला**' और '**शिवपुर**' को 'मुक्ति-स्थान' मानना अविद्या की बात है।

प्रश्न—हमारे मत में साधुओं को राग-द्वेष नहीं।

उत्तर—देखो! तुम्हारे मूल '**आवश्यक सूत्र**' में क्या लिखा है—

अरिहन्ते सुयरागो सारीसूवं भयारीसु —इत्यादि

अर्थात् अशुभ के छोड़ने में द्वेष, श्रेष्ठ और शुभ कामों में राग करना अच्छा, यह राग-द्वेष किसी का नहीं छूटता, अर्थात् बुरे कामों पर द्वेष और अच्छे कामों में प्रीति करना बहुत अच्छी बात है।[५]

[**मूल**—] अब '**प्रकरणरत्नाकर**' के पहले भाग में जो देवचन्द्र जी कृत '**नयचक्रसार**' है, उसी की बातें लिखते हैं। जिसको सब जैन लोग मानते हैं—

तत्र द्रव्यभेदा यथा जीवा अनन्ताः,.....तत्रैकस्मिन् द्रव्ये प्रतिप्रदेशे स्वरूप एककार्य-करणसामर्थ्यरूपा अनन्ता अविभागरूपपर्याया.....एवं गुणा अप्यनन्ताः प्रतिगुणं प्रतिदेशं पर्याया.....अप्यनन्ताः.....प्रति वस्तुनि अनन्तास्ततोऽनन्तगुणाः सामर्थ्यपर्यायाः॥

प्रकरणरत्नाकर, भाग १ [नयचक्रसार पृ० १८५-१८६]

उत्तर—जीव अनन्त हैं, उनका ज्ञान [करना] किसी जीव का सामर्थ्य नहीं, [यह] केवल

सर्वथा असंगत है। उस प्रश्न से इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मूलप्रति सं० का पाठ ही ठीक स्थान पर है।

१. **अप्रासंगिक अनुच्छेद का उचित निष्कासन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस वाक्य से पूर्व निम्नलिखित अनुच्छेद प्राप्त है जिसका दूर-दूर तक पूर्वापर प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको हटा दिया है, जो उचित है। वह प्रश्नोत्तरात्मक अनुच्छेद यह है—

''**प्रश्न**—जो पशुओं को मार यज्ञ में होम करने से पशु स्वर्ग में जाय, तो यजमानादि स्वयं अग्नि में अपने शरीर का होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं जावें?

उत्तर—यह बात वेदों की नहीं। अर्थात् पशु मारके होम करना आदि विधि वाममार्गियों ने बनाया है। परन्तु इसको कोई सज्जन नहीं मानता। परन्तु उन्हीं चारवाक के मत की यह बात है। इसलिए जैनी लोग भी कुछ चारवाक के मत से भी मिलते हैं।''

२. **सिद्धशिला का अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य है इसी समुल्लास में पृ० ८३५, ८३६, ८३९ आदि पर।

३. **गमारूपन**=अविद्या, अशिक्षापन की बात।

४. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**बात**'' अपप्रयोग है, ''**बातें**'' अभीष्ट है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ-निष्कासन**—यह प्रश्नोत्तर-अनुच्छेद मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० नहीं है। क्यों हटाया है, इसका कारण अज्ञात है। प्रसंग की दृष्टि से यह ऊपर के प्रश्नोत्तर से सम्बद्ध है।

अटकलपच्चासी की बात है। अनन्त के स्थान में असंख्य कहता तो ठीक बात थी, क्योंकि हम जीव लोग जीवों की गणना नहीं कर सकते। अब एक-एक द्रव्य में अपने-अपने एक कार्य-कारण सामर्थ्य को अविभाग पर्यायों से अनन्त मानना केवल अविद्या की बात है। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य की सीमा है, तो उसमें अनन्त अविभाग रूप पर्याय कैसे रह सकते हैं? और एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण और एक-एक गुण और प्रदेश में अविभागरूप अनन्त पर्याय का मानना केवल बालकों की बातें हैं। और एक-एक वस्तु सामर्थ्य पर्याय भी अनन्त मानना केवल अविद्या की बात है, क्योंकि जिसके अधिकरण का अन्त है, उसमें अनन्त कभी नहीं रह सकता। जैसे जैनी कहते हैं कि छोटे-से कन्द में अनन्त जीव हैं। जब कन्द का अन्त है, तो जीवों का अन्त क्यों नहीं? **जितनी विद्याशून्य मिथ्या बातें जैनों के ग्रन्थों में है, उतनी अन्यत्र नहीं; और जहाँ कहीं हैं, उनका मूल जैनमार्ग है।**

[मूल—] एक उनका '**नवकार मन्त्र**' है। उसका स्वरूप—

नमो अरिहन्ताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं[१] नमो लोए सव्वसाहूणं। एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो। मंगलाचाणं च सव्वेसिं पढमं[२] हवइ मंगलम्॥

[रत्नसार, भाग १। पृ० १]

[३]इस मन्त्र का अर्थ यह है—

अर्थ—(नमो अरिहन्ताणं) [जैनमत के] सब तीर्थंकरों को नमस्कार। **(नमो सिद्धाणं)** जैनमत के सब सिद्धों को नमस्कार।[४] **(नमो आयरियाणं)** जैनमत के सब आचार्यों को नमस्कार। **(नमो उवज्झायाणं)** जैनमत के सब उपाध्यायों को नमस्कार। **(नमो लोए सव्वसाहूणं)** जितने जैनमत के साधु इस लोक में हैं, उन सबको नमस्कार है।

[**(एसो पंच नमुक्कारो)** यह पूर्वोक्त पांच परमेष्ठियों=पांच प्रकार के महान् आत्माओं को किया गया नमस्कार **(सव्व पावप्पणासणो)** सब पापों का नाश करनेवाला है **(सव्वेसिं पढमं मंगललाणं)** मंगलाचरणों में सबसे प्रथम=श्रेष्ठ मंगलाचरण है, **(मंगलम् हवई)** इसके पढ़ने से मंगल होता है।][५]

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ और ऋषिलेख**—''**नमोसिद्धाणं.....उवज्झायाणम्**'' पाठ प्रमाद से मुद्रणप्रति में छोड़ा है। ऋषि ने संशोधन करते समय अपने हस्तलेख में पूर्ण किया है।

२. **अपपाठ**—उदयपुर सं० में ''**सब्बे सिपढमं**'' अपपाठ है। अन्य सभी में ठीक है।

३. **ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित पाठ तथा स्थानभ्रष्ट अर्थ**—''**इस मन्त्र का अर्थ.....अर्थ ठीक है**'' अर्थ विषयक पाठ मूलप्रति में नहीं लिखा गया था। मुद्रणप्रतिलिपिकर ने अर्थरहित पाठ मुद्रणप्रति में उतारा। संशोधन करते समय ऋषि को ध्यान आया तो ऋषि ने स्वहस्तलेख में नवकार मन्त्र का अर्थ और समीक्षा लिखी है। नीचे के कुछ मन्त्रों का पाठ उनसे भी छूट गया। द्विप्र० में यह अस्थान में छपा है। उसी के अनुकरण पर सभी सं० में यह अस्थान पर है। ''**नमुक्कारं तउ पढ़े**'' बाद के मन्त्रों का अर्थ पहले आ गया और पहले पठित नवकार मन्त्र का उसके बाद प्रकाशित है। यह स्थानभ्रष्ट पाठ संशोध्य है। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी संस्करणों में यह स्थानभ्रष्ट है।

४. **द्वितीय सं० में भ्रष्ट अर्थ**—द्वि०सं० में ''**सब सिद्धान्तों को नमस्कार**'' भ्रष्ट अर्थ है। यहां ''**सब सिद्धों को नमस्कार**'' शुद्ध अर्थ है। मुद्रणप्रति, मूलप्रति सं० आदि सभी में शुद्ध है।

५. **त्रुटित आवश्यक अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकर के प्रमाद से ''**नमस्कार मन्त्र**'' के आधे भाग का अर्थ त्रुटित रह गया है। आदि-शोधकों ने भी इस पर ध्यान नहीं दिया। यहां बृहत् कोष्ठक में उसको पूर्ण किया गया है। यह मन्त्र अनेक जैनशास्त्रों में पाया जाता है। द्रष्टव्य—'**आवश्यक सूत्र**' (मधुकर मुनिकृत व्याख्या) पृ० २ भी।

[**समीक्षक**—] यद्यपि मन्त्र में 'जैन' पद नहीं है तथापि जैनियों के अनेक ग्रन्थों में सिवाय जैनमत के अन्य किसी को 'नमस्कार भी न करना' लिखा है।[१] इसलिये यही अर्थ ठीक है। इसका ऐसा माहात्म्य धरा है कि तन्त्रों,[२] पुराणों[३] और भाटों की कथाओं[४] को भी मात कर दिया[५] है। अर्थात् इस मन्त्र के जप से सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

[**मूल**—] **श्राद्धदिनकृत्य** [पृ० ३] और '**आत्मनिन्दाभावना**'[६] में इसका ऐसा फल लिखा है—

नमुक्कारं तउ पढे॥ ९॥

जउ कब्बं।[७] मन्ताणमंतो परमो इमुत्ति धेयाणधेयं परमं इमुत्ति।

तत्ताणतत्तं परमं पवित्तं संसार सत्ताण दुहाहयाणं॥ १०॥

ताणं अन्नन्तु[८] नो अत्थि जीवाणं भवसायरे।

बुड्डूं[९] ताणं इमं मुत्तुं। नमुक्कारं सुपोययम्॥ ११॥

कब्बं। अणेगजम्मं तरसं चिआणं। दुहाणं सारीरिअमाणुसाणुसाणं।

कत्तोय भव्वाणभविज्जनासो न जावपत्तो नवकारमंतो॥ १२॥ [श्राद्धदिनकृत्य, पृ० ३। सूत्र १३]

अर्थ—सब मन्त्रों में यह पवित्र और परम मन्त्र है। ध्येयों के मध्य में परम ध्येय, तत्त्वों में परम तत्त्व, दु:खों[१०] से पीड़ित संसारी जीवों का यह नवकार मन्त्र, जैसी समुद्र से पार उतारने की नौका होती है उस नौका के समान है। संसार में डूबनेवाले जीवों का एक यही रक्षक है। अनेक जन्मान्तर के शरीर और मन सम्बन्धी दु:ख भव्यजीवों के नहीं नष्ट होते, जब तक नवकार मन्त्र का ग्रहण न करे। [इसको ग्रहण करने से][११] अग्निप्रमुख आठ महाभय नहीं होते। भवसागर से तर जाते हैं॥ जैसे महारत्न वैदूर्य[१२] नामक मणि ग्रहण करने में आवे अथवा शत्रुभय में अमोघ शस्त्र ग्रहण करने में आवे, वैसे श्रुतकेवली का ग्रहण करे। और सब द्वादशाङ्गी[१३] का नवकार मन्त्र रहस्य है॥ ९-१२॥

समीक्षक—यह गपोड़ा नहीं तो क्या है?

---

१. जैनियों की यह मान्यता उनके 'छह यतना' कर्मों के अन्तर्गत वर्णित है। द्र०पृ० ७९० पर।

२-४. **अपप्रयोग**—यहां "**तन्त्र**", "**पुराण**", "**कथा**" एकवचनात्मक अपप्रयोग हैं। उपर्युक्त बहुवचनात्मक शुद्ध हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-अनुवाद**—द्वि०सं० में "**मात कर दिया**" मुहावरे का हास्यास्पद हिन्दी रूप बनाया है—"**पराजय कर दिया।**" इस शोधक को शायद यही नहीं पता कि यह एक मुहावरा है और मुहावरे का कभी शब्दानुवाद नहीं हुआ करता। '**पराजय कर दिया**' ऐसा अनुवाद बनाया है जैसे यहां युद्ध हो रहा है! यहां इसका भाव है 'पछाड़ देना' या 'पीछे छोड़ देना'।

६. **त्रुटित नाम**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**आत्मनिन्दाभावना**" नाम त्रुटित है।

७-९. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में "**तउ कब्बं**", "**अनन्तु**", "**बुड्डं**" अपपाठ हैं। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**न मुक्कारं**" "**अन्नं तु**", "**बुड्डुं**" अपपाठ हैं। ऊपर संशोधित पाठ हैं।

१०. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**दु:ख**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, यहां "**दु:खों**" बहुवचनान्त अपेक्षित है।

११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना न वाक्य पूर्ण होता है और न कोई पूर्वापर संगति लगती है।

१२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वैडूर्य**" प्रयोग है, हिन्दी में '**वैदूर्य**' प्रचलित है।

१३. **द्वादशांगी मन्त्र**—ऊपर प्रस्तुत जैनियों के नमस्कार (नवकार) मन्त्र में बारह चरण या अंश हैं, अत: यह द्वादशांगी मन्त्र कहाता है। ऊपर के दोनों भाग अर्थात् मन्त्र और उसका फल मिलाकर यह मन्त्र पूर्ण होता है।

[**मूल**—] जो संसार में पाषाणादि मूर्तिपूजा चली है, वह सब बौद्धों[१] और जैनियों से चली है कि जिसने सब जगत् को भरमाया है। देखलो! '**श्राद्धदिनकृत्य**' के पहले पृष्ठ पर[२] लिखा है कि—सन्ध्या के भोजन-समय में जिनबिम्ब अर्थात् तीर्थंकरों की मूर्तियों का पूजना। द्वारपूजन में बड़े-बड़े बखेड़े हैं।[३] और मन्दिर बनाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने से मुक्ति हो जाती है।[४]

यह वीसवें पृष्ठ और तेईसवें पृष्ठ पर है—मन्दिर में इस प्रकार जावे,[५] जाकर बैठे, बड़े प्रीतिभाव से पूजा करे। "**नमो जिनेन्द्रेभ्यः**" इत्यादि मन्त्रों से स्नानादि करावे,[६] और "**जलचन्दनपुष्पधूपदीपनैः**[७] [विवेकसार पृ० ५२]" इत्यादि से जल, चन्दनादि चढ़ावे।

वैसे ही '**रत्नसार**' भाग [१] के बारहवें पृष्ठ पर मूर्त्तिपूजा का फल यह लिखा है[८]—'पुजारी को राजा और प्रजा कोई न रोक सके।'

तेरहवें पृष्ठ पर—मूर्त्तिपूजा से रोग, पीड़ा, महादोष छूट जाय। एक किसी ने पांच कौड़ी का फूल चढ़ाया, उसने १८ देशों[९] का राज पाया, उसका नाम कुमारपाल[१०] हुआ था, इत्यादि।

समीक्षक—जो ये बातें सच्ची हों, तो जैनी लोगों में से राजा और प्रजा का दण्ड, रोग, पीड़ा क्यों भोगते हैं? और महादोषों में क्यों फस रहे हैं? जो मूर्त्तिपूजा से भवसागर से तर जाय तो ज्ञान, सम्यग्दर्शन और चारित्र[११] की प्राप्ति क्यों करते हो?[१२] वाह! पांच कौड़ी के फूल चढ़ाने से १८ देशों[१३] का राज मिल जाये, तो सौ रुपयों के फूल चढ़ाने से क्या मिल जाय अर्थात् ब्रह्माण्ड में सब लोक-लोकान्तरों[१४] का भी राजा हो सकता है।

---

१. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**बौद्ध**" एकवचनान्त अपप्रयोग है। "**बौद्धों**" प्रयोग अभीष्ट है।

२. **अपप्रयोग**—सम्पूर्ण ग्रन्थ में व्याकरणानुकूल "**पृष्ठ पर लिखा है**" प्रयोग मिलता है। १२वें समुल्लास में किसी संकलनकर्त्ता ने सर्वत्र यह अपपाठ बनाया है—"**पृष्ठ में लिखा है।**" एकरूपता, मानकता, शुद्धता की दृष्टि से सर्वत्र इसको शुद्ध किया गया है। इस विषयक टिप्पणी आगे नहीं दी जायेगी।

३. **त्रुटित क्रिया**—मूलप्रति सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है, द्वि० सं० में है और ग्राह्य है।

४. **भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य का पाठ भ्रष्ट है। मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—"**मन्दिर बनाने के नियम और पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने से मुक्ति हो जाती है।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में भ्रष्ट पाठ है—"**मन्दिर बनाने के नियम और पुराने मन्दिरों को बनवाने और सुधारने से मुक्ति हो जाती है।**" ऊपर संशोधित पाठ है।

५-६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं अपपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**इस प्रकार जावे**" पाठ त्रुटित है। "**स्नानादि कराना**" अपपाठ है। यहां "**करावे**" मूलप्रति सं० का पाठ शुद्ध है।

७. **पूर्ण श्लोक**—द्र० पूर्ण श्लोक पृ० ७८६ पर। यह द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित पाठ है। यह ग्राह्य है।

८. **त्रुटित पाठ**—मूलप्रति सं० में "**यह लिखा है**" पाठ त्रुटित है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचनान्त "**देश**" शब्द का प्रयोग है। यहां बहुवचन अभीष्ट है।

१०. **कुमारपाल का राज्य**—"कुमारपाल (विक्रम की १३वीं शती के आरम्भ में) गुजरात और उसके आसपास के थोड़े-से भाग का राजा था। उसे १८ देश का राजा कहना मिथ्या है।" (युमी० पृ० ७०५)

११. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में यहां "**चरित्र**" अपप्रयोग है। यह "**चारित्र**" पारिभाषिक शब्द है, यही शुद्ध एवं ग्राह्य है। द्वि० सं० में शुद्ध है।

१२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**क्यों करना**" अपक्रिया प्रयोग है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**क्यों करते हो**" शुद्ध एवं ग्राह्य है।

१३-१४. **अपप्रयोग**—यहां "**देश**" और "**लोकलोकान्तर**" एकवचनात्मक अपप्रयोग हैं। उपर्युक्त शुद्ध हैं। दोनों पाठों में संशोधन अपेक्षित है।

[**मूल**—] और गौतम का अंगूठा धोके पीये तो अमृत का फल पावे। यह बारहवें पृष्ठ पर लिखा है।

समीक्षक—तो जैनी लोग गौतम का अंगूठा धोकर पीके अमर क्यों नहीं हो जाते?

अब इनकी मुक्ति का थोड़ा-सा वर्णन करते हैं—

[**मूल**—]उसी '**रत्नसार**' भाग [१] के २३वें पृष्ठ पर [लिखा है] '**सिद्धशिला**' अर्थात् जिस पर सिद्धपुरुष रहते हैं, वह पैंतालीस लाख योजन लम्बी, पोली[१] और आठ योजन मोटी[२] है अर्थात् एक करोड़, अस्सी लाख कोश लम्बी और पोली है और बत्तीस कोश मोटी[३] है [इतनी पौराणिक प्रमाण से है। जैन प्रमाण से पैंतालीस अरब कोश लम्बी और पोली है तथा अस्सी हजार कोश मोटी है]।[४] वह '**सिद्धशिला**' चौदहवें लोक की शिखा पर है।[५]

समीक्षक—यह बात महावीर तीर्थंकर के मुख की है और यहीं '**शिवपुर**' का भी वर्णन किया है। भला, यह बात किसी बुद्धिमान् के मन में आ सकती है? जो यही मुक्ति का स्थान हो तो बन्धन हो जाय; क्योंकि इसके ऊपर और चारों ओर आकाश ही होगा। फिर उस धाम से बाहर जाने में डरते होंगे। और इतनी लम्बी-चौड़ी एक शिला जैनियों के तीर्थंकर नाप और देखके कहने को आये होंगे? जो ऐसा ही हो तो अब क्यों नहीं कहने को आते? ये जैनी भी मुक्तिविषय में भ्रम से फसे हैं। **यह सच है कि विना वेदों के यथार्थ अर्थबोध के मुक्ति के स्वरूप को कभी नहीं जान सकते।**[६]

मूल—उसी '**रत्नसार**' पृष्ठ २९ पर—**आबू, गिरनार, शत्रुञ्जय, शम्मेत शिखर** आदि तीर्थ करें, वे धन्य हैं। और कर्म का क्षय मुक्तिपर्यन्त माना है।

समीक्षक—यह भी बुद्धिमानों की समझ से सब प्रकार विरुद्ध है।

मूल—और देखो, बड़ा पक्षपात और अन्धाधुंध लेख '**विवेकसार**' के ५५ पृष्ठ पर—गंगादि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्रों के सेवने से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता।

---

१. पोली (पोली, पोहली) अर्थात् चौड़ी। यह गुजराती भाषा का प्रयोग है। 'प्रकरणरत्नाकर' में यही प्रयोग है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की अर्थभ्रान्ति—कभी-कभी पं० जी टिप्पणी देने में अतिशीघ्रता करते हैं जिसके कारण वह अशुद्ध हो जाती है। अपने संस्करण में "**पोली**" पद पर टिप्पणी देते हुए उन्होंने लिखा है—"८ योजन मोटी शिला ४५ लाख योजन पोली कैसे हो सकती है?" (पृ० ७१२) यही टिप्पणी उनके संस्करण में पृ० ७३६ पर भी दी गई है। यही दोहरी भूल है।

वस्तुत: यह विवरण गुजराती के '**प्रकरणरत्नाकर**' आदि पर आधारित है, अत: तदनुसार कहीं-कहीं गुजराती शब्दों का प्रयोग हो गया है। यह हिन्दी का 'पोली=खोखली' प्रयोग नहीं है, अपितु गुजराती का 'पोली या पोहली=चौड़ी' अर्थवाला प्रयोग है। मीमांसक जी ने इसे हिन्दी-प्रयोग समझ लिया। इस सिद्धशिला की लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई का विवरण शोध सं० में पृ० ८३६ पर भी है। वहां स्पष्ट लिखा है कि मध्य से ८ योजन मोटी है और किनारों से मक्खी के पंख जैसी पतली है। पं० जी यदि उस विवरण को ध्यान में रख लेते तो यह अर्थभ्रान्ति नहीं होती। **स्वामी विद्यानन्द जी** ने इस टिप्पणी का अन्धानुकरण किया है।

२-३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां "**चौड़ी**" शब्द है। 'चौड़ाई' का कथन "**पोली**" गुजराती शब्द से कह दिया है। अत: वह अशुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**मोटी**" प्रयोग है जो उचित है। पृष्ठ ८३५ पर दोनों शुद्ध प्रयोग देखें।

४. **अपगणना**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां जैन परिमाण के महर्षिप्रोक्त प्रमाण (पृ० ७९३) के अनुसार गणना न होकर पुराण-प्रमाण से गणना है, जो अशुद्ध तथा परस्परविरुद्ध है। उसके समाधान के लिए यहां बृ० कोष्ठक में जैन-परिमाण से भी गणना दर्शाई है। यही **अपपरिमाण** उदयपुर तथा अन्य सभी सं० में है। सवा सौ से अधिक वर्षों से यह त्रुटि चली आ रही है।

५. **ऋषिहस्तलेख एव अन्यत्र वर्णन**—"**वह सिद्धशिला.....पर है**" मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। (पृ० ८३५ भी द्रष्टव्य)

६. **ऋषिहस्तलेख**—"**ये जैनी भी.....जान सकते**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। मूलह० में "**यह जैनी**" है।

समीक्षक—वाह रे जैनी लोगो! अपने जल, स्थल, पाषाणरूप मूर्त्ति आदि की सेवा से सब पापक्षय और मुक्तिपर्यन्त फल मानो और दूसरे के जल, स्थल, पाषाणमूर्त्ति का खण्डन करो, यह अपनी मूर्खता, छल, झूठ, मतलबसिन्धु की बात नहीं तो क्या है? सच तो यह है कि तुम दोनों झूठे हो। **जल, स्थल और पाषाणादि मूर्तियों से पापक्षय और मुक्ति कभी नहीं होती।**

[**मूल**—] यह इनका श्लोक है, जल, चन्दनादि चढ़ाने का—

जलचन्दनपुष्प[१]-धूपनैरथदीपाक्षतकैर्नैवेद्यवस्त्रैः।[२]
उपचारवरैर्वयं[३] जिनेन्द्रान् रुचिरैरद्य मुदा[४] यजामहे॥ १॥ [विवेकसार, पृ० ५२]

अर्थात् जल, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, वस्त्र,[५] अतिरुचिकारक उत्तम उपचार से आनन्दपूर्वक जिनेन्द्रों अर्थात् तीर्थंकरों[६] की मूर्त्तियों की पूजा करते हैं॥ १॥

समीक्षक—जितना यह पूजा का आडम्बर चला है, वह सब जैनों के घर से चला है। यह श्लोक '**विवेकसार**' के ५२ पृष्ठ पर लिखा है।

[**मूल**—] [७]अब **और थोड़ी-सी असम्भव बातें** इनकी सुनो—

'**विवेकसार**' पृष्ठ ७८—एक करोड़ साठ लाख कलशों[८] से महावीर को जन्म समय में स्नान कराया।[९]

१,३,४. **त्रुटित उद्धरण**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस श्लोक के "**पुष्प**", "**वयम्**" और "**मुदा**" पद त्रुटित हैं। मूलग्रन्थ के पाठ के अनुसार ये ग्राह्य हैं। "**पुष्प**" का तो हिन्दी में अर्थ भी है। उदयपुर सं० में तीनों त्रुटियां विद्यमान हैं (पृ० ४४१)। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ७८४/६ में '**पुष्प**' पद पठित है, जो पूर्णपाठ है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**निवेद्यवस्त्रैः**" अपपाठ है। "**नैवेद्यवस्त्रैः**" संशोधन अपेक्षित है। सभी अन्य तथा उदयपुर सं० में भी अपपाठ है (द्र० पृ० ४४१)।

५. **अपक्रम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में अर्थ में पदार्थ का अपक्रम है। मूलप्रति सं० में पाठ है—"**जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप-**"...। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में पाठ है—"**जल, चन्दन, चावल, पुष्प, धूप, दीप...।**" उपर्युक्त संशोधित पाठ अपेक्षित है। उदयपुर सं० सहित सभी अन्य पाठों में ये त्रुटियां विद्यमान हैं।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पृथक्-पृथक् अपप्रयोग है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है—"**जिनेन्द्रों अर्थात् तीर्थंकर की।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अपप्रयोग है—"**जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थंकरों की।**" यहां श्लोकपद के अनुसार दोनों पदों में बहुवचन चाहिए।

७. **उचित सम्पादन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह समीक्ष्य पाठ पृ० ५४७ पर अस्थान में दिया गया है। मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको अस्थान से हटाकर यहां उचित स्थान और क्रम में रखा गया है। यही ग्राह्य है।

यह भी ध्यातव्य है कि दोनों में इसकी समीक्षा छूट गई है। असम्भव बातों के अन्तर्गत केवल उद्धरण ही उपलब्ध है।

८. **कलशों का असम्भव परिमाण**—जिन स्वर्ण कलशों=घड़ों से महावीर को स्नान कराया उनका जैनशास्त्र-वर्णित परिणाम भी देख लीजिए, नहीं तो पाठक एक महागपोड़ा पढ़ने से वंचित रह जायेंगे—

"**अष्टयोजनगम्भीरैः मुखे योजनविस्तृतैः। प्रारेभे काञ्चनैः कुम्भैः जन्माभिषवणोत्सवः॥**" (जितसेनरचित 'महापुराण' पर्व १३, श्लोक ११३) अर्थात्—आठ योजन=पौराणिक माप से बत्तीस कोश गहरे और एक योजन=चार कोश चौड़े स्वर्ण कलशों द्वारा स्नान से महावीर के जन्म का उत्सव सम्पन्न हुआ। इतने बड़े स्वर्णकलश किसी जैनी ने ही देखें होंगे और किसी जैनी के ही घर में रखे जाते होंगे? ऐसे-ऐसे गपोड़े जैनशास्त्रों में भरे पड़े हैं। जैनियों के एक लेखक ने इस सम्प्रदाय के गपोड़ों का खुला मजाक उड़ाया है। उसको जानने के लिए पढ़िए **स्वामी वेदानन्द जी** के संस्करण में टिप्पणियां और श्री बच्छराज सिंधीरचित '**जैनशास्त्रों की असंगत बातें**' नामक पुस्तक।

९. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपपाठ है—"**महावीर को जन्म समय में स्नान किया।**" मूलप्रति सं० में शुद्ध पाठ है। उदयपुर मं० में संशोधित है।

पृष्ठ १३६ '**विवेकसार**' में—दशार्ण राजा चौवीसवें तीर्थंकर महावीर के दर्शन करने को गया। वहाँ कुछ अभिमान किया तो वहां महावीर के दर्शन को १६,७७,७२,१६००० इतने इन्द्र के स्वरूप और १३,३७,०५,७२, ८०,०००००००[1] इतनी इन्द्राणियां[1] आई थीं। देखकर राजा साश्चर्य हो गया।[2-3]

समीक्षक—अब विचारना चाहिये कि इन्द्र और इन्द्राणियों के खड़े रहने के लिये ऐसे-ऐसे कई भूगोल हों तो भी नहीं समा सकें। परन्तु इसमें ऐसा होगा कि कितने ही ग्रन्थकार के घर में बैठे होंगे। कितने ही उनके चेलों के घर में और कितने ही उनके कन्धों पर बैठे होंगे और कितने ही पुकारते होंगे।[4]

[**मूल**—] अब इनके **पक्षपात की** बातें देखो! अपने तीर्थंकरों, जिन्होंने गृहाश्रम किया, पुत्रोत्पत्ति की, संसार भोगा, पश्चात् साधु हुए, उनका मान करते हैं।

और '**विवेकसार**' १०३ पृष्ठ पर—श्री स्थूलभद्र स्वामी की कथा।[5]

'**रत्नसार**' भाग १, पृष्ठ ११० पर—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव स्त्री के गुलाम बताये हैं।

'**रत्नसार**' भाग १, पृष्ठ १११ पर—कृष्णादि नव वासुदेव[6] और प्रह्लादादि प्रतिवासुदेव नरक में गये।

'**रत्नसार**' भाग १, पृष्ठ २०—ब्रह्मा, विष्णु, नारायण आदि सब कामी हैं। इसलिये उनको छोड़ने योग्य कहा है।

समीक्षक—और जिन ऋषभदेव आदि ने विवाह कर गृहाश्रम भोगा, वे त्यक्तव्य क्यों नहीं? जो ये त्यक्तव्य नहीं, तो नारायण आदि अच्छे क्यों नहीं? 'ऋषभदेव संसारदु:ख के तरने के लिये काष्ठ की नौका के समान तारनेवाले और महादेव, विष्णु आदि पत्थर की नौका के समान डुबाने वाले हैं', भला, यह झूठ, पक्षपात की बात जैसे कुंजड़ी अपने खट्टे बेरों को मीठे बतलाती है, क्या वैसी नहीं है?

[**मूल**—] '**विवेकसार**' पृष्ठ २१—जिन-मन्दिर में मोह नहीं आता। [वह] भवसागर के पार उतारनेवाला है।

विवेकसार पृष्ठ ५१ और ५२—मूर्त्तिपूजा से मुक्ति होती है और जिन-मन्दिर में जाने से सद्गुण

१-२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां एकवचनान्त "**इन्द्राणी**" अपप्रयोग है, यहां बहुवचन "**इन्द्राणियां**" चाहिए, जैसा प्रयोग उत्तर में "**इन्द्राणियों**" प्रथम पंक्ति में है। मूलप्रति सं० श्रवणभ्रान्तिजन्य प्रयोग में "**आश्चर्य हो गया**" के स्थान पर '**साश्चर्य हो गया**' पाठ अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्वि०सं० में "**आश्चर्य में हो गया**" पाठ है। वह भी कामचलाऊ प्रयोग है। उदयपुर सं० ने पृ० ४४६ पर "**राजा आश्चर्य हो गया**" अपपाठ अपनाया है। **संशोधन-पुष्टि**—महर्षि की शब्दावली है, "**दोनों साश्चर्य हो गये**"। "**साश्चर्य होकर**" द्रष्टव्य पृ० ६२२, ६२६ पृष्ठ की भाषा।

३. **गणित में भी गपोड़ा**—गणित में गपोड़ा नहीं चलता, किन्तु जैनशास्त्रों ने गणित में भी गपोड़े चला दिये। पं० मीमांसक जी ने इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि प्रति इन्द्र ७९६९४८ इन्द्राणियों के बंटने के पश्चात् ६३२३२००० इन्द्राणियां शेष बच जाती हैं, जैनी बतायें कि उनको प्रति इन्द्र कैसे बांटा जायेगा? यह है जैन-शास्त्रों का गणितज्ञान! जैनियों को एक-एक इन्द्र को इतनी-इतनी इन्द्राणियां देकर जैनशास्त्रों ने पौराणिकों और मुसलमानों का सारा रिकार्ड तोड़ दिया है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने महत्त्वपूर्ण समीक्षा भाग "**परन्तु इसमें ऐसा.... पुकारते होंगे।**" प्रमादवश छोड़ दिया। यह मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० में है और आवश्यक है।

५. **स्थूलभद्र मुनि की कथा**—आगे पृ० ७८८, ८३० पर वर्णन है कि स्थूलभद्र मुनि कोशा नामक एक वेश्या के घर में रहकर उससे भोग करता रहा, फिर मुनि की दीक्षा लेकर स्वर्ग को गया। कोशा वेश्या भी स्वर्ग को गई। कैसा अद्भुत मत है!!

६. **श्रीकृष्णादि को नरक**—जैनियों का यह अनर्गल और पक्षपातपूर्ण वर्णन पृ० ७८९ पर भी द्रष्टव्य है।

आते हैं। जो जल, चन्दनादि से जिन-मूर्त्तियों की पूजा करे वह नरक से छूट स्वर्ग को जाय।

'**विवेकसार**' पृष्ठ ५५ में—जिन-मन्दिर में ऋषभदेव आदि की मूर्त्तियों के पूजने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सिद्ध होता है।

'**विवेकसार**' पृष्ठ ६१ में—जिन-मूर्त्तियों की पूजा से सब पाप छूट जाते हैं।[१]

पृष्ठ ६७ में—जिन-मूर्त्तियों की पूजा करें तो जगत् के क्लेश छूट जायें।

पृष्ठ ८१ में—श्री जिन की पूजा से सब पाप छूट जाते हैं।

[**समीक्षक**—] इत्यादि बड़े-बड़े विचित्र, असम्भव बातों के गपोड़े उड़ाये हैं।[२] और यह भी '**विवेकसार**' के तीसरे पृष्ठ पर लिखा है कि—'जो 'जिन' की मूर्त्ति-स्थापना करते हैं, उन आचार्यों ने अपनी और अपने कुटुम्ब की आजीविका चलाई है', ऐसा खण्डन भी करते हैं।

[**मूल**—] और उसी ग्रन्थ के २२५ पृष्ठ पर [लिखा है]—शिव, विष्णु आदि की मूर्त्ति की पूजा करना बहुत बुरा है अर्थात् नरक का साधन है।

समीक्षक—भला, इनके पत्थर और जैनियों के पत्थरों में कुछ भेद है ? जो कहें कि हमारी मूर्त्तियां त्यागी और शान्त हैं। भला, हम इनसे पूछते हैं कि तुम्हारी मूर्त्तियां तो लाखों रुपयों के मन्दिरों में रहतीं है, और चन्दन, पुष्पादि चढ़ता है, पुनः त्यागी कैसी ? इससे तो अधिक त्यागी और तपस्वी पहाड़ हैं। और तुम्हारी नंगी मूर्त्तियां मनुष्यों के बीच में लज्जाकारक हैं। भला, वे तो 'ऐब ढांक रखते'[३] हैं। **इससे तुम दोनों मूर्त्तिपूजा छोड़ दो। सब मतों की मूर्त्तिपूजा व्यर्थ है।**

[**मूल**—] अब और देखिये लड़केपन की बातें—

'**विवेकसार**' पृष्ठ १०१ में—एक नन्दीषेण ने दश 'पूर्व'[४] तक भोग किया। एक मुनि वेश्या के घर में रहा, भोग किया, फिर मुनि की दीक्षा ले, स्वर्ग को गया।

और स्थूलभद्र मुनि भी ऐसा ही काम करके स्वर्ग को गया।[५] [विवेकसार पृ० १०३]

'**विवेकसार**' पृष्ठ २२८ पर—एक पुरुष ने कोशा वेश्या का भोग किया, पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग को गया।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १०१ पर—अर्णकमुनि ने चारित्र से चूककर कई वर्ष दत्त सेठ के घर में भोग किया, पश्चात् देवलोक को गया।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १०६ पर—श्रीकृष्ण तीसरे नरक में गये।

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—यह पंक्ति मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। वहां पृष्ठ संख्या तो ६१ लिखी है किन्तु उद्धरण आगे वाला पृ० ६७ का दे दिया है। इस प्रकार लिपिकर इस उद्धरण को ही छोड़ गया। दोनों उद्धरणों के आरम्भ में एक जैसे शब्द "**जिनमूर्तियों**" होने से लिपिकर विचलित हो गया। अन्य सभी सं० के और उदयपुर सं० के सम्पादक भी इस पाठ को छोड़ गये। लिपिकर के समान वे भी विचलित हो गये।

२. **परिवर्धित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां उपर्युक्त उद्धरणों पर आधारित समीक्षा बढ़ाई गई है।

३. '**ऐब ढांक रखना**' उर्दू का मुहावरा है जिसका अर्थ है—दोषों या गुप्तांगों को ढांप कर रहना।

४. '**पूर्व-समय**'—जैनियों की कल्पना में सत्तर लाख करोड़, छप्पन सहस्र वर्षों का एक 'पूर्व-समय' काल-प्रमाण होता है। परिमाण द्रष्टव्य पृ० ७९१-७९२ पर।

५. **अन्यत्र वर्णन**—यही उल्लेख द्र० है पृ० ८३०, ८३१ पर भी।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १४५ पर—धन्वन्तरि वैद्य नरक को गया।

और देखो विचित्र लीला! '**विवेकसार**' पृष्ठ १०६ में—श्री कृष्ण के पुत्र ढण्ढण मुनि को स्यालिया[१] उठा ले गया और खा गया, पश्चात् [स्यालिया] देवता हुआ।

'**विवेकसार**' पृष्ठ ४८ पर—जोगी, जंगम, काजी, मुल्ला कितने ही अज्ञान से तप-कष्ट करके कुगति को पाते हैं।

'**रत्नसार**' भा० १, पृष्ठ १७०-१७१ पर लिखा है कि नव वासुदेव अर्थात् त्रिपृष्ठ वासुदेव, द्विपृष्ठ वासुदेव, स्वयंभू वासुदेव, पुरुषोत्तम वासुदेव, सिंहपुरुष वासुदेव, पुरुषपुण्डरीक वासुदेव, दत्त वासुदेव, लक्ष्मण वासुदेव और श्रीकृष्ण वासुदेव ये सब ग्यारहवें, बारहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, अठारहवें, वीसवें और वाईसवें तीर्थकरों के समय नरक को गये। और नव प्रतिवासुदेव अर्थात् अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव, तारक प्रतिवासुदेव, मोदक प्रतिवासुदेव, मधु प्रतिवासुदेव, निशुम्भ प्रतिवासुदेव, बली प्रतिवासुदेव, प्रह्लाद प्रतिवासुदेव, रावण प्रतिवासुदेव और जरासन्ध प्रतिवासुदेव ये भी सब नरक को गये।[२]

और '**कल्पभाष्य**' में लिखा है कि—''ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकर सब मोक्ष को प्राप्त हुए।''

[**समीक्षक**—] 'जैनियों के सर्व तीर्थंकर और उनके गण तथा उनके शिष्य और जैनमतस्थ करोड़ों-करोड़ों मनुष्य कोई '**शिवपुर**', कोई '**सिद्धशिला**', कोई '**देवलोक**' और कोई स्वर्ग में गये, परन्तु श्रीकृष्णादि और अन्य भी अनेक नरक को गये और जायेंगे'। भला, अब विचारिये कि ये बातें, क्या जैनियों के ही हाथ में स्वर्ग-नरक की कुंजी है? इनको ऐसा महाझूठ लिखते-बोलते लज्जा भी नहीं आई कि श्रीकृष्णादि महात्मा नरक में गये और इनके रण्डीबाज भी स्वर्ग और मुक्ति को चले गये। हम जानते हैं कि जितने झूठे, महामूर्ख, हठी और पक्षपाती जैनी लोगों में थे, और हैं, वैसे अन्य लोगों में नहीं। भला, 'इन जैनियों के ऋषभदेवादि तीर्थंकर नरक में गये, महापापी थे, और सब उनके चेले भी वैसे थे और हैं', ऐसा कोई लिखे वा कहे तो इनको[३] कितना बुरा लगेगा? वैसे ही दूसरे का भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि इन महाहठी, दुराग्रही, मूर्खों के संग से, सिवाय बुराइयों के, अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा।[४] हां! **जो जैनियों में उत्तमजन* हैं, उनसे सत्संगादि करने में कुछ भी दोष नहीं।**

[**मूल**—] और भी इनकी धर्म से उलटी बातें सुनो—

'**विवेकसार**' पृष्ठ ७ में—जो शुद्ध जिनवचन यथास्थितक है, उसी को सुगुरु और[५] अन्य को कुगुरु मानते हैं।[६] '**विवेकसार**' पृष्ठ १५४ में—''**अदेवा गुरवो धर्मेषु या देवगुरुधर्मधीः।**'' यह श्री

---

* जो उत्तम जन होगा वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा। (स्वामी दयानन्द)[७]

---

१. **स्यालिया**=गीदड़। २. **उचित संशोधन**—विवेकसार पृ० ४८ और १७०-१७१ के ये दोनों उद्धरण इस संस्करण के पृ० ७८९, पंक्ति २५ के बाद से, और मूलप्रति सं० में पृ० ५२३ पर से तथा द्विप्र० में अग्रिम पृष्ठ ४४४ पंक्ति ९ के बाद से उठाकर यहां रखे हैं। यही इनका उचित स्थान है, क्योंकि यहीं इनकी समीक्षा है। मूलसं० में वहां प्रदर्शित इस पाठ के बाद समीक्षा नहीं है।

३. **अपप्रयोग**—यहां ''**उनको**'' नहीं, ''**इनको**'' अभीष्ट है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—''**क्योंकि इन.....पड़ेगा**'' मुद्रणप्रति में ऋषि-लेख है।

५. **अपपाठ**—यहां ''**अर्थात्**'' पाठ के स्थान पर ''**और**'' प्रयोग अपेक्षित है।

हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है। अर्थात् ब्रह्मादि अदेव, जैन से भिन्न मार्ग के उपदेशक अगुरु और जैनधर्म से भिन्न सब अधर्म हैं; इनमें देवगुरु और धर्मबुद्धि करना मिथ्यादृष्टि है।

[**समीक्षक**—] चौथे गुण ठाणे वाले, असंयति, अविरति, रजोहरणादि साधुवेश रहित जीवों को सम्यग् दृष्टि[१] कहते हैं तो रजोहरणादि[२] भगवान् का वेश तथा शुद्ध धर्म, जैनमार्ग का उपदेशक सम्यग् दृष्टि क्यों कहाता है?

[**मूल**—] '**विवेकसार**' पृष्ठ १५६ पर—लिंगधारी अर्थात् वेशधारी मात्र का भी सत्कार श्रावक लोग करें। चाहे वे शुद्ध चरित्र हों वा अशुद्ध चरित्र।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १६८ पर—जैन साधु चरित्रहीन भी हो तो भी अन्य साधुओं से श्रेष्ठ ही है।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १७१ पर—श्रावक लोग, जैन [मत] के साधुओं को धर्मरहित, भ्रष्ट देखकर भी निस्नेह न होने चाहियें।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १९४ पर—जिन-मत में स्थित होना सार, शेष सब संसार के मत असार हैं।

'**विवेकसार**' पृष्ठ १९६ पर—अन्य मत की अभिलाषा जैनी को न करनी चाहिये। उनकी बात सुनने में भी दोष है।

'**विवेकसार**' पृष्ठ २१६ पर—एक चोर ने पांच मूठी लोंच के चारित्र ग्रहण किया। बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किया। छठे महीने में केवलज्ञान पाके सिद्ध हो गया।

'**विवेकसार**' पृष्ठ २२१ पर—अन्य मतवाले को खाने-पीने की चीज़ भी न देनी चाहिये।

'**विवेकसार**' पृष्ठ २२१ पर—१. '**पर-मती की स्तुति**' अर्थात् उनका गुण कीर्तन, २. '**नमस्कार**' अर्थात् उनकी वन्दना करना,[३] ३. '**आलपन**' अर्थात् उनसे थोड़ा [भी] बोलना, ४. '**संलपन**' अर्थात् उनसे वार-वार बोलना, ५. '**अन्नादिदान**' अर्थात् उनको खाने-पीने की चीज देना, ६. '**गन्धपुष्पादिदान**' अर्थात् पर-मती की प्रतिमा के पूजने के लिये गन्ध, पुष्प देना। ये **छः यतना** अर्थात् इन छः कर्मों को जैनी लोगों को नहीं करना चाहिये। ऐसे इनके सब ग्रन्थों में लिखा है।

समीक्षक—अब बुद्धिमानों को यहां विचार करना चाहिये कि जैसे जैन-मती दूसरे मत के विरोधी, निन्दक, हानिकारक हैं, वैसे दूसरे मत-वाले नहीं हैं। जहां देखो वहां बहुधा अपने मत की प्रशंसा-स्तुति और दूसरे मतवालों की निन्दा से इनके ग्रन्थों का खजाना भरा है। सच है, जो ऐसा जाल न रचते तो [लोग] ऐसे अज्ञानियों के विद्याविरुद्ध मत में फसकर बन्धन में फसे क्योंकर रहते! इसीलिये **जैनी लोग कुत्ते आदि को तो लड्डू-लप्सी खिलावें, परन्तु दूसरे मत के मनुष्यों में प्रीति करनेवाला करोड़ों में एक-आध है।**

---

६. **स्थान परिवर्तन**—ऊपर टिप्पणी संख्या २ में वर्णित पाठ मूलप्रति सं० में इस संख्यांक पर मिलता है।

७. **ऋषिहस्तलेख**—संख्यांक ७ टिप्पणी मुद्रणप्रति में ऋषिहस्तलेख में परिवर्धित है।

१. **अन्यत्र वर्णन**—सम्यक् दृष्टि आदि का लक्षण पृ० ७९८ पर द्रष्टव्य है। २. **रजोहरण-आदिवेश**—धूल झाड़ने की चमरी आदि धारण करना, यह जैन-साधुओं के वेश के अन्तर्गत परिगणित है (पृ० ७७६-७७७ पर श्लोक ७, ८ द्रष्टव्य हैं)।

३. **उचित संशोधन**—यहां "**उनको वन्दना**" यह अपूर्ण और अपपाठ उपलब्ध है। '**उनकी वन्दना करना**' पाठ उपयुक्त है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

अब देखिये, इनका साधु कैसा ही भ्रष्ट-नष्ट हो तो भी उत्तम, और दूसरा चाहे कितना भी श्रेष्ठ हो, तो कुछ नहीं समझते। यद्यपि '**विवेकसार**' पृष्ठ २१७ पर—'अनुकम्पा अर्थात् दुःखियों का निष्कारण दुःख दूर करने की इच्छा अर्थात् कुछ प्रयोजन न विचारना कि मुझको स्वर्ग, देवलोक वा मुक्ति होगी, ऐसे ही इच्छा करनी', यह कहना-मात्र है; वा कोई कभी जैनमत में आग्रही न होगा, वा किसी के दबाव से करता होगा, वह जानो नहीं करने के समान है। क्योंकि—

'**प्रयोजनमननुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इति न्यायात्।**

अर्थात् 'प्रयोजन के विना किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती है।'

[**मूल**—] '**विवेकसार**' पृष्ठ १०८ पर लिखा है कि मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैनमतियों ने अपना विरोधी समझकर मार डाला और आलोयणा करके शुद्ध हो गये।

[**समीक्षक**—] यह भी दया और क्षमा का नाशक कर्म है। जब अन्य मतवालों पर प्राण लेने पर्यन्त वैर-बुद्धि रखते हैं, तो इनको 'दयालु' के स्थान पर 'हिंसक' कहना ही सार्थक है।

[**मूल**—] और भी देखो इनकी **मिथ्या बातें!** जिन तीर्थंकरों को जैन लोग सम्यग्ज्ञानी और परमेश्वर मानते हैं, उनकी मिथ्या बातों के ये नमूने हैं—

'**रत्नसार**' भाग १ के पृष्ठ १४५—इस ग्रन्थ को जैन लोग मानते हैं, और यह ईसवी सन् १८७९ अप्रैल तारीख २८ में बनारस जैनप्रभाकर प्रेस में नानकचन्द जती ने छपवाकर प्रसिद्ध किया है। उसके पूर्वोक्त पृष्ठ [एवं पृष्ठ १४६-१४७] में **काल** की इस प्रकार व्याख्या की है—

'**समय**' का नाम सूक्ष्मकाल है। असंख्यात समयों को '**आवलि**' कहते हैं। एक करोड़, सड़सठ लाख, सतत्तर सहस्र, दो-सौ सोलह आवलियों का एक '**मुहूर्त्त**' होता है। तीस मुर्हूर्त्तों का एक '**दिवस**', वैसे पन्द्रह दिवसों का एक '**पक्ष**', वैसे दो पक्षों का एक '**महीना**', वैसे बारह महीनों का एक '**वर्ष**' होता है। सत्तर लाख करोड़ और छप्पन सहस्र करोड़ वर्षों का एक '**पूर्व**', असंख्यात 'पूर्वों' का एक '**पल्योपम**' काल होता है।

'**असंख्यात**' उसको[१] कहते हैं कि एक चार कोश का चौरस और गहिरा भी कुआ हो। चार कोश के उस कुए को[२] जुगुलिये मनुष्य[३] के शरीर के निम्नलिखित बालों के टुकड़ों से भरना, अर्थात् वर्तमान मनुष्य के शरीर के बालों से जुगुलिये मनुष्य के बाल चार हजार छानवें भाग सूक्ष्म हैं, अर्थात् '**जुगुलिये**' मनुष्य के चार सहस्र छानवे बालों को इकट्ठा करने से मनुष्यों का एक बाल होता है। ऐसे जुगुलिये मनुष्य के एक बाल का एक अंगुल टुकड़ा सात वार करना, फिर उसके आठ-आठ टुकड़े करना, तो २२९३७६ अर्थात्[४] दो लाख, उनतीस सहस्र, तीन सौ छिहत्तर एक बाल के इतने टुकड़े होते

१-२. **अपप्रयोग**—क्रमशः ''**इसको**'' और ''**कुए में**'' के स्थान पर '**उसको**' और ''**कुए को**'' प्रयोग शुद्ध हैं। मूलप्रति सं० में '**कुए**' के स्थान पर ''**खाढ़े**'' अपप्रयोग है। जबकि पूर्वापर में ''**कुआ**'' पद प्रयुक्त है। द्वि०सं० में संशोधित है।

३. **जुगुलिया मनुष्य**—जैनशास्त्रों के अनुसार एक कल्पित मानव जिसके शरीर का बाल साधारण मनुष्य से ४०९६ भाग सूक्ष्म होता है, अर्थात् उसके ४०९६ बाल इकट्ठा करने पर वर्तमान मनुष्य का एक बाल बनेगा।

४. **अशुद्ध गणना**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां २०९७१५२ अशुद्ध गणना है। १×४०९६×७= २८६७२×८=२२९३७६ एक बाल के टुकड़े होते हैं। ऊपर संशोधित है। **अन्यत्र वर्णन**—यही अशुद्ध गणना पृ० ८३७ पर और टिप्पणी ९ में द्रष्टव्य है।

हैं।[१] ऐसे टुकड़ों से वह कुआ भरना, सौ वर्ष के अन्तरे एक-एक टुकड़ा निकालना। जब सब टुकड़े निकल जावें और कुआ खाली हो जाय, वह भी '**संख्यात**' काल है। और एक-एक टुकड़े के असंख्यात टुकड़े करना, टुकड़े करके उसी कुए को ऐसा [ठसा-] ठस भरना कि ऊपर से चक्रवर्त्ती राजा की सेना चली जाय, तो भी दबे नहीं। उन टुकड़ों में से एक-सौ वर्ष में एक टुकड़ा निकालना, जब वह कुआ खाली हो जाय, तब उसका नाम '**असंख्यात**' [काल है]। असंख्यात '**पूर्व वर्ष**' पड़ें, तब एक '**पल्योपम**' होता है। वह पल्योपम कुए के दृष्टान्त से जानना।

जब दश करोड़ान्-करोड़ 'पल्योपम' काल बीत जायें, तब एक '**सागरोपम**' होता है। जब दश करोड़ान्-करोड़ 'सागरोपम' काल व्यतीत हो जायें, तब एक '**उत्सर्पणी**' काल हो। जब दश करोड़ान्-करोड़ 'उत्सर्पणीकाल' व्यतीत हो जायें तब एक '**अवसर्पणी**' काल हो। एक 'उत्सर्पणी' और 'अवसर्पणी' काल व्यतीत हो जाय तब एक '**कालचक्र**' हो। अनन्त कालचक्र व्यतीत होंवे तब एक '**पुद्गलपरावर्त्त**' होता है।[२]

अब 'अनन्तकाल' किसको कहते हैं कि जो सिद्धान्त पुस्तकों में नव दृष्टान्तों से काल की संख्या कही है, उससे उपरान्त '**अनन्तकाल**' कहाता है। वैसे अनन्त '**पुद्गलपरावर्त्त**' काल जीव को भ्रमते हुए बीते हैं।

[**समीक्षक**] सुनो भाई **गणितविद्या** वाले लोगो! जैनियों के ग्रन्थों की कालसंख्या कर सकोगे वा नहीं? और तुम इसको सच भी मान सकोगे वा नहीं? देखो, इन तीर्थंकरों ने ऐसी **गणितविद्या** पढ़ी थी!!! ऐसे-ऐसे तो इनके मत में गुरु और शिष्य हैं, जिनकी अविद्या का कुछ पारावार नहीं।

[**मूल**—] और भी इनका अन्धेर सुनो—

'**रत्नसार**' भाग १, पृष्ठ १३४ से लेके जो कुछ '**बूटाबोल**' अर्थात् जैनियों का[३] सिद्धान्तग्रन्थ, जो कि उनके 'तीर्थंकर' अर्थात् ऋषभदेव से लेके महावीर पर्यन्त चौवीस हुए हैं, उनके वचनों का सारसंग्रह है—

ऐसा '**रत्नसार**' भाग १, पृ० १४८ पर लिखा है कि—पृथिवीकाय के जीव मिट्टी, पाषाणादि पृथिवी के भेद जानना। उनमें रहनेवाले जीवों के शरीर का परिमाण एक अंगुल का असंख्यातवाँ भाग समझना, अर्थात् अतीव सूक्ष्म होते हैं। उनका आयुमान अर्थात् वे अधिक से अधिक २२ सहस्र वर्ष

सभी विद्वानों द्वारा अपसम्पादन—लिपिकरों-आदिशोधकों की तरह ही सवा-सौ से अधिक वर्षों की अवधि के हमारे सभी विद्वानों ने इस संख्या के शुद्धीकरण पर ध्यान नहीं दिया है, इस कारण सभी के संस्करणों में यह कुलयोग अशुद्ध है। स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी और उदयपुर सं० के कथित 'दस सम्पादकों' का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। यह ऐसी भूल है जिसको एक विद्यार्थी भी पकड़ लेता है और ग्रन्थकार के लेखन पर शंका करता है। इस कारण यह शाब्दिक भूल से अधिक गम्भीर है।

परस्परविरोध अशुद्धि में भी—यहां कुलयोग २०९७१५२ है और पृ० ८३७ पर २०५७१५२ है। उदयपुर सं० के सम्पादकों ने इस परस्परविरोध को भी दूर नहीं किया।

१. **असंभव कालपरिमाण का वर्णन**—इस विषयक कालपरिमाण पृ० ७९१ पर भी द्रष्टव्य है।

२. **असंभव गणना**—सामान्य गणितज्ञ की तो बात छोड़ दीजिये, संसार का महान् गणितज्ञ होने का दावा करने वाला व्यक्ति भी जैनियों के उक्त गणित को व्यवहार में सही-सही नहीं बता सकता। कृपया, जैनी लोग यह चमत्कार करके दिखायें!

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**के**" अपप्रयोग है। यहां '**का**' अभीष्ट है क्योंकि एक ग्रन्थ है।

पर्यन्त जीते हैं।

'**रत्नसार**' पृष्ठ १४९—वनस्पति के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, वे साधारण वनस्पति कहाती हैं। जो कि कन्दमूलप्रमुख और अनन्तकायप्रमुख होते हैं, उनको साधारण वनस्पति के जीव कहना चाहिये।[१] उनका आयुमान अनन्तमुहूर्त[२] होता है परन्तु यहाँ पूर्वोक्त इनका मुहूर्त समझना चाहिये।

और एक शरीर में जो '**एकेन्द्रिय**' अर्थात् स्पर्श-इन्द्रिय इनमें है और उसमें[३] एक जीव रहता है उसको प्रत्येक-वनस्पति कहते हैं। उसका देहमान **एक सहस्त्र योजन अर्थात् पुराणियों का योजन ४ कोश का परन्तु जैनियों का योजन १०००० दश सहस्त्र[४] कोश का होता है।** ऐसे चार सहस्त्र कोश का [पौराणिक प्रमाण के अनुसार तथा जैन-प्रमाण के अनुसार एक करोड़ कोश का][५] शरीर होता है, उसका आयुमान अधिक से अधिक दश सहस्त्र वर्ष का होता है।

अब दो इन्द्रियवाले जीव अर्थात् एक उनका शरीर और एकमुख जो शङ्ख, कौड़ी और जूं आदि होते हैं, उनका देहमान अधिक से अधिक अड़तालीस कोश का स्थूल शरीर होता है और उनका आयुमान अधिक से अधिक बारह वर्ष का होता है।

[**समीक्षक**—] यहाँ बहुत ही भूल गया, क्योंकि इतने बड़े शरीर का आयु अधिक लिखता। और अड़तालीस कोश की स्थूल जूं जैनियों के शरीर में पड़ती होगी और उन्हींने देखी भी होगी!! और का भाग्य ऐसा कहाँ,[६] जो इतनी बड़ी जूं को देखे!!!

[**मूल**—] '**रत्नसार**' भाग १ पृष्ठ १५०—और देखो इनका अन्धाधुंध! बिच्छू, बगाई, कंसारी[७] और मक्खी [आदि] एक योजन [=दश हजार कोश] के शरीरवाले होते हैं।[८] इनका आयुमान अधिक से अधिक छः महीने का है।

[**समीक्षक**—] देखो भाई! चार-चार कोश का [पौराणिक प्रमाण से, तथा जैन-प्रमाण से दश-दश

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कहने चाहियें**'' अपप्रयोग है, ''**कहना चाहिये**'' अपेक्षित है?

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**अन्तर्मुहूर्त्त**'' अपप्रयोग है, '**अनन्तमुहूर्त्त**' शुद्ध प्रयोग अभीष्ट है।

३,४,८. **ऋषिहस्तलेख**—''**एकेन्द्रिय.....उसमें**'', ''**दश हजार (सहस्त्र)**'', ''**एक योजन.....होते हैं**'' तीनों पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

५. **अपगणना**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**चार सहस्त्रकोश**'' अपगणना है। ऊपर की पंक्ति में दिये गये जैन-मान के अनुसार यहां १०००×१०,०००=१,००,००,००० एक करोड़ कोश गणना होनी चाहिये।

रग-रग में जख्म है—लिपिकरों और आदिशोधकों ने जो प्रमाद और मक्कारी की है, सो तो की है। अब तो प्रश्न यह सामने खड़ा है कि सवा-सौ से भी अधिक वर्षों की अवधि में हमारे सभी सम्पादक विद्वानों ने ये कैसा सम्पादन किया है? और अब उदयपुर सं० ने जो 'मानक' संस्करण का डिंडिम घोष किया है तो उन कथित 'दश सम्पादकों' ने सत्यार्थप्रकाश का क्या हित कर दिया? विडम्बना देखिए, एक वाक्य पहले ही महर्षि यह बता रहे हैं कि **जैनियों का एक योजन दश सहस्त्र कोश का** होता है। ठीक अगले वाक्य में एक सहस्त्र योजन को ''**चार सहस्त्र कोश**'' बनाकर परस्परविरुद्ध पाठ स्वीकृत कर रहे हैं!! अर्थात् अगले वाक्य में ही प्रमाद और अशुद्धि है। यह कौन-सी 'मानकता' है? ऐसी स्थिति में दुखी मन को यह शेर स्मरण हो आता है—'**नश्तर उठाके हाथ में सैयाद ने कहा, रग-रग में जख्म है लगाऊ कहाँ-कहाँ?**'

६. **अपप्रयोग**—द्वि० सं० में यहां ''**ऐसा कहीं**'' अपप्रयोग है, '**ऐसा कहां**' अपेक्षित है।

७. **बिच्छू, बगाई, कंसारी**—ग्रन्थ में दो तरह की वर्तनियां मिलती हैं—''बिच्छू'', ''बीछू''। एकरूपता, मानकता, व्यवस्था के लिए ''बिच्छू'' स्वीकृत की गई है। **बगाई**=चिचड़ी या चीचड़, जो पशुओं की त्वचा पर चिपटे रहते हैं तथा **कंसारी**=झिंगुर, किसारी; ये दो गुजराती भाषा के प्रयोग हैं। ''**कसारी**'' अशुद्ध है।

सहस्र[१] कोश का] बिच्छू अन्य किसी ने देखा न होगा। जो आठ-आठ मील के [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से वीस सहस्र[२] मील तक के] शरीरवाले बिच्छू और मक्खी भी जैनियों के मत में होती हैं, ऐसे बिच्छू और मक्खी उन्हींके घर में रहते होंगे और उन्हींने देखे होंगे। अन्य किसी ने संसार में नहीं देखे होंगे। कभी ऐसे बिच्छू किसी जैनी[३] को काटें तो उसका क्या होता होगा?[४]

[**मूल**—] जलचर मच्छी आदि के शरीर का मान एक सहस्र योजन अर्थात् १०,००० कोश के [प्रति] योजन के हिसाब से १,००,००,००० एक करोड़ कोश का [जैन-प्रमाण से तथा पौराणिक प्रमाण से चार सहस्र कोश का] होता है और एक करोड़ '**पूर्ववर्ष**' का इनका आयु होता है। [रत्नसार भाग २, पृ० १५०]

[**समीक्षक**—] वैसा स्थूल जलचर सिवाय जैनियों के अन्य किसी ने न देखा होगा।[५]

[**मूल**—] और चतुष्पात् हाथी आदि का देहमान दो कोश से नव कोशपर्यन्त और आयुमान चौरासी सहस्र वर्षों का [होता है], इत्यादि। [रत्नसार, भाग १, पृ० १५०]

[**समीक्षक**—] ऐसे बड़े-बड़े शरीरवाले जीव भी जैनी लोगों ने देखे होंगे। और [वे ही] मानते हैं, और कोई बुद्धिमान् नहीं मान सकता।

[**मूल**—] '**रत्नसार**' भाग १ पृष्ठ १५१—जलचर गर्भज जीवों का देहमान उत्कृष्ट एक सहस्र योजन अर्थात् १,००,००,००० एक करोड़ कोशों का [जैन-प्रमाण से तथा पौराणिक प्रमाण से चार सहस्र कोशों का] और आयुमान एक करोड़ 'पूर्ववर्ष' का होता है।

[**समीक्षक**—] इतने बड़े शरीर और आयुवाले जीवों को भी इन्हीं के आचार्यों ने स्वप्न में देखा होगा![६] क्या यह महा-झूठ बात नहीं कि जिसका कदापि सम्भव न हो सके?

[**मूल**—] अब सुनिये भूमि के[७] प्रमाण को—

'**रत्नसार**' भाग १ पृष्ठ १५२—इस तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। इन असंख्यातों का प्रमाण अर्थात् अढ़ाई '**सागरोपम**' काल में जितना समय हो, उतने द्वीप तथा समुद्र

१,२. **अपगणना एवं अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर "**चार-चार कोश**" "**आठ मील का**" अपगणना है। यहां महर्षि-निर्दिष्ट जैनमान के अनुसार क्रमशः '**दश सहस्र कोश**' और '**बीस सहस्र मील**' पाठ अभीष्ट है। वाक्य भी बहुवचन में अपेक्षित है, क्योंकि आगे दो जीवों के लिए बहुवचनात्मक वाक्य है।

सभी सम्पादकों द्वारा अशुद्ध सम्पादन—सवा-सौ वर्षों की अवधि में जितने भी सम्पादक हुए हैं और उदयपुर सं० के जो नये कथित 'दश-सम्पादक' बने हैं, किसी ने भी इस गणना को शुद्ध नहीं किया है। देखिए, कुछ पंक्ति पूर्व महर्षि ने जैनियों का प्रमाण दिया हैं '**एक योजन=दश सहस्र कोश**', और अग्रिम पृष्ठ पर इसी प्रमाण के अनुसार जलचरों की लम्बाई की गणना है। इस प्रकार रखने से यह अशुद्ध भी है और महर्षि का परस्परविरोध भी आता है। यह देखकर दुःख होता है कि **स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० मीमांसक जी** जैसे विद्वानों ने भी इस अशुद्धि और परस्परविरोध पर ध्यान नहीं दिया। इस संस्करण में बृहत् कोष्ठक में महर्षि-वर्णित काल-मान की गणना देकर दोनों प्रकार की गणनाओं में सामंजस्य स्थापित किया है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**जैनि**" अपवर्तनी है। अन्य सभी में संशोधित है।

४,५. **ऋषिहस्तलेख**—"**कभी ऐसे.....होता होगा**", "**सिवाय.....देखा होगा**" दोनों पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

६. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अशुद्ध है—"**आयुवाले जीवों को इन्हीं के आचार्यों ने स्वप्न में देखे होंगे।**" सभी अन्य सं० तथा उदयपुर सं० में अपवाक्य ही है।

७. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**भूमि को परिमाण को**" अपप्रयोग है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

जानना।

इस पृथिवी में एक '**जम्बूद्वीप**' प्रथम सब द्वीपों के बीच में है। इसका प्रमाण एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश का [पौराणिक-प्रमाण से, तथा जैन-प्रमाण से एक अरब कोश का][१] है और इसके चारों ओर '**लवण**' समुद्र है, उसका प्रमाण दो लाख योजन का है अर्थात् आठ लाख कोश का [पौराणिक-प्रमाण से, तथा जैन-प्रमाण से दो अरब कोश का][२]। इस जम्बूद्वीप के चारों ओर जो '**धातकीखण्ड**' नाम द्वीप है, उसका चार लाख योजन अर्थात् सोलह लाख कोश का [पौराणिक-प्रमाण से, तथा जैन-प्रमाण से चार अरब कोश का][३] प्रमाण है और उसके पीछे '**कालोदधि**' समुद्र है, उसका आठ लाख [योजन] अर्थात् बत्तीस लाख कोश का [पौराणिक-प्रमाण से, तथा जैन-प्रमाण से आठ अरब कोश का][४] प्रमाण है। उसके पीछे '**पुष्करावर्त्त**' द्वीप है, उसका प्रमाण सोलह [लाख योजन अर्थात् चौंसठ लाख कोश का पौराणिक-प्रमाण से, तथा जैन-प्रमाण से सोलह अरब][५] कोश का है।[६] उस द्वीप के भीतर की ओर कोरें हैं। उस द्वीप के आधे में मनुष्य बसते हैं और उसके उपरान्त असंख्यात

१-५. **कालगणना में असावधानी**—यहाँ कालगणना में भूल हुई है। "**अर्थात्**" लिखकर लिपिकर या लेखक ने जो गुणनफल प्रदर्शित किया है वह पौराणिक-प्रमाण (१ योजन=४ कोश) से गुणा कर गया, जबकि वह जैन-प्रमाण से होना चाहिए था। महर्षि ने पृ० ७९३ पर **जैनोक्त एक योजन का-प्रमाण 'दश सहस्त्र कोश'** का लिखा है। आगे (पृ० ७९४) पर दो गणनाएं जैन-परिमाण के अनुसार ठीक भी हैं। उसके अनुसार एक लाख योजन को दश सहस्त्र से गुणा करने पर गुणनफल 'एक अरब कोश' आता है (१,००,००० × १०,०००=१,००,००,००,०००)। इस आधार पर उक्त सन्दर्भ में गणना को सुधार कर चार, आठ, सोलह, बत्तीस और सोलह लाख कोश के स्थान पर क्रमशः एक, दो, चार, आठ और सोलह अरब कोश बनाया गया है।

नवीनतम माप 'किलोमीटर' में यदि इस क्षेत्रफल को परिवर्तित करें तो एक कोश में लगभग तीन किलोमीटर होते हैं। इस प्रकार जैनियों का 'जम्बूद्वीप' तीन अरब किलोमीटर का, 'धातकीखण्ड' बारह अरब और 'पुष्करावर्त्त' अड़तालीस अरब किलोमीटर परिमाण का बनेगा। 'लवण' और 'कालोदधि' समुद्र क्रमशः छह और चौबीस अरब किलोमीटर के बनेंगे। ऐसे असंख्यात द्वीप भूमि=पृथिवी पर बताये हैं। जबकि भूमि का कुल क्षेत्रफल परिणाम चालीस हजार कि०मी० है। द्वीप परिमाण का वर्णन पृष्ठ ८३२ पर भी द्रष्टव्य है।

इससे पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि जैन-शास्त्रों में कैसे-कैसे **महा-असम्भव** गपोड़े लिखे हैं।

उदयपुर सं० का अशुद्ध पाठ—उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों ने लगभग २००० अशुद्धियां अपने सं० में संशोधित की हैं जिनमें कई गणितीय अशुद्धियां भी हैं। किन्तु यहां उस नीति और मानदण्ड को भूल गये। पांच अशुद्धियों को ठीक न करके यह टिप्पणी देकर पीछा छुड़ा लिया है—"यहां गणना पुराणियों के योजन प्रमाण से है" (पृ० ७, अन्त में)। यह क्या समाधान हुआ? प्रश्न तो ये हैं—१. यहां परस्परविरोध क्यों है? २. महर्षि द्वारा विशेषतः विहित प्रमाण के विरुद्ध अशुद्ध गणना क्यों है? ३. आपने इस विसंगति का समाधान क्यों नहीं किया? ४. दावा करने के बावजूद आपने विसंगत पाठ यथावत् क्यों छोड़ा? जब मूलपाठ अशुद्ध ही रह गया और आपत्तिपूर्ण बना रहेगा तो आपकी टिप्पणी का क्या अर्थ है? क्या इस अशुद्ध मूलपाठ के साथ कोई आपकी टिप्पणी को भी उद्धृत करेगा क्या? ५. जब अन्य अशुद्धियां दूर कर दीं तो यहां की दूर क्यों नहीं की?

६. **मुद्रणलिपिकरकृत महाभ्रष्ट पाठ**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में यहां मुद्रणलिपिकर की भूल से पाठ त्रुटित रह जाने से पाठ भ्रष्ट हो गया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वितीय सं० में महाभ्रष्ट पाठ है—"**पुष्करावर्त्त द्वीप है, उसका प्रमाण सोलह कोश का है।**" मूलसं० में इतना संशोधन है—"**सोलह लाख कोश का है**", जो भ्रष्ट पाठ है। यहां '**सोलह लाख योजन अर्थात् चौंसठ लाख कोश**' पाठ होना चाहिए था, जो त्रुटित रहकर "**सोलह कोश**" बन गया। इस संशोधन की पुष्टि के लिए पृ० ८३८ पर कारिका सं० १२ का अर्थ द्रष्टव्य है। वहां भी द्वीपों का प्रमाण वर्णित है। लिपिकर की भूल को आदि-शोधकों ने नहीं सुधारा। उन्होंने कदम-कदम पर मक्कारी की है। यही महाभ्रष्टपाठ **स्वामी वेदानन्दजी** के संस्करण में है। **पं० मीमांसक जी** ने इसको संशोधित किया है। उदयपुर सं० के कथित 'दश सम्पादकों' का प्रमाद देखिए कि उसका लाभ भी नहीं उठा सके और फिर महाभ्रष्ट पाठ को स्वीकार करके ग्रन्थ को अशुद्धि के गर्त में ला पटका। "**पुष्करावर्त सोलह कोश का है**" इस महाभ्रष्ट त्रुटि को भी ठीक नहीं किया। इस मुद्रणलिपिकर कृत महाभ्रष्ट "**मूलस्वरूप को अक्षुण्ण रखने**" में गौरव तो कोई नहीं, हाँ, सत्यार्थप्रकाश पर त्रुटिदोष को अक्षुण्ण बनाये रखना अवश्य है।

द्वीप समुद्र हैं, उनमें तिर्यग् योनि[१] के जीव रहते हैं।

'रत्नसार' भाग १ पृष्ठ १५३—जम्बूद्वीप में एक हिमवन्त, एक ऐरण्यवन्त, एक हरिवर्ष, एक रम्यक्, एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु ये छः क्षेत्र हैं।

समीक्षक—सुनो भाई **'भूगोलविद्या'** के जाननेवाले लोगो! भूगोल का परिमाण करने में तुम भूले वा जैन? जो जैन भूल गये हों तो तुम उनको समझाओ और जो तुम भूले हो, तो उनसे समझ लो। **थोड़ा-सा विचारकर देखो, तो यही निश्चय होता है कि जैनियों के आचार्य और शिष्यों ने 'भूगोल', 'खगोल' और 'गणितविद्या' कुछ भी नहीं पढ़ी थी। जो पढ़े होते, तो महा-असम्भव गपोड़ा क्यों मारते?**

भला, ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत् को अकर्तृक मानें और ईश्वर को न मानें तो इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिये **जैनी लोग अपने पुस्तकों को किन्हीं अन्यमतस्थ विद्वानों[२] को नहीं देते, क्योंकि जिनको ये लोग तीर्थंकरों के बनाये हुए प्रामाणिक[३] सिद्धान्तग्रन्थ मानते हैं, उनमें इसी प्रकार की अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं, इसलिये नहीं देखने देते। जो देवें तो पोल खुल जाय।** इनके विना जो कोई मनुष्य कुछ भी बुद्धि रखता होगा, वह कदापि इस गपोड़ाध्याय को सत्य नहीं मान सकेगा।

यह सब प्रपञ्च जैनियों ने जगत् को अनादि मानने के लिये खड़ा किया है, परन्तु यह निरा झूठ है।[४] हां, जगत् का कारण अनादि है, क्योंकि वे आदितत्त्वस्वरूप परमाणु अकर्तृक हैं, उनमें नियमपूर्वक बनने वा बिगड़ने का सामर्थ्य कुछ भी नहीं। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसी का नाम है और स्वभाव से पृथक्-पृथक्-रूप और जड़ हैं, वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते। इसलिये उनका[५] बनानेवाला चेतन अवश्य है और वह बनानेवाला ज्ञानस्वरूप है। देखो, पृथिवी, सूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त, अनादि, चेतन परमात्मा का काम है। जिसमें संयोगरचना-विशेष दीखता है, वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता। जो कार्य जगत् को नित्य मानोगे, तो उसका कारण कोई न होगा, किन्तु वही कार्य कारणरूप हो जायगा। जो ऐसा कहोगे तो अपना कार्य और कारण आप ही होने से **'अन्योऽन्याश्रय'**[६] और **'आत्माश्रय'**[७] दोष आवेगा, जैसे अपने कन्धे पर आप चढ़ना। और अपना पिता और पुत्र आप नहीं हो सकता। इसलिये जगत् का कर्त्ता अवश्य ही मानना होगा।[८]

प्रश्न—जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो, तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है?

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**योनी**" अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में इसका अशुद्ध रूप ही है।

२. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों सं० में पाठ-संशोधन की अपेक्षा है। मूलप्रति सं० में यहां पाठ है—"**किसी विद्वान् अन्य मतस्थों को नहीं देते।**" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है—"**किन्हीं विद्वान् अन्यमतस्थों को नहीं देते।**" ऊपर संशोधित है।

३. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**जिनको लोग ये प्रामाणिक**"। अन्य सभी में संशोधित है।

४. **ऋषिहस्तलेख**—"**यह सब.....झूठ है**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**इनका**" अपप्रयोग है, पूर्ववाक्यस्थ "**वे**" के सम्बन्ध से "**उनका**" प्रयोग होगा।

६,७. **अन्योन्याश्रय दोष**—न्यायदर्शन के अनुसार, उसी को कारण और उसी को कार्य माने जाने का दोष अन्योन्याश्रय दोष कहाता है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं होता जो स्वयं कारण भी हो और कार्य भी। व्यवहार की दृष्टि से अर्थ है—दो व्यक्तियों का केवल परस्पर आश्रित रहना, अन्य किसी के द्वारा उनका महत्त्व स्वीकार न होना। **आत्माश्रय दोष**—केवल अपने आश्रय में रहकर करना, या दो भिन्न वस्तु होते हुए भी उन्हें एक मानना।

उत्तर—कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रथम कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य होता है। जिसमें संयोग-वियोग नहीं होता, जो प्रथम संयोग-वियोग का कारण है, उसका कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसकी **विशेष व्याख्या आठवें समुल्लास में सृष्टि की व्याख्या** में लिखी है, देख लेना।[१]

[**मूल**—] अब, 'जीव' और 'अजीव' इन दो पदार्थों के विषय में जैनियों का निश्चय ऐसा है—

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।

सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥ [सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, श्लोक ५६]

यह 'जिनदत्तसूरि' का वचन है; और यही '**प्रकरणरत्नाकर**' भाग पहले में '**नयचक्रसार**' में भी लिखा है कि चेतनालक्षण '**जीव**' और चेतनारहित '**अजीव**' अर्थात् जड़ है। सत्कर्मरूप पुद्गल '**पुण्य**' और पापकर्मरूप पुद्गल '**पाप**' कहाते हैं।

समीक्षक—जीव और जड़ का लक्षण तो ठीक है, परन्तु जो जड़रूप पुद्गल हैं, वे पाप-पुण्य-युक्त कभी नहीं हो सकते, क्योंकि पाप-पुण्य करने का स्वभाव चेतन में होता है। देखो, ये जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब पाप-पुण्य से रहित हैं। जो जीवों को अनादि मानते हैं, यह तो ठीक है। **परन्तु उसी अल्प[२] और अल्पज्ञ जीव को मुक्ति दशा में सर्वज्ञ मानना झूठ है; क्योंकि जो अल्प और अल्पज्ञ है, उसका सामर्थ्य भी सर्वदा ससीम रहेगा।[३]**

प्रश्न—जैसे धान्य का छिलका[४] उतारने वा अग्नि के संयोग होने से बीज पुनः नहीं उगता, उसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्ममरणरूप संसार में नहीं आता।

उत्तर—जीव और कर्म का सम्बन्ध छिलके[५] और बीज के समान नहीं है, किन्तु इनका समवायसम्बन्ध है, इससे अनादि काल से जीव और उसमें कर्म और कर्तृत्वशक्ति का सम्बन्ध है। जो उसमें कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे, तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे और मुक्ति को भोगने का भी सामर्थ्य नहीं रहेगा। जैसे अनादि काल का कर्मबन्धन छूटकर जीव मुक्त होता है, तो तुम्हारी नित्य मुक्ति से भी छूटके बन्धन में पड़ेगा। साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य कभी नहीं हो सकता और जो साधन-सिद्ध के विना मुक्ति मानोगे, तो कर्मों के विना ही बन्ध प्राप्त हो सकेगा।

[**मूल**—] अब सम्यक्त्व-दर्शनादि के लक्षण—वे आर्हत-प्रवचन-संग्रह[६] '**परमागमसार**'[७] में कथित

---

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मानना है**" के स्थान पर "**मानना होगा**" उपयुक्त पाठ है।

१. **परिवर्धित पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां एक समीक्षात्मक विस्तृत अनुच्छेद बढ़ाया गया है।

२. **अल्प-अल्पज्ञ जीव**—इसका अर्थ है अल्पस्वरूप, अल्पसामर्थ्य और अल्पज्ञानयुक्त जीव। यह परमेश्वर की अपेक्षा से है। द्र० पृष्ठ ३४८, ७७४ पर इस कथन की पुनरावृत्ति।

३. **पाठ परिवर्धन**—मुद्रणप्रति-द्वि०सं० में यहां एक पूरा अनुच्छेद परिवर्धित किया गया है।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**छिकला**' अपप्रयोग है, यहां '**छिलका**' प्रयोग अपेक्षित है।

६-७. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ और पं० मीमांसक जी की भ्रान्ति तथा उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों के अन्धानुकरण की कहानी**—(क) मुद्रणलिपिकर ने अशुद्ध वर्तनी लिखी "**आरहत प्रवचन**", यही द्विप्र० में छपी है। द्वि०सं० तथा अन्य सभी संस्करणों में संशोधित है। उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों को यह अशुद्धि इतनी भा गई कि उन्होंने पुनः अशुद्ध वर्तनी ग्रहण कर ली, जबकि जैन-दर्शन मूल में स्पष्टतः "**आर्हतप्रवचन संग्रह**" लिखा है (पृ० १७ आर्हत दर्शन)। किसी ने ठीक ही

हैं। **सम्यक् श्रद्धान=सम्यक् दर्शन, [सम्यक्] ज्ञान** और **[सम्यक्] चारित्र** ये तीन मोक्षमार्ग के साधन हैं।[१] इनकी व्याख्या योगदेव ने की है। जिस रूप से जीवादि द्रव्य अवस्थित हैं, उसी रूप से जिन-प्रतिपादित ग्रन्थानुसार [और] विपरीत अभिनिवेश-आदि रहित जो '**श्रद्धा**' अर्थात् जिनमत में प्रीति है, सो '**सम्यक् श्रद्धान**' अथवा[२] '**सम्यग् दर्शन**' है—

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते। [सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, श्लोक १८]

अर्थ—जिनोक्त तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये, अर्थात् अन्यत्र कहीं नहीं।

कहा है कि अतिशय श्रद्धा में दोष भी गुण ही प्रतीत होता है। इनकी मुद्रणलिपिकर में '**नमनीय**' श्रद्धा है न?

(ख) **विरामचिह्न की गलती से भूल**—'**परमागमसार**' यह एक पुस्तक का नाम है जो आर्हतों के प्रवचनों का संग्रह है। इसी कारण यहां पाठ में एक वचन है। पाठ ठीक चला आ रहा था द्विप्र० वेस, भद, द्वि०सं० में। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** को भ्रान्ति हुई और उन्होंने अल्पविराम लगाकर एक की दो पुस्तकें बना दी—'**आर्हत प्रवचन संग्रह**', '**परमागमनसार**'। पं० जी ने भी जैन-दर्शन नहीं देखा और हमारे उदयपुर संस्करण के कथित दश विद्वानों ने भी नहीं देखा 'मक्खी पर मक्खीमार' शोध=प्रविधि से अन्धानुकरण करते हुए अन्धपाठ स्वीकार कर प्रकाशित कर दिया। (द्र० आर्हतदर्शन पृ० ११७) इनके उतिरिक्त, पं० मीमांसक जी द्वारा आविष्कृत भ्रान्ति का **स्वामी विद्यानन्द जी** और **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने अविचारित रूप से अनुकरण किया है। इन्होंने मुद्रणह०, द्विप्र० के पाठ का पालन नहीं किया।

(ग) **महा-अन्धानुकरण**—उक्त भ्रान्ति तो **मीमांसक जी** को विचारपूर्वक हुई प्रतीत होती है। किन्तु अगली, शायद असावधानी से हो गई और पुस्तक का नाम ''**परमागमन सार**'' लिखा गया। पं० जी के अनन्य अनुकरणकर्त्ता **स्वामी विद्यानन्दजी,** भला उस शोध को कैसे छोड़ सकते थे? अत: उन्होंने उसका यथावत् अनुकरण किया। उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों को भी इसमें कुछ विशेष रहस्य का आभास हुआ, अत: मिलकर उन्होंने निश्चय किया कि इस महत्त्वपूर्ण नाम को अवश्य ग्रहण करना चाहिए, और उन्होंने किया भी। पं० जी का अनुकरण था इसलिए इनको जैन-दर्शन देखने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। वैसे था तो यह विद्वान् का अनुकरण, लोग भले ही उसको 'अन्धानुकरण' कहते रहें। जिन्होंने इसका अनुकरण नहीं किया, उनके सं० में पुस्तक का शुद्ध नाम है।

१. **महाभ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां जैनसिद्धान्त-संकलयिता लेखक के अज्ञान से यह भ्रष्ट पाठ है—''**चार मोक्षमार्ग के साधन हैं।**'' चार नहीं, ये तीन होते हैं, तीन का ही आगे विवरण दिया है। पूर्ववर्णित श्लोकों में भी स्पष्ट कहा गया है—''**ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी**'' (पृष्ठ ७७६)। सम्यक् श्रद्धान और दर्शन एक ही साधन है। इनको दो मानने के कारण यह भूल हुई है। तीन संख्या होने के कारण जैनमत में इन तीनों का नाम '**त्रिरत्न**' है। अन्यत्र भी जैन-दर्शन में त्रिरत्नों का उल्लेख है—''**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:**'' और ''**श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्-इति**'' (आर्हत दर्शन पृ० ११७)।

मुद्रणलिपिकरकृत महाभ्रष्ट पाठ का जादू सम्पादक विद्वानों पर भी—मुद्रणलिपिकर सचमुच जादूगर था। तभी तो हमारे विद्वानों पर उसके द्वारा की गई अशुद्धियों का भी जादू सिर चढ़कर बोल रहा है। हमारे द्वितीय संस्करण के पक्षधर विद्वान् उस पर इतना 'सम्यक् श्रद्धान' रखते हैं कि उसके लिखे पर पुनर्विचार करने की ही नहीं सोचते। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, इसी पाठ को देख लीजिए। जगत् प्रसिद्ध है कि जैनियों के '**त्रिरत्न**' मोक्षमार्ग के साधक होते हैं। मूर्खाधिराज मुद्रण-लिपिकर ने लिखा—''**ये चार मोक्षमार्ग के साधक हैं।**'' उसने '**सम्यक् श्रद्धान**' और '**दर्शन**' दो साधन बना दिये। मक्कार शोधक चद्दर तानकर सोते रहे, शुद्ध करने के नाम पर हाथ नहीं लगाया। एक **स्वामी वेदानन्द जी** को छोड़कर सारे ''नामचीन'' विद्वान् **पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, द्वितीय सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० के कथित 'दश सम्पादक'** मुद्रणलिपिकर के जादू में ऐसे फंसे कि उनको इस महाभ्रष्ट पाठ का संशोधन करना भी उचित नहीं लगा और मूर्खतापूर्ण महाभ्रष्ट पाठ ही ग्रहण कर लिया। किसी ने भी स्वामी वेदानन्द जी के संशोधन का भी लाभ नहीं उठाया, सत्यार्थप्रकाश में अग्रिम कुछ पंक्तियों नीचे दिया तीन का विवरण भी नहीं पढ़ा, मूल जैन-दर्शन भी नहीं देखा। ''सश्रद्ध नमनयोग्यों'' का ऐसा जादू छा गया!!! सवा-सौ वर्षों से यह जादू प्रभावी है, आज तक। तो यह मान लिया जाना चाहिए कि इतने वर्षों तक हमारे सम्पादक विद्वानों ने प्रमाद प्रदर्शन किया और पाठकों ने पढ़ने का दिखावा-भर किया तथा वितण्डावादियों ने केवल वितण्डा ही किया है न? पाठ के दोष को हटाने का प्रयास किसी ने नहीं किया। यह है हमारी दशा और सत्यार्थप्रकाश की दुर्दशा! कुछ लोग पढ़ते हैं नहीं, किन्तु फिर भी उनसे वितण्डा कितना ही करवा लो!!

२. **अपप्रयोग व अपविराम**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**और**'' अपप्रयोग है। यहां ''**अथवा**'' प्रयोग शुद्ध है, क्योंकि ये दोनों पद एकार्थक और पर्यायवाची हैं। उदयपुर सं० ने ''**श्रद्धान**'' के बाद 'अल्पविराम' लगाकर भूल को 'महाभूल' बना दिया। ऐसी

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥ [सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, श्लोक १९]

अर्थ—जिस प्रकार के जीवादि तत्त्व हैं, उनका संक्षेप वा विस्तार से जो [यथार्थ] बोध होना है, उसी को '**सम्यग् ज्ञान**' बुद्धिमान् कहते हैं।

सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः॥ [सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, श्लोक २१]

अर्थ—सब प्रकार से निन्दनीय 'अन्य मत के सम्बन्ध' का त्याग '**चारित्र**' कहाता है।[१] और [वह] अहिंसादि भेद से पाँच प्रकार का व्रत है। एक (**अहिंसा**) अर्थात् किसी प्राणिमात्र को न मारना। दूसरा (**सूनृत**) प्रिय [और सत्य][२] वाणी बोलना। तीसरा (**अस्तेय**) अर्थात् चोरी न करना। चौथा (**ब्रह्मचर्य**) अर्थात् उपस्थ इन्द्रिय का संयमन। और पाँचवाँ (**अपरिग्रह**) सब वस्तुओं [के संग्रह की इच्छा][३] का त्याग करना।

[**समीक्षक**—] इनमें बहुत-सी अच्छी बातें हैं, अर्थात् अहिंसा और चोरी आदि निन्दनीय कर्मों का त्याग अच्छी बातें हैं। परन्तु 'अन्य मत की निन्दा करना'[४] आदि दोषों से ये सब अच्छी बातें भी दोषयुक्त हो गई हैं।[५] जैसे प्रथम सूत्र में लिखा है[६]—''अन्य हरि, हर-आदि का धर्म संसार से उद्धार[७] करनेवाला नहीं।''[८] क्या यह छोटी निन्दा है कि जिनके ग्रन्थ देखने से ही पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाई जाती है, उसको बुरा कहना? और अपनी[९] महा-असम्भव, जैसी[१०] कि पूर्व लिख आये,[११] वैसी बातों के कहनेवाले अपने तीर्थंकरों की स्तुति करना, ये केवल हठ और मूर्खता की बातें हैं। ऐसे कथन करनेवाले मनुष्यों को भ्रान्त और बालबुद्धि न कहा जाय तो क्या कहा जाय?

इससे[१२] यही विदित होता है कि इनके आचार्य बड़े स्वार्थी थे [और] पूर्ण विद्वान् नहीं थे, क्योंकि जो सबकी निन्दा न करते तो ऐसी झूठी बातों में कोई न फसता, न उनका प्रयोजन सिद्ध होता। **देखो, यह तो सिद्ध होता है कि जैनियों का मत डुबानेवाला और वेद-मत सबका उद्धार करनेहारा है।**

हास्यास्पद अशुद्धि की कथित 'दश सम्पादकों' से आशा नहीं की जा सकती।

१. **अर्थान्तर**—जैन-दर्शन में श्लोक की पहली पंक्ति का अर्थ यह मिलता है—''**पाप से सब प्रकार के सम्बन्ध का त्याग 'चारित्र' कहाता है।**''

२-३. **पाठ-वर्धन**—बृहत् कोष्ठकान्तर्गत दोनों पाठ परिवर्धनीय हैं। उनके बिना अर्थ की पूर्णता नहीं होती।

४,६,७,९,१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः ''**निन्दा करनी**'', ''**लिखी है**'', ''**संसार में उद्धार**'', ''**अपने महा असम्भव....बातों के कहने वाले**'', ''**जैसा कि.....वैसी बातें**'' ये व्याकरण की दृष्टि से अपप्रयोग हैं। इस संस्करण में इनका संशोधन कर दिया गया है। उदयपुर सं० आदि अन्य सभी में ये अपप्रयोग और अपपाठ हैं।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**परन्तु ये सब अन्यमत की निन्दा करनी आदि दोषों से सब अच्छी बातें भी दोषयुक्त हो गई हैं।**'' अन्य सं० के साथ उदयपुर सं० में भी यह अपवाक्य ही है।

८. **अन्यत्र वर्णन**—यह कथन पृष्ठ ८०२/३ मे पर द्रष्टव्य है।

११. **पूर्ववर्णित**—द्रष्टव्य पृष्ठ ७८६ पर असम्भव बातें।

१२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**इसमें**'' अपप्रयोग है, '**इससे**' प्रयोग अपेक्षित है।

प्रकरणरत्नाकर और जैनियों के सिद्धान्तग्रन्थों से किया संग्रह[१]

[**मूल**—] '**प्रकरणरत्नाकर**' भाग दूसरा, पत्र ६२७ पर लिखा है कि—'चाहे कुछ भी न कर सके, एक अर्हन्देव को माने अर्थात् जैनमत को ही माने, क्योंकि जैनियों के वीतराग का कहा ही धर्म [है और] वही धर्म तारनेहारा है, दूसरा कोई नहीं। जो जैनों के देव, वे ही देव हैं, अन्य हरि, हर-आदि कुदेव हैं।'

समीक्षक—हरि, हर-आदि देव 'सुदेव' और इनके ऋषभदेवादि सब 'कुदेव' [हैं, यदि यह] दूसरे लोग कहैं, तो क्या वैसा ही उनको बुरा न लगेगा?

[**मूल**—] **प्रकरणरत्नाकर**' पृष्ठ ६२० पर—'जिनमत के सिवाय न कोई तरा, न कोई सुनने में आया और न आवेगा।'

[**समीक्षक**—] वाह! वाह!! क्या कहना!!!

[**मूल**—] **[२]जइ न कुणसि तव चरणं, न पढसि न गुणेसि देसि नो दाणं।**
ता इत्तियं न सक्किसि जं देवो इक्क अरिहन्तो[३] ॥ २ ॥[४]

प्रकरणरत्नाकर, दूसरा भाग, षष्ठीशतक ६०, सूत्र २ ॥[५]

संक्षिप्त अर्थ—हे मनुष्य! जो तू तप-चारित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ़ सकता, न प्रकरणादि

---

१. **त्रुटित पाठ**—यह विषय-शीर्षक मुद्रणप्रति/ द्वि०सं में त्रुटित है। पृथक् प्रकरण का स्वतन्त्र शीर्षक होने के कारण यह आवश्यक है।

२. **मुद्रणलिपिकर और मीमांसक जी द्वारा क्रम परिवर्तन अनुचित**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में इन तीन कारिकाओं के क्रम में परिवर्तन करके "**रे जीव भव....**" को प्रथम स्थान पर, "**अरिहं देवो....**" द्वितीय क्रम पर "**जइ न कुणसि.....**" को तीसरे क्रम पर रखा गया है। यह परिवर्तन उचित नहीं है, क्योंकि तीनों कारिकाओं की पृथक्-पृथक् समीक्षा ग्रन्थकार ने की है। तीनों के अन्त में जो जैन धर्म की समन्वित समीक्षा है वह "**अरिहं देवो.....**" कारिका पर है "**जइ न कुणसि.....**" कारिका पर नहीं। मुद्रणहस्तलेख, द्विप्र० व द्वि०सं० में क्रम को अधिक अस्त-व्यस्त कर दिया है। देखिए, "**जई न कुणसि....**" कारिका व अर्थ द्वि०सं० के पृ० २९७ पर है। पुनः 'विवेकसार' के दो समीक्ष्य अंश हैं। तत्पश्चात् सम्यक् श्रद्धान आदि जैन सिद्धान्तों का वर्णन है। तत्पश्चात् उस कारिका की "**भला, जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके.....उत्तम हो जाये ?**" समीक्षा पृ० २९८ पर है। इस अपक्रम को देखकर, इसको सर्वप्रथम उचित स्थान पर रखने के बजाय **पं० मीमांसक जी** उस कारिका को ही उठाकर ११वीं कारिका के पूर्व ले गये, जबकि यहां भी जैनमत की प्रशंसा का ही प्रसंग है। इस प्रकार द्वि०सं० के साथ-साथ मीमांसक जी द्वारा कारिका का स्थान-परिवर्तन भी अवांछनीय है। मुद्रणलिपिकर द्वारा क्रम बदल देने से मूल कारिकाएं और समीक्षाएं पृथक्-पृथक् हो गई हैं जिसके कारण उनकी संगति भंग हो गई है। अतः मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० का क्रम ही ठीक है।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मूलसं० में इस कारिका में "**जई**" और "**सिक्किसि**" अपपाठ हैं। द्वि०सं०, उदयपुर सं० में संशोधित हैं। **सूचना—पाठकों को जानकारी दे दूं कि इस सं० में जैन-कारिकाओं के पाठ 'प्रकरणरत्नाकर' (गुजराती सं०) से मिलान करके ग्रहण किये गये हैं।**

४. **अर्थ**—हे मनुष्य! (जइ) जो तू (तव चरणं न कुणसि) तप-चारित्र का पालन नहीं कर सकता, (न पढसि) न जैनग्रन्थों को पढ़ सकता है, (न गुणोसि) न उन पर चिन्तन-मनन कर सकता है, (न दाणम् देसि) न तू दान दे सकता है, (ता इत्तियं न सक्किसि) जो तू इतना भी नहीं करता तो भी (जं देवो इक्क अरिहन्तो) जो हमारा एक अरिहन्त देव है उसी को मान, उसी में श्रद्धा रख अर्थात् उसी श्रद्धामात्र रखने से तेरा उद्धार हो जायेगा॥ २॥

५. **अव्यवस्थित शैली**—दोनों सं० में अग्रिम कारिकाओं की उद्धरण संख्या व भाषा में शैली की अव्यवस्था है। कहीं "**प्रकरण**", कहीं "**प्रक०**", कहीं "**प्रकरणरत्नाकर**" प्रयोग है, कहीं अशुद्धवर्तनी "**षष्ठी**" तो कहीं शुद्ध "**षष्ठी**" है, कहीं "**सूत्र**" तो कहीं "**सूत्रांक**", तो कहीं "**मूलसूत्र**" प्रयोग है। यही अव्यवस्था उदयपुर सं० आदि सभी में है। इस संस्करण में इस अव्यवस्था को दूर कर एकरूपता कर दी गई है।

का विचार कर सकता और सुपात्रादि को दान नहीं दे सकता, तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त को ही अपनी आराधना के योग्य सुगुरु मानता है और सुधर्म जैन-मत में श्रद्धा रखता है,[१] यही एक सर्वोत्तम बात है और उद्धार का कारण है॥ २॥

समीक्षक—भला, जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके, न पढ़ सके, न दान देने का सामर्थ्य हो, तो भी 'जैनमत सच्चा है', क्या इतना कहने से ही वह उत्तम हो जाय? और अन्य मत वाले श्रेष्ठ भी अश्रेष्ठ हो जायें?[२]

मूल– रे जीव भव दुहाइं, इक्कं चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं पणमन्तो, सुहकय्ये मूढ मुसिओसि॥ ३॥[३]

प्रकरण०, भाग २। षष्ठी० ६०। सूत्र ३॥

संक्षेप से अर्थ—रे जीव! एक ही जिनमत श्री वीतराग-भाषित धर्म संसार-सम्बन्धी जन्म-जरा-मरणादि दुःखों का हरणकर्त्ता है। इसी प्रकार सुदेव और सुगुरु भी जैन मत-वाले को जानना। इतर=जो वीतराग ऋषभदेव से लेके महावीर पर्यन्त वीतराग देवों से भिन्न अन्य हरि, हर, ब्रह्मा-आदि कुदेव हैं, उनकी अपने कल्याणार्थ जो जीव पूजा करते हैं, वे सब मनुष्य ठगाये गये हैं। इसका यह भावार्थ है कि जैनमत के सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म को छोड़के अन्य कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म को सेवने से कुछ भी कल्याण नहीं होता॥ ३॥

समीक्षक—अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि कैसे निन्दायुक्त इनके धर्म के पुस्तक हैं।

मूल– अरिहं देवो सुगुरू, सुद्धं धम्मं च पंच नवकारो।
धन्नाणं कयच्छाणं, निरंतरं वसइ हिययम्मि॥ १॥[४]

प्रकरण०, भाग २। षष्ठी० ६०। सूत्र १॥

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपूर्ण और अपवाक्य है—"**दान नहीं दे सकता तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त ही हमारे आराधना के योग्य सुगुरु सुधर्म जैनमत में श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है।**" इस सं० में संशोधित कर दिया है। उदयपुर सं० में भी अपूर्ण और अपवाक्य है, संशोधित नहीं किया गया है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा समीक्षा हटाना अनुचित**—जैसा कि ऊपर टिप्पणी में बताया गया है कि मुद्रणलिपिकर ने इन तीन जैन गाथाओं का क्रम-परिवर्तन करके भूल की है। उसने एक भूल ऊपर से यह कर दी कि इस कारिका की जो सम्बन्धित चारित्र आदि विषयक उपर्युक्त समीक्षा मूलप्रति हस्तलेख में थी उस सही समीक्षा को निकाल दिया और असंगत समीक्षा को इस कारिका के साथ जोड़ दिया। अतः मूलप्रति सं० का समीक्षा पाठ ही संगत है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० का नहीं। भला, जो अर्थ में कथन ही नहीं है, उस समीक्षा को देने का क्या मतलब है? इससे ग्रन्थकार पर अनर्गल समीक्षा का आरोप लगेगा। उदयपुर सं० सहित सभी द्वि०सं० में यह समीक्षा त्रुटित है।

३. **अर्थ**—(रे जीव) हे प्राणी! (भव दुहाइं) संसार के दुःख को (इक्कं चिय हरइ) एक ही वस्तु हर सकती है, और वह है (जिनमयं धम्मं) जिन देव द्वारा कहा गया धर्म अर्थात् जैन धर्म। (इयराणं पणमन्तो सुह कथ्ये) जो तू इतर=दूसरे धर्म के देवताओं को प्रणाम करता है और उनकी प्रशंसा-गुणगान में अपना कल्याण समझता है, तो (मूढ) हे मूढ़! (मुसिओसि) यह समझ कि तू ठगा जा रहा है अर्थात् उनसे तेरा कल्याण नहीं होगा। वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो जैनधर्म पर श्रद्धा रखता है॥ ३॥

४. **अर्थ**—(अरिहं देवो) अरिहन्त श्री महावीर ही सबसे श्रेष्ठ देव है (सुगुरू) वही सबसे श्रेष्ठ गुरु है, (सुद्धं धम्मं) जैन मत सबसे शुद्ध-श्रेष्ठ धर्म है (पंच नवकारो) पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करना सबसे श्रेष्ठ नमस्कार है। (धन्नाणं कयच्छाणं) जो लोग धन्य हैं, जो राग-द्वेष रहित पवित्र हृदयवाले हैं, (हिययम्मि) उनके हृदय में बस एक यही धर्म ही (निरंतरं वसइ) सदा बसता है, वे अन्य धर्म को नहीं अपनाते। जिनके हृदय में ये चार बातें नहीं हैं, वे नर न धन्य हैं और न पवित्र हृदयवाले हैं॥ १॥

सं० अर्थ—जो अरिहन् देवेन्द्रकृत पूजादिकन के योग्य, दूसरा पदार्थ उत्तम कोई नहीं, ऐसा जो देवों का देव शोभायमान अरिहन्त देव ज्ञान-क्रियावान्, शास्त्रों का उपदेष्टा; शुद्ध, कषायमलरहित, सम्यक्त्व, विनय, दयामूल श्रीजिन-भाषित जो धर्म है, वही दुर्गति में पड़नेवाले प्राणियों का उद्धार करनेवाला है और अन्य हरि, हर-आदि का धर्म संसार से उद्धार करनेवाला नहीं। और पञ्च अरिहन्तादिक परमेष्ठी तत्सम्बन्धी उनको नमस्कार, ये चार पदार्थ धन्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अर्थात् दया, क्षमा, सम्यक् ज्ञान-दर्शन और चारित्र यह जैनों का धर्म है॥ १॥

समीक्षक—जब मनुष्यमात्र पर दया नहीं, वह न[१] दया न क्षमा; ज्ञान के बदले अज्ञान; दर्शन, अन्धेर; और चारित्र[२] के बदले भूखे मरना कौन-सी अच्छी बात है। ये केवल मूर्खों को प्रलोभन देकर अपने मत में फसाने की बातें हैं, अर्थात् जो इनके आचार्य ऐसा न लिखें तो उनके मत में कौन फसे? और जो न फसे तो उनका प्रयोजन सिद्ध न हो। जैनियों के वीतरागोक्त दया, क्षमा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र यही हैं। इसमें **दया** का नाश—क्षुद्र जीवों और अपने मत-वालों के अतिरिक्त दूसरे किसी को न मानना, उनकी निन्दा करना, उनको सुख न देना है, यह दया कहाँ? और **क्षमाशील** होते तो दूसरे की निन्दा और अपने मुख अपनी बड़ाई क्यों करते? तीसरा **ज्ञान,** जो कि उनके जीव, अजीवादि नव तत्त्व हैं, उनका जानना; सो भी ठीक-ठीक नहीं है। **सम्यक् दर्शन** उनके तीर्थंकरों को होता, तो सहस्त्रों प्रकार की असम्भव बातें क्यों लिखते? **चारित्र** अर्थात् उपवास करना, स्नान न करना इत्यादि से भी क्या हो सकता है? इसलिये जो इतनी ही बातों का नाम धर्म मानकर फूले-फूले फिरना, बेसमझ का काम है। इनका धर्म तारनेवाला नहीं, किन्तु डुबानेवाला है। देखो, हरि, हर-आदि श्रेष्ठ पुरुषों को कुदेव कहना और अपने मलिनों[३] को देव कहना, अपने मत वालों के विना संसार से कोई भी नहीं तरा, यह केवल असम्भव और झूठी बात है।[४]

यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु हैं, तथापि पक्षपात में फसने से दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाती है। इसका प्रयोजन यह है कि किसी जीव को दुःख न देना, यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि दुष्टों को दण्ड देना भी दया में गणनीय है। जो एक दुष्ट को दण्ड न दिया जाय तो सहस्त्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त हो। इसलिये वह दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाय। यह तो ठीक है कि सब प्राणियों के दुःखनाश और सुख की प्राप्ति का उपाय करना दया कहाती है। केवल जल छानके पीना, क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही दया नहीं कहाती, किन्तु इस प्रकार की दया जैनियों के

१-२. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं० में "**वह दया**" के स्थान पर "**वह न दया**" पाठ अपेक्षित है। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**चरित्र**" अपप्रयोग है। अन्य सं० में संशोधित है।

३. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मलीन**" अपप्रयोग है, '**मलिन**' अपेक्षित है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनुचित पाठ निष्कासन**—मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० के "**जब मनुष्यमात्र पर....झूठी बात है**" तक इस महत्वपूर्ण सम्पूर्ण पाठ को मुद्रणप्रति-द्वि० सं० में निकाल दिया गया है। दया-क्षमा से सम्बन्धित जो अग्रिम समीक्षा-अनुच्छेद रखा है, यह पाठ भी उसी से सम्बद्ध है। निकाले गये पाठ में चारित्र आदि की समीक्षा है जिसकी "**अरिहं देवो....**" कारिका के अर्थ में चर्चा आई है। प्रतीत होता है कि इन तीन कारिकाओं को गलत क्रम देने के बाद मुद्रणलिपिकर विचलित हो गया। समीक्षा का उचित क्रम न समझ पाने के कारण उसे जड़ से ही निकाल बाहर किया। देखिए पृ० ८०१ की टिप्पणी संख्या दो।

कथनमात्र में ही है, क्योंकि वैसा वर्तते नहीं। क्या मनुष्यादि पर, चाहे किसी मत में क्यों न हो, दया करके उसका अन्नपानादि से सत्कार करना और दूसरे मत के विद्वानों का मान्य और सेवा करना दया नहीं है?

[**मूल**—] और भी इनके आचार्य और माननेवालों की भूल देख लो—

जिणवर आणा भंगं, उमग्ग उस्सुत्त लेस देसणउ।
आणा भंगे पावं ता जिणमय दुक्करं[१] धम्मम्॥[२] ११॥

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र ११॥

सं० अर्थ—उन्मार्ग, उत्सूत्र के लेख दिखाने[३] से जो जिनवर अर्थात् वीतराग तीर्थंकरों की आज्ञा का भंग होता है वह दुःख का हेतु पाप है। जिनेश्वर के कहे सम्यक्त्वादि धर्मों को ग्रहण करना बड़ा कठिन है,[४] इसलिये जिस प्रकार जिन-आज्ञा का भंग न हो तो वैसा करना चाहिए॥ ११॥[५]

समीक्षक—जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा [करना] और अपने धर्म को बड़ा कहना और दूसरे की निन्दा करना[६] है, वह मूर्खता की बात है; क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है जिसकी दूसरे विद्वान् करें। अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं, तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं? इसी प्रकार की इनकी बातें हैं।

मूल–बहु गुण विज्झा निलओ, उस्सुत्तभासी तहा विमुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो विहु, विग्घकरो विसहरो लोए॥ १८॥[७-८]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०। सूत्र १८॥

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दुक्वरं**" अपपाठ है। "**दुक्करं**" शुद्ध है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है। शेष सभी में संशोधित है। इसी प्रकार मुद्रणह०, द्विप्र० में "**उस्सुत्तले सदेसणउ**" अपपाठ है। अन्य सं० में संशोधित है।

२. **अर्थ**—(जिणवर आणा भंगं) जिनवर=जैन तीर्थंकरों की कही हुई आज्ञा को न मानना (उमग्ग) जैनमार्ग से भ्रष्ट होना है। (लेस देसणउ उस्सुत्त) तीर्थंकरों के विरुद्ध लेख देखना-दिखाना उत्सूत्र=आज्ञा के विरुद्ध चलना है, उनके कथनों-निर्देशों के विरुद्ध आचरण है। (आणाभंगे पावं) आज्ञाभंग करना पाप है (ता जिणमय दुक्करं धम्मम्) ऐसे लोगों को जैनधर्म प्राप्त होना दुष्कर है, वे सम्यक्त्वी नहीं बन सकते॥ ११॥

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, उदयपुर सं० में "**लेश दिखाने**" अपपाठ है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह व्याकरण की दृष्टि से अपपाठ है—"**जिनेश्वर के कहे सम्यक्त्वादि धर्म ग्रहण करना बड़ा कठिन है।**" उदयपुर सं० में भी यह अपवाक्य है। यहां बहुवचन अभीष्ट है।

५. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में इस गाथा का अर्थ अशुद्ध है। द्वितीय संस्करण में उसका पर्याप्त उचित संशोधन किया गया है। वही इस सं० में गृहीत है। मूल हस्त०/ मूलप्रति सं० में यह अशुद्ध पाठ प्राप्त है—

"जैन के धर्म को मिथ्यात्वी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि बड़ा कठिन है। जिस प्रकार जिनाज्ञा का भङ्ग न हो, उस प्रकार करना चाहिये। जो जैन मार्ग से उलटा चलना उसका नाम उन्मार्ग, जिन-वचनों से उलटा बोलना उत्सूत्र, जिन आज्ञारहित जो धर्म हैं, वे सब पापफल के देनेवाले हैं और वे सब मिथ्यात्वी कहाते हैं॥"

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**निन्दा करनी**" अपप्रयोग है, "**निन्दा करना**" अभीष्ट है।

७. **अर्थ**—(बहुगुण विज्झा निलओ) चाहे कोई अनेक गुणों की खान हो, अनेक विद्याओं का खजाना हो (उस्सुत्तभासी) यदि वह जैन सूत्रों-सिद्धान्तों के विरुद्ध बोलता है, (तहा) तो (विमुत्तव्वो) वह त्याज्य है, वह आदरणीय नहीं है। (जह) जैसे (वरमणिजुतो विहु) श्रेष्ठ, बहुमूल्य मणि से युक्त सांप (विग्घकरो विसहरो लोए) विघ्न-दुःख पहुंचानेवाला होता है, वह विषयुक्त होने से त्याज्य ही होता है, वैसे ही जैनमत विरोधी श्रेष्ठ मनुष्य भी सांप के समान होता है॥ १८॥

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में, इस कारिका में "**विग्घ करी**" "**उसुत्त**" तथा मूलप्रति सं० में "**विमुत्तवो**" अपपाठ है।

सं० अर्थ—जैसे विषधर सर्प में मणि त्यागने योग्य है, वैसे उत्सूत्रभाषी[१], द्रव्यलिंगी अर्थात् अन्यमार्गी=जो जैनमत में नहीं है, वह कितना ही बड़ा पण्डित हो, उसका त्याग कर देना ही जैनियों को उचित है॥ १८॥

समीक्षक—देखो, कितनी पक्षपात की बात है[२] कि अपने मत का कैसा भी दुराचारी हो उसको मान्य करें, और अन्य मत का कितना ही श्रेष्ठ विद्वान् हो उसको जैन लोग कभी मान्य न करें, इससे बड़ी मूर्खता और पक्षपात की बात कौन-सी होगी? क्या सुवर्ण को मल वा धूड़ में पड़े को कोई त्यागता है?[३] ॥ १८॥

[**मूल**—] और उसी के सत्ताईसवें सूत्र में—

नामंपि तस्स असुहं, जेण निदिट्ठाइ मिच्छ पव्वाइ।
जेसिं अणुसंगाउ, धम्मीणवि होइ पाव मइ॥ २७॥[४-५]

[प्रकरण०, भाग २। षष्ठी सूत्र २७]

सं० अर्थ—[उस व्यक्ति का नाम लेना भी अशुभ है, जिसने जैन-पर्वों से भिन्न पर्वों को, जो कि मिथ्या हैं, मनाने का विधान किया है। अन्य धर्मावलम्बी लोगों की संगति करके उनके पर्वों को मानने से धर्मात्मा मनुष्यों की बुद्धि भी पापयुक्त हो जाती है] ॥ २७॥[६]

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि सबको डुबोनेवाला जैन मार्ग है, क्योंकि [वे] सबकी सब प्रकार निन्दा करते हैं। इसलिये जिन्होंने ऐसा लिखा है, वे ही महा-अधर्मी थे। हाँ, ऐसा लिखते कि सबकी सच्ची बातें मान लें और अपनी झूठी बातें छोड़ दें, तो धर्मात्मा गिने जाते।

[**मूल**—] इसी प्रकार बहुत से सूत्र '**रत्नसार**' भाग २, षष्ठीशतक में लिखे हैं, अर्थात् २९वें सूत्र में—

---

१. **शब्दार्थ—उत्सूत्रभाषी**=जैनशास्त्रों के विरुद्ध वचन बोलने वाला अथवा उनका खण्डन करने वाला।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठ परिवर्तन**—द्वि०सं० में इस वाक्यांश के स्थान पर यह शिथिल पाठ बनाया है—''**देखिये! कितनी भूल की बात है।**'' ''**भूल**'' के स्थान पर ''**पक्षपात**'' अधिक सटीक परिवर्तन है।

३. **नीतिवचन**—इसका मूल संस्कृत में प्रसिद्ध है—''**अमेध्यादपि कांचनम्**'' (मनु० २.२३९)=सोने को अशुद्ध स्थान से भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

४. **अपपाठ**—द्वि० सं० में ''**निदिठाई**'' द्विप्र० में ''**पितस्सअ**'' तथा दोनों सं० में ''**मई**'' अपपाठ हैं। उदयपुर सं० आदि में संशोधित हैं।

५. **अर्थ**—(तस्स नामं पि असुहं) उस व्यक्ति का नाम लेना भी अशुभ है (जेण) जिसने (मिच्छ पव्वाइ निदिठ्टाइ) जैनों के पर्वों से भिन्न अन्यमार्गियों के पर्व, जो कि मिथ्या हैं, उनको मनाने का निर्देश किया है। (जेसिं अणुसंगाउ) जिनके साथ रहने और उनके पर्वों के मनाने से (धम्मीण वि पावमइ होइ) धार्मिक लोगों की बुद्धि भी पापयुक्त हो जाती है। अर्थात् अन्य मतवालों के कहे उपदेश पर्व आदि पापी बनानेवाले हैं॥ २७॥

६. **कारिका संख्या २७ का अप अर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस कारिका का न तो सही अर्थ है और न पूर्ण भाव है। दोनों सं० में जो अप अर्थ है वह लगभग मिलता-जुलता है। मूलप्रति सं० में यह अर्थ प्राप्त है—''जैन धर्म से विरुद्ध सब धर्म मनुष्यों को पापी करने वाले हैं, इसलिये किसी के धर्म को न मानना चाहिये।'' द्वि० सं० में यह है—''जो जैन धर्म से विरुद्ध धर्म हैं वे सब मनुष्यों को पापी करने वाले हैं, इसलिये किसी के अन्य धर्म को न मानकर जैनधर्म ही को मानना श्रेष्ठ है।'' कारिका में जैनभिन्न पर्व न मनाने का तथा जैनभिन्न व्यक्ति का सत्संग न करने का निर्देश है, जैनभिन्न धर्म की निन्दा नहीं। इस संस्करण में अर्थ का संशोधन कर दिया है। उदयपुर सं०, सभी द्वि०सं० आदि में अप-अर्थ है, संशोधन नहीं किया गया है।

अइसय पाविय पावा, धम्मिअ पव्वेसु तोवि पावरया।[१]
न चलंति सुद्ध धम्मा, धन्ना किविपाव पव्वेसु॥ २९॥[२-३]

प्रकरण० भाग २ । पष्ठी० सूत्र २९ [पृ० ६३९ पं० २४-२५]

सं० अर्थ—[पापी प्रवृत्ति के लोग धार्मिक पर्वों पर भी हिंसा बलि करते हैं। जैनी लोग धन्य हैं वे पर्वों में हिंसा नहीं करते। वे ही दर्शन-संग करने योग्य हैं।] अन्यदर्शनी कुलिंगी अर्थात् जैनमत विरोधी और अन्यमार्गी अर्थात् जो जैनी न हो, उसका दर्शन भी न करना चाहिये॥ २९॥[४]

समीक्षक—[हिंसा की बात तो पामरपन की है किन्तु दूसरे मत के श्रेष्ठ लोगों का दर्शन-संग करना निषेध न करना चाहिये] क्योंकि जो दूसरे का दर्शन करे, तो इनकी पोल निकल जाय।

[**मूल**—] और ३५वें सूत्र में—

हा हा गुरु अ अकज्झं, सामी न हु अच्छि कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु, सावया कह इय अकज्झं॥३५॥[५]

[प्रकरण०, भाग २। षष्ठी सूत्र ३५]

सं० अर्थ—सर्वज्ञभाषित जिनवचन, जैन-सुगुरु कहाँ और कहाँ उनसे विरुद्ध कुगुरु अर्थात् अन्यमार्गी के भाषित और उपदेशक? अर्थात् हमारी सब बातें अच्छी, अन्य की सब बुरी॥ ३५॥

समीक्षक—हाँ, कुंजड़ी[६] भी अपने बेरों को खट्टे नहीं कहती!!

[**मूल**—] अपने मार्ग से भिन्न मार्गी की सेवा में बड़ा अकार्य अर्थात् पाप गिनते हैं; और देखो—

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताइ देइ मरणाइ।
तो वरि सप्पं गहियुं, मा कुगुरुसेवणं भद्दं॥ ३७॥[७-८]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी, सूत्र ३७

---

१. **भ्रष्ट उद्धरण पाठ**—मुद्रणह० और द्विप्र० में यह पाठ भ्रष्ट है—"**अइ सयपा वियपा वाधस्मि अपव्वे सुतो विपावरया**"।

२-३. **अर्थ**—(अइसय पाविय पावा) अतिशय=अत्यधिक पापों में रत रहने की जिनकी प्रवृत्ति है वे अन्यधर्मी (धम्मिअ पव्वेसु तोवि पावरया) धार्मिक-पवित्र पर्व हो तो भी बलि, हिंसा आदि पापों में रत रहते हैं, किन्तु (सुद्ध धम्मा न चलंति) शुद्ध धर्म=जैनधर्म में स्थित लोग कभी पाप में नहीं गिरते। (धन्ना किविपाव पव्वेसु) जो धन्य लोग हैं वे पवित्र पर्वों में कभी पाप नहीं करते अर्थात् जो पवित्र पर्यूषण आदि पर्वों पर कभी कोई पाप नहीं करते वे ही धन्य=कृतार्थ जन हैं और वे जैन लोग हैं॥ २९॥

४. **भ्रष्टक्रम एवं अपअर्थ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में संकलनकर्त्ता के प्रमाद से यहां २७, २९ कारिकाओं का भ्रष्टक्रम हैं। सही क्रम के अनुसार २७वीं पहले और उसके बाद २९वीं होनी चाहिए। इस सं० में क्रम 'प्रकरणरत्नाकर' के मूलपाठ के अनुसार संशोधित है। उदयपुर सं० में तथा अन्यों में भ्रष्टक्रम है। सभी सं० में इसका अपअर्थ है। स्वामी वेदानन्द जी का कहना है कि यह भावार्थ का सार है। कोष्ठक में संशोधन किया है।

५. **अर्थ**—(हा हा गुरु अ अकज्झं) हाय! हाय! दूसरों के कुगुरु गुरु बन रहे हैं। (सामी नहु अच्छी) उनको रोकने वाला कोई राजा भी नहीं (कस्स पुक्करिमो) किसके आगे जाकर पुकार लगायें? (कह जिणवयण) कहां जिनगुरु के उत्तम वचन और (कह सुगुरु सावया) कहाँ हमारे श्रेष्ठ गुरु और हमारे श्रावक जन हैं और (कह इय अकज्झं) कहां ये न करने योग्य दूसरे मतवाले कुगुरु हैं जिनके निन्दनीय कथन हैं। अर्थात् हमारे ही मत के गुरु अच्छे हैं और उन्हीं की बातें मान्य हैं, अन्य मत के सब गुरु बुरे हैं॥ ३५॥

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**कूंजड़ी**" वर्तनी मिलती है। "**कुंजड़ी**" शुद्ध है।

७. **अर्थ**—(सप्पो इक्कं मरणं) सांप के डंसने से मनुष्य एक बार ही मरता है किन्तु (कुगुरु अणंताइ मरणाइ देई) दूसरों के कुगुरु बार-बार दुष्ट उपदेश देकर अनगिनत मौत देते हैं (तो वरि सप्पं गहियुं) अत: सांप को पकड़कर उसके डंक से एक बार मर जाना अच्छा है (कुगुरु सेवणं भद्दम् मा) किन्तु अन्यमार्गी कुगुरु की सेवा करना कल्याणकारी नहीं है। अर्थात् अन्यमत-वाले गुरु

सं० अर्थ०—इस सूत्र में लिखा है कि जैन भिन्न कुगुरु सर्प से भी बुरे हैं। उनकी सेवा-पूजा कभी न करनी चाहिये, क्योंकि सर्प के संग से एक बार मरण होता है और अन्यमार्गी कुगुरुओं से अनेक बार जन्म-मरण में गिरना पड़ता है। इसलिये हे भद्र! अन्यमार्गी गुरुओं के पास भी मत खड़ा रह, क्योंकि जो अन्यमार्गी की कुछ भी सेवा करेगा तो बहुत दुःख में पड़ेगा॥ ३७॥

समीक्षक—देखिये, कितने दुराग्रही हैं कि इनके सदृश कठोर, भ्रान्त, निन्दक, मूर्ख, दूसरे मत-वाले नहीं हैं।[१] ये सब स्वार्थ की बातें हैं कि हमारा मान्य, हमारी सेवा और हमारी ही प्रतिष्ठा हो, अन्य किसी की न हो। तभी इनके चेले महामूढ़ता में ऐसे फसे हैं कि वे किसी अच्छे महात्मा पुरुष की न सेवा, न दर्शन और संग भी नहीं करते; यह इनके दौर्भाग्य की बात है। **जो सब मतवालों में योग्य पुरुषों की सेवा करते, उनके मार्ग की बातें सुनते और अपनी कहते तो उनके गुण [ग्रहण कर] और अपनी भूल को छोड़कर, सत्यमार्ग को जानकर अपने मनुष्य-जन्म के सुफल को प्राप्त होते।**

मूल—किं भणिमो किं करिमो, ताण हयासाण धिठ दुठाणं।
जे दंसिऊण लिंगं खिवंति नरयम्मि मुद्ध जणं॥ ४०॥[२-३]

प्रकरण०, भाग २, सूत्र ४०॥

सं० अर्थ—अन्यमार्गी के कुगुरु मुनि का वेष धारण करके लोगों के लिये ऐसे हैं कि जैसे अन्धे सिंह की आँख खोलने को जाय, तो सिंह उसी को खाय; वैसे उन अन्य मार्गी कुगुरुओं का उपकार करना, अपना नाश कर लेना है। इसलिये उनका उपकार कभी न करना चाहिये॥ ४०॥

समीक्षक—जैसा[४] जैनी लोग विचारते हैं, वैसा[५] दूसरे मत-वाले भी विचारें तो जैनियों की कितनी दुर्दशा हो? और उनका कोई किसी प्रकार का उपकार न करे तो उनके बहुत से काम नष्ट होकर कितना दुःख प्राप्त हो, वैसा[६] अन्य के लिये जैनी लोग क्यों नहीं विचारते?

मूल—जह जह तुट्टइ धम्मो, जह जह दुट्ठाण होइ अइ उदउं।
समद्दिट्ठि जियाणं, तह तह उल्लसइ समत्तं॥ ४२॥[७-८]

प्रकरण०, भाग २, सूत्र ४२॥

सांप से भी बुरे हैं उनको गुरु नहीं बनाना चाहिए॥ ३७॥

८. **अपपाठ**—इस कारिका में दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आणंताइ**" अपपाठ है। द्विप्र० में "**अणंता इदेह**" अपपाठ हैं।

१. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**जैनियों के समान कठोर, भ्रान्त.....भूला हुआ दूसरे मतवाले कोई भी न होंगे।**" द्वि०सं० में संशोधित है, मूलसं० में शुद्ध है। उदयपुर सं० में इस वाक्य को फिर से अशुद्ध बना दिया। यह मुद्रणकाल में विकृत किया वाक्य है जिसे उदयपुर सं० ने बिना विचारे पूर्वक ग्रहण कर लिया।

२. **अर्थ**—(ताण हयासाण धिठ दुठाणं) उन हताश करनेवाले ढीठ, दुष्टबुद्धि अन्यमत-वाले गुरुओं के विषय में (किं भणिमो) क्या कहें, (किं करिमो) और क्या करें? (ते मुद्ध जणं लिंगं दंसि) वे भोले लोगों को अपने बाहरी चिह्न=मुनि का वेश बनाकर और पाखण्ड आदि दिखाकर तथा अपने मत में फंसा कर (नरयम्मि खिवंति) नरक में गिरा रहे हैं। अभिप्राय यह है कि दूसरे मतों के गुरु नरक में गिराने वाले हैं। दूसरे मत के गुरुओं का सम्मान कभी नहीं करना चाहिए॥ ४०॥

३. **अपपाठ**—मूलग्रन्थ के अनुसार, दोनों हस्त० और तीनों सं० तथा अन्य सभी में "**धिट्ठ दुट्ठाणं**" अशुद्ध है।

४-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां क्रमशः "**जैसे**", "**वैसे**", "**वैसे**" अपप्रयोग हैं, यहां "**जैसा, वैसा, वैसा**" पद अपेक्षित हैं। उदयपुर सं० में प्रथम दोनों अशुद्ध हैं।

सं० अर्थ—जैसे-जैसे अन्यदर्शनी, त्रिदण्डी, परिव्राजक और विप्रादि दुष्ट लोगों का अति उदय होता है, वैसे-वैसे जैनधर्म के सम्यक्-दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व विशेष प्रकाशित होता है॥ ४२॥

समीक्षक—यह बड़ा आश्चर्य है अर्थात् जैनों के साधु भी आपस में लड़ मरते हैं। अब देखो, इन जैनों से अधिक ईर्ष्या-द्वेषयुक्त, निन्दक दूसरा कौन होगा? और द्वेष ही पाप का मूल है, इसलिये जैनियों में पापाचार क्यों न हो?[१]

मूल—संगोवि जाण अहिउ, तेसिं धम्माइ[२] जे पकुब्बन्ति।
मुत्तूण चोरसंगं, करंति ते चोरियं पावा॥ ७५॥[३]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र ७५॥

सं० अर्थ—इसका मुख्य आशय इतना है कि जैसे मूढजन चोर के संग से नासिका-छेदादि दण्ड से भय नहीं करते, वैसे जैन-भिन्न चोरधर्मों में स्थित जन अपने अकल्याण से भय नहीं करते॥ ७५॥

समीक्षक—यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि जैनी स्वयं चोरधर्म वाले हैं। दूसरों के साथ अतीव ईर्ष्या, द्वेष आदि दुष्टता से युक्त जैसा जैनमत है, वैसा अन्य नहीं।

मूल—जच्छ पसुमहिस लरका, पव्वं होमंति पाव नवमीए।
पूअंति तंपि सद्ढा, हा हीला वीयरायस्स॥ ७६॥[४-५]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र ७६॥

सं० अर्थ—[जिन दुर्गा नवमी आदि पर्वों पर पशुओं को मारकर उनसे होम किया जाता है, वह पर्व नहीं, पापनवमी है। जो उस पर्व को मनाते हैं वे शठ हैं, क्योंकि वे जैनेन्द्र के वचनों का तिरस्कार

---

७. **अर्थ**—(जह जह तुट्टइ धम्मो) जैसे-जैसे धर्म का हनन होता है, (जह जह दुट्ठाण होइअइ उदउं) जैसे-जैसे दुष्टों की उन्नति-बढ़ती होती है (तह-तह) वैसे-वैसे (समिदिट्ठि जियाणं समत्तं उल्लसइ) सम्यक्दृष्टि जीवों की सम्यक्त्व-भावना बढ़ती जाती है अर्थात् लोगों की जैन मार्ग की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, बढ़ते अधर्माचरण के कारण लोग जैन धर्म को अपनाना पसन्द करते हैं॥ ४२॥

८. **अपपाठ**—मूलग्रन्थ के अनुसार, मूलप्रति सं० में '**समदिट्ठि**' अपपाठ है। द्वि०सं० में शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**होय**'' ''**उल्लसइस मत्त**'' अपपाठ हैं। उदयपुर सं० में संशोधित हैं।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अप-वाक्यरचना है—''**दूसरे मत में भी ईर्ष्या-द्वेष है परन्तु जितनी इन जैनियों में है उतनी किसी में नहीं।**'' वेस, भद, जग, उदयपुर सं० आदि में भी यही अपवाक्य है।
ऋषिहस्तलेख—''**और द्वेष.....न हो**'' मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

२. **अपपाठ**—द्विप्र० में ''**अहि उते सिंधम्माइ**'' अपपाठ है। यही मुद्रणह० में है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में संशोधित हैं।

३. **अर्थ**—(जे धम्माइ पकुब्बन्ति) जो लोग जैन से भिन्न धर्मों का पालन करते हैं (तेसिं संगो वि अहिउ जाण) उनका संग भी अहितकारी जानो। (मुत्तूण) अन्य धर्मों का पालन करनेवाले समझो (चोर संगं करन्ति) चोरों का संग करते हैं (ते चोरियं पावा) वे भी चोरों के समान पापी हैं। जैसे चोरों का संग करने वालों को भी अपराध रूप पाप लगता है और फिर उन्हें दण्ड मिलता है वैसे अन्य धर्मियों का संग करने से भी पाप होता है क्योंकि सब अन्य धर्म वाले चोरों के समान हैं॥ ७५॥

४. **अर्थ**—(जच्छ) जिस (पव्वं) पर्व पर (पसुमहिस लरका होमन्ति) लाखों पशु भैंसे आदि को मारकर उनका होम किया जाता है अर्थात् उनकी बलि दी जाती है वह (पाव नवमीए) वस्तुतः 'पाप नवमी' पर्व है, 'दुर्गानवमी' आदि नहीं। (तं पि पुअन्ति सट्ठा) जो उस पाप पर्व की भी पूजा करते हैं वे शठ लोग हैं। (हा) हाय! (वीयरायस्य हीला) ऐसा करनेवाले वीतराग जिनगुरु के अहिंसा के वचनों का तिरस्कार करते हैं॥ ७६॥

५. **अपपाठ**—मूलसं० में ''**पुअंति**'', ''**सद्डा**'' अपपाठ हैं। द्विप्र० में पूरी कारिका का पाठ भ्रष्ट है। उसमें दस गलतियां हैं।

करते हैं] ॥ ७६ ॥[१]

समीक्षक—देखो, नवमी का नाम पापनवमी कहना और गणेश चतुर्थी आदि व्रतों की निन्दा करना और अपने पच्चखाण आदि व्रतों को श्रेष्ठ कहना, मूढपुरुषों का काम है। वैसे क्या तुम्हारे पजूसण आदि व्रत बुरे नहीं हैं, जिनसे महाकष्ट होता है ?[२] ये दोनों के झूठे हैं, और **जो सत्यभाषणादि व्रत हैं वे दोनों के सच्चे हैं।**

[३]मूल—किं सोपि जणणि जाओ जाणो जणणीइ किं गओ विद्धिं।
जइ मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं वहइ॥ ८१ ॥[४-५]
वेसाण बंदियाणय, माहण डुंबाण जरकसिरकाणं।
भत्ता भरकट्ठाणं, वियाणं जंति दूरेणं॥ ८२ ॥[६-७]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सू० ८१, ८२ ॥

सं० अर्थ—देखो इनका न्याय! जैनमत-विरोधी सब मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्या धर्मवाले हैं। वे क्यों जन्मे ? और जो जन्मे तो बढ़े क्यों ? अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते तो अच्छा होता॥ ८१ ॥

---

१. **भ्रष्ट एवं लुप्त अर्थ**—द्वि०सं० में इस कारिका का अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। मूलप्रति सं० में अर्थ ही नहीं है। इस संस्करण में शुद्ध कर दिया है। अशुद्ध अर्थ इस प्रकार है—

''पूर्वसूत्र में जो मिथ्यात्वी अर्थात् जैनधर्म-भिन्न सब मिथ्यात्वी हैं और आप सम्यक्त्वी हैं, अर्थात् अन्य सब पापी हैं, जैन लोग सब पुण्यात्मा [हैं, ऐसा कहा है]। इसलिये जो कोई मिथ्यात्वी के धर्म का स्थापन करे, वह पापी है॥''

भ्रष्ट अर्थ का संशोधन नहीं—किसी सम्पादक ने इस भ्रष्ट अर्थ को नहीं सुधारा है। उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों ने भी इसके संशोधन पर ध्यान नहीं दिया। सब संस्करणों में भ्रष्ट अर्थ है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—''**क्या.....होता है**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३. **मुद्रणप्रति में अपक्रम**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ८१, ८२ कारिकाएं अपक्रम में है। लिपिकर की भूल से ८२ वीं पहले रख दी गई और ८१ वीं उसके बाद। मूलप्रति में ठीक क्रम में हैं वही क्रम ग्राह्य है। उदयपुर सं० में अशुद्ध क्रम है, उसे सुधारा नहीं है। उदयपुर मण्डली के कथित दस सम्पादकों को सम्पादन प्रमादपूर्ण है।

४. **अर्थ**—(जइ मिच्छरओ जाओ) यदि किसी माता ने कोई मिथ्यात्वी=जैनमतरहित या विरोधी उत्पन्न किया है (तह) तो वह समझो (गुणेसु मच्छरं वहइ) गुणों में ईर्ष्या-द्वेष ही रखने वाला है अर्थात् जैनमतभिन्न व्यक्ति गुणी नहीं हो सकता। (किं सोपि जणणि जाओ) ऐसे को भी जननी ने जन्म क्यों दिया ? (जणणीइ जाणो किं गओ विद्धिं) और **जननी से जन्म हो ही गया तो वह पला-बढ़ा क्यों ? अर्थात् जैनमत से भिन्न वह बालक अथवा व्यक्ति, या तो गर्भ में मर जाता या जन्मते ही मर जाता तो अच्छा होता॥ ८१ ॥**

५. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में ''**जगणीइं**'' ''**जइं**'' तथा द्वि० सं० में ''**इकिं**'' (किं के स्थार पर) अपपाठ हैं। उदयपुर सं० आदि में अब संशोधित हैं।

६. **अर्थ**—(वियाणं दूरेणं जंति) जो लोग विरक्त जैन आदि गुरुओं से दूर जाते हैं अर्थात् उनके अनुयायी न बनकर अन्यमार्गियों के अनुयायी बनते हैं वे लुटा करते हैं, क्योंकि (वेसाण) वेश्याओं (वंदियाणं) वंदी, भाट, चारणों के (य) जो (माहण) ब्राह्मणों के (डुंबाण) डोमों के (अक्खसिक्खाणं) यक्ष, शेषनाग आदि के (भत्ता) भक्त होते हैं (भक्खट्ठाणं) वे अपने उन पूज्यों के ही भक्ष्यस्थान हैं अर्थात् वे पूज्य माने गये देवी-देवता अपने भक्तों को ही लूटकर खाते हैं और भक्त लुटते रहते हैं॥ ८२ ॥

७. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**माहणडुं**'' ''**बाणजर**'' ''**कसिरकाणम्**'' अपपाठ हैं। इसी प्रकार ''**इकिं**'' ''**अयोविद्धिं**'' ''**सुतमच्छर**'' अपपाठ हैं। उदयपुर सं० में ''**विरयाणं**'' अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में शेष संशोधित है। **उदयपुर सं० द्वारा अन्धानुकरण**—उदयपुर सं० ने ''**वेसाण**'' के स्थान पर ''**चेसाण**'' पाठ रखा है। यह स्वामी वेदानन्द जी के अपमुद्रित अशुद्ध पाठ का अन्धानुकरण है। कथित दस सम्पादकों ने यह भी ध्यान नहीं दिया कि उन्होंने टिप्पणी में शुद्ध पाठ दर्शाया है। ऐसा प्रमादपूर्ण है उदयपुर सं० का सम्पादन!

इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जो वेश्या, चारण, भाट-आदि लोगों और ब्राह्मण, यक्ष, गणेशादिक तथा देवताओं, मिथ्यादृष्टि देवी आदि का भक्त है, जो उनको माननेवाले हैं, वे सब डूबने और डुबानेवाले हैं। जो देवी-देवता आदि को मानते हैं, वे दुःख पाते हैं; क्योंकि देवी-देवता उन्हीं के पास से सब वस्तुएँ माँगते और बलिदान मांगते हैं। वे वीतराग पुरुषों [जैनियों] से दूर रहते हैं॥ ८२॥

समीक्षक—देखो, जैनमत की दया की लहरें कि अपने मत से भिन्न मनुष्यों का जन्म होना और बढ़ना अच्छा नहीं मानते, किन्तु उनका नाश ही होना अच्छा मानते हैं, तो दया और क्षमा कहाँ रही? जब अन्य के देवों-देवियों को नहीं मानते, तो अपनी हिंसक शासनदेवी आदि, '**श्राद्धदिनकृत्य**' के पृष्ठ ४६ में लिखा है कि रात्रि में भोजन करने के कारण जिसने थप्पड़ मारके मनुष्य की आँख निकाल दी, फिर उसके बदले बकरे की आँख निकालकर उस मनुष्य को लगादी, इस देवी को हिंसक क्यों नहीं मानते? क्या यह दुर्गा और काली की छोटी बहिन नहीं है?

'**रत्नसार**' भाग १ पृष्ठ ६७ में देखो क्या लिखा है—मरुतदेवी पथिकों को पत्थर की मूर्ति होकर सहाय करती थी। इसको भी सच न मानना चाहिये।

मूल—सुद्धे मग्गे जाया, सुहेण गच्छत्ति सुद्ध मग्गंमि।
जे पुण अमग्ग जाया, मग्गे गच्छन्ति ते चुय्यं॥ ८३॥[१-२]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र, ८३॥

सं० अर्थ—जो जैनकुल में जन्म लेकर मुक्ति को जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं, परन्तु जैनभिन्न कुल में जन्मे हुये मिथ्यात्वी, अन्यमार्गी मुक्ति को प्राप्त होवें, इसमें बड़ा आश्चर्य है, अर्थात् उनकी मुक्ति ही नहीं होती। और कुमार्ग अर्थात् जैनभिन्न सम्प्रदाय में उत्पन्न होकर अर्थात् चेले-चांटे होकर सुमार्ग में चलें, यह बड़ा आश्चर्य है; क्योंकि जो उन्मार्गी अर्थात् जैनभिन्न मार्ग में हैं, वे सब नरक में पड़ेंगे, जो ऐसा जानके भी जैनमत में नहीं आवे [तो बड़ा आश्चर्य है।]॥ ८३॥

समीक्षक—क्या जैनकुल में कोई दुष्ट वा नरकगामी नहीं होता? और सभी मुक्ति को जायेंगे? और अन्य कुलों में कोई भी श्रेष्ठ नहीं और मुक्ति को न जायेगा? क्या पागलपन की बातें हैं!! [इनको] महामूढ मनुष्यों के विना और कौन मान सकता है?

मूल—तिच्छयराणं पूआ, सम्मत्तगुणाणकारिणी भणिया।
साविय मिच्छत्तयरी, जिण समये देसिया पूआ॥ ९०॥[३-४]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र ९०॥

---

१. **अर्थ**—(सुद्धे मग्गे जाया) शुद्ध मार्ग अर्थात् जैनमत में जन्म पाकर ही मनुष्य (सुहेण) सुख से (सुद्धमग्गंमि गच्छत्ति) शुद्ध मार्ग=मुक्ति के मार्ग पर जाते हैं। (पुण) परन्तु (जे अमग्ग जाया) जो कुमार्ग अर्थात् जैनभिन्न अन्य मत में जन्म पाकर (मग्गे गच्छन्ति) श्रेष्ठ मार्ग अर्थात् मोक्ष में जाते हैं (ते चुय्यं) ऐसा कथन केवल आश्चर्य की बात है अर्थात् जैनभिन्न लोगों को मोक्ष प्राप्त ही नहीं हो सकता, वे केवल नरक में जाते हैं॥ ८३॥

२. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**मच्छत्ति**" अपपाठ है, "**गच्छत्ति**" शुद्ध है। उदयपुर सं०, द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित है।

३. **अर्थ**—(जिण समये) जैन-सिद्धान्तों या शास्त्रों में (तिच्छयराणं पूआ) केवल तीर्थकरों की पूजा ही (सम्मत्त गुणाण कारिणी भणिया) सम्यक्त्व के गुणों को ग्रहण करानेवाली कही गई है, (साविय पूआ मिच्छत्तयरी देसिया) उससे भिन्न सभी प्रकार की

सं० अर्थ—जिन-मूर्तियों की पूजा सार, इससे भिन्न अन्य मार्गियों की मूर्तिपूजा असार है। जो जिन-आज्ञा को पालता है वह तत्त्वज्ञानी, और जो नहीं पालता है, वह तत्त्वज्ञानी नहीं॥ ९०॥

समीक्षक—वाह! क्या कहना!! क्या तुम्हारी मूर्त्तियां पाषाणादि जड़ पदार्थों की नहीं जैसी वैष्णवादि की हैं? वैसी ही तुम्हारी पाषाणादिपूजा है। जैसी तुम्हारी मूर्तिपूजा मिथ्या है, वैसी ही वैष्णवादिकों की भी मिथ्या है। जो तुम जैनी तत्त्वज्ञानी बनते हो और अन्य को अतत्त्वज्ञानी बनाते हो, इससे विदित होता है कि तुम्हारे मत में तत्त्वज्ञान नहीं है॥

मूल—जिण आणाए धम्मो, आणा रहिआण फुडं अहमुत्ति।
इय मुणि ऊणय तत्तं, जिण आणाए कुणहु धम्मं॥ ९२॥[१-२]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र ९२॥

सं० अर्थ—जिनदेव की आज्ञा, क्षमा, दयादि रूप धर्म हैं, उनसे अन्य सब अधर्म हैं।

समीक्षक—यह कितने बड़े अन्याय की बात है! कोई जैनमत से भिन्न पुरुष सत्य आज्ञा [का पालन] करे, क्या वह धर्म न मानना चाहिये? हां, जो जैनमतस्थ पुरुषों के मुख-जिह्वा चमड़े-हाड़ के न होंगे, औरों के चमड़े-हाड़ के होंगे! इससे उन्हीं के मुख के वचन की बड़ाई करना, जानो भाटों[३] के बड़े भाई की बातें हैं।

मूल—वन्नेमि नारयाउवि, जेसिं दुरकाइ सम्भरं ताणम्।
भव्वाण जणइ हरि हर, रिद्धि समिद्धी वि उद्घोसं॥ ९५॥[४-५]

मूल—[इअराण ठक्कुराणवि, आणाभंगेण होइ मरण दुहं।
किं पुण तिलोअ पहुणों, जिणिंददेवाइ देवस्स]॥ ९८॥[६-७]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र ९५, ९८॥

पूजा मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली कही है। अर्थात् जैन तीर्थंकरों से भिन्न की पूजा मिथ्या और निष्फल है क्योंकि दूसरे मत के लोग ज्ञानी नहीं हो सकते॥ ९०॥

४. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**तिच्छराणं**" अपपाठ है। उदयपुर सं०, द्वि०सं०, मूलसं० आदि में संशोधित है।

१. **अर्थ**—(जिण आणाए धम्मो) गुरु जिन देव की आज्ञाएं ही धर्म हैं, (आणा रहिआण) उनकी आज्ञाओं से भिन्न जो बाते हैं अर्थात् अन्यमार्गी गुरुओं द्वारा उक्त जो उपदेश हैं वे सब (फुडम्) व्यर्थ हैं और (अहमुत्ति) केवल अहंकारपूर्ण उक्तियां हैं, (इय मुणि ऊणय तत्तं) यही जैन मुनियों द्वारा बताया गया 'तत्त्व' ज्ञान है कि (जिण आणाए धम्मं कुणुहु) जिनदेव की आज्ञा द्वारा कथित धर्म का ही पालन करो, अर्थात् अन्यों द्वारा कथित धर्म का पालन मत करो॥ ९२॥

२. **अपपाठ**—द्वितीय सं० में "**फुड**" "**तत्त**" अपपाठ हैं। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**ऊण**" "**यतत्तं**" अपपाठ हैं।

३. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में यहां "**भांडों के बड़े भाई**" अपप्रयोग है। द्वि०सं० में "**भाट**" शुद्ध है। अर्थ की दृष्टि से '**भाट**' ही सार्थक पद है, '**भांड**' नहीं। मूलह०, मूलसं० में भी अन्यत्र '**भाट**' प्रयोग शुद्ध है। द्रष्टव्य, पृ० ८०९/१ में पर शुद्ध प्रयोग।

४. **अर्थ**—(नारयाउवि वन्नेमि) मैं नरक में पड़े उन लोगों का वर्णन करता हूं (जेसि दुरकाइ सम्भरं ताणम्) जिनके दुःखों का स्मरण आते ही (भव्वाण जणह) सांसारिक जन घबरा जाते हैं और (हरि-हर ऋद्धि-समृद्धि) विष्णु-शिव आदि की पूजा-अर्चना आदि का उद्घोष सुनाई पड़ते ही (वि उद्घोसम्) उनसे घबराकर डर से चिल्ला उठते हैं अर्थात् विष्णु आदि की पूजा से नरक मिलने के भय से उनकी पूजा नहीं सुनने-करने का उद्घोष करते हैं और जैन धर्म को धारण करने के लिए पुकार लगाते हैं॥ ९५॥

५. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**उविजेसिं दुरकाई**" अपपाठ है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित हैं।

६. **अर्थ**—(इअराण ठक्कुराणवि) किसी सामान्य ठाकुर राजा की (आणाभंगेण मरण दुहं होइ) आज्ञा भंग करने से मरण का दुःख उठाना पड़ता है या दुःख उपस्थित हो जाता है, (तिलोअ पहुणों) तीन लोकों के प्रभु (जिणिंद देवाइ देवस्य किं पुण) जिनेन्द्रदेव

सं० अर्थ—इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि जो हरि हर-आदि की विभूति है, वह नरक का हेतु है, उसको देखके [भय से] जैनियों के रोमांच खड़े हो जाते हैं॥ ९५॥

जैसे राजाज्ञा भंग करने से [मनुष्य] मरण तक दुःख पाता है, [वैसे] जिनेन्द्र की आज्ञाभङ्ग से क्यों न जन्म-मरण दुःख पावेगा?॥ ९८॥

समीक्षक—देखिए, जैन लोग दूसरे की उन्नति नहीं देख सकते! देखकर भीतर जलते हैं अर्थात् चाहते होंगे कि हरि-हर-आदि की यह विभूति हमको मिल जाय। बहुधा वैसे व्यवहार भी करते होंगे। यह फोकट राजाज्ञाभंग के दृष्टान्त से मूर्खों को भय दिखलाकर मूंडने की बातें हैं और राजाज्ञा का दृष्टान्त इसलिये देते हैं कि ये जैन लोग राज्य के बड़े खुशामदी, झूठे और डरपुकने हैं। क्या झूठी बात भी राजा की मान लेनी चाहिये? जो ईर्ष्या-द्वेषी होगा, तो जैनियों से बढ़के दूसरा कोई भी न होगा।

मूल—जो देई सुद्धधम्मं, सो परमप्पा जयम्मि न हु अन्नो।
किं कप्पद्दुम सरिसो, इयर तरू हो कइया वि॥ १०१॥[१-२]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र १०१॥

सं० अर्थ—मूर्ख लोग वे हैं जो जैनधर्म से विरुद्ध हैं और जो जिनेन्द्रभाषित धर्मोपदेष्टा हैं, वे तीर्थंकरों के तुल्य हैं। [जो जैन तीर्थंकर हैं वे परमात्मा हैं] उनके तुल्य दूसरा कोई भी नहीं। [क्या कल्पवृक्ष के समान अन्य वृक्ष कहीं होता है?]॥ १०१॥

समीक्षक—क्यों न हो, जो जैनी लोग छोकर-बुद्धि न होते तो ऐसी बातें क्यों मानते और क्यों करते? जैसे जैनमार्ग के उपदेष्टा को अच्छा मानते हो, वैसे दूसरे को क्यों नहीं मानते? यह सब तुम्हारा अज्ञान का माहात्म्य है।

मूल—मूलं जिणिंद देवो, तव्वयणं गुरुजणं महासयणं।
सेसं पावट्ठाणं, परमप्पाणं च वज्जंमि॥ १०३॥[३-४]

प्रकरण०, भाग २, षष्ठी०, सूत्र १०३॥[५]

जैसे महान् देव की आज्ञा को भंग करने का फिर क्या दुष्परिणाम होगा, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता अर्थात् उसकी आज्ञाभंग करने से जन्म-जन्मान्तर में घोर दुःख होगा।

७. **त्रुटित आवश्यक कारिका**—द्वि०सं० में "**इयराण ठक्कुराणवि....**" कारिका त्रुटित है। मूलप्रति सं० में गृहीत है। इसका होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि तीनों सं० में आगे इसका अर्थ दिया हुआ है। समीक्षा में इसका उल्लेख है।

उदयपुर सं० द्वारा सम्पादन-नीति का त्याग—उदयपुर सं० में घोषणा है कि जहां अर्थ है और मूलप्रमाण छूट गया है वहां उन्होंने मूलप्रमाण को ग्रहण करके मूल पाठ में सम्मिलित किया है (जैसे पृ० २५६-२५७) किन्तु यहां विद्वान् अपनी नीति को भूल गये और इस कारिका को मूल में ग्रहण नहीं किया। इसके ग्रहण किये बिना अर्थ, श्लोक और समीक्षा अपूर्ण रहेगी।

१. **अर्थ**—(जयम्मि) इस जगत् में (जो शुद्धधम्मं देइ) जो शद्ध धर्म अर्थात् जैन धर्म का उपदेश देता है (सो परमप्पा) वही परमात्मा है, वही तीर्थंकर 'ईश्वर' कहाता है, (अन्नो नहु) उसके समान अन्य कोई गुरु नहीं है। (कइया वि) कहीं भी नहीं है (किम्) क्या (कप्पद्दुम सरिसो इयरतरू होइ) क्या कल्पद्रुम=कल्पवृक्ष के समान कोई अन्य वृक्ष हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। उसी प्रकार जैन तीर्थंकर के समान श्रेष्ठ और कल्याणकारी गुरु भी कोई नहीं हो सकता॥ १०१॥

२. **अपपाठ**—दोनों सं० में "**देई**", मूलप्रति सं० में "**कईयावि**" अपपाठ है।

३. **अप उद्धरण द्वि० सं० में**—परोपकारिणी के संस्करण २ से ३३ तक इसके स्थान पर निम्नांकित अशुद्ध कारिका छपती रही है और द्वि०सं० में अब भी छप रही है। ग्रन्थकार ने कारिका सं० १०३ का अर्थ दिया हुआ है, अतः वही प्रमाण के रूप में अभीष्ट

सं० अर्थ—जिनेन्द्र देव, तदुक्त सिद्धान्त और उपदेष्टा ग्राह्य, और सब अन्य मत के वचन, सिद्धान्त और उपदेष्टाओं का त्याग करना चाहिये॥ १०३॥

समीक्षक—यह तुम्हारा हठ, पक्षपात और अविद्या का फल है, क्योंकि तुम्हारी थोड़ी-सी बातें छोड़कर सब बातें त्यक्तव्य हैं। जिसको थोड़ी-सी बुद्धि होगी, वह जैनियों के देव, सिद्धान्तग्रन्थ और उपदेष्टाओं को देखे, सुने, विचारे, तो उसी समय निःसन्देह छोड़ देगा।

मूल—वयणे वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसिं न उल्लसइ सम्मं।
अह कह दिणमणि तेयं, उलुआणं हरइ अंधत्तं॥ १०८॥[१-२]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी० सूत्र १०८॥

सं० अ०—जो जिनवचन के अनुकूल चलते हैं, वे पूजनीय और जो विरुद्ध चलते हैं, वे अपूज्य हैं। जैन गुरुओं को मानना और अन्यमार्गियों को न मानना चाहिये॥ १०८॥

समीक्षक—भला, जो जैन लोग अन्य अज्ञानियों को चेले करके पशुवत् न बाँधते तो उनके जाल में से छूटकर, अपनी मुक्ति के साधन कर, जन्म सफल कर लेते। भला, जो कोई तुमको कुमार्गी, कुगुरु, मिथ्यात्वी और कूपदेष्टा[३] कहैं, तो तुमको कितना दुःख लगे? वैसे ही जो तुम दूसरे को दुःखदायक हो,

---

हो सकती है। परोपकारिणी के ३४ वें सं० में इस कारिका को हटाकर १०३ वीं कारिका रख दी थी। हटाई गई कारिका को मूलप्रति सं० और उदयपुर आदि में अनावश्यक रूप से फिर रख दिया है जबकि उसका अर्थ ही नहीं है। हटाई गई कारिका यह है—

जे अमुणिअ गुणदोषा ते कहअ वुहाण हुंति मझच्छा।
अह तेवि हु मझच्छा ता विस अमिआण तुल्लत्तं॥ (प्रकरण० भाग २, षष्ठी० ६०, सूत्र १०२)

अर्थ—(जे गुण दोषा अमुणिअ) जो लोग गुण-दोषों पर मनन नहीं कर सकते वैसे विवेक रहित अजैन लोग (वुहाण मझच्छा कहअ हन्ति) वे विद्वानों के मध्य कैसे रह सकते हैं? अथवा विद्वानों में कैसे गिने जा सकते हैं? (जइ ते वि हु मझच्छा) यदि वे विद्वानों के मध्य मान लिये जायें (ता विस अमिआण तुल्लत्तम्) तो विष और अमृत बराबर हो जायेंगे अर्थात् विष और अमृत में कोई भेद ही नहीं रहेगा। जैन विद्वान् अमृत तुल्य हैं और अन्यमार्गी विद्वान् विष के तुल्य हैं॥ १०२॥

अपपाठ—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस पूरी कारिका का अशुद्ध पाठ है, इसमें ११ अशुद्धियां हैं। उदयपुर सं० में मूलपाठ में ये पांच अशुद्धियां हैं—''**अवुहाण**'' ''**हुन्ति**'' ''**अहते**'' ''**विहुम**'' ''**झच्छा**''। यह कारिका भी अशुद्ध उद्धृत है, नीचे इसका अर्थ नहीं है। उदयपुर सं० ने इस अशुद्ध कारिका को ही ग्रहण किया है। क्या इसका नाम 'मानक' है?

४. **अर्थ**—(मूलं जिणिन्द देवो) मेरा मूल आधार जिनेन्द्र देव है और (तव्वयणं) उसका वचन धर्म है, (गुरुजनं महासुयमणं) वही मेरा गुरु है, महाज्ञानी है, (सेसं पावट्ठाणं) जिनेन्द्रदेव के अतिरिक्त सब देव, गुरु और धर्म पाप का स्थान हैं, अतः (परमप्पाणं च वज्जेमि) दूसरों के पूज्य देवों का मैं त्याग करता हूँ। अर्थात् सभी अन्य मतों के गुरु पापी हैं, अतः त्याज्य हैं॥ १०३॥

५. **उदयपुर सं० में त्रुटित गाथा**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह कारिका त्रुटित है। इसके स्थान पर अशुद्ध कारिका संख्या १०२ ''**जे अमुणिअ.....**'' उद्धृत मिलती है। अर्थ उसका नहीं है। इस कारिका का संशोधन **स्वामी वेदानन्द जी** ने टिप्पणी में और **पं० मीमांसक जी** ने मूलपाठ में किया है। उदयपुर सं० में वही अशुद्ध कारिका उद्धृत है, संशोधन नहीं किया गया है। उदयपुर सं० ने यहां अपनी घोषित नीति का पालन नहीं किया है कि जहां अर्थ है वहां मूलप्रमाण को ग्रहण किया गया है।

१-२. **अर्थ**—(सुगुरु जिणवल्लहस्स वयणे वि) श्रेष्ठ गुरु जिनवल्लभ के वचनों से भी (केसिं सम्मं न उल्लसइ) किसी-किसी का सम्यक्त्व विचार प्रकाशित नहीं होता, बोध नहीं होता (अह) तो (कह) क्या (दिणमणि तेयं उलुआणं अन्धत्तं हरइ) सूर्य का तेज उल्लुओं के अन्धेपन को दूर कर पाता है? अर्थात् नहीं। अभिप्राय है कि जो जिनेन्द्र के वचनों को जो समझ नहीं पाते, उनको सुनकर नहीं सुधरते, वे उल्लू के समान हैं। इसमें जिनेन्द्र की त्रुटि नहीं, उल्लुओं के सदृश मूर्ख बुद्धि वालों अर्थात् अन्य मत-वालों का ही दोष है॥ १०८॥

३. **कूपदेष्टा**=सीमित, संकीर्ण उपदेश देनेवाला; अल्पज्ञ।

इसीलिये तुम्हारे मत में असार बातें बहुत-सी भरी हैं।

मूल—जे रज्ज धणाईणं कारणभूय हवंति वावारा।
ते वि हु अइपावजुया, धन्ना छड्डंति भवभिया॥ ११९॥[१-२]

प्रकरण० भाग २, षष्ठी०, सूत्र ११९॥[३]

सं० अर्थ—जो मृत्युपर्यन्त दुःख हो तो भी [राज्य-संचालन], कृषि-व्यापार-आदि कर्म जैनी लोग न करें, क्योंकि ये कर्म नरक में लेजाने वाले हैं॥ ११९॥

समीक्षक—अब कोई जैनियों से पूछे कि तुम व्यापारादि कर्म क्यों करते हो? इन कर्मों को क्यों नहीं छोड़ देते? और जो छोड़ दो तो तुम्हारे शरीर का पालन-पोषण भी न हो सके। **और जो तुम्हारे कहने से सब लोग छोड़ दें, तो तुम क्या पत्थर खाके जीओगे? अत्याचार का ऐसा उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है। क्या करें बेचारे! विद्या, सत्सङ्ग के विना जो मन में आया, सो बक दिया।**

---

१. **अपकारिका द्वि०सं० में**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० इस कारिका के स्थान पर संकलनकर्त्ता की भूल से १०९वीं कारिका उद्धृत की हुई है। आगे अर्थ ११९ वीं कारिका का है, समीक्षा भी उसी की है। यहां तो यहां ११९ वीं ही उपयुक्त है, १०९ वीं नहीं। १०९वीं अप-उद्धृत कारिका यह है—

तिहुअण जणं मरन्तं दट्ठूण निअन्ति जे न अप्पाणं।
विरमन्ति न पावाउ धिद्धी धिट्ठत्तणं ताणं॥ (प्रकरण० भाग २, षष्ठी, सू० १०९)

अर्थ—(जे) जो मनुष्य (तिहुअण मरन्तं जणं) त्रिभुवन=सारे संसार में मनुष्यों को मरता हुआ (दट्ठूण) देखकर भी (अप्पाणं न निअन्ति) अपने आपको संयम-नियम में नहीं रखते हैं, और (न पावाउ विरमन्ति) न अपने को पापों से रोकते हैं (ताणं धिट्उत्तणं धिद्धी) उन धृष्टतम=बहुत ढीठ स्वभाव के लोगों को धिक्कार है अर्थात् उनका जीवन व्यर्थ जा रहा है यह समझ कर भी जो नहीं संभलते उनके मनुष्य जन्म को धिक्कार है॥ १०९॥

अपपाठ—इस सं० में टिप्पणी में प्रदर्शित इस कारिका में, द्विप्र० के पाठ में चार अशुद्धियां हैं—''**निअन्तिजन**'' ''**पावा**'' ''**उधिद्धी**'' ''**धिठत्तणं**''। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित हैं।

स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती ने इस अशुद्धि की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। अब यह सब संस्करणों से हटा दी गई है किन्तु कुछ द्वि० सं० में अभी भी विद्यमान है। उदयपुर सं० में अशुद्ध कारिका १०९ ही ग्रहण की है। यह अपसम्पादन है।

आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री का दुराग्रह—सत्यार्थप्रकाश-संशोधन-विरोध की 'दुराग्रह-परम्परा' के समर्थक आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री (संन्यासनाम श्री सच्चिदानन्द जी योगी) की विचित्र मानसिकता देखिए। 'सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा' नामक पुस्तक में वे यह स्वीकार करते हैं कि ''**तिहुअण जणं**'' (१०९) कारिका अशुद्ध है और उनके नीचे अंकित अर्थ उसका नहीं है। फिर भी उसको मूलपाठ में यथावत् लिखे रखने का दुराग्रह करके लिखते हैं—''ऋषि ग्रन्थों को ही बिगाड़ रहा है। यह आर्य संसार के गुरु का द्रोह है, ऋषि पराङ्मुखता की पराकाष्ठा है'' (पृ० ५८)। अशुद्धि भी कभी ऋषिभक्ति, ऋषि-उन्मुखता या गुरुद्रोह हुआ करती है क्या? अशुद्धि तो स्वयं ग्रन्थ का विकार होता है। अशुद्धियों का सम्मान करने वाले ऐसे लोग कम ही मिलेंगे। शास्त्री जी यही नहीं समझ पाये कि इस प्रकार की सारी त्रुटियां संकलनकर्त्ता या लिपिकर की हैं। उनकी त्रुटियों का कलंक ऋषि के माथे पर लगाये रखने के लिए दुराग्रह कर रहे हैं। कैसी अजीब ऋषिभक्ति है!! ऐसे ही वे सब लोग हैं जो गम्भीर अध्ययन के अभाव के कारण अशुद्धियों को बनाये रखने के पक्षधर हैं।

२. **अर्थ**—(जे) जो (रज्ज धनाइणं कारणभूय) राज्य, धनागम आदि के कारणभूत (वावारा) व्यापार हैं (ते वि अइपावजुया विहु) वे भी अतिपापयुक्त कर्म हैं, (धन्ना) वे लोग धन्य हैं जो (भवभिया छड्डंति) सांसारिक पापों के फल कष्ट आदि और जन्म-मरण रूप दुःखप्राप्ति के भय से उन कर्मों को छोड़ देते हैं॥ ११९॥

३. **उदयपुर सं० द्वारा कारिका का ग्रहण नहीं**—टिप्पणी में यह स्वीकार करने के बावजूद कि मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में प्रचलित कारिका ''**तिहुआण जणं**'' (१०९) अशुद्ध है, उदयपुर सं० ने उपर्युक्त शुद्ध कारिका को ग्रहण नहीं किया, यह अशुद्ध कारिका ही मूलपाठ में रखी है। कहीं शुद्ध का ग्रहण, कहीं अशुद्ध का, यह क्या सम्पादन नीति हुई? क्या अशुद्ध को ग्रहण करने का नाम ही मूलस्वरूप को अक्षुण्ण रखना है? क्या ऐसे अशुद्ध संस्करण को 'मानक' कहा जा सकता है?

मूल—तइया हमाण अहमा, कारण रहिया अनाणगव्वेण।
जे जंपंति उसुत्तं, तेसिं धिद्धिच्छ पंडिच्चं॥ १२१॥[१-२]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी०, सूत्र १२१॥

सं० अर्थ—जो जैनागम से विरुद्ध शास्त्रों के माननेवाले हैं, वे अधमाधम हैं। चाहे कोई प्रयोजन भी सिद्ध होता हो, तो भी जैनमत से विरुद्ध न बोले, न माने। चाहे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, तो भी अन्य मत का त्याग कर दे॥ १२१॥

समीक्षक—तुम्हारे मूलपुरुषाओं[३] से लेके आजतक जितने हो गये और होंगे, उन्होंने विना दूसरे मत को गालिप्रदान के अन्य कुछ भी दूसरी बात न की और न करेंगे। भला, जहाँ-जहाँ जैनी लोग अपना प्रयोजन सिद्ध होना देखते हैं, वहाँ चेलों के भी चेले बन जाते हैं, तो ऐसी मिथ्या लम्बी-चौड़ी बातों के हाँकने में तनिक भी लज्जा नहीं आती, यह बड़े शोक की बात है।

मूल—जं वीरजिणस्स जिओ, मिरई उस्सुत्त लेस देसणओ।
सागर कोडाकोडिं, हिंडइ अइ भीमभवरण्णे॥ १२२॥[४-५]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी०, सूत्र १२२॥

सं० अर्थ—जो कोई ऐसा कहे कि जैन साधुओं में धर्म है, तो हमारे और अन्य में भी धर्म है; तो [लेशमात्र भी जैन-ग्रन्थों के विरुद्ध बोलनेवाला][६] वह मनुष्य करोड़ों-करोड़ों वर्ष तक नरक में रहकर फिर भी नीच जन्म पाता है॥ १२२॥

समीक्षक—वाह रे वाह विद्या के शत्रुओ! तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों का कोई खण्डन न करे, इसीलिये यह भयङ्कर वचन लिखा है, जो असम्भव है। अब कहां तक तुमको समझावें? तुमने तो झूठ, निन्दा और अन्य मतों से वैर-विरोध करने पर ही कमर बांध अपना प्रयोजन सिद्ध करना 'मोहनभोग' के समान समझ लिया है।

---

१. **अर्थ**—जो (अनाणगव्वेण) अज्ञान के घमण्ड में आकर (कारणरहिया उत्सुत्तं जंपन्ति) कारण रहित=तर्कहीन कथनों से जैनग्रन्थों के विरुद्ध बकते हैं (तइया जे) तीसरे प्रकार के लोग हैं (हमाण अहमा) वे मनुष्यों में अधम से अधम लोग हैं (तेसिं पंडिच्चं धिद्-धिच्छ) उनके पांडित्य को धिक्कार है॥ १२१॥

२. **अपपाठ**—द्वि० सं० में "**तिद्विच्छ**", मूलप्रति सं० में "**धिद्विच्छ**" अपपाठ है। द्विप्र० में "**दिद्धिछपमिच्च**", उदयपुर सं० में "**जपंन्ति**" अपपाठ है। शेष संशोधित है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मूलपुरुषा**" अपप्रयोग है, महर्षि द्वारा प्रयुक्त शब्द दो मिलते हैं—"**मूलपुरुषों**" अथवा "**मूलपुरुषाओं**"। यही यहां ग्राह्य हैं।

४. **अर्थ**—(जं वीरजिणस्स जिओ) जो पूर्वजन्मों में जिनवीर महावीर का जीव भी (मिरई) मरीचि भव=दुःखमय संसार में (उस्सुत्त लेस देसणओ) जैनों के सूत्र या सिद्धान्तों के विरुद्ध लेशमात्र कथन करने से (अइ भीमभवरण्णे) इस अतिभयानक संसार रूपी वन में (सागर कोडाकोडिं) सागर नामक करोड़ों-करोड़ों वर्षों की काल-अवधि तक (पृ० ७९२) (हिंडई) जन्म-मरण के चक्र में पड़कर भटकता फिरा था, तो जैन-विरोधियों का जीव क्यों न भटकेगा?॥ १२२॥

५. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस कारिका के मूलपाठ में नौ अशुद्धियां हैं। उदयपुर सं० में "भी मभवरण्णे" अपपाठ है। शेष द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशाधित है।

६. **त्रुटित अर्थ**—दोनों सं० में कारिका का भाव समझने के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन आवश्यक है। बिना परिवर्धन के कारिका का भाव स्पष्ट नहीं होता।

मूल—दूरे करणं दूरम्मि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिणधम्म सद्दहाणं, पि तिरकदुरकाइ निट्ठवइ॥ १२७॥[१-२]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी०, सूत्र १२७॥

सं० अर्थ—जिस मनुष्य से जैनधर्म का कुछ भी अनुष्ठान न हो सके तो भी जो 'जैनधर्म सच्चा है, अन्य कोई नहीं' इतनी श्रद्धामात्र से ही वह दुःखों से तर जाता है॥ १२७॥

समीक्षक—भला, इससे अधिक मूर्खों को अपने मतजाल में फसाने की दूसरी कौन-सी बात होगी? क्योंकि कुछ कर्म करना न पड़े और मुक्ति हो ही जाय, ऐसा भोंदू मत[३] कौन-सा होगा?

मूल—कइया होही दिवसो, जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उस्सुत्त लेस विसलव, रहिओ निसुणेसु जिणधम्मं॥ १२८॥[४-५]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी०, सूत्र १२८॥

सं० अर्थ—मनुष्य 'जिनागम' अर्थात् 'जैनों के शास्त्रों को सुनूँगा, उत्सूत्र अर्थात् अन्य मत के ग्रन्थों को कभी न सुनूँगा' इतनी इच्छामात्र से ही दुःखसागर से तर जाता है॥ १२८॥

समीक्षक—यह भी बात भोले मनुष्यों को फसाने के लिए है; क्योंकि इस पूर्वोक्त इच्छा से यहाँ के दुःखसागर से भी नहीं तरता और पूर्वजन्म के भी सञ्चित पापों के दुःखरूपी फल भोगे विना नहीं छूट सकता। जो ऐसी-ऐसी झूठ अर्थात् विद्याविरुद्ध बात न लिखते तो इनके अविद्यारूप ग्रन्थों को वेदादिशास्त्र देख-सुन सत्यासत्य जानकर इनके पोकल[६] ग्रन्थों को छोड़ देते, परन्तु ऐसा जकड़कर इन अविद्वानों को बांधा है कि इस जाल से कोई- एक बुद्धिमान् सत्संगी चाहे, केवल वही छूट सके तो सम्भव है, परन्तु अन्य जड़बुद्धियों का छूटना तो अति कठिन है।

मूल—जम्हा जिणेहिं भणियं, सुय ववहारं विसोहियं तस्स।
जायइ विसुद्ध बोही, जिण आणाराह गत्ताओ॥ १३८॥[७-८]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी०, सूत्र १३८॥

---

१. **अर्थ**—(करणं दूरे) जो कोई जैन धर्म का आचरण करने से भी दूर रहे, (साहणं दूरम्मि) चाहे जैनधर्म के सहाय और प्रचार करने से भी दूर रहे, (तह) तथा (पभावणा दूरे) धर्म में सक्रिय भावना से भी दूर हो, फिर भी यदि (जिणधम्म सद्दहाणं पि) केवल जिन के धर्म पर श्रद्धामात्र रखना ही उसके (तिरकदुरकाइ निट्ठवइ) तीक्ष्ण दुःखों को दूर कर देता है॥ १२७॥

२. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में चार अपपाठ है—"**साहूणं**" "**तहयभावणा**" "**पितिर**" "**कदुरकाई**"। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**भूंदू मत**" अपवर्तनी है, यहां '**भोंदू**' वर्तनी अपेक्षित है।

४. **अर्थ**—(कइया दिवसो हो ही) कब वह दिन आयेगा (जइया) जब मैं (सुगुरूण पायमूलम्मि) जैन सुगुरुओं के चरणमूल में बैठ कर (उस्सुत्त लेस विसलव रहिओ) जैन ग्रन्थों के लेशमात्र भी विरुद्ध कथन रूपी विषाग्नि से रहित (जिणधम्म निसुणेसु) जिन धर्म को सुनूंगा अर्थात् जैनधर्म के श्रवण-मात्र से तर जाऊंगा॥ १२८॥

५. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस कारिका की दूसरी पंक्ति पूरी भ्रष्ट है। इसमें चार अशुद्धियां हैं। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित है।

६. **पोकल**=सारहीन, खोखला। यह गुजराती शब्द है।

७. **अर्थ**—(जम्हा) जिसने (जिणेहिं भणियं) जिन-तीर्थंकरों के कहे हुए (सुय ववहारं) श्रुत=शास्त्रोक्त व्यवहार को (विसोहियं) आचरण में लाकर विशेष रूप से अपने को शुद्ध किया है (तस्स जिण आणा राह गत्ताओ) उसको जिनाज्ञा का आराधक होने

सं० अर्थ—जो जिनाचार्यों के कहे सूत्र,[१] निरुक्ति, वृत्ति, भाष्य, चूर्णी [आदि को] मानते हैं, वे ही शुद्ध[२] व्यवहार और दुर्लभ[३] व्यवहार के करने से चारित्रयुक्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं, अन्य मत के ग्रन्थ देखने से नहीं॥ १३८॥

समीक्षक—क्या अत्यन्त भूखा मरने आदि कष्ट सहने को 'चारित्र' कहते हैं? जो भूखा-प्यासा मरना आदि ही 'चारित्र' है, तो बहुत से मनुष्य अकाल वा जिनको अन्नादि नहीं मिलते, भूखे मरते हैं, वे शुद्ध होकर शुभ फलों को प्राप्त होने चाहियें। सो न ये शुद्ध होवें और न तुम, किन्तु पित्तादि के प्रकोप से रोगी होकर सुख के बदले दुःख को प्राप्त होते हो।

'धर्म' तो न्यायाचरण, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि है और असत्यभाषण अन्यायाचरणादि 'पाप' है, और सबसे प्रीतिपूर्वक परोपकारार्थ वर्तना 'शुभ चरित्र' कहाता है। जैनमतस्थों का भूखा-प्यासा रहना आदि धर्म नहीं। इन सूत्रादि को मानने से थोड़े-से सत्य और अधिक झूठ को प्राप्त होकर दुःखसागर में डूबते हैं।

[मूल—जंचिअ लोओ मन्नइ, तंचिअ मन्नंति सयल लोआवि।
जं मन्नइ जिणनाहो, तंचि अ मन्नंति किवि विरला॥ १४६॥][४]

[मूल—साहंमि आउ अहिओ, बंधसुआईसु जाण अणुराओ।
तेसिं नहु सम्मत्तं, विन्नेयं समयनीईये॥ १४७॥][५]

मूल—जइ जाणिसि जिण नाहो, लोयायारा विपरकए भूओ।
ता तं तं मन्नंतो, कह मन्नसि लोअ आयारं॥ १४८॥[६-७]

के कारण (विसुद्ध बोही जायइ) विशुद्ध बोध उत्पन्न हो जाता है, वह बोधप्राप्त बन जाता है॥ १३८॥

८. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में '**जहमा**' अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**जहमाजेणं**'' ''**हिंमणिय**'' अपपाठ हैं। शेष द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित हैं।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जिनाचार्यों ने कहे सूत्र....**'' अपपाठ है। ऊपर संशोधित है।

२-३. **अपसंशोधन**—द्वि० सं० में ''**शुद्ध**'' के स्थान पर ''**शुभ**'' और ''**दुर्लभ**'' के स्थान ''**दुःसह**'' अपपाठ बनाया है। मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है क्योंकि कारिका में शुद्धता की ही चर्चा है।

४. **अर्थ**—(लोओ) लोक=संसार (जंचिअ मन्नई) जिस किसी उपदेश को मानकर आचरण करता है (सयल लोआवि) सब लोग भी देखादेखी (तंचिअ मन्नंति) उसको मानकर आचरण करने लगते हैं, किन्तु दुःख की बात यह है कि (जिणनाहो जं मन्नइ) जिननाथ जिसको मानने के लिए कहते हैं (तंचिअ) उस वचन को (किवि विरला मन्नंति) कोई विरले ही मानकर उस पर आचरण करते हैं अर्थात् जो संसार का अनुकरण छोड़कर जिनेन्द्र के कहे का आचरण करते हैं, वही सौभाग्यशाली निराले जन हैं॥ १४६॥

५. **अर्थ**—(साहंमि आउ) साधर्मी=जैनधर्मी व्यक्ति को (बंधसुआईसु अहिओ जाण) सभी बंधु-बांधवों, परिजनों से अधिक जानते-मानते हुए (अणुराओ) अनुराग=प्रेम करो, (तेसिं नहु सम्मत्तं) उनके साथ कभी विवाद-कलह मत करो, (समयनीईये विन्नेयं) यह जैन नीतिकारों का सिद्धान्त जानना चाहिए॥ १४७॥

६. **अर्थ**—(जइ) यदि तू (जिणनाहो जाणिसि) वास्तव में जिननाथ को जानता-मानता है तो यह समझले कि (लोयायारा विपरकए भूओ) लोकव्यवहार में दूसरे धर्म के गुरु, ब्राह्मण, संन्यासी आदि का जो तू सम्मान करता है वह जिननाथ के आदेश से विपरीत व्यवहार है। (ता तं तं मन्नंतो) केवल जिननाथ के ही वचनों को मान (लोअ आयारं कह मन्नसि) तू दूसरों के पूज्यों का सम्मान करना आदि लोकाचार के व्यवहारों, बातों को क्यों मानता है? अर्थात् उनको मत मान क्योंकि दूसरों के गुरु, संन्यासी आदि जैनमत के शत्रु होते हैं॥ १४८॥

७. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में तीन अपपाठ हैं—''**जाणसि**'' ''**लोयाया**'' ''**राविपरकए**''। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं०

[मूल—जि मन्न वि जिणिदं, पुणोवि पणमन्ति इअर देवाणं।
मिच्छत्त सन्निवायग, गच्छाणं ताण को विज्जो॥ १४९॥][1]

प्रकरण० भाग २। षष्ठी०, सूत्र [१४६-१४७ पृ०६९१][2] १४८ [१४९, पृ० ६९२][3] ॥

सं० अर्थ—जो उत्तम प्रारब्धवान् मनुष्य होते हैं, वे [विरले] ही जिन-धर्म का ग्रहण करते हैं। अर्थात् जो जिनधर्म का ग्रहण नहीं करते, उनका प्रारब्ध नष्ट है॥ [१४६] ॥

समीक्षक—क्या यह बात मूर्खता की और झूठ नहीं है? क्या अन्य मत में श्रेष्ठ-प्रारब्धी और जैनमत में नष्ट-प्रारब्धी कोई भी नहीं है?

[**स० अर्थ**—] और जो यह कहा कि "साधर्मी अर्थात् जैनधर्मवाले आपस में क्लेश न करें किन्तु प्रीतिपूर्वक वर्त्तें,"॥ १४७॥ [प्रकरण०, भाग २, सू० १४७]

[**समीक्षक**—]इससे यह बात सिद्ध होती है कि दूसरे [मत-वालों] के साथ कलह करने में बुराई जैन लोग नहीं मानते होंगे। यह भी उनकी बात अयुक्त है, क्योंकि **सज्जन पुरुष सज्जनों के साथ प्रेम और दुष्टों को शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं।**

[**स० अर्थ**—] और जो यह लिखा है कि "ब्राह्मण, त्रिदण्डी, परिव्राजकाचार्य अर्थात् संन्यासी और तापसादि अर्थात् वैरागी आदि सब जैनमत के शत्रु हैं।"॥ १४८॥ [प्रकरण०, सू० १४८]

[**समीक्षक**—] अब देखिये, कि सबको शत्रुभाव से देखते और निन्दा करते हैं तो जैनियों की दया और क्षमारूप धर्म कहां रहा? क्योंकि दूसरे पर द्वेष रखना दया-क्षमा का नाश और इसके समान कोई दूसरा हिंसारूप दोष नहीं। जैसे द्वेषमूर्त्तियाँ जैनी लोग हैं, वैसे दूसरे थोड़े ही होंगे!

आदि में संशोधित हैं।

१. **अर्थ**—(जि जिणिदं मन्न) जो लोग कहते हैं कि हम जिनेन्द्र को मानते हैं, उनमें आस्था रखते हैं (पुणोवि) फिर भी (इयर-देवाणं वि पणमन्ति) अन्यमार्गियों के देवों को प्रमाण करते या पूजते हैं (ताण मिच्छत्त-संनिवायग-गच्छाणं) उन मिथ्यात्व रूप सन्निपात-ग्रस्तों का (विज्जो को) वैद्य कौन हो सकता है? अर्थात् ऐसे लोगों की बुद्धि संन्निपात रूप त्रिदोषयुक्त रोग से ग्रस्त है, उनकी बुद्धि विकारग्रस्त को कोई ठीक नहीं कर सकता॥ १४९॥

२-३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित कारिकाएं**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में संख्या १४६, १४७, १४९ कारिकाएं उद्धृत करने से त्रुटित रह गई हैं जबकि उनका अर्थ और समीक्षा दी हुई है। इस आधार पर इनको ग्रहण करना ग्रन्थकार के आशय के अनुसार आवश्यक है। हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ग्रन्थकार ने अर्थ और समीक्षा लिखाते समय लेखक को यह अवश्य कहा होगा कि तुम इन कारिकाओं को बाद में उद्धृत कर लेना; इसका संकेत हमें अर्थ में मिलता है। पाठक इन संकेतों पर ध्यान दें कि १४७ वीं कारिका के अर्थ के आरम्भ में लिखा है—"**और जो यह कहा कि**" इसी प्रकार १४९ वीं कारिका के अर्थ के आरम्भ में लिखा है—"और जो यह लिखा है कि", जबकि यहां पाठ में ऐसा कुछ नहीं लिखा है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि ग्रन्थकार ने जिस कारिका का अर्थ लिखाया है उसको लिखने के लिए अवश्य कहा था, नहीं तो उक्त वाक्य कभी न लिखाते। मूलहस्त०, मूलसं० पृ० ५१४ पर भी ठीक ऐसा ही पाठ है जिसको मुद्रणप्रति में प्रश्नों की रचना करके ग्रन्थकार के निर्देश से बढ़ाया गया है।

उदयपुर सं० तथा अन्य द्वितीय संस्करणों में तीन कारिकाओं का ग्रहण नहीं—उपलब्ध अर्थ और समीक्षा वाली उक्त बृहत् कोष्ठकान्तर्गत तीन कारिकाओं को मूलसं० को छोड़कर किसी ने ग्रहण नहीं किया है अत: सबके संस्करण अपूर्ण हैं। उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों ने भी अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं किया और इन कारिकाओं को ग्रहण नहीं किया। अत: उदयपुर सं० भी अपूर्ण है। बिना इन तीनों कारिकाओं को ग्रहण किये अर्थ के आरम्भ में महर्षिप्रोक्त उक्त वाक्यखण्डों की संगति नहीं लग सकती, जैसी कि १४८वीं कारिका की संगति सिद्ध है। उसके अर्थ के आरम्भ में भी ठीक इसी प्रकार की वाक्यरचना है, अत: तीनों कारिकाएं ग्राह्य हैं।

[**सं० अर्थ**—और जो यह लिखा है कि—'हरि हर-आदि मिथ्यात्वी, अन्य मतवाले सन्निपात रोगग्रस्त और उनके धर्म विष के समान हैं'।] ॥ १४९ ॥

[**समीक्षक**—] जो ऋषभदेव से लेके महावीरपर्यन्त २४ तीर्थंकरों को रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी कहैं और जैनमत माननेवालों को सन्निपातज्वर में फसे हुए मानें और उनका धर्म नरक और विष के समान समझें, तो जैनियों को कितना बुरा लगेगा? इसलिये जैनी लोग निन्दा और पर-मत-द्वेषरूप नरक में डूबकर महाक्लेश भोग रहे हैं। इस बात को छोड़ दें तो बहुत अच्छा होवे।

मूल— एगो अ गुरू एगो वि सावगो चेइआणि विवहाणि।
तच्छय जं जिणदव्वं, परुप्परं तं न विच्चंति॥ १५०॥[१-२]

प्रकरण०, भाग २। षष्ठी०, सूत्र १५०॥

सं० अर्थ—सब श्रावकों के देव, गुरु, धर्म एक हैं, चैत्यवन्दन अर्थात् जिन-प्रतिबिम्ब मूर्त्ति, देवल और जिन-द्रव्य की रक्षा और मूर्त्ति की पूजा करना धर्म है॥ १५० ॥

समीक्षक—अब देखो, जितना मूर्त्तिपूजा का झगड़ा चला है, वह सब जैनियों के घर से ही चला है,[३] और पाखण्डों का मूल भी जैनमत है।

[देखिये, सन् १८७६ में बनारस जैनप्रभाकर प्रेस में मुद्रित] '**श्राद्धदिनकृत्य**' पृष्ठ १ में मूर्त्तिपूजा के प्रमाण—

नवकारेण विवोहो॥ १॥ अणुसरणं सावउ॥ २॥ वयाइं इमे॥ ३॥ जोगो॥ ४॥ चिय वन्दणगो॥ ५॥ पच्चरखाणं तु विहि पुब्बं॥ ६॥ इत्यादि।

अर्थ—श्रावकों को पहले द्वार में 'नवकार' का जप करके जाना चाहिये[४]॥ १॥

दूसरा, 'नवकार' जपे पीछे 'मैं श्रावक हूँ' स्मरण करना चाहिये[५]॥ २॥

तीसरे, 'अणुव्रत'-आदिक हमारे कितने हैं॥ ३॥

चौथे द्वारे, चार वर्ग में अग्रगामी मोक्ष है। उसका कारण ज्ञानादिक है सो 'योग' है। उसका सब अतिचार निर्मल करने से छः आवश्यक कारण हैं, सो भी उपचार से 'योग' कहाता है, सो योग कहेंगे॥ ४॥

पाँचवें, चैत्यवन्दन अर्थात् मूर्त्ति को नमस्कार द्रव्यभाव पूजा कहेंगे॥ ५॥

छठा, प्रत्याख्यान द्वार नवकारसीप्रमुख विधिपूर्वक कहूंगा, इत्यादि॥ ६॥

---

१. **अर्थ**—(एगो अ गुरू) जैनियों का एक जिन ही गुरु है, (एगो वि सावगो) वही एक श्रावक=साधु है (चेइ आणि विवहाणि) चैत्य अर्थात् मूर्ति-मन्दिर विविध हैं (तच्छ य जं) तो जो (जिणदव्वं) जिन की पूजा का द्रव्य है (तं) उसका (परुप्परं न विच्चंति) परस्पर विक्रय नहीं करते हैं अर्थात् केवल अपने ही जिनदेव की पूजा जिनविधि से करते हैं अन्यों की न पूजा करते हैं, न अन्यों की पूजाविधि को ग्रहण करते हैं, वही श्रेष्ठ हैं॥ १५०॥

२. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में दो अपपाठ हैं—"**विसाव**", "**गोचे**"। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित हैं।

३. **अन्यत्र वर्णन**—इस विषयक वर्णन द्र० समु० १२, पृ०७८४, ७८६ पर भी।

४-५. **त्रुटित क्रिया एवं अपपाठ**—दोनों द्वितीय सं० में दोनों स्थानों पर यहां "**चाहिये**" क्रियाएं अपेक्षित हैं। आगे मूलप्रति सं० में चार संख्यांक पर "**जागना चाहिये**" अपपाठ है।

[**मूल**—] '**तत्त्वविवेक**' पृष्ठ १६९—जो मनुष्य लकड़ी-पत्थर को देवबुद्धि कर पूजता है, वह अच्छे फलों को प्राप्त होता है।

समीक्षक—जो ऐसा हो तो सब कोई दर्शन करके सुखरूप फलों को प्राप्त क्यों नहीं होते?

[**मूल**—] '**रत्नसार**' भाग १ पृष्ठ १०—पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं।

'**कल्पभाष्य**' पृष्ठ ५१ पर लिखा है कि—''सवा-लाख मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया''

समीक्षक—इत्यादि मूर्त्तिपूजा-विषय में इनका बहुत-सा लेख है, इसी से समझा जाता है कि मूर्त्तिपूजा का मूलकारण जैनमत है।[१]

[**मूल**—] '**श्राद्धदिनकृत्य**' आत्मनिन्दा भावना पृष्ठ ३१ पर लिखा है कि—बावड़ी, कुआ और तालाब[२] न बनवाना चाहिये।

समीक्षक—भला, जो सब मनुष्य जैनमत में हो जायें और कुआ, तालाब,[३] बावड़ी आदि कोई भी न बनवावें, तो सब लोग जल कहाँ से पीयें?[४]

प्रश्न—तालाब[५] आदि बनवाने से [उसमें] जीव पड़ते हैं, उससे बनवानेवाले को पाप लगता है, इसलिये हम जैनी लोग इस काम को नहीं करते।

उत्तर—तुम्हारी बुद्धि नष्ट क्यों हो गई? क्योंकि जैसे क्षुद्र-क्षुद्र जीवों के मरने से पाप गिनते हो, **तो बड़े-बड़े गाय आदि पशु और मनुष्यादि प्राणियों के जल पीने आदि से महापुण्य होगा,** उसको क्यों नहीं गिनते?

[**मूल**—] '**तत्त्वविवेक**' पृष्ठ १९६—इस नगरी में एक नन्द मणिकार सेठ ने बावड़ी बनवाई। उससे धर्मभ्रष्ट होकर उसको सोलह महारोग हुए, मरके उसी बावड़ी में मेंढ़क हुआ। महावीर के दर्शन से उसको जातिस्मरण हो गया। महावीर कहते हैं कि मेरा आना सुनकर वह पूर्व जन्म के धर्माचार्य जान वन्दना को आने लगा। मार्ग में श्रेणिक के घोड़े की टाप से मरकर शुभ ध्यान के योग से दर्दुरांक नामक महर्द्धिक देवता हुआ। अवधिज्ञान से मुझको यहाँ आया जान वन्दनापूर्वक ऋद्धि दिखाके गया।

समीक्षक—इत्यादि विद्याविरुद्ध, असम्भव, मिथ्या बात के कहनेवाले महावीर को सर्वोत्तम मानना महाभ्रान्ति की बात है।

---

१. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में निम्न उद्धृत पाठ यहां अस्थान में है और असंगत है। मुद्रणप्रति और द्वि० सं० में इसे सम्पादित करके उद्धरणों को इस संस्करण में पहले जो उचित है उस पहले उद्धरण को पृ० ७८९ पर और दूसरे उद्धरण को पृ० ७८६ पर रखा है। ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यहां दोनों ही उद्धरणों की समीक्षा नहीं की गई है जो इस बात की ओर संकेत है कि इनका स्थान यहां नहीं होना था। शायद मूलप्रति लिपिकर इनको काटना भूल गया। वह पाठ यह है—

''**[मूल—] और कल्पभाष्य में लिखा है कि—''ऋषभदेव से लेके महावीर पर्यन्त २४ तीर्थङ्कर सब मोक्ष को प्राप्त हुए।**

अब और थोड़ी-सी असम्भव बातें इनकी सुनो—

[मूल—] विवेकसार पृष्ठ ७८—एक करोड़ साठ लाख कलशों से महावीर को जन्म-समय में स्नान कराया।''

२,३,५. **मुद्रणलिपिकरकृत वर्तनी की हास्यास्पद अव्यवस्था**—मुद्रणलिपिकर की अयोग्यता और लीला देखिए कि एक ही स्थान पर ''**तलाब**'', ''**तालाब**'' दो वर्तनियां एक शब्द की हैं। यही दुरवस्था द्विप्र० में है। यही उदयपुर सं० में है। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित हैं।

४. **उचित संशोधन**—उदयपुर सं०, मूलप्रति सं० आदि में यहां ''**पियें**'' अप-क्रियाप्रयोग है। द्वि०सं० में ''**पीयें**'' संशोधित है।

[**मूल**—] '**श्राद्धदिनकृत्य**' पृष्ठ ३६ पर लिखा है कि—मृतकवस्त्र साधु[१] ले लेवें।

समीक्षक—देखिये, इनके साधु[२] भी 'महाब्राह्मणों'[३] के समान हो गये! वस्त्र तो साधु[४] लेवें, परन्तु मृतक के आभूषण कौन लेवे? बहुमूल्य होने से घर में रख लेते होंगे, तो आप कौन हुए?

[**मूल**—] '**रत्नसार**' पृष्ठ १०५—भूंजने, कूटने, पीसने, अन्न पकाने आदि में पाप होता है।

समीक्षक—अब देखिये इनकी विद्याहीनता! भला ये कर्म न किये जायें, तो मनुष्यादि प्राणी कैसे जी सकें? और जैनी लोग भी पीड़ित होकर मर जायें।

[**मूल**—] '**रत्नसार**' पृष्ठ १०४—बगीचा[५] लगाने से एक-लक्ष पाप माली को लगते हैं।

समीक्षक—जो माली को लक्ष पाप लगते हैं, तो अनेक जीव पुष्प, फल और छाया से आनन्दित होते हैं, तो करोड़ों गुणा पुण्य भी होता ही है। इस पुण्य पर कुछ भी ध्यान न दिया, यह कितना अन्धेर है?

[**मूल**—] '**तत्त्वविवेक**' पृष्ठ २०२—एक दिन लब्धि साधु भूल से वेश्या के घर में चला गया और धर्म से भिक्षा मांगी। वेश्या बोली कि यहां धर्म का काम नहीं किन्तु अर्थ का काम है, तो उस लब्धि साधु ने साढ़े बारह-लाख अशर्फियों की वर्षा उसके घर में कर दी।

समीक्षक—इस बात को सिवाय नष्टबुद्धि पुरुष के कौन सत्य मानेगा?

[**मूल**—] '**रत्नसार**' भाग १ पृष्ठ ६७ पर लिखा है कि—एक पाषाण की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़कर, उसका जहाँ स्मरण करे, वहां उपस्थित होकर रक्षा करती है।

समीक्षक—कहो जैनी जी! आजकल तुम्हारे यहां चोरी, डाका आदि का और शत्रु से भय होता ही है, तो तुम उसका स्मरण करके अपनी रक्षा क्यों नहीं करा लेते हो? क्यों जहाँ-तहाँ पुलिस आदि राज-स्थानों में मारे-मारे फिरते हो?

[**मूल**—] '**कल्पसूत्रभाष्य**' पृष्ठ १०८—केशलुञ्चन करे, गौ के बालों के तुल्य रक्खे।

समीक्षक—अब कहिये जैन लोगो! तुम्हारा दया-धर्म कहाँ रहा? क्या यह हिंसा रूप कर्म करने से अर्थात् चाहे अपने हाथ से लुञ्चन करे, उसका गुरु करे वा अन्य कोई, परन्तु कितना बड़ा कष्ट उस जीव को होता होगा? **जीवों को कष्ट देना ही हिंसा कहाती है।**

[**मूल**—] '**विवेकसार**' पृष्ठ ७—संवत् १६३३ के साल में '**श्वेताम्बरों**' में से '**ढूँढिया**' और 'ढूँढियों' में से तेरहपन्थी आदि ढोंगी निकले हैं। 'ढूंढिये' लोग पाषाणादि मूर्त्ति को नहीं मानते और वे भोजन-स्नान को छोड़ सर्वदा मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं। और जती आदि भी जब पुस्तक बाँचते हैं, तभी मुख पर पट्टी बांधते हैं, अन्य समय नहीं।

१,२,४. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा वर्तनी की अव्यवस्था**—मुद्रणलिपिकर की अयोग्यता और लापरवाही देखिए, यहां एक शब्द की दो वर्तनियां हैं—''**साधू**'', ''**साधु**''। यही द्विप्र० में हैं। अन्य द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में संशोधित हैं।

३. **महाब्राह्मण**—निम्न कोटि के ब्राह्मण, जो मृतक के वस्त्र आदि लेते हैं, और उस अवसर पर भोजन-दान प्राप्त करते हैं उनके लिए व्यंग में यह नाम प्रचलित है।

५. **अपपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**बगीचा**'' प्रचलित शुद्ध प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**बागीचा**'' अपसंशोधन है। **संशोधन-पुष्टि**—पृ० ८५६ पर भी शुद्ध प्रयोग हुआ है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध प्रयोग है।

प्रश्न—मुख पर पट्टी अवश्य बांधनी चाहिये,[१] क्योंकि 'वायुकाय' अर्थात् जो वायु में सूक्ष्म शरीरवाले जीव रहते हैं, वे मुख के वाष्प[२] की उष्णता से मरते हैं और उसका पाप मुख पर पट्टी न बांधनेवाले पर होता है। इसलिये हम लोग मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा समझते हैं।

उत्तर—यह बात विद्या और प्रत्यक्ष प्रमाणादि की रीति से अयुक्त है, क्योंकि जीव अजर-अमर हैं; फिर वे मुख की भाप[३] से कभी नहीं मर सकते। इनको तुम भी अजर-अमर मानते हो।

प्रश्न—जीव तो नहीं मरता, परन्तु जो मुख के उष्ण वायु से उनको पीड़ा पहुँचती है, उस पीड़ा पहुँचानेवाले को पाप होता है, इसलिये मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा है।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात सर्वथा असम्भव है, क्योंकि पीड़ा दिये विना किसी जीव का किञ्चित् भी निर्वाह नहीं हो सकता। जब मुख के वायु से तुम्हारे मत में जीवों को पीड़ा पहुँचती है, तो चलने, फिरने, बैठने, हाथ उठाने और नेत्रादि के चलाने में भी पीड़ा अवश्य पहुँचती होगी; इसलिये तुम भी जीवों को पीड़ा पहुँचाने से पृथक् नहीं रह सकते।

प्रश्न—हाँ, जहाँ तक बन सके, वहाँ तक जीवों की रक्षा करनी चाहिये और जहाँ हम नहीं बचा सकते, वहाँ अशक्त हैं; क्योंकि सब वायु आदि पदार्थों में जीव भरे हुए हैं। जो हम मुख पर कपड़ा न बाँधें तो बहुत जीव मरें, कपड़ा बाँधने से कम मरते हैं।

उत्तर—यह भी तुम्हारा कथन युक्तिशून्य है, क्योंकि कपड़ा बाँधने से जीवों को अधिक दुःख पहुँचता है। जब कोई मुख पर कपड़ा बाँधे, तो उसका मुख का वायु रुकके, नीचे वा पार्श्व और मौन समय में नासिका द्वारा इकट्ठा होकर वेग से निकलता है, उससे उष्णता अधिक होकर जीवों को विशेष पीड़ा, तुम्हारे मतानुसार, पहुँचती होगी। देखो, जैसे घर वा कोठरी के सब दरवाजे बंद किये वा परदे डाले जायें तो उसमें उष्णता विशेष होती है, खुला रखने से उतनी नहीं होती; वैसे मुख पर कपड़ा बाँधने से उष्णता अधिक होती है और खुला रखने से न्यून, वैसे तुम अपने मतानुसार जीवों को अधिक दुःखदायक हो। और जब मुख बंद किया जाता है, तब नासिका के छिद्रों से वायु रुक, इकट्ठा होकर वेग से निकलता हुआ, जीवों को अधिक धक्का और पीड़ा करता होगा।

देखो, जैसे कोई मनुष्य अग्नि को मुख से फूँकता और कोई नली से, तो मुख का वायु फैलने से कम बल और नली का वायु इकट्ठा होने से अधिक बल से अग्नि में लगता है, वैसे ही मुख-पर पट्टी बाँधकर वायु को रोकने से नासिका द्वारा अति वेग से निकलकर जीवों को अधिक दुःख देता है। इससे मुख-पट्टी बाँधनेवालों से नहीं बाँधनेवाले धर्मात्मा हैं।

और मुख पर पट्टी बाँधने से अक्षरों का यथायोग्य स्थान-प्रयत्न के साथ उच्चारण भी नहीं होता। निरनुनासिक अक्षरों को सानुनासिक बोलने से तुमको दोष लगता है।

तथा मुख पर पट्टी बाँधने से दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है; क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध भरा है।

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**मुख पर पट्टी अवश्य बांधना चाहिये।**" आश्चर्य है, दस सम्पादकों के उदयपुर सं० में भी यही अशुद्ध पाठ है। यही अशुद्ध पाठ वेस, युमी आदि में भी है।

२-३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**बाफ**" अपवर्तनी है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध वर्तनी है।

शरीर से जितना वायु निकलता है, वह दुर्गन्धयुक्त प्रत्यक्ष है। जो वह रोका जाय तो दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ जाय, जैसे कि बंद 'जाजरूर'[१] अधिक दुर्गन्धयुक्त और खुला हुआ न्यून दुर्गन्धयुक्त होता है, वैसे ही मुख-पट्टी बाँधने; दन्तधावन, मुखप्रक्षालन, स्नान न करने से तथा[२] अच्छे प्रकार वस्त्र न धोने से तुम्हारे शरीरों से अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होकर संसार में बहुत रोग फैला करके जीवों को जितनी पीड़ा पहुँचाता है, उतना पाप तुमको अधिक होता है।

जैसे 'मेले' आदि में अधिक दुर्गन्ध होने से विसूचिका अर्थात् हैजा आदि बहुत प्रकार के रोग उत्पन्न होकर जीवों को दु:खदायक होते हैं, और न्यून दुर्गन्ध होने से रोग भी न्यून होकर जीवों को बहुत दु:ख नहीं पहुँचता। इससे तुम अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने में अधिक अपराधी [हो][३] और जो मुख-पट्टी नहीं बाँधते, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन[४], स्नान करके स्थान-वस्त्रों को शुद्ध रखते हैं, वे तुमसे बहुत अच्छे हैं। जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से पृथक् रहने वाले बहुत अच्छे हैं, जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से निर्मल बुद्धि नहीं होती, वैसे तुम और तुम्हारे संगियों की भी बुद्धि नहीं बढ़ती। जैसे रोग की अधिकता से और बुद्धि के स्वल्प होने से धर्मानुष्ठान में बाधा होती है, वैसे ही दुर्गन्धयुक्त तुम्हारा और तुम्हारे संगियों का भी वर्तमान होता होगा।

प्रश्न—जैसे बन्द मकान में जलाये हुए अग्नि की ज्वाला बाहर निकलके बाहर के जीवों को दु:ख नहीं पहुँचा सकती, वैसे हम मुखपट्टी बाँधके वायु को रोककर बाहर के जीवों को न्यून दु:ख पहुँचानेवाले हैं। मुखपट्टी बाँधने से बाहर के वायु के जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचती। और जैसे सामने अग्नि जलाता है, उसको आड़ा हाथ देने से आँच कम लगती है, और वायु के जीव शरीरवाले होने से उनको पीड़ा अवश्य पहुँचती है।

उत्तर—यह तुम्हारी बात लड़केपन की है। प्रथम तो देखो, जहाँ छिद्र और भीतर के वायु का योग बाहर[५] के वायु के साथ न हो तो वहाँ अग्नि जल ही नहीं सकता। जो इसको प्रत्यक्ष देखना चाहो तो किसी फानूस[६] में दीप जलाकर सब छिद्र बंद करके देखो तो दीप उसी समय बुझ जायगा। जैसे पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्यादि प्राणी बाहर[७] के वायु के योग के विना नहीं जी सकते, वैसे अग्नि भी नहीं जल सकता। जब एक ओर से अग्नि का वेग रोका जाय, तो दूसरी ओर अधिक वेग से निकलेगा

---

१. **जाज़रूर**=शौचालय, पाखाना। यह फारसी का शब्द है। पृष्ठ ६११ पर भी प्रयुक्त है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह० और तीनों सं० में "**न करने से तथा**" पाठ आवश्यक है। उसके बिना वाक्यरचना नहीं होती। उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हो**" क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता।

४. **अयोग्य लिपिकरों-शोधकों द्वारा वर्तनी की अव्यवस्था**—मूर्ख लिपिकरों की प्रमादलीला देखिए, दोनों हस्त० में कुछ पंक्तियां पूर्व "**प्रक्षालन**" शुद्ध वर्तनी है और यहां "**प्रच्छालन**" ग्राम्य वर्तनी लिखी है। शोधक भी इनके बड़े भाई थे, अत: यही अव्यवस्था द्विप्र० में है। अन्य उदयपुर सं० आदि सभी में संशोधित है।

५,७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—लिपिकरों की प्रमादलीला यहां भी देखिए कि इन प्रश्नोत्तर अनुच्छेद में पांच बार आये "**बाहर**" पद को पहले चार बार "**बाहर**" तो पांचवीं बार "**बाहिर**" लिखा है। ऐसे वेतनभोगी लिपिकर थे महर्षि के पास! यही अव्यवस्थित वर्तनी द्विप्र०, मूलसं०, उदयपुर सं० में विद्यमान है। द्वि०सं० में संशोधित है।

६. **फ़ानूस**=कंदील, कांच की बनी वह चिमनी या पात्र जिसमें सजावट हेतु अथवा वायु से रक्षा हेतु दीपक और मोमबत्ती जलाकर रखी जाती है।

और हाथ की आड़ करने से मुख पर आँच न्यून लगती है, परन्तु वह आँच हाथ पर अधिक लग रही है, इसलिये तुम्हारी बात ठीक नहीं।

प्रश्न—इसको सब कोई जानते हैं कि जब किसी बड़े मनुष्य से छोटा मनुष्य कान में वा निकट होकर बात कहता है तब मुख पर पल्ला वा हाथ लगाता है, इसलिये कि मुख से थूक उड़कर वा दुर्गन्ध उसको न लगे। और जब पुस्तक बाँचता है तब अवश्य थूक उड़कर उस पर गिरने से उच्छिष्ट होकर वह बिगड़ जाता है, इसलिये मुख-पट्टी बाँधना अच्छा है।

उत्तर—इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवरक्षार्थ मुखपट्टी बाँधना व्यर्थ है। और जब कोई बड़े मनुष्य से बात करता है, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये रखता है कि उस गुप्त बात को दूसरा कोई न सुन लेवे; क्योंकि जब कोई प्रसिद्ध बात करता है, तब कोई भी मुख पर हाथ वा पल्ला नहीं धरता। इससे क्या विदित होता है कि गुप्त बात के लिये यह बात है। **दन्तधावनादि न करने से तुम्हारे मुखादि अवयवों से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलता है** और जब तुम किसी के पास वा कोई तुम्हारे पास बैठता होगा, तो विना दुर्गन्ध के अन्य क्या आता होगा? इत्यादि।[१]

मुख को आड़ा हाथ वा पल्ला देने के प्रयोजन अन्य बहुत हैं; जैसे बहुत मनुष्यों के सामने गुप्त बात करने में जो हाथ वा पल्ला न लगाया जाय तो दूसरों की ओर वायु के फैलने से[२] बात भी फैल जाय। जब वे दोनों एकान्त में बात करते हैं, तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये नहीं लगाते कि यहाँ तीसरा कोई सुननेवाला नहीं।

जो बड़ों के ही ऊपर थूक न गिरे, इससे क्या छोटों के ऊपर थूक[३] गिराना चाहिये? और उस थूक[४] से बच भी नहीं सकते, क्योंकि हम दूरस्थ बात करें और वायु हमारी ओर से दूसरे की ओर जाता हो तो सूक्ष्म होकर उसके शरीर पर वायु के साथ त्रसरेणु अवश्य गिरेंगे, उसका दोष गिनना अविद्या की बात है। क्योंकि जो मुख की उष्णता से जीव मरते वा उनको पीड़ा पहुँचती हो, तो वैशाख वा ज्येष्ठ महीने में सूर्य की महा-उष्णता से वायुकाय के जीवों में से मरे विना एक भी न बच सके। सो, उस उष्णता से भी वे जीव नहीं मर सकते। इसलिये यह तुम्हारा सिद्धान्त झूठा है। यदि[५] तुम्हारे तीर्थंकर भी पूर्ण विद्वान् होते, तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों करते?

---

१. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक जी द्वारा पाठक्रम परिवर्तन अग्राह्य**—पं० मीमांसक जी ने "**दन्तधावनादि न करने से.....इत्यादि**" तक का पाठ यहां से उठाकर पूर्वपृष्ठ ८२२/६ में "**जैसे मेला आदि में.....**" अनुच्छेद में "**वे तुमसे बहुत अच्छे हैं**" पाठ के बाद रख दिया है। यह ग्राह्य नहीं है, क्योंकि (१) वहां अस्वच्छता के कारण समग्र शरीर से आने वाली दुर्गन्ध का प्रसंग है और यहां केवल दन्तधावनादि न करने से मुख से निकलने वाली दुर्गन्ध का प्रसंग है। दोनों भिन्न-भिन्न कथ्य हैं, अतः उनको एक प्रसंग नहीं माना जा सकता। (२) यहां प्रयुक्त "**इत्यादि**" और "**अन्य**" पद यह संकेत देते हैं कि यह एक कारण है और इसी प्रकार अन्य भी है। "**इत्यादि**" पद पूर्व प्रसंग के साथ नहीं जुड़ता। (३) ग्रन्थकार यहां जैनियों के दन्तधावन न करने आदि उनके रहन-सहन पर व्यंग्य कर रहा है। यहां मुखपट्टी का प्रसंग है, पूर्व स्थल पर नहीं। अतः यह पाठ यहीं संगत है।

२. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**आयु के फैलने से**"। उदयपुर सं०, द्वि०सं०, मूलसं० आदि सभी में संशोधित हैं।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह अपवाक्य है—"**छोटों के पर थूक**"। अन्य सभी में संशोधित है।

४. **मुदणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां सभी स्थलों पर "**थूंक**" अपवर्तनी है। अन्य सभी में संशोधित है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**क्योंकि जो**" अपपाठ है। यहां "**यदि**" प्रयोग अभीष्ट है।

देखो, **पीड़ा उसी जीव को पहुँचती है,[१] जिसकी वृत्ति सब अवयवों के साथ विद्यमान हो।** इसमें प्रमाण—

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः ॥ यह सांख्यशास्त्र का सूत्र है [५।२७]॥

=जब पाँचों इन्द्रियों का पाँचों विषयों के साथ सम्बन्ध होता है तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प-व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चला जाना, शून्य बहिरीवाले को[२] स्पर्श, पिन्नस रोगवाले को गन्ध और शून्य जिह्वावाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।

देखो, जब मनुष्य का जीव सुषुप्ति दशा में रहता है तब उसको सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती, क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है, परन्तु उसका बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं कर सकता।

और जैसे वैद्य वा आजकल के डाक्टर[३] लोग नशे की वस्तु खिला वा सुंघा के रोगी-पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं, उसको उस समय कुछ भी दुःख विदित नहीं होता, वैसे 'वायुकाय' अथवा अन्य स्थावर शरीरवाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता।

जैसे मूर्च्छित प्राणी सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे वे 'वायुकाय'-आदि के जीव भी अत्यन्त मूर्च्छित होने से सुख-दुःख को प्राप्त नहीं हो सकते, फिर उनको पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो सकती है? जब उनको सुख-दुःख की प्राप्ति ही प्रत्यक्ष नहीं होती, तो अनुमान-आदि यहाँ कैसे युक्त हो सकते हैं।

प्रश्न—जब वे जीव हैं तो उनको सुख-दुःख क्यों नहीं होता होगा?

उत्तर—सुनो भोले भाइयो! जब तुम सुषुप्ति में होते हो तब तुमको सुख-दुःख प्राप्त क्यों नहीं होते? सुख-दुःख की प्राप्ति के हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है। अभी हम इसका उत्तर दे आये हैं कि नशा सुंघाके डाक्टर[४] लोग अंगों को चीरते-फाड़ते और काटते हैं, जैसे उनको दुःख विदित नहीं होता, उसी प्रकार अतिमूर्च्छित जीवों को सुख-दुःख क्योंकर प्राप्त होवें? क्योंकि वहाँ [सुख-दुःख की] प्राप्ति होने का साधन कोई भी नहीं है।

प्रश्न—देखो, 'निलोति' अर्थात् जितने हरे शाक-पात और कन्दमूल हैं, उनको हम लोग नहीं खाते, क्योंकि 'निलोति' में बहुत और कन्दमूल में अनन्त जीव हैं। जो हम उनको खावें तो उन जीवों को मारने और पीड़ा पहुँचने से हम लोग पापी हो जायें।

उत्तर—यह तुम्हारी बड़ी अविद्या की बात है, क्योंकि हरित शाक के खाने में जीव का मरना वा उनको पीड़ा पहुँचना क्योंकर मानते हो? भला, जब तुमको पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दीखती, और

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**पीड़ा उसी जीवों को पहुंचती है**"।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं अपपरिवर्तित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**को**" प्रत्यय त्रुटित है। उदयपुर सं० में भी त्रुटित है। द्वि०सं० में बहुवचनान्त अपपरिवर्तन है—"**शून्य बहिरी वालों को**"। यहां सभी प्रयोगों में एकवचन है।

३-४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर "**डाक्तर**" अपवर्तनी है। उदयपुर सं० में भी अपवर्तनी है। द्वि०सं० में "**डाक्टर**" संशोधित है, (पृ० ३३२)। अंग्रेजी शुद्ध उच्चारण के अनुसार यही ग्राह्य है।

जो दीखती है तो हमको भी दिखलाओ। तुम कभी प्रत्यक्ष न देख वा न हमको दिखा सकोगे। जब प्रत्यक्ष नहीं, तो अनुमान, उपमान और शब्दप्रमाण भी कभी नहीं घट सकते।

फिर जो हम ऊपर उत्तर दे आये हैं, वह इस बात का भी उत्तर है, क्योंकि जो **अत्यन्त अन्धकार, महासुषुप्ति और महा-नशे में[१] जीव हैं, उनको सुख-दुःख की प्राप्ति मानना तुम्हारे तीर्थंकरों की भी भूल विदित होती है,** जिन्होंने तुमको ऐसा युक्ति और विद्याविरुद्ध उपदेश किया है। भला, जब घर का अन्त है तो उसमें रहनेवाले अनन्त क्योंकर हो सकते हैं? जब कन्द का अन्त हम देखते हैं, तो उसमें रहनेवाले जीवों का अन्त क्यों नहीं? इससे यह तुम्हारी बात बड़ी भूल की है।

प्रश्न—देखो, तुम लोग विना उष्ण किये कच्चा पानी पीते हो, वह बड़ा पाप करते हो। जैसे हम उष्ण पानी पीते हैं, वैसे तुम लोग भी पीया[२] करो।

उत्तर—यह भी तुम्हारी बात भ्रमजाल की है; क्योंकि जब तुम पानी को उष्ण करते हो, तब पानी के सब जीव मरते होंगे और उनका शरीर भी जल में रंधकर वह पानी सोंफ के अर्क के तुल्य होने से, जानो, तुम उनके शरीरों का 'तेजाब' पीते हो। इससे तुम बड़े पापी हो और जो ठंढा जल पीते हैं वे नहीं; क्योंकि जब ठंढा पानी पीयेंगे,[३] तब उदर में जाने से किञ्चित् उष्णता पाकर श्वास के साथ वे जीव बाहर निकल जायेंगे। जलकाय जीवों को सुख-दुःख पूर्वोक्त रीति से प्राप्त नहीं हो सकता, पुनः इसमें पाप किसी को नहीं होगा।

प्रश्न—जैसे जाठराग्नि की उष्णता पाके श्वास के साथ जीव बाहर निकल जाते हैं, वैसे अग्नि की उष्णता पाके जल से बाहर जीव क्यों न निकल जायेंगे?

उत्तर—हाँ, निकल तो जाते, परन्तु जब तुम मुख के वायु की उष्णता से जीव का मरना मानते हो, तो जल उष्ण करने से तुम्हारे मतानुसार जीव मर जावेंगे वा अधिक पीड़ा पाकर निकलेंगे, वा[४] उनके शरीर उस जल में रंध जायेंगे। इससे तुम अधिक पापी होगे वा नहीं?

प्रश्न—हम अपने हाथ से उष्ण जल नहीं करते और न किसी गृहस्थ को उष्ण जल करने की आज्ञा देते हैं, इसलिये हमको पाप नहीं।

उत्तर—जो तुम उष्ण जल न लेते, न पीते, तो गृहस्थ उष्ण क्यों करते? इसलिये उस पाप के भागी तुम ही हो, प्रत्युत अधिक पापी हो; क्योंकि जो तुम किसी एक गृहस्थ को उष्ण करने को कहते, तो एक ही ठिकाने उष्ण होता, जब वे गृहस्थ इस भ्रम में रहते हैं कि न जाने साधु जी किसके घर को आवेंगे, इसलिये प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखता है,[५] इसके पाप के भागी मुख्य तुम ही हो।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**महानशा में**" अपप्रयोग है। "**महानशे में**" शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—देखिए, पृ० ८२४, पंक्ति ११ में "**और जैसे वैद्य.....नहीं हो सकता**" अनुच्छेद में "**नशे की**" शुद्ध प्रयोग है।

२-३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**पिया**" "**पियेंगे**" अपवर्तनियां हैं। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध है, अतः यहां भी संशोधन अपेक्षित है। उदयपुर सं० में दोनों अशुद्ध हैं। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है पृ० ७३८ तथा १०३८ पर।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**और**" अपप्रयोग है, "**वा**" अपेक्षित है। सभी सं० में अशुद्ध है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह व्याकरणिक अपवाक्य है—"**प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखते हैं।**" उक्त संशोधन अपेक्षित है। उदयपुर सं० में भी यह अपवाक्य है।

दूसरा—अधिक काष्ठ और अग्नि के जलने-जलाने से भी ऊपर लिखे प्रमाणे[१] रसोई, खेती और व्यापारादि में अधिक पापी और नरकगामी होते हो। फिर जब तुम उष्ण जल कराने के मुख्य निमित्त और तुम उष्ण जल के पीने और ठंढे के न पीने के उपदेश करने से तुम ही मुख्य पाप के भागी हो। और जो तुम्हारा उपदेश मानकर ऐसी बातें करते हैं, वे भी पापी हैं।

अब देखो, कि तुम बड़ी अविद्या में होते हो, वा नहीं, कि छोटे-छोटे जीवों पर दया करनी और अन्य मत-वालों की निन्दा अनुपकार करना, क्या यह थोड़ा पाप है? जो तुम्हारे तीर्थंकरों का मत सच्चा होता, तो सृष्टि में इतनी वर्षा, नदियों का चलना और इतना जल ईश्वर ने क्यों उत्पन्न किया? और सूर्य को भी उत्पन्न न करता? क्योंकि इनमें करोड़ान्-करोड़ जीव तुम्हारे मतानुसार मरते ही होंगे। जब वे विद्यमान थे और तुम जिनको ईश्वर मानते हो, उन्होंने दया कर सूर्य के ताप और मेघ को बंद[२] क्यों न किया? और पूर्वोक्त प्रकार से विना विद्यमान साधनों के[३] प्राणियों को दुःख-सुख की प्राप्ति, कन्दमूलादि पदार्थों में रहनेवाले जीवों को नहीं होती।

सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है; क्योंकि जो तुम्हारे मतानुसार सब मनुष्य हो जावें, चोर-डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाय? **इसलिये दुष्टों को यथावत् दण्ड देने और श्रेष्ठों के पालन करने में दया, और इससे विपरीत करने में दया-क्षमारूप धर्म का नाश है।**

कितने[४] ही जैनी लोग दुकान करते, उन व्यवहारों में झूठ बोलते, पराया धन मारते और गरीबों को छलना[५] आदि कुकर्म करते हैं। उनके निवारण में विशेष उपदेश क्यों नहीं करते? और मुख-पट्टी बाँधने आदि ढोंग में क्यों रहते हो?

जब तुम चेला-चेली करते हो तब केशलुञ्चन और बहुत दिवस भूखे रहने में पराये वा अपने आत्मा को पीड़ा दे और पीड़ा को प्राप्त होके, दूसरों को दुःख देते और '**आत्महत्या**' अर्थात् आत्मा को दुःख देनेवाले होकर हिंसक क्यों बनते हो? हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट पर चढ़ने, मनुष्यों से मजदूरी कराने में[६] पाप, जैनी लोग क्यों नहीं गिनते? जब तुम्हारे चेले ऊटपटांग बातों को सत्य नहीं कर सकते, तो

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**परमाणे**" अपवर्तनी है। उदयपुर सं० में भी अपवर्तनी है। अन्यों में संशोधित है।

२. **उपयुक्त वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**बन्ध**' वर्तनी है, हिन्दी व्याकरण के अनुसार '**बंद**' अपेक्षित है, क्योंकि हिन्दी में "**बन्ध**" सांसारिक बन्धन के अर्थ में रूढ़ है। ग्रन्थ में दोनों ही वर्तनियां मिलती हैं, उनमें "**बंद**" ग्राह्य है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**साधनों के**" पाठ त्रुटित रह गया है। मूलप्रति सं० में है। उदयपुर सं० में त्रुटित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० के "**कितनेक**" ग्राम्य बोली के प्रयोग के स्थान पर द्वि०सं० में "**कितने ही**" संशोधन किया है, यह हिन्दी भाषा के व्याकरण की दृष्टि से ग्राह्य है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-परिवर्तन तथा भ्रष्टपाठ**—मूलप्रति सं० के प्रभावशाली एवं सहज प्रयोग "**गरीबों को छलने**" के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**दीनों को छलने**" संशोधन किया है जो नितान्त अग्राह्य है। यह परिवर्तन उपयुक्त भाव को व्यक्त नहीं करता, न ही सटीक प्रयोग है। यहां "**छलना**" प्रयोग शुद्ध है। उदयपुर सं० में भ्रष्टपाठ "**दोनों को छलने**" है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मनुष्यों को मजूरी कराने में**" अपप्रयोग है। उपर्युक्त संशोधित प्रयोग ग्राह्य है। ग्रन्थ में अन्यत्र प्रयुक्त है। यही वर्तनी उदयपुर सं० आदि सभी में है।

तुम्हारे तीर्थंकर भी सत्य नहीं कर सकते। जब तुम कथा बाँचते हो, तब मार्ग में, श्रोताओं के और तुम्हारे मतानुसार, जीव मरते ही होंगे, इसलिये तुम इस पाप के मुख्य कारण क्यों होते हो? इस थोड़े कथन से बहुत समझ लेना कि उन जल, स्थल, वायु के स्थावर शरीरवाले अत्यन्त मूर्च्छित जीवों को दुःख वा सुख कभी नहीं पहुँच सकता।

अब जैनियों की और भी थोड़ी-सी असम्भव कथायें[१] लिखते हैं, [उनको][२] सुनना चाहिये। और यह भी ध्यान में रखना कि अपने हाथ से '**साढ़े तीन हाथ**' का '**एक धनुष**'[३] होता है और काल की संख्या जैसी पूर्व लिख आये हैं,[४] वैसी ही समझना।

[**मूल**—] '**रत्नसार**' भाग १, पृष्ठ १६६-१६७ तक में लिखा है—

(१) ऋषभदेव का शरीर ५०० (पाँच सौ) धनुष लम्बा और ८४००००० (चौरासी लाख) 'पूर्व वर्ष'[५] का आयु।[६]

(२) अजितनाथ का ४५० (साढ़े चार सौ) धनुष परिमाण का शरीर और ७२००००० (बहत्तर लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(३) संभवनाथ का ४०० (चार सौ) धनुष परिमाण का[७] शरीर और ६०००००० (साठ लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(४) अभिनन्दन का ३५० (साढ़े तीन सौ) धनुष [परिमाण][८] का शरीर और ५०००००० (पचास लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(५) सुमतिनाथ का ३०० (तीन सौ) धनुष परिमाण का शरीर और ४०००००० (चालीस लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(६) पद्मप्रभ का १४० (एक सौ चालीस) धनुष [परिमाण] का शरीर और ३०००००० (तीस लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(७) सुपार्श्वनाथ का २०० (दौ सौ) धनुष [परिमाण] का शरीर और २०००००० (वीस लाख)

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**कथा**" एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचनान्त "**कथायें**" अपेक्षित है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**उनको**' पद त्रुटित है। इसके बिना वाक्यसंगति नहीं बनती। उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—इस प्रसंग में दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस शब्द की वर्तनी अव्यवस्थित है। यहां "**धनुष**" वर्तनी है, तो आगे "**धनुष्**" है। ग्रन्थ में सर्वत्र "**धनुष**" है। यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से दोनों वर्तनियां सही हैं किन्तु भाषात्मक व्यवस्था, मानकता और शैलीगत एकरूपता की दृष्टि से गद्य में एक ही वर्तनी ग्राह्य होती है। यहां "**धनुष**" ग्रहण की है।

४-५. '**पूर्व**' नामक काल की अवधि जानने के लिए पृ० ७९२ देखिये।

६. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में "**पूर्व का आयु**" अपूर्ण और अपप्रयोग है, '**पूर्व वर्ष**' का आयु अभीष्ट है जैसा कि आगे अन्य स्थानों पर पाठ है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**का**' कारक प्रत्यय त्रुटित है। यह आवश्यक है जैसे कि आगे के प्रयोगों में है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, जैसे क्रमसंख्या २,३,५,८ पर पूर्णवाक्य है, वैसे यहां तथा आगे १८ स्थलों पर "**परिमाण**" पद परिवर्धित करना, स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है, अन्यथा इसका अप-अर्थ भी बनता है कि साढ़े तीन-सौ धनुष का शरीर निर्मित था! भाषात्मक एकरूपता तथा मानकता की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।

'पूर्व वर्ष' का आयु।

(८) चन्द्रप्रभ का १५० (डेढ सौ) धनुष परिमाण का शरीर और १०००००० (दश लाख) 'पूर्व वर्ष'[१] का आयु।

(९) सुविधिनाथ[२] का १०० (एक सौ) धनुष [परिमाण] का शरीर और २००००० (दो लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(१०) शीतलनाथ का ९० (नव्वे) धनुष [परिमाण] का शरीर और १००००० (एक लाख) 'पूर्व वर्ष' का आयु।

(११) श्रेयांसनाथ का ८० (अस्सी) धनुष [परिमाण] का शरीर और ८४००००० (चौरासी लाख) वर्षों[३] का आयु।

(१२) वासुपूज्य स्वामी का ७० (सत्तर) धनुष [परिमाण] का शरीर और ७२००००० (बहत्तर लाख) वर्षों[४] का आयु।

(१३) विमलनाथ का ६० (साठ) धनुष [परिमाण] का शरीर और ६०००००० (साठ लाख) वर्षों का आयु।

(१४) अनन्तनाथ का ५० (पचास) धनुष [परिमाण] का शरीर और ३०००००० (तीस लाख) वर्षों का आयु।

(१५) धर्मनाथ का ४५ (पैंतालीस) धनुष[५] [परिमाण] का शरीर और १०००००० (दश लाख) वर्षों का आयु।

(१६) शान्तिनाथ का ४० (चालीस) धनुष[६] [परिमाण] का शरीर और १००००० (एक लाख) वर्षों[७] का आयु।

(१७) कुन्थुनाथ का ३५ (पैंतीस) धनुष[८] [परिमाण] का शरीर और ९५००० (पच्चानवे सहस्र) वर्षों का आयु।

(१८) अमरनाथ[९] का ३० (तीस) धनुष[१०] [परिमाण] का शरीर और ८४००० (चौरासी सहस्र) वर्षों का आयु।

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पूर्व वर्षों का**" अपप्रयोग है। '**पूर्व**' एक वर्षमान है, अत: जैसे पूर्वापर अन्य वाक्यों में प्रयोग है, यहां भी 'पूर्व-वर्ष का आयु' शुद्ध प्रयोग अपेक्षित है। उदयपुर सं० में भी अशुद्धि है।

२. **नामान्तर**—इसका नामान्तर पुष्पदन्त भी प्राप्त होता है।

३,४,७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में तीनों स्थानों पर "**वर्ष का आयु**" अपप्रयोग है, '**वर्षों का आयु**' वांछनीय है। सम्पूर्ण पृष्ठ पर अन्य वाक्यों में शुद्ध प्रयोग है। वेस, जग, भद, पुत्री, उदयपुर सं० में सभी अशुद्धियां विद्यमान हैं।

५-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**धनुषों का शरीर**" अप-अर्थ द्योतक प्रयोग है। पूर्वापर प्रयोगों के समान "**धनुष परिमाण का शरीर**" सही प्रयोग है क्योंकि यहां 'धनुष' एक मापक इकाई है। उदयपुर सं० में अशुद्ध प्रयोग है।

८,१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**धनुषों का शरीर**" अप-अर्थ द्योतक प्रयोग है। यहां '**धनुष**' एक परिमाण है अत: एकवचनात्मक '**धनुष का शरीर**' प्रयोग अपेक्षित है। उदयपुर सं० में अशुद्ध प्रयोग है।

९. **द्वितीय सं० में अशुद्ध नाम**—इसका 'अरनाथ' अशुद्ध नाम द्वि०सं० में प्राप्त होता है। मुद्रणदोष प्रतीत होता है।

(१९) मल्लिनाथ का २५ (पच्चीस) धनुष[१] [परिमाण] का शरीर और ५५००० (पचपन सहस्र) वर्षों का आयु।

(२०) मुनि सुव्रत का २० (वीस) धनुष[२] [परिमाण] का शरीर और ३०००० (तीस सहस्र) वर्षों का आयु।

(२१) नमिनाथ का १४ (चौदह) धनुष[३] [परिमाण] का शरीर और १०००० (दशसहस्र) वर्षों का आयु।

(२२) नेमिनाथ का १० (दस) धनुष[४] [परिमाण] का शरीर और १००० (एक सहस्र) वर्षों का आयु।

(२३) पार्श्वनाथ का ९ (नौ) हाथ [परिमाण] का शरीर और १०० (सौ) वर्षों[५] का आयु।

(२४) महावीर स्वामी का ७ (सात) हाथ [परिमाण] का शरीर और ७२ (बहत्तर) वर्षों का आयु।

ये चौवीस तीर्थंकर जैनियों के मत चलानेवाले[६] आचार्य और गुरु हैं, इन्हीं को जैनी लोग परमेश्वर मानते हैं और ये सब मोक्ष को गये हैं। इसमें बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि इतना बड़ा शरीर और इतना आयु मनुष्यदेह का होना कभी सम्भव है? इस भूगोल में [इतने बड़े परिमाण के] बहुत ही थोड़े मनुष्य वस सकते हैं। **इन्हीं जैनियों के गपोड़े लेकर जो पुराणियों ने एक लाख, दश सहस्र और एक सहस्र वर्षों का[७] आयु लिखा, सो भी सम्भव नहीं हो सकता, तो जैनियों का कथन सम्भव कैसे हो सकता है?**

[**मूल**—] अब और भी सुनो—'**कल्पभाष्य**' पृष्ठ ४—नागकेत ने ग्राम (=गांव) के[८] बराबर एक शिला अंगुली पर धर ली!

'**कल्पभाष्य**' पृष्ठ ३५—महावीर ने अंगूठे से पृथिवी दबाई,[९] उससे शेषनाग कांप गया[१०] ॥ २ ॥

'**कल्पभाष्य**' पृष्ठ ४६—महावीर को सर्प ने काटा, रुधिर के बदले दूध निकला, और वह सर्प ८ वें स्वर्ग को गया॥ ३ ॥

'**कल्पभाष्य**' पृष्ठ ४७—महावीर के पगों[११] पर खीर पकाई और पग न जले॥ ४ ॥

१-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में चारों स्थानों पर ''**धनुषों का शरीर**'' अपप्रयोग है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में ''**सौ वर्ष का आयु**'' अपप्रयोग है, ''**वर्षों**'' बहुवचन अपेक्षित है। पूर्वापर में शुद्ध प्रयोग है।

६. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में अशुद्धि ''**चालने वाले**'' है। यह मुद्रण की अशुद्धि है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**एक सहस्र वर्ष का आयु**'' अपप्रयोग है, बहुवचनान्त ''**वर्षों का आयु**'' प्रयोग व्याकरण सम्मत है। उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**ग्राम की बराबर**'' अपप्रयोग है, '**के बराबर**' प्रयोग अपेक्षित है। यह जैन शास्त्रीय उद्धरण है।

९. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह व्याकरणिक अपवाक्य है—''**अंगूठे से पृथिवी को दबाई।**'' उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है। यह जैन शास्त्रीय उद्धरण है। अतः यथावत् भाषा अपेक्षित है। उदयपुर सं० में भी अपवाक्य है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कंप गया**'' के स्थान पर '**कांप गया**' अभीष्ट है। **पुष्टि**—उत्तर की भाषा में ''**कांपेगा**'' सही प्रयोग है।

११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पग पर**'' के स्थान पर '**पगों पर**' अभीष्ट है। उदयपुर सं० में अशुद्ध है।

'**कल्पभाष्य**' पृष्ठ १६—छोटे से पात्र में ऊँट बुलाया॥ ५॥

'**रत्नसार**' भाग १, पृष्ठ १४—**शरीर के मैल को न उतारें और न खुजलावें॥ ६॥**[१]

'**विवेकसार**' भाग १, पृष्ठ १५—जैनियों के एक दमसार साधु ने क्रोधित होकर उद्वेगजनक सूत्र पढ़कर एक शहर में आग लगा दी और [वह][२] महावीर तीर्थङ्कर का अतिप्रिय था॥ ७॥

'**विवेकसार**' भाग १, पृष्ठ १२७—राजा की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये॥ ८॥

'**विवेकसार**' पृष्ठ २२७—एक कोशा वेश्या[३] ने थाली में सरसों की ढेरी लगा, उसके ऊपर फूलों से ढकी हुई सुई खड़ी कर, उस पर अच्छे प्रकार नाच किया, परन्तु सुई पगों में गड़ने न पाई और सरसों की ढेरी बिखरी नहीं॥ ९॥

'**तत्त्वविवेक**' पृष्ठ २२८—इसी कोशा वेश्या के साथ एक स्थूलमुनि ने १२ वर्ष तक भोग किया और पश्चात् दीक्षा लेकर सद्गति को गया और कोशा वेश्या भी जैनधर्म को पालती हुई सद्गति को गई[४]॥ १०॥

'**विवेकसार**' भाग १, पृष्ठ १८४—एक सिद्ध की कन्था जो गले में पहनी जाती है, वह ५०० अशर्फियां[५] एक वैश्य को नित्य देती रही॥ ११॥

'**विवेकसार**' भाग १, पृष्ठ २२८—बलवान् पुरुष की आज्ञा; देव की आज्ञा; घोर वन में कष्ट से निर्वाह; गुरु,[६] माता, पिता, कुलाचार्य, ज्ञातीय लोग और धर्मोपदेष्टा इन छः के रोकने से,[७] इन कारणों से यदि धर्म में न्यूनता हो तो धर्म की हानि नहीं होती॥ १२॥

समीक्षक—अब देखिये इनकी मिथ्या बातें! एक मनुष्य ग्राम (=गांव) के बराबर पाषाण की शिला को अंगुली पर कभी धर सकता है?॥ १॥

और पृथिवी के ऊपर अंगूठे से दबाने से पृथिवी कभी दब सकती है? और जब शेषनाग ही नहीं, तो कांपेगा कौन?॥ २॥

भला, शरीर के काटने से दूध निकलना किसी ने कभी देखा है? यह सिवाय इन्द्रजाल के दूसरी बात नहीं॥ उसको काटनेवाला सर्प तो स्वर्ग में गया और महात्मा श्रीकृष्ण आदि[८] तीसरे नरक को गये, यह कितनी मिथ्या बात है?॥ ३॥

जब महावीर के पगों पर[९] खीर पकाई तब उसके पग जल क्यों न गये?॥ ४॥

---

१. **मलिन शरीर**—शरीर का मैल न उतारने पर कल्पना करें कैसा मलिन शरीर रहेगा।

२. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**वह**' पद त्रुटित रह गया है। यह आवश्यक है। उदयपुर सं० में ग्रहण किया है।

३. **अन्यत्रवर्णन**—पृ० ७८८ पर द्रष्टव्य है।

४-५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये अपप्रयोग हैं—"**पग में**" "**अशर्फी**"। दोनों बहुवचनान्त चाहिएं। उदयपुर सं० में अशुद्ध हैं।

६-७. **पुनरुक्तिपूर्ण अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में एक ही वाक्य में "**गुरु के रोकने**" "**इन छः के रोकने से**" दो बार "**रोकने से**" पुनरुक्तिपूर्ण अनावश्यक प्रयोग है। पहले का "**रोकने से**" पाठ अग्राह्य है। यही अशुद्धि उदयपुर सं० में है।

८. **श्रीकृष्ण का नरक गमन**—श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों के नरकगमन का निराधार और पक्षपातपूर्ण उल्लेख पृष्ठ ७८७, ७८८, ७८९ पृष्ठों पर भी द्रष्टव्य है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पग पर**" अपप्रयोग है, "**पगों पर**" अभीष्ट है। यही अशुद्धि उदयपुर सं० में है।

भला, छोटे से पात्र में कभी ऊंट आ सकता है? ॥ ५ ॥

जो शरीर का मैल नहीं उतारते और न खुजलाते होंगे, वे दुर्गन्धरूप महा-नरक भोगते होंगे ॥ ६ ॥

जिस साधु ने नगर जलाया उसकी दया और क्षमा कहाँ गई? जब महावीर के संग से भी उसका आत्मा पवित्र न हुआ, तो अब महावीर के मरे पीछे, उसके आश्रय से जैन लोग कभी पवित्र न होंगे ॥ ७ ॥

राजा की आज्ञा माननी चाहिये [यह तो ठीक है], परन्तु जैन लोग बनिये हैं, इसलिये राजा से डरकर यह बात लिख दी होगी ॥ ८ ॥

कोशा वेश्या चाहे उसका शरीर कितना ही हल्का हो, तो भी सरसों की ढेरी पर सुई खड़ी करके उसके ऊपर नाचना, सुई से पगों का न छिदना[१] और सरसों का न बिखरना, अतीव झूठ नहीं तो क्या है? ॥ ९ ॥

इनको ऐसा महाझूठ लिखते-बोलते लज्जा भी नहीं आई कि श्रीकृष्ण आदि महात्मा नरक में गये और इनके रण्डीबाज भी स्वर्ग और मुक्ति को चले गये ॥ १० ॥[२]

भला, कन्था वस्त्र का होता है, वह नित्यप्रति ५०० अशर्फियां[३] किस प्रकार दे सकता है? ॥ ११ ॥

धर्म किसी को किसी अवस्था में भी न छोड़ना चाहिये, चाहे कुछ भी हो जाय।[४] १२ ॥

अब ऐसी-ऐसी '**असम्भव कहानियां**'[५] इनकी लिखें तो जैनियों के थोथे पोथों के सदृश बहुत बढ़ जायें, इसलिये अधिक नहीं लिखते। अर्थात् **इन जैनियों की थोड़ी-सी बातों**[६] **को छोड़के शेष सब मिथ्या-जाल भरा है।**[७] देखिये—

मूल— दो ससि दो रवि पढमे। दुगुणा लवणंमि धायई संडे ॥
बारस ससि बारस रवि। तप्पभिइ निदिट्ठ ससिरविणो ॥
तिगुणा पुव्विल्ल जुया। अणंतरा णंतरं मिखित्तंमि ॥
कालो ए बायाला। बिसत्तरी पुरकर द्धंमि ॥ ७८ ॥[८]

प्रकरणरत्नाकर, भा० ४। संग्रहणी सूत्र ७७-७८ ॥

---

१. **भ्रष्टवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सुई का न छिदना**" भ्रष्ट प्रयोग है, '**सुई से पगों का न छिदना**' प्रयोग शुद्ध होगा। वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

२. **त्रुटित समीक्षा पाठ**—जैन मूल उद्धरण संख्या १० की यहां समीक्षा उपलब्ध नहीं है। यही सन्दर्भ पहले पृष्ठ पर आ चुका है। इस विषयक समीक्षा पृ० ७८८ पर द्रष्टव्य है। प्रसंग पूर्त्यर्थ उसी को यहां उद्धृत किया गया है।

३,५,६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में तीनों क्रमशः एकवचनान्त "**अशर्फी**", "**कहानी**", "**बात**" अशुद्ध है।

४. **मुद्रणलिपिकर के साथ सर्वं वै प्रमादी मण्डलम्**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से ११वें कथन के स्थान पर १२वें की और १२वें स्थान पर ११वें की समीक्षा अपक्रम में लिखी गई। किसी ने उस अपक्रम पर ध्यान नहीं दिया, सवा सौ वर्षों से सब सम्पादक अन्धानुकरण करते गये। द्विप्र०, द्वि०सं०, वेस, भद, युमी, विस, जस सबके सं० में अपक्रम है। उदयपुर सं० के कथित दस सम्पादक भी प्रमाद में पीछे नहीं रहे, इस कारण उनके सं० में भी अपक्रम है। **हाँ, एक मूलसं० में क्रम ठीक है।**

७. **ऋषिहस्तलेख**—"**तो जैनियों के.....नहीं लिखते**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि के हस्तलेख में परिवर्धित किया गया है।

८. **त्रुटित गाथा तथा उदयपुर सं० की कथनी-करनी में अन्तर**—उदयपुर सं० की घोषणा है कि उन्होंने ऐसे मूल प्रमाणों को ग्रहण किया है, जिनका अर्थ उपलब्ध है और प्रमाण अनुपलब्ध है (पृ० 'ज' पर)। यह प्रमाण मूलहस्तलेख में है और इसका विस्तृत

अर्थ—जो **जम्बूद्वीप** लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश का [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से एक अरब कोश] का लिखा है,[१] उन द्वीपों में यह पहला द्वीप कहाता है। इसमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं और वैसे ही लवण समुद्र में उससे दुगुणे अर्थात् चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं तथा **धातकीखण्ड** में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं॥ ७७॥

और इनको तिगुणा करने से छत्तीस होते हैं। उनके साथ दो **जम्बूद्वीप** के और चार लवण समुद्र के मिलकर बयालीस[२] चन्द्रमा और बयालीस[३] सूर्य **कालोदधि** समुद्र में हैं। इसी प्रकार अगले-अगले द्वीप और समुद्रों में पूर्वोक्त बयालीस[४] को तिगुणा करें तो एक सौ छब्बीस होते हैं। उनमें **धातकीखण्ड** के बारह, लवण समुद्र के चार और **जम्बूद्वीप** के दो इस रीति से मिला कर १४४ (एक सौ चवालीस) चन्द्र, १४४ (एक सौ चवालीस) सूर्य **पुष्करद्वीप** में हैं। यह भी आधे मनुष्यक्षेत्र की गणना है। परन्तु जहां मनुष्य नहीं रहते हैं, वहां बहुत से सूर्य और बहुत से चन्द्र हैं। और जो पिछले **अर्ध पुष्करद्वीप** में बहुत चन्द्र और बहुत सूर्य हैं, वे स्थिर हैं। पूर्वोक्त एक-सौ चवालीस को तिगुणा करने से ४३२ और उनमें पूर्वोक्त **जम्बूद्वीप** के दो चन्द्रमा, दो सूर्य, चार-चार **लवण समुद्र** के और बारह-बारह **धातकीखण्ड** के और बयालीस[-बयालीस][५] **कालोदधि** के मिलाने से ४९२ चन्द्रमा तथा ४९२ सूर्य **पुष्कर समुद्र** में हैं॥ ७८॥[६-७]

ये सब बातें श्री जिनभद्रगणी क्षमा श्रमण ने बड़ी '**संघयणी**' में तथा '**योतीसकरण्डक पयन्ना**' मध्ये और '**चंदपन्नती**'[८] तथा '**सूरपन्नती**'[९] [आदि] प्रमुख सिद्धान्तग्रन्थों में इसी प्रकार कही हैं।[१०]

अर्थ भी समीक्षा में उपलब्ध है किन्तु उदयपुर के कथित दश सम्पादक यहां अपनी घोषणा को भूल गये और यह कारिका उनके मूलपाठ में त्रुटित रह गई। पं० मीमांसक जी ने इसको ग्रहण किया है। अन्य संस्करणों में भी त्रुटित है। इसके बिना द्वितीय सं० और उदयपुर सं० 'अपूर्ण' और 'अमानक' हैं।

१. **अपगणना**—सभी सं० में यहां महर्षि द्वारा निर्दिष्ट प्रमाण (पृ० ७९३) के विरुद्ध गणना है। इस सं० में संशोधित है। उदयपुर सं० में भी "**चार लाख कोश**" अशुद्ध है। जब उन्होंने अन्य गणनाएं शुद्ध कर दीं तो यहां क्यों नहीं की? यह 'अमानकता' है।

२-५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में चारों स्थानों पर "**ब्यालीस**" अपवर्तनी है, यह '**बयालीस**' शुद्ध है। उदयपुर सं० में वर्तनी अव्यवस्था और बढ़ गई है क्योंकि कहीं "**ब्यालीस**" अपवर्तनी है तो कहीं "**व्यालीस**"। ऐसी अशुद्धियों की उदयपुर सं० में भरमार है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थ में अन्यत्र "**बयालीस**" शुद्ध वर्तनी प्रयुक्त है (द्र०पृ० ८३८, ९२८ पर)। यहां एक "**बयालीस**" पद परिवर्धन की अपेक्षा रखता है क्योंकि चन्द्र और सूर्य दो की गणना है। यही पद्धति पूर्व संख्याओं में है। सभी सं० में यह पद त्रुटित है। इसके बिना गणना शुद्ध नहीं बन पायेगी।

६. **द्वीप परिमाण**—यह विषय इसी समुल्लास में पृ० ७९४, ७९५ पर भी द्रष्टव्य है।

७. **गणना**—यहां इन संख्याओं को दो में विभक्त करके गणना की जायेगी—४३२+१+१+४+१२+४२=४९२ चन्द्रमा होंगे। इसी प्रकार ४९२ सूर्य बनेंगे।

८-९. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इन ग्रन्थों के नामों की वर्तनियां अव्यवस्थित हैं। भूमिका पृ० १३ पर भिन्न वर्तनियां हैं, यहां भिन्न हैं। भूमिका में प्रदर्शित वर्तनियां ही यहां भी ग्राह्य है। द्विप्र०, द्वि०सं० में, भूमिका में "**चन्दपन्नती**" "**सूरपन्नती**" है। यहां सभी सं० में "**चन्द्रपन्नति**" "**सूरपन्नति**" वर्तनी है। इसी प्रकार कोई "**योतीस्**" तो कोई "**योतीष्**" लिख रहा है। यही अव्यवस्था स्वामी **वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, भगवद्दत्त जी, पं० मीमांसक जी** और **उदयपुर सं०** आदि में है। 'पालि' भाषाकी प्रकृति के अनुसार दीर्घ ईकारान्त वर्तनियां इस सं० में ग्रहण की है। भाषात्मक एकरूपता और मानकता भी आवश्यक है।

उदयपुर संस्करण का अपसम्पादन—उदयपुर सं० में यह अव्यवस्था बढ़कर भ्रान्ति की सीमा में पहुंच गई है, जिसकी 'दश सम्पादकों' से बिल्कुल आशा नहीं की जा सकती। उदयपुर सं० ने कारक-प्रत्यय को भी मूलनाम में सम्मिलित कर लिया है और उस पर उद्धरण चिह्न लगा दिये हैं जिससे पाठकों को यह भ्रान्ति हो रही है कि ये नाम के अंश है। उदयपुर सं० का नाम

समीक्षक—अब सुनिये भूगोल-खगोल के जाननेवालो! इस एक भूगोल में एक प्रकार से ४९२ (चार सौ बानवे) और दूसरी प्रकार से असंख्य चन्द्र और सूर्य जैनी लोग मानते हैं! आप लोगों का बड़ा भाग्य है कि वेदमतानुयायी '**सूर्य-सिद्धान्त**' आदि ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन से ठीक-ठीक **भूगोल-खगोल** विदित हुए। **जो कहीं जैन के महा-अन्धेर मत में होते तो जन्मभर अन्धेर में रहते, जैसे कि जैनी लोग आजकल हैं।** इन अविद्वानों को यह शंका हुई कि **जम्बूद्वीप** में एक सूर्य और एक चन्द्र से काम नहीं चलता, क्योंकि तीस घड़ी में इतनी बड़ी पृथिवी के दूसरे भाग में चन्द्र-सूर्य कैसे आ सकें?[१] **क्योंकि पृथिवी को ये लोग सूर्यादि से भी बड़ी और स्थिर मानते हैं, यही इनकी बड़ी भूल है।**

मूल— दो ससि दो रवि पंती, एगंतरिया छसट्ठि संखाया॥
मेरुं पयाहिणंता। माणुस खित्ते परिअडंति॥

प्रकरण०, भाग ४, संग्रहणी सूत्र ७९॥

अर्थ—मनुष्यलोक में चन्द्रमाओं[२] और सूर्यों[३] की पंक्तियों[४] की संख्या करते हैं। दो चन्द्रमाओं[५] और दो सूर्यों[६] की पंक्तियां[७] (श्रेणियां) हैं, वे एक-एक लाख-लाख योजन अर्थात् चार-चार लाख कोश [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से एक-एक अरब कोश] के आन्तरे[८] चलती हैं। जैसे एक सूर्यों[९] की पंक्ति के आन्तरे[१०] एक पंक्ति चन्द्रमाओं की है, इसी प्रकार चन्द्रमाओं[११] की पंक्ति के आन्तरे[१२] सूर्यों[१३] की पंक्ति है, इसी रीति से चार पंक्तियां हैं। वे एक-एक चन्द्र-पंक्ति में ६६ चन्द्रमा और एक-एक सूर्य की पंक्ति में ६६ सूर्य हैं। वे चारों पंक्तियां[१४] **जम्बूद्वीप** के मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करती हुई मनुष्यक्षेत्र में परिभ्रमण करती हैं। अर्थात् जिस समय **जम्बूद्वीप** के मेरु से एक सूर्य दक्षिण दिशा में विहरता है, उस समय दूसरा सूर्य उत्तर दिशा में फिरता है। वैसे ही **लवण समुद्र** की एक-एक दिशा में दो-दो सूर्य चलते-फिरते है। **धातकीखण्ड** के ६, **कालोदधि** के २१, **पुष्करार्द्ध** के ३६, इस प्रकार सब मिलकर ६६ सूर्य दक्षिण दिशा और ६६ सूर्य उत्तर दिशा में अपने-अपने क्रम से फिरते हैं। और जब इन दोनों दिशाओं[१५] के सब सूर्य मिलाये जायें तो १३२ सूर्य, ऐसे ही छासठ-छासठ चन्द्रमाओं[१६] की दोनों दिशाओं की पंक्तियां मिलाई जायें, तो १३२ चन्द्रमा मनुष्यलोक में चाल चलते हैं। इसी प्रकार

देखिए—"**संघयणी में**" "**योतिष्करणक पयन्ना मध्ये**" यह अशुद्ध सम्पादन है अथवा मुद्रणदोष है। अन्य कई संस्करणों में दूसरा नाम अशुद्ध है।

१०. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवाक्य**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपवाक्य है—"**ये सब बातें.....इस प्रकार कहा है।**" मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त शुद्ध है। उदयपुर सं० आदि में यह अपवाक्य है।

१. **मुद्रणलिपिकरकृत भ्रष्टपाठ**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि० सं० यह भ्रष्टपाठ है—"**इतनी बड़ी पृथिवी को तीस घड़ी में चन्द्र, सूर्य कैसे आ सकें ?**" मूलप्रति सं० में यह पाठ शुद्ध है और ग्राह्य है। **उदयपुर सं० ने इस पाठ को अधिक भ्रष्ट बना दिया है,** देखिए—"**इतनी बड़ी पृथिवियों को तीस घड़ी में चन्द्र सूर्य कैसे आ सकें ? क्योंकि पृथिवी को ये लोग....बड़ी मानते हैं।**" यहां एक पृथिवी का वर्णन है। पूर्वापर में एक पृथिवी और उसके द्वीपों का उल्लेख है। बहुवचन बनाना अशुद्ध है।

२-७,९,११,१३,१४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में सभी स्थानों पर एकवचनात्मक अपप्रयोग इस प्रकार हैं—"**चन्द्रमा**", "**सूर्य**", "**पंक्ति**"। इनके बहुवचन प्रयोग अपेक्षित हैं। कहीं बहुवचन प्रयुक्त भी है। यही अव्यवस्था उदयपुर सं० में है।

८,१०,१२ **गुजराती वर्तनी**—दोनों सं० में तीनों स्थानों पर "**आन्तरे**" वर्तनी है। हिन्दी की दृष्टि से शुद्ध वर्तनी "**अन्तरे**" ग्राह्य है। यह गुजराती भाषा का प्रयोग है और '**प्रकरणरत्नाकर**' में "**आन्तरे**" वर्तनी प्रयुक्त है।

१५-१६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दिशा**" और "**चन्द्रमा**" बहुवचनान्त चाहिएं। आगे बहुवचन प्रयोग है।

चन्द्रमा के साथ नक्षत्रादि की भी पंक्तियां बहुत-सी जाननी चाहियें[१] ॥ ७९ ॥

समीक्षक—अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे! भला, जो तपते होंगे तो वे जीते कैसे हैं? और रात्रि में भी शीत के मारे जैनी लोग जकड़ जाते होंगे? ऐसी असम्भव बातों[२] में भूगोल-खगोल के न जाननेवाले फसते हैं, अन्य नहीं। जब एक सूर्य इस भूगोल के सदृश, अन्य अनेक भूगोलों को प्रकाशता है तो इस छोटे-से भूगोल की क्या कथा कहनी? और जो पृथिवी न घूमे और सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमे तो कई वर्षों के[३-४] दिन और रात होवें। **और सुमेरु विना हिमालय के दूसरा कोई भी नहीं।** यह सूर्य के सामने, एक घड़े के सामने तिल के बराबर भी नहीं है। इन बातों को जैनी लोग, जब तक उसी मत में रहेंगे, तब तक नहीं जान सकते, किन्तु सदा अन्धेर में रहेंगे।

मूल— सम्मत्त चरण सहिया। सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं।
सत्तय चउदसभाए। पंचय सुय देस विरईए[५] ॥

प्रकरण०, भाग ४, संग्रहणी सूत्र १३५ ॥

अर्थ—सम्यक् चारित्र सहित जो केवली हैं,[६] वे केवल समुद्घात अवस्था[७] से सर्व चौदह राज्य-लोक अपने आत्मप्रदेश करके फिरेंगे ॥ १३५ ॥

समीक्षक—जैनी लोग १४ चौदह राज्य मानते हैं, उनमें से चौदहवें की शिखा पर सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर थोड़े दूर पर '**सिद्धशिला**' तथा दिव्य आकाश को '**शिवपुर**' कहते हैं। उसमें केवली अर्थात् जिनको केवलज्ञान, सर्वज्ञता, पूर्ण पवित्रता प्राप्त हुई है, वे उस लोक में जाते हैं और अपने आत्मप्रदेश से सर्वज्ञ रहते हैं। जिसका प्रदेश होता है वह विभु नहीं, जो विभु नहीं, वह केवलज्ञानी सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका आत्मा एकदेशी है, वही आत्मा जाता-आता है और बद्ध-मुक्त, ज्ञानी-अज्ञानी होता है, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ [जैसा कि परमात्मा है][८] वैसा कभी नहीं हो सकता। जो जैनियों के तीर्थंकर जीवरूप अल्प-अल्पज्ञ होकर स्थित थे, वे सर्वव्यापक-सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकते। किन्तु जो परमात्मा अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, पवित्र, ज्ञानस्वरूप है, उसको जैनी लोग नहीं मानते कि जिसमें सर्वज्ञतादि गुण यथातथ्य[९] घटते हैं।

---

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**चाहियें**" क्रिया त्रुटित है। यह आवश्यक है।
२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बात**" अपप्रयोग है। यहां बहुवचन '**बातों**' अभीष्ट है।
३. **मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह भ्रष्ट वाक्य मुद्रित हो गया है—"**सूर्य पृथिवी के चारों ओर न घूमे**"। अब सभी ने संशोधित कर लिया है। **ऋषि-हस्तलेख**—"**जब एक.....रहेंगे**" पाठ ऋषि-लिखित है।
४. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां "**कै एक वर्षों का**" अपप्रयोग है। द्वि० सं० में "**कई एक**" संशोधित है। "**कई वर्षों के**" प्रयोग अधिक शुद्ध है। "**रात-दिन**" दो होने के कारण "**के होवें**" प्रयोग अभीष्ट है।
५. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यह अपपाठ है—"**पंचयसुपदेसावरईए**"। द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि सभी में संशोधित है।
६. **त्रुटित क्रिया**—दोनों सं० में "**हैं**" क्रिया आवश्यक है। प्रचलित पाठ में त्रुटित है।
७. **समुद्घात अवस्था**—आरम्भिक अवस्था।
८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ-परिवर्धन भावस्पष्टता के लिए आवश्यक है।
९. **अपसंशोधन**—मूलप्रति में "**यथातथ्य**" वर्तनी है। द्वि०सं० में "**याथातथ्य**" संशोधित है। यही '**याथातथ्यतः**' होना चाहिए अथवा हिन्दी के अनुसार '**यथातथ्य**' ही ठीक है।

मूल— गब्भनर ति पलियाऊ। तिगाउ उक्कोस ते जहन्नेणं।
मुच्छिम दुहावि अंत मुहु। अंगुल असंख भागतणू॥

प्रकरण०, भाग ४, संग्रहणी २४१ ॥

अर्थ—यहाँ मनुष्य दो प्रकार के हैं, एक गर्भज, दूसरे जो गर्भ के विना उत्पन्न हुए। उनमें गर्भज मनुष्य का उत्कृष्ट तीन पल्योपम[१] का आयु[२] जानना और तीन कोश का शरीर॥ २४१ ॥

समीक्षक—भला, तीन पल्योपम के आयुवाले[३] और तीन कोश के शरीरवाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े ही समा सकें। और फिर तीन 'पल्योपम' कि जैसा पूर्व लिख आये हैं, उतने समय तक जीयें और वैसे ही उनके सन्तान भी तीन-तीन कोश के शरीरवाले हों तो वैसे मुम्बई में दो-एक और कलकत्ता में तीन वा चार मनुष्य ही निवास कर सकते हैं। जो ऐसा है, तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखे हैं, तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का चाहिये, तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सके।

मूल— पणयाल लरकजोयण[४]। विरकंभा सिद्धिसिल फलिह विमला।
तदुवरि गजोयणंते। लोगंतो तच्छ सिद्धठिई॥ २५८ ॥

[प्रकरण०, भाग ४, संग्रहणी सू० २५८]

अर्थ—जो सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से १२ योजन ऊपर **सिद्धशिला**[५] है, वह वाटला[६] और लम्बेपन और पोलपन[७] में ४५ पैंतालीस लाख योजन प्रमाण की है।[८] वह सब धवलार्जुन सुवर्णमय स्फटिक के समान निर्मल '**सिद्धशिला**' की सिद्धभूमि है। इसका[९] कोई '**ईषत् प्राग्भारा**' ऐसा नाम भी कहते हैं। यह '**सर्वार्थ-सिद्धशिला**' विमान से १२ योजन अलोक भी है। यह परमार्थ[१०] केवली

---

१. **जैनियों के कालमान**—जैनियों की कल्पना के अनुसार सत्तर लाख छप्पन सहस्र करोड़ वर्षों का एक '**पूर्व समय**' नामक काल-मान होता है। असंख्यात पूर्वों का '**पल्योपम**' समय-मान होता है। ऐसे तीन '**पल्योपम**' की आयु सीमा यहां बतायी है, यह महान् आश्चर्य की बात है!! इस परिमाण का विवरण पृ० ७९१ पर द्रष्टव्य है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में ''**आयुष**'' अपवर्तनी है, '**आयुष्य**' शुद्ध होगा। यह '**आयुस्**' मूल पद है। द्वि०सं० में इसके स्थान पर ''**आयु**'' ग्रहण किया है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**तीन पल्योपम का आयु.....मनुष्य....**'' अपपाठ है। ''**तीन पल्योपम के आयुवाले**'' प्रयोग अभीष्ट है।

४. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ये अपपाठ हैं—''**पणया**'' ''**ललरकयोयण**''। अन्य सभी में संशोधित है।

५. **अपवर्तनी**—इस प्रसंग में पांच बार अपवर्तनी है—''**सिद्धसिला**''। यह मुद्रणह०, द्विप्र० में है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है या संशोधित है।

६. **वाटला**—गोलाई में अथवा गोलाकार फैलाव में, चतुर्वर्गाकार रूप में। यह गुजराती प्रयोग है जो 'वर्तुल' का अपभ्रंश है।

७. **पोलपन**=चौड़ाई। विस्तृत टिप्पणी पृ० ७८५ पर द्रष्टव्य है। यह गुजराती का प्रयोग है।

८. **अन्यत्र वर्णन**—सिद्धशिला का वर्णन तथा टिप्पणी पृ० ७८५ पर भी द्रष्टव्य है। जैनियों के परिमाण के अनुसार सिद्धशिला की लम्बाई-चौड़ाई पैंतालीस अरब कोश और मोटाई अस्सी हजार कोश बनती है। द्र० ७८१, ७८९, ८३४-८३६, ८३९ पृष्ठ भी।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**इसको**'' अपप्रयोग है, '**इसका**' अपेक्षित है।

१०. **परमार्थ**—रहस्य, वास्तविक ज्ञान।

११. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**बहुश्रुत**'' पद मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। द्वि०सं० आदि में ग्रहण कर लिया है।

बहुश्रुत[११] जानता है। यह सिद्धशिला सर्वथा मध्य भाग में ८ योजन स्थूल है। वहाँ से ४ दिशाओं[१] और ४ उपदिशाओं[२] में घटती-घटती मक्खी की पाँख के सदृश पतली उत्तानछत्र और आकार करके सिद्धशिला की स्थापना है, उस शिला से ऊपर १ (एक) योजन के आन्तरे लोकान्त है, वहाँ सिद्धों की स्थिति अर्थात् निवास होता है॥ २५८॥

समीक्षक—अब विचारना चाहिये कि जैनियों की मुक्ति[३] का स्थान सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा के ऊपर पैंतालीस लाख योजन की शिला अर्थात् चाहे ऐसी अच्छी और निर्मल हो तथापि उसमें रहनेवाले मुक्त जीव एक प्रकार के बद्ध हैं, क्योंकि उस शिला से बाहर निकलने से मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे। और जो भीतर रहते होंगे[४] तो उनको वायु भी न लगता होगा। यह केवल कल्पनामात्र [है और][५] अविद्वानों को फसाने के लिए भ्रमजाल है।[६]

मूल— जोयण सहस्स महियं। एगिंदियदेह मुक्कोसं॥[७]
बि ति चउरिंदिय सरीरं। बारस जोयणं तिकोस चउकोसं।
जोयण सहस पणिंदिय। उहे वुच्छं विसेसंतु॥[८]

प्रकरण०, भाग ४, संग्रहणी सू० २६६-२६७॥

१-३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दिशा**" "**उपदिशा**" एकवचनान्त प्रयोग अशुद्ध हैं, बहुवचनान्त चाहिएं। आगे "**जैनियों के मुक्ति**" अपप्रयोग है। यहां "**जैनियों की मुक्ति**" प्रयोग अभीष्ट है। उदयपुर सं० आदि में अशुद्ध है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित व भ्रष्ट पाठ**—मुद्रणलिपिकर प्रमादवश यह पाठ छोड़ गया—"**और जो भीतर रहते होंगे**"। यही त्रुटित द्विप्र० में छपा है। द्वि०स०, उदयपुर सं० ने परिवर्धित कर लिया है। मूलहस्त०, मूलसं० में पूर्ण है। मुद्रणलिपिकर ने यह भ्रष्ट, अनर्गल पाठ बनाया है—"**मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे तो उनको वायु भी न लगता होगा।**" मुद्रणलिपिकर का कोई श्रद्धालु इसको दृष्टि-विचलन नाम भी दे सकता है किन्तु चार शब्दों के अन्तराल पर दृष्टि विचलन सामान्य अवस्था में नहीं हो सकता। यह तो उसकी शरारत है, या वह भांग चढ़ाता था। न जाने उसने कितने पाठों त्रुटित छोड़कर को इसी प्रकार विकृत कर दिया है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठक में अंकित "**है और**" पद-परिवर्धन आवश्यक है। इसके बिना वाक्यसंगति नहीं बनती।

६. **सिद्धशिला का असम्भव परिमाण**—यह परिमाण पृष्ठ ७८५ पर भी द्रष्टव्य है। जैनियों के अनुसार सिद्धशिला की लम्बाई पैंतालीस अरब कोश और चौड़ाई अस्सी हजार कोश बनती है।

७. **मूल और मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित कारिका की पंक्ति**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस गाथा की प्रथम पंक्ति नहीं मिलती। मूलसं० ने इसको ग्रहण कर लिया है।

उदयपुर सं० के विद्वानों का प्रतिज्ञाविरुद्ध और पूर्वाग्रहपूर्ण सम्पादन—अनेक उदाहरणों की तरह यह भी एक उदाहरण है जो यह प्रदर्शित करता है कि उदयपुर सं० के सम्पादक किस प्रकार पूर्वाग्रह के कारण अपनी घोषित प्रतिज्ञा को भंग भी करते हैं। उदयपुर सं० की घोषणा है कि अर्थ जहां उपलब्ध है उन प्रमाणों को उन्होंने ग्रहण किया है (जैसे, पृ० २५६-२५७ पर), किन्तु यहां नहीं किया। पाठक ध्यान दें—(क) उदयपुर सं० में यह अपूर्ण कारिका है जिसकी प्रथम पंक्ति त्रुटित है, जिससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि इसकी प्रथम पंक्ति ग्राह्य है। (ख) इसका अर्थ सभी सं० में मिलता है। (ग) यह मूलहस्तलेख में उपलब्ध है, अर्थात् यह महर्षिप्रोक्त है किन्तु मुद्रणलिपिकर प्रतिलिपि करते समय प्रमादवश उसको भूल गया, तो भी उदयपुर सं० वालों के लिए मुद्रणलिपिकर "**ब्रह्म वाक्यं प्रमाणम्**" है और महर्षि उपेक्षणीय हैं। महर्षि से बढ़कर मुद्रणलिपिकर परम प्रमाण है, जिसने सैकड़ों पाठ प्रमादवश छोड़े और विकृत किये हैं। (घ) स्वघोषित सब आधारों की उपेक्षा करके उदयपुर सं० ने इस पंक्ति को मूलपाठ में ग्रहण नहीं किया है। क्यों नहीं किया, इसका कोई कारण भी टिप्पणी में स्पष्ट नहीं किया। क्यों अपनी घोषित नीति की उपेक्षा की, इसका कोई कारण भी नहीं दिया।

८. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस कारिका के पाठ में छह अशुद्धियां हैं, अतः भ्रष्ट पाठ है। द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि

अर्थ—सामान्यपन से एकेन्द्रिय का शरीर १ सहस्र योजन के शरीरवाला उत्कृष्ट जानना॥ २६६॥

और दो इन्द्रियवाले शंखादि का शरीर १२ योजन का जानना। वैसे ही कीड़ी-मकोड़ा आदि तीन इन्द्रियवालों का ३ तीन कोश का जानना।[१] और चतुरिन्द्रिय भ्रमरादि का शरीर ४ कोश का और पञ्चेन्द्रिय एक सहस्र योजन अर्थात् चार सहस्र कोश के [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से एक करोड़ कोश][२] के शरीरवाले जानना॥ २६६-२६७॥

समीक्षक—चार-चार सहस्र कोश के [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से एक-एक करोड़ कोश][३] के प्रमाणवाले शरीरवाले हों तो भूगोल में तो बहुत थोड़े मनुष्य रह पायें अर्थात् सैकड़ों मनुष्यों से भूगोल [ठसा-] ठस भर जाय, किसी को चलने की जगह भी न रहे। फिर वे जैनियों से रहने का ठिकाना और मार्ग पूछें, जो इन्होंने लिखा है, और अपने घर में रख लें!! परन्तु चार सहस्र कोश [अर्थात् जैन-प्रमाण से एक करोड़ कोश][४] के शरीरवाले को निवासार्थ कोई एक के लिए ३२ सहस्र कोश[५] [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से आठ करोड़ कोश] का घर तो चाहिये। ऐसे एक घर के बनाने में जैनियों का सब धन चुक जाय, तो भी घर न बन सके। इतने बड़े [घर की] आठ सहस्र कोश[६] [पौराणिक प्रमाण से तथा जैन-प्रमाण से दो करोड़ कोश] की छत बनाने के लिए लट्ठे कहाँ से लावेंगे? और जो उसमें खंभे लगावें[७] तो वह भीतर प्रवेश भी नहीं कर सकता। इसलिये ऐसी बातें मिथ्या हुआ करती हैं।

मूल— ते थूला पल्ले विहु। संखिज्जाचेवहुंति सव्वेवि।
ते इक्किक्क असंखे। सुहुमे खंडे पकप्पेह॥[८]

प्रकरण०, भाग ४। लघुक्षेत्रसमास प्रकरण, सूत्र ४॥

अर्थ—पूर्वोक्त एक अंगुल लोम के खण्डों से ४ कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुआ हो, अंगुल प्रमाण लोम का खण्ड सब मिलके दो लाख उनतीस सहस्र तीन सौ छिहत्तर होते हैं[९] और अधिक

में संशोधित हैं। वे हैं—''**चउरिं**''''**दिस**''''**सजोयणति**''''**कोसच**''''**उकोसं**''''**वुच्छन्ति**''।

१. **त्रुटित पाठ**—मूलप्रति सं० में ''**तीन इन्द्रियवालों**'' यह पाठ त्रुटित है। यह द्वि० सं० में है और ग्राह्य है। मुद्रणह०, द्विप्र० में यह सम्पूर्ण वाक्य त्रुटित है। द्वि०सं० में परिवर्धित है।

२-६. **अपगणना**—ग्रन्थकार के कथनानुसार जैनियों का एक योजन दस सहस्र योजन के बराबर होता है। (पृ० ८०७, ८०८)। उस परिमाण के अनुसार यहां ''चार सहस्र कोश'' पाठ न होकर ''एक करोड़ कोश'' होना चाहिए। उसी माप के अनुसार क्रमशः ''चार-चार सहस्र कोश'' ''चार सहस्र'', ''बत्तीस सहस्र'', ''आठ सहस्र'' इन संख्याओं पर प्रचलित गणनाओं के स्थान पर क्रमशः ''एक-एक करोड़ कोश'', ''एक करोड़'', ''बत्तीस करोड़'', ''बत्तीस करोड़'' यह संख्या होनी चाहिए। उदयपुर सं० सहित किसी ने भी इन विसंगतियों का समाधान नहीं किया और न शोधन किया। ऊपर जैन-प्रमाण भी दिया है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**खंभा लगावें**'' के स्थान पर ''**खंभे लगावें**'' बहुवचनात्मक प्रयोग अभीष्ट है। उदयपुर सं० में अशुद्ध प्रयोग है।

८. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस कारिका के पाठ में चार अशुद्धियां हैं—''**विहुसं**''''**रिवज्जाचे**''''**बहुति**''''**खम्मे**''। अन्य सभी सं० में संशोधित हैं।

९. **अशुद्ध कालपरिमाण**—यही कालपरिमाण-पद्धति पृ० ७९१ पर भी द्रष्टव्य है। गणनानुसार अंगुल प्रमाण लोम (केश) के १×४०९६×७=२८६७२×८=२२९३७६ टुकड़े बनते हैं। वहां कुलयोग २०९७१५२ है, यहां २०५७१५२ है। इस प्रकार योग में परस्परविरोध भी है और दोनों ही कुलयोग अशुद्ध हैं। दोनों संशोध्य हैं। (द्र०पृ० ७९१ पर) उदयपुर सं० सहित सम्पादकों ने न

से अधिक (३३०७६२१०४, २४६५६२५, ४२१९९६०, ९७५३६००,०००००००) तैंतीस करोड़-करोड़ी, सात लाख बासठ हजार एक सौ चार करोड़-करोड़ी, चौवीस लाख पैंसठ हजार छः सौ पच्चीस इतने करोड़-करोड़ी तथा बयालीस लाख उन्नीस हज़ार नौ सौ साठ इतनी करोड़-करोड़ी तथा सत्तानवे लाख त्रेपन हजार और छः सौ करोड़-करोड़ी, इतनी वाटला घन योजन पल्योपम में सर्व स्थूल रोम खण्ड की संख्या होवे, यह भी संख्यातकाल होता है। पूर्वोक्त एक लोम खण्ड के असंख्यात खंड मन में कल्पे तब असंख्यात सूक्ष्म रोमाणु होवें॥ ४॥

समीक्षक—अब देखिये इनकी गिनती की रीति! एक अंगुल प्रमाण लोम के कितने खंड किये! यह कभी किसी की गिनती में आ सकते हैं? और उसके उपरान्त मन से असंख्य खंड कल्पते हैं। इससे पूर्वोक्त खंड जैनियों ने हाथों से किये होंगे! जब हाथ से न हो सके तब मन से किये। भला, यह बात कभी सम्भव हो सकती है कि एक अंगुल रोम के असंख्य खण्ड हो सकें!![१]

मूल– जंबूद्दीव पमाणं गुलजोयण लरक वट्ट विरकंभो।
लवणाई यासेसा। वलयाभा दुगुण दुगुणाय॥ १२॥[२]

प्रकरण०, भाग ४, लघुक्षेत्रस० १२॥

[अर्थ—] प्रथम **जम्बूद्वीप** का लाख योजन का प्रमाण और पोला है। और बाकी लवणादि सात समुद्र तथा सात द्वीप, जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगुणे-दुगुणे हैं। इस एक पृथिवी में जम्बूद्वीपादि सात द्वीप और सात समुद्र हैं, जैसा कि पूर्व लिख आये हैं॥ १२॥

समीक्षक—अब **जम्बूद्वीप** से दूसरा द्वीप दो लाख योजन, तीसरा चार लाख योजन, चौथा आठ लाख योजन, पाँचवाँ सोलह लाख योजन, छठा बत्तीस लाख योजन और सातवाँ चौसठ लाख योजन और उतने प्रमाण वा उनसे अधिक समुद्र के प्रमाण से इस पन्द्रह सहस्र कोश परिधिवाले भूगोल में क्योंकर समा सकते हैं? इससे यह बात केवल मिथ्या है।[३]

मूल– कुरु नइ चुलसी सहसा। छच्चेवंतर नईउ पइ विजयं।
दो दो महा नईउ। चउ दस सहसाउ पत्तेयं॥ ६३॥[४]

प्रकरण०, भाग ४, लघुक्षेत्रस०, सूत्र ६३॥

[अर्थ—] **कुरुक्षेत्र** में चौरासी सहस्र नदियां[५] हैं॥ ६३॥

तो अशुद्धि को दूर किया और न ग्रन्थ के परस्परविरोध का समाधान किया। प्रश्न उठता है कि ये कैसा 'मानक' सं० है? 'दश विद्वान्' भी मिलकर इन स्पष्ट अशुद्धियों का समाधान न कर सके तो कौन करेगा?

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस अनुच्छेद के अन्तिम दो वाक्य संशोधित हैं। ये उचित तथा ग्राह्य हैं।

२. **अपपाठ**—इस गाथा-पाठ में मुद्रणह०, द्विप्र० में ये अपपाठ हैं—''**जोयाण**'' ''**भादुगुण**''। अन्यों में संशोधित हैं।

३. **द्वीप परिमाण**—द्वीप परिमाण का विस्तृत विवरण पृष्ठ ७९४ पर भी द्रष्टव्य है। पाठक ध्यान दें कि जैनियों के प्रमाण के अनुसार एक योजन दश सहस्र कोश का होता है (द्र० पृ० ७९३)। इस प्रकार एक लाख योजन का अर्थ हुआ 'एक अरब कोश'। जबकि पृथ्वी का कुल व्यास परिमाण २४,९०० मील अर्थात् लगभग..... किलोमीटर का है।

४. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस कारिका के पाठ में चार अपपाठ हैं—''**छच्चेवंतरवई**'' ''**उपइ**'' ''**चनुदस**'' ''**सहसा**'' ''**उपत्तेयं**''। अन्य सं० में संशोधित हैं।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां एकवचनात्मक '**नदी**' अपप्रयोग है, '**नदियां**' प्रयोग उपयुक्त है।

समीक्षक—भला, **कुरुक्षेत्र** बहुत छोटा देश है, उसको न देखकर एक मिथ्या बात लिखने में इनको लज्जा भी न आई।

मूल— जामुत्तराउ ताउ। इगेग सिंहासणाउ अइपुव्वं।
चउसुवि तास नियासण, दिसिभवजिणमज्जणं होइ॥[१]

प्रकरण०, भाग ४, लघुक्षेत्रस०, सूत्र ११९॥

उस शिला[२] के विशेषतः[३] दक्षिण और उत्तर दिशा में एक-एक सिंहासन जानना चाहिये। उन शिलाओं के नाम दक्षिण दिशा में '**अति-पाण्डु-कम्बला**', उत्तर दिशा में '**अति-रक्त-कम्बला**' शिला है। उन सिंहासनों पर तीर्थङ्कर बैठते हैं॥ ११९॥

समीक्षक—देखिये इनके तीर्थंकरों के जन्मोत्सवादि करने की शिला को! ऐसी ही मुक्ति की '**सिद्धशिला**' है। ऐसी इनकी बहुत बातें गोलमाल-पोलपाल[४] बहुत-सी हैं, कहाँ तक लिखें?

किन्तु **जल छान के पीना, और सूक्ष्म जीवों पर नाममात्र दया करना, रात्रि को भोजन न करना,[५] ये तीन बातें अच्छी हैं।** बाकी जितना इनका कथन है सब असम्भवग्रस्त है।

इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत-सा जान लेंगे, यह थोड़ा-सा दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी असम्भव सब बातें लिखें तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयुभर में भी पाठ न कर सके।[६]

इसलिये [जैसे] एक हण्डे में चुड़ते[७] चावलों में से एक चावल की परीक्षा से कच्चे वा पक्के हैं, सब चावल विदित हो जाते हैं। ऐसे ही इस थोड़े-से लेख से सज्जन लोग बहुत-सी बातें समझ लेंगे। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना आवश्यक नहीं, क्योंकि दिग्दर्शनवत् सम्पूर्ण आशय को बुद्धिमान् लोग जान ही लेते हैं।[८]

---

१. **अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस गाथा-पाठ में तीन अपपाठ हैं—''**यामुत्तरा**'' ''**उताउ**'' ''**वितासु**''। अन्य सभी सं० में संशोधित हैं।

२. **अयोग्य लिपिकरों-शोधकों की अपवर्तनियां**—अयोग्य और मक्कार लिपिकरों-शोधकों की माया देखिए। इस गाथा के अर्थ और समीक्षा में पांच बार ''शिला'' शब्द का प्रयोग है। पहले तीन की अपवर्तनी ''**सिला**'' लिखी है, बाद के दो की ठीक ''**शिला**'' लिखी है। एक ही स्थान पर दो-दो वर्तनियां लिखने वालों को और उसी प्रकार द्विप्र० में अशुद्ध छापने वाले शोधकों को भी ''सश्रद्ध नमन'' करनेवाले कृपालु पाठक हैं। महर्षि ने तो इनको बार-बार फटकारा है। यह विचारणीय है कि अपनी अयोग्यता से सत्यार्थप्रकाश की भाषा को विकृत करने वाले लोग क्या प्रशंसनीय माने जा सकते हैं?

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**विशेष दक्षिण**'' अपप्रयोग है। यहां ''**विशेषतः दक्षिण**'' होना अभीष्ट है।

४. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**पोलपाल**'' त्रुटित पद है। यह आवश्यक है, क्योंकि ग्रन्थकार इससे जैनियों की बातों की निस्सारता बताना चाहते हैं। गोलमाल का अर्थ है—उलट-पुलट या गड़बड़ वाली, पोलपाल=सारहित।

५. **रात्रि को भोजन न करना**—इसका अर्थ है सूर्यास्त के बाद रात्रि आरम्भ होने पर भोजन न करना। जैनियों का यह नियम है कि वे रात्रिकालीन भोजन सूर्यास्त से पूर्व ही करते हैं, सूर्यास्त के पश्चात् नहीं।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मूलप्रति सं० के उक्त वाक्य के स्थान पर मुद्रणप्रति, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ बनाया है—''**आयुभर में पढ़ भी न सके।**'' लेखक का यहां यह भाव नहीं है। मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त पाठ सटीक-सार्थक है। लेखक यहां यह कहना चाहता है कि मनुष्य उनका वाचन भी नहीं कर सकता, समझकर पढ़ने की बात को दूर है। मुद्रणलिपिकर महर्षि के भाव को नहीं समझ सका। मुद्रणलिपिकर ऐसे ही अनाप-शनाप पाठ परिवर्तन करता रहता है।

७. **चुड़ते**=पकते।

८. **ऋषिहस्तलेख**—''**क्योंकि.....लेते हैं**'' पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वती[१]स्वामिनिर्मिते[२] सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते[३] नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाक-
बौद्धजैनमतखण्डनमण्डनविषये[४]
द्वादशः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १२॥

१-४. **लिपिकर की अयोग्यता**—मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति में ''**सरस्वति**'' अशुद्ध लिखा है, मुद्रणकाल में शुद्ध किया है। इसी प्रकार ''**स्वामिकृते**'' लिखा है, मुद्रणकाल में ''**स्वामिनिर्मिते**'' पाठ बनाया गया है। द्विप्र० में ''**निर्मते**'' मुद्रणदोष है। ''**विरचिते**'' हस्तलेख के पाठ के स्थान पर ''**विभूषिते**'' बनाया है। ''**नास्तिक.... मण्डन विषये**'' पाठ मुद्रणप्रति में नहीं है। यह मुद्रणकाल में जोड़ा गया है।

ओ३म्

अनुभूमिका (३)[१]

जो यह '**बाइबल**'[२] का मत है, वह केवल '**ईसाइयों**' का है सो नहीं, किन्तु **इससे यहूदी आदि भी गृहीत होते हैं।** जो यहाँ (१३) तेरहवें समुल्लास में ईसाई मत के विषय में लिखा है, इसका यही अभिप्राय है कि आजकल '**बाइबल**'[३] के मत में '**ईसाई**' मुख्य हो रहे हैं और '**यहूदी**' आदि गौण हैं। मुख्य के ग्रहण से गौण का ग्रहण हो जाता है, **इससे यहूदियों का भी ग्रहण समझ लीजिये।**

इनका जो विषय यहां लिखा है सो केवल '**बाइबल**'[४] में से [है] कि जिसको ईसाई और यहूदी आदि सब मानते हैं और इसी पुस्तक को अपने धर्म का मूलकारण समझते हैं। **इस पुस्तक के भाषान्तर बहुत-से हुए हैं, जो कि इनके मत में बड़े-बड़े पादरी हैं, उन्हीं ने किये हैं। उनमें से देवनागरी वा संस्कृत भाषान्तर[५] देखकर मुझको 'बाइबल'[६] में बहुत-सी शङ्कायें[७] हुई हैं, उनमें से कुछ थोड़ी-सी इस १३**

---

१. **अनुभूमिका लेखन**—मूल-हस्तलेख लिखाते समय यह अनुभूमिका नहीं लिखाई गई थी, अतः मूलहस्त० में नहीं है। मुद्रण हस्त० तैयार करने के बाद यह लिखाई गई है। मूलप्रति सं० में इसको मुद्रणहस्त० और द्विप्र० से ग्रहण किया गया है।

२-४,६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—''**बाइबल**'' (Bible) नाम की वर्तनी के सम्बन्ध में ग्रन्थ में लिपिकरों की अयोग्यता और प्रमाद से घोर अव्यवस्था है। यद्यपि ग्रन्थकार एक ही शब्द बोलते थे तथापि लिपिकर उसको अपने ढंग से लिखते थे। देखिए—

(क) द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति, सन् १८८४) में इस नाम की बारह वर्तनियां मिलती हैं—

१. वायबल—पृ० ७, **२. बायबिल**—पृ० ७, ५१८, ५२७ **३. वायबिल**—पृ० ७, २७६,
४. बाईबल—पृ० ५१८, **५. बायइबिल**—पृ० ३७७, **६. बाइबल**—पृ० २०३, ४६२, ४६४, ४६५,
७. वाइबल—पृ० ४६४, ४७५, **८. बाइवल**—पृ० ४६९। **९. बाइबिल**—पृ० ५२२, ५६९,
१०. वायविल—पृ० २७६, ५२६, **११. वाईवल**—पृ० ४७०, **१२. बायबल**—पृ० ४८६

अत्यन्त खेदजनक स्थिति देखिए कि एक ही पृष्ठ ७, ४६४, ५१८ पर दो-दो वर्तनियां हैं।

(ख) इसी प्रकार वर्तमान द्वितीय संस्करण में चार प्रकार की वर्तनियां मिलती है—

१. बायबिल—पृ० ५ (दो बार), १८९। **३. बाइबल**—पृ० ३२०, ३२१, ३२४, ३२९, ३५९ आदि।
२. बाइबिल—पृ० ३५३। **४. बाईबिल**—पृ० २६१।

(ग) स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती द्वारा सम्पादित संस्करण में तो यह अव्यवस्था और बढ़ गई है। उसमें निम्नलिखित पांच प्रकार की वर्तनियां मिलती हैं। पाठक उलझन में पड़ जाता है कि किस वर्तनी को ग्राह्य और प्रामाणिक मानें—

१. बायबिल—पृ० ५ (दो बार), २३९। **२. बाइबिल**—पृ० ३४६। **३.बाइबल**—पृ० ४५१, ४५२, ४५७, ४५९, ५०२, ५१० आदि। **४. बाईबल**—पृ० ४५०,४५३ (टिप्पणी में अनेक बार)।
५. बायबल—पृ० ४५३ (टिप्पणी में)।

(घ) पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अपने संस्करण में कहीं संशोधन कर दिया, कहीं नहीं किया। इस प्रकार संशोधन की अव्यवस्था है। द्वितीय सं० में जहां अन्य वर्तनी है, तो वहां इनके सं० में अन्य है। इनके सं० में चार वर्तनियां पाई जाती हैं—

१. बाइबल—पृ० ३१६, ७४१, ७४३, ७४५, ७५३, ७५४, ८२३, ८३७, ८४५, ९२४ आदि।
२. बाइबिल—पृ० ५९६। **३. बायबल**—पृ० ११, १२, ४३३। **४. बाईबल**—पृ० ८३० (टि०में)

(ङ) मूलप्रति सं० में इस नाम की चार वर्तनियां मिलती हैं—

१. बायबिल—पृ० 'क', ५६८, ५७२, ५८६, ५८९, ६४० आदि। **३. बाइबिल**—पृ० 'ख'
२. बाइबल—५९२, ५९६, ५९९, ६५१। **४. बाईबिल**—४५६।

तेरहवें समुल्लास में सबके विचारार्थ लिखी हैं। यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ है।[८] इसका अभिप्राय उत्तर-लेख में सब कोई समझ लेंगे कि यह पुस्तक कैसा है और इनका मत भी कैसा है?

इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र को देखना, सुनना, लिखना आदि करना सहज होगा और पक्षी-प्रतिपक्षी होके विचारकर ईसाई मत का आन्दोलन[९] सब कोई कर सकेंगे। **इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्मविषयक ज्ञान बढ़कर यथायोग्य सत्यासत्य मत और कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्मसम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्त्तव्य कर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्त्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा।**

सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख-समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें; **क्योंकि जैसे पढ़ने से 'पण्डित' होता है, वैसे सुनने से 'बहुश्रुत' होता है।** यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके, तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है। **जो कोई पक्षपातरूप यानारूढ़ होके देखते हैं, उनको न अपने, न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।**

मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का यथायोग्य[१०] **निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है।** जितना अपना

(च) कथित दशविद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर संस्करण में कहीं तो अपने मन से वर्तनी में परिवर्तन कर दिया, कहीं नहीं किया। इसमें भी संशोधन में अव्यवस्था है। उसमें प्रकार की वर्तनियां उपलब्ध हैं—

१. बायबिल—पृ० ७, २७६, ३७७, **२. बायबल**—पृ० ७

३. बाइबल—पृ० ४६२, ४६४, ४६५, ५०९, ५१८। **४. बाइबिल**—पृ० ५२२

इस संस्करण में भी खेदजनक स्थिति यह है कि पृष्ठ ७ और ५२२ पर दो-दो वर्तनियां हैं।

यही अव्यवस्था पं० भगवद्दत्त जी, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती तथा अन्य सभी के संस्करणों में है। विस्तारभय से उसको प्रदर्शित नहीं किया जा रहा है। द्विप्र० में यहां, और अधिकांश स्थलों पर मुद्रणहस्त० की वर्तनियों को मुद्रण-समय में बदला गया है। प्रस्तुत स्थल पर भी मुद्रणहस्त० में "**बायबिल**" वर्तनी है किन्तु प्रकाशित द्वि० सं० में "**बाइबल**" पाठ कर दिया है। वर्तनी सम्बन्धी उक्त अव्यवस्था दो कारणों से हुई है—एक, महर्षि दयानन्द बोलते जाते थे, तो वे बोलते तो एक ही शब्द थे किन्तु भिन्न-भिन्न लिपिकर उस शब्द को अपने भाषा-ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्तनी में लिखते थे। दूसरा, जिस लिपिकर की भाषात्मक योग्यता परिपक्व नहीं थी वह लिखते समय जैसी वर्तनी ध्यान में आती थी वैसी ही लिख देता था। ऐसे ही प्रमादी शोधक और **आदि-सम्पादक ज्वालादत्त शर्मा** तथा **भीमसेन शर्मा** थे। उन्होंने अशुद्धि शोधन पर ध्यान नहीं दिया। इस लेखन-अव्यवस्था से ग्रन्थकार का कोई लेना-देना नहीं है। **हाँ, आर्य सम्पादकों द्वारा सवा-सौ वर्षों से अधिक समय बीत जाने पर भी अब तक इस भाषागत अव्यवस्था को ठीक न करना खेदजनक है, क्योंकि उससे इस अव्यवस्था और अशुद्धियों का उत्तरदायित्व व्यर्थ ही महर्षि पर पड़ रहा है।** इस अव्यवस्था से इस ग्रन्थ की भाषात्मक एकरूपता, व्यवस्था, प्रामाणिकता, शुद्धता और मानकता नष्ट हो रही है, अतः भाषा को व्यवस्थित रूप देना आवश्यक था, और आज भी है। इस संस्करण में, इनमें से अधिकतः स्वीकृत वर्तनी '**बाइबल**' को सर्वत्र ग्राह्य माना गया है। आगे इस पर टिप्पणी नहीं दी जायेगी।

५. **संस्कृत बाइबल**—नीलक ण्ठ शास्त्री ने ईसाई मत ग्रहण करके बाइबल का संस्कृत भाषा में अनुवाद किया था। (युमी)

७. **अपप्रयोग**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में यहां '**शङ्का**' एकवचनात्मक प्रयोग है, "**बहुत-सी**" के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है। अन्य सभी सं० तथा उदयपुर सं० में एकवचनात्मक अपप्रयोग है।

८. **अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां '**ही**' प्रयोग है। मूलप्रति सं० का प्रयोग "**है**" सही है। '**ही**' अप-अर्थ देता है।

९. **आन्दोलन**=चिन्तन, विचार-मन्थर, विवेचन।

१०. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—मुद्रणहस्त०, तीनों सं० में '**यथायोग्य**' विशेषण '**सत्यासत्य**' से पूर्व है—"**आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का**"। उस स्थिति में यह '**सत्यासत्य**' पद का विशेषण बन जाता है जो अप-अर्थ का संदेह उत्पन्न करता है।

पठित वा श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मत-वाले दूसरे मत-वालों[१] के विषयों को जानें और अन्य न जानें तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर[२] जाते हैं। ऐसा न हो, इसलिए इस ग्रंथ में प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने से ही शेष विषयों में अनुमान कर सकता है कि वे सच्चे हैं वा झूठे?

जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सबमें एक-से हैं, झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और दूसरा झूठा हो, तो भी कुछ थोड़ा-सा विवाद चलता है। यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिये वाद-प्रतिवाद करें, तो अवश्य निश्चय हो जाय।

अब मैं इस १३वें समुल्लास में[३] ईसाईमत विषयक थोड़ा-सा लिखकर सबके सम्मुख स्थापित करता हूँ, विचारिये कि कैसा है?

अलमतिलेखेन विचक्षणवरेषु॥

दयानन्दसरस्वती

यह '**निर्णय**' पद का विशेषण है, उससे पूर्व ही इसका उचित स्थान और उपर्युक्त वाक्य शुद्ध है। इसी से इसका 'आसत्ति' सम्बन्ध है। उदयपुर सं०, वेस, जग, भद, युमी, विस में यह अपपाठ है।

१. **अपप्रयोग**—मुद्रणहस्त० और तीनों सं० में "**दूसरे मतवाले**" अपप्रयोग है। यहां सम्बन्ध कारक में "**मतवालों के**" बहुवचनात्मक प्रयोग अपेक्षित है। सभी सं० में अपप्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**घिर**" के स्थान पर "**गिर**" क्रियापद का अपप्रयोग किया है। यह अशुद्ध परिवर्तन है। बाड़े में 'घिरा' या 'घेरा' जाता है 'गिरा' या 'गिराया' नहीं जाता। गिरना तो गर्त या कूप आदि में होता है। ऊपर यहां भी अपने मत तक घिर के अर्थात् सीमित रहने की बात की जा रही है। अतः मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। उदयपुर आदि सभी सं० में अपप्रयोग है।

३. **समु० १३ की रचना का इतिहास और आधारग्रन्थ**—सन् १८७५ में लिखे प्रथम संस्करण में १३ वां समुल्लास कुरान मत समीक्षा-विषयक था और १४ वां ईसाई मत की समीक्षा-विषयक। महर्षि उस संस्करण को प्रकाशनार्थ राजा जयकृष्णदास (काशी के तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर) को देकर अपने आगामी यात्रा कार्यक्रम पर चले गये।

राजा जयकृष्णदास क्योंकि अंग्रेज सरकार की सेवा में अधिकारी थे, अतः उन्होंने सरकार का और साथ ही मुसलमानों का रोषभाजन न बनने के विचार से, प्रथम संस्करण के साथ १३, १४ दोनों ही समुल्लास नहीं छपवाये। प्रथम संस्करण में केवल बारह समुल्लास छपे थे।

द्वितीय संस्करण (सन् १८८४) में इनका क्रम बदलकर इन मतों के उद्भव-कालक्रमानुसार १३ वां समुल्लास ईसाईमत विषयक और १४ वां समुल्लास कुरानमत विषयक कर दिया। **बाइबल की आयतों का अनुवाद तत्कालीन पादरियों द्वारा रचित बाइबल के हिन्दी-अनुवादों से ग्रहण किया गया है अतः अनुवाद-सम्बन्धी प्रत्येक अशुद्धि का दायित्व उन्ही अनुवादकों का है, ऋषि दयानन्द का नहीं।** उस समय के अनुवादों में और आज के अनुवादों में संशोधन और परिष्कार होकर पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है, जैसे—'**आदम**' के स्थान पर '**मनुष्य**' और '**शराब**' के स्थान पर '**दाखरस**' अनुवाद कर लिया है। इस परिवर्तन के मूल में 'सत्यार्थप्रकाश' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, अतः सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत आयत-अनुवादों में अशुद्धि का आधार तत्कालीन अनुवादों को ही मानना चाहिए, महर्षि के उद्धरणों या वर्तमान अनुवादों को नहीं।

महर्षि के निर्वाण से एक मास पूर्व १३ वें समुल्लास की प्रेसप्रति (पृ० ३४४ तक) प्रकाशनार्थ प्रेस में भेज दी गई थी, यह जानकारी महर्षि के २९ सितम्बर, १८८३ के एक पत्र से मिलती है। उसी दिन सायंकाल जोधपुर में ऋषि को विष दे दिया गया। इससे आगे का भाग न तो महर्षि शोध सके, न प्रकाशित प्रूफ देख सके। महर्षि के देहान्त के दो मास पूर्व तक द्वितीय संस्करण (१८८४) के ३२० पृष्ठ अर्थात् एकादश समुल्लास के पूर्ण छप जाने का विवरण प्राप्त होता है। अनुमान किया जाता है कि महर्षि के निर्वाण तक १२वें समुल्लास का कुछ भाग छप चुका होगा। मीमांसक जी का अनुमान है कि १३वां समुल्लास पूरा छप चुका

होगा। यह कथन सही प्रतीत नहीं होता। १३, १४ समु० तो पूर्णत: महर्षि के देहान्त के बाद छपे हैं।

समीक्षित आयतों का विवरण—द्वितीय संस्करण (सन् १८८४) में १३० आयतखण्ड ही प्रकाशित हुए थे। तीन आयतखण्ड (३६, ३९, ४०) जो मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रह गये थे, उस भूल का सुधार करके बाद के सम्पादकों ने उनको परोपकारिणी के संस्करण ३४वें में सम्मिलित कर लिया, जिससे ३४वें द्वितीय संस्करण में कुल आयतखण्ड संख्या बढ़कर १३३ हो गई। अब वही संख्या द्वि०सं० में प्रचलित है। मुद्रणलिपिकर की भूल से जो अन्य पांच आयतखण्ड (६५, ६६, ७१, ७२, ८३) त्रुटित रह गये थे, अभी भी द्वि०सं० में उन आयतखण्डों को सम्मिलित नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि द्वि०सं० के पक्षधरों के लिए ग्रन्थकार महर्षि कम महत्त्वपूर्ण और अप्रामाणिक हैं जबकि मुद्रणलिपिकर अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक है। मूलप्रति संस्करण, जो कि अब परोपकारिणी सभा अजमेर ने मूलहस्तलेख को प्रमुख आधार बनाकर प्रकाशित किया है, उसमें उन सभी महर्षिप्रोक्त आयतों को पुन: सम्मिलित कर लिया है, जो मूलह० व मुद्रणप्रति में थीं और जिन्हें मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दिया था। इस संस्करण के अनुसार उनकी संख्या १४२ है। इस संस्करण में सभी १४२ आयतखण्डों को रखा गया है। इन १४२ आयतखण्डों में महर्षि ने बाइबल की कुल ४१६ आयतों की समीक्षा की है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

उत्पत्ति पुस्तक से	१३१	राजाओं की पुस्तक	३	मार्क इञ्जील	१	
यात्रा	३८	काल इतिहास	१	लूक इञ्जील	४	
लैव्यव्यवस्था	२०	ऐयूब	७	योहन समाचार	१२	
गिनती	४	उपदेश-पुस्तक	३	योहन प्र० वाक्य	७१	
समूएल की पुस्तक	३	मत्ती इंजील	११९			
	१९६	+	**१३२**	+	**८८**	**=४१६ कुल**

आयतखण्डों और आयतों की संख्या में अन्तर का कारण—मूलप्रति सं० में बाइबल की कुल आयतखण्ड संख्या १४२ है। द्वितीय सं० (प्रथमावृत्ति, १८८४) में १३० है और बाद के द्वितीय संस्करणों में १३३ है। इस सं० में १४२ है।

द्वितीय सं० (प्रथमावृत्ति १८८४) में आयत खण्ड ३६, ३९, ४० नहीं थे। बाद के द्वि०संस्करणों में सम्पादकों ने इन्हें ग्रहण कर लिया क्योंकि ये भूल से छूटे थे। अत: १३० से बढ़कर उनकी संख्या १३३ हो गई। उदयपुर सं० ने इन आयतों को ग्रहण न करके भूल को 'अक्षुण्ण' बनाये रखा।

मूलप्रति सं० से वर्तमान द्वितीय संस्करणों में ९ आयतखण्ड कम हैं किन्तु यथार्थ में **पांच आयतखण्ड** ही कम हैं— ६४, ६६, ७१, ७२, ८३। शेष आयतखण्ड तो दो-दो, तीन-तीन आयतखण्डों के संयुक्त कर देने से कम हुए हैं, जैसे- ६९ और ७० को, ७८-७९ को और ८०, ८१, ८२ तीनों को संयुक्त करने से चार आयतखण्ड संख्याएं कम हुई हैं। ५+४ मिलाकर कुल जोड़ में ९ आयतखण्ड कम हैं। द्वितीय संस्करण (१८८४) की प्रेसप्रति में लिपिकरों-शोधकों ने उपर्युक्त चार आयतखण्ड-संख्याओं को संयुक्त क्यों किया? इसका कोई युक्तिसंगत कारण नहीं दिया गया है।

द्वितीय सं० के पक्षधरों के समक्ष विचारणीय प्रश्न—इस समुल्लास में आयतखण्ड संख्या के अन्तर का विवाद मुद्रणलिपिकर की भूल स्वेच्छाचारिता से उत्पन्न हुआ है। इस समुल्लास में मुंशी समर्थदान जी ने भी किसी आयत में कांट-छांट नहीं की है। अत: उस भूल में न तो कोई रहस्य खोजना चाहिए और न उस पर अनावश्यक विवाद उत्पन्न करना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि मूलहस्त० में चार पन्ने फुटकर रूप में जोड़े हुए हैं, जिनमें नौ आयतखण्ड समीक्षा सहित हैं और उन पर ऊपर निर्देश है कि इनको **'यथाक्रम में लिखा जायेगा।'** मुद्रणप्रति करते समय मुद्रणलिपिकर सभी नौ आयतखण्डों को त्रुटित छोड़ गया। इस कारण वे द्वितीय सं० (१८८४) में नहीं छपे। उनमें से तीन आयतखण्डों (३६, ३९, ४०) को बाद के सम्पादकों ने ३४वें द्वि०सं० में ग्रहण करके उस भूल को सुधार लिया। उन पन्नों पर लिखित शेष पांच आयतखण्ड भी महर्षिप्रोक्त और समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, अत: उनको छोड़ना भी न्यायोचित नहीं माना जा सकता। मुद्रणलिपिकर की भूल को सुधारते हुए उनको भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इससे महर्षि का अमूल्यश्रम व्यर्थ नहीं होगा और इस समुल्लास में सभी संस्करणों में एकरूपता बन जायेगी। हमें इस तथ्य पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये कि वह लेख महर्षि द्वारा लिखाया गया है, इस कारण उसका अनन्य महत्त्व है, उसको उपेक्षित करके रद्दी में फेंकना क्या महर्षि के श्रम का तिरस्कार नहीं है?

अथ त्रयोदशसमुल्लासारम्भः

अथ कृश्चीनाख्यमतविषयं व्याख्यास्यामः[१]

अब इसके आगे ईसाइयों के मत-विषय में लिखते हैं, जिससे सबको विदित हो जायगा कि इनका मत निर्दोष और इनका '**बाइबल**' पुस्तक ईश्वरकृत है वा नहीं? प्रथम '**बाइबल**' के '**तौरेत**'[२] का विषय लिखा जायगा। उसमें से प्रथम '**उत्पत्ति**'[३] के विषय में कुछ-कुछ विषय दिखलाया जाता है[४]—

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पद निष्कासन अनुचित**—मुद्रणप्रति में ''**कृश्चीनाख्यमत**'' से ''**आख्य**'' पद अनुचित हटाया है। 'कृश्चीन' संस्कृत का शब्द न होने के कारण 'आख्य'=प्रसिद्ध पद आवश्यक है। **संशोधन-पुष्टि**—समुल्लास के समाप्ति वाक्य (पृ० ९३५) में भी यह पद प्रयुक्त है। 'कृश्चीन' अंग्रेजी Christian (क्रिश्चियन) का अपभ्रंश है। यह मूलतः christ (क्राइस्ट, ख्रीस्ट) से बना है। इसका अर्थ है—'ईसा मसीह के अनुयायी' या 'मसीही लोग'।

२. **'तौरेत', हजरत मूसा और यहूदी मत का परिचय**—बाइबल के दो भाग हैं। पूर्वार्ध भाग कैथोलिकों के मत से ४५ और प्रोटेस्टैंटों के मत से ३९ पुस्तकों का संग्रह है, जिसको '**तौरेत**', '**ओल्ड टेस्टामेंट**' अथवा '**पुराना धर्मनियम**' कहते हैं। दाऊद रचित '**जबूर**' भी इसके अन्तर्गत है। यह यहूदियों की धर्मपुस्तक भी है, उनकी धारणा के अनुसार जो उनके पैगम्बर मूसा की आत्मा में प्रेरित हुई है। इस कारण यहूदी '**तौरेत**' को ईश्वर-प्रेरित पुस्तक मानते हैं। यूरोपीय लेखकों का मानना है कि मूसा ने ओल्ड टेंस्टामेंट (तौरेत) का थोड़ा अंश ही लिखा या बोला था। शेष भाग ९००-१०० ईस्वी पूर्व तक लिखा जाता रहा। यहां तौरेत की जो समीक्षा है वह प्रमुखतः यहूदियों के मत की समीक्षा है। बाइबल के २७ पुस्तकों वाले उत्तरार्ध भाग को '**इंजील**' कहते हैं। वह ईसाइयों की धर्मपुस्तक है। वह ईसाप्रोक्त तो नहीं है, किन्तु उसमें अनुश्रुति के आधार पर ईसा के उपदेश और जीवन-विवरण उनके शिष्यों द्वारा संकलित हैं। अतः वह ईसाइयों के लिए आदरणीय है। यह संकलन भी ईसा की मृत्यु के कई शताब्दी बाद तक हुआ। पहले इस संकलन के कई नाम प्रचलित हुए। चौथी शताब्दी में ख्रीसोष्टम या जेरोम नामक सन्त ने इसका '**बाइबल**' नाम रखा। उसके बाद यही नाम प्रचलित हो गया। अब तक बाइबल विश्व की १००० से अधिक भाषाओं में अनूदित होकर छप चुका है। सन् १६१९ में बाइबल का प्रामाणिक संस्करण तैयार हुआ, जिसे लैंसलॉट ऐंड्रूज की अध्यक्षता में ४७ विद्वानों ने तैयार किया। वही अब प्रचलित है। समय-समय पर इसमें संशोधन होते रहे हैं।

यहूदी, ईसाई और **इस्लाम** ये तीनों मत एक ही परम्परा में उत्पन्न हुए हैं। उत्तरवर्ती सम्प्रदाय में पूर्व सम्प्रदाय के ग्रन्थों, विवरणों, आदम, नूह, मूसा, अब्राहम, दाऊद, सुलेमान आदि पैगम्बरों का सम्मानपूर्वक उल्लेख है और पूर्ण पुस्तक को मान्य भी करते हैं। अतः ये मत अपने से पूर्ववर्ती का प्रत्यक्ष खण्डन नहीं करते हैं, अपितु यह कहकर अपने पैगम्बर को महान् रूप में स्थापित करते हैं कि पूर्व पुस्तक की सही और पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए ईश्वर ने उसे धरती पर भेजा है। आदम (वैदिक आदिम=ब्रह्मा) से प्रारम्भ इनकी वंशपरम्परा एक होते हुए भी इनमें घोर विरोध है। यहूदी मत का उद्भवकाल लगभग तीन हजार तीन सौ वर्ष पूर्व का है।

यहूदी मत के संस्थापक हजरत मूसा थे। इसी कारण यहूदी मत को '**मूसाई मत**' भी कहा जाता है। मूसा का अन्य नाम हलीम भी था। इनके पिता का नाम उमरां तथा माता का नाम बीबी खातून था। मूसा का जन्म १३५० ईस्वी पूर्व मिश्र देश में हुआ। उनकी इसराएल (हिब्रू, इबरानी) जाति थी, जो उस समय मिश्र में गुलामी और अत्याचार-पीड़ित दशा में निवास कर रही थी। मिश्र में **तालेस** '**फ़िरौन**' (या 'फिरऔन') नामक राजा उस समय राज्य किया करता था जिसने अपने को 'ईश्वर' मानकर पूजा करने तथा उसकी मूर्ति के सामने पशु-पक्षियों की बलि देने का आदेश जारी किया था। इसराएल जाति के लोगों ने, जो मूलतः किनआन, यरुसलम, फिलिस्तीन आदि के निवासी थे, उस आदेश को अस्वीकार कर दिया। जिसका परिणाम इस जाति के पुरुषों के कत्ल के रूप में सामने आया। राजा फ़िरौन का आदेश था कि इबरानी जाति में जो भी लड़का पैदा हो उसका वध कर दिया जाए। राजा तालेस का 'फ़िरौन' (या 'फ़िरऔन') उपनाम प्रसिद्ध हो गया जिसका अर्थ 'नास्तिक' आदि है।

ऐसी परिस्थितियों में मिश्र में मूसा का जन्म हुआ तो माता ने किसी तरह तीन माह तक उसे घर में छिपाये रखा। जब आगे छिपाना सम्भव प्रतीत नहीं हुआ तो उसने सरकंडों की टोकरी बना, उसमें बालक को रख, नदी किनारे के झुंडों में उसे छिपा आई। जल का प्रवाह उमड़ा और वह नदी में बह गया। दैवयोग से उसे राजा की पुत्री ने देखा और नदी से निकलवाया तथा उसके बाद संयोग से उसकी धाय भी मूसा की माता खातून नियुक्त हो गई। इस प्रकार जाति-शत्रु के ही राजमहल में उसका पालन-

मूल—१. आरंभ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा। १। और पृथिवी बेडौल और सूनी थी और गहिराव पर अंधियारा था[५] और ईश्वर का आत्मा जल पर[६] डोलता था। २। [इलाहाबाद मिशन

पोषण हुआ। पानी से निकाले जाने अथवा 'पुत्र' रूप होने के कारण उसका 'मूसा' नाम मिश्री भाषा में रखा गया।

युवक होने पर एक दिन मूसा ने देखा कि कोई मिश्री उसके एक इबरानी जाति के भाई को पीट रहा है। मूसा से यह सहन न हुआ। उसने मिश्री को ऐसे घूंसे मारे कि वह मर गया। फिर उसको वहीं रेत में दबा दिया। लेकिन कालान्तर में यह भेद बादशाह फ़िरौन के सामने खुल गया। मूसा वध किये जाने के डर के मारे जंगल में भाग गया। इसके आगे मूसा का सारा चरित्र असम्भव चामत्कारिक कथाओं से भरा है। मूसा कुछ वर्ष बाद जब लौटा तो उसने फ़िरौन से अपनी जाति के लोगों को मिश्र से निकाल ले जाने की स्वीकृति देने की प्रार्थना की। मूसा के काफी प्रयासों के बाद और उस समय स्वयं विपत्तियों में फंसे मिश्र-राजा ने इसकी स्वीकृति दे दी। वह अपनी जाति के लोगों को निकालकर **'सिनाई'** पर्वत के पास ले गया वहां उनको नये धर्म अर्थात् मूसाई मत की दीक्षा दी।

वह अपनी जाति के लोगों को लेकर चालीस वर्ष तक जंगलों में भटकता रहा। उनमें से सेना भी तैयार की और अनेक छोटे राजाओं से युद्ध भी किये, किन्तु विशेष सफलता नहीं मिली। अन्ततः फानान प्रान्त की सीमा के पास मुआब की घाटी में १२० वर्ष की आयु में मूसा का देहान्त हो गया।

यहूदी मत—मूसा ने अपनी जाति वालों को यह विश्वास दिलाया था कि परमात्मा **'यहोवा'** है और मैं उसका पैगम्बर हूँ जो तुम्हारे उद्धार के लिए 'यहोवा' का संदेश लेकर इस धरती पर आया हूँ। इस प्रकार वह यहूदियों का पैगम्बर बन गया। वैदिक परम्परा के अनुसार **'यहोवा'** वैदिक **'यह्वः'** का अपभ्रंश है। दोनों का अर्थ है—'महान् ईश्वर'। उसने तत्कालीन बहुदेववादी लोगों को एकेश्वरवाद का संदेश दिया। मूसा के समय इसराएल जाति तथा मिश्र जाति में अन्धविश्वासों, पाखण्डों, जादू-टोनों, मूर्तिपूजा तथा घोर एवं घृणित अनाचारों का बोलबाला था। मूसा ने उनका निषेध किया। उसने प्रचार किया कि महान् ईश्वर 'यहोवा' पर ईमान लाओ, मुझे पैगम्बर (ईश्वर दूत) मानो, **'तौरेत'** को ईश्वरीय पुस्तक मानो, तभी तुम्हारी मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। मूसा की मृत्यु के बाद यशू खलीफा, हज० दाऊद, हज० सुलेमान (जिसके महल में ७०० स्त्रियां और ३०० बाँदियां थीं) ने इस मत को आगे बढ़ाया और इसके प्रसार के लिए अनेक युद्ध किये।

यहूदी और ईसाई अपनी उत्पत्ति का सम्बन्ध आदम और नूह (वैदिक आदिम=ब्रह्मा और मनु) से जोड़ते हैं। मुसलमान आदम (आदिम=ब्रह्मा) को अपना पहला पैगम्बर और बाबा मानते हैं (द्र० पृष्ठ ९४९) वे आदम का काल ७५०० वर्ष पूर्व मानते हैं। इसराएल जाति को नूह की वंशज और ईश्वरीय जाति कहते हैं। फरिश्तों पर विश्वास करते हैं। अपने परिवार में विवाह, तलाकनामा लिखकर दे देने से तलाक होना, रोजा रखना, आठ दिन की आयु में बालक का खतना कराना, पशु बलि देना, अग्नि में मांस की भेंट देने से ईश्वर की प्रसन्नता होना, कयामत (प्रलय) के दिन पाप-पुण्य का हिसाब होना, ईश्वर द्वारा पापों को क्षमा किया जाना आदि बातों में विश्वास करते हैं। यहूदी, ईसा को न तो **'ईश्वर का पुत्र'** मानते हैं ओर न **'रसूल'** मानते हैं। ईसाई मत का आरम्भ और प्रसार होने पर इस प्रकार के सामान्य मतभेदों के कारण ही इनके परस्पर भयंकर युद्ध होते रहे हैं तथा खूब रक्त बहा है। हिटलर ने लगभग पचास लाख यहूदियों को जर्मनी से बाहर कर दिया था और उनमें से लाखों का कत्ल किया था। उसके बाद इनको सन् १९४८ में 'इजरायल' में बसाया गया, जो आज एक छोटा-सा स्वतन्त्र देश है। इनकी प्राचीन मूलभूमि फिलिस्तीन है। आज भी वहां इनका मुसलमानों से भयंकर संघर्ष चलता रहता है। वैसे ये लोग समस्त यूरोप में फैले हैं और व्यापार आदि में अग्रणी हैं।

महर्षि ने १३वें समुल्लास में पहले यहूदियों के धर्मग्रन्थ **'तौरेत'** (ओल्ड टेस्टामेंट) की समीक्षा की है। इस समय ईसाई मत प्रबल होने से मुख्य नाम वही दिया है। **(ईसा और ईसाई मत का परिचय पृष्ठ ८८९ पर देखिए)**

३. **बाइबल में 'उत्पत्ति'** नामक पुस्तक का अंग्रेजी नाम 'GENESIS' है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनुचित पाठ-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस अन्तिम वाक्य को हटाकर पहले वाक्य की क्रिया को बदलकर यह पाठ बनाया है—**''प्रथम बाइबल के तौरेत का विषय लिखा जाता है—''**। यह परिवर्तन अनुचित है, क्योंकि **'तौरेत'** तो ४५ या ३९ पुस्तकों के संग्रह का नाम है। केवल यहीं पर वाक्य समाप्त कर देने से यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि **'तौरत'** के अन्तर्गत किस पुस्तक की समीक्षा की जायेगी। आगे पढ़ेंगे कि महर्षि ने किसी भी नयी पुस्तक की समीक्षा आरम्भ करने से पूर्व उसका नाम शीर्षक के रूप में लिखा है। यहां भी हटा दिये गये वाक्य में **'उत्पत्ति'** (Genesis) नामक पुस्तक का विषय दर्शाने का कथन है। इस वाक्य को हटाने से यह हानि हुई है कि आगे प्रत्येक आयत के साथ पर्व और आयत संख्या तो उल्लिखित है किन्तु किस पुस्तक से वह है, उसका नाम ही नहीं है। सभी सं० में यही अपपाठ है।

५. **वैदिक परम्परा की छाया**—यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि मूलरूप से आर्यों के वंश, आर्यों के आदिनिवास, आर्यों की वैदिक

प्रेस से सन् १८६६ में मुद्रित, पुराने नियम का पहला भाग अर्थात् तौरेत की पुस्तक 'उत्पत्ति']

[उत्पत्ति], पर्व १। आयत १।२॥[१]

समीक्षक—आरम्भ किसको कहते हो?

ईसाई—सृष्टि की प्रथमोत्पत्ति[२] को।

समीक्षक—क्या यही सृष्टि प्रथम हुई, इसके पूर्व कभी नहीं हुई थी?[३]

ईसाई—हम नहीं जानते हुई थी[४] वा नहीं, ईश्वर जाने।

समीक्षक—जब नहीं जानते तो तुमने[५] इस पुस्तक पर विश्वास क्यों किया कि जिससे सन्देह का निवारण नहीं हो सकता?[६] और इसी के भरोसे लोगों को उपदेश कर इस सन्देह से भरे हुये[७] मत में क्यों फसाते हो? और जो नि:सन्देह सर्वशङ्कानिवारक वेदमत का स्वीकार क्यों नहीं करते? **जब तुम ईश्वर की सृष्टि का हाल नहीं जानते, तो ईश्वर को कैसे जानते होगे?** आकाश किसको मानते हो?

ईसाई—पोल और ऊपर को।

समीक्षक—पोल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? क्योंकि यह पदार्थ विभु और अति सूक्ष्म है[८] और

भाषा और ज्ञान-परम्परा से जुड़े हैं, इसकी पुष्टि स्वयं बाइबल, कुरान और विश्व का अन्य साहित्य भी करता है (द्रष्टव्य पृ० ८५०, ८५९, ८६० आदि पर टिप्पणी)। दीर्घकाल तक आर्यों से बिछुड़े रहने, दूरस्थ क्षेत्रों में निवास हो जाने आदि कारणों से इनकी परम्परा छूट गई, किन्तु फिर भी अनुश्रुति में कुछ बातें सुरक्षित हैं, जो इनको वैदिक-परम्परा से जोड़ती हैं। देखिए—

(क) सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी प्रथम आयत में कहा है कि प्रलयकाल में नीचे पृथिवी पर अन्धकार था। वेद भी यही कहता है—

''**तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**'' (ऋग्वेद १०.१२९.३)

अर्थात्-सृष्टि के पहले सब जगत् अन्धकार से आवृत था। यह सब सलित=जलरूप अर्थात् आकाशरूप था और व्यापक परमेश्वर उसमें व्याप्त था। मनुस्मृति में भी यही कहा है—''**आसीदिदं तमोभूतम्**'' (१.५)=यह सब तम=अन्धकार रूप था।

अन्तर यह आ गया कि यहूदी-परम्परा में 'सलिल' का अभिधात्मक और व्यावहारिक अर्थ 'जल' ग्रहण कर लिया जिससे मूल अर्थ दूर चला गया। इसी प्रकार 'ईश्वर उसमें व्यापक था' का तथ्य छूटकर विकृत कथन में प्रस्तुत हो गया। फिर भी कुछ अंश जैसे—आदि सृष्टि से पूर्व जगत् का तमोभूत रूप, ईश्वर का अस्तित्व, ईश्वर के द्वारा आकाश, पृथ्वी आदि का सृजन करना आदि तथ्य अनुश्रुति में सुरक्षित रह गये। सर्वप्रथम ये सिद्धान्त वैदिक शास्त्रों ने ही दिये थे।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणलिपिकर ने यहां ''**जल पर**'' पाठ के स्थान पर व्यर्थ ही ''**जल के ऊपर**'' पाठ-परिवर्तन किया है। **संशोधन-पुष्टि**—पाठक देखें कि दोनों सं० में समीक्षा में तीन स्थान पर मूल पाठ ''**जल पर**'' अब भी सुरक्षित है। लिपिकरों ने यों ही व्यर्थ पाठान्तर ग्रन्थ में किये हैं। वे सब उपेक्षणीय हैं।

१. **आयत-संख्याओं का मिलान तथा रिक्त स्थान चिह्न**—तेरहवें समुल्लास में उद्धृत बाइबल की आयतों और उनकी संख्याओं का मिलान '**बाइबल**'= 'धर्मशास्त्र अर्थात् पुराना और नया धर्मनियम' (Holy Bible' in Hindi) प्रकाशक—भारत-लंका बाइबल-समिति, ए/२, महात्मा गांधी मार्ग, बंगलौर-१, सन् १९८३ संस्करण से किया गया है। जो आयत आदि, मध्य या अन्त, जहां से अपूर्ण उद्धृत है वहां रिक्तस्थान बोधक चिह्न (.....) दे दिया है। वैदिक शास्त्रों के उद्धरणों के समान बाइबल मूलपाठ के अनुसार आयतों की संख्या भी दे दी है। इससे पृथक्-पृथक् आयत की पहचान हो सकेगी और बाइबल में प्रमाण ढूंढने में भी सुविधा रहेगी, आयतों का परस्पर घाल-मेल न होकर स्पष्टत: समझने में सरलता होगी। पाठक इस परिश्रम का लाभ उठायें।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सृष्टि के प्रथमोत्पत्ति**'' अपप्रयोग है। '**उत्पत्ति**' स्त्रीलिंग के साथ '**की**' स्त्रीलिंग कारक आयेगा। मूलप्रति सं० में संशोधित है। वेस, भद, जग, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

३. **ऋषि-हस्तलेख**—मूलहस्त० में ''**इसके.....हुई थी**'' पाठ ऋषि-हस्तलेख में परिवर्धित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में '**हुई**' क्रिया त्रुटित है। द्वि० सं० में इसको परिवर्धित कर दिया है, जो उचित एवं ग्राह्य है।

५. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में '**तुमने**' पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है, जो ग्राह्य है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ये दो पृथक् वाक्य हैं—''**विश्वास क्यों किया? क्योंकि इससे सन्देह का निवारण**

ऊपर-नीचे एक-सा है। जब आकाश नहीं सृजा था तब पोल और अवकाश था वा नहीं? जो नहीं था तो ईश्वर, जगत् का कारण और जीव कहाँ रहते थे? विना अवकाश के कोई पदार्थ स्थित नहीं हो सकता, इसलिये तुम्हारी '**बाइबल**' का कथन युक्त नहीं। ईश्वर बेडौल [और] उसके ज्ञान, कर्म=कार्य '**बेडौल**' होते हैं वा सब डौलवाले?[१]

ईसाई—सब डौलवाले होते है।[२]

समीक्षक—तो यहाँ ईश्वर की बनाई पृथिवी "**बेडौल थी**", ऐसा क्यों लिखा?

ईसाई—'**बेडौल**' का अर्थ यह है कि ऊँची-नीची थी, बराबर नहीं थी।

समीक्षक—फिर बराबर किसने की? और क्या अब भी ऊँची-नीची नहीं है? इसलिये ईश्वर का काम बेडौल कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। उसके काम में भूल-चूक कभी नहीं होती है।[३] और '**बाइबल**' में ईश्वर की सृष्टि बेडौल लिखी [है],[४] इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता।

प्रश्न—'ईश्वर का आत्मा' क्या पदार्थ है?

ईसाई—चेतन।

समीक्षक—वह साकार है वा निराकार तथा व्यापक है वा एकदेशी?

ईसाई—निराकार, चेतन और व्यापक है, परन्तु किसी एक '**सनाई पर्वत**',[५] '**चौथा आसमान**' आदि स्थानों में विशेष करके रहता है।

समीक्षक—जो निराकार है तो उसको किसने देखा? और व्यापक का जल पर डोलना कभी नहीं हो सकता। भला, जब ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, तब ईश्वर कहाँ था? इससे यही सिद्ध

नहीं हो सकता।" मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में दोनों को मिलाकर मिश्रवाक्य की रचना की है, जो अधिक उपयुक्त है। वही उपयुक्त वाक्य-रचना ग्राह्य है क्योंकि बाद वाला यह आश्रित वाक्य है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सन्देह के भरे हुए**" अपप्रयोग है यहां '**से**' विभक्ति-प्रत्यय अपेक्षित है।

८. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह क्रमरहित वाक्य है—"**यह विभु पदार्थ और अतिसूक्ष्म है।**" यहां "**विभु**" पद अस्थान में होने से अपपाठ हो गया है। पदार्थ की दो विशेषताएं बताई हैं "**विभु और अतिसूक्ष्म**", "**और**" उनका विभाजक है। अत: उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० आदि में अपपाठ है।

१-२. **अपपाठ की कहानी**—प्रश्नोत्तर का यह पाठ उत्तरोत्तर बिगड़ता गया है। मूलहस्त० में यह अर्धशुद्ध था—"**उसका ज्ञान कर्म कार्य बेडोल होता है वा सब डौलवाले?**" "**ईसाई—डौलवाले होते हैं।**" मुद्रण-लिपिकर ने लिखते समय इसको अधिक अशुद्ध बना दिया—"**उसका ज्ञान कर्म कार्य बेडौल होता है वा सब डौल वाला?**" "**ईसाई- डौलवाला होता है।**" मुद्रण-काल में किसी शोधक ने "**कार्य**" पद हटा दिया। इस प्रकार जिस वाक्यांश को शुद्ध किया जाना चाहिए था उसको तो किया नहीं, जो शुद्ध था उसको भी अशुद्ध बना दिया। वस्तुत: यहां दोनों वाक्यों में बहुवचन होना चाहिए था, क्योंकि एक से अधिक उद्देश्यों में तथा '**सब**' पद के साथ बहुवचन अपेक्षित होता है। द्वि० सं० का पाठ तो मुद्रण-प्रति के आधार पर अशुद्ध बन गया और मूलप्रति सं० ने द्वि०सं० का पाठ ग्रहण करके अपना पाठ स्वयं और अधिक इस प्रकार बिगाड़ लिया—"**ईश्वर बेडौल, उसका ज्ञान-कर्म बेडौल होता है वा सब डौलवाला? ईसाई-डौलवाले होते हैं।**" एक ही पद में एक स्थान पर एकवचन है, और दूसरे स्थान पर बहुवचन। इसका शुद्ध रूप ऊपर दिया गया है। वही पाठ व्याकरणानुसार ग्राह्य है। चर्चित अपपाठ ही वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० आदि में है।

३,४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपपाठ इस प्रकार है—"**उसके काम में न भूल, न चूक कभी हो सकती है।**" "**भूल-चूक**" युग्म पद है। इनके बीच में अन्य पद नहीं आते। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है। मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। दोनों सं० में यहां "**है**" क्रिया अपेक्षित है।

५. **सनाई पर्वत**—बाइबल में इस पर्वत का नाम Zion है,जिसका हिन्दी उच्चारण "**सियोन**" मिलता है (योहन के प्रकाशित १४.१

होता है कि ईश्वर का शरीर कहीं अन्यत्र स्थित होगा अथवा अपने आत्मा के कुछ-एक टुकड़े को[१] जल पर डोलाया होगा। जो ऐसा है तो विभु और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। जो विभु नहीं तो जगत् की रचना, धारण, पालन और जीवों के कर्मों की व्यवस्था वा प्रलय कभी नहीं कर सकता; क्योंकि **जिस पदार्थ का स्वरूप एकदेशी है उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी एकदेशी होते हैं, जो ऐसा है, तो वह ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, अनन्त गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, अनादि, अनन्तादि लक्षणयुक्त वेदों में कहा है, उसी को मानो तभी तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नहीं॥ १ ॥**

२. और ईश्वर ने कहा कि उजियाला[२] होवे और उजियाला[३] हो गया। ३। और ईश्वर ने उजियाले[४] को देखा कि अच्छा है....। ४।[५] [तौरेत, उत्पत्ति], पर्व १। आ० ३। ४॥

समीक्षक—क्या ईश्वर की बात जड़स्वरूप उजियाले[६] ने सुन ली? जो सुनी हो, तो इस समय भी सूर्य और दीप-अग्नि का प्रकाश हमारी-तुम्हारी[७] बात क्यों नहीं सुनता? प्रकाश जड़ होता है, वह कभी किसी की बात नहीं सुन सकता। क्या जब ईश्वर ने उजियाले[८] को देखा तभी जाना कि उजियाला[९]

और आयतखण्ड संख्या १६ की समीक्षा तथा १३० में भी द्रष्टव्य है)। उसी का अन्य प्रचलित उच्चारण '**सनाई**' है। यह पर्वत ईसाईयों के स्वर्ग का एक कल्पित पर्वत है जिस पर स्वर्गगत हजरत ईसा मसीह और स्वर्ग के अधिकारी अन्य ईसाई रहते हैं।

१. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**कुछ**' और '**एक**' पद पृथक्-पृथक् स्थान पर पठित होने से यह अपवाक्य बन गया है—''**अपने कुछ आत्मा के एक टुकड़े को**''। यह क्या वाक्य हुआ? इसको संशोधित करके ऊपर दे दिया है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० आदि में है।

२-४, ६, ८,९. **अयोग्य मुद्रणलिपिकर-शोधक द्वारा अव्यवस्थित वर्तनी**—संख्यांक २-४ पर मूलहस्त० में शुद्ध वर्तनी है। मुद्रणलिपिकर और मुद्रणकालीन-शोधक ने ऊपर बिन्दु लगाकर तीनों को ''**उंजियाला**'' अशुद्ध लिख दिया। लकीर के फकीर आदि-शोधक-सम्पादक द्वितीय संस्करणों में वही छापते रहे मूलप्रति सं० में भी यही अशुद्धि है। यह भी नहीं देखा कि इसकी ही समीक्षा में तीन बार शुद्ध वर्तनी है। ऐसे लिपिकरों और सम्पादकों से यह आशा कैसे की जा सकती थी कि वे आगे आयतखण्ड संख्या १०४ (द्वितीय सं० में संख्या ९५) के मूलपाठ और समीक्षा में पठित ''**उजियाला**'' शुद्ध वर्तनी को देखकर यहां की वर्तनी शुद्ध कर लेते? द्विप्र० में पांच बार ''**उंजियाला**'' तो एक बार ''**उजियाला**'' वर्तनी है। द्वि०सं० में संशोधित है।

उदयपुर सं० का मक्खीमार सम्पादन—मक्कार व अयोग्य लिपिकरों-शोधकों ने तो सत्यार्थप्रकाश की दशा बिगाड़ी ही है किन्तु हम अपने विद्वानों को क्या कहें? सभी सम्पादकों ने इस अशुद्ध और अव्यवस्थित वर्तनी को शुद्ध कर लिया है किन्तु उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों ने फिर 'मक्खी पर मक्खी मार' सम्पादन कर दिया। एक ही स्थल पर चार बार शुद्ध वर्तनी है तो दो बार अशुद्ध। **महर्षिलेख**—मूलहस्त० में प्रथम शुद्ध वर्तनी ऋषि-लिखित है।

५. **रिक्तस्थान बोधक चिह्न से अभिप्राय**—सभी आयतों के मूलपाठ में कहीं पहले, कहीं मध्य में, कहीं अन्त में रिक्त स्थान बोधक चिह्न (....) दिये गये हैं। ये इस बात के संकेत हैं कि ग्रन्थकार ने बाइबल का पाठ वहां-वहां से ग्रहण नहीं किया है अर्थात् आयत का कुछ पाठ वहां से छोड़ा है, आवश्यक ले लिया है। जहां दो पूर्णविरामों के मध्य संख्या है वहां आयत पूर्ण हो जाती है।

७. **अपवर्तनी और भ्रान्ति**—दोनों हस्तलेखों, द्विप्र० में अधिकांश स्थानों पर '**तुम्हारी, तुम्हारा, तुम्हारे**' पदों की '**तुह्मारी, तुह्मारा, तुह्मारे**' वर्तनी है। यह अशुद्ध है और लिपिकरों की अयोग्यता का फल है। अन्य सैंकड़ों अशुद्धियों के समान इस वर्तनी को भी लिपिकरों ने अज्ञानतावश अशुद्ध लिखा है। जैसे '**हम**' सर्वनाम से '**हमारी, हमारा, हमारे**' पद बनते हैं वैसे ही '**तुम**' मूल सर्वनाम है, उससे '**तुम्हारी, तुम्हारा, तुम्हारे**' आदि पद बनते हैं। लिपिकरों ने अयोग्यता और प्रमाद से इन पदों की तीन प्रकार की वर्तनियां लिखी हैं—१. **तुम्हारा, तुम्हारी, तुम्हारे; २. तुमारा, तुमारी, तुमारे; ३. तुह्मारा, तुह्मारी, तुह्मारे** (क्रमशः पृ० द्विप्र० ३२, ८२, ८८; ४७६, ३१८; आदि)। इनमें पहली वर्तनियां शुद्ध हिन्दी की है, दूसरी गुजराती की हैं, तीसरी अशुद्ध हैं। जो विद्वान् अशुद्ध वर्तनियों को गुजराती वर्तनी कहकर ग्रहण करते हैं, वे भ्रान्ति में हैं। लिपिकरों ने यही अशुद्धि इन शब्दों में भी की है—कुम्हार=कुह्मार (द्विप्र० पृ० ३७३), जम्हा=जह्मा (द्विप्र० पृ० ४३८)। अतः अशुद्धि का पक्ष लेना अनुचित है।

मीमांसक जी का पाठचिन्त्य—पं० युधिष्ठिर मीमांसक जैसे विद्वान् भी लिपिकर-लिखित अशुद्ध पदों को शुद्ध मानकर

अच्छा है? पहले नहीं जानता था? जो जानता होता, तो देखकर अच्छा क्यों कहता? जो नहीं जानता था, तो वह ईश्वर ही नहीं। इसीलिये तुम्हारी 'बाइबल' ईश्वरोक्त और उसमें कहा हुआ ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है॥ २॥

३. और ईश्वर ने कहा कि पानियों के मध्य में आकाश होवे और पानियों को पानियों से विभाग करे। ६। तब ईश्वर ने आकाश को बनाया और आकाश के नीचे के पानियों को आकाश के[१] ऊपर के पानियों से विभाग किया और ऐसा हो गया। ७। और ईश्वर ने आकाश को स्वर्ग कहा और सांझ और बिहान दूसरा दिन हुआ। ८। [तौरेत, उत्पत्ति], पर्व १। आ० ६।७।८॥

समीक्षक—क्या आकाश और जल ने भी ईश्वर की बात सुन ली? और जो जल के बीच में आकाश न होता तो जल रहता ही कहाँ? प्रथम आयत में "आकाश को सृजा था", [यह लिखा है][२], पुनः आकाश का बनाना व्यर्थ हुआ। **जो आकाश को स्वर्ग कहा, तो वह सर्वव्यापक है, इसलिये सर्वत्र स्वर्ग हुआ। फिर ऊपर को स्वर्ग है, यह कहना व्यर्थ है।** जब सूर्य उत्पन्न ही नहीं हुआ था, तो पुनः दिन और रात कहां से हो गये[३]? ऐसी ही असम्भव बातें आगे की आयतों में भरी हैं॥ ३॥

४. तब ईश्वर ने कहा कि हम आदम[४] को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें....। २६। तब ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में उत्पन्न किया, उसने उसे ईश्वर के स्वरूप में उत्पन्न किया, उसने

यथावत् लिखने की धारणा बना बैठे और '**तुह्मारा**' आदि अशुद्ध वर्तनियों को इस प्रकार ग्रहण किया है जैसे यह कोई महत्त्वपूर्ण धरोहर हो और। सम्पादकों ने शुद्धरूप देकर जो गत दर्जनों संस्करणों में अब तक शुद्ध वर्तनी ग्रहण की थी, पं० जी ने उसको उपेक्षित कर अशुद्ध वर्तनी ग्रहण करके सत्यार्थप्रकाश की भाषा को पीछे 'रफ़-युग' में ला खड़ा किया। देखिए, लिपिकरों-शोधकों का जादू विद्वानों के सिर चढ़ भी बोल रहा है!! मीमांसक जी को छोड़ सभी ने इनको शुद्ध कर लिया है।

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ और ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणलिपिकर ने "**नीचे के पानियों को आकाश के**" पाठ त्रुटित छोड़ दिया। इसे ऋषि के स्वहस्तलेख में पूर्ण किया है। **वैदिक छाया**—बाइबल में नीचे-ऊपर के दो पानियों अर्थात् दो समुद्रों की चर्चा वेदों के समान है। वेदों में 'उत्तर और अधर समुद्रों' का अनेकत्र उल्लेख है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह वाक्य है—"**प्रथम आयत में आकाश को सृजा।**" यह अपूर्ण अपवाक्य है। आयत में सृजा नहीं है अपितु सृजन का कथन है। उचित वाक्यरचना के लिए बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन अपेक्षित है। यही अपूर्ण पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० सहित अन्य सं० में है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**दिन और रात कहां से हो गई**" अपवाक्य है। बहुवचन चाहिये—"**हो गये**"।

४. **आदिपुरुष आदम (Adam)**—मानव जाति अथवा यहूदियों की इस्राइल जाति का आदिपुरुष। यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदम से अपना आरम्भ मानते हैं। वह वंशपरम्परा इस प्रकार है—आदम→नूह→इब्राहीम→मूसा→ईसा। शेष मुहम्मद आदि सभी लोग नूह की वंश-परम्परा की सन्तानों में से ही माने जाते हैं। द्र० समु० १४ में आयत खण्ड संख्या ११, ७७।

'**आदम**', नाम वैदिक '**आदिम**'=ब्रह्मा का अपभ्रंश है और 'नूह' मनु का, जो अन्तिम ब्रह्मा का पुत्र था। वैदिक परम्परा में भी ब्रह्मा को आदिपुरुष माना है और सभी मानव मनु के वंशज माने जाते हैं। नूह (मनु वैवस्वत) के समय की जल प्रलय की घटना बाइबल और कुरान दोनों में आती है। इन लोगों के प्राचीन काल में बिछुड़ जाने और शिक्षाविहीन हो जाने के बाद भी कुछ वैदिक शब्द तीनों मतों की भाषाओं व परम्पराओं में अब भी मिलते हैं। ये बातें इन्हें वैदिक परम्परा और मूल से जोड़ती हैं। बाइबल ने तो स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि—"**और सारी पृथ्वी की एक ही बोली, और एक ही भाषा थी।**" (उत्पत्ति, पर्व ११, आ० १ और सत्यार्थप्रकाश १३ समु० में आयतखण्ड संख्या १६) संसार की एक भाषा ऋग्वैदिक ही थी।

नया अनुवाद—जैसी कि ईसाई लेखकों की पुरानी प्रवृत्ति रही है कि वे भारत की किसी वस्तु, व्यक्ति आदि को प्राचीन और गौरवस्थानीय नहीं मानना चाहते, वही प्रवृत्ति बाइबल के नये अनुवादों में भी उजागर कर दी है। बाइबल के नये अनुवादों में '**आदम**' के स्थान पर '**मनुष्य**' अनुवाद करना आरम्भ कर दिया है जिससे भारतीय उनके पूर्वज और प्राचीन सिद्ध न हों। (द्रष्टव्य है पृष्ठ ८५१ की टिप्पणी भी)

उन्हें नर और नारी बनाया। २७। और ईश्वर[१] ने उन्हें आशीष दिया....। २८।

[तौरेत, उत्पत्ति], पर्व० १। आ० २६। २७। २८॥

समीक्षक—यदि आदम को ईश्वर ने अपने स्वरूप में बनाया तो[२] ईश्वर का स्वरूप पवित्र, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय आदि लक्षणयुक्त है, उसके सदृश आदम क्यों नहीं हुआ? जो नहीं हुआ, तो उसके स्वरूप में नहीं बना। और आदम को उत्पन्न किया तो ईश्वर ने अपने स्वरूप को ही उत्पत्तिवाला किया, पुनः वह अनित्य क्यों नहीं? और आदम को उत्पन्न कहाँ से किया?

ईसाई—मिट्टी से बनाया।

समीक्षक—मिट्टी कहां से बनाई?

ईसाई—अपनी कुदरत अर्थात् सामर्थ्य से।

समीक्षक—ईश्वर का सामर्थ्य अनादि है वा नवीन?

ईसाई—अनादि है।

समीक्षक—जब अनादि है तो जगत् का कारण सनातन हुआ, फिर अभाव से भाव क्यों मानते हो?

ईसाई—सृष्टि के पूर्व ईश्वर के विना कोई वस्तु नहीं था।

समीक्षक—जो नहीं था तो यह जगत् कहाँ से बना? और ईश्वर का सामर्थ्य द्रव्य है वा गुण? जो द्रव्य है तो ईश्वर से भिन्न दूसरा पदार्थ था, और गुण है तो गुण से द्रव्य कभी नहीं बन सकता, जैसे रूप से अग्नि और रस से जल नहीं बन सकता। और जो ईश्वर से जगत् बना होता तो ईश्वर के सदृश गुण-कर्म-स्वभाववाला होता। उसके गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश न होने से यही निश्चय है कि ईश्वर से नहीं बना, किन्तु 'जगत् के कारण' अर्थात् 'परमाणु' आदि नामवाले जड़ से बना है।

जैसी[३] जगत् की उत्पत्ति वेदादि शास्त्रों में लिखी है, वैसी ही मान लो, जिससे ईश्वर जगत् को बनाता है। जो **आदम** के[४] भीतर का स्वरूप जीव और बाहर का मनुष्य के सदृश है तो वैसा ईश्वर का स्वरूप क्यों नहीं? क्योंकि **जब आदम ईश्वर के सदृश बना तो ईश्वर आदम के सदृश अवश्य होना चाहिये॥ ४॥**

५. तब परमेश्वर ईश्वर ने भूमि की धूली से आदम[५] को बनाया और उसके नथुनों में जीवन का

---

१. **यहोवा (Yahveh)**—बाइबल के '**तौरेत**' भाग में परमेश्वर को '**यहोवा**' नाम से स्मरण किया गया है। यह वैदिक '**यह्वः**' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है 'महान् ईश्वर'। ईसाई मत में भी ईसा ईश्वर-पुत्र है, उसका पिता परमेश्वर है। वह सबसे महान् और सृष्टिकर्त्ता है। वही '**यहोवा**' अर्थात् '**यह्वः**' है। इसको 'Lord God' भी कहा गया है। यह पं० भगवद्दत्त जी की खोज है।

२. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में ''**यदि आदम.....बनाया तो**'' मूलप्रति में ''**किया तो.....उत्पन्न**'', पाठ ऋषि-लिखित है।

३. **अनावश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**कि**'' अनावश्यक पद है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां क्रमशः ''**आदम का**'' पाठ है, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

५. **बाइबल के नये अनुवादों में अशुद्ध अनुवाद**—बाइबल के नये अनुवादों में यहां ''**आदम वा मनुष्य**'' सोची-समझी नीति के अन्तर्गत अनुवाद किया है, जो अशुद्ध है। यहां सर्वसामान्य मनुष्य की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है अपितु उस व्यक्ति-विशेष का उल्लेख है जो सबके पूर्वज के रूप में वर्णित हुआ है। यह अनुवाद इस कारण भी अशुद्ध है क्योंकि आगे पर्व ४-५ में इस व्यक्ति या पैगम्बर-विशेष की वंशावली वर्णित है अतः 'सर्वसामान्य मनुष्य' इसका अर्थ नहीं हो सकता। यह पूर्वज वही '**आदम**' है जिसको भारतीय इतिहास में '**आदिम**'=ब्रह्मा नामक पूर्वपुरुष के रूप में वर्णित किया है। आयतखण्ड ६,७ में स्पष्ट लिखा है कि

श्वास फूंका और आदम जीवता प्राणी[१] हुआ। ७। और परमेश्वर ईश्वर ने अदन* में पूर्व की ओर एक बाड़ी लगाई और उस आदम को जिसे उसने पहले बनाया था, उसमें रक्खा। ८। और उस बाड़ी के मध्य में जीवन का पेड़ और भले-बुरे के ज्ञान का पेड़ भूमि से उगाया। ९।

तौरेत, उत्पत्ति की पुस्तक, पर्व २। आ० ७।८।९॥

समीक्षक—जब ईश्वर ने अदन में बाड़ी बनाकर उसमें आदम को रक्खा तब ईश्वर नहीं जानता था कि इसको वहां से[२] पुनः निकालना पड़ेगा? और जब ईश्वर ने आदम को धूली से बनाया तो ईश्वर का स्वरूप नहीं हुआ,[३] और जो है तो ईश्वर भी धूली से बना होगा? जब उसके नथुनों में ईश्वर ने श्वास फूंका तो वह श्वास ईश्वर का स्वरूप था वा भिन्न? जो भिन्न था, तो आदम ईश्वर के स्वरूप में नहीं बना। जो एक है, तो आदम और ईश्वर एक-से हुए। और जो एक-से हैं, तो आदम के सदृश जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय, क्षुधा[४]-तृषा आदि दोष ईश्वर में आये; फिर वह ईश्वर क्योंकर हो सकता है? इसलिये यह '**तौरेत**' की बात ठीक नहीं विदित होती, और यह पुस्तक भी ईश्वरकृत नहीं है॥५॥

६. और परमेश्वर ईश्वर ने आदम को बड़ी नींद में डाला और वह सो गया। तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली[५] निकाली और उसकी संति[६] मांस भर दिया। २१। और परमेश्वर ईश्वर ने आदम की[७] उस पसली से एक नारी बनाई और उसे आदम पास लाया। २२।

[तौरेत उत्पत्ति] पर्व २। आ० २१।२२॥

समीक्षक—जो ईश्वर ने आदम को धूली से बनाया तो उसकी स्त्री को धूली से क्यों नहीं बनाया? और जो नारी को हड्डी से बनाया तो आदम को हड्डी से क्यों नहीं बनाया? और जैसे नर से निकलने से नारी नाम हुआ तो नारी से निकलकर नर भी होना चाहिये। और उनमें परस्पर प्रेम भी रहै, **जैसे स्त्री के साथ पुरुष प्रेम करे वैसे ही स्त्री भी पुरुष के साथ प्रेम करे।**

देखो विद्वान् लोगो! ईश्वर की कैसी **पदार्थविद्या** अर्थात् '**फिलासफ़ी**' चलकती है! जो आदम की

उसकी पत्नी का नाम '**हव्वा**' था और वह सब मनुष्यों की आदिमाता थी। इस मान्यता के विषय में वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि प्रायः सभी के धर्मशास्त्रों अथवा इतिहासों में समान मान्यता मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये सभी लोग एक वंश से सम्बद्ध हैं और कभी पूर्वकाल में एक परिवार के समान रहते थे और सभी एक भाषाभाषी थे। इन दोनों कथनों की पुष्टि बाइबल की आयतखण्ड संख्या १६ से भी भलीभांति हो जाती है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह अपपाठ मिलता है—"**आदम जीवता प्राण हुआ**"। जीवित तो प्राणी होता है, प्राण न जीवित होता है, न मृत। अतः यहां उपर्युक्त संशोधन अभीष्ट है। वही संगत पाठ बाइबल में मिलता है। यही यहां प्रसंग है कि प्राण फूंकने के बाद आदम जीवित प्राणी हो गया। प्रतीत होता है लिखते समय लिपिकर से ई की मात्रा त्रुटित रह गई। उसके कारण यह अटपटा पाठ चला आ रहा है। वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ ही मिलता है।

* **अदन**—इस विषयक मत है कि '**अदन**' संस्कृत '**उद्यान**' का अपभ्रंश है। दोनों का भाव एक है और ध्वनिसाम्य भी है।

२,३. **उचित संशोधन**—मूलसं० में "**वहां से**" शुद्ध है क्योंकि ऊपर की पंक्ति में "**उसमें**" सर्वनाम है। द्वि०सं० में "**यहां**" अपपाठ है। मूलप्रति सं० में "**ईश्वर के स्वरूप नहीं हुआ**" अपपाठ है। द्वि०सं० का उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है।

४-५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में क्रमशः "**क्षुधा**" और "**पसली**" पद त्रुटित हैं। इनका पाठ में होना आवश्यक है क्योंकि इनके बिना वाक्य पूर्ण नहीं बनता। द्वि०सं० में गृहीत हैं।

६. **संति का अर्थ**—बदले में, स्थान में, अर्थात् पसली निकालकर उसके स्थान पर मांस भर दिया।

७. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**आदम की**" पद त्रुटित हैं। बाइबल के मूल पाठ में भी हैं।

एक पसली निकालकर नारी बनाई तो सब मनुष्यों की एक पसली कम क्यों नहीं होती ? और स्त्री के शरीर में एक ही पसली[१] होनी चाहिये, क्योंकि वह एक पसली से बनी है। क्या जिस सामग्री से सब जगत् बनाया, उस सामग्री से स्त्री का शरीर नहीं बन सकता था ? इसलिये यह **'बाइबल' का सृष्टिक्रम सृष्टिविद्या से विरुद्ध है**॥ ६ ॥

७. अब सर्प भूमि के हर एक पशु से, जिसे परमेश्वर ईश्वर ने बनाया था, धूर्त था। और उसने स्त्री से कहा, ''क्या निश्चय ईश्वर ने कहा है कि तुम इस बाड़ी के हर एक पेड़ से न खाना ?। १।'' और स्त्री ने सर्प से कहा कि ''हम तो इस बाड़ी के पेड़ों का फल खाते हैं। २।[२] परन्तु उस पेड़ का फल जो बाड़ी के बीच में है, ईश्वर ने कहा है कि तुम उससे[३] न खाना और न छूना, न हो कि मर जाओ। ३।'' तब सर्प ने स्त्री से कहा कि ''तुम निश्चय न मरोगे। ४। क्योंकि ईश्वर जानता है कि जिस दिन तुम उससे[४] खाओगे, तुम्हारी आँखें खुल जायेंगी और तुम भले और बुरे की पहचान में ईश्वर के समान हो जाओगे। ५।'' और जब स्त्री ने देखा वह पेड़ खाने में सुस्वाद और दृष्टि में सुन्दर और बुद्धि देने के योग्य है तो उसके फल में से लिया और खाया और अपने पति[५] को भी दिया और उसने खाया। ६। तब उन दोनों की आँखें खुल गईं और वे जान गये कि हम नंगे हैं। सो उन्होंने गूलर के पत्तों को मिलाके सीआ[६] और अपने लिये ओढ़ना बनाया। ७।

तब परमेश्वर ईश्वर ने सर्प से कहा कि ''जो तूने यह किया है,[७] इस कारण तू सारे ढोर और हर एक वन के पशुन से अधिक शापित[८] होगा, तू अपने पेट के बल चलेगा और अपने जीवनभर धूल खाया करेगा। १४। और मैं तुझमें और स्त्री में और तेरे वंश और उसके वंश में बैर डालूंगा। वह तेरे शिर[९] को कुचलेगा और तू उसकी एड़ी को काटेगा। १५।'' और उसने स्त्री को कहा कि ''मैं तेरी पीड़ा और गर्भधारण को बहुत बढ़ाऊँगा। तू पीड़ा से बालक जनेगी और तेरी इच्छा तेरे पति[१०] पर होगी और वह तुझपर प्रभुता करेगा। १६।'' और उसने आदम से कहा कि ''तूने जो अपनी पत्नी का शब्द माना है और जिस पेड़ का फल[११] मैंने तुझे खाने से वर्जा था, तूने खाया है; इस कारण भूमि

---

१. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में ''**एक ही पसली**'' वाक्यांश में ''**ही**'' पद त्रुटित है। मूलप्रति में है और ग्राह्य है।

२. **यहूदियों और ईसाइयों के लिए शाकाहार का ईश्वरीय आदिम आदेश**—यहूदी और ईसाई 'बाइबल' को अपनी धर्मपुस्तक और ईश्वरीय पुस्तक मानते हैं। बाइबल की इस आयत में स्पष्ट वर्णन और निर्देश है कि मनुष्य को ईश्वर ने कहीं समुद्र के किनारे या जंगल में उत्पन्न नहीं किया कि वह मछलियों और पशु-पक्षियों को खाये अपितु **फलदार बाग में उत्पन्न किया है और फल खाने का निर्देश दिया है।** यहां कहीं यह नहीं कहा कि 'तुम मांस-मछली खाना।' उनके धर्मग्रन्थ के अनुसार, इस प्रकार मनुष्य के लिए ईश्वर का प्रथम और मूल आदेश शाकाहार का है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मांसाहार के निर्देश उनके पैगम्बरों, नबियों या अन्य धर्मशास्त्रकारों ने बाद में विहित किये हैं। अत: उनके वे कथन इस ईश्वरीय आदेश के समक्ष मान्य नहीं हैं।

३-४, १३. **संशोधित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**उस्से**'' अपवर्तनी है, ''**उसे**'' ग्राह्य है। द्वि० सं० में कहीं यह शुद्ध कर दी है कहीं पुरानी विद्यमान है। जैसे-१२ संख्यांक पर संशोधित ''**उससे**'' है। ''**उस्से**'' अशुद्ध लेखन है।

५,६,८,९-१२. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**पती**'', दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमश: ''**सिआ, स्त्रापित**'' अपवर्तनियां हैं जो हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। बाइबल मूलपाठ में कहीं शुद्ध ''**शापित**'' है तो कहीं ''**स्त्रापित**'' है। शुद्ध रूप ''**शापित**'' ग्राह्य है द्र० पृ० ८५६ पर टि०। ''**स्त्राप**'' और ''**स्त्रापित**'' कोई शब्द नहीं होता। इसी प्रकार ''**शिर**'' और ''**सिर**'' दो वर्तनियां हैं। इनमें से सर्वत्र ''**शिर**'' ग्राह्य है। महर्षि की भाषा में यही मूलत: प्रयुक्त है। द्वि० सं० में ''**सिर**'' अशुद्ध परिवर्तन है। संख्यांक १० पर भी, मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**पती**'' अपवर्तनी है। वर्तनियों में यही अव्यवस्था उदयपुर सं० में है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में ''**तब.....किया है**'' त्रुटित पाठ को शोधक ने पूर्ण किया है।

तेरे लिये शापित[१२] है। अपने जीवनभर तू उससे[१३] पीड़ा के साथ खायेगा। १७। और वह काँटे और ऊँटकटारे[१] तेरे लिये उगायेगी और तू खेत का साग-पात खायेगा। १८।''

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व० ३। आ० १। २। ३। ४। ५। ६। ७। १४। १५। १६। १७। १८॥

समीक्षक—जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो इस '**धूर्त सर्प**' अर्थात् '**शैतान**' को क्यों बनाता? और जो बनाया, तो वही ईश्वर अपराध का भागी है, क्योंकि जो वह उसको दुष्ट न बनाता तो वह दुष्टता क्यों करता? और वह पूर्वजन्म नहीं मानता, तो विना अपराध उसको पापी क्यों बनाया? और सच पूछो तो वह सर्प नहीं था किन्तु मनुष्य था; क्योंकि जो मनुष्य न होता; तो मनुष्य की भाषा क्योंकर बोल सकता?

और जो आप झूठा [हो][२] और दूसरे को झूठ में चलावे, उसको[३] '**शैतान**' कहना चाहिये। सो यहां शैतान सत्यवादी [है],[४] इससे कि उसने उस स्त्री को नहीं बहकाया किन्तु सच कहा। और ईश्वर ने **आदम** और **हव्वा** से झूठ कहा कि इसके खाने से तुम मर जाओगे। जब वह पेड़ ज्ञानदाता और अमर करनेवाला था, तो उसके फल खाने से क्यों वर्जा? और जो वर्जा तो वह ईश्वर झूठा और बहकानेवाला ठहरा, क्योंकि उस वृक्ष के फल मनुष्यों को ज्ञान और सुख-कारक थे, अज्ञान और मृत्यु-कारक नहीं।

जब ईश्वर ने फल खाने से वर्जा तो उस वृक्ष की उत्पत्ति किसलिये की थी? जो अपने लिये की, तो क्या आप अज्ञानी और मृत्युधर्मवाला था? और जो दूसरों के लिये बनाया तो फल खाने में अपराध कुछ भी न हुआ। और आजकल कोई भी वृक्ष ज्ञानकारक और मृत्युनिवारक देखने में नहीं आता, क्या ईश्वर ने उसका बीज भी नष्ट कर दिया? ऐसी बातों से मनुष्य छली-कपटी होता है, तो ईश्वर वैसा क्यों नहीं हुआ? क्योंकि जो कोई दूसरे से छल-कपट करेगा, वह [स्वयं][५] छली-कपटी क्यों न होगा? और जो इन तीनों को शाप दिया, वह विना अपराध के[६] है, पुनः वह ईश्वर अन्यायकारी भी हुआ। और **यह शाप ईश्वर को होना चाहिये, क्योंकि उसने झूठ बोला[७] और उनको बहकाया।**

यह '**फिलासफी**' देखो! क्या विना पीड़ा के गर्भधारण और बालक का जन्म हो सकता था? और विना श्रम के कोई अपनी जीविका कर सकता है? क्या प्रथम काँटे आदि के वृक्ष न थे? **और जब शाक-पात खाना सब मनुष्यों को ईश्वर के कहने से उचित हुआ, तो जो उत्तर में मांस का खाना 'बाइबल' में लिखा, वह झूठा क्यों नहीं? और जो वह सच्चा हो, तो यह झूठा है।**

जब **आदम** का कुछ भी अपराध सिद्ध नहीं होता तो ईसाई लोग सब मनुष्यों को आदम के अपराध

---

११. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश मुद्रणप्रति में ''**फल**'' पद छोड़ दिया है। वही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी सं० में परिवर्धित है।

१. **ऊंटकटारे**—यह एक कंटीला झाड़ीदार पौधा होता है जिसे ''**ऊटकटाई**'' भी बोलते हैं।

२-५. **त्रुटित आवश्यक पद**—संख्यांक २, ४ क्रियापद '**हो**', '**है**' दोनों सं० में त्रुटित हैं। वाक्यपूर्ति के लिए जरूरी हैं। संख्यांक ३ पर द्वि० सं० का ''**उसको**'' पद ग्राह्य है। संख्यांक ५, बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ ग्राह्य है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**अपराध से**'' अपप्रयोग है, ''**के**'' शुद्ध है। अन्यत्र भी ''**के**'' प्रयोग है।

७. **अपवाक्य**— दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वह झूठ बोला**'' व्याकरणानुसार अपवाक्य है। ''**उसने झूठ बोला**'' शुद्ध प्रयोग है। प्रतीत होता है कि लिपिकर ने लिखते समय अपनी बोली में इस वाक्य को लिख दिया क्योंकि अन्यत्र महर्षि की भाषा शैली तो हिन्दी व्याकरण के अनुसार है, बोली के अनुसार नहीं। यही वाक्य उदयपुर सं० में है।

से सन्तान होने पर अपराधी क्यों कहते हैं? भला, ऐसा पुस्तक और ऐसा ईश्वर कभी बुद्धिमानों के मानने योग्य हो सकता है?॥७॥

८. और परमेश्वर ईश्वर ने कहा कि देखो, आदम भले-बुरे के जानने में हममें से एक की नाईं हुआ और अब ऐसा न होवे कि वह अपना हाथ डाले और जीवन के पेड़ में से भी लेकर खावे, और अमर हो जाय। २२। सो उसने आदम को निकाल दिया और अदन की बाड़ी[१] की पूर्व ओर करोबीम[२] ठहराये[३]। चमकते हुए खड्ग को, जो चारों ओर घूमता था, जिसतें जीवन के पेड़ के मार्ग की रखवाली करें। २४॥ [तौरेत, उत्पत्ति], पर्व ३। आ० २२। २४॥

समीक्षक—भला, ईश्वर को ऐसी ईर्ष्या और भ्रम क्यों हुआ कि ज्ञान में [आदम][४] हमारे तुल्य हुआ? क्या यह बुरी बात हुई? यह शङ्का ही क्यों पड़ी? क्योंकि ईश्वर के तुल्य कभी कोई नहीं हो सकता। परन्तु **इस लेख से यह भी सिद्ध होता[५] है कि वह ईश्वर नहीं था किन्तु एक मनुष्यविशेष था। 'बाइबल' में जहाँ कहीं ईश्वर की बात आती है वहां मनुष्य के तुल्य ही लिखी आती है।**

अब देखो, **आदम** के ज्ञान की बढ़ती में ईश्वर कितना दुःखी हुआ और फिर '**अमर-वृक्ष**' के फल खाने में कितनी ईर्ष्या की! और प्रथम जब उसको बारी में रक्खा तब उसको भविष्य का ज्ञान नहीं था कि इसको पुनः निकालना पड़ेगा? इसलिये ईसाइयों[६] का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं था। और चमकते खड्ग का पहरा रक्खा यह भी मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं। हमको बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसे गुणवाले को ईसाई लोग ईश्वर क्यों मानते हैं, क्योंकि ये सब[७] बातें मनुष्य के स्वभाव में घट सकती हैं, ईश्वर में नहीं[८]॥८॥

९. और कितने दिनों के पीछे यों हुआ कि काइन[९] भूमि के फलों में से परमेश्वर के लिये भेंट लाया॥ और हाबिल[१०] भी अपने [भेड़-बकरियों के][११] झुण्ड में से पहलौठी और मोटी-मोटी[१२]

---

१. Garden of Eden (अदन का बाग) वह बाग जहाँ आदम-हव्वा को ईश्वर ने उत्पन्न किया था, अर्थात् उद्यान।

२. Cherubim=करूब समुदाय।

३. **इंग्लिश वर्तनी देने का कारण**—बाइबल में आये नामों और शब्दों की इंग्लिश वर्तनी देने का कारण यह है कि इनकी वर्तनी और उच्चारण में दिन-रात का अन्तर है। प्राचीन अनुवादों और नये हिन्दी अनुवादों की वर्तनी में भी अन्तर आ गया है। इस प्रकार हिन्दी नाम से उनको बाइबल में ढूंढना कठिन पड़ता है। अंग्रेजी वर्तनी उपलब्ध होने पर, पाठकों को बाइबल से मिलान करने या अन्य कुछ जानकारी प्राप्त करने में असुविधा नहीं होगी।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कर्त्ता-पद "**आदम**" त्रुटित है। इसके बिना यह स्पष्ट नहीं होता कि तुल्य कौन हुआ, अतः वाक्य की पूर्णता के लिए कोष्ठकान्तर्गत पद ग्राह्य है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**हो सकता है**" सम्भावनार्थक प्रयोग पूर्वापर भाषा से मेल नहीं खाता। यहां अन्य स्थलों के समान "**होता है**" निश्चयात्मक क्रिया उपयुक्त है।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**ईसायियों**" अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

७-८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—"**हमको बड़ा.....ईश्वर में नहीं**" तक पाठ मुद्रण-लिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रह गया है। यह पाठ मूलहस्त० व मूलप्रति सं० में विद्यमान है, वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित है। इस वाक्य में '**सब**' विशेषण "**मनुष्य**" से पूर्व लिखा मिलता है, यह "**बातें**" पद से पूर्व होना चाहिए।

९,१३. **अव्यवस्थित-अशुद्ध वर्तनी—Cain (कैन)** बाइबल के वर्तमान अनुवादों में '**काइन**' के स्थान पर '**कैन**' हिन्दी वर्तनी मिलती है। द्विप्र० में एक ही आयत में क्रमशः "**काइन**" और "**काईन**" दो अव्यवस्थित अपवर्तनियां हैं। अन्य सभी में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० और मूलसं० ने पांच नयी गलतियां इस प्रकार कर दीं कि सबमें 'का' के नीचे नुक्ता लगा दिया जिससे अर्थ गलत हो गया।

लाया और परमेश्वर ने हाबिल का और उसकी भेंट का आदर किया। ४। परन्तु काइन का और उसकी भेंट का आदर न किया, इसलिये काइन अति कुपित हुआ और अपना मुंह फुलाया। ५। तब परमेश्वर ने काइन[१३] से कहा कि ''तू क्यों क्रुद्ध है? और तेरा मुंह क्यों फूल गया?''। ६।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ४। आ० ३। ४। ५। ६॥

समीक्षक—यदि ईश्वर मांसाहारी न होता तो भेड़ की भेंट और हाबिल का सत्कार, और काइन तथा उसकी भेंट का तिरस्कार क्यों करता? और ऐसा झगड़ा लगाने और हाबिल के मत्यु का कारण भी ईश्वर ही हुआ। और जैसी[१] आपस में मनुष्य लोग एक दूसरे से बातें करते हैं, वैसी ही ईसाइयों के ईश्वर की बातें हैं। बगीचे में आना-जाना, उसका बनाना भी मनुष्यों का कर्म है। इससे विदित होता है कि यह 'बाइबल' मनुष्यों की बनाई है, ईश्वर की नहीं॥ ९॥

१०.[२] तब परमेश्वर ने काइन से कहा—''तेरा भाई हाबिल कहाँ है?'' और वह बोला, ''मैं नहीं जानता, क्या मैं अपने भाई का रखवाला हूँ?''। ९। तब उसने कहा—''तूने क्या किया?'' तेरे भाई के लोहू का शब्द भूमि से मुझे पुकारता है। १०। .....और अब तू पृथिवी से शापित[३] है....। ११।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ४। आ० ९। १०। ११॥

---

१०. **Abel (हाबिल) की अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस आयत में और इसकी समीक्षा में चार और अगली आयत में दो बार '**हाबिल**' नाम का प्रयोग हुआ। अयोग्य लिपिकरों ने साथ के दो अनुच्छेदों में तीन बार '**हाबिल**', तो तीन बार '**हाबील**' लिखा है। एक ही स्थान पर यह अव्यवस्था हास्यास्पद है। इसकी शुद्ध वर्तनी ''**हाबिल**'' ग्राह्य है। बाइबल में यही स्वीकृत है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आदि सम्पादक-संशोधक **ज्वालादत्त शर्मा** और **भीमसेन शर्मा** कितने लापरवाह थे जो अपने कर्त्तव्य का गम्भीरता से पालन नहीं करते थे। क्या उनकी आँखों पर पट्टी बंधी थी जो साथ-साथ की दो आयतों (९-१०) में छह बार प्रयुक्त एक ही नाम की वर्तनी में भिन्नता दिखाई नहीं दी। ऐसे अयोग्य लोगों से शुद्ध भाषा लिखने की और शुद्ध-सम्पादन की आशा कैसे की जा सकती है? हमारे विद्वान् सम्पादकों पर भी खेद है कि उन्होंने इतने वर्षों तक इस अशुद्ध और हास्यास्पद अव्यवस्था का सुधार नहीं किया। वर्तनी की यही अव्यवस्था उदयपुर सं० में है। कथित 'दश सम्पादकों' ने भी इस पर ध्यान नहीं दिया। क्या यह सम्पादकीय प्रमाद नहीं है? और क्या इसका नाम '**मानकता**' है?

११. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**भेड़ बकरियों**'' पाठ त्रुटित है। बाइबल के मूलपाठ में है। जो ग्राह्य है। पूर्ण अर्थ प्रकट करने के लिए, यह पूर्व आयत की अनुवृत्ति से ग्राह्य पाठ है। मूलसं० में बृहत् कोष्ठक में दिया है।

१२. **अपपरिवर्धन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**मोटी-मोटी लाया**'' पाठ है। द्वि०सं० के अन्य कुछ संशोधकों **स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी, पं० मीमांसक जी, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** और **उदयपुर सं०** ने यहां ''**भेड़**'' पद बढ़ाया है। यह संगत नहीं है। बाइबल में आयत दो में 'शीप' (Sheep) पद है जिसका अर्थ 'भेड़' होता है किन्तु बाइबल में परम्परा और महावरे के रूप में इसका अर्थ ''**भेड़-बकरियों**'' दिया गया है। उसके अनुसार इस आयतखण्ड में या तो दोनों स्थलों पर ''**भेड़-बकरियां**'' प्रयोग होना चाहिए अथवा ''**मोटी-मोटी लाया**'' पाठ ही पर्याप्त है, जिसका पूर्व आयत की अनुवृत्ति से पाठ स्पष्ट हो जाता है। मूल बाइबल में यहां इसका वाचक कोई पद नहीं है और न '**भेड़**' का वाचक है। अत: ''**भेड़**'' पाठ अनावश्यक एवं अपूर्ण परिवर्धन है।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**जैसे**'' अप पद है। वाक्य में आगे उक्त ''**वैसी**'' विशेषण के सम्बन्ध से यहां ''**जैसी**'' विशेषण अपेक्षित है, उदाहरणार्थक ''**जैसे**'' पद नहीं।

२. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से संख्या की भूल**—मुद्रणप्रति बनाते समय लिपिकर प्रमादवश इस आयतखण्ड पर १० संख्या लिखना भूलकर ११ लिख गया। यही अशुद्ध संख्या द्विप्र० में छपी है। शोधकों की मक्कारी देखिए कि उन्हें अशुद्ध क्रमसंख्या भी दिखाई नहीं पड़ी। सभी सं० ने इसको शुद्ध कर लिया है। कुलयोग में अन्तर इस कारण नहीं आया कि आगे संख्या ४८ दो बार डाली हुई थी। वहां तक अशुद्ध संख्या चलती रही। उसको शुद्ध कर देने से क्रम संख्या शुद्ध हो गई।

३. **अव्यवस्थित एवं भ्रष्ट वर्तनी 'शाप' की**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**शाप**' पद की वर्तनी अव्यवस्थित मिलती है—१. **शाप** (मूलसं०, पृ० ३३०, ३३५, ३९६; द्वि०सं०, पृ० १९०, १९२, २२७, ३३५, २४६)।

समीक्षक—क्या ईश्वर काइन से पूछे विना हाबिल का हाल नहीं जानता था? और लोहू का शब्द भूमि से किसी को कभी पुकार सकता है? ये सब बातें अविद्वानों की हैं। इसीलिये यह पुस्तक न ईश्वर और न विद्वान् का बनाया हो सकता है॥ १०॥

११. और हनूक[१] मतूसिलह[२] की उत्पत्ति के पीछे तीन-सौ वर्ष लों ईश्वर के साथ-साथ चलता था....। २२। तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ५। आ० २२॥

समीक्षक—भला, ईसाइयों का ईश्वर मनुष्य न होता, तो हनूक के साथ-साथ क्यों चलता? इससे जो वेदोक्त निराकार, व्यापक[३] ईश्वर है, उसी को ईसाई लोग मानें, तो उनका कल्याण होवे॥ ११॥

१२. (और यों हुआ कि) जब आदमी पृथिवी पर बढ़ने लगे[४] और उनसे बेटियाँ उत्पन्न हुई। १। तो ईश्वर के पुत्रों ने आदमी की पुत्रियों को देखा कि वे सुन्दरी हैं और उनमें से जिन्हें उन्होंने चाहा उन्हें ब्याहा। २। और उन दिनों में पृथिवी पर दानव थे और उसके पीछे भी जब ईश्वर के पुत्र आदमी की पुत्रियों से मिले तो उनसे बालक उत्पन्न हुए, जो बलवान् हुए, जो आगे से नामी थे। ४। और ईश्वर ने देखा कि आदमियों[५] की[६] दुष्टता पृथिवी पर बहुत हुई और उनके मन की चिन्ता और भावना प्रतिदिन केवल बुरी होती है। ५। तब आदमी को पृथिवी पर उत्पन्न करने से परमेश्वर

---

२. **श्राप** (मूलसं०, पृ० ३९६, ६३९; द्वि०सं०, पृ० ३५८ आदि)।

३. **स्त्राप-स्त्रापित** (मूलसं०, पृ० ५७५, ५७८, ५८०, ५९५, ६१६, ६१७; द्वि०सं०, पृ० ३२४, ३२६, ३४६)।

वर्तनी की यही अव्यवस्थित स्थिति **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, उदयपुर** के संस्करणों में है। मानकता और एकरूपता की दृष्टि से '**शाप**' तथा '**शापित**' ही शुद्ध तथा सर्वत्र ग्राह्य हैं।

ऋषिहस्तलेख—इस पृष्ठ पर ''**इसीलिये.....सकता है**'', ''**जो वेदोक्त.....होवे**'' पाठ ऋषि-लिखित है।

१. Henoch. (हनोक) २. Mathusala. (मतूसेलह)

३. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से ''**व्यापक**'' पद त्रुटित है। त्रुटित पाठ ही द्विप्र० में छपा है। बाद में प्राय: सभी ने ग्रहण कर लिया है किन्तु **स्वामी वेदानन्द, सिद्धान्ती जी सं०** में नहीं है। यह आश्चर्य है कि **पं० मीमांसक जी** ने टिप्पणी में दिया है। इस समीक्षा में सर्वाधिक महत्त्व ''**व्यापक**'' विशेषण का ही है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित वाक्य**—मूलह०, मूलसं०, द्वि०सं० में यह वाक्य है। यह मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति और द्विप्र० में त्रुटित है। अनुवादक ने आयत की संगति लगाने के लिए ''**और यों हुआ कि**'' वाक्यांश का अध्याहार किया है तथा ''**जब आदमी पृथिवी पर बढ़ने लगे**'' पाठ बाइबल के मूलपाठ में है। बिना इस वाक्यांश के अग्रिम वाक्य की संगति ही नहीं लगती। **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी,** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने इस पूरे वाक्य को हटाया है जो अनुचित है। उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण करके उचित किया है।

५. **अप-अनुवाद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**आदम की दुष्टता**'' अप-अनुवाद है। यह तत्कालीन किसी पादरी अनुवादक की भूल है। वर्तमान बाइबल के अनुसार यहाँ ''**आदमियों की दुष्टता**'' पाठ होना चाहिए। ध्यान दीजिए, पहली और पांचवीं पंक्ति में भी ''**आदमी**'' प्रयोग है। इस आयतखण्ड में सर्वत्र ''**आदम**'' के स्थान पर '**आदमी**' प्रयोग उपयुक्त है। देखिए, समीक्षा में इसके पर्याय के रूप में ''**मनुष्य**'' प्रयोग है। बाइबल के वर्णन क्रम और इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी ज्ञात होता है कि यह घटना 'आदम' के समय की नहीं है अपितु आदम के देहावसान के पश्चात् ११वीं पीढ़ी में उत्पन्न '**नूह**' के समय की है। तब आदमियों की संख्या बढ़ गई थी। आदम-हव्वा तो अकेले उत्पन्न हुए थे। यह मूलत: वही घटना है जो **शतपथ ब्राह्मण** में वैवस्वत मनु के समय जलप्रलय की घटना आती है। यह परिवर्तित रूप में विश्व के आधे देशों के साहित्य में मिलती है। वैदिक **मनु:** (मनुह्) ही अपभ्रंश होकर अरबी में '**नूह**' नाम बना है। यह भाषा वैज्ञानिक सम्बन्ध यहूदियों-ईसाइयों को भारतीय मूल वंश और साहित्य से जोड़ता है। **पं० मीमांसक जी** ने यहां ''**आदमी**'' को अशुद्ध तथा ''**आदम**'' को शुद्ध पाठ माना है। यह असंगत पाठ है। '**आदम**' जब उस समय जीवित ही नहीं था तो उसकी दुष्टता कैसे बढ़ती?

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में लिपिकर ने प्रमाद से ''**पुत्रियों से.....आदमियों की**'' पाठ त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधक पं० भीमसेन ने किनारे पर लिखकर इसको पूर्ण किया है।

पछताया और उसे अति शोक हुआ। ६। तब परमेश्वर ने कहा कि आदमी को, जिसे मैंने उत्पन्न किया, आदमी से लेके पशुन लों और रेंगवैयों को और आकाश के पक्षियों को पृथिवी पर से नष्ट करूँगा क्योंकि[१] उन्हें बनाने से मैं पछताता हूँ। ७। तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ६। आ० १। २। ४। ५। ६। ७॥[२]

समीक्षक—ईसाइयों से पूछना चाहिये कि ईश्वर के बेटे कौन हैं? और ईश्वर की स्त्री, सास, ससुर, साला[३] और सम्बन्धी कौन हैं? क्योंकि अब तो आदमी की बेटियों के साथ विवाह होने से ईश्वर इनका सम्बन्धी हुआ, और जो उनसे उत्पन्न होते हैं, वे पुत्र और प्रपौत्र हुए। क्या ऐसी बात ईश्वर और ईश्वर के पुस्तक की हो सकती है? किन्तु यह सिद्ध होता है कि उन जंगली मनुष्यों ने यह पुस्तक बनाया है।

वह ईश्वर ही नहीं, क्योंकि जो सर्वज्ञ न हो, और न भविष्यत् की बात जाने; वह तो जीव है। क्या जब सृष्टि की थी तब 'आगे मनुष्य दुष्ट होंगे' ऐसा नहीं जानता था? और पछताना, अति-शोकादि होना, भूल से काम करके पीछे पश्चात्ताप करना आदि ईसाइयों के ईश्वर में घट सकता है, वेदोक्त ईश्वर में नहीं। और इससे यह भी सिद्ध होता है[४] कि **ईसाइयों का ईश्वर पूर्ण विद्वान्, योगी भी नहीं था, नहीं तो शान्ति और विज्ञान से अति-शोकादि से पृथक् हो सकता था।**

भला, पशु-पक्षी भी दुष्ट हो गये! यदि वह ईश्वर सर्वज्ञ होता तो ऐसा विषादी क्यों होता? इसलिये न वह ईश्वर और न यह ईश्वरकृत पुस्तक हो सकता है।[५] जैसे वेदोक्त परमेश्वर सब पाप, क्लेश, दुःख, शोकादि से रहित 'सच्चिदानन्दस्वरूप' है, उसको ईसाई लोग [पहले से] मानते, वा अब भी मानें, तो अपने मनुष्यजन्म को सफल कर सकें॥ १२॥

१३. ....उस नाव की लम्बाई तीन-सौ हाथ और चौड़ाई पचास हाथ और ऊँचाई तीस हाथ की होवे....। १५। ....तू नाव में जाना, तू और तेरे बेटे और तेरी पत्नी और तेरे बेटों की पत्नियाँ तेरे साथ। १८। और सारे शरीरों में से जीवते जन्तु[६] दो-दो अपने साथ नाव में लेना, जिससे वे तेरे साथ जीते रहें, वे नर और नारी होंवे। १९। पंछियों[७] में से उसके भाँति-भाँति के और ढोरों[८] में से उसके भाँति-भाँति के और पृथिवी के हर एक रेंगवैयों[९] में से भाँति-भाँति के, हर एक में से दो-दो तुझ पास आवें, जिसतें जीते रहें। २०। और तू अपने खाने को सब सामग्री अपने पास इकट्ठा कर। वह तुम्हारे

---

१. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में "**आदमी से.....क्योंकि**" पाठ ऋषि-लिखित है। इसको मुद्रणलिपिकर ने छोड़ दिया था।

२. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलप्रति सं०, स्वामी वेदानन्द सं० और पं० युधिष्ठिर मीमांसक सं० में इस आयत खण्ड की उद्धरण संख्या अशुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० में संशोधित है। वह संख्या है—'पर्व ६। आ० १। २। ४। ७॥' वेस में '३' भी अशुद्ध है।

३. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में "**शाला**" अपवर्तनी है। सभी सं० ने इसको संशोधित कर लिया है। ग्रन्थ में अन्यत्र शुद्ध वर्तनी है द्र० पृ०.....। हिन्दी में '**शाला**' घर का वाचक है, जैसे—पाठशाला, अतिथिशाला आदि।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह०, मूलसं० में यह पूर्ण पाठ है। प्रमादी मुद्रणलिपिकर यहां इस पाठ को छोड़ गया—"**वेदोक्त ईश्वर में नहीं। और इससे यह भी सिद्ध होता है**"। द्विप्र० में भी त्रुटित है। वेस, जग में त्रुटित है। भद, युमी ने कोष्ठक में ग्रहण किया है। द्वि०सं०, उदयपुर सं० ने मूल में ग्रहण करके पाठ पूर्ण कर लिया है।

५. **ऋषिहस्तलेख**—संशोधन के समय मुद्रणप्रति में "**भला पशु.....हो सकता है**" पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६-९. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में क्रमशः "**जीवता जन्तु**", "**पंछी**" "**ढोर**", "**रेंगवैये**" अपप्रयोग हैं। प्रथम स्थान पर "**जीवते जन्तु**" बहुवचन तथा शेष सब में सप्तमी बहुवचनान्त प्रयोग अपेक्षित है।

और उनके लिये भोजन होगा। २१। सो ईश्वर की सारी आज्ञा के अनुसार नूह[१] ने किया। २२।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ६। आ० १५।१८।१९।२०।२१।२२॥[२]

समीक्षक—भला, कोई भी विद्वान् ऐसी विद्या से विरुद्ध असम्भव बात के वक्ता को ईश्वर मान सकता है? क्योंकि इतनी [कम][३] बड़ी, चौड़ी, ऊँची नाव में हाथी-हथिनी[४], ऊँट-ऊँटनी आदि करोड़ों जन्तु और उनके खाने-पीने की चीजें, वे सब और कुटुम्ब के भी [जन क्या][५] समा सकते हैं? इसलिये यह मनुष्यकृत पुस्तक है। जिसने यह लेख किया है, वह विद्वान् भी नहीं था॥ १३॥

१४. और नूह ने परमेश्वर के लिये एक वेदी बनाई और सारे पवित्र पशु और हर एक पवित्र पंछियों में से लिये, और होम की भेंट उस वेदी पर चढ़ाई। २०।[६] और परमेश्वर ने सुगंध सूंघा और परमेश्वर ने[७] अपने मन में कहा कि 'आदमी के लिये मैं पृथिवी को फिर कभी शाप[८] न दूंगा, इस कारण कि आदमी के मन की भावना उसकी लड़काई से बुरी है, और जिस रीति से मैंने सारे जीवधारियों को मारा, फिर कभी न मारूंगा। २१।' तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ८। आ० २०।२१॥

समीक्षक—वेदी के बनाने, होम करने के लेख से यही सिद्ध होता है कि ये बातें वेदों से 'बाइबल' में गई हैं।

क्या परमेश्वर के नाक भी है कि जिससे उसने[९] सुगन्ध सूंघा? क्या यह ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् अल्पज्ञ नहीं है कि कभी शाप[१०] देता है और कभी पछताता है? कभी कहता है शाप[११] न दूंगा। पहले दिया था और फिर भी देगा।[१२] प्रथम सबको मार डाला और अब कहता है कि कभी न मारूंगा।[१३] ये सब बातें लड़केपन की हैं, ईश्वर की नहीं, और न किसी विद्वान् की; क्योंकि **विद्वान् की**

---

१. **नूह** (Noah), वैदिक कालीन मनुः→मनुह्→नूह, नोवा, इस विकारपरम्परा से 'मनुः' शब्द का अरबी भाषा में अपभ्रंश '**नूह**' बाइबल-कुरान में है। शतपथ ब्राह्मण आदि में सप्तम मनु वैवस्वत-कालीन जलप्रलय की घटना का विस्तृत वर्णन मिलता है (शत० १.८.१.१; काठक संहिता ११.२)। यह घटना बाइबल, कुरान सहित विश्व की लगभग आधी भाषाओं के साहित्य में स्वल्पाधिक परिवर्तन के साथ मिलती है। इससे दो संकेत मिलते हैं—१. विश्व की जिन आधी जातियों या समुदायों के साहित्य में इस घटना के अवशेष मिलते हैं, कभी वे सब लोग एकत्र रहते थे। २. यह जलप्रलय इतना विनाशकारी था कि अपने मूल वंश और स्थान से बिछुड़ने के सहस्रों वर्षों बाद तक भी उन समुदायों में उस घटना की भयानक स्मृतियां परम्परा से प्रचलित रहीं।

२. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद में यहां १५-२२ आयतसंख्या अशुद्ध है।

३-५. **त्रुटित एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रमशः "**कम**" पद त्रुटित है, "**हथनी**" के स्थान पर "**हथिनी**" शुद्ध है। "**जन क्या**" त्रुटित है। **ऋषि-लेख**—"**ऐसी.....सकता है**" पाठ मूलह० में ऋषिलिखित है।

६. **होम की परम्परा**—होम की परम्परा वैदिक और भारतीय है, जो ईसाइयों को भारत-मूल से जोड़ती है। बाइबल से इसकी पुष्टि भी हो जाती है—"**सारी पृथिवी पर एक ही बोली और एक ही भाषा थी॥ उस समय लोग पूर्व की ओर से चलकर आये और शिनार देश में एक मैदान पाकर उसमें बस गये।**" (उत्पत्ति पर्व ११, आ० १-२)। यह 'पूर्व देश' प्राचीन और भारतीय क्षेत्र ही है। जब भारत में पौराणिककाल में, होम के नाम पर विकृत प्रथाएं चलीं और यज्ञों में बलि दी जाने लगी तब भी पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध भारत से रहा है। होम बलि की विकृत प्रथा का वर्णन इस तथ्य की ओर संकेत करता है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में "**सुगंध.....परमेश्वर ने**" त्रुटित छोड़ा पाठ पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

८,१०,११. **अपर्वतनी**—सभी सं० में तीनों स्थानों पर "**स्राप**" अपर्वतनी है। द्रष्टव्य है, पृ० ८५६ पर टिप्पणी।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसने**' पद त्रुटित रह गया है। इसके बिना वाक्य पूर्ण नहीं बनता।

१२-१३. **ईश्वर द्वारा शाप और क्रूरतापूर्वक जन-विनाश**—बाइबल में आया है (आयतखण्ड संख्या १२) कि ईश्वर ने आदमियों की दुष्टता बढ़ने के कारण नूह और उसके परिजनों को छोड़कर जल-प्रलय के द्वारा सबका विनाश किया था। आगे आयतखण्ड संख्या ४१, ७२ में लिखा है कि ईश्वर ने रात के समय सारे बड़े लड़कों को घरों में ढूंढ-ढूंढकर मारा। आयत ५७ में लिखा है कि

भी बात और प्रतिज्ञा स्थिर होती है॥ १४॥

१५. और ईश्वर ने नूह को और उसके बेटों को आशीष दिया और उन्हें कहा कि....। १। ''हर एक जीता-चलता जन्तु तुम्हारे भोजन के लिये होगा, मैंने हरी तरकारी के समान सारी वस्तु[१] तुम्हें दीं[२]। ३। केवल मांस[३] उसके जीव अर्थात् उसके लोहू समेत मत खाना। ४।''

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ९। आ० १। ३। ४॥

समीक्षक—क्या एक को प्राणकष्ट देवाकर दूसरों को आनन्द कराने से ईसाइयों का ईश्वर दयाहीन नहीं है?[४] जो माता-पिता एक लड़के को मरवाकर दूसरे को खिलावें तो महापापी नहीं हों? इसी प्रकार यह बात है; क्योंकि ईश्वर के लिये सब प्राणी पुत्रवत् हैं। **ऐसा न होने से इनका ईश्वर कसाईवत् काम करता है और सब मनुष्यों को हिंसक भी इसी ने बनाया है[५]। इसलिये ईसाइयों का ईश्वर निर्दय होने से पापी क्यों नहीं?॥** १५॥[६]

१६. और सारी पृथिवी पर एक ही बोली और एक ही भाषा थी। १।[७] फिर उन्होंने कहा कि आओ हम एक नगर और एक गुम्मट जिसकी चोटी स्वर्ग लों पहुँचे अपने लिये बनावें और अपना नाम करें, न हो कि हम सारी पृथिवी पर छिन्न-भिन्न हो जायें। ४। तब ईश्वर उस नगर और उस गुम्मट को जिसे आदम के सन्तान बनाते थे, देखने को उतरा। ५। तब परमेश्वर ने कहा कि 'देखो! ये लोग एक ही हैं और इन सबकी एक ही बोली है।' अब वे ऐसा-ऐसा कुछ करने लगे सो वे जिस पर मन

ईश्वर ने मिद्यानी समुदाय के सभी लड़कों और विवाहित स्त्रियों को मरवा दिया केवल कुंवारी कन्याओं को जीवित रखा। इतिहास में वर्णन है कि इस युद्ध में मूसा ने मिद्यानी समुदाय की ३२००० कुंवारी कन्याओं को लूटा था। आगे आयतखण्ड संख्या-६० में, इस्राएल पर ''**मरी डालकर**''=विनाश मचाकर सत्तर हजार मनुष्यों को मार डालने का वर्णन है। ग्रन्थकार का इसी प्रकार के भावी शापों के विषय में यह कथन है। यहूदियों-ईसाइयों के ईश्वर और पैगम्बर के ऐसे-ऐसे क्रूर कारनामे हैं।

१-२ **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वस्तु**'' के स्थान पर '**वस्तुएं**' और ''**दिईं**'' अपप्रयोग के स्थान पर भाषात्मक एकरूपता के लिए ''**दीं**'' प्रयोग अपेक्षित है।

३. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में ''**माँस**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं० में संशोधित है। द्र० विस्तृत टिप्पणी आयतखण्ड १८, पृ० ८६३ पर।

४. **स्थानभ्रष्ट अपवाक्य**—दोनों सं० में ''**दयाहीन ईसाइयों का ईश्वर नहीं है**'' यह अपवाक्य है। '**दयाहीन**' विशेषण अस्थान में होने से अप-अर्थ प्रकट कर रहा है कि '**ईसाई दयाहीन हैं।**' जबकि ग्रन्थकार उनके ईश्वर को '**दयाहीन**' कहना चाहते हैं। यही अपवाक्य वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० आदि में है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सब मनुष्यों को हिंसक भी इसी ने बनाये हैं**'' यह व्याकरणात्मक अपवाक्य है। यही अपवाक्य उदयपुर सं० तथा अन्य सं० में भी है।

ऋषि-लेख—मूलहस्त० में ''**क्या एक.....क्यों नहीं**'' पाठ ऋषि-लेख में परिवर्धित है।

६. **रामायण और बाइबल में समान इतिहास, सृष्टि के आदि में एकभाषा**—मैक्समूलर आदि यूरोपियन लेखक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भारतीयों और यूरोपियनों के मूल वंशज एक हैं और कभी वे एक स्थान पर एक परिवार के रूप में रहते थे तथा उनकी एक ही भाषा थी। वह भाषा वैदिक संस्कृत ही थी, क्योंकि वही सबसे प्राचीन भाषा है और विश्व की अधिकांश भाषाएँ उसी परम्परा से निकलकर प्रचलित हुई हैं। यही कारण है कि उन विश्व-भाषाओं में वैदिक संस्कृत के अनेक शब्दों के विकृतरूप में पाये जाते हैं। वाल्मीकीय रामायण में उक्त मत बाइबल की रचना से पूर्व ही व्यक्त किया गया मिलता है—

एकवर्णाः समभाषा एकरूपाश्च सर्वशः।
तासां नास्ति विशेषो हि दर्शने लक्षणेऽपि वा॥ —उत्तर० ३०। २९। २०

अर्थात्—'आदिकाल में एक ही वर्ण था, सब एक भाषा बोलते थे, एक वेश था। उनके देखने में अथवा शारीरिक लक्षणों में कोई अन्तर नहीं था।' बाइबल की उक्त आयत में यही विचार यथावत् हैं। इस आयत में वैदिक इतिहास की परम्परा सुरक्षित है।

लगावेंगे उससे अलग न किये जायेंगे। ६। आओ, हम उतरें और[१] वहाँ उनकी भाषा को गड़बड़ावें, जिससे एक-दूसरे की बोली न समझें। ७। तब परमेश्वर ने उन्हें वहाँ से सारी पृथिवी पर छिन्न-भिन्न किया और वे उस नगर के बनाने से अलग रहे। ८।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व ११। आ० १। ४। ५। ६। ७। ८॥

समीक्षक—जब सारी पृथिवी पर एक भाषा और बोली होगी, उस समय सब मनुष्यों को परस्पर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ होगा। परन्तु क्या किया जाय, ईसाइयों के ईर्ष्यक ईश्वर ने सबकी भाषा गड़बड़ाके यह सबका सत्यानाश किया!! उसने यह बड़ा अपराध किया। क्या यह शैतान के काम से भी बुरा काम नहीं है? और इससे यह भी विदित होता है कि ईसाइयों का ईश्वर '**सनाई पहाड़**'[२] आदि पर रहता था और जीवों की उन्नति भी नहीं चाहता था। यह विना एक अविद्वान् के ईश्वर की बात [क्योंकर हो सकती है?][३] और यह पुस्तक ईश्वरोक्त क्योंकर हो सकता है?॥ १६॥

१७. ....तब उसने अपनी पत्नी सारै[४] से कहा कि देख मैं जानता हूँ कि तू देखने में सुन्दर स्त्री है। ११। इसलिये यों होगा कि जब मिश्री[५] तुझे देखेंगे[६] तब वे कहेंगे कि यह उसकी पत्नी है और

---

१. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में "**और**" योजक पद त्रुटित है। द्वि० सं० में है, जो ग्राह्य है।

२. **सनाई पहाड़**—'**सियोन**' पर्वत का ही एक उच्चारण '**सनाई**' प्रचलित है। विस्तृत टि० द्र० पृ० ८४९ पर।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य के साथ क्रिया त्रुटित है। अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ आवश्यक होने से ग्राह्य है।

४. **सारै (Sarai)** यह 'अब्राम', जिसका कि नाम बदलकर बाद में 'इब्राहीम' रखा गया, की पत्नी थी। परमेश्वर के आदेशानुसार इसका भी नाम बदलकर बाद में Sarah (सरः या सारा) कर दिया गया। (उत्पत्ति १७.१५)। बाइबल में इसको कई वंशों की 'मूलमाता' कहा है और इब्राहीम को मूलपिता।

५. **मिश्र देश के नाम की अव्यवस्थित वर्तनी और स्थापना का इतिहास**—ग्रन्थ में इस देश-नाम की दोनों हस्त० और तीनों सं० में दो प्रकार की वर्तनियां मिलती हैं—

१. मिश्र/मिश्री (मूलसं० २३६, ३२७, ६८१; द्वि०सं०, पृ० ३२७, ३८०)

२. मिस्र/मिस्री (मूलसं०, पृ० ५८२, ५९१, ५९३, ५९४, ६०१, ६०२; द्वि०सं०, पृ० ३३३, ३३४, ३३८, ३३९)।

उपर्युक्त आयत-अनुवाद में उदयपुर सं०, मूलप्रति सं० में "**मिस्री**" वर्तनी है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित कर '**मिश्री**' बनाई गई है। भारतीय ऐतिहासिक परम्परा, धारणा और प्रमाणों के अनुसार यह स्थापित मत है कि मिश्र देश सूर्यवंशी आर्यजनों द्वारा बसाया गया था जो अपना पूर्वज 'मनु' को मानते थे। यही कारण है कि मिश्र के पिरामिडों में सर्वत्र सूर्यवंश के प्रतीक के रूप में सूर्य का चिह्न उत्कीर्ण मिलता है। कालक्रमानुसार ये यहूदी बन गये तब भी इनके परमेश्वर का नाम वैदिक नाम "**यह्वः**" का विकृत शब्द '**यहोवा**' रहा। इन आधारों पर तथा आगे दिये गये किन्तु कुछ अन्य प्रमाणों से यह मत स्थापित है कि इस देश का मूल नाम संस्कृत का '**मिश्र**' था उससे विकृत होकर '**मिस्र**' प्रचलित हुआ, जो एक सामान्य परिवर्तन है। महर्षि के काल में इन्हीं धारणाओं के आधार पर उसकी '**मिश्र**' वर्तनी अधिक चलती थी। इस कारण इनमें से सर्वत्र '**मिश्र-मिश्री**' वर्तनी ही ग्राह्य है। यद्यपि बाइबल के अनुवाद में कहीं '**मिस्र**' तो कहीं '**मिश्र**' का प्रयोग है किन्तु भाषात्मक एकरूपता और मानकता की दृष्टि से '**मिश्र**' ऋषि की धारणा के अनुसार-वर्तनी वांछनीय है॥ अन्य सभी सं० तथा उदयपुर सं० में भी उक्त अव्यवस्था है।

मिश्र प्राचीन आर्यों द्वारा अधिवसित है, इस विषयक यूरोपियन इतिहासकारों के अन्य प्रमाण ये हैं—

बाइबल और कुरान में वर्णित नूह के दो पुत्र थे—१. हेम (=सूर्य), २. सेम (=सोम=चन्द्र) इनमें हेम के वंशज मिश्र में रहते हैं जो स्वयं को सातवें वैवस्वत मनु की सूर्यवंशी सन्तानें मानते हैं—"The reader will not readily forget the city of the sun 'Helispolis' or 'Menes'. The first Egyptian king of the sun, the 'Menu Voivasowat' or patriarch of the solar race, nor his statue, that of the great 'Menoo', whose voice was said to statue the rising sun." (India in Greece, P.- 174)

मुझे मार डालेंगे, परन्तु तुझे जीती रखेंगे। १२। तू कहियो कि मैं उसकी बहिन हूँ, जिसतें तेरे कारण मेरा भला होय और मेरा प्राण तेरे हेतु से जीता रहे। १३। तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व १२। आ० ११। १२। १३॥

समीक्षक—अब देखिये! जो अबिरहाम[१] 'बड़ा पैग़म्बर' ईसाई और मुसलमानों का बजता है और उसके कर्म मिथ्याभाषणादि बुरे हैं। और अपनी स्त्री का पातिव्रत्य धर्म भंग कराके व्यभिचारिणी बनाता है[२]। भला, जिनके ऐसे पैग़म्बर हों, उनको विद्या वा कल्याण का मार्ग कैसे मिल सके?॥ १७॥

१८. और ईश्वर ने इब्राहीम से कहा तू और तेरे पीछे तेरा वंश उनकी पीढ़ियों में मेरे नियम को माने। ९। तुम मेरा नियम जो मुझसे और तुमसे और तेरे पीछे तेरे वंश से है जिसे तुम मानोगे सो यह

अर्थात्—'पाठक सूर्य के नगर (स्थान) 'हेलिस्पोलिस्' अथवा 'मेनस्' को सुगमता से नहीं भुला पायेगा और न ही मिश्र के प्रथम सूर्यवंशी राजा महान् 'मनु वैवस्वत' जो कि सूर्यवंशियों का आदिपुरुष है, और जिस महान् पुरुष मनु की प्रतिमा उगते हुए सूर्य के रूप में उसके नाम को प्रतिबिम्बित कर रही है, उसको भी नहीं भुला पायेगा।'

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में "**देखें**" अपप्रयोग है। वाक्य में प्रयुक्त आगे की क्रियाओं के सम्बन्ध से "**देखेंगे**" क्रिया-प्रयोग उपयुक्त है।

१. **अब्राम और अबिरहाम (Abram,)**—बाइबल की इस आयत तक, अबिरहाम की पत्नी का नाम सारै (Sar'ai) और 'सारै' के पति का मूल नाम '**अबिरहाम**' या '**अब्राम**' था। बाइबल के अनुसार, परमेश्वर ने बाद में सत्रहवें पर्व की आयत १५ में 'सारै' का नाम '**सारा**' (Sarah) और 'अब्राम' का नाम बदलकर **इब्राहीम** (Abraham) कर दिया (उत्पत्ति १७.५)। 'अब्राम' का अर्थ है—**बड़ा पिता** अथवा **पितामह**। 'इब्राहीम' का अर्थ है—'**बहुतों का पिता**'। यह कई समुदायों का मूलपिता माना जाता है। इसका 'सारा' से उत्पन्न पुत्र '**इसहाक**' नियोगज पुत्र था (उत्पत्ति, पर्व १८ द्रष्टव्य)। उत्पत्ति, पर्व १७.५ से लेकर बाइबल में आगे सर्वत्र '**इब्राहीम**' नाम ही शुद्ध है, 'अब्राम' नहीं। अतः पाठ में आगे सर्वत्र 'इब्राहीम' किया गया है। **किसी भी सम्पादक ने इस ऐतिहासिक तथ्य पर ध्यान नहीं दिया।** सभी संस्करणों में इन नामों में अशुद्धि और अव्यवस्था है।

२. **मुद्रणकालीन पाठ-निष्कासन अनुचित**—यह वाक्य "**और अपनी स्त्री का पातिव्रत्य धर्म भंग कराके व्यभिचारिणी बनाता है**" मूलहस्त० तथा मुद्रणहस्त० में है, मुद्रण-काल में किसी शोधक ने गम्भीर चिन्तन किये बिना इसको हटा दिया। शायद, शोधक को यह भ्रान्ति हो गई कि यहां मूल आयत में केवल झूठ बोलने का ही कथन है, पत्नी का पातिव्रत्य धर्म भंग कराने की तो चर्चा ही नहीं है। मुद्रणकालीन शोधक ने न तो प्रसंग को गम्भीरता से समझा और न बाइबल को पढ़ा।

ऋषिकृत समीक्षा सही है, यह मूल प्रसंग को पूर्णतः पढ़ने पर तथा अब्राम के व्यवहार से सिद्ध हो जाता है। पाठक विचार करें कि अब्राम ने झूठ क्यों बोली? क्योंकि वह अपने प्राण बचाना चाहता था और उसको पता था कि झूठ बोलने का परिणाम यह निकलेगा कि उसके प्राण बच जायेंगे। उसको अपनी पत्नी के भविष्य का भी ज्ञान था कि '**बहन**' कहने से बादशाह फ़िरौन के लोग उसको अपनी पत्नी बना लेंगे और अब्राम को छोड़ देंगे अथवा दोनों को छोड़ देंगे। उस समय मिश्र में यह जंगली प्रथा थी कि दूसरी जाति के दम्पती कहीं मिल जाने पर पुरुष को मारकर स्त्री को अपने यहां रख लेते थे। यही काम मिश्र के राजा फ़िरौन ने किया था (आयत संख्या १५), और फिर यही काम बदला लेते समय मूसा ने किया था (आयतखण्ड संख्या ४१, ४२, ५७)। परिणाम में हुआ भी यही, झूठ बोलने के बाद अब्राम को छोड़ दिया और उसकी पत्नी को राजा फ़िरौन ने अपनी पत्नी के रूप में राजमहल में रख लिया। कुछ समय बाद जब राजा को सचाई का पता लगा तो उसने कुछ धन-सम्पत्ति साथ देकर अब्राम की पत्नी उसको लौटा दी (उत्पत्ति, पर्व १२, आ० १५-२०)। दूसरे के घर में पत्नी बनकर जाने से पातिव्रत्य धर्म भंग हुआ या नहीं? फ़िरौन के सैनिकों द्वारा सारै को पकड़कर ले जाये जाते समय भी दोनों पति-पत्नी में से किसी ने सच नहीं बोला। तब तो अब्राहम को पता चल गया था कि फ़िरौन के लोग इसको पत्नी के रूप में रखने के लिए ले जा रहे हैं। अतः ग्रन्थकार की समीक्षा उचित है और उक्त महर्षिप्रोक्त पाठ ग्राह्य है। भूल इसको न समझने वाले की है। यही अब्राम या अब्राहम ईसाइयों का एक बड़ा पैगम्बर माना जाता है।

सभी विद्वानों में अन्धपरम्परा—त्रुटित पाठ की यही अन्धपरम्परा **स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** आदि के संस्करणों में है। किसी विद्वान् ने इस प्रसंग पर न तो चिन्तन किया और न बाइबल को देखा। मुद्रणह०, मूलह०, मूलप्रति सं० में इस पाठ को ग्रहण किया हुआ है किन्तु उदयपुर सं० के कथित दश सम्पादकों ने उस पाठ पर गम्भीरता से चिन्तन न करके और बाइबल का अध्ययन न करके अन्धपरम्परा के अनुकरण में ही शोध की इतिश्री मान ली। यह अनुकरण संकेत देता है कि विद्वानों ने सम्पादन में श्रम नहीं किया।

है कि तुममें से हर एक पुरुष का खतनः (खतना) किया जाय। १०। और तुम अपने शरीर [के गुप्तांग] की खलड़ी काटो और वह मेरे और तुम्हारे मध्य में नियम का चिह्न होगा। ११। और तुम्हारी[१] पीढ़ियों में हर एक आठ दिन के पुरुष का खतनः किया जाय, जो घर में उत्पन्न होय अथवा जो किसी परदेशी से जो तेरे वंश का न हो, रूपे से मोल लिया जाय॥ १२। जो तेरे घर में उत्पन्न हुआ हो और जो तेरे रूपे से मोल लिया गया हो, अवश्य उसका खतनः किया जाय, और मेरा नियम तुम्हारे मांस[२] [=देह] में सर्वदा नियम के लिये होगा। १३। और जो अखतनः बालक जिसकी खलड़ी का खतनः न हुआ हो, सो प्राणी अपने लोगों से[३] कट जाय कि उसने मेरा नियम तोड़ा है। १४॥

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व १७। आ० ९।१०।११।१२।१३।१४॥

समीक्षक—अब देखिये ईश्वर की अन्यथा आज्ञा कि जो यह खतना[४] करना ईश्वर को इष्ट होता तो उस चमड़े को आदि-सृष्टि में ही नहीं बनाता। और जो यह बनाया गया है वह रक्षार्थ है, जैसा आँख के ऊपर का चमड़ा। क्योंकि वह गुप्तस्थान अति कोमल है, जो उस पर चमड़ा न हो तो एक कीड़ी[५] के भी काटने और थोड़ी-सी चोट लगने से बहुत-सा दुःख होवे; और लघुशंका के पश्चात् कुछ मूत्रांश कपड़ों में न लगे, इत्यादि बातों[६] के लिये इसका काटना बुरा है। और अब ईसाई लोग इस आज्ञा को क्यों नहीं करते? यह आज्ञा सदा के लिये है, इसके न करने से ईसा की गवाही जो कि 'व्यवस्था के पुस्तक का एक बिन्दु भी झूठा नहीं है,'[७] मिथ्या हो गई। इसका सोच-विचार ईसाई कुछ भी नहीं करते[८] ॥ १८॥

१९. तब उससे बात करने से रह गया और इब्राहीम[९] के पास से ईश्वर ऊपर जाता रहा। २२।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व० १७। आ० २२॥

---

१. **त्रुटित पाठ**—मूलप्रति सं० में ''**वह मेरे और**'' पाठ त्रुटित है। द्विप्र० में गृहीत है। बृ० कोष्ठक का पाठ स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है। ''**वह मेरे.....तुम्हारी**'' पाठ मूलह० में त्रुटित है। मुद्रणप्रति में पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

२. **अप-अनुवाद एवं अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**माँस**'' अपवर्तनी है, 'मांस' शुद्ध वर्तनी है। यह अनुवाद भी अशुद्ध है। खतना करने में खाल काटी जाती है, मांस नहीं, अतः '**मांस में नियम होगा**' यह प्रयोग नहीं बन सकता। 'ख़तना' शरीर की निशानी है, मांस की नहीं। नये बाइबलों में इस अनुवाद को शुद्ध कर यहां 'देह' अनुवाद रख दिया है। पुराने अनुवाद में यह भूल 'Flesh' शब्द को देखकर हुई है। उस अनुवादक ने यह ध्यान नहीं दिया कि इसका अर्थ '**शरीर**' भी होता है। उदयपुर सं० तथा वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में यही अप-अनुवाद है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में लिपिकर के प्रमाद से ''**अपने लोग से कट जाय**'' अपपाठ है। यहां बहुवचन अपेक्षित है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि बाइबल के अन्य हिन्दी अनुवादों में इसके स्थान पर यह क्रूरतापूर्ण अनुवाद है—''**अपने लोगों में से नाश किया जाए**'' अर्थात् उसका वध कर दिया जाये (द्रष्टव्य बाइबल समिति बैंगलोर, संस्करण, १९८३)। किसी प्राचीन पादरी अनुवादक ने हलके शब्दों में अनुवाद किया है। जो गलत है।

४. **खतनः (खतना)**—यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमान बालकों और व्यक्तियों को धर्म में दीक्षित करने की वह रस्म जिसमें उनके लिंग के अग्रभाग को आच्छादित करने वाली चमड़ी को काट दिया जाता है। बाइबल में लिखा है कि आठ दिन के लड़के का खतना कर दिया जाये। यह परम्परा इब्राहीम से आरम्भ हुई थी (उत्पत्ति, पर्व० १७, आयत १०-१३)। खतना न कराने वालों के लिए आदेश है कि वे ईश्वर के भक्त नहीं हैं, अतः उनका नाश (=वध) कर दिया जाये (उत्पत्ति १७.१४)।

५. **कीड़ी**—यह गुजराती भाषा का प्रयोग है। ६. **त्रुटित पद**—मूलसं० में ''**बातों**'' पद त्रुटित है, द्वि०सं० में है। यह ग्राह्य है।

७. **ईसा का दावा**—ईसा का यह दावा आयतखण्ड ७० की आयत १८ में वर्णित है, वहां द्रष्टव्य है।

८. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में ''**और अब.....नहीं करते**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

९. **इब्राहीम शुद्ध नाम है**—जैसा कि पृष्ठ ८६२ पर स्पष्ट किया जा चुका है कि ईश्वर ने अब्राम (Abram) का नाम बदल कर

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि [ईसाइयों का] ईश्वर मनुष्य वा पक्षिवत् था जो ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर आता-जाता रहता था। यह कोई इन्द्रजाली पुरुषवत् विदित होता है॥ १९॥

२०. फिर ईश्वर उसे ममरे के बलूतों में दिखाई दिया और वह दिन को घाम के समय में अपने तम्बू के द्वार पर बैठा था। १। और उसने अपनी आँखें उठाईं और देखा कि तीन मनुष्य उसके पास खड़े हैं और उन्हें देखके वह तम्बू के द्वार पर से उनकी भेंट को दौड़ा और भूमि लों दंडवत् किया[१]। २। और कहा—''हे मेरे स्वामी! यदि मैंने अब आपकी दृष्टि में अनुग्रह पाया है तो मैं आपकी विनती करता हूँ कि अपने दास के पास से चले न जाइये। ३। इच्छा होय तो थोड़ा जल लाया जाय और अपने चरण धोइये और पेड़ तले विश्राम कीजिये। ४। और मैं एक कौर रोटी लाऊँ और आप तृप्त हूजिये। उसके पीछे आगे बढ़िये, क्योंकि आप इसीलिये अपने[२] दास के पास आये हैं।'' तब वे बोले कि ''जैसा तूने कहा तैसा कर। ५।'' और इब्राहीम तंबू में सरः[३] पास उतावली से गया और उसे कहा कि ''फुरती कर और तीन नपुआ[४] चोखा पिसान लेके गूंध और उसके फुलके पका। ६।'' और इब्राहीम झुंड की ओर दौड़ा गया और एक अच्छा कोमल बछड़ा लेके दास को दिया। उसने भी उसे सिद्ध करने में चटक किया। ७। और उसने मक्खन और दूध और वह बछड़ा जो पकाया था, लिया और उनके आगे धरा और आप उनके पास पेड़ तले खड़ा रहा और उन्होंने खाया। ८।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व १८। आ० १।२।३।४।५।६।७।८॥

समीक्षक—अब देखिये सज्जन लोगो! **जिनका ईश्वर बछड़े का मांस खावे, उसके उपासक गाय, बछड़े आदि पशुओं को क्यों छोड़ें? जिसको कुछ दया नहीं, मांस के खाने में आतुर रहे, वह विना हिंसक मनुष्य के, 'ईश्वर' कभी हो सकता है?** और ईश्वर के साथ दो मनुष्य न जाने कौन थे? इससे विदित होता है कि जंगली मनुष्यों की एक मण्डली थी। उनका जो प्रधान मनुष्य था, उसका नाम **'बाइबल'** में **'ईश्वर'** रक्खा होगा। इन्हीं बातों से बुद्धिमान् लोग इनके पुस्तक को ईश्वरकृत नहीं मान सकते और न ऐसे को ईश्वर समझते हैं॥ २०॥

२१. और परमेश्वर ने इब्राहीम से कहा कि ''सरः[५] क्यों यह कहके मुस्कुराई कि मैं जो बुढ़िया हूँ सचमुच बालक जनूंगी?। १३। क्या परमेश्वर के लिये कोई बात असाध्य है?''.....। १४।

तौरेत, [उत्पत्ति], पर्व १८। आ० १३।१४॥

समीक्षक—अब देखिये कि क्या-क्या ईसाइयों के ईश्वर की लीला है कि जो लड़कों वा स्त्रियों के समान चिड़ता और ताना मारता है!!॥ २१॥

'उत्पत्ति' पर्व० १७. आ० ५ में **'इब्राहीम'** (Abraham) रख दिया था, अतः यहां **'इब्राहीम'** नाम ही शुद्ध है। सभी सं० में अशुद्ध नाम प्रचलित है।

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''दण्डवत् किई''** अपवाक्य है, **''दण्डवत् किया''** शुद्ध वाक्य है।

२. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में **''अपने''** पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है, यह ग्राह्य है।

३,५. **Sarah (सारा)** बाइबल के अनुसार यहां 'सारै' का ही बदला हुआ 'सारा' या 'सरः' नाम शुद्ध है (उत्पत्ति, पर्व० १७, आ० १५)।

४. **नपुआ**—एक मनुष्य द्वारा खाये जा सकने जितने आटे का माप।

२२. तब परमेश्वर ने सदूम[१] और अमूर:[२] पर गंधक और आग परमेश्वर की ओर से स्वर्ग से वर्षाई। २४।[३] और उन नगरों को, सारे चौगानें[४] को और नगरों के सारे निवासियों को और जो कुछ भूमि पर उगता था, उलट दिया। २५। तौरेत, उत्पत्ति, पर्व १९। आ० २४। २५॥

समीक्षक—अब यह भी लीला 'बाइबल' के ईश्वर की देखिये कि जिसको बालक आदि पर भी कुछ दया न आई! क्या वे सब ही अपराधी थे, जो सबको भूमि उलटाके दबा मारा? यह न्याय, दया और विवेक से विरुद्ध है। **जिनका ईश्वर ऐसा काम करे, उसके[५] उपासक क्यों न करें?**॥ २२॥

२३. आओ, हम अपने पिता को दाख रस[६] पिलावें और हम उनके साथ शयन करें कि हम अपने पिता से वंश जुगावें। ३२। तब उन्होंने उस रात अपने पिता को दाखरस पिलाया और पहलौठी गई और अपने पिता के साथ शयन किया....। ३३। हम उसे आज रात भी दाखरस पिलावें, तू जाके उसके साथ शयन कर....। ३४। सो लूत[७] की दोनों बेटियाँ अपने पिता से गर्भिणी हुईं....। ३६।

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व १९। आ० ३२। ३३। ३४। ३६॥

समीक्षक—देखिये! जब पिता-पुत्री भी जिस मद्यपान के नशे में कुकर्म से न बच सके, ऐसे दुष्ट मद्य को जो ईसाई आदि पीते हैं, उनकी बुराई का क्या पारावार है? इसलिये **सज्जन लोगों को मद्य के पीने का नाम भी न लेना चाहिये**॥ २३॥

२४. और अपने कहने के समान परमेश्वर ने सर:[८] से भेंट की और अपने वचन के समान परमेश्वर ने सर: के विषय में किया। १। और सर: गर्भिणी हुई....।[९] २।

तौरेत, उत्पति, पर्व २१। आ० १। २॥

---

१. Sodom (सदोम) २. Gomorrah (अमोरा)

३. **स्वर्ग से आग बरसाना**—अर्थात् परमेश्वर ने अपनी ओर से आग बरसाई। मूलप्रति में '**वर्षाया**' अपक्रिया है। '**उलट दिया**' बाइबल के अनुवादकों का एक छद्म अनुवाद है। प्राय: सभी संस्करणों में '**नाश कर दिया**' सही अनुवाद होना चाहिए। आग बरसाने से सब कुछ उलटता नहीं है, नष्ट होता है।

४. **चौगान**—मैदान।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**उनके**" बहुवचनान्त अपप्रयोग है, एकवचन चाहिए है। बहुवचन से '**ईश्वर के**' नहीं, जिनका ईश्वर है उन '**ईसाइयों के उपासक**' अर्थ प्रकट हो रहा है। सभी सं० तथा उदयपुर सं० में अपपाठ है।

६. **शराब ही सही अर्थ है**—बाइबल के अंग्रेजी अनुवाद में यहां Wine शब्द है जिसका अर्थ '**शराब**' होता है। '**शराब**' इस निन्दात्मक शब्द से बचने के लिए तत्कालीन पादरियों ने '**दाखरस**' अनुवाद किया हुआ है। कहीं '**दाखमधु**' अनुवाद है। अनुवाद में सभ्य शब्द डालने से आयत में वर्णित घृणित कार्य कभी 'सभ्य' नहीं कहा जा सकता। इनसे उत्पन्न वंशों के नाम इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शराब के नशे में ही ऐसा घृणित कार्य हो सकता है, दाखरस पीने से नहीं। बड़ी बेटी से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम रखा '**मोआब**'। इसका अर्थ है—'पिता के वीर्य का अंश'। यह मोआब नामक जाति का मूलपुरुष माना गया है। छोटी पुत्री से उत्पन्न पुत्र का नाम '**बेनम्मी**' रखा गया। इस शब्द का अर्थ है—'अपने ही रक्तसम्बन्धी व्यक्ति से उत्पन्न'। यह अम्मोनवंशियों का मूलपुरुष है। इस घटना से बाइबल की अप संस्कृति-सभ्यता का अनुमान भलीभाँति लगाया जा सकता है। बाइबल में लड़कियों के पिता का नाम लूत (Lot) दिया है। ग्रन्थकार ने बार-बार इनको जंगली लिखा है, जो सुनने में कटु अवश्य है, किन्तु पिता-पुत्रियों के घृणिततम आचरण को देखकर कौन कह सकता है कि यह विशेषण अनुचित है?

७. **लूत का अन्यत्र वर्णन**—पैगम्बर माने गये इस **लूत** का वर्णन समु० १४ में कुरान की आयतखण्ड संख्या १४१ में द्रष्टव्य है। यहूदियों, ईसाइयों के साथ-साथ मुसलमान भी इसको अपना पैगम्बर मानते हैं।

८. **अन्य वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां छ: बार "**सर:**" वर्तनी है, यह "**सारा**" का ही अन्य उच्चारण है।

९. '**सर:**' **को पुत्रप्राप्ति**—गत आयतखण्ड २१ की आयत १४ में परमेश्वर नाम के व्यक्ति ने वसन्त ऋतु में सर: के पास आने के लिए कहा था। उसी का वर्णन यहां है कि वह परपुरुष आया और उससे सारा को पुत्रप्राप्ति हुई।

समीक्षक—अब विचारिये कि सरः से भेंट कर उसको गर्भवती किया[१], यह काम कैसे हुआ? क्या विना परमेश्वर और सरः के तीसरा कोई गर्भस्थापना का कारण दीखता है? ऐसा विदित होता है कि सरः परमेश्वर की कृपा से[२] गर्भवती हुई[३] ॥ २४ ॥

२५. तब इब्राहीम ने बड़े तड़के उठके रोटी और एक पखाल[४] में जल लिया और हाजिरः[५] के कन्धे पर धर दिया और लड़के को भी उसे सौंपके उसे विदा किया....। १४। .....उसने उस लड़के को एक झाड़ी के तले डाल दिया। १५। .....और वह उसके सम्मुख बैठके चिल्ला-चिल्ला रोई। १६। तब ईश्वर ने उस बालक का शब्द सुना.....। १७। तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २१। आ० १४। १५। १६। १७॥

समीक्षक—अब देखिये ईसाइयों के ईश्वर की लीला कि प्रथम तो सरः का पक्षपात करके हाजिरः वहाँ से निकलवा दी[६], और चिल्ला-चिल्ला रोई हाजिरः, और शब्द सुना लड़के का, यह कैसी अद्भुत बात है? यह ऐसा हुआ होगा कि ईश्वर को भ्रम हुआ होगा कि यह बालक ही रोता है। भला, यह ईश्वर और ईश्वर के पुस्तक[७] की बात कभी हो सकती है, विना साधारण मनुष्य के वचन के? **इस पुस्तक में थोड़ी-सी सत्य बात के अतिरिक्त सब असार भरा है॥** २५ ॥

२६. और इन बातों के पीछे यों हुआ कि ईश्वर ने इब्राहीम की परीक्षा की और उसे कहा—''हे इब्राहीम....। १। तू अपने बेटे को, अपने इकलौते इज़हाक[८] को जिसे तू प्यार करता है ले....उसे होम की भेंट के लिये चढ़ा। २।''

.....और अपने बेटे इज़हाक को बाँधके उस वेदी में लकड़ियों पर धरा। ९। और इब्राहीम ने छुरी लेके अपने बेटे को घात करने के लिये हाथ बढ़ाया। १०। तब परमेश्वर के दूत ने स्वर्ग पर से उसी को पुकारा कि ''हे इब्राहीम-इब्राहीम!....। ११।....अपना हाथ लड़के पर मत बढ़ा और उसे कुछ मत कर, क्योंकि अब मैं जानता हूं[९] कि तू ईश्वर से डरता है.''...। १२॥

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २२। आ० १। २। ९। १०। ११। १२॥

समीक्षक—अब स्पष्ट हो गया कि यह 'बाइबल' का ईश्वर अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ नहीं। और इब्राहीम

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सरः से भेंट कर गर्भवती की**'' अपवाक्य है। उपर्युक्त पाठ शुद्ध है। यही अपवाक्य वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० सहित अन्य सभी संस्करणों में है।

२-३. **सारा का नियोग**—महर्षि ने समीक्षा में व्यंग्य शैली में लिखा है कि ''**विदित होता है कि सारा परमेश्वर की कृपा से गर्भवती हुई।**'' ''कृपा से'' अर्थात् उसके सहवास से। किन्तु यह कथन तो निश्चयात्मक रूप से स्वयं बाइबल ने ही किया है कि परमेश्वर ने सारा को कहा था—''**नियत समय में अर्थात् वसन्त ऋतु में मैं तेरे पास फिर आऊँगा। और सारा के पुत्र उत्पन्न होगा**'' (उत्पत्ति, पर्व० १८। आ० १४)। स्पष्ट है कि सारा से उत्पन्न पुत्र '**इसहाक**' उसके पति का न होकर स्वयं को ईश्वर कहनेवाले किसी व्यक्ति का था। बाइबल में नियोग का अनिवार्य आदेश है, द्र०पृ० २०४ पर टिप्पणी।

४. **पखाल**=पीने का पानी रखने का पात्र।

५. **हाजिरः/हाजिरा (Hagar)**—यह अब्राम या इब्राहीम और सारा की दासी थी, जो मिश्र वंश की थी। इस शब्द की वर्तमान हिन्दी-अनुवादों में '**हाजिरा**' वर्तनी मिलती है। इसको भी '**इस्माएल**' नामक पुत्र हुआ जो इब्राहीम का नियोग से उत्पन्न पुत्र था। इससे भी कई वंश चले। उनका वर्णन आयतखण्ड संख्या २९ में है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी संस्करणों में यहां ''**हाजिरा को वहां से निकलवा दी**'' अपपाठ मिलता है।

७. **शैलीविरुद्ध परिवर्तन**—मूलह० में यहां ''**पुस्तक**'' पुंल्लिंग है, मुद्रणह० में स्त्रीलिंग बना दिया। **ऋषि-लेख**—मूलहस्त० में ''**विना.....भरा है**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है। ८. Isaac. (इसहाक)।

९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में त्रुटित ''**उसे कुछ.....जानता हूं**'' पाठ को पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

भी एक भोला मनुष्य था, नहीं तो ऐसी चेष्टा क्यों करता? '**बाइबल**' का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो क्यों कराता[१] और उसकी भविष्यत्-श्रद्धा को भी सर्वज्ञता से जान लेता?[२] ॥ २६ ॥

२७. ....सो आप हमारी समाधिन में से चुनके एक में अपने मृतक को गाड़िये....जिसतें आप अपने मृतक को गाड़ें ..... ॥। ६ । तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २३। आ० ६ ॥

समीक्षक—मुर्दों के गाड़ने से संसार की बड़ी हानि होती है, क्योंकि वह सड़के वायु को दुर्गन्धमय कर रोग फैला देता है।

प्रश्न—देखो, जिससे प्रीति हो उसको जलाना अच्छी बात नहीं। और गाड़ना [ऐसा है] जैसा कि उसको सुला देना है। इसलिये गाड़ना अच्छा है।

उत्तर—जो मृतक से प्रीति करते हो तो अपने घर में क्यों नहीं रखते? और गाड़ते भी क्यों हो? जिस जीवात्मा से प्रीति थी वह निकल गया, अब दुर्गन्धमय मिट्टी से क्या प्रीति? और जो प्रीति करते हो तो उसको पृथिवी में क्यों गाड़ते हो? क्योंकि किसी से कोई कहे कि 'तुझको भूमि में गाड़ देवें' तो वह सुनकर प्रसन्न कभी नहीं होता। उसके मुख, आँख, और शरीर पर धूल, पत्थर, ईंट, चूना डालना, छाती पर पत्थर रखना कौन-सा प्रीति का काम है?

और सन्दूक में डालके गाड़ने से बहुत दुर्गन्ध होकर पृथिवी से निकल, वायु को बिगाड़कर दारुण रोगोत्पत्ति करता है।

दूसरा, एक मुर्दे के लिये कम से कम ६ हाथ लम्बी और ४ हाथ चौड़ी भूमि चाहिये। इसी हिसाब से सौ, हजार वा लाख अथवा करोड़ों मनुष्यों के लिये कितनी भूमि व्यर्थ रुक जाती है! न वह खेत, न बग़ीचा और न वसने के काम की रहती है। इसलिये सबसे बुरा गाड़ना है।

उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना है, क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर-फाड़के[३] खा लेते हैं परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा वह सड़कर जगत् को दुःखदायक होगा।

उससे कुछ-एक थोड़ा बुरा जंगल में छोड़ना है, क्योंकि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी लूंच खायेंगे, तथापि जो उसके हाड़, हाड़ की मज्जा और मल सड़कर जितना दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा।

और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जायेंगे।[४]

१-२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पुनरुक्तिपूर्ण पाठ-परिवर्धन**—मूलप्रति के इस समीक्षा-पाठ को द्वितीय सं० के मुद्रण प्रतिलिपिकर ने अनावश्यक रूप से परिवर्धित किया है। अन्त में यह पंक्ति जोड़ दी—"**इससे निश्चित होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं**" जबकि ऊपर की पंक्तियों में दो बार यह कथन आ चुका है। यह पुनरुक्तिदोष युक्त पाठ है। संख्यांक १ पर महत्त्वपूर्ण समीक्षा वाक्य छोड़ दिया कि—"**ईश्वर सर्वज्ञ होता तो क्यों कराता?**" इससे महर्षि यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ होता और श्रद्धा को जानता तो बेटे की बलि लेने का घृणित कर्म आरम्भ ही क्यों करवाता। इससे बेटे को कितनी मानसिक पीड़ा से गुजरना पड़ा होगा। लिपिकरों की साधारण शैली और महर्षि की सारगर्भित शैली में यही विशेष अन्तर है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**चीर-फाड़ खा लेते हैं**' पाठ है। द्वि० सं० में "**चीर-फाड़के**" निरन्तर क्रिया पद है। द्वि० सं० का पाठ पूर्ण एवं ग्राह्य है।

४. **शरीर की अन्तिम क्रिया की प्रथाएं**—वे प्रथाएं इस प्रकार हैं—ईसाई और मुसलमान शव को गाड़ते हैं। कुछ अज्ञानी संन्यासी सम्प्रदाय मृत संन्यासी को जल में छोड़ देते हैं, जिसको उन्होंने भ्रामक नाम 'जल-समाधि' दे रखा है। पारसी लोग जंगल में बनाये गये गुम्बद पर शव को रख देते हैं जिसको पक्षी खा जाते हैं। आर्य-हिन्दू आदि अन्य सभी जन दाहकर्म करते हैं।

प्रश्न—क्या मुर्दे के धुएं से दुर्गन्ध नहीं होता ?[१]

उत्तर—हाँ, जो अविधि से जलावे तो थोड़ा-सा होता है, परन्तु गाड़ने आदि से बहुत कम होता है।

और जो विधिपूर्वक जैसा कि वेद में लिखा है—वेदी, मुर्दे के तीन हाथ गहिरी, साढ़े तीन हाथ चौड़ी, पांच हाथ लम्बी, तले में डेढ़ बीता अर्थात् चढ़ा- उतार खोदकर[२] शरीर के बराबर घी, उसमें एक सेर में रत्तीभर कस्तूरी, मासाभर केशर डाल, न्यून से न्यून आधा मन चन्दन लें, अधिक चाहें जितना लें। अगर, तगर, कपूर आदि और पलाश आदि की लकड़ियों को वेदी में जमा, उस पर मुर्दा रखके पुनः चारों ओर ऊपर वेदी के मुख से एक बीता तक, भरके, उस घी की आहुति[३] देकर जलाना लिखा है। इस प्रकार से दाह करें तो कुछ भी दुर्गन्ध न हो। **इसी का नाम अन्त्येष्टि, नरमेध, पुरुषमेध यज्ञ है।**

और जो दरिद्र हो तो वीस सेर से कम घी चिता में न डाले, चाहे वह भीख मांगने वा जातिवालों[४] के देने[५] अथवा राज्य से मिलने से प्राप्त हो, परन्तु उसी प्रकार दाह करे। और जो घृतादि किसी प्रकार न मिल सके तथापि गाड़ने[६] आदि से केवल लकड़ी से भी मृतक का जलाना उत्तम है, क्योंकि एक बिस्वाभर[७] भूमि में अथवा एक वेदी में लाखों-करोड़ों मृतक जल सकते हैं। भूमि भी गाड़ने के समान

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस प्रश्नवाक्य के पाठ को इस प्रकार बदला है—"**जलाने से भी दुर्गन्ध होता है।**" इस पाठभेद के होने में कारण-विशेष रहा है। प्रतिलिपि करते समय मुद्रण-लिपिकर उक्त वाक्य को लिखना छोड़ गया। ऋषि ने जब पढ़ा तो उन्होंने मूल को बिना देखे नया वाक्य बनाकर लिख दिया। इस प्रकार यह पाठान्तर हो गया। मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त वाक्य अधिक स्पष्टार्थक है। मुद्रणप्रति का पाठ विवशता में निर्मित है।

२. **शव की वेदी के परिमाण में विरोधाभास का उत्तर**—वेदी-रचना के परिमाण के सम्बन्ध में लेखक के वर्णनों में परिभाषा की कुछ भिन्नता पाई जाती है। इसी ग्रन्थ में एक ही पृष्ठ पूर्व पृ० ८६७ पर यह परिमाण है—"**एक मुर्दे के लिये कम से कम ६ हाथ लम्बी और ४ हाथ चौड़ी भूमि चाहिये।**" कुछ लोग इसमें विरोधाभास देखते हैं किन्तु वह है नहीं।

'संस्कार विधि' में यह परिमाण है—"**उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे, उतनी लम्बी, और दोनों हाथों को लम्बे उत्तर-दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ ऊपर चौड़ी होवे, और छाती के बराबर गहरी होवे।**" (अन्त्येष्टि प्रकरण)

यहां इनसे कुछ भिन्न परिमाण है। इन भिन्नताओं में कुछ तो तालमेल हो जाता है, जैसे- हाथ उठाकर खड़े प्रत्येक पुरुष का अपना परिमाण पांच हाथ के लगभग होता है, हाथ फैलाने का परिमाण साढ़े तीन हाथ के लगभग और छाती के बराबर परिमाण लगभग तीन हाथ होता है।

तले में डेढ़ बीता चढ़ा-उतार का अभिप्राय यह है कि शव का सिर एक से डेढ़ बीता पैरों से ऊंचा होना चाहिए। अतः सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के परिमाण में भिन्नता नहीं है।

वस्तुतः, इसका समाधान यह है कि पृष्ठ ८६७ पर वर्णित परिमाण वह है जो ईसाई-मुसलमानों की लकड़ी की पेटी सहित कब्र बनाने में लगता है और यहां शवदाह के लिए वेदी का परिमाण है। "**वेदी में.....भरके**" मूलह० में ऋषिलेख है।

३. **अयोग्य लिपिकर-शोधक**—मूल और मुद्रणलिपिकरों ने दोनों हस्तलेखों में "**आहुती**" वर्तनी लिखी है। मक्कार शोधकों ने भी ध्यान नहीं दिया, द्विप्र० में अशुद्ध ही छपी है। आगे सभी द्वारा संशोधित है। शुद्ध वर्तनी पृ० ९० पर द्रष्टव्य है।

४. **जाति से अभिप्राय**—ऋषि दयानन्द जन्मना जाति को नहीं मानते। फिर भी उनके ग्रन्थों में जहां 'जाति' शब्द का प्रयोग मिलता है। उसका अर्थ होता है- '**समुदाय**' अथवा '**वर्ण**'। इन अर्थों में परम्परागत रूप से 'जाति' शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे आज भी कहते हैं—'**हिन्दू जाति**', '**अंग्रेज जाति**' आदि। द्रष्टव्य पृ० ७०० पर टिप्पणी।

५. **अपप्रयोग**—यहां मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में "**जातिवाले के देने**" अपप्रयोग है।

६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं०, मुद्रणह० और द्विप्र० में यहाँ "**गाढ़ने**" प्रयोग है, जो अपप्रयोग है। **संशोधन-पुष्टि**—यहीं पर अनेक अन्य वाक्यों में "**गाड़ना**" प्रयोग है। (पृ० ८६७, पंक्ति ५, ७, ११ आदि) हिन्दी व्याकरण में कोई '**गाढ़**' धातु 'गाड़ने' अर्थ में नहीं है। द्वि०सं० में यह संशोधित है। ग्रन्थ में अन्यत्र भी अनेक बार "**गाड़ना**" प्रयोग है। यही ग्राह्य है।

७. **अपवर्तनी—बिस्वाभर**=एक बिस्वा क्षेत्रफल। एक बीघा भूमि का बीसवां भाग 'एक बिस्वा' क्षेत्र होता है। लगभग १५० गज

अधिक नहीं बिगड़ती। और क़ब्र के देखने से भय भी होता है। इससे गाड़ना आदि सर्वथा निषिद्ध है॥ २७॥

२८. ....परमेश्वर मेरे स्वामी इब्राहीम का ईश्वर धन्य है जिसने मेरे स्वामी को अपनी दया और अपनी सच्चाई विना न छोड़ा, मार्ग में परमेश्वर ने मेरे स्वामी के भाइयों के घर की ओर मेरी अगुआई की। २७। तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २४। आ० २७॥

समीक्षक—क्या वह इब्राहीम का ही ईश्वर था? और जैसे आजकल बेगारी वा अगवे लोग अगुआई अर्थात् आगे-आगे चलकर मार्ग दिखलाते हैं, वैसा ईश्वर ने भी किया तो आजकल मार्ग क्यों नहीं दिखलाता? और मनुष्यों से बातें क्यों नहीं करता? इसलिये ऐसी बातें ईश्वर वा ईश्वर के पुस्तक की कभी नहीं हो सकतीं, किन्तु जंगली मनुष्य की हैं॥ २८॥

२९. इश्माएल[१] के बेटों के नाम ये हैं—इश्माएल का पहिलौठा नबायोत[२] और केदार[३] और अदबेल[४] और मिबसाम[५]। १३। और मिश्मा[६] और दूमः[७] और मस्सा[८]। १४। हदर[९] और तेमा[१०], यतूर[११], नफीस[१२] और किदमः[१३]। १५। तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २५ आ० १३। १४। १५॥

समीक्षक—यह इश्माएल, इब्राहीम से उसकी हाजिरः दासी का पुत्र हुआ था[१४]॥ २९॥

३०. ....मैं तेरे पिता की रुचि के समान स्वादित भोजन बनाऊंगी। ९। और तू अपने पिता के पास ले जाइयो जिसतें वह खाय और अपने मरने से आगे तुझे आशीष देवे। १०। और रिबकः[१५] ने घर में से अपने जेठे बेटे एसाव[१६] का अच्छा पहरावा लिया और अपने छोटे बेटे याक़ूब[१७] को पहनाया[१८]। १५। और बकरी के मेम्नों का चमड़ा उसके हाथों और गले की चिकनाई पर लपेटा। १६।

भूमि। यह हिन्दी 'बीसवां' का अपभ्रंश है। तीनों संस्करणों में अशुद्ध वर्तनी '**विश्वा**' हैं। सभी सं० में अशुद्ध है।

१. Ishmael (इश्माएल)। इसके पिता का नाम इब्राहीम था। इब्राहीम की पत्नी का नाम सारा था। इब्राहीम की दासी थी हाजिरः 'हाजिरा'। हाजिरा दासी से 'इश्माएल' का जन्म हुआ था। ये सभी १२ पुत्र उसी दासी से उत्पन्न हुए पुत्र के वंशज थे।

२. Nabaioth (नबायोत) ३. kedar (केदार) ४. Adbeel (अद्बेल)

५. Mibsam (मिबसाम) ६. Mishma (मिश्मा) ७. Dumah (दूमः/ दूमा)

८. Massa (मस्सा) ९. Hadar (हदर) १०. Tema (तेमा)

११. Jetur (यतूर) १२. Naphish (नाफीश) १३. Kedemah (किदिमः/ कदमा)

इजरायल देश के इन बारह वंशों के समुदाय को, मूलपुरुष इब्राहीम के नाम पर 'इबरानी' जाति कहा जाता है।

१४. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलहस्त०, मुद्रणह० और मूलप्रति संस्करण में यहां अन्त में दो वाक्य हैं—"**इसी का वंश मुसलमान हुए हैं। तभी दासीपुत्र होने से मुसलमान लोग बहुत-से खुशामदी होते हैं।**" द्विप्र०, द्वितीय सं० से ये वाक्य हटा दिये हैं, जो उचित है; क्योंकि यहां मुसलमानों के वंश की समीक्षा का प्रसंग ही नहीं है। मुसलमानों से पूर्व तो ईसाई इसी वंश में हुए हैं। यह पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि ने स्वहस्त से परिवर्धित किया था और फिर काट दिया था।

१५. Rebekah (रिबकः/ रिबका) १६. Esau (एसाव) १७. Jacob (याक़ूब)

बाइबल में आये इन सभी नामों की अंग्रेजी वर्तनी, हिन्दी-उच्चारण तथा अनुवाद बाइबल के वर्तमान अंग्रेजी संस्करण तथा हिन्दी अनुवाद संस्करण से ग्रहण किये हैं (प्रकाशक-बाइबल समिति, बैंगलोर, १९८३ संस्करण)।

१८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**अपने छोटे बेटे याक़ूब को पहिनाया और**" पाठ त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में महर्षिप्रोक्त यह पाठ पूर्ण है। वेस, जग, भद में त्रुटित है, युमी में कोष्ठक में दिया है। उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण कर लिया है।

१९. **अव्यवस्थित वर्तनी याक़ूब (Jacob) नाम की**—ग्रन्थ में इसकी दो वर्तनियां प्राप्त हैं—१. **यअक़ूब** (मूलसं० ५८८, ५८९, ५९०; द्वि० सं० ३३१, ३३२; कुल तेरह बार यह वर्तनी है), २. **याकूब** (मूलसं० पृ० ५९३; द्वि०सं० ३३४)। भाषात्मक

तब याक़ूब[१९] अपने पिता से बोला कि ''मैं आपका पहिलौठा एसाव हूं, आपके कहने के समान मैंने किया है, उठ बैठिये और मेरे अहेर के[१] मांस में से खाइये, जिसतें आपका प्राण मुझे आशीष दे। १९।'' तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २७। आ० ९। १०। १५। १६। १९॥

समीक्षक—देखिये, ऐसे झूठ-कपट से आशीर्वाद लेके पश्चात् सिद्ध और पैग़म्बर बनते हैं, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? और ईसाइयों के ऐसे 'अगुआ' हुए हैं! पुनः इनके मत की गड़बड़ में क्या न्यूनता हो॥ ३०॥[२०]

३१. और याक़ूब बिहान को तड़के उठा और उस पत्थर को जिसे उसने अपना उसीसा[२] किया था, खंभा खड़ा किया और उस पर तेल डाला। १८। और उस स्थान का नाम बेतएल[३] रक्खा....। १९। और यह पत्थर जो मैंने खंभा-सा खड़ा किया, ईश्वर का घर होगा....। २२।

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व २८। आ० १८। १९। २२॥

समीक्षक—अब देखिए जंगलियों के काम! इन्होंने पत्थर पूजे और पुजवाये। और इसको मुसलमान लोग [भी] '**बेतएलमुकद्दस**'[४] कहते हैं। क्या यही पत्थर ईश्वर का घर [है], और उसी पत्थरमात्र में ईश्वर रहता था? वाह-वाह! क्या कहना है ईसाई लोगो! महाबुतपरस्त[५] तो तुम ही हो॥ ३१॥

३२. और ईश्वर ने राख़िल[६] को स्मरण किया और ईश्वर ने उसकी सुनी और उसकी कोख को खोला। २२। और वह गर्भिणी हुई और बेटा जनी और बोली कि ईश्वर ने मेरी निन्दा दूर की। २३।[७]

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ३०। आ० २२। २३॥

समीक्षक—वाह-वाह! ईसाइयों का ईश्वर क्या बड़ा डाक्टर[८] है! स्त्रियों की कोख खोलने को कौन-से शस्त्र वा औषध थे जिनसे खोली? ये सब बातें अन्धाधुन्ध की हैं॥ ३२॥

३३. परन्तु ईश्वर अरामी लाबान[९] कने स्वप्न में रात को आया और उसे कहा कि चौकस रह,

---

एकरूपता और मानकता की दृष्टि से 'याक़ूब' वर्तनी ग्राह्य है। आगे सर्वत्र '**यअकूब**' के स्थान पर '**याक़ूब**' लिखा है।

२०. **ऋषिलेख**—मूलहस्त० में ''**और ईसाइयों.....हो**'' पाठ ऋषिलेख में परिवर्धित है।

१. **अहेर के**=शिकार के। २. **उसीसा**=सिरहाना

३. **Bethel (बेतेल या बैथल)** अर्थात् ईश्वर का घर या स्थान। यहां सभी संस्करणों में ''बैतएल'' वर्तनी है। जबकि समीक्षा में मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**बयतलमुकद्दस**'' अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४. **बेतएलमुकद्दस (बेतेलमुकद्दस)**—यह उस स्थान या पूजागृह का नाम है जो यहूदियों की सर्वप्रथम मस्जिद बनी थी। यह इजरायल की राजधानी यरुसलेम में है। इसको बनवाने का संकल्प हज० दाऊद ने लिया था और दाऊद की मृत्यु के बाद बनाया था उसके पुत्र सुलैमान ने। मुसलमान भी इसको पवित्र स्थान मानते हैं। वे इसको '**मस्जिदे अक्सा**' कहते हैं। मुसलमान पहले इसी की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ते थे। काबा की मस्जिद के निर्माण बाद उसकी ओर मुंह करके पढ़ने लगे।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**महाबुत्परस्त**'' अपवर्तनी है, '**महाबुतपरस्त**' अपेक्षित है। सभी में अशुद्ध है।

६. **Rachel** (राहेल)।

७. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**और बोली....दूर की**'' पाठ त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है। बाइबल में होने के कारण और पाठ की पूर्णता के लिए यह ग्राह्य है।

८. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस शब्द की अशुद्ध वर्तनी पाई जाती है—''**डाक्तर**''। अंग्रेजी भाषा में शुद्ध वर्तनी ''**डाक्टर**'' है। शुद्धता की दृष्टि से सर्वत्र ''**डाक्टर**'' वर्तनी गृहीत है। द्वितीय सं० में संशोधित है। (पृ० ३३२)

९. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की बेहद हास्यास्पद टिप्पणी—Laban (लाबान)** यह व्यक्ति '**अराम/आराम**' देश का निवासी था। द्विप्र० में ''**आरामी लावन**'' और द्वि० सं० में ''**लावन**'' अपप्रयोग है। **पं० युधिष्ठिर मीमांसक** ने '**आरामी**'

तू याक़ूब को भला बुरा मत कहना....। २४। क्योंकि तू अपने पिता के घर का निपट अभिलाषी है, तूने किसलिये मेरे देवों को चुराया है?। ३०। तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ३१। आ० २४। ३०॥

समीक्षक—यह हम नमूना लिखते हैं, हजारों मनुष्यों को स्वप्न में आया, बातें की; जाग्रत में[१] साक्षात् मिला; खाया-पीया, आया-गया आदि '**बाइबल**' में लिखा है; परन्तु अब न जाने वह है वा नहीं? क्योंकि अब किसी को स्वप्न वा जाग्रत[२] में भी ईश्वर नहीं मिलता और यह भी विदित हुआ कि ये जंगली लोग पाषाणादि मूर्तियों को देव मानकर पूजते थे। परन्तु ईसाइयों का ईश्वर भी पत्थर को ही देव मानता है,[३] नहीं तो देवों का चुराना कैसे घटे?॥ ३३॥

३४. और याक़ूब अपने मार्ग चला गया और ईश्वर के दूत उसे आ मिले। १। और याक़ूब ने उन्हें देखके कहा कि यह ईश्वर की सेना है....। २। तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ३२। आ० १। २॥

समीक्षक—अब ईसाइयों के ईश्वर का मनुष्य होना कुछ भी संदिग्ध नहीं रहा,[४] क्योंकि ईश्वर के पास सेना भी है जब सेना हुई तो सब शस्त्र भी होंगे तथा किसी से लड़ाई-बखेड़े भी होते होंगे; नहीं तो सेना रखने का क्या प्रयोजन है?[५]॥ ३४॥

३५. और याक़ूब अकेला रह गया और वहाँ पौ फटे लों एक जन उससे मल्ल युद्ध[६] करता रहा। २४। और जब उसने देखा कि वह प्रबल न हुआ तो उसकी जांघ को भीतर से छूआ, तब याक़ूब के जांघ की नस उसके संग मल्लयुद्ध करने में चढ़ गई। २५। तब वह बोला कि ''मुझे जाने दे क्योंकि पौ फटती है'' और वह बोला ''मैं तुझे जाने न देऊंगा जब लों तू मुझे आशीष न देवे। २६।'' तब उसने उसे कहा कि ''तेरा नाम क्या [है][७]?'' और वह बोला कि ''याक़ूब''। २७। तब उसने

वर्तनी को माना है। कभी-कभी विद्वान् भी विचलित हो जाते हैं। मीमांसक जी ने ''**आरामी**'' शब्द पढ़कर भ्रान्तिवश यह हास्यास्पद टिप्पणी दी है—''**आरामी=आराम करने वाला=सोने वाला**'' (पृ० ७६९) यहां उनकी प्रसंग को समझने की भूल रही है। यही ज्यों की त्यों अविचारित नकल **स्वामी विद्यानन्द जी** ने कर डाली। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने भी सोचा कि क्यों माथापच्ची की जाये। उनको भी अन्धानुकरण का मार्ग सुविधाजनक लगा, इसलिए मीमांसक जी का यथावत् अन्धानुकरण करके वही बेतुकी टिप्पणी दे दी। हमें अब इस बात की चिन्ता है कि बाइबल के ज्ञाता जन इस अज्ञानतापूर्ण टिप्पणी को पढ़कर हमारे विद्वानों के बारे में क्या सोचेंगे? वस्तुतः यह '**आरामी**' नहीं '**अरामी**' नाम है और '**लाबान**' का विशेषण है। लाबान 'अराम' देश का निवासी था इसलिए उसको '**अरामी**' देश-सम्बन्धी विशेषण से वर्णित किया गया है, जैसे 'गलील' देश का निवासी होने से ईसा को '**ईसा गलीली**' कहा जाता है। '**अराम**' देश बाबुल और हमात के लगभग मध्यक्षेत्र में स्थित था। मुद्रणलिपिकरकृत वही अशुद्ध वर्तनी द्विप्र० और कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित **उदयपुर सं०** में छपी है जबकि मूलह०, मूलसं०, द्वि०सं० में शुद्ध है।

१-२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर ''**जागृत**'' अपवर्तनी है। यही अपवर्तनी उदयपुर सं० में है।

३. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में ''**परन्तु.....मानता है**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**अब ईसाइयों का ईश्वर मनुष्य होने में कुछ भी संदिग्ध नहीं रहा**''। उपर्युक्त संशोधन ग्राह्य है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक विस्तार**—मुद्रणप्रति, द्विप्र० व द्वि० सं० में इन दो वाक्यों का पाठ इस प्रकार बढ़ाया है—''**क्योंकि सेना भी रखता है। जब सेना हुई तब शस्त्र भी होंगे और जहां-तहां चढ़ाई करके लड़ाई भी करता होगा, नहीं तो सेना रखने का क्या प्रयोजन है?**'' इस परिवर्तन में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। महर्षिप्रोक्त मूलपाठ ही ग्राह्य है।

६-७. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलसं० में ''**युद्ध**'' पद है, ''**मल्ल**'' पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। समीक्षा में यही प्रयोग है। दूसरे स्थान पर दोनों सं० में ''**है**'' क्रिया त्रुटित है। वाक्यपूर्ति के लिए ग्राह्य है।

कहा कि ''तेरा नाम आगे को याक़ूब न होगा परन्तु इस्राएल[१], क्योंकि तूने ईश्वर के और मनुष्यों के आगे राजा की नाईं मल्लयुद्ध किया और जीता। २८।'' तब याक़ूब ने उससे पूछा कि ''अपना नाम बताइये'' और वह बोला कि ''तू मेरा नाम क्यों पूछता है?'' और उसने उसे वहाँ आशीष दिया। २९। और याक़ूब ने उस स्थान का नाम पनीएल[२] रक्खा, क्योंकि मैंने ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा और मेरा प्राण बचा है। ३०। और जब वह पनूएल[३] से पार चला तो सूर्य की ज्योति उस पर पड़ी और वह अपनी जांघ से लंगड़ाता था। ३१। इसलिये इस्राएल[४] के वंशज [पशुओं की][५] उस जांघ की नस को, जो [याक़ूब की] चढ़ गई थी, आज लों नहीं खाते, क्योंकि उसने याक़ूब के जांघ की

१,४. **'इस्राएल' नाम की घोर अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस्राएल (Israel) अर्थात् ईश्वर से मल्लयुद्ध करने वाला) नाम की वर्तनी में घोर अव्यवस्था है। लिपिकरों ने खुलकर अपनी अयोग्यता और प्रमाद का प्रमाण दिया है और आदि-शोधकों ने अपनी कर्त्तव्यहीनता और मक्कारी का। देखिए और आप भी माथा पीटिए—

(क) **मूलप्रति सं०** में यह नाम निम्नलिखित आठ प्रकार से लिखा मिलता है—

१. **इसराइल** (पृ० ५९४) ४. **इस्राएल** (पृ० ६२२, ६२९) ७. **ईस्त्रायेल** (पृ० ६१५, ६१६)
२. **इसराईल** (पृ० ६७८) ५. **इस्राऐल** (पृ० ६२९) ८. **इसराएल** (पृ० ५९०, ५९४, ५९७, ६०२)।
३. **इसरायल** (पृ० ६०२) ६. **इस्त्रायेल** (पृ० ५९४)

(ख) **द्वितीय सं०** में इस नाम की छह वर्तनियां मिलती हैं—

१. **इसराइल** (पृ० ३३४) ३. **इस्राएल** (पृ० ३४९, ३५३) ५. **इसरायल** (पृ० ३३९)
२. **इसराईल** (पृ० ३७८) ४. **इस्त्रायेल** (पृ० ३३४, ३४५) ६. **इसराएल** (पृ० ३३२, ३३४, ३३६, ३३८, ३३९)।

(ग) **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश में भी चार वर्तनियां मिलती हैं—

१. **इसराईल** (पृ० ८८४) ३. **इसराएल** (पृ० ७८०, ७८६, ७८७)
२. **इसरायेल** (पृ० ७७१, ७७६) ४. **इस्राएल** (पृ० ८०२, ८१२, ८१३)।

(घ) **द्वितीय सं० (प्रथमावृत्ति सन् १८८४)** में भी छह वर्तनियां हैं। निष्कर्ष यह है कि किसी भी संस्करण में एक स्थान पर न तो एक जैसी वर्तनी है और न वर्तनी की एकरूपता है।

(ङ) कथित 'दश विद्वानों' द्वारा सम्पादित '**उदयपुर संस्करण**' में वर्तनी की यही अराजकता, अमानकता और अप्रामाणिक स्थिति है। उसमें छह वर्तनियां पाई गई हैं। द्विप्र०, द्वि०सं० में कुछ वर्तनी है तो वहां इनके संस्करण में कुछ अन्य है—

१. **इसराएल** (पृ० ४८०, ४८२, ४८४, ४८९ आदि) ३. **इस्त्राइल** (पृ० ४९७/२) ५. **इस्त्राऐल** (पृ० ५०९)
२. **इस्त्रायेल** (पृ० ४८२) ४. **इसराईल** (पृ० ५४६) ६. **इस्त्राएल** (पृ० ५०३, ५०९/२)

क्या ऐसी भी किसी ग्रन्थ की दुर्दशा-दुर्गति हुआ करती है? किन्तु हमारे धर्मग्रन्थ की है और सवा-सौ वर्षों से बनी हुई है!!

यही अव्यवस्था **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० भगवद्दत्त जी** तथा अन्य सभी के संस्करणों में है। गत सवा-सौ वर्षों की अवधि के सम्पादकों ने भी इस अव्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया जिसके परिणामस्वरूप लिपिकरों की लीला से उत्पन्न यह हास्यापद स्थिति आज तक बनी हुई है। इस संस्करण में इनमें से वर्तमान बाइबल के हिन्दी-अनुवाद में प्राप्त वर्तनी '**इस्राएल**' (Israel) को एकरूपता और मानकता की दृष्टि से ग्राह्य मानकर सर्वत्र प्रयुक्त किया है। आगे इस शब्द पर टिप्पणी नहीं दी जायेगी।

२-३. Peniel (पनीएल)=ईश्वर का मुख। Penuel (पनूएल)

वर्तनी की अव्यवस्था एवं अशुद्धता—सभी सं० में इन शब्दों की वर्तनी में अव्यवस्था है। किसी में ''**फनुएल**'' तथा किसी में ''**फनूएल**'' वर्तनी है। सभी में अशुद्धता यह है कि दोनों स्थानों पर हिन्दी की वर्तनी एक ही है जबकि बाइबल के अंग्रेजी मूलपाठ में दोनों की पृथक्-पृथक् वर्तनी है। तदनुसार हिन्दी वर्तनी भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। इस सं० में दोनों वर्तनियों को शुद्ध कर दिया है।

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की अशुद्धि—पं० जी ने यहां दो अशुद्धियां की हैं—१. दोनों स्थलों के शब्दों की भिन्न-भिन्न अंग्रेजी वर्तनी है जबकि उन्होंने एक ही दिखाई है ''Phanuel'' २. बाइबल मूलपाठ के अनुसार यह वर्तनी भी अशुद्ध है। इस सं० में प्रदर्शित वर्तनियां शुद्ध हैं। **स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने भी यही त्रुटियां की हैं।

नस को, जो चढ़ गई थी, छूआ था। ३२।

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ३२। आ० २४। २५। २६। २७। २८। २९। ३०। ३१। ३२॥

समीक्षक—ईसाइयों का ईश्वर अखाड़मल्ल है! तभी तो सर: और राख़िल[१] पर पुत्र होने की कृपा की। भला, यह कभी ईश्वर हो सकता है?[२] और देखो लीला कि एक जन नाम पूछे तो दूसरा अपना नाम ही न बतलावे! और ईश्वर ने उसकी नाड़ी चढ़ा तो दी और जीत गया परन्तु जो डाक्टर[३] होता तो जांघ की नाड़ी को अच्छा भी करता। और ऐसे ईश्वर की भक्ति से जैसा कि याक़ूब लंगड़ाता रहा तो अन्य भक्त भी लंगड़ाते होंगे। जब ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा और मल्लयुद्ध किया, यह बात विना शरीरवाले के कैसे हो सकती है? यह केवल लड़केपन की लीला है॥ ३५॥

३६. .....ईश्वर का मुंह देखा....। १०।[४] तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ३३। आ० १०॥

समीक्षक—जब ईश्वर के मुँह है तो और भी सब अवयव होंगे और वह जन्म-मरणवाला भी होगा॥ ३६॥

३७. और यहूदाह[५] का पहिलौठा एर[६] परमेश्वर की दृष्टि में दुष्ट था, सो परमेश्वर ने उसे मार डाला। ७। तब यहूदाह ने ओनान[७] को कहा कि ''अपने भाई की पत्नी के पास जा और उससे ब्याह कर और अपने भाई के लिये वंश चला। ८।'' और ओनान ने जाना[८] कि यह वंश मेरा न होगा और यों हुआ कि जब वह अपने[९] भाई की पत्नी पास गया तो वीर्य को भूमि पर गिरा दिया....। ९। और उसका वह कार्य परमेश्वर की दृष्टि में बुरा था, इसलिये उसने उसे भी मार डाला। १०।

तौरेत, उत्पत्ति, पर्व ३८। आ० ७। ८। ९। १०॥

---

५. **त्रुटित एवं भ्रष्ट अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस आयत का अनुवाद कुछ पद त्रुटित रह जाने से अनर्थमय हो गया है। इस अनुवाद से यह अर्थ प्रकट हो रहा है कि याक़ूब की जो नस चढ़ गई थी उसको इस्रायली नहीं खाते। यहां कथ्य विषय है कि पशुओं का मांस खाते समय जांघ की उस नस को नहीं खाते। यही अर्थ बाइबल के अनुवाद में है। यह बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ बढ़ाये बिना प्रकट नहीं होता, अत: उपुयक्त पाठ-परिवर्धन अत्यावश्यक है। इसी प्रकार '**वंश**' अपप्रयोग है, ''**वंशज**'' पद होना चाहिए। 'उदयपुर सं०' आदि सभी अन्य संस्करणों में यही अपपाठ है।

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**राखल**'' अपवर्तनी है। आयत ३२ के पाठ में ''**राख़िल**'' है। मानकता और एकरूपता के लिए एक ही वर्तनी ''**राख़िल**'' ग्राह्य है।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां ''**केवल लड़केपन की लीला है**'' वाक्य है। इस अनावश्यक वाक्य को द्वि० सं० में हटा दिया गया है। यह संशोधन सही हुआ है, क्योंकि यही वाक्य अन्त में निष्कर्ष वाक्य के रूप में है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी का उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां ''**डॉक्तर**'' अपवर्तनी है। द्वि०सं० में यहां शुद्ध वर्तनी '**डॉक्टर**' है। अंग्रेजी भाषा की शुद्धता की दृष्टि से यही ग्राह्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर की भूल से त्रुटित आयत व समीक्षा**—ईसाइयों के ईश्वर को साकार सिद्ध करने वाली इस आयत व इसकी समीक्षा को मुद्रणलिपिकर भूल से छोड़ गया, अत: द्वि०प्र० में नहीं छपी। महत्त्वपूर्ण होने से ३४वें सं० में पुन: इसको ग्रहण कर लिया। सभी द्वि०सं० में गृहीत है किन्तु उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण न करके मुद्रणलिपिकर की भूल को महर्षि के लेखन से अधिक प्रामाणिक मान लिया।

५. **(यहूदाह)** Judah यहां यही वर्तनी शुद्ध है। यह उस यहूदा इस्करियोती से भिन्न व्यक्ति है जो ईसा का शिष्य था तथा जिसने ईसा को चांदी के तीस रुपयों के बदले पकड़वाया था। (द्र० आयतखण्ड संख्या ९५, ९७)

भिन्न इंग्लिश वर्तनी—पं० मीमांसक जी ने ''JUDA'' वर्तनी दी है। वर्तमान बाइबल में पूर्वोक्त वर्तनी है। पं० मीमांसक जी ने 'एर' की ''HER'' वर्तनी दी है। इंग्लिश बाइबल में 'Er' मिलती है। ६. Er (एर)। ७. Onan (ओनान)।

८,९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां ''**कहा**'' और ''**अपनी**'' अपप्रयोग हैं, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध हैं।

समीक्षक—अब देख लीजिये! ये मनुष्यों के काम हैं कि ईश्वर के? जब उसके साथ नियोग हुआ तो उसको क्यों मार डाला? उसकी बुद्धि शुद्ध क्यों न कर दी? **और वेदोक्त नियोग भी प्रथम सर्वत्र चलता था। यह निश्चय हुआ कि नियोग की बातें सब देशों में चलती थीं**[१] ॥ ३७ ॥

''तौरेत यात्रा की पुस्तक''[२]

३८. ... जब मूसा[३] **सयाना हुआ ... और अपने भाइयों में से एक इबरानी**[४] **को देखा कि मिश्री उसे मार रहा है। ११। तब उसने इधर-उधर दृष्टि की और देखा कि कोई नहीं, तब उसने उस मिश्री**[५] **को मार डाला और बालू में**[६] **उसे छिपा दिया। १२। जब वह दूसरे दिन बाहर गया तो देखा**[७] **कि दो इबरानी आपस में झगड़ रहे हैं। तब उसने उस अंधेरी**[८] **को कहा कि तू अपने पड़ोसी को क्यों मारता है?। १३। तब उसने कहा कि किसने तुझे हम पर अध्यक्ष अथवा न्यायी ठहराया? क्या तू चाहता है कि जिस रीति से तूने मिश्री को मार डाला, मुझे भी मार डाले? तब मूसा डरा और कहा कि निश्चय यह बात खुल गई। १४। जब फ़िरौन**[९] **ने यह बात सुनी तो चाहा कि मूसा को मार डाले। परन्तु मूसा फ़िरौन**[१०] **के आगे से**[११] **भाग निकला**[१२]**.....। १५।**

तौ०, यात्रा, प० २। आ० ११, १२, १३, १४, १५ ॥

---

१. **नियोग की परम्परा विश्वव्यापी**—बाइबल में भी नियोग वर्णन है। विस्तृत टिप्पणी पृ० २०४ और ८६६ पर द्रष्टव्य है।
उचित संशोधन—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**सर्वत्र चलती थीं**'' पाठ है जो पहले वाक्य की पुनरुक्ति मात्र है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसके स्थान पर ''**सब देशों में चलती थीं**'' संशोधन किया है जो ग्राह्य है।

२. **बाइबल में तौरेत यात्रा की पुस्तक का अंग्रेजी नाम**—'EXODUS' यह **मूसा** द्वारा रचित है।

३. **मूसा की घटना का अन्यत्र वर्णन कुरान में भी**—यहूदियों के आदि-पैगम्बर की इस घटना का वर्णन कुरान में भी आता है। समु० १४ की आयतखण्ड संख्या ३८ में द्रष्टव्य है।

४. Hebrew=हिब्रू या इब्री।

५. **ग्राह्य वर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां '**मिस्त्री**' अपवर्तनी है। विस्तृत टिप्पणी आयतखण्ड संख्या १७, पृ० ८६१पर।

६. **पं० मीमांसक जी द्वारा अपपाठ ग्रहण—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने दोनों संस्करणों में संशोधित हो चुके पाठ को फिर से इस प्रकार अपपाठ बना दिया—''**मिश्री को मार डाला और बाद में उसे छिपा दिया**''। संशोधित पाठ है—''**मिश्री को मार डाला और बालू में उसे छिपा दिया**''। यही बाइबल के मूलपाठ में है। सभी पाठों में शुद्ध प्रयोग है पता नहीं पं० जी को यह पाठ कहां से सूझा? पं० जी यदि बाइबल का मूलपाठ देख लेते तो यह भूल न होती।

७. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**देखो**'' अपप्रयोग है। अन्य सभी पाठों में संशोधित है।

८. **अंधेरी**=अपराधी।

९. **फ़िरौन का अन्यत्र वर्णन** Pharaoh (फ़िरौन) फ़िरौन का उल्लेख क़ुरान में भी आता है। द्रष्टव्य, समु० १४ की आयत खण्डसंख्या ८९, १२६।

१०. **अव्यवस्थित वर्तनी 'फ़िरौन' की**—ग्रन्थ में इस शब्द की वर्तनी अव्यवस्थित है। इसकी चार वर्तनियां मिलती हैं—१. **फ़िरऊन** (मूलप्रति सं० पृ० ५९१, ५९४; द्वि० सं० ३३३, ३३४), २. **फ़िराओन** (मूलसं०पृ० ६८१; द्वि० सं० ३८०), ३. **फ़िरोन** (मूलसं० ६९७; द्वि० सं० ३८८), ४. **फ़िराऊन** (मुद्रणह० ३५५, युमी० ७७५, वेस० ४७२, द्विप्र० ४८१ आदि)। भाषात्मक एकरूपता, मानकता और व्यवस्था के लिए इनमें से बाइबल में प्रयुक्त वर्तनी '**फ़िरौन**' को ग्रहण किया है। आगे इस पर टिप्पणी नहीं दी जायेगी। उदयपुर सं० में यही अव्यवस्था है।

११. **मुद्रणलिपिकर के महाप्रमाद से पाठ त्रुटित**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० में आयत की ये पंक्तियां छूट गई हैं—''**कहा कि निश्चय यह बात खुल गई॥ जब फ़िरौन ने यह बात सुनी तो चाहा कि मूसा को मार डाले। परन्तु मूसा फ़िरौन के आगे से**''। मुद्रण-लिपिकर ने प्रतिलिपि करते हुए प्रमाद से इसको छोड़ा है। मूलप्रति सं० और बाइबल में यह पाठ है और ग्राह्य है। मुद्रणलिपिकर ने ऐसे ही अनेक पाठ बिगाड़े हैं। उदयपुर सं० ने इसको ग्रहण करके पाठ को युक्तिसंगत बना लिया है। वेस, जग, भद, युमी आदि में त्रुटित है।

१२. **पाठ-परिवर्धन और अपपाठ**—इस आयत का पाठ मुद्रणप्रति में पं० भीमसेन के लेख में किनारे पर लिख परिवर्धित किया है। मूलह० में नहीं है। मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**नाग निकला**'' अपपाठ है। अन्य सभी पाठों में संशोधित है।

समीक्षक—अब देखिये, **ऐसे कर्मों का करनेहारा मूसा पैगम्बर बन गया**[१]!! जो '**बाइबल**' का मुख्य सिद्धकर्त्ता, मत का आचार्य मूसा कि जिसका चरित्र क्रोधादि दुर्गुणों[२] से युक्त, मनुष्य की हत्या करनेवाला और चोरवत् राजदण्ड से बचनेहारा अर्थात् जब बात को छिपाता था तो झूठ बोलनेवाला भी अवश्य होगा। ऐसे को भी जो ईश्वर मिला, वह पैगम्बर बना। उसने यहूदी आदि का मत चलाया। वह भी ईश्वर के ही सदृश हुआ। इसलिये ईसाइयों के जो मूल पुरुषा हुए हैं, वे सब मूसा आदि से ले करके जंगली अवस्था में थे, विद्यावस्था में नहीं, इत्यादि॥ ३८॥

३९.[३] जब[४] परमेश्वर ने देखा कि वह देखने को एक अलंग[५] फिरा तो ईश्वर ने झाड़ी के मध्य में से उसे पुकारके कहा कि ''हे मूसा! हे मूसा!'' तब वह बोला ''मैं यहां हूँ। ४।'' तब उसने कहा कि ''इधर पास मत आ, अपने पावों से जूता उतार, क्योंकि यह स्थान जिस पर तू खड़ा है पवित्र भूमि है। ५।'' तौ०, यात्रा, प० ३। आ० ४।५॥

समीक्षक—देखिये ऐसे मनुष्यों को[६], जो कि मनुष्य को मारके बालू में गाड़नेवाले से अपने ईश्वर की मित्रता और उसको पैग़म्बर मानते हैं! और देखो, जब तुम्हारे ईश्वर ने मूसा से कहा कि पवित्र स्थान में जूती न ले जानी चाहिये, तुम ईसाई इस आज्ञा के विरुद्ध क्यों चलते हो?॥

प्रश्न—हम जूती के स्थान में टोपी उतार लेते हैं।

उत्तर—यह दूसरा अपराध तुमने किया, क्योंकि टोपी उतारना न ईश्वर ने कहा, न तुम्हारे पुस्तक में लिखा है। और उतारने योग्य को नहीं उतारते, जो नहीं उतारना चाहिये उसको उतारते हो। ये दोनों प्रकार तुम्हारे पुस्तक से विरुद्ध हैं।

प्रश्न—हमारे यूरोप देश में शीत अधिक है, इसलिये हम लोग जूती नहीं उतारते।

उत्तर—क्या शिर में शीत नहीं लगता? जो यही है तो जब यूरोप देश में जाओ तब ऐसा ही करना। परन्तु जब हमारे घर में वा बिछौने में आया करो तब तो जूती उतार दिया करो और जो न उतारोगे तो तुम अपने '**बाइबल**' पुस्तक के विरुद्ध चलते हो। ऐसा तुमको न करना चाहिये॥ ३९॥[७]

४०.[८] तब परमेश्वर ने उससे कहा[९] कि 'तेरे हाथ में यह क्या है?' और वह बोला कि ''छड़ी''॥ तब उसने कहा कि ''उसे भूमि पर डाल दे'' और उसने उसे भूमि पर डाल दिया और वह सर्प बन

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**ऐसे कर्मों का करनेहारा मूसा पैगम्बर बन गया।**'' महत्त्वपूर्ण व्यंग्यात्मक वाक्य प्रमाद से मुद्रणप्रतिलिपिकर से छूट गया है। उदयपुर सं० में भी यह वाक्य त्रुटित है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**क्रोधादि गुणों**'' अपप्रयोग है। अन्यत्र क्रोध को दुर्गुण कहा है (पृ० २६०)

३,७,८. **मुद्रणलिपिकर की महाप्रमादलीला से त्रुटित दो पृष्ठों का पाठ**—मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर द्वारा मूलह० के दो पृष्ठ (६४६, ६४७) छोड़ देने के कारण ३९, ४० आयतें और इनकी समीक्षाएं त्रुटित छोड़ गया। अतः द्विप्र० में नहीं छपी। अब सभी द्वि०सं० में गृहीत हैं किन्तु उदयपुर सं० ने मुद्रणलिपिकर की भूल को फिर से महत्त्व देते हुए दोनों आयतों को त्रुटित छोड़ दिया है जिससे ऋषिपाठ विकृत और नष्ट हो गया है। द्रष्टव्य, टिप्पणी पृ० ८७६ पर।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**तब**'' पद है, यहां बाइबल में '**जब**' पाठ है। द्वि० सं० में संशोधित है।

५. **अलंग**=एक पार्श्व में, एक बगल में।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मनुष्य**'' एकवचन-प्रयोग है, यहां बहुवचनान्त अपेक्षित है।

९. **मूसा के चमत्कारों का कुरान में वर्णन**—समु० १४ में द्रष्टव्य हैं आयतखण्ड संख्याएं १६,८०,८३,१२८।

गई और मूसा उसके आगे से भागा। २। तब परमेश्वर ने मूसा से कहा कि ''अपना हाथ बढ़ा और उसकी पूंछ पकड़ ले,'' तब उसने अपना हाथ बढ़ाया और उसे पकड़ लिया.....। ३। .....और वह उसके हाथ में छड़ी हो गई। ४। तब परमेश्वर ने उसे कहा कि ''फिर तू अपना हाथ अपनी गोद में कर'' और उसने अपना हाथ अपनी गोद में किया, जब उसने उसे निकाला तो देखा कि उसका हाथ हिम के समान कोढ़ी था। ६। और उसने कहा कि अपना हाथ फिर अपनी गोद में कर, उसने फिर अपने हाथ को अपनी गोद में किया और फिर अपनी गोद से उसे निकाला तो देखा कि जैसी उसकी सारी देह थी वह वैसा फिर हो गया। ७। .....तू नील नदी का जल लेके सूखी [भूमि][१] पर डालियो और वह जो जल तू नदी से निकालेगा सो सूखी [भूमि][२] पर लोहू हो जायगा। ९।

तौ०, यात्रा, प० ४। आ० २। ३। ४। ६। ७। ९॥

समीक्षक—अब देखिये, कैसा[३] बाजीगर का खेल है! खिलाड़ी ईश्वर, उसका सेवक मूसा! और इन बातों को माननेहारे कैसे हैं? क्या आजकल बाजीगर लोग इससे कम करामात करते हैं? यह ईश्वर क्या, यह तो बड़ा खिलाड़ी है! इन बातों को विद्वान् क्योंकर मानेंगे? और हर-एक वार मैं परमेश्वर हूँ और मैं इब्राहीम, इज़हाक और याक़ूब का ईश्वर हूँ, इत्यादि हर-एक से अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता-फिरता है। यह बात उत्तम जन की नहीं हो सकती, किन्तु किसी दंभी मनुष्य की हो सकती है॥ ४०॥[४-५]

१-२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों जगह ''**भूमि**'' पद त्रुटित है। इसके बिना भाव भी स्पष्ट नहीं होता।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**कैसे**'' अपप्रयोग है, ''**कैसा**'' प्रयोग अपेक्षित है। इसका कारण यह है कि यह 'अटपटे खेल' का विशेषण है, 'बाजीगर' का नहीं।

४. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से छूटे दो पृष्ठ**—आयतखण्ड संख्या ३९, ४० का आयतपाठ और समीक्षा-पाठ ३४वें संस्करण से द्वितीय संस्करणों में पुनः ग्रहण कर लिया है अन्यथा द्विप्र० से लेकर परोपकारिणी के संस्करण की ३३वीं आवृत्ति तक यह छूटता रहा था। इसका कारण यह है कि मूलहस्तलेख में पृष्ठसंख्या डालते समय ६४६, ६४७ पृष्ठ संख्याएं दोबार अंकित हो गई। प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने भी आयत-क्रमसंख्या और इस भूल को नहीं देखा और वह भी प्रतिलिपि करते समय पहले के दो पृष्ठों की प्रतिलिपि छोड़कर दूसरी बार जो ६४६, ६४७ पृष्ठ संख्याएं अंकित थी उनकी प्रतिलिपि कर गया। वही पाठ द्विप्र०, द्वि०सं० में छपता रहा। ३४वीं आवृत्ति के सम्पादक को जब इस भूल का आभास हुआ तो यह पाठ सम्मिलित किया गया। मूलहस्तलेख को देखने पर उसको इस भूल की जानकारी मिली। आदि-शोधकों का यह महाप्रमाद रहा कि उन्होंने न तो मुद्रणहस्तलेख को ध्यान से देखा और न द्वितीय संस्करण की प्रथम आवृत्ति के मुद्रित होते समय ही ध्यान दिया। वे मक्कार तो अपना उल्लू सीधा करते रहे और चद्दर तानकर सोते रहे। आश्चर्य है कुछ लोगों के लिए वे भी ''श्रद्धेय'' बन गये! लिपिकरों और शोधकों की इसी प्रकार की असावधानियों और प्रमादों के कारण सत्यार्थप्रकाश में अनेक अशुद्धियां और सम्पादकीय त्रुटियां रही हैं।

उदयपुर सं० में मक्खीमार सम्पादन—मूलहस्तलेख और मुद्रणहस्तलेख मिलाने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुद्रणलिपिकर मुद्रणप्रति तैयार करते समय दो पृष्ठों की प्रतिलिपि करना भूल गया और नवीन द्वितीय संस्करणों ने भूल सुधार करके उन पृष्ठों के पाठ को सम्मिलित कर भी लिया है। उदयपुर सं० के दश विद्वानों ने उस भूल सुधार का कोई लाभ नहीं उठाया और उन दो पृष्ठों के त्रुटित पाठ को फिर त्रुटित छोड़ दिया। यदि मूर्ख मुद्रणलिपिकर और मक्कार आदि-शोधकों की भूलों को यथावत् बनाये रखना अथवा उनकी भूलों का संरक्षण करने का नाम ''**मूलस्वरूप को अक्षुण्ण रखना**'' है, तो सम्पादक मण्डल महोदय! ग्रन्थ में २००० से अधिक त्रुटियों का संशोधन भी आपने क्यों कर दिया? वह भी तो ''मूलस्वरूप'' था। जब उनको संशोधित कर दिया तो इस लिपिकीय भूल को भी सुधार कर सत्यार्थप्रकाश पर कुछ उपकार कर देते? पाठकगण! आर्य सम्पादकों के आग्रही दृष्टिकोण पर ध्यान दें, उन्होंने महर्षि का अमूल्य लेखन उपेक्षित कर दिया और लिपिकर की भूल महर्षि से महत्त्वपूर्ण मान ली। यह कैसी ऋषिभक्ति है? उक्त आयतों को ग्रहण किये बिना सत्यार्थप्रकाश की अपूर्णता है।

५. **ऋषि-लेख**—''**यह बात.....सकती है**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४१. ....और फसह[१] का मेम्ना मारो। २१। और एक मूठी जूफा[२] लेओ और उसे उस लोहू में, जो बासन[३] में है, बोरके, ऊपर की चौखट के और द्वार की दोनों ओर उससे छापो और तुममें से कोई बिहान लों अपने घर के द्वार से बाहर न जावे। २२। क्योंकि परमेश्वर मिश्र के मारने के लिये आर-पार जायगा और जब वह ऊपर की चौखट पर और द्वार की दोनों ओर लोहू को देखेगा[४] तब परमेश्वर द्वार से बीत जायगा और नाशक तुम्हारे घरों में न जाने देगा कि मारे। २३।

तौ०, यात्रा, प० १२। आ० २१। २२। २३॥

समीक्षक—भला, यह जो टोने-टामन करनेवाले के समान है, वह ईश्वर सर्वज्ञ कभी हो सकता है? जब लोहू का छापा देखे तभी इस्राएल-कुल का घर जाने, अन्यथा नहीं। यह काम क्षुद्रबुद्धि वाले मनुष्य के सदृश है। इससे यह विदित होता है कि ये बातें किसी जंगली मनुष्य की लिखी हैं॥ ४१॥

४२. और यों हुआ कि परमेश्वर ने आधी रात को मिश्र[५] के देश में सारे पहिलौठों को फ़िरौन[६] के पहिलौठे से लेके जो अपने सिंहासन पर बैठता था उस बंधुआ के पहिलौठे लों, जो बंदीगृह में था, पशुन के पहिलौठों समेत नाश किये। २९। और रात को फ़िरौन[७] उठा, वह और उसके सब सेवक और सारे मिश्री[८] उठे और मिश्र[९] में बड़ा विलाप था, क्योंकि कोई घर न रहा जिसमें एक न मरा। ३०।

तौ०, यात्रा, प० १२। आ० २९। ३०॥

समीक्षक—वाह!! अच्छा! आधी रात को डाकू के समान निर्दयी होकर ईसाइयों के ईश्वर ने लड़के-बाले, वृद्ध और पशु तक भी विना अपराध मार दिये और कुछ भी दया न आयी और मिश्र में बड़ा विलाप होता रहा, तो भी ईसाइयों के ईश्वर के चित्त से निष्ठुरता नष्ट न हुई! ऐसा काम ईश्वर के तो क्या किन्तु किसी साधारण मनुष्य[१०] के भी करने का नहीं है। यह आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह लिखा है कि '**मांसाहारिणः कुतो दया**'=जब ईसाइयों का ईश्वर मांसाहारी है तो उसको दया का क्या काम है?॥ ४२॥

४३. परमेश्वर तुम्हारे लिये युद्ध करेगा....। १४। .....इस्राएल के संतान से कह[११] कि वे आगे बढ़ें। १५। परन्तु तू अपनी छड़ी उठा और समुद्र पर अपना हाथ बढ़ा और उसे दो भाग कर और

---

१. **फसह**=धार्मिक बलि। ईश्वर के नाम पर जो बलि दी जाती है, वह अनुष्ठान। इसका अर्थ है—धार्मिक बलि के लिए निश्चित किये मेम्ने को मारो।

२. **जूफा**=एक घास जो दवा में काम आती है। (Hyssop)

३. **बासन**—बर्तन, पात्र, मिट्टी का बर्तन।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**देखे**" क्रियापद है। वाक्य की पूर्वप्रयुक्त भविष्यत्कालीन क्रियाओं के सम्बन्ध में "**देखेगा**" क्रिया अपेक्षित है। यही क्रियापद बाइबल में है, अतः ग्राह्य है।

५,८,९. **ग्राह्य वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**मिस्री**", '**मिस्र**' वर्तनी है, "**मिश्री**", '**मिश्र**' चाहिए। द्रष्टव्य टिप्पणी आयतखण्ड संख्या १७, पृ० ८६१ पर। **ऋषि-लेख**—ऊपर रेखांकित दोनों वाक्य ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

६,७. **वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहाँ "**फ़िरुऊन**" वर्तनी है। "**फ़िरौन**" ग्राह्य है। द्र० पृ० ८७४ पर टिप्पणी।

१०. **उचित पाठसंशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इसके स्थान पर '**भले मनुष्य**' पाठ है। यह असंगत प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं० का उपर्युक्त पाठ अधिक सटीक है, क्योंकि ये काम साधारण मनुष्य के करने के भी नहीं हैं, अतः '**साधारण मनुष्य**' पाठ ग्राह्य है।

११. **द्वि०सं० में अपप्रयोग**—द्वि० सं० में '**कहा**' अपप्रयोग है। '**कह**' मध्यम पुरुष का प्रयोग अपेक्षित है। शायद, मुद्रणदोष है।

इस्राएल के सन्तान समुद्र के बीचों-बीच में से सूखी भूमि में होकर चले जायेंगे। १६।

तौ०, यात्रा, प० १४। आ० १४। १५। १६॥

समीक्षक—क्यों जी! आगे तो ईश्वर भेड़ों के पीछे गड़रिये के समान इस्राएल कुल के पीछे-पीछे डोला करता था, अब न जाने कहाँ गया? नहीं तो समुद्र के बीच में से चारों ओर की रेलगाड़ियों की सड़क बनवा लेते, जिससे सब संसार का उपकार होता और नाव आदि बनाने का श्रम छूट जाता।[१] परन्तु क्या किया जाय, ईसाइयों का ईश्वर न जाने कहाँ छिप रहा है? इत्यादि बहुत-सी असम्भव लीलायें मूसा के साथ ईश्वर ने की हैं। परन्तु यह विदित हुआ कि ऐसा ईश्वर, ऐसे उसके सेवक और ऐसा ईश्वरकृत पुस्तक[२] हम लोगों से दूर रहै॥ ४३॥

४४. ....क्योंकि मैं परमेश्वर तेरा ईश्वर ज्वलित सर्वशक्तिमान् हूँ। पितरों के अपराध का दण्ड, उनके पुत्रों को, जो मेरा वैर रखते हैं, उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी लों देवैया हूँ। ५।

तौ० यात्रा, प० २०। आ० ५॥

समीक्षक—भला, यह किस घर का न्याय है कि जो पिता के अपराध से चार पीढ़ी तक दण्ड देना, अच्छा मानना। क्या अच्छे पिता के दुष्ट और दुष्ट के श्रेष्ठ सन्तान नहीं होते? जो ऐसा होगा[३] तो चौथी पीढ़ी तक दण्ड कैसे दे सकेगा? और जो पाँचवीं पीढ़ी से आगे दुष्ट होगा उसको दण्ड न दे सकेगा। **विना अपराध किसी को[४] दण्ड देना अन्यायकारी की बात है॥** ४४॥

४५. विश्राम के दिन को उसे पवित्र रखने के लिये स्मरण कर। ८। छः दिन लों तू परिश्रम कर....। ९। और सातवां दिन परमेश्वर तेरे ईश्वर का विश्राम है....। १०।....परमेश्वर ने विश्राम दिन को आशीष दी....। ११।

तौ० यात्रा, प० २०। आ० ८। ९। १०। ११॥

समीक्षक—क्या रविवार एक ही पवित्र दिन है[५] और छः दिन अपवित्र हैं?[६] और क्या परमेश्वर ने छः दिन तक बड़ा परिश्रम किया था कि जिससे थकके सातवें दिन सो गया? और जो रविवार को आशीर्वाद दिया तो सोमवार आदि छः दिनों को क्या दिया? अर्थात् शाप[७] दिया होगा! ऐसा काम विद्वान् का भी नहीं [हो सकता][८] तो ईश्वर का क्योंकर हो सकता है? भला, रविवार में क्या गुण था

---

१. **ऋषिहस्तलेख तथा अपप्रयोग**—"**और नाव.....छूट जाता**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है। अगली पंक्ति में दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**लीला**' एकवचनात्मक पद है, बहुवचन अपेक्षित है, क्योंकि "**बहुत-सी**" के सम्बन्ध में बहुवचन आवश्यक है।

२. **संशोधक द्वारा शैलीविरुद्ध पाठ परिवर्तन**—समीक्षा भाग की अन्तिम सारगर्भित पंक्ति को द्वि०सं० में अनावश्यक रूप से बढ़ाकर परिवर्तित किया है, वह महर्षि की शैली के विरुद्ध वाक्यरचना कर डाली। महर्षि '**पुस्तक**' पद का पुंल्लिग में प्रयोग करते हैं, किसी संशोधक ने उसे स्त्रीलिंग बना डाला—"**उसकी बनाई पुस्तक है। ऐसी पुस्तक**"। एक ही पंक्ति में सारा भाव स्पष्ट हो रहा है, उसका विस्तार व्यर्थ है। महर्षि की शैली को न समझने का यह परिणाम है।

३-४. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में ये दोनों पद त्रुटित हैं, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित हैं। आवश्यक होने से ग्राह्य हैं।

५. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में '**है**' क्रिया और द्वि०सं० में "**दिन है**" पद त्रुटित है। ये दोनों पद आवश्यक हैं, क्योंकि इनके बिना वाक्यरचना नहीं होती।

६. **सृष्टि रचना का अन्यत्र वर्णन**—छह दिन तक सृष्टि रचने का वर्णन कुरान में भी है। द्र०समु० १४ में ९७, १५१ आयतखण्ड।

७. **अपवर्तनी**—मूलप्रति में यहां "**स्त्राप**" अपवर्तनी है, द्वि० सं० में संशोधित है। द्र०, टि० आयतखण्ड संख्या १०, पृ०८५६ पर।

८. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठान्तर्गत क्रिया वाक्यपूर्त्यर्थ आवश्यक है।

और सोमवार आदि ने क्या दोष किया था कि जिससे एक को पवित्रता का वर दिया और अन्यों को ऐसे ही अपवित्र कर दिया![१] ॥ ४५ ॥

४६. अपने पड़ोसी[२] पर झूठा साक्ष्य मत दे। १६। ....अपने पड़ोसी[३] की स्त्री और उसके दास, उसकी दासी और उसके बैल और उसके गदहे और किसी वस्तु का जो तेरे पड़ोसी[४] की है, लालच मत कर। १७। तौ०, यात्रा, प० २०। आ० १६। १७॥

समीक्षक—वाह! तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा अन्न पर। जैसी यह केवल मतलबसिन्धु और पक्षपात की बात है, ऐसा ही ईसाइयों का ईश्वर भी है।[५] यदि कोई कहे कि हम सब मनुष्यमात्र को पड़ोसी[६] मानते हैं तो सिवाय मनुष्यों के अन्य कौन स्त्री और दासी आदि वाले हैं कि जिनको अपड़ोसी[७] गिनें? इसलिये ये बातें[८] स्वार्थी मनुष्यों की हैं, ईश्वर की नहीं॥ ४६ ॥[९-१०]

४७. जो कोई किसी मनुष्य को मारे और वह मर जाय, वह निश्चय घात किया जाय। १२। और यदि वह मनुष्य घात में न लगा हो परन्तु ईश्वर ने उसके हाथ में सौंप दिया हो, तब मैं तुझे भागने का

---

१. **उचित परिवर्तन और अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह वाक्य है—''**रविवार में क्या गुण था**'' मूलप्रति सं० में है—''**रविवार ने क्या गुण.... किया था।**'' यहां मुद्रणह०, द्विप्र० का पाठ अधिक उपयुक्त है। आगे दोनों सं० में ''**एक को पवित्र तथा वर दिया**'' अपपाठ है। ''**पवित्र**'' पद का अगली क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है,। ऐसा ज्ञात होता है कि श्रुति-भ्रान्ति से ''**पवित्रता का वर दिया**'' के स्थान पर पूर्वोक्त वाक्य लिख गया। देखिए, आगे विपरीतार्थक ''**अपवित्र करना**'' प्रयोग है, जो इस संशोधन की पुष्टि करता है। दोनों सं० में ''**अपवित्र कर दिये**'' अपपाठ है।

ऋषि-लेख—''**तो ईश्वर का.....कर दिया**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

२-४, ६-७. **अपवर्तनी और अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस शब्द की वर्तनी में अव्यवस्था है। मूलप्रति सं० में तीन प्रकार की वर्तनियां लिखी मिलती हैं—१. **पड़ोसी** (पृ० १३६, ६८४ आदि), २. **परोसी** (पृ० ५९५, ५९६ आदि), ३. **परौसी** (पृ० ५९१)। द्वि० सं० में दो प्रकार की वर्तनियां हैं—१. **पड़ोसी** (पृ० ७९, ३८१ आदि), २. **परोसी** (पृ० ३३३, ३३५ आदि)। भाषात्मक व्यवस्था और मानकता की दृष्टि से एक वर्तनी का निर्धारण अत्यावश्यक है। हिन्दी व्याकरण और प्रचलित वर्तनी की दृष्टि से इनमें से ''**पड़ोसी**'' वर्तनी ग्राह्य है। सभी अन्य सं० और उदयपुर सं० में यही अव्यवस्था है।

५. **ईसाई अंग्रेजों द्वारा विदेशों में लूट पर व्यंग्य**—भारत में ईसाई अंग्रेजों का शासन होते हुए भी निडर महर्षि ने यहां उन पर तीखा व्यंग्य किया है कि बाइबल में पड़ोसी के धन-वैभव का लालच न करने का उपदेश है, तो इसीलिए ये पड़ौसी को छोड़ दूसरे देशों पर आक्रमण कर उनका धनमाल लूट कर अपने देश में ले जा रहे हैं। दूसरे देशों के माल पर ये लोग ऐसे टूटते हैं जैसे प्यासा जल पर। भारत को भी अंग्रेजों ने सब तरह से लूटा है। बाइबल के उपदेश इनके लिए दिखावा-भर हैं। महर्षि ने एकादश समुल्लास के 'ब्राह्मसमाज' प्रसंग में (पृ० ६९७, ६९८, ७०६) तथा अष्टम समुल्लास में (पृ० ४१२, ४१३ पर) क्रमशः ईसा, ईसाई संस्कृति की अलोचना की है और विदेशी राज्य से स्वदेशीय राज्य को उत्तम घोषित किया है। यह ऋषि की निर्भीकता तथा सत्याचरण की दृढ़ता को प्रदर्शित करता है। ये लेख अंग्रेजी शासन के होते उसी की आलोचना के और स्वदेशी राज्य की प्रशंसा और प्रेरणा के सर्वप्रथम ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। महर्षि से पूर्व किसी ने ऐसी सार्वजनिक आलोचना का साहस नहीं किया था।

८. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**यह बातें**'' अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि० सं० में संशोधित है, जो उपर्युक्त है। बहुवचनान्त पद के साथ बहुवचनान्त सर्वनाम ही शुद्ध माना जायेगा।

९. **मुद्रणलिपिकर के महाप्रमाद से अपक्रम में आयत**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस आयतखण्ड के बाद ''**सो अब लड़कों में से.....जीती रक्खो।**'' आयतखण्ड संख्या ५७ अपक्रम में है। पृ० ८८५ की टिप्पणी संख्या ७ देखिए। ध्यान दें, यहां '**यात्रा**' पुस्तक की आयतें हैं, जबकि वह '**गिनती**' पुस्तक की आयत है। उदयपुर सं० के सम्पादकों ने इस भ्रष्ट पाठक्रम को अपना कर लिपिकर की गलती को ''अक्षुण्ण'' बना दिया है। मुद्रणह० में जब यात्रा पुस्तक की आयतें बढ़ाई गई तो मुद्रणलिपिकर को यह आयत आगे '**गिनती की पुस्तक**' के प्रसंग में (पृष्ठ ८८५ पर) रखनी चाहिए थी। वह भूल से यहां लिख गया।

१०. **ऋषि-लेख**—''**यदि कोई.....की नहीं**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

स्थान बता दूँगा। १३। तौ०, यात्रा, प० २१। आ०। १२। १३॥

समीक्षक—जो यह ईश्वर का न्याय सच्चा है, तो मूसा एक आदमी को मार, गाड़कर भाग गया था, उसको यह दण्ड क्यों नहीं हुआ? जो कहो ईश्वर ने मूसा को मारने के निमित्त[१] सौंपा था तो ईश्वर पक्षपाती हुआ, क्योंकि उस मूसा का राजा से न्याय क्यों न होने दिया?॥ ४७॥

४८. ....और कुशल का बलिदान बैलों से परमेश्वर के लिये चढ़ाया। ५। और मूसा ने आधा लोहू लेके पात्रों में रक्खा और आधा लोहू वेदी पर छिड़का....। ६। और मूसा ने उस लोहू को लेके लोगों पर छिड़का और कहा कि यह लोहू उस नियम का है जिसे परमेश्वर ने इन बातों के कारण तुम्हारे साथ किया है। ८।[२] और परमेश्वर ने मूसा से कहा कि ''पहाड़ पर मुझ पास आ और वहाँ रह, और मैं तुझे पत्थर की पटियाँ और व्यवस्था और आज्ञा जो मैंने लिखी है, दूंगा। १२।''

तौ०, यात्रा, प० २४। आ० ५। ६। ८। १२॥

समीक्षक—अब देखिये, ये सब जंगली लोगों की बातें हैं वा नहीं? और परमेश्वर बैलों का बलिदान लेता, और वेदी पर लोहू छिड़कना, यह कैसी जंगलीपन और असभ्यता की बात है! जब ईसाइयों का खुदा भी बैलों का बलिदान लेवे तो उसके भक्त बैल-गाय के बलिदान की प्रसादी से पेट क्यों न भरें? और जगत् की हानि क्यों न करें? **ऐसी-ऐसी बुरी बातें 'बाइबल' में भरी हैं। इन्हीं[३] के कुसंस्कारों से वेदों में भी ऐसा झूठा दोष लगाना चाहते हैं परन्तु वेदों में ऐसी बातों का नाम भी नहीं।**

और यह भी निश्चय हुआ कि ईसाइयों का ईश्वर एक पहाड़ी मनुष्य था, पहाड़ पर रहता था। जब वह खुदा स्याही, लेखनी, काग़ज नहीं बना जानता [था][४] और न उसको प्राप्त था, इसीलिये पत्थर की पटियों पर लिख-लिख देता था और इन्हीं जंगलियों के सामने ईश्वर भी बन बैठा॥ ४८॥

४९.[५] और बोला कि ''तू मेरा रूप नहीं देख सकता, क्योंकि मुझे देखके कोई मनुष्य न जीयेगा। २०।'' और परमेश्वर ने कहा कि ''देख, एक स्थान मेरे पास है और तू उस टीले पर खड़ा रह। २१। और यों होगा कि जब मेरा विभव चलकर निकलेगा,[६] तो मैं तुझे पहाड़ के दरार में

---

१. **उचित संशोधन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**मारने के निमित्त**'' सही प्रयोग है जबकि मूलप्रति सं० में ''**मारने के अर्थ**'' प्रयोग है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति में ''**और मूसा.....किया है**'' त्रुटित पाठ पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

३. **मुद्रणप्रति में अपप्रयोग**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**इसी के**'' अपप्रयोग है, यहां '**बहुवचन**' अपेक्षित है। मूलप्रति में शुद्ध प्रयोग है। **ऋषि-लेख**—''**जब ईसाइयों.....न करें**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

४. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**था**'' क्रिया त्रुटित है। इस वाक्य की पूर्ति बिना क्रिया के नहीं होती।

५,११. **मुद्रणकालीन अशुद्ध संख्या**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में इन दोनों आयतखण्डों पर ४८, ४८, संख्या प्रमाद से छपी हुई है। फिर आगे ४९ से शुरू है। सभी सं० में संशोधन कर लिया है। द्विप्र० के कुलयोग में अन्तर इस कारण नहीं आया कि पीछे आयत खण्ड संख्या १० लिखना-छपना रह गया था, अत: यहां आकर कुलयोग बराबर हो गया। उदयपुर सं० में संशोधित है।

६. **स्वामी वेदानन्द जी एवं पं० मीमांसक जी का अशुद्ध पाठ—स्वामी वेदानन्द जी और पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने दोनों सं० से भिन्न द्विप्र० का अशुद्ध पाठ ''**विभव चलक निकलेगा**'' पाठ माना है। यह मुद्रण अशुद्धि है जो मुद्रणह० में ठीक है। इसके बाद तुक्के से या भ्रान्ति से उन्होंने '**चलक**' का '**झलक**' अर्थ किया है। यह समझने की भूल रही, क्योंकि यहां ''**के**'' क्रिया त्रुटित रह गई। वस्तुत: यह ''**चलके**'' पद है। यहां बाइबल मूल में विभव=तेज के चल निकलने का ही कथन है। इसकी पुष्टि अगली पंक्ति के पाठ ''**जब लौं न जा निकलूं**'' में जाने की क्रिया से हो जाती है। अत: इन दोनों का अशुद्ध पाठ अग्राह्य है। बाइबल का नया अनुवाद अधिक स्पष्ट है—''**जब तक मेरा तेज तेरे सामने होके चलता रहे तब तक**''। ''**जब तक मैं तेरे सामने होकर न निकल जाऊं तब तक**'' आदि।

रक्खूंगा और जब लों न[७] जा निकलूं तूझे अपने हाथ से ढांपूंगा। २२। फिर[८] अपना हाथ उठा लूंगा और तू मेरा पीछा देखेगा परन्तु मेरा रूप दिखाई न देगा। २३।''

तौ०, यात्रा, प० ३३। आ० २०। २१। २२। २३॥

समीक्षक—अब देखिये, ईसाइयों का ईश्वर केवल मनुष्यवत् शरीरधारी है और मूसा से कैसा प्रपञ्च रचके आप स्वयं ईश्वर बन गया! जो पीछा देखेगा, रूप न देखेगा, तो हाथ से उसको ढांप भी दिया होगा। जब खुदा ने अपने हाथ से मूसा को ढांपा होगा तब क्या उसके हाथ का रूप उसने न देखा होगा?॥ ४९॥

''लैव्य[९] व्यवस्था की पुस्तक'' (तौरेत)[१०]

५०.[११] और परमेश्वर ने मूसा को बुलाया और मंडली के तम्बू में से यह वचन उसे कहा। १। कि इस्राएल के सन्तानों से बोल और उन्हें कह, यदि कोई तुममें से परमेश्वर के लिये भेंट लावे तो तुम ढोर में से अर्थात् गाय-बैल और भेड़-बकरी में से अपनी भेंट लाओ। २।[१२]

तौ०, लैव्य व्यवस्था की पुस्तक, प० १। आ० १। २॥

समीक्षक—अब विचारिये! ईसाइयों का परमेश्वर गाय, बैल आदि की भेंट लेनेवाला, जो कि अपने लिये बलिदान कराने के लिये उपदेश करता है वह बैल, गाय आदि पशुओं के लोहू-मांस का

विद्वानों की अन्धपरम्परा और पाठ-अव्यवस्था—मुद्रणकालीन द्विप्र० की अशुद्धि ने विद्वानों को भ्रमित कर दिया। जग में भी अशुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं०, पं० भगवद्दत्त जी ने ''**चल निकलेगा**'' पाठ संशोधित किया है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** ने शब्दावली बदली है किन्तु पाठ शुद्ध है। **स्वामी विद्यानन्द जी** ने पं० मीमांसक जी का यथावत् अशुद्ध अनुकरण किया है। उदयपुर सं० के कथित 'दस विद्वान्' भी अनुकरणकर्त्ताओं के इस दल में सम्मिलित हो गये और अशुद्ध पाठ को ग्रहण कर लिया, न मुद्रणप्रति को देखा, न मूल बाइबल को देखा, न भाव को देखा।

पं० मीमांसक जी का अशुद्ध पाठ—पं० मीमांसक जी ने द्वि०सं० के अपेक्षाकृत पाठ को अशुद्ध बताया है जबकि अशुद्ध उनका है। देखिए, पं० जी ने क्या अशुद्ध और निरर्थक पाठ बनाया है—''**मेरा विभव=तेज का झलक निकलेगा।**'' विभव का अर्थ ही 'तेज' या 'झलक' है। पं० जी यदि बाइबल का मूलपाठ देख लेते तो उनसे यह भूल न होती।

७,८. **त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में क्रमशः ''**न**'' और ''**फिर**'' अव्यय त्रुटित हैं। ये रचना की दृष्टि से आवश्यक हैं। बाइबल-पाठ में भी ये हैं। अतः ग्राह्य हैं।

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपनाम**—मुद्रणह०, द्विप्र० में इस पुस्तक का अशुद्ध नाम है—''**लय व्यवस्था की पुस्तक**''। सभी सं० में संशोधित है। पं० भगवद्दत्त जी के सं० में ''**लैब्य**'' अपवर्तनी है। शायद, यह मुद्रणदोष है।

१०. **बाइबल में 'लैव्यव्यवस्था' पुस्तक का बाइबल-वर्णित नाम**—'LEVITICUS' यह मूसा-रचित है।

१२. **सर्वप्रथम गाय का मांस खिलानेवाला मूसा**—कुरान के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि **मिश्र देश और इस्राएल जाति में प्राचीन समय में गाय को पवित्र माना जाता था, न तो उसको मारा जाता था और न उसका मांस खाया जाता था।** मूसा यहूदियों का वह आदि पैगम्बर था जिसने अपनी इस्राएल जाति को गाय को मारने और उसका मांस खाने पर मजबूर किया (देखिए सूरा २ की ४७ से ७४ आयतें) और इस नीच कार्य को शुरू करवाया। मूसा से ही यहूदियों, फिर ईसाइयों और मुसलमानों में गाय का मांस खाने की परम्परा चली। कुरान में उल्लेख है कि इस्राएल जाति के लोग गाय को देवता मानकर पूजते थे। मूसा जब कुछ दिन तपस्या के नाम पर पहाड़ पर रहकर स्वयम्भू पैगम्बर बनकर नीचे आया तो उसने देखा कि मिश्रवासी व इस्राएली गाय-बछड़े को देवता मानकर पूज रहे हैं। मूसा ने आदेश दिया कि तुमने बछड़े को देवता मानने का पाप किया है, तो इसका प्रायश्चित्त यह है कि एक बछड़े की बलि दो। तब से मिश्र में गाय-बछड़े की बलि शुरू हुई। प्राचीन इतिहासकार के एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण से इस बात की पुष्टि होती है। हेरोडोटस लिखता है—"Thus from Egypt as far as lake tritionis.... Cows flesh however none of these. Tribes ever taste, but abstain from it for the same reason as the Eguptions, neither do they any of them breed swine. Even at cyrene, the women think it wrong to eat the flesh of the cow." (The Religion of the Samites, Part-I, P.-361)

प्यासा-भूखा है वा नहीं? इसी से वह अहिंसक और ईश्वर कोटि में गिना कभी नहीं जा सकता किन्तु मांसाहारी, प्रपञ्ची मनुष्य के सदृश है॥५०॥

५१. और वह उस बैल को परमेश्वर के आगे बलि करे और हारून[१] के बेटे याजक लोहू को निकट लावें और लोहू को यज्ञवेदी के चारों ओर जो मंडली के तंबू के द्वार पर है, छिड़कें। ५। तब वह उस भेंट के बलिदान की खाल निकाले और उसे टुकड़ा-टुकड़ा करे। ६। और हारून के बेटे याजक यज्ञवेदी पर आग रक्खें और उसपर लकड़ी चुनें। ७। और हारून के बेटे याजक उसके टुकड़ों को और शिर और चिकनाई को उन लकड़ियों पर जो यज्ञवेदी की आग पर हैं, विधि से धरें। ८। ....जिसतें बलिदान की भेंट होवे, जो आग से परमेश्वर के सुगंध के लिये भेंट किया गया। ९। तौ०, लै० व्यवस्था की पुस्तक, प० १। आ० ५।६।७।८।९॥

समीक्षक—तनिक विचारिये! कि बैल को परमेश्वर के आगे उसके भक्त मारें और वह मरवावे और लोहू को चारों और छिड़कें, अग्नि में होम करें, ईश्वर सुगन्ध लेवे, भला, यह कसाई के घर से कुछ कमती लीला है? इसी से न '**बाइबल**' ईश्वरकृत, और न वह, जंगली मनुष्य के सदृश लीलाधारी 'ईश्वर' हो सकता है॥५१॥

५२. फिर परमेश्वर मूसा से यह कहके बोला। १। कि यदि वह अभिषेक किया हुआ याजक लोगों के पाप के समान पाप करे, तो वह अपने पाप के कारण, जो उसने किया है, अपने पाप की भेंट के लिये निष्खोट[२] एक बछिया परमेश्वर के लिये लावे। ३। ....और बछिया के शिर पर अपना हाथ रक्खे और बछिया को परमेश्वर के आगे बलि करे। ४।

तौ०, लै० व्य०, प० ४। आ० १। ३। ४॥

समीक्षक—अब देखिये पापों के छुड़ाने के प्रायश्चित्त! स्वयं पाप करें, गाय आदि उत्तम पशुओं की हत्या करें, और परमेश्वर करवावे! धन्य हैं ईसाई लोग कि जो ऐसी बातों के करने-करानेहारे को भी ईश्वर मानकर अपनी मुक्ति आदि की आशा करते हैं!![३]॥५२॥

५३. जब कोई अध्यक्ष पाप करे....। २२।....तब वह बकरी का निष्खोट[४] नर मेम्ना अपनी भेंट के लिये लावे। २३। और....उसे....परमेश्वर के आगे बलि करे ...यह पाप की भेंट है। २४।

तौ०, लै० व्य, पु, प० ४। आ ० २२। २३। २४॥

समीक्षक—वाह जी, वाह! यदि ऐसा है तो इनके अध्यक्ष अर्थात् न्यायाधीश तथा सेनापति आदि पाप करने से क्यों डरते होंगे? आप तो यथेष्ट पाप करें और प्रायश्चित्त के बदले में गाय, बछिया, बकरे

---

१. **(हारून) Aaron**। यह मूसा का छोटा भाई था। मूसा की चाल देखिए कि स्वयं तो ईश्वर का पैगम्बर बन बैठा और अपने भाई को तथा उसके परिवार को यहूदियों के प्रधान याजक (Priests) का धार्मिक एकाधिकार दे दिया। इस प्रकार दोनों भाइयों ने मिलकर लोगों को खूब बहकाया और खूब माल उड़ाया। इस प्रकार यहूदी धर्म पर दोनों का एकाधिकार हो गया।

२,४. **मुद्रणप्रति में अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**निसखोट**" अपवर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने इसको अशुद्ध लिखा है।

३. **पं० मीमांसक जी द्वारा अपपाठ—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने शेष दोनों सं० में संशोधित और प्रयुक्त अच्छे-भले पाठ को बदलकर द्विप्र० की मुद्रणकालीन अशुद्धि को आधार मान कर अपपाठ बना डाला—"**धन्य है ईसाई लोगो! कि ऐसी बातों के करने-कराने-हारे को भी ईश्वर मानकर अपनी मुक्ति आदि की आशा करते हैं!!**" (पृष्ठ ७८२)। पं० जी का इस पर ध्यान नहीं गया कि "**लोगो!**" सम्बोधन के साथ क्रिया भी मध्यम पुरुष की आयेगी—"**करते हो**"। इस प्रकार यह व्याकरणविरुद्ध

आदि के प्राण लेवें, **तभी तो ईसाई लोग किसी पशु वा पक्षी के प्राण लेने में शङ्कित नहीं होते।**

सुनो ईसाई लोगो! अब तो इस जंगली मत को छोड़के सुसभ्य, धर्ममय वेदमत को स्वीकार करो कि जिससे तुम्हारा कल्याण हो॥ ५३॥

५४. और यदि उसके पास[१] भेड़ लाने की पूँजी न हो तो वह अपने किये हुए अपराध के लिये दो पिंडुकियां और कपोत के दो बच्चे परमेश्वर के लिये लावे....। ७। .....और उसका शिर उसके गले के पास से मरोड़ डाले परन्तु अलग न करे। ८। ....उसके किये हुए पाप का प्रायश्चित्त करे और उसके लिये क्षमा किया जायगा। १०। पर यदि उसके पास[२] दो पिंडुकियां[३] और कपोत के दो बच्चे लाने की पूंजी न हो तो ....सेर भर चोखा पिसान का दशवां हिस्सा पाप की भेंट के लिये लावे, * उस पर तैल न डाले....। ११। ....और वह क्षमा किया जायगा। १३।

तौ०, लै० व्य० पु०, प० ५। आ० ७।८।१०।११।१३॥

समीक्षक—अब सुनिये! ईसाइयों में पाप करने से कोई धनाढ्य न डरता होगा और न दरिद्र ही;[४]

---

* इस ईश्वर को धन्य है कि जिसने बछड़ा, भेड़ी और बकरी का बच्चा, कपोत और पिसान (आटे) तक लेने का नियम किया! अद्‌भुत बात तो यह है कि कपोत के बच्चे 'गर्दन[५] मरोड़वाके' लेता था अर्थात् गर्दन[६] तोड़ने का परिश्रम न करना पड़े। इन सब बातों के देखने से विदित होता है कि जंगलियों में कोई चतुर पुरुष था, वह पहाड़ पर जा बैठा और अपने को ईश्वर प्रसिद्ध किया। जंगली अज्ञानी थे, उन्होंने उसी को ईश्वर स्वीकार कर लिया। अपनी युक्तियों से वह पहाड़ पर ही खाने के लिए पशु, पक्षी और अन्नादि मँगा लिया करता था और मौज[७] करता था। उसके दूत=फरिश्ते काम किया करते थे। सज्जन लोग विचारें कि कहाँ तो बाइबल में बछड़ा, भेड़ी, बकरी का बच्चा, कपोत और 'अच्छे' पिसान का खानेवाला ईश्वर और कहाँ सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान् और न्यायकारी इत्यादि उत्तम गुणयुक्त वेदोक्त ईश्वर?[८]

वाक्य बन गया!! सभी सं० में संशोधित वाक्य को पं० जी द्वारा पुनः बदलने की आवश्यकता नहीं थी।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उसे भेड़ लाने की पूंजी न हो**" अपपाठ है। "**उसके पास**" पाठ अपेक्षित है। **ऋषि-लेख**—"**सुनो ईसाई.....कल्याण हो**" पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

२. **अप-अनुवाद**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसे**' के स्थान पर '**उसके पास**' पाठ उपयुक्त है। अन्यत्र यही प्रयोग है। बाइबल के नये अनुवाद में भी यही है। उदयपुर आदि जिस भी संस्करण में "**उसे.....पूंजी न हो**" पाठ है वह अशुद्ध है।

३. **पिंडुकी**=कबूतर की जाति-प्रजाति का एक पक्षी, पेड़वी।

४. **मुद्रणकालीन अशुद्ध पाठ**—मुद्रणहस्तलेख में यह पाठ ठीक था—"**ईसाइयों में पाप करने से कोई धनाढ्य न डरता होगा और न गरीब.....।**" शोधन करते समय ग्रन्थकार का ध्यान पूरे वाक्य पर अर्थात् "**न गरीब**" पर नहीं गया। उन्होंने "धनाढ्य के बाद "**दरिद्र भी**" शब्द जोड़ दिये, जिसके कारण द्विप्र० में यह अटपटा पाठ छपा—"**ईसाइयों में पाप करने से कोई धनाढ्य दरिद्र भी न डरता होगा और न गरीब**"।

सबके अलग पाठ—अब सब संस्करणों ने अपने ढंग से पाठ बना लिये—१. द्वि०सं०, मूलसं०, स्वामी वेदानन्द सं० और पं० सिद्धान्ती सं० में—"**कोई धनाढ्य न डरता होगा और न दरिद्र भी**"। पं० मीमांसक जी—"**कोई धनाढ्य भी न डरता होगा और न दरिद्र=गरीब।**" उदयपुर सं०—"**कोई धनाढ्य न डरता होगा और न गरीब।**" पं० भगवद्दत्त जी ने द्विप्र० का अशुद्ध-अटपटा पाठ ही रख लिया। यहां पं०जी ने यह नहीं बताया कि "**दरिद्र**" और "**गरीब**" में क्या अर्थभेद है। शोधक की असावधानी ने एक नया झगड़ा फैला दिया। विद्वान् सम्पादकों ने यह भी नहीं सोचा कि गलती से लिखे दो शब्दों में से एक को छोड़ दो, जैसे बहुत्र पुनरुक्तिपूर्ण पदों को छोड़ दिया है। पर, सबकी अपनी-अपनी ढपली है, अपना-अपना राग!

५,६. **अयोग्य लिपिकर-शोधक**—तीनों संस्करणों में यह दुःस्थिति है कि यहां एक ही वाक्य में क्रमशः दो वर्तनियां हैं—"**गरदन**", "**गर्दन**"। भाषात्मक एकता और मानकता के लिए "**गर्दन**" एक शुद्ध वर्तनी ग्राह्य है। यही दुर्व्यवस्था अन्य सभी विद्वानों के सं० और उदयपुर संस्करण में है। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** द्वारा संशोधित है।

७. **मुद्रणप्रति में अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**मोज**" अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है।

८. **मुद्रणकालीन टिप्पणी तथा पाठग्रहण**—यह टिप्पणी दोनों हस्तलेखों में नहीं है, मुद्रणकाल में लिखी गई है। द्विप्र० में प्रकाशित

क्योंकि इनके ईश्वर ने पापों का प्रायश्चित्त करना सहज कर रक्खा है। एक यह बात ईसाइयों की '**बाइबल**' में बड़ी अद्भुत है कि विना कष्ट पाये[१] पाप से पाप छूट जाय! क्योंकि **एक तो पाप किया और दूसरी[२] जीवों की हिंसा की और खूब आनन्द से मांस खाया, और पाप भी छूट गया!!**

भला, कपोत के बच्चे का गला मरोड़ने से वह बहुत देर तक तड़पता[३] होगा, तब भी ईसाइयों को दया नहीं आती! दया क्योंकर आवे? इनके ईश्वर का उपदेश ही हिंसा करने का है। और जब सब पापों का ऐसा ही प्रायश्चित्त है, तो 'ईसा के विश्वास से पाप छूट जाता है', यह बड़ा आडम्बर क्यों करते हैं?॥५४॥[४]

५५. ....सो उस बलिदान की खाल उसी याजक की होगी, जिसने उसे चढ़ाया। ८। और समस्त भोजन की भेंट जो तन्दूर में पकाई जावें और सब जो कड़ाही में अथवा तवे पर, सो उसी याजक की होगी। ९। तौ०, लै० व्य० पु०, प० ७। आ० ८।९॥

समीक्षक—हम जानते थे कि यहां देवी के भोपों और मन्दिरों के पुजारियों की पोपलीला विचित्र है, परन्तु ईसाइयों के ईश्वर और उनके[५] पुजारियों की पोपलीला इससे सहस्त्रगुणा[६] बढ़कर है, क्योंकि चाम के दाम और भोजन के पदार्थ खाने को आवें तो फिर ईसाइयों के याजकों[७] ने खूब मौज उड़ाई होगी, और अब भी उड़ाते होंगे! भला, कोई मनुष्य एक लड़के को मरवावे और दूसरे लड़के को उसका मांस खिलावे, ऐसा कभी हो सकता है? **वैसे ही मनुष्य और पशु, पक्षी आदि सब जीव ईश्वर के[८] पुत्रवत् हैं। परमेश्वर ऐसा काम कभी नहीं कर सकता।** इसी से यह '**बाइबल**' ईश्वरकृत और इसमें लिखा ईश्वर और इसके माननेवाले धर्मात्मा कभी नहीं हो सकते। ऐसी ही सब बातें '**लैव्य व्यवस्था**' आदि पुस्तकों में भरी है, कहां तक गिनावें?॥५५॥

है। मूलप्रति सं० में द्विप्र० से ग्रहण की गई है। सन् १८८४ संस्करण के आरम्भ में 'निवेदन' शीर्षक से लिखे प्राक्कथन से ज्ञात होता है कि यह टिप्पणी मुंशी समर्थदान ने लिखी है। भाषा-शैली भी मुंशी जी की है। इसी कारण इस पर महर्षि का नाम भी नहीं है। **पं० मीमांसक जी** ने "**द०स०**" संक्षिप्त नाम अपनी ओर से लिखा है, जो गलत है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**बिना कष्ट किये**" अपपाठ है। "**कष्ट करना**" सकर्मक क्रिया है और "**कष्ट पाना**" ईश्वर की ओर से अनिवार्य होता है, वह कर्त्ता नहीं करता। उपर्युक्त पाठ सही है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दूसरे जीवों की हिंसा की**" अपपाठ है। यहां उपर्युक्त पाठ होना अभीष्ट है। "**दूसरी**" '**बात**' का संख्याबोधक विशेषण है, "**जीवों**" का नहीं।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों सं० में यहां "**तड़फता**" क्रिया प्रयोग है, अन्यत्र "**तड़पता**" और "**तड़पना**" आदि प्रयुक्त हैं। इसमें '**तड़प**' धातु है, '**तड़फ**' नहीं, अत: व्याकरणिक एकरूपता एवं मानकता के लिए '**तड़पना**' पद ग्राह्य है।

४. **ऋषि-लेख**—"**और जब.....करते हैं**" पाठ मुद्रणप्रति में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

५-६. **अपप्रयोग**—प्रथम और तृतीय संख्यांक अशुद्धियां क्रमश: "**भोपे**" और "**सहस्त्रगुणी**" दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपप्रयोग हैं। **भोपे**=भक्त, पुजारी। यह राजस्थानी का शब्द है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० में प्रमादवश "**याजकों**" पद त्रुटित है। वेस, जग, भद, युमी को छोड़ कर अन्य सं० में परिवर्धित है।

८. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वैसे ही ईश्वर के सब मनुष्य और पशु-पक्षी आदि सब जीव पुत्रवत् हैं**" वाक्य में "**ईश्वर के**" पद "**मनुष्य**" पद से पूर्व हैं, जो वहां अप-अर्थ दे रहे हैं कि सब मनुष्य किसी ईश्वर-विशेष के हैं। आगे इसी प्रकार "**सब**" सर्वनाम पद की पुनरुक्ति व्यर्थ है। उसका उपयुक्त स्थान "**पुत्रवत्**" से पूर्व है। षष्ठी विभक्ति का आसत्ति सम्बन्ध "**पुत्र**" के साथ है। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में विद्यमान है।

''गिनती की पुस्तक'' [तौरेत][१]

५६. सो गदही ने परमेश्वर के दूत को अपने हाथ में तलवार खींचे हुए मार्ग में खड़े देखा, तब गदही मार्ग से अलग खेत में फिर गई, उसे मार्ग में फिरने के लिये बलआम[२] ने गदही को लाठी से मारा। २३। तब परमेश्वर ने गदही का मुंह खोला और उसने बलआम से कहा कि ''मैंने तेरा क्या किया है कि तूने मुझे अब तीन वार मारा। २८।'' तौ०, गिनती, प० २२। आ० २३। २८॥

समीक्षक—प्रथम तो गदहे तक ईश्वर के दूतों को देखते थे और आजकल बिशप, पादरी आदि श्रेष्ठ वा अश्रेष्ठ मनुष्यों को भी खुदा वा उसके दूत नहीं दीखते हैं! क्या आजकल परमेश्वर और उसके दूत हैं वा नहीं ? यदि हैं तो क्या बड़ी नींद में सोते हैं, वा रोगी [हैं ?][३] अथवा किसी अन्य भूगोल में चले गये ? वा किसी अन्य धन्धे में लग गये ? वा अब ईसाइयों से रुष्ट हो गये ? अथवा मर गये ? विदित नहीं होता कि क्या हुआ ?[४] अनुमान तो ऐसा होता है कि जो अब नहीं हैं, नहीं दीखते, तो तब भी नहीं थे और नहीं दीखते होंगे। ये केवल मनमाने गपोड़े उड़ाये हैं॥ ५६॥

५७. सो अब लड़कों में से हर एक बेटे को और हर एक स्त्री को जो पुरुष से संयुक्त हुई हो प्राण से मारो। १७। परन्तु वे बेटियां जो पुरुष से संयुक्त नहीं हुई हैं, उन्हें अपने लिये[५] जीती रक्खो। १८।
तौ०, गिनती०, प० ३१। आ० १७। १८॥

समीक्षक—वाह जी! मूसा पैग़म्बर और तुम्हारा ईश्वर धन्य है कि जो स्त्री-बाल-वृद्ध और पशु-हत्या करने से भी अलग न रहै। और इससे स्पष्ट निश्चित होता है कि मूसा विषयी था; क्योंकि जो विषयी न होता तो अक्षतयोनि अर्थात् पुरुषों से समागम न की हुई कन्याओं को अपने लिये क्यों मँगाता ? वा उनको ऐसी निर्दय वा विषयीपन की आज्ञा क्यों देता ?॥ ५७॥[६]

---

१. **'गिनती की पुस्तक' का बाइबल-वर्णित नाम**—'NUMBERS', यह मूसा-रचित है। २. Balaam. (बिलाम)।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**हैं**'' क्रिया त्रुटित है। बिना क्रिया के यह वाक्य अपूर्ण है।

४. **ऋषि-लेख**—''**वा रोगी.....क्या हुआ**'' व सभी रेखांकित पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

५. **मूसा का जंगली बर्बर आदेश**—मूसा ने यह आदेश **मिद्यानी समुदाय** से होने वाले युद्ध के अवसर पर दिया था। बाइबल में लिखा है कि इस युद्ध में मूसा की सेना ने अन्य लूटों के अलावा **बत्तीस हजार कुंवारी कन्याओं को** लूटा था (गिनती, पर्व ३१, आ० ३५)। मूसाई (यहूदी) मत में सभ्यता का ऐसा ही जंगली बर्बर स्तर था! कुरान में भी ऐसा ही असभ्य वर्णन है। (द्रष्टव्य समु० १४ में आयतखण्ड संख्या ८१ का कथन)।

६. **मुद्रणलिपिकर की महाभूल और उदयपुर सं० का मक्खीमार सम्पादन—(क)** यह ५७वां आयतखण्ड और इसकी समीक्षा मुद्रणलिपिकर की भूल से मुद्रणप्रति में यहां न हो कर गत ४६वें आयतखण्ड के बाद है। यह दो दृष्टियों से इसी स्थान पर वांछनीय है—१. तौरत 'गिनती' पुस्तक की समीक्षा यहां अपने उचितक्रम अर्थात् बाइबल के क्रमानुसार है (द्र० उदयपुर सं० में पृ० ४८७, इस सं० में पृ० ८८५)। वहीं इसको होना चाहिए। यह अशुद्धि ३३वें संस्करण तक पीछे आयत ४६ के बाद ही अपक्रम में बनी रही और हमारे विद्वान् चद्दर तानकर सोते रहे। फिर किसी की नींद खुल गई और परोकारिणी के ३४वें सं० में इसको यहां ठीक क्रम पर रखकर सत्यार्थप्रकाश के एक भ्रष्टपाठ को ठीक कर दिया। उसके बाद सभी सं० ने इस सिद्ध और स्पष्ट अशुद्धि को विगत अपक्रम से हटा दिया और यहां रख लिया। २. आयत ४६ के बाद 'यात्रा' पुस्तक के प्रकरण में यह असंगत था, क्योंकि यह आयतखण्ड '**गिनती**' पुस्तक का है।

सम्पादकों और विचारशील पाठकों को यह संतुष्टि हो रही थी कि चलो सत्यार्थप्रकाश में से अशुद्धियां मिट रही हैं। शायद, उदयपुर सं० के कथित 'दश विद्वानों' को कोई 'इलहाम' हुआ कि 'सत्यार्थप्रकाश की इस मुद्रणलिपिकरकृत मूर्खतापूर्ण अशुद्धि में कोई गंभीर रहस्य है, जो संशोधन से लुप्त हो जायेगा।' उन्होंने उठाकर इस अशुद्धि को पुनः अब उसी अपस्थान आयत ४६ के बाद पर रख दिया। यह भी नहीं सोचा कि सारे सम्पादक इसको ठीक कर चुके हैं, उन्हीं को देख भूल सुधार कर लो।

''समुएल की दूसरी पुस्तक''[१]

५८. और उसी रात ऐसा हुआ कि परमेश्वर का वचन यह कहके नातान[२] को पहुंचा। ४। कि जा और मेरे सेवक दाऊद[३] से कह कि परमेश्वर यों कहता है कि क्या मेरे निवास के लिये तू एक घर बनावेगा। ५। क्योंकि जब से इस्राएल के सन्तानों को मिश्र से निकाल लाया, मैंने तो आज के दिन लों घर में वास न किया, परन्तु तंबू में और डेरे में फिरा किया। ६।

तौ०, समुएल की दूसरी पु०, प० ७। आ० ४।५।६॥

समीक्षक—अब [इसमें] कुछ सन्देह न रहा कि 'ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् देहधारी है।'[४] और उलाहना देता है कि मैंने बहुत परिश्रम किया, इधर-उधर डोलता फिरा, अब दाऊद घर बनादे तो उसमें आराम करूं। ईसाइयों को ऐसे ईश्वर और ऐसे पुस्तक को मानने में क्यों लज्जा भी नहीं आती? परन्तु क्या करें बेचारे फस गये सो फस ही गये।[५] अब निकलने के लिये बड़ा पुरुषार्थ करना उचित है॥ ५८॥[६]

(ख) **विरोधाभासी और अनुचित सम्पादन**—अनुमान है कि यह अनुचित सम्पादन ''**मूलस्वरूप को अक्षुण्ण रखने**'' की झोंक में किया गया है। इस झोंक में उदयपुर सं० के कथित 'दस सम्पादक' अपनी नीति और अपने किये कार्य को भी भूल गये—१. प्रश्न उठता है कि यदि अशुद्धियों के स्वरूप को बनाये रखना ''मूलस्वरूप'' है, तो आपने २००० से अधिक संशोधन क्यों किये? इसी समुल्लास में आयतखण्ड १० क्रमसंख्या को ग्रहण किया तथा दो बार ४८, ४८ को ४८, ४९ शुद्ध क्रम दिया। उनको भी मूलस्वरूप में रहने देते? २. समु० बारह में पृ० ४०५ का संस्कृत वाक्य ''**सर्वस्य संसारस्य....**'' उठाकर पाठक्रम बदलकर १५ पंक्ति नीचे अशुद्ध क्रम में रखा है। ३. उदयपुर सं० पृ० ४९३ पर आयतखण्ड में स्वतन्त्र रूप से एक आयत ''**बहुत-से सुअरों का झुण्ड उनसे कुछ दूर चरता था**'' की वृद्धि कर ली, जो उचित भी है। जब उदयपुर सं० ने इतने परिवर्तन किये हैं, तो यह आयतखण्ड तो साक्षात् सिद्ध रूप में अपक्रम में है, फिर इसको ठीक स्थान-क्रम पर क्यों नहीं रखा? क्या यह परस्परविरोधी कार्यनीति नहीं है?

(ग) **यह त्रुटि क्यों और कैसे हुई?**—यदि उदयपुर सं० के कथित 'दश विद्वान्' मुद्रणहस्तलेख का भलीभांति अध्ययन-विश्लेषण करते तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि मुद्रणलिपिकर से यह अशुद्धि असावधानी से हुई है। ग्रन्थकार ने इससे पूर्व की आयतखण्ड तक तौरेत 'यात्रापुस्तक' की समीक्षा समाप्त कर पहले उचित क्रम में यह आयतखण्ड दिया था। उसके बाद ग्रन्थकार का विचार बदला और तौरेत '**यात्रा पुस्तक**' की अन्य आयतें भी समीक्ष्य अंश के रूप में जोड़ दीं, यह पृथक् हस्तलेख और पन्नों से स्पष्ट ज्ञात हो रहा है। तब मुद्रणलिपिकर '**गिनती**' पुस्तक की इस आयत को वहां से हटाकर यहां 'गिनती की पुस्तक' की समीक्ष्य आयतों के साथ अर्थात् द्विप्र० या उदयपुर सं० में पृ० ४८७ पर (इस सं० में पृष्ठ ८८५ पर) रखना भूल गया। यह भूल इस प्रकार हुई है। इसमें कोई रहस्य नहीं है, और न मूलस्वरूप है, मूलस्वरूप का भ्रममात्र है।

(घ) **विडम्बना**—देखिए हमारे विद्वानों की विडम्बनापूर्ण विचित्र सोच, अशुद्धियों को बनाये रखने, उनका संरक्षण करने को गौरव तथा गर्व का कार्य मान रहे हैं!! लिपिकरों-शोधकों द्वारा कृत त्रुटियों को अपने ऋषिवर के माथे पर लगाये रखने में ऋषिभक्ति मान रहे हैं!!! पाठकवृन्द! इतने 'श्रद्धावान्' तो आपको, पौराणिकों में भी नहीं मिलेंगे।

१. ''**समुएल की दूसरी पुस्तक**'' का बाइबल वर्णित नाम—'SAMUEL-II', यह समुएल रचित है।

२. Nathan (नातान) ३. David (दाऊद)

४. **मुद्रणलिपिकर और पं० मीमांसक, पं० भगवद्दत्त का सिद्धान्तविरुद्ध पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वि०सं०, जग यह पाठ में सिद्धान्तविरुद्ध और भ्रष्ट बनाया गया है—''**अब कुछ सन्देह न रहा कि ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत् देहधारी नहीं है**''। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** और **पं० भगवद्दत्त जी** को छोड़ कर उदयपुर सं० सहित अन्य सभी सं० में इस पाठ का संशोधन कर लिया गया है। आश्चर्य है कि दोनों पंडितों को यह सिद्धान्तविरोध दिखाई नहीं दिया!!! यह अशुद्धि मुद्रणप्रति में किसी शोधक द्वारा की गई है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठत्रुटि**—मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से गलत पाठ लिखा—''**फस सा फस ही गये**''। गलत पाठ देख किसी शोधक ने ''**फस सा**'' का काट दिया। इस तरह उपर्युक्त एक सुन्दर वाक्य त्रुटित रह गया।

६. **ऋषि-लेख**—''**ईसाइयों को.....उचित है**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

''राजाओं की पुस्तक'' (२)[१]

५९. और बाबुल[२] के राजा नबूख़ुदनज़र[३] के राज्य के उन्नीसवें बरस के पाँचवें मास सातवीं तिथि में बाबुल के राजा का एक सेवक नबूसरअदान[४] जो निजसेना का प्रधान अध्यक्ष था, यरुसलम[५] में आया। ८। और उसने परमेश्वर के मन्दिर और राजा के भवन और यरुसलम[६] के सारे घर और हर एक बड़े घर को जला दिया। ९। और कसदियों[७] की सारी सेना ने जो उस निजसेना के अध्यक्ष के साथ थीं, यरुसलम की भीतों को चारों ओर से ढा दिया। १०।

तौ०, रा० पु०, प० २५। आ० ८। ९। १०॥

समीक्षक—क्या किया जाय, ईसाइयों के ईश्वर ने तो अपने आराम के लिये दाऊद आदि से घर बनवाया था, उसमें आराम करता होगा। परन्तु नबूसरअदान ने ईश्वर के घर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और ईश्वर वा उसके दूतों की सेना कुछ भी न कर सकी।

प्रथम तो, इनका ईश्वर बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ मारता था और विजयी होता था परन्तु अब अपना घर जला-तुड़वा बैठा। न जाने चुपचाप क्यों बैठा रहा? और न जाने उसके दूत किधर भाग गये? ऐसे समय पर कोई भी काम न आया और ईश्वर का पराक्रम भी न जाने कहाँ उड़ गया? यदि यह बात सच्ची हो तो जो-जो विजय की बातें प्रथम लिखीं सो-सो सब व्यर्थ हो गईं। क्या मिश्र के लड़के-लड़कियों[८] को मारने में ही शूरवीर बना था? अब शूरवीरों के सामने चुपचाप हो बैठा? यह तो ईसाइयों के ईश्वर ने अपनी निन्दा और अप्रतिष्ठा करा ली!! **ऐसे ही हज़ारों निकम्मी कहानियाँ इस पुस्तक में भरी हैं**॥ ५९ ॥[९]

ज़बूर दूसरा भाग

''काल के समाचार की पहली पुस्तक [इतिहास-१]''[१०]

६०. सो परमेश्वर मेरे ईश्वर ने इस्राएल पर मरी भेजी और इस्राएल में से सत्तर सहस्र पुरुष गिर गये। १४।

जबूर, काल०, प० २१। आ० १४॥

समीक्षक—अब देखिये, इस्राएल के ईसाइयों के ईश्वर की लीला! जिस इस्राएल कुल को बहुत से वर दिये थे और रात-दिन जिनके पालन में डोलता था, अब झट क्रोधित होकर मरी डालके ७०००० (सत्तर सहस्र)[११] मनुष्यों को मार डाला।[१२] जो यह किसी कवि ने लिखा है, सत्य है कि—

---

१. KINGS-II, यह इस पुस्तक का बाइबल में वर्णित नाम है।

२. Babylon=(बाबुल, बाबेल, बेबीलोन) अर्थात् इराक।

३. Nebuchadnez'zar (नबूकदनेस्सर)

४. Nebuzarad'an (नबूजरदान)।

भिन्न वर्तनी—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्करण में इस नाम की अंग्रेजी वर्तनी (Nebuzardan) है। ऐसे ही अन्य अनेक वर्तनियां भी वर्तमान अंग्रेजी बाइबल से भिन्न हैं।

५,६. Jerusalem (यरुसलेम, वर्तमान इजरायल देश की राजधानी)

७. Chaldeans (चालडी, कसदी)।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां ''**लड़का-लड़कियों**'' अपप्रयोग है। दि०सं० में संशोधित है।

९, १२. **ऋषिहस्तलेख**—मूलहस्त० में ''**यदि यह.....हो गईं**'' ''**काल.....पुस्तक**'' ''**सत्तर.....डाला**'' पाठ और मुद्रणप्रति में ''**निकम्मी.....भरी हैं**'', ''**जो यह किसी.....ईश्वर की है**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

१०. '**काल के समाचार पुस्तक**' का बाइबल में नाम—'CHRONICLES-I'. इस त्रुटित नाम को पं० भीमसेन ने पूर्ण किया है।

११. **मरी भेजने की क्रूरता**—ईसाइयों के ईश्वर की क्रूरता का वर्णन पृ० ८५९, टि० १२, १३ देखिए।

क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टो रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः॥

[सुभाषितरत्नभाण्डागार, प्रक० ३। श्लोक १७४]

जैसे कोई मनुष्य क्षण में प्रसन्न, क्षण में अप्रसन्न होता है अर्थात् क्षण-क्षण में प्रसन्न-अप्रसन्न होवे, उसकी प्रसन्नता भी भयदायक होती है, वैसी लीला ईसाइयों के ईश्वर की है॥ ६० ॥

''ऐयूब की पुस्तक''[१]

६१. और एक दिन ऐसा हुआ कि परमेश्वर के आगे ईश्वर के पुत्र आ खड़े हुये और शैतान[२] भी उनके मध्य में परमेश्वर के आगे आ खड़ा हुआ। १। और परमेश्वर ने शैतान से कहा कि ''तू कहां से आता है?'' तब शैतान ने उत्तर देके परमेश्वर से कहा कि ''पृथिवी पर[३] घूमते और इधर-उधर से फिरते चला आता हूं। २।'' तब परमेश्वर ने शैतान से पूछा कि ''तूने मेरे दास ऐयूब को जांचा है कि उसके समान पृथिवी पर[४] कोई नहीं है, वह सिद्ध और खरा जन ईश्वर से डरता और पाप से अलग रहता है और अब लों अपनी सच्चाई को धर रक्खा है और तूने मुझे उसे अकारण नाश करने को उभारा है। ३।'' तब शैतान ने उत्तर देके परमेश्वर से कहा कि ''चाम के लिये चाम; हां, जो मनुष्य का है सो अपने प्राण के लिये देगा। ४। परन्तु अब अपना हाथ बढ़ा और उसके हाड़-माँस को छू, तब वह निःसन्देह तुझे तेरे सामने त्यागेगा। ५।'' तब परमेश्वर ने शैतान से कहा कि ''देख, वह तेरे हाथ में है, केवल उसके प्राण को बचा। ६।'' तब शैतान परमेश्वर के आगे से चला गया और ऐयूब को सिर से तलवे लों बुरे फोड़ों से मारा। ७।

जबूर, ऐयूब, प० २। आ० १। २। ३। ४। ५। ६। ७॥

समीक्षक—अब देखिये ईसाइयों के ईश्वर का सामर्थ्य कि शैतान उसके सामने उसके भक्तों को दुःख देता है!! न शैतान को दण्ड दे सकता है,[५] न अपने भक्तों को बचा सकता है और न उसके दूतों में से कोई उसका सामना कर सकता है। एक शैतान ने सबको भयभीत कर रक्खा है। और ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ भी नहीं, जो सर्वज्ञ होता तो ऐयूब की परीक्षा शैतान से क्यों कराता? ॥ ६१ ॥

''उपदेश की पुस्तक [सभोपदेशक]''[६]

६२. ....हां, मेरे अन्तःकरण ने बुद्धि और ज्ञान बहुत देखा है। १६। और मैंने बुद्धि और बौड़ाहपन[७] और मूढ़ता जानने को मन लगाया, मैंने जान लिया कि यह भी मन का झंझट है। १७। क्योंकि अधिक बुद्धि में बड़ा शोक है और जो ज्ञान में बढ़ता है सो दुःख में बढ़ता है। १८।

जबूर, उ० पु०, प० १। आ० १६। १७। १८॥

---

१. **''ऐयूब की पुस्तक''** का बाइबल-वर्णित नाम—'Job' है। यह ऐयूब रचित है। २. 'Satan' (शैतान)।

३,४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर **''पृथिवी में''** अपप्रयोग है, **''पृथिवी पर''** शुद्ध है।
संशोधन-पुष्टि—एक पंक्ति पूर्व **''पृथिवी पर''** शुद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में क्रियाप्रयोग त्रुटित होने से वाक्य पूर्ण नहीं होता, अतः **'दे सकता है'** पाठ-परिवर्धन व्याकरण की दृष्टि से आवश्यक है। **ऋषि-लेख**—आगे **''और.....करता''** पाठ मूलह० में ऋषिलिखित है।

६. **'उपदेश की पुस्तक'** का बाइबल- वर्णित नाम—'ECCLESIASTES'। ७. **बौड़ाहपन**—पागलपन, बावलापन।

समीक्षक—अब देखिये! [यहाँ] जो बुद्धि और ज्ञान पर्यायवाची हैं, उनको दो मानते हैं। और बुद्धि की वृद्धि में शोक और दुःख मानना, विना अविद्वान् के ऐसा लेख कौन लिख सकता है? इसलिये यह '**बाइबल**' ईश्वर की बनाई तो क्या किसी विद्वान् की भी बनाई नहीं है॥ ६२॥

यह थोड़ा-सा **तौरेत** और **ज़बूर**[१] के विषय में लिखा। इसके आगे थोड़ा-सा '**मत्ती-रचित इंजील**'[२] आदि के विषय में लिखा जायगा। अब जिसको ईसाई[३] लोग बहुत प्रमाणभूत मानते हैं, जिसका नाम,

---

१. **ज़बूर**—'ज़बूर' यहूदियों द्वारा मान्य वह पुस्तक है जो इनके पैगम्बर दाऊद पर उतरी थी। 'The PSALMS'=भजन संहिता 'ज़बूर' के अन्तर्गत है। बाइबल के तौरेत के अन्तर्गत है किन्तु पृथक् दर्शाने के लिए इसका अलग नाम से उल्लेख कर दिया जाता है। दाऊद प्रसिद्ध व्यक्ति था। ईसा मसीह इसी के वंश में हुआ।

२. **अव्यवस्थित वर्तनी 'इंजील' नाम की**—'इंजील' नाम की हिन्दी वर्तनी अव्यवस्थित है। हमें दोनों हस्त० और तीनों सं० में चार वर्तनियां मिलती हैं। **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, पं० भगवद्दत्त जी, उदयपुर सं०** आदि सभी सम्पादकों के संस्करणों का भी यही बुरा हाल है। विस्तारभय से सबके प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं। देखिए—

१. **इञ्जील**—मूलप्रति सं०, पृ० ६०४, ६२३, ६२६, ६३९, ६४६; द्वि० सं०, पृ० ३४०, ३५०, ३५१, ३५९, ३६२

२. **इंजील**—मूलप्रति सं०, पृ० ६०४, ६०७; द्वि० सं०, पृ० ३४१। ३. **इन्जील**—मूलप्रति सं०, पृ० ६१३।

४. **अञ्जील**—मूलप्रति सं०, पृ० ७१२; द्वि० सं०, पृ० ३९६।

वर्तमान में इसकी वर्तनी '**इंजील**' प्रचलित है अतः इनमें से उसे ही भाषात्मक एकरूपता और मानकता की दृष्टि से सर्वत्र ग्राह्य माना है। 'इंजील' यूनानी शब्द है और इसकी यूनानी वर्तनी Euanggliow है। इसका अर्थ है—'शुभ सूचना' या 'सुसमाचार'। इसको गॉस्पॅल (Gospel) भी कहते हैं।

३. **ईसा (यीशू) तथा ईसाई मत का संक्षिप्त परिचय**—ऐसा माना जाता है कि ईसाई मत के संस्थापक **ईसा मसीह** (यीशू मसीह, Jesus) एक यहूदी परिवार में ६ या ५ ईसा पूर्व २५ दिसम्बर को उत्पन्न हुए थे। 'ईसा' शब्द इब्रानी भाषा के 'येशूआ' का अपभ्रंश है। इसका अर्थ है—'मुक्तिदाता'। यहूदी धर्मग्रन्थ में 'मशीअह' (अपभ्रंश-मसीह) मुक्तिदाता की पदवी है, इसका अर्थ है—'अभिषिक्त'। यूनानी भाषा में इसके लिए 'ख्रीस्तोस' शब्द प्रयुक्त होता है। इस कारण पश्चिमी जगत् में ईसा को 'यीशु ख्रीस्त या ख्रीष्ट' कहा जाता है। इनकी जाति का नाम '**एसराएल**' था और दाऊद का वंशज था। इनके दादा का नाम याक़ूब (Jacob), पिता का नाम युसुफ (Joseph) और माता का नाम **मेरी या मरियम** (Mary) था। यूसुफ से जब मरियम की मंगनी हुई तब वह स्वयं को ईश्वरदूत कहनेवाले किसी व्यक्ति से गर्भवती थी। उसको जो विवाह पूर्व पुत्र हुआ, उसी का नाम यीशू रखा गया, ऐसा बाइबल में लिखा है (मत्ती इंजील, आयत १८)। बाद में इस गर्भस्थिति को सम्मानित बनाने के लिए ईसा के अनुयायियों ने उसके साथ 'ईश्वरप्रदत्त गर्भ' की कल्पना कर ली। ईसा को 'ईश्वरपुत्र' प्रचारित कर दिया। यह तब हुआ जब ईसा मसीह एक मतप्रवर्तक पैगम्बर के रूप में स्थापित हो चुका था।

ईसा के माता-पिता का परिवार गरीब था, जो **बढ़ई** का काम करता था और भेड़-बकरियां चराता था। बाइबल में अनेक स्थलों पर उसे '**चरवाहा**' कहा गया है। ईसा का जन्म फिलिस्तीन राज्य के यहूदिया (जुड़िया) प्रान्त के बेथलहेम (Bethlehem) गाँव की एक पशुशाला (अस्तबल या गोशाला) में हुआ था। ईसा के कई भाई और बहनें थीं। (मत्ती० पर्व० ६, आयत ३)

ईसा के जन्म के बाद, राजा हेरोद के अत्याचार के भय से, उनका परिवार मिश्र में आकर बस गया। कुछ समय पश्चात् मिश्र से लौटकर गलील (Galile) देश के नाजरथ या नासरत (Nazarath) गांव में रहने लगे और ईसा अपना पारिवारिक व्यवसाय करने लगे। यहां मरियम का मायका था। इस निवास के कारण ही ईसा को '**ईसा गलीली**' अथवा '**ईसा नासरी**' भी कहा जाता है। ईसा जब बारह वर्ष का हुआ तो उसके माता-पिता उसे यरुसलम (Jerusalem) के मन्दिर में ले गये, जहां से वह एक रात भागकर कहीं चला गया और तीस वर्ष की आयु तक उसका पता ही नहीं चला। तीस वर्ष की आयु में वह पुनः लौटा। यही कारण है कि बारह से तीस वर्ष के मध्य की उसके जीवन-विषयक जानकारी बाइबल आदि किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती। किन्तु एक मत यह भी है कि तीस वर्ष की अवस्था तक वह बढ़ईगिरी करता रहा। फिर वह उस कार्य को छोड़कर धर्मोपदेशक बन गया। धीरे-धीरे वह स्वयं को 'ईश्वरपुत्र' घोषित करने लगा।

कुछ लेखकों का मानना है कि इस बीच ईसा शिक्षाप्राप्ति आदि के लिए अनेक स्थानों पर घूमा। एक मत यह है कि उस समय फिलिस्तीन, सीरिया, मिश्र आदि में एक 'एसियन सम्प्रदाय' (Essenese) का प्रचार था जिसके मठ भी स्थापित थे। ये लोग थे तो यहूदी, किन्तु यहूदियों में व्याप्त घृणित बलिप्रथा, शराब, मांस, अनाचार और अन्य कुरीतियों के कारण यहूदी मत से विमुख हो बौद्धधर्म के अहिंसात्मक विचार से प्रभावित होकर सन्तोषपूर्वक भिक्षुमय जीवन व्यतीत करते थे। उनका एक बड़ा

मठ 'मुरदार' नामक समुद्र के पश्चिमी किनारे पर 'नेगदी' नामक स्थान पर (अरब और फिलिस्तीन के मध्य) स्थित था। इनके बौद्ध प्रभावित मठों में रहकर ईसा ने शिक्षा प्राप्त की, वहां से इसको ईसाइयत के मूल सिद्धान्त 'अहिंसा' की प्रेरणा प्राप्त हुई। ईसा से काफी समय पूर्व बौद्ध भिक्षु पश्चिमी देशों में जाने-आने लगे थे और अपना संदेश उन लोगों को देने लगे थे।

ईसा के आचरण, सिद्धान्तों तथा शिक्षाओं पर बौद्धमत का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे—अहिंसा, बुद्ध के ईश्वररूप के समान ईसा को ईश्वरपुत्र मानना, दीक्षा-संस्कार करके सम्प्रदाय में सम्मिलित करना, जाति-पांति का विचार न करना, बुद्ध के समान चोरों, डाकुओं आदि को भी शरण में लेना, भिक्षुओं के समान प्रचारार्थ शिष्यों का समूह तैयार करना। बौद्ध मत के तीन आधार हैं—बुद्ध में विश्वास, धर्म का आचरण, संघ में दीक्षित होना। उसी प्रकार ईसाई मत में भी तीन मूलभूत विश्वास हैं—ईश्वर पिता है, ईसा उसका इकलौता पुत्र है, ईश्वर की पवित्र आत्मा का उसमें प्रवेश (मरियम के कौमार्यकालीन गर्भ में) हुआ था, इन तीन बातों में विश्वास करना, इत्यादि अनेक समानताओं को देखकर इस अनुमान की पुष्टि होती है कि ईसा ने कहीं से बौद्ध धर्म की सामान्य शिक्षा अवश्य प्राप्त की थी। यह मत तो अनुमान ही नहीं अपितु लिखित प्राप्त होता है कि ईसा भारत आये थे और यहां रहकर उन्होंने बौद्धधर्म की शिक्षा प्राप्त की थी। इस बात का स्पष्ट उल्लेख नेपाल के एक बौद्धग्रन्थ में मिलता है। उस ग्रन्थ का फ्रांसिसी भाषा में अनुवाद १८९४ ईस्वी में निकोलस नोटोवस नामक यात्री ने प्रकाशित कराया था।

तीस वर्ष की अवस्था में ईसा **नासरत** शहर में लौट गये। वहां योहन्ना (या योहन, John) नामक व्यक्ति से बपतिस्मा (ईसाई-दीक्षा संस्कार) लिया। कुछ दिन बाद ईसा को जानकारी मिली कि योहन्ना को वहां के राजा ने जेल में डाल दिया है। ईसा डरकर गलील देश में चले गये और वहां घूम-घूम कर अपने उपदेश-सन्देश देने लगे। वहां भी यहूदी धर्म प्रचलित था और रोमनों के राज्यपाल पिलातुस का शासन था। पिलातुस ईसा को दण्ड देना नहीं चाहता था किन्तु यहूदी पुरोहितों ने ईसा को धर्मविरोधी और स्वतन्त्र धर्म-प्रवर्तक कहकर दण्डित करने का दबाव बनाया। तब ईसा के बारह प्रमुख शिष्यों में से यहूदा या जुडास इसकरियोती (Judas Iscriat) ने तीस चांदी के सिक्कों के लालच में ईसा को पकड़वा दिया। ईसा मसीह को शिष्य के षड्यन्त्र का आभास दो दिन पूर्व हो गया था। ईसा पहली रात पकड़े जाने के भय से बहुत घबरा गये थे तथा उन्हें रातभर नींद नहीं आई। उन्हें इस बात का भी दु:ख हो रहा था कि मौत की आशंका की जानकारी देने के बावजूद उनके शिष्य उनके साथ नहीं जागे और निश्चिन्त होकर सोते रहे। उन्होंने ईश्वर से रात में तीन बार प्रार्थना की थी कि किसी प्रकार यह प्राणान्त का अवसर टल जाये। बाइबल में लिखा है कि एक बार वे सदमे के कारण बेहोश होकर मुंह के बल गिर पड़े थे (मत्ती० पर्व० २६, आ० ३६-४६) इसी व्याकुलता की स्थिति में पकड़ने वाले शासकीय लोग उसके शिष्य यहूदा की अगवानी में आ पहुंचे। उस समय ईसा यरुसलम की जैतून (ओलिव) नामक पहाड़ी पर ठहरा था। ईसा को पकड़ा जाता देख शेष शिष्य भाग खड़े हुए। (मत्ती० २६.५६) आसपास दिखे एक-दो शिष्यों ने कसम खाकर यह कह दिया कि हम ईसा को जानते ही नहीं।

ईसा पर दण्डाधिकारी ने मुख्यत: तीन आरोप लगाये—१. वह स्वयं को ईश्वरपुत्र घोषित करके 'यहोवा' ईश्वर का अपमान करता है। इसका उत्तर ईसा ने कुछ नहीं दिया। २. ईसा स्वयं को यहूदियों का ईश्वरप्रेषित एकमात्र शासक कहता है और इस प्रकार स्वतन्त्र शासन की बात करके वहां स्थापित रोमन शासन के विरुद्ध विद्रोह फैलाता है। इस पर ईसा ने अस्पष्ट-सा उत्तर दिया कि 'मेरा राज्य भिन्न है।' ३. वह रोगियों को आशीर्वाद देकर स्वस्थ करने, पत्थर को रोटियों में बदलने आदि के नाम पर चमत्कार की आड़ में पाखण्ड फैलाता है और इस तरह जनता को गुमराह करता है। इस प्रकार धर्म-निन्दा, राजद्रोह और पाखण्ड फैलाने के अपराध में ईसा को ३३ वर्ष की आयु में २९ या ३० ईस्वी की वसन्त ऋतु में शुक्रवार के दिन यरुसलम के बाहर 'गोलगथा' अर्थात् वधस्थान पर दो डाकुओं के साथ सूली (क्रॉस) पर लटका दिया गया। बाइबल में लिखा है कि उसने परमेश्वर को पुकार कहा कि आपने मुझे क्यों त्याग दिया? और चिल्ला-चिल्ला कर बड़े कष्ट से प्राण त्यागे। यह कष्टपूर्ण दृश्य ही लोगों के लिए भावोत्तेजक और प्रेरक बन गया।

बाइबल का संकलन ईसाई मत का प्रचार-प्रसार—ईसा लगभग दो-तीन वर्ष ही अपने मत का प्रचार कर सके। उन्होंने जो कुछ कहा वह मौखिक था। ईसा के जीवन और ईसाई मत की शिक्षाओं के विषय में जो कुछ बाइबल में मिलता है वह उसके शिष्यों ने अनुश्रुति के आधार पर काफी बाद में लिखा है और उसमें भी परिवर्तन-संशोधन होता रहा है। ईसाई लेखकों से यह जानकारी मिलती है कि प्रथम शती में बाइबल का संकलन आरम्भ हुआ और चौथी शती में पूर्ण हुआ। बाइबल का 'इंजील' भाग ईसा मसीह की रचना नहीं है। '**बाइबल**' यहूदियों और ईसाइयों का सम्मिलित धर्मग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पहले अन्य-अन्य नामों से प्रसिद्ध रहा। चौथी शती में ख्रीसोष्टम नामक सन्त ने इसको 'बाइबल' नाम दिया। तब से यही नाम चल रहा है। बाइबल के मुख्य दो भाग हैं—**१. ओल्ड टेस्टामेंट (तौरेत), २. न्यू टेस्टामेंट (इंजील)।** ओल्ड टेस्टामेंट को यहूदी अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं और न्यू टेस्टामेंट को ईसाई। पहले भाग की भाषा 'इब्रानी' (हिब्रू) है, दूसरे की 'कोइने' नामक यूनानी। न्यू टेस्टामेंट की चार इंजीलें इस कारण ईश्वरीय मानी जाती हैं कि उनमें श्रुति-परम्परा से संग्रहीत ईसा के उपदेश हैं, किन्तु वे यथावत् ईसा के उपदेश नहीं हैं, अत: उन पर यह विवाद समय-समय पर ईसाइयों में होता रहता है कि ये ईश्वरीय पुस्तक है या नहीं। क्रमश: वे चार हैं—१. मार्करचित 'मरकस इंजील', २. लूकरचित 'लूक इंजील', ३. मैथ्यूरचित 'मत्ती-इंजील', ४. यूहन्ना रचित 'यूहन्ना

'**इंजील**' रक्खा है, उसकी परीक्षा थोड़ी-सी लिखते हैं कि यह कैसी है—

''मत्ती-रचित इंजील''[१]

६३. यीशु ख्रीष्ट[२] का जन्म इस रीति से हुआ—उसकी मां मरियम[३] की यूसुफ[४] से मंगनी हुई थी

इंजील'। इनमें अनेक परस्पर-विरोधी और असम्भव बातें हैं। 'न्यू टेस्टामेंट' को बहुत वर्षों बाद ईश्वरीय ग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली। प्रारम्भ में ईसाई 'ओल्ड टेस्टामेंट' को ही ईश्वरीय ग्रन्थ मानते थे, वही ईसाई आज उसे ईश्वरीय ग्रन्थ ही मानने को तैयार नहीं। प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय के लोग ६-७ ग्रन्थों को अप्रामाणिक मानकर अपने 'बाइबल' में सम्मिलित नहीं करते। इस प्रकार पूर्वार्ध कैथोलिक बाइबल में ४५, प्रोटेस्टैंट में ३९ तथा उत्तरार्ध में एकमत से २७ पुस्तकें हैं।

ईसा के अनुयायियों ने अनेक कष्ट उठाकर और घोर अत्याचार सहन करके भी ईसाइयत का प्रचार जारी रखा। यहूदियों, रोमनों और तुर्क मुसलमानों ने ईसाइयों पर भयंकर अत्याचार किये। मुसलमानों से इनके सात धर्म-युद्ध इतिहास में प्रसिद्ध हैं। जिनको 'क्रूसयुद्ध' भी कहा जाता है। ये युद्ध अपने धर्म की पवित्र भूमि फिलिस्तीन और उसकी राजधानी यरुसलम में स्थित ईसा की समाधि के गिरजाघर को मुसलमानों से मुक्त कराने के लिए सन् १०६५-१२९२ के मध्य लड़े गये थे।

बालकों का धर्मयुद्ध—धार्मिक अन्धविश्वास और कट्टरपन का विश्व में यह एक अनन्य विचित्र उदाहरण है। सन् १२९२ में गांव स्तेफां (फ्रांस) के एक किसान ने घोषणा की कि मुझे ईश्वर ने कहा है कि मुसलमानों की पराजय बालकों की सेना से होगी। इस अन्धविश्वास से प्रेरित होकर १२ वर्ष तक की अवस्था के ३०,००० बालक-बालिकाएं सात जहाजों में भरकर मुसलमानों से युद्ध के लिए निकल पड़े। इनमें से दो जहाज समुद्र में डूब गये, शेष को सिकंदरिया में दास बनाकर बेच दिया, जो १७ वर्ष बाद मुक्त हो पाये। दूसरा एक दल २०,००० बालकों का फिर जर्मनी से युद्ध के लिए चला। एक बड़े पादरी ने समझाकर उन्हें जेनेवा से वापिस लौटा दिया। लौटते समय उनमें से बहुत-से बच्चे पहाड़ों में मर गये। (हिन्दी विश्वकोश—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, भाग २, पृ० ४६)

ईसाई मत का नियोजित और व्यापक प्रचार तब हुआ जब ३१३ ईस्वी में रोमन **सम्राट् कान्स्टेन्टाइन** ईसाई धर्म का अनुयायी बना और उसने तथा उसके बाद सम्राट् **थियोडोसियस** ने इसको राज्यधर्म घोषित किया। राज्य संरक्षण पाकर यह बढ़ता ही चला गया। इसके प्रचार-प्रसार के लिए राजकोष खुल गया। ज्यों-ज्यों ईसाई धर्म का विस्तार हुआ इनमें भी दर्जनों शाखाएं बन गईं। ईसा मसीह के उपदेशों के विपरीत उनमें परस्पर युद्ध और रक्तपात होने लगे। अपने मत के प्रसार के लिए इसाइयों ने भी दूसरे लोगों पर भयंकर अत्याचार किये जैसे कि भारत के इतिहास में अंकित हैं और सर्वज्ञात हैं। ईसाई मत अपने मूल आधार 'अहिंसा' से कभी का भटक चुका है। जिस ईसा ने यरुसलम के यहूदी मन्दिर में होने वाली पशु-पक्षियों की बलि का विरोध कर यहूदियों का विरोध मोल लिया था, बाद में उसी के नाम पर बलियां दी जाने लगीं। वही अत्याचार ईसाई धर्म में होने लगे। इस समय ईसाई मत की प्रसिद्ध शाखाएं हैं—ग्रीक, कैथोलिक, प्रोटेस्टैन्ट, रिफॉर्म्ड चर्च, वैप्टिस्ट चर्च, मैथोडिस्ट आदि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी शाखाएं भी हैं जिन्होंने बिल्कुल ही भिन्न विचारधारा को अपनाया है। मोनोफिज शाखा के लोग ईसा की मूर्ति बनाकर पूजा करते हैं। नेसटोरियन शाखा वाले ईसा को 'पैगम्बर' नहीं, केवल 'मानव' के रूप में स्वीकार करते हैं।

ईसाई मत को प्रचलित हुए सन् १९०८ में १८७८ से भी कम वर्ष हुए हैं। ईसा ने तीस वर्ष की अवस्था में इस मत का प्रचार आरम्भ किया था, अत: १९०८ में से तीस वर्ष घटाने पर ही ईसाई मत के आरम्भ का सही समय १८७८ वर्ष आता है।

१. **Matthew (मत्ती)** ईसा का शिष्य, जो ईसा के बारह शिष्यों में से एक था। इसका पद 'टैक्स क्लेक्टर' दिया गया है। '**मतीरचित इंजील**' पुस्तक का बाइबल वर्णित नाम है—'MATTHEW'. यह मत्तीरचित है।

२. **Jesus Christ** (जीसस क्राइस्ट, यीशु ख्रीष्ट), ये ईसा के नाम हैं।

३. **Mary (मेरी, मरियम)** ईसा की कुंवारीमाता। मरियम से ईसा के जन्म का यही इतिहास कुरान में भी है। देखिए, चौदहवें समु० में आयत खण्डसंख्या ५३ में।

'मरियम' की अव्यवस्थित वर्तनी—ग्रन्थ में सभी सं० में अव्यवस्थित रूप से इस नाम की तीन वर्तनियां हैं—

१. मूलप्रति सं० में—मरियम (पृ० ६०४, ६०५, ६५३), **मर्यम** (पृ० ६९३, ७१७), **मर्य्यम** (पृ० ६६७)।

२. द्वितीय सं० में—मरियम (पृ० ३४०, ३६६), **मर्यम** (पृ० ३८६), **मर्य्यम** (पृ० ३७३)।

भाषागत व्यवस्था और मानकता के लिए इनमें से बाइबल के हिन्दी अनुवादों में स्वीकृत ''**मरियम**'' वर्तनी स्वीकार की गई है। मरियम का वर्णन कुरान में भी आता है। द्र० सत्यार्थप्रकाश समु० १४ के आयतखण्ड ५३, ११६, १२०।

४. **युसुफ** (Joseph) यह मरियम का पति था, किन्तु ईसा का जनक यह नहीं था। पिता के रूप में इसका केवल नाम ही प्रचलित है। इस नाम की प्रचलित वर्तनी 'यूसुफ' है।

परन्तु उनके इकट्ठे होने के पहिले वह देख पड़ी कि 'पवित्र-आत्मा' से गर्भवती है। १८। ....देखो, परमेश्वर के एक दूत ने स्वप्न में उसे दर्शन दे कहा—''हे दाऊद के सन्तान यूसुफ![१] तू अपनी स्त्री मरियम को यहां लाने से मत डर, क्योंकि उसको जो गर्भ रहा है सो 'पवित्र-आत्मा' से है। २०।''

मत्तीरचित इंजील, प० १। आ० १८। २०॥

समीक्षक—इन बातों को कोई विद्वान् नहीं मान सकता कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाण और सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं। इन बातों का मानना मूर्ख मनुष्यों,[२] जंगलियों का काम है, सभ्य विद्वानों का नहीं। भला, जो परमेश्वर का नियम है उसको कोई तोड़ सकता है? और जो परमेश्वर भी अपने[३] नियम को उलटा-पलटा करे तो उसकी आज्ञा को कोई न माने, और वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम न रहै।[४] **ऐसे तो जिस-जिस कुमारिका के गर्भ रह जाय, तब सब कोई ऐसे कह सकते हैं कि इसमें गर्भ का रहना ईश्वर की ओर से है। और झूठ-मूठ कह दे कि परमेश्वर के दूत ने मुझको स्वप्न में कह दिया है कि यह गर्भ परमात्मा की ओर से है।** जैसा यह असम्भव प्रपंच रचा है, वैसा ही सूर्य से कुन्ती का गर्भवती होना भी पुराणों में असम्भव लिखा है।[५] ऐसी-ऐसी बातों को '**आँख के अन्धे गाँठ के पूरे**' लोग मानकर भ्रमजाल में गिरते हैं। यह ऐसी बात हुई होगी कि किसी पुरुष के साथ समागम होने से मरियम गर्भवती हुई होगी,[६] उसने वा किसी दूसरे ने ऐसी असम्भव बात उड़ा दी होगी कि इसमें गर्भ ईश्वर की ओर से है॥ ६३॥

६४.[७] यीशु बपतिस्मा[८] लेके तुरन्त जल से ऊपर आया, और देखो! उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नांईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा। १६।

मत्ती इं०, प० ३, आ० १६॥

समीक्षक—भला, ईश्वर का आत्मा आंख से कभी दीख सकता है? और व्यापक ईश्वर कपोत की नाईं न कभी उतरता, न चढ़ता है। और जो चढ़ता-उतरता है, वह ईश्वर ही नहीं होता॥ ६६॥

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**यूसफ़**'' अपवर्तनी है, '**यूसुफ**' शुद्ध है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मनुष्य**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, यहां बहुवचनान्त अपेक्षित है।

३. **त्रुटित पद**—द्वि०सं० में यहां ''**अपने**'' पद त्रुटित है। मूलप्रति में है। आवश्यक होने से ग्राह्य है।

४. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मूलह०, मूलसं० के महर्षिप्रोक्त सही पाठ को बिगाड़कर ''**वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम है**'' असंगत बना दिया। यही अपपाठ द्विप्र०, वेस, जग, भद, युमी, विस आदि में है।

५. **पुराणों में कुन्ती की असम्भव कथा**—जैसे मरियम को बहका-फुसला कर उसके न चाहते हुए भी किसी पाखंडी ने स्वयं को ईश्वरदूत कहकर उससे समागम किया जिसके फलस्वरूप 'ईसा' का जन्म हुआ और जन्म के बाद उस अवैध कार्य को परमेश्वर-प्रदत्त गर्भ और ईसा को ईश्वर-पुत्र का गौरव प्रदान किया गया, ठीक उसी प्रकार पुराणों में कुमारिका अवस्था में कुन्ती से उत्पन्न अवैध पुत्र कर्ण को देवता-प्रदत्त गर्भ और सन्तान कहा गया है। इसको वैध गर्भ प्रसिद्ध करने के लिए अनेक कथाओं की कल्पना कर डाली है। पुराणों में गपोड़ा है कि एक बार अपने यहां आये ऋषि दुर्वासा की इसने बहुत सेवा की। सेवा से प्रसन्न ऋषि ने इसको वरदान दिया कि 'जब तू चाहेगी, किसी भी देवता का आह्वान कर सकेगी और उससे पुत्र उत्पन्न कर सकेगी।' इस वरदान या विद्या की परीक्षा करने के लिए एक बार कुन्ती ने सूर्य देवता का आह्वान किया और कुमारिका अवस्था में उससे 'कर्ण' नामक पुत्र प्राप्त किया। (द्रष्टव्य, भागवत पुराण ९.२३ अ० ब्रह्माण्ड ३.१७.१५२-१५७ आदि।) यह असम्भव है।

६. **ऋषिहस्तलेख**—मुद्रणप्रति में ''**मरियम गर्भवती हुई होगी**'', मूलह० में ''**न कभी.....होता**'' पाठ ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

७. **ऋषि के निर्देश का उल्लंघन**—मूलप्रति में मुद्रणलिपिकर के लिए इस आयत वाले पन्ने के ऊपर निर्देश लिखा है—''**पत्र (=पत्रे) फुटकर हैं यथाक्रम से पूर्व-आयत लिखी जायंगी।**'' पन्नों पर ये आयतखण्ड हैं—६४, ६६, ७०, ७१, ७९, ८१, ८२;

६५. तब आत्मा यीशु को जंगल में ले गया कि शैतान से उसकी परीक्षा की जाय। १। वह चालीस दिन और चालीस रात उपवास करके पीछे भूखा हुआ। २। तब परीक्षा करनेहारे ने कहा कि ''जो तू ईश्वर का पुत्र है तो कह दे कि ये पत्थर रोटियां बन जावें। ३।''

मत्ती इं०, प० ४। आ० १। २। ३॥

समीक्षक—इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, क्योंकि जो सर्वज्ञ होता तो उसकी परीक्षा शैतान से क्यों कराता? स्वयं जान लेता। भला, किसी ईसाई को आजकल चालीस रात-दिन भूखा रक्खें तो कभी बच सकेगा? और इससे यह भी सिद्ध हुआ कि न वह ईश्वर का बेटा [था][१] और न कुछ उसमें करामात अर्थात् सिद्धि थी। नहीं तो शैतान के सामने पत्थर को रोटियां[२] क्यों न बना देता? और आप भूखा क्यों रहता? और सिद्धान्त यह है कि जो परमेश्वर ने पत्थर बनाये हैं, उनको रोटी कोई भी नहीं बना सकता। और ईश्वर भी पूर्वकृत नियम को उलटा नहीं कर सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ [है] और उसके सब काम विना भूल-चूक के हैं॥ ६४॥[३]

६६. जब यीशु ने सुना कि योहन[४] बन्दीगृह में डाला.....। १२। मत्ती इं०, प० ४। आ० १२॥

समीक्षक—जब 'सुनकर' योहन का बन्दीगृह में पड़ना जाना, तो [ईसाइयों का ईश्वर] सर्वज्ञ नहीं; क्योंकि सुनके जानना असर्वज्ञ जीवों का काम है। सुनके जानना, जानके भूलना यह ईश्वर का स्वभाव नहीं, किन्तु जीव का स्वभाव है॥ ६५॥

६७. उसने उनसे कहा—''तुम मेरे पीछे आओ, मैं तुमको मनुष्यों के मछुवे बनाऊंगा। १९।'' वे तुरन्त जालों को छोड़के उसके पीछे हो लिये। २॥ मत्ती० इं०, प० ४। आ० १९। २०॥[५]

समीक्षक—विदित होता है कि इसी पाप अर्थात् जो **'तौरेत'** में 'दश-आज्ञाओं' में लिखा है[६] कि **'सन्तान लोग अपने माता-पिता की सेवा और मान्य करें जिससे उनकी उम्र बढ़े' और ईसा ने न**

किन्तु मुद्रणलिपिकर ने कुछ को लिख दिया और ६४,६६,७१,७२,८३ आयतों को त्रुटित छोड़ दिया। ऐसे मक्कार थे महर्षि के लिपिकर! आदिशोधकों ने भी ठीक से मिलान नहीं किया। सभी द्वि०सं० में अभी वे आयतें ग्रहण नहीं की हैं।

८. **बपतिस्मा**—ईसाई बनने का संस्कार। पादरी आयत बोलकर ईसाई बनने के इच्छुक व्यक्ति पर जल के छींटे देता है। उसके बाद उस व्यक्ति को ईसाई मत में दीक्षित मान लिया जाता है। यह स्नान का अवशिष्ट रूप है।

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यहां **'था'** क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता।

२. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों सं० में **''पत्थर की रोटियां''** अपपाठ है। आयत की भाषा के अनुसार यहां **''पत्थर को रोटियां क्यों न बना देता?''** पाठ उपयुक्त होगा। आयत में स्पष्ट लिखा है—**''पत्थर रोटियाँ बन जावें,''** पत्थर की रोटियां नहीं। अगले ही वाक्य में **''पत्थर बनाये हैं उनको रोटी कोई नहीं बना सकता''** शुद्ध प्रयोग है। यही अपपाठ वेस, भेद, उदयपुर सं० में है। मुद्रणह०, द्विप्र० में कारक प्रत्यय त्रुटित है। **पं० मीमांसक जी** का पाठ शुद्ध है।

३. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में **'है'** क्रिया त्रुटित है। **रेखांकित पाठ ऋषि-लेख में परिवर्धित हैं।**

४. **योहन (John) योहन्ना**—यह वह व्यक्ति था जिससे नासरत शहर में ईसा ने 'बपतिस्मा'='नये धर्म का दीक्षा संस्कार' लिया था। स्वयं को पैगम्बर घोषित करने और नये धर्म का दीक्षा-संस्कार=बपतिस्मा देने के अपराध में जब उसको राजा ने कारागार में डाल दिया तो इस समाचार को सुनकर ईसा डरकर नासरत शहर से गलील देश चला गया। फिर वहां से जबूलून और नपताली देश में जाकर रहने लगा और प्रचार करने लगा।

५. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह० मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में यहां २१ संख्या अधिक है, जो अशुद्ध है।

६. **दश आज्ञाएं**—बाइबल की 'निर्गमन' पुस्तक के पर्व २० में ये आज्ञाएं हैं। आयत १२में माता-पिता की सेवा करने से दीर्घायु-प्राप्ति कही है। ईसा ने वह सेवा नहीं की अत: चिरंजीवी न रहा।

अपने माता-पिता की सेवा की और दूसरों को भी माता-पिता की सेवा से छुड़ाया,[१] इसी अपराध से चिरंजीवी न रहा।[२] और यह भी विदित हुआ कि ईसा ने मनुष्यों को[३] फसाने के लिये एक मत चलाया है कि जाल में मच्छी के समान मनुष्यों को स्वमत के[४] जाल में फसाकर अपना प्रयोजन साधें।

जब ईसा ही ऐसा था तो आजकल के पादरी लोग अपने जाल में मनुष्यों को फसावें तो क्या आश्चर्य है? क्योंकि जैसे बड़ी-बड़ी और बहुत मच्छियों को जाल में फसानेवाले की प्रतिष्ठा और जीविका अच्छी होती है, इसी से जो बहुतों को अपने मत में फसा ले, उसकी अधिक प्रतिष्ठा और जीविका होती है। इसी से ये लोग, जिन्होंने वेद और शास्त्रों को न पढ़ा, न सुना, उन बेचारे भोले मनुष्यों को अपने जाल में फसाके, उनके मा-बाप, कुटुम्ब आदि से पृथक् कर देते हैं, **इससे सब विद्वान् आर्यों को उचित है कि आप इनके भ्रमजाल से बचें और अन्य भोले-भाले अपने भाइयों को भी बचावें॥ ६७॥**

६८. तब यीशु सारे गलील[५] देश में उनकी सभाओं में उपदेश करता हुआ और राज्य का सुसमाचार प्रचार करता हुआ और लोगों में हर एक रोग और हर एक व्याधि को चंगा करता हुआ फिरा किया। २३।...सब रोगियों को जो नाना प्रकार के रोगों और पीड़ाओं से दुःखी थे और भूतग्रस्तों और मृगी-वालों[६] और अर्धांगियों को उसके पास लाये और उसने उन्हें चंगा किया। २४।

मत्ती० इं०, प० ४। आ० २३। २४॥[७]

समीक्षक—जैसे आजकल पोपलीला, भूत[८] निकालने[९] के मन्त्र और भस्म की चुटकी देने से

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यह अप-वाक्य रचना प्रचलित है—"**दूसरों को भी माता-पिता की सेवा से छुड़ाये।**" यह ऋषि की भाषा शैली नहीं है। लिपिकर की अपनी बोली का प्रयोग है।

२. **मात-पिता से अलग करना**—मत्तीरचित इंजील के पर्व ४ में यह घटना वर्णित है कि ईसा ने गलील देश की झील के किनारे घूमते हुए चार मछियारों को देखा तो उसने उनसे कहा कि स्वर्ग का राज्य आने वाला है, तुम मछली क्यों पकड़ते हो। मैं तुम्हें मनुष्यों के पकड़नेवाले बनाऊंगा। वे लोग यह सुनकर अपने काम और माता-पिता हो छोड़कर ईसा के पीछे चल दिये। उनमें दो भाई शमोन (पतरस) और अन्दियास थे तथा अन्य दो भाई याकूब और यूहन्ना थे। ग्रन्थकार का इन्हीं की ओर संकेत है।

आयतखण्ड संख्या ८३ में वर्णन है कि ईसा की माता और भाई उससे मिलने आये थे और उसके निवास के द्वार के बाहर खड़े रहे थे, किन्तु ईसा मसीह उनसे नहीं मिला। माता-पिता की सेवा करना तो दूर की बात थी, उसने बात करने का पुत्र का कर्त्तव्य भी नहीं निभाया। ममतावश माता मरियम मिलने के लिए भटकती रहती थी। ईसा को क्रॉस पर चढ़ाये जाते समय दूर से तथा कब्र में दफनाये जाने के बाद भी मरियम (ईसा की माता) तथा मरियम मगदलीनी कब्र के पास बैठी उसे ताकती रही थीं (मत्ती०, पर्व २७, आ० ५६, ६१)। इसके अलावा वह बेचारी मां कर ही क्या सकती थी? मृत पुत्र की कब्र को देखकर ही मां की ममता को सन्तोष करना पड़ा था।

३-४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में इस वाक्य में क्रमशः "**मनुष्यों के**" में "**के**" अपप्रयोग है, "**को**" अभीष्ट है। "**स्वमत जाल**" के मध्य "**के**" पद अपेक्षित है। अथवा समस्त पद बनाने के लिए योजक चिह्न का प्रयोग चाहिए।

५. **Galile (गलील)**। यह मरियम का जन्म प्रदेश था। दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**गालील**' अपवर्तनी है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**मृगीवाले**" अपप्रयोग है, "**मृगीवालों**" प्रयोग शुद्ध है। उदयपुर सं० में अशद्ध है।

७. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में यहां २५ संख्या अधिक है, जो अशुद्ध है।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**भूत**" पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है। उदयपुर सं० ने ग्रहण नहीं किया है, अतः वहां अपवाक्य है।

९. **मुद्रणलिपिकर की भूल और पं० मीमांसक जी आदि की कल्पना**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से मुद्रणप्रति में "**भूत**" पद त्रुटित रह जाने से यह वाक्यांश त्रुटित और असंगत लिखा गया—"**पोप लीला निकालने मन्त्र**"। मूलहस्तलेख न देखपाने से

भूतों को निकालना, पुरश्चरण, आशीर्वाद, ताबीज और रोगों को छुड़ाना सच्चा हो, तो वह '**इंजील**' की बात भी सच्ची होवे। इसलिये भोले मनुष्यों को भ्रम में फसाने के लिये ये बातें हैं। जो ईसाई लोग ईसा की बातों को मानते हैं, तो यहाँ के देवी-भोपों[१] की बातें क्यों नहीं मानते ? क्योंकि ये बातें उन्हीं के सदृश हैं॥ ६८ ॥

६९. धन्य हैं[२] वे जो मन में दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। ३ ।[३]

मत्ती० इं०, प० ५। आ० ३ ॥

समीक्षक—जो स्वर्ग एक है तो राजा भी एक होना चाहिये। इसलिये जितने दीन हैं, वे सब स्वर्ग को जावेंगे, तो स्वर्ग में राज्य का अधिकार किसको होगा ? अर्थात् परस्पर लड़ाई-भिड़ाई करेंगे और राज्यव्यवस्था खण्ड-बण्ड हो जायगी[४]। और 'दीन' के कहने से जो कंगला अर्थ[५] लोगे, तब तो ठीक नहीं; जो निरभिमानी [अर्थ][६] लोगे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि दीन और निरभिमानी[७] का एकार्थ नहीं। किन्तु जो मन में दीन होता है, उसको सन्तोष कभी नहीं होता, इसलिये यह बात ठीक नहीं॥ ६९ ॥

७०. ....क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जब लों आकाश और पृथिवी टल न जायें, तब लों व्यवस्था से एक मात्रा अथवा एक बिन्दु विना पूरा हुए नहीं टलेगा। १८। इसलिये जो कोई इन अति छोटी आज्ञाओं में से एक को लोप करे और लोगों को वैसे ही सिखावे, वह स्वर्ग के राज्य में सबसे छोटा कहावेगा। १९[८]

मत्ती इं०, प० ५। आ० १८। १९ ॥[९]

समीक्षक—[१०]जब आकाश और पृथिवी टल जायें तब व्यवस्था भी टल जायगी[११]। ऐसी अनित्य व्यवस्था मनुष्यों की होती है, सर्वज्ञ ईश्वर की नहीं। और यह एक प्रलोभन और भयमात्र दिया है कि

पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने यहां इस वाक्य की कल्पना टिप्पणी में की—"**पोपलीला रचनेवालों का**"। मूलप्रति-हस्तलेख देख लेते तो उन्हें यह कपोल-कल्पना न करनी पड़ती। "**पोपलीला निकालने**" कोई प्रयोग नहीं होता। **स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी** आदि सभी के संस्करणों में अपपाठ है। इस वाक्य में दो अशुद्धियों थीं। कुछ सम्पादकों ने "**ताबीज**" तो मूलहस्त देखकर शुद्ध कर लिया किन्तु "**भूत निकालने**" वाक्य शुद्ध नहीं किया। उदयपुर सं० में भी यही दोहरी मानसिकता सामने आई है। यह भी नहीं सोचा कि आगे "**भूतों को निकालना**" पाठ है। भूतों को तो "**भूत निकालने के मन्त्रों**" से ही निकालते हैं। दोनों वाक्यांशों का परस्पर सम्बन्ध है।

१. **देवी-भोपों**—देवी के भक्तों या पुजारियों।

२. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है। यह वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

३,८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा आयतों का मिश्रण असंगत**—मुद्रणह०, द्विप्र० और द्वितीय सं० में आयतखण्ड संख्या ६९,७० को तथा इनकी समीक्षाओं को संयुक्त करके एक बना दिया है। दोनों आयतों को एक करने का कोई कारण समझ नहीं आता क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है। यह मिश्रण मुद्रणहस्तलेख में लिपिकर द्वारा किया हुआ है। उदयपुर सं० आदि में मिश्रित अपपाठ ही है।

४,११. **द्वि०सं० में अपवर्तनी**—द्वि०सं० में दोनों स्थानों पर मूलसं० में दूसरे संख्यांक पर "**जायेगी**" न महर्षि द्वारा प्रयुक्त और न महर्षिकालीन भाषा की वर्तनी है। यह द्वि०सं० प्रथमावृत्ति में भी नहीं है। किसी नवीन शोधक ने इसको बिगाड़ा है। "**जायगी**" वर्तनी ग्राह्य है। मूलसं० में संख्यांक ४ पर "**जायगी**" शुद्ध वर्तनी है। मूलसं० में संख्यांक ४ पर "**जायगी**" शुद्ध वर्तनी है।

५-७. **अपप्रयोग तथा त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कंगले**" बहुवचनान्त अपप्रयोग है, एकवचन "**कंगला**" अभीष्ट है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर '**अर्थ**' पद त्रुटित है। इस पद के परिवर्धन के बिना वाक्य अपूर्ण है। दोनों हस्त० में "**अभिमान**" अपपाठ है, यही द्विप्र० में है। अन्य सभी में संशोधित है।

९. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में यहां ४ आयतसंख्या अधिक है, जो अशुद्ध है।

१०. **पाठ-परिवर्धन**—मुद्रणप्रति में "**जब आकाश.....गिना जायगा**" पाठ परिवर्धित है।

जो इन आज्ञाओं को न मानेगा वह स्वर्ग में सबसे छोटा गिना जायगा[१] ॥

जब यह ईसा का साक्ष्य है तो '**तौरेत**' और '**जबूर**' के लेख को भी ईसाई लोगों को अवश्य मानना होगा। **यद्यपि उन पुस्तकों में जो बातें अच्छी हैं, वे वेदानुकूल होने से खण्डनीय नहीं हो सकतीं,[२] किन्तु मन्तव्य हैं। परन्तु उनमें जितने दोष हैं, उनका उत्तर देना ईसाइयों पर निर्भर करता है।** उस पुस्तक में बहुतांश तो इतिहास ही भरा है और बहुत-सी बातें असम्भव भी हैं। ऐसे पुस्तक के[३] सत्य होने में ईसा का साक्ष्य[४] देना ईसा को अविद्वान् [सिद्ध] कर देता है॥ ७० ॥[५]

७१. मैं तुमसे कहता हूं, यदि तुम्हारा धर्म अध्यापकों और फरीसियों[६] के धर्म से अधिक न होवे, तो तुम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने न पाओगे। २०।[७] [मत्ती इं०, प० ५, आ० २० ॥][८]

समीक्षक—जब धर्माचरण से ही स्वर्ग प्राप्त है, तो चाहे वहां, चाहे उस समय में, चाहे जो कोई मनुष्य धर्मात्मा होगा, वह स्वर्ग पावेगा। ईसा के मानने की आवश्यकता नहीं॥ ७१ ॥

७२. सो जैसा तुम्हारा स्वर्गवासी पिता सिद्ध है तैसे तुम भी सिद्ध होओ। ४८।[९]

मत्ती इं०, प० ५, आ० ४८ ॥

समीक्षक—जब सबका पिता परमेश्वर है, तो ईसाई लोग केवल ईसा का पिता परमेश्वर को कहते हैं, यह इनकी बड़ी भूल की बात है॥ ७२ ॥

७३. हमारी दिनभर की रोटी आज हमें दे। १०।[१०] अपने लिये पृथिवी पर धन का संचय मत करो....। ११। मत्ती इं०, ६। आ० ११। १९ ॥

समीक्षक—[११]इससे विदित होता है कि जिस समय ईसा का जन्म हुआ था, उस समय लोग

---

१. **मुद्रणप्रति में त्रुटित पाठ और द्वि०सं० में अपवर्तनी**—द्वि०सं० में ''**जायगा**'' के स्थान पर ''**जायेगा**'' अपसंशोधन है। मुद्रणहस्त०, द्विप्र० में ''**जायगा**'' है। ''**जब आकाश.....गिना जायगा**'' मुद्रणप्रति में त्रुटित पाठ को पं० भीमसेन ने किनारे पर लिखकर पूर्ण किया है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अनुपयुक्त पाठ है—''**वे वेदोक्त होने से खण्डनीय नहीं हो सकतीं, किन्तु मन्तव्य हैं।**'' इसका अर्थ बनता है कि तौरेत और जबूर में जो अच्छी बातें कही हैं उनको वेद ने कहा है, अथवा जो वेदोक्त हैं उनको तौरेत और जबूर में कहा है। दोनों ही दृष्टियों से ''**वेदोक्त**'' पद की संगति नहीं बनती। यहां उपयुक्त पाठ ''**वेदानुकूल**'' है। ग्रन्थ में अन्यत्र '**वेदानुकूल**' प्रयोग है। यह अनुच्छेद मुद्रणह० में त्रुटित है।

३. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**ऐसी पुस्तक के**'' यह स्त्रीलिंग प्रयोग है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में महर्षि ने ''**पुस्तक**'' को पुंल्लिंग में प्रयोग किया है। महर्षि की स्वीकृति शैली के विरुद्ध होने से यह अपप्रयोग है। इसका पुंल्लिंग में संशोधन चाहिए।

४. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**साक्षी**'' अपप्रयोग है, ''**साक्ष्य**'' शुद्ध है। इस आधार पर यह वाक्य इस प्रकार संशोधित होगा—''**ईसा का साक्ष्य देना ईसा को अविद्वान् सिद्ध कर देता है।**'' यही ग्राह्य है। द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ नहीं है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा ऋषि-पाठ का निष्कासन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त ''**जब यह ईसा का साक्ष्य.... अविद्वान् कर देता है**'' इस अनुच्छेद को द्विप्र० में हटा दिया है। हटाने का कारण कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है। प्रतीत होता है कि यह मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से छूटा है। यह महर्षि ने संशोधन के समय अपने लेख में लिखा है।

६. **अध्यापकों**—फरीसियों=पारसियों।

७,९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित आयतें**—आयतखण्ड संख्याएं ७१, ७२ और इनकी समीक्षाएं मूलह० में फुटकर पन्नों पर हैं। वहां इनको यथाक्रम लिखने का निर्देश है। मुद्रणप्रति बनाते समय लिपिकर इनको प्रमादवश त्रुटित छोड़ गया। इसी कारण ये द्विप्र०, द्वि०सं० में नहीं छप सकीं।

८. **त्रुटित उद्धरण संख्या**—मुद्रणह०, मूलसं० में उद्धरण संख्या त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में यह आयत निष्कासित है।

१०,११. **त्रुटित पाठ का परिवर्धन**—''**हमारी.....हमें दे**'' आयत, इसकी समीक्षा ''**इससे विदित.....सिखलाता है**'' मुद्रणप्रति में

जंगली और दरिद्र थे तथा ईसा भी वैसा ही दरिद्र था। इसी से तो दिनभर की रोटी की प्राप्ति के लिये ईश्वर से[१] प्रार्थना करता और सिखलाता है॥ जब ऐसा है तो ईसाई लोग धनसंचय क्यों करते हैं? उनको चाहिये कि ईसा के वचन से विरुद्ध न चलकर सब दान-पुण्य करके दीन हो जायें॥७३॥

७४. हर एक जो मुझसे ''हे प्रभु! हे प्रभु!'' कहता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं करेगा....। २१। मत्ती इं०, ७। आ० २१॥

समीक्षक—अब विचारिये, बड़े-बड़े पादरी-बिशप साहब और कृश्चीन[२] लोग, 'जो यह ईसा का वचन सत्य है', ऐसा समझें, तो ईसा को प्रभु अर्थात् ईश्वर कभी न कहें, यदि इस बात को न मानेंगे, तो पाप से कभी नहीं बच सकेंगे॥७४॥

७५. उस दिन में बहुतेरे मुझसे कहेंगे....। २२। तब मैं उनसे खोलके कहूँगा—''मैंने तुमको कभी नहीं जाना है। हे[३] कुकर्म करनेहारो मुझसे दूर होओ। २३।'' मत्ती इं०, प० ७। आ० २२। २३॥

समीक्षक—देखिये, ईसा जंगली मनुष्यों को विश्वास कराने के लिये स्वर्ग में न्यायाधीश बनना चाहता था। यह केवल भोले मनुष्यों को प्रलोभन देने की बात है॥७५॥

७६. और देखो, एक कोढ़ी ने आ उसको प्रणाम कर कहा—''हे प्रभु! जो आप चाहें तो मुझे शुद्ध कर सकते हैं। २।'' यीशु ने हाथ बढ़ा उसे छूके कहा—'मैं तो चाहता हूँ शुद्ध होजा', और उसका कोढ़ तुरन्त शुद्ध हो गया। ३। मत्ती इं०, प० ८। आ० २। ३॥

समीक्षक—ये सब बातें भोले मनुष्यों के फसाने की हैं, क्योंकि जब ईसाई लोग इन विद्या और सृष्टिक्रमविरुद्ध बातों को सत्य मानते हैं तो शुक्राचार्य, धन्वन्तरि, कश्यप आदि की बातें, जो कि पुराणों और '**महाभारत**' में [वर्णित हैं कि][४] अनेक दैत्यों की मरी हुई सेना को जिला दिया[५]; बृहस्पति के पुत्र कच को टुकड़े-टुकड़े कर जानवरों और मच्छियों को खिला दिया, फिर भी शुक्राचार्य ने जीवित कर दिया; पश्चात् कच को मारकर शुक्राचार्य को खिला दिया, फिर उसको पेट में जीवित कर बाहर निकाला; आप मर गया उसको कच ने जीवित किया; कश्यप ऋषि ने मनुष्यसहित वृक्ष को तक्षक से भस्म हुए पीछे, पुनः वृक्ष और मनुष्य को जिला दिया; धन्वन्तरि ने लाखों मुर्दे जिलाये, लाखों कोढ़ी आदि रोगियों को चंगा किया, लाखों अन्धों और बहिरों को[६] आँख और कान दिये, आदि कथाओं[७]

हैं। पं० भीमसेन ने किनारे पर लिखकर पूर्ण किया है। यह त्रुटित छोड़ दिया था।

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**ईश्वर की प्रार्थना करता**'' अपप्रयोग है। यहां '**ईश्वर से प्रार्थना करता**' अभीष्ट है।

२. **कृश्चीन**—वर्तमान में इसका उच्चारण 'क्रिश्चियन' (Christian) प्रचलित है। **ऋषिलेख**—आगे ''**ऐसा समझें.....मानेंगे**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३. **त्रुटित पद**—मूलप्रति में ''**हे**'' सम्बोधन पद त्रुटित है, द्वि० सं० में है, यह ग्राह्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ परिवर्धित करना आवश्यक है, अन्यथा अपअर्थ प्रकट होता है कि 'पुराणों व महाभारत में इनको जीवित कर दिया या मार दिया।'

५-७. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में इस वाक्य की अपरचना इस प्रकार मिलती है—''**.....कश्यप आदि की बात पुराण और भारत में अनेक दैत्यों की मरी हुई सेना को जिला दिये।**'' इसमें वचन और क्रिया सम्बन्धी अनेक अशुद्धियां हैं। दूसरा—''**अन्धे और बहिरों को**'' अपपाठ है। '**अन्धों और बहिरों को**' शुद्ध है। ''**कथा**'' एकवचन अपप्रयोग है, '**कथाओं**' शुद्ध है। उदयपुर सं० में ''**अन्धों**'' संशोधन को छोड़कर सभी अशुद्धियां यथावत् विद्यमान है। अन्य वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर आदि सभी सं० में सभी त्रुटियां विद्यमान है।

को मिथ्या क्यों कहते हैं?[१]

जो उनकी बातें मिथ्या हैं, तो ईसा की बातें मिथ्या क्यों नहीं? जो दूसरों की [सच्ची][२] बातों को मिथ्या और अपनी झूठी को सच्ची कहते हैं, तो वे हठी क्यों नहीं? इसलिये ईसाइयों की बातें केवल हठ और लड़कों के समान हैं॥ ७६ ॥

७७. ..... तब दो[३] भूतग्रस्त मनुष्य कब्र-स्थान से निकलकर उससे आ मिले, जो यहाँ लों अतिप्रचंड थे कि उस मार्ग से कोई नहीं जा सकता था। २८। और देखो, उन्होंने चिल्लाके कहा—''हे यीशु ईश्वर के पुत्र! आपको हमसे क्या काम, क्या आप समय के आगे हमें पीड़ा देने को यहाँ आये हैं। २९।'' बहुत-से सुअरों का झुण्ड उनसे कुछ दूर चरता था। ३०।[४] सो भूतों ने उससे विनति

---

१. **पुराणों और महाभारत में असम्भव कथाएं—१. शुक्राचार्य**—पुराणों और महाभारत के अनुसार ये मृग ऋषि के पुत्र या पौत्र थे तथा दैत्यों-दानवों के गुरु एवं चिकित्सक थे। इनके पास 'संजीवनी' नामक ऐसी विद्या थी कि ये मरे हुए लोगों को पुनर्जीवित कर देते थे। देवों और दानवों के युद्ध में जो दानव मरते थे उनको शुक्राचार्य पुनः जिन्दा कर देते थे। इससे भी बड़ा गपोड़ा यह है कि देवों के गुरु बृहस्पति के पुत्र कच, शुक्राचार्य के पास गये और उनके शिष्य बन गये। एक बार कच गुरु की गायों को चराने के लिए जंगल में गया हुआ था। दानवों ने यह मानकर कि अवश्य यह 'संजीवनी विद्या' सीखने आया है, उसको मार दिया और टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियों को खिला दिया। शुक्राचार्य को जब पता चला तो उसने कच का आह्वान किया। उसके सारे टुकड़े भेड़ियों के शरीर को फाड़-फाड़कर निकल आये और कच पुनर्जीवित हो गया। दूसरी बार दानवों ने उसे मारकर समुद्र में फेंक दिया, जिसे मछलियों ने खा लिया। शुक्राचार्य ने फिर आह्वान किया तो पूर्वोक्त प्रकार से कच फिर जीवित हो गया। दानवों ने देखा कि इस प्रकार तो यह मरेगा नहीं, तीसरी बार उन्होंने कच को मारकर जला दिया और अवशेषों का चूर्ण कर शराब में मिलाकर धोखे से शुक्राचार्य को ही पिला दिया। कच के न मिलने पर फिर खोज हुई है। जोर से पुकारने पर वह धीरे से पेट से ही बोला। अब समस्या यह हुई कि यदि शुक्राचार्य उसको अपने पेट में जीवित करते हैं तो बाहर निकलते समय शुक्राचार्य की मृत्यु होती है और यदि जीवित नहीं करते तो उसके प्यार में पागल शुक्राचार्य की पुत्री मरती है। तब शुक्राचार्य ने अपने उदर में ही उसको 'संजीवनी विद्या' सिखाई। जीवित होकर कच जब बाहर निकला तो शुक्राचार्य मर गये। फिर कच ने उस विद्या से शुक्राचार्य को पुनर्जीवित कर दिया। (द्रष्टव्य , भागवत पुराण अध्याय ७.५, ब्रह्मपुराण शुक्रतीर्थ माहात्म्य प्रसंग, महाभारत आदिपर्व अ० ६० आदि) ऐसे महा गपोड़े दुनिया के किसी साहित्य में शायद ही मिलेंगे।

२. कश्यप— तक्षक नाग, राजा परीक्षित को डंसने के लिए जा रहा था। उसे मार्ग में ऋषि कश्यप मिल गये। तक्षक नाग ने पूछा—'ब्राह्मणश्रेष्ठ कहाँ जा रहे हैं?' कश्यप ने उत्तर दिया—'आज परीक्षित को एक सर्प डंसेगा और वह मर जायेगा, मैं उसे जीवित करूंगा, इस कारण से राजा परीक्षित के यहां जा रहा हूँ।' तक्षक ने कहा—'आप के पास यह विद्या है, कैसे जानें?' कश्यप ने एक बड़ के वृक्ष को भस्म कर पुनः जीवित करके दिखा दिया। इसी प्रकार तक्षक को भी जीवित किया। (भागवत पुराण अध्याय १२.६, महाभारत, आदिपर्व अ० ३५)

३. धन्वन्तरि—ये प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ हुए हैं। पुराणों में इनको मृतक मनुष्यों और पशुओं को जीवित कर देनेवाला कहा है। इन्होंने दक्ष के कटे सिर को जोड़ दिया। अनेक अन्धों को आंखें दीं। (भागवत पुराण ८.८.३५, १.३.१७) २.७.२१, वायु पु० ९२.७-२२, मत्स्य पु० ४३०, विष्णु पु० १-९-९८-१०८, ७.८.८-११, अग्नि पु० २७९.२, देवीभा० पु० ७.५.४६, स्कन्द पु० केदारखण्ड १३.२ आदि)

ठीक ऐसी ही ईसा मसीह, मूसा आदि पैगम्बरों की चमत्कारपूर्ण कथाएं हैं, जेा मिथ्या और असम्भव हैं। महर्षि का प्रश्न यह है कि जब ईसाई लोग और लेखक बाइबल की कथाओं को मानते हैं तो इन कथाओं को क्यों नहीं मानते?

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यपूर्त्यर्थ '**सच्ची**' पद-परिवर्धन आवश्यक है।

३. **मुद्रणलिपिकर से त्रुटित पद**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने ''**दो**'' पद प्रमादवश छोड़ दिया। वही त्रुटित पाठ द्विप्र० में है।

४. **स्वामी वेदानन्द जी द्वारा एक आयत का उचित परिवर्धन**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में इस आयतखण्ड की संख्याएं २८-३३ दी हुई हैं जो अशुद्ध हैं। सभी में उद्धृत आयते हैं—२८, २९, ३१, ३२। **स्वामी वेदानन्द जी** ने ३०वीं आयत मूलपाठ में है—''**बहुत-से सुअरों का एक झुण्ड उनसे कुछ दूर चरता था।**'' स्वामी जी का अनुकरण करते हुए **उदयपुर सं० ने भी इस आयत का स्वतन्त्र परिवर्धन कर लिया है।** यह बाइबल में है और प्रासंगिक है। प्रतीत होता है कि संकलनकर्त्ता से प्रतिलिपि करते समय यह असावधानी से छूटी है। **उदयपुर सं० में अशुद्ध टिप्पणी**—उदयपुर सं० ने इसको मूलहस्तलेख का पाठ कहकर

कर कहा—''जो आप हमको निकालते हैं तो सुअरों के झुंड[१] में पैठने दीजिये''। ३१। उसने उनसे कहा—''जाओ'', और वे निकल के सुअरों के झुंड[२] में पैठे और देखो सुअरों का सारा झुंड[३] कड़ाड़े[४] पर से समुद्र में दौड़के गिर गया और पानी में डूब मरा। ३२।

मत्ती इं०, प० ८। आ० २८। २९। ३०। ३१। ३२॥[५]

समीक्षक—भला, यहाँ तनिक विचार करें तो ये बातें सब झूठी हैं, क्योंकि मरा हुआ मनुष्य कब्र-स्थान से कभी नहीं निकल सकता। वे किसी पर न जाते, न संवाद करते हैं, ये सब बातें अज्ञानी लोगों की हैं। जो कि महाजंगली हैं, वे ऐसी बातों पर विश्वास लाते हैं। और उन सुअरों की हत्या कराई। सुअरवालों की हानि करने का पाप ईसा को हुआ होगा। और ईसाई लोग ईसा को 'पाप को क्षमा और पवित्र करनेवाला' मानते हैं, तो उन भूतों को पवित्र क्यों न कर सका? और सुअरवालों की हानि क्यों न भर दी? क्या आजकल के सुशिक्षित ईसाई अंगरेज लोग इन गपोड़ों को भी मानते होंगे? यदि मानते हैं, तो भ्रमजाल में पड़े हैं॥ ७७॥

७८. देखो! लोग एक अर्धांगी[६] को, जो खटोले पर पड़ा था, उसके पास लाये[७] और यीशु ने उनका विश्वास देखके कहा—''हे पुत्र! ढाढ़स कर, तेरे पाप क्षमा किये गये हैं। २।''[८]

मत्ती इं०, प० ९। आ० २॥

समीक्षक—यह भी वैसी ही असम्भव बात है, जैसी पूर्व लिख आये हैं। और जो पाप को क्षमा करने की बात है, वह केवल भोले लोगों को प्रलोभन देकर फसाना है। जैसे दूसरे के पीये मद्य, भांग और अफीम खाये का नशा दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे ही **किसी का किया हुआ पाप किसी के पास नहीं जाता, किन्तु जो करता है वही भोगता है; यही ईश्वर का न्याय है।** यदि दूसरे का किया पाप-पुण्य दूसरे को प्राप्त होवे अथवा न्यायाधीश स्वयं ले लेवे वा कर्त्ताओं को ही यथायोग्य फल ईश्वर न देवे, वह अन्यायकारी हो जावे॥ ७८॥

७९. .....क्योंकि मैं धर्मियों को नहीं, परन्तु पापियों को पश्चात्ताप के लिये बुलाने को आया हूँ। १३।[९]

मत्ती इं०, प० ९। आ० १३॥

समीक्षक—अब विचारिये कि धर्मात्माओं को ईसाई होना कुछ आवश्यक नहीं, क्योंकि वे तो

टिप्पणी में दर्शाया है जबकि यह उसमें नहीं है और न मुद्रणप्रति में है।

१-३. **मुद्रणलिपिकर कृत अपवर्तनी**—मूलह० में शुद्ध वर्तनी है। मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर ने तीनों स्थानों पर ''**झूंड/झूण्ड**'' अपवर्तनी बना दी, वही द्विप्र० में छपी है। अन्य सभी सं० में इसका संशोधन कर लिया गया है।

४. **कड़ाड़े**—ढलान वाला टीला। यह ऐसा टीला था जिसका ढ़लान समुद्र की ओर था।

५. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां ३३ संख्या अधिक है, जो अशुद्ध है।

६. **अर्द्धांगी**=लकवाग्रस्त वा अपंग व्यक्ति। **ऋषि-लेख**—इस पृष्ठ पर रेखांकित दोनों पाठ मूलह० में ऋषिलेख में हैं।

७. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में अनुवादक-कृत अपपाठ है—''**एक अर्द्धांगी को खाट पर पड़े हुए उसके पास लाये**''। विशेषण-विशेष्य विपर्यय होने से अर्थ विकृत हो गया है। द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में संशोधित है।

८-९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित आयत और शोधक द्वारा अपमिश्रण**—मुद्रणप्रति तैयार करते समय मुद्रणलिपिकर प्रमादवश आयतखण्ड संख्या ७९ को छोड़ गया। बाद में किसी शोधक पं० भीमसेन ने त्रुटित पाठ देखकर उसको किनारे पर लिखा। उसने यह गलती की कि बिना प्रसंग के इस आयत को पूर्व आयतखण्ड संख्या ७८ में मिश्रित कर दिया तथा समीक्षा की भाषा की अपने मन से परिवर्धित कर दी। वह परिवर्धन अनावश्यक है। मूलप्रति में दोनों आयतें पृथक्-पृथक् हैं। विष देने के कारण रुग्ण

धर्म से ही मुक्ति को जायेंगे। और इससे यह सिद्ध हुआ कि **धर्मादि आचरण ही मुक्ति के साधन हैं,** ईसा नहीं; क्योंकि ईसाई भी जब तक धर्म न करेंगे, तब तक उनकी भी सद्गति नहीं होगी॥७९॥

८०. यीशु ने अपने बारह शिष्यों को अपने पास बुलाके उन्हें अशुद्ध भूतों पर अधिकार दिया कि उन्हें निकालें और हर-एक रोग और हर-एक व्याधि[१] को चंगा करें। १।[२]

मत्ती इं०, प० १०। आ० १॥[३]

समीक्षक—ये वे ही शिष्य हैं, जिनमें से एक ३०) रुपयों[४] के लोभ पर ईसा को पकड़वावेगा[५] और अन्य बदलकर अलग-अलग भागेंगे। भला, जब ये बातें विद्या से ही विरुद्ध हैं कि भूतों का आना वा निकालना, विना औषधि वा पथ्य के व्याधियों का छूटना, सृष्टिक्रम के अनुसार असम्भव है, इसलिये ऐसी-ऐसी बातों का मानना अज्ञानियों का काम है॥८०॥

८१. बोलनेहारे तो तुम नहीं हो, परन्तु तुम्हारे पिता का आत्मा तुममें बोलता है। २०।[६]

मत्ती इं०, प० १०। आ० २०॥

समीक्षक—जब 'परमेश्वर का आत्मा' ही सबमें बोलता है तो वही मिथ्याभाषणादि पापों से लिप्त होकर दुःखरूपी नरक में पड़ेगा। जो ऐसा है, तो मूसा ने 'दश आज्ञा'-विषय में उपदेश किया कि 'मिथ्या मत बोलो'[७], [फिर] यह उपदेश क्यों किया? इसलिये जीवों के व्यवहार में जीव ही बोलते हैं, ईश्वर नहीं॥८१॥

८२. मत समझो कि मैं पृथिवी पर मिलाप करवाने को आया हूँ, मैं मिलाप करवाने[८] नहीं, परन्तु

हो जाने से महर्षि इसका निरीक्षण नहीं कर सके पे।

१. **अयोग्य मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**व्याधी**" अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है।

२,६,९. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित आयतें और अपमिश्रण**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय आयतखण्ड संख्या ८१, ८२ को त्रुटित छोड़ दिया। बाद में शोधक पं० भीमसेन ने मिलान करते समय इनको किनारे पर लिखकर पूर्ण किया है, किन्तु उसने गलती यह की कि इनको स्थानाभाव के कारण पूर्व आयतखण्ड संख्या ८० में मिश्रित कर दिया, जो असंगत है। मूलप्रति में ये पृथक्-पृथक् हैं। विष दिये जाने के कारण रुग्ण होने से ऋषि इनका निरीक्षण नहीं कर सके थे।

३. **मुद्रणप्रति में अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ८०, ८१, ८२ आयतखण्ड संयुक्त किये हुए है। वहां उद्धरण संख्या अस्त-व्यस्त है। संख्याएं १, २० त्रुटित हैं तथा १३ अधिक है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**३०) रुपये के**" अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पकड़ावेगा**" अपप्रयोग है, यह '**पकड़वावेगा**' शुद्ध है। यीशु को तीस रुपये के बदले कैद कराने वाले शिष्य का नाम यहूदा इस्करियोती (Judas Iscariot) था। द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ९४ तथा ९७।

७. **दश आज्ञाएं**—बाइबल की पुस्तक '**निर्गमन**' के पर्व २० में ये आज्ञाएं वर्णित हैं।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० व मुद्रणहस्तलेख में मुद्रणलिपिकर ने यह पाठ छोड़ दिया था, बाद में शोधक पं० भीमसेन ने उसको पूरा करते समय यह वाक्यांश छोड़ दिया—"**आया हूं मैं मिलाप कराने**" उससे यह अपवाक्य बन गया— "**मिलाप करवाने को नहीं, परन्तु खड्ग चलवाने को**"। यह पाठ मूलहस्त० में है, बाइबल में भी है, अतः ग्राह्य है। **संशोधन-पुष्टि**—समीक्षा में "**खड्ग चलाने हारे**" कहकर उक्त पाठ की समीक्षा ग्रन्थकार ने की है। अतः यह भी ग्राह्य है।

आचार्य राजेन्द्रप्रसाद जी शास्त्री के दुराग्रह की पराकाष्ठा—जिस समाज के दश नियमों में 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने को सदा तत्पर रहने' की शिक्षा दी गई हो, उसके विद्वान् यदि असत्य के लिए पूर्वाग्रह ही नहीं दुराग्रह करें, तो सामान्य जनों का क्या हाल होगा?

यह तथ्य स्पष्ट और सिद्ध है कि शोधक और मुद्रणलिपिकर के प्रमाद के कारण अन्य सैकड़ों भूलों की तरह यहां भी पाठ त्रुटित रह गया है और यह पाठ बाइबल में उलब्ध भी है, फिर भी शास्त्री जी केवल विरोध के लिए विरोध करते हुए लिखते

खड्ग चलवाने को आया हूँ। ३४। मैं मनुष्य को उसके पिता से, बेटी को उसकी माँ से, और पतोहू को उसकी सास से अलग करने आया हूँ। ३५। मनुष्य के घर के ही लोग उसके वैरी होंगे। ३६।[१]

मत्ती इं०, प० १०। आ० ३४। ३५। ३६॥

समीक्षक—ऐसी फूट कराके, लड़ाई-झगड़ा मचाके मनुष्यों को दुःख देनेहारे और खड्ग चलानेहारे पिता-पुत्र, मा-बेटी, पतोहू-सास आदि में फूट करा परस्पर वैर बढ़ानेहारे मनुष्य के लिये यह बहुत बुरा काम है। **विदित होता है कि इसी उपदेश को ईसाई लोगों ने अधिक प्रचार में लाया है। जहाँ ये लोग जाते हैं, वहीं भरपूर फूट हो जाती है। मेल का नाम-निशान भी नहीं रहता।**[१] **इसी से अपने पड़ोसियों का, आपस में उनको लड़ाकर माल मारना, किसी के लड़के को बहकाकर माता-पिता से अलग कर [जीवन]**[२] **नष्ट कर देना सिखलाया है।**[३] यह केवल दोष है। इसको 'तर्क कर देना'[४] बहुत अच्छी बात है॥ ८२॥[५]

८३. यीशु लोगों से बात करता ही था कि देखो, उसकी माता और उसके भाई बाहर खड़े हुए

हैं कि ''**आया हूं मिलाप करवाने को** इस वाक्य की पुनरुक्ति का सम्बन्ध समीक्षा के किसी भी शब्द से नहीं। इसलिये इस प्रकार के परिवर्तन करना लेखक का नैतिक और कानूनन अपराध है, जो नहीं होना चाहिये'' (''सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा', पृ० ३५-३६) इतना ही नहीं, व्याकरण की दृष्टि से भी त्रुटियुक्त इस वाक्य की रचना शुद्ध नहीं बनती, देखिए—''**मत समझो कि मैं पृथिवी पर मिलाप करवाने को नहीं, परन्तु खड्ग चलवाने को आया हूं।**'' स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि ''**मत समझो**'' वाक्यांश से सम्बद्ध क्रियाएं यहां नहीं हैं और वाक्य अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। अब जो बाइबल और व्याकरण किसी को भी न मानना चाहे, तो ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता'।

पं० भगवद्दत्त जी तथा द्वि०सं० को छोड़कर सभी सम्पादकों ने इस पाठत्रुटि का संशोधन कर लिया है। उदयपुर सं० ने इस पाठ को ग्रहण करके शोध-श्रद्धा का परिचय दिया है।

१. **अंग्रेजों पर महर्षि का यथार्थ व्यंग्य**—खुले तौर पर और स्पष्ट शब्दों में निर्भयतापूर्वक महर्षि ने अंग्रेजों पर यहां व्यंग्य किया है, जबकि उस समय अंग्रेजों का ही राज्य था। इतिहास में यह सत्य प्रसिद्ध है कि अंग्रेज जिस देश में गये वहां ''**फूट डालो और राज करो**'' की कूटनीति को उन्होंने चरितार्थ किया। इसी के सहारे मुट्ठीभर लोग आधे विश्व पर राज्य कर गये। फूट डालना उनके स्वभाव में है, जो उनको बाइबल ने सिखाया है। ऐसे ग्रन्थ को वे धर्मग्रन्थ कहते हैं।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में स्पष्टार्थ के लिए '**जीवन**' पद-परिवर्धन जरूरी है।

३. **अन्यत्र वर्णन**—इस विषयक विवरण पृ० ८९४ की टिप्पणी २ में देखिए।

४. **तर्क कर देना**=छोड़ देना। यह अरबी भाषा का प्रयोग है।

५. **मुद्रणप्रति में पं० भीमसेन द्वारा अनावश्यक भाषा-परिवर्तन**—आयतखण्ड संख्या ८१-८२ की समीक्षा मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में शोधक पं० भीमसेन ने बदली है। वह शिथिल, बचकानी अपूर्ण और प्रभावहीन है। मूलप्रति में ऋषिप्रोक्त भाषा में जो गाम्भीर्य, प्रभावशीलता और सुघड़ता है वह द्वि० सं० में परिवर्तन से समाप्त हो गयी है। महर्षिप्रोक्त मूलपाठ अधिक ठीक है। तुलना कीजिए लिपिकर द्वारा परिवर्तित अपूर्ण और शिथिल भाषा की। प्रतीत होता है कि महर्षि की भाषा में जो व्यंग्यात्मकता और तीव्रता थी, उसको कम करने के लिए भाषा में परिवर्तन किया गया है। ऋषि रुग्ण होने के कारण मुद्रणप्रति के इस पाठ का निरीक्षण नहीं कर सके थे—

''यदि जीव बोलने हारे नहीं, ईश्वर बोलने हारा है तो जीव क्या काम करते हैं? और सत्य वा मिथ्याभाषण का फल सुख वा दुःख को ईश्वर ही भोगता होगा, यह भी एक मिथ्या बात है''॥ ८१॥

''और जैसा ईसा फूट कराने और लड़ाने को आया था वही आजकल कलह लोगों में चल रहा है। यह कैसी बड़ी बुरी बात है कि फूट कराने से सर्वथा मनुष्यों को दुःख होता है और ईसाइयों ने इसी को गुरुमन्त्र लिया होगा। क्योंकि एक दूसरे की फूट ईसा ही अच्छी मानता था तो ये क्यों नहीं मानते होंगे? यह ईसा ही का काम होगा कि घर के लोगों के शत्रु घर के लोगों को बनाना, यह श्रेष्ठ पुरुष का काम नहीं''॥ ८२॥

शोधककृत इस समीक्षा में कोई सार और आयत से सम्बद्ध भाव नहीं है। गाम्भीर्य और व्यंग्य की सारी हवा निकाल दी।

उससे बोलना चाहते थे। ४६। तब किसी ने उससे कहा—''देखिये! आपकी माता और आपके भाई बाहर खड़े हुए आपसे बोलना चाहते हैं। ४७।'' ....उसने कहनेहारे को उत्तर दिया कि ''मेरी माता कौन है?॥ और मेरे भाई कौन हैं?''....। ४८।[1] मत्ती इं०, प० १२। आ० ४६। ४७। ४८॥

समीक्षक—देखिये, प्रथम तो '**तौरेत**' और '**ज़बूर**' की ईसा साक्षी देता है कि उसका एक बिन्दु भी झूठा नहीं। और **उसमें अपने माता, पिता का मान करना लिखा है। और यहाँ माता आदि का अपमान करता है। यह केवल हठ की बात है। और इसी से उसने आयुविशेष न पाया। क्योंकि जो ईसा अपने माता-पिता की सेवा करता तो उसका आयु भी बढ़ता।** और यह पूर्वापरविरुद्ध बात होने से ईसा कुछ विद्वान् भी नहीं था। हाँ, उन जंगली मनुष्यों में कुछ अच्छा था॥ ८३॥

८४. तब यीशु ने उनसे कहा—''तुम्हारे पास कितनी रोटियाँ हैं?'' उन्होंने कहा—''सात और थोड़ी-सी[2] **छोटी मछलियाँ। ३४।'' तब उसने लोगों को भूमि पर बैठने की आज्ञा दी। ३५। तब उसने उन सात रोटियों को और मछलियों को लेके धन्य मानके तोड़ा और अपने शिष्यों को दिया और शिष्यों ने लोगों को दिया। ३६। सो सब खाके तृप्त हुए और जो टुकड़े बच रहे, उनके सात टोकरे भरे उठाये। ३७। जिन्होंने खाया सो स्त्रियों और बालकों को छोड़ चार सहस्र पुरुष थे। ३८।**

मत्ती इं०, प० १५। आ० ३४। ३५। ३६। ३७। ३८॥[3]

समीक्षक—अब देखिये, क्या यह आजकल के झूठे सिद्धों और इन्द्रजाली[4] आदि के समान छल की बात नहीं है? उन रोटियों में अन्य रोटियाँ कहां से आ गईं? **यदि ईसा में ऐसी सिद्धियाँ होतीं तो आप भूखा हुआ गूलर के फल खाने को क्यों भटका करता था?**[5] अपने लिये मिट्टी, पानी और पत्थर आदि से मोहनभोग और रोटियाँ क्यों न बना लीं? ये सब बातें लड़कों के खेलपन की हैं। जैसे, कितने ही साधु, वैरागी ऐसी छल की बातें करके भोले मनुष्यों को ठगते हैं, वैसे ही ये भी हैं॥ ८४॥

८५. ....और तब वह हर एक मनुष्य को उसके कार्य के अनुसार फल देगा। २७।

मत्ती इं०, प० १६। आ० २७॥

समीक्षक—जब कर्मानुसार फल दिया जायगा तो ईसाइयों का पाप-क्षमा होने का उपदेश करना व्यर्थ है। और वह सच्चा हो, तो यह झूठा होवे। यदि कोई कहे कि क्षमा करने के योग्य क्षमा किये जाते और क्षमा न करने योग्य क्षमा नहीं किये जाते हैं, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सब कर्मों के फल यथायोग्य देने से ही न्याय और दया पूरी होती है॥ ८५॥[6]

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित आयत**—आयतखण्ड संख्या ८३ समीक्षा सहित मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में त्रुटित है। यह मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित रही है। ईसा द्वारा माता आदि की व्यावहारिक उपेक्षा को इसके द्वारा प्रदर्शित किया है। इसका अपना महत्त्व है। यह विषय किसी अन्य आयत में नहीं है। निकालने का कारण क्या रहा होगा, यह कहना कठिन है। महर्षि ने ईसा द्वारा माता-पिता की उपेक्षा पर कई बार व्यंग्य किया है।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**थोड़ी-सी**'' पाठ त्रुटित है, यह बाइबल मूलपाठ में है, अतः ग्राह्य है।

३. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में यहां आयतसख्या ३९ अधिक है, जो अशुद्ध है।

४. **अयोग्य मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में ''**इन्द्रजालि**'' अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है।

५. **अन्यत्र वर्णन**—ईसा द्वारा गूलर के फल खोजने और क्रुद्ध होकर गूलर को शाप देने का उल्लेख आयत संख्या ९० में द्रष्टव्य है।

६. **ऋषि-लेख**—''**यदि.....बना लीं**'', ''**यदि कोई.....होती है**'' पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

८६. ....हे अविश्वासी और हठीले लोगो! ....। १७। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, यदि तुमको राई के एक दाने के तुल्य विश्वास हो, तो तुम इस पहाड़ से जो कहोगे कि यहाँ से वहां चला जा, वह चला जायगा और कोई काम तुमसे असाध्य नहीं होगा। २०। मत्ती इं०, प० १७। आ० १७। २०॥

समीक्षक—अब, जो ईसाई लोग उपदेश करते-फिरते हैं कि 'आओ, हमारे मत में पाप-क्षमा कराओ, मुक्ति पाओ' आदि, वह सब मिथ्या है; क्योंकि जो ईसा में पाप छुड़ाने, विश्वास जमाने[१] और पवित्र करने का सामर्थ्य होता, तो अपने शिष्यों के आत्माओं को निष्पाप, विश्वासी, पवित्र क्यों न कर देता जो ईसा के साथ-साथ घूमते थे? जब उन्हीं को शुद्ध, विश्वासी, और उनका कल्याण न कर सका[२], तो वह मरे पर न जाने कहाँ है? इस समय किसी को पवित्र नहीं कर सकेगा।

जब ईसा के चेले राई-भर विश्वास से [भी] रहित थे, और उन्हीं ने यह 'इंजील'[३] पुस्तक बनाई है, तब इसका प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जो अविश्वासी, अपवित्रात्मा, अधर्मी मनुष्यों का लेख होता है, उस पर विश्वास करना कल्याण की इच्छा करनेवाले मनुष्यों का काम नहीं। और इसी से यह भी सिद्ध हो सकता है कि जो ईसा का यह वचन सच्चा है, तो किसी ईसाई में एक राई के दाने के समान 'विश्वास' अर्थात् ईमान नहीं है। जो कोई कहे कि हम में पूरा वा थोड़ा विश्वास है, तो उससे कहना कि आप इस पहाड़ को मार्ग में से हटा[४] देवें। यदि उनके हटाने[५] से हट[६] जाय, तो भी पूरा विश्वास नहीं, किन्तु एक राई के दाने के बराबर है और जो न हटा[७] सके तो समझो एक छींटा भी विश्वास अर्थात् धर्म का 'ईमान' ईसाइयों में नहीं है। [८]यदि कोई कहे कि यहाँ अभिमान आदि दोषों का नाम पहाड़ है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि जो ऐसा हो तो मुर्दों, अन्धों, कोढ़ियों,

---

१. **भ्रष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**विश्वास न जमाने**" भ्रष्ट पाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधन कर लिया है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, जग और तीनों संस्करणों में यहां '**विश्वासी और कल्याण न कर सका**' पाठ अशुद्ध है। यहां '**उनका कल्याण न कर सका**' पाठ उपयुक्त है। **विद्वानों द्वारा अपपरिवर्तन**—ग्रन्थकार का आशय है कि ईसा अपने शिष्यों का कल्याण न कर सका, यह नहीं कि उनको दूसरों का 'कल्याण करने वाला' न बना सकता। **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी विद्यानन्द जी** ने ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध "**कल्याणकारी न कर सका**" पाठ बनाया है। उदयपुर सं० ने "**कल्याणमय न कर सका**" जटिल और नया पाठ बदला है, यद्यपि यह शुद्ध है।

३. **मूलह० में अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**इन्जील**" अशुद्ध वर्तनी है।

४-७. **अव्यवस्थित वर्तनी और उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में इन चार प्रयोगों में अपवर्तनी '**हठा, हठाने, हठ, हठा**' का प्रयोग किया है जबकि अन्यत्र ग्रन्थ में इसी लिपिकर ने '**हटना**' धातु के शुद्ध प्रयोग भी किये हैं। हिन्दी-व्याकरणानुसार '**हटाने**' अर्थ में कोई '**हठ**' धातु नहीं है और न कहीं '**हठ**' का हटाना अर्थ ही है। द्वि०सं० में इसे शुद्ध कर दिया गया है। उदयपुर सं० ने "मूलस्वरूप" के भ्रम में अशुद्ध प्रयोगों को फिर से ग्रहण कर लिया है। यदि उक्त वर्तनी को ठीक माना जा रहा है तो पूर्व आयत में प्रयुक्त 'हठ' धातु से बने "**हठीले**" और "केवल हठ और मूर्खता की बातें हैं" (पृ० ७९९) "हठ छोड़के सत्य....ग्रहण करें" (पृ० ९९०), "हठ से मांगना" (पृ० ६४६) आदि का क्या अर्थ लेंगे? **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी** और **पं० भगवद्दत्त जी** ने इनको संशोधित कर लिया है किन्तु **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** यहां भी 'हठ' धातु पर आधारित प्रयोग स्वीकार करने के हठ को 'हठा' न सके। और भी देखिए, "**गाढ़ते, गाढ़ना, गाढ़**" (पृ० ७६५) को शुद्ध करके "गाड़ते, गाड़ना, गाड़" बना दिया, किन्तु इस इस अपवर्तनी के 'हठ' में अटक कर रह गये!

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित ऋषि-लिखित पांच पंक्तियां**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने "**यदि कोई.....प्रकट करता है**" ऋषि-लिखित पाठ त्रुटित छोड़ा है जिसे बाद में किनारे पर लिखकर पूर्ण किया है। अन्य सभी रेखांकित पाठ भी ऋषिलिखित हैं।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों ही संस्करणों में व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध पाठ मिलता है—"**मुर्दे, अन्धे, कोढ़ी, भूतग्रस्तों को चंगा करना।**" सभी पदों में द्वितीया बहुवचन का प्रयोग चाहिए। वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

भूतग्रस्तों[९] को चंगा करना भी आलसी, अज्ञानी, विषयी और भ्रान्तों को बोध कराके सचेत, कुशल किया होगा। जो ऐसा मानें, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि जो ऐसा होता, तो स्वशिष्यों को ऐसा क्यों न कर सका?[१] इसलिये ऐसी असम्भव बातें[२] कहना ईसा की अज्ञानता को प्रकट करता है।[३]

भला, जो कुछ भी विद्या ईसा में होती, तो ऐसी अटाटूट[४] जंगलीपन की बातें क्यों कहता?[५] तथापि—'**यत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते**'=जिस देश में कोई भी वृक्ष न हो, तो उस देश में एरण्ड का ही वृक्ष सबसे बड़ा और अच्छा गिना जाता है, वैसे महाजंगली देश में ईसा का भी होना ठीक था।[६] आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है?॥ ८६॥

८७. ....मैं तुम्हें सच कहता हूँ, जो तुम मन न फिरावो और बालकों के समान न हो जावो, तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करने पाओगे। ३।[७] मत्ती इं०, प० १८। आ० ३॥

समीक्षक—जब अपनी ही इच्छा से मन का फिराना स्वर्ग का कारण और न फिराना नरक का कारण है, तो कोई[८] किसी का पाप-पुण्य कभी नहीं ले सकता, ऐसा सिद्ध होता है। और बालक के समान होने के लेख से यह विदित होता है कि ईसा की बहुत-सी बातें विद्या और सृष्टिक्रम से विरुद्ध

१-२. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त० और सभी सं० में यह अपवाक्य है—"**जो ऐसा होता तो स्वशिष्यों को ऐसा क्यों न कर सकता।**" भूतकालीन कथन के लिए भूतकालीन क्रिया का प्रयोग वांछनीय है। "**बातें**" बहुवचन-पद अपेक्षित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद एवं व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**इसलिये ऐसी**" वाक्यांश में "**ऐसी**" पद त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है और ग्राह्य है। इसी प्रकार यह अनुपयुक्त परिवर्तन किया है—"**ईसा की अज्ञानता का प्रकाश करता है।**" निन्दा अर्थ में "**प्रकाश करना**" प्रयोग अनुपयुक्त है। मूलप्रति सं० का "**प्रकट करना**" महर्षिप्रोक्त पाठ उपयुक्त है, वही ग्राह्य है। वेस, उदयपुर सं० आदि में अनुपयुक्त पाठ को ग्रहण किया है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अप-अनुवाद—अटाटूट**=पूरी तरह अथवा बिलकुल। द्वि०सं० में इस शब्द को हटाकर इसके स्थान पर "**महाजंगली**" पाठ रखा है। शायद, मुद्रण-लिपिकर को यह शब्द समझ में नहीं आया, अत: उसने प्रतिलिपि करते समय इसको जड़ से ही उड़ा दिया। "**अटाटूट**" का अर्थ "**महा**" नहीं है। उदयपुर सं० ने ठीक प्रयोग ग्रहण किया है।

५. **श्रवणभ्रान्ति से अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**विद्या ईसा में होती तो ऐसी अटाटूट जंगलीपन की बात क्यों कह देता?**" यह अपवाक्य है। भूतकालीन कथन में भूतकालीन क्रिया का प्रयोग ही व्याकरणसम्मत होता है। ऊपर शुद्ध पाठ रखा गया है। "**बातें**" बहुवचनान्त पद वांछित है। वेस, जग, भद, युमी, उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर की प्रमादलीला से भ्रष्ट ऋषि-पाठ**—मूलहस्त० की प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने शुद्ध महर्षिप्रोक्त पाठ को भ्रष्ट करके अपने आप पाठ बदलकर इस प्रकार लिखा है—"**अत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डोऽपि द्रुमायते' इस देश में कोई भी वृक्ष न हो तो एरंड का ही कोई वृक्ष का भी होना ठीक था वृक्ष सबसे बड़ा और अच्छा गिना जाता है वैसे महाजंगली देश में आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है।**' द्विप्र० में शोधकों ने इसका यह भ्रष्ट रूप बनाया—"**यत्र देशे द्रुमो नास्ति तत्रैरण्डो द्रुमायते" वृक्ष सबसे अच्छा और बड़ा गिना जाता है वैसे जिस देश में कोई भी वृक्ष न हो तो उस देश में एरण्ड का होना सा ईसा का भी होना महाजंगली देश में ठीक था। पर आजकल ईसा की क्या गणना हो सकती है?**' महर्षि के वेतनभोगी शोधकों द्वारा किया गया यह अशुद्ध परिवर्तन है। सभी सम्पादकों ने मूलह० के शुद्ध पाठ को ग्रहण करके पाठ को सुधार लिया है। **पं० मीमांसक जी** ने अनावश्यक रूप से यह पाठ बढ़ाया है—"वैसे महाजंगली [अविद्वानों के] देश में....''। जब महाजंगली कह दिया तो 'अविद्वान्' कहने की आवश्यकता कहां रह गई? कोई इसको शब्दार्थ कहे, तो वह भी नहीं बनता। वह भी 'महामूर्ख' ही बनेगा। "**तथापि.....सकती है**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।
अनावश्यक पाठभेद—स्वामी वेदानन्द जी और सिद्धान्ती जी ने उद्धरण के पाठ को इस प्रकार अनावश्यक रूप से बदला है—"**निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।**"

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा आयत का भ्रष्टपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां यह भ्रष्ट आयत-पाठ लिखा मिलता है—"**स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने पाओगे।**" इसका सभी सं० में संशोधन कर लिया गया है।

८. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में "**कोई**" पद त्रुटित है, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और आवश्यक होने से ग्राह्य है।

थीं और यह भी उसके मन में था कि लोग मेरी बातों को बालक के समान मान लेंवें, पूछें-गाछें[१] कुछ भी नहीं, आँख मीचके मान लेवें। बहुत-से ईसाइयों की बालबुद्धिवत् चेष्टा है, नहीं तो ऐसी युक्ति और विद्या से विरुद्ध बातों को क्यों मानते? और यह भी सिद्ध हुआ कि जो ईसा आप विद्याहीन, बालबुद्धि न होता, तो अन्य को बालवत् बनने का उपदेश क्यों करता? क्योंकि **जो जैसा होता है, वह दूसरे को भी अपने सदृश बनाना[२] चाहता ही है॥** ८७ ॥

८८. ....मैं तुमसे सच कहता हूं कि धनवान् को स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना कठिन होगा। २३। फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि ईश्वर के राज्य में धनवान् के प्रवेश करने से 'ऊंट का सूई के नाके में से जाना' सहज है। २४। मत्ती इं०, प० १९। आ० २३। २४॥

समीक्षक—इससे यह सिद्ध होता है कि ईसा दरिद्र था। धनवान् लोग उसकी प्रतिष्ठा नहीं करते होंगे, इसलिये यह लिखा होगा। परन्तु यह बात सच नहीं, क्योंकि धनाढ्यों और दरिद्रों दोनों[३] में अच्छे-बुरे होते हैं। **जो कोई अच्छा काम करेगा, सुख पावेगा।**[४] और इससे यह भी सिद्ध होता है कि ईसा ईश्वर का राज्य किसी एक देश में मानता था, सर्वत्र नहीं। जब ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं, जो ईश्वर है उसका राज्य सर्वत्र है; पुनः उसमें प्रवेश करेगा वा न करेगा, यह कहना केवल अविद्या की बात है। और इससे यह भी आया कि जितने ईसाई धनाढ्य हैं, वे सब नरक में ही जायेंगे, और दरिद्र सब स्वर्ग में जायेंगे। भला, तनिक-सा विचार तो ईसा मसीह करते कि **जितनी सामग्री धनाढ्यों के पास होती है, उतनी दरिद्रों के पास नहीं। यदि धनाढ्य लोग विवेक से धर्ममार्ग में व्यय करें, तो दरिद्र नीच गति में पड़े रह सकते हैं[५] और धनाढ्य उत्तम गति को प्राप्त हो सकते हैं॥** ८८ ॥

८९. यीशु[६] ने उनसे कहा—"मैं तुमसे सच कहता हूं कि नई सृष्टि में जब मनुष्य का पुत्र अपने ऐश्वर्य के सिंहासन पर बैठेगा, तब तुम भी जो मेरे पीछे हो लिये हो, बारह सिंहासनों पर बैठके इस्राएल के बारह कुलों का न्याय करोगे। २८। जिस किसी ने मेरे नाम के लिये घरों वा भाइयों वा

---

१. **पूछें-गाछें**=पूछना-ताछना (देशज प्रयोग)।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**वह दूसरे को भी अपने सदृश होना चाहता ही है**"। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है, वही ग्राह्य है। "**होना**" के स्थान पर "**बनाना**" क्रिया शुद्ध है। रेखांकित पाठ ऋषिलेख में है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दोनों**" पद त्रुटित है। वाक्यरचना की दृष्टि से आवश्यक है।

४. **मुद्रणलिपिकर की पाठत्रुटि से अप-परिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य को इस प्रकार संशोधित किया है—"**जो कोई अच्छा काम करे वह अच्छा और बुरा करे वह बुरा फल पाता है**"। यह संशोधन अनावश्यक एवं असंगत है। यह मुद्रण-काल में अनुमान से किया गया है। मुद्रण-लिपिकर प्रतिलिपि करते समय "**जो कोई अच्छा काम करेगा**" इतना लिखकर अगला वाक्यांश "**सुख पावेगा**" छोड़ गया। मुद्रण-काल में शोधक ने त्रुटित वाक्य देखा तो अनुमान से द्विप्र० में इस समय प्रचलित वाक्य बना दिया। यह ठीक नहीं बन पाया, क्योंकि एक तो यहां आयत में केवल अच्छे अर्थात् स्वर्ग का ही प्रसंग है, बुरे अर्थात् नरक का नहीं। दूसरा, पूर्वापर में भूतकालीन क्रियाएं हैं अतः भूतकालीन क्रियायुक्त वाक्य ही उचित प्रयोग माना जायेगा। मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। वेस, जग, भद, विस, युमी, उदयपुर सं० ने अपपाठ को ही ग्रहण किया है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**दरिद्र नीच गति में पड़े रहैं**"। यहां संभावनार्थक प्रयोग "**रह सकते हैं**" ही सही है। वाक्य के उत्तरार्ध में प्रयुक्त संभावनार्थक क्रिया "**हो सकते हैं**" के सम्बन्ध से भी यही सिद्ध होता है।
ऋषि-लेख—"**और दरिद्र.....सकते हैं**" पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवर्तनी**—मुद्रणह० में लिपिकर ने "**यीसू**" अपवर्तनी लिखी है। किसी मूर्ख शोधक ने उसका द्विप्र० में "**यीशू**" अपसंशोधन किया है। अब, अन्य सभी सं० में संशोधित कर लिया है।

बहिनों वा पिता वा माता वा स्त्री वा लड़कों वा भूमि को त्यागा है, सो सौ-गुणा पावेगा और अनन्त जीवन का अधिकारी होगा। २९। मत्ती इं०, प० १९। आ० २८। २९॥

समीक्षक—अब देखिये ईसा के भीतर की लीला! [यह इसलिये है][१] कि मेरे जाल से मरे पीछे भी लोग न निकल जायें! **और जिसने ३०) रुपयों[२] के लोभ में अपने गुरु को पकड़वाके[३] मरवाया, वैसे पापी भी उसके पास सिंहासन पर बैठेंगे।** और इस्राएल[४] के कुल का पक्षपात के कारण न्याय ही न किया जायगा,[५] किन्तु उनके सब गुनाह[६] माफ़ और अन्य कुलों का न्याय करेंगे। अनुमान होता है कि **इसी से ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से [उसको][७] निरपराधी कर छोड़ देते हैं,** ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा।

और इससे बड़ा दोष आता है, क्योंकि एक सृष्टि के आदि में मरा और एक 'क़यामत की[८] रात' के निकट मरा; एक तो आदि से अन्त तक आशा में ही पड़ा रहा कि कब न्याय होगा और दूसरे का उसी समय न्याय हो गया, यह कितना बड़ा अन्याय है! और जो नरक में जायगा, सो अनन्तकाल तक नरक भोगेगा और जो स्वर्ग में जायगा, वह सदा स्वर्ग भोगेगा, यह भी बड़ा अन्याय है; क्योंकि अन्तवाले साधनों[९] और कर्मों का फल भी अन्तवाला होना चाहिये। और तुल्य पाप वा पुण्य दो जीवों का भी नहीं हो सकता, इसलिये तारतम्य से अधिक-न्यून सुख-दुःखवाले अनेक स्वर्ग और नरक हों, तभी सुख-दुःख भोग सकते हैं। सो ईसाइयों के पुस्तक में कहीं व्यवस्था नहीं, इसलिये यह पुस्तक ईश्वरकृत और[१०] ईसा 'ईश्वर का बेटा' कभी नहीं हो सकता।

यह बड़े अनर्थ की बात है कि कदापि किसी के मा-बाप सौ-सौ नहीं हो सकते किंतु एक की एक मा और एक ही बाप होता है। अनुमान है कि मुसलमानों ने 'एक को ७२ स्त्रियाँ बहिश्त में मिलती

१-२. **त्रुटित आवश्यक पाठ एवं अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अपूर्ण है, अतः बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पद-परिवर्धन आवश्यक है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां वाक्यान्त में "**जायें**" क्रिया है, "**पायें**" क्रिया उचित है। आगे, दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**रुपये**" पद है, यह "**रुपयों**" होना चाहिए।

४. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**ईस्त्रायेल**" और मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**इस्त्रायेल**" अपवर्तनी है। द्रष्टव्य पृ० ८७२ पर टिप्पणी।

३,५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में ये दो अपवाक्य हैं—"**अपने गुरु को पकड़ा मरवाया**" यहां "**पकड़वाके**" क्रिया होगी। "**ईस्त्रायेल के कुल का पक्षपात से न्याय ही न किया जायगा**" में "**पक्षपात से**" का 'पक्षपात सहित न्याय न करना' अप-अभिप्राय प्रकट हो रहा है जबकि पक्षपात की भावना के कारण न्याय न किया जायेगा ग्रन्थकार का अभिप्राय है। अतः विस्पष्टार्थ के लिए "**के कारण**" पद आवश्यक हैं। यही अपपाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में हैं।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत और मुद्रणकालीन भ्रष्ट पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**गुनाः**" अपवर्तनी है। यह फारसी में '**गुनाह**' शब्द होता है। मुद्रणलिपिकर ने "**गुनाः**" को "**गुन**" और मुद्रणकाल में "**गुण**" बना दिया। मुद्रणह० और द्विप्र० में भ्रष्ट पाठ है—"**उनके सब गुण माफ.....करेंगे।**" यह मुद्रणलिपिकर की भंग-लीला है। अब इस भ्रष्ट पाठ का अन्य सभी सं० में संशोधन कर लिया गया है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**उसको**' पद त्रुटित है।

८-१०. **मुद्रणलिपिकर कृत भ्रष्टपाठ एवं अपप्रयोग**—(८) मूलह० में शुद्ध पाठ है—"**कयामत के रात के निकट मरा**"। शायद, मुद्रणलिपिकर भंग चढ़ाये हुए था। फिर उसने प्रमादलीला से कुछ-का-कुछ लिख डाला। इस पाठ के स्थान पर मुद्रणह०, द्विप्र० में "**कयामत के रात के निकरा**" अपपाठ है। (९) दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**साधन**" एकवचन का अपप्रयोग है, (१०) दोनों सं० में "**वा**" पाठ अथवा का अप-अर्थ देता है, यहां "**और**" प्रयोग होना अपेक्षित है।

हैं' लिखा है, [सो यहीं से लिया होगा] ॥[१] ८९ ॥

९०. भोर को जब वह नगर को फिर जाता था[२] तब उसको भूख लगी। १८। और मार्ग में एक गूलर का वृक्ष देखके वह उस पास आया, परन्तु उसमें और कुछ न पाया, केवल पत्ते। और उसको कहा तुझमें फिर कभी फल न लगें, इस पर गूलर का वृक्ष तुरन्त सूख गया। १९।

मत्ती इं०, प० २१। आ० १८। १९ ॥

समीक्षक—सब ईसाई पादरी लोग कहते हैं[३] कि ईसा बड़ा शान्त, क्षमान्वित, क्रोधादि दोषरहित था, परन्तु इस बात को देख [ज्ञात होता है कि ईसा][४] क्रोधी और ऋतु के[५] ज्ञान से रहित था और वह जंगली मनुष्यपन के स्वभावयुक्त वर्तता था। भला, जो वृक्ष जड़ पदार्थ है, उसका क्या अपराध था कि उसको शाप[६] दिया और वह सूख गया! इसके शाप[७] से तो न सूखा होगा, किन्तु कोई औषधि डालने से सूख गया हो, तो आश्चर्य नहीं ॥ ९० ॥

९१. उन दिनों के क्लेश के पीछे तुरन्त सूर्य अन्धियारा हो जायगा और चांद अपनी ज्योति न देगा, तारे आकाश से गिर पड़ेंगे और आकाश की सेना डिग जायगी। २९।

मत्ती इं०, प० २४। आ० २९ ॥

समीक्षक—वाह जी ईसा! तारों को किस विद्या से गिर पड़ना आपने जाना? और आकाश की सेना कौन-सी है, जो डिग जायगी? जो कभी ईसा थोड़ी भी विद्या पढ़ता, तो अवश्य जान लेता कि

---

१. **त्रुटित आवश्यक वाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सो यहीं से लिया होगा**" वाक्य त्रुटित रह गया है। इसके बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता। **ऋषिलेख**—"**यह बड़े.....लिखा है**" पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

उदयपुर सं० द्वारा अनावश्यक परिवर्तन—सभी पाठों में यह वाक्य त्रुटित है। **स्वामी वेदानन्द जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० मीमांसक जी** आदि सभी ने इस वाक्य को स्वीकार किया हुआ है। परम्परा से स्वीकृत और उत्तम पाठ को छोड़कर उदयपुर सं० ने अपना यह नया पाठ बनाया है—"**मिलती हैं, यहां से लेकर लिखा है।**" ऋषि का पाठ भी बदला और वाक्य भी उत्तम नहीं बना। "अनुमान" शब्द के प्रयोग के साथ संभावनार्थक क्रियाएं ही अधिक संगत होती हैं। पूर्व वाक्य में हस्तलेखों में "**मा**" वर्तनी है, उदयपुर सं० ने उसको नवीन वर्तनी "**माँ**" बना दिया है।

२. **महामूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा कृत हास्यास्पद भ्रष्ट पाठ**—मूलहस्त में शुद्ध पाठ है—"**जब वह नगर को फिर जाता था....।**" महामूर्ख मुद्रणलिपिकर शायद भांग चढ़ाये हुए था, उसने इसको लिखा—"**जब बहन गर को फिर जाता था**"। बाद में उसने दिमाग का थोड़ा प्रयोग किया और सोचा कि "**गर**" तो कुछ होता नहीं, तब उसने इसको "**घर**" बना दिया। उसके बाद यह भ्रष्ट इस प्रकार पाठ बन गया—"**जब वह बहन घर को फिर जाता था.....।**" अब शोधकों की मक्कारी-लीला देखिए, यही हास्यास्पद भ्रष्टपाठ द्विप्र० में छपा है। किसी शोधक ने गम्भीरता से नहीं पढ़ा। ऐसे मूर्ख लिपिकरों और शोधकों को हमारे कुछ विद्वान् और पाठक "श्रद्धेय और नमनीय" कहते हैं!! अब सभी सं० में इसको संशोधित कर लिया है।

स्वामी वेदानन्द जी का भ्रष्टपाठ—स्वामी वेदानन्द जी ने भी अत्यन्त भ्रष्टपाठ बनाया है—"**जब वह घर को फिर जाता था.....।**" सिद्धान्ती जी का भ्रष्ट पाठ है—"**जब वह बह्म घर को जाता था।**" यहां बाइबल में यीशु के नगर को लौटने का प्रसंग है, किसी के घर लौटने का नहीं। बाइबल से मिलान कर लेते तो पाठ भ्रष्ट नहीं होता।

३. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस वाक्य में पाठ का अपक्रम है—"**सब पादरी लोग ईसाई कहते हैं**"। ईसाई विशेषण पहले होना अपेक्षित है। उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां पाठ त्रुटित है। बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पदों के बिना यह वाक्य ही नहीं बनता, अतः परिवर्धन आवश्यक है।

५. **त्रुटित एवं अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ऋतु का ज्ञानरहित**" अपपाठ है। उदयपुर सं० में भी अपपाठ एवं अस्त-व्यस्त है किन्तु वाक्य का आरम्भांश परिवर्धित कर लिया है—"**देख ज्ञात होता है कि क्रोधी**"। यह स्वतन्त्र परिवर्धन है।

६-७. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं०, मुद्रणहस्त० में '**स्त्राप**' अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० और उदयपुर सं० में संशोधित है।

ये सब तारे भूगोल हैं, [और वे][१] क्योंकर गिरेंगे? इससे विदित होता है कि वह ईसा बढ़ई के कुल में उत्पन्न हुआ था[२], सदा लकड़े चीरना, छीलना, काटना और जोड़ना करता रहा होगा। जब तरंग उठी[३] कि मैं भी इस जंगली देश में पैगम्बर हो जाऊँ तो वैसी ही बातें करने लगा[४]। कितनी बातें उसके मुख से अच्छी भी निकलीं और बहुत-सी बुरी [भी][५]। वहां के लोग जंगली थे, [अतः सबको][६] मान बैठे।

जैसा आजकल यूरोप[७] उन्नतियुक्त है, वैसा पूर्व होता तो ईसा की सिद्धाई कुछ भी न चलती। अब कुछ विद्या हुए पश्चात् भी व्यवहार के पेच और हठ से इस पोकल मत[८] को न छोड़कर सर्वथा सत्य वेदमार्ग की ओर नहीं झुकते, यही इनमें कमी है॥ ९१ ॥

९२. आकाश और पृथिवी टल जायेंगे, परन्तु मेरी बातें कभी न टलेंगी। ३५।

मत्ती इं०, प० २४। आ० ३५॥

समीक्षक—यह भी बात अविद्या और मूर्खता की है। भला, आकाश हिलकर कहाँ जायगा? जब आकाश अतिसूक्ष्म होने से नेत्र से दीखता ही नहीं तो इसका हिलना कौन देख सकता है? और अपने मुख से अपनी बड़ाई करना अच्छे मनुष्यों का काम नहीं॥ ९२ ॥

९३. तब वह उनसे जो बाईं ओर हैं, कहेगा—''हे शापित[९] लोगो! मेरे पास से उस अनन्त आग में जाओ, जो शैतान और उसके दूतों के लिये तैयार की गई है। ४१।''

मत्ती इं०, प० २५। आ० ४१॥

समीक्षक—भला, यह कितनी बड़ी पक्षपात की बात है, जो अपने शिष्य हैं उनको स्वर्ग [देना][१०] और जो दूसरे हैं उनको 'अनन्त आग' में गिराना! परन्तु जब 'आकाश ही न रहेगा' लिखा, तो 'अनन्त

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**और वे**'' पद त्रुटित हैं। इनका परिवर्धन आवश्यक है।

२. **ईसा का बढ़ई कुल**—बाइबल में अनेक स्थानों पर जानकारी दी है कि ईसा बढ़ई कुल का था। इसी ग्रन्थ में आयतखण्ड संख्या १०१ में भी यह वर्णन है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**जब तरङ्ग उठा**'' अपवाक्य है। द्वि० सं० में शुद्ध कर दिया है। उदयपुर सं० में अपपाठ ही है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह त्रुटित अपवाक्य है—''**देश में पैगम्बर हो सकूंगा, बातें करने लगा।**''

५-६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत पद परिवर्धन की अपेक्षा रखते हैं। इनके बिना वाक्य पूर्ण और स्पष्ट नहीं होते।

७. **मुद्रणकालीन अप-परिवर्धन**—दोनों हस्तलेखों में '**यूरोप**' पद उपयुक्त प्रयोग था। मुद्रणकाल में किसी शोधक ने उसको ''**यूरोप देश**'' अपप्रयोग बना दिया। यही अपपाठ सभी द्वि०सं० में छप रहा है। उदयपुर सं० ने भी हस्तलेखों के शुद्ध पाठ को छोड़कर अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया है।

ऋषिलेख—''**जैसा.....चलती**'', आगे ''**आकाश.....सकता है**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित हैं।

८. **मुद्रणकालीन अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह० में शुद्ध प्रयोग है। मुद्रणसमय द्विप्र० में यह ''**पोल मत**'' अशुद्ध छप गया। वही अपप्रयोग द्वि०सं० में है, ''**पोकल**'' शुद्ध पद है। **पोकल** अर्थात् सारहीन या खोखला। यह गुजराती भाषा का शब्द है। ग्रन्थ में अन्यत्र भी कई स्थानों पर '**पोकल**' पद का प्रयोग है। मूलप्रति सं० में शुद्ध है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपप्रयोग को ग्रहण किया है। उसका कोई अर्थ नहीं है।

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**स्त्रापित**'' अपवर्तनी है। द्र० आयत खण्डसंख्या १०, पृ० ८५६ पर टिप्पणी।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**देना**' क्रिया त्रुटित रह गई है। इसके बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता।

आग, नरक, बहिश्त कहां रहेंगे ?[१] जो शैतान और उसके दूतों को ईश्वर न बनाता, तो नरक की इतनी तैयारी क्यों करनी पड़ती ? और एक शैतान ही ईश्वर के भय से न डरा तो वह ईश्वर ही क्या है ? क्योंकि वह उसी का दूत होकर बागी हो गया और ईश्वर उसको प्रथम ही पकड़कर बन्दीगृह[२] में न डाल सका, न मार सका, पुनः उसकी ईश्वरता क्या ? जिसने ईसा को भी चालीस दिन दुःख दिया, ईसा भी उसका कुछ न कर सका, तो 'ईश्वर का बेटा' होना व्यर्थ हुआ। इसलिये ईसा ईश्वर का न बेटा और '**बाइबल**' का ईश्वर न ईश्वर हो सकता है॥ ९३ ॥

९४. तब बारह शिष्यों[३] में से एक यहूदा इस्करियोती[४] नामक एक शिष्य प्रधान याजकों के[५] पास गया और कहा। १४। जो मैं यीशु को आप लोगों के हाथ पकड़वाऊँ तो आप लोग मुझे क्या देंगे ? उन्होंने उसे तीस रुपये देने को ठहराया। १५।[६] मत्ती इं०, प० २६। आ० १४। १५॥

समीक्षक—अब देखिये, ईसा की सब करामात और ईश्वरता यहाँ खुल गई ! क्योंकि जो उसका प्रधान शिष्य था, वह भी उसके साक्षात् संग से पवित्रात्मा न हुआ, तो औरों को वह मरे पीछे पवित्रात्मा क्या कर सकेगा ?[७] और उसके विश्वासी लोग उसके भरोसे में कितने ठगाये जाते हैं, क्योंकि जिसने साक्षात् सम्बन्ध में शिष्य का कुछ कल्याण न किया, वह मरे पीछे किसी का कल्याण क्या कर सकेगा ?॥ ९४ ॥

९५. ....जब वे खाते थे तब यीशु ने रोटी लेके धन्यवाद किया और उसे तोड़के शिष्यों को दिया और कहा—''लेओ, खाओ यह मेरा देह है। २६।'' और उसने कटोरा लेके धन्य माना और उनको

---

१. **अपवाक्य**—दोनों सं० में यह अपवाक्य है—''**अनन्त आग, नरक, बहिश्त कहां रहेगी ?**'' उदयपुर सं० में अपवाक्य है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवर्तनी**—मुद्रणह० में लिपिकर ने ''**बंदीग्रह**'' अपवर्तनी लिखी है। वही अशुद्ध द्विप्र० में छपी है।

३. **ईसा के बारह शिष्यों के नाम**—शमौन अर्थात् पतरस, इसी का भाई अन्द्रियास, जबदी के दो पुत्र याक़ूब और योहन्ना, फिलिप्स, बरतुल्मै, थोमा, मत्ती (ईसा के लिए अर्थसंग्रह करने वाला), हलफै के पुत्र याकूब तथा तद्दै, शमोन कनानी, यहूदा इस्करियोती (जिसने ईसा को पकड़वाया था) (मत्ती० १०.२)। **ऋषिलेख**—''**इसलिये.....सकता है**'' मूलह० में ऋषिलेख में है।

४. **नाम की अपवर्तनी**—Judas Iscariot (यहूदा इस्करियोती)। द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ९७ पर टिप्पणी सं० १, पृ० ९११ पर टि०सं० १। सभी सं० में यहां नाम की दो अपवर्तनियां पाई जाती हैं—
१. ''**यहूदाह**'', २. ''**यिहूदा**''। दोनों ही अशुद्ध हैं। ''**यहूदा**'' शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद, युमी० में ''**यहूदाह**'' है, बाद में किसी ने इसको द्वि०सं० में ''यिहूदा'' कर दिया। उदयपुर सं० में भी यही भ्रष्ट वर्तनी गृहीत है। आगे आयतखण्ड ९७ में भी भ्रष्टवर्तनी है। '**यहूदाह**' (आयतखण्ड ३७ द्रष्टव्य) से यह 'यहूदा' नामक व्यक्ति भिन्न है। यह ईसा के बारह शिष्यों में है, जबकि वह पूर्वज है। द्रष्टव्य पृ० ९११ पर टिप्पणी संख्या १।

५. **Priests**=याजक, पुजारी, पुरोहित। उस समय पुरोहितों के पास धर्मविषयक दण्डाधिकार भी होता था।आज भी कुछ मतों में यह परम्परा है, जैसे—इस्लाम में '**काज़ी**', सिखों में '**अकालतख्त**' के धर्माधिकारी अपने समुदाय के लोगों को दण्ड देते हैं।

६. **वर्तमान बाइबल में पाठान्तर**—वर्तमान बाइबल-अनुवाद में '**तीस चांदी के सिक्के उसको दे दिये**' ऐसा पाठ है।

७. **इतिहास बदला जाने लगा है**—ईसा मसीह में यदि लोगों को सचमुच निष्पाप और पवित्र करने की अलौकिक शक्ति थी तो वह अपने ही शिष्य को पवित्रात्मा क्यों न बना सका ? इस प्रकार के आरोपों से घबराकर नवीन ईसाई लेखक इतिहास को बदलने लगे हैं। बाइबल में प्राप्त स्पष्ट तथ्यों की, घटनाओं की उपेक्षा करके वे ईसा के शिष्य यहूदा इस्करियोती द्वारा ईसा को छल से पकड़वाने का उल्लेख ही नहीं करते अपितु ईसा के प्राणदण्ड को धर्मान्ध रोमन शासकों द्वारा दिया दण्ड लिखते हैं। यहूदा की घटना को उपेक्षित करके वे यह भी लिखते हैं कि ईसा के देहान्त के बाद बारहों शिष्यों ने ईसा के उपदेशों का प्रचार-प्रसार किया था (द्रष्टव्य, हिन्दी विश्वकोश-नागरी प्रचारिणी सभा, भाग दो, पृ० ४७, कालम दो) इस इतिहास में यहूदा द्वारा पकड़वाने की चर्चा ही नहीं है। यह इतिवृत्त ईसाई लेखकों पर आधारित पुस्तकों से लेकर लिखा गया है जबकि बाइबल की आयतों में इस विषयक स्पष्ट उल्लेख हैं। तो फिर, क्या बाइबल के लेख को झूठा मानेंगे ?

देके कहा—''तुम सब इससे पीओ। २७। क्योंकि यह मेरा लोहू अर्थात् नये नियम का लोहू[१] है''.....। २८। मत्ती इं०, प० २६। आ० २६। २७। २८॥[२]

समीक्षक—भला, यह ऐसी बात कोई भी सभ्य करेगा विना अविद्वान् और जंगली मनुष्य के? शिष्यों से, खाने की चीज को अपना मांस[३] और पीने की चीजों को अपना लोहू [कोई] नहीं कह सकता।[४] और इसी बात को आजकल के ईसाई लोग **'प्रभु-भोजन'** कहते हैं, अर्थात् खाने-पीने की चीजों में ईसा के मांस और लोहू की भावना कर खाते-पीते हैं, यह कितनी बुरी बात है? जिन्होंने अपने गुरु के मांस और लोहू को भी खाने-पीने की भावना से न छोड़ा, तो और का कैसे छोड़ सकते हैं?॥ ९५॥

९६. और वह पितर[५] को और जब्दी[६] के दोनों पुत्रों को[७] अपने संग ले गया और शोक करने और बहुत उदास होने लगा। ३७। तब उसने उनसे कहा कि ''मेरा मन यहाँ लों अति उदास है कि मैं मरने पर हूं....''। ३८। और थोड़ा आगे बढ़के वह मुंह के बल गिरा और प्रार्थना की—''हे मेरे पिता! जो हो सके तो यह कटोरा मेरे पास से टल जाय''....। ३९।[८]

मत्ती इं०, प० २६। आ० ३७। ३८। ३९॥

समीक्षक—देखो, जो वह केवल मनुष्य न होता, 'ईश्वर का बेटा' और त्रिकालदर्शी और विद्वान् होता, तो ऐसी अयोग्य चेष्टा न करता। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह प्रपञ्च ईसा ने अथवा उनके चेलों ने झूठमूठ बनाया है कि 'वह ईश्वर का बेटा है, भूत-भविष्यत् का वेत्ता और पाप का क्षमा-कर्त्ता है।[९] इससे समझना चाहिये कि वह[१०] केवल साधारण, सूधा-सच्चा अविद्वान् था;[११] न विद्वान्, न

---

१. **मुद्रणकालीन त्रुटि**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में ''**लोहू**'' पद त्रुटित है। वेस, भद को छोड़ सभी ने इसको ग्रहण कर लिया है।

२. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां २८ के स्थान पर ८३ आयतसंख्या अशुद्ध है।

३. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में इस अनुच्छेद में यहां ''**माँस**'' अपवर्तनी है। द्वि० सं० में संशोधित है। लिपिकर की विचित्र लीला देखिए कि दो पंक्ति नीचे पुनः दो बार प्रयुक्त ''**मांस**'' पद की वर्तनी शुद्ध है। ऐसे लिपिकर मिले थे महर्षि को!

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्टपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में सम्पूर्ण रूप से और मूलप्रति सं० में आंशिक रूप से यहां भ्रष्टपाठ है जो इस प्रकार है—''**कोई सभ्य भी करे विना अविद्वान् जंगली मनुष्य के शिष्यों से खाने की चीज को मांस और पीने की चीजों को लोहू नहीं कह सकता।**'' यह ''**करेगा**'' क्रिया का ''**गा**'' त्रुटित रहने से अपपाठ हुआ है। उदयपुर सं० में यह अर्धसंशोधित है। प्रश्नचिह्न अपस्थान पर है तथा ''**अपने**'' की जगह ''**अपना**'' प्रयोग शुद्ध होगा, ''**कोई**'' त्रुटित है।

५. Peter (पतरस) ईसा के बारह शिष्यों में से एक था। द्र० सूची पृष्ठ ९०९, टि० ३ में।

६. Zebedee (जबदी)। इसके दो पुत्र याकूब और योहन्ना थे जो ईसा के बारह शिष्यों में से थे। द्र०पृ० ९०९, टि० ३।

७. **मुद्रणलिपिकर और मुद्रणकाल का भ्रष्टपाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने '**पितर**' नाम को '**पिता**' लिखा, मुद्रणकाल में '**जबदी**' नाम का भी यह भ्रष्टपाठ बना दिया—''**और वह पिता को और जब दो के दोनों पुत्रों को....।**''
पं० मीमांसक जी का हास्यास्पद पाठ—मीमांसक जी ने '**जबदो**' अशुद्ध पाठ बनाया है। स्वामी विद्यानन्द जी ने उनका अन्धानुकरण किया। श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती ने द्विप्र० का भ्रष्टपाठ ग्रहण किया है। अब अन्य सभी ने संशोधन कर लिया है।

८. **कटोरा टलना**— बाइबल में '**कप**' शब्द है, जिसका आज की शब्दावली में '**प्याला**' अनुवाद भी किया जा सकता है। यह एक मुहावरा है जिसका अर्थ है—'**मृत्यु का अवसर टलना।**' उस समय वध दण्ड देने की एक विधि यह थी कि वध्य व्यक्ति को विष या पित्तमिश्रित सिरका आदि से भरा प्याला पीने को दिया जाता था। जैसे यूनानी दार्शनिक सुकरात को विष का प्याला पिलाकर मृत्युदण्ड दिया गया था। ईसा को भी पहले सिरके का प्याला पीने के लिए कहा गया था, जब उसने पीने से मना कर दिया, उसके बाद उसको क्रूस पर चढ़ाया गया (द्र० आयतखण्ड संख्या ९९)।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पापक्षमा का कर्त्ता**'' अपपाठ है, यहां '**पाप का क्षमाकर्त्ता**' पाठ चाहिए।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**यह**'' सर्वनाम का प्रयोग है, ''**वह**'' उपयुक्त है। ऊपर की पंक्तियों में ''**वह**'' है।

योगी, न सिद्ध था॥ ९६ ॥

९७. वह बोलता ही था कि देखो यहूदा,[१] जो बारह शिष्यों में से एक था, आ पहुंचा और लोगों के प्रधान याजकों और प्राचीनों[२] की ओर से बहुत लोग खड्ग और लाठियाँ लिये उसके संग। ४७। यीशु के पकड़वानेहारे ने उन्हें यह पता दिया था 'जिसको मैं चूमूं, उसको पकड़ो'। ४८। और वह तुरन्त यीशु पास आ बोला—''हे गुरु प्रणाम'' और उसको चूमा। ४९।....तब उन्होंने यीशु पर हाथ डालके उसे पकड़ा। ५०।....तब सब शिष्य उसे छोड़के भागे। ५६।....अन्त में दो झूठे साक्षी आके बोले, इसने कहा कि ''मैं ईश्वर का मन्दिर ढा[३] सकता और उसे तीन दिन में फिर बना सकता हूं। ६१।'' तब महायाजक ने खड़ा हो यीशु से कहा[४]—''क्या तू कुछ उत्तर नहीं देता है, ये लोग तेरे विरुद्ध क्या साक्ष्य देते हैं।''[५] परन्तु यीशु चुप रहा। इसपर महायाजक ने उससे कहा—। ६२। ''मैं तुझे जीवते ईश्वर की क्रिया देता हूं,[६] हमसे कह तू 'ईश्वर का पुत्र' ख्रीष्ट है कि नहीं?। ६३।'' यीशु उससे बोला—''तू तो कह चुका। ६४।'' ....तब महायाजक ने अपने वस्त्र फाड़के कहा—''यह ईश्वर की निन्दा कर चुका है, अब हमें साक्षियों का और क्या प्रयोजन?''। ६५। ''देखो, तुमने अभी उसके मुख से ईश्वर की निन्दा सुनी है। अब क्या विचार करते हो?'' तब उन्होंने उत्तर दिया—''यह वध के योग्य है। ६६।'' तब उन्होंने उसके मुंह पर थूका और उसे घूंसे मारे। औरों ने थपेड़े मारके कहा—। ६७। ''हे ख्रीष्ट! हमसे भविष्यद्वाणी बोल, किसने तुझे मारा?। ६८।'' पितर बाहर अंगने में बैठा था और एक दासी उसके पास आके बोली—''तू भी यीशु गलीली[७] के संग था?। ६९।'' उसने[८] सभों के सामने मुकरके कहा—''मैं नहीं जानता तू क्या कहती है। ७०।'' जब वह बाहर डेवढ़ी में गया तो दूसरी दासी ने उसे देखके, जो लोग वहां थे, उनसे कहा—''यह भी यीशु नासरी[९] के संग था''। ७१। वह क्रिया खाके[१०] फिर मुकरा कि मैं उस मनुष्य को नहीं जानता

---

११. **सूधा-सच्चा अविद्वान्**—यह मुहावरा है। इसका अर्थ है—''**भोला-भाला अशिक्षित।**'' सारे समुल्लास में ग्रन्थकार ने ईसा के लिए ऐसे ही विशेषणों का प्रयोग किया है। **ऋषिलेख**—''**इससे.....सिद्ध था**'' मूलह० में ऋषिलिखित है।

१. **अव्यवस्थित वर्तनी यहूदा नाम की**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस नाम की वर्तनी अव्यवस्थित है। इसकी तीन वर्तनियां मिलती हैं— १. **यहूदाह** (मूलसं० पृ० ५९१, द्वि०सं० पृ० ३३२). २. **यिहूदा** (मूलसं० पृ० ६१८, ६२५, ६२९; द्वि०सं० पृ० ३४६, ३४७, ३५०, ३५३)। ३. **यिहूदाह** (मूलसं० ६१९) दोनों ही नामों की अंग्रेजी वर्तनी क्रमशः Judah और Judas है। व्यक्ति भी ये दो हैं- १. यहूदाह, २. यहूदा इस्करियोती। पहले पर वर्तनी '**यहूदाह**' ग्राह्य है और दूसरे के नाम की यहाँ '**यहूदा**' ग्राह्य है। यही अव्यवस्था प्रायः सभी सं० और उदयपुर सं० में है। उदयपुर सं० में यहां सभी जगह ''**यिहूदा**'' अपवर्तनी है जबकि द्विप्र० में ''**यहूदाह**'' है। वर्तमान बाइबल में दोनों का एक उच्चारण 'यहूदा' दिया है।

२. **प्राचीन**—बुजुर्ग, वयोवृद्ध लोग।

३-५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमाद से अशुद्ध पाठ**—मूलह० के पाठ को ध्यान से न देखकर मुद्रणलिपिकर ने यहां ''**ढा सकता**'' के स्थान पर ''**छा सकता**'' अशुद्ध पाठ लिख दिया। वही द्विप्र० में छपा। अब सभी सं० में संशोधित है। आगे, सभी में ये दो पाठ भी अशुद्ध हैं—''**तब महायाजक खड़ा हो यीशु से कहा**'', ''**साक्षी देते रहे**''।

६. **क्रिया देना**=शपथ दिलाना। मूलसं० में तद्भव रूप ''**किरिया देना**'' आदि बनाया है, जो अनावश्यक है। दोनों हस्त० में मूल ''**क्रिया**'' प्रयोग है, वही ग्राह्य है। आगे प्रयुक्त ''**क्रिया खाना**'' का अर्थ है—'शपथ खाना'।

७,९. **यीशु गलीली (Galilean) व नासरी (Nazareth)**—ईसा की माता मरियम का जन्मस्थान गलील देश का नासरत शहर था। इन देश-सम्बन्धों से ही यीशु को '**गलीली**' और '**नासरी**' कहा जाता है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अशुद्ध परिवर्तन**—मूलह० के शुद्ध पाठ को, प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने ''**उन्होंने**'' बना दिया। यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० में छपा है। सभी सं० में संशोधित है।

हूं। ७२। तब वह धिक्कार देने[११] और क्रिया खाने लगा कि ''मैं उस मनुष्य को नहीं जानता हूं...। ७४।''
मत्ती इं०, प० २६। आ० ४७-५०। ५६। ६१-७२। ७४॥[१]

समीक्षक—अब देख लीजिये कि उसका इतना भी सामर्थ्य वा प्रताप नहीं था कि अपने चेले को भी दृढ़ विश्वास करा सके और वे चेले भी चाहे प्राण भी क्यों न जाते, तो भी अपने गुरु को लोभ से न पकड़वाते, न मुकरते, न मिथ्याभाषण करते, न झूठी क्रिया खाते।[२]

और ईसा भी कुछ करामाती नहीं था। नहीं तो जैसा '**तौरेत**' में लिखा है कि—''लूत के घर पर पाहुनों को बहुत से मारने को चढ़ आये थे, वहाँ ईश्वर के दो दूत थे, उन्होंने उन्हीं को अन्धा कर दिया।'' [बाइबल उत्पत्ति, पर्व १९। आ० ११] यद्यपि वह भी बात असंभव है तथापि ईसा में तो इतना भी सामर्थ्य न था। और आजकल कितना भडम्बा[३] उसके नाम पर ईसाइयों ने बढ़ा रक्खा है। भला, **ऐसी दुर्दशा से मरने से आप स्वयं जूझ[४] वा समाधि चढ़ा[५] अथवा किसी प्रकार से प्राण छोड़ता, तो अच्छा था, परन्तु वह बुद्धि विना विद्या के कहाँ से उपस्थित हो?॥ ९७॥**

वह ईसा यह भी कहता है कि—

९८. मैं अभी अपने पिता से विनति नहीं करता हूँ, वह मेरे पास स्वर्गदूतों की बारह सेनाओं से अधिक पहुँचा देगा। ५३।
मत्ती इं०, प० २६। आ० ५३॥

समीक्षक—धमकाता जाता, अपनी और अपने पिता की बड़ाई भी करता जाता, और उसका कुछ भी नहीं कर सका।[६] देखो, आश्चर्य की बात! जब महायाजक ने पूछा था कि 'ये लोग तेरे विरुद्ध साक्ष्य[७] देते हैं, इसका उत्तर दे' तो ईसा चुप रहा। यह भी ईसा ने अच्छा न किया; क्योंकि जो सच था, वह वहाँ अवश्य कह देता, तो भी अच्छा होता। बहुत-सी अपने घमण्ड की बातें करनी उचित न थीं।

१०-११. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपपाठ**—संख्यांक १० पर ''**उसने किरिया खाके फिर मुकरा**'' दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपपाठ है। संख्यांक ११ पर, मूलह०, मूलसं० में शुद्ध पाठ है। प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश यह अपपाठ लिखा—''**वह धिक्कार देकर देने....लगा।**'' यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

१. **त्रुटित उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० भद में आयतसंख्या ५६ त्रुटित है। अन्य सभी सं० में परिवर्धित है।

२. **झूठा शिष्य**—यह झूठ बोलने और मिथ्या शपथ खाने वाला शिष्य '**पितर**' (पितरस) था।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट प्रयोग—भडम्बा**=आडम्बर या ढोंग। **भ्रष्ट प्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां ''**भड़वा**'' भ्रष्ट प्रयोग है। यह शुद्ध शब्द होता है ''**भडम्बा**''। ऋषि ने यही बोला था। मूल लिपिकर ने ''**भडम्बा**'' ही लिखा था। मूलप्रति सं० में यही शुद्ध पाठ है। मुद्रण-लिपिकर शायद ''**भडम्बा**'' प्रयोग से परिचित नहीं था, अत: उसने प्रतिलिपि करते समय इसका हास्यास्पद रूप ''**भड़वा**'' बना दिया। वही द्विप्र०, द्वि०सं० में छपता आ रहा है।

सम्पादक विद्वान् भी बहके—महर्षि के लिपिकरों और वेतनभोगी शोधकों-सम्पादकों की बात छोड़ दीजिए, सवा-सौ से अधिक वर्षों से हमारे माननीय सभी विद्वान् सम्पादक ''**भड़वा**'' पद को सहेजे बैठे हैं!! पता नहीं क्यों, उन्होंने शब्दकोश देखने का यत्न भी नहीं किया। **पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** सदृश विद्वानों ने भी इसी अपप्रयोग को ग्रहण कर लिया। **स्वामी वेदानन्द जी** और **सिद्धान्ती जी** ने इसके स्थान पर '**बढ़ावा**' पाठ कल्पित करके सन्तोष कर लिया, जबकि 'बढ़ावा' कोई प्रयोग नहीं बनता। उदयपुर सं० ने शुद्ध प्रयोग ''**भडंबा**'' को ग्रहण कर लिया है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**झूझ**'' अपवर्तनी है। हिन्दी में '**जूझना**' क्रिया है। उससे '**जूझ**' बनेगा।

५. **समाधि चढ़ा** अर्थात् प्राणायाम, समाधि-योग से शरीर त्यागना। महर्षि दयानन्द ने अन्तिम समय योग द्वारा शरीर छोड़ा था।

६. **अपक्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में ''**कर सकता**'' अपक्रिया है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**साक्षी देते हैं**'' अपप्रयोग है। '**साक्षी**' का अर्थ है—'**साक्ष्य देने वाला**'।

८. **ऋषिलेख**—''**यदि ईसा.....लावें**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

और **जिन्होंने ईसा पर झूठ-फरेब डालकर बुरे हाल कर मारा, उनको भी यह उचित न था; क्योंकि ईसा का उस प्रकार का अपराध नहीं था, जैसा उसके विषय में उन्होंने किया।** परन्तु वे भी तो जंगली थे। न्याय की बातों को क्या समझें? यदि ईसा झूठ-मूठ 'ईश्वर का बेटा' न बनता और वे उसके साथ ऐसी बुराई न वर्तते, तो दोनों के लिये उत्तम काम था। परन्तु इतनी विद्या, धर्मात्मता और न्यायशीलता कहाँ से लावें? ॥ ९८ ॥[८]

९९. यीशु, अध्यक्ष के आगे खड़ा हुआ और अध्यक्ष ने उससे पूछा—''क्या तू यहूदियों का राजा है?'' यीशु ने उससे कहा—''आप ही तो कहते हैं। ११।'' जब प्रधान याजक और प्राचीन लोग उसपर दोष लगाते थे, तब उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। १२। तब पिलातुस ने उससे कहा—''क्या तू नहीं सुनता कि ये लोग तेरे विरुद्ध कितने साक्ष्य देते हैं। १३।'' परन्तु उसने एक वार भी उसको उत्तर न दिया, यहाँ लों कि अध्यक्ष ने बहुत अचम्भा किया। १४। पिलातुस ने उनसे कहा—''तो मैं यीशु से, जो 'ख्रीष्ट'[१] कहावता है, क्या करूँ?'', सभों ने उससे कहा—''वह क्रूस पर चढ़ाया जाय....। २२।'' और यीशु को कोड़े मारके क्रूस पर चढ़ाये जाने को सौंप दिया। २६। तब अध्यक्ष के योद्धाओं ने यीशु को अध्यक्ष-भवन में ले जाके सारी पलटन उस पास इकट्ठी की। २७। और उन्होंने उसका वस्त्र उतारके उसे लाल बागा[२] पहिराया। २८। और कांटों का मुकुट गूंथके उसके शिर पर रक्खा और उसके दाहिने हाथ में नरकट[३] दिया और उसके आगे घुटने टेकके यह कहके उससे ठट्ठा किया—''हे यहूदियों के राजा! प्रणाम। २९।'' और उन्होंने उसपर थूका और उस नरकट को ले उसके शिर पर मारा। ३०। जब वे उससे ठट्ठा कर चुके तब उससे वह बागा उतारके मसीह[४] का वस्त्र[५] पहिराके उसे क्रूस पर चढ़ाने को ले गये। ३१।

जब वे एक स्थान पर जो गलगथा[६] अर्थात् खोपड़ी का स्थान कहाता है,[७] पहुंचे। ३३। तब

---

१. **ख्रीष्ट**=Christ. (क्राइस्ट)।

२. **बागा**=चोगा। **अशुद्ध संशोधन**—बाइबल के अनुवाद में '**बागा**' ही पाठ है। मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, में पाठ ठीक है। द्वि०सं० का ''**बाना**'' परिवर्तन अशुद्ध है। ''**बागा**'' एक प्रकार का ''**चोगा**'' होता है, ''**बाना**'' का अर्थ ''**वेश-भूषा**'' है। उदयपुर सं० ने ठीक प्रयोग ग्रहण किया है किन्तु **पं० भगवद्दत्त जी** ने अपप्रयोग ''**बाना**'' ग्रहण किया है।

३. **नरकट**=नरकुल नामक बड़ी घास का डंडा।

४. **मसीह**=धर्मगुरु वा चमत्कारी गुरु या सन्त। इसी कारण ईसाई ईसा को 'मसीह' कहते हैं। उसी के वस्त्र उसको पुनः पहनाये।

५. **द्वितीय सं० में भ्रष्ट पाठ**—द्वि०सं० में यहां ''**मसी का वस्त्र**'' को भ्रान्ति से ''**उसी का वस्त्र**'' पाठ बना दिया है। मुद्रणप्रति व द्विप्र० में ठीक पाठ है। किसी ने बीच के ३३ वें सं० में पाठ बिगाड़ा है। वस्तुतः यह '**मसीह**' शुद्ध शब्द है। '**मसी**' अपभ्रंश पद है। जैसे पृ० ५३० पर '**मसी**' प्रयोग है और पृ० ९०५ पर शुद्ध प्रयोग है।

६. **गलगथा** (Golgotha)=गुलगुता=वधस्थल। बाइबल के वर्तमान हिन्दी अनुवादों में '**गुलगुता**' वर्तनी मिलती है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा महाभ्रष्ट पाठ**—एक और हास्यास्पद महाभ्रष्टपाठ का नमूना लीजिए। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**जो गल गया अर्थात् खोपड़ी का स्थान**'' महाभ्रष्ट पाठ है। मूल हस्तलेख में यह ''**गलगथा**'' शुद्ध था। मुद्रण-लिपिकर को यह समझ नहीं आया तो उसने ''**जो गल गया था**'' बना दिया। यह परोपकारिणी के ३३वें संस्करण तक छपता रहा। हमारे विद्वान् सम्पादक भी निश्चिन्त होकर सोते रहे कि ''चलो, खोपड़ी का स्थान गल तो गया है, अब क्या करना है गले हुए का!'' ३४वें सं० में किसी का इस भ्रष्ट वाक्य पर ध्यान गया तो यह सुधरा, किन्तु द्वि०सं० वाले अभी भी ''**गल गया था**'' पाठ में ही ग्रस्त हैं!!! और की तो छोड़िए, **पं० भगवद्दत्त जी** और सिद्धान्ती जी ने भी इस महाभ्रष्ट पाठ को ग्रहण किया है। पता नहीं, यह भ्रष्ट पाठ उनके ध्यान में क्यों नहीं आया? कभी-कभी विद्वान् भी विचार नहीं करते। उदयपुर सं० में संशोधित प्रयोग है।

उन्होंने सिरके में पित्त मिलाके उसे पीने को दिया परन्तु उसने चीखके पीना न चाहा। ३४। तब उन्होंने उसे क्रूस[१] पर चढ़ाया....। ३५। और उन्होंने उसका दोषपत्र उसके शिर के ऊपर लगाया....। ३६। तब दो डाकू, एक दाहिनी ओर और दूसरा बाईं ओर उसके संग क्रूसों पर चढ़ाये गये। ३८।

जो लोग उधर से आते-जाते थे, उन्होंने अपने सिर हिलाके और यह कहके उसकी निन्दा की। ३९। 'हे मन्दिर के ढानेहारे! अपने को बचा; जो तू ईश्वर का पुत्र है तो क्रूस पर से उतर आ। ४०।' इसी रीति से प्रधान याजकों ने भी अध्यापकों और प्राचीनों के संगियों ने ठट्ठा कर कहा—'उसने और को बचाया, अपने को बचा नहीं सकता है। ४१। जो वह इस्राएल का राजा है तो क्रूस पर से अब उतर आवे और हम उसका विश्वास करेंगे। ४२। वह ईश्वर पर भरोसा रखता है, यदि ईश्वर उसको चाहता है, तो उसको अब बचावे। क्योंकि उसने कहा—''मैं ईश्वर का पुत्र हूँ। ४३।'' जो डाकू उसके संग चढ़ाये गये, उन्होंने भी इसी रीति से उसकी निन्दा की। ४४।

दो पहर से तीसरे पहर लों सारे देश में अंधकार हो गया। ४५। तीसरे पहर के निकट यीशु ने बड़े शब्द से पुकारके कहा—''एली एली लमा शबक्तनी''[२] अर्थात् 'हे मेरे ईश्वर! हे मेरे ईश्वर! तूने क्यों मुझे त्यागा है। ४६।' जो लोग वहाँ खड़े थे उनमें से कितनों ने यह सुनके कहा, वह एलियाह[३] को बुलाता है। ४७। उनमें से एक ने तुरन्त दौड़के इस्पंज[४] लेके सिरके में भिगोया और नरकट पर रख के उसे पीने [=चूसने] को दिया। ४८। ....तब यीशु ने फिर बड़े शब्द से पुकार के प्राण त्यागा। ५०।

मत्ती इं०, प० २७। आ० ११-१४। २२। २६-३१। ३३-३५। ३७-४८। ५०॥[५]

समीक्षक—सर्वथा, यीशु के साथ उन दुष्टों ने बुरा काम किया, परन्तु यीशु का भी दोष है, क्योंकि ईश्वर का न कोई पुत्र, न वह किसी का बाप है; क्योंकि जो वह किसी का बाप होवे, तो किसी का श्वसुर, साला,[६] सम्बन्धी आदि भी होवे। और जब अध्यक्ष ने पूछा था, तब जैसा सच था, उत्तर देना था। और यह ठीक है कि जो-जो आश्चर्यकर्म प्रथम किये हुए सच्चे होते, तो अब भी क्रूस पर से उतर, आ,[७] सबको अपना शिष्य बना लेता। और जो वह 'ईश्वर का पुत्र' होता तो ईश्वर भी उसको

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में '**क्रूश**' अपवर्तनी है, आयत के अनुवाद में भी और समीक्षा भाग में भी। इस प्रसंग में आधा दर्जन से अधिक बार '**क्रूश**' अपवर्तनी प्रयुक्त हुई है। यही अपवर्तनी उदयपुर सं० में है। बाइबल में इसकी शुद्ध वर्तनी '**क्रूस**' (Cross) है। शुद्ध, मानकता और एकरूपता के लिए इस सं० में सर्वत्र यही गृहीत है।

२. **अंग्रेजी मूल**—"Eli, Eli La'ma sabach-tha'ni?"
भ्रष्टपाठ और पाठान्तर की कथा—दोनों हस्तलेखों में, पं० मीमांसक सं०, द्वि०सं०, सिद्धान्ती सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० में ''**एली एली लामा सबक्तनी**'' पाठ है। द्विप्र० और पं० भगवद्दत्त सं० में भ्रष्टपाठ ''**सबक्तनीहू**'' है। स्वामी वेदानन्द सं० में ''**लमा**'' उच्चारण है। स्वामी जगदीश्वरानन्द सं० में ''**लामा शबक्तनी**'' उच्चारण दिया है। बाइबल में प्रयुक्त वर्तनी और उच्चारण ''**लमा शबक्तनी**'' है, अत: वही इस सं० में दिया गया है।

३. Eli'Jah (एलियाह) ४. Sponge (स्पंज)।

५. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—इस उद्धरण संख्या में प्राय: सभी सं० में अन्तर है। मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में २३, २४, ४९ अशुद्ध हैं, ३५ त्रुटित है। द्वि०सं०, युमी में २३ अशुद्ध है। मूलसं० में २१, २३ अशुद्ध हैं। उदयपुर सं० में ३५ त्रुटित है।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**साला**'' के स्थान पर ''**श्याला**'' अपवर्तनी है। मूलह० मूलप्रति सं० में ''**साला**'' शुद्ध है, वही ग्राह्य है। ग्रन्थ में प्राय: सर्वत्र हिन्दी में स्वीकृत ''**साला**'' वर्तनी प्राप्त है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा क्रिया परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**आ**'' क्रिया त्रुटित है। मूलप्रति में है। वहां ''**उत्तर कर**'' व्यर्थ बदला है।

बचा लेता। **जो वह त्रिकालदर्शी होता, तो सिरके[१] में पित्त मिले हुये को चीखके क्यों छोड़ता? वह पहले से ही जानता होता। और जो वह करामाती होता,[२] तो पुकार-पुकार के प्राण क्यों त्यागता? अर्थात् चाहे कितनी ही कोई चतुराई करे,[३] परन्तु अन्त में सच, सच और झूठ, झूठ हो जाता है।** इससे यह सिद्ध हुआ कि यीशु एक उस समय के जंगली मनुष्यों में से कुछ अच्छा था। न वह करामाती, न 'ईश्वर का पुत्र' और न विद्वान् था, क्योंकि जो ऐसा होता, तो वह दुःख क्यों भोगता? ॥ ९९ ॥

१००. और देखो, बड़ा भुईंडोल[४] हुआ कि परमेश्वर का एक दूत [स्वर्ग से] उतरा और आके कब्र[५] के द्वार पर से पत्थर लुढ़काके उसपर बैठा। २।....वह यहाँ नहीं है, जैसे उसने कहा वैसे जी उठा है। ६। जब वे उसके शिष्यों को सन्देश देने[६] जाती थीं,[७] देखो, यीशु उनसे आ मिला, कहा—''कल्याण हो'' और उन्होंने निकट आ उसके पांव पकड़के उसको प्रणाम किया। ९। तब यीशु ने कहा—मत डरो, जाके मेरे भाइयों से कह दो, कि वे गलील को जावें और वहाँ वे मुझे देखेंगे। १०।

ग्यारह शिष्य गलील में उस पर्वत पर[८] गये जो यीशु ने उन्हें बताया था। १६। और उन्होंने उसे देखके उसको प्रणाम किया, पर कितनों को सन्देह हुआ। १७। यीशु ने उनके पास[९] आ उनसे कहा—''स्वर्ग में और पृथिवी पर समस्त अधिकार मुझको दिया गया है। १८। ....और देखो मैं जगत् के अन्त लों सब दिन तुम्हारे संग हूँ। २०।''

मत्ती इं०, प० २८। आ० २। ६। ९। १०। १६। १७। १८। २० ॥

समीक्षक—यह बात भी मानने योग्य नहीं, क्योंकि सृष्टिक्रम और विद्याविरुद्ध है। प्रथम, ईश्वर के पास दूतों का होना, उनको जहाँ-तहाँ भेजना, ऊपर से उतरना [आदि बातों ने] क्या तहसीलदार,

---

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और द्वि०सं०, मूलसं० में यहां एक ही आयतखण्ड में इस स्थान पर ''**सिर्का**'' अपवर्तनी है। गतपृष्ठ पर दो बार (आयत क्रमसंख्या ९९) में दोनों सं० में ''**सिरका**'' है। व्यवस्था, एकरूपता, मानकता की दृष्टि से ''**सिरका**'' ही ग्राह्य है। यही अव्यवस्था उदयपुर सं० सहित सभी में है। द्विप्र० में तीनों स्थलों पर ''**सिर्का**'' अपवर्तनी है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां ''**हो**'' अपक्रिया है। द्वि० सं० में ''**होता**'' संशोधित है, यही ग्राह्य है।

३. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में ''**चाहे कितने ही कोई चतुराई करे**'' अपवाक्य है। द्वि०सं० में इस वाक्य में ''**कोई**'' पद त्रुटित है, शेष संशोधित है। यहां प्रदर्शित पाठ उपयुक्त है। उदयपुर सं० में भी ''**कोई**'' पद त्रुटित है।

४. **भुईंडोल**=भूकम्प। मुद्रणह० में ''**भूईंडोल**'' तथा द्विप्र० में ''**भूईंदोल**'' वर्तनी है। यह प्राचीन रूप है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सर्वत्र ''**क़बर**'' अपवर्तनी है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने ''**देने**'' पद छोड़ दिया। द्विप्र० में त्रुटित है।

७. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की तथ्यविरुद्ध टिप्पणी**—''**शिष्यों को सन्देश देने जाती थीं**'' इस वाक्य पर पं० जी शीघ्रता में यह अविचारित टिप्पणी दे गये कि ''**सम्भवतः पहरा देने वाली स्त्रियां**''। पता नहीं पं० जी का ध्यान कैसे विचलित हो गया कि उन्होंने इस वाक्य को भी ध्यान से नहीं पढ़ा। इसमें स्पष्ट लिखा है कि वे स्त्रियां शिष्यों को संदेश (ईसा के पुनर्जीवित होने का) देने जा रही थीं। वे पहरा देने वाली नहीं थीं, वे ईसा की अनुयायी थीं। पं० जी ने बाइबल का प्रसंग भी नहीं देखा, नहीं तो यह भूल नहीं होती। पहरा देने वाले तो राजकर्मचारी थे (मत्ती० २८.११-१३)। वे स्त्रियां ईसा की अनुयायी थीं तथा उन्होंने क्रूस पर चढ़ाने का दृश्य दूर से देखा था, उनमें एक ईसा की माता भी थी। फिर वे ईसा की कब्र को देखती रहीं थीं (मत्ती० २७.५५, ५६, ६०, ६१)। छह दिन बाद ये फिर कब्र को देखने आईं तो स्वर्गदूत ने उनको बताया कि ईसा मसीह पुनर्जीवित होकर गलील देश पहुंचेगा। वे स्त्रियां खुशी में भरकर ईसा के अनुयायियों को यह समाचार देने वहां से निकल पड़ी थीं (मत्ती० २८.१-८)। अतः पं० जी की टिप्पणी बाइबल के तथ्यों के विपरीत होने से अस्वीकार्य है।

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० और मूलसं० में ''**पर्वत में गये**'' अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उन पास आ**'' अपप्रयोग है।

कलेक्टर के समान ईश्वर को बना दिया ?[१] क्या उसी शरीर से स्वर्ग को गया और जी उठा ? क्योंकि उन स्त्रियों ने उसके पग पकड़के प्रणाम किया तो क्या वही शरीर था ? और वह तीन दिन लों सड़ क्यों न गया ? और अपने मुख से सबका अधिकारी बनना केवल दम्भ की बात है। शिष्यों से मिलना और उनसे सब बातें करना असंभव है; क्योंकि जो ये बातें सच हों, तो आजकल भी कोई क्यों नहीं जी उठते ? और उसी शरीर से स्वर्ग को क्यों नहीं जाते ॥[२] १०० ॥

यह '**मत्ती-रचित्त इंजील**' का विषय हो चुका। अब[३] '**मार्क-रचित इंजील**' के विषय में लिखा जाता है।

''मार्क[४] रचित इंजील''

१०१. यह क्या बढ़ई नहीं[५].....। ३। मार्क इं०, प० ६। आ० ३॥

समीक्षक—असल में यूसुफ[६] बढ़ई था, इसलिये ईसा भी बढ़ई था। कितने ही वर्ष तक बढ़ई का काम करता था। पश्चात् पैगम्बर बनता-बनता 'ईश्वर का बेटा' ही बन गया और जंगली लोगों ने बना लिया। तभी बड़ी कारीगरी चलाई। काट-कूट, फूट-फाट करना[७] उसका काम है॥ १०१ ॥

---

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**क्या तहसीलदारी, कलेक्टरी के समान ईश्वर को बना दिया**''। इसमें '**तहसीलदार**' और '**क्लेक्टर**' संज्ञा वांछनीय है, भाववाचक संज्ञा नहीं। उदयपुर सं० आदि में अशुद्ध है।

२. **स्वामी वेदानन्द जी की टिप्पणी चिन्त्य**—स्वामी वेदानन्द जी ने इस समीक्षा पर, 'Crucifixion' नामक पुस्तक को उद्धृत करते हुए, उसमें लिखी इस किंवदन्ती की संभावना पर सहमति व्यक्त की है कि क्रूस पर चढ़ाये जाने के बाद ईसा मरे नहीं थे। मरने से पूर्व ईसा के मठ के श्वेत वस्त्रधारी साधुओं ने राज्याधिकारियों से उसका शरीर ले लिया था और चिकित्सा करके उसको स्वस्थ कर दिया था। स्वस्थ होकर ईसा गलील में प्रचार करता रहा (पृ० ४९७)। पुस्तक में तर्क दिया गया है कि बाइबल में वर्णित श्वेतवस्त्रधारी देवदूत ईसा के मठ का कोई साधु था। पुस्तक में व्यक्त विचारों का न तो बाइबल के तथ्यों में मेल है और न परस्पर मेल है। यदि साधु मृत्यु से पूर्व ईसा के जीवित शरीर को मांग ही ले गये थे तो कब्र खुदवाने की, छठे दिन आकर कब्र का पत्थर हटाने की, कब्र के मुख पर छठे दिन देवदूत साधु के बैठने की चर्चा ही व्यर्थ है। बाइबल (मत्ती० पर्व० २७, २८) में स्पष्ट लिखा है कि '**ईसा ने चिल्ला-चिल्लाकर बड़े कष्ट से प्राण छोड़े, उसके लिए कब्र बनाई गई, उसमें दफनाया गया**', आदि। छठे दिन जब शव गायब पाया गया तो पहरेदारों में घबराहट फैल गई। उच्च राज्याधिकारी को क्रोधित होने से रोकने के लिए पहरुओं ने अधिकारी के सिपाहियों को रिश्वत दी। राज्याधिकारी को शरीर दिये जाने का ज्ञान होता तो इस विषयक वर्णन बाइबल में वर्णित न होते। सत्य तो यह है कि जैसे ईसा के, स्पर्श से रोगमुक्त करना, भूत निकालना, गूलर वृक्ष को सुखा देना, पत्थर की रोटियाँ बनाना आदि चमत्कार जोड़े गये हैं, ऐसे ही पुनर्जीवित होने का चमत्कार जोड़ा गया है। उक्त पुस्तक इस चमत्कार को यथार्थ में रूपान्तरित करना चाहती है, जिससे बुद्धिजीवी जगत् में पुनर्जीवित होने की ऐतिहासिक संगति लगाई जा सके। इसके लिए बाइबल को मिथ्या मानना पड़ेगा। अतः उक्त संभावना व्यक्त करना कपोल-कल्पना है।

३. **स्थानभ्रष्ट पद**—द्विप्र० में ''**अब**'' पद वाक्यान्त में ''**जाता है**'' के बाद छप गया है। सभी सं० में यथास्थान पर रख दिया है।

४. '**मार्करचित**' इंजील का बाइबलवर्णित नाम—'Mark' यह मरकुस रचित है।

५. **अनावश्यक परिवर्धन**—मूलह०, मूलसं०, पं० भगवद्दत्त सं०, द्वि०सं० में वाक्यान्त में ''**है**'' क्रिया प्रयुक्त है। इनके अनुकरण पर उदयपुर सं० ने भी परिवर्धित कर ली है। वस्तुतः यह बाइबल के मूलपाठ में नहीं है। मुद्रणह०, द्विप्र० स्वामी वेदानन्द सं० का क्रिया रहित पाठ ठीक है क्योंकि यहां आधी आयत उद्धृत है। यदि इस आयत का अग्रिम कुछ भाग भी उद्धृत किया जाता तो अधिक सटीक होता क्योंकि उसमें स्पष्टतः नाम का उल्लेख है। वह पाठ है—''**क्या वह बढ़ई नहीं, जो मरियम का पुत्र, और याक़ूब और योसेस और यहूदा और शमोन का भाई है ?**'' इस प्रकार क्रिया युक्त पाठ अग्राह्य है।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**यूसफ़**'' अपवर्तनी है, ''**यूसुफ**'' प्रचलित है।

७. **फूट-फाट करना ईसा का काम**—ग्रन्थकार ने यहां बढ़ई के काम के साथ व्यंजना शब्दशक्ति का प्रयोग करते हुए व्यंग्य किया है कि जैसे पेशे से कार्य में वह लकड़ी काटता-फाड़ता था उसी प्रकार समाज-व्यवहार में उसने फूट डालने का कार्य किया। बाइबल में ईसा के ने कहा है कि ''**मैं पिता-पुत्र में, मां-बेटी में, सास-पतोहू आदि में मेल कराने नहीं अपितु फूट डालने**

''लूक रचित इंजील''[१]

१०२. यीशु ने उससे कहा—''तू मुझे उत्तम क्यों कहता है, कोई उत्तम नहीं, [केवल] एक अर्थात् ईश्वर के। १९।'' लूक इं०, प० १८। आ० १९॥

समीक्षक—जब ईसा ही एक अद्वितीय ईश्वर कहता[२] है, तो ईसाइयों ने 'पवित्रात्मा', 'पिता' और 'पुत्र' तीन कहाँ से बना लिये?॥ १०२॥

१०३. .....तब उसे हेरोद[३] के पास भेजा....। ७। हेरोद यीशु को देखके अति आनन्दित हुआ, क्योंकि वह उसको बहुत दिनों से देखना चाहता था,[४] इसलिये कि उसके विषय में बहुत-सी बातें सुनी थीं और उसका कुछ 'आश्चर्य-कर्म' देखने की उसको आशा हुई। ८। उसने उससे बहुत बातें पूछीं, परन्तु उसने उसे कुछ उत्तर न दिया। ९। लूक इं०, प० २३। आ० ७। ८। ९॥[५]

समीक्षक—यह बात '**मत्ती-रचित**' में नहीं है। [ईसा ने किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया] इसलिये वे साक्षी बिगड़ गये।[६] और जो ईसा चतुर और करामाती होता तो हेरोद को उत्तर देता और करामात भी दिखलाता, इससे विदित होता है कि ईसा में विद्या और करामात कुछ भी न थे॥ १०३॥

''योहन (योहन्ना) रचित सुसमाचार''[७]

१०४. आदि में वचन था और वचन ईश्वर के संग था और वचन ईश्वर था....। १। वह आदि में ईश्वर के संग था। २। सब कुछ उसके द्वारा सृजा गया, और जो सृजा गया है कुछ भी उस विना नहीं सृजा गया। ३। उसमें जीवन था और वह जीवन मनुष्यों का उजियाला था। ४।

[योहनरचित सु०], प० १। आ० १। २। ३। ४॥

समीक्षक—आदि में वचन विना वक्ता के नहीं हो सकता, और जो वचन ईश्वर के संग था, तो ''आदि में वचन था''[८] यह कहना व्यर्थ हुआ। और वचन ईश्वर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जब

आया हूँ।'' (द्रष्टव्य आयतसंख्या ८२) यह अपवित्र लक्ष्य था ईसा मसीह का।

१. **उचित संशोधन**—Luke (लूक)। मूलप्रति सं० में ''**लूत-रचित**'' अपपाठ है। यह ''**लूक**'' नाम है। द्वि०सं० में संशोधित है '**लूकरचित इंजील**' का बाइबल वर्णित नाम—'LUKE' है। बाइबल के हिन्दी अनुवाद में '**लूका**' नाम है।

२. **द्वि०सं० में अपसंशोधन**—द्वितीय सं० में ''**अद्वितीय ईश्वर कहाता है**'' अपपाठ है। मूलह०, मूलसं०, मुद्रणह०, द्विप्र० और उदयपुर सं० में शुद्ध पाठ है। **पाठ-पुष्टि**—आयतखण्ड १०८ में भी ईश्वर को ''**अद्वैत=एक**'' कहा है।
स्वामी वेदानन्द जी का अपपाठ—यही अशुद्ध पाठ स्वामी वेदानन्द जी के सं० में भी है। पता नहीं भ्रान्ति कैसे हुई जब आयत में स्पष्ट है कि 'ईसा स्वयं ईश्वर के सिवाय किसी को उत्तम नहीं कहता और ईश्वर को अद्वितीय मानता है।'

३. **Herod** (हेरोद)

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में ''**बहुत दिन से देखने चाहता था**'' अपपाठ है। उदयपुर सं० में संशोधित है, किन्तु बिना टिप्पणी दिये।

५. **त्रुटित उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में आयत संख्या ७ त्रुटित है। अन्य सभी में परिवर्धित है।

६. **त्रुटित समीक्षा**—सभी सं० में यहां यह समीक्षा मिलती है—''**इसलिये ये साक्षी बिगड़ गये क्योंकि साक्षी एक-से होने चाहियें।**'' समीक्षा त्रुटित है क्योंकि ''**इसलिये**'' के साथ कारण लिखना रह गया और अन्तिम वाक्यांश का यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। बृ० कोष्ठक में पाठ बढ़ाया है। जो संगति के लिए आवश्यक है।

७. **John** (यूहन्ना, योहन्ना)। द्रष्टव्य पृ० ९३३ पर 'योहन्ना' प्रयोग। आज के अनुवादों में 'यूहन्ना' वर्तनी मिलती है। '**योहन रचित इंजील**' का बाइबल वर्णित नाम—'JOHN' यह योहन्ना रचित है।

८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**आदि में वचन था**'' यह पाठ त्रुटित रह गया है।

वह आदि में ईश्वर के संग था, तो पूर्व वचन वा ईश्वर था, यह नहीं घट सकता। वचन के द्वारा सृष्टि कभी नहीं हो सकती, जब तक उसका कारण न हो। और वचन के विना भी चुपचाप रहकर कर्त्ता सृष्टि कर सकता है। जीवन किसमें वा क्या था, इस वचन से जीव अनादि मानोगे। जो अनादि है, तो आदम के नथुनों में श्वास फूंकना झूठा हुआ और क्या जीवन मनुष्यों का ही उजियाला है, पशु-आदि का नहीं ?॥ १०४॥

१०५. और बियारी[१] के समय में जब शैतान शिमोन[२] के पुत्र यहूदा इस्करियोती के मन में उसे पकड़वाने का मत डाल चुका था। २। [योहन० सु०], प० १३। आ० २॥

समीक्षक—यह बात सच नहीं, क्योंकि जब कोई ईसाइयों से पूछेगा कि शैतान सबको बहकाता है, तो शैतान को कौन बहकाता है ? जो कहो शैतान आप से आप बहकता है, तो मनुष्य भी आप से आप बहक सकते हैं, पुनः शैतान का क्या काम ? और यदि शैतान का बनाने और बहकानेवाला परमेश्वर है, तो वही **'शैतान का शैतान'** ईसाइयों का **'ईश्वर'** ठहरा। परमेश्वर ने ही सबको उसके द्वारा बहकाया। भला, ऐसे काम ईश्वर के हो सकते हैं ? सच तो यही है कि यह पुस्तक ईसाइयों का और ईसा को 'ईश्वर का बेटा' जिन्होंने बनाया, वे शैतान हों तो हों, किन्तु न यह ईश्वरकृत पुस्तक, न इसमें कहा ईश्वर और न ईसा 'ईश्वर का बेटा' हो सकता है॥ १०५॥

१०६. तुम्हारा मन व्याकुल न होवे, ईश्वर पर विश्वास करो और मुझपर विश्वास करो। १। मेरे पिता के घर में बहुत से रहने के स्थान हैं, नहीं तो मैं तुमसे कहता हूं, मैं तुम्हारे लिये स्थान तैयार करने जाता हूं। २। और जो मैं जाके तुम्हारे लिये स्थान तैयार करूं, तो फिर आके तुम्हें अपने यहां ले जाऊंगा कि जहां मैं रहूं वहां तुम भी रहो। ३। यीशु ने उससे कहा—''मैं ही मार्ग और सत्य और जीवन हूं, विना मेरे द्वारा कोई पिता के पास नहीं पहुंचता है। ६। जो तुम मुझे जानते, तो मेरे पिता को भी जानते....। ७।'' [योहन० सु०], प० १४। आ० १। २। ३। ६। ७॥[३]

समीक्षक—अब देखिये, ये[४] ईसा के वचन क्या पोपलीला से कमती हैं ? जो ऐसा प्रपञ्च न रचता, तो उसके मत में कौन फसता ? क्या ईसा ने अपने पिता को ठेके में ले लिया है ? और जो वह ईसा के वश्य है, तो पराधीन होने से वह ईश्वर ही नहीं, क्योंकि ईश्वर किसी की सिफारिश नहीं सुनता। क्या ईसा के पहले कोई भी ईश्वर को प्राप्त न हुआ होगा ? जो ऐसा[५] स्थान आदि का प्रलोभन देता और जो अपने मुख से आप मार्ग, सत्य और जीवन बनता है, वह सब प्रकार से दम्भी कहाता है, इससे यह बात सत्य कभी नहीं हो सकती॥ १०६॥[६]

मूलप्रति सं० में इसके स्थान पर ''**आदि में वचन ईश्वर के संग था**'' अपपाठ हो गया है। यहां ''**ईश्वर के संग**'' पद अनावश्यक हैं क्योंकि दूसरी ही पंक्ति में यही वाक्य है। बाइबल में भी उपर्युक्त पाठ है। उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

१. **बियारी**=रात के भोजन का समय। २. **Simon** (शिमोन)।

३. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में आयतसंख्या ४, स्वामी वेदानन्द सं० में ४, ५ संख्याएं अशुद्ध हैं।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां ''**यह**'' एक वचनात्मक है, मुद्रणह०, द्विप्र० में **'ये'** बहुवचन है।

५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां ''**कैसा**'' अपप्रयोग है, ''**जो ऐसा**'' पाठ द्विप्र० संगत है।

६. **ऋषिलेख**—''**और यदि.....सकता है**'', ''**जो ऐसा.....सकती**'' पाठ मूलहस्त० में ऋषिलिखित हैं।

१०७. मैं तुमसे सच-सच कहता हूं जो मुझपर विश्वास करे, जो काम मैं करता हूं उन्हें वह भी करेगा और इनसे बड़े काम भी करेगा तो वह सब आश्चर्यकर्म करेगा[१]। १२।

[योहन० सु०], प० १४। आ० १२॥

समीक्षक—अब देखिये, जो ईसाई लोग ईसा पर पूरा विश्वास रखते हैं, वैसे ही मुर्दे जिलाने आदि का काम क्यों नहीं कर सकते? और जो विश्वास से भी 'आश्चर्य-कर्म' नहीं कर सकते, तो ईसा ने भी 'आश्चर्य-कर्म' नहीं किये थे, ऐसा निश्चित जानना चाहिये। क्योंकि स्वयं ईसा ही कहता है कि तुम भी 'आश्चर्य-कार्य' करोगे, तो भी इस समय ईसाई कोई एक भी नहीं कर सकता, तो किसकी **'हिये की आँख फूट गई है'** कि वह ईसा को मुर्दे जिलाना आदि काम का कर्त्ता मान लेवे?[२]॥ १०७॥

१०८. ....जो अद्वैत सत्य ईश्वर है....। ३। [योहन सु०], प० १७। आ० ३॥

समीक्षक—जब अद्वैत=एक ईश्वर है, तो ईसाइयों का **'तीन कहना'** सर्वथा मिथ्या है॥ १०८॥[३]

इसी प्रकार बहुत ठिकाने **'इंजील'**[४] में अन्यथा बातें भरी हैं॥

''योहन [योहन्ना] के प्रकाशित वाक्य''[५]

अब योहन की अद्भुत बातें सुनो—

१०९. ....और अपने-अपने शिर पर सोने के मुकुट दिये हुए थे[६]। ४। ....और सात अग्निदीपक सिंहासन के आगे जलते हैं, जो ईश्वर के सातों आत्मा हैं। ५। और सिंहासन के आगे कांच का समुद्र है ....और सिंहासन के आस-पास चार प्राणी हैं जो आगे और पीछे नेत्रों से भरे हैं। ६।

यो० प्र०, प० ४। आ० ४।५।६॥

---

१. **मुद्रणकाल में पाठ निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० और फिर द्वि०सं० में **''तो वह सब आश्चर्य कर्म करेगा''** यह वाक्यांश मुद्रणकाल में हटाया है। यह वाक्यांश मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में है। इस वाक्य को रखा जाना इस कारण अनिवार्य है क्योंकि सारी समीक्षा इसी वाक्य के शब्दों पर आधारित है। मुद्रणकाल में इसको अनुचित रूप से हटाया है।

२. **मुद्रणलिपिकर कृत भ्रष्टपाठ**—मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति बनाते समय यह भ्रष्ट पाठ बना दिया—**''ईसा को मुर्दे जलाने आदि का कामकर्त्ता मान लेवे।''** शोधक ने भी इसको न शोधा, न मुद्रणसमय ठीक किया, अत: यही द्विप्र० में छपा है। द्वि०सं० में यह भ्रष्टवाक्य इस प्रकार है—**''ईसा को मुर्दे जिलाने आदि का काम कर्त्ता मान लेवे।''** मूलह०, मूलप्रति सं० में यह वाक्य अर्धशुद्ध है—**''मुर्दे जिलाने आदि का कर्त्ता मान लेवे।''** उदयपुर सं० में अर्धशुद्ध है। युमी, विस में संशोधित है।
ऋषिलेख—**''ऐसा निश्चित.....मान लेवे''** पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा परिवर्धित है।

३. **ईसाइयों के तीन मूल विश्वास**—ईसाई तीन बातों में विश्वास रखते हैं—(१) पवित्रात्मा, (२) पिता अर्थात् ईसा का पिता ईश्वर (३) उसका पुत्र ईसामसीह पैगम्बर (द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या १०२ की समीक्षा तथा पृ० ९१७। कुरान में भी इन तीन पर विश्वास मिलता है। द्रष्टव्य समु० १४ में आयतखण्ड संख्या-१७२।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्तलेखों तथा द्विप्र० में यहां **''अञ्जील''** अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है (टि० ८८९ पर)।

५. **'योहन के प्रकाशित वाक्य'** पुस्तक का बाइबल-वर्णित नाम—THE REVELATION TO JOHN'.—यह योहन (योहन्ना) रचित है। ग्रन्थकार ने आयतखण्ड १४० की समीक्षा में **''योहन्ना''** नाम का प्रयोग किया है।

६. **भारतीय पौराणिक परम्परा की प्रतिच्छाया**— भारत के पौराणिक साहित्य में २४ अवतार माने गये हैं। उन्हीं की तुलना में जैनियों ने २४ तीर्थंकर माने हैं। ये सब स्वर्ग-निवासी हैं। प्रतीत होता है कि इसी परम्परा का अनुकरण करके बाइबल में भी स्वर्ग-निवासी २४ पैगम्बरों अथवा पूर्वजों की कल्पना की गई है। देखिए बाइबल का वर्णन—''क्या देखता हूँ कि एक सिंहासन स्वर्ग में धरा है और उस सिंहासन पर कोई बैठा है..... और उस सिंहासन के चारों और चौबीस सिंहासन हैं, और उन सिंहासनों पर चौबीस प्राचीन श्वेत वस्त्र पहिने हुए बैठे हैं और उनके सिरों पर सोने के मुकुट हैं।'' (योहन का प्रकाशित वाक्य, पर्व ४। आयत २,४॥) ऐसे ही जैन-साहित्य में वर्णन है कि प्रमुख सिद्धशिला के चारों ओर तीर्थंकरों के बैठने के लिए २४ सिंहासन हैं।

समीक्षक—अब देखिये, एक नगर के तुल्य ईसाइयों का स्वर्ग है। और इनका ईश्वर भी दीपक के समान अग्नि है। और [उसके द्वारा] सोने का मुकुटादि आभूषण धारण करना और आगे-पीछे नेत्रों का होना असम्भावित है। इन बातों को कौन मान सकता है? और वहां सिंहादि चार पशु भी लिखे हैं॥ १०९ ॥[१]

११०. और मैंने सिंहासन पर बैठनेहारे के दाहिने हाथ में एक पुस्तक देखा जो भीतर और पीठ पर लिखा हुआ था और सात छापों से उस पर छाप दी हुई थी। १। ....यह पुस्तक खोलने और उसकी[२] छापें तोड़ने के योग्य कौन है। २। और न स्वर्ग में और न पृथिवी पर, न पृथिवी के नीचे[३] कोई वह पुस्तक खोलने अथवा उसे देखने सकता था। ३। और मैं बहुत रोने लगा, इसलिये कि पुस्तक खोलने और पढ़ने अथवा उसे देखने के योग्य कोई नहीं मिला। ४।

यो० प्र०, पर्व ५। आ० १। २। ३। ४॥

समीक्षक—अब देखिये, ईसाइयों के स्वर्ग में सिंहासनों और मनुष्यों के ठाठ! और पुस्तक कई छापों से बंद किया हुआ जिसको खोलने आदि कर्म करनेवाला स्वर्ग और पृथिवी पर कोई नहीं मिला। योहन का रोना और पश्चात् एक प्राचीन ने कहा कि वही ईसा खोलनेवाला है। प्रयोजन यह है कि **'जिसका विवाह उसके गीत'**। देखो, ईसा के ही ऊपर सब माहात्म्य झुकाते जाते हैं; परन्तु ये बातें केवल कथन-मात्र हैं॥ ११० ॥

१११. और मैंने दृष्टि की, और देखो सिंहासन के और चारों प्राणियों के बीच में और प्राचीनों के बीच में एक मेम्ना जैसा वध किया हुआ खड़ा है, जिसके सात सींग और सात नेत्र हैं, जो सारी पृथिवी में भेजे हुए ईश्वर के सातों आत्मा हैं। ६। यो० प्र०, प० ५। आ० ६॥

समीक्षक—अब देखिये, इस योहन के स्वप्न का मनोव्यापार! उस स्वर्ग के बीच में सब ईसाई और चार पशु तथा ईसा भी है और कोई नहीं! यह बड़ी अद्भुत बात हुई कि यहां तो ईसा के दो नेत्र थे और सींग का नाम-निशान भी न था और स्वर्ग में जाके सात सींग और सात आंखवाला हुआ! और वे सातों ईश्वर के आत्मा ईसा के सींग और नेत्र बन गये! **हाय! ऐसी बातों को ईसाइयों ने क्यों मान लिया? भला, कुछ तो बुद्धि काम में लाते![४]**॥ १११ ॥

११२. और जब उसने पुस्तक लिया तब चारों प्राणी और चौबीसों प्राचीन उस मेम्ने के आगे गिर पड़े और हर एक के पास बीण[५] थी और धूप से भरे हुए सोने के प्याले;[६] ये पवित्र लोगों की

---

१. **सिंहासन के चार प्राणी**—सिंहासन के आस पास रहनेवाले चार प्राणी बाइबल की अगली आयत में इस प्रकार वर्णित हैं—''पहिला प्राणी सिंह के समान है, और दूसरा प्राणी बछड़े के समान है, तीसरे प्राणी का मुंह मनुष्य का-सा है, और चौथा प्राणी उड़ते हुए उकाब के समान है। चारों प्राणी के छः-छः पंख हैं और चारों ओर भीतर आंखें ही आंखें हैं। और वे रात-दिन बिना विश्राम लिये यह कहते रहते हैं कि पवित्र, पवित्र प्रभु परमेश्वर सर्वशक्तिमान् जो था, और जो है, और जो अपने वाला है।'' (योहन्ना प्रकाशित वाक्य, पर्व ४। आ० ७, ८)। देखिए, बाइबल में ऐसी-ऐसी असंभव गप्पें भरी हैं।

२-३. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**उसकी**'' पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में है और ग्राह्य है। इसी प्रकार ''**पृथिवी के नीचे**'' आयत का अंश भी त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० और बाइबल में है, अतः ग्राह्य है।

४. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० के शुद्ध पाठ को प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर त्रुटित छोड़ गया और यह पाठ लिखा—''**कुछ तो बुद्धि लाते।**'' यही अशुद्ध पाठ द्विप्र० में छपा है। **स्वामी वेदानन्द सं०, सिद्धान्ती सं०, पं० मीमांसक सं०** में भी अशुद्ध है। मूलसं० में शुद्ध है। पं० भगवद्दत्त सं०, उदयपुर सं०, द्वि०सं० में संशोधित है।

प्रार्थनाएँ हैं॥ यो० प्र०, म० ५। आ० ८॥

समीक्षक—भला, जब ईसा स्वर्ग में न होगा तब ये बेचारे धूप, दीप, नैवेद्य, आर्ती (आरती)[१] आदि पूजा किसकी करते होंगे? और यहां प्रोटस्टेंट[२] ईसाई लोग बुतपरस्ती[३] (मूर्त्तिपूजा) का तो खण्डन करते हैं किन्तु[४] इनका स्वर्ग बुतपरस्ती का घर बन रहा है॥ ११२॥

११३. और जब मेम्ने ने छापों में से एक को खोला तब मैंने दृष्टि की, चारों प्राणियों में से एक को जैसे, मेघ के गर्जन के शब्द को यह कहते सुना कि आ और देख। १। और मैंने दृष्टि की, और देखो, एक श्वेत घोड़ा है, और जो उसपर बैठा है उसके पास धनुष और उसे मुकुट दिया गया और वह जय करता हुआ और जय करने को निकला। २।

और जब उसने दूसरी छाप खोली....। ३। ....दूसरा घोड़ा जो लाल था, निकला; उसको यह दिया गया कि पृथिवी पर से मेल उठा देवे....। ४।

और जब उसने तीसरी छाप खोली ....देखो काला घोड़ा है....। ५।

और जब उसने चौथी छाप खोली....। ७। ....और देखो एक पीला-सा घोड़ा और जो उस पर बैठा है उसका नाम मृत्यु है, इत्यादि। ८। यो० प्र०, प० ६। आ० १। २। ३। ४। ५। ७। ८॥

समीक्षक—अब देखिये, यह पुराणों से भी अधिक मिथ्या लीला है, वा नहीं? भला, पुस्तकों के बन्धनों के छापे के भीतर घोड़ा-सवार क्योंकर रह सके होंगे? यह स्वप्ने का बरड़ाना, जिन्होंने इसको भी सत्य माना है, उनमें अविद्या जितनी कहें, उतनी ही थोड़ी है॥[५] ११३॥

११४. और वे बड़े शब्द से पुकारते थे कि "हे स्वामी, पवित्र और सत्य! कब लों तू न्याय नहीं करता है और पृथिवी के निवासियों से हमारे लोहू का पलटा नहीं लेता है। १०।" और हर एक को उजला वस्त्र दिया गया और उनसे कहा गया कि जब लों तुम्हारे संगी दास भी और तुम्हारे भाई तुम्हारे नाईं वध किये जाने पर हैं, पूरे न हों, तब लों और थोड़ी देर विश्राम करो। ११।

यो० प्र०, प० ६। आ० १०। ११॥

समीक्षक—जो कोई ईसाई होंगे, वे दौरासुपुर्द[६] होकर ऐसे न्याय कराने के लिये रोया करेंगे। **जो**

५-६. **अव्यवस्थित वर्तनी**—सभी संस्करणों में "**बीण**" वर्तनी मिलती है। संस्कृत और गुजराती में "**वीणा**" शुद्ध है। हिन्दी में उसका "**बीन**" तद्भवरूप शुद्ध है। आगे, मूलह० में "**पिआला**" अपवर्तनी है, मुद्रणह० में इसको "**पियाला**" लिखा है जिसका तद्भव उच्चारण हिन्दी में '**प्याला**' किया जाता है। "**पियाला**" फ़ारसी का शब्द है।

१-३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस समीक्षा-अनुच्छेद में हिन्दी की दृष्टि से ये अपवर्तनियां हैं—**आर्ति, प्रोटष्टेंट, बुत्परस्ती**। द्वि० सं० में "**प्रोटस्टेंट**" (Protestant) शुद्ध वर्तनी है। "**आर्ती**" गुजराती प्रयोग इसी अर्थ में है। उदयपुर सं० में "**आर्ति**" और "**बुत्परस्ती**" अशुद्ध हैं।

४. **अपप्रयोग**—दोनों सं० में यहां "**और**" प्रयोग है। यहां '**किन्तु**' प्रयोग शुद्ध है।

५. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**उनमें अविद्या जितनी थोड़ी कहें, उतनी ही थोड़ी है।**" द्विप्र०, द्वि०सं० में यह संशोधित है, वही ऊपर गृहीत है। **ऋषिलेख**—रेखांकित वाक्य मूलह० में ऋषिलिखित है।

६. **वर्तनी में घोर अव्यवस्था**—'**दौरासुपुर्द**' शब्द के लेखन में लिपिकरों ने घोर अव्यवस्था मचाई है और आदिशोधक शर्माद्वय चद्दर तानकर सोते रहे। जैसे, यहां सभी संस्करणों में "**दौड़े सुपुर्द**" अपभ्रंश पाठ है, जबकि स्वामी वेदानन्द जी ने "**दौरे सुपुर्द**" स्वीकार किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में और सभी संस्करणों में यह शब्द स्थूलत: चार प्रकार से लिखा मिलता है—(१) **दौरे सुपुर्द** (मूलसं०पृ० ७२०; द्वि०सं० ४००)। (२) **दौड़े सुपुर्द** (मूलसं०पृ० ६२८; द्वि०सं० ३५३)।

वेदमार्ग का स्वीकार करेगा, उसके न्याय होने में कुछ भी देर न होगी। ईसाइयों से पूछना चाहिये—'क्या ईश्वर की कचहरी आजकल बन्द[१] है, और न्याय का काम भी नहीं होता? न्यायाधीश निकम्मे बैठे हैं?' तो कुछ भी ठीक-ठीक उत्तर न दे सकेंगे।

और ईश्वर को भी बहकाते हैं, और इनका ईश्वर बहक भी जाता है,[२] क्योंकि इनके कहने से झट इनके शत्रुओं से पलटा लेने लगता है। और **दंशिले स्वभाववाले हैं कि मरे पीछे स्व-वैर लिया करते हैं, शान्ति कुछ भी नहीं** और जहां शान्ति नहीं, वहां दुःख का क्या पारावार होगा?॥ ११४॥

११५. और जैसे बड़ी बयार से हिलाये जाने पर गूलर के वृक्ष से उसके कच्चे गूलर झड़ते हैं, तैसे आकाश के तारे पृथिवी पर पड़े। १३। और आकाश पत्र की नाईं जो लपेटा जाता है, अलग हो गया....। १४। यो० प्र०, प० ६। आ० १३। १४॥

समीक्षक—अब देखिये, **योहन** भविष्यद्वक्ता ने[३], जब विद्या नहीं है तभी तो, ऐसी अण्ड-बण्ड कथा गाई [है]। भला, तारे सब भूगोल हैं, एक पृथिवी पर कैसे गिर सकते हैं? और सूर्यादि का आकर्षण उनको इधर-उधर क्यों आने-जाने देगा? और क्या आकाश को चटाई के समान समझता है? यह आकाश साकार पदार्थ नहीं है, जिसको कोई लपेटे वा इकट्ठा कर सके। इसलिये योहन आदि सब जंगली मनुष्य थे, उनको इन बातों की क्या समझ?[४]॥ ११५॥

११६. ....मैंने उनकी संख्या सुनी, इस्त्राएल[५] के संतानों के समस्त कुलों[६] में से एक लाख

---

(३) **दौरा सुपुर्द** (मूलसं०पृ० ७१०, ७११; द्वि०सं० ३९५ दो बार)

(४) **दौड़ा सुपुर्द** (मूलसं० पृ० ६५२, ६८५, ६९१; द्वि०सं० ३६६, ३८२, ३८५)

यह अव्यवस्था **स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के संस्करणों में तथा 'दश विद्वानों' द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में यथावत् विद्यमान है। इनमें से "**दौरासुपुर्द**" प्रयोग सही है और सर्वत्र यही ग्राह्य है। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता, प्रामाणिकता, मानकता और व्याकरण की दृष्टि से इनमें से एक वर्तनी ही सर्वत्र ग्राह्य है। दुःख का विषय यह है कि आदि-लिपिकरों और वेतनभोगी शोधकों ने जो प्रमाद किया वह तो किया ही, पिछले सवा-सौ वर्षों से हमारे विद्वान् सम्पादक-प्रकाशक भी चद्दर तानकर सोते रहे! अपने धर्मग्रन्थ को लिपिकरों की प्रमादलीला और शोधकों की मक्कारी-लीला से मुक्त भी नहीं कर सके।

१. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० में यहां "**बन्ध**" वर्तनी है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में इसका संशोधित रूप "**बन्द**" कर दिया गया। वही सभी द्वि०सं० में छप रहा है। उदयपुर सं० ने भी इसी को ग्रहण किया है। द्वि०सं० में बहुत्र "**बन्ध**" वर्तनी भी पाई जाती है। मूलसं० ने यहां "**बन्ध**" वर्तनी ग्रहण की है जबकि उसमें भी बहुत्र "**बन्द**" वर्तनी है। सभी सं० में इस वर्तनी-विषयक अव्यवस्था है। इस सं० में सर्वत्र '**बन्द**' वर्तनी ग्रहण की है। पं० मीमांसक जी ने यहां लिखी शुद्ध वर्तनी "**बन्द**" को बदलकर '**बन्ध**' अपपाठ कर दिया है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**और ईश्वर को भी बहकाकर और उनका ईश्वर बहक भी जाता है।**" वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अशुद्ध है। आगे रेखांकित पाठ मूलह० में **ऋषिलिखित** है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह वाक्य है—"**अब देखिये योहन भविष्यदवक्ता। जब विद्या नहीं है तभी तो ऐसी अण्ड-बण्ड कथा गाई।**" मुद्रणह०, द्वि०सं० में "**योहन भविष्यद्वक्ता ने**" संशोधन किया है जो उचित और ग्राह्य है। दोनों सं० में वाक्यान्त में "**है**" क्रिया आवश्यक है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्या खबर**" उपयुक्त प्रयोग नहीं है। उपयुक्त प्रयोग "**क्या समझ**" होना उचित है।

५,७. **अपवर्तनियां**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**इस्राऐल**" अपवर्तनी है जबकि समीक्षा में "**इस्राएल**" है। यही अव्यवस्था उदयपुर सं० में है। दोनों सं० में "**यिहूदा**" अपवर्तनी है। यही अपवर्तनी उदयपुर सं० में है। द्र० क्रमशः पृ० ९०९ पर टि० ४ तथा पृ० ९११ की टिप्पणी।

६. **कुल का अर्थ**—वर्तमान बाइबल के अनुवाद में यहां सर्वत्र "**गोत्र**" शब्द मिलता है। यहां कुल का 'गोत्र' अर्थ ही ग्राह्य है।

चवालीस सहस्त्र पर छाप दी गई। ४। यहूदा[७] के कुल में से बारह सहस्त्र पर छाप दी गई....। ५।

यो० प्र०, प० ७। आ० ४।५॥

समीक्षक—क्या जो '**बाइबल**' में ईश्वर लिखा है, वह इस्त्राएल आदि कुलों का स्वामी है, वा सब संसार का? जो ऐसा न होता तो उन्हीं जंगलियों का साथ क्यों देता? और उन्हीं का साहाय्य करता था, दूसरे का नाम-निशान भी नहीं लेता, इससे वह ईश्वर नहीं। और इस्त्राएल कुलादि के मनुष्यों पर छाप लगाना अल्पज्ञता अथवा योहन की मिथ्या कल्पना है॥ ११६॥

११७. इस कारण वे ईश्वर के सिंहासन के आगे हैं और उस मन्दिर में रात-दिन उसकी सेवा करते हैं....। १५। यो० प्र०, प० ७। आ० १५॥

समीक्षक—क्या यह महाबुतपरस्ती[१] नहीं है? अथवा उनका ईश्वर देहधारी मनुष्य के तुल्य एकदेशी नहीं है? और ईसाइयों का ईश्वर रात में सोता भी नहीं है। यदि सोता है, तो रात में पूजा क्योंकर करते होंगे? तथा उसकी नींद भी उड़ जाती होगी? और जो रात-दिन जागता होगा तो विक्षिप्त वा अति-रोगी होगा॥ ११७॥

११८. और दूसरा दूत आके वेदी के निकट खड़ा हुआ जिसके पास सोने की धूपदानी थी और उसको बहुत धूप दिया गया....। ३। और धूप का धुंआ[२] पवित्र लोगों की प्रार्थनाओं के संग दूत के हाथ में से ईश्वर के आगे चढ़ गया। ४। और दूत ने वह धूपदानी लेके उसमें वेदी की आग भरके उसे पृथिवी पर डाला और शब्द और गर्जन और बिजलियाँ और भुईंडोल हुए। ५।

यो० प्र०, प० ८। आ० ३।४।५॥

समीक्षक—अब देखिये, स्वर्ग तक वेदी, धूप, दीप, नैवेद्य, तुरही के शब्द होते हैं! क्या वैरागियों के मन्दिर से ईसाइयों का स्वर्ग कम[३] है? कुछ धूम-धाम अधिक ही है॥ ११८॥

११९. पहले दूत ने तुरही फूंकी और लोहू से मिले हुए ओले और आग हुए, वे पृथिवी पर डाले और पृथिवी की एक तिहाई जल गई....। ७। यो० प्र०, प० ८। आ० ७॥

समीक्षक—वाह रे ईसाइयों के भविष्यद्वक्ता ईश्वर! ईश्वर के दूत! तुरही का शब्द और प्रलय की लीला केवल लड़कों का ही खेल दीखता है॥ ११९॥

१२०. और पाँचवें दूत ने तुरही फूंकी और मैंने एक तारे को देखा जो स्वर्ग में से पृथिवी पर गिरा हुआ था और अथाह कुंड के कूप की कुंजी उसको दी गई। १। और उसने अथाह कुंड का कूप खोला और कूप में से बड़ी भट्ठी के धुएँ की नाईं धुआँ उठा....। २। और उस धुएं[४] में से टिड्डियां

''**कुल**'' के स्थान पर ''**कुलों**'' अभीष्ट है। समीक्षा में शुद्ध प्रयोग है।

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**महाबुत्परस्ती**'' अपवर्तनी है। यही अपवर्तनी वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में है। द्र० विशेष टिप्पणी पृ० ९६२ पर।

२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—इस ग्रन्थ में, सभी सं० में, '**धुआं**' और '**धूआं**' दो वर्तनियां हैं। दोनों शुद्ध हैं किन्तु भाषा के मानक स्वरूप के लिए एक ही वर्तनी '**धुआं**' ग्राह्य है। **ऋषि-लेख**—''**और ईसाइयों.....होगा**'' पाठ मूलह० में ऋषिलिखित है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां '**कमती**' पाठ है। द्वि० सं० में शोधन करके ''**कम**'' पाठ रखा है। यही ग्राह्य है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**कुएं में से टिड्डियां निकली**'' अपपाठ है। द्विप्र० और द्वि०सं० में संशोधित ''**धुएं में से**'' है। यही बाइबल में है। यही ग्राह्य है। सभी अन्य सं० में शुद्ध पाठ है।

पृथिवी पर निकल गईं और जैसा पृथिवी के बिच्छुओं[१] को अधिकार होता है तैसा उन्हें दिया गया। ३। और उनसे कहा गया कि ....'उन मनुष्यों को जिनके माथे पर ईश्वर की छाप नहीं है। ४। ....पाँच मास उन्हें पीड़ा दी जाय। ५।' यो० प्र०, प० ९। आ० १। २। ३। ४। ५॥

समीक्षक—तुरही का शब्द सुनकर तारे क्या उन्हीं दूतों पर और उसी स्वर्ग में गिरे होंगे? यहाँ तो नहीं गिरे। भला, वह कूप और टिड्डियां भी प्रलय के लिये ईश्वर ने पाली होंगी। और छाप को देख बांच भी लेती होंगी कि छापवालों को मत काटो! यह केवल भोले मनुष्यों को डराके ईसाई बना लेने का धोखा देना है कि जो तुम ईसाई न होगे, तो तुमको टिड्डियां काटेंगी। परन्तु **ऐसी बातें विद्याहीन देश में चल सकती हैं, आर्यावर्त में नहीं।** और क्या वह प्रलय की बात हो सकती है?[२] ॥ १२० ॥

१२१. और घुड़चढ़ों की सेनाओं की संख्या बीस करोड़ थी....। १६।

यो० प्र०, प० ९। आ० १६॥

समीक्षक—भला, इतने घोड़े स्वर्ग में कहां ठहरते, कहाँ चरते और कहाँ रहते और कितनी लीद करते थे? उसका दुर्गन्ध भी स्वर्ग में कितना हुआ होगा?

बस ऐसे स्वर्ग, ऐसे ईश्वर और ऐसे मत के लिये हम सब आर्यों ने [उत्तम वैदिक मत को][३] तिलाञ्जलि[४] दे दी है। ऐसा बखेड़ा ईसाइयों के शिर पर से भी सर्वशक्तिमान् की कृपा से दूर हो जाय, तो बहुत अच्छा हो॥ १२१ ॥

१२२. और मैंने दूसरे पराक्रमी दूत को स्वर्ग से उतरते देखा जो मेघ को ओढ़े था और उसके शिर पर मेघधनुष[५] था और उसका मुख सूर्य की नाईं और उसके पांव आग के खम्भे ऐसे थे। १। ....और उसने अपना दाहिना पांव समुद्र पर और बायां पृथिवी पर रक्खा। २।

यो० प्र०, प० १०। आ० १। २॥[६]

---

१. **अपवर्तनी**—सभी सं० में "**बीछुओं**" अपवर्तनी है। ग्रन्थ में प्रयुक्त अन्यत्र वर्तनी से एकरूपता की दृष्टि और मानकता के लिए उपर्युक्त शुद्ध वर्तनी ग्राह्य है।

२. **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा पाठक्रम परिवर्तन अवांछनीय**—पं० मीमांसक जी ने इस वाक्य "**और क्या वह प्रलय की बात हो सकती है?**" को यहां से उठाकर पहले वाले आयतखण्ड ११९ की समीक्षा के अन्त में जोड़ दिया। पं० जी ने, शायद, वहां "**प्रलय**" शब्द पठित देखकर और इस वाक्य में भी "**प्रलय**" शब्द देखकर यह समझा कि ये दोनों संदर्भ एक प्रसंग के हैं। पं० जी ने शीघ्रता में यह निर्णय लिया है। वे यह विचार करना भूल गये कि इस वाक्य का यही स्थान प्रसंगानुकूल है, उपर्युक्त समीक्षा में नहीं। क्यों? क्योंकि उपर्युक्त समीक्षा में तो 'पृथिवी का जल जाना' वास्तव में प्रलय है, अत: वह तो प्रलय की ही बात है। अत: उस पर प्रश्न ही नहीं उठता। प्रस्तुत आयतखण्ड (१२०) में टिड्डियों द्वारा काटना आदि वर्णित किया है। इस पर ग्रन्थकार प्रश्न उठाते हैं कि 'ये प्रलय की बातें हो सकती हैं क्या?' अर्थात् जो प्रलय की बात ही नहीं है, उसको बाइबल में प्रलय की बात कहकर वर्णित किया है, अत: उस पर प्रश्न उठाया है कि वे प्रलय की बातें नहीं हैं। इस प्रकार इस वाक्य का यही स्थल प्रासंगिक है। पं० जी की टिप्पणी और स्थानपरिवर्तन अग्राह्य हैं।

३. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों सं० में बृ० कोष्ठक का पाठ नहीं है। इसके बिना वाक्य नहीं बनता, अत: यह आवश्यक है।

४. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपवर्तनी**—मूलह० में शुद्ध वर्तनी है। मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने "**तिलाञ्जली**" अपवर्तनी बना दी। मूर्खाधिराज शोधकों ने उसे द्विप्र० में अशुद्ध छाप दिया। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

५. **मेघधनुष**=इन्द्रधनुष।

६. **उदयपुर सं० में पुन: अशुद्ध संख्या को ग्रहण करना**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां "**३**" आयत संख्या मिलती है, जो अशुद्ध है; क्योंकि यहां दो ही आयतें उद्धृत हैं, तीसरी आयत यहां उद्धृत ही नहीं है। **स्वामी वेदानन्द सं०** में यह अशुद्धि विद्यमान

समीक्षक—अब देखिये इन दूतों की कथा! जो पुराणों वा भाटों की कथाओं से भी बढ़कर है॥ १२२॥

१२३. और लग्गी[१] के समान एक नरकट[२] मुझे दिया गया और कहा गया कि उठ! ईश्वर के मन्दिर को और वेदी को और उसमें के भजन करनेहारों को नाप। १।

यो० प्र०, प० ११। आ० १॥

समीक्षक—यहां तो क्या, परन्तु ईसाइयों के तो स्वर्ग में भी मन्दिर बनाये और नापे जाते हैं। अच्छा है, उनका जैसा स्वर्ग है, वैसी ही बातें हैं। इसीलिये यहां '**प्रभुभोजन**' में ईसा के शरीरावयव मांस, लोहू की भावना करके खाते-पीते हैं, और गिरजा[३] में भी क्रूस[४] आदि का आकार बनाना आदि भी बुतपरस्ती[५] है॥ १२३॥

१२४. और स्वर्ग में ईश्वर का मन्दिर खोला गया और उसके नियम का सन्दूक उसके मन्दिर में दिखाई दिया....। १९।

यो० प्र०, प० ११। आ० १९॥

समीक्षक—स्वर्ग में जो मन्दिर है सो हर समय बन्द रहता होगा, कभी-कभी खोला जाता होगा। क्या परमेश्वर का भी कोई मन्दिर हो सकता है? जो वेदोक्त परमात्मा सर्वव्यापक है, उसका कोई भी मन्दिर नहीं हो सकता। हां, ईसाइयों का जो परमेश्वर 'आकारवाला' है, उसका [मन्दिर] चाहे स्वर्ग में हो चाहे भूमि पर होता [होगा][६]। और जैसी लीला 'टं टन् पूँ पूँ' की यहां होती है, वैसी ही ईसाइयों के स्वर्ग में भी [होती होगी][७]। और नियम का संदूक भी कभी-कभी ईसाई लोग देखते होंगे, उससे न जाने क्या प्रयोजन सिद्ध करते हैं? सच तो यह है कि ये सब बातें मनुष्यों को भुलाने[८] की हैं॥ १२४॥

१२५. एक बड़ा आश्चर्य स्वर्ग में दिखाई दिया अर्थात् एक स्त्री जो सूर्य पहने है और चाँद उसके पांवों तले है और उसके शिर[९] पर बारह तारों का मुकुट है। १। और वह गर्भवती होके चिल्लाती है, क्योंकि प्रसव की पीड़ा उसे लगी है और वह जनने[१०] को पीड़ित है। २। और दूसरा आश्चर्य स्वर्ग में दिखाई दिया है; देखो, एक बड़ा लाल अजगर है, जिसके सात शिर[११] और दश सींग हैं और उसके शिरों[१२] पर सात राजमुकुट हैं। ३। और उसकी पूंछ ने आकाश के तारों की एक तिहाई को

है। **पं० भगवद्दत्त सं०** में महा-अशुद्धि है, क्योंकि उसमें इसके स्थान पर "५" संख्या लिख दी है। मुद्रणह०, द्वि०सं०, मूलसं०, युमी में संशोधित करके इसको हटा दिया है। उदयपुर सं० ने इस व्यर्थ संख्या को फिर ग्रहण कर लिया है। दो के स्थान पर तीन आयतसंख्याएं रखने से समीक्षित आयतसंख्या के कुल जोड़ में अशुद्धि हो जायेगी, अत: इस संख्या को हटाना आवश्यक है।

१. **लग्गी**=लम्बा-पतला बांस, जिससे पेड़ से फल तोड़ते हैं।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**नर्कट**" अशुद्ध वर्तनी है। अन्य सभी सं० तथा उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

३-५. **अपवर्तनियां**—क्रमश: तीनों अपवर्तनियां दोनों हस्त० और तीनों सं० में हैं—'**गिर्जा, क्रूश, बुत्परस्ती**'। इनका शुद्ध रूप ऊपर अंकित है। सभी अन्य सं० तथा उदयपुर सं० में भी ये अशुद्धियां हैं। '**गिरजा**' शब्द पुर्तगाली भाषा के 'इग्रिजिया' का अपभ्रंश है।
ऋषिपाठ—"**इसीलिये.....बुतपरस्ती है**" पाठ मूलहस्त० में ऋषि-लिखित है।

६-७. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित रह गये हैं। इनका परिवर्धन आवश्यक है।

८. **भुलाने की**=भुलावे में डालने की, बहकाने की।

९,११,१२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एक ही अनुच्छेद में तीन प्रयोगों में दो वर्तनियां है—'**सिर, शिर**'। दोनों ठीक होते हुए भी भिन्न-भिन्न वर्तनी, और वह भी एक ही स्थान पर लिखना लिपिकरों की स्तरहीन भाषा का परिचायक है। भाषा की एकरूपता, शुद्धता और मानकता की दृष्टि से तत्कालीन प्रचलित '**शिर**' वर्तनी को ग्राह्य माना है।

खींचके उन्हें पृथिवी पर डाला....। ४। यो० प्र०, प० १२। आ० १।२।३।४॥

समीक्षक—अब देखिये लम्बे-चौड़े गपोड़े!! इनके स्वर्ग में भी बेचारी स्त्री चिल्लाती है, उसका दु:ख कोई नहीं सुनता, न मिटा सकता है। और उस अजगर की पूंछ इतनी बड़ी थी कि जिसने तारों के एक तिहाई पृथिवी पर डाले!![१३] भला, पृथिवी तो छोटी है और तारे बड़े-बड़े भी लोक हैं, इस पृथिवी पर एक भी नहीं समा सकता। किन्तु यहाँ यही अनुमान करना चाहिये कि ये तारों की तिहाई इस बात के लिखनेवाले के घर पर गिरे होगें, और जिस अजगर की पूंछ इतनी बड़ी थी कि जिससे सब तारों की तिहाई लपेटकर भूमि पर गिरा दी, वह अजगर भी उसी के घर में रहता होगा!॥ १२५॥

१२६. और स्वर्ग में युद्ध हुआ, मीकाईल[१] और उसके दूत अजगर से लड़े और अजगर और उसके दूत उससे लड़े। ७। यो० प्र०, प० १२। आ० ७॥

समीक्षक—जो कोई ईसाइयों के स्वर्ग में जाता होगा, वह भी लड़ाई में दु:ख पाता होगा। ऐसे स्वर्ग की यहीं से आशा छोड़, हाथ जोड़ बैठ रहो। जहां शान्तिभंग और उपद्रव मचा रहे, वह [स्वर्ग][२] ईसाइयों के ही योग्य है॥ १२६॥

१२७. और वह बड़ा अजगर गिराया गया; हां, वह प्राचीन सांप जो दियाबल[३] और शैतान कहाता है, जो सारे संसार का भरमानेहारा[४] है....। ९। यो० प्र०, प० १२। आ० ९॥

समीक्षक—क्या जब वह शैतान स्वर्ग में था तब लोगों को नहीं भरमाता[५] था? और उसको जन्मभर बंदीगृह[६] में अथवा मार क्यों न डाला? उसको पृथिवी पर क्यों डाल दिया? जो सब संसार को भरमानेवाला[७] शैतान है, तो शैतान को भरमानेवाला[८] कौन है? यदि शैतान स्वयं भरमा है, तो शैतान के विना भरमानेहारे[९] भरमेंगे[१०] और जो उसको भरमानेहारा[११] परमेश्वर है, तो वह 'ईश्वर' ही नहीं

---

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां '**जन्मे को**' अपप्रयोग है, ''**जनने**'' को मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

१३. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह व्याकरणिक अपवाक्य है, जो इस प्रकार है—''**उस अजगर का पूंछ कितना बड़ा था, जिसने तारों के एक तिहाई पृथिवी पर डाले।**'' द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको अर्ध-शुद्ध कर दिया है। मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में भी ''**कितनी**'' अपप्रयोग है, यहां ''**इतनी**'' अपेक्षित है। इसी प्रकार वहां ''**एक तिहाई पृथिवी पर डाला**'' अपपाठ है। उदयपुर सं० ने संशोधन कर लिया है।

१. **मिकाईल (Michael)**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मीखायेल**'' अशुद्ध वर्तनी है। **संशोधन-पुष्टि**—आगे पृ० ९५८ पर ''**मिकाईल**'' शुद्ध प्रयोग है। जो संशोधन की पुष्टि करता है। **ऋषिलेख**—पृष्ठ के सभी रेखांकित पाठ ऋषिलिखित हैं।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—सभी सं० में ''**स्वर्ग**'' पद त्रुटित है। वाक्यरचना की दृष्टि से यह आवश्यक है। अत: ग्राह्य है।

३. **दियाबल**—अंग्रेजी डेविल (Devil)का हिन्दी रूप है, अर्थात् शैतान।

४,५,७-११. **अव्यवस्थित वर्तनियां**—इस अनुच्छेद और समीक्षा में '**भरमाना**' धातु के क्रियापदों का आठ बार प्रयोग हुआ है। एक ही स्थान पर, ग्रन्थ में एक ही धातु की दो प्रकार की वर्तनियां लिपिकरों ने लिखी हैं—**भरमाना, भर्माना, भर्मेंगें, भर्मा, भरमना।** पूरे ग्रन्थ में तीन वर्तनियां हैं। ''भ्रम'' का सर्वत्र प्रयोग है। महर्षि ने एक ही क्रिया के अनेक रूपों को एक ही प्रकार से बोला होगा, किन्तु भाषा ज्ञान से रहित लिपिकरों ने उसको विभिन्न प्रकार की अपवर्तनी के रूप में लिखा। ऐसे ही अयोग्य लिपिकर थे और ऐसे ही वेतनभोगी शोधक थे जिन्होंने लापरवाही से भाषा देखी है। सत्यार्थप्रकाश की भाषा में अशुद्धियां रहने का यही कारण है। द्विप्र० एवं सभी सं० में यहां मिलता जुलता भ्रष्ट पाठ इस प्रकार है—''**जो सारे संसार को भरमानेहारा है॥....भरमाने वाला शैतान है,.....शैतान स्वयं भर्मा है तो शैतान के विना भरमनेहारे भर्मेंगे और उसको भर्मानेहारा परमेश्वर है।**'' (पृ० ५१२) ''**भ्रमाये हुए जन**'' (पृष्ठ ५८५) आदि। हमारे कुछ विद्वान् और पाठक जो स्वयं को 'ऋषिभक्त' कहते हैं और अशुद्धि-संशोधकों को 'गैर ऋषिभक्त' मानते हैं, वे कहते हैं कि 'सश्रद्ध नमन करने योग्य लिपिकरों-शोधकों' द्वारा लिखित भाषा में एक शब्द का परिवर्तन करना भी 'ऋषिद्रोह' है और कोमा, विराम तक बदलना अनैतिक अपराध है।'' तो हमने सोचा कि यहां हम

ठहरा।

विदित तो यह होता है कि ईसाइयों का ईश्वर भी शैतान से डरता होगा? क्योंकि जो शैतान से प्रबल होता[१] तो ईश्वर ने उसको अपराध करते[२] समय ही दण्ड क्यों न दिया? **जगत् में शैतान का जितना राज है उसके सामने सहस्त्रांश भी ईसाइयों के ईश्वर का राज्य नहीं।[३] इसीलिये ईसाइयों का ईश्वर**

लिपिकर द्वारा प्रयुक्त शब्दों को बिना बदले अपनी बात कह देते हैं। एक जगह के अनैतिक अपराध से तो बच जायेंगे। तब ऐसी भाषा बनेगी—

पं० भगवद्दत्त जी और **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** 'भ्रम-माया' में ऐसे "**भर्मे**" कि इस अनुच्छेद में आठ बार अनेक रूपों में प्रयुक्त "भर्म","भरम" शब्द के मूलस्वरूपों को बदल करके सबकी एक वर्तनी "भरम" बना दी। अन्य भी इसी शुद्धता "भ्रम-माया" के "भर्म" में भरम गये।

शेष **द्विप्र० द्वि०सं०, मूलप्रति सं०, स्वामी वेदानन्द जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** का तथा उदयपुर संस्करण "भ्रम-माया" में नहीं "भर्मे"। इसलिए उन्होंने "भर्म", "भरम" मूलस्वरूपों को भक्तिवश नहीं बदला। उसके अनेकरूपों "भर्म, भरम, भर्मानेवाला, भरमानेवाला, भरमेंगे, भर्मेंगे, भर्मा, भरमा, भ्रम" आदि की शोभा को बनाये रखा है। "ऋषिभक्त" कैसे "भ्रम" सकते हैं, उनको "भर्मानेहारा" कौन है? "भरमनेहारे ही भर्मेंगे"। सवा-सौ वर्ष तक जब नहीं भर्मे तो अब कौन है जो उन्हें अशुद्धि की कथित भ्रम-माया में भरमाकर भर्मा सकता है?

६. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ एवं अनावश्यक संशोधन की रोचक कहानी**—पाठ कैसे-कैसे विकृत होता जाता है, यह स्थल उसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। मूलह०, मूलसं० में शुद्धपाठ है—"**बंदीगृह में.....क्यों न डाला**"। प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने लिपि करते हुए प्रमाद से लिख दिया—"**बंदीगृहे**"। शोधक भी शायद भंग चढ़ाये था, उसने '**बंदी**' और '**गृहे**' के ऊपर बीच में "**में**" लिख दिया और यह अद्भुत पाठ बन गया—"**बंदी में गृहे**"। मुद्रणकाल में भी शायद शोधक ठीक हालत में नहीं था, उसने छपवाया—"**बंदी में घिरा**"। परोपकारिणी के ३३वें सं० तक यह पाठ गर्व के साथ छपता रहा। फिर किसी सम्पादक को इस पर तरस आई तो ३४वें में उसने इसको बना दिया—"**बंदीगृह में घिरा.....क्यों न डाला?**" इतने दीर्घकालीन श्रम के बाद द्वि०सं० में यहां "**गृह**" पद और "**घिरा**" क्रिया परिवर्धित की गई है। यह क्रियावर्धन भी अपप्रयोग होने के साथ-साथ अनावश्यक परिवर्धन है क्योंकि "**क्यों न डाला**" पदों का सम्बन्ध "**बंदीगृह में**" और "**मार**" दोनों पदों से है। "**घिरा**" परिवर्धन नितान्त व्यर्थ है।

विद्वानों की सम्पादन-लीला की कहानी—द्वितीय संस्करण और पं० भगवद्दत्त सं० में "**बंदीगृह में घिरा.... क्यों न डाला?**" इस विचित्र-से वाक्य को सहर्ष स्वीकार कर पाठ परिवर्तन कर डाला गया। उदयपुर सं० ने भी उसको अनुकरणकर्त्ता ने समान ग्रहण कर लिया। **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने नहीं बदला, "**बंदी में घिरा**" अशुद्ध पाठ ही रखा। पं० मीमांसक जी ने इसके मूल या मध्य स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए टिप्पणी दे दी—"**बंदीगृह में गिरा**"। पं० जी ने टिप्पणी में लिखा है, तो हिन्दी में "**घिरा**" का "**गिरा**" अर्थ भी होता होगा, हमारा तो इतना ज्ञान है नहीं। पं० जी के अनुकरणकर्त्ता **स्वामी विद्यानन्द जी** ने टिप्पणी के झंझट में पड़ने के बजाय सीधा मूलपाठ में ही यह पाठ मिश्रित कर लिया—"**बंदीगृह में गिरा**"। विद्वान् बेकार ही शब्दजाल में उलझ रहे थे, स्वामी विद्यानन्द जी ने एक पल में सारा झंझट ही मिटा दिया! **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राष्ट्र के समान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमहंस व्यक्तित्व जो ठहरे। सो उन्होंने सारी माथापच्ची को एक ओर हटाकर यह 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र' पाठ बनाया—"**उसे जन्म भर बन्दीगृह में क़ैद क्यों नहीं रक्खा अथवा मार क्यों न डाला?**" बन गया न आधुनिक हिन्दी रूपान्तरण का नया सत्यार्थप्रकाश? सवा-सौ वर्ष तक आर्यसमाजी बेकार मूलस्वरूप-मूलस्वरूप करके आपस में उलझे रहे हैं। **स्वामी जगदीश्वरानन्द जी** का फार्मूला अपना लेते तो कुछ भी पुराना न होता, सबकुछ नया-नया होता!!

१. **अपपरिवर्तन**—द्वि०सं० में यहां "**प्रबल है तो**" अपपाठ है, भूतकाल से सम्बन्धित क्रिया अपेक्षित है। मूलप्रति सं० में "**होता**" पाठ ठीक है। **ऋषिलेख**—"**जो शैतान.....शैतान का**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में "**करने समय**" अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० आदि में संशोधित है।

३. **द्वितीय संस्करण में भ्रष्ट परिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के इस पाठ को द्वि०सं० में इस प्रकार भ्रष्ट कर दिया—"**जगत् में शैतान का जितना राज है उसके सामने सहस्त्रांश भी ईसाइयों का राज नहीं।**" यहां पूर्वापर प्रसंग में शैतान और ईश्वर की तुलना हो रही है, ईसाइयों के राज्य की नहीं। यहां उनके ईश्वर के राज्य की चर्चा है, अंग्रेज़ों के राजनीतिक उपनिवेश की नहीं। मुद्रणह०, द्विप्र० और सभी विद्वानों के संस्करणों में यह पाठ ठीक है, केवल द्वितीय संस्करण में अशुद्ध है।

उसको हटा नहीं सकता होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा इस समय के ईसाई राज्याधिकारी, डाकू-चोर आदि को शीघ्र दण्ड देते हैं, वैसा [दण्ड] भी ईसाइयों के ईश्वर का नहीं। पुनः कौन ऐसा निर्बुद्धि मनुष्य है कि जो वैदिकमत को छोड़ पोकल[१] ईसाईमत का स्वीकार करे?॥ १२७॥

१२८. .....हाय, पृथिवी और समुद्र के निवासियो! क्योंकि शैतान तुम पास उतरा है....। १२।

यो० प्र०, प० १२। आ० १२॥

समीक्षक—क्या वह ईश्वर वहाँ का रक्षक और स्वामी है? पृथिवी के[२] मनुष्यादि प्राणियों का रक्षक और स्वामी नहीं है? यदि भूमि का भी राजा है, तो शैतान को क्यों न मार सका? ईश्वर देखता रहता है और शैतान बहकाता फिरता है, तो भी उसको वर्जता नहीं। विदित तो यह होता है कि एक अच्छा ईश्वर है, और एक समर्थ दुष्ट दूसरा ईश्वर [शैतान] हो रहा है॥ १२८॥

१२९. ....और बयालीस मास लों युद्ध करने का अधिकार उसे दिया गया। ५। और उसने ईश्वर के विरुद्ध निन्दा करने को अपना मुंह खोला कि उसके नाम की और उसके तम्बू की और स्वर्ग में वास करनेहारों की निन्दा करे। ६। और उसको यह दिया गया कि पवित्र लोगों से युद्ध करे और उन पर जय करे और हर एक कुल और भाषा और देश पर उसको अधिकार दिया गया। ७।

यो० प्र०, प० १३। आ० ५।६।७॥

समीक्षक—भला, जो पृथिवी के लोगों को बहकाने के लिये शैतान और पशु आदि को भेजे और पवित्र मनुष्यों से युद्ध करावे, वह काम डाकुओं के सरदार[३] के समान नहीं है? ऐसा काम ईश्वर वा ईश्वर के भक्तों का नहीं हो सकता॥ १२९॥

१३०. और मैंने दृष्टि की, और देखो मेम्ना सियोन[४] पर्वत पर खड़ा है। और उसके संग एक

---

१. **पोकल**=निस्सार, खोखला। यह गुजराती का प्रयोग है। **ऋषिलेख**—"**सकता होगा.....स्वीकार करे**" पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित और पं० मीमांसक जी द्वारा स्वीकृत पाठ अग्राह्य**—ज्ञात होता है कि मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से, जैसा कि सैकड़ों स्थानों पर उसका प्रमाद स्पष्ट और सिद्ध हो रहा है, "**के**" कारकचिह्न लिखना छूट गया, और यह पाठ द्विप्र० से लेकर परोपकारिणी के ३३वें संस्करण तक छपता रहा—"**पृथिवी, मनुष्यादि प्राणियों का रक्षक और स्वामी नहीं है?**" ३४वें सं० में संशोधन करके "**पृथिवी के मनुष्यादि**" पाठ बना दिया गया, जो उचित था। द्वि०सं०, मूलसं० में संशोधित पाठ प्रचलित है। पं० मीमांसक जी ने पुनः आरम्भिक "**के**" रहित पाठ को ग्रहण कर लिया और उसके समर्थन में टिप्पणी दी कि '**के**' बढ़ाना अनावश्यक है। पं० जी का यह कथन स्वीकार्य नहीं है क्योंकि सम्बद्ध आयत-पाठ में पृथिवी और स्वर्ग की रक्षा का विषय नहीं है अपितु वहां के निवासियों की रक्षा का विषय है। देखिए, उद्धृत आयतांश में भी '**पृथिवी के निवासियों**' सम्बोधन है। इस प्रकार बाइबल पृथिवी के मनुष्यों का वर्णन कर रहा है। बाइबल के अग्रिम वर्णन में बताया गया है कि उसने पृथिवी की निवासी स्त्री को मारने की कोशिश की जबकि पृथिवी ने स्त्री की रक्षा की और शैतान के प्रयासों को निष्फल कर दिया। इस आधार पर समीक्षा में ग्रन्थकार ने यह प्रश्न उठाया है कि जब उनके ईश्वर ने शैतान से स्वर्गवासियों की रक्षा की तो पृथिवी के निवासियों की रक्षा क्यों नहीं की? क्या वह स्वर्ग का ही ईश्वर या राजा है, भूमि का नहीं है? सम्पूर्ण प्रसंग के आलोक में संशोधित पाठ ग्राह्य है, पं०जी द्वारा प्रस्तावित और मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित अशुद्ध पाठ नहीं।

उदयपुर सं० ने, शायद, पं०जी की टिप्पणी से प्रभावित होकर, द्वि०सं० के संशोधन को नकार कर, पुनः मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित अशुद्ध पाठ ग्रहण कर लिया है। यह सम्पादकीय असावधानी है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**सर्दार**" अपर्वनी है। द्वि०सं० और पं० भगवद्दत्त जी के सं० में संशोधित है किन्तु **स्वामी वेदानन्द जी, पं० मीमांसक जी** और **उदयपुर सं०** में अशुद्ध वर्तनी है।

४. **सियोन पर्वत**—इस विषयक टिप्पणी पृ० ८४९ पर द्रष्टव्य है।

लाख, चवालीस सहस्त्र जन[1] थे जिनके माथे पर उनका नाम और उनके पिता का नाम लिखा है। १।

यो० प्र०, प० १४। आ० १॥

समीक्षक—अब देखिये, जहाँ ईसा का बाप रहता था, वहीं उसी '**सियोन**' पहाड़ पर उसका लड़का भी रहता है। परन्तु एक लाख चवालीस सहस्त्र मनुष्यों की गणना क्योंकर की? एक लाख चवालीस सहस्त्र ही स्वर्गवासी हुए, शेष करोड़ों ईसाइयों के शिर पर मोहर न लगी, क्या ये सब नरक में गये? ईसाइयों को चाहिये कि '**सियोन**' पर्वत पर जाके देखें कि ईसा का उक्त बाप और उनकी सेना वहां है वा नहीं? जो हों तो यह लेख ठीक है, नहीं तो मिथ्या। यदि कहीं से वहां आया, तो कहां से आया? जो कहो स्वर्ग से, तो क्या वे पक्षी हैं कि इतनी बड़ी सेना और आप ऊपर-नीचे उड़कर आया-जाया करते [हैं]? यदि वह आया- जाया करता है, तो एक जिले के न्यायाधीश के समान हुआ। और वह एक, दो वा तीन हो, तो नहीं बन सकेगा, किन्तु न्यून से न्यून एक-एक भूगोल में एक-एक ईश्वर चाहिये; क्योंकि वे एक, दो, तीन अनेक ब्रह्माण्डों का न्याय करने और सर्वत्र युगपत् घूमने में समर्थ कभी नहीं हो सकते॥ १३०॥

१३१. ....आत्मा कहता है, ''हां, कि वे अपने परिश्रम से विश्राम करेंगे परन्तु उनके कार्य उनके संग हो लेते हैं। १॥''

यो० प्र०, प० १४। आ० १३॥

समीक्षक—देखिये, ईसाइयों का ईश्वर तो कहता है '**उनके कर्म उनके संग रहेंगे**' **अर्थात् कर्मानुसार फल सबको दिये जायेंगे, और ये लोग कहते हैं कि ईसा पापों को ले लेगा और क्षमा भी किये जायेंगे।** यहां बुद्धिमान् विचारें कि ईश्वर का वचन सच्चा है वा ईसाइयों का? एक बात में दोनों तो सच्चे हो ही नहीं सकते।[2] इनमें से एक झूठा अवश्य होगा। हमको क्या, चाहे ईसाइयों का ईश्वर झूठा हो, वा ईसाई लोग!!॥ १३१॥

१३२. ....और उसे ईश्वर के कोप के बड़े रस के कुण्ड में डाला। १९। और रस के कुण्ड का रौंदन नगर के बाहर किया गया और रस के कुण्ड में से घोड़ों की लगाम तक लोहू एक-सौ कोश तक बह निकला। २०।

यो० प्र०, प० १४। आ० १९। २०॥

समीक्षक—अब देखिये, इनके गपोड़े पुराणों से भी बढ़कर हैं, वा नहीं? ईसाइयों का ईश्वर कोप करते समय बहुत दु:खित हो जाता होगा, और जो उसके कोप के कुण्ड भरे हैं, क्या उसका कोप जल है वा अन्य द्रवित पदार्थ है कि जिससे कुण्ड भरे हैं? और सौ कोश तक रुधिर का बहना असम्भव है, क्योंकि रुधिर वायु लगने से झट जम जाता है, पुन: क्योंकर बह सकता है? इसलिये ऐसी बातें मिथ्या होती हैं॥ १३२॥

१३३. ....और देखो, स्वर्ग में साक्षी के तम्बू का मन्दिर[3] खोला गया। ५।

यो० प्र०, प० १५। आ० ५॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० में ''**जन**'' पद त्रुटित है। सभी द्वि०सं० ने ग्रहण कर लिया है।
ऋषिलेख—इस पृष्ठ के सभी रेखांकित पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित हैं।

२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां अपपाठ है—''**एक बात में दोनों तो सच्चा हो ही नहीं सकते।**'' दो के लिए बहुवचन ''**सच्चे**'' अपेक्षित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

समीक्षक—जो ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ होता तो साक्षियों का क्या काम? क्योंकि वह स्वयं सब कुछ जानता होता। इससे सर्वथा यही निश्चय होता है कि इनका ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, किन्तु मनुष्यवत् अल्पज्ञ है। क्या वह ईश्वरता कर सकता है?[१] नहीं, नहीं, नहीं!![२] और इसी प्रकरण में दूतों की बड़ी-बड़ी असम्भव बातें लिखी हैं, उनको सत्य कोई नहीं मान सकता। कहाँ तक लिखें, इस प्रकरण में सर्वथा ऐसी ही बातें भरी हैं॥ १३३॥

१३४. ....और ईश्वर ने उसके कुकर्मों को स्मरण[३] किया है। ५। जैसा तुम्हें उसने दिया है तैसा उसको भर देओ और उसके कर्मों के अनुसार दूना उसे दे देओ....। ६।

यो० प्र० प० १८। आ० ५। ६॥

समीक्षक—देखो, प्रत्यक्षत: ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है।[४] क्योंकि **न्याय उसी को कहते हैं कि जिसने जैसा वा जितना कर्म किया उसको वैसा और उतना ही फल देना। उससे अधिक-न्यून देना अन्याय है। जो अन्यायकारी की उपासना करते हैं, वे अन्यायकारी क्यों न हों?**॥ १३४॥

१३५. ....क्योंकि मेम्ने का विवाह आ पहुँचा है और उसकी स्त्री ने अपने को तैयार किया है। ७।

यो० प्र०, प० १९। आ० ७॥

समीक्षक—अब सुनिये, ईसाइयों के स्वर्ग में विवाह भी होते हैं! क्योंकि ईसा का विवाह ईश्वर ने वहीं किया। पूछना चाहिये कि उसका श्वसुर, सास,[५] साला[६] आदि कौन थे और लड़के-बाले कितने हुए? **और वीर्य के नाश होने से बल, बुद्धि, पराक्रम, आयु आदि भी घटके अब तक ईसा ने वहां**

---

३. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**साक्षी के मन्दिर का तम्बू**" यह अपपाठ है। बाइबल में यह पाठ नहीं है। यहां कहा गया है कि तम्बू का बना मन्दिर खोला गया है। आगे बाइबल में कहा है कि उस खोले गये मन्दिर से सात स्वर्गदूत निकलकर बाहर आये फिर उस मन्दिर में कोई प्रवेश नहीं कर सका। '**मन्दिर का तम्बू**' असंगत पाठ है। द्विप्र० और द्वि०सं० में यह पाठ संशोधित कर दिया है। उदयपुर सं० में भी संशोधित है।

१-२. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ**—मूलह०, मुलसं० में यह वाक्य शुद्ध है। मुद्रणलिपिकर प्रमाद से यह लिख गया—"**वह ईश्वरता का क्या कर सकता है**" इस त्रुटि को न समझकर द्विप्र० में इस वाक्य को ग्रन्थकार के आशय के विपरीत परिवर्तित करके यह पाठ बनाया है—"**वह ईश्वरता का क्या काम कर सकता है?**" महर्षि यहां यह कहना चाहते हैं कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वज्ञ नहीं, मनुष्यवत् अल्पज्ञ है, वह ईश्वरता नहीं कर सकता अर्थात् वह ईश्वर हो ही नहीं सकता, जबकि संशोधित वाक्य का भाव यह है कि ईश्वर जो काम करता है उनमें से वह कोई काम नहीं कर सकता? संशोधित वाक्य का अर्थ यह भी हो गया कि वह ईश्वर तो है किन्तु ईश्वरता के काम नहीं कर सकता। आगे संख्यांक २ पर मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**नहिं, नहिं, नहिं**" प्रयोग है। हिन्दी व्याकरणानुसार "**नहीं नहीं नहीं**" ठीक है, '**नहिं**' प्रयोग नहीं होता। ग्रन्थ में अन्यत्र सैंकड़ों स्थलों पर शुद्ध '**नहीं**' प्रयुक्त है। मूलह०, मूलसं० में संस्कृत प्रयोग "**नहि, नहि**" भी शुद्ध है। उदयपुर सं० में दोनों पाठ अशुद्ध है। **ऋषिलेख**—इस पृष्ठ के सभी रेखांकित पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित हैं।

३. **मुद्रणप्रति में अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**स्मर्ण**" अपवर्तनी है। अन्य सभी में संशोधित है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यह अपवाक्य है—"**प्रत्यक्ष ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है।**" यह अप वाक्य वक्ता के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करता, अत: "**प्रत्यक्षत:**" होना उपयुक्त है। इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि स्पष्ट दीख रहा है कि ईसाइयों का ईश्वर अन्यायकारी है। प्रत्यक्ष पद रखने से वह ईसाइयों का विशेषण बन जाता है जिसका अर्थ बनेगा—'**जो प्रकट या सामने ईसाई हैं उनका ईश्वर अन्यायकारी है।**' फिर प्रश्न उठेगा कि ये प्रत्यक्ष ईसाई कौन होते हैं? यह ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध है, अत: संशोधन अपेक्षित है। वेस, भद, जग, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

५-६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**सास**" "**शाला**" अशुद्ध वर्तनियां हैं। हिन्दी में "**सासु या सास**" शुद्ध है तथा '**शाला**' का अर्थ घर होता है, जैसे—धर्मशाला, अतिथिशाला आदि। उदयपुर सं० में दोनों पद अशुद्ध हैं।

शरीर त्याग कर दिया होगा,[१] क्योंकि संयोगजन्य पदार्थ का वियोग अवश्य होता है। अब तक ईसाइयों ने उसके विश्वास में धोखा खाया और न जाने कब तक धोखे में रहेंगे॥ १३५॥

१३६. ....और उसने अजगर को अर्थात् प्राचीन सांप को जो दियाबल[२] और शयतान[३] (शैतान) है, पकड़के उसे सहस्त्र वर्ष लों बाँध रक्खा। २। और उसको अथाह कुण्ड में डाला और बन्द करके ऊपर उसके छाप दी,[४] जिसतें वह जब लों सहस्त्र वर्ष पूरे न हों, तब लों फिर देशों के लोगों को न भरमावे.....। ३। यो० प्र०, प० २०। आ० २। ३॥

समीक्षक—देखो, मरूँ-मरूँ करके शयतान (शैतान) को पकड़ा और सहस्त्र वर्ष तक बन्द[५] किया; फिर भी छूटेगा। क्या फिर न भरमावेगा? ऐसे दुष्ट को तो बन्दीगृह में सदा रखना वा मारे विना छोड़ना ही नहीं [चाहिये]।[६] परन्तु यह शयतान (शैतान) का होना ईसाइयों का भ्रममात्र है, वास्तव में कुछ भी नहीं। केवल लोगों को डराके अपने जाल में लाने का उपाय रचा है।

जैसे किसी धूर्त्त[७] ने किन्हीं भोले मनुष्यों से कहा कि 'चलो, तुमको देवता का दर्शन कराऊँ,' किसी एकान्त देश में ले जाके एक मनुष्य को चतुर्भुज बनाकर रक्खा। झाड़ी में खड़ा करके कहा कि 'आँख मीच लो। जब मैं कहूँ तब खोलना और फिर जब कहूँ तभी मीच लेना।[८] जो न मीचेगा वह

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त०, तीनों संस्करणों में "**आयु आदि भी कटके.....**" "**शरीर त्याग किया होगा**" पाठ है। उपयुक्त पाठ "**शरीर त्याग कर दिया होगा**" संभावनार्थक होना अपेक्षित है। मूलप्रति सं० में '**घटके**' के स्थान पर '**कटके**' अपपाठ है। द्वि० सं० में "**न्यून होने से**" संशोधन है। भाव एक ही है। **ऋषिलेख**—सभी रेखांकित पाठ ऋषिलिखित हैं।

२. **दियाबल**=डेविल (Devil)। यह अंग्रेजी शब्द का हिन्दीकरण है। इसका अर्थ भी '**शैतान**' ही है। बाइबल के अनुवाद में इसका नाम '**इब्लीस**' दिया है।

३. '**शयतान**' **वर्तनी लिखने का कारण**—दोनों हस्तलेखों में कहीं इस शब्द की "**सहितान**" अपवर्तनी है, तो कहीं "**शैतान**"। महर्षि ने अपने हाथ से "**सहितान**" को काटकर "**शैतान**" संशोधित भी किया है और स्वहस्तलेख के पाठ में लिखा भी है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में एक नयी वर्तनी प्रयुक्त हुई है—"**शयतान**"। इस आयतखण्ड और इसकी समीक्षा में यह शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है और चारों बार यही वर्तनी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रणकाल में यह वर्तनी (शायद प्रूफ पर) लिखी गई थी। सभी सम्पादकों ने इसको अशुद्ध मानकर "**शैतान**" संशोधन कर दिया। वस्तुतः यह गुजराती प्रयोग है। गुजराती में '**शयतान**' लिखा जाता है। इस प्रकार गुजराती भाषा के अनुसार '**शयतान**' प्रयोग शुद्ध है। ज्ञात होता है कि इस वर्तनी का परिवर्तन महर्षि ने गुजराती प्रभाव से स्वयं अपने हाथ से किया होगा क्योंकि अन्य कोई लेखक गुजराती प्रयोग नहीं कर सकता था। इस कारण इस सं० में द्विप्र० के मूलपद को यथावत् रखते हुए "**शैतान**" मुद्रणहस्त० के हिन्दी रूप को कोष्ठक में रखा गया है। यह प्रयोग हिन्दी पर महर्षि के गुजराती प्रभाव को प्रदर्शित करता है। अन्यत्र भी कई स्थलों पर गुजराती प्रयोग मिलते हैं। द्र० पृष्ठ ९४७ पर टि० संख्या १।

४. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**बन्द ऊपर करके उसके छाप दी**" अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में भी अशुद्ध है। उदयपुर सं० में द्वि०सं० का अशुद्ध पाठ है। बाइबल में "**उस पर छाप दी**" प्रयोग है, यही ग्राह्य है। आगे मुद्रणलिपिकर ने "**जिसतें**" को "**जिसने**" अशुद्ध लिखा, यही द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी द्वि०सं० में संशोधित हैं।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बन्ध**" अपवर्तनी है। देखिए, आगे दूसरी पंक्ति में "**बन्दीगृह**" प्रयोग है जो '**बन्द**' से बना है। आयत के मूल पाठ में "**बन्द करके**" शुद्ध पाठ है। उदयपुर सं० में भी अपवर्तनी है।

६. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**चाहिये**" क्रिया त्रुटित है।

७. **ठगी की कथा**—यह ठगी की कथा "**स्वामीनारायण**" मत के संस्थापक सहजानन्द नामक व्यक्ति की है। इसका विवरण विस्तार से एकादश समु० में वर्णित है। (द्र० पृष्ठ ६८८ पर)

८. **अपपाठ**—तीनों संस्करणों में यह अपवाक्य है—"**जब मैं कहूं तब खोलना और फिर जब कहूं तभी मीच लो।**" वाक्यान्त में भी '**मीचलेना**' भविष्यत्-क्रिया अभीष्ट है। मूलह०, मूलप्रति सं० में इस संदर्भ में चार बार '**बींचना**' क्रिया का अपप्रयोग है,

अन्धा हो जायगा।' जब वह सामने आया तब कहा—'देखो'। पुनः शीघ्र कहा कि 'मीच लो।' जब फिर झाड़ी में छिप गया, तब कहा—'खोलो, देखा, नारायण का सबने दर्शन किया'।[१]

वैसी लीला इन मज़हबियों की है कि 'जो हमारे मज़हब को न मानेगा, वह शयतान (शैतान) का बहकाया हुआ है', ऐसे उसको फसा लेते हैं।[२] इसलिये इनकी माया में किसी को न फसना चाहिये॥ १३६॥

१३७. ....जिसके सम्मुख से पृथिवी और आकाश भाग गये और उनके लिये जगह न मिली। ११। और मैंने क्या छोटे, क्या बड़े, सब मृतकों को ईश्वर के आगे खड़े देखा और पुस्तक खोले गये और दूसरा पुस्तक अर्थात् जीवन का पुस्तक खोला गया और पुस्तकों में लिखी हुई बातों से मृतकों का विचार उनके कर्मों के अनुसार किया गया। १२। यो० प्र०, प० २०। आ० ११।१२॥

समीक्षक—यह देखो लड़केपन की बात! भला, पृथिवी और आकाश कैसे भाग सकेंगे? और वे किस पर ठहरेंगे, जिनके सामने से भागें।[३] और उसका सिंहासन और वह कहाँ ठहरे थे?[४] और मुर्दे परमेश्वर के सामने खड़े किये गये तो परमेश्वर भी बैठा वा खड़ा होगा? क्या यहां की कचहरी और दूकान के समान ईश्वर का व्यवहार है जो कि पुस्तक लेखानुसार होता है? और सब जीवों का हाल ईश्वर ने लिखा वा उसके गुमाश्तों[५] ने? ऐसी-ऐसी बातों से अनीश्वर को ईश्वर और ईश्वर को अनीश्वर ईसाई आदि मत-वालों ने बना दिया॥ १३७॥

१३८. ....उनमें से एक मेरे पास आया और मेरे संग बोला कि आ मैं दुलहिन[६] को अर्थात् मेम्ने की स्त्री को तुझे दिखाऊँगा। ९। यो० प्र०, प० २१। आ० ९॥

समीक्षक—भला, ईसा ने स्वर्ग में 'दुलहिन'[७] अर्थात् अच्छी स्त्री पाई! मौज करता होगा! जो-जो ईसाई वहाँ जाते होंगे, उनको भी स्त्रियाँ मिलती होंगी, लड़के-बाले होते होंगे और बहुत भीड़ के हो जाने से रोगोत्पत्ति होकर मरते भी होंगे। ऐसे स्वर्ग को दूर से ही हाथ जोड़ना अच्छा है॥ १३८॥

इस प्रयोग को मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध कर दिया है। **संशोधन-पुष्टि**—ग्रन्थ में अन्यत्र "**मीचना**" शुद्ध क्रिया का प्रयोग है—"**आँख मीचना**", "**आँख मीच के**" (द्र० पृ० ३४७, ६८९ आदि)।

१. **अपपाठ**—दोनों सं० में "**देखा नारायण को? सबने दर्शन किया**" अपपाठ है। उपर्युक्त संशोधन सही है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित ऋषि-पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**कि जो हमारे..... फसा लेते हैं**" पाठ त्रुटित है। ऊपर शैतान सम्बन्धी आयत है और समीक्षा में शैतान के भय का वर्णन है। मजहबी लोग इसी प्रकार डराकर अपने मजहब में मिलाते रहे हैं। महर्षिप्रोक्त मूलह० की यह समीक्षा ग्राह्य है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में यह पाठ त्रुटित है। **ऋषिलेख**—रेखांकित सभी पाठ मूलहस्त० में ऋषि द्वारा लिखित हैं।

३. **मूललिपिकरकृत अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भगें**" अपप्रयोग है। वाक्य के पूर्वार्ध में स्पष्टतः '**भागना**' क्रिया का प्रयोग है। यहां भी उसी से निर्मित '**भागें**' प्रयोग चाहिए।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**उसका सिंहासन और वह कहां ठहरा**" अपवाक्य है। दो वस्तुओं के लिए बहुवचन-प्रयोग अपेक्षित है। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में भी अपवाक्य है।

५. **गुमाश्ते**=ईश्वर के प्रतिनिधि या दूत। मुद्रणह०, द्विप्र० में "**गुमास्ते**" मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी है।

६-७. **अव्यवस्थित एवं अपवर्तनी**—मूलप्रति संस्करण में एक ही प्रसंग में दोनों स्थानों पर क्रमशः "**दुल्हिन**" और "**दुल्हीन**" अपवर्तनी है। मूलह० में दोनों स्थानों पर "**दूल्हीन**", मुद्रणह० में "**दुल्हीन**" और द्विप्र० में "**दुल्हिन**" वर्तनियां है। एक ही स्थान पर दो प्रयोग हैं और दोनों स्थानों पर दो पृथक्-पृथक् वर्तनियां हैं। है ना लिपिकर की लेखन-योग्यता का कमाल!! द्वि० सं० में संशोधित "**दुलहिन**" रूप है। यही अव्यवस्था वेस, जग, जद, युमी, विस आदि प्रायः सभी संस्करणों में है। उदयपुर सं० के कथित दस सम्पादकों ने भी वर्तनियों की अव्यवस्था को ठीक नहीं किया।

१३९. ....और उसने उस नल[१] से नगर को नापा कि साढ़े[२] सात-सौ कोश का है, उसकी लंबाई और चौड़ाई और ऊंचाई एक समान हैं। १६। और उसने उसकी भीत को मनुष्य के अर्थात् दूत के नाप से नापा कि एक सौ चवालीस हाथ की है। १७। और उसकी भीत की जोड़ाई सूर्यकान्त की थी और नगर निर्मल सोने का था, जो निर्मल कांच के समान था। १८। और नगर की भीत की नेवें[३] हर एक बहुमूल्य पत्थर से सँवारी हुई थीं; पहली नेव सूर्यकान्त की थी, दूसरी नीलमणि की, तीसरी लालड़ी की, चौथी मरकत की। १९। पांचवीं गोमेदक की, छठवीं माणिक्य की, सातवीं पीतमणि की, आठवीं पेरोज की, नवीं पुखराज की, दशवीं लहसनिये की, ग्यारहवीं[४] धूम्रकान्त की, बारहवीं मर्टीष[५] की। २०। और बारह फाटक बारह मोतियों के थे, एक-एक मोती से एक-एक फाटक बना था और नगर की सड़क स्वच्छ कांच के ऐसे निर्मल सोने की थी। २१।

यो० प्र०, प० २१। आ० १६। १७। १८। १९। २०। २१॥

समीक्षक—सुनो ईसाइयों के स्वर्ग का वर्णन! यदि ईसाई मरते जाते और [वहां][६] जन्मते जाते हैं तो इतने बड़े शहर में [भी][७] कैसे समा सकेंगे? क्योंकि उसमें मनुष्यों का आगम तो होता है और उससे निकलते नहीं। और जो यह बहुमूल्य रत्नों की बनी हुई नगरी मानी है, और सर्व सोने की है, इत्यादि लेख केवल भोले-भाले मनुष्यों को बहकाकर फसाने की लीला है। भला, लंबाई-चौड़ाई तो जो उस नगर की लिखी, सो हो सकती है; परन्तु ऊंचाई साढ़े सात-सौ कोश क्योंकर हो सकती है?[८] यह सर्वथा मिथ्या, कपोलकल्पना की बात है। और इतने बड़े मोती कहाँ से आये होंगे? इस लेख के लिखनेवाले के घर के घड़े में से? यह गपोड़ा पुराण का भी बाप है॥ १३९॥

१४०. और कोई अपवित्र वस्तु अथवा घिनित कर्म करनेहारा अथवा झूठ पर चलनेहारा उसमें किसी रीति से प्रवेश न करेगा....। २७।

यो० प्र० प० २१। आ० २७॥

समीक्षक—जो ऐसी बात है, तो ईसाई लोग क्यों कहते हैं कि "पापी लोग भी ईसाई होने से स्वर्ग में जा सकते हैं", यह झूठ बात है।[९] यदि ऐसा है, तो **योहन्ना**[१०] स्वप्ने की मिथ्या बातों का कहनेहारा

---

१. **नल**—नरकट या सरकंडे के बनाये हुए नाप से।

२. **मुद्रणकालीन अपवर्तनी**—द्विप्र० में "**साड़े**" अपवर्तनी है। **पुष्टि**—इस आयत की समीक्षा में "**साढ़े**" शुद्ध वर्तनी है।

३. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**नगर के भीत की नेवें**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**एग्यारहवीं**" अपवर्तनी है। **संशोधन-पुष्टि**—अन्यत्र "**ग्यारह/ ग्यारहवीं**" वर्तनी है जो शुद्ध है। द्र० १६९, ७५३, ७८९, ९१५ आदि। एकरूपता और मानकता के लिए एक ही वर्तनी ग्राह्य है।

५. **मर्टीष**=याकूत, एक रत्न जो अनार के दानों के समान लाल रंग का होता है। इसे संस्कृत में '**पुलक**' कहा जाता है।

६,७. **त्रुटित आवश्यक पद—पं० मीमांसक जी** द्वारा प्रस्तावित दोनों बृ० कोष्ठकान्तर्गत पद सार्थकता की दृष्टि से ग्राह्य हैं। सभी सं० में त्रुटित हैं किन्तु उदयपुर सं० ने पं० जी द्वारा प्रस्तावित इन पदों को ग्रहण कर लिया है।

८. **ईसाइयों का असम्भव नगर**—उक्त वर्णन में १५०० मील लम्बा, इतना ही चौड़ा और इतना ही ऊंचा स्वर्गस्थान बताया है। ऐसा स्थान ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं है, अत: यह कोरा गपोड़ा है।

९. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० के "**यह झूठ बात है**" पाठ को बदलकर मुद्रणकाल में द्विप्र० में शिथिल पाठ बनाया है "**यह ठीक बात नहीं है**" समीक्षा का सच और झूठ से तो सम्बन्ध है, ठीक—न ठीक से नहीं। पाठक महर्षि की गंभीर दृष्टि पर ध्यान दें कि आयत में "**झूठ**" पर का ही प्रयोग है। वही ऋषि ने ग्रहण करके वाक्य बनाया है। सभी द्वितीय संस्करणों तथा उदयपुर संस्करण में मुद्रणकाल में बदला गया यही शिथिल एवं असंगत पाठ है।

स्वर्ग में प्रवेश कभी न कर सका होगा, और **ईसा भी स्वर्ग में न गया होगा, क्योंकि जब अकेला पापी स्वर्ग को प्राप्त नहीं हो सकता, तो जो अनेक पापियों के पाप के भार से युक्त है वह[१] क्योंकर स्वर्गवासी हो सकता है?** ॥ १४० ॥

१४१. और अब कोई शाप[२] न होगा और ईश्वर का और मेम्ने का सिंहासन उसमें होगा और उसके दास उसकी सेवा करेंगे। ३। और उसका मुंह देखेंगे और उसका नाम उनके माथे पर होगा। ४। और वहां रात न होगी और उन्हें दीपक का अथवा सूर्य की ज्योति[३] का प्रयोजन नहीं, क्योंकि परमेश्वर ईश्वर उन्हें ज्योति देगा वे सदा-सर्वदा राज्य करेंगे। ५।

यो० प्र०, प० २२। आ० ३।४।५॥

समीक्षक—देखिये, यही ईसाइयों का स्वर्ग-वास! क्या ईश्वर और ईसा सिंहासन पर निरन्तर बैठे रहेंगे? और उनके दास उनके सामने सदा मुंह देखा करेंगे? अब यह तो कहिये कि तुम्हारे ईश्वर का मुंह यूरोपियन के सदृश गोरा है वा अफ्रीका[४]वालों के सदृश काला अथवा अन्य देशवालों के समान है? यह तुम्हारा स्वर्ग भी बन्धन है, क्योंकि जहाँ छोटाई-बड़ाई है और उसी एक नगर में रहना अवश्य है, तो वहाँ दु:ख क्यों न होता होगा? जो मुखवाला है, वह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वेश्वर कभी नहीं हो सकता॥ १४१ ॥

१४२. देख, मैं शीघ्र आता हूँ और मेरा प्रतिफल मेरे साथ है जिसतें हर एक को जैसा उसका कार्य ठहरेगा, वैसा फल देऊं। १२। यो० प्र०, प० २२। आ० १२॥

समीक्षक—जब यही बात है कि **कर्मानुसार फल पाते हैं तो पापों की क्षमा कभी नहीं होती, और जो क्षमा होती है तो 'इंजील' की बातें झूठी [हैं]।**[५] यदि कोई कहे कि क्षमा करना भी **'इंजील'** में लिखा है तो **'पूर्वापरविरुद्ध'** अर्थात् 'हल्फ़दरोगी'[६] हुई तो वह झूठ है, इसका मानना छोड़ दो[७] ॥ १४२ ॥

अब कहाँ तक लिखें। **इनकी 'बाइबल' में लाखों बातें खण्डनीय हैं। यह तो थोड़ा-सा चिह्नमात्र ईसाइयों की 'बाइबल' पुस्तक का दिखलाया है,** इतने से ही बुद्धिमान् लोग बहुत-सा समझ लेंगे। थोड़ी-सी बातों को छोड़ शेष सब झूठ भरा है। **जैसे झूठ के संग से सत्य भी शुद्ध नहीं रहता, वैसे**[८]

---

१०. **भिन्न वर्तनी 'योहन्ना'**—इसी समु० में इस नाम की यह दूसरी वर्तनी है। बाइबल में यही स्वीकृत है।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०,मूलसं० में **''है वह''** पाठ त्रुटित है। द्वि० सं० में **''पाप के भार से युक्त है वह''** उचित पाठ है। **ऋषिलेख**—इस पृष्ठ पर सभी रेखांकित पाठ मूलह० में ऋषि द्वारा लिखित हैं।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **''श्राप''** अपवर्तनी है, शुद्ध वर्तनी **'शाप'** होती है। द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या १०, पृ० ८५६ पर विस्तृत टिप्पणी।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में **''जोति''** अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है। अगली ही पंक्ति में शुद्ध है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में **''अफरिका''** अपनाम है। अपितु मूलह० में तो भ्रष्ट **''अफिरीका''** वर्तनी है। अन्य सभी सं० में अब संशोधित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—तीनों संस्करणों में **'हैं'** क्रिया त्रुटित है।

६. **हल्फ़दरोगी**—मिथ्या कथन करना, मिथ्या शपथ खाना। एक बात को कहकर उससे पुन: पलट जाना।

७. **अपक्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों **''देओ''** क्रिया-पाठ है। **'दो'** क्रिया अपेक्षित है, क्योंकि सर्वत्र इसी क्रिया का प्रयोग है। एकरूपता व मानकता के लिए एक क्रिया वर्तनी आवश्यक है।

ही 'बाइबल' पुस्तक भी माननीय नहीं हो सकता, किन्तु वह सत्य तो वेदों के स्वीकार में गृहीत होता ही है॥

[यह कृश्चीन मत के विषय में लिखा, इसके आगे मुसलमानों के मत के विषय में लिखा जायगा]।[१]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते कृश्चीनाख्यमतविषये
त्रयोदशः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १३॥[२]

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**वैसा**" अपपाठ है। '**जैसे**' के साथ '**वैसे**' प्रयोग अभीष्ट होता है।

१. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—सत्यार्थप्रकाश में आर्ष शास्त्रीय सांगोपांग शैली के अनुसार और समुल्लास के प्रारम्भ में विषय के आरम्भ का उल्लेख और समाप्ति पर विषय की समाप्ति और अग्रिम समुल्लास के विषय का उल्लेख होता है। जहां नहीं है, वहां लिपिकर और आदिसम्पादकों के प्रमाद से पाठ त्रुटित रह गया है। यहां भी वह त्रुटित है, अतः शैली के अनुसार बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ अपेक्षित है।

२. **पाठग्रहण**—मूल हस्त० और मुद्रण हस्त० दोनों में समाप्तिसूचक यह वाक्य लिखित नहीं है। इसे मुद्रणकाल में पूर्ण किया गया है। शैलीगत एकरूपता और मानकता के लिए यह आवश्यक था, अतः दोनों सं० में यह ग्राह्य है।

अनुभूमिका (४)[१]

जो यह १४ चौदहवां समुल्लास मुसलमानों के मत-विषय में लिखा है सो केवल '**क़ुरान**' के अभिप्राय से [है,][२] अन्य ग्रन्थ के मत से नहीं; क्योंकि मुसलमान '**क़ुरान**' पर ही पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं। यद्यपि फ़िरके[३] होने का कारण किसी शब्द, अर्थ आदि विषय में विरुद्ध बात है, तथापि '**क़ुरान**' पर सब ऐकमत्य हैं।

जो 'क़ुरान' अरबी[४] भाषा में है, उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है। उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्यभाषान्तर कराके पश्चात् अरबी के बड़े-बड़े विद्वानों से शुद्ध करवाके लिखा गया है। यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं है, तो उसको उचित है कि मौलवी साहबों के तर्जुमाओं का पहिले खण्डन करे, पश्चात् इस विषय पर लिखे;[५] क्योंकि यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और[६] सत्यासत्य के निर्णय के लिये [है] अर्थात्[७] सब मतों[८] के विषयों का थोड़ा-थोड़ा

---

१. **अनुभूमिका लेखन**—मूलहस्तलेख लिखाते समय यह '**अनुभूमिका**' नहीं लिखाई गई थी, अत: यह मूलहस्तलेख में नहीं है। यह मुद्रणहस्तलेख लिखे जाने के बाद किसी समय लिखाकर उसमें बाद में संलग्न की है। उसी के आधार पर द्वितीय सं० में प्रकाशित है। मूलप्रति सं० में मुद्रणहस्त० और द्वितीय सं० से ग्रहण करके प्रकाशित की गई है।

२. **त्रुटित आवश्यक पद**—मुद्रणह० द्विप्र० तथा द्वितीय संस्करण मूलप्रति सं० में यहां '**है**' क्रिया नहीं है। वाक्यरचना की दृष्टि से यह आवश्यक है।

३. **फ़िरका से अभिप्राय**—सभी मुसलमान कुरान पर एकमत हैं और उसको अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं, किन्तु इनमें वंश, परम्परा, सिद्धान्त आदि के मतभेदों के आधार पर अनेक उपसम्प्रदाय बन गये हैं जिनकी संख्या ७५ के लगभग है। जैसे—शिया, सुन्नी, अहमदिया आदि। इन आन्तरिक सम्प्रदायों में भी परस्पर युद्ध और संघर्ष चलते रहते हैं जिनके परिणामस्वरूप भयंकर रक्तपात होते रहे हैं। शिया और सुन्नी तो एक-दूसरे के घोर विरोधी और जान के दुश्मन हैं।

४. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस भाषा-नाम और देश के नाम की वर्तनी में पर्याप्त अव्यवस्था है। इतनी प्रमादपूर्ण अव्यवस्था है कि लिपिकरों और शोधकों पर क्रोध भी आता है और उनकी अयोग्यता पर तरस भी आता है। ग्रन्थकार बोलते एक ही शब्द थे किन्तु लिपिकरों ने उसको कहीं '**अरबी**' तो कहीं '**अर्बी**' लिखा है। यहां तक कि एक ही वाक्य में यदि यह शब्द दो बार लिखा है तो दोनों वर्तनियां भिन्न हैं (द्रष्टव्य मूलप्रति सं० पृ० ७२६ और द्वि० सं० पृ० ४०३), अनुच्छेदों में तो यह बुरा हाल कई स्थानों पर है। संस्करणों में यह स्थिति है कि मूलहस्त० में लिपिकर ने जो वर्तनी लिखी है तो मुद्रणहस्त० के लिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय उसमें भिन्न वर्तनी बना दी। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. **अरबी**—मूलप्रति सं० पृ० ६४५, ७२६।	द्विप्र० सं० पृ० ५२१, ५८४।
अरब देश—मूलप्रति सं० पृ० ६४५, ७११, ७१४, ७१६, ७२४।	द्विप्र० सं० पृ० ५२१, ५७५, ५८२।
२. **अर्बी**—मूलप्रति सं० पृ० ६४१, ६८७, ७२६, ७२७।	द्विप्र० सं० पृ० ५१९, ५५३, ५८४।
अर्ब देश—मूलप्रति सं० पृ०- ७०४, ७०८।	द्विप्र० सं० पृ० ५६७, ५७०, ५७६।

यही अव्यवस्था **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर मीमांसक** तथा **उदयपुर सं०** सहित सभी संस्करणों में पाई जाती है। भाषात्मक एकरूपता, व्यवस्था और मानकता की दृष्टि से एक ही वर्तनी अपेक्षित है। इस संस्करण में सर्वत्र '**अरबी**' और '**अरब**' वर्तनियां ग्रहण की गई हैं। आगे इस विषयक टिप्पणी नहीं दी जायेगी।

५. **कुरान के अनुवाद के स्त्रोत**—इस वाक्य से नितान्त स्पष्ट है कि **महर्षि ने आयतों का जो हिन्दी-अनुवाद सत्यार्थप्रकाश में ग्रहण किया है, वह मौलवियों द्वारा किया हुआ है।** आगे (पृ० १०२६ पर) जो '**तफ़सीर हुसैनी**' आदि भाष्यों से जो टिप्पणी दी हुई है वह भी यह संकेत देती है कि मौलवियों के प्रचलित भाष्यों को आधार बनाया गया है। **पं० रामचन्द्र जी देहलवी** और **प्रो० राजेन्द्र जी जिज्ञासु** (अबोहर) का मत है कि ग्रन्थकार ने मुख्यत: **शाह रफ़ीउद्दीन** तथा **शाह अब्दुल कादिर** के भाष्यों से अनुवाद ग्रहण किया गया है।

ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। **मेरा[१] न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है किन्तु जो[२] भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है, वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके। और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह न माने, वा माने; किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।**

और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें; क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं? सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर[३] जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।

इसमें[४] जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो, उसको सज्जन लोग विदित कर देंवें।[५] तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायगा, क्योंकि यह लेख हठ-दुराग्रह, ईर्ष्या-द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ। क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना, हमारा मुख्य कर्म है। अब यह (१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों का मत-विषय सब सज्जनों के सामने निवेदन करता हूँ।[६] विचार कर, इष्ट का ग्रहण, अनिष्ट का परित्याग कीजिये।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

इत्यनुभूमिका॥

---

६. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में यहां "**और**" पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में गृहीत है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठनिष्कासन**—मूलप्रति सं० में यहां "**अर्थात्**" पद है जो आवश्यक और सार्थक है, क्योंकि पूर्व वाक्य का स्पष्टीकरण "**अर्थात्**" लिखकर अगले वाक्यों में किया है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में गम्भीरता से समझे बिना इसको हटा दिया है, जो अपपरिवर्तन है।

८. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां "**मत**" एकवचनात्मक अपप्रयोग है, "**सब**" पद के सम्बन्ध से बहुवचन अपेक्षित है।

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—तीनों सं० में "**मेरा**" पद त्रुटित है। वाक्यरचना के लिए आवश्यक है।

२. **अनावश्यक पद**—तीनों सं० में यहां "**जो-जो**" पद की द्विरुक्ति अनावश्यक है। यहां एक ही "**जो**" पद अपेक्षित है।

३. **अपप्रयोग**—तीनों सं० में यह पद कहीं शुद्ध "**क्षणभंगुर**" (द्र० मूलप्रति सं० पृ० ४९४, ४९५; द्विप्र० ४०७, ४०८; द्वि०सं० २८२, २८३) प्रयुक्त है, तो कहीं अशुद्ध "**क्षणभंग**" है। **संशोधन-पुष्टि**—यह विशेषण है, अतः इसका शुद्ध रूप "**क्षणभंगुर**" होगा। यही सर्वत्र ग्राह्य है। शुद्ध पद द्रष्टव्य है इस सं० में पृ० ७५४, ७५५ पर श्लोक १ में। इस पर सिद्धान्ती जी की टिप्पणी अशुद्ध है। वे 'क्षणभंगुर' अर्थ में 'क्षणभंग' का प्रयोग मानते हैं जो व्याकरणिक दृष्टि से गलत है।

४. **अपपरिवर्तन**—द्वि०सं० में "**इससे**" अपप्रयोग है। मूलप्रति सं० में "**इसमें**" शुद्ध है, वही ग्राह्य है।

५. **अपपरिवर्तन**—द्वि०सं० में यहां "**देंगे**" क्रिया है। यह '**जब**' प्रयोग के साथ आती है। अनुरोधार्थ में "**देवें**" क्रिया चाहिए।

६. **चौदहवें समुल्लास की रचना का इतिहास और इसके आधार ग्रन्थ**—ऋषि दयानन्द ने जून-अगस्त १८७४ ईस्वी में 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम संस्करण महाराष्ट्रीय पं० चन्द्रशेखर को बोलकर लिखवाया था और राजा जयकृष्णदास जी मुरादाबाद निवासी (तब डिप्टी कलक्टर काशी) को प्रकाशनार्थ दे दिया था। इस संस्करण में १४ समुल्लास लिखाये थे किन्तु उसमें १३ वां समु० 'इस्लाम मत-समीक्षा' का रखा था और १४ समु० 'ईसाई मत-समीक्षा' का। राजा जी ने सन् १८७५ में प्रथम संस्करण प्रकाशित करा दिया था किन्तु उसमें १३, १४ समुल्लास तथा 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' नहीं छापा। इसका कारण यह रहा कि राजा साहब अंग्रेज़ सरकार की सेवा में थे, अतः वे सरकार के और मुसलमानों के रोषपात्र नहीं बनना चाहते थे।

सत्यार्थप्रकाश को परिवर्धित करके महर्षि ने इसका दूसरा संस्करण तैयार कराया जो जुलाई, १८८२ तक तैयार हो चुका था। उसमें यह परिवर्तन किया कि मतों के उद्भव के कालक्रमानुसार १३वां समु० ईसाईमत-समीक्षा का तथा १४वां इस्लाममत-समीक्षा का रखा। मुद्रणप्रति के १४वें समुल्लास का निरीक्षण-संशोधन और प्रकाशित प्रूफ का निरीक्षण महर्षि नहीं कर सके थे क्योंकि ३० सितम्बर १८८३ को विष दे दिये जाने के कारण वे अस्वस्थ हो गये थे। इस समु० का निरीक्षण-संशोधन मुंशी समर्थदान जी ने अपने विवेक से किया है। उनसे बहुत-सी त्रुटियां भी हो गई हैं। हाँ, मूलप्रति के सभी समुल्लासों का निरीक्षण-संशोधन महर्षि ने अपने आप किया है। मूलपाठ के रेखांकित स्थल उसके प्रमाण हैं। यह मूलप्रति को विशेष प्रामाणिकता प्राप्त है।

महर्षि ने कुरान की आयतों का अनुवाद मौलवियों द्वारा रचित भाष्यों से ग्रहण किया है, अतः अनुवाद की अशुद्धियों का दायित्व भी मौलवियों का है। इस्लाम अथवा कुरान-मत की व्यापक समीक्षा के लिए महर्षि ने कुरान का अनुवाद भी तैयार करवाया था जो आज भी परोपकारिणी सभा अजमेर के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसके अन्त में लेखनकाल कार्तिक शुक्ला ९, संवत् १८३५ (३ नवम्बर, १८७८ ई०) लिखा है। यह अनुवाद किसने किया, उसका उल्लेख इसमें नहीं है किन्तु महर्षि के पत्र-व्यवहार से यह जानकारी मिलती है कि उस हिन्दी कुरान का संशोधन मुंशी मनोहरलाल जी रईस, मोहल्ला गुड़हट्टा, पटना निवासी ने किया था। महर्षि ने इनसे समीक्षा लिखने में भी सहयोग लिया था। ये अरबी भाषा के अच्छे विद्वान् थे। यह निश्चित है कि ये अनुवादक नहीं थे, क्योंकि अनुवादक ने हिन्दी-कुरान के अन्त में अपना स्थान **''अयं ग्रन्थः सम्पूर्णः। इन्द्रप्रस्थ नगरे।''** लिखा है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि कुरान का अनुवादक कोई दिल्ली का निवासी था। **भले ही यह अनुवाद अब तक प्रकाशित न हुआ हो, किन्तु यह श्रेय ऋषि दयानन्द द्वारा करवाये इसी अनुवाद को जाता है कि यह विश्व में कुरान का सबसे प्रथम हिन्दी अनुवाद है।**

द्वितीय संस्करण की आयतों में संशोधन परोपकारिणी संस्करण की २६वीं आवृत्ति के समय आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् **पं० महेशप्रसाद जी मौलवी** 'आलिम फाजिल' ने किया। चौदहवें समु० की आयतों की संख्याओं में संस्करणानुसार अन्तर मिलता है। इसके मुख्य दो कारण हैं, **एक**- १४ वां समु० मुद्रित करते समय मुंशी समर्थदान ने कुछ आयतें अपने दृष्टिकोण से निकाल दीं। **दूसरा**- हस्तलिखित कुरान की जिल्द बांधते समय उसके ८-९ पृष्ठ १५ के बाद गलती से जुड़ गये जिसके क्रमानुसार कुछ बाद की आयतें पहले लिखी गईं और पहले की पीछे लिखी गईं। नये संस्करणों में उनका क्रम संशोधित कर दिया गया है। परोपकारिणी सभा ने ३७-३९ संस्करणों के रूप में परम्परागत द्वितीय संस्करण को छोड़कर मूलहस्तलेख पर आधारित **'मूलप्रति संस्करण'** प्रकाशित किया है। उसमें मुंशी समर्थदान जी द्वारा अनधिकार चेष्टा से निकाली गई सभी आयतों को पुनः सम्मिलित कर लिया है। इस प्रकार कुल आयतखण्ड संख्या १६१ के स्थान पर १७१ बन गई है जो वस्तुतः १७२ होनी चाहिए। इन १७२ आयतखण्डों में महर्षि ने कुल ४०९ आयतों की समीक्षा की है।

आयतों खण्डों की संख्या में अन्तर का कारण—मूलप्रति संस्करण में कुरान की कुल आयतखण्ड संख्याएं १७१ हैं। इस सं० में १७२ हैं। द्वितीय संस्करण (प्रथमावृत्ति) में १५९ हैं और परवर्ती द्वितीय संस्करणों में १६१ हैं। इसका कारण यह है कि द्वितीय सं० (सन् १८८४) में आयतखण्ड संख्या ४८ (द्वि०सं० में ४६ 'जो लोग ब्याज खाते हैं.....') नहीं है। आयतखण्ड संख्या १४ में दो आयतें **''हमने मूसा को किताब.....''** और **''हमने उनको कहा कि तुम निन्दित बन्दर हो जाओ.....''** (द्वि०सं० में १४, १७ तथा इस सं० में भी १४, १७) क्रमविरुद्ध रूप में संयुक्त हैं। इस प्रकार परवर्ती द्वितीय सं० की तुलना में दो आयतखण्ड कम होकर १५९ कुल योग है। परवर्ती ३४वें द्वितीय संस्करणों में आयतखण्ड संख्या ४६ को पुनः सम्मिलित कर लिया गया और आयतखण्ड संख्या १४ को दो आयतों (१४ और १७) में उचित क्रम में रखकर दो आयतखण्डों को विभक्त कर दिया गया, तो वह संख्या बढ़कर १६१ हो गई।

परवर्ती द्वितीय सं० में इस संस्करण तथा मूलप्रति सं० की अपेक्षया ये आयतखण्ड नहीं हैं—३३, ३४, ५७, ६२, ६३, ७३, ८३, १५१, १५२, १५३, १५५=कुल ११। १७२ में से ११ घटाने पर १६१ कुल संख्या शेष बचती है। मूलप्रति सं० में १४ और १७ खण्ड-संख्याओं को संयुक्त किया हुआ है] अतः उसकी कुल आयतखण्ड संख्या १७१ बनती है। द्वितीय संस्करण के उचित संशोधन को ग्रहण करते हुए इस संस्करण में १४ और १७ आयतखण्डों को पृथक्-पृथक् रखा गया है, अतः इस संस्करण में आयतखण्ड संख्याएं १७२ हो गई हैं। इनके अतिरिक्त कुल आयतखण्डों में से आठ आयतें द्विप्र०, द्वि०सं० में समीक्षासहित हटा रखी हैं, वे हैं—आयतखण्ड संख्या ६ में से २.९; ५५ में से आयत संख्या ३.१०२; ८१ में से ७.१२७; ९२ में से ९.३६; १०८ में से १६.४; ११९ में से २१.९, २२; ९९ में से ११.७ आयत का अर्धांश हटाया गया है। ये सब मूलप्रति हस्तलेख व मुद्रणप्रति हस्तलेख में हैं। मुद्रण-समय मुंशी समर्थदान जी ने इनको अनावश्यक और पुनरुक्ति मानकर हटाया है जबकि महर्षि यह दिखाना चाहते थे कि पूर्वापरविरुद्ध, पुनरुक्ति आदि दोषों का 'कुरान' भंडार है। (पृ० १०४२)। इन १७२ आयतखण्डों में कुरान की कुल ४०९ आयतों की समीक्षा की गई है। इस समुल्लास के प्रकाशन-समय महर्षि जीवित नहीं थे। यदि वे जीवित होते तो मुंशी समर्थदान जी को अपना बहुमूल्य और दुर्लभ श्रम व्यर्थ घोषित नहीं करने देते। द्वि०सं० के पक्षधर अब भी मुंशी जी द्वारा निकाली गई आयतों को ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसका सीधा-सा अर्थ यह निकलता है कि वे लोग महर्षि को कम और मुंशी जी को अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक मानते हैं। इस सोच का नाम 'ऋषिभक्ति' नहीं है।

अथ चतुर्दशसमुल्लासारम्भः[१]

अथ यवनमतविषयं व्याख्यास्यामः

इसके आगे मुसलमानों के मत-विषय[२] में लिखेंगे—

१. आरंभ साथ नाम अल्लाह[३] के, क्षमा करनेवाला दयालु। १।[४]

मंजिल १। सिपारा १। सूरत १॥

---

१. **त्रुटित शीर्षक**—दोनों हस्तलेखों में चतुर्दश समुल्लास-बोधक उक्त शीर्षक लिखित नहीं है। यह मुद्रण-समय में शैली की एकरूपता के लिए सम्पादकों ने अंकित किया है, जो दोनों सं० में गृहीत है।

२. **इस्लाम, उसके संस्थापक और कुरान का संक्षिप्त परिचय**—इस्लाम के संस्थापक हजरत मुहम्मद थे। उनका जन्म अरब के मक्का नगर में सोमवार, ११ नवम्बर ५६९ ईस्वी (मतान्तर से १० नवम्बर ५७० ईस्वी या २९ अगस्त ५७० ईस्वी) को कुरैश वंश में हुआ। इनके पिता का नाम अब्दुल्लाह था और माता का नाम आमिना था। हज० मुहम्मद पहले बकरियां चराते थे। फिर व्यापार का काम शुरू किया। जब पच्चीस वर्ष के हुए तो उन्होंने चालीस वर्षीय विधवा महिला बेगम खदीजा से विवाह कर लिया। वे एक धनाढ्य महिला थीं। हज० मुहम्मद धार्मिक तथा निरक्षर थे। वे रमजान के महीने में मक्का से तीन कि०मी० दूर 'हिरा' नामक पहाड़ की गुफा में जाकर ईश्वर का स्मरण किया करते थे। लिखा मिलता है कि चालीस वर्ष की अवस्था में उन पर अर्थात् उनके मस्तिष्क में कुरान की पहली आयत उतरी। यह आयत रमजान महीने की २७वीं रात को उतरी थी, और कहा जाता है कि तेईस वर्ष तक अर्थात् देहवसान तक आयतें उतरती रहीं। उसके बाद कुरान का लेखन व संग्रह हुआ।

सामाजिक सुधारों के लिए और मूर्तिपूजा के विरुद्ध उन्होंने निराकार एक अल्लाह में ईमान रखने का संदेश दिया। पहले प्रयास में केवल १०-११ ही मुसलमान बने। यहूदी अत्याचारों के कारण उन्हें भी मक्का छोड़ना पड़ा। धीरे-धीरे अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। हज० मुहम्मद ने फिर युद्ध करके ६३० ईस्वी में मक्का में अपने शासन और पन्थ की स्थापना की। तब इस्लाम को एक राज्य का आश्रय मिल गया। उसके आश्रय से वह बढ़ता गया। कहा जाता है कि अपने जीवन में हज०मुहम्मद ने २७ प्रमुख युद्ध किये जिनमें अधिकांश में उन्हें विजय प्राप्त हुई। हिजरी २२ सन् की १२ रबी उल अव्वल को (या ११ हिजरी में) ६३ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हो गया।

मुहम्मद साहब की पत्नियां—इनकी पत्नियों की संख्या के विषय में लेखकों में मतभेद है। कोई १९, कोई १४, कोई ९ पत्नियाँ मानते हैं। अधिकांश लेखक ग्यारह पत्नियों से सहमत हैं। **(१) बेगम खदीजा**—यह चालीस वर्षीया दो बार विधवा हुई थी। उस समय मुहम्मद साहब की आयु २५ वर्ष थी। ये उसके यहाँ नौकर थे। फिर बेगम से शादी करके हज० मुहम्मद उसके पति बन गये। **(२) बेगम सौदा (विधवा)**, **(३) श्रीमती आयशा**—यह हज० अबुबक्र की बेटी और मुहम्मद साहब की खानदानी भानजी थी। विवाह के समय मुहम्मद साहब की आयु ५० वर्ष और आयशा की ६ वर्ष थी। १८ वर्ष की अवस्था में यह विधवा हो गई। **(४) बेगम हफ़सा**—हज० उमर की बेटी थी, विधवा थी। **(५) बेगम जैनब (प्रथम)**—दो बार की विधवा। **(६) बेगम उम्मे सलमा**—विधवा थी। **(७) श्रीमती जैनब (द्वितीय)**—मुहम्मद साहब के दत्तक पुत्र जैद बिन हारसा की पत्नी थी और इनकी फूफी की बेटी थी। बेटे जैद से तलाक के बाद विवाह किया। **(८) बेगम जोयरया**—युद्ध में बन्दी बनाई गई २० वर्षीय महिला। **(९) बेगम उम्मे हबीबा**—ईसाई पति से तलाक के बाद विवाह। **(१०) बेगम सफया**—युद्ध में बन्दी बनाई गई १७ वर्षीया महिला। **(११) बेगम मैमूना**—विधवा स्त्री। ('विश्वधर्म परिचय'—एच० राय गुप्त, पृ० ५७५-५७९) इनके अतिरिक्त लगभग आधा दर्जन दासियां मुहम्मद साहब के पास थीं। दासी से सम्बन्ध की एक कथा पृ० १०३३ पर वर्णित है।

सन्तानें—इनके तीन बेटे और चार बेटियाँ थीं। मारिया या मरियम दासी से उत्पन्न इब्राहीम को छोड़कर सभी सन्तानें बेगम खदीजा से थीं। तीनों लड़के बचपन में ही मर गये। बेटियां जीवित रहीं।

कुरान के निर्माण का परिचय—आजकल मुस्लिम लेखकों द्वारा यह स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि कुरान का अन्तिम संग्रह मुहम्मद साहब के जीवनकाल में हो चुका था। किन्तु यह प्रचलित इतिहास के विरुद्ध है। हज० मुहम्मद अशिक्षित थे, उनके मन में जो विचार आते थे, जिन्हें 'अल्लाह का उपदेश उतरना' कहा जाता है, उनका लेखन उनके साथ

रहनेवाले शिक्षित जन किया करते थे। उनकी आयतें उपलब्ध वस्तुओं पर लिख दी जाती थीं; जैसे कोई खजूर के पत्ते पर, कोई पत्थर के टुकड़े पर, ऊंट की काठियों या ऊंटों की हड्डियों पर। हज० मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त हज० अबुबक्र ने जैद बिन साबित को कहकर कुरान की आयतों का संग्रह कराया। जैद बिन साबित द्वारा संग्रहीत कुरान बेगम हफ़सा (मुहम्मद साहब की पत्नी और हज० अबुबक्र की बेटी) के पास सुरक्षित रहा।

हज० उसमान जब खलीफ़ा (=शासक) बने तो उन्होंने कुरान के कई पाठ देखे जिनमें आयतों में अन्तर था। **उन्होंने चार इस्लामी विद्वानों—अब्दुल्ला बिन ज़बीर, सईद बिन इलआस, अब्दुल रहमान बिन आरिस और ज़ैद बिन साबित की समिति बनाकर उनके सम्पादकत्व में फिर से सन् ६५१ में कुरान तैयार कराया।** बेगम हफ़सा के कुरान से उसको मिलाया गया फिर उन्हें वह प्रति वापस कर दी। हज० उसमान ने मुस्लिम राज्यों में नयी प्रति भेजकर अन्य सब पुरानी प्रतियों को नष्ट कराने का आदेश दिया और केवल नये संस्करण को ही मान्य करने का आदेश दिया। बेगम हफ़सा वाले कुरान को भी मदीना के हाकिम मर्दान ने प्रार्थना करके नष्ट करवा दिया। हज० सालिम और हज० अली ने भी एक अन्य कुरान संग्रहीत किया था। उसे भी नष्ट करा दिया गया।

उपलब्ध कुरान में एक-एक 'सूरा' या 'सूरत' में भिन्न-कालों में उतरी आयतों को विषयानुकूल और क्रमबद्ध रूप में संकलित कर सम्पादित किया गया है। जो इस तथ्य को सिद्ध करता है कि हज० मुहम्मद पर उतरी आयतों में विषयानुकूलता और क्रमबद्धता नहीं थी और उन्हें उनके अनुयायियों ने ही व्यवस्थित किया है। यह कार्य तभी सम्भव है, जब मुसलमानों के मतानुसार, आयतें उतरने का कार्य पूर्ण हो गया हो। पूर्ण होना तभी सम्भव है जब हज० मुहम्मद का निधन हो चुका हो क्योंकि आयतें उतरने का सिलसिला उनके जीवित रहते निरन्तर जारी रहा। इस प्रकार परिस्थिजन्य साक्ष्यों के आधार पर उपलब्ध कुरान का लेखन-संकलन मुहम्मद साहब के निधन के उपरान्त ही सिद्ध होता है।

इस विवरण के अनुसार वर्तमान कुरान का स्वरूप सन् ६५१ का निर्धारित होता है। अर्थात् हज० मुहम्मद के देहान्त के १९ वर्ष बाद इसका प्रामाणिक संग्रह हुआ। ('विश्वधर्म परिचय'—एच०राय गुप्त, पृ० ५४१, ५५३-५५४)

मुसलमानों ने कुरान का एक बार पाठ निर्धारण करके बड़े परिश्रम से उसकी रक्षा की है। उन्होंने इसके अक्षर तक गिनकर उनका रिकार्ड सुरक्षित कर दिया है। कुरान में ३० पारे (=पर्व), ११४ सूरतें (=सूक्त), ६६६६ (या ६३६०) आयतें (ऋचाएं या श्लोक) ७९४३६ कलमे (=शब्द) और ३२३७४१ हर्फ़ (=अक्षर) हैं।

सम्प्रदायों का उद्भव—मुहम्मद साहब के जीवन काल तक मुसलमानों में कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं था। उनके बाद मुस्लिम विद्वानों ने अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं जिन्हें 'हदीस' कहा जाता है। कुरान के भाष्य, आयतों के स्वरूप और हदीसों को लेकर मुसलमानों में सैद्धान्तिक मतभेद होते गये जिनके परिणामस्वरूप इनमें ७५ बड़े सम्प्रदाय और ३०० के लगभग उपसम्प्रदाय बन गये। तीन प्रधान सम्प्रदाय हैं—शिया, सुन्नी और अहमदिया। इनमें परस्पर साम्प्रदायिक झगड़े और रक्तपात होते रहते हैं। शिया-सुन्नियों के संघर्ष तो विश्वप्रसिद्ध हैं। एक-दूसरे से उनका घोर विरोध है।

आदम से उत्पत्ति और वंश का आरम्भ—मुसलमान (यहूदी और ईसाई भी) आदम (वैदिक 'आदिम'=ब्रह्मा) से अपने वंश का उद्भव कुरानोक्त प्रमाण से मानते हैं और उनको 'बाबा'=पितामह कहते हैं। उनके वंशज 'नूह'=वैवस्वत मनु को भी पैगम्बर मानते हैं। कुरान में बाबा आदम का सम्मान न करने वाले को शैतान और काफिर कहा गया है—"जब हमने फरिश्तों से कहा कि बाबा आदम को दण्डवत् करो, सभी ने दण्डवत् किया, परन्तु शैतान ने न माना और अभिमान किया, क्योंकि वो भी एक काफिर था।" (सि० १, सू० २, आ० ३५) द्रष्टव्य पृष्ठ ९५० पर आयतखण्ड संख्या ११। उनके धर्मग्रन्थों के ये कथन उन्हें आर्यवंशी और वैदिकधर्मी मूल का सिद्ध करते हैं। (द्र० पृष्ठ ९४९, टि० ६)

हिजरी सम्वत्—यह माना जाता है कि जून ६२२ ईस्वी से मुसलमानों का हिजरी संवत् शुरू हुआ है। उसके अनुसार सन् २००८ में इस संवत् के १३८६ वर्ष बीते हैं। यही समय इस्लाम के आरम्भ का है। इस प्रकार इस्लाम नवीनतम विदेशी मत है जिसकी स्थापना अरब के 'मक्का' नगर में हुई थी।

३. **'अल्लाह' नाम वैदिक संस्कृत से विकसित**—अरबी भाषा में परमेश्वर के वाचक समान ध्वनि वाले दो शब्द प्रचलित हैं- इलाह और अल्लाह। दोनों का समान अर्थ है—'स्तुत्य, पूज्य या वन्दनीय परमात्मा।' ये दोनों पद वैदिक शब्द "**ईल्यः**" के विकसित रूप हैं। जिस प्रकार इनमें परस्पर ध्वनिसाम्य हैं उसी प्रकार अर्थसाम्य भी है। वैदिक शब्द "ईल्-स्तुतौ (ईड्-स्तुतौ) धातु से बना है जिसका अर्थ है—'स्तुत्य'। यह ऋग्वेद के द्वितीय मन्त्र में आता है—**ईल्यः (ईड्यः) नूतनैरुत**" (विसर्गों का ह होकर) उच्चारण विकसित हो गया और दूसरों के यहां 'अल्लाह' प्रचलित हो गया। यह भी संभव है कि पहले 'इलाह' रूप बना और उससे 'अल्लाह' रूप बन गया।

कुरान के भाष्यकार **श्री मुहम्मद फ़ारुक खाँ** का यही विचार मिलता है। वे लिखते हैं- "वेद में '**ईल्यः**' शब्द विशेषतम ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'ईल्य' का धात्वर्थ पूजनीय ही होता है। उदाहरणार्थ देखिए वेदमन्त्र ऋग्वेद १.१.२ जिसका अर्थ है- 'ईश्वर!' तू पूर्ण और नूतन या छोटे और बड़े सभी के लिए पूजनीय है।'..... अल्लाह शब्द वास्तव में 'अल-इलाह' था, जो

समीक्षक—मुसलमान लोग ऐसा कहते हैं कि '**यह क़ुरान**'[१] **ख़ुदा का कहा है**', परन्तु इस वचन से विदित होता है कि इसका बनानेवाला कोई दूसरा है, क्योंकि जो परमेश्वर का बनाया होता तो ''**आरम्भ साथ नाम अल्लाह के**'' ऐसा न कहता, किन्तु ''**आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्यों के**'' ऐसा कहता। यदि मनुष्यों को शिक्षा करता है कि तुम ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे पाप का आरम्भ भी ख़ुदा के नाम से होकर उसका नाम भी दूषित हो जायगा।[२]

जो वह क्षमा और दया करनेहारा है तो उसने[३] **अपनी सृष्टि में मनुष्यों के सुखार्थ अन्य प्राणियों को मार, दारुण पीड़ा दिलाकर मरवाके, मांस खाने की आज्ञा क्यों दी ? क्या वे प्राणी अनपराधी और परमेश्वर के बनाये हुए नहीं हैं ?**

और यह भी कहना था कि 'मैं परमेश्वर के नाम पर अच्छी बातों का आरम्भ करता हूँ, बुरी बातों का नहीं'। इस कथन में गोलमाल है। क्या चोरी, जारी, मिथ्या-भाषणादि अधर्म का भी आरम्भ परमेश्वर के नाम पर किया जाय ? इसी से देख लो, कसाई आदि मुसलमान, गाय आदि के गले काटने में भी '**बिस्मिल्लाह**'[४] इस वचन को पढ़ते हैं; जो यही इसका पूर्वोक्त अर्थ है तो बुराइयों का आरम्भ भी परमेश्वर के नाम पर मुसलमान करते हैं।[५] और मुसलमानों का 'ख़ुदा' दयालु भी न रहेगा, क्योंकि उसकी दया उन पशुओं पर न रही। और जो मुसलमान लोग इसका अर्थ नहीं जानते तो इस वचन का प्रकट होना व्यर्थ है। यदि मुसलमान लोग इसका अर्थ उलटा करते हैं तो सीधा अर्थ क्या है ? इत्यादि॥ १ ॥[६]

साधारण परिवर्तन के बाद 'अल्लाह' हो गया।.....इसलिए 'अल्लाह' का अर्थ हुआ एक प्रमुख और विशिष्ट 'इलाह' (पूज्य)।'' (क़ुरआन मजीद, भाष्यकार मुहम्मद फारुक खाँ, पृ० १२२०, १२२४)

ख़ुदा—यह शब्द '**स्वयम्भू**' का अनूदित रूप है। '**स्वयम्भू**' का अर्थ है वह अनादि ईश्वर जो स्वयं सत्ता में है किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होता। 'खुद' शब्द से विकसित 'ख़ुदा' का भी यही अर्थ है—'स्वयं उत्पन्न'।

नमाज़—नमाज़ का अर्थ है—'वह प्रार्थना जिसमें परमेश्वर के लिए झुकते हैं।' संस्कृत ''**नमस्**'' या ''**नमः**'' शब्द इसी अर्थ में और 'प्रणाम' अर्थ में है। 'स्' का 'ह' होकर अथवा विसर्गों का 'ह' उच्चारण बनकर फिर 'ह' का 'ज' होकर 'नमाज' बना जैसे अरबी-फारसी में—बाहु=बाजू, हस्त=जस्त, आहुति=आजुति आदि में 'ह' का 'ज' हो जाता है। इनमें भी परस्पर ध्वनि और अर्थ-साम्य है। इसी प्रकार आदिम, नूह आदि शब्द भी हैं जो अरब के लोगों को वैदिक वंश के मूल से जोड़ते हैं।

४. **आयतसंख्याओं का मिलान एवं प्रथम बार संख्या और रिक्तस्थान चिह्न**—चौदहवें समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतों और उनकी उद्धरण संख्याओं का मिलान '**कुरान मजीद**', हिन्दी अनुवाद-मुहम्मद फारुक खां, प्रकाशक-मक्तबा अलहसनात, नई दिल्ली, सन् २००० से किया गया है। यह संस्करण इस समय अधिक प्रामाणिक माना जाता है। जहां से आयत अपूर्ण है वहां रिक्तस्थान बोधक चिह्न (.....) दिया गया है। जहां आयत पूर्ण होती है वहां मूल कुरान से मिलान करके उसकी आयत-संख्या दी गई है। इस कार्य से आयत की पृथक्-पृथक् पहचान होने से उसका अर्थ करने-समझने में सरलता होगी। इसके विना आयतें और वाक्य घुल-मिल जाते हैं। पाठक इस परिश्रम का लाभ उठायें।

१. **क़ुरान**—क़ुरान की मूलभाषा अरबी है। 'क़ुरान' मूलतः अरबी भाषा का शब्द है जिसका शुद्ध रूप 'क़ुर्आन' और 'क़ुरआन' है। फारसी में इसे 'क़ुरान' लिखा जाता है। 'क़ुरान' का अर्थ है—'पढ़ना'। इस प्रकार इसका अर्थ है—'पठनीय पुस्तक'।

२,६. **ऋषिहस्तलेख**—दोनों रेखांकित पाठ मूलहस्तलेख में ऋषि ने स्वहस्तलेख से लिखे हैं। आगे ऋषिलेखों पर टिप्पणी नहीं दी है। इस समुल्लास में जितने भी रेखांकित पद या पाठ हैं उनको मूलहस्तलेख में ऋषि द्वारा लिखा समझें।

३-४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति संस्करण में '**उसने**' त्रुटित है। द्वि० सं० में ठीक कर दिया है।

४. **बिस्मिल्लाह**—'कुरान' और प्रत्येक 'सूरा'/ सूरत के आरम्भ में पठित इस पहली आयत को 'बिस्मिल्लाह' कहा जाता है। मुसलमान प्रत्येक कार्य के आरम्भ में, यहां तक कि पशुवध करने से पूर्व भी इस आयत को पढ़ते हैं या बोलते हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मुद्रणप्रति में मुद्रणलिपिकर ने ''**कहते**'' अपप्रयोग लिखा है। यही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है।

२. सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते है जो परवरदिगार[१] अर्थात् पालन करनेहारा है सब संसार का। १। क्षमा करनेवाला दयालु है। २। मं० १। सि० १। सूरतुल्फातिहा आयत १। २॥

समीक्षक—जो '**क़ुरान**' का ख़ुदा संसार का पालनेहारा होता और सब पर क्षमा और दया करता होता, तो अन्य मत-वालों[२] और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता। जो क्षमा करनेहारा है तो क्या पापियों पर भी क्षमा करेगा? और जो वैसा है तो आगे लिखेंगे कि "**काफ़िरों का क़त्ल[३] करो**"[४] अर्थात् जो '**क़ुरान**' और पैग़म्बर को न मानें वे काफ़िर हैं, ऐसा क्यों कहता? इसलिये '**क़ुरान**' ईश्वरकृत नहीं दीखता॥ २॥

३. मालिक दिन न्याय का[५]। ३। तुझ को ही हम भक्ति करते हैं और तुझसे ही साहाय्य चाहते हैं। ४। दिखा हमको सीधा रास्ता। ५।[६] मं० १। सि० १। सू० १। आ० ३। ४। ५॥

समीक्षक—क्या ख़ुदा नित्य न्याय नहीं करता? किसी एक दिन न्याय करता[७] है? इससे तो अंधेर विदित होता है! उसी की भक्ति करना और उसी से सहाय चाहना तो ठीक है, परन्तु क्या बुरी बात का भी सहाय चाहना [ठीक है][८] और सूधा मार्ग एक मुसलमानों का ही है वा दूसरों[९] का भी? सूधे मार्ग को मुसलमान क्यों नहीं ग्रहण करते? क्या सूधा रास्ता बुराई की ओर का तो नहीं चाहते? यदि भलाई सबकी एक है, तो फिर मुसलमानों[१०] में ही विशेष कुछ भी न रहा और जो दूसरों की भलाई नहीं मानते, तो पक्षपाती हैं॥ ३॥

---

१. **परवरदिगार (पर्वर्दगार)**=पालनकर्त्ता, परमात्मा, खुदा।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**अन्य मत-वाले**' अपपाठ है। '**को**' कारक के साथ द्वितीया बहुवचन प्रयोग होगा।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में '**क़तल**' अपवर्तनी है। मूलत: अरबी के इस शब्द का शुद्ध रूप '**क़त्ल**' है।

४. **काफ़िरों का कत्ल करो**—इस प्रकार का बर्बर आदेश अनेक आयतों में मिलता है। देखिए—
"मार डालो तुम उनको जहां पाओ, क़त्ल से कुफ्र बुरा है" (आयतखण्ड संख्या ३८), "उनको पकड़ लो, जहां पाओ मार डालो।....मुसलमान को मुसलमान का मारना योग्य नहीं" (६५), "अवश्य हम क़त्ल करेंगे उनके बेटों को और उनकी बीवियों को जीवित रखेंगे" (८१), "काटें जड़ काफिरों की.....मारो ऊपर गर्दनों के" (८६), "लड़ो उनसे यहां तक कि न रहे बल काफ़िरों का.....लूटो किसी वस्तु को" (८८), "लड़ो उन लोगों से पास तुम्हारे हैं काफ़िरों से" (९६), "जिसको चाहा हमने मारा" (११९), "ऐ नबी! झगड़ा करो काफ़िरों से" (१५७), "घसीटेंगे माथे के बालों से पकड़के" (१७१) तथा अन्य।

५. **न्याय का दिन**—इसे '**आखिरत**' का दिन भी कहा जाता है। इस्लामिक मान्यता के अनुसार, महाप्रलय (क़यामत) का दिन आने पर खुदा कब्र में बंद वर्तमान सृष्टि के सब मृतकों को उठाता है और उनके किये हुए अच्छे-बुरे कर्मों को उनको बताकर उनका फल देता है। उसी के अनुसार अगली सृष्टि में जीवन देता है।

६. **पुनरुक्ति**—न्याय के दिन और क़यामत की पुनरुक्तियां द्रष्टव्य हैं आयतखण्ड संख्या ३, १११, १२२, १३२, १४३, १५८, १५९ में।

७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**कर्त्ता**" अपवर्तनी है। अन्य सभी में संशोधित है।

८. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस वाक्य में बृ० कोष्ठकान्तर्गत '**ठीक है**' पाठ वाक्यरचना हेतु वांछनीय है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**दूसरे का भी**" अपपाठ है। बहुवचन प्रयोग अपेक्षित है।

१०. **अयोग्य लिपिकरों-शोधकों द्वारा अपवर्तनी एवं घोर अव्यवस्था**—अयोग्य लिपिकरों ने इस समुल्लास में २५ से अधिक बार "**मुसल्मान**" अपवर्तनी लिखी है जबकि पचासों बार "**मुसलमान**" शुद्ध वर्तनी लिखी है। कहीं पहली पंक्ति में एक वर्तनी है तो दूसरी में दूसरी वर्तनी। वैसी ही द्विप्र० में छपी हैं। शोधकों ने भी इस अशुद्धि और अव्यवस्था पर ध्यान नहीं दिया। अब सभी संस्करणों में संशोधित एक ही वर्तनी "**मुसलमान**" है। पाठक इससे लिपिकरों की अयोग्यता और प्रमादलीला का अनुमान लगा लें। इससे यह भी संकेत मिलता है कि आदि-शोधक भी बहुत मक्कार थे। इतनी सारी गलतियों पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया। ऐसे अयोग्य और मक्कार लिपिकरों-शोधकों से महर्षि को काम लेना पड़ा था।

४. [दिखा][१] उन लोगों का रास्ता कि जिन पर तूने निआमत अर्थात् ऐश्वर्य दोनों लोकों का, वा अत्यन्त दया की। ६।[२] और उनका मार्ग मत दिखा कि जिनके ऊपर तूने ग़ज़ब अर्थात् अत्यन्त क्रोध की दृष्टि की और न[३] गुमराहों का मार्ग हमको दिखा। ७। मं० १। सि० १। सू० १। आ० ६। ७॥

समीक्षक—जब मुसलमान लोग पूर्वजन्म और पूर्वकृत पुण्य-पाप[४] नहीं मानते, तो किन्हीं को दोनों लोकों के ऐश्वर्य देने और किन्हीं को न देने से ख़ुदा पक्षपाती हो जायगा,[५] क्योंकि विना पुण्य-पाप[६] के सुख-दुःख देना केवल अन्याय की बात है, और विना कारण किसी पर दया और किसी पर क्रोधदृष्टि करना भी ख़ुदा के[७] स्वभाव से बहिः है। क्योंकि विना भलाई-बुराई के[८] वह दया अथवा क्रोध नहीं कर सकता और जब उनके पूर्वसञ्चित पुण्य-पाप ही नहीं, तो किसी पर दया और किसी पर क्रोध करना नहीं हो सकता॥

और जो '**गुमराह**' शब्द का अर्थ नोट में '**क़ाफिर**', '**बेदीन**' (=जो मुसलमान नहीं है) यह लिखा है, तो वह ख़ुदा केवल मुसलमानों का ही पक्षपाती होगा, अन्य का नहीं। क्योंकि जो सब मत-मतान्तरों में धर्मात्मा और पापात्मा होते हैं, तो धर्मात्मा भी इस लेख से काफ़िर हो सकते हैं, और जो मुसलमानों में बुरे काम करते हैं, क्या वे काफ़िर नहीं हैं ? **और जो काफ़िर हैं, वे सब मतों में बुरे हैं, और जो धर्मात्मा हैं वे सब मतों में उत्तम हैं, तो मुसलमानों से भिन्न मनुष्यों को काफ़िर कहना**

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**दिखा**' कोष्ठककान्तर्गत क्रिया अपेक्षित है। क्रिया के बिना अर्थ पूर्ण नहीं होता। अगली "**मत दिखा**" क्रिया के सम्बन्ध से भी यह क्रिया अभीष्ट है। इसकी अनुवृत्ति पहली आयत से आ रही है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा प्रमाद से त्रुटित पाठ**—"**अर्थात्.....दया की**" मुद्रणप्रति में त्रुटित छोड़ा है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि इस वाक्य की समीक्षा की गई है। **निआमत (नेमत)**=ईश्वर द्वारा प्रदत्त धन-वैभव, वरदान, अच्छी वस्तुएं आदि।

३. **द्वितीय सं० में भ्रष्ट संशोधन**—द्वि० सं० में '**न**' पद त्रुटित होने से आयत का पाठ भ्रष्ट होकर अनर्थ हो गया है—"**गुमराहों का मार्ग दिखा।**" शुद्ध पाठ '**न गुमराहों का मार्ग दिखा**' कुरान मुद्रणह०, द्विप्र० और मूलप्रति सं० में है।

४. **अपपाठ**—इस अनुच्छेद में दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में पहले दो बार '**पाप-पुण्य**' पाठ अपक्रम में है। तीसरी बार का '**पुण्य-पाप**' सही पाठ है। सम्पूर्ण अनुच्छेद में पुण्य का फल पहले प्रदर्शित है, उसके बाद पाप का फल है, जैसे ऐश्वर्य देना-न देना, सुख-दुःख, दया-क्रोध, भलाई-बुराई। इस क्रमानुसार '**पुण्य-पाप**' प्रयोग तर्कसंगत और शुद्ध है, यही होना चाहिए।

५. **मुद्रणप्रति में अनुचित पाठ-परिवर्तन**—मुद्रणह० में इस वाक्य के स्थान पर किसी ने यह पाठ-परिवर्तन किया गया है—"**निआमत अर्थात् फ़ज़ल वा दया करने और किन्हीं पर न करने से खुदा पक्षपाती हो जाएगा।**" निआमत के दोनों अर्थ हैं— 'ऐश्वर्य' और 'दया'। मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त पाठ में पहले दोनों लोकों का ऐश्वर्य देने-न देने का उल्लेख है और अग्रिम पंक्तियों में दया और अदया=क्रोध का। मूलप्रति सं० के महर्षिप्रोक्त पाठ में दोनों अर्थों का ग्रहण होने से अर्थव्यापकता की विशेषता है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० के परिवर्तन में ऊपर-नीचे एक ही अर्थ की पुनरावृत्ति होने से वह विशेषता नष्ट हो गई। महर्षिप्रोक्त पंक्तियों में इस्लाम के सैद्धान्तिक पक्ष की यह आलोचना भी है कि जो पूर्वजन्म को ही नहीं मानते वे पुण्य-पाप से प्राप्त होने वाले निआमत=ऐश्वर्य और गज़ब=अभाव-दीनता सम्बन्धी प्रार्थना कर रहे हैं। पूर्वपंक्ति में वर्णित 'पूर्वजन्म और पूर्वकृत' पुण्य-पाप का सम्बन्ध ऐश्वर्य के लिए भी हो सकते हैं जबकि ऐश्वर्य और अभाव, पूर्वकृत कर्मों के फल हैं। परिवर्तन भाव-गाम्भीर्य-रहित और अनावश्यक है, अतः मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**के**' त्रुटित है। मूलप्रति सं० में है। उदयपुर सं० में भी त्रुटित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० "**खुदा के**" पद त्रुटित रह गये हैं। ये मुद्रणलिपिकर से छूटे हैं। मूलप्रति सं० में हैं। आवश्यक होने से ग्राह्य हैं। उदयपुर सं० में भी त्रुटित हैं।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणप्रति लिखते समय लिपिकर प्रमादवश "**क्योंकि विना भलाई-बुराई के**" पाठ त्रुटित छोड़ गया। यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है। **पं० मीमांसक सं०, स्वामी वेदानन्द सं०, पं० सिद्धान्ती जी** में यह पाठ त्रुटित है। उदयपुर सं० ने इस पाठ को ग्रहण कर लिया है।

अविद्या की बात है।[१]

और इस सिपारे और इस सूरः[२] की टिप्पणी[३] पर—''**यह सूरः अल्लाह साहब**[४] **ने मनुष्यों के मुख से कहलाई कि सदा इस प्रकार से कहा करें**'', [लिखा है]।[५] जो यह बात है तो '**अलिफ़, बे**' आदि अक्षर भी ख़ुदा ने ही पढ़ाये होंगे! जो कहो कि नहीं, तो[६] विना अक्षरज्ञान के इस सूरः को कैसे पढ़ सके? क्या कण्ठ से ही बुलाये और बोलते गये? जो ऐसा है तो सब '**क़ुरान**' ही कण्ठ से पढ़ाया होगा।

इससे ऐसा समझना चाहिये कि जिस पुस्तक में पक्षपात की बातें पाई जायें, वह पुस्तक ईश्वरकृत नहीं हो सकता। जैसे[७] कि अरबी भाषा में उतारने से अरबवालों को तो इसका पढ़ना सुगम, अन्य भाषाओं को बोलनेवालों को कठिन होता है, इसी से ख़ुदा में पक्षपात आता है। और जैसे परमेश्वर ने सृष्टिस्थ सब देशस्थ मनुष्यों पर न्यायदृष्टि से सब देशभाषाओं से विलक्षण संस्कृत-भाषा कि जो सब देशवालों के लिये एक-से परिश्रम से विदित होती है, उसी में वेदों का प्रकाश किया है, [वैसे][८] करता तो यह दोष[९] न होता[१०] ॥ ४ ॥

५. यह पुस्तक कि जिसमें सन्देह नहीं, परहेज़गारों[११] **को मार्ग दिखलाती है। २। जो कि ईमान**[१२] **लाते हैं साथ ग़ैब (परोक्ष) के, नमाज़**[१३] **पढ़ते, और उस वस्तु से जो हमने उनको दी, खर्च करते**

---

१. **मुद्रणकाल में पाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में मुद्रणकाल में यह सम्पूर्ण अनुच्छेद (''**और जो गुमराह**'' से लेकर ''**अविद्या की बात है**'' तक) निकाल दिया। महर्षि ने इसमें आयतोक्त '**गुमराह**' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला है तथा अन्तिम वाक्यखण्ड की व्याख्या और समीक्षा की है। इस दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद था। इसको निकालने का अर्थ है समीक्षा को अपूर्ण बनाना तथा महर्षि के अभिप्राय को न समझ पाना। महर्षिप्रोक्त मूलह० का यह अनुच्छेद समीक्षा में अवश्य रखा जाना चाहिए। यह पाठ मुद्रणहस्त० में भी है। इसको मुंशी समर्थदान जी ने व्यर्थ मानकर निकाला प्रतीत होता है, क्योंकि उनके पेन से मुद्रणप्रति में काटने का चिह्न लगा हुआ है। मुंशी जी को ऋषिलेख को काटने का अधिकार नहीं था।

२-३. **उचित संशोधन**—मुद्रणहस्त० और मूलप्रति सं० में यहां ''**सूरे**'' प्रयोग है। यह या तो ''**सूरः**'' होना चाहिए जैसा कि अग्रिम पंक्तियों में दो बार प्रयुक्त है, अथवा व्यवहार में प्रचलित ''**सूरत**'' या ''**सूरा**'' होना चाहिए। द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका ''**सूरत**'' पाठ बनाया गया है, '**सूरा**' या '**सूरः**' अधिक ग्राह्य है। ''**सूरः**'' मूल अरबी का है। इसी प्रकार आगे, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**टिप्पन**'' अप्रचलित वर्तनी है। ग्रन्थ में सर्वत्र 'टिप्पणी' प्रचलित वर्तनी है।

४. '**साहब**' **की अव्यवस्थित वर्तनी**—सम्पूर्ण ग्रन्थ में, और विशेषतः इस समुल्लास में इस शब्द की दो वर्तनियां प्रयुक्त हुई हैं—'**साहब**', '**साहेब**'। इस शब्द का अरबी भाषा में शुद्ध रूप 'साहिब' है जो सम्मानबोधक पद है। उर्दू में 'साहिब' और 'साहब' दोनों रूप प्रचलित हैं। हिन्दी में इनका विकृत रूप 'साहेब' हो गया। भाषात्मक एकरूपता और मानकता के लिए यहां सर्वत्र शुद्ध और अधिक प्रचलित रूप '**साहब**' ग्रहण किया गया है। आगे इस पर टिप्पणी नहीं दी जायेगी।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृहत् कोष्ठकान्तर्गत '**लिखा है**' क्रिया पद अपेक्षित हैं। इनके बिना पूर्ण व उपयुक्त वाक्यरचना नहीं हो रही है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश ''**नहीं तो**'' पाठ छोड़ दिया और यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है। स्वामी वेदानन्द और पं० सिद्धान्ती सं० को छोड़कर सभी सं० में परिवर्धित कर लिया है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में '**जैसा**' विशेषण पद प्रयुक्त है, उदाहरणार्थक '**जैसे**' पद अपेक्षित है।

८,९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में यहां '**वैसे**' पद त्रुटित है। उपर्युक्त ''**जैसे**'' के सम्बन्ध से यहां '**वैसे**' पद अपेक्षित है। आगे, तीनों सं० में ''**कुछ भी दोष**'' पाठ है। यहां '**यह दोष**' उपयुक्त पाठ है।

१०. **वेदों का प्रकाश संस्कृत में ही क्यों?**—इस विषय पर ग्रन्थकार का विशेष मत सप्तम समु० के पृ० ३६४ पर देखिए।

११. **परहेज़गार**—संयम-नियम में रहनेवाले धार्मिक व्यक्ति। इस्लाम के अनुसार, इस्लामी नियमों और मर्यादाओं का पालन करनेवाला मुसलमान।

१२. **ईमान**—विश्वास, आस्था, श्रद्धा। इस्लाम के अनुसार जो अल्लाह और उसके उपदेशों में श्रद्धापूर्वक विश्वास रखता हो।

१३. **नमाज़**—ईश-प्रार्थना या कुरान पढ़ने की विशेष पद्धति जिसमें मुसलमान झुककर पृथिवी पर माथा टिकाते हैं। अरबी का यह

हैं और वे लोग जो उस किताब पर ईमान लाते हैं जो[१] तेरी ओर वा तुझसे पहले उतारी गई, और विश्वास क़यामत[२] पर रखते हैं। ३। ये लोग अपने मालिक की शिक्षा पर हैं और ये ही छुटकारा पानेवाले हैं। ४। निश्चय जो काफ़िर[३] हुए और उन पर तेरा डराना, न डराना समान है, वे कभी ईमान न लावेंगे। ५। अल्लाह ने उनके दिलों, कानों पर मोहर कर दी[४] और उनकी आँखों पर परदा[५] है और उनके वास्ते बड़ा अज़ाब[६] है। ६।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० २। ३। ४। ५। ६। ७॥[७]

समीक्षक—क्या अपने ही मुख से अपनी किताब की प्रशंसा करना ख़ुदा की दम्भ की बात नहीं? जो[८] 'परहेज़गार' अर्थात् धार्मिक लोग हैं वे तो स्वत: सच्चे मार्ग में हैं, और जो झूठे मार्ग पर हैं, उनको यह '**क़ुरान**' मार्ग ही नहीं दिखला सकता, फिर किस काम का रहा?

क्या पाप-पुण्य और पुरुषार्थ के विना ख़ुदा अपने ही ख़जाने से खर्च करने को देता है? जो देता है तो सबको क्यों नहीं देता? और मुसलमान लोग परिश्रम क्यों करते हैं?

और जो '**बाइबल**', '**इंजील**' आदि पर विश्वास करना योग्य है तो मुसलमान '**इंजील**' आदि पर ईमान, जैसा '**क़ुरान**' पर है, वैसा क्यों नहीं लाते? और जो लाते हैं तो '**क़ुरान**' का होना किसलिये? जो कहें कि '**क़ुरान**' में अधिक बातें हैं, तो पहली[९] किताब[१०] में लिखना ख़ुदा भूल गया होगा! और

शब्द मूलत: संस्कृत नमस्→नमह् (झुकना, प्रणाम करना) का विकृत रूप है जिसमें ध्वनि-परिवर्तन होकर 'ह्' का 'ज़' हो गया है। जैसे फ़ारसी में संस्कृत का 'बाहु'='बाज़ू' 'आहुति'='आजुति' और 'हस्त'='जस्त' हो गया है।

१. **मुद्रणकालीन अशुद्धि**—द्विप्र० में यहां अशुद्ध पाठ "**रखते हैं**" छपा है। यह अशुद्धि वेस, भद, युमी में विद्यमान हैं। दोनों हस्त०, मूलसं०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० में इसको ग्रहण नहीं किया है।

२. **क़यामत (क़ियामत)**—महाप्रलय का दिन, सृष्टि के विनाश का दिन। इसे 'आख़िरत' का दिन भी कहते हैं।

३. **काफ़िर**—इस्लाम के अनुसार अल्लाह, पैगम्बर और कुरान की अवहेलना या उनको इन्कार करना। इन कामों को वे 'कुफ़्र' कहते हैं और 'कुफ़्र' करने वाले को 'काफ़िर' कहा जाता है। मुसलमान सभी विधर्मियों को 'काफ़िर' कहते हैं।

४. **पुनरुक्ति**—लोगों के दिलों और कानों पर मोहर या ताला लगाने की पुनरुक्ति आयतखण्ड संख्या ११० में भी द्रष्टव्य है।

५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—सम्पूर्ण ग्रन्थ में और दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस शब्द की तीन वर्तनियां पाई जाती हैं—"**पड़दा**" '**परदा**' और '**पर्दा**'। कहीं-कहीं एक ही अनुच्छेद और पंक्ति में यदि यह शब्द दो-तीन बार आया तो वहां कहीं कोई वर्तनी है, कहीं कोई। एक स्थान पर एक पंक्ति में दो बार यह शब्द आया तो लिपिकर का कमाल देखिए एक बार '**पड़दे**' लिखा तो दूसरी बार '**पर्दे**' (मूलसं० ३८१; द्वि०सं० २१८)। अन्यत्र एक ही पंक्ति में "**पर्दा**" और "**परदा**" वर्तनियां हैं (मूलसं० ७११ टिप्पणी में, ७१२; द्वि०सं० ३९६ तथा टिप्पणी में भी)। यही हाल अन्यत्र है। भाषागत व्यवस्था, एकरूपता, मानकता, प्रामाणिकता के लिए हिन्दी में प्रचलित "**परदा**" सर्वत्र ग्राह्य है। यह '**परत**' मूल पद से बना है और परत, '**पत्र**' संस्कृत पद से। '**परदा**' हिन्दी रूप में है, '**पर्दा**' फारसी का और '**पड़दा**' ग्राम्य बोली का है।

६. **अज़ाब**—पाप-फल, सजा, दण्ड, यातना, कष्ट।

७. **अशुद्ध आयत-संख्याओं का विवरण**—इस आयतखण्ड से लेकर आयतखण्ड १७२ तक मूलह०, मुद्रणप्रति और द्विप्र० में आयत संख्याएं प्राय: अशुद्ध हैं। यहां आयत संख्या १ अधिक है और ७ त्रुटित है। पं० भगवद्दत्त सं० में १। आ० १-६ संख्या अशुद्ध है। बिना किसी ना-नुकर के मूलसं०, द्वि०सं०, वेस, युमी, भद, उदयपुर सं० आदि सं० ने इनका संशोधन कर लिया है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**जब**" अपपाठ है। अगले '**वे**' के साथ '**जो**' प्रयोग होना उपयुक्त है।

९. **पहली किताबें**—पहली किताबों से अभिप्राय उन किताबों से है जो इस परम्परा में पहले ही किसी पैगम्बर के हृदय में प्रेरित हो चुकी थीं, जैसे—मूसा के हृदय में '**तौरेत**', दाऊद में '**जबूर**', ईसा में '**इंजील**'। ये तीनों ही पुस्तकें बाइबल के अंश हैं। '**तौरेत**' और '**जबूर**' को '**ओल्ड टेस्टामेंट**'=पुराना धर्मनियम तथा '**इंजील**' को '**न्यू टेस्टामेंट**'=नया धर्मनियम कहा जाता है।

१०. **पहली किताब**—अर्थात् 'बाइबल'। 'बाइबल' और 'कुरान' एक ही परम्परा की पुस्तकें हैं।

जो नहीं भूला तो '**क़ुरान**' का बनाना निष्प्रयोजन है। और हम देखते हैं तो '**बाइबल**' और '**क़ुरान**' की बातें कोई-कोई नहीं मिलती होंगी, नहीं तो सब मिलती हैं। एक ही पुस्तक जैसा कि वेद है, क्यों न बनाया? क्या[१] क़यामत पर ही विश्वास रखना चाहिये, अन्य पर नहीं?॥

क्या ईसाई और मुसलमान[२] ख़ुदा की शिक्षा पर हैं, उनमें कोई भी पापी नहीं हैं? क्या जो ईसाई और मुसलमान अधर्मी हैं, वे भी छुटकारा पावें और दूसरे धर्मात्मा भी न पावें, तो यह बड़े अन्याय [और] अन्धेर की बात नहीं[३] है?

और क्या जो लोग मुसलमानी मत को न मानें, उन्हीं को क़ाफिर कहना, यह एकतरफ़ा डिगरी[४] नहीं है?॥

जो परमेश्वर ने ही उनके अन्तःकरण और कानों पर मोहर लगाई और उसी से वे पाप करते हैं, तो उनका कुछ भी दोष नहीं, यह दोष ख़ुदा का ही है, फिर उन पर सुख-दुःख वा पाप-पुण्य नहीं हो सकता। पुनः उनको सज़ा-जज़ा[५] क्यों करता है? क्योंकि उन्होंने पाप वा पुण्य स्वतन्त्रता से नहीं किया॥ ५॥[६]

६. वे अल्लाह और ईमानदारों को फरेब देते हैं[७]....। ९। उनके दिलों में रोग है, अल्लाह ने उनका रोग बढ़ा दिया[८]। १०। मं० १। सि० १। सू० २। आ० ९। १०॥[९]

समीक्षक—क्या ईश्वर से किसी का कपट-छल अज्ञात रहता है? यदि रहता है तो वह खुदा ही नहीं। इससे ऐसा लिखना ही व्यर्थ है। भला, परमेश्वर को कौन भरमा[१०] सकता है? और जो भरमाने[११] से बहक जाता है, वह ईश्वर ही नहीं हो सकता।[१२] क्यों विना अपराध खुदा ने उनका रोग बढ़ाया? दया न आई? उन बेचारों को बड़ा दुःख हुआ होगा! क्या यह शयतान (शैतान) से बढ़कर

१-२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित एवं परिवर्धित अनावश्यक पद**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**क्या**" पद त्रुटित है, मूलह०, मूलसं० में है। द्वि०सं० में यहां "**जो**" पद पठित है जो निरर्थक है। इसकी वाक्य में कोई सार्थकता नहीं है। द्वि०सं० में ही "**क्या जो ईसाई**" में "**जो**" त्रुटित है, अन्य सभी में है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद एवं विरामचिह्न**—सभी सं० में इस वाक्यखण्ड में कई पद त्रुटित हैं—"**बड़े अन्याय अन्धेर की बात है**" यहां '**और**' योजक अपेक्षित है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में वाक्यान्त में '**नहीं**' परिवर्धन के साथ-साथ '**प्रश्न चिह्न**' भी आवश्यक है, क्योंकि वाक्य का आरम्भ '**क्या**' से हुआ है। सम्प्रति उपयुक्त वाक्य नहीं है।

४. **एकतरफ़ा डिगरी** (डिक्री=Decree)—एकपक्षीय निर्णय। 'डिक्री' का अपभ्रंश रूप "**डिगरी**" बोलियों में प्रचलित है।

५. **सज़ा**=दण्ड, **जज़ा**=कर्मफल। ६. **द्वितीय सं० में अपसंख्या**—द्वि०सं० में ६५ संख्या अशुद्ध छपी है।

७,१२. **मुद्रणकाल में आयत और समीक्षा का निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० में आयत ९ "**वे अल्लाह और.....**" और उसकी समीक्षा "**क्या ईश्वर से..... हो सकता**" निकाल दी है। इस प्रकार महर्षि के श्रम को व्यर्थ किया है मुंशी समर्थदान जी ने। यह अवांछनीय है। इस कारण यह सभी द्वि०सं० में नहीं है।

८. **आयत का कथ्य**—आयत संख्या ६,७ में यहूदियों, ईसाइयों और उन लोगों को कोसा गया है जो मदीना में हज० मुहम्मद के कहने से इस्लाम स्वीकार नहीं कर रहे थे। उन्हें अल्लाह के नाम पर डराया गया है।

९. **मुद्रणकाल में अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में १० के स्थान पर आयतसंख्या ९ अशुद्ध है।

१०-११. **अव्यवस्थित वर्तनी**—आश्चर्य देखिए, महर्षि द्वारा प्रोक्त समान उच्चारण वाले, और एक ही धातु से बने, एक ही वाक्य में आये दो शब्दों की वर्तनियां, मूलह०, मुद्रणह० में अयोग्य और असावधान लिपिकरों ने भिन्न-भिन्न लिखी हैं—"**भरमा**" और "**भ्रमाने**"। सभी सं० में इनका संशोधन आवश्यक था। या तो हिन्दी के अनुसार दूसरा क्रियापद '**भरमाने**' होना चाहिए था अथवा संस्कृतानुकरण के अनुसार दोनों ही '**भ्रमा**' और "**भ्रमाने**" होने अपेक्षित थे। हिन्दी-व्याकरण में '**भरमाना**' वर्तनी ही स्वीकृत है। देखिए, कैसे लापरवाह लिपिकरों से महर्षि का पाला पड़ा था! विशेष टि० द्र० है पृ०९२६ पर।

शयतानपन (शैतानपन)[१] का काम नहीं है? किसी के मन पर मोहर लगाना,[२] किसी का रोग बढ़ाना,[३] यह खुदा का काम नहीं हो सकता, **क्योंकि रोग का बढ़ना अपने पापों से है॥** ६ ॥

७. ....उनसे अल्लाह ठट्ठा करता है। १५।[४] जिसने तुम्हारे वास्ते पृथिवी बिछौना और आसमान की छत को बनाया....। २२। मं० १। सि० १। सू० २। आ० १५। २२॥[५]

समीक्षक—जब किसी का ठट्ठा करना उत्तम पुरुष का काम नहीं, तो खुदा को ठट्ठा करना योग्य कभी नहीं हो सकता, और जो ठट्ठेबाज़ है, वह खुदा ही नहीं॥[६]

भला, आसमान छत किसी की हो सकती है? यह अविद्या की बात है। आकाश को छत के समान मानना हंसी[७] की बात है। यदि किसी प्रकार की पृथिवी को आसमान मानते हों, तो यह उनकी घर की बात है॥ ७ ॥

८. जो तुम उस वस्तु से सन्देह में हो जो हमने पैग़म्बर[८] के ऊपर उतारी, तो उस कैसी एक सूरत (=सूरः) ले आओ और अपने साक्षी लोगों[९] को पुकारो, अल्लाह के विना जो तुम सच्चे हो। २३। जो तुम न करो और कभी न कर सकोगे, तो उस आग से डरो कि जिसका इन्धन मनुष्य और पत्थर है, और जो काफ़िरों[१०] के वास्ते तैयार की गई है। २४।[११] मं० १। सि० १। सू० २। आ० २३, २४॥[१२]

---

१. **मुद्रणकालीन शयतान/ शैतान वर्तनी**—इस समुल्लास में दोनों हस्तलेखों में "**शैतान**" शुद्ध वर्तनी है किन्तु द्वितीय संस्करण (१८८४) में सर्वत्र "**शयतान**" वर्तनी लिखी गई है। इसका क्या कारण हो सकता है? आइये विचार करें। बिल्कुल यही स्थिति समु० १३ में पृ० ९३१ आयतखण्ड संख्या १३६ (द्वि०सं० में १२७) की है। '**शैतान**' की '**शयतान**' वर्तनी गुजराती भाषा में लिखी जाती है अत: निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस वर्तनी को मुद्रणकाल में प्रूफ में महर्षि ने १३वें समुल्लास में बदला था और उसी के अनुकरण पर समस्त १४वें समुल्लास में मुंशी जी द्वारा बदली गई है। इस प्रकार यह महर्षि-निर्मित वर्तनी है। शायद, इस तथ्य को न जानने के कारण अग्रिम सभी सं० में हिन्दी वर्तनी "**शैतान**" कर दी गई है। अधिक पाठान्तर न हो इस कारण से इस सं० में यहां इस तथ्य को स्पष्ट करके आगे सर्वत्र प्रचलित वर्तनी ही रखी गई है।

२. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में '**मोहर लगाना**' के स्थान पर '**ताला लगाना**' पाठ है। दोनों का अर्थ भिन्न है। पीछे आयत क्रमसंख्या ५ में "**मोहर लगाना**" मुहावरा है। वही शब्दावली समीक्षा में ठीक है। द्विप्र० व कुरान में यही पाठ है।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**किसी को रोग बढ़ाना**" अपप्रयोग है।

४,६. **मुद्रणकाल में आयत और उसकी समीक्षा का निष्कासन**—द्विप्र० में आयत में "**उनसे अल्लाह ठट्ठा करता है**" आयतांश तथा उसकी समीक्षा "**जब.... ही नहीं**" को हटा दिया गया है। आयतांश और समीक्षाभाग महत्त्वपूर्ण है। हटाने का कारण अज्ञात है। यह पाठ दोनों हस्तलेखों में है। किन्तु द्विप्र० में हटाने के कारण द्वि०सं० और उस पर आधारित अन्य सं० में यह पाठ नहीं मिलता। मुंशी जी द्वारा बिना किसी उपयुक्त कारण के ऋषि के श्रम को व्यर्थ करना अवांछनीय है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में तथा भद में यहां आयतसंख्या २१ व मूलसं० में १४, २१ अशुद्ध हैं।

७. **अव्यवस्थित प्रयोग**—मूलप्रति सं० में '**हांसी**' बोली का प्रयोग है। शायद, यह यह लिपिकरलिखित है। हिन्दी में शुद्धरूप '**हंसी**' है। ग्रन्थ में अन्यत्र इसी शुद्धरूप का प्रयोग है। मानकता और भाषात्मक एकरूपता के लिए सर्वत्र '**हंसी**' ग्राह्य है।

८. **पैगम्बर**—ईशदूत, अल्लाह के वे दूत जिनके माध्यम से वह अपना संदेश देता है और जो उसके संदेश को मनुष्यों तक पहुँचाते हैं। इन आयतों में अल्लाह की ओर से यह कहलवाया गया है कि मैंने ही हज० मुहम्मद के मस्तिष्क में कुरान उतारी है, जिससे अल्लाह के नाम पर लोग विश्वास कर लें। लोगों को अपने विश्वास में लेने की यह चतुरतापूर्ण नीति थी।

९. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलसं० में '**साक्षी लोगों**' पाठ त्रुटित है। कुरान और द्वि० सं० में है द्विप्र० में "**साक्षियों**" है।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**काफ़िर**' एकवचनात्मक अपपाठ है। कुरान और द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध है।

११. **आयत का अशुद्ध अनुवाद**—कुरान के मूलपाठ और अरबी-फारसी के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् **पं० रामचन्द्र जी देहलवी** के अनुसार, किसी मौलवी-अनुवादक ने इस आयत २४ का अनुवाद अशुद्ध किया है। उससे अर्थ का अनर्थ हो गया है। वह अशुद्ध अनुवाद दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह है—"**जो तुम और कभी न करोगे तो उस आग से डरो कि जिसका इन्धन मनुष्य**

समीक्षक—भला, यह कोई बात है कि उसके सदृश कोई सूरत न बने? क्या अकबर बादशाह के समय में **मौलवी फ़ैजी** ने विना नुक्ते[१] का '**क़ुरान**' नहीं बना लिया था?

और वह कौन-सी आग है जो दोज़ख की है? क्या इस [पृथिवी की] आग से न डरना चाहिये? इसका भी इन्धन जो कुछ पड़े, सब है। जैसे '**क़ुरान**' में लिखा है कि काफ़िरों के वास्ते दोज़ख की आग तैयार की गई है,[२] तो वैसे पुराणों में लिखा है म्लेच्छों के लिये घोर नरक बना है! अब कहिये किसकी बात सच्ची मानी जाय?

अपने-अपने वचन से दोनों स्वर्गगामी और दूसरे के मत से दोनों नरकगामी होते हैं, इसलिये यह सबका झगड़ा झूठा है। किन्तु **जो धार्मिक हैं वे सुख और जो पापी हैं वे दुःख सब मतों में पावेंगे॥ ८॥**

९. और आनन्द का संदेशा दे उन लोगों को जो कि ईमान लाये और काम किये अच्छे, यह[३] कि उनके वास्ते बहिश्ते[४] हैं जिनमें चलती हैं नहरें, जब उसमें से मेवों के भोजन दिये जावेंगे तब कहेंगे कि यह वो वस्तु है जो हम पहले इससे दिये गये थे; निश्चय और उनके लिये पवित्र बीबियाँ हैं, और वे सदैव वहाँ रहने वाले हैं। २४।[५] मं० १। सि० १। सू० २। आ० २५॥[६]

है, और काफ़िरों के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं।'' श्री देहलवी जी के अनुसार यहां '**मनुष्य**' से अभिप्राय '**मूर्तिपूजक काफिर**' से है और '**पत्थर**' से अभिप्राय '**पत्थर की मूर्ति**' से है, ये लोग दोज़ख की=नरक की आग में जलेंगे। इसका यह सही अर्थ है। वाक्यारम्भ में काफ़िरों के लिए ''**आग तैयार करने**'' का उल्लेख है। बाद में '**उनके वास्ते पत्थर**' कहना असंगत अनुवाद है। इस सं० के पाठ में अनुवाद का शुद्ध पाठ दे दिया है। (द्रष्टव्य पं० रामचन्द्र देहलवी कृत—''चतुर्दश समु० में उद्धृत कुरान की आयतों का अनुवाद'', पृ० २'')

स्वामी जगदीश्वरानन्द सं० को छोड़कर सभी सं० में अपपाठ ही है। **पं० मीमांसक जी** ने टिप्पणी में संशोधित पाठ को ग्राह्य माना है किन्तु मूलपाठ में अशुद्ध ही पाठ है। उसका कोई लाभ नहीं है। **उदयपुर सं०** के सम्पादक कथित दश विद्वानों के समक्ष शुद्ध-अशुद्ध दोनों विकल्प थे किन्तु उन्होंने अशुद्ध पाठ को ही ग्रहण कर लिया। उन्होंने पाठ की अशुद्धि पर गम्भीरता से विचार नहीं किया। भ्रान्ति से 'अशुद्धि' के संरक्षण को 'मूलस्वरूप' मान लिया।

१२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या २२ अशुद्ध है और २४ त्रुटित है।

१. **अपप्रयोग**—नुक्ता=वह बिन्दु जो अरबी, फारसी, उर्दू भाषाओं में अक्षर के नीचे लगता है। मूलप्रति सं० में ''**नुक़्ता का**'' अपप्रयोग है। यह अरबी का मूल शब्द है—'**नुक़्तः**'।

२. **अशुद्ध समीक्षा का उचित संशोधन**—आयत २४ का अनुवाद अनुवादक द्वारा अशुद्ध किये के कारण समीक्षा का अशुद्ध होना भी स्वाभाविक था, सो हो गया। मूलप्रति सं० में अशुद्ध समीक्षा है—''**क्या जैसे कुरान में लिखा है कि काफ़िरों के वास्ते पत्थर तैयार किये गये हैं....**''। दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में अशुद्ध समीक्षा थी जो नये संस्करणों में शुद्ध कर दी है, किन्तु आयत का अनुवाद शुद्ध करना शोधक भूल गया। ऊपर नवीन द्वि०संस्करणों की संशोधित समीक्षा ग्रहण की गई है।

३. **उचित अनुवाद-संशोधन**—मूलप्रति सं० में आयत का प्रथम वाक्य है—''**और तू ईमानवालों को आनन्द का सन्देसा दे**'' यह अपूर्ण अनुवाद है, द्वितीय सं० का पाठ पूर्ण एवं सटीक है। द्वि०सं० में अन्तिम पंक्ति में '**निश्चय**' पद नहीं है, मूलप्रति सं० में है। यह ग्राह्य है।

४. **अशुद्ध एवं अव्यवस्थित वर्तनी**—इस आयतखण्ड और इसकी समीक्षा में कुल तीन बार यह शब्द प्रयुक्त है। दोनों हस्त० में तीनों स्थलों पर ''**बिहिश्त**'' अशुद्ध वर्तनी है। द्विप्र० में पहले और तीसरे स्थल पर यही अशुद्ध तथा दूसरे स्थल पर शुद्ध ''**बहिश्त**'' वर्तनी है। उदयपुर सहित अन्य सभी संस्करणों में संशोधित है।

५. **आयत का अशुद्ध अनुवाद**—कुरान के मूलपाठ और पं० रामचन्द्र देहलवी के अनुसार, दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सदैव वहां रहने वाली हैं**'' अप-अनुवाद है। यह पाठ होना चाहिए—''**वे सदैव वहां रहने वाले हैं।**'' अप-अनुवाद के कारण उसकी समीक्षा भी उसी पर आधारित है। यह अनुवादक की भूल है। उदयपुर सं० सहित सभी सं० में अशुद्ध अनुवाद है।

६. **अशुद्ध अद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या २४ अशुद्ध है।

समीक्षक—भला, यह '**क़ुरान**' का बहिश्त[१] संसार से कौन-सी उत्तम बातवाला है? क्योंकि जो पदार्थ संसार में हैं, वे ही मुसलमानों के स्वर्ग में हैं। और इतना विशेष है कि यहाँ जैसे [स्त्री-] पुरुष जन्मते-मरते और आते-जाते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग में नहीं। किन्तु यहाँ की स्त्रियाँ सदा नहीं रहतीं और वहाँ बीबियाँ[२] अर्थात् उत्तम स्त्रियाँ [भी] सदा काल रहती हैं, तो जब तक क़यामत की रात न आवेगी, [और बहिश्त में जाने वाले पुरुषों का निर्णय होकर जब तक कि वे वहां नहीं जावेंगे] तब तक उन बेचारियों के दिन कैसे कटते होंगे?

हाँ, जो खुदा की उन पर कृपा होती होगी और खुदा के ही आश्रय समय काटती होंगी, तो ठीक है! क्योंकि यह मुसलमानों का स्वर्ग गोकुलिये गोसांइयों के गोलोक और मन्दिर के सदृश दीखता है; क्योंकि वहाँ स्त्रियों का मान्य बहुत है, पुरुषों का नहीं। वैसे ही खुदा के घर में भी स्त्रियों का मान्य अधिक है और उन पर खुदा का प्रेम भी बहुत है, उतना पुरुषों पर नहीं; क्योंकि बीबियों[३] को खुदा ने बहिश्त में सदा [के लिये पहले से ही] रक्खा है और पुरुषों को नहीं। वे बीबियाँ[४] विना ख़ुदा की मर्ज़ी स्वर्ग में कैसे ठहर सकतीं? जो यह बात ऐसी ही हो, तो ख़ुदा स्त्रियों में फस जाय॥ ९॥[५]

१०. आदम को सारे नाम सिखाये[६], फिर फ़रिश्तों के सामने करके कहा—''जो तुम सच्चे हो मुझे इनके[७] नाम बताओ। ३१।'' फिर कहा—''हे आदम! इनको इनके[८] नाम बता दे'', तब उसने बता दिये, तो खुदा ने फ़रिश्तों[९] से कहा कि ''क्या मैंने तुमसे नहीं कहा था कि निश्चय मैं पृथिवी

---

१. **बहिश्त**=स्वर्ग, जन्नत। इसमें इस्लाम स्वीकार करनेवालों को स्वर्ग में प्राप्त होनेवाले लालच दिये गये हैं जिससे इनके लालच में लोग इस्लाम को स्वीकार कर लें।

२-४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस आयत और इसकी समीक्षा में सर्वत्र ''**बीवियां**'' अपवर्तनी है, ''**बीबियां**'' वांछित है।

५. **समीक्षा-संशोधन आवश्यक**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में, इस आयत के अशुद्ध अनुवाद के कारण समीक्षा भी अशुद्ध हो गई है। समीक्षा की भाषा में बृ० कोष्ठकों के अन्तर्गत कुछ पाठ-परिवर्धन करने पर समीक्षा और आयत में तालमेल बन जाता है, अन्यथा पूरी समीक्षा बदलने की आवश्यकता होती है। ऋषिप्रोक्त भाषा और भाव को यथावत् रखते हुए थोड़ा परिवर्तन किया है जिससे अनुवादक की त्रुटि के कारण समीक्षा आरोप-योग्य न रहे। पाठ-संशोधन के बाद यह मूल आरोप कुरान पर बना ही हुआ है कि पुरुष तो क़यामत की रात को निर्णय होने के बाद बहिश्त में जायेंगे जबकि स्त्रियां कयामत की रात से पहले ही वहां हैं जो बहिश्त में जानेवाले पुरुषों को बीबियों के रूप में प्राप्त होंगी। वे कयामत की रात के निर्णय तक किसके सहारे रहती होंगी?

६. **आदम (Adam) नाम और वैदिक परम्परा की छाया**—यह आयत इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि प्राचीन वैदिक मान्यताएँ किस प्रकार परम्परा से निरन्तर प्रचलित रही हैं। कुरान का '**आदम**' वैदिक '**आदिम**' अर्थात् ब्रह्मा का ही विकृत रूप है और 'खुदा' का अर्थ 'स्वयम्भू' है अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न होने वाला। महर्षि लिखते हैं—''**आदिम से आदम इत्यादि, ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं....**'' (उपदेश मंजरी, उपदेश ५, पृ० २५) मनुस्मृति में कहा है कि आरम्भ में पदार्थों का नामकरण और कर्मविभाजन आदि ब्रह्मा ने वेद-शब्दों के द्वारा किया। इस आयत में भी आदम द्वारा नाम सिखाने और कर्मों तथा सभी पदार्थों को प्रकट करने का कथन है। मनुस्मृति का वह श्लोक है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु०॥

बाबा आदम—वैदिक परम्परा एवं वंशावली के अनुसार आदिम अर्थात् ब्रह्मा को सर्वजगत् का 'पितामह' माना जाता है। उसी प्रकार इस आयत में भी आदम को ''**बाबा**''=पितामह माना गया है। यह भी वैदिक परम्परा का अवशिष्ट रूप है। शैतान द्वारा दण्डवत् न करने की पुनरुक्ति आयतखण्ड ७७ में भी द्रष्टव्य है। **बाइबल** में भी आदम का वर्णन समु० १३ में आयतखण्ड संख्या ४,५,६,७,८ और १२ में द्रष्टव्य है।

७-८. **अपप्रयोग**—द्वि०सं० में ''**इनके**'' शुद्ध प्रयोग है। द्विप्र०, मूलप्रति सं० में दोनों स्थलों पर ''**उनके**'' ''**उनको उनके**'' अपप्रयोग हैं। द्वि० सं० में भी दूसरे स्थान पर ''**उनको उनके**'' अपप्रयोग हैं। सामने उपस्थित व्यक्तियों के लिए क्रमशः

और आसमान की छिपी वस्तुओं को और प्रकट-छिपे कर्मों को जानता हूँ। ३३।''

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३१। ३३॥[१०]

समीक्षक—भला ऐसे, फ़रिश्तों को धोखा देकर अपनी बड़ाई करना खुदा का काम हो सकता है? यह तो एक दम्भ की बात है। इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता और न ऐसा अभिमान करता। क्या ऐसी बातों से ही खुदा अपनी सिद्धाई जमाना चाहता है? हां, जंगली लोगों में कोई कैसा ही पाखण्ड चला लेवे, चल सकता है; सभ्यजनों में नहीं॥ १०॥

११. जब हमने फ़रिश्तों से कहा कि ''बाबा आदम[१] को दण्डवत् करो'', देखो, सभों ने दण्डवत् किया[२] परन्तु शैतान[३] ने न माना और अभिमान किया, क्योंकि वो भी एक काफ़िर था। ३४।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३४॥[४]

समीक्षक—इससे ख़ुदा सर्वज्ञ नहीं, अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान की पूरी बातें नहीं जानता। जो जानता होता तो शैतान को पैदा ही क्यों करता?[५] और ख़ुदा में कुछ तेज भी नहीं है, क्योंकि शैतान ने ख़ुदा का हुक्म ही न माना और ख़ुदा उसका कुछ भी न कर सका। और देखिये! एक शैतान काफ़िर ने ख़ुदा के भी छक्के छुड़ा दिये,[६] तो मुसलमानों के कथनानुसार जहाँ उससे भिन्न करोड़ों[७] काफ़िर हैं, वहाँ मुसलमानों के ख़ुदा और मुसलमानों की क्या चल सकती है?

कभी-कभी ख़ुदा भी किसी का रोग बढ़ा देता है, किसी को गुमराह कर देता है।[८] ख़ुदा ने ये बातें शैतान से सीखी होंगी और शैतान ने ख़ुदा से! क्योंकि विना ख़ुदा के शैतान[९] का उस्ताद और कोई नहीं हो सकता॥ ११॥

''**इनके**'', ''**इनको इनके**'' सर्वनाम वांछनीय हैं। उदयपुर सं० सहित अन्य सभी में अपप्रयोग हैं।

९. **फरिश्ता (फिरिश्तः)**=ईशदूत, अल्लाह का दूत।

१०. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं २९ अशुद्ध है। संख्या ३३ त्रुटित है।

१. **बाबा आदम**—आदि पुरुष पितामह आदम अर्थात् आदिम=ब्रह्म (द्र० गत पृ० की टि० ६)।

२. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलसं० में ''**सभों ने दण्डवत् किया**'' पाठ त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्धित है।

३. **शैतान का अर्थ**—अल्लाह की आज्ञाओं का उल्लंघन करनेवाला, अल्लाह से विमुख करनेवाला फ़रिश्ता। कुरान में यह '**जिन्न**' के लिए प्रयुक्त होता है। शैतान का उपनाम '**इब्लीस**' है। इसने आदितम फरिश्ते आदम के सामने झुकने से इन्कार किया था और अल्लाह के आदेशों को मानने से भी इन्कार किया था। इस कारण '**इब्लीस**' ही शैतान का प्रतीक बन गया।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में आयतसंख्या ३२ अशुद्ध है।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**जो जानता हो तो शैतान को पैदा ही क्यों किया?**'' पूर्व क्रियाओं के सम्बन्ध से उपर्युक्त संशोधित वाक्य ग्राह्य है। उदयपुर सं० में यही अपवाक्य है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**खुदा का भी छक्का छुड़ा दिया**'' अपपाठ है। मुहावरे की शब्दावली में ''**छक्के छुड़ाना**'' बहुवचनात्मक प्रयोग होता है। उदयपुर सं० में यही अपवाक्य है।

७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—लिपिकरों ने ग्रन्थ में अव्यवस्थित रूप से '**क्रोड, क्रोड़, करोड, करोड़**' चार प्रकार की वर्तनियां लिखी हैं। हिन्दी व्याकरण के अनुसार '**करोड़**' वर्तनी सही है। '**क्रोड**' शब्द '**गोद**' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**क्रोड़ों**' अपवर्तनी है जबकि इसी समुल्लास में अनेकत्र ''**करोड़**'' शुद्ध वर्तनी है।

८. **ख़ुदा द्वारा गुमराह करने का अन्यत्र वर्णन**—देखिये आयतखण्ड संख्या ६, कुरान स्वयं यह बात खुदा के लिए कहता है।

९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति संस्करण में यहां विशेष ''**फरिश्तों**'' अप्रासंगिक प्रयोग है। यहां शैतान का विशेष प्रसंग है। खुदा और शैतान एक दूसरे के उस्ताद हैं। क़ुरान में '**शैतान**' ही मूल पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

१२. हमने कहा कि ''ओ आदम! तू और तेरी जोरू बहिश्त में रहकर आनन्द से[१] जहाँ चाहो खाओ, परन्तु मत समीप जाओ उस वृक्ष के, कि पापी हो जाओगे। ३५।'' शैतान ने उनको डिगाया और उनको बहिश्त के आनन्द से खो दिया। तब हमने कहा कि ''उतरो, तुम परस्पर शत्रु होगे।[२] तुम्हारा ठिकाना पृथिवी है और एक समय तक लाभ है। ३६।'' आदम अपने मालिक की कुछ बातें सीखकर पृथिवी पर आ गया। ३७। मं० १। सि० १। सू० २। आ० ३५। ३६। ३७॥[३]

समीक्षक—अब देखिये ख़ुदा की अल्पज्ञता! अभी तो स्वर्ग में रहने का आशीर्वाद दिया और पुनः थोड़ी देर में कहा कि 'निकलो'। जो भविष्यत् [की][४] बातों को जानता होता तो वर ही क्यों देता? और बहकानेवाले शैतान को दण्ड देने में असमर्थ[५] भी दीख पड़ता है। और वह वृक्ष किसके लिये उत्पन्न किया था? क्या अपने लिये वा दूसरे के लिये? जो अपने लिये किया तो उसको क्या जरूरत थी? और[६] जो दूसरे के लिये, तो क्यों रोका? इसलिये ऐसी बातें न ख़ुदा की और न उसके बनाये पुस्तक में हो सकती हैं। आदम साहब ख़ुदा से कितनी बातें सीख आये? और जब पृथिवी पर आदम साहब आये तब किस प्रकार आये? क्या वह बहिश्त पहाड़ पर है वा आकाश पर? उससे कैसे उतर आये? अथवा पक्षी के तुल्य आये? अथवा ऊपर से पत्थर जैसे गिर पड़े?

इसमें यह विदित होता है कि जब आदम साहब मिट्टी[७] से बनाये गये, तो इनके स्वर्ग में भी मिट्टी[८] होगी। और जितने वहां और हैं वे भी वैसे ही फ़रिश्ते आदि होंगे, क्योंकि मिट्टी[९] के शरीर विना इन्द्रिय-भोग नहीं हो सकता। जब पार्थिव शरीर है, तो मृत्यु भी अवश्य होना चाहिये। यदि मृत्यु होता है, तो

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**में**' पाठ है, '**से**' या '**पूर्वक**' उपुयक्त है।

२. **अप-अनुवाद**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कोई परस्पर शत्रु है**'' वर्तमानवाचक अप-अनुवाद है। वस्तुतः, यहां भविष्य का कथन है कि मनुष्य और शैतान अथवा आदम-दम्पती और शैतान की परस्पर शत्रुता रहेगी। आयतोक्त भविष्यत्कालीन क्रिया के सम्बन्ध से भी यहां भविष्यत् कालीन क्रिया होनी उचित है। कुरान के मूलपाठ में भी भविष्यत् कालीन क्रिया-प्रयोग है। अतः ''**तुम परस्पर शत्रु होगे**'' कुरान का यह अनुवाद ग्राह्य है। उदयपुर सं० सहित सभी सं० में पूर्वोक्त अपपाठ है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलसं० में यहां आयतसंख्याएं ३३, ३४ अशुद्ध हैं, ३६, ३७ त्रुटित हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां '**की**' कारक प्रत्यय त्रुटित है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**देने से असमर्थ**'' अपप्रयोग है, ''**देने में असमर्थ**'' शुद्ध एवं ग्राह्य है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मूलह० से प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने यह पाठ छोड़ दिया—''**लिये? जो अपने लिये किया तो उसको क्या जरूरत थी? और**'' यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है। यह संतोष की बात है कि अन्य सभी सं० में इसको ग्रहण कर लिया गया है।

७-९. **मुद्रण-लिपिकर की भूल में भटक गये विद्वान् सम्पादक**—द्वि०सं०, स्वामी वेदानन्द सं०, पं० सिद्धान्ती सं०, मूलसं० में संशोधित ''**मट्टी**'' पद के स्थान पर ''**मही**'' पाठ स्वीकार कर **पं० भगवद्दत्त** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** सदृश विद्वान् जहां ग्रन्थ की भाषा को एक कदम पीछे ले आये, वहीं साथ ही मुद्रण-लिपिकर की भूल-भुलैया में भटक गये। मूल हस्तलेख में यहां तीनों ही स्थानों पर '**मट्टी**' शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने दृष्टिदोष से '**ट्ट**' को '**ह**' समझकर ''**मही**'' लिख दिया। द्विप्र० में भी अशुद्ध छपा। परोपकारिणी के १८ वें द्वितीय संस्करण तक ''**मही**'' अशुद्ध पाठ छपता रहा। १९वें संस्करण के प्रकाशन के समय किसी का इस अव्यावहारिक पद पर ध्यान गया होगा तो उसने मूलहस्तलेख को देखकर शुद्ध कर दिया—'**मिट्टी**'। तब से 'मिट्टी' ही छपता आ रहा है। किन्तु उक्त विद्वान् सम्पादक फिर से पुराने संस्करणों के पाठ में अटक गये। यहां तक कि पं० मीमांसक जी ने टिप्पणी में ''**मही**'' का अर्थ '**मट्टी**' देकर उसको स्पष्ट भी कर दिया, जबकि 'मही' का 'मट्टी' अर्थ करना खींचातानी है। इन्होंने इस पर भी ध्यान नहीं दिया कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में पचासों बार '**मिट्टी**' प्रयोग का संदर्भ आया है वहां महर्षि ने कहीं भी '**मही**' का प्रयोग नहीं किया है। अतः लिपिकरकृत त्रुटि होने के कारण '**मही**' पाठ ग्राह्य नहीं है। उदयपुर सं० ने तीनों स्थलों पर संशोधित पद ले करके अच्छा किया है।

वे वहां से कहां जाते हैं? और मृत्यु नहीं होता, तो उनका जन्म भी नहीं[१] हुआ। जब जन्म है, तो मृत्यु अवश्य ही है। यदि ऐसा है, तो जो '**क़ुरान**' में लिखा है कि बीबियाँ सदैव बहिश्त[२] में रहती हैं, सो झूठा हो जायगा, क्योंकि उनका भी मृत्यु अवश्य होगा। जब ऐसा है तो बहिश्त में जानेवालों का भी मृत्यु निश्चित होगा॥ १२॥

१३. उस दिन से डरो कि जब कोई जीव किसी जीव से कुछ भरोसा न रक्खेगा, न उसकी सिफ़ारिश[३] स्वीकार की जावेगी, न उससे बदला लिया जावेगा और न वे साहाय्य पावेंगे। ४८।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ४८॥[४]

समीक्षक—क्या वर्तमान दिनों में न डरें? बुराई करने से[५] सब दिन डरना चाहिये। जब सिफ़ारिश न मानी जावेगी, तो फिर पैग़म्बर की गवाही वा सिफ़ारिश से ख़ुदा स्वर्ग देगा, यह बात क्योंकर सच हो सकेगी? क्या खुदा बहिश्तवालों का ही सहायक है, दोज़ख़वालों का नहीं? यदि ऐसा है, तो ख़ुदा पक्षपाती है॥ १३॥

१४. हमने मूसा[६] को किताब और मोज़िजे[७] दिये....। ५३।[८]

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ५३॥[९]

समीक्षक—जो मूसा को किताब दी तो '**क़ुरान**' का होना निरर्थक है। और उसको आश्चर्यशक्ति दी, यह '**बाइबल**' और '**क़ुरान**' में भी लिखा है, परन्तु यह बात मानने योग्य नहीं, क्योंकि जो ऐसा होता तो अब भी होता; जो अब नहीं, तो पहिले भी न था। जैसे स्वार्थी लोग आजकल भी अविद्वानों

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**नहीं**' पद त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

२,५. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**बिहिश्त**'' अग्राह्य वर्तनी है जबकि सर्वत्र '**बहिश्त**' पाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। आगे दोनों हस्त० सं० में ''**बुराई करने में**'' अपप्रयोग है, '**से**' कारक प्रत्यय वांछित है।

३. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और वर्तनी की अव्यवस्था**—इस आयतखण्ड और समीक्षा में तीन बार '**सिफ़ारिश**' शब्द का प्रयोग हुआ है। मूलह० में तीनों स्थलों पर अशुद्ध वर्तनी ''**सफारिश**'' है। मुद्रणह० में पहले स्थान पर ''**शिफारिश**'' अपवर्तनी है। अन्य दोनों स्थलों पर शुद्ध है। यही अशुद्धि द्विप्र० में है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां ४६ अशुद्ध संख्या है।

६. **मूसा (Moses)**—इन आयतों में यहूदी धर्म के संस्थापक मूसा को किताब देने का कथन है। बाइबल का पूर्वार्ध भाग '**तौरेत**' नाम से जाना जाता है। वह मूसा द्वारा प्रोक्त है। उक्त कथन करके यद्यपि उस पुस्तक को भी 'कुरान' ने मान्यता दी है किन्तु व्यवहार में दोनों एक-दूसरे की पुस्तकों को धर्मग्रन्थ नहीं मानते अपितु इन बातों को लेकर परस्पर भयंकर रक्तपात करते हैं। यह अवश्य है कि इस प्रकार के कथन इन्हें एक परम्परा के मत सिद्ध करते हैं। पृष्ठ ८४५ की टिप्पणी संख्या २ भी द्रष्टव्य हैं।

७. **मोजिज़े**=चमत्कार-शक्ति, आश्चर्यशक्ति या दिव्य ज्ञानदृष्टि। सभी संस्करणों में ''**मौज़िजे**'' अपपाठ है। वेस में संशोधित है। मूसा का जीवन असम्भव चमत्कारों से भरा है। मूसा और ईसा को खुदा की ओर से किताब और मोज़िजे देने की पुनरुक्ति द्रष्टव्य है आयतखण्ड संख्या २२, १२६ में भी।

८. **क्रमभ्रष्ट आयत का उचित संशोधन**—संकलनकर्त्ता की भूल से मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में यहां आयतखण्ड संख्या १४ में आयत संख्या ५३, तथा आयतखण्ड संख्या १७ की आयत ६५ और ६६ को संयुक्त किया हुआ है। उससे क्रम अस्तव्यस्त हो गया है क्योंकि इसके बाद आयतखण्ड संख्या १५, १६ में ५८, ६० संख्या वाली आयतें हैं। भद, युमी, द्वितीय सं० में ५३ और ६५, ६६ संख्या वाली आयतों को पृथक् करके ६५, ६६ संख्या वाली आयतों और उनकी समीक्षा को आयत संख्या ६० के बाद उचित क्रम में रख दिया है। क्रम में संशोधन अनिवार्य है, क्योंकि यह कुरान में उचित स्थान पर पठित हैं। वेस, सिद्धान्ती और उदयपुर सं० में भ्रष्ट क्रमसंख्या है। उन्होंने संकलनकर्त्ता लेखक की भूल को न सुधार कर प्रतिष्ठापित किया है।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में **५०** संख्या अशुद्ध है। पं० भगवद्दत्त सं० में यही अपसंख्या है।

के सामने सिद्ध[१] बन जाते हैं, वैसे उस समय भी कपट किया होगा। क्योंकि खुदा और उसके सेवक अब भी विद्यमान हैं, पुनः इस समय खुदा आश्चर्यशक्ति[२] क्यों नहीं देता और [वे आश्चर्यकर्म क्यों] नहीं कर सकते?[३] जो मूसा को किताब दी थी, तो पुनः '**क़ुरान**' का देना क्या आवश्यक था? क्योंकि जो भलाई-बुराई करने-न करने का उपदेश [होता है वह] सर्वत्र एक-सा होता है, तो पुनः भिन्न-भिन्न पुस्तक करने से पुनरुक्त दोष होता है। क्या मूसा जी आदि को दिये हुये पुस्तक में[४] खुदा [कुछ][५] भूल गया था?॥ १४॥

१५. ....और कहो कि क्षमा मांगते हैं, हम क्षमा करेंगे तुम्हारे पाप और अधिक भलाई करनेवालों के। ५८।[६] मं० १। सि० १। सू० २। आ० ५८॥[७]

समीक्षक—भला, यह खुदा का उपदेश सबको पापी बनानेवाला है वा नहीं? क्योंकि जब पाप क्षमा होने का आश्रय मनुष्यों को मिलता है तब पापों से कोई भी नहीं डरता। इसलिये ऐसा कहनेवाला ख़ुदा और यह ख़ुदा का बनाया हुआ पुस्तक नहीं हो सकता; क्योंकि वह न्यायकारी है, अन्याय कभी नहीं करता, और पाप[८]-क्षमा करने में अन्यायकारी हो ही जाता है, किन्तु यथापराध दण्ड देने में ही न्यायकारी हो सकता है॥ १५॥

१६. जब मूसा ने अपनी क़ौम के लिये पानी माँगा हमने कहा कि ''अपना असा[९] पत्थर पर मार।'' उसमें से बारह[१०] चश्मे बह निकले। ६०।[११] मं० १। सि० १। सू० २। आ० ६०॥[१२]

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत व्यर्थ परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में ''**विद्वान्**'' अप-परिवर्तन है। मूलह० का पाठ प्रसंग की दृष्टि से अधिक सटीक है। यहां 'विद्वान्' का नहीं अवतारी था सिद्ध बनकर स्वार्थ साधने का प्रसंग है।

२. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वितीय सं० में संशोधित पाठ '**आश्चर्य शक्ति**' है। ऊपर भी '**मोज़िजे**' का यही अर्थ दिया है, अतः यही ठीक है। आयत क्रमसंख्या १४ में यही अर्थ दिया है। मूलप्रति सं० में '**आश्चर्यकर्म**' शब्दपरिवर्तन अनुपयुक्त है। यह अगले वाक्य खण्ड में प्रयुक्त होने योग्य प्रयोग है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**और नहीं कर सकते**'' अपूर्ण और अस्पष्ट वाक्य है। प्रतीत होता है कि मूलप्रति सं० में लिखा गया '**आश्चर्य कर्म**' यहां आना चाहिए था, वह लिपिकर से शीघ्रता में '**आश्चर्यशक्ति**' के स्थान पर लिखा गया है। प्रश्नवाचक होने से '**क्यों**' भी होना अपेक्षित है। आगे बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ का परिवर्धन अभीष्ट है।

४. **मुद्रणलिपिकरकृत शैलीविरुद्ध पाठ**—मूलह० में यहां ''**किताब में**'' पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति बनाते समय हिन्दीकरण करके 'किताब' के स्थान पर 'पुस्तक' अनुवाद कर दिया किन्तु यह ध्यान नहीं दिया कि पुस्तक का प्रयोग, ग्रन्थकार पुंल्लिग में करते हैं। शब्द तो बदल दिया किन्तु क्रियाएं वही स्त्रीलिंग की रह गईं। द्विप्र०, द्वि०सं०, मूलसं०, उदयपुर सं० आदि में स्त्रीलिंग में प्रयोग है, जो शैलीविरुद्ध है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**कुछ**' पद त्रुटित है।

६,११. **क्रमविरुद्ध और स्थानभ्रष्ट आयतखण्ड**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ये दोनों १५, १६ आयतखण्ड (अर्थात् ५८, ६० आयतें) क्रमविरुद्ध रूप में हैं। ये आयत संख्याएं ९७, ९८ के बाद लिखी मिलती हैं जबकि इनका उचित क्रम आयतखण्ड संख्या ५३ और ८१ के मध्य है। **स्वामी वेदानन्द सं०, पं० सिद्धान्ती सं०** में अपक्रम है किन्तु **पं० भगवद्दत्त सं०** और **पं० मीमांसक सं०** में संशोधित है। **उदयपुर सं०** ने ''मूलस्वरूप अक्षुण्ण रखने'' के मिथ्यामोह में क्रम-विरुद्ध पाठ को ही ग्रहण किया है जबकि उसके समक्ष संशोधन का भी विकल्प था। अशुद्धि के कारण के लिए पृ० ९५२ पर टि० ८ देखिए।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ५४ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में ८५ अशुद्ध है।

८. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में ''**पाप**'' पद त्रुटित है। मूलह०, मूलप्रति सं० में है।

९. **असा**=लाठी। मूसा के जीवन में वर्णित यह असम्भव चमत्कार है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय मिश्र के लोग अशिक्षित थे और वे किसी भी बात पर विश्वास कर लेते थे। इसकी पुनरुक्ति द्रष्टव्य है आयतखण्ड संख्या ८३ पर।

१०,१४,१६. **महाभ्रष्ट परिवर्तन द्वितीय सं० में**—मुद्रण-हस्तलेख, द्विप्र० के समय तक यह पाठ ठीक था। द्वि०सं० में किसी शोधक

समीक्षक—अब देखिये, इन गपोड़ों के तुल्य दूसरा कोई होगा ?[१३] एक पत्थर की शिला में डंडा मारने से बारह[१४] झरने निकलना सर्वथा असम्भव है। हाँ,[१५] उस पत्थर को भीतर से पोला कर, उसमें पानी भर, बारह[१६] छिद्र करने से तो सम्भव है, अन्यथा नहीं॥[१७] १६॥

१७. ....हमने उनको कहा कि ''तुम निन्दित बन्दर हो जाओ। ६५।'' यह एक भय दिया जो उनके सामने और पीछे थे उनको, और शिक्षा ईमानदारों को। ६६।[१]

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ६५, ६६॥[२]

समीक्षक—जो ख़ुदा ने 'निन्दित बन्दर हो जाना' केवल भय देने के लिये कहा था, तो उसका कहना मिथ्या हुआ वा छल किया। जो ऐसी बातें करता [है][३] और जिसमें ऐसी बातें हैं, वह न ख़ुदा और न यह पुस्तक ख़ुदा का बनाया हो सकता है॥ १७॥

१८. इस तरह मुर्दों को अल्लाह[४] जिलाता है और तुमको[५] अपनी निशानियाँ दिखलाता है कि तुम समझो। ७३। मं० १। सि० १। सू० २। आ० ७३॥[६]

समीक्षक—यदि[७] मुर्दों को अल्लाह[८] जिलाता था तो अब क्यों नहीं जिलाता ? क्या क़यामत की रात तक क़ब्रों में पड़े रहेंगे ? आजकल दौरासुपुर्द[९] हैं ? क्या इतनी ही ईश्वर की निशानियाँ हैं ? पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि निशानियाँ नहीं हैं ? क्या जगत् में जो विविध रचनाविशेष प्रत्यक्ष दीखती हैं ये[१०]

ने इस आयत में और इसकी समीक्षा में तीन स्थानों पर पठित ''**बारह**'' को ''**बाहर**'' पाठ बनाकर महाभ्रष्ट कर दिया। द्वि०सं० में वही महाभ्रष्ट पाठ अब तक छपता आ रहा है। शोधक यदि कुरान को या मुद्रणप्रति को ही ध्यान से देख लेता तो उसको अपनी त्रुटि का आभास हो जाता। प्रायः सम्पादकों ने इस पाठ को शुद्ध कर लिया है। किन्तु आश्चर्य है कि हमारे कुछ सम्पादक-प्रकाशक अब तक ऐसे-ऐसे महाभ्रष्ट पाठ पाठकों को पढ़ा रहे हैं!! द्विप्र०, उदयपुर सं० में संशोधित है।

१२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०में यहां ८८ और द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ५६ अशुद्ध है।

१३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के उपर्युक्त प्रभावकारी पाठ को मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्तित करके इस प्रकार शिथिल बनाया है—''**इन असंभव बातों के तुल्य दूसरा कोई कहेगा ?**'' यह परिवर्तन अनावश्यक है। इसमें परिवर्तन से इसका अर्थवैशिष्ट्य नष्ट हुआ है। मूलप्रति सं० का पाठ अधिक सटीक है। ''**असम्भव**'' प्रयोग तो पहले से ही अगली दूसरी पंक्ति में पठित है। यह पुनरुक्ति मात्र हो गई है।

१५. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**जो**'' अशुद्ध और अनावश्यक प्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इसके स्थान पर ''**हाँ**'' संशोधन करके उचित किया है।

१७. **मूसा के असम्भव चमत्कारों की पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ८०, ८३, १२८। **बाइबल में**—समु० १३ में आयत खण्ड संख्या ४० में।

१. **अपक्रम का संशोधन**—यह आयतखण्ड मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, उदयपुर सं० आदि में अपक्रम में है। उसका इस सं० में संशोधन किया गया है। द्र० पृ० ९५२ पर टि० ८।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ५०, ६१ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यहां ५३ अशुद्ध है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**है**' क्रिया त्रुटित है।

४,८. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनावश्यक पाठान्तर**—मुद्रणह०, द्वि०सं० में '**अल्लाह**' के स्थान पर '**खुदा**' परिवर्तन किया है जो अनुचित है। कुरान के मूलपाठ में '**अल्लाह**' ही है।

५. **द्वितीय सं० में अपपाठ**—द्वि० सं० में ''**तुमे को**'' अपपाठ है। मुद्रणदोष भी हो सकता है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां आयतसंख्या ''**५०**'' अशुद्ध है। द्विप्र० में ६७ अशुद्ध है।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**क्या**'' निरर्थक प्रयोग है। '**यदि**' सार्थक-शुद्ध है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० और मूलप्रति सं० में ''**दौड़ासुपुर्द**'' अपप्रयोग है। '**दौरासुपुर्द**' होना अभीष्ट है। द्र० पृ० ९२१ पर टिप्पणी। भद, युमी में भी अशुद्ध है, वेस, जस, उदयपुर सं० में संशोधित है।

निशानियाँ कम हैं ? ॥ १८ ॥

१९. किन्तु जो बुराई कमायें और उन्हें उनका अपराध घेर लेवे तो वे लोग सदैव आग में वास करेंगे। ८१। ....[जो ईमान लाये और अच्छे कर्म किये] वे सदैव काल बहिश्त अर्थात् वैकुण्ठ में वास करेंगे। ८२।[१] मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८१, ८२ ॥[२]

समीक्षक—कोई भी जीव अनन्त पुण्य-पाप[३] करने का सामर्थ्य नहीं रखता, इसलिये सदैव स्वर्ग-नरक में नहीं रह सकते। और जो ख़ुदा ऐसा करे तो वह अन्यायकारी और अविद्वान् हो जावे। क़यामत की रात न्याय होगा तो [उस एक रात तक के लिये] मनुष्यों के पुण्य-पाप[४] बराबर होना उचित है। जो अनन्त नहीं है उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? और सृष्टि हुए सात-आठ हज़ार वर्षों से इधर ही बतलाते हैं, क्या इसके पूर्व ख़ुदा निकम्मा बैठा था, और क़यामत के पीछे भी निकम्मा रहेगा ? ये सब बातें[५] लड़कों के समान हैं, क्योंकि परमेश्वर के काम सदैव वर्तमान रहते हैं, और जितने जिसके पाप-पुण्य हैं, उतना ही उसको फल देता है। इसलिये '**क़ुरान**' की यह बात सच्ची नहीं ॥ १९ ॥

२०. जब हमने तुमसे प्रतिज्ञा कराई न बहाना लोहू किसी अपने आपस में, और किसी अपने आपस के[६] **घरों से न निकालना, फिर प्रतिज्ञा की तुमने,**[७] **इसके तुम ही साक्षी हो। ८४। फिर तुम वे लोग हो कि अपने आपस को मार डालते हो, [और] अपनों में से एक फ़िरके को उनके घरों से निकाल देते हो....। ८५।**[८] मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८४। ८५ ॥[९]

समीक्षक—भला, प्रतिज्ञा करानी और करनी अल्पज्ञों की बात है वा परमात्मा की ? जब परमेश्वर

---

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में "**यह**" एकवचन में अपप्रयोग है, बहुवचन चाहिये है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० संशोधित है।

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से आयत त्रुटित अपपाठ और क्रम भंग**— मुद्रणह० में प्रतिलिपि करते समय प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने फिर द्विप्र० और द्वितीय सं० में पहली आयत "**किन्तु जो.....करेंगे**" प्रमादवश त्रुटित छोड़ी है जबकि दोनों आयतें एक-दूसरी से सम्बद्ध और अन्योन्य-आश्रित हैं और मूलह० में हैं। ध्यान देने की बात यह है कि समीक्षा में अभी भी दोनों आयतों की समीक्षा विद्यमान है। पुण्य और स्वर्ग के साथ पाप और नरक का भी उल्लेख है।

मूलसं० में क्रमभंग—मूलह०, मूलप्रति सं० में **क्रमभंग** करके आयत लिखी है। पहली आयत बाद में और बाद की पहले है। इसी प्रकार भाषा अस्तव्यस्त एवं त्रुटित है। "**उन्हें उनका**" के स्थान पर "**उसे उसका**" एकवचनात्मक अशुद्ध पाठ है जबकि पूर्वापर में बहुवचनपरक प्रयोग है। "**अपराध घेर लेवे तो**" के स्थान पर "**अपराध घेर लेवे**" अपूर्णपाठ है।

बृहत् कोष्ठकान्तर्गत पाठ दोनों संस्करणों में त्रुटित हैं जबकि उसके बिना आयतवाक्य ही पूर्ण नहीं होता। कौन बहिश्त में वास करेंगे, यह आयत के पूर्वपाठ में है जो बृहत् कोष्ठकान्तर्गत है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में ७५ आयतसंख्या अशुद्ध है।

३-४. **अपपाठक्रम**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**पुण्य-पाप**" यह क्रम होना आवश्यक है, क्योंकि इस समीक्षा की दूसरी पंक्ति में उनका फल "**स्वर्ग-नरक**" प्रदर्शित किया है। "**पाप-पुण्य**" पाठ अपक्रम से है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ये बातें सब लड़कों के समान हैं**" वाक्य में "**सब**" विशेषण "**लड़कों**" से पूर्व जुड़ने से निरर्थक है। यह "**बातें**" का विशेषण है, अतः उससे पूर्व '**सब बातें**' प्रयोग वांछनीय है।

६. **क़ुरान में पक्षपात की पराकाष्ठा**—"**अपने आपस में**" अर्थात् अपने मुसलमान जनों में, "**अपने-आपस के**" अर्थात् अपने मुसलमानों के। कुरानकार को दूसरों को मारने, तबाह करने, घसीटने, पोरी-पोरी काटने आदि के आदेश देने पर दया नहीं आई, अपने लोगों अर्थात् मुसलमानों के परस्पर मारने और उनको घर से निकालने पर भी दया आ रही है। पक्षपात देखिए!!

७-८. **त्रुटित एवं अस्त-व्यस्त पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**फिर प्रतिज्ञा की तुमने**" पाठ त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० तथा कुरान में है। द्वि०सं० में अन्तिम वाक्य अस्त-व्यस्त है—"**एक फ़िरके को आप में से घरों उनके से निकाल देते हो।**"

सर्वज्ञ है, तो ऐसा कड़ाकूट[१] संसारी मनुष्य के समान क्यों करेगा? भला, यह कौन-सी भली बात है कि आपस का लोहू न बहाना, अपने मतवालों को घर से न निकालना, अर्थात् दूसरे मतवालों का लोहू बहाना और घर से निकाल देना! यह मिथ्या, मूर्खता और पक्षपात की बात नहीं है क्या? क्या परमेश्वर प्रथम से ही नहीं जानता था कि ये प्रतिज्ञा से विरुद्ध करेंगे? इससे विदित होता है कि मुसलमानों का ख़ुदा भी ईसाइयों [के ईश्वर] की बहुत-सी उपमा रखता है।[२] और यह '**क़ुरान**' स्वतन्त्र पुस्तक[३] नहीं बन सकता, क्योंकि इसमें से थोड़ी-सी बातों को छोड़कर बाकी सब बातें '**बाइबल**' की हैं॥ २०॥

२१. ये वे लोग हैं कि जिन्होंने आख़िरत[४] के बदले जिन्दगी यहां की मोल ले ली, उनसे पाप कभी हलका न किया जावेगा और न उनको सहायता दी जावेगी। ८६।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८६॥[५]

समीक्षक—भला, ऐसी ईर्ष्या-द्वेष की बातें कभी ईश्वर की ओर से[६] हो सकती हैं? 'दूसरों की कहानी और दूसरों से कहनी'[७] और किसी का पक्ष करना ख़ुदा की बात नहीं हो सकती किन्तु किसी मतावलम्बी मनुष्य की ओर से है[८]।[९] जिन लोगों के पाप हलके[१०] किये जायेंगे वा जिनको सहायता दी जावेगी वे कौन हैं? यदि वे पापी हैं और पापों का दण्ड दिये विना हलके किये जावेंगे, तो अन्याय होगा। जो सजा देकर हलके किये जावेंगे, तो जिनका बयान इस आयत में है, ये भी सजा पाके हलके हो सकते हैं। और दण्ड देकर भी हलके न किये जावेंगे, तो भी अन्याय होगा। जो पापों से हलके किये जानेवालों से प्रयोजन धर्मात्माओं से है, तो उनके पाप तो आप ही हलके हैं, खुदा क्या करेगा? इससे

---

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में यहां ६६, ६७ और द्विप्र० में ७७, ७८ आयतसंख्याएं अशुद्ध हैं।

१. **कड़ाकूट**=व्यर्थ श्रम या व्यर्थ बातें करनेवाला। यह गुजराती भाषा का प्रयोग है।

२. **ईसाइयों के ईश्वर की उपमा**—जैसे कि त्रयोदश समुल्लास में आयतों की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष सामने आया है कि ईसाइयों का ईश्वर मनुष्यवत्, स्वार्थी, क्रूर, अन्यायी, अत्याचारी, पक्षपाती, एकदेशी, असर्वज्ञ, कलह कराने और बढ़ानेवाला, मिथ्याचार करनेवाला, लोगों को बहकानेवाला है, उसी स्वभाव का मुसलमानों का ईश्वर है। यह ज्ञान चतुर्दश समु० में समीक्षित आयतों से हो रहा है। **त्रुटित पाठ**—कोष्ठकान्तर्गत पाठ अति-आवश्यक है। उसके बिना अनर्थ प्रकट होता है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मुद्रणह०, द्विप्र० तथा सभी द्वि०सं० में '**पुस्तक**' पद त्रुटित है। मूलह०, मूलसं० में है।

४. **आखिरत**=परलोक, परिणाम, क़यामत का न्याय। कुरान के अनुसार, कयामत (महाप्रलय) के पश्चात् अल्लाह नयी सृष्टि का निर्माण करेगा। तब सभी मृतकों को उठा-जिलाकर वह कर्मफल के अनुसार नया जीवन प्रदान करेगा। अल्लाह के आज्ञाकारी बन्दों अर्थात् मुसलमानों को स्वर्ग=जन्नत मिलेगा और काफ़िरों को नरक=जहन्नुम। इस सिद्धान्त को '**आख़िरत**' कहा जाता है। **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**आख़रत**'' अशुद्ध वर्तनी है। यह शब्द '**आख़िर**' से बना है।

६. **त्रुटित पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**ओर से**'' पाठ त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित करके जोड़ दिया है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में यहां ६९ और द्विप्र० में ७९ आयतसंख्या अशुद्ध है।

७. '**दूसरों की कहानी दूसरों से कहनी**'—इधर-उधर की बातें कहना या लगाना, ऊटपटांग बातें करना।

८. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**दूसरों की कहानी.....ओर से है**'' पाठ त्रुटित रह गया है। मूलप्रति सं० में है। उदयपुर सं० आदि सभी द्वि०सं० में यह पाठ त्रुटित है।

९. **मुंशी समर्थदान द्वारा परिवर्धित समीक्षा**—''**जिस लोगों.....देना चाहिये**'' सात पंक्तियों का पाठ मूलह० में नहीं है। मुद्रणप्रति में मुंशी जी के हस्तलेख में परिवर्धित है।

१०. **अयोग्य लिपिकर-शोधक एवं अपवर्तनी**—इस समीक्षा में छह बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है। द्विप्र० में पहले दो स्थलों पर ''**हल्के**'' अपवर्तनी है, अगले चार स्थलों पर शुद्ध ''**हलके**'' वर्तनी छपी है। एक ही अनुच्छेद में दो-दो प्रकार की वर्तनी देखकर यह उक्ति चरितार्थ होती है 'जैसे नागनाथ, वैसे सांपनाथ।' 'हल्का' अरबी का शब्द है जिसका अर्थ 'क्षेत्रविशेष' होता है, जबकि 'हलका' हिन्दी का है जिसका अर्थ 'स्वल्प भारयुक्त' अथवा 'तनावरहित' होता है।

यह लेख विद्वान् का नहीं। और **वास्तव में धर्मात्माओं को सुख और अधर्मियों को दुःख उनके कर्मों के अनुसार सदैव देना चाहिये॥** २१ ॥

२२. निश्चय हमने मूसा को किताब दी[१] और उसके पीछे हम पैगम्बर को लाये और मरियम के पुत्र ईसा[२] को प्रकट मोज़िजे अर्थात् दैवीशक्ति और सामर्थ्य दिये उसके साथ रूहुल्कुदुस* के।[३] जब तुम्हारे पास उस वस्तुसहित पैग़म्बर आया कि जिसको तुम्हारा जी चाहता नहीं, फिर तुमने अभिमान किया, एक मत को झुठलाया और एक को[४] मार डालते हो। ८७।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८७॥[५]

समीक्षक—जब '**क़ुरान**' में साक्ष्य है कि मूसा को किताब दी, तो उसका मानना मुसलमानों को आवश्यक हुआ और जो-जो उस पुस्तक में दोष हैं वे भी मुसलमानों के मत में आ गिरे। और 'मोजिज़े'[६] अर्थात् दैवीशक्ति की बातें सब अन्यथा हैं। भोले-भाले मनुष्यों को बहकाने के लिये लोगों ने झूठ-मूठ चला ली हैं, क्योंकि सृष्टिक्रम और विद्या से विरुद्ध सब बातें झूठी ही होती हैं। जो उस समय 'मोजिज़े'[७] थे, तो इस समय क्यों नहीं? जो इस समय नहीं, तो उस समय भी न थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं॥ २२ ॥

२३. .....और इससे पहले काफ़िरों पर विजय चाहते थे, जो कुछ पहचाना था, जब उनके पास वह आया, झट काफ़िर हो गये, काफ़िरों पर लानत है अल्लाह की। ८९।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ८९॥[८]

समीक्षक—क्या जैसे तुम अन्य मत-वालों को काफ़िर कहते हो, वैसे वे तुमको काफ़िर नहीं कहते हैं?[९] और उनके मत के ईश्वर की ओर से धिक्कार नहीं देते हैं? फिर कहो कौन सच्चा और कौन झूठा?

---

* 'रूहुल्कुदुस'[१०] कहते हैं जिबरईल को, जो कि हरदम मसीह के साथ रहता था।

---

१. **मूसा की किताबें**—यहूदी मत में मान्यता है कि यहूदी धर्म के प्रचार-प्रसार, उपदेश के लिए परमात्मा की ओर से जो किताब मूसा के हृदय में उतरी उसका नाम '**तौरेत**' है यह ३९ पुस्तकों का संग्रह है। बाइबल के आरम्भ में पाई जाने वाली 'तौरेत' नामक पुस्तकों को 'ओल्ड टेस्टामेंट'(Old Testament) अर्थात् 'पुराना धर्मनियम' कहा जाता है। मूसा से यहूदी मत चला। मूसा को किताब देने की पुनरुक्ति द्र० है आयतखण्ड संख्या समु० १४,१२६ में भी।

२. **पैगम्बर ईसा और उसकी पुस्तक**—मूसा के बाद मरियम पुत्र ईसा मसीह पैगम्बर के रूप में माना गया। ईसाई धर्म विषयक पुस्तक का नाम '**इंजील**' (New Testament) अर्थात् 'नया धर्मनियम' है। यह ईसाइयों की विशेष धर्मपुस्तक है जो बाइबल के उत्तरार्ध में संयुक्त है। ईसा की माता का वर्णन समु० १३ में आयतखण्ड ६३ में भी द्रष्टव्य है।

३,१०. '**रूहुल्कुदुस**' (**The holy spirit**)—इसका अर्थ '**पवित्र आत्मा**' है। अल्लाह के फरिश्ते हजरत जिबरईल का ही यह नाम है। अल्लाह ने कुछ सन्देश इसके माध्यम से ईसा मसीह को पहुँचाये थे। यह ईसा मसीह का घनिष्ठ साथी था। तीनों सं० में 'रूहुलकुद्स' और ''रूहलकुद्स'' अपवर्तनियां हैं। दोनों हस्तलेखों में ''**रुहलकुत्स**'' अपवर्तनी है।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**एक को**'' त्रुटित पद हैं। मुद्रणह०, द्विप्र० में परिवर्धित है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, यहां ७० और द्विप्र० में ८० आयतसंख्या अशुद्ध है।

६,७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर ''**मौजिज़े**'' अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में भी अपवर्तनी है।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में यहां आयतसंख्या ७२, उदयपुर में ९२, द्विप्र० में ८२, युमी में ८८ अशुद्ध है।

९. **उचित संशोधन**—द्विप्र० में ''**वैसे वे तुमको काफ़िर कहते हैं**'' को नकारात्मक प्रश्नवाचक बनाया गया है—''**वैसे वे तुमको काफिर नहीं कहते हैं?**'' यह परिवर्तन उचित है। दोनों सं० में अगले वाक्य में भी '**नहीं देते हैं**' पाठ अपेक्षित है।

जो **विचार कर देखते हैं तो सब मत-वालों में झूठ पाया जाता है और जो सच है सो सबमें एक-सा है। ये सब लड़ाइयाँ मूर्खता की हैं॥** २३ ॥

२४. आनन्द का सन्देशा ईमानदारों को। ९७। अल्लाह, फ़रिश्तों,[१] पैग़म्बरों, ज़िबरईल और मीकाईल[२] का जो शत्रु है, अल्लाह भी ऐसे काफ़िरों का शत्रु है। ९८।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ९७। ९८॥[३]

समीक्षक—जब मुसलमान कहते हैं कि 'ख़ुदा लाशरीक है' फिर यह फौज की फौज 'शरीक' कहां से कर दी ? क्या जो शैतान का शत्रु है वह परमेश्वर का भी शत्रु है ?[४] क्या वह ख़ुदा की आज्ञा से विरुद्ध नहीं चलता ? इससे ख़ुदा पक्षपाती होता है॥ २४ ॥

२५. ....और अल्लाह ख़ास करता है, जिसको चाहता है दया करता है। १०५।[५]

मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०५॥[६]

समीक्षक—क्या जो मुख्य [बनाने] और दया करने योग्य न हो, उसको भी प्रधान बनाता[७] और

---

१. **अपवर्तनी**—मुद्रणहस्त० में "**संदेसा**" और "**फरिस्तों**" अपवर्तनियां हैं। द्विप्र० में पहली संशोधित कर दी किन्तु दूसरी अपवर्तनी यथावत् है। अन्य सं० में संशोधन कर दिया है।

२. **जिबरईल**=(Gabriel), जिबरील। टिप्पणी में 'जबरईल' वर्तनी है। एकरूपता के लिए आयतोक्त वर्तनी ग्रहण की है। **मीकाईल**=(Michael) ये दोनों अल्लाह के फ़रिश्ते हैं। विशेष टिप्पणी द्रष्टव्य है पृ०१०४१ पर संख्या १।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में ८० के और द्विप्र० में आयत ९७ के स्थान पर ९० अशुद्ध है, ९८ त्रुटित है।

४. **मुद्रणकालीन भ्रष्ट परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह० में शुद्ध पाठ है, किन्तु द्विप्र० में मुद्रणकाल में अशुद्ध पाठ बनाया गया है। द्विप्र० और द्वितीय सं० में यह पाठ बनाया है—"**क्या जो औरों का शत्रु है वह खुदा का भी शत्रु है ?**" यह परिवर्तन महर्षि की समीक्षा को गम्भीरता से न समझने का परिणाम है। यहाँ "**औरों का**" कथन निरर्थक है, क्योंकि यह अशुद्ध प्रयोग है और न आयत में यह कथ्य है। कुरान ने कहा है कि जो अल्लाह के फ़रिश्तों का शत्रु है वह अल्लाह का शत्रु है और अल्लाह उसका भी शत्रु है। महर्षि ने इस पर व्यंग्य किया कि इस्लाम में शैतान अर्थात् इब्लीस फरिश्ता है, तो इसका अर्थ यह निकला कि जो '**शैतान**' का शत्रु है वह भी खुदा का भी शत्रु कहायेगा। शैतान का शत्रु तो स्वयं खुदा भी है।

कुरान के अनुसार, शैतान खुदा की आज्ञाओं के विरुद्ध चलता है और लोगों को खुदा तथा फरिश्तों के विरुद्ध भड़काता है, गुमराह करता है। यहां ग्रन्थकार व्यंग्य करते हैं कि क्या खुदा ऐसे शैतान के विरोधियों का भी शत्रु है ? यदि इसको सही मानेंगे तो क़ुरान की यह कितनी अटपटी बात होगी ! खुदा पक्षपाती भी ठहरता है, क्योंकि वह अपने फरिश्तों का इतना पक्षपात करता है कि उनके विरोधियों का भी शत्रु हो जाता है। क्या ऐसे को खुदा कहा जा सकता है ?

द्विप्र०, द्वि०सं० में '**शैतान**' पद हटा देने से समीक्षा की सारी शुद्धता, व्यंग्यशक्ति और मार्मिकता ही नष्ट हो गई। यहां 'शैतान' पद पर ही सारी आलोचना केन्द्रित है। संशोधक महर्षिप्रोक्त इस तथ्य को समझ नहीं पाया। (इस्लाम या कुरान में शैतान को भी फरिश्ता माना गया है, इसकी पुष्टि के लिए देखिए आयतक्रम संख्या ११)। यही अशुद्ध समीक्षा **स्वामी वेदानन्द जी, पं० सिद्धान्ती जी, पं० भगवददत्त जी** तथा **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के संस्करण में भी है। उदयपुर सं० के सामने शुद्ध और अशुद्ध दो विकल्प विद्यमान थे, फिर भी उसमें अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया गया है। प्रतीत होता है कि कथित दश विद्वानों ने इस पाठ की गम्भीर अभिव्यक्ति पर गम्भीरता से विचार नहीं किया।

५. **कुरान के परस्परविरोधी और मनमानेपन पर आधारित कथन**—कुरान में परस्परविरुद्ध कथनों की भरमार है तथा अल्लाह के मनमानेपन का वर्णन है। कुरान एक ओर कहता है कि कयामत के समय न्याय की रात में कर्मों के अनुसार अच्छा-बुरा फल दिया जायेगा (द्र० आयतखण्ड संख्या १६४ आदि), तो दूसरी ओर कहता है कि अल्लाह जिसको चाहेगा क्षमा करेगा, जिसको चाहेगा दण्ड देगा, जिसको चाहेगा, पुण्यात्मा बनायेगा, जिसको चाहेगा पापी बनायेगा आदि (द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या २४, ४०, ४६, ४९, ५२, ७२, १०४, १४३ आदि)।

६. **मुद्रणप्रति में अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ९७ अशुद्ध है। भद में १०६ अशुद्ध है।

७. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**बनाता**" पद त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में है।

उस पर दया करता है? जो ऐसा है तो ख़ुदा बड़ा गड़बड़िया है; क्योंकि फिर अच्छा काम कौन करेगा[१] और बुरे कर्म को कौन छोड़ेगा? क्योंकि ख़ुदा की प्रसन्नता पर सब बातें[२] निर्भर करती हैं, कर्मफल पर नहीं। इससे सबको अनास्था होकर धर्मोच्छेदप्रसङ्ग[३] होगा॥ २५॥

२६. ....ऐसा न हो कि काफ़िर लोग ईर्ष्या करके तुमको ईमान से फेर देवें, क्योंकि उनमें से ईमानवालों के बहुत से दोस्त हैं....। १०९।[४] मं० १। सि० १। सू० २। आ० १०९॥[५]

समीक्षक—अब देखिये, ख़ुदा ही उनको चिताता है कि तुम्हारे ईमान को काफ़िर लोग न डिगा देवें, अर्थात् क्या वह सर्वज्ञ नहीं है? ऐसी बातें ख़ुदा की नहीं हो सकती हैं॥ २६॥

२७. ....तुम जिधर मुँह करो, उधर ही मुँह अल्लाह का है.....। ११५।

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ११५॥[६]

समीक्षक—जो यह बात सच्ची है तो मुसलमान '**क़िब्ले**'[७] की ओर मुंह क्यों करते हैं? जो कहें हमको क़िब्ले[८] की ओर मुंह फेरने का हुक्म है, तो यह भी हुक्म है कि चाहे जिधर की ओर मुख करो। क्या एक बात सच्ची और दूसरी झूठी होगी? और जो अल्लाह का मुख है, तो वह सब ओर हो ही नहीं सकता, क्योंकि एक मुख एक ओर रहेगा, सब ओर क्योंकर रह सकेगा? इसलिये यह संगत नहीं॥ २७॥

२८. वो आसमान और भूमि का उत्पन्न करने वाला है, जब वो कुछ करना चाहता है यह नहीं कि उसको करना पड़ता है, किन्तु उसे कहता है कि 'हो जा'; बस हो जाता है। ११७।[९]

मं० १। सि० १। सू० २। आ० ११७॥[१०]

समीक्षक—भला, ख़ुदा ने हुक्म दिया कि "**हो जा**", तो हुक्म किसने सुना? और किसको सुनाया? और कौन बन गया? किस कारण से बनाया? जब यह लिखते हैं कि सृष्टि के पूर्व सिवाय ख़ुदा के कोई भी दूसरा वस्तु न था, तो यह संसार कहां से आया? विना कारण के कोई भी कार्य नहीं

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में "**करे**" अपक्रिया है। द्वि०सं० में संशोधित "**करेगा**" ठीक है।

२. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में "**सब बातें**" त्रुटित पद हैं, "**करते हैं**" अपक्रिया है। मूलह०, मूलप्रति सं० में शुद्ध हैं।

३. **ऋषिलेख का अनुचित संशोधन**—द्वि० सं० में "**कर्मोच्छेद**" पद लिखा है। मूलह०, मूलप्रति सं० में "**धर्मोच्छेद**" व्यापक पद है। 'धर्म' में ही सभी अच्छे कर्मों का समावेश होता है। यह ऋषि ने स्वयं लिखा है।

४. **अर्थान्तर**—अरबी-फारसी के आर्य विद्वान् पं० रामचन्द्र देहलवी ने इस आयत का स्पष्टार्थ इस प्रकार दिया है—"ऐसा न हो कि काफ़िर लोग जिनके, ईमानवालों में से (अर्थात् यहूद व नसारा में से) बहुत से दोस्त हैं, ईर्ष्या करके तुमको ईमान से फेर देवें।" ("सत्यार्थप्रकाश १४ समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतों का अनुवाद", पृ०-'ग')

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में १०१, मूलह०, मुद्रणह० भद में ११०, उदयपुर सं० में १०१ अशुद्ध आयतसंख्या है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १०७ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं०, भद में ११६ संख्या अशुद्ध है।

७-८. **अपवर्तनी**—दोनों सं० में दोनों स्थानों पर "**किबले**" अपवर्तनी है, "**क़िब्ले**" उपयुक्त है। '**क़िब्ला**' का अर्थ है '**नमाज़ पढ़ते समय मुंह करने की दिशा या स्थान**' और '**काबा**' अरब के मक्का नगर में वह स्थान है जहां मुसलमानों की पवित्र मस्जिद मस्जिदुलहराम और उसमें स्थापित 'काला' पत्थर है। मुसलमान उसी की दिशा की ओर मुंह करके नमाज़ अदा करते हैं। (विस्तृत टिप्पणी द्र० है पृ० ९६२ पर)

९. "**हो जा**" **की पुनरुक्ति**—"**हो जा**" कहते ही सृष्टि-उत्पत्ति हो जाने की असम्भव कथा की पुनरुक्ति आयतखण्ड संख्या ५४ और १४० में भी द्रष्टव्य है।

१०. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में आयतसंख्या १०९ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में ११८ अशुद्ध है।

होता, तो इतना बड़ा जगत् कारण के विना कहां से हुआ? यह बात केवल लड़केपन की है।

पूर्वपक्षी—ख़ुदा की इच्छा से [जगत् हुआ]।[१]

उत्तरपक्षी—क्या तुम्हारी इच्छा से मक्खी की एक टांग[२] भी बन सकती है? जो कहते हो कि ख़ुदा की इच्छा [मात्र][३] से यह सब कुछ जगत् बन गया।

पूर्वपक्षी—ख़ुदा सर्वशक्तिमान् है, इसलिये जो चाहे सो कर लेता है।

उत्तरपक्षी—सर्वशक्तिमान् शब्द का क्या अर्थ है?[४]

पूर्वपक्षी—जो चाहे सो कर सके।

उत्तरपक्षी—क्या ख़ुदा दूसरा ख़ुदा भी बना सकता है?[५] अपने आप मर सकता है? मूर्ख, रोगी और अज्ञानी भी बन सकता है?

पूर्वपक्षी—ऐसा कभी नहीं बन सकता।

उत्तरपक्षी—इसलिये परमेश्वर अपने और दूसरों के गुण, कर्म, स्वभाव के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे, संसार में किसी वस्तु के बनने-बनाने में तीन पदार्थ प्रथम अवश्य होते हैं—एक, बनानेवाला, जैसे कुम्हार; दूसरा[६], घड़ा बननेवाली मिट्टी; और तीसरा, उसका साधन जिससे[७] घड़ा बनाया जाता है। जैसे[८] कुम्हार, मिट्टी और साधन से घड़ा बनता है और बननेवाले घड़े के पूर्व कुम्हार, मिट्टी और साधन होते हैं, वैसे ही जगत् के बनने से पूर्व परमेश्वर, जगत् का कारण प्रकृति और उनके गुण, कर्म, स्वभाव अनादि हैं। इसलिये यह '**क़ुरान**' की बात सर्वथा असम्भव[९] है॥ २८॥

२९. जब हमने लोगों के लिये काबे[१०] को पवित्र स्थान, सुख देने वाला, उपद्रव रहित बनाया, तुम नमाज़ के लिये इब्राहीम[११] के स्थान को पकड़ो। १२५। मं० १। सि० १। सू० २। आ० १२५॥[१२]

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अनुचित परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के आरम्भ में "**नहीं, नहीं**" पाठ परिवर्धित किया है, जो अनावश्यक है। प्रश्न था—"**जगत् कारण के बिना कहां से हुआ?**" उत्तर मूलप्रति सं० में स्पष्ट था—"**खुदा की इच्छा से।**" यहां "**नहीं, नहीं**" पाठ की कोई प्रासंगिकता ही नहीं है। मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। यही असंगत पाठ उदयपुर सं० में है।

२. **अपवाक्य**—दोनों सं० में "**एक मक्खी की टांग**" अनुपयुक्त पाठ है। '**मक्खी की एक टांग**' उपयुक्त पाठ है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में "**इच्छा से**" पाठ है, यहां '**मात्र**' पद त्रुटित है, '**इच्छामात्र**' प्रयोग अपेक्षित है।

४. **सर्वशक्तिमान् का अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य सप्तम समुल्लास में पृ० ३२६, ३८३।

५. **त्रुटित पद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में प्रथम दो वाक्यखण्डों के बाद '**है**' क्रिया त्रुटित है। द्वि० सं० में क्रिया का उल्लेख है।

६-८. **अपप्रयोग**—इस वाक्य में दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दूसरी**" अपपाठ है। "**पदार्थ**" पुंल्लिग के साथ पुंल्लिग प्रयोग '**दूसरा**' होना चाहिए। आगे, मूलप्रति सं० में "**उनके साधन जिससे**" अपपाठ है। '**उसका**' शुद्ध है। इसी प्रकार आगे, वाक्य के आरम्भ में "**जैसा**" अपपाठ है। द्वि० सं० में "**जैसे**" संशोधित ठीक है।

९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मिथ्या**" पाठ है। मुद्रणह०, द्वि०सं० में संशोधित "**असम्भव**" अधिक सार्थक प्रयोग है, क्योंकि यहां संभव-असंभव का ही प्रसंग है।

१०. **काबा**—अरब के मक्का नगर में स्थित वह पवित्र स्थान (मस्जिद) जिसे मुसलमान अल्लाह का सर्वोत्तम घर मानते हैं। इसकी दीवारों को हजरत अब्राहम (इब्राहीम) और हजरत इस्माईल ने अपने हाथों से चिना था। मुसलमान इसकी ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ते हैं। इस मस्जिद को 'मस्जिदुलहराम' कहकर आदर देते हैं। अगले पृ० ९६२ की टिप्पणी संख्या १, २ भी द्रष्टव्य हैं। आयतखण्ड संख्या ३१ भी देखें।

११. **इब्राहीम** या (Abraham)=अब्राहम दोनों वर्तनियां मिलती हैं। प्रकरणानुसार दोनों शुद्ध हैं। टि०द्र०पृ० ८६२ पर।

समीक्षक—क्या '**काबा**' से पहले पवित्र स्थान खुदा ने कोई भी बनाया था वा नहीं ? जो बनाया था तो '**काबा**' के बनाने की कुछ आवश्यकता नहीं थी। जो नहीं बनाया था, तो बेचारे पूर्वोत्पन्नों को पवित्र स्थान के विना ही रक्खा था। जब '**क़ुरान**' बनाया था,[१] तब ईश्वर को पहला पवित्र स्थान बनाने का स्मरण न हुआ होगा[२] ॥ २९ ॥

३०. वो कौन मनुष्य है जो इब्राहीम के दीन से फिर जावे सिवाय उसके जिसने अपनी जान को मूर्ख बनाया। और निश्चय हमने दुनिया में उसी [इब्राहीम] को पसन्द किया और निश्चय आख़िरत[३] में वो ही नेक है। १३०। मं० १। सि० १। सू० २। आ० १३०॥[४]

समीक्षक—यह कैसे सम्भव है कि जो इब्राहीम के दीन को नहीं मानते वे सब मूर्ख हैं ? इब्राहीम को ही खुदा ने पसन्द किया इसका क्या कारण है ? यदि धर्मात्मा होने के कारण से किया तो धर्मात्मा और भी बहुत हो सकते हैं ? यदि बिना धर्मात्मा होने के ही पसन्द किया तो अन्याय हुआ। हाँ! **यह तो ठीक है कि जो धर्मात्मा है वही ईश्वर को प्रिय होता है; अधर्मी नहीं॥ ३० ॥**[५]

---

१२. **मुद्रणप्रति में अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ११७ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १२६ अशुद्ध है।

१. **शैलीविरुद्ध अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० "**जब कुरान बनाई थी**" अपपाठ है। महर्षि की भाषाशैली में दर्जनों स्थानों पर इसका पुंल्लिंग में प्रयोग है। भाषात्मक एकरूपता और व्यवस्था की दृष्टि से एक ही प्रकार का प्रयोग अपेक्षित है।

मुद्रणकाल में पाठ निष्कासन अनुचित—दोनों हस्तलेखों में यहां अनवधानता से लिखा यह वाक्यांश मिलता है—"**जब बायबिल बनाई थी**"। इस असंगत वाक्यांश को देखकर मुद्रणप्रति में इसको काट दिया जबकि चाहिये था इसको प्रसंग की दृष्टि से शुद्ध करना। यहां कुरान का प्रसंग है, अत: 'कुरान' नाम आना चाहिये था। बिल्कुल काट देने से पाठसंगति भी नहीं बनती। '**तब**' प्रयोग से पूर्व '**जब**' प्रयोग अपेक्षित होता है। अत: यहां उक्त संशोधित पाठ ग्रहण करना परम आवश्यक है। द्विप्र० तथा सभी द्वि०सं० में यह त्रुटित और संगतिरहित पाठ है। उदयपुर सं० ने भी त्रुटित और संगतिरहित पाठ को ग्रहण किया है।

२. **मुद्रणप्रति में परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह अपवाक्य मिलता है—"**पहिले ईश्वर को पवित्र स्थान बनाने का स्मरण न हुआ होगा**"। समीक्षा में कुरान में परिवर्तित 'काबा' नामक नये पवित्र स्थान के विषय में आलोचना है, पहले या दूसरे ईश्वरों को आधार मानकर नहीं। पहले यहूदी, ईसाई और मुसलमान इजराइल स्थित "**बैतुल-मकदिस**" नामक धार्मिक स्थान की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ते थे। हज० मुहम्मद ने उसको बदलकर मक्का के '**काबा**' नामक धार्मिक स्थान की ओर मुख करके नमाज़ पढ़ने का आदेश दिया है। इस परिवर्तन पर यहां प्रश्न उठाया है कि जब कुरान में दिशा बदली तब ख़ुदा यह भूल गया था क्या कि पहली पुस्तकों में मैंने पहले किसी दूसरी मस्जिद को नमाज़ पढ़ने का स्थान घोषित कर रखा है ? इस अनुच्छेद में "**पहले ईश्वर को**" के स्थान पर "**ईश्वर को पहला**" पाठ संशोधन अपेक्षित है। नमाज पढ़ने की दिशा परिवर्तन करने की यह घटना शाबान सन् २ हिजरी की घटना है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आख़रत**" अपपाठ है। **आख़िरत** अर्थात् अन्तिम न्यायदिन में विश्वास करना।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १२२ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में शुद्ध है।

५. **विराम-अभाव के कारण आयत का भ्रष्ट अनुवाद और मुंशी समर्थदान द्वारा समीक्षा का संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति-संस्करण और मुद्रणह० में आयतखण्ड संख्या ३० का अनुवाद भ्रष्ट है। अशुद्ध अनुवाद के कारण समीक्षा भी भ्रष्ट हो गई थी। इसी कारण छपते समय मुद्रणप्रति व मुंशी समर्थदान जी ने समीक्षा का संशोधन किया है। किन्तु उस समय भी भूलवश आयत का अनुवाद संशोधित करना रह गया है। आयत में "**मूर्ख को खुदा द्वारा पसन्द किया जाना**" अर्थ नहीं है। विरामचिह्न न होने से दो भिन्न कथन आपस में जुड़ गये और पाठ भ्रष्ट हो गया। इन कारणों से इस सं० में संशोधित समीक्षा ग्रहण की गई है और आयत का पाठ भी कुरान के अनुसार शुद्ध उद्धृत किया है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० का आयत अनुवाद और अशुद्ध समीक्षा इस प्रकार है—

"**वो कौन मनुष्य है जो इब्राहीम के दीन से फिर जावे, परन्तु जिसने अपनी जान को मूर्ख बनाया और निश्चय हमने दुनिया में उसी को पसन्द किया। और निश्चय आख़िरत में वो ही नेक है॥**" मं० १। सि० १। सू० २। आ० १३०॥

समीक्षक—क्या मुसलमान लोग इब्राहीम के मजहब से बहुत नहीं फिर गये हैं ? क्या यह खुदा की बात है कि जो उसको मूर्ख

३१. निश्चय हम तेरे मुख को आसमान में फिरता देखते हैं, अवश्य हम तुझे उस क़िब्ले[१] को फेरेंगे कि पसन्द करे उसको, बस, अपना मुख मस्जिदुलहराम[२] की ओर फेर, जहां कहीं तुम हो अपना मुख उसकी ओर फेर लो। १४४। मं० १। सि० २। सू० २। आ० १४४॥[३]

समीक्षक—क्या यह छोटी बुतपरस्ती[४] है? नहीं, किन्तु बड़ी है।

प्रश्न—हम मुसलमान लोग बुतपरस्त नहीं हैं किन्तु बुतशिकन अर्थात् बुतों=मूर्तियों[५] के तोड़नेहारे हैं, क्योंकि हम '**काबा**'[६] को ख़ुदा नहीं समझते।

उत्तर—जिनको तुम बुतपरस्त समझते हो वे भी उस-उस मूर्त्ति को ईश्वर नहीं समझते, किन्तु उसके सामने परमेश्वर की भक्ति करते हैं। **यदि बुतों के तोड़नेहारे हो तो उस मस्जिद 'काबा' के बड़े बुत को क्यों न तोड़ा?**

प्रश्न—वाह जी! हमारा तो '**काबा**' की ओर मुख फेरने का '**क़ुरान**' में हुक्म है और इनको वेद में [मूर्ति के सामने भक्ति करने का][७] हुक्म नहीं है, फिर वे बुतपरस्त क्यों नहीं? और हम क्यों? क्योंकि हमको ख़ुदा का हुक्म बजाना आवश्यक[८] है।

प्रसन्न होंवें, विद्वान् नहीं? यह बात अविद्वत्ता की है अर्थात् जब इस पुस्तक के बनाने वाले ने समझा कि मैं अविद्वान् हूं और विद्वान् लोग मेरी बात को काटेंगे, तो मैं उत्तर न दे सकूंगा, इसलिये धर्मविषय में मूर्ख के समान होकर जो कुछ अण्ड-बण्ड कहै, सब कुछ मान लेना चाहिये। जो ऐसा न करता तो लोग उसके मजहब में न आते, आके न स्थिर रहते और न उसका प्रयोजन सिद्ध होता। हां, यह तो ठीक है कि जो धर्मात्मा है, वही ईश्वर को प्रिय होता है, अधर्मी नहीं॥ ३०॥''

भ्रष्ट पाठ की परम्परा—स्वामी जगदीश्वरानन्द सं० को छोड़कर वेस, जग आदि सभी सं० में आयत का भ्रष्ट अनुवाद है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** को यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत हुआ। उन्होंने इसको शुद्ध करना चाहा किन्तु अन्यथा अशुद्ध कर बैठे। प्रश्न वाक्य बनाकर उन्होंने यह पाठ बनाया है—''वो कौन मनुष्य है जो इबराहीम के दीन से फिर जावे, परन्तु जिसने अपनी जान को मूर्ख बनाया?'' पं० जी ने आयत का ठीक भाव नहीं समझा अत: 'कौन' पद देखकर इसको प्रश्नवाक्य बना दिया। इसका अर्थ यह है कि 'कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो इब्राहीम के दीन से फिर जाये, सिवाय मूर्ख व्यक्ति के।' उदयपुर सं० में भी भ्रष्टपाठ है।

१. **क़िब्ला**—मुसलमान जिसकी ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ते हैं उस दिशा को '**क़िब्ला**' कहा जाता है। कुरान के समय से वह '**मक्का**' के '**काबा**' नामक काला पत्थर '**हजरे अस्वद**' की ओर की दिशा है।

क़िब्ला को फेरना—इस्लाम के आरम्भिक इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अब तक मुसलमान लोग '**बैतुल मक़दिस**' (मस्जिदे अक्सा) जो यरुसलेम (इजराइल) में है, उस ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ा करते थे। यहूदी भी इसकी ओर मुंह करके प्रार्थना करते थे, क्योंकि यह यहूदियों का पवित्रतम स्थान था। शाबान (आठवां महीना) सन् २ हिजरी की घटना है कि हजरत मुहम्मद ने नमाज़ पढ़ते-पढ़ते अचानक अपना मुख उत्तर दिशा की ओर स्थित 'बैतुल मक़दिस' से फेरकर दक्षिण में काबा (मक्का) की ओर कर लिया। इसको उन्होंने अल्लाह का आदेश बताया। तबसे मुसलमानों का 'क़िबला' काबा हो गया। इस घटना से जहाँ मुसलमानों ने स्वयं को यहूदियों से पूर्णत: अलग कर लिया वहीं अपनी प्रार्थना की दिशा भी अलग और स्वतन्त्र घोषित करके इस्लाम की समान्तर धार्मिक सत्ता स्थापित कर ली। तबसे यह पूर्णत: एक पृथक् महजब बन गया (द्र० आयत संख्या २९ भी)।

२. **मस्जिदुलहराम**—यह मक्का की वह मस्जिद है जिसके बीच '**काबा**' (चौकोर काला पत्थर) स्थित है। मुसलमान लोग इस पत्थर की परिक्रमा हज के समय में करते हैं। इसे '**हजरे अस्वद**' कहा जाता है। यह विश्व में मुसलमानों की सबसे प्रतिष्ठित मस्जिद मानी जाती है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १३५ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १४२, १४७ अशुद्ध हैं।

४. **अपवर्तनी, अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस समीक्षा-पाठ में क्रमश: ये त्रुटियां हैं—लिपिकरों-शोधकों की अयोग्यता देखिए कि सम्पूर्ण समीक्षा में एक ही शब्द की वर्तनी को कभी कुछ लिख दिया, कभी कुछ। समीक्षा में ग्यारह बार '**बुत्परस्त**' और एक '**बुत्शिकन**' शब्द आया है। तीन बार '**बुत**' शब्द आया है। मूलप्रति सं० में नौ बार '**बुत्परस्त**' अशुद्ध वर्तनी और एक बार '**बुतपरस्त**' शुद्ध वर्तनी लिखी है। दो बार '**बुत**' शुद्ध और एक बार '**बुत्**' अशुद्ध वर्तनी लिखी है। द्विप्र०, द्वि०

उत्तर—जैसे तुम्हारे लिये '**क़ुरान**' में हुक्म है वैसे इनके लिये पुराण में आज्ञा है। जैसे तुम '**क़ुरान**' को ख़ुदा का कलाम समझते हो वैसे पुराणी भी पुराणों को ईश्वर के अवतार व्यास जी[९] का वचन समझते हैं। तुममें और इनमें बुतपरस्ती का कुछ भिन्न भाव नहीं है, प्रत्युत तुम बड़े बुतपरस्त [हो] और ये छोटे हैं, क्योंकि जब तक कोई मनुष्य अपने घर में से प्रविष्ट हुई बिल्ली को निकालने लगे, तब तक उसके घर में ऊंट प्रविष्ट हो जाय, वैसे ही मुहम्मद साहब ने छोटे बुत को मुसलमानों के मन[१०] से निकाला, परन्तु बड़ा बुत जो कि पहाड़ के सदृश मक्के की मस्जिद है, वह सब मुसलमानों के मन में प्रविष्ट करा दी; क्या यह छोटी बुतपरस्ती है?

हां, जो हम लोग वैदिक हैं वैसे ही तुम भी वैदिक हो जाओ, तो बुतपरस्ती आदि बुराइयों से बच सको, अन्यथा नहीं। तुमको, जब तक अपनी बड़ी बुतपरस्ती को न निकाल दो, तब तक, दूसरे छोटे बुतपरस्तों के खण्डन से लज्जित होके, निवृत्त रहना चाहिये और अपने को बुतपरस्ती से पृथक् करके पवित्र करना चाहिये॥ ३१॥

३२. जो लोग अल्लाह के मार्ग में मारे जाते हैं उनके लिये यह मत कहो कि 'ये मृतक हैं', किन्तु वे जीवित हैं.....। १४५। मं० १। सि० २। सू० २। आ० १५४॥[१]

समीक्षक—भला, ईश्वर के मार्ग में मरने-मारने की क्या आवश्यकता है? यह क्यों नहीं कहते हो कि यह बात अपना मतलब[२] सिद्ध करने के लिये है कि यह लोभ देंगे तो लोग खूब लड़ेंगे, अपना विजय होगा, मरने से न डरेंगे, लूट-मार करने[३] से ऐश्वर्य प्राप्त होगा, पश्चात् विषयानन्द करेंगे, इत्यादि स्वप्रयोजन के लिये यह विपरीत व्यवहार किया है॥ ३२॥

सं० में एक-आध जो शुद्ध शब्द था उसको भी अशुद्ध वर्तनी में बदल दिया अर्थात् सब वर्तनियां अशुद्ध बना दीं। उदयपुर सं० में सारी अपवर्तनियां यथावत् हैं, केवल प्रथम "**बुत**" वर्तनी शुद्ध है। यही दु:स्थिति अन्य संस्करणों की है।

५-८,१०. **मुद्रणलिपिकर कृत अन्य अशुद्धियां**—दोनों संस्करणों में '**क़ाबा**' के स्थान पर तीन जगह पर '**किबले**' अशुद्ध पाठ है। कोष्ठकान्तर्गत पाठ दोनों संस्करणों में आवश्यक है। उसके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। "**अवश्य**" के स्थान पर '**आवश्यक**' विशेषण पद शुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**बुतों के**" पाठ के स्थान पर दो बार "**मूर्त्तों को**" अशुद्ध परिवर्तन है। यहां "**मूर्त्तियों को**" होना चाहिए। इसी प्रकार "**मन से**" पाठ को मुद्रणह०, द्विप्र० व द्वि०सं० में "**मत से**" बदलकर भ्रष्ट पाठ कर दिया। मस्जिद का विचार मन में प्रविष्ट होता है, मत में नहीं। मुद्रणलिपिकरकृत "**मत**" प्रयोग इस कारण भी शुद्ध नहीं है, क्योंकि "**मत**" के साथ पूर्व प्रयुक्त "**सब मुसलमानों या मुसलमानों**" प्रयोग संगत नहीं बनता। यह प्रयोग 'मन' के साथ ही संगत है। अत: मुद्रणलिपिकर कृत परिवर्तन अशुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—आयतखण्ड संख्या ६३ की समीक्षा में भी यही वर्णन है। वहां भी यही वाक्य है—"**मस्जिद हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो गई।**" मुद्रणह० के संशोधक ने न तो महर्षिप्रोक्त पाठ की गम्भीरता पर ध्यान दिया और न पूर्वापर पाठ से तालमेल का ही ध्यान रखा। सभी द्वि०सं० और उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

९. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ख़ुदा के अवतार व्यास जी**" अनुपयुक्त प्रयोग है, खुदा का अवतार होता ही नहीं। यहां "**ईश्वर अथवा ब्रह्मा के अवतार व्यास जी**" प्रयोग उपयुक्त तथा परम्परा के अनुकूल है। यही सही प्रयोग देखिए आयत ६३ की समीक्षा में—"**व्यास जी ईश्वरावतार**"।

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहा आयत संख्या १४४ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १५० अशुद्ध है।

२. **अपप्रयोग**—सभी संस्करणों में "**अपने मतलब**" के स्थान पर "**अपना मतलब**" अभीष्ट है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य में '**मरने**' के स्थान पर '**मारने**' और '**करने**' के स्थान पर '**कराने**' परिवर्तन किया है, जो अशुद्ध है। आयत के पाठ में भी मुसलमानों के मरने का कथन है तथा समीक्षा में "**खूब लड़ने**" का कथन है। युद्ध में मारने से तो कभी कोई डरता ही नहीं है। मूलप्रति का महर्षिप्रोक्त पाठ ठीक है। उदयपुर सं० में "**मारने से न डरेंगे**" अपपाठ है।

३३. इन* लोगों पर इनके मालिक की ओर से दया और दरुद हैं और ये ही मार्ग पानेवाले हैं। १५७।[१] मं० १। सि० २। सू० २। आ० १५७॥[२]

समीक्षक—अब देखिये, यह काम भी एक प्रकार की बुतपरस्ती[३] है। भला, मुर्दों पर आयतें पढ़ने से क्या होता है? क्योंकि उसका जीवात्मा तो पहले ही चला गया, पुनः पाठ कौन सुनेगा? इसलिये यह व्यर्थ कर्म है; इत्यादि से यह पुस्तक ईश्वरकृत वा विद्वत्कृत भी नहीं है॥ ३३॥[४]

३४. ....जो लोग छिपाते हैं उसको जो कि हमने प्रमाणों और शिक्षा से उतारा। उसके बीच में जो कुछ है अल्लाह की और धिक् देनेवालों की धिक्कार है....। १५९। परन्तु जिन्होंने तौबा[५] और भलाई करी, उनके ऊपर फिर दया करता हूं और करूंगा....। १६०। जो लोग काफ़िर हुए, और काफ़िर ही रहे, फिर मर गये,[६] उन पर खुदा, फरिश्तों और सब आदमियों की[७] धिक्कार है। १६१। वे[८] सदैव उसी में रहेंगे। उनका[९] पाप हलका न किया जायगा और न वे ढील दिये जायेंगे। १६२। तुम्हारा एक ही मालिक है और कोई नहीं। वह क्षमा करनेवाला दयालु है। १६३।[१०]

मं० १। सि० २। आ० १५९-१६३॥[११]

समीक्षक—यह बात जो कि पहले पैगम्बरों के सामने, जैसा कि इब्राहीम साहब के सामने खतनः आदि के नियम बांधे थे[१२] उनको जो नहीं करते, और शहर मक्के में 'सफ़ा' और 'मुरब्बः' दो पहाड़ हैं, अरब के लोग इब्राहीम के समय से सदैव हज करते रहे, परन्तु मुसलमानों ने किसी कारण से छोड़ दी थी, उस पर यह आयत उतरी, उन्हीं को धिक्कार दिया जाता है और जो मुसलमान तौबा करले तो माफ हो जाय, परन्तु जो काफ़िर अर्थात् मुसलमान के मज़हब में नहीं हैं, उन पर ख़ुदा बड़ा खार खाता है। भला, ऐसी बातें कभी ख़ुदा की हो सकती हैं? और जो पक्षपाती है, वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता। क्या मुसलमानों पर क्षमा करनेवाला दयालु है, अन्य पर दयाकर्त्ता 'दयाहीन' कहा जावे?

* यह वाक्य आशीर्वाद में नहीं समझा जाता है। इसका प्रचार मुसलमानों में ही है। कब्रवासियों पर पढ़ते हैं **दरुद**[१३] और **फ़ातिहः**[१४]॥

१,४. **मुद्रणकाल में आयत पाठ और समीक्षा का निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० से मुद्रणकाल में और फिर द्वि० सं० से यह आयतखण्ड संख्या ३३ और इसकी समीक्षा अकारण निकाल दी गई है। मुद्रणहस्त० में लिखी हुई है, जो काटी गई हैं। मुंशी समर्थदान जी ने इनको काटा है। इसी कारण द्वि०सं० पर आधारित सभी सं० में यह आयत व समीक्षा नहीं मिलती।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, मूलह०, मूलप्रति सं० में आयत संख्या १५३ अशुद्ध है। वर्तमान कुरानों में १५७ है।

३. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**बुत्परस्ती**' अपवर्तनी है।

५. **तौबा (तौबः)**=किसी बुरे काम को न करने का संकल्प, पश्चात्ताप। मूलप्रति सं० में ''**तोबाः**'' अशुद्ध वर्तनी है। ''**तौबः**'' या '**तौबा**' प्रयोग शुद्ध हैं। विस्तृत टि० द्र० पृ० ९९५ पर संख्या ७।

६-९. **अप-अनुवाद**—मूलप्रति सं० में ही प्राप्त इस आयत में यह अप-अनुवाद है—''**जो लोग काफ़िर हुए, फिर मर गये और काफ़िर ही रहे**''। उपर्युक्त वाक्यरचना ठीक है। इसी प्रकार ''**आदमियों पर धिक्कार है**'' अशुद्ध है, '**आदमियों की**' पाठ ठीक है। ''**वे**'' पद त्रुटित है। ''**उनसे पाप**'' के स्थान पर ''**उनका पाप**'' सही अनुवाद है।

१०,१५. **मुद्रणकाल में आयत और समीक्षा पाठ का निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० और द्वि०सं० में यह आयतखण्ड ३४ और इसकी समीक्षा निकाल दी हैं। निकालने का कारण अज्ञात है। मुद्रणप्रति में है।

११. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—इस आयतखण्ड में, मूलह०, मूलप्रति सं० में तीन आयतें प्रदर्शित की गई हैं जिनकी उद्धरण संख्या १५५-१५७ उल्लिखित है, जो अशुद्ध है। यह संख्या १५९-१६३ होनी चाहिए। मुद्रणह० में १५५-१५६ दो संख्याएं अशुद्ध हैं।

१२. **खतनः आदि के नियम**—इब्राहीम द्वारा बांधे गये नियम के विवरण के लिए द्रष्टव्य है बाइबल, उत्पत्ति पर्व १७, आ० ९-१४

इसी से न यह ईश्वरकृत पुस्तक और न इसमें कहा हुआ ईश्वर हो सकता है॥ ३४॥[१५]

३५. ....और यह कि अल्लाह कठोर दुःख देने वाला है। १६५। ....शैतान का अनुसरण मत करो, निश्चय वो तुम्हारा प्रत्यक्ष शत्रु है। १६८। उसके विना और कोई नहीं जो बुराई और निर्लज्जता की आज्ञा दे और यह कि तुम कहो अल्लाह पर जो नहीं जानते। १६९।

मं० १ सि० २। सू० २। आ० १६५। १६८। १६९॥[१]

समीक्षक—क्या कठोर दुःख देनेवाला ख़ुदा सब पापियों-पुण्यात्माओं पर दयालु है[२] अथवा मुसलमानों पर दयालु और अन्य पर दयाहीन है? जो ऐसा है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। और पक्षपाती नहीं है तो जो मनुष्य जहां कहीं धर्म करेगा उस पर ईश्वर दयालु और जो अधर्म करेगा उस पर दण्डदाता होगा। तो फिर बीच में मुहम्मद साहब और '**क़ुरान**' को मानना आवश्यक न रहा। और जो सबको बुराई करानेवाला मनुष्यमात्र का शत्रु शैतान है, उसको खुदा ने उत्पन्न ही क्यों किया? क्या वह भविष्यत् की बात नहीं जानता था? जो कहो कि जानता था, परन्तु परीक्षा के लिये बनाया, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि परीक्षा करना अल्पज्ञ का काम है। सर्वज्ञ तो सब जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों को सदा से ठीक-ठीक जानता है। और शैतान सबको बहकाता है, तो शैतान को किसने बहकाया? जो कहो कि शैतान आपसे-आप बहका,[३] तो अन्य भी आपसे-आप बहक सकते हैं,[४] बीच में शैतान का क्या काम? और जो ख़ुदा ने ही शैतान को बहकाया, तो ख़ुदा शैतान का भी शैतान ठहरेगा। ऐसी बात ईश्वर की नहीं हो सकती। और जो कोई बहकता[५] है वह कुसंग तथा अविद्या से भ्रमित होता है॥ ३५॥

३६. तुम पर मुर्दार, लोहू और गोश्त सुअर का हराम है और अल्लाह के विना जिस पर कुछ पुकारा जावे...। १७३।[६] मं० १। सि० २। सू० २। आ० १७३॥[७]

समीक्षक—यहां विचारना चाहिये कि मुर्दा, चाहे आपसे-आप मरे वा किसी के मारने से दोनों

तथा सत्यार्थप्रकाश १३ समुल्लास में आयतखण्ड संख्या १८। **१३. दरुद**=आशीर्वाद।

१४. फातिहः (फातिहा)=मुर्दे वा कब्र पर की जानेवाली प्रार्थना और मुर्दे या कब्र का चढ़ावा, भेंट आदि।

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयत संख्याएं १५१, १५४, १५५ अशुद्ध हैं। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १५९, १६१, १६५ संख्याएं अशुद्ध हैं।

२. **स्थानभ्रष्ट पाठ**—मूलह०, मूलप्रति में वाक्य का भ्रष्ट पाठ इस प्रकार है—''**क्या कठोर दुःख देने वाला दयालु खुदा सब पापियों-पुण्यात्माओं के ऊपर है**''। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में कुछ इस प्रकार है—''**क्या कठोर दुःख देने वाला दयालु खुदा सब पापियों पुण्यात्माओं पर है**''। क्या कठोर दुःख देनेवाला '**दयालु**' भी होता है? यहां ''**दयालु**'' अस्थान में होने से पाठ भ्रष्ट हो गया है। सभी सं० में यही भ्रष्ट पाठ है। उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है। स्वामी जगदीश्वरानन्द सं० में संशोधित है।

३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपसंशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र० में तथा द्वि०सं० में ''**बहकाता है**'' अपपरिवर्तन है। वाक्य में पूर्वप्रयुक्त भूतकाल की ''**बहकाया**'' क्रिया के सम्बन्ध से ''**बहका**'' यह मूलप्रति का पाठ ठीक है।

४. **उचित संशोधन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**बहक सकते हैं**'' संशोधन सही है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ''**बहकेंगे**'' निश्चयार्थक है, यहां संभावनार्थक प्रयोग अपेक्षित है।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० के सही पाठ ''**जो कोई बहकता है....भ्रमित होता है**'' को द्वि० सं० में ''**जो कोई बहकाता है**'' पाठ बनाकर अशुद्ध वाक्य बना दिया है। उपर्युक्त कथन में बहकाने वाला खुदा है उसको कुसंग कैसे होगा? यह व्यक्तियों के लिए कहा गया है। बहकनेवाले व्यक्ति ही होते हैं।

६. **अन्यत्र वर्णन**—हराम ठहराये पशुओं का पुनः कथन आयतखण्ड संख्या ७० में भी द्रष्टव्य है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १५९ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १६५ अशुद्ध है।

बराबर हैं। हां, इनमें कुछ भेद भी है तथापि मृतकपन में कुछ भेद नहीं। जो लोहू हराम है, तो मरे पीछे लोहू शरीर में ही जमकर मांस हो जाता है, फिर मांस खाना मुसलमानों के लिये सर्वथा हराम रहा।[१] और जब एक सुअर का निषेध किया, तो क्या मनुष्य का मांस खाना उचित है?

क्या यह बात अच्छी हो सकती है कि परमेश्वर के नाम पर पशु[२] आदि को अत्यन्त दुःख देके प्राणहत्या करनी? इससे ईश्वर का नाम कलंकित हो जाता है। **हाय![३] ईश्वर ने विना पूर्वजन्म के अपराध के[४] मुसलमानों के हाथ से दारुण दुःख क्यों दिलाया? क्या वह उन पर दयालु नहीं हैं? उनको पुत्रवत् नहीं मानता? जिस वस्तु से अधिक उपकार होवे, उन गाय आदि के मारने का निषेध न करना, जानो हत्या कराकर खुदा जगत् का हानिकारक है और हिंसारूप पाप से कलंकित भी हो जाता है। ऐसी बातें खुदा और खुदा के पुस्तक की कभी नहीं हो सकतीं॥ ३६॥**

३७. रोज़े[५] की रात तुम्हारे लिये हलाल की गई कि मदनोत्सव करना अपनी बीबियों से। वे तुम्हारे वास्ते परदा हैं और तुम उनके लिये परदा हो। अल्लाह ने जाना कि तुम चोरी करते हो अर्थात् व्यभिचार, बस फिर अल्लाह ने क्षमा किया तुमको। बस, उनसे मिलो और ढूंढो जो अल्लाह ने तुम्हारे लिये लिख दिया है अर्थात् सन्तान; खाओ-पीयो, यहां तक कि प्रकट हो तुम्हारे लिये काले

---

१. **मुद्रणकाल में पाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० से "**जो लोहू.....हराम रहा**" पाठ निकाल दिया है। इसको मुंशी समर्थदान जी ने मुद्रणकाल में निकाला है। शायद यह सोचकर निकाला गया हो कि लोहू जमकर मांस नहीं होता। यहां महर्षि का यह अभिप्राय है कि कोई कितना साफ़ करे किन्तु फिर भी जब पशु मरता है तो मांसान्तर्गत नसों में रक्त प्रवाह रुककर कुछ-न-कुछ वहीं रह जाता है और सूख या जम जाता है। या यों कहिए कि नसों में लगा रह जाता है। इस प्रकार क्योंकि उनके लिए लोहू हराम है तो लोहू युक्त मांस खाना भी मुसलमानों के लिए हराम सिद्ध होता है। इस प्रकार एक विशेष युक्ति होने से इस पाठ को रखना आवश्यक है।

२. **मुद्रणलिपिकर द्वारा भ्रष्ट परिवर्तन**—यहां मूलह०, मूलप्रति सं० में "**पशु**" अत्यन्त उचित और प्रासंगिक पाठ है, क्योंकि पूर्वापर में पशुओं के क्रूर वध करने तथा मांस खाने का प्रसंग है। मुद्रणलिपिकर ने मुद्रणप्रति बनाते समय इसके स्थान पर "**शत्रु**" पाठ कर दिया है, जो अत्यन्त भ्रष्ट तथा अप्रासंगिक है। यही द्विप्र० में छपा है। '**शत्रु**' का यहां कोई प्रसंग ही नहीं क्योंकि शत्रु को तो सभी मारते हैं। यही अशुद्ध पाठ **द्वि०सं०, स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** आदि के सस्करणों में है। उदयपुर सं० के सम्पादक कथित दश विद्वानों के समक्ष शुद्ध और अशुद्ध दोनों पाठ विद्यमान थे। दुःख की बात यह है कि उन्होंने अशुद्ध, अप्रासंगिक पाठ को ग्रहण किया है। शायद, उन्होंने आयत के कथ्य और प्रसंग पर गम्भीरता से विचार नहीं किया।

३. **श्रवणभ्रान्ति से भ्रष्ट पाठ**—देखिए, मूललिपिकर की श्रवणभ्रान्ति से यहां क्या से क्या पाठ हो गया! पशु हत्या के दुःख को व्यक्त करने के लिए '**हाय**' पद बोला होगा, लिपिकर को '**हाँ**' सुना, वही लिख दिया। '**हाँ**' की यहां कोई संगति और अर्थ नहीं है। यह अशुद्धि दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में है। उदयपुर सं० में भी यही असंगत प्रयोग है।

४. **इस्लामी पुनर्जन्म के विषय में विशेष कथन**—"**यहां बिना पूर्वजन्म के अपराध के**" कथन मुसलमानों की मान्यता की दृष्टि से है, क्योंकि वे पूर्वजन्म को नहीं मानते। जब पूर्वजन्म था ही नहीं, तो उन्होंने कोई पाप नहीं किया। फिर मुसलमान उन पशुओं की हत्या का क्रूर कार्य क्यों करते हैं? यह प्रश्न ग्रन्थकार ने उठाया है।

५,७. **रोजा और चान्द्रायण व्रत**=मुसलमानों में एक मास तक किया जाने वाला 'रोजा' व्रत भारतीय चान्द्रायण व्रत का ही एक परिवर्तित रूप है। चान्द्रायण व्रत भी एक मास तक चलता है और रोजा भी। अन्तर यह है कि चान्द्रायण व्रत में व्यक्ति पहले पन्द्रह दिनों तक भोजन में एक-एक ग्रास कम करता जाता है बाद के पन्द्रह दिनों तक एक-एक ग्रास बढ़ाकर भोजन को पूर्ण करता है। चान्द्रायण में दिन में एक बार खाया जाता है। 'रोजा' में एक मास तक दिन में न खाकर रात्रि में भोजन करते हैं। इस मास को '**रमजान**' का महीना कहा जाता है। चान्द्रायण व्रत की विधि मनुस्मृति अ० ११, श्लोक २१६-२१७ में वर्णित है।

व्रत में संयम रखा जाता है, यहाँ मुसलमानों के अल्लाह के आदेशों की उदारता देखिये, जब देखा कि रोज़े के व्रत में मुसलमान पुरुष बीबियों से समागम किये बिना नहीं रहते तो उनको स्त्री-सम्बन्ध की छूट दे डाली। धर्मादेश शीघ्र ही पलट गया!

तागे से सुफेद तागा वा रात से जब दिन निकले....। १८७। मं० १। सि० २। सू० २। आ० १८७॥[६]

समीक्षक—यहाँ यह निश्चित होता है कि जब मुसलमानों का मत चला वा उसके पहिले किसी ने किसी पौराणिक से पूछा होगा कि चान्द्रायण व्रत[७] जो एक महीने-भर का होता है उसका विधि क्या है ?[१] वह शास्त्रविधि जो कि[२] चन्द्र की कला घटने-बढ़ने के अनुसार ग्रासों को घटाना-बढ़ाना, और मध्याह्न[३] में खाना लिखा है, उसको न जानकर कहा होगा कि चन्द्रमा का दर्शन करके खाना। उसको इन मुसलमान लोगों ने इस प्रकार का कर लिया। परन्तु व्रत में स्त्री-समागम का त्याग है, वह एक बात खुदा ने बढ़ाकर कह दी कि तुम स्त्रियों का भी समागम भले ही किया करो, और रात में चाहे अनेक वार खाओ। भला, यह व्रत क्या हुआ ? दिन में न खाया, रात को खाते रहे। परन्तु **यह सृष्टिक्रम से विपरीत है कि दिन में न खाना और रात में खाना॥ ३७॥**

३८. अल्लाह के मार्ग में लड़ो उनसे जो तुमसे लड़ते हैं....। १९०। मार डालो तुम उनको जहां पाओ, क़त्ल[४] से कुफ्र[५] बुरा है....। १९१। यहां तक उनसे लड़ो कि कुफ्र न रहे और होवे दीन अल्लाह का। १९३। ....उन्होंने जितनी ज़ियादती करी. उतनी ही उनके साथ करो....। १९४।

मं० १। सि० २। सू० २। आ० १९०। १९१। १९३। १९४॥[६]

समीक्षक—जो '**क़ुरान**' में ऐसी बातें न होती, तो मुसलमान लोग इतना बड़ा अपराध जो कि अन्य मत-वालों पर किया है, न करते; और विना अपराधियों को मारना उन पर बड़ा पाप है। **जो मुसलमान के मत का ग्रहण न करे, उसको कुफ्र कहते हैं अर्थात् कुफ्र से क़त्ल को मुसलमान लोग अच्छा मानते हैं। अर्थात् जो हमारे दीन को न मानेगा उसको हम क़त्ल करेंगे, सो करते ही आये।** मज़हब पर लड़ते-लड़ते आप ही राज्य आदि से नष्ट हो गये।

और उनका मन अन्य मत-वालों पर अति कठोर रहता है। **क्या चोरी का बदला चोरी है कि जितना हमारा चोरी आदि अपराध चोर करें, क्या हम भी [उतनी ही][७] चोरी करें ? यह सर्वथा अन्याय की बात है। क्या कोई अज्ञानी हमको गालियां दे, क्या हम भी उसको गालियां[८] देवें ?** यह बात न ईश्वर, न ईश्वर के भक्त विद्वान् की और न ईश्वरोक्त पुस्तक की हो सकती है। यह तो केवल स्वार्थी, अज्ञानी मनुष्य की है॥ ३८॥

---

६. **अशुद्ध उद्धरणसख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १७२ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १७८ संख्या अशुद्ध है।

१. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में '**है**' क्रिया त्रुटित है।

२-३. **अपपाठ**—(४) दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**मध्याह्न में चन्द्र की कला घटने.....**" अपपाठ है। उसको हटाना उचित है। युमी, भद, वेस, जग, उदयपुर सं० में अपपाठ है। (५) दोनों सं० में मध्याह्न के बाद "**दिन**" पद का प्रयोग व्यर्थ और पुनरुक्ति है। 'मध्याह्न' पद में दिन का पर्याय 'अह्न' आ ही गया है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में, आयत और समीक्षा में तीन बार "**क़तल**" अपवर्तनी है।

५. **कुफ्र**=अल्लाह, पैगम्बर और कुरान की शिक्षाओं को न मानना, अधर्म। ऐसा करनेवाले को '**काफ़िर**' कहते हैं।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं १७४-१७९ अशुद्ध हैं। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १८०-१८४ अशुद्ध हैं।

७. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य अपक्रम से है तथा त्रुटित है—"**हमारा अपराध चोर आदि चोरी करें**"। इसमें उपर्युक्त संशोधन एवं परिवर्धन वांछनीय है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**गाली**" एकवचनात्मक प्रयोग है, बहुवचनात्मक अभीष्ट है। पूर्व वाक्यांश में बहुवचनात्मक प्रयोग है।

३९. ....अल्लाह झगड़ा करनेवालों को[१] मित्र नहीं करता। २०५। ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो इस्लाम में प्रवेश करो....। २०८। मं० १। सि० २। सू० २। आ० २०५। २०८॥[२]

समीक्षक—जो झगड़ा करनेवालों को ख़ुदा मित्र[३] नहीं समझता तो क्यों आप ही मुसलमानों को झगड़ा करने में प्रेरणा करता है? और झगड़ालू मुसलमानों से मित्रता क्यों करता है? क्या मुसलमान के मत में मिलने में ही में ख़ुदा राज़ी है? तो वह मुसलमानों का ही पक्षपाती है, सब संसार का ईश्वर नहीं। इससे यहां यह विदित होता है कि न '**क़ुरान**' ईश्वरकृत [है] और इसमें कहा हुआ ईश्वर भी नहीं हो सकता है॥ ३९॥

४०. ....खुदा जिसको चाहे अनन्त रिज़क[४] देवे। २१२।

मं० १। सि० २। सू० २। आ० २१२॥[५]

समीक्षक—क्या विना पुण्य के ख़ुदा ऐसे ही रिज़क देता है?[६] फिर भलाई-बुराई का करना एक-सा ही हुआ, क्योंकि सुख-दुःख प्राप्त होना उसकी इच्छा पर है। इससे धर्म से विमुख होकर मुसलमान लोग यथेष्टाचार करते हैं और कोई-कोई इस '**क़ुरानोक्त**' पर विश्वास न करके धर्मात्मा भी होते हैं॥ ४०॥

४१. प्रश्न करते हैं तुझसे, रजस्वलाओं[७] को कह वो अपवित्र हैं, पृथक् रहो, ऋतु समय में उनके समीप मत जाओ, जब तक कि वे पवित्र न हों। जब नहा लेवें, उनके पास उस स्थान से जाओ ख़ुदा ने आज्ञा दी....। २२२। तुम्हारी बीबियां[८] तुम्हारे लिये खेतियां हैं, बस जाओ जिस तरह चाहो अपने खेत में....। २२३। तुमको अल्लाह लग़ब (=बेकार, व्यर्थ) शपथ के तोड़ने में नहीं पकड़ता....। २२५।

मं० १। सि० २। सू० २। आ० २२२। २२३। २२५॥[९]

समीक्षक—जो यह रजस्वला का स्पर्श-संग न करना लिखा है, यह अच्छी बात है। परन्तु जो यह स्त्रियों को खेती के तुल्य लिखा[१०] और '**जैसा जिस तरह से चाहो, जाओ**'[११] यह विषयी करने[१२] का भी कारण हो सकता है। जो ख़ुदा बेकार[१३] शपथ पर नहीं पकड़ता, तो सब झूठ बोलेंगे, शपथ तोड़ेंगे।

१,३. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**झगड़े को मित्र नहीं रखता**" आयत में अपपाठ है। आगे समीक्षा में, द्वि० सं० में "**झगड़ा करने को खुदा मित्र नहीं समझता**" तथा मूलप्रति सं० में समीक्षा में "**झगड़ा को खुदा मित्र नहीं समझता**" अपपाठ है। यही अशुद्ध पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में विद्यमान है। मुद्रणहस्तलेख में दोनों स्थानों पर ठीक पाठ है। उदयपुर सं० में संशोधित पाठ है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं १९०, १९३ अशुद्ध हैं। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १९५, १९८ और उदयपुर सं० में २०४, २०६ संख्याएं अशुद्ध हैं।

४. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति में "**आनन्द**" उचित अनुवाद नहीं है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**रिज़क**" संशोधित पाठ सही और कुरान के अनुसार है। इसका अर्थ है—रोज़ी-रोटी, जीविका, अन्न-धन, ठाठ-बाट आदि। अरबी में इसकी वर्तनी "**रिज़्क**" है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १९७ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में २०२ अशुद्ध है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां यह वाक्य है—"**क्या विना पाप-पुण्य के खुदा ऐसे ही रिज़क देता है?**" रिज़क (=ठाठबाट) पुण्य का फल है, पाप का नहीं, तभी तो अगले वाक्य में भलाई-बुराई में अन्तर न होने की बात कही है। यहां केवल "**पुण्य के**" पाठ वांछित है।

७-८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में एकवचन "**रजस्वला**" और "**बीवियां**" अपपाठ हैं।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं २०५, २०६, २०८ अशुद्ध हैं। मूलह०, मुद्रणह०, भद में २१०, २११ और

इससे ख़ुदा झूठ का प्रवर्त्तक होगा॥ ४१ ॥[१]

४२. वो कौन मनुष्य है जो अल्लाह को उधार देवे। अच्छा, बस, अल्लाह द्विगुण करे उसके वास्ते....। २४५। मं० १। सि० २। सू० २। आ० २४५॥[२]

समीक्षक—अब देखिये, यह '**क़ुरान**' बनाने वा बनवानेवाले की मतलबसिन्धु की बात कि ईश्वर के नाम से लोगों से धन ठगके स्वप्रयोजन सिद्ध करना चाहता है! क्या ईश्वर खुद को[३] धन नहीं दे सकता था[४] और क्या उसका ख़जाना खाली हो गया था? तथा क्या वह हुंडी, पुड़िया व्यापारादि में मग्न होने से टोटे[५] में फंस गया था जो उधार* लेने लगा? और एक का दो-दो देना स्वीकार करता है, क्या यह साहूकारों का काम है?[६] किन्तु ऐसा काम तो दिवालियों[७] वा जिनके ख़र्च अधिक हों और आय न्यून हो उनको करना पड़ता है, ईश्वर को नहीं॥ ४२ ॥

* इसी आयत के भाष्य में तफ़सीर हुसैनी में लिखा है कि एक मनुष्य मुहम्मद[८] साहब के पास आया। उसने कहा कि ''ऐ रसूलल्लाह! खुदा कर्ज़ क्यों माँगता है?'' उन्होंने उत्तर दिया कि ''तुमको बहिश्त में ले जाने के लिये।'' उसने कहा कि ''जो आप ज़मानत लें, तो मैं दूँ।'' मुहम्मद[९] साहब ने उसकी ज़मानत ले ली। खुदा का भरोसा न हुआ, उसके दूत का हुआ।[१०]

वेस तथा उदयपुर सं० में २२५ संख्या के स्थान पर २२४ अशुद्ध है।

१०-१३. उचित संशोधन एवं अपपाठ—(१०) मूलप्रति सं० में ''**लिखना**'' के स्थान पर द्वि० सं० का ''**लिखा**'' पाठ उचित है। (११) द्वि० सं० में यहां ''**जैसा जिस तरह से चाहो, जाओ**'' पाठ-परिवर्तन आयतानुसार ठीक है। मूलप्रति सं० का पाठ ''जैसा जिस ओर से चाहो उनसे बर्तो'' सीमित अर्थवाला है। (१२) ''**विषयी करने**'' मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**करने**'' क्रिया नहीं है, यह अपेक्षित है। यहां से आगे ''**और पुंसि-मैथुन**'' द्वि० सं० से हटा दिया है, यह उचित संशोधन है। यह आवश्यक भी है क्योंकि मूलह० का भाव आयत में नहीं है। (१३) द्वि० सं० में ''**बेकारी**'' अपपाठ है।

१. **इस्लाम में स्त्रियों की हीन दशा**—आयतसंख्या २२३ इस्लाम में स्त्रियों की हीनदशा का मुंहबोलता चित्र है। अत्यन्त हीन उपमा देते हुए उनको पुरुषों की खेतियां कहा है और कहा है कि जैसे चाहो उनका उपभोग करो। यहाँ स्त्री की न कोई स्वतन्त्र सत्ता है, न अस्मिता है, न समानता का अवसर है। यह समझिए कि केवल उपभोग की वस्तु है और वह भी खिलौने की तरह।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में आयतसंख्या और २२७ और मूलह०, मुद्रणह०, भद में २२९ अशुद्ध है।

३. **अप-परिवर्तन**—मूलसं० में ''**उसको**'' के स्थान पर ''**खुद को**'' पाठ सही है। द्विप्र०, द्वि०सं० में यह पाठ अप-परिवर्तित है।

४. **मुंशी समर्थदान द्वारा व्यर्थ परिवर्तन**—द्विप्र० में ''**अब देखिये.....दे सकता था**'' तक का पाठ बदलकर यह पाठ कर दिया—''**भला, ख़ुदा को कर्ज़ उधार लेने से क्या प्रयोजन? जिसने सारे संसार को बनाया, वह मनुष्य से कर्ज़ लेता है? कदापि नहीं। ऐसा तो विना समझे कहा जा सकता है।**'' अब देखिए, ऊपर की ऋषिप्रोक्त भाषा में ख़ुदा के नाम पर ठगी करने पर जो प्रखर यथार्थ कथन था, उसका भाव और व्यंग्य संशोधन से समाप्त ही हो गया। द्विप्र० में व्यावहारिक समीक्षा न होकर शिथिल दार्शनिक समीक्षा मात्र रह गई। यह महर्षि की भाषा नहीं है, यह मुंशी जी की शिथिल भाषा है। महर्षिप्रोक्त मूलप्रति का उपर्युक्त पाठ ही ग्राह्य है।

५. **अव्यवस्थित प्रयोग**—लिपिकर ने सत्यार्थप्रकाश में कहीं ''**तोटा**'' तो कहीं ''**टोटा**'' पद लिखा है। हिन्दी के अनुसार ''**टोटा**'' पाठ ही ग्राह्य है। अनिश्चित पाठ अमानकता को प्रकट करते हैं। द्वि०सं० में यहां संशोधन कर दिया है। मूलप्रति सं० में यहां ''**तोटा**'' पाठ उपयुक्त नहीं। ''**तोटा में**'' और भी अशुद्ध है, ''**टोटे में**'' उपयुक्त पाठ है।

६. **अल्लाह को उधार देने की पुनरुक्ति**—द्र० आयतखण्ड संख्या ७१, १५५।

७. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में ''**दिवालिये वा जिनके खर्च**'' वाक्यखण्ड में ''**दिवालिये**'' अपप्रयोग तथा ''**जिनके**'' प्रयोग वाक्यरचना की दृष्टि से अनावश्यक है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

८-९. **अव्यवस्थित तथा अशुद्ध वर्तनी**—गत आयतखण्ड संख्या ३५ की समीक्षा में ''**मुहम्मद**'' शुद्ध वर्तनी है किन्तु द्विप्र० में यहां दोबार अशुद्ध लिखी है। अन्य सभी द्वि०सं० में संशोधित है।

१०. **मुद्रणकालीन टिप्पणी एवं पाठग्रहण**—यह टिप्पणी मूलह० में नहीं है। मुद्रणह० में बाद में लिखकर जोड़ी गई है। यह मुंशी समर्थदान जी द्वारा लिखित है। मूलसं० में वहीं से ग्रहण की गई है।

४३. ....उनमें से कोई ईमान लाया[१] और कोई काफ़िर हुआ। जो अल्लाह चाहता न लड़ते, जो चाहता है अल्लाह करता है। २५३। मं० १। सि० २। सू० २। आ० २५३॥[२]

समीक्षक—क्या जितनी लड़ाई होती है वह ईश्वर की ही इच्छा से [होती है] ?[३] क्या वह अधर्म करना चाहे, तो कर सकता है? जो ऐसी बात है, तो वह ख़ुदा ही नहीं, क्योंकि भले मनुष्यों का यह कर्म नहीं कि शान्तिभंग करके लड़ाई करावें। इससे विदित होता है कि यह '**क़ुरान**' न ईश्वर का बनाया और न किसी धार्मिक विद्वान् का रचित है[४]॥ ४३॥

४४. ....जो कुछ आसमान और पृथिवी पर है सब उसी के लिये है।....उसकी कुर्सी ने आसमान और पृथिवी को समा लिया है[५]....। २५५। मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २५५॥[६]

समीक्षक—जो आकाश और भूमि में पदार्थ हैं वे सब जीवों के लिये परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं, अपने लिये नहीं; क्योंकि वह पूर्णकाम है। उसको किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं। जब उसकी कुर्सी[७] है, तो वह एकदेशी है।[८] जो एकदेशी होता है वह ईश्वर नहीं कहाता, क्योंकि ईश्वर तो व्यापक है॥ ४४॥

४५. .....अल्लाह[९] सूर्य को पूर्व से लाता है। बस, तू पश्चिम से ले आ। जो क़ाफिर था, हैरान

---

१. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में भ्रष्ट अनुवाद ''**कोई ईमान न लाया**'' पाठ है। कुरान के मूलपाठ और आयत की विकल्पात्मक भाषा के अनुसार ''**कोई ईमान लाया**'' पाठ शुद्ध है। द्वि०सं०, मूलसं०, स्वामी वेदानन्द सं० में पाठ संशोधित है। **पं० सिद्धान्ती सं०, पं० भगवद्दत्त सं०** में भ्रष्ट पाठ है। **पं० मीमांसक जी** ने मूलपाठ में अशुद्ध पाठ दिया है किन्तु टिप्पणी में ''**न**'' पद को अशुद्ध माना है। ऐसा शोधकार्य निष्फल है क्योंकि कहीं उद्धृत किया जायेगा तो मूलपाठ ही ग्रहण किया जायेगा और वह अशुद्ध ही होगा। टिप्पणी मीमांसक जी के संस्करण में ही धरी रह जायेगी।

उदयपुर संस्करण—आश्चर्य तो उदयपुर सं० पर है। उसके सामने शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ उपस्थित थे किन्तु उन्होंने कुरानविरुद्ध भ्रष्टपाठ को ग्रहण किया। प्रतीत होता है कि कथित दश सम्पादक विद्वानों ने इसकी भ्रष्टता पर विचार ही नहीं किया।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में और भद में यहां आयत संख्या २३५ अशुद्ध है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**होती है**'' क्रिया त्रुटित रह गई है। लिपिकर की असावधानी से त्रुटित रह गई यह क्रिया आवश्यक है। इसके बिना वाक्य नहीं बनता।

४. **ऋषिकृत उचित प्रयोग का अपपरिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, में ऋषि की स्थापित भाषाशैली के विरुद्ध ''**कुरान.....बनायी..... विद्वान् की**'' स्त्रीलिंग प्रयोग है। अशुद्ध-लेखन को छोड़कर सम्पूर्ण समुल्लास में पुंल्लिग का प्रयोग है। मूलहस्तलेख में ऋषि ने स्वलेख में इसको पुंल्लिंग लिखा है।

५. **उचित अनुवाद-संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में आयत की दूसरी पंक्ति का अनुवाद अशुद्ध है जो इस प्रकार है—''**चाहे उसकी कुरसी में आसमान और पृथिवी को समा लेवे।**'' द्विप्र० और द्वि०सं० में इसका संशोधन उपर्युक्त आयत-पाठ के रूप में किया गया है। **वैदिक विद्वान् पं० रामचन्द्र देहलवी** का भी यही संशोधन है। पहली पंक्ति में भी यह जो वाक्य है कि ''**सब उसी के लिये है**'', इसके स्थान पर कुरान के वर्तमान अनुवादों में ''**सब उसी का है**'' अनुवाद मिलता है। यह अधिक ठीक अनुवाद है। ये संशोधन ग्राह्य हैं।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और भद में यहां आयतसंख्या २३७ अशुद्ध है।

७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों ही सं० में आयत-पाठ में ''**कुरसी**'' वर्तनी है और समीक्षा में ''**कुर्सी**'' है। '**कुर्सी**' अरबी का मूल शब्द है और '**कुरसी**' उसका हिन्दी में प्रचलित अपभ्रंश है। एक ही स्थान पर दो वर्तनियां उपयुक्त-प्रयोग नहीं कहलातीं। मानकता और एकरूपता के लिए ''**कुर्सी**'' मूल वर्तनी दोनों स्थलों पर ग्राह्य है।

८. **ग्रन्थकार की समीक्षा का आधार**—''**कुर्सी**'' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—'**बैठने की कुर्सी=आसन्दी, प्रतिष्ठा, प्रभुत्व**' आदि। ग्रन्थकार ने यहां जो समीक्षा की है वह बैठने की आसन्दी अर्थ को आधार बनाकर की है। जब कुरान में अल्लाह का स्थान सातवें आसमान में माना जाता है तो उसके बैठने के लिए कुर्सी भी आसमान में ही मानी जायेगी। यही व्यंग्यार्थ यहां अभिप्रेत है।

९. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**मेरा मालिक**'' पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका संशोधन करके

हुआ। निश्चय अल्लाह पापियों को मार्ग नहीं दिखलाता। २५८।

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २५८॥[१]

समीक्षक—देखिये, यह अविद्या की बात! भला **सूर्य न पूर्व से पश्चिम और न पश्चिम से पूर्व कभी आता-जाता है। वह तो अपनी परिधि में घूमता रहता है।** इससे निश्चित जाना जाता है कि '**क़ुरान**' के कर्त्ता को न '**खगोल**' और '**भूगोल विद्या**' आती थी। **जो पापियों को मार्ग नहीं बतलाता तो पुण्यात्माओं के लिये भी मुसलमानों के ख़ुदा की आवश्यकता नहीं, क्योंकि धर्मात्मा तो धर्म-मार्ग में ही होते हैं; मार्ग तो धर्म से भूले हुए मनुष्यों को बतलाना होता है।** सो कर्त्तव्य के न करने से '**क़ुरान**' के कर्त्ता की बड़ी भूल है॥ ४५॥

४६. .....कहा, चार जानवरों [में] से ले उनकी सूरत पहिचान रख, फिर हर पहाड़ पर उनमें से एक-एक टुकड़ा रख दे, फिर उनको बुला, दौड़ते तेरे पास चले आवेंगे....। २६०।

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २६०॥[२]

समीक्षक—वाह-वाह देखो जी! मुसलमानों का ख़ुदा भानमती के समान खेल कर रहा है! क्या ऐसी ही बातों से ख़ुदा की ख़ुदाई है? [३]बुद्धिमान् लोग ऐसे ख़ुदा को तिलाञ्जलि[४] देके दूर रहेंगे और मूर्ख लोग फसेंगे। इससे ख़ुदा को बड़ाई के बदले बुराई पल्ले पड़ेगी[५]॥ ४६॥

४७. जिसको चाहे नीति देता है....। २६९। मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २६९॥[६]

समीक्षक—जब जिसको चाहता नीति देता है। तो जिसको नहीं चाहता है उसको अनीति देता होगा? यह बात ईश्वरता की नहीं। किन्तु जो पक्षपात छोड़ सबको नीति का उपदेश करता है, वही ईश्वर और आप्त हो सकता है, अन्य नहीं॥ ४७॥

४८. जो लोग ब्याज खाते हैं वे क़ब्र[७] से नहीं खड़े होंगे....। २७५।[८]

मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २७५॥[९]

समीक्षक—क्या वे क़ब्रों में ही पड़े रहेंगे? और जो पड़े रहेंगे, तो कब तक? ऐसी असम्भव बात

''**अल्लाह**'' पाठ रखा गया है। कुरान के मूल पाठ में भी ''**अल्लाह**'' ही है, अतः यही ग्राह्य है।

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और भद में आयतसंख्या २४० अशुद्ध है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और भद में आयतसंख्या २४२ अशुद्ध है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**तो**'' पद निरर्थक है। द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको हटा दिया गया है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**तिलाञ्जली**'' अपवर्तनी है। सभी सं० ने इसको शुद्ध कर लिया है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य इस प्रकार है—''**इससे ख़ुदा की बड़ाई के बदले बुराई उसके पल्ले पड़ेगी।**'' यहां ''**की**'' के स्थान पर ''**को**'' कारक प्रत्यय आयेगा और ''**उसके**'' निरर्थक पद है। उपर्युक्त संशोधित पाठ ग्राह्य है। यही अपपाठ अन्य सभी द्वि०सं० में है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में २५० और द्विप्र०, भद में यहां २५१ आयतसंख्या अशुद्ध है।

७. **अपर्वतनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यहां दोनों स्थानों पर ''**कबर**'' वर्तनी के स्थान पर '**क़ब्र**' शुद्ध वर्तनी अपेक्षित है।

८. **मुद्रणकाल में आयत का अनुचित निष्कासन एवं पुनःग्रहण**—मुद्रणकाल में, मुंशी समर्थदान द्वारा मुद्रणप्रति में काट देने के कारण यह ४८(२७५) आयत तथा इसकी समीक्षा प्रकाशन से छूट गई थी। यह द्विप्र० में नहीं है। परोपकारिणी के द्वितीय सं० २ से ३३वें सं० तक भी नहीं छपी। ३४ वें संस्करण में इसको ग्रहण किया गया। यह कुरान के सिद्धान्त की द्योतक महत्त्वपूर्ण आयत है जिसको गलत काटा गया था।

ईश्वर के पुस्तक की तो नहीं हो सकती है, किन्तु बालबुद्धियों की तो हो सकती है॥ ४८ ॥[१०]

४९. .....वह कि जिसको चाहे क्षमा करेगा, जिसको चाहे पापी बनावेगा,[१] क्योंकि वह सब वस्तु पर बलवान् है। २८४। मं० १। सि० ३। सू० २। आ० २८४॥[२]

समीक्षक—क्या क्षमा के योग्य पर क्षमा न करना, अयोग्य पर क्षमा करना गवरगंड[३] राजा के तुल्य यह कर्म नहीं है? यदि ईश्वर जिसको चाहता पापी वा पुण्यात्मा बनाता है तो जीव को पाप-पुण्य न लगना चाहिये, क्योंकि जब ईश्वर ने ही उसको वैसा किया तो जीव को दुःख-सुख न होना चाहिये। जैसे सेनापति की आज्ञा से किसी भृत्य ने किसी को मारा वा रक्षा की उसका फलभागी वह नहीं होता, वैसे वे भी नहीं॥ ४९ ॥

५०. कह इससे अच्छी और क्या परहेज़गारों को खबर दें कि अल्लाह की ओर से बहिश्तें हैं, जिनमें नहरें चलती हैं। उसी में सदैव रहनेवाली शुद्ध[४] बीबियाँ हैं,[५] अल्लाह की प्रसन्नता से। अल्लाह उनको देखनेवाला है साथ बन्दों के। १५[६] मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० १५॥[७]

समीक्षक—भला, यह स्वर्ग है किंवा वेश्या-वन? इसको ईश्वर कहना [चाहिये][८] वा स्त्रैण

मुंशी समर्थदान जी ने इसको काटने का कोई कारण नहीं दर्शाया है। निश्चय ही यह उनकी भूल है। स्वामी वेदानन्द सं० में यह आयत त्रुटित है। अन्य सभी सम्पादकों द्वि०सं०, पं० भगवद्दत्त जी, पं० मीमांसक जी, स्वामी विद्यानन्द जी, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी आदि ने इस आयत के महत्त्व को समझते हुए इसको मूलपाठ में ग्रहण कर लिया है।

कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० ने इस्लाम के खास सिद्धान्त पर प्रकाश डालने वाली इस महत्त्वपूर्ण आयत को मूलपाठ में ग्रहण नहीं किया है। इसको टिप्पणी में दिया गया है, जो मूलपाठ की अपेक्षा से व्यर्थ कार्य है। इस प्रकार उदयपुर सं० ने मुंशी समर्थदान जी की भूल को महत्त्व दिया है और ऋषि के लेख की उपेक्षा करके उसको व्यर्थ माना है। आश्चर्य है, दस आर्यविद्वानों की दृष्टि में ऋषि की प्रतिष्ठा मुंशी जी से भी कम है।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में इसकी आयतसंख्या २५७, भद में २४७ अशुद्ध है। द्विप्र०, उदयपुर सं० में यह महत्त्वपूर्ण आयत त्रुटित है।

१. **मुद्रणकाल में अनुवाद संशोधित किन्तु समीक्षा में विसंगति**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में आयत की प्रथम पंक्ति का अनुवाद उपर्युक्त है। द्विप्र० में इसको संशोधित करके "**चाहे दण्ड देगा**" पाठ बना दिया है।

संशोधक मुंशी समर्थदान जी तथा द्वि०सं० पर आधारित संस्करणों के सभी सम्पादकों ने इस बिन्दु पर ध्यान नहीं दिया कि द्विप्र० का अशुद्ध परिवर्तन ग्रहण नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि यह अनुवाद किसी मौलवी का ही किया हुआ है और सारी समीक्षा उसी अनुवाद व '**पापी-पुण्यात्मा**' पदों पर आधारित है। अतः समीक्षा में भी परिवर्तन अपेक्षित होगा। द्विप्र०/द्वि०सं० में आयत का पाठ तो बदल दिया किन्तु समीक्षा उसी पूर्व अनुवाद पर आधारित है। अतः अनुवाद के बदलने पर एक नयी विसंगति उत्पन्न हो जायेगी, जो कि सभी द्वि०सं० में हो भी गई है। इस प्रकार आयत का मूलह०, मुद्रणह० में प्रदर्शित अनुवाद ही ग्रहण करना आवश्यक है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० और भद में यहां आयत संख्या २६६ अशुद्ध है।

३. **गवरगंड राजा**=मूर्ख राजा। इसकी कहानी ग्रन्थकार द्वारा रचित '**व्यवहारभानु**' पुस्तिका में द्रष्टव्य है।

४. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में "**शुद्ध अर्थात् गोरी-गोरी**" अनुवाद अशुद्ध है। द्विप्र० में इसको संशोधित करके हटा दिया है। कुरान में भी '**शुद्ध=पाक-साफ**' अनुवाद है। यहां द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ ग्राह्य है।

५. **अपवर्तनी**—इस आयत और समीक्षा में पांच बार "**बीबियाँ**" पद प्रयुक्त है। दोनों हस्त० और तीनों सं० में कई स्थानों पर "**बीवियां**" अशुद्ध वर्तनी है।

६. **मुद्रणकालीन उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**अल्लाह उनको देखनेवाला है**" इस वाक्य के साथ ही आयत पूर्ण हो जाती है। द्विप्र० में और फिर द्वि०सं० में परिवर्धन करके "**साथ बन्दों के**" पाठ और जोड़ा गया है। वह ग्राह्य है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या १२ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, युमी, मूलसं० में १४ अशुद्ध है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**चाहिये**" क्रिया त्रुटित है। इसके बिना वाक्यरचना ही नहीं होती।

अर्थात् स्त्रियों में प्रसक्त ?[१] कोई भी बुद्धिमान्, ऐसी बातें जिसमें हों, उसको परमेश्वर का किया पुस्तक कभी नहीं मान सकते। यह पक्षपात क्यों करता है? जो बीबियां बहिश्त में सदा रहती हैं, वे यहां जन्म पाके वहां गई हैं वा वहीं उत्पन्न हुई हैं? यदि यहां जन्म पाकर वहां गई हैं, और क़यामत की रात से पहले ही वहां बीबियों को बुला लिया तो उनके खाविन्दों को क्यों न बुला लिया ?[२] और क़यामत की रात में सब न्याय होगा, इस नियम को क्यों तोड़ा? यदि वहीं जन्मीं हैं, तो क़यामत तक वे क्योंकर निर्वाह करती हैं? यदि फरिश्तों से निर्वाह करती हैं,[३] तो यहाँ से बहिश्त में जानेवाले मुसलमानों को ख़ुदा बीबियां कहां से देगा? क्या क्षतयोनि ही उनको देगा?[४] और जैसे बीबियां बहिश्त में सदा रहनेवाली बनाई, वैसे पुरुषों को वहां सदा रहने वाले क्यों नहीं बनाया? इसलिये मुसलमानों का ख़ुदा अन्यायकारी, बेसमझ है॥ ५० ॥

५१. निश्चय अल्लाह की ओर से दीन इस्लाम है[५]....। १९। मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० १९ ॥[६]

समीक्षक—क्या अल्लाह मुसलमानों का ही है, अन्यों का नहीं? क्या तेरह-सौ वर्षों से पूर्व[७] ईश्वरीय मत था ही नहीं? इसी से यह '**क़ुरान**' ईश्वर का बनाया तो नहीं, किन्तु किसी पक्षपाती का बनाया है॥ ५१ ॥

५२. ....प्रत्येक जीव को पूरा दिया जावेगा जो कुछ उसने कमाया और वे न अन्याय किये

---

१. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—मूलप्रति सं० में '**स्त्रैण**' का अर्थ उद्घाटित करने के लिए आगे पाठ रखा है—''**अर्थात् स्त्रियों में प्रसक्त**'' द्वि० सं० में इस पाठ को गम्भीरता से समझे बिना व्यर्थ ही हटा दिया। स्त्रैण के कई अर्थ हैं, जैसे, स्त्री-सम्बन्धी, स्त्रियों में प्रसक्त, स्त्रियों का गुलाम आदि। इनमें से यहां महर्षि को जो कहना अभिप्रेत था 'अर्थात्' कहके उसको स्पष्ट किया है। इस आवश्यक पाठ को हटाने का कोई औचित्य नहीं बनता। मूलप्रति सं० का महर्षिप्रोक्त उक्त पाठ ग्राह्य है।

२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में वाक्यरचना अशुद्ध है—''**वहां बीबियों को बुला ली और उनके खाविन्दों को क्यों न बुला लिये ?**'' द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित कर दिया है।

३. **मुद्रणकाल में अशुद्ध पाठपरिवर्धन**—द्विप्र० में इस वाक्य के स्थान पर ''**जो उनके लिए पुरुष भी हैं**'' पाठ-परिवर्तन किया गया है, जो सर्वथा अशुद्ध है। संशोधक इस्लाम के मन्तव्य का गम्भीर ज्ञाता होता तो ऐसा न करता। ''**फरिश्तों**'' के स्थान पर ''**पुरुष**'' संशोधन इस कारण अनुचित है कि इस्लाम के अनुसार वर्तमान सृष्टि-अवधि तक तो बहिश्त में फ़रिश्ते ही निवास करते हैं। सामान्य पुरुष तो क़यामत के दिन जब उनके लिए स्वर्ग-नरक का फैसला होगा तब बहिश्त या दोज़ख में जायेंगे। मूलप्रति सं० का उक्त पाठ ग्राह्य है। द्वि०सं० पर आधारित सभी सं० में यह अपपाठ है। उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

४. **मुद्रणकाल में पाठनिष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० से ''**क्या क्षतयोनि ही उनको देगा ?**'' यह वाक्य निकाल दिया है। प्रश्न मार्मिक उठाया है। यदि बहिश्त में स्थित स्त्रियां फ़रिश्तों से निर्वाह करती हैं तो सब समागम वाली ही होंगी। क्या खुदा क़यामत के बाद वहां जानेवाले पुरुषों को भोगी गई स्त्रियां ही देगा? इस गम्भीर आक्षेप से बचने के लिए कुरान के नये हिन्दी अनुवाद में ''**बीबियां हैं**'' के स्थान पर ''**पाक़-साफ़ जोड़े होंगे**'' अनुवाद कर दिया है। किन्तु वे कहां तक बचेंगे? ये कथन तो अनेक आयतों में स्पष्ट शब्दों में मिलते हैं। देखिए, अंग्रेजी अनुवाद में ''Companions''=जीवनसाथी या बीबियां, प्रयोग है। मुंशी जी को महर्षि का ऐसा महत्त्वपूर्ण तर्कयुक्त पाठ नहीं निकालना चाहिये था। यह सभी द्वि०सं० में त्रुटित है।

५. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां ''**और नहीं**'' अधिक पाठ है। कुरान में यह नहीं है, न वहां यह भाव है। सभी द्वि०सं० में इसका संशोधन कर इसको हटा दिया गया है, जो उचित है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या १६ अशुद्ध है। मूलसं०, युमी, वेस, उदयपुर सं० में १८ अशुद्ध है।

७. **इस्लाम के तेरह सौ वर्ष**—इस्लाम के उद्भव को सन् २००८ तक १३८६ वर्ष हुए हैं। सत्यार्थप्रकाश की रचना तक लगभग १३०० वर्ष हुए थे। विस्तृत टिप्पणी पृष्ठ ९३९ पर देखिए।

जावेंगे। २५। कह—'या अल्लाह तू ही मुल्क का मालिक है जिसको चाहे देता है जिससे चाहे छीनता है,[१] जिसको चाहे प्रतिष्ठा देता है जिसको चाहे अप्रतिष्ठा देता है। सब कुछ तेरे ही हाथ में है, प्रत्येक वस्तु पर तू ही बलवान् है। २६। रात को दिन में और दिन को रात में पैठाता है और मृतक को जीवित से, जीवित को मृतक से निकालता है और जिसको चाहे अनन्त[२] अन्न देता है। २७।'

मुसलमानों को उचित है कि काफ़िरों को मित्र न बनावें सिवाय मुसलमानों के जो कोई यह करे, बस, वह अल्लाह की ओर से नहीं....। २८। कह—'जो तुम चाहते हो अल्लाह को, तो पक्ष करो मेरा, अल्लाह चाहेगा तुमको, और तुम्हारे पाप क्षमा करेगा। निश्चय करुणामय है। ३१।

मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० २५। २६। २७। २८। ३१॥[३]

समीक्षक—जब प्रत्येक जीव को कर्मों का पूरा-पूरा फल दिया जावेगा तो क्षमा नहीं किया जायगा, और जो क्षमा किया जायगा तो पूरा फल नहीं दिया जायगा, और [इस प्रकार] अन्याय होगा। जब विना उत्तम कर्मों के राज्य [और][४] प्रतिष्ठा देगा, तो भी ईश्वर अन्यायी हो जायगा और विना पाप के राज्य और प्रतिष्ठा छीन लेगा,[५] तो भी अन्यायकारी हो जायगा। भला, रात में दिन, दिन में रात[६] और जीवित से मृतक और मृतक से जीवित कभी हो सकता है? क्योंकि ईश्वर की व्यवस्था अछेद्य-अभेद्य है, कभी अदल-बदल नहीं हो सकती।

अब देखिये पक्षपात की बातें! कि जो मुसलमान के मज़हब में नहीं हैं उनको '**काफ़िर**' ठहराना, उनमें श्रेष्ठों से भी मित्रता न रखने और मुसलमानों में दुष्टों से भी मित्रता रखने के उपदेश करना ईश्वर को ईश्वरता से बहिः कर देता है। इससे यह '**क़ुरान**', '**क़ुरान**' का ख़ुदा और मुसलमान लोग केवल पक्षपात, अविद्या के भरे हुए हैं, इसलिये मुसलमान लोग अन्धेरे में हैं। और देखिये मुहम्मद साहब[७]

---

१. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह० में लिपिकर ने "**जिसको चाहे छीनता है**" अपपाठ लिखा है। वही द्विप्र० में छपा है। अन्य सभी में संशोधित है।

२. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—द्विप्र०में यहां "**अत्यन्त**" के स्थान पर "**अनन्त**" पाठ किया है। आजकल के अनुवादों में '**बेहिसाब**' शब्द का प्रयोग है। मूलप्रति सं० के "**अत्यन्त**" प्रयोग की अपेक्षा '**अनन्त**' अधिक सटीक है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में यहां २२-२७ और द्विप्र० में यहां २१, २२, २३, २४ आयतसंखाएं अशुद्ध हैं, २८, ३१ त्रुटित हैं। भद में २१-२४; युमी, मूलसं०, उदयपुर सं० तथा वेस में २४, ३० संख्याएं अशुद्ध हैं, २८, ३१ त्रुटित हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में '**और**' पद त्रुटित है। यहां अपेक्षित है। बृ०कोष्ठकान्तर्गत पाठ भी अत्यावश्यक है।

५. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मूलह० से मुद्रणप्रति लिखते समय प्रमादी लिपिकर ने यह पाठ छोड़ दिया—"**प्रतिष्ठा देगा, तो भी ईश्वर अन्यायी हो जायेगा और बिना पाप के राज्य और प्रतिष्ठा छीन लेगा**"। यही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है। स्वामी वेदानन्द, श्री सिद्धान्ती तथा पं० मीमांसक सं० में भी यह त्रुटित है। द्वि०सं०, उदयपुर सं० में परिवर्धित है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—"**रात में दिन, दिन में रात**" यह पाठ मूलहस्तलेख और मूलप्रति सं० दोनों में है। मुद्रणलिपिकर द्वारा पाठ त्रुटित छोड़ने से मुद्रणसमय, द्विप्र०, द्वि०सं० में त्रुटित रह गया है। यह पाठ आवश्यक है, क्योंकि यह आयत में है। उसी पर समीक्षा है।

७,९,१०. **अपवर्तनी और अयोग्य लिपिकर-शोधक**—क्या कोई बुद्धिमान् यह कल्पना कर सकता है कि कोई पढ़ा-लिखा इतने प्रसिद्ध नाम को भी अशुद्ध लिख सकता है? किन्तु इस कल्पना को साकार कर दिखाया है महर्षि के वेतनभोगी लिपिकरों-शोधकों ने। दोनों हस्तलेखों में "**महंम्मद**" वर्तनी यहां तीनों स्थलों पर लिखी है। शोधकों ने मुद्रणकाल में उसको "**महुम्मद**" बना दिया। यही अपवर्तनी द्विप्र० में छपी है। शोधकों का यह हाल तब है जबकि आयतखण्ड संख्या ३५ (द्विप्र० ३२) में शुद्ध वर्तनी "**मुहम्मद**" प्रकाशित है। **द्विप्र० में इस समु० में अन्यत्र भी लगभग ३५ बार यही अपवर्तनी लिखी गई है।** शुक्र है, हमारे सम्पादकों ने इस अशुद्ध पद में "**तुह्मारा-तुह्मारे, हठाना-हठाने, गाढ़ना-गाढ़ने**" अशुद्ध वर्तनियों को स्वीकार करने की तरह

की लीला कि जो तुम मेरा पक्ष करोगे तो ख़ुदा तुम्हारा पक्ष करेगा और जो तुम पक्षपातरूप पाप करोगे उसको[८] क्षमा भी करेगा! इससे सिद्ध होता है कि मुहम्मद साहब[९] का अन्तःकरण शुद्ध नहीं था। इसीलिये अपने मतलब सिद्ध करने के लिये मुहम्मद साहब[१०] ने '**क़ुरान**' बनाया वा बनवाया, ऐसा विदित होता है॥ ५२॥

५३. जिस समय कहा फरिश्तों ने कि ऐ मरियम[१]! तुझको अल्लाह ने पसन्द किया और पवित्र किया ऊपर जगत् की स्त्रियों के। ४२। मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० ४२॥[२]

समीक्षक—भला, जब आजकल ख़ुदा के फ़रिश्ते और ख़ुदा किसी से बातें करने को नहीं आते, तो प्रथम भी नहीं आये होंगे[३]। जो कहो कि पहले के मनुष्य पुण्यात्मा थे, अब के नहीं, तो यह बात मिथ्या है। किन्तु जिस समय ईसाई और मुसलमानों का मत चला था, उस समय उन देशों में जंगली और विद्याहीन मनुष्य अधिक थे, इसीलिये ऐसे विद्याविरुद्ध मत चल गये। अब विद्वान् अधिक हैं, इसलिये नहीं चल सकते[४]। किन्तु जो-जो ऐसे पोकल[५] मज़हब हैं, वे भी अस्त होते जाते हैं, वृद्धि की तो कथा ही क्या है!॥ ५३॥

५४. ....उसको कहता है कि 'हो', बस हो जाता है। ४७।[६] काफ़िरों ने धोखा दिया, ख़ुदा[७] ने धोखा दिया, ख़ुदा[८] बहुत मकर करने वाला है। ५४। मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० ४७।[९] ५४॥

समीक्षक—जब मुसलमान लोग ख़ुदा के सिवाय दूसरी चीज़ नहीं मानते तो ख़ुदा ने किससे कहा? और उसके कहने से कौन हो गया? इसका उत्तर मुसलमान सात जन्म में भी न दे सकेंगे, क्योंकि विना उपादान कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता। विना कारण के कार्य कहना, जानो 'अपने मा-बाप के विना मेरा शरीर हो गया' ऐसी बात है। जो धोखा खाता और मकर[१०] अर्थात् छल और दम्भ करता है वह ईश्वर तो कभी नहीं हो सकता, किन्तु उत्तम मनुष्य भी ऐसा काम नहीं करता॥ ५४॥

कोई रहस्य खोजने की नहीं सोची! सभी ने इसको संशोधित कर लिया है। आगे इस पर टिप्पणी नहीं दी जायेगी। पाठकगण! ऐसे लिपिकरों-शोधकों से महर्षि का पाला पड़ा था! फिर भी कुछ विद्वान् और पाठक उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते!

८. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**उसकी**" अपपाठ है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मर्य्यम**" अपवर्तनी है। मरियम से ईसा के जन्म का यही वृत्तान्त बाइबल में भी है। देखिए, तेरहवें समु० की आयतखण्ड संख्या ६३ में। **पुनरुक्ति**—'द्रष्टव्य' आयतखण्ड संख्या ११६, १२० में।

२. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—वेस, युमी, उदयपुर, मूलप्रति सं० में "**४१**" संख्या अशुद्ध है। द्विप्र० में ३५, मूलह०, मुद्रणह०, भद में ३८ अशुद्ध है।

३. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में "**आये होंगे**" अपप्रयोग है। लगभग यही अपपाठ अन्य सभी सं० में है।

४. **अपपाठ**—दोनों सं० में "**चल सकता**" अप क्रिया-प्रयोग है। पूर्व वाक्य के अनुसार बहुवचन होगा।

५. **पोकल**=सारहीन, खोखला। यह गुजराती भाषा का शब्द है।

६. "**हो जा**" की पुनरुक्ति—द्र० आयत क्रमसंख्या २८, १४०।

७,८. **अप-अनुवाद**—क़ुरान में सटीक अनुवाद 'ख़ुदा' है। किसी मौलवीकृत 'ईश्वर' अनुवाद सटीक नहीं है।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—वेस, युमी, उदयपुर, मूलप्रति सं० में आयतखण्ड की संख्या "४६,५३"; मूलह० में ४३, ५० अशुद्ध हैं, मुद्रणह०, भद में ४३, ४६; द्विप्र० में ३९,४६ अशुद्ध हैं।

१०. **प्रमादी मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मूलह० से मुद्रणप्रति बनाते समय प्रमादी लिपिकर ने "**और मकर**" पद छोड़ दिये जिससे यह अशुद्ध पाठ बन गया—"**जो धोखा खाता अर्थात् छल और दम्भ करता है....।**" द्विप्र० में भी ये त्रुटित हैं। स्वामी वेदानन्द सं० में "**धोका करता**" तथा पं० मीमांसक सं० में "**धोखा खाता और धोखा करता**" अनुमान से पाठ बनाकर

५५. ....मत मरो, परन्तु मुसलमान हो। १०२।[१] ....क्या तुमको यह बहुत न होगा कि अल्लाह तुमको तीन हज़ार फ़रिश्तों के साथ साहाय्य देवे। १२३। मं० १। सि० ३। सू० ३। आ० १०२। १२३॥[२]

समीक्षक—देखिये, इससे यह ठीक सिद्ध होता है कि मुसलमान न होगे तो हम तुमको मार डालेंगे। यह केवल अधर्म की बात है।[३] जो मुसलमानों को तीन हज़ार फ़रिश्तों के साथ साहाय्य देता था, तो अब मुसलमानों की बादशाही बहुत-सी नष्ट हो गई और होती जाती है, क्यों साहाय्य नहीं देता? इसलिये यह बात केवल लोभ देके मूर्खों को[४] फसाने के लिये महा-अन्याय की है॥ ५५॥

५६. ....और काफ़िरों पर हमको साहाय्य कर। १४७। अल्लाह तुम्हारा उत्तम सहायक और कारसाज़[५] है। १५०। जो तुम अल्लाह के मार्ग में मारे जाओ वा मर जाओ, अल्लाह की दया बहुत अच्छी है....। १५७। मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० १४७। १५०। १५७॥[६]

समीक्षक—देखिये मुसलमानों की मूर्खता[७] कि जो अपने मत से भिन्न हैं उनको[८] मारने के लिये ख़ुदा से प्रार्थना[९] करते हैं! क्या परमेश्वर भोला है जो इनकी बात मान लेवे? यदि मुसलमानों का कारसाज़ अल्लाह ही है, तो फिर मुसलमानों के कार्य नष्ट क्यों होते हैं? और ख़ुदा भी मुसलमानों के साथ मोह से फसा हुआ दीख पड़ता है। जो ऐसा पक्षपाती ख़ुदा है, तो धर्मात्मा पुरुषों का उपासनीय कभी नहीं हो सकता॥ ५६॥

५७. यह लड़ाई इसलिये कि अल्लाह तुम्हारी परीक्षा लेवे.....। १६६।[१०]

मं० १। सि० ४। सू० ३। आ० १६६॥[११]

समीक्षक—जो लड़ाई के विना परीक्षा नहीं कर सकता, तो वह सर्वज्ञ नहीं। इससे वह ईश्वर

संगति लगाई है। पं० भगवद्दत्त सं०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० में मूलह० का पाठ गृहीत है।

१,३. **मुद्रणकाल में आयत पाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० में, इस्लाम की क्रूरता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाली प्रथम आयत १०२ और उसकी समीक्षा (''**देखिए.....बात है**'' तक) को हटा दिया गया है। महर्षि ने हटा देने के लिए यह समीक्षा नहीं लिखी थी। उपर्युक्त आयत मुंशी समर्थदान ने प्रकाशन के समय निकाली है। मुद्रणहस्त० में उनके द्वारा काटी हुई है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में ९३, ११४; द्विप्र० में आयत संख्या ११० (१२३ के स्थान पर) भद में ११४ और द्वि०सं० में १२४ अशुद्ध है। द्विप्र० में १०२ अवांछनीय रूप से निकाल दी है, मूलसं० में ९३ संख्या अशुद्ध है।

४. **मूर्ख मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपरिवर्तन**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। मुद्रणलिपिकर ने अपनी मूर्खबुद्धि से फिर काम लिया, शायद वाक्य में ''**लोभ**'' पद देखकर ''**मूर्खों को फसाने के लिये**'' के स्थान पर ''**भूखों को फसाने के लिए**'' पाठ बना दिया। यही पाठ द्विप्र० में भूखे वेतनभोगी शोधकों ने छापा है। शुक्र है, हमारे सभी सम्पादकों ने इस अशुद्धि में कोई रहस्य नहीं ढूंढा, सभी ने एकमत होकर इसको संशोधित कर लिया है।

५. **कारसाज**=बिगड़े हुए कामों को बनानेवाला।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—उदयपुर, युमी, वेस, जग, मूलप्रति सं० में आयतों की संख्या १४६, १४९, १५६ अशुद्ध है, मूलह०, मुद्रणह०, भद में १३६, १३९, १४६; द्विप्र० में १३०, १३३, १४० अशुद्ध हैं।

७. **मुद्रणकाल में अनावश्यक पाठपरिवर्तन**—द्विप्र० में भाषा को थोड़ा नम्र करने के लिए ''**मूर्खता**'' के स्थान पर ''**भूल**'' कर दिया है, जो नितान्त अनावश्यक है। यह मुंशी समर्थदान जी ने किया है। क्या इससे वे लोग संतुष्ट हो जायेंगे? फिर व्यर्थ पाठान्तर की क्या आवश्यकता थी?

८,९. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**उनके**'' तथा दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**की प्रार्थना**'' अपप्रयोग हैं।

१०. **मुद्रणकाल में आयत व समीक्षा पाठ निष्कासन**—द्विप्र० से इस आयतसंख्या ५७ को और इसकी समीक्षा को बिना कारण दर्शाये निकाल दिया गया है। इसको मुंशी समर्थदान जी ने निकाला है। यह मुद्रणहस्तलेख में है।

११. **त्रुटित उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में आयत उद्धरणसंख्या त्रुटित है।

क्योंकर हो सके ? ॥ ५७ ॥

५८. ....और अल्लाह तुमको परोक्षज्ञ[१] नहीं करता परन्तु अपने पैग़म्बरों में से जिसको चाहे पसन्द करे, बस अल्लाह और उसके रसूल के साथ ईमान लाओ....। १७९ ।

मं० १ । सि० ४ । सू० ३ । आ० १७९ ॥[२]

समीक्षक—क्या किसी पैग़म्बर को ख़ुदा अपने सदृश कर सकता है ? जो कर सकता है, तो दूसरा 'ख़ुदा-शरीक' ख़ुदा हुआ। जो नहीं कर सकता तो इस आयत के झूठ[३] होने से ख़ुदा ने झूठ बोला।[४] जिसकी बात झूठ हो, वह स्वयं झूठा हुआ।[५] जब मुसलमान लोग सिवाय ख़ुदा के न किसी के साथ ईमान लाते, न किसी को ख़ुदा का साझी मानते हैं तो ईमान में ख़ुदा के साथ पैग़म्बर साहब को शरीक क्यों किया ? अल्लाह ने पैगम्बर के साथ ईमान लाना लिखा, इसी से पैग़म्बर भी [ख़ुदा के साथ] शरीक हो गया, पुनः [ख़ुदा को] 'लाशरीक' कहना झूठा हुआ॥

यदि इसका अर्थ यह समझा जाय कि मुहम्मद साहब के पैग़म्बर होने पर विश्वास लाना चाहिये तो यह प्रश्न होता है कि मुहम्मद साहब के होने की क्या आवश्यकता है ? यदि ख़ुदा उनको पैग़म्बर किये विना अपना अभीष्ट कार्य नहीं कर सकता, तो अवश्य असमर्थ हुआ॥ ५८ ॥[६]

५९. ऐ ईमानवालो! संतोष करो,[७] परस्पर थामे रक्खो और लड़ाई में लगे रहो, अल्लाह से डरो कि तुम छुटकारा पाओ। २००। मं० १ । सि० ४ । सू० ३ । आ० २०० ॥[८]

समीक्षक—यह '**क़ुरान**' का ख़ुदा और पैग़म्बर दोनों लड़ाईबाज़ थे। जो लड़ाई की आज्ञा देता है वह शान्तिभंग करनेवाला होता है। क्या ख़ुदा के नाममात्र से डरने से[९] छुटकारा पाया जाता है वा अधर्मयुक्त लड़ाई आदि से डरने से ? जो प्रथम पक्ष है तो डरना-न डरना बराबर [है];[१०] और जो

---

१. **उचित संशोधन**—मुद्रणहस्त०, द्विप्र० और द्वि०सं० में "**सर्वज्ञ**" के स्थान पर "**परोक्षज्ञ**" परिवर्तन किया गया है। यह परिवर्तन ग्राह्य है, क्योंकि कुरान में अनुसार यही प्रयोग है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में आयत संख्या १५९ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १६७ अशुद्ध है।

३. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में पांच बार "**झूंठ**" और "**झूंठा**" वर्तनी का प्रयोग है, जो अशुद्ध है। ग्रन्थ में बहुश: अन्यत्र "**झूठ**" "**झूठा**" शुद्ध प्रयोग है। द्वि०सं० से यह पाठ निष्कासित है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त०, मूलसं० में "**खुदा झूंठ बोला**" अपवाक्य है।

५. **मुद्रणकाल में पाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० में आयत के प्रथमांश की समीक्षा ("**क्या किसी.....झूठा हुआ**" तक) अज्ञात कारणों से निकाल दी है। आयतांश होते हुए उसकी समीक्षा निकालने का औचित्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। बिना कारण दर्शाये इस पाठ को मुंशी समर्थदान जी ने काटा है। यह मुद्रणहस्तलेख में है। इसी प्रकार आगे "**कहना झूठा हुआ**" के स्थान पर "**कहना ठीक न हुआ**" पाठ बनाया है। यह भी कोई भाषा हुई ? व्यर्थ पाठान्तर किया है।

६. **मुद्रणकाल में उचित पाठ-परिवर्धन**—आयत की समीक्षा के अन्त में द्विप्र० में तीन पंक्तियां परिवर्धित की गई हैं ("**यदि इसका अर्थ.....असमर्थ हुआ**" तक)। उपयोगी तथा युक्तिसंगत प्रतीत होने के कारण उन्हें पाठ में सम्मिलित किया है। मूलसं० में इनको ग्रहण नहीं किया गया है। प्रतीत होता है इनका परिवर्धन मुंशी जी ने किया है।

७. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में "**संतोष करो**" पाठ त्रुटित है। द्विप्र० में जोड़ दिया है। कुरान में होने से यह ग्राह्य है।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १७८ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १८६ अशुद्ध है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य है—"**क्या नाम मात्र खुदा से डरने से**"। इसका भाव यह हुआ कि जो खुदा है नहीं, केवल जिसका नाम ही है। किन्तु ग्रन्थकार कहना चाहता है "**खुदा के केवल नाम से**"। इस प्रकार यहाँ उपर्युक्त पाठ उपयुक्त है। सभी सं० में यह शिथिल पाठ है।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**है**" क्रिया त्रुटित है। इसका होना आवश्यक है।

द्वितीय पक्ष है, तो ठीक है॥५९॥

६०. ये[१] अल्लाह की हद्दें हैं, जो अल्लाह और उसके रसूल[२] का कहा मानेगा वह बहिश्त में पहुँचेगा, जिनमें नहरें चलती हैं और यही बड़ा प्रयोजन है। १३। जो अल्लाह की और उसके रसूल की आज्ञा भंग करेगा और उसकी हद्दों से बाहर हो जायगा वो सदैव रहनेवाली दोज़ख़ की आग में जलाया जावेगा और उसके लिये ख़राब करनेवाला दुःख[३] है। १४।

मं० १। सि० ४। सू० ४। आ० १३। १४॥[४]

समीक्षक—जब ख़ुदा ने ही मुहम्मद साहब पैग़म्बर को अपना शरीक कर लिया है और खुद '**क़ुरान**' में ही लिखा है, तो मुसलमानों का ख़ुदा को 'लाशरीक' कहना व्यर्थ है।[५] और देखो, ख़ुदा पैग़म्बर साहब के साथ कैसा फसा है कि जिसने बहिश्त में रसूल का साझा कर दिया है। इस[६] एक बात में भी स्वतन्त्र न रहा। ऐसी-ऐसी बातें ईश्वरोक्त पुस्तक में नहीं हो सकतीं॥६०॥

६१. और एक अणु[७] के बराबर भी वह अन्याय नहीं करता और जो भलाई होवे उसको दुगुणा करेगा। ४०।[८]

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ४०॥[९]

समीक्षक—जो एक अणु भी अन्याय ख़ुदा नहीं करता तो पुण्य को दुगुणा क्यों देता है? और मुसलमानों का पक्षपात क्यों करता है? जीव को आप ही पापी क्यों बनाता [है, और उसे][१०] फिर दुःख क्यों देता है? क्योंकि अधिक-न्यून करने से अधिष्ठाता को भलाई-बुराई का फल मिलता है, आधीन को नहीं; जैसे सेना की लड़ाई में राजा को जय-पराजय रूप फल होता है, भृत्यों को नहीं।[११]

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां एकवचन "**यह**" है। बहुवचन "**ये**" अपेक्षित है। द्विप्र० में संशोधित है।

२. **रसूल**=ईश्वरदूत, नयी शरीअत (आचारशास्त्र) का, अल्लाह की ओर से प्राप्त उपदेश लोगों तक पहुंचानेवाला पैगम्बर।

३. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**काफ़िर**" अनुवाद है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधन करके "**दुःख**" रखा है। यह संशोधन सही और ग्राह्य है।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद में १५, १६ अशुद्ध आयत संख्याएं हैं। अन्य सभी में शुद्ध हैं।

५. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ-परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**तो मुसलमानों.....व्यर्थ है**" इस वाक्य को हटाकर "**स्वतन्त्र न रहा**" के बाद जोड़ा है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है, क्योंकि पूर्ववाक्य खण्ड के '**शरीक**' कथन के साथ '**लाशरीक**' की संगति जुड़ती है। सभी द्वि०सं० में यही स्थानभ्रष्ट परिवर्तन है।

६. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**इस**" के स्थान पर "**किसी**" पद गलत है। दोनों हस्त० में "**इस**" पद है।

७. **अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**त्रसरेणु**" कर दिया है। व्यवहार में छोटी इकाई के रूप में '**अणु**' ही प्रयुक्त होता है। मूलह० में, समीक्षा में "**अणु**" पद है जबकि आयत में "**परमाणु**" है। मुद्रणह० में दोनों स्थानों पर "**परमाणु**" पद पठित है। मूलसं० में मूलह० का पाठ है। वर्तमान हिन्दी-कुरानों में '**तनिक भी**' प्रयोग है।

८. **मुद्रणकाल में आयतपाठ-निष्कासन उचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० से इससे आगे, तीनों सं० में प्राप्त एक आयत "**इच्छा करो अपने हाथ-मुख से पूछलो निश्चय अल्लाह क्षमा करने वाला है।**" निकाल दी है। कुरान में वह नहीं प्राप्त होती। महर्षि ने उसकी समीक्षा भी नहीं की है, अतः उसका निकालना उचित है। मुंशी समर्थदान ने इसको हटाया है।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में आयत संख्या ३७ अशुद्ध है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में ४७ अशुद्ध है।

१०. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना वाक्य पूर्ण और स्पष्ट नहीं होता।

११. **मुद्रणकाल में समीक्षा-पाठनिष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**जीव को आप.....भृत्यों को नहीं**" तक समीक्षा हटा दी गई है। सम्भवतः संशोधक समर्थदान जी को यह कथन अप्रासंगिक प्रतीत हुआ हो। यह निष्कासन-योग्य नहीं है, क्योंकि इन पंक्तियों में खुदा के अन्याय का उल्लेख है जो आयत से सम्बद्ध समीक्षा है। पक्षपातपूर्ण ये कथन कुरान में आते हैं जिन पर प्रसंगवश यहां समीक्षा दे दी है। (द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ४९ का पाठ व समीक्षा भी तथा आयतखण्ड संख्या ७२ और उसकी

वैसे ही द्विगुण वा न्यून फल कर्मों का जो देवे तो वह ख़ुदा भी अन्यायी[१] हो जावे॥ ६१॥

६२. ....अवश्य बहिश्त में भेजेंगे, जिनमें नहरें चलती हैं और उनके लिये पवित्र बीबियां हैं तथा सायेदार वृक्ष हैं, उसमें सदा रहेंगे। ५७।[२] मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ५७॥

समीक्षक—यह केवल अज्ञानियों को लोभ देकर मुहम्मद साहब ने फसाया है।[३] और आप भी स्त्रियों में आसक्त होंगे, नहीं तो ऐसी बातें क्यों कहते?॥ ६२॥[४]

६३. .....बस, उनको चाहिये ख़ुदा के मार्ग में लड़ें....। ७५। जो लोग ईमान लाये ख़ुदा के मार्ग में लड़ते हैं, जो काफ़िर हैं वे बुतों के मार्ग में लड़ते हैं। बस, शैतान के मित्रों से लड़ो, निश्चय उसका धोखा निर्बल है। ७६। जो उनको भलाई पहुंचती है, तो कहते हैं कि यह अल्लाह की ओर से है और बुराई को तेरी ओर से बतलाते हैं, कह सब अल्लाह की ओर से है....। ७९।[५]

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ७५। ७६। ७९॥[६]

समीक्षक—भला, ईश्वर के मार्ग में लड़ाई का क्या काम? और जो बुतपरस्त[७] काफ़िर हैं, तो मुसलमान बड़े बुतपरस्त होने से बड़े काफ़िर होते हैं; क्योंकि ये बुतपरस्त लोग छोटी-छोटी मूर्तियों के सम्मुख नमते और भक्ति करते हैं, वैसे ही मुसलमान लोग मक्का की जो एक बड़ी मस्जिद है, उसके सामने नमते हैं। जो कहें कि हम मस्जिद को ख़ुदा नहीं समझते और '**क़ुरान**' की आज्ञा है, इससे उधर को मुखमात्र करके ख़ुदा की बन्दगी करते हैं। अच्छा, तो ये लोग भी पत्थर को ईश्वर नहीं समझते, किन्तु पत्थर में ईश्वर की भावना करके भक्ति करते हैं और इनको भी पुराण में वैसी आज्ञा व्यास जी जिनको लोग ईश्वरावतार मानते हैं, उनकी है कि तुम मूर्त्ति पूजो।

इसलिये बड़ी मस्जिद को ईश्वर की भक्ति में सामने रखनेवाले मुसलमान बड़े बुतपरस्त और ये लोग छोटे बुतपरस्त हैं।[८] जैसे कोई मनुष्य अपने घर में से बिल्ली को जब लों निकाले, तब लों उसके घर में ऊंट प्रविष्ट हो जाय, वैसी ही दशा मुहम्मद साहब आदि मुसलमानों की है। क्योंकि बिल्ली के

समीक्षा) दूसरा कथन यह है कि खुदा जब जीव को पापी बनाता है तो उसका पापफल भी खुदा को मिलना चाहिए, जैसे सेना के युद्ध-कर्म का फल सेनापति को मिलता है। इस समीक्षा को मुंशी समर्थदान ने हटाया है।

१. **उचित संशोधन**—"**अधर्मी**" के स्थान पर द्विप्र०, द्वि०सं० का संशोधित "**अन्यायी**" पाठ अधिक सार्थक एवं प्रासंगिक है।

२,४. **मुद्रणकाल में आयतखण्ड-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० से यह आयतखण्ड ६२ और इसकी समीक्षा हटा दी है। यह मुद्रणप्रति में है। इसको मुंशी समर्थदान ने हटाया है। कारण अज्ञात है। निष्कासन के कारण सभी द्वि०सं० में नहीं हैं।

३. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**अज्ञानियों को लोभ देकर मुहम्मद साहब ने फसाये हैं**" अपपाठ है। द्वि०सं० में यह समीक्षा-पाठ गृहीत नहीं है।

५,१०. **मुद्रणकाल में आयतखण्ड के पाठ का निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में समीक्षा-सहित यह आयतखण्ड संख्या ६३ हटा दी है। यह मुद्रणप्रति में है। कारण अज्ञात है। इसको मुंशी समर्थदान ने हटाया है, निष्कासन के कारण सभी द्वि०सं० में यह गृहीत नहीं है। महर्षि के देहान्त के बाद मुंशी जी द्वारा उनके लेखन-श्रम को व्यर्थ घोषित करना अवांछनीय है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यहां आयतसंख्याएं ७५, ७७ अशुद्ध, ७९ त्रुटित है। यह द्विप्र० में नहीं है।

७,८. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस आयत की समीक्षा में आठ बार 'बुत्परस्त' पद का प्रयोग हुआ है जिसमें सात बार "**बुत्परस्त**" अशुद्ध वर्तनी है, केवल संख्यांक ८ पर एक बार "**बुतपरस्त**" ठीक है। लिपिकर की प्रमादलीला देखिए "**इसलिये बड़ी.....बुतपरस्त हैं**" इस वाक्य में एक ही शब्द को मूलप्रति सं० में दो तरह लिखा है—"**बुत्परस्त**" और "**बुतपरस्त**"। लिपिकरों ने सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में ऐसी ही लीला की है। यह पाठ मुद्रणकाल में द्विप्र० से निष्कासित है। (पृ० ९६२ पर भी टि० संख्या ३ द्रष्टव्य है) वहां भी यही अव्यवस्था है।

समान छोटी-छोटी पाषाणादि की मूर्त्तियों को तो फोड़-तोड़ के अपने घर में से निकाल दिया,[९] परन्तु ऊंट के समान मस्जिद हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो गई। इससे मुसलमान लोग बड़ी हानि को प्राप्त हो गये। जब ये बड़े बुतपरस्त हैं तो किस मुख से दूसरे छोटे बुतपरस्तों का खण्डन कर सकते हैं। हां! पहले आप बुतपरस्ती को छोड़ें, तो अन्य का खण्डन कर सकें॥ ६३ ॥[१०]

६४. जब तेरे पास से निकलते हैं तो तेरे [सामने कहे के] विरुद्ध सोचते[२] हैं, अल्लाह उनकी बात को लिखता है....। ८१। अल्लाह ने उनकी कमाई वस्तु के कारण से उनको उलटा किया, क्या तुम चाहते हो कि अल्लाह के गुमराह किये हुये को मार्ग पर लाओ ? बस, जिसको वह गुमराह करे उसको कदाचिदपि मार्ग न पावेगा। ८८। मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ८१। ८८ ॥[३]

समीक्षक—जो अल्लाह बातों को लिख बही-खाता बनाता जाता है, तो सर्वज्ञ नहीं; और जो सर्वज्ञ है तो लिखने का क्या काम ? और जो मुसलमान कहते हैं कि शैतान ही सबको बहकाने से दुष्ट हुआ है, तो जब ख़ुदा ही जीवों को गुमराह करता है, तो ख़ुदा और शैतान में क्या भेद रहा ? हां, इतना भेद कह सकते हैं कि ख़ुदा बड़ा शैतान [और][४] वह फरिश्ता छोटा शैतान [है];[५] क्योंकि मुसलमानों का यही[६] कौल[७] है कि जो बहकाता है वही शैतान है, तो इस प्रतिज्ञा से ख़ुदा को भी शैतान बना दिया॥ ६४ ॥

६५. ....और अपने हाथों को न रोकें, तो उनको पकड़ लो और जहाँ पाओ मार डालो...। ९१। मुसलमानों को मुसलमान का मारना योग्य नहीं, जो कोई अनजाने से मार डाले....। बस, एक गर्दन मुसलमान का छोड़ना है..... और खून बहा उन लोगों की ओर साई हुई जो उस क़ौम[८] से होवें,[९]

---

९. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मूर्त्तियों को तो.....घर में से निकाल दी**" अपवाक्य है। द्विप्र० में यह पाठ नहीं है।

१,२. **अपवर्तनी तथा त्रुटित आवश्यक पाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**शोचते**" अपपाठ है। हिन्दी व्याकरण के अनुसार हिन्दी में यह क्रिया "**शोक करने**" अर्थ में प्रचलित हैं। अत: "**सोचते**" ग्राह्य है। अन्यत्र यही प्रयोग है। आयत के सही अर्थ के लिए बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ जोड़ना आवश्यक है। इसके बिना आयत का सहीभाव प्रकट नहीं होता है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद, मूलप्रति सं० में आयतों की ८०, ८७ संख्याएं अशुद्ध हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां वाक्यरचना की दृष्टि से "**और**" योजक आवश्यक है।

५. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है। इसका वाक्यपूर्ति के लिए होना आवश्यक है।

६. **अपमुद्रित पद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**यही**" के स्थान पर "**ही**" पाठ प्राप्त है। यह द्विप्र० में अपमुद्रण से हुई अशुद्धि है। अगले "**वही**" के सम्बन्ध से मूलप्रति सं० का "**यही**" पद ग्राह्य है। दोनों हस्तलेखों में शुद्ध प्रयोग है। द्वि०सं० पर आधारित सभी संस्करणों में यही अपप्रयोग है। किन्तु कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० पर आश्चर्य है कि उसके समक्ष शुद्ध और अपमुद्रित दोनों पाठ विचारार्थ थे किन्तु उसने अपमुद्रित "**ही**" पाठ को ग्रहण किया है। यहां तक कि दोनों हस्तलेखों के शुद्ध पद की भी उपेक्षा कर दी।

७. **कौल**=प्रतिज्ञा, प्रण, कथन।

८,१०. **अपवर्तनी**—दोनों हस्तस्लेखों में आयत के पहले स्थान पर "**को**" लिखा गया है, "**कोम**" त्रुटित है। दूसरे स्थान पर "**कोम**" अपवर्तनी है। यही द्विप्र० में है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

९. **भ्रष्ट पाठ-परम्परा की हास्यास्पद कहानी**—यह बात ठीक है कि जिस भी किसी मौलवी का किया यह अनुवाद है वह अस्पष्ट और अपूर्ण है। लिपिकरों और सम्पादकों के हाथ में आकर यह निरन्तर बिगड़ता गया। देखिए—
दोनों हस्तलेख—"**खून बहा उन लोगों की और सोई हुई जो उसको से होयें।**" यह पाठ महा-अशुद्ध है।
द्विप्र०—"**खून बहा उन लोग की ओर से हुई जो उस कोम से होवे।**" यह पाठ भी महा-अशुद्ध है।

तुम्हारे लिये दान कर देंगे, जो दुश्मन की क़ौम[१०] से हैं। ९२। और जो कोई मुसलमान को जानकर मार डाले वह सदैव काल दोज़ख़ में रहेगा। उस पर अल्लाह का क्रोध और लानत[१] है। ९३।

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ९१। ९२। ९३॥[२]

समीक्षक—अब देखिये महा-पक्षपात की बात कि जो मुसलमान न हो, जहाँ पाओ मार डालना और मुसलमानों को न मारना!! **भूल से मुसलमानों के मारने में प्रायश्चित्त और अन्य को मारने से बहिश्त मिलेगा, ऐसे उपदेश को कुए में डालना चाहिये। ऐसे-ऐसे पुस्तकों, ऐसे-ऐसे पैग़म्बरों, ऐसे-ऐसे ख़ुदाओं और ऐसे-ऐसे मतों से सिवाय हानि के लाभ कुछ भी नहीं,[३] ऐसों का न होना अच्छा और ऐसे प्रामादिक मतों से बुद्धिमानों को अलग रहकर वेदोक्त सब बातों को मानना चाहिये, क्योंकि उसमें असत्य किञ्चिन्मात्र भी नहीं है।** और जो मुसलमान को मारे उसको दोज़ख़ मिले, लिखा है[४]; और दूसरे मतवाले कहते हैं कि मुसलमान को मारे तो स्वर्ग मिले। अब कहो, इन दोनों मतों में से किसको मानें, किसको छोड़ें? किन्तु **ऐसे मूढ़-प्रकल्पित मतों को छोड़कर वेदोक्त मत सब मनुष्यों के लिये स्वीकार करने योग्य है[५] कि जिसमें आर्य मार्ग अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग में चलना और**

स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी और **पं० भगवद्दत्त जी सं०**—''**खून बहा उन लोगों की ओर से हुई जो उस कौम से होवे।**'' महाअशुद्ध है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक सं०—''**[जो] खून बहा उन लोगों की ओर से हुई जो [सन्धि] उस क़ौम से होवे।**'' अशुद्ध है। **वर्तमान द्वितीय संस्करण**—''**खून बहा उन लोगों की ओर सौंपी हुई जो उस क़ौम से होवें।**'' (यही पाठ पं० रामचन्द्र जी देहलवी द्वारा स्वीकृत है)। **उदयपुर सं०** ने इसी संशोधित पाठ को, बिना टिप्पणी दिये ग्रहण किया है, हस्तलेखों और द्वितीय सं० के पाठ को यहां ग्रहण नहीं किया। यह उनके स्वैच्छिक सम्पादन का उदाहरण है।

अज्ञानता के कारण लिपिकरों द्वारा ''**सोई हुई**'' लिखने से यहां अनर्थ बन गया। **द्विप्र०** में ''**सोई**'' पद को ही हटा दिया। शायद, यह शोधकों के समझ में ही नहीं आया। उससे द्विप्र० में वाक्य निरर्थक बन गया। यही निरर्थकता **वेस, जग, भद सं०** में है। **पं० मीमांसक जी** का भाव ही स्पष्ट नहीं कि वे कहना क्या चाह रहे हैं। उनका संशोधन ही अटपटा है। वस्तुतः यह ''**साई हुई**'' प्रयोग है, जिसका अर्थ होता है 'वचनबद्ध होना' या 'सन्धिबद्ध होना'। जैसे आज भी व्यवहार में प्रयुक्त होता है—'**साई देना**' आदि। किन्तु इस अर्थ की संगति उपर्युक्त अनुवाद से नहीं बनती। वर्तमान अनुवादों में यही अर्थ लेकर यह अनुवाद दिया है कि 'जिस कौम से सन्धि हुई है उसका वध नहीं करना।' आयत में ''साई हुई'' का अर्थ लगेगा ''पेश की हुई'' द्वि०सं० में इस भाव को ''**सौंपी हुई**'' पाठ से स्पष्ट किया है। इस सं० में हस्तलेखों में प्राप्त प्रयोग के शुद्ध रूप को ग्रहण किया है।

१. **लानत**=फटकार, धिक्कार।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ९० अशुद्ध है और ९३ त्रुटित है। भद में भी ९० अशुद्ध संख्या है, ९३ त्रुटित है।

३. **अपूर्ण पाठ-संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस वाक्य में ''**ऐसे-ऐसे पुस्तक**'' के बाद प्रत्येक संज्ञा शब्द के पूर्व एक बार ''**ऐसे**'' पद का प्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में सभी संज्ञा शब्दों के पूर्व दो बार ''**ऐसे-ऐसे**'' पाठ बनाया है। इस संशोधन से अर्थ में व्यापकता आई है, अतः वह ग्राह्य है, किन्तु संशोधक को यह ध्यान नहीं रहा कि इस संशोधन के बाद वाक्य की सभी संज्ञाएं बहुवचनान्त बन जायेंगी। अतः व्याकरण की दृष्टि से वह पाठ अशुद्ध बन गया। शुद्धता की दृष्टि से उपर्युक्त पाठ ग्राह्य है। देखिए, अगली ही पंक्ति में ''**ऐसे प्रामादिक मतों से**'' बहुवचन का प्रयोग है, जो शुद्ध है।

४. **लिपिकर के प्रमाद से पाठ-निष्कासन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यह वाक्य इस प्रकार है—''**जो मुसलमान को मारे उसको दोज़ख मिले और दूसरे मतवाले कहते हैं कि मुसलमान को मारे तो स्वर्ग मिले, लिखा है।**'' यहां ''**लिखा है**'' अस्थान में है। द्विप्र०, द्वि०सं० वाले ने इसको अस्थान में देखकर निकाल ही दिया जो शोधकों की लापरवाही का सूचक है। यह लिपिकरों की भूल से दूसरे वाक्य, के बाद लिखा गया। उसके कारण पहला वाक्य अपूर्ण और दूसरा अटपटा बन गया।

५. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य, शायद, बोलते समय अव्यवस्थित हो गया है—''**वेदोक्त मत स्वीकार करने योग्य सब मनुष्यों के लिये है।**'' इसको ऊपर व्यवस्थित क्रम में कर दिया है जिससे यह वाक्य उपयुक्त बन गया है।

दस्यु अर्थात् दुष्टों के मार्ग से अलग रहना लिखा है, सर्वोत्तम है॥ ६५ ॥

६६. और शिक्षा प्रकट होने के पीछे जिसने रसूल से विरोध किया और मुसलमानों से विरुद्ध पक्ष किया, अवश्य हम उसको दोज़ख़ में भेजेंगे। ११५। मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० ११५॥[१]

समीक्षक—अब देखिये ख़ुदा और रसूल की पक्षपात की बातें! मुहम्मद साहब आदि समझते थे कि जो ख़ुदा के नाम से ऐसी [बातें][२] हम न लिखेंगे तो अपना मज़हब न बढ़ेगा और पदार्थ न मिलेंगे, आनन्द भोग न होगा। इसी से विदित होता है कि वे अपने मतलब [सिद्ध][३] करने में पूरे थे और अन्य के प्रयोजन बिगाड़ने में। इससे वे अनाप्त थे। उनकी बात का प्रमाण आप्त विद्वानों के सामने कभी नहीं हो सकता॥ ६६ ॥

६७. .....जो अल्लाह, रसूलों, फरिश्तों, किताबों और क़यामत[४] के साथ कुफ़्र करे निश्चय वह गुमराह है। १३६। निश्चय जो लोग ईमान लाये फिर काफ़िर हुए फिर-फिर ईमान लाये, पुनः फिर गये[५] और कुफ़्र में अधिक बढ़े। अल्लाह उनको कभी क्षमा न करेगा और न मार्ग दिखलावेगा॥ १३७॥

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० १३६। १३७॥[६]

समीक्षक—क्या अब भी ख़ुदा 'लाशरीक' रह सकता है? क्या 'लाशरीक' कहते जाना और उसके साथ बहुत से 'शरीक' भी मानते जाना, यह परस्पर-विरुद्ध बात नहीं है? क्या तीन वार क्षमा के पश्चात् ख़ुदा क्षमा नहीं करता? और तीन वार कुफ़्र करने पर रास्ता दिखलाता है? वा चौथी वार से आगे नहीं दिखलाता? यदि चार-चार वार भी कुफ़्र सब लोग करें, तो कुफ़्र बहुत ही बढ़ जावे॥ ६७॥

६८. .....निश्चय अल्लाह बुरे लोगों को और काफ़िरों को जमा करेगा दोज़ख़ में। १४०। निश्चय बुरे लोग धोखा देते हैं अल्लाह को और उनको वह धोखा देता है। १४२। ऐ ईमानवालो! मुसलमानों को छोड़ काफ़िरों को मित्र मत बनाओ.....। १४४।

मं० १। सि० ५। सू० ४। आ० १४०। १४२। १४४॥[७]

समीक्षक—मुसलमानों के बहिश्त और अन्य लोगों के दोज़ख़ में जाने का क्या प्रमाण? वाह जी वाह! जो बुरे लोगों के धोखे में आता और अन्य को धोखा देता है ऐसा ख़ुदा हम से अलग रहे; किन्तु जो धोखेबाज़ हैं उनसे जाकर मेल करे और वे उससे मेल करें। क्योंकि—

''यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनःखरः।''[८] ='जैसे को तैसा' मिले तभी निर्वाह होता है।[९]

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ११३ अशुद्ध है। मुद्रणह० में १३३ महा-अशुद्ध है।

२-३. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों बृ० कोष्ठक के पद त्रुटित रह गये हैं। ''**मुहम्मद साहब.....हम**'' मुद्रणलिपिकर ने छोड़ दिया। बाद में शोधक ने पूर्ण किया है।

४. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में '**क़यामत**' पद त्रुटित है। द्विप्र०, द्वि०सं० में जोड़ दिया गया है। कुरान में भी है।

५. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां यह अपूर्ण पाठ है—''**निश्चय जो काफ़िर थे और ईमान लाये, पुनः फिर गये**''। द्विप्र०, द्वि०सं० में इसको संशोधित किया है जो कुरान के अनुसार है, यहां वही गृहीत है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १३४, १३५ अशुद्ध हैं।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं १३८, १४१, १४३; मूलह०, मुद्रणह०, भद में १३८, १४१ अशुद्ध हैं।

८. **अप-उद्धरणपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**खरवाहनः**'' अपपाठ है। शुद्ध पाठ ''**वाहनः खरः**'' द्रष्टव्य है समु० ११ में पृ० ६८८ पर। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

जिसका ख़ुदा धोखेबाज़ है उसके उपासक मुसलमान लोग धोखेबाज़ क्यों न हों? तभी तो मुसलमान लोग धोखा देने में तत्पर रहते हैं।[१] क्या दुष्ट मुसलमान हो उससे मित्रता और मुसलमान-भिन्न अन्य श्रेष्ठ से शत्रुता करना, किसी को उचित हो सकता है?[२] ॥ ६८ ॥

६९. ऐ लोगो! निश्चय तुम्हारे पास सत्य के साथ ख़ुदा की ओर से पैग़म्बर आया, बस, तुम उन पर ईमान लाओ। १७०। ....अल्लाह माबूद[३] **अकेला है....। १७१।**

मं० १। सि० ६। सू० ४। आ० १७०। १७१ ॥[४]

समीक्षक—क्या जब पैग़म्बरों पर ईमान लाना लिखा, तो ईमान में पैग़म्बर ख़ुदा का शरीक अर्थात् साझी हुआ वा नहीं? जब अल्लाह एकदेशी है, व्यापक नहीं, इसी से उसके पास से पैग़म्बर आते-जाते हैं; तो वह ईश्वर भी नहीं हो सकता। कहीं सर्वदेशी लिखते हैं, कहीं एकदेशी। **इससे विदित होता है कि 'क़ुरान' एक का बनाया नहीं, किन्तु बहुतों ने मिलके बनाया है**॥ ६९ ॥

७०. तुम पर हराम किया गया मुर्दार, लोहू, सुअर का मांस, जिस पर अल्लाह के विना कुछ और पढ़ा जावे, गला घोटे [हुए], लाठी से मारे, ऊपर से गिर पड़े, सींग से मारे [हुए] और गोश्त खाने वाले[५] **[जानवर से खाये हुए]**[६]**.....। ३।** मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० ३ ॥[७]

समीक्षक—क्या इतने ही पदार्थ हराम हैं? अन्य बहुत-से पशु तथा तिर्यक् जीव कीड़ी आदि मुसलमानों को हलाल होंगे? इसलिये यह मनुष्यों की कल्पना है, ईश्वर की नहीं। इससे इसका प्रमाण भी नहीं[८] ॥ ७० ॥

७१. ....और अल्लाह को अच्छा[९] **उधार दो अवश्य, मैं तुम्हारी बुराई दूर करूंगा और तुम्हें बहिश्त में भेजूंगा....। १२।**[१०] मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० १२ ॥[११]

---

९. **श्लोकार्थ**—जैसी मूर्ख शीतलादेवी है, वैसी ही उसकी सवारी **खर**=गधा है, अर्थात् दोनों एक जैसे हैं।

१. **मुद्रणकालीन त्रुटित वाक्य**—यह वाक्य मूलहस्त०, मुद्रणहस्त० तथा मूलप्रति सं० में विद्यमान है। मुद्रण-काल में यह त्रुटित रहा है। उदयपुर संस्करण में भी यह वाक्य त्रुटित है। शायद, कठोरवचन होने के कारण मुंशी समर्थदान जी ने जानबूझकर भी निकाला हो। यदि यह कारण है तो यह उचित नहीं है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यह रचनात्मक अपपाठ है—"**शत्रुता करना किसी को उचित हो सकती है?**" द्वि०सं०, मूलसं०, वेस, जग, जस, भद में संशोधित है किन्तु पं० मीमांसक सं० में अशुद्ध पाठ है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

३. **माबूद**=पूज्य ईश्वर।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद, यहां आयतसंख्याएं १६७, १६८ अशुद्ध है।

५. **मीमांसक जी का घोर अशुद्ध अर्थ**—द्वि० सं में "**गोश्त खाने वाले [जानवर से खाये हुए]**" के स्थान पर "**दरिंदे**", (द्विप्र०, द्वि०सं० में 'दरंदे' अपवर्तनी है) शब्द डाला है, जिसका अर्थ यही है। **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने टिप्पणी में "**दरिन्दे**" का अर्थ "**पक्षी**" किया है (पृ० ८७९ पर) जबकि इसका अर्थ होता है "**शरीर को फाड़कर मांस खानेवाले जंगली जानवर**"। पं० जी की इस अशुद्धि पर आश्चर्य ही किया जा सकता है।

६. **उचित परिवर्धन**—मूलप्रति सं० में बृहत् कोष्ठक का पाठ त्रुटित हैं। कुरान में हैं। द्विप्र० आदि में भी उपलब्ध है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या १ अशुद्ध है।

८. **पुनरुक्ति हराम पशुओं की**—यही कथन आयतखण्ड संख्या ३६ में भी द्रष्टव्य है।

९. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहाँ "**अच्छा**" पद त्रुटित है। कुरान और द्वि० सं० में हैं।

१०. **अल्लाह से दोगुना मिलने की पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ४२, १५५।

११. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या १० अशुद्ध लिखी है।

समीक्षक—वाह जी! मुसलमानों के खुदा के घर में कुछ भी धन-विशेष[१] नहीं रहा होगा, जो विशेष होता तो उधार क्यों मांगता? और उनको क्यों बहकाता कि तुम्हारी बुराई छुड़ाके तुमको स्वर्ग में भेजूंगा? यहां विदित होता है कि खुदा के नाम से मुहम्मद साहब ने अपना मतलब साधा है॥७०॥

७२. ....जिसको चाहता है पुण्यात्मा बनाता है जिसको चाहे पापात्मा बना देता है[२]...। १८। ....जो कुछ किसी को भी न दिया वह तुम्हें दिया। २०। मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० १८। २०॥[३]

समीक्षक—जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता [है], वैसे मुसलमानों का ख़ुदा भी [विना पाप के दुःख देकर][४] शैतान का काम करता है। जो ऐसा है, तो फिर बहिश्त और दोज़ख़ में ख़ुदा जावे, क्योंकि वह पाप-पुण्य करनेवाला हुआ, जीव पराधीन है; जैसे,[५] सेना सेनापति के आधीन रक्षा करती और किसी को मारती है, उसकी भलाई-बुराई सेनापति की होती है, सेना पर नहीं॥७२॥

७३. काफ़िरों पर ग़म मत खा। २६।[६] मं० २। सि० ६। सू० ५। आ० २६॥[७]

समीक्षक—क्या अधर्म और पक्षपात की बात है कि जो मुसलमान न हो उस पर ग़म न खाना और मुसलमानों पर ग़म खाना! [यह] केवल अधर्म की बात है॥७३॥[८]

७४. आज्ञा मानो अल्लाह की और आज्ञा मानो रसूल की, ...। ९२।[९]

मं० २। सि० ७। सू० ५। आ० ९२॥[१०]

समीक्षक—देखिये, यह बात ख़ुदा के 'शरीक' होने की है, फिर ख़ुदा को 'लाशरीक' मानना व्यर्थ है॥७४॥

---

१. **धन-विशेष**—पर्याप्त धन।

२. **मुद्रणकाल में आयत-अनुवाद संशोधन किन्तु अशुद्ध समीक्षा से विसंगति**—मूलह०, मूलसं०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस आयत को शुद्ध करके सही अनुवाद दे दिया है, किन्तु समीक्षा अशुद्ध अनुवाद पर ही आधारित रह गई है "**जैसे शैतान जिसको चाहता पापी बनाता वैसे ही मुसलमानों का खुदा भी शैतान का काम करता है।**"। प्रतीत होता है कि द्विप्र० में संशोधक समीक्षा का संशोधन करना भूल गया। मुद्रणहस्त० में यह आयत-अनुवाद-संशोधित नहीं है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर में यही विसंगति है।

द्विप्र० का परिवर्तित अनुवाद—"**जिसको चाहता है क्षमा करता है जिसको चाहे दुःख देता है।**" इस आयत-अनुवाद को ग्रहण करना इसलिये संभव नहीं है क्योंकि उपलब्ध समीक्षा का इससे तालमेल नहीं है। हस्तलेखों में प्रस्तुत आयत-अनुवाद ही ग्रहण करना होगा, नहीं तो एक नयी विसंगति उत्पन्न हो जायेगी, अपितु यह विसंगति सभी द्वि०सं० में पहले से बनी हुई है। किसी सम्पादक ने इस विसंगति की ओर ध्यान नहीं दिया। वाक्यान्त में दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, द्विप्र० में यहां संख्या १६ अशुद्ध है और २० त्रुटित है। मुद्रणह०, भद में १६-१८ भ्रष्ट संख्या है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—इस वाक्य में दोनों बृ० कोष्ठकों के पाठों का परिवर्धन आवश्यक है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसी**" अपप्रयोग है। "**जैसे**" प्रयोग वांछित है।

६,८. **मुद्रणकाल में आयत पाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में इस आयत की क्रमसंख्या ७३ को समीक्षा-सहित निकाल दिया गया है। कारण अज्ञात है। इसमें कुरान के पक्षपातपूर्ण यथार्थ का वर्णन है। मुंशी समर्थदान जी ने मुद्रण-समय में इसको हटाया है, इसी कारण सभी द्वि०सं० में यह नहीं है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में आयतसंख्या २३ अशुद्ध है। मूलसं० में २५ अशुद्ध है। द्विप्र० में यह नहीं है।

९. **मूलहस्तलेख में आयत का अप-अनुवाद**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस आयत का किसी मौलवी कृत अशुद्ध अनुवाद है—"**सेवा करो अल्लाह की और रसूल की, और रसूल का कहा मानो।**" इसके अनुवाद को द्विप्र० में एवं द्वि०सं० में उपर्युक्त भाषा में संशोधित कर दिया है। कुरान में वही पाठ है। अतः वही ग्राह्य है।

१०. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ८९ अशुद्ध है।

७५. ....अल्लाह ने माफ़ किया जो हो चुका, और जो कोई फिर करेगा अल्लाह उससे बदला लेगा। ९५। मं० २। सि० ७। सू० ५। आ० ९५॥[१]

समीक्षक—किये हुए पापों का क्षमा करना जानो पापों को करने की आज्ञा देके बढ़ाना है। पाप-क्षमा करने की बात जिस पुस्तक में हो, वह न ईश्वर और न किसी विद्वान् का बनाया है, किन्तु पापवर्द्धक है। **हां, आगामी पाप छुड़वाने के लिये किसी से प्रार्थना और स्वयं छोड़ने के लिये पुरुषार्थ, पश्चात्ताप करना उचित है; परन्तु केवल पश्चात्ताप करता रहे, छोड़े नहीं, तो भी कुछ नहीं हो सकता॥ ७५॥**

७६. और उस मनुष्य से अधिक पापी कौन है जो अल्लाह पर झूठ बांध लेता है और कहता है कि मेरी ओर वही[२] की गई और जो कहता है कि मैं भी उतारूंगा कि जैसे अल्लाह उतारता है.....। ९४।[३] मं० २। सि० ७। सू० ६। आ० ९४॥[४]

समीक्षक—इस बात से सिद्ध होता है कि जब मुहम्मद साहब कहते थे कि मेरे पास ख़ुदा की ओर से आयतें आती हैं तब किसी दूसरे ने भी मुहम्मद साहब के तुल्य लीला रची होगी कि मेरे पास भी आयतें उतरती हैं, मुझको भी पैगम्बर मानो; उसको हटाने के और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये मुहम्मद साहब ने यह उपाय किया होगा॥ ७६॥

७७. अवश्य हमने तुमको उत्पन्न किया, फिर तुम्हारी सूरतें बनाई। [फिर] फ़रिश्तों से कहा कि ''आदम को सिज्दा[५] करो।'' बस, उन्होंने सिज्दा किया परन्तु शैतान सिज्दा करनेवालों में से न हुआ। ११। कहा, ''जब मैंने तुझे आज्ञा दी फिर किसने रोका कि तूने सिज्दा न किया।'' कहा, ''मैं उससे अच्छा हूं, तूने मुझको आग से और उसको मिट्टी से उत्पन्न किया। १२।'' कहा, ''बस उसमें से उतर, यह तेरे योग्य नहीं है कि तू उसमें अभिमान करे। १३। कहा, ''उस दिन तक ढील दे कि [लोग] क़ब्रों से उठाये जावें। १४।'' कहा, ''निश्चय तू ढील दिये गयों से है। १५।'' कहा, ''बस इसकी क़सम है कि तूने मुझको गुमराह किया। अवश्य मैं उनके लिये तेरे सीधे मार्ग पर बैठूंगा। १६। .....और प्रायः तू उनको धन्यवाद करनेवाला न पावेगा। १७।'' कहा, ''उससे दुर्दशा के साथ निकल।

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ९२ अशुद्ध है।

२. **वही करना** (वह्य, वहइ)=अल्लाह की ओर से किसी पैगम्बर के हृदय में संदेश उतरना, या दिव्य वाणी होना।
पं० मीमांसक जी की विचित्र टिप्पणी—युधिष्ठिर जी मीमांसक ने टिप्पणी में (पृ० ८८१) **'वही'** का अर्थ **'पुस्तक'** किया है, शायद, वे ध्वनि-समानता से ऐसा लिख गये। यह कथन अस्वीकार्य है। इस्लामी मत में यह एक निश्चितार्थक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ पुस्तक नहीं अपितु **'खुदा की ओर से पैगम्बर को अन्तःकरण में प्राप्त आदेश और शिक्षा'** होता है। जैसे मुसलमान मानते हैं कि खुदा की ओर से हज० मुहम्मद को आयतें हृदय में संदेश के रूप में प्राप्त होती थीं। इसी प्रक्रिया का नाम 'वही करना या उतरना' है। उर्दू कोष में इसका अर्थ है—''ईश्वर की ओर से आया हुआ पैगम्बर के लिए आदेश'' (मुहम्मद मुस्तफा खां, पृ० ६१३)।

३. **वही की पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या १२६ भी।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—इस आयत की संख्या द्विप्र०, उदयपुर सं० में ९३ अशुद्ध लिखी है। मूलह०, मूद्रणह०, भद में ९५ लिखी है, जो अशुद्ध है।

५. **सिज्दा (सिज्दः) की पुनरुक्ति**=ईश्वर या किसी के सामने सिर झुकाना, प्रणाम करना, या नमाज में धरती पर मस्तक नवाना। आयतखण्ड संख्या ११ में भी इसी प्रकार आदम को सिज्दा करने का कथन है। यहाँ उसकी पुनरुक्ति है।

अवश्य जो कोई उनमें से तेरा पक्ष करेगा तुम सबसे दोज़ख़ को भरूंगा। १८।''

मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ११। १२। १३। १४। १५। १६। १७। १८॥[१]

समीक्षक—अब ध्यान देकर सुनो ख़ुदा और शैतान के झगड़े को! एक फ़रिश्ता जैसा कि चपरासी हो, [शैतान] था। वह भी ख़ुदा से न दबा और ख़ुदा उसके आत्मा को पवित्र भी न कर सका। फिर ऐसे बागी को, जो पापी बनाकर ग़दर करनेवाला था, उसको ख़ुदा ने छोड़ दिया। यह ख़ुदा की बड़ी भूल है। शैतान तो सबको बहकानेवाला और ख़ुदा शैतान को बहकानेवाला होने से यह सिद्ध होता है कि शैतान का भी शैतान ख़ुदा है; क्योंकि शैतान प्रत्यक्ष कहता है कि तूने मुझे गुमराह किया। इससे ख़ुदा में पवित्रता भी नहीं पाई जाती और सब बुराइयों का चलानेवाला मूल कारण ख़ुदा हुआ। ऐसा ख़ुदा मुसलमानों का ही ख़ुदा हो सकता है,अन्य श्रेष्ठ विद्वानों का नहीं। और फ़रिश्तों से मनुष्यवत् वार्तालाप करने से देहधारी, अल्पज्ञ, न्यायरहित मुसलमानों का ख़ुदा है। इसी से बुद्धिमान् लोग इस्लाम[२] के मज़हब को प्रसन्न नहीं करते॥ ७७॥

७८. निश्चय तुम्हारा मालिक अल्लाह है जिसने आसमानों और पृथिवी को छः दिन में उत्पन्न किया, फिर करार पकड़ा अर्श[३] पर। ५४। दीनता से अपने मालिक को पुकारो....। ५५।[४]

मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ५४। ५५॥[५]

समीक्षक—भला, जो छः दिन में जगत् को बनावे, अर्श अर्थात् ऊपर के आकाश में सिंहासन पर आराम करे, वह ईश्वर सर्वशक्तिमान् और व्यापक कभी नहीं हो सकता। इनके न होने से वह ख़ुदा भी नहीं कहा सकता। क्या तुम्हारा ख़ुदा बधिर है जो पुकारने से सुनता है? ये[६] सब बातें अनीश्वरकृत हैं, इससे '**क़ुरान**' ईश्वरकृत नहीं हो सकता। यदि छः दिनों में जगत् बनाया, सातवें दिन अर्श पर आराम किया तो थक भी गया होगा। और अब तक सोता है वा जागा है? यदि जागता है तो अब कुछ काम करता है वा निकम्मा सैल-सपट्टा और ऐश करता फिरता है॥ ७८॥

७९. ....मत फिरो पृथिवी पर झगड़ा करते। ७४। मं० २। सि० ८। सू० ७। आ० ७४॥[७]

समीक्षक—यह बात तो अच्छी है, परन्तु इससे विरुद्ध जिहाद करना [और][८] काफ़िरों को मारना भी लिखा है। अब कहो, क्या यह पूर्वापरविरुद्ध[९] नहीं है? इससे यह विदित होता है कि जब मुहम्मद

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या १० अशुद्ध है तथा १८ त्रुटित है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**इसलाम**'' अपवर्तनी है।

३. **अर्श**=आकाश, सिंहासन अथवा ईश्वर का सिंहासन।

४. **छह दिन में सृष्टि-उत्पत्ति की पुनरुक्ति**—द्र० आयतखण्ड संख्या ९७, १५१। बाइबल में—समु० १३ में आयत० ४५ और 'उत्पत्ति' पुस्तक में पर्व एक।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ५३ अशुद्ध है तथा ५५ त्रुटित है।

६. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में '**ये**' पद त्रुटित है। मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलह०, मूलसं में है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ७३ अशुद्ध है।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**और**' पद त्रुटित है। यह आवश्यक है।

९. **कुरान में परस्परविरोध**—इस आयत के विरुद्ध खण्डसंख्या ३७, ५६, ५८, ६२, ६४, ८७, ९१, ९५, १२४ आयतें हैं, जिनमें मुसलमानों को काफिरों या अन्य मतवालों से खूब लड़ने का आदेश है, लड़ाई में लगे रहने और उनको मारने का आदेश है जबकि

साहब निर्बल हुए होंगे तब यह उपाय रचा होगा और जब सबल हुए होंगे, झगड़ा मचाया होगा। इसी से ये बातें झूठी हैं[१] ॥७९॥

८०. बस, एक ही वार अपना असा[२] डाल दिया और वह अजगर था प्रत्यक्ष। १०७।

मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १०७॥[३]

समीक्षक—अब इसके लिखने से विदित होता है कि ऐसी झूठी बातों को ख़ुदा और मुहम्मद साहब भी मानते थे। जो ऐसा है तो ये दोनों विद्वान् नहीं थे, क्योंकि जैसे आँख से देखने और कान से सुनने को अन्यथा कोई नहीं कर सकता! इसी से ये इन्द्रजाल की बातें हैं॥८०॥

८१. ....अवश्य हम क़त्ल[४] करेंगे बेटों उनके को, और जीती रक्खेंगे बीबियों[५] उनकी को। १२७।[६]

उक्त आयत में झगड़ा करने का स्पष्टत: निषेध है। इस प्रकार दोनों कथन ये परस्परविरुद्ध हैं।

१. **मुद्रणकाल में भ्रष्ट परिवर्तन**—द्विप्र० में इस वाक्य का परिवर्तन इस प्रकार किया है—"**इसी से ये बातें परस्परविरुद्ध होने से दोनों सत्य नहीं है।**" मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ग्रन्थकार का कथन है कि कुरान में इस प्रकार की परस्परविरुद्ध बातें हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि '**झगड़ा न करनेवाला कथन**' झूठा है। द्विप्र० के परिवर्तन ने झगड़ा करने और न करने के दोनों कथनों को असत्य कह दिया जबकि झगड़ा करने का कुरान का कथन सर्वथा सत्य है। यदि दोनों ही कथन असत्य हैं तो ग्रन्थकार ने जो कुरान के 'झगड़ा करने' के आदेश के विरुद्ध समीक्षाएं लिखी हैं, वे भी व्यर्थ हो गईं अर्थात् असत्य हो गईं। फिर तो उनकी समीक्षा करनी ही अवांछनीय है। इस प्रकार ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध होने से यह संशोधन भ्रष्ट कोटि का है। मुद्रणकाल में यह परिवर्तन शायद मुंशी जी ने किया है। लेख उन्हीं का ज्ञात होता है।

सम्पादकों द्वारा भ्रष्टपाठ का ग्रहण—द्वि०सं० और उस पर आधारित सभी संस्करणों, जैसे—वेस, जग, भद, युमी, विस, जस आदि में द्विप्र० का भ्रष्टपाठ है। कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० के समक्ष शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठों का विकल्प हस्तलेखों और मूलसं० में विद्यमान था किन्तु उन्होंने अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया है। महर्षि के निर्णय के उपरान्त परिवर्तित इस पाठ के लेखक क्या महर्षि से भी महान् हो गये कि उनका परिवर्तित पाठ महर्षि के लेख से अधिक प्रामाणिक हो गया?

२. **असा**—लाठी या छड़ी। यहां 'मूसा' द्वारा किया गया यह असम्भव चमत्कार वर्णित है। मूसा और उसकी 'इब्रानी' जाति के लोग मिश्र में राजा फ़िरौन के शासन के अन्तर्गत गुलामी का जीवन बिता रहे थे। मूसा इस बात से व्यथित था। वह स्वयं को यहोवा (यह्वः=महान् ईश्वर) का अवतार घोषित करने के उपरान्त फ़िरौन के पास गया और अपनी जाति के लोगों को मिश्र से निकाल ले जाने की अनुमति मांगी। फ़िरौन ने निषेध कर दिया। तब मूसा ने फ़िरौन को डराने के लिए यह कथित चमत्कार दिखाया कि लाठी भूमि में डालते ही वह अजगर बन गया, यह वर्णन बाइबल और कुरान दोनों में है। द्रष्टव्य कुरान में आयतखण्ड संख्या १६, ८३, १२८ भी। बाइबल में समु० १३ में आयतखण्ड संख्या ४० में भी यह वर्णन है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयत संख्या १०५ अशुद्ध है।

४. **अपवर्तनी**—मूलप्रति सं० में '**क़तल**' अपवर्तनी है।

५. **बेटों को क़त्ल करने और बीबियों को जीवित रखने का बाइबल में वर्णन**—मूसा और उसकी जातिवालों की ओर से विरोध किये जाने पर अन्यायी शासक फ़िरौन का कथन है कि हम उनकी जाति में उत्पन्न बेटों और पुरुषों को तो क़त्ल करेंगे किन्तु उनकी स्त्रियों को जीवित रखेंगे। यही कथन पृ० ८८५ पर आयतखण्ड ५७ में भी है। बाइबल में भी द्रष्टव्य हैं समु० १३ की आयतखण्ड ५७। अगली आयतों में मूसा के असम्भव चमत्कारों का वर्णन है कि उसने फ़िरौन के राज्य में तूफान ला दिया। फिर वह अपनी 'इसराएल जाति' अर्थात् इस्राएल वंशियों को मिश्र से निकाल ले गया।

६. **मुद्रणकाल में आयत पाठ-निष्कासन सर्वथा अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अवश्य हम क़त्ल.....उनकी को**" इस आयतखण्ड ८१ की आयतसंख्या १२७ और इसकी समीक्षा "**भला, जो.....भी होगा?**" को हटा दिया है। आर्यविद्वानों का विचार है कि यह अतिकटु आयत होने के कारण मुंशी जी के द्वारा हटाई गई है। यह कोई सन्तोषजनक कारण नहीं। ऐसी तो अनेक आयतें हैं। तेरहवें समु० में भी इसी बर्बर भाव को व्यक्त करनेवाली बाइबल की आयतखण्ड संख्या ५७ में आ चुकी है। महर्षि यही तो दिखाना चाहते थे कि इन ग्रन्थों में कितनी क्रूरता के आदेश हैं। फिर भी ये अपने पन्थ को धर्म कहते हैं। यदि इसी का नाम धर्म है तो अधर्म किसे कहा जायेगा? मुंशी समर्थदान जी ने इस पाठ को मुद्रण-समय में हटाया है। इसी कारण यह द्वि०सं० पर आधारित वर्तमान संस्करणों में नहीं मिलता। मुंशी जी द्वारा महर्षि के इस महत्त्वपूर्ण श्रम और आशय को व्यर्थ कर देना वांछनीय नहीं है। महर्षि तब जीवित होते तो मुंशी जी को ऐसा कभी नहीं करने देते।

बस, हमने उन पर[१] मेह का तूफ़ान भेजा, टिड्डी,[२] चिचड़ी और मेंढक और लोहू। १३३। बस, उनसे हमने बदला लिया और उनको डुबो दिया दरिया में....। १३६। और हमने बनी-इस्राएल को दरिया से पार उतार दिया....। १३८। निश्चय वह दीन झूठा है कि जिसमें वे हैं और उनका कार्य भी झूठा है। १३९। मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १२७। १३३। १३६। १३८। १३९॥[३]

समीक्षक—भला, जो लड़कों[४] को क़त्ल करे और स्त्रियों को जीता रक्खे, उससे निर्दय, राक्षस स्वभाव-युक्त, विषयासक्त मनुष्य और दुष्टमत दूसरा कोई भी होगा? और देखिये, जैसे[५] कोई पाखण्डी किसी को डरावे कि हम तुझ पर काटने के लिये[६] सर्पों को भेज देंगे, ऐसी ही यह भी बात है। भला, जो ऐसा पक्षपाती [हो][७] कि एक जाति को डुबा दे और दूसरी को पार उतारे उस पक्षपाती, अधर्मी[८] के समान ख़ुदा क्यों नहीं? जो दूसरे मत को कि जिसमें हज़ारों-करोड़ों[९] मनुष्य हों, झूठा बतलावे और अपने को सच्चा, उससे परे झूठा दूसरा मत कौन हो सकता है? क्योंकि **किसी मत में सब मनुष्य बुरे और भले नहीं हो सकते।** यह एकतरफा डिगरी[१०] करना महामूर्खों का काम[११] है। क्या **'तौरेत'** और **'ज़बूर'** का दीन, जो कि उनका था, क्योंकर अपने किये को ख़ुदा ने झूठा किया?[१२] वा उनका कोई अन्य मज़हब था कि जिसको झूठा कहा। और जो वह अन्य मज़हब था, तो कौन-सा था, कहो कि जिसका नाम **'क़ुरान'** में हो?॥ ८१॥

८२. ....बस, तू मुझको अलबत्ता देख सकेगा,[१३] जब प्रकाश किया उसके मालिक ने पहाड़

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपप्रयोग**—मूलह० के शुद्ध प्रयोग को मुद्रणलिपिकर ने "**उस पर**" अशुद्ध बना दिया। अशुद्ध ही द्विप्र० में छपा है। स्वामी वेदानन्द सं० और पं० सिद्धान्ती सं० को छोड़कर सभी सं० में संशोधित कर लिया गया है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**टीढ़ी**" अपवर्तनी है। स्वामी वेदानन्द सं० में "**टिड्डि**" अपवर्तनी है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं १३०, १३७ अशुद्ध हैं, १३९ त्रुटित है। मूलसं० में १२४, १३० संख्याएं अशुद्ध हैं, वहां भी १३९ त्रुटित है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में १२४, १३७ अशुद्ध हैं, १३९ त्रुटित है।

४-५. **अपप्रयोग**—(४) मूलह०, मूलप्रति सं० में "**लड़काओं**" अपपाठ है। सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में अन्यत्र "**लड़कों**" शुद्ध पाठ है। (५) दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जैसा**" अपप्रयोग है।

६. **मुद्रणलिपिकरकृत अपप्रयोग**—मूलह० के शुद्ध पाठ को मुद्रणलिपिकर ने अनर्थव्यंजक और अशुद्ध बना दिया—"**सर्पों को मारने के लिये**"। इससे इस अर्थ का संदेह होता है कि "सर्पों को मारना" उद्देश्य है। **स्वामी वेदानन्द सं०, सिद्धान्ती सं०** और **पं० मीमांसक सं०** के अशुद्ध पाठ को छोड़कर सभी ने इस वाक्य को मूलह० के अनुसार शुद्ध कर लिया है।

७. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में **'हो'** क्रिया त्रुटित है।

८. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मतलबी**" पद है। द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अधर्मी**" परिवर्तन किया है। प्रसंगानुसार यह अधिक उचित पाठ है।

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्रोड़ों**" अपवर्तनी है। **'करोड़ों'** शुद्ध है।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**इकतर्फी डिगरी**" अपवर्तनी है। "**डिगरी**" "**डिक्री**" का अपभ्रंश है। इस मुहावरे का अर्थ है—**'एक पक्षीय निर्णय देना'**।

११-१२. **ऋषिलेख का मुद्रणकालीन अपसंशोधन**—(११) द्विप्र०, द्वि०सं० में "**काम**" के स्थान पर "**मत**" संशोधन किया है। यह संशोधन अज्ञानतापूर्ण है। **'डिगरी करना'** मत नहीं अपितु काम होता है। द्विप्र० में "**डिगिरी**" अपवर्तनी है। (१२) द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के स्थान पर अपसंशोधन है—"**झूठा हो गया?**"। इस संशोधन का अभिप्राय है कि क्या पुराना धर्म झूठा हो गया? संदेह में प्रश्न है कि पता नहीं झूठा हुआ है या नहीं। मूलप्रति के वाक्य में निश्चित रूप से ऋषि कह रहे हैं कि खुदा ने अपने पुराने धर्म को स्वयं क्योंकर झूठा कर दिया? द्विप्र०, द्वि०सं० का संशोधन ऋषि के भाव के अनुकूल नहीं है।

१३. **मुद्रणकालीन भ्रष्टपाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**तुझको अलबत्ता देख सकेगा**" अपपाठ छपा है। **स्वामी वेदानन्द सं०, पं० सिद्धान्ती सं०** के अशुद्ध पाठ को छोड़कर सभी सं० में संशोधन कर लिया है।

की ओर, उसको परमाणु-परमाणु किया, गिर पड़ा मूसा बेहोश। १४३।

मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १४३॥[१]

समीक्षक—जो देखने में आता है वह व्यापक नहीं हो सकता। और ऐसे चमत्कार करता फिरता था तो ख़ुदा इस समय ऐसा चमत्कार किसी को क्यों नहीं दिखलाता? सर्वथा विद्या-विरुद्ध[२] होने से यह बात मानने योग्य नहीं॥ ८२॥

८३. यह कि मार सात असा अपने के पत्थर को, बस फूट निकले बारह चश्मे....। १६०।[३,४]

मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० १६०॥[५]

समीक्षक—अब देखिये, बढ़कर भानुमती के जैसी ख़ुदा की ख़ुदाई, पैग़म्बर की पैग़म्बराई। इसको कोई भी बुद्धिमान् लोग सच नहीं मान सकते, सिवाय जंगली मनुष्यों के॥ ८३॥[६]

८४. ....और अपने मालिक को दीनता, डर से मन में याद कर, धीमी आवाज़ से सुबह को और शाम को.....। २०५[७] मं० २। सि० ९। सू० ७। आ० २०५॥[८]

समीक्षक—कहीं-कहीं '**क़ुरान**' में लिखा है कि बड़ी आवाज़ से अपने मालिक को पुकार, कहीं-कहीं धीरे-धीरे मन में ईश्वर का स्मरण कर। अब कहिये कौन-सी बात सच्ची और कौन-सी झूठी? **जो एक दूसरी बात से विरोध करती है वह बात प्रमत्त गीत के समान होती है। यदि कोई बात भ्रम से विरुद्ध निकल जाय, उसको मान ले, तो कुछ चिन्ता नहीं॥** ८४॥

८५. प्रश्न करते हैं तुझको लूटों से कहें लूटें वास्ते अल्लाह के और रसूल के, और डरो अल्लाह से....। १।[९] मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० १॥

समीक्षक—जो लूट मचावें, डाकू के कर्म करें-करावें और ख़ुदा तथा पैग़म्बर और ईमानदार भी बनें, यह बड़े आश्चर्य की बात है! और अल्लाह का डर बतलाते और डाका-आदि बुरे काम भी करते

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या १४२ अशुद्ध है।

२. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**विद्या**" पद त्रुटित रह गया है। **स्वामी वेदानन्द सं०** को छोड़कर सभी सं० में इसको ग्रहण कर लिया है।

३. **पुनरुक्ति**—यही कथन आयतखण्ड संख्या १६ पर आ चुका है। कुरान में ऐसी अनेक पुनरुक्तियां हैं।

४,६. **मुद्रणकाल में आयतपाठ-निष्कासन**—आयतखण्ड संख्या ८३ और इसकी समीक्षा को द्वि०सं० में से निकाल दिया है। शायद पुनरुक्ति के कारण ऐसा किया है। संशोधक ने ऋषि के इस कथन पर ध्यान नहीं दिया कि "**कुरान जानो पुनरुक्ति दोषों का भंडार है**" (पृ० १०४२)। ऋषि द्वारा इस प्रकार की आयतों को पुनः-पुनः उद्धृत करने का उद्देश्य था कुरान की पुनरुक्तियां दिखाकर उसे अविद्वान् की अप्रामाणिक रचना प्रदर्शित करना। महर्षि लिखते हैं कि "**पुनरुक्त प्रमत्त वाक्य होता है**" (पृ० १०००)। मुंशी समर्थदान जी ने इस पाठ को निकाला है। इसी कारण यह द्वि०सं० पर आधारित वर्तमान संस्करणों में नहीं मिलता, जबकि यह मुद्रणप्रति में है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में ५९, मूलसं० में १५९ अशुद्ध आयतसंख्या है। द्विप्र०, द्वि०सं० में यह नहीं है।

७. **धीमी आवाज में मालिक को याद करो**—मुसलमान मस्जिदों में जोर-जोर से बोलकर नमाज़ पढ़ते हैं। ऐसा करना इस आयत के विरुद्ध आचरण है। इस आयत में स्पष्ट कहा है कि "**अपने रब (मालिक) को धीमी आवाज के साथ याद किया करो।**" इस प्रकार मुसलमान कुरान के आदेश की अवहेलना करते हैं।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद, मूलसं० में यहां आयतसंख्या २०४ अशुद्ध है।

९. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में इस आयत के अन्त में "**डरो थप्पड़-लात से**" वाक्यांश है। मुद्रणह०, द्विप्र०,

जायें, और 'उत्तम मत हमारा है' कहते लज्जा भी नहीं [आती][१]। हठ छोड़के सत्य वेदमत का ग्रहण न करें, इससे अधिक बुराई दूसरी कौन-सी होगी?॥ ८५॥

८६. .....और काटे जड़ काफ़िरों की। ७। मैं तुमको साहाय्य दूंगा। साथ सहस्त्र फ़रिश्तों के पीछे-पीछे आनेवाले। ९। ....अवश्य मैं काफ़िरों के दिलों में भय डालूंगा। बस, मारो ऊपर गर्दनों के, मारो उनमें से हर पोरी सन्धि पर। १२। मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० ७।९।१२॥

समीक्षक—वाह जी वाह! कैसा ख़ुदा और कैसे पैग़म्बर दयाहीन [हैं],[२] जो मुसलमानी मत से भिन्न काफ़िरों की जड़ कटवावे। और ख़ुदा आज्ञा देवे उनकी गर्दन पर[३] मारो[४] और हाथ-पग [के][५] जोड़ों को काटने का साहाय्य और सम्मति देवे! भला, ऐसा ख़ुदा '**लंकेश**' से क्या कुछ कम है? यह सब प्रपञ्च '**क़ुरान**' के कर्त्ता[६] का है, ख़ुदा का नहीं। यदि ख़ुदा का हो, तो ऐसा ख़ुदा हमसे दूर और हम उससे दूर रहैं॥ ८६॥

८७. ....अल्लाह मुसलमानों के साथ है। १९। ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो पुकारना स्वीकार करो, वास्ते अल्लाह के और वास्ते रसूल के। २४। ऐ लोगो जो ईमान लाये हो मत चोरी करो अल्लाह की, रसूल की; और मत चोरी करो अमानत अपनी की। २७। ....और मकर करता था अल्लाह और अल्लाह भला मकर करनेवालों का है। २०।

मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० १९[७]।२७।२७।३०॥

समीक्षक—क्या अल्लाह मुसलमानों का पक्षपाती है? जो ऐसा है तो अधर्म करता है। नहीं तो ईश्वर सब सृष्टि-भर का है। क्या ख़ुदा विना पुकारे नहीं सुन सकता? बधिर है? और उसके साथ रसूल को 'शरीक' करना [क्या][८] बहुत बुरी बात नहीं है? अल्लाह का कौन-सा खज़ाना भरा है जो चोरी करेगा [कोई][९]? क्या रसूल और अपनी अमानत[१०] की चोरी छोड़कर अन्य सबकी चोरी किया करे? ऐसा उपदेश अविद्वान् और अधर्मियों का हो सकता है। भला, जो मकर करता और जो मकर करनेवालों का संगी है, वह ख़ुदा कपटी-छली और अधर्मी क्यों नहीं? इसीलिये यह '**क़ुरान**' ख़ुदा का बनाया हुआ

द्वि०सं० में इसको हटा दिया गया है। यह संशोधन उचित है, क्योंकि यह पाठ कुरान में भी नहीं है।

१. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आती**" क्रिया त्रुटित है। वाक्यपूर्ति के लिए आवश्यक है।

२-५. **त्रुटित आवश्यक पद व अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया और "**पर**" पद त्रुटित हैं। दोनों हस्त० और तीनों सं० में समीक्षा में संख्यांक ४ पर "**उसको गर्दन मारो**" अपवाक्य है जबकि आयत में शुद्ध पाठ है। मूलप्रति सं० में "**के**" विभक्ति पद त्रुटित है।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**करता**" अपवर्तनी है। सभी सं० में संशोधित है।

७. **मुद्रणलिपिकर का प्रमाद और अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह० में मुद्रणलिपिकर ने १९ संख्या त्रुटित छोड़ दी है। भद में भी यह संख्या त्रुटित है।

८-९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**क्या**" और "**कोई**" पद त्रुटित हैं। इनके बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता।

१०. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपरिवर्तन**—मूलह० के शुद्ध प्रयोग को मुद्रणलिपिकर ने "**अपने अमानत**" अशुद्ध बना दिया। मुद्रणलिपिकर की लापरवाही देखिए कि आयत में स्पष्टत: "**अपनी अमानत**" शुद्ध प्रयोग है किन्तु उसे वह भी दिखाई नहीं दिया। मुद्रण लिपिकर के ही बड़े भाई शोधक निकले। उन्होंने भी लापरवाही बरती जिसके कारण द्विप्र० में यही अशुद्ध प्रयोग छपा।

सम्पादक विद्वानों द्वारा अशुद्धि लीला का विस्तार—लिपिकरों-शोधकों ने तो लापरवाही की ही, विद्वान् सम्पादक भी उनके अनुयायी निकले। पं० मीमांसक सं० और मूलसं० को छोड़कर सभी ने इस अशुद्धि को आगे बढ़ाया है। विद्वानों को भी न तो अशुद्ध प्रयोग दिखाई दिया और न आयतोक्त शुद्ध प्रयोग। स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी, द्वि०सं० चारों ने

नहीं है, किसी कपटी-छली का बनाया होगा, नहीं तो ऐसी अन्यथा बातें लिखी ही क्यों होतीं ? ॥ ८७ ॥

८८. और लड़ो उनसे यहां तक कि न रहे फ़ितना अर्थात् बल काफ़िरों का और होवे दीन तमाम वास्ते अल्लाह के....। ३९। और जानो तुम यह कि जो कुछ तुम लूटो, किसी वस्तु से निश्चय वास्ते अल्लाह के है पांचवां हिस्सा उसका[१], और वास्ते रसूल के.....। ४१ ।..... निश्चय मैं तुम्हारा पक्षी हूं....। ४८ ।[२] मं० २। सि० ९। सू० ८। आ० ३९। ४१। ४८ ॥

समीक्षक—ऐसा अन्याय से लड़ाका अर्थात्[३] लड़ने-लड़ानेवाला मुसलमानों के ख़ुदा से भिन्न शान्तिभंगकर्त्ता दूसरा कौन होगा ? अब देखिये, यह मज़हब कि अल्लाह और रसूल के लिये सब जगत् को लूटना-लुटवाना, क्या लुटेरों का-सा काम नहीं है ? और लूट के माल में ख़ुदा का हिस्सेदार बनना जानो डाकू बनना है। और ऐसे लुटेरों का पक्षपाती बनकर[४], ख़ुदा अपनी ख़ुदाई में बट्टा लगाता है। **बड़े आश्चर्य की बात है, ऐसा पुस्तक, और ऐसा ख़ुदा, ऐसे ख़ुदा की ओर के पैग़म्बर और ऐसा उपाधिखोर मज़हब[५-६] संसार में महाशान्तिभंग करके मनुष्यों के लिए दुःखदायी कहां से हुआ[७] ?**

यही अपप्रयोग किया है। उदयपुर सं० के सम्पादकों के समक्ष तो शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ विद्यमान थे किन्तु उन्होंने भी इस अशुद्ध प्रयोग पर विचार नहीं किया और अशुद्ध पाठ को ग्रहण कर लिया। '**अमानत**' अरबी भाषा का स्त्रीलिंग शब्द है।

१. **पं० मीमांसक जी द्वारा अपसंशोधन**—पं० जी ने उपर्युक्त पाठ को बदलकर इस प्रकार बनाया है—''**जो कुछ तुम लूटो किसी वस्तु को निश्चय वास्ते अल्लाह के है पांचवां हिस्सा उसका....।**'' पं० जी ने ''**वस्तु से**'' के स्थान पर ''**वस्तु को**'' अपपाठ कर दिया। पहले वाक्यांश में ''कुछ'' पद आने के बाद ''किसी वस्तु को'' प्रयोग उससे नहीं जुड़ता। यहां यह भाव है कि 'जो कुछ तुम लूटो उसमें से पांचवां हिस्सा अल्लाह का है।' यही भाव कुरान में है। उदयपुर सं० में ''**अल्लाह के है**'' के बाद अल्पविराम अशुद्ध है। यह वाक्यखण्ड ''**उसका**'' पद पर समाप्त होता है।

२. **मुंशी जी द्वारा अनुचित पाठ-निष्कासन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यहां ''**निश्चय मैं तुम्हारा पक्षी हूं**'' आयत ४८ भी है जो संगत है, क्योंकि समीक्षा भाग में इसकी समीक्षा ''**ऐसे लुटेरों का पक्षपाती बनकर**'' शब्दों में की है। मुद्रणह० में मुंशी जी ने इस आयत को गलत काटा है। द्विप्र०, द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में इसको हटा दिया है जो अनुचित है।

३. **मुद्रणकालीन पाठ-निष्कासन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में से ये दोनों पद निकाल दिये हैं। शायद यह समझा गया कि '**लड़ाका और लड़ने-लड़ाने वाला**' एक ही अर्थवाले शब्द हैं। महर्षि की यह शैली है कि वे किसी विशेष पद या नाम का प्रयोग करके अर्थात् लिखकर उसका अर्थ स्पष्ट करते हैं। ज्ञात होता है कि मूलह० में श्रवणभ्रान्ति से लिपिकर ने ''**और**'' पद अशुद्ध लिख डाला है। यहां '**अर्थात्**' पद को निकालने की आवश्यकता नहीं है। उदयपुर सं० आदि में भी यह पद हटा दिया है।

४. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**पक्षपाती बनना खुदा अपनी खुदाई में बट्टा लगाता है**'' व्याकरणिक अपपाठ है।

५. **भ्रष्टपाठ और उसकी लीला का विस्तार**—कभी-कभी कोई पाठ बिगड़ता है तो बिगड़ता चला जाता है। लिपिकरों ने जो भ्रष्टलीला की उसको न तो शोधकों ने ठीक किया है और न सम्पादक आर्य विद्वानों ने। सवा सौ वर्ष तक निरन्तर बिगड़ता यह पाठ इसका ज्वलन्त उदाहरण है, देखिए—

दोनों हस्तलेखों का महाभ्रष्ट पाठ—''**ऐसा पुस्तक और ऐसे खुदा को ईश्वर ऐसे खुदा की ओर के पैगम्बर और ऐसी उपाधीखोर मजहब संसार में महाशान्तिभंग करके दुःखदायी कहां से हुआ।**'' (प्रतिलिपि करते समय इसमें मुद्रणलिपिकर ने दो अशुद्धियां और बढ़ा दीं—''**ओर**'' को ''**और**'', ''**दुःखदायी**'' को ''**दुःखदाई**'' लिखा है।

द्विप्र० का भ्रष्टपाठ—''**ऐसा पुस्तक ऐसा खुदा और ऐसा पैगम्बर संसार में ऐसी उपाधि और शान्तिभंग करके मनुष्यों का दुःख देने के लिये कहां से आया ?**'' इसमें कुछ जोड़ दिया, कुछ हटा दिया, कुछ और बिगाड़ दिया।

द्वितीय संस्करण का अशुद्ध पाठ—''**मनुष्यों को**'' परिवर्तन कर दिया, शेष यथावत् अशुद्ध है। यही भ्रष्ट पाठ वेस, जग, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर सं० में है। विद्वानों ने नहीं सोचा कि ''उपाधि करना'' वाक्यांश का क्या अर्थ है, शुद्ध प्रयोग 'उपाधिखोर' है। ''**कहां से आया**'' संशोधन भी असंगत है। सभी को पता है कहां से आया है। यहां ग्रन्थकार का भाव है कि क्यों उत्पन्न हुआ।

मूलसं० का अपपाठ—''**.....और ऐसे खुदा, ऐसे खुदा की ओर के पैगम्बर.....कहां से हुआ**'' अपपाठ है। ''**उपाधिखोर**''

जो ऐसे-ऐसे मत जगत् में प्रचलित न होते तो सब जगत् आनन्द में बना रहता॥ ८८॥

८९. और कभी देखे जब काफ़िरों को फ़रिश्ते कब्ज करते हैं, मारते हैं, मुख उनके और पीठें उनकी और कहते—''चखो अ़ज़ाब जलने का। ५०। हमने उनके पाप से उनको मारा और हमने फ़िरौन[१] की क़ौम को डुबो दिया....। ५४।'' और तैयारी करो वास्ते उनके जो कुछ तुम कर सको....। ६०। मं० २। सि० १०। सू० ८। आ० ५०।५४।६०॥[२]

समीक्षक—क्यों जी! आजकल रूस ने रूम[३] आदि और इंगलैण्ड[४] ने मिश्र[५] की दुर्दशा कर डाली, फ़रिश्ते कहां सो गये? और अपने सेवकों के शत्रुओं को ख़ुदा पूर्व मारता-डुबाता था, यह बात सच्ची हो, तो आजकल भी ऐसा करे। जिससे ऐसा नहीं होता, इसलिये यह बात मानने योग्य नहीं। अब देखिये, यह कैसी बुरी आज्ञा है कि जो कुछ तुम कर सको वह भिन्न मत-वालों के लिये दु:खदायक कर्म करो, ऐसी आज्ञा विद्वान् और धार्मिक-दयालु की नहीं हो सकती। फिर लिखते हैं कि ख़ुदा दयालु और न्यायकारी है। ऐसी बातों से मुसलमानों के ख़ुदा से न्याय और दयादि सद्गुण दूर बसते हैं॥ ८९॥

९०. ऐ नबी! किफ़ायत है तुझको अल्लाह और उनको जिन्होंने मुसलमानों से तेरा पक्ष किया। ६४। ऐ नबी! रग़बत अर्थात् चाह-चस्का दे मुसलमानों को ऊपर लड़ाई के। जो हों तुम में से वीस आदमी जमे रहनेवाले लड़ाई में,[६] तो पराजय करें दो सौ का। ६५। बस, खाओ उस वस्तु से कि लूटा है

ठीक है। ''**मजहब**'', ''**दु:खदायी**'' संशोधित पद हैं।

पाठकगण! सवा-सौ वर्षों में यह दु:स्थिति बनी है सत्यार्थप्रकाश की। अब आर्य विद्वानों की असावधानी पर भी क्या कहें?

६. **उपाधिखोर**= छल, कपट, उपद्रव और मिथ्यापन से युक्त नक़ली मजहब।

७. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**हुआ**'' के स्थान पर ''**आया**'' परिवर्तन है। '**हुआ**' ही सही प्रयोग है जिस का भाव है कि क्यों उत्पन्न हुआ? '**कहाँ से आया**' तो कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि सबको पता है कि अरब से आया है।

१. **फ़िरौन**—यह मिश्र का राजा था, जिसको बाइबल व क़ुरान में अत्याचारी वर्णित किया है। कहा गया है कि हजरत मूसा के प्रकोप (शायद आक्रमण) के कारण यह मारा गया था। मूलप्रति सं० व द्वि० सं० में '**फिराओन**' वर्तनी अग्राह्य है। इसका अन्यत्र वर्णन द्र० पृ० ८७४, ८७७, १०१० पर।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ६० के स्थान पर ५९ अशुद्ध है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**रूम**'' वर्तनी है। अन्यत्र अनेक स्थानों पर '**रोम**' वर्तनी (मू०सं० पृ० ३२७)। दोनों में से वर्तमान में '**रोम**' प्रचलित वर्तनी है। ग्रन्थ में ''**रूम**'' का ही प्रयोग है।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में यहां '**इङ्गलेण्ड**' अपवर्तनी है। इसका संशोधन अपेक्षित है। ग्रन्थ में दोनों हस्त० और तीनों सं० में दो वर्तनियां उपलब्ध हैं— १. **इङ्गलैण्ड** (द्वि० सं० पृ०-१३६), २. **इंग्लैण्ड** (मूलसं० पृ०-२३६, द्वि०सं० ३८०)। इनमें महर्षि के काल में संस्कृत-प्रभावित '**इङ्गलैण्ड**' वर्तनी चलती थी। आजकल यह '**इंगलैंड**' लिखा जाने लगा है।

५. **अव्यवस्थित वर्तनी**—सम्पूर्ण ग्रन्थ में, इस देश-नाम की विशेषत: १४ समु० में दो वर्तनियां मिलती हैं—'**मिश्र, मिस्र**'। महर्षि-कालीन भाषिक वातावरण की दृष्टि से '**मिश्र**' वर्तनी ग्राह्य है। विस्तृत टिप्पणी पृ० ८६१ पर द्रष्टव्य है।

६. **भ्रष्ट अनुवाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां किसी मौलवी कृत भ्रष्ट अनुवाद है अर्थात् तीनों सं० में ''**बीस आदमी सन्तोष करनेवाले तो पराजय करें**'' विपरीत एवं अप्रासंगिक अर्थ है। यहां कुरान के मूल पाठ और युद्ध के प्रसंग के अनुसार यह पाठ होना चाहिए—''**बीस आदमी हों जमे रहनेवाले लड़ाई में तो पराजय करें**''। युद्ध में 'संतोष करना' गुण नहीं, अवगुण है। 'जमे रहना' गुण है, अत: यही पाठ शुद्ध है।

स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी के **संस्करण** में यही अपपाठ है जबकि **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने संशोधन का प्रस्ताव टिप्पणी में किया है। उदयपुर संस्करण में बिना विचारे अशुद्ध पाठ ही ग्रहण कर लिया है।

तुमने हलाल=पवित्र और डरो अल्लाह से। वह क्षमा करने वाला दयालु है। ६९।

मं० २। सि० १०। सू० ८। आ० ६४। ६५। ६९॥[१]

समीक्षक—भला, यह कौन-सी न्याय, विद्वत्ता और धर्मात्मता की बात है कि जो अपना पक्ष करे और चाहे अन्याय भी करे, उसी का पक्ष [करे] और लाभ ख़ुदा पहुंचावे? और जो प्रजा में शान्तिभंग करके लड़ाई करे-करावे और लूट-मार के पदार्थों को हलाल बतलावे और फिर उसी का नाम 'क्षमावान्' 'दयालु' लिखे; यह बात ख़ुदा की तो क्या किन्तु किसी भले आदमी की भी नहीं हो सकती। ऐसी-ऐसी बातों से '**क़ुरान**' ईश्वरवाक्य कभी नहीं हो सकता॥ ९०॥

९१. सदा रहेंगे बीच उसके, अल्लाह समीप है उसके पुण्य बड़ा। २२। ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो तो मत पकड़ो [मित्र बनाओ] बापों अपने को, और भाइयों अपने को, मित्र जो दोस्त रक्खें कुफ्र को ऊपर ईमान के [जो कोई उनसे मित्रता का नाता जोड़ेगा, वे ज़ालिम होंगे][२]। २३। फिर उतारी अल्लाह ने तसल्ली अपनी ऊपर रसूल अपने के और ऊपर मुसलमानों के, और उतारे लश्कर, नहीं देखा तुमने उनको और अज़ाब किया उन लोगों को, और यही सजा है काफ़िरों को। २६। फिर-फिर आवेगा अल्लाह पीछे उसके ऊपर [जिसको चाहे]। २७। और लड़ाई करो उन लोगों से जो ईमान नहीं लाते.....। २९। मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० २२। २३। २६। २७। २९॥[३]

समीक्षक—भला, जो बहिश्तवालों के समीप अल्लाह रहता है, तो सर्वव्यापक नहीं हो सकता। जो सर्वव्यापक नहीं तो सृष्टिकर्त्ता[४] और न्यायाधीश नहीं हो सकता। और अपने मा, बाप, भाई और मित्र को छुड़वाना केवल अन्याय की बात है। हां, **जो वे बुरा उपदेश करें, [तो उसको] न मानना; परन्तु उनकी सेवा सदा करनी चाहिये।** जो पहले ख़ुदा मुसलमानों पर सन्तोषी था और उनके साहाय्य के लिये लश्कर उतारता था, [यदि यह][५] सच हो, तो अब ऐसा क्यों नहीं करता? और जो प्रथम काफ़िरों को दण्ड देता और पुनः-पुनः उसके ऊपर आता था, तो अब कहां गया? क्या ख़ुदा विना लड़ाई के ईमान नहीं बना सकता? ऐसे ख़ुदा को हमारी ओर से सदा तिलांजलि[६] है। ख़ुदा क्या है, एक खिलाड़ी है!॥ ९१॥

९२. ....बस, मत अन्याय करो बीच उसके आपस में, और लड़ो मुश्रिकों[७] से इकट्ठे, जैसा लड़ते हैं। ३६।[८] और हम बाट देखनेवाले हैं[९] वास्ते तुम्हारे यह कि पहुंचावे तुम को अल्लाह अज़ाब

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयत संख्याएं ६३, ६८ अशुद्ध हैं, ६५, ६९ त्रुटित हैं।

२. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठान्तर्गत पाठ त्रुटित है। इसके बिना दूसरी आयत का कथन अधूरा रहता है। कुरान में ये वाक्य प्राप्त हैं। यह पाठ आवश्यक है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं २१, २५, २८ अशुद्ध हैं, २९ त्रुटित है।

४. **मुद्रणकालीन अपवर्तनी**—द्विप्र० में "**सृष्टि करता**" अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**यदि यह**" पद त्रुटित हैं। वाक्यरचना के लिए आवश्यक हैं।

६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**तिलांजली**" अप वर्तनी है। अन्य सभी में संशोधित है।

७. **मुश्रिक**=बहुत देवी-देवताओं को माननेवाले। अरबी में शुद्ध वर्तनी "**मुश्रिक**" है। सभी सं० में "**मुशरिक**" अशुद्ध है।

८,९. **मुद्रणकाल में आयत पाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० में आयतखण्ड संख्या ९२ में से प्रथम आयत ३६ और इसकी समीक्षा "**क्या मुसलमान.....मूर्तियां हैं**" तक मुंशी समर्थदान जी ने निकाल दी है। यदि लड़ाई का आदेश पढ़कर निकाली है तो यह

अपने पास से वा हमारे हाथों से। ५२। मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ३६। ५२॥

समीक्षक—क्या मुसलमान लोग आपस में न्याय और दूसरों पर अन्याय करना धर्म समझते हैं? और ऐसा है, तो मुसलमान लोग अन्याय की मूर्तियाँ हैं।[१]

क्या मुसलमान ही अल्लाह[२] की पुलिस बन गये हैं कि वह अपने हाथ वा मुसलमानों के हाथों[३] से अन्य किन्हीं मत-वालों को दण्ड देता है? क्या दूसरे करोड़ों मनुष्य अल्लाह[४] को अप्रिय हैं? [और][५] मुसलमानों में पापी भी प्रिय हैं? इसलिये[६] **अन्धेर नगरी गवरगण्ड राजा**[७] की- सी व्यवस्था दीखती है। आश्चर्य है कि जो बुद्धिमान् मुसलमान हैं, वे भी इस निर्मूल, अयुक्त मत को मानते हैं॥ ९२॥

९३. प्रतिज्ञा की है अल्लाह ने ईमानवालों से और ईमानवालियों से, बहिश्तें चलती हैं नीचे उनके से नहरें, सदैव रहनेवाली बीच उसके; और घर पवित्र बीच बहिश्तों अदन के और प्रसन्नता अल्लाह की और सबसे बड़ी है और यह कि वह है मुराद-पाना[८] **बड़ा। ७२। ....बस जो ठट्ठा करते हैं उनसे, ठट्ठा किया है अल्लाह ने उनसे। ७९।** मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ७२। ७९॥[९]

समीक्षक—यह ख़ुदा की ओर से स्त्री-पुरुषों को लोभ देना है[१०] अपने मतलब के लिये; क्योंकि जो ऐसा प्रलोभन न देते तो कोई मुहम्मद साहब के जाल में न फसता। ऐसे ही अन्य मत-वाले भी किया करते हैं। भला, मनुष्य लोग तो आपस में ठट्ठा किया ही करते हैं, परन्तु ख़ुदा को किसी से ठट्ठा करना उचित नहीं है। यह '**क़ुरान**' ग्रन्थ क्या है, बड़ा खेल है॥ ९३॥

९४. परन्तु रसूल और जो लोग कि साथ उसके ईमान लाये जिहाद[११] **किया उन्होंने साथ धन**

कोई उचित कारण नहीं है। कुरान का यथार्थ चित्र तो इसी प्रकार के आदेशों से सामने आता है। यह दोनों हस्तलेखों में भी है। द्विप्र० में न होने के कारण यह किसी भी द्वि०सं० में नहीं है। मुंशी जी द्वारा इसको अकारण निकालना और महर्षि के श्रम तथा आशय को व्यर्थ करना अवांछनीय है।

९. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मूलह० के शुद्धपाठ को मुद्रणलिपिकर ने अशुद्ध बना दिया—"**हम वार देखने वाले हैं**"। यही अशुद्ध द्विप्र० में छपा है। अब अन्य संभी सं० में संशोधित है।

१-५. **अपपाठ**—(१) मूलह०, मूलप्रति सं० में "**दूसरों में अन्याय करना**" वाक्यांश में "**में**" अपप्रयोग है, "**पर**" शुद्ध है। (२, ४) "**ईश्वर की पुलिस बन गई हैं**" मूलह०, मूलप्रति सं० में अपवाक्य है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है। समीक्षा में '**अल्लाह**' का '**ईश्वर**' अनुवाद कर दिया है। मुसलमानों के कथनों के सन्दर्भ में '**अल्लाह**' या '**खुदा**' नाम ही सटीक प्रयोग हैं। अत: आयत के मूल '**अल्लाह**' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। (३) '**हाथों**' प्रयोग सही है, '**हाथ**' प्रयोग अशुद्ध है। (५) "**और**" पद होना आवश्यक है। दोनों सं० में नहीं है।

६. **मुद्रणकाल में अपसंशोधन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**इसलिये**" के स्थान पर "**यदि ऐसा है**" अशुद्ध-असंगत संशोधन है। दोनों हस्त० में "इसलिये" सटीक प्रयोग है। ऋषि तो निश्चयपूर्वक ही वर्णित बातों को कह रहे हैं कि मुसलमानों में ऐसा है। "**यदि ऐसा है तो**" संभावनात्मक संशोधन ऋषि के कथन में सन्देह उत्पन्न करके उनकी समीक्षा को अप्रामाणिक बनाता है। अत: अवांछनीय है।

७. **गवरगंड राजा**—मूर्ख राजा। इसकी कथा ग्रन्थकार रचित '**व्यवहारभानु**' पुस्तिका में द्रष्टव्य है।

८. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**मुरादखाना**" अशुद्ध पाठ है। **मुराद-पाना**=मनोकामनाओं का पूर्ण होना।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ८० अशुद्ध है।

१०. **अपपाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपपाठ है—"**यह खुदा की और से स्त्री-पुरुषों का लोभ देना है।**"

११. **जिहाद**=धर्मयुद्ध। अल्लाह और कुरान के प्रचार-प्रसार करने या इस्लामिक राज्य के लिए किया जानेवाला युद्ध।

अपने के तथा जान अपनी के और इन्हीं लोगों के लिये भलाई है। ८८। ....और मोहर रक्खी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके के, बस वे नहीं जानते। ९३। मं० २। सि० १०। सू० ९। आ० ८८। ९३॥[१]

समीक्षक—अब देखिये मतलबसिन्धु की बात कि वे ही भले हैं जो मुहम्मद साहब के साथ ईमान लाये! और जो नहीं लाये,[२] वे बुरे हैं! क्या यह बात पक्षपात और अविद्या से भरी हुई नहीं है? जब ख़ुदा ने मोहर ही लगा दी, तो उनका पाप करने में कोई अपराध भी नहीं, किन्तु ख़ुदा का ही अपराध है, क्योंकि उन बेचारों को भलाई से, दिलों पर मोहर लगाके रोक दिया,[३] यह कितना बड़ा अन्याय है!॥ ९४॥

९५. ले माल उनके से ख़ैरात कि पवित्र करे तू उनको और शुद्ध करे तू उनको साथ उसके अर्थात् गुप्त में। १०३। ....निश्चय अल्लाह ने मोल ली हैं मुसलमानों से जानें उनकी और धन उनके बदले, कि वास्ते उनके बहिश्त है; लड़ेंगे बीच मार्ग अल्लाह के, बस मारेंगे और मर जावेंगे....। १११।
मं० २। सि० ११। सू० ९। आ० १०३। १११॥[४]

समीक्षक—वाह जी वाह मुहम्मद साहब! आपने तो गोकुलिये गोसाँइयों की बराबरी कर ली, क्योंकि उनका माल लेना और उनको गुप्त में[५] पवित्र करना, यही बात तो गोसाँइयों की है। वाह ख़ुदा जी! आपने अच्छी सौदागरी लगाई कि मुसलमानों के हाथ से अन्य गरीबों के प्राण लेना ही लाभ समझा!! और उन अनाथों को मरवाकर उन निर्दयी मनुष्यों को स्वर्ग देने से, दया और न्याय से मुसलमानों का ख़ुदा हाथ धो बैठा और अपनी ख़ुदाई में बट्टा लगाके बुद्धिमान् धार्मिकों में घृणित हो गया॥ ९५॥

९६. ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो, लड़ो उन लोगों से कि पास तुम्हारे हैं काफ़िरों से, और चाहिये कि पावें बीच तुम्हारे सख्ती....। १२३। क्या नहीं देखते यह कि वे बलाओं में डाले जाते हैं बीच[६] हर वर्ष के एक वार वा दो वार, फिर वे नहीं तौबा[७] करते और न वे शिक्षा पकड़ते हैं। १२६।
मं० २। सि० ११। सू० ९। आ० १२३। १२६॥[८]

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं ८९, ९२, मूलह०, मुद्रणह०, भद में ७९, ९२ संख्याएं अशुद्ध लिखी हैं।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**लाते**" अपप्रयोग है। पूर्ववाक्य की क्रिया के अनुसार "**लाये**" ही ठीक है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

३. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**उन बिचारों को भलाई से, दिलों पर मोहर लगाके रोक दिये।**" अन्य सभी सं० तथा कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में भी अपपाठ है।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १०२, ११० अशुद्ध हैं।

५. **मुद्रणकाल में अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में गोसाँइयों के दुराचरण पर प्रकाश डालने वाला महत्त्वपूर्ण पद "**गुप्त में**" त्रुटित रह गया है। अन्य सभी सं० में भी यह त्रुटित है। अनुमान है कि मुद्रणकाल में इसको मुंशी जी ने भ्रान्ति से काटा है। मुंशी जी ने नहीं देखा कि यह पाठ मूल आयत में है और मूलह०, मुद्रणह० में भी है। वही त्रुटित परम्परा सभी वर्तमान द्वि०सं० में चलती आ रही है। **उदयपुर सं०** के समक्ष शुद्ध-अशुद्ध दोनों पाठ थे किन्तु उसने त्रुटित अर्थात् अशुद्ध पाठ को ग्रहण किया है।

६. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने प्रमाद से "**बीच**" पद छोड़ दिया। वही त्रुटित पाठ द्विप्र० में छपा है। **स्वामी वेदानन्द सं०** और पं० **मीमांसक सं०** में भी त्रुटित है। अन्य सभी सं० ने ग्रहण कर लिया है।

७. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तौबा**" की दो वर्तनियां प्राप्त हैं—१. **तोबा** (मूलसं०, पृ० ६८४; द्वि० सं०, पृ० ३८१), २. **तोबाः** (मूलसं० पृ० ६९४, ७००, ७१८; द्वि० सं०, पृ० ३८६, ३८८, ३८९)। शुद्धता की दृष्टि से दोनों ही

समीक्षक—देखिये, ये[१] भी विश्वासघात की बातें ख़ुदा मुसलमानों को सिखलाता है कि चाहे पड़ोसी हों वा किसी के नौकर हों, जब अवसर पावें, तभी लड़ाई वा घात करें। ऐसी बातें मुसलमानों से बहुत बन गई हैं इसी '**क़ुरान**' के लेख से। अब तो मुसलमान, समझके, इन '**क़ुरानोक्त**' बुराइयों को छोड़ दें, तो बहुत अच्छा है॥ ९६॥

९७. निश्चय परवरदिगार तुम्हारा अल्लाह है जिसने पैदा किया आसमानों और पृथिवी को बीच छः दिन के।[२] फिर क़रार पकड़ा ऊपर अर्श के तदबीर करता है[३] काम की...। ३।

मं० ३। सि० ११। सू० १०। आ० ३॥

समीक्षक—क्या अल्लाह तुम्हारी नित्य सेवा करता है?[४] **आसमान=आकाश एक, और विना बनाया हुआ अनादि है, उसका बनाना लिखने से निश्चय हुआ कि वह 'क़ुरान' का कर्त्ता[५] 'पदार्थविद्या' को नहीं जानता था।** क्या परमेश्वर को सृष्टि को[६] छः दिन तक बनाना पड़ता है? तो जो "**हो मेरे हुक्म से और हो गया**" जब '**क़ुरान**' में ऐसा लिखा है[७] फिर छः दिन कभी नहीं लग सकते। और छः दिन लगना झूठ है। जो वह व्यापक होता, तो ऊपर अर्श[८] के क्यों ठहरता? और जब तदबीर[९] करता है काम की तो ठीक तुम्हारा ख़ुदा मनुष्य के समान है, क्योंकि जो सर्वज्ञ है, वह बैठा-बैठा तदबीर क्या करेगा? इससे विदित होता है कि ईश्वर को न जाननेवाले[१०] जंगली लोगों ने यह पुस्तक बनाया होगा॥ ९७॥

९८. शिक्षा और दया वास्ते मुसलमानों के...। ५७। मं० ३। सि० ११। सू० १०। आ० ५७॥[११]

समीक्षक—क्या यह ख़ुदा मुसलमानों का ही है? दूसरों का नहीं? और पक्षपाती है, जो मुसलमानों

अग्राह्य हैं, क्योंकि अरबी मूल शब्द के अनुसार '**तौबः**' और उसके हिन्दी रूप के अनुसार '**तौबा**' शुद्ध हैं। अतः इस शोधसंस्करण में एकरूपता के लिए सर्वत्र '**तौबा**' ग्रहण किया गया है।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १२२, १२५ अशुद्ध लिखी हैं।

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**यह**" एकवचन अपप्रयोग है। बहुवचन प्रयोग द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध है।

२. **छह दिन में सृष्टि-उत्पत्ति की पुनरुक्ति**—द्र० आयतखण्ड संख्या ७८, १५१। बाइबल में—समु० १३ में आयतखण्ड संख्या ४५ और '**उत्पत्ति**' पुस्तक में पर्व एक।

३,५. **महामूर्ख लिपिकर-शोधक**—अयोग्य लिपिकरों-शोधकों की मूर्खता देखिए कि मुद्रणहस्तलेख में "**करता**" के स्थान पर "**कर्त्ता**" और "**कर्त्ता**" के स्थान पर "**करता**" वर्तनी लिखी है। वही द्विप्र० में छपी है। अब सभी सं० में इनका संशोधन कर लिया है। मूलह० में दूसरी वर्तनी ठीक है, पहली अशुद्ध है। **अनादि आकाश का उल्लेख पृ० ३९५ पर भी द्रष्टव्य है।**

४. **मुद्रणकाल में अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में से यह वाक्य हटा दिया गया है। हटाना उचित नहीं है, क्योंकि आयत में अल्लाह को '**परवरदिगार**'='**पालन-पोषण करनेवाला**' कहा है, जिसके उत्तर में इस वाक्यान्तर्गत व्यंग्य-प्रश्न को उठाया है। अतः इस प्रश्न का पाठ में होना आवश्यक है। इसको मुंशी जी ने मुद्रणह० में काटा है, जो अवांछनीय है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क्या परमेश्वर के सामने**" अपपाठ है। यहां यह उपयुक्त पाठ है—"**क्या परमेश्वर को सृष्टि को**"। यही ऊपर ग्रहण किया है।

७. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य है आयतखण्ड संख्याएं २७, ५३, १३९ और उनकी समीक्षाएं।

८. **लिपिकरकृत अशुद्ध पाठ की रोचक कहानी**—मूललिपिकर ने अपनी अयोग्यता के कारण इस शब्द को "**अरस**" लिखा। मुद्रणलिपिकर ने इसको नहीं समझा। उसने इसको "**आस**" लिख दिया। शोधक ने मुद्रणकाल में द्विप्र० में इसको भ्रान्ति से "**आसमान**" बना दिया। **स्वामी वेदानन्द सं०** और **पं० मीमांसक सं०** में यहां '**आकाश**' अपपाठ अनुमान से बना दिया। अन्य सभी सं० ने इसको शुद्ध कर लिया है। **अर्श** अर्थात् स्वर्ग का सिंहासन।

९. **तदबीर**=कोशिश, उपाय।

१०. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**जाननेवालों**" अपप्रयोग है।

पर ही दया करे अन्य मनुष्यों पर नहीं। यदि मुसलमान ईमानदारों को कहते हैं, तो उनके लिये शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं। और मुसलमानों से भिन्नों को उपदेश नहीं करता, तो ख़ुदा की विद्या ही व्यर्थ है॥ ९८॥

९९. .....और था अर्श अर्थात् सिंहासन उसका ऊपर पानी के, तो कि[१] परीक्षा लेवे तुमको, कौन तुममें से अच्छा है कर्मों में, जो कहे तू, अवश्य उठाये जाओगे तुम पीछे मृत्यु के....। ७।

मं० ३। सि० ११। सू० ११। आ० ७॥

समीक्षक—जब पानी पर ख़ुदा का सिंहासन है, तो वह एकदेशी होने से ख़ुदा ही नहीं बन सकता और[२] जब कर्मों की परीक्षा करता है, तो सर्वज्ञ ही नहीं। और जो मृत्यु पीछे उठाता है, तो दौरासुपुर्द[३] रखता है और अपने नियम जो कि '**मरे हुए न जीवें**', [को] तोड़ता है। यह ख़ुदा को बट्टा लगता है[४]॥ ९९॥

१००. और कहा गया—'ऐ पृथिवी! अपना पानी निगल जा, और ऐ आसमान! बस कर, और पानी सूख गया....। ४४। और ऐ क़ौम मेरे![५] यह है निशानी[६] ऊंटनी अल्लाह की वास्ते तुम्हारे, बस, छोड़ दो उसको बीच पृथिवी अल्लाह के खाती फिरे'....। ६४।[७]

मं० ३। सि० ११। सू० ११। आ० ४४। ६४॥[८]

समीक्षक—क्या लड़केपन की बात है! पृथिवी और आकाश कभी बात सुन सकते हैं? वाह जी वाह! ख़ुदा की ऊंटनी भी है, तो ऊंट भी होगा? तो हाथी, घोड़े, गधे आदि[९] भी होंगे? और ख़ुदा का ऊंटनी से खेत खिलाना क्या अच्छी बात है? क्या ऊंटनी पर चढ़ता भी है? जो ऐसी बातें हैं तो नवाबी की-सी घसड़-पसड़ ख़ुदा के घर में भी हुई॥ १००॥

---

११. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ५५ अशुद्ध लिखी है। यही अशुद्धि भद में है।

१-२. **मुद्रणकाल में आयतपाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० में यह "**और था.....तो कि**" आयतांश और उसकी महर्षिकृत समीक्षा "**जब पानी.....बन सकता और**" तक निकाल दी है। मूलह०, मुद्रणहस्त० में यह पाठ है। इसको प्रकाशन के समय निकाला गया है। निकालने का कारण नहीं दर्शाया गया है। इसको मुंशी समर्थदान जी ने निकाला है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**दौड़ा सुपुर्द**" अपवर्तनी है। सभी सं० में यही अपवर्तनी है। टिप्पणी द्र० पृ० ९२१।

४. **त्रुटित आवश्यक पद और अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**को**" विभक्ति पद त्रुटित है। आगे **पं० युधिष्ठिर मीमांसक** ने "**खुदा को बट्टा लगाना है**" अपपाठ ग्रहण किया है। "**लगता है**" क्रिया-प्रयोग शुद्ध है, क्योंकि खुदा अपने नियम को तोड़ता है जिससे उसको स्वयं बट्टा लगता है, दूसरा कोई नहीं लगाता।

५. **क़ौम**—अरबी में यह शब्द पुल्लिंग है, अत: "**मेरे**" पुल्लिंग प्रयोग है।

६. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**निसानी**" अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

७. **ऊंटनी और समूद की कहानी**—समूद और सालेह दो जाति-भाई थे। सालेह ने इस्लाम स्वीकार कर लिया, समूद ने नहीं किया। हज० मुहम्मद ने लड़ने का बहाना बनाने के लिए समूद के क्षेत्र में अपनी एक ऊंटनी छुड़वा दी और कहा कि इसको चरने से कोई नहीं रोकेगा और एक दिन केवल यही अकेली पानी पीयेगी और दूसरे दिन शेष सब जानवर। उसे अल्लाह की ऊंटनी कहा गया। समूद ने उसे मरवा दिया। उसके बदले में हज० मुहम्मद ने समूद की जाति पर आक्रमण करके सब कुलवालों को मार दिया। आयतखण्ड संख्या १००, ११२, १२७, १७० में भी इसकी पुनरुक्ति है। ऐसे थे पैगम्बर मुहम्मद!

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ४३, ६३ अशुद्ध हैं।

९. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**घोड़ा, गधा आदि**" एकवचन है, बहुवचन चाहिए। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में पाठ संशोधित कर दिया है।

१०१. और सदैव रहनेवाले बीच उसके जब तक कि रहें आसमान और पृथिवी...। १०७। और जो लोग सुभागी हुए, बस, बहिश्त के सदा रहनेवाले हैं, जब तक रहें आसमान और पृथिवी....। १०८।

मं० ३। सि० १२। सू० ११। आ० १०७। १०८॥[१]

समीक्षक—जब दोज़ख और बहिश्त में क़यामत के पश्चात् सब लोग जायेंगे फिर आसमान और पृथिवी किसलिये रहेगी? और तब दोज़ख और बहिश्त के, आसमान-पृथिवी के रहने तक अवधि हुई तो '**सदा रहेंगे बहिश्त वा दोज़ख़ में**',[२] यह बात झूठी हुई। ऐसा कथन अविद्वानों का होता है, ईश्वर वा विद्वानों का नहीं॥ १०१॥

१०२. जब यूसुफ़[३] ने अपने बाप से कहा कि ''ऐ बाप मेरे! मैंने एक स्वप्न देखा''.....। ४।

मं० ३। सि० १२। सू० १२। आ० ४ से ५९ तक [और आगे १०१ तक]॥[४]

समीक्षक—इस प्रकरण में पिता-पुत्र का संवादरूप किस्सा-कहानी भरी है, इसलिये '**क़ुरान**' ईश्वर का बनाया नहीं। किसी मनुष्य ने मनुष्यों का इतिहास लिख दिया है॥ १०२॥

१०३. अल्लाह वह है जिसने खड़ा किया आसमानों को विना खंभे के देखते हो तुम उसको, फिर आराम किया ऊपर अर्श के अर्थात् स्वर्ग में, आज्ञा वर्तनेवाला किया सूरज और चांद को। २। और वही है जिसने बिछाया पृथिवी को। ३। उतारा आसमान से पानी; बस, बहे नाले साथ अन्दाजे के। १७। अल्लाह खोलता है भोजन को वास्ते जिसको चाहे और तंग करता है। २६।

मं० ३। सि० १३। सू० १३। आ० २। ३।[५] १७। २६॥

समीक्षक—मुसलमानों का ख़ुदा '**पदार्थविद्या**' कुछ भी नहीं जानता था। जो जानता, तो गुरुत्व न होने से, आसमान को खंभा लगाने की कथा कहने की कुछ भी आवश्यकता न थी।[६] यदि ख़ुदा

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १०५, १०६ अशुद्ध हैं। मूलसं०, युमी, वेस, उदयपुर सं० में १०९ संख्या अशुद्ध है। १२ भी अपसंख्या है।

२. **परस्परविरुद्ध कथन**—**बहिश्त**=स्वर्ग में और **दोज़ख**=नरक में सदा रहने का कथन आयतखण्ड संख्या १६, ११२, १४१ में भी द्रष्टव्य है। यह क़यामत के निर्णय से परस्परविरुद्ध कथन है। जब क़यामत के दिन निर्णय बदलेगा तो '**सदा रहने का**' कथन उससे विरुद्ध हुआ।

३. **यूसुफ़**=(Joseph)—सूरा बारह का शीर्षक 'यूसुफ़' ही है। इस सूरा में यूसुफ़ और उसके भाइयों की कहानी है। यूसूफ़ और बिन यामीन दो सगे भाई थे तथा दस सौतेले थे। वे दस इन दोनों भाइयों से ईर्ष्या करते थे। एक दिन वे यूसुफ़ को बहकाकर ले गये और कुएं में डाल आये। पिता याकूब को कह दिया कि यूसुफ़ को भेड़िया खा गया। यूसुफ़ को वहां से गुजरते एक दल ने निकाला और मिश्र के व्यक्ति के हाथ बेच दिया। आगे दिखाया है कि युसुफ़ पर अनेक संकट आये परन्तु अल्लाह ने उसे बचाया। **अपवर्तनी**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में ''**यूसूफ़**'' अपवर्तनी छपी है। अब सभी सं० में संशोधित है।

४. **स्वामी वेदानन्द सं० में उचित संख्या-संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां ४ से ५९ तक; युमी, मूलसं० में ४ से ५७ तक पाठ मिलता है। स्वामी वेदानन्द सं० में इसको ४ से १०१ तक संशोधित किया है जो कुरान-वर्णन के अनुसार उचित होने से स्वामी वेदानन्द सं० की ग्राह्य है। उदयपुर सं० ने भी इसी संख्या को ग्रहण किया है।

५. **त्रुटित उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद में यहां आयतसंख्या ''३'' त्रुटित है। अन्य सभी सं० में है।

६. **ऋषिपाठ की अस्तव्यस्त वाक्यरचना**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह वाक्य अस्त-व्यस्त है—''**जो जानता तो आसमान को खंभा लगाने की कथा-कहानी, गुरुत्व न होने से, कुछ भी आवश्यकता न थी।**'' द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**कथा-कहानी कुछ भी न लिखता**'' यह कुछ शुद्ध वाक्य है। '**कहानी**' पद यहां अशुद्ध है क्योंकि यह पद श्रवणभ्रान्ति से लिखा है। ''**कथ कहने की**'' ऋषिलिखित पाठ को मुद्रणलिपिकर ने ''**कथा-कहानी**'' बना दिया।

स्वर्गरूप=अर्शरूप[१] एक स्थान में रहता है, तो वह सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक नहीं हो सकता। और जो ख़ुदा '**मेघविद्या**' जानता तो 'आकाश से पानी उतारा' लिखा, पुनः यह क्यों न लिखा कि 'पृथिवी से पानी ऊपर चढ़ाया'। इससे निश्चय हुआ कि '**क़ुरान**' का बनानेवाला '**मेघ की विद्या**' को भी नहीं जानता था। और जो विना अच्छे-बुरे कामों के सुख-दुःख देता है, तो पक्षपाती, अन्यायकारी, निरक्षर-भट्ट है॥ १०३॥

१०४. ....कह, निश्चय अल्लाह गुमराह करता है, जिसको चाहता है और मार्ग दिखलाता है, तरफ़[२] अपनी उस मनुष्य को रुजू[३] करता है। २७। मं० ३। सि० १३। सू० १३। आ० २७॥

समीक्षक—जब अल्लाह गुमराह करता है, तो ख़ुदा और शैतान में क्या भेद हुआ? जबकि शैतान दूसरों को गुमराह अर्थात् बहकाने से बुरा कहाता है, तो ख़ुदा भी वैसा ही बुरा काम करने से शैतान[४] क्यों नहीं? और बहकाने के पाप से [उसको] दोज़खी क्यों नहीं होना चाहिये?॥ १०४॥

१०५. इसी प्रकार उतारा हमने इस 'क़ुरान' को अरबी में,[५] जो पक्ष करेगा तू उनकी इच्छा का पीछे इसके आई तेरे पास विद्या से....। ३७। बस, सिवाय इसके नहीं कि ऊपर तेरे पैग़ाम[६] पहुंचाना है और ऊपर हमारे है हिसाब लेना। ४०। मं० ३। सि० १३। सू० १३। आ० ३७। ४०॥

समीक्षक—'क़ुरान' किधर की ओर से उतारा? क्या ख़ुदा ऊपर रहता है? जो यह बात सच है, तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर सब ठिकाने एकरस व्यापक है। पैग़ाम पहुँचाना हल्कारे का काम है और हल्कारे[७] की आवश्यकता उसी को होती है, जो मनुष्यवत् एकदेशी हो। और हिसाब लेना-देना भी मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। [इससे][८] यह निश्चय होता है कि किसी अल्पज्ञ मनुष्य का बनाया '**क़ुरान**' है॥ १०५॥

१०६. और किया सूर्य, चन्द्र को सदैव फिरने वाले। ३३। ....निश्चय आदमी अवश्य अन्याय और पाप करनेवाला है। ३४। मं० ३। सि० १३। सू० १४। आ० ३३। ३४॥

समीक्षक—क्या चन्द्र, सूर्य सदा फिरते और पृथिवी नहीं फिरती? जो पृथिवी नहीं फिरे तो कई वर्षों के दिन-रात होवें। और जो मनुष्य निश्चय अन्याय और पाप करनेवाला है, तो '**क़ुरान**' से शिक्षा

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**स्वर्गरूप**" पाठ है, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**अर्शरूप**" बनाया है। अनुवाद में दोनों हैं और दोनों का अर्थ एक है। आयत में "**अर्श**" प्रयोग है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तर्फ़**" अपवर्तनी है।

३. **रुजू (रजूअ)**=आकर्षित करना।

४. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बुरा शैतान क्यों नहीं?**" वाक्य में "**बुरा**" विशेषण अस्थान में लिखे जाने से वाक्य का अपपाठ हो गया। "**शैतान**" तो बुरा है ही फिर "**बुरा शैतान**" क्या होगा? वस्तुतः यह "**काम**" का विशेषण है और उसके पूर्व होना ही उपयुक्त है। उदयपुर सं० आदि सभी में यह अपपाठ विद्यमान है।

५. **मूललिपिकर द्वारा त्रुटित पद**—मूललिपिकर ने प्रमादवश "**में**" पद त्रुटित छोड़ दिया है। उसी कारण से मुद्रणह० और सभी द्वि०सं० में यह पद त्रुटित है। पं० मीमांसक जी ने बृहत्कोष्ठक में तथा उदयपुर सं० में इस पद को ग्रहण कर लिया है।

६. **पैग़ाम**=सन्देश।

७. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में "**हल्कारा की**" अपप्रयोग है। चार शब्द पूर्व ठीक प्रयोग "**हल्कारे का**" है। द्वि०सं० में दोनों शुद्ध हैं। हल्कारा=संदेशवाहक।

८. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**इससे**" त्रुटित पद है।

करना व्यर्थ है, क्योंकि जिनका स्वभाव पाप ही करने का है, तो उनमें पुण्यात्मता कभी न होगी। और संसार में पुण्यात्मा और पापात्मा सदा दीखते हैं, इसलिये ऐसी बात ईश्वरकृत पुस्तक की नहीं हो सकती। और '**निश्चय**', '**अवश्य**' ये दोनों शब्द एकार्थक होने से पुनरुक्त हैं। **पुनरुक्त प्रमत्त वाक्य होता है॥**[१] १०६॥

१०७.[२] **....बस, जब ठीक करूँ मैं उसको, और फूंक दूं बीच उसके रूह अपनी से। बस, गिर पड़ो**[३] **वास्ते उसके सिज्दा करते हुए। २९। कहा ऐ रब मेरे! इस कारण कि गुमराह किया तूने मुझको, अवश्य ज़ीनत**[४] **दूंगा मैं बीच वास्ते उसके पृथिवी के, और गुमराह करूंगा। ३९।**

मं० ३। सि० १४। सू० १५। आ० २९। ३९॥[५]

समीक्षक—जो ख़ुदा ने अपनी रूह आदम साहब में डाली, तो वह भी ख़ुदा हुआ और जो वह ख़ुदा न था, तो सिज्दा अर्थात् नमस्कारादि भक्ति करने में अपना 'शरीक' क्यों किया? जब शैतान को गुमराह करनेवाला ख़ुदा ही है, तो वह शैतान का भी शैतान, बड़ा भाई [और][६] गुरु क्यों नहीं? क्योंकि तुम लोग बहकानेवाले को शैतान मानते हो, तो ख़ुदा ने भी शैतान को बहकाया और प्रत्यक्ष शैतान ने कहा कि ''मैं बहकाऊंगा'', फिर भी उसको दण्ड देकर क़ैद क्यों न किया? और मार क्यों न डाला?॥ १०७॥

१०८. उत्पन्न किया आदमी को शुक्र से। ४। बस, एक ही वार[७] **.....और निश्चय भेजे हमने बीच हर उम्मत**[८] **के पैग़म्बर....। ३६।**[९] **....जब चाहते हैं हम उसको, यह कहते हैं हम उसको, 'हो', बस, हो जाती है। ४०।**

मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० ४। ३६। ४०॥[१०]

समीक्षक—इससे एक जन्म सिद्ध होता है, परन्तु इसमें बड़ी भारी भूल है; क्योंकि जन्म अनेक होते हैं। जब जीव अनादि हैं तो उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं। उसका फल-भोग भी अनादि से चला आता है। पश्चात् एक जन्म का मानना व्यर्थ है। **इसका विशेष संवाद नवम समुल्लास में देख लेना।**[११] जो सब क़ौमों पर पैग़म्बर भेजे हैं, तो सब लोग जो कि पैग़म्बर की राय पर चलते हैं, वे

---

१. **मुद्रणकाल में निष्कासित वाक्य**—''**और निश्चय.....वाक्य होता है।**'' द्विप्र०, द्वि०सं० में यह समीक्षाभाग हटा दिया है। कारण यह ज्ञात होता है कि शोधक ने वाक्यार्थ को भिन्न-भिन्न समझा है। 'निश्चय' और 'अवश्य' का दोनों प्रकार से अर्थ हो सकता है। यह पाठ मुद्रणह० में है। इसको मुद्रणसमय मुंशी जी ने निकाला है, जो अवांछनीय है।

२. **अनावश्यक आयतों का उचित निष्कासन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां ये दो आयतें हैं—''**ये आयतें हैं किताब की और कुरान कहनेवाले की॥ और अवश्य निश्चय किये हमने बीच आसमान में बुर्जे।**'' (सू० १५। आ० १। १६) द्विप्र० में यहां से ये आयतें हटाई गई है। उनकी समीक्षा भी नहीं है अत: ये ग्राह्य नहीं हैं। मुद्रणहस्त० में इनको काटा हुआ है।

३. **उचित संशोधन**—मूलसं० में ''**पड़ी**'' अशुद्ध है, ''**पड़ो**'' द्वि०सं० में शुद्ध है। ४. **जीनत**=सुन्दरता, आकर्षण, मनोहरता।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, द्विसं०, मूलसं०, भद में ''**३९ से ४६ तक**'' पाठ भी प्राप्त है। आयत में प्रस्तुत प्रसंग ३९ से आगे नहीं है अत: आगे की संख्या देना व्यर्थ है। युमी, उदयपुर सं० में ''**से ४६**'' इस पाठ को हटा दिया है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों सं० में यहां '**और**' योजक अत्यावश्यक है।

७,११. **मुद्रणकाल में आयतपाठ-निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में से यह आयत ''**उत्पन्न किया.....एक ही वार**'' और उसकी समीक्षा ''**इससे एक जन्म.....देख लेना**'' तक निकाल दी गई। यह आयत और समीक्षा इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि केवल यही एक सन्दर्भ इस समु० में आया है जिसमें इस्लाम का '**एक जन्म होने**' का सिद्धान्त वर्णित है और उसकी समीक्षा है। इसको मुद्रणहस्त० में मुंशी जी द्वारा काटा हुआ है। यह निष्कासन अत्यन्त विचारहीन है।

८. **उम्मत**—धार्मिक समुदाय, किसी विशेष पैगम्बर का अनुयायी सम्प्रदाय।

काफ़िर क्यों? क्या दूसरे पैग़म्बर का मान्य नहीं, सिवाय तुम्हारे पैग़म्बर के? यह सर्वथा पक्षपात की बात है। जो सब देश में पैग़म्बर भेजे, तो आर्यावर्त में कौन-सा भेजा? इसलिये यह बात मानने योग्य नहीं। जब ख़ुदा चाहता है और कहता है कि '**पृथिवी हो जा**', वह जड़ कभी नहीं सुन सकती। ख़ुदा का हुक्म क्योंकर बजा[१] सकेगी? और सिवाय ख़ुदा के दूसरी चीज नहीं मानते, तो सुना किसने? और हो कौन गया? ये सब अविद्या की बातें हैं, ऐसी बातों को मूढ[२] लोग मानते हैं॥ १०८॥

१०९. और नियत करते हैं वास्ते अल्लाह के बेटियां, पवित्रता है उसको, और वास्ते उनके हैं जो कुछ चाहें। ५७। क़सम अल्लाह की अवश्य भेजे हमने पैग़म्बर। ६३।

मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० ५७। ६३॥[३]

समीक्षक—अल्लाह बेटियों से क्या करेगा? बेटियां तो किसी मनुष्य को चाहियें। क्यों बेटे नियत नहीं किये जाते? और बेटियां नियत की जाती हैं, इसका क्या कारण है, बताइये? क़सम खाना झूठों का काम है, ख़ुदा की बात नहीं, क्योंकि बहुधा संसार में ऐसा देखने में आता है कि जो झूठा होता है वही क़सम खाता है, सच्चा सौगन्द[४] क्यों खावे?॥ १०९॥

११०. ये लोग वे हैं कि मोहर रक्खी अल्लाह ने ऊपर दिलों उनके और कानों उनके और आँखों उनकी के और ये लोग वे हैं बेख़बर। १०८।[५] और पूरा दिया जावेगा हर जीव को जो कुछ किया है और वे अन्याय न किये जावेंगे। १११। मं० ३। सि० १४। सू० १६। आ० १०८। १११॥[६]

समीक्षक—जब ख़ुदा ने ही मोहर लगा दी तो वे बेचारे विना अपराध मारे गये, क्योंकि उनको पराधीन कर दिया। यह कितना बड़ा अपराध है? और फिर कहते हैं कि जिसने जितना किया है उतना ही उनको दिया जायेगा, न्यूनाधिक नहीं। भला, उन्होंने स्वतन्त्रता से पाप किये ही नहीं किन्तु ख़ुदा के कराने से किये, पुनः उनका अपराध ही न हुआ, उनको फल न मिलना चाहिये। इसका फल ख़ुदा को मिलना उचित है और जो पूरा दिया जाता है, तो क्षमा किस बात की की जाती है? और जो क्षमा की जाती है, तो न्याय उड़ जाता है। ऐसी गड़बड़ाध्याय की बात ईश्वर की कभी नहीं हो सकती, किन्तु

---

९. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित आयत**—''**और निश्चय.....पैगम्बर**'' आयत मुद्रणलिपिकर ने त्रुटित छोड़ दी थी। बाद में किनारे पर लिखकर शोधक ने इस पाठ को पूर्ण किया है।

१०. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—यहां मुद्रणह० में ३, ३५, ३९; द्विप्र० में ३५, ३९ अशुद्ध आयतसंख्याएं लिखी हैं। मूलह०, भद में ३, ३५, ३८ अशुद्ध संख्याएं हैं। मूलसं० में ४ आयतसंख्या त्रुटित है।

१. **अपवाक्य और श्रवणभ्रान्ति**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**बना सकेगा**'' अशुद्ध प्रयोग है। दोनों हस्त० और द्विप्र० में प्राप्त पूर्व स्त्रीलिंग-वाक्य के सम्बन्ध से यहां स्त्रीलिंग प्रयोग चाहिए, और '**हुक्म बजाना**' होता है, '**हुक्म बनाना**' नहीं। ''**बनाना**'' अशुद्ध है। यह श्रवणभ्रान्ति से लिखा गया है। दोनों हस्त०, द्विप्र०, द्वि०सं०, स्वामी वेदानन्द सं० में भी अशुद्धि है कि पहला वाक्य स्त्रीलिंग में है—''**सुन सकती**'', जबकि दूसरा पुल्लिंग में ''**बना सकेगा**''। मूलसं० ने दोनों पुंल्लिंग में बदल दिये हैं। यहां स्त्रीलिंग प्रयोग वांछित है क्योंकि ''**पृथिवी**'' के प्रति सम्बोधन है। भद, युमी, उदयपुर सं० में दोनों वाक्य संशोधित हैं।

२. **मुद्रणकाल में व्यर्थ संशोधन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**मूढ़**'' के स्थान पर ''**अनजान**'' पाठ है। यह संशोधन व्यर्थ है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ५६, ६२ अशुद्ध लिखी हैं।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सौगन्ध**'' अशुद्ध वर्तनी है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध है।

५. **मोहर लगाने की पुनरुक्ति**—द्र० आयतखण्ड संख्या ५ भी।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ११५, ११८ अशुद्ध लिखी हैं।

निर्बुद्धि छोकरों की होती है[१] ॥ ११० ॥

१११. ....और किया हमने दोज़ख़ को, वास्ते काफ़िरों के घेरनेवाला स्थान। ८। और हर आदमी को लगा दिया हमने उसको अमलनामा[२] उसका बीच गर्दन उसकी के, और निकालेंगे हम वास्ते उसके दिन क़यामत के एक किताब कि देखेगा उसको खुला हुआ। १३। और बहुत मारे हमने क़ुरनून से पीछे नूह[३] के....। १७। मं० ४। सि० १५। सू० १७। आ० ८। १३। १७॥[४]

समीक्षक—यदि काफ़िर वे ही हैं कि जो[५] '**क़ुरान**', पैग़म्बर और '**क़ुरान**' के कहे ख़ुदा, सातवें आसमान और '**नमाज़**'[६] आदि को न मानने वाले [हैं],[७] उन्हीं के लिये दोज़ख़ होवे; तो यह बात केवल पक्षपात की ठहरेगी।[८] क्योंकि क्या '**क़ुरान**' के ही माननेवाले सब अच्छे और अन्य के माननेवाले सब बुरे कभी हो सकते हैं? यह बड़ी लड़केपन की बात है कि उसकी[९] गर्दन पर कर्म की किताब[१०] ख़ुदा ने लिख दी। यह बात सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि गर्दन की नाड़ी-नाड़ी और हाड़-हाड़ देखने से भी कुछ भी कहीं लिखा नहीं पाता,[११-१२] और क़यामत की रात को ख़ुदा किताब निकालेगा तो आजकल वह किताब कहां है? क्या साहूकार की बही-समान लिखता रहता है? हां, यहां यह विचारना चाहिये कि जो पूर्वजन्म नहीं, तो जीवों के कर्म ही नहीं हो सकते, तो फिर कर्म की किताब क्या लिखी? और जो विना कर्म के लिखा तो उन पर अन्याय किया, क्योंकि विना अच्छे-बुरे कर्मों

---

१. **मुद्रणकालीन अपपरिवर्तन**—द्विप्र० में इस वाक्य को इस प्रकार परिवर्तित किया है—"**ऐसा गड़बड़ाध्याय ईश्वर का कभी नहीं हो सकता किन्तु निर्बुद्धि छोकरों का होता है।**" यहां "**अध्याय**" की नहीं "**बात**" की आलोचना है। पूर्व वाक्यों में 'बात' का प्रसंग है। दोनों हस्तलेखों में यह त्रुटित पाठ है—"**ऐसी गड़बड़ाध्याय की ईश्वर की कभी नहीं हो सकती, किन्तु निर्बुद्धि छोकरों की होती है।**" स्पष्ट है कि लिपिकरों के प्रमाद से यहां "**बात**" पद छूट गया है। शोधकों ने द्विप्र० में इस प्रसंगप्राप्त त्रुटित पद के परिवर्धन पर ध्यान नहीं दिया, "**ऐसा गड़बड़ाध्याय.....नहीं हो सकता निर्बुद्धि छोकरों का होता है**" पुंल्लिंग में सारा पाठ नया बना दिया, जो नितान्त अनावश्यक है। सभी द्वि०सं० में यही शोधक द्वारा विकृत त्रुटित पाठ है।

२. **अपपरिवर्तन**—द्वि०सं० में "**असलनामा**" अपप्रयोग है। यह "**अमलनामा**" शब्द है। **अमलनामा**= कर्मविवरणपत्र, जिसके अनुसार कर्मफल मिलता है। **द्वि०सं०** और **पं० भगवद्दत्त सं०** को छोड़कर सभी सं० में शुद्ध प्रयोग है। दोनों हस्तलेखों में भी शुद्ध प्रयोग है। द्वि०सं० में यह मुद्रणदोष भी हो सकता है।

३. **नूह**=(Nooh) क़ुरान के अनुसार एक पैगम्बर। अवान्तर जल प्रलय के समय जिसने नौका के द्वारा जूदी पर्वत पर शरण लेकर अपनी तथा सृष्टि की नस्लों की रक्षा की। संस्कृत साहित्य में इसका नाम '**मनुः**' है। '**नूह**' उसी का अपभ्रंश है। मुसलमानों के साथ यहूदी और ईसाई भी इसको पैगम्बर मानते हैं। समु० १३ में इसी कथा का वर्णन देखिए आयतखण्ड संख्या १४, १५ में। इस समु० की आयत १३१ में भी इसका उल्लेख है।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ७, १२, १६ अशुद्ध हैं।

५-१०. **त्रुटित और अपपाठ**—(५) मूलह०, मूलप्रति सं० में "**जो**" त्रुटित है। (६) मूलह०, मूलप्रति सं० में "**निवाज़**" अपपाठ है। (७) दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**हैं**" क्रिया त्रुटित है। (८) दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में "**ठहरे**" अपपाठ है। (९) मूलह०, मूलप्रति सं० में "**उसके**" अपपाठ है। (१०) मूलह०, मूलप्रति में "**कर्म की रेख**" अपपाठ है। '**कर्म की किताब**' होना चाहिए। देखिए आगे 'किताब' प्रयोग है। यह 'किताब' ही कयामत की रात खुलेगी, 'रेख' नहीं खुला करती।

११-१२. **मुद्रणकाल में मुंशी जी द्वारा अनावश्यक परिवर्धन**—(११) द्विप्र०, द्वि०सं० में उक्त वाक्य के स्थान पर "**प्रत्येक की गर्दन में कर्म पुस्तक! हम तो किसी एक की भी गर्दन में नहीं देखते**" बहुत ही शिथिल शैली का परिवर्तन है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० का उपर्युक्त पाठ अधिक प्रभावी है। (१२) द्विप्र०, द्वि०सं० में अप्रासंगिक रूप से यहां दो पंक्तियां बढ़ाई हैं—"**यदि इसका प्रयोजन कर्मों का फल देना है तो फिर मनुष्यों के दिलों, नेत्रों आदि पर मोहर रखना और पापों का क्षमा करना क्या खेल मचाया है?**" न तो आयत में नेत्रों आदि की मोहर की कोई चर्चा है, न कर्मफल देने की; फिर इस पाठ-परिवर्धन की कहां आवश्यकता हो गई? अतः यह अवांछनीय है। यह पाठ मुंशी समर्थदान जी द्वारा कार्य परिवर्धित है।

के उनको सुख-दुःख क्यों दिया ? जो कहो कि ख़ुदा की मर्ज़ी,[१] तो भी उसने अन्याय किया। **अन्याय उसी को कहते हैं कि विना बुरे-भले कर्म किये दुःख-सुखरूप फल न्यूनाधिक देना।** और उस समय ख़ुदा ही किताब बांचेगा वा कोई सरिश्तःदार[२] सुनावेगा ? जो ख़ुदा ने ही दीर्घकाल सम्बन्धी जीवों को विना अपराध मारा तो वह अन्यायकारी हो गया। जो अन्यायकारी होता है वह ख़ुदा ही नहीं हो सकता॥ १११ ॥

११२. ....और दिया हमने समूद[३] को ऊंटनी प्रमाण....। ५९। और बहका जिसको बहका सके....। ६४। जिस दिन बुलावेंगे हम उन लोगों को साथ पेशवाओं[४] उनके के; बस, जो कोई दिया गया अमलनामा उसका बीच दाहिने हाथ उसके के.....। ७१।

मं० ४। सि० १५। सू० १७। आ० ५९। ६४। ७१ ॥[५]

समीक्षक—वाह! जितनी ख़ुदा की निशानियां[६] साश्चर्य हैं, उनमें से एक ऊंटनी भी ख़ुदा के होने में प्रमाण अथवा परीक्षा में साधक है! यदि ख़ुदा ने शैतान को बहकाने का हुक्म दिया, तो ख़ुदा ही शैतान का सरदार और सब पाप करानेवाला ठहरा। ऐसे को ख़ुदा कहना केवल कम-समझ की बात है। जब क़यामत की रात[७] अर्थात् प्रलय में ही न्याय करने-कराने के लिये पैग़म्बर और उनके उपदेश माननेवालों को ख़ुदा बुलावेगा, तो जब तक प्रलय न होगा, तब तक सब दौरासुपुर्द रहे, और दौरासुपुर्द[८] सबको दुःखदायक है जब तक न्याय न किया जाय। इसलिये **शीघ्र न्याय करना न्यायाधीश का उत्तम काम है।** यह तो **'पोपाँबाई का न्याय'**[९] ठहरा। जैसे कोई न्यायाधीश कहे कि जब तक पचास वर्ष तक के चोर और साहूकार इकट्ठे न हों, तब तक उनको दण्ड [न देना चाहिये][१०] वा प्रतिष्ठा न करनी चाहिये; वैसे[११] ही यह हुआ कि एक तो पचास वर्ष तक दौरासुपुर्द रहा और एक आज ही पकड़ा गया। ऐसा काम न्याय का नहीं हो सकता। **न्याय तो वेद और 'मनुस्मृति' का[१२] देखो जिसमें क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं होता और अपने-अपने कर्मानुसार दण्ड वा प्रतिष्ठा सदा पाते रहते हैं।** दूसरा, पैग़म्बरों

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मरजी**" अपवर्तनी है।

२. **सरिश्तःदार**=किसी विभाग का कोई कर्मचारी। इसका हिन्दी रूप '**सरिश्तेदार**' है।

३. **समूद**=(Thamud) समूद जाति का व्यक्ति, देखिए पृ० ९९७ पर टिप्पणी।

४. **पेशवा**=मुखिया, नेता।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयत संख्याएं ५७, ६२, ६९ अशुद्ध हैं।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों मूलप्रति सं० में "**निशानी**" एकवचन अपप्रयोग है। अन्य सं० में भी अपप्रयोग है।

७. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में "**रात**" पद त्रुटित है।

८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० द्विप्र०, उदयपुर सं० और मूलसं० में "**दौड़ासुपुर्द**" अपप्रयोग हैं।

९. **पोपांबाई का न्याय**—अन्धेर-न्याय। उलट-पुलट निर्णय।

१०. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों सं० में "**न देना चाहिये**" क्रिया त्रुटित है। "**दण्ड**" के साथ कोई क्रिया न होने से वाक्य पूर्ण और सार्थक नहीं है।

११. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**वैसा**" अपप्रयोग है। पूर्वोक्त "**जैसे**" पद के सम्बन्ध से "**वैसे**" प्रयोग अपेक्षित है।

१२. **पं० मीमांसक सं० में अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह उपयुक्त पाठ मिलता है—"**न्याय तो वेद और मनुस्मृति का देखो**"। आश्चर्य है, ठीक पाठ को **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** ने अपपाठ घोषित कर अपना नया बना दिया—"**न्याय [के लिये] तो वेद और मनुस्मृति देखो**"। वाक्य में '**न्याय**' उद्देश्य है और उसमें विलम्ब न होना विधेय है। उपलब्ध वाक्य ही शुद्ध एवं ग्राह्य है। दोनों हस्त०, द्विप्र० में "**का**" पद त्रुटित है। सभी सं० ने इसका परिवर्धन कर लिया है।

को गवाही के तुल्य रखने से ईश्वर की सर्वज्ञता की हानि है। भला, ऐसा पुस्तक ईश्वरकृत और ऐसे पुस्तक का उपदेश करनेवाला कभी ईश्वर हो सकता है? कभी नहीं॥ ११२॥

११३. ये लोग वास्ते उनके हैं बाग़ हमेशह रहने के, चलती हैं नीचे उनके से नहरें, गहने पहिनाये जावेंगे बीच उसके कंगन सोने के-से, और पोशाक पहिनेंगे वस्त्र हरित लाही[१] के से, और ताफ़ते[२] के से, तकिये किये हुए बीच उसके ऊपर तख़्तों[३] के, अच्छा है पुण्य और अच्छी है बहिश्त लाभ उठाने की। ३१।[४] मं० ४। सि० १५। सू० १८। आ० ३१॥[५]

समीक्षक—वाह जी वाह! क्या '**क़ुरान**' का स्वर्ग है जिसमें बाग़, गहने, कपड़े, गद्दी, तकिये आनन्द के लिये हैं। भला, कोई बुद्धिमान् यहां विचार करे, तो यहां से वहां मुसलमानों के बहिश्त में अधिक कुछ भी नहीं है, सिवाय अन्याय के। वह यह कि कर्म उनके अन्तवाले, और फल उनके अनन्त। और जो मीठा नित्य खावे, तो थोड़े दिन में विष के समान प्रतीत होता है। जब सदा वे सुख भोगेंगे, तो उनको सुख ही दुःख रूप हो जायगा। इसलिये **महाकल्प पर्यन्त[६] मुक्तिसुख भोगके पुनर्जन्म पाना ही सत्य सिद्धान्त है॥** ११३॥

११४. और ये बस्तियां हैं कि मारा हमने उनको जब अन्याय किया उन्होंने, और हमने उनके मारने की प्रतिज्ञा स्थापित की। ५९। मं० ४। सि० १५। सू० १८। आ० ५९॥[७]

समीक्षक—भला, सब बस्ती-भर पापी कभी हो सकती है? और पीछे से प्रतिज्ञा करने से ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रहा, क्योंकि जब उनका अन्याय देखा तब प्रतिज्ञा की, पहले नहीं जानता था। इससे दयाहीन भी ठहरा॥ ११४॥

११५. और वह जो लड़का, बस, थे मा-बाप उसके ईमानवाले। बस, डरे हम यह कि पकड़ उनको सरकशी[८] में और कुफ़्र में। ८०। यहां तक कि पहुंचा जगह डूबने सूर्य की, पाया उसको डूबता था बीच चश्मे कीचड़ के। ८६। कहा, ऐ ज़ुलक़रनैन[९]! निश्चय याजूज,[१०] माजूज[११] फ़साद करनेवाले हैं बीच पृथिवी के....। ९४। मं० ४। सि० १६। सू० १८। आ० ८०। ८६। ९४॥[१२]

समीक्षक—भला, यह ख़ुदा की कितनी बेसमझी[१३] है। इस शङ्का से डरा कि यह लड़का अपने

---

१. **लाही**=महीन रेशमी कपड़ा। २. **ताफ्तः**=चमकीला रेशमी कपड़ा।

३. **अपवर्तनी**—दोनों सं० में यहां "**तख़तों**" अपवर्तनी है, "**तख़्तों**" शुद्ध है। **संशोधन-पुष्टि**—शुद्ध प्रयोग आयतखण्ड संख्या १५८ में द्रष्टव्य है।

४. **क़ुरान में बहिश्त के लालच की पुनरुक्तियां**—क़ुरान में लोगों को स्वर्ग का लालच देकर फंसाने सम्बन्धी अनेक पुनरुक्तियां पाई जाती हैं। जैसे—द्रष्टव्य है आयतखण्ड संख्या ९,१२,५०,६०,९३,१४१,१४२,१४८,१४९,१५०,१६३ आदि।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ३० अशुद्ध लिखी है।

६. **अन्यत्र वर्णन**—द्रष्टव्य है नवम समुल्लास में महाकल्प की अवधि पृ० ४४५ पर।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में संख्या ५७ अशुद्ध है। उदयपुर सं० में ५९ से पूर्व "**आ०**" त्रुटित है।

८. **सरकशी**=आज्ञा की उल्लंघना, विद्रोह। ९. **ज़ुलक़रनैन**=Dhu'l Qarneyn. (एक बादशाह)

१०-११. **याजूज**=Gog, **माजूज**=Mqgog. कुरान के मतसे, ये दो पूर्वी एशिया की जातियां थीं जो एशिया और योरोप में लूटमार मचाती थीं। मतान्तर से इनको सेधोन, मंगोल, तातारी कहा गया है।

१२. **अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयत संख्याएं ७८, ८४, ९२ अशुद्ध लिखी हैं। वेस और उदयपुर सं० में ८६ के स्थान पर ८८ अशुद्ध आयतसंख्या लिखी है।

मा-बाप को कहीं[१] मेरे मार्ग से बहकाकर उलटे न कर दिये जावें।[२] यह कभी ईश्वर की बात नहीं हो सकती। अब आगे की अविद्या की बात देखिये कि इस किताब का बनानेवाला सूर्य को एक झील में रात्रि में[३] डूबा जानता है, फिर प्रातःकाल निकलता है। भला, सूर्य तो पृथिवी से बहुत बड़ा है, वह नदी वा झील वा समुद्र में कैसे डूब सकेगा? **इससे यह विदित हुआ कि 'क़ुरान' के बनानेवाले को 'भूगोल-खगोल की विद्या' नहीं थी।** जो होती तो ऐसी विद्याविरुद्ध बात क्यों लिखता?[४] और इस पुस्तक के माननेवालों को भी विद्या नहीं है। जो होती तो ऐसी मिथ्या बातों से युक्त पुस्तक को क्यों मानते? अब देखिये ख़ुदा का अन्याय! आप ही पृथिवी का बनानेवाला राजा न्यायाधीश है और याजूज, माजूज को पृथिवी में फ़साद भी करने देता है। यह ईश्वरता की बात से विरुद्ध है। इससे ऐसे पुस्तक[५] को जंगली लोग माना करते हैं, विद्वान् नहीं॥ ११५॥

११६. और याद करो बीच किताब के मरियम[६] को, जब जा पड़ी लोगों अपने से [अलग होकर][७] मकान पूर्वी में। १६। बस, पड़ा उनसे इधर परदा। बस, भेजा हमने रूह अपनी को अर्थात् फ़रिश्ता। बस, सूरत पकड़ी वास्ते उसके आदमी पुष्ट की। १७। कहने लगी, निश्चय मैं शरण पकड़ती हूं रहमान की तुझसे, जो है तू परहेज़गार। १८। कहने लगा, ''सिवाय इसके नहीं कि मैं भेजा हुआ हूँ मालिक तेरे के से, तो कि दे जाऊं मैं तुझको लड़का पवित्र। १९।'' [मरियम ने][८] कहा, ''कैसे होगा वास्ते मेरे लड़का, नहीं हाथ लगाया मुझको [किसी][९] आदमी ने, नहीं मैं बुरा काम करनेवाली। २०।'' बस, गर्भित हो गई साथ उसके और जा पड़ी साथ उसके, मकान दूर अर्थात् जंगल में। २२।[१०,११] मं० ४। सि० १६। सू० १९। आ० १६।१७।१८।१९।२०।२२॥[१२]

समीक्षक—अब बुद्धिमान् विचार लें कि फ़रिश्ते सब खुदा की रूह हैं, तो खुदा से अलग पदार्थ नहीं हो सकते। और शैतान भी नापाक रूह खुदा की ही हुई, तो खुदा ही नापाक हुआ। यदि ऐसा है तो ऐसे नापाक खुदा के भक्त पाक कैसे हो सकेंगे?[१३] **दूसरा यह अन्याय कि वह मरियम कुमारी के लड़का होना। किसी का संग करना नहीं चाहती थी, परन्तु खुदा के हुक्म से फ़रिश्ते ने उसको**

---

१३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में '**बेसमझ**' विशेषण है, यहां '**नासमझी**' भाववाचक प्रयोग चाहिए।

१-४. **अपप्रयोग**—(१) मूलह०, मूलप्रति सं० में '**शायद**' अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में '**कहीं**' प्रयोग ठीक है। (२) मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**उल्लंघन न कर देवे**'' अपपाठ है। द्वि० सं० में ''**उलटे न कर दिये जावें।**'' प्रयोग ठीक है। (३) दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**को**'' अपविभक्ति है। (४) तीनों सं० में ''**लिख देते**'' अपक्रिया है।

५. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में और इस समु० में प्रायः सर्वत्र ''**पुस्तक**'' शब्द का पुंल्लिंग में प्रयोग है। यहां दोनों संस्करणों में ''**ऐसी पुस्तक**'' स्त्रीलिंग प्रयोग है, अतः अग्राह्य है।

६. **अपवर्तनी**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मर्य्यम**'' अपवर्तनी है। '**मरियम**' ग्राह्य है। द्र० पृ० ८९१ पर टिप्पणी।

७-९. **त्रुटित पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित हैं। कुरान में हैं। स्पष्टता के लिए आवश्यक हैं।

१०. **पुनरुक्ति ईसा-जन्मकथा की**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ५३, १२० में तथा समु० १३ में आयतखण्ड संख्या ६३, १०१ भी।

११. **बाइबल में मरियम की यही कथा**—स्वयं को फ़रिश्ता कहने वाले किसी व्यक्ति से कुंवारी मरियम के गर्भवती होने की यह कथा बाइबल, मत्ती 'इजील, पर्व १ में तथा समु० १३ के आयतखण्ड ६३ में भी है।

१२. **मुद्रणलिपिकर का प्रमाद व अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १५, २१ अशुद्ध हैं, २०, २२ त्रुटित हैं। मुद्रणह०, भद में ५ संख्या (१५ के स्थान पर) अशुद्ध है। यह मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से है।

१३. **मुद्रणकाल में मुंशी जी द्वारा पाठनिष्कासन अनुचित**—मूलह०, मुद्रणह० के ''**और शैतान.....सकेंगे**'' पाठ को मुंशी समर्थदान जी ने मुद्रणकाल में द्विप्र० में से गलत निकाला है। यह प्रासंगिक है, अतः ग्राह्य है।

बलात्कार-पूर्वक गर्भवती[१] किया। यह न्याय से विरुद्ध बात है। यहाँ अन्य भी असभ्यता की बातें बहुत लिखी हैं, उनको लिखना उचित नहीं समझा॥ ११६ ॥

११७. क्या नहीं देखा तू ने यह कि भेजा हमने शैतानों को ऊपर काफ़िरों के। बहकाते हैं उनको बहकाने पर। ८३। मं० ४। सि० १६। सू० १९। आ० ८३ ॥[२]

समीक्षक—जब खुदा ही बहकाने के लिये शैतानों को भेजता है तो बहकनेवालों का कुछ दोष नहीं हो सकता और न उनको दण्ड हो सकता [है,][३] और न शैतानों को; क्योंकि यह खुदा के हुक्म से सब होता है, इसका फल खुदा को होना चाहिये। जो [वह][४] सच्चा न्यायकारी है, तो उसका फल दोज़ख़ आप ही भोगे, और जो न्याय को छोड़के अन्याय को करे, तो अन्यायकारी हुआ, **अन्यायकारी ही पापी कहाता है**॥ ११७ ॥

११८. और निश्चय क्षमा करनेवाला हूं वास्ते उस मनुष्य के तौबा की और ईमान लाया और कर्म किये अच्छे, फिर मार्ग पाया। ८२। मं० ४। सि० १६। सू० २०। आ० ८२ ॥[५]

समीक्षक—जो तौबा से पाप क्षमा करने की बात '**क़ुरान**' में है, यह सबको पापी करने वाली है;[६] क्योंकि पापियों को इससे पाप करने का साहस बहुत बढ़ जाता है। इससे यह पुस्तक और इसका बनानेवाला पापियों को पाप कराने में हौसला[७] बढ़ानेवाले हैं। इससे यह पुस्तक परमेश्वरकृत और इसमें कहा हुआ परमेश्वर भी नहीं हो सकता॥ ११८ ॥

११९. ....और जिसको चाहा मारा हमने, हद्द से निकलनेवालों को। ९। .....बस, पवित्रता है अल्लाह मालिक अर्श के को....। २२।[८] और किये हमने बीच पृथिवी के पहाड़, ऐसा न हो कि हिल जावे....। ३१। मं० ४। सि० १७। सू० २१। आ० ९। २२। ३१ ॥[९]

समीक्षक—देखिये, ग़दर-लूटमार कि जिसको चाहा[१०] उसको[११] मारा और जिसको चाहा उसको

---

१. **मुद्रणकाल में पद-निष्कासन अनुचित**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**पूर्वक**" पद त्रुटित है जबकि मुद्रणकाल में द्विप्र०, द्वि० सं० में से "**बलात्कार**" पद भी हटा दिया गया है। यह निष्कासन अनुचित है, क्योंकि आयत के वर्णन के अनुसार मरियम को बलात्कारपूर्वक अर्थात् उसके न चाहते हुए उसको गर्भवती किया था। यही बात ग्रन्थकार ने समीक्षा में लिखी है और कुरान के इस प्रसंग में भी ऐसा ही वर्णन है। बाइबल में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है (पृ० ८९१)।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ८१ अशुद्ध लिखी है।

३,४. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया और "**वह**" पद त्रुटित हैं। वाक्यरचना हेतु दोनों आवश्यक हैं।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ७८ अशुद्ध लिखी है।

६. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—"**सबको पापी करानेवाली है**"। अन्य सभी सं० में यही अपपाठ है।

७. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**होंसला**" और द्विप्र० में "**होसिला**" अपवर्तनी है। द्वि०सं० में संशोधित है।

८,१२. **मुद्रणकाल में आयत और समीक्षा का निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० में आयतखण्ड संख्या ११९ की पहली दो आयतों ९, २२ को निकाल दिया है। इसी प्रकार उनकी समीक्षाओं वाले पाठ "**देखिये गदर....नहीं हो सकता**" को भी निकाल दिया है। इसका कोई कारण प्रस्तुत नहीं किया है। यह पाठ मुद्रणहस्तलेख में है, इसको मुद्रण-काल में मुंशी समर्थदान जी ने काटा है, जो अवांछनीय है। महर्षि के लेखन-श्रम को उन्हें व्यर्थ नहीं करना चाहिए था।

९. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—यहां मुद्रणह० में २१, ३०, द्विप्र में आयतसंख्या ३० (३१ के स्थान पर) अशुद्ध लिखी है। मूलह०, भद में २१, ३० अशुद्ध हैं। मूलसं० में २१ संख्या अशुद्ध है, २२ चाहिए।

१०. **त्रुटित क्रिया**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**चाहा**' क्रिया त्रुटित है, इसके बिना वाक्य ही नहीं बनता।

बचाया! भले-बुरे कर्म की अपेक्षा कुछ नहीं करता। जब सातवें आसमान पर तख़्त का निवासी अल्लाह है, वह सब जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, ज्ञाता कभी नहीं हो सकता।[१२] यदि '**क़ुरान**' का बनानेवाला पृथिवी का घूमना आदि जानता, तो यह बात कभी नहीं कहता कि पहाड़ों के धरने से पृथिवी नहीं हिलती। शंका हुई कि जो पहाड़ न धरता, तो हिल जाती! इतने कहने पर भी भूकम्प में क्यों डिग जाती है? ॥ ११९ ॥

१२०. (और शिक्षा दी हमने उस औरत को)[१] और रक्षा की उसने अपने गुह्य अङ्गों की। बस, फूंक दिया हमने बीच उसके रूह अपनी को। ९१।[२] मं० ४। सि० १७। सू० २१। आ० ९१ ॥[३]

समीक्षक—ऐसी अश्लील बातें ख़ुदा के पुस्तक,[४] ख़ुदा की और सभ्य मनुष्य की भी नहीं होती। जबकि मनुष्यों में ऐसी-ऐसी बातों का लिखना अच्छा नहीं, तो परमेश्वर के सामने क्योंकर अच्छा हो सकता है? ऐसी-ऐसी बातों से '**क़ुरान**' दूषित होता है। यदि अच्छी बातें होती, तो अति प्रशंसा होती, जैसे वेदों की ॥ १२० ॥

१२१. क्या नहीं देखा तूने यह कि अल्लाह को सिज्दा करते हैं जो कोई बीच आसमानों और पृथिवी के हैं, सूर्य और चन्द्र, तारे और पहाड़, वृक्ष और जानवर....। १८। ....पहनाये जावेंगे बीच उसके कंगन सोने और मोती के और पहनावा उनका बीच उसके रेशमी है। २३। ....और पवित्र रख घर मेरे को वास्ते गिर्द फिरनेवालों के और खड़े रहनेवालों के। २६। फ़िर चाहिये कि दूर करें मैल अपने और पूरी करें भेटें अपनी और चारों ओर फिरें घर क़दीम[५] के। २९। .....तो कि नाम अल्लाह का याद करें....। ३४। मं० ४। सि० १७। सू० २२। आ० १८। २३। २६। २९। ३४ ॥[६]

समीक्षक—भला, जो जड़ वस्तुयें हैं वे[७] परमेश्वर को जान ही नहीं सकते, फिर वे उसकी भक्ति क्योंकर कर सकते हैं? इससे यह पुस्तक ईश्वरकृत तो कभी नहीं हो सकता, किन्तु किसी भ्रान्त का

---

११. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में '**उसके**' अपप्रयोग है। **संशोधन पुष्टि**—आगे इसी वाक्य में '**उसको**' शुद्ध है।

१. **उपयुक्त संशोधन**—क़ुरान के विद्वान् **पं० रामचन्द्र देहलवी** के अनुसार ''**और शिक्षा दी हमने उस औरत को**'' पाठांश आयत का मूल भाग नहीं है। यह अनुवादकों द्वारा आयत की संगति के लिए किया गया अध्याहार है, अत: इसको कोष्ठक में रखा जाना उपुयक्त है। (द्रष्टव्य, ''सत्यार्थप्रकाश १४ समु० में उद्धृत कुरान की आयतों का अनुवाद'', पृ०-'ग')

२. **मरियम की कथा का अन्यत्र वर्णन**—यह कथा ईसा की माता मरियम के लिए है। देखिए आयतखण्ड ५३ और ११६ आयतें जिनमें उसका अनिच्छा से फरिश्ते से गर्भवती होना लिखा है। ख़ुदा कहता है, मैंने उसमें अपनी रूह को प्रविष्ट कराया है। इन्हीं कथनों के आधार पर अवैध सन्तान ईसा को 'ईश्वरपुत्र' की महिमा से मंडित किया है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० भद में यहां आयतसंख्या ८८ अशुद्ध लिखी है।

४. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह वाक्य महर्षि की स्थापित शैली के विरुद्ध है। सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश में महर्षि की यह स्थापित प्रयोग शैली है कि वे '**पुस्तक**' पद को पुंल्लिंग में प्रयोग करते हैं। यह महर्षि का नहीं, लिपिकर का अपना प्रयुक्त वाक्य है। **संशोधन-पुष्टि**—अगली आयत की समीक्षा की दूसरी ही पंक्ति में पुल्लिंग प्रयोग है।

५. **घर क़दीम**=पुरातन घर काबा की परिक्रमा करना। **अपपाठ**—दोनों हस्त०, द्विप्र० में ''**फिर घर क़दीम के**'' अपपाठ है। अन्य सभी उदयपुर सं० आदि में संशोधित कर दिया गया है।

६. **मुद्रणलिपिकर का प्रमाद व अशुद्ध उद्धरण संख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १९, २५, २८, ३३ अशुद्ध लिखी हैं। मुद्रणह० में २५ के स्थान पर ५ संख्या अशुद्ध है। यह मुद्रणलिपिकरों के प्रमाद से है।

७. **त्रुटित पद**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**वे**'' पद त्रुटित है। पूर्वोक्त ''**जो**'' पद के सम्बन्ध से ''**वे**'' आवश्यक है। मूलह०, मूलप्रति में है। यह ग्राह्य है।

बनाया[१] हुआ दीखता है। वाह! बड़ा अच्छा स्वर्ग है, जहां सोने, मोती के गहने और रेशमी कपड़ा पहरने को मिलें! यह बहिश्त यहाँ के राजाओं के घर से अधिक नहीं दीख पड़ता। और जब परमेश्वर का घर है तो वह उसी घर में रहता भी होगा, फिर बुतपरस्ती[२] क्यों न हुई? और दूसरे बुतपरस्तों[३] का खण्डन क्यों करते हैं? जब ख़ुदा भेंट लेता है, अपने घर की परिक्रमा करने की आज्ञा देता है और पशुओं को मरवाके खिलाता है, तो यह ख़ुदा मन्दिरवाले भैरव और दुर्गा के सदृश हुआ और महाबुतपरस्ती[४] का चलाने वाला हुआ; क्योंकि मूर्त्तियों से मस्जिद बड़ा बुत[५] है। इससे ख़ुदा और मुसलमान बड़े बुतपरस्त[६] और पुराणी तथा जैनी छोटे बुतपरस्त[७] हैं॥ १२०॥

१२२. फिर निश्चय तुम दिन क़यामत[८] के उठाये जाओगे। १६।[९]

मं० ४। सि० १८। सू० २३। आ० १६॥

समीक्षक—क़यामत तक मुर्दे क़ब्रों में रहेंगे वा किसी अन्य जगह? जो उन्हीं में रहेंगे तो सड़े हुए दुर्गन्धरूप शरीर में रहकर पुण्यात्मा भी दु:ख-भोग करेंगे? यह न्याय तो अन्याय है। और दुर्गन्ध अधिक होकर रोगोत्पत्ति करने से ख़ुदा और मुसलमान पापभागी होंगे॥ १२२॥

१२३. उस दिन की गवाही देवेंगे ऊपर उनके, ज़बानें उनकी और हाथ उनके और पाँव उनके, साथ उस वस्तु के कि जो थे उनसे वे करते। २४। अल्लाह नूर[१०] है आसमानों का और पृथिवी का, नूर उसके कि मानिन्द[११] ताक़ की है बीच उसके दीप हो, और दीप बीच कंदील[१२] शीशे[१३] के हैं, वह कंदील मानो कि तारा है चमकता, रोशन किया जाता है दीपक वृक्ष मुबारिक जैतून के तेल से, न पूर्व की ओर है न पश्चिम की, समीप है, तैल उसका रोशन हो जावे जो न लगे उसको आग रोशनी के[१४] ऊपर रोशनी, मार्ग दिखाता है अल्लाह नूर अपने की जिसको चाहता है.....। ३५।

मं० ४। सि० १८। सू० २४। आ० २४। ३५॥[१५]

समीक्षक—हाथ-पग आदि जड़ होने से गवाही कभी नहीं दे सकते। यह बात '**सृष्टिक्रम से विरुद्ध**' होने से मिथ्या है। क्या ख़ुदा आगी-बिजुली है? जैसा कि दृष्टान्त देते हैं, ऐसा दृष्टान्त ईश्वर में नहीं घट सकता। हां, किसी साकार वस्तु में घट सकता है॥ १२३॥

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**भ्रान्त ने बनाया हुआ**" अपपाठ है। मुद्रणलिपिकर ने "**भ्रान्त ने बनाई हुई**" और अधिक अशुद्ध पाठ बना दिया। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

२-७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में सभी छह पदों में '**बुत्**' अपवर्तनी है। शुद्ध पद "**बुत**" है। अन्य सभी सं० में यही अपवर्तनी है। उदयपुर सं० के सम्पादन की विडम्बना देखिए कि एक स्थल पर शुद्ध वर्तनी है किन्तु पांच स्थलों पर अशुद्ध है। इस प्रकार अशुद्धि भी है और अव्यवस्था भी है।

८. **अपवर्तनी**—द्विप्र० में "**कियासत**" मुद्रणदोष है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

९. **पुनरुक्ति क़यामत की**—द्रष्टव्य है आयतसंख्या ३, १३, १३२, १४०, १५८, १५९।

१०. **नूर**=तेज, प्रकाश, सौन्दर्य। ११. **मानिन्द**=समान। १२. **कंदील**=दीपक, फ़ानूस, चिमनी

१३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**शीशों के**" अपपाठ है।

१४. **त्रुटित अनुवाद**—अरबी-फारसी के आर्यविद्वान् **पं० रामचन्द्र देहलवी** के अनुवाद के अनुसार दोनों हस्तलेखों और तीनों सं० में आयत का "**उसको आग रोशनी के**" पाठ त्रुटित है। इस त्रुटि से यहां अपवाक्य हो गया है। कुरान में भी यह पाठ है, अत: ग्राह्य है। उदयपुर संस्करण आदि में भी यह पाठ त्रुटित है।

१५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं २३, ३४ अशुद्ध लिखी हैं।

१२४. और अल्लाह ने उत्पन्न किया हर जानवर को पानी से। बस, कोई उनमें से वह है कि जो चलता है पेट के बल[१] अपने के....। ४५। और जो कोई आज्ञापालन[२] करे अल्लाह की, रसूल उसके की....। ५२। कह, आज्ञापालन[३] करो खुदा की, रसूल उसके की....। ५४।....और आज्ञापालन[४] करो रसूल की, ताकि दया किये जाओ। ५६।

मं० ४। सि० १८। सू० २४। आ० ४५। ५२। ५४। ५६॥[५]

समीक्षक—यह कौन-सी 'फ़िलासफ़ी' है कि जिन जानवरों के शरीर में सब तत्त्व दीखते हैं और कहना कि केवल पानी से उत्पन्न किये? यह केवल अविद्या की बात है। जब अल्लाह के साथ पैग़म्बर की सेवा करनी[६] होती है तो [वह] खुदा का 'शरीक' हो गया वा नहीं? यदि ऐसा है, तो खुदा को **'लाशरीक' 'क़ुरान'** में क्यों लिखा है और कहते भी [क्यों][७] हो?॥ १२४॥

१२५. और जिस दिन कि फट जावेगा आसमान साथ बदली के, और उतारे जावेंगे फ़रिश्ते। २५। बस, मत कहा मान काफ़िरों का, और झगड़ा कर उनसे साथ झगड़ा बड़ा। ५२। और बदल डालता है अल्लाह बुराइयों उनकी को भलाइयों से। ७०। और जो कोई तौबा करे और कर्म करे अच्छे, बस, निश्चय आता है तरफ़ अल्लाह की। ७१। मं० ४। सि० १९। सू० २५। आ० २५। ५२। ७०। ७१॥[८]

समीक्षक—यह बात कभी सच नहीं हो सकती है कि आकाश बद्दलों के साथ फट जावे। यदि आकाश कोई मूर्त्तिमान् पदार्थ हो, तो [तभी] फट सकता है [किन्तु वह मूर्त्तिमान् पदार्थ नहीं है[९]]। **यह मुसलमानों का 'क़ुरान' और खुदा शान्तिभंग कर ग़दर, झगड़ा मचानेवाला है, इसीलिये धार्मिक विद्वान् लोग इसको नहीं मानते।** यह भी अच्छा न्याय है कि जो पाप और पुण्य का अदला-बदला हो जाय! क्या यह तिल और उड़द की-सी बात है, जो पलटा हो जावे? जो तौबा करने से पाप[१०] छूटे और ईश्वर मिले, तो कोई भी पाप करने से न डरे, इसलिये ये सब बातें **'विद्या से विरुद्ध'** हैं॥ १२५॥

---

१. **त्रुटित आयतपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं०, युमी, भद आदि में "**के बल**" अनुवाद त्रुटित है। यह कुरान की आयत में है, अतः ग्राह्य है। स्वामी वेदानन्द सं० और उदयपुर सं० में "**ऊपर पेट अपने के**" पाठ बढ़ाया है, जो अटपटा संशोधन है।

२-४,६. **अप-अनुवाद एवं अपवाक्य तथा संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में इन सभी स्थानों पर "**सेवा करे**" या "**सेवा करो**" अप-अनुवाद है। द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका संशोधन करके "**आज्ञापालन करे**" या "**आज्ञापालन करो**" पाठ बना दिया है। द्विप्र० में कुछ शुद्ध पाठ है किन्तु सभी द्वि०सं०, उदयपुर सं० आदि में समीक्षा में अपवाक्य बना दिया—"**पैगम्बर की आज्ञापालन करना होता है**"। शुद्ध पाठ यह होगा—"**पैगम्बर की आज्ञा का पालन करना होता है**"। यही अनुवाद पं० रामचन्द्र देहलवी ने स्वीकार किया है, यही कुरान के मूलपाठ में है, अतः यही ग्राह्य है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में ४४, ५१, ५३; द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ४४, ५१, ५३, ५५ अशुद्ध हैं। मूलसं० में ४५ के स्थान पर ४४ अशुद्ध संख्या है। उदयपुर सं० में ४५ के स्थान पर २५ और ५४, ५६ के स्थान पर ७०, ७१ अशुद्ध संख्याएं लिखी हैं जबकि सूरत २४ में कुरान में ये आयत संख्याएं हैं ही नहीं। अन्तिम आयत संख्या ६४ है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद**—'**और**' के बाद नये प्रश्नवाचक वाक्य में '**क्यों**' प्रश्नवाचक पद आवश्यक है। दोनों सं० में यह त्रुटित रह गया है।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं २४, ४९, ६७, ६८ अशुद्ध हैं। द्विप्र०, मूलसं० में २४ के स्थान पर २६ भी अशुद्ध संख्या है।

९. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—वाक्य की पूर्णता और स्पष्टता के लिए '**किन्तु वह मूर्त्तिमान् पदार्थ नहीं है**' कोष्ठकान्तर्गत पाठ बढ़ाया जाना आवश्यक है।

१०. **मुद्रणकाल में त्रुटित पद**—द्विप्र० में "**पाप**" पद त्रुटित रह गया है। अन्य सभी सं० में है।

१२६. 'वही' (वह्य)[१] की हमने तरफ़ मूसा की, यह कि ले चल रात को बन्दों मेरे को, निश्चय तुम पीछा किये जाओगे। ५२। बस, भेजे लोग फ़िरौन[२] ने बीच नगरों के जमा करनेवाले। ५३। और वह पुरुष कि जिसने पैदा किया मुझको। बस, वही मार्ग दिखलाता है। ७८। और वह जो खिलाता है मुझको, पिलाता है मुझको। ७९। और वह पुरुष कि आशा रखता हूं मैं यह कि क्षमा करे वास्ते मेरे, अपराध मेरा दिन क़यामत के। ८२।

मं० ५। सि० १९। सू० २६। आ० ५२।५३।७८।७९।८२॥[३]

समीक्षक—जब ख़ुदा ने मूसा की ओर '**वही**' भेजी, पुनः दाऊद, ईसा और मुहम्मद साहब की ओर किताब क्यों भेजी? क्योंकि परमेश्वर की बात सदा एक-सी और बे-भूल होती है। और उसके पीछे '**क़ुरान**' तक पुस्तकों के भेजने से पहले पुस्तक को अपूर्ण और भूलयुक्त माना जायगा।[४] यदि ये तीन पुस्तक सच्चे हैं, तो यह '**क़ुरान**' झूठा होगा। चारों का[५] जो कि प्रायः **परस्परविरोध** रखते हैं,[६] उनका सर्वथा सत्य होना नहीं हो सकता। यदि ख़ुदा ने रूह अर्थात् जीव पैदा किये हैं, तो वे मर भी जायेंगे अर्थात् उनका कभी-न-कभी अभाव भी होगा।[७] जो परमेश्वर ही मनुष्यादि प्राणियों को खिलाता-पिलाता है, तो किसी को रोग न होना चाहिये और सबको तुल्य भोजन देना चाहिये। पक्षपात से एक को उत्तम और दूसरे को निकृष्ट जैसा कि राजा और कंगले को श्रेष्ठ, निकृष्ट भोजन मिलता है, न होना चाहिये। जब परमेश्वर ही खिलाने-पिलाने और पथ्य करानेवाला है, तो रोग ही न होने चाहियें, परन्तु मुसलमान आदि को भी रोग होते हैं। **यदि ख़ुदा ही रोग छुड़ाकर आराम करनेवाला है, तो मुसलमानों के शरीरों में रोग न रहना चाहिये। यदि रहता है तो ख़ुदा पूरा वैद्य नहीं है। यदि पूरा वैद्य है, तो मुसलमानों के शरीर में रोग क्यों रहते हैं?** वही मारता और जिलाता है, तो उसी ख़ुदा को पाप-पुण्य लगता होगा। यदि जन्म-जन्मान्तर के कर्मानुसार व्यवस्था करता है, तो उसको कुछ भी अपराध नहीं। वह पाप-क्षमा और न्याय '**क़यामत की रात**' में करता है, तो ख़ुदा पाप बढ़ानेवाला होकर पापयुक्त होगा। यदि क्षमा नहीं करता, तो यह '**क़ुरान**' की बात झूठी है[८]॥ १२६॥

---

१. **वह्य करना/वही भेजना**=अल्लाह का दिव्य संदेश हृदय में उतरना या मनुष्यों को पहुंचाना।

२. **फ़िरौन का अन्यत्र वर्णन**—फ़िरौन का वर्णन ८९ आयत० में भी द्रष्टव्य है। इसके अतिरिक्त बाइबल में भी इसका पर्याप्त उल्लेख आता है। समु० १३ में द्र० आयतखण्ड संख्या ३८, ४२।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में ५०, ७६, ७७, ८० और द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं ५०, ५१, ७६, ७७, ८० अशुद्ध लिखी हैं। भद में ५०, ७६-८० अशुद्ध संख्याएं हैं।

४. **अपवाक्य और शैलीविरुद्ध प्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**उसके पीछे कुरान तक पुस्तकों का भेजना पहिली पुस्तक को अपूर्ण भूलयुक्त माना जायगा।**" पुस्तक को महर्षि पुंल्लिग में प्रयोग करते हैं, स्त्रीलिंग नहीं।

५. **चार पुस्तकें**—वे चार पुस्तकें क्रमशः हैं—**तौरेत, जबूर, इंजील** (तीन बाइबल में हैं), और चौथी **क़ुरान**। इनके मतानुसार ये परमात्मा ने क्रमशः इनके पैगम्बरों **मूसा, दाऊद, ईसा, और मुहम्मद** के हृदय में उतारी हैं।

६. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**जो कि परस्पर प्रायः विरोध रखते हैं**" अस्त-व्यस्त वाक्य है। **परस्परविरोध** एक शब्द है, जो साहित्यिक दोष है। उदयपुर सं० आदि प्रायः सभी सं० में यह अपपाठ है।

७. **मुद्रणकाल में भ्रष्ट पाठ**—द्विप्र०, द्वि०सं० में त्रुटिवश यह पाठ इस प्रकार भ्रष्ट हो गया है—"**वे मर भी जायेंगे अर्थात् उनका कभी नाश कभी अभाव भी होगा।**" गलती से '**ना**' का नाश बना दिया। मुद्रणहस्त० में ठीक पाठ है। वेस, जग, भद, युमी, विस, जस में भ्रष्टपाठ है। उदयपुर सं० में संशोधित है।

८. **मुद्रणकाल में हास्यास्पद पाठ-परिवर्तन**—मुद्रणकाल में इस वाक्य को बदलकर द्विप्र०, द्वि०सं० में हास्यास्पद पाठ बनाया

१२७. नहीं तू परन्तु आदमी मानिन्द[९] हमारी, बस, ले आ कुछ निशानी जो है तू सच्चों से। १५४। [सालेह ने] कहा, यह ऊंटनी है वास्ते उसके पानी पीना है एक वार.....। १५५।

मं० ५। सि० १९। सू० २६। आ० १५४। १५५ ॥[१]

समीक्षक—यह ख़ुदा को शंका और अभिमान क्यों हुआ कि वह[२] हमारे तुल्य नहीं है[३] और ऊंटनी की निशानी देना[४] केवल जंगली व्यवहार है, ईश्वरकृत नहीं! यदि यह किताब ईश्वरकृत होती तो ऐसी व्यर्थ बातें इसमें न होतीं[५] ॥ १२७ ॥

१२८. ऐ मूसा! बात यह है कि निश्चय मैं अल्लाह हूं ग़ालिब[६]। ९। और डाल दे असा[७] अपना, बस, जबकि देखा उसको हिलता था मानो कि वह साँप है,....ऐ मूसा! मत डर, निश्चय नहीं डरते समीप मेरे पैग़म्बर। १०। अल्लाह नहीं कोई माबूद[८] परन्तु वह मालिक अर्श[९] बड़े का। २६। यह कि मत सरकशी[१०-११] करो ऊपर मेरे और चले आओ मेरे पास मुसलमान होकर। ३१।[१२]

मं० ५। सि० १९। सू० २७। आ० ९। १०। २६। ३१ ॥

समीक्षक—और भी देखिये, अपने मुख से आप अल्लाह बड़ा ज़बरदस्त बनता है। अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना श्रेष्ठ पुरुष का भी काम नहीं, तो ख़ुदा का क्योंकर हो सकता है? तभी तो इन्द्रजाल का लटका दिखला, जंगली मनुष्यों को वश कर, आप जंगलस्थ ख़ुदा बन बैठा। ऐसी बात ईश्वर के पुस्तक की कभी नहीं हो सकती। यदि वह बड़े अर्श अर्थात् सातवें आसमान का मालिक है तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता है। यदि सरकशी[१३] करना बुरा है,[१४] तो ख़ुदा ने, मुहम्मद साहब और फरिश्तों ने ईमान लाने, सेवा करने में [दूसरे मत-वालों को बलात् अपने] साथ क्यों मिलाया? मुहम्मद साहब ने अनेक को मारा,[१५] इससे सरकशी[१६] हुई वा नहीं? **इससे यह**

है—"**यह कुरान की बात झूठी होने से बच नहीं सकती।**" यही शिथिल पाठ उदयपुर सं० में है। मूलह०, मुद्रणह० में सही पाठ है।

९. **मानिन्द**—समान, तुल्य।

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में आयतसंख्याएं १५०, १५१ अशुद्ध लिखी हैं।

२. **अपवाक्य**—मूलप्रति सं० में "**तू हमारे तुल्य नहीं है**" अपवाक्य है।

३. **मुद्रणकाल में महाभ्रष्ट परिवर्तन**—द्विप्र० में इस पहली पंक्ति को हटाकर उसके स्थान पर यह नया भ्रष्ट वाक्य बनाया है—"**भला, इस बात को कोई मान सकता है कि पत्थर से ऊंटनी निकले!**" यह घोर अप्रासंगिक और भ्रष्ट संशोधन है। पत्थर से ऊंटनी निकलने की बात आयत में कहां है जो यह संशोधन करना पड़ा? यह संशोधक की बेहद लापरवाही का उदाहरण है। यही अप्रासंगिक समीक्षा **द्वि०सं०, स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती, पं० जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक स्वामी विद्यानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द** आदि के संस्करणों में है। **उदयपुर सं० ने भी अनर्गल पाठ को ग्रहण कर लिया है।** यह वाक्य मुंशी जी की भूल से लिखा गया है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**ऊंटनी की निशानी देनी**" अपवाक्य है, "**निशानी देना**" चाहिए।

५. **ऊंटनी विषयक पुनरुक्तियां**—द्रष्टव्य हैं आयतखण्ड ११२, १७०। यही बातें वहां दोहराई हैं।

६. **गालिब**=प्रभुत्वशाली। ७. **असा**=लाठी। ८. **माबूद**=पूज्य। ९. **अर्श**=सिंहासन, आकाश।

१०. **सरकशी**=मनमानापन का व्यवहार, अवज्ञा, विद्रोह, अनुशासनहीनता, जबरदस्ती, स्वेच्छाचारिता, मनमाना बोलना।

११,१३,१६. **अपवर्तनी अयोग्य लिपिकरों-शोधकों द्वारा**—दोनों हस्तलेखों और द्विप्र० में, आयत और समीक्षा में इस शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है। लिपिकरों और शोधकों की मूर्खता देखिए कि तीनों बार अशुद्ध वर्तनी लिखी है। अशुद्धि में भी दो अशुद्धियां हैं। एक ही स्थान पर पहले "**सरकसी**" लिखा है फिर दो बार "**शरकशी**" लिखी है। हस्तलेखों में तीनों स्थानों पर "**सर्कशी**" व "**शर्कशी**" है। उदयपुर सं० में तीनों का संशोधन कर लिया है।

'क़ुरान' पुनरुक्त और पूर्वापरविरुद्ध बातों से भरा हुआ है॥ १२८ ॥

१२९. और देखेगा तू पहाड़ों को, अनुमान करता है तू उनको जमे हुए और वे चले जाते हैं मानिन्द चलने बादलों की, कारीगरी अल्लाह की जिसने दृढ़ किया हर वस्तु को, निश्चय वह ख़बरदार है[१] उस वस्तु के कि करते हो। ८८। मं० ५। सि० २०। सू० २७। आ० ८८॥[२]

समीक्षक—भला, बद्दलों के समान पहाड़ का चलना '**क़ुरान**' बनानेवालों के देश में होता होगा, अन्यत्र नहीं। और ख़ुदा की ख़बरदारी[३] तो बाग़ी शैतान को न पकड़ने और न दंड देने से ही विदित होती है कि जो एक बाग़ी को भी अब तक न पकड़ पाया,[४] न दंड दिया। इससे अधिक असावधानी[५] क्या होगी ?॥ १२९ ॥

१३०. ....बस, मुष्ट (=घूंसा) मारा उसको मूसा ने, बस, पूरी की आयु उसकी....। १५।[६] कहा, ऐ रब मेरे! निश्चय मैंने अन्याय किया जान अपनी को, बस, क्षमा कर मुझको, बस, क्षमा कर दिया उसको। निश्चय वह क्षमा करनेवाला दयालु है। १६। और मालिक तेरा उत्पन्न करता है, जो कुछ चाहता है और पसन्द करता है....। ६८। मं० ५। सि० २०। सू० २८। आ० १५। १६। ६८॥[७]

समीक्षक—अब अन्य भी देखिये, मुसलमान और ईसाइयों के पैग़म्बर और ख़ुदा कि मूसा पैग़म्बर, मनुष्य की हत्या किया करे और ख़ुदा क्षमा किया करे, ये दोनों अन्यायकारी हैं वा नहीं ? क्या अपनी इच्छा से ही जैसा चाहता है वैसी उत्पत्ति करता है ? क्या उसने अपनी इच्छा से ही एक को राजा,

---

१२. **मूसा के चमत्कार का अन्यत्र वर्णन**—बाइबल में, समु० १३ में आयतखण्ड ४०, पृ० ८७५, समु० १४ में पृ० ९५३, ९८७।

१४. **मुद्रणकाल में अपपरिवर्तन**—द्विप्र० में यहां यह पाठ बनाया है—''**यदि सरकशी करना बुरा है तो ख़ुदा और मुहम्मद साहब ने अपनी स्तुति से पुस्तक क्यों भर दिये ?**'' यह बेतुका परिवर्तन है जिसका आयत के कथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं। अनुमान होता है कि प्रूफ संशोधक को '**सरकशी**' का अर्थ ज्ञात नहीं था। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में उपर्युक्त सही पाठ है। सभी द्वि०सं० में यही अपपाठ है।

१५. **मुद्रणकालीन परिवर्धित अपपाठ**—द्विप्र० में यहां परिवर्धन करके एक अपवाक्य बनाया —''**मुहम्मद साहब ने अनेकों को मारे**''। यह महर्षि की नहीं, किसी प्रूफ शोधक की अपनी बोली का वाक्य है, क्योंकि यह वाक्य मुद्रण-काल में जोड़ा है और महर्षि उस समय जीवित नहीं थे और न उन्होंने संशोधन किया था,जो स्पष्टत: यह सिद्ध करता है कि यह वाक्य शोधक का है। मूलहस्त० और मुद्रणहस्त० दोनों में यह नहीं है। किन्तु उपयोगी होने के कारण ग्राह्य है, क्योंकि उसमें जबरदस्ती ईमान लाना आदि भिन्न बातों का कथन है। सभी द्वि०सं० में यह अपवाक्य है। मूलसं० ने इस वाक्य को ग्रहण नहीं किया है।

१,२. **अयोग्य लिपिकरों-शोधकों द्वारा अपवर्तनी**—मूलह० में प्रथम स्थल पर अशुद्ध तथा द्वितीय स्थल पर शुद्ध वर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने दोनों स्थानों पर ''**ख़बर्दार**'', ''**ख़बर्दारी**'' अशुद्ध वर्तनी बना दी। यही अशुद्ध द्विप्र० में छपी है। उदयपुर संस्करण सहित अन्य सभी सं० में संशोधित हैं।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ८० अशुद्ध लिखी है। मूलह०, मुद्रणह० में शुद्ध है।

४. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**ख़ुदा की ख़बरदारी.....विदित होती है कि जिसने एक बाग़ी को भी अब तक न पकड़ पाया**''। यह महर्षि की भाषा नहीं, लिपिकर की अपनी बोली है। उदयपुर संस्करण सहित सभी सं० में यह वाक्य अशुद्ध है।

५. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**असावधानीता**'' अपप्रयोग है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

६. **मूसा द्वारा घूंसा मारने का बाइबल में वर्णन**—मिश्र के राजा फ़िरौन के महलों में पल-बढ़ कर जब मूसा (यहूदियों का रसूल) जवान हुआ तो एक दिन उसने देखा कि दो आदमी आपस में लड़ रहे हैं और उनमें से एक मिश्री मूसा के किसी जाति-भाई को पीट रहा है। यह देख मूसा से रहा न गया। उसने मिश्रवाले को जोर का घूंसा मारा जिससे वह मर गया। विस्तृत विवरण समुल्लास के आरम्भ में जीवनवृत्त में देखिए। बाइबल में भी इस घटना का वर्णन है। द्रष्टव्य समु० १३ में आयतखण्ड संख्या ३८।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं १४, ६६ अशुद्ध लिखी हैं, १६, ६८ त्रुटित हैं।

दूसरे को कंगाल और एक को विद्वान् और दूसरे को मूर्ख-आदि किया है? यदि ऐसा है तो यह अन्यायकारी होने से '**क़ुरान**' सत्य और यह ख़ुदा ही नहीं हो सकता है॥ १३०॥

१३१. और आज्ञा दी हमने मनुष्य को साथ मा-बाप के भलाई करना, और जो झगड़ा करें[१] तुझसे दोनों यह कि शरीक लावे तू साथ मेरे उस वस्तु को कि नहीं वास्ते तेरे साथ उस के ज्ञान; बस, मत कहा मान उन दोनों का, तरफ़[२] मेरी है....। ८। और अवश्य भेजा हमने नूह को[३] तरफ़[४] क़ौम उसके कि बस रहा बीच उनके हजार वर्ष परन्तु पचास वर्ष कम, उस दिन ढांक लेगा उसको अजाब ऊपर उनके से....। १४। मं० ५। सि० २०-२१। सू० २९। आ० ८। १४॥[५]

समीक्षक—माता-पिता की सेवा करनी तो अच्छी ही है। जो ख़ुदा के साथ शरीक करने के लिये कहे, तो उनका कहना न मानना, यह भी ठीक है; परन्तु यदि माता-पिता मिथ्याभाषणादि करने की आज्ञा देवें, तो क्या मान लेना चाहिये? इसलिये यह बात आधी अच्छी और आधी बुरी है। क्या नूह आदि पैग़म्बरों[६] को ही ख़ुदा संसार में भेजता है? तो अन्य जीवों को कौन भेजता है? यदि सबको वही भेजता है, तो सभी पैग़म्बर क्यों नहीं? और **जो प्रथम मनुष्यों का पचास कम, हज़ार वर्ष का आयु होता था तो अब क्यों नहीं होता[७]? इसलिये यह बात ठीक नहीं।** यदि खुदा के न्यायघर में भी नीचे शिर, ऊपर पग बांधकर दंड दिया जाता है, तो उससे आजकल का ही राज अच्छा है। आजकल दण्ड तो दिया जाता है, परन्तु पग नीचे और शिर ऊपर ही रक्खा जाता है। यदि ऐसा ही दण्ड हो तो भी मनुष्यों में संघटित हो सकता है॥ १३१॥

१३२. अल्लाह पहली वार करता है उत्पत्ति, फिर दूसरी वार करेगा उसको,[८] फिर उसी की ओर फेरे जाओगे[९]। ११। जिस दिन बरपा[१०] अर्थात् खड़ी होगी क़यामत, निराश[११] होंगे पापी। १२।

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**झगड़ना करें**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में संशोधन कर लिया है।

२,४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थलों पर '**तर्फ़**' अपवर्तनी है। उदयपुर सं० आदि में भी अशुद्ध है।

३. **नूह पैगम्बर**—नूह पैगम्बर की चर्चा आयतखण्ड संख्या १११ में भी द्रष्टव्य है। बाइबल में भी इसके समय हुए जलप्लावन का वर्णन आता है। समु० १३ में देखिए आयत संख्या १४, १५ में।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, वेस, भद में यहां आयतसंख्याएं ७, १३ अशुद्ध लिखी हैं। उदयपुर सं० में भी यही अशुद्ध संख्याएं हैं।

६. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**पैगम्बर**" एकवचन अपप्रयोग है।

७. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**आयु**" का स्त्रीलिंग में प्रयोग है। महर्षि प्राय: सर्वत्र इसका पुंल्लिग में प्रयोग करते हैं, अत: महर्षि की शैली के अनुरूप इस वाक्य को पुंल्लिग में परिवर्तित किया गया है। भाषात्मक व्यवस्था, मानकता और एकरूपता के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

८. **पुनर्जन्म की मान्यता**—इस्लाम में पुनर्जन्म को नहीं माना जाता। इस आयत में स्पष्ट रूप से दूसरी बार उत्पत्ति कही गई है, जो कुरान में पुनर्जन्म की मान्यता होने की पुष्टि करती है।

९. **अपपाठ**—दोनों हस्त० व द्विप्र० में "**फेर जाओगे**" अपपाठ है। स्वामी वेदानन्द सं० को छोड़कर सभी सं० में शुद्ध कर लिया गया है।

१०. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, द्विप्र० सं० में "**बर्पा**" अपवर्तनी है। मूलसं० में संशोधित है। स्वामी वेदानन्द सं० में "**वपा**" भ्रष्ट पाठ है। अन्य उदयपुर आदि सभी सं० में अशुद्ध वर्तनी है।

११. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० व द्विप्र० में "**निरास**" अपवर्तनी है। अन्य सभी सं० में संशोधित है। लिपिकरों-शोधकों की प्रमादलीला देखिए, मूलआयत में अशुद्ध वर्तनी है जबकि इसकी समीक्षा में शुद्ध वर्तनी है।

बस, जो लोग कि ईमान लाये और काम किये अच्छे, बस, वे बीच बाग़ के सिंगार किये जावेंगे। १५। और जो भेज दें हम एक बाव[१], बस, देखें उस खेती को पीली हुई...। ५१। इस प्रकार मोहर रखता है अल्लाह ऊपर दिलों उन लोगों के कि नहीं जानते। ५९।

मं० ५। सि० २१। सू० ३०। आ० ११। १२। १५। ५१। ५९॥[२]

समीक्षक—यदि अल्लाह दो वार उत्पत्ति करता है, तीसरी वार नहीं, तो उत्पत्ति के आदि और दूसरी वार के अन्त में निकम्मा बैठा रहता होगा? और एक तथा दो वार उत्पत्ति के पश्चात् उसका सामर्थ्य निकम्मा और व्यर्थ हो जायगा। यदि न्याय करने के लिये दिन न रखकर, रात रक्खी जाय तो गवरगंड[३]-सी लीला हो जाय। न्याय तो दिन में ही करना सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीलिये यह मुसलमान और मुसलमानों के ख़ुदा की उलटी बात है।[४] यदि न्याय करने के दिन पापी लोग निराश हों तो अच्छी बात है, परन्तु इसका प्रयोजन कहीं यह तो नहीं है कि मुसलमानों के सिवाय सब पापी समझकर निराश किये जायें? क्योंकि '**क़ुरान**' में कई स्थानों में पापियों से औरों (विधर्मियों) का ही प्रयोजन है।[५] यदि बगीचे में रखना और शृंगार पहराना ही मुसलमानों का स्वर्ग है, तो इस संसार के तुल्य हुआ। और वहां माली और सुनार भी होंगे अथवा ख़ुदा ही माली और सुनार आदि का काम करता होगा। यदि किसी को कम गहना मिलता होगा, तो चोरी भी होती होगी और बहिश्त से चोरी करनेवालों को दोज़ख में भी डालता होगा। यदि ऐसा होता होगा, तो '**सदा बहिश्त में रहेंगे**' यह बात झूठी हो जायगी।[६] जो किसानों की खेती पर भी ख़ुदा की दृष्टि है, यह '**विद्या**' खेती करने के अनुभव से ही होती है। और यदि माना जाय कि ख़ुदा ने अपनी विद्या से सब बात जान ली है, तो ऐसा भय देना अपना घमण्ड प्रसिद्ध करना है। यदि अल्लाह ने जीवों के दिलों पर मोहर लगा पाप कराया, तो उस पाप का भागी वही होवे, जीव नहीं हो सकते; जैसे जय-पराजय सेनाधीश का होता है, वैसे यह सब पाप ख़ुदा को ही प्राप्त होवे॥ १३२॥

---

१. **अपपाठ और उसकी विद्वानों में अन्धपरम्परा**—दोनों हस्त० में "**एक बाव**" यह त्रुटित पाठ है। मुद्रणकाल में इसको और अशुद्ध करके "**ए बाब**" छापा है। शोधकों ने इसकी शुद्धता पर ध्यान ही नहीं दिया। पं० भगवद्दत्त सं० में "**एक बाब**" अशुद्ध पाठ है। द्वि०सं०, मूलसं० और स्वामी वेदानन्द सं० में इसको "**एक बाव**" संशोधित कर दिया है।

पं० मीमांसक जी का भ्रष्ट पाठ—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने बिना अर्थ का विचार किये इसको भ्रष्ट पाठ बना दिया—"**भेज दें हम एबाब**"। इस शब्द का यहां कोई अर्थ नहीं है। **उदयपुर सं०** के कथित दश सम्पादकों पर अधिक आश्चर्य है कि उन्होंने न सार्थकता देखी, न कुरान देखा और **पं० मीमांसक जी** का अन्धानुकरण करके निरर्थक भ्रष्ट पाठ को ग्रहण कर लिया। उनके सामने शुद्ध-अशुद्ध पाठ के दोनों विकल्प विद्यमान थे, फिर भी, उन्होंने भ्रष्ट पाठ ग्रहण किया है। **बाव**=वायु, आंधी। जैसे प्रयोग होता है—बावरोग=वायुरोग आदि।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में ९, १४, ५०, ५८ और द्विप्र० और भद में यहां आयतसंख्याएं १०, १४, ५०, ५८ अशुद्ध लिखी हैं। सभी में ५९ संख्या त्रुटित है।

३. **अव्यवस्थित वर्तनी**—अन्यत्र "**गवरगंड**" वर्तनी है (पृ० ९७२, ९९४) यहां "**गवर्गण्ड**" है। एकरूपता और मानकता के लिए "**गवरगंड**" वर्तनी ग्राह्य है। इसकी कथा ग्रन्थकार-रचित '**व्यवहारभानु**' नामक पुस्तिक में द्रष्टव्य है।

४. **पुनरुक्ति कयामत की**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ३, १३, १२२, १४०, १५८, १५९।

५. **उचित पाठ-परिवर्धन**—द्वि० सं० में "**यदि न्याय करने.....प्रयोजन है**" पाठ बढ़ाया गया है, मूलप्रति सं० में नहीं है। उपयोगी होने के कारण ग्राह्य है।

६. **सदा बहिश्त का कथन**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ९, ९३, ११३, १४१, १४८, १४९, १५०, १५६, १६३ आदि।

१३३. ये आयतें हैं किताब हिक्मत[१] वाले की। २। उत्पन्न किया आसमानों को विना सुतून[२] अर्थात् खम्भे के देखते हो तुम उसको, और डाले बीच पृथिवी के पहाड़ ऐसा न हो कि हिल जावे....। १०। क्या नहीं देखा तूने यह कि अल्लाह प्रवेश कराता है रात को बीच दिन के और प्रवेश कराता है दिन को बीच रात के....। २९। क्या नहीं देखा कि किश्तियां चलती हैं बीच दरिया[३] के साथ निआमतों अल्लाह के, तोकि दिखलावे तुमको निशानियां अपनी। ३१।

मं० ५। सि० २१। सू० ३१। आ० २। १०। २९। ३१॥[४]

समीक्षक—वाह जी हिक्मतवाली किताब कि जिसमें सर्वथा '**विद्या से विरुद्ध**' आकाश की उत्पत्ति और उसमें खम्भे लगाने की शंका और पृथिवी को स्थिर रखने के लिये पहाड़ रखना [है]![५] थोड़ी-सी विद्यावाला भी ऐसा लेख कभी नहीं करता और न मानता। और हिक्मत देखो कि जहाँ दिन है वहां रात नहीं और जहां रात है वहां दिन नहीं, [किन्तु '**क़ुरान**' का कर्त्ता] उनको[६] एक दूसरे में प्रवेश कराना लिखता है, यह बड़े अविद्वानों की बात है। इसलिये यह '**क़ुरान**' विद्या का पुस्तक नहीं हो सकता।[७] क्या यह '**विद्याविरुद्ध**' बात नहीं है कि नौकायें खुदा की कृपा से चलती हैं? वे तो मनुष्यों और क्रियाकौशलादि से चलती हैं। यदि लोहे वा पत्थर की नौकायें बनाकर समुद्र में चलावें तो ख़ुदा की निशानी डूब जाय वा नहीं?[८] इसलिये यह पुस्तक न विद्वान् और न ईश्वर का बनाया हुआ हो सकता है[९]॥ १३३॥

१३४. तदबीर[१०] करता है काम की आसमान से तरफ़ पृथिवी की, फिर चढ़ जाता है तरफ़[११] उसकी बीच एक दिन के कि है अवधि उसकी सहस्त्र वर्ष, उन वर्षों से कि गिनते हो तुम। ५।[१२] वह है जाननेवाला ग़ैब[१३] का और प्रत्यक्ष का ग़ालिब[१४] दयालु। ६। फिर पुष्ट किया उसको और फूंका

---

१. **हिक्मत**=बुद्धिमत्ता।

२. **सुतून**—दोनों हस्त० में "**सतून**" अपवर्तनी है। यह फारसी का शब्द है जो संस्कृत के '**स्थूण**' शब्द का अपभ्रंश है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में "**दर्य्या**" अपवर्तनी है। शुद्ध वर्तनी द्र०पृ० ९८८, १०३८।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयत संख्याएं १, ९, २८, ३० अशुद्ध हैं।

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया त्रुटित है।

६. **अपप्रयोग व त्रुटित**—दोनों सं० में "**उसको**" के स्थान पर "**उनको**" प्रयोग शुद्ध है। बृहत्कोष्ठकान्तर्गत पाठ भी ग्राह्य है।

७, ९. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—मूलप्रति सं० में दोनों वाक्यों में "**पुस्तक**" का प्रयोग स्त्रीलिंग में है जो कि महर्षि की भाषा शैली के विरुद्ध होने से अपप्रयोग है। दूसरा वाक्य मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित करके पुंल्लिग बना दिया है, जो सही है, किन्तु लिपिकरों-शोधकों की प्रमादलीला देखिए कि एक स्थान पर दो प्रकार के शैली के विरुद्ध पाठ हैं!

८. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह भ्रष्ट वाक्य है—"**क्या यह विद्याविरुद्ध बात नहीं है कि नौका मनुष्य और क्रिया कौशलादि से चलती हैं वा खुदा की कृपा से?**" इसके अतिरिक्त "**नौका**", बहुवचन चाहिए। वेस, जग, भद, युमी, विस, उदयपुर सं० में अपपाठ है।

१०-११. **तदबीर**=उपाय, कोशिश। **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तर्फ़**" अपवर्तनी है। "**तरफ़**" शुद्ध है।

१२. **वैदिक छाया**—वैदिक गणना में एक हजार दिव्य युगों का ब्रह्म का एक दिन माना है। यहां अल्लाह का एक दिन मनुष्यों के हजार वर्षों का मानना, उसी परम्परा का अवशिष्ट रूप है (मनु० १.७२, ७३)।

१३. **गैब**=परोक्ष, रहस्य, छिपा हुआ, आदि।

१४. **उचित परिवर्धन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में यहां "**गालिब**" के स्थान पर "**अवश्य**" पद है। "**ग़ालिब**" द्विप्र०, द्वि०सं० में रखा है, जो ग्राह्य है। **गालिब**=शक्तिशाली विजेता, प्रभावशाली। दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**दयालू**" अशुद्ध है।

बीज उसके रूह अपनी से[१]। ९। यह क़ब्ज़ करेगा तुमको फ़रिश्ता मौत का, वह जो नियत किया गया है साथ तुम्हारे। ११। और जो चाहते हम अवश्य देते हर एक जीव को शिक्षा उसकी, परन्तु सिद्ध हुई बात मेरी ओर से कि अवश्य भरूंगा मैं दोज़ख़ को जिनसे और आदमियों से इकट्ठे। १३।

मं० ५। सि० २१। सू० ३२। आ० ५। ६। ९। ११। १३॥[२]

समीक्षक—अब ठीक सिद्ध हो गया कि मुसलमानों का ख़ुदा मनुष्यवत् एकदेशी है। क्योंकि जो व्यापक होता तो एकदेश से प्रबन्ध करना और उतरना-चढ़ना नहीं हो सकता। यदि ख़ुदा फ़रिश्ते को भेजता है तो भी आप एकदेशी हो गया। आप आसमान पर टंगा बैठा है और फ़रिश्तों को दौड़ाता है। यदि फ़रिश्ते रिश्वत लेकर कोई मामला बिगाड़ दें वा किसी मुर्दे को छोड़ जायें, तो ख़ुदा को क्या मालूम हो सकता है? मालूम तो उसको हो कि जो सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक हो, सो तो है ही नहीं। होता तो फ़रिश्तों के भेजने तथा कई लोगों की कई प्रकार से परीक्षा लेने का क्या काम था?[३] और एक हजार वर्षों में[४] प्रबन्ध करने से सर्वशक्तिमान् भी नहीं। यदि मौत[५] का फ़रिश्ता है, तो उस फ़रिश्ते को[६] मारनेवाला कौन-सा मृत्यु है? यदि वह नित्य है, तो अमरपन में ख़ुदा के बराबर 'शरीक' हुआ। एक फ़रिश्ता एक समय में यदि दोज़ख़ भरने के लिये जीवों को शिक्षा नहीं करता और उनको विना पाप किये अपनी मर्ज़ी से दोज़ख़ भरके उनको दुःख देकर तमाशा देखता है, तो वह ख़ुदा महापापी, अन्यायकारी और दयाहीन है। ऐसी बातें जिस पुस्तक में हों, न वह विद्वान्[कृत] और न ईश्वरकृत है। और जो दया-न्यायहीन है वह ईश्वर भी कभी नहीं हो सकता॥[७] १३४॥

१३५. कह कि कभी न लाभ देगा भागना तुमको, जो भागो तुम मृत्यु वा क़त्ल से। १६। ऐ बीबियो नबी की! जो कोई आवे तुममें से निर्लज्जता प्रत्यक्ष के, दुगुणा किया जायेगा वास्ते उसके अज़ाब, और है यह ऊपर अल्लाह के सहल[८]। ३०। मं० ५। सि० २१। सू० ३३। आ० १६। ३०॥[९]

---

१. **अपपरिवर्तन**—दोनों हस्त० तथा द्विप्र० और भद में यह पाठ है—"**फूंका बीज रूह अपनी से**"। अन्य वेस, युमी, मूलसं०, उदयपुर आदि सभी सं० में अशुद्ध परिवर्तन है—"**फूंका बीच उसके रूह अपनी से**"। इस अनुवाद में 'क्या फूंका?' यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। यह पाठ अपूर्ण है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ४, ७ अशुद्ध हैं, १३ त्रुटित है। अन्य सभी में संशोधित हैं।

३. **मुद्रणकाल में परिवर्धित पाठ और पाठग्रहण**—"**यदि खुदा फरिश्ते को.....लेने का क्या काम था?**" समीक्षा भाग दोनों हस्तलेखों में नहीं है। यह मुद्रणकाल में मुंशी समर्थदान जी द्वारा लिखा गया है और द्विप्र० में जोड़ा गया है। मूलसं० में इस पाठ को द्विप्र०/ द्वि०सं० से ग्रहण किया है।

४. **मुद्रणकाल में अपपरिवर्तन**—द्विप्र० में अविचारित रूप से यहां "**तथा आने-जाने**" परिवर्धन अनावश्यक तथा अप्रासंगिक है, क्योंकि इनका सम्बन्ध एकदेशी होने से है, सर्वशक्तिमान् होने से नहीं। इससे वाक्य भी खण्डित हो गया है "**वर्षों में**" पाठ का "**प्रबन्ध करने**" पाठ से जो सम्बन्ध था, वह भंग हो गया। अतः सभी सं० में किया गया परिवर्धन अवांछनीय है।

५. **मुद्रणलिपिकरकृत अपवर्तनी**—मूलह० में शुद्ध वर्तनी है। मुद्रणलिपिकर ने "**मोत**" अपवर्तनी है। यही अशुद्ध द्विप्र० में है।

६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**फ़रिश्ते का मारनेवाला**" अपप्रयोग है। प्रायः सभी सं० में यही अपपाठ है।

७. **त्रुटित आवश्यक पद एवं अपवाक्य**—इस वाक्य में, दोनों हस्त० व मूलप्रति सं० में कई पद त्रुटित रह गये हैं। स्पष्टता के लिए उनको रखना आवश्यक है। मूल त्रुटित वाक्य यह मिलता है—"**जिस पुस्तक में हों न वह विद्वान् और ईश्वरकृत और जो दया न्यायहीन ईश्वर भी कभी नहीं हो सकता।**" द्विप्र०, द्वि०सं० तथा अन्यों में अर्धसंशोधित है।

८. **सहल**=सरल, सहज।

९. **उदयपुर सं० में अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—उदयपुर सं० में आयतसंख्या १६ के स्थान पर १३ अशुद्ध है। अन्य में शुद्ध है।

समीक्षक—यह मुहम्मद साहब ने इसलिये लिखा-लिखवाया होगा कि लड़ाई में कोई न भागे, हमारा विजय होवे, मरने से भी न डरे, ऐश्वर्य बढ़े, मज़हब बढ़ा लेवें। और यदि **बीबी निर्लज्जता से पैग़म्बर के सामने न आवे, तो क्या पैग़म्बर साहब निर्लज्ज होकर उनके सामने जावें ?**[१] **बीबियों पर अज़ाब हो और पैग़म्बर साहब पर अज़ाब न होवे, यह किस घर का न्याय है ?** ॥ १३५ ॥

१३६. और अटकी रहो बीच घरों अपने के, ...और आज्ञापालन करो अल्लाह और रसूल की, सिवाय इनके नहीं। ३३। बस, जब अदा कर ली ज़ैद ने हाजत[२] **उससे, ब्याह दिया हमने तुझसे उसको, तौकि न होवे ऊपर ईमानवालों के तंगी बीच बीबियों से लेपालकों**[३] **उनके के, जब अदा कर लें उनसे हाजत,**[४] **और है आज्ञा ख़ुदा की की गई। ३७। नहीं है ऊपर नबी के कुछ तंगी बीच उस वस्तु के.....। ३८। नहीं है मुहम्मद बाप किसी मर्द**[५] **का....। ४०। और हलाल की स्त्री ईमानवाली जो देवे विना महर**[६] **के जान अपनी वास्ते नबी के.....। ५०। ढील देवे तू जिसको चाहे उनमें से और जगह देवे तरफ़ अपनी जिसको चाहे, नहीं पाप ऊपर तेरे....। ५१। ऐ लोगो! जो ईमान लाये हो मत प्रवेश करो घरों में पैग़म्बर के....। ५३।**

मं० ५। सि० २२। सू० ३३। आ० ३३। ३७। ३८। ४०। ५०। ५१। ५३॥[७]

समीक्षक—यह बड़े अन्याय की बात है कि स्त्री घर में क़ैद के समान रहे और पुरुष खुले रहें। क्या स्त्रियों का चित्त शुद्ध वायु, शुद्ध देश में भ्रमण करना, सृष्टि के अनेक पदार्थ देखना नहीं चाहता होगा ? इसी अपराध से मुसलमानों के लड़के विशेषकर सैलानी[८] और विषयी होते हैं। अल्लाह और रसूल की एक अविरुद्ध आज्ञा है वा भिन्न-भिन्न=विरुद्ध ? यदि एक है, तो 'दोनों की आज्ञा पालन

---

१. **मुद्रणकालीन परिवर्धन**—दोनों हस्त० में यह वाक्यांश नहीं है। मुद्रणसमय इसको मुंशी समर्थदान जी ने बढ़ाकर जोड़ा है। उनके द्वारा यह अपवर्तनी लिखी गई है। जो द्विप्र० में छपी है—''**बीबीयों पर अज़ाब हो**''। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

२,४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थान पर ''**हाज़ित**'' अपवर्तनी है। इस मुहावरे का अर्थ है—''**हाजत अदा करना**''=इच्छा पूरी करना।

३. **लेपालक**=दत्तकपुत्र, गोद लिया पुत्र। **जैद बिन हारसा** मुहम्मद साहब का दत्तक पुत्र था। उसको हज०मुहम्मद की फूफी की बेटी ब्याही थी जिसका नाम जैनब था। जैद ने जैनब को तलाक दे दिया। तब मुहम्मद साहब ने उससे विवाह कर लिया।

५. **मूर्ख मुद्रणलिपिकरकृत महाभ्रष्ट पाठ**—मूलह० में सही प्रयोग है। मूर्ख मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय यह भ्रष्ट एवं हास्यास्पद वाक्य लिख दिया—''**नहीं है महम्मद बाप किसी मुर्दो का**''। शायद, लेखक ने भांग चढ़ा रखी होगी ? शोधक भी मक्कार था। मुद्रणकाल में संशोधन के नाम पर उसने भी मूर्खतापूर्ण एवं हास्यास्पद संशोधन यह किया—''**नहीं है महुम्मद बाप किसी मुर्दे का**''। ऐसे-ऐसे लिपिकरों-शोधकों से महर्षि को काम लेना पड़ा था। स्थान-स्थान पर उन्होंने ऐसी करतूतें की हैं।

पं० भगवद्दत्त सं० का भ्रष्ट पाठ—किन्तु अपने विद्वानों को क्या कहें ? **पं० भगवद्दत्त जी** जैसे व्यक्ति को भी यह नहीं सूझा कि वे कैसा हास्यास्पद पाठ ग्रहण कर रहे हैं। उन्होंने अपने सं० में इसी भ्रष्ट पाठ को ग्रहण किया है। यदि वे आयत के प्रसंग अथवा मूल कुरान को भी देख लेते तो इतनी हास्यास्पद भूल कभी न करते। इसके अतिरिक्त अन्य सं० में यह रचनात्मक अपवाक्य है—''**बाप किसी मर्दो का**''। यही अपपाठ स्वामी वेदानन्द सं०, पं० सिद्धान्ती सं० और उदयपुर सं० में है।

६. **महर**=वह धन-सम्पत्ति जो मुस्लिम विवाह के समय पति पत्नी को देता है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, ३४, ४०, ४७, ४८ और द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं ४७, ४८ अशुद्ध हैं, ५१, ५३ त्रुटित हैं। भद में ३४, ४७, ४८ अशुद्ध हैं, ५१, ५३ त्रुटित हैं। उदयपुर सं० में ३३ संख्या त्रुटित है।

८. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० में ''**शैलानी**'' अपवर्तनी है। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**सयलानी**'' अपवर्तनी है। ''**सैलानी**'' शुद्ध है। यह मूलत: अरबी का शब्द है। अन्य सभी द्वि०सं० में यही अशुद्ध वर्तनी है। ग्रन्थ में कई स्थानों पर सैल (=सैर) शब्द का प्रयोग हुआ है। उसी से ''सैलानी'' पद बना है, अत: यही शुद्ध है।

करो' कहना व्यर्थ है, और जो भिन्न-भिन्न=विरुद्ध है, तो एक सच्ची और दूसरी झूठी! एक ख़ुदा, दूसरा शैतान हो जायगा, और 'शरीक' भी होगा। वाह '**क़ुरान**' के ख़ुदा[१] और पैग़म्बर तथा '**क़ुरान**' को! जिसको दूसरे का मतलब नष्टकर अपना मतलब सिद्ध करना इष्ट हो, ऐसी लीला अवश्य रचता है।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि मुहम्मद साहब बड़े विषयी थे। यदि न होते तो लेपालक[२] बेटे (जैद) की स्त्री को, जो पुत्र की स्त्री थी, अपनी स्त्री क्यों कर लेते? और फिर ऐसी बातें करनेवाले का ख़ुदा भी पक्षपाती बना और अन्याय को न्याय ठहराया। भला, कोई भी मनुष्यों में से जो जंगली भी होगा, वह भी बेटे की स्त्री को छोड़ता है। और यह कितनी बड़ी अन्याय की बात है कि नबी को विषयासक्ति की लीला करने में कुछ भी अटकाव नहीं होना! यदि नबी किसी का बाप न था तो ज़ैद 'लेपालक-बेटा' किस का था? और [उसको मुहम्मद का बेटा][३] क्यों लिखा? यह उसी मतलब की बात है कि जिससे बेटे की स्त्री को भी घर में डालने से[४] पैग़म्बर साहब न बचे, अन्य से क्योंकर बचे होंगे? ऐसी चतुराई से भी बुरी बात में निन्दा होनी कभी नहीं छूट सकती। **क्या जो कोई पराई स्त्री भी नबी से प्रसन्न होकर विवाह करना चाहे, तो वह भी हलाल है? और यह महाअधर्म की बात है कि नबी तो जिस स्त्री को चाहे छोड़ देवे और मुहम्मद साहेब की स्त्रीलोग यदि पैग़म्बर अपराधी भी हो, तो कभी न छोड़ सकें! जैसे पैग़म्बर के घरों में अन्य कोई व्यभिचार-दृष्टि से प्रवेश न करें, तो वैसे पैग़म्बर साहब भी किसी के घर में प्रवेश न करें! क्या नबी जिस किसी के घर में चाहें निश्शङ्क प्रवेश करें और माननीय भी रहें?** भला, कौन ऐसा 'हृदय का अन्धा'[५] है कि जो इस '**क़ुरान**' को ईश्वरकृत और मुहम्मद साहब को पैग़म्बर और '**कुरानोक्त**' ईश्वर को परमेश्वर मान सके? बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी युक्तिशून्य, धर्मविरुद्ध बातों से युक्त इस मत को अरबदेशनिवासी-आदि मनुष्यों ने क्योंकर मान लिया?[६] ॥ १३६ ॥

१३७. ....नहीं योग्य वास्ते तुम्हारे यह कि दुःख दो रसूल को, यह कि निकाह करो बीबियों उसकी को पीछे उसके कभी, निश्चय यह है समीप अल्लाह के बड़ा पाप। ५३। निश्चय जो लोग कि दुःख देते हैं अल्लाह को और रसूल उसके को, लानत की है उन को अल्लाह ने। ५७। और वे

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कुरान का खुदा....को**" अपप्रयोग है। यहां '**के**' कारक प्रत्यय चाहिए।

२. **लेपालक**=किसी से लेकर पाला-पोसा बालक, गोद लिया हुआ, दत्तक पुत्र। यह हिन्दी का शब्द है।

३. **अपूर्ण अस्पष्ट पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**और क्यों लिखा**" अपूर्ण वाक्य होने से अस्पष्ट है। कुछ पंक्ति ऊपर "**लेपालक उनके के**" वाक्यांश में स्पष्टतः जैद को हज० मुहम्मद का दत्तक पुत्र लिखा है।

४. **धर्म प्रथा को भ्रष्ट करना**—इस आयत से जानकारी मिलती है कि पहले अरब में दत्तक पुत्र की पत्नी से विवाह न करने की अच्छी प्रथा थी। हज० मुहम्मद ने अपने दत्तक पुत्र की पत्नी से विवाह करके उस प्रथा को भी नष्ट कर दिया। जब उन्होंने उससे विवाह कर लिया तो लोगों की ओर से होने वाली निन्दा से बचने के लिए इस कार्य को खुदा-समर्थित घोषित कर दिया। हज० मुहम्मद खुद ही इस काम को करने वाले हैं और खुद ही इसका खुदा के नाम पर समर्थन कर रहे हैं।

५. **हृदय का अंधा**=विचारहीन, विवेकहीन।

६. **मुद्रणकाल में अर्ध-संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**ऐसे युक्तिशून्य धर्मविरुद्ध बातों को अर्बदेशनिवासी आदि मनुष्यों ने इस मत को क्योंकर मान लिया!**" द्विप्र०, द्वि०सं० में इसका अर्धसंशोधन कर दिया है किन्तु "**क्योंकर**" पद अनुचित रूप से निकाल दिया है। यह प्रश्नवाचक वाक्य है, ऊपर पाठ में भी प्रश्नवाचक वाक्य है। सभी द्वि०सं० में "**ऐसे**" अपप्रयोग है। यह "**मत**" का विशेषण नहीं है अपितु पूर्वप्रसंग में उक्त "**बातों**" का विशेषण है, अतः यह स्त्रीलिंग में "**ऐसी**" प्रयोग होना चाहिए और "**युक्तिशून्य**" से पूर्व होना चाहिए।

लोग कि दुःख देते हैं मुसलमानों को और मुसलमान औरतों को विना इसके बुरा किया है उन्होंने, बस निश्चय उठाया उन्होंने बोहतान अर्थात् झूठ और प्रत्यक्ष पाप। ५८। लानत मारे जावें, जहां पाये जावें पकड़े जावें, और क़त्ल किये जावें,[१] खूब मारा जाना। ६१। ऐ रब हमारे! दे उनको द्विगुणा अज़ाब से, और लानत से बड़ी लानत कर। ६८।

मं० ५। सि० २२। सू० ३३। आ० ५३।५७।५८।६१।६८॥[२]

समीक्षक—वाह! क्या ख़ुदा अपनी खुदाई को धर्म के साथ दिखला रहा है! जैसे रसूल को दुःख देने का निषेध करना तो ठीक था,[३] वैसे[४] दूसरे को दुःख देने में रसूल को भी रोकना योग्य था, सो क्यों न रोका? क्या किसी के दुःख देने से अल्लाह भी दुःखी हो जाता है? यदि ऐसा है तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। क्या अल्लाह और रसूल को दुःख देने का निषेध करने से यह नहीं सिद्ध होता कि अल्लाह और रसूल जिसको चाहें दुःख देवें? **जैसे[५] मुसलमानों और मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा है तो [वैसे][६] इनसे अन्य मनुष्यों को दुःख देना भी अवश्य बुरा है॥** क्या अन्य सबको दुःख देना चाहिये? जो ऐसा माने,[७] तो उसकी यह बात भी पक्षपात की है। **वाह ग़दर मचाने वाले ख़ुदा और नबी! जैसे ये निर्दयी हैं वैसे निर्दयी संसार में बहुत थोड़े होंगे।** जैसे[८] यह कि '**अन्य लोग जहां पाये जावें, मारे जावें, पकड़े जावें**',[९] लिखा है [वैसे][१०] ही मुसलमानों पर कोई ऐसी ही आज्ञा देवे तो मुसलमानों को यह बात बुरी लगेगी वा नहीं? वाह! क्या हिंसक पैग़म्बर आदि हैं कि जो उन्होंने परमेश्वर से प्रार्थना करके अपने से दूसरों को दुगुणा दुःख देने के लिये प्रार्थना करना लिखा है! यह भी पक्षपात, मतलबसिन्धुपन और महा-अधर्म की बात है। इसी से अब तक भी मुसलमान

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ मुद्रणकाल में भ्रष्टपाठ**—मूलह०, मूलसं० में शुद्ध और पूर्णपाठ है। प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने मध्य के पाठ को त्रुटित छोड़ कर यह अपपाठ लिखा है—''**लानत मारे जावें खूब मारा जाना....**।'' मुद्रणकाल में प्रमादी शोधकों ने भी इस पर ध्यान नहीं दिया। द्विप्र० में और अधिक भ्रष्टपाठ छपा है—''**लानत मारे जहां पर दे आवे पकड़ने जावें क़तल किये जावें।**'' अब अन्य सभी सं० में इस पाठ को संशोधित कर लिया गया है। समीक्षा में शुद्ध पाठ है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं ५, ५४, ५५, ६५ अशुद्ध हैं, ६८ त्रुटित है। मूलह०, मुद्रणह०, भद में ५ के स्थान पर ५० अशुद्ध संख्या है।

३,४. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**है**'' कालविरुद्ध क्रिया है, ''**था**'' उपयुक्त है। ''**परन्तु**'' के स्थान पर ''**वैसे**'' प्रयोग चाहिए, क्योंकि पूर्ववाक्य में ''**जैसे**'' प्रयोग है।

५,८. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० दोनों स्थलों पर में ''**जैसा**'' अपप्रयोग है।

६. **त्रुटित आवश्यक पद**—''**वैसे**'' पद दोनों सं० में त्रुटित है। '**जैसे**' के सम्बन्ध से '**वैसे**' आवश्यक है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित व भ्रष्टपाठ और अनावश्यक पाठान्तर**—मूलह० में उपर्युक्त शुद्ध पाठ उपलब्ध है। प्रमादी मुद्रणलिपिकर ने यह भ्रष्टपाठ बनाया—''**मुसलमानों की स्त्रियों को दुःख देना बुरा है तो उनसे अन्य मनुष्यों को दुःख देना भी अवश्य बुरा है। जो ऐसा माने तो उसकी यह बात भी पक्षपात की है।**'' द्विप्र० में इसका संशोधन इस प्रकार कर दिया—''**जो ऐसा न माने तो....**।'' इससे पाठ तो शुद्ध हो गया किन्तु दोनों सं० में अनावश्यक विरोध और पाठान्तर उत्पन्न हो गया। दुःख की बात यह है कि अब कुछ लोग महर्षिप्रोक्त शुद्ध पाठ की तुलना में लिपिकरों-शोधकों के पाठ को महत्त्व देते हैं।

९. **क़ुरान में अन्य लोगों को पकड़ना, मारना, धिक्कार देना आदि का आदेश**—ऐसे आदेशों के लिए देखिए आयतखण्ड संख्या ८, २०, ३७, ५४, ५८, ६२, ६४, ७२, ८०, ८५, ८७, ८८, ९४, ९५, ११८, १४७, १४८, १५६, १७० आदि। क्रूरता देखिए कि आयत क्रम संख्या ८० में तो अन्य अर्थात् विधर्मी काफिर लोगों को मारने का तथा उनकी बीबियों को जिन्दा रखने का आदेश है। १४१ में तो स्पष्ट लिखा है कि ''**फिर मारा हमने औरों को**''।

१०. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वैसे**'' त्रुटित पद है। ''**जैसे**'' के सम्बन्ध से अपेक्षित है।

लोगों में से बहुत से शठ लोग ऐसा ही कर्म करने से[१] नहीं डरते। **यह ठीक है कि सुशिक्षा के विना मनुष्य पशु के समान रहता है।।** १३७॥

१३८. और अल्लाह वह पुरुष है कि भेजता है हवाओं को; बस, उठाती हैं बादलों को; बस, हांक लेते हैं तरफ़[२] शहर मुर्दे[३] की; बस, जीवित किया हमने साथ उसके पृथिवी को पीछे मृत्यु उसकी के, इसी प्रकार क़ब्रों[४] में से निकलना है। ९। जिसने उतारा बीच घर सदा रहने के दया अपनी से, नहीं लगती हमको बीच उसके मेहनत और नहीं लगती बीच उसके मांदगी[५]। ३५।

मं० ५। सि० २। सू० ३५। आ० ९। ३५॥

समीक्षक—वाह! क्या 'फ़िलासफ़ी' है ख़ुदा की! भेजता है वायु को, वह उठाता फिरता है बद्दलों को! और ख़ुदा उससे मुर्दों[६] को जिलाता फिरता है! यह बात ईश्वर सम्बन्धी कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर का काम निरन्तर एक-सा होता रहता है। जो घर होंगे वे विना बनावट के नहीं हो सकते[७] और जो बनावट के हैं वे सदा नहीं रह सकते। **जिसका शरीर है वह परिश्रम के विना दुःखी होता है और शरीरवाला रोगी हुए विना कभी नहीं बचता।** जो एक स्त्री से समागम करता है वह विना रोग के नहीं बचता, तो जो बहुत स्त्रियों से विषयभोग करता है, उसकी क्या ही दुर्दशा होती होगी? इसलिये मुसलमानों का बहिश्त भी सुखदायक सदा नहीं हो सकता॥ १३८॥

१३९. क़सम है 'क़ुरान' दृढ़ की। २। निश्चय तू भेजे हुओं से है। ३। ऊपर मार्ग सीधे के। ४। उतारा है ग़ालिब दयालु ने। ५। मं० ५। सि० २३। सू० ३६। आ० २। ३। ४। ५॥[८]

समीक्षक—अब देखिये, यह '**क़ुरान**' ख़ुदा का बनाया होता[९] तो वह इस की सौगंद[१०] क्यों खाता? यदि नबी ख़ुदा का भेजा होता, तो लेपालक बेटे की स्त्री पर मोहित क्यों होता? यह कथनमात्र है कि '**क़ुरान**' के माननेवाले सीधे मार्ग पर हैं, **क्योंकि सीधा मार्ग वही होता है जिसमें सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, पक्षपातरहित-न्याय-धर्म का आचरण करना आदि हैं, और इनसे विपरीत का त्याग करना।** सो न '**क़ुरान**' में, न मुसलमानों में और न इनके ख़ुदा में ऐसा स्वभाव है। यदि सब

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**में**" अपप्रयोग है।

२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तर्फ़**" अपवर्तनी है। उदयपुर सं० आदि में भी अशुद्ध वर्तनी है।

३,६. **अयोग्य शोधक और मुद्रणकालीन अपवर्तनी**—अयोग्य शोधकों की लीला देखिए। एक ही स्थान पर पहले शब्द की "**मुरदे**" अपवर्तनी है और दूसरे शब्द की शुद्ध वर्तनी "**मुर्दों**" है। यह अपस्थिति द्विप्र० में है। अन्य सभी सं० में संशोधित है। दोनों हस्त० में भी शुद्ध वर्तनियां हैं।

४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क़बरों**" अपवर्तनी है।

५. **मांदगी**=थकावट।

७. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मूलह० के पाठ को प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने अपपाठ बना दिया—"**जो घर होगा वे बिना बनावट के नहीं हो सकते।**" यही अपपाठ द्विप्र० में है। अन्य सभी सं० में संशोधित है। इस वाक्य का अग्रिम वाक्यखण्ड भी सभी सं० में व्याकरणिक अपरचना है। उसमें बहुवचन अभीष्ट है।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां २ से पूर्व १, २ संख्या अशुद्ध है। ३, ४, ५ आयतसंख्याएं त्रुटित हैं।

९. **शैलीविरुद्ध पाठ**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**कुरान.....बनाई होती**" स्त्रीलिंग प्रयोग अशुद्ध है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में प्रयुक्त पुंल्लिंग प्रयोग शुद्ध है।

१०. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**सौगन्ध**" अपवर्तनी है। मुद्रणह०, द्विप्र०, में "**सोगन्द**" अपवर्तनी है। द्वि०सं० में संशोधित है। उदयपुर सं० में फिर से इसको "**सौगन्ध**" अशुद्ध प्रयोग बना दिया।

पर प्रबल पैग़म्बर मुहम्मद साहब होते, तो सबसे अधिक विद्यावान् और शुभगुणयुक्त क्यों न होते? इसलिये जैसे[१] कूंजड़ी अपने बेरों को खट्टा नहीं बतलाती, वैसी यह बात भी है॥ १३९ ॥

१४०. और फूंका जावेगा बीच सूर[२] के, बस नागहां[३], वह कब्रों[४] में से तरफ़[५] मालिक अपने की दौड़ेंगे। ५१।[६] ....और गवाही देंगे पाँव उनके साथ उस वस्तु के कि थे कमाते। ६५। सिवाय इसके नहीं कि आज्ञा उसकी, जब चाहे उत्पन्न करना किसी वस्तु को, यह कि कहता वास्ते उसके कि 'हो जा', बस हो जाता है। ८२।[७] मं० ५। सि० २३। सू० ३६। आ० ५१। ६५। ८२॥[८]

समीक्षक—अब सुनिये ऊटपटांग बातें! [क्या][९] पग कभी गवाही दे सकते हैं? ख़ुदा के सिवाय उस समय कौन था जिसको आज्ञा दी? किसने सुनी? और कौन बन गया? यदि [आज्ञा] न थी तो यह बात झूठी, और जो थी तो वह बात कि[१०] 'जो सिवाय ख़ुदा के कुछ चीज़ नहीं थी और ख़ुदा ने सब कुछ बना दिया', वह झूठी हुई[११] ॥ १४० ॥

१४१. फिराया जावेगा उनके ऊपर प्याला शराब शुद्ध का। ४५। सफ़ेद,[१२] मज़ा देने वाली, वास्ते पीनेवालों के। ४६। समीप उनके बैठी होंगी नीचे आँख रखनेवालियां, सुन्दर आँखोंवालियां। ४८। मानो कि वे अण्डे हैं छिपाये हुए। ४९। क्या बस हम नहीं मरेंगे। ५८। और अवश्य लूत निश्चय पैग़म्बरों से था। १३३।[१३] जब कि मुक्ति दी हमने उसको और लोगों उसके को सबको। १३४। परन्तु एक बुढ़िया पीछे रहनेवालों में है। १३५।[१४] फिर मारा हमने औरों को। १३६।

मं० ६। सि० २३। सू० ३७। आ० ४५। ४६। ४८। ४९। ५८। १३३। १३४। १३५। १३६॥[१५]

समीक्षक—क्यों जी! यहां तो मुसलमान लोग शराब को बुरा बतलाते हैं परन्तु इनके स्वर्ग में तो नदियां ही नदियां बहती हैं! **इतना तो अच्छा है कि यहां किसी प्रकार मद्य पीना तो छुड़ाया है,** परन्तु

---

१. **अपपाठ**—"**जैसी कूंजड़ी.....बतलाती**" दोनों हस्त० और तीनों सं० में अपपाठ है। उदयपुर सं० में भी अशुद्ध वाक्य है।

२. **सूर**=तुरही, रणसिंगा। ३. **नागहां**=अचानक।

४-५. **अपवर्तनी एवं त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कबरों**" और "**तर्फ़**" अपवर्तनियां हैं मुद्रणह०, द्विप्र० में "**तर्फ़**" पद मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित है। उदयपुर आदि सं० में भी अशुद्ध हैं।

६. **मुर्दों के उठने की पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य है आयतखण्ड संख्या ३, १३, १२२, १३२, १५८, १५९।

७. "**हो जा**" **की पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या २८, ५४ भी।

८. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में यहां ६१, ७८ और द्विप्र० में यहां ४८, ६१, ७८ आयतसंख्याएं अशुद्ध हैं। द्वि०सं० में ५३; भद में ५३, ६४, संख्याएं अशुद्ध हैं।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—यहां दोनों हस्त० और तीनों सं० में 'क्या' पद-परिवर्धन अपेक्षित है।

१०-११. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कि**" और "**हुई**" क्रमशः योजक और क्रियापद त्रुटित हैं।

१२. **अपवर्तनी**—द्विप्र० व उदयपुर सं० में "**सपैद**", द्वि०सं० में "**सफ़ैद**" अपवर्तनी है। ये फारसी मूल के शब्द हैं, फारसी में "**सफ़ेद**" और "**सपेद**" दोनों शुद्ध हैं।

१३,१४. **लूत और बुढ़िया का सन्दर्भ**—यह बुढ़िया लूत नामक यहूदी पैगम्बर की पत्नी थी। लूत का उल्लेख बाइबल में भी आता है (द्र० समु० १३ में आयत २३ तथा बाइबल की पुस्तक 'उत्पत्ति' में पर्व १९)। लूत जब अपनी दो बेटियों को लेकर 'सोअर' नामक देश में गया तो यह बुढ़िया उसके साथ नहीं गई। यही वह पैगम्बर है जिसने अपनी दो बेटियों से शराब के नशे में सन्तान उत्पन्न की थी। आश्चर्य है फिर भी उसको यहूदी, ईसाई, इस्लाम मतों में पैगम्बर माना जाता है!!

१५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—द्विप्र० में यहां ४३,४४,४७,५६,१२६,१२७,१२८,१२९ आयतसंख्याएं अशुद्ध हैं। मूलह०, मुद्रणह०, भद में ४३,५६,१२६,१२७,१२८ अशुद्ध हैं, ४८,४९,५८,१३३-१३६ त्रुटित हैं। मूलसं० में ४३ अशुद्ध है।

यहां के बदले वहां इनके[१] स्वर्ग में बड़ी खराबी है! मारे स्त्रियों के वहां किसी का चित्त स्थिर नहीं रहता होगा! और बड़े-बड़े रोग भी होते होंगे! यदि शरीरवाले होंगे तो अवश्य मरेंगे और जो शरीरवाले न होंगे, तो भोग-विलास ही न कर सकेंगे। फिर उनका स्वर्ग में जाना[२] व्यर्थ है। यदि लूत को पैग़म्बर मानते हैं तो जो '**बाइबल**' में लिखा है कि उससे उसकी लड़कियों ने समागम करके दो लड़के पैदा किये[३], इस बात को भी मानते हो वा नहीं? जो मानते हो, तो ऐसे को पैग़म्बर मानना व्यर्थ है। और जो ऐसे और ऐसे के संगियों को खुदा मुक्ति देता है तो वह ख़ुदा भी वैसा ही है, क्योंकि बुढ़िया की कहानी कहनेवाला और पक्षपात से दूसरों को मारनेवाला ख़ुदा कभी नहीं हो सकता। ऐसा ख़ुदा मुसलमानों के ही घर में रह सकता है, अन्यत्र नहीं॥ १४१ ॥

१४२. बहिश्तें हैं सदा रहने की, खुले हुए हैं दर उनके वास्ते उनके। ५०। तकिये किये हुए बीच उनके, मंगावेंगे बीच इसके मेवे और पीने की वस्तु। ५१। और समीप होंगी उनके, नीचे रखनेवालियां दृष्टि और दूसरों से सम-आयु। ५२। बस, सिज़्दा किया फ़रिश्तों[४] ने सबने। ७३। परन्तु शैतान ने न माना, अभिमान किया और था काफ़िरों से। ७४। ऐ शैतान! किस वस्तु ने रोका तुझको, यह कि सिज़्दा करे वास्ते उस वस्तु के कि बनाया मैंने साथ दोनों हाथ अपने के, क्या अभिमान किया तूने वा था तू बड़े अधिकारवालों से?। ७५। कहा, कि मैं अच्छा हूँ उस वस्तु से, उत्पन्न किया तूने मुझको आग से, उसको मिट्टी से। ७६। कहा, बस निकल इन आसमानों में से, बस, निश्चय तू चलाया गया है। ७७। निश्चय तेरे लानत है मेरी दिन जज़ा[५] तक। ७८। कहा, ''ऐ मालिक मेरे! ढील दे उस दिन तक कि उठाये जावेंगे मुर्दे। ७९।'' कहा कि ''बस, निश्चय तू ढील दिये गयों से है। ८०। उस दिन समय ज्ञात तक। ८१।'' कहा कि ''बस, क़सम है प्रतिष्ठा तेरी की,[६] अवश्य गुमराह करूंगा उनको मैं इकट्ठे। ८२।'' मं० ६। सि० २३। सू० ३८। आ० ५०।५१।५२।७३-८२॥[७]

समीक्षक—यदि वहां, जैसे कि '**क़ुरान**' में बाग़-बगीचे, नहरें, मकान-आदि लिखे[८] हैं, वैसे हैं, तो वे न सदा से थे, न सदा रह सकते हैं; क्योंकि जो संयोग से पदार्थ होता है वह संयोग के पूर्व न था, अवश्यम्भावी वियोग के अन्त में न रहेगा। जब वह बहिश्त ही न रहेगा तो उसमें रहनेवाले सदा

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**उनके स्वर्ग में**'' अपप्रयोग है। यह अपप्रयोग वेस, युमी, उदयपुर, भद आदि सभी संस्करणों में है। **संशोधन-पुष्टि**—समीक्षा के प्रथम वाक्य में ''**इनके स्वर्ग में**'' शुद्ध प्रयोग है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपपाठ है—''**फिर उनके स्वर्ग में जाना व्यर्थ है।**'' यही अपपाठ उदयपुर सं० में है। वेस, भद, युमी, विस, जस में संशोधित है।

३. **लूत** (Lot) से उसकी दो लड़कियों के समागम और पुत्र होने का वर्णन बाइबल की 'उत्पत्ति' पुस्तक के १९ पर्व में द्रष्टव्य है। इस ग्रन्थ में भी समु० १३ में आयतखण्ड संख्या २३, २४ द्रष्टव्य हैं। देखिये गत पृष्ठ पर टिप्पणी १३, १४।

४. **अपवर्तनी**—द्विप्र० में ''**फरिस्तों**'' अपवर्तनी है। अन्य सभी में अब संशोधित है।

५. **ज़जा**=न्याय, बदला, कर्मफल। मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**जज़ात**'' अशुद्ध है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

६. **अपप्रयोग**—मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां ''**कि**'' अपप्रयोग है। अन्य सं० में संशोधित है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ४३-४५, ६३-७२ अशुद्ध हैं। उदयपुर सं० में ७९ संख्या त्रुटित है।

८. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में ''**मकान आदि ये लिखा है, वैसे हैं**'' अपवाक्य है। ''**लिखे हैं**'' बहुवचन चाहिए। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

क्योंकर रह सकते हैं? क्योंकि 'गद्दी,[१] तकिये, मेवे और पीने के पदार्थ वहां मिलेंगे' लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस समय मुसलमानों का मज़हब चला, उस समय अरब देश[२] विशेष धनाढ्य न था, इसीलिये मुहम्मद साहब ने तकिये आदि की कथा सुनाकर ग़रीबों को अपने मत में फसा लिया।[३] और जहां स्त्रियां हैं वहां निरन्तर सुख कहां? वे स्त्रियां वहां कहां से आई हैं? अथवा बहिश्त की रहीस[४] हैं? यदि आई हैं तो जावेंगी और जो वहीं की रहीस हैं तो क़यामत के पूर्व क्या करती थीं? क्या निकम्मी अपनी उम्र को बहा रही थीं?

अब देखिये ख़ुदा का तेज कि जिसका हुक्म अन्य सब फ़रिश्तों ने माना और आदम साहब को नमस्कार किया और शैतान ने न माना! **ख़ुदा ने शैतान से कहा कि 'मैंने तुझको अपने दोनों हाथों से बनाया, तू अभिमान न कर।' इससे यह सिद्ध हुआ कि 'क़ुरान' का ख़ुदा दो हाथ वाला मनुष्य था।** इसलिये वह व्यापक वा सर्वशक्तिमान् कभी नहीं हो सकता। और शैतान ने सत्य कहा कि मैं आदम से उत्तम हूं, इस पर ख़ुदा ने गुस्सा क्यों किया? क्या आसमान ही ख़ुदा का घर है, पृथिवी पर[५] नहीं? तो काबे को ख़ुदा का घर प्रथम क्यों लिखा? भला, परमेश्वर अपने में से वा सृष्टि में से अलग कैसे निकाल सकता है? और वह सृष्टि सब परमेश्वर की है। इससे स्पष्ट विदित हुआ कि '**क़ुरान**' का खुदा बहिश्त का ज़िम्मेदार था। खुदा ने उसको लानत=धिक्कार दिया, और क़ैद कर लिया। शैतान ने कहा कि 'हे मालिक! मुझको क़यामत तक छोड़ दे।' खुदा ने ख़ुशामद से छोड़ दिया क़यामत के दिन तक। जब शैतान छूटा तो ख़ुदा से कहता है कि 'अब मैं खूब बहकाऊंगा और ग़दर मचाऊंगा।' तब ख़ुदा ने कहा कि 'जितनों को तू बहकावेगा, मैं उनको दोज़ख में डाल दूंगा[६] और तुझ को भी।'[७]

अब सज्जन लोगो विचारिये कि शैतान को बहकानेवाला ख़ुदा है वा आप से वह बहका? यदि खुदा ने बहकाया, तो वह शैतान का शैतान ठहरा। यदि शैतान स्वयं बहका, तो अन्य जीव भी स्वयं बहकेंगे, शैतान की जरूरत नहीं! और जिससे इस बाग़ी शैतान को ख़ुदा ने खुला छोड़ दिया, इससे विदित हुआ कि वह भी शैतान का शरीक अधर्म कराने में हुआ। यदि स्वयं चोरी कराके दण्ड देवे, तो उसके अन्याय का कुछ भी पारावार नहीं॥ १४२॥

१४३. ....अल्लाह क्षमा करता है पाप सारे, निश्चय वह है क्षमा करनेवाला[८] दयालु। ५३।[९]

१-२. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**गादी**" और दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अर्ब देश**" वर्तनी है। मानकता और एकरूपता के लिए '**अरब**' वर्तनी सर्वत्र ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**गरीबों को अपने मत में फंसा लिये**" अपवाक्य है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध कर लिया है।

४. **रहीस**=रहनेवाली।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**पृथिवी में**" अपवाक्य है। अन्य सभी सं० में यही अपप्रयोग है।

६. **अपवाक्य**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है "**जितने को तू बहकावेगा, मैं उनको दोज़ख में डाल दूंगा**"। **पं० मीमांसक सं०** को छोड़कर सभी सं० में संशोधन कर लिया गया है।

७. **शैतान और खुदा की बहस**—इस सन्दर्भ की जानकारी के लिए द्रष्टव्य है आयतखण्ड संख्या ७७।

८. **कुरान में परस्परविरोधी तथा स्वेच्छाचारिता पर आधारित कथन**—कुरान में एक ओर कथन है कि क़यामत के समय, न्याय के दिन सबको कर्मपत्र दिया जायेगा जिसमें उनके कर्मों के अनुसार उनको अच्छा-बुरा फल दिया जायेगा (द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या १०७, १६४ आदि)। दूसरी ओर अल्लाह की स्वेच्छाचारिता का कथन है कि वह जिसको चाहेगा क्षमा करेगा, जिसको चाहेगा दण्ड देगा (द्र० आयतखण्ड संख्या २५, ४०, ४७, ४९, ५२, ७२, १०४, १४३ आदि)।

....और पृथिवी सारी मूठी में है उसकी दिन क़यामत के, और आसमान लपेटे हुए हैं बीच दाहिने हाथ उसके के....। ६७। और चमक जावेगी पृथिवी साथ प्रकाश मालिक अपने के और रक्खे जावेंगे कर्मपत्र और लाया जावेगा पैग़म्बरों को और गवाहों को और फैसला किया जावेगा। ६९।

मं० ६। सि० २४। सू० ३९। आ० ५३। ६७। ६९॥[१]

समीक्षक—यदि समग्र पापों को खुदा क्षमा करता है तो जानो सब संसार को पापी बनाता है और दयाहीन है, **क्योंकि एक दुष्ट पर दया और क्षमा करने से वह अधिक दुष्टता करेगा और बहुत धर्मात्माओं को दुःख पहुँचावेगा। यदि किञ्चित् भी अपराध क्षमा किया जावे, तो अपराध ही अपराध जगत् में छा जावे।**

क्या परमेश्वर अग्निवत् प्रकाशवाला है? और कर्मपत्र कहां जमा रहते हैं और कौन लिखता है? यदि पैगम्बरों और गवाहों के भरोसे ख़ुदा न्याय करता है, तो वह असर्वज्ञ और असमर्थ है। यदि वह अन्याय नहीं करता, न्याय ही करता है, तो कर्मों के अनुसार करता होगा। वे कर्म पूर्व[२] और वर्तमान जन्मों के हो सकते हैं, तो फिर क्षमा करना, **'दिलों पर ताला लगाना'** और शिक्षा न करना, शैतान से बहकवाना, दौरासुपुर्द[३] रखना केवल अन्याय है[४]॥ १४३॥

१४४. उतारना किताब का अल्लाह ग़ालिब जाननेवाले की ओर से है। २। क्षमा करनेवाला पापों का और स्वीकार करनेवाला तौबा का.....। ३। मं० ६। सि० २४। सू० ४०। आ० २। ३॥[५]

समीक्षक—यह बात इसलिये है कि भोले लोग अल्लाह के नाम से इस पुस्तक को मान लेवें कि जिसमें थोड़ा-सा सत्य छोड़ असत्य भरा है और वह सत्य भी असत्य के साथ मिलकर बिगड़ा-सा है। इसीलिये **'क़ुरान'** और **'क़ुरान'** का ख़ुदा और इसको माननेवाले पाप बढ़ानेहारे और पाप करने-करानेवाले हैं, क्योंकि **'पाप का क्षमा करना'[६] अत्यन्त अधर्म है। किन्तु इसी से मुसलमान लोग पाप और उपद्रव करने में कम डरते हैं॥** १४३॥

१४५. बस, नियत किया उसको सात आसमान बीच[७] दो दिन के, और डाल दिया हमने बीच

---

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**दयालू**" अपवर्तनी है। अन्य सभी में संशोधित है।

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में आयतसंख्याएं ५४, ६८, ७० अशुद्ध हैं।

२. **भ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह भ्रष्टवाक्य है—"**ये कर्म पूर्वापर और वर्तमान जन्मों के हो सकते हैं।**" यहां "**पूर्वापर**" के स्थान पर केवल "**पूर्व**" पाठ वांछनीय है। अन्य वेस, भद, युमी, उदयपुर आदि सभी सं० में भ्रष्टपाठ है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में "**दौड़ासुपुर्द**" अपवर्तनी है। भद, युमी, उदयपुर सं० में अपवर्तनी है।

४. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० व मूलप्रति सं० में यह अपवाक्य है—"**तो फिर क्षमा करता, दिलों पर ताला लगाता और शिक्षा न करनी, शैतान से बहकाना, दौरा-सुपुर्द रखना केवल अन्याय है।**" द्वि० सं० में इसको संशोधित कर दिया है। अन्य सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अपपाठ ही है।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं १ अशुद्ध है, २ शुद्ध है, ३ त्रुटित है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यह अपवाक्यांश है—"**पाप की क्षमा करनी**"। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

७. **मुद्रणलिपिकर द्वारा अपपाठ**—मूलह० के शुद्ध पाठ को मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश अशुद्ध बना दिया—"**साथ आसमान बीच**"। द्विप्र० में यही अशुद्ध पाठ है। **पं० भगवद्दत्त जी** और **पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** के सं० में "**उसने साथ आसमान**" अशुद्ध पाठ है।

उनके काम उनका[१]....। १२। यहाँ तक कि जब जावेंगे उसके पास, साक्ष्य[२] देंगे ऊपर उनके, कान उनके और आँखें उनकी और चमड़े उनके, उनके कर्म से। २०। और कहेंगे वास्ते चमड़े अपने के क्यों साक्षिता दी तूने ऊपर हमारे? कहेंगे कि बुलाया है हमको अल्लाह ने जिसने बुलाया हर वस्तु को। २१। ....अवश्य जिलानेवाला है मुर्दों को....। ३९।

मं० ६। सि० २४। सू० ४१। आ० १२। २०। २१। ३९॥

समीक्षक—वाह जी वाह मुसलमानो! तुम्हारा ख़ुदा जिसको तुम सर्वशक्तिमान् मानते हो, तो वह सात आसमानों को दो दिन में बना सका, और जो सर्वशक्तिमान् है वह क्षणमात्र में सबको बना सकता है। भला, कान, आंख और चमड़े को ईश्वर ने जड़ बनाया है, वे साक्ष्य कैसे दे सकेंगे? यदि साक्ष्य दिलावे, तो उसने प्रथम जड़ क्यों बनाया? और अपना पूर्वापर काम नियमविरुद्ध क्यों किया? एक इससे भी बढ़के मिथ्या बात यह कि जब जीवों पर साक्षिता दी, तब वे जीव अपने-अपने चमड़े से पूछने लगे कि 'तूने हमारे पर साक्षिता क्यों दी? चमड़ा बोला[३] कि खुदा ने दिलायी, मैं क्या करूं!' भला, यह बात कभी हो सकती है? जैसे कोई कहे कि 'वन्ध्या के पुत्र का मुख मैंने देखा', यदि पुत्र है तो वन्ध्या क्यों? जो वन्ध्या है तो उसके पुत्र ही होना असम्भव है। इसी प्रकार की यह भी मिथ्या बात है। यदि वह मुर्दों को जिलाता है, तो प्रथम मारा ही क्यों? क्या आप भी मुर्दा हो सकता है[४] वा नहीं? यदि नहीं हो सकता, तो मुर्दापन को बुरा क्यों समझता है? और क़यामत की रात तक मृतक जीव किस मुसलमान के घर में रहे[५]? और खुदा ने विना अपराध दौरासुपुर्द क्यों रक्खा?[६] शीघ्र न्याय क्यों न किया? ऐसी-ऐसी बातों से ईश्वरता में बट्टा लगता है॥ १४५॥

१४६. वास्ते उसके कुंजियां[७] हैं आसमानों की और पृथिवी की, खोलता है भोजन जिसके वास्ते चाहता है और तंग करता है....। १२। उत्पन्न करता है जो कुछ चाहता है और देता है जिसको चाहे बेटियां और जिसको चाहे बेटे। ४९। वा मिला देता है उनको बेटे-बेटियां[८] और कर देता है

---

१. **आयत का अप-अनुवाद**—दोनों हस्त०, तीनों संस्करणों में यह अप-अनुवाद है—"**बस नियत किया उसको सात आसमान बीच दो दिन के और डाल दिया हमने बीच उसके काम उसका।**" वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में अपपाठ है। यहां "**सात आसमान**" के सम्बन्ध से बहुवचनात्मक पाठ चाहिये। कुरान में बहुवचनात्मक पाठ है।

२. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**साक्षी**" अपप्रयोग है। शुद्ध "**साक्ष्य**" या '**साक्षिता**' है। इस आयत और समीक्षा में यह शब्द छह बार अशुद्ध रूप में प्रयुक्त है। उदयपुर आदि सं० में सभी अशुद्धियां विद्यमान हैं।

३. **मुद्रणकाल में अपप्रयोग**—द्विप्र०, द्वि०सं० में "**चमड़ा बोलेगा**" अपप्रयोग है। मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० का पाठ ठीक है।

४. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—"**क्या आप भी मुर्दा हो सकता है वा नहीं?**" उपर्युक्त मूलह० का पाठ अधिक ग्राह्य है। सभी सम्पादकों ने उपर्युक्त पाठ को ग्रहण किया हुआ है, किन्तु मुद्रणह० और द्विप्र० में मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय इस प्रकार अपपाठ बनाया है—"**क्या अब भी मुर्दा हो सकता है वा नहीं?**" **पं० मीमांसक जी** ने इस पाठ को अपने ढंग से गलत परिवर्तित किया है—"**क्या अब भी मुर्दा [जीवित] हो सकता है वा नहीं?**"

५. **अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां "**रहेंगे**" अपक्रिया है, अगले वाक्यों के सम्बन्ध से भूतकालीन "**रहे**" क्रिया उचित है, यही ग्राह्य है। दोनों हस्त०, मूलसं० में यही क्रिया-प्रयोग है। अन्य उदयपुर आदि सभी सं० में अपक्रिया-प्रयोग है।

६. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**दौरासुपुर्द खुदा ने विना अपराध क्यों रखा?**" अस्त-व्यस्त वाक्य है। "**दौरासुपुर्द**" खुदा का विशेषण होकर अशुद्ध अर्थ प्रकट कर रहा है। इसका आसत्ति-सम्बन्ध "**क्यों रखा**" पदों के साथ है, अतः इनका उनसे पूर्व सही स्थान है। सभी सं० में यही अपपाठ है। इसी प्रकार प्रायः सभी सं० में "**दौड़ासुपुर्द**" अपवर्तनी है।

७,८. **मुद्रणकालीन अपवर्तनी एवं भ्रष्टपाठ**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**कूंजियां**" अपवर्तनी है और "**बेटियाओं का देता है**"

जिसको चाहे बांझ....। ५०। और नहीं है शक्ति किसी आदमी की[१] कि बात करे उससे अल्लाह, परन्तु जी (दिल) में डालकर, वा पीछे परदे* के से, वा भेजे फ़रिश्ता[२] पैग़ाम लानेवाला। ५१।

मं० ६। सि० २५। सू० ४२। आ० १२। ४९। ५०। ५१ ॥[३]

समीक्षक—खुदा के पास कुंजियों का भण्डार भरा होगा, क्योंकि सब ठिकाने के ताले खोलने होते होंगे! यह लड़केपन की बात है। **क्या जिसको चाहता है उसको विना पुण्य कर्म के ऐश्वर्य देता है और[विना पाप के][४] तंग करता है? यदि ऐसा है तो वह बड़ा अन्यायकारी है।** अब देखिये '**क़ुरान**' बनाने वाले की चतुराई कि जिससे स्त्रीजन भी मोहित होके फसें! यदि जो कुछ चाहता है उत्पन्न करता है, तो दूसरे ख़ुदा को उत्पन्न कर सकता है वा नहीं? यदि नहीं कर सकता, तो सर्वशक्तिमत्ता यहां पर अटक गई। भला, मनुष्यों को तो जिनको चाहे बेटे-बेटियां ख़ुदा देता है परन्तु मुरगी, मच्छी, सुअरी आदि जिनके बहुत बेटे-बेटियां होते हैं,[५] कौन देता है? और स्त्री-पुरुष के समागम विना क्यों नहीं देता? किसी को अपनी इच्छा से बांझ रखके दुःख क्यों देता है?

वाह! क्या खुदा तेजस्वी है कि उसके सामने कोई बात ही नहीं कर सकता! परन्तु उसने पहले कहा है कि परदा डालके बात कर सकता है वा फ़रिश्ते लोग ख़ुदा से बात करते हैं अथवा पैग़म्बर। जो ऐसी बात है, तो फ़रिश्ते और पैग़म्बर खूब अपना मतलब [सिद्ध][६] करते होंगे! यदि कोई कहे ख़ुदा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है, तो 'परदे से बात करना' अथवा डाक के तुल्य खबर मंगाके जानना-लिखना व्यर्थ है। और जो ऐसा ही है, तो वह ख़ुदा ही नहीं, किन्तु कोई चालाक मनुष्य होगा। इसीलिये

---

* इस आयत के भाष्य '**तफ़सीरहुसैनी**' में लिखा है कि ''मुहम्मद साहब दो परदों[७] में थे और खुदा की आवाज सुनी। एक परदा[८] ज़री का था, दूसरा श्वेत मोतियों का और दोनों परदों[९] के बीच में सत्तर वर्ष चलने योग्य मार्ग था?'' बुद्धिमान् लोग इस बात को विचारें कि यह खुदा है वा परदे[१०] की ओट से बात करनेवाली स्त्री? इन लोगों ने तो ईश्वर की ही दुर्दशा कर डाली। कहाँ वेद तथा उपनिषदादि सद्ग्रन्थों में प्रतिपादित शुद्ध परमात्मा और कहाँ कुरानोक्त परदे[११] की ओट से बात करनेवाला खुदा! सच तो यह है कि अरब के लोग अविद्वान् थे, उत्तम बात लाते किसके घर से?[१२]

अपपाठ है। शोधकों की प्रमादलीला देखिए कि समीक्षा के प्रथम वाक्य में ''**कुंजियां**'' वर्तनी शुद्ध है तथा ''**बेटियां**'' बेटियां प्रयोग शुद्ध है। एक ही स्थान पर दो तरह के पाठ प्रमादलीला के उदाहरण हैं। सभी द्वि०सं० में अब पाठ संशोधित है।

१. **अपप्रयोग**—द्वि०सं० में ''**को**'' अपप्रयोग है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां ''**फ़रिश्ते पैगाम लानेवाला**'' बहुवचनान्त प्रयोग व्याकरणिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। आगामी क्रिया के सम्बन्ध से ''**फ़रिश्ता**'' एकवचन पाठ अपेक्षित है। यही पाठ कुरान में है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि सभी सं० में अशुद्ध पाठ है।

३. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्याएं १०, ४७, ४८ अशुद्ध हैं, ५०, ५१ त्रुटित हैं।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत '**बिना पाप के**' त्रुटित है।

५. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**परन्तु मुरगे, मच्छी, सूअर आदि जिनके बहुत बेटा-बेटियां होती हैं**'' व्याकरणिक अपपाठ है। यही अपपाठ अन्य वेस, भद, युमी, उदयपुर, विस, जस आदि सभी सं० में विद्यमान है।

६. **त्रुटित पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**सिद्ध**'' पद त्रुटित होने से यह अपवाक्य हो गया है। मूलप्रति सं० में है, वही ग्राह्य है।

७-११. **अशुद्ध अव्यवस्थित वर्तनी**—आयतखण्ड समीक्षा तथा टिप्पणी में आठ बार '**पर्दा या परदा**' का प्रयोग हुआ है। लिपिकर की अयोग्यता का नग्न रूप देखिए कि दोनों संस्करणों में दो स्थानों पर '**पर्दा**' वर्तनी लिखी है और छह स्थानों पर '**परदा**'। एक ही पंक्ति में दो-दो प्रकार की वर्तनियां हैं! मानकता, एकरूपता के लिए '**परदा**' वर्तनी सर्वत्र ग्राह्य है।

१२. **मुद्रणकालीन टिप्पणी एवं पाठग्रहण**—यह टिप्पणी मूल और मुद्रण दोनों हस्तलेखों में नहीं है। यह मुद्रणकाल में मुंशी समर्थदान जी द्वारा लिखित है। मूलसं० में द्विप्र० से इसको ग्रहण किया गया है। प्रथम बार द्विप्र० में ही यह छपी है।

यह '**क़ुरान**' ईश्वरकृत कभी नहीं हो सकता॥ १४६ ॥

१४७. और जब आया ईसा साथ प्रमाण प्रत्यक्ष के.....। ६३।

मं० ६। सि० २५। सू० ४३। आ० ६३॥[१]

समीक्षक—यदि ईसा भी भेजा हुआ ख़ुदा का है तो उसके उपदेश से विरुद्ध '**क़ुरान**' ख़ुदा ने क्यों बनाया ?[२] और '**क़ुरान**' से विरुद्ध '**इंजील**'[३] क्यों की[४] ? इसीलिये ये किताबें ईश्वरकृत नहीं हैं॥ १४७ ॥

१४८. पकड़ो उसको, बस, घसीटो उसको बीचों-बीच दोज़ख़ के। ४७। इसी प्रकार रहेंगे और विवाह[५] देंगे उनको साथ गोरियों, अच्छी आंखोंवालियों[६] के। ५४।

मं० ६। सि० २५। सू० ४४। आ० ४७। ५४॥[७]

समीक्षक—वाह! क्या ख़ुदा न्यायकारी होकर पकड़वाता और घसीटवाता है प्राणियों को ? जब मुसलमानों का ख़ुदा ही ऐसा है तो उसके उपासक मुसलमान अनाथ-निर्बलों को पकड़ें-घसीटें तो इसमें क्या आश्चर्य है!! और वह संसारी मनुष्यों के समान विवाह भी कराता है, जानो कि मुसलमानों का पुरोहित ही है॥ १४८ ॥

१४९. बस, जब तुम मिलो उन लोगों से कि काफ़िर हुए, बस, मारो गर्दन उनकी[८], यहां तक कि जब चूर कर दो उनको, बस, दृढ़ करो[९] क़ैद करना....। ४। और बहुत बस्तियां हैं कि वे बहुत कठिन थीं शक्ति में बस्ती तेरी से, जिसने निकाल दिया तुझको, मारा हमने उनको; बस, न कोई हुआ साहाय्य देनेवाला उनका। १३। तारीफ़ उस बहिश्त की कि प्रतिज्ञा किये गये हैं परहेज़गार, बीच उसके नहरें हैं बिन बिगड़े पानी की, और नहरें हैं दूध की कि नहीं बदला मज़ा उनका, और नहरें हैं शराब की मज़ा देनेवाली वास्ते पीनेवालों के, और नहरें हैं[१०] शहद साफ़ किये गये की, और वास्ते उनके बीच उसके मेवे हैं, प्रत्येक प्रकार के दान[११] मालिक उनके से। १५।

मं० ६। सि० २६। सू० ४७। आ० ४। १३। १५॥

---

१. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र० में यहां आयतसंख्या ६२ अशुद्ध है।

२. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में "**क़ुरान बनाई**" स्त्रीलिंग प्रयोग है। द्विप्र० आदि में शुद्ध कर लिया है।

३. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**अञ्जील**" अपवर्तनी है। वेस, भद में भी अपवर्तनी है।

४. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह० में यहां "**क्योंकि**" अशुद्ध लिखा है। द्विप्र० में "**क्यों की ?**" पाठ त्रुटित है। अन्य सभी सं० में ग्रहण किया हुआ है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है।

५. **अयोग्य लिपिकर-शोधक और अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में यहां अशुद्ध वर्तनी "**विआह**" है। प्रमादलीला की पराकाष्ठा देखिए कि समीक्षा में शुद्ध वर्तनी "**विवाह**" है। एक ही स्थान पर दो-दो वर्तनियां अनेक स्थानों पर हैं।

६. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में "**अच्छी आंख वालियों**" अपप्रयोग है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्याएं ४७, ५१ अशुद्ध है।

८. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं०, द्वि०सं० में "**मारो गर्दनें उनकी**" अपवाक्य है। मुद्रणह०, द्विप्र० में संशोधित है।

९. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**कठिन है कैद करना**" अप-अनुवाद है। द्विप्र० अदि में उपर्युक्त संशोधित पाठ है। यही कुरान में है। अत: ग्राह्य है।

१०. **मुद्रणलिपिकर से त्रुटित पाठ**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय प्रमादवश "**दूध की कि नहीं.....और नहरें हैं**" तक का पाठ त्रुटित छोड़ दिया। द्विप्र० में इसको ग्रहण किया है किन्तु उसमें "**और नहरें हैं**" पाठ फिर भी त्रुटित रह गया है। **स्वामी वेदानन्द सं०** और **पं० सिद्धान्ती सं०** को छोड़ कर सभी संस्करणों में इस पाठ को अब ग्रहण कर लिया गया है।

११. **दान**=क्षमा, कृपा।

समीक्षक—इसी से **यह 'क़ुरान', ख़ुदा और मुसलमान ग़दर मचानेवाले, सबको दुःख देने वाले [और][1] अपना मतलब साधनेवाले, दयाहीन हैं।** जैसा यहां लिखा है वैसा ही दूसरा=कोई दूसरे मत-वाला मुसलमानों पर करे, तो मुसलमानों को वैसा ही दुःख, जैसा कि अन्य को देते हैं, हो वा नहीं? और खुदा[2] बड़ा पक्षपाती है कि जिन्होंने मुहम्मद साहब[3] को [अपनी बस्तियों से] निकाल दिया, उनको ख़ुदा ने मारा। भला, जिसमें शुद्ध पानी, दूध, मद्य और शहद की नहरें हैं, वह संसार से अधिक नहीं हो सकता। और दूध की नहरें कभी नहीं हो सकती, क्योंकि वह थोड़े समय में बिगड़ जाता है। इसीलिये बुद्धिमान् लोग '**क़ुरान**' के मत को नहीं मानते॥ १४९॥

१५०. जब कि हिलाई जावेगी पृथिवी हिलाये जाने कर। ४। उड़ाये जावेंगे पहाड़ उड़ाये जाने कर। ५। बस हो जावेंगे भुनगे[4] टुकड़े-टुकड़े। ६। बस, साहब दाहिने ओर वाले, क्या हैं साहब दाहिनी ओर के। ८। और बाईं ओर वाले क्या हैं बाईं ओर वाले। ९। ऊपर पलंग सोने के तारों से बुने हुए हैं। तकिये किये हुए हैं ऊपर उनके आमने-सामने। १५। और फिरेंगे ऊपर उनके लड़के सदा रहनेवाले। १६। साथ आबखोंरों[5] के, और आफ़ताबों[6] के और प्यालों के शराब साफ़ से। १७। नहीं माथा दुखाये जावेंगे उससे और न विरुद्ध बोलेंगे। १८। और मेवे उस क़िस्म के[7] कि पसन्द करें। और गोश्त ज़ानवर-पक्षियों के उस क़िस्म से कि पसन्द करें। १९। और वास्ते उनके औरतें हैं अच्छी आंखोंवालियां। २०। मानिन्द मोतियों छिपाये हुओं की। २१। और बिछौने बड़े। २२। निश्चय हमने उत्पन्न किया है औरतों को[8] एक प्रकार का उत्पन्न करना है[9]। २३। बस किया है हमने उनको कुमारी। ३४। सुहागवालियां बराबर अवस्थावालियां। ३५। बस, भरनेवाले हो उससे पेटों को। ३६। बस, क़सम खाता हूं मैं साथ गिरने तारों के। ३७।

मं० ७। सि० २७। सू० ५६। आ० ४-६। ८। ९। १५-२३। ३४-३७। ५३। ७५॥[10]

समीक्षक—अब देखिये '**क़ुरान**' बनानेवाले की लीला को! भला, पृथिवी तो हिलती ही रहती है, उस समय भी हिलती रहेगी। इससे यह सिद्ध होता है कि '**क़ुरान**' बनानेवाला पृथिवी को स्थिर जानता था! भला, पहाड़ों को क्या पक्षीवत् उड़ा देगा? यदि भुनगे[11] हो जावेंगे तो भी सूक्ष्म शरीरधारी रहेंगे, तो फिर उनका दूसरा जन्म क्यों नहीं? वाह जी! जो ख़ुदा शरीरधारी न होता तो उसके दाहिनी ओर और

---

१. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**वाले**" प्रत्यय तथा "**और**" योजक पद त्रुटित हैं।

२. **त्रुटित पद**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**खुदा**" पद त्रुटित है। अन्य द्वि०सं०, उदयपुर आदि में अब परिवर्धित है।

३. **मुहम्मद को निकालना**—यह उस घटना की चर्चा है जब विरोधियों ने हज० मुहम्मद को मक्का से निकाल दिया था और उन्हें मदीना में आकर रहना पड़ा था।

४, ११. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भुनगे**" अपवर्तनी है। उदयपुर सं० में दोनों स्थलों पर अशुद्ध वर्तनियां है।

५. **आबखोर**=बिना टोंटी और दस्ते का पानी का बर्तन। ६. **आफताब**=टोंटी और दस्ते वाला पानी का बर्तन।

७. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**क़िस्म से**" अपप्रयोग है। उदयपुर सं० आदि में भी अपप्रयोग है।

८. **पाठान्तर, त्रुटि आयत**—मूलह०, मूलसं० में यहां "**कुमारी**" पद है और ३४वीं आयत का पाठ त्रुटित है।

९. **उत्पन्न करना**—स्त्रियों को 'एक प्रकार से' उत्पन्न करने का भाव है—स्त्री का विशेष बनावट का शरीर और उसको प्राकृतिक रूप से कौमार्य अवस्था में उत्पन्न करना। यह भाव अग्रिम ३४वीं आयत में है।

१०. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में यहां ३९, ५४ संख्याएं अशुद्ध हैं, ३४, ३७, ५३ त्रुटित हैं। द्विप्र०, वेस, भद में यहां आयतसंख्याएं २४, ५४ अशुद्ध हैं, इनके स्थान पर ३४, ५३ शुद्ध हैं।

बाईं ओर कैसे खड़े हो सकते? जब वहां पलंग सोने के तारों[१] से बुने हुए हैं तो बढ़ई-सुनार भी वहां रहते होंगे? और खटमल काटते होंगे, जो उनको रात्रि में सोने भी नहीं देते होंगे? क्या वे तक्रिये लगाकर बहिश्त में निकम्मे बैठे ही रहते हैं वा कुछ काम किया करते हैं? यदि बैठे ही रहते होंगे, तो उनको अन्न का[२] पचन न होने से वे रोगी होकर शीघ्र मर भी जाते होंगे? और जो काम किया करते होंगे, तो जैसे मेहनत-मज़दूरी यहां करते हैं, वैसे ही वहां मेहनत=परिश्रम करके निर्वाह करते होंगे? फिर यहां से वहां बहिश्त में विशेष क्या है? कुछ भी नहीं।

यदि वहां लड़के सदा रहते हैं तो उनके मा-बाप भी रहते होंगे और सास[३]-श्वसुर[४] भी रहते होंगे? तब तो बड़ा भारी शहर बसता होगा? फिर मल-मूत्रादि के बढ़ने से रोग भी बहुत-से होते होंगे? क्योंकि जब यथेष्ट मेवे खावेंगे, गिलासों में पानी पीवेंगे, और प्यालों में[५] मद्य पीवेंगे, तो उनका शिर दूखेगा, और कोई विरुद्ध बोलेगा।[६] यथेष्ट मेवे खायेंगे और[७] जानवरों तथा पक्षियों के मांस भी खावेंगे, तो

---

१. **अपप्रयोग**—मूलप्रति सं० में "**तोरों**" अप-मुद्रणपाठ है। अन्य सभी सं० में शुद्ध है।

२. **अपप्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**अन्न के पचन**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में '**के**' हटा दिया है।

३. **घोर अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**सास**' शब्द की वर्तनी बहुत अव्यवस्थित है। जिस लिपिकर को अपनी योग्यता के अनुसार जैसा लिखना आता था वैसा लिख डाला, शुद्धाशुद्धि पर ध्यान नहीं दिया। सवा सौ से अधिक वर्ष बीत जाने पर आज भी ग्रन्थ की वही दशा है। देखिए, यहां मूलह० में "**शाशु**", मूलसं० में "**सासु**"। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**सासू**" वर्तनी है। अन्य सभी सं० में "**सासू**" वर्तनी है। दोनों सं० में इस प्रकार अनेक वर्तनियां है—**सास** (मू०सं० पृ० ५७९, ६११; द्वि० सं० पृ० ३२६, ३४३), **सासु** (मू०सं० पृ० ११७, १३६, ७१४;), **सासू** (मू०सं० पृ० ६३६; द्वि०सं० ३५७, ३९७) **शाशु** (द्वि०सं० पृ० ७९)। भाषात्मक व्यवस्था, एकरूपता और मानकता के लिए सर्वत्र एक वर्तनी "**सास**" ग्रहण की गई है। यही अव्यवस्था वेस, भद, युमी, उदयपुर आदि सं० में पाई जाती है।

४. **अव्यवस्थित, वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**श्वसुर**' शब्द की अव्यवस्थित वर्तनी है, जैसे—**ससुर** (मू० सं० पृ० ३३६), **श्वसुर** (मू० सं० पृ० ५७९, ६२२; द्वि० सं० ३२६, ३४६, ३५७, ३९७), **श्वशुर** (मू० सं० पृ० ११६, १३६, ७१४; द्वि० सं० ७९)। एकरूपता और मानकता के लिए "**श्वसुर**" वर्तनी को सर्वत्र ग्रहण किया है। यही अव्यवस्था सभी सं० में है।

५. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**से**" अपप्रयोग है, "**में**" अपेक्षित है, जैसे पहले वाक्यखंड में प्रयुक्त है।

६. **महाभ्रष्टपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में समीक्षा में यह अपवाक्य है—"**प्यालों में मद्य पीयेंगे, न उनका सिर दूखेगा और न कोई विरुद्ध बोलेगा**"। शराब पीने के परिणाम के आयत-वर्णित लाभ बताना ग्रन्थकार का उद्देश्य नहीं है। शराब के खण्डन के लिए यह समीक्षा लिखी है। ज्ञात होता है कि किसी लिपिकर ने प्रमाद से यह पाठ बनाया है। ग्रन्थकार ने यहां आयतपाठ की आलोचना की है, समर्थन नहीं। ग्रन्थकार कुरानोक्त मद्यपान के लाभों को मिथ्या बताना चाहते हैं।

संशोधन-पुष्टि—इस सं० में संशोधित उक्त पाठ ही यहां होना चाहिए। महर्षि के विपरीत भाव का पाठ यहां छपा है। महर्षिप्रोक्त अन्यत्र पाठ से भी इसकी पुष्टि होती है। आयतखण्ड संख्या १६४ की समीक्षा में पृ० १०३८ पर आयत पाठ "**प्याले हैं भरे हुए**" की समीक्षा करते हुए ऋषि लिखते हैं—"**जब प्याले भर-भर शराब पीयेंगे तो मस्त होकर क्यों न लड़ेंगे?**" यही कथ्य और भाव यहां आगे भी है—"**नहीं तो ऐसे नशे बाजों के शिर में गरमी चढ़के प्रमत्त हो जायेंगे।**" (पृ० १०३०/४)

आर्य सम्पादकों की प्रमाद-परम्परा—लिपिकरों, शोधकों आदि ने तो इस पाठ में प्रमादलीला करके इसको महाभ्रष्ट किया ही है, उससे भी अधिक दु:ख आर्य सम्पादकों तथा पाठकों पर है जिन्होंने सवा-सौ वर्षों की अवधि में इस महर्षि-विरुद्ध, अशुद्ध पाठ को बनाये रखा है। **स्वामी वेदानन्द जी, सिद्धान्ती जी, पं० भगवद्दत्त जी, पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक** सदृश विद्वानों ने भी इस भ्रष्टपाठ पर ध्यान नहीं दिया। इनसे भी बढ़कर आश्चर्य कथित दश विद्वानों द्वारा सम्पादित 'उदयपुर संस्करण' पर है जिसमें अशुद्ध पाठ विद्यमान है। उन्होंने भी इस पाठ की भ्रष्टता तथा महर्षि-विरुद्धता पर विचार नहीं किया। क्या महर्षि मद्यपान का गुणगान करने वाले समझ लिये? फिर वह कैसा 'मानक' संस्करण हुआ?

७. **अयोग्य लिपिकरों द्वारा अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**यथेष्ट मेवा खायेंगे**" एकवचनात्मक अपपाठ है। **संशोधन-पुष्टि**—वाक्य के आरम्भ में और आयत-पाठ में "**मेवे**" बहुवचनात्मक शुद्ध प्रयोग है। देखिए लिपिकरों-शोधकों की अयोग्यता और लापरवाही कि एक ही वाक्य में दो प्रकार का पाठ है। सभी वेस, युमी, उदयपुर आदि सं० में यही अशुद्ध पाठ है।

अनेक प्रकार के दु:ख, पक्षी, जानवर वहाँ होंगे, हत्या होगी और हाड़ जहां-तहां बिखरे रहेंगे, और कसाइयों की दुकानें भी होंगी; वाह, क्या कहना इनके बहिश्त की प्रशंसा का कि वह अरब देश से भी बढ़कर दीखती है! और जो मद्य-मांस पी-खाके उन्मत्त होते हैं, इसीलिये अच्छी-अच्छी स्त्रियां और लौंडे भी वहां अवश्य रहने चाहियें, नहीं तो ऐसे नशेबाज़ों के शिर में गरमी चढ़के प्रमत्त हो जावेंगे। अवश्य, बहुत स्त्री-पुरुषों के बैठने-सोने के लिये बिछौने बड़े-बड़े चाहियें।

जब ख़ुदा कुमारियों को बहिश्त में उत्पन्न करता है, तभी कुमारे लड़कों को उत्पन्न करता है। भला, कुमारियों का तो विवाह जो यहां से उम्मीदवार[१] होकर गये हैं, उनके साथ ख़ुदा ने लिखा, परन्तु उन सदा रहनेवाले लड़कों का किन्हीं कुमारियों के साथ विवाह न लिखा, तो क्या वे भी उन्हीं उम्मीदवारों[२] के साथ कुमारीवत् दे दिये?[३], इसकी व्यवस्था कुछ भी न लिखी। यह ख़ुदा में बड़ी भूल क्यों हुई? यदि बराबर अवस्थावाली सुहागिन स्त्रियां पतियों को पाके बहिश्त में रहती हैं, तो ठीक नहीं हुआ, क्योंकि स्त्रियों से पुरुषों का आयु डेढ़ गुना या दूना चाहिये।[४] यह तो मुसलमानों के बहिश्त की कथा है!

और नरक-वाले, सिंहोड़ अर्थात् थोर के वृक्षों को खाके पेट भरेंगे, तो कण्टक वृक्ष भी दोज़ख़ में होंगे? तो कांटे भी लगते होंगे? गर्म पानी पीयेंगे, इत्यादि दु:ख दोज़ख़ में पावेंगे। **क़सम का खाना प्राय: झूठों[५] का काम है, सच्चों का नहीं।** यदि ख़ुदा ही क़सम खाता है तो वह भी झूठ से अलग नहीं हो सकता॥ १५०॥

१,२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस शब्द की कहीं "**उम्मीद/ उम्मेद**", कहीं "**उम्मीदवार/ उम्मेदवार**" वर्तनी मिलती है। यह फारसी का "**उम्मीद/ उम्मीदवार**" शुद्ध शब्द है। शुद्धता, मानकता, एकरूपता की दृष्टि से इस सं० की वर्तनी ग्राह्य है। अन्य सभी सं० में यह अव्यवस्था है।

३. **मुद्रणकाल में अपपरिवर्तन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**जावेंगे**" क्रिया नहीं है। मुद्रणकाल में द्विप्र० में बढ़ाई गई है जो पूर्ववाक्यों की भूतकालीन क्रियाओं के सम्बन्ध से अशुद्ध प्रयोग है। उदयपुर आदि सभी सं० में अशुद्ध क्रिया-प्रयोग है।

४. **लिपिकर द्वारा महर्षि के सिद्धान्तविरुद्ध और परस्परविरुद्ध पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**स्त्रियों से पुरुषों का आयु दूना-ढाई गुणा चाहिये**" यह कथन ऋषि की स्थापित मान्यता के विरुद्ध है। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश तृतीय समु० पृ० ९७ तथा संस्कारविधि में स्त्रियों से डेढ से दो गुना अधिक आयु होने का मन्तव्य स्थापित किया है। (द्रष्टव्य, विवाह प्रकरण) महर्षि की स्थापित मान्यता के संदर्भ में यहां "**डेढ़ गुना या दूना**" पाठ अपेक्षित है। प्रतीत होता है कि लिपिकर की शरारत से यह अशुद्ध पाठ लिखा गया है क्योंकि उस समय बाल-विवाह लोगों के मस्तिष्क में बैठा हुआ था। और यह भी सत्य है कि अपनी मान्यता के विरुद्ध ग्रन्थकार ऐसी बड़ी भूल नहीं कर सकते। इसी प्रकार "**पुरुषों**" बहुवचन वांछित है।

सम्पादकों की दुर्भाग्यपूर्ण प्रमाद-परम्परा—लिपिकरों ने महर्षि की मान्यता के विरुद्ध शरारत से यह पाठ लिख डाला। मक्कार शोधकों ने उसको शुद्ध नहीं किया। इससे भी अधिक दुर्भाग्य और दु:खद बात यह है कि सवा-सौ वर्षों से इस अनमेल विवाह सम्बन्धी भ्रष्टपाठ को हमारे सम्पादक विद्वान् और पाठक सुरक्षित बनाये हुए हैं। इस पर केवल **पं० मीमांसक जी** ने ध्यान दिया, अन्य किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। मीमांसक जी ने भी मूलपाठ में संशोधन न करके केवल टिप्पणी में इस परस्पर विरोध का संकेत किया है। मीमांसक जी के इस विवेचन का ग्रन्थ को कोई लाभ नहीं हुआ, मूलपाठ तो अशुद्ध ही रह गया।

इनसे भी अधिक दु:खद पक्ष है **उदयपुर सं०** का। एक तो वह आर्यसमाज के कथित दस सम्पादकों द्वारा सम्पादित है, अत: दस विद्वानों से ऐसे महर्षि-विरुद्ध और सिद्धान्त-विरुद्ध भ्रष्ट पाठ की आशा नहीं थी। दूसरे, इन दस सम्पादकों के समक्ष शुद्ध-अशुद्ध पाठ के दोनों विकल्प विद्यमान थे किन्तु उन्होंने भ्रष्ट पाठ को प्रस्तुत किया। उन्होंने इस भ्रष्टपाठ पर गम्भीर विचार नहीं किया। दस विद्वानों से इतने प्रमादपूर्ण सम्पादन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

५. **अपपाठ**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, मूलप्रति सं० में "**झूठे का**" एकवचनात्मक प्रयोग है। द्वि०सं० में संशोधित "**झूठों का**" बहुवचनान्त पाठ ग्राह्य है। सभी सं० में संशोधित है किन्तु उदयपुर सं० में अशुद्ध पाठ है।

१५१. वही है जिसने उत्पन्न किया आसमानों को और पृथिवी को बीच छः दिनों के, फिर करार पकड़ा ऊपर अर्श के....। ४।[१] ईमान लाओ साथ अल्लाह के और रसूल उसके के....। ७। कौन मनुष्य है कि उधार देवे अल्लाह को, उधार अच्छा बस, दुगुना करे उसको वास्ते उसके। ११।[२]

मं० ७। सि० २७। सू० ५७। आ० ४।७।११॥

समीक्षक—यदि छः दिनों में पृथिवी और आकाश को बनाकर आकाश में आराम किया तो वह शरीरधारी, एकदेशी, असमर्थ और थकनेवाला होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता। यदि ईमान में पैग़म्बर भी शरीक है तो ख़ुदा का शरीक हुआ वा नहीं? और मुसलमानों के मत में ख़ुदा के सिवाय [पैग़म्बर][३] पर भी ईमान रखना आवश्यक होने से ख़ुदा को '**लाशरीक**' कहना व्यर्थ है। क्या ख़ुदा के खजाने में टोटा पड़ गया, वा कोई लूट गया, अथवा ख़ुदा ने फैल-फतूरी[४] में नाश कर दिया कि जिस किसी से उधार मांगता है और दूना देना स्वीकार करता है? भला, ऐसी-ऐसी बातें ईश्वर और ईश्वरकृत पुस्तक की कभी हो सकती हैं?॥ १५१॥

१५२. अल्लाह ने क्रोध किया ऊपर काफ़िरों के....। १४। और विशेषतः यहूदियों पर गालिब आया[५] उनके शैतान, बस, भुला दी उनको याद ख़ुदा की, ये लोग-समुदाय शैतान के हैं....। १९।[६]

मं० ७। सि० २८। सू० ५८। आ० १४[७]।१९॥

समीक्षक—यदि मुसलमानी मजहब को न मानें और वे अच्छे हों, उन पर ख़ुदा क्रोध करेगा तो अन्यायी होगा वा नहीं? और जो मुसलमानों में दुष्ट हों, उनसे प्रेम करेगा तो भी पक्षपाती होकर पापी होगा। यदि ख़ुदा की सृष्टि में शैतान प्रबल होता है और उसको ख़ुदा न पकड़ [सकता है][८], न दण्ड [दे सकता है][९] और न मार सकता है, इसीलिये ख़ुदा सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी भी नहीं है॥ १५२॥[१०]

१५३. वह पृथिवी अल्लाह ने लूट के प्रकार से न बटवाई, हज़रत के इख़्तियार[११] में रक्खी। ६। यह ही भेद रक्खा लूट में और फ़ी[१२] में, जो माल लड़ाई से हाथ लगा वह लूट पांचवां भाग अल्लाह

---

१. **छह दिन में सृष्टि-उत्पत्ति की पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ७८, ९७, १५१। **बाइबल में**—द्र० समु० १३ में आयतखण्ड संख्या ४५ और 'उत्पत्ति' नामक पुस्तक के पर्व एक में।

२. **मुद्रणकाल में आयतखण्ड तथा समीक्षा पाठ का निष्कासन अनुचित**—द्विप्र० में तथा फिर द्वि०सं० में आयतखण्ड संख्या १५१ तथा उसकी सम्पूर्ण समीक्षा निकाल दी है। कारण अज्ञात है। यह पाठ दोनों हस्तलेखों में है। मुद्रणकाल में इसको मुंशी समर्थदान जी ने निकाला है। महर्षि के लेखन-श्रम को अकारण व्यर्थ कर देना अवांछनीय है।

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० ''**पैगम्बर**'' पद त्रुटित रह गया है।

४. **फैल-फतूरी**=खेल-तमाशा, गलत काम या व्यसन आदि में।

५. **ग़ालिब आया**=प्रभुत्व स्थापित किया।

६,१०. **मुद्रणकाल में आयतखण्ड व समीक्षा पाठ निष्कासन अनुचित**—द्विप्र०, द्वि०सं० से आयतखण्ड संख्या १५२ को समीक्षा सहित निकाल दिया है। यह मूलह०, मुद्रणह० में है। निष्कासन अवांछनीय है क्योंकि इससे महर्षि का लेखन व्यर्थ हो गया है।

७. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में १५ संख्या अशुद्ध है। द्विप्र०, द्वि०सं० में दोनों आयतें नहीं हैं।

८,९. **त्रुटित आवश्यक क्रिया**—दोनों सं० में पूर्ण व सटीक वाक्यरचना के लिए बृ० कोष्ठकान्तर्गत क्रियाएं अपेक्षित हैं।

११. **इख़्तियार में रखना**=अधिकार या स्वामित्व में रखना। ''**अखत्यार**'' अपवर्तनी है। '**लूट की**' नहीं, ''**लूट के**'' शुद्ध पाठ है।

१२. **फ़ी (फ़ै)**=उस धन-सम्पत्ति को कहते हैं जो बिना युद्ध किये ही विरोधी पक्ष की ओर से प्राप्त हो जाता है। युद्ध करके लूटे गये धन को '**लूट**' या '**ग़नीमत**' कहा जाता है।

की भेंट, और चार भाग लश्कर को बांटने.....। ७।[१] मं० ७। सि० २८। सू० ५९। आ० ६। ७॥[२]

समीक्षक—क्या कहना है! तभी तो मुसलमान लोग लूट-मार और फ़साद[३] करने में नहीं डरते कि जिनके ख़ुदा और पैग़म्बर ने लूट की पृथिवी आदि को भी स्वीकार कर लिया! क्योंकि उस लूट के माल में से पांचवां भाग अल्लाह का भी है। क्या यह ख़ुदा वा पैग़म्बर लूट के करानेवाले नहीं हुए? ऐसे ख़ुदा[४] और पैग़म्बर को कोई बुद्धिमान् न मान सकेगा। और क्या ऐसे की बात का प्रमाण हो सकता है?॥ १५३॥[५]

१५४. निश्चय, अल्लाह मित्र रखता है उन लोगों को कि लड़ते हैं बीच मार्ग उसके के....। ४।

मं० ७। सि० २८। सू० ६१। आ० ४॥

समीक्षक—वाह, ठीक है! ऐसी-ऐसी बातों का उपदेश करके बेचारे अरबदेश-वासियों को सबसे लड़ाके शत्रु बनाकर परस्पर दुःख दिलाया। और मज़हब का झंडा खड़ा करके लड़ाई फैलावे, ऐसे को ईश्वर, बुद्धिमान् कभी नहीं मान सकते। **जो मनुष्य-जाति[६] में विरोध बढ़ावे वही सबको दुःखदाता होता है॥ १५४॥**

१५५. यदि क़र्ज़ दो तुम अल्लाह को, क़र्ज़ अच्छा, दुगुणा करेगा उसको वास्ते, तुम्हारे क्षमा करेगा वास्ते तुम्हारे पाप....। १७।[७,८] मं० ७। सि० २८। सू० ६४। आ० १७॥

समीक्षक—यह क़र्ज़ का लेना-देना सब मुहम्मद साहब के मतलब की बात है। जैसे मूर्तिपूजक मूर्ति के नाम से लोगों से धन लेकर स्वकार्य सिद्ध करते हैं, ऐसी ही मुहम्मद साहब की लीला है; क्योंकि ईश्वर को क़र्ज़ लेने का कोई भी प्रयोजन नहीं॥ १५४॥

नोट—हज़रत ने एक बीबी अपनी मौक़ूफ़[९] कर दी खातिर से और बीबियों से। हजरत की मरियम नामी एक बांदी से प्रीति बहुत थी। और इस बात को जानकर उनकी एक बीबी ने उनको रोका।[१०] हज़रत ने ख़फ़ा होकर उसको तलाक़ दे दिया। ये आयत हज़रत की औरतों की तरफ है। किसी दिन कोई बीबी रूस गई होगी, उस बात पर यह आयत उतरी कि 'ऐ नबी की स्त्रियो! यह घमंड मत करो कि पैग़म्बर के लिये हम ही हैं, नहीं सिवाय तुम्हारे और भी बीबियां बदल सकते हैं—'[११]

१,५. **मुद्रणकाल में आयतखण्ड और समीक्षा का निष्कासन अनुचित**—आयतखण्ड संख्या १५३ तथा उसकी पूर्ण समीक्षा को द्विप्र० से निकाल दिया है। यह मूलह०, मुद्रणहस्त० में है। इसको मुंशी समर्थदान जी ने निकाला है, जो अवांछनीय है।

२. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलसं० में २ संख्या अशुद्ध है जबकि ७ त्रुटित है।

३. **अपवर्तनी**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**फिसाद**" अपवर्तनी है।

४. **अपपाठ**—मूलप्रति सं० में "**ऐसा खुदा.....को**" अपपाठ है। मूलह०, मुद्रणह० में शुद्ध है।

६. **मुद्रणकालीन त्रुटित पद**—मुद्रणकाल में द्विप्र० में "**मनुष्य**" पद त्रुटित रह गया है। यह दोनों हस्तलेखों में है। स्वामी वेदानन्द सं० और पं० मीमांसक सं० को छोड़कर सभी सं० में गृहीत है।

७. **अल्लाह को ऋण देने विषयक पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ४२, ७१।

८,११. **मुद्रणकाल में आयतखण्ड पाठ-निष्कासन अनुचित**—यह आयतखण्ड सं० १५५ और इसकी पूर्ण समीक्षा तथा "**नोट**" शीर्षक कथन मुद्रणकाल में द्विप्र० में से निकाल दिये हैं। कारण अज्ञात है। इनको मुंशी समर्थदान जी ने व्यर्थ हटाया है।

९. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां "**मैकूफ**" अपवर्तनी है। यह कोई शब्द नहीं होता। **मौक़ूफ़**=स्थगित, करना, पृथक् करना, (बीबी के) पद से हटाना।

१०. **अपवाक्य**—मूलह०, मूलप्रति सं० में यहां अपपाठ है—"**इस बात को उनकी एक बीबी ने जानकर रोका**"।

१५६. ऐ नबी! क्यों हराम करता है उस वस्तु को कि हलाल किया है ख़ुदा ने तेरे लिये, चाहता है तू प्रसन्नता बीबियों अपनी की, और अल्लाह क्षमा करनेवाला दयालु है। १। जल्दी है मालिक उसका जो वह तुमको छोड़ दे, तो यह कि उसको तुमसे अच्छी मुसलमान और ईमानवालियाँ बीबियाँ बदल दे सेवा करनेवालियाँ, तौबा करनेवालियाँ, भक्ति करनेवालियाँ, रोज़ा रखनेवालियाँ, पुरुष देखी हुई और बिन देखी हुई। ५।[१] मं० ७। सि० २८। सू० ६६। आ० १।५॥

समीक्षक—ध्यान देकर देखना चाहिये कि ख़ुदा क्या हुआ, मुहम्मद साहब के घर का भीतरी और बाहरी प्रबन्ध करने वाला भृत्य ठहरा!!

प्रथम आयत पर दो कहानियाँ हैं—**एक** तो यह कि मुहम्मद साहब को शहद का शर्बत प्रिय था। उनकी कई बीबियाँ थीं[२] उनमें से एक के घर पीने में देर लगी तो दूसरियों को असह्य प्रतीत हुआ। उनके कहने-सुनने के पीछे मुहम्मद साहब सौगन्द[३] खा गये कि हम न पीवेंगे।

दूसरी यह कि उनकी कई बीबियों में से एक की बारी थी। उसके यहाँ रात्रि को गये तो वह न थी, अपने बाप के यहाँ गई थी। मुहम्मद साहब ने एक लौंडी अर्थात् दासी को बुलाकर पवित्र किया। जब बीबी को इसकी ख़बर मिली तो वह अप्रसन्न हो गई। तब मुहम्मद साहब ने सौगन्द[४] खाई कि मैं ऐसा न करूँगा, और बीबी से भी कह दिया कि तुम किसी से यह बात मत कहना। बीबी ने स्वीकार किया कि न कहूँगी। फिर उन्होंने दूसरी बीबी से जा कहा। इस पर यह आयत ख़ुदा ने उतारी "जिस वस्तु को हमने तेरे पर हलाल किया, उसको तू हराम क्यों करता है?"

बुद्धिमान् लोग विचारें कि भला, कहीं ख़ुदा भी किसी के घर का निमटेरा करता फिरता है? और **मुहम्मद साहब के तो आचरण इन बातों से प्रकट ही हैं, कहने की क्या बात है?**

और दूसरी आयत से प्रतीत होता है कि मुहम्मद साहब से उनकी कोई बीबी अप्रसन्न हो गई होगी। उसपर खुदा ने यह आयत उतारकर उसको धमकाया होगा कि यदि तू गड़बड़ करेगी और मुहम्मद साहब तुझे छोड़ देंगे तो उनको ख़ुदा तुझसे अच्छी बीबियाँ देगा कि जो पुरुष से न मिली हों।

जिस मनुष्य को तनिक-सी बुद्धि है वह विचार ले सकता है कि ये खुदा-वुदा के काम हैं वा अपने प्रयोजन सिद्धि के? **ऐसी-ऐसी बातों से ठीक सिद्ध है कि खुदा कोई नहीं कहता था, केवल देश-काल देखकर अपने प्रयोजन के सिद्ध होने के लिये खुदा की तरफ़[५] से मुहम्मद साहब कह देते थे। जो लोग खुदा की ही तरफ़[६] लगाते हैं उनको हम क्या, सब बुद्धिमान् यही कहेंगे कि खुदा क्या ठहरा, मानो मुहम्मद साहब के लिये बीबियाँ लानेवाला नाई ठहरा!!!**

---

१. **मूललिपिकर की भूल और मुंशी जी द्वारा संशोधन-परिवर्धन**—एक जैसे शब्दों से प्रारम्भ होने के कारण मूललिपिकर आयतखण्ड १५६ को छोड़ कर १५७ को लिख गया। समीक्षा पहले १५६ की है फिर १५७ की। मुद्रणप्रति में यही गलत पाठ है। मुंशी समर्थदान जी ने आयतखण्ड १५६ लिख कर "**ध्यान देकर.....नाई ठहरा**" समीक्षा स्वहस्तलेख में परिवर्धित की है। आगे की समीक्षा ग्रन्थकार द्वारा लिखाई हुई है।

२. **कई बीबियां**—हज० मुहम्मद की ग्यारह बीबियां थी। टिप्पणी द्र० है पृ० ९३९ पर।

३-४. **अपवर्तनी**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**सौगन्ध**" अपवर्तनी है। "**सौगन्द**" शुद्ध वर्तनी है।

५-६. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तर्फ़**" अपवर्तनी है। "**तरफ़**" शुद्ध वर्तनी है।

भला, जो अनेक स्त्रियों को रक्खे वह ईश्वर का भक्त वा पैग़म्बर कैसे हो सके ? और जो एक स्त्री का पक्षपात से अपमान करे और दूसरी का मान्य करे, वह पक्षपाती होकर अधर्मी क्यों नहीं ? और जो बहुत-सी स्त्रियों से भी सन्तुष्ट न होकर, बांदियों के साथ फसे, उसको[१] लज्जा, भय और धर्म कहां से रहे ? किसी ने कहा है कि—

कामातुराणां न भयं न लज्जा

=जो कामी मनुष्य हैं उनको अधर्म से भय वा लज्जा नहीं होती।

और इनका ख़ुदा भी मुहम्मद साहब की स्त्रियों और पैग़म्बर के झगड़े को फैसला करने में जानो सरपंच बना है। अब बुद्धिमान् लोग विचार लें कि यह '**क़ुरान**' किसी विद्वान्-कृत वा ईश्वर-कृत है वा किसी अविद्वान् मतलबसिन्धु का बनाया,[२] स्पष्ट विदित हो जायगा॥ १५६ ॥

१५७. ऐ नबी! झगड़ा कर काफ़िरों और गुप्त शत्रुओं से[३], और सख्ती कर ऊपर उनके....। ९।
मं० ७। सि० २८। सू० ६६। आ० ९ ॥[४]

समीक्षक—और देखिये मुसलमानों के ख़ुदा की लीला! **अन्य मत-वालों से लड़ने के लिये पैग़म्बर और मुसलमानों को उचकाता है, इसीलिये आज तक मुसलमान लोग उपद्रव करने में प्रवृत्त रहते हैं। परमात्मा मुसलमानों पर कृपादृष्टि करे जिससे ये लोग उपद्रव करना छोड़के, सबसे मित्रता से वर्तें॥ १५७॥**

१५८. फट जावेगा आसमान, बस, वह उस दिन सुस्त होगा। १६। और फ़रिश्ते होंगे ऊपर किनारों उसके के, और उठावेंगे तख़्त मालिक तेरे का ऊपर अपने, उस दिन आठ जन। १७। उस दिन सामने लाये जाओगे तुम, न छिपी रहेगी कोई बात छिपी हुई। १८। बस, जो कोई दिया गया कर्मपत्र अपना बीच दाहिने हाथ अपने के, बस कहेगा—'लो पढ़ो कर्मपत्र मेरा'। १९। और जो कोई दिया गया कर्मपत्र बीच बायें[५] हाथ अपने के, बस कहेगा हाय न दिया गया होता मैं कर्मपत्र अपना। २५।
मं० ७। सि० २९। सू० ६९। आ० १६। १७। १८। १९।[६] २५॥

समीक्षक—वाह क्या '**फ़िलासफ़ी**' और 'न्याय' की बात है! भला, आकाश भी कभी फट सकता है ? क्या वह वस्त्र के समान है जो फट जावे ? यदि ऊपर के लोक को आसमान कहते हैं तो यह बात विद्या से विरुद्ध है। अब '**क़ुरान**' का ख़ुदा शरीरधारी होने में कुछ संदिग्ध न रहा, क्योंकि तख़्त पर

---

१. **उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां "**उनको**" बहुवचनान्त अपप्रयोग है, एकवचन "**उसको**" चाहिए। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

२. **शैलीविरुद्ध प्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**की बनाई**" शैलीविरुद्ध प्रयोग है। सम्पूर्ण समुल्लास में महर्षि की स्थापित शैली है कि वे '**कुरान**' को पुंल्लिग में प्रयोग करते हैं। लिखते समय लिपिकर ने अपनी शैली के अनुसार इसे बदल दिया प्रतीत होता है। द्विप्र० में पुंल्लिंग प्रयोग शुद्ध कर दिया है तदनुसार सभी द्वि०सं० में पुंल्लिंग प्रयोग है।

३. **परस्परविरोध**—कुरान में यहां झगड़ा करने का आदेश है जबकि आयतखण्ड ७९ में निषेध है।

४. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, पं० भगवद्दत्त सं० में यहां आयतों की २, ३, ५, ८ भ्रष्ट संख्या है जबकि आयत एक है, और संख्या चार आयतों की दी है।

५. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**बांये**" अपवर्तनी है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, भद में यहां आयतसंख्या ७९ त्रुटित है।

बैठना, आठ कहारों से उठवाना, विना मूर्त्तिमान् के कुछ भी नहीं हो सकता। और सामने वा पीछे भी आना-जाना मूर्त्तिमान् का ही हो सकता है। जब वह मूर्त्तिमान् है, तो एकदेशी होने से सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता और सब जीवों के सब कर्मों को कभी नहीं जान सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पुण्यात्माओं के दाहिने हाथ में पत्र देना, बँचवाना, बहिश्त में भेजना; और पापात्माओं के बांये हाथ में कर्मपत्र का देना, नरक में भेजना, कर्मपत्र बाँचके[१] न्याय करना सर्वज्ञ का काम नहीं। यह सब लीला लड़केपन की है॥ १५८॥

१५९. चढ़ते हैं[२] फ़रिश्ते और रूह तरफ़[३] उसकी, वह अज़ाब होगा बीच उस दिन के कि है परिमाण उसका पचास हज़ार वर्ष। ४। जबकि निकलेंगे क़ब्रों[४] में से दौड़ते हुए मानो कि वे बुतों के स्थानों की ओर दौड़ते हैं। ४३। मं० ७। सि० २९। सू० ७०। आ० ४। ४३॥[५]

समीक्षक[६]—यदि पचास हज़ार वर्ष दिन का परिमाण है, तो पचास हज़ार वर्षों की रात्रि क्यों नहीं? यदि उतनी बड़ी रात्रि नहीं है, तो उतना बड़ा दिन कभी नहीं हो सकता।[७] रात्रि में न्याय करना अच्छा नहीं किन्तु दिन ही न्याय के लिए है। क्या पचास हज़ार वर्षों तक ख़ुदा, फ़रिश्ते और[८] कर्मपत्र वाले खड़े वा बैठे अथवा जागते ही रहेंगे?[९] यदि ऐसा है, तो सब रोगी होकर पुनः मर ही जायेंगे। क्या क़ब्रों[१०] से निकलकर ख़ुदा की कचहरी की ओर दौड़ेंगे? उनके पास सम्मन क़ब्रों[११] में क्योंकर पहुंचेंगे[१२]? और उन बेचारों को जो कि पुण्यात्मा, पापात्मा हैं इतने समय तक सभी को क़ब्रों में दौरासुपुर्द क़ैद क्यों रक्खा? और आजकल ख़ुदा की कचहरी बन्द होगी और ख़ुदा तथा फ़रिश्ते निकम्मे बैठे होंगे? अथवा क्या काम करते हैं? अपने-अपने स्थानों में बैठे इधर-उधर घूमते, सोते, नाच-तमाशा देखते वा ऐश-आराम कर रहे होंगे? ऐसा अन्धेर किसी के राज्य में न होगा। ऐसी-ऐसी

---

१. **अपप्रयोग**—द्वि०सं० में "**बांचके**" के स्थान पर "**बीचके**" मुद्रणदोष प्रतीत होता है।

२, ६. **भ्रष्ट अनुवाद तथा उचित संशोधन मुद्रणकाल में**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में इस आयत का किसी लेखक कृत भ्रष्ट अनुवाद है और उसी के अनुसार समीक्षा भी भ्रष्ट हो गई है। अनुवादक ने भ्रष्ट अनुवाद किया है—"**पढ़ते हैं फ़रिश्ते**"। द्विप्र०, द्वि०सं० में इस अनुवाद को सुधार दिया है तथा अशुद्ध अनुवाद पर आधारित समीक्षा की प्रथम दो पंक्तियों को हटा दिया हैं। यह उचित किया है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

पं० भगवद्दत्त जी का भ्रष्ट पाठ—पं० भगवद्दत्त जी ने अपने संस्करण में भ्रष्टपाठ और भ्रष्टसमीक्षा को रखा है। यदि वे कुरान का मूलपाठ भी देख लेते तो यह अशुद्धि नहीं होती। अन्य सभी सं० में भ्रष्टपाठ का संशोधन कर लिया गया है।

३-४. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**तर्फ़**" और "**क़बरों**" अपवर्तनियां हैं।

५. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, भद में यहां आयतसंख्या ४२ अशुद्ध संख्या है।

७. **मुद्रणकाल में भ्रष्टपाठ का संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह० और मूलप्रति सं० में यह भ्रष्टवाक्य है। द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध कर दिया गया है। आयत में पचास हजार वर्ष का दिन कहा है। असावधानीवश दिन की जगह रात्रि का और रात्रि की जगह दिन का प्रश्न बन गया है। वह अपवाक्य इस प्रकार है—"**यदि पचास हजार वर्ष की रात्रि का परिमाण है तो पचास हजार वर्ष का दिन क्यों नहीं किया? यदि उतना बड़ा दिन नहीं है तो उतनी बड़ी रात कभी नहीं हो सकती।**" आयत में पचास हजार वर्ष परिमाण का दिन कह ही रखा है।

८. **अपप्रयोग**—द्वि०सं० में "**और**" के स्थान पर "**कौर**" मुद्रणदोष है।

९. **पुनरुक्ति**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ३, १३, १२२, १३२, १४०, १५८।

१०-११. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कबरों**" अपवर्तनी है।

१२. **मुद्रणकालीन अप-परिवर्तन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**पहुंचा**" शुद्ध क्रिया है। द्विप्र० में '**पहुंचेंगे**' अशुद्ध है।

बातों को सिवाय जंगलियों के दूसरा कौन मानेगा ?॥ १५९ ॥

१६०. निश्चय, उत्पन्न किया है तुमको कई प्रकार से। १४। क्या नहीं देखा तुमने कैसे उत्पन्न किया अल्लाह ने सात[१] आसमानों को ऊपर-तले ?। १५।[२] और किया चांद को बीच उनके[३] प्रकाशक और किया सूर्य को दीपक। १६। मं० ७। सि० २९। सू० ७१। आ० १४। १५। १६॥

समीक्षक—यदि जीवों को ख़ुदा ने उत्पन्न किया है तो वे नित्य, अमर कभी नहीं रह सकते ? फिर बहिश्त में सदा क्योंकर रह सकेंगे ? जो उत्पन्न होता है, वह वस्तु अवश्य नष्ट हो जाता है। आसमान को [ख़ुदा] ऊपर-तले कैसे बना सकता है ? क्योंकि वह निराकार और विभु पदार्थ है। यदि दूसरी चीज़ का नाम आकाश रखते हो, तो भी उसका आकाश नाम रखना व्यर्थ है। यदि ऊपर-तले आसमानों को बनाया है, तो उन सबके बीच में चाँद-सूर्य कभी नहीं रह सकते। जो बीच में रक्खा जाय, तो एक ऊपर और एक नीचे का पदार्थ प्रकाशित हो। दूसरे से लेकर सबमें अन्धकार रहना चाहिये। ऐसा नहीं दीखता, इसलिये यह बात सर्वथा मिथ्या है॥ १६० ॥

१६१. और यह कि मस्जिदें[४] वास्ते अल्लाह के हैं; बस, मत पुकारो साथ अल्लाह के किसी को। १८। मं० ७। सि० २९। सू० ७२। आ० १८॥

समीक्षक—यदि यह बात सत्य है तो मुसलमान लोग '**लाइलाह इल्लिलाः मुहम्मदर्रसूलल्लाः**[५] इस कलमे में ख़ुदा के साथ[६] मुहम्मद साहब को क्यों पुकारते हैं ? **यह बात 'क़ुरान' से विरुद्ध है। और जो विरुद्ध नहीं करते, तो इस 'क़ुरान' की बात को झूठ करते हैं।** जब मस्जिदें[७] ख़ुदा के घर हैं, तो मुसलमान महाबुतपरस्त[८] हुए, क्योंकि जैसे पुराणी,[९] जैनी छोटी-सी मूर्त्ति को ईश्वर का घर मानने से बुतपरस्त[१०] ठहरते हैं, [वैसे][११] ये लोग क्यों नहीं ?॥ १६१ ॥

---

१. **मुद्रणकालीन उचित संशोधन**—दोनों हस्त० और मूलसं० में "**सात**" पद त्रुटित है। कुरान में है। द्विप्र० में परिवर्धित है।

२. **वैदिक प्रतिछाया**—बाइबल और कुरान में वर्णित सात आसमान वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में वर्णित सात लोकों का विस्मृत रूप प्रतीत होता है। पौराणिक भूगोल के अनुसार ब्रह्माण्ड में पृथिवी और इससे ऊपर सात लोक हैं। वे हैं—**भू; भुव; स्व; मह; जन; तप; सत्य**। इनमें '**भूः**' पृथिवी लोक है—"**भूर्हि इयं** (पृथिवी)" (शत०ब्रा० ७.४.२.७), "**भूरिति पृथिवी नाम**" (निघंटु १.१)। इन्हीं के आधार पर कुरान परम्परा में इन लोकों को सात आसमान कह दिया है।

३. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपाठ**—मूलह० में शुद्ध पाठ है। प्रतिलिपि करते समय मुद्रणलिपिकर ने "**उसके**" पद अशुद्ध बना दिया। यही अशुद्ध द्विप्र० और स्वामी वेदानन्द जी के सं० में भी है। अन्य सभी में संशोधित है।

४,७. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में दोनों स्थलों पर "**मसजिद**" अपवर्तनी है। मूलह० में दूसरे स्थान पर शुद्ध वर्तनी है। ग्रन्थ में अन्यत्र "**मस्जिद**" शुद्ध है, पं० मीमांसक जी को छोड़ वेस, भद, उदयपुर सभी सं० में अशुद्ध वर्तनियां हैं।

५. **भ्रष्टपाठ और अपवर्तनी**—अरबी के उक्त वाक्य में द्विप्र०, द्वि०सं० में "**महमद**" अपवर्तनी है, मूलसं० में "**मुहम्मद**" शुद्ध है। दोनों हस्तलेखों में अत्यन्त भ्रष्ट पाठ है—"**लाहि लाहि इलिल्लाः महमद रसूल**"। द्विप्र० में भी भ्रष्ट है—"**लाइ लाहा इल्लिल्लाः महम्मदर्रसूलल्लाः**"। अन्य सभी सं० में संशोधित है। यह अयोग्य लिपिकरों की लीला है।

६. **अपपाठ मुद्रणकालीन**—दोनों हस्तलेखों में शुद्ध पाठ है किन्तु मुद्रणकाल में द्विप्र० में यह अपपाठ छपा है—"**खुदा के साथी महुम्मद साहेब**"। **स्वामी वेदानन्द सं०** और **उदयपुर सं०** में "**साथी**" अपपाठ है। अन्य सभी सं० में अब संशोधित है। इस्लाम में मुहम्मद साहब को खुदा का साथी नहीं माना गया है, केवल पैगम्बर है। निराकार का कोई साथी कैसे हो सकता है ? ऊपर की आयत में भी '**साथ**' पद पढ़ा है, '**साथी**' नहीं कहा है।

८,१०. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त०, मूलसं०, द्वि०सं० में यहां अपवर्तनी है। मूलह० में दोनों स्थानों पर "**बुतपरश्त**" अपवर्तनी है। मुद्रणह० में पहले स्थान पर शुद्ध तथा द्वितीय स्थान पर अशुद्ध है। द्विप्र० में दोनों स्थलों पर शुद्ध वर्तनियां हैं किन्तु द्वि०सं०, स्वामी वेदानन्द सं०, पं० भगवद्दत्त सं०, पं० मीमांसक सं०, उदयपुर सं० में इनको फिर से अशुद्ध "**बुत्परस्त**" बना दिया गया है।

१६२. इकट्ठा किया जावेगा सूर्य और चाँद को। ९। मं० ७। सि० २९। सू० ७५। आ० ९॥

समीक्षक—भला, सूर्य-चाँद कभी इकट्ठे हो सकते हैं? देखिये, यह कितनी बेसमझी[१] की बात है। और सूर्य-चन्द्र के ही इकट्ठे करने में क्या प्रयोजन? तथा अन्य सब लोकों को इकट्ठे न करने में क्या युक्ति है? ऐसी-ऐसी असम्भव बातें परमेश्वरकृत कभी हो सकती हैं? विना अविद्वानों के अन्य किसी विद्वान् की भी नहीं होतीं॥ १६२॥

१६३. और फिरेंगे ऊपर उनके पास लड़के सदा [एक अवस्था में] रहनेवाले, जब देखेगा तू उनको, अनुमान करेगा तू उनको मोती बिखरे हुए जैसे। १९। ....और पहनाये जावेंगे कंगन चांदी के, और पिलावेगा उनको रब उनका शराब तहूरा[२]। २१। मं० ७। सि० २९। सू० ७६। आ० १९। २१॥

समीक्षक—क्यों जी! मोती के वर्ण-से लड़के किसलिये वहां रक्खे जाते हैं? क्या जवान लोग सेवा [से] वा स्त्रीजन उनको तृप्त नहीं कर सकतीं? क्या आश्चर्य है कि जो यह महा-बुराकर्म लड़कों के साथ दुष्टजन करते हैं उसका मूल यही '**क़ुरान**' का वचन हो! और बहिश्त में स्वामी-सेवकभाव होने से स्वामी को आनन्द और सेवक को परिश्रम होने से स्वर्ग में दुःख तथा पक्षपात क्यों होता है? और जब ख़ुदा ही उनको मद्य पिलावेगा तो वह भी उनका सेवकवत् ठहरेगा, फिर ख़ुदा की बड़ाई क्योंकर रह सकेगी? और वहां बहिश्त में स्त्री-पुरुष का समागम और गर्भस्थिति और लड़के-बाले भी होते हैं वा नहीं? यदि नहीं होते तो उनका विषयसेवन करना व्यर्थ हुआ? और जो होते हैं तो वे जीव कहां से आये? और विना ख़ुदा की सेवा के बहिश्त में क्यों जन्मे? यदि जन्मे तो उनको[३] विना ईमान लाये और ख़ुदा की भक्ति किये विना बहिश्त[४] मुफ्त मिल गया। किन्हीं[५] को तो ईमान लाने और किन्हीं को विना धर्म के सुख मिल जाने से दूसरा बड़ा अन्याय कौन-सा होगा?॥ १६३॥

१६४. बदला दिये जावेंगे कर्मानुसार। २६। और प्याले हैं भरे हुए। ३४। जिस दिन खड़े होंगे रूह[६] और फ़रिश्ते सफ़ बांध कर....[७]। ३८। मं० ७। सि० ३०। सू० ७८। आ० २६। ३४। ३८॥

---

९. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और द्विप्र० में '**पुराणी**' के स्थान पर '**पुरानी**' अपवर्तनी है। यह लिपिकरों और शोधकों की मूर्खता की पहचान है। अन्य सभी सं० में इसको शुद्ध कर लिया गया है किन्तु आश्चर्य देखिए कि **स्वामी वेदानन्द जी, पं० मीमांसक जी** और कथित **दस विद्वानों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं०** में अशुद्ध वर्तनी ही विद्यमान है। इससे भी महदाश्चर्य यह है कि इन तीनों ने अन्य स्थानों पर इसको शुद्ध कर लिया है। द्र० उदयपुर सं० पृ० ७ पर ''**पुराण**'' का '**पुरान**', पृ० ३७८, ३८०, ५७९ पर '**पुराणी**' का '**पुरानी**' आदि।

११. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**वैसे**'' पद त्रुटित है। '**जैसे**' के साथ '**वैसे**' वाक्यरचना में आवश्यक है।

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**कितनी बेसमझ की बात है**'' विशेषणात्मक अपपाठ है। **बेसमझी**=नासमझी शुद्ध है। ''**कितनी**'' प्रयोग के साथ भाववाचक स्त्रीलिंग प्रयोग चाहिए।

२. **मुद्रणकालीन अप-अनुवाद**—**तहूरा**=शुद्ध, साफ़। द्विप्र०, द्वि०सं० में इसके स्थान पर ''**पवित्र**'' अशुद्ध अनुवाद है।

३-५. **अनावश्यक प्रयोग**—मूलह०, मूलप्रति सं० में क्रमश ''**उन बेचारों को**'' तथा ''**बहिश्त उनको**'' अनावश्यक प्रयोग हैं, क्योंकि बहिश्त में जाने वाले 'बेचारे' नहीं होते और ''**उनको**'' पहले आ चुका है, अतः पुनरुक्ति अनावश्यक है। द्विप्र०, द्वि०सं० में पहले स्थान से ''**बेचारे**'' पद हटा दिया किन्तु बाद के वाक्य ''**किन्हीं बेचारों को**'' में अनावश्यक रूप से जोड़ दिया क्योंकि सुख पानेवाले '**बेचारे**' नहीं होते। यही अनावश्यक प्रयोग उदयपुर सं० में है।

६. **रूह**=जीवन, सूक्ष्म शरीर, प्राण। वैसे '**रूह**' का सही अर्थ आत्मा होता है। '**रूह**' एक फ़रिश्ते का भी नाम है जिसको '**पवित्रात्मा**' '**जिबरील**' या '**जिबरईल**' भी कहते हैं। इसका उल्लेख आगे आयतखण्ड संख्या १७२ की समीक्षा में भी द्रष्टव्य है।

७. **सफ़ बांध कर**=पंक्ति बांधकर। द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या १६९ भी।

समीक्षक—यदि कर्मानुसार फल दिया जाता है[१] तो सदा बहिश्त में रहनेवाली हूरों, फ़रिश्तों और मोती के सदृश लड़कों को कौन कर्म के अनुसार सदा के लिये बहिश्त मिला ?[२] जब प्याले भर-भर शराब पीयेंगे तो मस्त होकर क्यों न लड़ेंगे ? और रूह निराकार होने से वहां खड़ी क्योंकर हो सकेगी ? और ख़ुदा उस समय खड़ा होगा वा बैठा ?[३]

'रूह' नाम यहां एक फ़रिश्ते का है, जो सब फ़रिश्तों से बड़ा है। क्या ख़ुदा रूह तथा अन्य फ़रिश्तों को पंक्तिबद्ध खड़ा करके पलटन बांधेगा ? क्या पलटन से सब जीवों को सजा दिलावेगा ? और खुदा उस समय खड़ा होगा वा बैठा ? यदि क़यामत तक ख़ुदा अपनी सब पलटन एकत्र करके शैतान को पकड़ ले तो उसका राज्य निष्कण्टक हो जाय। इसका नाम खुदाई है[४] ॥ १६४ ॥

१६५. जबकि सूर्य लपेटा जावे। १। और जबकि तारे गदले हो जावें। २। और जबकि[५] पहाड़ चलाये जावें। ३। और जब आसमान की खाल उतारी जावे। ११।

मं० ७। सि० ३०। सू० ८१। आ० १। २। ३। ११ ॥[६]

समीक्षक—यह बड़ी बेसमझी[७] की बात है कि गोल सूर्यलोक कैसे लपेटा जावेगा ? और तारे गदले क्योंकर हो सकेंगे ? और पहाड़ जड़ होने से चलेंगे कैसे ? और आकाश को क्या पशु समझा कि उसकी खाल निकाली जावेगी ? यह बड़ी ही मूर्खता[८] और जंगलीपन की बात है॥ १६५ ॥

१६६. और जबकि आसमान फट जावे। १। और जब तारे उड़[९] जावें। २। और जब दरिया चीरे जावें। ३। और जब क़ब्रें[१०] जिलाकर उठाई जावें। ४।

मं० ७। सि० ३०। सू० ८२। आ० १। २।३। ४॥

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित क्रिया**—मुद्रणह० में लिपिकर ने ''**है**'' क्रिया को त्रुटित छोड़ दिया है। द्विप्र० में भी त्रुटित है।

२. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—''**बहिश्त में रहने वाले हूरें, फ़रिश्ते और मोती के सदृश लड़कों को कौन.... बहिश्त मिला।**'' सभी नामों में द्वितीया बहुवचन व्याकरण की दृष्टि से आवश्यक है।

३. **मुद्रणकाल में पाठ-निष्कासन अनुचित**—मुद्रणह० में ''**और रूह....वा बैठा**' पाठ को काटकर इसके स्थान पर नयी समीक्षा बगल में मुंशी समर्थदान जी ने लिखी है। वही द्वि० सं० में प्रकाशित हो रही है। जो नयी समीक्षा लिखी गई है वह '**रूह**'='**पवित्रात्मा अथवा जिबरईल**' अर्थ पर आधारित है। ऋषि की समीक्षा को हटाना उचित इस कारण नहीं था क्योंकि पवित्रात्मा भी एक '**रूह**'=सूक्ष्म आत्मा पैगम्बर के रूप में मान्य है, (देखिए, आयतखण्ड १७२), अत: महर्षिप्रोक्त मूल समीक्षा सही है।

४. **मुंशी जी द्वारा पाठ-परिवर्धन और पाठ-ग्रहण**—द्विप्र० में प्रकाशित ''**रूह नाम यहां .... नाम खुदाई है**'' यह समीक्षान्तर्गत अनुच्छेद परिवर्धित है। इसको मुंशी जी ने अपने लेख में लिखकर जोड़ा है। भिन्नार्थ पर आधारित होने से यह ग्राह्य है, हालांकि इसकी भाषा और प्रभावशालिता बहुत ही सामान्य और शिथिल है।

५. **मुद्रणलिपिकर की घोर असावधानी**—मूलहस्त० से मुद्रणप्रति बनाते समय मुद्रणलिपिकर उसके दो पन्ने एक साथ पलट गया जिससे इस शब्द के बाद १७२ आयत लिख गया। ग्यारह पंक्तियों लिखने के बाद उसको गलती का आभास हुआ, तब उस लिखे पाठ को काटा और ठीक पाठ लिखा। प्रतिलिपि-कर्त्ता ने इस प्रकार अनेक त्रुटियां की हैं।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—भद में १-४ अशुद्ध संख्या है, ११ त्रुटित है।

७. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**बड़ी बेसमझ की बात है**'' अपवाक्य है, यहां '**बेसमझी**' वांछित है।

८. **मुद्रणकाल में अनावश्यक परिवर्तन**—मुद्रणकाल में मुंशी जी ने दोनों हस्त० में प्राप्त ''**मूर्खता**'' पद के स्थान पर ''**बेसमझ**'' पाठ बना दिया है जो अनावश्यक तथा शिथिल है। यह समीक्षा के प्रथम वाक्य में प्रयुक्त हो चुका है, अत: पुनरुक्ति है।

९. **मुद्रणकालीन अपपाठ**—द्विप्र० में आयत में और समीक्षा में '**उड़**' क्रिया के स्थान पर ''**झड़**'' अशुद्ध क्रिया परिवर्तित की है। '**उड़ना**' का भाव है—'बिखर जाना, ऊपर-नीचे अस्त-व्यस्त हो जाना।' '**झड़ना**' का भाव है—'केवल नीचे गिरना'।

१०. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में आयत में और समीक्षा में '**क़बरें**' अपवर्तनी है।

समीक्षक—वाह जी '**क़ुरान**' के बनानेवाले '**फ़िलासफ़र**'! आकाश को क्योंकर फाड़ सकेगा? और तारों को कैसे उड़ा सकेगा? और दरिया[१] क्या लकड़ी है जो चीर डालेगा? और क़ब्रें[२] क्या मुर्दे[३] हैं जो जिला सकेगा? ये सब बातें लड़कों[४] के सदृश हैं॥ १६६॥

१६७. क़सम है आसमान बुर्जों वाले की। १। किन्तु वह 'क़ुरान' है बड़ा[५]। २१। बीच महफ़ूज़ लौह रक्षा के। २२। मं० ७। सि० ३०। सू० ८५। आ० १। २१। २२॥[६]

समीक्षक—इस '**क़ुरान**' के बनानेवाले ने भूगोल-खगोल भी नहीं पढ़ा था, नहीं तो आकाश को क़िले के समान बुर्जों-वाला क्यों कहता? यदि मेषादि राशियों को बुर्ज कहता है, तो अन्य बुर्ज क्यों नहीं? इसलिये यह बुर्ज नहीं हैं, किन्तु सब तारे लोक हैं। क्या वह '**क़ुरान**' ख़ुदा के पास है? यदि वह[७] '**क़ुरान**' उसका किया है, तो वह भी इससे अधिक विद्या और युक्ति से विरुद्ध होकर अविद्या से भरा होगा॥ १६७॥

१६८. निश्चय, वे मकर करते हैं एक मकर। १५। और मैं भी मकर करता हूं एक मकर। १६।[८] मं० ७। सि० ३०। सू० ८६। आ० १५। १६॥

समीक्षक—मकर कहते हैं ठगपन को। क्या ख़ुदा भी ठग है? और क्या चोरी का जवाब चोरी और झूठ का जवाब झूठ है? क्या कोई चोर भले आदमी के घर में चोरी करे, तो क्या भले आदमी को चाहिये कि उसके घर में जाके चोरी करे?[९]॥ १६८॥

१६९. और जब आवेगा मालिक तेरा और फ़रिश्ते पंक्ति बांध के। २२। और लाया जावेगा उस दिन दोज़ख़ को....। २३।[१०] मं० ७। सि० ३०। सू० ८९। आ० २२। २३॥[११]

समीक्षक—कहो जी! जैसे कोटपाल[१२] वा सेनाध्यक्ष अपनी सेना को लेकर पंक्ति बांध फिरा करे वैसा ही इनका ख़ुदा है। क्या दोज़ख़ घड़ा-सा है कि जिसको उठाके जहाँ चाहे वहाँ ले जावें? यदि इतना

१-३. **मुद्रणकाल में अपवर्तनी**—द्विप्र० और बहुत-से सं० में "**दर्या**" "**कबरें**" "**मुरदे**" अपवर्तनियां हैं। दोनों हस्त० में "**मुर्दे**" शुद्ध वर्तनी है। इसको मुद्रणकाल में "**मुरदे**" रूप बिगाड़ा है।

४. **मुद्रणकाल में उचित संशोधन**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**ये सब बातें लड़के के सदृश हैं**" अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

५. **कुरान बड़ा**—बड़ा का अर्थ है उच्च महिमा या गौरववाला। पाठक ध्यान दें, अरबी में '**कुरान**' शब्द का प्रयोग पुंल्लिंग में है। इसी के अनुसार महर्षि ने भी पुंल्लिग का प्रयोग किया है।

६. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह०, द्विप्र०, उदयपुर सं० में यहां २२ संख्या त्रुटित है। ये तीन आयतें हैं।

७. **वह कुरान**—'**कुरान**' में '**वह**' सर्वनाम का प्रयोग किया है। महर्षि ने इस पर प्रश्न उठाया है कि क्या इससे कोई दूसरा भी '**कुरान**' है जो '**यह**' न कहकर '**वह**' सर्वनाम का प्रयोग कुरान की भाषा में किया है? यदि कोई दूसरा होगा तो वह भी अविद्या से भरा होगा, जैसा यह प्रकट '**कुरान**' है।

८. '**मकर**' **का शुद्ध रूप**—अरबी में '**मक्र**' शुद्ध है। इसका विशेषण मक्कार है। इसी का अपभ्रंश 'मकर' है।

९. **मुद्रणकाल में अनावश्यक पाठपरिवर्धन**—द्विप्र० में यहां यह वाक्य बढ़ाया है—"**वाह! वाह जी!! कुरान के बनानेवाले।**" दोनों हस्त० में यह वाक्य नहीं है। इसको मुंशी जी ने बढ़ाया है। यह सभी द्वि०सं० में ग्रहण किया हुआ है।

१०. **पुनरुक्ति अन्तिम निर्णय की**—द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या १६४। **सफ़**=पंक्ति बांधकर फ़रिश्ते अन्तिम दिन खड़े होते हैं।

११. **अशुद्ध उद्धरणसंख्या**—मुद्रणह०, द्विप्र०, भद तथा उदयपुर सं० में २१ आयतसंख्या अशुद्ध है, २३ त्रुटित है।

१२. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**कोटवाल**" वर्तनी है। यह संस्कृत में '**कोटपाल**' या हिन्दी में '**कोतवाल**' प्रचलित है।

छोटा है तो असंख्य क़ैदी उसमें कैसे समा सकेंगे ?॥ १६९ ॥

१७०. बस, कहा था वास्ते उनके पैग़म्बर ख़ुदा के ने, रक्षा करो ऊंटनी ख़ुदा की को, और पानी पिलाना उसके को। १३। बस झुठलाया उसको, बस पांव काटे उसके, बस मरी डाली[१] ऊपर उनके, रब उनके ने। १४। मं० ७। सि० ३०। सू० ९१। आ० १३। १४॥

समीक्षक—क्या ख़ुदा भी ऊंटनी पर चढ़के सैल[२] किया करता है ? नहीं तो किसलिये रक्खी ? और विना क़यामत के अपना नियम तोड़ उन पर मरी क्यों डाली ? यदि डाली तो उनको दण्ड किया। फिर क़यामत की रात में न्याय और उस रात का होना झूठ समझा जायगा ? इस ऊंटनी के लेख से यह अनुमान होता है कि अरब देश में ऊंट-ऊंटनी के सिवाय दूसरी कोई सवारी नहीं होती हैं। इसीलिये किसी अरब देशी ने '**क़ुरान**' बनाया है॥ १७० ॥

१७१. यों जो न रुकेगा, अवश्य घसीटेंगे उसको साथ बालों माथे के। १५। वह माथा, कि झूठा है और अपराधी। १६। हम बुलावेंगे फ़रिश्ते [जो उन्हें ले जायेंगे][३] दोज़ख़ के। १८।

मं० ७। सि० ३०। सू० ९६। आ० १५। १६। १८॥[४]

समीक्षक—चपरासियों के इस नीच काम 'घसीटने से' भी ख़ुदा न बचा।[५] भला, माथा भी कभी झूठा और अपराधी हो सकता है सिवाय जीव के ? भला, यह भी कभी ख़ुदा हो सकता है कि जैसे जेलखाने के दारोग़ा को जिले का हाक़िम[६] बुलावा भेजे॥ १७१ ॥

१७२. निश्चय, उतारा हमने क़ुरान को बीच रात क़द्र[७] के। १। और क्या जाने तू क्या है रात

---

१. **अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में समीक्षा में "**मरी रोग डालना**" अपप्रयोग मिलता है जबकि आयत में '**मरी डाली**' शुद्ध प्रयोग है। '**मरी**' कोई रोग नहीं होता। कुरान में "**मरी डालना**" एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है—"**तबाही या विनाश करना।**" हज० मुहम्मद ने उक्त विनाश आक्रमण करके किया था। '**समूद**' समुदाय के एक व्यक्ति ने पैगम्बर मुहम्मद की ऊंटनी को मार दिया था। यद्यपि ऊंटनी का क़त्ल एक व्यक्ति ने किया था किन्तु मुहम्मद साहब ने पूरी जाति के विनाश से उसका बदला लिया (द्रष्टव्य आयतखण्ड संख्या ११२, १२७ भी)। उदयपुर आदि सभी सं० में यह अपपाठ है।

२. "**सैल**" **प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यहां "**सैल**" प्रयोग मिलता है। अरबी में मूलत: '**सैर**' पद है, उसका समान्तर "**सैल**" भी प्रचलित है। इसी से '**सैलानी**'=पर्यटक पद बनता है।

३. **त्रुटित पद**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं०, द्विप्र० में यहां '**उसको**' पद त्रुटित है। "**उसको साथ बालों माथे के**" शुद्ध है। द्वि०सं० में है। इसी प्रकार दोनों हस्त० और तीनों सं० में अनुवाद में कोष्ठकान्तर्गत पाठ त्रुटित है जो स्पष्टार्थ के लिए आवश्यक है। इस परिवर्धित पाठ के बिना विपरीत अर्थ प्रकट होता है कि दोज़ख़ के भी फरिश्ते होते हैं।

४. **त्रुटित आयतसंख्या**—मूलह०, मुद्रणह० में तीन आयतसंख्याएं त्रुटित हैं। मुद्रणकाल में द्विप्र० में अंकित की है।

५. **स्थानभ्रष्ट अपपाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**नीच**" पद अस्थान में है। यह "**काम**" का विशेषण है, "**चपरासियों**" से पहले प्रयुक्त होने से अन्यथा अर्थ प्रकट होता है कि चपरासी नीच हैं, जबकि ग्रन्थकार घसीटने के काम को नीच कह रहा है।

६. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में "**जिले का हाक़िम**" पाठ त्रुटित है। इस पाठ के बिना समीक्षा का दृष्टान्त चरितार्थ नहीं होता क्योंकि कर्त्ता का नाम ही नहीं है। यह त्रुटि मुद्रणहस्तलेख में मुद्रणप्रति-लिपिकर के प्रमाद से हुई है। वेस, भद, युमी आदि सभी सं० में यह पाठ त्रुटित मिलता है। उदयपुर सं० के सामने त्रुटित और पूर्ण पाठ के दोनों विकल्प विद्यमान थे किन्तु कथित दश सम्पादकों ने गम्भीर विचार न करके त्रुटित पाठ को ही ग्रहण किया है। यहां महर्षिप्रोक्त मूलह० का पाठ ही पूर्ण होने से ग्राह्य है।

७-८. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में दोनों स्थानों पर "**क़दर**" अपवर्तनी है। '**क़द्र वाली रात**' अर्थात् पवित्र रात्रि। यह वह रात है जिसमें पहले-पहले '**कुरान**' मुहम्मद साहब के हृदय में प्रकट हुआ। वैसे कुरान २३ वर्ष तक उतरता रहा, तब जाकर पूर्ण हुआ था। इतिहासकारों के अनुसार हज० मुहम्मद के देहान्त के बाद '**क़ुरान**' का प्रामाणिक पाठनिर्धारण, संशोधन और

क़द्र[८] की ?। २। उतरते हैं फ़रिश्ते और पवित्रात्मा बीच उसके, साथ आज्ञा मालिक अपने की, वास्ते हर काम के। ४।[१] मं० ७। सि० ३०। सू० ९७। आ० १। २। ४॥

समीक्षक—यदि एक ही रात में '**क़ुरान**' उतारा, तो वह आयत अर्थात् [अमुक आयत] उस समय में उतरी और [उसको] धीरे-धीरे उतारा, यह बात सत्य क्योंकर हो सकेगी ? और रात्रि अन्धेरी है, इसमें क्या पूछना है ? वहाँ लिख आये हैं ऊपर-नीचे कुछ भी नहीं हो सकता और यहां लिखते हैं कि फ़रिश्ते और '**पवित्रात्मा**' ख़ुदा के हुक्म से संसार का प्रबंध करने के लिये आते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि ख़ुदा मनुष्यवत् एकदेशी है। **अब तक देखा था कि खुदा, फ़रिश्ते और पैग़म्बर तीन की कथा है। अब एक 'पवित्रात्मा' चौथा निकल पड़ा! अब न जाने यह चौथा 'पवित्रात्मा' क्या है ?** यह तो ईसाइयों के मत अर्थात् पिता, पुत्र और '**पवित्रात्मा**' तीन के मानने से चौथा भी बढ़ गया। यदि कहो[२] कि हम इन तीनों को ख़ुदा नहीं मानते, ऐसा भी हो, परन्तु जब '**पवित्रात्मा**' पृथक् है, तो ख़ुदा, फ़रिश्ते और पैग़म्बर को '**पवित्रात्मा**' कहना चाहिये वा नहीं ? यदि '**पवित्रात्मा**' है, तो एक का ही नाम '**पवित्रात्मा**' क्यों ? और घोड़े आदि जानवरों, रात-दिन और '**क़ुरान**' आदि की ख़ुदा क़समें खाता है। **क़समें खाना भले लोगों का काम नहीं** ॥ १७२ ॥

अब इस[३] '**क़ुरान**' के विषय को लिखके बुद्धिमानों के सम्मुख स्थापित करता हूं कि यह पुस्तक कैसा है ? मुझसे पूछो तो यह किताब न ईश्वर की, न विद्वान् की बनाई और न विद्या की हो सकती है। यह तो बहुत थोड़ा-सा दोष प्रकट किया, इसलिये कि लोग धोखे[४] में पड़कर अपना जन्म व्यर्थ न गमावें। **जो कुछ थोड़ा-सा इसमें सत्य है, वह वेदादि विद्या-पुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझको ग्राह्य है, वैसे अन्य भी मज़हब के हठ और पक्षपातरहित विद्वानों और बुद्धिमानों को ग्राह्य है। इसके विना जो कुछ इसमें है, वह सब अविद्या, भ्रमजाल[५] और मनुष्य के आत्मा को पशुवत् बनाकर, शान्तिभंग कराके, उपद्रव मचा, मनुष्यों में विद्रोह फैला, परस्पर दुःखोन्नति करनेवाला विषय है।**

सम्पादन हुआ था। कुछ मुस्लिम विद्वान् इस तथ्य को अस्वीकार भी करने लगे हैं। विस्तृत टिप्पणी देखिए पृ० ९३९ पर।

१. **फरिश्तों के द्वारा संसार का प्रबन्ध**—इस्लामी धारणा के अनुसार खुदा सृष्टि को बनाकर फरिश्तों से उसके प्रबन्ध कराता है। उनमें कुछ प्रमुख फरिश्तों के कार्य इस प्रकार हैं—**(१) जिबरईल**—अल्लाह की आज्ञाएँ पैगम्बरों तक पहुँचाने का कार्य करता है। उनको प्रत्येक सहायता देता है। खुदा की आज्ञा भंग करनेवालों को कष्ट देता है। **(२) मीकाईल**—वर्षा कराना, नदी-नालों, समुद्रों की व्यवस्था करना और सभी प्राणियों को भोजन, जीविका उपलब्ध कराना आदि इसके काम हैं। **(३) इसराकील**—प्रलय से पूर्व रणसिंगा फूंकेगा जिसकी ध्वनि से प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाएगी। दूसरी बार रणसिंगा फूंकने पर पुनः सभी वस्तुएं यथावत् बन जायेंगी। तीसरी बार फूंकने पर सभी मुर्दे जीवित होकर कब्रों से बाहर आ जायेंगे। **(४) इज़राइल**—इसका काम जीवधारियों का प्राणहरण करना है। **(५-६) करामन और कातवीन**—मनुष्यों के साथ रहकर पहला उनके अच्छे कामों का और दूसरा बुरे कामों का विवरण लिखता है। **(७-८) मुनकिर और नकीर**—मृतक को क़ब्र में दफ़नाने के बाद ये मुर्दे से कुछ प्रश्न पूछते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य फरिश्ते भी हैं जिनमें से कुछ स्वर्ग का काम, कुछ नरक का, कुछ जासूसी का, कुछ ख़ुदा का तख्त उठाने का, कुछ पूजा-उपासना का काम करते हैं (द्रष्टव्य, तालीमुल इस्लाम, भाग ३, पृष्ठ ६-८)।

२. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में "**कहे**" अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध किया हुआ है।

३. **अपप्रयोग**—मूलह०, मुद्रणह०, मूलप्रति सं० में यहां "**यह**" अपप्रयोग है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**धोखा में पड़कर**" अपपाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में शुद्ध कर दिया है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपप्रयोग**—मूलह० के शुद्ध पाठ को मुद्रणलिपिकर ने प्रमादवश "**अविद्या भ्रम जान**" लिखा है। द्विप्र० में "**अविद्याभ्रम जान**" और अधिक अशुद्ध छपा है। अन्य सभी सं० में संशोधित है।

और **पुनरुक्त दोषों[१] का तो 'क़ुरान' जानो भंडार ही है।[२]**

परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सब सबसे प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना वा दूसरे मतमतान्तरों के दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूं, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् लोग करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होके, सत्य की प्राप्ति सिद्ध न हो ?

यह थोड़ा '**क़ुरान**' के विषय में लिखा, इससे[३] बुद्धिमान् धार्मिक लोग ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझ लाभ लेवें।

यदि कहीं भ्रम से अन्यथा लिखा गया हो तो उसको शुद्ध कर लेवें।[४]

[५]अब एक बात यह शेष है कि बहुत से मुसलमान ऐसा कहा करते और लिखा वा छपवाया करते हैं कि ''**हमारे मज़हब की बात 'अथर्ववेद' में लिखी हैं।**'' इसका यह उत्तर है कि 'अथर्ववेद' में इस बात का नाम-निशान भी नहीं है।

प्रश्न—क्या तुमने सब 'अथर्ववेद' देखा है ? यदि देखा है[६] तो '**अल्लोपनिषद्**' देखो। यह साक्षात् उसमें लिखी है। क्यों कहते हो कि '**अथर्ववेद**' में मुसलमानों का नाम-निशान भी नहीं है ?

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त०, तीनों सं० में ''**दोष**'' एकवचनात्मक अपप्रयोग है। ''**भंडार**'' के सम्बन्ध से बहुवचन चाहिए।

२. **क़ुरान पुनरुक्त दोषों का भण्डार**—कुरान की आयतों का विश्लेषण करने पर यह तथ्य सामने आता है कि इसमें सैकड़ों पुनरुक्तियां हैं। महर्षि ने चौदहवें समुल्लास में जो आयतें उद्धृत की हैं उनमें भी इसके कई प्रमाण दिये हैं। जैसे—
(क) बहिश्त में बीबियां मिलने का लालच और अन्य ठाठ-बाट—आयतखण्ड संख्या ९, ५०, ६०, ६२, ९३, ११३, १४१, १४२, १४८, १४९, १५०, १५६, १६३ आदि।
(ख) क़ाफिरों या गैर मुस्लिमों से लड़ाई करना और उनका खून बहाना—आयतखण्ड संख्या ३८, ५६, ५९, ६३, ६५, ७३, ८१, ८६, ८८, ८९, ९०, ९४, ९५, ९६, ९९, ११९, १४८, १४९, १५७, १७०, १७१ आदि।
(ग) अल्लाह के मार्ग में मरने वाले जीवित रहते हैं—३२, ३८, ५६, ६३ आदि।
(घ) अल्लाह की ऊंटनी का वर्णन—१००, ११२, १२७, १७० आदि।
(ङ) मुसलमानों पर हराम खाद्य वस्तुएं—३६, ७० आदि।
(च) अल्लाह को ऋण और उधार देने का कथन—४२, ७१, १५५ आदि।
(छ) छह दिन में सृष्टि उत्पन्न करके आराम करना—७८, ९७, १५१ आदि।
(ज) ''हो जा'' कहते ही सृष्टि का हो जाना—२८, ५४, १०८, १४० आदि
'**पुनरुक्ति**' एक दोष है जो यह सिद्ध करता है कि इस दोष से युक्त पुस्तक ईश्वरकृत या ईश्वर-प्रेरित नहीं हो सकती।

३. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**इसको**' अपप्रयोग है। यही उदयपुर सं० में है।

४. **ऋषिलेख और सत्यार्थप्रकाश की सम्पन्नता**—ऋषि ने मूलहस्तलेख में यहां तक लिखकर सत्यार्थप्रकाश की पूर्णता कर दी थी। इसके बाद स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश संक्षेप से लिखने का संकेत है और फिर चतुर्दश समुल्लास का समाप्तिबोधक उपसंहार वाक्य है। 'अल्लोपनिषद्' की समीक्षा '**भारतमित्र**' समाचार मित्र में '**अल्लोपनिषद्**' छपने के बाद लिखी है।

५. **अल्लोपनिषद् का परिवर्धन**—मूलहस्तलेख में चौदहवां समुल्लास पूर्ण होने का संकेतक वाक्य ऊपर लिखा हुआ है। उसके बाद अल्लोपनिषद् तथा उससे सम्बन्धित समीक्षा ''**अब एक बात.....वैदिक मत को ग्रहण करो**'' है। संस्कृत-भाग लिखने के लिए उसमें एक पृष्ठ पर खाली जगह छोड़ी हुई है। उस पाठ को मुद्रणप्रति में लिखकर जोड़ा गया है। यह ज्ञात होता है कि यह अंश '**भारतमित्र**' नामक समाचार पत्र, जो कलकत्ता से छपता था, उसके गुरुवार श्रावणसुदि ६, संवत् १९४० (९ अगस्त सन् १८८३) के अंक में '**अल्लोपनिषद्**' के संस्कृत पाठ के साथ '**मुसलमानों के मज़हब का मूल अथर्ववेद में है**' शीर्षक लेख छपने के बाद उस भ्रान्ति के निवारण के लिए प्रकाशन के समय लिखकर जोड़ा है। इस लेख के प्रत्युत्तर में महर्षि ने एक लेख उस समाचार पत्र को भी भेजा था। वह पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' संस्करण दो, पृ० ४४७, ४४८ पर छपा

अथ-'अल्लोपनिषदं' व्याख्यास्यामः

अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते।
इल्लल्ले वरुणो राजा पुनर्ह्यदुः।
हया मित्रो इल्लां इल्लल्ले इल्लां वरुणो मित्रस्तेजस्कामः॥ १॥
होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र महासुरिन्द्राः।
अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम्॥ २॥
अल्लोरसूलमहामदरकबरस्य[१] अल्लो अल्लाम्॥ ३॥
आदल्लाबूकमेककम्॥ अल्लाबूक निखातकम्॥ ४॥
अल्लो यज्ञेन हुतहुत्वा। अल्ला सूर्य्यचन्द्रसर्वनक्षत्राः॥ ५॥
अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां इन्द्राय पूर्वं माया परममन्तरिक्षाः॥ ६॥
अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम्॥ ७॥
इल्लां कबर इल्लां कबर इल्लां इल्लल्लेति इल्लल्लाः॥ ८॥
ओम् अल्लाइल्लल्ला अनादिस्वरूपाय अथर्वणाश्यामा हुं ह्रीं जनान् पशून् सिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु कुरु फट्॥ ९॥
असुरसंहारिणी हुं ह्रीं अल्लोरसूलमहामदरकबरस्य[२] अल्लो अल्लाम् इल्लल्लेति इल्लल्लाः॥ १०॥

इति-'अल्लोपनिषत्' समाप्ता॥

जो इसमें प्रत्यक्ष मुहम्मद साहब [को] रसूल लिखा है इससे सिद्ध होता है कि मुसलमानों का मत वेदमूलक है।

उत्तर—यदि तुमने '**अथर्ववेद**' न देखा हो, तो हमारे पास आओ, आदि से पूर्त्ति तक देखो। अथवा जिस किसी अथर्ववेदी के पास बीस काण्डयुक्त मन्त्रसंहिता '**अथर्ववेद**' को देख लो। कहीं तुम्हारे पैग़म्बर साहब का नाम वा मत का निशान भी न देखोगे। और जो यह '**अल्लोपनिषद्**' है वह न '**अथर्ववेद**' में, न उसके '**गोपथ ब्राह्मण**' में है वा किसी शाखा में है। यह तो अकबर शाह के समय में, अनुमान है कि किसी [मुसलमान][३] ने बनाई है। इसका बनानेवाला कुछ अरबी[४] और कुछ संस्कृत भी पढ़ा हुआ दीखता है, क्योंकि इसमें अरबी[५] और संस्कृत के पद लिखे हुये दीखते हैं। देखो,

---

है। मूलहस्त० से प्रतिलिपि करके इस पाठ को फिर क्रमबद्ध रूप से लिखा गया है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**देखा होता तो**" अपपाठ है। मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित है।

१,२. **अव्यवस्थित वर्तनी**—एक ही प्रसंग और एक ही स्थान पर तीनों सं० में दो वर्तनियां हैं—महामद और महमद। फिर से देखिए लिपिकर और सम्पादक का प्रमाद! यहां 'महामद' संस्कृत रूप ठीक है। सभी सं० में यह अव्यवस्था है।

त्रुटित आवश्यक पाठ—"**किसी**" विशेषण के आगे विशेष्य पद अपेक्षित है। वह छूट गया है। ऊपर बृ० कोष्ठक में है।

४-७. **अपवर्तनी और घोर प्रमाद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में इस अनुच्छेद में चार बार '**अरबी**' नाम प्रयुक्त हुआ है। लिपिकर की लीला और आदि-सम्पादक की असावधानी देखिए कि एक ही वाक्य में एक शब्द की दो वर्तनियां लिखी हैं—"**अर्बी**" और "**अरबी**"। लिपिकर ने जो किया, वह तो किया, आर्यसम्पादकों ने क्या किया? भद और कथित दश सम्पादकों द्वारा सम्पादित उदयपुर सं० में यही हास्यास्पद स्थिति है। इस प्रकार ग्रन्थ की भाषा का स्तर गिरता है। यहां '**अरबी**' वर्तनी ग्राह्य है।

''**अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते**'' इत्यादि में जो कि दश अङ्क में लिखा है, जैसे—इसमें ''**अस्माल्लां**'' और ''**इल्ले**'' अरबी[६] और ''**मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते**'' ये संस्कृत-पद लिखे हैं, वैसे ही सर्वत्र देखने में आने से किसी संस्कृत, अरबी[७] के पढ़े हुए ने बनाई है। यदि इसका अर्थ देखा जाता है तो भी यह कृत्रिम, अयुक्त, वेद और व्याकरण-रीति से विरुद्ध सिद्ध होती है। जैसे यह उपनिषद् बनाई है, वैसे बहुत-सी उपनिषदें मतमतान्तरवाले पक्षपातियों ने बना ली हैं। जैसे[१] 'स्वरूपोपनिषद्',[२] 'नृसिंहतापनी', 'रामतापनी', 'गोपालतापनी' बहुत-सी बना ली हैं।

प्रश्न—आज तक किसी ने ऐसा नहीं कहा, अब तुम कहते हो, हम तुम्हारी बात सच कैसे मानें?

उत्तर—तुम्हारे मानने वा न मानने से हमारी बात झूठ नहीं हो सकती। हां, जिस प्रकार से मैंने इसको अयुक्त ठहराया है,[३] उसी प्रकार से जब तुम '**अथर्ववेद**', '**गोपथ**' वा इसकी शाखाओं के प्राचीन लिखित **पुस्तकों में जैसा का तैसा लेख दिखलाओ, और अर्थसंगति से भी शुद्ध करो, तब तो [तुम्हारा लेख][४] सप्रमाण हो सकता है।**

प्रश्न—देखो, हमारा मत कैसा अच्छा है कि जिसमें सब प्रकार का सुख और अन्त में मुक्ति होती है।

उत्तर—ऐसे ही अपने-अपने मत-वाले सब कहते हैं कि हमारा ही मत अच्छा है, बाक़ी सब बुरे। विना हमारे मत के दूसरे मत से मुक्ति नहीं हो सकती। अब हम तुम्हारी बात को सच्ची मानें वा उनकी? **हम तो यही मानते हैं कि सत्यभाषण, अहिंसा, दया आदि शुभगुण सब मतों में अच्छे हैं और बाक़ी वाद-विवाद, ईर्ष्या-द्वेष, मिथ्याभाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्य मत-ग्रहण की इच्छा हो, तो वैदिक मत को ग्रहण करो।**

इसके आगे '**स्वमन्तव्यामन्तव्य का प्रकाश**' संक्षेप से लिखा जायगा।[५]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते यवनमतविषये
चतुर्दशःसमुल्लासः सम्पूर्णः॥ १४॥[६]

---

१. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जैसी**'' अपप्रयोग है।

२. **पाठ-परिवर्तन**—द्वि०सं० में उपनिषद् का नाम ''**स्वरोपनिषद्**'' परिवर्तित किया गया है। स्वामी वेदानन्द जी, पं० मीमांसक जी और उदयपुर सं० में ''**स्वरोपोपनिषद्**'' नाम दिया है।

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**मैंने इसको अयुक्त ठहराई है**'' अपवाक्य है। अन्य सभी सं० में अपवाक्य है।

४. **त्रुटित आवश्यक पाठ**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में कोष्ठकान्तर्गत पद त्रुटित हैं। इनको बढ़ाना वाक्यपूर्ति के लिए आवश्यक है।

५. **विषय-संकेतक वाक्य**—चतुर्दश समुल्लास के विषय की समाप्ति-विषयक वाक्य पृ० १०४२ पर लिखा जा चुका है—''**यह थोड़ा कुरान के विषय में लिखा।**'' अतः यहां अब केवल अग्रिम विषय-संकेतक वाक्य ही उक्त है।

६. **मुद्रणकालीन पाठ**—मूलहस्त० तथा मुद्रणहस्त० दोनों में ही यह समाप्तिसूचक वाक्य अंकित नहीं है। शैली की एकरूपता के आधार पर मुद्रण के समय इस पाठ को बनाकर अंकित किया गया है।

ओ३म्

अथ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

'**सर्वतन्त्र सिद्धान्त**' अर्थात् '**साम्राज्य-सार्वजनिक धर्म**' जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिये **इसको 'सनातन'=नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।** यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत-वाले के भरमाये[१] हुये उसको अन्यथा जानें वा मानें, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु **जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य[२] नहीं होता।**

अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ, जिनको कि मैं मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन-काल में सबको एक-सा मानने योग्य है।[३] **मेरा, कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।**

यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यावर्त वा अन्य[४] देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन है उसका स्वीकार [नहीं करता] और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ; क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं, कि चाहे वे महा-अनाथ, निर्बल और गुणरहित हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी[५] चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे; अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस

---

१. **अपवर्तनी**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**भ्रमाये**" अपवर्तनी है। विस्तृत टिप्पणी द्र० पृ० ९२६ पर।

२. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**वह अमन्तव्य होने से उसका प्रमाण नहीं होता**" पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित उपर्युक्त पाठ ग्राह्य है।

३. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**जो तीन काल में एक-सा सबको सामने मानने योग्य है**" पाठ है। द्विप्र०, द्वि०सं० का पाठ उपयुक्त है।

४. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में "**इन**" अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में '**अन्य**' शुद्ध प्रयोग है।

५. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से त्रुटित पद**—मुद्रणलिपिकर ने प्रतिलिपि करते समय प्रमाद से "**अधर्मी**" पद त्रुटित छोड़ दिया है। द्विप्र० में भी त्रुटित है। अब अन्य सभी सं० में ग्रहण कर लिया है।

काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजे भर्तृहरि, व्यास जी और मनु आदि ने श्लोक लिखे हैं,[१] उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूँ—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ १॥[२] भर्तृहरिशतक [नीतिशतक ८५]

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ २॥[३]

महाभारत [उद्योगपर्व-प्रजागरपर्व अ० ४०। श्लोक ११-१२]

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ ३॥[४] मनु० [८।१७]

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ४॥[५]

मुण्डकोपनिषद् [३।१।६]

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥ ५॥[६] [प्रथम पंक्ति, महाभारत, शान्ति० १६२.२४]

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल निश्चय रखना सबको योग्य है।

अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूँ, उन-उन का वर्णन संक्षेप से यहाँ करता[७] हूँ

---

१. **मुद्रणलिपिकर द्वारा त्रुटित पाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य में "**व्यास जी और मनु**" पाठ त्रुटित है। मूलप्रति सं० में '**आदि**' पद त्रुटित है। पठित नामों से अधिक रचनाकारों के श्लोक होने के कारण '**आदि**' पाठ आवश्यक है।

२-६. **श्लोकों का अर्थ**—व्यवहार में नीति का पालन करने के पक्षधर जन चाहे मेरी (सिद्धान्त दृढ़ता) की निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें। धन-ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हो अथवा इच्छानुसार अर्थात् पूर्णतः नष्ट हो जाये। चाहे आज ही मृत्यु सामने उपस्थित हो जाये अथवा लम्बे जीवन के बाद मृत्यु आये। धीर पुरुष न्यायोचित मार्ग से कभी पग-भर भी विचलित नहीं होते॥ **१॥**

मनुष्य को कभी मनोरथ-पूर्ति के लिए अथवा भय, लोभ आदि कारणों से और जीवित रहने की कामना से भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि धर्म नित्य है=परलोक में भी साथ जानेवाला है और सुख-दुःख अनित्य हैं=अस्थायी हैं, जीवात्मा नित्य=अमर है और उसके साधन शरीर आदि अनित्य=नश्वर हैं; अतः नित्य को महत्त्व देना चाहिए॥ **२॥**

धर्म ही एक ऐसा साथी है जो मरने के पश्चात् भी आत्मा के साथ-साथ जाता है। अन्य प्रत्येक भौतिक वस्तु तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है॥ **३॥**

सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। देवत्व का मार्ग सत्य के आचरण से ही निर्मित होता है अर्थात् देवता बनने का प्रमुख आधार 'सत्य' ही है। ईश्वर की प्राप्ति के इच्छुक ऋषि जिस मार्ग पर चलते हैं वह 'सत्य का मार्ग' ही है। जिस मुक्तिरूप परम धाम में पहुँचते हैं वह ईश्वर 'सत्य' का परम कोष है॥ **४॥**

सत्याचरण से बढ़कर कोई धर्म नहीं और असत्य आचरण से बढ़कर कोई महापाप नहीं है, सत्य से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है, अतः मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में सत्य का ही आचरण करना चाहिए॥ **५॥**

७. **अपवर्तनी**—मुद्रणह०, द्विप्र० में "**कर्त्ता**"अपवर्तनी है। अब सभी सं० में संशोधित कर ली गई है।

कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है। उनमें[१] से—

१. प्रथम '**ईश्वर**' कि जिसको ब्रह्म, परमात्मा-आदि नामों से कहते हैं; जो सच्चिदानन्द-आदि लक्षणयुक्त है; जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं; जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य-न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है; उसी को परमेश्वर मानता हूँ।[२]

२. **[चार वेद]** 'चारों वेदों' को [अर्थात्] विद्या-धर्म-युक्त, ईश्वरप्रणीत संहिताओं= मन्त्रभाग को निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण मानता हूँ अर्थात् जो स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिसके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा न हो, जैसे सूर्य वा प्रदीप स्वयं अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं। और **चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग, चार उपवेद और वेदों की ११२७ (ग्यारह-सौ सत्ताईस) शाखायें[४] जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूँ।**[५]

३. [**धर्म-अधर्म**] जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण-सत्यभाषणादि-युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको '**धर्म**'[६] और जो पक्षपातसहित, अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा-भंग वेदविरुद्ध है, उसको '**अधर्म**'[७] मानता हूँ।

४. [**जीव**] जो इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है, उसी को '**जीव**' मानता हूँ।[८]

५. '**जीव और ईश्वर**' स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न

---

१. **अपप्रयोग**—सभी सं० में ''**इनमें**'' अपप्रयोग है। ''**उन-उनका**'' प्रयोग के सम्बन्ध से ''**उनमें**'' प्रयोग अभीष्ट है।

२. **ईश्वर**—''ईश्वर जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुण वाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है। जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्वजीवों को पाप, पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है; उसको ईश्वर कहते हैं।'' (आर्यो० १); **अन्यत्र द्रष्टव्य**—ऋ०भा०भू०, रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृ० १९२; आर्यसमाज के नियम २; स०प्र० समु० १, पृ० २०, ३०, ३६; समु० ७, पृ० ३२१-३२७।

३. **त्रुटित पद**—मूलप्रति सं० में '**भी**' पद त्रुटित है।

४. **अपप्रयोग**—सभी सं० में ''**शाखा**'' एकवचनान्त अपप्रयोग है, बहुवचन अपेक्षित है। पृ० ६५२ पर शुद्ध प्रयोग है।

५. **वेद**—''वेद जो ईश्वरोक्त, सत्यविद्याओं से युक्त ऋक्संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको '**वेद**' कहते हैं।'' (आर्यो० ९५); ऋ०भा०भू० पृ० १९२; आर्यसमाज के नियम २; स०प्र० समु० ७, पृ० ३६२-३६९।

६. **धर्म**—''**धर्म** जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात-रहित न्याय, सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक धर्म मानने योग्य है, उसको '**धर्म**' कहते हैं।'' (आर्यो० २; ऋ०भा०भू० पृ० ११६; व्यवहारभानु ५१०, ५१७; स०प्र० समु० ३, पृ० १०५, १०६; समु० ४, १६९-१९५)।

७. **अधर्म**—''**अधर्म** जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपातसहित अन्यायी होके, बिना परीक्षा करके अपना ही हित करना है, जो अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेद-विद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, वह '**अधर्म**' कहाता है।'' (आर्यो० ३; ऋ०भा०भू० पृ० ११६; व्यवहारभानु ५१०, ५१७; स०प्र० समु० ४, पृ० १९१-१९५)।

८. **जीव**—''**जीव का स्वरूप** जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुणवाला तथा नित्य है, वह '**जीव**' कहाता है।'' (आर्यो० ७७; स०प्र० समु० ७, पृ० ३४५-३६०)।

हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न[१] है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्रवत् आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।[२]

६. '**अनादि पदार्थ**' तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।[३]

७. '**प्रवाह से अनादि**' जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है, और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को[४] प्रवाह से अनादि मानता हूँ।[५]

८. '**सृष्टि**' उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान-युक्ति-पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना।[६]

९. '**सृष्टि का प्रयोजन**' यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि 'नेत्र किसलिये हैं?' उसने कहा, 'देखने के लिये।' वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना[७] आदि भी।

१०. '**सृष्टि सकर्तृक**' है। इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने, जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का '**कर्त्ता**' अवश्य है।

११. '**बन्ध**' सनिमित्तक अर्थात् अविद्यादि के निमित्त से है। जो-जो पाप-कर्म, ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञानादि, ये सब दुःख फल करनेवाले हैं। इसीलिये यह '**बन्ध**' है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।[८]

१२. '**मुक्ति**' अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्धरहित, सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोगके पुनः संसार में आना।[९]

---

१. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से अपपाठ**—मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से यहां "**न**" पद त्रुटित है। द्विप्र० में भी त्रुटित है। अन्य सभी सं० में परिवर्धित है। इसी वाक्य में आगे "**न है**" पूर्ण प्रयोग है।

२. **जीव और ईश्वर**—सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में सम्पूर्ण विषय इस विषयक है।

३. **अनादि पदार्थ**—"**अनादि पदार्थ** जो ईश्वर, जीव और 'जगत् का कारण' हैं, ये तीन स्वरूप से '**अनादि**' हैं। (आर्यो० ५२) **अनादि का स्वरूप**—जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न होवे अर्थात् जो सदा से स्वयं-सिद्ध हो, वह '**अनादि**' कहलाता है।" (आर्यो० ५४; ऋ०भा०भू० पृ० २०; स०प्र० समु० ८, पृ० ७७३, ७७४)

४. **उचित संशोधन**—मूलप्रति सं० में यहां अपप्रयोग है, जो इस प्रकार है—"**इन तीन को प्रवाह से.....।**" द्विप्र०, द्वि०सं० में संशोधित करके "**तीनों को**" कर दिया है। बहुवचन अपेक्षित है।

५. **प्रवाह से अनादि**—"**प्रवाह से अनादि पदार्थ** जो कार्य-जगत्, जीव के कर्म और जो इसका संयोग-वियोग है, ये तीन '**परम्परा से अनादि**' हैं।" (आर्यो० ५३; ऋ०भा०भू० पृ० २०)

६. **सृष्टि**—"**सृष्टि,** जो कर्त्ता की रचना करके कारण-द्रव्य किसी संयोगविशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्तमान में व्यवहार करने योग्य होती है, वह '**सृष्टि**' कहाती है।" (आर्यो० ३७; ऋ०भा०भू० पृ० ८५; स०प्र०समु० ८ पृ० ३७२-४११)

७. **मुद्रणलिपिकर के प्रमाद से भ्रष्टपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में भ्रष्टपाठ "**भोग करना**" है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है। **स्वामी वेदानन्द सं०** को छोड़कर सभी सं० में संशोधन कर लिया है।

८. **बन्ध**—द्रष्टव्य, सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास। (पृ० ४२८-४७५)

९. **मुक्ति**—"**मुक्ति** अर्थात् जिससे सब बुरे कामों और जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटकर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख

१३. '**मुक्ति के साधन**' ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।[१]

१४. '**अर्थ**' जो धर्म से ही प्राप्त किया जाय। और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको '**अनर्थ**' कहते हैं।

१५. '**काम**' वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६. '**वर्णाश्रम**'[२] गुण-कर्मों के योग से मानता हूँ।[३]

१७. '**राजा**' उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण-कर्म-स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित, न्यायधर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और उनको पुत्रवत् मानके उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।[४]

१८. '**प्रजा**' उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके पक्षपातरहित, न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई, राजविद्रोह-रहित, राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

१९. [**न्यायकारी**] जो सदा विचारकर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे[५] और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे, उसको '**न्यायकारी**' मानता हूँ।

२०. '**देव**' विद्वानों को, और अविद्वानों को '**असुर**', पापियों को '**राक्षस**', अनाचारियों को '**पिशाच**' मानता हूँ।

में ही रहना है, वह '**मुक्ति**' कहाती है।'' (आर्यो० २९; ऋ०भा०भू० पृ० २१२; स०प्र० समु० ९, पृ० ४२८-४७५)

१. **मुक्ति के साधन**—''**मुक्ति के साधन** अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्सङ्ग, विश्वास, तीर्थ सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब '**मुक्ति के साधन**' कहाते हैं।'' (आर्यो० ३०); ऋ०भा०भू० पृ० २१५; स०प्र० समु० ९, पृ०४३६]

२. **वर्णाश्रम**—''**वर्ण** जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह 'वर्ण' शब्दार्थ से लिया जाता है।'''**वर्ण के भेद**—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं, वे '**वर्ण**' कहाते हैं।'''**आश्रम**—जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किए जाएं, उनको '**आश्रम**' कहते हैं।'''**आश्रम के भेद**—जो सद्विद्यादि शुभ गुणों को ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए गृहस्थाश्रम, जो विचार के लिए वानप्रस्थ और जो सर्वोपकार करने के लिए संन्यासाश्रम होता है, ये '**चार आश्रम**' कहाते हैं।'' (आर्यो० ४३-४६; ऋ०भा०भू० पृ० २७०; स०प्र० समु० ४, पृ० १५९-१७०)

३. **मुद्रणलिपिकर कृत अपपरिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य का इस प्रकार अपसंशोधन किया है—''**वर्णाश्रम गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूं।**'' प्रश्न उठता है कि गुणों की योग्यता क्या होती है? गुण तो स्वयं योग्यता का रूप हैं। ''**गुण-कर्मों के योग से**'' मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ठीक है, जिसका अर्थ यह है कि जो-जो गुण-कर्म जिसमें हों उस-उस को उस वर्ण का मानना। **पाठ-पुष्टि**—यही भाव महर्षि ने अन्यत्र दिया है—''**जिस जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उसको उस-उस वर्ण का अधिकार देना।**'' (समु० ४, पृ०१७०) गुण-कर्मों के योग अर्थात् अनुरूपता से वर्ण होने का यही अभिप्राय है। ऊपर टिप्पणी दो में ''**आर्योद्देश्यरत्नमाला**'' में भी यही शब्द हैं—''**गुण और कर्मों के योग से**''। वेस, भद, युमी, उदयपुर आदि सभी द्वि०सं० में यह अपपाठ है।

४. **राजा**—द्रष्टव्य, सत्यार्थप्रकाश षष्ठ समुल्लास, पृ० २४९, २५२, २५३।

५. **अपवर्तनी**—द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**हठावे**'' अपवर्तनी है, मूलप्रति सं० में ''**हटावे**'' शुद्ध है, जो ग्राह्य है। द्वि०सं० में भी बहुत्र संशोधन कर लिया है किन्तु यहां संशोधन रह गया है। विस्तृत टि० द्रष्टव्य है पृ० १० पर।

२१. [**देवपूजा**] उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना '**देवपूजा**' कहाती है, इससे विपरीत '**अदेवपूजा**' है। इन्हीं मूर्त्तियों की पूजा कर्त्तव्य, [और] इन मूर्त्तियों से इतर जड़, पाषाणादि मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ।[१]

२२. '**शिक्षा**' जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और[२] अविद्यादि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।[३]

२३. '**पुराण**' जो ब्रह्मादि के बनाये '**ऐतरेय**' आदि ब्राह्मण पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य '**भागवत**' आदि को नहीं।[४]

२४. '**तीर्थ**' जिनसे[५] दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं, उन्हीं को[६] तीर्थ समझता हूँ; इतर जल-स्थलादि को नहीं।[७]

२५. **[पुरुषार्थ]** पुरुषार्थ 'प्रारब्ध से बड़ा' इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।[८]

२६. '**मनुष्य**' को सबसे यथायोग्य, स्वात्मवत् सुख-दुःख, हानि-लाभ में वर्तना श्रेष्ठ; अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूँ।[९]

---

१. **मुद्रणलिपिकर कृत सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्ट परिवर्तन**—मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में इस वाक्य के स्थान पर यह भ्रष्ट वाक्य बनाया है—''**इनकी मूर्तियों को पूज्य....**''। इसका भाव यह हो गया कि माता-पिता आदि की बनाई गई मूर्तियां पूज्य हैं जबकि मूलप्रति का भाव यह है कि माता-पिता आदि ही सच्ची मूर्तियां हैं इनकी ही पूजा कर्त्तव्य है। मूलह०, मूलप्रति सं० का पाठ ही ग्राह्य है। वेस, भद, युमी आदि सभी द्वि०सं० में यही सिद्धान्तविरुद्ध भ्रष्टपाठ है। उदयपुर सं० में अर्ध-संशोधित है।
भ्रष्ट पाठ का कारण—मूलह० में ''**और इन्हीं मूर्तियों की पूजा कर्त्तव्य**'' सही पाठ था, जिसको काटने से ''**इनकी मूर्तियों की पूजा कर्त्तव्य**'' पाठ बन गया जिसका अर्थ 'अनर्थ' के रूप में व्यक्त होता है। अगले वाक्यांश में ठीक पाठ है।
देवपूजा—''**पञ्चायतन देवपूजा**—जीते माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको '**पंचायतन पूजा**' करते हैं।'' (आर्यो० ६४; ऋ०भा०भू० पृ० ५२; स०प्र० समु० ११, पृ० ४८२, ५९१)

२. **अनावश्यक पद**—मूलप्रति में यहां ''**इनसे**'' अनावश्यक पद है। द्वि० सं० से हटा दिया गया है, जो उचित है।

३. **शिक्षा**—द्रष्टव्य, द्वितीय और तृतीय समुल्लास।

४. **पुराण**—''**पुराण**—जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ, ब्राह्मणादि ऋषि-मुनि कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और 'नाराशंसी' कहते हैं।'' (आर्यो० ९६; वेदविरुद्धमत खण्डन पृ० ४००-४०१; स०प्र० समु० ३, पृ० ६१७-६२१)

५-६. **अपप्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**जिससे**'' और ''**उसी को**'' अपप्रयोग हैं। अनेक गुणों का '**आदि**' पद पूर्वक कथन होने से दोनों पदों में बहुवचन प्रयोग होना चाहिए। देखिए, अग्रिम टि० में तीर्थ-सम्बन्धी उद्धरणों में बहुवचन है।

७. **तीर्थ**—''**तीर्थ** जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का सङ्ग, ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब '**तीर्थ**' कहाते हैं।'' (आर्यो० २०; ऋ०भा०भू० पृ०३४०; स०प्र० समु० ११, पृ० ६१२-६१४)

८. **पुरुषार्थ**—''**पुरुषार्थ** अर्थात् सर्वदा आलस्य छोड़के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको '**पुरुषार्थ**' कहते हैं।'' ''**पुरुषार्थ के भेद**—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, प्राप्त को अच्छे प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुए पदार्थों का सत्य-विद्या की उन्नति में तथा सबके हित में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को '**पुरुषार्थ**' कहते हैं।'' (आर्यो० ५५-५६)

९. **मनुष्य**—''**मनुष्य** अर्थात् जो विचार के विना किसी काम को न करे, उस का नाम '**मनुष्य**' है।'' (आर्यो० ३९; स्वमन्तव्य० पृ० १०४५)

२७. '**संस्कार**' उसे कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि-श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इसको कर्त्तव्य समझता हूँ और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये।[१]

२८. '**यज्ञ**' उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि '**पदार्थविद्या**', उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।[२]

२९. [**आर्य और दस्यु**] जैसे '**आर्य**' श्रेष्ठ और '**दस्यु**' दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं भी मानता हूँ।[३]

३०. '**आर्यावर्त देश**' इस भूमि का नाम इसलिये है कि जिसमें आदिसृष्टि से पश्चात् आर्य लोग निवास करते हैं। परन्तु इसकी अवधि उत्तर में '**हिमालय**', दक्षिण में '**विन्ध्याचल**', पश्चिम में '**अटक**' और पूर्व में '**ब्रह्मपुत्रा**' नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है, उसी को '**आर्यावर्त**' कहते हैं और जो इसमें सदा से रहते हैं,[४] उनको भी '**आर्य**' कहते हैं।[५]

३१. [**आचार्य**] जो सांगोपांग '**वेदविद्याओं**' का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह '**आचार्य**' कहाता है।[६]

३२. '**शिष्य**' उसको कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है।[७]

३३. [**गुरु**] गुरु, माता, पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, वह भी '**गुरु**' कहाता है।[८]

---

१. **संस्कार**—संस्कारों की विस्तृत व्याख्या तथा विधि के लिए द्रष्टव्य है ग्रन्थकार रचित '**संस्कारविधि**' नामक पुस्तक।

२. **यज्ञ**—''**यज्ञ** जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्यन्त वा जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थ-विज्ञान है जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको '**यज्ञ**' कहते हैं।'' (आर्यो० ४७, स०प्र० समु० ३, पृ० ८६-९२, समु० ४, पृ० १८१-१९०)

३. **आर्य और दस्यु**—''**आर्य**—जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्या गुणयुक्त और आर्यावर्त देश में सब दिन से रहनेवाले हैं, उनको '**आर्य**' कहते हैं।'' (स०प्र०, समु० ८, पृ० ४०२-४०४)
''**दस्यु**—अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी, आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक कि जो दुष्ट मनुष्य है, वह 'दस्यु' कहाता है।'' (आर्यो० ४०, ४२; स०प्र० समु० ८, पृ० ४०२-४०४)

४. **मुद्रणलिपिकरकृत अपपाठ**—मुद्रणह०, द्विप्र० में बहुवचनात्मक अपपाठ है—''**जो इनमें सदा से रहते हैं**''। एक देश का वर्णन होने से एकवचन अपेक्षित है। **स्वामी वेदानन्द सं०** और **उदयपुर सं०** में अपपाठ है। अन्य में यह संशोधित है। मूलह०, मूलसं० में शुद्ध है। द्वि०सं० में अर्ध-शुद्ध पाठ है—''**जो इसमें सदा रहते हैं।**''

५. **आर्यावर्त**—''**आर्यावर्त देश** हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्रा नदी इन चारों के बीच में जहाँ तक उनका विस्तार है, उनके मध्य में जो देश है, उसका नाम '**आर्यावर्त**' है।'' (आर्यो० ५१; स०प्र० समु० ८, पृ० ४०४)

६. **आचार्य**—''**आचार्य** जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको '**आचार्य**' कहते हैं।'' (आर्यो० ६१; सं०वि० पृ० ९९ पर टिप्पणी; व्यवहारभानु ५०२; वेदविरुद्धमतखण्डन ३८८; स०प्र० समु० तृतीय)

७. **शिष्य**—स०प्र० समु० तृतीय एवं चतुर्थ।

८. **गुरु**—''**गुरु**—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को '**गुरु**' कहते हैं, और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी '**आचार्य**' कहते हैं।'' (आर्यो० ६२; वेदविरुद्धमतखण्डन पृ० ३९०; शिक्षापत्री० ४३६)

३४. '**पुरोहित**' जो यजमान का हितकारी, सत्योपदेष्टा होवे।[१]

३५. '**उपाध्याय**'[२] जो वेदों के एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो।[३]

३६. '**शिष्टाचार**' जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है, यही शिष्टाचार, और जो इसको करता है, वह '**शिष्ट**' कहाता है।[४]

३७. [**प्रमाण**] प्रत्यक्षादि आठ '**प्रमाणों**' को[५] मानता हूँ।[६]

३८. '**आप्त**' कि जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिये प्रयत्न करता है, उसी को '**आप्त**' कहता हूँ।[७]

३९. '**परीक्षा**' पाँच प्रकार की है। इसमें से प्रथम[८]—जो ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और '**वेदविद्या**'; दूसरी— प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण; तीसरी— सृष्टिक्रम; चौथी— आप्तों का व्यवहार, और पांचवीं— अपने आत्मा की पवित्रता [और][९] विद्या। इन पाँच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिये।[१०]

४०. '**परोपकार**' जिससे सब मनुष्यों के दुराचार-दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें; उसके करने को '**परोपकार**' कहता हूँ।

४१, '**स्वतन्त्र**'—'**परतन्त्र**'—जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र [है],[११] वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

---

१. **पुरोहित**—द्रष्टव्य, 'संस्कारविधि', सामान्यप्रकरण।

२. **उपाध्याय— एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं, उपाध्यायः स उच्यते॥** (मनु० २.१४१)

३. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में यह अपवाक्य है—"**जो वेदों का एकदेश.....को पढ़ाता है।**" अन्य सभी सं० में भी अपपाठ है।

४. **शिष्टाचार**—"**शिष्टाचार** जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है, वह '**शिष्टाचार**' कहाता है।" (आर्यो० ५८)

५. **अनावश्यक प्रयोग**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में '**को**' के बाद "**भी**" पद अनावश्यक है।

६. **प्रमाण**—"**आठ प्रमाण** प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये '**आठ प्रमाण**' हैं। इन्हीं से सब सत्यासत्य का निश्चय मनुष्य कर सकता है।" (आर्यो० ८३; ऋ०भा०भू०, पृ० ६०-६१; व्यवहारभानु पृ० ५०९; स०प्र० समु० ३, पृ० १०७-१२१)

७. **आप्त**—"**आप्त** जो छलादि दोष रहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब प्रकार कृपादृष्टि से वर्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे, उसको '**आप्त**' कहते हैं।" (आर्यो० ८१)

८. **त्रुटित पद**—द्वि० सं० में "**प्रथम**" पद त्रुटित है। यह आवश्यक है, क्योंकि क्रमशः संख्या दी है। द्विप्र०, मूलप्रति सं० तथा अन्य सभी सं० में है। यह ग्राह्य है।

९. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**और**" पद नहीं है। दोनों बातों के पृथक् कथन के लिए यहां '**और**' योजक आवश्यक है।

१०. **परीक्षा**—"**परीक्षा** जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम के अनुकूल विचार के सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको '**परीक्षा**' कहते हैं।" (आर्यो० ८२; व्यवहारभानु पृ० ५०८-५१०; स०प्र० समु० ३ पृ० १०६, १०७।

११. **त्रुटित क्रिया**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**है**" क्रिया यहां त्रुटित है। वाक्यपूर्ति हेतु क्रिया आवश्यक है।

४२. '**स्वर्ग**' नाम सुख-विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।[१]

४३. '**नरक**' जो दुःख-विशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है।[२]

४४. '**जन्म**' जो शरीर-धारण कर प्रकट होना; सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार के मानता हूँ।

४५. [**जन्म-मृत्यु**] [आत्मा से][३] शरीर के संयोग का नाम '**जन्म**' और वियोग-मात्र को '**मृत्यु**' कहते हैं।[४]

४६. '**विवाह**'—जो नियमपूर्वक, प्रसिद्धि से, अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना [है, वह][५] '**विवाह**' कहाता है।[६]

४७. '**नियोग**'[७] विवाह के पश्चात्, पति[८] के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री, वा पुरुष [द्वारा], आपत्काल में, स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष वा स्त्री[९] के साथ नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करना।[१०]

---

१. **स्वर्ग**—''**स्वर्ग** जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है; वह 'स्वर्ग' कहाता है॥'' (आर्यो० १४; स०प्र० समु० ९, पृ० ४६५, समु० १२, पृ० ७३९)

२. **नरक**—''**नरक** जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है; उसको नरक कहते हैं॥'' (आर्यो० १५; स०प्र० समु० ९, पृ० ४६५, समु० १२, पृ० ७३९)

३. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**आत्मा से**'' पद त्रुटित हैं, बिना इस पाठ-परिवर्धन के वाक्य समर्थ, सार्थक तथा पूर्ण नहीं बनता। **संशोधन-पुष्टि**—अग्रिम टि० ४ में '**आर्योद्देश्यरत्नमाला**' की परिभाषा देखिए।

४. **जन्म-मृत्यु**—''**जन्म** जिसमें कि शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है उसको 'जन्म' कहते हैं।'' ''**मरण** जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है उसको 'मरण' कहते हैं।'' (आर्यो० १२,१३)

५. **त्रुटित आवश्यक पद**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में ''**है, वह**'' पद त्रुटित हैं। ''**जो**'' पूर्वोक्त पद के सम्बन्ध से इनका होना अपेक्षित है।

६. **विवाह**—द्रष्टव्य सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृ० १७१-१७३ तथा 'संस्कारविधि' विवाहप्रकरण।

७. **नियोग**—द्रष्टव्य चतुर्थ समुल्लास पृ० २०२-२२३ तथा 'संस्कारविधि' गृहस्थप्रकरण, ईसाइयों में नियोग पृ० ८६६।

८. **पं० मीमांसक जी एवं उदयपुर सं० का पाठ चिन्त्य**—पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने यहां यह पाठ बृहत्कोष्ठक में प्रस्तावित किया है—''**वा पत्नी के**''। **उदयपुर सं०** ने इसको बिना टिप्पणी और कोष्ठक के मूलपाठ में मूल पाठ के समान संयुक्त कर दिया है। वाक्यरचना के अनुसार यह असंगत है, क्योंकि महर्षिप्रोक्त मूलपाठ के अनुसार पति के मरने और नपुंसक आदि रोग की संगति 'स्त्री' के साथ है। सम्पादक ध्यान दें कि इसी कारण द्विप्र० में अल्पविराम ''स्त्री'' के बाद लगा है, जिसे बिना विचारे अन्य संस्करणों ने यहां से हटा दिया, अथवा उदयपुर सं० आदि ने ''**रोगों में**'' पदों के बाद अशुद्ध स्थान पर लगा दिया। यदि प्रस्तावित पाठ को स्वीकार करेंगे तो ''**नपुंसकत्वादि**'' रोग की संगति ''**स्त्री वा पुरुष**'' पदों से नहीं लगेगी। यहां स्त्री के लिए आपत्काल की व्याख्या की है जबकि दोनों के लिए केवल ''**आपत्काल**'' शब्द का उल्लेख है। पुरुष के आपत्काल की व्याख्या चतुर्थ समुल्लास में आ चुकी है। अतः मूलह० का पाठ ही अधिक संगत है।

९. **क्रमविरुद्ध अपपरिवर्तन**—द्विप्र०, द्वि०सं० में यहां शब्दों का क्रम बदलकर पाठ को अशुद्ध बना दिया है। पूर्वोक्त ''**स्त्री वा पुरुष**'' पदों के सम्बन्ध से नियोग करने के लिए क्रमशः ''**पुरुष वा स्त्री**'' पाठ क्रम संगत होगा; द्विप्र०, द्वि०सं० में परिवर्तित ''**स्त्री वा पुरुष**'' नहीं। यहां मूलप्रति सं० का पाठ ग्राह्य है। उदयपुर सं०, वेस, भद, युमी आदि में अपपाठ है।

१०. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**कर लेवें**'' आदेशात्मक पाठ अनुपयुक्त है। परिभाषा में आदेशात्मक प्रयोग नहीं होते। द्विप्र०, द्वि०सं० का संशोधित पाठ ग्राह्य है किन्तु तब उचित वाक्यरचना के लिए ऊपर ''**द्वारा**'' कारक प्रत्यय पाठ में बढ़ाना आवश्यक है, अन्यथा शुद्ध वाक्यरचना नहीं बनती।

४८. '**स्तुति**' गुण-कीर्तन-श्रवण और ज्ञान होना। इसका फल प्रीति आदि होते हैं।[१]

४९. '**प्रार्थना**' अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिये ईश्वर से याचना करनी। और इसका फल निरभिमान आदि होता है।[२]

५०. '**उपासना**' जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जानके, ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना, उपासना कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।[३]

५१, '**सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना**'—जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर [परमेश्वर की][४] प्रशंसा करना '**सगुण-निर्गुण-स्तुति**' कहाती है। और शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय्य चाहना '**सगुण-निर्गुण-प्रार्थना**'; और सब गुणों से सहित[५] तथा सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना '**सगुण-निर्गुण-उपासना**'[६] कहाती है।[७]

ये[८] संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी '**सत्यार्थप्रकाश**' के प्रकरण-प्रकरण में है, तथा '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' आदि ग्रन्थों में भी लिखी है। अर्थात् जो-जो बात

---

१. **स्तुति**—''**स्तुति** जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुण-ज्ञान-कथन-श्रवण और सत्यभाषण करना है, वह '**स्तुति**' कहाती है।'' ''**स्तुति का फल**—जो गुणज्ञान आदि के करने से गुणवाले पदार्थों में प्रीति होती है, वह '**स्तुति का फल**' कहाता है।'' (आर्यो० २१, २२; स०प्र० समु० ४, पृ० ३२८)

२. **प्रार्थना**—''**प्रार्थना** अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य के सहाय लेने को '**प्रार्थना**' कहते हैं।'' ''**प्रार्थना का फल**—अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुणग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना '**प्रार्थना का फल**' है।'' (आर्यो० २४, २५; स०प्र० समु० ४, पृ० ३२९-३३५)

३. **उपासना**—''**उपासना** जिसमें ईश्वर के ही आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना है, उसको '**उपासना**' कहते हैं'' (आर्यो० २६; स०प्र० समु० ४, पृ० ३३५-३३७)

४-५. **त्रुटित आवश्यक पाठ एवं अपपरिवर्तन**—(४) दोनों हस्त० और तीनों संस्करणों में बृ० कोष्ठकान्तर्गत पाठ '**परमेश्वर की**' त्रुटित रह गया है। जैसे अगले वाक्यों में 'परमात्मा और परमेश्वर' पद हैं, उसी प्रकार यहां भी पद आवश्यक हैं ताकि स्पष्ट पूर्ण वाक्य बन सके कि किसकी प्रशंसा करना स्तुति है। (५) मुद्रणह०, द्विप्र०, द्वि०सं० में यह वाक्यखण्ड ''**सब गुणों से सहित**'' त्रुटित रह गया है। इस प्रकार 'निर्गुण-उपासना-बोधक' भाव तो वर्णित हो गया किन्तु 'सगुण-उपासना-बोधक' त्रुटित रह गया। इस आधार पर ''निर्गुण-सगुण-उपासना'' की परिभाषा भी अपूर्ण रह गई। मूलप्रति सं० में है, अतः यह ग्राह्य है; किन्तु अनुच्छेद के शब्द क्रमानुसार यह वाक्य पहले आना चाहिए। मूलसं० में बाद में है।

६. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलसं० में यहां निर्गुण-उपासना की परिभाषा पहले तथा सगुण की बाद में है तथा उसी के अनुसार ''**निर्गुण-सगुण-उपासना**'' शीर्षक है। द्विप्र० में इसके क्रम को बदलकर ''सगुण-निर्गुण-उपासना'' संशोधित किया है, जो उचित है, क्योंकि मुख्य शीर्षक और ऊपर की परिभाषाएं इसी क्रम से हैं। एकरूपता और मानकता की दृष्टि से एक अनुच्छेद में एक क्रम ही उपयुक्त है।

७. **सगुणोपासना**—''जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सर्वजगत् का रचनेवाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो '**सगुणोपासना**' कहाती है।'' (आर्यो० २८; स०प्र०,पृ० ३२८-३३६)
निर्गुणोपासना—''शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हल्का, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करना है, उसको '**निर्गुणोपासना**' कहते हैं।'' (आर्यो० २७; स०प्र० समु० ९, पृ० ३२८-३३६)

८. **उचित संशोधन**—मूलह०, मूलप्रति सं० में ''**यह**'' एकवचन का अपप्रयोग है। द्विप्र०, द्वि०सं० में ''**ये**'' शुद्ध है।

सबके सामने माननीय है, उसको मानता, अर्थात् जैसा कि सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ। और जो मतमतान्तरों के परस्परविरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं प्रसन्न नहीं करता; क्योंकि इन्हीं मत-वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फसाके परस्पर शत्रु बना दिया है।[१] इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़प्रीतियुक्त कराके, सबसे सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, साहाय्य और आप्तजनों की सहानुभूति से **यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करके, सदा उन्नत और आनन्दित होते रहैं; यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।**

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

ओ३म्। शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑ण॒ः। शन्नो॑ भवत्वर्य्य॒मा।
शन्न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः। शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः॥
नमो॒ ब्रह्म॑णे। नम॑स्ते वायो॒। त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑सि। त्वामे॒व
प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑वादिषम्। ऋ॒तम॑वादिषम्। स॒त्यम॑वादिषम्।
तन्मामा॑वीत्। तद्व॒क्तार॑मावीत्। आवी॒न्माम्। आवी॒द्व॒क्तार॑म्।
ओ३म् शान्ति॒ः शान्ति॒ः शान्ति॑ः॥[२] [तैत्तिरीय आरण्यक ७।१२]

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितः, स्वमन्तव्यामन्तव्यसिद्धान्तसमन्वितः, सुप्रमाणयुक्तः, सुभाषाविभूषितः, सत्यार्थप्रकाशोऽयं ग्रन्थः सम्पूर्तिमगमत्॥

—०—

१. **अपवाक्य**—दोनों हस्त० और तीनों सं० में "**मनुष्यों को.....परस्पर शत्रु बना दिये हैं**" अपवाक्य है। वेस, भद, युमी, विस, जस, उदयपुर आदि अन्य सभी सं० में हिन्दी-व्याकरण की दृष्टि से यही अपवाक्य उपलब्ध है।

२. **अपस्वरांकन**—भद, मूलसं० को छोड़कर सभी सं० में इस मन्त्र पर स्वरांकन है। इस सं० में मीमांसक जी के अनुसार स्वरांकन किया गया है। उदयपुर सं० में स्वरांकन में त्रुटियां हैं। उदयपुर सं० ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में वैदिक स्वरविद्या की उपेक्षा की है किन्तु द्विप्र० के अनुसार ग्रन्थ के आद्यन्त मन्त्रों पर स्वरांकन ग्रहण किया है, यह संतोष का विषय है।

अनेकगुरुकुलेषु विश्वविद्यालयेषुचाधीतविद्येन, हरियाणाप्रान्तार्गत 'रोहतक' जनपदे 'मकड़ौली कलाँ' नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना, श्रीगहरसिंहशान्तिदेवीतनयेन, अनेकशासकीयस्नातकोत्तरमहाविद्यालयानां पूर्वप्राचार्येण, हरिद्वारस्थित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य 'कुलपति' पदासीनेन, 'डाक्टर' उपाधिधारिणा सुरेन्द्रकुमारेण सम्पादितः, शोधान्वितः भाष्योपेतश्च सत्यार्थप्रकाशस्योत्तरार्धः पूर्णतामगात्। सम्पन्नश्चायं सत्यार्थप्रकाशः।

—०—